81

श्री

मस्थान की ओर से प्रकाशित–गृन्थसूची—

(ले० मोतीलालशर्म्मा भारद्वाज)

१—गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पञ्चम–खण्ड		२०)
२—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड		१५)
३—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्ड		१५)
४—भा० हि० निबन्धान्तर्गत–'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड		१२)
५—वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम् (संस्कृत–निबन्ध)		१॥)
६—भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय		१॥)
७—वेद का स्वरूप–विचार		२)
८—क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक–आमन्त्रण)		२॥)
६—दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा		२५)
१०—शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्यान्तर्गत–प्रथमखण्ड		२५)
११—राष्ट्रपतिभवनानुगत–व्याख्यानपञ्चक ★		६)
(१)—सम्वत्सरमूला अग्नीषोमविद्या	(प्रथमव्याख्यान)	
(२)—पञ्चपर्वात्मिका विश्वविद्या	(द्वितीय ,,)	
(३)—'मानव' का स्वरूप–परिचय	(तृतीय)	
(४)—'भारतीयविद्या' का स्वरूप–परिचय	(चतुर्थ)	
(५)—वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय	(पञ्चम ,,)	

प्राप्तिस्थान—
व्यवस्थापक–राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
(दुर्गापुरा जयपुर–राजस्थान)

★ राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से अनुगत

श्री

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के

प्रधान-संरक्षक

महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग

के

समर्थ करकमलों में

संस्थान की ओर से सम्मानपूर्वक

समर्पित

महामहिम राष्ट्रपति महाभाग !

श्रीमान् की सशक्त संरक्षता से समन्वित तत्त्वशोधसंस्थानने अपने प्रक्रान्त वर्षत्रयात्मक स्वल्पकाल में राष्ट्र के जनतन्त्र एवं स्वातन्त्र्य के सहयोग से भारतराष्ट्र की ज्ञान-विज्ञानसमन्विता, श्रुति-स्मृति-पुराणमूला प्राच्य-सांस्कृतिक-तत्त्वानुसंधान की दिशा में अनुमानतः ५००० (पाँच हजार) पृष्ठों का जो मौलिक-साहित्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित किया है, उसका प्रमुख श्रेय श्रीमान् की सांस्कृतिक-प्रेरणा से ही अनुप्राणित है। यद्यपि अपनी आर्थिक-सीमाओं के अनुबन्ध से निर्म्मित-साहित्य के अनुपात से अभी कार्य्य 'नहीं' के समान ही होपाया है। तथापि संस्थान की ऐसी आस्था है कि, महामहिम की अभ्यर्था प्रेरणा से शीघ्र ही संस्थान अपने इस 'प्राच्य-साहित्यिकयज्ञ' में पूर्ण सफलता प्राप्त करेगा, इसी आशा-प्रतीक्षा के साथ 'दिग्देश-कालस्वरूपमीमांसा' नामक प्रस्तुत सहस्रपृष्ठात्मक प्रकाशन कृतज्ञता-पूर्वक संस्थान की ओर से महामहिम राष्ट्रपति की सेवा में अत्यन्त विनय-पूर्वक समर्पित होरहा है अपने राष्ट्रपति की शतायु-कामना के साथ।

समर्पकः—नम्र

मोतीलालशर्म्मोपाध्यायः करिषद्पि
मुकुन्दशर्म्मा आङ्गिरसो भारद्वाज
(संस्थानाध्यक्षः)

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर)
द्वितीय-भाद्रपदशुक्ला-तृतीया रविवासर
वि० २०१५

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग द्वारा प्राप्त
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का
'प्रधानसंरक्षतानुगत-प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है—



भारत के राष्ट्रपति

डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिटरी सेक्रेटरी ऑफिस	भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार
राष्ट्रपति भवन	
नई दिल्ली	(सुमाव सि०) मेजर जनरल
दिनांक 30 अगस्त 1958	मिलिटरी सेक्रेटरी टू दि प्रेसिडेण्ट

श्री:

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-युगत-'किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्'

की

संक्षिप्ता-विषयसूची-परिच्छेदात्मिका

श्रीः

दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'नुगत-"किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्"

की

संक्षिप्ता-विषयसूची

श्री

'भारतीय हिन्दू-मानव-की भावुकता' नामक-उद्बोधनात्मक-सामयिक-निबन्धान्तर्गत

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-त्मक 'चतुर्थखण्ड' के सम्बन्ध में

किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम् (प्रस्तावना)



मोतीलालशर्म्मोपाह्वो-यः कश्चिदपि मुक्तकशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाज-वेदवीथी-पथिकः
मानवोऽस्य वैधानिकमहोदयस्य नवोदनभोक्ता

उपरता चेयं–'किञ्चिदिव–प्रास्ताविकस्य' सङ्क्षिप्ता परिच्छेदात्मिका–विषयसूची

श्री

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'—नुगतं

किञ्चिदिव—प्रास्ताविकम् (प्रस्तावना)

१-ब्रह्म, संस्कृति, सांस्कृतिक-आचार-आयोजन, शास्त्र, धर्म्म, आदि आदि निष्ठ भी भारतीय मानव की त्रिसहस्रवर्षानुगता दिग्देशकालनिबन्धना उत्पीडन-परम्परा—

(१) दिक्कालाद्यनवच्छिन्न, अनन्त, चिन्मात्रमूर्त्ति, स्वानुभूत्येकगम्य, प्रशान्त, अलक्षण, अप्रतर्क्य, इत्यभूत दिग्देशकालातीत, अतएव सर्वातीत, अद्वय, निरञ्जन, निर्गुण, विश्वातीत 'परात्परब्रह्म' नामक 'आत्मतत्त्व' को ही 'अपना स्वरूप' मानने वाले, इत्यभूता आत्मबोधनिष्ठा (२) को ही अपने जीवन का परम-पुरुषार्थ घोषित करने वाले संस्कृति के स्वरूप-विश्लेषक 'श्रुतिशास्त्र',-'सांस्कृतिक-आचार' के व्यवस्थापक 'स्मृतिशास्त्र' तथा 'सांस्कृतिक-आयोजन' के समर्थक 'पुराणशास्त्र' के प्रति श्रद्धा-समन्विता आस्था रखने वाले, श्रुति-स्मृति-पुराण-द्वारा संसिद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक, वर्णाश्रमाचारलक्षण कर्त्तव्यकर्म्म रूप 'शाश्वतधर्म्म' से अभिन्न 'सनातनधर्म्म' को ही मानव के ऐहलौकिक सुखरूप 'अभ्युदय' का, तथा पारलौकिक-शान्तिरूप 'निःश्रेयस्' का अन्यतम कारण मानने वाले (३) धर्मनिष्ठ, श्रद्धालु आस्तिक भारतीय 'हिन्दू मानव' की तथाविधा 'आस्था' के सम्मुख तथोपवर्णित 'आत्मचिन्तन' के सम्मुख, एवं तथा-निर्दिष्टा श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रत्रयी के सम्मुख विगत तीन सहस्र वर्षों से अनवच्छिन्नप्रश्नात्मिका जो 'प्रश्नावली' समुपस्थित होती आरही है, जबतक उस महत्त्वपूर्ण 'प्रश्नावली' का आचारात्मक (व्यावहारिक), तथा बुद्धिगम्य समाधान प्रश्नकर्त्ता को नहीं मिल जाता, तबतक तथाविध-आस्था-श्रद्धा-परायण शास्त्रभक्त धर्म्माभिनिविष्ट भारतीय-हिन्दू-मानव की दिग्-देश-कालानुबन्धिनी, 'युगधर्म्म' से सम्बन्ध रखने वाली, इस की अवश्यं

---

(१)—दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥
—भर्तृहरिः ।

(२) इतो न किञ्चित्, परतो न किञ्चित्, यतो यतो यामि ततो न किञ्चित् ।
विचार्य्यमाणे तु जगन्न किञ्चित्, स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित् ॥
—प्रसिद्धा वेदान्तसूक्तिः

(३)—यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः, स धर्म्मः ।
—वैशेषिकदर्शन

उत्पीड़ित ही होना पड़ रहा है, जिस उत्पीड़न के लिए अपने युगधर्म्मात्मक भाग्य के अतिरिक्त और किसी को भी दोष नहीं दिया जा सकता–'अयं तु युगधर्म्मो हि दीयते कस्य दूषणम्' इत्यादि इत्यादि।

३–युगधर्म्मविमूढ, अतएव दिग्देशकालपीड़ित भारतीय मानव

इसप्रकार दिग्देशकालात्मक 'युगधर्म्म (कलियुगधर्म्म) को ही अपना आराध्यधर्म्म मान बैठने वाले भारतीय हिन्दू–मानवने उत्पीड़न–परम्पराओं के सम्मुख अपने आपको सर्वात्मना अवनतशिरस्क प्रमाणित करते हुए अपना जैसा जो कुछ दीन–हीन–मलीमस–पौरुषशून्य–अकर्म्मण्यतात्मक जीवन प्रमाणित कर लिया है विगत अनेक शताब्दियों से, उसे देख–सुन कर यही मान लेना पड़ता है कि सचमुच आज सम्पूर्ण विश्व में इस भारतीय हिन्दू–मानव से अधिक दिग्देशकालपीड़ित और कोई भी मानव नहीं है।

४–दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक लाभों से वञ्चित, अतएव पीड़ित भारतीय मानव, एवं तात्कालिक लाभों से समन्वित, अतएव समुत्पीड़ित विश्वमानव—

अन्य मानववर्ग पीड़ित नहीं हैं, यह कहना तो दिग्देशकाल का अपमान ही करना होगा। पीड़ित तो अन्य मानव भी हैं। किन्तु इस की पीड़ा में, तथा उन की पीड़ा में अहोरात्र का अन्तर है। यह जहाँ–दिग्देशकाल से अनुप्राणित तात्कालिक–भौतिक–लाभों से वञ्चित रहता हुआ पीड़ित है, वहाँ इतर मानव श्रेष्ठ दिग्देशकाल से अनुप्राणित समसामयिक तथाविध लाभों से निरतिशयरूपेण अपने आप को लाभान्वित मानते हुए आत्यन्तिकरूपेण समुत्पीड़ित हैं। इसे सभी लौकिक–चेष्टा में जहाँ 'अभाग्यपरम्पराएँ' उत्पीड़ित करतीं आरहीं हैं वहाँ उन्हें दिग्देशकालनिबन्धना, अतएव भातिसिद्धा (काल्पनिकी) 'भाग्यपरम्पराएँ' समुत्पीड़ित करती आरही हैं। यह जहाँ कलियुगानुगत 'भाग्यवाद' के अनुग्रह से समुत्पन्न 'अकर्म्मण्यता से दिग्देशकालिक लाभों से वञ्चित रहता हुआ आत्यन्त का दुःखी बन रहा है तो वे वहाँ दिग्देशकालानुगत–युगधर्म्मों से लाभ उठाने की कला के मर्म्म से सुपरिचित रहते हुए, इस कालिक–दैशिक–भातिसिद्ध कर्म्माभास को ही पुरुषार्थ मानते मनवाते हुए, इत्थंभूत काल्पनिक कर्म्माभास को ही मानव–जीवन का सर्वस्व मानते हुए, इन से समुत्पन्न भातिरूप फलों से समन्वित होते हुए आत्यन्तिकरूपेणैव समुत्पीड़ित प्रमाणित होते आरहे हैं। और यों यह, और 'वे' ही क्या ज्ञात–अज्ञात सभी मानव आज दृष्टिकोणभेद से किसी न किसी रूप से 'दिग्देशकाल' नामक महान्–यक्ष, महान् भय से उत्पीड़ित–समुत्पीड़ित ही बनते आ रहे हैं अनेक शताब्दियों से।

५–मानवानुबन्धिनी प्रश्न–सम्प्रश्न–परम्पराओं की सनातना, एवं तत्समाधानमूला अन्तर्वेदना—

स्थावर–जङ्गमात्मक–भूत–भौतिक–प्रपञ्च के समतुलन में अपनी ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तियों से सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित मानव 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे आदर्शों की उग्रघोषणा का प्रथमाविष्कारक 'विश्वमानव' उपाधि से समलङ्कृत यह भारतीय मानव इसप्रकार आत्यन्त का दुःखी तथा समुत्पीड़ित क्यों? प्रश्न कोई नवीन प्रश्न नहीं है। यदि मानव 'सनातन' है तो उस की 'दिग्देशकालानुबन्धिनी' समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाला तथाविध प्रश्न भी 'सनातन' ही है। और इत्थंभूत दिग्देशकालिक प्रश्न को दिग्देश–

भाविनी 'यथार्थता'–ओं से सम्बन्ध रखने वाली उन 'विषमा–समस्याओं' का कथमपि निराकरण सम्भव ही नहीं है जिन विषमा–समस्याओं ने तथाविध हिन्दू–मानव को निरन्तर तीन सहस्र–वर्षों से आत्यन्तिक–रूपेण आत्मना अशान्त, बुद्ध्या विभ्रान्त, मनसा क्लान्त, तथा शरीरेण च परिश्रान्त ही प्रमाणित कर रक्खा है।

२–आत्मचिन्तननिष्ठ भी भारतीय हिन्दूमानव का त्रिसहस्रवर्षात्मक अधःपतन, एवं तत्सम्बन्ध में अनतिप्रश्नात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधान के लिए आतुर इस धर्म्मभीरु भारतीय मानव का कलियुगानुगत युगधर्म्म के प्रति सर्वस्वार्पण—

प्रस्तुत प्रश्नान्तर प्रश्नों में से प्रमुख प्रश्न यही है इस मानवधर्म्म के सम्मुख कि, 'जिस इस भारतीय मानव के प्रज्ञाकोश में मानव की सुख–शान्ति के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण साधन–परिग्रह सदा से ही विद्यमान हैं, यह मानवधर्म्मप्रभु विगत तीन सहस्र–वर्षों से निरन्तर उत्तरोत्तर पतन–गर्त्त–परम्पराओं का ही अनुगामी क्यों और कैसे बनता जा रहा है ?'।

'आत्मचिन्तन' के माध्यम से एवं तन्मूलक 'धर्म्म' के माध्यम से बहुत सम्भव है–भारतीय मानव को वर्त्तमान जीवन में भी 'आत्मशान्ति' मिल गई हो। और अपने प्रत्यक्षदृष्ट, दिग्देशकालात्मक भौतिक जीवन की परिसमाप्ति के अनन्तर इसने अपनी इसी आत्मचिन्तननिष्ठा से तथा धर्म्मभावना से परलोक में भी 'निःश्रेयस्' तथा 'शान्ति' प्राप्त करली हो। अवश्य ही प्रश्नकर्त्ता असमर्थ है इन्द्रियातीत इत्थंभूत अदृष्ट दिग्देशकालातीता परोक्षा स्थिति की आलोचना–प्रत्यालोचना करने में। अवश्य ही अपनी तथाविधा सुरक्षा आत्मशान्ति, एवं परलोकानुगता चिरशान्ति (मोक्ष) की दृष्टि से भारतीय हिन्दू–मानव विश्व के उन अन्य समस्त मानवों के तुलना में सर्वोच्चभूमिका का ही पात्र बन रहा होगा, जो अन्य मानव श्रुति–स्मृति–पुराण–सिद्ध वर्णाश्रमधर्म्म पर कोई आस्था–श्रद्धा नहीं रख रहे। किन्तु—।

इस किन्तु ! का उत्तर स्पष्ट, स्पष्टतर, स्पष्टतम है। दिग्देशकालनिबन्धन–व्यक्त–मूर्त्त–प्रत्यक्ष–भौतिक–जीवन की दृष्टि से तो विगत तीन सहस्र–वर्षों से अपने मानवस्वरूपानुगत आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर इन चारों ही पर्वों से, तथापि विशेषतः मन और शरीर–पर्वों से तो यह हिन्दू–मानव जैसा संत्रस्त रहा है, वैसा सम्भवतः ही क्यों, निरपवादेन अन्य कोई भी मानव तथात्वेन संत्रस्त नहीं ही रहा होगा। ऐसा क्यों ?। अवश्य ही महामतिविन्यासेन स्वयं 'हिन्दू–मानव' के सम्मुख भी वर्त्तमान कालावधि में यह महाप्रश्नात्मक 'क्यों ?' (विशेष उत्पीड़नावसरों पर तो अवश्य ही) उपस्थित होता ही रहा है। परिचित है इस इस 'क्यों ?' के सुप्रसिद्ध उस उत्तर से भी जो 'युगधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। 'कलियुग' जो प्रक्रान्त है विगत पाँच सहस्र–वर्षों से। "कलियुग का धर्म्म ही ऐसा है कि, धर्म्मिष्ठ दुःखी रहें एवं अधम्—"। तत्प्रमुख महामहिमशाली 'कलियुग' एवं 'युगधर्म्म' की दीनता के व्याज से हिन्दू–मानव अपने उन सभी अभियोगों, एवं प्रश्नों के समाधान के लिए आत्मपरितोष करता हुआ अपने मनोराज्य में ऐसी प्रति ही अनुभूत कर लेता है कि, 'उस की तथाविधा दयनीया पतनदशा में स्वयं उस का अणुमात्र भी अपराध नहीं है। यह सबकुछ तो कलियुग की ही महिमा है। काल का ही दण्डविधान है। दिग्देशकाल के नियम से ही धर्म्मिष्ठ (धर्म्मभीरु) शास्त्रनिष्ठ (शास्त्रभीरु), कर्त्तव्यनिष्ठ (कर्म्मभीरु) भी इस मानव को

प्राणित किया, जिस इदंमूला शून्यमायनैक्यारा, स्वप्नमायानुबन्धिनी, दिग्देशकालात्मिका दुःखपरम्परा से आजतक भी तो इस भारतीय–हिन्दू–मानव का परित्राण नहीं होसका है।

८–त्रिसहस्रवर्षावधि में समुद्भूत–आविर्भूत नवग्रह–ग्राहात्मक एतद्देशीय नवविध उद्बोधक–विवेचक महामार्गों का नाम–सम्मरण—

अवश्य ही विगत–युग–प्रक्रान्ता–त्रिसहस्रवर्षात्मिका अवधि में इस मानव का 'उद्बोधन' प्रमाणित करने वाली अनेक विशिष्ट भारतीय प्रज्ञाएँ भारतराष्ट्र में यथासमय अभिव्यक्त भी होतीं रहीं जिन अभिव्यक्तियों से यह 'सत्यसिद्ध' मानव (१)–सृष्टितत्त्वविमर्शपरायण–सत्यमीमांसक–'दार्शनिक विवेचक, –(२)–धर्मतत्त्वविमर्शपरायण–धर्ममीमांसक–'स्मार्त विवेचक',–(३)–विधि–निषेध–विमर्शपरायण–कर्माभिनिविष्ट–'नैयमिक विवेचक, –(४)–भक्तितत्त्वविमर्शपरायण–भक्तिनिविष्ट–'साम्प्रदायिक–विवेचक, –(५)–शास्त्रपठन–पाठन–विमर्शपरायण–शास्त्रभक्त–'विद्वद्विवेचक', (६)–सर्वविमर्शपरायण–सर्ववादी–'–उपदेशक–महामहोपदेशकविवेचक ,–(७)–सर्वविमर्शशून्य–विसंवादी–'कल्याणभावविवेचक',–(८)–लोकशिक्षणपटु–नीतिकुशल–प्रतीच्यपर्योच्छिष्टभोगी–'नीतिविवेचक (नेतार')–(९)–सर्वशिक्षणपटु–मन्यादाकुशल–नैतिकवादसमर्थक–'समाजसुधारक इन सुप्रसिद्ध नवग्रहग्राहात्मक उद्बोधकों विवेचकों–के 'भातिसिद्ध स्वरूपों को साक्षात्, अथवा तो वर्णावर्णिपरम्परया जान और पहिचान रहा है।

९–परदर्शनमूला दिग्देशकालनिबन्धना प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका 'भावुकता' से उत्पीडित त्रिसहस्रवर्षात्मक भारतीय भावुक–हिन्दू–मानव—

क्याविध नवग्रहग्राही के क्वचित्–परम्पराक्रम असंख्य–सम्प्रदाय उन विभिन्न मतवादों के तन्तुवितानात्मक इन्द्रजाल से जालान्वित बन जाने वाला यह भारतीय हिन्दूमानव सचमुच उस सीमा पर्यन्त दिग्देश–कालविमूढ ही बनता चला आरहा है विगत तीन सहस्र वर्षों से जिस सीमात्मक वारुण–पाश से आबद्ध सुनहा हो जाने वाली मानवप्रज्ञा के स्वस्वरूपनिष्ठानुगत सभी नैष्ठिक द्वार सर्वात्मना लोहकपाटाबद्ध ही प्रमाणित हो–जाया करते हैं। जिस प्रज्ञापराधात्मक, दिग्देशकालात्मक महान् दोष से मानव की स्वदर्शननिष्ठा का पारम्परिक स्रोत अवरुद्ध होजाया करता है, जिस अवरोध से ही मानवप्रज्ञा प्रत्यक्ष से प्रभावित होती हुई दिग्देशकालविमूढ रूपेण दिग्–देश–काल–भ्रान्ता ही बन जाया करती है जिस दैशिक–कालिक–भ्रान्ति से ही जो मानवप्रज्ञा मरीचि गन्धर्वनगरलोलावत् स्वस्वरूप–विमुग्धा बन जाया करती है, तद्भ्रान्ति के मूल स्रष्टा–विधाता उसी महान् दोष का नाम है—'भावुकता'। एकमात्र इसी महतामहीयान् दोष (भावुकता) से सम्पिष्ट भी भारतीय हिन्दूमानव दिग्देशकालानुबन्धी भातिसिद्ध–तात्कालिक–प्रत्यक्ष–प्रमाणों से प्रभावित होता हुआ विगत तीन सहस्र वर्षों से अपने नैष्ठिक स्वरूप–बोध से उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला आरहा है।

१०–सत्तातन्त्रसापेक्षतामूलक दिग्देशकालव्यामोहन से व्यामुग्ध भारतीय मानव का सांस्कृतिक–निष्ठाओं से पारम्परिक पतन—

प्रत्यक्षप्रमाणमूला सर्वनाशकारिणी 'भावुकता' ने सर्वप्रथम इस भावुक–भारतीय मानव को उस 'सत्तातन्त्र' के प्रति ही सर्वात्मना प्रणतभाव से समर्पित कर ही तो दिया जिस 'सत्तातन्त्र' (शासनतन्त्र)

कालातीतत्व के समन्वय से 'सम्प्रश्न' का स्वरूप प्रदान करने वाले अप्राकृत–सनातन–ऋषिमानवों के द्वारा निर्धारित तत् 'समाधान' भी 'सनातन' ही है। आज से पाँच सहस्र–वर्ष पूर्व भी इसी प्रश्न ने मानव के सम्मुख एक महती समस्या समुपस्थित कर दी थी, जिस इस महान् प्रश्न के समाधान के लिए ही अन्ततोगत्वा 'महाभारत' नाम से प्रसिद्ध वह भयावह–प्रलय–विभीषिका हो ही जा पड़ा था, जिस के प्रचण्डाघात से समुत्पन्ना मर्म्मवेधिनी निरतिशया अन्तर्वेदना को आजतक भी मानव की 'मानवता' विस्मृत नहीं कर सकी है।

६–भारतीय हिन्दू मानव के सम्प्रश्नात्मक प्रश्नों के समाधान से ही विश्वमानव के दिग्देशकालनिबन्धन प्रश्नों का भी सम्भावित समाधान—

प्रश्न ही नहीं, अपितु यह तो 'सम्प्रश्न' है कि, वह ऐसा कौनसा महामयावह अचिन्त्य–अप्रत्यक्ष–दोष' है जिस के निग्रहात्मक अनुग्रह से शक्ति–सामर्थ्य–योग्यता–ज्ञान–विज्ञान–पौरुष–कला–कौशलादि–यच्चयावत् साधन–परिग्रहों से आबालमस्यः आनरतामेभ्य अन्वित रहने वाला सर्वसमृद्ध भी मानव यथेष्टरूपेण पीड़ित तथा समुत्पीड़ित बन जाता है ? । भारतेतर देशों के मानव भी 'मानव' हैं, मानवश्रेष्ठ हैं अतएव सर्वसाधन–परिग्रह–शक्ति–योग्यता–आर्जव से सर्वात्मना सम्पन्न हैं। किन्तु हम अपनी स्वल्पतमा प्रज्ञा के निग्रह से उन के दिग्देशकालानुबन्धी मनःशरीरभावों से अपरिचित नहीं, तो सुपरिचित भी नहीं हैं। अतएव उन से सम्बन्ध रखने वाले समुत्पीड़नात्मक तथाविध 'प्रश्नों' के समाधान का महान् उत्तरदायित्व हमने दिग्देशकालमीमांसा उनकी लोकप्रज्ञा से ही अनुप्राणित मान लिया है। अतएव अब सम्प्रश्नात्मक प्रश्न एकमात्र भारतीय मानव के सम्बन्ध में ही, तथापि भारतीय उस हिन्दू–मानव के सम्बन्ध में ही हमारे सम्मुख शेष रह जाता है जिस का विलक्षणयोगात्मक भौतिक इतिहास अत्यन्त ही मलीमस प्रमाणित होता जा रहा है। अतएव एकमात्र इसी मानव के सम्बन्ध में सम्प्रश्नात्मक महान् प्रश्न हमारी मर्म्मद्रुमा वेदना का समुत्तेजक बन रहा है। और हमारी ऐसी न केवल 'मान्यता' ही है अपितु श्रद्धा–परिपूर्णा ऐसी 'आस्था' ही है कि भारतीय–हिन्दू–मानव के सम्प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाली समस्यायें ही अधिकांश में विश्व मानव की भी समस्यायें प्रमाणित होंगी। एवमेव इस की समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाले सम्प्रश्नात्मक प्रश्नों का जो समाधान होगा अधिकांश में वही समाधान 'विश्वमानव' के तात्त्विक प्रश्नों का भी होगा। अतएव कह दिया जायगा कि, 'हिन्दू–मानव' के माध्यम से अभिप्रेत यह प्रयास अन्ततोगत्वा तत्त्वतः 'विश्व मानवता' पर ही विश्रान्त होगा।

७–आत्मयोगनिष्ठा से पराङ्मुखा भविष्य–शून्य–दुःख–सन्तप्ता अनात्मभावना से अनुप्राणिता दिग्देशकालनिबन्धना दुःखपरम्परा से आर्त्त भारतीय मानव—

'तीन सहस्र–वर्षों' की अवधि इसलिए प्रमुख मान ली गई है कि, इसी अवधि के उपक्रम में भारतीय मानव की बुद्धि 'आत्मयोग' से वञ्चित हो कर मानसिक–कल्पनाओं के साथ विशेषरूपेण सम्मिलित होगयी, जिस काल्पनिक–उपोपोपक्रम से ही यह भारतीय–मानव आत्मानुगता 'पूर्णता' से उत्तरोत्तर सर्वात्मना पराङ्मुख होता हुआ मानसिक–कल्पनानुगत 'शून्यं–शून्यम्' का ही अनुगामी बन गया जिस से सम्बन्ध रखने वाली वञ्चिकता ने तदात्मिक 'दुःखं–दुःखं' में इसे इसी उपक्रम–काल से उत्तरोत्तर दुःखी ही

प्रकृतिसिद्ध अपौरुषेय, तत्त्वात्मक, छन्दो-वितान-रस-लक्षण, विष्कम्भ (व्यास)-परिणाह मण्डल) हृदय (केन्द्र) रूप, 'प्रज्ञानि'श्यधित नामक, महाकालात्मक वेद के आधार पर (१) शब्दात्मक पौरुषेय वेदशास्त्र का साक्षात्कार पर तन्मूलक 'सांस्कृतिक-आचार' व्यवस्थित हुआ था, जो क राजन्याश्रयमूला भावुकता के पारुष्यपाश में आबद्ध होता हुआ सर्वथा ही तिरोहित होगया। एवं तत्स्थान में युग धर्म-व्यवस्थापक राजन्य की मान्यताओं के अनुपात से ही इस शाश्वत-सनातन ज्ञानविज्ञानात्मक वेदशास्त्र की, तदनुगत स्मृतिशास्त्र की, एवं तन्मूलक पुराणशास्त्र की व्याख्यायें उपनिबद्ध होगईं, जिन इन कल्पित व्याख्याग्रन्थों के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र का ज्ञानविज्ञानात्मक सम्प्रदायवादनिरपेक्ष विशुद्ध मौलिक दृष्टिकोण एकान्ततः ही अभिभूत होगया। और सम्पूर्ण साधन-परिग्रह आदि आदि की विद्यमानता में भारतीय मानव इत्थंभूता अगाम्भीर्या भावुकता से ही दूसरे शब्दों में शास्त्राभासरूपा मान्यता से ही प्रकृतिसिद्ध, अतएव शास्त्रसिद्ध सनातन आचारमार्ग (कर्त्तव्यकर्म्म) से सर्वथा वञ्चित ही हो होगया। एवं निश्चयेन आचारस्खलनात्मक यह 'कर्त्तव्यस्खलन' ही, किंवा 'कर्त्तव्यविस्मृति' ही भारतीय-मानव के त्रिसहस्रवार्षिक पतन का प्रमुख कारण प्रमाणित होगई।

१२-वेदशास्त्रसिद्ध, सत्तानिरपेक्षतामूलक महान् उद्बोधनसूत्र—

स्वयं वेदशास्त्रने एक स्थान पर बड़े ही मार्मिक शब्दों में सत्ताश्रयमूला तपेक्षा भावुकता का स्वरूप निरूपण करते हुए अन्त में राष्ट्र की ज्ञानविज्ञानोपासिका 'ब्राह्मणप्रजा' को यही उद्बोधनसूत्र प्रदान किया है कि, "इसे कदापि राजन्य अर्थात् सत्तानुगत नहीं बनना चाहिए"। सृष्टिस्वरूप-व्यवस्थापक तात्त्विक ऋक्-यजु-साम-अथर्व-वेद के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप के प्रतिपादक सुप्रसिद्ध 'शतपथब्राह्मण' नामक वेदग्रन्थ के 'मैत्रावरुणग्रह' नाम के ग्रहप्रकरण में विस्तार से तथाकथित तथ्य का स्वरूपोपबृंहण हुआ है जिसका निष्कर्ष यही है कि इस भौतिक विश्व में ज्ञान और कर्म्म ये दो ही ब्रह्मविभूतियाँ प्रमुखरूप से सम्पूर्ण भौतिक-व्यवस्थाओं की मूलप्रतिष्ठा हैं। अर्थात्मक भौतिक विश्व की स्वरूप स्थिति ज्ञान, तथा कर्म्म (क्रिया) पर ही अवलम्बित है।

१३-ज्ञान-क्रिया-अर्थमय, मन प्राणवाग्रूप ब्रह्मकर्म्मात्मक आत्मब्रह्म, एवं नामरूप-कर्म्ममय पाञ्चभौतिक विश्व का तदाश्रितत्त्व—

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, अर्थशक्ति इन तीन विभिन्न शक्तियों की समन्वितावस्था से ही विश्व की स्वरूपस्थिति है जिन इन तीनों शक्तियों का मूलाधिष्ठान 'ब्रह्म' किंवा 'आत्मा' नाम से ही प्रसिद्ध है। 'स वा एष आत्मा-वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इत्यादि शातपथी (बृहदारण्यक, शतपथ-चतुर्दशकाण्ड) श्रुति के अनुसार विश्वाधिष्ठानरूप वह आत्मा 'मनःप्राणवाङ्मय' है। ज्ञानशक्ति का 'उक्थ' (प्रभव)

---

(१) प्राकृतिक विश्व का मूल आरम्भक (उपादान) नित्य वेदतत्त्व ही है जिससे सम्पूर्ण विश्व अभिव्यक्त हुआ है। ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के विलुप्त होजाने से तथाविध तात्त्विक वेद का स्वरूप उसी भावुकता से तीन सहस्र वर्षों से अभिभूत होता आरहा है। अठारहसौ पृष्ठात्मक 'उपनिषद्भाष्य-भूमिका' नामक खण्डत्रयात्मक निबन्ध में इसी तत्त्ववेद का स्वरूपोपबृंहण हुआ है।

को ही व्यक्त-मूर्त्त अतएव आदि-अन्त, वर्त्तमानभावानुबन्धी दिग्देश से समन्वित 'काल' को तात्कालिकी मूर्त्त-व्यक्त-भूत-भौतिकी कालिक-व्यवस्थाओं के सञ्चालन के प्रति उत्तरदायी माना गया है एवं जिस तात्कालिक वर्त्तमान-उत्तरदायित्व की दृष्टि से ही—'राजा कालस्य कारणम्' (१) यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। राजा अर्थात् शासक अर्थात् शासक का लोकविधि-विधानात्मक 'राजन्यतन्त्र', अर्थात् 'शासनतन्त्र' (सत्तातन्त्र) ही कालिक-व्यवस्थाओं का कारण माना गया है। जब भी राष्ट्र की लोकसंस्कृतिनिष्ठा (आगम) भावुकतावश अपनी सांस्कृतिक-निष्ठाएँ दिग्देशकाल-व्यवस्थापक 'राजन्य' के प्रति समर्पित कर देती है, स्वभावानुसार जब भी आगम 'राजन्य' बन जाता है, तन्त्राश्रित होजाता है, तो निश्चयेन इसकी दिग्देशकालातीत आत्मनिष्ठानुगता 'भू विराडात्मसंसिद्धा शाश्वत-संस्कृति (सनातन-शाश्वत-धर्म) तन्मूलक-स्वर्विराडात्मसंसिद्ध सनातन-सांस्कृतिक-आचार (सहज-सनातनधर्म) एवं तन्मूलक पुण्यात्मसिद्ध नित्य सांस्कृतिक-आयोजन (मानवीय 'आत्मभाग से अनुप्राणित 'पर्वायोजन 'बुद्धि से अनुप्राणित 'यज्ञायोजन 'मन से अनुप्राणित 'सम्मेलनायोजन, एवं 'शरीर से अनुप्राणित 'समस्तोद्वायोजन नामक चतुर्विध सुप्रसिद्ध भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजन (२) आदि आदि सम्बन्धावत् आत्मसांस्कृतिक-विभूतियाँ दिग्देशकालव्यवस्थापक राजन्यतन्त्र के दिग्देशकालबन्धावृत तात्कालिक-प्राकृतिक-वातावरणों से आत्यन्तिकरूपेण अभिभूत ही बन जाया करती हैं। और इस अभिभवदशा किंवा दुर्दशा में आत्मबुद्धिनिष्ठ भी मानवश्रेष्ठ की सांस्कृतिक-प्रज्ञा दिग्देशकालानुगता तात्कालिकी आपातरमणीया प्रातिभासिकी मान्यताओं की भावुकता में ही अभिनिविष्टा प्रमाणित होजाती है। जिस भावुकतापूर्ण इत्थम्भूत अभिनिवेश के दुष्परिणाम-स्वरूप ही विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय मानव स्वरूप से स्व निष्ठा से स्व-संस्कृति-सभ्यता-आदर्श आचार-आदि से उत्तरोत्तर पराभव (अत्यन्त विदूर) ही होता जा रहा है।

११ भावुकतानुगता आचारस्खलनात्मिका 'कर्त्तव्यकर्म्मविस्मृति' से ही भारतीय मानव का त्रिसहस्रवर्षात्मक पतन—

तथाकथिता अश्रद्धामूला 'भावुकता' ने ही भारतराष्ट्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका प्रकृतिसिद्धा उस स्वत-आत्मबुद्धिनिष्ठा को ही सर्वप्रथम अभिभूत कर लिया, जिस आत्मबुद्धिनिष्ठा के बल पर इस राष्ट्र की नैष्ठिकी प्रज्ञा ने 'काल से काल को उत्पीडित करते हुए' (३) दिग्देशकालातीत अनन्त ब्रह्मनिष्ठा के आधार पर ही अनन्त अव्यक्त-अमूर्त्त-काल के माध्यम से आदि-अन्त व्यक्त-मूर्त्त-काल से अनुप्राणिता दिग्देशकालात्मक-व्यवस्थाएँ व्यवस्थित की थीं, एवं जिन इन व्यवस्थाओं के तन्त्रात्मक, तथा आचारात्मक नियमन के लिए

---

(१) इति ते संशयो मा भूत्—'राजा कालस्य कारणम्'।

—महाभारते भीष्मोक्तिः

(२) इन चारों भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजनों' का सुविशद वैज्ञानिक विवेचन पत्रात्मक लक्षपृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध में हुआ है।

(३) एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्॥

—मनु

१६–मन प्राणवाङ्मय वागब्रह्म का निःश्वासरूप यत्–जू–ऋक्–सामात्मक–अपौरुषेय–तत्त्ववेद, एवं तत्स्वरूपविश्लेषक शब्दात्मक वेदशास्त्र—

पाञ्चभौतिक, चराचर विश्व 'वाङ्मय' है, इस तथ्य का समन्वयार्थ है– विश्व मनःप्राणवाङ्मय है, अर्थात् ज्ञान–क्रिया–अर्थमय है। यही विश्व की संक्षिप्ततमा स्वरूप–व्याख्या है, जिसके माध्यम से प्रस्तुत प्रास्ताविक में यही निवेदनीय है कि चक्षुरिन्द्रिय से दृष्ट पाञ्चभौतिक पदार्थों की मूलप्रतिष्ठा, मौलिक उपादानद्रव्य मनः–प्राण–गर्भित वह वाक् तत्त्व ही है, जिसे तात्त्विकवेद की अपेक्षा से–'जू' कहा जाता है एवं व्यवहारभाषा में जो वाग्रूप 'जू' तत्त्व ही 'आकाश' नाम से प्रसिद्ध है (१)। 'आकाश' नामक, 'जू' रूप यह 'वाक्' तत्त्व ही 'अर्थशक्ति' का मूलस्रोत है, जो कि 'क्रियाशक्ति' धन 'प्राण' तत्त्व से नित्य सश्लिष्ट माना गया है। जिसप्रकार वाक् का साङ्केतिक नाम 'जू' है, तथैव प्राण का साङ्केतिक नाम (इस के सहज गतिधर्म के कारण) 'यत्' कहलाया है। वाग्रूप 'जू' यदि 'आकाश' है, तो तत्र आसमन्तात् परिव्याप्त प्राणरूप 'यत्' 'वायु' (प्राणात्मक तत्त्व वायु) है। प्राण–वाक् किंवा यत्–जूः, किंवा वायु–आकाश तीनों युग्म विज्ञानभाषा में अंशतः समानार्थक ही बने हुए हैं। 'यत्–जू' की समष्टि ही 'यज्जू' है (२) यही परोक्षप्रिय वैज्ञानिकों की परोक्षभाषा में 'यजु' नाम से प्रसिद्ध है जो कि प्राण–वाक्–रूप 'यजु' वयोनाधात्मक छन्दोलक्षण ऋक्–साम–तत्त्वों से आसमन्तात् परिवेष्टित रहता हुआ 'त्रयीमूर्त्ति' ही बन रहा है। त्रिगुणात्मक (३) त्रयीमूर्त्ति (ऋक्–साम–यजुर्मूर्त्ति) यही 'त्रयीवेद' रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–नाम से प्रसिद्धा पाञ्चभौतिक–स्थूलविश्व की आरम्भणभूता (उपादानकारणभूता) सुप्रसिद्धा 'पञ्चतन्मात्राओं' का अभिव्यञ्जक (४) बनता हुआ विश्व का मूलाधार बन रहा है जिस इस तात्त्विक त्रयीवेद को ही 'ब्रह्मनिःश्वसित' नामक 'अपौरुषेय' वेद कहा गया है जिस इस नित्यवाङ्मय (मनःप्राणवाङ्मय) स्वायम्भुव तत्त्ववेद के ज्ञानविज्ञानात्मक प्रकृतिसिद्ध नित्य रहस्य के स्पष्टीकरण के लिए ही ऋषिप्रज्ञा के द्वारा शब्दात्मक वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है।

---

(१)–जूराकाशे, सरस्वत्यां, पिशाच्यां, यवने, स्त्रियाम्।

—हैम

(२)–अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति, एतं यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो 'जूः', यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु-जवते। तदेतद् यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षञ्च, तस्मात् 'यजुः'।

शतपथब्राह्मण १०।३।५।१२।

(३)–त्रैगुण्यविषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

—गीता

(४) शब्दः, स्पर्शश्च, रूपञ्च, रसो, गन्धश्च, पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुण–कर्मतः॥

—मनुः

ब्रह्म (प्रतिष्ठा), नाम (परायण) स्थान आत्मब्रह्म का 'मनस्तन्त्र' है। क्रियाशक्ति का उक्थ-ब्रह्म-साम-'प्राणतन्त्र' है। एवं अर्थशक्ति का उक्थ-ब्रह्म-साम-'वाक्तन्त्र' है। ज्ञानशक्तिमय मनस्तन्त्र से निरुक्तपदार्थों के 'रूपविवर्तों' की अभिव्यक्ति हुई है, क्रियाशक्तिमय प्राण से पदार्थों का 'कर्मविवर्त' व्यक्त हुआ है एवं अर्थशक्तिमयी वाक् से पदार्थों का 'नामविमर्श' प्रकाशित हुआ है। रूप-कर्म-नाम-लक्षण पाञ्चभौतिक महाविश्व का उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण ज्ञानक्रियार्थमय मन.प्राणवाग्रूप आत्मब्रह्म ही सर्वस्व प्रमाणित होता है। इसी आधार पर-'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'-'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं।

१४-अकारात्मक मन, उकारात्मक प्राण, एवं मकारात्मिका वाक् की समष्टिरूप आत्मब्रह्म, तथा तद्वाचक-'प्रणवोङ्कार'—

रसात्मक 'परब्रह्म' (आत्मब्रह्म) की समानधारा से समतुलित 'शब्दब्रह्म' के 'अ-उ-म्' ये तीन वर्ण ही क्रमशः आत्मब्रह्म के मनः-प्राण-वाक् भावों के वाचक बने हुए हैं। अकारवाच्य मन उकारवाच्य प्राण एवं मकारवाच्या वाक् तीनों की समन्वितावस्था ही 'ओङ्कार' (अ-उ-म्-ओम्) है, यही 'प्रणवोङ्कार' है, यही 'ओङ्कार' निरपेक्षर विश्वात्मा आत्मब्रह्म का वाचक है जैसाकि-'तस्य वाचकः प्रणवः' (पातञ्जलयोगसूत्र) इस सूत्र से भी प्रमाणित है।

१५-मन.प्राणगर्भिता 'वाक्' की उ-अ-अप् लक्षणा सर्वव्यापकता, एवं वाग्ब्रह्म की सर्वव्यापकता—

स्वयं 'वाक्' शब्द भी इसी उक्ता शक्तित्रयी का संग्राहक बन रहा है। मनोरूप 'अकार' तथा प्राणरूप 'उकार' इन दोनों को धारण करने वाला तत्त्व ही 'वाक्' है जिसका स्वरूपक्रम यहाँ 'अ-उ-अप्' है वहाँ प्राणात्मक क्रम 'उ-अ-अप्' है ज्ञानशक्तिमय मन भी निष्क्रिय है एवं अर्थशक्तिमयी वाक् भी जड़भावात्मिका है। सक्रिय है मध्यस्थ क्रियाशक्तिमय प्राण। सृष्टिनिर्माणप्रक्रिया में क्रियाशक्तिमय प्राण ही सर्वप्रथम अग्रणी बनता है। 'ऋषि' मूलक इसी प्राथम्य के कारण इस क्रियाशील गतिधर्मा तत्त्व को 'प्राण' कहा गया है। इस प्राथम्य के कारण ही 'मन'-प्राण-वाक् (अ-उ-अप्)-इस प्रकृतिसिद्धा स्थिति का-'प्राण-मन-वाक्-(उ-अ-अप्) यह क्रम सम्पन्न होजाता है। और इसी क्रमसमष्टि का स्थानादेश (वकार) तथा दीर्घ के कारण 'वाक्' (उ-अ-अप्-वाप्-वाक्) यह स्वरूप सम्पन्न होजाता है। इसप्रकार केवल 'वाक्' शब्द भी उ-अ-अप् क्रम से मन.प्राणवाङ्मय आत्मब्रह्म का संग्राहक बन रहा है। इसी आधार पर 'आत्मैवेदं सर्वम्' की भाँति-'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता (१)-'अथो वागेवेदं सर्वम्' (ऐ० आ०) इत्यादि निगम व्यवस्थित हुए हैं।

---

(१)-वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तैत्तिरीयब्राह्मणे

रूप ज्ञानमय मन (किंवा ज्ञानमय मन का संकल्प) ही-'क्रतु' है एवं इस कामात्मक क्रतुरूप संकल्प की प्राण के माध्यम से कर्मरूप में परिणति का नाम ही-'दक्ष' है। आधिदैविकभाषा में संकल्पात्मक मनोमय क्रतु ही 'मित्र' कहलाया है एवं प्राणमय दक्ष ही 'वरुण' कहलाया है। मित्रतत्त्व काम्य की उत्पत्तिभूमि है, एवं वरुणतत्त्व काम्य की उपभोगभूमि है। प्राणैषणानुबन्धिनी प्राकृतिक-प्राणात्मिका आधिदैविकी नित्या-वर्णसृष्टि की परिभाषा में मनोमय ज्ञानात्मक-क्रतुरूप मित्र ही 'ब्रह्म' कहलाया है एवं प्राणमय-कर्म्मात्मक-दक्षरूप वरुण ही 'क्षत्र' कहलाया है(१)। ब्रह्ममित्र 'अभिगन्ता' है, 'प्रेरक' है, मूलप्रतिष्ठा है। तथा क्षत्रवरुण 'कर्त्ता' है, 'प्रेरित' है। एवं जिस तीसरे स्तर पर इस प्रेरणा की अभिव्यक्ति होती है वही अर्थशक्तिप्रधान वैश्य 'वाक्' तत्त्व है, जिसके द्वारा ही भूतसृष्टि में वित्त् भाव आविर्भूत होता है, एवं तत्प्रधान मानव ही वर्णव्यवस्था में 'वैश्य' कहलाया है। यों मनःप्राणवाङ्मय ज्ञान-क्रिया-अर्थ-भावापन्न मित्र-वरुण-विश्वेदेव नामक-तीन नित्य तत्त्व ही भौतिक विश्व के ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य नाम की वर्णत्रयी के स्वरूप समर्पित हो गए हैं, जिनके अनुबन्ध में ही स्थावर-जङ्गमात्मक पाञ्चभौतिक विश्व का जड़-चेतन प्रत्यक्ष वर्ग प्रकृतिसिद्धा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था से ही समन्वित है, जिस व्यवस्था का तथोक्त सृष्टिसाक्षी अव्ययपरमेश्वर पर्त्त में ही सम्बन्ध है (२)। प्रकृत में क्रतु-दक्ष नामक मनः-प्राणरूप-ब्रह्म-क्षत्र-लक्षण-मित्र-वरुणात्मक-वर्ग ही लक्ष्यीभूत है, जिसे तथाकथित तत्त्वद्वयी का भगवान् याज्ञवल्क्य ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

क्रतूदक्षौ ह वाऽअस्य मित्रावरुणौ । एतन्नु-अध्यात्मम् । स यदेव मनसा कामयते 'इदं मे स्याद्', 'इदं कुर्वीय', इति-स एव क्रतुः । अथ यदस्मै समृध्यते, स दक्षः । मित्र एव क्रतुः, वरुणो दक्षः । ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः । अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः ।

—शतपथब्राह्मण ४।१।४।१।

१६—सृष्ट्यारम्भदशानुगत ब्रह्मात्मक मित्र-क्रतु, तथा क्षत्रात्मक वरुण-दक्ष का पार्थक्य, एवं सृष्टिकर्म्मनिरोध—

एक हि भवति-कि सृष्ट्यारम्भ-दशा में सृष्टि की मूलप्रतिष्ठारूप ज्ञानशक्तिमय-मनोरूप-'क्रतु' नामक मित्रब्रह्म तथा क्रियाशक्तिमय-प्राणरूप-'दक्ष' नामक 'क्षत्रब्रह्म' दोनों सर्वथा स्वतन्त्र थे। न मन के प्रति प्राण ने आत्मसमर्पण किया था, एवं न मन ही प्राण के प्रति अनुगत हुआ था। दोनों के इस नानात्व का विभिन्नता का पार्थक्य का वही परिणाम हुआ, जो होना चाहिए था। दोनों के इस पार्थक्य से सर्गनिर्माण-

---

(१) प्राकृतिक आधिदैविक ब्रह्ममित्र से समन्वित ज्ञानाभिमानव ही भौतिक वर्णव्यवस्था में 'ब्राह्मण' है एवं क्षत्रवरुण से समन्वित मानव ही 'क्षत्रिय' है।

(२)—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धि, अकर्त्तारमव्ययम् ॥
—गीता ४।१३।

१७–सद्घन, अतएव श्रमपूरूप 'ऋषि' नामक मनोगर्भित-वाङ्मय प्राणतत्त्व का सृष्टिकर्तृत्व, तथा मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षीप्रजापति, एवं आनन्दविज्ञानमनोमय मुक्तिसाक्षी प्रजापति का संस्मरण—

ऋक्-साम-लक्षण वयोनाधात्मक छन्दोभाव से छन्दित सीमित, मर्य्यादित बना रहने वाला यजोरूप 'यजुर्वाक्तत्त्व' ही पाञ्चभौतिक विश्व का तात्त्विक स्वरूपोपादान है। सद्घन (सन्घन) अतएव-'मामान्य सामान्याम्नाय' न्यायानुसार 'असत्' नाम से प्रसिद्ध गतिधर्म्मात्मक से ऋषि अभिधा से व्यवहृत, क्रियाशक्तिमय 'प्राणतत्त्व' (१) ही तथोक्त अर्थशक्तिमय वाङ्मय विश्व का मूलाधार है। क्रियाशक्तिमय ऋषिमूर्ति इस स्वायम्भुव प्राण का मूलाधार रसोवसीयम्-किंवा 'रसोपरवसु' नाम से प्रसिद्ध 'अव्ययात्ममन' है जिस इस ज्ञानशक्तिमय रसोवसीयस्मनोमय आलम्बन पर प्रतिष्ठित होकर ही गतिशील प्राण ही तपोरूप अन्तर्व्यापार से वाग्रूप श्रम नामक बहिर्व्यापार के द्वारा भौतिकजगत् का स्वरूप-सम्पादन करता है। सर्वाधार, अतएव निराधार इस अव्ययमन के कामनामय (इच्छामय) रेत (२) (शुक्र) के माध्यम से श्रम पमान बन कर ही प्राण के 'तप' से तथा वाक् के 'श्रम' से प्रजापति सृष्टि के प्रवर्त्तक बन रहे हैं (३)। मन प्राण-वाङ्मय इसी विवर्त्त का नाम 'सृष्टिसाक्षीप्रजापति' है जब कि 'आनन्दविज्ञानमनोमय' यही तत्त्व-'मुक्तिसाक्षीब्रह्म' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है।

१८–मनोमय-ब्रह्म-मित्र, तथा प्राणमय क्षत्र-वरुण की क्रतु-दक्षता, तन्निबन्धन अध्यात्म, और अधिदैवत-विवर्त्त, एवं ब्रह्म मित्र-विश्वेदेव-निबन्धना ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यमूला प्रकृतिसिद्धा चातुर्वर्ण्यव्यवस्था—

याज्ञिक-परिभाषा में (अध्यात्मजगत् की दृष्टि से) तथोक्त मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी प्रजापति का ज्ञानशक्तिमय मनस्तत्त्व ही 'क्रतु' कहलाया है एवं क्रियाशक्तिमय प्राणतत्त्व ही 'दक्ष' कहलाया है। तत्स्था-

---

(१) असद्वा इदमग्र आसीत् (तत् 'सत्' सीत्। कथमसत् सत्तापेत)। तदाहु — किं तद्-असत्-आसीत् ?, इति। ऋषयो वाव तदग्रे-'असत्' आसीत्। तदाहु — के ते 'ऋषयः' ?, इति। 'प्राणा वा ऋषयः'। ते यत्-पुरा अस्मात् सर्वस्मात् (वाङ्मयविश्वात्) इदं, (व्यक्तरूपं) इच्छन्तः श्रमेण, तपसा, 'अरिषन्', तस्मात्-'ऋषयः'।
—शतपथब्राह्मण ६।१।१।१।

(२)–कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
—ऋक्संहिता १०।१२९।४।

(३) सोऽकामयत (मनसा), स तपोऽतप्यत (प्राणेन), सोऽश्राम्यत् (वाचा)। इति काम-तपः-श्रम-समन्वयादेव सृष्टिमात्रा समुत्पन्ने।

२२–क्षत्र के द्वारा प्रणतभाव से ब्रह्म का आमन्त्रण—

हे ब्रह्ममित्र ! आप अनुग्रह कर मुझ से, एवं मेरे कर्म में समन्वित होने की कृपा कीजिए ! । साथ मेरी ओर परावर्तित होने का कष्ट कीजिए ! जब आप ऐसा अनुग्रह कर देंगे तो (अपने आरम्भ के नानात्व को, पार्थक्य को विस्मृत कर,) *अपन दोनों ही परस्पर सह–समन्वित हो जायेंगे एकरूप में परिणत हो* जायेंगे । और हाँ, इस सहसमन्वय–कर्म में मैं (क्षत्र) आप को ही (ब्रह्म को ही) अग्रणी–प्रमुख मानूँगा । आप मुझे जब भी, जैसा भी एवं जो भी आदेश प्रदान करेंगे मैं उसी का अक्षरशः पालन करूँगा। मेरे प्रत्येक भौतिक व्यक्त सूत्र कर्म में आप की ही प्रेरणात्मिका (प्रेरणात्मिका) इच्छा सर्वोपरि रहेगी और यों आप मेरे 'पुरोधा' (अग्रगामी–पथप्रदर्शक) रहेंगे और मैं आप की आज्ञा का अनुकर्ता बना रहूँगा।

२३–ब्रह्म की अनुग्रहात्मिका स्वाकृति से ब्रह्म–क्षत्र का समन्वय, तद्द्वारा तत्र ब्रह्म मित्र की प्रमुखता, एवं 'मैत्रावरुणग्रह' का आविर्भाव—

श्रद्धा–भास्या से समन्विता प्रणतभावान्विता इत्थंभूता प्रार्थना से ब्रह्ममित्र अपनी सहजसिद्धा ऋजुता (स्वभावानुगता सरलता) के आकर्षण से आकर्षित हो क्षत्रवरुण की ओर अनुगत होगए, एवं–'तथेति (ऐसा हो हो) इस संक्षिप्ता स्वीकृति के माध्यम से वे ब्रह्ममित्र क्षत्रवरुण के अभिमुख होगए । परिणामस्वरूप दोनों परस्पर समन्वित होगए । इसी सहसमन्वय से दोनों का नानात्व तो होगया अभिभूत, एवं तदुत्थान में दोनों मिलकर एकाकार बन गए । इन दोनों के सह समन्वय से ब्रह्मात्मक जो एक अपूर्व स्वरूप आविर्भूत हुआ वही तत्त्वभाषा में–'मैत्रावरुणग्रह' नाम से प्रसिद्ध हुआ । अपने अपने स्वतन्त्र ब्रह्म–क्षत्र–रूपों से जो मित्र (मन) और वरुण (प्राण) वाङ्मयी सृष्टि के परिग्रह–सञ्चालन में असमर्थ बने हुए थे इसी असहयोग के कारण जो 'ग्रह' सम्पत्ति से पृथक्–प्रमाणित हो रहे, वे ही क्षत्रवरुण के प्रणत–भावानुगत आमन्त्रण से परस्पर समन्वित होते हुए सृष्टिकर्म्मपरिग्रहण में आज सशक्त बन गए । फलस्वरूप इसी सह ग्रहत्व से दोनों की समन्वितावस्था 'मैत्रावरुणग्रह' नाम से प्रसिद्ध होगई । इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए शुक्लयजुर्वेद के द्रष्टा याज्ञवल्क्य कह रहे हैं कि—

स क्षत्र वरुण –ब्रह्ममित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे–उप मा–आवर्त्तस्व–(मां– उपावर्त्तस्व), संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूत कर्म्म करवा, इति । तथेति (ब्रह्म–उवाच) । तौ समसृजेताम् । तत एष 'मैत्रावरुणग्रह '–अभवत् ।

—शतपथ ४।१।४।८।

२४–प्रकृतिसिद्धा ईश्वरकृता वर्णचतुष्टयी, एवं संस्कारसिद्धा ऋषिकृता वर्णव्यवस्था'—

यह है प्रकृतिसिद्धा नित्या स्थिति जिसके आधार पर ही भौतिक–विश्व की प्रकृतिसिद्धा 'वर्णसृष्टि– (चातुर्वर्ण्यसृष्टि) सुव्यवस्थित हुई है प्रकृतिरहस्यवेत्ता ज्ञानविज्ञाननिष्ठ महामहर्षियों के द्वारा । यह संस्मरणीय तथा सर्वथा अविस्मरणीय है कि चातुर्वर्ण्य के स्रष्टा जहाँ जगदीश्वर 'अव्ययात्मा' हैं (गीता ४।१३) वहाँ इस प्रकृतिसिद्धा वर्णचतुष्टयी के व्यवस्थापक भारतीय महर्षिगण हैं । वर्ण प्रकृतिसिद्ध हैं, ईश्वर–

प्रक्रिया प्रक्रान्त न होसकी । क्योंकि मनोमय ज्ञान तथा प्राणमयी क्रिया के समन्वय के बिना अमृतशक्तिमयी वाक् कदापि अर्थाभिमुखा सृष्टि के प्रति उन्मुख नहीं हुआ करती ।

२०—क्षत्र-वरुणात्मक दक्ष से पृथग्भूत ब्रह्म-मित्रात्मक क्रतु की स्वरूप स्थिति का एवं ब्रह्म-मित्रात्मक-क्रतु से पृथग्भूत क्षत्र-वरुणात्मक दक्ष की असमृद्धि तथा स्वरूपरक्षा-विच्युति का दिग्दर्शन—

दोनों के तथाविध नानात्व (पार्थक्य) के सम्बन्ध में ऐसा कुछ अवसर था सृष्ट्यारम्भ दशा में कि ज्ञानशक्तिमय क्रतुरूप ब्रह्ममित्र (मनस्तत्त्व) तो अपने प्रातिस्विक स्वरूप से स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता हुआ स्वस्वरूपधारण में सशक्त-समर्थ-बन गया । किन्तु क्रियाशक्तिमय दक्षरूप क्षत्रवरुण (प्राणतत्त्व) ब्रह्ममित्र के साथ समन्वित न होने से स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित न रहसका । दूसरे शब्दों में—बिना भी क्षत्र-वरुण के ब्रह्ममित्र के स्वस्वरूप की तो कोई क्षति नहीं हुई किन्तु बिना ब्रह्ममित्र के क्षत्रवरुण तो स्वस्वरूप को सुरक्षित रखने में भी असमर्थ रह गया । ब्रह्ममित्र (मनस्तत्त्व) की प्रेरणा की उपेक्षा करने वाले,, किंवा मनोमयी ज्ञानशक्ति से निरपेक्ष स्वतन्त्र बन जाने वाले क्रियाशक्तिमय क्षत्रवरुण ने ज्ञानप्रतिष्ठा से पराङ्मुख रहते हुए जो भी कर्म्म किया वही निष्फल प्रमाणित हो गया । और यों ब्रह्ममित्र से अप्रसूत, अप्रेरित क्षत्रवरुण की स्वरूपप्रतिष्ठा भी संदिग्धा ही बन गई एवं कर्म्म भी समृद्धिशून्य ही प्रमाणित होगया । ऐसी भी दशा की यह बात मनदशा विश्व में ब्रह्म और क्षत्र किंवा क्रतु और दक्ष किंवा मित्र और वरुण किंवा ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति किंवा आत्मप्रजापति का मन और प्राण—नानेवासतुः । विभिन्नपथानुवर्त्ती ही बने हुए थे विश्व की प्रारम्भिक स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए ही भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

> ते हैतेऽग्रे नानेवासतु—ब्रह्म च, क्षत्रञ्च । ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्रात्-वरुणात्—स्थातुम् । न क्षत्रं वरुणः—ऋते ब्रह्मणो मित्रात् (स्थातुं न शशाक) । यद्ध किञ्च वरुणः कर्म्म चक्रे—अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत्समानृधे ।
>
> —शत० ४।१।४।२,३ ।

२१—ब्रह्म और क्षत्र का पार्थक्य, तन्निबन्धन सृष्टिकर्म्मव्यवस्थाओं का निरोध एवं तन्निराकरण के लिए क्षत्र की ब्रह्म के प्रति शरणागति—

आगे क्या घटित विघटित हुआ ! । अवधानम् ! यह स्वाभाविक ही था कि मित्रब्रह्म को स्वस्वरूप-प्रतिष्ठा के लिए किसी के सहयोग की स्वल्पमपि भी आवश्यकता न थी । अपितु वह तो अपने ज्ञानमय मनोरूप से स्वयं में ही परिपूर्ण रहता हुआ स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहने में स्वयं ही समर्थ सशक्त था । किन्तु वरुणक्षत्र की स्थिति ठीक इसके विपरीत थी । बिना ब्रह्म के सहयोग के तो इस क्षत्र की स्वरूपस्थिति भी संदिग्धा थी एवं इसका स्वतन्त्र कर्म्म भी समृद्धिशून्य (सृष्टिकर्म्म में असमर्थ) ही प्रमाणित होरहा था । तदित्थं-स्वस्वरूपस्थिति के लिए एवं स्वकर्म्मसमृद्धि के लिए विवशतावश इस क्षत्रवरुण को ब्रह्ममित्र की शरण में अत्यन्त प्रणतभाव से आ ही जाना पड़ा ।

२६–तत्त्वमीमांसानुगत 'आदर्शवाद' तथा आचारमीमांसानुगत यथार्थवाद, एवं–तत्त्वानुगत 'दर्शन' और आचारानुगत 'धर्म्म' से अनुप्राणित प्रतिष्ठासूत्र —

मैत्रायण्युपनिषदभिव्यक्ति से सम्बद्ध उक्त सन्दर्भ के माध्यम से ही अब हम उस तथ्य की ओर दिग्देशकाल–प्रेमियों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिस तथ्य के स्वरूप–समन्वय के लिए ही हमें इस श्रौतसन्दर्भ का आश्रय लेना पड़ा है। 'तत्त्वमीमांसा' अन्य पक्ष है, एवं 'आचारमीमांसा' विभिन्न पक्ष है। ये ही हमारे (भारतीय) 'आदर्शवाद', तथा 'यथार्थवाद' की मूलप्रतिष्ठा हैं। 'आदर्श' का 'तत्त्वसमन्वय' से सम्बन्ध है, एवं 'यथार्थ' का 'आचारनिष्ठा' से सम्बन्ध है। जबतक 'तत्त्व' को आचार से समन्वित नहीं कर लिया जाता, तबतक उस तत्त्वबोध का कुछ भी अर्थ नहीं है। विशुद्ध तत्त्वबोध तो केवल–'दर्शन' बन कर ही परिसमाप्त होजाता है, जबकि दर्शनात्मक यही तत्त्वबोध आचार से समन्वित होकर 'धर्म्म' (कर्त्तव्य-कर्म्म) स्वरूप में परिणत होता हुआ अपने आचारपक्ष से अभ्युदय (ऐहलौकिक सुख–समृद्धि), तथा तत्त्वपक्ष से निःश्रेयस (पारलौकिक–शान्ति) का कारण बन जाता है, जैसाकि–'यतोऽभ्युदय–निःश्रेयस–सिद्धिः, स धर्म्मः' (वैशेषिक–दर्शन) इत्यादि धर्म्मलक्षण से प्रमाणित है।

२७–धर्म्म, और दर्शन का महान् मौलिकभेद, दार्शनिकवाद के निग्रह से धर्म्म का अभिभव, तत्स्थाने च काल्पनिक मतवादों का आविर्भाव, एवं भारतराष्ट्र के पारम्परिक अव पतन का प्रमुख कारण—

यही 'दर्शन', और 'धर्म्म' में वह महतोमहीयान् जैसा विभेद है जिस भेद के कारण ही विगत तीन सहस्र–वर्षों से भारतीय जनजीवन धर्म्म के तत्त्वमूलक दार्शनिक–पक्ष से परिचय रखता हुआ भी उस के आचारपक्ष को सर्वथा ही विस्मृत किए हुए है। अतएव विद्यमान रहते हुए भी क्यों भारतराष्ट्र का उक्त धर्म्म में उत्तरोत्तर सभी दिशाओं में पतन होता जारहा है ?, इस प्रश्नरूप पूर्वप्रश्न के अन्यान्य समाधानों में से यही प्रमुख समाधान है। दर्शन और धर्म्म के विच्छेद ने ही दूसरे शब्दों में तत्त्वज्ञान, और आचारधर्म्म के पार्थक्य ने ही भारतीय जनजीवन को एकान्ततः शून्य शून्य ही प्रमाणित कर दिया है। अद्यप्रभावानुसार–आचारनिष्ठाशून्या, केवल वाग्विजृम्भणात्मिका दार्शनिकता से ही ज्ञानविज्ञान–सिद्ध भी भारतीय आचारधर्म्म का स्वरूप सर्वात्मना अभिभूत ही होगया है। तथाविधा दार्शनिकता के अनुग्रह से ही प्रकृतिसिद्ध शाश्वत–सनातनधर्म्म के श्रद्धा–मानसिक–विधि–विधानों के स्थान में आचारात्मिका-कर्त्तव्य-कर्म्मनिष्ठा के स्थान में मानवीया भावुकतापूर्णा प्रज्ञा के प्राबल्य से काल्पनिक जैसे जैसे अगणित 'मतवाद' ही प्रादुर्भूत होगये हैं जिन विकर्म्म (शास्त्रविरुद्ध कर्म्म) तथा अकर्म्म–(निरर्थक कर्म्म)–मात्रा की समष्टि ही काल्पनिक कर्म्मों का समुच्चय ही 'शास्त्र' के नामरूप से विगत त्रिसहस्रवर्षावधि में भारतराष्ट्र का आचार बनता जारहा है जिस इत्थंभूत काल्पनिक विकर्म्म–अकर्म्मात्मक आचार की 'नवग्रह–माहात्म्य' प्रमुख–शाखाओं का प्रास्ताविक के आरम्भ में ही स्मरण किया जाचुका है। और निश्चयेन यही भारतराष्ट्र के क्रमिक पतन का प्रमुख कारण माना जासकता है।

हुआ है। किन्तु 'वर्णव्यवस्था' अभिव्यक्ता है–संस्कारों के माध्यम से, जैसाकि–'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च' (वसिष्ठस्मृति) इत्यादि आप्तवचन से प्रमाणित है।

२५–अभिगन्ता–पथप्रदर्शक ब्रह्ममित्र से समन्वित कर्त्ता–पथानुवर्त्ती क्षत्रवरुण की स्वरूप स्थिति, एवं समृद्धि, तथा तदनुबन्धी उद्बोधनात्मक आदेश (ब्रह्म के प्रति)—

महद्विश्व में ब्रह्म (मन) प्रधान है क्षत्र गौण है। ब्रह्म आश्रय है क्षत्र आश्रित है। ब्रह्म प्रेरक है क्षत्र प्रेरित है। ब्रह्म अभिगन्ता है पथप्रदर्शक है। क्षत्र कर्त्ता है पथानुवर्त्ती है। इत्थंभूत ब्रह्म क्षत्र-भावों से ही मानवीय चातुर्वर्ण्य में क्रमशः ब्राह्मण तथा क्षत्रिय की प्रवृत्ति हुई है। अतएव ब्राह्मण 'मित्र' नाम से तथा क्षत्रिय 'वरुण' नाम से भी व्यवहृत हुआ है (१)। मनोमय ब्रह्ममित्र से अन्वित ब्राह्मण ही प्राणमय क्षत्रवरुण का पथप्रदर्शक है पुरोगामी है अतएव इसे क्षत्रिय का 'पुरोधा' (पुरोहित) कहा गया है। पौरोहित्य–सम्बन्ध से क्षत्रिय के सुकृत (पुण्य) तथा दुष्कृत (पाप) दोनों का ब्राह्मणपुरोधा को भी दायादभोक्ता (भागी) बन जाना पड़ता है। अतएव श्रुति उद्बोधन प्रदान कर रही है इस मित्र ब्राह्मण को कि "इसे कुल–शील–योग्यता–आदि से परिचय प्राप्त किए बिना ही जिस किसी ही यजमान–राजन्य का पुरोहित नहीं बन जाना चाहिए"। इस सामयिक आदेशप्रदान के अनन्तर महदनुसरण करती हुई श्रुति आगे चलकर कहती है कि जब क्षत्रवरुण ने ब्रह्ममित्र का आश्रय ग्रहण कर लिया जब ब्रह्म की स्वप्रतिष्ठा बना लिया तो ब्रह्ममित्र की प्रेरणा से इस क्षत्रवरुण का कर्म सुसम्पन्न ही बन गया जोकि कर्म ब्रह्म के समन्वय से पूर्वावस्था में समृद्धि से वञ्चित ही होरहा था। इसी स्वरूप–स्थिति का निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए याज्ञवल्क्य कह रहे हैं कि–

स उ एव पुरोधा। तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत। सं ह्येतौ सृजेते–सुकृतञ्च दुष्कृतञ्च। ॥ यत्र–तत्रो वरुणः कर्म चक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, सं हैवास्मै तदानृधे (समानृधे)।

—शत० ४।१।४।५।

---

(१)–ब्रह्मणो वा एतद्रूपं, यद् ब्राह्मणः (शत० १३।१।५।२)–ब्रह्म वै ब्राह्मणः–(१३।१।५।३)–अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति, तर्हि हैष (अग्निः) भवति–'मित्र'। सर्वस्य ह्याऽयं ब्राह्मणो मित्रम्। न ह्ययं कञ्चन हिनस्ति–(शत० २।३।२।१२)।

—जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यात्–'मैत्रो' ब्राह्मण उच्यते॥

—मनु० २।८७

क्षत्रं वै वरुणः (शत० २।५।२।६।)–क्षत्रस्य राजा वरुणोऽधिराजः (तै० ब्रा० ३।१।२।७।)।

२६–तत्त्वमीमांसानुगत आदर्शवाद तथा आचारमीमांसानुगत यथार्थवाद, एवं–तत्त्वानुगत 'दर्शन' और आचारानुगत 'धर्म्म' से अनुप्राणित प्रतिष्ठासूत्र —

मैत्रायण्युपनिषत् से सम्बद्ध उक्त सन्दर्भ के माध्यम से ही अब हम उस तथ्य की ओर निगूढ़ाकांक्षियों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिस तथ्य के स्वरूप–समन्वय के लिए ही हमें इस आतमन्त्रन का आश्रय लेना पड़ा है। 'तत्त्वमीमांसा' अन्य पक्ष है, एवं आचारमीमांसा विभिन्न पक्ष है। ये ही हमारे (भारतीय) 'आदर्शवाद', तथा 'यथार्थवाद' की मूलप्रतिष्ठा हैं। 'आदर्श' का 'तत्त्वसमन्वय' से सम्बन्ध है, एवं 'यथार्थ' का 'आचारनिष्ठा' से सम्बन्ध है। जबतक 'तत्त्व' को आचार से समन्वित नहीं कर लिया जाता, तबतक उस तत्त्वबोध का कुछ भी अर्थ नहीं है। विशुद्ध तत्त्वबोध तो केवल– दर्शन बन कर ही परिसमाप्त होजाता है, जबकि ज्ञानात्मक यही तत्त्वबोध आचार से समन्वित होकर 'धर्म्म' (कर्त्तव्य कर्म्म) स्वरूप में परिणत होता हुआ अपने आचारपक्ष से अभ्युदय (ऐहलौकिक सुख–समृद्धि), तथा तत्त्वपक्ष से निःश्रेयस (पारलौकिक–शान्ति) का कारण बन जाता है, जैसाकि–'यतोऽभ्युदय–निःश्रेयस–सिद्धिः स धर्म्मः' (वैशेषिक–दर्शन) इत्यादि धर्म्मलक्षण से प्रमाणित है।

२७–धर्म्म, और दर्शन का महान् मौलिकभेद, दार्शनिकवाद के निग्रह से धर्म्म का अभिभव, तत्स्थाने च काल्पनिक मतवादों का आविर्भाव, एवं भारतराष्ट्र के पारम्परिक क्षय पतन के प्रमुख कारण—

यही 'दर्शन', और 'धर्म्म' में वह महामहीयान् वैसा विभेद है, जिस भेद के कारण ही विगत तीन सहस्र–वर्षों से भारतीय जनजीवन धर्म्म के तत्त्वमूलक दार्शनिक–पक्ष से परिचय रखता हुआ भी उस के आचारपक्ष को सर्वथा ही विस्मृत किए हुए है। अन्ततः विद्यमान रहते हुए भी क्या भारतराष्ट्र का उक्त सन्दर्भ में उत्तरोत्तर सभी दिशाओं में पतन होता आरहा है ?, इस प्रक्रान्त पूर्वप्रश्न के अन्यान्य समाधानों में से यही प्रमुख समाधान है। दर्शन और धर्म्म के विच्छेद ने ही दूसरे शब्दों में तत्त्वज्ञान, और आचारधर्म्म के पार्थक्य ने ही भारतीय जनजीवन को एकान्ततः शून्यं शून्यं ही प्रमाणित कर दिया है। सहजभाषानुसार–आचारनिष्ठाशून्या केवल वाग्विजृम्भणात्मिका दार्शनिकता से ही ज्ञानविज्ञान–सिद्ध भी भारतीय आचारधर्म्म का स्वरूप सर्वात्मना अभिभूत ही होगया है। यथाविधा दार्शनिकता के अनुग्रह से ही प्रकृतिसिद्ध शाश्वत–सनातनधर्म्म के सहज–प्राकृतिक–विधि विधानों के स्थान में आचारात्मिका–कर्त्तव्य–कर्म्मनिष्ठा के स्थान में मानवीया भावुकतापूर्णा प्रज्ञा के प्राबल्य से काल्पनिक जैसे वैसे अगणित 'मतवाद' ही प्रादुर्भूत होपड़े हैं जिन विकर्म्म (शास्त्रविरुद्ध कर्म्म) तथा अकर्म्म–(निरर्थक कर्म्म)–भावों की समष्टि ही काल्पनिक कर्म्मों का समुच्चय ही 'शास्त्र' के नामस्खलन से विगत त्रिसहस्रवर्षावधि में भारतराष्ट्र का 'आचार' बनता आरहा है जिस इत्थम्भूत काल्पनिक विकर्म्म–अकर्म्मात्मक आचार की 'नवग्रह–माहात्म्य प्रमुख–गाथाओं का प्रास्ताविक के आरम्भ में ही स्मरण किया जाचुका है। और निश्चयेन यही भारतराष्ट्र के क्रमिक पतन का प्रमुख कारण माना जासकता है।

२८–सौर–चान्द्र–पार्थिव–भावत्रयानुबन्धी सत्य–शिवं–सुन्दर–लक्षण प्राजापत्य-विश्व सौन्दर्य का प्रतिद्वन्द्वी काल्पनिक जगन्मिथ्यात्ववाद, एवं तदनुगता आचारशून्या दार्शनिक-प्रज्ञा—

आचारनिष्ठात्मक अतएव सौरमण्डलानुगत सत्यभावात्मक, पार्थिवमण्डलानुगत शिवभावात्मक, एवं चान्द्रमण्डलानुगत सुन्दरभावात्मक 'सत्यं–शिवं–सुन्दरं'–लक्षण विश्वसौन्दर्य की विगत अवधि में उत्तरोत्तर उपेक्षा ही करते रहने वाली आचारनिष्ठाशून्या एतद्देशीया दार्शनिकप्रज्ञा के द्वारा हर्षभूत 'असत्य–अशिव–असुन्दर'–काल्पनिक सिद्धान्त ही पुष्पित–पल्लवित होते आ रहे हैं कि –'विश्व मायामय है, अतएव असार है, अतएव मिथ्या है। अतएव च हमें इस विश्वसीमा की उपेक्षा कर केवल अध्यात्मवादी ही बने रहना चाहिए'।

२९–काल्पनिक अध्यात्मवाद के महान् विमोहन के द्वारा विश्वसौन्दर्य की पराङ्मुखता–

स्पष्ट–स्पष्टतर–स्पष्टतम है कि, इसी काल्पनिक अध्यात्मवाद से भारतराष्ट्र आचारनिष्ठात्मक भूतसौन्दर्य से एकान्ततः पराङ्मुख ही बनता आ रहा है। जिस 'आत्मा' का स्वरूप मनः–प्राण–वाङ्मय माना जाता हो, जिस आत्मस्वरूप में मन–प्राण–वाग्भूता ज्ञान–क्रिया–अर्थ–रूपा शक्तियों का समन्वय हो, इत्थंभूत सर्वात्मक स्वरूप विश्वात्मा–प्रजापति–आत्मदेवता का उसी के सर्वात्मक विवर्त्तरूप भौतिक–विश्व से उन आचारशून्य अतएव भ्रमात्मक में धर्मद्रोही भारतीय दार्शनिकों ने कैसे क्यों और किस आधार पर पार्थक्य कर दिया? सचमुच यह प्रश्न हमारे जैसे वेदाभ्यासव्यसनमति के लिए तो असमाधेय प्रश्न ही प्रमाणित हो रहा है। 'आलस्यालसन्' के अतिरिक्त (१) और कुछ भी समाधान सम्भव ही नहीं है तथाविध आचारशून्य अतएव सर्वशून्य नितान्त काल्पनिक 'अध्यात्मवाद' के काल्पनिक वाग्विजृम्भण के लिए।

३०–ब्राह्मणग्रन्थों की तत्त्वविज्ञान, तथा तदनुगत–आचार–भाव–निबन्धना सहजशैली, एवं–'उपनिषत्' शब्द का रहस्यार्थ–समन्वय—

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के आचारधर्म– कर्त्तव्यकर्म)–प्रतिपादक 'विधि' नामक 'ब्राह्मण–ग्रन्थों' की यह स्वाभाविक शैली है कि, वे आचारात्मक प्रत्येक कर्त्तव्यकर्म के आरम्भ में उस कर्त्तव्य की 'तत्त्वमीमांसा' ही प्रस्तुत करते हैं जिसे आज की व्यामुग्धा भाषा में जहाँ हम 'दर्शन' कहने लगते हैं वहाँ ऋषिसम्मता आर्षभाषा में यही तत्त्वमीमांसा 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुई है। भौतिक–उपपत्ति–लक्षण तात्त्विक–प्रकृतिसिद्ध उस विज्ञान का नाम ही 'तत्त्वमीमांसा' है जिसके सम्यक् परिज्ञान तथा अनुगमन से जिज्ञासु की मनोबुद्धि युक्त आलम्ब–कर्त्तव्य–के सन्निकट (उप–समीप) निश्चयेन–सन्देहरहितरूपेण (नि) आस्था

---

(१) आलस्यालमिदं ब्रह्मोपास्य दारानपाहरत्।
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यत ।
—महाभारते

भद्गायुक्त-प्रतिष्ठित हाशाठी है-(सीदति) । अतएव 'उप-(विषयसमीप)-नि-(नितरां-धर्मदिग्ध स्पर्श)-सी-ति-(प्रतिष्ठिता भवति मनोयुक्ता बुद्धिर्जिज्ञासु-मानवस्य)-येन मौलिक-उपपत्या-सा उपपत्ति (तद्विज्ञान वा)-अत्र-तत्-फलस्वरूप-उपनिषत् ही 'उपनिषत्' शब्द का निर्वचनार्थ-समन्वय है (१) ।

३१-तत्त्वमीमांसात्मिका 'उपनिषत्' से समन्विता आचारमीमांसा, एवं तदनुप्राणित दश कण्डिकात्मक मैत्रावरुणब्राह्मण—

'क्रतू-न्हो ह वाऽअस्य मित्रावरुणौ०' इत्यादि प्रथमा कण्डिका से आरम्भ कर 'सोऽस्य पुरोधा०' इत्यादि पञ्चम-कण्डिका-पर्यन्त के सन्दर्भ से श्रुति ने तद्ब्रह्मानुसार तथाविधा 'उपनिषत्' (मौलिक-उपपत्तिलक्षण तात्त्विक विज्ञान) का ही स्पष्टीकरण किया है, जिसे हम बस माना दार्शनिक-भाषा में-'तत्त्व मीमांसा' कहसकते हैं । तदनन्तर- तत्-तत्-अयस्त्वमेव० इत्यादि षष्ठ-कण्डिका से आरम्भ कर- 'स भीणाति' इत्यादि दशम-कण्डिकापर्यन्त के सन्दर्भ से क्रमप्राप्ता आचारनिष्ठाभिन्ना 'कर्म्ममीमांसा' का ही स्पष्टोपवृहण हुआ है जिस सन्दर्भ की ६ ठी कण्डिकामात्र के अक्षरार्थ-समन्वय-मात्र से ही हमारे प्रक्रान्त-'प्रास्ताविक' का सम्बन्ध है । अतः केवल उसी अंश के आचारात्मक-समन्वय की ओर ही जिज्ञासु-सामिनिविष्टों का (प्रासङ्गिकतया से) ध्यान आकर्षित किया जारहा है । श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्य-ताम् !! किन्तु आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् !!!

३२-'गुहानिहित' ब्राह्मण, 'सौम्यमारुतिक' क्षत्रिय, तथा 'वाताठपिक' वैश्य, एवं तन्निबन्धना स्वतन्त्र निष्ठाओं का स्वरूप-दिग्दर्शन—

'ब्राह्मणमानव' वह मानव है जो ज्ञानविज्ञानात्मक सृष्टिरहस्यों के स्वाध्याय में (२) 'गुहानिहितवृत्त्या

---

(१)-विस्तार के लिए देखिए-'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका'-प्रथमखण्ड का-'उपनिषच्छब्दरहस्य' नामक परिच्छेद ।

(२)- सृष्टि का बाह्य-व्यक्त-मूर्त-भौतिक स्वरूप जहाँ 'अद्धा' (प्रकट) है वहाँ इसका सुसूक्ष्म-आध्यात्मिक-ज्ञानविज्ञानात्मक-मौलिक-स्वरूप-'अनद्धा' (अप्रकट) है । इस 'अप्रकट' भावानुबन्ध से ही सृष्टितत्त्व को 'रहस्य' कहा गया है । 'रहसि' का अर्थ है-'एकान्ते' । 'एकान्तनिष्ठा' ही, जनसम्पर्कानुगता-बाह्य-सामाजिकता से पृथक् रहने वाला 'एकान्तिक चिन्तन' ही स्वाध्यायनिष्ठ विप्रब्राह्मण की स्वाध्यायनिष्ठा सफलता का मूलकारण है । अतएव इसकी सहजावृत्ति 'गुहानिहिता' ही मानी गई है। अतएव च इसे-'गुहानिहित' ही माना है पुराणपुरुष भगवान् व्यासने (महाभारते) -जबकि सौरप्रकाशवत् एवं सौर तापवत् अपने प्रचण्ड तेज से राष्ट्र की बाह्य-व्यवस्थाओं विधि-विधानों को राष्ट्रप्रजा के द्वारा अनुगमनीया बनाए रखने वाला प्रतापत्राण्यच्च क्षत्रिय उसी वैदिक-परिभाषा में 'सौम्यमारुतिक' कहलाया है एवं चरणशीला व्यव-सायनिष्ठा (व्यापारनिष्ठा) के द्वारा राष्ट्रीय-अर्थतन्त्र का सञ्चालक सर्वप्रिय अतएव 'सभेय' नाम से प्रसिद्ध अर्थशक्तिप्रधान वैश्य 'वाताठपिक' (धूप-छाँह की चिन्ता न रखने वाला इतस्ततः विचरणशील) नाम से प्रसिद्ध हुआ है । निष्कर्षतः-सौम्यमारुतिक क्षत्रिय एवं वाताठपिक वैश्य दोनों जहाँ अपने माया-

(१) अपरामर्ष्यसत्रवत् यावज्जीवन एकनिष्ठा से ज्ञान तल्लीन ही बना रहता है। एवमेव तथाऽन्यान्विष्यत क्षत्रियमानव (शास्ता, शासक) वह मानव है जो सक्रियहस्तमेवा गुहानिहित ब्राह्मण के द्वारा व्यवस्थित प्रकृतिसिद्ध विधि-विधानों के माध्यम से अपने 'सौम्यमारुतिक' तेजोदय के द्वारा राष्ट्र की व्यवस्था करता रहता है। इन दोनों वर्गों के द्वारा राष्ट्र का ज्ञानविज्ञानपक्ष तथा भूतबल दोनों सुव्यवस्थित बने रहते हैं। यही इन दोनों का प्रमुख 'आधार' (कर्त्तव्यनिष्ठा) है। इस आधार को सफल बनाने की जो याज्ञिक-प्रक्रिया है, उसी का नाम 'मैत्रावरुणग्रहयाग' है, जिसका माध्यन्द 'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण' (शतपथ चतुर्थकाण्ड-चतुर्थप्रपाठक के चतुर्थब्राह्मण) में औपपत्तिक स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। इस याग के प्रमुख सूत्रधार ब्रह्म के प्रतिरूपात्मक (प्रतीक नहीं) मित्र ब्राह्मण के सम्बन्ध में एवं प्रतिरूपात्मक क्षात्र राजन्य-सत्तातन्त्र के सम्बन्ध में एक स्वाभाविक विशेष उद्बोधन प्रदान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—

तत्-तद्-अवक्लृप्तमेव-यत्-'ब्राह्मणोऽराजन्य स्यात्'। यद्यु राजानं लभेत-समृद्धं तत्। (किन्तु) एतत् ह-त्वेवानवक्लृप्त-यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति। यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुते (शास्ता)-अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समृध्यते। तस्माद् कर्म्मकरिष्यमाणेन-उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः'। स हैवास्मै तद्ब्रह्मप्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते।

—शतपथ ४।१।४।६।

३३-गुहानिहित ब्राह्मण की अराजन्यता से अनुप्राणित श्रौत-उद्बोधनसूत्र का तत्त्वार्थ समन्वय, एवं राजन्य की ब्राह्मण-सापेक्षता का दिग्दर्शन—

औचित्य पर विशेष-बल प्रदान करते हुए 'तत्' का पुनरावर्त्तन करते हुए, 'तत्-तत्' रूप से ही उद्बोधन प्रदान करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "सो-यही बड़ी सर्वथा उचित ही है कि, जोकि 'वह ब्राह्मण अराजन्य ही बना रहे' अर्थात् अपने आपको सत्ता से सर्वथा निरपेक्ष ही बनाए रक्खे)। पुण्यावरन्ध्ययेन प्रसङ्गात् यदि यह राजा को (सत्तातन्त्र को) उपलब्ध करले तो यह इसकी भूतसमृद्धिमात्र ही मानी जायगी (अर्थात् भौतिक-लाभ के अतिरिक्त इस सत्तामय से ब्राह्मण में और कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होगा)।

त्मक कर्म्म, तथा वाङ्मय कार्य की व्यवस्था के 'सामाजिक मानव' हैं। यहाँ मनोमय ज्ञानतन्त्र का अनुगामी ब्राह्मण ज्ञानतन्त्र की सूक्ष्म परोक्षता से "अरतिर्जनसंसदि" (गीता) न्याय से व्यक्तमानावस्थ जनसम्पर्क से एवं सामाजिक-जीवन की उथलपुथलों से अपने आप को यथासम्भव असंपृक्त रखता हुआ एकान्तचिन्तनलक्षणा गुहानिहितावस्था ही इस ज्ञानविज्ञानात्मक रहस्य के उद्घाटन में सफलता प्राप्त कर सकता है। सम्प्रदायानुसार-दिग्देशकालानुगत क्षात्र-सत्तातन्त्र तथा दिग्देशकालात्मक वैश्यतन्त्र से तटस्थ-निरपेक्ष बना रह कर ही ज्ञानविज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण दिग्देशकालातीता संस्कृति तथा अनन्यकालानुगत सांस्कृतिक आचार, एवं मूर्त्तकलात्मक सांस्कृतिक-आयोजन इन तीनों मर्म्मों के रहस्योद्घाटन में सफल होता है जिस इस तथ्य का ही प्रमाण मैत्रावरुणग्रहात्मक श्रौत-सन्दर्भ से स्पष्टीकरण होने जाता है।

✻-एतद्वै जरामर्य्यसत्रं, यदग्निहोत्रम्। (श्रुति)

किन्तु यह तो सर्वथा अनुचित, एवं अप्राकृतिक-प्रकृतिविरुद्ध ही होगा जोकि क्षात्रसत्ता तन्त्र (ब्राह्मण की भाँति) 'अब्राह्मण' बन जायगा। अर्थात् सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मण जैसे 'अराजन्यब्राह्मण' है, सर्वथा ब्राह्मण को उपेक्षित कर देने वाला क्षात्रसत्तातन्त्र 'अब्राह्मणराजन्य' माना गया है। ब्राह्मण को जहाँ 'अराजन्य (सत्तानिरपेक्ष)' ही रहना चाहिए, वहाँ क्षात्रसत्ता तन्त्र को 'सब्राह्मण' (ब्राह्मणसापेक्ष)' ही बना रहना चाहिए।

जिस जिस भी राज्यतन्त्र (सत्तातन्त्र) ने ब्राह्मण को निरपेक्ष बनाते हुए जो जो भी कर्म किया है, विप्रब्रह्म की उपेक्षा करने वाले वे सभी कर्म समृद्धि से भी सर्वथा वञ्चित रहे हैं, एवं-'न वाऽब्राह्मणः -क्षत्र ब्राह्मणो मित्रात्-स्यात् क्षात्र' इत्यादि श्रुतिके अनुसार वे अपनी स्वरूपरक्षा भी नहीं कर सके हैं। अतएव हम (श्रुति) उद्बोधन (चेतावनी) प्रदान करते हैं उस शास्ता सत्तातन्त्र को कि यदि वह अपने स्वरूप-संरक्षण की कामना रखता है, साथ ही स्व समृद्धिपूर्वक राष्ट्रसमृद्धि का भी इच्छुक है तो उसे अपने प्रत्येक कार्य में प्रकृतिरहस्यवेत्ता ब्राह्मण के द्वारा ही पथनिर्देश प्राप्त करते रहना चाहिए। अवश्य ही ब्रह्ममित्र के द्वारा प्रसूत, एवं आदिष्ट कर्म ही सत्तातन्त्र का स्वरूपस्थिति स्वसमृद्धि एवं राष्ट्रसमृद्धि का कारण होगा (१)।

३४-श्रौत उद्बोधनसूत्र के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक सम्प्रश्न—

प्रसङ्गापेक्षया अत्र उद्धृत पूर्वोक्त 'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण' के सम्बन्ध से प्रकृत में हमें प्रज्ञाशील-जिज्ञासुओं का ध्यान उक्त ब्राह्मण की १ ली कण्डिका के अन्त-महत्त्वपूर्ण-'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः-स्याम्-सर्वदेयावक्लृप्तम्' इस उद्बोधनसूत्र की ओर ही आकर्षित करना है। श्रुतिने ब्राह्मण को एकान्ततः 'अराजन्य' (सत्तानिरपेक्ष:) बने रहने का ही आदेश क्यों दिया ?। सम्भवतः युगधर्म्मात्मक कालिकधर्म्म का ही सर्वस्व मानते रहने वाले दिग्देशकालानुगामियों के लिए तो प्रस्तुत प्रश्न सर्वथा अचिन्त्य ही प्रमाणित होता होगा।

३५-'राजा कालस्य कारणम्' मूला परिवर्त्तनशीला युगव्यवस्था, एवं प्रकृतिसिद्धा नित्या युगचतुष्टयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

'राजा कालस्य कारणम्' सिद्धान्त की अवश्य ही अपनी दिग्देशकालसीमा में अमुक स्वरूप-प्रतिष्ठा है। वह अमुक सीमा है-व्यक्त भावापन्न-मूर्त-दिग्-देश-काल जो क्षण क्षण में परिवर्त्तनशील माने गए हैं। इन्हीं प्रभूत मूर्त-व्यक्त-परिवर्त्तनशील-दिग्-देश-काल-भावों की समन्वितावस्था का नाम ही है तात्कालिक-युगधर्म्म जिसका अमूर्त्त-काल-दिग्-देशानुबन्धी-ब्राह्म-अहोरात्रात्मक, चतुर्दशमन्वन्तरात्मक सत्य-त्रेता-द्वापर-कलि-नामक प्राकृतियुगों से कोई सम्बन्ध नहीं है (२)। तात्कालिक सत्तातन्त्र ही परिवर्त्तन

---

(१) 'शतपथविज्ञानभाष्य'-चतुर्थकाण्ड के 'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण' में इस विषय का विशद-वैज्ञानिक निरूपण कर दिया गया है।

(२) प्रकृतिसिद्धा युगचतुष्टयी विभिन्न तत्त्व है एवं सत्तानुबन्धिनी युगचतुष्टयी भिन्न तत्त्व है। पुराण शास्त्र में इन दोनों विभिन्न युगों का यत्रतत्र विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

शील–शास्त्रनिबन्धन–युगधर्म्म के प्रति उत्तरदायी बने रहते हैं। एवं इस शासनानुबन्धी युगधर्म्मात्मक तात्कालिक 'काल' के सम्बन्ध में ही–'राजा कालस्य कारणम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रकृतिसिद्ध द्वापरयुग के अन्त में तथा प्रकृतिसिद्ध ही कलियुग के आरम्भ में धर्म्मराज युधिष्ठिर का शासन जहाँ 'सत्ययुगात्मक' था, वहाँ उसी युग के दुर्नैष्ठिक आततायी दुर्य्योधन का शासन 'कलियुगात्मक' ही प्रमाणित होरहा था।

३६–प्रति–मानवानुगता अवस्था–भेदभिन्ना चतुर्युगव्यवस्था का स्वरूप–दिग्दर्शन—

इसप्रकार शासकों की पुण्यनिष्ठा तथा पापमावृत्ति के कारण ही प्रत्येक युग में भी उसी प्रकार शास्त्रानुबन्धिनी–सत्य त्रेतादि चतुष्टयी उपयुक्त होती रहती है जैसे कि श्रौतसिद्धान्त (१) के अनुसार प्रत्येक 'प्राकृतिकयुग' में तथा प्रत्येक 'शासनयुग' में प्रत्येक मनुष्य अकर्म्मण्यतावस्थारूपा सुप्तावस्था, निद्रात्यागात्मिका 'कर्म्मप्रवृत्त्यवस्था', उद्बोधनात्मिका 'कर्म्मठावस्था', तथा उत्थीभूतात्मिका 'कर्म्मसम्पन्नावस्था' के भेद से कलि–द्वापर–त्रेता–सत्य इन चारों ही युगों से समन्वित मान लिया गया है। यही एक तीसरे प्रकार की युगव्यवस्था है जिसका ही आर्षनिष्ठाजगत् में विशेष समादर हुआ है। प्रत्येक मानव अपने पौरुष के द्वारा प्रत्येक युग को जहाँ 'सत्ययुग' बना सकता है, वहाँ वही मानव अवस्थातारतम्य से सभी युगों में अपने लिए कलि द्वापरादि–सभी युगों का समर्थन करसकता है। तदित्थं–प्रकृतिसिद्धा नित्या युगचतुष्टयी, शासननिबन्धना युगचतुष्टयी एवं कर्म्मतन्त्रभेदभिन्ना युगचतुष्टयी, भेद से चतुर्युगव्यवस्था त्रिसंस्थाना प्रमाणित होरही है।

३७–स्वनिष्ठा से पराङ्मुख भावुक भारतीय मानव की 'दुग्धधौतन्याय' मूला परत्र दोषस्थापनप्रवृत्ति का मलीमस इतिवृत्त—

इदमत्र विशेषतस्तेयं–अवधेयम्। जैसाकि प्रस्तावना के आरम्भ में निवेदन किया गया है–भारतराष्ट्र की भावुक–प्रजा विगत–युक्त एवं प्रक्रान्त दिग्दर्शनात्मक युगों में अपनी प्रत्येक 'असफलता' का सम्पूर्ण दोष 'कलियुग' के प्रति ही अर्पित–समर्पित–करती हुई अपने आपको एकान्ततः 'दुग्ध–धौतन्याय' (२) से तयोक्त–पतनपरम्परा के प्रति दोषारोपण ही प्रमाणित करती आरही है। इसी युगधर्म्माभ्यास से आज इस भारतीय–भावुक हिन्दू–मानव की भाषा भी सर्वथा उत्तरदायित्व–शून्या ही प्रमाणित होगई है जिस शून्यता में आपाद–मस्तक निमग्नित हो जाने के कारण ही इस मानव में उस सीमापर्य्यन्त 'व्यक्तित्व–विमोहन' अभिव्यक्त हो पड़ा है जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर स्वदोषदर्शन की उद्बोधनात्मिका सहज–प्रवृत्ति सर्वथा ही अन्तर्मुख बन जाया करती है। परिणाम–स्वरूप व्यक्तित्वविमुग्ध ऐसा मानव अपना कोई भी दोष

---

(१) कलिः शयानो भवति, सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठँस्त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन्, चरैवेति, चरैवेति।
—तैत्तिरीयश्रुति

(२) 'दूध का धोया'–शुभ्रचित्र–दोषविमुक्त–(निरपराधी)

स्वीकार न करता हुआ कभी अपनी असफलता का दोष युगधर्म्म से समन्वित कर देता है तो कभी साधन-परिग्रहों पर।

३८—परदोषारोपणप्रवृत्ति से अनुप्राणित भारतीय मानव की व्यावहारिकी लोकभाषा का भावुकतापूर्ण स्खलन—

निश्चयेन अपराध होता है स्वयं हमी के प्रज्ञापराध (नासमझी-अज्ञता) से किन्तु दोष लगाता है यह दूसरों पर। परदोषारोपणाभिरत हम की यह दोषारोपणप्रवृत्ति विगत कतिपय-शताब्दियों से तो सीमा का सर्वथा ही अतिक्रमण कर बैठी है। फलस्वरूप जो दोषारोपणप्रवृत्ति पूर्व युगों में केवल मानवों के प्रति ही समर्पित होती थी, आगे चल कर तो वह मनोजीवी पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि प्राकृत-यथाजात प्राणियों के साथ भी समन्वित हो पड़ी और अन्ततोगत्वा तो इस पद्धति का जड़पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध स्थापित होगया। इसप्रकार भाग्य ईश्वर कलियुग अन्यमानव मनोजीवी प्राणीसर्ग, और अन्ततोगत्वा जड़पदार्थ, आदि आदि अनेक प्रकारों में इस भारतीय भावुक मानव की, आचारशून्य अकर्म्मण्य, किंवा विकर्म्मरत किंवा निरर्थककर्म्मरत मानव की दोषपरम्पराएँ समन्वित होपड़ी एवं तदनुपात से ही इस में भाषा का भी आत्यन्तिकरूप से स्खलन ही होगया।

३९—भाषास्खलन के कतिपय उदाहरण, एवं तत्प्रतिद्वन्द्वी नैष्ठिक उदाहरण—

'कण्टक' (कांटा) से मानव अपने प्रज्ञापराध से ही विद्ध होता है। अतएव इसे कहना यही चाहिए था कि,—'मैंने भूल से कांटा चुभा लिया'। किन्तु पूर्वाभ्यासानुगत भावुकतावश आज इस की भाषा बन गई है—'मेरे कांटा चुभ गया' यह। मानो कांटा इच्छा ही कर रहा था इसके चुभने के लिए। इसीप्रकार 'मेरे पत्थर की ठोकर लग गई' 'वृक्षस्थाणु (१) से मैं टकरा गया' 'सांप ने मुझे काट लिया' आदि आदि रूप से सभी व्यवहार परदोषारोपणात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं जबकि इन सभी निदर्शनों में अपराधी स्वयं मानव ही बना हुआ है। और—'मैंने पत्थर की ठोकर लगाली चक्षु के दोष से' इत्यादि रूपेण स्वदोष-स्वीकृति से पराङ्मुख ही बन गया यह भावुक मानव। निश्चयेन इसी भयावहा भ्रान्ति से इसने अकर्म्म-विकर्म्मात्मक अपने सभी दोषों को कभी ईश्वर के साथ समन्वित कर दिया तो कभी काल के प्रति। कभी व्यवस्थापिका सत्ता के प्रति तो कभी प्रकृतिसिद्ध कलियुग के प्रति तो कभी अन्यान्य क्षेत्रों के प्रति।

४०—युगधर्म्मानुगत कालिक परिवर्तनों की सहजगति—

मानते हैं-भुक्त-प्रभुक्त पांच सहस्र-वर्षों से प्रकृतिसिद्ध कलियुग का ही भोग हो रहा है। और निश्चयेन द्वापर-त्रेता-सत्य-युगत्रयी की अपेक्षा इस वर्त्तमान कलियुग में सत्कर्म्मप्रवृत्ति उत्तरोत्तर क्रमशः अन्तर्मुख ही बनती जारही है। किन्तु प्रकृतिसिद्ध इस कलियुग का जो परिमाण गणनाकालानुक्रम से शास्त्रों में व्यवस्थित हुआ है उसे सम्मुख रखते हुए हमें यह मान ही लेना पड़ता है कि दिग्देशकालानुबन्धिनी प्रजा का यह कालिक-परिवर्त्तन अत्यन्त ही सहजगति से होरहा है।

---

(१)—न ह्येष स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यति।

सुविततत्त्वविमर्शपरायण, मानवाभिजात्ययुक्त विद्वान्-ब्राह्मण को अपनी इस सांस्कृतिक-निष्ठा के संरक्षण के लिए प्राणपण से, प्रयत्नपूर्वक 'असाम्राज्य' ही बना रहना चाहिए। क्योंकि यही इसके सांस्कृतिक-स्वरूप-संरक्षण का प्रमुख अवलम्ब है। अर्थात् दिग्देशकालनिबन्धन शासनतन्त्रात्मक सत्तातन्त्रों के प्रभाव से ब्राह्मण से ब्राह्मण को असंस्पृष्ट ही बना रहना चाहिए।

४६–'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दों से अनुप्राणिता प्रजापति की दो विभिन्न सृष्टियों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कारण स्पष्ट है। संस्कृति, और सभ्यता, दोनों शब्द सुपरिचित हैं। पाञ्चभौतिक महाविश्व के स्रष्टा मनःप्राणवाङ्मय जिस 'प्रजापति' का आरम्भ में स्मरण किया गया है, उस की 'कृति' [रचना] दो महिमा-भावों में विभक्त मानी गई है। सूक्ष्मा आध्यात्मिका-कृति' ही उस प्रजापति की 'अन्तरङ्गकृति' है, एवं स्थूला 'वाङ्मयी-कृति' ही उसकी 'बहिरङ्गकृति' है। इन्हीं को सूक्ष्मकृति स्थूलकृति भी कहा जासकता है। मानसकृतिरूपा सूक्ष्मकृति उस की रहस्य-पूर्णा 'परोक्षकृति' है, एवं वाङ्कृतिरूपा स्थूलकृति उस की प्रत्यक्ष-कृति' है। एक ही प्रजापति की कृति क्यों और कैसे दो महिमा-भावों में परिणत होगई ?, प्रश्न का तात्त्विक समाधान 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्' (शतपथब्राह्मण) इत्यादि श्रुतिवचन के रहस्यबोध पर ही अवलम्बित है।

४७–प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति का समन्वय, एवं उस के अमृत-मर्त्य-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

'प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का ही नाम प्रजापति है'। मनःप्रधान अव्ययपुरुष ही 'पुरुष' है जिसे 'भा'-रूप सत्यात्मक, आकाशात्मा भी माना गया है (१)। मनोमय इस अव्ययपुरुष की अन्तरङ्गा 'परा' प्रकृति ही 'अक्षर' है, और यह प्राणप्रधाना है प्राणमयी है। एवं बहिरङ्गा 'अपरा' प्रकृति ही 'क्षर' है और यह वाक्प्रधाना है वाङ्मयी है। मनोमय मनःप्रधान अव्ययपुरुष की यही प्रकृति रसप्राधान्या-वस्था में-'अमृताप्रकृति' है यही 'अमृताक्षर' है (२)। एवं इसी पुरुष की यही प्रकृति बलप्राधान्यावस्था में 'मर्त्याप्रकृति' है यही 'मर्त्याक्षर' है। इसप्रकार पुरुष की एक ही प्रकृति रसानुबन्धी 'प्राण' तथा बलानुबन्धिनी 'वाक्'-के भेद से क्रमशः अमृत मर्त्य इन दो विवर्त भावों में परिणत होरही है। प्रकृति के ये दोनों विवर्त ही क्रमशः आध्यात्मिका सूक्ष्मकृति तथा आधिभौतिक स्थूलकृति पूर्वोक्त इन दोनों कृतियों की प्रवर्त्तिका बन रही है।

४८–पुरुषप्रजापति की रस-बलानुबन्धिनी सोलह कलाएँ—

आनन्द-विज्ञान-प्राण-वाक्-गर्भित-मनस्तत्त्वात्मक पञ्चकोशात्मक, पञ्चकल 'पुरुषात्मा' ही-'अव्ययात्मा' है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोमात्मिका-प्राणतत्त्वात्मिका पञ्चकलोपेत अमृता प्रकृति

(१)–मनोमयो ऽयं पुरुषो भाः, सत्यं, आकाशात्मा।
—बृह० उप० ५।६।१।

(२)–अमृतस्यैष सेतुः (अक्षर) —मुण्डक २।२।५।

ही 'अक्षरात्मा' है। प्राण – आप–वाक्–अन्नाद–अन्नात्मिका पञ्चकलोपेता सत्यप्रकृति ही–'क्षरात्मा' है। एवं इन तीनों कलात्मक तन्त्रों से अतीत अमना–अप्राणात्मक (१) विश्वातीत तत्व ही इन तीनों की पन्द्रह कलाओं का पूरक सोलहवाँ निष्कल–निरञ्जन–'परात्पर' है।

४६–षोडशकला–समन्वित षोडशी प्रजापति का संस्मरण—

पञ्चकल मनोमय अव्ययपुरुष, पञ्चकल प्राणमय अक्षर (पराप्रकृति) पञ्चकल वाङ्मय क्षर (अपराप्रकृति) एवं निष्कल परात्पर इन षोडश (सोलह) तन्त्रों की समष्टि का नाम ही वह 'षोडशी–प्रजापति' नामक 'प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति' है जिस की प्रकृति का अक्षरात्मक अंश भाग अमृत है, एवं क्षरात्मक अंश भाग मर्त्य है।

५०–'नासदासीन्नो सदासीत्' मूलक सदसद्विलक्षण प्रजापति, और अनुगमवचन—

प्राणात्मक अंश अमृताक्षर-भाग ही उसी का–'सद्रूप' है, एवं वागात्मक अंश मर्त्य क्षर भाग ही उसी का 'असद्रूप' है। इन दोनों प्राकृत सत्-असद्‌भावों का प्रवर्त्तक, अतएव सत्-असद्‌भावात्मक (२), अतएव च सत्, और असत् (अक्षर, और क्षर) से अतीत बनता हुआ–'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' (ऋक्-सं॰ १०।१२६।१) इत्यादि रूपेण सत्, और असत्, दोनों से ही विलक्षणभावमाध्यम से उपगीयमान प्रकृति-विशिष्ट यह षोडशीप्रजापति ही भूत–भवत्–भविष्यत्, सब कुछ बन रहा है (३)। इसी की तथोक्ता सोलह कलाओं के आधार पर जहाँ–'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' (शत॰ १३।२।२।१३) यह अनुगम सिद्धान्त प्रतिष्ठित है वहाँ परात्पर–अव्यय–अक्षर–क्षर–इन चार प्रमुख विवर्तों के आधार-पर 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' (शत॰ ब्रा॰ १४।४।१) यह अनुगम प्रतिष्ठित है।

---

(१)——अप्राणो ह्यमना शुभ्र –अक्षरात् परत पर (तस्मात् 'परात्पर')

(२)——अमृत चैव, मृत्युश्च, सदसच्चाहमर्जुन ! (गीता)

अक्षरापेक्षया स एवाव्ययः सत्, क्षरापेक्षया च स एव असत् इति निष्कर्ष।

(३) क–यस्मान्न जात परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापति प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥
—यजु सहिता ८।३६।

ख–यस्माज्जात न पुरा किञ्च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापति प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥
—यजुर्सं० ३२।५।

ग–प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥
—यजुर्सं॰ १०।२०।

सचित्स्वविमर्शपरायण ज्ञानशक्तियुक्त विद्वान्-ब्राह्मण को अपनी इस सांस्कृतिक निष्ठा के संरक्षण के लिए प्राणपण से, प्रयासपूर्वक 'अराजन्य' ही बना रहना चाहिए। क्योंकि यही इसके सांस्कृतिक-स्वरूप-संरक्षण का प्रमुख अवलम्ब है। अर्थात् दिग्देशकालनिबन्धन शासनतन्त्रात्मक राजतन्त्रों के प्रभाव से [illegible] ब्राह्मण को असंस्पृष्ट ही बना रहना चाहिए।

४६–'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दों से अनुप्राणिता प्रजापति की दो विभिन्न सृष्टियों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कारण स्पष्ट है। संस्कृति और सभ्यता दोनों शब्द सुपरिचित हैं। पाञ्चभौतिक महाविश्व के द्वारा मनःप्राणवाङ्मय जिस 'प्रजापति' का आरम्भ में स्मरण किया गया है उस की 'कृति' [रचना] दो महिमा भावों में विभक्त मानी गई है। सुसूक्ष्मा 'प्राणात्मिका-कृति' ही उस प्रजापति की 'अन्तरङ्गकृति' है एवं स्थूला वाङ्मयी-कृति' ही उसकी 'बहिरङ्गकृति' है। इसी को सूक्ष्मकृति स्थूलकृति भी कहा जासकता है। प्राणकृतिरूपा सूक्ष्मकृति उस की रहस्य-पूर्ण 'परोक्षकृति' है एवं वाक्कृतिरूपा स्थूलकृति उस की प्रत्यक्ष कृति' है। एक ही प्रजापति की कृति क्यों और कैसे दो महिमा भावों में परिणत होगई? प्रश्न का तात्त्विक समाधान 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्' (शतपथब्राह्मणे) इत्यादि श्रुतिवचन के रहस्यबोध पर ही अवलम्बित है।

४७–प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति का संस्मरण, एवं उस के अमृत-मर्त्य-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का ही नाम प्रजापति है। मनःप्रधान अव्ययपुरुष ही 'पुरुष' है जिसे 'भा'-रूप सत्यात्मक, आकाशात्मा भी माना गया है (१)। मनोमय इस अव्ययपुरुष की अन्तरङ्गा 'परा' प्रकृति ही 'अक्षर' है और यह प्राणप्रधाना है प्राणमयी है। एवं बहिरङ्गा 'अपरा' प्रकृति ही 'क्षर' है और यह वाक्प्रधाना है वाङ्मयी है। मनोमय मनःप्रधान अव्ययपुरुष की यही प्रकृति रसप्राधान्यावस्था में–'अमृतप्रकृति' है यही 'अमृताक्षर' है (२)। एवं इसी पुरुष की यही प्रकृति बलप्राधान्यावस्था में 'मर्त्यप्रकृति' है यही 'मर्त्याक्षर' है। इसप्रकार पुरुष की एक ही प्रकृति रसानुबन्धी 'प्राण' तथा बलानुबन्धिनी 'वाक्'–के भेद से क्रमशः अमृत मर्त्य इन दो विभक्त भावों में परिणत होती है। प्रकृति के ये दोनों विवर्त ही क्रमशः प्राणात्मिका सूक्ष्मकृति तथा वागात्मिका स्थूलकृति पूर्वोक्ता इन दोनों कृतियों की प्रवर्तिका बन रही है।

४८–पुरुषप्रजापति की रस–बलानुबन्धिनी सोलह कलाएँ—

आनन्द–विज्ञान–प्राण–वाग्–गर्भित–मनस्तन्त्रात्मक पञ्चकोशात्मक पञ्चकल 'पुरुषात्मा' ही–'अव्ययात्मा' है। ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोमात्मिका–प्राणतन्त्रात्मिका पञ्चकलोपेता अमृता प्रकृति

---

(१)–मनोमयो ऽय पुरुषो भा, सत्यं, आकाशात्मा। —बृह० उप० ५।६।१।

(२)–अमृतस्यैष सेतुः (अक्षर) —मुण्डक २।२।५।

५२–षोडशीपुरुषप्रजापति की अव्यय अक्षर–क्षर–मूला भाव–गुण–विकार निबन्धना त्रिविधा सृष्टि का तात्त्विक स्वरूप–दिग्दर्शन—

मित्रस्य गतिश्चिन्तनीया। प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति का मनःप्रधान अव्ययभाग (पुरुष) ही प्राजापत्या सृष्टि का 'किंस्विदासीदधिष्ठानम्' (१) मूलक 'अधिष्ठान' ('आलम्बनकारण') है। इस मूलाव्ययपुरुषा धिष्ठान का नाम ही– ममब्रह्म है। इस ममब्रह्म (अव्ययपुरुष) पर 'अधिष्ठित' प्राणप्रधान अक्षरभाग (अव्ययपुरुष की 'परा' नाम की–अन्तरङ्गप्रकृति') ही सृष्टि का–'कथासीत्' मूलक 'असमवायिकारण' ('निमित्तकारण') है। एवं इसी ममब्रह्म पर प्राणमय अक्षर के माध्यम से 'प्रतिष्ठित' क्षरभाग (अव्यय–पुरुष की–'अपरा' नाम की 'बहिरङ्गप्रकृति') ही सृष्टि का–'आरम्भणं कतमित्स्वित्' मूलक–'आरम्भण' ('समवायिकारणात्मक उपादानकारण') है। इन तीनों कारणों से अभिव्यक्त–व्यक्त–प्रसूत (२) प्राजापत्यसर्ग इन तीन 'आत्ममहिमा' भावों के अनुबन्ध से त्रिधा विभक्त हो रहा है, जो कि तीनों सर्ग क्रमशः भावसर्ग (अव्ययात्मक) गुणसर्ग (अक्षरात्मक,) एवं विकारसर्ग (क्षरात्मक) नामों से प्रसिद्ध हैं। मनोमय–अव्यय से अनुप्रेरित भावसर्ग ही प्रजापति की 'प्रकृतिरूपा–सूक्ष्मतमा ऋषिसृष्टि' है जिसका–'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (३) (गीता १०।५।) इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है। यही–'मानसीसृष्टि' है यही–'पुरुषसृष्टि (अव्ययसृष्टि)' है। प्राणमय अक्षर से अनुप्राणित गुणसर्ग ही प्रजापति की 'आभ्यन्तरकृतिरूपा सूक्ष्मा 'देवसृष्टि' है। एवं वाङ्मय क्षर से समन्वित (४) विकारसर्ग ही प्रजापति की 'बाह्यकृतिरूपा–स्थूला–भूतसृष्टि' है। इन तीनों में भावात्मक सर्ग पुरुषसर्ग है, एवं–गुण–विकार–नामक दोनों सर्ग अक्षर क्षर, नाम की परा–अपरा प्रकृतियों के द्वारा क्रमशः अनुप्राणित तथा समन्वित होते हुए–'प्राकृतिकसर्ग' हैं जिन्हें लक्ष्य बना कर ही भगवान् वासुदेवकृष्णने कहा है–

प्रकृतिं, पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति–सम्भवान्।
—गीता १३।१६।

---

(१)–किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित् कथासीत्।
—ऋक्संहिता

(२) अव्यय के द्वारा अभिव्यक्त, अक्षर के द्वारा व्यक्त, एवं क्षर के द्वारा प्रसूत।

(३) महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
—गीता १०।६।

(४)–अव्ययात्मक मन से 'प्रेरित' अक्षरात्मक प्राण से 'अनुप्राणित' एवं क्षरात्मिका वाक् से 'समन्वित'।

५१–प्रजापति की 'समप्रज्ञता', तदनुबन्धी 'सम्' उपसर्ग, एवं तन्निबन्धन-समता-समत्व-साम्य-एकीभाव–आदि समत्वप्रतिपादक शब्द—

उक्त प्राजापत्य-स्वरूप के द्वारा प्रकृत में यही निवेदनीय है कि, प्रकृति-विशिष्ट पुरुष (अव्ययात्मा) ही सर्वत्र सम भूतों में 'समवस्थित (१) बना रहता हुआ-'समप्रज्ञ' (२) नाम से प्रसिद्ध है। अपने स्वनिबन्धनवाद मय-मर्त्य, अतएव नानाभावापन्न भौतिक-(३) क्षरधर्म्म से दिग्देशकालात्मक भौतिक पदार्थ विभिन्न-भावापन्न हैं अनेक भावाक्रान्त है (४)। इन विभिन्नों में विभक्तों में अनेकों में अविभिन्न–अविभक्त–एकरूप से प्रतिष्ठित रहना ही अव्ययपुरुष का 'समप्रज्ञत्व' है (५)। इसी आधार पर व्याकरणशास्त्र का सुप्रसिद्ध 'सम्' उपसर्ग एकीभाव का ही वाचक माना गया है जैसा कि– समित्येकीभावे' से स्पष्ट है। एकभावात्मक, सर्वत्र समरूपेण अवस्थित 'अव्ययेश्वर' नामक समप्रज्ञ' का संग्राहक एकीभावात्मक यही 'सम्' उपसर्ग प्रमाणित हो रहा है। अतएव यत्र यत्र शास्त्र में जब भी तत्त्वों की अभिन्नता व्यक्त करनी होती है, तब तत्र सर्वत्र 'सम् उपसर्ग ही समन्वित कर लिया जाता है। संस्कृति–संस्कार–संस्कृत–इत्यादि सुप्रसिद्ध शब्दों में पठित 'सम्' उपसर्ग 'समप्रज्ञानुगता' इस समता' का 'समत्व' का 'साम्य' का 'एकीभाव' का ही संग्राहक बन रहा है। जैसा तात्त्विकी–स्थितिः।

---

(१)–समं पश्यन् हि सर्वत्र 'समवस्थित'-मीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं, ततो याति परां गतिम्॥
—गीता १३।२८।

(२)–इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये मनः स्थितम्।
निर्दोषं हि 'समप्रज्ञ' तस्माद् ब्रह्मणि, ते स्थिताः, ॥
—गीता ५।१६।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति, स पश्यति॥
—गीता १३।२७।

(३)–क्षरः सर्वाणि भूतानि (गीता)

(४)–मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।
—(उपनिषत्)

(५)–अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
—गीता १३।१६

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
—गीता १८।२०।

५५–अक्षरानुबन्धी–दैवभावानुगत–प्राणात्मक सूक्ष्म विश्व का संस्कृतित्व, क्षरानुबन्धी–भूतभावानुगत–वागात्मक स्थूल विश्व का सभ्यतात्व, एवं मित्र–ब्रह्म–प्रतिरूप ब्राह्मण के द्वारा 'संस्कृति' का, तथा क्षत्र–वरुण–प्रतिरूप सत्तातन्त्र के द्वारा 'सभ्यता' का सम्भावित–संरक्षण—

प्रजापति का मनोगर्भित प्राणात्मक सुसूक्ष्म सनातन आधिदैविक विश्व ही–'संस्कृति' है एवं इसी का मनःप्राणगर्भित–वागात्मक स्थूल–परिवर्त्तनशील आधिभौतिक जगत् ही सभ्यता है एवं यही पूर्वोक्त–प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति की इन दोनों सुप्रसिद्ध अमूर्ता–मूर्त्ता कृतियों का संक्षिप्ततम स्वरूप–समन्वय है जिसे मध्यस्थ बनाए बिना 'प्रतिभाति– तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्य' इस महामाङ्गलिक उद्बोधनसूत्र का समन्वय सम्भव ही नहीं है। संस्कृति और सभ्यता शब्दों से अनुप्राणित अधिदैवत और अधिभूत को लक्ष्य बनाए, एवं इस आधार पर ही इस उद्बोधनसूत्र–समन्वय का निःसीम अनुग्रह कीजिए। 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'।

प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति की अक्षरप्राणनिबन्धना नित्या कृति ही 'नित्या दैवसंस्कृति' है, एवं क्षरवागनिबन्धना अनित्या (परिवर्त्तनशीला) कृति ही 'अनित्या भूतसभ्यता' है। इन दोनों सहज-सिद्ध संस्कृति, सभ्यता–रूपा दैव–भूत–कृतियों के आधार पर ही भारतीय ऋषिप्रज्ञा के द्वारा 'भारतीय–संस्कृति' तथा 'भारतीय-सभ्यता' नामक दोनों तन्त्रों की स्वरूप-व्यवस्था हुई है। जिसप्रकार प्रकृतिजगत् में 'संस्कृतिरूपा-दैवकृति' का उत्तरदायित्व मनस्तत्त्वात्मक अनुभावापन्न–ज्ञानशक्तिप्रधान मित्रब्रह्म पर अवलम्बित है एवं जिसप्रकार 'सभ्यतारूपा–भूतकृति' का उत्तरदायित्व मनोगर्भित–प्राणतत्त्वात्मक–दक्ष–भावापन्न–क्रियाशक्ति–(पौरुषशक्ति)–प्रधान 'वरुणक्षत्र' पर आश्रित है ठीक इसीप्रकार–'देवाननुविधा वै–मनुष्याः'–'यद्दै देवा अकुर्वस्तत् करवाणि'–'ब्रह्मणयद्भिकृति कर्त्तव्या'–'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्'–'यदमुत्र तदन्विह'–'यथाण्डे–तथा पिण्डे' इत्यादि के अनुसार मित्रब्रह्म के प्रतिरूप ब्राह्मण के उत्तरदायित्व पर दैवकृति की प्रतिरूपा 'संस्कृति' का तथा वरुणक्षत्र की प्रतिरूपा राजन्यसत्ता के उत्तरदायित्व पर भूतकृति की प्रतिरूपा 'सभ्यता' का उत्तरदायित्व समर्पित हुआ है तत्त्ववेत्ता महामहर्षियों के द्वारा।

५६–सत्तानिरपेक्षा 'संस्कृति', एवं सत्तासापेक्षा 'सभ्यता', तथा संस्कृति की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठिता–व्यवस्थिता सभ्यता के प्रति ही सत्तातन्त्र के व्यवस्था–सञ्चालन–मात्र का उत्तरदायित्व—

अतएव ब्राह्मण को हम जहाँ संस्कृति का अधिष्ठाता मानेंगे वहाँ सत्तातन्त्र को सभ्यता का ही संरक्षक कहेंगे। और इसी आधार पर 'संस्कृति' शब्द को जहाँ सत्तानिरपेक्ष' कहा जायगा वहाँ 'सभ्यता' शब्द को 'सत्तासापेक्ष' माना जायगा। अतएव कहा और मान लिया जायगा कि ब्राह्मण के 'संस्कृतितन्त्र' में सत्तातन्त्र यत्किञ्चित् भी हस्तक्षेप नहीं करसकेगा। अपितु इस सत्तातन्त्र का एकमात्र यही कर्त्तव्य होगा कि "यह संस्कृतिनिष्ठ–ज्ञानविज्ञाननिष्ठ–प्रकृति–रहस्यवेत्ता ब्राह्मण की संस्कृति के आधार पर निर्णीत

५३–भावसृष्टि का असृष्टित्व, एवं गुण–विकार–सृष्टियों का सृष्टित्व, तथा प्रजापति की दो विभिन्न कृतियाँ—

भाव गुण विकार (१) नाम की पूर्वोक्ता प्राजापत्या सृष्टित्रयी ही प्रजापति की–'कृति' है। इन तीनों कृतियों में पुरुषमूला ('अव्यय नामक समग्रब्रह्म से प्रेरिता) प्रथमा 'भावकृति (भावसृष्टि) असृष्टिरूपा ही मानी गई है जैसाकि–'न करोति न लिप्यते' (गीता) से स्पष्ट है। अतएव अकृतिरूपा इस मनोमयी भावात्मिका सृष्टि को हम सृष्टिमर्यादा से असंस्पृष्टा ही मानेंगे। ऐसी अवस्था में अब अक्षर–क्षर–मूला गुण–विकारात्मिका दो कृतियाँ ही–'कृति' शब्द की अधिकारिणी रह जाती हैं। अतएव अब इन दो को ही 'कृति' किंवा–'सृष्टि' कहा जायगा।

५४–समग्रब्रह्मानुगता दैवभावात्मिका अक्षरप्रकृतिविनिबन्धना–आधिदैवतभावापन्ना 'संस्कृति', एवं वागब्रह्मानुगता–भूतभावात्मिका क्षरविकृतिनिबन्धना आधिभूतभावापन्ना 'सभ्यता' शब्दों का तत्त्वार्थ—

उक्त दोनों कृतियों में अक्षरात्मिका 'प्राणकृति ही देवकृति (देवसर्ग) है यही अक्षररूपा अमृता–सनातना नित्यासृष्टि है जिसका अक्षरात्मक–अव्यक्त–अमूर्त्त अनाद्यनन्त–अनन्तब्रह्म से ही सम्बन्ध माना गया है। एवं इस अक्षरात्मिका आधिदैवतात्मिका प्राणसृष्टि को ही तत्त्ववेत्ताओंने 'समग्रब्रह्म (अव्यय) की 'प्रमुख कृति' माना है। दूसरी क्षरात्मिका वाक्कृति' ही–'भूतकृति' है यही क्षररूपा मर्त्या–परिवर्त्तन–शीला–अनित्यासृष्टि है जिसका क्षरात्मक व्यक्त–मूर्त्त–सान्तसान्त दिग्देशकाल से ही सम्बन्ध माना गया है। इसी व्यक्तता के कारण विकारात्मिका यह दूसरी मर्त्या स्थूला–भूतसृष्टि–वाङ्मया (आधिभूतात्मिका) 'विश्व सृष्टि' 'समष्टिसृष्टि' (प्रकटसृष्टि) मानी गई है। ये दोनों प्राकृत–सृष्टियाँ ही तत्त्वपरिभाषानुसार क्रमशः संस्कृति और सभ्यता नामों से व्यवहृत हुई हैं। समग्रब्रह्म की अक्षरात्मिका नित्या अनन्ता कृति ही 'सम' के व्याहरक 'सम्' की इति बनती हुई जहाँ 'संस्कृति' है वहाँ क्षरात्मक–विश्व–सभा–समाभावानुबन्ध से प्रत्यक्षा अनित्या सादिसान्ता कृति ही 'विश्वसभा' माध्यमेन–'सभ्यता' कहलाई है। अत्यन्त ही दुरधिगम्य है इन दोनों तात्त्विक शब्दों का चिरन्तन–इतिवृत्त जिसके स्पष्टीकरण के लिए ही मानवाश्रमने अपने उत्तरदायित्व पर सहस्रपृष्ठात्मक एक स्वतन्त्र–निबन्ध उपनिबद्ध किया है (२)।

---

(१)–किंवा–मानसी—प्राणात्मिका–वाङ्मयी–सृष्टित्रयी

किंवा–अव्यय——अक्षर——क्षर——मूला–सृष्टित्रयी

किंवा–पुरुष——प्रकृति——विकृति——मूला सृष्टित्रयी

किंवा–श्रुति——देव——भूत——मूला सृष्टित्रयी

किंवा–सूक्ष्मतमा–सूक्ष्मा——स्थूला——सृष्टित्रयी

(२)–"सत्तानिरपेक्ष संस्कृति शब्द का एवं सत्तासापेक्ष सभ्यता शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त, तथा भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा' नामक सहस्रपृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध।

स्मृतिमूलक साहित्य (शास्त्र) के सनातन-प्रकृतिसिद्ध-कर्त्तव्यकर्म्मों का ही नामान्तर-'धर्म्म' प्रमाणित होरहा है। इसी आधार पर हम- संस्कृति-साहित्य-धर्म्म -तीनों को अभिन्नार्थक ही मान सकते हैं जिन इन तीनों अभिन्नार्थक तत्त्वों का चिन्तनात्मकदायित्व संस्कृतिक-ब्राह्मण से ही अनुप्राणित माना गया है।

५९–'नीति' की स्वरूप-परिभाषा, धर्म्मानुगता 'नीति' का 'नीतिपथत्त्व', धर्म्मनिरपेक्षा 'नीति' का 'अनीतित्त्व', तद्द्वारा राष्ट्रस्वरूपप्रतिष्ठोच्छेद, एवं धर्म्म की परमता—

प्रकृतिसिद्ध सुसूक्ष्म विधि-विधानों की समष्टिरूप संस्कृतिक-धर्म्म का दिग्देशकालानुरूपी सामयिक-अभिव्यक्त स्वरूप ही 'नीति' है, जिसका सामाजिक-सभ्यता से ही सम्बन्ध है, जिसका कि सञ्चालक सत्तातन्त्र ही माना गया है। यह स्मरणीय, एवं सर्वथा अविस्मरणीय है कि, सत्तातन्त्रानुगत नीतितन्त्र तभीतक 'नीति' उपाधि का अधिकारी बना रहता है जबतक कि इसका आधार (प्रतिष्ठा) संस्कृति साहित्यमूलक पूर्वोक्त 'धर्म्म' बना रहता है। 'धर्म्म सापेक्ष' नीतितन्त्र ही यहां 'नीतिपथ' माना गया है। जो नीति धर्म्म की उपेक्षा कर देती है, दूसरे शब्दों में अपने सत्तामदगर्व से अभिभूत जो सत्तातन्त्र इस प्रकृतिसिद्ध धर्म्म को निरपेक्ष मान बैठने की महाबद्ध भूल करता हुआ, मूल-भित्ति-देशकालानुगता तात्कालिकी सभ्यता के आवेश से आविष्ट होता हुआ व्यक्ति-पद-प्रतिष्ठात्मक व्यामोहनी में आसक्त होजाता है, निश्चयेन उसकी धर्म्मनिरपेक्षा, किंवा धर्म्मनिरुद्धा नीति अनीतिरूप में परिणत होती हुई राष्ट्रस्वरूप की विध्वंसिका ही बन जाया करती है, 'तस्मात्-धर्म्मात् परं नास्ति' (शतपथ१४।४।२।२६)।

६०–मत्तारिपक्ष प्रासङ्गवत् 'धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र' रूपा महती समस्या का आविर्भाव, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

धर्म्म और नीति के इस प्रासङ्गिक-अनुबन्ध के माध्यम से ही एक नवीन प्रश्न अभिव्यक्त होपड़ता है जिसका समाधान किए बिना प्रतिपाद्य उद्बोधनसूत्र अगतार्थ ही बना रह जाता है। यह स्पष्ट किया गया है कि, संस्कृति तन्मूलक साहित्य तद्विधि-विधानात्मक धर्म्म, तथा तदुपासक ब्राह्मण को सभ्यतानुगामी नीतिपथानुवर्त्ता सत्तातन्त्र से निरपेक्ष ही बना रहना चाहिए। इसी समान-क्षेम-नियमानुबन्ध से क्या सत्तातन्त्र को भी धर्म्म से निरपेक्ष नहीं बना रहना चाहिए ?। दूसरे शब्दों में-संस्कृति, साहित्य धर्म्म और तदनुधर्म्मा ब्राह्मण यदि सत्तानिरपेक्ष हैं, तो क्या सभ्यता नीति, और तदनुवर्त्ता सत्तातन्त्र (शासनतन्त्र) को भी संस्कृति-साहित्य तथा धर्म्म के प्रति निरपेक्ष नहीं बन जाना चाहिए ?। यही वह महत्त्वपूर्ण समस्या है जिसका विगत-युग प्रक्रान्त तीन सहस्र वर्षों की अवधि में न तो राष्ट्र का विद्वत्तन्त्र ही इस दुरधिगम्या समस्या का समन्वय कर पाया है एवं न सत्तातन्त्र ही इस विप्रतिपत्ति का निराकरण कर सके हैं।

व्यवस्थित (१) संस्कृत्यनुगामिनी सभ्यता के विधि–विधानों को ही साम–दाम–दण्ड–भेद–माध्यम से राष्ट्रप्रजा के द्वारा व्यवस्थापूर्वक अनुगमन कराता रहे एवं स्वयं भी अनुगामी बना रहे ।

५७–संस्कृति-स्वरूप-विश्लेषक शास्त्र, तन्निष्ठ सांस्कृतिक ब्राह्मण, तद्द्वारा श्रुति–स्मृति–पुराण–माध्यम से संस्कृति–सदाचार–सदायोजन–त्रयी का व्यवस्थापन, एवं तत्प्रति सत्तातन्त्र के हस्तक्षेप का निरोध—

संस्कृति का स्वरूप–विश्लेषक सनातनशास्त्र ही 'श्रुतिशास्त्र' कहलाया है । तदनुवर्त्ती शास्त्र ही 'स्मृतिशास्त्र' माना गया है । एवं उभयशास्त्रस्वरूपोपबृंहक इतिहास–पुराणात्मक शास्त्र ही–'पुराणशास्त्र' कहलाया है । इसप्रकार प्रक्रमभेद से एक ही सांस्कृतिक–सनातनशास्त्र के श्रुति–स्मृति–पुराण–नामक तीन शास्त्रविवर्त्त सम्पन्न हो गये हैं जिन इन तीनों के माध्यम से ही क्रमशः उसी तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण के द्वारा संस्कृति–सांस्कृतिक–आचार–सांस्कृतिक–आयोजन–इन तीन अभिन्नभावात्मक सम्बन्धित सूत्रों का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है । इसी दृष्टि से जब संस्कृति और साहित्य (श्रुति-स्मृति-पुराणशास्त्रात्मक शास्त्रशास्त्र), दोनों को अभिन्नार्थक ही माना जासकता है माना गया है । शब्दशास्त्र ही तद्रूप साहित्य ही भारतीय-संस्कृति का प्रतिरूपात्मक प्रतीक माना गया है । अतएव संस्कृतिरूप इस साहित्य को भूतसम्पत्ता के सत्तात्मकमात्र सत्तातन्त्र के हस्तक्षेप से सर्वथा असंस्पृष्ट ही माना गया है ।

५८–संस्कृतिमूलक–'धर्म्म' की स्वरूप–परिभाषा, एवं संस्कृति, साहित्य (शास्त्र), तथा धर्म्म–तन्त्रों की अभिन्नार्थकता का स्वरूप–दिग्दर्शन—

प्रकृतिसिद्ध–सनातन–विधि–विधानों के आधार पर ही प्राकृत विश्व का एवं तद्गर्भीभूता चतुर्दश–विधा (२) भूतभौतिकी प्रजा का कर्त्तव्यकर्म्मात्मक स्वरूप व्यवस्थित हुआ है । यही स्वरूप–व्यवस्था प्रकृतिभेदभिन्न कर्त्तव्यकर्म्म क्योंकि तत्तत् प्राकृत जड़–चेतन–पदार्थों प्रजाओं के द्वारा 'धृत' धारण हुआ एवं स्व–स्व–स्वरूपों में धारण किए हुए हैं । अतएव इस प्रकृतिसिद्ध शास्त्रसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्म को ही 'धर्म्मिणा धृत सन् धर्म्मिणं धारयति स्व–स्वरूपे' इस निर्वचन से–'धर्म्म' कहा जाता है (३) । तदितरं

(१)–एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं य व्यवस्येद्द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥
—मनु: १२।११३।

(२)–लता–गुल्म–वल्ली–त्वक्सार–ओषधि–वनस्पति–आदि आदि पदार्थों की समष्टिरूप एकविध (एकजातीय) १–स्थावरसर्ग १–कृमि २–कीट ३–पक्षी –४–पशु ५–मनुष्य–भेदभिन्न पार्थिव चेतनसर्ग एवं १–ब्राह्म–२–प्राजापत्य–३–सौम्य–४–ऐन्द्र–५–गान्धर्व–६–पिशाच–७–यक्ष–८–राक्षस भेदभिन्न अष्टविध देवयोनिसर्ग इन चौदह प्रकार के प्रजावर्गों का नाम ही–'चतुर्दशविध–भूतसर्ग' है ।

(३)–धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स 'धर्म्म' इति निश्चयः ॥
—पुराणे

है, उन सभी का वस्तुतः आम्नायानुगत 'मतवादों' से ही सम्बन्ध है, जिन इतरमत, दासतामयत्त के मतवादों से राष्ट्र जितना शीघ्र 'निरपेक्ष'-बन जाय, एवं इसी निरपेक्षता के बल पर यह जितना शीघ्र आस्थापरिपूर्ण ज्ञानविज्ञानात्मक शाश्वतधर्म के प्रति प्रणतभाव से सापेक्ष बन जाय, इसीमें इसका अभ्युदय, तथा निःश्रेयस् है। क्योंकि मानवीय-कल्पनाओं से असंस्पृष्ट ज्ञानविज्ञानसिद्ध प्रकृतिमेव-सिद्ध शाश्वतधर्म्म को ही दार्शनिकोंने अभ्युदय, निःश्रेयस का एकमात्र साधक माना है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि, स धर्म्मः' (वैशेषिक-दर्शन)।

६४–ब्राह्मण की 'निरपेक्षता' का तात्त्विक समन्वय, एवं निरपेक्षतामूलक सान्निध्य से ही संस्कृतिनिष्ठा का सम्भावित-संरक्षण—

निरपेक्षता का क्या अर्थ है?, प्रश्न का तत्त्वसम्मत एकमात्र यही समाधान है कि, संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–निष्ठ विद्वान् को कभी सत्ता का वैसा आश्रय नहीं ग्रहण कर लेना चाहिए, जिससे इसकी सांस्कृतिक निष्ठा ही दोषाय अभिभूत एवं तत्स्थान में सत्ता की मान्यताएँ ही बन बैठे इसकी संस्कृति। कदापि इस निरपेक्षता का यह तात्पर्य्य नहीं है कि सत्ता अपनी इच्छानुसार यथेच्छ व्यवस्थाएँ करती रहे और संस्कृतिनिष्ठ इनका समर्थन करता हुआ इनसे उदासीन ही बना रहे। इतिहास साक्षी है कि, पुरायुगों में जब जब भी यमुक वेन, रावण, कंस, आदि के सत्तातन्त्रोंने 'अनीतिपथों'को ही 'नीतिपथ' मानना मनवाना आरम्भ कर दिया था तब तब ही राष्ट्र के विद्वानों ने ही उनका न केवल प्रचण्ड विरोध ही किया था, अपितु प्रज्ञाबल से उन तन्त्रों का उन्मूलन ही कर दिया था। 'ज्ञाता' जिस सीमापर्य्यन्त 'कर्त्ता' के प्रति निरपेक्ष बना रहता है, वही निरपेक्षता यहाँ अभिप्रेत है।

६५–ब्राह्मण की सत्तातन्त्र के प्रति निरपेक्षता का, तथा सत्तातन्त्र की ब्राह्मण के प्रति सापेक्षता का समन्वय, एवं समस्या का निराकरण—

अब उस प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए, जिसके द्वारा सत्तातन्त्र की सापेक्षता का प्रश्न उपस्थित होचुका था। जिसप्रकार ब्राह्मण 'क्षत्रान्म' रहता है क्या उसीप्रकार राजन्य अर्थात् सत्तातन्त्र भी 'अब्राह्मण', अर्थात् 'ब्राह्मणनिरपेक्ष' बन जाय?, जिसका फलितार्थ निकलता है-संस्कृति साहित्य, एवं धर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाना। नहीं, कदापि नहीं। क्यों? इसलिए कि 'मित्रब्रह्म' जहाँ स्वस्वरूप से स्वयं प्रतिष्ठित रहने में समर्थ है वहाँ 'वरुणक्षत्र' बिना मित्रब्रह्म के क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रहसकता। ज्ञान स्वस्वरूप से सुरक्षित है किन्तु 'कर्म्म' तो बिना ज्ञानाधार के प्रवृत्त ही नहीं होसकता (१)। अतएव स्पष्ट है कि, ब्राह्मणतन्त्र तो सत्तातन्त्र के बिना भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह सकता है रहता ही है। किन्तु सत्तातन्त्र कभी इसे निरपेक्ष बनाकर न तो स्वस्वरूप से ही प्रतिष्ठित रह सकता एवं न समृद्ध ही बन सकता जैसाकि स्वयं श्रुत्यक्षरोंके द्वारा पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है।

---

(१)–ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्।
कृतिजन्यं भवेत्कर्म्म तदेतत्कृतमुच्यते॥
—प्रसिद्धसूक्तिः

६१–संस्कृतिनिष्ठ प्रजा की निरपेक्षता के सम्बन्ध में भावुक-विद्वानों की महती भ्रान्ति, एवं तन्मूला आपाततरमणीया 'राजभक्ति'—

वर्त्तमान स्वतन्त्र–स्वतन्त्र-सत्तातन्त्र से पूर्व की ब्रिटिशसत्तातन्त्र पर्य्यन्त भावुक-दाक्षतापूर्ण यत्र स्थियों से भारतवर्ष के धर्म्माभिनिविष्ट धर्म्मभीरु (मतवादाभिनिविष्ट (१) धर्म्मनिष्ठ नहीं) उपदेशक, महामहोपदेशक धर्म्मप्रचारक (मतवादप्रचारक) विद्वानों से ऐसा कुछ उद्घोष सुना जाता था कि—"हमारा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु हमें तो (राजभक्ति से आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य समाप्लुत रहते हुए) केवल धर्म्म का ही प्रचार करते रहना है"। क्या सत्तानिरपेक्षता का यही अर्थ है!। सत्तातन्त्र यथेच्छ करता कराता रहे विद्वान् प्रजावर्ग से न केवल इस यथेच्छाचार के प्रति तटस्थ ही बने रहें अपितु शास्त्रों के बलपर इन यथेच्छाचारों को ही 'राजभक्ति' के आवेश में 'शास्त्रसिद्ध' प्रमाणित करते रहें क्या भूसिद्धा सत्तानिरपेक्षता का यही अर्थ है!। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

६२–ज्ञानविज्ञानसिद्ध, प्रकृतिसम्मत, सनातन-ईश्वरीय 'धर्म्म', तथा मानसिक-मान्यतानुबन्धी युगधर्म्मात्मक 'मत', एवं दोनों का आत्यन्तिक पार्थक्य—

वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के व्यामोहनाकर्षण से अनुप्राणित सत्तातन्त्र की सापेक्षतानुगता आत्मस्था से लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा के विकर्षण से अभिभूता वैरस्वरूप की आत्मता से एवमेव अन्यान्य भी अनेक विरोधों से जब मानवीय प्रजा तमोऽभिभूता 'धर्म्मनिष्ठा' से पराङ्मुख होजाती है तो इसके अध्यात्मतन्त्र की दिग्देशकालातीता आत्मबुद्धिनिष्ठा तो होजाती है अन्तर्मुख एवं तत्स्थान में मनःशरीरभिकल्पना आमार्यमूला भावुकता होजाती है व्यापृता। यह भावुकता ही कालान्तर में मानव की आत्मानुगता स्वात्मबुद्धि का अपहरण कर लेती है। अतएव 'आस्था' परिसमाप्त होजाती है। फलस्वरूप मनोऽनुगता 'मान्यता' ही प्रधान बन जाती है। अपनी भावुकतापूर्णा मान्यता से अनुप्राणित काल्पनिक-सिद्धान्तों को ही-'मत' नाम से व्यवहृत किया गया है जो कि दिग्देशकालानुबन्धों से परिवर्तित होते रहते हैं। यही 'धर्म्म' और 'मत' में वह महान् अन्तर है जिसका अन्य निबन्धों में विस्तार से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

६३–वर्त्तमानयुगीय 'सनातनधर्म्म' हिन्दूधर्म्म' आदि धर्म्मों-की धर्म्म' से पराङ्मुखता, एवं इन का विशुद्ध मतवादत्व—

विगत तीन सहस्र वर्षों से तथाविधा मतवादपरम्पराओंने ही 'धर्म्म' का स्थान अपहृत कर रक्खा है। सनातनधर्म्म आर्य्यसमाज एवं विभिन्न सम्प्रदायें आदि आदि को भी धर्म्म-विभाग मान देखे सुने आरहे

---

(१) प्रकृतिसिद्ध, ज्ञानविज्ञानात्मक, ईश्वरीय-सनातन-विधि–विधानात्मक कर्त्तव्यकर्म्मों का ही नाम–'धर्म्म' है जिसका मानव की मनोऽभिमता मान्यता से एवं तदनुगत दिग्देशकालानुबन्धों से कथञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। तत्पूत महामहर्षिगण इस धर्म्म के 'द्रष्टामात्र' हैं 'कर्त्ता' नहीं। ईश्वरावतार भगवान् राम–कृष्णादि भी इस शाश्वतधर्म्म के सन्दर्शक, एवं धर्म्मानुगता ग्लानि के उपशमनकर्त्तामात्र हैं। यही इस 'धर्म्म' तत्त्व की दिग्देशकालातीता 'सनातनता' है। अतएव यह धर्म्म 'सनातनधर्म्म' 'आर्यधर्म्म' आदि नामों से उपश्रुत है।

न्वित-मतवादों का । इत्थंभूत मतवादों के मूल में ही शिष्य-सम्प्रदाय-वृद्धि-की लिप्सा-पूर्णा कामना जागरूक बनी रहती है । आज से तीन सहस्र वर्षारम्भ में अपनी अनात्ममूला मतवादात्मिका इसी मान्यता के प्रचारात्मक अनुग्रह से भारतीय प्रजा में जो 'धर्मप्रचार'-कामना जागरूक हो पड़ी थी उसी के अभिशाप से इस राष्ट्र के इत्थंनिष्ठ प्रजावर्ग में, विशेषतः शिष्यसंग्राहक विद्वत्समुदाय में भी यही सर्वविनाश-कारिणी प्रचारकामना जागरूक हो ही तो पड़ी । इसी प्रचार-कामना के आग्रहपाश ने सर्वनिरपेक्ष भी इस राष्ट्र के ब्राह्मण को बलात् उसीप्रकार राजन्य (सत्तामापन्न) बना ही तो दिया जैसे कि अनात्मवादियों को स्वमतप्रचार के लिए तद्युग में सर्वप्रथम राजन्य (सत्ताश्रित) ही बन जाना पड़ा था ।

६८—सत्तासापन्न विद्वानों के द्वारा आचारशून्य, अतएव जीवनसौन्दर्य से असंस्पृष्ट, सत्ता मान्यता-समर्थक काल्पनिक साहित्य का सर्जन —

'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः' न्याय से तद्युगारम्भ में प्रचार-कामनाकषाय के अनुग्रह से विवेकभ्रष्ट हो जाने वाले राष्ट्रीय विद्वानों का यह विनिपात उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित ही होता गया सातैश्वर्याभिवृद्धि से एवं तन्मूलविका विभीषणाभिवृद्धि से । ज्ञान के निष्कर्षण से पराङ्मुख सत्ताएँ ज्यों ज्यों अधिकाधिक उच्छृङ्खल होती गईं, त्यों त्यों ही इस वर्ग की आत्मप्रशंसा भी अधिकाधिक प्रवृद्ध होती गई । सत्ता ने जैसी कामना की वैसी ही शास्त्रव्याख्याएँ इस वर्ग को उपनिबद्ध कर देनी पड़ीं । इसी असत्प्रवृत्ति के कारण आचारात्मक-शास्त्र तो स्वाध्यायनिष्ठा से पराङ्मुख हो गए, एवं तत्स्थान में मतवादसमर्थक साम्प्रदायिक शब्दम्भार प्रधान बनता गया । एवं शृङ्गारप्रधान चाटुकारितापूर्ण वैसा शब्दाडम्बर ही 'राष्ट्रीय-साहित्य' प्रमाणित कर दिया गया जिस से कमलाविलास-सम्मत्त सत्ताधीशों का अनुरञ्जनमात्र ही सम्भव था एवं जिस का आचारनिष्ठात्मक जीवन-सौन्दर्य से तथा आत्मनिःश्रेयस् से स्वल्पकिञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं था ।

यह प्रकृतिसिद्ध तथ्य है कि ब्रह्म ही क्षत्र का नियन्ता है, ज्ञान के द्वारा ही कर्म की मर्यादा सुरक्षित रहा करती है संस्कृति ही सभ्यता की संरक्षिका है धर्म ही नीति की आधारभूमि है । सत्यात्मना संस्कृति ही आश्रय है, एवं सभ्यता ही 'आश्रित' है । ऐसे भी अवसर आए हैं इस भारतराष्ट्र में जब कि, सत्तातन्त्रों की कूटनीति से सभ्यताओं ने संस्कृति का धर्म का आश्रय छोड़ दिया है । और परिणाम-स्वरूप तात्कालिकरूपेण दोनों में संघर्ष होपड़ा है । उन सभी अवसरों पर भारतराष्ट्र की संस्कृति-कक्षा ने त्रिगुणात्मकाकालानुबन्धिनी तात्कालिकी सभ्यताओं की उपेक्षा कर सर्वात्मना नहीं तो अंशतः तो अपनी संस्कृति का स्वरूप-संरक्षण कर ही लिया है ।

६९—'पर' सभ्यता के दारुणपाश में आबद्ध वर्त्तमान भारतराष्ट्र की 'पर'-तन्त्रासक्तिमूला काल्पनिक 'स्वतन्त्रता' का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

और यदि हम भ्रान्ति में नहीं हैं तो वर्त्तमानकाल भारतराष्ट्र के लिए यथार्थतः 'संघर्षकाल' ही प्रमाणित होरहा है । प्रतीच्य-सभ्यता ने भारतीय-सांस्कृतिक-सभ्यता को उस सीमा पर्यन्त आज सर्वात्मना अभिभूत ही कर लिया है जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर परसभ्यता में ही स्वसभ्यता की भ्रान्ति हो जाया करती है । अवश्य ही नाममात्र के लिए आज भारतराष्ट्र 'भारत' अभिधा से समन्वित है । किन्तु सभ्यता-परिचायक वेश-भूषा भाषा आहार-विहार-शिक्षा-दीक्षा आदि आदि यच्चयावत् क्षेत्रों में आज यह स्वसंस्कृतिमूलक स्व-सभ्यता-तन्त्र से आत्यन्तिकरूपेण पराङ्मुख बनता हुआ परसभ्यतात्मक-'पर' तन्त्रों को ही

६६–ब्राह्मण की 'अराजन्यता' का दिग्देशकालानुबन्धी समन्वय, एवं तदभावे संस्कृतिनिष्ठात्मिका स्वाध्यायनिष्ठा की अन्तर्मुखता—

उक्त सन्दर्भ के द्वारा निष्कर्ष यही निकला कि, ब्राह्मण को संस्कृति साहित्य धर्म्म, के सहज तात्त्विक-स्वरूप-संरक्षण के लिए अपने आप को 'अराजन्य' ही बनाए रखना चाहिए। अर्थात् स्वातन्त्र्य के ऐसे आश्रय से सहयोग से प्रत्येक सम्भव उपाय से संस्कृतिनिष्ठ विज्ञान को आत्मपरित्राण ही करते रहना चाहिए, जिस से कि उस की दिग्देशकालातीता, किन्तु दिग्देशकालप्रतिष्ठारूपा सांस्कृतिक-स्वाध्यायनिष्ठा में दिग्देशकालानुबन्धिनी सत्तामान्यताएँ प्रविष्ट न होजायँ, जिन के प्रवेश से कि, संस्कृति का स्वरूप तो होजाता है अन्तर्मुख एवं सत्तामान्यताएँ बन जाती हैं प्रमुख। तस्मात्—

'ब्राह्मणोऽराजन्य स्यात्'

६७–चिन्तनमूला 'संस्कृति', स्वाध्यायमूलक 'साहित्य', एवं आचरणमूलक 'धर्म्म' का समन्वय, तथा-मतवादात्मक-साम्प्रदायिक 'धर्म्मप्रचार' के व्यामोहन से ही सद्धर्म्म की पारम्परिक अभिव्यक्ति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

कभी भारत में 'राजन्यस्तुति' का उदय होसका है, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—संस्कृति साहित्य एवं सर्वोपरि धर्म्म का प्रचार-व्यामोहन। प्रचार मतवादों का ही हुआ करता है। किन्तु संस्कृति का तो चिन्तन ही होता है, साहित्य का स्वाध्याय ही होता है एवं धर्म्म का आचरण ही होता है। चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण-त्रयी ही इन तीनों का वास्तविक प्रचार है। शिष्य-सम्प्रदायनिष्ठि-मूलक प्रचार-व्यामोहन का इन तीनों प्रकर्षों में से किसी का भी सम्बन्ध नहीं है। स्वयं अपनी ओर से प्रचार की तो कथा ही विदूर है। अपितु प्रश्नभाव से जिज्ञासा अभिव्यक्त करने पर भी इन तीनों प्रकर्षों के लिए शास्त्रने पात्रापात्रता को ही सर्वात्मना परीक्षणीय माना है। (१)। विविध प्रकार की मान्यताओं की अनुयायी बना कर ही प्रचार हुआ करता हुआ है अपने

(१)–विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया, वीर्य्यवती तथा स्याम्॥
—यास्कनिरुक्ते

परनिन्दाशील-असूयकः। मनसा-वाचा-कर्म्मणा च कुटिल-अनृजुः। इन्द्रियासक्तश्चञ्चलोऽशुचि-अयतः। तस्मै न ब्रूयात्-इति निष्कर्षः

(२) इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥
—गीतायाम् (१८।६७)।

राजन्यी–कामार्थमारोत्थे एक–मानसिक–तात्कालिक आयोजनों का भी 'सांस्कृतिक–आयोजन जैसी पावन अभिधा से हुई विद्वानों के द्वारा सर्वात्मना यशोगान किया जारहा है । अतएव सुनिश्चित है कि, सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण से कदापि तत्–तन्त्रत्रयी की समृद्धि तो क्या, स्वरूपता भी सम्भव नहीं है, जिस इस व्यामोहनने ही भारतीय विद्वानों को तथाकथित अवधि में सत्तामापन्न बना रक्खा है । अतएव पुनः पुनः हमें यही निवेदन कर देना है इन राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रजाओं से कि—

''ब्राह्मणोऽराजन्य एव स्यात्

७३–सत्ताश्रयता, तथा शिष्यपरम्पराभिवृद्धि के लिए समातुर मतवादों की सत्तासापेक्षता का स्वरूप दिग्दर्शन—

इत्यत्र नितान्तमवधेयम् । जहाँतक मतवादात्मक सम्प्रदायवादों का सम्बन्ध है, उस सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही सत्तासापेक्षता अपेक्षित है । क्योंकि मतवादों की अभिव्यक्ति का प्रधान कारण दिग्देशकालधर्म्माक्रान्त मानवीय मन की तात्कालिकी 'मान्यता' ही बना करती है । अपनी इस 'मान्यता' से समुद्भूत मतवादों के प्रचार–प्रसार्द न–परिपालन के लिए तो प्रत्येक दशा में मान्यताओं के पोषक कालिक सत्तातन्त्रों का आश्रय-ग्रहण ही अनिवार्य्य बना रहता है । सत्ताश्रयता से ही मतवाद स्वस्वरूप से सुरक्षित रहते हैं एवं तदाश्रय से ही इनकी समृद्धि (प्रचार) होजाती है । यही कारण है कि, मतवादाभिनिविष्ट साम्प्रदायिक वर्ग ही सत्ताश्रय के लिए, एवं शिष्यपरम्पराभिवृद्धि के लिए प्रतिक्षण समुत्सुक बने रहते हैं ।

७४–सांस्कृतिक नित्यधर्म्म की सहज सत्तानिरपेक्षता, एवं चिन्तन-स्वाध्याय, तथा धर्म्माचरणमूलक सर्वनिरपेक्ष सांस्कृतिक-क्षेत्र—

किन्तु सांस्कृतिक धर्म्म कदापि सत्ताश्रय की कोई अपेक्षा नहीं रखता । अपितु यह तो विद्वत्प्रजाओं की ऐकान्तिकी चिन्तन–स्वाध्याय तथा आचरण–निष्ठात्रयी से ही स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होता है । हाँ यदि सत्तातन्त्र प्रणतभाव से इस तन्त्रत्रयी के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, तो अवश्यमेव सुविधा–पूर्वक इस की 'समृद्धि' होजाती है । किन्तु सत्ता के आत्मसमर्पण के अभाव में मतवादों की भाँति कदापि इस त्रयी की कोई स्वरूपहानि नहीं है । इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य का–'ततः शशाङ्केश–प्रभृत्यमित्र यते यत्राङ्करूपात् स्थातुम् । यत्र राजानं लभेत प्रभूतं तत्' इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है ।

७५–सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रति सत्तातन्त्रों का प्रणतभाव से आत्मार्पण, तत्प्रति संस्कृति-निष्ठ का 'उपांशु' अनुमोदन, एवं उपांशु भावनिबन्धना 'तथेति' मूला निरपेक्षता का समन्वय—

ध्यान रहे, संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण कदापि स्वकामना से सत्ता के प्रति अनुगत नहीं होता । (१) । अपितु स्वयं सत्तातन्त्र ही राष्ट्ररक्षा तथा राष्ट्रसमृद्धि के लिए संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् का परामर्शानुग्रह प्राप्त करता है । दूसरे शब्दों में-स्वयं ही श्रद्धा-आस्था पूर्वक सांस्कृतिक-शिक्षण प्राप्त करता है जैसाकि उसी 'मैत्रावरुणस्मृति' के-

१–नापृष्टः कस्य चिद्ब्रूयात्, न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥

आराध्य मानता हुआ अपनी 'स्व-तन्त्रता' लक्षणा 'स्वतन्त्रता' का सर्वात्मना उपहास ही करता आरहा है। ऐसा क्यों ? एकमात्र उत्तर 'दिग्देशकाल का व्यामोहन'।

७०–'समय' शब्द–व्यामोहनानुगत–वर्त्त मान की भ्रान्ति, भूत भविष्यत् की उपेक्षा, एवं वर्त्त मानकालात्मक पशुजगत् से तत्समतुलन—

हमारे राष्ट्रीय नेता 'समय' शब्द का उपयोग करते हुए आज भूत और भविष्यत् की तो आत्यन्तिक रूपेण उपेक्षा करते जा रहे हैं, एवं कल्पित-'यथार्थवाद' की घोषणा के माध्यम से 'वर्त्तमान' को ही आराध्य मान-रहे हैं। अवश्य ही वर्त्त मान आराध्य है। किन्तु भूत-भविष्यत् को प्रतिष्ठा बना कर ही यह 'वर्त्त मान' मानव के अभ्युदय का जनक प्रमाणित होसकता है। तत्स्वरूपतया 'विशुद्ध-वर्त्तमान' तो पशुजगत् का ही आराध्य माना गया है शास्त्रों में। भूत-भविष्यत्-से वञ्चित अतएव 'पशुकाल' से समाश्रित इस वर्त्त मान के तात्कालिक प्रभावात्मक अतएव भावुकतापूर्ण दिग्देशकाल–व्यामोहनने ही तो निरन्तर तीन सहस्र–वर्षों से राष्ट्रमानवों को सांस्कृतिक–निष्ठा से पराङ्मुख प्रमाणित किया है।

७१–भारतराष्ट्र की त्रिसहस्रवार्षिकी पतनपरम्परा, एवं तन्निरोधोपायान्वेषण—

'राजा कालस्य कारणम्' मूलक इसी दिग्देशकालानुबन्धने विद्वद्वर्ग को 'राजन्य' बनाया है। इसी 'राजन्यता (सत्तासापेक्षता) ने इस वर्ग को लक्ष्यच्युत किया है। इसी सत्ताभयव्यामोहनने इसे स्वनिष्ठा से पराङ्मुख किया है। और सर्वात्मना इसी एकमात्र प्रमुख दोष से भारतराष्ट्र की संस्कृति साहित्य एवं धर्म्म नामक तीनों ही तन्त्र अपने मौलिक ज्ञान-विज्ञानात्मक स्वरूपों से पराङ्मुख बन मतवादात्मक वैसे सम्प्रदायवादों के रूप में ही परिणत होगए हैं जिन के अनुगमन से ही भारतराष्ट्र उत्तरोत्तर अवनतिगत परम्परा का ही सम्मानित अतिथि बनता आ रहा है तीन सहस्र वर्षों से। तस्मादेव, तस्मादेव—

ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्

७२–संस्कृति-संरक्षणानुबन्ध से भारतीय विद्वानों का प्रश्न, तत्प्रति प्रतिप्रश्नोत्थान, एवं सत्तासापेक्षतानुगता भ्रान्ति–परम्पराओं से ही सांस्कृतिक-स्वरूप का उत्तरोत्तर अभिभव—

विद्वद्वर्ग के सत्तानिरपेक्ष बन जाने से क्या भारतीय संस्कृति साहित्य धर्म्म नामक सांस्कृतिक तन्त्र केवल विद्वद्वर्ग के द्वारा ही सुरक्षित बन जायेंगे ?, दिग्देशकालानुबन्धी 'राजा कालस्य कारणम्' मूलक तात्कालिक वर्त्त मान–सत्तातन्त्रों की दृष्टि से इस अनतिप्रश्नात्मक प्रश्न के समाधान का यहाँ अवसर नहीं है। तत्सम्बन्ध में तो यही 'प्रतिप्रश्न' पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि विगत त्रिसहस्रवर्षावधि में तत्तत् सत्तातन्त्रों के प्रति प्रवृत्तभाव से आत्मसमर्पण करते रहने वाले एतद्राष्ट्रीय विद्वानोंने सत्तातन्त्रों के द्वारा क्या सांस्कृतिक–तन्त्रत्रयी की समृद्धि कर ली ? । समृद्धि भी कौन करे तथाकथित आत्मसमर्पणमूला प्रवृत्तभावने ही तो इस तन्त्रत्रयी को आज उस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर लिया है कि आज तो नाच-गान-दीपक–मोमबत्ती–पुष्प–आदि आदि आडम्बरों से समलङ्कृत वाग्भावानुगत–गन्धर्वोपासनात्मक–निष्प्राण–मनगढ़न्त–

अनुरूपी-सामायमारोचे यत्र-मानसिक-तात्कालिक आयोजनों का भी 'सांस्कृतिक-आयोजन जैसी पाव
अभिधा से इन्हीं विद्वानों के द्वारा सर्वात्मना यशोगान किया जारहा है । अतएव सुनिश्चित है कि, सत्ता
प्रति आत्मसमर्पण से कदापि सत्-तन्त्रत्रयी की समृद्धि तो क्या, स्वरूपरक्षा भी सम्भव नहीं है, जिस
व्यामोहनने ही भारतीय विद्वानों को तथाकथित प्रगति में सत्तासापेक्ष बना रक्खा है । अतएव पुनः पुनः
यही निवेदन कर देना है इन राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रजाओं से कि—

''ब्राह्मणोऽराजन्य एव स्यात्

७३-सत्ताश्रयता, तथा शिष्यपरम्पराभिवृद्धि के लिए समातुर मतवादों की सत्तासापेक्षत का स्वरूप दिग्दर्शन—

इत्यलं नितान्तमप्रयेयम् । जहांतक मतवाद एवं सम्प्रदायवादों का सम्बन्ध है, उस सीमापर्य्यन्त
अवश्य ही सत्तासापेक्षता अपेक्षित है । क्योंकि मतवादों की अभिव्यक्ति का प्रधान कारण दिग्देशकालधर्म्मानु
मानवीय मन की तात्कालिकी 'मान्यता' ही बना करती है । अपनी इस 'मान्यता' से समुद्भूत मतवादों
प्रचार-संवर्द्धन-परिपालन के लिए तो प्रत्येक दशा में मान्यताओं के पोषक कालिक सत्तातन्त्रों का आश्रय-ग्रह
ही अनिवार्य बना रहता है । सत्ताश्रयता से ही मतवाद स्वस्वरूप में सुरक्षित रहते हैं एवं सदाश्रय से ही इनक
समृद्धि (प्रचार) होजाती है । यही कारण है कि मतवादाभिनिविष्ट साम्प्रदायिक वर्ग ही सत्ताश्रय के लिए
एवं शिष्यपरम्पराभिवृद्धि के लिए प्रतिक्षण समुत्सुक बने रहते हैं ।

७४-सांस्कृतिक नित्यधर्म्म की सहज सत्तानिरपेक्षता, एवं चिन्तन-स्वाध्याय, तथा धर्म्माचरणमूलक सर्वनिरपेक्ष सांस्कृतिक-क्षेत्र—

किन्तु सांस्कृतिक धर्म्म कदापि सत्ताश्रय की कोई अपेक्षा नहीं रखता । अपितु यह तो विद्वत्प्रजाओं
की ऐकान्तिकी चिन्तन-स्वाध्याय तथा आचरण-निष्ठात्रयी से ही स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होता है ।
यदि सत्तातन्त्र प्रणतभाव से इस तन्त्रत्रयी के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है तो अवश्यमेव सुविधा-पूर्व
इस की 'समृद्धि' होजाती है । किन्तु सत्ता के आत्मसमर्पण के अभाव में मतवादों की भांति कदापि इस वर्ग
की कोई स्वरूपहानि नहीं है । इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य का- ततः शशाकैव-ब्रह्ममित्र ऋते सत्राद्वस्थात्
स्यातुम् । यद् राजानं क्षमेत समृद्ध तत्' इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है ।

७५-सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रति सत्तातन्त्रों का प्रणतभाव से आत्मार्पण, तत्प्रति संस्कृति-निष्ठ का 'उपांशु' अनुमोदन, एवं उपांशु भावनिबन्धना 'तथेति' मूला निरपेक्षता का समन्वय—

ध्यान रहे, संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण कदापि स्वकामना से सत्ता के प्रति अनुगत नहीं होता । (१) । अपितु स्वयं
सत्तातन्त्र ही राष्ट्ररक्षा, तथा राष्ट्रसमृद्धि के लिए संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् का परामर्शानुग्रह प्राप्त करता है । दूसरे
शब्दों में-स्वयं ही श्रद्धा-आस्था-पूर्वक सांस्कृतिक-शिक्षण प्राप्त करता है जैसाकि उसी 'मैत्रावरुणश्रुति के-

१-नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात्, न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥

आराध्य मानता हुआ अपनी 'स्व-तन्त्रता' लक्षणा 'स्वतन्त्रता' का सर्वात्मना उपहास ही करता जारहा है। ऐसा क्यों ?, एकमात्र उत्तर 'दिग्देशकाल का व्यामोहन'।

७०–'समय' शब्द–व्यामोहनानुगत–वर्त्तमान की भ्रान्ति, भूत-भविष्यत् की उपेक्षा, एवं वर्त्तमानकालात्मक पशुजगत् से सन्तुलन—

हमारे राष्ट्रीय नेता 'समय' शब्द का उद्घोष करते हुए आज भूत और भविष्यत् की तो आत्यन्तिक रूपेण उपेक्षा करते जा रहे हैं, एवं कल्पित-'यथार्थवाद' की घोषणा के माध्यम से 'वर्त्तमान' को ही आराध्य मान-रहे हैं। अवश्य ही वर्त्तमान आराध्य है। किन्तु भूत-भविष्यत् की प्रतिष्ठा बना कर ही यह 'वर्त्तमान' मानव के अभ्युदय का कारण प्रमाणित होसकता है। तत्त्वदृष्ट्या 'विशुद्ध-वर्त्तमान' तो पशुजगत् का ही आराध्य माना गया है शास्त्रों में। भूत-भविष्यत्-से वञ्चित अतएव 'पशुकाल' से समतुलित इस वर्त्तमान के तात्कालिक-प्रत्यक्षात्मक अतएव भावुकतापूर्ण दिग्देशकाल–व्यामोहनने ही तो निरन्तर तीन सहस्र–वर्षों से राष्ट्रप्रजा की सांस्कृतिक–निष्ठा में पराङ् मुख प्रमाणित किया है।

७१–भारतराष्ट्र की त्रिसहस्रवार्षिकी पतनपरम्परा, एवं तन्निरोधोपायान्वेषण—

'राजा कालस्य कारणम्' मूलक इसी दिग्देशकालानुबन्धने विद्वर्ग को 'राजन्य' बनाया है। इसी 'राजन्यता' (सत्तासापेक्षता) ने इस वर्ग को लक्ष्यच्युत किया है। इसी सत्तासम्व्यामोहनने इसे आचारनिष्ठा से पराङ्मुख किया है। और सर्वात्मना इसी एकमात्र प्रमुख दोष से भारतराष्ट्र की संस्कृति, साहित्य एवं धर्म, नामक तीनों ही तन्त्र अपने मौलिक ज्ञान-विज्ञानात्मक स्वरूपों से उन्मुक्त बन मतवादात्मक कैसे सम्प्रदायवादों के रूप में ही परिणत होगए हैं जिन के अनुगमन से ही भारतराष्ट्र उत्तरोत्तर अवनतिगत परम्परा का ही सम्मानित अतिथि बनता जा रहा है तीन सहस्र वर्षों से। तस्मादेव, तस्मादेव—

'ब्राह्मणोऽराजन्यः' स्यात्

७२–संस्कृति-संरक्षणानुबन्ध से भारतीय विद्वानों का प्रश्न, तत्प्रति प्रतिप्रश्नोत्थान, एवं सत्तासापेक्षतानुगता भ्रान्ति–परम्पराओं से ही सांस्कृतिक-स्वरूप का उत्तरोत्तर अभिभव—

विद्वर्ग के सत्तानिरपेक्ष बन जाने से क्या भारतीय संस्कृति साहित्य धर्म नामक सांस्कृतिक तन्त्र केवल विद्वर्ग के द्वारा ही सुरक्षित बन जायँगे ?, दिग्देशकालानुबन्धी 'राजा कालस्य कारणम्' मूलक तात्कालिक वर्त्तमान–सत्तातन्त्रों की दृष्टि से इस आनतिप्रश्नात्मक प्रश्न के समाधान का यहाँ अवसर नहीं है। तत्सम्बन्ध में तो यही 'प्रतिप्रश्न' पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि विगत त्रिसहस्रवर्षावधि में तत्तत् सत्तातन्त्रों के प्रति प्रवाहमान से आत्मसमर्पण करते रहने वाले एकदेशीय विद्वानोंने सत्तातन्त्रों के द्वारा क्या सांस्कृतिक–तन्त्रत्रयी की समृद्धि कर ली ?। समृद्धि की कौन कहे, सत्तापेक्षिता आत्मसमर्पणमूला प्रवाहात्मकने ही तो इस तन्त्रत्रयी को आज उस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर लिया है कि आज तो भारत-मात-दौलत–भीम-भैंसा-धुँधुआ-धारि आदि अलङ्करणों से समलङ्कृत, आत्मभावानुगत–मनःपर्य्यवसान–निरुपम–मनःप्राण–

७७–युगधर्म्मानुगता भावुकतान्विता 'असहयोग' भावना के प्रति सांस्कृतिक-प्रज्ञा का उद्बोधन, एवं वर्त्तमान मचातन्त्र के प्रति राष्ट्रप्रजा का निष्ठार्पण—

पूर्व निवेदनानुसार वर्त्तमानयुग (सत्तानुबन्धी युग) भारतीय 'संस्कृति', एवं तन्मूला भारतीय 'सभ्यता' के लिए इसलिए सर्वात्मना मंगलमय ही माना जायगा कि जो एतद्देशीया संस्कृति, और सभ्यता ब्रिटिशयुग पर्यन्त दिग्भ्रान्त धर्माभिनिवेश भूतसभ्यता से अन्य जाति (प्रतीच्यजाति) के द्वारा आक्रान्त थी वही आज 'प्रत्यजाति' से ही उसी प्रतीच्यसभ्यता से समाक्रान्ता है। ब्रिटिशयुग में जिस प्रतीच्य-सभ्यता का उसके विधि-विधानों को हम इस भारतराष्ट्र के लिए परतन्त्रता का अन्यतम कारण मान रहे थे आज स्वयं हमारे ही शासनयुग में वही सभ्यता व ही विधि-विधान भारतराष्ट्र के सर्वस्व बनते जारहे हैं, जिन्हें अपना लिए गए हैं। अतएव इस वर्त्तमानयुग को तो हम पूर्वयुगों की अपेक्षा भी कहीं अधिक भयावह ही कहेंगे। इस घोरघोरतम सङ्कट से परित्राण प्राप्त करने के लिए क्या हम भी भावुकतापूर्णा-असहयोगभावना का अनुगमन आरम्भ करदें वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति उसीप्रकार, जैसेकि मतवादाभिनिविष्ट एतद्देशीय विभिन्न वर्गोंने 'धर्म्म' के नाम पर छलमात्र से आज सत्तातन्त्र के प्रति असहयोग-भावना का ही अनुसरण कर रक्खा है ?। नहीं, कदापि नहीं। अपितु हमें तो स्वतामात्वेन तत्प्रति निष्ठार्पण ही कर लेना चाहिए।

७८–सांस्कृतिक-निरपेक्षता-मूला—'धर्म्मनिरपेक्षता' के मूलकारण का अन्वेषण-प्रयास, एवं तदनुगता वर्त्तमाना धर्म्मनिरपेक्षता की दोष-असंस्पृष्टता—

क्योंकि वर्त्तमान सत्तातन्त्र हम से पृथक् नहीं है। जनतन्त्रात्मक वर्त्तमान सत्तातन्त्र से संघर्ष किंवा असहयोग करना तो एकप्रकार का आत्मघात ही होगा। एवं निश्चित ऐसी भी मान्यता है हमारे अपने ही अनुभूत इस भारतीय सत्तातन्त्र के प्रति कि, इसके सामान्य और विशिष्ट सभी अङ्गों के स्वात्मक अधिकारों में भारतराष्ट्र के प्रति सद्भावना नहीं, तो अभाव तो अवश्य ही जागरूक है। एवं राष्ट्रहित के लिए ही उनके सम्पूर्ण आयोजन प्रक्रान्त भी हैं। तथापि एकमात्र भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति, मौलिक साहित्य, तथा तदनुप्राणित भारतवर्ष (मतवाद नहीं) इन मौलिक विभूतियों के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूपबोध से अपने आपको पृथक् रख लेने के कारण ही इस दिशा में सत्तातन्त्र की उपेक्षामूला निरपेक्षता 'दोषरूप' है जिसके लिए भी सत्तातन्त्र को ही हम सर्वात्मना दोषभाक् इसलिए नहीं मान सकते कि विगत तीन सहस्र-वर्षों से प्रक्रान्ता मातृभूमा से सम्बन्ध रखने वाली मतवादपरम्पराओं के निग्रहात्मक अनुग्रह से संस्कृति-धर्म्मादि का मौलिक स्वरूप सर्वथा ही परोक्ष बना होता चला आरहा है। संस्कृति साहित्य एवं धर्म्म के नाम से जो कुछ उपलब्ध हुआ सत्तातन्त्र को वह मतवादात्मक अभिनिवेशमात्र ही था। अतएव हमें तत्प्रति निरपेक्ष ही बन जाना पड़ा जिस के लिए सत्तातन्त्र को दोषासंस्पृष्ट ही मान लेना चाहिए।

७९–धर्म्मनिरपेक्ष भी वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा मतवादों के प्रति प्रक्रान्ता 'सापेक्षता' का दुःखपूर्ण आपाततरमणीय इतिवृत्त—

सोमिस्येतत्। तथापि सत्तातन्त्र को तथाभूता निरपेक्षता के लिए सर्वात्मना दुग्धधौत भी इसलिए नहीं ही माना जा सकता कि उसें दोषदृष्टि से ही सही, एकबार अपनी इन मूलनिधियों के स्वरूपान्वेषण के लिए

'स क्षत्रं वरुण' ब्रह्ममित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे उप मासर्त्तस्य, संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूतः कर्म करवै इत्यादि क्रम से स्पष्टरूपेण प्रमाणित है। क्या इस सत्ता–आमन्त्रण से संस्कृतिनिष्ठ विप्र उसी प्रकार वर्त्तमानयुग की भाँति कृतज्ञता के रूप में अवनतशिरस्क बन कर 'अभिनन्दनपत्र' समर्पित करना अपना सांस्कृतिक कर्त्तव्य मान लेता है जैसाकि, निर्व्याजात्मक सहयोग के बिना भी प्राय: सत्तावर्ग को निरन्तर यशोगान करते रहना पड़ता है ?, इस प्रश्न के प्रति उद्बोधन प्रदान करने के लिए ही श्रुति ने 'तथेति' जैसे प्रदर्शनशून्य–सामान्यभाव का ही दिग्दर्शन कराया है। सत्तातन्त्र यहाँ–"प्रणतभाव से क्षत्रवरुणने आमन्त्रण किया ब्रह्ममित्र का कि–आप मेरी ओर अनुगत होजाइए। आपके साथ मैं समन्वित होजाऊँ। इस समन्वय में मैं आप ही को अग्रणी–पुरोधा–अभिगन्ता मानता रहूँगा। आप जैसी जो आज्ञा प्रदान करेंगे मैं (सत्तातन्त्र) वैसे ही वही कर्म करूँगा" इत्यादि महारम्भपूर्वक संस्कृतिनिष्ठ की अभ्यर्थना ही करता हुआ अनुगत बन रहा है वहाँ संस्कृतिनिष्ठ बिना किसी प्रदर्शन के–'तथेति' ठीक है ऐसा ही हो' इस उपांशुवागुच्चारणमात्र के माध्यम से अनुगत होता हुआ अपने आपको 'सत्तानिरपेक्ष' ही प्रमाणित कर रहा है।

७६–सत्तानिरपेक्षतामूलक 'अराजन्य' शब्द का तथ्यार्थ समन्वय, एवं 'सर्वान् परित्यजे-दर्थान्' इत्यादि मानवीय–वचन का स्वरूप दिग्दर्शन—

युक्त चैतत्। यदि यह भी सत्तातन्त्रवत् सत्ताशापेक्ष बन जायगा तो निश्चयेन इसकी संस्कृतिनिष्ठ सापेक्षतामूला आत्मसत्ता से उसी प्रकार अभिभूत होजायगी जैसे कि दिग्देशकालव्यामुग्ध इस अस्मदि ब्राह्मण की प्रज्ञा आज सांस्कृतिक–स्वाध्याय में सर्वथा ही शिथिला प्रमाणित होचुकी है। अतएव सत्तानुगत बनते हुए भी इस संस्कृतिनिष्ठ को सर्वात्मना 'अराजन्य' ही बना रहना चाहिए, जिसका सीधा सा तात्पर्य यही है कि, सत्ता के द्वारा उपलब्ध लोकैषणात्मक (उपाधिलक्षण–नामख्यातिरूप) तथा वित्तैषणात्मक (आर्थिक) जैसे प्रलोभनों से जागरूकता–पूर्वक सदा ही इसे अपना आत्मपरित्राण करते रहना चाहिए, जो कि लोक–वित्त–व्यामोहन निश्चयेन ब्राह्मण को सांस्कृतिक चिन्तन–स्वाध्याय तथा धर्माचरण से पराङ्मुख (अस्वस्थ विमूढ़) ही बना दिया करता है। 'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्य' इस ब्राह्मणवचन का यही निष्कर्षार्थ है जिस इस मर्यादित उद्बोधन का ही भूत्यर्थानुसारिणी मनुस्मृतिने इन विस्पष्ट शब्दों में उद्घोष किया है कि —'स्वाध्यायनिष्ठ द्विजातिवर्ग को चाहिए कि, वह उन यावन्मात्र आर्थिक सुख–सुविधाओं का सर्वथा परित्याग ही करता रहे, जो सुख–सुविधाएँ इसकी स्वाध्यायनिष्ठा में अवरोधिका बन जाया करती हैं (१)।

---

(१)—सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥
—मनुः ४।१७।

'भारतीय मानव', किंवा 'विश्वमानव' के पारम्परिक उत्पीड़न का अन्यतम कारण दिग्देशकालनिबन्धना भावुकता—

'भवमानन-परिग्रहों की विद्यमानता में भी विश्वमानव, विशेषतः भारतीय मानव, तत्रापि एवं 'भारतीय हिन्दू मानव' विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर निरन्तर क्यों ग्रस्त-सन्त्रस्त विक्षुब्ध, अशान्त-सम्मूढ बनता चला आरहा है ? जिस इस महत्त्वपूर्ण दुरधिगम्य मनसिक प्रश्न की हमने प्रस्तावना के उपक्रम में ही उत्थानिका की थी, तत्प्रश्न के समाधानाभासों से उत्तरों से) अनुप्राणित ईश्वरीय-कोप, भाग्यदोष (जन्मान्तरीय दोष), कलियुगप्रभाव, यों का शैथिल्य आदि तथ्यों की ही अबतक स्वल्पमीमांसा हुई, जिनका पर्य्यवसान अन्ततोगत्वा सर्व एी उस 'भावुकता' पर ही हुआ, जोकि तीन सहस्र वर्षों से भारतीय मानव को उत्पीड़ित किए हुए है।

गर्भाधान-परिग्रह-सम्पन्न, संस्कृति-साहित्यधर्म्मादि निष्ठ भी भारतीय मानव के पारम्परिक पतन का मूलकारण, एवं तत्परित्राणोपाय-दिग्दर्शन—

निःसन्देह हार्दभूता एकमात्र भावुकता ही श्रुति-स्मृति-पुराण जैसी नैष्ठिकी शास्त्रत्रयी के रहते हुए भी भारतीय-हिन्दू मानव के पारम्परिक अभिभव का प्रधान निमित्त बनती आरही इस महान्, प्रथम, तथा प्रमुख कारण के समतुलन में ईश्वरीयकोप, भाग्यदोषादि, नितान्त भावुकता एवं काल्पनिक कारणाभासों का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता। भावुकता से ही मानव तिनिष्ठा से पराङ्मुख होजाया करता है। और इस भावुकता की जननी आरम्भ में बनी है— साहित्य-धर्म्म, नामक निष्ठास्तम्भों से सम्बन्ध रखने वाले चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण-भावों , तन्म्याने च तत्प्रचार-व्यामोहन, तत्सफलता के लिए सत्तातन्त्र की सापेक्षता जिसे-संस्कृतिन्त्वक,-शास्त्र-(साहित्य)-स्वाध्यायनिष्ठ तथा धर्म्माचारपरायण मानव के लिए-'तस्माद् शास्त्रम्' रूपेण स्वयं मूलशास्त्र (वेदशास्त्र) ने ही प्रधान कारण माना है।

स्वरूपेण सुरक्षिता संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों की सत्तासापेक्षता-मूला की भ्रान्ति, तदनुप्राणिता स्खलनपरम्पराएँ, तत्परिणामस्वरूप राष्ट्रीय-संघठनो भेद, और आततायीवर्ग के द्वारा राष्ट्र का अभिभव—

स्वरूपेण सुरक्षित भी संस्कृति-साहित्य-धर्म्म-तन्त्रों का भावुकतावश ही दिग्देशकाल-व्यवस्थापक सम्मतामात्रानुगामी सत्तातन्त्रों को जिस दिन से भारतीय सांस्कृतिक-प्रजाओंने (भारतीयोंने) संरक्षक उसी दिन से भावुकतामूला परावलम्बनता के माध्यम से इस वर्गविशेष के चिन्तन-स्वाध्याय- से सम्बन्ध रखने वाली स्वनिष्ठा तो तो होगई अभिभूत एवं सत्तया से ही सत्तानुबन्धिनी दैशिक-व्यवस्थाएँ ही बन गई इसके लिए संस्कृति साहित्य और धर्म्म। यों भावुकतापूर्णा सत्तासापेक्षता से र में संस्कृति बन गई असंस्कृति, साहित्य (शास्त्र) का स्थान ग्रहण कर लिए सत्तासंरोचनात्मिका व्यवस्थाओंने एवं धर्म्म को अभिभूत कर लिया लोकैषणानुगता-वित्तैषणा से समन्वित मतवादोंने। फलतः राष्ट्रीय संघठन कालान्तर में उच्छिन्न ही तो होगया। क्योंकि सांस्कृतिक-निष्ठापूर्ण

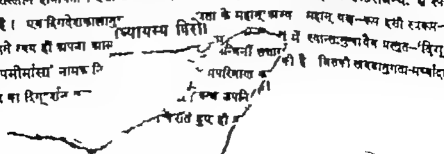
तो प्रवृत्त हो ही बना था। दुःख है कि ज्ञात—अज्ञात कारणपरम्पराओं के निग्रह से हमारा वर्तमान स्वतन्त्र विगत-मुक्त सुदीर्घ दशवर्षात्मक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र युग में भी भारतराष्ट्र की मूलनिधि संस्कृति, तदनुगत साहित्य, तथा तदाचरणात्मक धर्म्म के मौलिक स्वरूपान्वेषण के सम्बन्ध में न केवल अपने आपको तटस्थ, किंवा निरपेक्ष ही प्रमाणित करता आरहा है, अपितु मतवादात्मिका इतर सम्प्रदाएँ धर्म्मनिरपेक्ष भी इसी सत्तातन्त्र से जहाँ सर्वात्मना पुष्पित—पल्लवित होती जारही हैं, वहाँ इसी धर्म्मनिरपेक्ष ! सत्तातन्त्र के द्वारा भारतीय-संस्कृति-साहित्य-धर्म्म की ऐसी ऐसी आपाततरमणीया आलोचनाएँ ही प्रक्रान्त हैं, जिन्हें सुन कर प्रत्येक 'भारतीय' को तो लज्जा से अवनत—शिरस्क ही बन जाना पड़ता है।

८०–सांस्कृतिक-संकटकालीना वर्त्तमानावस्था तत्परित्राणोपाय, एवं सत्तानिरपेक्षता-मूलक चिन्तन-स्वाध्याय–आचरण–से ही सम्भाविता राष्ट्रीय-सांस्कृतिक निधि की स्वरूपाभिव्यक्ति—

इत्यम्भूता सांस्कृतिक-संकटकालीना अवस्था में राष्ट्र के प्रजावर्ग का क्या कर्त्तव्य शेष रह जाता है ?, यही वह सर्वप्रधाना समस्या है, जिस के सम्बन्ध–समाधानान्वेषण के लिए ही हमें–'तस्मादुत्तमपुरोऽराजकत्व'-मूलक भैक्ष्याचरण–भौतिकत्व में का प्रस्तुत मानसनिक में संस्मरण करना पड़ा है। प्रायः विद्वानोंने जब जब भी सत्तातन्त्रों के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, तब तब ही भारतराष्ट्र की संस्कृति अन्तर्मुख ही होगई है। अतएव यह अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक है कि, राष्ट्रनिष्ठ विद्वान् मतवादपरम्पराओं से अपने आपको असङ्ग रखते हुए, मतवादसमर्थित शास्त्रव्याख्याओं को पूर्णतः ही अप्रमाण मानते हुए स्वयं मूलशास्त्र की मौलिक आनि-नात्मिका परिभाषाओं के माध्यम से ही संस्कृति के चिन्तन में, साहित्य के स्वाध्याय में एवं धर्म्म के आचरण में प्रवृत्त होजाँय। इनकी इसी लोकनिष्ठा से जब भी इन विमल-विभूतियों के वास्तविक महत्त्व-स्वरूप से राष्ट्रीय जनतन्त्र, तथा तत्सम्बन्धात्मक सत्तातन्त्र अंशतः भी परिचित होजायगा, अवश्य ही उसी दिन भारतराष्ट्र अपना विस्मृत सांस्कृतिक गौरव प्राप्त कर लेगा।

८१–दिग्देशकाल-व्यामोहनासंस्पृष्टा गुहानिहितसत्यानुगता निरपेक्षता, तन्मूला सांस्कृतिक-निष्ठा, एवं तत्स्वरूपोपवृंहिका 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'—

तथाविधा चिन्तन-स्वाध्याय-धर्म्माचरण-निष्ठाओं में विद्वानों को तभी सफलता उपलब्ध होसकेगी, जबकि वह दिग्देशकालानुबन्धी अतएव सर्वथा तात्कालिक, अतएव च सत्ताकामानुगत लोकैषणात्मक विविध व्यामोहनों से अपने आपको सर्वथैव पराङ्मुख आत्मनिष्ठरूपेण निरपेक्ष बनाता हुआ गुहानिहितसत्या स्वाध्याय-निष्ठा में ही तल्लीन होजायगा। इसी तथ्य का इसी महान् उद्घोषण का–'तस्मादुत्तमपुरोऽराजकत्व' से स्पष्टीकरण हुआ है। एवं दिग्देशकालानु



... के महान् ... महान् ... इसी ... व्यामोहन से हमने स्वयं ही अपना ... में ... 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक ... की है, जिसकी ... मर्यादा ... का दिग्दर्शन ... अपरिमाण ... हुए ही ...

८२–'भारतीय मानव', किंवा 'विश्वमानव' के पारम्परिक उत्पीड़न का अन्यतम कारण दिग्देशकालनिबन्धना भावुकता—

'सर्वसाधन-परिग्रहों की विद्यमानता में भी विश्वमानव, विशेषतः भारतीय मानव, तत्रापि तद्विशेषतः 'भारतीय-हिन्दू मानव विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर निरन्तर क्यों त्रस्त-संत्रस्त क्षुब्ध-विक्षुब्ध, अशान्त-सम्मूढ़ बनता चला आरहा है ? जिस इस महत्त्वपूर्ण दुरधिगम्य अनति-स्पष्टतात्मक प्रश्न की हमने प्रस्तावना के उपक्रम में ही उत्थानिका की थी, तत्प्रश्न के समाधानामासों से (कल्पित उत्तरों से) अनुशासित ईश्वरीय-कोप, भाग्यदोष (जन्मान्तरीय दोष), कलियुगप्रभाव शास्त्रतन्त्रों का शैथिल्य आदि तथ्यों की ही अवतक स्वल्पमीमांसा हुई, जिनका पर्य्यवसान अन्ततोगत्वा सर्व-नाशकारिणी उस 'भावुकता' पर ही हुआ, जोकि तीन सहस्र वर्षों से भारतीय मानव को उत्पीड़ित किए हुए है।

८३–सर्वसाधन–परिग्रह–सम्पन्न, संस्कृति–साहित्यधर्म्मादि निष्ठ भी भारतीय मानव के पारम्परिक पतन का मूलकारण, एवं तत्परित्राणोपाय–दिग्दर्शन—

निःसन्देह दुर्धर्षभूता एकमात्र भावुकता ही श्रुति–स्मृति–पुराण जैसी नैष्ठिकी शास्त्रत्रयी के विद्यमान रहते हुए भी भारतीय–हिन्दू–मानव के पारम्परिक अभिभव का प्रधान निमित्त बनती आरही है, जिस इस महान्, प्रथम, तथा प्रमुख कारण के सम्मुख में ईश्वरीयकोप, भाग्यदोषादि, नितान्त भावुकता-पूर्ण अतएव काल्पनिक कारणाभासों का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता। भावुकता से ही मानव स्वसंस्कृतिनिष्ठा से पराङ्मुख होजाया करता है। और इस भावुकता की जननी आरम्भ में बनी है–संस्कृति–साहित्य–धर्म्म, नामक निष्ठास्तम्भों से सम्बन्ध रखने वाले चिन्तन–स्वाध्याय–आचरण–भावों की उपेक्षा करनेवाले व तत्प्रचार–व्यामोहन, तत्परता के लिए सर्वात्मना की सापेक्षता जिसे–संस्कृति–स्वरूपचिन्तक–शास्त्र–(साहित्य)–स्वाध्यायनिष्ठ तथा धर्म्माचारपरायण मानव के लिए–'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्य' रूपेण स्वयं मूलशास्त्र (वेदशास्त्र) ने ही प्रधान कारण माना है।

८४ स्वस्वरूपेण सुरक्षिता संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों की सर्वासापेक्षता–मूला महती भ्रान्ति, तदनुप्राणिता स्खलनपरम्पराएँ, तत्परिणामस्वरूप राष्ट्रीय–संघटनो-च्छेद, और आततायीवर्ग के द्वारा राष्ट्र का अभिभव—

स्वस्वरूपेण सुरक्षित भी संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–तन्त्रों का भावुकतावश ही दिग्देशकाल–व्यवस्थापक मात्र भूतसम्पत्तामात्रानुगामी सर्वतन्त्रों को जिस दिन से भारतीय साम्प्रदायिक–प्रज्ञावानों (ब्राह्मणोंने) संरक्षक मान लिया उसी दिन से भावुकतामूला परावलम्बनता के माध्यम से इस वर्गविशेष के चिन्तन–स्वाध्याय–धर्म्माचरण से सम्बन्ध रखने वाली स्वनिष्ठा तो तो होगई अभिभूत एवं तत्स्थान से ही सर्वानुबन्धिनी दैशिक-धार्मिक–मान्यताएँ ही बन गई इसके लिए संस्कृति साहित्य, और धर्म्म। यों भावुकतापूर्णा सर्वसापेक्षता से ही कालान्तर में संस्कृति बन गई असंस्कृति, साहित्य (शास्त्र) का स्थान ग्रहण कर लिए सर्वप्ररोचनात्मिका कल्पित व्याख्याओंने, एवं धर्म्म को अभिभूत कर लिया लोकैषणानुगता–वित्तैषणा से समन्वित मतवादों सम्प्रदायवादोंने। फलतः राष्ट्रीय संघटन कालान्तर में उच्छिन्न ही तो होगया। क्योंकि सांस्कृतिक–निष्ठापूर्ण-

थो महत्व दो ही माना था । इ
विगत–मुक्त सुदीर्घ एतावत्कालमर
साहित्य, तथा सदाचरणात्मक
किया निरपेक्ष ही प्रमाणित कर
इसी सत्तावन्त से यहाँ सर्वात्मना
भारतीय-संस्कृति-साहित्य-धर्म
'भारतीय' को तो संज्ञा से भ

८०–सांस्कृतिक-संकटका
मूलक चिन्तन-स्वा
स्वरूपाभिव्यक्ति—

इत्यभूता सांस्कृतिक-संक
यह सर्वप्रधाना समस्या है जिस
मूलक मैत्रावरुण–सौवस्त्रम का
तत्वों के प्रति आत्मसमर्पण
यह अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक है
रखते हुए, तदवात्स्वमर्यादा शास्त्र
नात्मिका परिभाषाओं के माध्यम से
आचरण में प्रवृत्त होजाँय । इ
स्वरूप से यद्यपि अनल्प तथा तत्व
भारतवर्ष अपना विस्तृत सांस्कृतिक

८१–दिग्देशकाल-व्यामोहनास
तिक-निष्ठा, एवं तत्स्वरूपोप

तथाविधा चिन्तन-स्वाध्याय-धर्मानु
यह दिग्देशकालानुबन्धी अतएव अस्मा
व्यामोहनों से अपने आपको सर्वथैव पराङ्मुख
धनिष्ठा में ही तल्लीन होजायगा । इसी तथ्य का इसी
दीकरण हुआ है । एवं दिग्देशकालात्म
विमोहन से हमने स्वयं ही अपना आत्म
'देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक
केस्वरूपेतिवृत्त का दिग्दर्शन क

ध्यायस्य विरो
स्य कृतकृत्यता ॥

से शर्य्यणावत्सरस (सुप्रसिद्ध–'रावी' नदी के विनिगमन स्थानरूप शियालकोट) पर्य्यन्त पृथ्वीलोकात्मक भारतवर्ष था, यहाँ से हिमालय की द्रोणियों पर्य्यन्त प्रदेश अन्तरिक्ष था, एवं यहाँ से प्राचीसरस्वती (उत्तरकुरुप्रदेशान्तर्गता) पर्य्यन्त द्युलोक था। तीनों के शयमोनपाम्–अधिष्ठाता–देवता क्रमशः अग्नि, वायु, इन्द्र, एवं मानवीय सम्राट् मनु थे। इनके द्वारा ही देवकर्म्मात्मक मानवधर्म्म सुव्यवस्थित बना हुआ था। देवयुग में देवगुरु बृहस्पति ही धर्म्म के ज्ञानविज्ञानस्वरूप के निर्देशक थे। इसी ऐतिहासिक भौगोलिक-क्षेत्रव्यवस्था के आधार पर अब हम उस तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, जिसका वर्त्तमान युग के तथाविध ही मानवों के साथ समानतया समनुगमन हो रहा है।

८८–देवयुगीय भारतीय-मानव के संस्कृति के प्रति भावुकतापूर्ण उद्गार—

जैसाकि निवेदन किया गया है, आध्यात्मिक के भूतविज्ञानात्मक क्षणिक विज्ञानों से सहसा आकर्षित हो-जाने वाले भारतीय धार्म्मिक मानवोंने उसी देवयुग में ये उद्गार अभिव्यक्त करते हुए यज्ञ-यागादि शास्त्र-सिद्ध सत्कर्म्मों का परित्याग कर ही तो दिया कि—

"हम क्यों, और किस लिए इन धार्म्मिक कर्म्मों का अनुगमन करें ?, जब कि हम प्रत्यक्ष में यह देख रहे हैं, सुन रहे हैं, और अनुभव कर रहे हैं कि, जो यज्ञनादि कर्म्म नहीं करते, वे तो सुखी-समृद्ध बने हुए हैं, और जो (अस्मदादि) इन शास्त्रसिद्ध कर्म्मों का अनुगमन कर रहे हैं, वे आद्यन्त के दुःखी ही बनते जारहे हैं। इस प्रत्यक्षस्थिति को देखते हुए कौन प्रज्ञाशील इन शास्त्रीय कर्म्मों के प्रति श्रद्धा रक्खेगा ? (१)।

८९–देवयुगीया स्थिति से समतुलित वर्त्तमान भारतीय–मानव के अश्रद्धापूर्ण उद्गार—

इसप्रकार जिस इतिहास को अग्रणी बना कर वर्त्तमान भारतीय मानव धर्म्माचरणों की आज उपेक्षा करते-जाते हैं, ठीक उसी कारण के आकर्षण से सहस्रों वर्षों-पूर्व देवयुग में भी मानवों में सत्कर्म्मों के प्रति सहसा अश्रद्धा ही अभिव्यक्त होगयी थी। आज भी तो—'होम करते हाथ जलता है'—"जो धर्म्म करते हैं, वे दुःखी हैं, जो धर्म्म की उपेक्षा कर चुके हैं, वे सुखी तथा समृद्ध बने हुए हैं"–इसप्रकार के इतिहासों के आधार पर ही तो भारतीय प्रजा धर्म्मविमुख होती जारही है (२)।

---

(१) ते इस्मापमर्श यजन्ते। ते पापीयाँस आसुः। अथ ये नेजिरे, ते श्रेयाँस आसुः। ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद–ये यजन्ते, पापीयांसस्ते भवन्ति, ये–उ–न–यजन्ते, श्रेयांसस्ते भवन्ति।

—शतपथ १।७।४।२४।

२–वस्तुस्थिति वास्तव में यथार्थ है। तमोगुणप्रधान पाञ्चभौतिक विश्व में–जहाँ सत्यानृतोभय-रस भौत-सिद्धान्त के अनुसार सत्यात्मक देवभाग तो है अन्तर्मुख, एवं अनृतात्मक भूतभाग है अभिव्यक्त। धर्म्मसापेक्ष कर्म्मों का प्रधान सम्बन्ध जहाँ देवभाग से है, वहाँ धर्म्मनिरपेक्ष किंवा धर्म्मविरुद्ध कर्म्मों का सम्बन्ध भूतभाग से है। अतएव अधर्म्मात्मक भूतप्रधान कर्म्म आरम्भ में तत्काल ही फलप्रद बन जाते हैं।

ऐक्य ही संघटन की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। सर्वहर्षि-सौहित्य-धर्म-मूलक संघटन के शिथिल हो ही राष्ट्र में वैसे महतीमहीयान् छिद्र होगए, जिनमें सुगमता से आततायी-वर्गों को प्रविष्ट होने का सुअवसर मिलता गया और, अलमतिप्रपञ्चितेन पापकथाप्रसङ्गेन । मातृकथामूला सप्रासंगिकचर्चा के अनुबन्ध से ही हमें यहाँ तत्सम्बन्धी तत्स्वरूपप्रदर्शिका मैत्रावरुण-मह-भु ति का आश्रय लेना पड़ा जिसके अवधार्य-समन्वय के बिना 'मातृकथा' का इतिहास अपूर्ण-ही बना रह जाता है।

८५–लोकानुबन्धी 'व्यामुग्धवस्त्र' से हमारा आत्मविमोहन—

आज से अनुमानतः ३५-वर्ष पूर्व जबकि एक 'सांस्कृतिक-संस्थान' की कल्पना 'मानवाश्रम' के रूप से प्रक्रान्त थी उसके प्रति जनतन्त्र का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही 'मानवाश्रम-पाक्षिक' नामक 'पाक्षिक-पत्र' की अभिव्यक्ति हुई। किसी अज्ञातनामा भद्रात्मा के तत्कालीन आक्रोशपूर्ण इस 'व्यामुग्धवस्त्र' से हम सहसा उद्विग्न ही हो पड़े कि 'तुम आज जिस श्रुति-स्मृति-पुराण-संस्कृति-धर्म-आदर्श-आदि से सम्बन्ध रखने वाले किसी मानवाश्रम की कल्पना में विभोर बने हुए हो बीसवींसदी जैसे वर्त्तमान युग में तुम्हारा यह प्रयास कदापि सफल नहीं होसकता। क्योंकि वर्त्तमान ब्रिटिशशासनतन्त्र के अनुग्रह से हमारा सभी कुछ उस सीमापर्य्यन्त बदल गया है कि, अब इस विज्ञानप्रधान ? परिवर्तित युग में केवल श्रद्धा से सम्बन्ध रखने वाली धर्म्मादि की चर्चा का कोई भी महत्त्व नहीं,' इत्यादि इत्यादि।

८६–आचार्य्यचरणानुग्रह से व्यामोहन से आत्मपरित्राण, एवं उपास्य 'शतपथ' के द्वारा महती समस्या का निराकरण—

उक्त आक्रोशपूर्ण उद्बोधन से हम सहसा उद्विग्न ही हो पड़े। और एकबार तो इस युगधर्म के प्रभाव ने हमें भी सहसा अभिभूत ही कर लिया। किन्तु आचार्य्यचरणानुग्रह से शास्त्र का ज्ञानविज्ञानात्मक दृष्टिकोण हमारे सम्मुख था। अतएव वह अभिभूति अधिक समय पर्य्यन्त स्थिर न रह सकी। तदपि प्रश्न अवश्य एक महती समस्या बन कर अन्तस्तल को उद्विग्न करता रहा। उसी युग में शतपथभाष्य प्रक्रान्त था। उसी 'शतपथ' के दो स्थलोंने सहसा हमारा ध्यान उन महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आकर्षित कर ही तो लिया जिसने सभी समस्याओं का एकान्ततः उन्मूलन कर दिया। उन दोनों तथ्यों में से शतपथ के ही चतुर्थकाण्डीय 'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण' से अनुप्राणित 'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्' इस एक उद्बोधक तथ्य का तो पूर्व में विस्तार से यशोगान किया ही जाचुका है। अब दिग्देशकालप्रकरण में भी (इतिहासमें भी) पाठकों के अनुरञ्जन के लिए दूसरे तथ्य का भी दो शब्दों में अब दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है।

८७–चतुर्विधा 'मधिजा' जाति, एवं देवयुगीय भौमत्रैलोक्य का स्वरूप-संस्मरण—

विज्ञाननिष्ठ साध्य पौरुषनिष्ठ महाराजिक, व्यवसायनिष्ठ आभास्वर तथा मनर्थनिष्ठ तुषित नामों से प्रसिद्ध चतुर्विध मधिजा मानवों के विज्ञानप्रधान साध्ययुग से उत्तरभावी देवयुगात्मक 'देवयुग' में साध्यों के भूतविज्ञान से प्रभावित भारतीय मानवोंने एकबार सहसा अपने यज्ञादि आचारधर्म्मों का परित्याग कर दिया। उस देवयुग में इसी भूतल पर त्रैलोक्य-व्यवस्था व्यवस्थित की भीमकाय के द्वारा (१)। त्रिदश (लङ्का)

(१)–इस व्यवस्था का शतपथभाष्य प्रथमखण्ड में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' के द्वारा आजतक इसी का प्रकाशन प्रक्रान्त है।

बृहस्पति ने जिस तात्त्विक-समाधान से मानवों में इस आचारधर्म्म के प्रति पुनः श्रद्धा प्रतिष्ठित की, उस समाधान का अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण वैज्ञानिक-सन्दर्भ से सम्बन्ध है, जिस का यत्र समावेश सम्भव नहीं है। उस समाधान के सम्बन्ध में प्रकृत में यही मान लेना पर्य्याप्त होगा कि, भारतीय आचारधर्म्म का मत वादों की भांति क्यों के मानवीय-मानसिक कल्पनाओं से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। अतएव इन के आचरण में मानव के स्वेच्छाप्रज्ञानुबन्धी काल्पनिक ऊहापोह का प्रवेश सर्वथा ही निषिद्ध है। यह आचार-धर्म्म तो प्रकृति के सनातन-ज्ञानविज्ञानात्मक-नित्य-नियमों के आधार पर ही व्यवस्थित है। यदि कोई बुद्धिवादी 'गायत्रीमन्त्र' के स्थान में गायत्रीमन्त्र के अनुवाद (भावार्थ) का ही जप करना आरम्भ कर देगा तो वही मन्त्रार्थ इष्ट के स्थान में अनिष्ट का ही कारण बन जायगा। यही नहीं अपितु स्वयं गायत्री-मन्त्र भी एक भी स्वर-वर्ण-अक्षर-के विपर्य्यासात्मक दोष से जपकर्त्ता का विध्वंस ही कर देगा (१)। अपने इसी काल्पनिक भाव से देवयुगीय मानवों के लिए अभ्युदयसाधक भी यज्ञकर्म्म प्रत्यवायात्मक अनिष्ट का ही कारण बन गया था। भूतदृष्ट्या यद्यपि घटना साधारण सी थी। किन्तु प्राणदृष्ट्या वही घटना यजमान के अनिष्ट का कारण बन गई थी। स्वाध्यायाभाव इस एक दोष से अपरिचित तत्कालीन मानव यज्ञात्मक धर्म्म को ही इस अनिष्ट का कारण मान बैठा था। भूमिनिखननानन्तर निर्म्मिता वेदि पर कुशास्तरण होता है। तत्पूर्व इस वेदि का स्पर्श कर लेने से ही निखननप्रयुक्त हिंसक प्राण (उग्रप्राण) यज्ञकर्त्ता का अनिष्ट कर देता था। बृह-स्पति ने यही तथ्य मानवों के सम्मुख रक्खा एवं इस वैज्ञानिक-स्वरूप-के माध्यम से ही उद्बोधन प्रदान किया (२)। बर्हि (कुश-डाभ) से वेदि का हिंसक प्राण क्योंकि उपशान्त हो जाता है अतएव उस के बिछा देने के अनन्तर ही वेदि का स्पर्श करना चाहिए, यही उस उद्बोधन का वह निष्कर्ष है जिस इस प्राणविज्ञान का समन्वय कदापि भूतविज्ञानवादी नहीं कर सकता।

६१–मानसिक-कल्पनाओं से समन्वित व्याख्याओं से सांस्कृतिक-ज्ञानविज्ञानसिद्ध भी कर्त्तव्यकर्म्मात्मक धर्म्म की 'मतवादरूप' में परिणति, एवं धर्म्मव्याजात्मक आज के य 'यज्ञसमारोह'—

दुर्भाग्य हमने अपने ज्ञानविज्ञानसिद्ध आचारधर्म्मों को भी उसीप्रकार सामान्य-लौकिक-कर्म्म ही मान लिया है जिनका कि इष्टानिष्ट विशेषरूपेण प्रभावशाली नहीं हुआ करता। इसी भावुकतापूर्ण लौकिकी मान्यता से हमने विगत-अवधि से शास्त्रीय-आचारों को अपनी कल्पना से ही समन्वित कर लिया है। 'यज्ञ' जैसे

(१)–दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

(२)–अस्पृष्टा वेदिः। तेनाभिमर्शामारिष्ट-तस्मात् पापीयांसोऽभूत। तेन-मनभर्शी यजध्वम्। तथा श्रेयांसो भविष्यथ। यो कियत-इति (कबतक वेदि का स्पर्श न करें ?), आबर्हिषस्तरणात्-इति। बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति। स यो हैव-विद्वान्-अन-भिमर्श यजते श्रेयान् ह वै भवति।

—शतपथ १।२।५।२६।

सोमागारे' शशिसौम्याकारः-शशी=चन्द्रस्तद्वत् सौम्य =रमणीयः, आकार = स्वरूप यस्य स तथोक्तः। 'कंते' कान्त =कमनीयः। 'पियदंसणे' प्रियदर्शन - प्रिय=दर्शकजनमनोह्लादकं दर्शनम्=अवलोकनं यस्य स तथोक्त । 'सुरूवे' सुरूप'=सर्वातिशायिरूपलावण्यवान । 'सामदंडभेयउवप्पयाणणीइसुप्पउत्तणयविहिण्णू' सामदण्डभेदोपप्रदाननीति सुप्रयुक्तनयविधिज्ञ -तत्र साम='वयं युष्माकं यूयमस्माकं को भेदोऽस्माकम्' इत्यादि मधुरवाक्यैः शत्रुपक्षवशीकरणम्, दण्ड दण्ड्यते-धनाद्यपहरणेन निस्सारी क्रियते जनो येन स तथोक्त =क्लेशोत्पादेन

परिपूर्ण था। चन्द्रमाके जैसा इसका सौम्य आकार था। देखने वालों को यह बहुत अधिक प्रिय लगता था। कमनीय था। रूप लावण्य इसके प्रत्येक अंग से टपकता रहता था।

यहाँ "अहीणजावसुरूवे" में जो यावत् पद रखा है-उस से इस पाठ का यहाँ ग्रहण किया गया है-अहीणपडिपुण्ण-पंचेन्दियसरीरे लक्खणवंजणगुणोववेए, माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्ण -सुजायसव्वंगसुंदरंगे, ससिसोमागारे, कंते, पियदंसणे सुरूवे। (सामदंडभेदउवप्पयाणणीतिसुप्पउत्तणयविहिन्नू ईहा-वूहमग्गण गवेसणअत्थसत्थमइविसारए) हम आपके हैं आप हमारे हैं हम में और आप में कोई भेद नहीं है इत्यादिमधुर वचनों द्वाराशत्रुपक्ष को वश में करना यह साम उपाय है, क्लेश उत्पन्न करके अथवा कोष आदि का अपहरण करके शत्रु को वश में करना-या उसे बिलकुल कमजोर बना देना यह दण्डनीति है, शत्रु पक्ष के स्वामी-तथा सेवक में जो परस्पर में स्नेह होता है उसमें भेद करना-उनके चित्त में ऐसी बात जमा देना कि जिससे दोनों आपसमें एक दूसरे का विश्वास न कर सकें इसका नाम भेदनीति है। यह भेदनीति ३ तीन प्रकार की कही गई है-

ચન્દ્રના જેવો એમનો સૌમ્ય આકાર હતો. જોનારને એ બહુજ વધારે ગમતો હતો. એ કમનીય હતા. રૂપ અને લાવણ્ય એમના દરેકે દરેક અંગમાંથી નીતરતુ હતુ

અહીં 'अहीण जाव सुरूवे' આ જે યાવત્ પદ મૂકવામાં આવ્યુ છે, તેનાથી આ પાઠનું અહીં ગ્રહણ કરવામાં આવ્યો છે-अहीणपडिपुण्णपंचेंदियसरीरे लक्खणवंजणगुणोववेए माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगे ससिसोमागारे, कंते पियदंसणे सुरूवे।" सामदंडभेदउवप्पयाणणीतिसुप्पउत्तणयविहिन्नू ईहा वूहमग्गणगवेसणअत्थसत्थमइविसारए) અમે તમારા છીએ, તમે અમારા છો, આપણામાં કોઈ પણ જાતનો ભેદ નથી, વગેરે મીઠા વચનોથી શત્રુપક્ષને વશ કરવો આ સામ ઉપાય છે પીડિત કરીને અથવા તો ધન-ભંડારનું હરણ કરીને દુશ્મન ઉપર કાબૂ મેળવવો અગરતો તેને સાવ નિર્બળ બનાવવો આ દંડનીતિ છે શત્રુપક્ષના સ્વામી તેમજ સેવકમાં જે એક બીજા વચ્ચે

है यह प्रमाण कहीगई है।

अपोह –अपोह्यते=निवार्यते स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेति स तथोक्त'=निजाकारनिर्णयज्ञान यथा–'स्थाणुरेवाय' मिति। मार्गण–मार्ग्यते=अन्विष्यते वस्त्वनेनेति तत्तथोक्तम्=अपोहाग्रे सद्भूतार्थविशेषज्ञानाभिमुखमेव 'तत्सत्वे तत्सत्त्वमन्वय' इत्यन्वयधर्मान्वेषण, यथा वल्लील्ताद्यारोहण स्थाणुधर्मे एवात्र घटने इति। स्थाणुमेवाश्रित्य वल्लील्ताद्यारोहण भवति, अत स्थाणु धर्मत्वेन वल्लीलताद्यारोहण व्यपदिश्यते। गवेषण–गवेष्यते=विशेषतो निश्चीयते वस्त्वनेनेति तत्त

"इसी का नाम सशय है। इस सशयके होने पर यह स्थाणु होना चाहिये अथवा पुरुष होना चाहिये इसतरह किसी एक तरफ झुकती हुई जो बुद्धि की चेष्टा होती है यही ईहा है।

ईहा के बाद जो विशेष ज्ञान होता है उसका नाम अवाय है–अपोह है–। अपने आकार से विपरीत आकार जहा दूर किया जाता है वह 'अपोह' है ऐसी अपोह शब्द की व्युत्पत्ति है। जैसे जब यह बोध हुआ कि यह स्थाणु होना चाहिये तब ऐसा जो बोध होता है कि यह स्थाणु ही है इसी का नाम अपोह है मार्गण शब्द का अर्थ होता है–अन्वेषण– यह स्थाणु ही है ऐसा जो अपोह नामक बोध हो रहा है वह इस बात को लेकर हो रहा है कि यहाँ पर वल्ली आरोहण आदि जो स्थाणुगत धर्म है वे ही घटित हो रहे हैं। इसी का नाम अन्वय है 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः' यह अन्वय का लक्षण है। स्थाणु को आश्रित करके ही वल्ली लता आदि का वहाँ आरोहण होता है–इसलिये ये स्थाणु के धर्म तरीके प्रकट किये जाते हैं। मार्गणा में अन्वय धर्म की पर्यालोचना होती है। गवेषणा में व्यतिरेक धर्म का विचार चलता

આ પ્રમાણે કોઇ એક તરફ વળતી બુદ્ધિની ચેષ્ટા થાય છે, તેનુ નામ ઇહા છે

ઇહા પછી જે વિશેષજ્ઞાન હોય તેનુ નામ અવાય છે–અપોહ–છે પોતાના આકારથી ભિન્ન આકારને જ્યા દૂર કરવામા આવે તેને અપોહ કહે છે એ રીતે અપોહ શબ્દની વ્યુત્પત્તિ છે દા. ત. જ્યારે એ જ્ઞાન થયુ કે આ સ્થાણુ (ઠુઠુ) હોવુ જોઈએ ત્યારે એવુ નિશ્ચયરૂપે જે જ્ઞાન થાય છે કે આ સ્થાણુ (ઠુઠુ) જ છે, આનુ જ નામ અપોહ છે માર્ગણ શબ્દનો અર્થ 'અન્વેષણ' થાય છે આ સ્થાણુ જ છે, આ પ્રકારનુ અપોહ નામે જે જ્ઞાન થઈ રહ્યું છે, તે આને લઈને જ થઈ રહ્યું છે કે અહીં વલ્લી (વેલ) આરોહણ વગેરે જે સ્થાણુમા રહેનારા ધર્મો છે, તે જ ઘટિત થઈ રહ્યા છે આનુ નામ અન્વય છે "તત્સત્વે તત્સત્ત્વમન્વય" આ અન્વયનુ લક્ષણ છે 'સ્થાણુ (ઠુઠા) ના આધારે જ લતા વગેરેનુ આરોહણ થાય છે માટે જ એ સ્થાણુના ધર્મ બતાવવામા આવ્યા છે માર્ગણામા 'અન્વય' ધર્મની પર્યાલોચના થાય છે ગવેષણામા કે વ્યતિરેક

नीचमल्पप्रदानेन, सम तुल्यपराक्रमे ॥१॥" इति, अन्यथ–"लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्, साधुमञ्जलिकर्मणा। मूर्ख छन्दानुरोधेन, तत्त्वार्थेन च पण्डितम् ॥" इति। 'ईहापोहमग्गणगवेसणअत्थसत्थमइविसारए' ईहाऽपोहमार्गणगवेषणार्थशास्त्रमतिविशारद – तत्र ईहा=श्रुतावपि वस्तुनोऽनालोचितविलोकनजन्यसंशयनिराशाय बुद्धिचेष्टा, यथा दूरत उर्ध्वत्वयुक्तस्य कस्यचिद्दर्शने 'स्थाणु र्वा पुरुषो वा इति विवक्षाय बुद्धिचेष्टनम्।

वश में करना होवे तो उसके साथ नम्रता का व्यवहार रखना चाहिये। (शूर भेदेन योजयेत्) किसी शूरवीर को यदि वश में करना है तो उसके साथ भेदनीति का प्रयोग करना चाहिये। (नीचमल्पप्रदानेन) यदि किसी नीचजन को वश में करना है, तो उसे कुछ न कुछ थोडा बहुत अवश्य दे देना चाहिये।

(सम तुल्यपराक्रमे) बराबरी वाले शत्रु को यदि वश में करना है तो उसके तो उसके साथ बराबरी का पराक्रम करना चाहिये। यही बात अन्यत्र इस प्रकार से कही है–

'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् साधुमञ्जलि,कर्मणा,
"मूर्ख छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम्"।

सामान्य रूप से वस्तु के बाद जो उसमें संशय होता है उस संशय को दूर करने की जो एक प्रकार की बुद्धि चेष्टा होती है उसका नाम ईहा है। जैसे दूर से किसी ऊँची वस्तु का जब हमे दर्शन होता है तब यह कुछ है ऐसा सामान्य बोध होता है अब इस सामान्य बोध के बाद फिर ऐसा जो विचार आता है कि यह स्थाणु है या पुरुष है

કરવુ જોઈએ 'शूर भेदेन योजयेत्' वीर પુરુષને વશ કરવો હોય તો તેની સાથે ભેદનીતિનો પ્રયોગ કરવો જોઈએ. 'नीचमल्पप्रदानेन' નીચ માણસને વશ કરવો હોય તો કંઈકને કંઈક–થોડુ ઘણુ પૈસા આપવુ જોઈએ. सम तुल्यपराक्रमेः' સરખી શક્તિવાળા દુશ્મનને વશ કરવો હોય તો તેની સાથે બરાબરીનુ શૂરાતન બતાવવુ જોઈએ એજ વાત બીજે સ્થાને આ રીતે બતાવવામા આવી છે—

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् साधुमञ्जलिकर्मणा।
मूर्ख छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम् ॥१॥,,

સામાન્ય રૂપમા વસ્તુના બોધ પછી જે તેમા સંશય ઉદ્ભવે છે તેને દૂર કરવાની એક પ્રકારની બુદ્ધિનીચેષ્ટા હોય છે, તેનુ નામ 'ઇહા' છે દા. ત. દૂરથી કોઈ ઊંચી વસ્તુનુ જ્યારે દર્શન થાય છે, ત્યારે આ કંઈક છે, એવુ સામાન્ય જ્ઞાન આપણને થાય છે આ સામાન્ય જ્ઞાન પછી ફરી એમ વિચાર થાય કે આ સ્થાણુ (ઠુંઠુ) છે કે પુરુષ છે આનુ નામ સંશય છે આ સંશય પછી આ સ્થાણુ હોવુ જોઈએ અથવા પુરુષ હોવો જોઈએ,

वैनयिक्या—विनयेन जाता वैनयिकी=गुर्वादिविनयप्राप्तशास्त्रार्थ संस्कारजन्या, तया, अत्र नैमित्तिकशिष्यद्वयोदाहरणं संक्षेपतः प्रदर्श्यते—

एकस्मिन्नगरे समकवयस्कौ द्वौ शिष्यौ निमित्तशास्त्रं पठितुं कस्यापि नैमित्तिकस्य समीपे गतवन्तौ। तयोरेको विनयशीलो यद् यथा गुरुरुपदिशति तत्तथैव बहुमानपुरस्सरं विनयावनतमस्तकोऽधीते, गुरुपाठितं मुहुर्मुहुर्विमृशति, शङ्कास्पदं स्थलं गुरुसमीपमुपेत्य सविनयं निर्णयति च। अपरस्तु न तथा विनयेन पठति, न पृच्छति, नापि विमृशति च। अधीतशास्त्रावुभौ कालान्तरे जीविकार्थं देशान्तरं गतौ। क्वचि

है। गुरु आदि के विनय से प्राप्त हुए शास्त्री अर्थ के सस्कार से जो बुद्धि प्राप्त होती है वह वैनयिकी बुद्धि है।

इस विषय म दो नैमित्तिक शिष्यों का उदाहरण इस प्रकार है—किसी नगर म समान अवस्था वाले दो शिष्य किसी निमित्तज्ञ के पास निमित्त शास्त्र को पढने के लिये गये। उनमें एक शिष्य विनय शील था। गुरुमहाराज उसे जिस प्रकार जिस बात को पढाते थे वह उस बात को बहुमान पुरस्सर बडे भारी विनय के साथ पढता था। विद्या गुरु जिस विषय को उसे समझाया करते थे वह उस विषय को बार बार विचार में लाया करता था। जिस विषय में उसे किसी भी तरह का सदेह होता तो वह गुरु के पास जा कर विनय के साथ उसका निर्णय करता। दूसरा शिष्य ऐसा कुछ अविनयी था कि वह न तो कुछ पढता न कुछ लिखता और न गुरु से कुछ पूछता और न कुछ विचार ही करता। अब उन दोनों के लिये ऐसा अवसर आया कि उन्हें आजी

ગુરુ વગેરેના વિનયથી પ્રાપ્ત કરેલ શાસ્ત્રીય અર્થના સંસ્કાર વડે જે બુદ્ધિ પ્રાપ્ત થાય છે, તે વૈનયિકી બુદ્ધિ છે આ વિષયને લગતા બે નૈમિત્તિક શિષ્યોના દૃષ્ટાન્ત આ પ્રમાણે છે—

કોઈ નગરમા સરખી ઉમરના બે વિદ્યાર્થીઓ કોઈ નિમિત્તજ્ઞની પાસે નિમિત્ત શાસ્ત્રના અભ્યાસાર્થે ગયા. તેઓમા એક શિષ્ય વિનમ્ર હતો ગુરુ તેને જે વાત શીખવતા તે તે વાતને બહુજ માનપૂર્વક ઘણા વિનય સાથે તે શીખતો હતો વિદ્યા આપનારા ગુરુ જે વિષય તેને સમજાવતા તે તે વિષય ઉપર વારવાર મનન કરતો હતો. તે વિષયમા તેને કોઇ પણ જાતની શંકા હોય તો તે ગુરુની પાસે જઈને સવિનય તેનું સમાધાન કરતો હતો બીજો શિષ્ય કંઈક અવિનયી હતો ન તો તે કંઇ વાચતો અને ન તે કંઇ લખતો તેમજ ન ગુરુને તે કંઇ પૂછતો અને ન તે કોઈપણ જાતના વિચાર કરતો હવે વિદ્યાભ્યાસ કરી લીધા પછી આ બન્નેને

थोक्त-मार्गणादृन्वे सद्भूतार्थविशेष निर्णयाभिमुखमेवान्यधर्मपरित्यागेन 'तदभत्वे तदसत्त्व व्यतिरेकः' इति व्यतिरेक धर्माभ्यास समालोचन यथा-'अस्मिनशिरः शरीर कण्डूयनादय पुरुषधर्मा न दृश्यन्ते' इति। एतेषां समाहारे ईहापोहमार्गणगवेष णानि, तैरर्थशास्त्रे=अर्थोपार्जननिमित्त शास्त्रमर्थशास्त्र, तत्र या मति =मनन तया विशारदः=निपुणः स तथोक्तः। तथा 'उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मयाए पारि णामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेए' औत्पत्तिक्या, वैनयिक्या, कर्मजया, पारिणामिक्या, चतुर्विधया बुद्धया उपपेत, तत्र-औत्पत्तिक्या-उत्पत्तिरेव-शास्त्रा भ्यासकर्मपरिशीलनादिक विहाय प्रयोजनं यस्या सा औत्पत्तिकी-पूर्वमदृष्टाश्रुता ननुभूतविषयतयाप्यकस्मादुद्भवनशीला, तया, अत्र रोहकदृष्टान्त प्रसिद्ध एव।

है जैसे ऐसा विचार होना-कि यह स्थाणु ही है- पुरुष नहीं-कारण पुरुषगत जो शिर कण्डूयन आदि धर्म हैं वे यहा प्रतीत नहीं हो रहे हैं 'तदभत्वे तदसत्त्वम्' यह व्यतिरेक का लक्षण है। अभयकुमार जिस तरह सामआदि नीति के प्रयोग करने में विशेषपटु थे उसी प्रकार वे ईहा अपोह मार्गण, गवेषण द्वारा अर्थशास्त्र के विचार करने में भी विशेष विशारद थे। (उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मयाए पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववए) औत्पत्ति की, वैनयिकी कर्म जा तथा, परिणामिकी, इस तरह चार प्रकार की बुद्धि से वे अभयकुमार युक्त थे। जो बुद्धि स्वत एव जीव को विना किसी शास्त्राभ्यास आदि के उत्पन्न होती है वह औत्पत्ति की बुद्धि है। यह बुद्धि पूर्व में अदृष्ट अश्रुत तथा अननुभूत हुए विषय को अकस्मात जान लेती है। इस विषय में रोहक का दृष्टान्त प्रसिद्ध ही

[અભાવ] ધર્મ ઉપર વિચાર કરવામા આવે છે' જેમ કે 'આ સ્થાણુ જ છે, પુરુષ નથી. કારણ કે પુરુષગત જે શિર કંડૂયન વગેરે ધર્મો છે, તેઓની અહીં પ્રતીતિ થતી નથી. 'तदभत्वे, तदसत्त्वम्' આ વ્યતિરેકનું લક્ષણ છે જેમ અભયકુમાર સામ વગેરે નીતિનો પ્રયોગ કરવામા વિશેષ કુશળ હતા, તેમજ ઈહા, અપોહ, માર્ગણ, ગવેષણ વડે અર્થશાસ્ત્ર ઉપર વિચાર કરવામા પણ વિશેષ હોશિયાર હતા (उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मयाए परिणामियाए चउव्विहाए बुद्धिए उववेए) ઔત્પત્તિકી, વૈનયિકી' કર્મજા અને પરિણામિકી આ રીતે ચાર પ્રકારની બુદ્ધિથી અભયકુમાર સપન્ન હતા. જીવને પોતાની મેળે કોઈ પણ જાતના શાસ્ત્રાભ્યાસ વગેરે જે બુદ્ધિ ઉદ્‌ભવે છે તે-ઔત્પત્તિકી બુદ્ધિ છે આ બુદ્ધિ પહેલા કોઈપણ વખત જોવામા નહિ આવેલા, સાભળવામા નહીં આવેલા તેમજ અનુભૂતિના વિષયમા નહિ આવેલા વિષયને અનાયાસ સમજી લે છે આ બાબતમા રોહકનુ દષ્ટાંત પ્રસિદ્ધ થયેલ જ છે

वैनयिक्या—विनयेन जाता वैनयिकी=गुर्वादिविनयप्राप्तशास्त्रार्थ संस्कारजन्या, तया, अत्र नैमित्तिकशिष्यद्वयोदाहरणं संक्षेपतः प्रदर्श्यते—

कस्मिन्नगरे समवयस्कौ द्वौ शिष्यौ निमित्तशास्त्रं पठितुं कस्यापि नैमित्तिकस्य समीपे गतवन्तौ। तयोरेको विनयशीलो यद् यथा गुरुरुपदिशति तत्तथैव बहुमानपुरस्सरं विनयावनतमस्तकोऽधीते, गुरुपाठितं मुहुर्मुहुर्विमृशति, शङ्कास्पदं स्थलं गुरुसमीपमुपेत्य सविनयं निर्णयति च। अपरस्तु न तथा विनयेन पठति, न पृच्छति, नापि विमृशति च। अधीतशास्त्रावुभौ कालान्तरे जीविकार्थं देशान्तरं गतौ। क्वचि

है। गुरु आदि के विनय से प्राप्त हुए शास्त्री अर्थ के संस्कार से जो बुद्धि प्राप्त होती है वह वैनयिकी बुद्धि है।

इस विषय में दो नैमित्तिक शिष्यों का उदाहरण इस प्रकार है—किसी नगर में समान अवस्था वाले दो शिष्य किसी निमित्तज्ञ के पास निमित्त शास्त्र को पढ़ने के लिये गये। उनमें एक शिष्य विनय शील था। गुरुमहाराज उसे जिस प्रकार जिस बात को पढ़ाते थे वह उस बात को बहुमान पुरस्सर बडे भारी विनय के साथ पढ़ता था। विद्या गुरु जिस विषय को उसे समझाया करते थे वह उस विषय को बार बार विचार में लाया करता था। जिस विषय में उसे किसी भी तरह का संदेह होता तो वह गुरु के पास जा कर विनय के साथ उसका निर्णय करता। दूसरा शिष्य ऐसा कुछ अविनयी था कि वह न तो कुछ पढ़ता न कुछ लिखता और न गुरु से कुछ पूछता और न कुछ विचार ही करता। अब उन दोनों के लिये ऐसा अवसर आया कि उन्हें आजी

ગુરુ વગેરેના વિનયથી પ્રાપ્ત કરેલ શાસ્ત્રીય અર્થના સંસ્કાર વડે જે બુદ્ધિ પ્રાપ્ત થાય છે, તે વૈનાયિકી બુદ્ધિ છે આ વિષયને લગતા બે નૈમિત્તિક શિષ્યોના દૃષ્ટાન્ત આ પ્રમાણે છે—

કોઈ નગરમાં સરખી ઉંમરના બે વિદ્યાર્થીઓ કોઈ નિમિત્તજ્ઞની પાસે નિમિત્ત શાસ્ત્રના અભ્યાસાર્થે ગયા. તેઓમાં એક શિષ્ય વિનમ્ર હતો ગુરુ તેને જે વાત શીખવતા તે તે વાતને બહુજ માનપૂર્વક ઘણા વિનય સાથે તે શીખતો હતો વિદ્યા આપનારા ગુરુ જે વિષય તેને સમજાવતા તે તે વિષય ઉપર વારંવાર મનન કરતો હતો. તે વિષયમાં તેને કોઈ પણ જાતની શંકા હોય તો તે ગુરુની પાસે જઈને સવિનય તેનું સમાધાન કરતો હતો બીજો શિષ્ય કંઈક અવિનયી હતો ન તો તે કંઈ વાચતો અને ન તે કંઈ લખતો તેમજ ન ગુરુને તે કંઈ પૂછતો અને ન તે કોઈપણ જાતના વિચાર કરતો હવે વિદ્યાભ્યાસ કરી લીધા પછી આ બન્નેને

न्नगरनिकटे सरस्तीरे विशश्रमतुः । 'एतावुभौ विद्वांसौ' इतिज्ञात्वा मस्तकन्यस्त-जलभृतघटा काचिद्वृद्धा विदेशगतस्वपुत्रकुशलिनीं वार्ता पप्रच्छ । प्रश्नसमकालमेव तन्मस्तकाद् घटो न्यपतत्, तद्दृष्ट्वा सोऽविमृश्यकारी झटितिमाह-'वृद्धे !=मृतस्तव पुत्र ' इत्यादि । कर्णकठोर प्राणापहारक वज्रमिवाऽऽपतत् पुत्रमरणरूप तद्वचन श्रुत्वा यावत्सा मूर्छा प्राप्नोति तावत्परो विमर्शशीलो नैमित्तिको न्यगदत् मोभ्रात मैवं ब्रूहि, अस्या पुत्र साम्प्रतमेव स्वगृहमागतो वर्तते, मात ! गच्छ शीघ्रं गृह पुत्रमुखावलोकनजनितममन्दपरमानन्दमनुभवेत्यादि । तच्छ्रुत्वा मृत्युञ्जीवितेव

जिविका सपादन के लिये परदेश में जाना पड़ा। जब ये बाहर जा रहे थे तो किसी एक नगर के पास के सरोवर के किनारे ये दोनों ठहर गये। इतने में एक वृद्धाने कि जिसका पुत्र बहुत समय से परदेश गया हुआ था और अभी तक वापिस नहीं आया था उन्हे देखा-वह मस्तक पर घड़ा रखकर वहाँ जल भरने को आई थी। उसने विद्वान समझ कर इनसे अपने पुत्र की कुशल वार्ता पूछी तो अविनीत शिष्यने यह देखकर कि उसके मस्तक से प्रश्न पूछने के साथ साथ घड़ा गिर गया है जल्दी से ऐसा कहा कि हे वृद्धे ? तेरा पुत्र तो परदेश में ही मर गया है-तू अब किस की कुशल वार्ता पूछ रही है। ऐसा उसका कर्णकठोर वज्र के प्रहार जैसा तीक्ष्ण मर्मभेदक पुत्र का मरण रूप वचन सुनकर वह मूर्च्छित होने वाली ही थी इतने में दूसरे विनयशील शिष्यने विचार कर कहा भाई ऐसा मतकहो-इसका पुत्र तो इस समय घर पर ही आ पहुँचा है। ऐसा कहकर फिर उसने उस वृद्धा से कहा ! तुम जल्दी से जल्दी घर जाओ।

પોતાની આજીવિકા ચલાવવા માટે પરદેશ જવાનું થયું જ્યારે તેઓ બહાર જઈ રહ્યા હતા ત્યારે માર્ગમાં કોઈ નગર પાસે સરોવરના કાંઠે આ બન્ને રોકાયા. એટલામાં એક ડોશીએ કે જેનો પુત્ર ઘણા સમય પહેલા વિદેશ ગયો હતો અને હજી પોતાને ઘેર પાછો ફર્યો ન હતો-તેઓને જોયા, તે ઘડો માથા ઉપર મૂકીને પાણી ભરવા આવી હતી તે ડોશીએ તેઓને વિદ્વાન્ સમજીને એમને પોતાના પુત્રનું કુશળ પૂછયુ પ્રશ્ન પૂછવાની સાથે જ વૃદ્ધાના માથા ઉપરથી પાણીનો ઘડો પડી ગયોછે,-એ જોઈને અવિનીત શિષ્યે ઝડપથી કહ્યુ કે હે વૃદ્ધે ! તારો પુત્ર તો વિદેશમાં મરણ પામ્યો છે, તુ હવે કોના કુશળની વાત પૂછે છે, આ પ્રમાણે તેનું વજ્રપ્રહાર જેવુ કાર્ણકટુ, તીક્ષ્ણ, અન્તઃકરણને વીંધનારૂ, પુત્રમરણ રૂપવચન સાંભળીને તે બેભાન થવાની જ હતી તેટલામાં બીજા વિનયશીલ શિષ્યે વિચારીને કહ્યુ કે ભાઈ આવુ ન બોલો એનો પુત્ર તો અત્યારે ઘેર આવી પહોંચ્યો છે આમ કહીને પછી તેણે તે ડોશીને કહ્યુ કે મા ! તમે સત્વરે ઘેર જાઓ. તમારો પુત્ર

सा गता गृहं, मिलितो ऽस्याऽऽत्मजः पुत्रः, हर्षप्रकर्षमुपागता। तदनु सा बहुमूल्य पारितोषिकमादाय सरस्तीरमागत्य तौ पृष्टवतीकथं ज्ञातमेतद्वृत्तमिति। अविमृश्य कारी ब्रूते प्रश्नसमये तव मस्तकान्निपत्य कुम्भः स्फुटितस्तेन मया ज्ञात-'मृतस्तव पुत्र' इति। तत्पश्चाद् विमृश्यकारी प्रवक्ति-प्रश्नसमकालमेव तव घटोऽधो भूमौ निपतितस्तज्जलं च सरोजलेन साकं मिलितं तेन मया ज्ञात-'यस्य यज्जलं तत्तेन

तुम्हारा पुत्र घर पर आ गया है। उसके मुखावलोकन से तुम परम हर्ष का अनुभव करो। इस प्रकार उस विनयशील विचारक शिष्य के वचन सुन कर उसे मानो नई चेतना भी प्राप्त हो गई हो इस तरह चलकर वह अपने घर पहुँची। पहुँचते ही वहां उसने एक लाख रुपयों को कमा कर साथ में लाये हुए अपने पुत्र को देखा-देखते ही उसे परम आनन्द का अनुभव हुआ हर्ष प्रकर्ष से युक्त हो कर वह बहुमूल्य पारितोषिक लेकर पुनः उस तालाब के किनारे पर वह आई। आते ही उन दोनों से उसने पूछा-भाई बतलाओ तुमने यह सब कैसे जाना। सुनकर अविमृश्यकारी शिष्यने उससे कहा-मां! प्रश्न पूछने के साथ ही जब तुम्हारे मस्तक से घडा गिर कर फूट गया-तो मैंने विचार किया कि जिस प्रकार यह घडा अचानक गिरकर फूट गया है उसी प्रकार तुम्हारा पुत्र भी मर गया है। विमृश्यकारीने अपनी बात के समर्थन में उसे कहा -कि मातः? प्रश्न करने के समकाल में ही जब आप का घडा जमीन पर गिर पडा और उसमें का जल सरोवर के साथ मिल गया

ઘેર આવી ગયો છે તેનું મો જોઈને તમે ખૂબ જ આનંદ અનુભવો આ રીતે વિનયી અને વિચારક શિષ્યના વચન સાંભળીને તેણે જાણે કે નવી ચેતના ન મેળવી હોય, તેમ તે વસ્તજ પોતાને ઘેર ગઈ અને ઘેર પહોંચતા જ ત્યાં તેણે એક લાખ રૂપિયા કમાઈ આવેલ પોતાના પુત્રને જોયો. જોતાની સાથે જ તેનું હૈયું આનન્દથી તરબોળ થઈ ગયું પ્રસન્ન થતી તે બહુ કીમતી ભેટ લઈને તેજ તળાવને કાંઠે ફરી આવી આવીને તેઓ બન્નેને તેણે પૂછ્યું 'ભાઈ તમે આ બધું કેવી રીતે જાણ્યું ?' એ સાંભળીને અવિમૃશ્યકારી [અવિચારી] શિષ્યે કહ્યું-'મા ! પ્રશ્ન કરતાની સાથે જ તમારા માથા ઉપરથી ઘડો પડીને ફૂટી ગયો, ત્યારે મને થયું કે જે રીતે આ ઘડો ઓચિંતો પડીને ફૂટી ગયો, તે રીતે તમારો પુત્ર પણ મરણ પામ્યો હશે. "વિમૃશ્યકારીએ [વિચારકે] પોતાની વાતના સમર્થનમાં કહ્યું કે 'મા ! પ્રશ્ન કરતી વખતે તમારો ઘડો જમીન પર પડ્યો અને તેનું પાણી સરોવરના પાણીની સાથે ભળી ગયું તે એ ઉપરથી મે જાણ્યું કે જે પ્રમાણે આ ઘડાનું પાણી આ સરોવરના પાણીની સાથે મળી ગયું છે, તે જ પ્રમાણે તમારો પુત્ર પણ તમને જલ્દી મળવો જોઈએ. આ

मिलितमिव ततोऽस्या पुत्रोऽप्यनया सह द्रुतमत्र मिलिष्यती' त्यादि । तद्वृद्धा तमविमृश्यकारिणं दुर्वचनैर्निर्भर्त्स्य विमृश्यकारिणे बहुमूल्यं पारितोषिकं समर्प्याशीर्वादशतानि ददौ । अथासावविमृश्यकारी खेदखिन्नो भूत्वा स्वचेतसि चिन्तयामास-'मया गुरुजनं विनयाभावेन शास्त्रमभ्यस्तं तस्मान्मे विद्या न फलवती जाते' त्यादिना मनःसन्तापं समाप । विनयशीलो विमृश्यकारी तु गुरोरुपकारं मुहुर्मुहुरनुस्मरन् विद्याप्रचारं कुर्वन्नस्मिन् लोके जनैरमृतमिव पूजितः-क्रमेण आत्मविद्यां समाप्य कल्याणमार्गं साधितवान् । सहाध्ययने कृतेऽपि विनीते एव

तो इस पर से मैंने जाना कि जिस प्रकार यह जल इस जल के साथ मिल जुल गया है-उसी प्रकार आपका पुत्र भी आपके साथ शीघ्र ही मिल जाना चाहिये। इस प्रकार उस विमृश्यकारी के भूरि भूरि प्रशंसा करती हुई उस वृद्धाने उस अविमृश्यकारी व्यक्ति को बुरा भला कह कर तथा उस विचारशील व्यक्ति को बहुमूल्य पारितोषिक प्रदान कर अन्त में सैकडों आशीर्वाद वचनों से बधाया। अपने साथी का इस प्रकार देव दुर्लभ सन्मान देखकर अविमृश्यकारी बहुत अधिक खेद खिन्न हुआ। उसने अपने चित्त में सोचा मैंने विद्यागुरु के पास विद्या का अध्ययन तो किया है-परन्तु विनयाभाव के कारण वह मुझ में फलवती नहीं हुई है। विनयशील विमृश्यकारीने 'विनयादि संपन्न बनकर जो भी विद्या मैंने विद्या गुरु से पढी वह मुझ में विशेष रीति से प्रस्फुटित हुई है अतः मेरे ऊपर विद्यागुरु का बडा भारी उपकार हुआ है-इस प्रकार वार वार विद्या गुरु के उपकार का स्मरण करते हुए विद्या का प्रचार अच्छी तरह से किया इस प्रचारसे लोगों में उसकी अमृत जैसी मान्यता बढी। क्रमशः जब वह आत्मविद्या की साधना करते २ कल्याणमार्ग का पथिक बन

પ્રમાણે વાતજાણી તે ડોશીએ અવિમૃશ્યકારીના જ્ઞાનની ખૂબ ટીકાકરી કાઢી. અને તે પછી વિચારશીલને ખૂબ કીમતી ભેટ અને સેંકડો આશીર્વચનો આપ્યા. પોતાના સાથીનું આ રીતે દેવ દુર્લભ સન્માન જોઈને અવિમૃશ્યકારી ખૂબ જ દુઃખી થયો અને તેણે પોતાના મનમાં વિચાર કર્યો કે "મે વિદ્યાગુરુ પાસેથી વિદ્યાભ્યાસ તો કર્યો છે પણ વિનય રહિત હોવાને લીધે વિદ્યા સારી પેઠે મારામાં ફળવતી થઈ નથી." વિનયશીલ વિમૃશ્યકારી શિષ્યે વિચાર કર્યો કે "વિનયાદિથી જે વિદ્યા ગુરુ પાસેથી મેળવી છે, તે મારામાં સવિશેષ વિકાસ પામી છે ખરેખર મારા ઉપર વિદ્યાગુરુનો બહુ ભારે ઉપકાર થયો છે" આ રીતે વારવાર વિદ્યાગુરુના ઉપકારનું સ્મરણ કરતાં સારી પેઠે વિદ્યાપ્રચાર કર્યો. આ પ્રચારથી લોકોમાં અમૃત જેવી તેની ખ્યાતી વધી. અનુક્રમે જ્યારે તે આત્મવિદ્યાની સાધના કરતા કરતા કલ્યાણપથનો પથિક બન્યો ત્યારે અનન્ત જન્મ-

विद्या सकलशास्त्ररहस्य प्रकटयति। सुविनीतस्तद्विद्या प्रभावेणास्मिन् लोके स्व रचनया शास्त्रादिरहस्य प्रकटयन आत्मविद्या समवाप्य स्वपरकल्याणाय समर्थो भवति। इति वैनयिकी बुद्धि दृष्टान्त । अत्रानेकशो दृष्टान्ता सन्तीति विस्तरभयाद् विरम्यते।

कार्मिक्या=कर्मण =कृषिवाणिज्यादि व्यवसायात् जाता कार्मिकी=तत्तत्कर्माभ्यासप्रकर्षजनितेत्यर्थ तया। अत्र तस्करकृषीवलोदाहरणम्-

कश्चित्तस्करो वाणिजग्रामे कस्यचिद्वणिजो गृहे कमलाकार खात खनितवान्। प्रभाते जना एकत्रीभूतास्तत्खात दृष्ट्वा भूयो भूयः प्रशसा कृतवन्त -अहो ! चौरस्य

गया तो अनन्त ससार का भी अत उसने कर दिया। इस दृष्टान्त लिखने का तात्पर्य यह है कि साथ२ अध्ययन करने पर भी विनीत जन में ही विद्या फलवती बनती है तथा सकल शास्त्रों का रहस्य भी आत्मा में प्रकट होता है जो आत्मा विनीत होता है। विनीत जन ही विद्या के प्रभाव से इस लोक में अपनी रचना द्वारा शास्त्रादि के रहस्य को प्रकट करते हैं-और आत्मविद्या को प्राप्त कर अन्त में वे स्व और पर के कल्याण करने में समर्थ बन जाते हैं। इस बुद्धि के ऊपर और भी अनेक प्रकार दृष्टान्त हैं जो यहां ग्रन्थ विस्तृत हो जाने के भय से नहीं लिखे गये हैं। कृषि वाणिज्य आदि व्यवसायरूप कर्म से जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह कार्मिकी बुद्धि है।

इसके ऊपर कृषिवल (किशान) और चोर का उदाहरण इस प्रकार है—

एक चोर ने वाणिज गाँव में किसी एक वणिक के घर में रात्रि के समय कमल के आकार जैसा खात-ओंडा किया।-प्रभातकाल जब हुआ तो लोगोंने इसे देख कर चोर की बडी भारी प्रशसा की। कहने

મરણનો પણ તેણે અત કર્યો આ દૃષ્ટાન્ત લખવાનુ પ્રયોજન એ છે કે એકી સાથે અભ્યાસ કરવા છતા પણ વિનીત માણસમા જ વિદ્યા સફળ થાય છે, અને બધા શાસ્ત્રોનુ રહસ્ય પણ તે જ આત્મામા પ્રકટે છે, કે જે આત્મા વિનમ્ર હોય છે નમ્ર માણસ જ વિદ્યાના પ્રભાવથી આ લોકમા પોતાની રચના વડે શાસ્ત્ર વગેરેનું રહસ્ય બતાવે છે, અને આત્મવિદ્યાને મેળવીને અતે સ્વ [પોતાનું] અને પર [પારકાનું[કલ્યાણ સાધવામા સમર્થ થાય છે આ બુદ્ધિ વિષે બીજાપણ એનેક દૃષ્ટાન્તો છે જે અહી ગ્રન્થ વિસ્તારના ભયથી લખ્યા નથી. કૃષિ, વાણિજ્ય વગેરે વ્યવસાયના કર્મોથી જે બુદ્ધિ ઉત્પન્ન થાય છે તે કાર્મિકી બુદ્ધિ છે

એના માટે કૃષીવલ [ખેડૂત] અને ચોરનું ઉદાહરણ આ પ્રમાણે છે—

વાણિજ ગામમા કોઇ એક વાણિયાના ઘેર રાતના વખતે એક ચોરે કમળના આકાર જેવુ બાકોરૂ [ખાતર] પાડ્યુ સવારે લોકોએ એ જોઇને ચોરના બહુ ભારે

अस्यामवसर्पिण्या जातस्य चतुर्विंशस्य चरमतीर्थंकरस्य भगवतः श्रीवर्धमानस्वामिनश्चरमचातुर्मास्य पावापुर्यामासीत्। तत्र कृतषष्ठभक्तेषु नवमल्लकि-नवलेच्छकि-काशी-कौशलकेषु अष्टादशसु गणराजेषु समुपस्थितेषु तस्य चरमदेशना षट्त्रिंशदध्ययनात्मिका उत्तराध्ययननामतः प्रसिद्धा, विंशत्यध्ययनात्मिका तु विपाकश्रुताख्या। तत्रोत्तराध्ययनस्य शब्दार्थस्त्वेवम्-उत्तराणि=मोक्षसाधकत्वात् प्रधानानि अध्ययनानि यत्र तदुत्तराध्ययनम्।

नन्विदमेव शास्त्रं प्रधानं चेत् आचाराङ्गादिद्वादशाङ्गी भगवत्प्रज्ञप्ताऽपि प्रधानतयाऽनुक्तत्वादितोऽपकृष्टतया प्रेक्षावद्भिरनुपादेया स्यादिति चेद् ? अत्रो-

भगवान गौतम गणधर को (नत्वा) नमस्कार कर मैं (उत्तराध्ययने) इस उत्तराध्ययन सूत्र के ऊपर (प्रियदर्शिनीं वृत्तिं) प्रियदर्शिनी नामक वृत्ति की (कुर्वे) रचना करता हूँ ॥ ४ ॥

टीकार्थ–इस अवसर्पिणी काल में उत्पन्न चौवीसवें अन्तिम तीर्थंकर भगवान श्रीवर्धमान स्वामी का अन्तिम चातुर्मास पावापुरी में हुआ। वहा पर भगवान की सेवा में, नवमल्लकि नवलेच्छकि जो काशी एव कौशल देश के अठारह गणराजा थे वे उपस्थित हुए। उन सबों ने षष्ठभक्त किया। उस समय उन श्री भगवान महावीर स्वामी की अन्तिम देशना हुई, जो देशना छत्तीस अध्ययनरूप 'उत्तराध्ययन' इस नाम से प्रसिद्ध हुई, तथा बीस अध्ययनरूप विपाकश्रुत, इस नाम से भी प्रसिद्ध हुई। उनमें 'उत्तराध्ययन' शब्द का अर्थ इस प्रकार है—मोक्ष साधक होने से उत्तर–प्रधान हैं अध्ययन जिसमें वह उत्तराध्ययन है।

ગણુધરને (नत्वा) નમસ્કાર કરી હુ (उत्तराध्ययने) ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર ઉપર (प्रियदर्शिनीम् वृत्तिं) પ્રિયદર્શિની નામની વૃત્તિની (कुर्वे) રચના કરૂ છુ ॥૪॥

ટીકા—આ અવસર્પિણી કાળમા ઉત્પન્ન થયેલા ચોવીસમા છેલ્લા તીર્થંકર ભગવાન શ્રી વર્ધમાન સ્વામીનો છેલ્લો ચાતુર્માસ પાવાપુરીમા થયો. ત્યા આગળ ભગવાનની સેવામા નવમલ્લકિ નવલેચ્છકિ જે કાશી અને કૌશલ દેશના અઢાર ગણુરાજા આવેલ હતા એ બધાએ ષષ્ઠભક્ત કરેલ. આ સમયે ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીની અતિમ દેશના થઇ, જે દેશના છત્રીસ અધ્યયનરૂપ 'ઉત્તરાધ્યયન' આ નામથી પ્રસિદ્ધ થઇ, તથા વીસ અધ્યયનરૂપમા વિપાકશ્રુત નામથી પણ પ્રસિદ્ધ થઇ, આમા 'ઉત્તરાધ્યયન' શબ્દનો અર્થ આ પ્રકારે છે—મોક્ષસાધક હોવાથી ઉત્તર–પ્રધાન છે અધ્યયન જેમા તે ઉત્તરાધ્યયન છે

(सगुप्तिसमितिं समा विरतिमावधान सदा) जो पाच समिति और तीन गुप्तियों के धारक हैं, तथा सर्वदा सर्वविरति को पालने वाले हैं, (क्षमावदखिलक्षम) पृथिवी के समान जो सर्व प्रकार के अनुकूल प्रतिकूल परीषहादिक को सहन करते हैं, (कलितमञ्जुचारित्रकम्) जो निरतिचार चारित्र अराधन में सदा तत्पर रहते हैं, तथा-(सदोर-मुखवस्त्रिकाविलसिताननेन्दुं) वायुकायादि की यतना के लिये जिनका मुखरूपी चन्द्रमण्डल सदा सदोरक मुखवस्त्रिका से सुशोभित है, तथा-(अपूर्वबोधप्रद) जो अपूर्व समकितरूपी बोध-बीज के दाता हैं और (भववारिधिप्लवम्) इस ससारसमुद्र से भव्य जीवों के पार होने के लिये नौका समान हैं, ऐसे (गुरु) निर्ग्रन्थ गुरु महाराज को (प्रणौमि) मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

अथ टीकाकार भगवानकी वाणी आदिको नमस्कार करके अपनी व्यक्तव्यता प्रकट करते हैं—'जैनीं' इत्यादि ।

(जैनीं सरस्वतीं) जिनेन्द्र के मुखकमल से निर्गत द्वादशाङ्गीरूप सरस्वती देवी को, एवं (गणनायक गौतम) गणनायक-गच्छ के नायक

(सगुप्तिसमितिं समां विरतिमावधान सदा)—જે પાચ સમિતિ અને ત્રણ ગુપ્તિયોના ધારક છે, તથા સર્વદા સર્વવિરતિને પાળવાવાળા છે, (क्षमावदखिलक्षमं) પૃથ્વીના સમાન જે સર્વ પ્રકારના અનુકૂળ પ્રતિકૂળ પરિષહોને સહન કરે છે, (कलितमञ्जुचारित्रकम्)—જે નિરતિચાર ચારિત્રના આરાધનમા સદા તત્પર રહે છે તથા (सदोरमुखवस्त्रिकाविलसिताननेन्दु) વાયુકાય આદિની યતનાને માટે જેમનું મુખરૂપી ચન્દ્રમડળ સદા દોરાસહિતની મુહપત્તીથી સુશોભિત છે, તથા (अपूर्वबोधप्रदं) અપૂર્વ સમકિતરૂપી બોધ-બીજના દાતા છે અને (भववारिधिप्लवम्) આ સસારસમુદ્રથી ભવ્ય જીવોને પાર કરવામા નૌકાસમાન છે, એવા (गुरुं) નિર્ગ્રન્થ ગુરૂ મહારાજને (प्रणौमि) હુ નમસ્કાર કરૂ છુ

હવે ટીકાકાર જીન ભગવાનની વાણી આદિને નમસ્કાર કરી સ્વવક્તવ્યતા પ્રકટ કરે છે—'जैनीं' ઈત્યાદિ.

(जैनीं सरस्वतीं) જિનેન્દ્રના મુખકમળથી નિર્ગત દ્વાદશાગીરૂપ સરસ્વતી દેવીને, અને (गणनायकम् गौतम) ગણનાયક-ગચ્છના નાયક ભગવાન ગૌતમ

तत्र षट्त्रिंशदध्ययनाना नामानि प्रदर्श्यन्ते—

१–विनयश्रुतम् , २–परीषह०, ३–चतुरङ्गीयम् , ४–असंस्कृतम् , ५–अकामसकाममरणीयम् , ६–क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय, ७–एलकीयम् (उरभ्रीयम्), ८–कापिलकम्, ९–नमिप्रव्रज्या, १०–द्रुमपत्रकम्, ११–बहुश्रुतम् , १२–हरिकेशीयम्, १३–चित्तसंभूतीयम् , १४–इषुकारीयम् , १५–सभिक्षु, १६–ब्रह्मचर्यसमाधिः, १७–पापश्रमणीयम् , १८–संयतीयम् , १९–मृगापुत्रीयम् , २०–महानिर्ग्रन्थीयम् , २१–समुद्रपालीयम् , २२–रथनेमीयम् , २३–केशिगौतमीयम्, २४–समितीयम् , २५–यज्ञीयम्, २६–सामाचारी, २७–खलुङ्कीयम्, २८–मोक्षमार्गगतिः, २९–सम्यक्त्वपराक्रम , ३०–तपोमार्ग , ३१–चरणविधि०, ३२–प्रमादस्थानम् , ३३–कर्म–

जगह–जगह वर्णित हुआ है, अतः प्रसिद्धिवश इसे प्रधान कहना कोई अनुचित नहीं है। इसलिए इस मूलसूत्र का नाम उत्तराध्ययन कहा गया है। उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययन ये हैं—

(१) विनयश्रुत, (२) परीषह, (३) चतुरंगीय, (४) असंस्कृत, (५) अकामसकाममरण, (६) क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय, (७) एलकीय, (८) कापिलक, (९) नमिप्रव्रज्या, (१०) द्रुमपत्रक, (११) बहुश्रुत, (१२) हरिकेशीय, (१३) चित्तसंभूतीय, (१४) इषुकारीय, (१५) सभिक्षु, (१६) ब्रह्मचर्य-समाधि, (१७) पापश्रमणीय, (१८) संयतीय, (१९) मृगापुत्रीय, (२०) महानिर्ग्रन्थीय, (२१) समुद्रपालीय, (२२) रथनेमीय, (२३) केशि-गौतमीय, २४) समितीय, (२५) यज्ञीय, (२६) सामाचारी, (२७) खलुंकीय, (२८) मोक्षमार्गगति, (२९) सम्यक्त्वपराक्रम, (३०) तपोमार्ग,

એટલે પ્રસિદ્ધિવશ આને પ્રધાન કહેવામા કાંઇ અનુચિત જેવું નથી. આ માટે આ મુલસૂત્રનું નામ ઉત્તરાધ્યયન કહેવાયેલ છે ઉત્તરાધ્યયનના છત્રીસ અધ્યયન આ પ્રકારે છે—

(૧) વિનયશ્રુત, (૨) પરિષહ, (૩) ચતુરંગીય, (૪) અસંસ્કૃત, (૫) અકામ-સકામમરણ, (૬) ક્ષુલ્લકનિર્ગ્રન્થીય, (૭) એલકીય (૮) કાપિલક, (૯) નમિ-પ્રવ્રજ્યા (૧૦) દ્રુમપત્રક (૧૧) બહુશ્રુત, (૧૨) હરિકેશીય, (૧૩) ચિત્તસંભૂતીય (૧૪) ઇષુકારીય, (૧૫) સભિક્ષુ, (૧૬) બ્રહ્મચર્યસમાધિ, (૧૭) પાપશ્રમણીય, (૧૮) સંયતીય, (૧૯) મૃગાપુત્રીય, (૨૦) મહાનિર્ગ્રન્થીય (૨૧) સમુદ્રપાલીય, (૨૨) રથનેમીય, (૨૩) કેશિગૌતમીય, (૨૪) સમિતીય, (૨૫) યજ્ઞીય, (૨૬) સામાચારી, (૨૭) ખલુંકીય, (૨૮) મોક્ષ માર્ગગતિ, (૨૯) સમ્યક્ત્વપરાક્રમ,

च्यते—यद्यपि सर्वं प्रवचनं प्रधानमेव, तथाप्येतानि विनयश्रुतादीनि षट्त्रिंशद्-ध्ययनानि रूढिवशात् प्रधानानि। भगवच्चरमदेशनास्वरूपतयाऽस्मिन् शास्त्रे द्वादशाङ्गी प्रतिपादितार्थमुपसंहरता भगवता प्राधान्य रूढ्या प्रदर्शितम्, सविस्तरं तु तत्त्वं तत्र तत्र सूत्रे वर्णितमिति न काऽप्यनुपपत्तिः।

प्रश्न—यदि छत्तीस अध्ययनात्मक यह शास्त्र ही प्रधान माना जावेगा तो आचाराग आदि द्वादशाग कि जिनका प्ररूपण भी स्वयं भगवान् ने ही किया है, प्रधानरूप से नहीं कहे जाने के कारण इसकी अपेक्षा अपकृष्ट-अप्रधान हो जायेंगे, और इस कारण वे प्रेक्षावान्-बुद्धिमानों-की दृष्टि में उपादेय नहीं रह सकेंगे, सो इस प्रकार यदि कोई प्रश्न करे तो उसका समाधान इस प्रकार है—

भगवत्प्रतिपादित होने के कारण यद्यपि सभी द्वादशागात्मक प्रवचन प्रधान है फिर भी यहा जो इन विनयश्रुतादिक छत्तीस अध्ययनों में प्रधानता प्रदर्शित की गई है यह केवल प्रसिद्धि के वश समझना चाहिये। भगवान की अन्तिमदेशनास्वरूप होने से इस शास्त्र में द्वादशागप्रतिपादित अर्थ का संक्षेप से समावेश किया गया है, अतः सूत्रकार ने प्रसिद्धि से ही इसमें प्रधानता प्रकट की है। द्वादशांग का विस्तारसहित वास्तविक तत्त्व, आचाराग, सूत्रकृतांग आदि आगमोंमें

પ્રશ્ન—જો છત્રીસ અધ્યયનાત્મક આ શાસ્ત્ર જ પ્રધાન મનાશે તો આચારાગ વગેરે દ્વાદશાગ કે જેનુ પ્રરૂપણ પણ સ્વય ભગવાને જ કરેલ છે, તે પ્રધાનરૂપના ન કહેવાવાને કારણે આની અપેક્ષા અપકૃષ્ટ—અપ્રધાન બની જશે, અને આ કારણથી તે પ્રેક્ષાવાન્—બુદ્ધિમાનો—ની દૃષ્ટિએ ઉપાદેય નહી રહે. જો આ પ્રકારનો કદાચ કોઇ પ્રશ્ન કરે તો એનુ સમાધાન આ પ્રકારથી છે—

સ્વય ભગવાનથી પ્રતિપાદિત હોવાના કારણે જોકે બધા દ્વાદશાગાત્મક પ્રવચન પ્રધાન છે છતા પણ અહિં આ વિનયશ્રુતાદિક છત્રીસ અધ્યયનોમા પ્રધાનતા પ્રદર્શિત કરાયેલ છે, તે કેવળ પ્રસિદ્ધિને વશ હોવાનુ સમજવુ જોઇએ. ભગવાનની છેલ્લીદેશનાસ્વરૂપ હોવાથી આ શાસ્ત્રમા દ્વાદશાગપ્રતિપાદિત અર્થનો સક્ષેપમા સમાવેશ કરવામા આવેલ છે, એટલે સૂત્રકારે પ્રસિદ્ધિથી જ આમા પ્રધાનતા પ્રગટ કરી છે દ્વાદશાગનુ વિસ્તારસહિત વાસ્તવિક તત્ત્વ, આચારાગ, સૂત્રકૃતાગ વગેરે આગમોમા ઠેકઠેકાણે વર્ણન થયેલ

सह सम्बन्धः । भावसयोग-अशुभभावैः सहात्मनः सम्बन्धः, तस्मात् सर्वविध-सयोगाद् विप्रमुक्तस्य=विप्रमुक्तस्य, अनित्याशरणादिद्वादशभावनाभि सयोगस्य फल ससारपरिभ्रमणादिरूप विज्ञाय सयोग परित्यक्तवत इत्यर्थः । सयोगो हि मृग तृष्णावद् भ्रमोत्पादक, कुगतिसाधक, विवेकतरून्मूलने मत्तगजराजोपमः, अमन्दात्मानन्दरसशोषणे प्रचण्डमार्तण्डसमः, श्रुतचारित्रधर्मारामदावानलः, सद्ध्यानवारिदविक्षेपणे शैलशिखरानिलः । सयोगस्य प्रियवियोगजनकत्वेन दारुणदु खोत्पादकतयाऽपि परिहार्यता,

---

क्तस्य) सर्वथा रहित (अणगारस्स-अनगारस्य) अनगार (भिक्खुणो -भिक्षो)-साधु के (विणय-विनय) विनय को मैं (आणुपुव्विं-आनुपूर्वी) शास्त्रोक्तपद्धति के अनुसार (पाउकरिस्सामि-प्रादुष्करिष्यामि) प्रकट-क गा । अतः हे जम्बू ! तुम सब उसे (मे-मत्त) मुझ से (सुणेह-शृणुत) सुनो ॥ १ ॥

भावार्थ—सयोग शब्द का अर्थ सबध है । द्रव्यसयोग और भावसयोग के भेद से यह सयोग दो प्रकार का है । पूर्वसयोग और पश्चात्सयोग के भेद से द्रव्यसंयोग भी दो तरह का बतलाया गया है । माता पिता आदि के साथ जो जन्म से सबध है वह पूर्वसयोग है । श्वशुर आदि के साथ पीछे से हुआ सबध पश्चात्सयोग है । अशुभ भावों के साथ आत्मा का सबध रहता है वह भावसयोग है । इस सयोग का सर्वथा परित्याग वही आत्मा कर सकता है जो अनित्य

રહિત (अणगारस्स-अनगारस्य) અણગાર (भिक्खुणो-भिक्षोः) સાધુના (विणयं-विनय) વિનયને હું (आणुपुव्विं-आनुपूर्वी) શાસ્ત્રોક્ત પદ્ધતિ અનુસાર (पाउकरिस्सामि-प्रादुष्करिष्यामि) પ્રગટ કરીશ. એટલે હે જમ્બૂ ! તમે બધા એને (मे-मत्तः) મારી પાસેથી (सुणेह-शृणुत) સાભળો.

ભાવાર્થ—સયોગ શબ્દનો અર્થ સબધ છે દ્રવ્યસયોગ અને ભાવસયોગના ભેદથી આ સયોગ બે પ્રકારે છે પૂર્વસયોગ અને પશ્ચાત્સયોગના ભેદથી દ્રવ્ય સયોગ પણ બે રીતનો બતાવેલ છે માતા પિતા વગેરેની સાથેનો જે જન્મનો સબધ છે, તે પૂર્વસયોગ છે શ્વશુર વગેરેની સાથે પછીથી થયેલ સબધ એ પશ્ચાત્સયોગ છે અશુભ ભાવોની સાથે આત્માનો જે સબધ રહે છે એ ભાવસયોગ છે આ સયોગનો સર્વથા પરિત્યાગ એજ આત્મા કરી શકે છે,

प्रकृतिः, ३४–लेश्या, ३५–अनगार मार्गगतिः, ३६–जीवाजीव–विभक्तिः, इति। तत्र–श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनमन्यानपि शिष्यानुत्तराध्ययनसूत्रार्थं प्रतिबोधयितु प्रवृत्तः सन् धर्मस्य विनयमूलकत्वात्प्रथमं विनयश्रुताध्ययमध्ययन प्रस्तुवस्तस्याद्य सूत्रमाह—

मूलम्—

सजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
विणय पाउकरिस्सामि, आणुपुंव्वि सुणेह मे॥ १॥

छाया—

संयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षो।
विनयं प्रादुष्करिष्यामि, आनुपूर्वी शृणुत मे॥ १॥

टीका—

'सजोगा' इत्यादि। संयोगादिति, सयोगः–सम्बन्धः, स द्विविधः–द्रव्यसंयोगः भावसंयोगश्च। तत्र द्रव्यसयोगो द्विविधः–पूर्वसंयोगः पश्चात्सयोगश्च। तत्र पूर्वसंयोगो मातापित्रादिभिः सार्धं सम्बन्धः। पश्चात्सयोगस्तु श्वशुरादिभिः

(३१) चरणविधि, (३२) प्रमादस्थान, (३३) कर्मप्रकृति, (३४) लेश्या, (३५) अनगारमार्गगति, (३६) जीवाजीवविभक्ति।

इन में श्री सुधर्मास्वामीने सर्व प्रथम जंबूस्वामी एवं और भी दूसरे शिष्योंको इस उत्तराध्ययन सूत्र के अर्थको समझाने के लिये "विनय है मूल कारण जिसका ऐसा धर्म है" ऐसा समझकर पहले इस विनयश्रुत नाम अध्ययनका प्ररूपण करते हुए प्रथम सूत्र कहते हैं—'संजोगा' इत्यादि।

अन्वयार्थ–(सजोगा-संयोगात्)संयोग से (विप्पमुक्कस्स–विप्रमु-

(૩૦) તપોમાર્ગ, (૩૧) ચરણવિધિ, (૩૨) પ્રમાદસ્થાન, (૩૩) કર્મપ્રકૃતિ, (૩૪) લેશ્યા, (૩૫) અનગારમાર્ગગતિ, (૩૬) જીવાજીવવિભક્તિ

આમા શ્રી સુધર્મા સ્વામીએ સર્વ પ્રથમ જમ્બૂસ્વામી અને બીજા ઘણા શિષ્યોને આ ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનો અર્થ સમજાવવા માટે "વિનય છે મૂળ કારણ જેનું એવો ધર્મ છે" એવું સમજી પહેલા આ વિનયશ્રુત નામના અધ્યયનનું પ્રરૂપણ કરતા પ્રથમ સૂત્ર કહે છે—'सजोगा विप्पमुक्कस्स' ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—(संजोगा–संयोगात्) સંયોગથી (विप्पमुक्कस्स–विप्रमुक्तस्य) સર્વથા

सह सम्बन्ध। । भावसयोग.–अशुभभावे सहात्मनः सम्बन्धः, तस्मात् सर्वविध–सयोगाद् विमप्रुक्तस्य=विप्रमुक्तस्य, अनित्याशरणादिद्वादशभावनाभि सयोगस्य फल ससारपरिभ्रमणादिरूप विज्ञाय सयोग परित्यक्तवत इत्यर्थ । सयोगो हि मृग तृष्णावद् भ्रमोत्पादक', कुगतिसाधक., विवेकतरून्मूलने मत्तगजराजोपम', अम न्दात्मानन्दरसशोपणे मचण्डमार्तण्डसम', श्रुतचारित्रधर्मारामदावानल., सद्ध्यान-वारिदविक्षेपणे शैलशिखरानिलः । सयोगस्य प्रियवियोगजनकत्वेन दारुणदु.खोत्पाद-कतयाऽपि परिहार्यता,

---

क्तस्य) सर्वथा रहित (अणगारस्स–अनगारस्य) अनगार (भिक्खुणो –भिक्षोः)–साधु के (विणय–विनय) विनय को मैं (आणुपुव्विं–आनुपूर्वी) शास्त्रोक्तपद्धति के अनुसार(पाउकरिस्सामि–प्रादुष्करिष्यामि) प्रकट–क गा । अत. हे जम्बू ! तुम सब उसे (मे–मत्त.) मुझ से (सुणेह–शृणुत) सुनो ॥ १ ॥

भावार्थ—सयोग शब्द का अर्थ सबध है। द्रव्यसयोग और भावसयोग के भेद से यह सयोग दो प्रकार का है। पूर्वसयोग और पश्चात्सयोग के भेद से द्रव्यसंयोग भी दो तरह का बतलाया गया है। माता पिता आदि के साथ जो जन्म से सबध है वह पूर्वसयोग है। श्वशुर अदि के साथ पीछे से हुआ सबध पश्चात्सयोग है। अशुभ भावों के साथ आत्मा का सबध रहता है वह भावसयोग है। इस सयोग का सर्वथा परित्याग वही आत्मा कर सकता है जो अनित्य

રહિત (अणगारस्स–अनगारस्य) અણગાર (भिक्खुणो–भिक्षो') સાધુના (विणयं–विनय) વિનયને હું (आणुपुव्विं–आनुपूर्वी) શાસ્ત્રોક્ત પદ્ધતિ અનુસાર (पाउक्क रिस्सा मि–प्रादुष्करिष्यामि) પ્રગટ કરીશ. એટલે હે જમ્બૂ! તમે બધા એને (मे–मत्तः) મારી પાસેથી (सुणेह–शृणुत) સાભળો.

ભાવાર્થ–સચોગ શબ્દનો અર્થ સબધ છે દ્રવ્યસચોગ અને ભાવસચોગના ભેદથી આ સચોગ બે પ્રકારે છે પૂર્વસચોગ અને પશ્ચાત્સચોગના ભેદથી દ્રવ્ય સચોગ પણ બે રીતનો બતાવેલ છે માતા પિતા વગેરેની સાથેનો જે જન્મનો સબધ છે, તે પૂર્વસચોગ છે શ્વશુર વગેરેની સાથે પછીથી થયેલ સબધ એ પશ્ચાત્સચોગ છે અશુભ ભાવોની સાથે આત્માનો જે સબધ રહે છે એ ભાવસચોગ છે આ સચોગનો સર્વથા પરિત્યાગ એજ આત્મા કરી શકે છે,

अन्यच्च— न खलु विघटिता: पुनर्घटन्ते,
न च घटिता: स्थिरसगतं श्रयन्ते ।
पिपतिषुमवश रुजन्ति वश्या,-
स्तटतरुमाप इवापगागणस्य ॥ ३ ॥

अत्र विषये दृष्टान्त कथयति—

कश्चिद् वणिक्पुत्र सयोगस्य कटुकफल विज्ञाय विरज्य सयोग परित्यक्तवान्। तथाहि—मथुरानगर्यां सुभग-सुनन्दनामानौ द्वौ वणिजौ स्त, सुभगस्तत्र

और भी—न खलु विघटिता पुनर्घटन्ते, नच घटिता स्थिरसगत श्रयन्ते।
पिपतिषुमवश रुजन्ति वश्यास्तटतरुमाप इवापगागणस्य ॥ ३ ॥

जो मिलकर फिर अलग हो जाते हैं उनका उसी पर्याय में उसी रूप से फिर मिलना होगा, यह सर्वथा असम्भव है। जो मिले हैं वे हमारे साथ सदा स्थिर ही रहेगें-यह भी कोई नहीं कह सकता। जिस प्रकार नदियों का पानी अपने तट पर रहे हुए वृक्षोंको दुःख देता है, उसी प्रकार वश्य-प्रिय स्त्रीपुत्रादि मरते समय मनुष्य को दुःखी करते हैं, अर्थात् ये स्त्री पुत्रादिक इस जीव को अनेक प्रकार से व्यथित करते रहते हैं। इस लिये माता पिता आदि का सयोग सर्वथा त्यागने योग्य है।

इस पर सुधन नामक वणिक्पुत्र का दृष्टान्त इस प्रकार है—

सुधन नामक एक वणिक्पुत्र ने किस तरह इस सयोग का फल कटुक जाना और किस तरह विरक्त होकर उसका परित्याग किया? यह

વળી પણ न खलु विघटिता पुनर्घटन्ते, न च घटिता: स्थिरसगत श्रयन्ते ।
पिपतिषुमवशं रुजन्ति वश्यास्तटतरुमाप इवापगागणस्य ॥ ३ ॥

જે મળીને ફરી જુદા થઈ જાય છે એમનું એજ પર્યાયમા એજ રૂપમા ફરી મળવાનું થાશે, એ સર્વથા અસભવ છે જે મળ્યા છે તે અમારી સાથે સદા સ્થિર જ રહેશે—આ પણ કોઇ કહી શકતું નથી જે રીતે નદિયોનું પાણી પોતાના તટ ઉપરના વૃક્ષોને દુઃખ આપે છે, એજ પ્રકારે વશ્ય-પ્રિય સ્ત્રી પુત્રાદિ મરતી સમયે મનુષ્યને દુઃખી કરે છે, અર્થાત્ એ સ્ત્રીપુત્રાદિક આ જીવને અનેક પ્રકારથી દુઃખી કરતા રહે છે આ માટે માતાપિતા આદિનો સયોગ સર્વથા ત્યાગવા યોગ્ય છે.

આ અંગે સુધન નામના વણિક્પુત્રનું દૃષ્ટાત આ પ્રકારનું છે—

સુધન નામના એક વણિક્પુત્રને કેવી રીતે આ સયોગનું ફળ કડવું માલુમ પડ્યુ ? અને કેવી રીતે વિરક્ત બનીને તેનો પરિત્યાગ કર્યો ? એ વાત

दक्षिणत , सुनन्दश्चोत्तरतो निवसन्नासीत् । तत्रैकोऽपरस्य गृहे प्राघुणिकोऽभवत् , तदोभौ मिथश्चिन्तितवन्तौ–आवयो प्रीतिर्दृढतरा कथ भविष्यति ?, यद्यावयोर्मध्ये एकस्य पुत्र. स्यादेकस्य च पुत्री, तदा तयोर्वैवाहिकसम्बन्धेनावयो सयोगस्तज्जनिता प्रीतिश्च स्थिरतरा भविष्यति । अथैकदा दक्षिणदिग्वर्तिन' श्रेष्ठिनः सुधननामकः पुत्रो जात , उत्तरदिग्वासिन श्रेष्ठिनश्च पुत्री, कुसुमवती–नाम्नी समजनि । तयो. परस्पर वाग्दान सजातम् । तदनन्तर दक्षिणदिग्वासी वणिग् मृत । तस्मिन् मृते–सति तत्पुत्र. सुधन' पितुर्धनाधिकारी सजात' । प्रचुर पितृधन प्राप्य स प्रमुदितो–

घात उसीके आख्यान द्वारा प्रकटित की जाती है—मथुरा नगरीमें सुभग और सुनन्द नाम के दो वणिक् निवास करते थे। सुभग का घर दक्षिण दिशा में था और सुनन्द का घर उत्तर दिशा में। एक दिनकी बात है कि इन दोनों में से एक दूसरे के घर मेहमान हुआ था, वहाँ इन दोनों ने परस्पर यह विचार किया कि-अपने दोनों का यह स्नेह सर्वदा इसी तरह से बना रहे, इस हेतु अपने दोनों में से यदि एक को पुत्र हो और दूसरे को पुत्री हो तो दोनों का विवाह कर दें। भाग्यवशात् ऐसा ही हुआ कि–सुभग के यहा पुत्र का जन्म हुआ। लडकेका नाम सुधन रखा गया। उत्तरदिशा में निवास करनेवाले उस सुनन्दके यहा एक पुत्री हुई। उसका नाम कुसुमवती रखा गया, पूर्वनिश्चित के अनुसार इनकी सगाई-वाग्दान पक्की कर दी गई। सगाई पक्की करके सुभग का तो देहात हो गया। पिता के धनका अधिकारी पुत्र होता है, इस नियम

તેના આખ્યાન દ્વારા પ્રગટ કરવામા આવે છે–મથુરા નગરીમા સુભગ અને સુનદ નામના બે વણિક્ નિવાસ કરતા હતા. સુભગનુ ઘર દક્ષિણ દિશામા હતું અને સુનદનુ ઘર ઉત્તર દિશામા એક દિવસની વાત છે કે એ બન્નેમાથી એક બીજાને ઘેર મહેમાન બનેલ, ત્યા આ બન્નેએ પરસ્પર વિચાર કર્યો કે–આપણા બન્નેનો આ સ્નેહ કાયમ ટકી રહે તે હેતુથી આપણા બન્નેમાથી કદાચ એકને પુત્ર હોય અને બીજાને પુત્રી હોય તો બન્નેના વિવાહ કરી દેવા. ભાગ્યવશાત્ એવું જ બન્યુ કે, સુભગને ત્યા પુત્રનો જન્મ થયો, છોકરાનું નામ સુધન રાખવામા આવ્યુ ઉત્તર દિશામા નિવાસ કરવાવાળા તે સુનદને ત્યા પુત્રી અવતરી, તેનું નામ કુસુમવતી રાખવામાં આવ્યુ અગાઉના નિશ્ચય અનુસાર તેમની સગાઇ કરવામા આવી. સગાઇ પાકી કર્યા પછી સુભગનું મૃત્યુ થયુ પિતાના ધનનો અધિકારી પુત્ર હોય છે, આ નિયમ અનુસાર પોતાના પિતાના ધનનો સુધન અધિકારી બન્યો. કોઇ એક સમયે સુધને સ્નાન

ऽभवत् । अथैकदा तेन स्नानार्थं पार्श्वत० पृष्ठतः पुरतश्चतुर्दिक्षु चत्वारः स्वर्ण-कलशाश्चत्वारो रौप्यकलशाश्चत्वारस्ताम्रकलशाश्चत्वारो मृन्मयकलशा जलपूर्णाः स्थापिताः, अन्यान्यपि स्नानोपकरणानि तत्रोपस्थापितानि । अत्रान्तरे तत्पूर्वभवमित्रदेवस्तं प्रतिबोधयितु समागत० । स वणिक्पुत्र सुधनः स्नानार्थं स्वर्णकलशमुत्थापयति, स स्वर्णकलशस्तदानीमेव मित्रदेवप्रभावात्प्रणष्टः, एव चतुर्दिक्षु सर्वे कलशाः प्रणष्टा० । ततोऽसौ स्नानपीठादुत्तिष्ठति । तस्मिन्नुत्थिते सति स्नानपीठमपि नष्टम् । ततस्तस्य धृतिर्नष्टा । यावद् गृह प्रविष्टः, भृत्यैर्भोजनविधिरुपस्थापित , स्वर्णरौप्य-

के अनुसार सुधन अपने पिताके धनका अधिकारी बना। किसी एक समय सुधनने स्नान के अवसर पर भृत्यों से चार सोने के कलश, चार चादी के कलश, चार ताँबे के कलश और चार ही मिट्टी के कलश पानी से भरवाकर अपनी चारों ओर आजू बाजू और समक्ष एवं पीछे की ओर, इस प्रकार चारों दिशाओं में रखवा लिये। इसके बाद इसका पूर्वभवका मित्र जो देवपर्याय में था इसकी इस तरह सयोगी पदार्थों के सेवन में अधिक लालसा का निरीक्षण कर उसको प्रतिबोध देने के लिये वहां आया। वणिक्पुत्र उस सुधन ने ज्योंही नहाने के लिये सुवर्ण के कलश को ऊपर उठाया कि उसी समय वह कलश उस अदृश्य हुए देव के प्रभाव से शीघ्र ही अदृश्य हो गया। इसी तरह अवशिष्ट तीन कलशों की भी यही हालत हुई। वह एकदम स्नान पीठ से उठ कर खडा हो गया और ज्यों ही उससे नीचे उतरा तो वह स्नान पीठ भी इसकी नजरों के समक्ष ही नष्ट-अदृश्य हो गया। उसने आश्चर्यचकित होकर इधर उधर देखा पर कुछ समझ में नहीं आया। यह क्या बात है इससे

કરવાના સમયે નોકરોથી ચાર સોનાના કળશ, ચાર ચાદીના કળશ, ચાર તાબાના કળશ, અને ચાર માટીના કળશ પાણીથી ભરાવીને પોતાની ચારે તરફ-આજુ બાજુ ચારે દિશાઓમા રખાવ્યા. આ પછી એના પૂર્વ ભવનો મિત્ર જે દેવ પર્યાયમા હતો તેણે આ રીતે સયોગી પદાર્થના સેવનમા અધિક લાલસાનું નિરીક્ષણ કરી તેને પ્રતિબોધ આપવા માટે ત્યા આવ્યો. વણિકપુત્ર સુધને ન્હાવા માટે જ્યા સુવર્ણ કળશને ઉપાડયો ત્યા અદૃશ્ય રહેલા દેવના પ્રભાવથી તે કળશ તુરત જ અદૃશ્ય થઇ ગયો. આજ રીતે બીજા ત્રણ કળશોની પણ એજ હાલત થઇ વણિકપુત્ર સ્નાનની જગ્યાએથી એકદમ ઉભો થઇ ગયો અને પાટલા ઉપર પોતે બેઠો હતો તેનાથી નીચે ઉતર્યો ત્યા એ પાટલો પણ અદૃશ્ય થઇ ગયો. એણે આશ્ચર્યચકિત બની ચારે તરફ જોવા માંડયુ

मयभोजनपात्राणि समानीतानि, तत्रैकैकभाजन क्रमेण नष्टमभवत्। यदाऽसौ स्वर्णमयस्थाल्मग्रतो धावमान व्योम्नि पश्यति, तदा तत् स्थाल हस्तेन गृह्णाति, गृहीते सति तदग्रभागत' खण्डमेक तस्य करतल्लग्नमासीत्, अपरभागत. स्वर्णमय-स्थाल सर्वं मणष्टम्। तत त्रुटितस्थालैकखण्डहस्त मुधन सर्वं नश्यद् विलोकयन् मूलधन द्रष्टुमागच्छति, तावत सर्वं मूलधनमपि नष्टम्। एव सर्वाऽपि तस्य श्री विनष्टा। अथ निधिं द्रष्टुमागच्छति तदा सर्वं निधानमपि नष्टम्। एव दासीवर्ग:, परिवारवर्गोऽपि तस्य नष्ट ।

इसका धैर्य नष्ट हो गया। घर में जाकर यह ज्यों ही भोजन करने के लिये भोजनालय में गया तो रसोईयेने पहिलेसे सजाकर रखे हुए सुवर्ण एव चादी के भोजनपात्रों में इसके बैठनेपर भोजन परोस दिया परन्तु इसके समक्ष ही वे सब के सब भोजनपात्र क्रम २ से नष्ट हो गये-पता नहीं पडा कहा चले गये। जब एक सुवर्णका थाल जो इसके समक्ष ही आगे से उठकर आकाश में उडनेलगा तो इसने उसे थाम कर पकड लिया। पकडते ही उस थाल की किनार टूटकर इसके हाथ में रह गयी। बाकी का थाल नष्ट हो गया। यह फिर उस टुकडे को हाथ में लिये हुए ही अपने मूल धन को देखने के लिये वहा से दूसरी तरफ चला तो क्या देखता है कि इसका मूल धन भी सब नष्ट हो चुका है। इस तरह समक्ष ही देखते २ इसकी समस्त लक्ष्मी नष्ट हो गई। निधान नष्ट हो गया। दासी-दास आदि और परिवार वर्ग भी नष्ट हो गये। अब यह उस

પરતુ કાંઈ સમજવામા ન આવ્યુ એનામા ધિરજ ન રહી. આથી અકળાઈ નાવાનું છોડી દઈ ઘરમા ગયો અને ભોજન કરવા ભોજનાલયમા પહોચ્યો. જ્યા રસોઇયાએ સોના ચાદિના વાસણોમા એના બેઠા પછી ભોજન પીરસ્યુ ભોજન પિરસાયા પછી તેની નજર સામે જોત જોતામાં ક્રમ ક્રમથી ભોજનપાત્રો અદૃશ્ય થવા લાગ્યા ખબર ન પડી ક્યા ચાલ્યા ગયા. એક સુવર્ણ થાળ જે તેની સામેથી ઉડવા માંડેલો તેને હાથથી પકડતા એ થાળની કિનાર તુટીને તેના હાથમા રહી ગઇ અને બાકીનો થાળ અદૃશ્ય બની ગયો થાળના તુટેલા ટુકડાને હાથમા રાખીને પોતાના મુળ ધનને જોવા માટે ત્યાથી બીજી તરફ ગયો. ત્યા જતા શું દેખે છે કે પોતાનુ મુળ ધન પણ અદૃશ્ય બની ગયુ હતું આ રીતે પોતાની નજર સામે તેની સઘળી લક્ષ્મી અદૃશ્ય બની ગઇ, નિધાન નષ્ટ થઇ ગયો દાસી દાસ વગેરે પરિવાર પણ

अथासौ स्वर्णमयस्थालैकखण्डहस्तः सञ्चितस्ततो भ्राम्यन्नकस्मादुत्तरभागवासिनः पितृमित्रस्य सुनन्दनामकस्य वणिजो गृहं जगाम। तं दृष्ट्वा सुनन्दस्तं सादरं भोजयामास। भोजनसमये सुधनस्तानि तानि रत्नानि, तांश्च स्वर्णकलशान्, तानि स्वर्णमयस्थालानि सर्वाणि स्वकीयानि वस्तूनि तत्र ददर्श। तत्तद् वस्तुजातं प्रेक्षमाणं वणिक्पुत्रं सुधनं सुनन्दो वणिक् पृच्छति-किं मम पुत्रीं पश्यसि? सुधनेनोक्तम्-नाहं तव पुत्रीं पश्यामि, किं तु त्वद्गृहस्थितान्येतानि रत्नमयानि वस्तूनि मदीयानि सन्तीति विलोकयामि। सुनन्देन वणिजा प्रोक्तम्—किमत्र

सोने के थाल के टुकडे को हाथ में लिये हुए इधर-उधर घूमने फिरने लगा। फिरते २ इसकी दृष्टि उस उत्तर दिशा में रहने वाले सुनन्द के मकान ऊपर पडी, जो इसके पिता का मित्र था। यह उसके घर पर गया। सुनन्द ने उसको आदर के साथ भोजन करने के लिये बैठाया। वहा पर सुधन ने अपनी समस्त नष्ट हुई वस्तुएँ देखीं-वे ही सोने के थाल, वे ही सुवर्णादि के कलश और वे ही रत्न आदि। जब उसकी दृष्टि उन अपनी चीजोंके निरीक्षण करने में आसक्त हो रही थी, तब अचानक ही बीचमें टोकते हुए सुनन्द ने कहा-सुधन! यह क्या करते हो? तुम्हारी दृष्टि इस समय कहां है, क्या हमारी पुत्री को देख रहे हो? सुनन्द के वचन सुन कर सुधन ने कहा-महाशय! मैं आपकी पुत्री को नहीं देख रहा हूं, किन्तु यह विचार कर रहा हूं कि "तुम्हारे यहा रही हुई ये सबही रत्नादिक वस्तुएँ मेरी हैं, यहा ये कैसे आ गई" इस बात का विचार कर रहा हूं। सुनन्द ने कहा-तुम्हारी होने का क्या प्रमाण है?

નષ્ટ થઇ ગયા, આ પછી સોનાના થાળના ટુકડાને હાથમા રાખીને તે અહિં તહિં ઘુમવા લાગ્યો. ફરતા ફરતા તેની દૃષ્ટિ ઉત્તર દિશામા રહેવાવાળા સુનંદના મકાન ઉપર પડી, જે તેના પિતાનો મિત્ર હતો. તે એના ઘેર ગયો. સુનંદે તેને આવકારી પ્રેમપૂર્વક ભોજન કરવા બેસાડયો. ત્યા સુધને પોતાની નષ્ટ થએલી સઘળી વસ્તુઓ જોઇ-તેજ સોનાનો થાળ, એજ સોનાના કળશ અને એજ રત્ન આદિ જ્યારે તેની દૃષ્ટિ એ પોતાની ચીજોનુ નિરીક્ષણુ કરવામા આસક્ત થઇ રહી હતી, ત્યારે અચાનક જ તેને ટોકતા સુનંદે કહ્યું-સુધન! આ શું કરો છો? તમારી દૃષ્ટિ આ સમયે કયા છે, શું મારી પુત્રીને જોઇ રહ્યા છો? સુનંદના વચન સાભળીને સુધને કહ્યું-મહાશય! હું આપની પુત્રી તરફ જોતો નથી, પરંતુ એ વિચાર કરૂં છું કે "તમારે ત્યાં રહેલી આ સઘળી રત્નાદિક વસ્તુઓ મારી છે, અહિં એ કઇ રીતે આવી" આ વાતનો વિચાર કરી રહ્યો છું સુનંદે કહ્યું-તમારી હોવાનું શું પ્રમાણુ છે હા, પ્રમાણુ છે

प्रमाणम् ?। सुधन' मत्याह–त्वद्गृहावस्थितस्यैतस्य त्रुटितस्वर्णमयस्थाल्स्य खण्ड-मेक मम हस्ते विद्यते, पश्य सयोजयामीत्युक्त्वा सयोजयति, सयोजिते सति तत् खण्ड तत्र सम्यक् सल्ग्नम्। अथ सुनन्द पृच्छति–कस्त्वम्, सुनन्देन पृष्टोऽसौ वणिक्पुत्र सुधन स्वपितुर्नाम कथयित्वा परिचय दत्तवान्। तस्मिन् वणिक्-पुत्रे परिचिते सति सुनन्द. पुनराह—त्व तु मम जामाताऽसि, इति। इत्थ सर्व

हा, प्रमाण है तभी तो ऐसा कह रहा हूँ, नम्रता से सुधन ने जवाब दिया। साबित करनेकी चेष्टा करते हुए सुधन ने वह एक सोने के थाल की किनार जो उसके हाथ में पहिलेसे थी उसको दिखलाया, और यह भी बतलाया कि देखो यह सुवर्ण का थाल जो भग्न अवस्था में आप के यहा है उसी की यह किनार है। मै आप के ही समक्ष उसे इसमें जोडता हूँ, यदि यह उस थाल में जुट जाये तो आपको मेरी बात सत्य माननी पडेगी। सुनद ने यह सब स्वीकार कर लिया। सुधन ने सुनद के समक्ष ही उस किनार को उस थाल में ज्यों ही योजित किया तो वह उस में अच्छी तरह जुट गया। यह देखकर सुनद ने कहा–ठीक है। अब तुम यह तो बतलाओ कि तुम हो कौन ? इस प्रकार सुनद के पूछ ने पर सुधन ने उसे अपना परिचय दे दिया। परिचय पाकर सुनद बहुत हर्षित हुआ और कहने लगा कि धन्य है आज का दिन जो आपके दर्शन हुए। आपके पिताने मेरी पुत्री के साथ आप का पहिले से वाग्दान निश्चित कर दिया था, अत आप मेरे सबध में जामाता हैं। अब आप योग्य हो चुके हैं, इस

त्यारे तो એવું કહી રહ્યો છુ તેવો નમ્રતાથી જવાબ સુધને આપ્યો સાબીત કરવાની ચેષ્ટા કરતા પોતાના હાથમા રહેલી સોનાના થાળની કિનાર તેને બતાવી, અને એ પણ જણાવ્યુ કે જુઓ સોનાનો થાળ જે તુટેલી અવસ્થામા તમારે ત્યા છે તેની આ કિનાર છે આપની સમક્ષ જ હું તેને આ સાથે જોડુ છું, કદાચ તે આ થાળ સાથે જોડાઇ જાય તો આપને મારી વાત સત્ય માનવી પડશે સુનદે એ વાતનો સ્વીકાર કર્યો. સુધને સુનદની સામે જ એ કિનાર તુટેલા થાળ સાથે જોડતા તેની સાથે બરાબર મળી ગઇ આ જોઇ સુનદે કહ્યું–ઠીક છે, હવે તમે એ તો બતાવો કે તમે છો કોણ ? આ પ્રકારે સુનદના પૂછવાથી સુધને તેને પોતાનો પરિચય આપ્યો પરિચય સાભળતા જ ખૂબ જ હર્ષ પામ્યો અને કહેવા લાગ્યો કે ધન્ય છે આજનો દિવસ, કે આપના દર્શન થયા. તમારા પિતાએ મારી પુત્રી સાથે તમારૂ વેવિશાળ અગાઉ નક્કી કરેલું એટલે તમે મારા જમાઇ છો, અને તમે યોગ્ય ઉમરના થયા છો, એ માટે મારી

पूर्ववृत्त वर्णयित्वा सुनन्दो वणिक् पुनरवोचत्–गृहाण मम पुत्रीं, मदीय सर्वस्व च। एतद्वचन श्रुत्वा सुधनाऽब्रवीत्–पुरुषः पूर्वं कामभोगान् परित्यजति, कामभोगा वा पुरुषम्, मा तु काममोगा एव पूर्वं परित्यक्तवन्तस्तेनाह तान् परित्यजामि, नास्ति मे किंचित् प्रयोजनं तव पुत्र्या सर्वस्वेन चेति। एव संवेगसवलितं सुधन वचन श्रुत्वा सुनन्दो वणिक् संवेग मासवान्।

अथ वणिक्पुत्रस्य सुधनस्य वैराग्य दृष्ट्वा तत्पूर्वभवमित्रदेव प्रत्यक्षीभूय तमब्रवीत्–त्वां प्रतिबोधयितु मया सर्वमेतत् समाचरितम्, इत्युक्त्वा तस्मै सदोरक–मुखवस्त्रिकारजोहरणपात्रादीनि साधूपकरणानि समर्पितानि। तदा सुधन सुनन्देन सह प्रव्रजित इति।

लिये मेरी पुत्री को और मेरे सर्वस्व को अपनाकर मुझे कृतार्थ करें। सुनद के वचनोंको सुनकर सुधन ने कहा–ससार की विचित्रता को देखो। प्राय पुरुष ही पहिले काम–भोगोंका परित्याग किया करता है परन्तु आश्चर्य है कि जब काम–भोगों ने ही मुझे पहिले से छोड दिया है, तब अब सुन्दर मार्ग यही है कि मैं भी अब इन्हें सर्वथा छोड दू, अत मुझे अब न आपकी पुत्री से मतलब है और न आपके सर्वस्व से। इस प्रकार वैराग्य से युक्त सुधन के वचनको सुनकर सुनंद भी वैराग्य को प्राप्त हुआ। वणिक्पुत्र सुधनके वैराग्यको देखकर उसका पूर्वभवीय वह मित्र जो देव था प्रत्यक्ष होकर उससे कहने लगा–मित्र सुधन! तुम्हें प्रतिबोधित करने के लिये ही मैंने यह सब खेल रचा है, अच्छा हुआ तुम प्रतिबोधित हो गये। इस प्रकार कहते हुए उसने उसके लिये

પુત્રીને અને મારા સર્વસ્વને પોતાનુ માની મને કૃતાર્થ કરો સુનદના વચનો સાભળી સુધને કહ્યુ–સસારની વિચિત્રતાને જુઓ, ખરી રીતે પુરૂષ જ કામ ભોગોનો પરિત્યાગ કરતો આવેલ છે, પરતુ આશ્ચર્ય છે કે જ્યારે કામ–ભોગોએ જ પહેલેથી મને છોડી દીધેલ છે, ત્યારે સારામા સારો માર્ગ એ છે કે હુ પણ આને સર્વથા છોડી દઉ, એટલે મને હવે નથી આપની પુત્રીથી મતલબ કે ન આપના સર્વસ્વથી. આ પ્રકારના વૈરાગ્યથી યુક્ત એવા સુધનના વચનો સાભળીને સુનદને પણ વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત થયો. હવે વણિક્પુત્ર સુધનના વૈરાગ્યને જોઈ તેના પૂર્વભવનો મિત્ર કે જે દેવ છે તે પ્રત્યક્ષ બની તેને કહેવા લાગ્યો– –મિત્ર સુધન! તને પ્રતિબોધિત કરવા માટે જ મે આ સઘળો ખેલ રચેલ છે ઠીક થયુ કે તમે પ્રતિબોધ પામ્યા. આ પ્રકારે કહેતા તેણે તેના માટે

अनगारस्य=न विद्यतेऽगारं = गृहं यस्य सोऽनगारः=द्रव्यभावगृहरहित, तत्र द्रव्यागारं-नियतवासस्थानम्, भावागारं कषायमोहनीयं कर्म, तस्य स्थित्यादिभूयस्त्वे नास्ति विरतिसम्भवस्तस्मादल्पकषायमोहनीयो भावतोऽनगारस्तस्य भिक्षोः=हननपाचनादिनवकोटिपरिशुद्धभिक्षाग्राहिणः विनयम्=विशिष्टो

साधु के उपकरणरूप सदोरक मुखवस्त्रिका रजोहरण एवं पात्र आदि समर्पित किये। इस प्रकार संयोग का कटुक फल जानकर सुघनके साथ सुनन्द भी प्रव्रजित हो गया।

अब 'अणगारस्स भिक्खुणो' का अर्थ कहते हैं-अनगार शब्द का अर्थ घर का परित्याग करना है। द्रव्य और भावके भेदसे अगार के दो भेद हैं। नियत जो निवास का स्थान है-वह द्रव्य-अगार है। कषाय-मोहनीय कर्म भाव-अगार है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति आदि में जीव को विरतिका लाभ नहीं होता है। विरति का लाभ होने के लिये इसकी स्थिति आदि अल्प अपेक्षित होती है, इसलिये अल्पकषाय-मोहनीयवाला भावानगाररूप से विवक्षित हुआ है। अब 'भिक्षु' शब्द का अर्थ कहते हैं-भिक्षु वही हो सकता है जो हनन घातन आदि क्रियाओं का नवकोटि से परित्यागी होता है, अर्थात् हनना, हनवाना, उसका अनुमोदन करना, पकाना, पकवाना, उसका अनुमोदन करना, खरीदना, खरीदवाना, उसका अनुमोदन करना, इन नवकोटि दोषोंसे

સાધુના ઉપકરણરૂપ દોરાસાથેમુખવસ્ત્રિકા, રજોહરણ અને પાત્રો આદિ સમર્પિત કર્યા આ પ્રકારે સંયોગના કડવા ફળને જાણીને સુઘનની સાથોસાથ સુનંદે પણ પ્રવ્રજ્યા અંગીકાર કરી

હવે "अणगारस्स भिक्खुणो"નો અર્થ કહે છે—અનગાર શબ્દનો અર્થ ઘરનો પરિત્યાગ કરવો તે દ્રવ્ય અને ભાવના ભેદથી અગારના બે ભેદ છે નિયત જે નિવાસનુ સ્થાન છે તે દ્રવ્ય—અગાર છે કષાય મોહનીય કર્મ ભાવ—અગાર છે તેની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ આદિમા જીવને વિરતિનો લાભ થતો નથી. વિરતિનો લાભ થવા માટે એની સ્થિતિ આદિ અલ્પ અપેક્ષિત થાય છે, આ માટે અલ્પકષાયમોહનીયવાળા ભાવાનગારરૂપથી વિવક્ષિત થયેલ છે હવે "भिक्षु" શબ્દનો અર્થ કહે છે—ભિક્ષુ એજ થઇ શકે છે જે હનન ઘાતન આદિ ક્રિયાઓનો નવકોટીથી પરિત્યાગ કરે છે અર્થાત્ હણવું, હણાવવું અને તેનુ અનુમોદન કરવું પકાવવુ, બીજાથી તૈયાર કરાવવું, તેનુ અનુમોદન કરવું, ખરીદવું, ખરીદાવવું, અને તેનુ અનુમોદન કરવું, આ નવકોટી દોષોથી રહિત

नयो नीतिर्विनयः=साधुसमादृतः समाचारस्तम्, यद्वा–विनयति=नाशयति सकल–क्लेशजनकमष्टविधं कर्म स विनयस्तम्, गुरु प्रति नीचैर्वृत्तिलक्षणा नम्रता द्रव्यतो विनयः, साध्वाचारं प्रति प्रवणत्वं भावतो विनयस्तमित्यर्थः, प्रादुष्करिष्यामि=प्रकटयिष्यामि। केन प्रकारेण प्रादुष्करिष्यामीत्याकाङ्क्षायामाह–'आणुपुव्विं' इति। आनुपूर्वीमिति, अत्र–सौत्रत्वात् तृतीयार्थे द्वितीया, आनुपूर्व्या=क्रमेण शास्त्रोक्तपरिपाट्येत्यर्थः, हे शिष्याः! मे=मम मत्सकाशादित्यर्थः, यद्वा–'मे' इति विभक्त्यन्तप्रतिरूपकमव्ययम् मे=मत्तः, शृणुत=यूयमाकर्णयत श्रवणं प्रति सावधाना भवतेत्यर्थः। स्वशिष्याभिमुखीकरणार्थमिदम् ॥ १ ॥

'विनयं प्रादुष्करिष्यामी'त्युक्तं, तत्र विनीतलक्षणे विज्ञाते सति विनय–स्वरूपं विदितं स्यादिति विनीतलक्षणमाह—

रहित भिक्षा का ग्रहण करनेवाला भिक्षु कहा गया है। विनय का अर्थ है–विशिष्ट नय, इसलिये यहाँ 'विनय' शब्द से साधुओंका आचार समझना चाहिये। अथवा–जो अष्टविध कर्मोंका नाश करे सो 'विनय' है। वह विनय द्रव्य विनय और भाव विनय के भेद से दो प्रकार का है। गुरु के प्रति, तथा पर्यायज्येष्ठोंके प्रति नम्र होना, तथा उनकी सेवा करना यह द्रव्य–विनय है। साध्वाचार में तत्पर रहना यह भाव–विनय है। उस विनय को मैं शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार प्रकट करूँगा, अतः हे जम्बू! तुम सब मुझ से इस बात को अच्छीतरह सुनो ॥ १ ॥

विनीत के लक्षण का जबतक ज्ञान न हो जाय तब तक विनय का स्वरूप जाना नहीं जा सकता है, इसलिये सूत्रकार विनीत का लक्षण कहते हैं—'आणाणिद्देसकरे' इत्यादि।

ભિક્ષાને ગ્રહણ કરવાવાળા 'ભિક્ષુ' કહેવાય છે વિનયનો અર્થ છે–વિશિષ્ટ નય, આ માટે અહિં 'વિનય' શબ્દથી સાધુઓનો આચાર સમજવો જોઇએ અથવા–જે અષ્ટવિધ કર્મોનો નાશ કરે તે 'વિનય' છે તે વિનય દ્રવ્ય–વિનય અને ભાવ–વિનયના ભેદથી બે પ્રકારે છે ગુરૂના પ્રતિ તથા પર્યાયથી બડાઓ પ્રતિ નમ્ર થવું, તથા તેની સેવા કરવી તે દ્રવ્ય વિનય છે સાધુના આચારમા તત્પર રહેવું એ ભાવ–વિનય છે તે વિનયને હું શાસ્ત્રોક્ત પદ્ધતિ અનુસાર પ્રગટ કરીશ, માટે હે જમ્બૂ! તમે મારાથી આ સઘળી વાતને સારી રીતે સાંભળો (૧)

વિનીતના લક્ષણનું જ્યા સુધી જ્ઞાન ન થાય ત્યા સુધી વિનયનું સ્વરૂપ જાણી શકાતું નથી. આ માટે સૂત્રકાર વિનીતના લક્ષણ કહે છે–'आणाणिद्देसकरे' ઇત્યાદિ.

मूलम्—आणाणिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपण्णे, से विणीए त्ति वुच्चई ॥ २ ॥

छाया—
आज्ञानिर्देशकरः गुरूणामुपपातकारकः।
इङ्गिताकारसम्पन्नः स विनीत इत्युच्यते ॥ २ ॥

टीका—

'आणाणिद्देसकरे' इत्यादि। आज्ञानिर्देशकरः=आज्ञा=विधिरूपः प्रतिषेधरूपो वा गुरुवचनं, यथा-'इदं कुरु' 'इदं मा कुरु' इति, तस्या निर्देशः-भवद्वचनानुसारेण करिष्यामीति कथनं, तस्य करः=कर्ता, यद्वा-आज्ञायाः=तीर्थंकरवाण्या निर्देशः=उत्सर्गापवादकथनं, तस्य कारकः, तथा-गुरूणाम्=आचार्यादीनाम्, उपपातकारकः=उपपातः=समीपेऽवस्थानं, तस्य कारकः, आचार्यादिसन्निहितस्थानवर्ती, न तु तन्नियोगवचनभयाद् दूरावस्थायीत्यर्थः, तथा-इङ्गिताकारसम्पन्नः, इङ्गितं=निपुणमतिगम्यं स्वाभिप्रायसूचकमीषद्भ्रूचालनादिकम्, आकारः=स्थूलमतिगम्यः प्रस्थानादिसूचको दिगवलोकनादिः, ताभ्यां संपन्नः=युक्तः, गुरुमनोवृत्तिज्ञानवानित्यर्थः, एवंभूतो यः शिष्यः स विनीतः=विनयवान्, इत्युच्यते तीर्थंकरगणधरादिभिरिति शेषः।

अन्वयार्थ—(गुरूण-गुरूणां) आचार्य आदिकी (आणाणिद्देसकरे-आज्ञानिर्देशकर) आज्ञा को मानने वाला (उववायकारए-उपपातकारकः) उनके निकट सदा रहने वाला (इंगियागारसंपण्णे-इंगिताकारसंपन्न) इंगित-सूक्ष्म बुद्धि वालों से जानने योग्य गुरु आदि की भ्रूचालन आदि चेष्टा। आकार-स्थूल बुद्धि वालों से भी समझने योग्य गुरु आदि की गमनादिसूचक दिशाका अवलोकनादि चेष्टा। गुरु आदि की इन दोनों चेष्टाओं को अच्छी तरह जानने वाला जो शिष्य होता है (से विणीए

અન્વયાર્થ—(गुरूण-गुरूणा) આચાર્ય વગેરેની (आणाणिद्देसकरे-आज्ञानिर्देशकरः)આજ્ઞાને માનવાવાળા (उववायकारए-उपपातकारकः)એમની પાસે સદા રહેવાવાળા (इंगियागारसंपण्णे-इंगिताकारसंपन्नः) ઇંગિત-સૂક્ષ્મ બુદ્ધિવાળાથી જાણવા યોગ્ય ગુરૂની ભ્રૂચાલન-(આંખનો ઇશારો) આદિની ચેષ્ટા, આકાર -સ્થૂલ બુદ્ધિવાળાથી પણ સમજવા યોગ્ય ગુરૂ આદિની ગમનાદિસૂચક દિશાનું અવલોકન આદિ ચેષ્ટા, ગુરૂ આદિની આ બન્ને ચેષ્ટાઓને સારી રીતે જાણવાવાળા

त्ति वुच्चइ–स. विनीत इति उच्यते) वह तीर्थंकर गणधर आदि के द्वारा विनीत कहा गया है ॥ २ ॥

भावार्थ—"आज्ञानिर्देशकर" "यह करो, यह न करो" इस प्रकार विधिरूप और निषेधरूप जो गुरु के वचन हैं वे 'आज्ञा' शब्द से ग्रहण किये गये हैं। "आप के वचन के अनुसार ही प्रवृत्ति करने का भाव है, अन्यथा नहीं," इस प्रकार शिष्य का कथन निर्देश है। इस निर्देश का अच्छी तरह से पालन करने वाला आज्ञानिर्देशकर है। अथवा—आज्ञा–तीर्थंकर प्रभु की वाणी के द्वारा जो उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग का निर्देश अर्थात् विधान किया गया है उसके अनुसार करने वाला आज्ञानिर्देशकर कहा जाता है। उपपात शब्द का अर्थ है–समीप बैठना। शिष्य का कर्तव्य है कि वह सदा अपने गुरु के समीप बैठे। उनकी आज्ञा के पालन करने के भय से उनसे दूर न बैठे। गुरु का अभिप्राय परखना यह साधारण बात नहीं है। यह बात तब ही सीखी जा सकती है कि जब शिष्य उन के पास में बैठे, अन्यथा नहीं। विनीत शिष्य गुरु की सेवा करने से आत्मकल्याण करता है,।

જે શિષ્ય હોય છે, (से विणीए–त्ति वुच्चइ–स॰ विनीत इति उच्यते) તે તીર્થંકર ગણધર આદિ દ્વારા વિનીત કહેવાયેલ છે (૨)

ભાવાર્થ—"आज्ञानिर्देशकर" "આ કરો અને આ ન કરો." આ પ્રકારે વિધિરૂપ અને નિષેધરૂપ જે ગુરૂના વચન છે તે 'આજ્ઞા' શબ્દથી ગ્રહણ કરવામા આવેલ છે "આપના વચન અનુસાર જ પ્રવૃત્તિ કરવાના ભાવ છે બીજા નથી" આ પ્રકારનુ શિષ્યનુ કથન નિર્દેશ છે નિર્દેશનુ સારી રીતે પાલન કરવા વાળા આજ્ઞાનિર્દેશકર છે અથવા–આજ્ઞા–તીર્થંકર પ્રભુની વાણીદ્વારા જે ઉત્સર્ગ અને અપવાદ માર્ગનો નિર્દેશ અર્થાત્ વિધાન કરવામા આવેલ છે તે અનુસાર કરવાવાળા આજ્ઞાનિર્દેશકર કહેવાય છે ઉપપાત શબ્દનો અર્થ છે સમીપ બેસવું શિષ્યનુ કર્તવ્ય છે કે તે સદા પોતાના ગુરૂની સમીપ બેસે. ગુરૂની આજ્ઞાનુ પાલન કરવાના ભયથી તેનાથી દૂર ન બેસે. ગુરૂનો અભિપ્રાય જાણવો તે સાધારણ વાત નથી. એ વાત ત્યારે જ શીખી શકાય કે જ્યારે શિષ્ય તેની પાસે બેસે, એ શિ[illegible] નહીં વિનીત શિષ્ય ગુરૂની સેવા કરવાથી આત્મકલ્યાણ કરે છે // /

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
—गीता ९।४,५।

१२६—अव्यक्ताक्षरकालात्मिका प्रकृति से ही महिमामय विश्व का वितान, एवं सुप्रसिद्ध व्याससूत्रचतुष्टयी के द्वारा जन्म-स्थिति-भङ्ग-कारणभूत कालब्रह्म का स्वरूप-समन्वय—

अक्षरं ब्रह्म परमम्—'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्त' के अनुसार—'कालः स इयत परमो नु देवः' से उपवर्णिता अव्यक्ताक्षरकालात्मिका प्रकृति के द्वारा ही [illegible] महिमामय विश्व का महिमारूप से ही वितान हुआ है जिसका—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' से स्पष्टीकरण हुआ है। कालातीत अनन्त अमृतब्रह्म—ध्वाच्य अव्ययब्रह्म अपने एकांशरूप—परप्रकृतिलक्षण—अव्यक्त अक्षरकालरूप से ही विश्ववितानरूप में परिणत हुआ है। सम्पूर्ण भूतभौतिक-व्यक्त विश्व अव्यक्ताक्षर से समन्वित, अतएव अव्यक्ताक्षरमूर्ति अनन्त-अव्यय के इस एकांशरूप अव्यक्ताक्षररूप प्राकृत विश्व पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव इस अव्यक्त-माध्यम दृष्टि से उस अव्यक्ताक्षराधार-सर्वाधार अनन्त ब्रह्म को भी 'भूतभृत्' (भूतविश्व को धारण करने वाला) कह दिया जासकता है। किन्तु साक्षात्—आधारत्व तो भूतप्रकृतिरूपा अव्यक्ताक्षरप्रकृति (अमृतब्रह्म) का ही उपलब्ध है। दो प्रकार की है यह आधारभूमि। तटस्थाधारभूमि समन्वयाधारभूमि भेद से भूतसत्ता का दो प्रकार से समन्वय सम्भव है। कारण कार्य्य को उत्पन्न कर प्रतिष्ठारूप से अपने कार्य्य में प्रविष्ट हो जाया करता है जिसका—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी को 'सृष्टानुप्रविष्टब्रह्म' कहा गया है जिसके लिए—'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' प्रसिद्ध है। यही 'विश्वचर' ब्रह्म (अक्षर-परप्रकृति) है। यही विश्वात्मा विश्वेश्वर (कालात्मा—अव्यक्ताक्षर) है। और यही कार्य्यात्मक भूतजगत् के गर्भ में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित रहने वाला 'भूतभृत्' विश्वात्मा है जिसके लिए—'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते'—'प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' इत्यादि प्रसिद्ध है। यही विश्वाधार विश्व की समन्वयाधारभूमि है यही विविधाश्रय वह ब्रह्म (अक्षर) है जिसके समन्वय से विश्व समन्वित है एवं जो अपनी कालात्मिका कारणता से विश्व के जन्म-स्थिति-भङ्ग-भावों का प्रवर्त्तक बन रहा है। और यही है शास्त्रयोनिभूत वह ब्रह्म जिसका प्रकृतिरहस्यविश्लेषणात्मक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। एवं यही है वह भूतभृत्—कालात्मक—परमदेव—मूर्त्ति—विश्वात्मा—विश्वाव्यय—सगुण—प्रकृतिब्रह्म जिसका—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'-'तत्तु समन्वयात्'-'जन्माद्यस्य यतः'-'शास्त्रयोनित्वात्' —इस सुप्रसिद्ध व्याससूत्रचतुष्टयी के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

है, जिसे दार्शनिक ज्ञानमीमांसा कहा करता है जिसका उपक्रम–उत्थान ब्रह्ममयकोशात्म
त्मक) दिग्देशकालानुबन्ध से ही हुआ है। मान रहा है दार्शनिक आत्मब्रह्म को दिग्दे
ढूँढ रहा है उसे वह दिग्देशकालात्मक भूतों के भीतर। न इसके 'भीतर का ही कु
'सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतम' शब्दों का ही कोई महत्त्व है। वस्तुतः के अतिरिक्त और
है इस दार्शनिक–दृष्टि–परम्परा में। वे ही स्थूल से सूक्ष्म को ढूँढने के वे दार्शनिक प्रकार
अन्वेषण–समन्वय करते रहने में ही दार्शनिक की तत्त्वविमृश्यमात्मिका–दिग्देशकालक्रमानु
गम्या व्याख्या समाप्त होजाती है। और परिणाम में अन्त में यह परिणामवादी ही बना र
कार्य्यकारणात्मक–परिणाम का अनन्तब्रह्म के अनन्त विश्व से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क ना
त्मात्मक परिणामवाद तो दार्शनिक की विशुद्ध कल्पनामात्र ही है।

१२८–'आत्मानुशीलन' की स्वरूप–परिभाषा, एवं–'न त्वहं तेषु, ते
का रहस्यपूर्ण समन्वय—

'न त्वहं तेषु–ते मयि' ही आत्मानुशीलन है एवं यही अनन्तब्रह्म का महिमात्मक स
ब्रह्म के यत्किञ्चित् अंशरूप एकांश के महिमामय विश्व का नाम ही विश्व है। वह व
भला वह इसमें कैसे समा सकता है ?। उसमें यह वस्तुतः अवश्य ही समाविष्ट है उसके भी
एकांश में ही। वह अपने अनन्त स्वरूप से इन सादिसान्त भावों में सर्वात्मना समा भी
यही आत्मानुशीलनात्मक धर्म्मपथ है। वह 'भूतभृत्' अवश्य है किन्तु 'भूतस्थ' नहीं है। स
प्रपञ्च उसीके एकांश में महिमारूप से समाविष्ट है जबकि–वह भूतसीमा से दिग्देशक
असंस्पृष्ट ही है। मानते हैं उपनिषदों की भाँति यद्यपि गीता की भाषा भी है तो दार्शनिक
का पारिभाषिक महिमाविवर्त्त अभिव्यक्ति में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के अनन्तात्मक
समनुगत है। 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' 'पादोऽस्येहाभवत्पुनः–अतो ज्यायांश्च पूरुषः'
शास्त्र में भी–'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'–'एकांशेन जगत्सर्वम्'–'ममै
जीवभूतः सनातनः' इत्यादिरूप से अनन्तमूलक आत्मानुशीलन का ही उपवृंहण हु
ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त भारतीय वाङ्मय विश्व में ऐसा समनुग
सौभाग्य' एकमात्र गीताशास्त्र को ही प्राप्त है जिसने केवल * 'न त्वहं तेषु–ते मयि'–
हूँ, अपितु वे मुझमें हैं–अर्थात् अनन्त के गर्भ में अन्तभाव प्रतिष्ठित हैं, रह स
अन्तभावों में अनन्त का समावेश सम्भव नहीं है"–इस एक ही वाक्य से अनन्तब्रह्मानु
महिमैतिह्य स्पष्ट कर दिया है। आगे चलकर नवम अध्याय में भगवान् ने इसी 'भूतभृ
में जो व्याख्या की है उसके द्वारा तो स्पष्ट ही तथाकथित आत्मानुशीलन–धर्म्म का सर्वात्मना
है। सक्रम बनाइए आगे के दोनों श्लोकों को, एवं तदाधारेण आत्मानुशीलन का समन्वय

* ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु, ते मयि॥
—गीता ७।१ ।

इसे व्यवहारदृष्टि से 'भूत-भृत्' मान कर भी कहा जा सकता। किन्तु तथापि इसे 'भूतस्थ' (भूतगर्भ प्रविष्ट) तो नहीं ही कहा जासकता।

१३२–'भूतात्मक, कालातीताव्ययपुरुष, 'भूतभावन' अव्यक्तकालात्मक अक्षर, तथा 'भूतयोनि' व्यक्तकालात्मक क्षर, एवं गीताश्लोकचर्या से दार्शनिकों की आधारशून्या सविशेषभावनिबन्धना मान्यता का मूलोच्छेद—

जो भूतभावन होगा वही भूतस्थ बन सकेगा। भूतों की भावना किंवा संविस्तरण करने वाला ही 'भूतभावन' कहलाएगा, और यह होगा अव्यक्ताक्षर। अतएव 'भूतभावन' उपाधि का सम्मान इस अक्षरप्रकृति को ही मिलेगा, जैसे कि–'भूतयोनि' का सम्मान उसी भूतातीत अव्यय की अपराप्रकृतिरूप क्षर को मिला हुआ है। भूतभावन स्वयं अव्यय नहीं है अपितु उस ममहिमाधिविच्छ रूपा पराप्रकृति है। भूतभावन वह स्वयं नहीं है उस का यह भूतभावन है–'सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः'। उस का यह भा मा है महिमा है–जो कि भूतभावन है। अतएव भूतभावन अक्षर मा ही 'भूतस्थ' है–'भूतभृन्न च भूतस्थोऽव्ययः ममात्मा भूतभावनः'-अक्षर एवं भूतस्थः इसप्रकार इन दो श्लोकों से दार्शनिकों की उस मान्यता का सर्वथा ही मूलोच्छेद हो जाता है जो प्रकृतिमात्रात्मक प्राकृत–सविशेष–ब्रह्म (कालात्मक अक्षरब्रह्म) के प्रतिपादक–'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म' इत्यादि वचनों का, एवं–कोशप्रधानविभूतियों का समन्वय करने में असमर्थ बने रहते हुए इन सीमित–दिग्देशकालात्मक–भूतों की दृष्टि के माध्यम से उस भूतातीत–अगोचर के दर्शन के व्यामोहन से व्यामुग्ध बन अपनी काल्पनिक तत्त्वमीमांसा का विजृम्भण करते हुए इतस्ततः सञ्चरणमाण हैं।

१३३–भूतों के गर्भ में भूतातीत के अन्वेषण के लिए आतुर हमारे दार्शनिक बन्धु, एवं तदन्वेषणाकर्म्म का अन्ततोगत्वा शून्यवाद पर विश्राम—

ये ही दार्शनिक महाभाग भूतों के गर्भ में भूतातीत को ढूँढने के लिए अपनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं का निरर्थक वितान करते रहते हैं। ये ही दार्शनिक–'येयं प्रेते विचिकित्सास्ति' जैसी भावुकतापूर्णा विचिकित्सा से दिग्भ्रान्त बने रहते हैं। ये ही दार्शनिक शरीर में मन मन में बुद्धि एवं बुद्धि में आत्मा को ढूँढा करते हैं दिग्देशकालानुबन्धिनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं के माध्यम से। इस भूतान्वेषणमूला दृष्टि का तो वही अन्तिम परिणाम होता है जो कदलीस्तम्भ के भीतर किसी तत्त्व को ढूँढने वाले का हुआ करता है। भावुक मानव ऐसी भ्रान्ति कर तो सकता है कि कदलीस्तम्भ (केलाइक्षस्तम्भ) के भीतर कहीं, कोई बीज अवश्य होगा। इसी भ्रान्ति से जब यह स्तम्भ के ऊपर के आवरण को हटाता है तो भीतर भी इसे वैसा ही पुष्प पुञ्ज मिलता है। यों देखते देखते अन्ततोगत्वा इस देखने का पर्य्यवसान शून्य पर ही हो जाता है।

१३४–शून्यवाद–परिणाममूला प्रज्ञास्वच्छता से अनुप्राणिता जड़ता का 'आत्मशान्ति' नामकरण—

उस अभावात्मक शून्य पर पहुँच कर अपने इस महान् प्रयास से थक कर यह अन्वेषक निराशा में निमग्न हो पड़ता है। और यहीं इसकी सम्पूर्ण क्रियाशक्ति उपशान्त होजाती है। और इसलिए है–इसी क्षेम

१३०–क्षरात्मक विश्व के आधारभूत 'भूतभृत्' अक्षरकाल के भी आधारभूत तटस्थ–द्वितीय 'भूतभृत्' का संस्मरण, एवं–'मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः' इत्यादि गीता सिद्धान्त का तात्त्विक समन्वय–

दूसरा है तटस्थ भूतभृत्, और वह है इस अव्यक्त अक्षर से भी अतीत सनातन–अनन्ताव्ययब्रह्म–'परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः'। यही तटस्थ क्षमात्मक भूतभृत् है। साक्षी–चेता–केवलो–निर्गुणश्च–रूप यह वैसा भूतभृत् है जो कभी किसी भी भव का कारण नहीं बनता। अतएव जिसे भूतगर्भ में प्रवेश की कोई अपेक्षा ही नहीं। अतएव जो गीता के ही शब्दों में–'अजः' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सात्त्विक–राजस–तामस–भावापन्न तीन गुणों से समन्विता अज–अव्यय की त्रिगुणात्मिका अव्यक्ताक्षरप्रकृति ही कारणरूप से कार्यात्मक–गुणान्वित विश्व में प्रविष्ट रहती है गर्भरूप से। अवश्य ही इस कारणप्रकृति के द्वारा उस निष्कारण को तटस्थ–कारणता भी प्राप्त है। किन्तु कदापि कारणभूता प्रकृति की भाँति वह इन के गर्भ में प्रविष्ट नहीं है। हाँ सम्यक्तया वे सम्पूर्ण गुणभाव इस के गर्भ में अवश्य ही प्रविष्ट माने जासकते हैं। इस तटस्थ–कारणता की दृष्टि से ही इस अव्ययब्रह्म को 'भूतभृत्' मान लिया जासकता है। अतएव कह दिया जासकता है कि–सम्पूर्ण भूत उसी अनन्ताव्यय में धृत हैं प्रतिष्ठित हैं। किन्तु कदापि वह इन में अवस्थित नहीं है। अर्थात् मूलप्रकृतिरूप अव्यक्ताक्षर जैसी गर्भानुगता प्रतिष्ठा का यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। और–'मत्स्थानि सर्वभूतानि–न चाहं तेष्ववस्थितः' का यही समन्वय है जो कि–नत्वहं–तेषु, ते मयि' इस मूलसूत्र की व्याख्यामात्र ही है।

१३१–'मत्स्थानि सर्वभूतानि' लक्षणा कारणाक्षरभाषा, तन्माध्यम से ही तद्–भाषा का कालातीताव्यय-भाषात्व, एवं 'न च मत्स्थानि भूतानि-पश्य मे योगमैश्वरम्' वचन का तात्त्विक-समन्वय—

'मत्स्थानि सर्वभूतानि' यह भाषा यथार्थतः अक्षर की भाषा है। क्योंकि–'अक्षरस्य–प्रशासने–गार्गि॰' इत्यादि रूपेण अक्षरात्मा ही (कालात्मा ही–प्रकृति ही) भूतपदार्थों के केन्द्र में अन्तर्यामी–रूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ सम्पूर्ण भूतों को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखता है। अतएव यही 'भूतस्थ' माना गया है। भूतस्थ ही 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (सम्पूर्ण भूत मुझ पर ठहरे हुए हैं) यह कह सकता है। अतएव यह उस अव्यक्तातीत–कार्यकारणातीत–कालातीत–सर्वातीत अनन्ताव्यय की भाषा तो हो नहीं सकती। हो सकती है एकमात्र–अव्यक्तमूर्तिना। अव्यक्ताक्षर के माध्यम से ही इसे अव्यय की भाषा मान लिया जासकता है मान लिया गया है। और इसी आधार पर–'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' यह कह भी दिया गया है। एवं इस अव्यक्ताक्षर के माध्यम से ही उस की–'मत्स्थानि सर्वभूतानि' यह भाषा भी मान ली जासकती है। किन्तु इस मान्यता के साथ ही प्रयुक्त–'न चाहं–तेष्ववस्थितः' इस उपसंहारवाक्य से इस मान्यता का समन्वय भी होजाता है। अतएव इस विशुद्ध निर्विशेष–अव्ययब्रह्म की अपेक्षा से तो अब यह भाषा अक्षर की ही भाषा रह जाती है। 'अव्ययपुरुष' क्या बोलते हैं इस अपने कालातीत निर्विशेष-भाव से ?, प्रश्न का उत्तर है–"न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्'। कदापि अव्ययपुरुष कारणात्मक भूतभृत् नहीं है। कदापि यह भूतस्थ नहीं है। कदापि यह भूतों की गर्भात्मिका प्रतिष्ठा नहीं है। अव्यक्तमूर्तिना यथाकथञ्चित्

मानव का महान् पुरुषार्थ, जो उस दिक्कालातीत रसैकघन आनन्दघन सत्यमूर्ति अव्ययब्रह्म का एकमात्र महान् प्रतीक ही नहीं, अपितु प्रतिमान है । जो अनन्तब्रह्म अपनी अनन्ता–पूर्णा–अभिव्यक्ति से कदापि किसी भी भूत के गर्भ में प्रविष्ट नहीं हुआ करता, वही पूर्णब्रह्म एकमात्र मानव में ही सर्वात्मना अभिव्यक्त हो रहा है । ऐसा है यह मानव, जिसने अपने बुद्धिवादात्मक व्यामोहन में आकर, आचारशून्या कल्पनिक दार्शनिकता में पड़ कर अपने इस महान् कालातीत अनन्त स्वरूप को विस्मृत ही कर दिया है । जिस भूतप्रपञ्च के लिए अनन्ताव्ययब्रह्म की 'न त्वहं तेषु ते मयि' यह भाषा है, वही अनन्ताव्ययब्रह्म अपने पूर्णस्वरूपाभिव्यक्तित्व रूप परिपूर्ण, प्रतिमानात्मक मानवश्रेष्ठ के लिए क्या भाषा बोलता है ?, प्रश्न का समाधान भी उसी के पूर्णावतार–मानवावतार भगवान् वासुदेव कृष्ण के मुख से सुन लीजिए !

> समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति, न प्रियः ।
> ये भजन्ति तु मां भक्त्या–'मयि ते, तेषु चाप्यहम्' ॥
>
> —गीता ९।२९।

१३७–'मयि ते, तेषु चाप्यहम्', एवं–'न त्वहं तेषु–ते मयि' वाक्यों का तात्त्विक समन्वय, तथा दार्शनिक की भूतानुगता आत्मस्वरूपान्वेषणप्रवृत्ति की आत्यन्तिक निरर्थकता—

'न त्वहं तेषु–ते मयि'–और–'मयि ते तेषु चाप्यहम्', इन दोनों का समतुलनमात्र कर लेने से ही स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जाता है । अपरप्रकृतिमूलक–त्रिगुणात्मक–भूतभौतिक पदार्थों में वह नहीं है जबकि ये सब पदार्थ उसी में हैं महिमारूप से । किन्तु मानव का स्वरूप तो उसी कालातीत अव्ययब्रह्म का प्रतिमान है । वह और यह तो अभिन्न ही है । अतएव मानवानुबन्ध से यह कहा ही जा सकता है कि, आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वरूप मानव उस में है एवं वह मानव में है । गर्भात्मक समन्वय नहीं है अपितु विभूतिरूप समन्वय है जिस के द्वारा स्पष्ट यही करना है भगवान् को कि वह, और मानव (मानव का महत्त्वातीत कालातीत अनन्ताव्ययभाव) दोनों एक ही वस्तुतत्त्व है जिस एकत्वानुगत आनन्त्य की अभिव्यक्ति भक्तियोगात्मक–धर्म्म ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य–लक्षण बुद्धियोग से ही हुआ करती है । 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या' से इस बुद्धियोगात्मक भक्तियोग की ओर ही सङ्केत हुआ है जिस बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग के बिना मानव सदा प्राकृतपाश में आबद्ध रहता हुआ दिग्देशकालानुगता बुद्धिगम्या व्यवस्था के व्यामोहन में आसक्त होकर उस भूतों के गर्भ में ढूँढने का व्यर्थ का ही प्रयास करता रहता है ।

१३८–तथाविधा शून्यवादात्मिका दार्शनिकता के व्यामोहन से 'सन्तपरम्परा' की अभिव्यक्ति, एवं तद्द्वारा अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधक–भारतीय–आचारधर्म्म की उत्तरोत्तर अन्तर्मुखता, और उस के भीषण परिणाम—

इसी भ्रान्ता दार्शनिकताने आगे चल कर इस पुण्यभूमि धार्मिक भारतराष्ट्र में वैसी 'सन्तपरम्परा' अभिव्यक्त कर ही तो दी जिसने बाहिर के सब द्वार अवरुद्ध कर भीतर के पट खोलने–खुलवाने में ही अपनी

में एक नवीन भ्रान्ति। भूतों के पर्व-पर्व के विश्लेषण का प्रयत्न-प्रयास, केवल तत्त्वमीमांसा के द्वारा अपने भौतिक जगत् में ही। इस अथक प्रयास के अनन्तर उपलब्ध होने वाला शून्यभाव तदनुप्राणिता उपरति, और इसी उपरति का नाम होगया 'आत्मशान्ति'।

१३५–मोहासक्त आतुर–बालक की निराशा-पूर्णा स्तब्धता, एवं तत्समतुलिता दार्शनिक की विश्वसौन्दर्य्यवञ्चिता अभावात्मिका–शून्यं–शून्यं–लक्षणा अध्यासवादिता—

जैसे अभिलषित-ऐन्द्रियक-पदार्थों को ढूँढने में व्यस्त एक बालक इतस्ततः अनुधावन करता हुआ मिलने की आशा से कभी हँसता है न मिलने की दुराशा से कभी रोता है। यों हँसता-रोता-हुआ अन्ततोगत्वा इन सपर्वों से साथ ही निष्ठाशून्य भावुक अभिभावकों के द्वारा उपलब्ध-भर्त्सन–ताड़नादि–आक्रमणों से थक कर निस्तब्ध–जड़वत्–शून्यवत् बन जाता है तो उस दशा में बालक भी सम्भवतः यही मान लेता होगा कि, उसे अब ऐन्द्रियक शान्ति मिल गई। साथ ही अभिभावक तो यह मान ही लेते हैं कि, अब इस की इच्छा शान्त हो गई अब यह ज्ञानवान् बन गया समझदार सयाना बन गया'। ठीक यही स्थिति उस दार्शनिक-शिरोमणि की होजाती है जो भूतों को तो मान बैठता है आरम्भ से ही मलीमस मवबन्धक। अतएव ढूँढने लग पड़ता है इनके भीतर छिपे हुए किसी वैसे सूक्ष्म तत्त्व को जिस से इस त्रिविध दुःखों से सदा के लिए छुटकारा ही मिल जाय। दुःखनिवृत्तिरूप 'अभाव' ही लक्ष्य बनता है इस दार्शनिक का। आनन्द शान्ति–समृद्धि–ऐश्वर्य्य–आदि लक्षणात्मक सत्यं शिवं सुन्दरं-रूप विश्ववैभव इसके लक्ष्य नहीं है। अपितु इसका लक्ष्य है–दुःखाभाव। दुःख का अभाव हो जाता है अथवा नहीं ?, यह तो नहीं कहा जासकता। हाँ 'अभाव' यदि कोई पदार्थ है तो वह अवश्य ही मिल जाता है–इसे। भूतों की उपेक्षा से सम्पूर्ण प्राकृत–अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणात्मक–प्रतीक–धर्म्मों से तो यह आरम्भ में ही वञ्चित होजाता है–भूतों के भीतर छिपे हुए किसी अलौकिक–सूक्ष्म–तत्त्व के प्रलोभन में। दिग्देशकालानुबन्धिनी भूतोपक्रान्ति से भूतों के गर्भ में तो वह इसे नहीं ही मिलता। भूतसौन्दर्य्य और खो बैठता है इस अपने ही कल्पित अध्यास–व्यामोहन में। परिणाम में इस के लिए पारिशेष्यात् शेष रह जाता है–शून्य–शून्यम्–ही।

१३६–सर्वशून्यात्मक–जड़तालक्षण–कल्पित–'निर्वाणपद', तन्मूलक–कल्पित 'मोक्ष', समिग्रह से राष्ट्रीया श्री-समृद्धि की आत्यन्तिक अन्तस्मुखता, एवं तदनुगत शून्य भावात्मक पुरुषार्थ !—

इसी शक्तिक्षयरूपा–म्लानभावापन्ना–सर्वशून्यता का नाम रख लेता है यह अपने अन्तिम महान्–व्यामोहन से–'निर्वाणपद'। यही इसके मोक्ष का समस्त इतिवृत्त है। दार्शनिक की शून्यभावात्मिका इसी मोक्षपरम्पराने आचारनिष्ठ भारतराष्ट्र के समस्त भौतिक–सौन्दर्य्य को सर्वात्मना श्रीविहीन ही तो प्रमाणित कर दिया है। इसी दार्शनिकवाद से शून्यवादात्मक वह अनात्मवाद आविर्भूत हो पड़ा है, जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप ही आचारनिष्ठाशून्या–अभित–सत्य–अहिंसा–मानवता–पञ्चशील–संयम–आदि आदि परम्पराओं से सुसम्पन्न भी भारतराष्ट्र विगत २–३–सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर शून्यं–शून्यं–क्षणिकं–क्षणिकं–दुःखं–दुःखं–का ही मनोरंजन करता आरहा है और मानता चला आरहा है इसी शून्यवाद को मानव का महान् पुरुषार्थ। उस

क्योंकि आप जिस देश, किंवा प्रदेश को देख रहे हैं उस से सर्वथा पृथक् वस्तुतत्त्व है सत्तासिद्ध देशप्रदेश जैसाकि प्रथमखण्डद्वयी के पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। जिसे आप छूकर देश बतलाते हैं वह 'छूना' पृथक् है, एवं बतलाना पृथक् है। छूते हैं आप सत्तासिद्ध देशप्रदेश को, एवं बतलाते हैं आप देखे हुए देश-प्रदेश को। दृष्टि का विषयभूत देशप्रदेश आप के मानस-काल्पनिक-जगत् के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व में कहीं भी तो नहीं है। 'अन्यो हि स्पृश्यमानः अन्यो हि दृश्यमानः'। आपकी दार्शनिकता तो दृष्टिमूला है। आप तो प्रत्यक्षप्रामाण्यवादी हैं। अतएव आप तो जिसे देखते हैं उसे ही मानते हैं। आप जिस देश-प्रदेश-को चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा देखते हैं वह तो आप की कल्पना से ही प्रसूत अतएव आप के मानसजगत् में ही विद्यमान भातिसिद्ध वह काल्पनिक देशप्रदेश ही है, जिस का भी काल्पनिक दिग्भाव की भाँति कोई सत्तासिद्ध भौतिक-परीक्षण आप कदापि नहीं कर सकते। फिर बतलाइए ! आपके कल्पित देश-प्रदेश के प्रत्यक्षाभासमूलक प्रामाण्यवाद का क्या महत्त्व रहा ?।

१४१-भातिसिद्ध-गणनात्मक-काल की स्वरूप-व्याख्या से पराङ्मुखा दार्शनिक-प्रज्ञा—

ठीक यही स्थिति गणनात्मक-क्रमभावात्मक-सङ्ख्यासिद्ध अतएव भातिसिद्ध काल की है। निरपेक्ष एकत्व को छोड़कर सापेक्ष एक सङ्ख्या से आरम्भ कर परमपरार्ध्यसंख्या जितनी भी सङ्ख्याएँ (गणनाएँ) हैं वे सब केवल आपकी कल्पना के काल्पनिक प्रसूनमात्र ही हैं। मूलभूता एकत्वसङ्ख्या का वैतानिक भाव ही दो-तीन चार आदि सङ्ख्यानन्त्य है। सर्वत्र- अयमेकः-अयमेकः इत्यादि रूपेण एकत्व का ही साम्राज्य है- एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्। अपिच जिन प्रदेश-देश-भावों के माध्यम से आप गणनात्मक-सङ्ख्यासिद्ध-काल का परिगणन करते हैं वे देशप्रदेश ही जब पूर्वकथनानुसार कल्पित हैं तो फिर तदाधार पर ही व्यवस्थित क्रमसिद्ध गणनसिद्ध-काल का क्या महत्त्व शेष रह जाता है ?। मान लेते हैं आप जिसे 'काल' कहते हैं वह कोई तत्त्व होगा। किन्तु स्वरूप-व्याख्या तो कीजिए आप अपने इस माने-जाने और पहिचाने हुए काल की ?। करसकेंगे क्या आप इसकी स्वरूप-व्याख्या ?। असम्भव। जिसप्रकार दूरत्व-अपरत्व-गुरुत्व-आकुञ्चनत्व-प्रसारणत्व-आकरण-निर्माण-व्यवधान-घोरण-धारण-प्राप्ति आदि कल्पना-प्रसूत असङ्ख्य-सापेक्ष-भावों की कोई सत्तासिद्धा स्वरूप-व्याख्या सम्भव ही नहीं है इनकी भातिसिद्धता के कारण तथैव इस भातिसिद्ध अतएव सर्वथा काल्पनिक गणनात्मक काल की भी आप कोई स्वरूप-व्याख्या नहीं ही कर सकते।

१४२-दिग्देशकालक्रमव्यवस्थानुगत बुद्धिवाद की काल्पनिकता का नग्नचित्रण, एवं बुद्धिमान् दार्शनिक के कल्पनाप्रसून—

तदित्थ-आपकी बुद्धिगम्या व्याख्या के महतोमहीयान महत्त्वपूर्ण दिक्-देश-काल-नामक तीनों ही महान् अन्ध महान् तत्त्व सर्वथा काल्पनिक ही प्रमाणित हो रहे हैं जिनके आधार पर ही लोकचतुर प्राकृत बुद्धिमान् अपने लोककर्त्तव्य-व्यवस्थित करते हुए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं। जिनके आधार पर ही अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा इन कल्पित दिक्-देश-कालानुबन्धी भूतपदार्थों के माध्यम से इनके गर्भ में ही आत्मदर्शन के लिए आतुर बने रहते हुए दार्शनिक व्यामुग्ध हैं तो इन्हीं कल्पनाप्रसूनों के माध्यम का महान् विधिनिषेध करने वाले आज के भूतविज्ञानवादी अपने भातिसिद्ध क्षणिक विज्ञानवादों के गर्व में धरातल को विकम्पित करते आरहे हैं। ऐसे ही लोकचतुर बुद्धिमान् तत्त्वमीमांसक दार्शनिक, तथा तत्त्वविश्लेषक

में एक नवीन भ्रान्ति । भूतों के पर्व-पर्व के विश्लेषण का प्रचण्ड-प्रयास केवल तत्त्वमीमांसा के द्वारा अपने यौगिक जगत् में ही । इस व्यर्थ प्रयास के अनन्तर उपलब्ध होने वाला शून्यभाव समनुप्राणिता उपपत्ति, और इसी उपपत्ति का नाम होगया 'आत्मशान्ति' ।

१३५–मोहासक्त आतुर–बालक की निराशा-पूर्णा स्वस्थता, एवं तत्समतुलिता दार्शनिक की विश्वसौन्दर्य्यकम्पिता अभावात्मिका–शून्य–शून्य–लक्षणा अध्यासवादिता—

जैसे अभिलषित–ऐन्द्रियक–पदार्थों को ढूँढने में व्यस्त एक बालक इतस्ततः अनुधावन करता हुआ मिलने की आशा से कभी हँसता है न मिलने की दुराशा से कभी रोता है । यों हँसता-रोता-हुआ अन्ततोगत्वा इन संघर्षों से साथ ही निष्ठाशून्य भावुक अभिभावकों के द्वारा उपलब्ध–भर्त्सन–ताड़नादि–आक्रमणों से थक कर निस्तब्ध–जड़वत्–शून्यवत् बन जाता है, तो उस दशा में बालक भी सम्भवतः यही मान लेता होगा कि उसे अब ऐन्द्रियक शान्ति मिल गई । साथ ही अभिभावक तो यह मान ही लेते हैं कि अब इस की इच्छा शान्त हो गई अब यह ज्ञानवान् बन गया समझदार सयाना बन गया' । ठीक यही स्थिति उस दार्शनिक-शिरोमणि की होजाती है जो भूतों को तो मान बैठता है आरम्भ से ही मलीमस अवकल्क । अतएव ढूँढने लग पड़ता है इनके भीतर छिपे हुए किसी, वैसे सूक्ष्म तत्त्व को, जिस से इसे त्रिविध दुःखों से सदा के लिए छुटकारा ही मिल जाय । दुःखनिवृत्तिरूप 'अभाव' ही लक्ष्य बनता है इस दार्शनिक का । आनन्द शान्ति–समृद्धि–ऐश्वर्य्य–आदि लक्षण सत्यं शिवं सुन्दरं-रूप विश्ववैभव इसके लक्ष्य नहीं हैं । अपितु इसका लक्ष्य है–दुःखाभाव । दुःख का अभाव हो जाता है, अथवा नहीं ?, यह तो नहीं कहा जासकता । हाँ 'अभाव' यदि कोई पदार्थ है तो वह अवश्य ही मिल जाता है–इसे । भूतों की उपेक्षा से सम्पूर्ण भावुक–अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणात्मक–प्रतीक–धर्म्मों से तो यह आरम्भ में ही वञ्चित होजाता है–भूतों के भीतर छिपे हुए किसी अलौकिक–सूक्ष्म–तत्त्व के प्रलोभन में । विश्लेषणात्मानुबन्धिनी भूतोपभ्रान्ति है भूतों के गर्भ में तो यह इसे नहीं ही मिलता । भूतसौन्दर्य्य और खो बैठता है इस अपने ही कल्पित अध्यास–व्यामोहन में । परिणाम में इस के लिए पारिशेष्यात् शेष रह जाता है–शून्य–शून्यम्–ही ।

१३६–सर्वशून्यात्मक–अहङ्काराभाव–कल्पित–'निर्वाणपद', तन्मूलक–कल्पित 'मोक्ष', तदभिग्रह से राष्ट्रीया श्री-समृद्धि की आत्यन्तिक अन्तर्म्मुखता, एवं तदनुगत शून्यवादात्मक पुरुषार्थ ?—

इसी शान्तिधारूपा–अज्ञानमायापरा–सर्वशून्यता का नाम रख लेता है यह अपने अन्तिम महान्–व्यामोहन से–'निर्वाणपद' । यही इसके मोक्ष का समस्त इतिवृत्त है । दार्शनिक की शून्यभावात्मिका इसी मोक्षपरम्पराने आचारनिष्ठ भारतराष्ट्र के समस्त भौतिक–सौन्दर्य्य को सर्वात्मना श्रीविहीन ही तो प्रमाणित कर दिया है । इसी दार्शनिकवाद से शून्यवादात्मक यह अनाश्वास आविर्भूत हो पाया है, जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप ही आचारनिष्ठाशून्या–कल्पित–सत्य–अहिंसा–मानवता–पञ्चशील–समता–आदि आदि परम्पराओं से मुग्धमूढ भी भारतराष्ट्र विगत २–३–सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर शून्य–शून्य–दलित–पतित–दुःखी–दुःख–का ही पर्यावलोकन करता आरहा है, और मानता चला आरहा है इसी शून्यवाद को मानव का महान् पुरुषार्थ । उस

क्योंकि आप जिस देश, जिस प्रदेश का स्पर्श कर रहे हैं उस से सर्वथा पृथक् वस्तुतत्व है सत्तासिद्ध देशप्रदेश, जैसाकि प्रथमखण्डगतद्वयी के पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है । जिसे आप छूकर देश बतलाते हैं, वह 'छूना' पृथक् है, एवं बतलाना पृथक् है। छूते हैं आप सत्तासिद्ध देशप्रदेश को, एवं बतलाते हैं आप देखे हुए देश-प्रदेश को। दृष्टि का विषयभूत देशप्रदेश आप के मानस-काल्पनिक-जगत् के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व में कहीं भी तो नहीं है । अन्यो हि स्पृश्यभावः अन्यो हि दृश्यभावः । आपकी दार्शनिकता तो दृष्टिमूला है । आप तो प्रत्यक्षप्रामाण्यवादी हैं । अतएव आप तो जिसे स्पर्श करते हैं उसे भी मानते हैं । आप जिस देश-प्रदेश-को चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा देखते हैं, वह तो आप की कल्पना से ही प्रसूत अतएव आप के मानसजगत् में ही विद्यमान भातिसिद्ध यह काल्पनिक देशप्रदेश ही है, जिस का भी काल्पनिक दिग्भाव की भांति कोई सत्तासिद्ध भातिक-परीक्षण आप कदापि नहीं कर सकते । फिर बतलाइए ! आपके कल्पित देश प्रदेश के प्रत्यक्षात्मकमूलक प्रामाण्यवाद का क्या महत्त्व रहा ?।

१४१-भातिसिद्ध-गणनात्मक-काल की स्वरूप-व्याख्या से पराङ्मुखा दार्शनिक-प्रज्ञा—

ठीक यही स्थिति गणना-संख्या-क्रमभावात्मक-सम्ख्यासिद्ध अतएव भातिसिद्ध काल की है । निरपेक्ष एकत्व को छोड़कर सापेक्ष एक संख्या से आरम्भ कर परार्धपराध्र्यरूपा जितनी भी संख्याएँ (गणनाएँ) हैं वे सब केवल आपकी कल्पना के काल्पनिक प्रसूनमात्र ही हैं। मूलभूता एकत्वसंख्या का वैज्ञानिक भाव ही दो-तीन चार आदि संख्यानन्त्य है । सर्वत्र- प्रथमेक-प्रथम ०. इत्यादि रूपेण एकत्व का ही साम्राज्य है- सर्वं वा इदं वि वभूव सर्वम् । अपिच जिन प्रदेश-देश-भावों के माध्यम से आप कलनात्मक-सम्ख्यासिद्ध-काल का परिगणन करते हैं वे देशप्रदेश ही जब पूर्वकथनानुसार कल्पित हैं तो फिर उनआधार पर ही व्यवस्थित क्रमसिद्ध गणनसिद्ध-काल का क्या महत्त्व शेष रह जाता है ?। मान लेते हैं आप जिसे 'काल' कहते हैं वह कोई तत्त्व होगा । किन्तु स्वरूप-व्याख्या तो कीजिए आप अपने इस मान-जान और पहिचाने हुए काल की ? । करसकेंगे क्या आप इसकी स्वरूप-व्याख्या ?। असम्भव । जिसप्रकार पूरत्व-अपरत्व-गुरुत्व-आकुञ्चनत्व-प्रसारणत्व-आरम्भ-विसर्जन-व्यवधान-यौगपद्य-यौगपद्य-आदि आदि कल्पना-प्रसूत असम्बन्ध-सापेक्ष-भावों की कोई सत्तासिद्धा स्वरूप-व्याख्या सम्भव ही नहीं है इनकी भातिसिद्धता के कारण, तथैव इस भातिसिद्ध, अतएव सर्वथा काल्पनिक गणनाक्रमात्मक काल की भी आप कोई स्वरूप-व्याख्या नहीं ही कर सकेंगे ।

१४२-दिग्देशकालक्रमव्यवस्थानुगत बुद्धिवाद की काल्पनिकता का नग्नचित्रण, एवं बुद्धिमान् दार्शनिक के कल्पनाप्रसून—

तात्पर्य-आपकी बुद्धिगम्या व्याख्या के महतोमहीयान् महत्त्वपूर्ण दिक्-देश-काल-नामक तीनों ही महान् अस्य महान् सब सर्वथा काल्पनिक ही प्रमाणित हो रहे हैं जिनके आधार पर ही लोकचतुर प्राकृत बुद्धिमान् अपने लोककर्त्तव्य-व्यवस्थित करते हुए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं । जिनके आधार पर ही अपनी बुद्धिगम्य व्याख्या के द्वारा इन कल्पित दिक्-देश-कालानुबन्धी भूतपदार्थों के माध्यम से इनके गर्भ में ही आत्मदर्शन के लिए आतुर बने रहते हुए दार्शनिक व्यामुग्ध हैं तो इन्हीं कल्पनाप्रसूनों के माध्यम का महान् विस्मयजनक करने वाले आज के भूतविज्ञानवादी अपने भातिसिद्ध क्षणिक विज्ञानवादों के गर्व में भयावह को विजृम्भित करते जारहे हैं । ऐसे ही लोकचतुर बुद्धिमान् तत्त्वमीमांसक दार्शनिक, तथा तत्त्वविश्लेषक

सम्पूर्ण शक्ति समर्पित करदी । बाहिर के पट इस दृढ़ता से बन्द होगए कि, आक्रमणकारी आक्रान्ताओंनें जब इन के इन बन्द द्वारपटों को तोड़–फोड़ डाला, तब इन के भीतर के पटों को भी धूलिधूसरित कर डाला है, क्योंकि दुःखों का बोध ही न हो सका इन सन्तों को । ये विचरते रहे अपने किसी अलौकिक तत्त्व के प्राङ्गण में, और इन की इस विचरणप्रवृत्ति का लाभ उठाते रहे आक्रान्ता । ऐसा ही तो आज भी कुछ घटित विघटित हो रहा है । यह अपनी उसी कल्पित आचारशून्या–धर्मकर्मपथानुगता आध्यात्मिकता के काल्पनिक घोष में निमग्न है जो इस की इस कल्पित मानवता–अहिंसा–दया–करुणा–मूला भावुकता से लाभ उठा कर आक्रान्ता कूटनैतिक मैत्री के छल से इस का सर्वस्व निगरण करते जारहे हैं । आलोचक कहते हैं-हमारा वर्तमान स्वातन्त्र्य धर्मनिरपेक्ष बन कर बड़ी भूल कर रहा है । हम कहते हैं यह स्वातन्त्र्य की भूल नहीं है । अपितु ये तो उस दार्शनिकता के महान् प्रसून हैं जिनका जन्म आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही हो चुका था एवं जो विगत युगानुगता वस्तुपरम्पराओं से उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित ही होते जारहे हैं । आचारसिद्ध धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया धर्मनिरपेक्षात्मिका दार्शनिकता ने तत्परिणामस्वरूप प्रवृत्त हो पड़ा शून्यवाद, इस शून्यवाद से जन्म ले पड़ी अन्तःस्थविमोहा [illegible] और यों अभ्युदय–निःश्रेयसकर धर्म का आचारपक्ष सर्वथा ही अभिभूत होगया इन [illegible] से जैसाकि द्वितीय खण्ड में विस्तार से निवेदन किया जाचुका है । इन्हीं सब आवरणों से सन्त्रस्त हमारे स्वातन्त्र्य ने धर्मनिरपेक्षता की घोषणा कर डाली, और तत्स्थान में उपलब्ध एकमात्र विलक्षण प्रतीच्य शैली की भौतिक–जीवनपद्धति ही इस का आदर्श बन गई । भी आज तो अभी कुछ… आलस्यालमेव ।

१३६–गोचरभावाभिनिविष्ट दार्शनिकों की काल्पनिकी दिग्देशकालत्रयी, एवं काल्पनिक 'काल' के सम्बन्ध में बुद्धिवादी दार्शनिक से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न—

जिस अनन्ताव्ययलक्षण निर्विशेष ब्रह्म के साथ सापेक्ष–दिक्कालदेशभावों का स्वाभाविक सम्बन्ध भी नहीं है उसी की भूगर्भ में गोचरभाव से देखने–समझने के लिए आतुर बन जाने वाली दार्शनिक–दृष्टि के अनुग्रह से ही व्यवच्छिन्न दिक्–देश–काल–त्रयी का काल्पनिक आविर्भाव हो पड़ा है जिस [illegible] तथ्य का समन्वय बुद्धिवादी प्राकृत मानव तो कदापि नहीं करसकेगा । ऐसे बुद्धिवादी से प्रश्नभावपूर्वक क्या यह प्रश्न नहीं किया जासकेगा कि, जिसे यह पूर्व–पश्चिम–उत्तर–दक्षिण–आदि दिशाएँ कहता–मानता चला आरहा है क्या भौतिक–वस्तुसिद्ध पदार्थों की भांति यह इन दिशाओं की स्वरूप–व्याख्या कर सकेगा ?। क्या यह बतला सकेगा कि 'दिक्' नामक पदार्थ का यह रूप है यह कर्म है ?। और अमुक स्थानविशेष में अमुक नामरूप–गुणकर्म से यह दिग्भाव प्रतिष्ठित है ?। भौतिक द्रव्यों–पदार्थों की भांति क्या आप इस अपने दैशिक, अतएव सर्वथा काल्पनिक दिग्भाव पर कोई परीक्षण कर लेंगे ?। ये ही वे कतिपय प्रश्न हैं जो उनके सापेक्ष दिग्भाव की तथ्यशून्यता एवं भ्रान्तिरूपता अतएव काल्पनिकता व्यक्त कर रहे हैं ।

१४०–काल्पनिक कालानुगत काल्पनिक दिक्–देश–भावों के सम्बन्ध में दार्शनिक से प्रश्न—

यही स्थिति ऐसे काल्पनिक दिग्भाव से समन्वित काल्पनिक–प्रदेशात्मक देशभाव की है । जिसे आप [illegible] 'देश' किंवा प्रदेश कहते हैं वह तो आप के दर्शन का ही विषय नहीं बनसकता ।

अत्र गुणनिधिश्रमणस्य दृष्टान्त —

तथाहि–धर्मसिंहाचार्यस्य गुणनिधिनामकः सुधी' शिष्य' प्रकृतिभद्र प्रकृतिविनीत प्रतिदिवस गुरुनिकटवासी गुरुवचनानुकूलकार्यकारी गुरुमनोवृत्त्यनुसारी गुरुविचारश्रेणिमरणिसचरणशील' प्रकृतिसरल' सुशील आसीत्। यदा गुरुरागच्छति तदाऽऽसनादुत्थाय तस्मै सविनयमासनं प्रयच्छति, यदा गच्छति तदाऽऽसनमुपादाय तदुपवेशनस्थाने विस्तारयति, गुरोराज्ञा कदा कीदृशी भविष्यतीत्येव प्रतिक्षण प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति। यस्मिन् यस्मिन् ऋतौ यद् यद् गुरुप्रकृत्यनुकूलमशनादिक, तत्तत् समानीय गुरवे समर्पयति। गुरुर्हि जननीजनकाभ्यामप्यधिकः, तत्र कारण-जन्मदाता जन्मनि जन्मनि भवति, मुक्तिदाता गुरुस्तु दुर्लभः

इस पर गुणनिधिश्रमण का दृष्टान्त कहते हैं—

धर्मसिंह आचार्य का गुणनिधि नामका एक शिष्य था। वह सुबुद्धि एव प्रकृतिभद्र था। विनीत था। गुरु महाराज के पास बैठना उनके वचन के अनुसार चलना, उनकी मनोवृत्ति के अनुकूल काम करना, इत्यादि समस्त सद्गुणों से युक्त था। बडा ही सुशील था। जब गुरु महाराज पधारते तब आसन से उठ कर वह उनके लिये विनयपूर्वक आसन देता, तथा जब गुरु महाराज वहाँ से उठ कर जाते तब वह आसन लेकर उनके पीछे २ चलता और जहाँ गुरु महाराज बैठना चाहते वहाँ आसन बिछा देता। गुरु महाराज की आज्ञा कब कैसी होगी, इसकी प्रतिक्षण प्रतीक्षा करता था। जिस २ ऋतु में जो जो आहार पानी आदि गुरुमहाराज के प्रकृति के अनुकूल होता उस उस ऋतु में वही वही पदार्थ लाकर गुरु महाराज को अर्पण करता। गुरु ने जो कुछ कहा वही

આ અગે ગુણુનિધિ શ્રમણુનુ દષ્ટાત કહે છે—

ધર્મસિંહ આચાર્યને ગુણુનિધિ નામનો એક શિષ્ય હતો. તે સુબુદ્ધિ વાળો અને પ્રકૃતિભદ્ર હતો વિનીત હતો ગુરૂ મહારાજ પાસે બેસવું, તેમના વચન અનુસાર ચાલવું, તેમની મનોવૃત્તિ અનુકૂળ કામ કરવું ઇત્યાદિ સમસ્ત સદ્ગુણોથી યુક્ત હતો ઘણો સુશીલ હતો જ્યારે ગુરૂમહારાજ પધારે ત્યારે આસનથી ઉઠીને તે તેમને માટે વિનયપૂર્વક આસન આપતો, તથા જ્યારે ગુરૂ મહારાજ ત્યાથી ઉઠીને જતા ત્યારે તે આસન લઇને તેમની પાછળ પાછળ જતો અને જ્યા ગુરૂ મહારાજ બેસવા ઇચ્છે ત્યા આસન બીછાવી (પાથરી) દેતો. ગુરૂ મહારાજની આજ્ઞા ક્યારે કેવી હશે, તેની પ્રતિક્ષણ પ્રતીક્ષા કરતો હતો જે જે ૠતુમા જે જે આહાર પાણી આદિ ગુરૂ મહારાજની પ્રકૃતિને અનુકૂળ હોય તે તે ૠતુમા તે તે પદાર્થ લાવીને ગુરૂ મહારાજને

सम्पूर्ण शक्ति समर्पित करदी। मन्दिर के पट इस दृढ़ता से बन्द होगए कि, आततायी आक्रान्ताओंने जब इन के इन बाह्य द्वारपटों को तोड़–फोड़ डाला, तब इन के भीतर के पटों को भी धूलिधूसरित कर डाला ?, इत्यादि दुःखों का बोध ही न हो सका इन सन्तों को। ये विचरते रहे अपने किसी अलौकिक तत्त्व के प्रांगण में और इन की इस विचरणावृत्ति का लाभ उठाते रहे आक्रान्ता। वैसा सा ही तो आज भी कुछ परिस्थिति विघटित हो रहा है। यह अपनी उसी कल्पिता आचारशून्या–धर्म्मपक्षतानुगता आध्यात्मिकता के काल्पनिक घोष में निमग्न है तो इस की इस कल्पित मानवता–अहिंसा–दया–करुणा–मूला भावुकता से लाभ उठा कर आक्रान्ता कूटनैष्ठिक मैत्री के छल से इस का सर्वस्व निगरण करते जारहे हैं। आलोचक कहते हैं–हमारा वर्त्तमान स्वातन्त्र्य धर्म्मनिरपेक्ष बन कर यही भूल कर रहा है। हम कहते हैं यह स्वातन्त्र्य की भूल नहीं है। अपितु ये तो उस दार्शनिकता के महान् प्रसून हैं जिनका जन्म आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही हो चुका था एवं जो विगत युगानुगता सन्तपरम्पराओं से उत्तरोत्तर पुष्पित–पल्लवित ही होते जारहे हैं। आचारनिष्ठ धर्म्म का स्थान ग्रहण कर लिया जगन्मिथ्यात्वमूला दार्शनिकता ने जिसपरिणामस्वरूप प्रवृत्त हो पड़ा शून्यवाद। इस शून्यवाद से जन्म ले पड़ी अन्धपदविमोघा सन्तपरम्परा और यों अभ्युदय–निःश्रेयसकर धर्म्म का आचारपक्ष सर्वथा ही अभिभूत होगया इन मतपरम्पराओं से जैसाकि द्वितीय खण्ड में विस्तार से निवेदन किया जाचुका है। इन्हीं सब आडम्बरों से सन्त्रस्त हमारे स्वातन्त्र्य ने धर्मनिरपेक्षता की घोषणा कर डाली और तत्स्थान में उपलब्ध एकमात्र विकल्प प्रतीच्य देशों की भौतिक–जीवनपद्धति ही इस का आदर्श बन गई। यों आज तो सभी कुछ... आत्मन्यात्मनेव।

१३९–गोचरभावाभिनिविष्ट दार्शनिकों की काल्पनिकी दिग्देशकालत्रयी, एवं काल्पनिक 'काल' के सम्बन्ध में बुद्धिवादी दार्शनिक से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न—

जिस अनन्ताव्ययरूप निर्विशेष ब्रह्म के साथ सापेक्ष–दिक्कालदेशभावों का स्वाभाविक सम्पर्क भी नहीं है उसी को मूलगर्भ में गोचरभाव से देखने–समझने के लिए आतुर बन जाने वाली गायनिक–दृष्टि के अनुग्रह से ही भावसिद्ध दिक्–देश–काल–त्रयी का काल्पनिक आविर्भाव हो पड़ा है जिस इस तथ्य का समन्वय बुद्धिवादी प्राकृत मानव तो कदापि नहीं करसकेगा। ऐसे बुद्धिवादी से सम्मानपूर्वक क्या यह प्रश्न नहीं किया जासकेगा कि, जिन्हे वह पूर्व–पश्चिम–उत्तर–दक्षिण–आदि दिशाएँ कहता–मानता चला आरहा है क्या भौतिक–वस्तुसिद्ध पदार्थों की भांति वह इन दिशाओं की स्वरूप–व्याख्या कर सकेगा ?। क्या यह बतला सकेगा कि 'दिक्' नामक पदार्थ का यह रूप है यह कर्म है ?, और अमुक स्थानविशेष में अमुक नामरूप–गुणकर्म से यह दिग्भाव प्रतिष्ठित है ?। भौतिक द्रव्यों–पदार्थों की भांति क्या आप इस अपने बौद्धिक, अतएव सर्वथा काल्पनिक दिग्भाव पर कोई परीक्षण कर लेंगे ?। ये ही वे कतिपय प्रश्न हैं जो उनके आपेक्ष दिग्भाव की स्वभावस्थता एवं भाविकता अतएव काल्पनिकता व्यक्त कर रहे हैं।

१४०–काल्पनिक कालानुगत काल्पनिक दिक्–देश–भावों के सम्बन्ध में दार्शनिक से प्रश्न—

यही स्थिति इस काल्पनिक दिग्भाव से समन्वित काल्पनिक–प्रदेशात्मक देशभाव की है। जिसे आप भज_लि स द् कर 'देश' किया प्रदेश करते हैं वह तो आप के दर्शन का भी विषय नहीं बनसकता।

१४३–काल्पनिक–भातिसिद्ध–'दिग्देशकाल' की सत्तासिद्धता का व्यामोहन, सत्तासिद्ध 'कालदिग्देश' की भातिसिद्धता का आवेश, एवं दार्शनिक की भूताश्चर्य्यमयी प्रज्ञा—

कैसा आश्चर्य ! यों मानव ने, प्राकृत मानव ने भूतासक्त मानव ने अपने कल्पित दिग्देशकाल से अनुप्राणित भागवित्रम्मण को तो मान लिया है सत्तासिद्ध एवं जिसकी सत्ता से सत्ता के एक प्रत्यक्षतम से ये भातिसिद्ध भूत अपनी भ्रान्ति का जीवित रख रहे हैं, वह बन गया है इन बुद्धिवादियों के लिए भातिसिद्ध । यों आत्मनिष्ठ जिसे दिन कह रहे हैं, उसे ये लोकमुग्ध प्राकृत जन रात्रि मानते हैं । एवं आत्मनिष्ठों की दृष्टि में जो रात्रि है वह दिन बना हुआ है इनकी दृष्टि में जैसे कि अन्य प्राणियों का दिन उलूक के लिए रात्रि तथा अन्य प्राणियों की रात्रि इन उलूकों के लिए दिन बना रहता है । सत्तामय ज्योतिर्मय को 'तम' मान बैठना एवं भातिरूप तम को ज्योति कहने लग पड़ना यही तो आत्मनिष्ठ लोकातीत मानव की दृष्टि में तथा लोकव्यासक्त लौकिक मानव की दृष्टि में वह महान् अन्तर है जिसका भगवान् ने इन शब्दों में अभिनय किया है—

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
> यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
>
> —गीता

१४४–'विकृति' (क्षर) की 'प्रकृतिवादिता', प्रकृति (अक्षर) की पुरुषवादिता', एवं तन्मूला भ्रान्ति, और दार्शनिक का व्यामोहन—

विकृति को प्रकृति मान बैठना एवं प्रकृति को पुरुष मान बैठना ही दार्शनिक–व्यामोहन का मूल कारण बना है । दिक्–देश–कालात्मिका–बुद्धिगम्या व्याख्या से इन्हें जो कुछ प्रतीत हुआ उसे ही इन्होंने 'प्रकृति' मान लिया इसी का नाम रख लिया इन्होंने 'प्राकृतजगत्' । इसे आधार बना कर इन्होंने उसी दिग्देशकाल के माध्यम से तत्त्वमीमांसा का उपक्रम कर डाला । अवश्य ही इस मीमांसा से इन प्राकृत–भूतों के क्रम में इन्हें सूक्ष्मभाव की उपलब्धि भी हुई । किन्तु जिसकी यह उपलब्धि हुई वह भी प्रकृति से अतिरिक्त और कुछ भी न निकला । जिस उपलब्धि को यह अन्तर्यामी–प्रजापति–भूतात्मा–भूतभावन–कहने लगे वह सिवाय प्रकृति के और कुछ भी तो नहीं है । यदि आरम्भ में ही अपनी मान्या प्रकृति के विकृतित्व का ये मर्म लक्ष्य कर लेते तो कदापि अनन्तर उपलब्ध हो पड़ने वाली प्रकृति को ही ये पुरुष मान बैठने की भ्रान्ति न कर बैठते । अतएव कहना और मानना पड़ेगा कि– विकृति को प्रकृति मान बैठना एवं प्रकृति को पुरुष मान बैठना ही दार्शनिक–भ्रान्ति का अन्यतम कारण बना है" ।

१४५–दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रज्ञासमाप्ति का काल्पनिक केन्द्र आत्मानुगत काल्पनिक चैतन्यवाद, एवं तदनुगता प्राकृत दृष्टि के अनुग्रह से नास्तिकदर्शन का आविर्भाव—

प्रकृति कारण है यही परात्परस्य अमूर्त अनन्त कारण है जो चेतना–लक्षणा है । एवं विकृति कार्य्य है यही अक्षर–क्षर–रूप मूर्त–सादिसान्त काल है जिसकी अभिव्यक्ति का ही नाम दिग्देश है और

वैज्ञानिक बड़े ही दम्भ से यह उद्घोष करते रहते हैं अपने अपने मन्तव्यों की अभिव्यक्तियों में कि,—*
"जो दिग्देशकाल–व्यवस्थाओं से अनुप्राणित होगा, जो क्रम व्यवस्था–सम्मत–होगा, अतएव जो बुद्धिगम्य होगा (क्रिया बुद्धियात्मक होगा) अतएव च जिस की क्रमबद्धा बुद्धिगम्या व्याख्या की जासकेगी उस प्रत्यक्षसिद्ध तत्त्व को ही हम मानेंगे उसी पर श्रद्धा करेंगे, उसी पर आस्था करेंगे। क्योंकि दिग्देशकालातीत–'आत्मब्रह्म' जैसा कोई तत्त्व दिग्देशकाल से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ बुद्धिगम्य नहीं है। अतएव उसे तो केवल 'कल्पना' ही कहा जायगा।

---

*—भारतीय दर्शनशास्त्र भी इसी अपेक्षावाद का पोषक बना हुआ है। अतएव भारतीय दर्शन भी धर्मानुगत आचारनिष्ठा से सर्वथा पराङ्मुख ही प्रमाणित है जैसा कि द्वितीय खण्ड में विस्तार से निरूपित है, जिसकी मार्क्सवाद–सन्दर्भ–स्मृति का संक्षिप्त इतिवृत्त सुरभारती (संस्कृत) के माध्यम से यों समन्वित हो रहा है कि– 'अगोचरस्य गोचरभावे दृष्टिरेव दर्शनम्। दर्शनदृष्ट्या बुद्धौ दिग्–देश–काल–भावाना सर्वेषामाविर्भाव कल्पनामाध्यमेन। तेषा प्रत्यक्षैकसत्यापनिषत्। मानवस्य स्वबुद्ध्यैर्व्याख्यैवास्य दार्शनिक–तत्त्वमीमांसा ज्ञान मीमांसा वा। तस्यैवास्य स्वरूपविमोहना–भ्रमकल्पनौदित्यव्याकृतत्वविमोहनस्य रहस्यमेव–कल्पनयैव दार्शनिकेरेषा कल्पनामयी–भाविष्कृता इति भारतीय मतानुसारेण मानवबुद्धेः–मानवेनैव। न यत्र मानवस्य कल्पनाबुद्धेः समावेशः, न तत्र मानवस्य मान्यता श्रद्धा वा आस्था वा। तार्किकाना–नैय्यायिकाना–ईश्वरसिद्धिव्यामोहेन वैशेषिकाना–विशेषानुगतित्व क्षणिकभूतविज्ञानवादिनाञ्च विज्ञानदम्भत्वं सर्वमपि दिग्देशकालभावैः–सर्वमेव कल्पनातीतत्वसममेवेति नास्त्यत्र सन्देहलेशावसरः इति नु सर्वेषामेवैषा दार्शनिकाना वैज्ञानिकानाञ्च स्वलक्षणं महत्त्वलक्षणमेव।

प्राचानिका–भाषिकास्तु–अत्र मानवबुद्धिमीमांसाया किंविदिव प्रत्यक्षाः–इति महत्त्वोमाम्य भारतवर्षस्य। नात्र चतुर्विंशतिसिद्धव्यामिश्राया तत्त्वगणनाया दिग्देशकालभावाना परिगणनम्। अतएव सांख्ययोगात्मक भगवता वासुदेवेन–'यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं–तद्योगैरपि गम्यते' इत्येवरूपेण प्राचानिकाना–सांख्ययोग–समन्विता। प्रकृतेः परः पुरुषः सांख्यमते। सोऽत्र पुरुषोऽत्र अक्षरगत्या अक्षरपुरुष एव। स तु परप्रकृतिरेषा–क्षरपुरुषस्येति सांख्याभिमतः–पञ्चविंश पुरुषोऽपि प्रकृतिरेव। तथा च–पुरुषख्यापि तु सांख्यदर्शनस्यापि स्वज्ञानमेव। इन्द्रियगोचरभावो हि दर्शनम्। सर्वमपि प्राकृतविकारमिन्द्रियगोचरमेव। सर्वेऽपि दार्शनिकाः–प्रकृतितत्त्वविमर्शपरा एवेति नात्र दर्शनेषु–अनन्तात्मस्वरूपसमीक्षाभिः। तथ्यमपीव ज्ञानं, व्यस्यात सिद्ध ज्ञानमेव सांख्यम्। तत् प्राकृतिकमेव संख्यासापेक्षत्वात्। तथा च यद्यपि दिग्देशकालादिभावा मानवबुद्धिसापेक्षा व्याख्या नात्र सांख्ये। तथापि–इन्द्रियगोचरत्वात्–स्वज्ञानमेवास्यापि दर्शनस्य–दृश्यदर्शनत्वात्, इति सर्वाणि दर्शनानि दर्शनान्येव। तस्माच्च कर्मसंन्यासात्–कर्मयोग एव विशिष्यते इत्याह भगवान् योगेश्वरः श्रीकृष्णः—

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'

—इति सर्वमेव सुस्थम्।

१४३-काल्पनिक-भातिसिद्ध-'दिग्देशकाल' की सत्तासिद्धता का व्यामोहन, सत्तासिद्ध 'कालदिग्देश' की भातिसिद्धता का आवेश, एवं दार्शनिक की भूतास्वार्थ्यमयी प्रज्ञा—

कैसा आश्चर्य ! यो मानव ने, प्राकृत मानव ने भूतात्मक मानव ने अपने कल्पित दिग्देशकाल से अनुप्राणित वाग्भिक्रम को ही मान लिया है सत्तासिद्ध एवं विशुद्ध सत्ता से सत्य के पक्ष प्रत्यक्षतम से जो भातिसिद्ध भूत अपनी भ्रान्ति को जीवित रख रहे हैं, वह बन गया है इन बुद्धिवादियों के लिए भातिसिद्ध। जो आत्मनिष्ठ जिसे दिन कह रहे हैं उसे ये लोकमुग्ध प्राकृत जन रात्रि मानते हैं। एवं आत्मनिष्ठों की दृष्टि में जो रात्रि है वह दिन बना हुआ है इनकी दृष्टि में, जैसे कि अन्य प्राणियों का दिन उलूक के लिए रात्रि, तथा अन्य प्राणियों की रात्रि इन उलूकों के लिए दिन बना रहता है। सत्तामय ज्योति को तम मान बैठना एवं भातिरूप तम को ज्योति कहने लग पड़ना, यही तो आत्मनिष्ठ लोकातीत मानव की दृष्टि में तथा लोकव्याप्त लोकाश्रित मानव की दृष्टि में वह महान् अन्तर है जिसका भगवान् ने इन शब्दों में अभिनय किया है—

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
> यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
>
> —गीता

१४४-'विकृति' (क्षर) की 'प्रकृतित्वादिता', प्रकृति (अक्षर) की 'पुरुषवादिता', एवं तन्मूला भ्रान्ति, और दार्शनिक का व्यामोहन—

विकृति को प्रकृति मान बैठना एवं प्रकृति को पुरुष मान बैठना ही दार्शनिक-व्यामोहन का मूल कारण बना है। दिक्-देश-कालात्मिका-बुद्धिगम्या व्याख्या से इन्हें जो कुछ प्रतीत हुआ उसे ही इन्होंने 'प्रकृति' मान लिया, इसी का नाम रख लिया इन्होंने प्राकृतजगत्। इसे आधार बना कर इन्होंने उसी दिग्देशकाल के माध्यम से तत्त्वमीमांसा का उपक्रम कर डाला। अवश्य ही इस मीमांसा से इन प्राकृत-भूतों के गर्भ में इन्हें सूक्ष्मभाव की उपलब्धि भी हुई। किन्तु जिसकी यह उपलब्धि हुई वह भी प्रकृति से अतिरिक्त और कुछ भी न निकला। जिस उपलब्धि को यह अन्तर्यामी-प्रजापति-भूतात्मा-भूतभावन-कहने लगे वह सिवाय प्रकृति के और कुछ भी तो नहीं है। यदि आरम्भ में ही अपनी मान्य प्रकृति के विकृतित्व का ये मन्तव्य कर लेवे तो कदापि अनन्तर उपलब्ध होने वाली प्रकृति को ही ये पुरुष मान बैठने की भ्रान्ति न कर बैठते। अतएव कहना और मानना पड़ेगा कि—"विकृति को प्रकृति मान बैठना एवं प्रकृति को पुरुष मान बैठना ही दार्शनिक-भ्रान्ति का अन्यतम कारण बना है"।

१४५-दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रज्ञासमाप्ति का काल्पनिक केन्द्र आत्मानुगत काल्पनिक चैतन्यवाद, एवं तदनुगता प्राकृत दृष्टि के अनुग्रह से नास्तिकदर्शन का आविर्भाव—

प्रकृति कारण है यही परमाक्षरस्वरूप अमृत अनन्त कारण है जो चेतना-लक्षणा है। एवं विकृति कार्य्य है यही अक्षर-क्षर-रूप मृत-आदिसान्त कार्य है जिसकी अभिव्यक्ति का ही नाम दिग्देश है और

जो जड़ है। बस, सम्पूर्ण दार्शनिक दृष्टि इन जड़–चेतन–प्राकृत–वैकृत–विवर्तों में ही परिसमाप्त है। जिसे दार्शनिक 'आत्मा' कहता है उसे वह चेतन मानता है। जिस चेतनतत्त्व को वह आत्मा का लक्षण करता है, उसे ही चेतनपुरुष कहता है और इसे ही ज्ञानवान् मानता है। एवं जड़त्व ही इसकी दृष्टि से प्रकृति का लक्षण है। जब कि वस्तुस्थिति सर्वथा कुछ और ही है। 'चेतन' और 'जड़' ये दोनों तो एक ही प्रकृति के पूर्व उत्तर-सञ्चर दो विभिन्न भाव हैं। प्रकृति का पूर्वरूप ही 'प्रकृति' है यही अक्षर है यही अमूर्त्तकाल है अविनाभाव चेतनकाल है, ज्ञानाभय काल है इसी का नाम है 'ज्ञानवान् आत्मा' जो प्राणीवर्ग में 'जीव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है*। यही दार्शनिकों का वह ज्ञानाधिकरण–ज्ञानाश्रय–'आत्मा' है जिसकी कृपा से ही लोकायतिकों का अनात्मवादात्मक–शून्यवाद आविर्भूत हो पड़ा है। सच पूँछा जाय, तो अनात्मभावात्मक–नास्तिकमत के आविर्भाव का प्रधान श्रेय भारतीय आस्तिक दर्शनों की इस चेतनलक्षणा–दृष्टि को ही समर्पित किया जा सकता है। अपने आपको आस्तिक कहने–कहलवाने वाले भारतीय दार्शनिकों की इत्थंभूता प्राकृत–दृष्टि ने ही लोकायतिकों को जन्म दिया है।

१४६–सत्तासिद्ध–आधिदैविक–आचारात्मक–अनन्तकाल के आश्रय से वञ्चित केवल अध्यात्म–अधिभूतासक्त–भातिसिद्धकाल व्यासक्त दार्शनिकों की कालस्वरूपानभिज्ञता, एवं तदनुगता जडमूलपरायणता—

उस चेतनप्रकृति (अनन्त–अमूर्त्त कालप्रकृति) का कार्यात्मक विवर्त ही विकृतिरूप है जड़भाव जिसे व्यक्त–घनात्मक–व्यक्त–मूर्त्तकाल कहा गया है और इसी का नाम है भातिसिद्धकाल जिसकी भातिसिद्धता उस प्रकृतिमूल–सत्तासिद्ध–चेतन–अमूर्त–काल पर ही अवलम्बित है जिससे विकृतिवादी प्राकृत मानव सर्वथा ही अपरिचित है। क्योंकि वह अनन्तकाल इसकी आदिशान्ता–जडमूलनिबन्धना–व्यक्त दिग्देशकाला-त्मिका बुद्धि में आ ही नहीं पाता। जब कि यह अव्यक्तप्रकृतिमूल अनन्तकाल का भी अनुमान नहीं लगा सकता तो ऐसी स्थिति में वह अनन्तकाल जिस अनन्त अव्ययकाल का एकदेशमात्र है उसकी तो यह कल्पना भी कैसे कर सकता है ?। अपनी सीमित दिग्देशकालमिता प्रज्ञा को जब नितान्त कुण्ठित होता देखकर यह उस ओर से विमुख ही बन जाता है। और इसी वैमुख्य से यह अपने बुद्धिवाद के द्वारा उत्तरोत्तर जड़ता का ही अर्जन–खण्डन–समर्थन–अनुमोदन–करने लग पड़ता है एवं सत्तासिद्ध कालाश्रय से वञ्चिता यह दिग्देशकाल दृष्टि ही मानव को मानव के लोकातीत अनन्त स्वरूप का बोध नहीं होने देती। इसकी इसी महती समस्या के निराकरण के लिए परम कारुणिक महर्षि ने कालत्रयी के द्वारा निरपेक्ष उस अनन्तकाल की प्रतीकविधि से इसके सम्मुख रखना है जिस कालदर्शन के माध्यम से अवश्य ही इसका अपना कल्पित दिग्देशकालव्या-मोहन उपशान्त हो जाता है सकता ही। एवं इस उपशान्ति के अनन्तर यह स्वतः ही कालानन्त्यप्रतीक्षा से अपनी अनन्त–प्रतीक्षा का समन्वय–बोध प्राप्त कर लेता है।

*—इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्। (गीता)।

१४७–निर्विशेषानन्त्य, सविशेषानन्त्य–मूलक शान्तानन्द–समृद्धानन्द, तदनुगत शान्ति–सुख, तदाधारभूत अभ्युदय–निःश्रेयस्–भावों का माङ्गलिक संस्मरण—

प्राकृत–मानव के उद्बोधन–प्रसङ्ग में दो प्रकार से आनन्त्य का समन्वय किया जायगा, जिन्हें क्रमशः निर्विशेषानन्त्य, तथा सविशेषानन्त्य, इन नामों से व्यवहृत किया जा सकेगा। अक्षरकालात्मक आनन्त्य ही प्राकृतिकानन्त्य कहा जायगा, जिस की दृष्टि से काल भी अनन्त है, दिक् भी अनन्त है, एवं देश भी अनन्त है, जिसके कि गर्भ में व्यक्तचरात्मक सादि–सान्त–बुद्धिगम्य दिक्–देश–काल प्रतिष्ठित हैं अणुवत्। यही प्राकृतिकानन्त्य सविशेषानन्त्य है। कालातीत (अन्वाचरकाल से भी अतीत) अव्ययपुरुषानन्त्य को ही 'पारुषानन्त्य' कहा जायगा, जिसके प्रकाश में प्राकृतिकानन्त्य–(अक्षरानन्त्य) प्रतिष्ठित है अणुवत्। यही पौरुषानन्त्य निर्विशेषानन्त्य है। निर्विशेषानन्त्य का नाम शान्ति है, एवं सविशेषानन्त्य का नाम सुख है। शान्ति का अर्थ है–'शान्तानन्द' एवं सुख का अर्थ है–'समृद्धानन्द'। शान्तानन्द का ही पारिभाषिक नाम है–'निःश्रेयस्' एवं समृद्धानन्द का ही पारिभाषिक नाम है–'अभ्युदय'।

१४८–धर्म्ममूलक 'भूमासुख' की स्वरूप–परिभाषा, एवं तत्सम्बन्धी दुःख—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः–स धर्म्मः' के अनुसार धर्म्म ही अभ्युदयरूप समृद्धानन्द का कारण है एवं धर्म्म ही निःश्रेयस रूप 'शान्तानन्द' का कारण है। प्रतीकात्मक–आचारात्मक–'आचरणधर्म्म' से ही अभ्युदय की प्राप्ति होती है एवं अप्राकृत–शाश्वत–धर्म्मात्मक अनुशीलनधर्म्म से ही निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है। प्राकृत मानव को बुद्धिगम्य–व्याख्यावशवर्त्ती लौकिक–मानव को भी यह तो मान ही लेना पड़ता है कि 'मानव का एकमात्र लक्ष्य सुख की प्राप्ति ही है'। इस सुखप्राप्ति के लिए ही इस के लौकिक–दार्शनिक–वैज्ञानिक–आदि–आदि सम्पूर्ण प्राकृतिक विज्ञम्भण प्रक्रान्त रहते हैं। सुखैषणा–सुखकामना ही इन सब प्रक्रान्तियों का एकमात्र मूलाधार है। सुख की परिभाषा है–'भूमा'। 'यो वै भूमा–तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमानमिच्छुपास्व' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार अल्पता का नाम ही दुःख है एवं भूमा का नाम ही सुख है।

१४९–अनुकूल–प्रतिकूल–वेदनात्मक सुख–दुःख–द्वन्द्व, सुख–दुःख–शब्दों का निर्वचन, एवं तदनुगत आत्यन्त का दुःखी मानव—

विकृतिभावानुगत दिग्देशकालानुबन्धी सभी परिणाम अपने भातिसिद्धभाव से सर्वथा अल्प बन हुए हैं। अतएव इन की आस्था–मान्यता से तो मानव को–'अनुकूलवेदना' का उपलम्भ हो सकती है जिस का नाम ही इसने अपनी प्रतारणा के लिए 'सुख' रख लिया है। ऐन्द्रिक–परितृप्ति ही 'सुख' का सुतत्त्व है। विकृतिभावों से इन्द्रियों की क्षणमात्र तो तात्कालिकरूप से शान्त होसकती है। किन्तु कदापि बिना प्राकृतिक आधार के आचारधर्म्म के इन इन्द्रियों की इन 'ख' भावों की 'सु' रूपा परिपूर्णता सम्भव ही नहीं है। अतएव ऐसे अनुकूलवेदनात्मक–सुखाभासरूप तात्कालिक–वैकारिक–सुख से तो मानव अपने 'ख' विवरों (इन्द्रिय–विवरों) की पूर्त्ता बना होने में असमर्थ प्रमाणित होता हुआ आत्यन्त का दुःखी ही बना रहता है।

१५०–प्राकृतात्ममूलक–धर्म्मतत्त्वात्मक–प्राकृत–सनातनधर्म्म, एवं तन्मूलक सनातन–प्राकृत–सुख—

उक्त लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए तो इसे प्राकृतानन्त्य की ही शरण में आना पड़ेगा। नहीं इसे 'अभ्युदय' नामक परिपूर्ण–लौकिकसुख प्रदान कर सकेगा जिसे लौकिक–वैज्ञानिक–मानवों की भाँति दार्शनिक मानवने भी सूक्ष्मान्वेषण के व्यामोहन से विस्मृत ही कर दिया है। जिस उपाय से यह प्राकृतानन्त्य प्राप्त होता है, उसी का नाम है प्राकृत–आचारधर्म्म, जिसे कि 'प्रतीकधर्म्म' माना गया है जो कि प्राकृत प्रजापति (अक्षरप्रजापति) के द्वारा ही सृष्ट है (देखिए। शतपथ १४।४।२।२४।) जो कि अनन्तात्मा की महिमा में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'सनातनधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है।

१५१–पुरुषार्थरूप–अप्राकृत–शाश्वतधर्म्म, तन्मूला निर्विशेषानन्तता, एवं तद्द्वारा कल्पित–भ्रान्तियों का मूलोच्छेद—

दूसरा है मानव का पुरुषार्थरूप निर्विशेषानन्त्यरूप निःश्रेयसभाव। अभ्युदय नामक स्मूलानन्द (सुख) मानव का 'प्रकृत्यर्थ' माना गया है एवं तत्साधक धर्म्म प्राकृतधर्म्म कहलाया है जबकि निःश्रेयस का साधक अनुशीलनात्मक अप्राकृत धर्म्म ही 'पुरुषार्थ' कहलाया है। यह धर्म्म सदा है यदि नहीं है जिस के गर्भ में सदा–प्रतीकधर्म्म प्रतिष्ठित है। अव्ययपुरुष ही इस की स्वरूप–परिभाषा है। अतएव यह–'शाश्वतधर्म्म'* नाम से प्रसिद्ध हुआ है जिस इस शाश्वत–सदा–धर्म्म के आधार पर ही प्राकृत–सनातनधर्म्म प्रतिष्ठित है। प्राकृत सनातनधर्म का स्वरूप सगुणात्मक है एवं अप्राकृत शाश्वतधर्म्म अलक्षण है। देश–काल–पात्र–द्रव्य–श्रद्धा–आदि के समन्वय–तारतम्य से तद्रूप प्राकृत सनातनधर्म्म का स्वरूप प्रकृत्यनुसार व्यवस्थित है जबकि इन सब समन्वयों से अतीत अप्राकृत शाश्वतधर्म्म अपने आप में ही व्यवस्थित है। सम्भवतः सम्प्राप्त–'प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा' नामक संकल्पित अग्रिम खण्ड में इन दोनों ही धर्म्मों के सम्बन्ध में विशेष निवेदन किया जाएगा। अतएव इस प्रसङ्ग को यहीं उपरत कर प्रकृत में यही निवेदन कर देना है कि, निर्विशेषानन्त्य तथा सविशेषानन्त्य इन दो आनन्त्यों के समन्वय–सन्तुलन से मानव के अप्राकृत–प्राकृत–दोनों स्वरूपों का भलीभाँति समन्वय–हो जाता है। एवं तथाकथित दिग्देशकालानुगता इस की कल्पित भ्रान्ति का सर्वात्मना मूलोच्छेद हो जाता है।

१५२–अनन्तकालानुगत सविशेषानन्त्य, तदनुगत प्राकृत–धर्म्म, एवं तन्निबन्धन अभ्युदयरूप प्राकृत–सुख—

अनन्तकालानुगत सविशेषानन्त्य का नाम ही प्राकृतिकानन्त्य है यही प्राकृत मानव के 'अभ्युदय' नामक स्थूलानन्द (लोकसुख) की मूलप्रतिष्ठा है। प्राकृत मानव इसी को अपनी प्राकृत दृष्टि से क्योंकि प्राथम्य देता आया है। अतएव सर्वप्रथम कालानन्त्य–माध्यम से हम इसी की ओर प्राकृत मानव का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। मनःशरीरधर्म्मा प्राकृत मानव को इस अनन्तकाल का प्रतीक माना जाएगा सम्वत्सर के माध्यम से एवं इसी प्रतीकता के माध्यम से प्राकृत मानव को इस के सविशेषानन्त्यरूप कालानन्त्य का स्मरण कराते हुए तन्माध्यम से ही इस की सीमित–दिग्देशकालभ्रान्ति के निराकरण का उपाय किया जा सकेगा।

---

*–ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (गीता १४।२७)।

१५३—परमाक्षरमूर्त्ति–परमकालात्मक–अनन्तकाल, तदभिन्न अश्वत्थमूर्त्ति महाकालात्म मायी महेश्वर, तदनुगता महिमामयी विभूति, एवं तत्प्रतिष्ठारूप महाकाल महतोमहीयान् आनन्त्य का संस्मरण—

महामायी षोडशीप्रजापति का स्वरूपाभिव्यञ्जक अश्व स्वस्वरूपभूत है, महामायाद्वात्मक परमाक्षरमूर्त्ति–स्वप्रकृतिमूर्त्ति परमकाल ही वह अनन्तकाल है जो महामायी–अश्वत्थप्रजापति के स्वरूप अपना सम्पूर्ण महिमामय स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है। जिस महामायी अश्वत्थप्रजापति में एक सह पद्मपुरुषीय कल्पाएँ गर्भीभूत हैं जैसे महतोमहीयान् महामायी सहस्रवल्शेश्वर षोडशीप्रजापति को तो उ मायाद्वयात्मक अनन्तकाल का एकांश ही माना जायगा। क्योंकि एक ही नहीं है यह मायाद्वय। अपितु उ निर्विशेष–अनन्त–परात्पर–परतम पर अनन्त–असङ्ख्य हैं जैसे अश्वत्थमाया–मायाद्वय जो प्रत्येक माया द्वयात्मक बलद्वय एक एक अश्वत्थप्रजापति का अभिव्यञ्जक बना हुआ है। कालस्वेन व सम्पूर्ण मायाद्व एक ही मायाद्वयात्मक एक ही महाकाल है, जिस के एक एक अंश का नाम है–अश्वत्थानुगत एक ए मायाद्वय। ऐसा यह अनन्तानन्त–(अनन्त मायापथ अनेक मायाद्वया की स्वसीमा में प्रतिष्ठित रखने वाल अन्तिम अनन्तरूप महतोमहीयान् एक मायाद्वय)–लक्षण महामायाद्वय ही वह महाकाल है जिस प्रतिष्ठित रूप–(एक मायाद्वयरूप–कालद्वयरूप) में ही सहस्रवल्शेश्वर अश्वत्थप्रजापति प्रतिष्ठित है।

१५४—असङ्ख्य–अनन्त–अश्वत्थमहेश्वरों की महाकालसमतुलन में एकांशरूपा–यत् किञ्चिदंशता, एवं–'एतावानस्य महिमा, अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' का समन्वय—

विदित नहीं ऐसे कितने अगणित–असङ्ख्य–अश्वत्थप्रजा उस महामायाद्वयात्मक कालात्मक अनन्ता नन्तकाल के गर्भ में आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं समुद्र बुद्बुदवत्, जिनमें से केवल एक ही अश्वत्थप्रजा हमारा लक्ष्य बन रहा है जिसे हम उस महाकाल का प्रतीक मान रहे हैं। यह ठीक है कि यह एतावान् ही नहीं है। इस एक ही अश्वत्थप्रजा में उस का आनन्त्य परिसमाप्त नहीं है। यह तो उस का महिमात्मक एकां शमात्र ही है। यह इससे बहुत बड़ा है बड़े से भी बड़ा है। 'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः'–'एतावानस्य महिमा'। तथापि यह तो कहा ही जा सकता है इस प्रतीकभूत एक अश्वत्थप्रजा के लिए भी कि यह अनन्तानन्तकाल अपने एकांशरूप–प्रतीकभूत–इस एक अश्वत्थस्वरूप से भी अपना सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त तो कर ही रहा है। जैसा स्वरूप महतोमहीयान् का होता है अणोरणीयान् का भी वैसा ही, किंवा वही स्वरूप माना गया है विज्ञानजगत् में।

१५५—अणोरणीयान् कालकेन्द्र, तथा महतोमहीयान् कालमहिमा का अभिमन्स, एवं एक मायाद्वयात्मक, एकांशरूप अश्वत्थकाल के द्वारा कालातीत के प्रथम आनन्त्य की अभिव्यक्ति का समन्वय—

महिमा और केन्द्र दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। जो महिमा है वही केन्द्र है। जो केन्द्र है वही महिमा है। अतएव दोनों ही अनन्त हैं। यह अनन्तमहिमाव्यापी है तो यह उसका एक केन्द्रबिन्दुमात्र है और

इस दृष्टि से तो यह उसका एकांश ही है। किन्तु वह इस एकांशरूप लघुमात्र से ही अपने समस्त महिमामय-स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। ध्यान रहे—अनन्तकाश पर बिन्दु—बिन्दु—रूप से प्रतिष्ठित असंख्य भावी अश्वत्थब्रह्म एक दूसरे से विभिन्न हैं। सब अपने अपने रूप से उसी के प्रतीक हैं। और सब—(प्रत्येक) अपने अपने एकांश से भी उस की परिपूर्ण अभिव्यक्ति प्रमाणित होते हुए अपने अपने रूप से परिपूर्ण ही बने हुए हैं। कोई किसी से छोटा अथवा तो बड़ा नहीं है। कोई किसी का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। सब स्व—स्व महिमा से परिपूर्ण हैं। प्रत्येक परिपूर्ण है समष्टि परिपूर्ण है समष्टि की समष्टि भी परिपूर्ण है। सर्वत्र—सब में प्रत्येक में यों अनन्तकाश अपनी परिपूर्णता से व्याप्त होरहा है। इसी का नाम है सविशेषानन्त्य यही है प्राकृतिकानन्त्य और इसी का एक अनन्त—उदाहरण है एक मायाबलात्मक एक अश्वत्थब्रह्म जो अपनी प्रतीकता से प्रकृतिरूप अनन्तकाल के सम्पूर्ण आनन्त्य को अभिव्यक्त कर रहा है। इतिनु प्रथमानन्त्य-समन्वय।

१५६—अनन्तमहाकाश के प्रथमावतार अनन्ताश्वत्थकाश के द्वितीय अवताररूप अनन्त परोरजाकाश का स्वरूप—समन्वय—

आगे चलिए। अनन्तकाश के एकांशरूप-प्रतीकरूप अश्वत्थब्रह्म का नाम होगा-'अनन्ताश्वत्थकाश' जिसे हम अपनी सीमित दृष्टि से उस अनन्तकाश का प्रथमावतार कहेंगे (यद्यपि ऐसे असंख्य अश्वत्थावतार पूर्वकथनानुसार उस अनन्तकाश—अवकाश पर इतस्ततः बुद्बुद्वत् विचरण कर रहे होंगे निरपेक्षेन कर रहे हैं अतएव उठते उठते ही हमें इस एक अश्वत्थ के लिए केवल अपनी अपेक्षा से सविभागानुबन्ध से ही 'प्रथम' शब्द अभिव्यक्त कर देना पड़ रहा है)। उस अनन्तकाश के एकांश—प्रतीकरूप अनन्ताश्वत्थकाश के सहस्र महिमा—बिन्दु हैं जो 'पञ्चपुण्डीरा—प्राजापत्यसंस्था' नाम से प्रसिद्ध है। अश्वत्थब्रह्म की हजार शाखाएँ हैं। प्रत्येक शाखा में स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य—भू—चन्द्र—नामक पाँच पाँच पुण्डीर हैं। पाँचों पुण्डीरों की समष्टिरूपा एक शाखा का नाम ही 'पञ्चपुण्डीय प्राजापत्यसंस्था' है जिसका एक स्वतन्त्र छन्द है—'योगमाया'। योगमायाछन्दात्मक यह एक शाखाकाश ही उस अश्वत्थब्रह्म का एक प्रतीकाकाश है। और ऐसे सहस्रधा प्रतिष्ठित हैं सहस्रशाखारूप से उस अनन्ताश्वत्थकाश के गर्भ में। यद्यपि शाखाब्रह्म परस्पर विभिन्न हैं किन्तु सब के लिए वह सहस्रशाखा—अश्वत्थ अभिन्न है। अपितु वह अपनी प्रत्येक शाखा के माध्यम से शाखारूप में ही अपना सम्पूर्ण अनन्त स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव प्रत्येक शाखा अपने अपने योगमायाछन्द में परिपूर्ण है अनन्त है। और यही उस अनन्तकाश का द्वितीयावतार है जिसे हम समझने के लिए 'शाखावतार' कह सकते हैं। ९९९ शाखावतारों का हम से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध है भी तो वह हमारे आचारात्मक पक्ष से तो सर्वथा असंस्पृष्ट ही है। ज्ञानीय सम्बन्ध हो सकता है उन के भी साथ होगा ही है ही। किन्तु आचारात्मक सम्बन्ध की आधारभूमि तो हमारे लिए वही एक शाखानन्त्य है जिस में हम प्रतिष्ठित हैं अपने प्राकृत स्वरूप से। अतएव उन सब अनन्त प्रतीकों को अपने ज्ञानीय जगत् में अपनी प्रणतियाँ समर्पित करते हुए अब हम इस एक शाखानन्त्य को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं जो अपने इस एकांश से ही उस सहस्रशाखात्मक अनन्ताश्वत्थ की परिपूर्णता का स्मारक बना हुआ है। इस एक के परिज्ञान से ही वह सर्वात्मना परिज्ञात बन रहा है—'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति'। क्योंकि वह इस एकांशरूपा एक भी शाखा का (इतर शाखाओं की भाँति) अपना सम्पूर्ण—परिपूर्ण—

अनन्त-स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है। अनन्तकाल का प्रथमावतार सहस्रकालेश्वर अनन्तकालात्मक-अश्वत्थ, एवं उसी अनन्तकाल का द्वितीयावतार एककालेश्वर-अनन्तकालात्मक-शालाब्रह्म।

१५७-अव्यक्त स्वयम्भू , एवं व्यक्त स्वयम्भू-रूप से शाखेश्वर अव्यक्तकाल के दो महिमा-विवर्तों का स्वरूप-समन्वय—

और आगे चलिए। यहाँ थोड़ा नामसाम्यमूलक सूक्ष्मचिन्तन अपेक्षित होगा। वैज्ञानिकों ने स्वयम्भू के अव्यक्तस्वयम्भू-व्यक्तस्वयम्भू-रूप से दो महिमाविवर्त्त माने हैं। अव्यक्तस्वयम्भू वह स्वयम्भू है, जो पाँचों विश्वपुण्डीरों (पर्वों) का अधारपारीण एक आत्मा है, एक ईश्वर है। इस का नाम है 'वल्शेश्वर'-शाखेश्वर - विश्वेश्वर। कालेश्वर नामक यह अव्यक्त स्वयम्भू अपने निरतिशय अव्यक्तभाव के कारण अश्व बनकर अप्रज्ञात-अलक्षण-अप्रतर्क्य-अनुपाख्यसमोभाव ही बना हुआ है, जो सृष्टिक्रम का अश्वत्थवत् केवल साक्षीमात्र ही है। जो केन्द्र अश्वत्थ का है, वही इस अव्यक्त स्वयम्भू का है *। भूतसाक्षीमात्र यह अव्यक्तस्वयम्भू तो अश्वत्थवत् अव्यक्ता प्रकृति की सीमा में ही अन्तर्मुक्त है। यह वह अव्यक्तस्वयम्भू है, जिसके गर्भ में व्यक्तस्वयम्भू प्रतिष्ठित है, जिससे महद्विवर्त्त' उपक्रान्त होता है। अव्यक्त-प्रकृतिरूप भवसाक्षी स्वयम्भू के गर्भ में पुण्डीररूप से व्यक्त-महद्विवर्त्तात्मक-भूतादि-पर्वात्मा-स्वयम्भू ही सृष्टव्य स्थित है। अव्यक्तस्वयम्भू परोरजा है, विश्वातीत है, तो पुण्डीरस्वयम्भू-लक्षण व्यक्तस्वयम्भू रज-प्रवर्त्तक है, विश्वकर्मा है।

१५८-द्विविध स्वयम्भू-विवर्त्तों का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन—

वह लोकसाक्षी है, तो यह लोकप्रवर्त्तक-लोकस्रष्टा-विधाता है। वह विश्वेश्वर स्वयम्भू है, तो यह उपेश्वर स्वयम्भू है। उपेश्वर पाँच हैं, जबकि विश्वेश्वर एक ही है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-भू-चन्द्रात्मक पाँच हैं उपेश्वर, जिन का आदिभूत-महामहान्-प्रथमात्मा पुण्डीर स्वयम्भू ही है। इन पाँचों उपेश्वरों का आधारभूत-साक्षीरूप-अधारपारीण-विश्वेश्वर स्वयम्भू ही अव्यक्त स्वयम्भू है, जिसे हमने अनन्ताश्वत्थ का द्वितीय अवतार बतलाया है। नाम दोनों के स्वयम्भू ही हैं। अतएव नामसाम्य से दोनों के प्रकृतिनिरूपण-महद्विवाद्निरूपण-पार्थक्य का समन्वय थोड़ा दुर्बोध अवश्य बन जाता है, जिस दुर्बोधता को महर्षि ने स्वयम्भू और ब्रह्मा इन दो नामभेदों से अवश्य समन्वित कर दिया है। स्वयम्भू दोनों का समान ही नाम है। किन्तु 'ब्रह्मा' पुण्डीरस्वयम्भू का ही नाम है। क्योंकि यही भवनकर्त्ता-सर्वहुतयज्ञप्रवर्त्तक-स्रष्टा प्रजापति है, जबकि अव्यक्त स्वयम्भू तो केवल साक्षिमात्र ही है अपने अव्यक्त अनुपाख्यसमोभाव से। निम्नलिखित मान वीय-वचन इन्हीं दोनों स्वयम्भू-विवर्त्तों का यशोगान कर रहे हैं—

---

*-निर्विशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'एकेन' का सर्वत्र अर्थ होगा-मूलभूतेन-एकस्वरूपेण। एवं सविशेषानन्त्य-प्रसङ्गों में 'एकेन' का सर्वत्र अर्थ होगा-मूलभूतेन-एकांशेन। 'उसके एकत्व से इन नानाभावों का समन्वय' यह निर्विशेषात्मक प्रकार होगा। एवं 'इस के एकांश के समन्वय से उस की सर्वरूपता का बोध' यह सविशेषात्मक प्रकार होगा। अश्वत्थ के परिज्ञान से अश्वत्था का ग्रहण यह निर्विशेष पक्ष माना जायगा। एवं अश्वत्थ के परिज्ञान से अश्वत्थानन्त्य की आराधना, यह सविशेष पक्ष माना जायगा। यहाँ सविशेषता के आधार पर ही समन्वय हो रहा है।

गुरुं विना कालत्रयेऽपि ज्ञान दुर्लभम् , यथा सिद्धाञ्जन विना भूतलान्तर्गत निधान नयनपथ नावतरति, तथैव गुरुमन्तरेणात्मस्वरूप न पश्यति । यथा दुग्धान्नवनीत तद्विलोडनं विना न प्राप्यते, एव गुरुसेवन विना रत्नत्रय नोपलभ्यते । स गुण-

करना, यह समझ कर कि गुरु महाराज कभी भी अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करा सकते हैं, अहित में प्रवर्तन कराने का अभिप्राय इनके अन्त करण में कभी भी जाग्रत नहीं हो सकता है, क्यों कि ये मेरे हितकारी हैं, इस अभिप्राय से–इस दृढ आस्था से–वह सदा गुरु की आज्ञा का आराधन किया करता था। साथ में उसका यह पक्का विश्वास था कि गुरुमहाराज माता पिता से भी अधिक उपकारी होते हैं, क्यों कि जन्म दाता तो इस जीव को प्रत्येक भव में प्राप्त होते रहते हैं, परन्तु मुक्तिदाता गुरु तो बडे भाग्य से ही मिलते हैं, निर्धन को निधि के समान आत्मा को इनका समागम बहुत दुर्लभ है। आत्मज्ञानकी प्राप्ति इनसे ही हुआ करती है। गुरु के विना तो कालत्रय में भी सम्यग्ज्ञान का लाभ नहीं हो सकता है ये तो सिद्ध-अंजन समान हैं–जिस प्रकार सिद्ध-अजन आखों में आंजने के प्रभाव से जीवों की भूमिगत निधान को लक्षित करनेवाली दृष्टि खुल जाती है उसी प्रकार गुरु की कृपा से आत्मज्ञान का अनुभव जीवको होने लगता है। दुग्ध के विलोडन किये विना जैसे मक्खन का

અર્પણ કરતો. ગુરૂએ જે કઇ કહ્યું એજ કરવું, એવું સમજીને કે ગુરૂ મહારાજ કદી પણ અન્યથા પ્રવૃત્તિ ન જ કરાવે. અહિતમા પ્રવર્તન કરાવવાનો અભિપ્રાય તેમના અ ત કરણમા કોઇ વખત પણ જાગ્રત થાય જ નહીં, કેમકે તેઓ મારા હિતકારી છે આ અભિપ્રાયથી–આવી દ્રઢ આસ્તાથી–તે સદા ગુરૂની આજ્ઞાનુ આરાધન કર્યા કરતો સાથેસાથ તેને એ પાકો વિશ્વાસ હતો કે ગુરૂ મહારાજ માતા પિતાથી પણ અધિક ઉપકારી હોય છે કેમકે જન્મદાતા તો આ જીવને પ્રત્યેક ભવમા પ્રાપ્ત થતા જ રહે છે પરતુ મુક્તિદાતા ગુરૂ તો સારા સદ્ભાગ્યથી જ મળે છે નિર્ધનને નિધિ સમાન તેવી રીતે આત્માને ગુરૂનો સમાગમ ઘણો જ દુર્લભ છે આત્મજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ તેમનાથી જ થાય છે ગુરૂ વિના તો કાલત્રયમા પણ સમ્યગ્જ્ઞાનનો લાભ થઇ શકતો નથી. એઓ તો સિદ્ધ–અ જન સમાન છે જે પ્રકારે સિદ્ધ–અ જન આખોમા આજવાના પ્રભાવથી જીવોની ભૂમિગત નિધાનને લક્ષિત કરવાવાળી દૃષ્ટિ ખુલી જાય છે એવી રીતે ગુરૂની કૃપાથી આત્મજ્ઞાનનો અનુભવ જીવને થવા લાગે છે દુધને વલોવ્યા શીવાય જેમ માખણનુ મળવુ અસભવ છે તેમ

यह मन्वात्मक सम्पूर्ण स्वरूप इस एक पुण्डीरस्वयम्भू के द्वारा अभिव्यक्त हो रहा है। पुण्डीर–स्वयम्भू के परिज्ञान से अनन्त अव्यक्त स्वयम्भू का सम्पूर्ण स्वरूप विज्ञात बन जाता है। और यही उस अनन्तकाल का तृतीयावतार है।

१६०–अनन्त महाकाल के चतुर्थ अवतार महदक्षरकाल का, एवं पञ्चमावतार चराचर मूर्त्ति व्यक्त–हिरण्यगर्भकाल का स्वरूप–समन्वय—

अनन्तावतार महाकाल का प्रतीक अनन्ताव्यक्त एक शाखात्मक–स्वयम्भूकाल, एवं इसका प्रतीक अनन्त व्यक्त पुण्डीरस्वयम्भू–काल। आगे चलिए। इस महाभूताग्नि तृतीया स्वयम्भूकाल के यजु रूप पर्याय से अभिव्यक्त आपोमय परमेष्ठी ही उस अनन्तकाल का चतुर्थ अवतार माना जायगा, जिसके द्वारा अनन्तकालात्मक पुण्डीरस्वयम्भू अपने महत्पुण्डीरात्मक सम्पूर्ण आनन्त्य को अभिव्यक्त कर रहा है। और यहां तक यह अनन्तकाल लोकप्रसिद्ध सम्वत्सर मध्याग से अवश्य ही प्रमाणित हो रहा है–'न ह वाव पुरा सम्वत्सर–मास' (शतपथब्राह्मण)। लोकप्रसिद्ध–ऋतु–मास–पक्षादि–रूप सम्वत्सरकाल की प्रथम अभिव्यक्ति तो उस सौरमण्डल में ही आकर होती है जो उस परमेष्ठीकाल के गर्भ में परमेष्ठी का प्रतीक बनकर द्रप्सरूप से प्रतिष्ठित है। अनन्तकालात्मक परमेष्ठी अपने सम्पूर्ण आनन्त्य का इस सौरब्रह्माण्ड के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। सौरमण्डल का ही नाम है–सौरसम्वत्सर, और यही है त्रिसहस्रयुगात्मक वह एक व्यापक एक सम्वत्सरकाल, जिसके मानवयमानुपात से अब वर्षादि गणनकालपर्व मान लिए गए हैं। मन्वन्तरकालगमनाभिमत जो काल–इयत्ता भी मानव की बुद्धि से अतीता ही प्रमाणित हो रही है। यही कालात्मक पुण्याहात्मक सौरसम्वत्सरकाल उस अनन्त परमेष्ठी का एकांशमात्र है। एकांशमात्र भी यह सौरसम्वत्सरकाल परमेष्ठी के माध्यम से क्योंकि अनन्तकाल के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है अतएव इसे भी उसीका पञ्चमावतार मान लिया है वैज्ञानिकों ने।

१६१ अनन्तकाल के षष्ठ अवतार इलान्दकाल का, एवं सप्तम अवतार–'नक्षत्रकाल' का स्वरूप–समन्वय, तथा परिलेख–माध्यम से अनन्तकाल के सात कालावतारों का संकलन—

और आगे चलिए। सौरसम्वत्सरकाल के एकांशरूप प्रवर्ग्यभाग से उपग्रहरूपेण अभिव्यक्त सम्पूर्ण महमण्डलों से समन्वित–पार्थिवसम्वत्सरकाल इसी सौरकाल का प्रतीक बना हुआ है जिसके द्वारा सौरकालानन्त्य का सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त हो रहा है। एवं जो यह पार्थिवसम्वत्सरकाल सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ विराट्मूर्त्ति–सार्वसुपर्ण–नामक महासुपर्ण की आधारभूमि बना हुआ है जिस महासुपर्ण के पक्षभावों का नाम ही सौत्रात्मक मेधा सुपर्ण है। इस पार्थिव सम्वत्सरकाल के प्रवर्ग्यरूप प्रकाश से ही उस लोक–प्रचा–चन–विभक्त चान्द्रसम्वत्सर की अभिव्यक्ति हुई है जो 'वर्ष' (मानववर्ष) नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिवसम्वत्सर–काल यदि उसी अनन्तकाल का षष्ठ अवतार है तो यह चान्द्रसम्वत्सरकाल उसी का सप्तम अवतार है। और यहीं आकर उस अनन्तकालचक्र का एक परिभ्रमणक्रम उपरत होता है। अतएव चान्द्रकाल निधनकाल नाम से प्रसिद्ध हो गया है। उपरत है 'लोकविधान' की दृष्टि से। किन्तु 'प्राणविधानदृष्टि' से तो यह चान्द्रसम्वत्सरकाल ही

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
—मनुः १।५। } —अव्यक्तस्वयम्भूः साक्षी

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
—मनुः १।६। } —व्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः } —अव्यक्तस्वयम्भूः साक्षी

सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्
तस्मिन्नण्डे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः ।
यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥
—मनु } —व्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा

१५६—अनन्तकाल के तृतीयावसर पुण्डीर—स्वयम्भूकाल का स्वरूप-समन्वय—

अव्यक्त प्रकृति के व्यक्तीभाव की उपक्रमभूमि अव्यक्त स्वयम्भू ही बनता है जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति का नाम है—'व्यक्तस्वयम्भू' जो उस अव्यक्तस्वयम्भू का ही एकांश माना गया है। अपने इस व्यक्तस्वयम्भूरूप एकांश में यह अव्यक्त—विश्वेश्वर—विश्वसाक्षी—स्वयम्भू अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है जो कि सम्पूर्ण स्वरूप सहस्रशाखानुबन्धन से सहस्र—अव्यक्त स्वयम्भू—बिन्दुओं में विभक्त हो रहा है।

स्वयम्भू-काल (द्वितीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—स्व-एकांशरूप-चतुःपुण्डीराध्यच विरपक्षा-उपयामायामायामुखात्मक-रुक्मा ब्रह्ममूर्त्ति-रजःप्रवर्त्तक-यष्टा-कालात्मक-व्यक्तस्वयम्भू के रूप में । यह व्यक्तपुण्डीरस्वयम्भूकाल (तृतीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—स्व-एकांशरूप पुण्डीरप्रयाप्यच-विरपक्ष-महान्परमूर्त्ति-भव-परिस्पन्दकालात्मक-सूर्याग्निसोमरूप-परमेष्ठी के रूप में । यह पारमेष्ठ्य काल (चतुर्थावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—सम्वत्सरपेशात्मक-दिव्यसहस्र युगानुगत-चतुर्युगमन्वन्तरात्मक-व्यक्त-भौमसम्वत्सरकाल के रूप में । यह भौमसम्वत्सरकाल (पञ्चमावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—पार्थिवसम्वत्सरकाल के रूप में । एवं यह पार्थिवसम्वत्सरकाल (षष्ठ-अवतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—उस चान्द्रसम्वत्सरकाल के रूप में जो 'वर्ष (मानववर्ष) नाम से प्रसिद्ध है । असंख्य अनन्त हैं ये वर्षकाल । साथ ही सभी वर्ष सर्वथा पृथक् पृथक् हैं । किन्तु प्रत्येक वर्ष योगभूत उन समस्त अनन्त वर्षों का प्रतीकविधि से प्रातिनिध्य कर रहा है । प्रत्येक वर्ष स्व स्व सम्वत्सरसीमा में उस अनन्तकाल के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है । और यों व्यक्तदृष्ट्या सादिसान्त भी प्रतीयमान वर्षात्मक सम्वत्सरकाल अपने उस आधारभूत अनन्तात्मक-कालानुबन्ध से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है ।

१६३-सर्वबलविशिष्टरसैकघननिर्विशेषानन्त्यरूप अनन्त ब्रह्म का एकांशविवर्त्तरूप, सप्त कालविवर्त्तजन्मदाता-अनन्त-अमूर्त्त-महाकाल, उसकी 'बल' रूपता का समन्वय, एवं प्रकृति-स्वरूप-समन्वय——

क्या तात्पर्य ? । तात्पर्य-समन्वय के लिए तो अमूर्त-मूर्त-शब्दों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । जिस अनन्तकाल का यशोगान किया जारहा है उस से भी अतीत अतएव कालातीत-अनन्त परात्पररूप निर्विशेष ब्रह्म की सर्वबलविशिष्टरसैकघनता का रूप में—अनेकधा॰ बहुधा-यशोगान किया जाचुका है । बलविशिष्टरसैकघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्म के बलात्मक एकांश का ही नाम वह अनन्तकाल है, जिस के सात अवतारों की चर्चा प्रक्रान्त है । 'बल' ही प्रकृति का मौलिक स्वरूप है, जबकि रस को ही अनन्त पुरुष का मौलिक स्वरूप माना गया है । बलात्मिका प्रकृति ही अक्षरप्रकृति है एवं इसी का नाम अनन्तकाल है जो अपनी इस स्वस्वरूपता के लिए, स्वसत्ता के लिए रस को ही आश्रय किए रहता है । रस से आवृत बल ही प्रकृति का सम्पूर्ण स्वरूप है ।

१६४-रसानुबन्धिनी-प्राकृतिक-कालानन्तता-अमूर्त्तता, एवं बलानुबन्धिनी प्राकृतिक-कालसादिसान्तता-मूर्त्तता का स्वरूप-दिग्दर्शन——

प्रकृतिकाल की यह अनन्तता वस्तुतः रसानुबन्धिनी ही है । क्योंकि बल तो संख्या से अनन्त (असंख्य) होता हुआ भी दिग्देशदृष्ट्या सादिसान्त ही है । यों एक ही प्रकृति में किंवा प्रकृतिरूप काल में अनन्तरस

——तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्त-'मनेकधा' । (गीता ११।१३।) ।

॰-एकं सद्विप्रा-'बहुधा' वदन्ति । (ऋक्सं॰ १।१६४।४६।) ।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ —मनुः १।५।	—अव्यक्तस्वयम्भू साक्षी
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ —मनु १।६।	—व्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः–सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः	—अव्यक्तस्वयम्भू साक्षी
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः । यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ —मनु	—व्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा

१५६–अनन्तकाल के तृतीयावतार पुरुषीर–स्वयम्भूकाल का स्वरूप–समन्वय—

अव्यक्त प्रकृति के व्यक्तीभाव की उपक्रमभूमि अव्यक्त स्वयम्भू ही बनता है जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति का नाम है–'व्यक्तस्वयम्भू' जो उस अव्यक्तस्वयम्भू का ही एकांश माना गया है। अपने इस व्यक्तस्वयम्भूरूप एकांश में वह अव्यक्त–विश्वेश्वर–विश्वसाक्षी–स्वयम्भू अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, जो कि सम्पूर्ण स्वरूप महत्सापेक्षानुबन्धन से सदय–अव्यक्त स्वयम्भू–विश्वों में विभक्त [illegible] रहा है।

स्वयम्भू-काल (द्वितीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—स्व–एकांशरूप–चतुःपुरुषीशाप्यव निरपरूप–उपयामगायात्मक–कृष्णा महामूर्ति–रजःप्रवर्त्तक–प्रजा–काला मक–व्यक्तस्वयम्भू के रूप में। यह व्यक्तपुरुषीरसस्वयम्भू काल (तृतीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—स्व–एकांशरूप–पुरुषीरसाप्यव–विरपरूप–महदक्षरमूर्त्ति–भव–अभिव्यक्तकालात्मक–पूर्णाग्निरूप–परमेष्ठी के रूप में। यह पारमेष्ठ्य काल (चतुर्थावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—सम्वत्सरकालात्मक–दिव्यसहस्र युगानुगत–चतुर्युगमन्वन्तरात्मक–व्यक्त–सौरसम्वत्सरकाल के रूप में। यह सौरसम्वत्सरकाल (पञ्चमावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—पार्थिवसम्वत्सरकाल के रूप में। एवं यह पार्थिवसम्वत्सरकाल (षष्ठ–अवतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—उस चान्द्रसम्वत्सरकाल के रूप में, जो 'वर्ष' (मानववर्ष) नाम से प्रसिद्ध है। असंख्य अनन्त हैं ये वर्षकाल। साथ ही सभी वर्ष सर्वथा पृथक् पृथक् हैं। किन्तु प्रत्येक वर्ष शेषमत उन समस्त अनन्त वर्षों का अर्थ सन्धि से प्रातिनिध्य कर रहा है। प्रत्येक वर्ष स्व स्व सम्वत्सरसीमा में उस अनन्तकाल के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। और यों व्यक्तदृष्ट्या सादिसान्त भी प्रतीयमान वर्षात्मक सम्वत्सरकाल अपने उस आधारगत अनन्तान्यक्त–कालानुबन्ध से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है।

१६३–सर्वबलविशिष्टरसैकघननिर्विशेषानन्त्यरूप अनन्त ब्रह्म का एकांशविवर्त्तरूप, सप्त कालविवर्त्तजन्मदाता–अनन्त–अमूर्त्त–महाकाल, उसकी 'बल' रूपता का समन्वय, एवं प्रकृति–स्वरूप–समन्वय—

क्या तात्पर्य !। तात्पर्य–समन्वय के लिए तो अमूर्त्त–मूर्त्त–शब्दों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। जिस अनन्तकाल का यशोगान किया जा रहा है उस से भी अतीत अतएव कालातीत–अनन्त परात्पररूप निर्विशेष ब्रह्म की सर्वबलविशिष्टरसैकघनता का पूर्व में—अनेकधा* बहुधा–यशोगान किया जा चुका है। बलविशिष्टरसैकघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्म के बलात्मक एकांश का ही नाम वह अनन्तकाल है जिस के सात अवतारों की चर्चा प्रक्रान्त है। 'बल' ही प्रकृति का मौलिक स्वरूप है जबकि रस को ही अनन्त पुरुष का मौलिक स्वरूप माना गया है। बलात्मिका प्रकृति ही अव्यक्तप्रकृति है एवं इसी का नाम अनन्तकाल है जो अपनी इस स्वरूपरक्षा के लिए, व्यवस्था के लिए रस को ही आवृत किए रहता है। रस से आवृत बल ही प्रकृति का सम्पूर्ण स्वरूप है।

१६४–रसानुबन्धिनी–प्राकृतिक–कालानन्तता–अमूर्त्तता, एवं बलानुबन्धिनी प्राकृतिक–कालसादिसान्तता–मूर्त्तता का स्वरूप–दिग्दर्शन—

प्रकृतिकाल की यह अनन्तता वस्तुतः रसानुबन्धिनी ही है। क्योंकि बल तो संख्या से अनन्त (असंख्य) होता हुआ भी दिग्देशदृष्ट्या सादिसान्त ही है। यों एक ही प्रकृति में किंवा प्रकृतिरूप काल में अनन्तत्व,

——तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्त–'मनेकधा'। (गीता ११।१३।)।

*–एकं सद्विप्रा–'बहुधा' वदन्ति। (ऋक्सं० १।१६४।४६।)।

यथ प्रथमकाल की उपक्रमभूमि बनने वाला है । जिसप्रकार पार्थिवसम्वत्सरकाल और अनन्तकाल के माध्यम से उस अनन्तकाल को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है सर्वैव तत्प्रतीकभूत यह चान्द्रसम्वत्सरकाल भी उसी प्रकार से पार्थिवसम्वत्सरकाल के माध्यम से उस अनन्तकाल की सम्पूर्ण परिपूर्णता को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है । और मानव की मानुष–दृष्टि से हम अब इस लोकप्रसिद्ध चान्द्रसम्वत्सररूप 'एकवर्ष' को ही उस अनाद्यनन्तकाल का प्रतीक मान लेते हैं जो कि वर्षकाल उसका सातवाँ अवतार बना हुआ है ।

कालः— अनन्तमायापुरुषोऽसावनन्तोऽनादिरेकः—परमकालः— } —महाकालकाल } प्रकृतिः

१–तस्य प्रथमावतारः—प्रतीकभूत—अनन्तात्मा कालः } —अरमत्यकालः

२–तस्य द्वितीयावतारः—प्रतीकभूत—अनन्तब्रह्मकाल
–अव्यक्तस्वयम्भुरूपः– } —अव्यक्तकाल

३–तस्य तृतीयावतारः—प्रतीकभूत—अनन्तस्वयम्भुकालः
–व्यक्तस्वयम्भुरूपः— } —स्वयम्भुकाल

४–तस्य चतुर्थावतारः—प्रतीकभूत—अनन्तपारमेष्ठ्यकालः } —परमेष्ठिकाल

५–तस्य पञ्चमावतारः—प्रतीकभूतः—अनन्तसौरसम्वत्सरकालः } —सूर्यकाल

६–तस्य षष्ठावतारः—प्रतीकभूतः—अनन्तपार्थिवसम्वत्सरकाल } —भूकाल

७–तस्य सप्तमावतारः—प्रतीकभूतः—अनन्तचान्द्रसम्वत्सरकालः ।
–वर्षकाल – } —चन्द्रकाल

(left vertical labels: [illegible]) (right vertical label: सप्तविधविवर्त्तरूप प्राकृतिकसंस्था)

१६२–पूर्व–पूर्व–कालविवर्त्तों के सर्व–कृत्स्न–आनन्त्य के अभिव्यञ्जक उत्तर–उत्तर–कालविवर्त्त, एवं अनन्त की अनन्तता का व्यापकत्व—

अनन्त–अव्यय–महामायात्मक–अनन्तानन्तापारमूर्ति–कालरात्र्यात्मक—परमदेवस्वरूप–प्रकृतिरूप–'अनन्तकाल' अपने समस्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–स्व–एकांशरूप षड्पुरुषीसंस्थाविच्छिन्न एक 'अरमत्यकाल' के रूप में । उक्त–अव्यय अनन्त–षड्पुरुषीसंस्थात्मकतत्त्वों से समन्वित, महामायात्मक–अनन्तापारमूर्ति–महामहिमात्मक–मायी महेश्वर नामक 'अनन्तारमत्यकाल' (प्रथमावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–स्व–एकांशरूप षड्पुरुषीसंस्थाविच्छिन्न–पञ्चात्मक योगमायात्मक–अव्यक्तअपारमूर्ति–परमेश्वर–मायी–प्रजात्मक योगमायी विश्वेश्वर अव्यक्तस्वयम्भू के रूप में । यह अव्यक्त–

स्वयम्भू-काल (द्वितीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—स्व-एकांशरूप-चतुःपुण्डीरपञ्च विश्वरूप-उपरागमायाव्यात्मक—ब्रह्मा प्रजापति-रूप अनन्त क-सृष्टा-काला मक-व्यक्तस्वयम्भू के रूप में। यह व्यक्तपुण्डीरस्वयम्भूकाल (तृतीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—स्व-एकांशरूप पुण्डीरपञ्च-विश्वरूप-महच्चरमूर्ति-भत-परिच्छिन्नकालात्मक-प्रजापतिरूप-परमेष्ठी के रूप में। यह पारमेष्ठ्य काल (चतुर्थावतार) अपने समग्र स्वरूप का अभिव्यक्त कर रहा है—सम्वत्सरवेलात्मक-दिव्यवर्ष युगानुगत-चतुर् ऋमन्वन्तरात्मक-व्यक्त-सौरसम्वत्सरकाल के रूप में। यह सौरसम्वत्सरकाल (पञ्चमावतार) अपने समग्र स्वरूप का अभिव्यक्त कर रहा है—पार्थिवसम्वत्सरकाल के रूप में। एवं यह पार्थिवसम्वत्सरकाल (षष्ठ-अवतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—उस चान्द्रसम्वत्सरकाल के रूप में जो वर्ष (मानववर्ष) नाम से प्रसिद्ध है। असंख्य अनन्त हैं ये वर्षकाल। साथ ही सभी वर्ष अवश्य पृथक् पृथक् हैं। किन्तु प्रत्येक वर्ष अपने उन समस्त अनन्त वर्षों का प्रतिनिधि से प्रातिनिध्य कर रहा है। प्रत्येक वर्ष स्व स्व सम्वत्सरसीमा में उस अनन्तकाल के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। और यों व्यक्तदृष्ट्या सादिसान्त भी प्रतीय-मान वर्षात्मक सम्वत्सरकाल अपने उस आधारभूत अनन्ताव्यक्त-कालानुबन्ध से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है।

१६३-सर्वबलविशिष्टरसैकघननिर्विशेषानन्त्यरूप अनन्त ब्रह्म का एकांशविवर्तरूप, सप्त कालविवर्तजन्मदाता-अनन्त-अमूर्त-महाकाल, उसकी 'बल' रूपता का समन्वय, एवं प्रकृति-स्वरूप-समन्वय—

क्या तात्पर्य ? । तात्पर्य-समन्वय के लिए तो अमृत-मृत्यु-शब्दों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। जिस अनन्तकाल का यशोगान किया जारहा है, उस से भी अतीत अतएव कालातीत-अनन्त परात्पररूप निर्विशेष ब्रह्म की सर्वबलविशिष्टरसैकघनता का पूर्व में + अनेकधा ✽ बहुधा-यशोगान किया जाचुका है। बलविशिष्टरसैकघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्म के बलात्मक एकांश का ही नाम वह अनन्तकाल है जिस के सात अवतारों की चर्चा प्रक्रान्त है। 'बल' ही प्रकृति का मौलिक स्वरूप है जबकि रस का ही अनन्त पुरुष का मौलिक स्वरूप माना गया है। बलात्मिका प्रकृति ही अपराप्रकृति है एवं इसी का नाम अनन्तकाल है जो अपनी इस स्वरूपरक्षा के लिए, बलवत्ता के लिए रस को ही आवृत किए रहता है। रस से आवृत बल ही प्रकृति का सम्पूर्ण स्वरूप है।

१६४-रसानुबन्धिनी-प्राकृतिक-कालानन्तता-अमूर्तता, एवं बलानुबन्धिनी प्राकृतिक-कालसादिसान्तता-मूर्तता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिकाल की यह अनन्तता वस्तुतः रसानुबन्धिनी ही है। क्योंकि बल तो संख्या से अनन्त (असंख्य) होता हुआ भी दिग्देशदृष्ट्या सादिसान्त ही है। यों एक ही प्रकृति में, किंवा प्रकृतिरूप काल में अनन्तरस

+—तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तम्-'अनेकधा'। (गीता ११।१३।)।

✽—एकं सद्विप्रा—'बहुधा' वदन्ति। (ऋक्सं० १।१६४।४६।)।

अब प्रजापाल की उपक्रमभूमि बनने वाला है। जिसप्रकार पार्थिवसम्वत्सरकाल और अनन्तकाल के माध्यम से उस अनन्तकाल को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है तथैव तत्प्रतीकभूत यह चान्द्रसम्वत्सरकाल भी उसी क्रमधारा से पार्थिवसम्वत्सरकाल के माध्यम से उस अनन्तकाल की सम्पूर्ण परिपूर्णता का सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। और मानव की मानव-दृष्टि से हम अब इस लोकप्रसिद्ध चान्द्रसम्वत्सररूप 'एककाल' को ही उस अनाद्यनन्तकाल का प्रतीक मान लेते हैं जो कि वर्षकाल उसका सातवाँ अवतार बना हुआ है।

ब्रह्म—	अनन्तमायासूत्रात्मकोऽनन्तोऽनादिरूपा—परमब्रह्म—	—महाकालनाम	प्रकृति
[illegible]	१—तस्य प्रथमावतारः—प्रतीकभूतः—अनन्तावरेण्यकालः	—अरवत्थकालः	सप्तविवर्तविश्वाय प्राकृतात्मा
	२—तस्य द्वितीयावतारः—प्रतीकभूतः—अनन्ताव्याकृतकाल—अव्याकृतस्वयम्भुरूपः—	—अव्यक्तकाल	
	३—तस्य तृतीयावतारः—प्रतीकभूतः—अनन्तस्वयम्भुकालः—व्याकृतस्वयम्भुरूपः—	—स्वयम्भुकाल	
	४—तस्य चतुर्थावतारः—प्रतीकभूतः—अनन्तपारमेष्ठ्यकाल	—परमेष्ठिकाल	
	५—तस्य पञ्चमावतारः—प्रतीकभूतः—अनन्तसौरसम्वत्सरकालः	—सूर्यकाल	
	६—तस्य षष्ठावतारः—प्रतीकभूतः—अनन्तपार्थिवसम्वत्सरकाल	—भकाल	
	७—तस्य सप्तमावतारः—प्रतीकभूतः—अनन्तचान्द्रसम्वत्सरकालः—वर्षकाल—	—चन्द्रकाल	

१६२—पूर्व-पूर्व-कालविवर्तों के सर्व-कृत्स्न-आनन्त्य के अभिव्यञ्जक उत्तर-उत्तर-कालविवर्त, एवं अनन्त की अनन्तता का व्यापकत्व—

अनन्त—अक्षय—महामायासूत्रात्मक—अनन्तानन्तधारामूर्ति—कालधारात्मक—परमेश्वरकाल—प्रकृतिरूप—'अनन्तकाल' अपने समस्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—एक—एकाक्षरात्मक सहस्रपुरुषीरावच्छिन्न एक 'अश्वत्थकाल' के रूप में। स्वयं—अतएव अनन्त—पञ्चपुरुषीरूपामायाधरस्वरूपात्मों से समन्वित महामायात्मक—अनन्ताक्षरामूर्ति—महाकालात्मक—मायी महेश्वर नामक 'अनन्ताश्वत्थकाल' (प्रथमावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—एक—एकाक्षरात्मक पञ्चपुरुषीरावच्छिन्न—अव्यय योगमायात्मक—अव्याकृताक्षरामूर्ति—परोरजा—साक्षी—कालात्मक योगमायी विश्वेश्वर अव्याकृतस्वयम्भू के रूप में। यह अव्याकृत

छन्दित पदार्थ ही मूर्त्ति कहलाएगी। महिमा ही 'पुनःपदम्' होगा एवं मूर्त्ति ही 'पदम्' होगा। पुनःपदरूप महि-माभाव ही अमृतरसात्मक अमूर्त्त भाव होगा, एवं पदात्मक मूर्त्तिभाव ही मर्त्यबलात्मक मूर्त्तभाव होगा। छन्दोरूप-अमृत-रसात्मक-महिमाभाव ही उसी काल का 'अमूर्त्तकाल' रूप माना जायगा, एवं–छन्दित–मर्त्य–बलात्मक मूर्त्तिभाव ही उसी काल का 'मूर्त्तकाल' रूप माना जायगा। छन्दःकाल का पारिभाषिक नाम होगा 'काल', एवं छन्दित काल का पारिभाषिक नाम होगा दिगनुगत देश। यों अपने रस–बलात्मक अमूर्त्त–मूर्त्त भावों से स्वयं अनन्तकाल ही अमूर्त्त दृष्ट्या अनन्तकाल–अनन्तदिक्–अनन्तदेशात्मक बना रहेगा, तो यही मूर्त्त दृष्ट्या सादि–सान्त–दिक्–देश–कालात्मक बना रहेगा। अनन्तकालदिग्देशरूप महिमामण्डल ही अमूर्त्त काल है, यही अक्षरप्रजापति का अमृतरूप है जिस के गर्भ में ही सादिसान्त दिग्देशकालरूप वस्तुपिण्ड (मूर्त्ति) प्रतिष्ठित है। यही अक्षरप्रजापति का मर्त्यरूप है एवं–'अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' का यही रहस्यात्मक समन्वय है।

१६८–'प्र' और 'कृति', 'कृति' की प्रागवस्था का 'प्रकृतित्व', एवं 'कृति' की उत्तरावस्था का 'विकृतित्व', तथा प्रकृति का अमूर्त्तकालत्व, और विकृति का मूर्त्तकालत्व—

चरानुबन्धी अमूर्त्त काल तथा बलानुबन्धी मूर्त्त काल दोनों के समन्वितरूप का नाम ही है–'प्र–कृति' अथवा 'प्रकृति'। 'कृति' नाम है कार्य्यभाव का। इस कार्य्य की प्रथमावस्था–पूर्वावस्था ही वह कारणावस्था है जिसे प्राग् भाव के कारण 'प्र' कहा गया है। 'प्र' रूप कारणात्मक अव्यक्तभाव का नाम है प्रकृति का अमृत अक्षरभाव एवं 'कृति'रूप कार्य्यात्मक व्यक्तभाव का नाम है प्रकृति का मूर्त्त क्षरभाव। अक्षररूप रसभाव क्योंकि क्षररूप बल से अविनाभूत है। अतएव 'प्र' (अक्षर) के साथ भी 'कृति' (क्षर) समन्वित है। एवमेव क्षररूप बल भी क्योंकि अक्षररूप 'प्र' (अक्षर) के बिना अनुपपन्न है। अतएव 'कृति' (क्षर) के साथ भी 'प्र' (अक्षर) जुड़ा हुआ है। यों अक्षरप्रधान अमृत भावात्मक 'प्र' भाव भी 'प्रकृति' बन रहा है तथा क्षरप्रधान मूर्त्त भावात्मक 'कृति' भाव भी प्रकृति बन रहा है। अव्यक्ता–अक्षरप्रकृति का अर्थ है बलगर्भित रस, किंवा क्षरगर्भित अक्षर। एवं व्यक्ता क्षरप्रकृति का अर्थ है–रसगर्भित बल किंवा अक्षरगर्भित क्षर। उभयात्मक (रसबलात्मक–अक्षरक्षरात्मक) अक्षर का नाम है अमूर्त्त काल एवं उभयात्मक (क्षराक्षरात्मक) क्षर का नाम है मूर्त्त काल। अमूर्त्त काल काल है, एवं मूर्त्त काल दिग्देश है।

१६६–अश्वत्थकालात्मक–अमूर्त्त काल के 'खस्वस्तिक' रूप सुप्रसिद्ध काल–दिग्–देश–भाव, एवं अमूर्त्तकालात्मक अश्वत्थ–परोरजा–स्वयम्भू–महदक्षर–रूपा अनन्त-कालचतुष्टयी के सम्बन्ध में मूर्त्तभावापन्न दिग्–देश–काल–भावों की प्रासङ्गिक-जिज्ञासा—

क्या परिभाषा होगी अश्वत्थकालात्मक कालपिण्ड में दिग्देशात्मक मूर्त्त भाव की ?, क्योंकि यहाँ दिग्देश का कोई सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत हो रहा। दिग्देश की प्रतीति तो बहुत आगे आकर पाँचवें सौर सम्वत्सरकाल में ही हुआ करती है। इस विप्रतिपत्ति का एकमात्र समाधान है स्वस्तिकभाव। अवश्य ही लोकप्रसिद्ध सर्वानुभूत–दश–अष्ट–उपपत्तिसिद्ध दिग्देशात्मक मूर्त्तभाव न तो अश्वत्थकाल में ही है न तदंशभूत

सादिसान्त भाव-दोनों का समन्वय प्रसिद्ध हो रहा है। प्रकृति का यह अनन्त स्वभाव ही इसका अ
अनन्त-भाव है एवं प्रकृति का यह सादिसान्त स्वभाव ही इसका मूर्त-सादिसान्त भाव है। इसप्रक
प्राकृतस्वभाव के ही रस-बलानुबन्धेन अमूर्त-मूर्त-ये दो महिमाविवर्त हो जाते हैं। अनन्तकाल
अनन्त के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाला यदि मान लिया जासकता है तो इस अभिव्यक्त अन
की रसाभिव्यक्ति को अमूर्ताभिव्यक्ति, एवं बलाभिव्यक्ति मूर्ताभिव्यक्ति कहा जासकता है मा
जासकता है जबकि ऐसा मान लेना मान्यता ही है। इस मान्यता की आत्यात्म में परिणति व
अनन्तभाव के अन्यतम प्रतीकरूप मानव के द्वारा ही होगी जैसाकि सम्भवतः आगे चलकर स्पष्ट हो स

१६५-प्रतीकाधार की अमूर्तता, एवं प्रतीक की मूर्त्तता, तथा-'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तञ्च' श्रुति का समन्वय—

जो प्रतीक है वही मूर्त है एवं जिसका प्रतीक है वही अमूर्त है। जिसका जो प्रतीक है वह
भी तो वही है। वही तो प्रतीकरूप में परिणत हुआ है। एकात्मक प्रतीक उस व्यापक भावी से अभि
तो है। प्रतप्रतीकता से समन्वय कीजिए इस दृष्टिकोण का। अनन्तभाव का स्वभाव 'अमूर्त' है
बल का स्वभाव 'मूर्त' है। यो स्वयं मूलभूत अनन्तभाव ही-'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे-मूर्त्त अमू
रूप से दो महिमाभावों में परिणत होरहा है। अतएव इसके पूर्वप्रतिपादित आठो ही प्रतीक विवर्तों में-
में-अमूर्त-मूर्त-दोनों महिमाभाव समाविष्ट रहेंगे। तभी तो इनका प्रतीकत्व सुरक्षित रहेगा। और त
यह कहा जासकेगा कि वह अपने एकाराकरूप प्रतीकभाव से अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर र
तो एकाकारूप वह अपनी एकाकारता से उस भावी के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। अमूर्त-
दोनों का समन्वय ही इस समग्रता का कारण बन रहा है।

१६६-सप्तकालविवर्त्तानुगत अमूर्त-मूर्तभाव, सविशेष कालविवर्तों की प्राकृ एवं नात्र एकान्तिकामृतत्वस्य तु-आशास्ति—

और यों अनन्तकाल से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल-पर्यन्त व्याप्त आठो कालविवर्तों के प्रत्ये
अमूर्तकाल मूर्तकाल-रूपेण ये दो विवर्त होजाते हैं जिनके सम्बन्ध में यह अवश्य ही अवधान
समन्वय करते जाना चाहिए कि, पूर्व-पूर्व के कालविवर्त उत्तर उत्तर के कालविवर्त की अपेक्षा से अ
काल बन रहे हैं एवं उत्तर-उत्तर के काल पूर्व-पूर्व की अपेक्षा मूर्तकाल बन रहे हैं। अमूर्तदृष्ट्या
कालविवर्त अनन्त हैं यही सविशेषानन्त्य है प्राकृतिकानन्त्य है। एवं मूर्तदृष्ट्या सभी कालविवर्त सादिसा
यही सविशेषप्राकृतभाव है प्राकृतिक अन्त भाव है नात्र-ऐकान्तिकामृतत्वस्य तु-आशास्ति। सापेक्षानन्त्य
इस प्राकृतानन्त्य का एकमात्र महान् उत्कर्ष है जिसे शास्त्रीय-भाषा में लोकव्याप्तिरूप 'अभ्युदय' कहा गय

१६७-कालात्मक-अक्षरप्रजापतिरूप-प्राकृत विवर्त के अमूर्त-मूर्त-भावानुबन्धी-अर मर्त्यात्मक अमृत-मर्त्य-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

रसानुबन्धी अनन्तभाव ही अमूर्त कहलाएगा सर्वत्र सभी विवर्तों में एवं अन्ततः पदार्थ एवं का
पदार्थ ही इन अमूर्त-मूर्त-भावों की तात्त्विक परिभाषा होगी। अन्त पदार्थ ही महिमा-कहलाएगा

निधिर्गुरुस्तुतिं करोति–हे गुरो ! भवान् वारिद इव करुणारसवृष्ट्या मामकीन चित्त-चातकं प्रमोदयति, शमदमादिगुणोद्यानं हरितीकरोति । हे करुणासागर ! भवत्करुणां विना सम्यक्त्वप्राप्तिर्न भवति, सम्यक्त्वं विना तत्त्वातत्त्वविवेकरूपाऽमृतभावना न जायते, अमृतभावनां विना विशुद्धध्यानं न भवति । विशुद्धध्यानं विना क्षपकश्रेणिर्न प्रादुर्भवति । क्षपकश्रेणिं विना शुक्लध्यानस्य द्वितीयपादः प्राप्तो न भवति । शुक्लध्यानस्य द्वितीयपादं विना केवलज्ञानं न संभवति । केवलज्ञान–

मिलना असंभव है उसी प्रकार गुरुकी सेवा किये विना भी रत्नत्रयकी प्राप्ति होना महा दुर्लभ है, धन्य हैं, गुरुमहाराज !! गुणनिधि ने इस प्रकार मन में विचार कर गुरु महाराज की स्तुति की, जो इस प्रकार है—हेगुरुमहाराज ! आप मेघ की तरह मेरे चित्तरूपी चातक को करुणारस के वर्षण से प्रमुदित करनेवाले हैं । शम दम आदि गुणस्वरूप उद्यान को हरा भरा बनाने वाले हैं। हे करुणासागर ! जबतक आपकी करुणा-रसार्द्र दृष्टि जीवों पर नहीं पडती, तबतक उन्हें सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है । सम्यक्त्व प्राप्त किये विना जीव कभी भी तत्त्वातत्त्वविवेकरूप अमृत से भरी हुई भावना को अपने में नहीं भर सकता । अमृतभावना भरे विना विशुद्ध ध्यान कभी भी नहीं जग सकता । विशुद्ध ध्यान की जागृति विना जीव को क्षपकश्रेणिकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्षपकश्रेणि की प्राप्ति हुए विना शुक्लध्यान का द्वितीयपाद (दूसरा

ગુરૂની સેવા કર્યા સિવાય રત્નત્રયની પ્રાપ્તિ થવી મહાદુર્લભ છે ધન્ય છે ગુરૂ મહારાજ! ગુણનિધિએ આ પ્રકારનો મનમા વિચાર કરી ગુરૂમહારાજની સ્તુતિ કરી, જે આ પ્રકારની છે—હે ગુરૂમહારાજ આપ મેઘની માફક મારા ચિત્તરૂપી ચાતકને કરૂણારસના વર્ષણથી પ્રમુદિત કરવાવાળા છો. શમ દમ આદિ ગુણસ્વરૂપ ઉદ્યાનને ફાલતો ફૂલતો બનાવવાવાળા છો, હે કરૂણાસાગર! જ્યા સુધી આપની કરૂણા રસાર્દ્ર (દયાથી ભીની) દૃષ્ટિ જીવો પર નથી પડતી ત્યા સુધી તેને સમ્યક્ત્વનો લાભ થતો નથી. સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કર્યા વગર જીવ ક્યારેય પણ તત્ત્વાતત્ત્વવિવેકરૂપ અમૃતથી ભરેલી ભાવનાને પોતાનામા ભરી શકતો નથી અમૃત ભાવના ભર્યા વગર વિશુદ્ધ ધ્યાન કદી પણ જાગ્રત થતું નથી વિશુદ્ધધ્યાનની જાગ્રતિ વિના જીવને ક્ષપકશ્રેણીની પ્રાપ્તિ થતી નથી. ક્ષપકશ્રેણીની પ્રાપ્તિ થયા વિના શુક્લધ્યાનનો બીજો પાયો પ્રાપ્ત થતો

सादिसान्त पक्ष—दोनों का समन्वय सिद्ध हो रहा है। प्रकृति का यह अनन्त स्वभाव ही इसका अमूर्त्त-अनन्त-भाव है एवं प्रकृति का यह सादिसान्त स्वभाव ही इसका मूर्त्त-सादिसान्त भाव है। इसप्रकार इस प्राकृतप्रपञ्च के ही रस-बलानुबन्धेन अमूर्त्त-मूर्त्त-ये दो महिमाविवर्त्त हो जाते हैं। अनन्तरस को उस अनन्त के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाला यदि मान लिया जासकता है तो इस अभिव्यक्त अनन्तकाल की रसाभिव्यक्ति को अमूर्त्ताभिव्यक्ति, एवं बलाभिव्यक्ति मूर्त्ताभिव्यक्ति कहा जासकता है मानलिया जासकता है क्योंकि ऐसा मान लेना मान्यता ही है। इस मान्यता की आत्मधारा में परिणति तो उस अनन्तप्रपञ्च के अन्यतम प्रतीकरूप मानव के द्वारा ही होगी जैसाकि सम्भवतः आगे चलकर स्पष्ट हो सकेगा।

१६५—प्रतीकाधार की अमूर्त्तता, एवं प्रतीक की मूर्त्तता, तथा—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च' श्रुति का समन्वय—

जो प्रतीक है वही मूर्त्त है एवं जिसका प्रतीक है—वही अमूर्त्त है। जिसका जो प्रतीक है वह प्रतीक भी तो वही है। वही तो प्रतीकरूप में परिणत हुआ है। एकधारूप प्रतीक उस व्यापक अव्ययी से अभिन्न ही तो है। अस्तुप्रतीकस्था से समन्वय कीजिए इस दृष्टिकोण का। अनन्तकाल का स्वभाव 'अमूर्त्त' है अनन्तकाल का स्वभाव 'मूर्त्त' है। यों स्वयं मूलभूत अनन्तकाल ही—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे—मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च' रूप से दो महिमाभावों में परिणत होरहा है। अतएव इसके पूर्वप्रतिपादित सातों ही प्रतीक विवर्त्तों में—प्रत्येक में—अमूर्त्त—मूर्त्त—दोनों महिमाभाव समाविष्ट रहेंगे। तभी तो इनका प्रतीकत्व सुरक्षित रहेगा। और तभी तो यह कहा जासकेगा कि वह अपने एकधारूप प्रतीकभाव से अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है तो एकधारूप यह अपनी एकधाता से उस अव्ययी के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। अमूर्त्त—मूर्त्त दोनों का समाहार ही इस समग्रता का कारण बन रहा है।

१६६—सप्तकालविवर्त्तानुगत अमूर्त्त—मूर्त्तभाव, सविशेष कालविवर्त्तों की प्राकृतता, एवं नात्र एकान्तिकामूर्त्तत्वस्य तु—आशास्ति—

और भी अनन्तकाल से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल-पर्यन्त व्याप्त सातों कालविवर्त्तों के प्रत्येक के अमूर्त्तकाल मूर्त्तकाल—भेद से ही दो विवर्त्त होजाते हैं जिनके सम्बन्ध में यह अवश्य ही ध्यानपूर्वक समन्वय करते जाना चाहिए कि, पूर्व—पूर्व के कालविवर्त्त उत्तर उत्तर के कालविवर्त्त की अपेक्षा से अमूर्त्तकाल बन रहे हैं एवं उत्तर—उत्तर के काल पूर्व—पूर्व की अपेक्षा मूर्त्तकाल बन रहे हैं। अमूर्त्त दृष्ट्या सभी कालविवर्त्त अनन्त हैं यही सविशेषानन्त्य है प्राकृतिकानन्त्य है। एवं मूर्त्तदृष्ट्या सभी कालविवर्त्त सादिसान्त हैं, यही सविशेषप्राकृतभाव है प्राकृतिक अन्त भाव है नात्र-ऐकान्तिकामूर्त्तत्वस्य तु-आशास्ति। अपेक्षानन्त्य ही इस प्राकृतानन्त्य का एकमात्र महान् उत्कर्ष है जिसे शास्त्रीय—भाषा में लोकसमृद्धिरूप 'अभ्युदय' कहा गया है।

१६७—कालात्मक—अक्षरप्रजापतिरूप—प्राकृत विवर्त्त के अमूर्त्त—मूर्त्त—भावानुबन्धी—अमृत—मर्त्यात्मक अमृत—मर्त्य—भावों का स्वरूप—दिग्दर्शन—

रसानुबन्धी अनन्तभाव ही अमूर्त्त कहलाएगा सर्वत्र सभी विवर्त्तों में एवं अन्ततः पदार्थ एवं अन्वित पदार्थ ही इन अमूर्त्त—मूर्त्त—भावों की तात्त्विक परिभाषा होगी। अन्तः पदार्थ की महिमा—कहलाएगा एवं

नहीं मिलता। अतएव इस सीमाच्छन्न रूप से चारों ओर से घिर गए बलों का सीमा के केन्द्र में परस्पर सश्लिष्ट हो ही जाना पड़ता है जिस इसी को 'बलचिति' कहा गया है। परस्पर सम्मिलित हो जाने वाले बलों की इस चिति का नाम मूर्त, किंवा मूर्ति अवश्य है। किन्तु इस का सूक्ष्ममूर्ति वा उस सीमावृत्त को ही माना जायगा, जिसका एक सुनिश्चित केन्द्र होता है। एवं जिस केन्द्रबल की स्थित्यात्मिका प्रेरणा से ही केन्द्रबल पर ही गत्यागतिशील बल सञ्चित होते हुए स्थूल मूर्त रूप में परिणत हो जाते हैं।

१७२–मन्थ्नोदनात्मक–संघर्ष का जन्मदाता पारमेष्ठ्य महदक्षरबल, तन्मूला ससृष्टि, एवं तत्पूर्ववर्त्ती कालविवर्त्तों का ससृष्टिभावों से पार्थक्य—

मानते हैं—स्वयं अनन्तकाल से आरम्भ कर महदक्षररूप परमेष्ठि-पर्यन्त बल चिति-अवस्था में परिणत नहीं हो सकते इन विवर्तों के अमृतप्रधान होने से एवं रसमात्राप्रधान होने से प्राणात्मक बन रहने से। किन्तु बलचिति का आधारभूत सीमावृत्त, एवं चितिप्रवर्त्तक बल तो तत्रापि विद्यमान हैं ही। अनन्तकाल महामाया रूपात्मक है। यह स्वयं ही वह सीमावृत्त है, जिस में अक्षरबन्धनात्मक असङ्ख्य–अनन्त बल इतस्ततः सञ्चरण करते ही रहते हैं। रसानुगता अमृतकला की प्रधानता से अवश्य ही इन में चिति नहीं हो पाती। अतएव इन का मथ भाव भी अभिव्यक्त नहीं हो पाता। मन्थनात्मक प्रचण्ड संघर्ष का उपक्रम तो होता है आपोमय परमेष्ठी में ही। जैसाकि– 'सोऽकामयत–अप्सु प्रविश्यते। स परात्प्रसोऽभ्यतपत्। स कूर्म्मोऽभवत्' इत्यादि से स्पष्ट है। यह सङ्क्रन्दनात्मक संघर्ष क्योंकि वहाँ नहीं है। अतएव विद्यमान भी इस सीमा के विद्यमान भी इदमस्त्व के, एवं विद्यमान भी बलों के अक्रमणात्मिका बलचिति नहीं होने पाती। उसीप्रकार, जैसे कि दुग्ध में किंवा दधि में विद्यमान भी घृत मन्थनात्मक संघर्ष के बिना व्यक्त नहीं हो पाता। ठीक यही स्थिति उन अव्यक्त–विवर्तों में समझ लीजिए।

१७३–'महिमान आसन्' मूला विभूतिसृष्टि, एवं 'रेतोधा आसन्' मूला चित्या सृष्टि, तथा तदनुबन्धी स्वाहा स्वधा-शब्दों का समन्वय

थोड़ा और स्पष्टीकरण कर लीजिए। एवं इस स्पष्टीकरण के लिए–'रेतोधा आसन्–महिमान आसन्' * इस मन्त्रवाक्य को अवधानपूर्वक लक्ष्यगत बना लीजिए। इसी मन्त्रवाक्य का पूरक है– 'स्वधा–अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्' यह वाक्य। दोनों वाक्यार्थों के समन्वय से मूर्त्तामूर्त्तविषयक सम्बन्धयावत् सम्प्रश्न(जिज्ञासाएँ) गतार्थ बन जाते हैं। कथमिति चेत्? श्रूयताम्। अनन्तकाल में जबकि सृष्टि का आधार भूत सीमावृत्त है सृष्टिप्रवर्त्तना का अवयवरूप इदमस्त्व विद्यमान है सृष्टि का आरम्भक (उपादानद्रव्य) बलतत्त्व विद्यमान है तो सृष्टि की अभिव्यक्ति तो होनी ही चाहिए, फिर वह अनन्तकालविवर्त्त हो अथवा तो उन्मांशमात्ररूप अक्षरतत्त्व हो किंवा अव्यक्तस्वयम्भू-व्यक्तस्वयम्भू महदक्षररूप-परमेष्ठी कोई भी क्यों न हो। यहाँ

---

*–तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्–महिमान आसन्–स्वधा अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्॥
—ऋक्सं॰ १०।१२९।५।

अव्यक्तस्वयम्भू में ही है न तदंशभूत पुरुषीरूपस्वयम्भू में ही है न तदंशभूत महद्ब्रह्ममूर्ति पारमेष्ठ्य मण्डल में ही है। इस चौथे परमेष्ठी के आपोमात्मक पुष्करपर्ण से ही दिग्भावात्मिका—मूर्त मायापरा—छन्दोमयी-मूर्ति का उपक्रम होता है। जबकि अनन्ताकाशात्मकरूप इन चारों अव्यय—अव्यक्त—स्वयम्भू—परमेष्ठी—नामक कालसिवर्तों में दिग्देशभाव अनुपपन्न है मूर्तदृष्ट्या तो फिर इनके सहप्रसिद्ध—मूर्त—भावों किंवा मूर्तिभावों का कैसे क्या समन्वय किया जाय ?।

१७०—प्रकृतिनिबन्धन सत्कार्य्यवादसिद्धान्तमूलक—प्रश्न—समाधान का समन्वय—

प्रश्न अवश्य महत्त्वपूर्ण है अतएव समाधरणीय भी। वस्तुतः मूर्तदृष्ट्या जिसे मूर्त किंवा मूर्ति कहा जाता है उस की अभिव्यक्ति तो सौरमण्डल से ही उपक्रान्त होती है। और इस मूर्तदृष्टि से तो सौर मण्डल से परस्तात् के सभी कालविवर्त अपनी प्राणात्मिका रसप्रधानता से अव्यक्त—अमूर्त—प्रधान बनते हुए केवल रसात्मक ही माने जायँगे। मूर्त्यनुगत मूर्त्तभाव तो सूर्य्य के मध्यभाग से ही उपक्रान्त बनता है। यह सबकुछ ठीक ठीक होने पर भी इस तथ्य के साथ भी गजनिमीलिका नहीं की जासकती कि, जिस मूर्त भाव की किंवा मूर्त्तारम्भाव की किंवा मूर्ति की सौरसंस्था से उपक्रान्ति होती है उसका बीज इसकी कारणभूता पारमेष्ठ्या महद्ब्रह्मप्रकृति में अवश्य ही होना चाहिए। यदि परमेष्ठी में यह मूर्त बीज है तो स्वयम्भू भी उस से वञ्चित नहीं माना जासकता। फिर तो सर्वाधारभूत उस अनन्ताकाश में भी यह मूर्त बीज मान ही लेना पड़ेगा जिसके बिना परमेष्ठी में भी बीजभाव अनुपपन्न है। जो है उसी की अभिव्यक्ति होती है। जो नहीं है मूलप्रकृति किंवा मूलब्रह्म में वह कदापि पृथक्कालात्मक भव—व्यक्त—विवर्त में नहीं हो सकता। यही तो प्रकृतिमूलक वह सत्कार्य्यवादसिद्धान्त है जिसका भगवान् ने भी समर्थन किया है *।

१७१—बलचितिरूपा संसृष्टि चयनानुगता इष्टकाचिति, चित्यात्मक—रासायनिक—सम्मिश्रणरूप—याग, एवं तदाधारभूत केन्द्रबल का समन्वय—

मूलानुगत मूर्तभाव किंवा मूर्तिभाव का अर्थ है—अमूर्त प्राणात्मक रस के आधार पर मूर्तमूलमयबलात्मक बलों की परस्पर—ग्रन्थि बन्धात्मक अन्तर्य्याम—सम्बन्ध परस्पर ग्रन्थिबन्धन चयन। इसी बलचिति का नाम है बलों की 'संसृष्टि'। और यही संसृष्टि इस बलचिति की मूर्त किंवा मूर्तरूप प्रदान करती है जिस में दिक् और तदनुगत देशात्मक प्रदेश अभिव्यक्त रहता है। अवश्य ही इस मूर्त किंवा मूर्तिभाव की अभिव्यक्ति-स्वरूपनिष्पत्ति के लिए बलों की चिति अपेक्षित है जो यज्ञपरिभाषा में—'इष्टकाचिति' कहलाई है जिसका आधार संवत्सरात्मक प्रजापति एवं चयनात्मक सम्वत्सराग्नि ही माना गया है। बलचिति का अर्थ है—गतिधर्म्मा विरुद्ध अनेक बलों का पारस्परिक सम्मिश्रण। इस सम्मिश्रण का आधार है—कोई ऐसा सीमित क्षेत्र जो इन बलों के गमनागमन का 'सरणि' रूप एक अवकाशपथ बना रहता है। इस सीमाबद्ध अवकाशपथ के कारण ही गत्यागतिशीला बलों को बाहिर की ओर वितत होने—फैलने के लिए क्योंकि असीम—अपरता

*—नासतो विद्यते भावः, नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

—गीता २।१६।

नहीं मिलता । अतएव इस अभ्यान्तरग्रन्थन से चारों ओर से घिरे हुए बलों को सीमा के केन्द्र में परस्पर संश्लिष्ट हो ही जाना पड़ता है एवं इसी को बलचिति कहा गया है । परस्पर सम्मिलित हो जाने वाले बलों की इस चिति का नाम मूर्त, किंवा मूर्ति अवश्य है । किन्तु इस की मूर्तमूर्ति तो उस सीमावृत्त को ही माना जायगा, जिसमें एक सुनिश्चित केन्द्र होता है । एवं जिस केन्द्रस्थ की सिसृक्षात्मिका प्रेरणा से ही, केन्द्रस्थल पर ही गत्यागतिशील बल संश्लिष्ट होते हुए स्थूल मूर्त रूप में परिणत हो जाते हैं ।

१७२–सपक्लेदनात्मक–संघर्ष का जन्मदाता पारमेष्ठ्य महदक्षरकाल, तन्मूला संसृष्टि, एवं तत्पूर्ववर्ती कालविवर्त्तों का संसृष्टिभावों से पार्थक्य—

मानते हैं–स्वयं अनन्तकाल से आरम्भ कर महदक्षरकाल परमेष्ठि-पर्यन्त बल चिति अवस्था में परिणत नहीं हो सकते इन विवर्तों के अमूर्त प्रधान होने से एवं परमाणुरूपात्मक होने से, प्राणात्मक बने रहने से । किन्तु बलचिति का आधारभूत सीमावृत्त, एवं चितिप्रवर्त्तक बल तो तथापि विद्यमान हैं ही । अनन्तकाल महामाया-वृत्तात्मक है । यह वृत्त ही वह सीमावृत्त है जिस में अक्षरकम्पनात्मिक असंख्य–अनन्त बल इतस्ततः सञ्चरण करते ही रहते हैं । रसानुगता अव्यक्तता की प्रधानता से अवश्य ही इन में चिति नहीं हो पाती । अतएव इन का सर्वभाव भी अभिव्यक्त नहीं हो पाता । मन्थनात्मक प्रचण्ड संघर्ष का उपक्रम तो होता है आपोमय परमेष्ठी में ही । जैसाकि–'सलिलस्य–अप्सु प्राविष्यत । स पराङ्मोऽत्यचरत् । स कूर्म्मोऽभवत्' इत्यादि से स्पष्ट है । यह सङ्क्लेदनात्मक संघर्ष क्योंकि वहां नहीं है । अतएव विद्यमान भी वृत्तसीमा के विद्यमान भी हृदयस्थ के, एवं विद्यमान भी बलों के व्यक्तमात्रात्मिका बलचिति नहीं होने पाती । उसीप्रकार, जैसे कि दुग्ध में किंवा दधि में विद्यमान भी घृत मन्थनात्मक संघर्ष के बिना व्यक्त नहीं हो पाता । ठीक यही स्थिति उन अव्यक्त–विवर्त्तों में समझ लीजिए ।

१७३–'महिमान आसन्' मूला विभूतिसृष्टि, एवं 'रेतोधा आसन्' मूला चित्या सृष्टि, तथा तदनुबन्धी स्वधा प्रयति–शब्दों का समन्वय

थोड़ा और स्पष्टीकरण कर लीजिए । एवं इस स्पष्टीकरण के लिए–'रेतोधा आसन्–महिमान आसन्' * इस मन्त्रवाक्य को अवधानपूर्वक लक्ष्यगत बना लीजिए । इसी मन्त्रवाक्य का पूरक है–'स्वधा–अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्' यह वाक्य । दोनों वाक्यार्थों के समन्वय से मूर्त्तामूर्त्तविषयक तत्त्वचावत् सम्प्रश्न(जिज्ञासाएँ) गतार्थ बन जाते हैं । कथमिति चेत् ? श्रूयताम् । अनन्तकाल में जबकि सृष्टि का आधार भूत सीमावृत्त है सिसृक्षाकामना का उत्पादक हृदयबल विद्यमान है सृष्टि का आरम्भक (उपादानद्रव्य) बलतत्त्व विद्यमान है तो सृष्टि की अभिव्यक्ति तो होनी ही चाहिए, फिर वह अनन्तकालविवर्त्त हो, अथवा तो कर्म्महिमारूप अक्षरकालात्म हो किंवा अव्यक्तस्वयम्भू-व्यक्तस्वयम्भू महदक्षररूप-परमेष्ठी कोई भी क्यों न हो । यहां

---

*–तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन्–महिमान आसन्–स्वधा अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात् ॥
—ऋक्सं० १०।१२९।५।

अव्यक्तस्वयम्भू–तथा–व्यक्तस्वयम्भू–दोनों को एक स्वयम्भू विवर्त मान लेते हैं–साम्यात् । एवं महामाय-विच्छिन्न अश्वत्थ का महामहिम–महामायाश्वत्थात्मक अनन्तकाल में अन्तर्भाव मान लेते हैं । यों इन पाँ विवर्तों के तीन ही प्रमुख विवर्त रह जाते हैं । अनन्तकाल, और अनन्त अश्वत्थ दोनों की समष्टि को ह 'अनन्तकाल' कहेंगे एवं अनन्ताव्यक्तस्वयम्भू तथा अनन्तपुरुषीयस्वयम्भू–दोनों को 'अनन्त स्वयम्भू कहेंगे एवं तीसरा 'अनन्तपरमेष्ठी' रहेगा । और इस त्रित्व को आधार बना कर ही रेवोवा आसन्(इत्यादि के समन्वय का अन्वेषण करना पड़ेगा ।

१७४–कलनमात्रात्मक कलात्मक काल, तदनुबन्धी षोडशकल अश्वत्थपुरुष की काम-रूपता तत्त्रिमूर्तिरूप सृष्टिविवर्त, एवं अनन्तकाल, तथा अव्ययाश्वत्थकाल की अभिन्नता—

कला ही कलनभाव का आधार है जिस कलनभाव को ही–'कला' कहा गया है । अव्ययपुरुष भी पञ्चकल है अक्षर भी पञ्चकल है क्षर भी पञ्चकल है । तभी तो अश्वत्थात्मा षोडशी (षोडशकल) कहलाता है । कलनात्मक काल का ही नाम 'अक्षरप्रकृति' है । अतएव कलात्मक अव्यय भी तत्त्वतः अक्षररूप ही है कलात्मक क्षर भी अक्षररूप ही है एवं स्वयं की अक्षररूपता तो स्पष्ट ही है । कलातीत निष्कल अनन्तब्रह्म तो पृथग् वस्तुतत्त्व है । एवं कलात्मक, अतएव कालात्मक पञ्चकल अव्यय तो अक्षरप्रकृतिरूप ही बन रहा है और यही अनन्तकाल का स्वरूप–परिचय है । तात्पर्य यही है कि जब अक्षरप्रकृतिरूप अव्यय को आधार बना लेता है तो इसके द्वारा अव्ययसृष्टि (अव्ययात्मिका अक्षरसृष्टि) हो जाती है । यही कलामकृति (अक्षर) जब स्वयं को लक्ष्य बना लेती है तो इसके द्वारा अक्षरसृष्टि हो जाती है । अव्ययात्मिका अक्षर प्रकृति का नाम ही है–अनन्तकाल (जिस में अनन्तकाल और अव्ययाश्वत्थषोडशी ब्रह्म दोनों समन्वित हैं) ।

१७५–कलासृष्टि का स्वरूप–परिचय, एवं 'कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्' का समन्वय—

अक्षरात्मिका अक्षरकालसृष्टि का ही नाम है–'स्वयम्भूकाल' (जिस में अव्यक्त स्वयम्भू एवं पुरुषीयस्वयम्भू–दोनों समन्वित हैं) । ये दोनों सृष्टियाँ व्यक्तियाँ भले ही न हों, किन्तु 'सृष्टि' इनको अवश्य ही कहा जा सकता है । अनन्तकाल–परात्परानुगता अव्ययसृष्टि का नाम ही है–'कलासृष्टि' जिस से अनन्ता स्वयम्भूर्वि अक्षरकाल अश्वत्थषोडशीब्रह्म–रूप में परिणत हो रहा है । यही मानसीसृष्टि है, यही मायासृष्टि है जिस में सभी महिमामय बने हुए हैं । यहाँ का सृष्ट्याधारभूत कालतत्त्व भी महिमामय है अतः भविष्यि वह भी मायात्मक ही है एवं विश्वपोषणरूप हृदय भी मायात्मक ही है । जिसे मानसिक चित्र कहा जाता है लोक में जो मनोदृष्ट्या चित्र है, किन्तु जिसकी अभी लोक में अभिव्यक्ति नहीं हुई है । ऐसी ही ही कुछ स्थिति समझिए उस प्रथम अव्ययात्मक अक्षरमूर्ति अनन्तकालपरात्पर में । इसी प्रथम–कलासर्गात्मक मानसर्ग को अधामध्वरूप संकल्पसर्ग को लक्ष्य बना कर मुनि ने कहा है—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥
—श्वे० उप० ५।१४।

१७६–गुणसर्गात्मक पञ्चतन्मात्रासर्ग, तदभिन्न 'प्राणसर्ग', एवं–'गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः' का समन्वय —

जब कालप्रकृतिरूप अक्षर स्वयं अपने से ही सृष्टि का लक्ष्य बना लेता है, तो इस अक्षरात्मक अक्षरकाल का नाम होता है–अव्यक्तस्वयम्भूकाल। इस की पञ्चप्राणात्मिका अव्यक्ता अक्षरसृष्टि का नाम ही है–'गुणसर्ग' जो कि गुणसर्ग रूपरसगन्धस्पर्शशब्द नामक पञ्चतन्मात्रा–सर्ग' नाम से भी समन्वित हुआ है। स्वयम्भू ब्रह्म अप्रात्मा है। यही गुण–भूतात्मक मात्रासर्ग का प्रवर्तक है, जो कि 'प्राणसर्ग' नाम से भी प्रसिद्ध है। निम्नलिखित श्वेत–श्वतर वचन इसी उस अक्षरप्रधान गुणसर्गात्मक पञ्चतन्मात्रासर्ग की ओर सङ्केत कर रहे हैं, जिसके सीमातीत बल धन्य भाति सभी विवर्त प्राणात्मक अव्यक्तभाव के कारण महिमामय ही बने हुए हैं। स्वयम्भू जहाँ महिमामय था वहाँ यह गुणसर्ग भी महिमामय ही बन रहा है।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥
—श्वे० उप० ५।५।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
तदादेव प्रसूयन्त प्रकृति गुण-कर्मतः ॥
—मनु

१७७–मूर्त्तिसृष्टि की आधारभूता रत रेतोधा-योनि त्रयी का दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी विप्रतिपत्ति—

मानस भावविवर्त प्राणात्मक गुणविवर्त ये दोनों ही महिमाविवर्त हैं। इन्हीं के लिए 'महिमान आसन्' कहा गया है जिनमें ग्रन्थिबन्धन का अभाव है। सृष्टि है, किन्तु मनोमयी (भावमयी) और प्राणमयी (गुणमयी)। मैथुनीसृष्टि का नाम ही मूर्त सृष्टि किंवा मूर्त्तिसृष्टि है जिसमें 'रत–रेतोधा–योनि' इन तीनों का समन्वय अपेक्षित है। एवं इस सृष्टि का उपक्रम होता है आपोमय-सोममूर्त्ति परमेष्ठी से ही। पारमेष्ठ्य-सम्म त्रिरोभाव ही यह 'शुक्र' (रेत) है जिसका मातरिश्वा नामक वायव्यप्राणरूप रेतोधा से सावित्राग्निरूप योनि में आधान होता है। और रेतोधा मातरिश्वा* के द्वारा सावित्राग्निरूप योनि में आहुत पारमेष्ठ्य सम्वर्त्तरूप आपः

---

*–अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥१॥
स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ॥
कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
—ईशोपनिषत्

शुक्र की आहुति से ही व्यक्तमूर्ति प्रथम-सन्तति भगवान् सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ है। यही 'विकारसर्ग' है। अक्षर जब क्षर का आलम्बन ग्रहण कर लेता है, तो उस मन्त्र मह अक्षर ही मह… परमेष्ठीभाग कहलाने लगता है। यही रेतोधामूला वैकारिकी सृष्टि उपक्रान्त हो जाती है। इसी … 'रेतोधा आसन्' कहा गया है।

१७८—अनन्तावरवत्सकाल के प्रमुख तीन महिमाविवर्त्त, त्रिसर्गत्रयानुगता मान-विकार-सर्गत्रयी एवं परस्तात्सर्ग-अवस्तात्सर्ग—मूलक 'स्वधा अवस्तात्, प्र… परस्तात्' इत्यादि श्रौतवचन का तात्त्विक समन्वय—

यो अव्यय—अक्षर—क्षर—भावलक्षण से एक ही अक्षरकाल क्रमशः अनन्तावरवत्सकाल … स्वयम्भूकाल-व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठीकाल—भेद से तीन भागों में परिणत होकर तीनों स्थानों में … मनसा—प्राणेन—वाचा-भाव-गुण विकार-नाम की तीन सृष्टियों का प्रवर्त्तक बन रहा है। तीनों में और गुण—नामक दो महिमासर्ग परस्तात्सर्ग हैं जिनका केवल स्वागतिरूप 'प्रयति' से ही समन्व… इनमें चितिरूप आधान (रेत के आधान का अभाव है। एवं विकारसर्गात्मक पारमेष्ठ्यसर्ग परमेष्ठी नहीं, अपितु परमेष्ठी से उत्पन्न सूर्य्य-भूः-चन्द्रादि मूर्त्त-व्यक्त सर्ग) रूप रेतोधा सर्ग अवस्तात् … जिनका सचितिरूप 'स्वधा' से सम्बन्ध है। उभयरूपाभावरूपा में केवल स्वागतिमात्र है तदभिवि… अतएव वस्तु का वस्तु पर आधान नहीं होता इस महिमासर्गद्वयीरूप परस्तात्सर्ग में—'प्रयति' परस्तात्। रेतोधारूपा स्वाहितलक्षणा विकारसृष्टि तो होती ही तब है, जबकि वस्तु का वस्तु पर आधान हो जाता है वि… जाती है। यही स्वाधानरूपा-स्वस्मिन्धत्ते-रूपा 'स्वधासृष्टि' है—'स्वधा-अवस्तात्'।

१७९—सर्गत्रयानुगता सम्बन्धत्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

निष्कर्ष उक्त सन्दर्भ का यही है कि, विकारसृष्टिरूपा मूर्त्त-सृष्टि के बीज का नाम है गुणसृष्टि, गुणसृष्टि के बीज का नाम है भावसृष्टि। उसी प्रकार से अव्ययसाक्षी में भावसृष्टि होती है जिसमें ए… वस्तु परस्पर विभूति-सम्बन्ध से ही प्रतिष्ठित रहते हैं। उसी प्रकार से स्वस्थानी में गुणसृष्टि हो… जिसमें सम्पूर्ण वस्तु परस्पर 'योगसम्बन्ध' में ही परिणत रहते हैं। एवं उसी प्रकार से क्षरस्थानी में वि… सृष्टि होती है जिसमें सम्पूर्ण वस्तु 'मन्थिबन्ध-सम्बन्ध' में ही परिणत रहते हैं। इतिरूप-वस्तु के वि… योग-बन्ध-नामक तीन पारस्परिक सम्बन्धों के कारण ही सृष्टि-सर्ग त्रिधा विभक्त हो रहा है जिनमें अव्य… अक्षरसर्गरूप भावसर्ग स्वानुगतसर्गरूप गुणसर्ग ये दोनों सर्ग तो अमूर्त्त हैं एवं क्षरानुगताक्षरसर्गरूप वि… सर्ग मूर्त्त सर्ग है। बीजाधानकर्तृत्व बीजस्वरूपनिर्म्मातृत्व बीजकार्य्यस्वरूपनिष्पत्तित्व इन तीन पर्वों में वि… है सृष्टितत्त्व। बीजाधानकर्तृत्व अव्ययात्मक अक्षर का धर्म्म है—'अहं बीजप्रदः पिता' (गीता)। बी… रूपनिर्म्मातृत्व अक्षरात्मक अक्षर का धर्म्म है 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्' (गीता)। बीज को बीजाव कुरुत्वायेन वृक्षरूपात्मक मूर्त्तस्वरूप में निष्पन्न करना क्षरात्मक अक्षर का धर्म्म है … सर्वाणि भूतानि (गीता)।

१८०–सम्प्रश्नात्मिका जिज्ञासा का समाधान तीन 'स्वस्तिकभाव', एवं सम्प्रश्न के तात्त्विक समाधान का परिलेख–माध्यमेन समन्वय

स्थिति का स्पष्टीकरण तो हुआ। किन्तु सम्प्रश्न का अभी सर्वात्मना समाधान न हो सका। मान लिया कि, अनन्तकाल से आरम्भ कर परमेष्ठी-कालपर्य्यन्त अव्यय-अक्षरानुगत भाव तथा गुणभावापन्न महिमानः रूप अव्यक्त अमूर्त-वर्ग ही है। किन्तु बतलाया तो यह गया था कि आठों ही कालविवर्तों में समष्टि, आर स्वरूप से क्रमश अमूर्त-मूर्त नामक अव्यक्त-व्यक्त-दोनों भाव हैं। अव्यक्तता, एवं तदनु बन्धिनी अमूर्तता तो समझ में आती है उन विवर्तों में। किन्तु मूर्त्तभाव समझ में नहीं आ रहा। समझ में इसलिए नहीं आ रहा नहीं आ सकता कि, हमारी समझ स्वकल्पनामय दिग्देशकालात्मक उस भौतिक भूभाग में अभ्यस्त बन गई है कि जीवनाभावापन्न, अतएव मन प्राणात्मक ही, अतएव च अमूर्त्तभावप्रधान ही सूक्ष्म मूर्त्त भाव को स्थूलमूर्त्तभावाभ्यस्ता हमारी समझ पकड़ ही नहीं पाती। बुद्धि पकड़े अथवा न पकड़े तथापि अमूर्त्तात्मक मूर्त्त भाव-प्रोक्तरूपेण हैं अवश्य ही उन अव्यक्त-अमूर्त विवर्तों में जिनका लोकप्रसिद्ध 'स्वस्तिक' से समन्वय किया जा सकता है। अनन्तकाल भी महामायाकृत्यात्मक है तदवच्छिन्न अनन्ताश्वत्थ-धाम भी मायाकृत्यात्मक है अव्यक्तस्वयम्भू भी योगमायात्वेन मायाकृत्यात्मक है एवं पुण्डीरस्वयम्भू का वो-'रचैयास्त्र' स्पष्ट ही है मायारूपेण। तथा परमेष्ठी की रेतोऽपरूपता भी तत्त्वसम्मत है। प्रत्येक वृत्त ६ क के अनुपात से चतुर्भुजात्मक है। यह चतुर्भुजता ही वह छन्द है जिसे आकार कहा गया है जो कि आकार ही दिग्रूप सूक्ष्म छन्द माना गया है। इस छन्दोरूप दिक् से वृत्त से सीमित मात्रात्मक बल, तथा गुणात्मक बल ही देश का सीमात्मक लक्षण है। 'जिसमें चतुष्कोणानुगत-चतुर्भुज-समन्वित हो, चतुर्भुजात्मक बिम्ब इस वृत्त में यथारूप-यस्तुभावरूप तत्त्व प्रतिष्ठित हो उसी का नाम तो 'मूर्त्त' किंवा मूर्ति है। पूर्वोक्त सभी कालविवर्त वृत्तात्मक हैं अतएव चतुर्भुज-स्वस्तिकात्मक हैं और यही इनकी सूक्ष्मा दिग्रूपता है। सभी कालवृत्त विभूति तथा-योगतत्त्वावच्छिन्न अपने भावों से समन्वित हैं अपने अपने मात्रात्मक तथा गुणात्मक वर्गों से। और यही इनकी सूक्ष्मा सीमाभिमत देशरूपता है। एवं कालात्मकता तो स्वतःसिद्धा है ही। यों मूर्त्ति,किंवा मूर्त्त भावानुबन्धी काल-दिक्-देशात्मक तीनों सूक्ष्मभाव विद्यमान ही हैं अनन्तकाल विवर्त से आरम्भ कर-परमेष्ठी-पर्य्यन्त। काल–दिक्–देश की समन्वितावस्था का नाम ही अव्यक्ता–अमूर्ता-प्रकृति है एवं दिक्–देश–काल की समन्वितावस्था का नाम ही व्यक्ता–मूर्ता–प्रकृति है। अमूर्ता प्रकृति भी मूर्त्त भाव से समन्विता है एवं मूर्ता प्रकृति भी अमूर्त्तभाव से समन्विता है। अन्तर स्थितिमात्र में है। अमूर्ता प्रकृति के गर्भ में मूर्त्तभाव महिमान' रूप से प्रतिष्ठित हैं एवं मूर्ता प्रकृति के गर्भ में अमूर्ता प्रकृति प्रतिष्ठित है बुद्धिगम्या व्याख्या की दृष्टि से। अव्यक्त के मूर्त्त भाव महिमान' हैं, एवं व्यक्त के मूर्त्त भाव रसोधा हैं। हैं दोनों स्थानों पर दोनों ही। इसप्रकार सभी सम्प्रश्न सर्वात्मना समन्वित हो जाते हैं जिनका परिलेख के माध्यम से समन्वय किया जा सकता है।

१—अनन्तकाल
२—अश्वत्थकाल
}—अनन्तकालः—अव्ययानुगतोऽक्षरकाल (१)—अनन्तः }—मायात्मकः

३—अव्यक्तस्वयम्भूकाल
४—पुरुषीरस्वयम्भूकालः
}—स्वयम्भूकाल—स्वानुगतोऽक्षरकालः (२)—अव्यक्तः }—गुणात्मक

५—परमेष्ठिकाल
}—परमेष्ठिकाल—क्षरानुगतोऽक्षरकाल (३)—अमूर्तः

६—सौरसम्वत्सरकाल
७—पार्थिवसम्वत्सरकालः
८—चान्द्रसम्वत्सरकालः
}—क्षरानुगतो—विकारकालः (४)——मूर्तः

}—विकारात्मकः

—•—

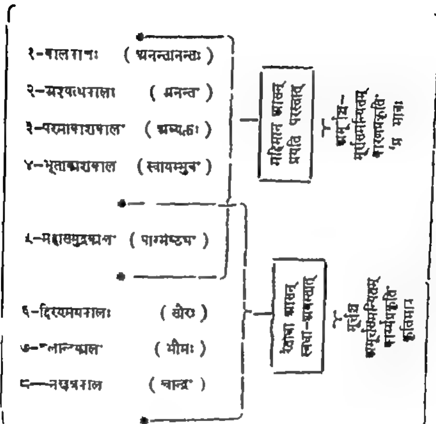
१—महामायाकालम् (अनन्तः) (०)
२—मायाकालम् (अश्वत्थ) (७)
}—अव्ययाभिमा प्रकृतिरक्षरः—अनन्तः—मनोमयः
— ततो—मायावच्छिन्नविभूतिलक्षणा —

३—योगमायाकालम् (परोरजाः) (६)
४—उपयोगमायाकालम् (पुरुषीरः) (५)
}—स्वाभिमा प्रकृतिरक्षरः—अव्यक्तोऽमूर्तः—प्राणमयः
— ततो गुणावच्छिन्नयोगलक्षणा —

५—रेतोऽब्धकालम् (परमेष्ठी) (४)
६—यशोऽब्धकालम् (सूर्यः) (३)
}—क्षराभिमा प्रकृतिरक्षरः—व्यक्तो मूर्तः—वाङ्मयः
— ततो—विकारावच्छिन्नबन्धलक्षणा —

७—श्रोत्रब्धकालम् (भूपिण्डः) (२)
८—अस्तब्धकालम् (चन्द्रमा) (१)

—•—



१८१–परस्तात्-कालादित्रयों के बीजात्मक मूर्त्तभावों के सम्बन्ध में तथाभिव्यक्तिरूप एक नवीन सम्प्रश्न—

अब केवल एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रश्न और शेष रह जाता है इस सम्बन्ध में जिसका दो शब्दों में समन्वय कर यह दिग्देशकालमीमांसा उपरत हो रही है। कालाक्षर के वासितभूधुव आठ विवर्त्तों में से आरम्भ के पाँच कालविवर्त्तों में जब बीजात्मक भावात्मक, तथा गुणात्मक सुसूक्ष्म–काल–दिग्–देशरूप मूर्त्तभाव विद्यमान हैं तो यहीं ये बीजाङ्कुरन्यायेन पुष्पित पल्लवित क्यों नहीं होगए ?। क्यों नहीं अनन्तकाल से आरम्भ कर पाँचवें महासमुद्रात्मक परमेष्ठीकाल–पर्य्यन्त के परस्तात् कालविवर्त्तों में बीजात्मक 'कालदिग्देश' भाव मूर्त्त रूपेण सर्वात्मना अभिव्यक्त होगए ?। क्यों न परस्तात् कालविवर्त्तों में लोकप्रसिद्ध मूर्त्तभाव अभिव्यक्त नहीं हुआ ?।

१८२–कालतत्त्व के ऋजु, तथा वक्र भावों के माध्यम से सम्प्रश्न का समाधान, 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्' मन्त्रभाग का तात्त्विक समन्वय, एवं–'सीधी–अङ्गुलियों से घी नहीं निकला करता' लोकसूक्ति का रहस्यपूर्ण दिग्दर्शन—

उक्त महत्त्वपूर्ण सम्प्रश्न का उत्तर है– तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्'। (ऋक् सं० १०।१२९।५)। दो पारिभाषिक शब्दों को लक्ष्य बनाने से इस सम्प्रश्न का भी समाधान हो जाता है। 'ऋजु' और

मार्प्ति विना शैलेश्यवस्था न जायते । तां विना सकलकर्मक्षयो न भवति । सकलकर्मक्षय विना मुक्तिर्न संभवति । मुक्तिमाप्तिं विनाऽयमात्माऽमरपदं न लभते । अमरपदमाप्तिं विनाऽऽत्मनः सिद्धावस्था न जायते, अतो भवानेव सकलकल्याण कारणमिति प्रतिक्षणं भवच्चरणसमाराधनमेव मम संयमाराधनम् । एवं गुरुमाराधयन् गुणनिधिः संयमयात्रां निर्वहन् स्वात्मकल्याणमचिरेण साधितवान् । एवमन्येनापि शिष्येण विनयपरेण भवितव्यम् ॥ २ ॥

अविनीतत्ववर्जनेन विनीतो भवतीत्यतो विनीतविपरीतमविनीतस्वरूपमाह—

पाया) प्राप्त नहीं हो सकता । शुक्लध्यान के दूसरे पाये की प्राप्ति विना केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। केवलज्ञान की प्राप्ति विना शैलेशी अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती है। शैलेशी अवस्था की प्राप्ति विना सकल कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता है और सकल कर्मोंके क्षय विना मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, और मुक्तिकी प्राप्ति विना अमरपद नहीं मिल सकता । अमर पद पाये विना आत्मा सिद्धावस्थासम्पन्न नहीं वन सकता । इस लिये हे नाथ ! आप ही सकल कल्याण के कारण हैं, अतः प्रतिक्षण आपके चरणोंका आराधन ही मेरा संयमाराधन है। इस प्रकार अपने गुरुकी आराधना करते हुए गुणनिधि ने तप संयम की आराधना की, और थोडे ही काल में आत्मकल्याण किया । इसी तरह अन्य शिष्योंको भी अपने गुरुके प्रति विनयशील रहना चाहिये ॥ २॥

નથી શુક્લધ્યાનના બીજા પાયાની પ્રાપ્તિ વિના કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ થતી નથી. કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ વિના શૈલેશી અવસ્થા પ્રાપ્ત થતી નથી. શૈલેશી અવસ્થાની પ્રાપ્તિ વિના સકલ કર્મોનો ક્ષય થતો નથી અને સકલ કર્મોના ક્ષય વિના મુક્તિની પ્રાપ્તિ થતી નથી. અને મુક્તિની પ્રાપ્તિ વિના અમરપદ મળી શકતું નથી. અમરપદ મેળવ્યા વગર આત્મા સિદ્ધ અવસ્થાસંપન્ન બની શકતો નથી માટે હે નાથ ! આપજ સકલ કલ્યાણના કારણ છો એટલે પ્રતિક્ષણ આપના ચરણોનું આરાધનજ મારૂ સંયમ આરાધન છે આ પ્રકારથી પોતાના ગુરૂની આરાધના કરતા કરતા ગુણનિધિએ તપ સંયમની આરાધના કરી અને થોડાજ કાળમા આત્મકલ્યાણ કર્યું આવી રીતે અન્ય શિષ્યોએ પણ પોતાના ગુરૂ પ્રત્યે વિનયશીલ રહેવું જોઇએ ॥૨॥

शुद्ध रूप से देखा जाय, तो यह भी स्वयम्भूसत्ता ऋजुरूप ही बना रहता है। वक्रता का उपक्रम अवश्य हो जाता है परमेष्ठीरूप में। अतएव इसे 'आपेक्ष्य' मान भी लिया जाता है। तदपि अपने स्वायम्भुव भावा नुरूप से परमेष्ठीरूप भी 'पूर्णोजा' ही बना रहता है। सर्वथा चक्र लक्षणता ही 'पूर्णोजा' पन है, जिस में सभी भाव सर्वथा ऋजुरूप से-अकुटिलरूप से-अवक्ररूप से इतस्ततः निर्विरोध स्व-स्व-नियत वर्त्मनी से सञ्चरण करते रहते हैं।

१८६-सर्पणशून्य अवक्रपेता पूर्णोजा कालविवर्त्त, तन्निबन्धना परिपूर्णता, एवं-'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादि वचन का समन्वय—

अतएव पूर्णोजता में कदापि सर्पण का अवसर आता ही नहीं। कोई प्राण किसी प्राण से उत्पीड़ित नहीं होता। इसलिए उत्पीड़ित नहीं होता कि-सभी की तब सत्ता से सभी हृदयप्राण समशक्ति-बलात्मक ही बने रहते हैं। जो वस्तु परिमण्डलात्मिका होगी, जब लक्ष्याक्षर होगी, उस की केन्द्रशक्तियां समानरूप से समानान्तर पर सर्वत्र समभावापन्नरूपेण ही परिव्याप्त रहेगी, एवं इस समानव्याप्ति-का नाम ही स्वत-भावात्मिका-परिपूर्णता होगा। अतएव पूर्णोजा विराट्-कालप्रजापति को-'सर्वतः पाणिपादाक्षिशिरोमुख' ही कहा गया है *। ऐसा पूर्णोजामार अपने महिमामण्डल में स्वयं अपने रूप से ही परिपूर्ण है। जैसा इस का स्वरूप है, वही पर्याप्त है इस के लिए। अन्य कोई कामना-वासना-इच्छा-आकांक्षा नहीं है इस पूर्णोजा ऋजुमण्डलमें। अतएव ऋजुमण्डलात्मक-पूर्णोजा-ऋजुकालविवर्तों में यह बलप्रधिकामना उत्पन्न ही नहीं होती, जिस के द्वारा सृष्ट-भूत-भाव का स्वरूप-निर्माण हुआ करता है। यही तो वह महिमात्मक विवर्त है जिसे समन्वित करने के लिए ही यह मीमांसा प्रस्तुत हुई है। भूत-भव-भी इस महिमामय विवर्त भाव से समन्वित हो कर ऋजु बन जाया करता है। और उस दशा में सम्पूर्ण कालपीड़न उपशान्त होजाता है।

१८७-पारमेष्ठ्य-कालानुबन्धी आपोमय नारदप्राण की सृष्टिकर्म्म से तटस्थता, एवं देवप्राणमूलक मूर्त्तसर्ग का समन्वय—

ऋजुरूपात्मक वस्तु ऋजु क्योंकि स्वयं में परिपूर्ण है। अतएव इस के प्राणात्मक बलभाव परस्पर उत्पीड़नपूर्वक सर्पण में आते ही नहीं। अतएव परिपूर्णभाव कदापि व्यक्त-मूर्त-भूत-सृष्टि का कारण नहीं बना करता +। तभी तो पारमेष्ठ्य 'नारः' नामक आपतत्त्व के आधारभूत 'नारदप्राण-ऋषि' को पुराण ने सन्तानकामुकता से अतीत ही मान लिया है। सभी प्राण प्राणत्वेन मूर्त्तसृष्टि से तबतक तटस्थ ही बने रहते हैं जबतक कि ये वस्तु ऋजुता से निकल कर वक्रता में नहीं आजाते। प्राण का ऋषिभाव वस्तु ऋजुतानुबन्धी है एवं इसी प्राण का 'वृषभाव' वक्रितपृष्ठानुबन्धी है। ऋषिप्राण से सृष्टि नहीं होती। सृष्टि होती है देवप्राण से

---

* सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
—श्रुतिः

+ न्यूनाद्धै प्रजाः प्रजायन्ते। (श्रुति)।

'वक्र' दोनों शब्द लोकप्रसिद्ध हैं जिन का लौकिक भाव 'सरलता–कुटिलता' इन नामों से लोक में प्रसिद्ध है। कहते हैं-'सीधी अंगुलियों से घी नहीं निकला करता'। जबतक अंगुलियों को तिरश्चीन नहीं कर लिया जाता, टेढा–कुटिल–नहीं बना लिया जाता जबतक पात्रस्थ घृत पात्र से बाहिर नहीं ह आ करता सीधेपन से, ऋजुता से कदापि कार्य्यसिद्धि नहीं हुआ करती।

१८३–दिग्देशकालात्मक मूर्त्तभावापन्न तत्त्वों का पूरक कुटिलकाल, एवं ऋजुकाल से मूर्त्तकार्य्यसिद्धि की अन्तर्मुखता—

कार्य्यसम्पादन के लिए व्यक्त–मूर्त–भौतिक–स्थूल–कार्य्य–सम्पादन के लिए तो वक्रमार्ग का ही आश्रय लेना पड़ता है। ऐसा ही कुटिल–काल का कुछ स्वभाव है। सम्भव है काल का ऋजुलक्षण भी हो। किन्तु मूर्त–भूत–स्थूल–जगत् के स्थूल-भौतिक–कार्यों में उस सरल–सीधेपन–ऋजु–काल का कोई उपयोग नहीं। काल का वक्रभाव–कुटिलभाव–टेढापन ही भौतिक–मूर्त–कार्य्य की स्वरूपसिद्धि का कारण बनता है जिस टेढेपन का नाम ही 'परोक्षभाव' है। यदि बात सीधी–सच्ची–ऋजुतापूर्वक कह दी जाती है तो उस ऋजुपथानुगामी सीधी–सच्ची–बात कहने वाले की तो प्राकृत–बुद्धिमान् लोकचतुर मानव 'भोंदू' कह कर उस की उपेक्षा ही कर दिया करते हैं। मूर्त जगत् के निर्माता कुटिलकाल से निर्मित मूर्त प्राकृत मानव ऋजुकालानुबन्धिनी सीधी–सच्ची बातें सुनना ही नहीं चाहते। सुन कर भी उन पर ध्यान ही नहीं देना चाहते। अपितु उस ऋजुपथ को तो वे सर्वथा उपेक्षित ही मान लेते हैं।

१८४–'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' लक्षण निष्ठासूत्र का आचारात्मक समन्वय—

अतएव आवश्यक हो जाता है कि, लोकजगत् में जो कुछ कहा जाय या कुछ किया जाय, परोक्षरूप से ही कहा और किया जाय। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' *। 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'। यही तो वह निष्ठासूत्र है जिस के स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही प्रस्तुत लोकनिबन्ध उपनिबद्ध हुआ है। इस कुटिल संसार में सीधी सच्ची बात का तबतक कोई मूल्याङ्कन हो ही नहीं सकता जबतक कि उसे घुमा–फिरा कर–अतिरञ्जित–कर–तोड़–मरोड़ कर–बना–चढ़ा–कर न कह दिया जाय। यही मूर्त–भूत–संसार का सहज स्वरूप है जिस लोकनिष्ठातथ्य को विस्मृत कर देने के कारण ही सीधी–सच्ची–बातें कहने सुनने वाले निष्ठानिष्ठ भारतराष्ट्र ने सम्पूर्ण लोकवैभव विलीन ही कर लिया है। इति नु सामयिक–उद्बोधनम्।

१८५–इतोऽप्यासन्न पञ्चविध अनन्तकाल विवर्तों की मङ्गलरूपता, तन्मूला 'अवक्रता,' एवं तन्निबन्धन सहज सम्पत्स्वरूप विभूतिभाव—

यह हमें कहनी पड़ रही है कि, अनन्तकाल से आरम्भ कर परमेष्ठी–पर्यन्त पर्यन्त–जो भी कालतत्त्व हैं, वे सब 'प्रत्यक्ष' ही बने हुए हैं। यद्यपि परमेष्ठीतत्त्व में थोड़ी वक्रता आ जाती है। किन्तु यदि इसे इस के वि–

*–उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥
—भर्तृहरिः।

पारिभाषिकी भाषा में स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिन का समन्वय अध्यक्चेता प्रज्ञाशीला को स्वयं ही कर लेना चाहिए—

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि, स उ रेळ्हि मातरम् ॥
—ऋक् सं० १०।११४।४।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥
—ऋक् सं० १०।८५।१८।

१९०—त्रिगुणात्मक महदक्षरकाल, तन्निबन्धन आकृति प्रकृति अहङ्कृतिभाव, तन्मूला त्रिकेन्द्रता, तदनुगता विषमता, तन्मूलक सङ्घर्ष, तज्जनिता चिति, एवं चिति-मूलक मूर्त्तजगत् का आविर्भाव—

पारमेष्ठ्य अक्षरकाल का नाम इसने महदक्षर बतलाया है। यही वह 'महत्प्रकृति इत्यभिधेयम्'। पारमेष्ठ्य अक्षरकाल का नाम इसने महदक्षर बतलाया है। अतएव मूला त्रिगुणात्मिका सृष्टि का उपक्रम महत्प्रकृतिरूप है जिस में त्रैगुण्य की अभिव्यक्ति होती है। अतएव मूला त्रिगुणात्मिका सृष्टि का उपक्रम महत्प्रकृतिरूप इस परमेष्ठी में ही होता है। यही सौरसम्वत्सर के सम्बन्ध से 'अहङ्कृति' भावात्मिका है, चान्द्रसम्वत्सर के सम्बन्ध से 'प्रकृति' भावात्मिका है एवं पार्थिवसम्वत्सर के सम्बन्ध से 'आकृति' भावात्मिका है। तीनों की समन्वितावस्था का नाम ही है 'मूर्ति' किंवा मूर्त्तभाव। सौर-चान्द्र-पार्थिव-सम्वत्सरत्रयी ही वह त्रिकेन्द्रता है, जिस से आगतसूत्र त्रिकेन्द्र बन रहा है। यही दीर्घवृत्त की वक्रता का कारण है। इस वक्रता से ही प्राणशक्तियों का सन्तुलन अन्तर्मुख हो जाता है एवं विषमता आविर्भूत हो पड़ती है। यही विषमता इन वक्रप्राणों में सङ्घर्ष उत्पन्न कर देती है। इस सङ्घर्ष का नाम ही प्राणपीडन है। इस पीडन से ही प्राणों की चिति होती है। और इस चिति से ही व्यक्त-भूत-मूर्त्त-मूर्ति-रूप सूर्य्य-चन्द्र-भू-पिण्ड-रूप प्रत्यक्षसिद्ध मूर्त्तजगत् अभिव्यक्त हो पड़ता है। वक्रता का उपक्रम होजाता है परमेष्ठी में ही, किन्तु इस वक्रता की अभिव्यक्ति होती है सर्वप्रथम सौरसम्वत्सर में ही। अतएव सौर क्रान्तिवृत्त ही 'दीर्घवृत्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिस कि विषमता के कारण ही इसे 'कुटिलवृत्त' भी कहा जासकता है।

१९१—सौरसम्वत्सरकाल की वक्रतात्मिका कुटिलता से ही द्रोणकलशानुगत आज्यरूप सोम का स्रवण, तद्द्वारा प्रजास्वरूपनिर्म्माण, एवं 'वक्रता' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

यही सौरकाल भारत की सांस्कृतिक प्रथा में 'वक्रकाल' 'कुटिलकाल' आदि नामों से प्रसिद्ध है। इसी वक्रभाव से पारमेष्ठ्य द्रोणकलश में रहता हुआ भृग्वङ्गिरोमय-स्नेहतेजोगुणक आज्य (घृत) मूलजगत् के स्वरूपनिर्माण के लिए बाहिर निकल पड़ता है। और यों कुटिलकालात्मक सूर्य्य ही दीर्घवृत्तानुगता अपनी कुटिल-रश्मिरूपा अङ्गुलियों से पारमेष्ठ्यकलश में से पूर्णकुम्भ में से (पूर्णा कुम्भोऽधि काले०)

'देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः (मनु) । ऋषिप्राण स्वयम्भू है–परोरजा है, अतएव यह लोका-तिमध्य भूरव्यवि से असस्पृष्ट है । स्वयम्भू पर्य्यन्त ही निरन्वयेन सभी कालात्मक वस्तु लादय ही बने रहते हैं ।

१८८–आंशिक वक्रतानुगत पारमेष्ठ्य महदक्षरकाल, तन्मूलक सम्वत्सरकाल की वक्रगतिरूपा–सर्वत्सरलक्षणा कुटिलता–वक्रता, एवं तद्रूप दीर्घवृत्तात्मक आपःकाल से मूर्धसर्गप्रवृत्ति—

आंशिक वक्रता आती है पारमेष्ठ्यआपः में । इस आंशिक वक्रता के आते ही यही कालतत्त्व 'अवक्रवृत्त' रूप में परिणत हो जाता है–'सोऽनया त्रय्या विद्यया सह–आपः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्तत' (शत० ६।१।१।१०) ।

इस आपःतत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम ही है–सम्वत्सरचक्र जिसे हम क्रान्तिवृत्त नाम से जान रहे हैं पहिचान रहे हैं । सम्वत्सरचक्रात्मक वृत्त वस्तु सरल नहीं है । अपितु वक्रित वृत्त है, कुटिल वृत्त है टेढ़ा वृत्त है । क्या तात्पर्य ? । तात्पर्य यही कि, त्रिकेन्द्रात्मक वृत्त का नाम ही क्रान्तिवृत्त है और इसे ही कहा जाता है 'दीर्घवृत्त' जिस का पूर्व में यत्रतत्र अनेकधा–बहुधा यशोवर्णन किया जाचुका है । त्रिकेन्द्रा-नुगता दीर्घवृत्तता का नाम ही है–आपःतत्त्वता और इसका मूलरूप अभिव्यक्त होरहा है आपोमय अनन्त समुद्र में ही ।

१८९–पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के अण्ड से विनिर्गत अग्निमूर्ति महासुपर्ण पक्षी, तत्सहचारी सोममूर्ति पक्षी, दोनों पक्षियों का समुद्र में सञ्चरण, एवं तदनु-बन्धिनी ऋक्‌मन्त्रत्रयी का संस्मरण—

ऐसा एक अण्डा है जो उस पारमेष्ठ्य समुद्र में सञ्चरण कर रहा है जो कभी व्यक्त हो पड़ता है तो कभी उसी समुद्रगर्भ में डुबकी लगा लेता है जलचरजीवों की भांति । सौर पार्थिव चान्द्र–समष्टिरूप महान् सम्वत्सर ही उस अण्डे में रहने वाला वह महासुपर्णपक्षी है * जो इस अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र में आविर्‌-तिरोभूत–होता रहता है । जिसप्रकार वात्सल्यरसपरिपूर्णा माता अपने शिशु को कभी अपने अञ्चल में छिपा लेती है तो कभी शिशु अपने स्वभावसुलभ क्रीड़ा–कौतुक से अञ्चल से बाहिर निकल आता है एवमेव आग्नेय सूर्य्य तथा सौम्य चन्द्रात्मक ये 'साम्वत्सरिक शिशु' आपो-वाग्-आप-रूप पारमेष्ठ्य-'अम्बा' समुद्र (मातृसमुद्र) में कभी तो छिप जाते हैं कभी निकल आते हैं । यों मानो मातृस्थानीय परमेष्ठी मन्वन्तरमूलक अपने इन सम्वत्सर-शिशुओं से क्रीड़ा ही करते रहते हैं सर्ग–संहार–रूपेण × । निम्नलिखित मन्त्र इसी रहस्य का अपनी रहस्यपूर्णा

---

* अथ ह वा ऽएष महासुपर्ण एव–यत्सम्वत्सरः । (शत० १२।२।३।७) ।

× मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः–संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥
—मनु १।८०

१६३–अनन्ताक्षरकाल के अमृत-मृत्यु-भूत-नामक तीन महिमाविवर्त, तदनुगत काल-दिक्-देश-विवर्त, एवं कालद्वयी, कालचतुष्टयी, कालत्रयी-रूपा नवकालात्मिका प्रकृति का काल-दिक्-देश-त्रयी में अन्तर्भाव—

उक्त निरूपण के माध्यम से ही अब यह तथ्य भी स्वतः ही समन्वित होगया कि परमदेवरूप अनन्ताक्षरकाल में ही अमृत–मृत्यु–भूत–रूप से तीन संस्थान व्यवस्थित हैं। काल–दिक्–देश–नामक तीन प्रमुख विवर्त हो जाते हैं भाव–गुण–विकार–भावत्रयी के अनुबन्ध से। अक्षरप्रकृति का अव्ययाश्रित–मात्रात्मक–रूप ही 'काल' है। अक्षरप्रकृति का स्वाश्रित गुणात्मक रूप ही 'दिक्' है। एवं अक्षर प्रकृति का क्षराश्रित विकारात्मक रूप ही 'देश' है। अनन्तकालात्मक प्रथम विवर्त एवं अश्वत्थ नामक द्वितीय विवर्त–इन दोनों की समष्टि का नाम ही अव्ययाश्रित–'भावात्मककाल' नामक काल है। अव्यक्त स्वयम्भू पुनः स्वयम्भू–विशुद्ध परमेष्ठी–तथा–अमृतसूर्य–इन चारों की समष्टि का नाम ही स्वाश्रित 'गुणात्मककाल' नामक 'दिक्' है। एवं मर्त्य सूर्य–चन्द्र–भूपिण्ड–इन तीनों की समष्टि का नाम ही क्षराश्रित–'विकारात्मककाल' नामक 'देश' है। यों आठों कालविवर्त इस समन्वय–दृष्टि से काल–दिक्–देशात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं जिन में पहिला अनन्तकाल ही प्रमुख काल है, पाँचवाँ परमेष्ठी-काल ही प्रमुख 'दिक्' है एवं ६ ठा सूर्य्य ही प्रमुख 'देश' है। अनन्तकाल ही अपने अनन्त–अश्वत्थ–स्वायम्भुव–रूपों के माध्यम से पारमेष्ठ्य–दिक्–रूप में परिणत हुआ है। यह अनन्त दिग्रूप परमेष्ठी ही चन्द्र पृथिवी–गर्भित सूर्य्यात्मक अनन्त देशरूप में परिणत हो रहा है। इसप्रकार अनन्तस्वयम्भू–अनन्तपरमेष्ठी–अनन्तसूर्य्य रूपेण एक ही काल इन तीन काल–दिक्–देश–भावों में परिणत हो रहा है। वही स्वयम्भू–रूपेण काल है वही परमेष्ठी–रूपेण दिक् है, वही सूर्य्य–रूपेण देश है। एवं इस देशात्मक सौरकाल की मूर्त्ता अभिव्यक्ति का नाम ही दिक्–देश–काल है। देशात्मक सूर्य्य मूर्त्त दिक् है देशात्मक पार्थिव विवर्त मूर्त्त देश है, एवं देशात्मक (प्रदेशात्मक) चन्द्रमा मूर्त्त काल है। परस्तात् भावों में काल–दिक्–देश (स्वयम्भू–परमेष्ठी-सूर्य्य–अमृतसूर्य्य)–यह क्रम है यही अमर्त्य कालत्रयी, किंवा काल–दिग्–देश–त्रयी है। अवस्तात्–भावों में दिक्–देश–काल (सूर्य्य–भू–चन्द्र) यह क्रम है यही मर्त्य कालत्रयी है किंवा दिग्देशकालत्रयी है। उपक्रम में अमृतकालात्मक काल है उपसंहार में मूर्त्तकालात्मक काल है। दोनों ओर से काल से ही आवृत सम्पूर्ण प्राकृत विवर्त कालात्मक ही है इति नु—

> सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देव
> तस्माद्धि नान्यत् परमस्ति तेजः
> कालं तमाहु: परमे व्योमन्
> कालः स ईयते प्रथमो नु देव

'आम्ब' निकालने में समर्थ पत्थर मूर्त्तिजगत् का निर्माण करते हैं। सच बात है। कभी सीधी अंगुलियों से घी नहीं निकला करता। मृत्युकाल के आधार पर पीड़ित कालकाल ही मूर्त्तसृष्टि का प्रवर्तक बनता है। बिना पीड़ात्मक संघर्ष के, चेतना के प्रजनन असम्भव है। इसी बात को लक्ष्य में रख कर 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधस्विदासीदुपरि स्विदासीत्' यह कहा गया है जिसके–'रेतोधा आसन्–महिमान–आसन्–स्वधा अवस्तात्–प्रयतिः परस्तात्' इन उत्तर वाक्यसन्दर्भ का पूर्व में समन्वय किया जा चुका है।

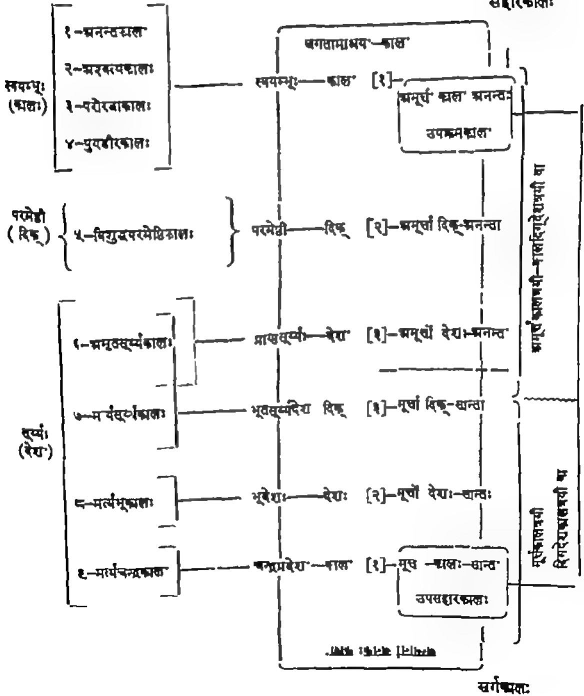
१६२–पड्धर्म्मावच्छिन्ना कृतिमूला प्रकृति से अतीत त्रिगुणातीत इयोत्राकाल का कालिक सर्ग से असंस्पर्श, तत्साक्षी भावत्व, एवं नवीन सम्प्रश्न का सम्यक् समाधान—

निवेदन–निष्कर्ष यही हुआ कि, प्रथम अनन्तकाल विवर्त से आरम्भ कर पाँचवें महासमुद्रकालात्मक परमेष्ठी–काल–पर्य्यन्त सभी कालतत्त्व 'इयोत्रा' बनते हुए 'अयातमृत' हैं 'अज्ञुमृत' हैं 'पूर्णवृत' हैं, 'प्राणवृत' हैं अपीड़ितवृत्त हैं 'अमूर्त्तवृत्त' हैं। अतएव इन में प्राकृत–मूर्त्तभावानुगत–त्रैगुण्य अभिव्यक्त नहीं होता क्योंकि सत्त्व–रज–तमोगुणात्मक त्रैगुण्य ही प्रकृति–आकृति–समन्वय के द्वारा मूर्त्तजगत् की अभिव्यक्ति का कारण बना करता है। प्रकृतिका प्रकृतित्व किंवा 'कृतित्व' (कर्म्मत्व) यह त्रैगुण्य ही है जिस की मृत्यु–कालात्मा में अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है। क्योंकि उन प्राकृत 'मृत्युओं' की मृदुता–लघुता से मृत्यु–अव्यक्त–अव्यय–नामक यह अव्ययपुरुष ही प्रधान बना रहता है इन मृत्युओं में जो कि त्रिगुणातीत माना गया है +। अव्यक्तचेता अज–अव्यय की प्रधानता से ही तो ये कालतत्त्व अव्यक्त बने हुए हैं। इसीलिए तो–'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः–सहस्राक्षः–अजर–भूरिरेताः' इत्यादिरूप से अव्यक्त अज–अव्यय से समन्वित उस मूलकाल को सहस्राक्ष–अजर–कहा गया है। 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' (ऋक्सं० १।१६४।४१।) इत्यादि मन्त्र भी उसी अव्यक्त–अक्षरात्मक मूर्ति–परमाक्षरात्मक–अनन्तकाल का यशोगान कर रहा है। अव्यक्त–अज–अव्यय * से समन्वित अव्यक्त–अज–रूप ही इयोत्रा अनन्तकाल अपनी इस अव्यक्त इयोत्रता से ही मूर्त्तभावान्वित प्रमाणित होता हुआ भी अमूर्त्त ही बन रहा है। और यही तथाकथित सम्प्रश्न का संक्षिप्त समाधान है।

+ अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते॥
—गीता

* पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते॥
—कठोपनिषत् ५।१।

प्रकारान्तरेण समन्वयः—



"स वा एष आत्मा—अक्षरकालमूर्तिः—मनःप्राणवाङ्मय एव"

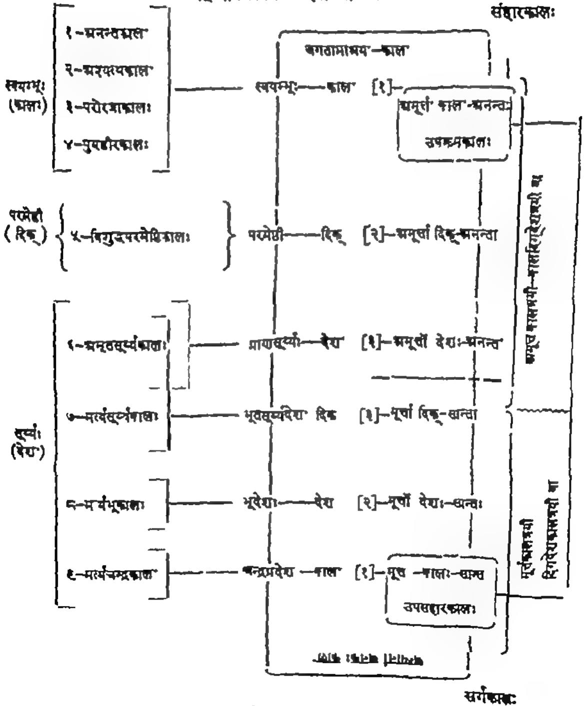
मनोमयः कालः
१—अनन्तकाल
२—अक्षरत्यकाल
—मायात्मककाल (अव्ययाभिन्नोऽनन्तः)—काल एव काल
—अनन्तकालात्मकः—मायाकाल—एव—'काल' (१)

प्राणमयः कालः
३—परोरजाकाल
४—सुसवीरकालः
५—परमेष्ठिकाल
६—अमृतसूर्य्यकाल
—गुणात्मककालः (स्वाभिन्नोऽमूर्त्तः)—काल एव दिक्—
—अमर्त्यकालात्मकः—गुणकाल—एव 'दिक्' (२)

वाङ्मयः कालः
७—विवस्वत्सूर्य्यकाल
८—पार्थिवकाल
९—चन्द्रकाल
—विकारात्मककाल (यथाभिन्नो मूर्त्तः)—काल एव देश
—मूर्त्तकालात्मकः—विकारकाल—एव—'देश' (३)

इति नु—[illegible]—काल एव, कालात्मकमीव

प्रकारान्तरेण समन्वयः—



[illegible]

१—अनन्तकाल
२—अक्षरकाल

—मायात्मककाल (अव्ययाभिधोऽनन्तः)—काल एव कालः
—अनन्तकालात्मक—मायकाल—एव—'काल' (१)

३—परोरजाकाल
४—गुणोरकालः
५—परमेष्ठिकाल
६—अमृतसूर्यकाल

—गुणात्मककालः (त्वाभिधोऽमूर्त्तः)—काल एव दिक्—
—अमूर्त्तकालात्मकः—गुणकाल—एव 'दिक्' (२)

७—पिण्डसूर्यकाल
८—पार्थिवकाल
९—चान्द्रकाल

—विकारात्मककाल (रूपाभिधो मूर्त्तः)—काल एव देश
—मूर्त्तकालात्मकः—विकारकाल—एव—देश (३)

इति तु—सर्व—काल एव, कालातीतश्च

आणाऽणिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असबुद्धे, अविणीए—त्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥

छाया—

आज्ञाऽनिर्देशकरो गुरूणामनुपपातकारकः ।
प्रत्यनीकोऽसबुद्ध अविनीत इत्युच्यते ॥ ३ ॥

टीका—

'आणाऽणिद्देसकरे' इत्यादि । आज्ञाऽनिर्देशकरः=आज्ञाया गुरुवचनस्यानिर्देशकर—अनादरकारक, तथा गुरूणाम्=आचार्यादीनाम्, अनुपपातकारक=समीपानवस्थायी, गुरूणा सनिधौ तिष्ठामि चेद् गुरवो मा स्वकार्यार्थमाज्ञापयिष्यन्तीति विज्ञाय दूरे तिष्ठतीत्यर्थ । तथा–प्रत्यनीक=प्रतिकूल, गुरुदोषान्वेषणपर इत्यर्थ । तथा–असम्बुद्धः जीवाजीवादितत्त्वानभिज्ञः, एवंभूतो य शिष्य स खल्वविनीत इत्युच्यते ।

शिष्य में विनीतता, अविनीतता के परित्याग से ही आती है इसलिये विनीत से विपरीत अविनीत का स्वरूप सूत्रकार कहते हैं—'आणाऽणिद्देसकरे०' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(गुरूण आणाऽणिद्देसकरे—गुरूणा आज्ञाऽनिर्देशकर) गुरु की आज्ञा का अनादर करने वाला, (अणुववायकारए) उनके समीप नहीं बैठने वाला (पडिणीए) उनसे सदा प्रतिकूल वर्ताव करनेवाला (असबुद्धे) जीव एव अजीव आदि के स्वरूप को नहीं जाननेवाला ऐसा शिष्य (अविणीए वुच्चइ—अविनीत —उच्यते) अविनीत कहा जाता है।

भावार्थ—इस गाथा द्वारा सूत्रकार ने विनीत से विपरीत अविनीत का स्वरूप प्रदर्शित किया है । यद्यपि यह बात अर्थापत्ति से स्वय सिद्ध

શિષ્યમા વિનીતતા અવિનીતતાના પરિત્યાગથી જ આવે છે આ માટે વિનીતથી વિપરીત અવિનીતનુ સ્વરૂપ સૂત્રકાર કહે છે—'आणाऽणिद्देसकरे' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—(गुरूण आणाऽणिद्देसकरे-गुरूणा आज्ञाऽनिर्देशकर) ગુરુની આજ્ઞાનો અનાદર કરવાવાળા (अणुववायकारए) એમની સામે ન બેસવાવાળા (पडिणीए) એમનાથી સદા પ્રતિકૂળ વર્તાવ કરવાવાળા (असबुद्धे) જીવ અને અજીવ આદિના સ્વરૂપને નહી જાણવાવાળા એવા શિષ્ય (अविणीए-वुच्चइ-अविनीत उच्यते) અવિનીત કહેવાય છે

ભાવાર્થ—આ ગાથાદ્વારા સૂત્રકારે વિનીતથી વિપરીત અવિનીતનુ સ્વરૂપ પ્રદર્શિત કરેલ છે જોકે આ વાત અર્થાપત્તિથી સ્વયસિદ્ધ થઈ જતી હતી

१६४–कालानुगता तत्त्वमीमांसा से समन्विता आचारमीमांसा के सम्बन्ध में मानव की जिज्ञासा, तदनुबन्धित बुद्धिवादी-ज्ञानमात्रमीमांसक-तत्त्ववादी-दार्शनिक की आचार-शून्या तत्त्वमात्रविजृम्भणोपेता काल्पनिक-तुष्टि का नग्न चित्रण—

यह तो हुआ कालपुरुष का तत्त्वात्मक समन्वय किंवा तत्त्वमीमांसात्मिका आचारमीमांसा का स्व-रूप-समन्वय। अब इस तत्त्वसमन्वय के साथ उस आचारमीमांसा का भी समन्वय कर लीजिए, जिसका महद्भाग्य ऋषिप्रज्ञा को ही उपलब्ध हुआ है। मानव क्या करे कालपुरुष के स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-रूप काल-दिक्-देश-भावों को जान कर ?, यही आचारात्मक वह प्रश्न है, जिसका दर्शनशास्त्र ने तो स्पर्श भी नहीं किया है। न यहाँ आचारविधि है, न विधि का पूरक निषेध ही है। है केवल तत्त्वविजृम्भणात्मक तत्त्वमीमांसन किंवा बुद्धि का उत्पीड़न। महिमामय विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू-मूलक आधिदैविक 'धर्म्मसर्गों' (आचारात्मक-'सृष्टिसर्ग') का तो मानो मूलोच्छेद ही कर दिया है तत्त्वमीमांसाभिनिविष्ट 'दर्शनशास्त्र' ने जोकि आधिदैविक आचार ही इस 'आध्यात्म' रूप 'मानव' का एकमात्र अभ्युदय-निःश्रेयस् 'धर्म्म' था। अधिभूत को आधार बना कर यौगिक-कल्पित दिग्देशकाल-भावों के माध्यम से भूतों के गर्भ में किन्हीं सूक्ष्म-तत्त्वान्वेषण का प्रयास। उन तथाकथित काल्पनिक, अतएव मानसिक सूक्ष्मतत्त्वों' के साथ अपने काल्पनिक अध्यात्म के साथ समन्वय, समतुलन। और इस कल्पना-समतुलन-से ही स्वयं अपनी कल्पना में ही, मनोराज्य में ही—"वाह क्या बात है कैसा अद्भुत समन्वय है, सूक्ष्मतत्त्वों के साथ का परम का कैसा मेल है–महाहा–आनन्द आनन्द–पूर्ण होगए" इसप्रकार की काल्पनिक-तुष्टि-तृप्ति का सर्जन करते रहने वाले आचारधर्म्मशून्य दार्शनिकोंने मन्त्र-ब्राह्मणात्मक (संहिता ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषदात्मक) 'वेदशास्त्र' के द्वारा वर्णित, 'स्मृतिशास्त्र' के द्वारा प्रतिपादित एवं 'पुराणशास्त्र' के द्वारा उपबृंहित उस सम्पूर्ण आधिदैविक-आचारधर्म्म को विलुप्त ही कर दिया जिस ज्ञानविज्ञानसिद्ध-प्राकृतिक आचारधर्म्म से ही मानव की यथाविधा वृद्धि-पुष्टि भुक्ति-मुक्ति-मिला करती थी आचारप्रधान भारत से तीन सहस्रवर्षों से पूर्व के आर्षयुगों में।

१६५–श्रौत–स्मार्त–आधिदैविक–आचारधर्म्मों से असंस्पृष्ट बुद्धिवादी लोक–आत्म–विमुग्ध केवल अध्यात्मकल्पनारत-प्राकृत मानव के समस्त जीवन का शून्य-शून्य-तथ्य इतिवृत्त—

श्रौत-स्मार्त-संस्कार-वर्णाश्रमाचार-आश्रमधर्मानुपद्धति-देवपूजन-श्राद्धकर्म्म-उपासना-भगवती (गङ्गा) में कायविशोधन-तीर्थवास-आदि-आदि समस्त आधिदैविक आचार समझ में ही नहीं आए इस तत्त्वमीमांसक की मानसिकता प्रज्ञा के। आधिदैविक सर्गों के आधार पर उसी के पकाश से महिमामय से अभिव्यक्त न तो मूलसौन्दर्य्य ही उसने समझा एवं न भूतमाध्यमानुगत आधिदैविक आचार ही इसकी समझ में आए। समझ में आया तो यह आया कि, कुछ भी समझ में न आया। दार्शनिक, अर्थात् जिसका लोक-समाज-परिवार-राष्ट्र-निष्ठाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। केवल बातों के कुलाबे मिलाकर स्वयं भी दिग्भ्रान्त बन रहना और दूसरों को भी दिग्भ्रान्त करते रहना ही इसका परम और एकमात्र पुरुषार्थ तदुपरि आचारनिष्ठाओं का तथा आचारनिष्ठ आस्तिक जनों का उपहास, उपेक्षा। तत्त्वसमतुलन में अपने कल्पनाधार से ही अपने आप को

सर्वम ण-चिन्तक-समन्वयकर्ता-मानव की भ्रान्ति, मनपान की मानुकता। वाणीमात्र का उत्पीडन, प्रचार मात्र का व्यामोहन, और इत्थंभूता कल्पित-अध्यात्म-अमन्वयमूला-काल्पनिक-दार्शनिकता में ही इतस्ततः स्वच्छन्दप्राण बन रहते हुए, आचारधर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित करते हुए अन्ततोगत्वा निर्लक्ष्य-निरुद्देश्य-रूपेणैव यामीयातनाओं के आतिथ्य के लिए एक दिन 'कालाग्निनिकेतन (यमराजसदन) का अतिथि बन जाना ही तत्त्वमीमांसक-आचारवञ्चित-चिन्तक-अध्यात्मवादी-सूक्ष्मतत्त्ववादी-नाद-ग्राम-विमुग्ध प्रज्ञ-एव शून्य-शून्य एक दार्शनिक-शिरोमणि का समस्त जीवनवित्त माना जायगा।

१६६-श्रद्धा-आस्था-परायण भारतीय सांस्कृतिक-आप मानव की आचारधर्म्मनिष्ठा, एवं तदनुगता सम्प्रश्नात्मिका इसकी जिज्ञासा का समन्वय—

ठीक इसके विपरीत एक धर्मिष्ठ आर्य मानव सम्प्रश्नात्मिका जिज्ञासाओं के माध्यम से अवबोधतया मानव की इच्छामात्र रखता हुआ चिन्तन) सम्पूर्ण विश्व को, विश्व पदार्थों को विश्वप्राणियों को उसी अनन्त परमस्वरूप आधिदैविक की महिमा मानता हुआ इस आधिदैविक सर्ग के आधार पर व्यवस्थित श्रौत-स्मार्त-आचारधर्म्मों का अनुगमन ही करता रहेगा यथाकाल यथा सुविधा। और यही इस की जिज्ञासानुगता तत्त्वमीमांसा का एकमात्र फल माना जायगा। यदि आचार की उपेक्षा है, तो व्यर्थ है यह सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसन। समझना, समझा देना घोषणा-प्रचार-करते रहना-कदापि धर्म्म नहीं है। यह तो कोरी दार्शनिकता है जो आचार को अभिभूत ही कर दिया करती है। करना-कराना-करते रहना ही-यही 'धर्म्म' की एकमात्र परिभाषा है। और इसी परिभाषा के माध्यम से यह महत्त्वपूर्ण सम्प्रश्न उपस्थित हो पड़ता है एक आचारनिष्ठ-आचारभक्त-मानव के अन्तराल में कि, उपोपवर्णित काल-दिक्-देश-स्वरूप-बोध से मानव करेगा क्या?।

१६७-श्रद्धालु की जिज्ञासा का आचारशून्य-तत्त्वमीमांसा मात्रपरायण बुद्धिमान् मानव के द्वारा स्वरूप-विमोहन, इति नु अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

क्या इस तत्त्वमीमांसन का यह अर्थ है कि, मानव सम्पूर्ण विश्व का उसका महिमामय विवर्त मान कर कुछ भी न करे?। यही नहीं यदि कुछ करता हो, तो वह भी छोड़ बैठे?। ऐसा ही तो हुआ है-दार्शनिकों के अनुग्रह से विगत शताब्दियों में ही नहीं, अपितु तीन सहस्र वर्षों में। क्योंकि आधिदैविक सर्ग का महिमात्मक स्वरूप ही समन्वित नहीं होसका उन दार्शनिकमहर्षों से। ज्ञानविज्ञानात्मक प्राजापत्य सृष्टिसर्गात्मक आधिदैविक सर्ग का स्वरूप ही नहीं समझा उन जगन्मिथ्यात्ववादी-अध्यात्मवादी-स्थूलब्रह्मान्तवादी-कल्पितदिग्देशकाल वादी-दार्शनिकों ने। सृष्टिसर्गव्याख्याओं से असंस्पृष्ट अतएव काल्पनिक उनके तत्त्वमीमांसनने तो उन्हें प्रह्रस्त्र म्रियमाण आचारों से भी विमुख कर दिया। और उनकी गतानुगतिकता का कुफल भोगने वाली भावुक भारतीय जनता ने भी इसी तत्त्वमीमांसन के व्यामोहन में आकर सम्पूर्ण आचारधर्म्मों को जलाञ्जलि ही समर्पित करदी इति नु अब्रह्मण्यम्!। अब्रह्मण्यम्!! महती विडम्बना!!'

१६८-आचारात्मक मानवधर्म्म का शास्त्रीय-स्वरूप-समन्वय—

आत्मानुशीलनपूर्वक आचारधर्म्मों का यथाविधि-यथाशास्त्र अनुगमन ही मानव के अभ्युदय-निःश्रेयस्-का कारण माना गया है जिस इस मानवकर्त्तव्यात्मिका आचारनिष्ठा का-'मानवकर्त्तव्य-

१६४–कालानुगता तत्त्वमीमांसा से समन्विता आचारमीमांसा के सम्बन्ध में मानव की जिज्ञासा, तत्सम्बन्धित बुद्धिवादी-ज्ञानमात्रमीमांसक-तत्त्ववादी-दार्शनिक की आचारशून्या तत्त्वमात्रविजृम्भणोपेता काल्पनिक-तुष्टि का नग्न चित्रण—

यह तो हुआ कालपुरुष का तत्त्वात्मक समन्वय किंवा तत्त्वमीमांसात्मिका आचारमीमांसा का स्व-रूप-समन्वय। अब इस तत्त्वसमन्वय के साथ उस आचारमीमांसा का भी समन्वय कर लीजिए, जिसका महद्भाग्य ऋषिप्रज्ञा को ही उपलब्ध हुआ है। मानव क्या करे कालपुरुष के स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-रूप काल-दिक्-देश-भावों को जान कर? यही आचारात्मक वह प्रश्न है जिसका दर्शनशास्त्र ने तो स्पर्श भी नहीं किया है। न वहाँ आचारविधि है न विधि का पूरक निषेध ही है। है केवल तत्त्वविजृम्भणात्मक तत्त्वमीमांसन किंवा बुद्धि का उत्पीडन। महिमामय विश्व से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू-मूलक आधिदैविक 'धर्मसर्ग' (आचारात्मक-'सृष्टिसर्ग') का तो मानो मूलोच्छेद ही कर दिया है तत्त्वमीमांसाभिनिविष्ट 'दर्शनशास्त्र' ने जोकि आधिदैविक आचार ही इस 'अध्यात्म' रूप 'मानव' का एकमात्र अभ्युदय-निःश्रेयस् 'धर्म' था। 'अधिभूत' को आधार बना कर बौद्धिक-कल्पित दिग्देशकाल-भावों के माध्यम से भूतों के गर्भ में किसी सूक्ष्म-तत्त्वान्वेषण का प्रयास। उन तथाकथित काल्पनिक, अतएव भावित्पित्र सूक्ष्मतत्त्वों के साथ अपने काल्पनिक अध्यात्म के साथ समन्वय समतुलन। और इस कल्पना-समतुलन-से ही स्वयं अपनी कल्पना में ही, मनोराज्य में ही—"वाह क्या बात है कैसा अद्भुत समन्वय है, सूक्ष्मतत्त्वों के साथ अध्यात्म का कैसा मेल है-अहाहा-आनन्द आ गया-धन्य हो गए" इसप्रकार की काल्पनिक-तुष्टि-तृप्ति का समर्थन करते रहने वाले आचारधर्मशून्य दार्शनिकों ने मन्त्र-ब्राह्मणात्मक (संहिता ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषदात्मक) 'वेदशास्त्र' के द्वारा समर्थित 'स्मृतिशास्त्र' के द्वारा आदिष्ट, एवं 'पुराणशास्त्र' के द्वारा उपबृंहित उस सम्पूर्ण आधिदैविक-आचारधर्म को विलुप्त ही कर दिया जिस ज्ञानविज्ञानसिद्ध-प्राकृतिक आचारधर्म से ही मानव की यथाविधा तुष्टि-पुष्टि-शान्ति-समृद्धि-सिद्धा करती थी आचारप्रधान भारत से तीन सहस्रवर्षों से पूर्व के आर्षयुगों में।

१६५–श्रौत–स्मार्त–आधिदैविक–आचारधर्मों से असंस्पृष्ट बुद्धिवादी लोक-आत्म-विमुख केवल अध्यात्मकल्पनारत-प्राकृत मानव के समस्त जीवन का शून्य-शून्य-स्वरूप प्रदर्शन—

श्रौत-स्मार्त-संस्कार-वर्णाश्रमाचार-आश्रमजीवनपद्धति-देवपूजन-श्राद्धकर्म-उपासना-भगवती (गङ्गा) में कायविशोधन-व्रतोपवास-आदि-आदि समस्त आधिदैविक आचार समझ में ही नहीं आए इस तत्त्वमीमांसक की भावितप्रिया प्रज्ञा के। आधिदैविक सर्ग के आधार पर उसी के प्रकाश से महिमारूप से अभिव्यक्त न तो भूतसौन्दर्य ही उसने समझा एवं न भूतमाध्यमानुगत आधिदैविक आचार ही इसकी समझ में आए। समझ में आया तो यह आया कि, कुछ भी समझ में न आया। दार्शनिक, अर्थात् जिसका लोक-समाज-परिवार-राष्ट्र-निष्ठाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। केवल बातों के कुलाबे मिलाकर स्वयं भी दिग्भ्रान्त बने रहना और दूसरों को भी दिग्भ्रान्त करते रहना ही इसका परम और एकमात्र पुरुषार्थ तदुपरि आचारनिष्ठाओं का तथा आचारनिष्ठ आस्तिक जनों का उपहास उपेक्षा। तत्समतुलन में अपने कल्पनाभार से ही अपने आप को

नहीं सकता, जैसे कि इस रहस्यमयी से अनुप्राणित कालमहिमाविवर्त से अपरिचित रह जाने वाले दार्शनिक रहस्यात्मक इस आधिदैविकी तथ्यत्रयी का समन्वय नहीं कर सके हैं।

१९९–शङ्कर-भास्कर-शक्ति-रूपा देवत्रयी का संस्मरण, एवं तन्मूलक मानवीय आचार धर्म—

सनमुच प्रथम हि प्राकृत मानवों के लिए–(जो आचार्य्यपरम्परा के अनुग्रहमात्र से किसी परोक्ष–उपास्य–पर आस्थामयी श्रद्धा रखते हैं) यह महती समस्या है कि, प्राकृतिक–आधिदैविक कालविवर्तों में महिमारूप से व्याप्त अगणित देवदेवताओं में से किसे अपना उपास्य बनावें ?,–जिसके माध्यम से प्राकृत-शक्ति-लाभ करते हुए हम अपने आचारधर्म्मों में निष्ठापूर्वक आस्थित रहते हुए– आस्थित स हि धर्म्मात्मा को सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अन्वर्थ प्रमाणित कर सकें। पुराणपुरुष भगवान् व्यासने शङ्कर भास्कर देव्याम्' द्वारा इसी समस्या का समाधान किया है। न केवल मानव की उपासनाप्रपञ्च के ही, अपितु सनकाम्यादि–तथा कर्म्मप्रपञ्चों की प्रतिष्ठाभूमि भी यही त्रिदेवता–समष्टि है। क्या ये पृथक् पृथक् तीन देवता हैं ?। नहीं, ये तो एक ही देवता के तीन महिमा–विवर्त हैं। इन तीन आधिदैविक देवताओं के अतिरिक्त उपासना की मानवधर्म्मानुगता व्याप्ति का अभाव ही समझना चाहिए। इतर सम्पूर्ण देवतावाद इन्हीं तीनों में से किसी न किसी एक देवविभक्ति में अन्तर्भूत है।

२००–देवत्रयी का मूलाधिष्ठातृरूप 'महोदेव', देववाण्यनुगत 'महादेव', उसके विस्मयजनक चतुःशृङ्गात्मक महिमामय स्वरूप का संस्मरण—

और इस देवत्रयी का अर्थ है–'महोदेव', जिसका देववाणी में रूप हो गया है–'महादेव'। 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा'० इत्यादि मन्त्र के माध्यम से इस उस 'महादेव' रूप देवाधिदेव महादेव का तात्त्विक स्वरूप पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, जिसका आगमशास्त्र में 'कालकालं-महाकालं कृपामृतम्' रूपेण महता समारम्भेण यशोगान हुआ है। साम्प्रदायिक देवभक्तिवाद से पूर्व के आचारनिष्ठ युगों में भारतीय मानव का प्रमुख उपास्य यही महादेव तत्त्व था जिसके आधार पर ही यज्ञशैवता परम्परया प्रचरस्था ही बनी रही है। महाकालात्मक इसी अमूर्त्त महादेव की शक्ति का नाम 'महाकाली' है एवं इसीके मूर्त्त–व्यक्त–रूप का नाम है– सूर्य्य। यों महादेव ही महाकाल सूर्य्य शक्ति–इन तीन भावों में परिणत हो रहे हैं। और इस दिशा में हमें एक शास्त्रीय तथ्य का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और कर लेना है।

२०१–मूर्त्त-व्यक्त-प्रजा की शिव-शक्ति-रूपता का प्राधान्य, एवं तत्र पुराणपुरुष भगवान् व्यास के द्वारा यशोवर्णन—

जिन भगवान् व्यासने–'शङ्करे–भास्करे–सन्ध्या-भक्तिरुच्यते' रूप से वामनपुराण में त्रिमूर्ति महादेव की उपास्यता को लक्ष्य बनाया है उन्हीं व्यासदेव ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिह्य–ग्रन्थ महाभारत में बड़े विस्तार से अन्य देवभक्ति की गौणता बतलाते हुए महादेवोपासना की ही प्रमुखता स्थापित की है जिस प्रमुखता का मूलबीज वेदशास्त्रसिद्धा सुप्रसिद्धा–'स्कम्भविद्या' ही माना गया है। स्वयम्भूकेन्द्र से आरम्भ

मीमांसा' नाम से पूर्व के द्वितीय खण्ड में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रकृत में तो तत्तादृश्या केवल एक औपासनिक-आचार की ओर ही आचारधर्म्मजिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बिना आधिदैविक विषय को लक्ष्य बनाए मानव केवल अपने भूतबल पर कदापि आचारपरायण नहीं बन सकता। देवभावना ही इष्टभावना है। एवं इष्टभावना ही आचारधर्म्मानुगति-आचारधर्म्मप्रवृत्ति का एकमात्र अवलम्ब है जिस इष्टदेवभावना का मूल विश्वासगर्भिता श्रद्धा ही मानी गई है। जिसकी आधिदैविक-देवभाव में श्रद्धापूर्वक आस्था है निष्ठा है, वैसा देवभावापन्न मानव ही * आधिदैविक भावानुगत आचारधर्म्मों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है, हुआ करता है। इसी आधार पर रामपत्तन में यह लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि-'इष्ट बिना सब भ्रष्ट'। मानव के स्वस्वरूपधर्म्मात्मक आचारधर्म्म का मूलाधारभूत आधिदैविक इष्ट कौन ?। जो इष्ट होगा वही इस आचारधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा माना जायगा एवं उसे ही धर्म्म का धर्म्मतत्त्व किंवा परमधर्म्म (आचारधर्म्म) कहा जायगा एवं उसीका पारिभाषिक नाम होगा वह 'मानवधर्म्म' जिसकी दार्शनिक-भ्रान्ति से आज अनेक काल्पनिक व्याख्याएँ प्रादुर्भूत होचुकी हैं। कल्पनागतिविजृम्भणरूपा उन व्याख्याओं का कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं है मानव के इष्टात्मक स्वस्वरूपधर्म्मात्मक-मूलधर्म्म से। क्या परिभाषा है आचारधर्म्माधारभूत मानवधर्म्म की ?। श्रूयताम्।

स्वाध्यायं ब्रह्मचर्य्यं च-दान-यजनमेव च।
अकार्पण्य-मनायास-दया ऽहिंसा-क्षमादयः॥
जितेन्द्रियत्वं-शौचञ्च-माङ्गल्यम्-"भक्तिरुच्यते-
शङ्करे-भास्करे-देव्यां"-धर्म्मोऽयं मानवः स्मृत॥

—वामनपुराणे ११ अध्याये +

'स्वाध्याय' से आरम्भ कर स्वस्त्ययनात्मक माङ्गल्य पर्य्यन्त के आचारात्मक कर्म्म ही आचारधर्म्म हैं एवं इनकी मूलप्रतिष्ठारूप-शङ्कर भास्कर देवी इन तीनों देव-भावों की इष्टात्मिका उपासना ही इस आचारधर्म्मात्मक मानवधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। शङ्कर-भास्कर-देवी-तीनों में से जबतक किसी एक को इष्ट नहीं मान लिया जाता तबतक मानव की मानवता अभिव्यक्त नहीं हो सकती। एवं इस अभिव्यक्ति के बिना मानव के कल्पित आचार कदापि 'मानवधर्म्म' की सीमा में नहीं आसकते जो इत्थम्भूत तथ्य उसी प्रकार आज के अनात्मवादी-शून्यवादी अतएव अनिष्टवादी-भ्रान्त मानव की समझ में आ र

*—यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे, तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

—श्वे० उप० ६।२३।

+—'संस्कृति-सभ्यता-शब्देतिहास' नामक (सहस्रपृष्ठात्मक) स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से इन धर्म्मप्रश्नों का दिग्दर्शन हुआ है।

नहीं सकता जैसे कि इस देवत्रयी से अनुप्राणित कालमहिमाविवर्त से अपरिचित रह जाने वाले दार्शनिक व्याख्याकार इन आधिदैविकी तथ्यत्रयी का समन्वय नहीं कर सके हैं।

१९९-शङ्कर-भास्कर-शक्ति-रूपा देवत्रयी का संस्मरण, एवं तन्मूलक मानवीय आचार-धर्म—

सचमुच प्रश्न तो प्राकृत मानवों के लिए—(जो आचार्यपरम्परा के अनुग्रहमात्र से किसी परोक्ष-उपास्य-पर आस्थामयी श्रद्धा रखते हैं) यह महती समस्या है कि, प्राकृतिक-आधिदैविक कालविवर्तों में महिमारूप से व्याप्त अगणित नैमदेवताओं में से किसे अपना उपास्य बनावें?,-जिसके माध्यम से प्राकृत-शक्ति लाभ करते हुए हम अपने आचारधर्मों में निष्ठापूर्वक आस्थित रहते हुए- आस्थित से हि धर्मात्मा भी सर्वात्मना नहीं, तो कम से कम अन्वर्थ प्रमाणित कर सकें। पुराणपुरुष भगवान् व्यासने 'शङ्कर-भास्कर-शक्त्याम्' द्वारा इसी समस्या का समाधान किया है। न केवल मानव की उपासनाकाण्ड का ही, अपितु ज्ञानकाण्ड-तथा कर्मकाण्डों की प्रतिष्ठाभूमि भी यही त्रिदेवता-समष्टि है। क्या ये पृथक् पृथक् तीन देवता हैं?। नहीं, ये तो एक ही देवता के तीन महिमा-विवर्त हैं। इन तीन आधिदैविक देवताओं के अतिरिक्त उपासना की मानवधर्मानुगता व्याप्ति का अभाव ही समझना चाहिए। इतर सम्पूर्ण देवतावाद इन्हीं तीनों में से किसी न किसी एक देवविभूति में अन्तर्भूत है।

२००-देवत्रयी का मूलाधिष्ठानरूप 'महोदेव', देववाण्यनुगत 'महादेव', उसके विस्मजनक चतुःशृङ्गात्मक महिमामय स्वरूप का संस्मरण—

और इस देवत्रयी का अर्थ है-'महोदेव', जिसका देववाणी में रूप हो गया है-'महादेव'। "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा॰" इत्यादि मन्त्र के माध्यम से इस उस 'महादेव' रूप देवादिदेव महादेव का तात्त्विक स्वरूप पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है जिसका आगमशास्त्र में 'कालकालं-महाकालं कृपालुम्' रूपेण महता समारम्भेण यशोगान हुआ है। साम्प्रदायिक देवभक्तिवाद से पूर्व के आचार्यनिष्ठ युगों में भारतीय मानव का प्रमुख उपास्य यही 'महादेव' तत्त्व था जिसके आधार पर ही परमशैवता परम्परया प्रचुरस्था ही बनी रही है। महाकालात्मक इसी अमृत महादेव की शक्ति का नाम 'महाकाली' है एवं इसीके मृत्य-व्यक्त-रूप का नाम है-'मृत्यु'। यों महादेव ही महाकाल सूर्य, शक्ति-इन तीन भावों में परिणत हो रहे हैं। और इस दिशा में हमें एक शास्त्रीय तथ्य का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और कर लेना है।

२०१-मूर्त्त-व्यक्त प्रजा की शिव शक्ति-रूपता का प्राधान्य, एवं तत्र पुराणपुरुष भगवान् व्यास के द्वारा यशोवर्णन—

जिन भगवान् व्यासने-'शङ्करे-भास्करे-वप्र्यां-भक्तिरुच्यते' रूप से वामनपुराण में निमर्दि महादेव की उपास्यता को लक्ष्य बनाया है उन्हीं व्यासदेव ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिह्य-ग्रन्थ महाभारत में बड़े विस्तार से अन्य देवभक्ति की गौणता बतलाते हुए महादेवोपासना की ही प्रमुखता स्थापित की है जिस प्रमुखता का मानवीय वेदशास्त्रविद्या सुप्रसिद्धा-'स्कम्भविद्या' ही माना गया है। स्वयम्भूकेन्द्र से आरम्भ

मीमांसा' नाम से पूर्व के द्वितीय खण्ड में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रकृत में तो कलादि दृष्ट्या केवल एक औपासनिक-आचार की ओर ही आचारधर्म्मजिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित करा दिया जाता है। बिना आधिदैविक विश्वास को तत्त्व बनाए मानव केवल अपने भूतबल पर कदापि आचार परायण नहीं बन सकता। देवभावना ही इष्टभावना है। एवं इष्टभावना ही आचारधर्म्मानुगति-आचारधर्म्मप्राप्ति का एकमात्र अवलम्ब है जिस इष्टदेवभावना का मूल विश्वासगर्भिता श्रद्धा ही मानी गई है। जिसकी आधिदैविक-देवभाव में श्रद्धापूर्वक आस्था है निष्ठा है वैसा देवभावापन्न मानव ही * आधिदैविक भावानुगत आचारधर्म्मों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है, हुआ करता है। इसी आधार पर राजस्थान में यह लोक-सूक्ति प्रसिद्ध है कि-'इष्ट बिना सब भ्रष्ट'। मानव के कर्त्तव्यकर्म्मात्मक आचारधर्म्म का मूलाधारभूत आधिदैविक इष्ट कौन ?। जो इष्ट होगा वही इस आचारधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा माना जायगा एवं उसे ही धर्म्म का धर्म्मत्व किंवा परमधर्म्म (अक्षरधर्म्म) कहा जायगा एवं इसीका पारिभाषिक नाम होगा वह 'मानवधर्म्म' जिसकी दार्शनिक-भ्रान्ति से आज अनेक काल्पनिक व्याख्याएँ प्रादुर्भूत होगई हैं। कल्पनाविजृम्भणरूपा उन व्याख्याओं का कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं है मानव के इष्टात्मक स्वरूपधर्म्मात्मक-मूलधर्म्म से। क्या परिभाषा है आचारधर्म्माधारभूत मानवधर्म्म की ?। श्रूयताम्।

स्वाध्यायं ब्रह्मचर्य्यं च-दानं-यजनमेव च।
अकार्पण्य-मनायास-दया अहिंसा-क्षमादयः॥
जितेन्द्रियत्वं-शौचञ्च-माङ्गल्यम्-"भक्तिरुत्पत्ते-
शङ्करे-भास्करे-देव्यां"-धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः॥

—वामनपुराणे ११ अध्याये +

'स्वाध्याय' से आरम्भ कर स्वस्त्ययनात्मक माङ्गल्य पर्य्यन्त के आचारात्मक कर्त्तव्य ही आचारधर्म्म हैं एवं इनकी मूलप्रतिष्ठारूप-शङ्कर भास्कर देवी इन तीनों देव-भावों की इष्टलक्षणा उपासना ही इस आचारधर्म्मात्मक मानवधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। शङ्कर-भास्कर-देवी-तीनों में से जबतक किसी एक को इष्ट नहीं मान लिया जाता कदापि तबतक मानव की मानवता अभिव्यक्त नहीं हो सकती। एवं इस अभिव्यक्ति के बिना मानव के कल्पित आचार कदापि 'मानवधर्म्म' की सीमा में नहीं आसकते जो इत्थंभूत तथ्य उसी प्रकार आज के अनात्मवादी-शून्यवादी अतएव अनिष्टवादी-यान्त्रिक मानव की समझ में आ ही

*—यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे, तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः॥
—श्वे० उप० ६।२३।

+—'संस्कृति-सभ्यता-शाश्वेतिहास' नामक (सहस्रपृष्ठात्मक) स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से इन धर्म्मप्रवाहों का दिग्दर्शन हुआ है।

नहीं सकता, जैसे कि इस दृष्टत्रयी से अनुप्राणित कालमहिमाविवर्त से अपरिचित रह जाने वाले दार्शनिक यथावत् इस आधिदैविकी तत्त्वत्रयी का समन्वय नहीं कर सके हैं।

१९९–शङ्कर-भास्कर-शक्ति-रूपा देवत्रयी का संस्मरण, एवं तन्मूलक मानवीय आचार-धर्म्म—

सचमुच प्रश्न यदि प्राकृत मानवों के लिए–(जो आचार्य्यपरम्परा के अनुग्रहमात्र से किसी परोक्ष-उपास्य–पर आस्थामयी श्रद्धा रखते हैं) यह महती समस्या है कि, प्राकृतिक–आधिदैविक कालविवर्त्तों में उपास्य–पर आस्थामयी श्रद्धा रखते हैं) यह महती समस्या है कि, प्राकृतिक–आधिदैविक कालविवर्त्तों में महिमारूप से व्याप्त अगणित देवदेवताओं में से किसे अपना उपास्य बनावें ?,-जिसके माध्यम से प्राकृत-शक्ति-लाभ करते हुए हम अपने आचारधर्म्मों में निष्ठापूर्वक आस्थित रहते हुए–'आस्थित स हि धर्म्मात्मा' को सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अन्वर्थ प्रमाणित कर सकें। पुराणपुरुष भगवान् व्यासने शङ्कर भास्कर -देव्यम् द्वारा इसी समस्या का समाधान किया है। न केवल मानव की उपासनाक्षेत्र के ही, अपितु ज्ञानक्षेत्र–तथा कर्म्मक्षेत्रों की प्रतिष्ठाभूमि भी यही त्रिदेवता–समष्टि है। क्या ये पृथक् पृथक् तीन देवता हैं ?। नहीं, ये तो एक ही देवता के तीन महिमा–विवर्त्त हैं। इन तीन आधिदैविक देवताओं के अतिरिक्त उपासना की मानवधर्म्मानुगता व्याप्ति का अभाव ही समझना चाहिए। इतर सम्पूर्ण देववाद इन्हीं तीनों में से किसी न किसी एक देवविभूति में अन्तर्भूत है।

२००–देवत्रयी का मूलाधिष्ठानरूप 'महादेव', तद्वाग्यनुगत 'महादेव', उसके विस्मयजनक चतुःशृङ्गात्मक महिमामय स्वरूप का संस्मरण—

और इस देवत्रयी का अर्थ है–'महादेव' जिसका देववाणी में रूप हो गया है–'महादेव'। 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा॰' इत्यादि मन्त्र के माध्यम से इस उस महादेव' रूप देवादिदेव महादेव का तात्त्विक स्वरूप पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, जिसका आगमशास्त्र में 'कालकालं-महाकालं रूपमहम्' रूपेण महत्त्व समारम्भेण यशोगान हुआ है। साम्प्रदायिक देवभक्तिवाद से पूर्व के आचारनिष्ठ युगों में भारतीय मानव का प्रमुख उपास्य यही 'महादेव तत्त्व था जिसके आधार पर ही परमयोगवशा परम्परया व्यवस्था ही बनी रही है। महाकाला मक इसी अमूर्त महादेव की शक्ति का नाम 'महाकाली' है, एवं इसीके मूर्त्त–व्यक्त–रूप का नाम है–सूर्य्य'। श्री महादेव ही महाकाल सूर्य्य शक्ति-इन तीन भावों में परिणत हो रहे हैं। और इस दिशा में हमें एक शास्त्रीय तथ्य का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और कर लेना है।

२०१–मूर्त्त-व्यक्त प्रजा की शिव-शक्ति-रूपता का प्राधान्य, एवं तत्र पुराणपुरुष भगवान् व्यास के द्वारा यशोवर्णन—

जिन भगवान् व्यासने–'शङ्करे–भास्करे–सूर्य्ये-भक्तिरुच्यते' रूप से वामनपुराण में निर्दिष्ट महादेव की उपास्यता को लक्ष्य बनाया है उन्हीं व्यासदेव ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिह्य–ग्रन्थ महाभारत में बड़े विस्तार से अन्य देवभक्ति की गौणता बतलाते हुए महादेवोपासना की ही प्रमुखता स्थापित की है जिस प्रमुखता का मूलबीज वेदशास्त्रसिद्धा सुप्रसिद्धा–'स्कम्भविद्या' ही माना गया है। स्वयम्भूक्षेत्र से आरम्भ

तक भूकेन्द्रपर्य्यन्त व्याप्त महतोमहीयान् ब्रह्माग्नि-देवाग्नि-भूताग्नि-मय जो ज्योतिर्म्मय-पुञ्ज है उसी का नाम है स्कम्भ, जिस पर सब कुछ प्रतिष्ठित है—'स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यही अपने ब्रह्माग्निरूप से आधार है यही अपने देवाग्निरूप से स्रष्टा है एवं यही अपने भूताग्निरूप से भूतों का व्यापक लिङ्ग (परिचायक) है। यही लिङ्गात्मक ज्योतिःपुञ्ज उपासना का माध्यम बनता हुआ उपास्य है। यही लिङ्गप्रतीकात्मक महादेव है जो अपने ब्रह्माग्निरूप से देव-ब्रह्म-रूपों का लिङ्ग बना हुआ है। लिङ्गाङ्क प्रजा ही शिवतत्त्व है महाकालतत्त्व है। एवं भगाङ्क प्रजा ही शक्तितत्त्व है महाकालीतत्त्व है। यों शिवशक्तिरूपेण सर्वत्र यही व्याप्त हो रहा है। भला इसके अतिरिक्त-शिवशक्तिरूप मानव-मानवी के और कौन उपास्य होंगे ?। लक्ष्य बनाइए महाभारत के इन तात्त्विक वचनों को, जिनके द्वारा शिव-शक्त्युपासना का विशद शब्दों में उद्घोष हो रहा है—

न पद्माङ्का, न चक्राङ्का, न वज्राङ्का यत प्रजा ।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजाः ॥
—म० अनुशासन पर्व १४ अ० २३३ श्लोक

देव्याः कारणरूपभावजनिता सर्वा भगाङ्का स्त्रियो—
लिङ्गेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः प्रत्यक्षचिह्नीकृताः ।
योऽन्यत्कारणमीश्वरात् प्रवदते देव्या च यन्नाङ्कित—
त्रैलोक्ये सचराचरे स तु पुमान् बाह्यो भवेद् दुर्म्मतिः ॥
पुल्लिङ्गं सर्वमीशानं, स्त्रीलिङ्गं विद्धि चाप्युमाम् ।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत् ॥
—म० अनु० पर्व १४ अ० २३४-२३५-वें श्लोक

२०२—सोमगर्भित—कालाग्निरूप—महाकालेश्वर महादेव के उपासक, आचारधर्म्मसंस्थापक मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम—

अवतारपुरुष स्वयं भगवान् राम के द्वारा 'रामेश्वर' रूपेण इसी महादेवतत्त्व की उपासना हुई है। पूर्णावतार भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण अक्षय-ऐश्वर्य्य शङ्करप्रसाद से ही अनुप्राणित माना गया है (देखिए म० अनु० १५ अ० ७ श्लोक)। तत्त्वनिष्ठ सभी विद्वानों का आराध्य तो शिवशक्तितत्त्व ही रहा है। मानवातिरिक्त अन्य असुर-राक्षस-गन्धर्वादि-नाम्नी प्रजाओं ने भी इसी तत्त्व की आराधना से शक्तिलाभ किया है। और यों तत्त्वदृष्ट्या मानव की उपास्यकोटि में शिवशक्ति से समन्वित आदिदेव महादेव ही प्रमुख बने हुए हैं, जिन की मूलोपनिषत् है सोमगर्भित—'कालाग्नि' जिसका कि मन्वन्तरकाल से आरम्भ से ही यशोगान किया जाता है।

२०३–नित्य शान्त अमूर्त–कालाग्निरूप अघोम्यपुरुष, एवं नित्य–अशान्त–मूर्त–कालाग्निरूप घोम्यपुरुष तथा 'विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि'–'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय–तस्थु' इत्यादि उपनिषद्वचनों का समन्वय—

उक्त कालाग्नि की ही अघोम्य–घोम्य–रूप से दो अवस्थायें मानी हैं तत्त्वज्ञों ने। नित्यशान्त कालाग्नि अघोम्य है, एवं नित्य अशान्त कालाग्नि घोम्य है। अघोम्य कालाग्नि ही 'अपीड़ितकाल' है, एवं घोम्य कालाग्नि ही 'पीड़ितकाल' है। 'काल कलन पीडयन' का 'कलन' अघोम्यकाल है, एवं 'कालम्' घोम्यकाल है। 'अग्नि' ही इन दोनों की उपनिषत् (मौलिकस्वरूप) है। इसी का सार्थक नाम है– रुद्र, जिस का शान्त अघोम्य–'कलन' रूप शिव ही साम्बसदाशिव है एवं जिस का अशान्त–घोम्य–'कालम्' रूप विवर्त ही 'घोररुद्र' है। शिवशाली कालाग्निरूप ही शिव है एवं घोरशाली कालाग्निरूप ही रुद्र है। वही पश्चात्–भाव से शिव है एवं वही अपस्तात भाव से रुद्र है। 'अग्निर्वा रुद्रः–तस्यैते द्वे तन्वौ घोराऽन्या च शिवाऽन्या च'। 'या ते रुद्र! शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी' इत्यादि रूप से रुद्र की इसी विभूति का यशोगान हुआ है। 'विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि'–'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु' इत्यादि औपनिषद–सिद्धान्त भी इसी की महिमा का महत्त्व स्थापित कर रहे हैं।

२०४–साम्बसदाशिव–पारमेष्ठ्य–आपोमय–शिवतत्त्व, और उस की आस्था–श्रद्धा–परायणा आर्षप्रजा के द्वारा 'श्रावणे' आचारात्मिका उपासना—

पूर्व में जिन कालविवर्त्तों का हमने तालिकारूपेण दिग्दर्शन कराया है उन में से पहिले अनन्त–कालविवर्त से आरम्भ कर आपोमय परमेष्ठी काल–पर्य्यन्त के पाँचों विवर्त्तों की समष्टि का नाम ही अनन्त–अव्यक्त–अमूर्त–कालात्मक–अघोम्यकाल है। यही साम्बसदाशिव पारमेष्ठ्य–आपोमय वह शिवतत्त्व है, जिस का उस श्रावणमास में प्रधानरूपेण आराधन कर धन्य बनाती रहती है आर्षप्रजा अपने मानवजीवन को जिस श्रावणमास में मानव का प्राकृत सम्वत्सरचक्र–पारमेष्ठ्य शिवमण्डल में अन्तर्भुक्त होजाया करता है। अतएव आर्षमानव की आचारपद्धति में श्रावणमास साम्बसदाशिव की उपासना का प्रमुख काल मान लिया गया है तथापि चान्द्रसोममय चार सोमवार (श्रावण के सोमवार–चन्द्रवार), इत्यहो! आश्चर्य्यमयी भारतीय–मानवानां–महामहिमशालिनी–आचारपद्धतिः।

२०५–रोदसीत्रिलोकी के अधिष्ठाता प्रचण्डकालाग्निमूर्त्ति भगवान् रुद्र, तदनुगत अग्नि–वीर्य्यात्मक–'सान्तपनभाव', तत्प्रतीकतिथि–कालरात्रिरूपा महाशिवरात्रि, एवं आर्षप्रजा के द्वारा 'फाल्गुने' आचारात्मिका तदुपासना—

अनन्तकालादि–परमेष्ठिकालान्त–कालविवर्त्तात्मक 'साम्बसदाशिव' नामक अघोम्य–अनन्ताव्यक्तामूर्त परमशिव का ही दूसरा व्यक्त–मूर्त–घोम्य–विवर्त है 'सौरसम्वत्सरकाल' जिस की महिमा में सूर्य्य–चन्द्र भूपिण्ड तीनों प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों लोकों का नाम (सौरत्रैलोक्य का नाम) ही 'रोदसीत्रिलोकी' है जिस के अधिपति व्यक्त–कालाग्निरूप घोररुद्र ही हैं जो अपने सहज क्षोभ से सम्पूर्ण रोदसी त्रैलोक्य को क्षुब्ध–पीड़ित–

है प्रतीकात्मिका निगमविधि के माध्यम से। अनन्तब्रह्म–अश्वत्थ–परोरजा पुरुषोत्तम–और परमेष्ठी, इन पांच महान् आत्माओं की समन्वितावस्था का नाम ही आम्नस्याशिवरूप शिवतत्त्व है, यही 'शङ्कर' है, अपने स्वरूप से 'क्षेमकर' है शान्तिकर है, जिसमें सम्पूर्ण प्राकृत विरोध उपशान्त हैं, जैसाकि प्रतीकात्मक शिवपरिवार में स्पष्ट है। महादेव दिगम्बर, जिन का वाहन वृषभ। महादेवी सर्वैश्वर्य्याधिष्ठात्री–सर्वाभूषणा–लङ्करणोपेता, इनका वाहन वृषभविरोधी सिंह। कनिष्ठ पुत्र गणपति का वाहन मूषक, ज्येष्ठपुत्र स्वामिकार्त्तिकेय का वाहन मूषकशत्रु मयूर। महादेव भूतनाथ के कण्ठ में हालाहल, तो मस्तक पर सुधामयी चन्द्रकला। महामाया के अन्तःकरण में मोहनिवर्तक विद्यातत्त्व तो हाथ में मोहप्रवर्तक मधुपात्र। और इन परस्परात्यन्त-विरोधी तत्वों की विद्यमानता में भी इस महान् परिवार का 'शिवपरिवारत्त्व' इस से बड़ी आश्चर्य सिवा भगवान शङ्कर और मातापार्वती की उपासना के अतिरिक्त अन्यत्र कहां उपलब्ध हो सकती है ! ।

२०६–'धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः' का तात्त्विक समन्वय—

इसी आम्नस्याशिव–अव्यक्त–काल का मूर्त रूपात्मक व्यक्त सूर्य्य ही रुद्र है, जिस की उपासना तो अपठित–मूढ मानवों में भी परम्परया प्रक्रान्त ही है। उदयन् सूर्य्यनारायण को श्रद्धापूर्वक दीपदान तो प्रसिद्ध ही है। साथ ही जलाभिषेक के द्वारा भी ये उपास्य बने हुए हैं जिस से ये इन रुद्रदेव के शिवत्वरूपानुग्रह की कामना अभिव्यक्त करते रहते हैं। प्रतीकभूत मूर्त्ति पर ही नहीं मूर्त्ति की अनुपलब्धि में साक्षात् सूर्य्य के प्रति भी यह जलदान परम्परया विहित है जनसामान्य में। तीसरा शक्त्युपासन भी प्रसिद्ध ही है। भूतकालात्मिका मातापृथिवी की उपासना ही शक्त्युपासना है, देवकालात्मक रुद्र की उपासना ही सूर्य्योपासना है एवं ब्रह्मकालात्मिका शिवोपासना ही शङ्करोपासना है। शङ्कर ब्रह्माग्निकालात्मक–'काल' है, सूर्य्य देवाग्निकालात्मक 'दिक्' है एवं देवी भूताग्निकालात्मक 'देश' है। यों शङ्कर–सूर्य्य–देवी का उपासक भारतीय मानव कालपुरुष के काल–दिक्–देश–भावों की उपासना करता हुआ जन्मारम्भ से ही अपने आचारधर्म्म को व्यवस्थित करता है–'धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः'। यही है काल–दिक्–देश–भावात्मक परमदेवात्मक कला के आचारानुगत दृष्टिकोण का प्रासङ्गिक समन्वय–दिग्दर्शन, जिस की प्रतिष्ठा के बिना शिव की उपासना के बिना मानव का मानवधर्म्म सर्वथा धर्म्माभावात्मक अधर्म्म ही बना रह जाता है।

१–अनन्तब्रह्मतः–परमेष्ठिकालसम्पर्कत्व–ब्रह्माग्निकालः (शङ्करः)–काल (अमूर्त्तकाल)

२–सूर्य्यकालः –देवाग्निकालः (भास्करः)–दिक् (मूर्त्तकाल)

३–चन्द्रानुगतः–पार्थिवकालः –भूताग्निकालः (देवी)–देश (मूर्त्तिकालः)



२१०–प्राकृतानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य, एवं पौरुषानन्त्यात्मक निर्विशेषानन्त्य, तथा सविशेषानन्त्य का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण—

प्रसङ्ग उपक्रान्त हुआ था पूर्व में उस 'आनन्त्य' का जिसके सविशेषानन्त्य निर्विशेषानन्त्य–नामक दो विवर्त प्रतिपादित बने थे। इन्हीं दोनों को अब क्रमशः प्राकृतिकानन्त्य एवं पौरुषानन्त्य–इन

कर मूर्केन्द्रपर्य्यन्त व्याप्त महतोमहीयान् ब्रह्माग्नि-देवाग्नि-भूताग्नि-मय जो कालाग्नि-पुञ्ज है उसी का नाम है स्कम्भ, जिस पर सब कुछ प्रतिष्ठित है–'स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यही अपने ब्रह्माग्निरूप से आधार है, यही अपने देवाग्निरूप से स्रष्टा है एवं यही अपने भूताग्निरूप से आम्भूतों का व्यक्त लिङ्ग (परिणामक) है। यही–लिङ्गात्मक ज्योतिःपुञ्ज उपासना का माध्यम बिना स्वयं उपास्य है। यही लिङ्गप्रतीकात्मक महादेव है जो अपने ब्रह्माग्निरूप से देव-ब्रह्म-रूपों का लिङ्ग बना हुआ है। लिङ्गाङ्का प्रजा ही शिवतत्त्व है महाकालतत्त्व है। एवं भगाङ्का प्रजा ही शक्तितत्त्व है महाकालीतत्त्व है। यों शिवशक्तिरूपेण सर्वत्र यही व्याप्त हो रहा है। भला इसके अतिरिक्त-शिवशक्तिरूप मानव-मानवी के और कौन उपास्य होंगे ?। लक्ष्य बनाइए महाभारत के इन तात्त्विक वचनों को, जिनके द्वारा शिव–शक्त्युपासना का विस्पष्ट शब्दों में उद्घोष हो रहा है—

न पद्माङ्का, न चक्राङ्का, न वज्राङ्का यतः प्रजाः ।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा ॥
—म० अनुशासन पर्व १४ अ० २३३ श्लोक

देव्याः कारणरूपभावजनिताः सर्वा भगाङ्काः स्त्रियो—
लिङ्गेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः प्रत्यक्षचिह्नीकृताः ।
योऽन्यत्कारणमीश्वरात् प्रवदते देव्या च यन्नाङ्कितं—
त्रैलोक्ये सचराचरे स तु पुमान् बाह्यो भवेद् दुर्मतिः ॥
पुंल्लिङ्गं सर्वमीशानं, स्त्रीलिङ्गं विद्धि चाप्युमाम् ।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत् ॥
—म० अनु० पर्व १४ अ० २३४–२३५–वें श्लोक

२०२–सोमगर्भित–कालाग्निरूप–महाकालेश्वर महादेव के उपासक, आचारधर्म्मसंस्थापक मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम—

अवतारपुरुष स्वयं भगवान् राम के द्वारा 'रामेश्वर' रूपेण इसी महादेवतत्त्व की उपासना हुई है। पूर्णावतार भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण ज्ञान–ऐश्वर्य्य शङ्करप्रसाद से ही अनुप्राणित माना गया है (देखिए म० अनु० १५ अ० ७ श्लोक)। तत्त्वनिष्ठ सभी विद्वानों का आराध्य तो शिवशक्तिरूप ही रहा है। मानवातिरिक्त अन्य असुर–राक्षस–गन्धर्वादि–नामकी प्रजाओंने भी इसी तत्त्व की आराधना से शक्तिलाभ किया है। और यों तत्त्वदृष्ट्या मानव की उपास्यकोटि में शिवशक्ति से समन्वित आदिदेव महादेव ही प्रमुख बने हुए हैं जिन की मूलोपनिषत् है 'सोमगर्भित–कालाग्नि', जिसका कि अनन्तरप्रकरण के आरम्भ से ही यशोगान किया जारहा है।

है प्रतीकप्रतिमा निर्माणविधि के माध्यम से। अनन्तकाल-अश्वत्थ-परोरजा पुरुषीर-ग्रौर परमेष्ठी, इन पांच कालविवर्तों की समष्टिकालसंस्था का नाम ही कालसंवत्सरशिवरूप शिवतत्त्व है, यही शङ्कर है, अपने अथात्मस्वरूप से 'शंकर' है शान्तिकर है जिसमें सम्पूर्ण प्राकृत विक्षेप उपशान्त हैं, जैसाकि प्रतीकात्मक शिवपरिवार से स्पष्ट है। महादेव दिगम्बर, जिन का वाहन वृषभ। महादेवी सर्वैश्वर्याधिष्ठात्री-सर्वाभूषणा-लङ्करणोपेता, इनका वाहन वृषभविरोधी सिंह। कनिष्ठ पुत्र गणपति का वाहन मूषक, ज्येष्ठपुत्र स्वामिकार्त्तिकेय का वाहन मूषकशत्रु मयूर। महादेव भूतनाथ के कण्ठ में हालाहल तो मस्तक पर सुधामयी चन्द्रकला। महात्मया के अन्तःकरण में मोहनिवर्तक शिवतत्त्व तो हाथ में मोहप्रवर्तक मदिरापात्र। और इन परस्परात्यन्त-विरोधी तत्त्वों की विद्यमानता में भी इस महान् परिवार का शिवपरिवारत्व, इस से बढ़ी आधार शिला भगवान शङ्कर और मातापार्वती की उपासना के अतिरिक्त अन्यत्र कहां उपलब्ध हो सकती है ?।

२०६-'धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः' का तात्त्विक समन्वय—

इसी कालसंवत्सरशिव-अव्यक्त-काल का मूर्त रूपात्मक व्यक्त सूर्य्य ही रुद्र है, जिस की उपासना तो अपठित-भद्र मानवों में भी परम्परया प्रक्रान्त ही है। उषन् सूर्य्यनारायण को श्रद्धापूर्वक दीपदान तो प्रसिद्ध ही है। साथ ही जलाभिषेक के द्वारा भी ये उपास्य बने हुए हैं जिस से ये इन रुद्रदेव के शिवस्वरूपानुग्रह की कामना अभिव्यक्त करते रहते हैं। प्रतीकभूता मूर्ति पर ही नहीं मूर्ति की अनुपलब्धि में साक्षात् सूर्य्य के प्रति भी यह जलदान परम्परया विहित है सर्वसामान्य में। शीतल शक्त्युपासना भी प्रसिद्ध ही है। भूत-कालात्मिका मातापृथिवी की उपासना ही शक्तउपासना है, देवकालात्मक रुद्र की उपासना ही सूर्य्योपासना है एवं ब्रह्मकालात्मिका शिवोपासना ही शङ्करोपासना है। शङ्कर ब्रह्माग्निकालात्मक-'काल' है सूर्य्य देवाग्नि कालात्मिका दिक् है एवं देवी भूताग्निकालात्मक 'देश' है। यों शङ्कर-सूर्य्य-देवी का उपासक भारतीय मानव कालपुरुष के काल-दिक्-देश-भावों की उपासना करता हुआ कर्माध्यम से ही अपने आचारधर्म को व्यवस्थित करता है-'धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः'। यही है काल-दिक्-देश-भावात्मक परमदेवात्मक काल के आचारानुगत दृष्टिकोण का तात्त्विक समन्वय-दिग्दर्शन, जिस की प्रतिष्ठा के बिना जिस की उपासना के बिना मानव का मानवधर्म सर्वथा धर्म्माभासात्मक अधर्म्म ही बना रह जाता है।

१-अनन्तकालतः-परमेष्ठिकालपर्य्यन्तः-ब्रह्माग्निकालः (शङ्करः)-कालः (अमूर्त्तकालः)
२-सूर्य्यकालः —देवाग्निकालः (भास्करः)-दिक् (मूर्त्तकालः)
३-चन्द्रानुगतः-पार्थिवकालः —भूताग्निकालः (देवी)—देशः (मूर्त्तिकालः)



२१०-प्राकृतानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य, एवं पौरुषानन्त्यात्मक निर्विशेषानन्त्य, तथा सविशेषानन्त्य का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण—

प्रसङ्ग उपक्रान्त हुआ था पूर्व में उस आनन्त्य का जिसके सविशेषानन्त्य निर्विशेषानन्त्य-नामक दो विवर्त्त प्रतिष्ठित बने थे। इन्हीं दोनों को हम क्रमशः प्राकृतिकानन्त्य एवं पौरुषानन्त्य-इन

करते रहते हैं। रोदसी रुद्रपत्नी है। घोररुद्र स्वयं पीड़ित हैं उस अघोरास्य शिव से, तो पीड़ित (अघोरी- णि-रुद्ररस्य रुद्रस्यम्) क्षुब्ध-वे घोरस्य रुद्र भगवान् (घोरपुरुष) अपनी पत्नीरूपा रोदसीत्रिलोकी को भी अपने प्रखरप्रतानात्-धर्म्म से पीड़ित करते रहते हैं। और इस पीड़नधर्म्म से ही महादेव (महादेव)- मत्यों आविवेश', 'वृषभो रोरवीति। व्यक्त-कालात्मक इसी नीललोहित रुद्र का नाम है घोररौद्री- महादेव जिन्हें संहार का अधिष्ठाता माना गया है गुणरूप से एवं सरवेण पालन का अधिष्ठाता माना गया है इन्हीं के उस अव्यक्त-अमूर्त-साम्बसदाशिवरूप से। 'रुद्री'-'रुद्र' आदि नाम से प्रसिद्ध पारम्पर्यानुगत उपास्यमन्त्र (यजुर्संहिता के ही अमुक अध्याय) में उमयको नमस्कार से इसी रुद्र की आराधना का व्यो- ख्यान हुआ है। जिसप्रकार भाद्रपद में इन का साम्बसदाशिवरूप प्रधान रहता है तथैव प्रचण्ड ग्रीष्म में इन्हीं का घोरभावानुगत रौद्ररूप प्रधान बना रहता है। यही इन का सान्तपनरूप है जिसे ब्राह्मणग्रन्थों के उग्रभावानुगत महावीर्य की महिमा माना गया है। ग्रीष्मारम्भ में-फाल्गुन में ही इन रुद्रदेवता का उग्रभाव (प्रताप) आरम्भ हो जाता है जिसकी प्रतीकभूता कालतिथि ही 'कालरात्रि' नाम से प्रसिद्ध है- आगमशास्त्र में। वास्तव में यह रुद्र अपने विशुद्ध-सोमविरहित-अग्निरूप से घोर ही है जिसे अपनी उपासना के माध्यम से भक्तों की तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा भावपूर्वक 'शिवरात्रि' रूप में परिणत कर देती है- जलाभिषेक के द्वारा। इसप्रकार 'महाकालरात्रि' इस प्रतीकोपासना के माध्यम से 'महाशिवरात्रि' रूप में परिणत हो जाती है जिस परिणति के प्रकार भारतीय सनातनप्रज्ञा में सर्वात्मना अभिव्यक्त हैं परम्परया। इसप्रकार भाद्रपद में अपने पारमेष्ठ्य अमूर्त-अघोरास्य-शिवरूप से तथा फाल्गुन में अपने घोर-मूर्त-घोरास्य- रुद्ररूप से रुद्रतत्त्व ही उपास्य बना रहता है।

२०६–ब्रह्माग्निरूप-अघोरास्यकालात्मक साम्बसदाशिव एवं देवाग्निघोरास्यकालात्मक घोररुद्र, तथा तदनुगत भूताग्नि का समन्वय—

परमशिवात्मक अव्यक्त-अघोरास्यकाल जहाँ ब्रह्माग्नि-प्रधान है वहाँ आगमप्रधानात्मक व्यक्त-घोरास्य- घोर-काल देवाग्नि-प्रधान है। और अब शेष रह जाता है भूताग्नि। इसी का नाम है 'पार्थिवशाक्तितत्त्व'। मातृकलानुगत पार्थिव भूताग्नितत्त्व ही 'मातृकाल' है एवं इसकी अपेक्षा से यह-सब घोर घोरास्यकाल ही 'पितृकाल' है। पितृकालात्मक 'द्यु' काल एवं मातृकालात्मक 'भू'-काल इन द्यावापृथिवीरूप पितृ-मातृ- रूपों से ही चराचर विश्व व्याप्त है जैसाकि पूर्व के वैदिक वचन से स्पष्ट है।

२०७–पितृकालात्मक सौरकाल का निरूपक निगमशास्त्र, मातृकालात्मक पार्थिवकाल का निरूपक आगमशास्त्र, एवं निगमागममूलक पराविद्या-महाविद्या-विमर्श—

पितृकालात्मक सौरकाल का निरूपक शास्त्र ही निगमशास्त्र है एवं मातृकालात्मक पार्थिवकाल- का निरूपक शास्त्र ही-आगमशास्त्र है। निगमशास्त्रानुगता शिवविद्या ही पराविद्या है एवं आगमशास्त्रा- नुगता शक्तिविद्या ही महाविद्या है जैसाकि अन्य निबन्धों में यत्रतत्र विस्तार से प्रतिपादित है।

२०८–शिवतत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन, एवं शिवपरिवार—

प्रकृत में तो इस सन्दर्भ से यही निवेदनीय है कि, आदरणीय किंवा नयायत्त शिव कालविवर्त का पूर्व- प्रतिपादनों में दिग्दर्शन कराया गया है यही कालतत्त्व शिव-सूर्य्य-शक्ति-रूप से मानव का उपास्य बना हुआ

२१४–सम्वत्सर, और प्राकृत मानव का समतुलन, एवं तदनुबन्धी श्रौतसन्दर्भ—

तात्पर्य्य यह हुआ कि, इस भौतिक–व्यक्त–मूर्त–जगत् में उस अनन्तकाल के दो ही प्रमुख प्रतीक हैं, एक तो कर्मात्मक सम्वत्सर, एवं एक सम्वत्सर से अभिव्यक्त होने वाला प्राकृत मानव। सम्वत्सर, और मानव के अतिरिक्त अन्य सभी प्राण, और प्राणी अनन्तकाल के सर्वात्मना प्रतीक नहीं बनसकते। क्योंकि सम्वत्सर, तथा प्राकृत मानव के अतिरिक्त अन्य प्राण–प्राणी केवल कालपर्य्य पर ही व्यवस्थित हैं। इन का समस्त इतिवृत्त मात्रत्वस्थान की सीमा में ही समाप्त हो जाता है जबकि सम्वत्सर, और तत्समतुलित प्राकृत मानव अन्येय उपरत न होकर अपने प्रक्रम–अभिक्रमात्मक–स्पन्दनों से अनन्तकाल में ही विश्राम ग्रहण करते हैं। अनन्तकाल का प्रथम विवर्त्त वह अनन्ताव्यय पुरुष है, जिसे 'षोडशीप्रजापति' कहा गया है जो सहस्रसंख्यात्मक है। सवर्त्मन एक सम्वत्सर अनन्तप्रमाणात्मक उस षोडशीप्रजापति सहस्र सहस्र–मायी महेश्वर के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। तभी तो इसे उसका प्रतीक मान लिया गया है। तभी तो इस सम्वत्सर के प्रजापति–षोडशकल–षोडशी–सहस्र–इत्यादि नाम प्रसिद्ध होगए हैं जो कि वस्तुतः उस अनन्त कालात्मक अव्यय प्रजापति के ही नाम हैं *। जब कि प्राकृत मानव इस सम्वत्सर की पूर्ण प्रतिमा है यथामना समर्थित है जब कि सम्वत्सर, और प्राकृत मानव तो अवश्य ही इसे भी उस अनन्तकाल का सम्वत्सरवत् पूर्ण प्रतीक माना जासकता है माना गया है जैसाकि निम्न लिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट प्रमाणित है—

(१)–पुरुषो वाव सम्वत्सरः। सप्त वै शतानि विंशतिश्च सम्वत्सरस्याहानि–
च रात्रयश्च। एतावन्त एव पुरुषस्यास्थीनि च मज्जानश्च इत्यत्र तत्समम्।
—गो० पू० ५।५।

(२)–षोडशकलो वै पुरुषः (प्राकृतमानवः)। (शत० ११।१।६।३६।)।

(३)–पुरुषो वै सहस्रस्य (सम्वत्सरस्य) प्रतिमा। (शत० ७।५।२।१७।)।

(४) यद्वेव चतुरक्षरः सम्वत्सरः, चतुरक्षरः प्रजापतिः। तेनो हैवास्यैष प्रतिमा।
(शत० ११।१।६।१।)।

२१५–व्यक्तिस्वविमोहन से असस्पृष्ट मानव के द्वारा कालानन्त्य–दर्शन का उपक्रम—

एक वर्षात्मक सम्वत्सरकाल से मानव काल के प्राकृतिक–आनन्त्य का अनुमानमात्र कर अपनी उस मान्यता का दम्भ क्षणमात्र में विसर्जित कर सकता है जिस मान्यता के आधार पर इसने काल को सादि–सान्त मान लिया है। एवं जिस सादि–सान्तता ने ही इसे पशुवत् तात्कालिक–स्वार्थ–व्यामोहनों में आसक्त–व्यासक्त बना दिया है। क्योंकि वर्त्तमानात्मक वर्त्तकाल पर ही इसके प्राकृत स्वरूप का पर्य्यवसान नहीं है, जिस पर अपनी बुद्धिगम्या स्थूलतमा भाषा में 'वर्त्तमानकाल' कहा करता है। वर्त्तमान

*–(१)–एष वै सम्वत्सर एव प्रजापतिः (शत० १।६।३।३५)।

(२)–स एष सम्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः। (शत० १४।४।३।२२।)।

(३)–सम्वत्सरो वै समस्तः सहस्रवान्। (ऐत० ब्रा० २।४१।)।

अभिधानों से व्यवहृत किया गया था एवं इन्हीं दोनों आनन्त्यों के आधार पर मानव के पौरुष-प्राकृत-भावों का प्रतीकविधया समन्वय-उपक्रान्त हुआ था। वहीं से आरम्भ कर (४६१ वें पृष्ठ से आरम्भ कर) इस उपास्य-परिलेख पर्य्यन्त (४८५ वें पृष्ठपर्य्यन्त) अनेक दृष्टिकोणों से सविशेषानन्त्यरूप प्राकृतिकानन्त्य (विरवानन्त्य) के समन्वय का ही प्रयास-प्राधान्य रहा काल-दिक्-देश-के विभिन्न दृष्टिकोणों के माध्यम से जो सविशेषानन्त्य उपक्रान्त हुआ महामाया-वृत्तात्मक अनन्तकाल से एवं उपसंहृत हुआ योगमायावृत्तात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल पर जिसे कि लोकभाषा में-'वर्ष' कहा गया है।

२११-'आदि' सामात्मक अनन्तकाल के समग्र स्वरूप का अभिव्यञ्जक 'निधन' सामात्मक सम्वत्सररूप वर्षकाल—

अनन्तकाल जहाँ सृष्टि का उपक्रमबिन्दु है, वहाँ वर्षात्मक सम्वत्सरकाल सृष्टि का उपसंहारबिन्दु है निधनबिन्दु है। अनन्तकाल आदिसाम है सम्वत्सरकाल निधनसाम है। आदिसामात्मक अनन्तकाल अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है निधनसामात्मक एक वर्षकाल के माध्यम से। अतएव इस चान्द्र-सम्वत्सरकालात्मक 'निधनसाम' रूप एक 'वर्षकाल' को उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है। इस प्रतीकता के कारण ही यह वर्षकालात्मक सम्वत्सरकाल 'सम्वत्सरो वै प्रजापतिः' इत्यादिरूपेण 'प्रजापति' (अक्षरकाल) नाम से समन्वित हो गया है। जैसा जो कुछ सविशेषानन्त्यरूप अनन्तकाल है ठीक वैसा ही वही सबकुछ यह एक 'सम्वत्सरकाल' है।

२१२-सम्वत्सरकाल का प्रतिमानरूप प्राकृत मानव, एवं मानव के प्राकृत-आनन्त्य का दिग्दर्शन—

यह 'सम्वत्सर' उस का सर्वात्मना प्रतिमान है और इस सम्वत्सर का प्रतिमान है सविशेषप्रजात्मक 'प्राकृतमानव'। अतएव जैसे प्रतिमानरूप सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक बना हुआ है तथैव इस सम्वत्सरकाल के प्रतिमाभूत प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का वैसा ही प्रतीक माना जायगा जिस इस कालप्रतीकभूत-सम्वत्सरकालप्रतिमारूप-प्राकृत मानव के द्वारा भी सम्वत्सरकालवत् उस अनन्तकाल का समग्र स्वरूप सर्वात्मना अभिव्यक्त हो रहा है और यही प्राकृत मानव का प्राकृतिकानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य है जिसे कालानन्त्य कहा गया है। अनन्त है यह मूलकाल अनन्त है उसका प्रतीकभूत एक सम्वत्सरकाल और अनन्त है इस सम्वत्सरकाल का प्रतिमारूप तथा उस अनन्तकाल का प्रतीकरूप प्राकृत मानव।

२१३-अ शात्मक सविशेषानन्त्य से अ शोरूप सविशेषानन्त्य का समन्वय—

तदित्थं-कालप्रतीकरूप से प्राकृत मानव भी सम्वत्सरकालवत् अनन्तकाल का पूर्ण प्रतीक बन रहा है। जिसप्रकार एक सम्वत्सरकाल से अनन्तकाल का स्वरूप परिगृहीत हो जाता है तथैव एक प्राकृत मानव के प्राकृत स्वरूप से भी उस अनन्तकाल का स्वरूप परिगृहीत बन रहा है। अन्यमुख यह अनन्तकाल अपने अथ से इति पर्य्यन्त के स्वरूप को अपने एकांशभूत प्राकृत मानव के रूप में सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। जैसा जो कुछ यह है वैसा यही सबकुछ यह है। इस एकांशरूप एक सविशेष के परिज्ञान से यह अंशीरूप सविशेषानन्त्य परिज्ञात है विज्ञात है।

सम्बन्ध रखने वाली सविशेषानन्त्यता को प्राकृत मानव फिर भी यथाकथञ्चित् समन्वित कर लेता है उपाख्यानादि के माध्यम से। किन्तु निःसीम निर्विशेषानन्त्य का समन्वयबोध तो अस्मदादि प्राकृत मानवों के लिए अत्यन्त ही दुर्बोध्य बना रहता है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, प्रस्तुत दिग्देशकालमीमांसा का उद्देश्य यद्यपि कालान न्तलक्षण सविशेषानन्त्य का समन्वय नहीं है। अपितु मुख्य लक्ष्य तो निर्विशेषानन्त्य ही है जिसके अनुबन्ध से ही कालानन्त्य माध्यममात्र बन गया है।

२१८–कालातीत मानव के वास्तविक स्वरूप के आधारभूत अनन्तब्रह्म, एवं अनन्त ब्रह्मात्मक निर्विशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'प्रतीकभाव' का अन्वेषण—

अनन्तकाल जिस निर्विशेष निष्कल–अनन्त परात्पराव्ययब्रह्म के 'एतावानस्य'रूप एकांश में महिमा रूप से गर्भित है उस आनन्त्य का ही नाम निर्विशेषानन्त्य है और यही है कालातीत मानव का वास्तविक स्वरूप। इस स्वरूप का बोध कर लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। सम्वत्सरकाल के माध्यम से अनन्तकाल का बोध प्राप्त कर लेना तो मानव का पुरुषार्थ नहीं, अपितु प्रकृत्यर्थमात्र है। सविशेषानन्त्यरूप अनन्तकाल के बोध के लिए तो मानव ने सम्वत्सरकाल को प्रतीक मान लिया। एवं अपरिभ्रमण–लक्षणानन्त्य से इसने अनन्तकालात्मक सविशेषानन्त्य का अनुमान भी लगा लिया अपनी प्रत्यक्ष–स्थूलबुद्धि से। किन्तु जिस निर्विशेष–अनन्तब्रह्म के एकांश में अनन्तकाल प्रतिष्ठित है उसका प्रतीक कौन? किस प्रतीक के माध्यम से उस निर्विशेषानन्त्य का स्मरणमात्र सौभाग्य भी प्राप्त कर लिया जाय? यह महती समस्या मानव के सम्मुख उपस्थित हो पड़ी और अपने सहज प्राकृतिक अभ्यास के माध्यम से सहज बुद्धि से ही इसने अपने ये उद्गार अभिव्यक्त कर ही तो दिए कि,' यदि-समस्त ब्रह्माण्ड में उस अनन्तब्रह्म का कोई प्रतीकात्मक दृष्टान्त बन सकता है तो, वह एकमात्र अनन्तकाल ही है, जिसके गर्भ में अश्वत्थब्रह्म से आरम्भ कर पार्थिव-चान्द्रसम्वत्सरकाल-पर्य्यन्त के सम्पूर्ण कालमहिमाविवर्त बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित हैं'। इसी सहज कालप्रतीकता का महर्षि की सहज, किन्तु प्राकृत बुद्धि से प्रकृतिविज्ञानसिद्ध अनन्तकाल का, तथा अनन्त कालमहिमाओं का ही क्रमशः अथर्ववेद के अष्टम–नवम-सूक्तों के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जिनका अक्षरार्थमात्र–समन्वय पूर्व में यथाक्रम किया ही जा चुका है।

२१९–अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से 'दृष्टान्त' का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में आधिदैविक-विज्ञानात्मक ब्राह्मणवेद, तथा आधिदैविक ज्ञानात्मक उपनिषद्वेद—

कालकालानुगता प्राकृता–प्राकृतानन्त्यानुगता–सविशेषानन्त्यात्मिका–सहज–स्थूलबुद्धि से अब हम अनन्तकाल को ही दृष्टान्तविधि के माध्यम–द्वारा उस निर्विशेषानन्त्यरूप कालातीत अनन्तब्रह्म का 'प्रतीक' मान लेते हैं। प्राकृत विश्व में इससे महान्, इससे विशिष्ट अन्य कोई दूसरा दृष्टान्त है ही नहीं। अतएव मन्त्रसंहितावत् ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषत् में भी यत्रतत्र इस अनन्तकाल के माध्यम से ही ब्रह्म की अनन्तता के साक्षात्कार का प्रयास हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थोंने सम्वत्सरकाल की प्रतीकता से अनन्तकाल को वाच्य बनाया है, तो उपनिषदोंने अनन्ताधारकाल की प्रतीकता से अनन्तब्रह्म को लक्ष्य बनाया है। और

मानव की विश्रामभूमि नहीं है । अपितु यह वर्त्तमान मानव का लक्ष्य होना चाहिए, जिस के इस ओर 'भूत' है एवं उस ओर 'भविष्यत्' है । भूत और भविष्यत्-रूप कालानन्त्यता को विस्मृत कर देने के अनन्तर तो मानव का प्राकृत स्वरूप कुछ भी नहीं रहजाता । फिर तो भूतसंस्कारों से असंस्पृष्ट एवं भविष्यत् के परिणामों से असंस्पृष्ट तात्कालिक (वर्त्तमानकालिक) पशु से अधिक इस का कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं है । वर्त्तमानकालता जहाँ प्राकृत पशु का जीवनाधार है वहाँ प्राकृत मानव की आचारभूमि कालत्रयी ही मान गई है । अतएव मानव परिणामदर्शी है संस्कारी है जबकि मानवेतर प्राणी संस्कारों से और परिणाम-दर्शन से सर्वात्मना वञ्चित है । भूत-भविष्यत्-रूपता ही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है जिसे अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या से प्राकृत मानव भले ही समझ न सके । किन्तु उस की सहज श्रद्धा पर तो अपने इस मान्य सम्वत्सरकाल की प्रतीकता से आस्था कर ही लेनी पड़ेगी अपने व्यक्तित्वविमोहन को थोड़ी देर के लिए विस्मृत करते हुए ही । जब यह देखेगा कि—

२१६—अनाद्यनन्त कालचक्र तन्निष्ठाधारस्य कर्त्तव्यनिष्ठानुगति, एवं अनन्तकालोपासक नैष्ठिक-मानव की-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' मूला सहज आचारनिष्ठा—

"यही सम्वत्सरकाल-जिसे मैं ३६५ अहोरात्रों का ही मान रहा हूँ-सचमुच अपने शाश्वत प्रवाह से प्रावाहिक चक्र से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है । कोई ओर छोर ही नहीं है इस कालचक्र का । सम्पूर्ण गणनाङ्क परिसमाप्त हैं इस की इयत्ता का समन्वय करने में तो निश्चयेन इसी सीमित ३६५ दिन वाले वर्षात्मक कालप्रतीक के माध्यम से भी इस की सहज प्रज्ञा काल के आनन्त्य की ओर आकर्षित हो ही जायगी । और इसका कालगणनात्मक, तदनुबन्धी दिग्देश-प्रदेश-गणनात्मक एवं गणनकाल-दिग्देशात्मक-तत्सम्बद्ध वर्त्तमानात्मक-व्यामोहन स्वतः ही उपशान्त होजायगा । इस सीमाबन्धन के उपशान्त होते ही इस की प्रज्ञा तन्निर्विशेषानन्त्य की उपासना में प्रवृत्त हो जायगी । एवं वर्त्तमानकालानुबन्धी-तात्कालिक-सफलता-असफलताओं को नगण्य मानता हुआ यह आस्थापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बन जायगा परिणामदर्शिता-पूर्वक । कभी सादि-सान्तकाल इसे लक्ष्यविहीन न बना सकेंगे । कभी तात्कालिक-सफलता-असफलताओं का व्यामोहन इसे प्रकृति-विस्मृत नहीं होने देगा । और यों इस तन्निर्विशेषानन्त्य के अनुग्रह से प्राकृत मानव की कर्त्तव्यनिष्ठ मर्य्यादा-पूर्वक-दिग्-देश-कालानुबन्धी के प्रति सर्वात्मना जागरूक रहती हुई भी इनकी तात्कालिकताओं के तात्कालिकपाशबन्धन से असंस्पृष्ट ही प्रमाणित होती रहेगी । कोई भी काल-दिक्-देश-व्यामोहन व्यवधान इस कर्त्तव्यनिष्ठा से आचारनिष्ठा से पराङ्मुख न कर सकेगा । क्योंकि इस की दृष्टि में काल भी अनन्त है दिक् भी अनन्त है और देश भी अनन्त है । इसी अनन्तता पर-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' सिद्धान्त जागरूक बनता है" इति नु प्राकृतिकानन्त्यस्य-अनन्तकालस्य-तन्निर्विशेषानन्त्यस्य स्वरूपमीमांसा-आचारसमन्विता ।

२१७—निःसीमभावापन्न, अस्पृष्टनिबद्ध निर्विशेषानन्त्यप्रपञ्च अनन्तप्रभव के आनन्त्य का संस्मरणोपक्रम—

अब क्रमप्राप्त प्रतिज्ञात उस निर्विशेषानन्त्य को लक्ष्य बनाने का 'निःसीम' अनुग्रह कीजिए, जो बिना निःसीम-अनुग्रह' के लक्ष्यारूढ बन ही नहीं सकता । क्योंकि यह अपने स्वरूप से सर्वथा ही निःसीम है । सम्वत्सरकाल के माध्यम से तदनुगत वर्षपरम्परा के परिभ्रममाण-कालचक्र के माध्यम से काल की अनन्तता से

सम्बन्ध रखने वाली सविशेषानन्तता का प्राकृत मानव फिर भी यथाकथंचित् समन्वित कर लेता है उपासनादि के माध्यम से। किन्तु निःसीम निर्विशेषानन्त्य का समन्वयबोध तो अपरमार्थ प्राकृत मानवों के लिए अत्यन्त ही दुर्बोध्य बना रहता है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, प्रस्तुत [illegible]कालमीमांसा का उद्देश्य यद्यपि कालानन्त्यलक्षण सविशेषानन्त्य का समन्वय नहीं है। अपितु मुख्य लक्ष्य तो निर्विशेषानन्त्य ही है, जिसके अनुबन्ध से ही कालानन्त्य माध्यममात्र बन गया है।

२१८–कालातीत मानव के वास्तविक स्वरूप का आधारभूत अनन्तब्रह्म, एवं अनन्त ब्रह्मात्मक निर्विशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'प्रतीकभाव' का अन्वेषण—

अनन्तकाल जिस निर्विशेष निष्कल–अनन्त परात्परब्रह्म के यत्किञ्चिद्रूप प्रकाश में महिमारूप से गर्भित है उस आनन्त्य का ही नाम निर्विशेषानन्त्य है और यही है कालातीत मानव का वास्तविक स्वरूप। इस स्वरूप का बोध कर लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। सम्वत्सरकाल के माध्यम से अनन्तकाल का बोध प्राप्त कर लेना तो मानव का पुरुषार्थ नहीं अपितु प्रवृत्त्यर्थमात्र है। सविशेषानन्त्यरूप अनन्तकाल के बोध के लिए तो मानव ने सम्वत्सरकाल को प्रतीक मान लिया। एवं तत्परिभ्रमण–कालानन्त्य से इसने अनन्तब्रह्मात्मक सविशेषानन्त्य का अनुमान भी लगा लिया अपनी अवरुद्ध–स्थूलबुद्धि से। किन्तु जिस निर्विशेष–अनन्तब्रह्म के प्रकाश में अनन्तकाल अवस्थित है उसका प्रतीक कौन? किस प्रतीक के माध्यम से उस निर्विशेषानन्त्य का स्मरणमात्र सौभाग्य भी प्राप्त कर लिया जाय? यह महती समस्या मानव के सम्मुख उपस्थित हो पड़ी और अपने सहज प्राकृतिक अभ्यास के माध्यम से सहज बुद्धि से ही इसने अपने ये उद्गार अभिव्यक्त कर ही तो दिए कि,' यदि–समस्त ब्रह्माण्ड में उस अनन्तब्रह्म का कोई प्रतीकात्मक दृष्टान्त बन सकता है तो वह एकमात्र अनन्तकाल ही है, जिसके गर्भ में अव्ययब्रह्म से आरम्भ कर पशात्मक–चान्द्रसम्वत्सरपर्यन्त–पर्यन्त के सम्पूर्ण कालमहिमाविवर्त बुद्बुदवत् प्रतिष्ठित हैं'। इसी सहज कालप्रतीकता का महर्षि की सहज, किन्तु प्राकृत बुद्धि से प्रकृतिविज्ञानसिद्ध अनन्तकाल का तथा अनन्त कालमहिमाओं का ही क्रमशः अथर्ववेद के अष्टम–नवम–सूक्तों के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है जिनका अक्षरार्थमात्र–समन्वय पूर्व में यथाक्रम किया [illegible] जा चुका है।

२१९–अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से 'दृष्टान्त' का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में आधिदैविक-विज्ञानात्मक ब्राह्मणवेद, तथा आधिदैविक ज्ञानात्मक उपनिषद्वेद—

कालसूत्रानुगता प्राकृता–प्राकृतानन्त्यानुगता–सविशेषानन्त्याभिव्यञ्जिका–सहज–स्थूलबुद्धि से अब हम अनन्तकाल को ही दृष्टान्तविधि के माध्यम–द्वारा उस निर्विशेषानन्त्यरूप कालातीत अनन्तब्रह्म का 'प्रतीक' मान लेते हैं। प्राकृत विश्व में इससे महान्, इससे विशिष्ट अन्य कोई दूसरा दृष्टान्त है ही नहीं। अतएव मन्त्रसंहितावत् ब्राह्मण आरण्यक, तथा उपनिषत् में भी सर्वत्र इस अनन्तकाल के माध्यम से ही ब्रह्म की अनन्तता के साक्षात्कार का प्रयास हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थोंनें सम्वत्सरकाल की प्रतीकता से अनन्तकाल को लक्ष्य बनाया है तो उपनिषदोंनें अनन्ताक्षरकाल की प्रतीकता से अनन्तब्रह्म को लक्ष्य बनाया है। और

मानव की विश्रामभूमि नहीं है। अपितु यह वर्त्तमान मानव का लक्ष्य होना चाहिए, जिस के इस ओर 'भूत' है एवं उस ओर 'भविष्यत्' है। भूत और भविष्यत्-रूपा कालानन्तता को विस्मृत कर देने के अनन्तर तो मानव का मानुष्य स्वरूप कुछ भी नहीं रह जाता। फिर तो भूतसंस्कारों से असंस्पृष्ट एवं भविष्यत् के परिणामों से असंस्पृष्ट तात्कालिक (वर्त्तमानकालिक) पशु से अधिक इस का कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं है। वर्त्तमानकालता जहाँ प्राकृत पशु का जीवनाधार है वहाँ प्राकृत मानव की आधारभूमि कालत्रयी ही मान गई है। अतएव मानव परिणामदर्शी है संस्कारी है जबकि मानवेतर प्राणी संस्कारों से और परिणाम-दर्शन से सर्वात्मना वञ्चित है। भूत-भविष्यत्-कालता ही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है जिसे अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या से प्राकृत मानव भले ही समझ न सके। किन्तु उस की सहज सत्ता पर तो अपने इस मान्य सम्वत्सरकाल की प्रतीकता से आस्था कर ही लेनी पड़ेगी अपने व्यक्तित्वविमोहन को थोड़ी देर के लिए विस्मृत करते हुए ही। जब यह देखेगा कि—

२१६–अनाद्यनन्त कालचक्र, तन्निष्ठाचारस्व कर्त्तव्यनिष्ठानुगति, एवं अनन्तकालोपासक नैष्ठिक-मानव की-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' मूला सहज आचारनिष्ठा—

"यही सम्वत्सरकाल-जिसे मैं ३६५ अहोरात्रों का ही मान रहा हूँ-सचमुच अपने शाश्वत प्रवाह से, प्रावाहिक चक्र से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। कोई ओर छोर ही नहीं है इस कालचक्र का। सम्पूर्ण गणनाङ्क परिसमाप्त हैं इस की इयत्ता का समन्वय करने में" तो निश्चयेन इसी सीमित ३६५ दिन वाले वर्षात्मक कालप्रतीक के माध्यम से भी इस की सहज प्रज्ञा काल के आनन्त्य की ओर आकर्षित हो ही जायगी। और इसका कालगणनात्मक तदनुबन्धी दिग्देश-प्रदेश-गणनात्मक एवं गणनकाल-दिग्देशात्मक-भ्रान्तवहद वर्त्तमानात्मक-व्यामोहन स्वतः ही उपशान्त होजायगा। इस सीमाबन्धन के उपशान्त होते ही इस की प्रज्ञा सविशेषानन्त्य की उपासना में प्रवृत्त हो जायगी। एवं वर्त्तमानकालानुबन्धी-तात्कालिक-सफलता-असफलताओं को नगण्य मानता हुआ यह आस्थापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बन जायगा परिणामदर्शिता-पूर्वक। कभी तात्कालिक-सफलता-असफलतायें इसे सत्त्वविहीन न बना सकेंगी। कभी वाद-सान्तविस्मृत नहीं होने देगा। और यों इस सविशेषानन्त्य के अनुग्रह से प्राकृत मानव की कर्त्तव्यनिष्ठा मर्यादापूर्वक-दिग्-देश-कालानुबन्धों के प्रति सर्वात्मना जागरूक रहती हुई भी इनकी तात्कालिकताओं के वाग्बन्धन से असंस्पृष्टा ही प्रमाणित होती रहेगी। कोई भी काल-दिक्-देश-व्यामोहन व्यवधान इसे कर्त्तव्यनिष्ठा से आचारनिष्ठा से पराङ्मुख न कर सकेगा। क्योंकि [illegible] की दृष्टि में काल भी अनन्त है दिक् भी अनन्त है और देश भी अनन्त है। इसी अनन्तता पर-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' सिद्धान्त जागरूक बनता है इति नु प्राकृतिकानन्त्यस्य-अनन्तकालस्य-सविशेषानन्त्यस्य स्वरूपमीमांसा-आचारसमन्विता।

२१७–निःसीमभावापन्न, अव्ययनपिनद्ध निर्विशेषानन्त्यलक्षण अनन्तब्रह्म के आनन्त्य का संस्मरणोपक्रम—

अब क्रमप्राप्त भविज्ञात उस निर्विशेषानन्त्य को लक्ष्य बनाने का 'निःसीम' अनुग्रह कीजिए, जो बिना निःसीम-अनुग्रह' के लक्ष्यारूढ बन ही नहीं सकता। क्योंकि वह अपने स्वरूप से सर्वथा ही निःसीम है। सम्वत्सरप्रवाह के माध्यम से तदनुगता वर्षपरम्परा के परिभ्रममाण-कालचक्र के माध्यम से काल की अनन्तता से

आणाऽणिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए।
पडिणीए असबुद्धे, अविणीए-त्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥

छाया—

आज्ञाऽनिर्देशकरो गुरूणामनुपपातकारकः ।
प्रत्यनीकोऽसबुद्धः अविनीत इत्युच्यते ॥ ३ ॥

टीका—

'आणाऽणिद्देसकरे' इत्यादि । आज्ञाऽनिर्देशकरः=आज्ञाया गुरुवचनस्यानिर्देशकरः-अनादरकारकः, तथा गुरूणाम्=आचार्यादीनाम्, अनुपपातकारकः=समीपानवस्थायी, गुरूणा सनिधौ तिष्ठामि चेद् गुरवो मा स्वकार्यार्थमाज्ञापयिष्यन्तीति विज्ञाय दूर तिष्ठतीत्यर्थ । तथा-प्रत्यनीकः=प्रतिकूल, गुरुदोषान्वेषणपर इत्यर्थ । तथा-असम्बुद्ध जीवाजीवादितत्त्वानभिज्ञ, एवभूतो यः शिष्य स खल्वविनीत इत्युच्यते ।

शिष्य में विनीतता, अविनीतता के परित्याग से ही आती है इसलिये विनीत से विपरीत अविनीत का स्वरूप सूत्रकार कहते हैं— 'आणाऽणिद्देसकरे०' इत्यादि ।

अन्वयार्थ-(गुरूण आणाऽणिद्देसकरे-गुरूणा आज्ञाऽनिर्देशकरः) गुरु की आज्ञा का अनादर करने वाला, (अणुववायकारए) उनके समीप नहीं बैठने वाला (पडिणीए) उनसे सदा प्रतिकूल वर्ताव करनेवाला (असबुद्धे) जीव एव अजीव आदि के स्वरूप को नहीं जाननेवाला ऐसा शिष्य (अविणीए वुच्चइ-अविनीत -उच्यते) अविनीत कहा जाता है।

भावार्थ—इस गाथा द्वारा सूत्रकार ने विनीत से विपरीत अविनीत का स्वरूप प्रदर्शित किया है । यद्यपि यह बात अर्थापत्ति से स्वय सिद्ध

શિષ્યમા વિનીતતા અવિનીતતાના પરિત્યાગથી જ આવે છે આ માટે વિનીતથી વિપરીત અવિનીતનુ સ્વરૂપ સૂત્રકાર કહે છે—'आणाऽणिद्देसकरे' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—(गुरूण आणाऽणिद्देसकरे-गुरूणा आज्ञाऽनिर्देशकरः) ગુરુની આજ્ઞાનો અનાદર કરવાવાળા (अणुववायकारए) એમની સામે ન બેસવાવાળા (पडिणीए) એમનાથી સદા પ્રતિકૂળ વર્તાવ કરવાવાળા (असबुद्धे) જીવ અને અજીવ આદિના સ્વરૂપને નહી જાણવાવાળા એવા શિષ્ય (अविणीए-वुच्चइ-अविनीत उच्यते) અવિનીત કહેવાય છે

ભાવાર્થ—આ ગાથાદ્વારા સૂત્રકારે વિનીતથી વિપરીત અવિનીતનુ સ્વરૂપ પ્રદર્શિત કરેલ છે જોકે આ વાત અર્થાપત્તિથી સ્વયસિદ્ધ થઈ જતી હતી

मानव की विश्रामभूमि नहीं है। अपितु वह वर्त्तमान मानव का लक्ष्य होना चाहिए, जिस के इस पार 'भूत' है, एवं उस पार 'भविष्यत्' है। भूत, और भविष्यत्-रूप कालानन्त्य को विस्मृत कर देने के अनन्तर तो मानव का प्राकृत स्वरूप कुछ भी नहीं रहजाता। फिर तो भूतसंस्कारों से असंस्पृष्ट, एवं भविष्यत् के परिणामों से असंसृष्ट तात्कालिक (वर्त्तमानक्षणिक) पशु से अधिक इस का कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं है। वर्त्तमान-क्षणता जहाँ प्राकृत पशु का जीवनाधार है, वहाँ प्राकृत मानव की आधारभूमि कालत्रयी ही मान गई है। अतएव मानव परिणामदर्शी है, स्मरणशील है, जबकि मानवेतर प्राणी संस्कारों से और परिणाम-दर्शन से सर्वात्मना वञ्चित हैं। भूत-भविष्यत्-लक्षणा ही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है, जिसे अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या से प्राकृत मानव भले ही समझ न सके। किन्तु उस की सहज सत्ता पर तो अपने इस मान्य सम्वत्सरकाल की प्रतीकता से आस्था कर ही लेनी पड़ेगी अपने व्यक्तित्वविमोहन को थोड़ी देर के लिए विस्मृत करते हुए ही। तब यह देखेगा कि—

२१६—अनाद्यनन्त कालचक्र, तन्निष्ठाधारक कर्त्तव्यनिष्ठानुगति, एवं अनन्तकालोपासक नैष्ठिक-मानव की-'कर्मण्येवाधिकारस्ते' मूला सहज आचारनिष्ठा—

"यही सम्वत्सरकाल-जिसे मैं ३६५ अहोरात्रों का ही मान रहा हूँ-सचमुच अपने शाश्वत प्रवाह से धारावाहिक चक्र से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। कोई ओर छोर ही नहीं है इस कालचक्र का। सम्पूर्ण गणनाएं परिसमाप्त हैं इस की इयत्ता का समन्वय करने में" यो निश्चयेन इसी सीमित ३६५ दिन वाले वर्षात्मक कालप्रतीक के माध्यम से भी इस की सहज प्रज्ञा काल के आनन्त्य की ओर आकर्षित हो ही जायगी। और इसका कालगणनात्मक तदनुबन्धी दिग्देश-प्रदेश-गणनात्मक, एवं गणनाक्रम-दिग्देशात्मक-मत्सरयुक्त वर्त्तमानात्मक-व्यामोहन स्वत ही उपशान्त होजायगा। इस सीमाबन्धन के उपशान्त होते ही इस की प्रज्ञा सविशेषानन्त्य की उपासना में प्रवृत्त हो जायगी। एवं वर्त्तमानक्षणानुबन्धी-तात्कालिक-सफलता-असफलताओं को नगण्य मानता हुआ यह आस्थापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बन जायगा परिणामदर्शिता-पूर्वक। कभी क्षति-लाभ-फल इसे लक्ष्यविहीन न बना सकेंगे। कभी तात्कालिक-सफलता-असफलताओं का व्यामोहन इसे प्रकृति-विस्मृत नहीं होने देगा। और यों इस सविशेषानन्त्य के अनुग्रह से प्राकृत मानव की कर्त्तव्यनिष्ठा मर्य्यादा-पूर्वक-दिग्-देश-कालानुबन्धों के प्रति सर्वात्मना जागरूक रहती हुई भी इनकी तात्कालिकताओं के बाह्य-परिग्रहबन्धन से असंस्पृष्टा ही प्रमाणित होती रहेगी। कोई भी काल-दिक्-देश-व्यामोहन व्यवधान इसे कर्त्तव्यनिष्ठा से आचारनिष्ठा से पराङ्मुख न कर सकेगा। क्योंकि इस की दृष्टि में काल भी अनन्त है, दिक् भी अनन्त है और देश भी अनन्त है। इसी अनन्तता पर-'कर्मण्येवाधिकारस्ते' सिद्धान्त जागरूक बनता है इति नु प्राकृतिकानन्त्यस्य-अनन्तकालस्य-सविशेषानन्त्यस्य स्वरूपमीमांसा-आचारसमन्विता।

२१७—निःसीमभावापन्न, अत्यन्तपिनद्ध निर्विशेषानन्त्यलक्षण अनन्तब्रह्म के आनन्त्य का संस्मरणोपक्रम—

अब क्रमप्राप्त प्रतिज्ञात उस निर्विशेषानन्त्य को लक्ष्य बनाने का 'निःसीम' अनुग्रह कीजिए, जो बिना निःसीम-अनुग्रह के लक्ष्यारूढ बन ही नहीं सकता। क्योंकि यह अपने स्वरूप से सर्वथा ही निःसीम है। सम्वत्सरकाल के माध्यम से तदनुगत वर्षपरम्परा के परिभ्रममाण-कालचक्र के माध्यम से काल की अनन्तता से

सम्बन्ध रखने वाली सविशेषानन्त्यता का प्राकृत मानव फिर भी यथाकथंचित् समन्वित कर लेता है उपासनादि के माध्यम से। किन्तु निःसीम निर्विशेषानन्त्य का समन्वयबोध तो अस्मदादि प्राकृत मानवों के लिए अत्यन्त ही दुर्बोध्य बना रहता है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, प्रस्तुत दिग्देशकालमीमांसा का उद्देश्य कदापि कालान न्तलक्षण सविशेषानन्त्य का समन्वय नहीं है। अपितु मुख्य लक्ष्य तो निर्विशेषानन्त्य ही है, जिसके अनुबन्ध से ही कालानन्त्य माध्यममात्र बन गया है।

२१८–कालातीत मानव के वास्तविक स्वरूप का आधारभूत अनन्तब्रह्म, एवं अनन्त ब्रह्मात्मक निर्विशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'प्रतीकभाव' का अन्वेषण—

अनन्तकाल जिस निर्विशेष निष्कल–अनन्त परात्पराव्ययब्रह्म के यत्किञ्चिदंशरूप प्रकाश में महिमा रूपेण गर्भित है, उस आनन्त्य का ही नाम निर्विशेषानन्त्य है और यही है कालातीत मानव का वास्तविक स्वरूप। इस स्वरूप का बोध कर लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। सम्वत्सरकाल के माध्यम से अनन्तकाल का बोध प्राप्त कर लेना तो मानव का पुरुषार्थ नहीं, अपितु प्रकृत्यर्थमात्र है। सविशेषानन्त्यरूप अनन्तकाल के बोध के लिए तो मानव ने सम्वत्सरकाल को प्रतीक मान लिया। एवं कालपरिभ्रमण–चक्रानन्त्य से इसने अनन्तकालात्मक सविशेषानन्त्य का अनुमान भी लगा लिया अपनी प्रयत्न–स्वबुद्धि से। किन्तु जिस निर्विशेष–अनन्तब्रह्म के प्रकाश में अनन्तकाल अवस्थित है, उसका प्रतीक कौन? किस प्रतीक के माध्यम से उस निर्विशेषानन्त्य का स्मरणमात्र सौभाग्य भी प्राप्त कर लिया जाय? यह महती समस्या मानव के सम्मुख उपस्थित हो पड़ी और अपने सहज प्राकृतिक अभ्यास के माध्यम से सहज बुद्धि से ही इसने अपने ये उद्गार अभिव्यक्त कर ही तो दिए कि " यदि–समस्त ब्रह्माण्ड में उस अनन्तब्रह्म का कोई प्रतीकात्मक दृष्टान्त बन सकता है तो वह एकमात्र अनन्तकाल ही है, जिसके गर्भ में अश्वत्थब्रह्म से आरम्भ कर पर्वात्मक–चान्द्रसम्वत्सरकाल–पर्यन्त के सम्पूर्ण कालमहिमाविवर्त बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित हैं"। इसी सहज कालप्रतीकता का महर्षि की सहज, किन्तु प्राकृत बुद्धि से महर्षिविज्ञानसिद्ध अनन्तकाल का तथा अनन्त कालमहिमाओं का ही क्रमशः अथर्ववेद के प्रथम–नवम–सूक्तों के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है जिनका अक्षरार्थमात्र–समन्वय पूर्व में यथाक्रम किया ही जा चुका है।

२१९–अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से 'दृष्टान्त' का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में आधिदैविक-विज्ञानात्मक ब्राह्मणवेद, तथा आधिदैविक ज्ञानात्मक उपनिषद्—

कालसत्तानुगता प्राकृता–प्राकृतानन्त्यानुगता–सविशेषानन्त्याभिन्ना–सहज–स्वबुद्धि से अब हम अनन्तकाल को ही दृष्टान्तविधि के माध्यम–द्वारा उस निर्विशेषानन्त्यरूप कालातीत अनन्तब्रह्म का 'प्रतीक' मान लेते हैं। प्राकृत विश्व में इससे महान्, इससे विशिष्ट अन्य कोई दूसरा दृष्टान्त है ही नहीं। अतएव मन्त्रसंहितावत् ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषत् में भी यत्रतत्र इस अनन्तकाल के माध्यम से ही ब्रह्म की अनन्तता के साक्षात्कार का प्रयास हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थोंनें सम्वत्सरकाल की प्रतीकता से अनन्तकाल को लक्ष्य बनाया है तो उपनिषदोंनें अनन्ताक्षरकाल की प्रतीकता से अनन्तब्रह्म को लक्ष्य बनाया है। और

मानव की विश्रामभूमि नहीं है। अपितु वह वर्त्तमान मानव का लक्ष्य होना चाहिए, जिस के इस ओर 'भूत' है एवं उस ओर 'भविष्यत्' है। भूत और भविष्यत्-रूप कालानन्त्य को विस्मृत कर देने के अनन्तर तो मानव का प्राकृत स्वरूप कुछ भी नहीं रहजाता। फिर तो भूतसंस्कारों से असंस्पृष्ट, एवं भविष्यत् के परिणामों से असंस्पृष्ट तात्कालिक (वर्त्तमानकालिक) पशु से अधिक इस का कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं है। वर्त्तमान-कालता जहां प्राकृत पशु का जीवनाधार है वहां प्राकृत मानव की आधारभूमि कालत्रयी ही मान गई है। अतएव मानव परिणामदर्शी है, संस्कारी है जबकि मानवेतर प्राणी संस्कारों से और परिणाम-दर्शन से सर्वात्मना वञ्चित हैं। भूत-भविष्यत्-कालता ही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है जिसे अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या से प्राकृत मानव भले ही समझ न सके। किन्तु उस की सहज सत्ता पर तो अपने इस मान्य सम्वत्सरकाल की भवीस्वता से आस्था कर ही लेनी पड़ेगी अपने व्यक्तित्वविमोहन को थोड़ी देर के लिए विस्मृत करते हुए ही। जब यह देखेगा कि—

२१६–अनाद्यनन्त कालचक्र तत्प्रतिष्ठाधारभूत कर्त्तव्यनिष्ठानुगति, एवं अनन्तकालोपासक नैष्ठिक-मानव की 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' मूला सहज आचारनिष्ठा—

"यही सम्वत्सरकाल-जिसे मैं ३६५ अहोरात्रों का ही मान रहा हूँ-सचमुच अपने शाश्वत प्रवाह से धाराप्रवाहिक चक्र से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। कोई ओर छोर ही नहीं है इस कालचक्र का। सम्पूर्ण गणनाएं परिसमाप्त हैं इस की इयत्ता का समन्वय करने में" तो निश्चयेन इसी सीमित ३६५ दिन वाले वर्षात्मक कालप्रतीक के माध्यम से भी इस की सहज प्रज्ञा काल के आनन्त्य की ओर आकर्षित हो ही जायगी। और इसका कालगणनात्मक तदनुबन्धी दिग्देश-प्रदेश-गणनात्मक एवं गणनाकाल-दिक्देशात्मक-अल्पवाद वर्त्तमानात्मक-व्यामोहन स्वतः ही उपशान्त होजायगा। इस सीमाबन्धन के उपशान्त होते ही इस की प्रज्ञा सविशेषानन्त्य की उपासना में प्रवृत्त हो जायगी। एवं वर्त्तमानकालानुबन्धी-तात्कालिक-सफलता-असफलताओं को नगण्य मानता हुआ यह आस्थापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बन जायगा परिणामदर्शिता-पूर्वक। कभी क्षति-लाभ इसे लक्ष्यविहीन न बना सकेंगे। कभी तात्कालिक-सफलता-असफलताओं का व्यामोहन इसे प्रकृति-विस्मृत नहीं होने देगा। और यों इस सविशेषानन्त्य के अनुग्रह से प्राकृत मानव की कर्त्तव्यनिष्ठा मर्यादा-पूर्वक-दिग्-देश-कालानुबन्धी के प्रति सर्वात्मना जागरूक रहती हुई भी इनकी तात्कालिकताओं के पाश-पाशाबन्धन से असंस्पृष्टा ही प्रमाणित होती रहेगी। कोई भी काल-दिक्-देश-व्यामोहन व्यवधान इसे कर्त्तव्यनिष्ठा से आचारनिष्ठा से पराङ्मुख न कर सकेगा। क्योंकि इस की दृष्टि में काल भी अनन्त है दिक् भी अनन्त है और देश भी अनन्त है। इसी अनन्तता पर-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' सिद्धान्त जागरूक बना है इति नु प्राकृतिकानन्त्यस्य-अनन्तकालस्य-सविशेषानन्त्यस्य स्वरूपमीमांसा-आचारसमन्विता।

२१७–निःसीमभावापन्न, अत्यन्तपिनद्ध निर्विशेषानन्त्यलक्षण अनन्तब्रह्म के आनन्त्य का संस्मरणोपक्रम—

अब क्रमप्राप्त प्रतिज्ञात उस निर्विशेषानन्त्य को लक्ष्य बनाने का 'निःसीम' अनुग्रह कीजिए, जो बिना 'निःसीम-अनुग्रह' के लक्ष्यभूत बन ही नहीं सकता। क्योंकि वह अपने स्वरूप से सर्वथा ही निःसीम है। सम्वत्सरकाल के माध्यम से तदनुगत वर्षपरम्परा के परिभ्रममाण-कालचक्र के माध्यम से काल की अनन्तता से

२२१-संदिग्धा सम्भावना, 'समग्र-स्वरूप' के समग्रभाव की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में सन्दिहानवृत्ति की जागरूकता, एवं प्रकृतिविस्तारमात्रानुगता दिग्देशकालस्वरूप मीमांसा—

'कर दे सकता है' का क्या तात्पर्य ? । क्या कर सकने में कुछ सन्देह है ? । यहाँतक 'अनन्त' शब्द का सम्बन्ध है, वहाँतक तो 'कर दे' सकना यथार्थ है । आनन्त्य-दृष्टिकोण से तो अवश्य ही उसकी अनन्तता इस अनन्तकाल से अभिव्यक्त मानी जासकती है, मानली गई है-संहितावेदानुगत शालयज्ञों के द्वारा ब्राह्मणवेदानुगता सम्वत्सरविद्याओं के द्वारा एवं उपनिषदनुगता चराचरविद्याओं के द्वारा । किन्तु इस अभिव्यक्ति का 'समग्र' शब्द इस अनन्तकालप्रतीकता में सन्दिग्ध ही माना जायगा । 'अनन्त स्वरूप' को अनन्त काल अभिव्यक्त कर रहा है, किन्तु अनन्त के समग्र स्वरूप को अनन्तकाल उसप्रकार से कदापि अभिव्यक्त कर ही नहीं सकता, जैसेकि अनन्तकाल का प्रतीकभूत-प्रतिमानरूप सम्वत्सरकाल (किंवा सम्वत्सरप्रतिमानरूप प्राकृतमानव कलात्मक साम्वत्सरिक मानव) अनन्तकाल के समग्र अनन्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, कर रहा है । और यों अनन्तकाल उस निर्विशेष के अनन्त भावको अपनी अनन्तता से अभिव्यक्त करता हुआ भी उसकी समग्र-अनन्तता का तो स्पर्श भी नहीं कर पाता । एवं यहीं इसी 'समग्र' शब्द के माध्यम से, तत्पर्य्यायरूप 'परिपूर्ण' शब्द के माध्यम से आज मानव को उस गुप्त-तत्व (गुप्ततम-रहस्य) के साथ अपनी प्रज्ञा का सम्बन्ध स्थापित कर ही लेना है, जिस सहज गुप्त-सम्बन्ध की ओर मानव प्रज्ञा का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हमें प्रकृतिविस्तारात्मिका दिग्देशकालमीमांसा का आश्रय लेना पड़ रहा है ।

२२२-कृत्स्न, और सर्व-शब्दों का पारिभाषिक तथ्यार्थ-समन्वय, तदनुबन्धिनी पूर्णता, एवं परिपूर्णता के माध्यम से वस्तुस्थिति का स्वरूपान्वेषण—

'पूर्ण' का अर्थ है 'कृत्स्न', एवं परिपूर्ण का अर्थ है-'सर्व' * । एक की अशेषता ही 'कृत्स्नता' है अनेकों की अशेषता ही 'सर्वता' है । आपकी दृष्टि के सम्मुख अगणित-असंख्य पदार्थ रक्खे हुए हैं । इन में से आपने किसी एक पदार्थ को अपने हाथ में ले लिया । यही 'कृत्स्नग्रहण' किंवा 'पूर्णग्रहण' माना जायगा । क्योंकि आपने उस एक वस्तु को पूरी वस्तु को उठा लिया । यदि आप पुरोऽवस्थित उन अगणित सब पदार्थों का ग्रहण कर लेते हैं, तो यही 'सर्वग्रहण'-किंवा 'परिपूर्णग्रहण' माना जायगा । क्योंकि आपने परितः-चारों ओर अवस्थित सब पूर्णों को उठा लिया । यही समग्रग्रहण कहलाया है । लोक में 'कृत्स्न' के लिए 'पूरा' शब्द प्रसिद्ध है, एवं सर्व के लिए 'सब' शब्द प्रसिद्ध है । एक की पूर्णता ही 'पूरा-पन' है, अनेकों की परिपूर्णता ही 'सबपना' है । और यों कृत्स्न, तथा सर्व शब्द सर्वथा विभिन्न अर्थों के ही वाचक बन रहे हैं । इसीलिए तो-'सम्वत्सर एव सर्व'-कृत्स्नः-समासिक्यत (शत० ।८।२।२।२१) इत्यादि रूप से श्रुति में सर्व, और कृत्स्न दो पृथक् पृथक् शब्द उक्त हुए हैं ।

---

*-'एकस्याशेषत्वं-कार्त्स्न्यम्', अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्'-इति हि परिभाषा ।

यही ब्राह्मणों, तथा उपनिषदों में महान् विभेद है। ब्राह्मणग्रन्थ आधिदैविक–विज्ञान को माध्यम बना रहे हैं एवं उपनिषद् आधिदैविक-ज्ञान को माध्यम बना रहे हैं। हैं दोनों ही कालात्मक विवर्त। आधिदैविक-विज्ञान की प्रतिष्ठाभूमि क्षरकालानुगत अक्षरकालमूर्ति सम्वत्सरकाल है, यही ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य लक्ष्य है, जबकि वे ही उपसंहार में (शतपथ १४ वें-काण्ड में) औपनिषद अक्षरकालात्मक ज्ञानप्रधान अनन्तकालब्रह्म को भी प्रतीकरूपेण लक्ष्य बना रहे हैं। एवमेव आधिदैविक ज्ञानकी प्रतिष्ठाभूमि क्षरानुगत अक्षरप्रधान अनन्तब्रह्म है यही उपनिषद्ग्रन्थों का मुख्यलक्ष्य है, जबकि-'यावतीर्वा यया वा' 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि रूपेण यत्रतत्र संक्षेप से और विस्तार से क्षरप्रधान कर्म-विज्ञानप्रधान सम्वत्सरकाल का भी उपनिषदों में स्वरूपोपवर्णन हुआ है। सर्वथा मन्त्र–ब्राह्मण आरण्यक–उपनिषत्–रूप वेदशास्त्र में कहीं क्षरकालरूप से (सम्वत्सरकालरूप से) तो कहीं अक्षरकालरूप से प्राकृतिक–कालात्मक–ज्ञान–विज्ञान-भावों के माध्यम से ही अनन्तविभूति के समन्वय का उत्तम प्रयास किया है। और यों काल-प्रतीकता के माध्यम से ही निर्विशेषानन्त्य समन्वित हुआ है वेदशास्त्र में। निम्नलिखित औपनिषदवचन अक्षर-प्रधान अनन्तकाल की तथा क्षरप्रधान सम्वत्सरकाल की ब्रह्मानुगता इसी प्रतीकता का समर्थन कर रहे हैं—

१–तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशति–प्रत्यराभिः।
अष्टकैः–षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥

२–पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां, पञ्चप्राणोर्मिं, पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद् भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥

३–संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः॥
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

४–क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

—श्वे० उप० १ अ०।४,५,८ १० मन्त्र

२२०–अनन्तकालात्मक प्रतीक के माध्यम से कालातीत अनन्तब्रह्म का सम्भावित–संस्मरण—

जिसप्रकार अपने ११ अहोरात्रपर्वों से सम्वत्सरकाल अपना सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त कर देता है तथैव अपने इस सम्वत्सरकालात्मक पर्वभाव से यह अंशीरूप अनन्तकाल अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। तथैव च यह अनन्तब्रह्म अपने इस अनन्तकालरूप से उस अंशीरूप अनन्त निर्विशेष-ब्रह्म का स्वरूप अभिव्यक्त कर देता है 'आनन्त्य' दृष्टिकोण से। दूसरे शब्दों में–जिसप्रकार अनन्तकाल के एकांशरूप में स्थित भी सम्वत्सरकाल अपने अंशीरूप अनन्तकाल के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, तथैव उस निर्विशेषानन्तब्रह्म के एकांश में स्थित भी अनन्तकाल अपने आधाररूप अनन्तब्रह्म के समग्र स्वरूप को– 'अभिव्यक्त कर दे सकता है आनन्त्य-दृष्टिकोण से'।

प्रकृति से 'पर' कहा गया है। लीजिए, जिस उद्बोधन के लिए काल को प्रतीकात्मक दृष्टान्त माना गया, जिस कालदृष्टान्त की अनन्तता प्रमाणित करने के लिए महताऽऽसमारम्भेण कालसूक्तों का उपक्रम किया गया, जिस उपक्रम को समन्वित करने के लिए सूक्तव्याख्या के पूर्व में, एवं उत्तर में प्राकृतिक-विज्ञानानुबन्धी दिग्देशकाल के अगणित-विवर्तों का ऊहापोह प्रक्रान्त रहा, वह सम्पूर्ण श्रम-परिश्रम फलतः, और सर्व-शास्त्र के एक ही झटके से सर्वथा विगलित ही हो गया, और अन्ततोगत्वा 'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेताल' के अनुसार हम अपनी उसी प्राकृतिक अवस्था, किंवा दुरवस्था में परिणत होगए। सोचा था प्रकृति के महतोमहीयान् इस अनन्तकाल-विवर्त के माध्यम से तो हम बाजी मार ही लेंगे। चान्द्र सम्वत्सरकाल के समतुलन में हमारी मानवबुद्धि क्रमशः पार्थिवकाल-सौरकाल-पारमेष्ठ्यकाल-पुण्डीरकाल-परोरजात्मक-परमाकाशकाल-अव्यय-काल-रूप उत्तरोत्तर ज्यायान्-महान्-कालसोपानों को पार करती हुई अन्ततोगत्वा परमानन्तस्य परमदेवरूप-अनन्तावरकाल-रूप अन्तिम प्रकृतिकाल पर विश्राम ग्रहण करती हुई इस व्यक्तित्वविमोहन में अभिनिविष्ट ही होगई थी कि-वह रहा अनन्तकाल पा लिया हमने इस अनन्तकाल के दृष्टान्त-प्रतीक-माध्यम से उसे। किन्तु हमारी इस बुद्धिगम्य उच्चावचकालानुगत अनन्तावरकालात्मिका भी व्याख्यान अन्ततोगत्वा हमारी प्रवञ्चना कर ही तो डाली। और अन्ततोगत्वा हमें भी उस श्रुतिवाक्य पर ही विश्राम कर ही तो लेना पड़ा जिसका वाचिकरूप-'नेति नेतीति होवाच' से विश्वविश्रुत हो रहा है एवं जिस विश्वविश्रुति के आधार पर ही उसी श्रुतिप्रमा से निम्न लिखित उद्गार अभिव्यक्त हो पड़े हैं अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण प्राकृत-विवर्तों के अन्वेषणानन्तर ही—

१—न तं विदाथ य इमा जजान-अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
—ऋक्सं० १०।८२।७।

२—न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥
—ऋक्सं० १।१६४।३७।

३—यस्यामतं-तस्य मतं, मतं यस्य-न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥

४—यं विदन्ति न यं वेदा, विष्णुर्वेद, न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह ॥
—उपनिषत्

५—अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने, न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥
—ऋक्सं० १।१६४।६।

२२३–अनन्तकालात्मिका परावरप्रकृति की पूर्णतारूपा कृत्स्नता, तदनुगता सम्वत्सर कालात्मिका अंशता, तन्निबन्धना असर्वतारूपा अपरिपूर्णता, एवं सम्वत्सरकाल की असमग्रा–अनन्तता का दिग्दर्शन—

अनन्तकालात्मिका अवरप्रकृति, एवं सम्वत्सरकालात्मिका परप्रकृति अपने अपने एक एक अंश से अवश्य ही पूर्ण है कृत्स्न है। किन्तु कदापि इन प्राकृत कालपिण्डों को 'सर्व' शब्द का सम्मान नहीं मिल सकता। क्योंकि एक अनन्तकाल के गर्भ में 'कृत्स्न' रूप अनेक सम्वत्सरकाल प्रतिष्ठित हैं। अतएव इन अंशभूत कृत्स्नरूप अनेक सम्वत्सरकालों की अपेक्षा से तो अनन्तकालप्रकृति 'सर्व' अवश्य हो सकती है किन्तु स्वयं एक एक सम्वत्सर उस अनन्तकालप्रकृति की दृष्टि से–सर्व नहीं कहला सकते। पूर्ण है सम्वत्सर, किन्तु परिपूर्ण नहीं। कृत्स्न है प्रत्येक सम्वत्सर, किन्तु सर्व नहीं। अनन्त है प्रत्येक सम्वत्सर, किन्तु समग्रानन्त नहीं।

२२४ सम्पूर्ण सम्वत्सरकालों के अधिष्ठानात्मक अनन्तकाल की सम्वत्सरकालापेक्षया समग्रतारूपा अनन्तता, किन्तु कालातीत अनन्त ब्रह्मापेक्षया तदेकांशता, तन्निबन्धना असर्वतारूपा अपरिपूर्णता, एवं अनन्तकाल की असमग्रा–अनन्तता का दिग्दर्शन—

समग्रानन्त तो अनन्तकाल ही माना जायगा। ठीक यही स्थिति इस समग्रानन्तकालरूप महान्–सर्व–परिपूर्ण भी प्रकृतिकाल की है। एक एक मायापुर का ही नाम एक एक अनन्तकाल है। उस अनन्तब्रह्म धरातल पर ऐसे ऐसे असंख्य–अगणित–मायापुरात्मक–अनन्तकाल (अपरप्रकृतियाँ) समुद्र–बुद्बुद्वत् इतस्ततः उत्पन्न्यमान हैं। जिसप्रकार अनन्तकालात्मिका प्रकृति की दृष्टि से विकृतिरूप सभी सम्वत्सरकाल अभिन्न हैं किन्तु परस्पर ये सम्वत्सरकाल एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न हैं। तथैव मायापुरात्मक सभी अनन्त-कालपिण्ड यद्यपि उस अनन्त–निर्विशेषब्रह्म–धरातल की अपेक्षा तो अभिन्न हैं। किन्तु ये परस्पर में तो एक दूसरे से (मायाभेदभेदानुबन्ध से) सर्वथा पृथक् पृथक् ही हैं। जिसप्रकार प्रत्येक सम्वत्सर उस अनन्त को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करता हुआ भी इतर सम्वत्सरों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। तथैव प्रत्येक अनन्तकाल उस अनन्त के पूर्ण आनन्त्य को अभिव्यक्त करता हुआ भी स्व से भिन्न अन्य समस्त अनन्तकाल पूर्णों को अभिव्यक्त करने में तो असमर्थ ही प्रमाणित है। अतएव अनन्तकाल को उस का 'कृत्स्न प्रतीक' ही माना जासकता है सर्वात्मक प्रतीक नहीं। क्योंकि यह अनन्तकाल अपने एकमात्र वैयक्तिक एकत्व से कृत्स्न ही प्रमाणित है। इन सब कृत्स्नों का परिपूर्णात्मक सर्वरूप तो स्वयं वह अनन्तब्रह्म ही हो सकता है। अतएव कदापि अनन्तकाल को उसके समग्ररूप का अभिव्यञ्जक नहीं माना जासकता।

२२५–अनन्तब्रह्म की दृष्टान्तविधिरूपा प्रतीकविधि से परिष्कृत अनन्तकाल, अनन्त-कालानुबन्धी सम्पूर्ण प्रयासों की तदानन्त्य के सम्बन्ध में आत्यन्तिक-व्यर्थता, एवं तत्सम्बन्ध में तदुबोधनात्मक श्रौत–सन्दर्भ—

अतएव च अनन्तकालात्मक अपरपिण्ड भी वस्तुतः न तो उसका दृष्टान्त ही बन सकता नापि प्रतीक ही। सचमुच प्रकृति असमर्थ है उस अनन्त की सर्वरूपता का मापदण्ड करने में। तभी तो उसे

प्रकृति से 'पर' कहा गया है। लीजिए, जिस उद्बोधन के लिए काल को प्रतीकात्मक दृष्टान्त माना गया जिस कालदृष्टान्त की अनन्तता प्रमाणित करने के लिए महदाख्यात्मारम्भेण कालसृष्टि का उपक्रम किया गया जिस उपक्रम को समन्वित करने के लिए प्रकृत्याख्या के पूर्व में, एवं उत्तर में प्राकृतिक–विज्ञानानुबन्धी दिग्देशकाल के अगणित–विवर्तों का ऊहापोह प्रक्रान्त रहा वह सम्पूर्ण श्रम–परिश्रम फल, और श्रम–शब्द के एक ही झटके से सर्वथा विगलित ही हो पड़ा और अन्ततोगत्वा 'पुनस्तत्रैवापलम्बितो वेतालः' के अनुसार हम अपनी उसी प्राकृतिक अवस्था किंवा दुरवस्था में परिणत होगए। सोचा था, प्रकृति के महतोमहीयान् इस अनन्तकाल–विवर्त्त के माध्यम से तो हम बाजी मार ही लेंगे। चान्द्र सम्वत्सरकाल के समतुलन में हमारी प्राकृतबुद्धि क्रमशः पार्थिवकाल–सौरकाल–पारमेष्ठ्यकाल–पुराणीरकाल–परोरजाम–परमाकाशकाल–परात्पर काल–रूप उत्तरोत्तर ज्यायान्–महान्–कालसोपानों का पार करती हुई अन्ततोगत्वा परमानन्तरूप परमदेवरूप–अनन्ताक्षरकाल-रूप अन्तिम प्रकृतिकाल पर विश्राम ग्रहण करती हुई इस व्यक्तिस्वविमोहन में अभिनिविष्ट ही हो गई थी कि,–यह रहा अनन्तकाल पा लिया हमने इस अनन्तकाल के दृष्टान्त-प्रतीक-माध्यम से उसे। किन्तु हमारी इस बुद्धिगम्या कालसिद्धकालानुगता अनन्ताक्षरकालात्मिका भी व्याख्यान अन्ततोगत्वा हमारी वञ्चना कर ही तो डाली। और अन्ततोगत्वा हमें भी उस ऋषिवाक्य पर ही विश्राम कर ही तो लेना पड़ा, जिसका वाचिकरूप–'नेति नेतीति ह्योवाच' से विश्वविश्रुत हो रहा है एवं जिस विश्वविश्रुति के आधार पर ही उसी ऋषिप्रज्ञा से निम्न लिखित उद्गार अभिव्यक्त हो पड़े हैं अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण प्राकृत–विवर्त्तों के अन्वेषणानन्तर ही—

१—न तं विदाथ य इमा जजान–अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
—ऋक्सं० १०।८२।७

२—न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥
—ऋक्सं० १।१६४।३७

३—यस्यामतं–तस्य मतं, मतं यस्य–न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥

४—यं विदन्ति न यं वेदा, विष्णुर्वेद, न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्तन्ते–अप्राप्य मनसा सह ॥
—उपनिषत्

५—अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने, न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥
—ऋक्सं० १।१६४।६

६—को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा विसर्जनेऽनाथा को वेद यत आबभूव ॥

७—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे, यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

—ऋक्सं० १०।१२९।६,७।

२२६—परमाकाशात्मक अनन्त स्वायम्भुवकाल के लिए भी अज्ञात कालातीत ब्रह्म, एवं- 'योऽस्याध्यक्षः-परमे व्योमन्-सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' का तात्त्विक समन्वय—

लीजिए ! जिस विश्वाध्यक्ष-परमाकाशमूर्त्ति-परमाक्षरमूर्त्ति-अनन्तकाल को प्रतीक मान कर तद्द्वारा हम (मानव) जिस अनन्त को जानने वाले थे अपने महतोमहीयान् तत्त्वविजृम्भण के माध्यम से ऋषि कहते हैं- 'वे विश्वाध्यक्ष-परमाकाशात्म-अनन्तकालरूपेण भी उसे जानते हैं, अथवा नहीं जानते यह कुछ भी नहीं कहा जासकता' । अलमतिप्रपञ्चितेन । जिसके माध्यम से जानना चाहते हैं वे भी जब इस ज्ञानकोटि में संदिग्ध हैं तो सबकुछ समाप्त हो गया । सचमुच अनन्तकाल भी अन्ततोगत्वा है तो 'काल' ही । 'प्रकृति' ही तो इस काल की स्वरूप-व्याख्या है । यह ठीक है कि, तत्त्वमन्थन में सर्वथा तन्मय प्राकृत स्वरूप रखने वाली हमारी प्राकृतबुद्धि उसके लिए- 'वह भी अपने लिए प्रकृतिमात्रानुबन्ध से स्व से अतीत-(प्रकृति से अतीत) उस अनन्त को नहीं जान सकता, तद्रूपेण उस आनन्त्य की इयत्ता नहीं ही कर सकता' इस युक्तिपूर्णा नम्रभाषा में अपना निश्चय प्रकट नहीं कर सकती । तथापि अवश्य वाणी से बुद्धि परीक्षारूपेण यह तो कह ही जाती है कि-'जो इस सम्पूर्ण कालिक विश्व का अध्यक्ष है, परमाकाशात्मक वह प्राकृत-अनन्तकाल भी जानता है उसे अथवा नहीं जानता-यह कुछ भी कह देना कठिन है'-'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' । अपने महतोमहीयान्-ज्ञानविज्ञानात्मक-प्राकृतिक-व्यामोहन को यों क्षणमात्र में विलुप्त कर देने वाली ऋतम्भराप्रज्ञा ऋषिप्रज्ञा ही तो उस असम्भव भी, अचिन्त्य भी, प्रकृतिभ्यः परं भी अनन्तभाव से यदि सायुज्य प्राप्त कर-लेती है तो इसी प्राकृतविमोहनपरित्याग-माध्यम से तो कोई आश्चर्य्य नहीं है । सचमुच-'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' इस सूत्र के द्वारा ही ऋषिप्रज्ञाने मानव की उस प्राकृतिक-दुरधिगम्या-महती समस्या का समाधान भी कर डाला जिसके लिए यह मानवमन के विविध-विमर्शों में इतस्ततः भटकता रहता है । क्या समाधान कर डाला ? प्रश्न तो सदा से यथापूर्व ही बनता चला आरहा है जिसका कदापि वाणी से समन्वय सम्भव ही नहीं है । इति नु पुनस्तत्रैवावलम्बितोऽयं वेदात्मा-प्राकृतो मानवः ।

२२७–अनन्तग्रह की प्रतीकता के समन्वय के लिए कालातीत 'ऋषिमानव' के प्रति आत्म-समर्पण, एवं तदञ्चित परदर्शनव्यासक्त–कालासक्त–भावुक–मानव की दिग्देश कालनिबन्धना भ्रान्ति-परम्पराएं —

अब तो प्राकृत मानव की इस मनोलावृत्ति के समन्वय की आधारभूमि वह कालातीत मानव ही माना जायगा, जिसे प्रकृति की भाषा में– कालातीत ऋषिमानव कहा गया है। स्मरण रहे! अनेक परदर्शनात्मक प्रसून दुर्दान्तस्व का मार्मिक नाम है–'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'। 'भावुकता' से ही इसने अपने प्राकृत–अर्थ शिव–सुन्दर–रूप को (निजरूप को) धूलिधूसरित किया है, एवं इसी भावुकता से इसने अपने कालातीत अप्राकृत–अनन्त–गुण–स्वरूप से अपने आपको पराङ्मुख बनाया है। सर्व-नाशकारिणी इस भावुकता का मौलिक स्वरूप है–'परदर्शन' एवं जिस शक्ति से इस का यह 'परदर्शन' एवं तन्मूला भावुकता पल्लवित होती है उसी का नाम है–निष्ठा जिसका मौलिक स्वरूप है– स्वदर्शन। दूसरों को समझने का प्रयास करते रहना भी भावुकता है एवं दूसरों के माध्यम से अपने आप को समझने का प्रयास करते रहना भी भावुकता है जिसका आधार सर्वथा परावलम्बन ही बनता है। परिणाम इस परदर्शनमूला भावुकता का यही होता है कि जैसा दूसरे समझते हैं हम वैसा ही समझ लेना पड़ता है। फलतः इसका अपना स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है इस परदर्शनमूला–परप्रत्ययनयमार्गानुगता भावुकता से फिर वह 'पर' धर्म का ही अथवा तो पक्षधर हो। परधर्म तो उन्हें ही भयावह ही बना रहता है–'परधर्मो भयावहः'। इस महान् भय से परित्राण प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है स्वदर्शनमूला वह निष्ठा जिसके आश्रय से ही मानव स्वरूप बोध प्राप्त किया करता है जिसका कि– उद्धरेदात्मना–आत्मानम्'–'नात्मानमवसादयेत्'–इत्यादि से समन्वय हुआ है। सम्वत्सरकाल हो अथवा तो सोपानपरम्परानुगत अनन्तकाल। सभी 'परकाल' हैं, परभाव हैं प्राकृतभाव हैं बाह्यभाव हैं। इन परभावों की प्रतीकता–दृष्टान्त–विधि–के माध्यम से कालातीत अनन्त के अन्वेषण में प्रवृत्त होना तो 'भावुकता' ही मानी जायगी प्रकृतिविमुख–परदर्शनातुर–निष्ठान्त भावुक प्राकृत मानव की। एवं अनेक शब्द हैं प्राकृतिक–विश्व में जिन के द्वारा मानव को अनन्तता की भ्रान्ति होसकती है होती रही है हो रही है एवं होती ही रहेगी।

२२८–सम्पूर्ण उत्पातों-समस्याओं का जनक भावुकतापूर्ण 'अनन्त' शब्द, एवं निषेध-भाव से समन्वित सापेक्ष अनन्तशब्द की शिथिलता –

उदाहरण के लिए– 'अनन्त' शब्द को ही लीजिए। इस अनन्त शब्दने ही यह सम्पूर्ण उत्पात मचा दिया है। काल के साथ सम्बद्ध होजाने वाले इस 'अनन्त' शब्द ने ही प्राकृत मानव को दिग्भ्रान्त–उद्भ्रान्त–बना दिया है। 'न अन्त–अनन्त' रूप से अपने उपक्रम में ही निषेधार्थक 'न' कार को अपनी आधारभूमि बनाए रखने वाला 'अन्त' ही तो 'अनन्त' की स्वरूप व्याख्या है जो अनन्त 'अन्त'–सापेक्ष बनता हुआ अपनी सीमाबद्धा दिग्देशकालावच्छिन्नता ही प्रमाणित कर रहा है।

गुणात्मक–अतएव चलात्मक अचरकाल हो, अथवा तो विकारात्मक, अतएव चलनात्मक चरकाल हो, दोनों ही चलभाव–(सत्तावच्छिन्न अचरकाल तथा भातिविच्छिन्न चरकाल) प्रकृति के कोश में ही समाविष्ट हैं। अचर ही प्रकृति ही स्थानुगत चलाभाव से अचरकाल (महाकाल) कहलाने लगती है, एवं अचरप्रकृति ही चरानुगत चलनभाव से चरकाल (सम्वत्सरकाल) कहलाने लगती है। यह अनन्त तो ऐसा अनन्त है, जिसके एकांशरूप अचरप्रकृतिभाव के भी एकांश में दोनों कालविवर्त्त समाविष्ट हैं। भला ऐसा काल कैसे 'अनन्त' हो सकता है ? अतएव कैसे यह उस अनन्त का दृष्टान्तात्मक प्रतीक बन सकता है ?। कदापि नहीं।

२३१–सर्वात्मक समग्रभाव से वञ्चित कालिक पदार्थ, एवं दृष्टान्तविधि में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता—

अब क्या किया जाय ?। कैसे उस प्रकृत्यतीत–कालातीत–सर्वातीत–किन्तु सर्वात्मक–महिमामय अनन्त-निर्विशेषरूप व्याप्यात्मक ब्रह्म का स्वरूप–बोध प्राप्त किया जाय ?, इस कालात्मक प्राकृत–विश्व में किसे उसका दृष्टान्तात्मक प्रतीक माना जाय ? क्योंकि प्राकृत विश्व में सब अभिव्यक्तियां कृत्स्नमायापन्ना तो हैं, किन्तु कोई भी सर्वभावापन्न नहीं है। दूसरे शब्दों में प्रकृत्या कृत्स्न बनते हुए सभी चर–अचर–पदार्थ पूर्ण तो हैं किन्तु परिपूर्ण कोई भी नहीं है। क्या प्राकृत–मानव भी परिपूर्ण नहीं है ?। नहीं। प्रकृत्या मानव अन्य सब मानवों में भिन्न है।

२३२–प्राकृत मानव की प्रतीकता के सम्बन्ध में ऊहापोह—

इस प्रकृति भेद के कारण ही प्रत्येक प्राकृतमानव के जाति (योनि)-आयु भोग ये तीनों पृथक् पृथक् हैं। अतएव प्राकृत मानव भी इतर पदार्थों की भांति 'कृत्स्न' पूर्ण तो बन रहा है। किन्तु इसे भी सर्व, किंवा–परिपूर्ण नहीं माना जा सकता। अतएव यह भी अन्य प्राकृत विषयों की भांति सविशेष ही बना हुआ है। अत-एव विशेषमायात्मक प्राकृतमानव भी उस निर्विशेषानन्त्य का, सामान्यानन्त का दृष्टान्तात्मक प्रतीक नहीं बन सकता, कदापि नहीं बन सकता। यही नहीं, इस प्राकृतिकी कृत्स्नमायासिमता पूर्णता की दृष्टि से तो प्राकृत मानव की अपेक्षा पशु–पक्षी–आदि इतर प्राणी कहीं अधिक पूर्ण हैं, जबकि प्राकृत मानव तो इन की अपेक्षा भी प्रकृत्या भी अपूर्ण ही है जैसा कि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अतएव प्राकृत मानव की प्रतीकता का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। और यहीं, इसी बिन्दु पर एक प्रासङ्गिक तथ्य हमें और समन्वित कर ही लेना है प्रसङ्गविधया।

२३३–प्राकृत-मानव के साम्वत्सरिक-तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय—

क्या स्वरूप है प्राकृत मानव का ? प्रश्न का उत्तर है–'षोडशकल–सम्वत्सर'। क्या स्वरूप है–'षोडशकल सम्वत्सर' का ?, प्रश्न का उत्तर है– षोडशी प्रजापति'। क्या स्वरूप है–'षोडशी प्रजापति' का ?, प्रश्न का उत्तर है– महामायावच्छिन्न अश्वत्थब्रह्म। क्या स्वरूप है 'महामायावच्छिन्न अश्वत्थब्रह्म' का ?, प्रश्न का उत्तर है 'योगमायावच्छिन्न परात्परेश्वर'। क्या स्वरूप है 'योगमायावच्छिन्न परात्परेश्वर' का ?, प्रश्न का उत्तर है– 'पञ्चपुण्डीराव्यय परोरजा नामक अव्यक्त स्वयम्भू'। क्या स्वरूप है इस 'अव्यक्त-स्वयम्भू' का ? प्रश्न का उत्तर है–'पुण्डीर स्वयम्भू–व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठी–सौरसम्वत्सरमध्यवर्त्ती सूक्ष्म

—आत्मायुर्भोगा (न्यायदर्शन-गौतमसूत्र)

६—को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा विसर्जनेऽनाथा को वेद यत आबभूव ॥

७—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे, यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

—ऋक्सं० १०।१२९।६,७।

२२६—परमाकाशात्मक अनन्त स्वायम्भुवकाल के लिए भी अज्ञात कालातीत ब्रह्म, एवं—'योऽस्याध्यक्षः—परमे व्योमन्—सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' का तात्त्विक समन्वय—

लीजिए ! जिस विश्वाध्यक्ष—परमाकाशमूर्ति—परमाव्ययमूर्ति—अनन्तकाल को प्रतीक मान कर तद्द्वारा हम (मानव) जिस अनन्त को जानने वाले थे अपने महतोमहीयान् तत्त्वविमृश्य के माध्यम से श्रुति कहते हैं— 'वे विश्वाध्यक्ष—परमाकाशात्म—अनन्तकालरूपेण भी उसे जानते हैं, अथवा नहीं जानते यह कुछ भी नहीं कहा जासकता' । अलमतिप्रपञ्चितेन । जिसके माध्यम से जानना चाहते हैं वे भी जब इस ज्ञातकोटि में संदिग्ध हैं तो सबकुछ समाप्त हो गया । सचमुच अनन्तकाल भी अन्ततोगत्वा है तो 'काल' ही । 'प्रकृति' ही तो इस काल की स्वरूप—व्याख्या है । यह ठीक है कि, तत्समतुलन में सर्वथा नगण्य प्राकृत स्वरूप रखने वाली हमारी प्राकृतबुद्धि उसके लिए— 'वह भी अपने लिए प्रकृतिमात्रानुबन्ध से सब से अतीत—(प्रकृति से अतीत) उस अनन्त को नहीं जान सकता, तद्रूपेण उस आनन्त्य की इयत्ता नहीं ही कर सकता" इस पूर्णतापूर्ण नम्रभाषा में अपना निश्चय प्रकट नहीं कर सकती । तदपि अवश्य वाणी से श्रुति परोक्षरूपेण यह तो कह ही जाती है कि—'जो इस सम्पूर्ण कालिक विश्व का अध्यक्ष है परमाकाशरूप वह प्राकृत—अनन्तकाल भी जानता है उसे अथवा नहीं जानता—यह कुछ भी कह देना कठिन है'—'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' । अपने महतोमहीयान्—ज्ञानविज्ञानात्मक—प्राकृतिक—व्यामोहन को भी क्षणमात्र में विस्मृत कर देने वाली ऋतम्भराप्रज्ञा ऋषिप्रज्ञा ही तो उस असम्भव भी अचिन्त्य भी प्रकृतिभ्यः परं भी अनन्तभाव से यदि प्रत्युत्तर प्राप्त कर लेती है इसी प्राकृतविमोहनपरित्याग—माध्यम से तो कोई आश्चर्य्य नहीं है । सचमुच—'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' इस सत्र के द्वारा ही ऋषिप्रज्ञाने मानव की उस प्राकृतिक—दुरधिगम्या—महती समस्या का समाधान भी कर डाला जिसके लिए यह कालचक्र के विविध—विवर्तों में इतस्ततः भटकता रहता है । क्या समाधान कर डाला ? प्रश्न तो सदा से सम्प्रश्न ही बनता चला आरहा है जिसका कदापि वाणी से समन्वय सम्भव ही नहीं है । इति नु पुनस्तत्रैवाक्लान्तोऽयं बेचारा—प्राकृतो मानवः ।

नहीं हो सकता, एवं जीव आत्मा नहीं हो सकता अतएव 'जीवात्मा' शब्द कदापि समन्वित नहीं हो सकता। प्रकृतिमात्र का नाम जीव है, एवं पुरुषमात्र का नाम आत्मा है। दोनों में अहोरात्रका अन्तर है। आत्मा अजर अमर अविनाशी है, जबकि जीव जन्म-मृत्यु-चक्र से आक्रान्त है। और इस जीव के ही दो विवर्त्त हैं अविनाशीजीव, एवं नश्वरजीव। जो जीव शरीर को स्वसीमा में भुक्त-गर्भित रखते हैं वे 'अविनाशी-जीव' हैं, एवं जो जीव शरीर की सीमा में भुक्त-गर्भित-रहते हैं, वे नश्वरजीव हैं, जिस इस तथ्य से दार्शनिक मस्तिष्क अपने प्राकृत व्यामोहन के कारण सर्वथा असंस्पृष्ट ही रहा है।

२३६–जीव से जीव का विनिगमन, एवं अविनश्वर जीवसर्ग, शरीर से शरीर का विनिगमन एवं नश्वरजीवसर्ग, तथा 'जीव में शरीर', और शरीर में जीव' लक्षण पार्थक्य का समन्वय—

जीव से जीव की अभिव्यक्ति यह एक प्रकार का प्राकृतिक सर्ग है। एवं शरीर से शरीर का विनिगमन यह एक प्रकार का प्राकृतिक सर्ग है। 'जीव से जीवाभिव्यक्ति' पक्ष में जीव आधार है, शरीर आधेय है। 'शरीर से शरीरविनिर्गमन' पक्ष में शरीर आधार है जीव आधेय है। प्रथम पक्ष में-जीव में शरीर है, एवं द्वितीय पक्ष में शरीर में जीव है। 'जीव में शरीर है' इस प्रथम पक्ष में-शरीर उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं जीव का कुछ नहीं बदलता, कुछ भी नष्ट नहीं होता। शरीरानुबन्ध से जन्म-मृत्यु-चक्र-का परिभ्रमण अवश्य है। किन्तु जीव स्वस्वरूप से अविनश्वर है। उधर 'शरीर में जीव है' इस द्वितीय पक्ष में शरीर के साथ ही शरीर की सीमा में ही, शरीर से ही जीव उत्पन्न होता है एवं शरीर के साथ ही यह जीव नष्ट होजाता है। शरीर के विनाश के साथ ही इस जीव की जीवनलीला समाप्त होजाती है एवं ये ही विनश्वर जीव हैं।

२३७–अचरानुबन्धी–प्राकृत–मानवजीव, चरानुबन्धी प्राकृत इतर जन्तु, एवं प्राणी-जगत् का स्वरूपदिग्-दर्शन—

प्रकृति की माया में-शरीर को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित रखने वाले जीव का नाम है अव्ययगर्भित-अचरानुगत-'अचरजीव'। एवं शरीर के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले अचरगर्भित चरात्मक जीव का नाम है 'चरजीव'। अचरजीव का नाम है पुरुषानुगता प्रकृति एवं चरजीव का नाम है-प्रकृत्यनुगता विकृति। प्राकृतजीव ही का नाम है प्राकृतमानव एवं वैकारिक जीव ही का नाम है प्राकृत जन्तु। प्राकृत जीवात्मक मानव शरीर में नहीं है अपितु शरीर इस प्रकृतिरूप जीव में है। तात्पर्य्य यही है कि, मानव का स्वरूप-परिचायक इसका शरीर नहीं है अपितु प्रकृति ही इसकी स्वरूपपरिचायिका है। केवल बाह्य-शरीराकारमात्र से मानवीय जीवभाव का स्वरूप समन्वित नहीं हो सकता। ठीक इसके विपरीत मानवेतर समस्त पश्वादि प्राकृत (वैकारिक) प्राणियों के शरीर में क्योंकि नश्वरजीव प्रतिष्ठित है। अतएव इनमें शरीर ही प्रधान बना रहता है। अतएव केवल शरीराधार-आकारमात्र से ही पश्वादि प्राणियों का स्वरूप परिज्ञात बन जाता है। तभी तो इस प्राणीजगत् को हमने प्रकृत्या (विकृत्या) पूर्ण कहा है, जबकि इस शरीररूपा प्रकृति (विकृति) की दृष्टि से तो मानव अपूर्ण ही बना रहता है। प्राकृतमानव अपने जीवभाव से अविनाशी है प्रकृतिभाव से परिवर्त्तनशील है, एवं इस परिवर्त्तन का ही नाम-'जन्म-मृत्यु-चक्र-है 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव

२२९—अनन्त-अक्षर परम प्रजापति-चेतना-ज्ञान आत्मा, आदि आदि सापेक्ष-शब्दों की आमकता, तदाधारेण समन्वयप्रयासभ्रान्ति, एवं सापेक्ष—शब्दमात्र से अतीत—'तत्त्व'—

अनन्त-अक्षर-परम प्रजापति-चेतना-ज्ञान-आत्मा-आदि आदि यावन्मात्र शब्द वस्तुगत्या सापेक्षभावों के ही सूचक, किंवा वाचक बन रहे हैं जो अपनी इस सापेक्षता के कारण दिग्देशकालाभिभूत प्रकृति के ही स्पर्शक बने हुए हैं। वस्तुतः दिग्देशकालातीत उस निरपेक्ष निर्विशेष-नीरूपानन्त्य के लिए कोई शब्द है ही नहीं प्राकृत-कोश में। तभी तो-'न विदुर्मि न यं वेदा' कहना चरितार्थ बनता है। शब्दावच्छिन्न ज्ञान का ही नाम वेदशास्त्रसिद्ध ज्ञान है। प्रत्येक शब्द पदार्थविशिष्ट-पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही बन निरूढ है और वह निरपेक्ष अनन्त जब कि इस अवच्छिन्न दृष्टि से सर्वथा अनवच्छिन्न है, तो अवच्छिन्न शब्दों के द्वारा उस अनवच्छिन्न का ग्रहण सम्भव ही कैसे है!। अधिक से अधिक उसका नाम 'अनन्त' अवश्य रक्खा जासकता है सो भी अपनी प्राकृत बुद्धि के तात्कालिक परितोष के लिए ही। जहाँ, जिसमें सम्पूर्ण वेदशब्दों का अन्त (समाप्ति) हो जाता है वही वह है। वेदशब्द का किंवा शब्दात्मक सम्पूर्ण वेद का अन्तस्थान ही वह—'वेदान्तपुरुष' है जो शब्दमात्र से निरपेक्ष बनता हुआ अपने रूप से स्वतः ही प्रमाणित है। क्योंकि किसी भी शब्दप्रमाण के द्वारा तदनुगता दिग्देशकालाभिभूता व्याख्याओं के द्वारा इन परदर्शनमूला भावुकताओं के द्वारा उसका स्वरूपबोध सम्भव ही नहीं है। मनःप्राणवाङ्मय हमारा प्राकृत आत्मा भी तो उसे नहीं जान सकता। क्योंकि वह अवाक् है (वाक् नहीं है) अमना (मनोधन) है अप्राण (प्राणघन) है, मनःप्राणवाङ्मय अक्षरात्मा—भूतात्मा—से पर है अतीत है—'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः—अक्षरात् परतः—परः' ही उसका अव्यय स्वरूप—परिचय है।

२३०—कालानन्त्यता की बलनिबन्धना सादिसान्तता प्राकृतधर्म्मात्मिका बलवत्ता, अप्राकृतभावात्मिका रसवत्ता, एवं रसात्मक अनन्तब्रह्म, तथा बलात्मक अनन्तकाल का असम्बन्धात्मक सम्बन्ध—

निरपेक्षभावापन्न बल तो अपने बलत्वेन सदा ही सादि—सान्त ही माना जायगा फिर भले ही वह क्षोभ्य बल हो अथवा क्षम बलस्वभाव हो। मानते हैं—महाकालरूप स्वप्रकृति से प्राकृत विश्व में और कोई दूसरा बल बलस्वभाव नहीं है। एवं इस विश्वव्यापक भावात्मक उस विशेष बलस्वभाव को 'अनन्त' कहा भी जासकता है। तथापि इसकी बलात्मिका सादि—सान्तताने तो इसे तत्त्वतः दिग्देशकालात्मक ही प्रमाणित कर रक्खा है। अतएव निर्विशेषात्मक सहज आनन्त्य तो यहाँ अनुपपन्न ही है। क्योंकि अनन्त और काल का समन्वय सम्भव ही नहीं है। अनन्त रस ही है काल बल ही है। तभी तो भारतीय लोकव्यवहार में इसीलिए 'काल बली रिपु सबके सिर पर, ज्यों नभचर पर बाज *'इत्यादि रूप से 'बली' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि यहाँ प्राकृतधर्म्म है यही रसवत्ता ही अप्राकृत अनन्त तत्त्व है यही वास्तविक अनन्त है। भावात्मक-

*—''जो तू याहीं उबरयो चाहे, भजन रामकृष्ण के चरण सुनर—नर' ।

भावों को धारण कर रक्खा है। इसी आधार पर–'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां–जीवभूतां–महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत्' (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। जैसा, जो स्वरूप आधिदैविक में अनन्त–कालाक्षर का है, अध्यात्म में वैसा ही, यही स्वरूप मानवबीज का है। अधिदैवत में जैसा स्वरूप अश्वत्थादि–चान्द्रसम्वत्सरान्त प्राकृत विश्व का है, अध्यात्म में वैसा ही स्वरूप अव्यक्तादि–शरीरान्त मानवीय पञ्चपर्वा प्रकृति का है। यही मानव और मानव की प्रकृति का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है, एवं यही है–'प्राकृतमानव की स्वरूपमीमांसा का प्राकृतिक समन्वय।

२४०–प्राकृतमानव की स्वतन्त्रता, तदनुगता सम्वत्सरप्रतीकता का विरोध, एवं सम्वत्सर–प्रतीकात्मक केवल प्राकृत–जन्तु—

हमने पूर्व में प्रतीकभावों का समन्वय करते हुए ऐसा कुछ कह दिया था कि–'अनन्ताक्षरकाल का प्रतिमानात्मक प्रतीक सम्वत्सरकाल है एवं सम्वत्सर की प्रतिमा प्राकृत मानव है। अतएव जैसे सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक है तथैव परम्परया सम्वत्सरांशभूत प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है' (देखिए ! पृ सं ४९६ परिच्छेद संख्या २१७)। किन्तु उक्त बीजभाव–समन्वय के आधार पर तो अब स्थिति सर्वथा ही बदल गई। सम्वत्सर का प्रतीक तो पशुजगत् ही माना जायगा इस दृष्टि से जिस के माध्यम से एक सम्वत्सर अपना कृत्स्नस्वरूप (सर्वस्वरूप नहीं) अभिव्यक्त कर देता है। प्राकृतमानव तो कदापि इस सम्वत्सर का प्रतीक नहीं बनसकता। सम्वत्सरप्रजात्मक चरमभाव तो अक्षररूप प्राकृत मानव के अन्तिम पर्वरूप केवल शरीर में ही अन्तर्भुक्त है। अतएव सम्वत्सर, और मानव दोनों का यहाँ समतुलन बतलाया है यहाँ मानव के अस्थि–मज्जा–शरीरभावों का ही उल्लेख हुआ है *। प्राकृत मानव में जो स्थान केवल शरीर का है वही स्थान यहाँ वर्षात्मक सम्वत्सर का है। अतएव प्राकृत मानव का शरीर तो फिर भी इस सम्वत्सर का प्रतीक माना जासकता है। किन्तु कदापि सम्पूर्ण प्राकृत मानव तो इस सम्वत्सर का प्रतीक हो ही नहीं सकता बन ही नहीं सकता। कहाँ अनन्ताक्षरकाल और कहाँ चान्द्रसम्वत्सरात्मक कर्मकाल ! । एवमेव कहाँ अनन्तकालात्मक प्राकृत मानव और कहाँ व्यक्तकालात्मक चान्द्रसम्वत्सर ! ।

२४१–मानव के एकांश से आविर्भूत सम्वत्सरकाल की मानव के समतुलन में अपूर्णता अकृत्स्नता, एवं दृष्टान्तात्मक प्रतीकलक्षण व्यामोहन से आत्मत्राण—

हाँ मानव उस अनन्तकाल का दृष्टान्तात्मक सर्वात्मक प्रतीक अवश्य ही बन सकता है बना है वेदशास्त्र में। एवमेव जैसे सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का कृत्स्नात्मक प्रतीक है तथैव यही सम्वत्सर उस प्राकृतमानव का भी प्रतीक बन सकता है बना है वेदशास्त्र में। सम्वत्सर से मानव का निर्माण नहीं हुआ है, अपितु मानव के एकांश से सम्वत्सरयज्ञ की अभिव्यक्ति हुई है। मानव सम्वत्सर के गर्भ में नहीं है, अपितु मानव के गर्भ में सम्वत्सर है–'यस्मादर्वाक्–सम्वत्सरमहोभिः परिवर्त्तते'। 'पुरुषो वै यज्ञः'–'पुरुषसम्मितो यज्ञः' (शत० ३।१।४।२३)–'पुरुषो वाव सम्वत्सरः' (गो पू ५।१)–'पुरुषो वै

* देखिए, गोपथब्राह्मण पू ५।५।

पार्थिवसम्वत्सरमध्यपतीं भूपिण्ड, चान्द्रसम्वत्सरमध्यपतीं चन्द्रमा–इन पाँच प्राकृत–विश्वपुरुषपर्वों की समन्वितावस्था'। क्या स्वरूप है इस समन्वितावस्था का ? प्रश्न का उत्तर है–स्वायम्भुव अव्यक्त, पारमेष्ठ्य महान्, सौरी बुद्धि, चान्द्र मन, पार्थिव शरीर, इन पाँच पर्वों की प्राकृत समन्वितावस्था'। और सर्वान्त में क्या स्वरूप है इस 'प्राकृत समन्वितावस्था' का ? प्रश्न का अन्तिम उत्तर –'प्राकृत मानव'। जिस मानव की प्रकृति में अव्यक्त–महान्–बुद्धि–मन–शरीर–ये पाँच प्राकृतिक पर्व समन्वित रहेंगे उसी मानव को 'प्राकृतमानव' कहा जायगा।

२३४–प्राकृत विश्व, और प्राकृत मानव, प्राकृत मानव का जीवत्व, एवं अप्राकृत मानव का आत्मत्व, तथा जीवसीमागर्भित प्राकृत विश्व–

ध्यान दीजिए– जिस मानव की प्रकृति में ये पाँच पर्व' –इस वाक्यांश पर। कौन है वह मानव जिसके कोश में–कोष में–गर्भ में प्रकृति जैसा कोई जैसा तत्त्व विद्यमान है, जिस प्रकृति के ये पाँच प्राकृत–पर्व हैं ?। परमेष्ठिमण्डल से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरपर्यन्त जितने भी प्राकृतिक–कालविवर्त हैं उन सब का तो संग्रह परोरजामूर्ति–पञ्चपुरवीयप्रजा स्वरूपकेन्द्रीभूत–अव्यक्त–स्वयम्भू–से हो ही जाता है। अतएव परमेष्ठि–मण्डल से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सर–पर्यन्त किंवा चान्द्रसम्वत्सर से आरम्भ कर परमेष्ठिमण्डल–पर्यन्त का सम्पूर्ण प्राकृत–विवर्त तो पञ्चपर्वा–स्वायम्भुवी अव्यक्ता प्रकृति से ही परिव्याप्त है, जिस इस सम्पूर्ण 'पर्यन्त' का नाम ही 'प्राकृतविश्व' प्रसिद्ध है। मानव का विश्व ही मानव की प्रकृति है'। इस अपने प्राकृत विश्व की अपेक्षा से ही मानव 'प्राकृतमानव' कहलाया है। यहीं यह प्रश्न उपस्थित है कि, जिस मानव का यह पञ्चपर्वा किंवा परमेष्ठ्यादि चान्द्रसम्वत्सरान्त सर्वपर्वा प्राकृत विश्व है, इस प्राकृत विश्व को स्वप्रतिष्ठा में धारण करने वाला मानव कौन ? इसी प्रश्न का उत्तर है–'जीव'। 'जीव' का नाम है 'मानव' एवं इसकी पञ्चपर्वा प्रकृति का नाम है इस जीवमानव का प्राकृतसंसार प्राकृत विश्व। इस प्राकृत विश्व से नित्य समन्वित जीव' नामक मानव का ही नाम है 'प्राकृतमानव'। जीव स्वयं ही जीव भी है एवं यही जीव अपने महिमाभाव से पञ्चपर्वा प्रकृति भी बन रहा है। अर्थात् समष्ट्यात्मिका यही प्रकृति 'जीव' है, एवं महिमामय्यष्ट्यात्मिका यही पञ्चपर्वा प्रकृति इस जीव का प्राकृत विश्व है। प्राकृत विश्व में जीव नहीं है अपितु जीवसीमा में प्राकृत विश्व प्रतिष्ठित है।

२३५–आत्मभाव से असस्पृष्ट प्राकृत जीव, जीव के अविनश्वर विनश्वर विश्व', तथा दोनों का स्वरूप दिग्दर्शन—

क्या तात्पर्य ?। तात्पर्य यही है कि प्रकृति में लोकभाषानुसार–प्राकृत शरीर में जीव है ?, अथवा तो जीव में प्राकृत शरीर है ?। अर्थात् शरीर के भीतर जीव है ?, अथवा तो जीव के भीतर शरीर है ? इस प्राकृत प्रश्न ने आचारशून्य दार्शनिक–मस्तिष्क को निःसीमरूप से उत्पीड़ित कर रक्खा है इसलिए कि, इसने 'जीव' के साथ 'आत्मा' शब्द का सम्बन्ध जोड़ दिया है। सम्भवतः 'प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा' नामक अग्रिम खण्ड में इस सम्बन्ध में स्पष्ट करने का प्रयास किया जायगा। अतएव अत्र इसे एकरूप न देते हुए अभी हमें यही निवेदन कर देना है कि –जीव प्राकृत मात्र है, एवं आत्मा अप्राकृतमात्र है। अतएव आत्मा जीव

भावों का धारण कर रक्खा है। इसी आधार पर–'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्–जीवभूतां–महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत्' (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। जैसा, जो स्वरूप आधिदैविक में अनन्त–कालाधार का है, अध्यात्म में वैसा ही, यही स्वरूप मानवजीव का है। अधिदैवत में जैसा स्वरूप अश्वत्थादि–चान्द्रसम्वत्सरान्त प्राकृत विश्व का है, अध्यात्म में वैसा ही स्वरूप अव्यक्तादि–शरीरान्त मानवीया पञ्चपर्वा प्रकृति का है। यही मानव, और मानव की प्रकृति का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है, एवं यही है–'प्राकृतमानव की स्वरूपनिष्ठा का प्राकृतिक समन्वय।

२४०–प्राकृतमानव की स्वतन्त्रता, तदनुगता सम्वत्सरप्रतीकता का विरोध, एवं सम्वत्सर–प्रतीकात्मक केवल प्राकृत–जन्तु—

हमने पूर्व में प्रतीकभावों का समन्वय करते हुए ऐसा कुछ कह दिया था कि–'अनन्ताक्षरकाल का प्रतिमानात्मक प्रतीक सम्वत्सरकाल है एवं सम्वत्सर की प्रतिमा प्राकृत मानव है। अतएव जैसे सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक है, तथैव परम्परया सम्वत्सराग्रभूत प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है (देखिए ! पृ. सं. ४९६ परिच्छेद सङ्ख्या २१०)। किन्तु उक्त जीवभाव–समन्वय के आधार पर तो अब स्थिति सर्वथा ही बदल गई। सम्वत्सर का प्रतीक तो पशुजगत् ही माना जायगा इस दृष्टि से जिस के माध्यम से एक सम्वत्सर अपना कृत्स्नस्वरूप (सर्वस्वरूप नहीं) अभिव्यक्त कर देता है। प्राकृतमानव तो कदापि इस सम्वत्सर का प्रतीक नहीं बनसकता। सम्वत्सरभक्तात्मक चरभाव तो अचररूप प्राकृत मानव के अन्तिम पर्वरूप केवल शरीर में ही अन्तर्भुक्त है। अतएव सम्वत्सर, और मानव, दोनों का जहाँ समतुलन बतलाया है वहाँ मानव के अस्थि–मज्जादि–शारीरभावों का ही उल्लेख हुआ है *। प्राकृत मानव में जो स्थान केवल शरीर का है वही स्थान यहाँ पर्वात्मक सम्वत्सर का है। अतएव प्राकृत मानव का शरीर तो फिर भी इस सम्वत्सर का प्रतीक माना जासकता है। किन्तु कदापि सम्पूर्ण प्राकृत मानव तो इस सम्वत्सर का प्रतीक हो ही नहीं सकता बन ही नहीं सकता। कहाँ अनन्ताक्षरकाल और कहाँ चान्द्रसम्वत्सरात्मक पर्वकाल !। एवमेव कहाँ अनन्तकालात्मक प्राकृत मानव, और कहाँ व्यक्तभक्तात्मक चान्द्रसम्वत्सर !।

२४१–मानव के एकांश से आविर्भूत सम्वत्सरकाल की मानव के समतुलन में अपूर्णता अकृत्स्नता, एवं दृष्टान्तात्मक प्रतीकलक्षण व्यामोहन से आत्मत्राण—

हाँ मानव उस अनन्तकाल का दृष्टान्तात्मक सर्वात्मक प्रतीक अवश्य ही बन सकता है बना है वेदशास्त्र में। एवमेव जैसे सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का कृत्स्नात्मक प्रतीक है तथैव यही सम्वत्सर उस प्राकृतमानव का भी प्रतीक बन सकता है बना है वेदशास्त्र में। सम्वत्सर से मानव का निर्माण नहीं हुआ है अपितु मानव के एकांश से सम्वत्सरयज्ञ की अभिव्यक्ति हुई है। मानव सम्वत्सर के गर्भ में नहीं है अपितु मानव के गर्भ में सम्वत्सर है–'यस्मादर्वाक्–सम्वत्सरमहोभिः परिवर्त्तते'। 'पुरुषो वै यज्ञः'–'पुरुषसम्मितो यज्ञः' (शत० ३।१।४।२३)–'पुरुषो वाव सम्वत्सरः' (गो पू. ५।१)–'पुरुषो वै

* देखिए गोपथब्राह्मण पू. ५।५।

पार्जुन' ! । शरीर बदलते रहते हैं मानव (जीव) नहीं बदलता । क्योंकि शरीर में मानव (जीव) नहीं है, अपितु शरीर मानव (जीव) में है । आधार नहीं बदलता, आधेय बदलते रहते हैं ।

२३८–प्राकृत-मानवीय–अविनश्वर जीवों के, तथा वैकारिक-पश्वादि विनश्वर जीवों के प्राकृत–स्वरूपों में महान् अन्तर—

ठीक इसके विपरीत मानवेतर पश्वादि प्राणियों में नया ही शरीर, शरीर से ही शरीर, शरीर में ही नवीन ही तात्कालिक ही जीवभाव का इच्छा कृत्स्नाम से उद्गम, शरीर के साथ ही इस जीव का संरक्षण एवं शरीरनाश के साथ ही समाप्ति । न पूर्वजन्म न उत्तरजन्म न वर्तमान में ही स्वरूपाभिव्यक्ति । केवल अशनपानपरायणता । जैसे–नये–सुने–सायकमानुसार काम–में रमना–खाते–पीते–मल–मूत्रादि–विसर्जित करते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक माता–सार्थ–रात–आपीयत दुपहर–अर्जन–उसके सम्मुख–शारीरिक–मानसिक–कामभोगों का अनुगमन करते हुए स्वत्व प्रकृतिप्रेरणया शरीर से जीवभार को उठाए हुए इन्द्रम्मभाव बने रहना ही इन प्राणियों का समस्त जीवनेतिवृत्त है जिनका कोई इतिहास नहीं है । यही प्राकृत मानवीय जीव एवं वैकारिक पश्वादि–जीव इन दोनों में वह महान् अन्तर है जिस के समन्वय के बिना आत्मस्वरूप–अविज्ञात ही बना रह जाता है ।

२३९–चान्द्रसम्वत्सरकालानुबन्धी मानवेतर प्राणिजगत्, एवं अनन्तकालानुबन्धी मानवीय–जीवजगत्, तथा अपराप्रकृतिमूलक क्षरात्मक प्राकृतिक जन्तु और पराप्रकृतिमूलक अक्षरात्मक मानवजीव—

प्राकृत प्राणियों का यह वैकारिक–विनश्वर–जीवभाव (जो इन के शरीरों के साथ ही तात्कालिकरूप से ही उत्पन्न होता है एवं शरीरसमाप्ति के साथ ही नष्ट हो जाता है) उस चान्द्रसम्वत्सरकाल से ही सम्बन्ध रखता है जो वर्षात्मक–मूर्त–व्यक्तरूप–भौतिककाल ही है * । उधर प्राकृत–मानवजीव का सम्बन्ध उस महाकाल से है जिसे हमने अनन्त–अमूर्त–अव्यक्त अक्षरकाल कहा है जोकि क्षरकालपाश से भी परस्तात् है जिस के गर्भ में क्षरकालकादि चान्द्रसम्वत्सरान्त सम्पूर्ण प्राकृत–कालविवर्त प्रतिष्ठित हैं । अनन्ताक्षररूप–परमकाल ही मानव का जीवभाव है । आधिदैविकजगत् में उसका नाम 'अनन्तकालाक्षर' है एवं मानव–संस्था में उसी का नाम–'प्राकृतमानव' है । जो वह है वही यह है । वह अपने सम्पूर्ण कालिक प्राकृतिक विश्व का अध्यक्ष है तो यह (मानव) अपने अध्यात्मादि शरीरान्त–सम्पूर्ण कालिक शरीर का अध्यक्ष है । अनन्तकालात्मक अक्षर का नाम ही है उस अनन्त–अव्ययपुरुष की 'पराप्रकृति' इसी का नाम है 'प्राकृत–मानव जीव' इसीने अपने आधिदैविक प्राकृत–'अनन्तकाल' रूप से सम्पूर्ण कालिक विश्व को स्वगर्भ में धारण कर रक्खा है, जैसाकि तदभिन्न मानव नामक प्राकृत जीवने स्वगर्भ में अपना सम्पूर्ण अध्यात्मादि–अशिक

---

* वर्ष में उत्पन्न्युत्पत्तिरोधी में तत्तद्विशेष कीट–पतङ्गादि प्राणी उत्पन्न होते रहते हैं, नष्ट होते रहते हैं, जिनका आयत्त–विषयत्व के अतिरिक्त और कोई इतिहास नहीं होता । सम्पूर्ण प्राणियों का यही इतिहास है जिसका मूल यह वर्षात्मक सम्वत्सरकाल ही बना रहता है ।

भावों का धारण कर रखा है। इसी आधार पर–'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्–जीवभूतां–महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत्' (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। जैसा, जो स्वरूप आधिदैविक में अनन्ताकाशाधार का है, अध्यात्म में वैसा ही, यही स्वरूप मानवजीव का है। आधिदैवत में जैसा स्वरूप अरकवयादि–चान्द्रसम्वत्सरान्त प्राकृत विश्व का है, अध्यात्म में वैसा ही स्वरूप अव्यक्तादि–शरीरान्त मानवीया पञ्चपर्वा प्रकृति का है। यही मानव और मानव की प्रकृति का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है, एवं यही है–'प्राकृतमानव की स्वरूपविधा का प्राकृतिक समन्वय।

२४०–प्राकृतमानव की स्वतन्त्रता, तदनुगता सम्वत्सरप्रतीकता का विरोध, एवं सम्वत्सर–प्रतीकात्मक केवल प्राकृत–जन्तु—

हमने पूर्व में प्रतीकभावों का समन्वय करते हुए ऐसा कुछ कह दिया था कि– अनन्ताचरकाल का प्रतिमानात्मक प्रतीक सम्वत्सरकाल है एवं सम्वत्सर की प्रतिमा प्राकृत मानव है। अतएव जैसे सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक है तथैव परम्परया सम्वत्सराभूत प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है' (देखिए। पृ सं ४६६ परिच्छेद संख्या २१७)। किन्तु उक्त जीवभाव–समन्वय के आधार पर तो अब स्थिति सर्वथा ही बदल गई। सम्वत्सर का प्रतीक तो पशुजगत् ही माना जायगा इस दृष्टि से जिस के माध्यम से एक सम्वत्सर अपना कृत्स्नरूप (सर्वस्वरूप नहीं) अभिव्यक्त कर देता है। प्राकृतमानव तो कदापि इस सम्वत्सर का प्रतीक नहीं बनसकता। सम्वत्सरकालात्मक चरभाव तो अचररूप प्राकृत मानव के अन्तिम पर्वरूप केवल शरीर में ही अन्तर्भुक्त है। अतएव सम्वत्सर, और मानव, दोनों का यहाँ समतुलन बतलाया है यहाँ मानव के अस्थि–मज्जादि–शारीरभावों का ही उल्लेख हुआ है *। प्राकृत मानव में जो स्थान केवल शरीर का है वही स्थान यहाँ सर्वात्मक सम्वत्सर का है। अतएव प्राकृत मानव का शरीर तो फिर भी इस सम्वत्सर का प्रतीक माना जासकता है। किन्तु कदापि सम्पूर्ण प्राकृत मानव तो इस सम्वत्सर का प्रतीक हो ही नहीं सकता बन ही नहीं सकता। कहाँ अनन्ताचरकाल और कहाँ चान्द्रसम्वत्सरात्मक सर्वकाल !। एवमेव कहाँ अनन्तकालात्मक प्राकृत मानव, और कहाँ व्यक्तकालात्मक चान्द्रसम्वत्सर !।

२४१–मानव के एकांश से आविर्भूत सम्वत्सरकाल की मानव के समतुलन में अपूर्णता अकृत्स्नता, एवं दृष्टान्तात्मक प्रतीकलक्षण व्यामोहन से आत्मत्राण—

हाँ मानव उस अनन्तकाल का दृष्टान्तात्मक सर्वात्मक प्रतीक अवश्य ही बन सकता है बना है वेदशास्त्र में। एवमेव जैसे सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का कृत्स्नात्मक प्रतीक है, तथैव यही सम्वत्सर उस प्राकृतमानव का भी प्रतीक बन सकता है बना है वेदशास्त्र में। सम्वत्सर से मानव का निर्माण नहीं हुआ है अपितु मानव के एकांश से सम्वत्सरकाल की अभिव्यक्ति हुई है। मानव सम्वत्सर के गर्भ में नहीं है अपितु मानव के गर्भ में सम्वत्सर है–'यस्मादर्वाक्–सम्वत्सरमहोभिः परिवर्त्तते'। 'पुरुषो वै यज्ञः'– 'पुरुषसम्मितो यज्ञः' (शत० ३।१।४।२३)–'पुरुषो वाव सम्वत्सरः' (गो पू ५।३)–'पुरुषो वै

* देखिए गोपथब्राह्मण पू ५।५।

चाजु न' ।। शरीर बदलते रहते हैं मानव (जीव) नहीं बदलता । क्योंकि शरीर में मानव (जीव) नहीं है, अपितु शरीर मानव (जीव) में है । आधार नहीं बदलता, आधेय बदलते रहते हैं ।

२३८–प्राकृत-मानवीय–अविनश्वर जीवों के, तथा वैकारिक-पश्वादि विनश्वर जीवों के प्राकृत–स्वरूपों में महान् अन्तर—

ठीक इसके विपरीत मानवेतर पश्वादि प्राणियों में नया ही शरीर, शरीर से ही शरीर, शरीर में ही नवीन ही तात्कालिक ही जीवभाव का इधर-उधर न्याय से उद्गम, शरीर के साथ ही इस जीव का संरक्षण एवं शरीरनाश के साथ ही समाप्ति । न पूर्वजन्म न उत्तरजन्म न वर्तमान में ही स्वरूपाभिव्यक्ति । केवल अशनपानपरायणता । वे–नये–पुराने–कालक्रमानुसार काल–में रमणा–खाते–पीते–मल–मूत्रादि–विसर्जित करते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक प्रातः–साय–रात–आधीरात दुपहर–सर्वत्र–सबके सम्मुख–शारीरिक–मानसिक–कामभोगों का अनुगमन करते हुए इतस्ततः प्रकृतिप्रेरणया शरीर से जीवभार को उठाए हुए दन्द्रम्यमाण बने रहना ही इन प्राणियों का समस्त जीवनेतिवृत्त है जिनका कोई इतिहास नहीं है । यही प्राकृत मानवीय जीव एवं वैकारिक पश्वादि–जीव इन दोनों में वह महान् अन्तर है जिस के समन्वय के बिना आत्मस्वरूप–अविज्ञात ही बना रहजाता है ।

२३९–चान्द्रसम्वत्सरकालानुबन्धी मानवेतर प्राणिजगत् , एवं अनन्तकालानुबन्धी मानवीय–जीवजगत्, तथा अपराप्रकृतिमूलक क्षरात्मक प्राकृतिक जन्तु और पराप्रकृतिमूलक अक्षरात्मक मानवजीव—

प्राकृत प्राणियों का यह वैकारिक–विनश्वर–जीवभाव (जो इन के शरीरों के साथ ही तात्कालिकरूप से ही उत्पन्न होता है एवं शरीरसमाप्ति के साथ ही नष्ट हो जाता है) उस चान्द्रसम्वत्सरकाल से ही सम्बन्ध रखता है जो पर्वात्मक–मूर्त–व्यक्तरूप–भौतिककाल ही है • । उधर प्राकृत–मानवजीव का सम्बन्ध उस महाकाल से है जिसे हमने अनन्त–अमूर्त–अव्यक्त अक्षरकाल कहा है जोकि अक्षरकालात्मक से भी परात्पर है जिस के गर्भ में अक्षरकालादि चान्द्रसम्वत्सरान्त सम्पूर्ण प्राकृत–कालविवर्त प्रतिष्ठित हैं । अनन्ताक्षररूप–परमकाल ही मानव का जीवभाव है । आधिदैविकजगत् में उसका नाम 'अनन्तकालाक्षर' है एवं मानव–संस्था में उसी का नाम–'प्राकृतमानव' है । जो वह है वही यह है । वह अपने सम्पूर्ण क्षणिक प्राकृतिक विश्व का अध्यक्ष है तो यह (मानव) अपने अन्नमयादि शरीरान्त–सम्पूर्ण क्षणिक शरीर का अध्यक्ष है । अनन्तकालात्मक अक्षर का नाम ही है उस अनन्ता–अव्ययपुरुष की 'पराप्रकृति' इसी का नाम है 'प्राकृत–मानव जीव' इसीने अपने आधिदैविक प्राकृत–'अनन्तकाल' रूप से सम्पूर्ण क्षणिक विश्व को स्वगर्भ में धारण कर रक्खा है, जैसाकि तदभिन्न मानव नामक प्राकृत जीवने स्वगर्भ में अपने सम्पूर्ण अन्नमयादि–क्षणिक

• वर्ष में ऋतुसम्वत्सरविशेषों में तत्तद्विशेष कीट–पतङ्गादि प्राणी उत्पन्न होते रहते हैं नष्ट होते रहते हैं जिनका आगमन–निर्गमन के अतिरिक्त और कोई इतिहास नहीं होता । सम्पूर्ण प्राणियों का यही इतिहास है, जिसका मूल यह पर्वात्मक सम्वत्सरकाल ही बना रहता है ।

अत्र क्षुद्रबुद्धिशिष्यस्य दृष्टान्त —

यथा एकस्य भद्रबुद्धिनामकाचार्यस्याऽविनीत' क्षुद्रबुद्धिनामक॰ शिष्य आसीत्। यदा गुरु॰ शिक्षार्थं प्रेरयति, तदा शिक्षा वह्निज्वालेव तस्य प्रतिभाति, व्रत विषवत्, तपस्या खड्गधारेव, स्वाध्यायः कर्णसूचीव, सयमो यम इव। अयमाहारे विहारे व्यवहारे च सर्वदाऽऽचार्यं पीड-यति। सरस भद्रक मुस्वादमाहार स्वयमश्नाति विवर्ण विरसमभद्रक रूक्षमाचार्याय प्रयच्छति। अथ कदाचिदसौ श्रावकश्राविकाणा पुरतो ब्रूते—अद्य मम गुरोरुपवास,

पास वह इसलिये नहीं रहना चाहता है कि वह प्रत्यनीक—अर्थात्—गुरु-द्वेषी—गुरु के छिद्रान्वेषण में तत्पर है, गुरुद्वेषी वह इसलिये है कि वह असम्बुद्ध अर्थात् हिताहित के विचारों से रहित है।

अविनीत शिष्य कैसा होता है इस बात को क्षुद्रबुद्धि शिष्य के दृष्टान्त से स्पष्ट किया जाता है—

भद्रबुद्धि नामके एक आचार्य थे। उनका क्षुद्रबुद्धि नामक शिष्य था जो बडा अविनीत था। यह यथानाम तथागुण था। गुरु महाराज जब इसे शिक्षा देने बैठते तब उसका मन उदास हो जाता था। शिक्षा उसे ऐसी मालूम होती थी कि जैसे अग्नि की ज्वाला है। विषतुल्य इसे व्रत ज्ञात होने लगते। तलवार की धार के समान यह तपस्या को मानता, कर्ण को भेदनेवाली शलाई के तुल्य यह स्वाध्याय को समझता। अधिक क्या कहा जाय—सयम को तो यह यमके समान निहारता। आहार में विहार में एव व्यवहार में यह सदा गुरु—महाराज को दु खित ही किया

નથી, તેમની પાસે રહેતો નથી, પાસે રહેવાનુ તે એટલા માટે નથી ચાહતો કે તે પ્રત્યનીક—અર્થાત્ ગુરૂદ્વેષી—ગુરૂના છીદ્રા જોવામા તત્પર છે ગુરૂદ્વેષી તે એ માટે છે કે તે હિતાહિતના વિચારોથી રહિત છે

અવિનીત શિષ્ય કેવો હોય છે આ વાતને ક્ષુદ્રબુદ્ધિ શિષ્યના દૃષ્ટાતથી સ્પષ્ટ કરવામા આવે છે—

ભદ્રબુદ્ધિ નામના એક આચાર્ય હતા તેમને ક્ષુદ્રબુદ્ધિ નામનો એક શિષ્ય હતો જે અવિનીત હતો, તેનામા નામ પ્રમાણે ગુણ હતા. ગુરૂ મહા રાજ જ્યારે તેને શિક્ષા આપવા બેસતા ત્યારે તેનુ મન ઉદાસ થઈ જતુ શિક્ષા જેને અગ્નિની જ્વાળા જેવી લાગતી હતી વ્રત તેને ઝહેર જેવા કડવા લાગતા, તપસ્યાને તે તરવારની ધાર સમાન ગણતો, સ્વાધ્યાયને તે કાનને વિંધનારા સોયા માફક જાણતો હતો. વધુ શું કહેવામા આવે. સયમને તો તે યમની માફક જ જોતો, આહારમા, વિહારમા, ને વહેવારમા એ ગુરૂમહારાજને

सम्वत्सरः (यजु० १२।२।७।१।)–इत्यादि वचन सम्वत्सर को ही पुरुष का प्रतीक मान रहे हैं। किस पुरुष का ?, प्राकृतपुरुष का प्राकृत मानव का, यह विशेषरूप से स्मरण रखिए, जिसके माध्यम से ही हमें श्रुतिस्थ में ही अप्राकृत मानव का समन्वय करना है। जिस महतोमहीयान् अनन्तकाल का अबतक यशोगान हुआ है उस से तो इस प्राकृत मानव का प्राकृत–इतिहास ही असम्भव हो जाता है। यद्यपि इस अनन्त–काल के माध्यम से उस कालातीत का अनुमान भी सम्भव नहीं है। प्राकृत विश्व में अनन्तकाल, और तदभिन्न प्राकृत मानव दो ही ऐसे प्राकृतिक विवर्त थे, जिन्हें दृष्टान्तात्मक प्रतीक मान बैठने का व्यामोहन हुआ था। किन्तु यह व्यामोहन यथार्थ नहीं बन सका इन दोनों ही विवर्तों की प्राकृतिकता के कारण।

२४२–अप्राकृत–ऋषिमानव के माध्यम से प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा,–प्राकृत–मानव की प्राकृत–बुद्धि की कुण्ठितता–विवशता, एवं तन्मूलक प्रतीकात्मक दृष्टान्तों की ओर आकर्षण—

अब तो केवल यह अप्राकृत–ऋषिमानव ही शेष रह जाता है जिस के माध्यम से ही प्रतीकता की प्राकृत–चेष्टा और अपनी जाती है। इस चेष्टा से पहिले अनन्तकाल विवर्त तथा तदभिन्न प्राकृत मानव विवर्त–इन दोनों को वास्तविकरूपेण अवधानपूर्वक इसलिए लक्ष्य बना ही लेना चाहिए, जिस से बीजभूता अक्षर–प्रकृति की कालात्मकता में फिर कोई व्यामोहन शेष न रहजाय। वास्तविकचिन्तन के द्वारा अवश्य ही हम जैसे प्राकृत मानवों को तो इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना पड़ेगा कि, अनन्तकाल से प्रकृति का उपक्रम होता है एवं सम्वत्सरकाल पर प्रकृति का उपसंहार होता है। इन सम्पूर्ण प्राकृत विवर्तों में प्राकृत–भावों के अतिरिक्त ऐसा एक भी तो दिग्देशकालातीत अप्राकृत भाव नहीं है जिसे प्रकृत्यतीत–अव्यक्तातीत–अनन्तब्रह्म का दृष्टान्तात्मक प्रतीक मान लिया जाय।! बिना प्रतीक–माध्यम के क्योंकि प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि किसी तथ्य को अनुगामी बनाने के अभ्यास से असंपृक्त है। अतएव बुद्धिमान् प्राकृत मानव भी उस अनन्तब्रह्म पर आस्था कर ही नहीं सकता। तभी तो बुद्धिमान् ! प्राकृत लोकव्यक्ति–पार्थिवादि मानवों ने अपने आप को उस आत्मानन्त्य से उसीप्रकार असंस्पृष्ट ही बनाए रक्खा है जैसे कि प्राकृतिक–वैकारिकजनों के पश्चात् प्राणी उस आनन्त्य से पृथक् रहते हुए अपनी आममोगपरायणता में ही सर्वात्मना समाप्त हो जाते हैं, इति नु–आत्मघातसमेव। कथापि खलु पापानामलममेयसे यतः। किंवा–काले कारुणिक ! त्वमेव कृपया त भावनीया भवः।

प्राकृतमानवस्य—स्वरूपरिलेख—कालात्मकः—

पूर्णमदः—पूर्णमदः	पूर्णमिदम्—	कृत्स्नमिदम्	
१—अनन्तब्रह्म	मानवजीव	जीव (०)	प्रकृत्यधिष्ठाता-प्राकृतोऽयं मानवः
२—अव्ययः षोडशी	मानवषोडशी		पञ्चपर्वा—प्राकृतिक—मानवस्य —जीवमहदिन्द्रियमनोबुद्धि—प्रतिष्ठिता प्रकृतिः — (जीवे शरीरम् । नतु शरीरे जीवः । इति हि—लिखकः मानवजीवानुगतः
३—अक्षर—अव्यक्तः	मानवाव्यक्त	अव्यक्त (५)	
४—[illegible]—स्वयम्भू	मानवाव्यक्तः		
५—[illegible]—परमेष्ठी	मानवमहान्	महान् (४)	
६—[illegible]योनि—सूर्य	मानवबुद्धि	बुद्धिः (३)	
७—[illegible]मयी—पृथिवी	मानवशरीरम्	शरीरम् (२)	
८—[illegible]—चन्द्रमा	मानवमन	मनः (१)	
इति नु—आधिदैवतम् प्रकृत्या पूर्णम्	इति नु—आध्यात्मम्—प्रकृत्या अपूर्णमेव		

२४३—अप्राकृत-मानव की ऋषिमानवता का समन्वय—

उक्त—तालिकानुगत कालिक स्वरूप ही प्राकृत मानव का प्रकृति—निबन्धन—कालात्मक—वह—'व्यक्तित्व' है जो इसे उस कालातीत अनन्तब्रह्म के साथ समन्वित नहीं होने देता। और यही इसका प्रकृतिव्या—मोहनात्मक—बुद्धिगम्य—वह महान् प्राकृतिक व्यक्तित्व है जो इसे ऐसे प्राकृतिक व्यक्तित्व से असंस्पृष्ट अतएव अप्राकृत 'ऋषिमानव' के साथ समन्वित होने ही नहीं देता जिस ऋषिमानव के आर्षिप्यानुग्रह के बिना न तो इसका प्राकृत—विमोहन ही पलायित होता एवं न इसे अनन्तब्रह्मानुगत—कालातीत का स्वरूपबोध ही हो सकता। क्योंकि समस्त प्राकृत विवर्तों में एकमात्र अप्राकृत मानव ऋषिमानव ही है जिसे प्रतीक बना कर ही प्राकृत मानव उस अप्राकृत ब्रह्म के साथ समन्वित हो सकता है।

सम्वत्सरः (शत० १२।२।४।१।)–इत्यादि वचन सम्वत्सर को ही पुरुष का प्रतीक मान रहे हैं। जिस पुरुष का है, प्राकृतपुरुष का प्राकृत मानव का यह विशेषरूप से स्मरण रखिए, जिसके माध्यम से ही हमें मनुष्य में ही अप्राकृत मानव का अन्वयन करना है। जिस महतोमहीयान् अनन्तकाल का प्रकरण प्रचलित हुआ है उस से तो इस प्राकृत मानव का प्राकृत–इतिहास ही समन्वित हो पाता है। क्योंकि इस अनन्त–काल के माध्यम से उस कालातीत का अनुमान भी सम्भव नहीं है। प्राकृत विश्व में अनन्तकाल और तदभिन्न प्राकृत मानव दो ही ऐसे प्राकृतिक विवर्त थे जिन्हें दृष्टान्तात्मक प्रतीक मान बैठने का व्यामोहन हुआ था। किन्तु यह व्यामोहन यथार्थ नहीं बन सका इन दोनों ही विवर्तों की प्रकृतिता के कारण।

२४२–अप्राकृत–ऋषिमानव के माध्यम से प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा,–प्राकृत–मानव की प्राकृत–बुद्धि की कुण्ठिवता–विवशता, एवं तन्मूलक प्रतीकात्मक दृष्टान्तों की ओर आकर्षण—

अब तो केवल यह अप्राकृत–ऋषिमानव ही शेष रह जाता है जिस के माध्यम से ही प्रतीकता की प्राकृत–चेष्टा और करली जाती है। इस चेष्टा से पहिले अनन्तकाल विवर्त तथा तदभिन्न प्राकृत मानव विवर्त–इन दोनों को तात्त्विकरूपेण अवधानपूर्वक इसलिए लक्ष्य बना ही लेना चाहिए, जिस से बीजभूत अक्षर–प्रकृति की प्रतीकात्मकता में फिर कोई व्यामोहन शेष न रहजाय। तात्त्विकचिन्तन के द्वारा अवश्य ही हम जैसे प्राकृत मानवों को तो इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना पड़ेगा कि, अनन्तकाल से प्रकृति का उपक्रम होता है एवं सम्वत्सरकाल पर प्रकृति का उपसंहार होता है। इन सम्पूर्ण प्राकृत विवर्तों में प्राकृत–भावों के अतिरिक्त वैसा एक भी तो दिग्देशकालातीत अप्राकृत भाव नहीं है जिसे प्रकृत्यतीत–अव्यक्तातीत–अनन्ताव्यय का दृष्टान्तात्मक प्रतीक मान लिया जाय। ? बिना प्रतीक–माध्यम के क्योंकि प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि किसी तथ्य की अनुगामी बनने के अभ्यास से वञ्चित है। अतएव बुद्धिमान् प्राकृत मानव तो उस अनन्ताव्यय पर आस्था कर ही नहीं सकता। तभी तो बुद्धिमान् ? प्राकृत भौतिकवादि–चार्वाकादि मानवों ने अपने आप को उस आत्मानन्त्य से उसीप्रकार असंस्पृष्ट ही बनाए रखा है जैसे कि प्राकृतिक–वैकारिकों के परमाणु प्राणी उस आनन्त्य से पृथक् रहते हुए अपनी कामभोगपरायणता में ही सर्वात्मना समाप्त हो जाते हैं, इति गु–आत्मप्यासमेव। कथापि खलु पापानामलममेयसे यतः। किया–अस्ते कारुणिक। तस्येव कुमस्य त भावनीया नराः।

प्राकृतमानवस्य–स्वरूपपरिलेख –कालात्मकः–

पूर्णमदः –कृत्स्नमदः	पूर्णमिदम्–	कृत्स्नमिदम्		
१–अनन्तब्रह्म	मानवजीव	जीव (७)	प्रकृत्यधिष्ठाता–प्राकृतोऽयं मानवः	
२–अश्वत्थः षोडशी	मानवषोडशी			पञ्चपर्वा–प्रकृतिरियं–मानवस्य –जीवमभिव्याप्य अधिष्ठिता–प्रकृतिः– "जीवः शरीरम् । नहि शरीरे जीवः । इति हि–विवेकः मानवजीवानुगत
३–पंचरजा–अव्यक्तः	मानवाव्यक्त	अव्यक्त (५)		
४–रजःप्रवर्ग्य–स्वयम्भू	मानवाव्यक्तः			
५–रजोमय –परमेष्ठी	मानवमहान्	महान् (४)		
६–रजोमानि –सूर्य	मानवबुद्धिः	बुद्धि (३)		
७–रजोमयी–पृथिवी	मानवशरीरम्	शरीरम् (२)		
८–रजोरूप–चन्द्रमाः	मानवमन	मनः (१)		
इति नु–अधिदैवतम् प्रकृत्या पूर्णम्	इति नु–अध्यात्मम्–प्रकृत्या अपूर्णमिव			

२४३–अप्राकृत–मानस की ऋषिमानवता का समन्वय—

उक्त–वासिकानुगत कालिक स्वरूप ही प्राकृत मानव का प्रकृति–निबन्धन–कालात्मक–वह–'व्यक्तित्व' है जो इसे उस कालातीत अनन्तब्रह्म के साथ समन्वित नहीं होने देता । और यही इसका प्रकृतिव्या–मोहनात्मक–बुद्धिगम्य–वह महान् प्राकृतिक व्यक्तित्व है जो इसे ऐसे प्राकृतिक व्यक्तित्व से सर्वस्वात्म अतएव अप्राकृत 'ऋषिमानस' के साथ समन्वित होने ही नहीं देता जिस ऋषिमानस के साक्षिध्यानुग्रह के बिना न तो इसका प्राकृत–विमोहन ही पलायित होता एवं न इसे अनन्तब्रह्मानुगत–कालातीत का स्वरूपबोध ही हो–सकता । क्योंकि समस्त प्राकृत विवर्तों में एकमात्र अप्राकृत मानस ऋषिमानस ही है जिसे प्रतीक बना कर ही प्राकृत मानव उस अप्राकृत ब्रह्म के साथ समन्वित हो सकता है ।

सम्वत्सरः (शत० १२।२।३।१।)–इत्यादि वचन सम्वत्सर को ही पुरुष का प्रतीक मान रहे हैं। किस पुरुष का ? प्राकृतपुरुष का प्राकृत मानव का यह विशेषरूप से स्मरण रखिए, जिसके माध्यम से ही हमें अनुपद में ही अप्राकृत मानव का अन्वयथा करना है। जिस महतोमहीयान् अनन्तकाल का प्रसङ्ग यहाँ आगत हुआ है उस से तो इस प्राकृत मानव का प्राकृत–इतिहास ही समन्वित हो पाता है। कदापि इस अनन्तकाल के माध्यम से उस कालातीत का अनुमान भी सम्भव नहीं है। प्राकृत विश्व में अनन्तकाल और सम्भिन्न प्राकृत मानव दो ही ऐसे प्राकृतिक विवर्त थे जिन्हें दृष्टान्तात्मक प्रतीक मान बैठने का व्यामोहन हुआ था। किन्तु यह व्यामोहन यथार्थ नहीं बन सका इन दोनों ही विवर्तों की प्रकृतिवा के कारण।

२४२–अप्राकृत–ऋषिमानव के माध्यम से प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा,–प्राकृत–मानव की प्राकृत–बुद्धि की कुण्ठितता–विवशता, एवं तन्मूलक प्रतीकात्मक दृष्टान्तों की ओर आकर्षण—

अब तो केवल वह अप्राकृत–ऋषिमानव ही शेष रह जाता है जिस के माध्यम से ही प्रतीकता की प्राकृत–चेष्टा और बनती जाती है। इस चेष्टा से पहिले अनन्तकाल विवर्त तथा सम्भिन्न प्राकृत मानव विवर्त–इन दोनों को तात्त्विकरूपेण अवधानपूर्वक इसलिए लक्ष्य बना ही लेना चाहिए, जिस से सीमसूता प्रकृति की प्रसाअमक्या में फिर कोई व्यामोहन शेष न रहजाय। तात्त्विकचिन्तन के द्वारा अवश्य ही हम जैसे प्राकृत मानवों को तो इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना पड़ेगा कि, अनन्तकाल से प्रकृति का उपक्रम होता है एवं सम्वत्सरकाल पर प्रकृति का उपसंहार होता है। इन सम्पूर्ण प्राकृत विवर्तों में प्राकृत–भावों के अतिरिक्त ऐसा एक भी तो दिग्देशकालातीत अप्राकृत भाव नहीं है जिसे [illegible]–[illegible]–अनन्तकाल का दृष्टान्तात्मक प्रतीक मान लिया जाय। ! बिना प्रतीक–माध्यम के क्योंकि प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि किसी तथ्य को अनुगामी बनने के अभ्यास से असंयुक्त है। अतएव बुद्धिमान् प्राकृत मानव तो उस अनन्तकाल पर आस्था कर ही नहीं सकता। तभी तो बुद्धिमान् ! प्राकृत लौकिक–[illegible] मानवों ने अपने आप का उस आत्मानन्त्य से उसीप्रकार असम्पृक्त ही बनाए रक्खा है जैसे कि प्राकृतिक–वैकारिकों के पश्चात् प्राणी उस आनन्त्य से पृथक् रहते हुए अपनी कामभोगपरायणता में ही सर्वात्मना समाप्त हो जाते हैं इति गु– आत्मन्यासमेव। कदापि खलु [illegible] यतः। किंवा–[illegible] [illegible]! त्वमेव [illegible] त भावनीया सदा।

दीनता-हीनता-आदि दुःखित-प्राकृतभावों से पराङ्‌मुख, सहज स्थिति से समन्वित, तूष्णीकरूपेण शास्त्र-सिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मों में यथाकाल-यथामति-यथाशक्ति-कर्त्तव्यमूला उत्तरदायित्व की भावना से एकनिष्ठ बना रहने वाला मानवश्रेष्ठ ही अप्राकृत-अभिमानव है।

२४८-प्राकृतिक यच्चयावत् द्वन्द्वभावों से असंस्पृष्ट, अतएव निर्द्वन्द्वरूपेण कर्त्तव्यनिष्ठा-परायण मानव की अभिमानवता—

अपनी प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक कर्म्म, प्रत्येक उपासना प्रत्येक प्राकृत ज्ञान, प्रत्येक लौकिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-अनुबन्धी-कर्त्तव्यकर्म्मों में सर्वत्र उपक्रमोपसंहार में अनन्ताव्ययब्रह्म को ही मूलाधार मानने वाला अनन्ताधारत्वेप-प्राकृत-अन्तभावों का निर्वाह करने वाला अतएव आद्यन्तरूपेण अनन्तभावानुगत ही बना रहने वाला, अतएव न अन्तभावात्मक-प्राकृत-तात्कालिक हानि-लाभ, यश-अपयश-जन्म मृत्यु, शोक-मोह, जरा-व्याधि -मान अपमान -सफलता-विफलता -हर्ष-शोक, आदि आदि किसी भी द्वन्द्व से कभी भी क्षुब्ध-संक्षुब्ध-त्रस्त-सन्त्रस्त न होने वाला ईश्वरमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहने वाला इत्थंभूत मानव श्रेष्ठ ही-'अप्राकृत अभिमानव' है।

२४९-'योऽस्मि-सोऽस्मि' रूपेण तूष्णीं ईश्वरप्रेरणया कर्त्तव्यनिष्ठ-फलाफला-संस्पृष्ट-जरामर्य्यसत्रानुगामी मानव की 'अभिमानवता'—

'मैं जानता हूँ'-इस अभिमान से असंस्पृष्ट रहने वाला, 'मैं कुछ भी नहीं जानता' इस अबुद्ध मात्स्य से भी पृथक् रहने वाला + ऐसे जानने न जानने-वाले अभिमानात्मक समाचारों से परागू बना रहने वाला, 'योऽस्मि-सोऽस्मि-केनापि देवेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' रूपेण तूष्णीं अपनी प्राकृत-चर्य्या को जरामर्य्यनामक नामक अग्निहोत्रवत् यावज्जीवन प्रक्रान्त रखने वाला ● मानवश्रेष्ठ ही अप्राकृत अभिमानव है।

२५०-योगत्रय-दृष्टिपरायण, महर्षि दीर्घतमा के 'विचने न विद्वान्' घोष के अनुगामी, आत्मनिष्ठ, सर्वनिष्ठ मानव की-'अभिमानवता', एवं तद्योग का तात्त्विक-समन्वय—

और उसका नाम है-अभिमानव जो अपनी आर्षी-योगत्रय-दृष्टि से अनन्तकाल से आरम्भ कर सम्वत्सर काल-पर्य्यन्त के सम्पूर्ण सृष्टिविवर्त्तों का सर्वात्मना परिज्ञान प्राप्त करता हुआ भी लोकातीत-कालातीत-अनन्त

+ नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद च।
योनस्तद्वेद-तद्वेद, नो न वेदेति वेद च॥
—देखिए 'केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य' २ ख.

● कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छत समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥
—देखिए। ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य

२४४–समदर्शनानुगत-विषमवर्तनात्मक-शास्त्रीय आचारों में एकान्तनिष्ठ मानव, और उसकी ऋषिमानवता—

क्या स्वरूप–परिभाषा है उस अप्राकृत–ऋषिमानव की ? । श्रूयताम् । जो मानव सर्वथा–स्वकर्मानुकूल दिग्देशकालक्रमपूर्वक–प्राकृतिक–आचारधर्म्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहता हुआ इन प्राकृतिक आचारधर्म्मों–कर्त्तव्यकर्म्मों से अपने वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक–तथा राष्ट्रीय–लोकाभ्युदयों का सर्जक बनता हुआ निःश्रेयस् का अनुगामी प्रमाणित हो इन सब विभिन्न आचारधर्म्मों का एक आधार–आलम्बन बना रहता है वही मानव अप्राकृत–ऋषिमानव है । समदर्शनानुगता आत्मनिष्ठा के आधार पर प्राकृत विषमवर्त्तनात्मक आचारधर्म्मों के द्वारा लोकाभ्युदय को सुरक्षित रखने वाला इन प्राकृत कर्म्मों में यथाविधि–यथाशास्त्र कर्त्तव्यतया–एकनिष्ठ बना रहने वाला किन्तु अपने आत्मभाव से इनके प्रतिबन्धन से अपने आपको उन्मुक्त रखने वाला उदासीनवदासीन–कर्म्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठ ही अप्राकृत–ऋषिमानव है ।

२४५–लोक-वित्त-पुत्रैषणात्रयी से असंस्पृष्ट, एवं लोक-वित्त-पुत्र-कामनात्रयी से संस्पृष्ट मानव की ऋषिमानवता—

लोक–वित्त–पुत्रादि एषणाओं (उत्थाप्याकाङ्क्षारूपा–इच्छाओं लौकानुगता–इच्छाओं) से एकान्ततः असंस्पृष्ट रहने वाला किन्तु शास्त्रसिद्धा–लोक–वित्त–पुत्रादि–कामनाओं (उत्थितकाङ्क्षारूपा कामनाओं ईश्वरानुगता कामनाओं) से सर्वात्मना संस्पृष्ट रहने वाला इन कामनाओं के द्वारा स्वस्वरूप (प्राकृतिकस्वरूप) संरक्षणपूर्वक परस्वरूपों (परिवार–समाज–राष्ट्र–विश्व–स्वरूपों) के संरक्षण का परम्परया परोक्षरूपेण निमित्त बना रहने वाला मानवश्रेष्ठ ही अप्राकृत–ऋषिमानव है ।

२४६–परदर्शनमूला लोकभावुकता से असंस्पृष्ट, इष्टदेवानुगता भावुकता से नित्य संस्पृष्ट, आस्था-श्रद्धा-परायण, ऋजुकर्म्मनिष्ठ मानव की ऋषिमानवता—

परप्रकृतिदर्शनमूला भावुकता से एकान्ततः असंस्पृष्ट स्वप्रकृतिदर्शनमूला कृतनिष्ठा से सर्वथैव पराङ्मुख किन्तु स्वात्ममूला स्वनिष्ठा से सदैव समन्वित आस्था–श्रद्धा–शील ऋजुपथानुगामी मानवश्रेष्ठ ही अप्राकृत–ऋषिमानव है । सम्पूर्ण प्राकृतिक–रहस्यों का साक्षात्कार करने के अनन्तर भी इस प्राकृतिक ज्ञान से अपने आपको (आत्मस्वरूप को) विस्मृत न कर बैठने वाला सदा ही मानसिक–बौद्धिक–प्राकृतिक–कर्म्मों अविद्यविमोहनों से पृथक् बना रहने वाला 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' रूपेण सौम्य बालभावापन्न् सर्वथा ऋजुभाव में ही परिव्याप्त रहने वाला ऋजुपथानुगामी मानवश्रेष्ठ ही 'अप्राकृत–ऋषिमानव' है ।

२४७–कृत्रिम-विनय-सौजन्य-सौम्या प्रकृति-मन्द-मधुर-वाणी-लोक-परिग्रह-प्रदर्शन-आदि प्रदर्शनों से एकान्ततः असंस्पृष्ट, दीनता-हीनता-आदि प्रदर्शनों से पराङ्मुख, सहज स्थिति से नित्य समन्वित, उत्तरदायित्वपूर्णा निष्ठा से समलङ्कृत मानव की ऋषिमानवता—

कृत्रिम विनय–प्रदर्शन–सौजन्य–प्रदर्शन–सौम्याकृति–प्रदर्शन–सौम्य–मन्द–मधुर–वाक्–प्रदर्शन–मान्यता–प्रदर्शन–लोकपरिग्रहप्रदर्शन–आदि आदि पतनपथक् प्रदर्शनों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट रहने वाला साथ ही

'भावुकता' मन कर ही शान्त हो जाया करता है जैसाकि जगन्मिथ्यावादमूलक कल्पित ब्रह्मानन्दवाद से गत अनेक शताब्दियों से 'अनन्दमय' शब्द को लेकर ऐसी ही भावुकतापूर्णा भ्रान्ति चली आ रही है।

२५२–सत्यकाम जाबालि के गोचारण दृष्टान्त से उत्पन्न हो पड़ने वाली भ्रान्ति, एवं तदनुग्रह में कर्त्तव्य कर्म्मनिष्ठा से वञ्चित 'सन्तवाद' का आविर्भाव—

सत्यकाम जाबालि को गौएँ चराने मात्र से यदि ब्रह्मज्ञान होगया और यों गौ-सेवा ही यदि ब्रह्म का प्रतीक बन गई, तो फिर इसी स्थिति में व्यर्थ है श्रुति-स्मृति-पुराण-सम्मत आचारधर्म्म व्यर्थ है शास्त्रीय-कर्त्तव्य कर्म्म। फिर तो केवल 'आशीर्वाद' से ही सब कुछ गतार्थ है। और इसी भ्रान्ति ने तो उस सन्तसम्प्रदायवाद को जन्म दे डाला है जिसने सम्पूर्ण शास्त्रीय-आचारों को जलाञ्जलि-समर्पित कर केवल 'गुरुकृपा' की 'बलि वेदि' पर ही प्राकृत मानव के प्राकृत जीवन का बलिदान कर डाला है। 'नास्त्यकृतः कृतेन' 'तमक्रतु' पश्यति वीतशोकः' 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इत्यादि दार्शनिक-वाक्यों के आचारात्मक समन्वय में असमर्थ दार्शनिकों के कल्पित वेदान्तवाद ने ही इनकी ज्ञानमीमांसाविरुद्धा तत्त्वमीमांसा (तत्त्वविज्ञानमात्र) ने ही तो तथाविध सन्तसम्प्रदाय को जन्म दे डाला है।

२५३–आचारनिष्ठा का प्रथम स्खलन दर्शनजगत् में तद्द्वारा आविर्भूत शून्यवादानुगत द्वितीय स्खलन, तद्द्वारा प्रभूत सन्तवेदानुगत तृतीय स्खलन, एवं सन्तमतात्मिका साम्प्रदायिकता से आचारनिष्ठा की आत्यन्तिक-अन्तर्मुखता—

आचारात्मिका धर्म्मनिष्ठा सर्वप्रथम विलुप्त हुई है दार्शनिकता में। इस दार्शनिकता से समुत्पन्न शून्यवाद से सन्तत्व-निवृत्ति हो जाने वाली भावुक जनता ने ही आगे चलकर सन्तसम्प्रदाय को जन्म दे डाला परमतत्त्वानुगता-भावनाओं के आवरण से जिन परमभावनाओं में केवल गुरुकृपा ही मानव के यच्चयावत् पाप क्षमा कर दिया करती है। बड़े से बड़े गुरुतम अपराध-पापपुञ्ज भी यहाँ के गुरु (पीर–पैगम्बर–पादरी–नबी–आदि) जैसे अपनी कृपाकोर से क्षणमात्र में समाप्त कर देते हैं ठीक वही भावना दार्शनिकता के द्वारा उत्पन्न धर्म्म से एवं इन आगता-समागता-परमभावनाओं के सम्मिश्रण से आचारनिष्ठ भारतीय प्रजा में भी दृढमूल बन गई और यों शास्त्रीय आचारनिष्ठा का स्थान सम्प्रदायवाद ने ही अपहृत कर लिया। परिणामस्वरूप राष्ट्रप्रजा का अभ्युदय-निःश्रेयस्-साधक सम्पूर्ण आचारधर्म्म तदनुगत समस्त प्राकृतिक सौन्दर्य्य एवं आत्मिक समभाव अभिभूत ही होगया।

२५४–नैष्ठिक के 'सत्तासिद्ध भगवान्', भावुक के 'भाव के भूखे भगवान्', ब्रह्म की सगुणमूर्त्ति ब्रह्मद्रवी माता भागीरथी के स्थान में खटोटी' की गङ्गा का काल्पनिक प्राधान्य, तथैव च इष्टकामधुक् यज्ञकाण्ड, तात्त्विक उपासनाकाण्ड, आदि के स्थान में काल्पनिक 'ज्योति'-उपासनाओं का आविर्भाव—

सत्तासिद्ध ब्रह्म (भगवान्) भी यहाँ केवल भाव (भावि) के ही भूखे प्रमाणित कर दिए गए। 'मन चंगा तो खटोटी में गङ्गा' के कल्पित उद्गारों से ब्रह्म की सगुणमूर्त्ति ब्रह्मद्रवी पावनसलिला माता

मद्य के सम्बन्ध में सर्वथा निर्भ्रान्तरूप से यह कह देने, और मान लेने में यत्किञ्चित् भी संकोच नहीं क्या कि– 'मैं अपने प्राकृत स्वरूप से उस अप्राकृत-प्रज्ञातीत-अनन्तात्म-स्वरूप को यत्किञ्चित भी तो नहीं जानता। सचमुच मैं-विप्रम् नहीं हूँ। अतएव केवल विनय प्रदर्शन के लिए ही मेरा ऐसा कहना नहीं है।'। मैं उसे जानने के लिए ही उन क्रान्तिदर्शी ऋषियों से प्रणतभाव से यह जानने की जिज्ञासामात्र कर रहा हूँ कि, जिसमें व ६ रजोलोक (पाँच प्राकृतिक पथ तथा छटा प्राकृतिकरूप जीवलोक) प्रतिष्ठित है जिस 'अज' (अव्यय) के आधार पर (ऋक् सं० १।१६४। ६ मन्त्र)। इसलिए ऋषिमानव उसे नहीं जानता कि, 'मैं' और 'यह' एक है अपने आत्मभाव से। अनन्तब्रह्म की अनन्त-भावना के बिना इसप्रकार का प्राकृतिक व्यामोहन उच्छिन्न हो ही नहीं सकता। बिना प्राकृतिक—व्यामोहनोच्छेद के अनन्तभावना का उदय ही सम्भव नहीं है। ऋषिमानवश्रेष्ठ की इस अविज्ञेयता में ही अविज्ञेय भी अनन्तब्रह्म की विज्ञेयता के सूत्र सुरक्षित हैं। बुद्धिगम्या अतएव दिग्देशकालानुगामिनी क्रम-सिद्धा-प्राकृत-व्याख्या का विमोहन उपरान्त होते ही बुद्धि की वक्रता समाप्त हो जाती है। वक्रप्रवलागुरु इस कुटिलता के हटते ही बुद्धि कुटिल-सम्वत्सरकालचक्र से बाहिर निकल जाती है। बुद्धि के इसप्रकार सहज-ऋजुभाव में आते ही उस 'ऋतस्यायनपथस' का स्वतः ही आविर्भाव हो जाता है-यत्स्वयं योगसंसिद्ध। यह संसिद्धावस्था ही मानव की 'ऋषि'-अवस्था है। ऐसा मानव ही अप्राकृत-ऋषिमानव कहलाता है। और अवश्य ही अपने लोकस्थापक-प्राकृतिक-पारलौकिक आचार से प्राकृतमानवकोटि में विद्यमान रहता हुआ भी यह मानव अपने लोकातीत-कालक्षेता-अनन्त ब्रह्म-अव्यय के स्वतः प्रकाश से अप्राकृत-अलौकिक-लोकातीत-प्रज्ञातीत-'ऋषिमानव' ही प्रमाणित है।

२५१ तथाविध ऋषिमानव की कालातीत अनन्तब्रह्म के प्रति दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता, एवं 'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिभासि' ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' का रहस्यात्मक-समन्वय—

और ऐसे ऋषिमानव को अवश्य ही उस कालातीत-अनन्त-ब्रह्म का दृष्टान्तात्मक-प्रतीक माना जा सकता है माना गया है। न केवल प्रतीक ही अपितु 'वही' माना जासकता है। सचमुच यों अपनी ऋषिप्रज्ञा (बुद्धिगम्या व्याख्या से असंस्पृष्टा-सहज प्रज्ञा) से प्राप्ता उस अनन्तब्रह्मविभूति से समन्वित ऋषिमानव ही 'ब्रह्मवित्' कहलाया है एवं 'ब्रह्मविदिव सोम्य प्रतिभासि' (छान्दो० उप०) के अनुसार तो आचार्य्य की आज्ञा से केवल गोचारणकर्म्म से उत्पन्न पावन संस्कार से ही सत्यकाम जाबालि में बुद्धि की ऋजुता प्रादुर्भूत हो पड़ती है और इस ऋजुता के कारण उपमाभावापन्न ब्रह्म इस की सम-ऋजु-भावात्मिका बुद्धि में स्वतः ही आविर्भूत हो पड़ता है। और गोभक्त-गोसेवक-एक प्राकृत-सौम्य (बालबुद्धि) सत्यकाम जैसा प्राकृत मानव भी ब्रह्मवित् बन जाता है। 'ब्रह्मविद्-ब्रह्मैव भवति' क्रम से आरम्भ की यह प्रतीकता भी स्वतः ही हट जाती है। लौकिक दृष्टान्तात्मक प्रतीक वहाँ दार्ष्टान्तिक-स्वरूप के अनन्तर हट जाते हैं वैसा प्रतीकभाव यहाँ नहीं है। अपितु यहाँ तो प्रतीकात्मक दृष्टान्त (मानव) ही प्राकृतभाव के आविर्भूत होते ही स्वयं दार्ष्टान्त ही बन जाता है। ऐसा अनुरूप दृष्टान्त तो एकमात्र अप्राकृत-ऋषिमानव ही माना जायगा। और यहीं हमें पुनः एक अव-भेय दृष्टिकोण की ओर अनन्त के जिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित कर लेना पड़ेगा जिसके बिना उक्त प्रसङ्ग केवल

'भावुकता' बन कर ही राग रह जाया करता है। जैसाकि अर्गनिष्ठ्यात्मा‌मूलक कल्पित अद्वानन्दवाद से गत अनेक शताब्दियों से 'अनन्तत्रह्म शब्द' को लक्ष्य बनाती ही भावुकता-मूला भ्रान्ति चली आ रही है।

२५२–सत्यकाम जाबालि के गोचारण दृष्टान्त से उत्पन्न हो पड़ने वाली भ्रान्ति, एवं तदनुग्रह में कर्त्तव्य-कर्म्मनिष्ठा से वञ्चित 'सन्तवाद' का आविर्भाव—

सत्यकाम जाबालि का गौएँ चराने मात्र से ब्रह्मज्ञान होगया और यों गौ-सेवा ही ब्रह्म का प्रतीक बन गई, तो फिर ऐसी स्थिति में व्यर्थ है श्रुति-स्मृति-पुराण-सम्मत आचारधर्म, व्यर्थ है शास्त्रीय-कर्त्तव्य कर्म्म। फिर तो केवल आशीर्वाद से ही नर मुक्त हो जाते हैं। और इसी भ्रान्ति ने ही उस सन्तसम्प्रदायवाद को जन्म दे डाला है, जिसने सम्पूर्ण शास्त्रीय आचारों को उन्मूलित-मर्मरित कर केवल 'गुरुकृपा' की 'जलि वर्षि' पर ही आरूढ़ मानव के प्राकृत जीवन का बलिदान कर डाला है। 'नास्त्यकृत: कृतेन' 'तमक्रतु: पश्यति वीतशोक:' 'त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशु:' इत्यादि दार्शनिक-शब्दों के आचारात्मक समन्वय में असमर्थ दार्शनिकों के कल्पित एकान्तवाद ने ही इनकी ज्ञानमीमांसात्मिका तत्त्वमीमांसा (तत्त्वविभूतिमार्ग) ने ही तो यथाविध सन्तसम्प्रदाय को जन्म दे डाला है।

२५३ आचारनिष्ठा का प्रथम स्खलन दर्शनजगत् में तद्द्वारा आविर्भूत शून्यवादानुगत द्वितीय स्खलन, तद्द्वारा प्रवृत्त सन्तवादानुगत तृतीय स्खलन, एवं सन्तमतात्मिका साम्प्रदायिकता से आचारनिष्ठा की आत्यन्तिक-अन्तर्मुखता—

आचारात्मिका धर्मनिष्ठा सर्वप्रथम विलुप्त हुई है दार्शनिकता में। इस दार्शनिकता से समुत्पन्न शून्यवाद से उत्तरोत्तर-विलुप्त हो जाने वाली मानव प्रजा ने ही आगे चलकर सन्तसम्प्रदाय को जन्म दे डाला अपनी ज्ञानानुगता-भावनाओं के आकर्षण से। जिन परमभावनाओं में केवल 'गुरुकृपा' ही मानव के यच्चयावत् पाप क्षमा कर दिया करती है। बड़े से बड़े गुरुतम अपराध-पापपुञ्ज भी यहाँ के गुरु (पीर-पैग-म्बर-पादरी-नबी-आदि) जैसे अपनी कृपाकोर से क्षणमात्र में समाप्त कर देते हैं। ठीक यही भावना दार्शनिकता के द्वारा उत्तरोत्तर यथाना से एक इन आगता-समागता-परभावनाओं के अभिभवमूलक से आचारनिष्ठ भारतीय प्रजा में भी दृढमूल बन गई और यों शास्त्रीय आचारनिष्ठा का स्थान सम्प्रदायवाद ने ही अपहृत कर लिया। परिणाम-स्वरूप राष्ट्रप्रजा का अभ्युदय–निःश्रेयस्-साधक सम्पूर्ण आचारधर्म्म तदनुगत समस्त प्राकृतिक सौन्दर्य्य एवं आत्मिक सम्भाव अभिभूत ही होगया।

२५४–नैष्ठिक के 'सत्तासिद्ध भगवान्', भावुक के 'भाव के भूखे भगवान्', ब्रह्म की सगुणमूर्त्ति ब्रह्मद्रवी माता भागीरथी के स्थान में 'कठोटी' की गङ्गा का काल्पनिक प्राधान्य, तथैव च इष्टकामधुक् यज्ञकाण्ड, तान्त्रिक उपासनाकाण्ड, आदि के स्थान में काल्पनिक 'ज्योति'-उपासनाओं का आविर्भाव—

सत्तासिद्ध ब्रह्म (भगवान्) भी यहाँ केवल भाव (भक्ति) के ही भूखे प्रमाणित कर दिए गए। 'मन चंगा, तो कठोटी में गङ्गा' के कल्पित उद्गारों से ब्रह्म की सगुणमूर्त्ति ब्रह्मद्रवी पावनसलिला माता

हो जाती थी कि जो विनीत के कथित स्वरूपसे रहित है वह अविनीत है फिर भी जो यहा सूत्रकार ने उसे स्पष्ट शब्दों द्वारा अलग उल्लेख किया है उसका कारण विशेषरीति से विवेचन करना है, ताकि मद-बुद्धि जन भी इस बात को अच्छी तरह समझ सकें। गुरु के समीप वह अविनीत शिष्य इसलिये नहीं रहना चाहता है कि वह विचारता है कि यदि गुरु के पास बैठूगा तो उनका प्रत्येक कार्य मुझे करना पडेगा इसलिये अच्छा है कि मैं उनसे दूर ही बैठू। ऐसा करने वाला शिष्य स्वेच्छाचारी हो जाता है। गुरु के पास बैठने का मुख्य यही उद्देश्य होता है कि शिष्यजन विनय आदि गुणों को प्राप्त करते हुए तप सयम की आराधना सुख से कर सके। मुझ से गुरु कुछ भी कह न सकें, गुरु पर भी मेरा रौब रहे, इस ख्याल से वह अपने पूज्य गुरुजनों में भी दोषों को ढूढने में लगा रहता है। यह काम उसी शिष्य से हो सकता है जो असबुद्ध-अर्थात् हिताहित के विचारों से रहित है। अभिज्ञ शिष्य ऐसा नहीं होता। गाथा में ये सब विशेपण हेतुहेतुमद्भाव वाले हैं, जिनका अभिप्राय इस प्रकार है—वह गुरु की आज्ञा का पालक इसलिये नहीं है कि वह उनके पास नहीं बैठता है—उनके पास नहीं रहता है,

---

કે જે વિનીતના કથિત સ્વરૂપથી રહિત છે, તે અવિનીત છે, તો પણ અહિં સૂત્રકારે એનો સ્પષ્ટ શબ્દો દ્વારા અલગ ઉલ્લેખ કરેલ છે, તેનુ કારણ વિશેષ રીતિથી વિવેચન કરવું એજ છે, કારણ કે મદબુદ્ધિવાળો માણસ પણ આ વાતને સારી રીતે સમજી શકે ગુરુની સમીપ તે અવિનીત શિષ્ય એટલા માટે રહેવા નથી ચાહતો કે તે વિચારે છે કે કદાચ ગુરૂની પાસે બેસું તો તેનુ પ્રત્યેક કાર્ય મારે કરવું પડશે. આ માટે સારૂ એ છે કે હું તેમનાથી દૂર બેસું આવું કરનાર શિષ્ય સ્વેચ્છાચારી બને છે ગુરૂની પાસે બેસવાનો ખાસ ઉદ્દેશ તો એ છે કે શિષ્યજન વિનય આદિ ગુણોને પ્રાપ્ત કરતા કરતા તપ સયમની આરાધના સુખથી કરી શકે ગુરૂ મને કાંઇ પણ કહી ન શકે, ગુરૂ ઉપર મારો દાબ રહે, આ ખ્યાલથી તે પોતાના પૂજ્ય ગુરૂજનોમા પણ દોષોને શોધવા લાગી રહે છે આ કામ તેવા શિષ્ય કરે છે કે જે અસબુદ્ધ અર્થાત્ હિતાહિતના વિચારથી રહિત છે, અભિજ્ઞ શિષ્ય આવા નથી હોતા. ગાથામા આ બધા વિશેષણ હેતુહેતુમદ્ભાવવાળાં છે, જેનો અભિપ્રાય આ પ્રકારે છે તે ગુરૂની આજ્ઞાનો પાલક એ ખાતર નથી કે તે ગુરૂની પાસે બેસતો

भारतराष्ट्रस्य, तज्जनतन्त्रस्य, तत्सत्तातन्त्रस्य च समतन्त्रस्वतन्त्रप्रभु-सत्तासम्पन्नगणतन्त्रीय-प्रजा-तन्त्रात्मकस्य चेत्यालम्यालमेव।

२५७–शब्दात्मक-सम्पूर्ण शब्दशास्त्र के सम्पूर्ण आचारधर्म्मों की फलातीत ब्रह्म के सम्बन्ध में तटस्थता का दिग्दर्शन, एवं वस्तुस्थिति का समन्वय—

यह ठीक है, और बिल्कुल ही ठीक है कि, उस कालातीत अनन्त महात्मा के समतुलन में कालानुबन्धी प्रतीक-धर्म्मात्मक-प्राकृत-आचार-धर्म्म-कर्म्मों की कोई व्यवस्था नहीं है। यह भी ठीक ही है कि, इन आचारधर्म्मों में से कोई भी कालिक-दैशिक-अतएव गुणात्मक प्राकृत धर्म्म उस गुणातीत अनन्तात्मतत्त्व के प्रतीक नहीं बनसकते। यह भी सर्वात्मना सुसङ्गत ही है कि, 'सांस्कृतिक-आयोजन' रूप लोकधर्म्मों का प्रतिपादक पुराणशास्त्र, 'सांस्कृतिक-आचार' रूप वर्णाश्रमधर्म्मों का प्रतिपादक स्मृतिशास्त्र एवं वर्णाश्रमधर्म्ममूला 'संस्कृति' का प्रतिपादक सर्वशास्त्रमूलभूत-स्वतःप्रमाणभूत मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय-वेदशास्त्र आदि शब्दात्मक सम्पूर्ण शास्त्रप्रपञ्च प्राकृतिक-गुणात्मक-भावों के ही प्रतिपादक बनते हुए उस गुणातीत के प्रति कोई भी निमित्तता नहीं रख रहे *। क्योंकि यह गुणातीत गुणात्मक, अतएव शब्दात्मक शब्द की वाच्यार्थता से सर्वथा ही अतीत अतएव अशब्द ही है। अतएव अध्यात्मसंस्था उस के सम्बन्ध में यह आस्था भी अवश्य ही समादरणीया ही है कि, वह किसी भी प्राकृत धर्म्म आचार-आदि से कदापि प्राप्य नहीं है। अतएव च— तत्स्वयं योगसंसिद्धः' के अनुसार वह तो योगजनिता सत्त्विद्यावस्था में अवसर पाकर स्वय ही आविर्भूत-अभिव्यक्त हो पड़ता है। कदापि उस के लिए धर्म्म-कारणात्मक कोई भी प्रयास, कर्म्म, धर्म्म, अपेक्षणीय नहीं है।

२५८–तद्धारणा-के माध्यम से ही दार्शनिक-मस्तिष्क से अनन्तिमध्यात्म-कल्पना की प्रवृत्ति, तदनुग्रहेणैव कर्म्मत्यागात्मक फलपति-त्याग-सन्यास-भावों का काल्पनिक-विजृम्भण—

और सम्भवतः क्यों इसी धारणा के आधार पर तत्त्वमीमांसक अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने, एवं तदनुगामी गतानुगतिक-भावुक-सन्त-सम्प्रदायों ने शास्त्रीय आचारधर्म्मों वर्णाश्रमसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मों, वेदशास्त्र-सिद्ध यज्ञादि कर्म्मों आदि आदि समस्त कर्त्तव्यकर्म्मों-धर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित कर देना ही उचित ! कर्त्तव्य मान लिया होगा !। इसी भावना से संसार इन के लिए असार प्रमाणित हो गया होगा !। अतएव उस 'अफल' के व्यामोहन में इन्होंने 'फल' का परित्याग कर दिया होगा !। इसीलिए ये फल्गु (अकर्म्मण्य) बन गए होंगे !। और इसीलिए इन्होंने सम्पूर्ण प्राकृत-भावों का 'त्याग' कर दिया होगा !।

---

*–त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !—(गीता)।

ब्रह्म के सम्बन्ध में सर्वथा निर्व्याजरूप से यह कह देने, और मान लेने में अणुप्रमित् भी संकोच नहीं किया कि- 'मैं अपने प्राकृत स्वरूप से उस अप्राकृत-कालातीत अनन्तात्म-स्वरूप को यत्किञ्चित् भी तो नहीं जानता। सचमुच मैं-विद्वान् नहीं हूँ। अतएव केवल विनय-प्रदर्शन के लिए ही मेरा ऐसा कहना नहीं है।। मैं उसे जानने के लिए ही उन क्रान्तिदर्शी कवियों से प्रणतभाव में यह जानने की जिज्ञासामात्र कर रहा हूँ कि, जिसमें ये ६ रजोलोक (पाँच प्राकृतिक पर्व तथा छटा प्राकृतिकरूप जीवलोक) प्रतिष्ठित हैं किस 'अज' (अव्यय) के आधार पर (ऋक् सं० १।१६४। ६ मन्त्र)। इसलिए ऋषिमानव उसे नहीं जानता कि, 'वह' और 'यह' एक है अपने आत्मभाव से। अनन्तब्रह्म की अनन्त-भावना के बिना इसप्रकार का प्राकृतिक व्यामोहन उच्छिन्न हो ही नहीं सकता। बिना प्राकृतिक-व्यामोहनो-च्छेद के अनन्तभावना का उदय ही सम्भव नहीं है। ऋषिमानवश्रेष्ठ की इस अविज्ञेयता में ही अभि-प्रेत भी अनन्तब्रह्म की विशेषता के सूत्र सुरक्षित हैं। बुद्धिगम्या अतएव दिग्देशकालानुगामिनी क्रम सिद्धा-प्राकृत-व्याख्या का विमोहन उपशान्त होते ही बुद्धि की वक्रता समाप्त हो जाती है। वक्रभावानुगत इस कुटिलता के हटते ही बुद्धि कुटिल-सम्वत्सरकालचक्र से बाहिर निकल जाती है। बुद्धि के इसप्रकार ऋजु ऋजुभाव में आते ही उस 'ब्रह्मस्थानकपतस' का स्वतः ही आविर्भाव हो जाता है-तत्स्वयं योगसंसिद्ध। यह सिद्धावस्था ही मानव की 'ऋषि'-अवस्था है। ऐसा मानव ही अप्राकृत-ऋषिमानव कहलाया है। और अवश्य ही अपने लोकव्यापक-प्राकृतिक-शास्त्रीय आचार से प्राकृतमानवकोटि में विद्यमान रहता हुआ भी यह मानव अपने लोकातीत-अव्यक्त-अनन्त ब्रह्म-अव्यय के स्वतः प्रकाश से अप्राकृत-अलौकिक-लोका-तीत-कालातीत-'ऋषिमानव' ही प्रमाणित है।

२५१ तथाविध ऋषिमानव की कालातीत अनन्तब्रह्म के प्रति दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता, एवं 'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिभासि' ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' का रहस्यात्मक-समन्वय—

और ऐसे ऋषिमानव को अवश्य ही उस कालातीत-अनन्त-ब्रह्म का दृष्टान्तात्मक-प्रतीक माना जा सकता है माना गया है। न केवल प्रतीक ही अपितु 'वही' माना जासकता है। सचमुच यों अपनी ऋतम्भरा (बुद्धिगम्या व्याख्या से असंस्पृष्टा-सहज प्रज्ञा) से प्राप्त उस अनन्तब्रह्मविभूति से समन्वित ऋषिमानव ही 'ब्रह्मवित्' कहलाया है, एवं 'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिभासि' (छान्दो० उप०) के अनुसार तो आचार्य्य की आज्ञा से केवल गोचारणकर्म्म से उत्पन्न पावन संस्कार से ही सत्यकाम जाबालि में बुद्धि की ऋजुता प्रादुर्भूत हो पड़ती है और इस ऋजुता के कारण सत्यकामादि में इस की क्रम-ऋजु-स्वभाविका बुद्धि में स्वतः ही आविर्भूत हो पड़ता है। और गोपालक-गोसेवक-एक प्राकृत-सौम्य (बालबुद्धि) सत्यकाम जैसा प्राकृत मानव भी ब्रह्मवित् बन जाता है। 'ब्रह्मविद्-ब्रह्मैव भवति' रूप से आरम्भ की यह प्रतीकता भी स्वतः ही हट जाती है। लौकिक दृष्टान्तात्मक प्रतीक जहाँ दार्ष्टान्तिक-तत्त्व के अनन्तर हट जाते हैं वैसा प्रतीकभाव यहाँ नहीं है। अपितु यहाँ तो प्रतीकात्मक दृष्टान्त (मानव) ही प्राकृतभाव के अभिभूत होते ही स्वयं सिद्धान्त ही बन जाता है। ऐसा अनुरूप दृष्टान्त तो एकमात्र अप्राकृत-ऋषिमानव ही माना जायगा। और यहीं हमें पुनः एक अभेद दृष्टिकोण की ओर अनन्त के जिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित कर लेना पड़ेगा जिसके बिना यह प्रश्न केवल

भारतराष्ट्रस्य, तज्जनधन्यस्य तत्सम्पत्तन्यस्य च सर्वतन्त्रस्वतन्त्रप्रभु–सत्तासम्पन्नगणतन्त्रीय–प्रजातन्त्रात्मकस्य चेत्यालम्पालमेव ।

२५७–शब्दात्मक–सम्पूर्ण शब्दशास्त्र के सम्पूर्ण आचारधर्म्मों की कालातीत ब्रह्म के सम्बन्ध में तटस्थता का दिग्दर्शन, एवं वस्तुस्थिति का समन्वय—

यह ठीक है, और बिल्कुल ही ठीक है कि, उस कालातीत अनन्त ब्रह्मात्मा के सन्तुलन में कालानुबन्धी प्रतीक धर्म्मात्मक–प्राकृत–आचार–धर्म्म–कर्म्मों की कोई स्वरूपसत्ता नहीं है । यह भी ठीक ही है कि, इन आचारधर्म्मों में से कोई भी कालिक–दैशिक–अतएव गुणात्मक प्राकृत धर्म्म उस गुणातीत अनन्तात्मब्रह्म के प्रतीक नहीं बन सकते । यह भी सर्वात्मना सुसत्य ही है कि, सांस्कृतिक–आयोजन रूप लोकधर्म्मों का प्रतिपादक पुराणशास्त्र, 'सांस्कृतिक–आचार' रूप वर्णाश्रमधर्म्मों का प्रतिपादक स्मृतिशास्त्र, एवं 'वर्णाश्रमधर्म्ममूला संस्कृति' का प्रतिपादक सदाचारमूल न्य–स्वतःप्रमाणभूत मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय–वेदशास्त्र आदि शब्दात्मक सम्पूर्ण शास्त्रप्रपञ्च प्राकृतिक–गुणात्मक–भावों के ही प्रतिपादक बनते हुए उस गुणातीत के प्रति कोई भी निमित्तता नहीं रख रहे * । क्योंकि वह गुणातीत गुणात्मक, अतएव कालात्मक शब्द की वाच्यार्थता से सर्वथा ही अतीत अतएव असंस्पृष्ट ही है । अतएव अन्ततोगत्वा उस के सम्बन्ध में यह धारणा भी अवश्य ही समादरणीया ही है कि वह किसी भी प्राकृत धर्म्म आचार–आदि से कदापि प्राप्तव्य नहीं है । अतएव च–'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' के अनुसार वह तो योगवनिता सच्चिदावस्था में प्राप्त पाकर स्वयं ही आविर्भूत–अभिव्यक्त हो पड़ता है । यद्यपि उस के लिए कार्य्य–कारणात्मक कोई भी प्रयास, कर्म्म धर्म्म, वाञ्छनीय नहीं है ।

२५८–तद्धारणा–के माध्यम से ही दार्शनिक–मस्तिष्क से जगन्मिथ्यात्व-कल्पना की प्रवृत्ति, तदनुग्रहणेव कर्म्मत्यागात्मक फलपति-त्याग-संन्यास-भावों का काल्पनिक–विजृम्भण—

और सम्भवतः क्यों इसी धारणा के आधार पर तत्त्वमीमांसक अध्यात्मवादी दार्शनिकों नें, एवं तदनुगामी गतानुगतिक-भावुक-सन्त-सम्प्रदायों नें शास्त्रीय आचारधर्म्मों वर्णाश्रमसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मों वेदशास्त्रसिद्ध यज्ञादि कर्म्मों आदि आदि समस्त कर्त्तव्यकर्म्मों-धर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित कर देना ही उचित ! कर्त्तव्य मान लिया होगा ! । इसी भावना से संसार इन के लिए असार प्रमाणित हो गया होगा ! । अतएव उस 'अकृत' के व्यामोहन में इन्होंनें 'कृत' का परित्याग कर दिया होगा ! । इसीलिए ये अक्रतु (अकर्मण्य) बन गए होंगे ! । और इसीलिए इन्होंनें सम्पूर्ण प्राकृत-भावों का 'त्याग' कर दिया होगा ! ।

---

*–त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !—(गीता) ।

माद्यवी तो बन गई इन के लिए कल्पना और मन की श्रद्धा बन गई प्रधान । किंबहुना–आर्त–स्मार्त संस्कार, इक्ष्वाकुमधुक् विज्ञानसिद्ध यज्ञमय शङ्कर–भास्कर–भगवती–अनुकम्पिनी उपासनाएँ, प्रभावानुविधान कर्त्ता भावकर्म्म, आदि आदि सभी शास्त्रीय आचार सन्तसम्प्रदायवाद में आकर सर्वथा शिथिल ही होगए। श्रद्धालुवर्ग भावुक प्रजा ने सम्पूर्ण आचार धर्म्मों–कर्म्मों की उपेक्षा कर आँखें मीच कर, कान बन्द कर, कल्पित मायावरण में ज्योति के दर्शन करने के लिए ही अपने आप को एकमात्र गुरुकृपा पर ही छोड़ दिया।

२५५–आचारस्खलित भारतराष्ट्र का काल्पनिक दार्शनिकता, नास्तिकता (शून्यवाद), सन्तमतवाद, गुरुदम्भपरम्परा, आदि आदि से आत्यन्तिक पतन, एवं इस का प्राकृतिक- चमत्कार–व्यामोहन—

और परिणामतः जो भारतराष्ट्र अपने आचारात्मक–कर्म्मयुगों में सम्पूर्ण विश्व का मूर्द्धन्य बना हुआ था वही अपनी इस आचारशून्या दार्शनिकता से कल्पित जगन्मिथ्यात्ववाद के विमोहन से सर्वोपरि व्यक्ति-व्यामोहन-मूला सन्तसम्प्रदायात्मिका भावुकता से सभी क्षेत्रों में सर्वात्मना दीन–हीन–दरिद्र–शून्यवत् ही प्रमाणित होगया। शास्त्रीय आचारनिष्ठाओं का स्थान ग्रहण कर लिया उन सन्तों–सिद्धों–साधुओं–पहुँचवालों के प्राकृतिक–चमत्कारों ने जिन से भावुक–मानव अवश्य ही तत्क्षण के लिए आत्मविस्मृत हो जाते हैं। किन्तु जो धर्म्मनिष्ठ हैं, शास्त्रीय आचारनिष्ठ हैं वे कभी भावुक–प्राणानुबन्धी इन प्राकृतिक चमत्कारों से यत्किञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं होते।

२५६–आचारधर्म्मात्मिका शास्त्रीय-धर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में भगवान् राम, आचार-धर्म्म का महान् गौरव, एवं तद्विस्मृति से भारतराष्ट्र की श्री-समृद्धि का प्रजातन्त्रीय–गणतन्त्र-काल में सर्वथैव अभिभव—

प्रसिद्ध है कि–महान् शास्त्राचारनिष्ठ मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम ने अपने वनवास में पितृश्राद्ध करते हुए भूगर्भ से निकलने वाले पिता दशरथ के हाथ में पिण्ड समर्पण न कर शास्त्रादेशानुसार जब 'कुश' पर ही पिण्डदान किया तो तत्काल इन की इस शास्त्रनिष्ठा से प्रसन्नमना बनजाने वाले दशरथ के प्रेतात्माने यह नभोवाणी अभिव्यक्त की कि,–'तुमने हमारे हाथ में पिण्डदान न कर शास्त्रविधि के अनुसार कुश पर ही पिण्डदान किया इस शास्त्रनिष्ठा से हम सर्वात्मना तृप्त हो गए हैं। तुम्हारा यह कर्म्म सर्वात्मना सफल हो गया है'। एवमेव सुप्रसिद्ध धर्म्मतत्त्वज्ञ महात्मा भीष्म ने भी अपने पितृ-भीष्मशान्तनु के श्राद्धकाल में इसी शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन किया था। क्यापि वे इस वास्तविक चमत्कार से भी प्रभावित नहीं हुए। और यही आचारधर्म्म का महान् गौरव इस राष्ट्र की राष्ट्रीयता का संरक्षक बनता रहा जिसे विस्मृत कर सचमुच भारतराष्ट्र ने अपना आत्मिक–लौकिक–सभी वैभव विस्मृत ही कर लिया है। और जो कुछ प्राकृतिक-व्यामोहन–क्रम से शेष रह गया था उसे आज के प्रजातन्त्र के द्वारा आविष्कृत दार्शनिकता–धर्म्मनिरपेक्षता–आदि आदि सभी से विलक्षण प्रभावित होने वाले नव–शिष्ट-मानव-नायकादि से उन्मादित सान्वर्तिक-व्यामोहनी ने! तो सर्वथा ही समाप्त कर डाला, इति नु व्याख्यातम् ! व्याख्यातम् ॥ इत्यहो भारतीय विडम्बना

भारतराष्ट्रस्य, तज्जनतन्त्रस्य, तत्सचातन्त्रस्य च सचतन्त्रस्थतन्त्रप्रभु-सत्तासमधगणतन्त्रीय-प्रजा-तन्त्रात्मकस्य चरमात्सप्यात्समेव ।

२५७–शब्दात्मक-सम्पूर्ण शब्दशास्त्र के सम्पूर्ण आचारधर्म्मों की कालातीत ब्रह्म के सम्बन्ध में तटस्थता का दिग्दर्शन, एवं वस्तुस्थिति का समन्वय—

यह ठीक है, और निःसन्देह ठीक है कि, उस कालातीत अनन्त ब्रह्मात्मा के समतुलन में कालानुबन्धी प्रतीक-धर्म्मात्मक-प्राकृत-आचार-धर्म्म-कर्म्मों की कोई स्वरूपसत्ता नहीं है । यह भी ठीक ही है कि, इन आचारधर्म्मों में से अब भी कालिक-दैशिक-अतएव गुणात्मक प्राकृत धर्म्म उस गुणातीत अनन्ताव्ययब्रह्म के प्रतीक नहीं बनसकते । यह भी सर्वात्मना सुसङ्गत ही है कि, सांस्कृतिक-आयोजन' रूप लोकधर्म्मों का प्रतिपादक पुराणशास्त्र 'सांस्कृतिक-आचार' रूप वर्णाश्रमधर्म्मों का प्रतिपादक स्मृतिशास्त्र एवं वर्णाश्रमधर्म्ममूला 'संस्कृति' का प्रतिपादक तत्सारसमूह स्व-स्वत-प्रमाणभूत मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय-वेदशास्त्र आदि शब्दात्मक सम्पूर्ण शास्त्रप्रपञ्च प्राकृतिक-गुणात्मक-भावों के ही प्रतिपादक बनते हुए उस गुणातीत के प्रति थोड़ भी निमित्तता नहीं रख रहे * । क्योंकि यह गुणातीत गुणात्मक, अतएव शब्दात्मक शब्द की वाच्यार्थता से सर्वथा ही अतीत अतएव असंस्पृष्ट ही है । अतएव अन्ततोगत्वा उस के सम्बन्ध में यह धारणा भी अवश्य ही समादरणीया ही है कि यह किसी भी प्राकृत धर्म्म, आचार-आदि से कदापि प्राप्तव्य नहीं है । अतएव च–'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' के अनुसार यह तो योगबनिष्ठा सत्सिद्धावस्था में काल पाकर स्वयं ही आविर्भूत-अभिव्यक्त हो पड़ता है । अतएव उस के लिए धर्म्म-धारणात्मक कोई भी प्रयास, कर्म्म धर्म्म वाञ्छनीय नहीं है ।

२५८–तद्धारणा-के माध्यम से ही दार्शनिक-मस्तिष्क से जगन्मिथ्यात्व-कल्पना की प्रवृत्ति, तदनुग्रहणेव कर्म्मत्यागात्मक कर्म्मपति-त्याग-सन्यास-भावों का काल्प निक-विजृम्भण—

और सम्भवतः क्यों इसी धारणा के आधार पर तत्त्वमीमांसक अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने एवं तदनुगामी गतानुगतिक-भावुक-सन्त-सम्प्रदायों ने शास्त्रीय आचारधर्म्मों वर्णाश्रमसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मों वेदशास्त्र-सिद्ध यज्ञादि कर्म्मों आदि आदि समस्त कर्त्तव्यकर्म्मों-धर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित कर देना ही उचित ? कर्त्तव्य मान लिया होगा ? । इसी भावना से संसार इन के लिए असार प्रमाणित हो गया होगा ? । अतएव उस 'ब्रह्म' के व्यामोहन में इन्होंने 'कर्म्म' का परित्याग कर दिया होगा ? । इसीलिए ये मुमुक्षु (अकर्म्मण्य) बन गए होंगे ? । और इसीलिए इन्होंने सम्पूर्ण प्राकृत-भावों का 'त्याग' कर दिया होगा ? ।

---

*–त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !—(गीता) ।

बाह्मी सी बन गई इन के लिए कल्पना और मन की गद्दी बन गई प्रधान। किम्बहुना–भाव–स्मार्त्त संस्कार, हठक्रमपुरुद् विज्ञानसिद्ध मतमतान्तर शङ्कर–भास्कर–भगवती–अनुगामिनी उपासनाएँ यथाशास्त्रविहित कर्त्ता भाद्रकर्म्म आदि आदि सभी शास्त्रीय आचार सन्तसम्प्रदायवाद में आकर सर्वथा शिथिल हो गए। तदनुयायी भावुक प्रजा ने सम्पूर्ण आचार धर्म्मों–कर्म्मों की उपेक्षा कर आँखें मीच कर, कान बन्द कर, कल्पित वातावरण में ज्योति के दर्शन करने के लिए ही अपने आप को एकमात्र गुरुकृपा पर ही छोड़ दिया।

२५५–आचारस्खलित भारतराष्ट्र का काल्पनिक दार्शनिकता, नास्तिकता (शून्यवाद), सन्तमतवाद, गुरुक्रमपरम्परा, आदि आदि से आत्यन्तिक पतन, एवं इस का प्राकृतिक- चमत्कार-व्यामोहन—

और परिणामतः जो भारतराष्ट्र अपने आचारात्मक–कृतयुगों में सम्पूर्ण विश्व का गुरु बना हुआ था वही अपनी इस आचारशून्या दार्शनिकता से, कल्पित ब्रह्मनिष्ठावाद के विमोहन से सर्वोपरि व्यक्ति-स्वविमोहन-मूला सन्तसम्प्रदायात्मिका भावुकता से सभी क्षेत्रों में सर्वात्मना दीन–हीन–दरिद्र–शून्यवत् ही प्रमाणित होगया। शास्त्रीय आचारनियमों का स्थान ग्रहण कर लिया उन सन्तों–सिद्धों–साधुओं–पहुँचवालों के प्राकृतिक–चमत्कारों ने जिन से भारत–मानव अवश्य ही ज्ञानवश के लिए आत्मविस्मृत हो जाते हैं। किन्तु जो धर्म्मनिष्ठ हैं शास्त्रीय आचारनिष्ठ हैं वे कभी यन्त्र–प्राणानुबन्धी इन प्राकृतिक चमत्कारों से कथञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं होते।

२५६–आचारधर्म्मात्मिका शास्त्रीय-धर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में भगवान् राम, आचार-धर्म्म का महान् गौरव, एवं तद्विस्मृति से भारतराष्ट्र की श्री-समृद्धि का प्रजा-तन्त्रीय–गणतन्त्र-काल में सर्वथैव अभिभव—

प्रसिद्ध है कि–महान् शास्त्राचारनिष्ठ मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम ने अपने वनवास में पितृ-श्राद्ध करते हुए भूगर्भ से निकलने वाले पिता दशरथ के हाथ में पिण्ड समर्पण न कर शास्त्रादेशानुसार जब 'कुश' पर ही पिण्डदान किया तो तत्काल इन की इस शास्त्रनिष्ठा से प्रसन्नमना बनजाने वाले दशरथ के प्रेतात्मा ने यह नभोवाणी अभिव्यक्त की कि,–'तुमने हमारे हाथ में पिण्डदान न कर शास्त्रविधि के अनुसार कुश पर ही पिण्डदान दिया इस शास्त्रनिष्ठा से हम सर्वात्मना तृप्त हो गए हैं। तुम्हारा यह कर्म्म सर्वा-त्मना सफल हो गया है'। एवमेव सुप्रसिद्ध धर्म्मतत्त्वज्ञ महात्मा भीष्म ने भी अपने पितृ श्रीशान्तनु के श्राद्धकाल में इसी शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन किया था। क्योंकि वे इस वास्तविक चमत्कार से भी प्रभावित नहीं हुए। और यही आचारधर्म्म का महान् गौरव इस राष्ट्र की राष्ट्रीयता का संरक्षक बनता रहा जिसे विस्मृत कर स्वयमुत भारतराष्ट्र ने अपना आत्मिक–लौकिक–सभी वैभव विस्मृत ही कर लिया है। और जो कुछ वास्तविक–व्यामोहन–क्रम से शेष रह गया था उसे आज के प्रजातन्त्र के द्वारा आविष्कृत दार्शनिकता–साम्प्रदायिकता–आदि आदि सभी से विलक्षण प्रमाणित होने वाले नव–विट-भावुक-गणिकादि से समाकुलित वास्तविक-व्यामो-हनों ने ! तो सर्वथा ही समाप्त कर डाला इति नु आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् !! इत्यहो महतीयं विडम्बना

भक्ति, कर्म्म, नामक तीनों कल्पित योगों से सर्वथा पृथक् ऐसा गुप्ततम योग ही है, जिस का अन्य विस्तार अन्यत्र वेदित है ●।

२६१–धारणा–ध्यान–समाधि–लक्षण,–भावुकता–सरक्षकमात्र अभिनवयोग से असंस्पृष्ट बुद्धियोगात्मक गीता का योग, एवं स्वधर्म्मनिष्ठात्मक–आचारयोग की योगात्मकता, और–'योगी भवार्जुन !' का समन्वय—

नापि इस कर्मगलात्मक योग से वह धारणा–ध्यान–समाधि–लक्षण–दार्शनिक योग (पातञ्जलदर्शन–सम्मत सिद्धि–चमत्कार–व्यामोहना मक–चान्द्री प्रकृति से समन्वित प्राकृतयोग) ही अभिप्रेत है जिसका 'पतन योगप्रत्युक्तः' (व द २।१।३) इत्यादि रूप से स्वयं दार्शनिकसूत्र ने ही निराकरण कर दिया है। अपितु यह तो शास्त्रीय आचारात्मक वर्णाश्रमानुबद्ध–लोकसंग्रहात्मक–वह योग है, जिसके साथ मानव की व्यक्तिगत एषणा का यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो सुप्रसिद्ध आचारात्मक धर्म्मरूप वह स्वकर्म्मात्मक वह योग है जिसे 'स्वधर्म्म' कहा गया है, जो 'यथार्थकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है एवं जो सर्वथा अबन्धन ही माना गया है+। यह तो वैसा योग है जिस स्वधर्म्मरूप आचारयोग का अनुगमन कर अर्जुन 'योगी' बन गया था–'तस्माद्योगी भवार्जुन !' क्योंकि अर्जुन धारणा–ध्यान–समाधिरूप अव्यक्तप्रधान कायक्लेशात्मक योग की साधना में प्रवृत्त नहीं होगया था भगवान् के–'योगी भवार्जुन !' इस आदेश के माध्यम से। अपितु अपनी प्राणात्मिका–जीवभावना का परित्याग कर गुणातीता अव्ययभावना से गुणातीत बनते हुए इसने बुद्धियोगात्मक स्वधर्म्मात्मक योग का अनुगमन कर दुर्बुद्धि दुर्नैष्टिक दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों को निस्तेज ही बनाया था।

२६२–ज्ञानविज्ञानसिद्ध–आधिदैविक सृष्टिसर्गबोध से अपरिचित रह जाने के दुष्परिणाम, एवं सर्गस्वरूपवञ्चिता–काल्पनिक आध्यात्मिकता के व्यामोहन से व्यामुग्ध, विविध मतवादासक्त–दिग्देशकालभ्रान्त राष्ट्रीय–जनमानस—

वस्तुस्थिति वस्तुतः में उस आधिदैविक सर्ग से सम्बन्ध रख रही है जिसका न तो दार्शनिक ने ही स्पर्श किया एवं न अन्–गतानुगतिक साम्प्रदायिक सन्तों ने ही। केवल अधिभूत और केवल अध्यात्म इन दो के वाग्विजृम्भण में ही इनके सम्पूर्ण प्रयास समाप्त होगए। पार्थिव–साम्वत्सरिक–भूत–भौतिक प्रभावों की नामावली से उत्पीड़ित दार्शनिकों ने अपने शरीर के साथ ही इन नामों का सम्बन्ध जोड़ कर अपना कर्तव्य समाप्त कर लिया। एवमेव आधिदैविक सर्ग के जो नाम इनके सम्मुख आए, उनका भी इन्होंने अपने इस कल्पित अध्यात्म के साथ ही समन्वय जोड़ जाड़ कर आधिदैविक सर्गानुगत आधिभौतिक आचारों की उपेक्षा ही कर डाली। 'पिण्ड' ही इनके लिए इनका सम्पूर्ण काल्पनिक 'ब्रह्माण्ड' बन गया। ये स्वयं अपने आपको उसकी महिमा में प्रतिष्ठित नहीं कर सके। अपितु उस सम्पूर्ण को ये अपनी महिमा ! के गर्भ में

●–० पृष्ठात्मक 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में इस अबन्धन–कौशलरूप–योगात्मक कर्म्मलक्षण 'बुद्धियोग' का स्वरूप स्पष्ट किया जाचुका है।

+—यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः। (गीता)।

२५९–कर्म्मत्यागात्मिका–अध्यासमूला–कल्पित–वेदान्तभावुकता के व्यामोहन का समस्त इतिवृत्त, एवं–'मनुष्या एवैके–अतिक्रामन्ति' श्रुति का संस्मरण–

'होगा' ?, यह इसलिए कहना पड़ रहा है कि महाराज त्याग-तपस्या-अपरिग्रह की पोशाक में निमग्न भी न तो आजतक किसी दार्शनिक-शिरोमणि को 'अध्यास' ही छोड़ देखा न किसी सन्त को, तदनुकर्त्ता भावुक वैरागी को अपने मौलिक–स्वरूप से अवस्थित ही देखा सुना । वही शरीर, शरीर के वे ही अशन–पानादि–कर्म्म वही मन वही बुद्धि वही संसार, उसी में परिभ्रमण उसी के प्राकृत पदार्थों से इन सब 'यही–यही' नामक प्राकृत–भावों का स्वरूप–रक्षण आदि से अन्त पर्य्यन्त भी प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से प्राकृत–भावों का समालिङ्गन और साथ ही में इन सब के प्रति–'मिथ्यादृष्टि' 'असारदृष्टि'–'स्वागोद्घोष'–'शरीरस्यापि च ते न सिद्धयेत्–अकर्म्मणः' । यही कर्म्मत्यागात्मक वेदान्त–व्यामोहन का वह समस्त इतिवृत्त है जिसने भावुक मानवों को दिग्भ्रान्त–कालभ्रान्त–प्रमाणित कर रक्खा है । सम्पूर्ण काम होते हैं इन के भी दिग्–देश काल–सीमाओं में ही । किन्तु इन के लिए दिक्–देश–काल–के साथ 'मर्य्यादा' नाम का कोई सम्बन्ध नहीं रहता । यही इन की दिग–देश–कालातीतता है । क्यों ? ठीक है न ? । सचमुच ऐसे दिग्देश–कालातीत नवप्रह्माहात्मक उपदेशक–विवेचकों के अनुग्रह से ही तो आचारनिष्ठापि भारतीया प्रजा अपनी मर्य्यादिता–दिग्देशकालसीमाओं का अतिक्रमण करती हुई 'न पशवः–अतिक्रामन्ति' की भी सीमा का उल्लंघन करने वाले–'मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति' इस श्रौतवचन को अक्षरशः चरितार्थ करती हुई तथाकथिता अमर्य्यादिता नियमितानियमशून्या स्वैराचार की ही अनुगामिनी बन गई है ।

२६०–'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' मूलक 'योग' शब्द के स्वरूप-समन्वय के सम्बन्ध में पारिभाषिक-दिग्दर्शन एवं 'योगः कर्म्मसु कौशलम्' का तात्विक स्वरूप-समन्वय

'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' के 'योग' के अर्थ का भी क्या समन्वय किया है कभी उन आचारशत्रुओंने ? । सम्पूर्ण शास्त्रीय आचारधर्म्म-वर्णधर्म्मों के परित्याग का नाम ही क्या 'योग है ? जिसके संसिद्ध होने पर अनन्तभाव अभिव्यक्त हो जाया करता है । अहमस्यम् ! अहमस्यम् !! 'योगः कर्म्मसु कौशलम्' ही एकमात्र 'योग' की परिभाषा है । अवश्य ही आचारात्मक कर्म्म त्रिगुणात्मक है अतएव प्राकृत बन्धन का प्रवर्त्तक है । किन्तु यही आचारात्मक प्राकृत गुणात्मक-धर्म्म 'कौशल' रूप 'योग' के कारण अपनी गुणात्मकता से पृथक् होता हुआ अकर्म्मात्मक कर्म्म बन कर उस अकर्म्म-प्रकृत-अव्यय-रूप अनन्तात्म्यपुरुष का समाहरक बन जाता है निष्कर्मेण बन जाता है इस तथ्य का समन्वय कर ही नहीं सके वे कर्म्मशून्य भाग्यहीन अग अमिथ्यात्ववादी दार्शनिक । तथा संसार, और उस के कर्म्म को असार समझ बैठने वाले वैराग्यी सन्यासी भी त्यागी भी महाराज एवं तदनुगामी भावुक सम्प्रदायवादी–गण । योगात्मक कर्म्मकौशल से वही प्राकृत-कर्म्म अप्राकृत कर्म्म बन जाता है अबन्धन-निष्काम कर्म्मात्मक ईश्वरप्रमकर्म्मात्मक सहजकर्म्म बन जाता है, जो कि गीतापरिभाषा में 'बुद्धियोग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो कि दार्शनिकों के सुप्रसिद्ध प्राकृत ज्ञान

२६४–शाश्वत मनु, एवं उनका शाश्वत मन्वन्तरकाल, तथा मनुपत्नी 'मनावी' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अवश्य मन्वन्तररूप काल अक्षरमय शाश्वतमनु से अभिन्न है। कौनसा मन्वन्तरकाल ? । क्या यह मन्वन्तरकाल, जिसके अनन्तकाल से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल-पर्य्यन्त पूर्व में आठ विवर्त बतलाए गए हैं ? । निश्चय नहीं करेंगे। किन्तु स्वीकृति में हम उस मन्वन्तरकाल को आप के सम्मुख रक्खेंगे, जो मनु, और सुप्रसिद्ध मन्वन्तर, इन दोनों के मध्य में एक और तीसरा ही रहस्यात्मक वैसा मन्वन्तर प्रतिष्ठित है, जो मनु की महिमा का प्राकृतकालात्मक मन्वन्तर के साथ समन्वित करता है। और वही मध्यस्थ मन्वन्तर है यह सुप्रसिद्ध–'मनावी' तत्त्व जाकि–'मनुपत्नी' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं पुराणशास्त्र में, एवं ब्राह्मणग्रन्थों में भी–'इडा' कहलाई है।

२६५–रुक्माभ–स्वप्नधीगम्य–अणोरणीयान्-मनु, तदभिन्ना श्रद्धात्मिका 'इडा', एवं–'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्' का संस्मरण—

अणोरणीयान् मनु * की महिमा का नाम ही अनन्तकाल से आरम्भ कर सम्वत्सरकाल-पर्य्यन्त व्याप्त प्राकृत विवर्त है। अणोरणीयान् मनु 'प्रशासिता' है। अर्थात् शब्दाभिधा व्याख्या में तो 'अक्षर' (प्रकृति) ही इन का स्वरूप है। अक्षर ही शास्ता, प्रशासिता माना गया है। 'रुक्माभम्' शब्द इन के कर्मसौशला–त्मक 'योग' का परिचायक है। पञ्चपर्वा प्राकृत विश्व का केन्द्र हिरण्मय सूर्य्य ही है जिसे रुक्ममण्डल (सुवर्ण मण्डल) भी कहा गया है। यही सौरकेन्द्रात्मक अक्षर बुद्धियोगात्मक–'योग' की प्रतिष्ठाभूमि है जिसे आधार बना लेने के अनन्तर प्राकृत विश्वभार सर्वात्मना समतुलित होता हुआ निर्भार बन जाता है। केन्द्रानुगत भार भार रहता ही नहीं–नेमधन्ताषयन्ते। केन्द्रविच्युति में ही प्राकृतभार भार बन कर मानव को उत्पीडित किया करता है जिस इस केन्द्रविद्या का ही–'प्रजापतिश्चरति गर्भे०' इत्यादि यजुर्मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। मनुपत्नी मनावी–इडा ही वह श्रद्धा है, जिस से अणोरणीयान् मनु (केन्द्राक्षररूप तत्त्व) प्राकृत विश्वमहिमारूप से अभिव्यक्त हुए हैं। महिमाभाव ही व्याप्त मन्वन्तर है एवं मनु ही केन्द्ररूप है। इस केन्द्रतत्त्व तथा महिमा तत्त्व का संयोजक सूत्रमन्वन्तरात्मक-मनुपत्नीरूप–श्रद्धातत्त्व ही है— श्रद्धा विश्वमिदं जगत्।

२६६–परमपुरुषात्मक मनु, तदभिन्ना अक्षरप्रकृति, एवं मनुके तात्त्विक–स्वरूप के सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

इसप्रकार केन्द्रीय तत्त्व यद्यपि है अक्षर (प्रकृति) ही। किन्तु यह केन्द्र अपने केन्द्ररूप से विशुद्ध केन्द्ररूप से उस अनन्ताव्यय से अपृथक् ही प्रमाणित है। महिमात्मक अनन्तकाल–प्राकृतकाल–का माया–

---

* प्रशासितारं सर्वेषां–अणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः ।
जन्म–वृद्धि–क्षयै–र्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥
—मनु १२।१२२ १२४।

ही विलीन कर बैठे अपने व्यक्तित्व विमोहन के कारण। 'अड़सठ तीरथ घट में विराजे, कर दरसन मन मांही' कहते हुए इन भक्तों ने सम्पूर्ण तीर्थों को अपने मानस संकल्पमात्र में ही निमज्जित कर लिया। अतएव न तो इनके लिए इनके भूतपिण्ड–शरीरपिण्ड (जिसे ये भ्रान्ति से अध्यात्म मान बैठे हैं) के अतिरिक्त प्रतीक प्रतिरूप–प्रतिमान–रूप आधिभौतिक तीर्थों का ही कोई महत्त्व शेष रहा, न इनके मूलभूत आधिदैविक तीर्थों के तत्त्वात्मिक स्वरूपों का ही ये समन्वय कर सके। 'अध्यात्म' नामच्छल से ये अपने नश्वर शरीर का ही उपमर्द न करते रह गए, जहाँ शून्य के अतिरिक्त और क्या मिलना था। तभी तो–'चामड़ा की पूतली भजन करए' जैसे भजन विनिःसृत हो पड़े इन अध्यात्मवादियों के श्रीमुख से। यों अनन्तब्रह्म के ही महिमामय आधिदैविक–प्राकृतसर्ग को विस्मृत कर बैठने के दुष्परिणाम–स्वरूप ही तन्मूलक आधिभूत एवं तन्मूलक अध्यात्म–सभी कुछ विलुप्त हो गया इनके लिए। रह गया 'शरीर' नामक काल्पनिक अध्यात्म। और काल्पनिक संसार के साथ अपने काल्पनिक अध्यात्म का मेल जोड़ बैठाना ही इनका समस्त कर्मकौशल प्रज्ञा कौशल बना रह गया जिस इस कल्पना ने ही तो इन्हें आज उस स्थिति पर ला खड़ा किया है कि, इनके लिए सर्वत्र इन बुद्धिवादगम्य–व्याख्याओं के अतिरिक्त अनुष्ठान का और कोई भी तो क्षेत्र नहीं रह गया है। आचारात्मक सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों से शून्य ये बुद्धिवादी दार्शनिक ये विश्वबन्धुत्ववादी सन्त, और इनका अन्धानुकरण करने वाले ये भावुक मानवमात्र सभी सम्मिलितरूप से आज धर्मात्मक कर्तव्य को, किंवा कर्तव्यात्मक धर्म को राष्ट्रमानव के लिए सर्वथा निरपेक्ष ही तो प्रमाणित करते जारहे हैं जिसके परिणाम किंवा भीषणतम घोरघोरतम भयावह दुष्परिणाम आज राष्ट्र के सम्मुख प्रत्यक्ष प्रमाणित होचुके हैं।

२६३–आधिदैविक–मर्यादानुगत 'सर्ग' की प्राकृतता, एवं 'प्रतिसर्ग' की अप्राकृतता, तदाधारभूत शाश्वतब्रह्म-स्वरूप मनु, तथा प्रलयावस्था में भी मनु की शाश्वतता का समन्वय—

आधिदैविक सर्ग का स्वरूप हमें यह बतलाता है कि इसका सर्गानुरूप महिमारूप जहाँ प्राकृत है, वहाँ प्रतिसर्गात्मक स्वस्वरूप अप्राकृत ही है। महतोमहीयान् स्वरूप ही प्राकृत विश्व है एवं अणोरणीयान् स्वरूप ही अप्राकृत आत्मा है। अप्राकृत आत्मा की महिमा से प्राकृत विश्व बना है। अमरतत्त्व आत्मा का नाम आधिदैविकसर्ग–परिभाषा में है–'मनु'। आधिदैविकसर्ग के स्वरूप–विश्लेषक पुराणशास्त्र से हम सुनते आए हैं कि, जब जब भी प्राकृत प्रलय होता है तो मनु इस प्रलय में बच जाते हैं। प्रकृति अपना स्वरूप संवरण कर लेती है, जैसाकि इसका सहज स्वभाव है। किन्तु मनु-रूप शाश्वत अनन्त ब्रह्म की तो कोई भी क्षति नहीं होती इस प्राकृतप्रलयावस्था में भी *। अणोरणीयान् शाश्वतब्रह्मरूप अनन्त मनु ही वह कालातीत तत्त्व है जिसके एक एक अन्तर–मध्यन्तर–युगमान्तर का नाम एक एक मन्वन्तरकाल है क्योंकि मन्वन्तरकाल इस मनु की ही शाश्वतता की ही अभिव्यक्ति है।

---

*–इन्द्रमेके, परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्। (मनु)

करोति, यदि कमपि दानादिक विषयमवलम्ब्य गुरुर्भव्यानुपदिशति, तदा तत्स-भायामेव गुरोरनभिज्ञता वदन् तं विषयं स्वयमुपदिशन् गुरुमपमानयति । कदाचिद् वदति-'अद्य मम गुरुर्मौनव्रतमनुतिष्ठन्नास्ते' इत्युक्त्वा स्वयमेव व्याख्यानं करोति। एवं क्षुद्रबुद्धिचरितं विलोक्य वृद्धाचार्यः स्वचेतसि चिन्तयति-अयमभीक्ष्णं 'सनिमित्त-मनिमित्तंवा क्रोधकारकः, कलहप्रियः, अभिमानी, अज्ञानी, मर्ममृषावादी च, तदिदं ममैव कर्मणः फलमिति मन्वानो वृद्धाचार्यः सर्वं सहमान आसीत् । कदा-

से विलीन हो गया। गुरुजी वृद्ध थे, इस लिये विहारकाल में चलते समय उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा, परन्तु क्या किया जाय फिर भी शिष्य की प्रेरणा से उन्हें अनिच्छा होने पर भी विहार करना ही पड़ता था। शिष्य का यह हाल था कि वह साधुसामाचारी को भी विपरीत करते हुए नहीं लजाता था। गुरु-महाराज जब कभी किसी दानादिक विषय को लेकर प्रवचन परिषद के भीतर बैठकर करते तब यह उनके प्रवचन को अन्यथारूप में जाहिर करने के लिये, अथवा उस विषय में उनकी अनभिज्ञता प्रकट करने के लिये बीच ही में बोल उठता और कहता कि यह ऐसे नहीं ऐसे है, गुरुजी वृद्ध होने के कारण भूल गये हैं। जब कभी इसे बोलना होता तो लोगोंसे कहने लगता कि आज गुरुजी को मौनव्रत है, वे व्याख्यान नहीं देंगे, मैं ही व्याख्यान दूंगा, इस प्रकार कह कर व्याख्यान देने लग जाता। क्षुद्रबुद्धि का इस प्रकार स्वच्छदाचरण देख कर गुरु-महाराज स्वयं इसमें अपने कर्मोका फल

બની ગયું ગુરૂ વૃદ્ધ હતા એથી વિહારમા ચાલતી વખતે તેમને ઘણું કષ્ટ થવા લાગ્યુ પરંતુ શું થઈ શકે ? શિષ્યની પ્રેરણાથી તેમણે ઇચ્છા ન હોવા છતાં પણ વિહાર કરવો પડતો. શિષ્ય સાધુસામાચારીથી વિપરીત ચાલવામાં પણ લજાતો નહતો. ગુરૂ મહારાજ જ્યારે કોઈ દાનાદિક વિષયને લઈને તેના ઉપર પ્રવચન પરિષદમા કરતા ત્યારે તે શિષ્ય તેમના પ્રવચનને અન્યથારૂપમા જાહેર કરવા માટે અથવા એ વિષયમા તેમની અનભિજ્ઞતા બતાવવા માટે વચમા જ બોલી ઉઠતો અને કહેતો કે આ આમ નથી પણ આમ છે, ગુરૂજી વૃદ્ધ હોવાથી ભૂલી ગયા છે જ્યારે તેને બોલવાનુ મન થતુ ત્યારે તે લોકોને કહેતો કે આજે ગુરૂજીને મૌનવ્રત છે તે વ્યાખ્યાન આપશે નહીં, હું જ ભાષણ કરીશ. આ રીતે કહીને ભાષણ કરવા લાગતો. ક્ષુદ્રબુદ્ધિનુ આવું સ્વચ્છદ આચરણ જોઈને ગુરૂ મહારાજ પોતાના કર્મોનુ ફળ

पृथावसान के साथ अवसान माना जासकता है। किन्तु केन्द्राश्रिता मनुरूपा हृदयाक्षरस्वरूपिणी मूलप्रकृति का बीजात्मक (बलात्मक) स्वरूप तो पुरुषाव्ययवत् अनुरूपा ही है शाश्वत ही है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'। अतएव मनुरूपा हृदयाक्षरप्रकृति को तो उस परपुरुष से अभिन्न ही मान लिया गया है। अतएव प्रजाश्रिता अक्षररूप भी मनु के लिए याज्ञवल्क्यने–'तं विद्यात् पुरुषं परम्' रूपेण 'परपुरुष' (अव्यय-पुरुष) नाम अन्वर्थ मान लिया है। केन्द्राश्रिता मूलप्रकृति 'पर' (अव्यय) है इसी का महिमात्मक-मूलप्रकृतिभाव 'परम' (अक्षर) है। अव्ययात्मक केन्द्रीय अक्षर ही मनु है एवं अक्षरात्मक-महिमामय कालरूप मनु ही मन्वन्तर है। मनु अव्यय है, मन्वन्तर अक्षर है। अव्यय पुरुष है अक्षर प्रकृति है। और इस दृष्टि से केन्द्राक्षररूप मनु उस कालातीत अव्यय से अभिन्न बनते हुए 'तं विद्यात् पुरुषं परम्' को भी चरितार्थ कर रहे हैं। ये ही मनु कालात्मक–महत्त्वात्मक बन कर इन्द्र–प्राण–कालाग्नि–प्रजापति–आदि प्राकृत नामों से प्रसिद्ध होते हुए प्राकृतकर्मों के सर्वस्व हैं ये ही प्राकृत मनु पूर्वोपवर्णित प्राकृतमानव की मूलप्रतिष्ठा बने हुए हैं। एवं ये ही मनु अपने अप्राकृत–अव्यय–रूप शाश्वतब्रह्मभाव से 'अप्राकृत–ऋषिमानव' (कालातीत मानव) की प्रतिष्ठा बने हुए हैं। मनु के इस हृदयात्मक कालातीत रूप तथा महिमात्मक कालस्वरूप का समष्टिरूप से ही निरूपण करते हुए याज्ञवल्क्यने कहा है—

कालात्मको मनुः { एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणम् ...... } —प्राकृतमनुः–अक्षरः

कालातीतो मनुः { .... अपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ } —अप्राकृतमनुः–अव्ययः

२६७–कालातीत–अप्राकृत–मनु का विश्वकर्मात्मक–योगात्मक–कौशल, एवं–'कुर्वन्नपि न लिप्यते' का समन्वय—

केन्द्रस्थ–शाश्वतब्रह्मात्मक–अप्राकृत–कालातीत मनु अपने महिमारूप–अनन्तकालात्मक–प्राकृत–प्रसिद्ध विश्वरूप को, एवं विश्वाधारात्मक विश्वकर्म्म को त्रिगुणैश्वर्यकालचक्र से व्यवस्थित करते हुए, स्वप्रतिष्ठारूप से सब के आधार बनते रहते हुए अपने केन्द्रीय समत्व (अव्ययसमत्व) रूप योगात्मक कर्म्म–कौशल से 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। असङ्गो ह्ययं पुरुषः–न सज्जते न व्यथते न रिष्यति। एवमेव इसी रूप मनु–अप्राकृत मनु से समन्वित अप्राकृत ऋषिमानव इसी समत्वयोगात्मक कौशल से व्यवस्थापूर्वक सम्पूर्ण प्राकृत आचारों में उत्तरदायित्वरूपेण यावज्जीवन * कर्म्म करता हुआ भी अपने अप्राकृत मनुरूप से 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'।

२६८–सृष्टि में प्रविष्ट मनुमय की शाश्वत–अभ्युदय निःश्रेयस्–ता का तात्त्विक–समन्वय–

गुणात्मक प्राकृत कर्म्म से जहाँ मानव का प्राकृत मनुस्वरूप अभ्युदय–पथानुगामी बना रहता है तथैव गुणातीत रूप मनु से अनुप्राणित कर्म्मकौशलात्मक–बुद्धियोग से इस का अप्राकृत मनुस्वरूप निःश्रेयस्–

---

* कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥
—ईशोपनिषत्

पथानुगामी बना रहता है । और यों—मानव समन्वयात्मक भूमा अनन्तपरिनिष्ठा से मानव का उत्तम पुरुषार्थ [illegible] हो जाता है । बुद्धियोगात्मक इस मनःसिद्धिमार्ग से ही इस में अनन्तब्रह्म स्वतः ही प्रादुर्भूत हो जाता है । योगनिष्ठा के द्वारा आचारधर्म्मों का अनुगमन ही योगसंसिद्धि है । और 'अत्मार्थं योगसंसिद्ध [illegible] विन्दति' का यही तात्पर्य है ।

२६९-प्राकृतिक-त्रैगुण्य से असंस्पृष्टा प्रकृति की उपास्यता, एवं 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' का समन्वय—

[illegible] है, धर्म का नहीं । भगवान् ने 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' ही कहा है [illegible] शास्त्रसिद्ध आचार-धर्म के लिए नहीं । यदि ऐसा होता, तो सम्पूर्ण-कृष्णानुशासन (गीताशास्त्र) ही [illegible] प्रमाणित हो जाता । 'त्रैगुण्यविषया वेदाः', अर्थात् वैदिक कर्मकाण्ड गुणात्मक है [illegible] के अनुकूल हैं । यदि यही गुणभाव नहीं है, तो यही धर्म बुद्धियोगरूप बन जाता है—[illegible] [illegible] । [illegible] है कि [illegible] से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सांस्कृतिक-आचार-सांस्कृतिक-आयोजन ही है * । [illegible] श्रुति स्मृति पुराण से संसिद्ध संस्कृति सांस्कृतिक-आचार-सांस्कृतिक-आयोजन ही है * । [illegible] आचारात्मक के स्वरूपों की क्या रूपरेखा है ? प्रश्न का उत्तर [illegible] के पूर्वखण्डों में [illegible] है । यही यह सांस्कृतिक प्रतिपादन दृष्टिकोण था ([illegible] ११६ वां पृष्ठ, [illegible]), जिस के सांस्कृतिक [illegible] समन्वय के लिए हमें आचारधर्मात्मक-प्राकृतधर्मनिष्ठा (योगनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा) के [illegible] इस [illegible] का अनुगमन कर लेना था ।

२७०-प्रतीकविधि से असंस्पृष्टा 'प्रतिरूपविधि', तन्माध्यम से अनन्त-मानव की अनन्तब्रह्मानुगता दृष्टान्तलक्षणा प्रतिरूपता का दिग्दर्शन—

[illegible] [illegible] ॥ अप्राकृत अभिमानव ही एक ऐसा तथ्य है, जो उस अनन्तब्रह्म का दृष्टान्तात्मक प्रतीक ही नहीं, अपितु—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' के अनुसार प्रतिरूप बन सकता है, बना ही हुआ है । तात्पर्य यही है कि, स्वयं मानव ही उस अनन्त का साक्षी है । उस के [illegible] मध्य में कोई भी अन्य प्राकृत माध्यम नहीं है जो हमें उस तक पहुंचाए । भारतीय [illegible] में उस के, और हम के मध्य में यदि कोई माध्यम है, तो वह है—एकमात्र 'अप्राकृत अभिमानव', जिस [illegible] से प्रतीक मान-कर प्राकृत मानव अपना आत्मतुष्ट्य-निःश्रेयस् प्राप्त कर सकता है अवश्य ही [illegible] है । और यही पुनः [illegible] का ध्यान एक अन्य सांस्कृतिक दृष्टिकोण की ओर आकर्षित कर ही देता है जिस के बिना यह प्रतीकरूप आत्मतुष्ट्य-निःश्रेयस् के स्थान में 'प्रत्यवाय' का ही कारण बन जाया करती है ।

---

* इन तीन प्रश्नों में से 'सांस्कृतिक-आयोजन' नामक [illegible] का दिग्दर्शन—'भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा' नामक स्वतन्त्र पुस्तकात्मक (अप्रकाशित) स्वतन्त्र निबन्ध में हुआ है ।

प्रत्यवस्थान के साथ अवगत माना जासकता है । किन्तु केन्द्रात्मिका मनुरूपा हृदयाक्षरस्वरूपिणी मूलप्रकृति का बीजात्मक (नखात्मक) स्वरूप तो पुरुषाव्ययवत् अक्षुण्ण ही है शाश्वत ही है–'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' । अतएव मनुरूपा हृदयाक्षरप्रकृति को तो उस परपुरुष से अभिन्न ही मान लिया गया है । अतएव प्रजाश्रिता अक्षररूप भी मनु के लिए राजर्षिने–'तं विद्यात् पुरुषं परम्' रूपेण 'परपुरुष' (अव्यय-पुरुष) नाम अन्वर्थ मान लिया है । केन्द्रात्मिका मूलप्रकृति 'पर' (अव्यय) है इसी का महिमा मण्डलस्थप्रकृतिभाव 'परम' (अक्षर) है । अव्ययात्मक केन्द्रीय अक्षर ही मनु है एवं अक्षरात्मक–महिमामय कालरूप मनु ही मन्वन्तर है । मनु अव्यय है मन्वन्तर अक्षर है । अव्यय पुरुष है अक्षर प्रकृति है । और इस दृष्टि से केन्द्राक्षररूप मनु उस कालातीत अव्यय से अभिन्न बनते हुए 'तं विद्यात् पुरुषं परम्' को भी चरितार्थ कर रहे हैं । वे ही मनु कालात्मक–प्रकृत्यात्मक बन कर इन्द्र–प्राण–अग्नि–प्रजापति–आदि प्राकृत नामों से प्रसिद्ध होते हुए प्राकृतसर्ग के सर्वस्व हैं वे ही प्राकृत मनु पूर्वोपवर्णित 'प्राकृतमानव' की मूलप्रतिष्ठा बने हुए हैं । एवं वे ही मनु अपने अप्राकृत–अव्यय–रूप शाश्वतभाव से 'अप्राकृत-ऋषिमानव' (कालातीत मानव) की प्रतिष्ठा बने हुए हैं । मनु के इस हृदयात्मक कालातीत रूप तथा महिमात्मक कालस्वरूप का समन्वित रूप से ही निरूपण करते हुए राजर्षिने कहा है—

कालात्मको मनुः	एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणम् ---- -- -- ---	—प्राकृतमनुः–अक्षरः
कालातीतो मनुः	-- -- --- अपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥	—अप्राकृतमनुः–अव्ययः

२६७–कालातीत–अप्राकृत–मनु का विश्वकर्मात्मक–योगात्मक–कौशल, एवं–'कुर्वन्नपि न लिप्यते' का समन्वय—

केन्द्ररूप–शाश्वतब्रह्मात्मक–अप्राकृत–कालातीत मनु अपने महिमारूप–अनन्तपर्वात्मक–प्राकृत–कालिक विश्वरूप को, एवं विश्वाचारात्मक विश्वकर्म्म को त्रिगुणात्मकबल से व्यवस्थित करते हुए स्वप्रतिष्ठारूप से सब के आधार बनते रहते हुए अपने केन्द्रीय समत्व (अव्ययसमत्व) रूप योगात्मक कर्म्म–कौशल से 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' । असङ्गो ह्ययं पुरुषः–न सज्जते, न व्यथते न रिष्यति । एवमेव इसी रूप मनु–अप्राकृत मनु से समन्वित अप्राकृत ऋषिमानव इसी समत्वयोगात्मक कौशल से व्यवस्थापूर्वक सम्पूर्ण प्राकृत आचारों में उपपदात्मिकरूपेण यावज्जीवन * कर्म्म करता हुआ भी अपने अप्राकृत मनुरूप से 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' ।

२६८–सृष्टि में प्रविष्ट मनुप्रजा की शाश्वत–अभ्युदय-निःश्रेयस्–ता का तात्त्विक-समन्वय-

गुणात्मक प्राकृत कर्म्म से जहाँ मानव का प्राकृत मनुस्वरूप अभ्युदय–पथानुगामी बना रहता है तथैव गुणातीत रूप मनु से अनुप्राणित कर्म्मकौशलात्मक–बुद्धियोग से इस का अप्राकृत मनुस्वरूप निःश्रेयस्–

* कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥
—ईशोपनिषत्

पथानुगामी बना रहता है। और यों—'तत्तु समन्वयात्' मूला समन्वयनिष्ठा से मानव का उभय पुरुषार्थ सम्पन्न हो जाता है। बुद्धियोगात्मक इस समन्वयभाव से ही इन में अनन्तब्रह्म स्वतः ही प्रादुर्भूत हो जाता है। योगनिष्ठा के द्वारा आचारधर्म्मों का अनुगमन ही योगसंसिद्धि है। और 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' का यही तात्त्विक समन्वय है।

२६९-प्राकृतिक-त्रैगुण्य से असंस्पृष्टा प्रकृति की उपादेयता, एवं 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' का समन्वय—

निगुणभाव का विरोध है, कर्म्म का नहीं। भगवान् ने 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' ही कहा है शास्त्रसिद्ध आचारत्याग के लिए नहीं। यदि ऐसा होता तो सम्पूर्ण-कृष्णानुशासन (गीताशास्त्र) ही स्वयं अप्रमाणित हो जाता। 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' अर्थात् वैदिक कर्म्मकाण्ड गुणात्मक है व्यक्तिगत आसक्तिमना के अनुबन्ध से। यदि यहाँ गुणभाव नहीं है, तो यही कर्म्म बुद्धियोगात्मक अबन्धन है—'न त्याज्यं कर्म्मैव तत्'। अतएव सर्वात्मना सिद्ध है कि आत्मब्रह्माभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली योगसिद्धि श्रुति-स्मृति पुराण से समन्वित संस्कृति-सांस्कृतिक-आचार-सांस्कृतिक-आयोजन ही हैं *। सांस्कृतिक आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्मों की क्या स्वरूप-दिशा है ?, प्रश्न का उत्तर इसी निबन्ध के पूर्वपरिच्छेदों से गतार्थ है। यही वह प्रासङ्गिक प्रतिपाद्य दृष्टिकोण था (देखिए ५२१ वाँ पृष्ठ ४० वाँ परिच्छेद) जिस के प्रासङ्गिक समन्वय के लिए हमें आचारधर्म्मात्मिका-प्राकृतकर्म्मनिष्ठा (योगनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा) के सम्बन्ध में इस पर्य्यायप्रसङ्ग का अनुगमन कर लेना पड़ा।

२७०-प्रतीकविधि से असंस्पृष्टा 'प्रतिरूपविधि', तन्माध्यम से अनन्त-मानव की अनन्तब्रह्मानुगता दृष्टान्तलक्षणा प्रतिरूपता का दिग्दर्शन—

पुनः प्रकृतमनुसराम। अप्राकृत ऋषिमानव ही एक ऐसा तथ्य है जो उस अनन्तब्रह्म का दृष्टान्तात्मक प्रतीक ही नहीं, अपितु—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' के अनुसार प्रतिरूप बन सकता है बना ही हुआ है। तात्पर्य्य यही है कि, स्वयं मानव ही उस अनन्त का साक्षी है। उस के और इसके मध्य में कोई भी ऐसा प्राकृत माध्यम नहीं है जो इसे उस तक पहुँचावे। भारतीय निष्ठादेश में उस के, और इस के मध्य में यदि कोई माध्यम है, तो वह है—एकमात्र 'अप्राकृत ऋषिमानव', जिसे दृष्टान्तरूप से प्रतीक मानकर प्राकृत मानव अपना अभ्युदय-निःश्रेयस् साधन कर सकता है अवश्य ही करणीय है। और यहीं पुनः हमें श्रद्धाप्रेमियों का ध्यान एक अन्य प्रासङ्गिक दृष्टिकोण की ओर आकर्षित कर ही देना है जिस के बिना यह प्रतीकभाव अभ्युदय-निःश्रेयस् के स्थान में प्रत्यवाय का ही कारण बन जाया करती है।

---

* इन तीन प्रश्नों में से 'सांस्कृतिक-आयोजन' नामक तीसरे प्रश्न का दिग्दर्शन—'भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा' नामक सहस्र पृष्ठात्मक (अप्रकाशित) स्वतन्त्र निबन्ध में हुआ है।

२७१–अनन्तब्रह्म के प्रतिरूपात्मक–दृष्टान्तात्मक–ऋषिमानव के अन्वेषण–उपलब्धि की दुरधिगम्यता—

'अप्राकृत ऋषिमानव' अवश्य ही उस अनन्तब्रह्म के, और इस सादिसान्त प्राकृत मानव के मध्यम में केवल मध्यस्थ–प्रतीक–है जिस की आत्मस्थानिका प्रतीकता–मध्यस्थता से यह उसे प्राप्त कर लेता है अनायासेनैव वैसेहि कालात्मक सादि–सान्त भी प्राकृत विश्व उस अनाद्यनन्त कालातीत अव्ययब्रह्म की अनन्तता से मध्यस्थ तत्सममनुरूप अप्राकृत मनुतत्त्व के माध्यम–प्रतीक से–समन्वित होता हुआ महिमामय बन रहा है। किन्तु प्रश्न हमारे सम्मुख यह है कि, उस अप्राकृत ऋषिमानव को इस प्राकृत विश्व में हम ढूँढे कहाँ ?, जबकि इस–अप्राकृत मनु की भाँति प्राकृत–भूत–भावों से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ वह अणोरणीयान् ही बना हुआ है हम प्राकृत मानवों की स्थूला–भूतदृष्टि के लिए।

२७२–कालात्मिका प्रकृति का, तदनुबन्धी मन–शरीर–बुद्धि–लक्षण–प्राकृतभावों का अन्वेषण सम्भावित, एवं कालातीत–पुरुषविध–आत्मरूप–ऋषिमानव का अन्वेषण असम्भव तथा प्राकृत मानव के सुख–स्वप्नों का पुनः अन्तर्विलयन—

अन्वेषण प्रकृति का सम्भव है प्राकृत शरीर, मन बुद्धि महान् और अधिक से अधिक अव्यक्त का अन्वेषण सम्भव है। प्रकृति की सीमा ही यदि समाप्त कर डालें तो सर्वान्त में इन पाँचों पर्वों का सम्भव भूत महिमारूप चामत्कारिक चीज ढूँढ लिया जासकता है। यों प्राकृत विश्व में इन प्राकृत मानवों के अतिरिक्त ढूँढने से और किसी अप्राकृत मानव का तो साक्षात्कार सर्वथा असम्भव ही है। जिस प्राकृत मानव को हमने पूर्व में षड्विध प्राकृतिक विवर्तात्मक ही बतलाया है ऋषिमानव तो इन ६ भों से अतीत ही है। भला उसे इस विश्व में कैसे कहाँ प्राप्त किया जासकता है ?। सर्वथा असम्भव। अतएव पुनस्तथैवास्तामित्येवेताल'। बड़े प्रयास से दिग्देशकालसम्पन्नस्थाओं के महान् आटोप से जैसे तैसे तो पहिले अनन्तब्रह्म की प्रतीकता का अन्वेषण किया गया। इसे भी प्राकृत मावानुबन्ध से अन्ततोगत्वा छोड़ देना पड़ा। पुन' प्रयास आरम्भ हुआ। प्राकृत-मानवों के माध्यम से अप्राकृत–ऋषिमानव की खोज आरम्भ हुई। उसका स्वरूप महता समारम्भेण प्रतिपादित हुआ। और इसी आधार पर अब यह आशा हो चली थी कि, अब इस अप्राकृत–ऋषिमानव की प्रतीकता किंवा प्रतिरूपता से तो प्राकृत मानव उस अनन्त को प्राप्त कर ही लेगा तो सहसा इस प्राकृत–अन्वेषण–कर्म मे इस ढूँढा–ढाँढी ने पुन' प्राकृत मानव के सम्पूर्ण सुख–स्वप्न वेतालवृत्ति में ही परिणत कर दिए, अस्यहो प्राकृतिकस्वरूपनिरूपणस्य–महती–अव्यथा महती व्यथा।

२७३–सर्वदिक्तः असहाय–विवश–मानव का अशरण–शरण–धर्म, एवं तत्स्वरूप जिज्ञासा—

अपने आप्तपुरुषों से परम्परया ऐसा सुनते आए हैं कि जब मानव चारों ओर से संकटपरम्पराओं से आवृत होजाता है, तो उस विपन्नदशा में माता–पिता गुरु–भ्राता–भगिनी–मित्र पुत्र–सेवक–आदि आदि सभी विमुख हो जाते हैं। और इस सर्वथा असहायावस्था में एकमात्र 'धर्म्म' ही मानव का विपत्ति से त्राण करता है। 'कोऽयं धर्म्मः ?'। क्या प्राकृत मानवों के द्वारा व्यवस्थापित इन की प्राकृतिक अनुभूतियों का नाम ही धर्म्म है ?।

२७४–प्राकृत मानव की दिग्भ्रमात्मिका भावुकतापूर्ण अनुभूतियाँ, एवं गुरुओं की अनुभूति से भावुक शिष्यों का बुद्धिविमोहन—

यदि ऐसा होता, तब तो चिन्ता ही क्या थी। इस सम्पूर्ण प्राकृतपाश का तो हम आरम्भ में ही यथार्थ स्पष्टीकरण कर बैठे हैं। फिर तो प्राकृत मानवों की अनुभूति का ही क्या, साक्षात् इन्हीं का सर्वथा नगण्य मूल्य नहीं मान लेते हम तो शान्ति के लिए, जबकि अन्यत्र ऐसा ही कुछ माना और मनवाया जा रहा है। प्राकृत मानव वहाँ अपनी अनुभूतियों अपने चमत्कारों से स्वयं ही प्रतीक बन बैठते हैं जिन सहज निर्मित भावुक मानवों के लिए, उनके लिए तो ये प्राकृत-सर्वोत्कृष्ट-गुरुमानव ही पर्याप्त हैं। उन भावुकों के लिए तो अनुभूतिपरायण-चमत्कारसम्पन्न-अनुभव गुरु प्रतीक ही नहीं, अपितु ये गुरुजी ही साक्षात् ब्रह्म हैं *। गुरुजी की अनुभूति-अनुभव-चमत्कारों की भी कहाँ आवश्यकता है इन भावुक भक्तों को। उनका दर्शन-स्पर्श-वन्दन उनका चरण-स्पर्श-आदि आदि इनके स्थूल भूतों का सफल हो पर्याप्त है इन भक्तों के उद्धार के लिए। किसी आचार-धर्म-कर्म-पाठ-स्वाध्याय-परीक्षा-शास्त्र-निष्ठा की कोई आवश्यकता नहीं है। अपितु सदाचार सत्कर्माचरण एवं गुरुजी की सेवा-शुश्रूषा ही इन भावुक भक्तों के न केवल इसी जन्म के अपितु इनके अनेक जन्मों के पापों का सर्वथा विनाश ही तो कर रहा है। भूल, बहुत भूल। गुरुजी का सेवा यहाँ अपरिहार्य है एवं सबको भी। सम्भव हैं इनके एवं सबके। जिन जिन का सेवा का अवसर प्रदान होते हैं ये एक 'गुरुजी महाराज' नहीं–'गुरुमहाराज'। 'गुरुजी' नहीं, अपितु 'गुरुजी'।

२७५–अनुभूतियों के परमाचार्य ? गुरुवरों ? के अखण्ड-ताण्डव, एवं तदाग्रह से सहज मानव की मानवता का अभिभव—

अवश्य सभी पर निर्भीक अनुभव कर ये 'गुरुमहाराज' स्वस्थान में सुनिश्चित सुखासीन-विराजमान रहते हुए ही सर्वत्र अपने भक्तों के लिए सभी सुलभता [द्रव्य-सम्पत्ति परिग्रहतया] की ही सुख-वर्षा कर रहे हैं जिनमें कोई भी अन्तराय नहीं आने पाता। हाँ भक्त अन्यासक्त अभी भले हैं। भूल भी कर सकते हैं इस प्रकार अनावश्यक में। अवश्य वर्ष में भक्तों की योग्यता के अनुपात से ?, एक दो बार स्वस्थान में किसी भी अनुष्ठानपूर्ण निमित्त से सबको का आमन्त्रण कर लेना कदापि विस्मृत नहीं करते गुरुदेव। यदि इस पद्धति में भी शिथिलता प्रतीत होने लगती है तो पादुकाधारक-दुग्धनर-नायक गुरुदेव स्वयं ही सांवत्सरिक ही भक्तों के घर पहुँच जाते हैं उद्बोधनप्रधानानुसन्धान के लिए। क्वचित्तीक्षर में सबके भक्त तो कुछ करते हैं जो अब तो आनुषङ्गिक ही मान लिया जाता है। निरवधान कर्मनिष्ठ इन भागवतों की कर्मनिष्ठा पालन-विधि से दृष्ट्या सम्पत्ति प्राकृत मानव तो कदापि ऐसी सुलभ सर्वोत्तम के पात्र नहीं ही बन सकते। इसीलिए तो यथाप्राकृत-प्रतीक-अन्यतम बना था हमारे लिए, जो मानवरूप में तो हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ। अतएव 'यथाप्राकृत-ऋषिमानव' तो क्रमशः हमारे मानव जगत् की

---

* गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
—शाक्तभावुकानुभूतिः

२७१–अनन्तब्रह्म के प्रतिरूपात्मक–दृष्टान्तात्मक–ऋषिमानव के अन्वेषण–उपलब्धि की दुरधिगम्यता—

५। 'अप्राकृत ऋषिमानव' अवश्य ही उस अनन्तब्रह्म के, और इस सादिसान्त प्राकृत मानव के मध्यम में वैसा मध्यस्थ–प्रतीक–है जिस की दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता–मध्यस्थता से यह उसे प्राप्त कर लेता है अनायासेनैव वैसेकि कालात्मक सादि–सान्त भी प्राकृत विश्व उस अनाद्यनन्त कालातीत अव्ययब्रह्म की अनन्तता से मध्यस्थ हृदयमनुरूप अप्राकृत मनुतत्त्व के माध्यम–प्रतीक से–समन्वित होता हुआ महिमामय बन रहा है। किन्तु प्रश्न हमारे सम्मुख यह है कि उस अप्राकृत ऋषिमानव को इस प्राकृत विश्व में हम ढूँढें कहाँ ?, जबकि इस–अप्राकृत मनु की भाँति प्राकृत–भूत–भावों से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ यह अणोरणीयान् ही बना हुआ है हम प्राकृत मानवों की स्थूला–भूदृष्टि के लिए।

२७२–कालात्मिका प्रकृति का, तदनुबन्धी मनः–शरीर–बुद्धि–लक्षण–प्राकृतभावों का अन्वेषण सम्भावित एवं कालातीत–पुरुषविध–आत्मरूप–ऋषिमानव का अन्वेषण असम्भव, तथा प्राकृत मानव के सुख–स्वप्नों का पुनः अन्तर्विलयन—

अन्वेषण प्रकृति का सम्भव है प्राकृत शरीर, मन बुद्धि महान् और अधिक से अधिक अव्यक्त का अन्वेषण सम्भव है। प्रकृति की सीमा ही यदि समाप्त कर डालें तो सर्वान्त में इन पाँचों पर्वों का अव्यय भूत महिमामय चामत्कारिक बीज ढूँढ लिया जासकता है। यों प्राकृत विश्व में इन प्राकृत मानवों के अतिरिक्त ढूँढने से और किसी अप्राकृत मानव का तो साक्षात्कार सर्वथा असम्भव ही है। जिस प्राकृत मानव को हमने पूर्व में पञ्चविध प्राकृतिक विवर्त्तात्मक ही बतलाया है ऋषिमानव तो इन ५ भों से अतीत ही है। भला उसे इस विश्व में कैसे कहाँ प्राप्त किया जासकता है ?। सर्वथा असम्भव। अतएव पुनस्तत्रैवास्तमितो वेतालः। बड़े प्रयास से दिग्देशकालव्यवस्थाओं के महान् आक्षेप से जैसे तैसे तो पहिले अनन्तब्रह्म की प्रतीकता का अन्वेषण किया गया। इसे भी प्राकृत भावानुबन्ध से अन्ततोगत्वा छोड़ देना पड़ा। पुनः प्रयास आरम्भ हुआ। प्राकृत–मानवों के माध्यम से अप्राकृत–ऋषिमानव की खोज आरम्भ हुई। उसका स्वरूप महता समारम्भेण प्रतिपादित हुआ। और इसी आधार पर जब यह आशा हो चली थी कि, अब इस अप्राकृत–ऋषिमानव की प्रतीकता किंवा प्रतिरूपता से तो प्राकृत मानव उस अनन्त को प्राप्त कर ही लेगा तो सहसा इस प्राकृत–अन्वेषण–कर्म्म ने इस ढूँढा–ढाँढी में पुनः प्राकृत मानव के सम्पूर्ण सुख–स्वप्न वेतालवृत्ति में ही परिणत कर दिए, इत्यहो प्राकृतिकतत्त्वचिन्तनस्य–महती–अक्षमता महती परवशता।

२७३–सर्वदिक्तः असहाय–विवश–मानव का अशरण–शरण–धर्म्म, एवं तत्स्वरूप जिज्ञासा—

अपने आप्तपुरुषों से परम्परया ऐसा सुनते आए हैं कि, जब मानव चारों ओर से संकटपरम्पराओं से आवृत होजाता है तो उस विषमदशा में माता–पिता–गुरु–भ्राता–भगिनी–मित्र–पुत्र–सेवक–आदि आदि सभी विमुख हो जाते हैं। और इस सर्वथा असहायावस्था में एकमात्र 'धर्म्म' ही मानव का विपत्ति से त्राण करता है। 'कोऽयं धर्म्मः ?'। क्या प्राकृत मानवों के द्वारा व्यवस्थापित, इन की प्राकृतिक अनुभूतियों का नाम ही धर्म्म है ?।

२७४–प्राकृत मानव की दिग्देशकालात्मिका भावुकतापूर्णा अनुभूतियाँ, एवं गुरुओं की अनुभूति से भावुक शिष्यों का बुद्धिविमोहन—

यदि ऐसा होता, तब तो चिन्ता ही क्या थी। इस सम्पूर्ण 'प्राकृतवाद' का तो हम आरम्भ में ही श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर बैठे हैं। फिर तो प्राकृत मानवों की अनुभूति को ही क्यों साक्षात् इन्हीं को प्रतीकात्मक माध्यम नहीं मान लेते इन तत्त्वप्राप्ति के लिए, जैसेकि अन्यत्र ऐसा ही कुछ माना, और मनवाया जा रहा है। प्राकृत मानव वहाँ अपनी अनुभूतियों, अपने चमत्कारों से स्वयं ही प्रतीक बन बैठते हैं जिन महत्त्वाभिनिविष्ट भावुक मानवों के लिए, उनके लिए तो ये प्राकृत–प्रतीक–गुरुमानव ही पर्य्याप्त हैं। उन भावुकों के लिए तो अनुभूतिपरायण–चमत्कारपरायण–मध्यस्थ गुरु प्रतीक ही नहीं, अपितु ये गुरुजी ही साक्षात् ब्रह्म हैं *। गुरुजी की अनुभूति–अनुभव–चमत्कारों की भी कहाँ आवश्यकता है इन भावुक भक्तों को। उनका उच्छिष्ट भोजन, उनका चरण–मर्दन आदि आदि उनके स्थूल भूतों का सेवन ही पर्य्याप्त है इन भक्तों के उद्धार के लिए। किसी आचार–धर्म्म–कर्म्म–लोक समाज–परिवार–राष्ट्र-निष्ठा की कोई आवश्यकता नहीं है। अपितु महाराज सर्वतोभावेन ऐसे गुरुजी की सेवा–शुश्रूषा ही इन भावुक भक्तों के न केवल इसी जन्म के, अपितु इनके अनेक जन्मों के पापों का सर्वथा विनाश ही तो कर देती है। भूले, बहुत भूले। गुरुजी की सेवा यहाँ अभीप्सित है ऐसे सेवकों की। असंख्य हैं इनके ऐसे सेवक। जिन जिन को सेवा का अवसर प्रदान करें ये एक 'गुरुजी महाराज' नहीं–'गुरुमहाराज'। 'गुरुजी' नहीं, अपितु 'गरूजी'।

२७५–अनुभूतियों के परमाचार्य्य ? गुरुवरों ? के अखण्ड–ताण्डव, एवं तन्निग्रह से सहज मानव की मानवता का अभिभव—

अतएव चेलों पर निःसीम अनुग्रह कर ये 'गुरुमहाराज' स्वस्थान में मूर्च्छित् सुशोभित–विराजमान रहते हुए ही तत्स्थानान्तवर्त्ती अपने चेलों के लिए वैसी भूतसेवा [द्रव्य–वस्त्रादि परिग्रहसेवा] की ही सुव्यवस्था कर देते हैं जिसमें कदापि कोई अन्तराय नहीं आने पाता। हाँ चेले अन्ततोगत्वा अभी चेले हैं। भूल भी कर सकते हैं इस परोक्ष सेवाकर्म्म में। अतएव वर्ष में चेलों की योग्यता के अनुपात से !, एक दो बार स्वस्थान में किसी भी अनुभवपूर्ण निमित्त से सेवकों का आमन्त्रण कर लेना कदापि विस्मृत नहीं करते गुरुदेव। यदि इस पद्धति में भी शिथिलता प्रतीत होने लगती है तो करुणावरुणालय–दुःख भय–भञ्जक गुरुदेव स्वयं ही पाँवपियादे ही भक्तों के घर पहुँच जाते हैं उद्बोधनप्रदानानुग्रहमात्र के लिए। तत्प्रतीकार में सेवक भक्त जो कुछ करते हैं वह सब तो आनुषङ्गिक ही मान लिया जाता है। निश्चयेन कर्म्मभूमि इस भारतदेश की कर्म्मगर्भिता पावन मिट्टी से कृतशरीरी अस्मदादि प्राकृत मानव तो कदापि ऐसी सुलभा प्रतीक्षा के पात्र नहीं ही बन सकते। इसीलिए तो अप्राकृत-प्रतीक-अन्वेषण बना था हमारे लिए जो मानवरूप में तो हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ। अतएव 'अप्राकृत-ऋषिमानव' तो केवल हमारे मानस जगत की

---

* गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवमहेश्वरः
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नम ॥
—लोकभावुकतासूक्तिः

ही नष्ट करने लग गए। और इसी सर्वाचारपरोक्ष-स्थिति, किंवा विषमा परिस्थिति में 'धर्म' ने ही हमारा परित्राण किया।

२७६–मानव का अनन्य-सहायक मानवधर्म्म, तत्प्रतिपादिका शास्त्रत्रयी, तन्मूलक ऋषिमानवदृष्ट धर्म्म, तन्निबन्धन भाषात्मक ऋषितत्त्व, एवं तदुपबृंहित आर्ष-धर्म्मात्मक शाश्वतधर्म्म—

किस धर्म्म ने ?, मानवधर्म्म ने। किस मानवधर्म्म ने ? शास्त्रसिद्ध मानवधर्म्म ने ?। स्वरूप क्या है शास्त्र का ? श्रुति-स्मृति, और पुराण। क्यों शास्त्रसिद्ध धर्म्म प्रमाण बन गया ?, ऋषिसिद्ध होने से। के ते ऋषय ?, इस प्रश्न के मर्म्मात्मक भाषात्मक ऋषि। जिन्होंने इन ऋषिप्राणों का साक्षात्कार किया ?, उन अप्राकृत मानवों ने जो बुद्धिगम्या सीमाओं को तोड़ कर अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से उन ऋषिप्राणों का साक्षात्कार कर स्वयं भी उन ऋषिप्राणों के नाम से ही प्रसिद्ध होगए, एवं इसी ऋषिप्राणप्रपन्नत्व से जो शास्त्रद्रष्टा [न तु कर्त्ता] कहलाए, अतएव जो 'अप्राकृत–ऋषिमानव' कहलाए। इन महामहर्षियों की योगसिद्धा आचारधर्म्मप्रक्रिया–योगबुद्धि से इस शास्त्र से अनुप्राणित आचारात्मक धर्म्म ही–'आर्षधर्म्म' कहलाया॰ यही 'ऋषिधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ यही स्मृतिभाषा में 'मानवधर्म्म' कहलाया जिसका मूल श्रुतिशास्त्र में ही सुरक्षित रहा। धर्म्म का धर्म्मत्व प्रतिपादित हुआ ऋषिसिद्ध अपौरुषेय वेदशास्त्र में विविध आचार पक्ष प्रतिपादित हुआ स्मृतिशास्त्र में एवं आलोचनपक्ष प्रतिपादित हुआ पुराणशास्त्र में।

२७७–शब्दशास्त्र की प्रतिरूपता के माध्यम से ही अप्राकृत ऋषिमानव की उपलब्धि—

यों ऋषिसिद्ध शब्दशास्त्र के रूप में ही हमें 'अप्राकृत–ऋषिमानव' उपलब्ध हुए। शब्दशास्त्र को छोड़कर इसके अतिरिक्त प्राकृत मानवों की भांति ऋषिमानव 'ऋषिमानव' रूप से तो प्रत्यक्ष किसी भी प्राकृत मानव को न तो उपलब्ध हुए ही न उपलब्ध होंगे ही। वेदसंहिता के उपक्रम में जो 'ऋषि' नाम हम सुनते आए हैं उनको किसने देखा ?। उस युग के प्राकृत मानवों ने तो देखा ही होगा उन ऋषिमानवों को इसके लिए भी कोई आधार नहीं मिल रहा। क्योंकि हम उन्हीं ऋषि–मानवों के मुख से–'न विजानामि'–को अस्मा वेद न तं विदाथ॰ 'नाहं मन्ये सुवेदेति' इसप्रकार की प्राकृत-भाषा सुनते हैं तो हमें स्तब्ध रह जाना पड़ता है। इनकी इस प्रकृतभाषा के द्वारा उस युग में भी इनके अप्राकृत-ऋषि-स्वरूप को किस प्राकृत मानव ने समझा होगा ? सन्देह ही है 'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' के अनुसार।

२७८–अव्ययपुरुष के पूर्णावतार भगवान् वासुदेव के अप्राकृत–कालातीत–स्वरूप के तद्युग में एकमात्र ज्ञाता सत्यनिष्ठ के अवतार महात्मा भीष्म—

सुनते हैं–अव्ययपुरुष के पूर्णावतार भगवान् कृष्ण को आचारधर्म्मनिष्ठ महात्मा देवव्रत [भीष्म पितामह] के अतिरिक्त और किसी ने भी ठीक ठीक नहीं समझा था। दुर्य्योधन जैसे बुद्धिमान्-राजनीतिकुशल

॰–आर्षं धर्म्मोपदेशञ्च। (गीता)

चापाद्चतुर ने तो भगवान् की भगवत्ता से उन्हें ही अपने आपको अस्पष्ट ही बनाए रक्खा । तभी तो वह इन्हें राजसभा में बन्दी बनाने के लिए आतुर हो पड़ा था । अतएव कहना पड़ेगा कि, लोकसंग्राहक अवतार पुरुषों तथा ऋषिमानवों के प्राकृत-भौतिक स्वरूप के आधार पर, इनकी श्रद्धा-बुद्धिव्यामोहनशून्या-व्यक्तिगत प्रतिष्ठा से धर्मसंस्थापन-अनुयायी के आधार पर तो न पहिले किसी ने इन्हें समझा, न आज ही कोई समझ सकता ।

२७९—भगवान् के महाप्रलयात्मक अनन्त-विराट्स्वरूप के दर्शनमात्र से विकम्पित तत्सखा भावुक अर्जुन—

भगवान् के भी प्राकृत नन्दनन्दनरूप का तो सब ने यशोगान कर लिया इनके प्राकृत बालभाव की बाललीलाओं की तो सबने आराधना करली । किन्तु विराड्भावानुगत—सत्तानुगत—वासुदेवस्वरूप के साक्षात्कार का सौभाग्य तो इन प्रकृतिवादियों को नहीं ही मिल सका * । सुनते हैं-अर्जुन को क्षणमात्र के लिए विराट्स्वरूप के दर्शनों का महद्भाग्य प्राप्त हुआ था । क्या परिणाम हुआ इस स्वरूप-दर्शन का ? । अन्ततोगत्वा अर्जुन को, प्राकृत—भावुक—अर्जुन को यही प्रार्थना कर देनी पड़ी कि, भगवन् ! संवरण कीजिए ! अपने इस विराट्रूप को । और मुझे तो वही मेरा-प्यारा-रूप — — — ।

२८०—गुरुभक्तों-भावुक-भक्तों के द्वारा अन्तर्य्यामी ? के दर्शन ?, तदभिमान से तद्द्वारा शास्त्रीय धर्म्माचारों की आत्यन्तिक-उपेक्षा, एवं तथाविध मलीमस-व्यामोहन के प्रति उद्बोधन-प्रदाता श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप आचारधर्म्मशिक्षात्मक गीताशास्त्र—

भावुक भक्त कहते हैं-गुरुकृपा से जब हमें अपने अन्तर्य्यामी के दर्शन मिल गए, तो अब हम इस धर्म्म-कर्म्म-शास्त्रादि के पचड़े में क्यों पड़ें ? । गुरु का ध्यान और गुरु अपने अनुभव ? द्वारा जिस ज्योतिरीश्वर-अन्तर्य्यामी-पुरुष-आदि का ध्यान बतलावें, तदतिरिक्त अब और कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता हमारे लिए । गुरुभगवान् की और गुरुभगवान् के अनुभव से प्रमाणित ? भगवान् की रट लगाते हुए ही हम तो भवसागर से पार उतर जायँगे अजामील-गीध-व्याध-गणिकावत् । तात्पर्य्य यही कि ईश्वर साक्षात्कार के अनन्तर आचारादि शास्त्रीय-कर्त्तव्य-कर्म्मों की कोई भी अपेक्षा-आवश्यकता शेष ही नहीं रह जाती इन भावुक-भक्तों की दृष्टि में । किन्तु सर्वसिद्ध भगवान् तथा उनके सखारूप के ही उपासक सर्वसिद्ध ही भक्त ये दोनों वर्ग तो भावुक भक्तों की उक्त मान्यता के ठीक विपरीत ही गमन करते हुए प्रतीत हो रहे हैं । जब तक अर्जुन अपनी अनुभूति—अनुभव—प्राकृतबुद्धि' से स्थिति के नीर-क्षीर-विवेक का अनुगामी बनता हुआ अपने अनुभव के आधार पर ही पाप-पुण्य की व्यवस्था में तल्लीन रहा तबतक वह भावुक ही बना रहा । जब अनेक प्रकार की बुद्धिगम्या व्याख्याओं से भी इसकी भावुकता का मूलोच्छेद न हुआ तो अन्ततोगत्वा

* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
—गीता ७।१९।

इति, ततोऽसौ स्वयमश्नाति, गुरुश्च क्षुधार्तः सन् दिवस यापयति। कदाचिद् वदति अद्य मम गुरुणा षष्ठभक्त कृतम्, कदाचिच्च वदति—अद्य मम गुरुणाऽष्टमभक्तमनुष्ठितमिति, एव क्रमेण गुरुः क्षुधया विवर्ण' कृश शक्तिरहित सजात । विहार-काले वृद्धत्वेन शीघ्रगमनसामर्थ्यवर्जितोऽपि गुरुः शिष्यप्रेरणया सक्लेश विहरति । साधुसामाचार्यां क्षुद्रबुद्धिर्विपरीतमाचरति, प्रतिलेखनादिक सम्यग् न

करता था । आहार के समय सरस सुस्वादु एव रुचिकारक आहार यह स्वयं पहिले खाता और जो रूक्ष विरस एव अत प्रान्त आहार होता वह गुरु-महाराज को देता । जब इसे गुरु-महाराज को आहार देनेकी इच्छा नहीं होती तो श्रावक और श्राविकाओं के समक्ष कहने लगता कि आज तो मेरे गुरु–महाराज ने उपवास किया है, इस प्रकार यह गुरु महाराज को भूखा रखकर स्वयं खूब खाने पीनेकी मजामौज उड़ाता रहता। विचारे गुरुजी क्षुधा को शातिभाव से सहन करते हुए शमभाव में समय को व्यतीत करते। कभी २ कहता है कि आज हमारे गुरु महाराज ने षष्ठभक्त किया है, आज अष्ट-भक्त किया है। इस प्रकार गुरु को अत्यन्त कष्ट पहुंचाता। गुरु जी भी सम-ताभाव से क्षुधा की वेदना इसे अविनीत समझ कर सहन करने लगे, परन्तु आखिर औदारिक शरीर ही तो ठहरा वह विना आहार के कहां तक टिके। अन्त में वह शरीर विवर्ण–म्लान, कृश–कमजोर, और शक्ति

સદા દુખીત જ કર્યા કરતો, આહારના સમયે સરસ સ્વાદવાળા એટલે રૂચી કારક આહાર તે પોતે પહેલા ખાઈ લેતો અને જે રૂક્ષ, વિરસ એવા અન્ત પ્રાન્ત આહાર હોય તે ગુરૂ મહારાજને આપતો જ્યારે તેની ગુરૂમહારાજને આહાર દેવાની ઈચ્છા ન થતી ત્યારે શ્રાવક અને શ્રાવિકાઓની સમક્ષ કહેવા લાગતો કે આજ તો મારા ગુરૂમહારાજે ઉપવાસ કરેલ છે આ પ્રકારે તે ગુરૂ મહારાજને ભૂખ્યા રાખીને પોતે ખૂબ ખાવાપીવાની મોજમજાહ ઉડાવતો રહેતો, બીચારા ગુરૂજી ક્ષુધાને શાન્ત ભાવથી સહન કરીને સમભાવમા સમયને વ્યતીત કરતા. કોઈ કોઈ વખત કહેતો કે આજે અમારા ગુરૂ મહારાજે છઠ્ઠ કરેલ છે આજે અઠ્ઠમ કરેલી છે આવી રીતે ગુરૂને અત્યત કષ્ટ પહોચાડતો. ગુરૂ પણ સમતાભાવથી ક્ષુધાની વેદના તેને અવિનીત સમજી સહન કરવા લાગ્યા. પરતુ આખરે ઔદારિક શરીર તો છે જ તે આહાર વિના ક્યા સુધી ટકી શકે ? અતમા તો શરીર વિવર્ણ મ્લાન, કૃશ–કમજોર, અને શક્તિ વગરનુ

हुआ प्राकृत मानव भी कालान्तर में अप्राकृत-ऋषिमानव की कोटि में ही आ खड़ा करता है, जिस इस तथ्य का वैखरी-वाणी से कथमपि कथमपि स्पष्टीकरण सम्भव ही नहीं है। आचारात्मक योग से मानव का ऐन्द्रीय मनुरूप परगुणात्मक अध्ययज्ञान स्वतः ही उद्बुद्ध हो पड़ता है, जिससे कर्म्मजनित त्रिगुणभाव आसक्त होने ही नहीं पाते। अतएव कर्म्म में सर्वथा वर्त्तमान भी यह योगी अध्ययनिष्ठ ही बना रहता है *। यों आचारनिष्ठा से, आचारात्मिका योगनिष्ठा (धर्म्मनिष्ठा विधिनिष्ठा—कर्त्तव्यकर्म्मानुगति) से इसका लोकाभ्युदय भी 'प्रकृतिस्थ' बना रहता है एवं तत्सिद्ध व्यवस्थानुगता अध्ययनिष्ठा से इसका आत्मनिःश्रेयस् भी 'स्वस्थ' प्रमाणित होजाता है। तथा च—

योगसन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥
—गीता ४।४१।

२८३–स्वनिष्ठात्मिका 'धर्म्मनिष्ठा' का संस्मरण, तन्मूलक स्वस्वरूपबोध, एवं अपौरुषेय तत्त्ववेद के आधार पर आचारधर्म्म की व्यवस्थिति—

अलमतिविस्तरेण। उक्त माङ्गलिक अध्येय दृष्टिकोणों के माध्यम से प्रकृत में निवेदन हमें यही करना है कि मानव को स्वयं अपनी निष्ठा से ही अपना लक्ष्य व्यवस्थित कर लेना है। यह 'अपनी निष्ठा' ही इस की वह 'धर्म्मनिष्ठा' है जो शब्दशास्त्र के द्वारा ही व्यवस्थित हुई है। अतएव धर्म्मप्रतिपादक पुराण स्मृतिशास्त्र, तथा धर्म्म के धर्म्मत्व (मौलिक रहस्य–ज्ञानविज्ञानात्मिका आधिदैविक–उपपत्ति) का प्रतिपादक अपौरुषेय-स्वतःप्रमाणभूत वेदशास्त्र × ही इसके अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधक–स्वरूपबोध का एकमात्र प्रतीक है जिस की मध्यस्थता से ही अप्राकृत–ऋषिमानव को हमने पूर्व में प्रतीकात्मक दृष्टान्त बना दिया है। ऋषिमानव 'ऋषि' है, इसलिए वह हमारे लिए प्रमाण नहीं है। अपितु क्योंकि वह अपनी वाणी से ईश्वरप्रसिद्ध–अपौरुषेय–तत्त्वात्मक–वेद के आधार पर ही शब्दात्मक वेदशास्त्र के द्वारा हमारे लिए आचार धर्म्म व्यवस्थित करता है इसलिए ही ऋषिमानव हमारे लिए प्रमाण है।

---

*–सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥
-वर्त्तमानोऽपि, आचारात्मके कर्म्मणि प्रवर्त्तमानोऽपि, मयि अनन्तात्मन्यये।

×–श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ ॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते ।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥
—मनुः २।१ १३ श्लोक

भगवान् को इसे अपने विराट् स्वरूप के (ईश्वरस्वरूप के) ही दर्शन कराने पड़े । इस ईश्वरदर्शन से ही इसकी मोहग्रस्तापूर्ण अनुभूतियाँ कल्पनाएँ ध्वस्त हुईं एवं तदनन्तर ही इस ईश्वरनिष्ठा के माध्यम से ही यह स्वधर्म्मात्मक क्षात्रधर्म्म (युद्धकर्म्म) में प्रवृत्त हुआ । आज की परिभाषानुसार तो अर्जुन को इस ईश्वरसाक्षात्कार के अनन्तर 'करतालें' हाथों में लेकर हरे-राम-हरे-राम राम-राम-हरे-हरे-में ही तल्लीन हो जाना चाहिए था आचारात्मक सम्पूर्ण धर्म्म-कर्म्मों को छोड़छाड़ कर । किन्तु ईश्वरदर्शन के द्वारा इस भक्त को तो कर्त्तव्यनिष्ठा में आस्था ही उपलब्ध हुई जबकि आज के भक्त केवल गुरुदर्शनमात्र से ही शास्त्रीय आचारों से विमुख हो पड़ते हैं । अतएव क्योंकि इस प्राकृत-गुरुभाव को भारतीय प्रज्ञा ने तो मध्यस्थता प्रदान नहीं की थी । इसके लिए तो उसकी भक्ति का एकमात्र मध्यस्थ-माध्यम वह शब्दशास्त्र, एवं शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्म ही है जिसे हम अप्राकृत-ऋषिमानव का ही मूलरूप कहा करते हैं ।

२८१—मानव की प्राकृत-कायिक-शुद्धि के लिए अदृष्ट ऋषिमानव, एवं अदृष्ट गुरुरूप धर्म्म तथा एकमात्र शब्दशास्त्र की ही दृष्ट-भूतानुगता प्रतीकात्मिका प्रामाणिकता—

अदृष्ट है हमारे लिए अप्राकृत-ऋषिमानव तथैव अदृष्ट है हमारे लिए धर्म्म का भी गुरुरूप स्वरूप । अतएव एकमात्र शास्त्र ही हमारे लिए वैसा दृष्ट-भूत-प्रतीक है जिसे मध्यस्थ बना कर ही हम उसे भी प्राप्त कर सकते हैं एवं इस प्राकृत मानव के प्राकृत अभ्युदय का भी रक्षण कर सकते हैं । शास्त्र ही हमारे लिए प्रमाण है । यत्-शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम् । शब्दो हि शब्दप्रमाणकाः एव वयम् । तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ * ।

२८२-शब्दात्मिका श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रत्रयी की अप्राकृत-ऋषिमानव के प्रतिरूपाधिष्ठता, तदनुगता कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका आचारात्मिका योगनिष्ठा, एवं 'योगसंन्यस्तकर्म्माणम्' इत्यादि शास्त्रीय सिद्धान्त का समन्वय—

शब्दात्मक श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र ही अप्राकृत-ऋषिमानव का प्रतिरूप विग्रह है । इसी को प्रतीक बनाकर, इसी से समर्थित आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्म को माध्यम बना कर प्राकृत मानव कौशलपूर्वक (बुद्धिनिष्ठा-पूर्वक) उस योग को समर्थित कर लेता है जो योगसिद्धि ही कालान्तर में इसमें स्वतः ही अनन्तभाव अभिव्यक्त कर देती है । योगात्मक-कर्म्मकौशल से समन्वित यही गुणात्मक आचारधर्म्म प्राकृतधर्म्म-अप्राकृतधर्म्म बनता

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥
—गीता

के लिए। अपितु आचार्य्य का आचरण प्रमाण है अन्तेवासी के लिए । नैय्यक्तिक-अनुभव-अनुभूतिमूलक आचरण नहीं अपितु शास्त्रसिद्ध आचरण। अतएव आचार्य्य का माध्यम भी तत्त्वतः शास्त्रीय-आचारधर्म की ही मध्यस्थता प्रमाणित कर रहा है। वेदरहस्यवक्ता, तदनुगत आचरण में निष्ठ आचारशिक्षक शास्त्रनिष्ठ आचार्य्य ही अन्तेवासी को आचारधर्म्म की व्यावहारिक-पद्धति से अवगत कराता है। भले ही मानव-स्वप्रतिभा से आचारधर्म्म का मौलिक रहस्य समझ जाय भले ही गोचारणादि देवभावों के माध्यम से इस में ऋजुभाव का समावेश हो जाय और भले ही इस ऋजुता से इस में आत्मभाव भी प्रस्फुटित हो जाय। किन्तु तबतक इसका यह बोध अपरिपक्व-अव्यवस्थित ही बना रहता है जबतक कि यह आचारनिष्ठ आचार्य्य का अन्तेवासी नहीं बन जाता। तभी तो गोचारणात्मक दिव्याचरण से ऋजुभाव में परिणत, अतएव आत्मभाव से समन्वित भी सत्यकाम जाबालि आचार्य्यश्रेष्ठ गौतम के-'ब्रह्मविदिव वै सोम्य ! भासि। को नु त्वानुशशास ?' यह जिज्ञासा करने पर यही उत्तर देते हैं कि-'भगवांस्त्वेव मे कामं ब्रूयात्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः-आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' इति (छां० उप० ४ अ० । ६ खण्ड)।

२८७-शास्त्ररहस्यज्ञाता-'आचार्य्य', आचार प्रतिपादक-'शब्दशास्त्र', तद्द्रष्टा 'ऋषि', तत्स्मर्त्ता मुनि', तत्संस्थापक अवतारपुरुष', आदि मानवविभूतियों का अप्राकृत ऋषिमानवकोटि में अन्तर्भाव—

वस्तुतः-वेदशास्त्र का रहस्यज्ञाता आचारनिष्ठ आचार्य्य, तद्द्वारा आदिष्ट आचारात्मक कर्त्तव्य, तत्प्रतिपादक श्रुति-स्मृति-पुराणात्मक शब्दशास्त्र, एवं तद्द्रष्टा ऋषि, स्मर्त्ता मुनि, तथा तत्संस्थापक अवतार पुरुष, इन सब का परम्परया अप्राकृत ऋषिमानव कोटि में ही अन्तर्भाव माना जासकता है। एवं अन्ततोगत्वा इस समन्वय के माध्यम से उस कालातीत अनन्ताम्बयज्ञ का प्रतिरूपात्मक प्रतीकात्मक सिद्धान्तरूप एकान्ततः अवश्य ही उस- अप्राकृत-ऋषिमानव' को ही माना जासकता है जिसके गर्भ में ही आचार्य्य, तत्कर्त्तव्य, शब्दशास्त्र आदि आदि सभी माध्यम प्रतिष्ठित हैं इति नु नमः परम-ऋषिभ्यः ! नमः परम-ऋषिभ्यः !! नमः परम-ऋषिभ्यः-मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः !!! * ।

---

*-(१)-ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन्गिरः ।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः ॥

—ऋक्सं० ९।११४।२।

(२)-यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण ।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके ॥

(३)-नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः ।
मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्रादुर्दैवी वाचम् ॥

—देखिए उप० वि० भा० भूमिका द्वितीयखण्ड

भगवान् को इसे अपने विराट् स्वरूप के (ईश्वरस्वरूप के) ही दर्शन कराने पड़े। इस ईश्वरदर्शन से ही इसकी मायाव्यापूर्णा अनुभूतियाँ, कल्पनाएँ ध्वस्त हुईं एवं तदनन्तर ही, इस ईश्वरनिष्ठा के माध्यम से ही यह स्वधर्मात्मक क्षात्रधर्म (युद्धकर्म) में प्रवृत्त हुआ। आज की परिभाषानुसार तो अर्जुन को इस ईश्वरसाक्षात्कार के अनन्तर 'करताल' हाथों में लेकर हरे-राम-हरे-राम राम-राम-हरे-हरे-में ही तल्लीन हो जाना चाहिए था आचारात्मक सम्पूर्ण धर्म-कर्मों को छोड़छाड़ कर। किन्तु ईश्वरदर्शन के द्वारा इस भक्त को तो कर्मनिष्ठा में आस्था ही उपलब्ध हुई जबकि आज के भक्त केवल गुरुदर्शनमात्र से ही शास्त्रीय आचारों से विमुख हो पड़ते हैं। अतएव कदापि इस प्राकृत-गुरुभाव को भारतीय प्रज्ञा ने तो मध्यस्थता प्रदान नहीं ही की। इसके लिए तो उसकी प्राप्ति का एकमात्र मध्यस्थ-माध्यम वह शब्दशास्त्र एवं शास्त्रसिद्ध आचारधर्म ही है, जिसे हम अप्राकृत-ऋषिमानव का ही मूर्तरूप कहा करते हैं।

२८१—मानव की प्राकृत-कालिक-शुद्धि के लिए अदृष्ट ऋषिमानव, एवं अदृष्ट सूक्ष्म धर्म तथा एकमात्र शब्दशास्त्र की ही दृष्ट-भूतानुगता प्रतीकात्मिका प्रामाणिकता—

अदृष्ट है हमारे लिए अप्राकृत-ऋषिमानव तथैव अदृष्ट है हमारे लिए धर्म का भी सूक्ष्म स्वरूप। अतएव एकमात्र शास्त्र ही हमारे लिए ऐसा दृष्ट-भूत-प्रतीक है जिसे मध्यस्थ बना कर ही हम उसे भी प्राप्त कर सकते हैं एवं इस प्राकृत मानव के प्राकृत अभ्युदय का भी रक्षण कर सकते हैं। शास्त्र ही हमारे लिए प्रमाण है। यत्-शास्त्र आह, तदस्माकं प्रमाणम्। यतो हि शब्दप्रमाणका एव वयम्। तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ *।

२८२—शब्दात्मिका श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रत्रयी की अप्राकृत-ऋषिमानव के प्रति प्रतिरूपशिल्पता, तदनुगता कर्तव्यकर्मात्मिका आचारात्मिका योगनिष्ठा, एवं 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' इत्यादि शास्त्रीय सिद्धान्त का समन्वय—

शब्दात्मक श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र ही अप्राकृत-ऋषिमानव का प्रतिरूप शिल्प है। इसी को प्रतीक बनाकर, इसी से समर्थित आचारात्मक कर्तव्यकर्म को माध्यम बना कर प्राकृत मानव श्रेयतापूर्वक (बुद्धिनिष्ठा-पूर्वक) उस योग को सिद्ध कर लेता है जो योगसिद्धि ही कालान्तर में इसमें स्वतः ही अनन्यभाव अभिव्यक्त कर देती है। योगात्मक-कर्मकौशल से समन्वित यही गुणात्मक आचारधर्म शाश्वतधर्म-अप्राकृतधर्म बनता

---

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
—गीता

के लिए। अपितु आचार्य्य का आचरण प्रमाण है अन्तेवासी के लिए। वैय्यक्तिक-अनुभव-अनुभूतिमूलक आचरण नहीं, अपितु शास्त्रसिद्ध आचरण। अतएव आचार्य्य का माध्यम भी सर्वत: शास्त्रीय-आचारधर्म्म की ही मध्यस्थता प्रमाणित कर रहा है। पदरहस्यवक्ता, तदनुगत आचरण में निष्ठ आचारनिष्ठ शास्त्रनिष्ठ आचार्य्य ही अन्तेवासी को आचारधर्म्म की व्यावहारिक-पद्धति से अवगत कराता है। भले ही मानव-स्वयंविधा से आचारधर्म्म का मौलिक रहस्य समझ जाय भले ही गोचारणादि दमभावों के माध्यम से इस में श्रद्धाभाव का समावेश हो जाय, और भले ही इस श्रद्धा से ज्ञान में आत्मभाव भी प्रतिष्ठित हो जाय। किन्तु उसका इसका यह बोध अपरिपक्व-अव्यवस्थित ही बना रहता है तबतक कि यह आचारनिष्ठ आचार्य्य का अन्तेवासी नहीं बन जाता। तभी तो गोचारणात्मक शिष्याचरण से श्रद्धाभाव में परिणत, अतएव आत्मभाव से समन्वित भी सत्यकाम जाबालि आचार्य्य से "गौतम के-'ब्रह्मविदिव वै सोम्य! भासि। को नु त्वानुशशास?' यह जिज्ञासा करने पर यही उत्तर देते हैं कि-"भगवांस्त्वेव मे कामं ब्रूयात्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः-आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' इति (छां उप ४ प्र । ६ खण्ड)।

२८७-शास्त्ररहस्यवक्ता-'आचार्य्य', आचार प्रतिपादक-'शब्दशास्त्र', तद्द्रष्टा 'ऋषि', 'तत्स्मर्त्ता मुनि', तत्संस्थापक अवतारपुरुष', आदि मानवविभूतियों का अप्राकृत ऋषिमानवकोटि में अन्तर्भाव—

वदिग्य-वेदशास्त्र का रहस्यवक्ता आचारनिष्ठ आचार्य्य तद्द्वारा आदिष्ट आचारात्मक कर्त्तव्य तत्प्रतिपादक श्रुति-स्मृति-पुराणात्मक शब्दशास्त्र एवं तद्द्रष्टा ऋषि, स्मर्त्ता मुनि, तथा तत्संस्थापक अवतार पुरुष इन सब का परम्परया 'अप्राकृत ऋषिमानव' कोटि में ही अन्तर्भाव माना जासकता है। एवं अन्ततोगत्वा इस समन्वय के माध्यम से उस कालातीत अनन्तसाम्ययज्ञ का प्रतिरूपात्मक प्रतीकात्मक सिद्धान्तरूप दृष्टान्त अवश्य ही उस-'अप्राकृत-ऋषिमानव' को ही माना जासकता है जिसके गर्भ में ही आचार्य्य तत्कर्त्तव्य, शब्दशास्त्र आदि आदि सभी माध्यम प्रतिष्ठित हैं, इति नु नम: परम-ऋषिभ्य:! नम: परम-ऋषिभ्य:!! नम: परम-ऋषिभ्य:-मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्य:!!!*।

---

*-(१)-ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमै: कश्यपोद्वर्धयन्गिर: ।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पति: ॥
—ऋक्सं० ९।११४।२।

(२)-यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण ।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके ॥

(३)-नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्य: ।
मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविद: प्राहुर्दैवी वाचम् ॥
—देखिए उप० वि० भा० भूमिका द्वितीयखण्ड

२८४–मानवऋषि की 'अनुभूति' से असंस्पृष्टा, तदुदृष्टिमात्रानुगता शब्दशास्त्रनिष्ठा, एवं 'स्वानुभूति' के सम्बन्ध में ऋषिमानव के आर्ष उद्गार, तथा 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र का संस्मरण—

इसलिए यह हमारे लिए प्रमाण है कि, यह प्रामाणिकता ऋषि की अपनी अनुभूति से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं रख रही। जब ऋषि से उनकी अनुभूति पूँछी जाती है, तो वे तत्काल यही कह देते हैं कि— 'न विजानामि–यदि वेदमस्मि'–'कतीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्'–'नाहं मन्ये सुवेदेति'। अपितु– 'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे' रूप से अपने प्राकृत–व्यक्तित्वविमोहन से असंस्पृष्ट रहते हुए ऋषि परम्परासिद्ध–शास्त्र–अप्राकृत–धर्म्म को ही हमारे सम्मुख रख देते हैं। अतएव उनका वचन हमारे लिए प्रमाण बन जाता है। और भी आर्षवाणीरूप से अप्राकृत ऋषिमानव अवश्य ही स्वस्वरूपबोध के महान् प्रतीक प्रमाणित हो रहे हैं जिस प्रतीकता की अन्तिम पर्य्यवसानभूमि तो–'शब्दशास्त्र' ही माना जाएगा। कदापि 'व्यक्ति' को, किंवा व्यक्ति की 'अनुभूति' को यह कदापि कोई भी प्रतीकता–मध्यस्थता–नहीं दी जासकेगी, नहीं ही दी गई। इसी आधार पर पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने अपने सुप्रसिद्ध सूत्रग्रन्थ में ब्रह्मजिज्ञासा की पूर्त्ति का माध्यम अन्ततोगत्वा एकमात्र 'शास्त्र' को ही माना है, जैसाकि सुप्रसिद्धा सूत्रचतुष्टयी के अन्तिम सूत्र–'शास्त्र–योनित्वात्' सूत्र से प्रमाणित है।

२८५–ऋषिदृष्टि से दृष्ट शास्त्र से अनुप्राणित 'आचरण' के माध्यम की जिज्ञासा, एवं तत्समाधानभूमि शास्त्रीय–आचारनिष्ठ–'आचार्य्य'—

अब इस सम्बन्ध में प्राकृत मानव की केवल एक जिज्ञासा शेष रह जाती है, उसी का समाधान कर यह मीमांसा–प्रकरण उपरत हो रहा है। अप्राकृत, अतएव लोकातीत, लोकदृष्टिपरक्षया आचारकृतधर्म्मा (इस तत्त्व के आधार पर आचरण के अनुगामी) ऋषिमानवों की दृष्टि से दृष्टमात्र (न तु कृत) श्रुति–स्मृति–पुराणोपवर्णित–शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्म (कर्त्तव्यनिष्ठात्मक–प्रकृतिभेदभिन्न–स्वधर्म्म) 'आचरण' से ही सम्बन्ध रखता है। इस 'आचरण' पक्ष का माध्यम कौन ? यही वह अन्तिम प्रश्न है जिसका समाधानकर्त्ता शास्त्रनिष्ठ शास्त्रीय आचारपरायण मानवश्रेष्ठ ही यहाँ–'आचार्य्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो पूर्व्वों/ अपने अन्तर्जगत् में जिज्ञासात्मक कम्परनों का उत्थान करता हुआ शास्त्रानुमोदित परम्परानुमोदित गुरुओं के माध्यम से शास्त्रीय तत्त्वों का श्रवण–मनन–निदिध्यासन करता हुआ आचारात्मक–कर्त्तव्यकर्म्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहता है। ऐसे आचार्य्य को माध्यम बना कर ही अस्मदादि बालप्रज्ञ प्राकृत मानव आचार्य्य के सान्निध्य में–अन्त में–समीप रहते हुए अपने आपको 'अन्तेवासी' बनाते हैं। एवं आचार्य्य के आचरणात्मक धर्म्म के अनुसार आचार्य्य के द्वारा चारित्र्य–प्रदिष्ट–पद्धतियों के अनुसार ही धर्म्माचरण की शिक्षा प्राप्त करने में सक्षम बन सकते हैं।

२८६–'आचार्य्य, और 'अन्तेवासी' शब्दों का स्वरूपेतिवृत्त, एवं–'आचार्य्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' इत्यादि श्रुति का सम्मरण—

यही आचार्य्य और अन्तेवासी–शब्दों का स्वरूपेतिवृत्त है जिसके साथ स्वानुभवानुगत गुरुत्व का एवं तदनुगुणानुकरणशील शिष्यत्व का कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। आचार्य्य प्रमाण नहीं है अन्तेवासी

प्र मन्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः ।
वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी 'प्रतीकं'-मध्येधे अग्निः ॥
—ऋक्संहिता ७।३६।१।

२६१–प्रतीकमापन्न अङ्गाङ्गीभाव, एवं पार्थिव गायत्राग्नि की प्रतीकरूपा 'अङ्गता' का दिग्-दर्शन—

उक्त मन्त्र में अग्नि को पृथिवी का प्रतीक इसलिए बतलाया गया है कि 'यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' इत्यादि श्रुति के अनुसार भूपिण्ड में चित्यरूप से तथा भूमहिमारूपा पृथिवी में चितनिधेयरूप से गायत्र अग्नि प्रतिष्ठित है। एवं इसी गायत्राग्नि के सम्बन्ध से पृथिवी को 'गायत्री' * कह दिया जाता है। जिसप्रकार पृथिवी में आप–फेन–मृत्–सिकतादि आठ महास्थान पर्व, तथा ओषधि–वन–स्पति–पशु–पक्षी–कृमि–कीट–धातु–उपधातु–आदि आदि असंख्य इतर प्रपर्व पर्व अङ्गरूप से प्रतिष्ठित हैं तथैव यह अग्नि भी इसका एक अङ्ग ही बन गया है। अतएव इसे पृथिवी का प्रतीक मान लिया गया है। क्या अप्राकृत मानव इसप्रकार का 'अङ्ग' है उस अनन्तब्रह्म का ?। 'प्रतीकमध्येधे अग्निः' यह श्रुति वाक्य संप्रन्ध ही महत्त्वपूर्ण है। 'प्रतीक' भाव का उदय वस्तुगत्या पार्थिव–अग्नि (भूताग्नि) पर ही हुआ करता है।

२६२–पार्थिवसर्गाधारभूत सौर-पारमेष्ठ्यादि पूर्वसर्गों की अप्रतीकता, एवं भौतिक धरातलगत केवल पार्थिव-जगत् की ही प्रतीकता—

पार्थिव सर्ग से पूर्व पूर्व के जितने भी (सौर–पारमेष्ठ्य–स्वायम्भुव–आदि) प्राकृत सर्ग हैं, उनमें कहीं भी अङ्ग–अङ्गी–भावात्मक–प्रतीकभाव नहीं है। जहाँ कार्य्य–कारण–सम्बन्ध होता है वहीं अङ्गाङ्गीभाव रहा करता है। कार्य्य-कारण-भाव क्षर के धर्म्म हैं उस मूर्त्त-व्यक्त-क्षर के धर्म्म हैं जो पार्थिव-भौतिक-स्थूल जगत् में अभिव्यक्त होता है 'क्षरः सर्वाणि भूतानि'।

२६३–अक्षरात्मक केन्द्रीय मनु से अनुप्राणित सौर मण्डल, एवं तदभिन्न सौर मानव—

सौर मण्डल अपने केन्द्रीय-अक्षरानुबन्धी देवात्मक प्राणभाव से अक्षरप्रधान है। अतएव प्रकृति के अणोरणीयान् मनु से आरम्भ कर सौरमण्डल पर्य्यन्त का समस्त प्राकृतभाव तो अपनी प्राणाक्षरनिबन्धना अमृतता-अव्यक्तता के कारण अङ्गाङ्गीभावों से 'सर्वथा ही असंपृक्त है। तभी तो अप्राकृत मानव का नाम

* –देवासुरा ह वा–असुराश्च–उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। तान्स्पर्द्धमानान् 'गायत्री' अन्तरा तस्थौ। या वै सा 'गायत्री आसीत्' इयं वै सा पृथिवी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ।
—देखिए ! शतपथब्राह्मण १।८।१।३८

२८८–सहज मानवश्रेष्ठ के 'पुरुषार्थ' का स्वरूप-परिचय, एवं तन्माध्यम से ही प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा—

'पूर्ण उत्तरदायित्व की भावना से यावज्जीवन वर्णाश्रमाचारसिद्ध आधिकारिक कर्त्तव्य-कर्म्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहते हुए अपने कलातीत 'मानव' स्वरूप को यथायावत् प्राकृतिक प्रतीक-भावों से सर्वथा असस्पृष्ट बनाए रखना ही सहज-मानवश्रेष्ठ का परम पुरुषार्थ है' । 'अनन्तब्रह्म के उपासक जिस इस 'परमपुरुषार्थ' के समन्वय के लिए ही प्रस्तुत 'दिग्-देश-काल-मीमांसा' नामक स्तम्भ प्रवृत्त हुआ है। इस प्रतीकता के समन्वय के लिए ही कालखण्डों के माध्यम से विभिन्न दृष्टियों से काल-दिक्-देश-विवर्तों की, तथा दिक्-देश-काल-विवर्तों की स्वरूप-परिभाषा अनन्तस्वरूपनिष्ठ सहज मानवश्रेष्ठों की सेवामें प्रणतभाव से उपस्थित कर देने का प्रयास हुआ है।

२८९–प्रतीकविधि के सैद्धान्तिक-पक्ष के सम्बन्ध में पुनः जिज्ञासात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधान का आत्यन्तिक अभाव, तथा–'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेताल'—

अबतक अनेक 'प्रतीक' भावों के माध्यम से हमने प्रतीकातीत जिस अनन्तब्रह्मबोध-सहायक परमपुरुषार्थ के समन्वय की महती-चेष्टा की है उस 'प्रतीकता' समन्वय का अन्ततोगत्वा अप्राकृत ऋषिमानव' पर विश्राम हुआ प्रकृति की भाषा में ही। और यह अप्राकृत-मानव ही सैद्धान्तिक-प्रतीकरूप दृष्टान्त बना प्रस्तुत प्रतीकविधि में। क्या इस प्रतीकविधि को सिद्धान्त मान लिया जाय ?। इस प्रश्न के समाधान के लिए जब हम स्वयं 'प्रतीक' शब्द के वाच्यार्थ को लक्ष्य बनाते हैं तो पुनः हमें आत्यन्तिक रूप से इसलिए निराश ही होजाना पड़ता है कि, अप्राकृत मानव कदापि उसका प्रतीक नहीं बन सकता। जो प्राकृतभाव प्रतीक कहे जाते हैं वे वस्तुगत्या प्रतीक हैं नहीं एवं जिस अप्राकृत मानव को प्रतीक मान लिया जाता है उसके साथ प्रतीकता किसी भी दृष्टि से समन्वित होती नहीं। अतएव अन्ततोगत्वा 'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः' ।

२९०–'प्रतीक' शब्द के वाच्यार्थ का समन्वय, एवं 'प्रतीकमन्वेषे-अग्निः' इत्यादि मन्त्र का संस्मरण—

प्रतीयते इति प्रत्येति वा' ही प्रतीक शब्द का निर्वचनार्थ है, जिसका अर्थ है'अङ्ग' 'भाग 'अवयव' । अङ्गुलि पुरुष का अवयव है अतएव यह प्रतीक है। अवश्य ही अवयवरूपा अतएव प्रतीकरूपा इस अङ्गुलि के ग्रहण से अङ्गीरूप, अवयवीरूप सम्पूर्ण पुरुष (पुरुषशरीर) का सर्वात्मक बोध हो जाता है और अङ्गुलिग्रहीता-'मैंने पुरुष का ग्रहण कर लिया पुरुष को पकड़ लिया' यह अभिमान प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है। पट (वस्त्र) के एक अवयव-कोण के दग्ध हो जाने पर भी- पटो दग्धः (कपड़ा जल गया) यह व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। इसी आधार पर सम्प्रदायसाहित्य में-'समुदाय शब्दाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' यह न्याय व्यवस्थित हुआ है। और अङ्गाङ्गीभाव अवयव-अवयवी-भावानुबन्धी पर्व-अङ्ग-भाग-अंश का ही नाम प्रतीकभाव है जैसाकि निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र से स्पष्ट प्रमाणित है—

प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः ।
वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी 'प्रतीकं'-मध्येधे अग्निः ॥
—ऋक्संहिता ७।३६।१।

२६१–प्रतीकभावापन्न अङ्गाङ्गीभाव, एवं पार्थिव गायत्राग्नि की प्रतीकरूपा 'अङ्गता' का दिग्-दर्शन—

उक्त मन्त्र में अग्नि को पृथिवी का प्रतीक इसलिए बतलाया गया है कि, 'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' इत्यादि श्रुति के अनुसार भूपिण्ड में चित्यरूप से, तथा महिमारूपा पृथिवी में चितनिधेयरूप से गायत्र अग्नि प्रतिष्ठित है। एवं इसी गायत्राग्नि के सम्बन्ध से पृथिवी को 'गायत्री'* कह दिया जाता है। जिसप्रकार पृथिवी में आप–फेन–मृत्–सिकतादि आठ अवान्तर पर्व, तथा ओषधि–वनस्पति–पशु–पक्षी–कृमि–कीट–धातु–उपधातु आदि आदि असंख्य इतर प्रपर्वपर्व अङ्गरूप से प्रतिष्ठित हैं, तथैव यह अग्नि भी इसका एक अङ्ग ही बन रहा है। अतएव इसे पृथिवी का प्रतीक मान लिया गया है। क्या अभिप्राय है उस मन्त्रद्रष्टा का? । प्रतीकमध्येधे अग्नि' यह श्रुति यह अग्नि इसप्रकार का 'अङ्ग' है उस अनन्तप्राय का ?। 'प्रतीकमध्येधे अग्निः' यह श्रुति अभ्याहृत मानव इसप्रकार का 'अङ्ग' है उस अनन्तप्राय का? । 'प्रतीक' भाव का उदय वस्तुगत्या पार्थिव–अग्नि (भवाग्नि) पर ही आ के वास्तव अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। 'प्रतीक' भाव का उदय वस्तुगत्या पार्थिव–अग्नि (भवाग्नि) पर ही आ के होता है।

२६२–पार्थिवसर्गाधारभूत सौर-पारमेष्ठ्यादि पूर्वसर्गों की अप्रतीकता, एवं भौतिक क्षरानुगत केवल पार्थिव-जगत् की ही प्रतीकता—

पार्थिव सर्ग से पूर्व पूर्व के जितने भी (सौर–पारमेष्ठ्य–स्वायम्भुव–आदि) प्राकृत सर्ग हैं उनमें कहीं भी अङ्ग–अङ्गी–भावात्मक–प्रतीकभाव नहीं है। वहाँ कार्य–कारण–सम्बन्ध होता है, वहीं अङ्गाङ्गीभाव रहा करता है। कार्य-कारण-भाव क्षर के धर्म हैं उस मूल-अव्यक्त-क्षर के धर्म हैं जो पार्थिव-भौतिक-स्थूल जगत् में अभिव्यक्त होता है यतः भवाणि भूतानि ।

२६३–अक्षरात्मक केन्द्रीय मनु से अनुप्राणित सौर मण्डल, एवं तदभिन्न सौर मानव—

सौर मण्डल अपने केन्द्रीय-अक्षरानुबन्धी रेखात्मक प्राणभाव से अक्षरप्रधान है। अतएव प्रकृति के अणोरणीयान् मनु से आरम्भ कर सौरमण्डल पर्यन्त का समस्त प्राकृतभाव जो अपनी प्राणाक्षरनिबन्धना अमृतता-अव्यक्तता के कारण अङ्गाङ्गीभावों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है। तभी तो अभ्याहृत मानव का नाम

---

*–उभयेष ह वा–असुराश्च–उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । तान्त्स्पर्धमानान 'गायत्री' अन्तरा तस्थौ । या वै सा गायत्री' आसीत्' इयं वै सा पृथिवी । इयं हैव तदन्तरा तस्थौ ।
—देखिए ! शतपथब्राह्मण १।४।१।३४

२८८–सहज मानवश्रेष्ठ के 'पुरुषार्थ' का स्वरूप परिचय, एवं तन्माध्यम से ही प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा—

'पूर्ण उत्तरदायित्व की भावना से यावज्जीवन वर्णाश्रमाचारसिद्ध आधिकारिक कर्त्तव्य-कर्म्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहते हुए अपने कालातीत 'मानव' स्वरूप को यथायथात् प्राकृतिक प्रतीकभावों से सर्वथा असंस्पृष्ट बनाए रखना ही सहज-मानवश्रेष्ठ का परम पुरुषार्थ है' । 'अनन्तब्रह्म के उपासक जिस इस 'परमपुरुषार्थ' के समन्वय के लिए ही प्रस्तुत 'दिग्-देश-काल-मीमांसा' नामक खण्ड प्रवृत्त हुआ है। इस प्रतीकता के समन्वय के लिए ही आख्यानों के माध्यम से विभिन्न दृष्टियों से काल-दिक्-देश-विवर्त्तों की, तथा दिक्-देश-काल-विवर्त्तों की स्वरूप-परिभाषा अनन्तस्वरूपनिष्ठ सहज मानवश्रेष्ठों की सेवामें प्रणतभाव से उपस्थित कर देने का प्रयास हुआ है।

२८९–प्रतीकविधि के सैद्धान्तिक-पक्ष के सम्बन्ध में पुनः जिज्ञासात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधान का आत्यन्तिक अभाव तथा–'पुनस्तत्रैवावस्थितो वेताल'—

अवश्य अनेक 'प्रतीक' भावों के माध्यम से हमने प्रतीकातीत जिस अनन्तब्रह्मबोध-साधक परमपुरुषार्थ के समन्वय की प्रारम्भ-चेष्टा की है उस 'प्रतीकता' समन्वय का अन्ततोगत्वा 'अप्राकृत व्यक्तिमानव' पर विश्राम हुआ प्रकृति की भाषा में ही। और वह अप्राकृत-मानव ही सैद्धान्तिक-प्रतीकरूप दृष्टान्त बना प्रकान्त प्रतीकविधि में। क्या इस प्रतीकविधि को सिद्धान्त मान लिया जाय ?। इस प्रश्न के समाधान के लिए जब हम स्वयं 'प्रतीक' शब्द के वाच्यार्थ को लक्ष्य बनाते हैं, तो पुनः हमें आत्यन्तिक रूप से इसलिए निराश ही होजाना पड़ता है कि, अप्राकृत मानव कदापि उसका प्रतीक नहीं बन सकता। जो प्राकृतभाव प्रतीक कहे जाते हैं वे वस्तुगत्या प्रतीक हैं नहीं एवं जिस अप्राकृत मानव को प्रतीक मान लिया जाता है उसके साथ प्रतीकता किसी भी दृष्टि से समन्वित होती नहीं। अतएव अन्ततोगत्वा 'पुनस्तत्रैवावस्थितो वेताल' ।

२९०–'प्रतीक' शब्द के वाच्यार्थ का समन्वय, एवं 'प्रतीकमप्येषे-अग्निः' इत्यादि मन्त्र का संस्मरण—

प्रतीयते इति प्रत्येति वा' ही प्रतीक शब्द का निर्वचनार्थ है जिसका अर्थ है 'अङ्ग' 'भाग' 'अवयव'। अङ्गुलि पुरुष का अवयव है अतएव यह प्रतीक है। अवश्य ही अवयवरूपा अतएव प्रतीकभूता इस अङ्गुलि के ग्रहण से अङ्गीरूप, अवयवीरूप सम्पूर्ण पुरुष (पुरुषशरीर) का सर्वात्मना बोध हो जाता है और अङ्गुलिग्रहीता–'मैंने पुरुष का ग्रहण कर लिया पुरुष को पकड़ लिया' यह अभिमान प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है। पट (वस्त्र) के एक अवयव-कोण के दग्ध हो जाने पर भी–'पटो दग्धः (कपड़ा जल गया) यह व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। इसी आधार पर न्यायशास्त्र में–'समुदाय एव शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' यह न्याय व्यवस्थित हुआ है। और अक्षरशः यही भाव अवयव-अवयवी-भावानुबन्धी पर्व-अङ्ग-भाग-खण्ड का ही नाम प्रतीकभाव है जैसाकि निम्नलिखित श्रौत मन्त्र से स्पष्ट प्रमाणित है—

जराजर्जरिते कृशे निःसत्त्वे सत्यपि शरीरे कातरजनदुष्करं कठिनतरं
मनशन स्वीकृतम् । एव चतुर्विधसघवचन श्रुत्वा गुरुणा चिन्तितम्—यदि स्व
बुभुक्षा प्रकाशयामि शिष्यप्रपञ्चं चावेदयामि, तर्हि जिनशासनस्य ही
निन्दना लघुता भवतीति । तदन्तर वृद्धाचार्येण चिन्तितम्—मम साहजिक स
कर्मक्षयसमय समायात इति । एवमसौ मनसि धारयन् समाधिभावमुपगत्य प्र
परिणामेन क्षपकश्रेणिं प्राप्य सकलकर्म क्षपयित्वा केवली भूत्वा सिद्धिगतिं प्राप्त

को सुनकर समस्त चतुर्विध सघ उसी समय आचार्य के समीप अ
और कहने लगा हे महात्मा ! आपको अनेकश. धन्यवाद है, आप वा
में बडे भाग्यशाली हैं, आप जैसे जिनशासन को प्रकाशित करने
सूर्य से धर्मकी प्रभावना होती है । करुणासागर ! हम आपका गुण
कहा तक गावें, हम सबको तो यह सुनकर अपार हर्ष हो रहा है
आपने जरा से जर्जरित, कृश एव नि सत्त्व शरीर के होने पर
कायर जनों द्वारा दुष्कर एव कठिनतर तीव्र अनशन को जो स्वी
किया है । इस प्रकार चतुर्विध सघ के वचन सुनकर गुरुमहाराज
चित्त में विचार किया कि यदि मैं अपनी भूख प्रकट करता हूँ और '
सब कुछ शिष्यका प्रपच है' ऐसा जो कहता हूँ तो जिनशासन की अ
हेलना होती है, निन्दा होती है लघुता जाहिर होती है अत श्रय
इसी में है कि अनशन व्रत अंगीकार कर लू, यह सहज ही कर्मक्ष
का समय उपस्थित हुआ है, इसे छोडना बुद्धिमानी की बात न

નોને સાભળી સમસ્ત ચતુર્વિધ સઘ તે સમયે આચાર્યની પાસે આવી અ
વિનતી કરી કહેવા લાગ્યા કે હે મહાત્મા ! આપને અનેકાનેક ધન્યવાદ
આપ વાસ્તવમા મહાન ભાગ્યશાળી છો આપ જેવા જીનશાસનને પ્રકાશિ
કરવાવાળા સૂર્યથી ધર્મની પ્રભાવના થાય છે કરુણાસાગર અમે આપ
ગુણોને ક્યા સુધી વર્ણવી શકીયે. અમને બધાને તો એ જાણીને એવો હ
થયો છે કે આપે વૃદ્ધાવસ્થાથી જીર્ણ કૃશ અને નિ.સત્ત્વ શરીર હોવા છ
પણ કાયરજનો દ્વારા દુષ્કર એવા આ કઠિનતર તીવ્ર અનશનનો અગીક
કરેલ છે ચતુર્વિધ સઘના આ પ્રકારના વચન સાભળીને ગુરૂ મહારાજે ચિત્ત
વિચાર કર્યો કે જો હુ મારી ભુખ પ્રગટ કરૂ અને 'આ સઘળો શિષ્ય
પ્રપચ છે' એમ જો કહુ તો જીનશાસનની અવહેલના થાય છે, નિન્દા થા
છે, લઘુતા જાહેર થાય છે, માટે હવે તો શ્રેય એમા છે કે અનશન વ
અગીકાર કરી લઉં કર્મક્ષયનો આ સહેજે સમય પ્રાપ્ત થયો છે એ
છોડવો એ બુદ્ધિવાળી વાત નથી. આ પ્રકારે વિચાર કરી ગુરૂ મહારાજે

'धीरमानव' (बुद्धियोगनिष्ठ-मानव) भी रख दिया गया है जैसाकि पूर्वसण्डानुगता 'मानवस्वरूपमीमांसा' में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है।

२६४–सौररश्मिपवित्र की अच्छिद्रपवित्रता, तदनुगत मन्वन्तरभाव, एवं सूर्य्यादि-अनन्तब्रह्माण्ड-विवर्तों में 'प्रतीक' भाव का असस्पर्श—

अक्षरूप अव्ययभाव-पर्वभाव–से असंस्पृष्ट रहने के कारण ही तो सौरप्राणात्मक रश्मिमण्डल को 'अच्छिद्रपवित्र' कहा गया है। छिद्रता का नाम ही अक्षता-पर्वता-अवयवता तथा तदनुबन्धिनी प्रतीकता है। जबकि इसप्रकार स्वयं प्राकृत विश्व में भी पार्थिवसर्ग से परस्तात् के प्राणप्रधान सूर्य्यादि अनन्तब्रह्माण्ड, किंवा मन्वन्तर-भावों में अङ्गाङ्गीभावात्मक कार्य्यकारणभाव नहीं है, अतएव वहाँ उन प्राकृत विवर्तों में भी जब प्रतीकता-लक्षणा अक्षता अनुपपन्न है, तो प्रकृति से अतीत अतएव कालातीत अमाकृत मानव के साथ प्रतीकता का सम्बन्ध सम्भव ही कैसे हो सकता है ?। और ऐसी स्थिति में आत्यन्तिकरूप से निर्विशेष-अनन्तब्रह्म के स्वरूपबोध के सम्बन्ध में 'प्रतीक' का कार्य्यकारणभावों का अङ्गाङ्गीभावों का प्रश्न उठाना ही अनतिप्रश्नात्मक अक्षम्य-असमाधेय प्रश्न ही बन रहा है।

२६५–नानाभावात्मक अङ्गभावों से अभिन्न अङ्गी—

'अङ्ग' भाव ही 'अङ्गी और अङ्ग' इन दो प्रपञ्चभावों का जनक बन जाता है। अङ्गी अङ्ग से कोई पृथक्तत्त्व नहीं है। नानाभाव ही 'अङ्ग' की स्वरूप–परिभाषा है। इन नानाभावों की राशि-स्तूप-ढेर-कूट का नाम ही 'अङ्गी' है अवयवी है जो कि अङ्गों से कोई पृथक् तत्त्व नहीं है।

२६६–अङ्गाङ्गीभावात्मक-प्रतीकात्मक–अङ्गभावों से व्याप्त आचारनिष्ठाशून्य दार्शनिकों का वाग्विजृम्भण —

सभी तो अङ्गाङ्गी-भावों में व्यामुग्ध, दार्शनिक भूतात्मक–शरीरपुद्गल से अतिरिक्त किसी अव्ययी आत्मा की स्थापना में असमर्थ ही प्रमाणित हो गए हैं। इसी भ्रान्ति ने तो अनात्मवादमूलक नास्तिकवाद क्षणिक–क्षणिक-शून्यं-शून्यं-दुःखं-दुःखं-स्व लोकायतिकवाद को जन्म दे डाला है। यही तो आस्तिक-नास्तिक-आचारशून्य उन आस्तिक-नास्तिक-दर्शनों का वैतण्डिक–कार्य्यकारणनिबन्धन–अङ्गाङ्गीभाव–निबन्धन सर्वथा ही निरर्थक वह वाग्विजृम्भण है जिससे आस्तिक नास्तिक, सभी दार्शनिक आद्यन्त के शून्य-शून्य ही प्रमाणित होते जारहे हैं।

२६७–अङ्गाङ्गीभावनिबन्धना–प्रतीकता के व्यामोहन से आस्तिक–नास्तिक-दर्शनों में निरर्थक वाक्कलह, एवं कार्य्यकारणात्मक प्रतीकभावों से असंस्पृष्ट महिमात्मक विवर्त के द्वारा कलह की उपशान्ति का प्रयास—

शरीर भौतिक है अनन्त अणुओं की समष्टि है अनेक अङ्गों–अवयवों की परिणाम है केवलमात्र है। यद्यपि भौतिक शरीर इन अङ्गभावों की समष्टि के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र नित्य–अविनाशी–एक–अङ्गी-

असम्भावित नहीं है, जिसे प्रमाणित करने लिए एक ओर भूत-माध्यम-वादी, अतएव अन्तवादी आस्तिक-दर्शन पद्धी से चोटी का जोर लगाकर थक थक जाता है तो दूसरी ओर केवल इस जड़भूत का ही अन्यतम प्रेमी नास्तिकदर्शन आस्तिकदर्शन के मौलिक तर्कों का खण्डन करने में परिश्रान्त हो रहा है। जबकि तत्त्वतः न तो आस्तिकदर्शन के मण्डनात्मक तर्कों का ही कोई महत्त्व एवं न नास्तिकदर्शन के खण्डनाभासात्मक-तर्काभासों का ही कोई मूल्य। दोनों ही स्व-स्व-निगूहन-शालानुगता-भूत-पार्थिवभूत-कालानुबन्धिनी-बुद्धिगम्या काल्पनिक-स्थापनाओं के विजृम्भण में ही इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं। जबकि वह अनन्ततत्त्व आस्तिक के कल्पित धर्म्म, तथा नास्तिक के कल्पित अधर्म्म, दोनों से ही अतीत महिमामय ही तत्त्व है * जिसके साथ परिणामात्मक कार्य्य-कारणभावों का, सामान्य पञ्चपर्व-भावों का अङ्ग अङ्गी-भावों का कदापि कोई भी स्वाभाविक सम्पर्क भी तो नहीं है। वञ्चित ही रह गया है आस्तिक-नास्तिक-शिरोमणि दार्शनिक अनन्त के महिमामय आधिदैविक विश्वरूप प्रकाशात्मक रूप के समन्वयबोध से। यही तो विभूतिरूप-महिमामय-विवर्त्त में, तथा कार्यरूप-परिणामात्मक-कार्य्यकारणभाव में वह महान् अन्तर है, जिस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ही दिग्देशकालमीमांसा प्रवृत्त हुई है।

२६८—वराभक्त भौतिक-शरीरानुगत प्रतीक-लक्षण-अङ्गाङ्गी-भाव, एवं तत्सम्बन्ध में 'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि' इत्यादि श्रौतसन्दर्भ का संस्मरण—

हाँ, तो अङ्ग से अङ्ग का उद्गम, अवयव से ही अवयव का आविर्भाव, किंवा स्थूलभाषानुसार-शरीर से ही शरीर (उदाहरण मनुष्यगर्भ का और मानवेतर सम्पूर्ण अण्डज-स्वेदज-जरायुज-उद्भिज्जादि प्राणियों का, जहाँ मानववत् नालच्छेद का सत्सर्ग भी नहीं है) की उत्पत्ति बस यही है वह दार्शनिकता, जिसने शरीर में 'जीवात्मा' ढूँढने का प्रयास करते हुए, इन कार्य्यकारणरूप अङ्गों के माध्यम से ही अपने काल्पनिक अङ्गी को ढूँढते रहने में ही अपनी सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसा समाप्त करदी है। पशुसर्गात्मक भौतिकसर्ग में 'अङ्गी' जैसा निरवयव कोई अनन्त-अविनाशी तत्त्व है ही नहीं, जिसका महत्व समारम्भेण एक (आस्तिक) दार्शनिक ने तो मण्डनप्रयास किया है एवं दूसरे (नास्तिक) दार्शनिकने खण्डनप्रयासाभास किया है। लक्ष्य बनाइए उस श्रुतिवचन को जिसने शरीर को अङ्ग मानते हुए इससे उत्पन्न दूसरे भौतिक शरीर को विस्पष्ट शब्दों में 'अङ्ग' ही प्रमाणित किया है—

> "अङ्गादङ्गात्-सम्भवसि, हृदयादधिजायसे।
> स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमामू मयि॥
>
> —बृहदारण्यकोपनिषत् ६।४।५।

---

*—अन्यत्र धर्म्मात्, अन्यत्राधर्म्मात्, अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच् भव्याच्च यत्तत् पश्यसि, तद्वद ॥
—कठोपनिषत्

'सौम्यमानव' (बुद्धियोगनिष्ठ-मानव) भी रख दिया गया है जैसाकि पूर्वखण्डानुगता 'मानवस्वरूपमीमांसा' में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है।

२६४–सौररश्मिपरख की अच्छिद्रपवित्रता, तदनुगत मन्वन्तरभाव, एवं सूर्य्यादि-अनन्तकालान्त-विवर्त्तों में 'प्रतीक' भाव का असंस्पर्श—

अङ्गरूप अवयवभाव-पर्वभाव-से असंपृक्त रहने के कारण ही तो सौरप्राणात्मक रश्मिमयपरख को 'अच्छिद्रपवित्र' कहा गया है। छिद्रता का नाम ही अङ्गता-पर्वता अवयवता तथा तदनुबन्धिनी प्रतीकता है। क्योंकि इसप्रकार स्वयं प्राकृत विश्व में भी पार्थिवपर्वों से परस्तात् के प्राणप्रधान सूर्य्यादि अनन्तकालान्त, किंवा मन्वन्तर-भावों में अङ्गाङ्गीभावात्मक कार्य्यकारणभाव नहीं है अतएव वहां उन प्राकृत विवर्त्तों में भी जब प्रतीकता-लक्षणा अङ्गता अनुपपन्न है तो प्रकृति से अतीत, अतएव कालातीत अमाकृत मानव के साथ प्रतीकता का सम्बन्ध सम्भव ही कैसे हो सकता है ?। और ऐसी स्थिति में आत्यन्तिकरूप से निर्विशेष-अनन्तब्रह्म के स्वरूपबोध के सम्बन्ध में 'प्रतीक' का कार्य्यकारणभावों का अङ्गाङ्गीभावों का प्रश्न उठाना ही अनतिप्रश्नात्मक अचम्य-अप्रमाणेय प्रश्न ही बन रहा है।

२६५–नानाभावात्मक अङ्गभावों से अभिन्न अङ्गी—

'अङ्ग' भाव ही 'अङ्गी और अङ्ग' इन दो सापेक्षभावों का जनक बन जाता है। अङ्गी अङ्ग से कोई पृथक्तत्त्व नहीं है। नानात्मव ही 'अङ्ग' की स्वरूप-परिभाषा है। इन नानाभावों की राशि-स्तूप-ढेर-कूट-का नाम ही 'अङ्गी' है अवयवी है जो कि अङ्गों से कोई पृथक् तत्त्व नहीं है।

२६६–अङ्गाङ्गीभावात्मक-प्रतीकात्मक-अङ्गभावों से व्याप्त आचारनिष्ठाशून्य दार्शनिकों का वागविजृम्भण –

सभी तो अङ्गाङ्गी-भावों में व्यामुग्ध, दार्शनिक भूतात्मक-शरीरपुद्गल से अतिरिक्त किसी अवयवी आत्मा की स्थापना में असमर्थ ही प्रमाणित रह गए हैं। इसी भ्रान्ति से तो अनात्मवादमूलक नास्तिकवाद क्षणिक-क्षणिक-शून्य-शून्य-दुःखं-दुःखं-रूप लोकायतिकवाद को जन्म दे डाला है। यही तो आस्तिक-नास्तिक-आचारशून्य उन आस्तिक-नास्तिक-दर्शनों का वैखानसिक-कार्य्यकारणनिबन्धन-अङ्गाङ्गीभाव-निबन्धन सर्वथा ही निरर्थक यह वागविजृम्भण है जिससे आस्तिक नास्तिक, सभी दार्शनिक आयतन के शून्य-शून्य ही प्रमाणित होते जाते हैं।

२६७–अङ्गाङ्गीभावनिबन्धना-प्रतीकता के व्यामोहन से आस्तिक-नास्तिक-दर्शनों में निरर्थक वाक्कलह, एवं कार्य्यकारणात्मक प्रतीकभावों से असंस्पृष्ट महिमात्मक विवर्त्त के द्वारा कलह की उपशान्ति का प्रयास—

शरीर भौतिक है समन्वित परमाणुओं की समष्टि है अनेक अङ्गों-अवयवों की राशिमात्र है ढेरमात्र है। क्यापि भौतिक शरीर इन अङ्गभावों की समष्टि के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र नित्य-अविनाशी-एक-अङ्गी-

२०२–प्रतीकसमन्वयासक्ति के व्यामोहन से अनुप्राणित मानव के 'पुरुष–मानव–मनुष्य नर' नामक चार श्रेणि विभाग—

प्रसमक्षिविस्तरश प्रतीकशब्दविमुचेन । हमने केवल अपने बालोपलालन के लिए ही 'प्रतीक' शब्द के माध्यम से अनेक माध्यमों का अनुगमन कर लिया है, जिसे अब समष्टिरूप से संकलित करते हुए यहाँ उपस्थ कर देते हैं । अपनी इस प्रतीकभावासक्ति के संकलनात्मक समन्वय के लिए हम मानव के चार श्रेणि-विभाग मान लेते हैं एवं इन चारों का क्रमशः पुरुषात्मक मानव, मानवात्मक मानव, मनुष्यात्मक-मानव, नरात्मक मानव, यह नामकरण भी कर लेते हैं । पुरुष मानव मनुष्य नर चारों शब्द यद्यपि लोकव्यवहार में समानार्थक बनते हुए परस्पर एक दूसरे के पर्याय ही प्रमाणित हो रहे हैं । तथापि कालानुक्रमी क्रम–भेद से चारों ही शब्द पृथक्–पृथक्–चार तत्त्वा–भावों–के ही समर्थक बन रहे हैं । मानववर्गचतुष्टयी के पहिले उस प्राकृत–विश्व–चतुष्टयी को ही लक्ष्य बना लेना आवश्यक होगा जिसके माध्यम से ही मानव चतुर्धा विभक्त हुआ है । बड़ा ही रहस्यपूर्ण है यह समनुगमनात्मक–समन्वय जिसके माध्यम से ही भारतीय मानव का 'प्रतीक–व्यामोहन' उपक्रान्त होसकता है ।

२०३–अनन्तकालात्मक प्रथम' प्रतीक–व्यामोहन, एवं तत्स्वरूपोपवर्णन की महती वश्वता—

पहिला प्रतीकव्यामोहन है अनन्तकालात्मक, जिसे हमने अन्यान्य-भूत–भौतिक–दृष्टान्तों–प्रतीकों के समतुलन में सर्वश्रेष्ठ प्रतीक माना है एवं जिसे कालातीत निर्विशेषानन्त्य का प्रमुख प्रतीक घोषित कर डाला है । इस प्रतीकत्वाभ्यामोहन का आधार बना है– एकांशेन जगत्समर्पणम् का मूलाधारभूत–'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः–पादोस्येहाभवत्पुनः' यह मंत्रवाक्य । जिस को चतुष्पात् मान लिया गया है इसे ही अनन्तकाल घोषित कर दिया गया है । एवं इसी का एकांश–एक–पाद मान लिया गया है अक्षरात्मक अनन्तकाल । जब अनन्तकाल उसीका अंश–भाग–अङ्ग बन गया तो निश्चयेन ऊर्ध्व–उदैत्–त्रिपान्मूर्त्ति यह अनन्तकाल महती प्रमाणित होगया । अङ्ग ही तब प्रतीक की परिभाषा है, तो इस दृष्टि से एकांश–एकाङ्गरूप अनन्तकाल अवश्य ही उसका प्रतीक प्रमाणित होगया और इस अनन्तकालप्रतीकता के व्यामोहन से हमने अपने आपको धन्य–कृतकृत्य ही मान लिया । प्रकृतिसर्ग में सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त यों एकांशरूप काल ही प्रमाणित होगया जिसके समर्पण में ही हमने अपर्यवसितेय दो कालखण्डों का भी महत्ता समारम्भेण समन्वय–सम्पादन कर ही तो डाला ।

२०४–अनन्तकालानुगता 'सत्य शिव-सुन्दरम्' लक्षणा साम्वत्सरिक-प्रतीकत्रयी का संस्मरण—

और आगे चल कर इसी अनन्तकाल को आधार मानकर सत्य–शिव–सुन्दरम्–नामक उन तीन कालविवर्तों की पारम्परिक–प्रतीकव्याख्या भी समन्वय कर ही तो डाला जो प्रतीकत्रयी क्रमशः सत्यभावात्मक-सौरसम्वत्सरकाल शिवभावात्मक पार्थिवसम्वत्सरकाल एवं सुन्दरभावात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल नाम से प्रसिद्ध है । अनन्तकाल बना सर्वाधार, सत्यसौरसम्वत्सरकाल बना भूतसर्ग का मूलप्रवर्त्तक, शिव–पार्थिवसम्वत्सरकाल बना पुरुषसर्ग का आरम्भक एवं सुन्दरचान्द्रसम्वत्सरकाल बना स्त्रीसर्ग का आरम्भक ।

२९९ पूर्वाङ्ग का अक्षिप्य, उत्तराङ्ग का अङ्गत्व, एवं अङ्गात्मक 'प्रतीक' में ही-अङ्गी-अङ्ग-भावों का अन्तर्भाव, तथा 'प्रतीक'-शब्देतिहास का संस्मरण

अङ्ग से अङ्ग की उत्पत्ति में उत्पादक-कारणात्मक अङ्ग तो कार्य्यरूप उत्पन्न अङ्ग की अपेक्षा 'अङ्गी' मान लिया जाता है एवं तदपेक्षया उत्पन्न भूत 'अङ्ग' बन जाता है। यों कारण-कार्य्यात्मक पूर्व-उत्तर अवस्थाओं के भेद से अङ्गभाव में ही अङ्गी-अङ्ग-ये दो विभिन्न भाव व्यक्त हो जाते हैं पार्थिव भूतसर्गोंवत्, भूधाग्नि सर्गवत् पशुसर्गवत्, जिसके साथ आ-अरवस्वामिव्यक्तित्व जैसी निरवयवता का स्पर्श भी हो नहीं है। कार्य्यात्मक ऐसा उत्तररूपात्मक भौतिक भाव ही 'प्रतीक' शब्द का चिरन्तन इतिहास है जिस चिरन्तन इतिहास का उपक्रमोपसंहार पार्थिव-चान्द्र-नामक भौतिक-मूर्त्त-उक्थरूपक में ही परिसमाप्त है।

३००-चरमावनिबन्धना सगुणोपासना से अनुप्राणित 'प्रतीक' भाव की अनन्तब्रह्म-धरातलपेक्षया आत्यन्तिक- निरपेक्षता —

अवश्य ही चरमावनिबन्धना सगुणोपासना (जिसे उपासना न कह कर-'भक्ति' ही कहा गया है) इस प्रतीकत्व का भी बाह्योपलालनमाध्यम से सम्बद्ध होगया है। अतएव वराहिका-भूतोपासनात्मिका भक्ति में अवश्य ही प्रतीकरूपेण भौतिक माध्यमों का भी समन्वय हो रहा है। किन्तु अनन्तब्रह्मधरातल पर तो इस प्रतीकता का संस्मरण भी निषिद्ध है। अतएव वस्तुस्थिति के समन्वय-प्रवाह में कदापि प्रतीकभाव समाविष्ट नहीं होसकता। और तो और, अपने अमूर्त्त-अव्यक्त-स्वरूप से निरवयव प्रमाणित अनन्तकालादि-धीरकालान्त के प्राकृत विवर्त्त भी तो उस अनन्त के प्रतीक नहीं बन सकते क्योंकि इनका भी ऋषिमानव ने 'महिमा' रूप से ही समन्वय किया है जो महिमात्मक-विवर्त्त भाव आधिदैविक-भावात्मक-महिमास्वरूप से वञ्चित दार्शनिकों की दृष्टि में समाविष्ट ही नहीं हो पाया है।

३०१-सर्वश्रीशङ्कराचार्य्यमहाभाग का अध्यासवादात्मक, अतएव आधिदैविक-आधार से असंसृष्ट अद्वैतवाद एवं तत्प्रतीकनिग्रहेणैव राष्ट्रीय-आचारनिष्ठा का शैथिल्य, इति नु महद् खासद्मेव—

हम यह निवेदन करते हुए अत्यन्त ही क्लेश हो रहा है कि, पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्य्यने जहाँ महिमात्मक विवर्त्त के माध्यम-मध्यस्थ दिग्देशकालानुबन्धी परिणामवाद को विध्वस्त कर आस्तिकदर्शन की प्रतिष्ठा को अमुक अंशमें सुरक्षित कर लिया है, वहाँ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदभाग की आधिदैविक-दृष्टिविधा का स्पर्श न करने के कारण अतएव अपने वास्तरूप से दार्शनिकप्रायावत् प्रतीयमान उपनिषद्भाग तथा गीताभाग की आधिदैविक-महिमासमन्विता सृष्टिस्वरूपव्याख्या का किसी अज्ञात कारण से समन्वय न करने के कारण उस महिमामय विवर्त्त के समन्वय के लिए अध्यासवादात्मक जैसे भौतिक दृष्टान्तों को ही माध्यम बना लिया है, जिनके कारण ही आचार्यप्रवर के द्वारा शास्त्रीय-आचारपक्ष सर्वथा शिथिल ही प्रमाणित होगया है।

२०२–प्रतीकसमन्वयासक्ति के व्यामोहन से अनुप्राणित मानव के 'पुरुष–मानव–मनुष्य नर' नामक चार श्रेणि विभाग—

अलमतिविस्तरेण प्रतीकशब्दविवेचनेन। हमने केवल अपने बालोपलालन के लिए ही 'प्रतीक' शब्द के माध्यम से अनेक माध्यमों का अनुगमन कर लिया है, जिसे अब समष्टिरूप से संकलित करते हुए यहीं उपरत कर देते हैं। अपनी इस प्रतीकभावासक्ति के संकलनात्मक समन्वय के लिए हम मानव के चार श्रेणि विभाग मान लेते हैं एवं इन चारों का क्रमशः पुरुषात्मक मानव, मानवात्मक मानव मनुष्यात्मक–मानव, नरात्मक मानव, यह नामकरण भी कर लेते हैं। पुरुष मानव मनुष्य नर चारों शब्द यद्यपि लोकव्यवहार में समानार्थक बनते हुए परस्पर एक दूसरे के पर्य्याय ही प्रमाणित हो रहे हैं। तथापि कालानुरूपी क्रम–भेद से चारों ही शब्द पृथक्–पृथक्–चार स्व–भावों–के ही समर्थक बन रहे हैं। मानववर्गचतुष्टयी से पहिले उस प्राकृत–विश्व–चतुष्टयी को ही लक्ष्य बना लेना आवश्यक होगा जिसके माध्यम से ही मानव चतुर्धा विभक्त हुआ है। बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है यह समतुलनात्मक–समन्वय जिसके माध्यम से ही मानव मानव का 'प्रतीक–व्यामोहन' उपक्रान्त होसकता है।

२०३–अनन्तकालात्मक 'प्रथम' प्रतीक–व्यामोहन, एवं तत्स्वरूपोपवर्णन की महती धृष्टता—

पहिला प्रतीकव्यामोहन है अनन्तकालात्मक, जिसे हमने अन्यान्य भूत–भौतिक–दृष्टान्तों–प्रतीकों के तुलन में सर्वश्रेष्ठ प्रतीक माना है एवं जिसे कालातीत निर्विशेषानन्त्य का प्रमुख प्रतीक घोषित कर डाला है। इस प्रतीकव्यामोहन का आधार बना है– 'एकांशेन जगत्समर्पम्' का मूलाधारभूत–'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः–पादोऽस्येहाभवत्पुनः' यह वेदवाक्य। ब्रह्म को चतुष्पात् मान लिया गया है इसे ही अनन्तब्रह्म घोषित कर दिया गया है। एवं इसी का एकांश–एक–पाद मान लिया गया है अवच्छिन्न अनन्तकाल। यह अनन्तकाल उसका अर्ध–भाग अंश बन गया जो निश्चयेन ऊर्ध्व–उदैत्–त्रिपान्मूर्ति यह अनन्तब्रह्म कभी प्रमाणित होगया। यही ही जब प्रतीक की परिभाषा है, तो इस दृष्टि से एकांश–एकपादरूप अनन्तकाल अवश्य ही उसका प्रतीक प्रमाणित होगया, और इस अनन्तकालप्रतीकता के व्यामोहन से हमने अपने आपको धन्य–कृतकृत्य ही मान लिया। प्रकृतिकर्म में सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त यों एकांशरूप काल ही प्रमाणित होगया जिसके अर्पण में ही हमने अथर्ववेदीय दो प्रजासूक्तों का भी महत्ता अनारम्भेण समन्वय–भाष्टन कर ही तो डाला।

२०४–अनन्तकालानुगता 'सत्य शिव-सुन्दरम्' लक्षणा साम्वत्सरिक-प्रतीकत्रयी का सस्मरण—

और आगे चल कर इसी अनन्तकाल को आधार मानकर सत्यं–शिव–सुन्दरम्–नामक उन तीन कालविवर्तों की पारम्परिक–प्रतीकताका भी समन्वय कर ही तो डाला जो प्रतीकत्रयी क्रमशः सत्यभावात्मक–सौरसम्वत्सरकाल शिवभावात्मक पार्थिवसम्वत्सरकाल एवं सुन्दरभावात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल नाम से प्रसिद्ध है। अनन्तकाल बना सर्वाधार, सत्यसौरसम्वत्सरकाल बना मूर्त्तसर्ग का मूलप्रवर्त्तक, शिव–पार्थिवसम्वत्सरकाल बना पुरुषसर्ग का आरम्भक एवं सुन्दरचान्द्रसम्वत्सरकाल बना स्त्रीसर्ग का आरम्भक।

२०५–निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक अनन्तकाल, तत्प्रतीक सौरसम्वत्सरकाल, तत्प्रतीक पार्थिवसम्वत्सरकाल, तत्प्रतीक चान्द्रसम्वत्सरकाल, एवं प्रतीकगणनात्मिका अज्ञादज्ञानुरूपा सन्तान परम्परा, तथा प्रतीकासक्ता मानवप्रज्ञा का आत्यन्तिक विमोहन—

इसी कालपरिपूर्णता के माध्यम से निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक बन बैठा अनन्तकाल। इस अनन्तकाल का प्रतीक बन बैठा सत्यभावापन्न सौरसम्वत्सरकाल। इस का प्रतीक बन गया शिवभावापन्न पार्थिव सम्वत्सर, किंवा तदभिन्न शिवमूर्त्ति पुरुष। एवं इस का प्रतीक बन गया सुन्दरभावापन्न चान्द्रसम्वत्सर, किंवा सुन्दरी नारी। और यहाँ आकर एक प्रतीकधारा उपरत होगई जिस का आगे चलकर–'अङ्गादङ्गात्–सम्भवति' रूपा सन्तानप्रतीकता में मौलिक विस्तार होता गया। ऐसा विस्तार हुआ कि, गणनात्मक इस प्राकृत-प्रतीकवाद का अनन्तकालारम्भ से आजतक उपराम ही नहीं हो पाया है। मानव की असङ्ख्य पीढ़ियाँ गणना करते करते अन्वेषण करते करते थक थक गईं। किन्तु यह प्रतीक–परिगणन समाप्त ही नहीं हुआ, समाप्त नहीं ही होगा कभी भी इस प्रतीक-व्यामोहन-परम्परा से [illegible]। क्या पे इत्थंभूत प्रतीक-परिगणन से मानव इस भव-चक्र से परित्राण प्राप्त कर ही न सकेगा और अनन्तकाल की इत्थंभूत-प्रतीकता का भी यही परिणाम होगा जो परिणाम शाक्ति–शाम्भव–मांत्रिक प्रतीक–वादियों का हुआ करता है एवं जिन के प्रति आकृष्ट हो कर ही बड़े गर्व से हमने अनन्तकाल को प्रतीक उद्घोषित कर देने की महती भ्रान्ति कर डाली है।

१–अनन्तकालरूपो निर्विशेषस्य–अनन्तकालः–प्रतीकः (प्रकृतिसर्गे सर्वमेतदनन्ताः–अवधयः–एकत्वाधारत्वेन)
२–अनन्तकालस्य सविशेषस्य–सौरसम्वत्सरकालः–प्रतीकः–(अनन्तकालस्य–एकाधारत्वेन)
३–सौरसम्वत्सरकालस्य विशेषस्य–पार्थिवसम्वत्सरकालः–प्रतीकः–(सौरकालस्य प्रथमांशत्वेन)
४–पार्थिवसम्वत्सरकालस्य–मूर्तस्य–चान्द्रसम्वत्सरकालः प्रतीकः (पार्थिवकालस्य–अङ्गत्वेन)
●–तस्य प्रतीका इमे साम्वत्सरिकाः–चेतनाचेतनपदार्थाः–अनन्ताः–चान्द्रकालस्य–अङ्गत्वेन

प्रकारान्तरेण—

१–निर्विशेषस्यानन्त्यरूपस्य–प्रतीकः–अनन्तकालः–सर्वाधारकालः (अनन्तो निर्विशेषस्य)
२–अनन्तकालस्य प्रतीकः–सत्यभावापन्नः–सौरकालः मूल सर्गाधारकालः (सूर्यः–अनन्तस्य)
३–सौरकालस्य प्रतीकः–शिवभावापन्नः–पार्थिवकालः–पुरुषात्मककालः (नरः–सूर्यस्य–प्रतीकभूतः)
४–पार्थिवकालस्य–प्रतीकः–सुन्दरभावापन्नः–चान्द्रकालः–स्त्र्यात्मकः कालः (नारी–नरस्य–प्रतीकभूता)
●–तस्य–प्रतीकाः–अनन्ताः–सन्तत्यः–सन्ततिरूपाः–कालचक्रे भास्वराः—

२०६–सर्गविद्यात्मिका सृष्टिविद्या के महिमाविद्या, कालविद्या–नामक दो विवर्त, एवं तन्मूलक महिमासर्ग, तथा रतोधासर्ग का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

अब एक दूसरी दृष्टि से इस प्रतीकवाद का समन्वय कीजिए। सर्गविद्यात्मिका सृष्टिविद्या को –महिमाविद्या, कालविद्या भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, किया गया है जिन इन दोनों भावों का मूलाधार–'रतोधा आसन, महिमान आसन' इत्यादि मन्त्र ही है, जिसका कि पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। 'महिमान आसन' ही महिमाविद्यात्मक महिमासर्ग है, एवं 'रेतोधा आसन्' ही कालविद्यात्मक कालसर्ग है। इन दोनों सर्गों के आगे चलकर सृष्ट्यनुबन्धभेद से दो दो अवान्तर विवर्त हो जाते हैं। महिमासर्ग के दोनों विवर्त क्रमशः अव्ययात्मक अक्षरसर्ग अव्ययानुगत अक्षरसर्ग, इन नामों से तथा कालसर्ग के दोनों विवर्त क्रमशः अक्षरात्मक क्षरसर्ग अक्षरानुगत क्षरसर्ग, इन नामों से समन्वित माने जासकते हैं। इन चारों को क्रमशः अव्ययसर्ग, अक्षरसर्ग, क्षराक्षरसर्ग, क्षरसर्ग इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। इन्हीं को क्रमशः पुरुषसर्ग मूलप्रकृतिसर्ग, प्रकृतिविकृतिसर्ग विकृतिसर्ग, इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। प्रकारान्तरेण इन्हीं चारों को क्रमशः अप्राकृतसर्ग प्राकृतसर्ग, अनन्तकालसर्ग सम्वत्सरकालसर्ग इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। पहिले अवधान–पूर्वक तालिका-क्रमेण इन चारों सर्गों का समन्वय कर लीजिए। तदनन्तर प्रतीकता का समन्वय कीजिए।

महिमान आसन्	१–अव्ययात्मक –	अक्षरसर्ग –	अव्ययसर्ग –	पुरुषसर्ग ——	अप्राकृतसर्गः	— महिमासर्गः
	२–अव्ययानुगतः –	अक्षरसर्गः –	अक्षरसर्ग –	मूलप्रकृतिसर्ग –	प्राकृतसर्ग	
रेतोधा आसन्	३–अक्षरात्मकः –	क्षरसर्गः	क्षराक्षरसर्ग –	प्रकृतिविकृतिसर्ग	अनन्तकालसर्ग	— कालसर्गः
	४–अक्षरानुगत –	क्षरसर्गः	क्षरसर्गः	विकृतिसर्गः ——	सम्वत्सरकालसर्ग	
इति वा चतुर्धा	इति वा	इति वा	इति वा	इति वा		
चातुर्थ्यं वा इदं सर्वम्–इत्याहुराचार्याः						

२०७–मानसर्गात्मक ऋषिसर्ग की मनुसर्गता का दिग्दर्शन—

चिद्भाग की दृष्टि से उक्त चारों सर्गविवर्तों का समन्वय कीजिए। अव्ययात्मक अक्षरसर्ग को कहा जायगा चिदात्मसर्ग। अव्ययानुगत अक्षरसर्ग को कहा जायगा चित्सर्ग। एवं इन दोनों महिमासर्गों की समष्टि को माना जायगा–अव्ययनिबन्धन मानससर्ग किंवा भावसर्ग किंवा ऋषिसर्ग, किंवा मनुसर्ग।

२•५–निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक अनन्तकाल, तत्प्रतीक सौरसम्वत्सरकाल, तत्प्रतीक पार्थिवसम्वत्सरकाल, तत्प्रतीक चान्द्रसम्वत्सरकाल, एवं प्रतीकगणनात्मिका अज्ञानदक्षादूरूपा सन्तान परम्परा, तथा प्रतीकासक्ता मानवप्रज्ञा का आत्यन्तिक विमोहन—

इसी कालपरिपूर्णता के माध्यम से निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक बन बैठा अनन्तकाल इस अनन्तकाल का प्रतीक बन बैठा रूक्ममावापन्न सौरसम्वत्सरकाल इस का प्रतीक बन गया शिवमावापन्न पार्थिव सम्वत्सर, किंवा तदभिन्न शिवमूर्ति पुरुष, एवं इस का प्रतीक बन गया सुन्दरमावापन्न चान्द्रसम्वत्सर, किंवा सुन्दरी नारी। आर यहाँ आकर एक प्रतीकधारा उपरत होगई, जिस का आगे चलकर–'अज्ञानात्–सम्भवति' रूपा सन्तानप्रतीकता में मौलिक विस्तार होता गया। ऐसा विस्तार हुआ कि, गणनात्मक इस प्राकृत-प्रतीकवाद का अनन्तकालारम्भ से आजतक उपराम ही नहीं हो पाया है। मानव की असंख्य पीढ़ियाँ गणन करते करते अन्वेषण करते करते थक थक गई। किन्तु यह प्रतीक–परिगणन समाप्त ही नहीं हुआ समाप्त नहीं ही होगा कभी भी इस प्रतीक-व्यामोहन-परम्परा से तो। क्योंकि इत्थंभूत प्रतीक–परिगणन से मानव इस काल–चक्र से परित्राण प्राप्त कर ही न सकेगा और अनन्तकाल की सर्वविध-प्रतीकता का भी यही परिणाम होगा जो परिणाम अदि–सान्त–भौतिक प्रतीक–वादियों का हुआ करता है एवं जिन के प्रति आग्रह हो कर ही बड़े गर्व से हमने अनन्तकाल को प्रतीक उद्‌घोषित कर देने की महती भ्रान्ति कर डाली है।

१–अनन्तब्रह्मणो निर्विशेषस्य–अनन्तकालः–प्रतीकः (प्रकृतिसर्गे सर्वमेतदनन्ता–प्रभवः–एकात्मत्वेन)
२–अनन्तकालस्य सविशेषस्य–सौरसम्वत्सरकालः–प्रतीकः–(अनन्तकालस्य–एकात्मत्वेन)
३–सौरसम्वत्सरकालस्य विशेषस्य–पार्थिवसम्वत्सरकालः–प्रतीकः–(सौरकालस्य प्रवर्ग्यत्वेन)
४–पार्थिवसम्वत्सरकालस्य–मूर्तस्य–चान्द्रसम्वत्सरकालः प्रतीकः (पार्थिवकालस्य–प्रवर्ग्यत्वेन)
●–तस्य प्रतीकाः इमे सम्वत्सरिकाः–चेतनाचेतनपदार्थाः–अनन्ताः–चान्द्रकालस्य–प्रवर्ग्यत्वेन

प्रकारान्तरेण—

१–निर्विशेषस्यानन्तब्रह्मणः–प्रतीकः–अनन्तकालः–सर्वाधारकालः (अनन्तो निर्विशेषस्य)
२–अनन्तकालस्य प्रतीकः–रूक्ममावापन्नः–सौरकालः–मूल कर्माधारकालः (सूर्यः–अनन्तस्य)
३–सौरकालस्य प्रतीकः–शिवमावापन्नः–पार्थिवकालः–पुरुषात्मककालः (नरः–सूर्यस्य–प्रतीकभूतः)
४–पार्थिवकालस्य–प्रतीकः–सुन्दरमावापन्नः–चान्द्रकालः–रमणात्मकः कालः (नारी–नरस्य–प्रतीकभूता)
●–तस्य–प्रतीकाः–अनन्ताः–असंख्याः–सन्ततिरूपाः–कालचक्रे यावन्तः—

है। उदाहरण के लिए–एक पलाशवृक्ष को ही लीजिए। इस पलाशजाति के वृक्ष में ब्राह्मवर्ण ही क्यों वि
प्रधानरूप से अभिव्यक्त है, अतएव इसे ब्राह्मणवृक्ष ही मान लिया गया है–'पालाशो वै ब्रह्म' (शतपथ)
अतएव मानवजाति का ब्रह्मवर्णात्मक ब्राह्मणमानव इस अनुरूपता–सम्बन्ध से सावित्री–दीक्षाक्रम (यज्ञोपवीत)
में पलाशदण्डग्रहण का ही अधिकारी मान लिया गया है। प्रकृतिमूलक इस वर्णरहस्य का आधिदैविक–
समन्वय न करने के कारण ही भ्रान्तिवश भाव वर्ण, और जाति शब्द पर्याय बन गए हैं। इसी सादृश्य ने
वर्णरहस्यमूलक यह उत्पात खड़ा कर दिया है, जिसने प्राकृत पदार्थों की वर्णोंरूपता को, तथा तन्मूलक
जातियों की अभिव्यक्तियों को सर्वात्मना ही अभिभूत कर लिया है।

२१०–चतुर्सर्गचतुष्टयी के ब्रह्मौदनवर्णसर्ग, एवं अपवर्ग्यवर्णसर्ग–लक्षण दो प्रधान विवर्त–

चिन्मयसर्गात्मक, अव्ययात्मक अक्षरब्रह्मरूप प्रथम सर्ग परमात्मात्मक (अव्ययमनात्मक) अगात्र–अपवर्ग–अजर–अमृत–लक्षण * अपवर्ग्यसर्ग है। चित्सर्गात्मक,–अव्ययानुगत–अक्षरसर्गरूप द्वितीय सर्ग परावरमात्मात्मक (अक्षरमात्मात्मक) गोत्र–वर्ण–प्रवर्तक–ब्रह्म–क्षत्र–लक्षण 'ब्रह्मौदनवर्ण' है। चेतनसर्गात्मक अक्षरात्मक–क्षरसर्गरूप तृतीयसर्ग अवरमात्मात्मक (क्षरमात्मात्मक) विट्–पोष्य–लक्षण–'प्रवर्ग्यवर्ण' है। एवं अचेतनसर्गात्मक, क्षरानुगत–क्षरसर्गरूप चतुर्थ सर्ग अवरवर्णात्मक 'अवरवर्णसर्ग' है। इसप्रकार धर्मव्यवस्था भी सर्गचतुष्टयी सर्वात्मना समन्वित हो रही है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

महिमाभाव	१–परमात्मात्मकः—चिदक्षरसर्गः–स एव अपवर्ग्यसर्गः	–वर्णातीतसर्गः	महिमाभावः
	२–परावरमात्मात्मकः–चित्सर्गः——स एव ब्रह्मौदनवर्णसर्गः	–ब्रह्मवर्णः	
		(चातुर्वर्ण्यसर्गः)	
प्राकृत	३–अवरमात्मात्मकः–चेतनसर्गः—स एव विट्पोष्यसर्गः	–वैश्यवर्णः	प्राकृतभावः
	४–अवरमात्मानुगतः अचेतनसर्गः–स एव अवरवर्णसर्गः	–अवरवर्णसर्गः	

२११–अवर्णब्राह्मणात्मक ऋषिमानव के द्वारा प्राकृतधर्म्म का संस्थापन, एवं वर्ण–ब्राह्मणात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृत धर्म्म का संरक्षण—

अब उन मानव नामों के माध्यम से भी इन चारों सर्गों का समन्वय कर लीजिए, जिनके माध्यम से ही यह प्रतीकात्मक व्यामोहन संकलनरूप से समन्वित होने जाता है। चिन्मयसर्गात्मक–परमात्मात्मक अवर्ण–

* यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं–सुसूक्ष्मं तदव्ययं, यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डकोपनिषत् १।६।)
तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति, अब्रह्मणत्र भवति॰, (बृहदारण्यकोपनिषत्)

चिदतिक्षुधया पीडितो गुरुश्चिन्तयति आहारानयनार्थं क्षुद्रबुद्धिं प्रेषयामीति, तावदसौ क्षुद्रबुद्धिः स्वगुरोः प्राणव्यपरोपणार्थं चतुर्विधसंघसमक्षमवादीत्-गुरुणा शरीरमतिकृशं शक्तिरहितं विलोक्य यावज्जीवमनशनं स्वीकृतम् , क्षुद्रबुद्धिवाक्यं श्रुत्वा चतुर्विधसंघस्तदैवाचार्यस्य समीपमागत्याब्रवीत्-धन्योऽसि कृतपुण्योऽसि महात्मन् ! भवान् जिनशासनभास्करः करुणासागरः, यत् खलु भवता

विचारते थे और मनही मन कहते थे-देखो तो सही इसकी कितनी बड़ी भारी अज्ञानता है जो विना निमित्त के ही क्रोध किया करता है, चाहे जिससे झगड़ा करता है, समझाने पर भी नहीं मानता है, अभिमान का पुतला बना हुआ है, मर्मच्छेदी मृषावचन बोलने में इसे संकोच तक नहीं होता, अब इसका इलाज क्या किया जावे, कुछ भी उपाय नहीं, अनुपायवस्तु में सहनशीलता धारण करना ही उचित है। इस प्रकार के विचार से गुरुमहाराज शान्त होकर उस के द्वारा प्रदत्त कष्टोंको सहते रहते। एक समय की बात है जब कि गुरु-महाराज क्षुधा से पीड़ित होकर आहार लाने के लिये क्षुद्रबुद्धिको भेजनेका विचार कर रहे थे कि इतने में क्षुद्रबुद्धि ने गुरुमहाराज को मारने के अभिप्राय से चतुर्विध संघ के समक्ष ऐसा प्रकट कर दिया कि वृद्धावस्था के कारण गुरुमहाराजने शरीर की स्थिति कमजोर जानकर यावज्जीव अनशनव्रत-संथारा धारण कर लिया है। क्षुद्रबुद्धि के इस प्रकार वचनों

હોવાનું પોતે વિચારતા અને મનમાજ કહેતા કે જુઓ તો ખરા આની કેટલી બધી અજ્ઞાનતા છે કે જે વિના નિમિત્ત ક્રોધ કર્યા કરે છે, ચાહે તેનાથી ઝગડે છે, સમજાવવા છતા પણ માનતો નથી, અભિમાનનું પુતળુ બની ગયો છે મર્મવેધક મૃષા વચન બોલવામા તેને સંકોચ થતો નથી, હવે એનો ઈલાજ શું થઈ શકે, કોઈ ઉપાય નથી. અનુપાય વસ્તુમા સહન શીલતા ધારણ કરવી તે જ ઉચિત છે એવા પ્રકારના વિચારથી ગુરૂમહારાજ શાન્ત બનીને તેનાથી અપાતા કષ્ટોને સહ્યા કરતા એક સમયની વાત છે જ્યારે ગુરૂ મહારાજ ભુખથી પીડિત બનીને આહાર લાવવાને ક્ષુદ્રબુદ્ધિને મોકલવાનો વિચાર કરતા હતા એટલામા ક્ષુદ્રબુદ્ધિએ ગુરૂમહારાજને મારવાના અભિપ્રાયથી ચતુર્વિધ સંઘની સમક્ષ એવું પ્રગટ કર્યું કે વૃદ્ધાવસ્થાને કારણે ગુરૂ મહારાજના શરીરની સ્થિતિ સારી રહેતી ન હોવાથી તેમણે જ્યા સુધી જીવે ત્યા સુધી અનશન વ્રત ધારણ કરેલ છે ક્ષુદ્રબુદ્ધિના આ પ્રકારના વચ

है। उदाहरण के लिए–एक पलाशवृक्ष को ही लीजिए। इस पलाशजाति के वृक्ष में ब्रह्मवर्ण ही क्योंकि प्रधानरूप से अभिव्यक्त है, अतएव इसे 'ब्राह्मणवृक्ष' ही मान लिया गया है–'पलाशो वै ब्रह्म' (शतपथ)। अतएव मानवजाति का ब्रह्मवर्णात्मक ब्राह्मणमानव इस अनुरूपता–सम्बन्ध से सावित्री–दीक्षाप्रसङ्ग (यज्ञोपवीत) में पलाशदण्डग्रहण का ही अधिकारी मान लिया गया है। प्रकृतिमूलक इस वर्णरहस्य का आधिदैविक–समन्वय न करने के कारण ही भ्रान्तिवश ब्राह्मण, और आदि शब्द पर्य्याय बन गए हैं। इसी वाक्य ने वर्णरहस्यमूलक यह उत्पात खड़ा कर दिया है जिसने प्राकृत पदार्थों की वर्णोत्कृष्टता का, तथा तन्मूला जातियों की अभिव्यक्तियों को सर्वात्मना ही अभिभूत कर लिया है।

३१०–वर्णसर्गचतुष्टयी के ब्रह्मौदनवर्णसर्ग, एवं प्रवर्ग्यवर्णसर्ग–लक्षण दो प्रधान विवर्त—

चिदात्मसर्गात्मक, अव्ययात्मक अक्षरब्रह्मरूप प्रथम सर्ग परमात्मात्मक (अव्ययमात्रात्मक) अगोत्र–अवर्ण–अचक्षु–अश्रोत्र–लक्षण * अयज्ञसर्ग है। चित्सर्गात्मक,–अव्ययानुगत–अक्षरब्रह्मरूप द्वितीय सर्ग परावरमात्रात्मक (अक्षरमात्रात्मक) गोत्र–वर्ण–प्रवर्तक–ब्रह्म–क्षत्र–लक्षण 'ब्रह्मौदनवर्ण' है। चेतनसर्गात्मक अक्षरात्मक–क्षरब्रह्मरूप तृतीयसर्ग अवरमात्रात्मक (क्षरमात्रात्मक) विट्–पोष्ण–लक्षण–'प्रवर्ग्यवर्ण' है। एवं अचेतनसर्गात्मक, अक्षरानुगत–क्षरब्रह्मरूप चतुर्थ सर्ग अवरधर्मात्मक 'अवरवर्णसर्ग' है। इसप्रकार धर्मदृष्ट्या भी सर्गचतुष्टयी सर्वात्मना समन्वित हो रही है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

महीमान	१–परमात्मात्मक—चिदात्मसर्ग—स एव अवर्णसर्ग	–वर्णातीतसर्ग	महिमावर्णाः
	२–परावरमात्रात्मकः–चित्सर्ग—स एव ब्रह्मक्षत्रवर्णसर्गः	–ब्रह्मवर्णः	
		(चातुर्वर्ण्यसर्गः)	
पार्थिव	३–अवरमात्रात्मक–चेतनसर्ग—स एव विट्पोष्णसर्ग	–धनवर्णः	प्राकृतवर्णाः
	४–अवरमात्रानुगतः अचेतनसर्ग–स एव अवरवर्णसर्गः	–अवरवर्णसर्गः	

३११–अवर्णब्राह्मणात्मक ऋषिमानव के द्वारा प्राकृतधर्म्म का संस्थापन, एवं वर्ण–ब्राह्मणात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृत धर्म्म का संरक्षण—

अब उन मानव नामों के माध्यम से भी इन चारों सर्गों का समन्वय कर लीजिए, जिनके माध्यम से यह प्रतीकात्मक व्यामोहन संकलनरूप से समन्वित होने जा रहा है। चिदात्मसर्गात्मक–परमात्मात्मक अवर्ण–

* यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं–सुसूक्ष्मं तदव्ययं, यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डकोपनिषत् १।६।) तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति, क्षत्रमक्षत्रं भवति०, (बृहदारण्यकोपनिषत्)

यह स्मरण रहे कि मानसात्मक भावसर्ग का अव्ययात्मक चिदात्मसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है एवं भूम्यात्मक मनुसर्ग का अव्ययानुगत पितृसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है। दोनों माने जायँगे अव्ययसर्गात्मक महिमासर्ग ही, भावसर्ग ही मानससर्ग है।

३०८–चिदात्मसर्ग–पितृसर्गात्मक पुरुषसर्ग का दिग्दर्शन—

अक्षरात्मक चरसर्ग को कहा जायगा चेतनसर्ग एवं इसे ही माना जायगा प्राणात्मक गुणसर्ग। अक्षरानुगत चरसर्ग को कहा जायगा अचेतनसर्ग एवं इसे ही माना जायगा वाङ्मय विकारसर्ग। चिदात्मसर्ग पितृसर्ग दोनों महिमासर्गों को कहा जायगा पुरुषसर्ग, एवं चेतनसर्ग–अचेतनसर्ग इन दोनों रोदोभावों को माना जायगा प्रकृतिसर्ग। और यही सर्गचतुष्टयी का दूसरा 'चिद्‌भावात्मक समन्वय' होगा, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

महिमासर्गः	१–अव्ययात्मकः–चरसर्ग–एव–चिदात्मसर्ग–मानससर्ग–भावसर्गः*	पुरुषसर्गः (१)	
	२–अव्ययानुगः–अचरसर्गः–एव–पितृसर्ग–ऋषिसर्ग–मनुसर्ग	—महिमान आसन्—	
रोदसीसर्गः	१–अक्षरात्मकः–चरसर्ग–एव–चेतनसर्गः–गुणसर्गः (अनन्तकालसर्गः)	प्रकृतिसर्ग (२)	
	२–अक्षरानुगः–चरसर्ग–एव–अचेतनसर्गः–विकारसर्ग (सम्वत्सरकालसर्गः)	—रोदोभा आसन्—	

३०९–वर्णभावनिबन्धना सर्गचतुष्टयी का स्वरूप–परिचय—

अब वर्णभाव की दृष्टि से उक्त चारों सर्गविवर्तों का समन्वय कीजिए। ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–रूप प्राकृत–शक्तिभावों का ही नाम 'वर्णतत्त्व' है जो प्राकृत–आधिक–सर्ग–के चर–अचर–स्थावर–जङ्गम–यच्चयावत् पदार्थों में यथागुण–यथाकर्म–प्रतिष्ठित हैं। 'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यम्' (वसिष्ठ) के अनुसार प्राकृतगुणात्मक चातुर्वर्ण्य सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थों के विश्वात्मक–आकृतिभावों की प्रतिष्ठा बन रहा है। आकृतिभाव यहां चतुरशीतिलक्ष (चौरासीलाख) हैं अतएव तन्निबन्धना जातियाँ (योनियाँ) यहां इतनी ही हैं वहां वर्ण केवल चार ही हैं। प्रत्येक जाति में जाति की प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक पदार्थ में गौण–प्रधानता से चारों वर्ण समन्वित हैं जिन चारों प्राकृत वर्णों में से प्रत्येक में एक वर्ण प्रधान रहता है शेष तीन वर्ण गौण रहते हैं। जो वर्ण प्रधान रहता है वह पदार्थ तद्वर्णनाम से ही प्राकृतजगत् में प्रसिद्ध हुआ

---

* महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (गीता)

है। उदाहरण के लिए–एक पलाशवृक्ष को ही लीजिए। इस पलाशजाति के वृक्ष में ब्राह्मणवर्ण ही क्योंकि प्रधानरूप से अभिव्यक्त है, अतएव इसे 'ब्राह्मणवृक्ष' ही मान लिया गया है–'पालाशो वै ब्रह्म' (शतपथ)। अतएव मानवजाति का ब्रह्मवर्णात्मक ब्राह्मणमानव इस अनुरूपता–सम्बन्ध से सावित्री–दीक्षाग्रहण (यज्ञोपवीत) में पलाशदण्डग्रहण का ही अधिकारी मान लिया गया है। प्रकृतिमूलक इस वर्णरहस्य का आधिदैविक–समन्वय न करने के कारण ही भ्रान्तिवश आज वर्ण, और जाति शब्द पर्य्याय बन गए हैं। इसी सांकर्य्य ने वर्णविप्लवमूलक वह उत्पात खड़ा कर दिया है जिसने प्राकृत पदार्थों की वर्णोत्पत्ति का, तथा तन्मूला जातियों की अभिव्यक्ति को सर्वात्मना ही अभिभूत कर लिया है।

३१०–वर्णसर्गचतुष्टयी के अशोदनवर्णसर्ग, एवं प्रवर्ग्यवर्णसर्ग–लक्षण दो प्रधान विवर्त–

चिदात्मसर्गात्मक, अव्ययात्मक अक्षरब्रह्मरूप प्रथम सर्ग परमात्मात्मक (अव्ययमात्रात्मक) अगोत्र–अवर्ण–अप्रज–अक्षय–लक्षण * अवर्णसर्ग है। चित्सर्गात्मक–अव्ययानुगत–अक्षरसर्गरूप द्वितीय सर्ग परापरमात्मात्मक (अक्षरमात्रात्मक) गोत्र–वर्ण–प्रवर्तक–ब्रह्म–क्षत्र–लक्षण 'अशोदनवर्ण' है। चेतनसर्गात्मक अक्षरात्मक–क्षरसर्गरूप तृतीयसर्ग अपरमात्रात्मक (क्षरमात्रात्मक) विट्–पौष्ण–लक्षण–'प्रवर्ग्यवर्ण' है। एवं अचेतनसर्गात्मक, अक्षरानुगत–क्षरसर्गरूप चतुर्थ सर्ग अवरवर्णात्मक 'अवरवर्णसर्ग' है। इसप्रकार सर्गरचना भी सर्गचतुष्टयी सर्वात्मना समन्वित हो रही है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

ब्राह्मीसृष्टिः	१–परमात्मात्मकः—चिदात्मसर्गः—स एव अवर्णसर्गः	–वर्णातीतसर्गः	महिमासर्गः
	२–परापरमात्मात्मकः–चित्सर्गः——स एव अशोदनवर्णसर्गः	–ब्रह्मवर्णः	
		(चातुर्वर्ण्यसर्गः)	
प्राकृती	३–अपरमात्मात्मकः–चेतनसर्गः—स एव विट्पौष्णसर्गः	–शूद्रवर्णः	प्राकृतसर्गः
	४–अपरमात्मानुगतः अचेतनसर्गः–स एव अवरवर्णसर्गः	–अवरवर्णसर्गः	

३११–अवर्णब्रह्मसात्मक ऋषिमानव के द्वारा प्राकृतधर्म्म का संस्थापन, एवं वर्ण–ब्राह्मणात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृत धर्म्म का संरक्षण—

अब उन मानव नामों के माध्यम से भी इन चारों सर्गों का समन्वय कर लीजिए, जिनके माध्यम से ही यह प्रतीकात्मक व्यामोहन संकलनरूप से समन्वित होने जारहा है। चिदात्मसर्गात्मक–परमात्मात्मक अवर्ण–

---

* यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं–सुसूक्ष्मं तदव्ययं, तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डकोपनिषत् १।६।) तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति, क्षत्रमक्षत्रं भवति०, (बृहदारण्यकोपनिषत्)

यह स्मरण रहे कि, मानसात्मक भावसर्ग का अव्ययात्मक चिदात्मसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है एवं भूम्यात्मक मनुसर्ग का अव्ययानुगत चित्सर्ग से प्रधान सम्बन्ध है। दोनों माने जायेंगे अव्ययसर्गात्मक महिमासर्ग ही, भावसर्ग ही मानससर्ग ही।

३०८–चिदात्मसर्ग–चित्सर्गात्मक पुरुषसर्ग का दिग्दर्शन—

अक्षरात्मक क्षरसर्ग को कहा जायगा चेतनसर्ग एवं इसे ही माना जायगा प्राणात्मक गुणसर्ग। अक्षरानुगत क्षरसर्ग को कहा जायगा अचेतनसर्ग एवं इसे ही माना जायगा वाङ्मय विकारसर्ग। चिदात्मसर्ग चित्सर्ग दोनों महिमासर्गों को कहा जायगा पुरुषसर्ग, एवं चेतनसर्ग–अचेतनसर्ग इन दोनों रोदोभावसर्गों को माना जायगा प्रकृतिसर्ग। और यही सर्गचतुष्टयी का दूसरा 'चिद्भावात्मक समन्वय' होगा, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

अव्ययसर्गौ —	१–अव्ययात्मक–क्षरसर्ग–एव–चिदात्मसर्गः–मानससर्गः–भावसर्गः* २–अव्ययानुगत–क्षरसर्गः–एव–चित्सर्गः–भूतिसर्गः–मनुसर्गः	—पुरुषसर्गः (१) —महिमान आसन्—
अक्षरसर्गौ —	३–अक्षरात्मक–क्षरसर्ग–एव–चेतनसर्गः–गुणसर्गः (अभिव्यक्तसर्गः) ४–अक्षरानुगत–क्षरसर्ग–एव–अचेतनसर्गः–विकारसर्गः (अव्यक्तसर्गः)	—प्रकृतिसर्ग (२) —रोदोभा आसन्—

३०९–वर्णभावनिबन्धना सर्गचतुष्टयी का स्वरूप-परिचय—

अब वर्णभाव की दृष्टि से उक्त चारों सर्गविवर्तों का समन्वय कीजिए। ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण-रूप प्राकृत–शक्तिभावों का ही नाम 'वर्णतत्त्व' है, जो प्राकृत–प्राणिक–सर्ग के चर–अचर–स्थावर–जङ्गम-सब प्रकार के पदार्थों में यथागुण–यथाकर्म–प्रतिष्ठित हैं। 'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यम्' (वसिष्ठः) के अनुसार प्राकृतगुणात्मक चातुर्वर्ण्य सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थों के विकारात्मक–आकृतिभावों की प्रतिष्ठा बन रहा है। आकृतिभाव जहाँ चतुरशीतिलक्ष (चौरासी लाख) हैं, अतएव तन्निबन्धना जातियाँ (योनियाँ) जहाँ इतनी ही हैं, वहाँ वर्ण केवल चार ही हैं। प्रत्येक जाति में, जाति की प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक पदार्थ में गौण–प्रधानता से चारों वर्ण समन्वित हैं। जिन चारों प्राकृत वर्णों में से प्रत्येक में एक वर्ण प्रधान रहता है, शेष तीन वर्ण गौण रहते हैं। जो वर्ण प्रधान रहता है, वह पदार्थ तद्वर्णनाम से ही प्राकृतजगत् में प्रसिद्ध हुआ

---

* महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (गीता)

है। उदाहरण के लिए-एक पलाशवृक्ष को ही लीजिए। इस पलाशजाति के वृक्ष में ब्राह्मवर्ण ही क्यों कि प्रधानरूप से अभिव्यक्त है, अतएव इसे 'ब्राह्मणवृक्ष' ही मान लिया गया है-'पलाशो वै ब्रह्म' (शतपथ)। अतएव मानवजाति का ब्रह्मवर्णात्मक ब्राह्मणमानव इस अनुरूपता-सम्बन्धसे सावित्री-दीक्षाकाल (यज्ञोपवीत) में पलाशदण्डग्रहण का ही अधिकारी मान लिया गया है। प्रकृतिमूलक इस वर्णरहस्य का आधिदैविक-समन्वय न करने के कारण ही भ्रान्तिवश आज वर्ण, और जाति शब्द पर्याय बन गए हैं। इसी तात्पर्य ने अहंकारमूलक यह उत्पात खड़ा कर दिया है, जिसने प्राकृत पदार्थों की वर्णोत्कृष्टता का, तथा तन्मूला जातियों की अभिव्यक्तियों को सर्वात्मना ही अभिभूत कर लिया है।

३१०-वर्णसर्गचतुष्टयी के अर्वाग्सर्गवर्णसर्ग, एवं प्रवर्ग्यवर्णसर्ग-लक्षण दो प्रधान विवर्त—

चित्सर्गात्मक, अव्ययात्मक अक्षरस्वरूप प्रथम सर्ग परमात्मात्मक (अव्ययब्रह्मात्मक) अगोत्र-अवर्ण-अशब्द-अचक्षु-लक्षण * अवर्णसर्ग है। चित्सर्गात्मक-अव्ययानुगत-अक्षरस्वरूप द्वितीय सर्ग परावरमात्मात्मक (अक्षरब्रह्मात्मक) गोत्र-वर्ण-प्रवर्तक-ब्रह्म-क्षत्र-लक्षण 'अर्वाग्सर्ग' है। चेतनसर्गात्मक अक्षरात्मक-क्षरभावात्मक तृतीयसर्ग अपरमात्मात्मक (क्षरमायात्मक) विट्-पोष्य-लक्षण-'प्रवर्ग्यवर्ण' है। एवं अचेतनसर्गात्मक अक्षरानुगत-क्षरसर्गरूप चतुर्थ सर्ग अवरवर्णात्मक 'अवरवर्णसर्ग' है। इसप्रकार सर्वदृष्ट्या भी सर्गचतुष्टयी सर्वात्मना समन्वित हो रही है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

महिमाभाव	१-परमात्मात्मक—चित्सर्गात्मसर्ग—स एव अवर्णसर्ग	-वर्णातीतसर्ग	महिमावर्णा
	२-परावरमायात्मक-चित्सर्ग——स एव अर्वाग्वर्णसर्गः	-ब्रह्मवर्ण	
		(चातुर्वर्ण्यसर्गः)	
प्राकृत	३-अपरमात्मात्मक-चेतनसर्ग—स एव विट्पोष्यसर्ग	-क्षत्रवर्ण	प्राकृतवर्णा
	४-अपरमात्मानुगत अचेतनसर्ग—स एव अवरवर्णसर्गः	-अवरवर्णसर्गः	

३११-अवर्णब्रह्मात्मक ऋषिमानव के द्वारा प्राकृतधर्म्म का संस्थापन, एवं वर्ण-ब्राह्मणात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृत धर्म्म का संरक्षण—

अब उन मानव नामों के माध्यम से भी इन चारों सर्गों का समन्वय कर लीजिए, जिनके माध्यम से ही यह सर्वात्मक व्यामोहन मंगलमयरूप से समन्वित होने जारहा है। चित्सर्गात्मक-परमात्मात्मक अवर्ण-

---

* यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं, तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डकोपनिषत् १।६।) यत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति, क्षत्रमक्षत्रं भवति०, (बृहदारण्यकोपनिषत्)

यह स्मरण रहे कि, मानसात्मक भावसर्ग का अव्ययात्मक चिदात्मसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है एवं भूम्यात्मक मनुसर्ग का अव्ययानुगत चित्सर्ग से प्रधान सम्बन्ध है। दोनों माने जायँगे अव्ययसर्गात्मक महिमासर्ग ही, भावसर्ग ही मानससर्ग ही।

३०८–चिदात्मसर्ग-चित्सर्गात्मक पुरुषसर्ग का दिग्दर्शन—

अक्षरात्मक क्षरसर्ग को कहा जायगा चेतनसर्ग, एवं इसे ही माना जायगा प्राणात्मक गुणसर्ग। अक्षरानुगत क्षरसर्ग को कहा जायगा अचेतनसर्ग एवं इसे ही माना जायगा वाङ्मय विकारसर्ग। चिदात्मसर्ग चित्सर्ग दोनों महिमासर्गों को कहा जायगा पुरुषसर्ग, एवं चेतनसर्ग–अचेतनसर्ग इन दोनों रोदोभावों को माना जायगा प्रकृतिसर्ग। और यही सर्गचतुष्टयी का पूर्ण चिद्भावात्मक समन्वय होगा जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

अव्ययसर्गः —	१–अव्ययात्मक–चरण–एवं–चिदात्मसर्ग–मानससर्ग–भावसर्गाः* २–अव्ययानुगत–अक्षरसर्ग–एवं–चित्सर्ग–ऋषिसर्ग–मनुसर्ग	—पुरुषसर्ग (१) —महिमान आसन्—
अक्षरसर्गः —	३–अक्षरात्मकः–क्षरसर्ग–एवं–चेतनसर्ग–गुणसर्गाः (अनन्तकालसर्गाः) ४–अक्षरानुगत–क्षरसर्ग–एवं–अचेतनसर्ग–विकारसर्गाः(सम्वत्सरकालसर्गाः)	—प्रकृतिसर्गाः (२) —रोदोभा आसन्—

३०९–वर्णभावनिबन्धना सर्गचतुष्टयी का स्वरूप–परिचय—

अब वर्णभाव की दृष्टि से उक्त चारों सर्गभित्तियों का समन्वय कीजिए। ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–रूप प्राकृत–शक्तिभावों का ही नाम 'वर्णोत्पत्ति' है जो प्राकृत–चातुर्वर्ण्य–के चर–अचर–स्थावर–जङ्गम–रूपात्मक पदार्थों में यथागुण–यथाकर्म–प्रतिष्ठित् है। 'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यम्' (वसिष्ठ) के अनुसार प्रकृत्यनुगतात्मक चातुर्वर्ण्य सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थों के विवर्तात्मक–आकृतिभावों की प्रतिष्ठा बन रहा है। आकृतिभाव जहाँ चतुरशीतिविध (चौरासीलाख) हैं अतएव तन्निबन्धना जातियाँ (योनियाँ) जहाँ इतनी ही हैं वहाँ वर्ण केवल चार ही हैं। प्रत्येक जाति में जाति की प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्येक पदार्थ में गौण–प्रधानता से चारों वर्ण समन्वित हैं जिन चारों प्राकृत वर्णों में से प्रत्येक में एक वर्ण प्रधान रहता है शेष तीन वर्ण गौण रहते हैं। जो वर्ण प्रधान रहता है वह पदार्थ तद्वर्णनाम से ही प्राकृतजगत् में प्रसिद्ध हुआ

---

* महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक–इमाः–प्रजाः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (गीता)

महिमानः	१–अव्यक्तसर्गानुगतः—मानवसर्ग एव—पुरुषसर्गः—ब्राह्मणमानवः २–महत्तत्वसर्गानुगतः—मानवसर्ग एव—मानवसर्गः—क्षत्रियमानवः	—महिमसर्गौ
प्राकृताः	३–त्रिपोष्णवर्गानुगतः—मानवसर्ग एव—मनुष्यसर्गः—वैश्यमानवः ४–अपरसर्गानुगतः——मानवसर्ग एव—नरसर्गः——शूद्रमानवः	—प्राकृतसर्गौ

यस्य ब्रह्म च, क्षत्रं च उभे भवत ओदन ।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद, यत्र स । एतद्वै तत् । (उपनिषत्)

२१४–स्वधर्म्म से अनुप्राणित चतुर्विध पुरुषार्थों का नामसंस्मरण—

क्या स्वरूप है उस स्वधर्म्म का जो 'स्वे–स्वे–कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' के अनुसार प्रकृतिभेदभिन्न पुरुषादि–नरान्त मानव के चार वर्गभेदों में विभक्त होकर चतुर्धा, एवं अवान्तर महिमाओं में विभक्त होकर अनेकधा विभक्त होरहा है ? प्रश्नोत्तर के समन्वय का अब प्रस्तुत खण्ड में अवसर नहीं है विस्तार किया । सम्भव हुआ तो सङ्कल्पित–'प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा' नामक अग्रिम खण्ड में इस दिशा में कुछ निवेदन करने की चेष्टा की जायगी । प्रकृत में तालिका मक समन्वय–सन्दर्भ–प्रकृति की दृष्टि से यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि प्राकृतधर्म्मभेदात्मक यह स्वधर्म्म भी वर्णचतुष्टयी के कारण क्रमशः ब्राह्मणधर्म्म–क्षत्रियधर्म्म–वैश्यधर्म्म–शूद्रधर्म्म भेद से चार ही भागों में विभक्त होरहा है, जिन इन चारों के ही पारिभाषिक नाम मोक्ष धर्म्म काम अर्थ–रूप से प्रसिद्ध हैं ।

२१५–आत्मपर्वानुगत मोक्षभाव, बुद्धिपर्वानुगत धर्म्मभाव, मनःपर्वानुगत कामभाव, शरीरपर्वानुगत अर्थभाव, एवं चतुष्पर्वानुगत पुरुष-मानव-मनुष्य-नर-भावों का चतुर्विध स्वधर्म्मों से क्रमिक-सम्बन्ध—

धर्म्म–काम–अर्थ–गर्भित–'मोक्ष' नामक प्रथम धर्म्म चतुष्पर्वा मानव के प्रथमपर्वात्मक 'आत्मपर्व' से अनुप्राणित रहता हुआ 'आत्मधर्म्म' है । चतुर्विध मानवसर्गों में से आत्मनिष्ठ 'ब्राह्मणमानव' नामक 'पुरुष' का इसी आत्मधर्म्म से प्रधान सम्बन्ध है । अतएव इसे ही 'पुरुष' (ब्राह्मण) का प्रमुख स्वधर्म्म मान लिया गया है । मोक्ष–काम–अर्थ–गर्भित–'धर्म्म' नामक द्वितीय धर्म्म मानव के द्वितीय पर्वात्मक 'बुद्धिपर्व' से अनुप्राणित रहता हुआ 'बुद्धिधर्म्म' है । बुद्धिनिष्ठ 'क्षत्रियमानव' नामक 'मानव' का इसी बुद्धिधर्म्म से

यह स्मरण रहे कि मानसात्मक भावसर्ग का अव्ययात्मक चिदात्मसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है, एवं ऋष्यात्मक मनुसर्ग का अव्ययानुगत पितृसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है। दोनों माने जायँगे अव्ययसर्गात्मक महिमासर्ग ही, भावसर्ग ही मानससर्ग ही।

३०८–चिदात्मसर्ग–पितृसर्गात्मक पुरुषसर्ग का दिग्दर्शन—

अक्षरात्मक क्षरसर्ग को कहा जायगा चेतनसर्ग एवं इसे ही माना जायगा प्राणात्मक गुणसर्ग। अक्षरानुगत क्षरसर्ग को कहा जायगा अचेतनसर्ग एवं इसे ही माना जायगा वाङ्मय विकारसर्ग। चिदात्मसर्ग पितृसर्ग दोनों महिमासर्गों को कहा जायगा पुरुषसर्ग, एवं चेतनसर्ग–अचेतनसर्ग इन दोनों रोदोभावों को माना जायगा प्रकृतिसर्ग। और यही सर्गचतुष्टयी का पूर्व 'विश्वभावात्मक समन्वय' होगा जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

महिमासर्गौ—	१–अव्ययात्मक–क्षरसर्ग–एवं–चिदात्मसर्गः–मानससर्गः–भावसर्गः* २–अव्ययानुगत–अक्षरसर्गः–एवं–पितृसर्गः–ऋषिसर्गः–मनुसर्गः	—पुरुषसर्ग (१) —महिमान आसन्—
स्वरूपसर्गौ—	३–अक्षरात्मकः–क्षरसर्गः–एवं–चेतनसर्गः–गुणसर्गः (अनन्यजातसर्गः) ४–अक्षरानुगत–क्षरसर्गः–एवं–अचेतनसर्गः–विकारसर्गः (सम्वत्सरजातसर्गः)	—प्रकृतिसर्ग (२) —रोदसी आसन्—

३०९–वर्णभावनिबन्धना सर्गचतुष्टयी का स्वरूप–परिचय—

अब वर्णभाव की दृष्टि से उक्त चारों सर्गभित्तियों का समन्वय कीजिए। ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण्य–रूप प्राकृत–शक्तिभावों का ही नाम वर्णतत्त्व है जो प्राकृत–प्रातिस्विक–धर्म–के चर–अचर–स्थावर–जङ्गम–स्वभावात् पदार्थों में यथागुण–यथाकर्म–प्रतिष्ठित हैं। 'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यम्' (वसिष्ठः) के अनुसार प्राकृतगुणात्मक चातुर्वर्ण्य सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थों के विश्वरूपात्मक–आकृतिभावों की प्रतिष्ठा बन रहा है। आकृतिभाव जहाँ चतुरशीतिविध (चौरासीलाख) हैं अतएव तन्निबन्धना जातियाँ (योनियाँ) जहाँ इतनी ही हैं वहाँ वर्ण केवल चार ही हैं। प्रत्येक जाति में जाति की प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्येक पदार्थ में गौण–प्रधानता से चारों वर्ण समन्वित हैं। जिन चारों प्राकृत वर्णों में से प्रत्येक में एक वर्ण प्रधान रहता है शेष तीन वर्ण गौण रहते हैं। जो वर्ण प्रधान रहता है वह पदार्थ तद्वर्णनाम से ही प्राकृतजगत् में प्रसिद्ध हुआ

---

* महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक–इमाः–प्रजाः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (गीता)

और यही शरीर-मनो-प्राण-प्रधान 'प्रजातन्त्रीय-गणतन्त्र' की, किंवा गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्र की स्वरूप-परिभाषा है। अर्थ-काम-प्रधान राष्ट्र ही गणतन्त्रीया प्रजातन्त्रपद्धति का अनुगामी बना रहता है जिस के सम्पूर्ण विधि-विधान परानुकरणगर्भित-परानुसरण पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। राष्ट्र का बाह्य शरीर, अधिक से अधिक मानस अनुरञ्जन-भाव ही इस तन्त्र में व्यक्त रहता है जबकि राष्ट्र की बुद्धि, और राष्ट्र का प्रभुत्वसमर्थ आत्मा ये दोनों तो यन्त्रमुग्ध-प्रसुप्त ही बने रहते हैं इस अनुसरणात्मक-गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्र में भी।

३१९—बुद्धिप्रधान मानवों का राजन्यत्व, तदनुगत आचरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित राजतन्त्र

(३)—बुद्धिनिष्ठ अतएव वैय्यक्तिक-पारिवारिक-स्वार्थ-साधनपूर्वक सामाजिक (प्रान्तीय) स्वार्थनिष्ठ, शरीर-मनो-बुद्धि-धर्म्मा क्षत्रियमानव (मानव) का अभ्युदय-निःश्रेयस् मोक्ष-काम-अर्थ-गर्भित बुद्ध्यनुगत 'धर्म्म' धर्म्मरूप 'आचरणधर्म्म' पर ही अवलम्बित है जिसकी मूलप्रतिष्ठा है-'धर्म्मदनुशासनम्'। अपने वैय्यक्तिक-पारिवारिक-तथा प्रान्तीय (सामाजिक) स्वार्थ के अतिरिक्त इस आचरणधर्म्म में भी सम्पूर्ण राष्ट्र के हित का भाव समावेश नहीं है। और यही शरीर-मनो-बुद्धि-भावप्रधान राजन्यतन्त्र की स्वरूप-परिभाषा है। आत्मनिष्ठा से वञ्चित ऐसे राजतन्त्र के कारण ही तो ऐसे राजतन्त्र से उद्भावित प्रान्तीयता से ही तो-'राजा कौन बने ?' मूलक व्यामोहन से राष्ट्रीय संगठन छिन्न भिन्न हो जाता है, परिणाम-स्वरूप परसत्तायें ऐसे शिथिल-असंघटित राज्य-पदलालुप राष्ट्र को स्वाधिकार में ही लेलिया करतीं हैं।

३२० आत्मप्रधान पुरुषों का नीतिकृत्यत्व, तदनुगत अनुशीलनधर्म्म, एवं तदनुप्राणित नीतितन्त्र, तथा तालिकाओं के माध्यम से स्वधर्म्म-चतुष्टयी का समन्वय-प्रयास—

(४)—आत्मनिष्ठ अतएव वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-स्वार्थ साधनपूर्वक राष्ट्रीय स्वार्थनिष्ठ शरीर-मनो-बुद्धि-आत्म-धर्म्मा ब्राह्मणमानव (पुरुष) का अभ्युदय-निःश्रेयस् धर्म्म-काम-अर्थ-गर्भित आत्मानुगत-'मोक्षधर्म्म' रूप अनुशीलन पर ही अवलम्बित है जिस की मूलप्रतिष्ठा है-एषा सवित्'। अतएव यह वर्ग आदेश-उपदेश-अनुशासन तीनों की सीमाओं से असंस्पृष्ट है। इस आत्मनिष्ठ का वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक स्वार्थ प्रत्येक दशा में राष्ट्रीय स्वार्थ को ही मूलप्रतिष्ठा बनाए रहता है। जिन वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-स्वार्थ-साधनों से इसे राष्ट्र का अहित प्रतीत होने लगता है तत्क्षण में उन सब का परित्याग कर यह सर्वतोभावेन राष्ट्रहित को ही अपना अनुशीलनधर्म्म प्रणतभाव से समर्पित कर देता है। भूयो भूयः हम प्रणामाञ्जलियाँ ही समर्पित कर रहे हैं आस्था-श्रद्धा-पूर्वक ऐसे राष्ट्रहितनिष्ठ, राष्ट्रहितनिष्ठता के ही माध्यम से विश्वहितनिष्ठ बने रहने वाले ब्राह्मणमानव के लिए पुनः पुनः। एवं इस प्रणति-समर्पण के साथ ही उपरत हो रही है यह स्वधर्म्मपरिभाषा जिसका तालिकात्मक समन्वय इत्थं-रूपेण सम्भव है—

सर्गानुबन्धी–अप्राकृत–ऋषिमानव का ही नाम है 'पुरुष', एवं यही है परिहास यह विदग्धकर्म, जिसे हम अगोत्र–अवर्ण्य किन्तु गोत्र–वर्ण–प्रवर्तक, सर्गातीत–किन्तु सर्गप्रवर्तक अध्यात्मक–अवरवर्ण कह रहे हैं, जिस की उपनिषदोंने अकर्मकत्व से ही स्वरूप–व्याख्या की है। तथापि इस का अर्थ यह नहीं है कि, ब्राह्मण–वर्णोचित आचारधर्म का ऋषिमानव परित्याग कर देते हैं। अपितु अपने अनुशीलनभाव से इनकी आचार–पद्धति तो सदा ही जागरूक बनी ही रहती है। ये ही तो आचारधर्म्मात्मक आर्ष–मानवधर्म के महान् स्तम्भ हैं। वर्णब्राह्मण तथा ऋषिब्राह्मण में अन्तर है केवल सिद्धावस्था का, तथा साध्यावस्था का। ब्राह्मणमानव की पूर्वावस्था का नाम ही वर्णब्राह्मण है एवं इसी की उत्तरावस्था का नाम अवर्णब्राह्मण है। योगारूरुक्षु ब्राह्मण वर्णब्राह्मण है एवं योगारूढ ब्राह्मण अवर्णब्राह्मण है। वर्णब्राह्मण आचार से नियन्त्रित है एवं आचार अवर्ण–ब्राह्मण से नियन्त्रित है। वर्णब्राह्मण आचारधर्म्म में प्रतिष्ठित है एवं आचारधर्म्म अवर्णब्राह्मण में (ऋषिमानव में) प्रतिष्ठित है। वर्णब्राह्मण धर्म्मशील है एवं अवर्णब्राह्मण धर्म्मप्रवर्तक है।

३१२–सर्गानुबन्धिनी त्रैवर्णिक–प्रजा से अनुप्राणित मानव–मनुष्य–नर–भावों का समन्वय—

अब दूसरे पक्ष का समन्वय कीजिए। चित्सर्गात्मक–परावरभावात्मक–अमृतमवर्ण–सर्गानुबन्धी प्राकृत वर्णमानव (ब्राह्मण और क्षत्रिय मानव) का ही नाम है–'मानव' एवं यही दूसरा सर्गविवर्त है। चेतनसर्गात्मक–अवरभावात्मक–विट–पौष्ण–सर्गानुबन्धी प्राकृत वर्णसर्गानुबन्धी प्राकृत वर्णमानव (वैश्य, और शूद्र–मानव) का ही नाम है–'मनुष्य'। एवं अचेतनसर्गात्मक–अवरवर्णसर्गानुबन्धी वैकारिक–अवरवर्णमानव (अन्त्यज–अन्त्यावसायी–दस्यु–म्लेच्छ–रूपेण चार अवरवर्णों में विभक्त अवरवर्णमानव) ही अवरवर्णात्मक 'नर' है। यह संस्मरणीय है कि, चतुर्थ सर्गव्यामोहनासक्ति से ऋषिमानव नरमानव कोटि में आजाता है, तो नर मानव सोपानपरम्परया प्रथमसर्गानुगति से ऋषिमानवकोटि में आसकता है। यही मानव इन सर्गभेदों से नर–मनुष्य–मानव–पुरुष–आदि सभी कुछ बन सकता है। अन्ततोगत्वा यही नर ऋषिकोटि का भी अतिक्रमण कर नारायणभाव में भी परिणत हो सकता है इस तथाकथित पूर्वोक्त आचारधर्म्म के माध्यम से।

३१३–प्रकृतिसिद्ध–वर्णधर्म्मात्मक 'स्वधर्म्म' से अनुप्राणिता वर्णचतुष्टयी, एवं 'सहज कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्' का समन्वय—

यदि प्रकृतिसिद्ध वर्णधर्म्मनिष्ठ स्वधर्म्मात्मक, अपने जन्मानुबन्धी प्राकृत–व्यवस्थित विधायकर्म्म का परित्याग कर अपनी कल्पना से ही यह अपने आपको सर्वकुछ मान बैठने की भूल कर बैठता है तो उस सर्गभेद–विरोधिनी भ्रान्ति से तो फिर इस नर का प्राकृतिक नरत्व भी उच्छिन्न हो जाता है एवं उस दशा में तो इसे स्वैराचार–परायण पशु की कोटि में ही अपना नामोल्लेख करा लेना पड़ता है। ब्राह्मणपुरुष, क्षत्रियमानव वैश्यमनुष्य एवं शूद्रनर चारों स्व–स्व–प्रकृतिसिद्ध–विभक्त–स्व–स्वधर्म्मात्मक–स्व–स्वस्वरूप–कर्म्मों में कर्म्मनैरन्तर्यात्मक–योगाभ्यासेन एकनिष्ठ बनते हुए समानरूपेण अभ्युदय–निःश्रेयस् के उपभोक्ता बन जाते हैं। 'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'–'स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'–'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावह'–'सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्' इत्यादि आर्षवचन सर्गभेदमूलक–प्रकृतिभेदभिन्न इसी स्वधर्म्म का समन्वय व्यक्त कर रहे हैं।

तरा दशविधक्षेत्रवेदनामनुभूय स गर्भाद् गर्भं, जन्मतो जन्म, मरणाद् मरण, दु'खाद् दुःख, पुन' पुनश्चतुर्गतिदु ख माप्नुवन् दुर्लभबोधिता दीर्घससारिता च मासवान्॥३॥

अविनीतस्य सदृष्टान्तमवस्थामाह—

मूलम्—जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो ।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ ॥ ४ ॥

छाया—

यथा शुनी पूतिकर्णी निष्कास्यते सर्वत ।
एव दु'शील' प्रत्यनीकः मुखारिर्निष्कास्यते ॥ ४ ॥

'जहा०' इत्यादि—यथा—पूतिकर्णी=पूती=दुर्गन्धवन्तौ कर्णौ यस्या' सा तथोक्ता, कर्णगतानेकविषमव्रणपरिपाकजनितदुस्सहदुर्गन्धपूयविकृतरक्तस्रावस्थितकृमिमक्षिकानिकरदशनोद्भूततीव्रतरवेदनाव्याकुलतया प्रतिक्षणमितस्ततो भ्रमन्तीत्यर्थं , शुनी=कुक्कुरी, सर्वश'=सर्वप्रकारेण प्रतिस्थानात् निष्कास्यते=नि सार्यते,

और घोर नरक में जाकर नारकी की पर्याय से उत्पन्न हुआ। वहा उसने दश प्रकार की तीव्रतर क्षेत्रसबधी वेदना को पाया। वहाँ की स्थिति को समाप्त कर जब वह वहा से निकला तो भी इस के दु खों का अन्त नहीं आया। एक गर्भ से दूसरे गर्भ में पहुचना और वहा के कष्टों को भोगना, फिर वहा से मर कर पुन जन्म धारण करना और कष्टों को भोगना, इस प्रकार अनतससारी बने हुए इस क्षुद्रबुद्धि की आत्मा को बोधिका लाभ दुर्लभ हो गया ॥ ३ ॥

अविनीत की अवस्था को दृष्टान्त द्वारा सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—
'जहा सुणी०' इत्यादि ।

દસ પ્રકારની તીવ્રતર ક્ષેત્ર સબધી વેદનાઓ સહેવી પડી. એ સ્થિતિ ભોગવી એ જ્યારે ત્યાથી નિકળ્યો છતા પણ તેના દુ ખોનો અત ન આવ્યો એક ગર્ભમાથી બીજા ગર્ભમા જવું અને ત્યાના કષ્ટ ભોગવવા. એક સ્થળેથી મરી બીજે સ્થળે ફરી જન્મ ધારણ કરવો અને કષ્ટો ભોગવવા. આ પ્રકારે અનન્ત સસારી બનેલ તે ક્ષુદ્રબુદ્ધિના આત્માને બોધિનો લાભ દુર્લભ બની ગયો.

અવિનીતની અવસ્થાને દષ્ટાત દ્વારા સૂત્રકાર પ્રદર્શિત કરે છે—'जहा सुणी' ઈત્યાદિ.

प्रधान सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (क्षत्रिय) का मुख्य स्वधर्म्म मान लिया गया है । मोक्ष-धर्म-अर्थ-गर्भित 'काम' नामक तृतीय धर्म्म मानव के तृतीय पर्वात्मक 'मनःपथ' से अनुप्राणित रहता हुआ 'मनोधर्म्म' है। मनोनिष्ठ 'वैश्यमानव' नामक 'मनुष्य' का इसी मनोधर्म्म से क्योंकि प्रधान सम्बन्ध है । अतएव इसे ही मानव (वैश्य) का प्रधान स्वधर्म्म मान लिया गया है। मोक्ष-धर्म्म-काम-गर्भित 'अर्थ' नामक चतुर्थ धर्म्म मानव के चतुर्थ पर्वात्मक 'शरीरपथ' से अनुप्राणित रहता हुआ 'शरीरधर्म्म' है । शरीरनिष्ठ 'शूद्रमानव' नामक 'नर' का इसी शरीरधर्म्म से क्योंकि विशेष सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (शूद्र) का प्रधान स्वधर्म्म मान लिया गया है। त्रिगर्भित 'मोक्ष' नामक स्वधर्म्म प्रथम विद्यात्मसर्ग से त्रिगर्भित 'धर्म्म' नामक स्वधर्म्म द्वितीय चित्सर्ग से त्रिगर्भित ही 'काम' नामक स्वधर्म्म तृतीय चेतनसर्ग से एवं त्रिगर्भित ही 'अर्थ' नामक स्वधर्म्म चतुर्थ अचेतनसर्ग से उसी क्रमानुपात से समन्वित है और यही क्रम से इति पर्य्यन्त के शास्त्रीय-चतुर्विध-'आचारधर्म्मों' का संक्षिप्त स्वरूप-दिग्दर्शन है।

३१६-पुरुषात्मानुगत अनुशीलनधर्म्म, मानवबुद्ध्यनुगत आचरणधर्म्म, मनुष्यमनोऽनुगत अनुसरणधर्म्म, नरशरीरानुगत अनुकरणधर्म्म, एवं स्वधर्म्म के महिमाभाव-

ये ही चार स्वधर्म्म अत्यन्त-रहस्यपूर्ण तत्त्व का स्पष्ट करने वाले क्रमशः अनुशीलन आचरण अनुसरण अनुकरण इन पारिभाषिक नामों से समन्वित हैं। आत्मानुगत मोक्षधर्म्म का अनुशीलन ही होता है बुद्ध्यनुगत धर्म्म का आचरण ही होता है मनोऽनुगत कामधर्म्म का अनुसरण ही होता है एवं शरीरानुगत अर्थधर्म्म का अनुकरण ही होता है।

३१७-शरीरप्रधान नरों का प्रजातन्त्र, तदनुगत अनुकरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित प्रजातन्त्र-

(१) शरीरनिष्ठ अतएव वैयक्तिक स्वार्थमात्रनिष्ठ शरीरधर्म्मा शूद्रमानव (नर) का अभ्युदय-निःश्रेयस् (चतुर्विधा पुरुषार्थसिद्धि) मोक्ष-धर्म्म-काम-गर्भित शरीरानुगत अर्थधर्म्मात्मक अनुकरणधर्म्म पर ही अवलम्बित है जिसकी मूलप्रतिष्ठा है-'एष आदेशः'। अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त इस अनुकरणधर्म्म में परिवार-समाज-राष्ट्र-हितों का कोई समावेश नहीं है। और यही शरीरमात्रप्रधान 'प्रजातन्त्र' की स्वरूप-परिभाषा है। अर्थप्रधान राष्ट्र ही प्रजातन्त्रपद्धति का अनुगामी बना रहता है जिसके फलस्वरूप विधि-विधान 'परानुकरण' पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। राष्ट्र का मात्र शरीरभाग ही इस तन्त्र में गच्छता-स्वसन-रूप से व्यक्त रहता है जबकि राष्ट्र का मन राष्ट्र की बुद्धि राष्ट्र का स्वतन्त्र आत्मा तीनों ही अन्तर्मुख-प्रसुप्त ही बने रहते हैं इस अनुकरणात्मक-प्रजातन्त्र में।

३१८-मनःप्रधान मनुष्यों का गणतन्त्र, तदनुगत अनुसरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित गणतन्त्र

(२)-मनोनिष्ठ अतएव वैयक्तिक-स्वार्थ साधनपूर्वक पारिवारिक स्वार्थनिष्ठ शरीर-मनोधर्म्मा वैश्यमानव (मनुष्य) का अभ्युदय-निःश्रेयस् मोक्ष-धर्म्म-अर्थ-गर्भित मनोऽनुगत-कामधर्म्मात्मक 'अनुसरणधर्म्म' पर ही अवलम्बित है जिस की मूलप्रतिष्ठा है-'एष उपदेशः'। अपने वैयक्तिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ के अतिरिक्त इस अनुसरणधर्म्म में समाज तथा राष्ट्र के हितों का कोई समावेश नहीं है।

और यही शरीर-मनो-भाव-प्रधान प्रजातन्त्रीय-गणतन्त्र की, किंवा गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्र' की स्वरूप परिभाषा है। अर्थ-काम-प्रधान राष्ट्र ही गणतन्त्रीया प्रजातन्त्रपद्धति का अनुगामी बना रहता है, जिस के सम्पूर्ण विधि-विधान परानुकरणगर्भित-परानुसरण पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। राष्ट्र का बाह्य शरीर, अधिक से अधिक मानस अनुरञ्जन-भाव ही इस तन्त्र में व्यक्त रहता है, क्योंकि राष्ट्र की बुद्धि और राष्ट्र का 'अनुकम्पात्मक' आत्मा ये दोनों तो परानुग-प्रमुख ही बने रहते हैं इस अनुसरणात्मक-गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्र में भी।

३१९-बुद्धिप्रधान मानवों का राजन्यत्व, तदनुगत आचरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित-राजतन्त्र

(३)-बुद्धिनिष्ठ अतएव वैय्यक्तिक-पारिवारिक-स्वार्थ-साधनपूर्वक सामाजिक (प्रान्तीय) स्वार्थनिष्ठ शरीर-मनो-बुद्धि-धर्म्मा क्षत्रियमानव (मानव) का अभ्युदय-निःश्रेयस् मोक्ष-काम-अर्थ-गर्भित बुद्ध्यनुगत धर्म्म' धर्म्मरूप 'आचरणधर्म्म' पर ही अवलम्बित है जिसकी मूलप्रतिष्ठा है-'एवदनुशासनम्'। अपने वैय्यक्तिक-पारिवारिक-तथा प्रान्तीय (सामाजिक) स्वार्थ' के अतिरिक्त इस आचरणधर्म्म में भी सम्पूर्ण राष्ट्र के हित का कोई समावेश नहीं है। और यही शरीर-मनो-बुद्धि-भावप्रधान राजन्यतन्त्र की स्वरूप-परिभाषा है। आत्मनिष्ठा से वञ्चित ऐसे राजतन्त्र के कारण ही तो, ऐसे राजतन्त्र से उद्भाविता प्रान्तीयता से ही तो-'राजा कौन बनें?' मूलक व्यामोहन से राष्ट्रीय संघटन छिन्न भिन्न हो जाता है, परिणाम-स्वरूप परसत्तायें ऐसे शिथिल-असंघटित राज्य-पदलोलुप राष्ट्र को स्वाधिकार में ही लेलिया करती हैं।

३२० आत्मप्रधान पुरुषों का नीतिकुशलत्व, तदनुगत अनुशीलनधर्म्म, एवं तदनुप्राणित नीतितन्त्र, तथा तालिकाओं के माध्यम से स्वधर्म्म-चतुष्टयी का समन्वय-प्रयास—

(४)-आत्मनिष्ठ अतएव वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-स्वार्थ साधनपूर्वक राष्ट्रीय स्वार्थनिष्ठ शरीर-मनो-बुद्धि-आत्म-धर्म्मा ब्राह्मणमानव (पुरुष) का अभ्युदय-निःश्रेयस् धर्म्म-काम-अर्थ-गर्भित आत्मानुगत-'मोक्षधर्म्म रूप अनुशीलन पर ही अवलम्बित है जिस की मूलप्रतिष्ठा है-'एषा संवित्'। अतएव यह वर्ग आदेश-उपदेश-अनुशासन तीनों की सीमाओं से असंस्पृष्ट है। इस आत्मनिष्ठ का वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक स्वार्थ' प्रत्येक दशा में राष्ट्रीय स्वार्थ को ही मूलप्रतिष्ठा बनाए रहता है। जिन वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-स्वार्थ-साधनों से इसे राष्ट्र का अहित प्रतीत होने लगता है क्षणमात्र में उन सब का परित्याग कर यह सर्वतोभावेन राष्ट्रहित को ही अपना अनुशीलनधर्म्म अनन्यभाव से समर्पित कर देता है। भूयो भूयः हम प्रणामाञ्जलियाँ ही समर्पित कर रहे हैं आस्था-श्रद्धा-पूर्वक ऐसे राष्ट्रहितनिष्ठ राष्ट्रहितनिष्ठता के ही माध्यम से विश्वहितनिष्ठ बने रहने वाले ब्राह्मणमानव के लिए पुनः पुनः। एवं इस भक्ति-समर्पण के साथ ही उपरत हो रही है यह स्वधर्म्मपरिभाषा जिसका तालिकात्मक समन्वय इत्थं-रूपेण सम्भव है—

ब्रह्म—क्षत्रौ	१—चिदात्मकर्मानुगतः—अनुशीलनधर्मा—ब्राह्मणस्य स्वधर्मः	[मोक्षात्मकः]		प्रतिसञ्चरधर्मौ
	२—चित्कर्मानुगतः——आचरणधर्मा—क्षत्रियस्य स्वधर्मः	[धर्मात्मकः]		
विट्—शूद्रौ	३—चेतनकर्मानुगतः——अनुसरणधर्मा—वैश्यस्य स्वधर्मः	[कामात्मकः]		प्रतीक्षधर्मौ
	४—अचेतनकर्मानुगतः—अनुकरणधर्मा—शूद्रस्य स्वधर्मः	[अर्थात्मकः]		

१—शरीर—मनो—बुद्धि—गर्भितः—आत्मनिष्ठः—ब्राह्मणमानवः [पारलौकिकनिष्ठः] ।

२—शरीर—बुद्धि—आत्म—गर्भितः—बुद्धिनिष्ठः—क्षत्रियमानवः [समाज—राष्ट्र—हितनिष्ठः] ।

३—शरीर—बुद्धि—आत्म—गर्भितः—मनोनिष्ठः—वैश्यमानवः [परिवारहितनिष्ठः] ।

४—मनो—बुद्धि—आत्म—गर्भितः——शरीरनिष्ठः—शूद्रमानवः [वैयक्तिकहितनिष्ठः] ।

१—पारलौकिकनिष्ठो ब्राह्मण एव पुरुषः—सविदनुगतः [प्रज्ञा संवित्] ।

२—राष्ट्रहितनिष्ठः क्षत्रिय एव मानवः—अनुशासनानुगतः [एतदनुशासनम्] ।

३—परिवारहितनिष्ठो वैश्य एव मनुष्यः—उपदेशानुगतः [एष उपदेशः] ।

४—वैयक्तिकहितनिष्ठः शूद्र एव नरः—आदेशानुगतः [एष आदेशः] ।

१—संविदनुगतं—नैष्ठिकत्वम्—(ब्राह्मणस्यैवात्मनिष्ठस्य)—मोक्षप्रधानम्—पारलौकिकम् ।

२—अनुशासनानुगतं—शासकत्वम्—(क्षत्रियस्यैव बुद्धिनिष्ठस्य)—धर्मप्रधानम्—राष्ट्रीयम् ।

३—उपदेशानुगतं—पालकत्वम्—(वैश्यस्यैव मनोनिष्ठस्य)—कामप्रधानम्—पारिवारिकम् ।

४—आदेशानुगतं—सेवकत्वम्—(शूद्रस्यैव शरीरनिष्ठस्य)—अर्थप्रधानम्—वैयक्तिकम् ।

३२१–पौरुष, तथा भाग्य के अनुबन्ध से सर्गचतुष्टयी का स्वरूपोपक्रम, एवं 'पौरुष' की स्वरूप-परिभाषा —

अब पौरुष और भाग्य की दृष्टि से भी सर्गचतुष्टयी का समन्वय क्यों न कर लिया जाय ? । अवश्य कर लिया जाय, जिस पुरुषार्थ, और भाग्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली महती समस्या का पूर्वखण्डों में यत्र तत्र सक्षेप से, तथा विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है । 'मनःश्रियश्च ये मर्त्यं भविष्यन्त्वा मन्यन्ते मनुष्याः' इस श्रुति-सिद्धान्तमूलक अनन्तात्मप्रज्ञानुगत, सर्वशक्तिसमन्वित 'पौरुष' के लिए कुछ भी असम्भव इसलिए नहीं है कि, समस्त प्राकृतिक सर्गों का महिमात्मक [आधिदैविक], तथा परिणामात्मक [आधिभौतिक] क्रम-संस्थान इनका करतलगत ब्रह्मविद्याविद् आत्मनिष्ठ अध्यात्मा मानव के लिए सर्वथा विज्ञात ही बना रहता है । अतएव यह कालानुबन्धी–दिग्देशानुबन्धी–भाग्य का वशवर्ती न रह कर भाग्य को वश में रखता हुआ–'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' ही बन जाता है । अव्ययपुरुषानुगत सत्यसङ्कल्प, एवं तदनुगत सत्यकर्मानुष्ठान इसके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण कर देते हैं– यं यं काममयते, तं तं समाप्नोति ।

३२२–दिग्देशकालानुप्राणिता भूताभिव्यक्ति, एवं भाग्यवादी, तथा पुरुषार्थनिष्ठ में प्राकृतिक विभेद —

यह ठीक है कि दिग्देशकालानुबन्धों के बिना व्यक्त भूतभाव अभिव्यक्त नहीं हुआ करते । इस दिग्देशकालाधीनता का नाम ही तो भाग्य किंवा भाग्यवाद है । अवश्य ही अव्ययपुरुषानुगत आत्मनिष्ठ ब्रह्मवित् को भी अनुगमन तो भाग्यवाद के मूलप्रतिष्ठारूप दिग्देशकालानुबन्धों का करना ही पड़ता है । किन्तु भाग्यवादी में और इस अव्ययपुरुषनिष्ठ पौरुषशाली ब्रह्मविद्वान् में अन्तर केवल इतना सा है कि, भाग्यवादी जहाँ दिग्देशकालाधीन है, वहाँ पौरुषशाली मानव सत्यसङ्कल्पानुसार ऐच्छिक दिग्देशकाल तत्काल अभिव्यक्त कर लेता है । इसलिए कहतेहैं कि, वहाँ भाग्यवादी दिग्देशकाल के गर्भ में रहने से दिग्देशकालाधीन है । यह स्वयं अपनी इच्छा से न चल सकता, न सोच सकता न कुछ कर ही सकता । अपितु काल ही इसका वहन करता रहता है । अतएव कालगति के अनुसार ही इसे अपने व्यक्त जीवन का यापन करते रहना पड़ता है जैसाकि कालसूक्त के–'कालो अश्वो वहति' इत्यादि वाक्याथ –समन्वय–प्रसङ्ग में विस्तार से बतलाया जाचुका है । वहाँ ठीक इसके विपरीत ब्रह्मवित् क्रान्तदर्शी मनीषी कवि अपने प्राकृतरूप से काल के गर्भ में रहता हुआ भी कालातीत अनन्ताव्ययपुरुषलक्षणा अमाहृत–कालातीत स्वरूप से काल को स्वगर्भ में ही प्रतिष्ठित रखता है जैसाकि उसी मन्त्र के–'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' इत्यादि उत्तर–वाक्य से तत्रैव स्पष्ट किया जाचुका है ।

३२३–पुरुषार्थक्षेत्रानुगता दिग्देशकालमर्य्यादा का समर्थन —

यद्यपि इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि इस कालातीत पौरुषशाली ब्रह्मवित् के संकल्प दिग्देशकाल की सीमा से परिभूत केवल भावजगत् में ही, केवल सङ्कल्परूप से ही पूर्ण हो जाते हैं जैसाकि तत्त्वमीमांसकोंने कुछ ऐसा सा ही मान रक्खा है ।

३२४–पौरुषशाली महामानवों की सत्यसकल्पसिद्धि पर पूर्ण आस्था, किन्तु प्राकृत–स्वलमर्य्यादानुगता उनकी दिग्देशकालानुगति का समन्वय—

हम कदापि उन पौरुषशाली महामानवों की इस शक्ति में कोई शङ्का नहीं रख रहे कि, यदि वे चाहें तो बिना दिग्देशकालानुबन्धों के भी उनके सत्यसकल्पमात्र से ही दिग्देशकालात्मक–व्यक्त–मूर्त्तमावों के बिना भी उनकी तृप्ति–पुष्टि–शान्ति के कारण बन सकते हैं। कुछ भी असम्भव नहीं है उनके लिए। अपितु उनका महिमामय कालस्वरूप ही यह प्रमाणित कर रहा है कि, उनका प्रत्येक सङ्कल्प उन के द्वारा अभिव्यक्त–मर्य्यादित कालचक्र की सीमा में दिग्देशानुबन्ध से ही सम्पन्न होना चाहिए। क्या वे स्वयं अपने लिए, तथा अपने से अभिन्न अनपेक्षाओं के लिए अपने ही संकल्प से अभिव्यक्त अपने ही महिमामय दिग्देश कालानुबन्धों की या उपेक्षा कर देंगे ?। कदापि नहीं।

३२५–अवतारपुरुषों के दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादित इतिवृत्त, एवं तदपरिचित–चमत्कारव्यामोहनासक्त आज के सन्त–सिद्धों की दिग्देशकालानुगता आचार निष्ठा के प्रति अवहेलना—

अवतारपुरुषों का दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादित लीलावृत्त कौन नहीं जानता ?। यदि स्वयं लीलाधर विश्वेश्वर, एवं उनके सायुज्य से समन्वित अवतार ही यों मर्य्यादाचारों का परित्याग कर देंगे तो फिर इन्हीं को आदर्श मानने वाले अरमणादि लौकिक–प्राकृत नर क्या क्या कल्पनाएँ नहीं कर डालेंगे उनके उदाहरणों को सामने रखते हुए !, जैसेकि ईश्वरप्राप्तिसिद्ध–दिग्देशकालमर्य्यादित शास्त्रसिद्ध आचार की अवहेलना करने वाले चमत्कारामिभूत सन्तोंने, एवं तदनुगामिनी भावुक–जनताने अपने गुरुओं की तथा तन्माध्यम से अपने भावनासिद्ध (भावसिद्ध) भगवान् की दिग्देशकालबन्धनरहित स्वच्छन्दभावानुसार–अमर्य्यादित अलौकिक चमत्कारपरम्पराओं के कल्पनाधार पर अपने आपको शास्त्रीय आचारनिष्ठा से सर्वथा ही पराङ्मुख कर लिया है।

३२६–भगवान् की सर्वकरणीयता से अनुप्राणित लोकसूत्र, एवं तत्स्वरूप से अपरिचित भक्त–सन्तों का सिद्धिचमत्कारात्मक महान् व्यामोहन—

'अवश्य ही भगवान् के साम्राज्य में सभी कुछ सम्भव है। कुछ भी असम्भव नहीं है उस ईश्वरीय–साम्राज्य में। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए सबकुछ सम्भव ही हो यह तो असम्भव ही है' लोकनिष्ठ महामानवों के इस लोकसूत्र का वास्तव में कुछ अर्थ है जिस की भावुकतावश उपेक्षा कर काल्पनिक चमत्कारों के काल्पनिक आवेशों में उन्मूला आशा–दुराशाओं में आसक्त–व्यासक्तमना भावुक–जनता सर्वथा ही आचारशून्या अतएव सर्वशून्या ही बन गई है इति नु महद्दुःखास्पदम्। जिसे 'अष्टसिद्धि' कहा है–योग ने तत्सम्बन्ध में भी हम अभी इस से अधिक कुछ भी निवेदन नहीं करना चाहेंगे कि– 'अणुसिद्धि' नामकी यदि कोई योगविभूति है तो तदनुरूप यह स्थिरमानव पाञ्चभौतिकशरीर का ही धर्म अवश्य हो सकता है। यह सर्वात्मना चिन्तनीय है कि– 'मानव का मानवशरीर में विद्यमान रहते हुए इसप्रकार अष्टसिद्धि प्रदर्शन सर्वथा असम्भव ही है''।

३२७–रूपविद्यात्मिका चान्द्रीविद्या के सम्भावित प्रदर्शन, एवं तद्द्वारा सिद्धिभक्त भावुक मानवों के आचारात्मक–सहज–नैष्ठिक–स्वरूप का विमोहन—

अवश्य ही देवविद्यात्मिका चान्द्रीविद्या के माध्यम से (जिस का नाम–'योग'–रूप लिया गया है) भूतसिद्धियों का तात्कालिक प्रदर्शन सम्भव है। किन्तु यह प्रदर्शनभक्त अपने व्यक्तित्व–प्रतिष्ठापन–लक्षण आस्तित्व–विमोहन के अतिरिक्त और कुछ भी तो वैसा आचारात्मक–लक्ष्य व्यवस्थित नहीं कर पाता, जिससे इसके लोकजीवन में कोई वैशिष्ट्य उत्पन्न हो जाता हो। तथापि इन प्रदर्शनात्मक विजृम्भणों से यह स्वयं तो देवभाव में परिणत नहीं हो सकता।

३२८ देवर्षिभावानुगता नैष्ठिकी आचारात्मिका सिद्धियों की भावुकतापूर्णा भूतसिद्धिया से असंस्पृष्टता, एवं भूतसिद्धियों के महान् पण्डित एतद्देशीय 'सर्पविमोहनकुशल' अगणित यायावर–लोकमानव—

स्मरण रहे जिन सिद्ध–योगियों की, नारदादि की यशोगाथाएँ पुराण में सुनी जाती हैं, वे कोई भूलोक के–भूतकर्म के प्राणी नहीं हैं। अपितु वे तो आधिदैविक–प्राणभाग की प्राणाग्निरूपा ही विभूतियाँ हैं। तभी तो नारद 'देवर्षि' कहलाए हैं तत्र। सन्त–साधु–फकीर–औलिया–आदि की सम्प्रदायों में जो यदा कदा कुछ एक अलौकिक–घटनाएँ चमत्कार देखे और सुने जाते हैं उनका देवविद्यात्मक–प्रदर्शन से यत् किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। अपितु यह तो वह 'भूतसिद्धि' मात्र है जिसके पारम्परिक प्रकार, हीनतम–जघन्यतम–मलीमस–प्रकार, न केवल तथाकथित साधु–सन्तों में ही, अपितु गली गली द्वारे द्वारे करपट्टिका–खप्परों तथा ताम्र–कार्षापणों * के लिए 'पूँगी' नामक वाद्यविशेष को बजाते हुए अहोरात्र इतस्ततः भटकते रहने वाले 'सर्पविमोहनकुशल' गैरिकवस्त्रधारी प्राकृत मानव (कालबेलिए) भी यदा कदा ऐसे चमत्कार प्रदर्शित कर सकते हैं जिन कुछ ऐसे चमत्कारों को देख–सुन कर ही तो भारतीय–योगविद्या की अलौकिक शक्ति की यशोगाथा ! से प्रभावित हो पड़ने वाले सुप्रसिद्ध प्रतीच्य जिज्ञासु पालब्रन्टन महाभाग बड़ी कठिनता से अपनी सहज श्रद्धा का स्मरण कर सके थे–(देखिए–पालब्रन्टनलिखित– 'गुप्तभारत की खोज' नामक निबन्ध)। ऐसी भूतसिद्धियाँ तो भारत के निरक्षरमूढ़ान्य–उदरम्भरि–यथाजात–ग्रामीणों में भी यदा कदा सरलता से उपलब्ध हो जाती हैं। अन्तर इन में और साधु–सन्तों में यही है कि ग्रामीण कौशलपूर्वक उन का प्रदर्शन करना नहीं जानते नाही वे अधिकांश में प्रदर्शन करते ही। जबकि हमारे ये बाबालोग–सन्त–गुरु–महाराज कौशलपूर्वक प्रदर्शन करते हुए उन प्रतीच्यशिक्षाधुरीण–भारतीय सभ्यों तक को तात्कालिकरूप से प्रभावित कर लेते हैं जिन्होंने अपने भूतविज्ञान में ऐसी अलौकिक–चमत्कारपूर्ण–घटनाओं को कभी पढ़ा सुना नहीं है। और जिनका भारतीय तत्त्ववादानुगत तन्मूलक देवभावात्मक आचारशास्त्र से कभी सम्पर्क रहा ही नहीं है। अतएव ये शिक्षित सभ्य भारतीय महानुभाव ही अज्ञजनों की भाँति अपितु कहीं कहीं तो उन से भी विशेषरूपेण तथाविध भूतचमत्कारों से प्रभावित होते देखे एवं सुने गए हैं।

---

* रोटी के टुकड़ों और ताँबे के पैसों के लिए।

३२४–पौरुषशाली महामानवों की सत्यसङ्कल्पसिद्धि पर पूर्ण आस्था, किन्तु प्राकृत-प्रजासमर्य्यादानुगता उनकी दिग्देशकालानुगति का समन्वय—

हम कदापि उन पौरुषशाली महामानवों की इस शक्ति में कोई शङ्का नहीं रख रहे कि, यदि वे चाहें तो बिना दिग्देशकालानुबन्धों के भी उनके सत्यसङ्कल्पमात्र से दिग्देशकाला मव–व्यक्त–मूर्धभावों के बिना भी उनकी तृप्ति–तुष्टि–शान्ति के कारण बन सकते हैं। कुछ भी असम्भव नहीं है उनके लिए। तदपि उनका महिमामय आत्मस्वरूप ही यह प्रमाणित कर रहा है कि, उनका प्रत्येक संकल्प उन के द्वारा अभिव्यक्त-मर्य्यादित कालचक्र की सीमा में दिग्देशानुबन्ध से ही सम्पन्न होना चाहिए। क्या वे स्वयं अपने लिए, तथा अपने से अभिन्न महादेवताओं के लिए अपने ही संकल्प से अभिव्यक्त, अपने ही महिमारूप दिग्देशकालानुबन्धों की यों उपेक्षा कर देंगे ?। कदापि नहीं।

३२५–अवतारपुरुषों के दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादित इतिवृत्त, एवं तदपरिचित-चमत्कारव्यामोहनासक्त आज के सन्त-सिद्धों की दिग्देशकालानुगता आचार निष्ठा के प्रति अवहेलना—

अवतारपुरुषों का दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादित लीलावृत्त कौन नहीं जानता ?। यदि स्वयं लीलाधर विश्वेश्वर, एवं उनके सायुज्य से समन्वित महाविद् ही भी मर्य्यादाचारों का परित्याग कर देंगे तो फिर इन्हीं को आदर्श मानने वाले अस्मदादि लौकिक–प्राकृत नर क्या क्या कल्पनाएँ नहीं कर डालेंगे उनके उदाहरणों को सामने रखते हुए ! वैसे कि ईश्वरशाक्त-दिग्देशकालमर्य्यादित शास्त्रसिद्ध आचार की अवहेलना करने वाले चमत्कारामिभूत सन्तों ने एवं तदनुगामिनी भावुक–जनता ने अपने गुरुओं की तथा तन्माध्यम से अपने भावनासिद्ध (भाविसिद्ध) भगवान् की दिग्देशकालबन्धनरहिता सहजभावानुसार–अमर्य्यादिता अलौकिक चमत्कारपरम्पराओं के समर्थनाधार पर अपने आपको शास्त्रीय आचारनिष्ठा से सर्वथा ही पराङ्मुख कर लिया है।

३२६ भगवान् की सर्वकरणीयता से अनुप्राणित लोकसूत्र, एवं तत्स्वरूप से अपरिचित भक्त–सन्तों का सिद्धिचमत्कारात्मक महान् व्यामोहन—

"अवश्य ही भगवान् के साम्राज्य में सभी कुछ सम्भव है। कुछ भी असम्भव नहीं है उस ईश्वरीय–साम्राज्य में। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए सबकुछ सम्भव ही हो यह तो असम्भव ही है" लोकनिष्ठ महामानवों के इस लोकसूत्र का वास्तव में कुछ अर्थ है, जिस की भावुकतावश उपेक्षा कर काल्पनिक चमत्कारों के काल्पनिक आवेशों में कल्पूला आशा-दुराशाओं में आसक्त-व्यासक्तमना भावुक–जनता सर्वथा ही आधारशून्या, अतएव सर्वात्मना ही बन गई है इति नु महदज्ञानात्मकम्। जिसे 'अष्टसिद्धि' कहा है–योग ने तत्सम्बन्ध में भी हम अभी इस से अधिक कुछ भी निवेदन नहीं करना चाहेंगे कि– अष्टसिद्धि नामकी यदि कोई योगविभूति है तो तत्पुरुत यह विद्यमान चान्द्रदेहसर्गो का ही कोई आश्चर्य हो सकता है। यह सर्वात्मना विश्वसनीय है कि– 'मानव का मानवशरीर में विद्यमान रहते हुए इसका अष्टसिद्धि-प्रदर्शन सर्वथा असम्भव ही है"।

रक्षा-पथ में । अतएव अन्ततोगत्वा आचारशून्य, चमत्कारपूर्ण दम्भभूत भूतसिद्धिव्यामोहन का निस्सारत्व ही, एवं परिणाम में सर्वनाशकारत्व ही प्रमाणित हो जाता है ।

३३१–आचारात्मिका–शास्त्रीया–कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में नैष्ठिकी देव-विद्याओं का भी शैथिल्य, एवं आज से ५ सहस्र-वर्ष-पूर्व के भारत में देवसिद्धियों की सगुणप्रतिमारूप भगवान् कृष्ण के द्वारा आचारधर्म का ही समर्थन-पालन—

भूतसिद्धियों की बातें तो जाने दीजिए । आचारात्मिका प्रकृतिसिद्धा–कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में तो यज्ञमय को सम्भव बना डालने की क्षमता रखने वाली देवविद्यात्मिका परविद्या का भी समादर नहीं किया लोकिक ऋषिमानवोंने, एवं तन्मूर्त्ति अवतारपुरुषोंने । कभी इन देवविद्याओं के माध्यम से न तो आर्षधर्म-प्रवर्त्तक महामहर्षियोंने ही दिग्देशकालातिक्रमण किया, एवं न आर्षधर्मसंरक्षक भगवदवतारपुरुषोंने ही प्रकृतिसिद्ध शास्त्रीय आचारपथ की अवहेलना की । अपितु इनके सभी लोकानुबन्ध–समाज–राष्ट्रादि–व्यवस्थापन दिग्देशकालानुबन्धी मर्यादासूत्रों से ही समन्वित होते रहे । भूतसिद्धिव्यामोहक साधु-सन्त-गण सम्भवतः यह तो मान ही लेंगे कि आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के आध्यात्मिक-भयावह-कालसापेक्ष-धर्मग्लानिरूप महासंकटयुग में इस धर्मग्लानि के उपशम के लिए ही अपने अव्ययात्मक अंशरूप से अवतीर्ण पूर्णावतार भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण में वे सभी सिद्धियाँ विद्यमान थीं, जिनका उपयोग भी धर्मद्रोही तत्त्वों के उपशम के लिए यथोचितरूपेण ही हुआ । किन्तु कदापि भगवान् ने लोकनिष्ठा-संरक्षण प्रसङ्गों में किसी भी अलौकिक सिद्धि को माध्यम नहीं बनाया । अपने देवभावात्मक विराट्स्वरूप की तात्कालिक अभिव्यक्ति की आवश्यकता भी उस भावुक अर्जुन के प्रति हो पड़ी थी, जो मानुष्यावश अपनी मानसिक अनुभूति अल्पनिष्ठ–व्यामोहित मानवता के व्यामोहन में आकर आचारसिद्ध दिग्देशकालानुबन्धी–वर्णधर्मात्मक आचारधर्म को भूल गया था । आचारधर्मप्रतिष्ठापन ही तो अवतारपुरुष का एकमात्र उद्देश्य था । न कि देवसिद्धिया अलौकिक चमत्कारों एवं भूतसिद्धियों के द्वारा मानवसमाज की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को बिना ही कर्त्तव्यनिष्ठा के अनायासेनैव पूर्ण करने के लिए भगवदवतार हुआ था । सर्वशक्तिसम्पन्न जो भगवान श्रीकृष्ण अपने संकल्पमात्र से कौरवसेना को क्षणमात्र में भस्मसात् कर भक्त अर्जुन का संघर्षात्मक महान् उत्तरदायित्व से बचा सकते थे, उन भगवान् ने वैसा न कर दिग्देशकालानुबन्धी उन्हीं विधि–विधानों का स्वयं भी मानुषी-लीला समनुरूप पालन किया आस्था-श्रद्धा-पूर्वक, एवं अपने भक्त अर्जुन को भी प्रवृत्त किया इसी आचारनिष्ठा की ओर, तथा अपने लोकोत्तर, सिद्धिसोपानपरम्परात्मक वाङ्मय प्रसादरूप (गीताशास्त्र) के द्वारा सम्पूर्ण मानवसमाज को भी कर्त्तव्यनिष्ठा में ही दीक्षित किया । आचारात्मक ऐसे प्रत्यक्ष कर्मग्रन्थ के महत्त्वपूर्णसूत्र अभिव्यक्त रहने पर भी सम्पूर्ण जाति (भारतीय भावुक हिन्दूजाति) ही काल्पनिक चमत्कारवादों के आकर्षण से आकर्षित होकर यत्रतत्रपर्यवसित सिद्धों–सन्तों के कुचक्र में आकर दिग्देशकालानुबन्धी कर्त्तव्य–कर्मों को कैसे भी विस्मृत कर बैठी है, इस विस्मरण से कैसे इसने अपने सर्वशक्ति–साधन–सम्पन्न भी राष्ट्र को विगत अनेक सहस्राब्दियों से परतन्त्रता के कारागार में आबद्ध करा लिया है, इत्यादि प्रश्नों का सफल समाधान तो सम्भवतः वे सन्त, वे दार्शनिक ही कर सकेंगे जिन्होंने आचारात्मक कर्त्तव्यशून्य तत्त्वचिन्तन के द्वारा,

२२९–देवविद्यानुगता अलौकिक–सिद्धियों में निष्णात सन्तों के प्रति आस्था-समर्पणा, किन्तु तथाविध सिद्ध–सन्त–महापुरुषों की प्रदर्शनों से आत्यन्तिक तटस्थता—

मान लेते हैं एवं सर्वात्मना आस्था भी कर लेते हैं कि, अवश्य ही देवविद्यानुगत वैसे सन्त–साधु भी इसी भूतल पर विद्यमान हैं जो देवविद्यामूला अलौकिक सिद्धियों के सगुण स्वरूप बनते हुए माता धरित्री को धन्य बनाते रहते हैं। किन्तु यह सुनिश्चित है कि, ऐसे देवविद्यानिष्ठ परमसन्त महामानव कदापि अपनी इन देवसिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करते फिरते। कदापि इन में शिष्य–सम्प्रदायादि का व्यामोहन नहीं होता। कदापि वर्त्तमानयुग की भूत–विलास सामग्रियों से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्य आप्त सुलभ्य ! नगरों के जनकोलाहलपरिपूर्ण प्राङ्गणों में महान् आटोप के साथ 'समाधि' जैसे सामान्यतम प्राणनिरोध–प्रदर्शन के लिए वे परमसन्त आकुल–व्याकुल नहीं बने रहते। कदापि इन की देवसिद्धियों का कभी भी किसी के भी अनिष्ट चिन्तन में उपयोग नहीं होता जब कि–भूत–प्रेत–यक्ष–राक्षसादि–भावात्–भूत–भौतिक–तात्कालिक आवेशों से आविष्ट 'भूतसिद्धिपरायण' सन्त अपने इन भूतव्यामोहनों से भावुक जनता को मदमत्त करते रहने में ही अपना परम–पौरुष मानते रहते हैं। स्वयं भगवान् ने विस्पष्ट शब्दों में ऐसे भूतसिद्धिमर्दियों की सर्वात्मना अवहेलना ही तो की है *।

२३०–दिग्देशकालव्यामोहक–भौतिक–चमत्कारों से तात्कालिकरूपेण तुष्ट पुष्ट लोकप्रजा का परिणामतः मानवीय–निष्ठादृष्टि से आत्यन्तिक विनाश—

अभ्युपगमवादरूपया यह भी मान लेने में हम कोई आपत्ति नहीं करेंगे कि, भूतसिद्धिपरायण तथाविध प्रदर्शनकारी सन्तों, साधुओं के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शनों से इनकी भक्तजनता प्रभावित भी अवश्य ही हो–जाती होगी। एवमेव इन सन्तों के भौतिक सिद्धिबल से भक्तों के लोक–वित्त–पुत्रैषणात्मक–लौकिक–सामाजिक–पारिवारिक–राजनैतिक–तात्कालिक–स्वार्थ भी सफल होजाते होंगे। तथापि इन सब व्यामोहनों से न तो मानव उस सहज शान्ति–तुष्टि–पुष्टि–समृद्धि का ही अनुगामी बन सकता, न ऐसे सिद्धिप्रलोभन–भक्त मानव का व्यक्तित्व ही अभिव्यक्त हो पाता, न परिवार ही अभ्युदयपथानुगामी बन सकता, न समाज ही व्यवस्थापूर्वक सुव्यवस्थित बन सकता। और राष्ट्रीयतानुबन्धी मानवधर्म का तो स्मरण भी सम्भव नहीं है इस वैयक्तिक

---

*–यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्ष–रक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं (जीवं)–तान् विद्धि–आसुरनिश्चयान् ॥
—गीता १७।४,५,६।

रक्षा–पथ में । अतएव सन्तवोग या आचारशून्य, चमत्कारपूर्ण इत्थंभूत भूतसिद्धिव्यामोहन का निम्मारस्म ही, एवं परिणाम में सर्वनाशपरस्य ही प्रमाणित हो जाता है ।

३३१–आचारात्मिका–शास्त्रीया–कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में नैष्ठिकी देव–विद्याओं का भी शैथिल्य, एवं आज से ५ सहस्र–वर्ष–पूर्व के भारत में देवसिद्धियों की सगुणप्रतिमारूप भगवान् कृष्ण के द्वारा आचारधर्म का ही समर्थन–पालन—

भूतसिद्धियों की बातें तो जान दीजिए । आचारात्मिका प्रकृतिसिद्धा–कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में तो असम्भव को सम्भव बना डालने की क्षमता रखने वाली देवविद्यात्मिका पराविद्या का भी समादर नहीं किया तत्त्वविद् महर्षिमानवोंने, एवं सम्मूर्त्त अवतारपुरुषोंने । कभी इन देवविद्याओं के माध्यम से न तो आर्षधर्म–प्रवर्त्तक महामहर्षियोंने ही दिग्देशकालातिक्रम किया, एवं न आर्षधर्म्मसंरक्षक भगवदवतारपुरुषोंने ही प्रकृतिसिद्ध शास्त्रीय आचारपथ की अवहेलना की । अपितु इनके सभी लोकानुबन्ध–समाज–राष्ट्रादि–व्यवस्थापन दिग्देशकालानुबन्धी मर्यादासूत्रों से ही समन्वित होते रहे । भूतसिद्धिव्यामोहक साधु–सन्त–गण सम्भवतः यह तो मान ही लेंगे कि, आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के सामयिक भयावह अस्ताचलीकृत–धर्म्मग्लानिरूप महाभारतयुग में इस धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए ही अपने अव्ययात्मक अक्षररूप से अवतीर्ण पूर्णावतार भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण में वे सभी सिद्धियाँ विद्यमान थीं, जिनका उपयोग भी धर्म्मद्वेषी तत्त्वों के उपशम के लिए क्वाचित्कत्वेन ही हुआ । किन्तु कदापि भगवान् ने लोकनिष्ठा–संरक्षण–प्रसङ्गों में किसी भी अलौकिक सिद्धि को माध्यम नहीं बनाया । अपने देवमायात्मक विराट्स्वरूप की तात्कालिक अभिव्यक्ति की आवश्यकता भी उस भावुक अर्जुन के प्रति हो पड़ी थी, जो भावुकतावश अपनी मानसिक अनुभूति काल्पनिक–दया अहिंसा मानवता के व्यामोहन में आकर आचारसिद्ध दिग्देशकालानुबन्धी–क्षात्रधर्मात्मक आचारधर्म को भूल गया था । आचारधर्म्मप्रतिष्ठापन ही तो अवतारपुरुष का एकमात्र उद्देश्य था । न कि देवसिद्धिया अलौकिक चमत्कारों, एवं भूतसिद्धियों के द्वारा मानवसमाज की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को बिना ही कर्त्तव्यनिष्ठा के अनायासेनैव पूर्ण करने के लिए भगवदवतार हुआ था । सर्वशक्तिसम्पन्न जो भगवान् श्रीकृष्ण अपने सङ्कल्पमात्र से कौरवसेना को क्षणमात्र में भस्मसात् कर भक्त अर्जुन को सपर्यात्मक महान् उत्तरदायित्व से बचा सकते थे उन भगवान् ने वैसा न कर दिग्देशकालानुबन्धी उन्हीं विधि–विधानों का स्वयं भी मानुषी–लीला भोगपर्य्यन्त पालन किया आस्था–श्रद्धा–पूर्वक एवं अपने भक्त अर्जुन को भी प्रवृत्त किया इसी आचारनिष्ठा की ओर तथा अपने लोकोत्तर, सिद्धिसोपानपरम्परात्मक वाङ्मय ब्रह्मस्वरूप (गीताशास्त्र) के द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज को भी कर्त्तव्यनिष्ठा में ही दीक्षित किया । आचारात्मक ऐसे प्रचण्ड कर्म्मसत्य के सहस्रांशुसूर्यवत् अभिव्यक्त रहने पर भी सम्पूर्ण जाति (भारतीय भावुक हिन्दूजाति) ही काल्पनिक चमत्कारवादों के आकर्षण से आकर्षित होकर यथोपवर्णित सिद्धों–सन्तों के कुचक्र में आकर दिग्देशकालानुबन्धी कर्त्तव्य–कर्म्मों को कैसे क्यों विस्मृत कर बैठी ? इस विस्मरण से कैसे इसने अपने सर्वशक्ति–साधन–सम्पन्न भी राष्ट्र को विगत अनेक सहस्राब्दियों से परतन्त्रता के दारुणपाश में आबद्ध करा लिया ? इत्यादि प्रश्नों का समस्त समाधान तो सम्भवतः वे सन्त वे दार्शनिक ही कर सकेंगे जिन्होंने आचारात्मक कर्त्तव्यशून्य तत्त्वचिन्तन के द्वारा

तदा गगनमण्डले देवैर्दुन्दुभिं वादयद्भिर्जयजयध्वनि कृत । क्षुद्रबुद्धिकृत सर्वमत्याचारं च ते देवा विदितवन्त । ततस्ते तद्वृत्तमुद्घोपितवन्त । तच्छ्रुत्वा चतुर्विधसघस्त सघान्निष्कासितवान् । तस्मिन्नेव समये आचार्याशातनाजनितपापेन क्षुद्रबुद्धेर्वपुषि षोडश रोगा॰ समुत्पन्ना । गच्छान्निष्कासित॰, तीव्रवेदना सर्वजनतिरस्कारं च प्राप्नुवन् स क्षुद्रबुद्धिर्मृत । तदनन्तरं स नरके निपतित । तत्र तीव्र

होगी । इस प्रकार विचार कर गुरु-महाराज ने समाधिभाव को धारण कर लिया, और परिणामों की अतिशय विशुद्धि एव वृद्धि से क्षपक श्रेणि पर आरूढ होकर घातिया कर्मों के नाश से केवली-अवस्था प्राप्त करली, पश्चात् अघातिया कर्मोंके नाश से सिद्धिगति के अधिपति बन गये । देवों ने भद्रबुद्धि आचार्य के केवलज्ञानप्राप्तिका उत्सव मनाया । आकाश में जयरघोषपूर्वक दुंदुभिया बजायीं । उन देवों ने साथ २ यह भी जान लिया कि इन आचार्य के साथ इस क्षुद्रबुद्धि ने अच्छा व्यवहार नहीं किया, उन्हें इसने अधिक से अधिक दु.ख दिये और खूब मनमाना उनके साथ अविनीतता का व्यवहार किया है । देवताओं ने इस बात को सघ में जाहिर की । सघ ने क्षुद्रबुद्धि को सघबाहर किया, क्षुद्रबुद्धि भी कुछ समय बाद गुरुद्वेषी होने के कारण अर्जित पापकर्म के उदय से बहुत दु खी हुआ, उसके शरीर में १६ प्रकार के रोगों ने अपना प्रभाव जमाया । सघ से बहिष्कृत वह इस प्रकार तीव्र वेदना एवं तिरस्कारजन्य दु खों का अनुभव करता हुआ मर गया,

સમાધિભાવ ધારણ કર્યો અને પરિણામોની અતિશય વિશુદ્ધિ અને વૃદ્ધિથી ક્ષપકશ્રેણી પર આરૂઢ બની ઘાતીયા કર્મોના નાશથી સિદ્ધગતિના અધિપતિ બની ગયા દેવોએ ભદ્રબુદ્ધિ આચાર્યને પ્રાપ્ત થયેલ કેવળજ્ઞાનનો ઉત્સવ મનાવ્યો આકાશમા જયજયકાર સાથે દુદુભિયો વગાડવામા આવી, અને દેવોએ સાથોસાથ એ પણ જાણી લીધુ કે આ આચાર્યની સાથે ક્ષુદ્રબુદ્ધિએ સારો વહેવાર કરેલ નથી, તેણે એમને વધુમા વધુ દુ ખ આપેલ છે, અને મનમાન્યો અવિનીતનો વહેવાર એમની સાથે ચલાવ્યો છે દેવતાઓએ આ વાતને સઘમા જાહેર કરી સઘે ક્ષુદ્રબુદ્ધિને સઘ બહાર કર્યો ક્ષુદ્રબુદ્ધિ ગુરૂદ્વેષી હોવાના કારણે થોડા સમય બાદ અર્જીત પાપકર્મના ઉદયથી ઘણો દુ ખીત થયો, તેના શરીરમા સોળ ૧૬ પ્રકારના રોગોએ પોતાનો પ્રભાવ જમાવ્યો. સઘથી બહિષ્કૃત એવા એ શિષ્યે આ પ્રકારની તીવ્ર વેદના અને તિરસ્કારજન્ય દુ ખોનો અનુભવ કર્યો, અને છેવટે તેનો દેહાત થયો. મરણબાદ તેને

रहती ! । भोगने दो, और होने दो । वस्तुस्थिति के साथ गजनिमीलिका करते रहने के दुष्परिणाम ही तो उस राष्ट्र को उस जाति को अवनतशिरस्क बनकर आजतक भोगने ही पड़ रहे हैं, जिस राष्ट्र में किसी साधन परिग्रह-शक्ति-स्रोत का अभाव ही नहीं था जिस जाति के नामस्मरणमात्र से भी कभी आततायी विकम्पित हो पड़ते थे, एवं जिस राष्ट्र ने सुदूर अतीत युगों में सम्पूर्ण विश्व पर एकच्छत्र साम्राज्य किया था । आज वही राष्ट्र, उस राष्ट्र की वही जाति अपने शयन–भोजनादि जैसे सामान्य कर्मों की व्यवस्था के लिए भी प्रतीच्य-पद्धतियों का ही अन्धानुकरण करने में अपने आपको गौरवान्वित मान रही है एवं विधानपूर्वक बलात्कार से मनवा रही है ।

३३४–परदर्शनमूला भयावहा भावुकतारूपा एक ही 'भूल' के माध्यम से समस्यात्मक प्रश्न का समाधान—

वह ऐसी भयानक भूल थी जिसने सब कुछ होते हुए भी भारतराष्ट्र की ऐसी दुर्दशा करवा डाली ! उत्तर एकमात्र परदर्शनमूला वही भावुकता, जिसने विगत अनेक शताब्दियों से दिग्देशकालानुबन्धिता निष्ठाभिन्न-स्वधर्म्मनिष्ठा-कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा में प्रवृत्त ही नहीं होने दिया इस जाति को । अपनी इसी भावुकता से अपने काल्पनिक मतवादों का नाम ही इसने 'धर्म्म' एवं 'कर्त्तव्य' रख लिया । तदनुपात से ही, अपनी मान्यताओं के माध्यम से ही इसने ज्ञानविज्ञानसिद्ध भी शास्त्र को दार्शनिकता प्रदान करदी । इसी मान्यता के द्वारा इसने अपनी मानसिक–अनुभूति के माध्यम से ऐसे ऐसे विभिन्न सम्प्रदायवाद-सन्तवाद-भक्तिवाद–नामसंकीर्तनवाद–रहस्यवाद-आदि आदि अमर्यादित–वाद उत्पन्न कर डाले जिन नवग्रहमाहात्म्यवादों से इस राष्ट्र का निष्ठाबल सर्वथा ही अभिभूत हो गया जिन इन नवग्रहवादों का इतिहास निबन्ध के द्वितीय भाग में विस्तार से बतलाया जाचुका है । तथैव किमिदं शास्त्रम् ?, केयं वा शास्त्रनिष्ठा !, कोऽयं शास्त्रीयाधारः ? इत्यादि प्रश्न भी तत्रैव द्वितीय–खण्ड में समाहित हैं, इति तावज्जातुमिच्छवत्रैव प्रष्टव्यम् ।

३३५-दिग्देशकालचक्र से ऊर्ध्व स्थित भी अलौकिक–कालातीत-पुरुषार्थनिष्ठ–मानव के द्वारा कालातीत के महिमारूप काल का सम्मान, एवं तदुपाधित कर्म्मभोग का समादर—

प्रकृत में इस सन्दर्भ के माध्यम से हमें केवल यही निवेदन करना है कि, चिदाभसर्गानुगत अव्ययनिष्ठ समारूढ़ अलौकिक मानव यद्यपि दिग्देशकाल–चक्र से ऊपर है । तथापि अज के महिमामय इस काल–विवर्त की उपेक्षा नहीं करता यह ब्रह्मवित्–'पुरुष' । अपितु इसे भी लोकवत् उसी मर्यादित कर्त्तव्य-कर्म्म का अनुगामी बना रहना पड़ता है सहजरूप से अनायासेनैव, जबकि कालगर्भित भाग्यवादी को कालचक्रानुपात के अनुसार ही कर्म्मभोग भोगने पड़ते हैं ।

३३६–आत्मनिष्ठ पुरुष–मानव, और उसका कर्म्मबन्धन से पार्थक्य—

चिदाभसर्गानुगत ब्रह्मविद्यान्वित आत्मनिष्ठ मानव आत्माव्ययपुरुष के अव्ययस्वरूप से नित्य समन्वित रहता हुआ पुरुषानुगता (अव्ययानुगता) पौरुषशालिता से क्योंकि आत्मरतिनिष्ठ (अव्ययपुरुषात्मक बुद्धियोग-

एवं कल्पनिक–चमत्कार–प्रदर्शनानुगता कर्त्तव्यहीनता के द्वारा राष्ट्र की कर्त्तव्यात्मिका आचारनिष्ठा को यहाँ की शक्तिसंभारिका उपासनापद्धति को सर्वथा ही विस्मृति के गर्भ में विलीन कर दिया है।

३३२–सर्वविध सिद्धि–चमत्कार–प्रदर्शनों के पारस्परिक–व्यामोहनों से ही भारत राष्ट्र की आचारनिष्ठात्मिका 'श्री' 'समृद्धि' की उत्तरोत्तर अन्तर्मुखता—

स्मरण रखिए। प्रकृतिसिद्ध–दिग्देशकालानुरूपी–मर्य्यादित–प्रकृतिभेदात्मक–स्वधर्म्मात्मक–विभक्त आचारधर्म्मरूप कर्त्तव्य–कर्म्म ही राष्ट्र की राष्ट्रीयता है जिससे राष्ट्रीय–संगठन अक्षुण्ण बना रहता है। काल्पनिक चमत्कारपूर्ण सिद्धियों से सम्भव है आप वैयक्तिक, एवं अधिक से अधिक पारिवारिक (जिसकी कि वस्तुतः हम तो सम्भावना भी नहीं मानते) तात्कालिक स्वार्थ सिद्ध कर लेने की भ्रान्तिमात्र के अनुगामी बन जाएँ। किन्तु व्यष्टि समाज तथा समाज–समष्टिरूपा राष्ट्रीयता का मानवजाति का तो अभ्युदय सम्भव ही नहीं है–तत्त्व व्याचारशून्य ऐसे व्यामोहन–पथों से। अतएव सर्वात्मना पराक्रान्त ही बन जाता है वह राष्ट्र जिसमें पहिले तो आचारशून्य दार्शनिकता (तत्त्वचर्चामात्र) जन्म ले लेती है अनाचारपर ही आगे चलकर जिस राष्ट्र में चमत्कार–सिद्धि–प्रदर्शक सन्त–साधु–परम्पराएँ आविर्भूत हो पड़ती हैं एवं कालान्तर में इन दार्शनिकों एवं सन्तों की शून्य-शून्य भावना से निराश बनकर वैसा लोकसम्प्रदाय आविर्भूत हो पड़ता है जो दार्शनिकता–सन्तास्थिता के प्रति विद्रोह करता हुआ अपनी कल्पना से भूतसिमाध्यम से ही एक वैसा धर्म्मनिरपेक्ष पथ उत्पन्न कर बैठता है जिसमें तो सभी कुछ स्वाहा होजाता है।

३३३–राष्ट्रस्वरूपसंरक्षण के लिए अपेक्षित शास्त्र, तत्कर्त्तव्य, तन्निष्ठ विद्वान्, तत्संरक्षक क्षत्रिय, तदनुवर्त्ती भद्दाशीक्त जनतन्त्र आदि आदि की विद्यमानता में भी त्रिसहस्र–वर्षात्मिका अवधि में राष्ट्रस्वरूप का उत्तरोत्तर अभिभव, एवं समस्यात्मक एक महान् प्रश्न !—

राष्ट्र में शास्त्र भी विद्यमान थे उनमें प्रकृतिसिद्ध शास्त्रीय कर्त्तव्य भी सुरक्षित थे धर्म्मनिष्ठ (धर्म्म-भावुक) शास्त्रज्ञ विद्वान् भी प्रचुर संख्या में विद्यमान थे। हँसते हँसते धर्म्म के नाम पर मस्तक कटवा डालने वाले धर्म्मरक्षक क्षत्रिय–सामन्त राजाओं की भी कमी नहीं थी। तदनुवर्त्ती जनतन्त्र भी धर्म्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा रख रहा था। तदित्थं–राष्ट्रसंरक्षण के लिए जो कुछ साधन–परिकर–शक्ति–पौरुष–ज्ञान–ध्यान–धर्म्म–भक्ति–आदि आदि अपेक्षित होने चाहिएँ थे सभी तो विद्यमान थे अतीतयुगों में। किन्तु छुना सुन गया इतिहास के मलीमस अक्षर-पत्रों के माध्यम से कि,—कोटि कोटि धार्मिक जनता के विद्यमान रहते भी विदेशी बर्बर आक्रान्ता निर्बाधगति से आए, आकर यहाँ का सबकुछ तोड़फोड़ कर सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर प्रसन्न होते हुए कुछ तो लौट गए, और कुछने यहाँ के उन्हीं धर्म्मधुरीणों के आग्रह से यहीं आतिथ्य ग्रहण कर लेना उचित मान लिया। उन युगों में भी चामत्कारिक साधु–सन्तों की कमी तो नहीं रही होगी ?। फिर क्या एक ने भी यह आवश्यक नहीं समझा कि वह अपने चमत्कार से अपने इष्टदेव सोमनाथशिव को तो बचा लेता ?। यहीं, इन मूर्त्तिभावों की प्रतीकता में ही वह तथ्य सुनिहित है जिसका समन्वय कर ही नहीं सका वर्त्तमान युग का सन्त, विद्वान्, एवं दार्शनिक। हम समझते हैं–हमारी यह स्पष्टवादिता भावुक–मनों की श्रद्धा को विकम्पित कर रही

'मनःसंशोधक-कर्म्म' कहा है भगवान् ने *। एकमात्र इसी दृष्टि से यज्ञ-दान-तपो-रूप प्रवृत्तिकर्म्मों तथा तदुपलक्षित इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-नामक लौकिक सत्कर्म्मों की अवश्यकर्त्तव्यता का समर्थन भी कर दिया है भगवान् ने। इसी से स्पष्ट है कि, जबतक आत्मबोध नहीं हो जाता, तभीतक इन कर्त्तव्यकर्म्मों की आवश्यकता है। आत्मबोध हो जाने के अनन्तर तो कामकारतोऽपि ये कर्म्म स्वत: ही निवृत्त हो जाते हैं। और उस ब्राह्मीस्थिति में पहुँचने के अनन्तर उस आत्मबोधनिष्ठ के लिए कोई भी कर्त्तव्य-कर्म्म शेष नहीं रह जाता। फिर तो-'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः' ही एकमात्र पक्ष शेष रह जाता है"। प्रतीक्षात गीतावचनों का भी लक्ष्य बनाइए।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्, आत्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

—गीता ३।१७।१८।

१२९–'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का भगवन्निष्ठा के माध्यम से नीरक्षीरविवेक—

'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का 'कर्म्मत्याग'-रूप मर्म्म समझ बैठने वाले त्यागी-वैरागी-अग्निस्पर्शत्यागी, वैदिक-लौकिक-कर्त्तव्यकर्म्मों के अन्यतम शत्रु उन संन्यासियों से पुनः हम प्रश्न करते हैं कि, क्या 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का यही अर्थ है कि, "आत्मबोधनिष्ठा के अनन्तर मानव का कर्म्म से शास्त्रीय-विधि-निषेधों से शास्त्रानुमोदित वैयक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-उत्तरदायित्वों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता"?। यदि ऐसा ही है, तब तो इन संन्यासियों की दृष्टि में उन भगवान् ने भी कम ही अपराध कर डाला जिन्होंने सिद्धान्त तो स्थापित कर डाला-'तस्य कार्य्यं न विद्यते' यह और अपने ही सिद्धान्त के विरुद्ध स्वयं भगवान् प्रवृत्त रह बैठे वैसे कर्त्तव्य-कर्म्मों में जो कर्म्मलालसासम्पन्न भिन्न मारथित्व-पारक्षवृतत्व-सन्धिविग्राहकत्व-आदि आदि लौकिक कर्म्मों का दर्शन-श्रवण कर आज के युग का तो एक सभ्य-लौकिक मानव भी आश्चर्य से स्तब्ध बन रहा है। विशेषतः यज्ञ-तप-दानादि कर्म्म ही नहीं, अपितु लोकसाधारण में अथवा सामान्यकोटि की मानी जाने वाली कोचवानी समाचार-प्रेषण-साधनभूत-दौत्यकर्म्म युद्धविभागायसरों पर स्वयं एक कुशल कोचवान-सारथी की भाँति घोड़े को पानी का मर्दन-मलाभिषव-आदि आदि वैसे लौकिक कर्म्मों में भी तो भगवान् ने कभी संकोच नहीं किया जिन कर्म्मों के संस्मरण से भी आज के सभ्यताभिमानी लज्जा-संकोच का अनुभव कर सकते हैं करने लग पड़ते हैं।

---

*—यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

—गीता १८।५।

निष्ठ) ही मन जाता है। अतएव दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत आचार, धर्म्म,–कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली आस्तिक पराधीनता (जिसे 'भाग्य' कहा जाता है) ऐसे 'पुरुष' नामक मानव का कदापि संस्पर्श नहीं करसकती। बिना भी दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत–कर्म्मों के यह स्वयं अपने आत्मभाव में ही परितृप्त है, आत्मभाव में ही परितृप्त है। अतएव 'कर्त्तव्य' कहने जैसी कोई वस्तु इसे कदापि पराधीन नहीं करसकती। यदि यह भी कह दिया जाय कि, ऐसे आत्मबोधनिष्ठ–आत्मरति–आत्मतृप्त–आत्मतुष्ट-पुरुष के लिए कोई भी विधि–विधान कोई भी शास्त्रीय–लौकिक-कर्त्तव्य-कर्म्म कुछ भी महत्त्व नहीं रखते तो भी अयुक्ति न होगी।

१३७–आत्मकाम, आत्मरति–लोकातीत मानव की कर्म्मासंस्पृष्टता, एवं 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का समन्वय—

सचमुच यह कर्त्तव्यकर्म्मात्मक आचार की सीमा से बहिर्भूत है अपने आत्मानुशीलन–भाव से। यदि ऐसा पुरुषनिष्ठ कुछ करता रहता है तो इसके इस करने से न तो इसमें कुछ विशेष अतिशय ही उत्पन्न हो जाता एवं न करने से न इसकी कोई क्षति ही होती। क्योंकि दिग्देशकालानुबन्धी-भूत-भौतिक-व्यक्त-भूत-कालिक-द्वन्द्वात्मक कलापों में इसकी कोई आसक्ति नहीं होती। सम्पूर्ण दिग्देशकाल को स्वगर्भ में रखने वाले ऐसे आत्मनिष्ठ मानव (पुरुष) के लिए इन गर्भीभूत कालिक-दैशिक-भूतों में प्राप्त करने जैसा कोई भी तो अर्थ शेष नहीं रह जाता जिसे प्राप्त करने की कामना से इसे दिग्देशकालानुबन्धी शास्त्रसिद्ध-मर्य्यादित-कर्त्तव्यों का अनुगमन करना पड़े। अतएव 'तस्य कार्य्यं न विद्यते'।

१३८–आत्मतृप्त-एकान्तनिष्ठ-अलौकिक-मानव से एकान्ततः असम्बद्ध कर्त्तव्यजगत्, तत्सम्बन्ध में गीताशास्त्र, एवं तदाधारेण कर्म्मत्यागासक्त दार्शनिकों की भ्रान्ति—

तो क्या सचमुच आत्मनिष्ठ आत्मरति-आत्मतृप्त-आत्मतुष्ट के लिए कर्त्तव्यकर्म्मों का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता ?। क्या सचमुच पुरुषनिष्ठा की प्राप्ति के अनन्तर, अभिनव वेदान्ती की भाषा के अनुसार–ब्रह्मबोधानन्तर कर्त्तव्यकर्म्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता ब्रह्मबोधनिष्ठ पुरुष के लिए ?। निम्नलिखित गीतावचन तो प्रश्नों का 'ओमित्येवं' रूप से ही समाधान कर रहे हैं। और हम समझते हैं ऐसे वचनों ने ही उन अभिनिष्यात्ववादी अभिनव-वेदान्तियों को प्रभावित किया है जिन्होंने शास्त्रसिद्ध मर्य्यादाचारात्मक यज्ञ-तप-दान इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-आदि कर्त्तव्य-कर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग ही अपने इस आत्मबोध का परमपुरुषार्थ मान लिया है। और इनके सम्बन्ध में अपना यह दार्शनिक सिद्धान्त स्थापित कर ही तो दिया है उन्होंने कि,—"शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्मों कर्त्तव्यों की आवश्यकता तभीतक है, जबतक कि आत्मबोध प्राप्त नहीं होजाता। आत्मबोध के प्रतिबन्धक आवरण-पाप्मा-मल को हटाने मात्र में ही विधिशास्त्र का यज्ञ–यागादिका उपयोग है। तभी तो इन्हें 'पावनकर्म्म पवित्रकर्म्म'–अर्थात्

'मलविशोधक-कर्म्म' कहा है भगवान् ने *। एकमात्र इसी दृष्टि से यज्ञ-दान-तपो-रूप प्रवृत्तिकर्म्मों तथा तदुपलक्षित इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-नामक लौकिक सत्कर्म्मों की अवश्यकर्त्तव्यता का समर्थन भी कर लिया है भगवान् ने। इसी से स्पष्ट है कि, जबतक आत्मबोध नहीं हो जाता, तभीतक इन कर्त्तव्यकर्म्मों की आवश्यकता है। आत्मबोध हो जाने के अनन्तर तो पक्वफलवत् ये कर्म्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं। और उस ब्राह्मीस्थिति में पर्य्यवसान के अनन्तर उस आत्मबोधनिष्ठ के लिए कोई भी कर्त्तव्य-कर्म्म शेष नहीं रह जाता। फिर तो-'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः, को निषेधः' ही एकमात्र पक्ष शेष रह जाता है। प्रतीकात गीतावचनों का भी लक्ष्य बनाइए।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्, आत्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

—गीता ३।१७,१८

३३६–'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का भगवन्निष्ठा के माध्यम से नीरक्षीरविवेक—

'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का 'कर्म्मत्याग-रूप मर्म्म' समझ बैठने वाले त्यागी-वैरागी-अग्नि-प्रत्यक्षवादी वैदिक-लौकिक-कर्त्तव्यकर्म्मों के अन्यतम शत्रु उन संन्यासियों से पुनः हम प्रश्न करते हैं कि क्या 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का यही अर्थ है कि "आत्मबोधनिष्ठा के अनन्तर मानव का कर्म्म से शास्त्रीय-विधि-निषेधों से शास्त्रानुमोदित वैयक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-उत्तरदायित्वों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता'? । यदि ऐसा ही है, तब तो इन संन्यासियों की दृष्टि में उन भगवान् ने भी बड़ा ही अपराध कर डाला जिन्होंने सिद्धान्त तो स्थापित कर डाला-'तस्य कार्य्यं न विद्यते' यह, और अपने ही सिद्धान्त के विरुद्ध स्वयं भगवान् प्रवृत्त रहे वैसे वैसे कर्त्तव्य-कर्म्मों में यावज्जीवनपर्य्यन्त जिन रासविलास-पाण्डवसूतत्त्व-सन्धिविग्रहकर्तृत्व-आदि आदि लौकिक कर्म्मों का देख-सुन कर आज के युग का तो एक सभ्य-लौकिक मानव भी आश्चर्य्य से स्तब्ध बन रहा है। विशेषतः यज्ञ-तप-दानादि कर्म्म ही नहीं, अपितु लोकसाधारण में सर्वथा सामान्यकोटि की माने जाने वाली कोचवानी समाचार-प्रेषण साधनभूत-दौत्यकर्म्म युद्धविभागावसरों पर स्वयं एक कुशल कोचवान-साईस-की भाँति घोड़ों का मर्दन-स्नानादिक-आदि आदि वैसे लौकिक कर्म्मों में भी तो भगवान् ने कभी संकोच नहीं किया जिन कर्म्मों के संस्मरण से भी आज के सभ्यताभिमानी लज्जा-संकोच का अनुभव कर सकते हैं करने लग पड़ते हैं।

*–यज्ञ दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं, कार्य्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

—गीता १८।५।

निष्ठ) ही बन जाता है। अतएव दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत आचार, धर्म्म,-कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली आसक्ति पराधीनता (जिसे 'भाग्य' कहा जाता है) ऐसे 'पुरुष' नामक मानव का कदापि संस्पर्श नहीं करसकती। बिना भी दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत-कर्म्मों के यह स्वयं अपने आत्मभाव में ही परितृप्त है, आत्मभाव में ही परितुष्ट है। अतएव 'कर्त्तव्य' कहने जैसी कोई वस्तु इसे कदापि पराधीन नहीं करसकती। यदि यह भी कह दिया जाय कि, ऐसे ब्रह्मबोधनिष्ठ-आत्मरति-आत्मतृप्त-आत्मतुष्ट-पुरुष के लिए कोई भी विधि-विधान कोई भी शास्त्रीय-लौकिक-कर्त्तव्य-कर्म्म कुछ भी महत्त्व नहीं रखते तो भी अत्युक्ति न होगी।

३३७-आत्मकाम, आत्मरति-लोकातीत मानव की कर्म्मासस्पृहता, एवं-'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का समन्वय—

सचमुच यह कर्त्तव्यकर्म्मात्मक आचार की सीमा से अतिक्रान्त है अपने आत्मानुशीलन-भाव से। यदि ऐसा पुरुषनिष्ठ कुछ करता रहता है तो इसके इस करने से न तो इसमें कुछ विशेष अतिशय ही उत्पन्न हो जाता एवं न करने से न इसकी कोई क्षति ही होती। क्योंकि दिग्देशकालानुबन्धी-भूत-भौतिक-व्यक्त-भूत-कालिक-द्वन्द्वात्मक फलाफलों में इसकी कोई आसक्ति नहीं होती। सम्पूर्ण दिग्देशकाल को स्वगर्भ में रखने वाले ऐसे आत्मनिष्ठ मानव (पुरुष) के लिए इन मर्त्यभाव कालिक-दैशिक-भूतों में प्राप्त करने जैसा कोई भी तो अर्थ शेष नहीं रह जाता जिसे प्राप्त करने की कामना से इसे दिग्देशकालानुबन्धी शास्त्रसिद्ध-मर्य्यादित-कर्त्तव्यों का अनुगमन करना पड़े। अतएव 'तस्य कार्य्यं न विद्यते'।

३३८-आत्मतृप्त-एकान्तनिष्ठ-अलौकिक-मानव से एकान्ततः असम्बद्ध कर्त्तव्यजगत्, तत्सम्बन्ध में गीताशास्त्र, एवं तदाधारेण कर्म्मत्यागासक्त दार्शनिकों की भ्रान्ति—

तो क्या सचमुच आत्मनिष्ठ आत्मरति-आत्मतृप्त-आत्मतुष्ट के लिए कर्त्तव्यकर्म्मों का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता ?। क्या सचमुच पुरुषनिष्ठा की प्राप्ति के अनन्तर, अभिनव वेदान्ती की भाषा के अनुसार-ब्रह्मबोधानन्तर कर्त्तव्यकर्म्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता ब्रह्मबोधनिष्ठ पुरुष के लिए ?। निम्नलिखित गीतावचन तो प्रश्नों का 'ओमित्येतत्' रूप से ही समाधान कर रहे हैं। और हम समझते हैं ऐसे वचनों ने ही उन कर्म्मसंन्यासवादी अभिनव-वेदान्तियों को प्रभावित किया है जिन्होंने शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमाचारात्मक यज्ञ-तप-दान इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-आदि कर्त्तव्य-कर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग ही अपने इस आत्मबोध का परमपुरुषार्थ मान लिया है। और इनके सम्बन्ध में अपना यह दार्शनिक सिद्धान्त स्थापित कर ही तो दिया है उन्होंने कि — 'शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्मों, कर्त्तव्यों की आवश्यकता तभीतक है, जबतक कि आत्मबोध प्राप्त नहीं होजाता। आत्मबोध के प्रतिबन्धक आवरण-पाप्मा-मल को हटाने मात्र में ही विधिशास्त्र का, यज्ञ-यागादिकों का उपयोग है। तभी तो इन्हें 'पावनकर्म्म पवित्रकर्म्म'-अर्थात्

तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
—गीता ३।१९

१४२–भगवान् के द्वारा समस्या–निराकरणात्मक सफल समाधान, एवं–'कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' का संस्मरण–

"अर्जुन ! आत्मस्थानिष्ठ मानव के सम्बन्ध में–'तस्य कार्य्यं न विद्यते' हमारे इस कथन का कदापि यह तात्पर्य्य नहीं समझ बैठना कि, तू कर्त्तव्य से विमुख ही हो जाय । तुझे तो अभी बुद्धि से निरन्तर कर्त्तव्य-कर्म्म का अनुगमन करते ही जाना है । आसक्तिबन्धन–रहित होकर आत्मनिष्ठापूर्वक कर्त्तव्य–कर्म्म करते रहने वाला निश्चयेन अव्ययपुरुष का साक्षात्कार कर ही लेता है" । बात अभी पूरी हुई नहीं । 'मनोमय-कर्म्म से अव्ययपुरुषपद प्राप्त हो जाता है' इस वाक्य से तो कल्पित दार्शनिक को छिद्र मिल गया । वह कहने लग पड़ा कि जबतक अव्ययतत्त्व की प्राप्ति (प्राप्ति) नहीं हो जाय, अर्थात् जबतक आत्मज्ञान का उदय न होजाय, तबतक के लिए तो हम स्वयं ही कर्त्तव्य–कर्म्म का अनुष्ठान शुद्धि के लिए आवश्यक मान रहे हैं । स्पष्ट है कि–उक्त प्राप्ति कथन के अनन्तर 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' पक्ष ही सिद्धान्तपक्ष है । और 'असक्तो ह्याचरन् कर्म्म–परमाप्नोति पूरुषः' से सिद्धान्तपक्ष ही समर्थित है परम्परया । 'कर्म्म का आचरण करो ! अव्ययपुरुष की प्राप्ति के लिए' । अर्थात् जब वह प्राप्त हो जाय, तो पुनः तदनन्तर 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' । फिर भगवान् के सामने वही मानुषता-पूर्णा समस्या उपस्थित हो पड़ी । इसी समस्या का एक यथार्थ दृष्टान्त के द्वारा निराकरण करने के लिए भगवान् को आगे जाकर निम्नलिखित शब्दों में यह घोषणा कर ही देनी पड़ी कि—

कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥
—गीता ३।२०-२१।

१४३–राजर्षि विदेह जनक की दिग्देशकालातिमिश्र कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा, एवं 'लोकसंग्रहमेवापि–सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि' का संस्मरण—

"राजर्षि जनक विदेह थे, जीवन्मुक्त थे और जीवन्मुक्त सर्वोभी भगवान् गुरुओं के साथ इनका संवाद हुआ करता था" इत्यादि इतिवृत्त अर्जुन के लिए परोक्ष नहीं था । अतएव क्षत्रिय अर्जुन के उद्बोधन के लिए क्षत्रिय जनक के अतिरिक्त दूसरे विशिष्ट उदाहरण का मिल सकना कठिन था । ब्रह्मज्ञाननिष्ठ राजर्षि जनक, और ब्रह्मबोधनिष्ठ भगवान् याज्ञवल्क्य के संवाद का ही नाम बृहदारण्यकोपनिषत् है जिसमें इन दोनों की संवाद धारा के माध्यम से सर्व्वोपरणातीत अव्ययपुरुष का ही स्पष्टीकरण हुआ है । इसी राजर्षि विदेह 'क्षत्रिय

निष्ठ) ही बन जाता है। अतएव दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत आचार, धर्म,–कर्म से सम्बन्ध रखने वाली भौतिक पराधीनता (जिसे 'भाग्य' कहा जाता है) ऐसे 'पुरुष' नामक मानव का कदापि संस्पर्श नहीं करसकती। बिना भी दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत–कर्म्मों के यह स्वयं अपने आत्मभाव में ही परितृप्त है, आत्मभाव में ही परितुष्ट है। अतएव 'कर्त्तव्य' कहने जैसी कोई वस्तु इसे कदापि पराधीन नहीं करसकती। यदि यह भी कह दिया जाय कि, ऐसे आत्मबोधनिष्ठ–आत्मरति–आत्मतृप्त–आत्मतुष्ट–पुरुष के लिए कोई भी विधि–विधान कोई भी शास्त्रीय–लौकिक–कर्त्तव्य–कर्म्म कुछ भी महत्त्व नहीं रखते तो भी अत्युक्ति न होगी।

३३७–आत्मकाम, आत्मरति–लोकातीत मानव की कर्म्मासस्पृहता, एवं 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का समन्वय—

सचमुच यह कर्त्तव्यकर्म्मात्मक आचार की सीमा से बहिर्गत है अपने आत्मानुशासन–भाव से। यदि ऐसा पुरुषनिष्ठ कुछ करता रहता है तो इसके इस करने से न तो इसमें कुछ विशेष अतिशय ही उत्पन्न हो जाता एवं न करने से न इसकी कोई क्षति ही होती। क्योंकि दिग्देशकालानुबन्धी–मत–भौतिक–व्यक्त–भूत–कालिक–द्वन्द्वात्मक पदार्थों में इसकी कोई आसक्ति नहीं होती। सम्पूर्ण दिग्देशकाल को स्वगर्भ में रखने वाले ऐसे आत्मनिष्ठ मानव (पुरुष) के लिए इन गर्भीभूत कालिक–दैशिक–भूतों में प्राप्त करने जैसा कोई भी तो अर्थ शेष नहीं रह जाता जिसे प्राप्त करने की कामना से इसे दिग्देशकालानुबन्धी शास्त्रसिद्ध–मर्यादित–कर्त्तव्यों का अनुगमन करना पड़े। अतएव 'तस्य कार्य्यं न विद्यते'।

३३८–आत्मतृप्त–एकान्तनिष्ठ–अलौकिक–मानव से एकान्ततः असम्बद्ध कर्त्तव्यजगत्, तत्सम्बन्ध में गीताशास्त्र, एवं तदाधारेण कर्म्मत्यागासक्त दार्शनिकों की भ्रान्ति—

तो क्या सचमुच आत्मनिष्ठ आत्मरति–आत्मतृप्त–आत्मतुष्ट के लिए कर्त्तव्यकर्म्मों का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता ?। क्या सचमुच पुरुषनिष्ठा की प्राप्ति के अनन्तर, अभिनव वेदान्ती की भाषा के अनुसार–ब्रह्मबोधानन्तर कर्त्तव्यकर्म्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता ब्रह्मबोधनिष्ठ पुरुष के लिए ?। निम्नलिखित गीतावचन तो प्रश्नों का 'ओमित्येतत्' रूप से ही समाधान कर रहे हैं। और हम समझते हैं ऐसे वचनों ने ही उन कर्माभिन्यासरूपी अभिनव–वेदान्तियों को प्रभावित किया है जिन्होंने शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमाचारात्मक यज्ञ–तप–दान इष्ट आपूर्त–दत्त–आदि कर्त्तव्य–कर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग ही अपने इस आत्मबोध का परमपुरुषार्थ मान लिया है। और इनके सम्बन्ध में अपना यह दार्शनिक सिद्धान्त स्थापित कर ही तो दिया है उन्होंने कि,—"शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्मों कर्त्तव्यों की आवश्यकता तभीतक है, जबतक कि आत्मबोध प्राप्त नहीं होजाता। आत्मबोध के प्रतिबन्धक आवरण–पाप्मा–मल को हटाने मात्र में ही विधिशास्त्र का, यज्ञ–यागादिक का उपयोग है। तभी तो इन्हें 'पावनकर्म्म पवित्रकर्म्म'–अर्थात्

है। सामान्य मानव तो बन ही नहीं अपितु जिन-बुद्धिमान् सुविहृदय पथम मानवों के हाथों में आज राष्ट्र का नेतृत्व है, वे भी मानव अपने प्रतिदिन के सम्भाषणों में जबतक एक दो बार भारतराष्ट्र के अतीत को गाली-प्रदान नहीं कर लेते, तबतक उनका मानस तुष्ट ही नहीं होता। यही तो भावुकता का यह ज्वलन्त उदाहरण है, जिसके निम्न हाम्यक अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण जीवनपद्धतियाँ आज वर्त्तमान के साँचे में ही बलपूर्वक ढाली जा रही हैं, जिनका न तो भारत के अतीत-संस्कारों से ही कोई सम्बन्ध, न वर्त्तमान-सम्भाग से ही। और भविष्य की बात इसलिए नहीं कही जायगी कि, यदि वर्त्तमान इसी भावुकता का अनुगामी बना रहा तो कौन कह सकता है कि भविष्य में भारत 'भारत' न रह कर कुछ और ही न बन जाय ?।

३४६-वर्त्तमानकालवादी प्रत्यक्षासक्त भावुक अर्जुन की विदेहजनकात्मक अतीत के उदाहरण के प्रति परिलक्षिता असन्तुष्टि —

हाँ, तो अर्जुन भावुक था, प्रत्यक्ष से तात्कालिकरूपेण प्रभावित होने वाला प्रत्यक्षवादी था। तभी तो स्वजन को देखने मात्र से यह विकम्पित हो पड़ा था और अपने पारम्परिक क्षात्रधर्म को विस्मृत कर बैठा था इन भावुकतापूर्ण मानवता करुणा-दया अहिंसा-मैत्री-विश्वबन्धुत्व-सहास्तित्व आदि के व्यामोहन से। और इसीलिए तो-न योत्स्य कह कर रथ से उतर पड़ा था। कहाँ तो ऐसा प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन !, और कहाँ सुदूर अतीतकाल के विदेह जनक !। कैसे अर्जुन मान लेते उस उदाहरण को जबकि वह उदाहरण तो इतिहास का उदाहरण था वर्त्तमान-मान्यता के अनुसार तो गला-सड़ा-उस युग का उदाहरण था जो वर्त्तमान में कोई भी सम्बन्ध नहीं रख रहा था।

३४७-स्वानुगत प्रत्यक्ष उदाहरण के द्वारा प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन का आचार निष्ठात्मक समाधान—

यह सर्वथा विश्वसनीय है कि 'कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' कहने के साथ ही नैष्ठिक भगवान् के मानस में वर्त्तमान में भी प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन प्रतिभासित हो पड़ा होगा। और तत्काल ही अपनी सविप्रज्ञा से भगवान् ने यह निर्णय कर लिया होगा कि जबतक इस प्रत्यक्षवादी के सम्मुख इस युग का ही, इस की श्रद्धा का ही, इसके सम्मुख उपस्थित ही कोई प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित नहीं कर दिया जायगा तबतक कदापि इसकी भावुकता उपशान्त न होगी और यह हमारे सत्य कार्य्य न पियत का अर्थ कर्म्मत्याग ही समझ बैठेगा। अतएव इसी निश्चय के अनुसार भगवान् को अन्ततोगत्वा अगतिक-गतिरूपेण स्वयं अपने आपको ही उदाहरणरूप से इस भावुक अर्जुन के सम्मुख उपस्थित कर ही तो देना पड़ा इस रूप से कि—

> न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ॥
> नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि ॥१॥
> यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्म्मण्यतन्द्रितः ॥
> मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥२॥

३४०—आचारनिष्ठ भगवान् का सारथित्व, कर्त्तव्योपरत भावुक अर्जुन की भगवान् के द्वारा कर्त्तव्य 'प्रवृत्ति,' एवं आचरणात्मिका-कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका अत्याज्या स्वधर्म्मनिष्ठा—

भक्तगण समाधान करते हैं कि, 'यह तो भक्त अर्जुन की भक्ति की महिमा थी जिस के कारण भगवान् को रथ हाँकना पड़ा'। हम उन समाधानकर्त्ताओं से पूँछते हैं कि, क्या अर्जुन वैसा ही भक्त था, जिसे कम्म्बल—ताल—मृदङ्ग—करतालादि के माध्यम से क्योंकि भगवान् की नामसंकीर्त्तनात्मिका भक्ति से अवकाश नहीं मिलता था। अतएव भगवान् को अपनी भगवत्ता की तथा भक्ति की रक्षा के लिए सारथि बनकर ऐसे भक्त अर्जुन का रक्षण करना पड़ा ?। और यों अपने भक्त की लाज रख लेनी पड़ी *?। वैसी आरम्भवृत्ति कर्म्मत्यागी सन्यासी की वैसी ही मानसिक—वृत्ति समाधानकर्त्ता आज—के भक्तों की। हम अनुमान करते हैं कि, यदि अर्जुन भ्रान्ति से भी अपने भगवान् के सम्मुख अपने ये मनोभाव मूकभाषा में भी व्यक्त कर देता कि "भगवन् ! जब आप साक्षात्स्वरूप से इस भक्त को मिल ही गए, तो अब तो बस आपका नाम ही प्रेमपूर्वक जपने दीजिए, जिस से आप का यह अनन्यभक्त कौरव—सैन्यसागर ही क्या भवसागर ही पार कर जाय' तो निश्चयेन तत्क्षण ही भगवान् सुदर्शनचक्र से अपने ऐसे भावुक-भक्त का शिरश्छेद ही कर डालते जबकि शिशुपाल को तो थोड़ा अवसर भी दे दिया था लोकसमाहक भगवान् ने। केवल —'न योत्स्ये' (मैं नहीं लड़ूँगा) कहने मात्र से तो भगवान् ने अपने विराट् स्वरूप—प्रदर्शन से भक्त अर्जुन को उस सीमापर्य्यन्त विस्मित कर डाला था कि,"" । अच्छा तो अब यह भावुकतापूर्ण-प्रसङ्ग यहीं उपरत कर दीजिए, और प्रकान्त स्थिति का समन्वय कीजिए।

३४१—भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के द्वारा आचारात्मक स्वधर्म्म के परिपालन का दृढ़तम आदेश, एवं 'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः' का संस्मरण

अन्तर्य्यामी भगवान् उस भावुक अर्जुन को उद्बोधन प्रदान कर रहे थे गीताशास्त्र के माध्यम से जो अपने—'न योत्स्ये' मूलक कर्म्मकर्त्तव्यत्याग के प्रति आकर्षित हो पड़ा था—अपनी काल्पनिक दार्शनिकता बुद्धिमानी, किंवा गीता के शब्दों में 'प्रज्ञावाद' के कारण। बहुत सम्भव था और अनेक बार देखा भी कुछ सम्भव बनता जाता था कि, भावुक अर्जुन भगवान् के अभिप्राय को समन्वित करने में असमर्थ बनता हुआ विचलित होसकता था मध्ये मध्ये । कर्त्तव्यकर्म्म के प्रति भावुकतावश उदासीन बन बैठ जाने वाले भावुक अर्जुन के मानस पटल पर तस्य कार्य्यं न विद्यते' का क्या तात्कालिक प्रभाव पड़ सकता था ?, यह अन्तर्य्यामी जान रहे थे। अतएव—'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः (३।१८) के अनन्तर ही भगवान् को यह कह ही तो देना पड़ा कि—

---

*—यदपि मन पर रथ को हाँके चक्रसुदर्शनधारी—भक्त की टेक न टारी मन की टेक हमारी, लाज रक्खो गिरिधारी० इत्यादि लोकप्रसिद्ध भावुकतापूर्ण भजन

समालोचयति, सुख हि आसेवना क्रियते, दुःख चेत्थमालोचयितुम् , तस्मादयं शल्यहीन शुद्ध इति । एवं तं गुरुणा प्रशस्यमान दृष्ट्वाऽन्येऽपि अगीतार्थश्रमणा प्रशसन्ति चिन्तयन्ति च–दोषासेवनायामसकृदापतितायामपि न कश्चिद्दोष, आलोचनयैव सकलदोषपरिहारसभवात् । अथान्यदा तत्र सविग्नगीतार्थ कश्चिदाचार्य शिष्यगणपरिवृत समायात । स च प्रतिदिन तमेव व्यतिकर विलोक्याचार्यमब्रवीत्–हे महाभाग! शासनप्रभावक! भव्यभास्कर ! अयमविनीत खलुशिष्यो

करता है। जो मुनि इस प्रकार से अपने अतिचारों की आलोचना करता है उसी की आलोचना करना ठीक है। ऐसी आलोचना से ही दु खों का विनाश होता है। इस प्रकार अन्य शिष्योंने जब गच्छाचार्य को उसकी प्रशसा करने में रत देखा तो अगीतार्थ शिष्य भी उसकी प्रशसा करने लगे। तथा साथ २ में यह भी धारणा उनके चित्त में जम गई कि बार २ दोषों की आसेवना करने पर भी हरकत नहीं है, क्योंकि दोष करने पर भी उन दोषोंकी शुद्धि आलोचना से हो जाती है, नहीं तो इस मुनिकी प्रशसा हमारे आचार्य क्यों करते, और क्यों यह दोषों का आसेवन करता हुआ भी उनकी आलोचना करता है। एक दिन की बात है कि वहा सविग्न गीतार्थ–(क्रियापात्र) कोई आचार्य महाराज अपनी शिष्यमडलीसहित आये। उन्हों ने जब वहा इस अविनीत शिष्य के इस प्रकार के प्रतिदिन के व्यवहार को देखा तो वे आश्चर्य पाये और गच्छाचार्य से कहने लगे कि–हे महाभाग ! शासनप्रभावक।

લાગેલા અતિચારોની શુદ્ધ આલોચના કરે છે જે મુનિ આ રીતે પોતાના અતિચારોની આલોચના કરે છે તેવી આલોચના કરવી ઠીક છે આવી આલોચનાથીજ દુઃખોનો વિનાશ થાય છે આ પ્રકારે અન્ય શિષ્યોએ જ્યારે ગુરૂ મહારાજને તેની પ્રશસા કરવામા રત જોયા ત્યારે બીજા શિષ્યો પણ તેની પ્રશસા કરવા લાગ્યા અને સાથોસાથ એવી ધારણા એમના ચિત્તમા ઠસી ગઈ કે વારવાર દોષોનુ સેવન કરવામા પણ હરકત નથી કેમકે દોષ કરવા છતા પણ તેવા દોષોની શુદ્ધિ આલોચનાથી થઈ જાય છે નહીં તો આ મુનિની પ્રશસા અમારા આચાર્ય કયા કારણે કરત. તેમ આવા દોષોનુ આસેવન કરવા છતા પણ તે તેની આલોચના કરે છે એક દિવસની વાત છે કે ત્યા કોઈ અન્ય આચાર્ય મહારાજ પોતાની શિષ્યમડળી સાથે આવ્યા. તેઓએ જ્યારે ત્યા તે અવિનીત શિષ્યના આ પ્રકારના દરરોજના વહેવારને જોયો તો તેમને આશ્ચર્ય થયુ અને આચાર્ય મહારાજને કહેવા લાગ્યા કે

जनक यदि शास्त्रीय-विधि-विधानों के अनुसार यथियोचित कर्त्तव्य का पालन करना अपना परमधर्म मान रहे हैं तो अब अर्जुन के लिए कोई भी प्रश्न शेष नहीं रहना चाहिए था। अर्जुन अधिक से अधिक अब यही प्रश्न कर सकता था अपनी सहजसिद्धा भावुकता के आवेश में आकर कि-विदेह जनक जब आत्मबोधनिष्ठ बन गए थे तो-'तस्य कार्य्यं न विद्यते' आप के (भगवान् के) इस सिद्धान्त के विपरीत किया [illegible] क्यों जनक ने कर्त्तव्य-पथ का अनुगमन ?, क्या प्रयोजन था उन्हें आत्मबोधानन्तर भी कर्म्ममार्गानुगमन से ? । लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्-कर्त्तु मर्हसि' के अतिरिक्त भावुकतापूर्ण इस प्रश्न का और क्या समाधान हो सकता था ? । ठीक है प्रिय (भावुक) अर्जुन ! सचमुच जनक को संसार से कुछ लेना देना नहीं था । वे यदि कुछ न करते, तब भी उनका कोई इष्टानिष्ट सम्भव नहीं था । फिर भी उन्होंने किया और यावज्जीवन किया । केवल इसलिए कि, यदि वे न करते तो साधारण प्राकृत जन-जो यथासाधारण-लोकश्रेष्ठ मानवों को ही अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य में प्रमाण मानते आए हैं-वे कर्म्मशून्य विदेह जनक का अनुकरण कर कर्त्तव्य से विमुख ही हो जाते । अतएव (तुम अपनी भावुकता के परितोष के लिए यही समझ लो अभी कि) जनकने लोकसंग्रह के लिए ही कर्त्तव्यकर्म्म का अनुगमन किया । मान लेते हैं-तुमने आत्मबोधनिष्ठा प्राप्त करली । फिर भी हम आग्रह करेंगे तुम से कि जिसप्रकार अतीतयुगों के आत्मबोधनिष्ठ भी तुम्हारे ही पूर्वपुरुषों (जनकादि क्षत्रियवरों) ने भी लोकव्यवहारार्थ कर्म्म करना आवश्यक समझा था तथैव तुम भी " " इत्यादि इत्यादि ।

३४४-महती विभीषिकारूपा-भावुकता का मूलाधार-'प्रत्यक्षजगत्', तन्निग्रहेण परिणामदर्शिता का आत्यन्तिक अभाव, एवं अतीत का द्रोही, तथा केवल वर्त्तमानवादी प्राकृत भावुक-मानव—

'भावुकता' वह महती विभीषिका है, जिसका मूलाधार है 'प्रत्यक्ष'। प्रत्यक्ष से प्रभावित होने का नाम ही तो भावुकता है। कालपुरुष के जिन भूत-भवत्-भविष्यत्-नामक तीन विवर्त्तों का यथोचित प्राधान्य है उनमें से प्रत्यक्षवादी भावुक की दृष्टि में भूत-भविष्यत्, और तत्परिणाम हैं ही नहीं। उसके चर्म्मचक्षुओं के सामने है प्रत्यक्षानुगत केवल वर्त्तमान। अतएव यद्युपत् सम्मुख उपस्थित स्थूल-वर्त्तमान के आधार पर ही वह अपनी मनस्तुष्टि कर लेने में समय बनता है और यही प्रत्यक्षप्रमाण्य का सम्पूर्ण महत्त्व है जिस पर बुद्धिवादी बड़ा अभिमान किया करते हैं, जबकि भारतीय दृष्टि से प्रत्यक्ष-प्रमाणवादी को तो 'नास्तिक' ही कहा गया है जो सबकुछ सुन कर भी देख कर भी समझ कर भी कुछ नहीं सुनता नहीं देखता नहीं समझता। अतएव अतीत का तो द्रोही ही बना रहता है यह प्रत्यक्षवादी-वर्त्तमानकालवादी-भावुक प्राकृत मानव।

३४५-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के भावुक नेताओं के द्वारा अतीत का प्रचण्ड विरोध, वर्त्तमान के व्यामोहन से स्वराष्ट्रनिष्ठा-विरोधी प्रतीच्य राष्ट्रों का अन्धानुकरण, एवं भारत के सांस्कृतिक-वैभव की अन्तर्मुखता—

तभी तो आज दुर्भाग्यवश इस आत्मनिष्ठ भी निताश्त नैष्ठिक भी, निष्ठानुगामी भी पावन भारतराष्ट्र में देखा कुछ सुना जाता है कि-"हमें तो अब पुराने व्यवहारों का मुख्य ही मना है । क्योंकि पुराना सब कुछ गलत सड़ गला है । अब तो हमें वर्त्तमान के आधार पर ही सब कुछ नवीन ही रचना कर डालनी

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ॥
उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः ॥६॥
उत्सन्नकुलधर्म्माणां मनुष्याणां जनार्दन ! ॥
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥७॥

—गीता १।३८ से ४४ पर्यन्त ।

३४९–प्रत्यक्षमूलक–तात्कालिक–भावों से आविष्ट अर्जुन का धारावाहिक व्याख्यान, तथा चाकचिक्यपूर्ण–लोकप्रिय प्रज्ञाकौशल—

विशुद्ध भावुक अर्जुन के उक्त उद्गार किस भावुक को प्रभावित नहीं कर देंगे, जिन में व्यक्ति–कुल (परिवार)–समाज (जाति)–और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण राष्ट्र की भी मङ्गलकामना के बीज सुनिहित प्रतीत हो रहे हैं। बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं अर्जुन के ये उद्गार, जिनके गर्भ में भारतराष्ट्र का भावुकतापूर्ण सर्वविनाश का इतिवृत्त ही मानो लिपिबद्ध कर दिया है पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने। भावुक मानवों की विचारसरणि का उत्थान सदा 'पर' को (दूसरे को) अवलम्ब बना कर ही होता है। यह सदा दूसरों को आधार बना कर ही (अतएव अपने आपको निस्तत्त्व कर के ही) बात आरम्भ करता है, जब कि भ्रान्ति उसे यही बनी रहती है कि, वह कर रहा है अपनी ही ओर से अपनी ही बात। और इस दृष्टि से भावुक अर्जुन अथवा धार्म्मिक ? हाँ विशुद्ध धर्म्मभीरुतापूर्ण विचारों का उपक्रम करता हुआ निर्बाधगति से बीच में क्षणमात्र भी विश्राम न कर, सुनने वाले के मनोभावों की ओर से सर्वथा अपरिचित रहते हुए आवेशपूर्वक एक कुशल प्रज्ञाशील–धर्म्मस्वरूप–व्याख्याता–उपदेशक–उद्बोधक–विवेचक–की ही भाँति अनर्गलरूप से यों कहने लग ही तो पड़ता है कि–

भगवन् ! यह ठीक है कि, यद्यपि दुष्टबुद्धि आततायी दुर्य्योधनप्रमुख ये कौरवगण राज्यलोभ के कारण सम्पूर्ण विवेक खो बैठने के कारण 'युद्ध' के भावी परिणामों का विचार नहीं कर रहे हैं। और जो एकमात्र राज्यलाभवशवर्ती बन कर ये सर्वनाश के लिए समराङ्गण में आ डटे हुए हैं। इसी लोभावरण ने इनके अन्तःकरण को उस सीमापर्य्यन्त मलिन बना दिया है कि युद्ध से सम्भावित कुलक्षयरूप महान् दोष को, तथा मित्रद्रोहात्मक महापाप को, एवं इनके भावी परिणामों को देखने की शक्ति ही इनकी नष्ट हो चुकी है। (१) ॥ तथापि इसका यह अर्थ तो कदापि नहीं लगा लेना चाहिए कि, हम भी उन्हीं का अनुकरण करने लग पड़ें, और हम भी युद्ध जैसे नृशंसकर्म्म के लिए समुद्यत हो जांय ?। इस महान् दोष, महान् पाप से बच निकलना क्यों नहीं हमारी भी समझ में न आवे ?। हमें तो समझ लेना ही चाहिए इस भूल को, एवं भूल के भयानक परिणामों को। जनार्दन ! आप ही कृपया बतलाइए कि, कुलक्षय से सम्भावित इस महान् दोष को देखते हुए भी क्या हमें भी उन पापात्माओं का अनुसरण कर लेना चाहिए ?। उत्तर दीजिए ! (२) ॥ यह आप से तो परोक्ष नहीं है भगवन् ! कि–कुलों के नष्ट हो जाने से कुलों के सनातन–परम्परासिद्ध–कुलधर्म्म ही उच्छिन्न हो जायँगे। कुलधर्म्म ही जब नष्ट हो जायँगे तो कुलधर्म्मों के आधार पर प्रतिष्ठित कुल कहाँ बचेंगे ?। अवश्य ही धर्म्मनाश के साथ साथ कुल भी नष्ट हो जायँगे। धर्म्मनाश एवं तद्द्वारा कुलनाश।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम् ।।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।२।।
—गीता ३।२२, २३, २४।

३४८–प्रत्यक्षवादी धर्म्मभीरु अर्जुन के करुणा–अहिंसा–मानवता–त्याग–तपस्यादि मूलक भावुकता-पूर्ण उद्गार, एवं नितान्त अवधेय–'संकरस्य च कर्त्ता स्याम्–उपहन्यामिमाः प्रजाः' उद्गार—

यह अविस्मरणीय है कि–'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'० (गीता ३।१७।) से आरम्भ कर–'उत्सीदेयुरिमे लोका०' [३।२४] पर्य्यन्त सम्पूर्ण श्लोक धाराप्रवाहिक रूपेण क्रमबद्ध हैं। अतएव 'यस्त्वात्मरति ०' से उपक्रान्त प्रकरण 'उत्सीदेयुः' पर ही विश्रान्त है। अब यह निष्ठाशीला प्रज्ञाओं का काम है कि, इस सन्दर्भ से कर्म्मत्याग का समन्वय कर डालें अथवा तो कर्म्मसमुच्चय का। स्थिति का स्पष्टीकरणमात्र हमारा कर्त्तव्य था जिसके 'संकरस्य च कर्त्ता स्याम्–उपहन्यामिमाः प्रजाः' इस अन्तिम वाक्य की ओर ही विशेषरूप से हम पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहते हैं। प्रत्यक्ष से सहसा प्रभावित हो पड़ने वाले क्षत्रियोचित-प्रकृतिसिद्ध–युद्धकर्म्म से सहसा पराङ्मुख हो जाने वाले प्रत्यक्षप्रमाणवादी भावुक अर्जुनने अपनी इस भावुकता के समर्थन के लिए उत्तेजना–करुणा–बीभत्स–आदि आदि विविध भावान्वित अनेक उपरमात्र प्रदान करने जैसे प्रज्ञावादों का अनुगमन कर लिया था। उन सब में अर्जुन की दृष्टि में धर्म्मसंस्थापक भगवान् के लिए दो कारण प्रमुख बन बैठे थे एक तो वर्णसङ्करता और दूसरा आत्मजनों का नाश (कुलक्षय और प्रजाक्षय)। वर्णसंकरता के निरोध के लिए, एवं जनकुल के संरक्षण की कामना से इन दो प्रमुख कारणों से ही अर्जुन के श्रीमुख से 'न योत्स्ये' निकल पड़ा था जैसाकि निम्नलिखित प्रसिद्ध वचनों से प्रमाणित है–

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।१।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ! ।।२।।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्म्माः सनातनाः ।।
धर्म्मे नष्टे कुलं कृत्स्नं, अधर्म्मोऽभिभवत्युत ।।३।।
अधर्म्माभिभवात् कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ।।४।।
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।५।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ॥
उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः ॥६॥
उत्सन्नकुलधर्म्माणां मनुष्याणां जनार्दन ! ॥
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥७॥

—गीता १।३८ से ४४ पर्य्यन्त ।

२४६–प्रत्यक्षमूलक–तात्कालिक–भावों से आविष्ट अर्जुन का धारावाहिक व्याख्यान, तथा चाकचिक्यपूर्ण–लोकप्रिय प्रज्ञाकौशल—

विशुद्ध भावुक अर्जुन के उक्त उद्गार किस भावुक को प्रभावित नहीं कर देंगें, जिन में व्यक्ति–कुल (परिवार)–समाज (जाति)–और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण राष्ट्र की भी मङ्गलकामना के बीज सुनिहित प्रतीत हो रहे हैं। बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं अर्जुन के ये उद्गार, जिनके गर्भ में भारतराष्ट्र के भावुकतापूर्ण सर्वविनाश का इतिहास ही मानो लिपिबद्ध कर दिया है पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने। भावुक मानवों की विचारसरणि का उत्थान सदा 'पर' को (दूसरे को) अवलम्ब बना कर ही होता है। वह सदा दूसरों को आधार बना कर ही (अत एव अपने आपको विस्मृत कर के ही) बात आरम्भ करता है जब कि भ्रान्ति उसे यही बनी रहती है कि वह कर रहा है अपनी ही ओर से, अपनी ही बात। और इस दृष्टि से भावुक अर्जुन अपने 'धार्म्मिक' हो विशुद्ध धर्म्मभीरुतापूर्ण विचारों का उपक्रम करता हुआ निर्बाधगति से बीच में क्षणमात्र भी विश्राम न कर, सुनने वाले के मनोभावों की ओर से सर्वथा अपरिचित रहते हुए आवेशपूर्वक एक कुशल प्रभावशालि–धर्म्मस्वरूप–व्याख्याता उपदेशक उद्भावक–विवेचक–की ही भाँति अनर्गलरूप से यों कहने लग ही तो पड़ता है कि—

"भगवन् ! यह ठीक है कि, यद्यपि दुष्टबुद्धि आततायी दुर्य्योधनप्रमुख ये कौरवगण राज्यलोभ के कारण सम्पूर्ण विवेक खो बैठने के कारण 'युद्ध' के भावी परिणामों का विचार नहीं कर रहे हैं। और यों एकमात्र राज्यलोभवशवर्त्ती बन कर ये सर्वनाश के लिए समराङ्गण में आखड़े हुए हैं। इसी लोभावरण ने इनके अन्तःकरण को उस सीमापर्य्यन्त मलिन बना दिया है कि, युद्ध से सम्भावित कुलक्षयरूप महान् दोष को तथा मित्रद्रोहात्मक महापाप को एवं इसके भावी परिणामों को देखने की शक्ति ही उनकी नष्ट हो चुकी है। (१) ॥ तथापि इसका यह अर्थ तो कदापि नहीं लगा लेना चाहिए कि, हम भी उन्हीं का अनुकरण करने लग पड़ें ? और हम भी युद्ध जैसे सर्वनाशकर्म्म के लिए समुद्यत हो जाँय ?। इस महान् दोष महान् पाप से बच निकलना क्यों नहीं हमारी भी समझ में न आये ?। हमें तो समझ लेना ही चाहिए इस भूल को एवं भूल के भयानक परिणामों को। जनार्दन ! आप ही कृपया बतलाइए कि कुलक्षय से सम्भावित इस महान् दोष को देखते हुए भी क्या हमें भी उन पापात्माओं का अनुसरण कर लेना चाहिए ?। उत्तर दीजिए ! (२) ॥ यह आप से तो परोक्ष नहीं है भगवन् ! कि–कुलों के नष्ट हो जाने से कुलों के सनातन–परम्परासिद्ध–कुलधर्म्म ही उच्छिन्न हो जाऐंगे। कुलधर्म्म ही जब नष्ट हो जाऐंगे तो कुलधर्म्मों के आधार पर प्रतिष्ठित कुल कहाँ बचेंगे ?। अवश्य ही धर्म्मनाश के साथ साथ कुल भी नष्ट हो जायेंगे। धर्म्मनाश एवं तद्द्वारा कुलनाश।

और जानते हैं आप क्या परिणाम होगा इसका ?। धर्म्म के स्थान में अधर्म्म का साम्राज्य प्रतिष्ठित हो जायगा (३) ॥ आगे क्या होगा ?, यह भी सुन लीजिए ! भगवन् ! अधर्म्म के द्वारा जब धर्म्म सर्वात्मना अभिभूत-पराभूत—पराजित हो जायगा तो कुलस्त्रियों में आचारक्षोभ उत्पन्न हो पड़ेगा (अधर्माभिभवात्, कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः । स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः) । और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के इसप्रकार अनाचारपथ पर आजाने से अकुलात्मक वर्णसङ्कर उत्पन्न होने लग पड़ेंगे (४) ॥ यह शास्त्रसिद्ध ही है कि वर्णसङ्कर सन्तान तो नरकगति का ही कारण बनती है। क्योंकि इसके द्वारा पिण्ड दानादि क्रियाएँ सर्वथा विलुप्त हो जाती हैं। सङ्करसन्तान प्रथम तो श्रद्धापूर्वक पिण्डदान—लक्षण प्रेतपितृ श्राद्ध करती ही नहीं। यदि लोकानुबन्ध से करती भी है तो सम्बपुरुषानुगता सपिण्डता के असंस्तुत इस सङ्करसन्तति के द्वारा प्रदत्त पिण्ड सन्ततलोकस्थ महानात्मरूप प्रेतपितरों की सद्गति के कारण भी नहीं बन पाते। फलतः उन प्रेतपितरों को इन सङ्करसन्तानों की कृपा से नरकगति का ही अनुगामी बना रहना पड़ता है। और यों प्रत्यक्षरूप कुलक्षय धर्म्मविलुप्ति तथा अधर्म्मप्रसार के साथ साथ युद्धजनिता हिंसा से परलोक भी विरुद्ध होजाते हैं (५) ॥ इसप्रकार कुलघाती सन्तानों के वर्णसङ्करात्मक इन महान् दोषों, पापों से परम्परया कुलसमष्टिरूपा जाति के भी धर्म्म उच्छिन्न होजाते हैं एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रप्रजा ही धर्म्मच्युत बन जाती है। हे जनार्दन ! प्रजास्वरूप-जातिस्वरूप रक्षक ! यों युद्धरूपा हिंसा की कृपा से व्यक्ति-कुल (परिवार)—जाति तथा तदुपलक्षित राष्ट्र, सभी के धर्म्म सभी के शास्त्रसिद्ध सत्कर्म्म उच्छिन्न होजाते हैं (६) ॥ और हे भरतर्षभ ! भरतकुल के अभिभावक ! रक्षक ! जिन मनुष्यों के कुलधर्म्म तथा जातिधर्म्म उच्छिन्न होजाते हैं उनके प्रेतपितर तो नरक में निवास करते ही हैं (पूर्वकथानुसार) तद्व्यतिरिक्त स्वयं इनको भी अन्ततोगत्वा उसी नरकगति का सम्मान्य अतिथि बन जाना पड़ता है। (इसीलिए तो भगवन् 'न योत्स्ये') । इन सब भौतिक—आत्मिक—दैविक—विपत्तियों से स्वयं को परिवार को समाज को एवं राष्ट्र को बचाने की पुण्यकामना से ही तो यह आपका सखा अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता (७) ॥

३५०—अर्जुन की महत्त्वपूर्णा वक्तृता का मानवता—प्रेमियों के द्वारा अभिनन्दन, तत्समतुलिता भारत के राष्ट्रीय-नेताओं की कर्णप्रिया व्याख्यानशैली, एवं तदनुग्रह से [illegible] तीन सहस्र—वर्षों से क्रूर आततायी—वर्गों के प्रति राष्ट्र का आत्मसमर्पण—

अर्जुन की उक्त वक्तृता की कौन मानवताप्रेमी श्लाघा—स्तुति नहीं करेगा ? । आज हमारा वर्त्तमान भारतराष्ट्र, विशेषतः इस राष्ट्र में एकमात्र अपने आपको ही 'राष्ट्रीय'—मानने मनवाने के लिए विशेषरूप से आतुर राष्ट्रीय कर्णधारों की भाषा तो मानो अर्जुन के व्यामोहन का ही प्रतीक है। एक विगत तीन सहस्र वर्षों से इस राष्ट्रिय ? भारतीय ? मानव ? (नितान्त भावुक मानव) पर जब जब भी दुर्बुद्धि—आततायियों ने निर्मम आक्रमण किया तब तब ही अपनी भावुकतामूला कल्पित मानवता अहिंसा—करुणा दया के माध्यम से सर्वोपरि व्यर्थ के रक्तपात से राष्ट्रप्रजा को बचा लेने की मङ्गलकामना से और तन्मूलक सङ्करप्रजानुगता लुप्तपिण्डोदकक्रिया के भय से धर्म्मरक्षा के लिए ही मानो पक्षपातपूर्वक ही अनभ्येता करके उन दुर्बुद्धियों को इस भारतीय नितान्त भावुक 'हिन्दूमानव' ने सर्वस्व समर्पित कर ही तो दिया।

२५१–अर्जुन से समतुलिता भावुकता की कृपा से ही भारतराष्ट्र के श्री-वैभव का आततायीवर्ग के द्वारा निर्म्मम अपहरण, और हमारी कायरतापूर्णा अहिंसासक्ति—

ऐसा ही था हमारे राष्ट्र का अपने विश्वासघातात्मक उसी महत्त्वपूर्ण ! इतिहास को देखते देखते ही बड़े गौरव से शासन ने वैसा महत्पुण्यार्जन कर लिया था। और आज भी, अब भी आततायी-दुष्ट-दस्यु चोर-उचक्कों को क्षमादान, उन का मानवता के नाते से निष्प्राण और निरीह प्रजा की उपेक्षा। जाने दीजिए। वर्त्तमाना भावुक प्रजा प्रभु नरकट् सम्भवतः सह न सकेगी इन आलोचनाओं को। हमें सहन कराना भी नहीं है। हमें तो वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरणमात्र कर देना है एक बार राष्ट्र की मङ्गलकामना से राष्ट्रप्रजा को संकटों से बचा लेने की कामना से, एवं राष्ट्रप्रजा के संरक्षण की कामना से।

२५२–मातृशक्ति पर अभियोग लगा बैठने वाले निर्लज्ज अर्जुन के प्रति हो पड़ने वाली भगवान् की आश्चर्य्यमयी उपेक्षा—

क्या आततायी-वर्ग के संरक्षण से हमारी प्रजा सुरक्षित रह जायगी ?। क्या उन दुरात्मा मानवता के विध्वंसकों को अभय देने से हमारी कुलस्त्रियों का सतीत्व अक्षुण्ण बना रह जायगा ?, जिस सतीत्व के सम्बन्ध में भावुक अतएव स्वधा निर्लज्ज कच व्यनिष्ठा–विमूढ़ अर्जुन ने– प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः 'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसङ्करः इसप्रकार की दम्भा–निर्लज्जा–पापमयी वाणी का उच्चारण करते हुए अपने आप को उसी क्षण भूगर्भ में सदा के लिए ही क्यों नहीं निमज्जित कर लिया ?। और आश्चर्य्य है कि भगवान ने स्वयं ही जगन्मान्या पूज्या अनन्यभक्तेया मातृशक्ति पर भी कलङ्क लगा बैठने वाले भीरु अर्जुन का सुदर्शन से तत्काल ही शिरश्छेद कर स्वयं ही महाभारत युद्ध का उपक्रम कर कौरवों का विनाश क्यों नहीं कर दिया ?। *'न स्त्रैरी स्त्रैरिणी कुतः' का मर्म्म भगवान् के तो सम्मुख विद्यमान था। फिर स्वस्वरूप से सर्वात्मना अनपराधिनी जननी–पराम्बिका मातृजाति पर दोषारोपण सुन कर भी भगवान् ने कैसे इसे क्षमा कर दिया ? उत्तर। यही उत्तर आगे चल कर स्वयं भगवान् को ही–'संकरस्य च कर्त्ता स्याम्-उपहन्यामिमाः प्रजाः (३।२४।) इस रूप से दे देना पड़ा है जिस के समन्वय के लिए ही हमें भावुक अर्जुन के भावुकतापूर्ण–धर्म्मभीरुतापूर्ण व्याख्यान का पूर्व में दिग्दर्शन कराना पड़ा है।

---

* एव स्त्री नापराध्नोति, नर एवापराध्यति ॥
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति ॥१॥
नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति ।
एवं नारीं, मातरश्च गौरवे चाधिकां स्थिताम् ।
'अवध्या' तु विजानीयुः–पशवोऽप्यविचक्षणाः ॥
—महाभारत–शान्तिपर्व–मो० २६६ अ० ।

२५३—सर्वनाशपरम्पराओं की जन्मदात्री भावुकतापूर्णा स्वधर्म्म-विच्युति, एवं स्वधर्म्मात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से ही राष्ट्रस्वरूप-संरक्षण —

धर्म्म का अभिभव अधर्म्म का साम्राज्य कुलक्षय, निरपराधा मातृजाति का अपमान-उत्पीड़न वर्णसंकरता आदि आदि समस्त अपराधों का एकमात्र कारण है—मानव का स्वधर्म्मात्मिका कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो जाना। फिर इस पराङ्मुखता का कारण आरम्भ में भले ही दार्शनिकता रहा हो आगे चलकर भले वही यो स्वभ्रमुगत भक्तिवाद बन गया हो, और आज भले ही वो कल्पित मानवतावादात्मक बन रहा हो। अन्याय-अत्याचार-पाप-अधर्म्म-परम्पराओं को, तदनुगामी दुष्ट—आततायियों को कर्त्तव्यनिष्ठारक्षण के लिए दण्डित न कर अभय प्रदान करना ही उक्त सर्वनाश-परम्पराओं का प्रमुख कारण है।

२५४ हिंसा-अहिंसा,-दण्ड क्षमा, ध्वंस-निर्म्माण, आदि प्राकृतिक द्वन्द्वों से समन्विता दिग्देशकालात्मिका प्रकृति, एवं तन्माध्यमानुपात से ही प्राकृत भावों की प्रकृतिसिद्धा व्यवस्थिति—

हिंसा और अहिंसा दण्ड—और क्षमा निर्म्माण—और ध्वंस, संरक्षण—और उत्पीड़न स्वधर्म्म की सीमा में दिग्देशकालानुबन्ध से ये सभी समानरूप समाविष्ट हैं। नारी की उच्छृङ्खलता यदि क्षमादान से उपशान्त होगी नहीं हिंसक सिंह व्याघ्रादि कदापि क्षमादान से 'मानवधर्मेष्टकोटि' में नहीं आसकेंगे नहीं आसके आज तक थे। और त्रिगुणात्मक विश्व में तो ऐसा कभी सम्भव होगा भी नहीं। इसीलिए तो निष्ठा के परमाचार्य महामानव हमें यह उद्बोधन प्रदान कर रहे हैं कि, अहिंसा क्षमा करुणा आदि धर्म्म के अङ्ग अवश्य हो सकते हैं किन्तु धर्म्म के लक्षण कभी नहीं होसकते हैं। किन्तु कदापि ये स्वयं धर्म्म का स्थान ग्रहण नहीं करसकते। क्योंकि देश—काल—पात्र—द्रव्यादि के भेद से हिंसा—दण्ड—आक्षेप भी उसी स्वधर्म्म के अङ्ग बने हुए हैं। कहाँ हिंसादि अङ्ग मान्य हैं! और कहाँ अहिंसादि अङ्ग मान्य हैं! इसका निर्णय कदापि प्रत्यक्षप्रमाणमूला भावुकता के माध्यम से सम्भव ही नहीं। अपनी प्रत्यक्षदृष्टि से जिसे हम क्षमा करना चाहते हैं बहुत सम्भव है—उसका परोक्षरूप वैसा सुनने को मिले जिसे सुनकर उसे हम क्षमादान के स्थान में भस्मसात् ही कर देना चाहें। एवमेव जिसे हम प्रत्यक्ष में कुत्सित कर्कश मान कर दण्ड देने के लिए आतुर हों वहाँ बहुत सम्भव है उसकी यह कुत्सिता-कर्कशता भी असत्य हो।

२५५—पूर्वापरात्मक-भूतभविष्यत् की परिणामदर्शिता के माध्यम से ही वर्त्तमान स्थिति का न्यायविधान के द्वारा सम्भावित निर्णय, एवं तन्माध्यमेनैव प्राकृत-वर्त्तमानवादी—मानव की भी शास्त्रैकशरणता—

कौन इसका निर्णायक है। क्या मानव की यह माना प्रत्यक्षप्रमाणमूला—भावुकता—परिपूर्णा—तात्कालिकी भूतदृष्टि बिना तात्कालिकी प्रज्ञा प्रत्यक्षस्थितिमात्र से क्षमा एवं दण्ड का निर्णय कर सकेगी?। तब तो उसे अपने लोकानुबन्धी सम्पूर्ण विधि-विधान (कानून) भी वर्त्तमान में स्मृतिगर्भ में ही विलीन कर देने पड़ेंगे अपने ही हाथों। पूर्व-अपर,-अर्थात् भूत और भविष्यत् की परिस्थितियों के आधार पर ही तो कानून

वर्त्तमान का निर्णय करता है। फिर तो इसके स्वयं के अपने ही युग से भी प्रत्यक्षात्मक वर्त्तमान का कोई भी महत्त्व नहीं रहा। यही वह मूलबिन्दु है, जिसके माध्यम से ही वर्त्तमानवादी का ध्यान हम उस कर्त्तव्यनिष्ठा की ओर आकर्षित करसकते हैं, जिसका मूल त्रिकालज्ञ ऋषियों की प्रज्ञा से दृष्ट त्रिकालाव्यवस्थापक शास्त्र (मानवजीवन के कानून) से ही है। यदि इस शास्त्र से शास्त्रसिद्ध स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म से चिढ़ है, तो सर्वप्रथम हम इनसे प्रणतभाव से यही नम्र आवेदन कर लेंगे कि, जिस हेतुवाद से यह शास्त्र को नष्ट कर देना चाहता है, उसी, अपने ही हेतुवाद से इसे अपने सम्पूर्ण कानून को भी कल्पान्ताग्नि में आहुत कर उस कोटि में ही आजाना चाहिए, जिस सुप्रसिद्धा प्राकृत जीवकोटि के लिए न कभी कोई शास्त्र बना है, न कानून। अपितु प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका तात्कालिकी प्रकृति ही जिस वर्ग के लिए शास्त्र, किंवा कानून बनी हुई है। और हम समझते हैं 'स्वत्व' की भावना परिपूर्ण कोई भी मानव उस कोटि में आजाना तो कभी भी अभीष्ट नहीं ही मानेगा अपने आप को।

३५६–प्रचण्ड–दुर्दान्त तस्कर–आक्रान्ता की मानवस्वभावसुलभा पुण्यवासना, एवं मानव का अन्ततोगत्त्वा मनुनिबन्धन–आत्मनिष्ठ 'मानवस्वरूप' पर ही विश्राम —

क्यों कि सुनते हैं अनुभव करते हैं कि, एक प्रचण्ड दुर्दान्त डाकू भी अपने आपको 'पापात्मा' कहलाने के स्थान में 'पुण्यात्मा' कहलाने में ही अपने अन्तर्जगत् में गौरव का अनुभव करता है। इसलिए अनुभव करता है कि, मानव प्रत्यक्षवादी प्राकृत पशु नहीं है। अपितु वह मानव है। या मानुगत्या अभ्युदयनिष्ठ-पुण्यनिष्ठ ही उसका अपना मौलिक स्वरूप है। अतएव अन्ततोगत्त्वा मानव 'मानव' ही है जिसके स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यों का व्यवस्थापक शास्त्र ही जिसे प्रत्यक्षमूला भावुकता से बचा लिया करता है—तस्माच्छास्त्रं-प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।

३५७–झञ्झा–ताल मृदङ्गादि से समन्वित नामसंकीर्त्तन के विपरीत स्वभक्त अर्जुन के प्रति भगवान् का कर्त्तव्यकर्म्मादेश, एवं शास्त्राधारनिष्ठ भगवान्—

यदि भगवान् शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से भावुक अर्जुन को उस भीषण परिस्थिति में क्षात्रधर्म्मात्मक स्वधर्म्म में प्रवृत्त न करते ठीक इसके विपरीत यदि कण्ठी–माला–झांझ–मँजीरा–देकर उसे भजन–कीर्त्तन और स्वनाम–संकीर्त्तन करने के लिए ही छोड़ देते तो आततायी वे कौरव क्या क्या नवीन अनर्थ नहीं कर डालते ?, जिन्होंने अपने आत्मीयबन्धु पाण्डवों तक को वारणावतनगर के लाक्षागृह में जीवित जला डालने के प्रयास में भी कोई कमी नहीं की थी। मर्य्यादाक्रूरता–दुराचार–अधर्म्म–नारीजाति का अपमान ये सभी आसुरी-प्रवृत्तियाँ जिन कौरवों में जन्मतः ही विद्यमान थीं, उनका स्वरूप क्या इन प्रवृत्तियों को मूर्त्तिमान नहीं बना देता ?। क्या भावुक अर्जुन भूल गया था महाशक्ति द्रौपदी के महतीमहीयान् उस घोरघोरतम अपमान की घटना को जो घटना ही महाभारतसमर का प्रमुख कारण बन बैठी। एवं एकमात्र केवल इस एक, हाँ एक मातृशक्ति के अपमानने ही इस के अश्रुपूर्णाकुलोचनाने ही, इस के बिखरे केशपाशने ही उस विश्वम्भर को भी विकम्पित कर डाला था जिसकी भ्रकुटीमात्र से अनन्त ब्रह्माण्ड भी विकम्पित होसकता है। भगवान के इसी क्षणिक

विकम्पनाग्नि में अन्ततोगत्वा आततायीवर्ग जल कर भस्मसात् हो ही तो गया। यों भगवान्ने आततायीवर्ग को निर्दोष बना कर अपनी इस आचारनिष्ठात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा के बल पर ही अर्जुन के माध्यम-प्रतीक से तत्कालीन भारतराष्ट्र की धर्म्मनिष्ठा को कुलक्षय को, बचाते हुए जाति को संकरदोष से ही बचा लिया एवं इस से प्रजाका स्वरूप सुरक्षित ही हो गया। स्थिति-परिस्थिति अर्जुन की भ्रान्तमूला धारणा से ठीक विपरीत होगई। जिस कर्त्तव्यपालन में अर्जुन को वर्णसंकरता और प्रजाविनाश प्रतीत हो रहा था भगवान् ने उसकी इस भ्रान्ति को निर्मूल कर दिया कर्त्तव्य-स्वरूपबोधमूला शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से। और यह प्रमाणित कर दिया कि कर्त्तव्यनिष्ठा ही वर्णसंकरता का निरोध कर सकती है, एकमात्र कर्त्तव्यनिष्ठा से ही प्रजासंरक्षण, किंवा राष्ट्रसंरक्षण सम्भव है। एवं यही वचनसन्दर्भ के समन्वय के-"यदि मैं कर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त न रहूँ, तो लोकमर्य्यादा ही उच्छिन्न हो जाय। कर्त्तव्य से वञ्चित होकर तो मैं संकरता का तथा प्रजाविनाश का ही निमित्त बनजाऊँ" (३।२४) इस तथ्य का यही तात्त्विक समन्वय है जिस के द्वारा कर्म्मत्यागमूला दार्शनिकता सन्यमूला साधुकता, वर्त्तमानकालानुगता धर्म्मनिरपेक्षता एवं तदनुप्राणिता कल्पनया-प्रसूता सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता-सहयापि स्वैराचारपरायणता, आदि आदि सभी का सर्वात्मना सम्यक् ठीक ठीक समन्वय हो जाता है जैसा कि समन्वय इनका होना चाहिए।

३५८-प्रकृत्यनुसरणात्मक पौरुष, तथा भाग्य का संस्मरण, एवं सहजकर्म्मनिबन्धन-जरामर्य्यसत्रात्मक पौरुष की स्वरूप-परिभाषा—

प्रकृतमनुसरामः। बात चल रही है पौरुष और भाग्य की। प्रतीकात्मक चतुर्विध भावों के अनेक सम्बन्धों में पौरुष एवं भाग्य का भी एक विशेष स्थान है जिनमें से अव्ययात्मक अक्षरस्वरूप-विद्यासम्बन्धानुगत ब्रह्मवित्-दिग्देशकालातीत-'पुरुष' नामक प्रथम-मानव के 'पौरुष' के सम्बन्ध से ही कर्त्तव्यनिष्ठा का यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो पड़ा था। आत्मबोधनिष्ठ ब्रह्मवित् भी दिग्देशकालानुबन्ध से अस्मदादि प्राकृत मानवों की भाँति ही अवश्यमेव शास्त्रसिद्ध-कर्त्तव्यकर्म्मों में ही-'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' के अनुसार यावज्जीवन लोकसंग्रह-रक्षया प्रवृत्त रहेगा निरासक्तिपूर्वक *। किसी भी भारतीय शास्त्र में ऐसी सम्प्रदायस्था का एकान्ततः अभाव ही है जिस में कर्म्मत्याग को प्रशस्त माना गया हो। 'जरया वा ह्येवास्मात् मृत्युना वा शीर्य्यते' के अनुसार एकमात्र आत्यन्तिक बुढ़ापा एवं तदन्त में मृत्युवेला ही कर्म्मसूत्र के एक अभिक्रम को पूर्ण करता है। ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ-अकर्त्तव्यनिष्ठ-सहज मानवों का यह सहज कर्म्म ही 'पौरुष' कहलाया है और यही महिमात्मक धर्म का प्रथम पर्व है।

३५९-ब्रह्मबलानुगत पौरुष, एवं क्षत्रबलानुगत पुरुषार्थ का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ब्रह्मबलानुगत-अक्षरकर्म निसर्गानुगत मुख्य 'मानव' नामक मानव ही 'पुरुषार्थ' शील मानव कहलाया है। दोनों ही अमुक स्वरूप-तारतम्यभेदसे पौरुषकोटि में अन्तर्भुक्त हैं। धर्म्मधर्म्मीमानव पुरानि-

* ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
—गीता

हित सम्पन्न पौरुष ही 'पौरुष' है, एवं महिम्नैहिमामय-लोकसिद्ध-प्रसिद्ध व्यक्तपौरुष ही 'पुरुषार्थ' है। पौरुष ब्राह्मणपुरुष का धर्म्म है, एवं पुरुषार्थ क्षत्रियमानव का धर्म्म है। ब्राह्मण केवल पुरुष, किंवा पौरुष है, जिसका आधान होता है क्षत्रिय में– तन्मुख एव ब्रह्म–यशो दधाति (दखिए ! मैत्रावरुणब्राह्मण)। ब्राह्मण का पौरुष पुरुषार्थरूप से व्यक्त होता है क्षत्रियके द्वारा जैसाकि 'भारतीयसंस्कृति-निबन्ध' में विस्तार से निरूपित है। और यहीं तक, इन दोनों महिमाशक्तियों तक कालातीत लक्षणा ही धार्मिक व्यवस्था है। इसी आधार पर पुरुषार्थी शासक क्षत्रियराजा को भी ब्राह्मणवत् कालाधीन न मान कर कालनिर्म्माता-ही बतलाा दिया गया है 'राजा कालस्य कारणम्' *।

३६०–'राजा कालस्य कारणम्' मूला भावुकता से आविर्भूत भ्रान्तियों का इतिवृत्त—

'राजा अर्थात् शास्ता-शासक अर्थात् राष्ट्र का सत्तातन्त्र ही काल का निर्म्माता है' इस वाक्य के गर्भ में ही भावुकतापूर्ण उस आपातरमणीय प्रश्न का उत्तर सुरक्षित है जिस प्रश्न की उत्थानिका से वर्त्तमान राष्ट्र के राष्ट्रीय नेतागण तथा तदनुवर्त्तिनी गतानुगतिका प्रजा बड़े आग्रह के साथ भारतीय संस्कृति तद्-प्रतिपादक श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र सम्प्रतिपादित कर्म्मोपनिषत् । (कर्म्मरहस्य)-कर्त्तव्यस्वरूप (कर्म्मेति-कर्त्तव्यता-पद्धति)—कम्मार्चाधन (सांस्कृतिक-आराधन) तथा तदभिगन्ता-वक्ता-प्रचारक ब्राह्मणवर्ग के प्रति अत्यन्त ही कुत्सा–गर्हा–पूर्णा भाषा में अभिनिवेश के साथ अपने ये उद्‌गार अनुदिन प्रकट करते ही रहते हैं कि—

३६१–कालधर्म्मविशारद आज के सत्ताभक्तों के द्वारा भारतीय–ब्राह्मणप्रज्ञा पर आक्रोश पूर्ण मलीमस आक्रमण—

"इन ब्राह्मणोंनें, इन की संस्कृतिने इनके पुराणादि शास्त्रोंनें इनके धर्म्माडम्बरोंनें सर्वोपरि इन के मानवता–विरोधी वर्गभेदोंनें नीच–ऊँच के कल्पित भेदोंनें ही राष्ट्रीय–संघटन उच्छिन्न किया है, एवं एकमात्र इसीलिए राष्ट्र परतन्त्र हुआ है जिसे बड़ी कठिनता से पुन हमारे राष्ट्रीय–नेताओंनें स्वतन्त्र किया है। अतएव अब यह आवश्यक है कि पुनः उस भूल को राष्ट्र में न पनपने दिया जाय। एवं अब राष्ट्र की इस अभिनव–स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए उस पुराणपन्थी–धर्म्म–भावनात्मिका सर्वनाशकारिणी पद्धति को जलाञ्जलि समर्पित कर, वर्गभेद का मूलोच्छेद करते हुए धर्म्मनिरपेक्षता के माध्यम से मानवमात्र की समानता का समर्थन करने वाले वैसे ही विधि–विधान–बनाए जायँ जिनके सभी समानरूप से उपभोक्ता हों। तभी प्राप्त स्वतन्त्रता का संरक्षण अभिलक्ष्य न सम्भव है। कदापि इस अभिनव-स्वतन्त्रता में हमें धर्म्म–रूढि–शास्त्र–प्राचीनता–परम्परा–अतीत–आदि आदि–मूलक व्यामोहनों का प्रवेश नहीं होने देना है जिन व्यामोहनों के कारण ही भारतराष्ट्र को विगत अनेक शताब्दियों से परतन्त्र बना रहने पड़ा है ।

---

* इति त संशयो माभूत्–राजा कालस्य कारणम्। (महाभारत भीष्मोक्ति)।

अत्र दृष्टान्तस्तथाहि—

कस्मिंश्चिद् गच्छे एकः श्रमणगुणमुक्तः सर्वथा भावविनयवर्जितः साध्वाभास शिष्य आसीत्। स च प्रतिदिनं पुरःकर्मादिदोषदूषितमनेषणीयं भक्तादिकं गृहीत्वा महता संवेगेन प्रतिक्रमणकाले आलोचयति। तस्य गच्छाचार्य प्रायश्चित्तं प्रयच्छन् वदति—अहो पश्यत कथमसौ भावमगोपयन् शाठ्यहीन सर्वे

इस अविनीततारूपी घाव के होने पर शिष्यजनों में स्वाभाविक चञ्चलता आजाती है, परन्तु जब उस घाव में गुरुओं से भी प्रत्यनीक होनेरूप सड़ा आने लगता है तब उसकी दुर्गंध को गुरुजन भी सहन नहीं कर सकते हैं, अतः वह संघ से अथवा गच्छ से बाहर कर दिया जाता है। यदि इस प्रकार की परिस्थितिवाले शिष्य को संघ से बाहर न करे तो कुल गण एवं संघ में महान् अनर्थ होता है। इसी विषय को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

किसी गच्छ में साधुओं के भीतरी आचार विचार से रहित परन्तु उपर से साधु जैसा ज्ञात होने वाला एक साध्वाभास शिष्य रहता था। वह प्रतिदिन पुरःकर्मादिदोषों से दूषित अनेषणीय—आहारादिक ग्रहण करता और ऊपर से दिखावटी संवेगभाव से बड़े जोर-शोर से प्रतिक्रमण के समय आलोचना किया करता था। गच्छाचार्य प्रायश्चित्त देते समय कहा करते कि देखो यह कितना भद्रपरिणामी जीव है जो अपने हार्दिक भावों को नहीं छुपाकर लगे हुवे अतिचारों की शुद्ध आलोचना

કારણે અવિનીતતારૂપ ઘા ને લઈ તેના મનમા ભારે ચંચળતા આવી જાય છે પરંતુ ગુરૂ—આજ્ઞાના અનાદરરૂપી સડો એના દિલમા લાગી જાય છે ત્યારે એની દુર્ગંધીને ગુરૂજન પણ સહન કરી શકતા નથી એટલે એને સંઘથી અથવા ગચ્છથી બાહેર કરી દેવામા આવે છે જો આ પ્રકારની પરિસ્થિતિવાળા શિષ્યને સંઘથી બહાર કરવામા ન આવે તો કુલ ગણ અને સંઘમા મહાન અનર્થ બને છે આ વિષયને એક ઉદાહરણ દ્વારા સ્પષ્ટ કરવામા આવે છે —

કોઈ ગચ્છમા સાધુઓના અંદરના આચાર વિચારથી રહિત પરંતુ ઉપરથી સાધુ જેવો દેખાવ રાખતો એક સાધ્વાભાસ શિષ્ય રહેતો હતો તે દિન દહાડે આધા કર્માદિ દોષોથી દૂષિત અનેષણીય આહારાદિક ગ્રહણ કરતો. અને ઉપરના દેખાવમા સંવેગભાવથી ઘણા જોરશોરથી પ્રતિક્રમણના સમયે આલો-ચના કર્યા કરતો ગુરૂ મહારાજ એને પ્રાયશ્ચિત્ત દેતી વખતે કહેતા કે જુઓ આ કેટલો ભદ્રપરિણામી જીવ છે જે પોતાના હાર્દિક ભાવોને નહીં છુપાવતા

त मण्यक्त पौरुष ही 'पौरुष' है, एवं वीर्य्यादिमामय-साक्षिद्ध-प्रसिद्ध व्यक्तपौरुष ही 'पुरुषार्थ' है। पौरुष ब्राह्मणपुरुष का धर्म्म है, एवं पुरुषार्थ क्षत्रियमानव का धर्म्म है। ब्राह्मण केवल पुरुष, किंवा पौरुष है, जिसका आधान होता है क्षत्रिय में– तत्रैतद्रय एव ब्रह्म–यशो दधाति (ऋषिप्र। मैत्रावरुणब्राह्मण)। ब्राह्मण का पौरुष पुरुषार्थरूप से व्यक्त होता है क्षत्रियके द्वारा, जैसाकि 'सांस्कृतिक-निबन्ध' में विस्तार से निरूपित है। और यहाँ तक, इन दोनों महिमाशिवों तक कालातीत लक्षणा ही कालिक व्यवस्था है। इसी आधार पर पुरुषार्थी राज्य क्षत्रियराजा का भी मासन्यत् कालाधीन न मान कर कालनिम्मात-ही स्वीकार किया गया है 'राजा कालस्य कारणम्' *।

२६०–'राजा कालस्य कारणम्' मूला भावुकता से आविर्भूत भ्रान्तियों का इतिवृत्त—

'राजा, अर्थात् शास्ता-शासक, अर्थात् राष्ट्र का सत्तातन्त्र ही काल का निम्माता है' इस वाक्य के गर्भ में ही भावुकतापूर्ण उस आपातरमणीय प्रश्न का उत्तर सुरक्षित है जिस प्रश्न की उत्थानिका से वर्त्तमान राष्ट्र के राष्ट्रीय नेतागण तथा तदनुवर्तिनी गतानुगतिका प्रजा बड़े आग्रह के साथ भारतीय संस्कृति, तन्–प्रतिपादक श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र तत्प्रतिपादित कर्म्मोपनिषत् । (धर्म्मरहस्य)-कर्त्तव्यस्वरूप (कर्म्मेति-कर्त्तव्यता-पद्धति)—कर्म्मायोजन (सांस्कृतिक–आयोजन) तथा तदभिगन्ता–वक्ता–प्रचारक ब्राह्मणवर्ग के प्रति अत्यन्त ही कुत्सा–गर्हा–पूर्ण भाषा में अभिनिवेश के साथ अपने ये उद्गार अनुदिन प्रकट करते ही रहते हैं कि—

२६१–कालधर्म्मविशारद आज के सत्तासक्तों के द्वारा भारतीय–ब्राह्मणप्रज्ञा पर आक्रोशपूर्ण मलीमस आक्रमण—

"इन ब्राह्मणोंने इन की संस्कृतिने इनके पुराणादि शास्त्रोंने इनके धर्म्माडम्बरोंने सर्वोपरि इन के मानवता–विरोधी वर्गभेदोंने नीच–ऊँच के कल्पित भेदोंने ही राष्ट्रीय–संघटन छिन्न-भिन्न किया है, एवं एकमात्र इसीलिए राष्ट्र परतन्त्र हुआ है जिसे बड़ी कठिनता से पुनः हमारे राष्ट्रीय–नेताओंने स्वतन्त्र किया है। अतएव अब यह आवश्यक है कि, पुनः उस भूल को राष्ट्र में न पनपने दिया जाय। एवं अब राष्ट्र की इस अभिनव–स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए उस पुराणपन्थी–धर्म्म–भावनात्मिका सर्वनाशकारिणी पद्धति को जलाञ्जलि समर्पित कर, वर्गभेद का मूलोच्छेद करते हुए धर्म्मनिरपेक्षता के माध्यम से मानवमात्र की समानता का समर्थन करने वाले वैसे ही विधि–विधान–बनाए जायँ, जिनके सभी समानरूप से उपभोक्ता हों। तभी प्राप्त स्वतन्त्रता का संरक्षण-अभिनय न सम्भव है। क्योंकि इस अभिनव-स्वतन्त्रता में हमें धर्म्म–रूढ़ि–शास्त्र–प्राचीनता–परम्परा–अतीत–आदि आदि–मूलक व्यामोहनों का प्रवेश नहीं होने देना है जिन व्यामोहनों के कारण ही भारतराष्ट्र को विगत अनेक शताब्दियों से परतन्त्र बना रहने पड़ा है"।

---

* इति ते संशयो माभूत्–राजा कालस्य कारणम्। (महाभारते भीष्मोक्ति)।

विकम्पनाग्नि में अन्ततोगत्वा आततायीवर्ग जल कर भस्मात् हो ही तो गया। यों भगवान्‌ने आततायीवर्ग को निःशेष बना कर अपनी इस आचारनिष्ठात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा के बल पर ही अर्जुन के माध्यम-मतीक से तत्कालीन भारतप्रजा की धर्म्मनिष्ठा की, कुलधर्म्म को, बचाते हुए जाति को संकरदोष से ही बचा लिया एवं इस से प्रजा का स्वरूप सुरक्षित ही हो गया। स्थिति-परिस्थिति अर्जुन की भ्रान्तमूला धारणा से ठीक विपरीत हामी। जिस कर्त्तव्यपालन में अर्जुन को वर्णसंकरता और प्रजाविनाश प्रतीत हो रहा था भगवान् ने उसकी इस भ्रान्ति को निर्मूल कर दिया कर्त्तव्य-स्वरूपबोधमूला शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से। और यह प्रमाणित कर दिया कि, कर्त्तव्यनिष्ठा ही वर्णसंकरता का निरोध कर सकती है, एकमात्र कर्त्तव्यनिष्ठा से ही प्रजारक्षण, किंवा राष्ट्ररक्षण सम्भव है। एवं यह वचनसन्दर्भ के स्वान्त के-"यदि मैं कर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त न रहूँ, तो लोकमर्य्यादा ही उच्छिन्न हो जाय। कर्त्तव्य से विचलित होकर तो मैं संकरता का तथा प्रजाविनाश का ही निमित्त बनजाऊँ" (३।२४) इस तथ्य का यही तात्त्विक समन्वय है जिस के द्वारा कर्म्मत्यागमूला दार्शनिकता सत्यमूला भावुकता, वर्त्तमानकालानुगता धर्म्मनिरपेक्षता एवं तदनुप्राणिता कल्पना-प्रसूता सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता-लक्षणा स्वैराचारपरायणता आदि आदि सभी का सर्वात्मना सम्यक् ठीक ठीक समन्वय हो जाता है जैसा कि समन्वय इनका होना चाहिए।

२५८–प्रकृत्यनुसरणात्मक पौरुष, तथा भाग्य का संस्मरण, एवं सहजकर्म्मनिबन्धन-तरामर्य्यसत्त्वात्मक पौरुष की स्वरूप-परिभाषा—

प्रकृत्यनुसरणम्' । बात चल रही है पौरुष और भाग्य की। प्रतीकात्मक चतुर्विध भावों के अनेक समन्वयों में पौरुष, एवं भाग्य का भी एक विशेष स्थान है जिनमें से धर्म्मरूपात्मक अक्षररूप-विराटमत्स्यानुगत प्रजापति-दिग्देशकालातीत-'पुरुष' नामक प्रथम-मानव के 'पौरुष' के सम्बन्ध से ही कर्त्तव्यनिष्ठा का यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो पड़ा था। आत्मजीवननिष्ठ प्रजापति भी दिग्देशकालानुबन्ध से अस्मदादि प्राकृत मानवों की भाँति ही अवश्यमेव शास्त्रसिद्ध-कर्त्तव्यकर्म्मों में ही- कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः के अनुसार यावज्जीवन लोकसंग्रह-दृष्ट्या प्रवृत्त रहेगा निष्ठापूर्वक *। किसी भी भारतीय शास्त्र में ऐसी सन्यासावस्था का एकान्ततः अभाव ही है जिस में कर्म्मत्याग को प्रशस्त माना गया हो। 'जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा शीर्य्यते' के अनुसार एकमात्र आत्यन्तिक जुगुप्सा एवं स्वान्त में मृत्युदेवता ही कर्म्मव्यूह के एक अभिक्रम को पूर्ण करता है। ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ-अकर्त्तव्यनिष्ठ-सतत मानवों का यह सतत कर्म्म ही 'पौरुष' कहलाता है और यही महिमात्मक वर्ग का प्रथम पर्व है।

२५९–प्रयत्नानुगत पौरुष, एवं अप्रयत्नानुगत पुरुषार्थ का स्वरूप-दिग्दर्शन—

धर्म्मप्रानुगत-अक्षररूप विराड्भानुगत दूसरा 'मानव' नामक मानव ही 'पुरुषार्थ' शील मानव कहलाया है। दोनों ही प्रमुक सूक्ष्म-तारतम्यभिन्नसे पौरुषकोटि में अन्तर्भुक्त हैं। अन्तर्म्महिमामय गुणानि-

---

* ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
—गीता

३६३-कालनिर्वाहक सत्ताधीशों के प्रति आत्मसमर्पण कर बैठने वाले ब्राह्मण की सत्तासापेक्षता से ही भारत के सांस्कृतिक वैभव, तथा तन्मूलक भौतिक वैभव की अन्तर्मुखता—

प्रकृत में सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से यही निवेदन पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि, 'सत्तातन्त्राधीश शासकों के द्वारा निर्म्मित काल के प्रति अपनी निष्ठाएँ समर्पित कर देने से ही ब्राह्मण के द्वारा उन सब व्यामोहनों का आविर्भाव हो पड़ा है, जिन से स्वयं ब्राह्मण भी शक्तिहीन बन गया एवं तदनुगामी सत्तातन्त्र भी अशक्त बन गया और यही भारतराष्ट्र की परतन्त्रता का प्रमुख कारण बना। ब्राह्मण का पौरुष अभिभूत होगया सत्तातन्त्र की पुरुषार्थसीमा में। सहजमार्गानुसार-संस्कृति-धर्म्म-रक्षण के व्यामोहन से ब्राह्मणने जिस दिन से सत्ता का आश्रय ले लिया, उसी दिन से इसका शास्त्र, इसका धर्म्म, इसका साहित्य, आदि आदि कुछ भी इसका रहा ही नहीं, अपितु सबकुछ सत्ता के ही बन गए। आज की भाषा में-सत्तातन्त्र के साथ स्वयं ब्राह्मणने ही भावुकतावश, किंवा संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि के संरक्षण-व्यामोहन-वश सब का राष्ट्रीयकरण ही करवा लिया प्रसन्नतापूर्वक राजगुरुपद पर समासीन होते हुए। यह राज्याश्रय यह राजगुरुत्व, यह पदप्रतिष्ठा मक व्यामोहन ही गुहानिहित, सत्ता को आश्रय देने वाले राष्ट्रीय ब्राह्मण की सहज-विमल-निष्ठा के पतन का मूल कारण बना। और यों-'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'-'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इत्यादि भाव उद्घोषणसूत्रों से सर्वथा ही अपरिचित रहने वाला भारतराष्ट्र का राष्ट्रीय ब्राह्मण सत्ता का क्रीतदास ही बन गया जिसका जैसा एवं जो कुछ परिणाम होना चाहिए था वह राष्ट्र के सम्मुख विद्यमान है।

३६४-सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा की अन्तर्मुखता से ही शाश्वतधर्म्मलक्षण कर्त्तव्य का अभिभव, तन्मूलक मतवादों का प्राचुर्य्य, एवं मतवादाभिनिविष्ट ब्राह्मण का अधःपतन——

सत्तातन्त्र बदलते रहे बदलते रहना स्वाभाविक ही है इनका। इस सत्ता-परिवर्त्तन के साथ साथ ही सत्ताश्रित ब्राह्मणों की भावुकताएँ भी बदलती रहीं। तदनुपात से ही मूलसाहित्य भी उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता गया। तत्स्थान में कभी मूलसाहित्य के नाम पर, तो कभी स्वतन्त्ररूप से सत्तातन्त्रों की मान्यता, इच्छा पोषण समर्थन इत्यादयों के अनुपात से राज्याश्रित-सत्ताश्रित-राजभक्त-भावुक विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा नवीन-नवीन ग्रन्थ बनते गए। आगे जाकर तो यह स्वतन्त्र-साम्प्रदायिक-ग्रन्थभार ही उस सीमा-पर्य्यन्त सीमा का अतिक्रमण ही कर गया कि मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र तो इन विद्वान् ब्राह्मणों की दृष्टि से भी सर्वथा तिरोहित ही बन गया यद्यपि परम्परया वेद के प्रति आस्था-श्रद्धा रखने वाली राष्ट्रीय-जनता की वेदानुगता भावुकता के संरक्षणमात्र के लिए इन विद्वानों के काल्पनिक-शास्त्रों साम्प्रदायिक-ग्रन्थों की प्रामाणिकता के नाम पर यदा कदा नाम वेद का भी समाविष्ट होता रहा। कुछ ऐसे भी (ब्राह्मणेतर) नवीन विद्वान् उद्भूत हो पड़े अर्वाक्कालीन महत्व धीशों की भाँति जिन्होंने अपनी अहम्मन्यताओं में आकर आगे चल कर इस वेदनामअस्तित्व को भी सर्वथा विस्मृत कर दिया और तत्स्थान में अपनी मान्यता के अनुपात से वैसे ही नवीन साहित्य का अपने

३६२—राष्ट्रवादियों के आपाततरमणीय—आक्रोशात्मक—अभियोगों की मान्यता, एवं त्रिसहस्र वर्षानुगत भारतीय—ब्राह्मण की मतवादाभिनिवेशमूला भ्रान्ति से ही राष्ट्र का अधःपतन—

राष्ट्रवादियों का आपाततरमणीय भी उक्त अभियोग इसलिए सर्वात्मना मान्य ही होगा राष्ट्रभक्त प्रत्येक प्रज्ञाशील के लिए कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से सचमुच ही धर्म्म-साहित्य-संस्कृति-आचार-व्याकरण-विज्ञान, वर्गभेद-मानवता के विरोधी उच्च-नीच-भाव आदि आदि सभी कुछ यथाक्रमिकरूप से उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित ही होते आए हैं, एवं निश्चयेन इन वातों से ही राष्ट्र को आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक, तथा सर्वान्त में शारीरिक—परतन्त्रता भोगनी पड़ी है। अवश्य ही इन सब उत्पातों की जड़ धर्म्माभिनिविष्ट-शास्त्राभिनिविष्ट वह ब्राह्मण ही माना जायगा जिसने उक्त अवधि में भावुक अर्जुन की भाँति परदर्शनता के कारण राष्ट्र की मूलनिधि वेद धर्म संस्कृति आदि के समन्वय में अपने काल्पनिक मतवादों को ही प्रमुखता प्रदान कर डाली है जैसा कि पूर्व के गीता—प्रसङ्ग से स्पष्ट किया जाचुका है। ब्राह्मण के द्वारा ऐसा क्यों हो पड़ा ?, जब कि वेदशास्त्र तत्सिद्ध धर्म्म * तदनुगता ज्ञानविज्ञानसिद्धा कर्त्तव्यनिष्ठाएँ सर्वात्मना सभी युगों के लिए हितप्रद मङ्गलमय ही थे। ब्राह्मण ने कैसे इन्हीं के आधार पर अमाङ्गलिक-विधि-विधानों का सञ्चालन कर डाला ?। और यदि अमङ्गल विधान न कर ब्राह्मण ने सब कुछ शास्त्र के अनुसार ही ठीक ठीक ही व्यवस्थित किया, तो फिर ऐसे ठीक ठीक मङ्गलमय विधि-विधानों के विद्यमान रहते हुए भी राष्ट्रीय-संघठन क्यों ? और कैसे छिन्नभिन्न हो गया ?। अवश्य ही ये प्रश्न आज प्रत्येक उस प्रज्ञाशील के लिए तो उत्पीडक ही बने हुए हैं जो आस्था-श्रद्धा के कारण एकक्षेत्रया 'वेद'—जैसे शास्त्र की भी अवहेलना नहीं कर सकता तो दूसरी ओर राष्ट्र के अतीत दुःख—पूर्ण इतिहास के साथ भी गजनिमीलिका नहीं कर सकता। स्वयं हमारे सम्मुख भी कई ही आक्षेप से ऐसे ही प्रश्न अनेक बार उपस्थित हो पड़े हैं। और राष्ट्र की विगत-शताब्दियों की जीवन धर्म्मा राष्ट्रीयता पर जब जब भी हमारा ध्यान गया है हम विकम्पित ही हो पड़े हैं। कहाँ हमारे शास्त्रीय मङ्गलमय विधि-विधान !, और कहाँ निरपराध बालाओं का जीते जी कम्पाग्नि में कूद पड़ना ! किंवा बलपूर्वक उन्हें कूदने के लिए विवश कर देना !। कहाँ एक ओर परस्पर एक दूसरे का गला घोटने में ही अपना बाहुबल समर्पित करते रहना और कहाँ दूसरी ओर उसी बाहुबल को परराष्ट्रों के प्रति दासभाव से समर्पित करते रहना !। कहाँ एक ओर आत्मानुगत अमरपद के गुणगान ? तो कहाँ दूसरी ओर एक मूषकाक्रमण से भी भयग्रस्त हो पड़ना !। परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आदर्शों तथा भुक्त—प्रमाणित यथार्थवादों के वैषम्य ने सच-मुच हमें सदा ही विकम्पित किया है। और यदि 'हम भूल देखने में भूल नहीं कर रहे' तो निश्चयेन इन सब विकम्पनों का प्रश्नों का समस्यापूर्ण आक्षेपों का उत्तर हमें उपलब्ध हुआ है पुराणपुरुष भगवान् व्यास के— 'राजा कालस्य कारणम्' इस छोटे से वाक्य के चिरन्तन इतिहास के मर्म में ही। जिस चिरन्तन इतिहास के लिए ही तो हमें ग्रन्थव्याख्यापरक प्रस्तुत निबन्ध एवं 'संस्कृति—सभ्यता शब्दों–का चिरन्तन इतिहास' नामक एक स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध कर देना पड़ा है।

---

* वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ। (मनु)।

२६७-राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता-आन्दोलनों का आलोचक ब्रिटिशसत्ताभक्त भारतीय विद्वद्वर्ग, एवं तन्निबन्धना महती निर्लज्जता—

विद्वान् ब्राह्मणों के प्रति इनके आभिजात्य के कारण युग से ही इनका सम्मान करने वाली भारतराष्ट्र की आस्था-श्रद्धा-शीला प्रजा का सम्भवतः यह भी विदित होगा ही कि, जिस निकटपूर्व के युग में भारतराष्ट्र के स्वनामधन्य अविनय महात्मा मालवीय सम्मानित ब्रिटिशशासकों, एवं अधिकारियों को सम्मानपूर्वक इस देश से विदा कर देने जैसे पुण्यकर्म में संलग्न थे उस युग में भी राजभक्त ब्राह्मणविद्वानों ने, एवं सदाभयभ्रान्त सम्मान्य सामन्त राजाओं ने ही इस कार्य में विघ्न उपस्थित किया था। एक ओर राष्ट्रीय महाभाग जहाँ ब्रिटिशसत्ताक के द्वारा कारागारों में यातनाएँ सह रहे थे देश को स्वतन्त्र बनाने की पावन कामना से, तो दूसरी ओर हमारे राष्ट्र के, राष्ट्र की संस्कृति के मूल-सूत्रधार विद्वान् पण्डित लन्दन में विराजमान अपने सम्राट् की सामान्य-सी अस्वस्थता से चिन्तित होते हुए अपने उपासना-मन्दिरों में भगवान् से सम्राट् की स्वास्थ्य-कामना अभिव्यक्त करते हुए भी लज्जा से सम्भवतः अपने आपको असंस्पृष्ट ही मानते रहते थे। कैसा था वह उद्वेगकर मलीमस विधि का विचित्र विधान !, जिसके स्मरणमात्र से भी वह द्विजबन्धु तो यथाक्रम से अपनी तथाविधा निर्लज्जता को कहीं पराग बनाने का ध्यान भी तो उपलब्ध नहीं कर रहा।

पृ० सं १७२ की टिप्पणी का शेषांश—

पूर्वाम्नाये नवशत षडशीति प्रकीर्तिता ।
फिरङ्गीभाषया मन्त्रा यथा ससाधनात् कलौ ॥
अधिपा मण्डलानाञ्च संग्रामेष्वपराजिता ।
'इङ्ग्रेजा' नवपट्पञ्च लन्दजाश्चापि भाविनः ॥

श्लोकों का तात्पर्यार्थ यही है कि, "तन्त्रशास्त्र के सुप्रसिद्ध पूर्व-पश्चिम-वाम-दक्षिण-ऊर्ध्व-अध नामक ६ आम्नायों में से पूर्वाम्नायतन्त्र में फिरङ्गी भाषा के (अंग्रेजी भाषा के) सैंकड़ों मन्त्र हैं जिनकी साधना से कलियुग में मानव भवसागर पार कर जाता है। ये मन्त्र उस इङ्गलिशभाषा के हैं, जिस भाषा के सञ्चालक अंग्रेज आज भारत जैसे राष्ट्र के अधिपति हैं एवं जिन्हें युद्ध में कोई नहीं हरा सकता। ऐसे इङ्ग्रेज किसी समय लन्दन में उत्पन्न होंगे। इत्यादि इत्यादि। आश्चर्य तो यह है कि प्रयास करने पर भी मेरुतन्त्रादि ग्रन्थों में इन भावुक सर्वोलङ्कार महाभाग के द्वारा उद्धृत किए इङ्गलिशभाषा के तथाकथित मन्त्र उपलब्ध नहीं कर सके। तभी तो उसी युग के उसी मध्यप्रान्त के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् (स्व० श्रीअक्षयकुमारदत्त महाभाग) ने अपने सुप्रसिद्ध—"भारतवर्षीय-उपासक सम्प्रदाय नामक साम्प्रदायिक ग्रन्थ की प्रस्तावना में तथोक्त भविष्यद्युक्ति का आमूलचूल खण्डन कर डाला है। जैसा मण्डन, वैसा ही खण्डन। एक इस राजभक्ति का अनुगामी, तो खण्डनकर्त्ता इस सम्प्रदायभक्ति का समर्थक। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के लिए तो दोनों ही प्रणम्य, इत्यलं पापकथाप्रसङ्गेनैतेन।

३६२–राष्ट्रवादियों के आपातरमणीय–आक्रोशात्मक–अभियोगों की मान्यता, एवं त्रिसहस्र वर्षानुगत भारतीय–ब्राह्मण की मतवादाभिनिवेशमूला भ्रान्ति से ही राष्ट्र का अधःपतन—

राष्ट्रवादियों का आपातरमणीय जो उक्त अभियोग इसलिए सर्वात्मना मान्य ही होगा राष्ट्रभक्त प्रत्येक प्रजाधीश के लिए कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से सचमुच ही धर्म्म-साहित्य-संस्कृति-आचार-आचरण-विज्ञान, वर्गभेद-मानवता के विरोधी उच्च-नीच-भाव आदि आदि सभी कुछ तथाकथितरूप से उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित ही होते आए हैं एवं निश्चयेन इन वादों से ही राष्ट्र को आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक, तथा अन्त में शारीरिक-परतन्त्रता भोगनी पड़ी है। अवश्य ही इन सब उत्पातों की जड़ धर्म्माभिनिविष्ट-शास्त्राभिनिविष्ट वह ब्राह्मण ही माना जायगा जिसने उक्त अवधि में भावुक अर्जुन की भाँति परवदर्शनता के कारण राष्ट्र की मूलनिधि वेद धर्म संस्कृति आदि के समन्वय में अपने काल्पनिक मतवादों को ही प्रमुखता प्रदान कर डाली है जैसा कि पूर्व के गीता–प्रकरण से स्पष्ट किया जा चुका है। ब्राह्मण के द्वारा ऐसा क्यों हो पड़ा? जब कि वेदशास्त्र उत्सिद्ध धर्म्म ✱ तदनुगता ज्ञानविज्ञानसिद्धा कर्मव्यवस्थाएँ सर्वात्मना सभी युगों के लिए हितप्रद मङ्गलमय ही थे। ब्राह्मण ने कैसे रूढ़ी के आधार पर अमाङ्गलिक-विधि-विधानों का सर्जन कर डाला!। और यदि अमङ्गल विधान न कर ब्राह्मण ने उस कृतक शास्त्र के अनुसार ही ठीक ठीक ही व्यवस्थित किया तो फिर ऐसे ठीक ठीक मङ्गलमय विधि-विधानों के विद्यमान रहते हुए भी राष्ट्रीय-विघटन क्यों? और कैसे उच्छिन्न हो गया!। अवश्य ही ये प्रश्न आज प्रत्येक उस प्रजाधीश के लिए तो उत्पीड़क ही बने हुए हैं जो आस्था-श्रद्धा के कारण एकदेशतया 'वेद'–जैसे शास्त्र की भी अवहेलना नहीं कर सकता तो दूसरी ओर राष्ट्र के अतीत दुःख–पूर्ण इतिहास के साथ भी गजनिमीलिका नहीं कर सकता। स्वयं हमारे सम्मुख भी बड़े ही आक्षेप से ऐसे ही प्रश्न अनेक बार उपस्थित हो पड़े हैं। और राष्ट्र की विगत-शताब्दियों की जीवन चर्य्या राष्ट्रीयता पर जब जब भी हमारा ध्यान गया है हम विकम्पित ही हो पड़े हैं। कहाँ हमारे शास्त्रीय मङ्गलमय विधि-विधान!, और कहाँ निरपराध बालाओं का जीते जी कव्यवाहाग्नि में कूद पड़ना! किंवा बलपूर्वक उन्हें कूदने के लिए विवश कर देना!। कहाँ एक ओर परस्पर एक दूसरे का गला काटने में ही अपना क्षात्रतेज समर्पित करते रहना, और कहाँ दूसरी ओर उसी क्षात्रतेज को परसत्ताओं के प्रति दासभाव से समर्पित करते रहना!। कहाँ एक ओर आत्मानुगत अमरत्व के गुणगान! तो कहाँ दूसरी ओर एक मूषकभय से भी भयग्रस्त हो पड़ना!। परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आदर्शों तथा मुक्त–प्रभग्न यथार्थवादों के वैषम्य ने सच–मुच हमें सदा ही विस्मित किया है। और यदि 'हम भूल देखने में भूल नहीं कर रहे' तो निश्चयेन इन सब विकम्पनों का प्रश्नों का समस्यापूर्ण आक्षेपों का उत्तर हमें उपलब्ध हुआ है पुण्यपुरुष भगवान् व्यास के–'राजा कालस्य कारणम्' इस श्लोक से आज के चिरन्तन इतिहास के मर्म में ही जिस चिरन्तन इतिहास के लिए ही तो हमें तत्तदवान्तरगताप्रकरणात्मक प्रस्तुत निबन्ध एवं 'संस्कृति–सभ्यता शब्दों–का चिरन्तन इतिहास' नामक एक स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध कर देना पड़ा है।

✱ वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ। (मनु)।

२७०-सर्वविनाशक-सत्ताश्रयात्मक-राज्याश्रय की निरपेक्षता से ही ब्राह्मणप्रज्ञाओं के द्वारा राष्ट्र का सम्भावित-जागरण—

और अनन्य श्रद्धेय पूज्य विद्वान् ब्राह्मणों से, तथा अन्यान्य संस्कृतिनिष्ठ-साहित्यिकों से भी हम यही निवेदन करेंगे कि, वे सत्तातन्त्र की सामानुगता मान्यताओं से अपने आपको सर्वथा असंस्पृष्ट ही रखते हुए, इस बलचक्र के साक्षीमात्र ही बन रहते हुए, शासनसञ्चालन का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र पर ही छोड़ते हुए, साथ ही अपने आपको सत्ताश्रय-राज्याश्रय के सर्वविनाशक महामोह से सर्वथा ही बचाते हुए शुद्धबुद्धि से आस्था-श्रद्धा पूर्वक (किसी भी व्यामोह में न पड़ते हुए) अपनी मूलनिधि के स्वाध्याय-चिन्तन-अनुशीलन में ही प्रवृत्त हो जायें। इनके इसी पुण्य से एक दिन सत्तातन्त्र को अवश्य ही इस संस्कृति की शरण में आ ही जाना पड़ेगा, इसी मङ्गलकामना के साथ अब हम 'राजा कालस्य कारणम्' मूलक प्रासङ्गिक निवेदन को उपरत कर पुनः प्रक्रान्त पौरुष, तथा पुरुषार्थ की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

२७१-कालमापक सत्तातन्त्र, एवं कालातीत-शाश्वतधर्म्म के क्षेत्र में तत्तन्त्र का अनधिकार—

'राजा' अर्थात् सत्तातन्त्र काल का कारण अवश्य है। अवश्य ही दिग्देशकालानुबन्धी सम्वत्सरकालचक्र (चान्द्रसम्वत्सरकालचक्र) से सीमित बने रहने वाले भूत-भौतिक-व्यक्त-मूर्त-जगत् के भौतिक विधि-विधानों का कारण, क्रिया उत्तरदायी अवश्य है। तभी तो शास्त्रने आधिभौतिक रक्षाकर्म्म का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र को, शासक क्षत्रियको ही दिया है-जैसाकि इसके-'क्षतात् त्रायते' निर्वचनात्मक 'क्षत्रिय' शब्द से प्रमाणित है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी इसे उस कालातीत की व्यवस्था का कोई उत्तरदायित्व प्राप्त नहीं है जिसका अव्यक्त-अमूर्त भावों से ही सम्बन्ध है एवं जिस कालातीत-अव्यक्त-अप्राकृत भाव को ही 'शाश्वतधर्म्म' कहा गया है।

२७२-स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित, सुरक्षित शाश्वतधर्म्म, एवं 'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' का संस्मरण—

इसका उत्तरदायित्व तो वस्तुतः किसी की भी नहीं है। अपितु धर्म्म तो स्वयं ही अपना उत्तरदायित्व वहन कर रहा है। ब्राह्मण उस का नाम है जो कालातीत स्थिति में रहता हुआ इस धर्म्म का अनुशीलन करता है एवं क्षत्रिय उसका नाम है जो ब्राह्मण के अनुशीलनात्मक धर्म्म को आचार का स्वरूप प्रदान करता है। यों ब्राह्मण जहां 'धर्म्मप्रवर्त्तक' बना हुआ है वहां क्षत्रिय 'धर्म्मरक्षक' प्रमाणित हो रहा है। 'धर्म्मरक्षकता' का अर्थ है ब्राह्मण के द्वारा निर्दिष्ट धर्म्म का प्रजा के द्वारा व्यवस्थापूर्वक पालन करवाना। वैसे तो स्वयं धर्म्म ही क्षत्रिय का भी रक्षक है और ब्राह्मण का भी रक्षक है। किंबहुना-सम्पूर्ण विश्व का रक्षक है-'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'।

२७३-ब्राह्मण के पौरुष की सत्तातन्त्र के द्वारा कार्य्यरूप में परिणति, एवं-'मैत्रावरुण प्रभृति' मूलक मित्रब्रह्म-क्षत्रवरुण-के अभिगन्तृत्त्व-कर्तृत्व-भावों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

तात्पर्य्य कहने का यही है कि, ब्राह्मण के पौरुष को कार्य्यरूप में परिणत कर देने का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र से ही अनुप्राणित है। जो सत्तातन्त्र अपने कालव्यामोहन में आकर कालातीत धर्म्म की तत्प्रयत्न के

बुद्धिवाद के बल पर ही समर्थन कर डाला जो इत्थम्भूत स्वतन्त्र–कल्पित–साहित्य ही आगे जाकर भारतराष्ट्र का मूलशास्त्र बन गया एवं उसी के काल्पनिक विधि–विधानोंनें धर्म्म तथा कर्त्तव्य का स्थान ग्रहण कर लिया, जबकि इन में धर्म्म और कर्त्तव्य का वस्तुतः नामस्मरण भी नहीं था।

३६५–पतनगर्त्तनिमग्ना ब्राह्मणप्रज्ञा के द्वारा काल्पनिक-उपनिषदों का निर्म्माण, मौलिक शास्त्रों के प्रति उपेक्षता, एवं विक्षिप्ततानुगता भयावहा प्रक्षिप्तता—

इदमप्यवधेयम्। मन्त्रभाग ब्राह्मणभाग एवं अमुक सीमापर्य्यन्त आरण्यकभाग इन तीन वेदपर्वों में काल्पनिक–व्याख्याएँ तो समाविष्ट होगई उत्तरकालीन ब्राह्मणों के द्वारा। किन्तु 'छन्दोऽभ्यस्ता' नाम से प्रसिद्ध वेदभाषा के बोध से अपरिचित विद्वान् तद्भाषामय इन तीनों पर्वों में ऐच्छिक परिवर्तन नहीं कर सके जबकि संस्कृतभाषाप्रधान उपनिषत्साहित्य में तथा तद्भाषामय ही स्मृति तथा पुराणशास्त्र में भूदेवों का यह प्रकारक तारतम्य भी चल गया जिसके लिए–रामतापनीयोपनिषत्–गोपालतापनीयोपनिषत्–त्रिपुण्ड्रभस्मोपनिषत्–अल्लोपनिषत्–कलिसन्तरणोपनिषत्–आदि नाम ही पर्य्याप्त होंगे। यही दुर्दशा स्मृतिशास्त्र की हुई। और लोकसामान्य की आस्था–श्रद्धा सुरक्षित रखने के एकमात्र–अन्यतम साधनभूत भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों के महान् इतिहासरूप आर्ष्यैतिहासिक गरिमामहिमामय पुराणशास्त्र के सम्बन्ध में तो विक्षिप्तों की यह प्रक्षिप्तता सीमा का उल्लंघन ही कर गई। साम्प्रदायिक के आवेश ने इस शास्त्र की तो वैसी दुर्दशा कर डाली जिसके नामोल्लेख से भी हमें प्रायश्चित्त का अनुगामी बन जाना पड़ता है।

३६६–ब्रिटिशसत्तातन्त्र का परमभक्त भारतीय विद्वद्वर्ग, तत्प्रसादप्राप्त्यर्थ ही ब्रिटिश-साम्राज्य का काल्पनिक पुराणवचनों के द्वारा समर्थन, इति नु सर्वथा अब्रह्मण्यमेव—

भारतराष्ट्र की वेशभूषा स्वतन्त्रता को स्मृतिगर्भ में विलीन कर देने वाले अन्तिम परतन्त्रतन्त्र ब्रिटिश राज्य के प्रति भी अपने उसी पूर्वाम्नाय के अनुसार इस देश के विद्वान् ब्राह्मणोंनें ही कृपाभिप्राय दासानुदास महामहोपाध्यायोंनें ही सर्वप्रथम न केवल आत्मसमर्पण ही कर दिया अपितु 'भविष्यपुराण' के माध्यम से तथा सुप्रसिद्ध 'मेरुतन्त्र' नामक तन्त्रग्रन्थ के माध्यम से वैसे वैसे नवीन श्लोक भी बना डाले जिनसे यही प्रमाणित करने की चेष्टा की इन राजभक्त विद्वानों नें कि–'यह तो हमारे पुराणों में ही लिखा है कि, भारत पर कभी अंग्रेज एकच्छत्र राज्य करेंगे' *। न केवल अन्न उनके साम्राज्य का ही, अपितु इन विद्वानों के लिए सम्भवतः पुण्यधाम वाराणसी से भी कहीं अधिक पवित्र उनके 'लन्दननगर' का स्मरण करना भी विस्मृत नहीं किया उन सर्वालङ्कार, सर्वधुरीण महामहोपाध्याय विद्वानोंनें इति नु अब्रह्मण्यमेव।

*–देखिए–नवीन पण्डित महामहोपाध्याय स्व० श्रीमधुसूदनजी वर्म्मालङ्कार महोदय के–'श्रीरामनाथ–मन्दिर पञ्चशीर्ष' का अपना द्वितीय व्याख्यान एवं तदनुगत निम्नलिखित उद्धरण–भविष्यपुराण के नाम से

है, उसी का नाम है 'काल', जिसके अभिन्न हैं प्रजावर्ग, जिनके कि 'विट्', तथा 'शूद्र', प्रधर्मरूपेण ये दो विभाग माने गए हैं।

३७६–कामाधारभूता विट्प्रजा, भोगाधारभूता पोष्णप्रजा, एवं तदनुगत-तद्रूप मन-शरीर भावों का समन्वय—

'विट्' और 'शूद्र' दो प्रजा हैं यही राष्ट्र का भौतिक-भौतिक-स्वरूप है, जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था कालानुबन्धिनी ही मानी गई है। सत्तातन्त्र का एकमात्र प्रधान कर्त्तव्य है–इन भौतिक वर्गों का नियन्त्रणपूर्वक सञ्चालन। यदि ये दोनों वर्ग कालसीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं, तो न केवल तद्राष्ट्र में ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व में विक्षोभ होजाता है। विट् प्रतीक है काम का, एवं शूद्र प्रतीक है भोग का। भोग की आधारभूमि है शरीर, एवं काम की आधारभूमि है मन। जिन प्रजाओं का मन, और शरीर सत्तातन्त्र के द्वारा नियन्त्रित रहता है, उन प्रजाओं का बुद्धिपर्व और आत्मतन्त्र स्वतन्त्र बना रहता है।

३७७–आत्म-बुद्धिरूप ब्रह्मक्षत्र के नियन्त्रण से पृथग्भूत मन शरीर-निबन्धन विट्-शूद्र प्रजा के द्वारा सम्भावित विश्वक्षोभ, एवं 'क्षोभयेतामिदं जगत्' वचन का समन्वय—

मन, और शरीर का अनियन्त्रण ही बौद्धिक-आत्मिक-पारतन्त्र्य का कारण बन जाया करता है। वस्तुतः आत्मबुद्धिस्वतन्त्रतानुगत मनःशरीरपारतन्त्र्य का ही नाम है मानव की स्वतन्त्रतानुगता स्वतन्त्रता, जिस इस तथ्य को विस्मृत कर वर्त्तमान प्रतीच्य सत्तातन्त्रों ने मन-शरीर की स्वतन्त्रता को (काम-भोग-स्वातन्त्र्य को) ही स्वतन्त्रता मानने की भूल कर डाली है। उसी का अन्धानुकरण कर हमारे सत्तातन्त्र ने भी मनः-शरीरानुगता उच्छृङ्खलता, अमर्य्यादा का नाम ही आज 'स्वतन्त्रता' मान लिया है। परिणामस्वरूप प्रजा का बौद्धिक तथा आत्मिक क्षेत्र सर्वथा ही परतन्त्र बन गया है। हमारी आस्था है कि, दिग्देशकाल-स्वरूपमीमांसा के माध्यम से सत्तातन्त्र उद्बोधन प्राप्त करेगा, और राजर्षि मनु के इस वचन के प्रकृतिसिद्ध मर्म्म का समन्वय कर के ही स्वराष्ट्रतन्त्र का सञ्चालन करेगा, जिस सूत्र की उपेक्षा कर सभी सत्तातन्त्रों ने आज विश्व में विक्षोभ उत्पन्न कर दिया है—

> वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत् ।
> तौ हि च्युतौ स्वकर्म्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥
>
> —मनुः ८।४१८

३७८–विड्भावापन्न-मनोधर्म्मा-चान्द्र प्राकृत-भाग्यवादी-मनुष्यविध 'मानव', एवं तदनुगता पारिवारिकी स्वार्थनिष्ठा—

अर्थप्रधान घररूप चेतनसर्गानुगत मानवविभाग का नाम ही है–'मनुष्य' इसी का नाम है विट् (वैश्य) और यही है भाग्यवादी-प्राकृत–मानव। यद्यपि यह भूत और भविष्यत् पर निष्ठा नहीं रखता,

३६८–वर्त्तमान स्वतन्त्र–भारतराष्ट्र के भारतीय विद्वानों के युगधर्म्मानुगत विभिन्न दो वर्ग, एवं प्रथम वर्ग के द्वारा धर्म्मव्याज से सत्ता की आलोचना, तथा द्वितीय वर्ग के द्वारा सत्ता की भावुकतापूर्णा मान्यताओं का समर्थन—

और आज के स्वतन्त्रतापूर्ण–सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतीय ब्राह्मण विद्वान् क्या कर रहे हैं ?। वही सबकुछ तो कर रहे हैं, जो कुछ तीन सहस्र वर्षों से ये करते आरहे हैं। अन्तर है केवल थोड़ा मनोवृत्ति में। इस से पूर्व के जो परसत्तातन्त्र (सिथिया-मुगल-सिकन्दर-हूण-शकादि-सत्तातन्त्र) थे उन में भय की ही प्रमुखता थी स्वार्थ गौण था। किन्तु आज भय का स्थान भी स्वार्थ ने ही ले लिया है। क्योंकि सत्तातन्त्र इनका ही है। अतएव आज ये स्वकर्त्तव्यनिष्ठ विद्वान् दो वर्गों में विभक्त होगए हैं। जिस वर्ग का सत्तातन्त्र से जोड़–तोड़ नहीं बैठा वह धर्म्म के नाम से आलोचक बन गया है इस सत्तातन्त्र का एवं जिसका जोड़ तोड़ बैठ गया है उसने तो एक स्वतन्त्र दर्शन (गाँधीदर्शन) का ही सर्जन कर डाला है। कुछ एक लोकचतुर संस्कृतिमर्म्मज्ञ विद्वान् (किन्तु ब्राह्मण नहीं अपितु इतर वर्णों को समलङ्कृत करने वाले) ऐसे भी हैं जो अपने लोकचातुर्य्य से सत्तातन्त्र को भी प्रसन्न रखने के प्रयास में संलग्न हैं एवं अपने इसी वाग्जाल के माध्यम से धर्म्मप्राणा जनता के भी श्रद्धाभाजन बने रहने का प्रयास करते रहने में कुशल हैं। तत्त्वतः इन विद्वानों की सभी श्रेणियाँ आज भी आत्मबुद्धिमनःशरीरव्यवस्था का ही पुनरावर्त्तन कर रही हैं। इसी स्वव्यामोहन से आज भी मूल संस्कृति मूल धर्म्म मूल आचार गुहानिहित ही प्रमाणित हो रहा है। और भी सत्ताभय के कारण ही आज के इस महद्भाग्यशाली स्वतन्त्र भारत में भी भारत की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा आचारपद्धति की ओर न तो विद्वानों का ही ध्यान आकृष्ट है और न सत्तातन्त्र का ही। सत्तातन्त्र चिन्ता हुआ है तत्तद्भक्त, दर्शनविद्यात्मक विद्वानों से एवं इनकी भावनात्मिका मान्यताओं से जिनसे चिपटे रहना और आत्मपरितोष करते रहना तो प्रत्येक प्रजातन्त्रीय का हम तो स्वधर्म्म ही मानेंगे। और आज तो जनतन्त्र भी उदासीन होता जारहा है इन्हीं सब कारणों से इन धर्मिष्ठों की ओर से। तो क्या अब कोई उपाय नहीं है भारतराष्ट्र की मूलनिधि के पुनर्निर्माण का ? उत्तर होगा 'एकमात्र –'राजा कालस्य कारणम्' ही।

३६९–अन्तर्राष्ट्रीय–व्यामोहनात्मक स्वराष्ट्रनिष्ठावञ्चित हमारा वर्त्तमान सत्तातन्त्र, एवं इसके–'स्व' भाव की 'पर' तन्त्रों से अनुगता 'परतन्त्रता'—

भव सत्तातन्त्र को ही आज नहीं, तो कल कल नहीं तो परसों अपनी भूल स्वीकार करनी ही पड़ेगी जिस भावुकतापूर्ण भूलने ही सत्तातन्त्र की प्रज्ञा को आज अन्तर्राष्ट्रीय–विमोहन–मूलक परदर्शन–परानुकरण की ओर ही प्रवृत्त कर रक्खा है। और इसी भावुकता के कारण अमुक वर्गविरोध–व्यक्तिविरोधी के दोष से उसने भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति की ओर दृष्टिपात करना भी पाप मान लिया है। हम सादर आवेदन करेंगे अपने प्रभुतासम्पन्न सत्तातन्त्र से कि वह एक बार, केवल एक बार–गुणदृष्टि से नहीं तो दोषदृष्टि से ही दृष्टिपात का तो अनुग्रह करे अपनी इस उस मूलनिधि की ओर, जिसका एक एक सूत्र सत्तातन्त्र की उन सम्पूर्ण समस्याओं का क्षणमात्र में निराकरण करने की क्षमता रखता है जिन विषम समस्याओं के लिए विभिन्न हमारा सत्तातन्त्र आज उन 'परतन्त्रों' के 'परसूत्रों' की ही शरण लेता जारहा है जो कि 'प्रतीच्य-परसूत्र समस्या के निराकरण के स्थानमें समस्या के सर्जक ही बनते जारहे हैं।

आगतेनाचार्येण कथितम्-

गिरिनगरनिवासी कश्चिदग्निभक्तो वणिक् पद्मरागरत्नैर्भवन पूरयित्वा प्रतिवर्षं वह्निना प्रदीपयति। तत्रत्यमन्दबुद्धिनृपतिसभाया स वणिक् प्रशसित -अहो धन्योऽय वणिक् यदनेन वह्निदेव पद्मरागरत्नै सतर्प्यते। तदनन्तरमेकदा प्रवल्पवनपटलप्रेरितस्तत्प्रदीपितदहन सराजप्रासाद समस्तमपि तन्नगर दहतिस्म। ततोऽसौ वणिक् राज्ञा दण्डितो नगरान्निष्कासित, तदेव राज्ञा

को बाधने में भिल्ल के जैसा सिद्धहस्त होता है। धर्मरूपी उद्यान को नष्ट करने के लिये यह तरुकोटरान्तर्गत वह्निकी ज्वाला के समान दारुण और विनाशकारी माना गया है। आप जैसे गच्छाधिपति को इस अविनीत की प्रशसा करते हुए देख कर मुझे उस राजा की कथा याद आती है—

गिरिनगरनामक एक शहर मे अग्निभक्त कोई एक बनिया रहता था, जो प्रतिवर्ष अपने भवन को पद्मराग मणियों से भर कर जला दिया करता था। उसके इस कार्यकी प्रशसा वहा के मन्दबुद्धि नामक राजा तथा प्रजा सभी मुक्तकठ से करते थे। वे कहते थे-धन्य है यह अग्निभक्त जो अग्नि की प्रतिवर्ष इस प्रकार से पूजा किया करता है। एक दिन की बात है कि उस वणिक् ने ज्यों ही अपना मकान जलाया कि इतने में बड़ी भारी आधी का एक प्रबल वेग आया, और उससे प्रज्वलित हो उस अग्निज्वाला ने उस नगर को भस्म कर दिया।

ભાળા ભવ્ય જીવરૂપી મૃગોને બાધવામા ભિલના માફક સિદ્ધહસ્ત હોય છે ધર્મરૂપી બાગનો નાશ કરવા માટે આ તરૂકોટરાન્તર્ગત અગ્નિની જ્વાલા સમાન દારૂણ અને વિનાશકારી માનવામા આવેલ છે આપ જેવા ગચ્છાધિપતિને આવા અવિનીતની પ્રશસા કરતા જોઈ મને એક રાજાની વાત યાદ આવે છે—

ગિરિનગર નામના એક શહેરમા અગ્નિભક્ત એવો એક વણીક રહેતો હતો જે દર વરસે પોતાના મકાનને પદ્મરાગ મણીઓથી ભરી બાળી નાખતો તેના આ કાર્યની પ્રશસા રાજા અને પ્રજા બધા મુક્તક ઠે કરતા હતા અને કહેતા હતા કે-ધન્ય છે આ અગ્નિભક્તને કે જે દરવરસે અગ્નિના આ પ્રકારથી પૂજા કર્યા કરે છે એક દિવસની વાત છે કે એ વણીકે પોતાનુ મકાન સળગાવ્યુ એ સમયે ભારે જોરશોરથી પવનની આધી ચઢી આવી વેગવાળી પવનની આધીને લઈ અગ્નિ જોશભેર પ્રજ્વલિત બન્યો અને તેના અ ગારા શહેરભરમા ફરી વળતા આખુ શહેર અને રાજાના મહેલમા પણ અગ્નિશાખાઓ ફરી વળી અને સારૂ એ શહેર તથા રાજમહેલ પણ નાશ પામ્યો. રાજાએ આથી અસતુષ્ટ બની એ વણીકને

ब्राह्मण के पौरुष की अवहेलना कर देता है उस के सम्पूर्ण पुरुषार्थ 'पुरुषार्थ' न रह कर कालानुबन्धी तात्का-लिक 'प्रकृत्यर्थ' ही बने रह जाते हैं। और पुरुषार्थशून्य, केवल प्रकृत्यर्थपरायण वर्त्तमानवादी ऐसा सत्ताक्षत्र कालातीता मूलसंस्कृति के, मूल अमाकृत शाश्वतधर्म्म के आश्रय से स्थूलभाषा के अनुसार-ब्राह्मण के आश्रय से वञ्चित होकर कालान्तर में कालसीमा में ही नष्ट ही हो जाता है जैसाकि मैत्रावरुणब्राह्मणश्रुति के-'यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुते-अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत्समृध्यते। तस्मात् उ क्षत्रियेण कर्म्म करिष्य-माणेन उपसत्तव्य एव ब्राह्मण'। सं हैवास्मै तत् कर्म्म ऽर्ध्यते' (शत० ४।१।४।६) इत्यादि वचनों से स्पष्ट प्रमाणित है। 'तस्मात् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्' के अनुसार ब्राह्मण जहाँ 'अराजन्य' ('सत्ता-निरपेक्ष') रह कर ही कालातीत धर्म्म के अनुशासन में समर्थ बन सकता है वहाँ क्षात्र सत्ताक्षत्र ब्राह्मण-प्रेरणा का आश्रय लेकर ही स्वकालव्यवस्था में सफलता प्राप्त करसकता है।

३७४–मित्रब्रह्म, एवं वरुणक्षत्र के समन्वय-पार्थक्य से राष्ट्र की ज्ञान-पौरुष-शक्तियों का विघटन, एवं तत्परिणामस्वरूप ब्रह्मक्षत्रसमन्वय से वञ्चित राष्ट्र का अभिभव—

मित्रब्राह्मण और वरुणक्षत्रिय का जब परस्पर विपर्य्यय हो जाता है अर्थात् ब्राह्मण जब सत्ता का आश्रय ले लेता है एवं सत्ता जब ब्राह्मण को आश्रित मान बैठती है, तो ब्राह्मण भी तो धर्म्मनिष्ठ ही धन्यम्मुख बनजाता है किन्तु सत्ताक्षत्र का तो मूलोच्छेद ही होजाता है। इसीलिए कहा गया है कि-'धर्म्मो रक्षति रक्षितः'। जिसका सीधा सा अर्थ यही है कि, संस्कृति धर्म्म-शास्त्र-सम्प्रवर्त्तक ब्राह्मण इनकी रक्षा से ही ये रक्षा किया करते हैं सत्ताक्षत्र की एवं उसके राष्ट्र की। कालनिर्म्माता सत्ताक्षत्र जब धर्म्मनिरपेक्ष बन जाता है तो सभी कुछ अरक्षित बन जाता है। अतएव यहाँ आकर हमें उस आक्षेपपूर्ण उस प्रश्न-परम्परा का पूरा पूरा समाधान प्राप्त हो जाता है कि 'शास्त्र-धर्म्म-ब्राह्मण-संस्कृति-आचार-आदि आदि यच्च-यावत् मङ्गलमय विधि-विधानों की विद्यमानता में भी भारतराष्ट्र क्यों परतन्त्र बना ?'। वस्तुगत्या 'राजा कालस्य कारणम्' ही इन सब प्रश्नों का मूल समाधान है। एकमात्र सत्ता के दोष से ही राष्ट्र के माध्यम से राष्ट्र की संस्कृति राष्ट्र का धर्म्म राष्ट्र का आचार अभिभूत होजाता है धन्यम्मुख बन जाता है। सत्ताक्षत्र के प्रकृत्यर्थवादी बनते ही इसका पुरुषार्थ विलीन हो जाता है शेष रह जाती है तात्कालिक भावुकता तदनुगता मन शरीरनिबन्धना काममोगपरायणता। यही बना दी जाती है बलपूर्वक राष्ट्र का एकमात्र जीवनीय लक्ष्य। परिणाम जैसा, जो कुछ होता है हुआ है हो रहा है स्पष्टतम है।

३७५–कालातीत-चिदात्मसर्ग से नियन्त्रित 'कालसर्ग', एवं तदनुगता- तद्रूपा कालिक-प्रजा का स्वरूप-परिचय—

जिसप्रकार चिदात्मसर्ग कालातीत सर्ग है तथैव चित्सर्ग भी कालातीत ही है। अन्तर दोनों में यही है कि, चिदात्मसर्ग जहाँ काल से असस्पृष्ट है, वहाँ चित्सर्ग काल से स्पृष्ट है। उस ओर कालातीत ब्राह्मण है इस ओर काल है दोनों के मध्य में क्षात्र सत्ताक्षत्र है जो उस ओर के कालातीत ब्राह्मण के पौरुषाश्रय से पुरुषार्थी बनता हुआ इस ओर के काल की प्रकृत्यर्थ-व्यवस्थाओं का नियन्त्रण करता है नियमन करता है जिसका अर्थ है प्रजासर्ग की व्यवस्था जोकि प्रजासर्ग कालात्मक माना गया है। जिसे राष्ट्र कहा जाता है

है, उसी का नाम है 'क्षत्र', जिससे अभिन्न हैं प्रजावर्ग, जिनके कि 'विट्', तथा 'शूद्र', प्रजारूपेण ये दो विवर्त माने गए हैं।

३७६–कामाधारभूता विट्प्रजा, भोगाधारभूता पौष्णप्रजा, एवं तदनुगत-तद्रूप मन शरीर-भावों का समन्वय—

'विश' और 'शूद्र' ही प्रजा है, यही राष्ट्र का आधिक-भौतिक-स्वरूप है जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था क्षत्रानुबन्धिनी ही मानी गई है। सत्तातन्त्र का एकमात्र प्रधान कर्त्तव्य है–इन आधिक अंगों का नियन्त्रण-पूर्वक सञ्चालन। यदि ये दोनों वर्ग कालसीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं तो न केवल तद्राष्ट्र में ही अपितु सम्पूर्ण विश्व में विकम्पन होजाता है। विट् प्रतीक है काम का, एवं शूद्र प्रतीक है भोग का। भोग की आधार भूमि है शरीर, एवं काम की आधारभूमि है मन। जिन प्रजाओं का मन, और शरीर स्वातन्त्र्य के द्वारा नियन्त्रित रहता है, उन प्रजाओं का बुद्धिपर्व और आत्मस्वातन्त्र्य बना रहता है।

३७७–आत्म-बुद्धिरूप ब्रह्मक्षत्र के नियन्त्रण से पृथग्भूत मन शरीर निबन्धन विट्-शूद्र प्रजा के द्वारा सम्भावित विश्वक्षोभ, एवं 'क्षोभयेतामिदं जगत्' वचन का समन्वय—

मन, और शरीर का अनियन्त्रण ही भौतिक आत्मिक-पारतन्त्र्य का कारण बन जाया करता है। तत्वतः आत्मबुद्धिस्वतन्त्रतानुगत मन-शरीरपारतन्त्र्य का ही नाम है मानव की स्वतन्त्रतानुगता स्वतन्त्रता, जिस इस तथ्य को विस्मृत कर वर्त्तमान प्रतीच्य सत्तातन्त्रोंनें मन-शरीर की स्वतन्त्रता को (काम-भोग-स्वातन्त्र्य को) ही 'स्वतन्त्रता' मानने की भूल कर डाली है। उसी का अन्धानुकरण कर हमारे सत्तातन्त्रने भी मनः-शरीरानुगता उच्छृङ्खलता अमर्य्यादा का नाम ही आज स्वतन्त्रता मान लिया है। परिणामस्वरूप प्रजा का भौतिक तथा आत्मिक क्षेत्र सर्वथा ही परतन्त्र बन गया है। हमारी आस्था है कि, दिग्देशकाल-स्वरूपमीमांसा के माध्यम से सत्तातन्त्र उद्बोधन प्राप्त करेगा और राजर्षि मनु के इस वचन के महत्वसिद्ध मर्म्म का समन्वय कर के ही स्वशासनसूत्र का सञ्चालन करेगा, जिस सूत्र की उपेक्षा कर सभी सत्तातन्त्रोंनें आज विश्व में विकम्पन उत्पन्न कर दिया है—

> वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्।
> तौ हि च्युतौ स्वकर्म्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्॥
> —मनुः ८।४१८।

३७८–विड्भावापन्न-मनोधर्म्मा-क्षात्र प्राकृत-भाग्यवादी-मनुष्यविध 'मानव', एवं तदनुगता पारिवारिकी स्वार्थनिष्ठा—

मध्यपरमक चररूप चेतनसर्गानुगत मानवविभाग का नाम ही है–'मनुष्य' इसी का नाम है विट् (वैश्य) और यही है भाग्यवादी-प्राकृत-मानव। यद्यपि यह भूत और भविष्यत् पर निष्ठा नहीं रखता,

नहीं रख सकता अपने नियन्त्रण में । अपितु तात्कालिक वैयक्तिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ ही इसके जीवन का प्रधान उद्देश्य है । अतएव इसका नियन्त्रण अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक माना है राजर्षि ने । राजर्षि के विधानों की आलोचना करने वाले आज के सत्ताधीशोंनें भी इस तथ्य को प्रच्छन्नभाव से स्वीकार कर ही लिया है फिर इस स्वीकृति का मूल भले ही जनतन्त्र की अपनी विवशता ही क्यों न हो ।

३७९–राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहन से अर्थतन्त्र का शैथिल्य, एवं इसके सुन्दोपसुन्द न्यायात्मक भीषण-परिणाम—

शास्त्रीय-धार्म्मिक निबन्धन में क्वापि 'राष्ट्रीयकरण' जैसा महान् व्यामोहन स्थान नहीं पा सका है जिस इस राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहनने तो राष्ट्र की अर्थशक्ति के महान् स्तम्भभूत इस वर्ग का स्वरूप ही उच्छिन्न कर दिया है और स्वतन्त्र यह राष्ट्र के लिए महान् अभिशाप ही हुआ है । धर्म्मसूत्र के द्वारा उक्त, व्यवसायों का धार्मिक उपयोगिताओं का नियन्त्रण ही यह निबन्धन था जिसकी ओर राजर्षि ने संकेत किया है । इस दिशा में तो यह वर्ग आज अतिक्रम से अनियन्त्रित ही बन गया है । अतएव ऐसे राष्ट्रीयकरणात्मक नियन्त्रण का परिणाम तो सुन्दोपसुन्दन्याय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माना जायगा ।

३८०–पुरुषनिष्ठ-पुरुषार्थी-भाग्यवादी-भाग्याधीन-भेद से वर्णप्रजा के पौरुष-भाग्यानुबन्धी चार विवर्त्तों का तात्त्विक-समन्वय—

निवेदन अब यही करना है कि, चेतनधर्म्मानुगत चिद्-मानव ही मनुष्य है और यही 'भाग्यवादी' वर्ग है जिसका तृतीय सर्ग में अन्तर्भाव हो रहा है । शेष रह जाता है अचेतनानुगत चरमसर्गात्मक अचेतनसर्ग, जिसे कहा गया है 'नर' नामक मानव । इसी को 'भाग्याधीन' मानव माना गया है । यों चातुर्वर्ण्यानुपात से विद्यारस-सर्ग-चित्सर्ग-चेतनसर्ग-अचेतनसर्ग-भेद से चतुर्धा विभक्त ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-ये चारों वर्ण क्रमशः पौरुष-पुरुषार्थी-भाग्यवादी-भाग्याधीन-ही प्रमाणित हो रहे हैं । अवश्य ही वर्णभेद के मूलोच्छेद के इच्छुक आज के भावुक मानव इस तथ्य से पदनिमीलित कर सकते हैं, करेंगे ही । किन्तु प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य, तदनुगता प्राकृतिक-विषमता न कभी हटी है न कभी हटेगी, जो आज के व्यवहार में भी ज्यों की त्यों विद्यमान है जैसाकि एक स्वतन्त्र-निबन्ध में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है • । तथ्य तो सदा तथ्य ही रहता है जिसे शुभधर्म्मानुगता मान्यताएँ न आज से पहिले कभी बदल सकीं न आज बदल सकतीं नापि भविष्य में ही । 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस सनातन-सत्य-तथ्य का कौन अतिक्रमण कर सका है ? ।

•—"सांस्कृतिक–संघर्ष के लिए आमन्त्रण एवं स्नेहसम्पन्ति का महान् सन्देश' –नामक सामयिकनिबन्ध

[illegible]	१–चिदात्मसर्गानुगत–मानवः–पुरुषो ब्राह्मणः—पौरुषमूर्ति	पुरुषार्थवादः अमाहुत्वः –कालातीतः–
	२–चित्सर्गानुगतः——मानव–मानवः क्षत्रिय–पुरुषार्थी	
[illegible]	३–चेतनसर्गानुगत—मानवः–मनुष्यो वैश्य—भाग्यवादी	भाग्यवादः–माहुत्व –कालात्मकः–
	४–अचेतनसर्गानुगत—मानव–नरः–शूद्रः——भाग्याधीन	

३८१–'क्रान्ति' भावानुगत सर्गसमन्वय का उपक्रम, एवं कालिक-सर्गचतुष्टयी से समन्विता श्वेत रक्त-पीत-कृष्णा-क्रान्तियों का नामसंस्मरण—

अब खण्डान्त में केवल 'क्रान्ति' मूलक परिलेखमात्र उद्धृत कर इस सर्गसमन्वय को उपरत कर दिया जाता है विस्तारभिया। निबन्ध के तृतीय खण्ड का नाम हुआ है 'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश', और यों 'क्रान्ति' शब्द प्रस्तुत सामयिक निबन्ध का एक प्रमुख अङ्ग प्रमाणित हो रहा है। यह क्रान्तिभाव उक्त सर्गानुपात से ही क्रमशः श्वेतक्रान्ति रक्तक्रान्ति पीतक्रान्ति, कृष्णक्रान्ति–भेद से चार विवर्त्त भावों में परिणत हो रहा है जिसका तत्रैव तृतीयखण्डे सप्रमाण समन्वय किया जा चुका है। प्रकृत में सर्गानुबन्ध से केवल तालिका ही उद्धृत हो रही है—

[illegible]	१–चिदात्मसर्गानुगतः–ब्राह्मणः आत्मनिष्ठः–श्वेतक्रान्तिप्रवर्त्तकः–पुरुषः	महिमान आसन्
	२–चित्सर्गानुगत——क्षत्रियः–बुद्धिनिष्ठ–रक्तक्रान्तिप्रवर्त्तकः—मानवः	
[illegible]	३–चेतनसर्गानुगतः—वैश्य—मनोनिष्ठ–पीतक्रान्तिप्रवर्त्तकः—मनुष्य	स्वधा आसन्
	४–अचेतनसर्गानुगतः–शूद्रः—शरीरनिष्ठः–कृष्णक्रान्तिप्रवर्त्तक–नर	

३८२–प्राकृत-सर्गात्मक चतुर्विध 'प्रतीक' भावों का संस्मरण, एवं तदनुबन्धी विविध विवर्त्तों का समष्ट्यात्मक सिंहावलोकन—

बात चली थी 'प्रतीक' शब्द को लेकर, जिस के सम्बन्ध में यह उपानिका हुई थी कि–'अङ्गभाव' से सम्बन्ध रखने वाला प्रतीक शब्द कदापि अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में समन्वित नहीं हो सकता (देखिए पृ०–सं ५१८)। इसी उपानिका के साथ 'प्रतीक' शब्द का चिरन्तन–शब्देतिहास स्पष्ट किया गया। और

नहीं रख सकता अपने स्वातन्त्र्य से। अपितु तात्कालिक वैयक्तिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ ही इनके जीवन का प्रधान उद्देश्य है। अतएव इनका नियन्त्रण अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक माना है राजर्षि ने। राजर्षि के विधानों की आलोचना करने वाले आज के सत्ताधीशोंने भी इस तथ्य को प्रकारान्तर से स्वीकार कर ही लिया है फिर इस स्वीकृति का मूल भले ही सत्तातन्त्र की अपनी विवशता ही क्यों न हो।

३७९—राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहन से अर्थतन्त्र का शैथिल्य, एवं इसके सुन्दोपसुन्द न्यायात्मक भीषण-परिणाम—

शास्त्रीय-धार्म्मिक नियन्त्रण में क्योंकि 'राष्ट्रीयकरण' जैसा महान् व्यामोहन स्थान नहीं पा सका है, किन्तु इस राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहनने तो राष्ट्र की अर्थशक्ति के महान् स्तम्भभूत इस वर्ग का स्वरूप ही उच्छिन्न कर दिया है, और सचमुच यह राष्ट्र के लिए महान् अमङ्गल ही हुआ है। धर्म्मसंस्था के द्वारा उनकी, सत्ताओं का, धार्मिक दुरुपयोगिताओं का नियन्त्रण ही वह नियन्त्रण था जिसकी ओर राजर्षि ने सङ्केत किया है। इस दिशा में तो यह वर्ग आज अधिकरूप से अनियन्त्रित ही बन गया है। अतएव ऐसे राष्ट्रीयकरणात्मक नियन्त्रण का परिणाम तो सुन्दोपसुन्दन्याय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माना जायगा।

३८०—पुरुषनिष्ठ-पुरुषार्थी-भाग्यवादी-भाग्याधीन-भेद से वर्णप्रथा के पौरुष-भाग्यानुबन्धी चार विवर्तों का तात्त्विक-समन्वय—

निवेदन यह करना है कि, चेतनसर्गानुगत चिद्-मानव ही मनुष्य है और यही 'भाग्यवादी' वर्ग है जिसका तृतीय वर्ग में अन्तर्भाव हो रहा है। शेष रह जाता है अचेतनानुगत चरमसर्गात्मक अचेतनसर्ग, जिसे कहा गया है 'नर' नामक मानव। इसी को 'भाग्याधीन' मानव माना गया है। यों चातुर्वर्ण्यानुपात से चिदात्म-सर्ग-चित्सर्ग-चेतनसर्ग-अचेतनसर्ग-भेद से क्रमशः विभक्त ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-ये चारों वर्ण क्रमशः पौरुष-पुरुषार्थी-भाग्यवादी-भाग्याधीन-ही प्रमाणित हो रहे हैं। अवश्य ही वर्णभेद के मूलोच्छेद के दुराग्रह-व्यामोह से आज के भावुक मानव इस तथ्य से गजनिमीलिका कर सकते हैं करते ही। किन्तु प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य तदनुगता प्राकृतिक-विषमता न कभी हटी है न कभी हटेगी जो आज के व्यवहार में भी ज्यों की त्यों विद्यमान है, जैसाकि एक स्वतन्त्र-निबन्ध में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है •। तथ्य तो सदा तथ्य ही रहता है जिसे युगधर्म्मानुगता मान्यताएँ न आज से पहिले कभी बदल सकीं, न आज बदल सकतीं नापि भविष्य में ही। 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस सनातन-सत्य-तथ्य का कौन अतिक्रमण कर सका है!।

•—"सांस्कृतिक-संघर्ष के लिए आमन्त्रण, एवं श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश' -नामक सामयिकनिबन्ध

[illegible]	१–चिदात्मसर्गानुगत·-मानवः-पुरुषो ब्राह्मण —पौरुषमूर्ति २–चित्सर्गानुगतः——मानवः-मानव· क्षत्रिय·—पुरुषार्थी	पुरुषार्थवादः अप्राकृत· –कालातीतः–
[illegible]	३–चेतनसर्गानुगत·—मानवः-मनुष्यो वैश्य·—भाग्यवादी ४–अचेतनसर्गानुगत —मानव·-नरः–शूद्रः——भाग्याधीन·	भाग्यवाद –प्राकृत· –कालात्मकः–

३८१–'क्रान्ति'-भावानुगत सर्गसमन्वय का उपक्रम, एवं कालिक-सर्गचतुष्टयी से समन्विता श्वेत रक्त-पीत-कृष्णा-क्रान्तियों का नामसंस्मरण—

अब सर्गान्त में केवल 'क्रान्ति' मूलक परिलेखमात्र उद्धृत कर इस सर्गसमन्वय को उपरत कर दिया जाता है विस्तारभिया। निबन्ध के तृतीय खण्ड का नाम हुआ है 'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश', और यों 'क्रान्ति' शब्द प्रस्तुत सामयिक निबन्ध का एक प्रमुख अङ्ग प्रमाणित हो रहा है। यह क्रान्तिभाव उक्त सर्गक्रमानुपात से ही क्रमशः श्वेतक्रान्ति, रक्तक्रान्ति पीतक्रान्ति, कृष्णाक्रान्ति–भेद से चार विवर्त भावों में परिणत हो रहा है जिसका सर्वेव तृतीयखण्ड में सप्रमाण समन्वय किया जा चुका है। प्रकृत में सर्गानुबन्ध से केवल तालिका ही उद्धृत हो रही है—

[illegible]	१–चिदात्मसर्गानुगत·–ब्राह्मण· आत्मनिष्ठ-श्वेतक्रान्तिप्रवर्त्तकः-पुरुषः २–चित्सर्गानुगतः——क्षत्रियः-बुद्धिनिष्ठः-रक्तक्रान्तिप्रवर्त्तकः—मानवः	महिमान ब्राह्मन्
[illegible]	३–चेतनसर्गानुगतः—वैश्य·—मनोनिष्ठः-पीतक्रान्तिप्रवर्त्तकः—मनुष्यः ४–अचेतनसर्गानुगतः–शूद्रः—शरीरनिष्ठ·-कृष्णाक्रान्तिप्रवर्त्तक·-नरः	रोचना भास्कर्

३८२–प्राकृत-सर्गात्मक चतुर्विध 'प्रतीक' भावों का संस्मरण, एवं तदनुबन्धी विविध विवर्त्तोंका समष्ट्यात्मक सिंहावलोकन—

चल चली थी 'प्रतीक' शब्द को लेकर, जिस के सम्बन्ध में यह उत्थानिका हुई थी कि–'प्रज्ञभाव' से सम्बन्ध रखने वाला प्रतीक शब्द कदापि अनस्वाय के सम्बन्ध में समन्वित नहीं हो सकता (देखिए पृ०–सं ५१८)। इसी उत्थानिका के साथ 'प्रतीक' शब्द का चिरन्तन–शब्देतिहास स्पष्ट किया गया। और

नहीं रख सकता अपने नियन्त्रण में। अपितु तात्कालिक वैयक्तिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ ही इसके जीवन का प्रधान उद्देश्य है। अतएव इसका नियन्त्रण अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक माना है राजर्षि ने। राजर्षि के विधानों की आलोचना करने वाले आज के सत्ताधीशोंने भी इस तथ्य को प्रच्छन्नभाव से स्वीकार कर ही लिया है फिर इस स्वीकृति का मूल भले ही उच्छृङ्खल की अपनी विशेषता ही क्यों न हो।

३७९–राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहन से अर्थतन्त्र का शैथिल्य, एवं इसके सुन्दोपसुन्द न्यायात्मक भीषण-परिणाम—

शास्त्रीय-धार्मिक नियन्त्रण में क्यापि 'राष्ट्रीयकरण' जैसा महान् व्यामोहन स्थान नहीं पासका है, जिस इस राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहनने तो राष्ट्र की अर्थशक्ति के महान् स्तम्भभूत इस वर्ग का लक्ष्य ही उच्छिन्न कर दिया है और फलतः यह राष्ट्र के लिए महान् अभिशाप ही हुआ है। सम्प्रदाय के द्वारा उच्छृङ्खल, लक्ष्यच्युतों का, आर्थिक दुरुपयोगियों का नियन्त्रण ही वह नियन्त्रण था जिसकी ओर राजर्षि ने सङ्केत किया है। इस दिशा में तो यह वर्ग आज अधिकरूप से अनियन्त्रित ही बन गया है। अतएव ऐसे राष्ट्रीयकरणात्मक नियन्त्रण का परिणाम तो सुन्दोपसुन्दन्याय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माना जायगा।

३८०–पुरुषनिष्ठ पुरुषार्थी-भाग्यवादी-भाग्याधीन-भेद से वर्णप्रथा के पौरुष-भाग्यानुबन्धी चार विवर्तों का तात्त्विक-समन्वय—

निवेदन यह यही करना है कि, चेतनसर्गानुगत चिद्-मानव ही मनुष्य है और यही 'भाग्यवादी' वर्ग है जिसका तृतीय वर्ग में अन्तर्भाव हो रहा है। शेष रह जाता है अचरानुगत वरुणोत्पन्न अचेतनसर्ग जिसे कहा गया है 'नर' नामक मानव। इसी को 'भाग्याधीन' मानव माना गया है। यों चातुर्वर्ण्यानुपात से चिदाभास सर्ग-चित्सर्ग-चेतनसर्ग-अचेतनसर्ग-भेद से चारों विभक्त ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-ये चारों वर्ण क्रमशः पौरुष-पुरुषार्थी-भाग्यवादी-भाग्याधीन-ही प्रमाणित हो रहे हैं। अवश्य ही वर्णभेद के मूलोच्छेद के इच्छुक-व्यक्ता आज के भावुक मानव इस तथ्य से पराङ्मुखीभाव कर सकते हैं, करते ही। किन्तु प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य, तदनुगता प्राकृतिक-विषमता न कभी हटी है न कभी हटेगी, जो आज के व्यवहार में भी ज्यों की त्यों विद्यमान है जैसा कि एक स्वतन्त्र-निबन्ध में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है •। तथ्य तो सदा तथ्य ही रहता है जिसे युगधर्म्मानुगता मान्यताएँ न आज से पहिले कभी बदल सकीं, न आज बदल सकतीं नापि भविष्य में ही। 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस सनातन-सत्य-तथ्य का मौन अभिव्यक्त कर रहा है।

•—"सांस्कृतिक–संघर्ष के लिए आमन्त्रण, एवं श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश"–नामक सामयिकनिबन्ध

में चाहे जैसा कुछ भी तो नहीं है। दार्शनिक-दृष्टि अवश्य ही चौंकाने वाली है, जिस में आचारपक्ष का कोई सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ है। किन्तु स्मृतिदृष्टि। (ज्ञानविज्ञानात्मिका सहजदृष्टि) से सहजरूप से ही इस तथ्य का समन्वय हो जाता है कि उस में, और इस में, अनन्तमहान् में और मानव में कोई भी अन्तर नहीं है। जो वह है, वही यह है। एवं जो यह है वही वह है। मानव कहता है-यह बात समझ में नहीं आती। हम कहते हैं-समझ में यह बात आ भी नहीं सकती, यदि समझ का नाम मानव ने वह 'बुद्धि' ही मान रक्खा है तो, जिस के द्वारा कि मानव अपने दिग्देशकालानुबन्धी प्रत्यक्ष दृष्ट भूत-भौतिक-प्राकृत-पदार्थों की नाप-तोल कर इन्हें समझा और समझाया करता है। मानव की यह बुद्धि क्या समझ उस 'समझ' से सर्वथा ही तो असम्बद्ध है जिस उस समझ के बिना मानव की बुद्धि सर्वथा निरीहा (बापुरी) ही बनी रहती है। राजस्थान में एक लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि– समझ बिना बुध बापड़ा। सूक्ति का अर्थ यही है कि बिना 'समझ' के 'बुद्धि' सर्वथा बापुरी है, व्यवहारिक में असमर्थ है। पशुओं में क्या बुद्धि नहीं है ?। है और अवश्य है। यही नहीं, अपने तात्कालिक स्वार्थ की समझ लेने की जैसी बुद्धि पशुओं में है मानव की बुद्धि तो कई क्षणों में उस पशुबुद्धि से भी परास्त है। निकटवर्ती–आक्रमणों का जिस तात्कालिकता से पशु समझ लेता है मानव की बुद्धि असमर्थ है–न केवल निकटवर्ती भावों का समन्वय करने में।

२८६–पशु की तात्कालिकी बुद्धि से मानबुद्धि का पराभव, एवं गृहस्थ–क्षेत्र में चतुर्गुणित–बुद्धिशालिनी नारी के द्वारा बुद्धिमान् मानव का अभिभव—

पशु अपनी प्राकृत समस्याओं के लिए अपनी बुद्धि से तत्काल निर्णय कर लेता है जबकि मानव अमुक समस्याओं के समुपस्थित हो जाने पर एकबार तो हक्का बक्का सा ही बना रह जाता है। स्पष्ट प्रमाणित है कि 'बुद्धि' के क्षेत्र में तो पशुओं ने मानव को भी परास्त कर ही रक्खा है उसीप्रकार, जैसे कि गृहस्थ-क्षेत्र में मानव की बुद्धि परास्त रहती है मानवी की तात्कालिकी निर्णयबुद्धि के समतुलन में। तभी तो भारतीय विज्ञानने मानवी में चतुर्गुणिता मानी है बुद्धि मानव की अपेक्षा से– 'बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा'। एक अबोध शिशु का उदाहरण सामने रखिए। जिस की वाणी भी अभी प्रस्फुटित नहीं है ऐसा शिशु तत्काल यह समझ-लेता है कि अमुक पुरुष अथवा अमुक स्त्री तो उस से वास्तव में वात्सल्य रखते हैं और अमुक कृत्रिम। कदापि कृत्रिम प्रेम की ओर वह शिशु आकर्षित नहीं होता जब कि वास्तविक वात्सल्य की ओर स्वतः ही इस की बाहुलियाँ आकर्षित हो पड़ती हैं। और मानव ?। स्वयं मानव ही इस बात का ठीक ठीक उत्तर दे सकेगा कि वह कैसे कृत्रिम अनुरागी के प्रति सत्यभ्रान्ति से आसक्त हो जाता है ? एवं परिणाम में उसे इस कृत्रिम अनुराग के क्या क्या कुफल भोगने पड़ते हैं ?। अतएव मानव को मान-लेना चाहिए कि, उस की अपेक्षा तो स्त्रियों बालकों एवं सर्वापेक्षया पशुओं में कहीं अधिक बुद्धि है तात्कालिक समन्वय की अधिक क्षमता है।

२८७–'संवित्' भावापन्न मानव की श्रेष्ठता, एवं 'संवित्'-स्वरूप-दिग्दर्शन—

बुद्धि अवश्य है और मानव की अपेक्षा अधिक है पशुवर्ग में बुद्धि *। किन्तु मानव में अवश्य ही पशुओं की अपेक्षा बुद्धि से भी कुछ अधिक तथा अन्य विशिष्ट तत्त्व और है जिसे लोकभाषा में यहाँ–

---

*–ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे। (सप्तशती)

इस प्रतीकता को मध्यस्थ बना कर ही प्रतीक–व्यामोहनात्मक सर्गविवर्त–उपक्रान्त हो पड़े जिन के 'चतुर्विध कालात्मक-प्रतीकभाव प्राकृतसर्गात्मक चतुर्विध प्रतीकभाव चतुर्विध-भूतसर्गात्मक प्रतीकभाव चतुर्विध मानवसर्गात्मक प्रतीकभाव चतुर्विध पौरुष-भाग्यविध प्रतीकभाव एवं सर्वान्त में–चतुर्विध भ्रान्तिरूप प्रतीकभाव, क्रमेण अनेक विविध दृष्टिकोणभेद से प्रासङ्गिक बन गए, जिन के माध्यम से अब हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ रहा है कि भले ही दिग्देशकालानुबन्धी-भौतिक–पार्थिव तथा चान्द्र सम्वत्सर-सर्गों में 'अङ्गा-दङ्गात्-सम्भवसि' मूलक प्रतीकभाव समन्वित रहें। किन्तु महिमाओं के सम्बन्ध में (विकर्ष के प्रसङ्ग में) एवं महिमाधारभूत अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में तो कदापि प्रतीक सम्बन्ध घटित हो ही नहीं सकता। क्योंकि ब्रह्म के साथ अङ्गाङ्गी-भावात्मक परिणामवाद का स्वल्पकिञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है।

३८३–प्रतीकात्मक अङ्गाङ्गीभावों से एकान्ततः असंसृष्ट महिमामय सर्वभूतान्तरात्मा, एवं तत्क्षेत्र में प्रतीकभाव का प्रवेश-निषिद्ध—

'सर्वमात्मैवाभूत्' ही उस का महिमामय विवर्तभाव है जिस में न कोई अङ्ग है न कोई अङ्गी है। अपितु द्रष्टा भी नहीं है दृश्य भी नहीं है। विज्ञाता भी नहीं है, ज्ञानसाधन भी नहीं है ज्ञेय भी नहीं है। 'तत्केन कं पश्येत्' ही उस का दर्शन है। 'स्व से स्व का दर्शन' यदि–सम्भव है तो वैसा दर्शन अवश्य ही अनन्तब्रह्मनिष्ठा में सुरक्षित है जिस का राजर्षि ने इन शब्दों में दिग्दर्शन कराया है मनुस्मृति–विश्लेषण–प्रसङ्ग से—

> एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
> स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् (अव्ययपदम्) ॥
>
> —मनु १२।१२५।

३८४–प्रतीकभाव का मूलोच्छेदक-'उद्धरेदात्मनात्मानम्' वचन—

अतएव गीताचार्य्य ने भी प्रतीकवादात्मक व्यामोहन का मूलोच्छेद करते हुए 'उद्धरेत्–आत्मना–आत्मानम्' इस सिद्धान्त को ही प्रामाणिकता प्रदान की है। कहीं भी अनन्तात्मब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतीकवाद को प्रवेशाधिकार प्राप्त नहीं है। वह भले ही अनन्त रहे, किन्तु वसनात्मक किंवा व्यक्तात्मक भाव से अनन्तभाव भी है प्राकृतभाव ही। अतएव यह भी निष्कल–गुणातीत ब्रह्म का प्रतीक नहीं बन सकता। काल-महिमा से कदापि उस अनन्तमहिमामय ब्रह्म का ग्रहण सम्भव नहीं है। अतएव यह कहना कि अनन्तब्रह्म का एकांशरूप महिमामय अनन्तकाल (अपरप्रकृति) उस के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है कदापि समीचीन नहीं है। क्योंकि न यह का यही है न उस का कोई एकांश ही है। अपितु वही समतुल्य है।

३८५–सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्म, तथा मानव की अभिव्यक्ता, तत्-सम्बन्ध में प्राकृत मानव की बुद्धि का व्यामोहन, एवं मानव के महान् भ्रामक 'समझ' शब्द से अनुप्राणित 'समझ बिना पुष भापड़ी' इस लोकसूक्ति का संस्मरण—

ता क्या उन बातों की कोई स्वरूपपरिभाषा नहीं है?। नहीं। यह स्वयं ही अपना 'रूप' की 'स्वरूप की स्वस्वरूप' की परिभाषा है। और उसके इसी 'स्वरूप' का नाम है'-मानव'। पर्याप्त नहीं। 'मानव वही है' इस

२९०–नारी की भावुकतापूर्णा तात्कालिकता, तथा दिग्देशकालज्ञता, एवं मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीतानुगतिश्च, और 'चिरकारी प्रशस्यते'—

कहना हमें केवल यही है कि, प्रकृतिमापनिकषना सहजा प्रत्युत्पन्नमति के आधारमात्र से इस प्रत्युत्पन्नमतित्व से प्रकृत्या ही वञ्चित पुरुषसन्तति की कन्याओं के समतुलन में हीनता प्रमाणित करना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमतित्व के स्थान में पुरुषसन्तति का चिरकारी बने रहना ही इसकी प्रशंसा का मुख्य कारण माना जाना चाहिए। कन्यापि अपनी तात्कालिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमतित्व के अभाव में पुरुषसन्तति के प्रति हीनभाव नहीं रखने चाहिएँ। दोनों का क्षेत्र भिन्न है, प्राकृत स्वरूप विभिन्न है। पुरुष का चिरकारित्व ही प्रशस्त है, तो नारी का प्रत्युत्पन्नमतित्व ही अभिनन्दनीय है। गृहस्थक्षेत्रानुगता नारी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ही थोड़ी ही अवधि में परस्परविरोधिनी सभी गृहस्थ-व्यक्तियों का सामञ्जस्य स्थापित करते रहने में समर्थ बन जाती है, तो लोकक्षेत्रानुगत पुरुष अपने चिरकारित्व से एक लम्बी अवधि में निश्चित निर्भ्रान्त निर्णय के द्वारा परिस्थिति की वास्तविकता का मूल्याङ्कन करता हुआ ही लोकयात्रा के निर्वाह करने में सफल बनता है। अतएव प्रसिद्ध है कि–'जल्दी का काम शैतान का काम है'। पुराणपुरुष भगवान् व्यासने तो चिरकारी नाम से एक स्वतन्त्र इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिबद्ध कर दिया है। अपने तात्कालिक आवेश में आकर पूर्वापर की स्थिति–परिस्थितियों का विचार–विमर्श–किए बिना ही, तत्काल ही निर्णय कर डालने वाले, झटिति ही कार्य्यारम्भ और कार्य्यसमाप्ति कर बैठने वाले भावुक मानवों से हम सआग्रह निवेदन करेंगे कि कृपया एकबार वे महाभारत के उक्त प्रकरण को अवश्य ही समन्वित कर लेने का कष्ट उठावें *।

२९१–कार्य्यारम्भे दक्ष, तथा कार्य्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एवं कार्य्यारम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्य्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धिमानी का स्वरूप-चित्रण—

थोड़ा और भी कुछ प्रासङ्गिक समन्वय कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक महापुरुषों का कहना है कि–'भावुक मानव कार्य्य आरम्भ करना तो जानता है, किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना नहीं जानता' जबकि निष्ठा के क्षेत्र में ठीक इससे विपरीत स्थिति है। 'नैष्ठिक मानव आरम्भ करना नहीं

---

* एवं सर्वेषु कार्य्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ॥
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥१॥
रागे, दर्पे च, माने च, द्रोहे, पापे च कर्म्मणि।
अप्रिये चैव कर्त्तव्ये 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥
—द्रष्टव्य ! महाभारत–शान्तिपर्व–मो० २६६ अ०।

जन्मजरामरणगर्तपातनाय पञ्चविधास्रवरूप., क्षान्त्यादिगुणकमलनिस्करनाशनाय भयकरतुषारनिकरस्वरूप., चारित्रविध्वंसने धूमकेतु', समस्तास्रवहेतुः, मुनिमण्डलाखण्डशशिमण्डले राहुरिव, मायाजालेन भव्यमृगबन्धने भिल्ल इव, धर्मोद्यानदहने तरुकोटरवह्निरिव गच्छे वर्तते। भवानित्यमस्य प्रशंसां कुर्वन् क्षितीश इव लक्ष्यते। आचार्येणोक्तम्—कोऽसौ क्षितीश. ? कीदृशी तस्य वार्ता ?

आप भव्य जीवोंके विकसित करने में यद्यपि सूर्य के तुल्य हैं तो भी आपकी छत्रच्छाया में रहकर भी जो कुमुद ही बना रहे, अर्थात्—आचार विचार से सदा शिथिल रहे उस मन्दभागी के लिये क्या कहा जाय। आप के इस गच्छ में एक अविनीत शिष्य है, जो इस गच्छ का कलंक स्वरूप है, क्यों कि अविनीत शिष्य जन्म जरा एवं मरणरूपी खड्डे में पाडने के लिये पचविध आस्रवरूप माना गया है, जिस प्रकार तुषार हिम का पुंज कमलों के वन को विध्वस्त करने में कसर नहीं रखता है उसी प्रकार अविनीत शिष्य भी क्षान्त्यादि गुणों को नष्ट भ्रष्ट करने में जरा भी आगे पीछे का विचार नहीं करता है। अविनीत शिष्य चारित्र के विनाश करने के लिये धूमकेतु के जैसा माना गया है। सम्पूर्ण आस्रवों का यह कारण बतलाया गया है। मुनिमण्डलरूप अखण्ड चन्द्रमण्डल को ग्रसन करने के लिये विद्वानों ने इस को राहु के जैसा कहा है। यह अपनी माया—जालसे अन्य विचारे भोले भाले भव्यजीवरूपी मृगों

હે શાસન પ્રભાવક ! આ ભવ્ય જીવોને વિકસિત કરવામા જો કે સૂર્યના તુલ્ય છો તો પણ આપની છત્રછાયામા રહીને પણ જે કુમુદ જ બની રહે—અર્થાત્ આચાર વિચારથી સદા શિથિલ રહે તેવા મંદભાગી માટે શું કહેવામા આવે. આપના આ ગચ્છમા એક અવિનીત શિષ્ય છે—જે આ ગચ્છમા કલંકસ્વરૂપ છે કેમકે અવિનીતજન જન્મ, જરા, અને મરણરૂપી ખાડામા પાડવાવાળા પચવિધ આસ્રવરૂપ માનવામા આવેલ છે જે પ્રકારે તુષાર અર્થાત (બરફ) હીમનો પુંજ કમળના વનનો નાશ કરવામા કસર રાખતો નથી તેમ અવિનીત શિષ્ય પણ ક્ષાન્ત્યાદિ ગુણોને નષ્ટ ભ્રષ્ટ કરવામા આગળ પાછળનો વિચાર કરતો નથી. અવિનીત શિષ્ય ચારિત્રનો વિનાશ કરવા માટે ધૂમકેતુ જેવો માનવામા આવેલ છે સપૂર્ણ આસ્રવનુ એ કારણ બતાવવામા આવ્યુ છે મુનિમંડળરૂપ અખંડચંદ્રમંડળને ગ્રહણ કરનારા રાહુ જેવો વિદ્વાનોએ કહેલ છે તે પોતાની આ અવિનીતતા રૂપી જાળથી અન્ય બીચારા ભોળા

२९०–नारी की भावुकतापूर्णा तात्कालिकता, तथा दिग्देशकालज्ञता, एवं मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीतानुगतित्व, और 'चिरकारी प्रशस्यते'—

कहना हमें केवल यही है कि, प्रकृतिमानविकता सदा प्रत्युत्पन्नमति के आवेगमात्र से, इस प्रत्युत्पन्नमतित्व से प्रकृतया ही वञ्चित पुरुषजाति की क्रियाओं के समनुगमन में हीनता प्रमाणित करना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमतित्व के स्थान में पुरुषजाति का चिरकारी बने रहना ही इसकी प्रशंसा का मुख्य कारण माना जाना चाहिए। तथापि अपनी तात्कालिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमति व के अभाव में पुरुषजाति के प्रति हीनभाव नहीं रखना चाहिए। दोनों का क्षेत्र भिन्न है, मौलिक स्वरूप विभिन्न है। पुरुष का चिरकारित्व ही प्रशस्त है, तो नारी का प्रत्युत्पन्नमतित्व ही अभिनन्दनीय है। सहजप्रज्ञानुगता नारी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ही थोड़ी सी अवधि में परम्पराविरोधिनी सभी सदस्य–व्यक्तियों का सामञ्जस्य स्थापित करते रहने में समर्थ बन जाती है, तो ज्ञानप्रज्ञानुगत पुरुष अपने चिरकारित्व से एक लम्बी अवधि में निश्चित निर्भ्रान्त निर्णय के द्वारा परिस्थिति की वास्तविकता का मूल्याङ्कन करता हुआ ही लोकयात्रा के निर्वाह करने में सफल बनता है। अतएव प्रसिद्ध है कि–'जल्दी का काम शैतान का काम है'। पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने तो 'चिरकारी' नाम से एक स्वतन्त्र इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिबद्ध कर दिया है। अपि च तात्कालिक आवेश में आकर पूर्वापर की स्थिति–परिस्थितियों का विचार–विमर्श किए बिना ही, तत्काल ही निर्णय कर डालने वाले, अर्थात् ही कार्य्यारम्भ और कार्य्यसमाप्ति कर बैठने वाले भावुक मानवों से हम साग्रह निवेदन करेंगे कि कृपया एकबार ये महाभारत के प्रकरण का अवश्य ही समन्वित कर लेने का कष्ट उठालें *।

२९१–कार्य्यारम्भे दक्ष, तथा कार्य्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एवं कार्य्यारम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्य्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धिमानी का स्वरूप-चित्रण—

थोड़ा और भी कुछ प्रासङ्गिक समन्वय कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक महापुरुषों का कहना है कि– "भावुक मानव कार्य्य आरम्भ करना तो जानता है, किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना नहीं जानता" जबकि निष्ठा के क्षेत्र में ठीक इससे विपरीत स्थिति है। 'नैष्ठिक मानव आरम्भ करना नहीं

---

* एवं सर्वेषु कार्य्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ॥
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परिताप्यते ॥१॥
रागे, दर्पे च, माने च, द्रोहे, पापे च कर्म्मणि ।
अप्रिये चैव कर्त्तव्ये 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥
—द्रष्टव्य । महाभारत–शान्तिपर्व–मो० ६६ अ० ।

'समझ' कहा जाता है, वहाँ वही विशिष्ट तत्त्व शास्त्रीय-भाषा में 'संवित्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है –। बुद्धि जहाँ कालानुबन्धिनी है, वर्त्तमानानुबन्धिनी है, वहाँ यह संवित् कालातीता, किंवा त्रिकालात्मिका है। बुद्धि जहाँ वर्त्तमान को ही लक्ष्य बनाती है, वहाँ–संवित् वर्त्तमान के आधार पर भूत और भविष्यत् को ही प्रधानरूप से अपना क्षेत्र बनाती है।

३८८–भूत–भविष्यत् की परिणामदर्शिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की 'यथा-र्थता' का नग्न चित्रण—

बुद्धि न पूर्व का विचार करती, न अपर का। अपितु वर्त्तमान के आधार पर वह तत्स्थिति अपना निर्णय कर डालती है, जिस इस प्रत्यक्षमात्रात्मक तात्कालिकभाव को ही हम 'भावुकता' कहते हैं। यही भावुकता भावावेश की जननी है, जो मानव को आगा (अपर-भविष्य) पीछा (पूर्व-भूत) कुछ भी तो नहीं सोचने देती। अपितु तत्त्व ही झटपट ही अपना सर्वस्व पौरुष समाप्त कर डालती है भावुकतारूपा यह तात्कालिकी बुद्धि। और आज का भावुकयुग इस तात्कालिकी बुद्धि का ही सर्वात्मना भरोसा बन रहा है अपने–'सर्वात्म लक्षण 'वर्त्तमान' की घोषणा के माध्यम से।

३८९ 'प्रत्युत्पन्नमतित्त्व' का औचित्य, गृहस्थपरम्परानुगत पुत्र-कन्या-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरक्षीरविवेक, कन्या का समादरणीय प्रत्युत्पन्नमतित्त्व, एवं पुत्र का अभि-नन्दनीय संवित्भाव—

ऐसे 'तुरतबुद्धि' मानव को ही 'प्रत्युत्पन्नमति' कहा गया है, जिसे 'संवित्शाली मानव (संवेदनशील समझदार मानव) कदापि प्रशस्त की दृष्टि से नहीं देखते। अतएव मानव कभी कभी बड़ी भूल कर जाता है। बुद्धिमान् मानव तो अवश्य ही अविवेचन में भूल ही करता रहता है इस दिशा में, जबकि यह तात्-कालिकी बुद्धि के मापदण्ड से तथाविध मानवों को बालकों को ही बुद्धिमान् समझ बैठता है, एवं प्रत्यक्ष में धोखा बसन्त प्रतीयमान किन्तु चिरकारी। अतएव वास्तव में बुद्धिमान् मानवों तथा बालकों को अपने मापदण्ड से मूर्ख मान बैठता है, जबकि स्थिति सर्वथा विपरीत ही होती है। गृहस्थ में बालक, और बालिकाएँ दोनों को पृथक् पृथक्-रूप से लक्ष्य बनाइए। दोनों के तमतुलन की दृष्टि से कन्यासन्तति ही प्रायः पुत्रसन्तति की अपेक्षा विशेषरूप से बुद्धिमती प्रतीत होती है। प्रत्येक भाव के अनुकरण में जैसी दक्षता कन्याओं में होती है, पुत्रों में वैसी नहीं। अतएव प्रायः मानव अपनी कन्याओं के प्रशंसक, तथा पुत्रों के अप्रशंसक बने रहते हैं। कदापि हमारा यह तात्पर्य्य नहीं है कि, कन्याओं की प्रशंसा न की जाय। अवश्य की जाय। स्वयं शास्त्र ने भी 'बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा' कह कर इनको सम्मान ही प्रदान किया है।

– मासा-ब्द-युग-कल्पेषु गतागम्यस्वनकधा॥
नाद्देति नास्तमेति संविदेषा स्वयंप्रभा॥१॥
कस्मादधा क्रियां तद्वत् क्ष्यातृत्वमिवयानपि॥
स्यादयदभक्तयत्नन याऽसौ संवित् स्वयंभुः॥२॥
—भविता देवम्–भ्रत्युपनिषत्

२९०–नारी की भावुकतापूर्णा तात्कालिकता, तथा दिग्देशकालज्ञता, एवं मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीतानुगतिच, और-'चिरकारी प्रशस्यते'—

कहना हमें केवल यही है कि, प्रकृतिमानविकल्पना अथवा प्रत्युत्पन्नमति के आधारभाव से इस प्रत्युत्पन्नमतित्व से अकस्मात् ही वञ्चित पुरुषप्रकृति की क्रियाओं के समनुगमन में हीनता प्रमाणित करना बुद्धिमानी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमतित्व के स्थान में पुरुषप्रकृति का चिरकारी बन रहना ही इसकी प्रधानता का मुख्य कारण माना जाना चाहिए। क्योंकि अपनी तात्कालिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमतित्व के अभाव में पुरुषप्रकृति के प्रति हीनभाव नहीं रखना चाहिएँ। दोनों का क्षेत्र भिन्न है, प्राकृत स्वरूप भिन्न भिन्न है। पुरुष का चिरकारित्व ही प्रशस्त है, तो नारी का प्रत्युत्पन्नमतित्व ही अभिनन्दनीय है। स्त्रैणधर्मानुगता नारी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ही थोड़ी सी अवधि में परस्परविरोधिनी सभी उलझन-समस्याओं का समाधान स्थापित करने में समर्थ बन जाती है, तो लोकधर्मानुगत पुरुष अपने चिरकारित्व से एक लम्बी अवधि में निश्चित निर्भ्रान्त निर्णय के द्वारा परिस्थिति की वास्तविकता का मूल्याङ्कन करता हुआ ही समस्या का निराकरण करने में सक्षम बनता है। अतएव प्रसिद्ध है कि-'जल्दी का काम शैतान का काम है'। पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने 'चिरकारी' नाम से एक स्वतन्त्र इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिबद्ध कर दिया है। अपने तात्कालिक भावावेश में आकर पूर्वापर की स्थिति-परिस्थितियों का विचार-विमर्श किए बिना ही, तत्काल ही निर्णय कर डालने वाले अतएव ही कार्य्यारम्भ, और कार्य्यसमाप्ति कर बैठने वाले भावुक मानवों से हम साग्रह निवेदन करेंगे कि कृपया एकबार वे महाभारत के तत्प्रकरण को अवश्य ही समन्वित कर लेने का कष्ट उठाएँ *।

२९१–कार्य्यारम्भे दक्ष, तथा कार्य्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एवं कार्य्यारम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्य्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धिमानी का स्वरूप-चित्रण—

थोड़ा और भी कुछ प्रासङ्गिक समन्वय कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक महापुरुषों का कहना है कि–'भावुक मानव कार्य्य आरम्भ करना तो जानता है, किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना नहीं जानता' जबकि निष्ठा के क्षेत्र में ठीक इससे विपरीत स्थिति है। 'नैष्ठिक मानव आरम्भ करना नहीं

* एवं सर्वेषु कार्य्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ॥
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥१॥
रागे, दर्पे च, माने च, द्रोहे, पापे च कर्म्मणि।
अप्रिये चैव कर्त्तव्ये 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥
—देखिए ! महाभारत–शान्तिपर्व–मो० २६६ अ०।

'समम' कहा जाता है, वहाँ वही विशिष्ट तत्व शास्त्रीय-भाषा में 'संवित्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है – । बुद्धि वहाँ भूतानुबन्धिनी है वर्त्तमानानुबन्धिनी है वहाँ यह संवित् भूतात्मिका, किंवा त्रिकालात्मिका है । बुद्धि वहाँ वर्त्तमान को ही लक्ष्य बनाती है वहाँ–संवित् वर्त्तमान के आधार पर भूत, और भविष्यत् को ही प्रधानरूप से अपना क्षेत्र बनाती है ।

३८८–भूत–भविष्यत् की परिणामदर्शिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की 'यथार्थता' का नग्न चित्रण—

बुद्धि न पूर्व का विचार करती न अपर का । अपितु वर्त्तमान के आधार पर वह झटिति अपना निर्णय कर डालती है जिस इस प्रत्यक्षप्रमाणात्मक तात्कालिकभाव को ही हम 'भावुकता' कहते हैं । यही भावुकता भावावेश की जननी है जो मानव को आगा (अपर-भविष्य) पीछा (पूर्व-भूत) कुछ भी तो नहीं सोचने देती । अपितु तरल ही झटपट ही अपना सर्वस्व पौरुष समाप्त कर डालती है भावुकतारूपा यह तात्कालिकी बुद्धि । और आज का भावुकयुग इस तात्कालिकी बुद्धि का ही सर्वात्मना प्रशंसक बन रहा है अपने–'सजाव' लक्षण 'वर्त्तमान' की घोषणा के माध्यम से ।

३८९ 'प्रत्युत्पन्नमतित्व' का औचित्य, गृहस्थक्षेत्रानुगत पुत्र-कन्या-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरक्षीरविवेक, कन्या का समादरणीय प्रत्युत्पन्नमतित्व, एवं पुत्र का अभिनन्दनीय संविद्भाव—

ऐसे 'तुरत्बुद्धि' मानव को ही *प्रत्युत्पन्नमति* कहा गया है जिसे 'संवित्साक्षी मानव (संवेदनशील समझदार मानव) कदापि प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखते । अतएव मानव कभी कभी बड़ी भूल कर जाता है । बुद्धिमान् मानव तो अवश्य ही अधिकांश में भूल ही करता रहता है इस दिशा में, क्योंकि यह तात्कालिकी बुद्धि के मापदण्ड से तथाविध मानवों को, बालकों को तो बुद्धिमान् समझ बैठता है एवं प्रत्यक्ष में धोखा वसन्त प्रतीयमान किन्तु 'चिरकारी' अतएव वास्तव में मतिमान् मानवों तथा बालकों को अपने मापदण्ड से मूर्ख मान बैठता है, जबकि स्थिति सर्वथा विपरीत ही होती है । गृहस्थ में बालक, और बालिकाएँ दोनों को पृथक् पृथक्-रूप से लक्ष्य बनाइए । दोनों के समतुलन की दृष्टि से कन्यासन्तति ही प्रायः पुत्रसन्तति की अपेक्षा विशेषरूप से बुद्धिमती प्रतीत होती है । प्रत्येक भाव के अनुकरण में जैसी दक्षता कन्याओं में होती है, पुत्रों में वैसी नहीं । अतएव प्रायः मानव अपनी कन्याओं के प्रशंसक, तथा पुत्रों के अप्रशंसक बने रहते हैं । कदापि हमारा यह तात्पर्य्य नहीं है कि, कन्याओं की प्रशंसा न की जाय । अवश्य की जाय । स्वयं शास्त्र ने भी 'बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा' कह कर इनको सम्मान ही प्रदान किया है ।

---

* मासा-ब्द–युग-कल्पेषु गतागम्यस्वनेकधा ॥
नोदेति नास्तमेति संविदेषा स्वयंप्रभा ॥१॥
कर्त्तारञ्च क्रियां तद्वत् व्याहृत्तविषयानपि ॥
स्फोरयदकर्त्तृत्वेन याऽसौ संवित् स्वयंवपुः ॥२॥
—संविदा देवम्–इत्युपनिषत्

२९०–नारी की भावुकतापूर्णा तात्कालिकता, तथा दिग्देशकालज्ञता, एवं मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीतानुगतिश्च, और 'चिरकारी प्रशस्यते'—

कहना हमें केवल यही है कि, मद्विमायनिबन्धना सद्बा प्रत्युत्पन्नमति के आधारमात्र से, इस प्रत्युत्पन्नमतित्व से प्रकृत्या ही वञ्चित पुरुषसन्तति की कन्याओं के समतुलन में हीनता प्रमाणित करना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमतित्व के स्थान में पुरुषसन्तति का चिरकारी बने रहना ही इसकी प्रशंसा का मुख्य कारण माना जाना चाहिए। कदापि अपनी तात्कालिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमतित्व के अभाव में पुरुषसन्तति के प्रति हीनभाव नहीं रखने चाहिएँ। दोनों का क्षेत्र भिन्न है प्राकृत स्वरूप विभिन्न है। पुरुष का चिरकारित्व ही प्रशस्त है तो नारी का प्रत्युत्पन्नमतित्व ही अभिनन्दनीय है। गृहस्थक्षेत्रानुगता नारी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ही थोड़ी ही अवधि में परस्परविरोधिनी सभी गृहस्थ–व्यक्तियों का सामञ्जस्य स्थापित करते रहने में समर्थ बन जाती है तो लोकक्षेत्रानुगत पुरुष अपने चिरकारित्व से एक लम्बी अवधि में निश्चित निर्भ्रान्त निर्णय के द्वारा परिस्थिति की वास्तविकता का मूल्याङ्कन करता हुआ ही लोकयात्रा के निवाह करने में सफल बनता है। अतएव प्रसिद्ध है कि–'जल्दी का काम शैतान का काम है'। पुराणपुरुष भगवान् व्यासने तो चिरकारी नाम से एक स्वतन्त्र इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिबद्ध कर दिया है। अपने तात्कालिक आवेश में आकर पूर्वापर की स्थिति–परिस्थितियों का विचार–विमर्श–किए बिना ही, तत्काल ही निर्णय कर डालने वाले, झटिति ही कार्य्यारम्भ और कार्य्यसमाप्ति कर बैठने वाले भावुक मानवों से हम सआग्रह निवेदन करेंगे कि, कृपया एकबार वे महाभारत के तत्प्रकरण को अवश्य ही समन्वित कर लेने का कष्ट उठाएँ *।

२९१–कार्य्यारम्भे दक्ष, तथा कार्य्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एवं कार्य्यारम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्य्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धिमानी का स्वरूप-चित्रण—

थोड़ा और भी कुछ प्रासङ्गिक समन्वय कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक महापुरुषों का कहना है कि,–'भावुक मानव कार्य्य आरम्भ करना तो जानता है किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना नहीं जानता' जबकि निष्ठा के क्षेत्र में ठीक इससे विपरीत स्थिति है। 'नैष्ठिक मानव आरम्भ करना नहीं

* एवं सर्वेषु कार्य्येषु विमृश्य पुरुषस्तत ॥
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥१॥
रागे, दर्पे च, माने च, द्रोहे, पापे च कर्म्मणि।
अप्रिये चैव कर्त्तव्ये 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥
—देखिए! महाभारत–शान्तिपर्व–मो० २६६ अ०।

'मनस्' कहा जाता है, वहाँ वही विशिष्ट तत्त्व शास्त्रीय-भाषा में 'संवित्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है – । बुद्धि यहाँ कालानुबन्धिनी है वर्त्तमानानुबन्धिनी है, वहाँ यह संवित् कालातीता, किंवा त्रिकालात्मिका है । बुद्धि जहाँ वर्त्तमान को ही लक्ष्य बनाती है वहाँ–संवित् वर्त्तमान के आधार पर भूत, और भविष्यत् को ही प्रधानरूप से अपना क्षेत्र बनाती है ।

३८८–भूत–भविष्यत् की परिणामदर्शिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की 'यथार्थता' का नग्न चित्रण—

बुद्धि न पूर्व का विचार करती, न अपर का । अपितु वर्त्तमान के आधार पर वह झटिति अपना निर्णय कर डालती है जिस इस प्रत्यक्षप्रमाणात्मक तात्कालिकभाव को ही हम 'भावुकता' कहते हैं । यही भावुकता भावावेश की जननी है जो मानव को आगा (अपर-भविष्य) पीछा (पूर्व-भूत), कुछ भी तो नहीं सोचने देती । अपितु तरत ही झटपट ही अपना सर्वस्व पौरुष समाप्त कर डालती है भावुकतारूपा यह तात्कालिकी बुद्धि । और आज का भावुकयुग इस तात्कालिकी बुद्धि का ही सर्वात्मना अनुगामी बन रहा है अपने–'यथार्थ' लक्षण 'वर्त्तमान' की घोषणा के माध्यम से ।

३८९ 'प्रत्युत्पन्नमतित्व' का शैथिल्य, गृहस्थक्षेत्रानुगत पुत्र-कन्या-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरक्षीरविवेक, कन्या का समादरणीय प्रत्युत्पन्नमतित्व, एवं पुत्र का अभिनन्दनीय संविद्भाव—

ऐसे 'तुरतबुद्धि' मानव को ही प्रत्युत्पन्नमति' कहा गया है जिसे 'संवित्शाली मानव (संवेदनशील समझदार मानव) कदापि प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखते । अतएव मानव कभी कभी बड़ी भूल कर जाता है । बुद्धिमान् मानव तो अवश्य ही अधिकांश में भूल ही करता रहता है इस दिशा में क्योंकि यह तात्कालिकी बुद्धि के मापदण्ड से तथाविध मानवों की बालकों को तो बुद्धिमान् समझ बैठता है एवं प्रसङ्ग में घोंघा बसन्त मतिमान किन्तु चिरकारी' अतएव वास्तव में बुद्धिमान् मानवों तथा बालकों को अपने मापदण्ड से मूर्ख मान बैठता है जबकि स्थिति सर्वथा विपरीत ही होती है । गृहस्थ में बालक, और बालिकाएँ दोनों को पृथक् पृथक्-रूप से लक्ष्य बनाइए । दोनों के तुलन की दृष्टि से कन्यासन्तति ही प्रायः पुत्रसन्तति की अपेक्षा विशेषरूप से बुद्धिमती प्रतीत होती है । प्रत्येक भाव के अनुकरण में जैसी दक्षता कन्याओं में होती है, पुत्रों में वैसी नहीं । अतएव प्रायः मानव अपनी कन्याओं के प्रशंसक, तथा पुत्रों के अपप्रशंसक बने रहते हैं । यद्यपि हमारा यह तात्पर्य्य नहीं है कि, कन्याओं की प्रशंसा न की जाय । अवश्य की जाय । स्वयं शास्त्र ने भी 'बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा' कह कर इनको सम्मान ही प्रदान किया है ।

+ मासा र्त्तु–युग–कल्पेषु गतागम्यस्वनरूपया ॥
नोदेति नास्तमेति संविदेषा स्वयंप्रभा ॥१॥
कर्त्तारश्च क्रियां तद्वत् व्यावृत्तविषयानपि ॥
स्फोरयदकृयत्नन योऽसौ संवित् स्वयंवपु ॥२॥
—भविद्या देव्यम्–स्वपनिषत्

३६०–नारी की भावुकतापूर्णा तात्कालिकता, तथा दिग्देशकालज्ञता, एवं मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीतानुगतिश्च, और-'चिरकारी प्रशस्यते'—

कहना हमें केवल यही है कि, प्रकृतिभावनिबन्धना सहजा प्रत्युत्पन्नमति के आधारमात्र से इस प्रत्युत्पन्नमतित्व से प्रकृत्या ही वञ्चित पुरुषसन्तति की अन्यथा के समतुलन में हीनता प्रमाणित करना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमतित्व के स्थान में पुरुषसन्तति का चिरकारी बने रहना ही इसकी प्रशंसा का मुख्य कारण माना जाना चाहिए। कदापि अपनी तात्कालिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमतित्व के अभाव में पुरुषसन्तति के प्रति हीनभाव नहीं रखने चाहिएँ। दोनों का क्षेत्र भिन्न है प्राकृत स्वरूप विभिन्न है। पुरुष का चिरकारित्व ही प्रशस्त है तो नारी का प्रत्युत्पन्नमतित्व ही अभिनन्दनीय है। गृहस्थक्षेत्रानुगता नारी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ही थोड़ी ही अवधि में परस्परविरोधिनी सभी गृहस्थ–व्यक्तियों का सामञ्जस्य स्थापित करते रहने में समर्थ बन जाती है तो लोकक्षेत्रानुगत पुरुष अपने चिरकारित्व से एक लम्बी अवधि में निश्चित निर्भ्रान्त निर्णय के द्वारा परिस्थिति की वास्तविकता का मूल्यांकन करता हुआ ही लोकयात्रा के निर्वाह करने में सफल बनता है। अतएव प्रसिद्ध है कि–'जल्दी का काम शैतान का काम है'। पुराणपुरुष भगवान् व्यासने तो 'चिरकारी' नाम से एक स्वतन्त्र इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिबद्ध कर दिया है। अपने तात्कालिक आवेश में आकर पूर्वापर की स्थिति–परिस्थितियों का विचार–विमर्श–किए बिना ही, तत्काल ही निर्णय कर डालने वाले झटिति ही कार्य्यारम्भ और कार्य्यसमाप्ति कर बैठने वाले भावुक मानवों से हम सआग्रह निवेदन करेंगे कि कृपया एकबार वे महाभारत के तत्प्रकरण को अवश्य ही समन्वित कर लेने का कष्ट उठावें *।

३६१–कार्य्यारम्भे दक्ष, तथा कार्य्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एवं कार्य्यारम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्य्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धिमानी का स्वरूप चित्रण—

थोड़ा और भी कुछ तात्त्विक समन्वय कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक महापुरुषों का कहना है कि–'भावुक मानव कार्य्य आरम्भ करना तो जानता है किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना नहीं जानता' जबकि निष्ठा के क्षेत्र में ठीक इससे विपरीत स्थिति है। 'नैष्ठिक मानव आरम्भ करना नहीं

---

* एवं सर्वेषु कार्य्येषु विमृश्य पुरुषस्तत ॥
चिरस्य निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥१॥
रागे, दर्पे च, माने च, द्रोहे, पापे च कर्म्मणि।
अप्रिये चैव कर्त्तव्य 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥
—दृष्टिव्य ! महाभारत–शान्तिपर्व–मो० २६६ अ०।

'समम्क' कहा जाता है, वहाँ वही विशिष्ट तत्त्व शास्त्रीय-भाषा में 'संवित्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है — । बुद्धि जहाँ कालानुबन्धिनी है वर्त्तमानानुबन्धिनी है, वहाँ यह संवित् कालातीता, किंवा त्रिकालात्मिका है । बुद्धि जहाँ वर्त्तमान को ही लक्ष्य बनाती है वहाँ—संवित् वर्त्तमान के आधार पर भूत और भविष्यत् को ही प्रधानरूप से अपना लक्ष्य बनाती है ।

३८८—भूत-भविष्यत् की परिणामदर्शिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की 'यथार्थता' का नग्न चित्रण—

बुद्धि न पूर्व का विचार करती, न अपर का । अपितु वर्त्तमान के आधार पर यह झटिति अपना निर्णय कर डालती है जिस इस प्रत्यक्षप्रमाणात्मक तात्कालिकभाव को ही हम 'भावुकता' कहते हैं । यही भावुकता भावावेश की जननी है जो मानव को आगा (अपर-भविष्य) पीछा (पूर्व-भूत) कुछ भी तो नहीं सोचने देती । अपितु तत्त्व ही झटपट ही अपना सर्वस्व खोकर समाप्त कर डालती है भावुकतारूपा यह तात्कालिकी बुद्धि । और आज का मानवयुग इस तात्कालिकी बुद्धि का ही सर्वात्मना समर्थक बन रहा है अपने—'प्रभाव लक्षण 'वर्त्तमान' की घोषणा के माध्यम से ।

३८९ 'प्रत्युत्पन्नमतित्व' का शैथिल्य गृहस्थाश्रमानुगत पुत्र-कन्या-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरक्षीरविवेक, कन्या का समादरणीय प्रत्युत्पन्नमतित्व, एवं पुत्र का अभिनन्दनीय सवितृभाव—

ऐसे 'तुरतबुद्धि' मानव को ही 'प्रत्युत्पन्नमति' कहा गया है जिसे 'संवित्शाली मानव (संवेदनशील समभदार मानव) कदापि प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखते । अतएव मानव कभी कभी बड़ी भूल कर जाता है । बुद्धिमान् मानव तो अवश्य ही अधिकांश में भूल ही करता रहता है इस दिशा में जबकि यह तात्कालिकी बुद्धि के मापदण्ड से तथाविध मानवों को बालकों को तो बुद्धिमान् समझ बैठता है, एवं प्रत्यक्ष में थोथा बसन्त प्रतीयमान किन्तु 'चिरकारी' अतएव वास्तव में बुद्धिमान् मानवों, तथा बालकों को अपने मापदण्ड से मूर्ख मान बैठता है जबकि स्थिति सर्वथा विपरीत ही होती है । गृहस्थ में बालक और बालिकाएँ दोनों को पृथक् पृथक्-रूप से लक्ष्य बनाइए । दोनों के तुलन की दृष्टि से कन्यासन्तति ही प्रायः पुत्रसन्तति की अपेक्षा विशेषरूप से बुद्धिमती प्रतीत होती है । प्रत्येक भाव के अनुकरण में जैसी दक्षता कन्याओं में होती है, पुत्रों में वैसी नहीं । अतएव प्रायः मानव अपनी कन्याओं के प्रशंसक, तथा पुत्रों के आलोचक बने रहते हैं । कदापि हमारा यह तात्पर्य्य नहीं है कि, कन्याओं की प्रशंसा न की जाय । अवश्य की जाय । स्वयं शास्त्र ने भी 'बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा' कह कर इनको सम्मान ही प्रदान किया है ।

---

* मासा-ब्द-युग-कल्पेषु गतागम्यस्यनकधा ॥
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ॥१॥
कर्त्तारश्च क्रियां वहन् व्यावृत्तविषयानपि ॥
स्फुरत्यवक्ययत्नेन योऽसौ संवित् स्वयंप्रभुः ॥२॥
—'अविद्या वेदम्'—इत्युपनिषत्

२६४–भावुक, तथा नैष्ठिक की सहज स्थितियों का श्रुति के द्वारा सहज–स्वरूप–चित्रण—

ऐसे स्थिर–धीरसम्भवत्सरभाव से युक्ता आत्मस्थिरतारूपा संवित् से युक्ता बुद्धि की प्रेरणा भी स्थिर भावानुगता ही बनी रहती है । अपने त्रिकालात्मक–पौर्वापर्य्य के कारण सर्वेक्षणशीला आत्मनिष्ठा यह धीरबुद्धि संवित् के प्रभाव से मन पर नियन्त्रण रखती हुई मन को तो मनमाना करने नहीं देती, एवं स्वयं आगमत बिना पूर्वापर का समन्वय किए सहसा कार्य्यारम्भ करती नहीं । अतएव कहा जा सकता है कि, 'नैष्ठिक-मानव सहसा आरम्भ करना नहीं जानता । किन्तु पूर्वापर के निर्णय के अनन्तर भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान के सत्–असत्–परिणामों का अवधानपूर्वक निर्णय कर लेने के पश्चात् यही बुद्धि जब स्थिरता से कार्य्य आरम्भ कर देती है तो फिर मन को भी विवश बन कर अनिच्छयापि इस कार्य्य में प्रग्रह (लगाम) पाश से आबद्ध रथाश्वों की भाँति युक्त ही रहना पड़ता है उस नैष्ठिक कार्य्य में । फिर मन की इच्छा–अनिच्छा का कोई मूल्य नहीं रह जाता । महर्षि कण्व ने बड़ी ही प्राञ्जलभाषा में इन दोनों स्थितियों का निम्नलिखित रूप में स्पष्टीकरण किया है–

(१)–यस्त्वविज्ञानवान्भवति अयुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि अवश्यानि–दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ —भावुक

(२)–यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ —नैष्ठिक

(१)–यस्त्वविज्ञानवान्भवति–अमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति, संसारं चाधिगच्छति ॥ —भावुक

(२)–यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ —नैष्ठिकः

जानता किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना अवश्य जानता है'। इन वाक्यों का अर्थ स्पष्ट है। भावुक मानव की बुद्धि मनोऽनुवर्तिनी बनती हुई मनोमयी बनी रहती है। और इस मानसिक–तात्कालिक–अनुभूति का नाम ही इसने 'बुद्धि', किंवा 'बुद्धिमानी' मान रक्खा है। मनोमयी यह बुद्धि इन्द्रियद्वारानु-गामिनी बनती हुई प्रत्यक्ष भूतों की ही उपासना में प्रवृत्त रहती है। प्रत्यक्ष भूत, तत्संग्राहक इन्द्रियवर्ग, इन्द्रिया-ध्यक्ष मन एवं तन्मयी बुद्धि सब कुछ उस चान्द्रसम्वत्सरकालचक्र की सीमा से सर्वथा सीमित ही बने रहते हैं जो चान्द्रसम्वत्सरचक्र प्रतिक्षण नवीन नवीन–रूप धारण करता रहता है–'नवो नवो भवति जायमान' इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार। इस चान्द्रपरिवर्त्तन के अनुपात से ही मानव के ऐन्द्रियक, मानसिक, तथा तत्प्रधान बौद्धिक भाव भी क्षण क्षण में बदलते ही रहते हैं। अतएव ऐसे मनोवशवर्त्ती-इन्द्रियपरायण-बहिर्मुख प्रत्यक्षवादी–भौतिक–प्राकृत मानवों की बुद्धि भी तात्कालिकी ही बनी रहती है।

३६२–मनोवशवर्त्ती-इन्द्रियपरायण बुद्धिमान्–प्रत्युत्पन्नमति–मानवों के महतोमहीयान् आयोजन, किंवा योजनाएँ, एवं उनकी छिन्न-भिन्नता—

इस तात्कालिक क्षणिक आवेश में आकर इनकी बुद्धि अर्थात् मन तत्काल कार्य–प्रारम्भ तो कर देने की सहज क्षमता रखता है किन्तु कालपरिवर्त्तन के साथ ही बदल जाने वाले उन मनोभावों के अनुरूप से चिरकाल पर्य्यन्त इनकी बुद्धि आरब्ध प्रारब्ध–कार्य्य में स्थिर नहीं रहने पाती। इसे ही कहा जाता है– 'मन का बदल जाना'। मानसिक रुचि के बदलते ही आरब्ध कार्य्य ज्यों का त्यों अपूर्ण ही बना रह जाता है। और यों प्रत्युत्पन्नमति–बुद्धिमान्–भावुक–मानवों के कार्य्यों का आरम्भ जहाँ महता समारम्भेण मधुमयी–मधुकर–रूप से प्रथम अध्यायता हुआ ही प्रक्रान्त होता है वहाँ ऐसा भावुकतापूर्ण आयोजन कदापि सर्वांगीण-रूप से सम्पन्न नहीं होपाता। और फिर वही भावुक बुद्धिमान् आगे चल कर अनुकूलानुकूल काल्पनिक कारणों का समर्थन कर, अपने दोषों को दूसरों पर थोप कर इन आयोजनों में वर्त्तमान–युगभाषा के अनुसार–उन बड़ी बड़ी योजनाओं में कटौती का प्रस्ताव पास करता रहता है।

३६३–संविद्भावानुगत सहजबुद्धिशाली–चिरकारी–नैष्ठिक–मानवश्रेष्ठ के क्षेमकर सत्पारम्भ, एवं तत्संवित्-बुद्धि का स्वरूप–दिग्दर्शन—

ठीक इसके विपरीत नैष्ठिक उसका नाम है जिसकी बुद्धि मनोऽनुवर्तिनी नहीं रहती अपितु मन जिसकी बुद्धि के वश में रहता है। कैसे रहता है? का उत्तर है–संविद्भाव। जिसप्रकार बुद्धि के इस ओर मन प्रतिष्ठित है तथैव इसके उस ओर 'भूतात्मा' नामक अव्यक्तात्मा (अनन्वयप्रसरूप स्वायम्भुव आत्मा–प्राज्ञात्मा) प्रतिष्ठित है। इस आत्मभाव का नाम ही 'संवित्' है। इस संवित्‌शक्ति से समन्वित बुद्धि ही संविद्बुद्धि' है और इसी का नाम है 'समष्ट' जिसका 'सौरसम्वत्सर' से सम्बन्ध है जो कि सौरसम्वत्सर [illegible] [illegible] है एवं– [illegible] [illegible] (म० भा० २१ अ० ११ श्लोक) के अनुसार आत्मात्मक यह सौरसम्वत्सरचक्र नित्यात्मक बनता हुआ अनाद्यनन्त है। अतएव इससे परिगृहीत मानव के प्राकृत स्वरूप के समनुगमन में सर्वथा अपरिवर्त्तन ही प्रमाणित रहता है।

ननु दुःशील सकलानर्थमूल चेत् अविनीतेन कथ तर्हि तत्रानुरज्यते ? इत्याकाङ्क्षाया दुःशीलरतिकारण सदृष्टान्त मतिबोधयितुमाह—

मूलम्—कणकुडग चइत्ताणं, विट्ठं भुजइ सूयरो ।
पॅवं सील चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥ ५ ॥

छाया—
कणकुण्डक त्यक्त्वा खलु, विष्ठा भुङ्क्ते सूकर ।
एव शील त्यक्त्वा खलु, दुःशीले रमते मृग ॥ ५ ॥

टीका—

'कणकुडग' इत्यादि । सूकर खलु कणकुण्डकम्–तण्डुलपूर्णभाजनम्–इदमुपलक्षणम्–रुचिर मधुर सुस्वाद सुगन्धयुक्त लड्डमासादिपुष्टिकर हितकर यत् तण्डुलादिक, तेन पूर्ण यद्भाजनमुपस्थित तदिति भाव, त्यक्त्वा विष्ठा भुङ्क्ते, अत्र विष्टामित्यनेन अपवित्रा घृणोत्पादिका रुजाकरा हेया दुर्गन्धा कृमिमक्षिकादिपरिपूर्णामित्यर्थो ध्वनित । एवम्=अमुना प्रकारेण मृग=मृग इव मृगः अज्ञ–हिताहितविवेकवर्जित इत्यर्थ, शील=मूलोत्तरगुणलक्षण साध्वाचार, यद्वा–विनय समाधिलक्षण त्यक्त्वा दुःशीले=दुराचारे अविनयलक्षणे रमते=आसज्यते । अयं भाव–यथा सूकर प्रशस्तमाहार विहाय नितान्तमशुचि सादर भुङ्क्ते, अज्ञत्वात् ,

---

यदि दु शील सकल अनर्थों की जड़ है तो फिर क्यों अविनीत उसमें अनुरक्त होता है? इस प्रकार की शका के समाधान निमित्त दु'शील में रतिका कारण दृष्टान्त देकर सूत्रकार समझाते हैं–कणकुडग इत्यादि ।

अन्वयार्थ–जैसे–(सूयरो–शूकरः) सूकर (कणकुडग–कणकुडक) तन्दुल–आदि उत्तम भोजनीय पदार्थों से भरे हुए भाजन को (चइत्ता) परित्याग कर (णं–खलु) निश्चय से आनद के साथ (विट्ठ–विष्टा) विष्टा–अशुचिको (भुजइ–भुङ्क्ते) खाता है (एव) इसी तरह (मिए–

જો દુ શીલ સકલ અનર્થોની જડ છે તો પછી અવીનીત એમા કેમ અનુરક્ત થાય છે આ પ્રકારના શકાનુ સમાધાન કરવા નિમિત્ત દુ શીલમા રતિનુ દૃષ્ટાત આપી સૂત્રકાર સમજાવે છે—'कणकुंडग' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—જેમ (सूयरो–शूकर) સુઅર (ભૂડ) (कणकुंडग–कणकुण्डकं) ચોખા વગેરે ઉત્તમ ભોજનના પદાર્થોથી ભરેલા ભોજન પાત્રનો (चइत्ता) ત્યાગ કરી (ण–खलु) નિશ્ચયથી આનદ સાથે (विट्ठ–विष्ठां) વિષ્ટા–અશુચિને (भुजइ–

२९५ नैष्ठिक के कर्त्तव्य-कर्म का आध्यात्मिक समन्वय—

'शरीर है रथ, इन्द्रियाँ हैं इस रथ के घोड़े, मन है इन घोड़ों का प्रग्रह (लगाम) और बुद्धि है उस प्रग्रहरूप मन (लगामरूप मन) को हाथ में पकड़े रहने वाला कुशल सारथी, तथा यह संसार, और यह परलोक, ये दो हैं गन्तव्य मार्ग। स्वयं जीवात्मा है यात्री, जो इत्थंभूत रथ में बैठ कर संसारयात्रा करता हुआ परलोकयात्रा की प्रतीक्षा करता रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से जब मन निकल जाता है तो इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हो जाती हैं। ऐसे यात्री के लिए न बुद्धि बुद्धि रहती, न मन मन रहता। अपितु इन्द्रियाँ उसी प्रकार उच्छृङ्खल बन जाती हैं जैसेकि सारथी के हाथ से छूटी हुई लगाम को लेकर घोड़े भाग खड़े होते हैं। परिणामतः रथ (शरीर) सारथी (बुद्धि) प्रग्रह (मन-लगाम) घोड़े (इन्द्रियाँ), सभी अपना स्वरूप खो बैठते हैं। यात्री जीव की न यात्रा पूरी होने पाती, न पारलौकिक सद्गति ही इसे मिलती। ऐसे यात्री के सभी सत्सङ्कल्प केवल संकल्प बन कर ही धरे रह जाते हैं, जबकि बुद्धिरूप सारथि के नियन्त्रण से नियन्त्रित प्रग्रहरूप मन इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करता हुआ यात्री मोक्षात्मा की सभी यात्राएँ निर्विघ्न पूर्ण कर देता है" यही उक्त मन्त्रों का भावार्थ है। इसीलिए कहा गया है कि, नैष्ठिक का कार्य्य आरम्भ तो थोड़ा विलम्ब से होता है, किन्तु आरम्भ होने पर समाप्त होकर ही वह उपरत होता है।

एक प्रासङ्गिक लौकिक तथ्य का समन्वय और। परमग्राम्यवासी वास्तविक राजस्थान में एक बड़ी ही लोकप्रसिद्ध प्रसिद्ध है कि—'मोट्यार को खाणो और लुगाई को न्हाणो दोन्यूँ बरोबर'। सूक्ति का अर्थ है—यदि मानव भोजनादि में ही समय समाप्त कर देता है तो उसका बाह्य लोकक्षेत्र उच्छिन्न हो जाता है। एवं यदि मानवी शरीरप्रसाधनों में ही अधिक समय खो देती है, तो इसका आभ्यन्तर गार्हस्थ्य क्षेत्र उच्छिन्न हो जाता है। क्या तात्पर्य निकला इस उक्ति से ?। समन्वय कीजिए अपनी कल्पना से। सूक्ति का स्वारस्य यहाँ अत्यन्त स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है, वहाँ इसका समन्वय श्रुति के प्रकृत समन्वय से [illegible] अनुप्राणित है, जिसका यथास्थिति समन्वय कर लेना कठिन ही है।

२९६—मानव, और मानवी के उभयात्मक स्वरूपों का दिग्दर्शन, एवं मानव-मानवी की स्वरूपानुगता पर्वचतुष्टयी का तात्त्विक-समन्वय—

वस्तुस्थिति ऐसी है कि मानव में भी मानव और मानवी दोनों भाव समाविष्ट हैं। एवं मानवी में भी दोनों समाविष्ट हैं। अतएव दोनों स्वस्वरूप से अपने अपने व्यक्तित्व से परिपूर्ण हैं। दोनों में कोई भी एक दूसरे से न्यून अथवा तो बड़ा नहीं है। वे ही चारों पर्व मानव में हैं, एवं वे ही चारों पर्व मानवी में हैं। मानव के आत्मा-बुद्धि ये दो पर्व मानवभाव हैं, एवं मानव के मन शरीर नामक दो पर्व मानव के मानवी-रूप हैं। और यही स्थिति मानवी के चारों पर्वों की है। इत्थंभूत समानता के विद्यमान रहते हुए भी मानव और मानवी में प्रत्यक्षदृष्ट स्वरूपभेद कैसे, और क्यों उत्पन्न हो गया है, यह प्रश्न है जिसके—'क्यों ?', का उत्तर तो मार्कण्ड विधाता से ही पूछना चाहिए। यही बात कैसे ?। की तो सम्बन्ध में भी श्रुतिप्रज्ञा ही ठीक ठीक समाधान कर सकेगी, जिसकी उपासना से भारत-प्राकृत मानव तो एक से अधिक और कुछ भी निवेदन नहीं कर सकेगा इस सम्बन्ध में कि इस विभेद का कारण मत्स्यसौरसम्वत्सरप्रभव-पार्थिवसम्वत्सर तथा स्तनभारात्मक चान्द्रसम्वत्सर का विभेद ही बन रहा है।

२६७-कठिनावयव मानव का आधारभूत सौरसम्वत्सर, तथा कोमलावयवा मानवी का आधारभूत चान्द्रसम्वत्सर—

पार्थिवसम्वत्सरानुगत सौरसम्वत्सर अग्निप्रधान है, यही मानव के मौलिक स्वरूप का अभिव्यञ्जक बनता है। एवं चान्द्रसम्वत्सर सोमप्रधान है और यही मानवी के मौलिक स्वरूप का अभिव्यञ्जक बनता है। सौरसम्वत्सर भी अग्नीषोमात्मक है, एवं चान्द्रसम्वत्सर भी अग्नीषोमात्मक ही है। अन्तर केवल प्रधानता, अप्रधानता का है। सौरसम्वत्सर में सोम गर्भ में है, अग्नि अभिव्यक्त है, तो चान्द्रसम्वत्सर में अग्नि गर्भ में है, सोम अभिव्यक्त है। और इन दोनों सम्वत्सरों की अभिव्यक्ति क्रमशः सूर्य्य तथा चन्द्रमा की साक्षी में अहः, और रात्रि में हो रही है। अहर्भावात्मक, सोमगर्भित सौरसम्वत्सराग्नि ही मानव की स्वरूप-प्रतिष्ठा है। एवं रात्रिभावात्मक, अग्निगर्भित चान्द्रसम्वत्सरसोम ही मानवी की स्वरूप-प्रतिष्ठा है। मानव का बाह्य संस्थान सौराग्निप्रधान बनता हुआ आग्नेय है, कठिन है कर्कश है दृढावयव है जबकि मानवी का बाह्यसंस्थान चान्द्रसोमप्रधान बनता हुआ सौम्य है मृदु है, कोमल है, शिथिलावयव है।

२६८-बहिः कठिन, अन्तः मृदु मानव, एवं बहिः मृद्वी, अन्तः कठिना मानवी, तथा तदनुपात से सम्वत्सरचक्र का समन्वय—

इसके साथ ही मानव के बाह्य आग्नेय शरीर की मूलप्रतिष्ठारूप आभ्यन्तर शुक्रतत्त्व सौम्य है मृदु है, कोमल है, शिथिलावयव है जबकि मानवी के बाह्य सौम्य शरीर की मूलप्रतिष्ठारूप आभ्यन्तर शोणिततत्त्व आग्नेय है, कठिन है कर्कश है दृढावयव है। यों मानव भीतर से सौम्य बाहिर से आग्नेय है तो मानवी बाहिर से सौम्या, किन्तु भीतर से आग्नेयी है। और इस गौण-प्रधानता से ही दोनों के स्वरूप-संस्थान में महान् मौलिक भेद व्यवस्थित हो रहा है सम्वत्सर-प्रजापति के द्वारा जिसे आधार बना कर ही शास्त्र ने मानव, तथा मानवी के कर्त्तव्यों की व्यवस्था की है, जिसे न समझ कर ही आज के समानाधिकारवादी इन दोनों का ही स्वरूप विकृत करते आरहे हैं।

२६९-सौर-चान्द्र-सम्वत्सर-भेदभिन्न मानव-मानवी के विभक्त-व्यवस्थित कर्म्म, एवं प्रकृतिविरुद्ध आज के 'समानाधिकारवाद' का स्वरूप-चित्रण—

कहा जाता है कि, जो काम पुरुष कर सकते हैं स्त्रियाँ भी वे सब काम कर सकती हैं और पुरुष की अपेक्षा भी कहीं अधिक कौशल-योग्यता से कर सकती हैं कर रहीं हैं भारतेतर राष्ट्र की आज की नारियाँ। कदापि इस 'कर सकने का' प्रकृति विरोध नहीं करती। किन्तु 'करसकना' अन्य पक्ष है और 'करना' अन्य पक्ष है। परिस्थितिविवश प्रकृतिविरुद्ध उत्पीडन के माध्यम से जिसे नहीं करना चाहिए, उस से भी कराया जासकता है एवं जिसे करना चाहिए, उसे भी नहीं कर सकने की स्थिति में ला खड़ा किया जासकता है। स्वभावविरुद्ध ऐसे 'करसकने' के अन्ततोगत्वा क्या परिणाम होते हैं ? हो जायेंगे ?, प्रश्न की मीमांसा करने के लिए भी आज का भावुक मानव सम्भवतः सन्नद्ध न हो। यहाँ मानव, और मानवी केवल शरीर ही शरीर है अधिक से अधिक मन पर ही यहाँ दोनों का स्वरूप समाप्त मान लिया गया है अतएव शरीर से शरीरोत्पत्ति मात्र ही यहाँ के भौतिक दाम्पत्य की एकमात्र परिभाषा है उनके लिए तो सभी समान हैं सभी समानाधिकारी हैं।

और फिर मानव-मानवी ही क्यों पशु-पक्षी-आदि प्राणी भी मानव-मानवी के कर्त्तव्यों की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का भार इस्ख कर सकने में समर्थ बन जावें तो इस में भी कोई आश्चर्य्य नहीं है। सभी सब बन सकते हैं बनाए जासकते हैं बनाए जाते हैं। किन्तु इस 'सकने' से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है जिस विकम्पन के घोर-घोरतम परिणाम उन समानाधिकारवादियों को भोगने पड़ रहे हैं गार्हस्थ्यजीवनानुबन्धी गार्हस्थ्य सौन्दर्य्य तथा लोकजीवनात्मक शान्ति-स्वस्तिमय जो लोकसौन्दर्य्य आज पराङ्मुख बन गया है, उसकी कल्पनामात्र से भी भारतीय हृदय तो आज के इस सुधारयुग में विकम्पित ही हो पड़ता है जिन विकम्पन-गाथाओं का स्मरण न करना ही श्रेयःपन्था है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने ही दुर्भाग्यवश आज भारतीय नवशिक्षित प्रजा को भी इसी सर्वस्वघातक समानाधिकारव्यामोहन-क्षेत्र में ला खड़ा किया है जिसका पर्य्यवसान यदि सभी अधिकारों में परिणत होगया, तो मानव और मानवी के स्वरूप किस अचिन्त्य-भाव में परिणत हो जावेंगे ?, नहीं कहा जासकता। आस्तां तावत्। वहाँ की वार्त्ता वहाँ तक ही सीमित रहे, यही हम छोटों के लिए ठीक है। अतएव हमें तो अपनी छोटी छोटी चर्चा का समन्वय 'अपनी' सीमित दृष्टि से ही कर लेना चाहिए और तदाधारेणैव हमें तो यह मान कर ही चलना चाहिए निष्ठापूर्वक ही कि—

४००-आङ्गिरस-आग्नेय-उत्तरदायित्वों से अनुप्राणित मानव, एवं भार्गव-सौम्य उत्तरदायित्वों से अनुप्राणिता मानवी, तथा उत्तरदायित्व-परिवर्त्तन-व्यामोहनों से अनुप्राणित-मानव-मानवी का सम्भावित लैङ्गिक-परिवर्त्तन—

मानव का आभ्यन्तर सौम्य तथा बाह्य आग्नेय है तो मानवी का आभ्यन्तर आग्नेय तथा बाह्य सौम्य है। अतएव दोनों के कर्त्तव्य भी क्रमशः आग्नेय तथा सौम्य ही होने चाहिएँ, जबकि गौणरूप से दोनों में ही विद्यमान सौम्य-आग्नेय-भावों के अनुबन्ध से उत्पीडनपूर्वक दोनों के कर्त्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में ही विद्यमान है। वह योग्यता तो ऐसी है कि, अपने मनोभावों के उत्पीडन-माध्यम से 'कर सकने' की स्थिति में तो, यदि मानव चाहे तो वह साक्षात् मानवी बन सकता है, और मानवी चाहे, तो वह साक्षात् 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुराणशास्त्रमें ऐसे लैङ्गिक-परिवर्त्तनों के अनेक उदाहरण आख्यानव्याज से विस्तार से उपवर्णित हैं। एक स्थान पर तो पुराणपुरुषने ऐसे ही आख्यान के माध्यम से एक ऐसे विलक्षण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि, जिसे देख कर हम स्तब्ध स्तब्ध ही होजाते हैं। पाठकों की कुतूहलोपशान्ति के लिए यहाँ दो शब्दों में उस घटना का दिग्दर्शन करा देना सम्भवतः वर्त्तमान-प्रजाओं को भी अरुचिकर न लगेगा।

४०१-लैङ्गिक परिवर्त्तन का महाभारतीय ऐतिहासिक-उदाहरण, सत्पात्र 'भङ्गास्वन' नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी-स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आग्रह—

ऐसा सुना जाता है कि, 'पुरा कृतयुग में 'भङ्गास्वन' नामक परम धार्मिक राजर्षि ने पुत्रकामना के लिए अग्निप्रधान उस यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिस में इन्द्र का समावेश नहीं होता। अग्निप्रधान यज्ञ से तो

पुत्रों की प्राप्ति हो होगई राजर्षि को, किन्तु इन्द्र अप्रसन्न होगए। इनकी धर्म्मनिष्ठा के कारण इन्द्र इन्हें पीड़ा पहुँचाने का अवसर न पासके। कालान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से आश्वस्त राजर्षि अपने दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया आसक्त होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े। नारीभावना के सतत अनुगमन से तथा मृगया-व्यसन से राजर्षि की धर्म्मनिष्ठा शिथिल होगई। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला। मृगयासक्त राजा इन के द्वारा प्रदत्त भ्रान्ति से दुस्तर जङ्गलों में विचरते हुए मार्ग भूल गए। इस एकान्त में यही पत्नीकामना-स्त्रीभावना इन्हें निरतिशय-रूपेण पीड़ित करने लगी। व्याकुलेन्द्रियचेतन बने हुए अश्वारूढ़ इतस्ततः भटकते हुए किसी सरोवर के तट पर आपहुँचे जिस में स्वच्छ निर्म्मल जल भरा हुआ था। इसमें सर्वप्रथम राजाने थके हुए घोड़े को जल-पिलाया, घोड़े को वृक्षमूल के बाँधकर स्वयं सरोवर में कूदपड़े। जब डुबकी लगाकर राजा बाहिर निकले तो इन्होंने अपने आप को स्त्रीरूप में परिणत देखा। लज्जा से अवनत होगए राजर्षि अपने इस लैङ्गिक परिवर्तन को देख कर। कैसे तो अश्वारोहण करूँगा और कैसे स्वनगर पहुँचूंगा, इस चिन्ता ने अत्यन्त व्यथित किया स्त्रीरूप राजर्षि को। पुरुषस्वरूपसुलभ कर्कश-काठिन्यादि गुण अभिभूत होगए, एवं स्त्रीसुलभ मृदु-वैक्लव्यादि गुण अभिव्यक्त होगए *। निष्कर्ष अत्यन्तप्रयास से राजा अश्वारूढ़ बन कर राजधानी पहुँचते हैं बड़ी कठिनता से दुर्घटना का वर्णन कर अपना परिचय देते हैं। एवं अपने पुत्रों को राज्य समर्पित कर पुनः वनकी ओर लौट आते हैं। दैववश उसी वनमें एक तपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है, एवं तपस्वी से इन्हें वहीं सौ पुत्र प्राप्त होजाते हैं। इन सौ पुत्रों को साथ लेकर स्त्रीरूप राजा पुनः राजधानी आते हैं, और पूर्वपुत्रों को कहने लगते हैं कि पुत्रो! तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हो तो ये पुत्र वनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मै चाहता हूँ कि, तुम सब मिलकर राज्यसुख-भोग करो। जब इन्द्र ने यह देखा तो सोचाकि, "हमनें तो उत्पीड़ित करना चाहा था राजर्षि को विगु भ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं ये तो स्त्रीरूप में आकर भी वंशविस्ताररूप वात्सल्य-सुख का भोग कर रहे हैं"। इत्यादिरूप से कथानक आगे जाकर विस्तार लेता गया है जिसके इसी अंशपर हमें विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं तो ये इन्द्र से क्षमा मांगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर जब इन्हें पुनः पुरुषरूप में परिणत करना चाहते हैं तो राजर्षि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नहीं चाहते कि—

> स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र ! पुंस्त्वं नेच्छामि वासव !
> स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप !॥
>
> —महाभारत अनु० १२ अध्याय।

---

* मृदुत्वं च, तनुत्वं च, विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्म्मतत्त्वार्थदर्शिभिः॥
व्यायामे कर्कशत्वं च वीर्य्यं च पुरुषे गुणाः॥

—वही आख्यान।

और फिर मानव-मानवी ही क्यों, पशु-पक्षी-आदि प्राणी भी मानव-मानवी के कर्तव्यों की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का भार हस्तान्तरित कर सकने में समर्थ बन जायँ तो इस में भी कोई आश्चर्य्य नहीं है। सभी सब बन सकते हैं बनाए जासकते हैं बनाए जाते हैं। किन्तु इस 'सकने' से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है जिस विकम्पन के घोर-घोरतम परिणाम उन समानाधिकारवादियों को भोगने पड़ रहे हैं, गृहस्थजीवनानुबन्धी गार्हस्थ्य सौन्दर्य्य, तथा लोकजीवनात्मक शान्ति-स्वस्तिमय जो लोकसौन्दर्य्य आज पराङ्मुख बन गया है, उसकी कल्पनामात्र से भी भारतीय हृदय तो आज के इस सुधारयुग में विकम्पित ही हो पड़ता है, जिन विकम्पन-गाथाओं का स्मरण न करना ही श्रेयःपन्था है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने ही दुर्भाग्यवश आज भारतीय नवशिक्षित प्रजा को भी इसी सर्वसत्तात्मक समानाधिकारव्यामोहन-क्षेत्र में ला खड़ा किया है जिसका पर्य्यवसान यदि सभी अधिकारों में परिणत होगया तो मानव और मानवी के स्वरूप किस अचिन्त्य-भाव में परिणत हो जायँगे ?, नहीं कहा जासकता। आस्तां तावत्। बड़ों की बातें बड़ों तक ही सीमित रहें, यही हम छोटों के लिए ठीक है। अतएव हमें तो अपनी छोटी छोटी बातों का समन्वय 'अपनी' सीमित दृष्टि से ही कर लेना चाहिए, और तदाधारेणैव हमें तो यह मान कर ही चलना चाहिए निष्ठापूर्वक ही कि—

४००—आङ्गिरस-आग्नेय-उत्तरदायित्वों से अनुप्राणित मानव, एवं भार्गव-सौम्य उत्तरदायित्वों से अनुप्राणिता मानवी, तथा उत्तरदायित्व-परिवर्त्तन-व्यामोहनों से अनुप्राणित-मानव-मानवी का सम्भावित लैङ्गिक-परिवर्त्तन—

मानव का आभ्यन्तर सौम्य तथा बाह्य आग्नेय है तो मानवी का आभ्यन्तर आग्नेय तथा बाह्य सौम्य है। अतएव दोनों के कर्त्तव्य भी क्रमशः आग्नेय, तथा सौम्य ही होने चाहिएँ, क्योंकि गौणरूप से दोनों में ही विद्यमान सौम्य-आग्नेय-भावों के अनुरूप से उत्पीडनपूर्वक दोनों के कर्त्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में ही विद्यमान है। वह योग्यता भी ऐसी है कि, अपने मनोभावों के उत्पीडन-माध्यम से 'कर सकने' की स्थिति में तो, यदि मानव चाहे तो वह साक्षात् मानवी बन सकता है, और मानवी चाहे, तो वह साक्षात् 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुराणशास्त्रमें ऐसे लैङ्गिक-परिवर्त्तनों के अनेक उदाहरण आख्यानव्याज से विस्तार से उपवर्णित हैं। एक स्थान पर तो पुराणपुरुषने ऐसे ही आख्यान के माध्यम से एक ऐसे विलक्षण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि, जिसे देख कर हम सहसा स्तब्ध ही होजाते हैं। पाठकों की कुतूहलोपशान्ति के लिए यहाँ दो शब्दों में उस घटना का दिग्दर्शन करा देना सम्भवतः वर्त्तमान-महाभागों को भी अरुचिकर न लगेगा।

४०१—लैङ्गिक परिवर्त्तन का महाभारतीय ऐतिहासिक-उदाहरण, तत्पात्र 'भङ्गास्वन' नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी-स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आकर्षण—

ऐसा सुना जाता है कि, 'पुरा कृतयुग में 'भङ्गास्वन' नामक परम धार्मिक राजर्षि ने पुत्रकामना के लिए अग्निप्रधान उस यज्ञ का अनुष्ठान किया जिस में इन्द्र का समावेश नहीं होता। अग्निप्रधान यज्ञ से

पुत्रों की प्राप्ति तो होगई राजर्षि को किन्तु इन्द्र अप्रसन्न होगए। इनकी धर्म्मनिष्ठा के कारण इन्द्र इन्हें पीड़ा पहुँचाने का अवसर न पासके। कालान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से आश्वस्त राजर्षि अपने दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया आसक्त होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े। नारीभावना के सतत अनुगमन से तथा मृगया–व्यसन से राजर्षि की धर्म्मनिष्ठा शिथिल होगई। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला। मृगयासक्त राजा इन के द्वारा प्रदत्त भ्रान्ति से दुस्तर जङ्गलों में विचरते हुए मार्ग भूल गए। इस एकान्त में वही पत्नीकामना–स्त्रीभावना इन्हें निरतिशयरूपेण पीड़ित करने लगी। व्याकुलेन्द्रियचेतन बने हुए मध्याह्न इतस्ततः भटकते हुए किसी सरोवर के तट पर जापहुँचे जिस में स्वच्छ निर्म्मल जल भरा हुआ था। इसमें सर्वप्रथम राजाने थके हुए घोड़े को जल पिलाया, घोड़े को वृक्षमूल के बांधकर स्वयं सरोवर में कूदपड़े। जब डुबकी लगाकर राजा बाहिर निकले, तो इन्होंने अपने आप को स्त्रीरूप में परिणत देखा। लज्जासे अवनत होगए राजर्षि अपने इस लैङ्गिक परिवर्तन को देख कर। कैसे तो अश्वारोहण करूँगा और कैसे स्वनगर पहुँचूँगा इस चिन्ता ने सन्त्रस्त करलिया स्त्रीरूप राजर्षि को। पुरुषस्वरूपसुलभ कर्कश–काठिन्यादि गुण अभिभूत होगए, एवं स्त्रीसुलभ मृदु–शैथिल्यादि गुण अभिव्यक्त होगए *। निष्कर्षतः महदायासप्रयास से राजा अश्वारूढ बन कर राजधानी पहुँचते हैं बड़ी कठिनता से दुर्घटना का वर्णन कर अपना परिचय देते हैं। एवं अपने पुत्रों को राज्य समर्पित कर पुनः वनकी ओर लौट आते हैं। दैववश उसी वनमें एक तपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है एवं तपस्वी से इन्हें वहीं सौ पुत्र प्राप्त होजाते हैं। इन सौ पुत्रों को साथ लेकर स्त्रीरूप राजा पुनः राजधानी आते हैं और पूर्वपुत्रों को कहने लगते हैं कि पुत्रो! तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हो तो ये पुत्र वनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मैं चाहता हूँ कि, तुम सब मिलकर राज्यसुख–भोग करो। जब इन्द्र ने यह देखा तो सोचाकि, "हमनें तो उत्पीड़ित करना चाहा था राजर्षि को दिग्भ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं ये तो स्त्रीरूप में आकर भी वंशविस्ताररूप वात्सल्य–सुख का भोग कर रहे हैं"। इत्यादिरूप से कथानक आगे जाकर विस्तार लेता गया है जिसके इसी अंशपर हमें विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं तो ये इन्द्र से क्षमा मांगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर जब इन्हें पुनः पुरुषरूप में परिणत करना चाहते हैं तो राजर्षि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नहीं चाहते कि—

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र! पुंस्त्वं नेच्छामि वासव!
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप!॥

—महाभारत अनु० १२ अध्याय।

---

* मृदुत्वं च, तनुत्वं च, विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्म्मतत्त्वार्थदर्शिभिः॥
व्यायामे कर्कशत्वं च वीर्य्यं च पुरुषे गुणाः॥

—वही आख्यान।

और फिर मानव–मानवी ही क्या पशु–पक्षी–आदि प्राणी भी मानव–मानवी के कर्त्तव्यों की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का मार हस्त कर सकने में समर्थ बन जायें तो इस में भी कोई आश्चर्य्य नहीं है। सभी सब बन सकते हैं बनाए जाते हैं, बनाए जा रहे हैं। किन्तु इस 'सकने' से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है जिस विकम्पन के घोर–घोरतम परिणाम उन समानाधिकारवादियों को भोगने पड़ रहे हैं दाम्पत्यजीवनानुबन्धी गार्हस्थ्य सौन्दर्य्य तथा लोकजीवनात्मक शान्ति–स्वस्तिमय जो लोकसौन्दर्य्य आज पराङ्मुख बन गया है, उसकी कल्पनामात्र से भी भारतीय हृदय तो आज के इस सुधारयुग में विकम्पित ही हो पड़ता है जिन विकम्पन–गाथाओं का स्मरण न करना ही श्रेयःपन्था है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने ही दुर्भाग्यवश आज भारतीय नवशिक्षित प्रजा को भी इसी सर्वसत्तात्मक समानाधिकारव्यामोहन–चक्र में आ फंसा लिया है जिसका पर्य्यवसान यदि सभी अधिकारों में परिणत होगया तो मानव और मानवी के स्वरूप किस अचिन्त्य–भाव में परिणत हो जायेंगे !, नहीं कहा जासकता। जानाति जानन्। कहा की बातें यहीं तक ही सीमित रहें यही इस प्रसङ्ग के लिए ठीक है। अतएव हमें तो अपनी छोटी छोटी बातों का समन्वय 'अपनी' सीमित दृष्टि से ही कर लेना चाहिए और तदाधारेण हमें तो यह मान कर ही चलना चाहिए निम्नपूर्वक ही कि—

४००–आङ्गिरस–आग्नेय–उत्तरदायित्वों से अनुप्राणित मानव, एवं भार्गव–सौम्य उत्तरदायित्वों से अनुप्राणिता मानवी, तथा उत्तरदायित्व–परिवर्त्तन–व्यामोहनों से अनुप्राणित–मानव–मानवी का सम्भावित लैङ्गिक–परिवर्त्तन—

मानव का आभ्यन्तर सौम्य, तथा बाह्य आग्नेय है तो मानवी का आभ्यन्तर आग्नेय, तथा बाह्य सौम्य है। अतएव दोनों के कर्त्तव्य भी क्रमशः आग्नेय तथा सौम्य ही होने चाहिएँ, क्योंकि मौलरूप से दोनों में हीं विद्यमान सौम्य–आग्नेय–भावों के अनुरूप से उत्तेजनपूर्वक दोनों के कर्त्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में ही विद्यमान है। वह योग्यता तो ऐसी है कि, अपने मनोभावों के उत्तेजन–माध्यम से 'कर सकने' की स्थिति में तो, यदि मानव चाहे तो वह साक्षात् मानवी बन सकता है और मानवी चाहे, तो वह साक्षात् 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुराणशास्त्रमें ऐसे लैङ्गिक–परिवर्त्तनों के अनेक उदाहरण आख्यानव्याज से विस्तार से उपवर्णित हैं। एक स्थान पर तो पुराणपुरुषने ऐसे ही आख्यान के माध्यम से एक ऐसे विलक्षण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि, जिसे देख कर हम स्वतः स्तब्ध ही होजाते हैं। पाठकों की कुतूहलोपशान्ति के लिए यहाँ दो शब्दों में उस घटना का दिग्दर्शन करा देना सम्भवतः वर्त्तमान–प्रजाओं को भी अरुचिकर न लगेगा।

४०१–लैङ्गिक परिवर्त्तन का महाभारतीय ऐतिहासिक–उदाहरण, तत्पात्र 'भङ्गास्वन नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी–स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आकर्षण—

ऐसा सुना जाता है कि, "पुरा कृतयुग में 'भङ्गास्वन' नामक परम धार्मिक राजर्षि ने पुत्रकामना के लिए अग्निप्रधान उस यज्ञ का अनुष्ठान किया जिस में इन्द्र का समावेश नहीं होता। अग्निप्रधान यज्ञसे जो

पुत्रों की प्राप्ति तो होगई राजर्षि को, किन्तु इन्द्र अप्रसन्न होगए। इनकी धर्म्मनिष्ठा के कारण इन्द्र इन्हें पीड़ा पहुँचाने का अवसर न पासके। कालान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से आश्वस्त राजर्षि अपने दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया आसक्त होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े। नारीभावना के सतत अनुगमन से, तथा मृगया-व्यसन से राजर्षि की धर्म्मनिष्ठा शिथिल होगई। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला। मृगयासक्त राजा इन के द्वारा प्रदत्त भ्रान्ति से दुस्तर वनों में विचरते हुए मार्ग भूल गए। इस एकान्त में वही पत्नीकामना-स्त्रीभावना इन्हें निरतिशय-रूपेण पीड़ित करने लगी। व्याकुलेन्द्रियचेतन बने हुए भ्रान्तस्वान्त इतस्ततः भटकते हुए किसी सरोवर के तट पर जापहुँचे जिस में स्वच्छ निर्म्मल जल भरा हुआ था। इसमें सर्वप्रथम राजाने थके हुए घोड़े को जल-पिलाया, घोड़ को वृक्षमूल के बाँधकर स्वयं सरोवर में कूदपड़े। जब डुबकी लगाकर राजा बाहिर निकले तो इन्होंने अपने आप को स्त्रीरूप में परिणत देखा। लज्जासे अवनत होगए राजर्षि अपने इस लैङ्गिक परिवर्त्तन को देख कर। कैसे तो अश्वारोहण करूँगा, और कैसे स्वनगर पहुँचूँगा इस चिन्ता ने कन्नस्त करदिया स्त्रीरूप राजर्षि को। पुरुषस्वरूपसुलभ कर्कश्य-काठिन्यादि गुण अभिभूत होगए, एवं स्त्रीसुलभ मृदु-र्शाधिल्यादि गुण अभिव्यक्त होगए *। निष्कर्षतः कष्टसाध्यप्रयास से राजा अश्वारूढ बन कर राजधानी पहुँचते हैं बड़ी कठिनता से दुर्घटना का वर्णन कर अपना परिचय देते हैं। एवं अपने पुत्रों को राज्य समर्पित कर पुनः वनकी ओर लौट आते हैं। दैववश उसी वनमें एक तपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है एवं तपस्वी से इन्हें वहीं सौ पुत्र प्राप्त होजाते हैं। इन सौ पुत्रों का साथ लेकर स्त्रीरूप राजा पुनः राजधानी आते हैं और पूर्वपुत्रों को कहने लगते हैं कि, पुत्रो! तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हो तो ये पुत्र वनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम सब मिलकर राज्यसुख-भोग करो। जब इन्द्र ने यह देखा, तो सोचाकि, 'हमनें तो उत्पीड़ित करना चाहा था राजर्षि को लिङ्ग-भ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं ये तो स्त्रीरूप में आकर भी वंशविस्ताररूप वात्सल्य-सुख का भोग कर रहे हैं"। इत्यादिरूप से कथानक आगे जाकर विस्तार देता गया है जिसके इसी अंशपर हमें विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं तो ये इन्द्र से क्षमा मांगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर जब इन्हें पुनः पुरुषरूप में परिणत करना चाहते हैं तो राजर्षि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नहीं चाहते कि—

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र! पुंस्त्वं नेच्छामि वासव!
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप!॥

—महाभारत अनु० १२ अध्याय।

---

* मृदुत्वं च, तनुत्वं च, विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्म्मतत्त्वार्थदर्शिभिः॥
व्यायामे कर्कशत्वं च वीर्य्यं च पुरुषे गुणाः॥

—वही आख्यान।

और फिर मानव-मानवी ही क्यों, पशु-पक्षी-आदि प्राणी भी मानव-मानवी के कर्त्तव्यों की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का भार हल्का कर सकने में समर्थ बन जायँ तो इस में भी कोई आश्चर्य नहीं है। सभी सब बन सकते हैं, बनाए जासकते हैं, बनाए जाते हैं। किन्तु इस 'सकने' से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है, जिस विकम्पन के घोर-घोरतम परिणाम उन समानाधिकारवादियों को भोगने पड़ रहे हैं, गृहस्थजीवनानुबन्धी गार्हस्थ्य सौन्दर्य्य तथा लोकजीवनात्मक शान्ति-स्वस्तिमय जो लोकसौन्दर्य्य आज पराङ्मुख बन गया है उसकी कल्पनामात्र से भी भारतीय हृदय तो आज के इस सुधारयुग में विकम्पित ही हो पड़ता है। जिन विकम्पन-गाथाओं का स्मरण न करना ही श्रेयस्कर है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने ही दुर्भाग्यवश आज भारतीय नवशिक्षित प्रजा को भी इसी सर्वस्वघातक समानाधिकारव्यामोहन-क्षेत्र में ला खड़ा किया है जिसका पर्य्यवसान यदि सभी अधिकारों में परिणत होगया, तो मानव, और मानवी के स्वरूप किस अचिन्त्य-भाव में परिणत हो जायँगे, नहीं कहा जासकता। जाने दीजिए। ऐसी की बातें वहीं तक ही सीमित रहें, यही हम छोटे के लिए ठीक है। अतएव हमें तो अपनी छोटी छोटी बातों का समन्वय 'अपनी' सीमित दृष्टि से ही कर लेना चाहिए और व्यवहारेण हमें तो यह मान कर ही चलना चाहिए निष्ठापूर्वक ही कि—

४००–आङ्गिरस-आग्नेय-उपादायित्वों से अनुप्राणित मानव, एवं भार्गव-सौम्य उपादायित्वों से अनुप्राणिता मानवी, तथा उपादायित्व-परिवर्त्तन-व्यामोहनों से अनुप्राणित-मानव-मानवी के सम्भावित लैङ्गिक-परिवर्त्तन—

मानव का आभ्यन्तर सौम्य तथा बाह्य आग्नेय है तो मानवी का आभ्यन्तर आग्नेय तथा बाह्य सौम्य है। अतएव दोनों के कर्त्तव्य भी क्रमशः आग्नेय तथा सौम्य ही होने चाहिएँ, क्योंकि योगरूप से दोनों में ही विद्यमान सौम्य-आग्नेय-भावों के अनुरूप से उत्पीडनपूर्वक दोनों के कर्त्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में ही विद्यमान है। वह योग्यता तो ऐसी है कि, अपने मनोभावों के उत्पीडन-माध्यम से 'कर सकने' की स्थिति में तो, यदि मानव चाहे तो वह साक्षात् मानवी बन सकता है, और मानवी चाहे, तो वह साक्षात् 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुराणशास्त्रमें ऐसे लैङ्गिक-परिवर्त्तनों के अनेक उदाहरण आख्यानव्याज से विस्तार से उपवर्णित हैं। एक स्थान पर तो पुराणपुरुषने ऐसे ही आख्यान के माध्यम से एक ऐसे विलक्षण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि, जिसे देख कर हम सहसा स्तब्ध ही होजाते हैं। पाठकों की कुतूहलोपशान्ति के लिए यहाँ दो शब्दों में उस घटना का दिग्दर्शन करा देना सम्भवतः वर्त्तमान-प्रजाओं को भी अरुचिकर न लगेगा।

४०१–लैङ्गिक परिवर्त्तन का महाभारतीय ऐतिहासिक-उदाहरण, तत्पात्र 'भङ्गास्वन' नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी-स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आकर्षण—

ऐसा सुना जाता है कि, 'पुरा सत्ययुग में 'भङ्गास्वन' नामक परम धार्मिक राजर्षि ने पुत्रकामना के लिए अग्निप्रधान उस यज्ञ का अनुष्ठान किया जिस में इन्द्र का समावेश नहीं होता। अग्निप्रधान यज्ञ से

पुत्रों की प्राप्ति तो होगई राजर्षि को, किन्तु इन्द्र असफल होगए। इनकी धर्म्मनिष्ठा के कारण इन्द्र इन्हें पीड़ा पहुँचाने का अवसर न पासके। कालान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से आश्वस्त राजर्षि अपने दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया आसक्त होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े। नारीभावना के सतत अनुगमन से, तथा मृगया-व्यसन से राजर्षि की धर्म्मनिष्ठा शिथिल होगई। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला। मृगयासक्त राजा इन्द्र के द्वारा प्रदत्ता भ्रान्ति से दुस्तर वनों में विचरते हुए मार्ग भूल गए। इस एकान्त में वही पत्नीकामना-स्त्रीभावना इन्हें निरतिशय-रूपेण पीड़ित करने लगी। व्याकुलेन्द्रियचेतन बने हुए भ्रान्तात्मा इतस्ततः भटकते हुए किसी सरोवर के ऊपर जा पहुँचे जिस में स्वच्छ निर्म्मल जल भरा हुआ था। इसमें सर्वप्रथम राजाने थके हुए घोड़े को जल-पिलाया, घोड़े को वृक्षस्तम्भ के बाँधकर स्वयं सरोवर में कूदपड़े। जब डुबकी लगाकर राजा बाहिर निकले तो इन्होंने अपने आप को स्त्रीरूप में परिणत देखा। लज्जासे अवनत होगए राजर्षि अपने इस लैङ्गिक परिवर्त्तन को देख कर। कैसे तो अश्वारोहण करूँगा और कैसे स्वनगर पहुँचूँगा इस चिन्ता ने सन्त्रस्त करलिया स्त्रीरूप राजर्षि को। पुरुषस्वरूपसुलभ कर्कश-काठिन्यादि गुण अभिभूत होगए, एवं स्त्रीसुलभ मृदु-तामित्यादि गुण अभिव्यक्त होगए *। नितान्त कष्टसाध्यप्रयास से राजा अश्वारूढ बन कर राजधानी पहुँचते हैं वहाँ कठिनता से दुर्घटना का वर्णन कर अपना परिचय देते हैं। एवं अपने पुत्रों को राज्य समर्पित कर पुनः वनकी ओर लौट आते हैं। दैववश उसी वनमें एक तपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है एवं तपस्वी से इन्हें वहीं सौ पुत्र प्राप्त होजाते हैं। इन सौ पुत्रों को साथ लेकर स्त्रीरूप राजा पुनः राजधानी आते हैं और पूर्वपुत्रों को कहने लगते हैं कि, पुत्रो! तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हो, तो ये पुत्र वनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मैं चाहता हूँ कि, तुम सब मिलकर राज्यसुख-भोग करो। जब इन्द्र ने यह देखा तो सोचा कि "हमनें तो उत्पीड़ित करना चाहा था राजर्षि को विभ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं ये तो स्त्रीरूप में आकर भी यथाविस्ताररूप वात्सल्य-सुख का भोग कर रहे हैं"। इत्यादिरूप से कथानक आगे जाकर विस्तार से दिया गया है जिसके इसी अंशपर हमें विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं तो ये इन्द्र से क्षमा माँगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर जब इन्हें पुनः पुरुषरूप में परिणत करना चाहते हैं तो राजर्षि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नहीं चाहते कि—

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र ! पुंस्त्वं नेच्छामि वासव !
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप ! ॥

—महाभारत अनु० १२ अध्याय।

---

* मृदुत्वं च, तनुत्वं च, विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्म्मतत्त्वार्थदर्शिभिः ॥
व्यायामे कर्कशत्वं च वीर्य्यं च पुरुषे गुणाः ॥

—वही आख्यान।

तस्य प्रशसा कुर्वता आत्मा नगरं लोकश्च नाशितः। तथा भवानपि अस्याविधिप्रवृत्तस्य प्रशसा कुर्वन् आत्मान समस्तगच्छ चोच्छेदयति। ततस्तद्वचन श्रुत्वा स आचार्य सान्त्रामासमविनीत शिष्य स्वगच्छतो निष्कासितवान्। तस्माद् दुःशीलस्य निष्कासन श्रेयस्करम् ॥ ४ ॥

देखते २ वह समस्त नगर उस राजा के महलसहित एकदम जल कर नष्ट हो गया। राजाने इससे असतुष्ट हो उस वणिक् को दण्डित करके अपने नगर से बाहर निकाल दिया। राजा जो पहिले से उस वणिक् के इस कार्य की प्रशसा न करता तो उसका होसला आगे भी इस कार्य को करने के लिये नहीं बढता। समस्त नगर एव राजमहल जो नामशेष हुए उसका प्रधान कारण उस राजा की ही नासमझी है। इसी तरह साधु के अकल्पनीय कार्य में प्रवृत्त इस अविनीत शिष्य की जो आप प्रशसा करते हैं उससे इसका हौसला बढता है, आगे भी अकल्पनीय कार्य करने में सोत्साह बनता है। जिसका अन्तिम फल होगा गच्छका उच्छेद, और इस उच्छेदजन्य दोषों के भागी होना पड़ेगा आप को, अत आपका अपनी और गच्छकी रक्षानिमित्त इस अविनीत को गच्छ से बाहर कर देने में ही श्रेय है। इस प्रकार आये हुवे आचार्य महाराज के कथन पर अच्छी तरह ध्यान देकर गच्छाचार्यजीने उस अविनीत शिष्य को अपने गच्छ से बाहर कर दिया। क्यों कि दुःशील शिष्य का गच्छ से सबधविच्छेद करना श्रेयस्कर ही माना गया है ॥ ४ ॥

સારી રીતે દંડ કરવા ઉપરાત તેને પોતાના શહેરમાથી કાઢી મૂકયા રાજા જો વણિકના એ કાર્યની પ્રશસા ન કરત તો એ વણિકની તાકાત નહોતી કે દર વરસે આ પ્રમાણે અગ્નિજ્વાલા પ્રગટાવી શકે સમસ્ત શહેર અને રાજમહેલ બળી ગયા તેનુ પ્રધાન કારણ એ રાજાની બીનસમજદારી જ છે એ રીતે સાધુના અકલ્પનીય કાર્યમા પ્રથમ આ અવિનીત શિષ્યની આપ પ્રશસા કરો છો, એથી એ પોતાના મનમા ફુલાઈને આગળ ઉપર આથી પણ વિશેષ અકલ્પનીય કાર્યમા આગળ વધશે. જેનુ અતિમ ફળ ગચ્છના ઉચ્છેદમા આવવાનુ અને એ ઉચ્છેદજન્ય દોષોના ભાગી આપને બનવું પડશે આથી આપની અને ગચ્છની રક્ષા માટે આ અવિનીતને ગચ્છમાથી બહાર કરી દેવામાજ શ્રેય છે આ પ્રકારે આવેલા આચાર્ય મહારાજના કહેવા ઉપર સારી રીતે ધ્યાન દઈ ગચ્છાચાર્યજીએ એ અવિનીત શિષ્યને પોતાના ગચ્છથી બહાર કરી દીધો. કેમકે દુઃશીલ શિષ્યનો ગચ્છથી વિચ્છેદ કરવો એ શ્રેયસ્કર માનવામા આવેલ છે (૪)

पुत्रों की प्राप्ति तो होगई राजर्षि को, किन्तु इन्द्र अप्रसन्न होगए। इनकी धर्म्मनिष्ठा के कारण इन्द्र इन्हें पीड़ा पहुँचाने का अवसर न पासके। कालान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से आश्वस्त राजर्षि अपने दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया आसक्त होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े। नारीभावना के सतत अनुगमन से, तथा मृगया-व्यसन से राजर्षि की धर्म्मनिष्ठा शिथिल होगई। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला। मृगयासक्त राजा इन के द्वारा प्रदत्त भ्रान्ति से दुस्तर वनप्रान्तों में विचरते हुए मार्ग भूल गए। इस एकान्त में यही पत्नीकामना-स्त्रीभावना इन्हें निरतिशय-रूपेण पीड़ित करने लगी। व्याकुलेन्द्रियचेतन बन हुए भ्रान्तमन इतस्ततः भटकते हुए किसी सरोवर के ऊपर जापहुँचे जिस में स्वच्छ निम्मल जल भरा हुआ था। इसमें सर्वप्रथम राजाने थके हुए घोड़े को जल-पिलाया घोड़े का वृक्षमूल के बांधकर स्वयं सरोवर में कूदपड़े। जब डुबकी लगाकर राजा बाहिर निकले तो इन्होंने अपने आप को स्त्रीरूप में परिणत देखा। लज्जासे अवनत होगए राजर्षि अपने इस लैङ्गिक परिवर्त्तन को देख कर। कैसे तो अश्वारोहण करूँगा, और कैसे स्वनगर पहुँचूँगा इस चिन्ता ने व्यग्र कर दिया स्त्रीरूप राजर्षि को। पुरुषस्वरूपसुलभ कर्कश-काठिन्यादि गुण अभिभूत होगए, एवं स्त्रीसुलभ मृदु-शैथिल्यादि गुण अभिव्यक्त होगए *। निष्कर्षतः कष्टसाध्यप्रयास से राजा अश्वारूढ बन कर राजधानी पहुँचते हैं वहाँ कठिनता से दुर्घटना का वर्णन कर अपना परिचय देते हैं। एवं अपने पुत्रों को राज्य समर्पित कर पुनः वनकी ओर लौट आते हैं। दैववश उसी वनमें एक तपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है एवं तपस्वी से इन्हें यहीं सौ पुत्र प्राप्त होजाते हैं। इन सौ पुत्रों का साथ लेकर स्त्रीरूप राजा पुनः राजधानी आते हैं और पूर्वपुत्रों को कहने लगते हैं कि पुत्रो ! तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हो तो ये पुत्र वनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मैं चाहता हूँ कि, तुम सब मिलकर राज्यसुख-भोग करो। जब इन्द्र ने यह देखा, तो सोचाकि, "हमनें तो उत्पीड़ित करना चाहा था राजर्षि को दिग् भ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं ये तो स्त्रीरूप में आकर भी वंशविस्ताररूप वात्सल्य-सुख का भोग कर रहे हैं"। इत्यादिरूप से कथानक आगे जाकर विस्तार लेता गया है जिसके इसी अंशपर हमें विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं तो ये इन्द्र से क्षमा मांगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर जब इन्हें पुनः पुरुषरूप में परिणत करना चाहते हैं तो राजर्षि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नहीं चाहते कि—

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र ! पुंस्त्वं नेच्छामि वासव !
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप !॥

—महाभारत अनु० १२ अध्याय।

---

* मृदुत्वं च, तनुत्वं च, विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्म्मतत्त्वार्थदर्शिभिः॥
व्यायामे कर्कशत्वं च वीर्य्यं च पुरुषे गुणाः॥

—वही आख्यान।

और फिर मानव–मानवी ही क्यों, पशु–पक्षी–आदि प्राणी भी मानव–मानवी के कर्तव्यों की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का भार वहन कर सकने में समर्थ बन जायँ तो इस में भी कोई आश्चर्य नहीं है। सभी सब बन सकते हैं, बनाए जासकते हैं, बनाए जाते हैं। किन्तु इस 'सकने' से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है, जिस विकम्पन के घोर–घोरतम परिणाम उन समानाधिकारवादियों को भोगने पड़ रहे हैं, दाम्पत्यजीवनानुबन्धी गार्हस्थ्य सौन्दर्य्य तथा लोकजीवनात्मक शान्ति–स्वस्तिमय जो लोकसौन्दर्य्य आज पराङ्मुख बन गया है उसकी कल्पनामात्र से भी भारतीय हृदय तो आज के इस सुधारयुग में विक्षुभित ही हो सकता है। जिन विकम्पन–गाथाओं का स्मरण न करना ही श्रेयस्कर है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने ही दुर्भाग्यवश आज भारतीय नवशिक्षित प्रजा को भी इसी सर्वस्वघातक समानाधिकारव्यामोहन–क्षेत्र में ला खड़ा किया है जिसका पर्य्यवसान यदि कभी व्यभिचारों में परिणत होगया तो मानव, और मानवी के स्वरूप किस अचिन्त्य–भाव में परिणत हो जायँगे ?, नहीं कहा जासकता। आस्तां तावत्। बड़ों की बातें बड़ों तक ही सीमित रहें यही हम छोटों के लिए ठीक है। अतएव हमें तो अपनी छोटी छोटी बातों का समन्वय 'अपनी' सीमित दृष्टि से ही कर लेना चाहिए और तथाचारेणैव हमें तो यह मान कर ही चलना चाहिए निष्ठापूर्वक ही कि—

४००–आङ्गिरस–आग्नेय–उत्तरदायित्वों से अनुप्राणित मानव, एवं भार्गव–सौम्य उत्तरदायित्वों से अनुप्राणिता मानवी, तथा उत्तरदायित्व–परिवर्त्तन–व्यामोहनों से अनुप्राणित–मानव–मानवी के सम्भावित लैङ्गिक–परिवर्त्तन—

मानव का आभ्यन्तर सौम्य तथा बाह्य आग्नेय है तो मानवी का आभ्यन्तर आग्नेय तथा बाह्य सौम्य है। अतएव दोनों के कर्तव्य भी क्रमशः आग्नेय तथा सौम्य ही होने चाहिएँ, क्योंकि गौणरूप से दोनों में ही विद्यमान सौम्य–आग्नेय–भावों के अनुबन्ध से उत्पीडनपूर्वक दोनों के कर्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में ही विद्यमान है। यह योग्यता तो ऐसी है कि, अपने मनोभावों के उत्पीडन–माध्यम से 'कर सकने' की स्थिति में तो, यदि मानव चाहे तो वह साक्षात् मानवी बन सकता है और मानवी चाहे, तो वह साक्षात् 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुराणशास्त्रमें ऐसे लैङ्गिक–परिवर्तनों के अनेक उदाहरण आख्यानव्याज से विस्तार से उपवर्णित हैं। एक स्थान पर तो पुराणपुरुषने ऐसे ही आख्यान के माध्यम से एक ऐसे विलक्षण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि, जिसे देख कर हम स्वयं स्तब्ध ही होजाते हैं। पाठकों की कुतूहलोपशान्ति के लिए यहाँ दो शब्दों में उस घटना का दिग्दर्शन करा देना सम्भवतः वर्त्तमान–प्रजाओं को भी अरुचिकर न लगेगा।

४०१–लैङ्गिक परिवर्त्तन का महाभारतीय ऐतिहासिक–उदाहरण, तत्पात्र 'भङ्गास्वन' नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी–स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आकर्षण—

ऐसा सुना जाता है कि, "पुरा सत्ययुग में 'भङ्गास्वन' नामक परम धार्मिक राजर्षि ने पुत्रकामना के लिए अग्निप्रधान उस यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिस में इन्द्र का समावेश नहीं होता। अग्निप्रधान कर्म से वे

नाम के छद्म से, कहीं 'पर की सम्पदा' नाम के छल से, कहीं 'समानाधिकारव्यामोहन' के छल से, वो पनपे। अन्यान्य भी कतिपय प्राच्य-प्रभाच्य-धारणाओं से नारी के उस आभ्यन्तर आग्नेय पौरुष के साथ छीना-झपटी ही आरम्भ कर दी है, जिसमें एकमात्र नारी की मातृत्वानुबन्धिनी सहज कृपा ही अभीतक इस मानव को येनकेन रूपेण शरीरतः जीवितमात्र ही रख रही है। यदि अब भी मानव न सँभला यदि अब भी इसने नारी के बाह्य स्वरूप को ही नारी मानने की भूल प्रक्रान्त रक्खी, तो सभी राष्ट्रों के तथाकथित हितशत्रु, तथा वास्तविक शत्रु अल्पकाल में ही समाप्त हो जायँगे।

४०३–स्वैराचारमूलक समानाधिकारव्यामोहन, तद्द्वारा 'सहधर्म्मचारिणी' मानवी का 'सहकर्म्मचारिणी' पद पर संस्थापन, तथा कामोपभोगपरायणतामूलक-समानाधिकार का तथ्य-विश्लेषण—

सचमुच कर्णात्मना लज्जित हैं हम अपने आविष्कृत मानवों के समानाधिकार-व्यामोहन के उन उच्छृङ्खल चरित्रों की गाथा कर्णाकर्णिपरम्परया सुन सुन कर, जिस समानाधिकार का मूल, एकमात्र प्रधान मूल है मानव की स्वैराचारपरायणता। अपनी इसी अमर्य्यादित स्वैरिता को नग्नरूप से समाश्रित करने के लिए ही इसने- समानाधिकार जैसे छल का आश्रय ले लिया है, जिसके माध्यम से आज इसने इस पवित्र हव्या सर्वशक्तिप्रकाशिनी सहधर्म्मचारिणी नारीजाति को सहकर्म्मचारिणी जैसे निम्न स्तर पर ही ला खड़ा किया है। और यही है इसके- समानाधिकार' का जघन्य, किन्तु प्रत्यक्ष इतिवृत्त जो आज तो सर्वात्मना अभिव्यक्त ही हो गया है। धार्मिक-जीवनपद्धति की उपेक्षा-अवहेलना-तिरस्कार से सर्वप्रथम तो अपने आपको केवल मनःशरीरधर्म्मा काममोग-परायण बना लेना। तदनन्तर अपनी उद्दामवासनाओं को धर्म्मरूप में परिणत करने की लिप्सा से नारी को भी उसी स्थान पर ला खड़ा कर देना उसके नारीसुलभ सहजसिद्ध 'निषेध' का बलपूर्वक निरोध करते रहना उसके नग्न करते हुए भी उसे आपण्यव्यवसायप्रसाधनसाधनवत् एकमात्र अपनी काममोगपरायणता का साधक बना डालना इसी बिन्दु पर 'समानाधिकार' की घोषणा से अपने आपको नारी की सहानुभूति का पात्र प्रमाणित करने की अक्षम्या धृष्टता करते जाना, एवं इसी धृष्टता के बल पर भारतीय पुण्यतम-नारीजीवन की अवाच्यवाच्या आलोचना के लिए सदा अपने आपको निर्लज्जतापूर्वक सन्नद्ध बनाए रखना क्या इससे अधिक भी मानव का और भी कुछ भीषण पतन शेष रह गया है ?। स्वयं मानव को ही मुकुलितनयन बन कर इस प्रश्न की अपने अन्तर्जगत् में ही, ईश्वरसाक्षीपूर्वक ही मीमांसा कर लेनी है, अविलम्ब कर लेनी है इसी क्षण कर लेनी है। एवं तदनन्तर ही इसे 'समानाधिकार' का प्रश्न उठाना है।

४०४–मानव के समतुलन में मानवी के सभी मानवीय गुणों की सर्वमूर्द्धन्यता का दिग्दर्शन एवं प्राकृत विश्व में प्रकृति की सगुणमूर्त्ति मानवी का ही प्राधान्य–

हम पूछते हैं इस बुद्धिशिरोमणि मानव से कि, उसने किस आधार पर अपने आपको नारी का समानाधिकारी मान लिया ?, जबकि सभी क्षेत्रों में मानव नारी की अपेक्षा सर्वथा निर्बल ही प्रमाणित होता आया है। स्नेह-दया-करुणा-ममता-वात्सल्य-श्रद्धा-आतिथ्य-दान आदि आदि मानवतानुबन्धी सभी क्षेत्रों में संसार की सभी जातियों में एकमात्र 'नारी' का ही स्थान मानव की अपेक्षा कहीं अधिक प्रशस्त रहा है प्रबल

"स्त्रीभाव में परिणत होजाने के अनन्तर महात्मन महाभाग ने पुन: पुरुषरूप में परिणत होजाना क्यों नहीं ठीक समझा ?" यही वह एक ऐसा तथ्य है, जो परोक्षरूप से मानवसमाज की स्वरूपरक्षा का प्रधान उत्तरदायित्व 'नारीप्रकृति' को ही देरहा है। वस्तुतः प्राकृत विश्व में 'पुरुष' नामक वास्तविक पुरुष (अव्यय) तो अनभिव्यक्त ही है। सर्वत्र प्रकृति (अक्षर) का ही साम्राज्य है जिस इस प्रकृतिरूप स्त्रीतत्त्व की ही पूर्व उत्तर-रूप से दो समस्या होजाती हैं जो क्रमशः 'पुरुष' और 'स्त्री' नाम से प्रसिद्ध हो रही है व्यवहारभाषा में। इसी आधार पर ऋग्वेद का रहस्यपूर्ण- स्त्रियः सतीस्तों उ मे पु स आहु' यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है जिस का अभिप्राय यही है कि, 'जो वस्तुत: स्त्रियाँ ही हैं, उन्हें भी हम 'पुरुष' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं, प्रकृतिरूपा जिस इस स्त्री की सर्वव्याप्ति को-'परयदक्षरवान न विचेतदन्ध' (ऋक् सं १।१६४ सू १६ म)। विश्व अवश्य प्रकृतिमूलक है *। उसका मायामय है अर्थात् प्रकृतिमय है अर्थात् दिग्देशकालात्मक है अर्थात् स्त्रीभावप्रधान है। सभी तो लोकप्रसिद्ध मानव (पुरुष) का स्वरूप-निर्माण भी तो नारीगर्भसीमा में ही पुष्पित पल्लवित होता है। अतएव सभी दृष्टियों से मानव और मानवी में मानवी-तत्त्व ही प्रधान है।

४०२-दाम्पत्यसुख की प्रमुख अधिकारिणी मानवी, सर्वशक्तिमयी आद्या मातृजाति, तत्प्रति शक्तिस्वरूपवञ्चित मानव के अकाण्डताण्डव, एवं समानाधिकारवादी हितशत्रुओं के मातृशक्तिविमोहक जघन्य कर्म---

इसी तथ्य को लोकभावुकता-तरङ्गायमूला भावुकभाषा में पुराणपुरुषने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है उसी आख्यान में कि-'दोनों के दाम्पत्य में नारी ही विशेषरूपेण दाम्पत्यसुख की अधिष्ठात्री बनती है। वैसे व्यवहारजीवन में भी-अपने कल्पित व्यक्तित्व से सर्वात्मना विमूढ बने हुए पतितशिरोमणि मानवा धम के समस्त अक्षम्य अपराध भी इस मातृशक्ति के सहज वात्सल्यदान से क्षम्य ही बनते रहते हैं, जिसका अर्थ यह मूर्खशिरोमणि अपने कल्पित व्यक्तित्व के दम्भ से यह मान बैठता है कि, इसने अपने पौरुष से बल से ही नारी पर विजय लाभ किया है। आश्चर्यविषयमरण इस मूढमति बुद्धि को यह विदित नहीं है कि, जिस आग्नेय पौरुष पर, शारीरिक पौरुष पर यह गर्व करता है उस आग्नेय पौरुष का भी नारी के अन्तःप्रतिष्ठारूप शोणिताग्निरूप प्रचण्डरूपेण कर्कश पौरुष के समतुलन में अत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है। पुरुष का बाह्य-शरीरात्मक आग्नेय-पौरुष उत्तेजित होकर वहाँ नारी के बाह्यशरीरस्थ सौम्यभावमात्र को उत्पीडित कर उप-शान्त हो जाता है वहाँ दुर्भाग्य से मानव के इसी सीमातीत अपराध से यदि नारी का आभ्यन्तर शोणिताग्नि-मूलक पौरुष जागृत हो पड़ता है तो एक पुरुष ही नहीं अपितु समस्त विश्व के स्तम्भभूत आसुर-मानव इस प्रचण्डचण्डिका के कालाग्नि में भस्मसात् ही हो पड़ते हैं। और हम भूल नहीं कर रहे, तो अपने सजातीय मानवबन्धुओं को यह चेतावनी दे देना अपना मानवीय कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, आज मानव ने कहीं 'देवी'

---

* अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
—गीता

मानवी-रूप है, तो मानवी भी मानव-मानवी-स्वरूपा है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सम्वत्सराद् यज्ञमय ही मानव है सम्वत्सराद् यज्ञमय ही मानवी है, दोनों की समन्वितवस्था का नाम ही पूर्ण-कृत्स्न-सम्वत्सरयज्ञ है, और यही पूर्णताप्रवर्त्तक भारतीय दाम्पत्यजीवन की मौलिक-परिभाषा है, जिसमें अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत नामक तीनों प्राकृत वित्त समाविष्ट हैं।

४०६–आत्मानुगता सौरसम्वत्सरात्मिका बुद्धि, शरीरानुगत चान्द्रसम्वत्सरात्मक मन, एवं बुद्धिनिष्ठ मानव, तथा मनोमातृका मानवी—

मानव क्योंकि अग्निप्रधान है, अतएव आत्मानुगता बुद्धि ही मानव का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि बुद्धि का सौरसम्वत्सराग्नि से ही प्रधान सम्बन्ध है– धियो यो नः प्रचोदयात्। एवं मानवीय प्राकृत आत्मभाव की आधारभूमि भी सौर प्राण ही है– सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। यों सौराग्नेय तत्त्व ही आत्मा, तथा बुद्धि, इन दोनों पर्वों का संग्राहक बन रहा है, जोकि सौर अग्नि ही मानव का मुख्य वाच (व्यक्त) स्वरूप है। मानवी क्योंकि सोमप्रधाना है। अतएव मनोऽनुगत शरीर ही मानवी का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि मन का चान्द्रसम्वत्सरसोम से ही प्रधान सम्बन्ध है–'चन्द्रमा मनसो जात'–मनश्चन्द्रो या जायत। एवं मानवीय प्राकृत शरीर भी चान्द्रसम्वत्सर के प्रत्यग्निरूप पार्थिव सम्वत्सर का ही मय है। अतएव चान्द्र ऋतुभाव ही पार्थिवाग्नि–माध्यम से शरीर का निर्माता बनता है–'चन्द्रमसाद् तावतय आभृतम्'। यों चान्द्र सौम्य तत्त्व ही मन, तथा शरीर, इन दो पर्वों का संग्राहक बन रहा है जोकि चान्द्रसौम्यतत्त्व ही मानवी का मुख्य वाच (व्यक्त) स्वरूप है। तात्पर्य्य यह निकला कि मानव के चारों पर्वों में से सौरसम्वत्सराग्निरूप आत्मा तथा बुद्धि ये दोनों तो मानव की प्रातिस्विक सम्पत्ति है एवं मन, तथा शरीर, ये दोनों मानव की परसम्पत्ति (नारीसम्पत्ति) है। तथैव चान्द्रसम्वत्सरसोमरूप मन तथा शरीर, ये दोनों तो मानवी की प्रातिस्विक सम्पत्ति है, एवं आत्मा तथा बुद्धि, ये दोनों मानवी की परसम्पत्ति (मानवसम्पत्ति) है।

४०७–मानव के मन शरीरपर्वों की स्वत्वाधिकारिणी मातृका मानवी, एवं मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों का स्वत्वाधिकारी नैष्ठिक-मानव—

अर्थात् मानव के मन शरीरपर्वों पर सर्वात्मना मानवी का अधिकार है तो मानवी के आत्मा-बुद्धि पर्वों पर मानव का अधिकार है। 'अधिकार' शब्द दोषपूर्ण है भावुकतापूर्ण है'। तत्स्थान में यह कहना नैष्ठिक माना जायगा कि मानव के मनःशरीरपर्वों के संरक्षण का उत्तरदायित्व मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों पर अवलम्बित है एवं मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों का संरक्षण मानव के मन-शरीर पर्वों पर अवलम्बित है। सहजभावानुसार–मानव अपने मन और शरीर का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानवी के आत्मा तथा बुद्धिपर्वों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (मनःशरीर) पर्वों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ हो जाता है। एवमेव मानवी अपने आत्मा और बुद्धि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानव के मन तथा शरीरपर्वों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (आत्मा–बुद्धि) पर्वों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ बन जाती है। यों दोनों अन्योऽन्याश्रितरूपेण एक दूसरे के पूरक बनते हुए दोनों दोनों के रक्षक, तथा दोनों दोनों से रक्षित बन जाते हैं।

है मानव भी। जिस धृति-धैर्य-गुण को मानव सब कुछ पर भारी करता रहता है, उस धृतिगुण में भी सदा से नारी ही विजय लाभ करती आई है। सुनिश्चित ऐतिहासिक तथ्य है कि, यदि नारीभेद मानव को यदाकदा भी नारी से उत्पीड़न उपलब्ध हो जाते तो सम्भवतः मानवसमाज का उच्छेद ही होजाता, जबकि नृशंस मानव के द्वारा उत्पीड़न सहती हुई भी नारीने बड़े धैर्य से मानव को स्नेहदान से, वात्सल्यदान से जीवित रक्खा है। क्यापि उत्पीड़न मानव के लिए कोई धर्मपथ नहीं माना गया है। मानव ने अधिकांश में प्रविष्ट ही बनाया है अपने इस पापकर्म से। लक्ष्य है केवल यह 'धृति' गुण। जिस शारीरिक आग्नेय भाव पर मानव दम्भ करता है वह भी निस्तेज प्रमाणित हो जाता है नारी के आभ्यन्तर योषितानुगत आग्नेय तेज के सम्मुख। अब केवल एक दृष्टि से मानव को यह भ्रान्ति है कि मानो रतिक्षेत्र में मानव ही विजेता हो। स्त्री-पुरुष-प्रतिद्वन्द्वियों की मानसिक-लोकमान्यता के संरक्षण को प्रधान मानने वाली इतिहास की भाषा में पुरुषपुरुष ने उस तथ्य के समर्थन में भी मानव को निस्सत्व ही प्रमाणित कर दिया है, जिसका समन्वय मानव को स्वयं अपनी प्रज्ञा से ही कर लेना चाहिए निम्नलिखित वचनों के माध्यम से—

स्त्री-रूपे परिणतो भङ्गास्वन उवाच—

स्त्रियास्त्वभ्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै ।
तस्मात्ते शक्र ! जीवन्तु ये जाताः स्त्रीकृतस्य वै ॥
स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा ।
एतस्मात्कारणाच्छक्र ! स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम् ॥
रमिताभ्यधिकं स्त्रीत्वे सत्यं वै देवसत्तम ! ।
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप ! ॥

—म० अनु० 'भङ्गास्वनोपाख्यान' १२ अ०।

४०५—सौरसम्वत्सरानुगत आग्नेय मानव चान्द्रसम्वत्सरानुगता सौम्या मानवी, तथा मानव का मानवीत्व, एवं मानवी का मानवत्व—

राजस्थान की प्राचीनतमा लोकसूक्ति के समन्वय-प्रसङ्ग से मानव और मानवी के आभिजात्य नहीं, अपितु उत्तरदायित्वपूर्ण विभिन्न कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन किया गया। अब पुनः उसी लोकसूक्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। मानवसंस्था में भी आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर, चारों मानवीय पर्व हैं एवं मानवी में भी चारों ही पर्व हैं। और इस दृष्टि से दोनों का ही स्वरूप समतुलित है, समान है। किन्तु सौर-चान्द्र-सम्वत्सरानुबन्ध से दोनों की इस समानता में विभिन्नता भी समाविष्ट हो रही है जिसका अर्थ है—अग्निप्रधान मानव, और सोमप्रधाना मानवी, जबकि मानव गर्भस्थ शुक्र के सम्बन्ध से सौम्य भी है, एवं मानवी गर्भस्थ योषित से आग्नेयी भी है। अर्थात् पुरुष को स्वसीमा के गर्भ में रखने वाले चान्द्रसम्वत्सरप्रधान सौम्य स्वरूप का ही नाम मानवी है एवं स्त्री को स्वसीमा के गर्भ में रखने वाले सौरसम्वत्सरप्रधान आग्नेय स्वरूप का नाम ही मानव है। यों मानव भी मानव—

मानवी-रूप है, तो मानवी भी मानव-मानवी-स्वरूपा है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सम्वत्सरात्म चन्द्रमा ही मानव है, सम्वत्सरात्म चन्द्रमा ही मानवी है, दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही पूर्ण-कृत्स्न-दाम्पत्यभाव है, और यही पूर्णतामवत्त्व भारतीय दाम्पत्यजीवन की मौलिक-परिभाषा है, जिसमें अध्यात्म अधिभूत-अधिदैवत नामक तीनों भाव विवर्त समाविष्ट हैं।

४०६–आत्मानुगता सौरसम्वत्सरात्मिका बुद्धि, शरीरानुगत चान्द्रसम्वत्सरात्मक मन, एवं बुद्धिनिष्ठ मानव, तथा मनोमातृका मानवी—

मानव क्योंकि अग्निप्रधान है, अतएव आत्मानुगता बुद्धि ही मानव का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि बुद्धि का सौरसम्वत्सराग्नि से ही प्रधान सम्बन्ध है–'धियो यो नः प्रचोदयात्'। एवं मानवीय प्राकृत आत्मभाव की आधारभूमि भी भार प्राण ही है–'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। यों सौराग्नेय तत्त्व ही आत्मा, तथा बुद्धि, इन दोनों पर्वों का संग्राहक बन रहा है, जोकि सौर अग्नि ही मानव का मुख्य धाम (व्यक्त) स्वरूप है। मानवी क्योंकि सोमप्रधाना है। अतएव मनोऽनुगत शरीर ही मानवी का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि मन का चान्द्रसम्वत्सरसोम से ही प्रधान सम्बन्ध है–'चन्द्रमा मनसो जातः'–मनश्चन्द्रे प्रलीयते। एवं मानवीय प्राकृत शरीर भी चान्द्रसम्वत्सर के अग्नीषोमरूप पार्थिव सम्वत्सर का ही मय है। अतएव चान्द्र अनुभाग ही पार्थिवाग्नि–माध्यम से शरीर का निर्म्माता बनता है–'चन्द्रमसात्र वा-अस्य मांसम्'। यों चान्द्र सौम्य तत्त्व ही मन तथा शरीर, इन दो पर्वों का संग्राहक बन रहा है जोकि चान्द्रसौम्यतत्त्व ही मानवी का मुख्य धाम (व्यक्त) स्वरूप है। तात्पर्य्य यह निकला कि, मानव के चारों पर्वों में से सौरसम्वत्सराग्निरूप आत्मा तथा बुद्धि ये दोनों तो मानव की प्रातिस्विक सम्पत्ति हैं, एवं मन, तथा शरीर, ये दोनों मानव की परसम्पत्ति (नारीसम्पत्ति) हैं। तथैव चान्द्रसम्वत्सरसोमरूप मन तथा शरीर, ये दोनों तो मानवी की प्रातिस्विक सम्पत्ति हैं एवं आत्मा तथा बुद्धि, ये दोनों मानवी की परसम्पत्ति (मानवसम्पत्ति) हैं।

४०७–मानव के मन शरीरपर्वों की स्वत्वाधिकारिणी मातृका मानवी, एवं मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों का स्वत्वाधिकारी नैष्ठिक-मानव—

अर्थात् मानव के मनःशरीरपर्वों पर सर्वात्मना मानवी का अधिकार है, तो मानवी के आत्मा-बुद्धि पर्वों पर मानव का अधिकार है। 'अधिकार' शब्द दोषपूर्ण है, भावुकतापूर्ण है। तत्स्थान में यह कहना ऐसे नैष्ठिक माना जायगा कि, मानव के मनःशरीरपर्वों के संरक्षण का उत्तरदायित्व मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों पर अवलम्बित है, एवं मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों का संरक्षण मानव के मन-शरीर पर्वों पर अवलम्बित है। स्वभावानुसार–मानव अपने मन और शरीर का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानवी के आत्मा तथा बुद्धिपर्वों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (मन-शरीर) पर्वों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ हो जाता है। एवमेव मानवी अपने आत्मा और बुद्धि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानव के मन तथा शरीरपर्वों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (आत्मा–बुद्धि) पर्वों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ बन जाती है। यों दोनों अन्योऽन्याभिसम्बन्धेन एक दूसरे के पूरक बनते हुए दोनों दोनों के रक्षक तथा दोनों दोनों से रक्षित बन जाते हैं।

ईश्वराज भी। जिस धृति-धैर्य-गुण की मानव बड़ गर्व कर बातें करता रहता है, उस धृतिगुण में भी सदा से नारी ही विजय लाभ करती आई है। सुनिश्चित ऐतिहासिक तथ्य है कि, यदि नारीने मानव को, यत्किञ्चित् भी नारी से उत्पीड़न उपलब्ध हो जावे, तो सम्भवतः मानवमात्र का उच्छेद ही होजाता, जबकि नृशंस मानव के द्वारा उत्पीड़न सहती हुई भी नारीने बड़े धैर्य्य से मानव को स्नेहदान से, वात्सल्यदान से अबतक जीवित रक्खा है। तथापि उत्पीड़न मानव के लिए कोई धर्म्मपथ नहीं माना गया है।। मानव ने अभिशाप में अनिष्ट ही कमाया है अपने इस पापकर्म्म से। सत्य है केवल यह 'धृति' गुण। जिस शारीरिक आग्नेय भाव पर मानव दम्भ करता है वह भी निस्तेज प्रमाणित हो जाता है नारी के आभ्यन्तर शोणितानुगत आग्नेय तेज के सम्मुख। अब केवल एक दृष्टि से मानव को यह भ्रान्ति है कि मानो सत्क्षेत्र में मानव ही विजेता हो। स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धुओं की मातृत्व-लोकमातृत्व के संरक्षण को प्रधान मानने वाली इतिहास की भाषा में पुष्यापुरुष ने उस तथ्य के समाधान में भी मानव को निस्सत्व ही प्रमाणित कर दिया है, जिसका समन्वय मानव को स्वयं अपनी प्रज्ञा से ही कर लेना चाहिए निम्नलिखित वचनों के माध्यम से—

स्त्री-रूपे परिणतो भङ्गास्वन उवाच—

स्त्रियास्त्वभ्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै।
तस्मात् शक्र! जीवन्तु ये जाता स्त्रीकृतस्य वै॥
स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा।
एतस्मात्कारणाच्छक्र! स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम्॥
रमिताऽभ्यधिकं स्त्रीत्वे सत्यं वै देवसत्तम!।
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप!॥

—म० अनु० 'भङ्गास्वनोपाख्यान' १२ अ०।

४०५—सौरसम्वत्सरानुगत आग्नेय मानव चान्द्रसम्वत्सरानुगता सौम्या मानवी, तथा मानव का मानवीत्व, एवं मानवी का मानवत्व—

राजस्थान की मातृशक्तिरूपी लोकसूक्ति के समन्वय-प्रसङ्ग से मानव और मानवी के आधिकारिक नहीं, अपितु उत्तरदायित्वपूर्ण विभिन्न कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में दिग्दिग्दर्शन निवेदन किया गया। अब पुनः उसी लोकसूक्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। मानवसंस्था में भी आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर, चारों मानवीय पर्व हैं एवं मानवी में भी चारों ही पर्व हैं। और इस दृष्टि से दोनों का ही स्वरूप समतुलित है समान है। किन्तु सौर-चान्द्र-सम्वत्सरानुबन्ध से दोनों की इस समानता में विभिन्नता भी समाविष्ट हो रही है, जिसका अर्थ है—अग्निप्रधान मानव, और सोमप्रधाना मानवी यद्यपि मानव मर्मस्थ शुक्र के सम्बन्ध से सौम्य भी है, एवं मानवी मर्मस्थ शोणित से आग्नेयी भी है। अर्थात् पुरुष को स्वसीमा के गर्भ में रखने वाले चान्द्रसम्वत्सरप्रधान सौम्य स्वरूप का ही नाम मानवी है एवं स्त्री को स्वसीमा के गर्भ में रखने वाले सौरसम्वत्सरप्रधान आग्नेय स्वरूप का नाम ही मानव है। यों मानव भी मानव-

मानव के आत्म-बुद्धि-स्वातन्त्र्य की रक्षा हुआ करती है। उधर भोजनासक्त मानव अपनी ही मन-शरीर-वस्तुओं में डूबा हुआ नारी के आत्मबुद्धिभावों के रक्षण में असमर्थ बन जाता है, तो इधर मानवी अपने मन-शरीरप्रसाधनों-स्नानादि-केशपाशादि व्यासङ्गों में ही संलग्ना रहती हुई मानव के मन-शरीरभावों के रक्षण में असमर्थ बन जाती है।

४११-शृङ्गारप्रसाधनैकासक्ता मानवी के, तथा आहारादि-भोगासक्त मानव के स्वैराचार से दोनों का ही समान स्वरूप, एवं तत्सम्बन्ध में राजस्थान की एक महत्त्वपूर्ण लोकसूक्ति—

कथय पैतृक्। जिस घर की कुलवधुएँ अहर्निश अपने स्नानादि शृङ्गारप्रसाधनों में ही लग पड़ती हैं उस घर के कुलपुरुषों की मन शरीरसम्बन्धा वस्तुओं के ही आधीन बन जाती है, वहाँ अथ से इति-पर्यन्त अहङ्कार का ही साम्राज्य बना रहता है। एवमेव जिस घर के कुलपुरुष भोजनपानदास ही बने रहते हैं वे आत्मबुद्धिस्वरूप-समर्पक कर्त्तव्यों के लिए समय न निकालते हुए कालान्तर में मन-शरीर पराधीन ही बनते हुए निजबल से वञ्चित हो जाते हैं। और यों दोनों ही क्रमशः इस भोजनासक्ति, तथा स्नानाद्यासक्ति से अपनी पारम्परिक-कुलरीति से पराङ्मुख बनते हुए स्वस्वरूप ही खो बैठते हैं कालान्तर में। इसी तथ्य के आधार पर-'मोटयार को खाबो और लुगाई को न्हाबो-दोन्यूं बरोबर' यह लोकसूक्ति आविष्कृत हो पड़ी है समझ रखने वाले सहज मानवों की उस सहज बुद्धि से जिसमें अवबोध-सहजता से स्वतः ही प्रकृति के गुह्यतम भी रहस्य सहजस्फोटरूप आविर्भूत होते रहते हैं जिनका बुद्धिमान् मानव प्रयास करके समन्वय भी तो नहीं कर पाते। 'मोटयार को खाबो' मानव की भोजनासक्ति। 'अर-लुगाई को न्हाबो'-अर्थात् 'और मानवी की स्नान-शृङ्गार प्रसाधनाद्यासक्ति'। 'दोन्यूं बरोबर' अर्थात् 'भोजनासक्त मानव तथा स्नानासक्ता मानवी दोनों का कोई भी स्वरूप शेष नहीं रह जाता' जिन इस शब्दों का समन्वय तो समझ से ही सम्बन्ध रखता है।

४१२-वैदिक-लौकिक-क्षेत्रों में श्रद्धा का समावेश, अलौकिक-बुद्ध्यतीत-क्षेत्रों में बुद्धि का प्रवेश, एवं क्षेत्रविपर्ययात्मिका महती भ्रान्ति से समन्वित भावुक मानव —

तभी तो हमने कहा है कि- 'समझ बिना बुध बापड़ी'। (देखिए पृ० सं० ४८)। प्राकृत मानव कहता है कि-"यह, और यह एक ही तत्त्व है" यह बात समझ में नहीं आती अर्थात् बुद्धि स्वीकार नहीं करती। बुद्धिगम्य नहीं है यह ठीक है। मानव के लिए बुद्धिगम्य क्या है? और क्या नहीं है? इस समस्या का भार तो हम उस आज के प्राकृत मानव पर ही छोड़ देते हैं जो बुद्धिगम्य विषयों में तो परम-श्रद्धालु बना हुआ है एवं श्रद्धाम्पद तत्त्वों के सम्बन्ध में अपनी बुद्धिमानी को पाण्डित्य का ढर्रा देने के लिए आतुर बना हुआ है। जिस लौकिक दिग्देशकालात्मक-भौतिक-प्रत्यक्षदृष्ट-भूत उपवर्णित-व्यावहारिक क्षेत्र में प्रतिक्षण सतर्कतापूर्वक, आँखें खोलकर बुद्धिपूर्वक जीवनयात्रा-निर्वाह की अपेक्षा-आवश्यकता है उस व्यावहारिक क्षेत्र में तो हम सर्वात्मना गतानुगतिक परम्परावादी अन्धानुकरणवादी बने रहते हैं। एवं

४०८–मनःशरीरेण नितान्त भावुक मानव, एवं आत्मना बुद्धया च नितान्त भावुका मानवी—

इसी से यह तथ्य भी स्वतः ही सिद्ध है कि, मानव अपने मनःशरीर से वहाँ भावुक है पराबल–म्बनता (नारी की अवलम्बनता) के कारण वहाँ अपने आत्म–बुद्धि–भाव से नैष्ठिक है स्वावलम्बी बना हुआ। एवमेव अपने आत्मबुद्धिपर्वों से मानवी वहाँ भावुका है पराबलम्बनता [मानव की अवलम्बनता] के कारण वहाँ अपने मनःशरीरपर्वों से नैष्ठिकी है स्वावलम्बिनी बनती हुई। अर्थात् मानव अपने आत्म–बुद्धिपर्वों पर मानवी का आक्रमण नहीं सह सकता तो मानवी अपने मनःशरीरपर्वों पर मानव के आक्रमण नहीं सहती। मानव आत्मबुद्धिस्वातन्त्र्य चाहता है, क्योंकि यही मानव का मुख्य स्वरूप है। तो मानवी मनःशरीरस्वातन्त्र्य चाहती है क्योंकि यही मानवी का मुख्य स्वरूप है। अतएव मानव के आत्म–बुद्धिस्वातन्त्र्य को अपने मन शरीरभावों से सुरक्षित रखती हुई ही मानवी मानव के इन दोनों तन्त्रों [आत्म–बुद्धितन्त्रों] की रक्षा का कारण बनती है। अतएव मानवी के मनःशरीरस्वातन्त्र्य को अपने आत्म–बुद्धिभावों से सुरक्षित रखता हुआ ही मानव मानवी के इन दोनों तन्त्रों [मनःशरीरतन्त्रों] की रक्षा का कारण बनता है।

४०९–अत्यन्त दुर्गम, अतएव दुरधिगम्य मानव–मानवी का प्राकृतिक–स्वरूप अतएव बुद्धि से अतीता तत्कर्तव्य–व्यवस्था, अतएव च तत्सम्बन्ध में शास्त्र प्रामाण्यैकशरणता—

अत्यन्त ही दुर्गम है यह प्राकृतिक समन्वय जिसका यथावत् समन्वय मानव की प्राकृतबुद्धि [बुद्धि मानी] कदापि नहीं कर सकती। प्रकृति का यह दुर्गम समन्वय तो महर्षियों की अपारुषेय दिव्यदृष्टि के ही अलौकिक उत्तरदायित्व से अनुप्राणित है जिनकी दृष्टि को समझ लेना भी अस्मदादि प्राकृत मानवों की बुद्धि से अतीत ही माना जायगा। अतएव हमारे लिए तो एकमात्र अनन्यशरण आदेशात्मक वह कर्तव्य ही है जिसका शास्त्र के द्वारा विधान हुआ है। क्योंकि हम अपनी काल्पनिक अनुभूतियों से उन दुर्गम तत्वों के निर्णायक नहीं बन सकते। अतएव मानव और मानवी के आधिकारिक लिङ्ग उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्यों का अनुगमन ही इनके लिए एकमात्र श्रेयःपथा है–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'।

४१०–मनःशरीरानुगत आहारादि भोगों में मानव का, तथा मनःशरीरानुगत केश–प्रसाधनादि में मानवी का शास्त्र के द्वारा नियन्त्रण—

हाँ तो हमने यह देखा कि, मानव आत्मबुद्धिनिष्ठ है तो मानवी मनःशरीरभावुका है (स्त्रियो हि मनोनुगाः–शरीरप्रधानाश्च)। अतएव आवश्यक है कि, मानव मनःशरीरानुगत अशनपानादि–कर्मों में आसक्त न बने। तो उधर मानवी मनःशरीरप्रसाधनों में ही आसक्त न बने।। भोजनात्मक भाव की भाषा में अहोरात्र चर्वण–भक्षण में ही निमग्न अहरहः–भोजनरत मानव कदापि आत्मबुद्धिनिष्ठ नहीं रह सकता। एवमेव अहोरात्र स्नान–उबटन–केशपाशविन्यास–भूषणादि प्रसाधनों में ही रत रहने वाली नारी भी कदापि अपने मानसिक–शारीरिक–उस गार्हस्थ्य उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकती जिसके द्वारा ही

ज्ञानावरणीयादिकर्मरजःसमुत्पादकं क्षान्त्यादिगुणघातकं मूलोत्तरगुणकल्पपादपोन्मूलकं शुभभावनाऽम्भोजनिकरनीहारपटलं सकलानर्थमूलं धर्ममर्यादाविध्वसनशीलं दुःशीलं सेवते। अज्ञानं हि सर्वानर्थकरं विवेकहरं कष्टकण्टकानुविद्धं सकलदुर्गुणसमिद्धं तपःसंयमविनाशकं प्रमादजनकं स्वर्गापवर्गसुखहारकम्।

देने वाले ऐसे शील–अर्थात् मुनि के आचार का परित्याग कर देता है। यह शील सकल गुणों में प्रधान माना गया है। जीव के साथ अनादिकाल से लगे हुए अष्टविध ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बंध का उच्छेद करने वाला बतलाया गया है। मिथ्यात्वरूपी प्रबलग्रन्थि–(गांठ) का यह भेद करने वाला है। सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत की वृष्टि करना इसका स्वभाव है। ऐसे प्रशस्त उपकारक इस शील का वह अविनीत शिष्य परित्याग करके दुःशीलका सेवन किया करता है। यह दुःशील शिष्य ज्ञानावरणीयादिक कर्मरूपी धूलीको अपनी आत्मा में चिपकाने वाला है। क्षान्ति आदि सद्गुणों का ध्वंसक है। मूलगुण एवं उत्तरगुणरूप कल्पवृक्ष का उन्मूलक है। शुभभावनारूपी कमलों को नष्ट–भ्रष्ट करने के लिये तुषारपात–अर्थात्–हिमवर्षा जैसा है। सकल अनर्थों का यह मूल है। ऐसे धार्मिक मर्यादा को उखाड़ने के स्वभाववाले इस दुःशील का वह अविनीतशिष्य सेवनकर हिताहित को नहीं समझता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि जिस विनयमूल धर्म से अपनी आत्मा का उद्धार होता है उसका वह अविनीत त्याग कर अपकारक दुःशील

આચારનો પરિત્યાગ કરી દે છે આ શીલ સકલ ગુણોમા પ્રધાન મનાયેલ છે જીવની સાથે અનાદિકાળથી લાગેલા આઠ પ્રકારના જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મના બધનોનો ઉચ્છેદ કરવા વાળા બતાવેલ છે મિથ્યાત્વરૂપી પ્રબળ ગ્રંથીનો આ ભેદ કરવાવાળો છે, સમ્યગ્જ્ઞાનરૂપી અમૃતની વૃષ્ટિ કરવી તેનો સ્વભાવ છે, એવા પ્રશસ્ત ઉપકારક આ શીલનો તે અવિનીત શિષ્ય પરિત્યાગ કરીને દુઃશીલનુ સેવન કરે છે આવો દુઃશીલ શિષ્ય જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મરૂપ ધૂળને પોતાના આત્મામા ચોંટાડનાર છે ક્ષાન્તિ આદિ સદ્ગુણોનો નાશ કરનાર છે મૂળગુણ ઉત્તરગુણરૂપ કલ્પવૃક્ષનો ઉન્મૂલક–નાશ કરનાર છે શુભ ભાવનારૂપી કમલોને નષ્ટ ભ્રષ્ટ કરવા માટે તુષારપાત–અર્થાત હિમવર્ષા જેવા છે સકળ અનર્થોનુ એ મુળ છે એવા ધાર્મિક મર્યાદાને ઉખાડવાની વૃતિવાળા આવા દુઃશીલનુ તે અવિનીતજન સેવન કરી હિતાહિતને સમજતા નથી આ કેવા આશ્ચર્યની વાત છે કે જે વિનય મુળ ધર્મથી પોતાના આત્માનો ઉધ્ધાર થાય છે તેનો

४०८–मन शरीरेण नितान्त भावुक मानव, एवं आत्मना बुद्धया च नितान्त भावुका मानवी—

इसी से यह तथ्य भी स्वतः ही सिद्ध है कि, मानव अपने मनःशरीर से जहाँ भावुक है परावलम्बनता (नारी की अवलम्बनता) के कारण वहाँ अपने आत्म–बुद्धि–भाव से नैष्ठिक है स्वावलम्बी बनता हुआ। एवमेव अपने आत्मबुद्धिपर्वों से मानवी जहाँ भावुका है परावलम्बनता [मानव की अवलम्बनता] के कारण वहाँ अपने मनःशरीरपर्वों से नैष्ठिकी है स्वावलम्बिनी बनती हुई। अर्थात् मानव अपने आत्म–बुद्धिपर्वों पर मानवी का आक्रमण नहीं सह सकता तो मानवी अपने मनःशरीरपर्वों पर मानव के आक्रमण नहीं सहती। मानव आत्मबुद्धिस्वातन्त्र्य चाहता है, क्योंकि यही मानव का मुख्य स्वरूप है। तो मानवी मनःशरीरस्वातन्त्र्य चाहती है क्योंकि यही मानवी का मुख्य स्वरूप है। अतएव मानव के आत्म–बुद्धिस्वातन्त्र्य को अपने मनःशरीरभावों से सुरक्षित रखती हुई ही मानवी मानव के इन दोनों तन्त्रों [आत्म–बुद्धितन्त्रों] की रक्षा का कारण बनती है। अतएव मानवी के मनःशरीरस्वातन्त्र्य को अपने आत्म–बुद्धिभावों से सुरक्षित रखता हुआ ही मानव मानवी के इन दोनों तन्त्रों [मनःशरीरतन्त्रों] की रक्षा का कारण बनता है।

४०९–अत्यन्त सुसूक्ष्म, अतएव दुरधिगम्य मानव–मानवी का प्राकृतिक–स्वरूप, अत एव बुद्धि से अतीता तत्कर्त्तव्य–व्यवस्था, अतएव च तत्सम्बन्ध में शास्त्र प्रामाण्यैकशरणता—

अत्यन्त ही सुसूक्ष्म है यह प्राकृतिक समन्वय जिसका यथावत् समन्वय मानव की प्राकृतबुद्धि [बुद्धि मानी] कदापि नहीं कर सकती। प्रकृति का यह सुसूक्ष्म समन्वय तो महर्षियों की समाकृष्ना दिव्यदृष्टि के ही अलौकिक उत्तरदायित्व से अनुप्राणित है जिनकी दृष्टि को समझ पाना भी अवश्यादि प्राकृत मानवों की बुद्धि से अतीत ही माना जायगा। अतएव हमारे लिए तो एकमात्र अशरणशरण आदेशात्मक वह कर्त्तव्य ही है जिसका शास्त्र के द्वारा विधान हुआ है। क्योंकि हम अपनी अल्पतिक अनुभूतियों से उन सुसूक्ष्म तत्त्वों के निर्णायक नहीं बन सकते। अतएव मानव और मानवी के आधिकारिक, किंवा उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्यों का अनुगमन ही इनके लिए एकमात्र व्यवस्था है–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'।

४१०–मनःशरीरानुगत आहारादि भोगों में मानव का, तथा मनःशरीरानुगत केश–प्रसाधनादि में मानवी का शास्त्र के द्वारा नियन्त्रण—

हाँ तो हमने यह देखा कि, मानव आत्मबुद्धिनिष्ठ है तो मानवी मनःशरीरभावुका है (स्त्रियो हि भावुका–शतपथब्राह्मण)। अतएव आवश्यक है कि मानव मनःशरीरानुगत अशनपानादि–कर्मों में आसक्त न बने। तो उधर मानवी मनःशरीरप्रसाधनों में ही आसक्त न बने।। भोजनासक्त भाव की भाषा में अहोरात्र चर्वण–भक्षण में ही निमग्न अहरहः–भोजनपरायण मानव कदापि आत्मबुद्धिनिष्ठ नहीं रह सकता। एवमेव अहोरात्र स्नान–उबटन–केशपाशविन्यास–शृङ्गारादि प्रसाधनों में ही रत रहने वाली नारी भी कदापि अपने मानसिक–शारीरिक–उस गार्हस्थ्य उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकती जिसके द्वारा ही

४१६–'समझ' रूपा 'संवित्' के अनुग्रह से वञ्चिता बुद्धिमान् की निरीहा (बापड़ी) बुद्धि, एवं–'समझ बिना बुध बापड़ी' लोकसूक्ति का समन्वय—

यों मानवने, प्राकृत मानवने इस चक्रभेद का समतुलन करते हुए अपना 'अहं' और 'यह', दोनों ही अभिभूत कर लिया है। यह अभिभूत होगया है बुद्धि की तटस्थता से, तो यह अभिभूत होगया है 'बुद्धि' की सापेक्षता से। सहजभावानुसार–जहाँ सहजभाव से इसे श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त रहना चाहिए था, वहाँ तो इसने 'बुद्धि' का मूल नष्ट कर दिया है, एवं जिस लोकक्षेत्र में बुद्धि पूर्वक इसे कर्त्तव्य निश्चित करना चाहिए था–बुद्धि से अतीत प्रामाणिक सूत्रों के आधार पर, वहाँ यह सर्वथा अक्षरश–बुद्धिशून्य बन गया है। स्थूलभावानुसार जहाँ– बुद्धि प्रवेश ही नहीं कर सकती वहाँ तो यह बुद्धिमान–तर्कवादी बनता जारहा है, एवं जहाँ बिना बुद्धिप्रवेश के अनर्थ हो पड़ने की सम्भावना रहती है, वहाँ यह अपनी बुद्धि को बलाञ्जलि समर्पित किए रहता है। परिणाम इस विपर्य्यय का जो हुआ करता है वही तो हो रहा है आज। और यही 'समझ', तथा 'बुद्धि' का वह महान् अन्तर है जिसके समन्वय के बिना सचमुच ही तो–'समझ बिना बुध बापड़ी'।

४१७–'बापड़ी' शब्द के तात्त्विक अर्थ का समन्वय, एवं विद्वान् मानव की मूर्खता, तथा मूर्ख मानव की विद्वत्ता—

लोकसूक्ति का 'बापड़ी' शब्द बड़ा ही चमत्कारपूर्ण है। परवशता पारतन्त्र्य निरीहता, विवशता–आदि हीनभाव ही इस शब्द से अभिव्यक्त हो रहे हैं। जो बुद्धि 'समझ' नामक अलौकिक तत्त्व से वञ्चित हो जाती है वह बुद्धि सचमुच में ही तो 'बापड़ी' अर्थात् परतन्त्रा बन जाती है। इत्थंभूता बिचुरा! बुद्धि को ही तो आज 'स्वतन्त्रता' मान लिया गया है जिसके समतुलन में तो मानवेतर प्राणी अपने प्राकृत क्षेत्र में कहीं अधिक बुद्धिमान् अतएव कहीं अधिक स्वतन्त्र हैं। आत्मानुगता सहज बुद्धि से समन्विता स्थितिमूला निष्ठा का नाम है 'आस्था' एवं आत्मानुगत सहज मन से समन्वित स्नेहगुणक रूपग्राहक भाव का नाम है– 'श्रद्धा'। आस्था–श्रद्धा की सम्मिलितावस्था का नाम ही है–'संवित्', और इस संवित् का ही लौकिक नाम है 'समझ' जो बड़े बड़े बुद्धिमान् विद्वानों तकों में भी नहीं होती एवं एक साधारण अपठित–ग्रामीण–बालबुद्धि–मानव में भी इस 'संवित्' का अनुग्रह होजाता है। अतएव लोकसूत्र है कि – 'विद्वान बुद्धिमान् है अतएव वह मूर्ख है। एवं मूर्ख समझदार है, अतएव वह विद्वान् है'। क्योंकि 'समझ बिना बुध बापड़ी'।

४१८–विद्वान् की बुद्धि के उपभोक्ता मूर्ख, किन्तु समझदार, एवं बुद्धिमान् विद्वान् की मूर्खतापूर्णा परवशता—

बुद्धिमान् विद्वान् इसलिए मूर्ख है कि वह अपनी बुद्धि से व्यक्तित्वविमोहन के कारण लोक में काम न लेता हुआ यहाँ तो अन्धश्रद्धालु बना रहता है एवं अलौकिक क्षेत्र में इस की बुद्धिमानी प्रवेश नहीं कर पाती। उधर वह अपठित किन्तु सहजरूप से ही अपनी परम्परा में आस्था–श्रद्धा रखने वाला मूर्ख भी श्रद्धा से उस अमौलिक ईश्वरभावना से भी समन्वित रहता है एवं इसी 'समझ' रूपा संवित् से वह अपनी पारम्-

दिग्देशकालातीत, अतएव मन–बुद्धि–महान्–अव्यक्त–से भी अतीत अव्यावहारिक–अलौकिक, किन्तु सर्वव्यवहाराधारभूत अनन्ततत्त्व के सम्बन्ध में अपनी बुद्धि का दम्भ अभिव्यक्त करने लग पड़ते हैं। यों मानव की बुद्धि आज क्षेत्रविचलित होती हुई पशुबुद्धि से भी अर्वाक्कोटि में ही समाविष्ट है।

४१३–पशु की दिग्देशकालनिबन्धना जागरूका व्यावहारिकी बुद्धि, एवं तत्समतुलन में भावुक-प्राकृत-मानव की बुद्धिहीनता—

पशु अपने व्यावहारिक–प्राकृत–जगत् में तात्कालिक–बुद्धि को अग्रणी बना कर ही अपने प्राकृत स्वरूप के हानि–लाभ से सतत सतर्क (चौकन्ना) रह कर ही जीवनयात्रा में प्रवृत्त रहता है। अतएव स्वप्रकृत्यनुरूप भोग ही इसके लिए ग्राह्य होते हैं एवं प्रकृतिविरुद्ध भोग सर्वथा त्याज्य। जबकि प्राकृत मानव अपनी बुद्धि से इस प्राकृत क्षेत्र में सर्वथा ही तटस्थ बनता हुआ हानि-लाभ का कोई विवेक न करता हुआ परम–भक्ताशु आस्तिक बनता हुआ ही मानो–देखा देखी–अनुकरण से सभी कुछ खाने पीने कहने सुनने–आदि के लिए तत्पर हो पड़ता है। और यों पशुवत् तात्कालिकी परिणामदर्शिता से भी यह बुद्धिमान् 'बुद्धि' को सर्वथा जलाञ्जलि ही समर्पित किए रहता है।

४१४–भावुक मानव की बुद्धि के एकमात्र प्रमाण तथाविध भूतासक्त-बहिर्भावुक लोक मानव, एवं अलौकिक-दिग्देशकालातीत सत्यासिद्ध तथ्यों के प्रति बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए इसकी आतुरता—

इस सम्बन्ध में इसके लिए एकमात्र प्रमाण उनका वचन [illegible] उनकी जीवनपद्धति ही बना रहता है जिन्होंने अपनी लोकबुद्धि से केवल प्राकृत भूतों के आधार पर प्राकृत विधि–विधान बना डाले हैं। यों मानव जहाँ एक ओर अलौकिक क्षेत्रों के सम्बन्ध में अलौकिक क्षेत्रों के द्रष्टा ऋषियों की दृष्टि से अनुप्राणित शास्त्रीय–वचन एवं तदनुगता आचारपद्धति की अवहेलना करता हुआ उनकी बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए आतुर हो पड़ता है और उन शास्त्रीय अलौकिक–क्षेत्रों के लिए जहाँ यह मन्त्रप्रह–'परमात्मा ने हमें बुद्धि दी है। हम समझ लेंगे तभी मानेंगे तभी करेंगे' इसप्रकार घोषित तक करता हुआ मनःकल्पित भी तो करता नहीं होता। तथैव यही प्रजातीत बुद्धिमान् यों शास्त्रीय आचारों के सम्बन्ध में बुद्धिवाद का विजयध्वज लहरा कर लोकक्षेत्र में अन्धभक्ताशु की भाँति उन बुद्धिमानों के वचनों का ही उनकी जीवनपद्धति का ही आँख मींचकर अनुकरण करने लग पड़ता है और अज्ञापि भूल से भी इन लोक-क्षेत्रों में यह 'बुद्धि'–'तर्क'–'विचार' 'परिणाम' आदि का संस्मरण भी नहीं करता।

४१५–बुद्धिमान् मानव की बुद्धि का लोकक्षेत्रों में अन्धानुकरण, और तद्दुष्परिणाम—

अपितु जिसे लोक में 'भेड़ियाधसान' कहा जाता है जिसे–'अन्धानुकरण' कहा है शास्त्र ने एवं जिसके आधार पर गतानुगतिको लोकः– न लोकः पारमार्थिकः यह न्याय अभिव्यक्त हो पड़ा है तथाकथित वही इन महान् ! बुद्धिमानों ! का कर्मपथ ! बन जाता है। कुछ भी तो जानने की समझने की विचारपरामर्श की तत्सदविवेक की ओर भी तो आवश्यकता अनुभूत नहीं करते ये बुद्धिमान् इन अपने अनु–करणक्षेत्रों में जो कि अलौकिक कर्तव्यों–वचनों के सम्बन्ध में अपने बुद्धिदम्भ की तम्बूरा सा बजा कर देने में क्षणमात्र का भी विलम्ब नहीं करते।

४१६–'समझ' रूपा 'सवित्' के अनुग्रह से वञ्चिता बुद्धिमान् की निरीहा (वापड़ी) बुद्धि, एवं–'समझ बिना बुध बापड़ी' लोकसूक्ति का समन्वय—

यों मानकर, प्राकृत मानव ने इस घनभेद का समतुलन करते हुए अपना 'यह' और 'यह' ऐसा ही अभिभूत कर लिया है। 'यह' अभिभूत होगया है बुद्धि की तटस्थता से, वा 'यह' अभिभूत होगया है 'बुद्धि' की सापेक्षता से। सहजभावानुसार–जहाँ सहजभाव से इसे श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त रहना चाहिए था, वहाँ वा इसने 'बुद्धि' का सूत्र खड़ा कर दिया है, एवं जिस लोकक्षेत्र में 'बुद्धि' पूर्वक इस कर्त्तव्य निश्चित करना चाहिए था–बुद्धि से अतीत प्रामाणिक सूत्रों के आधार पर, वहाँ यह सर्वथा बकभक्त–बुद्धिशून्य बन गया है। स्थूलभावानुसार जहाँ– बुद्धि प्रवेश ही नहीं कर सकती वहाँ वा यह बुद्धिमान्–तर्कवादी बनता जाता है एवं जहाँ बिना बुद्धिप्रवेश के अनर्थ हो पड़ने की सम्भावना रहती है वहाँ यह अपनी बुद्धि का बलात्कार समर्पित किए रहता है। परिणाम इस विपर्य्यय का जो हुआ करता है वही वा हो रहा है आज। और यही 'समझ', तथा 'बुद्धि' का वह महान् अन्तर है जिसके समन्वय के बिना सचमुच ही तो–'समझ बिना बुध बापड़ी।

४१७–'बापड़ी' शब्द के तात्त्विक अर्थ का समन्वय, एवं विद्वान् मानव की मूर्खता, तथा मूर्ख मानव की विद्वत्ता—

लोकसूक्ति का 'बापड़ी' शब्द बड़ा ही चमत्कारपूर्ण है। परवशता पारतन्त्र्य निरीहता विवशता–आदि दीनभाव ही इस शब्द से अभिव्यक्त हो रहे हैं। जो बुद्धि 'समझ' नामक अलौकिक वस्तु से वञ्चित हो जाती है यह बुद्धि सचमुच में ही तो 'बापड़ी' अर्थात् परतन्त्रा बन जाती है। इत्थम्भूत बिगुणा! बुद्धि को ही तो आज 'स्वतन्त्रता' मान लिया गया है जिसके समतुलन में तो मानवेतर प्राणी अपने प्राकृत क्षेत्र में कहीं अधिक बुद्धिमान् अतएव कहीं अधिक स्वतन्त्र हैं। आत्मानुगता सहज बुद्धि से समन्विता स्थितिमूला निष्ठा का नाम है 'आस्था' एवं आत्मानुगत सहज मन से समन्वित स्नेहगुणक सत्यग्राहक भाव का नाम है– श्रद्धा'। आस्था–श्रद्धा की सम्मिलितावस्था का नाम ही है–'सवित्' और इस सवित् का ही लौकिक नाम है 'समझ' जो बड़े बड़े बुद्धिमान् विद्वानों, पुरुषों में भी नहीं होती एवं एक साधारण अपठित–ग्रामीण–बालबुद्धि–मानव में भी इस 'सवित्' का अनुग्रह होजाता है। अतएव लोकसूक्त है कि,–"विद्वान् बुद्धिमान है अतएव वह मूर्ख है। एवं मूर्ख समझदार है, अतएव वह विद्वान् है। क्योंकि 'समझ बिना बुध बापड़ी।

४१८–विद्वान् की बुद्धि के उपभोक्ता मूर्ख, किन्तु समझदार, एवं बुद्धिमान् विद्वान् की मूर्खतापूर्णा परवशता—

बुद्धिमान् विद्वान् इसलिए मूर्ख है कि यह अपनी बुद्धि से व्यक्तित्वाभिमोहन के कारण लोक में काम न लेता हुआ यहाँ तो अन्धश्रद्धालु बना रहता है एवं अलौकिक क्षेत्र में इस की बुद्धिमानी प्रवेश नहीं कर पाती। उधर वह अपठित किन्तु सहजरूप से ही अपनी परम्परा में आस्था–श्रद्धा रखने वाला मूर्ख भी श्रद्धा से उस अलौकिक ईश्वरभावना से भी समन्वित रहता है एवं इसी 'समझ रूपा सवित् से यह अपनी पारम्

दिग्देशकालातीत अतएव मन–बुद्धि–महान्–अव्यक्त–से भी अतीत अव्यावहारिक–अलौकिक किन्तु सर्वव्यवहाराधारभूत अनन्तस्वरूप के सम्बन्ध में अपनी बुद्धि का दम्भ अभिव्यक्त करने लग पड़ते हैं। यों मानव की बुद्धि आज चेत्रविचलित होती हुई पशुबुद्धि से भी अर्वाक्कोटि में ही समाविष्ट है।

४१३–पशु की दिग्देशकालनियत घना जागरूका व्यावहारिकी बुद्धि, एवं तत्समतुलन में भावुक-प्राकृत-मानव की बुद्धिहीनता—

पशु अपने व्यावहारिक–प्राकृत–जगत् में तात्कालिक–बुद्धि को अग्रणी बना कर ही अपने प्राकृत स्वरूप के हानि–लाभ से सतत सतर्क (चौकन्ना) रह कर ही जीवनयात्रा में प्रवृत्त रहता है। अतएव स्वरूपानुकूल भोग ही इसके लिए ग्राह्य होते हैं एवं प्रकृतिविरुद्ध भोग सर्वथा त्याज्य। जबकि प्राकृत मानव अपनी बुद्धि से इस प्राकृत चेत्र में सर्वथा ही उपेक्ष बनता हुआ हानि-लाभ का कोई विवेक न करता हुआ परम–श्रद्धालु आस्तिक बनता हुआ ही मानो–देखा देखी–अनुकरण से सभी कुछ खाने पीने पहने सुनने–आदि के लिए सन्नद्ध हो पड़ता है। और यों पशुवत् तात्कालिकी परिणामदर्शिता से भी यह बुद्धिमान् 'बुद्धि' को सर्वथा जलाञ्जलि ही समर्पित किए रहता है।

४१४–भावुक मानव की बुद्धि के एकमात्र प्रमाण तथाविध भूतासक्त-बहिर्भावुक लोक मानव, एवं अलौकिक-दिग्देशकालातीत सत्तासिद्ध तथ्यों के प्रति बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए इसकी आतुरता—

इस सम्बन्ध में इसके लिए एकमात्र प्रमाण उनका वचन ही उनकी जीवनपद्धति ही बना रहता है जिन्होंने अपनी लोकबुद्धि से केवल प्राकृत भूतों के आधार पर प्राकृत विधि–विधान बना डाले हैं। यों मानव जहाँ एक ओर अलौकिक चेत्रों के सम्बन्ध में अलौकिक चेत्रों के द्रष्टा ऋषियों की दृष्टि से अनुप्राणित शास्त्रीय–वचन एवं तदनुगता आचारपद्धति की उपेक्षणा करता हुआ उनकी बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए आतुर हो पड़ता है और उन शास्त्रीय अलौकिक–चेत्रों के लिए जहाँ यह मन्त्रप्रश्न–'परमात्मा ने हमें बुद्धि दी है। हम समझ जाएंगे तभी मानेंगे तभी करेंगे' इसप्रकार पैशाचिक दम्भ लगा करता हुआ सम्भवतः भी तो लज्जित नहीं होता। तथैव यही प्रज्ञाशील बुद्धिमान् यों शास्त्रीय आचारों के सम्बन्ध में बुद्धिवाद का विडम्बना लगा कर लोकचेत्र में अन्धश्रद्धालु की भाँति उन बुद्धिमानों के वचनों का ही उनकी जीवनपद्धति का ही आँख मींचकर अनुकरण करने लग पड़ता है और कदापि भूल से भी इन लोक-चेत्रों में यह 'बुद्धि'–'तर्क'–'विचार' 'परिणाम' आदि का संस्मरण भी नहीं करता।

४१५–बुद्धिमान् मानव की बुद्धि का लोकचेत्रों में अन्धानुकरण, और तद्परिणाम—

अपितु जिसे लोक में 'भेड़ियाधसान' कहा जाता है जिसे–'अन्धानुकरण' कहा है शास्त्र ने एवं जिसके आधार पर गतानुगतिको लोकः– न लोकः पारमार्थिकः यह न्याय अभिव्यक्त हो पड़ा है तथाकथित यही इन महान्! बुद्धिमानों! का कल्पपथ! बन जाता है। कुछ भी तो जानने की समझने की विचारपरामर्श की, सदसद्विवेक की कोई भी तो आवश्यकता अनुभूत नहीं करते ये बुद्धिमान् इन अपने अनु–करणचेत्रों में यों कि अलौकिक तथ्यों–वचनों के सम्बन्ध में अपने बुद्धितन्त्र की कम्बुग्र सा गला कर देने में पलमात्र का भी विलम्ब नहीं करते।

अपने यान्त्रिक व्यामोहनात्मक सम्पूर्ण लोकधर्म्मों को, अपनी बौद्धिक मान्यताओं को, भावुकतापूर्ण अनुभूतियों को, तथा कल्पनाओं को सर्वात्मना उस 'समझदुष्प्रवृत्ता (संविद्येयता) के अर्पण कर सका, तो निश्चयेन उस 'समझ' का न केवल वह समझ ही लेगा, अपितु फिर तो वह स्वयं ही 'समझ' बन जायगा और उस अवस्था में आते ही तो महर्षि गौतमसदृश परीक्षक इस सत्यकाम जैसे 'समझदार' की आकृति को देखते ही कह उठेंगे कि-'ब्रह्मविदिव सोम्य! मे प्रतिभासि'। फिर कदापि इसे न तो इतस्ततः दन्दम्यमाण ही बना रहना पड़ेगा, न पाण्डित्यपूर्ण बुद्धिवादों से सन्यस्त ही होना पड़ेगा। अपितु उस अवस्था में तो इस समझ के अनुग्रह से सम्पूर्ण भूतशक्तियों से असंस्पृष्ट रहता हुआ कर्म्मानुरूपा इस समझ से युक्ता बुद्धि के माध्यम से सम्पूर्ण लौकिक अनुष्ठानों का कौशलपूर्वक व्यवस्थित ही बनाए रखेगा। और या एकमात्र 'समझ' के स्वतः ही 'समझ' जाने के अनन्तर इसके अभ्युदय-निःश्रेयस्-स्वतः ही सम्बद्ध होते रहेंगे। यदि इसने ऐसा नहीं किया, अर्थात् यदि बुद्धिदम्भ में आकर, इस कालकुटिलता में आकर उस कालातीत समझ को इसने बुद्धि का आधार नहीं बनाया तो फिर अन्ततोगत्वा इसे एक बार पुनः यही कह देना पड़ेगा कि-समझ बिना दुःख पायकी।

४२१–'समझ' के स्वरूप–विश्लेषण के सम्बन्ध में हमारा यान्त्रिक व्यामोहनात्मक छल, एवं वस्तुगत्या 'समझ' के सम्बन्ध में 'न स वेद, न स वद' का उद्घोष—

इस वाग्विजृम्भणात्मक बौद्धिक–व्यामोहन–छल से हम अपने आप को भी सावधान कर देना आवश्यक समझ रहे हैं कि, जिस 'समझ' के समझने के लिए 'समझ' नामक अलौकिक तत्व के प्रति सर्वार्पण (कृष्णार्पण) रूप का उपाय हमने पूर्व–में बतलाया है वह भी वस्तुतः बौद्धिक–व्यामोहन के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। हम स्वयं तो क्या समझ गए इस का मापण से उस समझ को, और दूसरे को क्या समझा दिया इस वाक्छलमात्र से समझ का स्वरूप?। यदि हम अपने आपको 'समझा हुआ' मान लेते हैं तो यही बौद्धिक दम्भ। यदि इस से दूसरों को 'समझ' प्रदान करने में कुशल मान लेते हैं, तो हमारा आत्यन्तिक पराभव। अतएव मान लीजिए, और हम तो मान ही रहे हैं कि वह समझ' समझने जैसी (बुद्धिगम्या) है ही नहीं। जो यह कहता है कि मैंने उस 'समझ' (विज्ञाता) को–समझ लिया, जान लिया, पहिचान लिया, विश्वास कीजिए–न स वेद न स वेद। उसने अनकुछ समझ कर भी कुछ भी तो नहीं समझा।

४२२–वाक्छल से एकान्ततः असंस्पृष्टा सहज धारणा, तदनुप्राणिता 'संवित्' (समझ), एवं हमारी समझ, और उसकी कर्त्तव्यानुष्ठानात्मिका इयत्ता—

स्मरण रखिए! यह वाक्छल नहीं है। अपितु यही तो वस्तुस्थिति है। उस 'समझ' का तो 'न समझना ही उस का समझ लेना है'। क्या तात्पर्य?। यही कि–समझने–समझाने मानने–मनवाने–जैसे बौद्धिक व्यामोहनों तर्काभासी युक्तियों भूतविज्ञानवादों लोकचातुर्य्यों आदि आदि से अपने आप को सर्वात्मना असंस्पृष्ट रखते हुए, यह मान कर ही नहीं अपितु पूर्ण आस्था–श्रद्धा रखते हुए कि–'जिन आप्त महर्षियोंने हम प्राकृत मानवों के लिए, हमारे अभ्युदय–निःश्रेयस् के लिए जो धर्म्मसम्मत–कर्त्तव्यकर्म्म निश्चित किया है वह उन्होंने समझ' के किया हो * अथवा बिना समझे किया हो हमें तो आस्था–श्रद्धा

* –'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'। (कणादसूत्र)।

रिक–लोकपद्धति का अनुगामी बना रहता हुआ प्रवाह में भी नहीं बह जाता। अतएव यह विद्वान बुद्धिमान् की अपेक्षा कहीं अधिक विद्वान् और बुद्धिमान् है। इसीलिए तो यह दूसरा लोकसूत्र आविर्भूत होसकता है कि–"विद्वान बुद्धिमान् की बुद्धि से लाभ उठा लेजाते हैं अविद्वान्–किन्तु समझदार सहज मानव जब कि विद्वान् बुद्धिमान् सभी लाभों से वञ्चित रहता हुआ अपने भाग्य को ही रोया करता है यावज्जीवन"। क्योंकि–'समझ बिना सुख नापकी'।

४१९–पुरुषार्थवादी समझदार मूर्ख आद्यन्त का सुखी, एवं भाग्यवादी बुद्धिमान् विद्वान् आद्यन्त का दुःखी, तथा 'संवित्' रूपा 'समझ' का संस्मरण—

मूर्ख किन्तु समझदार जहाँ पुरुषार्थवादी है अतएव वह आद्यन्त का सुखी है वहाँ विद्वान किन्तु बुद्धिमान् भाग्यवादी है अतएव वह आद्यन्त का दुःखी है। मूर्ख भी समझदार सुखी है सन्तुष्ट है अपने प्राकृत–पुरुषार्थ के अनुग्रह से एवं विद्वान भी बुद्धिमान् दुःखी है असन्तुष्ट है अपने प्राकृत–भाग्यवादानुग्रह से। और निश्चयेन ऐसे विद्वान् बुद्धिमान् मानवधुरीणोंने ही अपने बुद्धिवाद के माध्यम से मानव की सहज 'समझ' का तिरस्कार कर ऐसे ऐसे भयावह व्यामोहन खड़े कर लिए हैं जिन बुद्धिवादात्मक कल्पित–मयी समस्याओं विषमताओं से ही स्वस्वरूपेण स्वस्थ एवं प्रकृतिस्थ भी मानव आज अस्वस्थ तथा अप्रकृतिस्थ ही बन गया है। और यों एक 'समझ' जैसी लोकभाषीय 'संवित्' का अपनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं से तिरस्कार कर मानवने अपने इस बुद्धिवादात्मक महान् पाप से आज सम्पूर्ण मानवता के ही सुख–शान्ति–स्वस्ति–स्वातन्त्र्य को विकम्पित कर दिया है बुद्धिमानी से अनुप्राणित दिग् देश–कालात्मिका–युगधर्मानुगता योजनाओं के रूप से।

४२०–'समझ' को 'समझलेने' की आतुरता के सम्बन्ध में समझदारों के सहज उद्गार, उद्गारों के ठीक ठीक न समझने से 'समझ' की बुद्धि के लिए दुर्बोध्यता, एवं तदवस्था में–'समझ बिना सुख नापकी'—

एक हि अनुमीयते कि बुद्धिमान् मानव अवश्य ही 'संवित्' नामक उस अलौकिक 'समझ' को समझने के लिए आतुर हो रहे होंगे जो सुख–शान्ति की अधिष्ठात्री है। यही तो वह व्यामोहन है जिसका हमें भी सर्वतोभावेन परित्याग कर देना है एवं इस 'समझ' को 'समझदारी' (बुद्धिमानी) से समझने के लिए आकुल–व्याकुल होने वाले नवाधीय किन्तु बुद्धिमान् मानव–श्रेष्ठों को भी परित्याग कर ही देना है। समझने के व्यामोहन का आत्यन्तिक परित्याग ही उस 'समझ' (संवित्) नामक अलौकिक तत्त्व को समझ जाने का एकमात्र अन्यतम राजपथ है, जो कि–'समझ' नामक तत्त्व ही ऋषिभाषा में–'समझनेवाला' (विज्ञाता) कहलाया है। जो 'समझ' नामक अलौकिक तत्त्व स्वयं समझरूप समझनेवाला है, एवं सब को समझानेवाला (बुद्धिप्रदाता) है, उसे मानव अपनी 'समझ' (बुद्धि) से कैसे समझ सकेगा?। इस के लिए तो इसे उस 'समझ' (विज्ञाता) की यत्किञ्चिद्दंशरूपा अपनी बुद्धि का दम्भ छोड़ कर सर्वतोभावेन उस 'नासमझीरूपा समझ' (अविज्ञेय–अनन्ततत्त्व) की शरण में ही अपने आपको समर्पित कर देना पड़ेगा। और यदि बुद्धिमान् भी

अपने बौद्धिक व्यामोहनात्मक सम्पूर्ण लोकधर्म्मों को, अपनी बौद्धिक मान्यताओं को, भावुकतापूर्ण अनुभूतियों को, तथा कल्पनाओं को सर्वात्मना उस 'समझनदृष्टता (संविदियता) के अर्पण कर सकें, तो निश्चयेन उस 'समझ' का न केवल यह समझ ही लेगा, अपितु फिर तो यह स्वयं ही 'समझ' बन जायगा, और उस अवस्था में आते ही [illegible] महर्षि गौतमसदृश परीक्षक इस सत्यकाम जैसे समझदार की आकृति को देखते ही कह उठेंगे कि 'ब्रह्मविदिव सोम्य ! मे प्रतिभासि ।' फिर कदापि इसे न तो इतस्ततः दन्दम्यमाण ही बना रहना पड़ेगा न पाण्डित्यपूर्ण बुद्धिवादों से सन्त्रस्त ही होना पड़ेगा। अपितु उस अवस्था में तो इस समझ के अनुग्रह से सम्पूर्ण भूतासक्तिया से असस्पृष्ट रहता हुआ कर्म्मानुरूपा इस समझ से युक्ता बुद्धि के माध्यम से सम्पूर्ण लौकिक अनुष्ठानों का कौशलपूर्वक व्यवस्थित ही बनाए रखेगा। और यो एकमात्र 'समझ' के स्वतः ही 'समझ' दान के अनन्तर इसके अभ्युदय-निःश्रेयस्-स्वतः ही सम्पन्न होते रहेंगे। यदि इसने ऐसा नहीं किया, अर्थात् यदि बुद्धिगम्य में आकर, इस कालकुटिलता में आकर उस कालातीत समझ को इसने बुद्धि का आधार नहीं बनाया तो फिर अन्ततोगत्वा हमें एक बार पुनः यही कह देना पड़ेगा कि-'समझ बिना बुध बापुरी'।

४२१-'समझ' के स्वरूप-विश्लेषण के सम्बन्ध में हमारा बौद्धिक व्यामोहनात्मक छल, एवं वस्तुगत्या 'समझ' के सम्बन्ध में 'न स वेद, न स वेद' का उद्घोष—

इस वाग्विजृम्भणात्मक बौद्धिक-व्यामोहन-छल से हम अपने आप को भी सावधान कर देना आवश्यक समझ रहे हैं कि, जिस समझ के समझने के लिए 'समझ' नामक अलौकिक तत्त्व के प्रति समर्पण (बुद्धयर्पण) रूप का उपाय हमने पूर्व-में बतलाया है वह भी वस्तुतः बौद्धिक-व्यामोहन के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। हम स्वयं तो क्या समझ गए इस का मार्पस से उस समझ को और दूसरों को क्या समझा दिया इस वाक्छलमात्र से समझ का स्वरूप ?। यदि हम अपने आपको 'समझदार हुआ' मान लेते हैं तो यही बौद्धिक दम्भ। यदि इस से दूसरों को 'समझ' प्रदान कर देने में कुशल मान लेते हैं तो हमारा आत्यन्तिक पराभव। अतएव मान लीजिए, और हम तो मान ही रहे हैं कि वह 'समझ' समझने जैसी (बुद्धिगम्या) है ही नहीं। जो यह कहता है कि मैंने उस 'समझ (विज्ञाता) को-समझ लिया जान लिया पहिचान लिया विश्वास कीजिए-न स वेद न स वेद। उसने कुछ समझ कर भी कुछ भी तो नहीं समझा।

४२२-वाक्छल से एकान्ततः असंस्पृष्टा सहज धारणा, तदनुप्राणिता 'संवित्' (समझ), एवं हमारी समझ, और उसकी कर्त्तव्यानुष्ठानात्मिका इयत्ता—

स्मरण रखिए! यह वाक्छल नहीं है। अपितु यही तो वस्तुस्थिति है। उस 'समझ' का तो 'न समझना ही उस का समझ लेना है'। क्या तात्पर्य ?। यही कि-समझने-समझाने, मानने-मनवाने-जैसे बौद्धिक व्यामोहनों तर्काभासी युक्तियों भूतविज्ञानमार्गों लोकवाङ्मयों आदि आदि से अपने आप को सर्वात्मना असंस्पृष्ट रखते हुए, यह मान कर ही नहीं, अपितु पूर्ण आस्था-श्रद्धा रखते हुए कि-'जिन आप्त महर्षियोंनें हम प्राकृत मानवों के लिए, हमारे अभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए जो धर्म्मसम्मत-कर्त्तव्यकर्म्म निश्चित किया है वह उन्होंनें समझ' के किया हो * अथवा बिना समझे किया हो हमें तो आस्था-श्रद्धा

*-बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'। (कणादसूत्र)।

रिक-लोकपद्धति का अनुगामी बना रहता हुआ प्रवाह में भी नहीं बह जाता। अतएव वह विद्वान् बुद्धिमान् की अपेक्षा कहीं अधिक विद्वान् और बुद्धिमान् है। इसीलिए तो यह दूसरा लोकसूत्र आविभूर्त होसका है कि– 'विद्वान् बुद्धिमान् की बुद्धि से लाभ उठा लेजाते हैं अविद्वान्–किन्तु समझदार सहज मानव जब कि विद्वान् बुद्धिमान् सभी लाभों से वञ्चित रहता हुआ अपने भाग्य को ही रोया करता है यावज्जीवन'। क्योंकि–'समझ बिना सुख नापजी'।

४१६–पुरुषार्थवादी समझदार मूर्ख आद्यन्त का सुखी, एवं भाग्यवादी बुद्धिमान् विद्वान् आद्यन्त का दुःखी, तथा 'संवित्' रूपा समझ' का संस्मरण—

मूर्ख किन्तु समझदार वहाँ पुरुषार्थवादी है अतएव वह आद्यन्त का सुखी है वहाँ विद्वान् किन्तु बुद्धिमान् भाग्यवादी है अतएव वह आद्यन्त का दुःखी है। मूर्ख भी समझदार सुखी है सन्तुष्ट है अपने प्राकृत–पुरुषार्थ के अनुग्रह से एवं विद्वान् भी बुद्धिमान् दुःखी है असन्तुष्ट है अपने प्राकृत–भाग्यवादानुग्रह से। और निश्चयेन ऐसे विद्वान् बुद्धिमान् मानवधुरीणोंने ही अपने बुद्धिवाद के माध्यम से मानव की सहज 'समझ' का तिरस्कार कर ऐसे ऐसे भयावह व्यामोहन खड़े कर दिए हैं जिन बुद्धिवादात्मक कल्पित–भयो समस्याओं विषमताओं से ही सर्वात्मना स्वस्थ एवं प्रकृतिस्थ भी मानव आज अस्वस्थ तथा अप्रकृतिस्थ ही बन गया है। और भी एक 'समझ' जैसी लोकलीला 'संवित्' का अपनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं से तिरस्कार कर मानवने अपने इस बुद्धिवादात्मक महान् पाप से आज सम्पूर्ण मानवता के ही सुख–शान्ति–स्वस्ति–स्वातन्त्र्य को विकम्पित कर दिया है बुद्धिमानी से अनुप्राणिता दिग् देश–कालात्मिका–युगधर्म्मानुगता घोषणाओं के बल से।

४२०–'समझ' को 'समझलेने' की आतुरता के सम्बन्ध में समझदारों के सहज उद्गार, तदुद्गारों के ठीक ठीक न समझने से 'समझ' की बुद्धि के लिए दुर्बोध्यता, एवं तदवस्था में–'समझ बिना सुख नापजी'—

एक दि अनुमीमांसे कि बुद्धिमान् मानव अवश्य ही 'संवित्' नामक उस अलौकिक 'समझ' को समझने के लिए आतुर हो रहे होंगे जो सुख–शान्ति की अधिष्ठात्री है। यही तो वह व्यामोहन है जिसका हमें भी सर्वतोभावेन परित्याग कर देना है एवं इस 'समझ' को 'समझदारी' (बुद्धिमानी) से समझने के लिए आकुल–व्याकुल होने वाले सजातीय, किन्तु बुद्धिमान् मानव–श्रेष्ठों को भी परित्याग कर ही देना है। समझने के व्यामोहन का आत्यन्तिक परित्याग ही उस 'समझ' (संवित्) नामक अलौकिक तत्त्व को समझ जाने का एकमात्र अन्यतम राजपथ है, जो कि–'समझ' नामक तत्त्व ही ऋषिभाषा में–'समझनेवाला' ('विज्ञाता') कहलाया है। जो 'समझ' नामक अलौकिक तत्त्व स्वयं सबकुछ समझनेवाला है, एवं सब को समझानेवाला (बुद्धिप्रदाता) है, उसे मानव अपनी 'समझ' (बुद्धि) से कैसे समझ लेगा ?। इस के लिए तो इसे उस 'समझ' (विज्ञाता) की यमुपिविष्टिरंरारूपा अपनी बुद्धि का दम्भ छोड़ कर सर्वतोभावेन उस 'नासमझीरूपा समझ' (अविज्ञेय-अनन्ततत्त्व) की शरण में ही अपने आपको समर्पित कर देना पड़ेगा। और यदि बुद्धिमान् भी

४२५–'स एव' लक्षण अनन्तब्रह्म के स्वरूप–सम्बन्ध में सहज–जिज्ञासा की अभिव्यक्ति, तत्पूरक तदभिन्न 'मानव' एवं तद्दृष्टिकोण की बुद्धिपथ से अतीतता—

स्वाध्यायशील पाठकों को स्मरण होगा कि, प्रतीकात्मक–ब्रह्म, तथा प्रतीकवादों से असंस्पृष्ट अतलातीत अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतीकानुगता विप्रतिपत्ति का उपापन कर हमने यह जिज्ञासा अभिव्यक्त की थी कि–'तो क्या उस–'ब्रह्म'–रूप अनन्तब्रह्म की कोई स्वरूप–परिभाषा नहीं है'। वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि, यदि इस सम्बन्ध में जिज्ञासु का बहुत ही अधिक आग्रह होता है, तो श्रुतिशास्त्र प्रतीकव्यामोहनात्मक सम्पूर्ण दृष्टान्तों का निर्मम प्रमार्जन करता हुआ अन्ततोगत्वा एकमात्र 'मानव' को ही उस अनन्तस्वरूपात्मक का 'कुछ' मान लेता है। अतएव कहा जासकता है कि, 'जो अनन्तब्रह्म है, वही मानव है, एवं जो मानव है, वही अनन्तब्रह्म है'। इसी दृष्टिबिन्दु पर प्राकृत, किन्तु बुद्धिमान् मानव सहसा यह उठता है कि–बात समझ में नहीं आरही। हम तो इस तथ्य को बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा समझायो'। इसी पर हमें सहजरूप से ही यह निवेदन कर देने की धृष्टता कर लेनी पड़ी कि,–'समझ से तो यह समझ में आसकता है, किन्तु बुद्धि से, किंवा बुद्धिगम्या समझ से यह समझ में नहीं आसकता। यदि बुद्धि में समझ नहीं है तो फिर यह बुद्धि सर्वथा असमर्था है उसे समझने में क्योंकि– समझ बिना बुध बापड़ी।

४२६–अनन्तब्रह्म का ही किञ्चित् (कुछ) मानव, एवं इस 'किञ्चित्' की स्वरूपजिज्ञासा, तथा तत्समाधानभूमि उदाहरणविधिरूपा प्रतीकविधि—

आमित्येतत्। जब मानव इस तत्त्वपूर्णा सामञ्जस्य का समन्वय कर लेता है तो निश्चयेन उसकी समझ में (बुद्धि में) यह आजाता है कि, वास्तव में उस में और मानव में कुछ भी विभेद नहीं है। सचमुच मानव उसी का 'कुछ' है। 'कुछ' का तात्पर्य्य क्या प्रतीक है ! ! नहीं। इस प्रतीक–व्यामोहन के निराकरण के लिए ही तो हमें 'दिग्देशकालमीमांसा' जैसे प्रतीकात्मक व्यामोहन का अनुगमन करना पड़ा है। बुद्धिमान् मानव चाहता है सबकुछ प्रतीकात्मक दृष्टान्तविधि से ही समन्वित कर लेना। किसी भी सहज से सहज भी तथ्य को जब भी आप किस किसी भी मानव के सम्मुख रक्खेंगे, तत्काल उसका प्रथम प्रश्न होगा कैसे ! (कथम्)। अर्थात् 'उदाहरण दे कर समझाइए। इस उदाहरणविधि का नाम ही है–'प्रतीकविधि', एवं स्वयं 'उदाहरण' किंवा दृष्टान्त का नाम ही है– प्रतीक'।

४२७–प्रतीक की बुद्धिगम्यता का आग्रह, एवं तत्पूरक बालोपलालनात्मक–लौकिक उदाहरणों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

प्रतीक भी ऐसा होना चाहिए, जो बुद्धिगम्य हो। अर्थात् जो मानव की बौद्धिक–सीमा में समाविष्ट होसके। अर्थात् बुद्धि जिसे पकड़ सके। अर्थात् प्रतीक होना चाहिए–दिग्–देश–कालात्मक अर्थात् भौतिक जिसका कोई न कोई भौगोलिक निश्चित हो, जो पूर्वादि दिशाओं से समन्वित हो, साथ ही जो सर्वथा नैश्चयिक–यात्मक हो अर्थात् धामच्छद हो स्थानावरोधी (जगह रोकने वाला)–स्थूल–भौत–इन्द्रियगम्य–पदार्थ हो। वैसी यह बालबुद्ध्यनुगता जिज्ञासा है उदाहरण–दृष्टान्त–प्रतीक–जिज्ञासा है श्रुतिशास्त्रने आरम्भ में वैसे

यथा वा हिताहितविवेकरहितत्वान्मृग. स्वापायमपश्यन् गानतानश्रवणमोहितः सन् व्याधमभिसरति, एवम्–अज्ञानतिमिरसवृतात्मा खलु ससारवारिधिमहातरणि शिवपदसरलसरणि सिद्धिपददायक सकलगुणनायकम्, अनादिभवसचिताष्टविध–कर्मबन्धनोच्छेदक मिथ्यात्वग्रथिभेदक सम्यग्ज्ञानसुधावर्षणशील शील मविहाय

मृग.) विवेक रहित होने के कारण मृग जैसा यह अविनीत शिष्य भी (सील–शील) मूलोत्तरगुणरूप अथवा विनयसमाधिरूप साधुसबधी आचार को (चइत्ता–त्यक्त्वा) परित्याग कर (ण–खलु) निश्चय से (दुस्सीले–दु शीले) अविनयरूप दुराचार का (रमइ–रमते) सेवन करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—बोधविकल होने के कारण जैसे सूकर प्रशस्त आहार का परित्याग कर नितान्त अशुचि पदार्थका बड़े आनदके साथ सेवन करता है, तथा हिताहित विवेक से रहित होनेकी वजह से जैसे मृग भविष्य में होने वाली आपत्ति को नहीं जानता हुआ गान के सुनने में एकतान होकर अपने आप व्याध की जाल में फस जाता है, उसी तरह अज्ञानरूपी अधकार से आच्छादित हुआ अविनीत शिष्य भी ससाररूपी समुद्र से पार लगाने के लिये बड़े सुरक्षित जहाज जैसे, तथा शिवपद में लेजाने के लिये सुन्दर सीधे मार्ग जैसे, एवं सिद्धिपद को

भुंक्ते) ખાય છે (एवं) આ પ્રમાણે (मिए–मृग) વિવેકરહિત થવાને કારણે મૃગ જેવા આ અવનીત શિષ્ય પણ (सील–शील) મૂલોત્તર ગુણરૂપ અથવા વિનય–સમાધિરૂપ સાધુસબધી આચારનો (चइत्ता–त्यक्त्वा) પરિત્યાગ કરી (ण–खलु) નિશ્ચયથી (दुस्सीले–दुःशीले) અવિનયરૂપ દુરાચારનુ (रमइ–रमते) સેવન કરે છે

ભાવાર્થ— બોધવિકલ હોવાને કારણે જેમ સૂકર (ભૂડ) પ્રશસ્ત આહારનો પરિત્યાગ કરી નિતાન્ત અશુચિ પદાર્થનુ ભારે આનદથી સેવન કરે છે અને હિતાહિત વિવેકથી રહીત હોવાના કારણે જેમ મૃગ ભવિષ્યમા આવનારી આપત્તિને જાણતો નથી, કારણકે સગીતના સુરોમા એકતાન બનીને પોતે પોતાના હાથે શીકારીની જાળમા ફસાઈ જાય છે એવી રીતે અજ્ઞાનરૂપી અધકારથી આચ્છાદિત બનેલા અવિનીતશિષ્ય પણ સસારરૂપી સમુદ્રથી પાર કરવાવાળા મોટામા મોટા સુરક્ષિત જહાજ જેવા તથા શિવપદમા લઈ જવાવાળો સુદર સીધા માર્ગ જેવા અને સિદ્ધિપદને આપનાર એવા શીલ–અર્થાત્ મુનિના

४२५–'स एव' लक्षण अनन्तब्रह्म के स्वरूप–सम्बन्ध में सहज–जिज्ञासा की अभिव्यक्ति, तत्पूरक तदभिन्न 'मानव' एवं तद्दृष्टिकोण की बुद्धिपथ से अतीतता—

प्रज्ञाशील पाठकों को स्मरण होगा कि, प्रतीकात्मक–प्रश्न, तथा अंशीभावों से असंस्पृष्ट कालातीत अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतीकानुगता विप्रतिपत्ति का उत्थापन कर हमने यह जिज्ञासा अभिव्यक्त की थी कि–'तो क्या उस– वही –रूप अनन्तब्रह्म की कोई स्वरूप–परिभाषा नहीं है' । वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि, यदि इस सम्बन्ध में जिज्ञासु का बहुत ही अधिक आग्रह होता है तो श्रुतिशास्त्र प्रतीकव्यामोहनात्मक सम्पूर्ण दृष्टान्तों का निर्वेश प्रमाणित करता हुआ अन्ततोगत्वा एकमात्र 'मानव' को ही उस अनन्तस्वरूपरूप का 'कुछ' मान लेता है । अतएव कहा जासकता है कि, 'जो अनन्तब्रह्म है वही मानव है एवं जो मानव है वही अनन्तब्रह्म है' । इसी दृष्टिबिन्दु पर प्राकृत किन्तु बुद्धिमान मानव सहसा कह उठता है कि– बात समझ में नहीं आरही । हमें तो इस तथ्य को बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा समझाओ' । इसी पर हम सहजरूप से ही यह निवेदन कर देने की धृष्टता कर देंगे कि,– समझ से तो यह समझ में आसकता है, किन्तु बुद्धि से, किंवा बुद्धिगम्या समझ से यह समझ में नहीं आसकता । यदि बुद्धि में समझ नहीं है तो फिर वह बुद्धि सर्वथा असमर्था है उसे समझने में क्योंकि– समझ बिना बुद्धि थापड़ी ।

४२६–अनन्तब्रह्म का ही किञ्चित् (कुछ) मानव, एवं इस 'किञ्चित्' की स्वरूपजिज्ञासा, तथा तत्समाधानभूमि उदाहरणविधिरूपा प्रतीकविधि—

आमित्यंत् । जब मानव इस रहस्यपूर्णा श्रौतसूक्ति का समन्वय कर लेता है तो निश्चयेन उसकी समझ में (बुद्धि में) यह आजाता है कि वास्तव में उस में और मानव में कुछ भी भिभेद नहीं है । सचमुच मानव उसी का 'कुछ' है । 'कुछ' का तात्पर्य्य क्या प्रतीक' है ? । नहीं । इस प्रतीकव्यामोहन के निराकरण के लिए ही तो हमें 'दिग्देशकालमीमांसा' जैसे प्रतीकात्मक व्यामोहन का अनुगमन करना पड़ा है । बुद्धिमान् मानव चाहता है तत्कुछ प्रतीकात्मिका दृष्टान्तविधि से ही समन्वित कर लेना । किसी भी सहज से सहज भी तथ्य को जब भी आप जिस किसी भी मानव के सम्मुख रक्खेंगे तत्काल उसका प्रथम प्रश्न होगा कैसे ? (मस्तन) । अर्थात् 'उदाहरण दे कर समझाइए' । इस उदाहरणविधि का नाम ही है–'प्रतीकविधि' एवं स्वयं 'उदाहरण' किंवा दृष्टान्त का नाम ही है– प्रतीक' ।

४२७–प्रतीक की बुद्धिगम्यता का आग्रह, एवं तत्पूरक बालोपलालनात्मक–भौत उदाहरणों का स्वरूप–दिग्दर्शन —

प्रतीक भी ऐसा होना चाहिए, जो बुद्धिगम्य हो । अर्थात् जो मानव की बौद्धिक–सीमा में समाविष्ट होसके । अर्थात् बुद्धि जिसे पकड़ सके । अर्थात् प्रतीक होना चाहिए-दिग् देश-कालात्मक अर्थात् भौतिक जिसका कोई न कोई भोगस्थल निश्चित हो जो पूर्वादि दिशाओं से समन्वित हो साथ ही जो सर्वथा देशप्रदेशात्मक हो अर्थात् आमच्छुर हो स्थानावरोधी (जगह रोकने वाला)–स्थूल–भौत–इन्द्रियगम्य–पदार्थ हो । जैसी यह बालबुद्ध्यनुगता जिज्ञासा है उदाहरण–दृष्टान्त–प्रतीक–जिज्ञासा है अभिव्यक्तन आरम्भ में जैसे

पूर्वक यावज्जीवन अपनी समझ (बुद्धि) अपना मन, अपनी इन्द्रियाँ अपना शरीर, इन सब प्राकृत विभवों को एवं सर्वतोभावेन अपने आपको भी उस कर्त्तव्यनिष्ठा में ही केवल कर्त्तव्यबुद्धि से ही समर्पित कर ही देना है। कर्त्तव्यकर्म्मानुष्ठान ही हमारी 'समझ' की इयत्ता है। यदि भगवदनुग्रह से यह कर्त्तव्यबुद्धि भी हमारी प्रज्ञा में अभिव्यक्त होगई तो हम समझ लगे हमने सबकुछ समझ लिया जान लिया पहिचान लिया एवं प्राप्त कर लिया।

४२३–कर्त्तव्यानुष्ठानात्मक आचारधर्म्म से असंस्पृष्ट समझदार दार्शनिकों, तथा सन्तवादों के आचारनिष्ठाशून्य महतो महीयान् उद्‌गार—

यदि कर्त्तव्यबुद्धि की समझ नहीं आई हमें तो फिर कोरी 'समझ' हमारा क्या उद्धार कर देगी ? इस प्रश्न का ठीक ठीक समाधान तो वे दार्शनिक ही कर सकेंगे, जो समझने के लिए आतुर बनते हुए लौकिक (आधिभौतिक) पारलौकिक (आधिदैविक) समस्त कर्त्तव्यकर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित कर कार्य्य-कारण-विमर्शों से स्वयं भी उत्पीड़ित होते रहते हैं एवं समानधर्म्मा अकर्म्मण्यों को भी उद्विग्न बनाते रहते हैं। अथवा तो फिर वे सन्तसम्प्रदायवादी ही तथाकथित प्रश्न का समाधान करसकेंगे जो अपनी समझ (बुद्धि) से अपने गुरु की समझ (कृपा) से सबकुछ समझते हुए अपने भक्तों को अपनी समझ–(अनुभूति) का ही व्याख्यान देते हुए यही समझाते रहते हैं कि –'संसारोऽयमसार (बच्चा ! सावधान !। संसार असार है)। 'जीवनमिदं क्षणभङ्गुरम्' (जीवन दो दिन का भी नहीं अपितु क्षणमात्र का है)। 'सुखदुःखे–आगमापायिनौ' (सांसारिक सुख-दुःख-विनश्वर हैं, यों ही बदलते रहते हैं)। 'अतएव सर्वसम्बन्धत्याग सब से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए, और एकमात्र ऐसे महान् ज्ञानप्रदाता गुरुभगवान् की शरण में ही आजाना चाहिए। तभी तुम्हें परमपद मिलेगा)।

४२४–स्वानुगता समझ के सम्बन्ध में किञ्चिदपि दिग्दर्शन—

रही अब हमारी तो तत्सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि उस 'समझ' के (विश्व-समाज के) एकरूपात्मक प्रतीक के अनन्तकालात्मक महान् कालचक्र के भी अंशात्म–मत्स्यात्म–सूर्य–चान्द्र–सम्वत्सरात्मक के निःसीम अनुग्रह से समन्वित अपने जन्मदाता सगुण–ब्रह्ममूर्त्ति माता पिता के चरणों का श्रद्धापूर्वक, किंवा युगधर्म्मानुसार आभद्रा-पूर्वक संस्मरण करते हुए उसी मातापित्रा कर्म्मनिष्ठा का स्मरण-मात्र करते हुए भी यदि हम अपना यह प्राकृत जीवन व्यतीत कर सके भगवदनुग्रहानुग्रह से तो यही हमारे लिए पर्य्याप्त होगा। दूसरे शब्दों में–ऋषिशास्त्र पर हमारी गतानुगत–स्वस्तनरूपा श्रद्धा–सुरक्षित रहे, प्राकृत-बुद्धिमान् मानवों की कृपा से समुत्पन्ना युगधर्म्मानुगता–विषमा समस्याओं के इस भयावह प्रभञ्जनकाल में हम यथाकथंचित् ऋषिशास्त्र के दर्शन–स्पर्श–मात्र का महत्सौभाग्य प्राप्त करते रहें और यों सर्वथा–अध्य-वसितस्वरूपेणापि शास्त्रसंस्मरणपूर्वक भी अपना प्राकृत जीवन व्यतीत करसकें तो हमारी समझ से तो हमारे लिए यही पर्य्याप्त होगा—

> यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य–न वेद सः ।
> अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥
>
> —इशोपनिषत्

कालातीत अनन्तब्रह्म रूप प्रतीकात्मक जैसा सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त बन गया, जिस के समतुलन में यहां से (परमकाल से) आरम्भ कर मान्द्रमानात्मककाल–(गणनकाल) पर्यन्त के प्राकृत–कालिक विश्व में और और भी तुल्य अमूर्त–अव्यक्त–अनन्तभावात्मक सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्तात्मक प्रतीक नहीं था ।

४२९–बुद्धिपूर्वक समन्वय का महान् आग्रह, तदुपशमनार्थ ही 'दिग्देशकालमीमांसा' का पौद्धिक–विजृम्भण, एवं वस्तुगत्या दिग्देशकालभावों का निस्सारत्व—

बुद्धिगम्या–दिग्देशकालानुगता–भौतिक–व्याख्याओं को ही परमबुद्धिमानी–चमत्कारी–मानने–मनवाने वाले प्राकृत लोकचक्षु मानव प्रकृतिविमूढ दार्शनिक मस्तिष्क तथा भूतविमूढ वैज्ञानिक मस्तिष्क, इन तीनों वर्गों का (जिन का ही आज सम्पूर्ण विश्व में आधिपत्य है) यही महान् व्यामोहन रहता है कि मानव की सम्पूर्ण समस्याओं का समन्वय बुद्धिपूर्वक ही होना चाहिए, दिग्देशकालानुगत–क्रमव्यवस्थापूर्वक ही 'वस्तुनिरूपण' होना चाहिए। यही इन तीनों वर्गों की प्रश्नशैली है । एवं इसी क्रमव्यवस्थानुगता बुद्धिगम्या दिग्देशकालात्मिका उत्तरशैली से यह सन्तुष्ट होता है । जब कि वस्तुतः तथाविधा प्रश्नशैली, एवं तथाविधैव उत्तरशैली (इन्हीं की) महिमामय निर्वर्त के सम्मुख क्षणमात्र भी अपना अस्तित्व सुरक्षित नहीं रख सकती ।

४३०–दिग्देशकालनिबन्धना बुद्धि के महतोमहीयान् चमत्कारों से प्रभावित प्राकृत मानव का पौद्धिक–व्यामोहन, एवं तन्निग्रहार्थैव कालातीत अनन्तब्रह्म के प्रति तन्निरपेक्षता—

किन्तु मानव मानव जो ठहरा ऐसा प्राकृत मानव जो ठहरा जिसे 'बुद्धि' जैसा वह अमूल्य ! धन ! प्राप्त है जिसके माध्यम से, इसी पौद्धिक दिग्देशकाल के माध्यम से तन्नुमासिता क्रमव्यवस्थासिद्धा भूत–भौतिकी व्यवस्थाओं के माध्यम से उसने बड़े बड़े राज्यतन्त्र–स्थापित कर डाले (प्राकृत–लोकचक्षुष्मानवों ने), बड़े बड़े तत्त्वपूर्ण ज्ञानमीमांसा मक ग्रन्थ लिख डाले (प्राकृत–लोकव्याख्याता दार्शनिक मानवोंने), एवं महतोमहीयान् आश्चर्य्यप्रद भौतिक आविष्कार कर डाले (भौतिक–भूतविज्ञानवादी मानवोंने) । ऐसा सर्व–शक्ति–सामर्थ्य–भूत–परिग्रह–उत्पादन–सम्पन्न बुद्धिमान् मानव क्या बिना सोचे समझे एक अपठित अन्ध श्रद्धालु की भांति– शास्त्र कहता है इतनावता ही क्या किसी वैसे तत्त्व की सत्ता स्वीकार कर लेगा जिसकी न तो कहीं दिग्देशकालभीमांसा ही उपलब्धि हो रही अतएव न जो समझमें ही आरहा ! ।

४३१–दिग्देशकालविमूढ प्राकृत बुद्धिमान् मानव के बुद्धिदम्भ पर कालातीता आप–प्रज्ञा का प्रचण्ड प्रहार, तद्द्वारा विमोहनोपशान्ति, एवं तदनुग्रहार्थैव–'श्राधि मां, त्वां प्रपन्नम्' का प्रश्नतभाव से अनुगमन—

ऐसे ही बुद्धिगर्विष्ठ प्राकृत मानव पर पहिला और प्रचण्डतम–घोरघोरतम अनन्तकालात्मक जैसा प्रहार होता है आर्षप्रज्ञा के द्वारा जिसके क्षणिक अभिस्पर्शमात्र से उक्त त्रिविध मानव महामार्गों का सम्पूर्ण प्राकृत विमोहन उपशान्त होजाता है और यही आर्षप्रज्ञा एवं अत्र निबन्धे श्रद्धा–आस्था–पूर्वक प्रणतभाव से केवल अनुगता दिग्देशकालमीमांसा का एकमात्र महान् उदर्क है। इस उदर्कबिन्दु पर प्राकृत मानव अपने

पृथक् परागतीरन अपनी समझ (बुद्धि) अपना मन अपनी इन्द्रियाँ, अपना शरीर, इन सब प्राकृत विषयों का, एवं सर्वात्मना अपने आपका भी उस कर्मनिष्ठा में ही केवल कर्तव्यबुद्धि से ही समर्पित कर दी बना है। कर्तव्यकर्मानुष्ठान ही हमारी 'समझ' की इयत्ता है। यदि भगवदनुग्रह से यह कर्तव्यबुद्धि भी हमारी प्रज्ञा में अभिव्यक्त रहेगी तो हम समझ लेंगे, हमने अनुरूप समझ लिया, जान लिया पहिचान लिया एवं प्राप्त कर लिया।

४२३—कर्मव्यानुष्ठानात्मक आचारधर्म से असंस्पृष्ट समझदार दार्शनिकों, तथा सन्तवादों के आचारनिष्ठाशून्य महतो महीयान् उद्गार—

यदि कर्तव्यबुद्धि की समझ नहीं आ सकी तो फिर कैसी 'समझ' हमारा क्या उद्धार कर सकी!, इस प्रश्न का ठीक ठीक समाधान तो न दार्शनिक ही कर सकेंगे जो समझने के लिए आतुर बनते हुए लौकिक (आधिभौतिक) पारलौकिक (आधिदैविक) समस्त कर्तव्यकर्मों से बलात्कारेण समर्पित कर सम्य-भव्य-विनयों से स्वयं भी उत्पीड़ित होते रहते हैं एवं समानधर्मा कर्मकर्मठों को भी उद्विग्न बनाते रहते हैं। अथवा वो फिर न सन्तसम्प्रदायवादी ही तथाकथित प्रश्न का समाधान कर सकेंगे जो अपनी समझ (बुद्धि) से अपने गुरु की समझ (कृपा) से अनुरूप समझते हुए अपने लक्ष्यों की अपनी समझ—(अनुभूति) का ही व्याख्यान देते हुए यही समझाते रहते हैं कि—'संसारोऽयमसारः (बच्चा! सावधान!। संसार असार है)। 'जीवनमिदं क्षणभङ्गुरम्' (जीवन तो दिन का भी नहीं, अपितु क्षणमात्र का है)। 'सुखदुःखे-आगमापायिनौ' (सांसारिक सुख-दुःख-विनश्वर हैं, यों ही बदलते रहते हैं)। 'अतएव सर्वसम्बन्धत्यागः' सब से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए, और एकमात्र ऐसे महान् ज्ञानप्रदाता गुरुभगवान् की शरण में ही आजाना चाहिए। तभी तुम्हें परमपद मिलेगा)।

४२४—स्वानुगता समझ के सम्बन्ध में किञ्चिदिव दिग्दर्शन—

यही बात हमारी तो इस सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि उस 'समझ' के (विश्वात्मा के) पञ्चपर्वात्मक प्रतीक के अनन्तकालात्मक महान् कालचक्र के भी अहोरात्र—पक्षपरात्र—मास—ऋतु—सम्वत्सरचक्र के निःसीम अनुग्रह से समन्वित अपने जन्मदाता सगुण-अवमूर्ति माता पिता के चरणों का श्रद्धापूर्वक, किंवा युगधर्मानुसार सभक्ति-पूर्वक संस्मरण करते हुए उन्हीं मातापरता कर्मनिष्ठा का संस्मरणमात्र करते हुए भी यदि हम अपना यह प्राकृत जीवन व्यतीत कर सके भगवत्पुण्यानुग्रह से तो यही हमारे लिए पर्याप्त होगा। दूसरे शब्दों में-ऋषिविज्ञान पर हमारी अनन्यता-स्वाभाविकता श्रद्धा-सुरक्षित रहे, प्राकृत-बुद्धिमान् मानवों की कृपा से अनुरूपा युगधर्मानुगता-विषमा मनस्वियों के इस अद्भुत प्रपञ्चविश्व में हम यथाकथञ्चित् ऋषिविज्ञान के दर्शन-स्पर्श-ज्ञान का सद्भाग्य प्राप्त करते रहें और यों अन्यथा—अन्य-बहिष्करणेनापि शास्त्रसंस्मरणपूर्वक भी अपना प्राकृत जीवन व्यतीत करलें, तो हमारी समझ से तो हमारे लिए यही पर्याप्त होगा—

> यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य—न वेद सः ।
> अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥
>
> —केनोपनिषत्

४३४–प्रश्न–प्रदर्शनादि भावों से असंस्पृष्ट–नैष्ठिक मानव का आत्मसमर्पण, तदनुबन्धिनी तूष्णीभावानुगता सहज जिज्ञासा, एवं तद्विपरीत भावुक, किन्तु श्रद्धालु की जिज्ञासा का कान्त्यालोकन प्रतिषूच—

आत्मसमर्पण में न तो प्रश्न ही होता न कोई अन्य प्रदर्शन ही। अपितु यह सब तो यथादेशमूलक तूष्णीभाव से ही सम्बन्ध रखता है। श्रुतिभावानुसार–आर्षपद्धति में यद्यपि आत्मसमर्पण का एक स्वरूप नहीं है। अपितु वह प्रादेशमिता समिधा को श्रद्धारूप से हाथ में लेकर नाम–गोत्र का उच्चारणमात्र कर अन्तेवासी तूष्णीभाव से अभिवादन कर प्रणतमुद्रा से आचार्य्य के सम्मुख सद्भाव से नतमात्र हो जाता है। न तो कोई प्रश्न न कोई हृत्स्पन्दन एवं न अश्रुपूर्णानुलोचनता। ऐसी किसी भी भावुकतापूर्ण शिथिल वृत्ति का नैष्ठिक–जिज्ञासा के क्षेत्र में कोई भी सम्बन्ध नहीं है (देखिए छा० उप०)। इधर अर्जुन महाभाग अपनी उसी सहज भावुकता के आवेश में आकर इस रूप से जिज्ञासा कर रहे हैं कि–'मेरी बुद्धि नष्ट होगई है। मैं आपसे पूछता हूं। मैं धर्म्मसम्मूढचेता हूं। मैं आपका शिष्य हूं। मुझे मार्ग बतलाइए। मैं आपकी शरण में हूं'। जैसी भावुकतापूर्णा जिज्ञासा वैसा ही समाधान और उसका वैसा ही परिणाम। तभी तो सब कुछ समझ कर भी तो अर्जुन की स्खलनपरम्परा उपशान्त न होसकी सर्वात्मना। इसीलिए तो गीता विधिशास्त्र नहीं है आर्षमानव के लिए। अपितु यह तो लोकसमाहक–भावुकतावरुद्ध–कर्म्मश्रेयलक्षणशास्त्र मात्र ही है। तभी तो कर्त्तव्यविधि के सम्बन्ध में स्वयं भगवान्–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' रूप से इस महान् उत्तरदायित्व का सम्बन्ध गीता से न मानकर श्रुति–स्मृति-पुराण-शास्त्र से ही मान रहे हैं।

४३५–परमकालात्मक अनन्तकाल की प्रतीक्षता से उपशान्त मानव में सहज ब्रह्म जिज्ञासा का आविर्भाव, एवं तज्जिज्ञासा का धर्म्माचरण पर विश्राम—

वस्तुतः परमकालात्मक अनन्तकाल की प्रतीक्षा से उपशान्त बने हुए सहज मानव में ही 'जिज्ञासा' का उदय होता है जिसका–'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादिक्रमेण यशोगान हुआ है। और इस ब्रह्मजिज्ञासा से ही समित्पाणी जिज्ञासु अन्तेवासी मानव अब यहीं से उस 'समक्ष' की दीक्षा का अधिकारी बनता है जिससे बुद्धिव्यामोहनावस्था-पर्य्यन्त तो यह वञ्चित ही प्रमाणित हो रहा था। इस ब्रह्मजिज्ञासा का और धर्म्माचरण का उपक्रम एक साथ ही हो जाता है आचार्य्यकुल में इस अन्तेवासी का। ध्यान रहे धर्म्म की जिज्ञासा नहीं होती। धर्म्म का होता है आचरण एवं ब्रह्म की होती है जिज्ञासा।

४३६–जिज्ञासात्मक ब्रह्म, एवं आचरणात्मक धर्म्म भावुकता के निग्रह से दोनों क्षेत्रों का विपर्य्यय, तथा तन्निबन्धन ब्रह्माचरण-व्यामोहन, और धर्म्मप्रचारव्यामोहन—

ब्रह्म का जिज्ञासा से ही सम्बन्ध है तो धर्म्म का आचरण से (विधि–कर्त्तव्य से) ही सम्बन्ध है *। दुर्भाग्यवश अब दोनों का क्षेत्र बदल जाता है तो दोनों ही लक्ष्य मानव से अन्तर्मुख हो जाते

*–चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः। (पूर्वमीमांसासूत्र)

ये उदाहरण इसके सामने रखते भी हैं जैसाकि–इन्द्र–विरोचनाख्यान में विस्तार से प्रतिपादित है। दर्पण में प्रतिबिम्बित पुरुष, जल में प्रतिबिम्बित पुरुष, चक्षुःपटल में प्रतिबिम्बित पुरुष, प्रज्ञानपटल में प्रतिबिम्बित पुरुष, आदि आदि सभी उदाहरण उस आख्यान की मानुष्यावसंरक्षणपद्धति–लक्षणा दार्शनिक–पद्धति के ही सूचक बन रहे हैं। सभी दृष्टान्त भौतिक हैं, जबकि सृष्टिविज्ञान के अनुसार इन सभी औपनिषद दृष्टान्तों का प्रतीक से सम्बन्ध न होकर तत्त्वतः 'प्रतिरूपता' से ही सम्बन्ध है, जैसाकि अनुपद में ही निवेदन किया जाने वाला है। अपार प्रतिरूपविधि से उपनिषत् के ये सभी दृष्टान्त 'मानवस्वरूप' के अन्तर्गत आते हुए सर्वथा सिद्धान्त ही बने हुए हैं जिस इस आधिदैविकसर्ग का समन्वय करने में असमर्थ दार्शनिक–प्रज्ञाने सम्भवतः इन औपनिषद प्रतिरूप दृष्टान्तों के आधार पर प्रतीकात्मक–स्थाणुपुरुष–मृगमरीचिका–शशशृङ्ग–वन्ध्यापुत्र–आदि आदि–जैसे भौतिक दृष्टान्त ही मध्यस्थ बना लिए हैं अध्यासवाद के व्यामोहन से जो कदापि उस अमूर्त अनन्त के न तो प्रतिरूप ही हैं न प्रतीक ही। दार्शनिकों का महान् व्यामोहन यही था कि, वे इन भौतिक दृष्टान्तों के माध्यम से स्वयं भी उस अनन्त को बुद्धिगम्य बनाने के लिए आतुर हो पड़े थे एवं दूसरों को भी 'परमतानुगता–'दार्शनिकता' के व्यामोहन से बचाने के लिए आतुर बन गए थे। अतएव 'दर्शन' रूपा परानुगता इसी भावुकताने इसी बुद्धिवादात्मक व्यामोहनने दार्शनिक के मस्तिष्क में भौतिक–दृष्टान्तरूप व्यामोहन उत्पन्न कर ही तो दिया।

४२८–कालात्मक प्रतीक–दृष्टान्तों के अष्टविध (८) विवर्तों का नामसंस्मरण, एवं परम–कालात्मक अनन्तकाल की अन्तिम प्रतीकता का समन्वय—

दार्शनिक मस्तिष्क से उद्भूत दिग्देशकालात्मक–भौतिक–प्रतीकवाद की पर्य्यवसानभूमि था वह चान्द्रसम्वत्सरकाल जो अपनी 'वर्ष' मर्य्यादा से गणनकालात्मक बनता हुआ अन्यथा मातिरिक्तकाल ही प्रमाणित है। अतएव तत्त्वतः अपने इस केवल मातिरूप से तो न इस काल का ही कोई अस्तित्व, न दिक् का ही एवं न देशप्रदेश का ही। यही मानव की बुद्धिगम्या व्याख्या की वह भित्तिस्थली है जिस पर दार्शनिक, तथा तदाधारेणैव आविभूत–भूतवैज्ञानिक के सम्पूर्ण कालिक–दैशिक आडम्बर नर्तन कर रहे हैं। इसी व्यामोहन की उपशान्ति के लिए इसी चान्द्रसाम्वत्सरिक–वर्षात्मकात्मक–भूतकाल की प्रतीकता के माध्य से शास्त्र ने इस की अपेक्षया महतोमहीयान् पार्थिव सम्वत्सरकाल का तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् सौरसम्वत्सरकाल[1] का तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान्–महदक्षरलक्षण पारमेष्ठ्यकाल का तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् पुरुषरिस्वयम्भूकाल[2] का तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् अव्यक्त परोरजामूर्ति परमात्माकाल[3] का एवं तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् अनन्त–अमृतत्वकाल[4] का दिग्दर्शन कराते हुए इस प्रतीकता का पर्य्यवसान किया तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया अनन्तानन्त प्रमाणित उस महाकालरूप कालकालात्मक अनन्तकाल पर, जहाँ पहुँचते पहुँचते तो मानव की कालिक–दैशिक बुद्धि का व्यामोहन सर्वथा ही धूलिधूसरित होजाता है। और यहाँ आकर शास्त्रने 'काल' स ईयते परमो नु देवः रूप से एकबार पुनः कालोपलालन–माध्यम से मानव की भावुक–बुद्धि के निरोधभूत दम्भ को सर्वथा ही अभिभूत कर दिया इस अनन्तकाल जैसे अनन्तानन्तविवर्त को भी उस कालातीत परम अनन्त का एकांशमात्र–व्यतिरिक्तरूपमात्र ही बतलाते हुए। यों यह अन्तिम कालरूप परमकाल एकमात्र बुद्धिव्यामोहन को निर्मूल बनाने के लिए ही भूमिका में उस

एकमात्र मुख्य उद्देश्य है धर्म्माचारसंस्थापन *। अतएव अनन्तब्रह्म की जिज्ञासा के समाधान का, तथा अनन्तब्रह्म के महिमामय प्राकृतिक विश्व के सुव्यवस्थित बनजाने का, दोनों का मूलबीज धर्म्माचरण में ही सुरक्षित है– तस्माद्धर्म्मात् परं नास्ति' । (शतपथ ब्रा० १४।४।२।२६।) ।

४३६–ब्रह्मानुगत अभ्युदय-निःश्रेयस्–भावों की सिद्धि का अन्यतम द्वार धर्म्माचरण, एवं तद्द्वारा ही अनन्तब्रह्म, और अनन्त मानव की अभिन्नता का स्वरूप-बोधोदय—

अनन्तब्रह्मानुगत निःश्रेयस् , एवं विश्वानुगत अभ्युदय दोनों की सिद्धि धर्म्म पर ही अवलम्बित है–'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस सिद्धिः-स धर्म्मः' (कणादसूत्र) । और ऐसे धर्म्मानुशीलनपरायण धर्म्माचारनिष्ठ-सहज मानव की बुद्धि में ही 'संवित्' रूपा वह 'समझ' स्वतः प्रादुर्भूत हो जाती है हैमवती 'उमा' भगवती के अनुग्रह से +, जिस समझ के उदित होजाने पर अवश्य ही इसकी समझ में (बुद्धि में) यह भाव भी आजाती है कि–'जो यह अनन्तब्रह्म है, वही यह मानव है, एवं जो यह मानव है वही यह अनन्तब्रह्म है' । और यों अन्ततोगत्वा यहाँ आकर यथयावत् प्रतीकभाव अन्तर्लीन हो जाते हैं एवं स्वयं मानव ही उस अनन्तब्रह्म का 'किञ्चित्' ('कुछ') बन जाता है। ऐसी अवस्था में तो अब अनन्तब्रह्म की प्रतीक्षा का भी कोइ अर्थ शेष नहीं रह जाता ।

४४०–स्वस्वरूपबोधात्मिका 'संवित्', तदनुग्रहप्राप्तिमूलक धर्म्माचरण, एवं स्वतः आविर्भूता पारिभाषिकी 'समझ'—

"'समझ की 'समझ' को समझने के लिए सर्वप्रथम समझ का स्वरूप ही समझ लेना अनिवार्य्य माना है समझदारोंने' । यदि समझदार (बुद्धिमान्) मानव इस लोकसूत्र का समन्वय कर लेता है, तो फिर इसकी– समझ में नहीं आता' यह व्यामुग्धा निषेधमाणा सर्वात्मना समाप्त होजाती है । समझ' का लौकिक समझदार कहता है– बुद्धि' । इस बुद्धिरूप लौकिक समझ की जो समझ' है उसीका नाम है–'संवित्' । समझ की (बुद्धि की) इस 'समझ' (संवित्) को समझने के लिए मानव को 'समझ का (अर्थात् अपनी बुद्धि का) ही स्वरूप समझ लेना पड़ेगा जान लेना पड़ेगा । सचमुच यदि मानव अपनी इस समझरूपा बुद्धि का स्वरूप, अनन्तब्रह्मानुगता महिमा के समतुलन में इस अपनी बुद्धि की इयत्ता–परिमाण–ज्ञान लेता है तो इसका बुद्धिव्यामोहन स्वतः ही समाप्त हो जाता है । और तत्क्षण ही समझ में (बुद्धि में) न आने वाली समझ (संवित्) भी इसकी समझ में (बुद्धि में) बिना किसी प्रयास के स्वतः ही आविर्भूत हो पड़ती है ।

---

* यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
—गीता

+ देखिए । केनोपनिषत् ३।१२।

जन्मान्तरीय पुण्य से, सर्वोपरि इष्टदेवानुग्रह से यदि स्थिर होजाता है एकबार भी तो अवश्य ही इस की तपाकथित बुद्धिव्यामोहानुबन्धिनी प्रश्नोत्तरशैली एवं समझने–समझाने की आतुरता अवश्य ही उपशान्त हो होजाती है सदा सदा के लिए। एवं यहीं आकर यह सहज मानव केवल 'मानव' रूप से ही अभिव्यक्त हो पड़ता है और प्रश्नोत्तरविमर्शों के वाग्जालपाश से अतिमुक्त ऐसे मानव में ही 'शुद्धबुद्धि' का उदय होता है। यही शुद्धबुद्धि प्रणुनवत् अपने सम्पूर्ण बौद्धिक–व्यामोहनोंसे उपरत होती हुई अब प्रश्न न कर प्रश्नप्रश्न से यही कह कर ऋषिप्रज्ञा के प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण ही ■ कर देती है कि—

> कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेता ।
> यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि–मां, त्वां प्रपन्नम् ॥
> —गीता

४३२–दार्शनिक–भाषाप्रधान उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र, एवं सहजभाषा–प्रधान मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र, और तद्द्वारा ही उपनिषत् गीता आदि का सम्मा–वित– नैष्ठिक–समन्वय—

स्मरण रहे, उपनिषत् तथा गीता दोनों की भाषा दार्शनिक है। मन्त्रब्राह्मणात्मिका (ज्ञानविज्ञानात्मिका) सहजभाषा को आधार बनाए बिना उपनिषत्, तथा गीता का सहज समन्वय अन्य प्रकरन–सहस्रों से भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए–उसी 'प्रतीक' भाव को मध्यस्थ बनाइए, क्रमशः उक्त मीमांसाभाष्य की दृष्टि से। गीता इतिहास की भाषा है जिस में 'भावुकता' का पदे पदे संरक्षण हुआ है लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा जबकि ऋषिभाषा (वेदभाषा) में 'भावुकता' का संस्मरण भी निषिद्ध माना गया है। समझनेवाला पात्र है गीता में भावुक, क्षत्रियकुमार अर्जुन। अतएव क्षत्रियोचित दर्प सङ्कुचित विगलित हो जाने पर भी निर्दोष नहीं हुआ अर्जुन का। तभी तो गीतोपदेश के श्रवणानन्तर भी आगे चल कर अश्वत्थामा–कर्णवधादि प्रसङ्गों में अनेक बार इस भावुकने धर्मव्यतिक्रम कर डाला था एवं पुनः पुनः भगवान् को ही इस नितान्त भावुक अर्जुन का संरक्षण करते रहना पड़ता था।

४३३–आचारधर्म्मनिष्ठाविरोधिनी सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना हिन्दूमानव की भावुकता—

इसीलिए तो लोकश्रुत है कि–"बुद्धिव्यामुग्ध–व्यक्तित्वविमूढ–भावुक मानव पहिले तो कुछ सुनना–समझना–जानना ही नहीं चाहता। यदि समझ लेता है, जान लेता है, तो उसे कर्म्मरूप में परिणत करना नहीं चाहता अपने इसी व्यक्तित्वविमोहनात्मक दम्भ से किंवा इस भय से कि यदि मैं करने लग पड़ा, तो संसार के सामने मैं छोटा होजाऊँगा। यदि किसी बलवती प्रेरणा से करने लग भी पड़ा, तो यह कर्त्तव्य चिरस्थायी नहीं बनने पाता।" ऐसी है सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना अतएव दिङ्मूढा–देशविमूढा–कालविमूढा यह भावुकता जिस ने भारतीय सहज भी आस्तिक हिन्दूमानव को विगत तीन सहस्रवर्षों से तो आत्यन्तिकरूपेणैव पराङ्मुख ही प्रमाणित कर रक्खा है।

अधिक से अधिक विचार किया भी, तो अपने इस प्राकृत स्वरूप का पर्य्यवसान इसने अपने मन पर ही कर लिया। युग था सर्वेगा प्राकृत मानव का। किन्तु स्थिति तो कुछ ऐसी है कि, इसने हिरण्यगर्भ सूर्य्यनारायण की प्रत्यभूत 'बुद्धि'[1] का भी स्वरूप समन्वित नहीं किया जिस इस बुद्धि पर ही इसका सम्पूर्ण रूप प्रतिष्ठित है। जिस मानसिक अनुभूति का आधार चान्द्र मन है, जिसमें प्रज्ञा, और प्राण नामक दो तत्त्व समन्वित हुए हैं उस मन के इस चान्द्र साम्वत्सरिक स्वरूप का भी यह समन्वय न कर सका। और तो और, मर्त्यान्न के पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर के आधारभूत पार्थिव-गायत्र अग्नि के मर्त्य–चित्याग्निरूप को तथा अमृत–चिते-निधेयाग्निरूप को भी प्रकृतिसिद्ध त्रिविक्रम से यह समन्वित न कर सका। यों इसने वैकारिक शरीर विकारात्मक मन, विकृति प्रकृतिरूपा बुद्धि, इन स्थूल पर्वों का भी तो स्वरूपबोध प्राप्त नहीं किया। अपितु केवल अपनी मानसिक अनुभूति का ही नाम, स्पन्दनविशेषात्मिका सूक्ष्मक्रिया-विशेष का ही नाम इसने 'माइण्ड' रख लिया इस ही ने इसने 'मन मान लिया और यही इसकी बुद्धि की विश्रामभूमि बन गया। एवं कल्पित बुद्धिमाव से आविर्भूत कल्पित बुद्धिवाद को आधार बना कर ही इसने अपना अनन्तस्वरूप सर्वात्मना विस्मृत ही तो कर दिया।

४४४ दिग्देशकालभ्रान्त-विस्मृतिपरायण–मानव की कल्पना से आविर्भूता प्रश्नावली, तत्काल्पनिक समाधान, एवं तद्द्वारा इसकी काल्पनिक–तुष्टि—

और इसी विस्मृति को आधार मान कर इसने जैसे वैसे कल्पित प्रश्न खड़े कर लिए कल्पना के माध्यम से ही जिन्हें यह बुद्धिगम्य प्रश्न मान बैठा एवं इनके बुद्धिगम्य उत्तर की ही लालसा जागरूक हो पड़ी जिस इयंभूत बुद्धिगम्य प्रश्न का एकमात्र उत्तर इसके बुद्धिगम्य प्रश्न से भी कहीं भयानक बुद्धिगम्य-प्रश्न ही होसकता है। और आश्चर्य्य है कि, उस प्रश्न को ही यह उत्तर मान कर सन्तुष्ट हो जाता है मानो इसे इस मायान्वित प्रश्न से ही अपने बुद्धिगम्य प्रश्न का समाधान मिल गया हो।

४४५–प्राकृतशैली से अनुप्राणित–'प्रश्न का उत्तर प्रश्न', तद्द्वारा भावुक मानव के विमोहन का प्रयास, एवं उसका सम्भावित उद्बोधन—

इसी शैली को ही प्राकृतशैली कहा गया है जिसका अर्थ है–'प्रश्न का उत्तर भी प्रश्न ही'। क्योंकि बिना इस शैली के बुद्धि का अजीर्ण उपशान्त ही नहीं होता। प्रकृतिनिबन्धन अतएव कार्य्य–कारणात्मक अतएव च बुद्धिगम्य इयंभूत प्रश्नों के उत्तर वैसे प्रश्न ही तो होंगे, जो प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न को ही अधिक विस्तृत कर उसके बुद्धिव्यामोहन को और भी अधिक व्यामोहन में डाल देने की क्षमता रखते हैं। और इस बड़े बुद्धिव्यामोहनात्मक बड़े प्रश्न से ही जब छोटे प्रश्न करने वाले की बुद्धि थक जाती है तो इस थकान को ही मान लेता है वह अपने बुद्धिगम्य प्रश्न का समाधान।

---

[1]— हिरण्यगर्भो भगवान् (सूर्य्य) 'बुद्धि'–रिति स्मृतः।
—महाभारत शा० मो० १०२ अ०।

है । मानवबुद्धि जब ब्रह्म के सम्बन्ध में आचरण की धारणा, एवं धर्म्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा की चेष्टा करने लग पड़ती है, तो दोनों ही पथभ्रष्ट बन जाते हैं मानव से । ब्रह्म कभी आचार में नहीं आता, तो धर्म्म कभी प्रचार में नहीं आता ब्रह्म अनुशीलनात्मिका जिज्ञासा से ही अनुप्राणित है तो धर्म्म आचरणात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से ही अनुप्राणित है । जिज्ञासात्मक प्रश्न का ब्रह्म से ही सम्बन्ध है, एवं आचारात्मक प्रश्न का धर्म्म से ही सम्बन्ध है । ब्रह्माचारव्यामोहनानुगत धर्म्मप्रचार-व्यामोहन ने ही एक ओर जहाँ धर्म्म के आचारपक्ष को शिथिल कर दिया है, तो वहाँ दूसरी ओर इसी से ब्रह्मविचारपक्ष शिथिल होगया है । ब्रह्मविचारसारपरमा भगवती शारदा की उपासना से पराङ्मुखा मानव की मानवबुद्धि आज धर्म्म पर तो 'विचार' का प्रयोग करने लग पड़ी है, एवं ब्रह्म पर आचारात्मक 'साक्षात्कार' का प्रयोग करने लग पड़ी है । क्योंकि दर्शनव्यामोहनात्मक कल्पित आचार ही आज क ब्रह्मजिज्ञासा का ब्रह्माचाररूप ब्रह्मदर्शन (ईश्वरदर्शन) बन रहा है । ऐसे ब्रह्मसाक्षात्कार-परायण प्राकृत मानव ही धर्म्म-प्रचारमात्र के लिए आतुर बने रहते हैं । धर्म्मप्रचार के 'व्याज' ('छल') से ये अपनी अनुभूतियाँ अपने ब्रह्मसाक्षात्कारों से ही भावुक जनता को उन्मुग्ध बनाते रहते हैं, जबकि धर्म्मप्रचार की एकमात्र आधारभूमि मानी गई है—'धर्म्माचरण' 'कर्त्तव्याचरण' ।

४२७—अभिनिवेशनिवारक धर्म्माचरण, तत एव ब्रह्मजिज्ञासा का उदय, एवं सत्यकाम की धर्म्माचरणमूला ब्रह्मजिज्ञासा, और तच्छान्ति—

धर्म्माचरण ही वह महान् माध्यम है जिसके द्वारा मानवबुद्धि का व्यक्तित्वविमोहनात्मक अभिनिवेश (दुराग्रह—हठधर्म्मी) दूर हुआ करता है । इस अभिनिवेश के हटने से ही मानव में ब्रह्मजिज्ञासा का उदय होता है जिस जिज्ञासा के उत्तर में इसे उत्तरोत्तर आचारनिष्ठा में ही प्रवृत्त करते हैं ऋषिमानव । जिज्ञासा का स्वतन्त्ररूप से कोई समाधान नहीं होता । सत्यकाम जाते हैं ब्रह्मजिज्ञासा लेकर महर्षि गौतम के समीप । उत्तर मिलता है गोसेवारूप प्राथमिक उस धर्म्माचरण के रूप में जो गोपशु और वेदतत्त्वात्मक गोतत्त्व का प्रतिरूप बनता हुआ मानव के प्राकृत दोनों अभिनिवेशों का परिमार्जक माना गया है । इसी से तो सत्यकाम को कालान्तर में वह शुद्धबुद्धि प्राप्त होजाती है जिससे स्वतः ही सत्यकाम की ब्रह्मजिज्ञासा उपशान्त हो जाती है एवं पुनरावर्त्तन पर ऋषि को कहना पड़ता है कि—'ब्रह्मविद् इव सोम्य ! ते मुखं भाति' (छा० उप० ४।१४।७) स्पष्टम्रूपेण आचार की सीमा में ही ब्रह्मजिज्ञासा का सफल समाधान सुरक्षित है ।

४२८—ब्रह्मजिज्ञासात्मक प्रश्नों से असस्पृष्ट अवतारपुरुषों का धर्म्मात्मक-कर्त्तव्याचार संस्थापन के लिए ही युग युग में आविर्भाव—

अतएव भारतराष्ट्र के ब्रह्मरूप अवतारपुरुषों तक ने आजीवन धार्मिक—कर्त्तव्यव्यापारों का ही स्वयं भी अनुगमन किया है एवं अपने उपदेशोंसे तत्कालीन समाज का भी उद्बोधन कराया है । ब्रह्मजिज्ञासा के उपशम के लिए भगवान् कभी करुणा करके अवतार नहीं लिया करते । अपितु भगवान् के अवतार का

दासी सूकरीसन्निधौ गत्वा तदीयशिशुं समानीय राजपुत्र्यै समर्पयामास। सा च राजपुत्री वात्सल्येन सूकरशिशुं पालयन्ती कदाचित्तमङ्के स्थापयति, स्नापयति, तदङ्ग करेण प्रोञ्छयति, कदाचित् तदङ्गसलग्ना धूलिमपसारयितुं मार्जयति, विविधं मिष्टान्नं भोजयति, मृदुलशय्याया स्वसमीपे स्वापयति। सा राजपुत्री तस्य सूकरशिशोर्गले चरणेषु च सकिङ्किणीकं स्वर्णाभरणं रचयति, पृष्ठोपरि बहुमूल्यकं विविधवर्णरञ्जितं 'झूल' इति प्रसिद्धं स्वर्णजटितवस्त्रं च वितरति। एवं सा राजपुत्री पुत्रवत् सूकरशिशुं लालयतिस्म।

एक दिनकी बात है कि जब वह अपने महलके झरोखे में बैठी हुई बाहर की ओर निहार रही थी कि सहसा इसकी दृष्टि एक सूकरी पर पड़ी, जो अपने बच्चोंको संगमें लिये हुए वहीं पर इधर-उधर फिर रही थी। उसे देखकर उसने मन में विचार किया कि यह सूकरी मेरी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है, जो कम से कम अपने बच्चों के साथ घूमा करती है। इस अवस्था में इसे जो आनंद मिलता है वह यही जान सकती है। एक मैं अभागिनी हूं जो राजमहल में रहती हुई भी इस प्रकार के सुख से वंचित बनी हुई हूं। इस प्रकार का विचार कर उसने अपनी एक दासी को बुलाया और कहा कि जाओ और इन सूकरी के बच्चों में से एक बच्चे को ले आओ। आज्ञा पाते ही दासी सूकरी के पास पहुँची और वहां से एक बच्चे को उसने उस राजपुत्री के लिये लाकर दे दिया। राजपुत्री ने भी बड़े आनंद के साथ उसका पालन पोषण करना प्रारंभ कर दिया। इस सिलसिले में कभी वह उसे अपनी गोद में बैठा लेती,

જ્યારે એ પોતાના મહેલના ઝરૂખામાં બેઠી બેઠી બહાર જોઈ રહી હતી, કે સહસા તેની દૃષ્ટી એક ભૂંડણ ઉપર પડી. જે પોતાના બચ્ચાઓને સાથમા લઈને આમતેમ ઘુમી રહી હતી તેને જોઈને રાજકન્યાએ મનમા વિચાર કર્યો કે આ સૂકરી મારા કરતા ઘણી સુખી છે, જે પોતાના બચ્ચાઓ સાથે લઈને ફરે છે, આ અવસ્થામા એને જે આનંદ મળતો હશે તે એજ જાણતી હશે. એક હુ જ એવી અભાગણી છુ કે રાજમહેલમા રહેવા છતા પણ આ પ્રકારના સુખથી વચિત બનેલ છુ આ પ્રકારનો વિચાર કરી તેણે પોતાની એક દાસીને બોલાવી અને કહ્યું કે જાઓ અને એ સૂકરીના બચ્ચામાંથી એક બચ્ચુ લઈ આવો. આજ્ઞા મળતા જ દાસી સૂકરીની પાસે પહોચી અને ત્યાથી એક બચ્ચુ લઈ રાજપુત્રી પાસે આવી તેને સુપ્રત કર્યું રાજપુત્રીએ તેનુ સારી રીતે પાલન પોષણ કરવાનુ શરૂ કર્યું આ ઉત્સાહમા તે કોઈ વખત સૂકરીના બચ્ચાને પ્રેમથી પોતાના ખોળામાં બેસારી દેતી, ક્યારેક તેને નવડાવતી

४४१–स्वस्वरूपबोध की इच्छा से ही स्वस्वरूपबोध का अनुग्रह, एवं तद्वञ्चित प्राकृत मानव की प्रकृति–पुरुष–स्वरूप–विमूढ़ता—

'स्वस्वरूप का बोध ही इसे उस स्वरूप का बोध करा देता है, जोकि यही स्वरूप इसका वास्तविक स्वरूप है' इस सूत्र का भी यही अर्थ है जो पूर्व सूत्र का है। मानव का बुद्धिगम्य स्वरूप ही प्रकृति-दृष्ट्या 'स्वस्वरूप' है और उसी का नाम है 'प्राकृतस्वस्वरूप'। दुर्भाग्य तो इस बुद्धिमान् प्राकृत मानव का यह है कि यह अपने बुद्धिगम्य इस प्राकृत-स्वरूप को भी तो नहीं जान रहा। प्रकृति से पर अवस्थित अप्राकृत स्वरूप की बात अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए हम छोड़ देते हैं। केवल बुद्धिगम्य प्राकृत-स्वरूप की ही बात करते हैं। सचमुच महतोमहीयान् भी इस प्राकृत मानवने अपने इस महतोमहीयान् उस प्राकृत-स्वरूप का भी तो चिन्तन नहीं किया है, जिसका चिन्तन, और समन्वय इसकी प्राकृत-बुद्धि से ही सम्भव माना है शास्त्र ने।

४४२–प्रकृति की ६ ठी वैकारिक परम्परम्परा से अनुप्राणित जड़भूतों के प्रति प्रकृतिजन्य व्यामोहन, एवं तद्व्यामोहन में ही इसकी भूतबुद्धि की परिसमाप्ति, और उसके भीषण परिणाम—

इसने तो अपने आपको इस सीमापर्य्यन्त खो कर लिया है जिसके सम्बन्ध में कोई भी वक्तव्य शेष नहीं रह जाता। प्रकृति के विकाररूप प्रकृतिविकृतिभाव तद्विकाररूप वैकारिकभाव अपञ्चीकरणात्मक स्थूलमहाभूतभाव एवं अपञ्चीकरणात्मक प्रत्यक्षदृष्ट भूत-भौतिक पदार्थ इस सम्पूर्ण प्राकृत परम्परा में से मानव की बुद्धि ने आज पर्य्यन्त के सर्वथा वैकारिक-प्रत्यक्षदृष्ट-भूत-भौतिक-पदार्थों को ही दुर्भाग्यवश 'प्रकृति' मान लिया है एवं इसकी व्याख्या में ही अपनी बुद्धि परिसमाप्त कर दी है। और इस सीमापर्य्यन्त समाप्त कर दी है जिस सीमा से तो कुछ इधर ही पशुओं की भी बुद्धि कुछ अधिक जान लेती है। जानकर इन बुद्धिगम्य-भावों से यथावश्यक अपना परित्राण कर लेती है जबकि मानव अपने पशुसमतुलित इन बुद्धिगम्यभावों से उत्पन्न भावों से भी अपना त्राण नहीं कर पाता। इससे अधिक मानव का, इसकी बुद्धि का सर्वोपरि इसकी बुद्धिगम्या व्याख्या का एवं तदनुप्राणित कल्पित व्यक्तित्व-विमोहन का दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास और क्या होगा ?। इसीलिए हमने कहा है कि, यदि यह अपना प्राकृत स्वरूप भी जान लेता तो तद्द्वारा भी इसे अपने प्रकल्पित अप्राकृत स्वरूप का तो बोध हो ही सकता था।

४४३–स्व प्राकृत, और पौरुष–स्वरूप से सर्वथा पराङ्मुख प्राकृत मानव के लिए अधिष्ठाता सौर हिरण्यगर्भमूला 'बुद्धि', एवं तद्द्वारा स्थूलभूतों के भी प्राकृत स्वरूप से पराङ्मुख मानव की सब विस्मृति—

किन्तु !। इस किन्तु, परन्तु तथा, पुनः में ही यह अपनी बुद्धि को आलोडित–विलोडित करता रहा। भौतिक रूपों की व्याख्या–समन्वयों में तो यह आहोरात्र प्राणपण से जुटा रहा। किन्तु स्वयं 'यह' क्या है ? इस अपने प्राकृत स्वरूप के सम्बन्ध में इसने अपनी बुद्धि से क्षणमात्र भी कभी विचार भी नहीं किया *।

---

* न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः संनद्धो मनसा चरामि। (ऋक्सं० १। ६४ ३७)।

ही प्राकृत बुद्धिमान मानवों को इनके सम्मुख महान् प्रश्न खड़े कर परोक्षरूपेण उद्बोधन ही प्रदान कर रही है।

४४८–वेदशास्त्र के सम्पूर्ण प्राकृत उत्तरों की रहस्यपूर्णा सम्प्रश्नात्मकता, एवं तदनुगत 'न तं विदाथ य इमा जजान' लक्षण महान् उद्बोधनप्रश्न—

निश्चय ही वेदशास्त्र के सम्पूर्ण उत्तर सम्प्रश्नात्मक ही बने हुए हैं, यह हमें इस तथ्य से विदित हो जाता है कि, सम्पूर्ण प्राकृत प्रश्नों का आधिदैविक–प्राकृत–धर्म–विज्ञान के माध्यम से सर्वात्मना समाधान करने वाला भी वही वेदशास्त्र उस अप्राकृत–अनन्तप्रश्नात्मक–कालातीत–कार्य्यकारणातीत–स्वतः प्रमाणित, मन्त्र सर्वेश्वर उत्तर के मध्य में अपनी इन विज्ञानात्मिका प्राकृत-व्याख्याओं का विमोहन उपशान्त ही कर देता है, जिस शान्तिसूत्र से तो सचमुच ही मानव का बुद्धिगम्य एकान्तवाद ही विगलित हो जाता है। और उस महान् सूत्र का अभिव्यक्तरूप है यह कि—

> न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
> नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥
>
> —ऋक्सं० १०।८२।७।

४४९–सम्प्रश्नात्मक उद्बोधनप्रश्न का रहस्यात्मक समन्वय, एवं तत्समतुलित औपनिषद-मन्त्र का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

यह उसी ऋग्वेद का महान् सूत्र है जो भारतीय ज्ञानविज्ञान का, तन्मूलक सम्पूर्ण सृष्टिरहस्यों का महान् कोश है जिसने सम्पूर्ण प्राकृतिक रहस्यों के उक्था (मूलकारणों) का विस्तार से विश्लेषण किया है। वही ऋग्वेद स्वयं ही आज उन्हीं उक्थों तथा उक्थशासों को उस प्रकृत्यतीत अनन्त के समतुलन में उद्बोधन प्रदान कर रहा है। ऋषि कहते हैं स्वयं अपने को ही परोक्षरूप से युष्मच्छब्दरूपेण लक्ष्य बना कर कि–'तुम लोग सर्वथा यह नहीं जानते कि, जिसने यह सबकुछ उत्पन्न किया है'–'न तं विदाथ–य इमा जजान'। 'तुम्हारे अन्तर्जगत् में–भौतिक जगत् में जो ज्ञानात्मक विजृम्भण बैठा हुआ है, वह कुछ और ही है। अर्थात् जैसा तुमने अपनी इन बुद्धिगम्या व्याख्याओं से उसे समझ रक्खा है, तुम्हारे समझे हुए से वह कुछ पृथक् ही है। अर्थात् वह है कुछ और एवं समझ रक्खा है तुमने कुछ और ही – 'अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव'। अब ऋषि परोक्षरूपेण ऐसे अरण्यवासियों की (अर्थात् स्वयं अपने आप की ही) आलोचना करते हुए आगे चल कर कहते हैं कि,–'जिसप्रकार नीहारिका से घनीभूत 'कोहरे' से चारों ओर से आच्छन्न–(ढँका हुआ) एक व्यक्ति सब को स्पष्टतम–सीधा–मार्ग बतलाने की भ्रान्ति करता रहता है ठीक उसीप्रकार प्राकृत–व्याख्यारूप–कार्य्यकारणविश्लेषात्मक महतोमहीयान् नीहार से (कोहरे से) चारों ओर से आवृत (ढँके हुए) साथ ही अत्यन्त स्पष्टरूप से निर्णायकरूप से–'यह ऐसा ही है इसी प्रकार अमुक कारण से अमुक कार्य्य अमुक प्रकार से यों ही बना है बनता है

४४६-सेर का सवासेर से, बताशे का पन्सेरी से परिमाण-समतुलन, एवं तत्समद्‌-लित उत्तर से ही बुद्धिमान् के बुद्धिदम्भ की उपशान्ति—

सहज-भाषा में यों कह लीजिए कि, वणिक्‌तन्त्र में सेर को जब सवासेर से तौल दिया जाता है तो तुलवाने वाले की 'सेर' की निष्ठा समूल नष्ट हो जाती है। उदाहरण तो यहाँतक मिलता है लोक में कि- बताशे को चतुर वणिक् पन्सेरी से तौलकर दिखला देता है। और फिर भी तुलवाने वाले महान् बुद्धिमान् की दृष्टि में बताशा पन्सेरी से भी अधिक भारी ही प्रमाणित हो जाता है। सचमुच इस उपाय के अतिरिक्त प्रश्नकर्त्ता बुद्धिमान् के प्रश्न का और कोई भी तो उत्तर नहीं हो सकता जो उत्तर एक महान् प्रश्न के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखता।

४४७-असमाधेय प्रश्नात्मक 'सम्प्रश्न' के द्वारा ही मानव का सम्भावित अनुरञ्जन, एवं सम्प्रश्नशैली का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्योंकि उस बुद्धिमान् की बुद्धि को यह कैसे समझाया जाय कि, श्रीमन् ! वह तत्त्व कार्य्यकारणातीत बनता हुआ आपकी, और हमारी, दोनों की ही समझ से बहिर्भूत है। उसके सम्बन्ध में न कार्य्यकारणात्मक प्रश्न ही खड़े होसकते न कार्य्यकारणात्मक उत्तर ही होसकते। किन्तु प्रश्नकर्त्ता प्राकृत-बुद्धिमान् मानव उत्तर के बिना क्योंकि सन्तुष्ट ही नहीं होगा। अतएव उस के सम्मुख विवश बनकर तटस्थ मानव को एक और बड़ा प्रश्न ही खड़ा कर देना पड़ता है। बुद्धिगम्य महान् प्रश्नात्मक वो उत्तर ही वैदिक-परिभाषा में 'सम्प्रश्न' नाम से प्रसिद्ध हुआ है जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बन रहा है-'सोऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग ! वेद यदि वा न वेद' (अरे ! तुम हम से सृष्टि के कार्य्यकारण-सम्बन्ध में पूँछ रहे हो। भला हम क्या समाधान कर सकते हैं इन प्रश्नों का। हम ही नहीं इस सम्पूर्ण विश्व का जो परमाकाशात्मक कोई अध्यक्ष (अध्यक्षप्रकृतिरूप स्वयम्भू) है, हम तो कहेंगे-वह भी तुम्हारे इस प्रश्न का समाधान करसकता है, अथवा नहीं अत्रापि सन्देह। प्रतारणापूर्वक उद्बोधन की ऐसी विशिष्ट शैली हम समझते हैं विश्व के और किसी प्राकृत साहित्य में उपलब्ध नहीं होसकती। अब यह प्रश्नकर्त्ता का अपना विवेक है कि, वह इस सम्प्रश्नात्मक महान् प्रश्न से अधिक बुद्धिव्यामोहन में इसलिए आबद्ध कि-'देखा कैसा प्रश्न किया है। मान गए न अब तो उत्तरदाता भी हमारा----

इत्यादि'। और या अपने इस अधिक-व्यामोहन में ही प्रश्नकर्त्ता बुद्धिमान् समाप्त हो जाता है। यदि सम्प्रश्न के द्वारा गुरुकृपानुग्रह से विवेक जागरूक हो पड़ता है तो इसी सम्प्रश्न के द्वारा प्रश्नकर्त्ता का सम्पूर्ण बुद्धिव्यामोहन उसी क्षण उपशान्त हो जाता है एवं यही सम्प्रश्न इसे महान् उद्बोधन प्रदान कर देता है। किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्' 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'-'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस०' इत्यादि श्रुतियाँ इस * सम्प्रश्नशैली के माध्यम से

---

* यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं 'सम्प्रश्नं' भुवना यन्त्यन्या ॥
—ऋक्सं० १०।८२।३।

स्वरूप । अपितु हमारे लिए तो कालातीत तत्त्व यह महामाया जगन्माता जगदम्बा ही है, जिसके बिना न तो महाकाल का महाकालत्व ही सुरक्षित रह सकता, न कालातीत अनन्तब्रह्म महिमारूप से अपने आपको 'सर्वव्यापक' उपाधि से ही समलङ्कृत कर सकता। अतएव हम तो इस 'प्राकृतस्वरूप' को ही अपना (मानव का) स्वरूप मानेंगे। एवं इसी को आधार बना कर पुनः उसी पूर्वसूत्र को दोहरा देंगे कि–'स्वस्वरूप का–(प्राकृतस्वरूप का) बोध ही इसे (प्राकृत मानव को) उस स्वरूप का (मायातीत अनन्त ब्रह्म का) बोध करा देता है जो कि यह स्वरूप (अनन्तब्रह्मस्वरूप) ही इसका (प्राकृत मानव का) वास्तविक (प्रकृतिसमन्वित अनन्तब्रह्मात्मक) स्वरूप है"। स्वयं भगवान्पुरुषोत्तम भी इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम 'माया' दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ (सुकृतिन —इति यावत्)

—गीता ७।१४।

४५१–प्राकृत बुद्धि के द्वारा परिगृहीत दिक्-देश-काल-भावों की वास्तविक–अनन्तता से बुद्धि का पार्थक्य—

बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा मानव उसे समझना चाहता था। उसके समझने के लिए मानव ने जितने भी प्रश्न किए थे वे सब अवश्य ही बुद्धिगम्य प्रश्न थे। अतएव मानव के इन दिग्देशकालानुबन्धी–असम्भवस्याप्रसिद्ध अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बुद्धिगम्य प्रश्नों का शास्त्र ने समादर किया, एवं समादरभाव की रक्षा के लिए ही इसके सम्मुख बुद्धिगम्या व्याख्या से ही अनुप्राणित दिक्-देश-काल-भावों का स्वरूप उपस्थित किया गया जिस इस स्वरूप के माध्यम से अवश्य ही इसकी बुद्धि ने यह स्वीकार कर लिया कि, काल का जैसा गणनात्मक सीमित स्वरूप बुद्धि ने समझ रक्खा था वस्तुतः इसके समझे–समझाये हुए दिक्-देश-काल–की अपेक्षा काल–दिग्–देश कहीं अनन्त हैं। और यह अनन्त ऐसा अनन्त है, जो बुद्धिगम्य बनता हुआ भी बुद्धिग्राह्य नहीं है।

निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ॥
तस्यच्छामात्रमात्मन्य त्वं महायोगिनी परा ॥२॥
महामाया कालिकाख्या कालमातुर्महाद्युतेः ॥
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ॥३॥

—तन्त्रशास्त्रे

—न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ (गीता)

बनता रहेगा (धाता यथापूर्वमकल्पयत्), इसप्रकार की व्यक्त वाणी से जल्पन * करते हुए, क्रिया का भार अपने अर्थ्यान्तरात्मक सन्निबिज्ञानों का वितानरूप जल्पन करते हुए + ऐसे उक्थशास बिखर रहे हैं। मूलकारण का ही नाम 'उक्थ' है जिसके आधार पर ही सत्यात्मिका उक्थविद्याएँ, एवं इन सम्पूर्ण विद्याओं की मूलभूता महदुक्थविद्या' प्रतिष्ठित है वेदशास्त्र में। ऐसी विद्याओं की विस्तार से व्याख्या करने वाले ही 'उक्थशास' (काव्यकारणविरूपकाः) । कहलाए हैं। और हाँ कैसे हैं ये अस्या उक्थशास ? । 'असुतृप' । अपनी इन व्याख्याओं से ये स्वयं अपने आपको अपने प्राणों को सर्वात्मना तृप्त मान लेते हैं। सन्तुष्ट हो जाते हैं अपनी इन व्याख्याओं से एवं दूसरों को भी सन्तुष्ट मान लेने की भ्रान्ति करते रहते है-'नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति' । हम समझते हैं—प्राकृत-मानवात्मक बुद्धिव्यामोहन का स्वयं अपने ही मुख से इसप्रकार निराकरण कर देना अपनी उक्थविद्या के सम्पूर्ण प्राकृत विवर्तों को यों ऋतुभाषा से उस अनन्त में समर्पित कर देना प्राकृत मानव का तो काम नहीं हो सकता। जो ऐसा कर सकता है सचमुच वही 'अप्राकृत ऋषिमानव' है। और अवश्य ही ऐसा ऋषिमानव ही उस अनन्त से अभिन्न बनता हुआ उसका 'कुछ' माना जा सकता है। इसी तथ्य को उपनिषत् ने अपनी दार्शनिकी आलंकारपूर्णा व्यक्त भाषा में यों अभिव्यक्त किया है कि—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—कठोपनिषत्

४५०–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मक महान् सम्भ्रम के द्वारा स्वविमोहनोपशान्ति का प्रयास, परिणामतः अधिक व्यामोहन का आविर्भाव, एवं तद्नुगत निःसीम व्यामोहन-भार से ही सम्भाविता विमोहन-निवृत्ति—

दिग्देशकालमीमांसात्मक प्रस्तुत विस्तृत सन्दर्भ से हमने स्वयं अपने प्राकृत-विमोहन की उपशान्ति का ही प्रयासाभास किया है। इस महान् सम्भ्रम से हमने अपने प्राकृत-बुद्धिव्यामोहन को और अधिक व्यामोहन से ही समन्वित किया है। क्योंकि अपने प्राकृत भार की अपेक्षा इस अत्यभार से दबे रहना ही हमारे उद्बोधन का किसी न किसी जन्म में तो कारण बन ही जायगा निश्चयेन बन ही जायगा सप्तप्रश्नात्मक अनन्तकालात्मक महाकाल की × माता महामाया के सहज अनुग्रह से। अभीप्सित नहीं है हमें कालातीत

---

* जप-जल्प-व्यक्तायां वाचि ।

— 'वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' । (न्यायसूत्र १।१।)

×–त्वं परा प्रकृतिः साक्षात् ब्रह्मणः परमात्मनः ।
त्वत्तस्त्वादि-भूतानां त्वया सृष्टमिदं जगत् ॥१॥

स्वरूप। अपितु हमारे लिए तो कालातीत सत्य यह महाकाली जगन्माता जगदम्बा ही है जिसके बिना न तो महाप्रपञ्च का महाकालत्व ही सुरक्षित रह सकता, न कालातीत अनन्तब्रह्म महिमारूप से अपने आपको 'सर्वव्यापक' उपाधि से ही समलङ्कृत कर सकता। अतएव हम तो इस 'प्राकृतस्वरूप' को ही अपना (मानव का) स्वरूप मानेंगे। एवं इसी को आधार बना कर पुनः उसी पूर्वसूत्र को दोहरा देंगे कि–'स्वस्वरूप का–(प्राकृतस्वरूप का) बोध ही इसे (प्राकृत मानव को) उस स्वरूप का (मायातीत अनन्त ब्रह्म का) बोध करा देता है, जो कि यह स्वरूप (अनन्तब्रह्मरूप) ही इसका (प्राकृत मानव का) वास्तविक (प्रकृतिसमन्वित अनन्तब्रह्मात्मक) स्वरूप है"। स्वयं भगवान्पुरुषोत्तम भी इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम 'माया' दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (सुकृतिन —इति यावत्)

—गीता ७।१४।

८५१–प्राकृत बुद्धि के द्वारा परिगृहीत दिक्-देश-काल-भावों की वास्तविक–अनन्तता से बुद्धि का पार्थक्य—

बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा मानव उसे समझना चाहता था। उसके समझने के लिए मानव ने जितने भी प्रश्न किए थे वे सब अवश्य ही बुद्धिगम्य प्रश्न थे। अतएव मानव के इन दिग्देशकालसम्बन्धी–अव्यक्ताव्यक्तपरात्परादि अन्तरङ्ग ही महत्त्वपूर्ण बुद्धिगम्य प्रश्नों का शास्त्र ने समादर किया, एवं समादरभाव की रक्षा के लिए ही इसके सम्मुख बुद्धिगम्या व्याख्या से ही अनुप्राणित दिक्-देश–काल–भावों का स्वरूप उपस्थित किया गया जिस इस स्वरूप के माध्यम से अवश्य ही इसकी बुद्धि ने यह स्वीकार कर लिया कि काल का जैसा गणनात्मक सीमित स्वरूप बुद्धि ने समझ रक्खा था वस्तुतः इसके समझे–समझाये हुए दिक्–देश–काल–की अपेक्षा काल–दिग्–देश कहीं अनन्त हैं। और यह अनन्त एक अनन्त है जो बुद्धिगम्य बनता हुआ भी बुद्धिमात्र नहीं है।

निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥
तस्येच्छामात्रमालम्ब्य त्वं महायोगिनी परा॥२॥
महामायाः कालिकाया कालमातुर्महाद्युते॥
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना॥३॥

—तन्त्रशास्त्रे

—न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ (गीता)

४५२–बुद्धि के द्वारा अग्राह्या, किन्तु बुद्धिगम्या अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के सम्बन्ध में बौद्धिक प्रयोगों की आत्यन्तिक असमर्थता, एवं प्राकृत दिग्देशकालत्रयी के माध्यम से अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के साथ बुद्धि की अभिन्नता—

बुद्धि तटस्थरूप से समक्ष होती है उस अनन्तकाल की। किन्तु जिसप्रकार बुद्धि अपने समक्ष हुए साम्वत्सरिक दिग्–देश–काल का ग्रहण कर इस पर अपने आधारात्मक प्रयोग कर डालती है वैसे समक्ष हुए भी उस अनन्तकाल–दिग्–देश–पर बुद्धि अपना आधारात्मक प्रयोग नहीं करसकती। साथ ही बुद्धि यह भी स्वीकार कर लेती है कि, जिन सीमित दिग्–देश–कालों के माध्यम से इस के मौलिक–व्यक्त–भूत–प्रयोगात्मक आधार क्रमव्यवस्थापूर्वक व्यवस्थित हैं क्रमव्यवस्थात्मक, प्रयोगाधारात्मक वह दिग्देशकाल वस्तुतः उस अनन्तकाल–दिग्देश के सम्प्रवाह में सर्वथा ही प्रतिष्ठित ही है एवं वही इस का आधार है किंवा वही अपने प्रतिष्ठितरूप से यह बन रहा है। और अतीतम वही आद्य इस का सर्वस्व स्वरूप है। अतएव यह काल और वह काल अभिन्न है। यही काल वह काल है किंवा वही काल यह काल है। किंवा 'यही' और 'वही' में कोई भी अन्तर नहीं है। अर्थात् बुद्धिगम्य बुद्धिव्याप्त्या–सापेक्ष बौद्धिक आधार–प्रयोगात्मक इस सादिसान्त दिग्देशकाल में तथा बुद्धिगम्य बुद्धिव्याप्त्या–अपेक्ष किन्तु बौद्धिक प्रयोगाधारों से एकान्त असंस्पृष्ट उस अनाद्यनन्त कालदिग्देश में अन्ततोगत्वा कोई भी मौलिक भेद नहीं है। और तब बुद्ध यों अपने इस बौद्धिक–बुद्धिगम्य–प्राकृत–आधारात्मक–स्वरूप से ही सादिसान्त कालात्मक भी प्राकृत मानव इस नाते से अन्तर से सामान्य से विशेष से ही जैसा अनन्त बन जाता है जैसा महिमामय बन जाता है यह जान–कर इस की सादिसान्ता भी बुद्धि क्या इस अपने ही आनन्त्य से प्रभावित नहीं हो जाती ?। हम समझते हैं–हो जाती है और अवश्य ही हो जाती है। एवं अवश्य ही इस की यह बुद्धि अपने इस प्राकृत कालानन्त्य के स्मरणमात्र से अपना सम्पूर्ण बौद्धिक व्यामोहन छोड़ कर अपने ही उस महिमामय प्राकृत कालानन्त्य के लिए–'कालाय तस्मै नमः' इस प्रणतभाव का समर्पण कर देती है।

४५३–श्रद्धाभावापन्न समर्पण का मूलबीज, तदभिन्न स्वस्वरूपदर्शन, तद्द्वारा कालानन्त्य की अनुग्रहप्राप्ति, एवं तदानन्त्य से समन्विता भूतप्रपञ्चाधारभूता अनन्ता बुद्धि—

कैसे अभिव्यक्त हुआ–मानव में यह श्रद्धाभावापन्न समर्पण ?। उत्तर है एकमात्र–'स्वस्वरूपदर्शन'। मानव की बुद्धि जबतक 'पर' दर्शन को ही अपना अवलम्ब बनाए रहती है तबतक इसे स्वयं अपने कालानन्त्यात्मक प्राकृतानन्त्य का भी बोध नहीं होपाता। और इस परदर्शन में मानवबुद्धि स्थूल विषयों की अपेक्षा अपने आपको बहुत छोटा समझने लग पड़ती है, जबकि वस्तुस्थिति ठीक इस से विपरीत है। प्राकृत–अचेतन–जड़–पदार्थ मानव की प्राकृत–चेतन–बुद्धि की अपेक्षा बड़े नहीं होते हैं। मानव की बुद्धि में भूत प्रतिष्ठित हैं। यद्यपि भूतों में मानव की बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव बौद्धिक भूत (बुद्धि की सीमा में प्रविष्ट भूत) ही मानव बुद्धि की तृप्ति के कारण बनते हैं।

४५४-बौद्धिक-ज्ञानानुगत अस्तित्व के 'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' मूलक तथ्य का स्वरूप-दिग्दर्शन—

जबतक भूत, एवं भूतानुबन्धी भौतिक दिग्देशकाल बुद्धि में समाविष्ट नहीं होजाते, बुद्धि के गर्भ में नहीं आजाते, तबतक कदापि उन भूतों का कुछ भी महत्व नहीं है। यह आभाणकासी भाव ही प्रमाणित कर रही है कि, बुद्धि का चेत्र विशाल है भाव भूतों की अपेक्षा। क्या बुद्धि के बिना इन भूतों का कोइ अस्तित्व है ?। कदापि नहीं। 'ज्ञायते अतः अस्ति'। 'हम जानते हैं इसीलिए ये भूत हैं'। ज्ञानसीमा से पृथक् होते ही नामरूपकर्मात्मक भूतों का अस्तित्व विलुप्त हो जाता है। किन्तु परामपता से मानवबुद्धि इस भ्रम में पड़ रही है कि, भूतों से ही, भूतात्मक दिग्देशकाल से ही उसे ज्ञान होता है। अर्थात् भूत ही उस की बुद्धि को ज्ञानप्रदान करते हैं। तो फिर सुप्तावस्था में ये भूत बुद्धि को ज्ञान क्यों नहीं प्रदान करदेते ?। क्योंकि बुद्धि तो मानव में सुप्तावस्था में भी रहती ही है। किन्तु देखते हैं, सुप्तावस्था में सम्पूर्ण बाह्य भूत अपना अस्तित्व ही विलुप्त किए रहते हैं। बुद्धि के व्यक्त होते ही, बुद्धि की सीमा में आते ही बौद्धिक अनुग्रह से भूतों का अस्तित्व अभिव्यक्त होपड़ता है। यही अवस्था अन्यान्य ऐन्द्रियक विषयों की है। भूतात्मक मानव समझता है—बाह्य विषयों में आनन्द है, सुख है जिनके साथ सम्पर्क स्थापित करके ही इन्द्रियाँ सुखी बनती हैं। किन्तु यहाँ भी बात ठीक इस से उल्टी ही है। इन्द्रियानन्दकी सीमा में प्रविष्ट होकर ही विषय सुखरूप बनते हैं। यदि इन्द्रिय की सीमा में विषय प्रविष्ट नहीं होवे, तो उनका कोइ मूल्य नहीं है। इन्द्रियसीमा में प्रविष्ट विषयों में इन्द्रियानन्द मात्रारूप से प्रविष्ट होजाता है। एवं इस इन्द्रियसुख से समन्वित होकर ही विषय सुखात्मक बनते हैं।

४५५-भौतिक-विषयसुखों का स्रष्टा भूतात्मा एवं तदनुग्रह से ही भौतिक विषयों की सुखरूपता—

हम विषयसुख के जनक हैं, कदापि विषय हमारे सुखके जनक नहीं हैं। जिन जिन भूत-भौतिक-विषयसुखों का हम भोग करते हैं, वे सम्पूर्ण भोग वे सम्पूर्ण विषय वे सम्पूर्ण सुखमात्रायें पहिले से ही हमारी इन्द्रियों में विद्यमान हैं। हम अपने ही सुखका भोग करते हैं। कदापि विषय हमारे सुखभोग के कारण नहीं हैं। अतएव जबतक हमारी इन्द्रियसुखमात्रा प्रकृतिस्थ बनी रहती है तभीतक इन की सीमा में प्रविष्ट विषय सुखमात्रा की प्राप्ति के अधिकारी बने रहते हैं।

४५६-भूतात्मानुगता सुखराशि की अव्यक्त-महान्-बुद्धि-मन-इन्द्रिय-आदि अर्वाचीन भावों में आदानप्रदानपरम्परा का स्वरूप-दिग्दर्शन—

जब हमारा इन्द्रियमात्रासुख अन्तर्मुख होजाता है, तो फिर कदापि इन्द्रियसीमा में आए हुए भी विषय अपनी सुखमात्रा सुरक्षित नहीं रख सकते। यही कारण है कि एक व्यक्ति जहाँ लालमरीचिका (मिर्च) खाते ही आँखों में आँसू भर लाता है तो वहाँ दूसरा सीत्कार भी नहीं करता। मानना पड़ेगा कि, तिक्तता मिर्च का स्वरूप नहीं है। अपितु यह तो इन्द्रियमात्रा है। जब इन्द्रियप्राण अन्तर्मुख हो जाते हैं तो ये ही विषय सुखरूपता से वञ्चित हो जाते हैं। विश्वास कीजिए ! इन्द्रियाँ जिन वैषयिक रसों का उपभोग करती हैं, वे

सम्पूर्ण रस इन्द्रियों की प्रातिस्विक सम्पत्ति है। जिस इन्द्रिय में जो रसमात्रा जिस अवयम्यानुपात से रहती है, उसी अनुपात से विषयों को ये रसमात्राएँ ऋणरूप से मिलती हैं। विषय ऋणी हैं इन्द्रियों के। किन्तु आश्चर्य है कि परदर्शनमूला भावुकता से इन्द्रियोंने विषयों का ऋणी मान लिया है। भावुकता के आवेश से व्यक्ति एक उदारव्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति ऋण में प्रदान कर देता है। इस ऋणदान से या न्तर में वह स्वयं दरिद्री बन जाता है। और आवश्यकता पड़ने पर यह उसी ऋणग्रहीता के समीप जाता है। एवं यदि वा कुछ इसे मिल जाता है उसी से यह सन्तुष्टि का अनुभव करता है एवं इस अपने ही ऋण के प्रत्यर्पण से यह अपने आप को इस भ्रान्ति का अनुगामी मान बैठता है कि, मानो इसे यह अधमर्ण (कर्जदार) सुख पहुँचा रहा है लाभ पहुँचा रहा है। वैषयिक मन्त्रा की भी ठीक यही अवस्था है। इन्द्रियसुख का ऋण लेकर तो विषय सम्पन्न बने हैं। और इनसे पुनरावर्त्तन कर यह इन्द्रियवर्ग ऐसा मान बैठता है कि, इन विषयों से ही मुझे सुख मिल रहा है। एक व्यक्ति के मुखमें नींबू के नामस्मरण से भी पानी आजाता है तो दूसरा बड़ी सरलता से इस का निगरण तक कर जाता है। विषय अपने स्वरूप से समान किन्तु ऐन्द्रियक अनुभूतियाँ प्रत्येक की पृथक् पृथक्। ऐसा क्यों? इसलिए कि इन्द्रियानुभूतियाँ स्वयं इन्द्रियों की अपनी सम्पत्ति है। इन का जैसा स्वरूप होता है, तन्नुपात से ही विषयों पर इन्द्रियों का अनुग्रह होता है। और यों सर्वात्मना बुद्धिगम्या दृष्टि से ही प्रमाणित है कि इन्द्रियसुख ही विषयसुख का कारण है कदापि विषय इन्द्रियसुख का कारण नहीं है।

४५७—सन्तानधारात्मकमसिद्धा सुखमात्राएँ, एवं अन्तोपक्रम से अनन्तान्वेषण के लिए समातुर दार्शनिक का महान् बौद्धिक–व्यामोहन—

अर्थात् इन्द्रियाध्यक्ष मन का सुख ही इन्द्रियसुख का कारण है कदापि इन्द्रियाँ मानसिक सुख का कारण नहीं हैं। मानसिक सुखमात्रा का ऋण लेकर ही इन्द्रियाँ सुखात्मिका बन रही हैं। मन कदापि इन्द्रियों में नहीं है अपितु सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मनोगर्भ में समाविष्ट हैं। अर्थात्-मनकी अध्यक्षभूता बुद्धि का सुख ही मानसिक सुखका कारण है। कदापि मानसिक सुख बौद्धिक सुखका कारण नहीं है। बौद्धिक–सुखमात्रा का ऋण लेकर ही मन सुखात्मक बन रहा है। बुद्धि कदापि मन में नहीं है। अपितु मन ही सर्वात्मना बुद्धि के गर्भ में समाविष्ट है। और ऐसी महिमाशालिनी बुद्धिको तृप्त करने के लिए आन्त मानव न केवल मानसिक सुख को ही नापि केवल इन्द्रियसुख को ही अपितु भूतों के प्रति अनुधावन करता रहता है जो इसकी महिमा के समतुलन में अपना कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहे। और उन भूतों की व्याख्या को ही यह कहने लग पड़ता है बुद्धिगम्या–व्याख्या। एवं सर्वोपरि इन भूतव्याख्याओंसे ही इसे यह भ्रान्ति भी हो पड़ती है कि, "मैं अब अवश्य बुद्धिमान् हूँ" अर्थात् 'बुद्धि' नामक कोई तत्त्व अवश्य मुझ में है। मानो इन भूतोंने ही बुद्धिका अस्तित्व स्थापित किया हो। अन्त से अनन्त को ढूँढने के ऐसे ही तो दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं दार्शनिक–बुद्धि को।

४५८—यथयावत् प्राकृत–खण्डात्मविवर्तो के समतुलन में अनन्त–भावापन्न महान् मानव—

'अर्थात्' की सीमा अभी समाप्त नहीं हुई है। बुद्धि का अध्यक्ष है महान्। यह पारमेष्ठ्य महान् ही बौद्धिक सुख का कारण है। कदापि बुद्धि महान्सुख का कारण नहीं है। महत्तत्त्व की सुखमात्रा का ऋण

लेकर ही बुद्धि बुद्ध्यात्मिका बन रही है। महान् कदापि बुद्धि में नहीं है। अपितु बुद्धि सर्वात्मना महद्-गर्भ में समाविष्ट है। और आगे चलिए। महान् का अध्यक्ष है अव्यक्तमात्र, जिस के पुण्डीराव्यक्त परोरजा-अव्यक्त, अश्वत्थाव्यक्त, एवं सर्वान्त का अनन्त कालात्मक अव्यक्त, ये क्रमिक सोपानभाव हैं, जिन इन सब की समष्टि को हम यहाँ- 'अव्यक्त' नाम से समन्वित कर लेते हैं। (कर लिया है महर्षि कठ ने)। यह अव्यक्त गुण ही महद्गुण का कारण है। कदापि महद्गुण अव्यक्तगुण का कारण नहीं है। अव्यक्त-कालब्रह्म की गुणमात्रा लेकर ही महान् गुणात्मक बन रहा है। अव्यक्त कदापि महान् में नहीं है। अपितु स्वयं महान् अव्यक्त के गर्भ में समाविष्ट है। और यहाँ आकर बुद्धिगम्या क्रम-व्यवस्था उपशान्त है। भौतिक विश्वरूप अर्थ, तदनन्तर इन्द्रियाँ तदनन्तर मन, तदनन्तर बुद्धि, तदनन्तर महान् तदनन्तर अव्यक्त इस बुद्धिगम्या क्रमधारा के समतुलन में सर्वान्त के अर्थरूप भौतिक विश्व का इस इन्द्रिय-मनो-बुद्धि-महान्-अव्यक्त-रूप प्राकृत मानव के समतुलन में क्या महत्त्व शेष रह जाता है ? प्रश्न का अब तो प्राकृत मानव को सम्यक् निर्णीत हो ही जाना चाहिए, और हो ही गया होगा। क्योंकि अन्ततोगत्वा मानव 'मानव' है। और निश्चयेन अनन्त है यह 'मानव' इस सम्पूर्ण भौतिक विश्व की तुलना में।

४५९ महाकाल कालाश्वत्थ, कालाव्यक्त, कालमहान्, कालबुद्धि, कालमन, कालेन्द्रियवर्ग, कालशरीर, आदि आदि यथायथ कालविवर्तों के समतुलन में प्राकृत-मानव का कालात्मिका अनन्तता का समन्वय—

अनन्त-अव्यक्त-अमूर्त-महाकालात्मक-प्रथम 'अव्यक्त' पर्व के गर्भ में अश्वत्थाव्यक्तब्रह्म, तद्गर्भ में परोरजामूर्ति परमकालाव्यक्तब्रह्म तद्गर्भ में पुण्डीरस्वयम्भू-अव्यक्त-ब्रह्म और यहाँ तक अनन्त-अमूर्त-'अव्यक्त' का ही साम्राज्य अतएव इन चारों अव्यक्त-ब्रह्मभावों का 'अव्यक्त' नाम से ही संग्रह। इस अव्यक्त के गर्भ में पारमेष्ठ्य महान्, इस महान् के गर्भ में सौरी बुद्धि, इस बुद्धि के गर्भ में चान्द्र मन तद्गर्भ में चान्द्रप्राणविभूतिरूप इन्द्रियाँ तद्गर्भ में चान्द्र-पार्थिव भूतात्मक बाह्य अर्थ (विषय)। बाह्य अर्थों की समष्टि का नाम ही 'शरीर' और यही प्राकृत मानव का महतोमहीयान् प्राकृत स्वरूप। जैसा महिमामय स्वरूप उस अनन्ताव्यक्तकाल का वैसा ही स्वरूप इस प्राकृत मानव का। 'वही' 'यह' है। जो 'वह' अनन्त कालाव्यक्त ब्रह्म है वही 'यह' प्राकृत मानव है। और अवश्य ही बुद्धिगम्या कालदिग्देशात्मिका (दिग्देशकालात्मिका नहीं) व्याख्या से मानव की यह प्राकृत-अनन्तता समन्वित हो रही है समझ में आ रही है प्राकृत मानव के। यदि अब भी समझ में नहीं आ रही तो अब कहना पड़ेगा कि, फिर न तो मानव 'मानव' ही है एवं न इस की यदि 'बुद्धि' ही है।

४६०-चक्षुरिन्द्रियानुगत-प्रत्यक्षभूतमात्र के प्रति व्यामुग्ध बुद्धिमान् मानव की बुद्धि के प्रति प्रणामाञ्जलियाँ समर्पित, एवं तन्माध्यम से तत्प्रति 'त्रिदि नष्टानयेतम ' का संस्मरण—

यदि चक्षुरिन्द्रिय के ठीक सामने रक्खे हुए स्थूल भूतपिण्ड को ही मानव अपनी बुद्धि के मूल्यांकन का आधार मान रहा है एकमात्र इस प्रत्यक्षमान पर ही मानव ने अपनी बुद्धि का किया मानमस्वरूप

अस्मिन्नर्थे सूकरदृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

वङ्गदेशे क्षितिप्रतिष्ठितनगरेऽरिमर्दननामा नृपो बभूव। तस्य सप्त कन्यका आसन्। स भूपतिस्तासां कन्यकानां यौवने वयसि प्राप्ते ता एकैकक्रमेण विवाहिताः। तत्रैका कन्यका कर्मयोगतो विवाहानन्तरमचिरेणैव कालेन पतिहीना जाता। एकदा सा गवाक्षे स्थिता कुतश्चित् समागतां सपुतां सूकरीं दृष्ट्वा चिन्तयामास—अहो! धन्यमस्या जन्म, यदियं बहुभिरपत्यैः सार्धं विचरन्ती सुखमनुभवति। इति विचिन्त्य सा स्वदासीमब्रवीत्—अत्रैकं सूकरशिशुं समानय। तदाज्ञया

को सेवता है। अज्ञान की महिमा अपार है। समस्त अनर्थों की जड़ एक अज्ञान ही तो है। अज्ञान आते ही पहिले वह विवेकपर ही कुठाराघात करता है। जिस आत्मा से विवेक का लोप हो जाता है उस आत्मा में विविध कष्टरूपी कांटे खडे हो जाते हैं। यह अज्ञान अनेक प्रकार के दुर्गुणों को उत्पन्न करता है। तथा तप और संयम का विनाशक है, यह प्रमाद को उत्पन्न करनेवाला है, तथा स्वर्ग और मोक्ष के सुखोंका विघातक है॥ इस पर सूकर का दृष्टान्त इस प्रकार है—

बंगदेश में क्षितिप्रतिष्ठित नामका एक सुन्दर नगर था। अरिमर्दन नामका राजा उसका शासक था। इसके सात कन्याएँ थीं। राजा ने इनका क्रमशः जब वे तरुण अवस्थावाली हो चुकीं विवाह कर दिया। कर्मकी विचित्रतावश एक लड़की विवाह के बाद ही विधवा हो गई।

તે અવિનીત ત્યાગ કરી અપકારક દુઃશીલને સેવે છે અજ્ઞાનની મહિમા અપાર છે સમસ્ત અનર્થોની જડ એક અજ્ઞાન જ છે અજ્ઞાન આવતાની સાથે જ તે સહુ પ્રથમ વિવેક ઉપર જ ઘા કરે છે જે આત્મામાથી વિવેકનો લોપ થઈ જાય છે એ આત્મામા નાના પ્રકારના કષ્ટરૂપી કાટાઓ બીછાવાઈ જાય છે એ અજ્ઞાન અનેક પ્રકારના દુર્ગુણોને ઉત્પન્ન કરે છે તથા તપ અને સયમનો વિનાશ કરે છે એ પ્રમાદને ઉત્પન્ન કરનાર છે તથા સ્વર્ગ અને મોક્ષના સુખોનો નાશ કરનાર છે

આ ઉપર સૂકરનુ દષ્ટાત આ પ્રકારે છે

બગદેશમા ક્ષિતિ પ્રતિષ્ઠિત નામનુ એક સુદર નગર હતુ અરિમર્દન નામના રાજાનુ શાસન હતુ, તેને સાત કન્યાઓ હતી રાજાએ તેના ક્રમ પ્રમાણે જેમ જેમ ઉમર લાયક થતી ગઈ તેમ તેમ તેના વિવાહ કરી આપ્યા. કર્મની વિચિત્રતાવશ એક પુત્રી વિવાહ પછી વિધવા બની. એક દિવસની વાત છે કે

के लिए ही 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' अभिव्यक्त हुई है बुद्धिनिष्ठ सहजमानवों के सम्मुख। इस मीमांसा ने मानव के सम्मुख इसके महतोमहीयान् प्राकृत स्वरूप का ही विश्लेषण किया है। अवश्य ही मानव इस प्राकृत कालदिग्देशस्वरूप के माध्यम से बुद्धिपूर्वक अपने महतोमहीयान् स्वरूप की सर्वात्मना पहिचान सकता है, जान लेता है। एवं इसी प्राकृत स्वरूपबोध से इसके दिग्देशकालात्मक सम्पूर्ण प्राकृत-आचार-(कर्त्तव्य) अनन्यरूपापूर्वक सुव्यवस्थित होजाते हैं। इसी का नाम है प्राकृत मानव का अभ्युदय, ऐहलौकिक पुरुषार्थ विश्वस्वरूपानुगता सुख-समृद्धि।

४६३-प्रकृति से अतीत अनन्त ब्रह्म की अनुग्रह प्राप्ति के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित प्राकृतकालात्मक-आचारलक्षण-कर्त्तव्य की अनुगति, तथा आचार के पूर्वबोधात्मक 'शाब्दज्ञान' के 'ज्ञानत्व' का, एवं तदुत्तरबोधात्मक 'आचारज्ञान' के 'कर्म्मत्व' का समन्वय

अब शेष रह जाता है-अनन्त प्राकृत विश्वाधारभूत कालातीत अनन्तब्रह्म जो प्रकृति से अतीत है। और इसीके समझने में प्राकृत मानव की बुद्धि कुण्ठित होजाती है। इसी दृष्टिबिन्दु को लक्ष्य बनाकर ऋषि इसे यह उद्बोधन प्रदान करते हैं कि 'तुम्हारी यह कुण्ठित मनोवृत्ति तभीतक है जबतक कि तुम अपने प्राकृत स्वरूप को पहिचान कर तदनुसार कर्त्तव्य में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त नहीं हो जाते। कर्म्मवर्जित प्राकृतबोध वस्तुतः प्राकृत बोध है ही नहीं। मिश्री का कितना ही बुद्धिगम्य वर्णन क्यों न कर दिया जाय। जबतक उसे रसनेन्द्रिय से समन्वित नहीं कर लिया जाता, तबतक कदापि वर्णनस्वरूपात्मक बोधप्रदर्शों से भी मिश्री की सहज मधुरता से रसनेन्द्रिय परिचित नहीं होसकती। यही शब्दात्मक बोध तथा आचारात्मक बोध में महान् विभेद है। इसका यह तात्पर्य्य कदापि नहीं है कि, शब्दात्मक बोध का कोई महत्त्व नहीं है आचारात्मक बोध के समतुलन में। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि बिना शब्दात्मक बोध के आचारात्मक बोध उपक्रान्त ही नहीं होता। उस एक ही आचार के पूर्वबोध का नाम शाब्दबोध है एवं उत्तरबोध का नाम आचारबोध है। शाब्दबोध का नाम ही 'ज्ञान' है एवं आचारबोध का नाम ही 'कर्म्म' है। शाब्दबोधात्मक प्राकृतज्ञान ही आचारबोधात्मक कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। और इस दृष्टि से 'ज्ञानपूर्वक कर्म्म' को ही प्रशस्त माना जायगा माना गया है *। अतएव च इसी दृष्टि से यह भी कहा और मान लिया जासकता है कि 'बिना समझे कदापि कर्म्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए'। क्या तात्पर्य्य है इस वाक्य का ?।

४६४-बौद्धिक तर्कजाल से व्यामुग्ध बुद्धिमान् मानव के अभिनिवेश से 'सवित्' रूपा 'ममक', तथा कर्त्तव्य 'काम' भावों की पराङ्मुखता—

प्रश्न इसलिए उपस्थित हो पड़ा कि, इस वाक्य के तात्पर्य्य का समन्वय न करसकने के कारण ही आज मानव की लोकबुद्धि में एक ऐसा व्यामोहन उत्पन्न हो गया है जिससे न तो मानव को कुछ समझने

*-ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥

का अवसान मान रक्खा है, सो फिर इसे कुछ भी कहना सुनना नहीं है ऐसे तात्कालिक-मत्स्यवादी-मृत-मानवादी बुद्धिमान् ' मानव के सम्बन्ध में कुछ भी। एवं शास्त्र कुछ भी नहीं कहा है ऐसे मानव के लिए। शास्त्र बना ही नहीं है ऐसे यथाजात मानवों के लिए, जो अपने प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक जगत् में ही सर्वात्मना अपने भौतिक स्वरूप का व्यक्त करते रहते हैं सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता-पूर्वक, जैसे कि अन्य प्राणियों के प्राणियों के लिए कोई भी भौतिक मापदण्ड आवश्यक बना ही नहीं है, या अन्य प्राणी स्वयं अपनी प्राकृत बुद्धि से केवल प्राकृत-दिग्देशकालानुबन्धी प्रत्यक्षदृष्ट-भूत-उपवर्णित-भूतों की उपासना करते हुए ही स्वच्छन्दरूप से आहारविहारपरायण बनते हुए सुखपूर्वक! जीवन व्यतीत करते रहते हैं— सर्वज्ञान विमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः । अज्ञानं तस्य शरणम्' । ऐसे ही यथाजात मानवों का पारिभाषिक नाम है-'किम्पुरुषमानव' जिन का सम्बत्सरप्रजापति अपने सांवत्सरिक यज्ञयज्ञ की क्षतिपूर्ति के लिए ही उपयोग करते रहते हैं। प्रजापति के विरक्त-क्षत-मृत भाग की पूर्ति ही इन यथाजात 'मृतमानवों' (यज्ञमानवों) का एकमात्र महान् उपयोग माना है भारतीय 'यज्ञशास्त्र' ने इत्यासम्यावलमेव ।

४६१-प्रकृतिसिद्ध-कर्त्तव्यात्मक-धर्म्माचरण के महान् उदर्क का संस्मरण, एवं तद्-द्वारा मानव के अभिनिवेश की उपशान्ति—

किन्तु जिस की दृष्टि में 'मत्स्यमृत' ही मृत की परिसमाप्ति नहीं है इस से भी आगे कुछ और है, एवं यह 'और' ही जिस की बुद्धि का ध्येय बना रहता है ऐसे प्रकृतिपरीक्षक परीक्षकविमर्षक उस बुद्धिमान् के लिए तो पूर्वोक्त प्राकृत-अनन्त स्वरूप अहरहरेपेयोऽध्ययन शास्त्रस्वाध्यायनिष्ठा के माध्यम से अवश्यमेव विकास बन जाता है। और जब मत्स्यनिमीलनात्मक भौतिक व्यामोहन से थोड़ा ऊपर उठ कर मानव की प्रकृति के रहस्यविश्लेषण में प्रवृत्त होता है, तो स्वयं इस की यह ऋतुबुद्धि ही इस के अनन्तमहिमाशाली प्राकृत अनन्त स्वरूप को अव्यक्तकालस्वरूप को इस के लिए अभिव्यक्त कर देती है * । "तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेन-अव्यक्तकालमाध्यमेन-आत्मनि-प्राकृतस्वरूपे-विन्दति" (गीता) । बुद्धियोगसंसिद्ध-वृत्ति यावत्। प्रकृतिसिद्ध-कर्त्तव्यात्मक धर्म्माचरण का यही तो वह महान् उदर्क है, जिस धर्म्माचरण से ही मानव की बुद्धि का अभिनिवेशात्मक प्राकृत व्यामोहन उपशान्त हुआ करता है।

४६२-अनन्तब्रह्म, एवं अनन्त प्राकृत-विश्व के उभयात्मक आनन्त्य से समन्वित मानव का महान् पुरुषार्थ, तत्स्वरूपपूर्ति-जिज्ञासा, तथा तत्समाधानानुगता दिग्-देशकालस्वरूपमीमांसा—

उक्त सम्पूर्ण स्थिति से अब हमें बुद्धिपूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, मानव के सम्मुख अनन्तब्रह्म अनन्तप्राकृतविश्व ये दो विवर्त समुपस्थित हैं जिन इन दोनों को इसे ग्राह्य बना लेना है और यही मानव का सम्पूर्ण पुरुषार्थ माना गया है। कैसे वे दोनों ग्राह्य बनें ?, इस महान् प्रश्न के समाधान

*—उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।
—ऋक्सं० १०।७१।४।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ॥
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥३॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ॥
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥४॥
—मनु ४।१९,२०।

४६७–'विधि' लक्षण धर्म्म की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'आचार परमो धर्म्मः' का समन्वय—

ज्ञानपूर्वक कर्म्म करते रहने से का अर्थ है–'शास्त्रज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बने रहने से'। यही प्रारम्भिक 'समझ' का अर्थ है, जो कर्त्तव्यनिष्ठा की मूलप्रतिष्ठा बनती हुई कालान्तर में स्वतः ही उस 'बुद्धिनिष्ठा' के रूप में परिणत हो जाया करती है, जिसे हमने पूर्व में–'सचित्' नाम की 'समझ' कहा है। 'समझ-पूर्वक कर्म्म करते रहने से कालान्तर में स्वतः ही समझ आजाया करती है' इस लोकसूत्र का यही समन्वय-निष्कर्ष है। सर्वथा 'समझ' लेने का व्यामोहन न तो समझने ही देता, न कर्त्तव्यनिष्ठ ही बनने देता। अतएव समझ लेना और समझादेना कदापि यहाँ धर्म्म नहीं माना गया। अपितु करना और कराना ही यहाँ धर्म्म माना गया है। आचरणात्मक आचार ही भारतीय वह 'परमधर्म्म' है जिसकी मूलप्रतिष्ठा शब्दशास्त्रानुगता आस्थापूर्णा 'श्रद्धा' ही मानी गई है– श्रद्धामयोऽयं पुरुषः–यो यच्छ्रद्धः, स एव सः। अतएव– श्रद्धावानेव ज्ञानं लभते *। यही यहाँ के 'आचार परमो धर्म्मः' इस महान् सूत्र का मौलिक रहस्य है।

४६८–कर्त्तव्यात्मक आचारधर्म्म की अनुगति से कालान्तर में 'अभयब्रह्म' की अनुग्रह प्राप्ति, एवं तदनुगता 'किञ्चित्' (कुछ) रूपा अभिन्नता का समन्वय—

कर्त्तव्याचारनिष्ठ बुद्धिशील मानव अवश्य ही इस कर्त्तव्य के माध्यम से ही कालान्तर में अपने महान् प्राकृत स्वरूप का बोध प्राप्त कर लेता है। एवं यही कर्त्तव्य इसे कालान्तर में कालातीत अनन्त से समन्वित कर देता है जिसे 'अभयब्रह्म' कहा गया है। यों मानव का प्राकृत स्वरूप जहाँ महतोमहीयान् आधिदैविक प्राकृत स्वरूप का 'कुछ' बन रहा है वहाँ इसी मानव का अप्राकृत स्वरूप महतोमहीयान् उस अप्राकृत स्वरूप का 'कुछ' बन रहा है एवं अब सर्वान्त में पुनः पुनः आलोडित-विलोडित इस 'कुछ'–'कुछ' का कुछकुछ स्वरूप और समन्वित कर लेना है जिस 'कुछ' के समन्वय के बिना सबकुछ निस्सार ही प्रमाणित होजाता है उसका ही 'कुछ' रूप भी इस मानव का।

---

* श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
—गीता ४।३९।

ही दिया है एवं न कुछ करने ही दिया है। अपितु एकमात्र—'हम तो समझलेंगे, तब मानेंगे तभी करेंगे' इसी अभिनिवेश का समर्थन कर मानवबुद्धि समझ, और काम, दोनों से तटस्थ बन गई है। इसप्रकार के तर्क उपस्थित कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान बैठने वाले बुद्धिव्यामुग्ध महानुभाव अन्ततोगत्वा ऐसे अभ्यस्त होजाते हैं अपने इस दम्भ में कि फिर न तो समझ से ही इनका कोई सम्बन्ध रहता न कर्त्तव्य से ही।

४६५—कर्म्मेतिकर्त्तव्यतात्मक शास्त्रबोध, एवं तदभिन्न 'संवित्' से मानव की स्वकर्त्तव्य प्रवृत्ति का समन्वय—

अतएव इस कर्त्तव्यानुगत शास्त्रज्ञान की सीमा केवल शब्दज्ञान' पर्य्यन्त ही व्यवस्थित हुई है आचार पद्धति में। शब्द के अक्षरार्थज्ञानमात्र से सम्बन्ध रखने वाली समझ ही पर्य्याप्त है कर्त्तव्यक्षेत्र में, किंतु शास्त्रबोध में क्यों? कैसे?, न च—नुच आदि तर्क कुतर्क सर्वथा ही असंगत माने हैं स्वयं शास्त्र ने ही। आचारकर्त्तव्य की पद्धति का इतिकर्त्तव्यता का बोध ही शब्दबोध की सीमा है एवं यही कर्त्तव्यानुगता 'समझ' की सीमा है जिसमें सीमित रह कर ही मानव कर्त्तव्यनिष्ठ बन सकता है। यदि कर्त्तव्यारम्भ से पूर्व ही मानव अपने बुद्धिव्यामोहन में आकर तत्त्वबोध की इच्छा व्यक्त कर बैठता है तो शब्दशास्त्र तत्काल उसका निराकरण ही कर देता है—'स साधुभिर्बहिष्कार्य्यो—नास्तिको वेदनिन्दकः'।

४६६—आदेशानुगता कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुगति से ही मानव के प्राकृत कर्त्तव्य का संरक्षण, एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय आदेशों का संस्मरण—

गुरु बेठत्। यदि एक बालबुद्धि अक्षरारम्भ से पूर्व ही- 'इसे अकार ही क्यों कहा जाता है?, मैं लिखूँ ही क्यों? क्यों अक्षराभ्यास करूँ?। मुझे तो इस क्यों का रहस्य समझा दिया जायगा तभी लिखूँगा पढूँगा पढूँगा करूँगा' —इसप्रकार के कुतर्क करने लग पड़ेगा तो न तो इसे उत्तर ही मिल सकेगा न वह कुछ कर ही सकेगा। इस आरम्भ-दशा में तो सर्वत्र सभी लोकक्षेत्रों में भी साधारण शब्द—बोधात्मक—आदेशजनित ज्ञान ही कर्त्तव्य की आधारभूमि बना करता है। और यही—'समझ कर करने लगपड़ना' का अर्थ है। इस कर्त्तव्य में स्वयं में ही ऐसा बल है जो स्वस्वरूपविकास के साथ साथ क्रमानुक्रमता से ही शनैः शनैः कर्त्तव्य-रहस्य का बोध भी कर्त्तव्यनिष्ठ मानव को कराता जाता है। निम्न लिखित वचन इसी तथ्य का विस्पष्ट शब्दों में विश्लेषण कर रहे हैं जिसे आधार बनाए बिना मानव कथमपि कर्त्तव्यनिष्ठ बन ही नहीं सकता—

ब्रह्मचारी, गृहस्थश्च, वानप्रस्थो, यतिस्तथा ॥
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥१॥

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते 'यथाशास्त्रं' निषेविताः ॥
'यथोक्तकारिणं' विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥२॥

—मनुः ६।८७।८८।

४७१–दिग्देशकालात्मक-प्राकृत सृष्ट पदार्थों से सम्बद्ध अनुरूपशिल्प, प्रतिरूपशिल्प, नामक दो शिल्पविवर्त, एवं तत्स्वरूप–दिग्दर्शन—

भारतीय वैज्ञानिकोंने सृष्टपदार्थों के सम्बन्ध में अनुरूप प्रतिरूप भेद से शिल्प के दो महिमामय विवर्त माने हैं। अपूर्ण रूप, अतएव अपूर्णभावापन्न अधूरे शिल्प का नाम है–'अनुरूपशिल्प', एवं 'अपूर्णरूप अतएव पूर्णभावापन्न पूरे शिल्प का नाम है–'प्रतिरूपशिल्प'। 'शिल्प' शब्द का अर्थ है–'प्रतिकृति'। मूलकृति का रूपान्तर ही 'प्रतिकृति' है, जिसे अभी लोकभाषा समझने के लिए 'नकल'–'नमूना'–(मॉडल) कह सकते हैं आज के युग की भाषाओं में। कृति का प्रति' भाव ही 'प्रतिकृति' है। और अनन्तकाल से उत्पन्न जितने भी चर–अचर पदार्थ हैं वे सब कृति' रूप काल की प्रतियाँ (प्रति) बनते हुए काल की 'प्रतिकृति' (काल का शिल्प काल की कारीगरी, काल की नकल, काल का नमूना) ही प्रमाणित हो रहे हैं। एवं इस 'प्रतिकृति' रूप शिल्प के ही अनुरूपा प्रतिकृति प्रतिरूपा प्रतिकृति भेद से दो भेद निष्पन्न हो जाते हैं। 'उस से अभिव्यक्त, और उसके जैसा ही' इस का नाम है–अनुरूपशिल्प' (अर्थात् वैसा का वैसा) एवं–'उस से अभिव्यक्त, किन्तु उस का प्रतिद्वन्द्वी' इस का नाम है–'प्रतिरूपशिल्प' (अर्थात् अपने सर्जक को भी अन्ततोगत्वा परास्त कर देने वाला अर्थात् सर्जक को भी अभिभूत कर देने वाला लोकभाषानुसार मात कर देने वाला उस का पुत्र बन कर भी उस का पिता बन जाने वाला–'स पितासीत्–प्रजापतेः'–अर्थात् वर्त्तमानयुग की नम्रभाषा के अनुसार बाप का भी बाप–'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति')। वैसी प्रतिकृति (वैसी नकल) जो असल से मिलती जुलती हो, उसी का नाम है–'अनुरूपशिल्प'। एवं वैसी प्रतिकृति जो असल को भी भुला दे स्वयं ही असल बन बैठे, उसी का नाम है–'प्रतिरूपशिल्प'। निष्कर्ष अपूर्ण से अपूर्णरूपेण अभिव्यक्त होने वाले शिल्प का नाम है–'अनुरूपशिल्प' एवं अपूर्ण से पूर्णरूपेण व्यक्त होने वाले शिल्प का नाम है–'प्रतिरूपशिल्प'।

४७२–मूल–मौलिक–रेखाचिह्नों के द्वारा उभयविध शिल्पों का स्वरूप–समन्वय—

ठहरिए! मौलिक चिह्नों के माध्यम से पहिले स्थिति का समन्वय कर लीजिए। विविध रंग–रञ्जित वस्त्रों के रेखाङ्कनात्मक शिल्प आप के सामने हैं, जिन्हें आप 'बेलबूटे' कहा करते हैं। वस्त्रों पर ही नहीं, पाषाणभित्तियों पर, गैरिकमृत्तिकाभित्तियों पर पत्रों (कागजों) पर, द्वारों, तोरणद्वारों कीर्त्तिस्तम्भों, सुवर्ण–रजत–ताम्रादि मुद्राओं मन्दिरों, मूर्त्तियों आदि आदि में सर्वत्र भारतीय शिल्पों में रेखाङ्कनात्मक विविध शिल्प आप उपलब्ध कर रहे हैं। इन शिल्पों में जो शिल्पपरम्परा पूर्व–पूर्व–शिल्प के अनुरूप होती है उसे ही कहा जाता है–'अनुरूपशिल्प'। एवं जिस शिल्प के पूर्व तथा उत्तर रूपों में परस्पर प्रतिरूपता–असामञ्जस्य रहता है उसे ही कहा जाता है 'प्रतिरूपशिल्प'। निम्न लिखित रेखाङ्कनों से दोनों का भेद परिलक्षित है—

४६९–प्राकृत–व्यामोहनासक्त–प्रत्यक्षवादी मानव की नम्नता, एवं तदनुबन्धेन परोक्षभावापन्न भी 'किञ्चित्' (कुछ) भाव की नग्नता का उपक्रम—

कालक्रान्ति के माध्यम से 'कुछ' का अथ प्रारम्भ में हमने 'प्रतीक' ही समझा था। किन्तु काल के स्वरूप में ही अन्ततोगत्वा हमारा यह प्रतीकव्यामोहन समाप्त कर दिया। एवं तभी से 'प्रतीक' के स्थान में हमने 'कुछ'–'कुछ' कह देना आरम्भ कर दिया था कि अभीतक परोक्ष ही बन रहा है। इच्छा तो यही थी कि इस 'कुछ' की मीमांसा को तो परोक्ष ही बना रहने दिया जाता। तभी इस का मर्म कुछकुछ समझ में आ भी सकता था। किन्तु वर्तमानयुग जैसा आपद्धर्मात्मक युग है जिस में परोक्षता कदापि धम्य नहीं है, आज के बुद्धिमान् की सम्यक्ता नग्नता की कृपा से। आज का मानव सबकुछ नम्नप्रदर्शन ही अभीप्सित मानता है जब कि भारतीय धर्मपद्धति में सबकुछ परोक्षपद्धति के आधार पर ही व्यवस्थित हुआ है– 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः'। तो लीजिए! युगधर्मात्मक आपद्धर्मरूप कालधर्म्म के सम्मुख धर्म्मपद्धति को परोक्ष बनाते हुए सर्वान्त में उस 'कुछ' का भी नम्नप्रदर्शन कर लेने की धृष्टता करली जाती है परोक्षप्रिय देवताओं से क्षमा याचना करते हुए ही।

४७०–कुछ के महतोमहीयान् स्वरूप की अभिव्यक्तिमूला महती धृष्टता—

यह 'कुछ' वह है उस मानव की, जिसे मानवशरीर से ही आज हमें निवेदन करना पड़ रहा है। अपनी बात अपने मुख से कभी अच्छी नहीं लगा करती। अतएव हम अपने आपको तो पर लेते हैं सर्वथा परोक्ष। एवं हम से अतिरिक्त परमधर्म व अभिमूतिरूप विश्व के सन्चयात्मक पठित–अपठित सभी मानवश्रेष्ठों को समष्टि तथा व्यष्टिरूप से बना लेते हैं दृष्टान्तात्मक उदाहरण। एवं उन अग्ररूप मानवों की उदाहरणविधि से ही उन्हीं के सम्मुख–'त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये' न्याय से उन्हीं के 'कुछ' रूप का 'नग्न' किन्तु महतोमहीयान् स्वरूप रख देने की धृष्टता करली जाती है प्रकान्ता दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा के माध्यम से ही।

४७१–अभिव्यक्तिरूप के मूलाधारभूत 'प्राजापत्यशिल्प' का संस्मरण—

सर्वप्रथम आप के प्राकृत स्वरूप के माध्यम से ही 'कुछ' का महत्वपूर्ण रहस्य आपके सम्मुख रक्खा जारहा है। अनाद्यनन्त * कलिलरूप महाकाशात्मक महाविश्व एक ओर है एवं आप का प्राकृत स्वरूप एक ओर है। इन दोनों महान् स्वरूपों में कैसी और क्या समता है?, क्या साम्य है?, यही आपको स्वयं अपने प्राकृत–स्वरूप से जान लेना है। क्या आप उस अनाद्यनन्त–प्राकृत–महाकाश के 'प्रतीक' हैं?। नहीं। क्योंकि 'प्रतीक' का अथ तो अवयव–अङ्ग–भाग–अश–पर्व–एकांश–होता है। क्या आप उस के अङ्ग हैं?, नहीं। तो फिर आप उस के 'प्रतीक' तो नहीं होसकते। हैं अवश्य ही कुछ न कुछ आप उसके। तो अब आपका ध्यान 'प्राजापत्यशिल्प' (प्रजापति की कारीगरी) की ओर ही आकर्षित किया जारहा है इस 'कुछ' के समन्वय के लिए।

---

* सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये (श्वेता० उप० ४।१४)।
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये (श्वेता० उप० ५।१३)।

की अभिव्यक्तियाँ हैं, उसी के शिल्प हैं, उसी के पुत्र हैं उसी की सम्पत्ति हैं अर्थात् उसी की प्रतिकृतियाँ हैं। और यहीं अब आपको स्वयं यह समझ लेना है कि, आप उभयात्मक दोनों प्रकार के शिल्पों में से कौन से 'शिल्प' हैं ?। क्या ?, क्या इससे भी अधिक नम्न भाषा का अनुगमन किया जाय ?। आमित्यलम्।

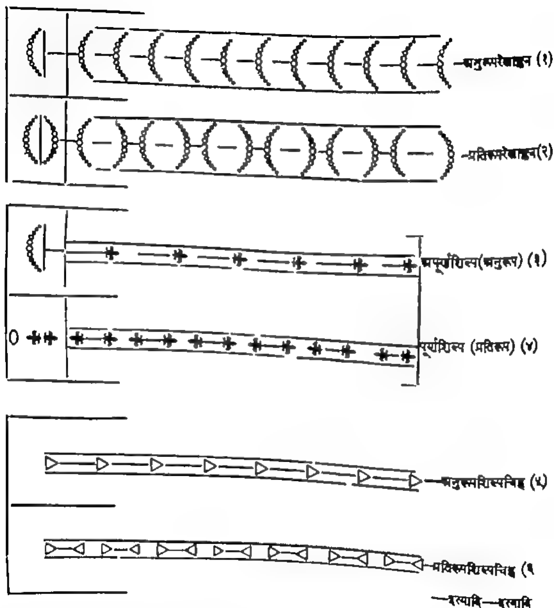
४७५-प्रतिरूपशिल्पात्मक मानव की स्रष्टाप्रजापति से प्रतिद्वन्द्विता, एवं प्रतिद्वन्द्विता में मानव का विजयश्री के द्वारा सस्मरण—

हाँ, तो आप हैं उसके 'प्रतिरूपशिल्प' अर्थात् 'पूर्णशिल्प' अर्थात् 'प्रतिद्वन्द्वी' अर्थात् उसमें अभिव्यक्त होकर उसी की सीमा का अन्ततोगत्वा उल्लंघन कर जाने वाले 'पुरुषार्थधारी मानवमें घ'। मानवेतर यच्चयावत् प्राणवर्ग (ऋषि-पितर-असुर-गन्धर्व-आदि आदि प्राणविवर्त), यच्चयावत् प्राणीवर्ग (पशु-पक्षी-कीट-कृम्यादि वर्ग) तथा यच्चयावत् अर्द्धचेतन (ओषधि-वनस्पति-लता गुल्मादि) अचेतन (काष्ठ-पाषाणादि) सर्ग ये सम्पूर्ण जहाँ अपूर्णशिल्पात्मक अनुरूपशिल्प हैं उस अव्यक्त—अनन्तकालप्रजापति (अजप्रजापति) के, वहाँ एकमात्र मानव ही उसका वैसा पूर्णशिल्पात्मक प्रतिरूपशिल्प है, जो अपने (माहत्वरूपक) स्रष्टा-विधाता स्वयं कालप्रजापति के साथ इसी की महाशक्ति महाराजी का सम्पर्क बनाता हुआ न केवल प्रतिद्वन्द्विता ही करता रहता है अपितु अपनी कालिकमर्य्यादा में कथञ्चित् भी स्खलित न होता हुआ एक दिन इस प्रतिद्वन्द्विता में 'विजयश्री' ही उपलब्ध कर लेता है जो कि उपलब्धि किंवा विजयावस्था ही इसकी कालातीता अवस्था कहलाती है।

४७६-मानवेतर सम्पूर्ण प्राकृत-भावों की अंशात्मिका प्रतीकता, किन्तु मानव की महिमारूपा प्रतिरूपता—

विजयश्री की बात छोड़ते हैं अभी। अभी तो इसे किञ्चित् पराजित मान कर ही प्रतिज्ञात इसके 'कुछ' का समन्वय करते हैं। मानवेतर समस्त प्रपञ्च जहाँ अनुरूपशिल्पता से काल के 'कुछ' (अंशमात्र) बनते हुए वहाँ स्वरूपतः 'कुछ' भी नहीं है वहाँ यह मानव उसका प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ उसका 'सबकुछ' बन रहा है। दूसरे शब्दों में-मानवेतर प्रपञ्च जहाँ तत्तद् विभिन्न कालकिरणों के अंश-प्रत्यंश बनते हुए, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गात्मक अनुरूपशिल्प बनते हुए अंशात्मक 'प्रतीक' बन रहे हैं वहाँ यह प्राकृत मानव अनन्तकाल से (अव्यक्त से) आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल (व्यक्तकाल) पर्य्यन्त के सम्पूर्ण कालपर्वों की साक्षात्-पूर्ण प्रतिमा बनता हुआ अतएव स्वयं 'काल' प्रमाणित होता हुआ उसका प्रतिरूपशिल्प ही प्रमाणित हो रहा है। ऋषि-'ऋषि' ही है पितर 'पितर' ही हैं असुर 'असुर' ही हैं देवगन्धर्व 'देवगन्धर्व' ही हैं स्वयम्भू 'स्वयम्भू' ही है परमेष्ठी 'परमेष्ठी' ही है। और यों ये सभी विभक्त पर्वात्मक-अंशात्मक-बनते हुए उसके प्रतीक ही हैं। किन्तु मानव ?। मानव सबकुछ है। इसलिए सबकुछ है कि, मानव कालातीत भी है एवं काल का भी सर्वात्मक प्रतिरूपशिल्प है। ऐसा है यह कालिक मानव ऐसी है इसके प्राकृत स्वरूप की महत्ता। और यही है इसके कालानुबन्धी उस 'कुछ' का चिन्तन रहस्य, जिसे लक्ष्य बना कर ही पुण्यपुरुष के मुखपङ्कज से यह विनिःसृत हो ही तो पड़ा है सहसा सा ही कि—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।
—महाभारत



४७४—मानव की प्राजापत्या शिल्पता, एवं तत्सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न—

आप की भी अभिव्यक्ति उसी अनन्तप्रजापुरुष से हुई है एवं आपसे अतिरिक्त अनन्तभव से आरम्भ कर इसके अवसानपर्य्यन्त (यदि आप इसका कोई अवसान मान बैठते हैं अपनी कल्पना में तो) जितनें भी चर-अचर पदार्थ हैं, उन सबकी अभिव्यक्ति भी उसी अनन्तप्रजा से हुई है। यों दोनों ही उसी

है। इस प्राण का ही नाम 'इन्द्र' है, प्राणविग्रह का ही नाम अग्नि है। अतएव इन प्राण-त्रयानुगत ही अनन्तधात्मक इदन्तु इन्द्र-प्राण-अग्नि-आदि अनेक व्याख्या नामों से प्रसिद्ध हो गए हैं +।

४८०-गतिरूप प्रजापति, तदभिन्न इन्द्र, तत्सहयोगी विष्णु, एवं तद्द्वारा मायावृत्तात्मक 'पुरमायों' की स्वरूपाभिव्यक्ति—

'इदम्' रूप गतितत्त्व ही प्रजापति का महत्त्वरूप है, यही तत्त्व 'इन्द्र' का है। प्रायः जहाँ स्थिति-भाव प्रधान है, वहाँ गति इन्द्रात्मक प्रधान है। सम्पूर्ण विश्व प्रजापति का है, यह मनु है, मनु इन्द्रात्मक गतितत्त्व है, गतिचक्र ही सृष्टि का मूल है। यही कारण है कि मनुसूक्त स्थितितत्त्व के प्रजापति-रूप में अन्यान्य प्राणों के अनुगमन से 'इन्द्र' का ही व्याख्यान हुआ है, जैसा कि श्रुतियों का नाना-भाँति निरूपित है। अतएव इस 'प्राण' का 'इदम्' एवं यहीं का 'पुरुष इदम्' एक ही भाव माने गए हैं। यह ही इन्द्र है, यही प्रजापति है और यही मायाधात्मक पुरमायों का अभिव्यञ्जक है।

४८१-मायावृत्तों की छन्दोमयी दिग्रूपता, तत्र प्रतिष्ठित 'दश शतानि', एवं—'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' लक्षण दश-सहस्रात्मक महिमामण्डल—

इन्द्रात्मक इन्हीं का नाम ही 'मायावृत्त' है, जिन्हें 'दिशा' कहा गया है, प्रति इन्द्ररूप इन्द्रात्मक मनु के ही महिमामय स्वरूप हैं। देखो रे यह मायावृत्त!, देखो देखो रे यह महिमामण्डल!, जिसमें कि 'दश-शतानि' भाव प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् 'सहस्र रश्मियाँ' प्रतिष्ठित हैं। सहस्र का अर्थ संख्यात्मक 'हजार' नहीं है। अपितु—'पूर्णं वै सहस्रम्' ही यहाँ 'सहस्र' का अर्थ है, जिससे—'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' वचन निकला हुआ है। अपनी सहस्रात्मिका इसी पूर्णता से यह इन्द्रात्मक अनन्त मनुरूप अनन्तात्मक मानवरूप में 'प्रतिरूप' बन रहा है। अतएव मानव इसी का प्रतिरूप है, अर्थात् सहस्रात्मक है। अथवा पूर्ण है और यही मन का अविच्छिन्न अध्यात्म-समन्वय है।

४८२-मानवसर्गानुबन्धिनी प्रजापतिमयी प्रतिरूपता, एवं तद्रूप मानव की आत्मलक्षणा प्रतिरूपता का समन्वय—

मानव की प्रतिरूपात्मिका पूर्णता के सम्बन्ध में निर्दिष्ट शास्त्रीय निष्कर्ष यह। मानव प्रतिरूप है अपने प्राकृत स्वरूप से (अन्नमय शरीररूप स्वरूप से) उस अनन्तधात्मक आत्मस्वरूप प्राकृत पुरुष का, जिसकी यह प्रतिरूपता प्रजापतिमयी ही कहलाती है। प्रतिरूपात्मक प्रजापति (२)

+ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥
—मनु १२।१२१।

४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सम्मुख मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक विश्व में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना देना तो केन्द्रनिष्ठाभिन्न बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है यह 'मनु' तत्त्व जो शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति 'श्वोवसीयम्–अव्ययमना रूप' इत्यादि से अभिन्न है। यह केन्द्ररूप–शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति, तथा सद मन, तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इस मनु का यही रूप 'यह' कहलाता है एवं उसी इस 'मनु' का अमुक–प्राणी–रूप 'यह' कहलाया है क्योंकि 'यह अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उसका कालिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका कालिकरूप अनन्तकालात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की वस्तुसत्ता का महान् मूल है। एवं इस यथावत् प्रतीकात्मक–अनुरूपप्रतिरूपात्मक माया तथा मायी बुद्धिगम्य व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'यह' हैं तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्य कालिक व्याख्या से कालात्मना भी प्रतिरूप, तो कालातीत रूप से भी प्रतिरूप। अर्थात् 'यही' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८)

४७८–प्रतिरूपशिल्पात्मक–मनु–इन्द्राभिन्न–मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिमूला परिपूर्णता—

जितने मानव उतने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप उसका अपना उस अनन्तकाल का सर्वात्मक प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, प्रश्न बुद्धिगम्य स्वरूप–व्याख्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है वहीं केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९–इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ–मायापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महत्साम्य से जो विश्व का मनुरूप कालात्मक (अक्षरप्रकृतिरूप–अणोरणीयान्) केन्द्र है, वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त–मनु–कालात्मक–मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र ने)। और हिरण्यस्तेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ' कहलाया

---

* प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥
—मनु० १२।१२२

सह भुक्तवत्य । सा दुर्भगाऽपि सूकरशिशुना सह भोक्तु मनृचा स्वर्णस्थाले रत्न-कटोरकेषु च स्थापित प्रशस्त पथ्य रुचिकर वातपित्तकफहरं त्रिविधमशन पान खाद्य स्वाद्य च चतुर्विधमाहारमभ्यवहरन्ती प्रेम्णा प्रथमग्रास सूकरशिशुमुखे दत्त्वा तदनु सानन्दं स्वयमश्नाति, तदाऽकस्मादेकस्या भगिन्या॰ शिशुना आसन्नप्रदेशे पुरीपोत्सर्ग॰ कृत॰, तमालोक्य तेन सूकरशिशुना प्रशस्तमशन परित्यज्य पुरीप-भक्षण कृतम् । पुरीपमश्नन्त सूकरशिशु विलोक्य सर्वा भगिन्य' सपरिहासमब्रुवन्-

विधवा राजपुत्रीने कहा कि यदि आप सब जनों मेरे इस सूकर शिशु के साथ जो भोजन करने के लिये तैयार हो तो ही मैं आपके साथ भोजन करने में सम्मिलित हो सकती हू अन्यथा नहीं। उसकी इस बात को सुनकर उसकी अन्य बहिनोंने मजूर नहीं किया। अत' उन सबने अपने-अपने बच्चोंके साथ पृथक्-पृथक् रूप में ही भोजन करना प्रारम्भ किया। और पति बिना की राजपुत्री भी अपने सूकर शिशु के साथ भोजन करने में प्रवृत्त हुई। खाने के पहिले उसने जो भोजन सुवर्णके थालों में परोसा हुआ था और सुवर्णकी कटोरियों में अलग-अलग रूपमें रखा गया था और जो प्रशस्त, पथ्य, रुचिप्रद तथा वात पित्त एव कफ हारक था ऐसे उस विविध भाति के अशन-हलुआ पुरी आदि, पान-दुध शरबत आदि, खाद्य-द्राक्षा आदि, स्वाद्य-चूरण आदि, एव चार प्रकार के भोजन में से एक-एक ग्रास अपने प्रिय उस सूकर शिशु के मुखमें देती हुई आनद के साथ भोजन करने लगी। जब यह भोजन करने में प्रवृत्त थी कि इतने में ही एक अपनी बहिन के बच्चे

મારા સૂકરના બચ્ચાની સાથે ભોજન કરવા તૈયાર હો, તો જ હુ આપની સાથે ભોજન કરવામા સામીલ થઈ શકુ એ સિવાય નહી તેની આ વાતને બીજી બ્હેનોએ મજુર ન કરી એટલે તે બધીયોએ પોતપોતાના બાળકો સાથે જુદી જુદી રીતે ભોજન કરવાનો આરભ કર્યો અને વિધવા રાજપુત્રી પણ પોતાના સૂકર બચ્ચાની સાથે ભોજન કરવા લાગી. ખાવા બેસતા પહેલા એણે જે ભોજન સોનાના થાળમા પીરસેલ હતુ, જે નાની વાટકીઓમા અલગ અલગ રીતે ગોઠવવામા આવેલ હતુ જે ભોજન પ્રશસ્ત, પથ્ય, રૂચીપ્રદ તથા વાતપિત અને કફ હરનાર હતુ એવા વિવિધ પ્રકારના ભોજનમા હલવા પુરી આદિ, પાન-દુધ શરબત વિગેરે ખાદ્ય-દ્રાક્ષ વગેર, સ્વાદ્ય-ચૂર્ણ વગેરે આવા ચાર પ્રકારના ભોજનમાથી એકેક કોળાયો પોતાના પ્રિય સૂકરના બચ્ચાના મોઢામાં દેતી દેતી વિધવા રાજપુત્રી ખુશી સાથે ભોજન કરવા લાગી. જ્યારે એ ભોજન કરવામાં પ્રવૃત્ત હતી ત્યારે તેની એક બહેનના બાળકે થોડ છેટે

४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सम्मुख मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक आत्मिक विश्व में महान् है जिसे बुद्धिगम्य क्या होना तो केन्द्रनिष्ठाभिन्न बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है वह 'मनु' तत्त्व जो शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति 'रुगौरणीयम्–मप्यपमना रूप हृदयतत्त्व से अभिन्न है। वह केन्द्ररूप–शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति तथा तद् भव, तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो रूपों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इस मनु का यही रूप 'यह' कहलाता है एवं उसी इस 'मनु' का अमुक–प्राणी–रूप 'यह' कहलाया है, जोकि 'यह अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उसका कालिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका कालिकरूप अनन्तकालात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एवं इस स्वभावात् प्रतीकात्मक–मनुरूपप्रतिरूपात्मक प्राण तथा प्राणी बुद्धिगम्या व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अंश' हैं तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या आत्मिक व्याख्या से कालतत्त्वा भी प्रतिरूप, तो कालातीत इसका भी प्रतिरूप। अर्थात् 'अंशी' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर ऋषि ने कहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिरूपं प्रतिचक्षणाय।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८)

४७८–प्रतिरूपशिल्पात्मक–मनु–इन्द्राभिन्न–मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिलक्षणा परिपूर्णता—

जितने मानव, उतने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप अर्थ बना उस अनन्तरूप का अर्वाचीन प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, मन्त्र बुद्धिगम्या सहज–व्याख्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है वहीं केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९–इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ–भासापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महद्भाग्य से जो विश्व का मनुरूप कालात्मक (अक्षरप्रकृतिरूप–अणोरणीयान्) केन्द्र है, वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त–मनु–कालात्मक–मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र में)। और हिरण्यतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ' कहलाया

---

* प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥
—मनु० १२।१२२।

हैं। और प्राण का ही नाम 'इन्द्र' है सौरसावित्रतेज का ही नाम अग्नि है। अतएव इन मार-भाषानुरूपों से ही अनन्तकालात्मक हृदयमनु इन्द्र-प्राण-अग्नि-आदि अनेक यशो नामों से प्रसिद्ध हो गए हैं + ।

४८०-गतिरूप कालाक्षर, तदभिन्न इन्द्र, तत्सहयोगी विष्णु, एवं तद्द्वारा मायावृत्तात्मक 'पुरभावों' की स्वरूपाभिव्यक्ति—

इयत् रूप गतिभाव ही कालाक्षर का सहजधर्म है यही धर्म इन्द्र का है। आगति जहाँ विष्णु-चर कहलाया है, वहाँ गति इन्द्राक्षर कहलाया है। सम्पूर्ण विश्व कालात्मक है काल मनु है, मनु इन्द्ररूपेण गतिधर्म्मा है, गतिरूप ही सृष्टि का मूल है। यही कारण है कि मनुमूलक सृष्टिविज्ञान के प्रतिपादक श्रुतिग्रन्थ में अन्यान्य प्राणों के समतुलन में इन्द्र का ही प्रधानरूपेण यशोवर्णन हुआ है, जैसा कि इन्द्रिजा को भली-भाँति विदित है। अथर्वसूक्त का 'काल' में इयत् एवं यहाँ का 'पुरुरूप इयते' एक ही अर्थ व्यक्त कर रहे हैं। इन्द्र ही गति है, यही कालाक्षर है और यही मायावृत्तात्मक पुरभावों का अभिव्यञ्जक है।

४८१-मायावृत्तों की छन्दोमयी दिग्रूपता, तत्र प्रतिष्ठित 'दश शतानि', एवं-'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' लक्षण दश-प्रदेशात्मक महिमामण्डल—

छन्दोमय वृत्तों का नाम ही 'मायावृत्त' है जिन्हें 'दिशा' कहा गया है जोकि हृदयस्थ हृदयरूप मनु के ही महिमामय स्वरूप हैं। कैसा है यह मायावृत्त! किंवा कैसा है यह महिमामण्डल! जिसमें कि 'दश-शतानि' मात्र प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् 'सहस्र रश्मियाँ प्रतिष्ठित हैं। सहस्र का अर्थ गणनासम्बन्धात्मक 'हजार' नहीं है। अपितु- पूर्ण वै सहस्रम्' ही यहाँ 'शता दश' का अर्थ है जिसका-'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूपेण निरूपण हुआ है। अपनी सहस्रमायात्मिका इसी पूर्णता से यह इन्द्राक्षररूप अनन्त मनुरूप अनन्तकाल प्रत्येक मानवरूप में 'प्रतिरूप' बन रहा है। प्रत्येक मानव उसी का प्रतिरूपशिल्प है अर्थात् सहस्रमायात्मक है। अर्थात् पूर्णशिल्प है और यही मन्त्र का संक्षिप्ततम तात्पर्यार्थ-समन्वय है।

४८२-मानवसर्गानुबन्धिनी अद्य युगलात्मिका प्रतिरूपता, एवं तद्रूप मानव की दाम्पत्यलक्षणा प्रतिरूपता का समन्वय—

मानव की प्रतिरूपात्मिका परिपूर्णता के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रासङ्गिक निवेदन और। मानव प्रतिरूप है अपने प्राकृत स्वरूप से (अम्भआदि, शरीरान्त स्वरूप से) उस अनन्तकालादि-चान्द्रसम्वत्सरप्रजान्त प्राकृत कालपुरुष का जिसकी यह प्रतिरूपता अद्य युगलात्मिका ही कहलाई है। प्रतिरूपशिल्पात्मक द्वितीय (२)

+ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परेप्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम्॥
—मनु १२।१२३।

४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सचमुच मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तप्रजात्मक आधिक विश्व में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठाभिन्न बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है वह 'मनु' तत्त्व जो शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति 'श्वोवसीयम्–अव्ययमना रूप हृदयतत्त्व से अभिन्न है। वह केन्द्ररूप–शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति, तथा तद् भव तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इस मनु का वही रूप 'अहं' कहलाता है एवं उसी इस 'मनु' का अमुक–प्राणी–रूप 'अहं' कहलाया है, जोकि 'अहं अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है उसका आधिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तभाव है तो वह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका आधिकरूप अनन्तप्रजात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एक इस सर्वथा प्रतीकात्मक–अनुरूपप्रतिरूपात्मक भाव, तथा प्राणी बुद्धिगम्या व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अहं' है तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या आधिक व्याख्या से यथाकथा भी प्रतिरूप तो कालातीत तथा भी प्रतिरूप। अर्थात् 'अहं' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर ऋषि ने कहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८)

४७८–प्रतिरूपशिल्पात्मक–मनु–इन्द्राभिन्न–मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिमूला परिपूर्णता—

जितने मानव उतने ही उनके रूप एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप उस अनन्त का सर्वांशिक प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, मन्त्र बुद्धिगम्या तत्त्व–व्याख्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है वहीं केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९–इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ–भावापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महद्भाग्य से जो विश्व का मनुरूप प्रजात्मक (अव्ययप्रकृतिरूप–अणोरणीयान्) केन्द्र है, वही सौरसंस्था का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त–मनु–प्रजात्मक–मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र में)। और हिरण्मतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ' कहलाया

---

* प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम्॥
—मनुः १२।१२२

है। सौर प्राण का ही नाम 'इन्द्र' है सौरसावित्रतेज का ही नाम अग्नि है। अतएव इन सौर-भावानुबन्धों से ही अनन्तकालात्मक हृदयमनु इन्द्र-प्राण-अग्नि-आदि अनेक यशो नामों से प्रसिद्ध हो गए हैं +।

४८०-गतिरूप कालाचर, तदभिन्न इन्द्र, तत्सहयोगी विष्णु, एवं तद्द्वारा मायापुरात्मक 'पुरभावों' की स्वरूपाभिव्यक्ति—

इयत रूप गतिभाव ही कालाचर का महत्धर्म्म है यही धर्म्म 'इन्द्र' का है। आगति जहां विष्णवक्षर कहलाया है, वहां गति इन्द्राक्षर कहलाया है। सम्पूर्ण विश्व कालात्मक है काल मनु है मनु इन्द्रत्वेन गतिधर्म्मा है, गतिरक्षर ही सृष्टि का मूल है। यही कारण है कि मनुमूलक सृष्टिविज्ञान के प्रतिपादक ऋग्वेद में अन्यान्य प्राणों के समतुलन में 'इन्द्र' का ही प्रधानरूपेण यशोवर्णन हुआ है जैसा कि ऋक्ट्रिष्टों का भली-भांति विदित है। अपर्तमन्त्र का 'काल' स इयन, एवं यहां का 'पुरुरूप इयते' एक ही अर्थ व्यक्त कर रहे हैं। इन्द्र ही गति है यही कालाचर है, और यही मायापुरात्मक पुरभावों का अभिव्यञ्जक है।

४८१-मायापुरों की छन्दोमयी दिग्रूपता, तत्र प्रतिष्ठित 'दश शतानि', एवं-'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' लक्षण दश-प्रदशात्मक महिमामण्डल—

छन्दोमय पुरों का नाम ही 'मायापुर' है जिन्हें 'दिशा' कहा गया है क्योंकि हृदयस्थ हृदयरूप मनु के ही महिमामय स्वरूप हैं। जैसा है यह मायापुर!, जिसा जैसा है यह महिमामण्डल! जिसमें कि 'दश-शतानि' भाव प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् 'सहस्र रश्मियों' प्रतिष्ठित हैं। सहस्र का अर्थ गणनासंख्यात्मक 'हजार' नहीं है। अपितु- पूर्ण वै सहस्रम्' ही यहां 'शता दश' का अर्थ है जिसका-'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूपेण निरूपण हुआ है। अपनी सहस्रभावात्मिका इसी पूर्णता से यह इन्द्राक्षररूप अनन्त मनुरूप अनन्तकाल प्रत्येक मानवरूप में 'प्रतिरूप' बन रहा है। प्रत्येक मानव उसी का प्रतिरूपशिल्प है अर्थात् सहस्रभावात्मक है। अर्थात् पूर्णशिल्प है और यही मन्त्र का संक्षिप्ततम तात्पर्यार्थ-समन्वय है।

४८२-मानवसर्गानुबन्धिनी अर्द्धयुगलात्मिका प्रतिरूपता, एवं तद्रूप मानव की दाम्पत्यलक्षणा प्रतिरूपता का समन्वय—

मानव की प्रतिरूपाभिमता परिपूर्णता के सम्बन्ध में किञ्चित् प्रासङ्गिक निवेदन और। मानव प्रतिरूप है अपने प्राकृत स्वरूप से (अव्यक्तादि, शरीरान्त स्वरूप से) उस अनन्तकालादि-चान्द्रसम्वत्सरप्रजान्त प्राकृत कालपुरुष का जिसकी यह प्रतिरूपता अर्द्ध युगलात्मिका ही कहलाई है। प्रतिरूपशिल्पात्मक द्वितीय (२)

+ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम्॥
—मनु० १२।१२३।

४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

स्वयम्भू मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक क्षणिक विश्व में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है वह 'मनु' तत्त्व, जो शाश्वतब्रह्ममूर्ति 'श्वोवसीयस्–अव्ययमनो रूप हृदयतत्त्व से अभिन्न है। वह केन्द्ररूप–शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति तथा तद् भक्त, तद्रूप अमुक प्राणी, इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इस मनु का यही रूप 'अहं' कहलाता है एवं उसी इस 'मनु' का अमुक–प्राणी–रूप 'यह' कहलाया है, जोकि 'यह अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह 'मनु' है, उसका क्षणिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका क्षणिकरूप अनन्तकालात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एव इस यथायावत् प्रतीकात्मक–मनुरूपशिल्पात्मक भाव तथा प्राणी बुद्धिगम्या व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अहं' हैं जो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या क्षणिक व्याख्या से कालदृष्ट्या भी प्रतिरूप जो कलातीत इसका भी प्रतिरूप। अर्थात् 'प्राणी' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर ऋषि ने कहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिरूपं प्रतिचक्षणाय ।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८)

४७८–प्रतिरूपशिल्पात्मक–मनु–इन्द्राभिन्न–मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिलक्षणा परिपूर्णता—

जितने मानव उतने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप अपना उस अनन्तब्रह्म का अर्वाचीन प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है, अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, मानव बुद्धिगम्या सहज–व्याख्या के द्वारा इस प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९–इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ–भासापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महद्ब्रह्म से जो विश्व का मनुरूप कालात्मक (अव्ययप्रकृतिरूप–अणोरणीयान्) केन्द्र है, वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त–मनु–कालात्मक–मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र में)। और हिरण्मतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ' कहलाया।

✱ प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥
—मनुः १२।१२२

है। सार प्राण का ही नाम 'इन्द्र' है सौरप्राणगर्भित तेज का ही नाम अग्नि है। अतएव इन सौर-भावानुबन्धों से ही अनन्तशालात्मक हृदयमनु इन्द्र-प्राण-अग्नि-आदि अनेक यशो नामों से प्रसिद्ध हो गए हैं ÷।

४८०-गतिरूप कालाक्षर, तदभिन्न इन्द्र, तत्सहयोगी विष्णु, एवं तद्द्वारा मायापुरा त्मक 'पुरमायों' की स्वरूपाभिव्यक्ति—

इयते रूप गतिभाव ही कालाक्षर का सहजधर्म्म है यही धर्म्म इन्द्र का है। आगति यहाँ विष्णव क्षर कहलाया है, वहाँ गति इन्द्राक्षर कहलाया है। सम्पूर्ण विश्व कालात्मक है काल मनु है मनु इन्द्रत्वेन गतिधर्म्मा है, गतिरक्षर ही सृष्टि का मूल है। यही कारण है कि मनुमूलक सृष्टिविज्ञान के प्रतिपादक ऋग्वेद में अन्यान्य प्राणों के तत्तुलन में 'इन्द्र' का ही प्रधानरूपेण यशोवर्णन हुआ है जैसा कि तद्विदों को भली-भाँति विदित है। अथर्वसूक्त का 'काल' स इयते, एवं यहाँ का 'पुरुरूप ईयते' एक ही अर्थ व्यक्त कर रहे हैं। इन्द्र ही गति है यही कालाक्षर है और यही मायापुरात्मक पुरमाया का अभिव्यञ्जक है।

४८१-मायापुरों की छन्दोमयी दिग्रूपता, तत्र प्रतिष्ठित 'दश शतानि', एवं-'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' लक्षण देश-प्रदेशात्मक महिमामण्डल—

छन्दोमय पुरों का नाम ही 'मायापुर' है जिन्हें दिशा कहा गया है क्योंकि हृदयस्थ हृदयरूप मनु के ही महिमामय स्वरूप हैं। कैसा है यह मायापुर !, किंवा कैसा है यह महिमामण्डल !, जिसमें कि 'दश-शतानि' भाव प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् 'सहस्र रश्मियाँ' प्रतिष्ठित हैं। सहस्र का अर्थ गणनासंख्यात्मक 'हजार' नहीं है। अपितु-'पूर्णं वै सहस्रम्' ही यहाँ 'शता दश' का अर्थ है जिसका-'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूपेण निरूपण हुआ है। अपनी सहस्रभावात्मिका इसी पूर्णता से यह इन्द्राक्षररूप अनन्त मनुरूप अनन्तकाल मर्त्यक मानवरूप में प्रतिरूप बन रहा है। प्रत्येक मानव उसी का प्रतिरूपपरिस्थ है अर्थात् सहस्रभावात्मक है। अर्थात् पूर्णपरिस्थ है और यही मन्त्र का संक्षिप्ततम तात्पर्यार्थ-समन्वय है।

४८२-मानवसर्गानुबन्धिनी अर्द्धयुगलात्मिका प्रतिरूपता, एवं तद्रूप मानव की दाम्पत्यलक्षणा प्रतिरूपता का समन्वय—

मानव की प्रतिरूपात्मिका परिपूर्णता के सम्बन्ध में किञ्चित् प्रासङ्गिक निवेदन और। मानव प्रतिरूप है अपने प्राकृत स्वरूप से (अव्यक्तादि, शरीरान्त स्वरूप से) उस अनन्तकालादि-धान्यसम्वत्सरकालान्त प्राकृत कालपुरुष का जिसकी यह प्रतिरूपता अर्द्धयुगलात्मिका ही कहलाई है। प्रतिरूपपरिस्थात्मक द्वितीय (२)

÷ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥
—मनु १२।१२३।

४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सचमुच मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक विश्व में महान् है, जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है यह 'मनु' तत्त्व जो शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति 'अणीयांसमणीयसाम्–अव्ययमना रूप हृदयतत्त्व से अभिन्न है। यह केन्द्रस्थ–शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति, तथा तद् मध्य तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इस मनु का यही रूप 'वह' कहलाया है एवं उसी इस 'मनु' का अमुक–प्राणी–रूप 'यह' कहलाया है, जोकि 'यह अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उसका कालिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है एवं उसका कालिकरूप अनन्तकालात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एवं इधर यद्यपि प्रतीकात्मक–मनुरूपप्रतिन्यात्मक मानव तथा भावी बुद्धिगम्या व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अंश' है तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या कालिक व्याख्या से कालतत्त्वा भी प्रतिरूप, तो कालातीत तथा भी प्रतिरूप। अर्थात् 'अंशी' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिरूपं प्रतिचक्षणाय।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८)

४७८–प्रतिरूपप्रतिन्यात्मक–मनु–इन्द्राभिन्न–मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिमूला परिपूर्णता—

जितने मानव उतने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप सर्वात्मना उस अनन्तकाल का सर्वात्मक प्रतिरूपप्रतिरूप बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, मन्त्र बुद्धिगम्या सहज–व्याख्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९–इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ–मायापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

सौर महद्ब्रह्माण्ड से जो विश्व का मनुरूप प्रजात्मक (अणुरमहतोरल्प–अणोरणीयान्) केन्द्र है वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त–मनु–प्रजात्मक–मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र ने)। सौर हिरण्मयोज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ' कहलाए

---

* प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम्॥
—मनु० १२।१२२

तदनुबन्धिनी प्रतिरूपता का, एवं तद्रूपा परिपूर्णता का कोई भी समन्वय नहीं है। समस्त आचारधर्म का मूल दाम्पत्य-प्रतिरूपात्मक गृहस्थाश्रम * ही माना गया है, जिसके बिना इतर किसी भी आश्रम का कोई भी तो महत्त्व नहीं है। जिस आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म का हम आरम्भ से ही यशोगान करते आरहे हैं उसकी मूलप्रतिष्ठा यही दाम्पत्य-जीवन है, यही गृहस्थाश्रम है, जिसकी दार्शनिकजगत् में उपेक्षा की हुई है शुष्कतत्त्वमीमांसन के वाग्विजृम्भण के द्वारा। तभी तो न तो दार्शनिक महानुभाव आचारधर्ममूला गृहस्थधर्मनिबन्धना आधि-दैविकी प्राकृत-परिपूर्णता का ही अनुगमन करसके एवं न तन्मूला अप्राकृता कालातीता अनन्तपरिपूर्णता का ही वे समन्वय कर सके।

४८५–अनन्तकालानुगता प्राकृत-प्रतिरूपता से अतीता अनन्तब्रह्मानुगता कालातीता अप्राकृत–प्रतिरूपता की अविज्ञेयता ही तद्विज्ञेयता—

हाँ तो अनन्तकालानुगत प्राकृत मानवानुबन्धी उस 'कुछ' के, अर्थात् 'प्रतिरूप' मात्र के दिग्-दर्शन का प्रयास हुआ। अब शेष रह आता है वह कालातीत अनन्तब्रह्म एवं शेष रह जाता है कालातीत मानवानुबन्धी 'कुछ' का प्रतिरूप जिसके सम्बन्ध में क्योंकि सभी प्राकृतभाव तटस्थ हैं। अतएव उस कालातीत 'कुछ' के सम्बन्ध में तो हम कुछ भी निवेदन नहीं करसकते। उस से सम्बन्ध रखने वाले इस के 'कुछ' के सम्बन्ध में कहने का उपक्रम करना ही इसका सबकुछ समाप्त कर देना है। अतएव अनन्त प्राकृत-कालातीत उस अनन्तब्रह्म के 'कुछ' (प्रतिरूप) का हम अप्राकृत 'अहम्' रूप आत्ममानव के सम्बन्ध में लोकातीत मानव के सम्बन्ध में इसके महामहिमामय–अनन्तानन्त (अनन्तकाल से भी अनन्त) ब्रह्मस्वरूप के सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उसके लिए सबकुछ कह देना है।

४८६–अचिन्त्य–अनन्त–कालातीत ब्रह्मानुगता मानवीया प्रतिरूपता से अनुप्राणित यथायावत् समाधानाभासों की सम्भरणता, एवं तदानन्त्य के सम्बन्ध में परम्परया श्रुतोपश्रुत आप्तपुरुषों की आर्ष-धारणाएं—

क्योंकि इस आनन्त्य के लिए जो कुछ भी कहा जायगा वह सब 'सम्भरण' मात्र बन कर ही रह जायगा प्राकृत–शब्दानुगता वाच्यार्थता के अनुबन्ध से। सुनते यह हैं इस 'कुछ' रूप 'अहं' प्रत्यय के सम्बन्ध में (अनन्तब्रह्म के प्रतिरूप–रूपात्मक अप्राकृत मानव के सम्बन्ध में किंवा प्राकृत मानव के अप्राकृत स्वरूप के सम्बन्ध में) अपने आप्तपुरुषों से परम्परया यही कुछ कि अनन्ताकाश अनन्तकाल के सम्पूर्ण अवान्तर विवर्त्त एवं स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य्य चन्द्रमा, पृथिवी नक्षत्र ग्रह आदि आदि यथायावत् प्राकृत विवर्त्त,

---

*–सर्वेषामपि चैतेषां वेद–स्मृति–विधानतः।
'गृहस्थ' उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि॥
यथा नदी–नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
—मनुः ६।८९,९

रेखाङ्कनों पर अवधानपूर्वक लक्ष्य दीजिए, जिन में (|) इस रूप से प्रतिरूपता का समन्वय हुआ है। प्रतिरूपप्रतिरूपात्मक द्वितीय रेखाङ्कनों में पूर्व के (इस अर्द्धवृत्त का तो क्या अर्थ है ?, उत्तर के) इस अर्द्धवृत्त का क्या अर्थ है ? एवं क्या अर्थ है पूर्व–उत्तर–भावात्मिका (|) इस समष्टि का ?। समन्वय कीजिए ! अपनी दाम्पत्यप्रज्ञा से ही इस प्रश्नावली का। पूर्वभावात्मक (इस अर्द्धवृत्त का अर्थ है 'मानव' उत्तरभावात्मक पूर्व–अर्द्ध' के पूरक) इस अर्द्धवृत्त का अर्थ है 'मानवी' एवं (१।२) इन दोनों पूर्वोत्तरवृत्तों की समन्वितावस्थारूप पूर्णवृत्त का अर्थ है मानव–मानवी–का 'दाम्पत्य'। अव्यक्तकालानुबन्ध से पूर्णभावात्मक–पूर्णप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव व्यक्त–सम्वत्सरकालानुबन्ध से अर्द्धभावात्मक बनता हुआ 'अर्द्धवृगल' है प्रतिरूपाद्' है प्रतिरूप की पूर्वावस्था है आधाररूप प्रतिरूप है। इसके शेष अर्द्धवृगलात्मक–अर्द्धांश की पूर्ति अर्द्धवृगलात्मिका मानवी से ही हुई है जो कि मानव का प्रतिरूपाद है, इसकी उत्तरावस्था है आधेयरूप प्रतिरूप है।

४८३–सौर–चान्द्र–सम्वत्सरयुगलत्रयी से सम्पन्ना छन्दरूपा मानव–मानवी की दाम्पत्यरूपा प्रतिरूपता, एवं तदनुगता वंशानुगतिलक्षणा रूप–कर्म–भावात्मिका महिमान्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों युगलों, दोनों अवस्थाओं के समन्वय से ही मानव की प्रतिरूपता पूर्णसम्वत्सरात्मिका पूर्णव्यक्तकालात्मिका बनती है, और यह साम्वत्सरिकी–पूर्णा–प्रतिरूपता (मानव, और मानवी का दाम्पत्यरूप गृहस्थाश्रम) ही अनन्तवंशानुगता पूर्णा–प्रतिरूपता की अभिव्यञ्जिका बनती है। और धार्मिक–परिणामानुगता तत्समूला दाम्पत्यपरिपूर्णता (जो कि सत्पुत्रानुगता पवित्रता की प्रवर्त्तिका बनती हुई वंशानुगतिलक्षण से प्रतिरूपता को सन्ततिरूपेण धाराप्रवाहिकरूप से अविच्छिन्न बनाती हुई–'रूप–कर्म–प्रतिरूपा बभूव' का अक्षरशः चरितार्थ करती रहती है) मानवेतर किसी भी सर्ग में नहीं है।

४८४–मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अङ्गादङ्गात्सम्भवरूपा प्रतीकता, एवं प्रतिरूपभावात्मिका, गृहस्थधर्म्मनिबन्धना माननीय–दाम्पत्य की कालातीता अनन्तपूर्णता–लक्षणा–प्रतिरूपता का समन्वय—

यहाँ की पशुपक्ष्यादिसर्गात्मिका प्रतीकता 'शरीरेण शरीरोत्पत्तिः'–'अण्डात्–अण्डोत्पत्तिः'–'अङ्गाद् अङ्गात् सम्भवति' रूपेण तत्रैव परिसमाप्त है। यद्यपि मानवेतर उक्त प्राणवर्ग, तथा मानवीवर्ग में पवित्रता का

सम्बन्धिनी प्रतिरूपता का एवं सद्रूपा परिपूर्णता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। समस्त आचारधर्म का मूल तात्त्विक-भौतिकरूपात्मक गृहस्थाश्रम * ही माना गया है जिसके बिना इतर किसी भी आश्रम का कोई भी तो महत्त्व नहीं है। जिस आचारात्मक धर्म का हम आरम्भ से ही यशोगान करते आरहे हैं उसकी मूलप्रतिष्ठा यही दाम्पत्य-जीवन है, यही गृहस्थाश्रम है, जिसकी आध्यात्मिकजगत् में उपेक्षा ही हुई है शुष्कतत्त्वमीमांसन के सर्वनिग्रहण के द्वारा। तभी तो न तो दार्शनिक महानुभाव आचारधर्म्ममूला गृहस्थधर्म्मनिबन्धना आधि-दैविकी प्राकृत-परिपूर्णता का ही अनुगमन करसके एवं न तन्मूला अप्राकृता कालातीता अनन्तपरिपूर्णता का ही समन्वय कर सके।

४८५-अनन्तकालानुगता प्राकृत-प्रतिरूपता से अतीता अनन्तब्रह्मानुगता कालातीता अप्राकृत-प्रतिरूपता की अविषयता ही तद्विज्ञेयता—

हाँ तो अनन्तकालानुगत प्राकृत मानवानुबन्धी उस 'कुछ' के, अर्थात् प्रतिरूप भाव के दिग्-दर्शन का प्रयास हुआ। अब शेष रह जाता है वह कालातीत अनन्तब्रह्म एवं शेष रह जाता है कालातीत मानवानुबन्धी 'कुछ' का इतिवृत्त जिसके सम्बन्ध में क्योंकि सभी प्राकृतभाव अस्पृश्य हैं। अतएव उस कालातीत 'कुछ' के सम्बन्ध में तो हम कुछ भी निवेदन नहीं करसकते। उस से सम्बन्ध रखने वाले इस के 'कुछ' के सम्बन्ध में कहने का उपक्रम करना ही इसका सबकुछ समाप्त कर देना है। अतएव अनन्त प्राकृत कालातीत उस अनन्तब्रह्म के 'कुछ' (प्रतिरूप) रूप उस अप्राकृत अहम् रूप आत्ममानव के सम्बन्ध में लोकातीत मानव के सम्बन्ध में इसके महामहिमामय-अनन्तानन्त (अनन्तब्रह्म से भी अनन्त) ब्रह्मस्वरूप के सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उसके लिए सबकुछ कह देना है।

४८६-अचिन्त्य-अनन्त-कालातीत-ब्रह्मानुगता मानवीया प्रतिरूपता से अनुभावित यथायावत् समाधानाभासों की सम्प्रश्नता, एवं तदानन्त्य के सम्बन्ध में परम्परया श्रुतोपश्रुत आप्तपुरुषों की आर्ष-धारणाएँ—

क्योंकि इस आनन्त्य के लिए भी कुछ भी कहा जायगा वह सब 'सम्प्रश्न' मात्र बन कर ही रह जायगा प्राकृत-शब्दानुगता वाच्यार्थता के अनुबन्ध से। सुनते यह हैं [illegible] 'कुछ' रूप अहं प्रत्यय के सम्बन्ध में (अनन्तब्रह्म के प्रतिरूप-रूपात्मक अप्राकृत मानव के सम्बन्ध में किंवा प्राकृत मानव के अप्राकृत स्व-रूप के सम्बन्ध में) अपने आप्तपुरुषों से परम्परया यही कुछ कि अनन्तब्रह्म अनन्तकाल के सम्पूर्ण अवा-न्तर विवर्त एवं स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य्य चन्द्रमा, पृथिवी, नक्षत्र ग्रह आदि आदि यथायावत् प्राकृत विवर्त

---

*-सर्वेषामपि चैतेषां वेद-स्मृति-विधानतः।
'गृहस्थ' उच्यते श्रेष्ठ स त्रीनेतान् बिभर्ति हि॥
यथा नदी-नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
—मनु ६।८९,९

एकदाऽरिमर्दनस्य भवने कचिदुत्सवं निमित्तीकृत्य सर्वाः कन्यकाः समायाताः। प्रेम्णा परस्परं ता ऊचुः—अद्यास्माभिः सर्वाभिः सहैव भोजनं कर्तव्यम्, तदाऽसौ दुर्भगा राजपुत्री जगाद—यद्यनेन मम प्रियशिशुना सह यूयं भोजनं कुरुत, तर्हि युष्माभिः साकं मया भोक्तव्यं नान्यथा, ततोऽन्याभिस्तस्याः सर्वभगिनीभिस्तद्वचनं नाङ्गीकृतम्। तदा पृथक् पृथगेव सर्वाः स्व-स्व-शिशुभिः

कभी उसको स्नान कराती। और स्नान कराकर फिर उसका शरीर भी पोंछती। कभी कभी यत्न उसके शरीर पर लगी हुई धूलीका मार्जन करती। विविध मिष्टान्न खिलाती। नरम-मृदुल-शय्या पर उसे अपने ही पास सुलाती। इतने मात्र से ही वह राजपुत्री संतुष्ट नहीं रहती किन्तु वह उस बच्चे के गले में और पैरों में सुवर्ण रचित बहुमूल्य आभरणों को भी पहिराती। जिनमें छोटी-छोटी बजती हुई घंटियां लगी रहती थी। उसकी पीठ पर वह झूल भी ओढाती जो बहुत कीमती होती तथा अनेक प्रकार के रंगबिरंगे रंगों से रंजित रहा करती। और जिस झुलमें सुनहरी काम बना रहता। इस प्रकार वह राजपुत्री उस सूकर के बच्चे का लालन पालन करने में तत्पर रहने लगी। एक समय की बात है कि राजा अरिमर्दनने अपनी समस्त कन्याओं को किसी उत्सव के समय आमंत्रित किया और कन्यायें आयीं, बहुत समय के बाद उन सबको परस्पर मिलने से बहुत ही आनंद हुआ। सबने विचार किया कि आज हम सब मिलकर एक ही साथ भोजन करें। यह सुनकर उस

અને નવડાવી તેના શરીરને સાફ કરતી, કયારેક કયારેક તેના શરીર ઉપર ઉડેલી ધુળને સાફ કરતી, વિવિધ મિષ્ટાન્ન ખવડાવતી અને સુંવાળી એવી શૈયા ઉપર પોતાની પાસે સુવાડતી આટલાથી જ રાજપુત્રીને સંતોષ ન થતો પરંતુ તે બચ્ચાના ગળામાં અને પગોમાં સોનાના બહુ મુલ્ય અલંકારો પણ પહેરાવતી જેમાં નાની નાની ટોકરીઓ—ઘુઘરીઓ લગાડવામાં આવતી એની પીઠ ઉપર ઝુલ પણ ઓઢાડતી જે ઘણી કિંમતી હતી તેમજ અનેક પ્રકારના રંગબેરંગી રંગોવાળી હતી જેમાં સોનેરી તારની કસબ કળા પણ કરવામાં આવેલ હતી. આ પ્રકારે રાજપુત્રી એ સૂકરના બચ્ચાનું લાલન પાલન કરવામાં તત્પર રહેતી. એક સમયે રાજા અરિમર્દને પોતાની સમસ્ત કન્યાઓને કોઈ ઉત્સવના પ્રસંગે આમંત્રણ આપી બોલાવી, કન્યાઓ આવી. ઘણા સમય પછી એક બીજીઓને પરસ્પર મળતાં ઘણો જ આનંદ થયો. બધી બહેનોએ મળી વિચાર કર્યો કે આજે બધી બહેનો સાથે બેસીને ભોજન કરીએ. આ સાંભળી એ વિધવા રાજપુત્રીએ કહ્યું કે જો તમે બધી બહેનો

तदनुबन्धिनी प्रतिरूपता का, एवं तद्रूपा परिपूर्णता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। समस्त आचारधर्म्म का मूल दाम्पत्य-प्रतिरूपात्मक गृहस्थाश्रम * ही माना गया है, जिसके बिना इतर किसी भी आश्रम का कोई भी तो महत्त्व नहीं है। जिस आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्म का हम आरम्भ से ही यशोगान करते आरहे हैं, उसकी मूलप्रतिष्ठा यही दाम्पत्य-जीवन है, यही गृहस्थाश्रम है, जिसकी दार्शनिकजगत् में उपेक्षा ही हुई है शुष्कतत्त्वमीमांसन के वाग्विजृम्भण के द्वारा। तभी तो न तो दार्शनिक महानुभाव आचारधर्म्ममूला, गृहस्थधर्मनिबन्धना आधिदैविकी प्राकृत-परिपूर्णता का ही अनुगमन करसके, एवं न तन्मूला अप्राकृता कालातीता अनन्तपरिपूर्णता का ही वे समन्वय कर सके।

४८५-अनन्तकालानुगता प्राकृत-प्रतिरूपता से अतीता अनन्तब्रह्मानुगता कालातीता अप्राकृत-प्रतिरूपता की अविज्ञेयता ही तद्विज्ञेयता—

हां, तो अनन्तकालानुगत प्राकृत मानवानुबन्धी उस 'कुछ' के, अर्थात् 'प्रतिरूप' भाव के दिग्दर्शन का प्रयास हुआ। अब शेष रह जाता है वह कालातीत अनन्तब्रह्म, एवं शेष रह जाता है कालातीत मानवानुबन्धी 'कुछ' का इतिवृत्त जिसके सम्बन्ध में क्योंकि सभी प्राकृतभाव तटस्थ हैं। अतएव उस कालातीत 'कुछ' के सम्बन्ध में तो हम कुछ भी निवेदन नहीं करसकते। उस से सम्बन्ध रखने वाले इस के 'कुछ' के सम्बन्ध में कहने का उपक्रम करना ही इसका सबकुछ समाप्त कर देना है। अतएव अनन्त प्राकृत कालातीत उस अनन्तब्रह्म के 'कुछ' (प्रतिरूप) का हम अप्राकृत अहम् रूप आत्ममानव के सम्बन्ध में लोकातीत मानव के सम्बन्ध में इसके महामहिमामय-अनन्तानन्त (अनन्तब्रह्म से भी अनन्त) ब्रह्मस्वरूप के सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उसके लिए सबकुछ कह देना है।

४८६-अचिन्त्य-अनन्त-कालातीत-ब्रह्मानुगता मानवीया प्रतिरूपता से अनुप्राणित यथायथत् समाधानाभासों की सम्प्रश्नता, एवं तदानन्त्य के सम्बन्ध में परम्परया श्रुतोपश्रुत आप्तपुरुषों की आर्ष-धारणाएं—

क्योंकि इस आनन्त्य के लिए जो कुछ भी कहा जायगा, वह तब 'सम्प्रश्न' मात्र बन कर ही रह जायगा प्राकृत-शब्दानुगता वाच्यार्थता के अनुबन्ध से। सुनते यह हैं इस 'कुछ' रूप अहं प्रत्यय के सम्बन्ध में (अनन्तब्रह्म के प्रतिरूप-रूपात्मक अप्राकृत मानव के सम्बन्ध में जिस प्राकृत मानव के अप्राकृत स्वरूप के सम्बन्ध में) अपने आप्तपुरुषों से परम्परया यही कुछ कि, अनन्तकाल, अनन्तब्रह्म के सम्पूर्ण अवान्तर विवर्त एवं स्वयम्भू परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा पृथिवी नक्षत्र ग्रह आदि आदि यथयावत् प्राकृत विश्व,

---

* —सर्वेषामपि चैतेषां वेद-स्मृति-विधानतः।
'गृहस्थ' उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि॥
यथा नदी-नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
—मनुः ६।८९,९०

रेखाङ्कनों पर अवधानपूर्वक लक्ष्य दीजिए, जिन में (|) इस रूप से प्रतिरूपता का समन्वय हुआ है। प्रतिरूपपरिस्थात्मक द्वितीय रेखाङ्कनों में पूर्व के (इस अर्द्ध वृत्त का तो क्या अर्थ है !, उत्तर के) इस अर्द्ध वृत्त का क्या अर्थ है !, एवं क्या अर्थ है पूर्व–उत्तर–भावाभिन्न (|) इस समष्टि का !। समन्वय कीजिए। अपनी दाम्पत्यप्रज्ञा से ही इस प्रश्नावली का। पूर्वभावात्मक (इस अर्द्ध वृत्त का अर्थ है 'मानव' उत्तरभावात्मक पूर्व–अर्द्ध के पूरक) इस अर्द्ध वृत्त का अर्थ है 'मानवी' ५

पूर्वोत्तरवृत्तों की समन्वितावस्थात्मक पूर्णवृत्त का अर्थ है मानव–मानवी–का से पूर्णाभावात्मक–पूर्णप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव हुआ 'अर्द्धवृगल' है प्रतिरूपार्द्ध" है प्रतिरूप की पूर्वावस्था है अर्द्धयुगलात्मक–अर्द्धभाव की पूर्ति अर्द्धयुगलात्मिका मानवी से ही है, इसकी उत्तरावस्था है आधेयरूप प्रतिरूप है।

४८३–सौर–चान्द्र–सम्वत्सरयुगलत्रयी से सम्पन्ना रूपा प्रतिरूपता, एवं तदनुगता त्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों युगलों दोनों सम्वत्सरों के समन्वय से ही पूर्णसम्वत्सरात्मिका बनती है और यह साम्वत्सरिकी–पूर्णा–गृहस्थाश्रम) ही अनन्यभावानुगता पूर्णा–प्रतिरूपता की इत्थंभूता दाम्पत्यपरिपूर्णता (जो कि सप्तयुगलानुगता सर्व प्रतिरूपता को अन्ततोगत्वा धाराबाहिकरूप से अविच्छिन्न अवस्था: चरितार्थ करती रहती है) मानवेतर किसी भी सर्ग में

४८४–मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अङ्गादङ्गानुरूपा गृहस्थधर्म्मनिबन्धना मानवीय–दाम्पत्य प्रतिरूपता का समन्वय—

यहां भी अनुरूपपरिस्थात्मिका प्रतीक्षा 'शरीरेण ... ङ्गात् सम्भवसि' इत्येव तत्रैव परिसमाप्त है। यद्यपि मानवेतर उन

प्राकृतमानव (प्रकृते प्रतिरूप) — ६–आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात् आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत । आत्मैवेदं सर्वम् ।

प्राकृतमानव (फलम्) — ७–स वा एष एवं पश्यन्, एवं मन्वान, एवं विजानन्–आत्मरति, आत्म क्रीड़ः, आत्ममिथुन आत्मानन्द –स स्वराट्–भवति । तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

प्राकृत आत्मसर्ग — ८–तस्य ह वा एतस्य–एवं पश्यत, एवं मन्वानस्य एवं विजानत आत्मत प्राण । आत्मत आशा । आत्मतः आकाशः । आत्मत तेजः । आत्मत आप । आत्मतः–आविर्भाव–तिरोभावौ । आत्मत–संकल्पः । आत्म त –मन । आत्मतो वाक् । आत्मतो नाम । आत्मतः–मन्त्राः । आत्मत कर्माणि । आत्मत एवेदं सर्वम् ।

—छान्दोग्योपनिषत् ७ अध्याय, २५–२६ खण्ड

असमर्थ हैं हम दिग्देशकालमीमांसानुगत मानव के प्रतिरूपात्मक स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले उक्त वचनों के अक्षरार्थमात्र-समन्वय में भी । अब तो इस समन्वय का भार मानव की सहज प्रज्ञा पर ही छोड़ते हुए 'दिग्देशकालमीमांसा से अनुप्राणित अभयं वै ब्रह्म मा भैषीः इस उद्बोधनसूत्र का मीमांसोपक्रमात्मक स्मरण ही और कर लिया जाता है ।

४८८–ऋद्धि–समृद्ध्यादि विविध प्राकृत द्वन्द्वों के प्रति आकर्षित मानवीय मन, तद्–नुप्राणित मानवीय मापदण्ड, एवं तदनुगत मानव का महान् प्राकृत स्वरूप—

ऋद्धि-वृद्धि,-सुख शान्ति तुष्टि-तृप्ति समृद्धि-आनन्द भूमा अभय ही 'मानव के प्रमुख लक्ष्य हैं । मानव की सम्पूर्ण जिज्ञासाओं का सम्पूर्ण प्रश्नों का सम्पूर्ण उत्तरों का सम्पूर्ण लोकव्या–ख्यों का सम्पूर्ण दार्शनिक–मीमांसाओं का सम्पूर्ण वैज्ञानिक विमृष्णों का सम्पूर्ण शास्त्रीय आचार्य कर्मकाण्डों उपासनाओं भक्तिमार्गों ज्ञानयोगों का, किम्बहुना सभी प्रवृत्तियों का, और सभी निवृत्तियों का एकमात्र मूल 'सुख-शान्ति-कामना' ही है एवं यही एकमात्र एक वैसा मापदण्ड है जिस के माध्यम से मानव भी सदसत्प्रवृत्तियों का कर्त्तव्याकर्त्तव्यभावों का शुभाशुभपरिणामों का पुण्य–पाप–द्वन्द्वों–का प्राप्ति आदि का मूल्याङ्कन सम्पन्न बना करता है । महान् है मानव । उस सीमापर्य्यन्त महान् है जिस सीमापर्य्यन्त सम्पूर्ण विश्व में तो मानव से महान् और कोई भी नहीं है । अतएव महान ही नहीं, अपितु महतामहीयान् है मानव अपने प्राकृत स्वरूप से भी एवं अपने अप्राकृत स्वरूप से भी ।

रेखाङ्कनों पर ध्यानपूर्वक लक्ष्य दीजिए, जिन में (|) इस रूप से प्रतिरूपता का समन्वय हुआ है।

प्रतिस्पर्धिस्थानात्मक द्वितीय रेखाङ्कनों में पूर्व के (इस अर्द्ध वृत्त का तो क्या अर्थ है ?, उत्तर के) इस

अर्द्ध वृत्त का क्या अर्थ है ? एवं क्या अर्थ है पूर्व-उत्तर-भावात्मिका (|) इस समष्टि का ?। समन्वय

कीजिए। अपनी दाम्पत्यभावना से ही इस मरनावली का। पूर्वभावात्मक (इस अर्द्ध वृत्त का अर्थ है 'मानव'

उत्तरभावात्मक पूर्व-अर्द्ध के पूरक) इस अर्द्ध वृत्त का अर्थ है 'मानवी' एवं (१|२) इन दोनों

पूर्वोत्तरार्द्धों की समन्वितावस्थात्मक पूर्णवृत्त का अर्थ है मानव-मानवी-का 'दाम्पत्य'। अध्यक्तभावानुबन्ध से पूर्णाभावात्मक-पूर्णप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव व्यक्त-सम्वत्सरभावानुबन्ध से अर्द्धाभावात्मक बनता हुआ 'अर्द्ध वृगल' है प्रतिरूपार्द्ध' है प्रतिरूप की पूर्वावस्था है आधार रूप प्रतिरूप है। इसके शेष अर्द्ध वृगलात्मक-अर्द्धाभाव की पूर्ति अर्द्ध वृगलात्मिका मानवी से ही हुई है जो कि मानव का प्रतिरूपार्द्ध है, इसकी उत्तरावस्था है आधेयरूप प्रतिरूप है।

४८३-सौर-चान्द्र-सम्वत्सरयुगलत्रयी से सम्पन्ना छन्दरूपा मानव-मानवी की दाम्पत्य रूपा प्रतिरूपता, एवं तदनुगता यथानुगतिलक्षणा रूपं-रूपं-भावात्मिका महिमान्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों युगलों, दोनों सम्वत्सरार्द्धों के समन्वय से ही मानव की प्रतिरूपता पूर्णसम्वत्सरात्मिका पूर्णम्यक्तभावात्मिका बनती है और यह साम्पत्यरिकी-पूर्णा-प्रतिरूपता (मानव, और मानवी का दाम्पत्यरूप गृहस्थाश्रम) ही अनन्तभावानुगता रूपां-प्रतिरूपता की अभिव्यञ्जिका बनती है। और धार्मिक-परिणामानुगता तत्त्वमूला दाम्पत्यपरिपूर्णता (जो कि सन्तपुत्रानुगता धर्मिष्ठता की मर्यादिका बनती हुई यथानुगतिक्रम से प्रतिरूपता को सन्ततिरूपेण धाराप्रवाहिकक्रम से अभिव्यक्त बनाती हुई-'रूपं-रूपं-प्रतिरूपो बभूव' को अक्षरशः चरितार्थ करती रहती है) मानवेतर किसी भी सर्ग में नहीं है।

४८४-मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अङ्गादङ्गाद्रूपा प्रतीकता, एवं प्रतिरूपभावात्मिका, गृहस्थधर्म्मनिबन्धना मानवीय-दाम्पत्य की कालातीता अनन्तपूर्णता-लक्षणा-प्रतिरूपता का समन्वय—

यहाँ भी अनुरूपप्रतिस्पर्धात्मिका प्रतीकता शरीरेण शरीरोत्पत्ति -'प्राणात्-प्राणोदय'-'अङ्गाद् अङ्गात् सम्भवति' रूपेण तद्वत् परिव्याप्त है। यद्यपि मानवेतर उस प्राणरूप तथा प्राणीवर्ग में प्रतिरूपता का

जीवन पर आक्रमण करने की कल्पना का भी असह्य अपराध कर बैठते हैं, महान् मानव, 'अभयं वै ब्रह्म' का प्रतिरूप मानव, 'मा भैषीः' जैसा वर प्रदान करने वाला मानव भयप्रवर्त्तक-दुष्प्रवृत्त-कुबुद्धि प्रवर्त्तक, उन सब आततायी-द्रोही-असुर-राक्षसों को अपनी करालकालाग्निसम महीयसी दुर्दान्ता विकरालदंष्ट्रा में ही चूर्णित कर डालता है, और यों महतो महान्, तथा पौरुषेण च महतोमहीयान् बना हुआ मानवश्रेष्ठ 'अभयब्रह्म' भाव से सम्पूर्ण प्राणियों को 'मा भैषीः' ! (मत डरो) ! यही उद्बोधन प्रदान करता हुआ अपने धर्मात्मक, व्यवस्थात्मक स्वरूप से यह चेतावनी भी देता आ रहा है उन दुष्टों को, जो मानव के इन विरस भावों का मन्थन करने की ही योजनाएँ बनाते रहते हैं कि—

योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः तं जम्भे दध्मः ।

४६२–स्वस्वरूपानुगता करालदंष्ट्रा से आततायी को चूर्णित कर देने में सक्षम भी मानव की भावुकतापूर्णा भयग्रस्तता के सम्बन्ध में महान् प्रश्न—

वस्तुतः-पुराणपुरुष भगवान् व्यास के ही-'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि-न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' इस उद्बोधन से अपने प्राकृत स्वरूप से महान्, तथा अपने अप्राकृत स्वरूप से महतोमहीयान् अभयब्रह्मात्मक (अव्ययब्रह्मात्मक) बनकर शब्दों में अपने महान् प्राकृतस्वरूप से निर्भय, तथा महतोमहीयान् अप्राकृत स्वस्वरूप से अभय प्रमाणित होने वाला मानवश्रेष्ठ अपनी प्राकृत निर्भयता से समस्त प्राणिजगत् को 'निर्भय' बनाने में सक्षम मानवश्रेष्ठ भयप्रवर्त्तक दुष्टों को अपनी करालदंष्ट्रा से चूर्णित कर देने की क्षमता रखने वाला मानवश्रेष्ठ निर्भयस्वरूपात्मक प्राकृत-अनन्तप्रजापति का प्रतिरूप तथा अभय-स्वरूपात्मक-अनन्तअव्ययब्रह्म का प्रतिरूप मानवश्रेष्ठ ?, बस, क्यों आज इसप्रकार अपनी इस महत्ता का इन गरिमामहिमा का, इस सर्वभूतता को सर्वात्मना ही विस्मृत कर स्वयमपि भयग्रस्त बन रहा है, एवं अपने इन भयों से अपने समान-प्रतिरूप मानवों को भी भयग्रस्त प्रमाणित करता आरहा है ?, और परम्परया प्राकृत प्राणियों को भी भयाक्रान्त ही बनाता जा रहा है ! सचमुच ये प्रश्न आज प्रत्येक प्रज्ञाशील मानवश्रेष्ठ का तो अपनी ओर आकर्षित करते ही जा रहे हैं ।

४६३–दिग्देशकालात्मक, भावुकतापूर्ण युगधर्मों से प्रभावित मानव, तन्मानव के त्रास के मूलकारण, तज्जनक स्वयं मानव, एवं तद्द्वारा ही भयनिवारणार्थ विविध प्रश्नों का उत्थान—

आकर्षण कोई नवीन नहीं है । सहज है मानव का यह आकर्षण । सदा से ही मानव प्राकृत-भयों के भौतिक-भेदों की ओर आकर्षित होता आरहा है । किन्तु पुरातन मानवश्रेष्ठने अपनी स्वस्था तथा प्राकृतिक प्रजा को इस आकर्षण-समस्या-के आलोडन-विलोडन-पर ही समाप्त नहीं कर डाला है । अपितु इस आकर्षण के अभ्यवहितोत्तरकाल में ही उनके प्रतिभाओं महान् आकर्षणकेन्द्र से इस भयाक्रान्त आकर्षण को सर्वथा निर्मूल ही बना दिया है इसने जबकि दिग्देशकालार्थमी आज का वही मानवश्रेष्ठ स्वयं ही ऐसे भयाकर्षणों का 'स्रष्टा' बन रहा है स्वयं ही अपने हाथ तथा इन भयाकर्षणों को असमानधर्मा अप-रिमित भयाकर्षणों से बलप्रदान करता जा रहा है, इस बलप्रधानप्रक्रिया से यों स्वयं ही यह अपने आकर्षणभय

इन सब कलाविकर्षों तथा कलिक–विकर्षों का मूलाधारभूत हुआ मनुतत्त्व, सकलकुल मानव के 'अहं' रूप अप्राकृत–कलातीत–स्वरूप की सीमा में ही अन्तर्भुक्त है। और ऐसे अहं का प्रतिरूप किंवा 'अहं रूप मानव ही विश्वम्भर के विश्व में ऐसी महती विभूति है जिसके स्मरणमात्र से मादृश विकृत–मानव का क्या हो जाता है ?, यह भी तो यह विकृत मानव ही जान रहा। कहाँ मानव का महतोमहीयान् विभूतिमय अनन्त स्वरूप और कहाँ उसी विभूतिशाली मानव का यह बुद्धिव्यामोहन जिससे आपादमस्तक व्यामुग्ध बनता हुआ ही यह विकृत मानव आज मानव जैसी अनन्तविभूति के उद्बोधन की न केवल भ्रान्त ही कर रहा है अपितु 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक महान् ग्रन्थ का आश्रय लेता हुआ स्वयं अपने विकृत–स्वरूप को ओर भी अधिक विकृत ही प्रमाणित कर रहा है।

४८७–वाग्विजृम्भणविस्मृतिपूर्वक–'अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः' मूलक उद्बोधनसूत्र के प्रति आत्मसमर्पण, एवं और मूलसूत्रों का सस्मरण—

अतएव अन्ततोगत्वा अपने इस समस्त वाग्विजृम्भण को सर्वात्मना विस्मृत करते हुए, प्रतिरूपात्मक अप्राकृत–भूमिमानव के निम्नलिखित उद्बोधनसूत्रों का माङ्गलिक संस्मरण करते हुए–'अभयं वै ब्रह्म। मा भैषीः'। योऽस्मात्प्राङ् चि...त्वा वयं द्विष्मः तं जम्भे दध्मः। इस वरदा–अभया–वाणी के समन्वय दिग्दर्शन के अभिव्यक्तिरूप में ही माङ्गलिक में प्रस्तुत दिग्देशकालमीमांसा उपरत हो रही है।

मूलसूत्राणि

१–अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ।
अहं सूर्य इवाजनि। (ऋक् सं० ८।६।१०)॥

२–अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्॥
—ऋक् सं १।१८३।३।

३–अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥
—ऋक् सं ४।२६।१।

अनन्तब्रह्म

४–स एवाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः। स एवेदं सर्वम्।

अप्राकृतमानवः (ब्रह्मण प्रतिरूपः)

५–अहमेवाधस्तात्, अहमुपरिष्टात्, अहं पश्चात्, अहं पुरस्तात्, अहं दक्षिणतः अहमुत्तरतः। अहमेवेदं सर्वम्।

जीवन पर आक्रमण करने की कल्पना का भी असह्य अपराध कर बैठते हैं, महान् मानव, 'अभय में ब्रह्म' का प्रतिरूप मानव, 'मा भैषीः' जैसा वर प्रदान करने वाला मानव भयप्रवर्त्तक-दुःखप्रवर्त्तक-व्याधिप्रवर्त्तक, उन सब आततायी-द्वेषी-असुर-राक्षसों को अपनी करालकालाग्निमयी महीयसी दुरन्ता विष्वक्दंष्ट्रा में ही चूर्णित कर डालता है, और यों प्रकृत्या महान्, तथा पौरुषेण च महतोमहीयान् बना हुआ मानवश्रेष्ठ 'अभयब्रह्म' भाव से सम्पूर्ण प्राणियों को 'मा भैषीः' ! (मत डरो) ! यही उद्बोधन प्रदान करता हुआ अपने भयात्मक दण्डभयात्मक स्वरूप से यह चेतावनी भी देता जा रहा है उन दुष्टों को, जो मानव के इन दिव्य भावों को समस्त करने की ही योजनाएँ बनाते रहते हैं कि—

योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः तं जम्भे दध्मः ।

४६२—स्वस्वरूपानुगता करालदंष्ट्रा से आततायी को चूर्णित कर देने में सक्षम भी मानव की भावुकतापूर्णा भयत्रस्तता के सम्बन्ध में महान् प्रश्न—

यदि च—पुराणपुरुष भगवान् व्यास के ही—'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि—न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' इस उद्बोधन से अपने प्राकृत स्वरूप से महान्, तथा अपने अप्राकृत स्वस्वरूप से महतोमहीयान्, अभयब्रह्मात्मक (अमृतब्रह्मात्मक) दूसरे शब्दों में अपने महान् प्राकृतस्वरूप से निर्भय, तथा महतोमहीयान् अप्राकृत स्वस्वरूप से अभय प्रमाणित होने वाला मानवश्रेष्ठ अपनी प्राकृत निर्भयता से समस्त प्राणियों तक को निर्भय बनाने में सक्षम मानवश्रेष्ठ भयप्रवर्त्तक दुष्टों को अपनी करालदंष्ट्रा से चूर्णित कर देने की क्षमता रखने वाला मानवश्रेष्ठ निर्भयस्वरूपात्मक प्राकृत—अनन्तप्रजापति का प्रतिरूप तथा अभय—स्वरूपात्मक—अनन्ताव्ययब्रह्म का प्रतिरूप मानवश्रेष्ठ !, कैसे क्यों आज इसप्रकार अपनी इस महत्ता का इस गरिमामहिमा को, इस सर्वश्रेष्ठता को सर्वात्मना ही विस्मृत कर स्वयमपि भयत्रस्त बन रहा है एवं अपने इन भावों से अपने समान—प्रतिरूप मानवों को भी भयत्रस्त प्रमाणित करता आ रहा है !, और परम्परया प्राकृत प्राणियों को भी भयार्त्त ही बनाता जा रहा है ? सचमुच ये प्रश्न आज प्रत्येक प्रज्ञाशील मानवश्रेष्ठ को तो अपनी ओर आकर्षित करते ही जा रहे हैं।

४६३—दिग्देशकालात्मक, भावुकतापूर्ण युगधर्म्मों से प्रभावित मानव, तन्मानव के त्रास के मूलकारण, तज्जनक स्वयं मानव, एवं तद्द्वारा ही भयनिवारणार्थ विविध प्रश्नों का उत्थान—

आकर्षण कोई नवीन नहीं है। सहज है मानव का यह आकर्षण। सदा से ही मानव प्राकृत—भयों के मौलिक—भेदों की ओर आकर्षित होता आ रहा है। किन्तु पुरातन मानवश्रेष्ठने अपनी स्वस्था तथा प्रकृतिस्था प्रज्ञा को इस आकर्षण—समस्या—के आलोडन—विलोडन—पर ही समाप्त नहीं कर डाला है। अपितु इस आकर्षण के अव्यवहितोत्तरकाल में ही इसके प्रतिद्वन्द्वी महान् आकर्षणबल से इस भयात्मक आकर्षण को सर्वथा निर्मूल ही बना दिया है इसने जबकि दिग्देशकालमें भी आज का यही मानवश्रेष्ठ स्वयं ही तो ऐसे भयाकर्षणों का 'स्रष्टा' बन रहा है स्वयं ही अपने द्वारा सृष्ट इन भयाकर्षणों को तत्समानधर्म्मा भय—प्रेरित भयाकर्षणों से बलप्रदान करता जा रहा है इस बलाधानप्रक्रिया से भी स्वयं ही यह अपने आकर्षणमय

४८६–स्वानुगत–कारणातीत–अनन्तमन से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्–अप्राकृत–अनन्त–स्वरूप, एवं मानव की गुप्ततमा सनज्ज्येष्ठता–श्रेष्ठता—

अपने प्राकृत स्वरूप से यही महान् प्राकृत मानव जहाँ प्रकृत्या ही स्वस्वरूप से ऋद्धि, सुख, तुष्टि समृद्धि, भूमा, आदि आदि अभ्युदयभावों से नित्य समन्वित है स्वस्वरूपेणैव, वहाँ यही मानव अपने अप्राकृत महतोमहीयान् –महान् प्राकृत स्वरूप से ही भी कहीं महीयान्) स्वस्वरूप से बुद्धि शान्ति तृप्ति आनन्द अभय आदि आदि निःश्रेयस् भावों से नित्य समन्वित है स्वरूपतः ही। अपनी इस उभयभावान्विता स्वस्वरूपता से ही मानव महान् है प्रकृत्या (महदुक्थप्रकृत्या) एवं महतोमहीयान् है प्रकृति से समन्वित, किन्तु प्रकृति से अतीत पुरुषेण (अव्ययपुरुषेण)। अव्ययपुरुषात्मक अमृत–भाव जिस महतोमहीयान् अप्राकृत मानव की 'स्वरूपप्रतिष्ठा' हो महदुक्थ–रूपात्मक प्रकृति–भाव जिस महान् प्राकृत मानव का स्वरूप हो। दूसरे शब्दों में–अनन्ता महदुक्थप्रकृति जिस का 'अनन्त–प्राकृत–स्वरूप' हो अनन्त महतोमहीयान् पुरुष जिस का 'अनन्त–पौरुष–स्वरूप' हो, ऐसे प्रकृत्यैव महान्, पुरुषेणैव च महतोमहीयान् मानव से अतिरिक्त सचमुच ही तो सम्पूर्ण विश्व में और कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।

४६०–इतर प्राकृत-परिणामात्मक-क्षणिक सर्गों के समतुलन में अप्राकृत-कालातीत प्रमाणित महिमात्मक-मानव-सर्ग की 'महत्ता' के कतिपय प्राकृत निदर्शन—

महत्ता का इस से अधिक और क्या प्रमाण होगा कि, जहाँ मानवेतर सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं नष्ट होने के लिए ही वहाँ मानव अपने महान् प्राकृत स्वरूप से अभिव्यक्त होता है अपने अविनाशी अजर अमर स्वरूप को अक्षरशः चरितार्थ करने के लिए ही। मानवेतर प्राणियों का जन्म होता ही है प्रकृति के महद् मृत्युलक्षण महान् दण्ड का अनुवर्तन करने के लिए, जब कि मानव का स्वस्वरूप से आविर्भाव होता ही है इसी प्राकृत स्वरूप के माध्यम से प्रकृति की करुणा अथवा कृपाकृपया से सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता-पूर्वक निर्भयरूपेण अभयभाव को अन्वर्थ बनाने के लिए। मानवेतर प्राकृत (वैकारिक) प्राणी उत्पन्न होते ही हैं जहाँ प्रकृति के लीलाविलासात्मक अनुरञ्जन के लिए, जबकि मानव आविर्भूत होता ही है प्रकृति के लीलाविलासों से अपने प्राकृतभाव का अनुरञ्जन करने के लिए। मानवेतर प्राणी यत्रतत्र महद्भय की मर्यादिका कालप्रकृति से प्राकृत कालदण्ड से जहाँ सदा भयग्रस्त बने रहते हैं, वहाँ महान् मानव, महतोमहीयान् मानव इस प्राकृत कालदण्डभय को अपने महान् क्षणिक प्राकृत स्वरूप से अभिभूत प्रमाणित करता हुआ अतएव च इस दण्डभय से अपने स्वरूप का सर्वथा ही भयातीत प्रमाणित करता हुआ 'अभयं–वै ब्रह्म' का ही प्रतिरूप बनता हुआ समस्त प्राणियों का 'मा भैषीः'–'मा-कश्चित्-दुःखभाग्भवेत्'–'सर्वे भवन्तु सुखिनः'– 'सर्वे सन्तु निरामया' यह आश्वासन ही प्रदान करता रहता है अभयप्रदायक।

४६१–मानवस्वरूप को संत्रस्त करने वाले आततायी–वर्ग के प्रति पशुमानव का प्रचण्ड उद्घोष, एवं तच्छ्रवणमात्र से आततायीवर्ग का हृद्विकम्पन—

और आप ही तो दुष्टबुद्धि हिंसक पशुभाव एवं असुर राक्षस–पिशाच–यक्ष–अग्न्यादि भाव मानव के इस अभयात्मक स्वरूप पर, मानव के द्वारा प्राप्त वर से अभयशरणानुगत निर्भय प्राकृत प्राणियों के निर्भय-

जीवन पर आक्रमण करने की कल्पना का भी अक्षम्य अपराध कर बैठते हैं, महान् मानव, अभय वै ब्रह्म' का प्रतिरूप मानव, 'मा भैषी' जैसा वर प्रदान करने वाला मानव भयप्रवर्त्तक-दुःखप्रवर्त्तक-कम्पादि प्रवर्त्तक, उन सब आततायी-द्वेषा-असुर-राक्षसों को अपनी करालकालाभिधा महीयसी दुरन्ता विकरालदंष्ट्रा में ही चूर्णित कर डालता है और यों महत्ता महान्, तथा पौरुषेय व महतोमहीयान् बना हुआ मानवश्रेष्ठ 'अभयप्रद' भाव से सम्पूर्ण प्राणियों को 'मा भैषी' ! (मत डरो) ! यही उद्भावन प्रदान करता हुआ अपने अभयात्मक, दण्डभयात्मक स्वरूप से यह चेतावनी भी देता आ रहा है उन दुष्टों को, जो मानव के इन विश्व भावों को समस्त करने की ही योजनाएँ बनाते रहते हैं कि—

योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वय द्विष्म -स्त जम्भे दध्म ।

४६२–स्वस्वरूपानुगता करालदंष्ट्रा से आततायी को चूर्णित कर देने में सक्षम भी मानव की भावुकतापूर्णा भयग्रस्तता के सम्बन्ध में महान् प्रश्न—

वरिष्ठ–पुराणपुरुष भगवान् व्यास के ही–'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि–न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' इस उद्बोधन से अपने प्राकृत स्वरूप से महान् तथा अपने अप्राकृत स्वस्वरूप से महतोमहीयान् अभयब्रह्मात्मक (अव्ययब्रह्मात्मक) दूसरे शब्दों में अपने महान् प्राकृतस्वरूप से निर्भय तथा महतोमहीयान् अप्राकृत स्वस्वरूप से अभय प्रमाणित होने वाला मानवश्रेष्ठ, अपनी प्राकृत निर्भयता से समस्त प्राणियों तक को निर्भय बनाने में सक्षम मानवश्रेष्ठ भयप्रवर्त्तक दुष्टों को अपनी करालदंष्ट्रा से चूर्णित कर देने की क्षमता रखने वाला मानवश्रेष्ठ, निर्भयस्वरूपात्मक प्राकृत–अनन्तकालाक्षर का प्रतिरूप तथा अभय–स्वरूपात्मक–अनन्ताव्ययब्रह्म का प्रतिरूप मानवश्रेष्ठ !, कैसे क्यों आज इसप्रकार अपनी इस महत्ता को इन गरिमामहिमा को, इस सर्वभ्रष्टता को सर्वात्मना ही विस्मृत कर स्वयमपि भयग्रस्त बन रहा है एवं अपने इन भयों से अपने समान–प्रतिरूप मानवों को भी भयग्रस्त प्रमाणित करता आरहा है ?, और परम्परया प्राकृत प्राणियों को भी भयार्त्त ही बनाता आ रहा है ? सचमुच ये प्रश्न आज प्रत्येक प्रज्ञाशील मानवश्रेष्ठ को तो अपनी ओर आकर्षित करते ही आ रहे हैं।

४६३–दिग्देशकालात्मक, भावुकतापूर्ण युगधर्म्मों से प्रभावित मानव, तन्मानव के त्रास के मूलकारण, तज्जनक स्वयं मानव, एवं तद्द्वारा ही भयनिवारणार्थ विविध प्रश्नों का उत्थान—

आकर्षण कोई नवीन नहीं है। सहज है मानव का यह आकर्षण। सदा से ही मानव प्राकृत–भयों के मौलिक–भेदों की ओर आकर्षित होता आरहा है। किन्तु पुरातन मानवश्रेष्ठने अपनी स्वस्था तथा प्रकर्षिणी प्रज्ञा को इस आकर्षण–समस्या–के आलोडन–विलोडन–पर ही समाप्त नहीं कर डाला है। अपितु इस आकर्षण के अव्यवहितोत्तरकाल में ही इसके प्रतिद्वन्द्वी महान् आकर्षणबल से इस भयात्मक आकर्षण को सर्वथा निर्मूल ही बना दिया है इसने जबकि दिग्देशकालमें भी आज का यही मानवश्रेष्ठ स्वयं ही तो ऐसे भयाकर्षणों का 'स्रष्टा' बन रहा है स्वयं ही अपने द्वारा स्रष्ट इन भयाकर्षणों को उत्थानधर्म्मा अग-णित भयाकर्षणों से समप्रदान करता आ रहा है इस स्वप्रमाणप्रक्रिया से भी स्वयं ही यह अपने आक्रमणभय

४८६—स्वानुगत–कारणातीत–अनन्तब्रह्म से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्–अप्राकृत–अनन्त–स्वरूप, एवं मानव की गुप्ततमा सर्वज्येष्ठता–श्रेष्ठता—

अपने प्राकृत स्वरूप से यही महान् प्राकृत मानव जहाँ प्रकृत्या ही स्वस्वरूप से ही ऋद्धि सुख तुष्टि समृद्धि, भूमा आदि आदि अभ्युदयभावों से नित्य समन्वित है स्वस्वरूपेणैव वहाँ यही मानव अपने अप्राकृत महतोमहीयान् (महान् प्राकृत स्वरूप से भी भी कहीं महीयान्) स्वस्वरूप से तुष्टि शान्ति तृप्ति आनन्द अमय आदि आदि निःश्रेयस् भावों से नित्य समन्वित है स्वस्वरूप से ही। अपनी इस उभयभावान्विता स्वस्वरूपता से ही मानव महान् है प्रकृत्या (महद्‌परप्रकृत्या) एवं महतोमहीयान् है प्रकृति से समन्वित, किन्तु प्रकृति से अतीत पुरुषेण (अव्ययपुरुषेण)। अव्ययपुरुषात्मक अमल–भाव जिस महतोमहीयान् अप्राकृत मानव की 'स्वरूपप्रतिष्ठा' हो महदक्षर–रूपात्मक प्रकृतिभाव जिस महान् प्राकृत मानव का स्वरूप हो। दूसरे शब्दों में—अनन्त महदक्षरप्रकृति जिस का 'अनन्त–प्राकृत–स्वरूप' हो अनन्त महतोमहीयान् पुरुष जिस का 'अनन्त–पौरुष–स्वरूप' हो, ऐसे प्रकृत्यैव महान्, पुरुषेणैव च महतोमहीयान् मानव से अतिरिक्त सचमुच ही तो सम्पूर्ण विश्व में और कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।

४९०—इतर प्राकृत-परिणामात्मक-कालिक सर्गों के समतुलन में अप्राकृत-कालातीत प्रमाणित महिमात्मक-मानव-सर्ग की 'महत्ता' के कतिपय प्राकृत-निदर्शन—

महत्ता का इस से अधिक और क्या प्रमाण होगा कि, जहाँ मानवेतर सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं नष्ट होने के लिए ही वहाँ मानव अपने महान् प्राकृत स्वरूप से अभिव्यक्त होता है अपने अविनाशी अजर अमर स्वरूप को अक्षरशः चरितार्थ करने के लिए ही। मानवेतर प्राणियों का जन्म होता ही है प्रकृति के महद्‌भयात्मक महान् दण्ड का अनुपालन करने के लिए, जब कि मानव का स्वस्वरूप से आविर्भाव होता ही है इसी प्राकृत स्वरूप के माध्यम से प्रकृति की परवशा अमल्या कुच्छाया से सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता पूर्वक निर्भयस्वेन अभयभाव को अन्वर्थ बनाने के लिए। मानवेतर प्राकृत (वैकारिक) प्राणी उत्पन्न होते ही हैं जहाँ प्रकृति के लीलाविलासात्मक अनुरञ्जन के लिए, जबकि मानव आविर्भूत होता ही है प्रकृति के लीलाविलासों से अपने प्राकृतभाव का अनुरञ्जन करने के लिए। मानवेतर प्राणी आजन्म महद्‌भय की प्रवर्तिका कालप्रकृति से प्राकृत कालदण्ड से जहाँ सदा भयत्रस्त बने रहते हैं वहाँ महान् मानव महतोमहीयान् मानव इस प्राकृत कालदण्डभय को अपने महान् कालिक प्राकृत स्वरूप से अभिभव प्रमाणित करता हुआ अतएव च इस दण्डभय से अपने स्वरूप को सर्वथा ही भयातीत प्रमाणित करता हुआ अभयं–वै ब्रह्म' का ही प्रतिरूप बनता हुआ समस्त प्राणियों को 'मा भैषीः'—'मा–कश्चित्–दुःखभाग्भवेत्'—'सर्वे भवन्तु सुखिनः'—'सर्वे सन्तु निरामयाः' यह आश्वासन ही प्रदान करता रहता है अभयप्रदानम्।

४९१—मानवस्वरूप को सन्त्रस्त करने वाले आततायी–वर्ग के प्रति ऋषिमानव का प्रचण्ड उद्‌घोष, एवं तच्छ्रवणमात्र से आततायीवर्ग का हृद्विकम्पन—

और आज भी जो कुबुद्धि हिंसक पशुभाव एवं असुर राक्षस–पिशाच–पन्न–गन्धर्वादि भाव मानव के इस अभयात्मक स्वरूप पर, मानव के द्वारा प्राप्त वर से अभयपथानुगत निर्भय प्राकृत प्राणियों के निर्भय-

उक्तार्थमुपसंहरन् कर्तव्यमुपदिशति—

मूलम्—सुणियाऽभावं साणस्स सूयरस्स नरस्स यं ।
विणए ठविज्ज अप्पाण इच्छंतो हियमप्पणो ॥६॥

छाया—

श्रुत्वाऽभाव शुन्या० सूकरस्य नरस्य च ।
विनये स्थापयति आत्मानम् इच्छन् हितमात्मनः ॥ ६ ॥

टीका—

'सुणिया' इत्यादि —शुन्याः=पूतिकर्णशुन्या' सूकरस्य च एतदुभय-दृष्टान्तस्य, तथा च=पुन नरस्य=पुरुषस्य-दार्ष्टान्तिकतया कथितस्य दुःशीलशिष्य-

अग्नि जलाकर उसको अग्नि में भून दिया। इस कुमौत से उसको मारा। इस लिये सूत्रकार कहते हैं कि-दुःशील का त्यागकर शील सदाचार का सेवन करना चाहिये॥ ५ ॥

इसी कथित अर्थका उपसंहार करते हुए सूत्रकार कर्तव्य का उपदेश अगली गाथा द्वारा करते हैं—' सुणिया इत्यादि '

अन्वयार्थ—(साणस्स-शुन्या०) पूतकर्णी कुत्ती के (सूयरस्स नरस्स य-सूकरस्य नरस्य च) सूकर के और दार्ष्टान्तिक रूप में प्रदर्शित किये गये दुःशील शिष्य के (अभाव-अनादर) अर्थात् दुर्दशारूप अवस्था को (सुणिया-श्रुत्वा) सुनकर (अप्पणो हिय इच्छंतो-आत्मनः हितम् इच्छन्) आत्मा के हित के अभिलाषी शिष्य (अप्पाण-आत्मान) अपनी आत्माको (विणए ठविज्ज-विनये स्थापयेत्) विनय

સળગાવ્યો અને તેમા તેને ભૂંજી નાખ્યું આ રીતે કમોતથી તેને માર્યું આ માટે સૂત્રકાર કહે છે કે દુઃશીલનો ત્યાગ કરી શીલ-સદાચારનું સેવન કરવું જોઇએ. (૫)

આ કહેવાયેલા અર્થનો ઉપસંહાર કરીને સૂત્રકાર કર્તવ્યનો ઉપદેશ આ ગાથા દ્વારા કર છે—' सुणिया माव ' ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ-(साणस्स-शुन्या) પૂતકર્ણી કુતરીના (सूयरस्स नरस्स य - सूकरस्य नरस्य च) સૂકરના અને દષ્ટાંતિક રૂપમા પ્રદર્શિત કરાયેલ દુઃશીલ શિષ્યના (अभाव-अनादर) અર્થાત્ દુર્દશારૂપ અવસ્થાને (सुणिया-श्रुत्वा) સાભળીને (अप्पणो हिय इच्छंतो-आत्मनः हितम् इच्छन्) આત્માના હિતના અભિલાષી શિષ્ય (अप्पाण-आत्मान) પોતાના આત્માને (विणए ठविज्ज-विनये स्थापयेत्)

को, भयाकर्षण को उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित करता आ रहा है और यों भय से इति पर्य्यन्त स्वयं वही हाँ एकमात्र मानव ही, महान् मानव ही बुद्धिमान् मानव ही अपने आपको सम्पूर्ण प्राणियों के सम्बन्ध में श्रेष्ठ मानने वाला मानव ही तो आज भय के विविध आकर्षण उत्पन्न करता जारहा है और वही अपने समानधर्म्मा ही भयाकर्षण के सनक-प्रवत्तकों से यह प्रश्न भी करता जारहा है कि,-'मानव आज इसप्रकार भयत्रस्त क्यों बनता आ रहा है ?, एवं अपने साथ सम्पूर्ण विश्व को भी भयत्रस्त क्यों करता जा रहा है' ? ।

४६४-स्वोत्पन्न भयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानवों के द्वारा अनुदिन भयसम्पर्कभावों का सर्जन-अनुगमन, एवं तत्सहैव भयनिशृत्यर्थ प्रश्नों का पारस्परिक आदान प्रदान, और मानवप्रज्ञा का विडम्बनापूर्ण-महान् विमोहन---

जिसप्रकार एक क्रूरकर्म्मा-हिंसाविपरायणा-प्रचण्ड-आततायी-दस्युराज स्वयं विविध भय परम्पराओं का सर्जन करता हुआ एक दूसरे दस्युराज को उद्बोधन प्रदान करता रहता है ठीक वही दशा आज मानवने अपनी करली है । भय से सभी सन्त्रस्त किन्तु काम सभी वैसे ही करते जा रहे हैं जिनका अथ से इति पर्य्यन्त परिणाम केवल भय' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । इच्छा अवश्य भय से परित्राण की है । किन्तु इच्छा तो उस साधारण प्राणी की भी ऐसी ही है जो भय से त्राण प्राप्त करने के लिए उपाय ढूँढा करता है । और कभी कभी ऐसा उपाय ढूँढ निकाल लेता है वह प्राणी जिस उपाय से उसका सभी कुछ समाप्त हो जाता है । अतएव मान लेना पड़ेगा कि, 'इच्छा' करना ही कोई पुरुषार्थ नहीं है । क्योंकि इच्छा के अनुरूप प्रयास किए बिना तो इच्छाएँ सफल नहीं होजाया करतीं । और आज तो मानव मानो मानव से मूकभाषा में यही प्रश्न कर रहा है कि 'मित्र ! क्या सचमुच तुम विश्व में शान्ति के इच्छुक हो ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि, इस शान्ति-मैत्री-सहास्तित्त्व- के मूल में तुम किसी अधिक भय की ही योजना का निर्म्माण करते जारहे हो' ? ।

४६५-तथाविध विमोहन के सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एवं महान् मानव के प्रति तत्सम्बन्ध में प्रणतभाव से किञ्चिदिव आवेदन--

ऐसा सबकुछ क्यों हो रहा है ? । सर्वश्रेष्ठ भी, महान् भी मानव आज क्यों यों मानवस्वरूप के सम्बन्ध में मानव के उदात्त चरित्र के सम्बन्ध में इसकी सर्वश्रेष्ठता मानवता के सम्बन्ध में शङ्काशील बनता जारहा है ? । क्या आपके लोकचतुर मानवने अथवा तो राजनीतिनिपुण मानवने अथवा तो विज्ञानधुरीण वैज्ञानिक मानवने इन प्रश्नों के वास्तविक-तथ्यों की मीमांसा का प्रयास किया है ? । किया है करता जा रहा है करता ही रहेगा । क्योंकि मानव अन्ततोगत्वा मानव है महान् है श्रेष्ठतम है। अतएव क्यापि हमें तो किसी भी मानवश्रेष्ठ के प्रयास पर कोई भी शङ्का नहीं है । अवश्य ही मानव अपनी इस सदिच्छा में सत्प्रयास में एक दिन सफल भी होगा ही । और अवश्य ही यह स्वयं ही 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' का पुनरावर्त्तन करेगा ही । अपेक्षित है आपके प्रयासों में 'यत्किञ्चित्' सशोधन । और अत्यन्त प्रणतभाव से 'विगूढ़ाराप्रश्नमीमांसा' रूपेण वही सशोधन विश्वमानव के प्रति समर्पित है-उसकी महत्ता का अन्तःकरण से अभिनन्दन करते हुए ही ।

४६६–निरूपिता 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' के सम्बन्ध में तत्त्वविस्मृतिरूप 'यत्किञ्चित्' संशोधन, एवं दिग्देशकालनिबन्धन-युगधर्म्मों के प्रति जागरूकता का दिग्दर्शन–

और उस 'यत्किञ्चित् संशोधन' का एकमात्र अर्थ है–'मानव अपने महान् स्वरूप से दिग्देशकालमीमांसा का मथथा ही बहिष्कार हो जाय'। यही इस महारम्भा दिग्देशकालमीमांसा का एकमात्र 'संशोधित संस्करण' माना जायगा। "यह हमारी दिशा है–हमारी सीमाबिन्दु है। यह हमारा देश है, हमारा प्रदेश है, हमारा प्रान्त है, हमारा राष्ट्र है और सर्वोपरि यह हमारा कक्ष है, हमारा सत्ताकाल है, हमारा भोग्यकाल है, हमारा समय है (हमारा जमाना है)" इसप्रकार सर्वथा सीमित, परिच्छिन्न दिग्–देश–काल–भाव ही दिग्देशकालमीमांसाएँ ही आज सर्वश्रेष्ठ भी, महान् भी मानव को मर्यादाओं से विमुक्त नहीं होने देतीं। अपने दिग्देशकालानुबन्धी–वर्त्तमान–भूतभावानुबन्धी–भौतिक विज्ञान ही वैज्ञानिक मानवों को मानव की महत्ता का, दिग्देशकालातीता अनन्तता को आज इसी दिग्देशकाल की सीमा में आबद्ध कर लिया है। भूतविज्ञान के पाशपाश से आबद्ध मानव की बुद्धि अपनी महिमा से पराङ्मुख बन कर आज इन प्रत्यक्षदृष्ट–भौतिक–दिग्देशकालों में ही सीमित हो गई है।

४६७–व्यक्तित्वविमोहनात्मिका 'व्यष्टि' की एषणाओं से अनुप्राणिता दिग्देशकालविमूढ़ता, तदनुगता वैय्यक्तिक-स्वार्थमयी मलीमसा दानवता-लक्षणा मानवता—

ठीक यही स्थिति उन लोकचतुर–लोकनिष्ठ–मानवों की है, जिन की दृष्टि में भी इस प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक दिगादि के अतिरिक्त मानव का और कोई भी स्वरूप है ही नहीं। अतएव यह लोकमानव भी अपनी वैय्यक्तिक सीमा (दिक्) अपने वैय्यक्तिक देश (घर–जमीन जायदाद–सम्पत्ति) एवं अपने वैय्यक्तिक काल (आयुर्भोगकाल) को ही 'मानव' का स्वरूप मान बैठा है। अतएव इस में भी यही वासनात्मक वैय्यक्तिक मोह जागरूक हो पड़ा है कि, "मैं अपनी सीमा में अपने लिए अपने जीवनकाल में जो कुछ अर्जित–संचित–करूँगा वही मेरे लिए, और अधिक से अधिक मेरे परिवार के लिए पर्याप्त होगा"। वैय्यक्तिक–स्वार्थमूलक इस वैय्यक्तिक दिग्देशकालबन्धन ने इसप्रकार इस लोकमानव को मानव के अनन्त-स्वरूप से अभिभूत कर आज दानव कोटि में ही ला खड़ा किया है। अपने इस वैय्यक्तिक–दिग्देशकाल के रक्षण–व्यामोहन में यदि आज इसे सम्पूर्ण मानवों का वध कर देना पड़े तो इसे भी यह अपना लोकचातुर्य्य ही मान बैठता है। इस से अधिक व्यक्तिवादी के इस वैय्यक्तिक दिग्देशकालव्यामोहन का अनुगत अव्यवस्थाओं का एवं तदनुप्राणिता मानवता! रूपा दानवता का और क्या मलीमस-जघन्य इतिवृत्त होगा?।

४६८–राष्ट्रवादी मानव के 'राष्ट्र' की दिग्देशकालनिबन्धना स्वरूप-व्याख्या, एवं तदभिबन्धन महतोमहीयान् कल्पित-विजम्भण—

अब उस राष्ट्रवादी मानव को लक्ष्य बनाइए, जिसने भी 'राष्ट्र' का अर्थ 'दिग्देशकाल' ही मान रक्खा है। अमुक पर्वतों नद-नदियों धातुधातों खनिज द्रव्यों ओषधि–वनस्पतियों पशु–पक्षि–कृमि–कीटों, आदि आदि असंख्य अगणित अमुकामुक भत–भौतिक–परिग्रहों के भार से भाराक्रान्त बने रहने वाले

को भयाकर्षण को उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित करता आ रहा है और यों आज से इति पर्य्यन्त स्वयं यही हाँ एकमात्र मानव ही, महान् मानव ही, बुद्धिमान् मानव ही अपने आपको सम्पूर्ण प्राणियों के समतुलन में श्रेष्ठ मानने वाला मानव ही तो आज भय के विविध आकर्षण उत्पन्न करता आरहा है और वही अपने समानधर्म्मा ही भयाकर्षण के जनक-प्रवर्त्तकों से यह प्रश्न भी करता आरहा है कि 'मानव आज इसप्रकार भयत्रस्त क्यों बनता जा रहा है ?, एवं अपने साथ सम्पूर्ण विश्व को भी भयत्रस्त क्यों करता जा रहा है' ? ।

४६४-स्वोत्पन्न भयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानवों के द्वारा अनुदिन भयसम्पर्कभावों का सर्जन-अनुगमन, एवं तत्सद्देव भयनिवृत्यर्थ प्रश्नों का पारस्परिक आदान प्रदान, और मानवमेधा का विडम्बनापूर्व-महान् विमोहन—

जिसप्रकार एक क्रूरकर्म्मा-हिंसाविपरायण-भयचक्र-आततायी-दस्युराज स्वयं विविध भय पर-म्पराओं का सर्जन करता हुआ एक दूसरे दस्युराज को उद्बोधन प्रदान करता रहता है ठीक वही दशा आज मानवकी अपनी बनरही है । भय से सभी सन्त्रस्त किन्तु काम सभी वैसे ही करते जा रहे हैं जिनका भय से इति पर्य्यन्त परिणाम केवल 'भय' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । इच्छा अवश्य भय से परित्राण की है ! किन्तु इच्छा तो उस साधारण प्राणी की भी ऐसी ही है जो भय से त्राण प्राप्त करने के लिए उपाय ढूँढा करता है । और कभी कभी ऐसा उपाय ढूँढ निकाल लेता है वह प्राणी जिस उपाय से उसका सभी कुछ समाप्त हो जाता है । अतएव मान लेना होगा कि, 'इच्छा' करना ही कोई पुरुषार्थ नहीं है । क्योंकि इच्छा के अनुरूप प्रयास किए बिना ही इच्छाएँ सफल नहीं होजाया करतीं । और आज तो मानव मानो मानव से मूकभाषा में यही प्रश्न कर रहा है कि 'मित्र ! क्या सचमुच तुम विश्व में शान्ति के इच्छुक हो ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि, इस शान्ति-मैत्री-सहास्तित्व- के मूल में तुम किसी अधिक भय की ही योजना का निर्म्माण करते आरहे हो' ? ।

४६५-तथाविध विमोहन के सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एवं महान् मानव के प्रति तत्सम्बन्ध में प्रणतभाव से किञ्चिदिव आवेदन--

ऐसा सबकुछ क्यों हो रहा है ?। सर्वश्रेष्ठ भी महान् भी मानव आज क्यों यों मानवस्वरूप के सम्बन्ध में मानव के उदात्त चरित्र के सम्बन्ध में इसकी सर्वश्रेष्ठता मानवता के सम्बन्ध में शङ्काशील बनता आरहा है ?। क्या आजके लोकचतुर मानवने अथवा तो राजनीतिनिपुण मानवने अथवा तो विज्ञानधुरीण वैज्ञानिक मानवने इन प्रश्नों के वास्तविक-तथ्यों की मीमांसा का प्रयास किया है ?। किया है करता आ रहा है करता ही रहेगा । क्योंकि मानव अन्ततोगत्वा मानव है महान् है श्रेष्ठतम है। अतएव कदापि हमें तो किसी भी मानवश्रेष्ठ के प्रयास पर कोई भी शङ्का नहीं है। अवश्य ही मानव अपनी इस सदिच्छा में सत्प्रयास में एक दिन सफल भी होगा ही । और अवश्य ही वह स्वयं ही 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' का पुनराचन करेगा ही। अपेक्षित है आपके प्रयासों में 'यत्किञ्चित्' उद्बोधन । और अत्यन्त प्रणतभाव से 'हिगुणुशाब्रह्ममीमांसा' अपेक्ष वही उद्बोधन विश्वमानव के प्रति समर्पित है—उसकी महत्ता का अन्तःकरण से अभिनन्दन करते हुए ही ।

अपितु उस उस भूखण्ड को 'राष्ट्र' उपाधि से सम्मानित नहीं किया जासकता, नहीं किया गया। मानवशून्य, प्रदीप्तिरूप मानवशून्य, उत्पीड़ित मानवयुक्त, एवं उत्पीड़क मानवयुक्त सभी भूखण्ड अराष्ट्र हैं, मर्त्य-शवशरीरमात्र हैं यहाँ के उपास्यदेवता माने गए हैं 'अराजकता' 'विद्रोह' 'विविध रोग' अथवा 'दुष्काल' 'स्वार्थान्धता'-'पदप्रतिष्ठाव्यामोहन', जिन इन देवताओं की गणनाने तो त्रिंशत्कोटिमित देवगणना की सीमा का भी आज उल्लंघन ही कर दिया है।

५०१–आज के बुद्धिमान् मानव के द्वारा 'राष्ट्र' के स्थान में 'विश्व' का प्रतिष्ठापन, राष्ट्रीयता के प्रति आक्रोश, तथा तत्स्थान में 'विश्वमैत्री', 'विश्वबन्धुत्व' आदि नवीन भावों का आविर्भाव—

सुनते हैं–आज के बुद्धिमान् मानवने 'राष्ट्र' के स्थान में विश्व को प्रतिष्ठित कर अपनी विशालता का परिचय देना आरम्भ कर दिया है, और इसी अनुबन्ध के माध्यम से आज 'राष्ट्र' 'राष्ट्रवाद'-रूप में परिणत होता हुआ एकप्रकार की संकीर्णता का ही सूचक बन गया है। एवं उच्चकोटि के बुद्धिमान् आज राष्ट्रीयता को भी एक हीनता ही मानने लग पड़े हैं। तत्स्थान में प्रतिष्ठित होगए हैं आज- विश्वमैत्री' 'विश्वबन्धुत्व' 'विश्वहित' इत्यादि शब्द। स्वागत ही करना चाहिए था हमें इन विशाल अनुबन्धों का। किन्तु एकमात्र 'मानव' की महत्ता के संरक्षण-व्यामोहन से ही हम तो इस विशालता का यत् किञ्चित् भी तो अर्थ समन्वित नहीं कर पाते। इस 'विश्वमैत्री' का कुछ भी तो अर्थ हमारी समझ में नहीं आरहा। इसलिए समझ में नहीं आरहा कि दिग्देशकालानुबन्धिनी बुद्धि का तो स्खलित हुआ है 'मानवशास्त्र' में। किन्तु वैसी समझ' का दिग्देशकाल सीमा की दृष्टि से मानवशास्त्र में कहीं भी वर्णन नहीं उपलब्ध न करसके हम आजतक, जो 'समझ' यह प्रमाणित करदे कि- विश्व' भूखण्ड से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र चेतन-विकसित-पदार्थ तत्त्व है जिसे तथाकथिता परिभाषा के अनुसार 'राष्ट्र' लक्षणा राष्ट्र की उपाधि से समलङ्कृत कर लिया जाय ?। और तब तो हमारा यह व्यामोहन सर्वथा ही विगलित हो जाना चाहिए, जबकि अब तो 'भूविश्व' की सीमा के 'चन्द्रलोक' के द्वारा कहीं अधिक बड़ी होजाने के शुभसङ्कल्प किए जाते हैं।

५०२–भूतव्यासक्तिमूला व्यापकता के भावुकतापूर्ण मलीमस इतिहास से अनुप्राणिता विश्वमैत्रीलक्षणा राष्ट्रीयता का स्वरूप-विस्फोटन—

सुना है–विज्ञाननिष्ठ जापान में तो चन्द्रलोक के प्रदेशों का क्रय–विक्रय–भी आरम्भ होगया है। यहाँतक लोकान्वेषण का सम्बन्ध है वैज्ञानिक की बुद्धि की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। क्योंकि इन से भूमाभाव की ही अनुगति हुई है। किन्तु उस लोक में रहने का आकर्षण वहाँ देश प्रदेशों के क्रय-विक्रय का आकर्षण जब वैज्ञानिक के सम्मुख आ खड़ा होता है तो हम स्तब्ध होजाते हैं उसके इस दिग्देशकाल–व्यामोहन को देख (सुन) कर। और ऐसा–सा ही नहीं, अपितु यही अर्थ है विश्वात्मिका राष्ट्रीयता का भी जिसमें दिग्देशकालात्मक भूविभव ही (भूखण्ड [illegible]) लक्ष्य बन रहा है। यही है उस विश्वबन्धुत्व का विश्वमैत्री का नितान्त छल-पूर्ण मिथ्या प्रदर्शन जिसके गर्भ में प्रत्येक भूखण्डाधिपति की भूखण्डाभिवृद्धि ही प्रधान लक्ष्य बनी हुई है। दृष्टि के समक्ष दिग्देशकालातीत अनन्त मानव नहीं है अपितु दिग्देश

प्रमुक भूखण्ड का नाम ही क्या–'राजते' लक्षण 'राष्ट्र' है ? । सर्वथा वह सर्वथा निष्प्राण मृत्पिण्डात्मक भूपिण्ड के एक प्रत्यक्ष भाग का नाम ही क्या 'राष्ट्र' है ?, जिसके रक्षण के लिए छद्राष्ट्रीय मानव आज अन्य भूखण्डों के मानवों का रक्तपात कर देने का नाम ही–'राष्ट्र के लिए बलिदान' मान रहे हैं एवं इसी को 'राष्ट्रसेवा'–'देशसेवा'–'देशहित' आदि अभिधाओं से समन्वित करते आरहे हैं । क्यों मानव में ऐसा व्यामोहन हुआ ?, उत्तर यही 'दिग्देशकालमीमांसा' ।

४९९–मानवाविर्भाव से पूर्व का विश्व, और 'राष्ट्र' शब्द के वाच्यार्थ का अन्वेषण, एवं 'मानवस्वरूप की अभिव्यक्ति से समन्वित 'राष्ट्र' शब्द के 'राष्ट्रत्व' की अन्वर्थता—

सृष्टिनिर्माणानुबन्धिनी उस पुरातना–अतिपुरातना–स्थिति की ओर अपना ध्यान आकर्षित कीजिए, जबकि भूभाग पर मानव' नाम की सर्वश्रेष्ठा विभूति स्वस्वरूप से अभिव्यक्त नहीं हुई थी । क्या उस प्रारम्भिक दशा में वह भूपिण्ड 'राष्ट्र' उपाधि से समलङ्कृत था ? । अथवा जाने दीजिए उस उदाहरण को । क्योंकि वह उदाहरण आपके मतानुसार वर्त्तमान दिग्देशकाल की सीमा से अतिक्रान्त बन जाने के कारण सम्भव है आपके लिए प्रामाणिक न हो । यही तो मानव का वह महान् व्यामोहन है जिस 'वर्त्तमान' लक्षण व्यामोहन के कारण ही मानव अपने त्रैकालिक महान् स्वरूप को विस्मृत कर बैठा है । हाँ तो आपान के उस वर्त्तमान भूखण्डदेश को लक्ष्योदाहरण बना लीजिए, जिसे आपने अपने जीवन में यदि देख नहीं लिया तो भी ऐसे इतिहासों के द्वारा समानधर्म्मियों के अनुग्रह से सुन कर भी विश्वास तो कर ही लिया होगा कि घटना किंवा घोरघोरतमा दुर्घटना सर्वथा तथ्यपूर्णा ही थी । दिग्देशकालतत्त्व में भी किसी वैज्ञानिक मानव की विमल ? बुद्धि ? से आविष्कृत अमुक विम्ब वरदान ('बमशासुर' नहीं अपितु 'मस्तवर्द्धक बम') के निःसीम अनुग्रह से मरुस्थल का यह सुरम्य भूभाग सदा सदा के लिए 'निःश्रुविवेक्ता' का ही क्रीडाक्लिकास्थल बन गया । अब आज भी देखिए उस प्रान्तविशेष को दिक्–कालानुगत उसी देशविशेष को जाकर । क्या अब भी आप मृत्पिण्डात्मक भूखण्ड को ही 'राष्ट्र' कहेंगे ? । क्या मानव की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भी 'राष्ट्र' की कोई स्वरूप-व्याख्या है ? । दीप्त्यर्थक 'राजृ' धातु से निष्पन्न 'राष्ट्र' के दीप्तिभाव प्रकाशमान आलोकभाव के अनुबन्ध से एकमात्र 'मानव' की (ऐसे मानव की, जो स्वस्वरूप से स्वमानवोचित विभूतियों से प्रदीप्त है प्रकाशित है) ही 'राष्ट्र' कहा गया है । जिस भूखण्ड में ऐसा 'राष्ट्र' रूप (आलोकरूप) मानवश्रेष्ठ–'राजते' अर्थात् विद्यमान् है उस भूखण्ड को ही 'मानवरूप राष्ट्र' की उपाधि का सम्मान प्राप्त हुआ करता है ।

५००–'राष्ट्र'-रूप मानव के सम्बन्ध से ही भूखण्ड–विशेषों की राष्ट्रीयता 'राष्ट्र' स्वरूपव्याख्यात्मक मानव, एवं तद्व्यापकता का समन्वय —

'राष्ट्रमानव' से ही भूखण्ड 'राष्ट्र' कहलाया है न कि भूखण्ड से मानव को 'राष्ट्र' उपाधि मिली है । निष्कर्षतः मानव स्वयं ही 'राष्ट्र' की स्वरूप–व्याख्या है जिसे कदापि किसी भूखण्ड–भूप्रान्त–देश–विशेषरूप मृत्पिण्ड की सीमा में आबद्ध नहीं किया जासकता । जिस जिस भूखण्ड में राष्ट्ररूप मानव उत्पीडित है वहाँ वहाँ राष्ट्रमानव अपनी 'राजते' रूपा प्रदीप्ति को जलाञ्जलि समर्पित कर मानवों के लिए उत्पीडक बन गया है

पण में यहाँ यह सुनते हैं कि, "अमुक देश में अमुक सम्मेलन में अमुकने अमुक की मैत्री के लिए हाथ बढ़ाया", तो उत्तर क्षण में ही दिग्देशकालात्मक विज्ञप्तियों के प्रचार-प्रसार में धुरीण समाचारपत्रों में यह इतिवृत्त उद्धृत सुन लिया जाता है कि—"मैत्रीपूर्णा वार्त्ता के विफल हो जाने से अमुक ने अमुक देशपर गोला बरसाना आरम्भ कर दिया"। धन्य है यह मैत्री ! और तत्पक्षया भी धन्य है इस की यह भङ्ग-महिमा ! ! (अथात्-मैत्रीविध्वंस)

५०५–दिग्देशकाल का प्राधान्य, एवं मानव का गौणत्व, तदनुगत एक रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का संस्मरण, तथा भारतीय-सांस्कृतिक-अनुष्ठानों के आधारभूत काल की स्वरूप-परिभाषा—

तथाकथित सभी दिग्देशकालभावों में दिग्देशकाल बन रहे हैं प्रधान, एवं मानव गौण बन रहा है। यह एक प्रकार 'भारतराष्ट्र' के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण के प्रति आज दिग्देशात्मक राष्ट्रवादियों, तथा विचारशीलों का ध्यान और आकर्षित कर लिया जाता है। दिग्देशकालातीता 'मानव-संस्कृति' के आधार पर प्रतिष्ठिता हमें अपनी दिग्देशकालातीता ही भारतराष्ट्र की 'राष्ट्रीय-संस्कृति' की उस गरिमामहिमा की दिग्देशकालातीतता को देख-सुन कर अनुमान भी आश्चर्य इसलिए नहीं हो रहा कि हमारे सभी सांस्कृतिक अनुष्ठान (आचार) आयोजन-आदि आदि किसी व्यक्त-देश-काल से अनुप्राणित न हो कर इन मूर्त-भौतिक-व्यक्त-दिक्-देश-कालों से प्रधान अमूर्त-अभौतिक-अव्यक्त अतएव महतोमहीयान् अनन्तकाल अनन्तदिक् अनन्तदेश भावों के आधार पर ही व्यवस्थित हुए हैं। वस्तुस्थिति क्योंकि अनन्त प्राणजगत् से सम्बन्ध रखने वाली है, अतएव थोड़ी दुरूह अवश्य है। किन्तु है स्वबलेनैव बुद्धिगम्य। क्या हम प्रत्यक्ष-दृष्ट भूत-उपलक्षित-चान्द्र सम्वत्सर-वर्ष-कालात्मक सादि-सान्त काल को अपने सांस्कृतिक-अनुष्ठानाचारों में 'काल' (समय) कहते हैं ?। नहीं। अपितु हमारे प्रत्येक अनुष्ठान का आधारभूत सङ्कल्पित काल वह 'संकल्पकाल' होता है, जो 'ब्राह्मकाल' नाम से प्रसिद्ध है, जिस का परिचायक-संग्राहक बनता है तत्त्वभूत वह मन्वन्तरकाल, जो उस ब्राह्म अनन्तकाल का अवयमान बनता हुआ भी व्यक्त-व्यावहारिक-वर्षात्मक काल से तो सर्वथा अनाद्यनन्त ही बना हुआ है, जिसका कि समग्रा-रम्भ में ही प्रणवमात्र से संस्मरण किया जा चुका है। सप्तम वैवस्वत मन्वन्तरात्मक ब्राह्मकाल ही, वह अनन्तकाल ही भारतीय मानव का सङ्कल्पकाल है, और यही इसके समस्त प्राकृत विधि-विधानों का साक्षी बन रहा है।

५०६–तत्त्वात्मक मन्वन्तरकालात्मक काल से अनुप्राणित दिग्भाव की स्वरूप-परिभाषा—

यही अवस्था यहाँ के 'दिग्भाव' की है। क्योंकि हम कल्पित आकाशभाव को इन सादिसान्त अवस्थान भावों को दिक् (दिशा) नहीं कहते, जो कि भूपिण्ड दिक् सादिसान्त रूपों की परिभाषिका बनी रहती है। किन्तु हम उसे प्राची प्रतीची-उदीची-दक्षिणा-ऊर्ध्वा-अधः-दिक् कहते हैं, जो क्रमशः इन्द्र वरुण सोम यम ब्रह्मा अनन्त आदि अमूर्त-अनन्त-प्राणभावों से अभिन्न अनन्त पारमेष्ठ्य छन्दोदेवता ही हैं। अतएव देवभावात्मिका ये दिशाएँ भी हमारे लिए पूज्या हैं, आराध्या हैं, उपास्या हैं, जिन का हमारे आचारधर्मों में

भयात्मक साधिसम्पन्न विश्व ही इस मैत्री का किंवा बन्धुत्व का आधारस्तम्भ बन रहा है किंवा बलपूर्वक बनाया जारहा है। इस दिग्देशकालानुबन्धताने ही तो आज मानव से 'मानव' को परोक्ष कर दिया है।

५०३–अन्तराष्ट्रीयस्थ्यातिविमोहनमूला आज की मैत्री, तदनुप्राणित सहास्तित्वादि भावों का आटोपपूर्ण स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी दिग्देशकालात्मक वैय्यक्तिक स्वार्थ––

अतएव आज रूस अमेरिका से मित्रता चाहता है तो भारत रूस की मित्रता के लिए आतुर होता जारहा है तो मुस्लिमस्तान (पाकिस्तान) अमेरिका का आश्रय पाये हुए है। मानव मानव की मित्रता आज सर्वथा अनपेक्षित है। मैत्री अपेक्षित है–देश–की देश के साथ किंवा दिक् की दिक् के साथ अथवा तो काल की काल के साथ। प्रत्येक देश अर्थात् प्रत्येक दिग्देशकाल अन्य सभी दिग्देशकालों से लाभ उठाने के लिए मित्रता की उद्घोषपरम्पराओं के माध्यम से नवीन नवीन दैशिक-कालिक-अनुष्ठानों (आज की भाषा में-सांस्कृतिक–आयोजनों) के आकर्षणों में तल्लीन बनता जारहा है जैसेकि एक वारांगना अपने द्रव्यभूत आयोजनों से परसम्पत्ति के प्रति निःशङ्क–निक्षेप किए रहती है। कहीं भी तो न उपक्रम में ही तथाकथित मैत्री में बन्धुत्व में 'मानव' का स्मरण न उपसंहार में ही मानव का समावेश। एक देश दूसरे देश से मित्र कर रहा है–दैशिक–कालिक–भूतभौतिक पदार्थों के पारस्परिक आदान प्रदान का क्रय–विक्रय का समझौता। यदि इस समझौते में सौदा नहीं पटता तो फिर तत्–वस्तु परिग्रह के अभाव में तद्देश के मानव भले ही शरीर ही विसर्जित क्यों न करदें कदापि किना समझौते अर्थात् दिग्देशकालात्मक लाभ की तात्कालिक अथवा तो भावी–आशा के समझौते कार्य्यरूप में परिणत नहीं होंगे। ऐसी विडम्बना क्यों ?। उत्तर वही दिग्देशकाल का व्यामोहन। इस व्यामोहन की विषमतमता में तो वैय्यक्तिक स्वार्थ–पारिवारिक स्वार्थ–सामाजिक स्वार्थ-राष्ट्रीयस्वार्थ-एवं अन्ततः का विश्वस्वार्थ अर्थात् वैय्यक्तिकादि विश्वान्त मैत्री इन सब का एक ही अर्थ है। और उसी अर्थ का नाम है–'दिग्देशकालस्वार्थ' अर्थात् मानवस्वरूप के सम्मुखन में चरमसीमा का घोरघोरतम 'अनर्थ'।

५०४–तथाविध अनर्थात्मक स्वार्थ के पोषक व्यामोहमर्मात्मक आज के मानवता–अहिंसा–सत्य–दया–करुणा–नैतिकता आदि आदि वाग्विजृम्भण, एवं तदनुगता विलक्षणा भावभङ्गिमा––

इसी 'अनर्थ' की सीमा में आज भी वे 'मानवता–दया–करुणा–अहिंसा–मैत्री–सहास्तित्व–पञ्चशील-सत्यभाषण-परोपकार–त्याग–तपस्या–बलिदान-संयम–नैतिकता-राष्ट्रसेवा-ग्रामसेवा-रचनात्मक कार्य–विकासयोजनाएँ– आदि आदि समस्त उदात्त शब्दघोषणाएँ मात्र अन्तर्भावित हैं जिन में केवल 'मानव' उपेक्षित है, एवं दिग्देशकाल ही प्रमुख है। दिग्देशकालानुबन्धी स्वार्थ की स्वल्पमात्र भी हानि की सम्भावना-मात्र से भी वे सभी शब्द क्रमशः दानवता-क्रूरता-घृणा हिंसा-शत्रुता–सहविरोध पञ्चेन्द्रियलोलुपता–मिथ्याभाषण-स्वस्वार्थ–संग्रह–विश्वास–संरक्षण–स्खलन–भौतिकता–राष्ट्रद्रोह–ग्रामद्रोह–रचनाविध्वंस–संकोच योजनाएँ– आदि आदि विपर्य्ययभावों में परिणत हो जाते हैं। पूर्व-

पक्ष में जहाँ यह सुनते हैं कि, "अमुक देश में अमुक सम्मेलन में अमुकने अमुक की मैत्री के लिए हाथ बढ़ाया, तो उधर क्षण में ही दिग्देशकालात्मक विश्वसूत्रों के प्रचार-प्रसार में धुरीण समाचारपत्रों में यह दृष्टिगत उद्धत सुन लिया जाता है कि—"मैत्रीपूर्ण वार्त्ता के विफल हो जाने से अमुक ने अमुक देश पर गोले बरसाना आरम्भ कर दिया। धन्य है यह मैत्री ! और तत्परतया भी धन्य है इन की यह भङ्ग-भङ्गिमा ! ! (अर्थात् मैत्रीविच्छेद)

५०५–दिग्देशकाल का प्राधान्य, एवं मानव का गौणत्व, तदनुगत एक रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का संस्मरण, तथा भारतीय–सांस्कृतिक–अनुष्ठानों के आधारभूत काल की स्वरूप–परिभाषा—

तथाकथित सभी दिग्देशकालभावों में दिग्देशकाल बन रहे हैं प्रधान, एवं मानव अर्थ बन रहा है गौण एवं भारत 'भारतराष्ट्र' के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण के प्रति आज दिग्देशात्मक राष्ट्रवादियों तथा विश्ववादियों का ध्यान और आकर्षित कर दिया जाता है। दिग्देशकालातीता 'मानव-संस्कृति' के आधार पर प्रतिष्ठिता हमें अपनी दिग्देशकालातीता ही भारतराष्ट्र की 'राष्ट्रीय-संस्कृति' की उस परिमामहिमा की दिग्देशकालातीतता को देख-सुन कर अणुमात्र भी आश्चर्य इसलिए नहीं हो रहा कि हमारे सभी सांस्कृतिक अनुष्ठान (आधार) आयोजन-आदि आदि किसी व्यक्त-देश-काल से अनुप्राणित न हो कर इन मूर्त-भौतिक-व्यक्त-दिक्-देश-कालों से अधीन अमूर्त अभौतिक-अव्यक्त अव्यय महतोमहीयान् अनन्तकाल अनन्तदिक् अनन्तदेश-भावों के आधार पर ही व्यवस्थित हुए हैं। वस्तुस्थिति क्योंकि अनन्त प्राणजगत् से सम्बन्ध रखने वाली है अतएव थोड़ी सूक्ष्म अवश्य है। किन्तु है स्वल्पमेधेव बुद्धिगम्य। क्या हम प्रत्यक्ष दृष्ट भूत-उपवर्णित-चान्द्र सम्वत्सर-वर्ष-मासात्मक सादि-सान्त काल को अपने सांस्कृतिक-अनुष्ठानाचारों में 'काल (समय) कहते हैं ?। नहीं। अपितु हमारे प्रत्येक अनुष्ठान का आधारभूत संकल्पित काल वह 'संकल्पकाल' होता है जो 'ब्राह्मकाल' नाम से प्रसिद्ध है जिस का परिचायक-संग्राहक बनता है तदाभूत वह मन्वन्तरकाल जो उस ब्राह्म अनन्तकाल का अनुमान बनता हुआ भी व्यक्त-व्यावहारिक-वर्षात्मक काल से तो सर्वथा अनाद्यनन्त ही बना हुआ है जिसका कि सङ्कल्पा-रम्भ में ही प्रकरमात्र से स्मरण किया जाचुका है। सप्तम वैवस्वत मन्वन्तरात्मक ब्राह्मकाल ही वह अनन्तकाल ही भारतीय मानव का सङ्कल्पकाल है, और यही इसके समस्त प्राकृत विधि-विधानों का साक्षी बन रहा है।

५०६–तत्त्वात्मक मन्वन्तरकालात्मक काल से अनुप्राणित दिग्भाव की स्वरूप-परिभाषा—

यही अवस्था यहाँ के 'दिग्भाव' की है। यद्यपि हम कल्पित आकाशभाव को इन सादिसान्त अवस्थान भावों को दिक् (दिशा) नहीं कहते जो कि मूर्त दिक् सादिसान्त देशों की परिचायिका बनी रहती है। किन्तु हम उसे प्राची-प्रतीची-उदीची-दक्षिणा-ऊर्ध्वा-अधः-दिक् कहते हैं जो क्रमशः इन्द्र वरुण सोम यम ब्रह्मा, अनन्त आदि अमूर्त-अनन्त-प्राणभावों से अभिन्न अनन्त पारमेष्ठ्य छन्दोदेवता ही हैं। फलतेवमस्त दक्षप्राणात्मिका वे दिशायें भी हमारे लिए पूज्या हैं आराध्या हैं उपास्या हैं जिन का हमारे आचारधर्मों में

विस्तार से पूजन–अनुष्ठान विहित है जो कि प्राची–प्रतीची–उदीची–आदि दिग्देवता यथाक्रम विराट्‌ प्रजापति, अनन्त प्रजापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपवर्णित है ●।

५०७–काल, तथा दिक् से अनुप्राणित देशभाव की स्वरूप–परिभाषा, एवं 'भारतदेश' व 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का सर्वथा मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की सादि–सान्तता ने ही मानव को कालविमूढ–दिग्विमूढ बनाते हुए आज देशविमूढ बना रक्खा है एवं इस देशविमूढता के माध्यम से ही जिसने राष्ट्रप्रेम विश्वबन्धुत्व आदि देशानुबन्धी–भूखण्डानुबन्धी नितान्त–कल्पित–व्यामोहनों का सर्जन कर डाला है। भारतीय परिभाषा में देशवाचक नाम (देशों के नाम) भी कदापि व्यक्त–मूर्त–भूत–भावों को प्रधानता नहीं देते। अपितु सम्पूर्ण देशनाम अनन्त–अमूर्त–प्राण–भावों के माध्यम से ही समन्वित हैं, जिन देशनामों की अनन्तता का तत्त्वविश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है। केवल एक समष्ट्यात्मक नाम की अनन्तता–अमूर्तता की ओर ही सङ्केतमात्र कर देना है, जिस के माध्यम से स्थालीपुलाकन्यायेन सभी नामों की अनन्तता का समन्वय गतार्थ बन जाता है। और वह पवित्रतम नाम है–'भारत' जिस 'भारतदेश' का कदापि भूखण्डात्मक सादि–सान्त–मर्त्य–'देश' भाव से सम्बन्धित भी तो सम्भव नहीं है। यही वह रहस्यपूर्ण किन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य दृष्टिकोण है, जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से भी कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का तो दिग्देशकाल–विमोहन अवश्यमेव उपशान्त हो ही जाना चाहिए। जिस भूखण्डपर भारतीय मानव आवास–निवास करते हैं क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है ? क्या इसी राष्ट्रीयता का यशोगान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय–साहित्य–श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रों में ?। कदापि नहीं। न तो भूखण्डविशेष का नाम 'भारतदेश' ही है न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है न यहाँ के अनन्तभावानुगत अनन्तशास्त्र में इस राष्ट्रीयता का यशोगान ही हुआ है।

५०८–'भारत' रूप दिव्य–हव्यवाट्–सम्वत्सराग्नि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक–माध्यम से एतद्देश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपितु 'भारतदेश' नाम है उस प्राणाग्नि–अमृताग्नि–देवाग्नि–अनन्ताग्नि का जो प्राणाग्निदेव 'भारत' नाम से प्रसिद्ध है। परिच्छिन्न–भौतिक–देश का नाम कदापि भारत नहीं है। अपितु 'भारत' नाम तो उस प्राणाग्नि का है जो 'महतोमहीयान्' है। ऐसा महतोमहीयान् है जिस के गर्भ में न केवल यह भूखण्ड विशेष ही अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड भी एक बुद्बुद् जितना स्वरूप रख रहा है। यह वह 'भारत–अग्नि' है जो अग्नीषोमात्मक बनता हुआ प्राणदेवतानुगत प्रकृतिसिद्ध नित्य याज्ञपर्व में 'ब्राह्मणावर्त' माने गए हैं। यह वह 'ब्राह्मणाग्नि' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूपिण्ड के भूतों का भी सीमित–प्रदेश–देशों का भी भरण–पोषण हो रहा है, एवं इसी के ऊर्ध्वस्थित प्राणात्मक विधान से पार्थिव त्रैलोक्य के यु लोकीय

● तस्यै वरा प्राचीर्दिशा दक्षिणा वरा प्रतीचीर्दिशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु (यजुः सं० १५।१२।) । प्राची एव मर्गाः (गो० पू० ५।१५) । प्रतीची–एव मह (गो० पू० ५।१५)। उदीची–एव यशः (गो० पू० ५।१५।) । दक्षिणैव सर्वम् (गो० पू० ५।१५।) इत्यादि।

अन्तरिक्ष प्राणदेवदेवताओं का भी (पार्थिव हवि के प्रदान से, हविःप्रदानात्मक इस आधिदैविक यज्ञ से) भरण पोषण होता रहता है। इत्थंभूत ब्राह्मण भारताग्नि इस भरण-पोषण-धर्म्म से ही 'भारत', किंवा 'भरत' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। प्राणदेवों के लिए हव्य (होमाहुति) वहन करने के कारण ही ये भारताग्नि 'हव्यवाट्' नाम से भी प्रसिद्ध हो गए हैं। सम्पूर्ण भूपिण्ड क्योंकि इस भारताग्नि से ही अनुप्राणित है, अतएव सम्पूर्ण भूपिण्ड को उस भारताग्नि का प्रतीक होने से 'भारत' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है इस अनन्त दृष्टिकोण से। और हम समझते हैं, जिस दिन मानव की दिग्देशकालानुबन्धिनी सीमित प्रज्ञा प्रकृति के इस अनन्त रहस्य को वास्तव में समझ लेगी उस दिन सभी भूखण्डों के मानव अपने अपने सादि-सान्त-दैशिक-प्रान्तीय-कल्पित-राष्ट्रीय-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर एकमात्र 'भारत' नाम ही रख लेंगे इसी आप्त अभिधा (नाम) को अन्तःकरण से प्रकृतिसिद्ध मान लेंगे जैसेकि इस भूखण्ड की अनन्तोपासिका प्रज्ञानि-प्रज्ञा ने इसी त्रैलोक्यव्यापक भारताग्नि के नाम से अपने देशविशेषात्मक अमुक भूखण्ड का प्रतीकविधि से नामकरण करते हुए इसे-'भारतवर्ष' नाम से व्यवस्थित समन्वित कर लिया है।

५०९-दिग्देशकालव्यवधानात्मिका 'अनार्य्यता', एवं सर्वव्यापकब्रह्ममूला 'आर्य्यता', तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का तात्त्विक-समन्वय—

जिस पावन शुभ घड़ी में मानव अपने सीमित दिग्देशकाल-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर देगा, उसी दिन दिग्देशकालव्यवधानात्मिका इस की अनार्य्यता (वैचारिकता) क्षणमात्र में विलीन हो जायगी। और उस अवस्था में वह अपने सहजसिद्ध-'आर्य्यत्व' से अभिव्यक्त हो जायगा जिस की इस भारतदेश के आर्य्यश्रेष्ठ ने अपने आर्य्यसाहित्य में-'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' रूप सूक्तरूप से मङ्गलकामना अभिव्यक्त की है। निश्चयेन उस अवस्था में सम्पूर्ण भूमण्डल बन जायगा 'भारत' एवं इस 'अनन्त भारतदेश' के उपासक अखिलभूमण्डल के मानवमात्र बन जायँगे 'आर्य्य' अर्थात् समदर्शनानुगत आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठ जिन इस सीमित दिग्देशकालात्मिका किन्तु अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्त-देशानुगता-अनन्ता समदर्शनता (आत्मात्मसमदर्शनता) के आधार पर व्यवस्थित सब देशों के विभिन्न भी दिग्देशकालानुबन्धी कर्त्तव्य-कर्म्म क्वापि संघर्ष के कारण नहीं बन पायेंगे।

५१०-अखिल भूमण्डलानुगत 'भारत' शब्द, तत्प्रतीकात्मक 'आर्य्यावर्त्त' रूप 'भारत-खण्ड', तदनुप्राणित भारतवर्ष, तत्र प्रतिष्ठित भारतीय ब्राह्मण, एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण विश्व की आर्य्यता का संरक्षण—

दिग्देशकालानुबन्धी-स्व-स्व-विभिन्न दैशिक-कालिक-नियम (परस्पर विभिन्न) कर्त्तव्य-कर्म्मों में स्व-स्व-चरित्रों में प्रवृत्त सभी भूखण्डों के मानव स्व-स्व विशेषताओं को अपने अपने विशेष कर्त्तव्यों से सुरक्षित रखते हुए दिग्देशकालातीत अनन्त भारतदेशानुगता-अनन्या समदर्शनता से निर्विरोध समन्वित होते रहेंगे इसीको कहा जायगा आत्ममूलक 'साम्य' एवं यही भारतानुगत 'साम्यवाद' की रहस्यपूर्णा व्याख्या होगी, जिसका 'तृतीयखण्ड' में विस्तार से यशोगान किया जा चुका है। एवं जिस आत्ममूलक साम्यवाद नहीं, अपितु 'साम्य' के आधार पर प्रतिष्ठित स्व-स्व-चरित्र की शिक्षा उस 'ब्राह्मणमानव' से ही सम्पूर्ण विश्व के मानवों के

भगिनि ! पश्य तवाय शिशुः किं करोति ! विष्ठा भक्षयति । अनेनैव साकमस्मान भोजयितु समीहसे, एव सर्वभगिनीना वचन श्रुत्वा लज्जिता सा राजपुत्री सूकर-शिशु तत्याज । तदनन्तरमितस्ततो भ्रमन्त हृष्टपुष्टाङ्ग त सूकरशिशु विलोक्य चाण्डालः स्वगृह नीत्वा चरणेषु बद्ध्वा वह्नौ प्रक्षिप्य कुत्सित मृत्युना हतवान् । तस्मात् दुःशील परित्यज्य शीलमासेवनीयम् । ॥ ५ ॥

ने थोड़ी दूर पर जाकर अशुचि कर दी । यह देखकर उस सूकर शिशु ने उस प्रशस्त मधुर सुस्वादु सुगन्धि पथ्य भोजन का परित्याग करके कन्या के मना करते भी शीघ्र ही दौड़कर अशुचि के पास जाकर उसका भक्षण करने लगा । सूकर शिशु को अशुचि खाते देखकर वे सभी बहिनें मजाक करती हुई अपने बहिन से बोलीं कि हे बहिन ! देखो तो सही आपका यह प्यारा पुत्र क्या कर रहा है । कितने आनंदसे अशुचि खाने में मग्न हो रहा है । इसी के साथ आप हम सबको भोजन करने के लिये प्रेरित करती हैं ? इस प्रकार बहिन को उन सब बहिनों ने उलाहना दिया । उलाहनेके वचन सुनकर वह उनके समक्ष अधिक लज्जित हुई और उस सूकर शिशु को घर से बाहिर निकाल दिया । घरसे बाहिर होजाने पर यह इधर उधर फिरने लगा । इतने में चांडाल ने इसे पकड़ लिया और घर ले जाकर चारों पैर बांधकर जमीन पर डाल दिया और उस पर घास डालकर फिर अग्नि जलाई और

જઈને અશુચિ કરી, આ જોઈ તે સૂકર બચ્ચાએ પ્રશસ્ત, મધુ, સુસ્વાદિષ્ટ, સુગંધી ભોજનનો પરિત્યાગ કરીને વિધવા રાજકન્યાના રોકવા છતાં ન રોકાતા ઝડપથી દોડી જઇ અશુચિ પાસે પહોંચી તેનું ભક્ષણ કરવું શરૂ કર્યું સૂકર બચ્ચાને અશુચિ ખાતું જોઈ બધી બહેનો મશ્કરી કરતા પેલી વિધવા બહેનને કહેવા લાગી કે હે બહેન ! જુઓ તો ખરા તમારો એ પ્યારો પુત્ર શું કરી રહેલ છે કેટલા આનંદથી અશુચિ ખાવામાં મગ્ન બની ગયેલ છે આની સાથે તમે અમોને ભોજન કરવાનું કહેતા હતાં. આ પ્રકારે પેલી બધી બહેનોએ તેને મહેણું દેતા મહેણાનું વચન સાંભળીને તે એમની સમક્ષ ખુબ શરમાઈ ગઇ અને એ સૂકર બચ્ચાને ઘરમાંથી બહાર કાઢી મૂક્યું ઘરથી બહાર થઈ જતા તે જ્યાં ત્યાં ભટકવા લાગ્યું એટલામાં ચંડાળને હાથ તે પડી ગયું જેને પકડી તે પોતાને ઘેર લઇ ગયો અને ત્યાં લઇ જઇ ચારે પગ બાંધી જમીન ઉપર પછાડ્યું, અને તેના ઉપર ઘાસ નાખીને પછી અગ્નિ

आन्तरिक्ष प्राणदेवदेवता प्राण भी (पार्थिव हवि के प्रदान से हविःप्रदानात्मक इस आधिदैविक यज्ञ में) भरण पोषण होता रहता है। इत्थंभूत ब्राह्मण भारताग्नि इस भरण-पोषण-धर्म्म से ही 'भारत', किंवा 'भरत' नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं। प्राणदेवों के लिए हव्य (सोमाहुति) वहन करने के कारण ही ये भारताग्नि 'हव्यवाट्' नाम से भी प्रसिद्ध हो गए हैं। सम्पूर्ण भूपिण्ड क्योंकि इस भारताग्नि से ही अनुप्राणित है, अतएव सम्पूर्ण भूपिण्ड को उस भारताग्नि का प्रतीक होने से 'भारत' नामसे व्यवहृत किया जासकता है इस अनन्ताधिकरण से। और हम समझते हैं जिस दिन मानव की दिग्देशकालानुबन्धिनी सीमित प्रज्ञा प्रकृति के इस अनन्त रहस्य को वास्तव में समझ लेगी, उस दिन सभी भूखण्डों के मानव अपने अपने प्रादि-प्रान्त-दैशिक-प्रान्तीय-कल्पित-राष्ट्रीय-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर एकमात्र 'भारत' नाम ही रख लेंगें, इसी आर्य अभिधा (नाम) को अन्तःकरण से प्रकृतिसिद्ध मान लेंगे जैसेकि इस भूखण्ड की अनन्तोपासिका ऋषिमान-मनीषा ने इसी त्रैलोक्यव्यापक 'भारताग्नि' के नाम से अपने देशविशेषात्मक अमुक भूखण्ड का सर्वात्मविधि से नामकरण करते हुए इस-'भारतवर्ष' नाम से व्यवस्थित समन्वित कर लिया है।

५ ६—दिग्देशकालव्यवधानात्मिका 'अनार्य्यता', एवं सर्वव्यापकब्रह्मभूता 'आर्य्यता', तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का तात्त्विक-समन्वय—

जिस पावन शुभ घड़ी में मानव अपने सीमित दिग्देशकाल-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर देगा, उसी दिन दिग्देशकालव्यवधानात्मिका इस की अनार्य्यता' (वैचारिकता) क्षणमात्र में विलीन हो जायगी। और उस अवस्था में वह अपने सहजसिद्ध-'आर्य्यत्व' से अभिव्यक्त हो जायगा जिस की हम भारतदेश के आर्य्यमहर्षि ने अपने आर्य्यसाहित्य में-'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' रूपेण सूक्तवाक्य से मङ्गलकामना अभिव्यक्त की है। निश्चयेन उस अवस्था में सम्पूर्ण भूमण्डल बन जायगा 'भारत' एवं इस 'अनन्त भारतदेश' के उपासक अखिलभूमण्डल के मानवमात्र बन जायेंगे 'आर्य्य' अर्थात् समदर्शनानुगत आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठ जिन इस सीमित दिग्देशकालात्मिका किन्तु अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्त-देशानुगता-अनन्ता समदर्शनता (आत्मसमदर्शनता) के आधार पर व्यवस्थित तत्तद्देशों के विभिन्न भी दिग्देशकालानुबन्धी कर्त्तव्य-कर्म्म क्वापि संघर्ष के कारण नहीं बन पायेंगे।

५१०—अखिल भूमण्डलानुगत 'भारत' शब्द, तत्प्रतीकात्मक 'आर्य्यावर्त्त' रूप 'भारत-खण्ड', तदनुप्राणित भारतवर्ष, तत्र प्रतिष्ठित भारतीय ब्राह्मण, एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण विश्व की आर्य्यता का संरक्षण—

दिग्देशकालानुबन्धी-स्व-स्व-विभिन्न दैशिक-कालिक-विषम (परस्पर विभिन्न) कर्त्तव्य-कर्म्मों में स्व-स्व-परिधियों में प्रवृत्त सभी भूखण्डों के मानव स्व-स्व विशेषताओं को अपने अपने विशेष कर्त्तव्यों से सुरक्षित रखते हुए दिग्देशकालातीत अनन्त भारतदेशानुगता-अनन्ता समदर्शनता से निर्विशेष समन्वित होते रहेंगे इसीको कहा जायगा आत्ममूलक 'साम्य' एवं यही भारतानुगत 'साम्यवाद' की रहस्यपूर्णा व्याख्या होगी जिसका 'तृतीयखण्ड' में विस्तार से यशोगान किया जाचुका है। एक विश्व आत्ममूलक साम्यवाद नहीं, अपितु साम्य' के आधार पर प्रतिष्ठित स्व-स्व-चरित्र की शिक्षा उस 'ब्राह्मणमानव' से ही सम्पूर्ण विश्व के मानवों को

विस्तार से पूजन–अनुष्ठान विहित है जो कि प्राची–प्रतीची–उदीची–आदि दिग्देवता उपासना विध, प्रजापति, अनन्त प्रजापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपवर्णित हैं •।

५०७–काल, तथा दिक् से अनुप्राणित देशभाव की स्वरूप–परिभाषा, एवं 'भारतदेश' के 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का उच्चावचया मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की भ्रान्ति–भान्तताने ही मानव को कालविमूढ–दिग्विमूढ बनाते हुए आज देशविमूढ बना रक्खा है एवं इस देशविमूढता के माध्यम से ही जिसने राष्ट्रप्रेम विश्वबन्धुत्व आदि देशानुबन्धी–भूखण्डानुबन्धी नितान्त–कल्पित–व्यामोहनों का समर्थन कर डाला है। भारतीय परिभाषामें देशस्वरूपात्मक नाम (देशों के नाम) भी कदापि व्यक्त–मूर्त–भूत–भावों की प्रधानता नहीं देखते। अपितु सम्पूर्ण देशनाम अनन्त–अमूर्त–प्राण–भावों के माध्यम से ही समन्वित हैं, जिन देशनामों की अनन्तता का तत्वविश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है। केवल एक समन्वयात्मक नाम की अनन्तता–अमूर्तता की ओर ही सङ्केतमात्र कर देना है जिस के माध्यम से स्थालीपुलाकन्यायेन सभी नामों की अनन्तता का समन्वय गतार्थ बन जाता है। और वह पवित्रतम नाम है–'भारत', जिस 'भारतदेश' का कदापि भूखण्डात्मक परिच्छिन्न–मर्त्य–'देश' भाव से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। यही वह रहस्यपूर्ण किन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य दृष्टिकोण है जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से भी कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का तो दिग्देशकाल–विमोहन सर्वात्मना उपशान्त हो ही जाना चाहिए। जिस भूखण्डपर भारतीय मानव आवास–निवास करते हैं क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है ?, क्या इसी राष्ट्रीयता का यशोगान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय–साहित्य–श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रों में ?। कदापि नहीं। न तो इस भूखण्डविशेष का नाम भारतदेश ही है न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है न यहाँ के अनन्तभावानुगत अनन्तशास्त्र में इस राष्ट्रीयता का यशोगान ही हुआ है।

५०८–'भारत' रूप हिरण्य–हव्यवाट्–सम्वत्सराग्नि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक–माध्यम से एतद्देश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपितु 'भारतदेश' नाम है उस प्राणाग्नि–अमूर्ताग्नि–देवाग्नि–अनन्ताग्नि का जो प्राणाग्निदेव 'भारत' नाम से प्रसिद्ध हैं। परिच्छिन्न–सीमित–देश का नाम कदापि भारत नहीं है। अपितु 'भारत' नाम तो उस प्राणाग्नि का है जो 'महतोमहीयान्' है। ऐसा महतोमहीयान् है जिस के गर्भ में न केवल यह भूखण्ड विशेष ही अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड भी एक बुद्बुद् जितना ही स्वरूप रख रहा है। यह वह 'भारत–अग्नि' है जो अग्नीषोमात्मक बनता हुआ प्राणदेवतानुगत प्रकृतिसिद्ध नित्य यज्ञपर्व में 'ब्राह्मणवर्ग' माने गए हैं। यह वह 'ब्राह्मणाग्नि' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूपिण्ड के भूतों का भी सीमित–प्रदेश–देशों का भी भरण–पोषण हो रहा है एवं इसी के ऊर्ध्ववितत प्राणात्मक वितान से पार्थिव त्रैलोक्य के पुरोनीय

• तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीः। तेभ्यो नमो अस्तु (यजुः सं० १६।६४)। प्राची एव भर्गः (गो० पू० ५।१५)। प्रतीची–एव महः (गो० पू० ५।१५)। उदीची–एव यशः (गो० पू० ५।१५)। दक्षिणैव सर्वम् (गो० पू० ५।१५।) इत्यादि।

आन्तरिक्ष्य प्राणदेवदेवताओं का भी (पार्थिव हवि के प्रदान से, हविप्रदानात्मक इस आधिदैविक यज्ञ में) भरण पोषण होता रहता है। इत्थंभूत व्याप्त भारताग्नि इस भरण-पोषण-धर्म्म से ही 'भारत', किंवा 'भरत' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। प्राणदेवों के लिए हव्य (सोमाहुति) वहन करने के कारण ही ये भारताग्नि 'हव्यवाट्' नाम से भी प्रसिद्ध हो रहे हैं। सम्पूर्ण भूपिण्ड क्योंकि इस भारताग्नि से ही अनुप्राणित है, अतएव सम्पूर्ण भूपिण्ड को उस भारताग्नि का प्रतीक होने से 'भारत' नामसे व्यवहृत किया जासकता है इस अनन्तदृष्टिकोण से। और हम समझते हैं जिस दिन मानव की दिग्देशकालानुबन्धिनी सीमित प्रज्ञा प्रकृति के इस अनन्त रहस्य को वास्तव में समझ लेगी, उस दिन सभी भूखण्डों के मानव अपने अपने सादि-सान्त-दैशिक-प्रान्तीय-कल्पित-राष्ट्रीय-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर एकमात्र 'भारत' नाम ही रख लेंगे, इसी आर्ष अभिधा (नाम) को अन्तःकरण से प्रकृतिसिद्ध मान लेंगे, जैसेकि इस भूखण्ड की अनन्तात्मनिष्ठा प्रज्ञानिमान-प्रजा ने इसी त्रैलोक्यव्यापक 'भारताग्नि' के नाम से अपने देशविशेषात्मक अमुक भूखण्ड का प्रतीकविधि से नामकरण करते हुए इसे-'भारतवर्ष' नाम से व्यवस्थित सम्मानित कर लिया है।

५०९-दिग्देशकालव्यवधानात्मिका 'अनार्य्यता', एवं सर्वव्यापकब्रह्ममूला 'आर्य्यता', तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का तात्त्विक-समन्वय—

जिस पावन शुभ घड़ी में मानव अपने सीमित दिग्देशकाल-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर देगा, उसी दिन दिग्देशकालव्यवधानात्मिका इस की 'अनार्य्यता' (वैभाषिकता) क्षणमात्र में विलीन होजायगी। और उस अवस्था में वह अपने सहजसिद्ध-'आर्य्यत्व' से अभिव्यक्त होजायगा, जिस की इस भारतदेश के आर्य्यश्रेष्ठ ने अपने आर्य्यसाहित्य में- 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' रूपेण सूक्तरूप से मङ्गलकामना अभिव्यक्त की है। निश्चयेन उस अवस्था में सम्पूर्ण भूमण्डल बन जायगा 'भारत', एवं इस अनन्त भारतदेश के उपासक अखिलभूमण्डल के मानवमात्र बन जायँगे 'आर्य्य', अर्थात् समदर्शनानुगत आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठ, जिन इस सीमित दिग्देशकालात्मिका किन्तु अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्त-देशानुगता-अनन्ता समदर्शनता (प्राकृता समसमदर्शनता) के आधार पर व्यवस्थित तत्तद्देशों के विभिन्न भी दिग्देशकालानुबन्धी कर्त्तव्य-कर्म्म कदापि संघर्ष के कारण नहीं बन पाएँगे।

५१०-अखिल भूमण्डलानुगत 'भारत' शब्द, तत्प्रतीकात्मक 'आर्य्यावर्त्त' रूप 'भारत-खण्ड', तदनुप्राणित भारतवर्ष, तत्र प्रतिष्ठित भारतीय मानव, एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण विश्व की आर्य्यता का संरक्षण—

दिग्देशकालानुबन्धी-स्व-स्व-विभिन्न दैशिक-कालिक-नियम (परस्पर विभिन्न) कर्त्तव्य-कर्म्मों में स्व-स्व-चरित्रों में प्रवृत्त सभी भूखण्डों के मानव स्व-स्व विशेषताओं को अपने अपने विशेष कर्त्तव्यों से सुरक्षित रखते हुए दिग्देशकालातीत अनन्त भारतदेशानुगता-अनन्ता समदर्शनता से निर्विरोध समन्वित होते रहेंगे इसीको कहा जायगा आत्ममूलक 'साम्य' एवं यही भारतानुगत 'साम्यवाद' की रहस्यपूर्ण व्याख्या होगी जिसका 'तृतीयखण्ड' में विस्तार से यशोगान किया जाचुका है। एवं जिस आत्ममूलक साम्यवाद नहीं, अपितु 'साम्य' के आधार पर प्रतिष्ठित स्व-स्व-चरित्र की शिक्षा उस 'आर्य्यमानव' से ही सम्पूर्ण विश्व के मानवों को

विस्तार से पूजन–अनुष्ठान विहित है, जो कि प्राची–प्रतीची–उदीची–आदि दिग्देवता यथाक्रम विश्व प्रजापति, अनन्त प्रजापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपवर्णित हैं ●।

५०७–काल, तथा दिक् से अनुप्राणित देशभाव की स्वरूप–परिभाषा, एवं 'भारतवर्ष' के 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का तथ्यतः मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की भ्रान्ति–भ्रान्तवाने ही मानव को कालविमूढ–दिग्विमूढ बनाते हुए आज देशविमूढ बना रक्खा है एवं इस देशविमूढता के माध्यम से ही जिसने राष्ट्रप्रेम विश्वबन्धुत्व आदि देशानुबन्धी–भूखण्डानुबन्धी नितान्त–कल्पित–व्यामोहनों का सर्जन कर डाला है। भारतीय परिभाषामें देशवाचक नाम (देशों के नाम) भी कदापि व्यक्त–मूर्त–भूत–भावों का प्रधानता नहीं देते। अपितु सम्पूर्ण देशनाम अनन्त–अमृत–प्राण–भावों के माध्यम से ही समन्वित हैं जिन देशनामों की अनन्तता का तत्त्वविश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है। केवल एक समन्वयात्मक नाम की अनन्तता–असंख्यता की ओर ही उद्देशमात्र कर देना है जिस के माध्यम से स्थालीपुलाकन्यायेन सभी नामों की अनन्तता का समन्वय गतार्थ बन जाता है। और वह पवित्रतम नाम है–'भारत' जिस 'भारतवर्ष' का कदापि भूखण्डात्मक परि–छिन्न–मर्त्य–'देश' भाव से काञ्चिन्मात्र भी तो सम्बन्ध नहीं है। यही वह रहस्यपूर्ण किन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य दृष्टिकोण है जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से भी कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का तो दिग्देशकाल–विमोहन सर्वात्मना उपशान्त हो ही जाना चाहिए। जिस भूखण्डपर भारतीय मानव आवास–निवास करते हैं, क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है ? क्या इसी राष्ट्रीयता का यशोगान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय–साहित्य–श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रों में ? । कदापि नहीं। न तो इस भूखण्डविशेष का नाम 'भारतदेश' ही है न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है न यहाँ के अनन्तभावानुगत अनन्तशास्त्र में इस राष्ट्रीयता का यशोगान ही हुआ है।

५०८–'भारत' रूप विश्व–हव्यवाट्–सम्वत्सराग्नि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक–माध्यम से एतद्देश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपितु 'भारतवर्ष' नाम है उस प्राणाग्नि–अमूर्ताग्नि–देवाग्नि–अनन्ताग्नि का जो प्राणाग्निदेव 'भारत' नाम से प्रसिद्ध है। परिच्छिन्न–सीमित–देश का नाम कदापि भारत नहीं है। अपितु 'भारत' नाम तो उस प्राणाग्नि का है जो 'महतोमहीयान्' है। ऐसा महतोमहीयान् है जिस के गर्भ में न केवल यह भूखण्ड विशेष ही अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड भी एक बुद्बुद् जितना ही स्वरूप रख रहा है। यह वह 'भारत–अग्नि' है जो ब्रह्मवीर्यात्मक बनता हुआ प्राणदेवतानुगत प्रकृतिसिद्ध नित्य भारतवर्ष में 'भारतवर्ष' माने गए हैं। यह वह 'भारताग्नि' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूपिण्ड के भूतों का भी, सीमित–प्रदेश–देशों का भी भरण–पोषण हो रहा है एवं इसी के ऊर्ध्वनिबद्ध प्राणात्मक वितान से पार्थिव त्रैलोक्य के युलोकीय

● तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु (यजुः सं० १६।६४)। प्राची एव भर्गः (गो० पू० ५।१५)। प्रतीची–एव महः (गो० पू० ५।१५)। उदीची–एव यशः (गो० पू० ५।१५)। दक्षिणैव सर्वम् (गो० पू० ५।१५) इत्यादि।

अवश्य ही अभिव्यक्त की है सम्पूर्ण मानवों के लिए इस दश की श्रुतिप्रज्ञान, जो विभिन्नप्रकृतिक सभी विभिन्न मानवों का अविभिन्न–सामान्य–आत्मधर्म माना गया है+। और यही–'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का मर्थार्थ है। व्यापक है आर्य्यत्व, एवं सीमारूपेण व्यवस्थित है वर्णाश्रमधर्म। अनन्ताश्रमानुगत है आर्य्यत्व एवं आदि–शान्ता प्रकृति से समन्वित है वर्णाश्रमधर्म। आर्य्यत्व व्यापकधर्म है, सामान्य धर्म है, जबकि वर्णाश्रमाचार केवल इस विशेष देश भारत के मानव से ही अनुप्राणित है। वेदशास्त्र का अनन्तात्ममूलक आर्य्यत्व ही सम्पूर्ण विश्व से अनुप्राणित माना गया है, जिसका भी प्रचार कदापि अभीप्सित नहीं है। केवल वस्तुस्थिति का विश्लेषण ही अभीष्ट है, और यही 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का समन्वय है।

५१२–मानवमात्र की प्रकृतिसिद्धा 'आर्य्यता', एवं दिग्देशकालव्यामोहन से 'अनार्य्यता' का उद्गम, और एतद्देशीय मानवों की भी सम्भाविता 'अनार्य्यता', तथा अन्यदेशीय मानवों की भी सम्भाविता–'आर्य्यता'—

आर्य्य किसी को नवीनरूप से बनाया नहीं जाता। अपितु मानवमात्र मूलतः सहजरूपेणैव आर्य्य ही हैं। अनन्तात्मभाव ही तो 'मनु' रूप मानव का सहज स्वरूप है। दिग्देशकाल के विमोहन से जब मानव अपनी इस आत्मानुगता आर्य्यता को अभिभूत कर लेता है, तो वही मानव अपने इस प्राकृतिक व्यामोहन से 'अनार्य्य' बन जाता है। कदापि आर्य्यता–अनार्य्यता–भूखण्ड–विशेषों में सीमित नहीं है। भारतेतर देशों के मानवश्रेष्ठ भी आर्य्यश्रेष्ठ होसकते हैं, तो भारतवर्ष के मानव भी अनार्य्य बन सकते हैं, और बन गए हैं आज।

५१३–प्रकृत्यनुगत सीमित वर्णधर्म्म, तथा प्रकृत्यतीता असीमा आर्य्यता, एवं भारतीय मानव की उभयसम्पत्ति का वर्त्तमान युग में आत्यन्तिक–अभिभव–

भारतीय ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–नामक सभी मानवों की आत्मानुगता आत्मसाम्यमूला 'आर्य्यता' भी आज अभिभूत है साथ साथ ही स्वधर्म्माभिन्ना वर्णता भी अभिभूत है। न तो प्रकृतिनिबन्धन विशेष धर्म्मात्मक 'वर्णाश्रमधर्म्म' ही आज सुरक्षित है यहाँ के वर्णमानवों का एवं न प्रकृत्यतीत आत्मानुगत 'आर्य्यधर्म्म' ही व्यवस्थित है। जबकि आर्य्यत्वमूलक कतिपय सामान्यधर्म्मों में तो आज भारतेतर कतिपय देशों के मानवश्रेष्ठ ही कहीं अधिक अग्रणी माने जायेंगे जिन के समतुलन में आज के भारतीय मानव को यदि 'अनार्य्य' कह दिया जायगा तो भी अत्युक्ति न होगी। विश्वानुबन्धिनी आर्य्यता न सही उन में। किन्तु स्वराष्ट्रानुगता 'आर्य्यता' तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी उन की। जबकि यहाँ राष्ट्रानुबन्धिनी आर्य्यता भी आज प्रसुप्ता है। भारतीय मानव का वैय्यक्तिक क्षुद्रस्वार्थ आज अपनी इस राष्ट्रीया आर्य्यता से भी पराङ्मुख हो

+ — अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
—गीता

सदा से ही मिलती रही है, जिसकी दृष्टि में 'भारत' अनन्त है आत्मप्रतीक है, केवल भूखण्डविशेष ही नहीं *। जिस इस प्रतीकभूत भारतखण्ड किंवा भारतवर्ष (सम्पूर्ण भूमण्डलरूप अनन्त भारतदेश का एक प्रतीकात्मक सुप्रसिद्ध 'भारतवर्ष' नामक देश) में अभिव्यक्त होने वाले अनन्तभारतराष्ट्र के द्वारा भारतीय मानवने अपने अनन्त 'भारताग्निशास्त्र' अपौरुषेय ब्रह्माग्निमूलक वेदशास्त्र के आधार पर सदा इतर भूखण्डों के मानवों की उन उन के चरित्रों-कर्त्तव्यों का सुव्यवस्थित बनाते हुए ही उनके लिए 'आर्य्यत्व' की मङ्गलकामना की है। क्योंकि इसने अपने भारतखण्ड के विशेष चरित्रलक्षण उस वर्णाश्रमधर्म्मरूप 'स्वधर्म्म' के प्रति दूसरे भूखण्डों के विभिन्नप्रकृतिक-मानवों के लिए आग्रह-दुराग्रह व्यक्त किया ही नहीं जैसे कि अनन्तता के इस व्यापक तथ्य से अपने आप को पृथक् रखने वाले अन्य भूखण्डों के प्राकृत मानव अपने अपने विशेष कर्त्तव्यों को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करते हुए उन्हीं का सर्वत्र-प्रचार-करने का प्रयास करते रहते हैं। और निश्चयेन इसी असम्भव-'विशेषप्रकृति' विरुद्ध-प्रयासने मानव को उस संघर्ष पर ला खड़ा किया है जिससे अनन्तपुरुषमूला (अव्ययब्रह्ममूला) 'मानवता' तथा अनन्तप्रकृतिसिद्धा 'आर्य्यता' आज सर्वथा ही अन्तर्मुख बनती आरही है।

५११–स्वधर्म्मात्मक श्रौतस्मार्त्त-विशेषधर्म्म का भावुकतापूर्ण विश्वप्रचार-व्यामोहन, तद्व्यामोहन से भारतीय आर्षधर्म्म की अन्तर्मुखता, एवं विशेषधर्म्म तथा आर्य्यत्व के पार्थक्य का तात्त्विक-समन्वय—

सहजस्वभावानुसार-कभी इस भारतदेश ने प्रकृतिसिद्ध स्वधर्म्मात्मक अपने वर्णाश्रमधर्म्म के 'विश्व प्रचार' का व्यामोहन किया ही नहीं, जैसाकि आज भ्रान्तिवश सोचा जाने लगा है परानुकरण के माध्यम से। "वेदधर्म्म का हम सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करेंगे वेदधर्म्म से ही सम्पूर्ण विश्व सुखी-शान्त हो सकेगा" इत्यादिरूपेण गतानुगतिक-अन्धानुकरण के अनुग्रह से इसप्रकार धर्म्मात्मक-कर्त्तव्य प्राकृतिक-कर्तव्य के प्रचार प्रसार के लिए आतुर भारतीय आज के अभिनव वेदव्याख्याता यह विस्मृत कर देते हैं कि, क्योंकि यह भारतीय दृष्टिकोण नहीं है। क्योंकि यहाँ 'धर्म्म' प्रचार की वस्तु रहा ही नहीं। और क्योंकि इस का प्रकृतिनिबन्धन स्वधर्म्मात्मक यह 'वर्णाश्रमधर्म्म' (वर्णानुगत कर्तव्यकर्म्म) भारतातिरिक्त भूखण्डों के प्रति आकर्षित हुआ ही नहीं। यही नहीं, स्वयं यहाँ भी परस्पर व्यतिक्रम सहन नहीं किया इस वर्णधर्म्म का भारतीय मानवोंनें केवल अवतारपुरुषों के अतिरिक्त ×। हाँ उस 'आर्य्यत्व' की मङ्गलकामना

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
—मनुः

×-धर्म्मव्यतिक्रमो दृष्टः, ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥
—श्रीमद्भागवत

५१६-अखण्ड भारत अग्नि से समन्वित भारतदेश की अखण्डता, एवं त्रयीमूलक भारत अग्नि के विस्मरण से अखण्डता की खण्ड-खण्डरूप में परिणति—

यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, जबतक भारतीय मानव अपने इस अनन्तप्राणरूप-'भरताग्नि' का तदनुप्राणित प्राणाग्निरूप 'त्रयीशास्त्र' का, तन्मूला अनन्तात्मसंस्कृति' का निष्ठापूर्वक अनुगामी बना रहा तबतक इसका यह सीमित भरतखण्ड सम्पूर्ण भूलोक का समाहक बनता हुआ सम्पूर्ण विश्व को अपनी 'भारत' उपाधि से 'अखण्डभारतत्त्व' से अनुप्राणित करता रहा। जिस दिन से इसने अपनी इस 'भारतप्राणात्मिका ('भारताग्निरूपा') प्राणप्रतिष्ठा को विस्मृत कर दिया उसी दिन से इसकी यह अखण्डता खण्ड-खण्ड-रूप में ही परिणत होने लग पड़ी जिस खण्डता का अवसान अन्ततोगत्वा कहाँ होगा ?, इस प्रश्न का उत्तर तो वे अखण्डभारतवादी आज के राष्ट्रवादी ही सम्भवतः भलीभाँति दे सकेंगे जिन की दृष्टि में न भारतीय संस्कृति का कोई महत्त्व, न सांस्कृतिक-आचार का ही कोई स्वरूप एवं नापि सांस्कृतिक-आयोजनों की स्मृति का ही अनुसरण ?। अपितु जिन की सांस्कृतिक-आयोजन-भक्ति का एकमात्र आधारबिन्दु बने हुए हैं—आज के ये कल्पित आयोजन जिन के दुःखपूर्ण इतिहास के लिए ही हमें एक स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध कर देना पड़ा है।

५१७-वर्तमान राष्ट्रवादों की कल्पिता अखण्डता का नग्नचित्रण, तदनुयायी प्रान्तीयता-व्यामोहन, तद्दुष्परिणाम और भारत का सम्भावित भीषण भविष्य-

पुनश्च वे ही अपनी इस कल्पित अखण्डता का समाधान करसकेंगे जिन की दृष्टि में राष्ट्र के द्वारा प्रान्त, तद्द्वारा ग्राम तद्द्वारा परिवार, और अन्त में 'व्यक्ति' ही 'अखण्डभारत' की मौलिक परिभाषा बन गई है। इसी दिग्देशकालव्यामोहन से अभी तो महाराष्ट्र-पञ्जाब आदि कतिपय प्रान्त ही अपने आपको 'अखण्ड भारत' मानने-मनवाने के लिए आतुर हो रहे हैं। कोई आश्चर्य्य नहीं कालान्तर में प्रत्येक भारतीय मानव अपने अपने घर को ही 'अखण्डभारत' कह देना आरम्भ करदें। सांस्कृतिक-मर्यादानिष्ठाओं के प्रारम्भिक स्खलन के ऐसे ही तो दुष्परिणाम हुआ करते हैं। भावावेशमूला-परदर्शनानुगता-अन्तर्राष्ट्रीय-व्यामोहमूला-दिग्देशकालकल्पिता भावुकता के द्वारा हो पड़ने वाली खण्डता (विभाजन) कदापि आज की इन अनेक-खण्ड-खण्ड-भावप्रवृत्तियों का समतुल नियन्त्रण-निरोध कर ही नहीं सकती जबतक कि अखण्ड भारत की मौलिक अखण्डता के आधारभूत 'महान् भारत अग्निदेव' की मूलसंस्कृतिनिष्ठा को इन भारतीयों की आधारभूमि नहीं बना लिया जायगा। आज से तीन सहस्र वर्ष के आरम्भ में दिग्देशकालव्यामोहनमूला तात्कालिकी दया-करुणा अहिंसा-ने जो असंस्कृतिनिरुद्धा जिस 'शून्यकल्पना' का आविर्भाव कर डाला था इसी देश के एक भावुक मानव ने उसी के कारण भारतीय-संस्कृतिनिष्ठात्मिका ऐकात्म्यनिष्ठा अन्तर्मुख बन गई। और तभी से अखण्डभारत आततायीवर्गों के द्वारा खण्ड-खण्ड-रूपेण उदरदरी में विलीन होता गया। उसी कल्पित अहिंसावाद के व्यामोहनने उसी तात्कालिकी दिग्देशकालभ्रान्ति ने अन्ततोगत्वा वो वैसी खण्डता का वर्द्धन कर ही तो डाला जिसका प्रायश्चित्त भी आज भारतीय मानव के लिए असम्भव बनता जारहा है।

पुष्ट है। नामधारणा अवश्य है राष्ट्रप्रेम की। किन्तु मानवतानुबन्ध से राष्ट्र के प्रति स्वल्पमात्र भी निष्ठा नहीं है आज भारतीय 'व्यक्तिमानव' की। राष्ट्र-समाज-आदि शब्द आज केवल यहाँ कल्पपूर्ण ही प्रमाणित हो रहे हैं। आज ही नहीं, आज से तीन सहस्र वर्ष पूर्व से अद्यावधि-पर्य्यन्त।

५१४-वर्णाश्रमव्यवस्थाओं, आर्य्य-अनार्य्य भावों के व्यतिक्रम के तात्त्विक कारण का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ऐसा क्यों ? उत्तर वही दिग्देशकाल का विमोहन। अपने अपने देश प्रदेश-घर-परिवार-की सीमाओं में अपना अपना लाभ उठाने के महान् व्यामोहनने ही आज उस भारतीय मानव को 'राष्ट्रीयता' से पराङ्मुख ही कर दिया है जिस की राष्ट्रीयता तीन सहस्रवर्ष पूर्व के नैष्ठिक युगों में विश्वानुगता ही बनी हुई थी। प्रकृत में इस आर्य्यता-अनार्य्यता के प्रसङ्ग से यही निवेदन कर देना था कि, आर्य्यत्व व्यापकधर्म है ब्राह्मणत्वादि व्याप्यधर्म्म है। ब्राह्मण 'अनार्य्य' कहला सकता है, जबकि इतर देशीय मानव भी 'आर्य्य' कहला सकता है। कहला रहा है आज के अनार्य्य-ब्राह्मण' के सम्मूलन में। किन्तु इतर-देशीय 'आर्य्य' कदापि 'ब्राह्मण' नहीं कहला सकता। क्योंकि ब्राह्मण शब्द वर्णाश्रमानुगत विशेषधर्म्म का ही समाहक है जिसका एतद्देशीय विशेषधर्मों के साथ ही समन्वय हुआ है जिस इस दुरधिगम्या प्रकृतिमूला' ('तत्त्वाकृतिमूला') वर्ण विशेषता का समन्वय मानव तभी कर सकेगा जबकि वह अपने दिग्देशकाल से थोड़ा ऊपर उठ जायगा। तभी वह यह समझ सकेगा कि एक भारतीय ब्राह्मण 'आर्य्य' तो हो सकता है, किन्तु इतर देशीय आर्य्य भी मानव कदापि ब्राह्मण नहीं बन सकता। एवमेव क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-अवरवर्णादि सभी विभाग इसी व्याप्य-व्यापक भावानुबन्ध से सुव्यवस्थित बने हुए हैं प्राकृतिक प्राणजगत्-प्राणीजगत्-एवं भूतजगत् में। केवल मानवने ही इन प्रकृतिमूला वर्णाश्रमव्यवस्थाओं का व्यतिक्रम कर लिया है दिग्देशकालव्यामोहनों से।

५१५-भारतदेश के मूल प्रतिष्ठाता (अधिष्ठाता) त्रैलोक्य-व्यापक दिव्य 'भारत' नामक अग्निदेव का संस्मरण—

हाँ तो इस देश भारत के इस 'भारत' नाम की आधारभूमि स्वयं यह सीमित देशविशेष कदापि नहीं है। अपितु अनन्तप्राणमूर्त्ति-अमूर्त्त 'भारत-अग्नि' ही इस देश की 'भारत' अभिधा का एकमात्र कारण है। दौष्यन्ति भरत की ही भाँति और और भी अनेक शासकों को भरतसत्तम ! भरतर्षभ ! भारत ! आदि आदि रूपेण 'भारत' अभिधा के कारण माना जासकता है। किन्तु यह मान्यता केवल यथोऽनुबन्धिनी ही मानी जायगी, जबकि आस्था का सम्बन्ध तो 'भारतअग्नि' के से ही माना जायगा। और यही इस देश के नामकरण का चिरन्तन इतिहास माना जायगा जो कि निम्नलिखित मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों से सर्वात्मना अभिव्यक्त हुआ है—

'अग्ने ! महाँ २॥ ऽ असि ब्राह्मण भारत' इति। (निगदमन्त्रः)। (अथ मन्त्रव्याख्या) ब्रह्म ह्यग्निः, तस्मादाह-'ब्राह्मण' इति। स हि देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्मात्-'भरतो' 'ऽग्नि' रित्याहुः। एष उ वा ऽ इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति, तस्माद्वेवाह-'भारते' ति। (शत० ब्रा० १।४।२।२)।—यजु० मा० ३।७ (तै० सं० २।५।२।१)।

पदार्थों के दिग्–देश–काल–की मीमांसा में सर्वात्मना जुट पड़ते हैं। इस महान् भगीरथप्रयास का नाम ही है आज की भाषा में 'विशोधन' और इसी का नाम है 'पुरातत्त्वानुसंधान'। सौभाग्य ही माना जायगा यह इन पुरातत्त्वविदों का कि, आज का सत्तातन्त्र भी न केवल इस कार्य्य में अभिरुचि ही ले रहा है, अपितु इन सब खण्डहरों के रक्षण के लिए, भगर्भ से निकले हुए उन टूटे फूटे भूत–भौतिक–पिण्डों की व्यवस्था के लिए मुक्तहस्तता का भी परिचय प्रदान कर रहा है। एवं जब भी कहीं बाहिर से कोई सम्मान्य अतिथि आते हैं तो सत्तापमुख व्यक्ति अवश्य ही इन अपने विभूतिभावों के दर्शन करा देने में अपने आपको गौरवान्वित ही मानते रहते हैं।

५२०–वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा भूत–भविष्यदनुगत 'पुरातन' का प्रचण्ड विरोध, तत्स्थान में 'नवीनता' का उद्घोष, एवं तदपि महान् व्यामोहनात्मक भौमाव शेषों के साथ सत्तातन्त्र का समालिङ्गन—

स्मरण रहे यह वही सत्तातन्त्र है जो अपनी प्रत्येक दैनिक–चर्य्या में पुरान–सड़े–गले–सभी खण्डहरों का मुक्तकण्ठ से विरोध करता रहता है। 'पुराना सब सड़–गला–कुड़ा है। अतएव आज इसी युग के अनुपात से सब कुछ नवीन ही बनाना चाहिए' यही आज का वह महान् उद्घोष है, जो सत्तातन्त्र का तथा तदनुवर्त्ती जनतन्त्र का दोनों का ही मूल–आदर्शसूत्र बना हुआ है। और स्पष्ट ही इस मूलसूत्र के द्वारा एकमात्र उस प्राच्य भारतीय सांस्कृतिक–शोधात्मक–शब्दशास्त्र की ओर ही लक्ष्य हो रहा है, जिस शास्त्र के नामश्रवण से भी आज का सत्तातन्त्र उद्विग्न हो पड़ता है। कहीं, कभी भूल से भी 'पुरातनसाहित्य' के आधार पर किसी के मुख से कुछ निकल जाता है तो तत्काल हमारे कर्णधार अग्निरूप–वायुरूप हो पड़ते हैं। 'अरे फिर वे ही पुरानी बात। जमाना बदल गया सब कुछ बदल गया। और तुम वही पुराणपन्थी बन हुए हो। छि! छि! तभी तुम प्रगति नहीं कर सके। पुराना सबकुछ भूल जाओ। पहिले तो हम यही नहीं मानते कि उन असभ्य युगों में कुछ 'अच्छा' भी था। यदि कुछ होगा भी तो बस उस जमाने के लिए होगा। आज तो —'इत्यादि–इत्यादि'।

५२१ दिव्यदृष्टि से समन्वित महामानवों की बौद्धिक सनातन कृतियों का जीर्ण–शीर्णत्व–प्रतिपादन, तथा दिग्देशकालानुबन्धी भौतिक–ध्वंसावशेषों का सांस्कृतिकत्व प्रतिपादन, एवं भारत का आत्यन्तिक सांस्कृतिक–अधःपतन—

तात्पर्य्य क्या निकला ?। तात्पर्य्य निकला यही कि, पुरातन मानवों की प्राणात्मिका 'बुद्धि' से चिरन्तन अध्यवसाय के द्वारा विनिर्मित शब्दशास्त्र तो हैं–सर्वथा सड़ा–गला अतएव नितान्त अनुपयुक्त। एवं उन्हीं पुरातन मानव के भौतिक–शरीर से भौतिक द्रव्यों–भूतों के द्वारा बनाए हुए खण्ड–खण्डित–ध्वंसावशेष हैं–'पुरातत्त्व' अर्थात् प्राचीन सात्त्विक वस्तु संस्कृति के महान्–'प्रतीक'। तभी तो संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों का अधपान् पुरातत्त्वविदों का भी इसी ओर आकर्षण है तो सत्तातन्त्र भी इसी कार्य्य को महान् सांस्कृतिक कार्य्य मान रहा है। कैसा है यह विधि का विचित्र विधान ?। चेतन की कृति सड़–गल चुकी एवं अचेतनकृतियाँ (ध्वंसरूप) सड़–गल कर भी 'तत्त्व' अतएव संरक्षणीय प्रमाणित होगईं। क्यों ? यही प्रतीकव्यामोहन तदनुगत दिग्

इसलिए असम्भव बनता जारहा है कि, जिस मूलसंस्कृतिनिष्ठा से प्रायश्चित्त सम्भव बना करते हैं दुर्भाग्यवश आज भारतीय सद्यःवन्द्य के द्वारा ही उसी दिग्देशकालव्यामोहन से सर्वात्मना निरपेक्षता ही व्यक्त हो रही है भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के प्रति इति नु महद्दौर्भाग्यम्–भारताग्निप्रतीकभूतस्य–राष्ट्रस्यास्य स्वयं स्वयशरमकस्य–भारतस्यापि अमङ्गलमेव !

५१८–भारत की अखण्डता के मूलाधारभूत सांस्कृतिक- जागरण के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधान में प्रतीक, और प्रतिरूप–शब्दों का संस्मरण, एवं प्रतीक-भावानुबन्धी जड़ की मान्यता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अब किस उपाय से भारतीय मानव की यथाविधा सांस्कृतिक–जागरूकता सम्भव बनेगी ? बन सकेगी ?, एकमात्र इस प्रश्न के समाधानान्वेषण के लिए ही तो 'दिग्देशकालमीमांसा' प्रवृत्त हुई है जिसके मूलाधार दो शब्द बने हुए हैं–एक तो 'प्रतीक' और दूसरा 'प्रतिरूप'। जिस दिन भी भारतीय मानव इन दोनों शब्दों के निरुक्तनैरुक्तिक का सर्वात्मना समन्वय कर लेगा उसी दिन और उसी क्षण इसकी प्रसुप्ता भी सांस्कृतिक–निष्ठा जागरूक होसकेगी। सांस्कृतिक–भारताग्नि की प्रतीकता ने ही इसे संस्कृतिनिष्ठा से पराङ्मुख बना दिया है। अवश्य ही यह भूखण्ड –यह भारतभूमि उस भारताग्नि की प्रतीकभूता है। तभी तो इसका–'भारत' नामकरण हुआ है। किन्तु 'प्रतीक' सदा ही 'जड़' 'अचेतन' हुआ करते हैं। प्रतीकों का उपयोग एकमात्र यही है कि तद्द्वारा लक्ष्य की ओर निष्ठा जागृत हो जाय। किन्तु जब प्रतीकात्मक दृष्टान्त ही सिद्धान्त बन जाते हैं तो लक्ष्य विलीन होजाता है एवं तत्फलत अचेतन–जड़–भौतिक–प्रतीकों से सम्बन्ध रखने वाले आदि–अन्त–मूर्त–व्यक्त–दिग्देशकालव्यामोहन जागरूक होसकते हैं। एवं प्रतीक-माध्यमेन लक्ष्य की उपासना करने वाले चेतनपुरुष (मानव) का सर्वस्व लक्ष्य प्रतीक मात्र दिग्देशकालानुबन्ध ही बन जाता है। उस समय चेतन विस्मृत हो जाता है अपने ही चैतन्य से यह स्वयं भी सर्वथा जड़भाव में ही परिणत होजाता है एवं इसके सम्पूर्ण लक्ष्य भी जड़ात्मक प्रतीक ही बन जाते हैं। इसी प्रतीकभक्ति ने आज मर्त्य–भूखण्ड को 'भारतराष्ट्र' मान लिया है जबकि यह तो केवल 'भारतराष्ट्र' का जड़–माध्यम–प्रतीक–मात्र ही है।

५१९–जड़माध्यमों के विशोधक पुरातत्त्वविदों के द्वारा ध्वंसावशेषों का अन्वेषण, तदनुप्राणित 'पुरातत्त्वानुसंधान', एवं तद्द्वारा ही भारत के अतीत गौरव का संरक्षण-प्रयास—

बात थोड़ी समझने जैसी है। भारतीय इतिहास के, तथा पुरातत्त्वों के विशोधक–संशोधक संस्कृतिनिष्ठ ! विद्वान् आज आतुर हो रहे हैं भूगर्भस्थ तथा भूपृष्ठस्थ ध्वंसावशेषों–शरीरकङ्कालावशेषों–मृण्मय–उपलप्रस्तर–खण्डविशेषों (ठीकरों)–सुवर्ण–रजत–ताम्र–आदि की मुद्राविशेषों के अन्वेषण–प्रयास के लिए। क्यों कि इसी अन्वेषण के आधार पर ये भारतीय संस्कृति का मूल–सूत्र–क्रम व्यवस्थित कर देने के सुख स्वप्न देख रहे हैं। जहाँ भी, जब भी जो भी कुछ द्रव्य–मूल्य–अन्न–गवा–जीर्ण–शीर्ण–मृत–भौतिक पदार्थ इन्हें उपलब्ध हो जाता है दौड़ पड़ते हैं ये उसकी ओर, एवं अपने परिकल्पित मान्यता के अनुपात से इन

//

उक्तार्थमुपसहरन् कर्तव्यमुपदिशति—

मूलम्—सुणियांऽभावं साणस्स सूयरस्स नरस्स यं ।
विणंए ठविज्ज अप्पाण इच्छतो हियमप्पणो ॥६॥

छाया—

श्रुत्वाऽभाव शुन्या॰ सूकरस्य नरस्य च ।
विनये स्थापयति आत्मानम् इच्छन् हितमात्मनः ॥ ६ ॥

टीका—

'सुणिया' इत्यादि —शुन्या =पूतिकर्णशुन्या' सूकरस्य च एतदु
दृष्टान्तस्य, तथा च=पुन॰ नरस्य=पुरुषस्य–दार्ष्टान्तिकतया कथितस्य दुःशीलशि

अग्नि जलाकर उसको अग्नि में भून दिया। इस कुमौत से उस
मारा। इस लिये सूत्रकार कहते है कि–दु शील का त्यागकर श
सदाचार का सेवन करना चाहिये ॥ ५ ॥

इसी कथित अर्थका उपसहार करते हुए सूत्रकार कर्तव्य का उ
देश अगली गाथा द्वारा करते हैं—'सुणिया इत्यादि'

अन्वयार्थ—(साणस्स-शुन्या॰) पूतकर्णी कुत्ती के (सूयर
नरस्स य–सूकरस्य नरस्य च) सूकर के और दार्ष्टान्तिक रूप में प्रद
किये गये दु शील शिष्य के (अभाव अनादर) अर्थात् दुर्दशा
अवस्था को (सुणिया–श्रुत्वा) सुनकर (अप्पणो हिय इच्छतो–आत्म
हितम् इच्छन्) आत्मा के हित के अभिलाषी शिष्य (अप्पा
आत्मान) अपनी आत्माको (विणए ठविज्ज–विनये स्थापयेत्) वि

સળગાવ્યો અને તેમા તેને ભૂજી નાખ્યુ આ રીતે કમોતથી તેને માર્યુ
આ માટે સૂત્રકાર કહે છે કે દુ શીલનો ત્યાગ કરી શીલ–સદાચારનુ સેવ
કરવું જોઇએ. (૫)

આ કહેવાયેલા અર્થનો ઉપસહાર કરીને સૂત્રકાર કર્તવ્યનો ઉપદે
આ ગાથા દ્વારા કરે છે—'सुणिया भाव' ઈત્યાદિ.

અન્વયાર્થ–(साणस्स–शुन्या) પૂતકર્ણી કુતરીના (सूयरस्स नरस्स य
सूकरस्य नरस्य च) સૂકરના અને દષ્ટાંતિક રૂપમા પ્રદર્શિત કરાયેલ દુ શીલ શિષ્યન
(अभाव–अनादर) અર્થાત્ દુર્દશારૂપ અવસ્થાને (सुणिया–श्रुत्वा) સાભળી
(अप्पणो हिय इच्छतो–आत्मन हितम् इच्छन्) આત્માના હિતના અભિલાષ
શિષ્ય (अप्पाण–आत्मान) પોતાના આત્માને (विणए ठविज्ज–विनये स्थापयेत्

देशप्रसम्मोहन, सर्वोपरि विशेषणाभर्मिता लोकैषणा । कहाँ से, कैसे यह एषणा, ये-पुरातत्वविभ्रम्या इस भारतराष्ट्र की स्वस्था-प्रकृतिस्था भी प्रज्ञा में सहसा प्रविष्ट हो पड़े ?, प्रश्न का एकमात्र प्रधान उत्तर तो है- 'संस्कृति-साहित्य की सत्तासापेक्षता', और दूसरा कारण है 'प्रतीच्या भूतदृष्टि का अन्धानुकरण'। प्रतीच्य-दृष्टि के सम्पूर्ण कर्म्मकलाप भूत से ही उपक्रान्त होते हैं। सर्वव्यापक-अनन्तब्रह्म, तदनुप्राणित अनन्तकाल अनन्तादिक्-अनन्त-देश-नामक कोई तत्त्व वहाँ आजतक स्पष्ट ही नहीं होसका है। अपितु उनके सम्पूर्ण-परीक्षण भूत से ही उपक्रान्त हैं एवं भूतपर ही परिसमाप्त है। अतएव ही यान्त्रिककालनिबन्धना 'सभ्यता' के परिचयात्मक इतिहासों का मापदण्ड वे ध्वंसावशेष ही बनते आए हैं। किन्तु 'संस्कृति' का कदापि इन भौतिक प्रतीकों से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। वहाँ सभ्यता ही संस्कृति है, जबकि यहाँ-संस्कृति के एकांश में ही सम्पूर्ण सभ्यता समाविष्ट है।

५२२-भारत, तथा भारतेतरदेशों के संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के समन्वय में महान् अन्तर एवं तदनुपातेनैव भारतीय संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के चिरन्तन इतिहास का समन्वय-प्रयास—

उन की संस्कृति का आधार सभ्यता है एवं सभ्यता का आधार दिग्देशकाल है जब कि भारतीय सभ्यता का आधार संस्कृति है तथा संस्कृति का आधार दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म है। उन की सभ्यता-संस्कृति 'काल के गर्भ' है, एवं यहाँ का काल 'संस्कृति-सभ्यता' के गर्भ में है। उन को काल लिए चलता है एवं यहाँ की ऋषिप्रज्ञा काल पर आरूढ है। उनकी आधारभूमि-'कालो अश्वो वहति' है तो इन की आधारभूमि 'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' है। उनका उद्देश्य दिग्देशकाल तथा तदनुबन्धी भूत हैं तो इनका उद्देश्य दिग्देशकालातीत अनन्त ब्रह्म है। अतएव उनके लिए ध्वंसावशेष ही तत्त्व प्राक्तत्त्व-पुरातनतत्त्व-पुरातत्त्व है तो हमारे लिए संस्कृति का सर्वेश्वरात्मक दिग्देशकालातीत अतएव सर्वकालिक ऋषिप्राण ही 'तत्त्व' है, यही पुरातनतत्त्व है, यही प्राचीनतत्त्व है। उन की दृष्टि में ऋषिप्राणतत्त्व अव्यवहार है सड़ा गला है अतएव निस्तत्त्व है तो यहाँ की दृष्टि में सचमुच में 'ध्वंसावशेष' नाम से ही उपेक्षित अतएव मानव के प्राकृतिक-भौतिक-व्यवस्थित-जीवन के लिए भी-उनकी दृष्टि में भी अनुपयुक्त-ये सब भूत-भौतिक शेषपरिग्रह निस्तत्त्व ही हैं मरे-अधमरे ही हैं। और आज दुर्भाग्यवश ऋषिदृष्टि के स्वरूप को विस्मृत कर देनेवाले साथ ही प्रतीच्य दिग्देशकालानुबन्धिनी भूतदृष्टि को ही अपना सर्वाराध्य मान बैठने वाले हम भारतीयोंने भी उन्हीं की मान्यताओं को उन्हीं की भाषा में इन व्यवहार-प्रदर्शन एवं निगमन-पर्यवसानात्मक पोथड़ों को ही 'पुरातत्त्व' कहना कहलवाना आरम्भ कर दिया है। जिस दार्शनिकता ऐसा भौतिक-प्रतीकसम्मोहन पुराणयुगों में उत्पन्न कर डाला था उसी को आज के इस प्रतीच्ययुग के भौतिक विज्ञानवादने सर्वात्मना पुष्पित-पल्लवित ही कर दिया है। अतएव आज 'तत्त्व' नाम से 'दार्शनिकतत्त्व' तथा 'पुरातत्त्व' ये दो ही तत्त्व भारतीय-प्रज्ञा में प्रधान बने हुए हैं, जबकि दोनों का ही भारतीय-आचारानुबन्धी सांस्कृतिक तत्त्व से तो स्पर्श भी नहीं है।

५२३ ऋषिशास्त्र की प्रतीकता के सम्बन्ध में प्रतिरूप-भाव का संस्मरण, एवं प्रतिरूप शब्द के तात्त्विक-चिरन्तन-इतिवृत्त का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ऋषिशास्त्र क्या है ?। अवश्य ही ये भी हैं तो प्रतीक ही। किन्तु किसके, और कैसे प्रतीक ?। इस प्रश्न के समाधान के लिए ही दूसरा 'प्रतिरूप' शब्द हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जिसका यथोवर्णन पूर्व में किया जा चुका है। जिस भारतदेश को हमने जिस प्राणमूर्ति अनन्त-दिव्य-भारताग्नि का प्रतीक बतलाया था, यह प्राणाग्नि-भारताग्नि प्रतीक है सौरसम्वत्सराग्नि का। यह सौरसम्वत्सराग्नि प्रतीक है परमेष्ठी का। परमेष्ठी प्रतीक है अनन्तपरात्परस्वरूप स्वयम्भू का, और यहाँ आकर प्राकृतिक प्रतीकभाव समाप्त है। स्वयं मानव अर्थात् मानव का प्राकृत स्वरूप क्या है इस प्रकृति में ?, उत्तर दिया जा चुका है। प्राणाग्निरूप भारताग्नि (पार्थिवाग्नि) जैसे सौराग्नि का प्रतीक है * क्या मानव भी वैसे ही प्रकृति के स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-अग्नि-आदि किसी प्राकृत पर्व का प्रतीक (अङ्ग) है ?। नहीं। सर्वात्मना सम्पूर्ण प्रकृति के दूसरे प्रतिद्वन्द्वी स्वरूप का इसी पूर्णस्वरूप का साङ्केतिक नाम है-'प्रतिरूप'-'रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव'।

५२४-अनन्ता प्रकृति और अनन्त प्राकृत मानव का समतुलन—

जैसी अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्त-दशात्मिका स्वयम्भू-परमेष्ठी[2]-सूर्य्य[3]-चन्द्र[4]-पृथि[5]वी-रूपया-पञ्चपर्वा अनन्ता प्रकृति ठीक वैसा ही यहाँ अनन्त-कालदिग्दशात्मक-अव्यक्त-महान्-बुद्धि-मन-शरीर-रूपया पञ्चपर्वा अनन्त-प्राकृत मानव। यदि उस अनन्ता प्रकृति के समतुलन में भारतप्राणाग्नि छोटा सा प्रतीकमात्र है तो अनन्त प्राकृत मानव के समतुलन में भी इस की प्रतीकता का वही भय माना जाना चाहिए था। किन्तु माना इसलिए नहीं गया नहीं ही माना जाना चाहिए कि, मानव कदापि सादि-सान्त-भावों का अनुगामी नहीं है। अपितु मानव तो है 'अनन्त का उपासक'। अतएव सभी उस की दृष्टि में अनन्त हैं महान् है, पूज्य है आराध्य है। इस उपास्यता के कारण ही तो

---

*-(१)-प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभि ससृजे सूर्य्यो गा।
वि सानुना सस्र उर्वी पृथु 'प्रतीक'-मध्येध्ये अग्निः॥
—ऋक्सं० ७।३६।१।

(२)-स आहुतो वि रोचतेऽग्निरीळेन्यो गिरा।
स्रुचा 'प्रतीक'-मज्यते॥

(३)-स त्वमग्ने 'प्रतीकेन' प्रत्योष यातुधान्य।
उरु क्षयेषु दीद्यत्॥
—ऋक्सं० १०।११८।३,८,।

रूप में 'अनन्तता' अभिव्यक्त हुई है। आचार का अणोरणीयान् भाव ही इस मानव के महतोमही-यान्-भाव का एकमात्र महान् बीज (महत्तत्त्वरूप बीज) है ।

४२५-भूताधिष्ठाता वैश्वानराग्नि की सांस्कृतिकता, और हमारी गृहस्थाचारपद्धति—

आप प्राणाग्नि की बात करते हैं। भारतीय मानव तो अन्नादि-परिपाककर्त्ता प्रसिद्ध भूताग्नि (चूल्हे के अग्नि) को भी 'वैश्वानर' का प्रतीक मान कर उसे सत्कृत करता (वैश्वानरतर्पण-वैसन्दर जिमाने को +)

+ त्रैलोक्यत्रिलोकी के पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नामक त्रिवृत् (६)-पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१) स्तोमात्मक इन तीन पार्थिव शिरों के क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-नामक तीन 'नर' (नायक-अधि-ष्ठाता देवता) माने गए हैं। इन तीनों नरों के 'तानूनप्त्र' लक्षण अन्तर्याम सम्बन्ध से उत्पन्न तापधर्म्मा त्रैलोक्यव्यापक त्रिमूर्ति अग्नि का ही नाम-'विश्वेभ्यः-पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेभ्य-नरेभ्य-अग्नि-वाय्वादित्येभ्य-उत्पन्नः-अग्निरेव-वैश्वानरः'-इत्यादि निर्वचन के अनुसार वैश्वानर है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"स वा स वैश्वानरः-इमे स लोकाः । इयमेव पृथिवी विश्वम्, अग्निर्नरः । अन्तरिक्षमेव विश्वम्, वायुर्नरः । द्यौरेव विश्वम् आदित्यो नरः" (शतपथब्रा० ९।३।१।३।) ।

'आ यो द्यां भात्यापृथिवी वैश्वानरो भवते सूर्य्येण' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार भूलोक से सूर्य्यलोक पर्य्यन्त व्याप्त त्रैलोक्यव्यापमूर्ति यही वैश्वानराग्नि आधिदैविक-वैश्वानर' है जिससे ही प्राणियों के उदर 'आध्यात्मिक-वैश्वानर' की अभिव्यक्ति हुई है जो 'जाठराग्नि' रूप से चतुर्विध भुक्त अन्न का परिपाक करता रहता है एवं जिस इस आध्यात्मिक वैश्वानराग्नि का ही भगवान् ने निम्नलिखितरूप से स्मरण किया है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
—गीता १५।१४।

आधिदैविक-आध्यात्मिक-वैश्वानरप्राणाग्नि का ही मूर्त-व्यक्त भौतिक-तेजोरश्मियुक्त वह तीसरा 'आधिभौतिक-वैश्वानर' है जिसे लोकसामान्य में 'अग्नि' कहा गया है जिससे कि पृथ्वीतल पर ज्योति-र्म्मयी रश्मियाँ प्रत्यक्षरूप से अभिव्यक्त होती रहती हैं। भूताग्निलक्षण इसी आधिभौतिक वैश्वानर अग्नि का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए ऋषि ने कहा है—

अग्निं' तं मन्ये यो 'वसु' रस्तं यं यन्ति धेनवः (रश्मयः) ।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर ॥
—ऋक्सं० ५।६।१।

अपना महान् सांस्कृतिक कर्त्तव्य मानता आरहा है। कभी इसने अपनी इस सांस्कृतिक आचारपद्धति का भली-भांति मानने की भ्रान्ति नहीं की। जिस दार्शनिक भारतीय ने की, उस का आचारात्मक समस्त प्राकृत-क्षेत्रस्य ही उच्छिन्न होगया। बना रह गया वैसा दार्शनिक केवल शून्यवादी-तत्त्ववादी बुद्धिवादी-दिग्देशकालभ्रान्त यथाजात मानवमात्र। यही अनन्तभावना प्राणाग्नि के प्रतीकभूत मनःप्राणात्मक किंवा सम्पूर्ण भारतदेश (पृथिवी) के सम्बन्ध में विद्यमान है। मृत्पिण्डमात्र ही नहीं है यह पृथिवी। अपितु यह 'मही' है, अभूता है, अनन्ता है, माता है, और हम हैं इस के पुत्र +। पृथिवी किंवा तदंशरूप भारतराष्ट्र भी बहुत बड़ा है। हम तो अपने जन्मप्रान्त को भी यही सम्मान प्रदान करते हैं—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

५२६–अनन्तब्रह्म से समन्विता, 'सत्यं शिव-सुन्दरम्'-लक्षणा अनन्ता प्रकृति से अनुप्राणिता भारतीय संस्कृति, और सभ्यता के आत्म-द्रव-भावनिबन्धन अनन्त महिमामय माङ्गलिक विवर्त[1]—

मही नहीं, अपितु जिस क्षेत्र में हम रहते हैं जिस प्रासाद में रहते हैं वह भी हमारे लिए केवल मृत्पिण्ड ही नहीं है। अपितु वह तो हमारे लिए साक्षात् 'वास्तुदेवता' है। बिना उस 'देवप्राण-प्रतिष्ठा' के, इस अनन्त प्राणाधान के घर भी हमारे लिए आवास निवास-योग्य नहीं बना करता। और इस दृष्टि से तो आपाताललात्, आ च लोकालोकात् आपिपीलिका-कीटपतङ्गेभ्य-आविहङ्गम-मृगे-आचक्र वृक्ष-पर्य्यन्त, सभी कुछ हमारे लिए अनन्त के ही

तदित्थं—अधिदैवत—अध्यात्म अधिभूत-भेद से वैश्वानराग्नि के तीन महिमाविवर्त्त हो जाते हैं, जो उपाधिदृष्ट्या पृथक् पृथक् रहते हुए भी तत्त्वतः अभिन्न हैं। फलतः हमारे दैनन्दिनीय भोजनपरिपाक के अधिष्ठाता आधिभौतिक-वैश्वानर अग्नि का भी स्वरूप उस दैविक-आत्मिक-वैश्वानर अग्नि से अभिन्न ही प्रमाणित हो जाता है। उसी का यह प्रतीक है भूताग्नि-लक्षण वैश्वानर। प्रत्येक आस्तिक भारतीय सद्गृहस्थ इस अग्नि से भोजनद्रव्यों को सम्पन्न कर सर्वप्रथम इस भूताग्नि का उसी देवभावना से तर्पण कर देना अपना महान् माङ्गलिक दैनिक आचार मानता है। हमारी प्रान्तीयभाषा में यह 'वैश्वानरसन्तर्पणकर्म' ही—'बैसन्दर जिमाना' नाम से प्रसिद्ध है। अनपढ़ स्त्री तबतक 'बैसन्दर' (वैश्वानर) नहीं जिमा देती तबतक किसी को भी भोजनद्रव्य का उपयोग नहीं करने देती। इयमहो महत्साम्यशालिनामाचारनिष्ठानां परमवैज्ञानिकानां—भारतीयानां—गरिमामहिमामयी महामाङ्गलिकी चिरन्तना सेयं-आचारपद्धतिः।

— (१)–पृथिवीं मातरं महीम् (तै० ब्रा० २।४।६।८)।

(२)–इयं वै पृथिवी अदितिः (शत० ५।३।१।४)।

(३)–अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
—ऋक्संहिता १।८९।१०

प्रतिरूप हैं अनन्त के ही महामहिमामय विवर्त हैं, अतएव नमस्य हैं प्रणम्य हैं, सत्यं–शिवं–सुन्दरम् हैं। अनन्था मन्त्रानुगति ही इस अनन्तमहिमानुगति की एकमात्र आधारभूमि है जिस का अनात्मवादी केवल–भूतवादी अतएव शून्यवादी के साथ तो यत्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है। भले ही ऐसा शून्यवादी परवञ्चकता-मात्र के लिए मानवता-मानवधर्म-विश्वहित-अहिंसा-सत्य-करुणा-दया–तितिक्षा–वीतरागता–आदि के मौखिक शाब्दिक प्रदर्शन-नरक्षा कराता रहे, तथापि उसे वर्णाश्रमाचारनिष्ठ अनन्तात्मानुगत महिमात्मक सत्यं–शिवं–सुन्दरम्–के तो स्मरण का भी अधिकार नहीं मिल सकता जब कि हम तो ऐसे शून्यवादी मानवश्रेष्ठों को भी एकमात्र अपनी आस्था-श्रद्धा-के संरक्षण के लिए अपनी ओर से उन्हें भी अनन्त ब्रह्म के ही महिमामय 'अव तार' मान लेते हैं। मान लिया है हमारे पूर्वपुरुषोंने जिस इस हमारी श्रद्धामूला अवतारमान्यता को देख सुन कर भी तो अभिनिविष्ट महानुभाव भारतीय भूमिसंस्कृति के संस्मरण की कल्पना से अपने आप को विमुख ही बनाते रहते हैं जिन ऐसों को भी हम तो मुहुर्मुहुः अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ ही समर्पित करते रहेंगे एवं उन के लिए भी-'मा कश्चिद्–दुःखभाग् भवेत्' जैसी मङ्गलकामना ही व्यक्त करते रहेंगे।

५२७–प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव से अभिव्यक्त बौद्धिक शब्दात्मक प्रतीक, तथा भौतिक-अर्थात्मक प्रतीक—

वस्तुस्थित्या-प्राकृत मानव अनन्तप्रकृति का प्रतीक नहीं, अपितु 'प्रतिरूप' है। ऐसे प्रतिरूप अनन्त–मानव का प्रतीक है प्राणाग्निरूप भारताग्नि एवं प्राणाग्निप्रतीक से समन्वित अनन्त प्राकृतिक मानव की दिग्देशकालातीता अनन्ता स्वबुद्धि से स्वरूपेणैव विनिर्गता प्रतीकात्मिका शब्दराशि का नाम है–'शब्द शास्त्र' एवं इसी अनन्तमानवाग्नि के प्रवर्ग्यरूप–उच्छिष्टरूप–भूतमात्रा–भाग का नाम है प्रतीकरूप–भूरूप भूमण्डल एवं तद्रूप भारतवर्ष। यों अनन्ता प्रकृति के प्रतिरूपात्मक अनन्तमानव से बौद्धिक प्रतीक, तथा भौतिक प्रतीक भेद से दो प्रतीकप्राण अभिव्यक्त हो रहे हैं। प्राणाग्निप्रधान–बौद्धिक प्रतीक का नाम है–'शब्दप्रतीक' एवं भूताग्निप्रधान भौतिक प्रतीक का नाम है–'अर्थप्रतीक'। इदित्थं अनन्तमानवरूप प्राकृतात्मा के शब्द अर्थ–रूप से दो प्रतीक निष्पन्न हो जाते हैं।

५२८–प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव, तथा प्रतीकात्मक सादिसान्त मानव के स्वरूपभेद का दिग्दर्शन, एवं तदनुगत उभयात्मक प्रतीकभावों का पार्थक्य, और व्यष्टि मानव-लोकमानव के विभिन्न-स्वरूप—

अनन्तप्रकृति के अनन्तप्रतिरूप मानवमें तथा सादिसान्त प्रतीकमानवमें अहोरात्र का अन्तर है। दोनों ही मानव 'प्राकृत' हैं दोनों ही शब्दप्रतीक, तथा अर्थप्रतीक के अभिव्यञ्जक, बिना रहा हैं, इस में तो कोई सन्देह नहीं। अन्तर दोनों में है केवल अनन्तता एवं सान्तता का। अनन्ता प्रकृतिरूप अनन्त 'प्रति-रूपमानव' (आत्म-बुद्धि-मन–शरीरात्मक मानव) अनन्त कालदिग्देश के माध्यम से अनन्त शब्दों का तथा अनन्त भावात्मक अर्थों का अभिव्यञ्जक बनता है। एवं अनन्तप्रकृति का सादिसान्तरूप प्रतीकमानव (मनःशरीर मात्र मानव) सादिसान्त-दिग्देशकाल के माध्यम से सादिसान्त शब्दप्रतीकों का तथा तथाविध ही अर्थप्रतीकों

य प्रवर्तक बनता है । उन के शब्द वैकल्पिक नहीं हैं अतएव उन के अर्थ भी वैकल्पिक नहीं हैं । अपितु र प्रकृति की ही तो भाषा बोलता है (बोलता नहीं है, अपितु स्वयं बुलती है यह भाव), एवं तदनुपात से ही ाकृत अर्थ व्यवस्थित होते हैं अनन्तकाल के लिए। जब कि इस प्रतीकमानव के शब्द भी वैकल्पिक हैं व तदनुगत अर्थ भी तात्कालिक ही हैं। अतएव कृत्रिम है इस का शब्दार्थप्रपञ्च, जैसे कि पशु–पक्षी–आदि के शब्दार्थप्रपञ्च सर्वथा तात्कालिक ही बने रहते हैं । अतएव इन के शब्द और अर्थ का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्दों में भी यदृच्छा, तो अर्थों में भी यदृच्छा। अतएव दिग्देशकालानुबन्धी इस के सभी मान काल्पनिक हैं सभी रूप कल्पित हैं तो सभी कर्म कल्पनाप्रसूत हैं। उधर ऋषिमानव के शब्द स्वर दृश्य अर्थ को अपने गर्भ में रखते हैं जैसा कि– भारत –'मानव'–'अनन्त – प्रकृति' विश्वर' 'हृदय'–आदि शब्दात्मक नामों के चिरन्तन–इतिवृत्त से प्रमाणित है। अतएव वहां शब्दार्थ का 'औत्पत्तिक' सम्बन्ध ही माना गया है जब कि अब 'उत्पन्न-सृष्ट' सम्बन्ध ही मुख्य बना रहता है। अत्यन्त ही दुरधिगम्य–है यह शब्दार्थ-समन्वय-सम्बन्ध जिस का अब विस्तार अनपेक्षित है। दिग्देशकाल की सम्प्रणता से समन्वित मानव-बुद्धि कभी अनन्तमूलक दिग्देशकालातीत इस समन्वय–सम्बन्ध को उपलब्ध कर ही नहीं सकती।

५२६–संस्कृति, और सभ्यता का स्वरूप–दिग्दर्शन –

अनन्तप्रकृति के प्रतिरूपात्मक मानव के अनन्त प्रतीकरूप शब्दसमूह का नाम ही है–'शास्त्र' और यही है इस की—'अनन्ता संस्कृति का चिरन्तन इतिहास'। एवं अनन्त प्रतीकरूप अर्थसमूह का नाम ही है अनन्त विश्व, एवं उस के अनन्त पदार्थ और यही है इस की– अनन्ता सभ्यता का चिरन्तन इतिहास'। शास्त्रसिद्ध सिद्धान्त एवं सिद्धान्तानुगत कर्माचरण ही संस्कृति और सभ्यता है। संस्कृति का तत्त्वात्मक पक्ष ही 'संस्कृति' है, संस्कृति का आचारात्मक पक्ष ही सभ्यता है, एवं इन दोनों प्रतीकभावों में तत्त्वात्मक पक्ष आधार है तथा आचारात्मक पक्ष आधेय है। तत्त्व में आचार प्रतिष्ठित है, एवं शब्द में अर्थ समाविष्ट है। जैसा शब्द वैसा ही अर्थ। न कि जैसा अर्थ वैसा शब्द। यही ऋषिशब्द तथा लोकशब्द में वह महान् अन्तर है जिस का मापती लोकबुद्धि कदापि समन्वय नहीं कर सकती *।

---

*–लौकिकानां हि साधूनां-अर्थो वागनुवर्तते ॥
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥
—भवभूति–उत्तरे रामचरित

५३०–चिरपुरातन प्रतीकात्मक शास्त्र की चिरनूतनता, एवं इस की शाश्वत- उपयोगिता—

इसी समन्वय के माध्यम से अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, अनन्त मानव के माध्यम से विनिःसृत शब्द-नित्यशब्द का नाम ही 'अनन्त शब्दराशि' है, इसी का नाम है 'अनन्त वेदशास्त्र' (अनन्ता वै वेदाः–ऐ० ब्रा०)। प्रतिकृमात्मक मानव का प्रथम–आधार वेदशास्त्र ही 'संस्कृति' नामक विषय है, जो भारतीय परिभाषा में प्राच्यतत्त्व–पुरातनतत्त्व किंवा पुरातत्त्व है, जिस के माध्यम से ही भारतीय सांस्कृतिक-आचार, सांस्कृतिक-आयोजन सांस्कृतिक-सभ्यता आदि आदि यथायथ नियतों की व्यवस्था हुआ करती है। क्योंकि ऐसा-शब्दशास्त्र तदनुगत आचारात्मक कर्म कभी गला सड़ा-नहीं करता। चिरपुरातन भी यह समन्वयात्मक प्रतीक (शब्दार्थप्रतीक, तत्त्व और आचार) चिरनूतन ही प्रमाणित होता रहता है प्रकृति के सूर्य–चन्द्र–पृथिव्यादि प्राकृत प्रतीकों की भाँति। वात-वर्षादि भी दिग्देशकालातिक्रमण इस चिरपुरातन-चिरनूतन 'तत्त्व' को नष्ट-भ्रष्ट नहीं करसकते। सनातना है प्रकृति सनातन हैं उस के नियम सनातन है-तन्नियमव्यवस्थापक शास्त्र एवं सनातन है तदनुप्राणित आचारात्मक धर्म्म।

५३१–भौतिक-ध्वंसावशेषों की सांस्कृतिक ? प्रतीकता, एवं पुरातत्त्वात्मकता ! का महान् व्यामोहन—

बनते गलते-बदलते-नष्ट-होते रहते हैं वे प्रतीकशब्द, जो दिग्देशकाल की सीमा में 'अथ स्म 'स्वार्थ-वैयक्तिक-स्वार्थ' को आधार बनाकर ही बोले और बुलवाए जाते हैं। ध्वस्त होता है उन कार्यों-व्यवस्थाओं-नियमों का जो तत्कालिक स्वार्थ के लिए ही वशीभूत बना करते हैं। ऐसे ध्वंसावशेषों को वे ही प्राचीन तत्त्व किंवा पुरातत्त्व कहा-सुना करते हैं जो चेतनमानव की अपेक्षा-जड़भूतों को ही संस्कृति के प्रतीक मानते रहते हैं। जिन की दृष्टि में मानव का कोई मूल्य नहीं है मानव की × बौद्धिक रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं है। अपितु जिन इन पुरातत्त्ववादियों की दृष्टि में महत्त्व है उन–जीर्ण शीर्ण-भग्नावशेषों का जिन का आचारशास्त्र की दृष्टि से कुछ भी तो उपयोग नहीं है प्रदर्शन-उत्पादन मात्र-व्यामोहनों के अतिरिक्त)

५३२–मानवीया सनातन-संस्कृतिका 'प्रतिरूप' मानव, एवं तत्- 'प्रतीक' सनातनशास्त्र, तथा मानव के द्वारा स्वप्रतिरूपता की अभिव्यक्ति—

'सम्भिन्नित्-संशोधन' से सम्बन्ध रखने वाले 'अर्थ' के समन्वय–सम्बन्ध में ही प्रतीक तथा 'प्रतिरूप' भेद से प्राथमिक दृष्टिपथ उपक्रान्त हो पड़ा, जिस अर्थपूर्णा तपोभूता सत्क्रिया की ओर पुनः पाठकों

×–बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (वैशेषिकसूत्र)

का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। मानव की संस्कृति का प्रतिरूप यहाँ स्वयं मानव है वहाँ इस की संस्कृति का प्रधान तथा प्रथम प्रतीक इस का शाब्दिक 'शब्दशास्त्र' ही है, एवं दूसरा गौण प्रतीक इस का आचारात्मक धर्मशास्त्र (दिग्देशकालानुबन्धिनी कर्त्तव्यनिष्ठा) ही है, यही इस का 'सभ्यता' रूप प्रतीक है, जो कि 'शाब्दिकसंस्कृति' (शास्त्र) से ही नियन्त्रित रहता है। दिग्देशकाल का दिग्देशकालातीत संस्कृति से नियन्त्रित रखते हुए ही दूसरे शब्दों में–अनन्तकालदिग्देशात्मक शाश्वत शब्दशास्त्र से सादि–सान्त–दिग्देशकालों का नियन्त्रित रखते हुए ही, या अनन्तकाल से सादिसान्त काल को पीडयन्नेव मानव अपने इस यत्किञ्चित् प्रयास से अपनी गुरुतमस्वरूपा सर्वश्रेष्ठा 'मानव–प्रतिरूपता' को अन्वय प्रमाणित कर लेता है।

५३३–'यत्किञ्चित्' संशोधन से पराङ्मुख मानव की दिगदेशकालविमूढ़ता, एवं महान् भी मानव की तन्मूला अल्पता का दिग्दर्शन—

यदि दुर्भाग्यवश यह इस संशोधन की उपेक्षा कर आदिसान्त दिग्देशकालों के ही व्यामोहनों में आसक्त बना रह जाता है तो फिर यह भी उस प्रतीकमात्र में ही परिणत हो जाता है, जिस प्रतीकता के भग्नावशेष भी शेष नहीं रह जाते–'भस्मान्तं शरीरम्' रूपेण। मानवेतर भूत-भौतिक-प्रतीक जहाँ मानवीय भूत (शरीर) की अपेक्षा चिरकालिक हैं, वहाँ स्वयं मानव के ये भौतिक प्रतीक तो इन भूतप्रतीकों के समतुलन में भी नगण्य हैं। क्या मानव का यही स्वरूप है ? यही इयत्ता है ?। और इस भौतिक शरीर के परिमार्जन विशोधन–अभिनन्दन–का नाम ही क्या मानवस्वरूप का अभिनन्दन है ?, क्या यही मानव का व्यक्तित्व है ?, जिस लम्बे–चौड़े–मस्तशरीर को देख–देख कर तो एक 'बलीवर्द' (बैल) भी हुङ्कार करता फिरता है सचमुच दिग्देशकालव्यामोहन के कारण ही प्रकृत्या महान् भी मानव आज इसप्रकार क्षोण और बहुत ही क्षोद्र बन गया है जबकि अपने मानवस्वरूप से यह सभी अवस्थाओं में तत्त्वतः सर्वथा महान् ही है।

५३४–अनन्ताकाशात्मक मानव की अनन्तता में दिग्देशकाल के द्वारा व्यवधान, तद्द्वारा मनुकेन्द्र का विचलन, तदनुगत भय, एवं तन्निग्रहेच्छ अनन्त–अभयब्रह्म के महिमात्मक अनुग्रह की अन्तर्मुखता—

मनुकेन्द्ररूप मानव इस अपने केन्द्रभाव से विच्युत ही होजाता है यथाकथित दिग्देशकालव्यामोहन से इसलिए कि, सादि–सान्त ये दिग्देशकाल मानव के केन्द्रानुगत–महिमारूप अखण्ड स्वरूप में व्यवधान उत्पन्न कर देते हैं जो व्यवधान श्रुतिभाषा में–'उदर' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'भय' का एकमात्र अर्थ है केन्द्रविच्युति, किंवा स्खलन। मानव किसी ऋजुमार्ग (सीधी सड़क–समपथ) से जारहा है। यदि मार्ग सम ही बना रहता है, तो इस की चरणगति केन्द्राभ्यासानुगामिनी बनी रहती हुई अविकम्पिता है अन्यथा है। मार्गसन्धि (फुटपाथ) से यदि दो चार अङ्गुल नीचे के गर्त–खड्ड–आदि में भी इस का पैर चला जाता है तो हृदयस्तम्भ विकम्पित हो जाता है और इसी विकम्पन का नाम है 'भय' जिसका अर्थ है–किञ्चित्स्खलन।

५३५—भयानुगत मृत्युभाव, तन्मूला विषमता, तदनुगता अराष्ट्रीयता, एवं समदर्शन मूलक महिमाभाव के प्रति मानव को उद्बोधन-प्रदान—

इस भय की उग्रावस्था का नाम ही है दुःख, दुःख की उग्रावस्था का नाम ही है शोक, एवं शोक की चरमावस्था का नाम ही है हृद्गति-का अवरोध अर्थात् 'मृत्यु'। यों प्रारम्भिक भय ही इस अन्तिम मृत्युपथ का कारण बन जाया करता है। प्रारम्भिक भय का एकमात्र अर्थ है-हृदयसाम्य का अभाव, इस साम्याभाव का नाम है विषमता एवं विषमता का ही नाम है दिग्देशकालव्यामोहन। निश्चयेन अनन्तब्रह्म की अनन्त-प्रकृतिलक्षणा अनन्तकालदिग्देशात्मिका अनन्ता महिमा में इस अखण्ड-अपारपारीण-पदार्थ में उस समय भय-लक्षणा ही आविर्भूत हो जाती है जबकि अल्पविरूप मानव खण्ड-खण्डात्मक दिग्देशकालभावों का प्रतीक बनता हुआ उस में व्यवधान उत्पन्न कर देता है। यही द्वन्द्वात्मक विषमभाव है यही द्वन्द्वता 'द्वितीयता' है और-'द्वितीयाद्वै भयं भवति। उदरमन्तरं कुरुते अथ भयं भवति' का यही समन्वयार्थ है। 'अपना और पराया' यह द्वैतभाव दिग्देशकालनिबन्धन ही माना गया है। यह मेरा और यह तेरा यह मेरा राष्ट्र, मेरा देश मेरा समय एवं यह उस का राष्ट्र, उस का देश उस का समय यह 'मेरा-तेरा' ही 'मेरे-तेरे' लक्षण भयात्मक व्यथाओं की मूलभित्ति बनता है। 'सभी मेरा है, सभी उस का है मैं भी वही हूँ, वह भी वही है। सब उसी एक के महिमामय अनन्त विवर्त हैं। सभी अनन्त हैं स्व-स्वरूपेण। कहीं किसी के लिए किसी का अभाव नहीं है। सब परस्पर अपने अपने महिमाभावों के पूरक हैं'।

५३६—परिणामवादात्मक सर्वविनाशक कार्य्यकारणभाव तन्मूलक बुद्धिवाद, एवं तद्द्वारा महिमाभाव की अन्तर्मुखता—

परिणामवादने सर्वविनाशक कार्य्यकारणवादने व्यापारमूल दिग्देशकालानुबन्धी बुद्धिवादने ही मानव के अनन्तमहिमाभाव में उपरात्मक व्यवधान उत्पन्न किए हैं। और यह बुद्धिवाद ही सहजरूप से मानव को महिमानन्त्व का स्वरूप समझने ही नहीं देता। जब भी यह क्षणमात्र के लिए अपने महिमात्मक साम्य-केन्द्र पर आता है तदुत्तरक्षण में ही इस की वार्त्तानिष्ठबुद्धि पुनः कार्य्यकारण के अन्वेषण में प्रवृत्त हो-जाती है। एवं सदैव महिमासाम्य अन्तर्मुख बन जाता है। क्यों ? । इसलिए कि इस की बुद्धि आचारनिष्ठा से पराङ्मुख बन गई है। आचार में ही वैसा बल है जो इस की बुद्धि को विचलित नहीं होने देता। आचारहीन की बुद्धि में तो वेद भी शुचिता उत्पन्न नहीं करसकते-'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'। अवश्य ही सभी आचार भी दिग्देशकालानुबन्धी ही हैं। किन्तु वे प्रत्युत्पन्न उस अनन्तब्रह्म से ही नियन्त्रित हैं। अत-एव रहते हुए भी वे आचारानुबन्धी दिग्देशकाल मानवबुद्धि को व्यामोहन से समन्वित नहीं होने देते। यही शास्त्रीय आचार, तथा लोककल्पित आचाराभासों में वह महान् अन्तर है जिस अन्तर को छद्मबुद्धि से भारतीय ऋषिमानवने समझा तदनुपात से ही उसने अनन्तब्रह्म का साक्षात्कार किया एवं तदाचारेणैव आत्मसाम्य मूलक प्राकृतिक कर्तव्य व्यवस्थित किए, और यही ऋषिमानव की दिग्देशकालमीमांसा का चरम उत्कर्ष बना, जिसके आधार पर ही इस मानवश्रेष्ठ के मुख से सहजरूप से ही-'अभयं वै ब्रह्म। मा भैषीः' जैसा उदात्त-उद्घोष विनिःसृत हुआ जिस का समन्वय तो उस तथाकथित 'साम्प्रदायिक' संबोधन पर ही अवलम्बित है

विश्व का स्वरूपसम्पुटयात्मक प्रस्तुत निबन्ध के मूलाधारभूत निष्ठा, और भावुकता–शब्दों के नीरक्षीरविवेक–माध्यम से भी दो शब्दों में प्रासङ्गिक समन्वय कर ही लेना चाहिए।

५३७–दिग्देशकालनिबन्धन–आचारात्मक–कर्त्तव्यकर्म्मों के सम्बन्ध में कर्म्मत्याग मूला भयावहा भ्रान्ति का स्वरूप–दिग्दर्शन—

सम्भव है और विगत तीन सहस्र वर्षों से चली आने वाली 'भावुकता' के कारण भारतीय भावुक हिन्दू मानव के लिए तो यही बहुत सम्भव है कि निर्दिष्ट तथाकथित 'यत्किञ्चित्' स्पष्टीकरण से हमारी प्राकृत–विमूढता यथा कुछ समझ बैठे मान बैठे कि 'मानव को अपने अभ्युदय निःश्रेयस् की संसिद्धि के लिए 'यत्र–मानवस्था' रूपक दिग्–देश–काल–भावों की सर्वथा उपेक्षा कर किसी अचिन्त्य दिग्देशकालातीत दिक्कालाद्यनवच्छिन्न अप्रतर्क्य अनिर्देश्य व्यापक सर्वातीत अनन्तब्रह्म के अनुध्यान–अनुशीलन में ही सर्वतोभावेन प्रवृत्त होजाना चाहिए'। किंवा वर्त्तमानयुग के पर्यान्त की भाषा के अनुसार ऐसा कुछ समझ बैठ मान बैठ कि– दिग्देशकालात्मक सम्पूर्ण वर्त्तमान संसार को इस के समसामयिक लौकिक–नियमोपनियमों को एकान्ततः मिथ्या मान कर मानव को इन सब लौकिक–वैदिक–दिग्देशकालानुबन्धी यत्किञ्चित् कर्म्मों का परित्याग कर परिवार–समाज–राष्ट्रादि के व्यामोहनों का छोड़ छाड़ कर अपने परलोक के अन्यतम शत्रु इन सब जञ्जालों को तोड़ताड़ कर यहाँ तक कि अपने शरीर–मन–बुद्धि–जीव–भाव को भी विस्मृत कर कर्म्मत्यागमूला विशुद्धा वैराग्यनिष्ठा में ही मानव को प्रवृत्त हो जाना चाहिए। यही इस के मानवजीवन का परमपुरुषार्थ है, किंवा अन्तिम पुरुषार्थ है।

५३८–जगन्मिथ्यात्वानुगता–कर्म्मत्यागात्मिका महती भ्रान्ति के निग्रह से ही भारतराष्ट्र के विद्या–पौरुष–अर्थ–शिल्पादि–वैभवों की अन्तर्मुखता—

और यदि हम भ्रम नहीं कर रहे (निश्चयेन नहीं ही कर रहे) तो हमें यह कह देने और मान लेने में अब यत्किञ्चित् भी ऐसी भ्रम नहीं करनी चाहिए, जिस इस 'महाभ्रम' ने ही भारतीय मानव का विगत तीन सहस्र वर्षों से अनवरत निरन्तर भ्रमपरम्पराओं का ही सञ्चय, तथा दुष्परिणाम–भाजन बनाए रक्खा है। अपनी प्राकृत विमूढता से संसार का दिग्देशकालानुबन्धी सीमाभावों का तदनुभावित कर्त्तव्य–कर्म्मों का कुछ ऐसा सा ही स्वरूप समझ बैठने वाले मान बैठने वाले निर्विशेषकालभ्रान्त प्राकृत मानवोंने अपनी दिग्देशकालानुबन्धिनी राष्ट्रीयता सामाजिकता (जातीयता) पारिवारिकता एवं व्यक्तिनिबन्धना कर्त्तव्य निष्ठाओं को इसी भावावेश में आकर छोड़ते हुए, तथा भावावेशमें ही भुलाते हुए विगत तीन सहस्र वर्षों में भारत के सम्पूर्ण साम्राज्यवैभव समाजवैभव कौटुम्बिक सौन्दर्य, तथा सर्वप्रतिष्ठामूलक वैयक्तिक–उत्तरदायित्व को उत्तरोत्तर अभिभूत ही प्रमाणित कर दिया है।

५३९–एक व्यक्ति की भूल से घटित–विघटित परिवार, समाज, तथा राष्ट्र–विकम्पन के ऐतिहासिक–तथ्य—

इस तथ्य से किसी भी युग का प्रज्ञाशील मानव कदापि गजनिमीलिका नहीं कर सकता कि, अनेक व्यक्तियों के सह–समन्वयात्मक एक परिवार के किसी एक व्यक्ति की भी महाभूल से सम्पूर्ण परिवार भी सुख–

स्येत्यर्थः, अभावं-कुत्सितो भावः अभावं दुर्दशालक्षणः, स चेह भवे सर्वतो निष्कासनादिरूपः, परभवे गुरोराशातनया अबोधिः, अबोधेस्तपःसंयमासमत्वं, संयमभावेन मोक्षमार्गानाराधनम्, तेनानन्तसंसारपरिभ्रमणम् तं तथाविधमभावं तपः श्रुत्वा=गुरुसंनिधौ निशम्य आत्मनः=स्वस्य, हितं=कल्याणम् इच्छन् आत्मानं

धर्म में स्थापित करता है। अथवा-भाव यह है कि कुत्ती सूकर और अविनीत शिष्यका स्वरूप सुनकर आत्महितैषी विनय शील बनें।

भावार्थ—इस गाथा द्वारा सूत्रकार यह उपदेश दे रहे हैं कि जो शिष्य आत्मकल्याण का अभिलाषी है उसका कर्तव्य है कि वह इस विनयधर्मके आचरण करने में थोड़ा भी प्रमाद न करे। कारण कि अविनीत शिष्य की वह दुर्दशा होती है जो पूतिकर्णी शुनी की तथा सूकर शिशु की हुई है। अविनीत के ऊपर किसी का भी विश्वास नहीं रहता वह इस भवमें गुरु की अकृपाका भाजन बनता हुआ जगह-जगह अपमान आदि दुःस्थिति को सहन करता है—और गच्छ से बाहर भी कर दिया जाता है तथा परभव में गुरु की आशातना से बोधि के लाभ से भी वंचित रहता है बोधिलाभ के बिना कभी भी श्रेयस्कर मुक्ति का मार्ग उसे प्राप्त नहीं हो सकता है। क्यों कि बोधि के अभाव में सम्यक् तप और संयम नहीं होता है। सम्यक् तप संयम के अभाव से मोक्षमार्ग की आराधना नहीं होती है और मोक्ष-

વિનય ધર્મમા સ્થાપિત કરે છે અથવા ભાવાર્થ એ છે કે—કુતરી, સૂકર અને અવિનીત શિષ્યનું સ્વરૂપ સાભળી આત્મહિતૈષી વિનયશીલ બને.

ભાવાર્થ—આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર એવો ઉપદેશ આપે છે કે જે શિષ્ય આત્મ કલ્યાણનો અભિલાષી છે, એનુ કર્તવ્ય છે કે તે આ વિનય ધર્મનું આચરણ કરવામા થોડો પણ પ્રમાદ ન કરે. કારણ કે અવિનીત શિષ્યની આવી દુર્દશા થાય છે જે પૂતકર્ણી શુનીની તથા સૂકર (ભૂંડણના બચ્ચાની) બાળકની થઇ છે, અવનીતનો કોઇ પણ વિશ્વાસ કરતું નથી. તે આ ભવમા ગુરૂની અકૃપાનો ભાજન બની દરેક સ્થળે અપમાન આદિ દુસ્થિતિને સહન કરે છે અને ગચ્છથી બહાર કરી દેવામા આવે છે અને પરભવમા ગુરૂની આશાતનાથી બોધિના લાભથી પણ વંચિત રહ્યા કરે છે બોધિ લાભ વિના કદી પણ શ્રેયસ્કર મુક્તિનો માર્ગ એને પ્રાપ્ત થઇ શકતો નથી. કેમકે બોધિના અભાવમા સમ્યક્ તપ અને સયમ હોતુ નથી. સમ્યક્ તપ સયમના અભાવથી મોક્ષ માર્ગની આરાધના બની શકતી નથી. અને મોક્ષમાર્ગની

५४२ मानवव्यक्ति के व्यक्तित्त्वाधारभूत अनन्तपुरुष, अनन्तप्रकृति, नामक दो विवर्त, एवं तन्मूलक एकत्व-अनेकत्व का संस्मरण—

व्यक्ति के वैयक्तिक स्वरूप में महतामहीयान् दो पर्व प्रतिष्ठित-समन्वित हैं, जो अनन्तपुरुष, अनन्तप्रकृति इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्तिमानव अपने पुरुषभाव से भी अनन्त है, महान् है। एवं प्रकृतिभाव से भी अनन्त है, महान् है। पुरुषात्मिका महत्ता का नाम ही है 'संवित्'—'समझ', किंवा 'बोध'। एवं प्रकृत्यनुगता महत्ता का नाम ही है—'अनुभूति'—'ज्ञान'—किंवा 'बुद्धि'। इन दोनों में पुरुष की अनन्तता दिग्देशकालातीत 'एकत्व' से अनुप्राणिता है, तो प्रकृति की अनन्तता 'दिग्देशकालात्मक 'अनेकत्व' से अनुप्राणिता है।

५४३–मानवव्यक्तित्त्वानुगत-पुरुषात्मक दिग्देशकालातीत आनन्त्य, तथा प्रकृत्यात्मक सत्त्वानुगत आनन्त्य का स्वरूप दिग्दर्शन—

दोनों के आनन्त्य में ('अनन्तता' रूप साम्य के विद्यमान रहते हुए भी) स्वरूपतः अत्यन्त ही विभेद है। दिग्देशकाल से 'अनन्त' किन्तु संख्या में 'एक' यही 'पुरुष' का स्वरूप-परिचय है। एवं दिग्देशकाल से सादिसान्त किन्तु संख्या में अनन्त यही 'प्रकृति' का स्वरूप-परिचय है। इन दोनों भावों की समन्वितावस्था का नाम ही है पूर्ण मानव, अनन्त मानव, महान् मानव, पुरुषेण च प्रकृत्या च। मानव के पुरुषत्वानुगत सम्पूर्ण तन्त्र 'संवित्' को आधार बना कर ही प्रवृत्त होते हैं, होने चाहिएँ। एवं मानव के प्रकृतित्वानुगत सम्पूर्ण तन्त्र 'अनुभूति' को आधार बनाकर ही प्रवृत्त होते हैं, होने चाहिएँ। यदि ऐसा होता है, तो वह मानव है। मानव ही नहीं, उस अनन्त का महान् प्रतिरूप ही है, जिससे अधिक महान्, श्रेष्ठ सम्पूर्ण विश्व में दूसरा और कोई नहीं है।

५४४–मानव की 'महत्ता', तथा 'अधमता' की आधारभूता शक्तिद्वयी—

और यही मानव की उस महती समस्या के समाधानबीज सुरक्षित हैं, जिनसे अपरिचित रह जाने के कारण, किंवा परिचित होजाने पर भी उपयोगिता में आनुरूप्य-विपर्यय कर देने के कारण महान् भी मानव अधमता का उत्पादक बनता हुआ स्वयं भी अपनी इसी अधमता से अधम बन जाता है, एवं अपने पारिवारिक-सामाजिक-जाति आदि व्यवस्था को भी अधम बना डालता है। पुरुषमूला संवित्, और प्रकृतिमूला अनुभूति, दोनों ही मानव की वैसी प्रबल शक्तियाँ हैं, जो ठीक ठीक व्यवस्थित होकर जहाँ मानव को सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित कर देती हैं, वहाँ अव्यवस्थित दशा में आकर ये ही दोनों महान्-शक्तियाँ मानव को सर्वनिकृष्ट बना डालती हैं।

५४५–संवित्मूला निष्ठा, तथा अनुभूतिमूला 'भावुकता' का स्वरूप दिग्दर्शन—

संविच्छक्ति का आचारात्मक व्यवहारात्मक स्वरूप है— निष्ठा, एवं अनुभूतिशक्ति का आचारात्मक स्वरूप है 'भावुकता'। 'समझ' का निष्ठा से, एवं 'ज्ञान' का भावुकता से सम्बन्ध है। 'बोध' ही निष्ठा है, एवं 'बुद्धि' ही भावुकता है। अपने संवित्-समझ-बोध-निष्ठा-रूप पुरुषभावों से ही मानव नैष्ठिक है, एवं अपने

शान्ति समृद्धि–तुष्टि–पुष्टि सुभिक्षरूप में परिणत हो जाती है, एवं अमुक व्यक्तिविशेष की भूल से ही सर्वसम्पन्न–सुसमृद्ध भी परिवारों को धूलधूसरित होता देखा गया, और सुना गया है। ठीक यही स्थिति 'समाज' की है, तो यही स्थिति सम्पूर्ण 'राष्ट्र' की है जिस स्थिति का पर्यवसान अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व पर ही होता है। ऋषिप्रज्ञा तो इस वैयक्तिक–विकम्पन को व्यक्ति की भूल को आगे चल कर 'त्रैलोक्य' विकम्पन का भी कारण मान लेती है। वृत्रासुर–तारकासुर–विद्युन्माली–शालकटङ्कट–रावण बाणासुर–कंस–आदि आदि एक एक ही व्यक्ति थे जिन की भूल से त्रैलोक्य विकम्पित हो पड़ा था। अतएव व्यक्ति जहाँ अपनी इस अपरिमित शक्ति से 'महान्' है वहाँ इस शक्ति की उपयोगिता में भूल करता हुआ यही महान् व्यक्ति संसार में क्षोभ उत्पन्न करता हुआ 'अधम' उपाधि से भी समन्वित हो जाता है। उदात्त–उदात्त–अनवद्य–अप्रधर्षा–विश्वव्यापिनी सेना का प्रत्येक सैनिक महान् है। इन सब महानों की महत्ता के सुपरिणाम–स्वरूप ही प्रतिद्वन्द्वी आततायी पराभूत होते हैं एवं राष्ट्र सुख–शान्ति का अनुगामी बन जाता है। किन्तु यह सर्वात्मना विश्वसनीय है कि, इन सहस्रों महान् सैनिकों में से किसी भी एक भी सैनिक की महत्त्वपूर्ण एक ही भूल से विजयोन्मुख भी सैन्यदल पराजित हो जाता है। और यों केवल एक व्यक्ति की अधमता से सम्पूर्ण राष्ट्र को अधमावस्था में आजाना पड़ता है।

५४०–एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से विकम्पन-शान्ति, समृद्धि, वैभवोदय, एवं मानव व्यक्ति के महान्, तथा अधम–विवर्त––

उदाहरण के विपर्यय भी मानव के सम्मुख उपस्थित होते रहे हैं और हो रहे हैं। एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से निकृष्ट परिवार भी उत्कृष्ट बन जाया करते हैं एक व्यक्ति की योग्यता से समाज का भी अभ्युदय सम्भव बन जाता है तो एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का कायाकल्प कर देता है सम्पूर्ण विश्व की शान्ति का कारण बन जाता है जैसे कि सेना के एक सैनिक की तात्कालिक समझ बूझ से पराजय विजयश्री में परिणत हो जाती है। ऐसा है यह व्यक्ति का व्यक्तित्व और ऐसी है इस की महत्ता एवं अधमता। क्या रहस्य है इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी धर्मों का ? यही व्यक्तिमानव महान् और अधम–इन दोनों विरुद्ध भावों का अनुगामी कैसे बन जाता है ?। 'विराट्पुरुषात्मकस्वरूपमीमांसा' केवल इस समस्या के चिन्तनमात्र के लिए ही तो प्रवृत्त हुई है जिसके माध्यम से स्वयं मानव को ही इन प्रश्नों का समन्वयात्मक समाधान प्राप्त कर लेना है अपने अन्तर्जगत् में ही।

५४१–संवित्-मूला 'महत्ता' एवं अनुभूतिमूला 'अधमता', तथा सुध-बुध, समझ-ज्ञान, बोध-बुद्धि, इत्यादि द्वन्द्वों का समन्वय—

इन दोनों विरुद्ध-भावों के अर्थसमन्वय के लिए ही 'संवित्, और अनुभूति' ये दो शब्द अवतीर्ण हुए हैं शब्दशास्त्र के अनन्तपरिमाणात्मक वाङ्मय में लोकभाषा में जिनके लिए ''सुध–'बुध' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जोकि– 'समझ– ज्ञान'– बोध–'बुद्धि' इत्यादि अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं, एवं जिन इन दोनों भावों के लिए ही पद्य में–'समझ बिना बुध बापड़ी'- इस लोकसूक्ति के समन्वय की चेष्टा हुई है।

प्रतिष्ठा, हिंसा स्वरूप माना गया है। यह अमृता, कृतकृत्यता गत्युपशान्तिरूपा स्थिति नितरां स्थितिलक्षणा निष्ठा ही इसका स्वरूप है, और यही इसकी परिपूर्णता है। किन्तु इस परिपूर्णता की अभिव्यक्ति सम्भव बना तभी करती है जबकि इसके क्रोड में प्राकृत-भावुकता का समावेश होजाता है। भावुकताके समावेश से ही नैष्ठिक पुरुष में स्वानुगता अमृता की अभिव्यक्ति होती है, जिस इस दिग्देशकालातीत नैष्ठिक पुरुष के सम्बन्ध में अब इससे अधिक भावुकतापूर्ण तात्पर्यान्वेषण की चेष्टा करना निष्ठानुग्रह से अपने आपको वञ्चित ही कर लेना होगा। अतएव-'मातिप्राक्षी'। अन्यथा 'मूर्द्धा ते विपातष्यति'। जिसप्रकार भावुकता के मूल में आधाररूप स निष्ठा है तथैव कदापि निष्ठा के मूल में भावुकता प्रतिष्ठित नहीं है। शक्तिमान् में शक्ति रह सकती है, रहती है। किन्तु कदापि शक्ति में शक्तिमान् समाविष्ट नहीं होता। पुरुष में प्रकृति है, कदापि प्रकृति में पुरुष नहीं है। अथात् पुरुष ही आधार है सर्वत्र सब अवस्थाओं में अपनी दिग्देशकालातीता अनन्तता से-'न त्वहं तषु अपितु त मयि'। तो फिर इस विपर्यय का क्या अर्थ हुआ ?। मन्दिर से ही उत्तर पूँछिए कि क्या उत्तर हो सकता है इसका ?।

५४९-भावुकता की आधारभूता अनुभूति का निष्ठाधारभूता सवित् में अर्पण-समर्पण, एवं निग्रह-अनुग्रहों से असस्पृष्ट अनन्तपुरुष—

भावुकता का निष्ठा के प्रति प्रयाणभाव से समर्पण प्रकृति का पुरुष में अर्पण तुष्टि का भाव में शान का समभ में, अनुभति का सवित में समग्र समर्पण। यही तो वह महान् अर्थ है जिससे प्रकृति को दिग्देशकालातीत अनन्तपुरुष का आश्रय भी उपलब्ध हो जाता है एवं वह स्वय भी पुरुष की निष्ठामात्र से अपने आप पर (भावुकता पर) नियन्त्रण करने में समर्थ बन जाती है। दिग्देशकालातीत अनन्तपुरुष, कालातीत पुरुष न तो प्रकृति पर अनुग्रह ही करता न निग्रह ही करता। अपनी अनन्तता से वह इन दोनो ही प्राकृत-धर्म्मों से पृथक है।

५५०-निग्रह-अनुग्रह-प्रवर्त्तिका भावुकतात्मिका अनन्ता प्रकृति का अनन्तपुरुष के प्रति समर्पण, एव समर्पण की स्वरूप-परिभाषा—

निग्रहानुग्रह, स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य स्वय प्रकृति के भावुकता के ही धर्म्म है निष्ठा के नहीं, पुरुष के नहीं। यदि अनुग्रह और निग्रह उसी के धर्म्म होते तो फिर कहना ही क्या था। क्योंकि प्रकृति उसकी सीमा से बाहिर है कहाँ। उस अनन्त के प्रकाश में ही तो प्रकृतिदेवी विराजमाना है। आश्रय तो ही तो रक्खा है प्रकृति ने पुरुष का। सबकुछ प्राकृत विश्व उसी में तो गुरुगुरुतम् समाविष्ट है। फिर क्या अर्थ है प्रकृति का पुरुष के आश्रित होजाने का ?। इस प्रश्न का उत्तर पुरुष कदापि नहीं देता। न तो यह विधि करता न निषेध करता। विधि और निषेध, हाँ और ना दोनों इस प्रकृति के ही धर्म्म है। वह अनुकूलता में स्वयं ही विधिरूपा बन जाती है एवं प्रतिकूलता में स्वय ही निषेधरूपा बन जाती है। प्रतीकता में सर्वत्र प्रकृति निषेधरूपा हो है, एवं प्रतिरूपता में सर्वत्र प्रकृति विधिरूपा ही है। तभी तो हमने मानव को प्रतिरूप ही माना है उसका।

अनुभूति-ज्ञान-बुद्धि-भावुकता-रूप प्रकृतिभावों से यही मानव 'भावुक' है और दोनों ही मानवस्वरूप विशेषेण से समन्वित विश्व की महती विभूतियाँ हैं स्व-स्व-स्थान-क्षेत्रों में व्यवस्थित-प्रतिष्ठित रहती हुई। पुरुषानुगता निष्ठा दिग्देशकालातीता है तो प्रकृत्यनुगता भावुकता दिग्देशकालनिष्पन्ना है। तात्पर्य्य-निष्ठा का क्षेत्र दिग्देशकालातीत 'पुरुष' है एवं भावुकता का क्षेत्र दिग्देशकालात्मिका 'प्रकृति' है। क्या तात्पर्य निकला इस 'तात्पर्य' शब्द का? स्वयं अपनी 'संवित्' से ही समन्वय कर लीजिए। क्योंकि तात्पर्य्य के तात्पर्य्य का कोई भी तात्पर्य्य कदापि वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है, तो वह प्राकृत भावुकता-मात्र है।

५४६–प्रकृत्यनुगता भावुकता, तथा पुरुषानुगता निष्ठा के संरक्षणक्षेत्र, एवं विभिन्न क्षेत्रों में दोनों की समादरणीयता का समन्वय—

इस भावुकता की दृष्टि से ही तात्पर्य्य शब्द का यही 'तात्पर्य्य' मान लिया जा सकता है भावुकतासंरक्षणमात्र के लिए कि-भावुकता के क्षेत्र में भावुकता को स्वतन्त्र न बनने देना ही प्राकृत-भावुकता का क्षेत्र संरक्षण है। एवमेव निष्ठा के क्षेत्र में निष्ठा को स्वतन्त्र न बनने देना ही पौरुष-निष्ठा का क्षेत्र संरक्षण है। क्या तात्पर्य्य के पुत्ररूप इस दूसरे तात्पर्य्य के भी पुत्र का अर्थात् पौत्र का भी अन्वेषण करना पड़ेगा ?। कर लीजिए। क्योंकि यही तो भावुकता की स्वरूप–महिमा है जो आरम्भ करना तो जानती है किन्तु समाप्त करना नहीं जानती। हाँ तो समन्वय कीजिए इस 'तात्पर्य्य' के पौत्र का। दिग्देशकालात्मिका प्रकृति के क्षेत्र में साम्राज्य तो भावुकता का अर्थात् बुद्धि का अर्थात् ज्ञान का अर्थात् अनुभूति का ही है।

५४७–संविन्मूला अनुभूति का, तद्रूपा निष्ठासमन्विता भावुकता का प्राकृत–क्षेत्र में महान् विजय, एवं प्रकृतिमूला भावुकता के प्रति ही श्रेयोऽर्पण—

अनुभवाहित-संस्काररूप ज्ञान एवं तद्रूपा बुद्धि ही प्राकृत विश्व के सम्पूर्ण प्राकृतिक कर्म-कर्म्मों की प्रवर्तिका बनेगी बनती ही है। अतएव प्रकृति के दिग्देशकालानुबन्धी सभी कर्म्म हैं तो भावुकतामूलक ही। किन्तु इनकी यह पूर्णता सम्भव तभी बना करती है जबकि इनके मूल में आचाररूप से पुरुषमूला निष्ठा को, अर्थात् बोध को अर्थात् समझ को, अर्थात् संवित् को अधिष्ठित-प्रतिष्ठित-कर लिया जाता है तो। शक्तिमान् के नियन्त्रण से पृथक् हो जाने वाली शक्ति सर्वप्रथम शक्तिमान् का ही संहार कर डालती है, तदनन्तर यही अनियन्त्रिता स्वतन्त्रशक्ति सम्पूर्ण शक्तिमानों का संहार कर दिया करती है। अतएव कर्मशक्तिरूपा प्राकृतभावुकता शक्तिमान् पुरुष की निष्ठा से बिना निष्ठारूप से नियन्त्रित होकर ही आरब्ध कर्म्मों को साङ्गोपाङ्गरूपेण पूर्ण-सम्पन्न करने में समर्थ बना करती है। श्रेय सचमुच भावुकता को ही है भावुकता का ही है, दिग्देशकाल का ही है बुद्धि का ही है ज्ञान का ही है, अर्थात् प्रकृति का ही है। किन्तु ?। इस किन्तु का उत्तर स्पष्ट है।

५४८–दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में संविन्मूला निष्ठा का साम्राज्य, किन्तु सदाचार से अनुप्राणिता भावुकता का ही आचारपक्ष में प्राधान्य, तथा तद्द्वारा ही नैष्ठिक-पुरुष में प्रभुता का आविर्भाव—

दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में साम्राज्य तो 'निष्ठा' का ही है अर्थात् 'बोध' का ही है अर्थात् समझ' का ही है अर्थात् संवित् का ही है। दिग्देशकालातीता प्रभुता ही अकर्म्मात्मक स्वात्मपुरुष की

अर्जुन की, भावुक अर्जुन की भावुकता को निष्ठा का ही सम्मान मिला था भगवान् के द्वारा जिसके बल पर इसने गिरते पड़ते कर्त्तव्यनिष्ठा का निर्वाह किया था। अर्जुन ने अपनी इस तात्कालिकी भावुक-प्रकृति का कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका चात्रप्रकृति से नियन्त्रण किया। इस नियन्त्रण से (कर्त्तव्यनिष्ठा से) नियन्त्रिता यही भावुकता निष्ठारूप में परिणत होगई। यही नियन्त्रण अपेक्षित है प्रकृति के साम्राज्य में, जिसमें मानव के तात्कालिक अनुभवों का कोई भी महत्त्व स्वीकार नहीं किया गया, जबकि सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह इन अनुभवों से ही हुआ करता है। यदि दुर्भाग्यवश अर्जुन की यह प्राकृत भावुकता यह करुणा-दया-अहिंसा आदि लक्षणा कल्पित-मानवता निष्ठावतार भगवान् के द्वारा नियन्त्रित होकर कर्त्तव्यनिष्ठ न बन जाती, तो क्या होता ?। होता वही जो गीतोपदेशकाल के दो हजार वर्ष के अनन्तर, एवं तीन हजारवर्षपूर्वारम्भ में हो पड़ा था एवं जिस हापड़ने के महान् पाप से आजतक भी नैष्ठिक भी भारतराष्ट्र का परित्राण नहीं हो सका है।

५५४-नियन्त्रण के अभाव से ही भारतीय-मानवों की भावुकता के द्वारा त्रिसहस्रवर्षात्मिका अवधि में उत्तरोत्तर-पराभव—

क्योंकि तब से आजतक जो उद्घोषक आविर्भूत हुए भारतराष्ट्र में, उन्होंने अपनी अपनी अनुभूतियों, तत्पूर्णा भावुकताओं के प्रचार-प्रसार को ही मानवता-मानवधर्म का प्रचार-प्रसार-अनुभूत मात्र किया अपने मानस-जगत में। यदि ये महानुभाव आँख उठाकर, अपने अनुभवाहित काल्पनिक जगत् से क्षणमात्र के लिए भी बाहिर आँख उठाकर राष्ट्र पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लेते तो तो इनकी इन अनुभूतियों के कल्पनाओं के अनुग्रह से छायथा चत-विक्षत होते रहने वाले राष्ट्र की दुर्दशा पर अवश्य ही इनका ध्यान चला जाता। किन्तु चला कैसे जाता ?। अनुभूति जो इनके साथ थी जो कर्त्तव्य की दृष्टि सर्वथा ही छीन लिया करती है। इनका ईश्वर भी केवल इन्हीं का होता है। वह केवल इन्हीं को चुपचाप आकर सत्य 'अहिंसा' आदि का वास्तविक मर्म्म समझा जाता है। और यों ये अपनी अनुभूति के बल पर ही भगवान् के समसम्बन्धी बनकर अर्जुन की भाँति स्वयं ही निर्णायक बन बैठते हैं जिन निर्णयों की अन्धानुसारिणी भावुक प्रजा के कष्ट कम होने के स्थान में उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं भगवान् के नाम पर एवं भावुक भक्तों की भक्ति के नाम पर।

५५५-'कर्त्तव्यनिष्ठा' वाक्य के 'कर्त्तव्य' पर्व की प्रकृतिपरायणता, एवं 'निष्ठा' पर्व की पुरुषपरायणता, तथा कर्त्तव्य, और निष्ठा के साहचर्य्य से 'अहन्ता' का उदय—

अब उस निष्ठा' का भी विचार करलें जो केवल दिग्देशकालातीत अनन्तपुरुष का ही 'धन' है एवं जिसपर मानवप्रकृति का कोई भी स्वत्वाधिकार नहीं है। 'कर्त्तव्यनिष्ठा में 'कर्त्तव्य' और निष्ठा' ये दो पर्व विभाग हैं। 'कर्त्तव्य 'प्रकृति की सम्पत्ति है तो 'निष्ठा पुरुष' की सम्पत्ति है। यद्यपि पुरुषात्मिका निष्ठा के साथ प्रकृत्यात्मक कर्त्तव्य का सामर्थ्य होजाता है तो कर्त्तव्य तो अवश्य सम्पन्न होजाता है। किन्तु इस कर्त्तव्य में 'अहन्ता' का उदय होजाता है। अनन्तपुरुष का जो यत्किञ्चिदंश प्राकृतभाव से समन्वित होकर-'अहं' रूप जीव बनता है वह जब निष्ठा-भावुकता का विवेक करने में असमर्थ बनता हुआ (जिस असामर्थ्य का मूल कारण प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है) प्रकृति के कर्त्तव्य को इस पुरुषाश्रय

५५१–पुरुषलक्षण–'स्व' तन्त्र' में समर्पिता प्रकृति की 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता' का तात्त्विक दिग्दर्शन—

प्रतिरूपता से होता यही है कि, प्रकृति की त्रिगदेशकालाभिमत भावुकता भी सुरक्षित रह जाती है एवं अनुरूप पुरुष की निष्ठा से इसकी यह भावुकता कर्त्तव्यनिष्ठा से भी नियन्त्रित बनी रहती है। एवं यही 'पर तन्त्रानुगता (अव्ययपुरुषतन्त्रानुगता) यह 'परतन्त्रता' है जिससे प्रकृति 'स्व–(अव्ययपुरुष के) तन्त्र' में निष्ठापूर्वक प्रतिष्ठित रहती हुई 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा' बनी रहती है। यही प्राकृत मानव की सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता का चिरन्तनेतिवृत्त है। उसका आश्रय लेने से मानवप्रकृति की भावुकता में ऋजुता तो अवश्य आजाती है। और इस ऋजुता से प्रभावित मानव महान् भी अवश्य ही बन जाता है।

५५२–पुरुषानुशीलनात्मक समर्पण, अनुभूत्यात्मक संस्मरण, एवं दोनों के तारतम्य से अनुप्राणिता वास्तविक–वस्तुस्थिति का स्वरूप–समन्वय—

किन्तु बिना इस आश्रयता के समर्पण के इसकी इस ऋजुभावुकता में निष्ठा का उदय नहीं हो पाता। फलत: ऐसा केवल महान् भावुक मन्त्रयोगरता अनुभूतिपरायण ही बना रह जाता है। इसका संस्मरण दूसरा पक्ष है, किन्तु उसका अनुशीलन अन्य पक्ष है। संस्मरणात्मक प्रत्यर्पण में निष्ठा का उदय सम्भव ही नहीं है। क्योंकि इसमें स्मर्त्ता भक्त की अनुभूति, किंवा भावुकता ही प्रधान बनी रहती है। और यहां भक्त ही भगवान से बड़ा मानता रहता है अपने आपको भगवान् का गुणानुवाद करता हुआ भी। इसी भावना–भावुकता से सम्पूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठा सर्वथा ही अभिभूत होजाती है ऐसे भावुक भक्तगण की जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भावुक अर्जुन से बड़ा दूसरा और कौन होगा ?। ठीक इसके विपरीत अनुशीलनात्मक संस्मरण में तत्काल ही निष्ठा का उदय होजाता है। क्योंकि अनुशीलन में अनुशीलनकर्त्ता कर्त्तव्यनिष्ठ मानव का 'कर्त्तव्य' ही प्रधान बना रहता है। यहां अनुशीलनात्मक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य का ही अर्पण होता है जिसमें अनुशीलन कर्त्ता की भावना–भावुकता कल्पना–का स्पर्श भी नहीं है। कर्त्तव्य का निर्धारण यह स्वयं अपनी अनुभूति से नहीं करता। अपितु शास्त्र के द्वारा स्वतःसिद्ध निर्धारित कर्त्तव्यकर्म के माध्यम से ही अनुशीलन–परायण बना रहने वाला यह कर्त्तव्यनिष्ठ मानव अपनी भावना–अनुभूति–जैसी कोई भी कल्पित वस्तु अपने कोश में नहीं रखता।

५५३–भगवान् के भावुक भक्तों, और नैष्ठिक–भक्तों का संस्मरण, तथा–सहज भावुक अर्जुन की भावुकता का स्वरूप–दिग्दर्शन और भगवान् के द्वारा समन्वय—

"भगवान–भक्त–और भावुकता" एवं "भगवान्–भक्त–और निष्ठा" दोनों में जो अन्तर है वही भावुकभक्त में एवं नैष्ठिकभक्त में अन्तर है। अर्जुन निःसन्देह भावुक भक्त था अतएव महान् था। किन्तु इस महत्ता से ही तो मानवता अभिव्यक्त नहीं होजाती। भावावेश में आकर अश्रुपात करने से नाच–गान–पठन से ही तो कर्त्तव्यनिष्ठा का उदय नहीं हो जाता। अतएव क्या हुआ अर्जुन के लिए भगवान् का आदेश ?, कैसी भक्ति का वरदान मिला अर्जुन को ?, गीताभक्तों से प्रश्नों के समाधान अपेक्ष नहीं है।

५५८–मोहासक्त, अतएव 'मूढ' उपाधि–विभूषित, परदुःखकातर भावुक–मानवश्रेष्ठों के सम्बन्ध में श्रुति के उद्गार—

इस 'किन्तु' 'परन्तु' का समाधान तो भगवान् ही कर सके थे, जिनके अवतार की आज भी हम भारत वासी वैसी ही, किंवा उस से भी अधिक आवश्यकता अनुभूत कर रहे हैं। इसलिए विशेषरूप से कर रहे हैं कि, उन के प्रतिरूपात्मक सर्वमूर्द्धन्य आचारनिष्ठा मक–गीताशास्त्र भी आज भावुक भक्तों की भावुकता का उद्वेचक ही प्रमाणित होता जारहा है, किंवा होचुका है। अर्जुन के भावुकतापूर्ण उद्गार ही आज गीताशास्त्र के सिद्धान्तपक्ष माने, और मनवाए जारहे हैं अपनी अपनी अनुभूतियों के बल पर उसी भावुकता के आवेश में जिन ईश्वरपरायण एवं भावुक भक्तों को ही गीताशास्त्र में–'मूढ' उपाधि मिली है, जैसाकि उसी श्रुति और स्मृति (गीता) शास्त्र के निम्नलिखित वचनों से प्रमाणित है—

(१)–दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा (ज्ञानिन –पण्डिता ब्राह्मणाः)—कठोप० ।२।
(२)–तदिमे मूढा उपजीवन्ति (लोकचतुरा –आस्तिका –सत्वान्यामुग्धाः–क्षत्रियाः)
(३)–प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम् (भगवद्भक्ता धानिन -वैश्या)—कठोप० २।२।
(४)–यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा (यथाजाताः आस्तिका शूद्राः)–(शु व ६।१।११।)
(*)–'कवयोऽप्यत्र मोहिता (१) (गीता ४।१६)–'मूढोऽय नाभिजानाति' (२) (७।२५।)–'अवजानन्ति मां मूढाः' (३) (९।११।)–'तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (४) (५।१५)–'मूढा–जन्मनि–जन्मनि' (१६।२०।)।

५५९–कर्त्तव्यविस्मृतिरूपा 'मूढावस्था', हीनकर्त्तव्यरूपा 'विमूढावस्था', एवं 'मा ते व्यथा'–'मा च विमूढभाव ' का संस्मरण—

कर्तव्य की विस्मृत्यवस्था का नाम है 'मूढता' जिस में मानव शोकसंविग्नमानस बन जाया करता है। एवं कर्त्तव्यविस्मृतिरूपा जड़ता एवं इस जड़ता की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होपड़ने वाली जघन्य–कुकर्मप्रवृत्ति से अभिव्यक्त शोक–व्यथा–विस्मृति–रूपा आत्यन्तिक जड़ता का नाम है– विमूढता जिसमें सभी कुछ समाप्त होजाता है। 'मा ते व्यथा'–यह पूर्ववाक्य शोकानुभूतिरूपा 'मूढता' की ओर सङ्केत कर रहा है एवं 'मा च विमूढभावः' यह उत्तरवाक्य तदुत्तरभाविनी कुकर्ममूला आत्यन्तिक–जड़ता–लक्षणा 'विमूढता' की ओर सङ्केत कर रहा है।

५६०–धर्म्मभीरु–आस्तिक–भावुक की आद्यन्ता दुःखनिमग्नता, एवं तदनुगामी–भक्तों का तथागतत्त्व, किंवा 'तथागतत्त्व'—

निवेदन मात्र यही करना है कि, ईश्वर–परलोक–आत्मा–धर्म्म–कर्म्म–आदि आदि सभी शास्त्रीय मार्गों के प्रति आस्था रखने वाला, किन्तु परदर्शनमूला भावुकता के कारण धर्म्मनिष्ठ-शास्त्रनिष्ठ-कर्त्तव्यनिष्ठ

'अहं (जीव') का कर्तव्य मान बैठने की महाभयानक भूल कर बैठता है, तो इस अहं रूप चैतन्य में प्रकृति की 'जड़ता' का समावेश होजाता है । और ऐसा मानव इस अवस्था में आकर केवल अप्रकृति ही प्रकृति बना रहजाता है । स्वयं प्रकृतिका अनन्तभावक्षिक विस्तार भी इस की अहङ्कारविमूढा विक्षिप्तचला प्रकृति से परोक्ष ही बन जाता है* ।

५५६–अहन्तामूला–प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका भूतस्वरूपता के द्वारा कर्तव्यासक्त कुनैष्ठिक की 'विमूढ़ता', एवं कर्तव्यच्युत की–'मूढ़ता'—

स्थूलदृष्टि–भावस्तुगत प्रत्यक्ष का मूल–भौतिक पदार्थों का 'स्वार्थ' ही इनकी इस 'जड़ता' का आधार-स्तम्भ बन जाता है । यह अपने सामने की भूतवस्तु को छोड़ कर कल–परसों का भी विचार करने में असमर्थ बन जाता है । इसी को 'सम्मूढ़' कहा गया है 'विमूढ़' कहा गया है जब कि केवल भावुक 'मूढ़' नाम से ही व्यवहृत होने योग्य है (नैष्ठिक की अपेक्षा विमूढ़ बनता हुआ भी) । 'अहङ्कारविमूढात्मा' (गीता ३।२७।)–'प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः' (गीता ३।२९।)–'सर्वज्ञानविमूढांस्तान्०' (गीता ३।३२।)–'इन्द्रियार्थविमूढस्य' (मैत्र्युपनिषत् ४।२४।)–'ऐतैर्विमोहयत्येषः' (गीता ३।४० ।)–'इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा' (गीता ३।६।) 'विमूढा नानुपश्यन्ति' (गीता १५।१० ।)–इत्यादि श्रौत–स्मार्त वचन तात्कालिक स्वार्थपरायण–इन्द्रियलोलुप-सर्वज्ञानविमूढ–सम्मूढ–अधमानवों के इस स्वरूप का ही यशोवर्णन ! कर रहे हैं जिन्हें हम अपनी व्यवहारभाषा में 'कुनैष्ठिक'–'दुष्ट'–'क्रूर'–'आततायी'–'असुर'–'राक्षस' 'नराधम' 'पिशाच'–आदि आदि सम्मानित ! उपाधियाँ प्रदान करते रहना अपना मानवोचित कर्तव्य ही मानते आरहे हैं ।

५५७–परदुःखकातर, अतएव विगृहेशकाल्तविमूढ अर्जुन-समतुलित कर्तव्यच्युत भावुक मानवों का प्रशंसात्मक, किन्तु दयनीय स्वरूप—

अर्जुन–सदृश कर्तव्यविमुख भावुक मानवश्रेष्ठ तो केवल भावुक हैं निरपराध–सौम्य वैसे मानव हैं, जो सब दुःख स्वयं सहने के लिए अहोरात्र उद्यत ही बने रहते हैं । परदुःख से कातर बने रहने वाले परोपकार की भावनामात्र से समन्वित ऐसे धर्मभीरु भावुक मानव ही अपनी भावुकतापूर्ण अनुभूतियाँ उद्गारों से गद्‌गद करते रहते हैं स्वसमानधर्म्मा भावुक प्राणियों को । कदापि ऐसे मानवश्रेष्ठ भावुक महामानवों से जगत् के अनिष्ट की कल्पना भी सम्भव नहीं है । अपितु ये तो सदा जगत् के 'कल्याणम्' की ही कामना किया करते हैं–विविध दुःखा-त्यन्तनिवृत्तिलक्षण पुरुषार्थ का सतत उद्घोष करते रहने वाले वीतराग सन्यासियों की भाँति किंवा दार्शनिकों की भाँति । मानवकुसुम इन का सौजन्य, इन की गरिमामहिमामयी वाणी परदुःखश्रवणमात्र से अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बन जाने वाली इन की भावुक–आकर्षक–आकृति इस परदुःख–निवारण–कामना से ही अपने आप को, परिवार को, समाज को एवं सर्वान्त में राष्ट्र को ही बलिवेदि पर हँसते हँसते चढ़ा देने वाले ऐसे परोपकारी सत्य–करुणा–दया–अहिंसा–के पुजारी मानवश्रेष्ठ अर्जुन की जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है । किन्तु ! ।

---

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
—गीता ३।२७

युद्धयुग में अर्जुन और दुर्य्योधन के रूप में इन दोनों वर्गों के व्यक्तियों का नेतृत्व किया नरश्रेष्ठ मान कर सकते हैं, जो उस युग के सर्वश्रेष्ठ धर्म्मनायक, एवं सर्वश्रेष्ठ कर्म्मनायक हो गए थे, किन्तु अपनी भावुकता तथा कुनिष्ठा से अनन्त बैठे थे, जो प्रसंग आपको क्रमशः धर्म्मनिष्ठ एवं कर्म्मन्यनिष्ठ हों।

५६४–धर्म्म, तथा नीति का व्यवच्छेदात्मक भीषणतम महाभारतयुग, एवं धर्माभिनिविष्ट भावुक अर्जुन, तथा नीत्यभिनिविष्ट कुनैष्ठिक दुर्य्योधन—

एक (अर्जुन) धर्म्म का आचार्य्य बनता हुआ मानवता-रूप अहिंसा-करुणा के व्याख्यान करता रहा था भावों में आकर नर नर कर, तो दूसरा राजनीति का आचार्य्य बनता हुआ राजधर्म का पूर्ण ज्ञाता बनने का दम्भ करता हुआ अपनी धर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में अवमर्ष मान बैठा था, अन्-धर्म्म-अनुकूल का कर्म्मनिष्ठ मानता हुआ। यों धर्म्म और कर्म्म, किंवा धर्म्म और नीति सर्वथा ही विभक्त होगए थे उस युग में। धर्म्माभिनिविष्ट भावुक धर्मार्थी अर्जुन ने नीति को सर्वात्मना अवहेलित करदिया था, तो नीत्यभिनिविष्ट कुनैष्ठिक स्वार्थी दुर्य्योधन ने धर्म्म को जलाञ्जलि प्रदान कर दी थी। घोरतम-भारतवर्ष का नवर्ष क्या था धर्म्म और राजनीति का मान था भावुकता, और कुनिष्ठा की प्रतिद्वन्द्विता थी। धन्य कैसे विषमी हुआ इस बात में !। क्या अर्जुन ने अपने भावुकतापूर्ण धार्म्मिक-व्याख्यानों, मानवोचित अहिंसा-करुणा धर्म्मों की भावनाओं से उद्दण्ड दुर्य्योधन का दलन कर डाला ?। स्वयं ही उत्तर प्राप्त कर लीजिए उसी गीताशास्त्र के माध्यम से।

५६५–'ईश्वरनिष्ठाभिन्ना' सहज कर्म्मण्यनिष्ठा' का स्वरूप दिग्दर्शन तदभिन्ना शास्त्रनिष्ठा, तद्रूपा 'धर्म्मनिष्ठा' एवं तदनुगत पुरुष-प्रकृति-समन्वयात्मक द्वन्द्वों का निर्विरोध-व्यवस्थापन—

धर्म्मनिष्ठा को सदा पुरुष प्रकृति के क्षेत्र में ही नियन्त्रित रहना चाहिए, एवं 'निष्ठा' को पुरुष के क्षेत्र में ही, अन्तःकरण से ही व्यक्त रहना चाहिए। इस से अहंकार, दम्भ, उत्तेजक मोह (मूर्च्छा) एवं विमूढता को प्रवेश करने का अवसर ही नहीं मिलता। दिग्देशकालानुगत कर्त्तव्य को दिग्देशकालातीत निष्ठा से नियन्त्रित रखने पर जो उभयसमन्वयात्मक तत्त्व सम्पन्न होता है, उसी का नाम है–'कर्म्मण्यनिष्ठा' यही है 'ईश्वरनिष्ठा' यही है 'शास्त्रनिष्ठा' एवं यही है 'धर्म्मनिष्ठा' जिस की व्याप्ति के उपदेश के लिए ही भगवान् अवतीर्ण हुआ करते हैं। जिस निष्ठा में पुरुष-प्रकृति भावित-अनुभूति' 'मनन-मान' –'बोध–बुद्धि' –धर्म्म–नीति –परलोक–इहलोक,–अभ्युदय–निःश्रेयस् –निष्ठा–भावुकता दिग्देशकालातीतत्व-दिग्देशकालात्मक विश्व इत्यादि दोनों भाव समानरूप से समन्वित तथा निरन्तर निर्विरोध समन्वित रहते हैं। एवं इसे ही मानवश्रेष्ठ को कहा जाता है–'नष्टिक' जिस का अर्थ है–अन्तर्भावुकतागर्भित निष्ठाभाव जैसा कि निबन्ध के अग्रिम परिशिष्ट-खण्डों में लोकसूत्ररहस्य के माध्यम से विस्तार से स्पष्ट होने वाला है।

५६६–दिग्देशकालधर्म्मों का समादर, एवं तदनुगत 'यत्किञ्चित्' संशोधन—

हम अनुमान करते हैं कि, अब उस 'यत्किञ्चित्' का अर्थ समन्वित होगया इस-एक अन्तर-मन्तव्य से। क्योंकि हम दिग्देशकालधर्म्मों का उच्छेद अभीप्सित नहीं मानते। क्योंकि धर्म्मनिष्ठा यह

'अहं' (जीव) का कर्त्ता मान बैठने की महाभयानक भूल कर बैठता है तो इस 'अहं' रूप चैतन्य में प्रकृति की 'जड़ता' का समावेश होजाता है। और ऐसा मानव इस अवस्था में आकर केवल जड़प्रकृति ही प्रकृति बना रहजाता है। स्वयं प्रकृतिरूप अनन्तकालिक विस्तार भी इस की अहंकारविमूढा विकृतिलक्षणा प्रकृति से परोक्ष ही बन जाता है*।

५५६—अहन्तामूला—प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका भूतजड़ता के द्वारा कर्म्मासक्त दुर्नैष्ठिक की 'विमूढ़ता', एवं कर्त्तव्यच्युत की–'मूढ़ता'——

स्थूलदृष्टि–भावानुगत प्रत्यक्ष दृष्ट भूत–भौतिक पदार्थों का 'स्वार्थ' ही इसकी इस 'जड़ता' का आधार-स्तम्भ बन जाता है। यह अपने सामने की भूतवस्तु को छोड़ कर कल–परसों का भी विचार करने में असमर्थ बन जाता है। इसी को 'सम्मूढ़' कहा गया है 'विमूढ़' कहा गया है जब कि केवल भावुक 'मूढ़' नाम से ही व्यवहृत होने योग्य है (नैष्ठिक की अपेक्षा विमूढ़ बनता हुआ भी)। 'अहङ्कारविमूढात्मा' (गीता ३।२७।)–'प्रकृतेर्गुणसम्मूढा' (गीता ३।२९।)–'सर्वज्ञानविमूढांस्तान्०' (गीता ३।३२।)–'इन्द्रियार्थविमूढस्य' (मैत्र्युपनिषत् ६।१४।)–'एतैर्विमोहयत्येषः' (गीता ३।४ ।)–'इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा' (गीता ३।६।) 'विमूढा नानुपश्यन्ति' (गीता १५।१० ।)–इत्यादि श्रौत–स्मार्त वचन तात्कालिक स्वार्थपरायण इन्द्रियलोलुप-लम्पटविमूढ–सम्मूढ–अमानवों के इस स्वरूप का ही यथावर्णन ? कर रहे हैं जिन्हें हम अपनी व्यवहारभाषा में 'दुर्नैष्ठिक'–'दुष्ट'–'क्रूर'–'आततायी'–'असुर'–'राक्षस' 'नराधम' पिशाच–आदि आदि सम्मानित ? उपाधियाँ प्रदान करते रहना अपना मानवोचित कर्त्तव्य ही मानते आरहे हैं।

५५७—परदुःखकातर, अतएव दिग्देशकालविमूढ़ अर्जुन-समतुलित कर्त्तव्यच्युत भावुक मानवों का प्रशंसात्मक, किन्तु दयनीय स्वरूप——

अर्जुन–जैसा कर्त्तव्यविमुख भावुक मानवश्रेष्ठ तो केवल भावुक है निरपराध–सौम्य जैसे मानव हैं, जो सब दुःख स्वयं सहने के लिए सहोद्यम तत्पर ही बने रहते हैं। परदुःख से कातर बने रहने वाले परोपकार की भावनामात्र से समन्वित ऐसे धर्म्मभीरु भावुक मानव ही अपनी भावुकतापूर्णा अनुभूतियों उद्गारों से गद्‌गद करते रहते हैं स्वसमानधर्म्मा भावुक प्राणियों को। तथापि ऐसे मानवश्रेष्ठ भावुक महामानवों से जगत् के अनिष्ट की कल्पना भी सम्भव नहीं है। अपितु ये तो सदा जगत् के 'कल्याण' की ही कामना किया करते हैं–विविध दुःखा-त्यन्तनिराकरणलक्षण पुरुषार्थ का सतत अभ्यास करते रहने वाले वीतराग सन्यासियों की भाँति किंवा दार्शनिकों की भाँति। मानवसुलभ इन का सौजन्य, इन की गरिमामहिमामयी वाणी परदुःखश्रवणमात्र से अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बन जाने वाली इन की भावुक–आकर्षक–आकृति इस परदुःख–निवारण–कामना से ही अपने आप को, परिवार को, समाज को एवं सर्वान्त में राष्ट्र को ही बलिवेदि पर हँसते हँसते चढ़ा देने वाले ऐसे परोपकारी दया–करुणा–क्षमा–अहिंसा–के पुजारी मानवश्रेष्ठ अर्जुन की कितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। किन्तु ? ।

---

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥
—गीता ३।२७

विनये=अभ्युत्थानादिगुरुशुश्रूषालक्षणे स्थापयति। उक्त च—

विणया होइ य णाण, णाणाओ दसण तओ चरण।
चरणाहिंतो मोक्खो मोक्खे, सोक्ख निराबाह ॥ १ ॥

छाया—

विनयाद् भवति च ज्ञान, ज्ञानाद् दर्शन ततश्चरणम्।
चरणाद् मोक्षो, मोक्षे सौख्य निराबाधम् ॥ १ ॥ इति ॥ ६ ॥

अथोपसहरन्नाह—

मूलम्—तम्हा विणयमेसिज्जा सील पडिलभेज्जओ।
बुद्धपुत्ते नियागट्ठी न निक्कसिज्जइ कण्हुइ ॥ ७ ॥

छाया—

तस्माद् विनयमेषयेत् शील प्रतिलभेत यत।
बुद्धपुत्रो नियागार्थी न निष्कास्यते कुतश्चित् ॥ ७ ॥

टीका—

'तम्हा इत्यादि।—तस्मात्=दुःशीलस्य सर्वतो निष्कासनादिरूपा दुर्गति र्भवतीत्युक्तरूपात् कारणात् साधुर्विनयम् एषयेत्=कुर्यात् धातूनामनेकार्थत्वात्।

मार्ग के आराधना के अभाव में अनत ससार परिभ्रमण करना पड़ता है, इसलिये शिष्य को अपने परमोपकारी गुरु महाराज का विनय सदा करना चाहिये। वे जब कहीं से अपने स्थान पर आवें तो शिष्य का कर्तव्य है कि वह उनके समक्ष जावे—उन्हें देखकर अपने आसनसे उठ खड़ा होवे। उनकी शुश्रूषा आदि करता रहे। इससे विनय धर्मकी आराधना होती है। कहा भी है—विनय से ज्ञान होता है। ज्ञान से दर्शन और दर्शन से चारित्रका लाभ होता है चारित्र से मोक्ष और मुक्ति होने से इस जीव को अव्याबाध सुख की प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

આરાધનાના અભાવથી અનત સસાર પરિભ્રમણ કરવું પડે છે આ માટે શિષ્યે પોતાના પરોપકારી ગુરૂ મહારાજનો સદા વિનય કરવો જોઈએ. તેઓ જ્યારે કયાયથી પોતાના સ્થાન ઉપર આવે ત્યારે શિષ્યનુ એ કર્તવ્ય છે કે તે તેમની સામે જાય—એમને જોઈ પોતાના આસન ઉપરથી ઉઠી ઉભા રહે અને એમની સેવા કરવામા લાગી જાય, આથી વિનય ધર્મની આરાધના થાય છે વિનયથી જ્ઞાન થાય છે, જ્ઞાનથી દર્શન અને દર્શનથી ચારિત્રનો લાભ થાય છે ચારિત્રથી મોક્ષ અને મુક્તિ થવાથી આ જીવને અવ્યાબાધ સુખની પ્રાપ્તિ થાય છે ॥૬॥

के स्थान में धर्म्मभीरु-शास्त्रभीरु-कर्त्तव्यभीरु-बन जानेवाला परमुखापेक्षतामात्र मानवश्रेष्ठ ही 'भावुक' कहलाया है, जो परमुखों की चर्म्मणा में ही आपन्न का दुःखी बनता हुआ एक दिन इन दुःखों में ही समाप्त हो जाता है एवं तदनन्तर उसके पथ-अनुयायी उसके भावुकतापूर्ण इन त्याग-तपस्या-विजृम्भणों के यशोगानमात्र से अपने आपको भी उसी भावुकतापूर्ण पथ के पथिक बनाए रखते हैं।

५६१-ईश्वर-धर्म्म-शास्त्र-भीरु, मान्यताआमार्गों में नितान्तभीरु भावुक-मानवों की परम्परा से ही अनेक शताब्दियों से उत्पीड़ित भारतराष्ट्र—

सचमुच धर्म्मभीरु-शास्त्रभीरु-ईश्वरभीरु-सर्वोपरि सत्य, अहिंसा, दया, करुणा-मानवता-आदि में नितान्त भीरु ऐसे भावुक मानवों की पारम्परिक-रूढ़ि-परम्परा ने ही तीन सहस्र वर्षों से भारत की धर्म्म-शास्त्र-कर्त्तव्य-ईश्वर आदि विमल-निष्ठाओं को विस्मृति के गर्भ में ही विलीन बनाए रक्खा है। इन की इस भावुकता के ही अनुग्रह से *निःशस्त्र एकमात्र अनुभूतिमूला इस विशुद्धा भावुकता से ही उन विमूढ़ दुराग्रहि-स्व-*स्वार्थी-कुनैष्ठिकों को ही उत्तरोत्तर इस राष्ट्र में अन्तर्य्यामिसम्बन्ध से बद्धमूल बनाया है जिनके कारण ही सबकुछ विद्यमान रहते भी भारतराष्ट्र श्री-समृद्धि-विद्या-शौर्य्य-यशो-विहीन ही बनता आया है विगत तीन सहस्र वर्षों से।

५६२-कर्त्तव्यनिष्ठासक्तिमूलक व्यामोहन से व्यामुग्ध मानव की तमोगुणान्विता जड़ता, एवं तद्द्वारा भीषण-अत्याचार-ताण्डव—

निवेदन किया गया है कि 'कर्त्तव्यनिष्ठा' शब्द के 'कर्त्तव्य' पर्व का प्रकृति से तथा 'निष्ठा' पर्व का 'पुरुष' से सम्बन्ध है। जब कर्त्तव्यात्मक प्रकृतिभाव निष्ठात्मक पुरुष के क्षेत्र में आता हुआ पुरुष की सम्पत्ति बन जाता है तो प्राकृत मानव का चेतन्यपुरुषभाव (जीवात्मा का-अहम्भाव) 'अहं करोमि' (मैं करता हूँ) इस मिथ्यादम्भ में आकर कालान्तर में निश्चित कर्त्तव्य से पराङ्मुख ही होजाता है। यही अकर्म्मण्यता कालान्तर में इसे तमोगुणप्रधान वैसे कुकर्म्मों की ओर ही प्रवृत्त कर देती है जिनका एकमात्र उद्देश्य बना रहता है हिंसक सिंह-व्याघ्रादि प्राकृत जीवों के तुल्यकर्म्मपरक् किसी भी उपाय से-छल-बल-कपट-हिंसा-स्तेय-दस्युवृत्ति आदि से स्वार्थपोषण करते रहना। यों आरम्भ की 'भावुकता' ही कालान्तर में 'अधमता' की जननी बन जाती है। भावुकता ही यों परम्परया अपने वर्ग में से ही मानवाधम उत्पन्न कर देती है। वैसे तो मानवता के क्षेत्र में मूलतः सभी मानव ही हैं। किन्तु इन मानवों की प्रारम्भिक भावुकताने ही सभी राष्ट्रों में अपनी मानवता के गर्भ से ही दानव-दस्युओं को उत्पन्न कर डाला है जो दानव-दस्यु अपनी जननी मानवता को खा-खा कर ही अपनी आत्मतृप्ति करते रहते हैं। क्योंकि-'जो जिस से उत्पन्न होता है वह उसी को खाकर जीवित रहा करता है' इस प्राकृतिक-नियम का अतिक्रमण कदापि सम्भव नहीं है-निष्ठा के अतिरिक्त।

५६३-धर्म्मभीरु भावुक अर्जुन, तथा कर्म्मभीरु कुनैष्ठिक दुर्योधन, एवं इन का धर्म्मनिष्ठा-कर्त्तव्यनिष्ठा-रूपा महती भ्रान्ति—

समझने मात्र के लिए भावुक की पूर्वावस्था को यदि हम 'भावुक' कह सकते हैं यदि इसी की अन्तिम-महावस्थारूपा विमूढावस्था (उत्तरावस्था) को 'कुनैष्ठिक' कह सकते हैं, एक भाव से पाँच सहस्र वर्ष के

५६९-दिग्देशकालपर्य्यज्ञ, अवसरवादी दुर्य्योधन की धर्म्मशून्या नैतिक-कुशलता, एवं तद्द्वारा सम्मानित दुर्य्योधन के लोकपक्ष का नीरक्षीरविवेक—

तो क्या दुर्य्योधन का पक्ष ठीक था ? । नहीं । यह तो अर्जुन से भी अधिक बुद्धिमान् ? बन गया था । अर्जुन की बुद्धिमानी एक सीमा में ही थी । वह अपनी इस भावुकतापूर्णा बुद्धि का लक्ष्य दूसरों को तो नहीं बनाना चाहता था । केवल पश्चात्ताप ही कर लिया था इसने अपने आप में ही दुर्य्योधनादि के लिए+ । किन्तु कुनैतिक दुर्य्योधन तो इस सीमा का भी अतिक्रमण कर बैठा था । उसने तो कृष्ण जैसे महान् धर्म्मनिष्ठ तक को अपने जैसा बना ही डाला था । उसने भीष्म जैसे धर्म्मज्ञ को विवश कर लिया, द्रोणाचार्य्य जैसे ब्राह्मणश्रेष्ठ को नैतिक बना डाला । और क्या क्या दुष्कर्म्म नहीं करवाले इस दुष्टबुद्धिने अपने राजनैतिक-संघटन के लिए ? । अवश्य ही इसने उन सभी अवसरों से लाभ उठा लिया जो भी अवसर इसके सम्मुख दिग्देशकालानुगामी उपस्थित होते गए । यही नहीं, इस चाणक्यचतुर-कालज्ञ-देशज्ञ-महान् मनोविज्ञानविज्ञ-नाम नैतिक विशारद ने तो उन पाण्डवपक्षवालों से (शल्यादि से) भी स्वयं ही उनकी भावुकता से लाभ उठाते हुए पाण्डवों को मूर्ख ही प्रमाणित कर दिया । और उस समय तो हम सर्वात्मना स्तब्ध ही बने रह जाते हैं दुर्य्योधन की लोकनिष्ठा के उस इतिवृत्त को सुनकर कि, जो भगवान् वासुदेव कृष्ण इस के उद्घोषित शत्रु थे, जिन को कौरवसभा में अवाच्य-वाद कहते हुए भी जिस निर्ल्लज्ज पामर की जिह्वा दग्ध नहीं होगई थी, जो इस दिग्भूमिभृत को सन्धि प्रमाण तक के लिए अपमान्य सदृश कर बैठा था उस अपने प्रबलतम शत्रु श्रीकृष्ण से भी इसने उन की 'गोपसेना' सहायता के लिए प्राप्त कर ही तो ली थी इस अवसरवादी धन्य राज लोकनीतिविशारद चाणक्यचतुर धूर्त दुर्य्योधनने ।

५७०-आततायी दुर्य्योधन के द्वारा प्राप्त 'युद्धसहायता' के सम्बन्ध में धर्म्मशील-मानवों का विकम्पन—

अवश्य ही अपनी सहज भावुकता से कभी कभी हम भगवान् के इस चरित्र से विकम्पित हो पड़ते थे, जो कि विकम्पन उसी प्रज्ञातीत भगवान् वासुदेव कृष्ण के अनुग्रह से सम्भवतः अब शान्त होता हुआ प्रतीत हो रहा है इस 'दिग्देशकालमीमांसा' के निमित्तानुबन्ध से । भगवान् जैसे नैष्ठिक अवतार भी क्या दुर्य्योधन जैसे लोकनिष्ठ के सम्मुख हार मान गए ?, जिस के कारण दुर्य्योधन जैसा यह आततायी भी उन भगवान् से सहायता प्राप्त कर लेने में सफल होगया जो भगवान् अवतीर्ण ही हुए थे ऐसे दुष्टों का मूलोच्छेद करने के लिए ही ? । यही वह विकम्पन था और बहुत सम्भव है-आत्यन्तिक रूपेण सन्तोष कर लेने पर भी हमारे भावुकतापूर्ण विकम्पन की सर्वात्मना उपशान्ति न कर सकें हम अपनी इस भावुक-बुद्धि से ।

+ यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ! ॥
—गीता १।३८-३९,

प्रमाणित कर रही है कि, अनन्तनाथ की अनन्तकालविभूति के महिमामय दिग्देशकालविश्व भी तत्वतः अनन्त ही हैं। यद्योपन अपेक्षित है सचमुच में यत्किञ्चि –सा ही, जिसे लक्ष्य बना लेने में महान् मानव-श्रेष्ठ को कदापि आपत्ति नहीं होगी, ऐसी हमारी मान्यता ही नहीं, अपितु पूर्ण आस्था है।

५६७–दिग्देशकालनिबन्धना तात्कालिकता से आविर्भूत व्यामोहन, एवं तद्द्वारा अनर्थपरम्पराओं की अभिव्यक्ति—

दिग्देशकाल के व्यामोहनने ही मानव की महत्ता में तथाकथिता अनर्थपरम्पराओं का समर्थन किया है। दिग्देशकालनिबन्धना कर्त्तव्यनिष्ठा अन्य पक्ष है, तो दिग्देशकालनिबन्धना स्वार्थनिष्ठा (कुनिष्ठा) विभिन्न पक्ष है। सम्मुख अवस्थित भौतिक लाभ को इस वर्त्तमान दिग्देशकाल–निबन्धन तात्कालिक स्वार्थ को देखकर हमारी तात्कालिक बुद्धि अतीत और भविष्यत् को विस्मृत कर बैठती है। और ऐसा कुछ मान बैठती है इस परदर्शनमूला–विमोहनात्मिका भावुकता के आवेश में कि, यदि अभी इसी क्षण किसी भी उपाय से छलसे–बल से हमने इसे अपने अपने अधिकार में नहीं कर लिया, तो आगामी क्षण में हमें दुःखी ही होजाना पड़ेगा। यही तात्कालिकी दिग्देशकालता हमें ऐसे अनन्य संग्रह में प्रवृत्त कर देती है जो संग्रह अपने सहज आचरणधर्म्म से संग्रहपरम्परा को जन्म देता हुआ इस संग्रह में ही इसे तल्लीन कर देता है। और यही तल्लीनता इसे भ्रममूलक असद्दर्शन एवं तद्नुगता महती महानता से पराङ्मुख करती हुई महतोमहीयान् भी इसके 'मानवस्वरूप' को ऐसा क्षोभ्य बना डालती है, जिस क्षोभ्य में आकर यह अपने सम्मुख विद्यमान भौतिक अर्थों के साथ हिंसक सिंह–व्याघ्रादि की भाँति ही नहीं, अपितु शृगालवत् ही चिपट जाता है। और दुर्भाग्यवश शरीराधिपत्यक अल्पात्मभावसे समन्वित इन निष्प्राण अर्थों की लिप्सा में ही यह अपनी बुद्धिमत्ता समाप्त कर देता है।

५६८–दिग्देशकालाश्रयतापूर्वक ही मानव का तद्व्यामोहन से सम्भावित आत्मत्राण —

कौन मना करता है इसे दिग्देशकाल से लाभ उठाने के लिए, जबकि दिग्देशकाल की सीमा से बाहिर लाभ उठाने जैसा कुछ भी तो नहीं है। जबतक मानव शरीरी है फिर भले ही वह ऋषि हो, देवता हो परिव्राजक हो, किंवा तपस्वी वीतराग सन्यासी हो अवश्य ही सभी को दिग्देशकालात्मिका शरीरयात्रा के निर्वाह के लिए दिग्देशकालात्मक वर्त्तमान का ही आश्रय लेना पड़ेगा *। जो समय से लाभ उठाता है, वही बुद्धिमान् है वही विद्वान् है। कदापि इस प्रकृतिसिद्ध शाश्वत सनातन नियम का अतिक्रमण सम्भव ही नहीं है। जो इस नियम का अतिक्रमण कर जाता है कल्पित ब्रह्मनिष्ठात्मभाव के व्यामोहन में अपनी दार्श–निकता में अपनी विद्वत्ता में अभिनिविष्ट होकर, उसे 'शून्यम् शून्यम्' के अतिरिक्त और क्या मिलता है ?। दिग्देशकाल–निबन्धना बुद्धिमानी की मात्रावेश में उपेक्षा करके ही तो अर्जुन यथाधिकारसिद्ध राज्यवैभव से वञ्चित कर बैठा था अपने आपको।

---

* नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः ॥
—गीता ३।८

५७४–मानवता-सुलभ क्षणिक उद्बोधन की उपेक्षा कर बैठने वाले दुष्टबुद्धि कुनैष्ठिक का अन्ततोगत्वा बुद्धिशून्यता-लक्षण नाशावेश पर ही अवसान—

अहो ! यदि यह बुद्धि आरम्भ में ही, क्षणमात्र के लिए जो यह अनुभव कर लेता कि, दृश्यभूत मलीमस–परप्रवनापूर्ण पथ में अग्रेसर होते ही अन्तर्यामी के द्वारा प्राप्त होने वाली "अरे ! काम तो बुरा कर रहे हो, बुरा हो रहा है" इस परोक्ष–सूचना पर ध्यान दे लेता (जैसा-कि घोरघोरतम पापिष्ठ मानव में भी यदाकदा दुष्कर्म के लिए उस के अन्तःकरण से ऐसे उसे यथानिया चेतावनी मिलती रहती है, निश्चयेन मिलती ही रहती है), तो सम्भवतः वह आरम्भ में ही अपनी मानवता का संरक्षण कर ले जाता। किन्तु परद्रव्य मूला भावुकता उत्तरक्षण में ही इसे उस क्षणिक ईश्वरीय उद्बोधन से पृथक् कर देती है। यों बुद्धिव्यामुग्ध यह दुष्ट उत्तरोत्तर अधिकाधिक उस उद्बोधनवाणी के अन्तःश्रवण से दूर-बहुत दूर ही होता जाता है। अन्ततोगत्वा 'नास्ति धर्म्म नास्ति वा ईश्वर' इस बुद्धिशून्यता पर ही इस का पर्यवसान हो जाता है।

५७५–भौतिकदण्ड के समतुलन में बौद्धिक दण्ड विधान की महती प्रयावहता—

बुद्धि का यह अपहरण तो कैसा दण्ड–विधान है इस भूतवादी के लिए, जिस दण्ड के समतुलन में भूतदण्ड का कुछ भी तो महत्व नहीं है। और जिन में बुद्धि का सवांश–लवांश भी शेष रह जाता है (और अवश्य ही रह जाता है क्योंकि भगवान् के साम्राज्य में किसी भी वस्तु का आत्यन्तिक अभाव नहीं होता, केवल अभिभव ही होता है) वो वह स्वयं अपने अन्तर्जगत् में ही यह समतुलन कर सकता है कि, बुद्धि के इस महत्तांश के समतुलन में उस अन्यायोपार्जित अर्थ एवं अर्थकामविवश, अतएव अहोरात्र निविध–चिन्ता–ग्लानि–सार्वदेव–भूतपरिग्रह का कैसा स्वल्पतम (अत्यन्त नगण्य) महत्व है ?।

५७६–बौद्धिक-दण्डानुभूति से अपरिचित जड़भूतवादी मानव की अन्तिम अवस्थानुगता 'त्राहि माम्' लक्षणा करुणगाथा—

बात केवल इतनी सी है कि, चिरकालिक जड़–भूतात्मवादों की कृपा से बौद्धिक दण्ड की अनुभूति का अभ्यास ही इस जड़वादी को नहीं रहता। इसे तो तत्काल प्रभावित करता है कर सकता है केवल भौतिक दण्ड ही। वह फिर शारीरिक हो, अथवा तो आर्थिक। तभी तो ऐसे वर्ग के लिए शास्त्रने भौतिक दण्ड का ही विधान किया है जबकि प्रज्ञापराधवश भूल कर जाने वाले धार्मिक पुरुषों के लिए सामान्य–प्रत्यवायादि दण्ड ही पर्य्याप्त मान लिए गए हैं। किन्तु सर्वान्त में जब सर्वस्व के ही अपहरण का समय आता है जबकि इस के प्राण कण्ठ में अवरुद्ध हो जाते हैं तो उस समय अवश्य ही इसे 'त्राहि मां त्राहि माम्' ही पुकार रटना पड़ता है जिस की प्रामाणिकता इस के जीवनकाल में भी रोगादि–स्वजननिधनादि अवसरों पर अभिव्यक्त होती रहती है।

५७७–दुर्य्योधन, तथा अर्जुन को प्रदत्ता सहायता के सम्बन्ध में दिग्देशकालभावानुबन्धी ऊहापोहों का आध्यात्मिक-स्वरूप समन्वय—

भगवान् क्यों नहीं तत्काल भौतिक–दण्ड प्रदान कर देते ?, क्यों आततायी दुर्य्योधन जैसे को भी भगवान् ने भौतिक सहायता प्रदान कर दी ? और कैसे दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन का साहस हो पड़ा अपने महान् शत्रु भी

५७१–ईश्वर के द्वारा प्राप्त बल से सर्वप्रथम ईश्वरसत्ता पर ही प्रहार के ऐतिह्य निदर्शन, एवं अनीश्वरवादियों के संहारकर्म्म—

सहसा हम चिन्तन करने लग पड़ते हैं कि, सृष्टि के आरम्भ से आजतक इस धराधाम पर जितने भी असुर–राक्षस–दस्यु–आदि घोर दुष्ट मानव उत्पन्न हुए, सबने इस विश्व की शक्तियों से ही तो विश्व को विकम्पित किया है । भगवान् के साम्राज्य से ही तो इन सब को सबकुछ मिला है । उसी के बल से तो इन्होंने उस पर प्रहार करने में भी कोई न्यूनता नहीं की है । यही नहीं, अपितु सर्वप्रथम तो इन के प्रहार का लक्ष्य भगवान् ही बने हैं । ईश्वरसत्ता के विरोध से ही तो इन के प्रचण्ड दुष्कर्म्म उपक्रान्त बनते हैं । उसे न मान कर ही तो ये स्वयं को ब्रह्मा मान बैठते हैं अपने प्राकृत स्वरूप से । और यह अनीश्वरता ही तो इन्हें संहारकर्म्मों की ओर प्रवृत्त करती है । उस अनन्तता से अपरिचित रह जाने के कारण ही तो ये सादिसान्त दिग्देशकालों से तात्कालिक लाभ उठा लेना ही अपना परमपुरुषार्थ मान बैठते हैं ।

५७२–'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' का संस्मरण, प्रकृतिपरिपाकानुगत भौतिक-दण्ड, एवं तत्सम्बन्ध में कुनैष्ठिकों की भ्रान्ति—

और अब हम ऐसा भी अनुभव कर रहे हैं अपने मानस में ही कि, यदि भगवान् दुर्य्योधन को भूतपरिग्रह की सहायता नहीं देते तो सम्भवतः सत्य इतिहास के सभ्य–भव्य पुराणपुरुष भगवान् व्यास के मुखपद्म से कदापि श्रद्धापूर्वक उन्मुक्तरूप से–'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' जैसी नैष्ठिकी सार्वभौमी विनिगत ही न होती । भगवान् कदापि अपनी भूतसत्ता को भौतिक दण्ड तत्काल ही नहीं दे दिया करते । अपितु भौतिक दण्ड तो उन की ओर से प्रकृतिपरिपाक के उत्तरदायित्व पर ही छोड़ दिया गया है । तभी तो भूताक्रान्त यह मानव यह भ्रान्ति कर बैठता है कि –'मेरे ऐसे षड्यन्त्रों से भी जब कि मुझे भूतसमृद्धि अनायासेनैव उपलब्ध हो रही है, तो व्यर्थ है धर्म्म का भय और निरर्थक है ईश्वरसत्ता का व्यामोहन' ।

५७३–धर्म्माचार्य्यों के द्वारा कुनैष्ठिकों की भ्रान्तिपरम्पराओं का स्वरूप विश्लेषण—

यह क्यों ऐसी भ्रान्ति कर बैठता है ? स्वयं धर्म्माचार्य्योंने इसी तथ्य का और भी अधिक उदात्तता से समाधान किया कि –"जो प्राकृत–जन मानव दिग्देशकालनिबन्धन स्वार्थ में अन्ध बन कर धर्म्मनियम का परित्याग करता हुआ सर्वनियन्ता ईश्वर की उपेक्षा करता हुआ अधर्म्मपथ का अनुगामी बन जाता है तत्काल वह मानो बढ़ने ही लगता है (आज की भाषा में 'तरक्की' ही करने लग पड़ता है) । अपने इस 'बढ़ाव' से (पदप्रतिष्ठा–अर्थसञ्चयादि से) यह भूतसमृद्ध (सम्पन्न) मानव नित नूतन भद्र अनुष्ठान (उत्सवायोजन) मनाने लगता है । अपने इन लोकायोजनों के बल पर, तथा समृद्ध अर्थबल पर ही यह नराधम अपने प्रतिद्वन्द्वियों को लोकसंघर्ष में परास्त भी करता रहता है । किन्तु पर्यन्त में ? । सो न कहना ही अच्छा है *।

---

*–अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥
—मनुः ४।१७४।

धर्ममित्र से सहायता लेनी होती है तो वह उसके सम्मुख धार्मिक-धारण का ही रूप उपस्थित कर रहा है श्रद्धापूर्वक। साथ ही मन्द-मन्द मुसकाता-हँसता हुआ सा ही अपना अभिप्राय इसप्रकार कहना प्रारम्भ करता है कि मानो इस सहायता का प्रयोजन ही नहीं है। अपितु यह तो सामने वाले का धर्म-रक्षक काम करने की प्रेरणामात्र ही देने आया है)।

५७८-कुनैष्ठिक की धृष्टतापूर्ण अवसरवाणी का मूलोच्छेद, एवं भगवान् के द्वारा उभय पक्ष को माहात्म्य-प्रदान—

दुष्टबुद्धि दुर्योधन की इस अवसरवाणी का मानो मूलोच्छेद ही करते हुए भगवान ने यही उत्तर दिया कि, "दुर्योधन! आप अवश्य ही यहां पहले आए हैं। सचमुच आपके इस प्रथमागमन में तो कोई भी सन्देह नहीं है (किन्तु आप यह भी जान गए होंगे कि) दृष्टि मेरी सर्वप्रथम अर्जुन पर ही पड़ी है। हां आप पहिले आए हैं, और अर्जुन पर पहिले दृष्टि पड़ी है। अतएव सहायताप्राप्ति के लिए आप आगमनरूप प्राथम्य से तथा अर्जुन दृष्टिप्राथम्य से दोनों ही समानाधिकारी हैं। अवश्य ही दोनों को ही सहायता दी जायगी। इसप्रकार दोनों ही जब आगमन और दृष्टिरूप से प्रथमभाव में आगए तो तुम पूँछ सकते हो कि, दोनों में किसके प्राथम्य को प्रथम माना जाय? तो तुम स्वयं यह पूछ रहे हो कि, हम लोकस्वभाव में श्रेष्ठ हैं। और तुम्हारे जैसे बुद्धि-मान को यह समझाना भी निरर्थक ही होगा कि, हमारी यह श्रेष्ठता धर्मानुगता ही है। हम भी विशिष्ट धारा में ही लोकधर्म के परिपालन से ही तो तुम्हारी दृष्टि में सन्त बने हुए हैं। और निश्चयेन तुम जैसे धर्मसम्मत? से सम्भवतः यह भी परोक्ष नहीं होगा कि एकसाथ अपना प्राथम्य व्यक्त करने वाले वयस्क-समर्थ-बुद्धिमान्, तथा बालकस्थानापन्न अवस्था लोकचातुर्य से शून्य-दोनों में से बालभावानुगत व्यक्ति की बात पर ध्यान देने पर ही श्रुति ने बल दिया है—'प्रगारणं तु बालानां पूर्वकार्यमिति श्रुतिः' (अवस्था में भी और लोकविचारों की परिपक्वता में भी अर्जुन आपसे छोटे हैं बालक हैं)। इसप्रकार अपने आपको लोकचतुर मानकर कला-कुशल-मान बैठने वाले दुष्टबुद्धि कुनैष्ठिक धृष्ट दुर्योधन के धृष्टतापूर्ण वाक्छल का निरवशेषरूपेण मान मर्दन ही तो कर डाला भगवान् ने। और अन्ततोगत्वा परिणामस्वरूप सर्वप्रथम अर्जुन से ही पूँछा गया कि, एक ओर हम निरस्त्ररूप से सहायता के लिए सन्नद्ध हैं तो दूसरी ओर शस्त्रास्त्रसंयुक्त सेना हमारी 'गोपसेना' है। बोलो अर्जुन! तुम दोनों में से क्या लेना चाहते हो?। प्रश्न का उत्तर सर्वविदित है *।

---

* हमने दिग्देशकालानुबन्ध से स्थितिसमन्वयमात्र के लिए 'भावुकता' के प्रसङ्ग में 'अर्जुन' का नाम स्मरण किया है आक्षेपपूर्वक। किन्तु यह अविस्मरणीय है कि-यह आक्षेप केवल उदाहरणविधि से ही अनुप्राणित है। वस्तुगत्या उस अर्जुन के समान भाग्यशाली और दूसरा कौन होगा जिसे भगवान् 'बालक' कह कर रक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं ले रहे हैं। साथही में प्रकृत्या भावुक भी अर्जुन जैसा ईश्वरनिष्ठ भी दूसरा और कौन होगा जिसने अपने सम्पूर्ण लौकिक दम्भों को भगवान के प्रति ही सर्वतोभावेन समर्पित करदिया था। भावुकता का यही प्रकार तो अपेक्षित है प्रत्येक नैष्ठिक के लिए। लोकानुगता भावुकता जहां सर्वनाशकारिणी है वहां ईश्वरानुगता वही भावुकता मानव को स्वतः ही कालान्तर में लोकोत्तर धर्मनिष्ठा प्रदान कर देती है। भगवत् समर्पण का यह अर्थ मान बैठना कि समर्पणकर्त्ता के शयन-भोजन-पठन-स्वाध्याय-आचारादि सब कर्म भी भगवान् ही कर जायँगे समर्पणानन्तर भक्तगण को कुछ भी करना धरना नहीं पड़ेगा कदापि भगवत्-सम्मत नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो अपने प्रियभक्त अर्जुन को भगवान् कभी भी युद्ध-विषय हठ के लिए सन्नद्ध

भगवान् वासुदेव से सहायता याचना कर बैठने का !, कैसे इस स पैसी समस्या उपस्थित हो गई !, इत्यादि प्रश्न यथार्थ हैं उक्त स्पष्टीकरण के माध्यम से ही। किन्तु जैसा कि हमने निवेदन किया है कालातीत भगवच्चरितों के सम्बन्ध में हमारी प्रज्ञा सर्वथा भावुक ही है। अतएव अन्ततोगत्वा पुनः यह भावुकता और आग्रह हो ही तो पड़ती है इसी ऐतिहासिक-घटना के सम्बन्ध में कि,—भगवान् ने अपनी पूर्णावतार-निबन्धना भगवत्ता के कारण दुर्य्योधन को भौतिक—सहायता दे दी, यहाँतक तो अमुक दृष्टि से बात समझ में आई। किन्तु उसी अवसर पर सहायता की कामना अभिव्यक्त करने भगवान् के अत्यन्त प्रियसखा अर्जुन भी आए हुए थ। दिग्देशकाल के महान् पण्डित तात्कालिक साम उठान में अत्यन्त कुशल नैष्ठिक (कूटनैष्ठिक) यथा दुर्य्योधन के गुप्तचर पाण्डवों के गुप्त से गुप्त भी मन्तव्य के समाचार दुर्य्योधन को पहुँचा रहे थे। अपनी इसी सावधानी से प्रतिपक्ष सावधान बने रहने वाले दुर्य्योधन ने अन्यथान्यत्र वहाँ दूत भेजे + वहाँ द्वारिका में स्वयं पहुँचे। उधर जब पाण्डवों ने यह सुना कि, दुर्य्योधन भगवान् से सहायता लेने द्वारिका जा रहे हैं तो दिग्देशकालविमूढ पाण्डवों को तब वहीं स्वयं भी वहाँ पहुँचने की सूझी। तत्काल अर्जुनने भी अनुधावन किया दुर्य्योधन का तत्र गमन सुन कर। सौभाग्य से दोनों के प्रवेश में अन्तर थोड़ा ही रहा। पूर्वक्षण में दुर्य्योधन भगवान् के शयनकक्ष में पहुँचे तो तदुत्तर क्षण में ही अर्जुन पहुँच गए *। दुर्य्योधन अपनी वैयक्तिक प्रतिष्ठा के अनुरूप भगवान् के मस्तक की ओर रक्खे हुए बहुमूल्य सिंहासन पर यथोचित सम्मान से सम्राट् बन कर बैठ गए जबकि अर्जुन भगवान् के चरणों के समीप प्रणतभाव से आत्मनिवेदनरूप से ही खड़े हो गए +। कुशल—क्षेमानन्तर बोले सर्वप्रथम दुर्य्योधन ही इस धर्म्मबुद्धि ! के साथ मन्दहास्यपूर्वक ही कि,—'इस युद्ध में आप को हमें सहायता देनी चाहिए (१)। क्योंकि आप के लिए हम और अर्जुन दोनों समानरूप से मित्र हैं। और फिर (मित्रता न भी मानी जाय तो भी) हम दोनों आप के समान-सम्बन्धी तो हैं ही। (और हाँ, यह स्मरण रखिए कि) हम अर्जुन से पहिले आए हैं आप के सन्निकट। सत्पुरुषों का यह नियम है कि, पहिले आने वाले की बात पर वे पहिले ध्यान देते हैं (२)। और आप वर्त्तमान समाज में एक श्रेष्ठतम सन्त व्यक्ति हैं। अतएव आप को सन्तानुगत सदाचार का पालन करना ही चाहिए। (आत्महत्या-प्रसङ्गः ! आत्मघातम् !) । (दुर्बुद्धि को जब किसी

—धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः।

*—ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनः।

—उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने (दुर्योधन)।
पश्चाच्च स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत्कृताञ्जलिः (अर्जुन)॥

(१)-विग्रहेऽस्मिन् भवान् ! साह्यं मम दातुमिहार्हति।
—अत्यन्त धृष्टतापूर्ण वाक्य

(२)-अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन ! ।
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्वसारिणः ।
—कैसी धर्म्मभावना है ?

चाहिए, किन्तु 'प्रज्ञा, संवित्', तथा सम्पत्' से उन्हें अवश्य ही विमुख बना देना चाहिए' तो फिर भगवान् का यह आशङ्का होती ही क्यों नहीं कि—'कहीं दुर्योधन हमें न माँग बैठे सहयोग में, जबकि हमारा 'अपना स्वरूप' तो एकमात्र धर्मबुद्धिशील अर्जुन के लिए ही सुरक्षित है ?' । क्या इसी आशङ्का से भगवान् ने पहिले अर्जुन का समाधान करना आवश्यक समझा ? । यदि ऐसा है तब तो यह भगवान् की भगवत्ता पर ही आक्रमण माना जायगा युगधर्म का । इस भावुकता पूर्ण आशङ्का का समाधान स्वयं भगवान् के उत्तरात्मक कतिपय शब्दों से ही होजाता है । भगवान् अपने स्वरूप से भगवान् ही हैं । नात्र सन्देह । अवश्य ही इस भगवत्स्वरूपानुबन्ध से भगवान् यदि अर्जुन को प्राथम्य देते हुए भी प्रथम दुर्योधन की ही इच्छा जानना चाहते तो कदापि भगवदिच्छा के विपरीत भगवत्स्वरूप से अपरिचित भी मूढ़ दुर्योधन भौतिक–सैन्य–सहयोग के अतिरिक्त निरस्त्र भगवान् की स्वप्न में भी कामना नहीं ही करता । यदि दुर्योधन में ऐसी ही सद्बुद्धि होती तो फिर महाभारत समर की आवश्यकता ही नहीं रहती । क्या भगवान् की दृष्टि से दुर्योधन का भूतैषणात्मक यह मनोभाव परोक्ष था जिससे भगवान् को आशङ्का हो पड़ी ? । अबअसत्यम् ! अबअसत्यम् ! ! भगवान् अपने स्वरूप से सर्वाभावन भगवान् ही हैं । न इन्हें अर्जुन का अनुरञ्जन करना है न दुर्योधन का । अपितु दोनों का ही उद्भावन प्रदान करना है भगवान् को अपने भगवत्स्वरूप से । दुर्योधन को 'भूतदान' करते हुए भगवान् इसे यही परोक्ष उद्भावन प्रदान कर रहे हैं कि, 'मूर्ख ! जिस भौतिक–सत्ताबल से तू विजयश्री के सुख–स्वप्न देख रहा है कदापि तू इस बल पर तो विजयश्री लाभ न कर सकेगा । लेजा हम भी तुझे अपना भूतबल प्रदान कर देते हैं जिस एकमात्र भूतबल को ही तैंनें 'विजयश्री' का आधार मान लिया है' । यदि दुर्योधन में थोड़ी भी प्रज्ञा शेष होती तो भगवान् का उन्मुक्तहृदय से भी सैन्यबल प्रदान कर देना ही इसके उद्भावन के लिए पर्य्याप्त था । किन्तु निग्रहेशकालविमूढ दुर्योधनने इस सहयोग को भी अपना लाभचातुर्य्य ही समझ लिया और इस लाभचातुर्य्यने ही इसका अन्ततोगत्वा समूल विनाश किया ।

४८०–भगवत्तमत्ता के समान-दायाद भोक्ता देवता, और असुर, एवं तत्प्रेमानुगता भगवत्सत्ता के स्वाभाविक अनुग्रह का समन्वय—

अब प्रश्न रह गया अर्जुन का । अर्जुन निःसन्देह भगवान् के प्रति जहाँ पूर्ण आस्था रखने वाला था वहाँ सहज भावुकता के कारण प्रत्यक्ष–दृष्ट–घटनाओं से यह विकम्पित भी हो पड़ता था । कई बार भगवान् ने अर्जुन की इस भावुकता का समरस किया है और सँभाला है ऐसे प्रत्यक्ष प्रभावावसरों पर इसे । यह निश्चित था कि, भगवान् के सम्मुख प्रणमनाञ्जलिपूर्वक तूष्णीं सहायता के लिए 'याचमान भावुक अर्जुन से पहिले यदि भगवान् दुर्योधन की इच्छा पूरी कर देते तो निश्चयेन ये सौम्य अर्जुन उन्मना बन ही तो जाते । और बहुत सम्भव था कि, इस सामान्य सी घटना से अर्जुन को ऐसा विमोहन होजाता कि–'लो अब तो भगवान् ने भी हमारी उपेक्षा करदी, जिनके बल पर ही हम पाण्डव युद्ध में प्रवृत्त हो रहे हैं' । युद्ध सन्निकट आरहा था । भगवान् पाण्डवों को निष्ठात्मक उद्बोधन प्रदान करते आरहे थे । ऐसे अवसर पर भावुक अर्जुन का उद्वेलित हो पड़ना यद्यपि उस पाण्डवपक्ष के लिए हितप्रद नहीं था धर्मपक्षानुबन्ध से विनम्र हित ही भगवान् को प्रत्येक दशा में इष्ट था । एकमात्र अर्जुन की इस भावुकता के संरक्षण के लिए ही भगवान् ने अर्जुन को प्राथम्य दिया जैसाकि–'प्रवारणं हि बालानां पूर्वकार्य्यमिति श्रुति के–'बालानाम्' शब्द से स्पष्ट है । इस 'बालानाम्' से एक ओर जहाँ दुर्योधन की उपेक्षा है वहाँ अर्जुन के प्रति अपेक्षा

५७६- कुनैष्ठिक दुष्टबुद्धि मानवों के लोकचातुर्य्य से ही अन्ततोगत्वा इन का समूल विनाश—

इतिहास का केवल एक यही मीमांस्य प्रतीत हो रहा है हमें अपनी भावुकता के दोष से यही कि, जब भगवान् की भगवत्ता का यह निर्णयात्मक स्वरूप है कि- 'कुनैष्ठिक दुष्टबुद्धियों को भूल से भी क्षमित नहीं करना

में प्रवृत्त नहीं करते। सम्पूर्ण हुआ भगवत्प्रदत्ता निष्ठा से ही, अतएव सब कुछ किया भगवान्ने ही, सभी कुछ भगवत्सत्ता से ही तो हो रहा है। इस तथ्य को कर्त्तव्यनिष्ठा के उत्तरदायित्व से पृथक् मान बैठना कदापि भगवत्सम्मत तो नहीं ही है। नैष्ठिकी सन्निष्ठा भगवान का ही स्वरूप है जो कर्त्तव्यनिष्ठा की ही अधिष्ठात्री मानी गई है। इस सत्य-धर्म्म-ह्री आर्जव-रूपा सत्वनिष्ठा के माध्यम से ही भगवदनुग्रह प्राप्त हुआ करता है। अर्जुन में लोकदृष्ट्या सभी भावुकताएँ ही भावुकताएँ थीं। किन्तु भगवान् के प्रति इसकी अनन्यनिष्ठा थी। समझे, बिना समझे भी-'करिष्ये वचनं तव' जैसी समर्पणमूला निष्ठा थी, जिस आदेशमूला निष्ठा का नाम ही 'शास्त्र' माना गया है। जब धृतराष्ट्र बार बार पाण्डवों की सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में सञ्जय से प्रश्न करने लग पड़े थे तो सञ्जयने अन्ततोगत्वा यही कहा था कि-पाण्डवों के सम्पूर्ण सैन्यबल का एकमात्र रहस्य यही है कि, वे सत्य-धर्म्म-ह्री-आर्जवादि भगवद्विभूतियों से ही समन्वित हैं। अतएव स्वयं भगवान् उनकी रक्षा कर रहे हैं। अत्यन्त ही प्रिय है यहाँ का प्रसङ्ग जिसे निम्नलिखित रूपेण स्मरण कर हम भी अपनी भावुकता उपशान्त कर लेते हैं—

सञ्जय उवाच-भूया भूयो हि यदुराजन्! पृच्छसे पाण्डवान् प्रति ।।

सारासारबलं ज्ञातु तत्समासेन मे शृणु ।।१।।

एकतो वा जगत्कृत्स्नं, एकतो वा जनार्दनः ।

सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ।।२।।

भस्मकुर्य्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः ।।

न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्त्तुं जनार्दनम् ।।३।।

यतः सत्यं, यतो धर्म्मः, यतो ह्रीः, आर्जवं यतः ।।

ततो भवति गोविन्दः, यतः कृष्णस्ततो जयः ।।४।।

अधर्म्मनिरतान् मूढान्दग्धुमिच्छति ते सुतान् ।

कालचक्रं -जगच्चक्रं -युगचक्रं च केशवः ।

आत्मयोगेन भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिशम् ।।

—महाभारत-उद्योगपर्व ६८ अध्याय

आस्था-श्रद्धा-शील पाठकों से हम आग्रह करेंगे कि यहाँ का सम्पूर्ण प्रकरण एकबार वे अवश्य ही देख लेने का कष्ट करें, जिसमें सञ्जय के मुख से पुराणपुरुष ने भगवत्सत्ता के सम्बन्ध में महान् उद्बोधन प्रदान किया है भारत पाण्डव-भक्त-जीवों के लिए।

मानव के प्राकृत स्वरूप का संरक्षण ही सम्भव एवं न प्राकृत–भावुकता के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले सहज भ्रमादि से परित्राण प्राप्त कर लेने का उपाय ही प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि में विद्यमान । क्या करे मानव इस महती विषमा परिस्थिति में ! ।

५८३–विषमावस्था की उपक्रममूला मूढता, उपसंहाररूपा विमूढता का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं दोनों के समतुलन में 'मूढता' का ही प्राचुर्य्य—

ऐसी विषमा परिस्थिति मानव में आती कब है ? प्रश्न का एकमात्र उत्तर है-जब कि मानव अपनी प्राकृतबुद्धि के अपने प्राकृत अनुभव तात्कालिक–ऐन्द्रियक–अनुभव के आधार पर ही कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का निर्णय कर डालता है तात्कालिक हानि–लाभ–के समतुलन से । इसी तात्कालिकता का नाम रख लिया गया है मूढता एवं विमूढता । विषमा परिस्थिति की पूर्वावस्था–अपरिपक्वावस्था का नाम है–मूढता जिस में मानव कर्त्तव्य से पराङ्मुख ही बन जाता है । दिग्देशकालात्मिका परिस्थितियों के समन्वय में असमर्थ एवं प्रकृतिविपर्यय अनुभूतिविपर्यय मानव की कर्त्तव्यगति सहसा कुण्ठित हो जाती है वह ठगा सा बना रह जाता है । और अपराधमय, उत्तरदायित्वपूर्ण सभी प्राकृत-कर्म्मों से इसे भय सा लगने लगता है । यही इस की भावुकतापूर्णा मूढा प्राकृत अवस्था है । एवं ९९ प्रतिशत मानव इसी मूढावस्था की उपा–सना में तल्लीन बने रहते हैं । न इन का अपना कोई निश्चित मन्तव्य ही रहता न निर्णयात्मक कर्त्तव्य ही सुनिश्चित रहता । अपितु दिग्देशकालप्रवाह के अनुपात से ये उसीप्रकार कालयापन करते रहते हैं जैसेकि प्रचण्डवेगात्मिका नदी के प्रवाह से प्रवाहित तृणकाष्ठादि नदीवेगानुपात से ही कालयापन करते रहते हैं ।

५८४–मूढ मानव की मूढता की 'विमूढता' में परिणति, तत्परिणामभूता उपक्रमानुगति—

एस ही मूढ भावुक मानवों में से कोई सा भावुक मानव अपनी मूढता से विमूढावस्था में आजाता है । मूढ की स्वप्नवृत्ति आरम्भ में मन को गतानुगतिक बना देती है । इस गतानुगतिकता से थक कर यही मन (कोई सा मूढ ही) कालान्तर में गतिशून्य-सर्वथा अकर्मण्य ही बन जाता है । इसी का नाम है 'जडता' जिस में आत्यन्तिकरूप से गत्यवरोध है । इसी जडावस्था का नाम है मूढता की उत्कटावस्था किंवा मूढता की परिपक्वावस्था और इसी का नाम है विमूढता' । 'भावुकता में जो एकप्रकार की प्रच्छन्ना सहृदयता रहा करती है जो कि मूढ मानवों का एकमात्र प्रत्यक्ष धन बना रहता है इस विमूढता में वह भावुकता-सहृदयता भी सर्वथा अभिभूत ही हो जाती है । एवं यहीं से उस क्रूरता–हिंसकता–मत्सरता–का जन्म हो पड़ता है जिसने यह अकर्मण्य विमूढ जड मानव सहसा अपने गत्यवरोध को प्रचण्ड रूप से गत्यात्मक ही बना देता है ।

५८५–लोकक्षोभप्रवर्त्तिका–जडतानिबन्धना–कुनिष्ठा से अनुप्राणित महान् साहस, एवं तत्सम्बन्ध में एतिह्य उदाहरण—

किंवा इस की यह आत्यन्तिक अकर्मण्यता–जडता ही इसे वैसे असम-साहसों की ओर (प्रतिक्रिया के रूप में) प्रवृत्त कर देती है जिससे लोक में क्षोभ उत्पन्न होजाता है । भावुकता अनिवार्य मूढता की परिपाक

स्येत्यर्थः, अभाव-कुत्सितो भावः अभाव दुर्दशालक्षण., स चेह भवे सर्वतो निष्कासनादिरूपः, परभवे गुरोराशातनया अबोधिः, अबोधेस्तप.सयमासभवः, सयमभावेन मोक्षमार्गानाराधनम्, तेनानन्तससारपरिभ्रमणम् त तथाविधमभाव तप. श्रुत्वा=गुरुसनिधौ निशम्य आत्मन.=स्वस्य, हित=कल्याणम् इच्छन् आत्मान

धर्म में स्थापित करता है। अथवा-भाव यह है कि कुत्ती सूकर और अविनीत शिष्यका स्वरूप सुनकर आत्महितैपी विनय शील बनें।

भावार्थ—इस गाथा द्वारा सूत्रकार यह उपदेश दे रहे हैं कि जो शिष्य आत्मकल्याण का अभिलाषी है उसका कर्तव्य है कि वह इस विनयधर्मके आचरण करने में थोड़ा भी प्रमाद न करे। कारण कि अविनीत शिष्य की वह दुर्दशा होती है जो पूतिकर्णी शुनी की तथा सूकर शिशु की हुई है। अविनीत के ऊपर किसी का भी विश्वास नहीं रहता वह इस भवमें गुरु की अकृपाका भाजन बनता हुआ जगह-जगह अपमान आदि दु:स्थिति को सहन करता है—और गच्छ से बाहर भी कर दिया जाता है तथा परभव में गुरु की आशातना से बोधि के लाभ से भी वंचित रहता है बोधिलाभ के विना कभी भी श्रेयस्कर मुक्ति का मार्ग उसे प्राप्त नहीं हो सकता है। क्यों कि बोधि के अभाव में सम्यक् तप और सयम नहीं होता है। सम्यक् तप सयम के अभाव से मोक्षमार्ग की आराधना नहीं होती है और मोक्ष-

વિનય ધર્મમા સ્થાપિત કરે છે અથવા ભાવાર્થ એ છે કે—કુતરી, સૂકર અને અવિનીત શિષ્યનુ સ્વરૂપ સાભળી આત્મહિતૈષી વિનયશીલ બને.

ભાવાર્થ—આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર એવો ઉપદેશ આપે છે કે જે શિષ્ય આત્મ કલ્યાણનો અભિલાષી છે, એનુ કર્તવ્ય છે કે તે આ વિનય ધર્મનું આચરણ કરવામા થોડો પણ પ્રમાદ ન કરે. કારણ કે અવિનીત શિષ્યની આવી દુર્દશા થાય છે જે પૂતકર્ણી શુનીની તથા સૂકર(ભૂડણના બચ્ચાની) બાળકની થઇ છે, અવનીતનો કોઇ પણ વિશ્વાસ કરતું નથી. તે આ ભવમા ગુરૂની અકૃપાનો ભાજન બની દરેક સ્થળે અપમાન આદિ દુસ્થિતિને સહન કરે છે અને ગચ્છથી બહાર કરી દેવામા આવે છે અને પરભવમા ગુરૂની આશાતનાથી બોધિના લાભથી પણ વચિત રહ્યા કરે છે બોધિ લાભ વિના કદી પણ શ્રેયસ્કર મુક્તિનો માર્ગ એને પ્રાપ્ત થઇ શકતો નથી. કેમકે બોધિના અભાવમા સમ્યક્ તપ અને સયમ હોતુ નથી. સમ્યક્ તપ સયમના અભાવથી મોક્ષ માર્ગની આરાધના બની શકતી નથી. અને મોક્ષમાર્ગની

मानव के प्राकृत स्वरूप का संरक्षण ही सम्भव, एवं न प्राकृत–भावुकता के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले सहज विमोहन से परित्राण प्राप्त कर लेने का उपाय ही प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि में विद्यमान। क्या करे मानव इस महती विषमा परिस्थिति में ?।

५८३–विषमावस्था की उपक्रममूला मूढ़ता, उपसंहाररूपा विमूढ़ता का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं दोनों के समतुलन में 'मूढ़ता' का ही प्राचुर्य्य—

ऐसी विषमा परिस्थिति मानव में आती कब है ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है–जब कि मानव अपनी प्राकृतबुद्धि के अपने प्राकृत अनुभव तात्कालिक–ऐन्द्रियक–अनुभव के आधार पर ही कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का निर्णय कर डालता है तात्कालिक हानि–लाभ–के समतुलन से। इसी तात्कालिकता का नाम रख लिया गया है मूढ़ता एवं विमूढ़ता। विषमा परिस्थिति की पूर्वावस्था–अपरिपक्वावस्था का नाम है–मूढ़ता जिस में मानव कर्त्तव्य से पराङ्मुख ही बन जाता है। दिग्देशकालात्मिका परिस्थितियों के समन्वय में असमर्थ ऐसे प्रकृतिपरायण, अनुभूतिपरायण मानव की कर्त्तव्यगति सहसा कुण्ठित हो जाती है वह इक्का बक्का सा बना रह जाता है। और अपर्यामक, उत्तरदायित्वपूर्ण सभी प्राकृत-कर्म्मों से इसे भय सा लगने लगता है। यही इस की भावुकतापूर्णा महा प्राकृत अवस्था है। एवं ९९ प्रतिशत मानव इसी मूढ़ावस्था की उपासना में तल्लीन बने रहते हैं। न इन का अपना कोई निश्चित मन्तव्य ही रहता न निर्णयात्मक कर्त्तव्य ही सुनिश्चित रहता। अपितु दिग्देशकालप्रवाह के अनुपात से ये उसीप्रकार कालयापन करते रहते हैं जैसेकि प्रचण्डवेगाभिमुख नदी के प्रवाह से प्रवाहित तृणकाष्ठादि नदीवेगानुपात से ही कालयापन करते रहते हैं।

५८४–मूढ मानव की मूढ़ता की 'विमूढ़ता' में परिणति, तत्परिणामभूता उपक्रम्मानुगति—

ऐसे ही मूढ भावुक मानवों में से कोई सा भावुक मानव अपनी मूढ़ता से विमूढावस्था में आजाता है। मूढ की तथाप्रवृत्ति आरम्भ में मूढ को गतानुगतिक बना देती है। इस गतानुगतिकता से थक कर यही मूढ (कोई सा मूढ ही) कालान्तर में गतिशून्य–सर्वथा अकर्म्मण्य ही बन जाता है। इसी का नाम है 'जड़ता' जिस में आत्यन्तिकरूप से गत्यवरोध है। इसी जड़ावस्था का नाम है मूढ़ता की उत्तरावस्था किंवा मूढ़ता की परिपक्वावस्था और इसी का नाम है विमूढ़ता'। 'भावुकता में जो एकप्रकार की मन्दकुसा सहृदयता रहा करती है जो कि मूढ मानवों का एकमात्र प्रत्यक्ष धन बना रहता है इस विमूढ़ता में वह भावुकता-सहृदयता भी सर्वथा अभिभूत ही हो जाती है। एवं यहीं से उस क्रूरता–हिंस्रकता–मत्सरता–का जन्म हो पड़ता है जिससे यह अकर्म्मण्य विमूढ जड़ मानव सहसा अपने गत्यवरोध को प्रचण्ड रूप से गत्यात्मक ही बना देता है।

५८५–लोकक्षोभप्रवर्त्तिका–जड़तानिबन्धना–कुनिष्ठा से अनुप्राणित महान् साहस, एवं तत्सम्बन्ध में एतिह्य उदाहरण—

किंवा इस की यह आत्यन्तिक अकर्मण्यता–जड़ता ही इसे वैसे असम-साहसों की ओर (प्रतिक्रिया के रूप में) प्रवृत्त कर देती है जिससे लोक में क्षोभ उत्पन्न होजाता है। भावुकता जनिता मूढ़ता की परिपक्व

है । अतएव कदापि भगवद्भावों में माधुकतापूर्णा किसी भी आशङ्का–कुशङ्का का कोई भी अवसर नहीं है । भगवान् के साम्राज्य में सुबुद्धि, दुर्बुद्धि, दोनों ही जीवित रहते हैं । दोनों को ही भगवान् का यथोचित सहयोग मिलता रहता है । देवता, और असुर, दोनों ही प्रजापति की सन्तान हैं । प्रजापति की भूतसम्पत्ति के दोनों ही समानरूप से दायभोक्ता हैं । अन्तर केवल 'दृष्टि' का है । दुष्ट–असुरबुद्धि–सन्तान केवल 'भौतिक दायाद्' की ही अधिकारिणी बनती है जबकि प्रजापति पिता की सद्धर्ममर्यादा का धर्म्मपूर्वक निर्वाह करने वाली सत्त्वबुद्धियुक्ता-सुसन्तति को भूतदायाद के साथ साथ पिताप्रजापति की 'अनुग्रहदृष्टि' भी यथा चितरूपेणैव प्राप्त हो जाती है । और ऐसा ही सर्वात्मना ऐसा ही हुआ है विश्वम्भर–विश्वप्रजापति भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के प्राङ्गण में इन की इन दोनों सन्ततियों के लिए । एक (दुर्य्योधन) को केवल 'भूत' मिला तो दूसरे को दृष्टि–अनुग्रह–माध्यम से स्वयं 'भूतपति' प्राप्त हो गए । दृष्टि का अनुग्रह वात्सल्यपूर्ण अनुग्रह तो परमभागधेय भाग्यशाली उस भावुक अर्जुन को ही प्राप्त हुआ जिसने मनसा भाव से भक्तिपुरस्सर भगवान् के चरणकमल में सर्वात्मना समर्पित ही कर दिया था अपने आप को जिस इस तथ्य का पुरुषपुरुष की– 'दृष्टस्तु प्रथमं राजन् ! मया पार्थो धनञ्जयः' इस दिव्या वाणी के 'दृष्टः (दृष्टि' अनु ग्रहदृष्टियुक्त) इस शब्द से सर्वात्मना समन्वय होजाता है ।

५८१–संवित्–मूला निष्ठा, एवं अनुभूतिमूला भावुकता से समन्वित महान् मानव के प्रकृति–पुरुष–निबन्धन स्वरूपों का समन्वय—

बात चल रही है उस 'पतिविशित् सम्बोधन' की जो 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' से सम्बद्ध है । इसी पतिविशित् सम्बोधन के प्रसङ्ग की अपेक्षा से पुरुषभाव से अनुप्राणिता संवित्–मूला निष्ठा तथा प्रकृतिभाव से अनुप्राणिता अनुभूतिमूला भावुकता इन दोनों उन महान् तत्त्वों का पतिविशित् समन्वय उप- पन्न हो पड़ा जो वक्तव्यतथ्यात्मक प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य लक्ष्य है । दिग्देशकालातीता पुरुषानुप्राणिता 'निष्ठा' भी मानव का ही स्वरूप (स्वस्वरूप) है एवं दिग्देशकालात्मिका प्रकृत्यनुप्राणिता 'भावुकता' भी मानव का ही स्वरूप है । क्योंकि प्रकृति–पुरुष के समन्वितरूप का ही नाम महान् मानव है । मानव का निष्ठारूप पुरुषभाव इसी का लोकातीतभाव है तद्दृष्ट्यैव मानव अप्राकृत– अलौकिक–मानव है एवं यह 'महतोमहीयान्' (प्रकृतिरूप महान् किंवा महदक्षररूपा प्रकृति से भी महान्) है । तथा मानव का भावुकतारूप प्रकृतिभाव इसी का लोकात्मकभाव है तद्दृष्ट्यैव मानव प्राकृत लौकिक मानव है एवं यह 'महान्' है । पुरुषरूप लोकातीत क्षेत्र में मानव दिग्देशकालातीत ही बना रहता है एवं प्रकृतिरूप लोकात्मक क्षेत्र में मानव दिग्देशकालात्मक ही बना रहता है । यों मानव के दोनों स्वरूपों के दोनों क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं । और यहीं मानव उस पतिविशित् से सम्बोधन की उपेक्षा कर अपनी सहज मानवता किंवा महत्ता से पराङ्मुख बन जाता है । अतएव यही यह पतिविशित् सम्बोधन सम्बद्ध बन रहा है ।

५८२–प्रकृतिभावनिबन्धना मानव की विषमा समस्या—

दिग्देशकालात्मक प्राकृत क्षेत्र भावुकतापूर्ण है, इस में तो कोई सन्देह नहीं । अतएव इस में मानव का मूढ, किंवा विमूढ बन जाना भी असम्भावित नहीं कहा जासकता । न तो प्राकृत–भावुकता के क्षेत्र के बिना

चैसाकि दोनों के-'न योत्स्ये' *, 'नैव दास्यामि' -- इन सुप्रसिद्ध निषेध-घोषणाओं से स्पष्ट प्रमाणित है। एक (अर्जुन) दिग्भ्रान्त भावुकता से पुरुषानुगत अस्तित्व को विस्मृत कर बैठा था, तो दूसरा (दुर्योधन) दिग्भ्रान्त-आत्मविमूढ़ता से पुरुषानुगत अस्तित्व का शत्रु बन गया था। एक काल्पनिक 'आस्तिकता' में प्रवाहित था तो दूसरा काल्पनिक 'नास्तिकता' के वाग्जाल में आबद्ध हो चुका था। यों तत्त्वतः दोनों ही प्रकृत्या भावुक ही थे लक्ष्यविहीन ही थे। भगवान् ने समानरूप से दोनों को ही उद्बोधन प्रदान करना चाहा था। किन्तु दूसरा उद्बोधन की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था जबकि अर्जुन उद्बोधन की सीमा में ही विद्यमान था। यत्किञ्चित् संबोधन के लिए भगवान् ने दुर्योधन को भी अन्तिम क्षण पर्य्यन्त समझाने में कोई कमी नहीं की थी। किन्तु भावुकता की चरमसीमा—परिपक्वावस्था—रूपा कुनिष्ठाने दुर्योधन का परित्राण होने ही नहीं दिया जबकि भावुकता की अपरिपक्वावस्था से समन्वित अर्जुन इस उद्बोधन से सँभल गया। कहते हैं—कच्चे घड़े पर ही संस्कार सम्भव है। अपरिपक्व भावुकता की ही चिकित्सा सम्भव है। यदि यह समय निकल जाता है तो फिर सभी उपाय निरर्थक ही प्रमाणित हो जाते हैं।

तथ्य यही है कि भावुकता की अपरिपक्वावस्था से सम्बन्ध रखने वाली मूढ़ावस्था में मूढ़ मानव के मन में 'अभिभूता श्रद्धा' (जिसे अन्धश्रद्धा कहा गया है) विद्यमान रहती है जिस इस श्रद्धारस के कारण ही एक अपरिपक्व मूढ़ भावुक आंशिकरूपेण धर्म्मभावनाओं से समन्वित रहता है जिसे हम 'धर्म्म भीरुता' ही कहा करते हैं। अवश्य ही अभिनिवेश का तो उदय नहीं होने पाता इस धर्म्मभीरुता में। किन्तु धर्म्म-नैरपेक्ष्य-आस्तिकता-आदि आदि की प्रतिद्वन्द्विनी कुनिष्ठा का भी प्रवेश नहीं होपाता ऐसे धर्म्मभीरु भावुक मूढ़ मानव में। अतएव इसी धर्म्मभावना के कारण यह दुराग्रह (हठधर्म्म) रूप सर्वविनाशक उस 'अभिनिवेश' से बचा रह जाता है धर्म्मभावनाविरोधी धर्म्माचरणप्रतिद्वन्द्वी जिस अभिनिवेश को मनीषियों आचार्य्योंने 'अचिकित्स्य' ही माना है × जिसका ज्वलन्त उदाहरण ही प्रमाणित हो रहा है महाभारतयुग का अभिनिविष्ट विमूढ़ अतएव कुनैष्ठिक दुर्य्योधन तथैव च वर्त्तमानयुग के तत्समान धर्म्मी वे धर्मी मानव जिन्होंने धर्म्माचरणपद्धतियों से अपने आपको निरपेक्ष किंवा पराङ्मुख अथवा तो प्रतिद्वन्द्वी बनाते हुए अपने आपको सर्वात्मना 'ज्ञाअभिनिविष्ट' ही प्रमाणित कर लिया है।

---

*—एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
'न योत्स्ये'—इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥
—गीता २।९।

——सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव। (महाभारत)।

×लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्, पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ॥
कदाचिदपि पर्य्यटञ्छशविषाणमासादयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥१॥
प्रसह्यमणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्राङ्कुरात्, समुद्रमपि सन्तरत्प्रचलदूर्म्मिमालाकुलम् ॥
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥२॥ (भर्तृहरिः)

परथारूपा विमूढता—सचमुच अद्रतामिश्रिता प्रतिक्रियामिश्रा इस उत्तरावस्था का नाम ही रख दिया जाता है—'कुनिष्ठा' जो प्रचण्ड साहस से ही सम्बन्ध रखती है। अपने आरम्भ के जीवन में (अनुचित पितृवात्सल्य के कारण) बार बार रूठ पड़ने वाला मचलने वाला मुँह बिगाड़ लेने वाला, इतस्ततः पलायित होते रहने वाला नितान्त भावुक वही मूढ़ दुर्योधन कालान्तर में शकुनि-जैसे कुनैष्ठिकों के सम्पर्क में आकर अन्ततोगत्वा वैसा 'विमूढ़मानव' ही बन गया था, जिस की इस आत्यन्तिक जड़ताने ही इसे उस युग का सर्वमूर्द्धन्य कुनैष्ठिक ही तो प्रमाणित कर दिया था।

५८६—आत्ममूढ भावुक अर्जुन का भगवान् के द्वारा परित्राण, तत एव अर्जुन का विमूढता से संरक्षण—

जब कि भावुक अतएव मूढ—अपरिपक्व अर्जुन को महत्भाग्य से भगवान् कृष्ण जैसे नैष्ठिक महापुरुष का अनुग्रह प्राप्त हो गया था। अतएव अर्जुन की भावुकता कालान्तर में सन्निष्ठा की ही अनुगामिनी बन गई थी। यह तब मान लीजिए कि, यदि अर्जुन की भावुकता को भगवान् की निष्ठा का प्रश्रय न मिलता तो यह प्रथम तो स्वयं अपनी भावुकता से अपना स्वरूप ही खो बैठता। यदि दुर्भाग्यवश इसे शकुनि जैसा कोई कुनैष्ठिक परामर्शदाता मिल जाता, तो यह दुर्योधन से भी कहीं अधिक ही कुनैष्ठिक प्रमाणित होजाता। क्योंकि अर्जुन प्रारम्भ के भावुक दुर्योधन की अपेक्षा भी कहीं अधिक भावुक थे।

५८७—भावुकता, तथा निष्ठा के प्रतिरूपात्मक महान् उदाहरण—

जो जितना ही अधिक भावुक होता है अधिक अनुभूतिपरायण होता है केवल काल्पनिक विचारों में ही डूबा रहता है वह अवसर मिलने पर उतना ही अधिक कुनैष्ठिक बन जाता है—यदि भावुकता के आवेश में वह मर खप नहीं जाता तो। आरम्भ का भावुक जिस आवेश से परोपकार की परदुःखहरण की जितनी अधिक घोषणा करता है उत्तर का वही कुनैष्ठिक उसी उच्च घोषणा के अनुपात से उतना ही अधिक वैय्यक्तिक—अधम्य स्वार्थलिप्सु बन जाता है। और यों निश्चित कर्त्तव्यपथ की विस्मृति से आविर्भूत हो पड़ने वाली मूढतामूला भावुकता की कृपा से ही इस प्राकृत विश्व में कर्त्तव्यनिष्ठाशैथिल्य—स्वानुभूतिपरायण—प्राकृत भावुक—मानवों के ही भावुकमानव कुनैष्ठिकमानव ये दो वर्ग बन जाते हैं जिन में प्रथमवर्ग अधिक सम्पर्कों से अनुप्राणित है जबकि दूसरे वर्ग में सम्पर्क सीमित ही रहा करते हैं। एवं इन दोनों के ही प्रतिरूपात्मक उदाहरण क्रमशः अर्जुन और दुर्योधन बने हुए हैं।

५८८—अव्ययात्मनिष्ठ बन अस्तित्व के स्वरूप से अपरिचित महान् अर्जुन, एवं अव्ययास्तित्व के प्रति आकृष्ट महान् दुर्योधन, और दोनों पात्रों के माध्यम से चिकित्स्य—अचिकित्स्य—भावों का दिग्दर्शन—

यदि अर्जुन अपनी भावुकता में महान् था तो दुर्योधन अपनी कुनिष्ठा में महान् था। दोनों ही लोकोत्तर थे अपने अपने अनुभूति—क्षेत्रों में। दोनों ही प्रकृतिनिबन्धन—'निषेध' के परमाचार्य बने हुए थे

जैसाकि दोनों के-'न योत्स्ये' *, 'नैव दास्यामि' + इन सुप्रसिद्ध निषेध-धारणाओं से स्पष्ट प्रमाणित है। एक (अर्जुन) दिग्देशकालमूढ़ता से पुरुषानुगत अस्तित्व को विस्मृत कर बैठा था, तो दूसरा (दुर्य्योधन) दिग्देशकालविमूढ़ता से पुरुषानुगत अस्तित्व का शत्रु बन गया था। एक काल्पनिक आस्तिकता में प्रवाहित था, तो दूसरा काल्पनिक 'नास्तिकता' के वारुणपाश में आबद्ध हो चुका था। यों वस्तुतः दोनों ही प्रकृत्या भावुक ही थे, लक्ष्यविहीन ही थे। भगवान् ने समानरूप से दोनों को ही उद्बोधन प्रदान करना चाहा था। किन्तु दूसरा उद्बोधन की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था जबकि अर्जुन उद्बोधन की सीमा में ही विद्यमान था। यथानिर्दिष्ट सम्बोधन के लिए भगवान् ने दुर्य्योधन को भी अन्तिम क्षण पर्य्यन्त समझाने में कोई कमी नहीं की थी। किन्तु भावुकता की चरमसीमा—परिपाकावस्था—रूपा कुनिष्ठा ने दुर्य्योधन का परित्राण होने ही नहीं दिया जबकि भावुकता की अपरिपक्वावस्था से समन्वित अर्जुन इस उद्बोधन से सँभल गया। कहते हैं—कच्चे घड़े पर ही संस्कार सम्भव है। अपरिपक्व भावुकता की ही चिकित्सा सम्भव है। यदि वह समय निकल जाता है तो फिर सभी उपाय निरर्थक ही प्रमाणित हो जाते हैं।

तथ्य यही है कि भावुकता की अपरिपक्वावस्था से सम्बन्ध रखने वाली मूढ़ावस्था में मूढ़ मानव के मन में 'अभिभूता श्रद्धा' (जिसे अन्धश्रद्धा कहा गया है) विद्यमान रहती है, जिस इस श्रद्धारस के कारण ही एतत् अपरिपक्व मूढ़ भावुक आंशिकरूपेण धर्म्मभावनाओं से समन्वित रहता है जिसे हम 'धर्म्मभीरुता' ही कहा करते हैं। अवश्य ही सम्यग्ज्ञान का तो उदय नहीं होने पाता इस धर्म्मभीरुता में। किन्तु धर्म्म-ईश्वर-आस्तिकता-श्रुति आदि की प्रतिद्वन्द्विनी कुनिष्ठा का भी प्रवेश नहीं होपाता ऐसे धर्म्मभीरु भावुक मूढ़ मानव में। अतएव इसी धर्म्मभावना के कारण यह दुराग्रह (हठधर्म्म) रूप सर्वविनाशक उस 'अभिनिवेश' से बचा रह जाता है धर्म्मभावनाविरोधी, धर्म्माचरणप्रतिद्वन्द्वी जिस अभिनिवेश को सुनैष्ठिक आचार्य्योंनें 'अविचिकित्स्य' ही माना है × जिसका ज्वलन्त उदाहरण ही प्रमाणित हो रहा है महाभारतयुग का अभिनिविष्ट विमूढ़ अतएव कुनैष्ठिक दुर्य्योधन तथैव च वर्त्तमानयुग के तत्समान धर्म्मा वे सभी मानव जिन्होंनें धर्म्माचरणपद्धतियों से अपने आपको निरपेक्ष, किंवा पराङ्मुख, अथवा तो प्रतिद्वन्द्वी बनाते हुए अपने आपको सर्वात्मना 'आत्माभिनिविष्ट' ही प्रमाणित कर लिया है।

---

*—एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
'न योत्स्ये'—इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥
—गीता २।९।

+—सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव। (महाभारत)।

×लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्, पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः॥
कदाचिदपि पर्य्यटञ्छशविषाणमासादयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥१॥
प्रसह्यमणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्राङ्कुरात्, समुद्रमपि सन्तरेत्प्रचलदूर्म्मिमालाकुलम्॥
भुजङ्गमपि शिरसि पुष्पवद्धारयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥२॥ (भर्तृहरिः)

वस्पारूपा विमूढता—सचमुच जड़तामिश्रिता प्रतिक्रियात्मिका इस उपरावस्था का नाम ही रख लिया जाता है—'कुनिष्ठा' जो प्रचण्ड साहस से ही सम्बन्ध रखती है। अपने आरम्भ के जीवन में (अनुचित पितृवात्सल्य के कारण) बार बार रूठ पड़ने वाला, मचलने वाला, मुँह बिगाड़ लेने वाला, इतस्ततः पलायित होते रहने वाला नितान्त भावुक वही मूढ़ दुर्योधन कालान्तर में शकुनि—जैसे कुनैष्ठिकों के सहयोग में आकर अन्ततो-गत्वा वैसा 'विमूढमानव' ही बन गया था जिस की इस आत्यन्तिक जड़ताने ही इसे उस युग का समूलत्न कुनैष्ठिक ही तो प्रमाणित कर दिया था।

४८६—आत्ममूढ भावुक अर्जुन का भगवान् के द्वारा परित्राण, तत एव अर्जुन का विमूढता से संरक्षण—

जब कि भावुक, अतएव मूढ—अपरिपक्व अर्जुन को महद्भाग्य से भगवान् कृष्ण जैसे नैष्ठिक महा-पुरुष का अनुग्रह प्राप्त हो गया था। अतएव अर्जुन की भावुकता कालान्तर में सन्निष्ठा की ही अनुगामिनी बन गई थी। यह सच मान लीजिए कि यदि अर्जुन की भावुकता को भगवान् की निष्ठा का प्रश्रय न मिलता तो यह प्रथम तो स्वयं अपनी भावुकता से अपना स्वरूप ही खोबैठता। यदि दुर्भाग्यवश इसे शकुनि जैसा कोई कुनैष्ठिक परामर्शदाता मिल जाता, तो यह दुर्योधन से भी कहीं अधिक ही कुनैष्ठिक प्रमाणित होजाता। क्योंकि अर्जुन आरम्भ के भावुक दुर्योधन की अपेक्षा भी कहीं अधिक भावुक थे।

४८७—भावुकता, तथा निष्ठा के प्रतिरूपात्मक महान् उदाहरण—

जो जितना ही अधिक भावुक होता है अधिक अनुभूतिपरायण होता है केवल काल्पनिक विचारों में ही डूबा रहता है वह अवसर मिलने पर उतना ही अधिक कुनैष्ठिक बन जाता है—यदि भावुकता के आवेश में वह मर खप नहीं जाता तो। आरम्भ का भावुक जिस आवेश से परोपकार की परदुःखहरण की जितनी अधिक घोषणा करता है उत्तर का वही कुनैष्ठिक उसी उच्च घोषणा के अनुपात से उतना ही अधिक वैयक्तिक—जघन्य स्वार्थलिप्सु बन जाता है। और यों निश्चित कर्त्तव्यपथ की विच्युति से आविर्भूत हो पड़ने वाली मूढतामूला भावुकता की कृपा से ही इस प्राकृत विश्व में कर्त्तव्यनिष्ठावाञ्छित—स्वानुभूतिपरायण—प्राकृत भावुक—मानवों के ही भावुकमानव कुनैष्ठिकमानव ये दो वर्ग बन जाते हैं जिन में प्रथमवर्ग अधिक संख्याओं से अनुप्राणित है जबकि दूसरे वर्ग में संख्या सीमित ही रहा करती है। एवं इन दोनों के ही प्रति-रूपात्मक उदाहरण क्रमशः अर्जुन और दुर्योधन बने हुए हैं।

४८८—अध्यात्मनिष्ठ घन आस्तिक्य के स्वरूप से अपरिचित महान् अर्जुन, एवं अध्यात्मास्तिक्य के प्रति आकृष्ट महान् दुर्योधन, और दोनों पात्रों के माध्यम से चिकित्स्य—अचिकित्स्य—भावों का दिग्दर्शन—

यदि अर्जुन अपनी भावुकता में महान् था तो दुर्योधन अपनी कुनिष्ठा में महान् था। दोनों ही लोकोत्तर थे अपने अपने अनुभूति—क्षेत्रों में। दोनों ही प्रकृतिनिबन्धन—'नियेध' के परमाचार्य बने हुए थे

५६१–दिग्देशकालात्मक-लौकिक-बुद्धिवादात्मक-'बुद्धियोग', तथा दिग्देशकालातीत-अलौकिक-अबुद्धियोगात्मक-'बुद्धियोग' का स्वरूप का तात्त्विक-निदर्शन—

दुर्योधन में भी 'बुद्धियोग' था। उसका भी प्रत्येक कार्य्य बुद्धिपूर्वक ही होता था, अपितु अर्जुन का तो प्रत्येक कार्य्य आरम्भदशा में बुद्धिव्यामोहना से ही समन्वित रहता था। फिर क्या बात थी कि, बुद्धिमानी पूर्वक, पूर्ण कौशलपूर्वक सतत जागरूक रहते हुए स्वनियोजित कर्त्तव्यनिष्ठा (युद्धकर्म्म) में प्रवृत्त रहने वाले भी दुर्योधन को विजयश्री नहीं मिली ?। इस 'कौशल' शब्द के गर्भ में ही इस प्रश्न का उत्तर सुरक्षित है। दुर्योधन की बुद्धि का योग तात्कालिक–स्वार्थ के ही साथ था, 'अर्थ' पूर्ण वा स्वार्थ 'अकर्म्म' कहलाया है। फलाशा में ही उसकी बुद्धि निमज्जित थी। कर्त्तव्य की अपेक्षा कर्त्तव्य का 'फल' उसकी दृष्टि में प्रमुख बना हुआ था। तभी तो थोड़ा सा भी पराजय होते देख कर वह भीष्म जैसे सर्वश्रेष्ठ सम्मान्य सेनापति पर भी बिगड़ पड़ता था। फलाशा की यत्किञ्चित् सी भी निराशा इसे इसके वास्तविक भावुक–स्वरूप (चाञ्चल्य) पर ला पटक कर देती थी। उस आतुरता के आवेश में तो यह ऐसा अनर्गल प्रलाप करने लग पड़ता था, जैसा असम्बन्धित-प्रथित अभद्र अमङ्गल-अशुचि प्रलाप कभी अर्जुन ने भी नहीं किया। अर्जुन की भावुक-बुद्धि उद्बोधन से पूर्व जहाँ कर्त्तव्य से अयुक्त थी, वहाँ दुर्योधन की बुद्धि प्रधानरूप से फल से ही युक्त थी। अर्जुन का तो किसी से योग ही नहीं था। न उसे साम्राज्यफलभोग की ही इच्छा थी, न ऐसे फल के स्वबंधक कर्त्तव्य (युद्ध) में ही उसकी बुद्धि का योग हो रहा था। अपितु वह तो अकारणोपविष्टरूपेण 'भावुक' ही प्रमाणित हो रहा था। किन्तु दुर्योधन तो फल के साथ दृढ़रूप से आसक्त होरहा था। इस राज्यलिप्सा के लिए वह अच्छा–बुरा पाप–पुण्य सबकुछ कर डालने के लिए सन्नद्ध बना रहता था। कर्त्तव्यविवेक से उसकी बुद्धि का कोई सम्बन्ध कोई योग नहीं था। अपितु योग था केवल फल से। इसी फलासक्ति ने फलयोग ने इसकी कर्त्तव्यनिष्ठा में शिथिलता उत्पन्न करदी। इसी एकस्थाने इसके हितैषियों को भी इसकी ओर से उदासीन बना दिया, जिस उदासीनता के दुष्परिणाम-स्वरूप ही इसे अन्ततोगत्वा पराभूत ही हो जाना पड़ा। फल के साथ बुद्धि का आसक्त्यात्मक योग हो नहीं, कर्त्तव्य के साथ बुद्धि का अनन्य योग रहे इस योग का नाम ही 'कर्त्तव्यकौशल' माना गया है जिसका एकमात्र अवलम्ब अव्ययपुरुष के साथ योग कर लेना ही है। जबतक बुद्धि (प्रकृति) उस पुरुष के साथ योग नहीं कर लेती तबतक इसमें योगात्मक ऐसे कौशल का योग हो ही नहीं सकता जिसके द्वारा कि, यह कर्त्तव्यनिष्ठ भी बनी रहे फल का भी आगमन होता रहे एवं प्राप्त फल में यह बुद्धि आसक्त भी न हो।

५६२–कर्त्तव्यनिष्ठात्मक-बुद्धियोगात्मक-'बुद्धियोग' से अनुप्राणिता कालातीता स्थिति, अनन्तकालगति, एवं अनन्तकालस्थिति-रूपा भावत्रयी का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय—

'कर्त्तव्य कर्म्म' है, कर्म्म 'क्रिया' है, क्रिया 'गति' है, गति 'प्राण' है। प्राण अमूर्त्त है एवं इस अमूर्त्त तत्त्व का ही नाम है 'अक्षरकाल' जिसे हम 'अनन्तकाल' कहा करते हैं। प्राणाक्षरमूर्त्ति अनन्तकालात्मक गतिभाव से ही कर्त्तव्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। वाङ्मय भौतिक–क्षर का ही नाम है सीमित-दिग्देशकाल जिसे हम 'चान्द्रसम्वत्सरकालात्मक-सपक्षकाल' कहा करते हैं। यही वाङ्मय व्यक्त–मूर्त्त काल है जिसका नाम है–मूर्त्तिरूप भौतिक पदार्थ इन्हीं को कर्त्तव्य का 'फल' कहा जाता है।

५८९-कालातीत के द्वारा काल का नियन्त्रण, एवं तदनुग्रहेणैव भावुक की सन्निष्ठाप्राप्ति

क्या था वह मनाक्‌चित् सा संशोधन ?। अर्जुन की भावुकता-दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी अनुभूति-बुद्धिमानी का उत्तरदायित्व अर्जुन की प्रकृति से हटा कर भगवान् ने इसके पुरुषभाव पर ही इस के उत्तरदायित्व का समर्पण कर दिया। अर्थात् प्राकृत-भावुकता का आधार पौरुष-निष्ठात्मक बना दिया गया। अर्थात्-पुरुष से प्रकृति को नियन्त्रित कर दिया गया। अर्थात् कालातीत से काल को मर्य्यादित कर दिया गया। अर्थात् अनुभूति को संवित् के आश्रय में, ज्ञान को समझ के आश्रय में, बुद्धि को बोध के आश्रय में ला खड़ा किया। गीता के शब्दों में—प्राकृत-भावुक-बुद्धि को प्रकृत्यतीत नैष्ठिक अव्ययपुरुष से युक्त कर दिया, जबकि इसकी यह बुद्धि प्राकृत-दिग्देशकालभावों से युक्त होरही थी इससे पूर्व।

५९०-नियन्त्रणात्मक संशोधन से समन्वित लोकोत्तर-'बुद्धियोग'—

यही संशोधन अव्यय-पुरुषानुगतिरूप से 'बुद्धियोग' (बुद्धि का अव्ययपुरुष से योग) कहलाया। इसी बुद्धियोगाभिन्न अव्ययनिष्ठा से अर्जुन के दिग्देशकालनिबन्धन-प्राकृत-भावुकत्व में 'निष्ठात्व' (निश्चयात्मिका बुद्धि) अभिव्यक्त होगया। इसी अव्ययपुरुषनिष्ठा के अनुग्रह से इसी बुद्धियोगनिष्ठा के नियन्त्रण से नियन्त्रिता इसकी दिग्देशकालानुबन्धिनी प्राकृतबुद्धि ने निवृत्ति का वरण कर लिया अपने आपको दिग्देशकालनिबन्धना-भावुकता के व्यामोहनों से बचाते हुए।

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम्॥
व्यालाधिपं च यतते परिरब्धुमद्धा यो दुर्जनं वशयितुं तनुते मनीषाम्॥३॥
—भामिनीविलासे

अरवचरुचिरं कृतं शशशरीरमुद्धर्षितं त्वक्तेऽप्यमरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम्॥
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतः कृतोऽन्धमुखमण्डना यदबुधो जनः सेवितः॥४॥

ज्ञानी समुझत सहज में पर बिन नर अभिमान॥
मन रञ्जन तिन का कभी सम्भव नाहि सुजान॥५॥

शक्य चैतत्। मानव प्रयास करने पर बालू मिट्टी से तैल निकाल सकता है मृगतृष्णाजल से पिपासु (प्यासा) अपनी प्यास बुझा सकता है घूमते फिरते शशशृङ्ग (खरगोश का सींग) भी मिल सकता है, भयानक मकर (मगर) की करालदाढ़ा से मणि भी निकाली जासकती है प्रचण्ड तरङ्गायित समुद्र को भी तैर कर पार किया जासकता है विषधर प्रचण्ड सर्प को भी पुष्पवत् शिरोभूषण बनाया जासकता है और भी इन सभी असम्भव भी ऐसी को तो सम्भव बनाया जासकता है किन्तु अभिनिविष्ट-विमूढ-कुत्सित-आवेशान्वित-अभिमानी-क्रूरकर्मा-दुर्बुद्धि को कदापि प्रसन्न नहीं किया जासकता जैसाकि तथाविध दुर्योधन किसी भी उपाय से प्रसन्न न होता हुआ 'समूल-विनाश' का ही निमित्त बन गया था इत्यलमप्रासङ्गिकेन।

सहज स्थिर भाव से अकर्म्म है। यों दो अकर्म्म मानवके सम्मुख उपस्थित हैं। पुरुषतन्त्र इसे फलासक्त बना देता है, तो फलतन्त्र इसे पुरुषासक्त बना देता है। पुरुषतन्त्रता का नाम ही सुनिष्ठा है एवं फलतन्त्रता का नाम ही कुनिष्ठा, किंवा भावुकता है। कैसे मानव को पुरुषतन्त्रता प्राप्त हो ?, कैसे इसमें बुद्धिनिष्ठा उदित हो ?, प्रश्न का एक मात्र उत्तर है-'कालं कालेन पीडयन्' ।

४६५-'कालं कालेन पीडयन्' सूत्र का तथ्यात्मक समन्वय-विमर्श—

काल से काल को पीड़ित करता हुआ ही मानव कालान्तर में 'बुद्धियोगनिष्ठा' प्राप्त कर सकता है। कालातीत अनन्ताव्यय-पुरुष की साक्षी में अनन्तकालरूपा प्रकृति से सादिसान्तकालरूपा विकृति को संघर्ष से आवृत करता हुआ ही मानव 'अभ्युदय-निःश्रेयस्' का अधिकारी बन सकता है। कालातीत-सर्वातीत-सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता में पूर्ण आस्था-श्रद्धा रखने वाला मानव अपने सुनिश्चित (शास्त्रसिद्ध) कर्त्तव्य से कर्मफल को पीड़ित करता हुआ ही 'सुखी, एवं शान्त' बना रह सकता है। कालदिग्देश से दिग्देशकाल को पीड़ित करता हुआ ही मानव 'प्रकृतिस्थ' बना रह सकता है। अनन्त से अन्त को नियन्त्रित रखता हुआ ही मानव 'नियन्ता' बना रह सकता है। एक से अनेक का संवरण करता हुआ ही मानव 'अभिव्यक्त' होसकता है। ज्ञान से विज्ञान का अनुगमन करता हुआ ही मानव 'विज्ञाता' बन सकता है। अमृत से मृत्यु का अनुगमन करता हुआ ही मानव 'अमृतलाभ' कर सकता है। सम्भूति से विनाश को आवद्ध रखता हुआ ही मानव 'भूति' का अनुगामी बन सकता है। भूत से भवत् (वर्त्तमान) का समतुलन रखता हुआ ही मानव 'भविष्यत्' का निर्म्माण कर सकता है। स्रष्टा से सृष्टि को समन्वित रखता हुआ ही मानव 'सत्सृष्टि' का प्रवर्त्तक बन सकता है। निष्ठा से भावुकता को नियन्त्रित रखता हुआ ही मानव 'भावुकता' से लाभ उठा सकता है। यों सर्वात्मना काल से काल को पीड़ित करता हुआ ही मानव 'कालातीत' बना रहता हुआ सम्पूर्ण कालिक-भावों की समृद्धि का असपत्न उपभोक्ता बन जाता है-अभयरूपेण।

४६६-दिग्देशकालत्रयी से उत्पीड़ित भूत-भौतिक-पदार्थ, एवं तद्द्वारा भावुक-मानव का कालिक-उत्पीड़न—

स्मरण रखिए ! 'उत्पीड़िकता' ही आपको उत्पीड़क बनाती है। उत्पीड़न से पहिले आप स्वयं उत्पीड़ित हो जाते हैं। यही उत्पीड़िकता आगे चलकर प्रतिक्रियारूप से आपको उत्पीड़क बना देती है जिससे

अमृत गति से भूर्भुव ही अभिव्यक्त होते हैं। कर्त्तव्यरूप अनन्तकाल 'प्रकृति' है, कर्त्तव्यफलरूप सादिसान्तकाल 'विकृति' है। अनन्ता है प्रकृति, सादि-सान्त है विकृति। सादिसान्त विकृति का आधार है अनन्ता प्रकृति। एवं इस अनन्ता प्रकृति का आलम्बन है अनन्ताव्ययपुरुष। यह अनन्तपुरुष भी स्थितिरूप है एवं अनन्ता विकृति भी स्थिति रूपा है। दोनों के मध्यम में अनन्ता प्रकृतिरूपा गति प्रतिष्ठित है। इस तत्त्व स्थिति को समन्वित किए बिना 'यत्किञ्चित्' संबोधन को यत्किञ्चिद्रूप से भी समन्वित नहीं किया जासकता। अव्यय पुरुषरूपा स्थिति चिद्घना है, अनन्तप्रकृतिरूपा मध्यस्था गति 'चेतना' है एवं सादिसान्तविकृतिरूपा अन्तरूपा स्थिति 'अचेतना' है। इन तीनों का नाम रख लेते हैं क्रमशः—कालातीतास्थिति, अनन्तकालगति-सान्तकालस्थिति ये। तत्त्वभाषा में ये ही तीनों हैं क्रमशः—अव्ययपुरुष, अक्षरपराप्रकृति, क्षरअपरा-प्रकृति। व्यवहारभाषा में ये ही तीनों हैं—'कर्त्तव्यसाक्षी, कर्त्तव्य, कर्त्तव्यफल'। कर्त्तव्यकर्म एवं कर्त्तव्यफलकर्म इन दोनों के माध्यम से ही मानव के भाग्य का (प्राकृत जीवन का) अच्छा-बुरा निर्णय हुआ करता है। कर्त्तव्य यदि फल का दास बन जाता है तो कर्त्तव्य का बल शिथिल हो जाता है फल की प्रधानता हो जाती है। फलतः फल की सम्भावना निष्फल प्रमाणित होजाती है फलरूपा आसक्ति बद्धता और उत्पन्न कर देती है। ठीक इसके विपरीत—यदि फल कर्त्तव्य का दास बन जाता है, तो फल का आसक्तिभाव शिथिल हो जाता है कर्त्तव्य प्रधान बन जाता है। फलतः कर्त्तव्य की फलानुगति भी निश्चित बन जाती है एवं फल अपनी बद्धता से कर्त्तव्य को प्रभावित भी नहीं कर पाता। और यही यत्किञ्चित् उद्बोधन की स्वरूपगाथा का उपसंहारनिष्कर्ष है जिसका निम्नलिखित शब्दों में उद्घोष हुआ है—

> कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ (गीता)।

५६३—आत्मानुगता स्थिति, तथा कालात्मिका गति का स्वरूप-समतुलन—

एक 'स्थिति' के साथ कर्त्तव्य का सम्बन्ध ही इसे दूसरी 'स्थिति' से असङ्ग बनाए रहता है। पुरुषाव्यय भी स्थितिरूप है जिसे हमने चिद्घन कर्त्तव्यसाक्षी कहा है। क्षरभूत-विश्व भी स्थितिरूप है जिसे हमने अचेतन कर्त्तव्यफल कहा है। कर्त्तव्यफल भी 'स्थिति' रूप 'अकर्म्मभाव' है तो कर्त्तव्यसाक्षी भी स्थितिरूप 'अकर्म्मभाव' है। यदि मानव (अर्थात् प्राकृत जीव) अपने कर्त्तव्य को अकर्म्मरूपा-कर्त्तव्य-फलात्मिका स्थिति से समन्वित कर लेता है, तो फलासक्त्यात्मक यह मानव बद्धभाव में आता हुआ कुनैष्ठिक बन जाता है दुर्य्योधनवत्। वही यदि अपने कर्त्तव्य को अकर्म्मरूपा-कर्त्तव्यसाक्षिरूपा स्थिति से समन्वित कर लेता है तो साक्षीस्थित्यनुगत यह मानव चिद्घनभाव से समन्वित होता हुआ सुनैष्ठिक बन जाता है स्फुटतः अर्जुनवत्।

५६४—सुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, एवं—'कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' के 'अकर्म्मणि' का अर्थ है 'फले ते सङ्गो मास्तु'। कर्म का फल 'अकर्म्म' ही तो होगा। अतएव कर्म्मफल की सहज संज्ञा 'अकर्म्म' बन गई है। उधर कर्म्मसाक्षी अव्ययपुरुष भी अपने

माल्म्बनम् । यथा श्रीखण्डचन्दनतरु॰ समस्तमलयाचलकाननगतान् वृक्षान् सुरभयति, यथा वा अमृतमयशीतलचन्द्रकिरणससर्गतो विकसत् कुमुदवन मनोज्ञमृगन्ध शीतलपवनमनोहरचन्द्रिकाभिर्जनमन'मसादक भवति, यथा वा क्षीरसागरनिर्झरी स्वासन्नवर्तिनो वृक्षगुच्छगुल्मलतावल्लीमभृतीन् नानाविधान् वनस्पतीन् रसमदानेन वर्धयन्ती मोदयति, एव विनयविभूषित' खलु शीलेन कुलगणगच्छान् मोदयन् लोके चिन्तामणिरिव समन्यते, कल्पतरुरिव सेव्यते, निधिरिव समाद्रियते, सुधेव परिपूज्यते ॥ ७ ॥

कर लेती है कि मुझे अपना कल्याण करना है–अत' वह नियागार्थी–मोक्षाभिलापी बन जाता है। और इस स्थिति में उसकी प्रत्येक क्रियाएँ मोक्षप्राप्ति की ओर ही उसे ले जाने वाली होती रहती हैं, अत' वह किसी भी कुल, गणगण–गच्छ से नहीं निकाला जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार श्रीखण्डचदन का वृक्ष समस्त मलयाचल के जगल में रहे हुए वृक्षों को अपनी अपार सुगधि से सुरभित करता रहता है। अथवा जिस प्रकार अमृतमय शीतलचन्द्र की किरणों के ससर्ग से विकसित कुमुदवन, मनोज्ञ, शीतल एव सुगधित वायु एवं मनोहर चादनी के द्वारा प्रत्येक जन के मन को आल्हादित करता है। अथवा–जिस प्रकार क्षीर सागर की निर्झरी अपने निकट रहे हुए वृक्षों को उनके गुच्छों को गुल्मों एव लतावल्ली आदि को रसप्रदान से वृद्धिगत अर्थात् बढ़ाती हुई उन्हें विकसित करती है इसी तरह विनय से

મારે પોતાનુ કલ્યાણ કરવું છે—આથી તે નિયાગાર્થી–મોક્ષ અભિલાષી બની જાય છે અને એ સ્થિતિમા એની પ્રત્યેક ક્રિયાઓ મોક્ષ પ્રાપ્તિની તરફ જ એને લઈ જવાવાળી થતી રહે છે એટલે તે કોઇપણ કુળ, ગુણ અને ગચ્છથી દૂર કરવામાં આવતા નથી મતલબ આનો એ છે કે જે પ્રકારે શ્રીખડ ચદનનુ વૃક્ષ સમસ્ત મલયાચલના જગલમા રહેલા બધા વૃક્ષોને પોતાની અપાર સુગધીથી સુરભિત કરતુ રહે છે અથવા જે પ્રકારે અમૃતમય શીતળ કિરણોના સસર્ગથી વિકસિત કુમુદવન, મનોજ્ઞ, શીતળ અને સુગધિત વાયુ એવી મનોહર ચાદની દ્વારા પ્રત્યેક જનના મનને આલ્હાદિત કરે છે અથવા–જે પ્રકાર ક્ષીર સાગરની નિર્ઝરી (ઝરણા) પોતાની નિકટ રહેલા વૃક્ષોને એની ડાળો વિગેરેને તથા ફુલફળાદિ, પાદડા વગેરેને રસપ્રદાનથી વૃદ્ધિગત અર્થાત્ વધારે છે અને વિકસીત કરે છે આ રીતે વિનયથી વિભૂષિત બનેલ

अमूर्त गति से मूर्तभूत ही अभिव्यक्त होते हैं। कर्तव्यरूप अनन्तबल 'प्रकृति' है, कर्त्तव्यफलरूप सादिसान्तबल 'विकृति' है। अनन्ता है प्रकृति, सादि-सान्ता है विकृति। सादिसान्त विकृति का आधार है अनन्ता प्रकृति। एवं इस अनन्ता प्रकृति का आलम्बन है अनन्ताव्ययपुरुष। यह अनन्तपुरुष भी स्थितिरूप है एवं अनन्ता विकृति भी स्थिति रूपा है। दोनों के मध्य में अनन्ता प्रकृतिरूपा गति प्रतिष्ठित है। इन उभय स्थिति को समन्वित किए बिना 'यत्किञ्चित्' संशोधन को यत्किञ्चिद्रूप से भी समन्वित नहीं किया जासकता। अव्यय पुरुषरूपा स्थिति चिद्घना है, अनन्तप्रकृतिरूपा मध्यस्था गति 'चेतना' है एवं सादिसान्तविकृतिरूपा अन्तस्था स्थिति 'अचेतना' है। इन तीनों का नाम रख लेते हैं क्रमशः—कालातीतास्थिति अनन्तकालगति-सान्तकालस्थिति ये। तत्त्वभाषा में ये ही तीनों हैं क्रमशः—अव्ययपुरुष अक्षरपराप्रकृति क्षरअपरा-प्रकृति। व्यवहारभाषा में ये ही तीनों हैं—'कर्त्तव्यसाक्षी कर्त्तव्य कर्त्तव्यफल'। कर्त्तव्यरूप एवं कर्त्तव्यफलरूप इन दोनों के माध्यम से ही मानव के भाग्य का (प्राकृत जीवन का) अच्छा-बुरा निर्णय हुआ करता है। कर्त्तव्य यदि फल का दास बन जाता है तो कर्त्तव्य का बल शिथिल हो जाता है फल की प्रधानता हो जाती है। फलतः फल की सम्भावना निष्फल प्रमाणित होजाती है फलरूपा आसक्ति बढ़ता और उत्पन्न कर देती है। ठीक इसके विपरीत—यदि फल कर्तव्य का दास बन जाता है तो फल का आसक्तिबल शिथिल हो जाता है कर्तव्य प्रधान बन जाता है। फलतः कर्तव्य की फलानुगति भी निश्चित बन जाती है एवं फल अपनी जड़ता से कर्तव्य को प्रभावित भी नहीं कर पाता। और यही यत्किञ्चित् संशोधन की स्वरूपगाथा का उपसंहारनिष्कर्ष है जिसका निम्नलिखित शब्दों में उद्घोष हुआ है—

> कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि॥ (गीता)।

५६३–आत्मानुगता स्थिति, तथा कालात्मिका गति का स्वरूप-समतुलन—

एक 'स्थिति' के साथ कर्त्तव्य का सम्बन्ध ही इसे दूसरी स्थिति' से असङ्ग बनाए रहता है। पुरुषाव्यय भी स्थितिरूप है जिसे हमने चिद्घन कर्तव्यसाक्षी कहा है। परमूल-विरव भी स्थितिरूप है जिसे हमने अचेतन कर्त्तव्यफल कहा है। कर्तव्यफल की स्थिति' रूप 'अकर्म्मभाव' है तो कर्तव्यसाक्षी भी स्थितिरूप 'अकर्म्मभाव' है। यदि मानव (अर्थात् प्राकृत जीव) अपने कर्तव्य को अकर्म्मरूपा—कर्तव्य-फलात्मिका स्थिति से समन्वित कर देता है तो फलास्थित्यात्मक यह मानव जड़भाव में जाता हुआ कुनैष्ठिक बन जाता है दुर्य्योधनवत्। वही यदि अपने कर्तव्य को अकर्म्मरूपा-कर्तव्यसाक्षिरूपा स्थिति से समन्वित कर लेता है तो साक्षीस्थित्यनुगत यह मानव चिद्घनभाव से समन्वित होता हुआ सुनैष्ठिक बन जाता है उदाहरण अर्जुनवत्।

५६४–सुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, एवं–'कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' के 'अकर्म्मणि' का अर्थ है 'फले ते सङ्गो मास्तु'। कर्म्म का फल 'अकर्म्म' ही तो होगा। अतएव कर्म्मफल की स्वतः संज्ञा 'अकर्म्म' बन गई है। उधर कर्म्मसाक्षी अव्ययपुरुष भी अपने

पश्चात् आधार है—इन प्राणियों के माध्यम से मानव की प्रवृत्तियों का अध्ययन-व्यामोहन, जिसका बुद्धिव्यामोहन मानव का और कुछ हो ही नहीं सकता। तभी तो दिग्देशकालमत इन अन्वेषकोंने मानव को विकासशील-प्राणीमात्र ही मान लिया है, इति नु अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

६००—पशुसर्गासक्त भावुक मानवों के द्वारा मानव के स्वरूप-समतुलन की महती भ्रान्ति, एवं तन्निवृत्ति की मङ्गलकामना—

तभी तो इनकी दृष्टि में मानव ने प्राकृत पशु-पक्षी-आदि प्राणियों से ही नहीं, अपितु ओषधि-वनस्पति-लतागुल्म-पर्वत-नद-नदी-सागर आदि आदि जड़ भूतों से भी प्रेरणा ले लेकर ही क्रमशः अपनी मानवता का विकास किया है। और आज तो भूगर्भस्थ-भग्न त्रुटित-भूसमय मार्गवादि, जीर्ण-शीर्ण कन्यादि भी मानव की बुद्धि के प्रेरक प्रमाणित कर दिए गए हैं पुरातत्वविशारदों के द्वारा। सचमुच इस पशुसर्ग-व्यामोहन ने तदनुबन्धी इस मानवकालविमोहन ने ही तो मानव को उस भय पर ला खड़ा किया है, जिसका मूलतः सर्जन हुआ था इसी देश के अन्तर्दृष्टिवादी दार्शनिक के अनुग्रह से, एवं जो पुष्पित पल्लवित हुआ भावके भूतविज्ञान की कृपा से, तथा तत्पथानुगामी विरोधियों के विरोधना से, और इनके तात्कालिक परिणामों से। इसीलिए हमें मानव से अत्यन्त प्रणतभाव से यही निवेदन करने की धृष्टता कर लेनी पड़ी कि, वह मानव की 'मानवता' पर अनुग्रह कर अपनी दिग्देशकालानुबन्धिनी भावुकतापूर्णा-पशुसर्गनिबन्धना मान्यताओं का तथाकथित 'नवनिर्मित' संशोधन कर ही डाले, अविलम्ब कर डाले। अन्यथा जिस काल्पनिक भय का सर्जन केवल अपने प्रज्ञापराध से इस दिग्देशकाल के द्वारा सर्जन कर डाला है, यह महद्भय इसे अन्ततोगत्वा में निर्जीव ही बना डालेगा। और महत्सौभाग्य है यह मानवता का कि अब मानवने अंशतः अपनी यह भूल स्वीकार करना उपक्रान्त कर दिया है। क्योंकि अन्ततोगत्वा मानव 'मानव' ही है, 'महान्' ही है, दिग्देशकालातीत सनातनतत्त्व ही है। अतएव न यह उत्पीड़ित ही रह सकता, न उत्पीड़क ही बना रह सकता अधिक समय पर्यन्त। अवश्य ही इसे स्वयं अपनी निष्ठा से ही (बिना ही पशु-पक्षी-आदि की प्रेरणा के) अपना यह कल्पित भय निर्मूल बना ही डालना होगा।

६०१—अनन्तकालात्मक महान् भय के स्वरूपबोध से ही सादि-सान्त दिग्देशकालभय से सम्भावित आत्मत्राण, एवं 'महद्भय' का माङ्गलिक संस्मरण—

और इस भयत्राण के लिए मानव को सर्वप्रथम स्वयं अपने उस 'महान् भय' का ही स्वरूप समझ लेना होगा, जिस महान् भय के गर्भ में ही दिग्देशकालात्मक अणोरणीयान् भय समा रहा है। उस महान् भय के स्वरूपबोध पर ही इसका यह दिग्देशकालानुबन्धी स्वल्पभय पलायित हो सकेगा उसी प्रकार, जैसे कि सिंहभय के सामने शृगालादि भय क्षणमात्र में विलीन होजाया करते हैं। आपके उस महान् भयस्वरूप का ही नाम है अनन्तकाल, अनन्तदिक्, और अनन्तदेश। जिस इस अनन्तकालदिक्देश के सम्मुख यह सादि-सान्त-दिग्देशकालभय क्षणमात्र भी तो नहीं ठहर सकता। सम्वत्सरकालात्मक-यह मानदिग्देशकालात्मक पशुभय आपका स्वरूप (प्रकृति) नहीं है, जैसाकि आपने भूतदृष्टिमूला भावुकता से भ्रान्तिवश मान लिया है। अपितु आपका प्राकृत स्वरूप तो है महत्स्वरूप वह अनन्तकाल, जिसके आप सर्वात्मना प्रतिरूप हैं

आप दूसरों को उत्पीड़ित करने लग पड़ते हैं। वस्तुतः आप न तो उत्पीड़क ही हैं, न उत्पीड़ित ही। उत्पीड़ित हैं दिग्देशकालात्मक वे मूर्त-भूतभौतिक महापदार्थ, एवं महत्तत्वप्रधान वे पशु-पक्षी-आदि भौतिक प्राणी जो उत्पीड़नरूप इन भूतभावों से पहिले तो स्वयं उत्पीड़ित बनते हैं। तदनन्तर प्रतिक्रियारूप से अपने समानधर्म्मा प्राकृत प्राणियों को उत्पीड़ित करते रहते हैं। और यों सम्पूर्ण भूतभौतिक पश्वादि प्राणी अपनी सीमित दिग्देशकालता से, इस उत्पीड़नधर्म्म से इसी की अहोरात्र उपासना करते हुए परस्पर उत्पीड़ित-उत्पीड़क ही बने रहते हैं।

५६७–अमूर्त काल के द्वारा उत्पीड़ित मूर्त काल—

क्या वे पश्वादि प्राणी उत्पीड़ित, तथा उत्पीड़क बने रहते हैं ?, इस प्रश्न पर क्या कभी आपने विचार विमर्श किया है ?। नहीं तो अब कर लीजिए। इस पशुसर्ग के लिए वर्त्तमानकाल के अतिरिक्त न तो कोई भूतकाल है न भविष्यत्काल जिस भूतभविष्यत्काल को अव्यक्त-महदक्षररूप 'अनन्तकाल' कहा जाता है। उस अनन्तकाल से सदा ही उत्पीड़ित यह सादिसान्त सम्वत्सर-मूर्त-व्यक्त-वर्त्तमानकाल ही पशुसर्ग का सर्वस्व बना रहता है। उत्पीड़न ही इसका प्रभवस्थान है उत्पीड़करूप उस अनन्त-भूत-भविष्यत्-अक्षरकाल से ग्रस्त उत्पीड़ित यह पीड़ितकाल ही तो इस पशुसर्ग का प्रभव है यही प्रतिष्ठा है यही परायण है। व्यवधानात्मक भय ही इस उत्पीड़ित काल का स्वरूप है।

५६८–मूर्त काल से निरन्तर उत्पीड़ित-भयत्रस्त-शङ्कातङ्कितमानस-मूर्त-भौतिक-प्राणिक-पशुसर्ग—

अतएव महद्भयरूप इस पीड़ितकाल से उत्पन्न अत्रैव प्रतिष्ठित एवं अत्रैव लीन होजाने वाले पशुसर्ग को उत्पत्तिक्षण से आरम्भ कर विलयनक्षण पर्य्यन्त सदा सब ओर से शङ्कातङ्कितमानस बन कर ही सदा भयभावों से त्रस्त-विकम्पित रहते हुए ही जीवनयापन करते रहना पड़ता है। शान्ति-निर्म्मलता-अभय-स्थिरता-जैसा कोई भी शाश्वत स्थिरधर्म्म आप इनमें उपलब्ध नहीं कर सकते। इनका गमन-शयन-अशन-पान-आदि आदि सम्पूर्ण भौतिक कर्म्मकलाप तथा शङ्का-भय-आतुरता-विकम्पन-आदि मर्त्यभावों से ही आक्रान्त रहता है, जिसे आज के पशुविज्ञानवेत्ता प्राणीशास्त्रविद् तो भलीभाँति जान ही रहे होंगे, जिस इस सहज भय सहज उत्पीड़न को ही सम्भवतः वे-'आत्मरक्षा की सहज स्फूर्त्ति' नाम से व्यवहृत कर रहे होंगे जबकि तत्त्वतः न इस पशुसर्ग में भारतीय-पशुविज्ञान की दृष्टि से आत्मस्वरूप ही अभिव्यक्त है, न तद्रक्षा जैसी विकासानुबन्धिनी जागरूकता का ही इनके साथ कोई सम्बन्ध है।

५६९–आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से असंस्पृष्ट, अतएव आत्मरक्षाधर्म्म से पराङ्मुख पशु सर्ग की दिग्देशकाल-निबन्धना भयातुरता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अपितु आद्यन्तरूप से सर्वात्मना वर्त्तमानदिग्देशकालनिबन्धन सहज उत्पीड़न-सहज भय ही इनका सम्पूर्ण इतिवृत्त है जिस इस भय के विविध परिवर्त्तनों को ही आज के भूतविज्ञप्रधान प्राणिशास्त्र ने चैतन्य-आत्मा-आत्मज्ञान-रक्षा की स्फूर्त्ति-आदि आदि विविध कल्पित नाम दे दिए गए हैं। इस कल्पना का

६०३–मानव के आत्मबुद्धिनिष्ठ महान् मानव-स्वरूप के द्वारा सम्पूर्ण भूलों का शरद्-भ्रवत्–विलयन—

क्या मानव को यह समझने में बहुत बड़ा प्रयास करना पड़ेगा कि, केवल मन, और शरीर का ही नाम मानव नहीं है ? मानसिक काम, तथा शारीरिक भोग ही मानव की मानवता के मापदण्ड नहीं हैं !, किंवा अपने मानसिक–शारीरिक–भोगों की इयत्ता–पर्य्याप्ति ही मानव का चिरन्तन इतिहास नहीं है ! । क्या मानव ने कुछ ऐसा मान लिया है कि, केवल इस एक मानव के आगे पीछे भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान में और कोई मानव है ही नहीं ! । किंवा अपनी काममोगपरायणता की सिद्धि के लिए अपने समाज को, राष्ट्र को, किंवा सम्पूर्ण विश्व को एक महा भयानक गर्त्त में डाल देना ही इसका चरम सुख है ! । हम समझते हैं, मानवमात्र समझ रहा है कि, इस 'यत्किञ्चित्' भी जरा सी भूल को समझने जैसी प्रज्ञा तो आज भी मानव में शेष है ही । अवश्य ही इस यत्किञ्चित् भी भूल को समझ कर तथाकथित यत्किञ्चित् से संशोधन से मानव अवश्य ही विश्वमानवता का परित्राण कर सकता है करेगा ही, करता ही आया है सदा सर्वदा से ही । कदापि कोई भी भयाशङ्का नहीं है महान् मानव के उस अभय-अनन्तरूप महान् मातृस्वरूप के लिए, एवं अनन्त पौरुषस्वरूप के लिए, जिस अनन्तस्वरूप के साक्षान्य पर सम्पूर्ण भूलें–भ्रान्तियां-विमोहन–मूढतायें–विमूढतायें–शरद्भ्रवत् क्षणमात्र में ही विलीन हो जाया करती हैं । और तब स्वयं मानव ही यह उद्घोष करने लग पड़ता है कि—

न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।

६०४–सर्गात्मक–पशुसर्ग, तथा असर्गात्मक मानवसर्ग के तत्त्वविवेकानुग्रह से आत्म-बोधोदय, तदनुग्रह से अभयब्रह्म का संस्पर्श, एव–'अभयं वै ब्रह्म' का संस्मरण—

और तब मानव स्वयं ही यह मान लेता है कि, वर्त्तमानकालात्मक दिग्देशकालव्यामोहन तो पशुसर्ग का ही चिह्न है मन और शरीर तो प्राकृत (वैकारिक) प्राणियों की ही स्वरूप-व्याख्या है काम-भोग-परायणता तो विशुद्ध पशुधर्म्म ही है दृष्टि के सम्मुख उपस्थित भौतिक लाभ से अभिभूत हो जाना तो मत्स्यवदिधिपरायण पशु पक्षी-आदि प्राणियों का ही सहज स्वभाव है भूत-भविष्यत् के शुभाशुभ परिणामों से अपरिचित बन रहते हुए वर्त्तमान को ही सबकुछ मान बैठना तो पशुओं का ही जीवनवृत्त है तात्कालिक लाभ की सिद्धि के लिए अपने परिजनों को, सामूहिक व्यक्तियों को चीर–फाड़ फेंकना तो पशुओं का ही तात्कालिक धर्म्म है । मानव ही मानव ऐसा नहीं है कदापि नहीं है ऐसा रह ही नहीं सकता मानव । अपेक्षित है–केवल यत्किञ्चित् सा संशोधन । और अब उस यत्किञ्चित् से संशोधन का निष्कर्षार्थ है— 'मनःशरीरानुबन्धी–दिग्देशकालात्मक–वर्त्तमानकालात्मक अपने पशुरूप वैकारिककाल को बुद्धि आत्मानुबन्धी–अपने पशुपतिरूप प्राकृत काल से अनन्तकाल से सदा ही उत्पीड़ित करते रहना । एक क्षण के लिए भी इस दिग्देशकाला-त्मक मन-शरीररूप 'काल' को उस आत्मबुद्धिरूप महाकाल के नियन्त्रणपाश से पृथक् न होने देना । दूसरे शब्दों में शारीरिक अर्थ तथा मानसिक काम का क्रमशः भौतिक धर्म्म तथा आत्मिक मोक्ष से नियन्त्रण करते रहना ही यह यत्किञ्चित् सा संशोधन है । यही काल से काल का उत्पीडन है यही मानव की मानवता का एक मात्र रक्षासूत्र है यही अथर्ववेदीय कालसूक्त का आधारात्मक समन्वय है, यही

जिसका पशुसर्ग तो यत्किञ्चित् भयभीत ही बना हुआ है। मृत्यु से भय उत्पीड़ित हुआ करते हैं। स्वयं मृत्यु यद्यपि मृत्यु से उत्पीड़ित नहीं होता। मर्त्यात्मक, अतएव भयरूप पशुवर्ग उस मृत्यु से अवश्य ही उत्पीड़ित, भयग्रस्त है। किन्तु आप तो उसके भय किंवा प्रतीक नहीं हैं, जो उस मृत्यु अनन्तकाल से पशुसर्गवत् आप उत्पीड़ित होते रहें!। आप तो उसके अधिष्ठाता हैं, स्वयं मृत्यु हैं। अतएव भयी हैं। आप से आपकी नियति से, दण्डभय से तो सम्पूर्ण विश्व भयपूर्वक सञ्चालित है *। आप स्वयं महाकालरूप हैं, शिवस्वरूप हैं। आप सब को अभयपद देने वाले हैं अपने इस अनन्तकालस्वरूप से। फिर आपको भय कैसा!। अभय ही आपका मौलिक स्वरूप है अनन्त प्रकृति की दृष्टि से भी एवं अनन्तपुरुष की दृष्टि से भी।

६०२—प्राकृत—विश्व से अनुप्राणिता-मानुकतापूर्णा-भूल के विविध-शाखा-प्रशाखा-विवर्तों का स्वरूप—दिग्दर्शन, एवं 'यत्किञ्चित्' संशोधन के द्वारा तन्निवृत्त्युपाय-प्रदर्शन—

भूल कहाँ हो गई आप से! बस इतना सा यत्किञ्चित् सा ही समझ लेना है आपको बुद्धि से नहीं, अपितु समझ से जिस 'समझ' का गुणानुवाद पूर्व में किया जा चुका है। तात्त्विकी विकृति को अपनी प्रकृति मान बैठना पहिली भूल, इस भ्रान्तधारणा विकृतिरूपा दिग्देशकालाभिन्न मूर्त्ता भूतप्रकृति के विकसित-तम—वैचारिक—पशुसर्ग के, विकारक्षत्यात्मक वाक्सर्ग के माध्यम से अपनी भूतप्रकृति के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त हो जाना दूसरी भूल, इन दो भूलों से प्रकृतिविमूढ (विकृतिविमूढ) बनते हुए अपनी इस भ्रान्त मान्यता में ही अभिनिविष्ट हो जाना तीसरी भूल, अभिनिवेश के निवारक धर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाना चौथी भूल, धर्म्मनिरपेक्षतामूलक काल्पनिक अनुभवों के बलपूर्वक (अध्यक्षमाध्यम से) प्रचार—प्रसार करने के लिए आतुर हो पड़ना पाँचवीं भूल, इस आतुरता से मानव के मौलिक अनन्त—स्वरूप के प्रति विरोधी बनते हुए, प्रतिक्रियावादी बनते हुए अपने आपको ही सर्वज्ञ मान बैठना छठी भूल, इस काल्पनिक सर्वज्ञता के व्यामोहन से एकान्ततः व्यक्तित्वविमोहन का अनुगामी बन जाना सातवीं भूल, मानवसुलभ उद्बोधन का अपने अन्तर्जगत् में अनुभव करते हुए भी अपने व्यक्तित्वविमोहनरूप इत्थंभूत काल्पनिक 'व्यक्तित्व' के बन्धन से जानते हुए भी नहीं जानना, मानते हुए भी नहीं मानना यही आठवीं महाभूल। ओर छोर भी ज्ञात—अज्ञात परम्परा छोटी बड़ी भूलपरम्पराओं से आपादमस्तक ओतप्रोत मानव ने इस यत्किञ्चित् सी भूल से अपने महान् प्राकृतस्वरूप को कैसा लोप कर लिया है!, कितना लोप कर लिया है!, इस कल्पना—मात्र से भी मानव की मानवता आज विकम्पित हो पड़ी है। 'यत्किञ्चित् सी भूल' इसलिए कि, क्षणमात्र ही तो लगता है अपने इस कल्पित व्यक्तित्वविमोहन का चोला उतार फैंकने में। यत्किञ्चित् सी ही तो ऋजुता—सरलता—भावुकता अपेक्षित है अपने आपको इस कल्पित व्यथा के यत्किञ्चित् से स्वरूप से उद्बोधन प्राप्त करने के लिए।

---

* भीषास्माद्वातोदेति, भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषादग्निश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
उपनिषत्

६०७–ब्रह्मास्त्र–वारुणास्त्र–आग्नेयास्त्र वायव्यास्त्रादि महाभारतयुगीय संहारक–महतो-महीयान् प्राकृतिक-विजृम्भणों से अप्रभावित अविकम्पित महान् मानव—

हमारे समय के 'वैज्ञानिक चमत्कार' जैसी दम्भपूर्णा घोषणा करने वाले अपने चमत्कारों से 'मानवता' को अभिभूत करने का व्यर्थ-प्रयास करते रहने वाले वर्त्तमानयुग के भूतविज्ञानवादी सम्भवतः ही क्यों निश्चयेन यह विस्मृत ही कर जाते हैं कि और किसी मन्वन्तर के मानव के लिए भले ही भौतिक विज्ञान के ये विजृम्भण अदृष्ट–अश्रुत–पूर्व ही हों। अतएव सम्भव है–उन मन्वन्तरों के प्राकृत मानव इन वैज्ञानिक विजृम्भणों से प्रभावित, अतएव विकम्पित होगए हों। किन्तु विश्वप्राणमूर्त्ति 'भारत अग्निदेव' के प्रतीकरूप इस वर्त्तमान 'वैवस्वत' नामक मन्वन्तर के आत्मा-ब्रह्मप्राणप्रधान अतएव आत्मनिष्ठ भारतीय मानव की दृष्टि में तो इन भूतविज्ञानों का यत्किंचित् भी तो महत्त्व नहीं है। क्योंकि इसने अपने पूर्व युगों में आज के भूतास्त्रों से भी कहीं अधिक शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र–वारुणास्त्र–वायव्यास्त्र–आग्नेयास्त्र–आदि सर्वसंहारक शस्त्रास्त्रों का न केवल नाम ही सुन रक्खा है, अपितु विक्रमपूर्व के पाँच सहस्र वर्ष के सुप्रसिद्ध महाभारतयुग में इन का व्यावहारिक उपयोग भी कर लिया है, एवं इनके मानवसम्बिरोधी भीषण परिणामों का साक्षात्कार भी कर लिया है।

६०८–सौभविमान हर्म्यश्वविमान नगरविमान आदि देवयुगीय भौतिक-वैज्ञानिक-आविष्कारों का भी उपहास करने वाला चिरपुरातन, चिरनूतन महान् नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ—

एवमेव सौभविमान हर्म्यश्वविमान नगरविमान पुष्पकविमान-मनु-विश्वा-वाज-नामक सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत अनन्त दिव्य चमस दिव्य नौका विविध सुविधाओं से समन्वित भारतीय वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत भौतिक आविष्कारों का भी साक्षात्कार कर लिया है इस देश की मानवसन्तान। परशुराम आदि आदि परात्पर भौतिक आविष्कारों का भी साक्षात्कार कर लिया है इस देश की मानवसन्तान ने। नवीन चन्द्र-सूर्य्य-निर्माण के युग भी देख लिए हैं इस देश की मानवसन्तान ने। निष्कर्षतः आज जिन्हें–अद्भुत–असम्भव-विलक्षण–चमत्कार माना और मनवाने का प्रयास किया जा रहा है, इन्हीं दम्भों के माध्यम से जिस निर्ममता के साथ आज 'मानव' की 'मानवता' का दमन किया जा रहा है, इस देश के शीर्ष मानव की मानवसन्तान अपने पूर्वयुगों में ऐसे दर्प-दम्भों को विकम्पित करने के सुख-स्वप्न देखे जा रहे हैं, उस देश का मानव उन महतो-महीयान् दपदम्भों का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है, जिन की महत्ता की तो कल्पना करने से भी कहीं महतोमहीयान् दपदम्भों का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है। उन यथयावत् वैज्ञानिक विजृम्भणों में भी आज के भूतविज्ञानवादी को अभी अनेक शताब्दियाँ ही अपेक्षित हैं। उन आविष्कारों को यद्यपि अपने युगों में इस देश–ने, तदनुप्राणित महाशास्त्रों को, अनुकूलता–सुखसुविधा जनक आविष्कारों को यद्यपि अपने युगों में इस देश–के हितानुबन्ध से ही। अपितु इन भौतिक–की मानवधान अनुगमन नहीं होने दिया एकमात्र मानवता के हितानुबन्ध से ही। अपितु इन भौतिक–भौतिक-चामत्कारिक-विजृम्भणों पर 'महाशास्त्रात्मिका' 'मानवता' का नियन्त्रण ही रहा इस देश की प्रतिभा के द्वारा। यद्यपि यह उन्मुक्तता से इन विजृम्भणों को सार्वजनिक बनाने की अनुज्ञा प्रदान नहीं करसकी एकमात्र 'मानवता' के अनुरोध से ही। भारतीय-महर्षिप्रज्ञा-प्रतिमान जिन शिल्पशास्त्र शिल्पी-सार्वभौम-प्रज्ञा धन–धान्य–व्यवस्थाओं का सर्जन किया यथाशास्त्र यथाकाल जैसा नियमन–व्यवस्थापन किया इन सारा मानवता का सर्जन करते हुए भी इसने अपनी 'मानवता' का जिस सुरक्षा का साथ ही इन सब महान्–समारम्भों का सर्जन करते हुए भी इसने अपनी 'मानवता' का जिस

मन्वन्तरकाल का चरम उत्कर्ष है एवं यही है दिग्देशकालमीमांसात्मक कालविजृम्भण का एकमात्र यह लक्ष्य, जिस तथ्य की मूलप्रतिष्ठा है–'अभयं वै ब्रह्म', मा भैषीः, योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्म–तं अस्मै दध्मः।

६०४–दिग्देशकालात्मक भयों से असंस्पृष्ट अभयमूर्त्ति महान् मानव, एवं महान् मानव की दिग्देशकालातीता अनन्तता का माङ्गलिक-संस्मरण—

ब्रह्म अभय है। अतएव मानव को कदापि कभी भी, कहीं भी किसी से भी कुछ भी भय नहीं करना चाहिए। कदापि किसी भी दिग्देशकाल के प्रभाव में नहीं आना चाहिए। कदापि किसी भी युगधर्म्मानुगता जगद्धर्म्मानुगता, एवं कालधर्म्मानुगता * प्रत्यक्षप्रभावमूला तात्कालिकी भावुकताओं, प्रदर्शनों आयोजना योजनाओं आदि से प्रभावित होकर अपना सनातन कर्त्तव्यनिष्ठात्मक लक्ष्य विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। दिग्देशकालनिबन्धन सर्वविनाशक भूत-भौतिक संहारास्त्रों से कदापि मानव को विकम्पित नहीं हो जाना चाहिए। दिग्देशकालनिबन्धन, गन्धर्वनगरवत् आत्मप्रदर्शित तात्कालिक चमत्कारपूर्ण तात्कालिक-अनुकूलता-सुख-सुविधा-जनक, किन्तु परिणामतः मानवीय जीवनरस के सर्वविनाशक भौतिक आविष्कारों से कदापि मानव को प्रभावित नहीं होना चाहिए। क्योंकि मानवता अजर है अमर है शाश्वत है, सनातन है ध्रुव है कालातीत है। अतएव किसी भी प्रकार का दिग्देशकाल-विजृम्भण उसे विकम्पित नहीं कर सकता नहीं कर सका आजतक नहीं कर सकेगा कभी भी। उस अनाद्यनन्ता दिग्देशकालातीता 'मानवता' का ही हम पुनः पुनः माङ्गलिक संस्मरण कर रहे हैं।

६०५–सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त विरोधी तत्त्वों को निष्फल प्रमाणित करते रहने वाले महान् मानव की महती निष्ठा का ऐतिहासिक-संस्मरण—

दिग्देशकालानुबन्धी अतएव मनःशरीरप्रधान 'मानवेतिहास' ही इस दिशा में ज्वलन्त प्रमाण है कि, सृष्टि के आरम्भ से अद्ययावत् पर्य्यन्त तत्तत् विभिन्न शताब्दियों सहस्राब्दियों सभ्यता-संस्कृति-युगों में मानव की मानवता के अन्यतम शत्रु भिन्न भिन्न भी आततायी-बर्बर-दस्युओं ने जैसे जैसे भी प्रचण्ड-दुर्धर्ष-आक्रमण किए इस मानवता पर, उन सब घोरघोरतम घातक आक्रमणों से केवल अपने बाह्य-दिग्देशकालानुबन्धी मनःशरीरभावों को ही अवश्य प्रभावित करते हुए 'मानवता' ने अपने आत्मबुद्धि-निबन्धन मौलिक-'मानवता' पर्व को तो सर्वथा सुरक्षित ही बनाए रक्खा। और वे आततायिक भी दुर्धर्ष आक्रमण मानव की आत्मबुद्धिनिबन्धना 'मानवता' का स्पर्श भी नहीं कर सके आजतक। अवश्य ही तत्तद्युगों में तत्तद्युगों के क्षणिक प्रभावों, अनुबन्धों से मानव की *मनःशरीरनिबन्धना* भावुकता यथायुगानुरूप से प्रभावित भी होती रही। किन्तु कदापि किसी भी युग में आत्मबुद्धिनिबन्धना निष्ठा लक्षणा 'मानवता' यत्किञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं हो सकी किसी भी तात्कालिक युगधर्म्म से।

---

*–कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिशम्॥
—महाभारत उद्यो० ६८ अ०।

६०७—ब्रह्मास्त्र-वारुणास्त्र-आग्नेयास्त्र वायव्यास्त्रादि महाभारतयुगीय संहारक-महतो-महीयान् प्राकृतिक-विजृम्भणों से अप्रभावित अविकम्पित महान् मानव—

हमारे समय के 'वैज्ञानिक चमत्कार' जैसी दम्भपूर्ण घोषणा करने वाले अपने चमत्कारों से 'मानवता' को अभिभूत करने का व्यर्थ प्रयास करते रहने वाले वर्तमानयुग के भूतविज्ञानवादी सम्भवतः ही क्यों, निरवधनेन यह विस्मृत ही कर जाते हैं कि और किसी भूखण्ड के मानव के लिए भले ही भौतिक विज्ञान के ये विजृम्भण अद्भुत-अभूत-पूर्व ही हों। अतएव सम्भव है—उन भूखण्डों के प्राकृत मानव इन वैज्ञानिक विजृम्भणों से प्रभावित, अतएव विस्मित हुए हों। किन्तु नित्यप्राणमूर्ति 'भारत अग्निवर्ष' के प्रतीकरूप इस भरतखण्ड आर्य्यावर्त्त नामक भूखण्ड के आत्मा-देवप्राणप्रधान अतएव आत्मनुद्धिनिष्ठ भारतीय मानव की दृष्टि में तो इन भूतविज्ञानों का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है। क्योंकि इसने अपने पूर्व युगों में आज के अस्त्रों से भी कहीं अधिक शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र-वारुणास्त्र-वायव्यास्त्र-आग्नेयास्त्र-जैसे सर्वस्वसंहारक शस्त्रास्त्रों का न केवल नाम ही सुन रक्खा है, अपितु निकटपूर्व के पाँच सहस्र वर्ष के सुप्रसिद्ध महाभारतयुग में इन का साक्षात्कारात्मक उपयोग भी कर लिया है, एवं इनके मानवताविरोधी भीषण परिणामों का साक्षात्कार भी कर लिया है।

६०८—सौमविमान, हर्य्यश्वविमान नगरविमान आदि देवयुगीय भौतिक-वैज्ञानिक-आविष्कारों का भी उपहास करने वाला चिरपुरातन, चिरनूतन महान् नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ—

एवमेव सौमविमान हर्य्यश्वविमान नगरविमान पुष्पकविमान-आशु-विमान-याम-नामक सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत कामगामी दिव्य यमन दिव्य नौका विधि च सुविचरन्त्याहतगतियुक्त भरतयुग्म आदि आदि परःशत भौतिक आविष्कारों का भी साक्षात्कार कर लिया है इस देश की मानवता ने। मयोपसंहारन के परवर्त्ती विद्वान् मयासुर के नवीन यन्त्र-सूत्र-निर्म्माण के युग भी देख लिए हैं इस देश की मानवता ने। निष्कर्षतः—आज जिन्हें—अद्भुत—असम्भव—विलक्षण—चमत्कार माना और मनवाने का प्रयत्न किया जा रहा है, इन्हीं दम्भों के माध्यम से जिस निर्म्ममता के साथ आज 'मानव' की 'मानवता' को विकम्पित करने के दुःस्वप्न देखे जा रहे हैं, एतद्देशीय मानव की मानवता ने अपने पूर्वयुगों में ऐसे दर्प-दम्भों से भी कहीं महतोमहीयान् दर्पदम्भों का सान्निध्य प्राप्त कर रक्खा है जिन की महत्ता की तो कल्पना करने में भी आज के भूतविज्ञानवादी को अभी अनेक शताब्दियाँ ही लग सकती हैं। उन यथयावत् वैज्ञानिक विजृम्भणों का, तदनुप्राणित महायन्त्रों को अनुकूलता—सुखसुविधा जनक आविष्कारों को कदापि अपने युगों में इस देश की मानवता ने सर्वसुलभ नहीं होने दिया एकमात्र 'मानवता' के हितानुबन्ध से ही। अपितु इन भौतिक-कालिक-चामत्कारिक-विजृम्भणों पर 'महाऽऽत्मात्मिका' 'मानवता' का नियन्त्रण ही रहा इस देश की सुव्यवस्था के द्वारा। कदापि यह उन्मुक्तता से इन विजृम्भणों को सार्वजनिक बनाने की अनुज्ञा प्रदान नहीं करसकी एकमात्र 'मानवता' के अनुरोध से ही। भारतीय-महर्षिप्रज्ञा-प्रतिभाने जिन विशिष्टतम शिल्पों-साधनों-सभा-सम्य-यान-व्यवस्थाओं का सर्जन किया, यथाशास्त्र यथाकाल वैसा नियमन-व्यवस्थापन किया इन लोकमुक्तों का साथ ही इन सब महान्-समारम्भों का सर्जन करते हुए भी इसने अपनी 'मानवता' को विक

कौशल से ऋजुतापूर्वक अनुकूल बनाए रक्खा उन सब महत्वाओं के, तथाविध समन्वयात्मक कौशलों के समतुलन में तो यत्किञ्चित् भी तो महत्व नहीं है आज की स्वस्थतमा नगण्या इन भौतिक-विभीषिकाओं का।

६०९–मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीडक मूर्त्तकाल, एवं नियन्त्रित-मूर्त्तकालानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर यहां–'कालः कालेन पीड्यन्' के माध्यम से भौतिक विज्रम्भणों को नियन्त्रित–सीमित रक्खा तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अलङ्करणरूप उन आत्मसंरक्षक-प्रजाविज्ञानों, तदनुबन्धी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का सर्वबलिनकम से विस्तार भी किया, जिस प्रजाविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान के बलपर ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्थतापूर्वक प्रक्रान्त रहीं। अतएव संरक्षक वो यज्ञविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा *। विध्वंसक सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही निर्बाध्य रहे, वो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ सदा समादरणीय रहे, जबकि प्रमादित यह कभी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित भूतविज्ञानों, तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रही-न कदापि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी भौतिक–प्राणात्मक–अनुबन्ध से प्रभावित नहीं हुई। फलस्वरूप कदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न करसके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। कदापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्म्मों के गर्भ में समाविष्ट न होसकी। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इसने कभी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०–कालातीत अनन्तभाव के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्नियन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुबन्ध से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रिया के प्रतिरूपात्मक श्रुति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, तदुपदिष्ट सत्ताभाव के प्रति तदनुप्राणिता आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा सुरक्षित रखने वाला शाश्वत–सनातन–ब्रह्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव आर्य्यमर्य्यादीय मानवधर्म्मों के द्वारा सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत यह भारतीय हिन्दू-मानव दिव्यप्राणात्मिका भारत अग्नि के प्रतिरूपात्मक परम धन्य पावन भारतराष्ट्र का यह आर्य्य सनातन मानव सृष्ट्यारम्भ से अद्यप्रभृति 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इसी सनातन–मानवता का सम्पूर्ण विश्व

---

* सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

— प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (कठोपनिषत्)

में उद्घोष ही करता हुआ अपनी 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' इस निष्ठा को अक्षरशः अन्वर्थ ही प्रमाणित करता आरहा है। जब कि इतरभूता अनेक व मानवजातियाँ तत्तद्दिग्देशकालानुबन्धिनी तत्तत्-सामयिक-मानुकताओं के प्रवाह में प्रवाहित होतीं हुई, तत्तद्युगीय भौतिक निमृम्भणों के प्रभाव से अपनी मानवता को प्रभावित करतीं हुईं अनन्तर में ही विस्मृति के गर्भ में ही विलीन हो गई, जिनका नाम भी इतिहास के पत्रों से धुल-पुँछ गया है। मानते हैं-अपनी मानवतानुबन्धिनी सहजनिष्ठा की सनातनता के साथ विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय हिन्दूमानव भी अपनी 'मानवता' को मानुकता की अनुगामिनी बनाता आ रहा है। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही हमें इस जाति की इस आस्था पर भी पूर्ण निष्ठा है कि मानुकता की चरमसीमा पर पहुँचते ही इस जाति की मानवतानुबन्धिनी सनातननिष्ठा सहसा पुनः प्रचण्डरूप से जाग्रत हो ही तो पड़ती है जिसका आक्रमपूर्वक राष्ट्रीय आन्दोलनों में हमें अपने वर्त्तमान भौतिक काल में ही प्रत्यक्ष दर्शन हो चुका है।

६११-आत्मधृतिपरायण, सुसांस्कृतिक भारतीय 'हिन्दू-मानव' के सम्बन्ध में दिग्देश कालभ्रान्ता-प्रज्ञाओं की भ्रान्तिपूर्णा कल्पनाएँ, तन्निकारण, एवं इसकी महती मनिष्ठा का सस्मरण—

मानवता के साथ अपनी निष्ठा का अन्तर्व्यामसम्बन्ध से हम्मूल नाए रखने वाले भारतीय हिन्दू-मानव के आत्मसमदर्शनमूलक साम्य को भी कभी कभी प्रत्यक्ष से प्रमाणित होने वाले मन्दप्रज्ञ इसे निरा मानुक ही मान बैठने की भयानक भूल कर बैठते हैं। इसका यह सहज सामान्य सर्वभूतहितरति विश्वहितैषिता ही कभी कभी इसके निर्बल पक्ष मान लिए जाते हैं दिग्देशकालविमूढ दुर्योधन-सदृश कुनैष्ठिकों के द्वारा। इसी भ्रान्ति से यह जाति उत्पीड़ित-उपेक्षित भी मान ली जाती है कालविमुग्ध शाठ्यचतुर-चाणाक्यों के द्वारा इसी भ्रान्ति से वह जाति उत्पीड़ित-उपेक्षित भी मान ली जाती है कालविमुग्ध शाठ्यचतुर-चाणाक्यों के द्वारा वैदाकि ब्रिटिशसत्ताधारकों ने एक ही कुछ मानना मनवाने की भ्रान्ति कर डाली थी जिस भ्रान्ति के दुष्परि-णाम उस शीघ्र ही मान लेने पड़े। और हम भूल नहीं कर रहे, तो उस ब्रिटिशसत्तातन्त्र के विगुदशकालात्मक-तात्कालिक-भौतिक विधि विधानों को ही अपना 'संविधान' मानने मनवाने के लिए प्रतिक्षण आतुर बन रहने वाला भारतराष्ट्र का वर्त्तमान 'सत्तातन्त्र' भी 'मानवता' के एक-मात्र सन्देशवाहक किन्तु कुछ समय से बहिर्भावुक बन रहने वाले 'हिन्दूमानव' के प्रति वैसी सी ही कुछ भूल करता जा रहा है, जिस बहिर्भावुक, किन्तु अन्तर्निष्ठ इस हिन्दूमानव के सघस्व दान से ही तो वर्त्तमान सत्तातन्त्र का जन्म हुआ है, जिसके अनुग्रहदान से ही जो सत्तातन्त्र आश्रित है एवं जिसकी कृपा से ही जो जीवित रह सकता है, जीवित रहेगा निश्चयेन जीवित रहेगा ही।

६१२-सनातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की सनातना-संस्कृति, सनातना शिष्टता, तद्-नुप्राणिता धृति, एवं तदनुग्रह से ही इसके सांस्कृतिक-कालातीत-स्वरूप का सुर क्षित सनातन प्रवाह—

हमारी आस्था है कि, यह सनातन हिन्दूमानव वर्त्तमान सत्तातन्त्र की इतरभूता निरपेक्षता से अपनी मानवता को ही उद्बुद्ध करेगा। यद्यपि यह अपनी उस मानवता को इस दिग्देशकालानुरूपी तात्कालिक

विनयस्य फलमाह—सीलमित्यादि। यतः विनयात्, शीलं=मूलोत्तरगुणलक्षणं प्रतिलभेत=प्राप्नुयात्। अनेन विनयस्य फलं शीलप्राप्तिरित्युक्तम्। शीलस्यापि फलं प्रदर्शयन्नाह—'बुद्धपुत्त' इत्यादि। बुद्धपुत्रः—बुद्धस्य=आचार्यस्य पुत्र इव पुत्रः—शीलधारी शिष्यः, पुत्रशिष्ययोः शिक्षणीयतया साम्यात्; अतएव नियागार्थी—नियागो=मोक्षस्तमर्थयतीति नियागार्थी—मोक्षाभिलाषी कुतश्चित्=कुलगणगच्छतः न निष्कास्यते=न बहिष्क्रियते। अयं भावः—विनीतः कुलगणगच्छानां सर्वेषा-

---

अब उपसंहार करते हैं—'तम्हा' इत्यादि।

अन्वयार्थ—अतः (तम्हा-तस्मात्) अविनीत शिष्य की सर्व जगह दुर्दशा होती है साधु का कर्तव्य है कि वह (विणयं-विनयम्) विनयरूप धर्मका (एसिज्जा-एषयेत्) पालन करे। इस विनय धर्म के पालन करनेका क्या फल है—इस बातको (सील पडिलभेज्जओ—शील प्रतिलभेत यतः) इस पद द्वारा सूत्रकार प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह विनयधर्म, आचरित होने से आचरण करने वाले साधु के लिये मूलगुण और उत्तरगुणोंकी प्राप्ति कराता है। शील की प्राप्ति होने से वह शीलधारी शिष्य (बुद्धपुत्ते नियागट्ठी—बुद्धपुत्र नियागार्थी) गुरुजनों की दृष्टि में अपना पुत्र जैसा हो जाता है। क्यों कि पुत्र शिक्षणीय होता है और वैसे शिष्य भी शिक्षणीय होता है। इसी विचार से शिष्य को यहां पुत्र जैसा बतलाया गया है जब वह गुरु कृपा का पात्र हर तरह से हो जाता है तब यह बात भी स्वतः उसके हृदय में स्थान

હવે ઉપસંહાર કરે છે—'तम्हा' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—એટલા માટે (तम्हा-तस्मात्) અવિનીત શિષ્યની સર્વ સ્થળે દુર્દશા થાય છે સાધુનું કર્તવ્ય છે કે તે (विणय-विनयम्) વિનયરૂપ ધર્મનું (एसिज्जा-एषयेत्) પાલન કરે. આ વિનય ધર્મનું પાલન કરવાનું શું ફળ છે આ વાતને (सील पडिलभेज्जओ—शील प्रति लभेत यतः) આ પદ દ્વારા સૂત્રકાર પ્રગટ કરતા કહે છે કે આ વિનય ધર્મ આચરિત હોવાથી આચરણ કરવાવાળા સાધુને માટે મુળગુણ અને ઉત્તર ગુણોની પ્રાપ્તિ કરાવે છે શીલની પ્રાપ્તિ થવાથી એ શીલધારી શિષ્ય (बुद्धपुत्ते नियागट्ठी—बुद्ध-पुत्रः नियागार्थी) ગુરૂજનોની દ્રષ્ટીમા પોતાના પુત્ર જેવો બની જાય છે કેમકે પુત્ર શિક્ષણીય હોય છે અને આવા શિષ્ય પણ શિક્ષણીય હોય છે આ વિચારથી શિષ્યને અહિં પુત્ર જેવો બતાવવામા આવેલ છે જ્યારે તે ગુરૂકૃપાને પાત્ર દરેક રીતે બને છે ત્યારે આ વાત પણ સ્વતઃ એના દિલમા સ્થાન કરી જાય છે કે

में उद्घोष ही करता हुआ अपनी 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' इस निष्ठा को अक्षरशः अन्वर्थ ही प्रमाणित करता आ रहा है जब कि इतरभूता अनेक वे मानवजातियाँ तत्तद्दिग्देशकालानुबन्धिनी तत्तत्-सामयिक-मातुकताओं के प्रवाह में प्रवाहित होतीं हुई, तत्तद्युगीय भौतिक विजृम्भणा के प्रभाव से अपनी मानवता को प्रभावित करतीं हुई अल्पसमय में ही विस्मृति के गर्त में ही विलीन हो गईं, जिनका नाम भी इतिहास के पत्रों में धुल-पुँछ गया है। मानते हैं--अपनी मानवतानुबन्धिनी सहजनिष्ठा की 'सनातनता' के साथ विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय हिन्दूमानव भी अपनी 'मानवता' को मातुकता की अनुगामिनी बनाता आ रहा है। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही हमें इस जाति की इस आस्था पर भी पूर्ण निष्ठा है कि मातुकता की चरमसीमा पर पहुँचते ही इस जाति की मानवतानुबन्धिनी सनातननिष्ठा सहसा पुनः प्रत्यक्षरूप से आगत हो ही तो पड़ती है जिसका आग्रहपूर्वक राष्ट्रीय आन्दोलनों में हमें अपने वर्त्तमान भौतिक काल में ही प्रत्यक्ष दर्शन हो चुका है।

६११–आत्मश्रुतिपरायण, सुसांस्कृतिक भारतीय 'हिन्दू-मानव' के सम्बन्ध में दिग्देशकालभ्रान्ता-प्रज्ञाओं की भ्रान्तिपूर्णा कल्पनाएँ, तन्निवारण, एवं इसकी महती मन्निष्ठा का संस्मरण—

मानवता के साथ अपनी निष्ठा का अन्तर्य्यामिसम्बन्ध से हृन्मूल नाता रखने वाले भारतीय हिन्दू-मानव के इस ममनदर्शनमूलक साम्य को भी कभी कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाले मन्दप्रज्ञ इसे नित्य मातुक ही मान बैठने की भयानक भूल कर बैठते हैं। इसका यह सहज औदार्य्य सर्वभूतहितरति, निर्व्वैरिता ही कभी कभी इसके निर्बल पक्ष मान लिए जाते हैं दिग्देशकालविमूढ दुर्य्योधन-प्रज्ञा कुनैष्ठिकों के द्वारा। इसी भ्रान्ति से यह जाति उत्पीड़ित-उपेक्षित भी मान ली जाती है कालविमुग्ध लोकचतुर-चाणक्यों के द्वारा जैसाकि ब्रिटिशसत्तात्मने एवं ही कुछ मानने मनवाने की भ्रान्ति कर डाली थी जिस भ्रान्ति के दुष्परिणाम उसे शीघ्र ही भोग लेने पड़े। और हम भूल नहीं कर रहे, तो उस ब्रिटिशसत्तातन्त्र के दिग्देशकालात्मक-तात्कालिक-भौतिक विधि विधानों को ही अपना 'संविधान' मानने मनवाने के लिए प्रतिक्षण आतुर बने रहने वाला भारतराष्ट्र का वर्त्तमान 'सत्तातन्त्र' भी 'मानवता' के एकमात्र सन्देशवाहक किन्तु कुछ समय से बहिर्भावुक बने रहने वाले 'हिन्दूमानव' के प्रति वैसी सी ही एक भूल करता जा रहा है, जिस बहिर्भावुक किन्तु अन्तर्निष्ठ इस हिन्दूमानव के सर्वस्व दान से ही तो वर्त्तमान सत्तातन्त्र का जन्म हुआ है, जिसके अनुग्रहदान से ही जो सत्तातन्त्र जीवित है एवं जिसकी कृपा से ही जो जीवित रह सकता है, जीवित रहेगा निश्चयेन जीवित रहेगा ही।

६१२–सनातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की सनातना-संस्कृति, सनातना-शिष्टता, तद्-नुप्राणिता धृति, एवं तदनुग्रह से ही इसके सांस्कृतिक-कालातीत-स्वरूप का सुरक्षित सनातन-प्रवाह—

हमारी आस्था है कि, यह सनातन-हिन्दूमानव' वर्त्तमान सत्तातन्त्र की इतरभूता निरपेक्षता से अपनी मानवता को ही उद्बुद्ध करेगा। क्यापि यह अपनी उस मानवता को इस दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक

कौशल से मनुष्यतापूर्वक सुरक्षित बनाए रक्खा, उन सब महत्वाओं के यथाविध समन्वयात्मक कौशलों के समतुलन में तो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आज की स्वल्पक्षमा नगण्या इन भौतिक-विभीषिकाओं का।

६०९—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीडक भूतविज्ञान, एवं नियन्त्रित-भूतविज्ञानानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर महा–'फार्स कमलेन पीवयन्' के माध्यम से भौतिक विभूम्भणों को नियन्त्रित–सीमित रक्खा, तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अलङ्करणरूप उन आत्मसंरक्षक-सर्वाधि-ष्ठानीय तदनुबन्धी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का सार्वजनिकरूप से विस्तार भी किया जिस ब्रह्मविज्ञाना-त्मक यज्ञविज्ञान के बलपर ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्थतापूर्वक प्रक्रान्त रहीं। अतएव तदात्मक जो यज्ञविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा *। निष्कर्ष सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही नियन्त्रित रहे, तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ सदा समाश्रयणीय रहे, जबकि प्रमाणित यह कभी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित भूतविज्ञानों तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रही। कदापि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी भौतिक–प्राणात्मक–अनुबन्ध से प्रभावित नहीं हुई। फलस्वरूप कदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न कर सके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। कदापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्म्मों के गर्भ में समाविष्ट न हो सकी। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इसने कभी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०—कालातीत अनन्तभाव के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्मयन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुबन्ध से ही यह भारतीय मानव श्रुतिस्मृता के प्रतिकृत्यात्मक श्रुति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति तन्मूलक सदाचार के प्रति तदनुप्राणिता आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा सुरक्षित रखने वाला शाश्वत–सनातन–धर्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव आर्य्यवंशीय मानवधर्म्मों के साथ सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत यह भारतीय हिन्दू–मानव विश्वमानवाग्निरूप भारत भूमि के प्रतिरूपात्मक परम धन्य पावन भारतराष्ट्र का यह आर्य सनातन मानव सृष्ट्यारम्भ से अद्यप्रभृति 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इसी सनातन–मानवता का सम्पूर्ण विश्व

---

* सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

— प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (कठोपनिषत्)

में उद्घार ही करता हुआ अपनी 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' इस निष्ठा को अक्षरशः अन्वर्थ ही प्रमाणित करता आ रहा है जब कि इत्थंभूता अनेक मानवजातियाँ तत्तद्दिग्देशकालानुबन्धिनी तत्कालसामयिक-भावुकताओं के प्रवाह में प्रवाहित होती हुई, तत्तदभौम भौतिक-विज्ञम्भणों के प्रभाव से अपनी मानवता को प्रभावित करती हुई असमय में ही विस्मृति के गर्भ में ही विलीन हो गईं, जिनका नाम भी इतिहास के पत्रों से धुल-पुँछ गया है। मानते हैं—अपनी मानवतानुबन्धिनी सहजनिष्ठा की सनातनता के साथ विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय 'हिन्दूमानव' भी अपनी 'मानवता' को भावुकता की अनुगामिनी बनाता आ रहा है। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही हमें इस जाति की इस आस्था पर भी पूर्ण निष्ठा है कि भावुकता की चरमसीमा पर पहुँचते ही इस जाति की मानवतानुबन्धिनी सनातननिष्ठा सहसा पुनः प्रचण्डरूप से आभ्व हो ही जा पड़ती है जिसका आलप्रपूर्ण राष्ट्रीय-आन्दोलनों में हमें अपने वर्तमान भौतिक काल में ही प्रत्यक्ष दर्शन हो चुका है।

६११–आत्मश्रुतिपरायण, सुसांस्कृतिक भारतीय 'हिन्दू-मानव' के सम्बन्ध में दिग्देशकालभ्रान्ता-प्रज्ञाओं की भ्रान्तिपूर्णा कल्पनाएँ, तन्निकारण, एवं इसकी महती मभिप्ठा का सस्मरण—

मानवता के साथ अपनी निष्ठा का अन्तर्यामिसम्बन्ध से इम्मूल नाद रखने वाले भारतीय हिन्दू-मानव के आत्मसमदर्शनमूलक साम्य को भी कभी कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाले मन्दप्रज्ञ इसे नितभावुक ही मान बैठने की भयानक भूल कर बैठते हैं। अमुम यह सहज सौजन्य सर्वभूतहितरति निर्वाहतैषिता ही कभी कभी इसके निर्बल पक्ष मान लिए जाते हैं दिग्देशकालविमुग्ध दुर्योधन-प्रज्ञ कुनैष्ठिकों के द्वारा। इसी भ्रान्ति से यह जाति उत्पीड़ित-उपेक्षित भी मान ली जाती है कालविमुग्ध लोकचतुर-चार्वाकों के द्वारा वैराग्गिक ब्रिटिशसत्तातन्त्रने एक ही कुछ मानने मनवाने की भ्रान्ति कर ली थी जिस भ्रान्ति के दुष्परिणाम उसे शीघ्र ही भोग लेने पड़े। और इस भूल नहीं कर रहे, तो उस ब्रिटिशसत्तातन्त्र के दिग्देशकालात्मक-तात्कालिक-भौतिक विधि विधानों को ही अपना 'संविधान' मानने मनवाने के लिए प्रतिक्षण आतुर बन रहने वाला भारतराष्ट्र का वर्तमान 'सत्तातन्त्र' भी 'मानवता' के एक-मात्र सन्देशवाहक किन्तु कुछ समय से बहिर्भावुक बने रहने वाले हिन्दूमानव के प्रति वैसी सी ही कुछ भूल करता जा रहा है, जिस बहिर्भावुक किन्तु अन्तर्निष्ठ इस हिन्दूमानव के सर्वस्व दान से ही तो वर्त्तमान सत्तातन्त्र का जन्म हुआ है जिसके अनुग्रहदान से ही जो सत्तातन्त्र जीवित है एवं जिसकी कृपा से ही जो जीवित रह सकता है, जीवित रहेगा निश्चयेन जीवित रहेगा ही।

६१२–सनातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की सनातना-संस्कृति, सनातना शिष्टता, तद्-नुप्राणिता धृति, एवं तदनुग्रह से ही इसके सांस्कृतिक-कालातीत-स्वरूप का सुरक्षित सनातन-प्रवाह—

हमारी आस्था है कि, यह सनातन-हिन्दूमानव' वर्तमान सत्तातन्त्र की इत्थंभूता निरपेक्षता से अपनी मानवता को ही उद्बुद्ध करेगा। कदापि यह अपनी उस मानवता को इस दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक

कौशल से सुकुशलतापूर्वक समतुलन बनाए रक्खा, उन सब महत्त्वों के तथाविध समन्वयात्मक कौशलों के समतुलन में जो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आज की स्वल्पक्षमा नगण्या इन भौतिक-विभीषिकाओं का।

६०६—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीडक मूर्त्तकाल, एवं नियन्त्रित-मूर्त्तकालानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर जहाँ—'कालं कालेन पीडयन्' के माध्यम से भौतिक विजृम्भणों को नियन्त्रित—सीमित रक्खा, वहाँ दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अनुसरणरूप उन आत्मसंरक्षक-प्राकृतिक ज्ञानों का, तदनुबन्धी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का सार्वजनिकरूप से विस्तार भी किया, जिन यज्ञविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान के बलपर ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्थतापूर्वक प्रशान्त रहीं। अतएव सरक्षक जो यज्ञविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा *। विध्वंसक सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही नियन्त्रित रहे तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ सदा समादरणीय रहे, जबकि प्रभावित यह कभी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित भूतविज्ञानों, तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रहीं। क्योंकि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी भौतिक—भावात्मक—अनुबन्ध से प्रभावित नहीं हुई। फलस्वरूप क्वापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न करसके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। क्वापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्म्मों के गर्भ में समाविष्ट न होसकी। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इसने कभी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०—कालातीत अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्नियन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुबन्ध से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रज्ञा के प्रतिस्पर्धात्मक श्रुति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, तल्लक्षित सत्यब्रह्म के प्रति तदनुप्राणिता आचारपरम्परा कर्त्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा सुरक्षित रखने वाला शाश्वत—सनातन—ब्रह्म का अनुगामी वह आस्तिक भारतीय मानव आर्य्यविश्वीय मानवश्रेष्ठों के द्वारा सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत वह भारतीय हिन्दू-मानव विश्वप्राणाग्निरूप भारत अग्नि के प्रतिस्पर्धात्मक परम पावन भारतराष्ट्र का यह आर्य सनातन मानव सृष्ट्यारम्भ से अद्यप्रभृति 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इसी सनातन—मानवता का सम्पूर्ण विश्व

---

* सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता

— प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (कठोपनिषत्)

में ही अन्तर्लीन होगया । "उसने सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न किया मनु को आविर्भूत किया, उसी ने काल से काल को पीड़ित किया, और यह सब विधि-विधान व्यवस्थित कर वह स्वयं परोक्ष बन गया" क्या तात्पर्य्य निकला ?। इस रहस्यपूर्ण सूक्ति के समन्वय के लिए ही तो 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' का आश्रय लिया गया है। कालात्मक इस विश्व का सञ्चालक जो कोई भी कालातीत अनन्त तत्त्व है वही अचिन्त्यपराक्रम वाली वह अचिन्त्य-अप्रतर्क्य-अप्रज्ञात-अलक्षण-सर्वविलक्षण-तत्त्व है जिसका हम अपनी सापेक्षा भाषा में 'प्रजापति' नाम रख लेते हैं जबकि 'प्रजासापेक्ष प्रजापति' नाम से भी कदापि उसका स्मरण सम्भव नहीं है। अतएव अन्ततोगत्वा उसका नाम 'स' ('वह') ही रख लिया जाता है जो 'स' शब्द अमुक सीमापर्य्यन्त सापेक्ष बनता हुआ भी अमुक सीमापर्य्यन्त निरपेक्ष भी बन रहा है। विश्वातीत-निर्विशेषानन्द रूप सर्वनिरपेक्ष तत्त्व ही 'वह' (सः) है जिससे मनु, और विश्व ये दो भाव अभिव्यक्त हुए। अणीयासमणो-रूप इस तत्त्व का ही नाम 'मनु' है, जिसका नाम है मूलप्रकृति इसीका नाम है परमकालात्मक परमदेव एवं यही है पराप्रकृतिरूप 'अक्षरकाल'। इस अक्षरकालात्मक मनु की व्यक्तावस्था का नाम ही है क्षरकाल यही है व्यक्तकाल एवं इसी का नाम है विश्व। इसप्रकार उस विश्वातीत-कालातीत अनन्तब्रह्मपुरुष से मनुरूप अक्षरकाल विश्वरूप क्षरकाल ये दो विवर्त्त ही आविर्भूत हुए। इन दोनों को उत्पन्न कर इन दोनों के लिए उसने क्या तो व्यवस्था की ?, एवं स्वयं अपने लिए उसने क्या निश्चय किया इनको उत्पन्न करने के अनन्तर ?-'आत्मन्यन्तर्दधे भूय: कालं कालेन पीडयन्' यह उत्तर-वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। 'मनुरूप अक्षरकालात्मक अनन्त-अव्यक्त-अमूर्त काल अपनी अनन्तमहिमामण्डलात्मिका महिमा के एक देश में महिमा के रूपान्तररूप से अभिव्यक्त होने वाले मन्वन्तररूप क्षरकालात्मक सादिसान्त व्यक्त-मूर्त-विश्वकाल को पीड़ित करता रहे' यह व्यवस्था यह विधि-विधान तो उस अनन्तब्रह्म की ओर से मनु, और विश्व (मनु, और मन्वन्तर अनन्तकाल, एवं विश्वकाल) इन दोनों प्राकृत विवर्त्तों के लिए व्यवस्थित हुआ एवं स्वयं अपने आप के लिए उसी की ओर से यह विधान व्यवस्थित हुआ कि-'आत्मन्यन्तर्दधे'। अर्थात् 'वह स्वयं अपनी महिमा में ही विलीन रहे'।

६१५-मानवीय-वचन के 'स' 'माम्' 'इदं सर्वम्'-पदों का तत्त्वार्थ समन्वय—

उक्त मनुवचन में 'स' 'माम्' 'इदं सर्वम्' इन तीन विवर्त्तों की ओर सङ्केत हुआ। 'स' को महर्षि ने 'अचिन्त्य (अचिन्त्यपराक्रम:)' बतलाया है। 'इदं सर्वम्' का संक्षिप्त 'अव्यक्ततत्त्व' (सृष्टं इदं सर्वम्) बतलाया है 'माम्' का अर्थ तो स्वत: ही 'मनु' है ही जिसे अन्यत्र स्वयं महर्षि ने अणी-यसमणोरपि अव्यक्त कहा है। यों व्यक्त-अव्यक्त से अतीततत्त्व अव्यक्ततत्त्व व्यक्ततत्त्व, ये तीन निष्कर्ष निकल जाते हैं स्पष्टरूप से ही 'स:-मां-इदंसर्वम्'-इन तीन शब्दों से। स्पष्ट ही 'कालं-कालेन' का क्रमशः 'व्यक्त-अव्यक्त' से सम्बन्ध प्रमाणित होजाता है। क्योंकि 'महान्' ही 'अल्प' का उत्पीड़क बना करता है। अव्यक्त मनु 'महान्' है, व्यक्तविश्व (इदं सर्वम्) स्वल्पतम है-अव्यक्तमनुरूप मां के समनु-लन में। अतएव उत्पीड़ककाल अव्यक्तमनुकाल ही ही सकता है एवं उत्पीड़ितकाल व्यक्तविश्वकाल ही सम्भव है। फलत: 'कालेन' का अर्थ 'मनुरूपेणाव्यक्तकालेन' होता है एवं 'कालं' का अर्थ 'विश्वरूप-व्यक्तकालम्' होता है। इस प्रक्रिया का सञ्चालक, इस अपेक्षा का पूरक वही अचिन्त्यपराक्रम-व्यक्ताव्यक्तातीत-

मैत्रीभाव से श्रद्धापूर्वक अनुकूल बनाए रक्खा उन सब महापात्रों के, तथाविध समन्वयात्मक कौशलों के समतुलन में तो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आज की स्वस्पतमा नगण्या इन मौलिक-विभीषिकाओं का।

६०९—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीड़क भूतकाल, एवं नियन्त्रित-भूत कालानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर जहाँ—'कालं कालेन पीडयन्' के माध्यम से मौलिक विभूम्भणों को नियन्त्रित—सीमित रक्खा, तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अलङ्करणरूप उन आत्मसंरक्षक-यज्ञविज्ञानों का तदनुबन्धी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का सार्वजनिकरूप से विस्तार भी किया जिस यज्ञविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान के आधार पर ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्थतापूर्वक प्रक्रान्त रहीं। अतएव सरक्षक वो यज्ञविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा *। विध्वंसक सभी विज्ञान जहाँ सदा से ही नियन्त्रित रहे, वो रक्षक सभी विज्ञान जहाँ सदा समादरणीय रहे जबकि प्रभावित यह कभी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित भूतविज्ञानों तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रही—न कदापि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी मौलिक—प्राणात्मक—अनुबन्ध से प्रभावित नहीं हुई। फलस्वरूप कदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न करसके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। कदापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्म्मों के गर्भ में समाविष्ट न होसकी। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इसने कभी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०—कालातीत अनन्तात्मा के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्नियन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुबन्ध से ही यह भारतीय मानव ऋषिप्रज्ञा के प्रतिरूपात्मक श्रुति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, तत्प्रतिष्ठ सदाचार के प्रति तदनुप्राणिता आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा सुरक्षित रखने वाला शाश्वत—सनातन—धर्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव आर्य्यकल्पीय मानवश्रेष्ठों के द्वारा सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत यह भारतीय हिन्दू-मानव विश्वप्रस्थानिरूप भारत भूमि के प्रतिरूपात्मक परम धन्य पावन भारतराष्ट्र का वह आर्य सनातन मानव सृष्ट्यारम्भ से अद्यप्रभृति 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इसी सनातन—मानवता का सम्पूर्ण विश्व

---

* सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

— प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (कठोपनिषत्)

में ही अन्तर्लीन होगया । "उसने सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न किया, मनु को आविर्भूत किया उसी ने काल से काल को पीड़ित किया, और यह सब विधि-विधान व्यवस्थित कर वह स्वयं परोक्ष बन गया", क्या तात्पर्य निकला ?। इस रहस्यपूर्णा सूक्ति के समन्वय के लिए ही तो 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' का आश्रय लिया गया है । कालात्मक इस विश्व का सञ्चालक जो कोई भी कालातीत अनन्त तत्त्व है वही अचिन्त्यपराक्रम शाली वह अचिन्त्य-अप्रतर्क्य-अप्रज्ञात-अलक्षण-अनिर्लक्षण-तत्त्व है जिसको हम अपनी अपेक्षा मात्र में 'प्रजापति' नाम दे लेते हैं जबकि प्रजासापेक्ष प्रजापति' नाम से भी कदापि उसका संग्रह सम्भव नहीं है । अतएव अन्ततोगत्वा उसका नाम 'स' ('वह') ही रख लिया जाता है, जो 'सः' शब्द अमुक सीमापर्य्यन्त सापेक्ष बनता हुआ भी अमुक सीमापर्य्यन्त निरपेक्ष भी बन रहा है । विश्वातीत-निर्विशेषानन्त रूप सर्वनिरपेक्ष तत्त्व ही वह (सः) है जिससे मनु, और विश्व ये दो भाव अभिव्यक्त हुए । अणीयांसमणो-रूप इस तत्त्व का ही नाम 'मनु' है जिसका नाम है मूलप्रकृति, इसीका नाम है परमकालात्मक परमदृव, एवं यही है पराप्रकृतिरूप 'अक्षरकाल' । इस अक्षरकालात्मक मनु की व्यक्तावस्था का नाम ही है क्षरकाल वही है व्यक्तकाल एवं इसी का नाम है विश्व । इसप्रकार उस विश्वातीत-कालातीत अनन्तब्रह्मपुरुष से मनुरूप अक्षरकाल, विश्वरूप क्षरकाल ये दो विवर्त्त ही आविर्भूत हुए । इन दोनों को उत्पन्न कर इन दोनों के लिए उसने क्या तो व्यवस्था की ? एवं स्वयं अपने लिए उसने क्या निश्चय किया इनको उत्पन्न करने के अनन्तर ?– 'आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्' यह उत्तर-वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है । 'मनुरूप अक्षरकालात्मक अनन्त-अव्यक्त-अमूर्त्त काल अपनी अनन्तमहिमामयकलात्मिका महिमा के एक देश में महिमा के व्यक्तरूप से अभिव्यक्त होने वाले मन्वन्तररूप क्षरकालात्मक सादिसान्त व्यक्त-मूर्त्त-विश्वकाल को पीड़ित करता रहे' यह व्यवस्था यह विधि-विधान तो उस अनन्तब्रह्म की ओर से मनु, और विश्व (मनु, और मन्वन्तर अनन्तकाल एवं विश्वकाल) इन दोनों मौलिक विवर्त्तों के लिए व्यवस्थित हुआ एवं स्वयं अपने आप के लिए उसी की ओर से यह विधान व्यवस्थित हुआ कि- 'आत्मन्यन्तर्दधे' । अर्थात् वह स्वयं अपनी महिमा में ही विलीन रहे ।

६१५-मानवीय-वचन के 'स' 'माम्' 'इदं सर्वम्'-पदों का तत्त्वार्थ समन्वय—

उक्त मनुवचन में 'स' 'माम्', इदं सर्वम्' इन तीन विवर्त्तों की ओर सङ्केत हुआ । हे 'स' को ऋषि ने 'अचिन्त्य (अचिन्त्यपराक्रम' बतलाया है । इदं सर्वम्' को सर्वत्र 'अव्यक्तस्तत्त्व' (सप्तद्वेधं सप्तम्) बतलाया है 'माम्' का अर्थ तो स्पष्ट ही 'मनु' है ही जिसे अन्यत्र स्वयं ऋषिने अणी-यांसमणोरपि अव्यक्त कहा है । यों व्यक्त-अव्यक्त से अतीततत्त्व अव्यक्ततत्त्व, व्यक्ततत्त्व, ये तीन निष्कर्ष निकल आते हैं सहजरूप से ही सः-मां-इदंसर्वम्-इन तीन शब्दों से । स्पष्ट ही 'काल-कालेन' का क्रमशः 'व्यक्त-अव्यक्त' से समन्वय प्रमाणित होजाता है । क्योंकि 'महान्' ही 'अल्प' का उत्पीड़क बना करता है । अव्यक्त मनु महान्' है, व्यक्तविश्व (इदं सर्वम्) स्वल्पतम है-अव्यक्तमनुरूप मां के समतु-लन में । अतएव उत्पीड़ककाल अव्यक्तमनुकाल ही हो सकता है, एवं उत्पीड़ितकाल व्यक्तविश्वकाल ही होसकता है । फलतः 'कालेन' का अर्थ मनुरूपेणाव्यक्तकालेन' होता है एवं- काल' का अर्थ विश्वरूप-व्यक्तकालम्' होता है । इस प्रक्रिया का समर्थक, इस अपेक्षा का पूरक वही अचिन्त्यपराक्रम-व्यक्ताव्यक्तातीत-

विकम्पन से विकम्पित न होने देगा, जिस मानवताने ही इसे 'अमृतपुत्र' की उपाधि से आवश्यक समन्वित रक्खा है। कदापि इसे तात्कालिक उन प्रतिक्रियाभावों का संस्मरण भी नहीं ही करना होगा, जो उद्वेजनापूर्णा प्रतिक्रिया 'मानवता' के लिए अभिशाप ही मानी गई है। अपितु अपने इस मानसिक-शारीरिक उत्पीड़न को भगवान् का वरदान ही मानते हुए अपनी उस भावुकता का परित्याग ही कर देना चाहिए इसे जिस भावुकताने ही इसे विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्पीड़ित कर रक्खा है। स्वयं इसे अपने उद्बोधन को अपने निष्ठातत्त्व के आगरण में ही समर्पित कर देना है एवं स्वयं दिग्देशकालानुबन्धों का संरक्षण करते हुए दिग्देशकालातीता उस 'मूलसंस्कृति' के ही अनुशीलन में इसे अविलम्ब ही प्रवृत्त हो ही जाना है जिसके स्वरूपबोधाभाव से ही यह आज इतर जातियों की भांति सर्वात्मना नहीं तो अंशतः तो तात्कालिक युग-प्रभावों से अभिभूत हो ही पड़ा है। यही अभिभूति इसे आज उत्पीड़ित किए हुए है। अपने इस उत्पीड़न को उत्पीड़ित वर्त्तमान काल के प्रति ही धन्यवाद समर्पित करते हुए इसे उस अनन्तस्वरूप अनन्त दिक् अनन्त देशरूप महाकाल को ही अपना लक्ष्य बना लेना है जिसके नियन्त्रण से नियन्त्रित कालिक उत्पीड़न कदापि नैष्ठिक मानव को उत्पीड़ित नहीं करसकता। 'दिग्देशकालमीमांसा' के माध्यम से-'भारतीय हिन्दूमानव और उसकी भावुकता' नामक उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध के प्रस्तुत चतुर्थखण्ड के द्वारा भारतीय आस्तिक सनातन हिन्दूमानव की महती मानवता का ध्यान हम अत्यन्त प्रयत्नभाव से इसी तथाकथित 'यत्किञ्चित्-संशोधन' की ओर आकर्षित करना चाहते हैं जिस संशोधनका रहस्यात्मक समन्वय मानवतानुबन्धी महान् मानवधर्म्म के सर्वश्रेष्ठ विधाता भगवान् मनु के- 'कालं कालेन पीडयन्' इस महान् उद्बोधनसूत्र के गर्भ में ही पिनद्ध-सुरक्षित है। इस सूत्र के समन्वय की भावुकतापूर्णा धृष्टता करने के लिए ही हमें 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' जैसे गहन-गम्भीर तात्त्विक विषय में प्रवृत्त होना पड़ा है उसी महान् काल की प्रेरणा से।

६१३-'आत्मन्यन्तर्दधे भूय कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'कालं कालेन पीडयन्' यह यत्किञ्चित्-संशोधन अपेक्षित बन रहा है। 'काल से काल को पीड़ित करता हुआ' वाक्य अपनी अपेक्षा से 'कौन पीड़ित कर रहा है काल से काल को ?' इस प्रश्न का ही प्रेरक बन रहा है जिस इस सम्प्रश्नात्मक अपेक्षाभाव के समन्वय के लिए हमें एकबार पुनः राजर्षि मनु की उस सूक्ति का सर्वात्मना संस्मरण कर लेना चाहिए निम्न लिखितरूप से जिससे स्वतः ही मानव की सापेक्षता उपशान्त हो जाती है—

> एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ॥
> आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥
> —मनु' १।५१।

६१४-'आत्मन्यन्तर्दधे' वाक्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

श्लोक का अक्षरार्थ यही है कि- अचिन्त्य पराक्रमशाली यह प्रजापति इस सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न कर तथा मुझे (मनु को) उत्पन्न कर काल से काल को पीड़ित करता हुआ स्वयं अपने आप

से सौरसम्वत्सरकाल पीड़ित है सम्व्याप्त है। परमेष्ठीकाल की महिमा से अनन्त बने रहने वाला अतएव विश्व द्रप्सकालात्मक 'मन्वन्तरकाल' नाम से प्रसिद्ध होजाने वाले सौरसम्वत्सरकाल से पार्थिवसम्वत्सरकाल पीड़ित है सम्व्याप्त है। अनन्त सौरकाल की महिमा से अनन्त बन रहने वाले अतएव विराट्काल नाम से प्रसिद्ध होजाने वाले पार्थिवसम्वत्सरकाल से 'चान्द्रसम्वत्सरकाल पीड़ित है। अनन्त पार्थिवकाल की महिमा से महान् बन रहने वाले, अतएव 'महान्काल' * नाम से प्रसिद्ध 'चान्द्रसम्वत्सरकाल' से अयन–ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्र–निमेषादि सब कालपर्व अणिमा–महिमाक्रमेण–पूर्व–पूर्व से उत्तर–उत्तर उत्पीड़ित हैं। एवं इन चान्द्रकालपर्वों का ही अन्तिम परिणाम है–भूत–भौतिक पदार्थ। वा इस पारस्परिक पीड़न के रहस्य–समन्वय के माध्यम से जहाँ मानव के लिए अनन्त के महिमारूप बनते हुए अनुत्पीड़क हैं, वहाँ इनके इसी मर्त्य–सीमारूप से इन्हीं में व्याप्य–व्यापक होजाने से ही भूत–भौतिक काल अपने इस मर्त्य परिणामभाव से मानव के लिए सर्वथा उत्पीड़क, क्षयावह ही बन जाया करते हैं। अतएव मानव को अपने प्रकान्त भौतिक जीवन में इन सब भूतों को व्यक्तकालों को उस अनन्तकाल से पीड़ित करते हुए ही कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहना चाहिए कालातीत–अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में सतत जागरूक रहते हुए ही।

६१८–'अनन्त' से सतत उत्पीड़ित 'अन्त' की 'अन्ततोगत्वा' अनन्तता में परिणति, एवं तत्सम्बन्ध में आचारात्मक पक्ष का स्वरूप दिग्दर्शन—

'अन्त' जब 'अनन्त' से त्यक्त होता रहता है तो उस दशा में अन्ततोगत्वा अन्त को 'अनन्त' ही बन जाना पड़ता है। स्वतः निरन्तर अव्यक्त अमृत अक्षर–अमूर्त–से पर्यावृत व्यक्त–मर्त्य–क्षर–मूर्त्त–को अवश्य ही एक दिन अव्यक्ताक्षरामूर्त्त नन्तामृतरूप में परिणत हो ही जाना पड़ता है। विद्या से सतत उत्पीड़िता अविद्या को अवश्य ही कालान्तर में विद्यारूप में परिणत हो ही जाना पड़ता है। सम्भूति से निरन्तर उत्पीड़ित विनाश को एक दिन विवश बन कर सम्भूतिरूप में परिणत हो ही जाना पड़ता है। अन्त से कदापि अनन्त का उत्पीड़न सम्भव नहीं है क्योंकि सीमित अन्त की दृष्टि से अनन्त असीम है। अन्त में यह है, किन्तु यह उसे कदापि स्वसीमा से सीमित नहीं कर सकता अतएव कदापि उसे उत्पीड़ित नहीं कर सकता अतएव न कदापि अन्त से अनन्त की प्राप्ति नहीं हो सकती। अपितु अनन्त से ही अन्त का अनन्तरूप में परिणति हो जाया करती है कालपरिपाकदशा में। इस 'कालपरिपाक का एकमात्र अर्थ है अनन्त से निरन्तर अन्त को उत्पीड़ित पीड़ित करते रहना'। इस 'पीड़ित करते रहना' का अर्थ है अनन्त की साक्षी में अन्त को मर्य्यादित बनाए रखना। अर्थात् अन्त को अन्त न मान कर कार्य्यकारणात्मक न मानकर दिग्देशकालात्मक न मान कर उस अनन्त का महिमामय विवर्त्त मानते हुए इसे मर्य्यादित–बनाए रहना। अर्थात् मर्य्यादापूर्वक–दिग्देशकालक्रमव्यवस्थापूर्वक–यथाक्रम–यथाविक् यथादेश–तद्रूप से ही कर्त्तव्यनिष्ठ बने रहते हुए उस अनन्तकाल के माध्यम से अनन्तानन्त ब्रह्म के अनुशीलन में प्रवृत्त रहना। अर्थात् यही कि–सम्पूर्ण बुद्धिव्यामोहनात्मक

*–चन्द्रमा वै महान्–दव (श्रुति)

कालातीत सनातनतत्त्व है। और यों मनुसूक्ति के इन तीनों शब्दों से क्रमशः अव्ययपुरुष, तत्पराप्रकृतिरूप अक्षरब्रह्म (मनु) तदपराप्रकृतिरूप क्षरब्रह्म (मन्वन्तररूप विश्व) ये तीन निष्कर्ष निकल आते हैं। कालातीत अव्यक्तकाल व्यक्तकाल किंवा अव्यय, अक्षर, क्षर, किंवा रसोवसीमस्मन मनु, मन्वन्तर किंवा * पुरुष-प्रकृति विकृति, किंवा अनन्त अव्यक्त, व्यक्त, किंवा सा-मा-इव सप्तम किंवा—अचिन्त्य—कालेन—कालम् इन सब विवर्तों का एक ही अर्थ है।

६१६—'काल कालेन पीडयन्' का रहस्यात्मक समन्वय—

अब प्रश्न शेष रह जाता है—'पीडयन' का। उस अचिन्त्यने मनुर्लक्षण कालेन' रूप काल के लिए तथा मन्वन्तरलक्षण 'कालं' रूप काल के लिए यह व्यवस्था की कि 'काल काल को पीडित करता रहे'। इस पीडन का क्या अर्थ ?। इसी 'अर्थ' का नाम है वह 'यत्किञ्चित्-संशोधन' जिसका पूर्व में अनेक प्रकार से यशोगान किया जाचुका है। पीडन का एक ही अर्थ है—'छन्दोमयी मर्य्यादा'। 'महान्' के गर्भ में प्रतिष्ठित 'अल्प' अपने आपको 'महान्' के गर्भ में ही अनुभूत करता हुआ सर्वात्मना अपने आपको महान् में ही समर्पित रक्खे' यही पीडन का अर्थ है। इस से होता क्या है ?। होता यही है कि इस मर्य्यादात्मक समर्पण से अल्प का स्वरूप भी सुरक्षित रह जाता है अल्पतायुक्त अल्प तत्त्व भी सम्पन्न हो जाते हैं एवं अल्पतायुक्त सीमात्मक—बन्धनात्मक—मर्त्यभाव भी इस अल्पता में नहीं रहने पाते—महान् के प्रति समर्पण से। यों दिग्देशकालात्मक अल्पभाव उस अनन्त—कालमहिमा से सीमाबद्ध रहते हुए, उसकी अनन्तमहिमा को साक्षी बनाते हुए स्वानुगत तात्कालिक उद्देश्य भी पूरे कर लेते हैं एवं तत्साक्षी के अनुबन्ध से इनकी अल्पता से भी ये अल्पभावमुक्त बन जाते हैं। और ऐसा ही कुछ कालपर्वात्मक सम्पूर्ण सृष्टिधाराओं का स्वरूप क्रम है जिस क्रम का ही नाम है—'महिमाविवर्त्त'। कालसाक्षी कालातीत अनन्ताव्ययब्रह्म कालसाक्षी (विश्वसाक्षी) अव्यक्ताक्षररूप अनन्तकाल इन दोनों साक्षियों के सान्निध्य में सीमारूपेण—मर्य्यादारूपेण—व्यवस्थित स्व-स्व-व्यक्तकालभावों में मर्य्यादित बने रहने वाले भूत कालभाव व्यक्तकालभाव स्व-स्व-भूत व्यक्त—दिग्देशकालानुबन्धी—नागरिक—दैशिक—स्वरूपों को भी व्यवस्थित बनाए रखने में समर्थ होजाते हैं, एवं उस अनन्तकालमहिमा तथा अनन्तानन्ता ब्रह्ममहिमा के महिमात्मक अनुग्रह से इनका तदनुबन्धी अनन्तमहिमाभाव भी सुरक्षित बना रह जाता है एवं यही 'उत्पीडक' का एकमात्र अर्थ है।

६१७—कालपुरुष के प्रकृति-निबन्धन विविध महिमा-विवर्त्तों का तात्त्विक-संस्मरण—

कालातीत अनन्तब्रह्म की साक्षी के अनुग्रह से अनन्तमहिमारूप में परिणत रहने वाले अनन्त—अव्यक्त—अक्षरकाल से (परमाक्षरात्मक स्वयम्भूकाल से) परमेष्ठीकाल पीडित है। स्वयम्भूकाल की अनन्तमहिमा से अनन्त बने रहने वाले, अतएव 'महदक्षरकाल' नाम से प्रसिद्ध हो जाने वाले परमेष्ठीकाल

---

*—यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥
मनु १।११।

युक्तानि-अर्थ्यते=प्रार्थ्यते मुमुक्षुभिर्यः सोऽर्थः अव्याबाधसुखरूपो मोक्षस्तेन युक्तानि तत्प्रतिबोधकानि। यद्वा-अर्थो=हेयोपादेयरूपस्तेन युक्तानि-तत्प्रतिपादकानि वीतरागशास्त्राणि शिक्षेत=अभ्यस्येत्। अयं भावः-मोक्षमार्गप्रदर्शकानि शास्त्राण्येव उपादेयानि पारमार्थिकस्वरूपप्रतिपादकत्वात्, यथा सिन्धुस्तरङ्गैर्विलसति तथा स्याद्वादैर्विलसितानि रागद्वेषदोषपरिवर्जितानि अव्याबाधसुखजनकानि उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपनिरूपकाणि भगवद्वचनानि, तस्मात् तान्येवाभ्यसेदिति।

के समीप (सया-सदा) सदा-काल (अट्ठजुत्ताणि-अर्थयुक्तानि) मोक्ष-प्रतिबोधक-अथवा हेयोपादेय तत्त्व प्रतिपादक-ऐसे वीतरागो-पदिष्ट शास्त्रोंका (सिक्खिज्जा-शिक्षेत) अभ्यास करे। तथा (निरट्ठाणि उ वज्जए-निरर्थानि तु वर्जयेत्) इनसे विपरीत अन्य शास्त्रोंका वर्जन करें।

भावार्थ—वस्तुका पारमार्थिक स्वरूप प्रतिपादन करने वाले होने से मोक्षमार्गके प्रदर्शक शास्त्र ही उपादेय हैं। जिस प्रकार समुद्र अपनी तरङ्गमालाओंसे शोभित होता है उसी तरह प्रभु के वचन स्वरूप आगमशास्त्र भी स्याद्वाद-शैली से सुशोभित होते हैं। इनमें राग एवं द्वेषको बढाने वाली-कथाएँ बिलकुल नहीं हैं। उनसे ये सदा वर्जित हैं। अव्याबाध सुख के ये जनक हैं। उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य के यथार्थ स्वरूप का ये निरूपक हैं। इसलिये मोक्षाभिलाषिओं को वीतराग प्रणीत शास्त्रका ही अभ्यास करना चाहिये। जिन में इस प्रकार की बातें नहीं हैं जो सर्वथा एकान्तवाद के पोषक असर्वज्ञोपदिष्ट शास्त्र हैं

(अट्ठजुत्तानि-अर्थयुक्तानि) મોક્ષ પ્રતિબોધક-અથવા હેયોપાદેય તત્વ પ્રતિપાદક એવા વિતરાગોપદિષ્ટ શાસ્ત્રોનો (सिक्खिज्जा-शिक्षेत्) અભ્યાસ કરે. તથા (निरट्ठाणि उ वज्जए-निरर्थानि तु वर्जयेत्) એનાથી વિપરિત અન્ય શાસ્ત્રોનો ત્યાગ કરે.

ભાવાર્થ—વસ્તુનું પારમાર્થિક સ્વરૂપ પ્રતિપાદન કરવાવાળા હોવાથી મોક્ષમાર્ગના પ્રદર્શક શાસ્ત્ર જ ઉપાદેય છે જે પ્રકાર સમુદ્ર પોતાની તરંગ માળાઓથી શોભિત દેખાય છે એ જ રીતે પ્રભુના વચન સ્વરૂપ આગમ-શાસ્ત્ર પણ સ્યાદ્વાદશૈલીથી સુશોભિત હોય છે તેમાં રાગ અને દ્વેષને વધારનારી કથાઓ બીલકુલ હોતી નથી એનાથી એ સદા વર્જીત છે અવ્યાબાધ સુખના એ જનક છે ઉત્પાદ વ્યય, અને ધ્રૌવ્યના યથાર્થ સ્વરૂપના એ નિરૂપક છે આ માટે મોક્ષાભિલાષિઓએ વિતરાગ પ્રણીત શાસ્ત્રનો જ અભ્યાસ કરવો જોઈએ જેમાં આ પ્રકારની વાતો નથી, જે સર્વથા એકાન્તવાદને પોષનાર

आरम्भ से अबतक के दिग्देशकाल-स्वरूप मीमांसात्मक व्यामोहनों से एकान्ततः असंपृक्त बने रहते हुए स्व स्व-प्रकृतिसिद्ध-शास्त्रसिद्ध-कर्त्तव्यकर्म्मों में जागरूकता-पूर्वक यावज्जीवन प्रवृत्त रहना ।

६१९-प्रकृतिसिद्ध-उत्तरदायित्वपूर्ण-स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म के द्वारा सतत कालो-त्पीडन से ही उत्पीडक काल की पीडाप्रवृत्ति का उपशम—

अर्थात् कभी एक क्षण के लिए भी इस वर्त्तमान-भौतिक काल को विश्राम नहीं लेने देना। अपितु सदा ही काल को कर्त्तव्य से पीडित ही करते रहना । यह सुनिश्चित है कि, ईश्वरार्पणमात्रबुद्धया अपने भौतिक जीवनात्मक व्यवहारकाल को कर्त्तव्यरूप अनन्तकाल से जो मानव सतत पीडित करता रहता है उसका कभी अन्त नहीं होता । वह मानव अपने कालातीत स्वरूप से अजर-अमर है-सनातन है -यहां भी और वहां भी किन्तु इस लोकातीत तथ्य का 'लोकबुद्धि' से कदापि समन्वय नहीं किया जासकता । बौद्धिक तर्क, विचार-मीमांसा शास्त्रार्थ विचारपरामर्श प्रश्नोत्तरविमर्श कार्य्यकारणविमर्श आदि आदि किसी भी बौद्धिक विकल्प से यह तथ्य समन्वित नहीं होसकता । इस तथ्य के समन्वय का तो एकमात्र राजमार्ग है-'कालं कालेन पीडयन्' । अर्थात्-ईश्वरसाक्षी में-अनन्यकर्त्तव्य से सादिसान्त भौतिक जीवन को सतत-उत्पीडित करते रहना । अकर्म्मण्यता ही बौद्धिक-दार्शनिक-विचारों की उद्गमभूमि बन जाया करती है जिस दार्शनिकता में कर्त्तव्यनिष्ठाभिन्न आचारनिष्ठा का स्पर्श भी नहीं है । तत्त्वमीमांसा के पारदर्शी उस महान् दार्शनिक की अपेक्षा तो उस सद्गृहस्थ को ही 'महान्' माना जायगा जो उत्तरदायित्व-पूर्ण सहज कर्त्तव्यनिष्ठा से ईश्वरस्मरणपूर्वक अपने लोकजीवन का निर्वाह करता हुआ दार्शनिक की भांति समाज के लिए आर्थिक-उत्पीडन का कारण तो नहीं बनता ।

६२०-कर्त्तव्य-कर्म्म की स्वरूपपरिभाषा—

आचारात्मक कर्त्तव्य का नाम ही धर्म्म है जो उस सनातन-शाश्वतकाल का प्रतिबिम्ब बनता हुआ 'शाश्वतधर्म्म' बन रहा है अतएव जो-'सनातनधर्म्म'-'आर्षधर्म्म' आदि नामों से प्रसिद्ध है । धर्म्मा-त्मक कर्त्तव्य ही महाकाल है । इस काल से जो अपने भौतिक काल को उत्पीडित करने के कौशल से परिचित हो जाता है, निश्चयेन धर्म्म उसका रक्षक बन जाता है -यतोधर्मस्ततो जयः । हम अनुमान करते हैं कि-'कालं कालेन पीडयन्' से अनुप्राणित 'यत्किञ्चित्-संशोधन' से पर्य्याप्त समाधान होगया । यदि अब भी सन्तोष न हुआ हो तो हमें कुछ एक वैसे सूत्रों का निरन्तर अनुशीलन करते रहना चाहिए, जिनके माध्यम से अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के अनुग्रह से अवश्य ही दिग्देशकालानुरूपी उस 'यत्किञ्चित्-संशोधन' से हमारी लोकबुद्धि भी सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही समन्वित हो जायगी ।

६२१–कर्त्तव्यकर्म्मस्वरूपपरिचायिका–'काल कालेन पीडयन्' मूला अनुशीलनात्मिका–नितान्तमवधेया–'शतघ्नी'—

१—'अचिन्त्य' की साक्षी में 'माम्' से 'इदं सृष्ट' को पीड़ित-नियन्त्रित-मर्य्यादित ही रखना चाहिए
२—'अव्यय' " 'अक्षर' से 'क्षर' को "
३—'पुरुष' " 'प्रकृति' से 'विकृति' को "
४—'अनन्त' " 'अनन्त' से 'अन्त' को "
५—'कालातीत' " 'अमृतकाल' से 'मृत्युकाल' को "
६—'सनातन' " 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' को "
७—'परात्पर' " 'पुरुष' से 'प्रकृति' को "
८—'प्रकृति' " 'विकृति' से 'विकार' को "
९—'विकृति' " 'विकार' से 'भूतों' को "
१०—'सुसूक्ष्म' " सूक्ष्म' से 'स्थूल' को "
११—'सत्ता' " 'मन' से 'प्राण' को "
१२—'मन' " 'प्राण' से 'वाक्' को "
१३—'वाक्' " 'नाम' से 'रूप' को "
१४—'काम' " 'तप' से 'श्रम' को "
१५—'अव्यक्त' " 'महान्' से 'बुद्धि' को "
१६—'महान्' " 'बुद्धि' से 'मन' को "
१७—'बुद्धि' " 'मन' से 'इन्द्रियवर्ग' को "
१८—'मन' " 'इन्द्रियप्राणों' से 'विषयों' को "
१९—'इन्द्रिय' " 'विषयों' से 'भौतिक जीवन' को "
२०—'अनुपाख्यतम' " 'अनिरुक्ततम' से निरुक्ततम' को "
२१—'विश्वातीत' " 'विश्वपर' से विश्व' को "
२२—'कालातीत' " 'काल' से 'दिक्' को "
२३—'काल' " 'दिक्' से 'देश' को "
२४—'दिक्' " 'देश' से 'प्रदेश' को "
२५—'शाश्वतधर्म्म' " 'प्राकृतधर्म्म' से 'अभिनिवेश' को "
"

४–समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व – सुसहासति' ॥
—ऋक्संहिता १०।१९१ अन्तिमसूक्त।

उक्त मन्त्र-चतुष्टयी के–'संसमिद्युवसे' इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा ऋषि ने उन माङ्गलिक अग्निदेव' का ही संस्मरण किया है जिन के स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौर देवाग्नि पार्थिव-भूताग्नि, इन तीन महिमामय विवर्तों से ही स्वर्लोकात्मक-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विश्व का विराट् स्वरूप व्यवस्थित है एवं जो कि अग्निदेव अपने ज्योतिरूप * सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक यज्ञ के प्रवर्त्तक बनते हुए इसी यज्ञ के द्वारा यज्ञ्यावत् सभी कामनाओं के पूरक + हैं। इसी कामकर्तृत्व के कारण वो अग्निदेव 'वृषन्' (कामवर्षक, सर्वकामधुक्) अभिधा से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण लोकों के अधिपति होने से ही वो अग्निदेव 'अर्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'इळा' नाम से प्रसिद्धा महिमापृथिवीरूपा उत्तरवेदि में आन्तरिक्ष्य सोम की आहुति से प्रचण्डरूप से प्रज्ज्वलित हो पड़ने वाले इसी अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक भूत अपनी स्वस्तिलक्षणा अभिभवलक्षणा 'यागात्मिका' सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण भौतिक जगत् 'अग्नीषोमात्मक' ही कहलाया है जैसा कि–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि बृहज्जाबालश्रुति से प्रमाणित है। ये ही अग्नि तत्प्रतीकभूत हमारे इस पावन भारतराष्ट्र के भाग्यविधाता हैं। 'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति' इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकविधाता ये ही 'भरत अग्नि' हमारे इस 'आर्य्यावर्त्त' नामक पवित्रतम-भव्यतम-महत्तम-'भारतवर्ष' की 'भारत' अभिधा के मूलाधार प्रमाणित हो रहे हैं। ऋग्वेद के द्रष्टा महर्षियोंने–'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि उपक्रमात्मक मन्त्र (१ मण्डल १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि उपसंहारात्मक मन्त्र (१ मण्डल १९ सूक्त १ मन्त्र) पर्यन्त सम्पूर्ण ऋग्वेद में महामहिमशाली सोमगर्भित स्वमूर्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिका महिमा का यशोगान किया है। इत्थम्भूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधारस्थ उसी अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने 'संसमिद्युवसे' इत्यादि मन्त्र से महान् माङ्गलिक संस्मरण करते हुए तत्-पश्चात् में इसी भरताग्नि के प्रतीकभूत भारतराष्ट्र के आर्य्य मानवसमाज के लिए 'आचारात्मक' जो माङ्गलिक उद्बोधन प्रदान किया है वह के–'संगच्छध्वम्०' इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उसी 'राष्ट्रीय आचार' का माङ्गलिक उद्घोष हुआ है जिस का राष्ट्रभाषा में वर्तमान राष्ट्रमानव के लिए इत्थंरूपेण समन्वय समीचीन होगा कि—

*–अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥
—ऋक्सं० ५।४४।१५।

+—सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता

(१)—हमारे राष्ट्र का— गन्तव्यपथ' एक हो ! (सङ्गच्छध्वम् !) ।

(२)—हमारे राष्ट्र की—'भाषा' एक हो ! (संवदध्वम् !) ।

(३)—हमारे राष्ट्र के— विचार' एक हों ! (सं वो मनांसि जानताम् !) ।

(४)—हमारे राष्ट्र की—'मननशैली एक हो ! (समानो मन्त्रः !) ।

(५)—हमारे राष्ट्र की—'विधानसमिति' एक हो ! (समितिः समानी !) ।

(६)—हमारे राष्ट्र के—'मनोभाव' एक हों ! (समानं मन: !) ।

(७)—हमारे राष्ट्र की—'प्रज्ञा' एक हो ! (सह चित्तमेषाम् !) ।

(८)—हमारे राष्ट्र की 'गुप्तमन्त्रणा' एक हो ! (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः !) ।

(९)—हमारे राष्ट्र के आभ्यन्तर संकल्प' एक हों ! (समानी व आकूतिः !) ।

(१०)-हमारे राष्ट्र का 'केन्द्रबिन्दु' एक हो ! (समाना हृदयानि वः !) ।

(११)-हमारे राष्ट्र का 'मनजगत्' अभिन्न हो ! (समानमस्तु वो मन: !) ।

स्वतन्त्रक्रान्तिमूला उक्ता 'एकादशसूत्री' की 'राष्ट्रीय घोषणा' के माध्यम से ही हम सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र की प्राणप्रतिष्ठा करते हुए सम्पूर्ण राष्ट्रीय-मानवों के लिए उन की मनःशरीरनिबन्धना योग क्षेमात्मिका 'हवि' (अन्न-वस्त्र) की समानरूप से ही व्यवस्था करते हुए आत्ममूलक-समदर्शनमूलक उस-'साम्यवाद' पथ के ही पथिक बने रहें जिस आत्मसाम्य के महिमामय विशाल प्राङ्गण में विभिन्न प्रकृति-सिद्ध विभिन्न गुणकर्मात्मक—'स्वधर्म'-लक्षण विभिन्न भी प्राकृतिक कर्त्तव्य-कर्म्म निर्विरोध समन्वित हैं। समान-हविःप्रदान से सम्बन्ध रखने वाले इसी 'सहास्तित्व'-रूप प्राकृतिक-विधान का सर्वान्त में प्रबल उद्घोष करते हुए ही महर्षि ने कहा है—

'समानेन वो हविषा जुहोमि–यथा वः सुसहासति'

सर्वान्ते च भारतराष्ट्र की इसी 'मङ्गल-कामना' के साथ 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-नुगत यह प्रासंगिक कथाप्रसङ्ग-कामनयैव उपरत हो रहा है कि—

दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम् ! वेदाः सन्ततिरेव च !
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् ! बहुदेयं च नो ऽस्तु !
अन्नञ्च नो बहु भवेत् ! अतिथींश्च लभेमहि !
याचितारश्च नः सन्तु ! मा च याचिष्म कञ्चन !

४–समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः–'सुसहासति' ॥

—ऋक्संहिता १०।१९१ अन्तिमसूक्त ।

उक्त मन्त्र–चतुष्टयी के–'संसमिद्युवसे' इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा ऋषि ने उन माङ्गलिक 'अग्निदेव' का ही संस्मरण किया है जिन के स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि सौर देवाग्नि, पार्थिव–भूताग्नि इन तीन महिमामय विवर्तों से ही उच्चावचात्मक-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विश्व का विराट् स्वरूप व्यवस्थित है एवं जो कि अग्निदेव अपने न्योकस्वरूप ✱ सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक यज्ञ के प्रवर्त्तक बनते हुए इसी यज्ञ के द्वारा सम्भवात्मक इष्टों, कामनाओं के पूरक + हैं। इसी कामवर्षण के कारण जो अग्निदेव 'वृषन्' (कामवर्षक, इष्टकामधुक्) अभिधा से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण लोकों के अधिपति होने से ही जो अग्निदेव 'अध्यक्ष' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'इळा' नाम से प्रसिद्धा महिमामयीपृथिवीरूपा उत्तरवेदि में आन्तरिक्ष्य द्वारा सोम की आहुति से प्रज्वलनरूप से प्रज्वलित हो पड़ने वाले इन्हीं अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक भूत अपनी समष्टिलक्षणा सम्मिश्रणात्मकरूपा 'यज्ञात्मिका' सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण भौतिक जगत् 'अग्नीषोमात्मक' ही कहलाया है जैसा कि–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि महर्ष्याप्तसम्मति से प्रमाणित है। वे ही अग्नि उत्पत्तिकभूत हमारे इस पावन भारतराष्ट्र के मान्यपिता हैं। 'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति' इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकाधिष्ठाता वे ही 'भरत अग्नि' हमारे इस 'आर्यावर्त्त' नामक पवित्रतम-रम्यतम-यशस्यतम-'भारतवर्ष' की 'भारत' अभिधा के स्वाधार प्रमाणित हो रहे हैं। ऋग्वेद के द्रष्टा महर्षियों ने–'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि उपक्रमात्मक मन्त्र (१ मण्डल १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि उपसंहारात्मक मन्त्र (१ मण्डल १९ सूक्त, १ मन्त्र) पर्यन्त सम्पूर्ण ऋग्वेद में महामहिमशाली सोमगर्भित स्वमूर्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिका महिमा का यशोगान किया है। इत्यभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधारस्वरूप उसी अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने 'संसमिद्युवसे' इत्यादि मन्त्र से महान् माङ्गलिक संस्मरण करते हुए तत्–पश्चात् में इसी भरताग्नि के प्रतीकभूत भारतराष्ट्र के आर्य्य मानवश्रेष्ठों के लिए 'आचारात्मक' जो माङ्गलिक उद्बोधन प्रदान किया है उस के–'सङ्गच्छध्वम्०' इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उसी 'राष्ट्रीय आचार' का माङ्गलिक उद्घोष हुआ है जिस का राष्ट्रभाषा में वर्त्तमान राष्ट्रमानव के लिए इत्यंरूपेण समन्वय समीचीन होगा कि—

✱–अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

—ऋक्सं० ५।४४।१५

+–सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

—गीता

(१)—हमारे राष्ट्र का—'गन्तव्यपथ' एक हो! (सङ्गच्छध्वम्!)।

(२)—हमारे राष्ट्र की—'भाषा' एक हो! (संवदध्वम्!)।

(३)—हमारे राष्ट्र के—'विचार' एक हों! (स वो मनांसि जानताम्!)।

(४)—हमारे राष्ट्र की—'मननशैली' एक हो! (समानो मन्त्रः!)।

(५)—हमारे राष्ट्र की—'विज्ञानसमिति' एक हो! (समितिः समानी!)।

(६)—हमारे राष्ट्र के—'मनोभाव' एक हों! (समानं मन!)।

(७)—हमारे राष्ट्र की—'प्रज्ञा' एक हो! (सह चित्तमेषाम्!)।

(८)—हमारे राष्ट्र की 'गुप्तमन्त्रणा' एक हो! (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः!)।

(९)—हमारे राष्ट्र के 'आभ्यन्तर संकल्प' एक हों! (समानी व आकूतिः!)।

(१०)—हमारे राष्ट्र का 'केन्द्रबिन्दु' एक हो! (समाना हृदयानि वः!)।

(११)—हमारे राष्ट्र का 'अन्तर्जगत्' अभिन्न हो! (समानमस्तु वो मनः!)।

श्वेतकान्तिमूला उक्ता 'एकादशासूत्री' की 'राष्ट्रीय घोषणा' के माध्यम से ही हम सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र की प्राणप्रतिष्ठा करते हुए सम्पूर्ण राष्ट्रीय-मानवों के लिए उन की मनःशरीरनिबन्धना योग-क्षेमात्मिका 'हविः' (अन्न-वस्त्र) की समानरूप से ही व्यवस्था करते हुए आत्ममूलक-समदर्शनमूलक उस 'साम्यवाद' पथ के ही पथिक बने रहें जिस आत्मसाम्य के महिमामय विशाल प्राङ्गण में विभिन्न प्रकृति-सिद्ध विभिन्न गुणकर्म्मात्मक—'स्वधर्म्म'-लक्षण विभिन्न भी प्राकृतिक कर्त्तव्य-कर्म्म निर्विरोध समन्वित हैं। समान—हविःप्रदान से सम्बन्ध रखने वाले इसी 'सहास्तित्व'-रूप माङ्गलिक—विधान का सर्वान्त में प्रचण्ड उद्घोष करते हुए ही महर्षि ने कहा है—

'समानेन वो हविषा जुहोमि—यथा वः सुसहासति'

सर्वान्ते च भारतराष्ट्र की इसी 'मङ्गल-कामना' के साथ 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'—नुगत यह बालोपलालन कृपाशमुक्ति-कामनयैव उपरत हो रहा है कि—

दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम्! वेदाः सन्ततिरेव च!
श्रद्धा च नो मा व्यगमत्! बहुदेयं च नो ऽस्तु!
अन्नञ्च नो बहु भवेत्! अतिथींश्च लभेमहि!
याचितारश्च नः सन्तु! मा च याचिष्म कञ्चन!

४–समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः– सुसहासति' ॥
—ऋक्संहिता १०।१९१ अन्तिमसूक्त ।

उक्त मन्त्र–चतुष्टयी के–'संसमिद्युवसे' इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा ऋषि ने उन माङ्गलिक 'अग्निदेव' का ही संस्मरण किया है जिन के स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौर देवाग्नि, पार्थिव–भूताग्नि इन तीन महिमामय विवर्तों से ही स्वस्तोदयात्मक-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विश्व का विराट् स्वरूप व्यवस्थित है एवं जो कि अग्निदेव अपने ज्योतिःस्वरूप * सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक यज्ञ के प्रवर्त्तक बनते हुए इसी यज्ञ के द्वारा यज्ञयाजक इष्ट कामनाओं के पूरक + हैं। इसी कामवर्षण के कारण जो अग्निदेव 'वृषन्' (कामवर्षक, इष्टकामधुक्) अभिधा से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण लोकों के अधिपति होने से ही जो अग्निदेव 'अर्य्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'इडा' नाम से प्रसिद्ध महिमापृथिवीरूपा उत्तरवेदि में आन्तरिक्ष्य द्रव्य सोम की आहुति से यज्ञरूप से प्रज्वलित हो पड़ने वाले इसी अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक भूत अपनी स्वाभिलषणा सम्मिश्रणलक्षणा 'यागात्मिका' सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण भौतिक जगत् 'अग्नीषोमात्मक' ही कहलाया है जैसा कि–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि महर्षिवाक्य श्रुति से प्रमाणित है। ये ही अग्नि तत्प्रतीकभूत हमारे इस पावन भारतराष्ट्र के आत्माधिष्ठाता हैं। 'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति' इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकाधिष्ठाता ये ही 'भारत अग्नि' हमारे इस 'आर्य्यावर्त्त' नामक पवित्रतम-धन्यतम-यशस्वितम-'भारतवर्ष' की 'भारत' अभिधा के मूलाधार प्रमाणित हो रहे हैं। ऋग्वेद के द्रष्टा महर्षियोंने–'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि उपक्रमात्मक मन्त्र (१ मण्डल १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि उपसंहारात्मक मन्त्र (१० मण्डल १९० सूक्त ३ मन्त्र) पर्य्यन्त सम्पूर्ण ऋग्वेद में महामहिमशाली सोमगर्भित सर्वमूर्ति इन अग्निदेव की ही अनन्तविज्ञानात्मिका महिमा का यशोगान किया है। इत्थंभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधारस्वरूप उसी अग्निदेव का अन्त में महर्षि ने 'संसमिद्युवसे' इत्यादि मन्त्र से महान् माङ्गलिक संस्मरण करते हुए तत्-तत्त्वों में इसी भारताग्नि के पवित्रतम भारतराष्ट्र के आर्य्य मानवश्रेष्ठ के लिए 'आचारात्मक' जो माङ्गलिक उद्बोधन प्रदान किया है, उसका–'सङ्गच्छध्वम्०' इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उसी 'राष्ट्रीय आचार' का माङ्गलिक उद्घोष हुआ है जिस का राष्ट्रभाषा में वर्त्तमान राष्ट्रमानव के लिए इत्थंरूपेण समन्वय समीचीन होगा कि—

---

*–अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
—ऋक्सं० ५।४४।१५।

+–सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

दिग्देशकालानुबन्धी-आचारात्मक
तृतीयप्रकरण उपरत

—३—

उपरता चेयं दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा—

(ककारविभागात्मिका)

चतुर्थखण्डानुगता–प्रथमस्तम्भात्मिका (१)

(पूर्वक्रमानुगतस्तु–एकादशस्तम्भः (११)

प्रीयतामनया परमकालदेवोऽनन्त परमाकाशत्वया

ओं–शमित्येतत्

अर्थात्–हमारे राष्ट्र में 'दाता' मानवों की अभिवृद्धि हो !

हमारे राष्ट्र में 'वेदतत्त्व', एवं तदनुगता 'सुसन्तति' अभिव्यक्त हो !

हमारे राष्ट्रीय-जनमानस से 'श्रद्धा' कभी पलायित न हो !

हमारे राष्ट्रीय कोश में दान के लिए 'प्रभूतसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !

हमारे राष्ट्र में प्रचुरमात्रा में 'अन्नसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !

हमारा राष्ट्र सदा सम्मानित 'अतिथि' प्राप्त करता रहे !

हमारे राष्ट्र से सभी इतर राष्ट्र सदा 'मागते' ही रहे !

किन्तु

हमारा भारतराष्ट्र कदापि किसी से भी कुछ भी याच्या -अभिलाषा न करे !

आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् !

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।

दोग्ध्री धेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः !

सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम् !

निकामे निकामे न पर्जन्यो वर्षतु !

फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् !

योगक्षेमो नः कल्पताम् !

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते

अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ॥

अग्निर्जागार तमयं सोम आह—

तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः ! सर्वे सन्तु निरामयाः !

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ! मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् !

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्तिनस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः ! ! शान्तिः ! ! !

दिग्देशकालानुबन्धी-आचारात्मक
तृतीयप्रकरण उपरत

—३—

उपरता चेयं दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा—
(ककारविभागात्मिका)
चतुर्थखण्डानुगता-प्रथमस्तम्भात्मिका (१)
(पूर्वक्रमानुगतस्तु-एकादशस्तम्भः (११)

प्रीयतामनया परमकालद्वोऽनन्तः परमाकाशलक्षणः
ओं-श्रमित्येतत्

विनयः कथमेषणीय इत्याह—

मूलम्—निसंते सियाऽमुहरी बुद्धाणं अंतिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥८॥

छाया—
निशान्तः स्यात् अमुखारिः बुद्धानाम् अन्तिके सदा।
अर्थयुक्तानि शिक्षेत निरर्थानि तु वर्जयेत् ॥ ८ ॥

टीका—
'निसते इत्यादि'—निशान्तः=नितरां शान्तः-उपशमयुक्तः-अन्तः क्रोधपरिवर्जनेन बहिश्च सौम्याकारेण प्रशान्तः स्यात्=भवेत्, अमुखारि'=अविरुद्धभाषी प्रियभाषी सन् बुद्धानाम्=आचार्याणाम्, अन्तिके=समीपे, सदा=सर्वकालम् अर्थ-

विभूषित बना शिष्य भी शील से कुल, गण एवं गच्छ को प्रमुदित करता हुआ लोक में चिन्तामणि रत्न के समान माना जाता है कल्पवृक्षके समान सेवित किया जाता है, निधिके समान आदरणीय होता रहता है और सुधा (अमृत) के समान पूजा जाता है ॥ ७ ॥

विनय पालन कैसे करना चाहिये इसे सूत्रकार इस निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट करते हैं—' निसते ' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(निसंते–निशान्त) जो उपशम भाव से युक्त है–भीतर में जिसके क्रोध का उद्रेक नहीं होता है–तथा बाहिर से जिसका सदा सौम्य आकार बना रहता है ऐसा शिष्य (अमुखारि) अविरुद्धभाषी–प्रियभाषी–होता हुआ (बुद्धाणं अंतिए–बुद्धाना अन्तिके) आचार्यों

શિષ્ય પણ શીલથી કુળ, ગણ એટલે ગચ્છને પ્રમુદિત કરીને લોકમા ચિન્તામણી રત્ન સમાન માનવામા આવે છે કલ્પવૃક્ષના સમાન સેવિત કરવામાં આવે છે નિધિની માફક આદૃત થતા રહે છે અને સુધાની (અમૃત) માફક પૂજાય છે ॥૭॥

વિનય પાલન કેવી રીતે કરવું જોઇએ તેને સૂત્રકાર આ નિચે બતાવેલ ગાથાથી સ્પષ્ટ કરે છે निसते ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—(निसंते–निशान्त) જે ઉપશમ ભાવથી યુક્ત છે–જેને અંદર ક્રોધનો ઉપદ્રવ થતો નથી. તથા બાહરથી જેનો સદા સૌમ્ય આકાર બન્યો રહે છે એવા શિષ્ય (अमुखारी) અવિરૂદ્ધભાષી–પ્રિયભાષી બનીને (बुद्धाणं अंतिए–बुद्धानां अन्तिके) આચાર્યોની સમિપ (सया–सदा) હમેશા

श्रीः

खण्डचतुष्टयात्मक

'भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता'

नामक

उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धान्तर्गत

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मक'

'क' स्वरविभागात्मक-११ स्तम्भात्मक

चतुर्थखण्ड

उपरत

श्रीः

खण्डचतुष्टयात्मक

'भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता'

नामक

उद्बोधनात्मक सामयिक–निबन्धान्तर्गत

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मक'

'क' कारविभागात्मक–११ स्तम्भात्मक

चतुर्थखण्ड

उपरत

प्रशमसरःशोषणे प्रचण्डमार्तण्डकिरणरूपाणि, भ्रमोत्पादने मृगतृष्णास्वरूपाणि,

---

श्रद्धा जाग्रत हुए विना जीवको आत्म कल्याण का मार्ग दिखलाई नहीं देता है। अत. वह पतित होकर अनत ससारी हो जाता है। इसीलिये लौकिक शास्त्रोंका अध्ययन वर्जनीय बतलाया गया है यदि इस भावना से उनका अध्ययन किया जाय कि देखु कि वीतराग प्ररूपित शास्त्रों में और इनके उपदेश में कितना भेद है तो इस स्थिति में ज्ञानी को अनेकान्त शासन पर और अधिक दृढ श्रद्धा बढ जाती है। क्यों कि सच्चे मणिकी कीमत तो झूठे मणि के देखने से ही होती है। सच्चे मणिका परिचायक झूठामणि ही हुआ करता है। इसीलिये टीकाकार ने इन्हें महाव्रत रूप पर्वत के भेदन करने में वज्रकी उपमा दी है। दावानल जिस प्रकार वन को भस्म करने में ढील नहीं करता उसी प्रकार निरर्थक शास्त्रों का अध्ययन भी मोक्षाभिलाषिओं के तप और सयमरूप उद्यान को नाश करता है। जिस प्रकार ग्रीष्मकाल का प्रखर आतप-धूप सरोवर को शोषण करता है उसी प्रकार ये मोक्षमार्ग के उपदेश से विहीन शास्त्र भी मोक्षाभिलापी के प्रशमभावको शुष्क करने में जरा सी भी कसर नहीं रखते हैं। मृगतृष्णा जिस प्रकार मृगों को

વિના જીવને આત્મકલ્યાણનો માર્ગ મળતો નથી. એટલે તે પતિત બની અનત સસારી થઈ જાય છે આ માટે લૌકિક શાસ્ત્રોનુ અધ્યયન વર્જનીય બતાવવામા આવેલ છે જો એ ભાવનાથી તેનુ અધ્યયન કરવામા આવે કે જોઉ વિતરાગ પ્રરૂપિત શાસ્ત્રોમા અને એમના ઉપદેશમા કેટલો ભેદ છે તો આ સ્થિતિમા જ્ઞાનીને અનેકાન્ત શાસન પર વધુ દૃઢ શ્રદ્ધા બેસી જાય છે કેમકે સાચા મણિની કિંમત તો જુઠા મણીને જોવાથી જ થાય છે સાચા મણીને ઓળખાવનાર ખોટો મણી જ હોય છે આ માટે ટીકાકારે તેને મહાવ્રતરૂપ પર્વતનુ ભેદન કરનારા વજ્રની ઉપમા આપી છે દાવાનળ જે રીતે વનને ભસ્મ કરવામા ઢીલ કરતો નથી, તેવી જ રીતે નિરર્થક શાસ્ત્રોનું અધ્યયન પણ મોક્ષાભિલાષિઓના તપ અને સયમરૂપ ઉદ્યાનનો નાશ કરે છે જે પ્રકાર ગ્રીષ્મકાળનો પ્રખર આતાપ સરોવરનુ સોશણ કરે છે તેવા પ્રકારે મોક્ષમાર્ગના ઉપદેશથી વિહિન શાસ્ત્ર પણ મોક્ષ અભિલાષિના પ્રશમભાવને શુષ્ક કરવામા કસર રાખતો નથી. મૃગજળ જેવા પ્રકારે મૃગોને

निरर्थकानि मोक्षार्थवर्जितानि, यद्वा-हेयोपादेयरूपार्थानभिधायकानि वैशेषिकादीनि वात्स्यायनप्रणीतकामशास्त्राणि तु वर्जयेत्-परिहरेत्। अय भाव -लौकिकशास्त्राणि तु-महाव्रतपर्वतभेदने वज्रोपमानि, तपःसयमकाननविनाशने दावानलसमानि,

वे निरर्थक शास्त्र हैं। उनका अभ्यास नहीं करना चाहिये। क्यों कि वे अपने अभ्यासियोंके लिये मोक्षमार्ग के यथार्थ स्वरूप से वचित एवं अपरिचित हैं। अथवा-निरर्थक वे शास्त्र हैं कि जिनके अध्ययन करने से जीवोंको हेय और उपादेय रूप अर्थका भान न हो सके, जो इस प्रकार के मोक्ष अर्थ के अभिधायक नहीं हैं ऐसे वैशेषिक आदि-आदि द्वारा प्रणीत शास्त्र तथा वात्स्यायन द्वारा प्रणीत काम शास्त्रों का अध्ययन कभी भी मोक्षाभिलाषिओं को नहीं करना चाहिये। लौकिक-असर्वज्ञ-द्वारा उपदिष्ट लौकिक शास्त्र ससार बढाने वाली ही शिक्षाओं से परिपूर्ण हैं। इनसे साधुओं को अपने महाव्रतों को पालन करनेकी शिक्षा यथार्थतया प्राप्त नहीं होती है। अत उनका अध्येता अर्थात्-अध्ययन करने वाला भद्रपरिणामी साधुजन अपने व्रतों से भी च्युत हो जाता है। इसलिये ऐसे शास्त्रों का अध्ययन महाव्रतरूप पर्वत को नष्ट करने के लिये वज्रका काम करता है। सम्यग्दर्शन की पुष्टि जबतक जीव की नहीं होती है-तबतक उसे समस्त द्रव्यों से भिन्न आत्मद्रव्य में दृढ श्रद्धा जाग्रत नहीं होती है। इस प्रकार के

અસર્વજ્ઞોપદિષ્ટ શાસ્ત્ર છે તે નિરર્થક શાસ્ત્ર છે, તેનો અભ્યાસ નહી કરવો જોઈએ કેમકે તે આપણા અભ્યાસિયો માટે મોક્ષમાર્ગના યથાર્થ સ્વરૂપથી વચિત અને અપરિચિત છે અથવા-નિરર્થક તે શાસ્ત્ર છે કે જેનુ અધ્યયન કરવાથી જીવોને હેય અને ઉપાદેયરૂપ અર્થનુ ભાન થઈ શકતુ નથી. જે આ પ્રકારના મોક્ષ અર્થના અભિધાયક નથી એવા વૈશેષિક આદિ આદિ દ્વારા પ્રણીત શાસ્ત્ર તથા વાત્સ્યાયન દ્વારા પ્રણીત કામશાસ્ત્રોનુ અધ્યયન કદી પણ મોક્ષના અભિલાષીયોએ કરવુ ન જોઈએ. લૌકિક-અસર્વજ્ઞ-દ્વારા ઉપદિષ્ટ લૌકિક શાસ્ત્ર સસાર વધારનારી શિક્ષાઓથી પરિપૂર્ણ હોય છે તેનાથી સાધુઓને પોતાના મહાવ્રતોનુ પાલન કરવાની શિક્ષા યથાર્થ તયા પ્રાપ્ત થતી નથી, એટલે એનુ અધ્યયન કરવાવાળા ભદ્રપરિણામી સાધુજન પોતાના વ્રતોથી પણ ચ્યુત બની જાય છે આ માટે એવા શાસ્ત્રોનુ અધ્યયન મહાવ્રતરૂપ પર્વતને નષ્ટ કરનાર વજ્રનુ કામ કરે છે સમ્યગ્દર્શનની પુષ્ટિ જ્યા સુધી જીવને થતી નથી, ત્યા સુધી તેને સમસ્ત દ્રવ્યોથી ભિન્ન આત્મ દ્રવ્યમા દૃઢ શ્રદ્ધા જાગ્રત થતી નથી. આ પ્રકારની શ્રદ્ધા જાગ્રત થયા

गुरु परुपवचनानि ग्रीष्मर्तुसहस्रकिरणकिरणावलीसमानि तथापि स्वल्पेनैव समयेन सजल जलदावलीसमुत्थितसमीरसहचारिनीरकणिका इव परिणमन्तीति गुरूणां परुषवचनानि अनन्तहितविधायकानि मोक्षपथप्रदर्शकानि सावद्यकर्म-निवर्तकानि अमृतमयानि आसेवनाग्रहण शिक्षारूपाणि भवन्तीति मन्यमान' सन् सहेत । उक्त च—

शास्त्र किस तरह से सीखे सो बतलाते हैं—' अणुसासिओ ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—शिष्यजन यदि कदाचित् गुरुओं द्वारा कठोर वचनों से भी (अणुसासिओ-अनुशासित) अनुशासित-शिक्षापाते हों तो भी उन्हें चाहिये कि वे (न कुप्पिज्जा-न कुप्येत्) अपने शिक्षाप्रदाता गुरुजन पर कभी भी कुपित न हों । प्रत्युत ऐसी अवस्था में सत् और असत् के विवेक करने में (पण्डिए-पण्डित) कुशलमति वह शिष्य (खंतिं सेविज्ज क्षान्ति सेवेत) परुषभाषण को सहन करने रूप शांतिभाव का ही सेवन करे । तथा (खुड्डेहिं सह ससग्ग हास क्रीड च वज्जए-क्षुद्रै सह ससर्ग हास क्रीड च वर्जयेत्) क्षुद्रजनों-बाल अथवा पार्श्वस्थ अवसन्न-कुशील ससक्त-स्वेच्छाचारी साधुओं का सग वर्जन करें । तथा-हास्य क्रीडा का भी वर्जन करें ।

भावार्थ—यद्यपि गुरु महाराजके वचन उस समय शिष्य को ग्रीष्मऋतुके प्रखर सूर्यकी किरणों के समान मालूम पडते हैं परन्तु

શાસ્ત્ર કઇ રીતે શીખવા તે બતાવે છે—अणुसासिओ ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—શિષ્યજન જો કદાચ ગુરૂઓ દ્વારા કઠોર વચનોથી પણ (अणुसासिओ–अनुशासित) અનુશાસિત-શિક્ષા મેળવતા હોય તો પણ તેમણે વિચારવું જોઈએ કે તે (न कुप्पिज्जा–न कुप्येत्) પોતાના શિક્ષા પ્રદાતા ગુરૂજન ઉપર કદી પણ ક્રોધ ન કરે. પરંતુ એવી અવસ્થામા સત્ અને અસત્નો વિવેક કરવામા (पण्डिए–पण्डित) કુશળમતિ તે શિષ્ય (खंतिं सेविज्ज–क्षान्ति सेवेत) (કઠોર) પરુષ ભાષણને સહન કરવારૂપ શાંતિભાવનું જ સેવન કરે તથા (खुड्डेहिं सह ससग्ग हासं किड्डं च वज्जए–क्षुद्रैः सह ससर्गं हास क्रीडां च वर्जयेत्) ક્ષુદ્રજનો, ૧ બાળ અથવા ૨ પાર્શ્વસ્થ, ૩ અવસન્ન, ૪ કુશીલ, ૫ સસક્ત–સ્વેચ્છાચારિ સાધુઓનો સગ વર્જન કરે તથા હાસ્ય ક્રિડાનું પણ વર્જન કરે.

મતલબ તેનો એ છે કે કદાચ ગુરૂ મહારાજનુ વચન, તે સમયે શિષ્યને ઉનાળાના પ્રખર સૂર્યના કિરણો સમાન માલુમ પડે છે પરંતુ પરિણામમા

सकलापत्तिदायकविषयविलासप्रवर्तकानि दीर्घाध्वचतुर्गतिकससारपरिभ्रमणकारणानि सन्ति, तस्माद् विषमविषधरभुजङ्गवत् तानि दूरत परिवर्जनीयानि ॥८॥

अर्थयुक्तानि कथ शिक्षेत ? इत्याह—

मूलम्—अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंतिं सेविज्ज पंडिए ।
खुड्डेहिं सह संसग्गं, हासं कीडं च वज्जए ॥ ९ ॥

छाया—
अनुशासितः न कुप्येत्, क्षान्ति सेवेत पण्डित. ।
क्षुद्रैः सह ससर्गं, हास क्रीडा च वर्जयेत् ॥ ९ ॥

टीका—
' अणुसासिओ ' इत्यादि—अनुशासित –गुरुभि• कठोरवचनैस्तर्जितोऽपि न कुप्येत्=कोपं न कुर्यात् । किं तर्हि ? इत्याह–'खतिं ' इत्यादि । पण्डितः= सदसद्विवेकवान् सन् क्षान्तिं=परुषभाषणसहनरूपा सेवेत । अय भाव•—यद्यपि

जलका भ्रम उत्पन्न करती है उसी तरह मिथ्या शास्त्र भी मोक्षाभिलाषिओंके लिये यथार्थस्वरूप का ज्ञान न कराकर केवल वस्तु के स्वरूप में भ्रमोत्पादक होते हैं। समस्त आपत्ति–एवं विपतियों को देने वाले विषय कषायोंकी ही इनसे केवल वृद्धि होती रहती है अत इनसे संसार का अन्त न आकर जीवों के अनन्त ससार के मार्ग की ही पुष्टि होती है और इसी वजह से यह जीव इस चतुर्गति स्वरूप ससार में इतस्ततः परिभ्रमण किया करता है। इस लिये जिस प्रकार जहरीले सर्पका दूर से ही परिहार कर दिया जाता है उसी प्रकार मोक्षाभिलाषिओं को इन निरर्थक शास्त्रोंका परिहार कर देना चाहिये ॥ ८ ॥

જળનો ભ્રમ ઉત્પન્ન કરે છે, તેવી રીતે મિથ્યાશાસ્ત્ર પણ મોક્ષ અભિલાષીઓ માટે યથાર્થ સ્વરૂપનું જ્ઞાન ન કરાવતા કેવળ વસ્તુના સ્વરૂપમા ભ્રમોત્પાદક બને છે સમસ્ત આપત્તિ અને વિપત્તિને દેવાવાળા વિષય કષાયોની જ તેનાથી ફક્ત વૃદ્ધિ થતી રહે છે જેથી તે વડે સસારનો અત ન આવતા જીવોને અનત સસારના માર્ગમા લઇ જાય છે, અને એ કારણે આ જીવ આ ચતુર્ગતિરૂપ સસારમા અહિં તહિં ભટકતો રહે છે આ માટે જે પ્રકારે જહેરીલા સાપનો દુરથી જ ત્યાગ કરવામા આવે છે, તેવી રીતે મોક્ષના અભિલાષિઓએ આવા નિરર્થક શાસ્ત્રનો ત્યાગ કરવો જોઇએ. ॥૮॥

ननु बालपार्श्वस्थादिससर्गे सत्यपि साधो का हानिः ? दृश्यते हि वैडूर्यमणि॰ काचसहयोगेऽपि काचधर्मं नाप्नोति, एवमात्मार्थिनो मुनेर्बालपार्श्वस्थादि-ससर्गे सत्यपि स्वाचारपरिवर्तन न स्यात् ? अत्रोच्यते–जीवो हि ससर्गदोषानु-भावतो बालपार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादादिभावनाभावितत्वात् द्रुतमेव तद्भाव माप्नोति, यथा–निम्बोदकवासितायां भूमौ कश्चिदाम्रवृक्षः समुत्पन्नः, पुनस्तत्राम्रस्य निम्बस्य च द्वयोरपि मूले मिलिते, ततश्च ससर्गदोषादाम्रो निम्बत्वं प्राप्य

कठोर अक्षरों से युक्त गुरुजनों के वचनों से तिरस्कृत हुए शिष्यजन महत्त्व को प्राप्त करते हैं। जबतक मणी शाण पर नहीं चढाया जाता है तबतक वह अपने उत्कर्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है और न राजाओं के मुकुटों में भी जड़ा जाता है। साधु यदि बाल एव पार्श्वस्थ आदि की सगति करे तो उसकी इससे क्या हानि है। क्यों कि देखा जाता है कि वैडूर्यमणि काचमणि के साथ रहते हुए भी उसके धर्मको अर्थात् काच के गुण को ग्रहण नहीं करता है इसी प्रकार पार्श्वस्थ आदि की सगति में रहा हुआ आत्मार्थी साधु भी अपने आचार विचार से परिचलित नहीं हो सकता ? प्रश्न ठीक है–परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि भद्रपरिणामी आत्मा निमित्ताधीन होता है। निमित्त मिलने पर निमित्त के अनुसार शीघ्र ही उसका परिणमन हो जाता है। जिस प्रकार जिस भूमि में नीमके वृक्ष लगे हुए होते हैं और उसी भूमिमें यदि आम का भी वृक्ष लगा दिया जावे तो वह नीमके मूल के

કઠોર અક્ષરોથી ભરેલા ગુરૂજનોના વચનોથી તિરસ્કૃત થયેલ શિષ્યજન મહત્વને પામે છે જ્યા સુધી મણીને સરાણ ઉપર ચડાવવામા આવતો નથી ત્યા સુધી તે પોતાના ઉત્કર્ષને પ્રાપ્ત કરી શકતો નથી. અને ન તો એ રાજાઓના મુગટોમા જડાય છે સાધુ જો બાલ અને પાર્શ્વસ્થ આદિની સગતિ કરે તો એથી એને કઈ જ નુકશાન થતુ નથી. કેમકે જોઇ શકાય છે કે વેડુર્યમણી કાચ મણીની સાથે રહેવા છતા પણ એ કાચના ગુણ ગ્રહણ કરતો નથી. આ રીતે પાર્શ્વસ્થ આદિની સગતિમા રહેલા આત્માર્થી સાધુ પણ પોતાના આચાર વિચારથી પરિચલિત થતા નથી ? પ્રશ્ન ઠીક છે—પરતુ એ ધ્યાનમા રાખવું જોઇએ કે ભદ્રપરિણામી આત્મા નિમિત્ત આધિન બને છે નિમિત્ત મળવાથી નિમિત્તના અનુસાર જલ્દીથી તેનુ પરિણમન થઇ જાય છે જે પ્રકારે જે ભૂમિમા લીમડાનાં વૃક્ષો લાગેલા હોય છે અને એ જ ભૂમિમા જો આંબાનુ વૃક્ષ વાવવામાં આવે તો લીમડાના મૂળ સાથે તેના મૂળ મળવાથી

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभि,-
स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां,
न जातु मौलौ मणयो वसन्ति ॥ १ ॥

च=पुनः क्षुद्रैः=बालैः, अथवा पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दैः सह संसर्ग=सङ्गं वर्जयेत् ।

परिणाम में वे जल से भरे हुए मेघ के समय उत्पन्न वायु के साथ जल कणिका के समान हितविधायक होते हैं। जिस प्रकार वर्षाकाल में जब आकाश में घटाएँ घिर आती हैं तो उससमय वायु का भी संचार होने लगता है-आंधी उठने लगती है और उसके उठते ही वे घटाएँ बरसने लगती हैं। इससे आतपतप्त-गरमीसे पीडित आत्माओं को शीतलता का अनुभव होनेलगता है। इसी प्रकार उस समय गुरुजनों के वचन कठोर प्रतीत होते हैं परन्तु भविष्य में वे शिष्यों के लिये आत्मकल्याण के साधक होने से अनंत शीतलताप्रदान करनेवाले हो जाते हैं। शिष्यजन को गुरु के वचन अनंतहित विधायक, मोक्षपथप्रदर्शक, सावद्यकर्मनिवर्तक अमृतस्वरूप जानकर सहते रहना चाहिये। क्यों कि इनसे शिष्योंको आसेवनशिक्षा एवं ग्रहण शिक्षा प्राप्त होती है व्रतों को ग्रहण करना एवं उनका सम्यग्रीति से पालन करना यह शिक्षा गुरु के वचनोंसे ही शिष्यों को मिलती है। कहा भी है—गीर्भिर्गुरूणां० इत्यादि—

તે જળથી ભરેલા મેઘના સમયે ઉત્પન્ન થતા વાયુની સાથે જળકણિકાના જેવા હિત વિધાયક હોય છે જે પ્રકારે વર્ષાકાળમા જ્યારે આકાશમા ઘટાઓ ઘેરાય છે એ સમયે વાયુનો પણ સંચાર થાય છે અને આંધી ઉઠવા લાગે છે અને આંધીના આગમનથી તે ઘટાઓ વરસવા લાગે છે એનાથી (તડકાથી તપેલ) આતપતપ્ત આત્માઓને શીતળતાનો અનુભવ થવા લાગે છે આ પ્રકારે એ સમયે ગુરૂજનોનુ વચન કઠોર જણાય છે પરંતુ ભવિષ્યમા તે શિષ્યોને માટે આત્મ કલ્યાણનું સાધક હોવાથી અનંત શિતળતા આપનાર બને છે શિષ્યજને ગુરૂનાં વચન અનંત હિત વિધાયક, મોક્ષપથ પ્રદર્શક, સાવદ્ય કર્મ નિવર્તક અમૃત સ્વરૂપ જાણીને સહી લેવાં જોઇએ. કેમકે તેનાથી શિષ્યોને આસેવન શિક્ષા અને ગ્રહણશિક્ષા પ્રાપ્ત થાય છે વ્રતોનુ ગ્રહણ કરવું અને તેને સમ્યગ્રીતિથી પાલન કરવું આ શિક્ષા ગુરૂના વચનોથી જ શિષ્યોને મળે છે કહ્યું પણ છે—ગીર્ભિર્ગુરૂણાં ઇત્યાદિ—

तथा-हास=हसन, क्रीडा=कन्दुकादिकां च वर्जयेत्, ज्ञानावरणीयाद्यष्टविध-कर्मबन्धजनकत्वादिति भावः।

उक्तञ्च—"जीवे ण भंते ! हसमाणे वा उस्सुयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा"

छाया-जीवः खलु भदन्त ! हसन् वा उत्सुकन् वा कति कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, गौतम ! सप्तविधबन्धको वा अष्टविधबन्धको वा इत्यादि। क्रीडाविषयेऽप्येवमेवागमोऽनुसन्धेय ॥ ९ ॥

के महत्व को भी विनष्ट कर देता है एवं दशविध धर्मको ध्वस्त कर देता है। इसलिये क्षुद्रों का तथा बालकों का संसर्ग सदा परिहार्य बतलाया गया है। तथा बालआदि जनोंकी संगति से निंदा होती है एवं पापकार्यों में अनुमति देने की भी आदत पड़ जाती है। इसी तरह ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मोंके बंध के जनक होने से साधुजन को बालोंके साथ हँसी करना, क्रीड़ा करना आदि अकर्तव्योंका भी परिहास कर देना चाहिये। प्रभुका स्वयं भी ऐसा ही उपदेश है—"जीवे णं भंते ! हसमाणे उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा" इत्यादि—प्रभु से गौतमने प्रश्न किया है भदन्त ! यह जीव जब हँसी करता है अथवा उत्सुक होता है तब कितने कर्मकी प्रकृतियों का बंध करता है ? तब प्रभु ने उत्तर दिया कि हे गौतम ! इस अवस्था में यह जीव सात प्रकार के या आठ प्रकार के कर्मोंका बंध करता

સંયમના મહત્વનો પણ નાશ કરી નાખે છે એમ જ દશવિધ ધર્મનો પણ ધ્વસ્ત કરી નાખે છે આ માટે ક્ષુદ્રોનો તથા બાલકોનો સંસર્ગ સદા પરિહાર્ય બતાવવામા આવેલ છે તથા બાળ આદિ જનોની સંગતિથી નિંદા થાય છે તેમજ પાપકાર્યોમા અનુમતિ દેવાની પણ આદત પડી જાય છે આ રીતે જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મના બંધનોના જનક હોવાથી સાધુજનોએ હાસી કરવી, ક્રિડા કરવી આદિ અકર્તવ્યોનો પરિહાર કરી દેવો જોઇએ પ્રભુનો સ્વયં આવો જ ઉપદેશ છે "जिवेण भंते! हसमाणे वा उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बधई ? गोयमा ! सत्तविह बधए वा अट्ठविह बधए वा०" ઇત્યાદિ—પ્રભુથી ગૌતમે પ્રશ્ન કર્યો હે ભદન્ત ! આ જીવ જ્યારે હસે છે ત્યારે કેટલા કર્મની પ્રકૃતિઓનો બંધ કરે છે ? પ્રભુએ ઉત્તર આપ્યો કે હે ગૌતમ ! આ અવસ્થામા આ જીવ સાત પ્રકારના અથવા આઠ પ્રકારના કર્મોનો

कटुफलो भवति। अपर च बालपार्श्वस्थादिससर्गो लोके गर्हां जनयति, सर्वे एवैते साधव एवभूता इति, तथा पापेऽनुमतिमुत्पादयति। अयं भावः-यथा-रजःपुञ्जो मणिगण मलिनयति, राहुश्चन्द्रमण्डलप्रभामपकर्षयति, लोभ' सर्वगुण-गण विनाशयति, हेमन्त' कमलवनं मलीनयति, तथा-क्षुद्रससर्ग' क्षान्त्यादिगुणगणं मलिनयति, लब्ध्यादिप्रभावमपकर्षयति, तप सयमजनितमहत्त्व विनाशयति, दश-विधधर्मं मलीनयति, तस्मात् क्षुद्रससर्ग॰ परिवर्जनीय इति।

साथ अपने मूल से मिला रहने पर कटुकफल देने लगता है। यह बात प्रसिद्ध है। इसलिये ससर्ग के दोष से जैसे आम्र निम्बभाव को प्राप्त होकर कडुवे फल देने लगता है उसी प्रकार आत्मार्थी साधुजन भी बाल पार्श्वस्थादि के सगति से स्वाचार भ्रष्ट हो जाते हैं। आम्र पर नीमका ही प्रभाव पड़ता है-नीम पर आम का नहीं-कारण कि बुरी वस्तु का ही अधिक प्रभाव पड़ा करता है और वही वस्तु दूसरों को जल्दी अपने अनुरूप परिणमा लेती है-यह एक स्वाभाविक बात है। यह तो आंखोंदेखी बाते हैं कि धूलि का पुज मणिगणको भी मलिन बना देता है। राहुचन्द्रमडल की प्रभा का अपकर्षक होता है, लोभ समस्त सद्गुणोंका लोपक होता है। हेमन्त ऋतु कमलवन को दग्ध कर देता है। इसी तरह यह भी मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि क्षुद्र-जनों का ससर्ग भी साधुजनों के शांति आदि गुणगणों को मलिन बना देता है। उनके प्राप्त-प्रभाव को कम कर देता है। तप एवं सयम

કડવા ફળ આપવા લાગે છે આ વાત પ્રસિદ્ધ છે આ માટે સસર્ગના દોષથી જેમ આંબો લીમડાના ભાવને પામી કડવા ફળ આપનાર બને છે એજ રીતે આત્માર્થી સાધુજન પણ બાળ પાર્શ્વસ્થાદિના સગથી સ્વાચારભ્રષ્ટ બની જાય છે આંબા ઉપર લીમડાનો જ પ્રભાવ પડે છે, લીમડા ઉપર આંબાનો નહી કારણ કે ખરાબ વસ્તુનો અધિક પ્રભાવ પડે છે અને વસ્તુ બીજાઓને જલ્દી પોતાના જેવી બનાવે છે આ એક સ્વાભાવિક વાત છે આ તો આંખે જોયેલી વાત છે કે ધુળનો વટોળ મણીઓને પણ મલીન બનાવી દે છે રાહુ ચદ્ર મડળ તેજને ઢાકી દે છે લોભ સમસ્ત સદ્ગુણોને લોપનાર હોય છે હેમન્ત કમળ વનને બાળી નાખે છે આ રીતે એ માનવામા કોઈ અયુક્તિ નથી કે ક્ષુદ્રજનોનો સસર્ગ પણ સાધુજનોના શાન્તી આદિ ગુણોને મલીન બનાવી દે છે એના પ્રાપ્ત પ્રભાવને ઓછો કરે છે, તપ અને

क्रोध के आवेश से मृषाभाषण मत करो। (बहुय माय आलवे-बहुक माच आलपेत्) व्यर्थ आलजालरूप वचनोंका उच्चारण मत करो-अनर्थ प्रलाप मत करो-अधिक मत बोलो। (कालेण य अहिज्जित्ता-कालेन चाधीत्य) प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय करके (तओ एगओ झाइज्ज-ततः एकाकी ध्यायेत्) द्वितीय पौरुषी में एकाकी होकर सूत्रार्थका चिन्तवन करो। उपलक्षण से तृतीय पौरुषी में भिक्षाचर्या, एवं चतुर्थी पौरुषी में भण्डोपकरण की प्रतिलेखना के बाद पुनः स्वाध्याय करो। यह बात स्वयं सूत्रकार छाईस वें अध्ययन में कहेंगे।

भावार्थ—इस सूत्र द्वारा प्रकारान्तर से विनय धर्मका शिष्यजनों को उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि हे शिष्यों यदि तुम इस विनय धर्मको पालन करने के अभिलाषी हो तो तुम्हारा यह कर्तव्य है कि तुम क्रोध के आवेशमें आकर कभी भी मृषाभाषण मत करो। क्यों कि इस प्रकार करनेसे विनयधर्मकी पालना नहीं होती है मृषाभाषण के निषेध से उसके साथ-साथ मान, माया, लोभ, एवं हास्यादि कों का भी विनयवान को त्याग कर देना चाहिये। मृषावादादि को त्याग करने का कारण यह है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाला

મૃષાભાષણ ન કરો. (बहुय माय आलवे-बहुक माच आलपेत्) આળપંપાળરૂપ વચનોનું વ્યર્થ ઉચ્ચારણ ન કરો-અનર્થ પ્રલાપ ન કરો-વધારે ન બોલો. (कालेण य अहिज्जित्ता-कालेन चाधीत्य) પ્રથમ પૌરૂષીમાં સ્વાધ્યાય કરી (तओ एगओ झाइज्ज-ततः एकाकी ध्यायेत्) બીજા પૌરૂષીમાં એકાકી થઈને સૂત્રાર્થનું ચિંતવન કરો. ઉપલક્ષણથી ત્રીજા પૌરૂષીમાં ભિક્ષા ચર્યા અને ચોથા પૌરૂષીમાં ભંડોપકરણની પ્રતિલેખના પછી ફરી સ્વાધ્યાય કરો. આ વાત સૂત્રકાર પોતે ૨૬ મા અધ્યયનમાં કહેશે.

ભાવાર્થ—આ સૂત્ર દ્વારા પ્રકારાન્તરથી વિનય ધર્મનો શિષ્યજનોને ઉપદેશ આપતાં સૂત્રકાર કહે છે કે હે શિષ્યો! જો તમે આ વિનયધર્મનું પાલન કરવાના અભિલાષી હો તો તમારૂં એ કર્તવ્ય છે કે તમે ક્રોધના આવેશમાં આવી કદી પણ મૃષાભાષણ કરો નહીં કેમકે આ પ્રકારે કરવાથી વિનય ધર્મની પાલના થતી નથી. મૃષાભાષણના નિષેધથી એની સાથે માન, માયા, લોભ અને હાસ્યાદિકનો પણ વિનયવાને ત્યાગ કરી દેવો જોઈએ. મૃષાવાદાદિકોનો ત્યાગ કરવાનું કારણ આ છે કે આ પ્રકારની પ્રવૃત્તિ કરવા

पुनरपि प्रकारान्तरेण विनयमुपदिशन्नाह—

मूलम्—मा य चंडालियं कासी, बहुयं मा य आलवे ।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाइज्ज एगओ ॥ १० ॥

छाया—
मा च चण्डालीक कार्षीद्, बहुकं मा च आलपेत् ।
कालेन चाधीत्य, ततो ध्यायेत् एककः ॥ १० ॥

टीका—

'मा य' इत्यादि—च शब्द समुच्चयार्थक. । चण्डालीक—चण्ड=क्रोध-स्तद्वशादलीक=मृषाभाषण मा कार्षीत्=मा कुर्यात्, इदमुपलक्षण मानमायालोभ-भयहास्यादीनाम् । उक्तच—

मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहि गरिहिओ ।
अविस्सासो य भूयाण, तम्हा मोसं विवज्जए ॥ (दशवै ६ अ १३ गा)

छाया—
मृषावादस्तु लोके, सर्वसाधुभिर्गर्हित' ।
अविश्वासश्च भूतानां, तस्मान्मृषा विवर्जयेत् ॥

च=पुन बहुक—बहुत्र बहुकम्—अतिशयम् आलजालरूप मा आलपेत्=मा वदेत् । बहुभाषणे बहवो दोषा भवन्ति । उक्त च—

है। इसी तरह क्रीडाके विषय में भी समझ लेना चाहिये ॥ ९ ॥

दूसरे प्रकार से भी इसी विनयधर्मका सूत्रकार उपदेश करते हैं—' माय ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—शिष्यजनों को संबोधित करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि हे शिष्यो ! तुम (चण्डालिय माम कासी—चण्डालीक मा चकार्षीत्

બધ કરે છે આ રીતે ક્રીડાઓના વિષયમા પણ સમજી લેવું જોઇએ. ॥ ૯ ॥

બીજા પ્રકારથી પણ આ વિનય ધર્મનો સૂત્રકાર ઉપદેશ કરે છે—માય૦ ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—શિષ્યજનોને સંબોધન કરતાં સૂત્રકાર કહે છે કે હે શિષ્યો ! તમે चंडालियं माम कासी—चण्डालीकं मा चकार्षीत्) ક્રોધના આવેશથી

पालने का आदेश है। बहुभाषण में अथवा विना विचार किये भाषण में न तो साधु के मूलगुणरूप इस समिति का ही पालन होता है और न गुप्ति का ही। इसीलिये बहुभाषण में " बहुत दोष है " अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है—

बहुभाषणमुन्माद स्वाध्यायध्यानभजन कुरुते।
अहितमनर्थकर तत्, भवति च पीडाकर नितराम् ॥ १ ॥
बहुभाषणात् द्वितीय नश्यति, तावन्महाव्रत तस्मात्।
स्यादेव कर्मबधस्तस्माद् दीर्घाध्वससार॰ ॥ २ ॥

बहुत आलजालरूप बकवाद करने वालोंके उन्माद रोग हो जाता है। साधु के स्वाध्याय एव ध्यान में विघ्न पड़ता है—स्वाध्याय ध्यान नष्ट हो जाते हैं। बहुभाषण से अनेक अनर्थ होते हैं। ज्यादा इस विषय में और क्या कहा जाय साधु का इस हालत में द्वितीय सत्य-महाव्रत भी खडित हो जाता है अत॰ बहुभाषीके कर्म बहुत बन्धते हैं और वह दीर्घ ससारी होकर ससार में परिभ्रमण करता है।

" कालेण " इस पद से सूत्रकार साधु का क्या कर्तव्य है यह बात दिखलाते हैं। वे कहते हैं कि साधु को प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय

સમિતિ અને વચનગુપ્તિ પાળવાનો આદેશ છે બહુ ભાષણમા અથવા વિચાર કર્યા વગરના ભાષણમા ન તો સાધુના મુળગુણ રૂપ એ સમિતિનુ પાલન થાય છે અને ન ગુપ્તિનું પણ આ માટે બહુ ભાષણમા " ઘણો દોષ છે " બીજામા પણ તેમજ કહ્યુ છે

बहुभाषणमुन्मादं स्वाध्यायध्यानभंजन कुरुते।
अहितमनर्थकर तत् भवति च पीडाकरं नितराम् ॥१॥
बहुभाषणात् द्वितीयं नश्यति तावन्महाव्रत तस्मात्।
स्यादेव कर्मबधस्तस्मात् दीर्घाध्वससार॰ ॥२॥

આલ જાલરૂપ વધુ બકવાદ કરવાવાળાને ઉન્માદ રોગ થઇ આવે છે સાધુના સ્વાધ્યાય અને ધ્યાનમા વિઘ્ન પડે છે—સ્વાધ્યાય ધ્યાન નષ્ટ થઇ જાય છે બહુ ભાષણથી અનેક અનર્થ થાય છે આ વિષયમા વધુ શુ કહેવાય. સાધુનું આ હાલતમા બીજુ સત્ય મહાવ્રત પણ ખડિત થઇ જાય છે એટલે બહુભાષીના કર્મ વધુ બંધાય છે અને તે દીર્ઘ સસારી બની સસારમા પરિભ્રમણ કરે છે

"कालेण" આ પદથી સૂત્રકાર સાધુનુ શુ કર્તવ્ય છે આ વાત બતાવે છે, તેઓ કહે છે કે સાધુને પ્રથમ પૌરૂષીમા સ્વાધ્યાય કરવો જોઇએ. પછી

बहुभाषणमुन्मादं, स्वाध्यायध्यानभञ्जनं कुरुते ।
अहितमनर्थकरं तद्, भवति च पीडाकरं नितराम् ॥१॥
बहुभाषणाद् द्वितीय, नश्यति तावन्महाव्रत तस्मात् ।
स्यादेव कर्मबन्ध,-स्तस्माद् दीर्घाऽत्रसंसार. ॥ २ ॥

तर्हि किं कुर्यात् ? इत्याह—'कालेण' इत्यादि । 'कालेण'—इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया; काले=प्रथमपौरुष्यां तु, चकारस्त्वर्थवाचकः, अधीत्य=स्वाध्याय कृत्वा ततः=तदनु द्वितीयपौरुष्याम् एकक.-एकाकी सन् भावतो रागादिरहित', द्रव्यतो विविक्तशयनासनादिसस्थ' ध्यायेत्-सूत्रार्थं चिन्तयेत् । उपलक्षणमेतत् तृतीयचतुर्थ-पौरुष्योरपि, तथा च-तृतीयपौरुष्या भिक्षाचर्यं चतुर्थ्यां पुन स्वाध्याय कुर्या-दित्यर्थः। वक्ष्यति षड्विंशेऽध्ययने-

---

साधु साधु नहीं है वह साध्याभास है । कहा भी है कि—

मुसावाओ उलोगम्मि सव्वसाहूहिं गरिहिओ ।
अविस्सासो य भूयाण तम्हा मोस विवज्जए । (दशवै०६ अ १३ गाथा)

यह मृषावाद सर्व-साधुओं अर्थात् तीर्थंकर आदि महापुरुषों द्वारा गर्हित-निन्दित है, दूसरे मृषावादी पर जगत का कोई भी प्राणी विश्वास नहीं करता है, अर्थात् वह सब के लिये अविश्वास्य होता है । इसी प्रकार बहुत बोलने से भी विनय धर्म यथावत् पालित नहीं हो सकता है । क्यों कि इस अवस्था में ऐसे भी कई शब्द निकल जाते हैं जो व्यर्थ होते हैं एव सुनने वाले के लिये भी कष्टप्रद होते हैं । जो मन में आया सो बोल देना-यह प्रवृत्ति साधु मार्ग की नहीं है । इसमें तो बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। इसी लिये भाषासमिति एव वचनगुप्ति

વાળા સાધુ સાધુ નથી તે સાધ્વાભાસ છે કહ્યું પણ છે કે—

મુસાવઓ ય લોગમ્મિ સવ્વાસાહુ હિં ગરિહિઓ ।
અવિસ્સાસો ય ભૂયાણ તમ્હા માસ વિવજ્જए । દશવૈ૦ ૬ અ ૧૩ ગાથા

આ મૃષાવાદ સર્વ સાધુઓ અર્થાત્ તીર્થંકર આદિ મહાપુરૂષોદ્વારા અહિત છે બીજા મૃષાવાદી ઉપર જગતના કોઇપણ પ્રાણી વિશ્વાસ કરતા નથી તે બધાને માટે અવિશ્વાસ હોય છે આ પ્રકારે બહુ બોલવાથી પણ વિનયધર્મ યથાવત્ પાલિત નથી થઇ શકતો. કેમકે એ અવસ્થામા એવા પણ કોઇ શબ્દ નિકળી જાય છે, જે વ્યર્થ હોય છે, અને સાભળવાવાળાને માટે પણ દુઃખદાયક હોય છે જે મનમાં આવ્યુ તે બોલી નાખ્યુ—આ કામ સાધુનું નથી. એમાં તો ખૂબજ સાવધાની રાખવી પડે છે આ માટે ભાષા

च-पुनः, अकृतम्=अनाचरित चण्डालीकादिरं, नो कृतमिति=मृषाभाषण मया न कृतमित्येव भाषेत। अय भावः-गुरुशुश्रूषाकारिणोऽपि शिष्यस्य कथचिदतीचार-समवे गुरुसनिधौ तदालोचना करणीया। आलोचना हि-मोक्षमार्गविघातकानाम-नन्तससारवर्धकाना माया-निदान-मिथ्यादर्शनशल्याना निष्कर्षणी, ज्ञानावरणीया-घष्टविधकर्ममलापकर्षणी, शुद्धात्मस्वरूपदर्शनी, तत्त्वातत्त्वविमर्शनी, अव्याबाध-सुखवर्षिणीति ॥ ११ ॥

(आहच्च-कदाचित्) यदि अकस्मात् (चडालियं कट्टु-चडालीक कृत्वा। क्रोध के आवेश से अकस्मात् झूठ बोला गया हो तो भी उसे (कयावि न निन्हुविज्ज-कदापि न निह्नुवीत) कभी भी किसी भी परिस्थिति में छिपाना नहीं चाहिये। (कड कडेत्ति भासेज्जा-कृत कृतमिति भाषेत) ऐसा नहीं कहना चाहिये कि मैंने क्रोधादिक के आवेश से असत्य भाषण नहीं किया है-किन्तु ऐसा ही कहना चाहिये कि मेरे द्वारा क्रोधादिक के आवेश से असत्यभाषण अवश्य-अवश्य हुआ है, (अकड नो कडेत्ति य-अकृत नो कृतमिति च) और जो क्रोधावेशसे असत्य नहीं बोला गया हो तो ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि मैंने असत्य भाषण किया है।

भावार्थ—यदि क्रोधादिक कषायों के आवेश से सहसा असत्य भाषण हो भी जाय तो उसे यह नहीं कहना चाहिये कि मैंने असत्य भाषण नहीं किया है। जैसे रक्त से दूषित वस्त्र रक्तसे धोने

आहच्च-कदाचित्-કદાચ યદિ-અકસ્માત્ चडालियं कट्टु-चडालीककृत्वा ક્રોધના આવેશથી અકસ્માત્ જુઠું બોલી જવાયુ હોય તો પણ તેને कयावि न निन्हुविज्ज-कदापि न निह्नुवीत કદી પણ કોઈ પણ પરિસ્થિતિમા છુપાવવું નહી જોઈએ. कड कडेत्ति भासेज्जा-कृत कृतमिति भाषेत એમ ન કહેવું જોઈએ કે મે ક્રોધાદિકના આવેશમા અસત્ય-ભાષણ કરેલ નથી-પરતુ એવુ કહેવું જોઈએ કે મારાથી ક્રોધના આવેશમા અસત્ય ભાષણ જરૂરાજરૂર થયુ છે अकड नो कडेत्ति य-अकृत नो कृतमिति च અને જો ક્રોધાવેશના લીધે અસત્ય ન બોલાયુ હોય તો એવું પણ ન કહેવું જોઈએ કે મે અસત્ય ભાષણ કર્યું છે

મતલબ આનો એ છે કે જો ક્રોધાદિક કષાયોના આવેશથી સહસા અસત્ય-ભાષણ થઈ જાય તો એવું ન કહેવું જોઈએ કે મે અસત્ય-ભાષણ નથી કર્યું જે રીતે લોહીથી ખરડાયેલું દૂષિત વસ્ત્ર લોહીથી ધોવાથી શુદ્ધ થતુ

" पढम पोरिसि सज्झाय बीय झाण झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीइ सज्झाय " इति ॥ सू० १० ॥

यदि कथञ्चिदसत्यभाषण भवेत्तदा तन्न गोपयेदित्याह–'आहच्च' इत्यादि ।

मूलम्—आहच्च चंडालियं कट्टु, न निन्हुविज्ज कयाइवि ।
कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडे नो कडेत्ति य ॥११॥

छाया—
कदाचित् चण्डालीक कृत्वा, न निह्नुवीत कदाचिदपि ।
कृत कृतमिति भाषेत, अकृतं नोकृतमिति च ॥ ११ ॥

टीका—
'आहच्च' इत्यादि–कदाचित्=अकस्मात् चण्डालीक=क्रोधादिवशाद्–नृतभाषणं कृत्वा कदाचिदपि–यद्वा परेण ज्ञात नोज्ञात वा तदापि न निह्नुवीत=न गोपयेत्–अनृतभाषणं मया न कृतमित्यपलापं न कुर्यात् । किं तर्हि ? इत्याह–कृत चण्डालीकादि, कृतमिति=क्रोधादिवशादनृतभाषण मया कृतमित्येव भाषेत, तथा

करना चाहिये । पश्चात् द्वितीय पौरुषी में रागादिक भावों से रहित होकर सूत्रार्थका चिन्तवन करना चाहिये । उपलक्षण से तृतीय एव चतुर्थ पौरुषी का ग्रहण हुआ है जिसका भाव इस प्रकार है कि तृतीय पौरुषी में वह भिक्षाचर्या करे और चतुर्थ पौरुषी में पुन स्वाध्याय करे इसी बात को इसी सूत्र के छाईस २६ वें अध्ययन में भगवानने कहा है–

पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झाणं झियायई ।
तइयाएभिक्खा यरियं पुणो चउत्थीइ सज्झाय ॥ इति ॥ सू० १० ॥

अगर किसी कारण वश असत्य बोलाजाय तो उसे छिपावे नहीं, इसी बातको कहते हैं—'आहच्च' इत्यादि ।

બીજા પૌરૂષીમા રાગાદિક ભાવોથી રહિત બની સૂત્રાર્થનું ચિતવન કરવું જોઇએ. ઉપલક્ષથી ત્રીજા અને ચોથા પૌરૂષીનું ગ્રહણ થયેલ છે જેનો ભાવ આ પ્રકારે છે કે ત્રીજા પૌરૂષીમા તે ભિક્ષા ચર્યા કરે અને ચોથા પૌરૂષીમાં ફરી સ્વાધ્યાય કરે. આ વાત આજ સૂત્રના ૨૬મા અધ્યયનમાં ભગવાને કહી છે–

पढम पोरिसि सज्झाय बीयं झाण झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीय सज्झाय इति ॥सू० १०॥

આ વાતને આ સૂત્રના ૨૬ મા અધ્યયનમાં ભગવાને કહ્યું છે

જો કોઇ કારણવશ અસત્ય બોલાઇ જાય તો એને છૂપાવવું નહિ એજ વાત ને કહે છે આહચ્ચ૦ ઈત્યાદિ.

वाले अष्टविध कर्मोंका इस आलोचना के प्रभाव से विनाश होता है
आत्मिक शुद्ध स्वरूप के दर्शन करानेवाली यह आलोचना है और तत्त्व
एव अतत्त्व के विवेक को जाग्रत करती हुई अव्याबाध सुख को प्रदान
करनेवाली यही आलोचना है ॥ ११ ॥

शिष्यको सभी काम गुरुमहाराजके अभिप्रायसे ही करना चाहिये
सो दिखलाते हैं—' मा गलियस्सेव०' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(गलियस्सेव कस–गलिताश्व इव कशा) जिस
प्रकार अविनीत घोड़ा वारवार कशा (चाबुक) के प्रहार की इच्छा
करता है, उसी प्रकार (पुणो पुणो मा वयणमिच्छे–पुन पुन मा वचन
इच्छेत्) पुन पुन प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप गुरुके आज्ञा की शिष्य को वाछा
नहीं करनी चाहिये, अर्थात्–उपदिष्ट अर्थको ही वारवार कहलवाने के
लिये गुरु महाराज को कष्ट नहीं देना चाहिये । किन्तु (आइन्ने कस व
दट्ठु–आकीर्ण कशाम् इव दृष्ट्वा) जिस प्रकार आकीर्ण अर्थात् जाति
मान् सुशिक्षित विनीत घोड़ा चाबुक को देखकर अपनी अविनीतता का
परिहार कर देता है, उसी तरह विनीत शिष्य भी (पावग परिवज्जए-
पापक प्रतिवर्जयेत्) गुरु के इगित आकार को जानकर पापमय अनु
ष्ठान का परित्याग करे।

इस श्लोकका भावार्थ शत्रुमर्दन राजा के दृष्टान्त से कहते हैं—
वह इस प्रकार है—

સ્વરૂપનું દર્શન કરાવનાર આ આલોચના છે અને તત્ત્વ તેમજ અતત્વના
વિવેકને બ્રગ્રત કરીને અવ્યાબાધ સુખ આપનારી આ જ આલોચના છે ॥૧૧॥

શિષ્યે બધા કામ ગુરુમહારાજના અભિપ્રાયથી જ કરવા જોઇએ, તે
બતાવવામા આવે છે ' मा गलियस्सेव०' ઇત્યાદિ.

गलियस्सेव कस–गलिताश्व इव कशा જે પ્રકારે ઘોડા વાર વાર ચાબુકના પ્રહા
રની ઈચ્છા કરે છે એ પ્રકારે पुणो पुणो मा वयणमिच्छे–पुन पुन मा वचन
इच्छेत् ફરી ફરી પ્રવૃત્તિનિવૃત્તિરૂપ ગુરુની આજ્ઞાની શિષ્યે ઇચ્છા ન કરવી
જોઇએ–અર્થાત્ ઉપદિષ્ટ અર્થને વારવાર કહેવડાવવા માટે ગુરુમહારાજને
કષ્ટ ન આપવું જોઇએ. પરંતુ आइन्ने कस व दट्ठु–आकीर्ण कशाम् इव दृष्ट्वा જે પ્રકારે
આકીર્ણ અર્થાત્ બ્રતવાન કેળવાયેલ ઘોડો ચાબુકને જોઇ પોતાની અવિનીત
તાનો ત્યાગ કરે છે એજ રીતે વિનીત શિષ્ય પણ पावग परिवज्जए–पापक
प्रतिवर्जयेत् ગુરુના ઇંગિત–આકારને જાણી પાપમય અનુષ્ઠાનનો પરિત્યાગ કરે.

આ શ્લોકનો ભાવાર્થ શત્રુમર્દનના દૃષ્ટાંતથી સમજાવવામા આવે છે, જે
આ પ્રકારે છે

गुरोरभिप्रायेणैव सर्व कर्त्तव्यमित्याह–

मूलम्–मा गलियस्सेव्व कस वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
कस व दट्ठुमाइन्ने, पावग परिवज्जए ॥१२॥

छाया—

मा गलिताश्व इव कशा, वचनम् इच्छेत् पुन. पुनः ।
कशाम् इव दृष्ट्वा आकीर्ण., पापक परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥

टीका—

'मा गलियस्सेव' इत्यादि—इव=यथा, गलिताश्वः=अविनीततुरङ्गः, पुन पुनः कशां=कशाप्रहारं वाञ्छति, तथा पुन' पुन' वचन=प्रवृत्तिनिवृत्तिपरं गुरोरुपदेशं मा इच्छेत्। उपदिष्टार्थमेव पुन पुनर्वक्तु गुरवे परिश्रमो न देय इति भावः।

पर शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार झूठ की शुद्धि पुन झूठ बोलने से नहीं होती है यह विश्वास रखना चाहिये। फलितार्थ यह है कि वास्तविक स्थिति को साधु के लिये छुपाना नहीं चाहिये, और अवास्तविक स्थिति को कल्पना के तूलिका से सजाकर प्रकट नहीं करना चाहिये। शिष्य चाहे गुरुजन की शुश्रूषा करनेवाला भी क्यों न हो तो भी उसे कथंचित् अतीचार लगने पर गुरु के समीप आलोचना अवश्य करनी चाहिये। कारण कि आलोचना से आत्मा की शुद्धि होती है एव मोक्षमार्ग के विघातक तथा अनंत संसार के वर्धक ऐसे माया, मिथ्या एवं–निदान इन तीन शल्यों का अभाव होता है। आत्मा को मलिन करने-

નથી એજ રીતે જુઠની શુદ્ધિ ફરી જુઠ બોલવાથી થતી નથી, આ વિશ્વાસ રાખવો જોઈએ. આનો અર્થ એ છે કે વાસ્તવિક સ્થિતિને સાધુએ કદી પણ છુપાવવી ન જોઈએ, અને અવાસ્તવિક સ્થિતિને કલ્પનાથી સજાવીને પ્રગટ ન કરવી જોઈએ. શિષ્ય ગુરુજનની શુશ્રૂષા કરવાવાળો પણ કેમ ન હોય તો પણ તેને કથચિત્ અતીચાર લાગવાથી ગુરુની પાસે તેણે આલોચના જરૂર કરવી જોઈએ. કારણ કે આલોચનાથી આત્માની શુદ્ધિ થાય છે અને મોક્ષ માર્ગના વિઘાતક તથા અનત સાગરને વધારનાર એવા માયા, મિથ્યા અને નિદાન આ ત્રણ શલ્યોનો અભાવ હોય છે આત્માને મલિન કરવાવાળા અષ્ટ વિધ કર્મોનો આ આલોચનાના પ્રભાવથી વિનાશ થાય છે આત્મિક શુદ્ધ

स च तुरङ्गम कशया पुन पुनस्ताडितोऽपि नेच्छति शत्रुमभिगन्तुम्। अत्रान्तरे शत्रु-सैनिका अस्य सवलानपि सैनिकान् अनाथानिव अशरणानिव मन्वाना अचिरेणैव विजित्य निजवाद्य वादयामासु॰, शत्रुमर्दन स्ववाहनेन गलिताश्वेन पराजित॰ श्री इतो यावत्पलायितु वाञ्छति, तावत् "गृह्यता गृह्यताम्"—इति वदन्त' शत्रुसैनिकास्त निग्रहीतु पश्चाद्धावमाना' शत्रुमर्दन निगृह्य लाहपिञ्जरे स्थापितवन्त । एव गलिताश्वसदृश॰ शिष्यो महतेऽनर्थाय भवति। किं तर्हि कुर्यादित्याह—कशा—'चावुक' इति भाषाप्रसिद्धा दृष्ट्वा, अकीर्ण'=जात्याश्व', विनीताश्व इव शिष्यो गुरोरिङ्गितमाकार दृष्ट्वा पापक=पापानुष्ठानम्—अविनीततामित्यर्थ॰, परिवर्जयेत्=सर्वथा परिहरेत्। अय भाव —यथा जात्याश्व' कशा दृष्ट्वैवाश्वारूढस्याशयं विज्ञाय कशाताडन

घोडे को चावुकसे ताड़ना करता था वह घोड़ा त्यों त्यों पीछे हटता जाता था और शत्रु के सन्मुख जाने मे अचकचाता था। इसके वाद शत्रु सैनिकों ने इस राजा के सैनिकोंको अशरण एव अनाथ जैसा मानकर वहुत जल्दी पराजित कर दिया। और अपनी विजयकी दुदु भी वजा दी। शत्रुमर्दन नरेश ज्यों ही अपने को उस अड़ियल घोडे की वजह से पराजित समझकर एव श्रीविहीन होकर युद्धभूमि से पलायन करने को तैयार हुआ कि इतने में ही " इसको पकड़ लो पकड़ लो " इस प्रकार वोलते हुए शत्रुसैनिकों ने उसका पीछा किया और उसको पकड़कर उन्होंने लोहनिर्मित एक पांजर के अन्दर वन्द कर दिया।

इस कथा से यह साराश निकलता है कि गलिताश्व—अड़ियल घोडे की तरह अविनीत शिष्य भी महान् अनर्थकारी होता है। तथा जिस प्रकार विनीत घोड़ा अपने स्वामी के अभिप्रायानुसार चलता

વાર તેને ફટકારવાનું શરૂ કર્યું પરંતુ ગમે તેટલા ચાબુક પડવા છતા પણ ઘોડો પાછળજ હઠતો ગયો, શત્રુની સામે જવામા તે અચકાતો હતો આ પરિસ્થિતિનો લાભ લઇ શત્રુ સેનાએ શત્રુમર્દન રાજાના સૈન્યમા હાહાકાર વર્તાવી દીધો અને શત્રુઓએ જીત મેળવી પોતાના વિજયના વાજા વગાડયા શત્રુમર્દન રાજાએ, આ પોતાના અડીયલ ઘોડાને કારણે પરાજિત થવુ પડયુ છે તે જાણી યુદ્ધભૂમિથી પલાયન કરવાની તૈયારી કરી એટલામા "આને પકડી લ્યો, પકડી લ્યો" આ પ્રકારે બોલતા શત્રુસૈનિકો તેની પાસે આવી પહોચ્યા. અને તેને પકડી લોઢાના મજબુત સળીયાવાળા પાંજરામા પુરી દીધો

આ વાર્તાથી એ સારાશ નિકળે છે કે ગલિતાશ્વ—અડિયલ ઘોડાની માફક અવિનીત શિષ્ય પણ મહાન અનર્થકારી હોય છે જે પ્રકારે વિનીત

अत्र शत्रुमर्दनदृष्टान्त., तथाहि—

आसीदङ्गदेशे चम्पापुरी नाम नगरी, तत्र नरवीर' समरधीरः शूर' शत्रुमर्दनो नाम नृपतिर्बभूव। स चैकदा युद्धप्रसङ्गेन तुरङ्गमारुह्य हस्त्यश्वरथपदातिभिः परिवृत' सग्रामभूमौ गत.। तत्प्रतिपक्षनृपसैनिका दुर्बला अपि ससैन्यं शत्रुमर्दनं शस्त्रास्त्रवर्षणै पीडयन्ति। अथ शत्रुमर्दन सोत्साह शत्रुसैनिकान् मर्दयितु स्ववाहन वैरिसेनाया प्रवेशयन् प्रेरयति स्म। तेन तुरङ्गमेन विलोमत पश्चात् गमन समारब्धम्। तत. शत्रुमर्दन' कशया स्ववाहन ताडयन् पुन पुनरग्रे धावयितुमिच्छति,

अंगदेश में चपापुरी नामकी एक नगरी थी। उसका शासक शत्रुमर्दन नामका एक राजा था। वह मनुष्यों में श्रेष्ठ, युद्धकला में निपुण एव शूरों में वीर था। एक दिन की बात है कि वह नरेश युद्ध के प्रसग से घोडे पर सवार होकर हस्ति, अश्व, रथ एव पदातियों से परिवृत होकर सग्राम भूमि में गया। उसके प्रतिपक्षभूत राजा की सेनाने जो कि एक प्रकार से दुर्बल थी तो भी ससैन्य उस शत्रुमर्दन नरेश को शस्त्र एव अस्त्रों के प्रहारों से जर्जरित कर दिया। शत्रुमर्दन ने जब इस प्रकार की अपनी स्थिति देखी तो उसने उत्साहित होकर शत्रु के सैनिकों को मर्दन करने के लिये अपने घोडे को शत्रुकी सेनाके भीतर प्रविष्ट होने के लिये आगे प्रेरित किया। परन्तु वह घोडा उस सेना के भीतर न घुसकर उल्टा पीछे ही हटने लगा। तब शत्रुमर्दन ने कोडे से बारंबार अपने उस घोडे की ताडना करना प्रारंभ की जिससे कि उस घोडे द्वारा वह शत्रुसेना हट सके। परन्तु ज्यों–ज्यों नरेश उस

અગદેશમા ચપાપુરી નામની એક નગરી હતી. ત્યા શત્રુમર્દન નામના રાજા રાજ્ય કરતા હતા તે મનુષ્યમા શ્રેષ્ઠ, યુદ્ધકળામા નિપુણ અને શૂરવીર હતા. એક દિવસની વાત છે કે રાજા શત્રુમર્દન યુદ્ધના પ્રસગે ઘોડા ઉપર સ્વાર થઈ હાથી, ઘોડા, રથ અને સૈનિકોના સમુદાય સાથે સગ્રામ ભૂમિ ઉપર ગયા. એના પ્રતિપક્ષી રાજાની સેના એક પ્રકારથી ઘણી ઓછી હતી, છતા પણ શત્રુમર્દન રાજાના સૈન્યને તથા ખુદ શત્રુમર્દનને પણ શસ્ત્ર અસ્ત્રના પ્રહારોથી વિહ્વળ બનાવી દીધા. શત્રુમર્દને પોતાની આ પ્રકારની સ્થિતિ જોઈ ત્યારે એક સાચા વીર પુરુષને શોભે એ રીતે શત્રુસૈન્યને શિકસ્ત આપવા અને પોતાના સૈન્યનો નિકળતો કચ્ચરઘાણ બચાવવા પોતાના ઘોડાને શત્રુસૈન્યની વચ્ચોવચ્ચ લઈ જવા પ્રયત્નશીલ બન્યા, પરતુ તે ઘોડો શત્રુ સેનાની વચ્ચે ન જતા પાછો હઠવા લાગ્યો. ત્યારે શત્રુમર્દને કોરડાથી વાર

भो ! मन्त्रिणः ! किमधुना करणीयम्, प्रबलवैरिणश्चतुरङ्गिणी सेना चतुर्षु खलु भागेषु नगरी-मावेष्ट्य तिष्ठति। मन्त्रिण ऊचुः-प्रभो ! अलमनया चिन्तया, वयमल्पसंख्यका अपि भवदीयतेजः समुपलभ्य शात्रवबलविजये प्रखरतरशक्तिशालिनो भवामः। भवत्प्रतापादेव सर्वं रिपुबलं प्रणष्टं भविष्यति। देव ! जात्याश्वमारुह्य भवान् सन्नद्धः सन्नग्रतः शत्रुमभिसरतु, वयमपि सन्नद्धाः सन्तो भवन्तमनुगच्छामः। एवं विचार्य स्वकीयसेनापरिवृतः स मणिनाथो योद्धुं निःसृतः। अल्पबलं मणिनाथ-मवलोक्य शत्रुसैनिकाः केचिदसिचर्महस्ताः केचिद्भल्लहस्ताः केचिद्धनुर्बाणधराः

साथ विचार किया, बोला-हे मन्त्री महाशयो ! कहो अब क्या करना चाहिये। देखो, प्रबलशत्रुकी चतुरंगिणी सेना नगरी को चारों ओर से घेर कर पड़ी हुई है। सुनकर मन्त्रियोंने कहा प्रभो ! चिन्ता मत करो। हम सब लोग आपके प्रबल तेज से उद्दीप्त होकर शत्रुसेना को पराजय करने में प्रखर शक्तिशाली होंगे। आपके प्रताप से ही समस्त रिपुदल प्रणष्ट होगा। स्वामिन् ! सजधज कर आप जात्याश्व पर सवार होकर पहिले से ही शत्रु के सन्मुख जाइये। हम लोग भी सन्नद्ध होकर आपके पीछे-पीछे आते हैं। इस प्रकार विचार कर मणिनाथ नरेश सेना से परिवृत होकर युद्ध करने के लिये निकल पडे। अल्पबलवाले नरेश को देखकर शत्रु के सैनिकोंने उसे घेर लिया। सैनिकों में किन्हीं-किन्हीं के हाथों में तलवारें थीं। किन्हीं-किन्हीं के हाथों में भाले थे। किन्हीं-किन्हीं के हाथों में धनुष एवं बाण थे। किन्हीं-किन्हीं के हाथों में

આ જાણી મંત્રીઓ સાથે વિચાર કર્યો, મંત્રીઓને ઉદ્દેશીને તેણે કહ્યું-હે મંત્રિ-મહાશયો ! કહો હવે શું કરવું જોઈએ. પ્રબળ શત્રુની ચતુરંગિણી સેના નગરને ચારે તરફથી ઘેરો ઘાલીને પડેલ છે. આ પ્રકારનું રાજાનું કહેવું સાભળી મંત્રિઓએ કહ્યું, પ્રભો ! ચિંતા ન કરો. અમો બધા આપના પ્રબળ તેજથી ઉદ્દીપ્ત થઈ શત્રુ સેનાનો પરાજય કરવામાં પ્રખર શક્તિશાળી થઈશું. આપના પ્રતાપથી શત્રુનું સૈન્ય હારી જશે. સ્વામિન્ ! આપ તૈયાર થઈ જાત્યાશ્વ પર સવાર થઈ પહેલાજ શત્રુઓની સન્મુખ પહોંચો, અમે પણ તૈયાર થઈ આપની પાછળ પાછળ આવીએ છીયે. આ પ્રકારે વિચાર કરી મણિનાથ રાજા સેનાથી પરિવૃત થઈ યુદ્ધ કરવા માટે નિકળી પડ્યા. થોડા બળવાળા રાજાને જોઈ શત્રુસેનાએ તેમને ઘેરી લીધા. સૈનિકોમાં કોઈ કોઈના હાથમાં તરવાર હતી, કોઈના હાથમાં ભાલા હતા. કોઈની પાસે ધનુષ્યબાણ હતા. કોઈના

विनेव तदभिप्रायानुसारं चेष्टते, तथा सुशिष्योऽपि गुरोरिङ्गिताकारं दृष्ट्वा तदाशयं विज्ञाय "गुरोर्वचनायासो माभूदिति"-वचनेनाप्रेरित एव तदभिप्रायानुसारं कुर्यात्।

अत्र मणिनाथदृष्टान्तः-तथाहि—

आसीदजितनाथजिनशासने वङ्गदेशे रङ्गपुरं नाम नगरम्। तत्र प्रजा-पालनतत्परः स्वजनपदहितकरः प्रशान्तमानसः सुजनहंसमानसः समाश्रितनीति-सरणिः सकलसद्गुणसरोजतरणिर्मणिनाथनामको नृपतिः। स चैकदा दुरात्मभिः प्रबलरिपुभिः परितो वेष्टितां स्वनगरीमालोक्य मन्त्रिभिः सह विचारितवान्-भो

है उसी प्रकार सुशिष्य भी गुरु के ईंगित आकार को समझ कर उनकी आज्ञा के अनुसार चलता रहता है।

इस विषय में मणिनाथ राजा का दृष्टान्त है और वह इस प्रकार है—

द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ स्वामी के समय में बंगाल देश के अन्दर रंगपुर नामका एक नगर था। यहां के नरेश का नाम मणि-नाथ था। यह प्रजापालन करने में सदा तत्पर रहा करता था। इससे देश भर में आनन्द मंगल छा रहा था। राज्यकार्य से इसका मन कभी भी कायर नहीं बनता था। सुजनरूपी हंसों को रमने के लिये यह मानसरोवर जैसा माना जाता था। राजनीति के पालन करने में यह सर्वदा दत्तचित्त रहा करता था। सद्गुणरूपी कमलों को विकसित करने के लिये यह सूर्य जैसा था। एक दिन की बात है कि इसकी नगरी को इसके प्रबल शत्रु ने आकर घेर लिया। राजाने यह देखकर मन्त्रियोंके

ઘોડો પોતાના માલીકના કહેવા મુજબ ચાલે છે, એ જ રીતે સુશિષ્ય પણ ગુરુના ઈંગિત આકારને સમજી એમની આજ્ઞા પ્રમાણે ચાલતો રહે છે

આ અંગે મણિનાથ રાજાનું દૃષ્ટાંત છે જે આ પ્રકારનું છે

બીજા તીર્થંકર શ્રી અજીતનાથ સ્વામીના સમયમાં બંગાળ દેશમાં રંગપુર નામના એક નગરમાં મણિનાથ નામના રાજા રાજ્ય કરતા હતા. જે પ્રજા પાલન કરવામાં સદા તત્પર રહેનાર હતા. આથી દેશભરમાં આનંદ મંગળ વરતાઈ રહેલ હતો. રાજ્યકાર્યથી એનું મન કદી પણ કાયર બનતું નહીં સુજનરૂપી હંસોને રમવા માટે તે માનસરોવર જેવા ગણાતા હતા. રાજ નીતિનું પાલન કરવામાં તે સર્વદા દત્તચિત્ત રહેતા હતા, સદ્‌ગુણરૂપી કમળોને વિકસિત કરવા માટે તે સૂર્ય જેવા હતા. એક દિવસની વાત છે કે એના નગરને એના પ્રબળ શત્રુએ, સૈન્યસાથે આવી ઘેરી લીધું રાજાએ

टीका—

'अणासवा' इत्यादि—अनाश्रवाः=अनाज्ञाकारिणः, उच्छृङ्खलत्वात्, स्थूलवचसः=अविचारितभाषिणः, अभिमानित्वात्, कुशीलाः=कुत्सिताचारवन्तः दुष्टस्वभावा उभयलोकभयरहितत्वादित्यर्थः। शिष्याः मृदुमपि=कोमलहृदयमपि गुरुं, चण्डम्=सकोपं प्रकुर्वन्ति। पूर्वार्धेनाविनीतशिष्याचरणं प्रदर्शितम्।

का आराधन करता हुआ स्व और पर का कल्याण करनेवाला होता है ॥ १२ ॥

फिर भी सूत्रकार अविनीत एवं विनीत के स्वरूप को कहते हैं—'अणासवा०' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(अणासवा-अनाश्रवाः) अविनीत होने से आज्ञानुसार नहीं चलने वाले (थूलवया-स्थूलवचसः) अभिमानी होने से विना विचारे बोलनेवाले, (कुसीला-कुशीलाः) इहलोक एवं परलोक के भय से रहित होने के कारण दुष्ट स्वभाववाले ऐसे (सीसा-शिष्याः) शिष्य (मिउंपि-मृदुमपि) कोमल हृदयवाले गुरु को भी (चंडं पकरंति-चंडं प्रकुर्वन्ति) कोपयुक्त करते हैं। एवं जो शिष्य (चित्ताणुया-चित्तानुगाः) आचार्य महाराजकी आराधना तप एवं संयम की हेतु होती है ऐसा जानकर आचार्य महाराज की मनोवृत्तिका अनुसरण करनेवाले होते हैं अर्थात् उनके आज्ञा के आराधक होते हैं, तथा (दक्खोववेया-दाक्ष्योपपेताः) गुरु महाराज की सुख शाता के अभिलाषी होने से

કરાવી આ પ્રકારે સુશિષ્ય પણ ગુરૂ મહારાજની આજ્ઞાનું આરાધન કરતા પોતાનું અને બીજાનું કલ્યાણ કરવાવાળા હોય છે ॥૧૨॥

સૂત્રકાર વધુમાં અવિનીત અને વિનિતના સ્વરૂપને કહે છે अणासवा० ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—अणासवा-अनाश्रवाः અવિનીત બનવાથી આજ્ઞાનુસાર ન ચાલવાવાળા थूलवया-थूलवचसः અભિમાની હોવાથી વગર વિચાર્યું બોલવાવાળા कुसीला-कुशीलाः આલોક અને પરલોકના ભયથી રહિત હોવાના કારણે દુષ્ટ સ્વભાવવાળા એવા શિષ્ય કોમળ હૃદયવાળા ગુરુને પણ કોપ યુક્ત કરે છે અથવા જે सीसा-शिष्याः શિષ્ય मिउंपि-मृदुमपि। કોમળ હૃદયવાળા ગુરુને પણ चंड पकरंति-चंड प्रकुर्वन्ति કોપ યુક્ત કરે છે આચાર્ય મહારાજની આરાધના તપ અને સંયમના હેતુથી હોય છે એવું જાણી આચાર્ય મહારાજની મનોવૃત્તિનું અનુસરણ કરવાવાળા હોય છે, અર્થાત્ એમની આજ્ઞાના આરાધક હોય છે તથા दक्खोववेया-दाक्ष्योपपेता ગુરુ મહારાજની સુખશાતાના અભિલાષી

ःचिद् यष्टिधारिणः केचित्तोमरकरा अनेकानेकशस्त्रास्त्रधारिणः परितो मणिनाथ
ष्टितवन्तः। एवं विविधसकटेषु समुपस्थितेषु स मणिनाथस्तेन जात्याश्वेनाऽनेन
त्रुसैनिककरचितविविधव्यूहेषु मृगेषु सिंह इव निःशङ्कं प्रविश्य सर्वानुचरैः सहाग्रतो
ावमानः शत्रुसैनिकेषु विजयं प्राप्तवान्। एवं सुशिष्यः स्वगुरुमाराधयन् स्वपर-
ल्याणाय भवति ॥ १२ ॥

पुनरविनीतविनीतयोराचरणमाह—

मूलम्—अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चंडं पकरंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया, पसायए ते हु दुरासयंपि॥१३॥

छाया—

अनाश्रवाः स्थूलवचसः कुशीलाः, मृदुमपि चण्डं प्रकुर्वन्ति शिष्याः।
चित्तानुगा लघु दाक्ष्योपपेताः, प्रसादयन्ति ते हु दुराशयमपि ॥ १३ ॥

लकडियां थीं। किन्हीं-किन्हीं के हाथों में तोमर जाति के शस्त्र थे। इस प्रकार अस्त्र एवं शस्त्रों से सुसज्जित उस शत्रुसेना ने चारों ओर से मुझे घेर लिया है, यह देखकर नरेश ने अपने उस घोडेको उस सेना के रचित विविध प्रकार के व्यूह में आगे बढाया। जिस प्रकार मृगों के टोले में निःशंक होकर सिंह घुस जाता है उसी प्रकार मणिनाथ नरेश भी उस घोडे पर बैठे हुए उस शत्रु की सेना में घुस पडे और अपनी एवं अपने अनुचरों की उनसे रक्षा करते हुए आगे बढते गये। शत्रुसेना भी इनसे ज्यों-ज्यों ये आगे बढते जाते थे परास्त होती जाती थी। इस प्रकार शत्रुसेना को पराजित कर मणिनाथ ने अपनी विजय पताका वहां फहराई। इसी प्रकार सुशिष्य भी गुरु महाराज की आज्ञा

હાથમાં લાકડીઓ હતી, કોઇના હાથમાં તોમર નામના શસ્ત્ર હતા આ પ્રકારના શસ્ત્ર-અસ્ત્રથી સુસજ્જ એવી શત્રુસેનાએ મને ઘેરી લીધેલ છે, એવું જોઇ મણીનાથ રાજાએ પોતાના ઘોડાને એ સેનાએ રચેલા વ્યૂહની વચ્ચે આગળ વધાર્યો જે રીતે મૃગોના ટોળામાં નિઃશંક બની સિંહ ઘૂસતો હોય, આ રીતે શત્રુસેનાની વચ્ચે ઘુસી જઇ પોતાનું અને પોતાના સૈનિકોનું રક્ષણ કરતા કરતા આગળ વધવા માંડ્યું આથી શત્રુસેનામાં ભંગાણ પડ્યું આ પ્રકારે શત્રુસેનાને પરાજિત કરી રાજા મણિનાથે પોતાની વિજયપતાકા

श्चण्डनामकः शिष्यो मिलितः। अथैकदा भिक्षाचर्यां गच्छतस्तस्याचार्यस्य मार्गेऽकस्मादज्ञानतो मृतमण्डूककलेवरोपरि चरणतलं सलग्नम्। तदनुगतोऽसौ चण्डस्तदानीं गुरुमब्रवीत्-अहह! भवता चरणाघातेन मण्डूको मारितः, तदा गुरुः शिष्यवचनं श्रुत्वा दुःशीलोऽयमिति मत्वा समतामवलम्ब्य मौनमास्थाय स्वस्थानमागत्य स्वाध्यायध्यानसंलग्नो जातः। तदानीं चण्डेन मनसि विचारितम्-मामयं प्रतिदिनं प्रतिक्षणं ग्रहणासेवनाशिक्षायां प्रेरयति-मा प्रमाद्यताम्, मा प्रमाद्यताम्। इति कार्यभार

छिद्रोंका अन्वेषण करना ही एक उसका काम था। इसी से गुरुमहाराज जैसे परमोपकारी के साथ भी यह सदा अपनी द्वेष भरी दृष्टि रखा करता था। एक दिन की बात है कि जब गुरु महाराज स्वयं गोचरी के लिये जा रहे थे-तब मार्ग में इनका पैर एक मृतक मण्डूक के कलेवर के ऊपर अनजान से पड़ गया। साथ में यह क्रोधी शिष्य भी था। जो गुरुमहाराज के पीछे-पीछे चल रहा था। उसने ज्यों ही यह देखा, सहसा बोल उठा कि गुरु महाराज आप के पैर के आघात से मंडूक की विराधना हुई है। इस प्रकार शिष्य का वचन सुनकर और यह दुःशील है ऐसा जानकर समता का अवलंबन करके चुपचाप गुरु महाराज अपने स्थान पर वापिस लौट आये और वहां आकर स्वाध्याय एवं ध्यान में लीन हो गये। ऐसा देखकर उस समय चड-(क्रोधी शिष्य) ने मनमें विचार किया-देखो गुरु महाराज तो मुझे प्रतिदिन एवं-प्रतिक्षण "प्रमाद मत करो, प्रमाद मत करो" इस प्रकार से ग्रहण शिक्षा और

મહારાજના છિદ્રોનુ અન્વેષણ કરવું એ જ એનુ કામ હતુ એથી ગુરુ મહારાજ જેવા પરમોપકારીના સાથે પણ સદા પોતાની દ્વેશભરી દૃષ્ટી રાખ્યા કરતો હતો એક દિવસની વાત છે કે, જ્યારે ગુરુમહારાજ પોતે ગોચરી માટે જઈ રહ્યા હતા, ત્યારે માર્ગમા તેમનો પગ એક મરેલા દેડકાના કલેવર ઉપર અજાણથી પડી ગયો. તે ક્રોધી શિષ્ય પણ સાથે હતો જે ગુરુ મહારાજની પાછળ પાછળ ચાલતો હતો જ્યારે તેણે આ જોયુ તો તુર્તજ બોલી ઉઠયો કે ગુરુ મહારાજ આપના પગના આઘાતથી દેડકાનુ મૃત્યુ થયુ છે આ પ્રકારના શિષ્યના વચન સાભળીને અને તે દુ શીલ છે, તેવું જાણીને સમતાનુ અવલબન કરીને ગુરુ મહારાજ ચુપચાપ પોતાના સ્થાન ઉપર પાછા ફરી ગયા. અને ત્યા આવીને સ્વાધ્યાય તેમજ ધ્યાનમા લીનબની ગયા. આવું જોઇ ચન્ડ (તે ક્રોધી શિષ્યે) મનમા વિચાર કર્યો. જુઓ ગુરુ મહારાજ તો મને પ્રતિદિન તેમજ પ્રતિક્ષણ "પ્રમાદ ન કરો, પ્રમાદ ન કરો" આ પ્રકા

अत्र चण्डशिष्यदृष्टान्तः, तथाहि—

एकः सरलहृदयः सदयस्तपस्वी तेजस्वी रत्नत्रयसम्पन्नः कोमलान्तः करणः सुभद्रनामको वृद्धाचार्य आसीत्। तस्यातिविद्वेषी गुरुच्छिद्रान्वेषी प्रचण्ड-

चतुराई से युक्त होते हैं वे शिष्य (दुरासयपि-दुराशय अपि) कुपित भी अपने गुरुमहाराज को (हु) निश्चय से (लहु-लघु) शीघ्र ही (पसायए-प्रसीदयन्ति) प्रसन्न करते हैं।

अविनीत शिष्य का आचरण चण्ड अर्थात् क्रोधी शिष्य के दृष्टान्त से वर्णन किया जाता है—

एक वृद्ध आचार्य थे। जिनका नाम सुभद्र था। हृदय इनका कषाय निर्मुक्त होने से बहुत ही सरल था। और दयालु थे। वे बहुत ही अधिक तपस्या किया करते थे, अतः "तपस्वी" इस नाम से प्रसिद्ध थे। जैसे ये तपस्वी थे वैसे ही ये तेजस्वी भी थे। इसी से रत्नत्रय से सुशोभित इनका अन्तःकरण बना हुआ था। आर्जव (सरलता) धर्मकी प्राप्ति हो जाने से जो मनमें एक प्रकार की नरमाई आजाती है उसका नाम कोमलता है। यह कोमलता इनके अन्तःकरण में पूर्णतया भरी हुई थी। इनका एक शिष्य था। इसका नाम चण्ड था। यह यथा नाम तथा गुणवाला था। जितने गुरु महाराज कोमल परिणामी थे उतना ही अधिक यह कठोर था। अपने गुरु महाराज के

હોવાથી ચતુરાઇથી યુક્ત હોય છે તે શિષ્ય દુરાસયપિ-દુરાશયઅપિ ક્રોધાયમાન થયેલા પોતાના ગુરુ મહારાજને હુ નિશ્ચયથી લહુ-લઘુ જલ્દી પસાયએ-પ્રસીદયન્તિ પ્રસન્ન કરે છે

અવિનીત શિષ્યનું આચરણ ચંડ અર્થાત્ ક્રોધી શિષ્યના દૃષ્ટાંતથી વર્ણન કરવામાં આવે છે

એક વૃદ્ધ આચાર્ય હતા, જેમનું નામ સુભદ્ર હતું એમનું હૃદય કષાય નિર્મુક્ત હોવાથી બહુજ સરળ હતું અને દયાળુ હતા. તેઓ ખુબ અધિક તપસ્યા કર્યા કરતા હતા. જેથી તપસ્વી નામથી પ્રસિદ્ધ હતા. જેવા એ તપસ્વી હતા એવા એ તેજસ્વી પણ હતા તેજસ્વીપણાને લીધે રત્ન ત્રયથી સુશોભિત એમનું અંતઃકરણ હતું આર્જવ (સરલતા) ધર્મની પ્રાપ્તિ થઇ જવાથી જે મનમાં એક પ્રકારની નરમાઇ આવી જાય છે, એનું નામ કોમળતા છે આ કોમળતા એમના અંતઃકરણમાં પૂર્ણતયા ભરી હતી. એમને એક શિષ્ય હતો જેનું નામ ચન્ડ હતું તે યથા નામ તથા ગુણવાળો હતો. જેટલા ગુરુ મહારાજ કોમળ પરિણામી હતા એટલો જ એ કઠોર હતો. પોતાના ગુરુ

वशगतोऽसौ वृद्धाचार्यः शरीरं त्यक्त्वा सर्पदेहं प्राप्तवान्। स च विषमविषधरो नाम्ना चण्डकौशिकः सर्पो जातः। एवं चण्डशिष्यवदविनीतशिष्या मृदुमपि गुरु प्रकोपयन्ति, दुर्गतिमपि प्रापयन्ति।

अथ विनीतशिष्याचरणं प्रदर्शयति—'चित्ताणुया' इत्यादि। चित्तानुगाः= आचार्यमनोवृत्त्यनुसरणशीलाः, आचार्याराधनस्य तपःसंयमहेतुत्वात्, दाक्ष्योपेताः -दाक्ष्यं=चातुर्यं तेनोपेता=युक्ताः, गुरुशातानभिलाषित्वात्, ते शिष्या हु= निश्चयेन, दुराशयमपि=सकोपमपि गुरु, लघु=शीघ्रं प्रसादयन्ति=प्रसन्नं कुर्वन्ति। अथ चण्डरुद्राचार्यशिष्योदाहरणम्—तथाहि—

कदाचिदुज्जयिनीनगर्यां शिष्यपरिवारसहितः स्वभावतश्चण्डः श्चण्डरुद्रनामकः आचार्यः समवसृतः। स च साधूनां ग्रहणासेवनाशिक्षाया न्यूनातिरिक्तादिदोष-

---

जो अन्धकार होने की वजह से दिखलाई नहीं पड़ रहा था। उससे उनका माथा टकराया और फूट गया विशिष्ट आघात होने से उनके चित्त में आर्त्तध्यान उत्पन्न हुआ। इससे वे वृद्ध आचार्य आर्त्तध्यान में मरकर विषम-विषधर चण्डकौशिक सर्पकी पर्याय में उत्पन्न हुए। इस प्रकार चंडशिष्यकी तरह अविनीत शिष्य कोमल हृदयवाले भी अपने गुरु महाराज को कुपित करते हैं और दुर्गति तक पहुँचाते हैं—

विनीत शिष्यका आचरण कैसा होता है, यह बात चण्डरुद्रा-चार्यके शिष्य के उदाहरण से स्पष्ट की जाती है—

किसी समय उज्जयिनी नगरी में शिष्य परिवार सहित चण्डरुद्र नामक एक आचार्य जो स्वभावतः क्रोधी थे आये। वे एकान्त स्थान में बैठकर स्वाध्याय एवं ध्यान इस अभिप्राय से किया करते थे कि कहीं

તેમનુ માથુ ટકરાયુ અને ફુટી ગયુ વિશિષ્ટ આઘાત હોવાથી તેમના ચિત્તમા આર્તધ્યાન ઉત્પન્ન થયુ, જેનાથી તે વૃદ્ધ આચાર્ય આર્તધ્યાનમા મરીને વિષમ વિષધર ચ ડકૌશિક સર્પની પર્યાયમા ઉત્પન્ન થયા. આ પ્રકારે ચ ડ શિષ્યની માફક અવિનીત શિષ્ય કોમળ હૃદયવાળા પોતાના ગુરુને પણ ક્રોધીત બનાવે છે, અને દુર્ગતિમા પહોચાડે છે

વિનિત શિષ્યનુ આચરણ કેવુ હોય છે તે વાત ચ ડરૂદ્રાચાર્યના શિષ્યના ઉદાહરણથી સ્પષ્ટ કરવામા આવે છે

કોઇ એક સમય ઉજ્જયની નગરીમા શિષ્ય પરિવાર સહિત ચ ડરૂદ્ર નામના એક આચાર્ય જે સ્વભાવે ક્રોધી હતા તે પધાર્યા તે એકાન્ત સ્થાનમા બેસીને સ્વાધ્યાય તેમજ ધ્યાન એવા અભિપ્રાયથી કરતા હતા કે કયારેક

दत्त्वाऽनेन विश्रामाय मह्य समयो न प्रदीयते, अथ तु स्वयमेव प्रमादवश गत । प्रतिक्रमणसमये सायकाले सर्ववैरनियातन करिष्यामि । तदनु सायकाले दैवसिक प्रतिक्रमणे कृते सति स चण्डो वन्दन समये श्रावकसंघसमक्ष ब्रवीति-गुरो ! मण्डूकविराधनायाः प्रायश्चित्त कथ न गृह्यते, एव पुनः पुनः शिष्येणोक्त सन् गुरु क्रोधवशेन त शिष्य ताडयितु सवेगमुत्थितो यावत् तदभिमुख गच्छति ताव- दुपाश्रये तमसि पाषाणमयस्तम्भ सघट्टितं तस्य शिर स्फुटितम् । तदाऽऽर्तध्यान

आसेवन शिक्षा देते रहते हैं । तथा मेरे ऊपर इतना अधिक कार्यभार रख दिया है कि जिससे मुझे विश्राम करने का भी समय नहीं मिलता है । और आप स्वय प्रमाद का सेवन करते है । आज सायकाल के समय प्रतिक्रमण करने के अवसर पर मैं उनसे समस्त वैर भाव का बदला लूगा । इस प्रकार विचार कर उसने सायकाल के समय प्रति- क्रमण कर चुकने पर वन्दना के समय श्रावकसघ के समक्ष गुरुमहाराज से कहा कि हे गुरो ! आज आपने मण्डूक की विराधना का प्रायश्चित्त क्यों नहीं लिया । शिष्य की इस बात को गुरु महाराज ने लक्ष्य में नहीं दिया । अत शिष्य को बुरा मालूम दिया और ईर्ष्यावश उसने फिर से वही बात बारबार कही । गुरुमहाराज को सुनकर क्रोध का आवेश हो आया । इससे वे उस शिष्य को मारने के लिये खडे हुए और उसकी तरफ आगे बढे । बीच में उस उपाश्रय में एक पाषाण का स्तम्भ था

રથી ગ્રહણ શિક્ષા અને આસેવન શિક્ષા આપે છે અને મારા ઉપર એટલો અધિક કાર્યભાર રાખ્યો છે કે જેથી મને વિશ્રામ કરવાનો સમય મળતો નથી, અને પોતે પ્રમાદનુ સેવન કરે છે આજ સાજના વખતે પ્રતિક્રમણ કરવાના અવસર ઉપર હુ તેમનાથી સમસ્ત વેરભાવનો બદલો લઈશ. આ પ્રકારે વિચાર કરી તેણે સાય કાળનુ પ્રતિક્રમણ કરી લીધા પછી વદનાના સમયે શ્રાવક સઘની સમક્ષ ગુરુ મહારાજને કહ્યું કે હે ગુરુ ! આજ આપે દેડકાની વિરાધનાનુ પ્રાયશ્ચિત કેમ ન લીધુ ? શિષ્યની આ વાતને ગુરુ મહારાજે લક્ષમાં લીધી નહીં આથી શિષ્યને ખરાબ લાગ્યુ અને ઇર્ષાવશ ફરીથી તેને તે વાત વારવાર કહી. ગુરુ મહારાજે સાભળીને તેમના મનમા ક્રોધનો આવેશ આવી ગયો જેથી તે પોતાના શિષ્યને મારવા ઉભા થયા અને તેની તરફ આગળ વધ્યા, વચમા તે ઉપાશ્રયમાં એક પત્થરનો સ્તભ હતો જે અધકાર હોવાના કારણે દેખવામા આવતો ન હતો તે સ્તભ સામે

निर्विण्णोऽयं गृहवासेन, भार्ययाऽप्यय परित्यक्त अत' प्रसीदत, ससारदुत्तारयत, साधुभिरुक्तम्–अत्रास्माक गुरुस्ति स प्रव्राजयिष्यति, वयमनधिकारिणोदीक्षा–दानस्य, तस्मात् तत्समीपं गच्छत, तदनु मित्रवर्गस्तमिभ्यपुत्र चण्डरुद्राचार्यस्य समीपं नीत्वा त प्रणम्य सपरिहासमुक्तवान्–भदन्त ! दीयतामस्मै दीक्षा। ततस्त-त्परिहासवचनं श्रुत्वा सजातकोपेन चण्डरुद्राचार्येण कथितम्–भस्मानयेति, तदानी-मेकेन मित्रेण हास्यादेव भस्मानीत, ततश्चण्डरुद्राचार्यो भस्म गृहीत्वा बलादेव तत्केशलुञ्चन चकार, तदा तद्वयस्याः सर्वे प्रव्रज्याभयात्पलायिता।

उन्होंने हँसी में कहा कि महाराज! इस नव परिणीत श्रेष्ठि पुत्र को आप दीक्षा दीजिये। क्यों कि यह गृहस्थावाससे उदासीन हो रहा है। इस की धर्मपत्नी ने भी इसका परित्याग कर दिया है। अतः प्रसन्न होकर इसे ससार से पार उतारिये। मुनिराजों ने सुनकर उनसे कहा कि यहा हमारे गुरुमहाराज विराजमान हैं–वे ही दीक्षा देंगे–हम लोग उनके समक्ष दीक्षा देने के अधिकारी नही हैं। इसलिये आप लोग इन्हें उनके ही पास ले जाइये। साधुओंके इस प्रकार के कहे गये वचनों को सुनकर वे लोग अपने उस मित्र को चडरुद्र आचार्य के समीप ले गये। आचार्य महाराज को वन्दना कर वे उनसे भी परिहासपूर्वक यही कहने लगे कि हे भदन्त! इसको आप दीक्षा दीजिये। उनकी हँसी के वचन सुनकर कुपित होते हुए चडरुद्र आचार्य बोले–ठीक है–भस्म लाओ मैं इसे दीक्षा देता हूं। इतना सुनते ही किसी एक मित्र ने हसी–हसी में शीघ्र ही भस्म लाकर वहा उपस्थित कर दी। चडरुद्राचार्य ने उस भस्म

તેમણે કહ્યું કે મહારાજ! આ નવપરિણીત શ્રેષ્ઠિ પુત્રને આપ દીક્ષા આપો. કેમકે એ ગૃહસ્થાવાસથી ઉદાસીન બની રહેલ છે આની ધર્મપત્નિએ પણ તેનો ત્યાગ કર્યો છે આથી પ્રસન્ન થઈને આને સસાર સાગરથી પાર ઉતારો. મુનિરાજોએ એ સાભળીને તેમને કહ્યુ કે અહિં અમારા ગુરુ મહારાજ બિરાજે છે તે દીક્ષા આપશે. અમે તેમની સામે દીક્ષા આપવાના અધિકારી નથી. માટે આપ લોગ તેને ગુરુ મહારાજ પાસે લઈ જાવ સાધુઓના આ પ્રકારે કહેવામા આવેલ વચનોથી તેઓ તેમના મિત્રને ચડરૂદ્ર આચાર્ય પાસે લઈ ગયા. આચાર્ય મહારાજને વદના કરી તેઓ તેમને પણ પરિહાસપૂર્વક એવું જ કહેવા લાગ્યા કે હે ભદન્ત! આને આપ દીક્ષા આપો. તેમના હાસીના વચન સાભળીને ક્રોધીત થતા ચડરૂદ્ર આચાર્ય બોલ્યા ઠીક છે–ભસ્મ લાવો, હું તેને દીક્ષા આપુ છુ આ સાભળતા કોઇ એક મિત્રે હસતા હસતા તુરતજ ભસ્મ લાવીને હાજર કરી ચડરૂદ્રાચાર્યે એ ભસ્મને હાથમા

दर्शनात् कोपोत्पत्तिर्माभूदिति मनसि कृत्वा रहसि स्वाध्यायध्यान कुर्वन्नन्यसाधुभ्य• पृथगवतिष्ठते। अत्रान्तरे उज्जयिनीवास्तव्य इभ्यपुत्र कोऽपि नवपरिणीतः सुहृत्परिवृत कृतकुङ्कुमराग' मवरनेपथ्य• साधूना वन्दनार्थं तत्रागतः, साधूनां सविधि वन्दन कृत्वा तत्र स्थितः। अथ तन्मित्रै• कैश्चित् सोपहासमुक्तम् भो साधव•! धर्मं ब्रूत। ते साधवस्तेषामुपहासवचन विदित्वा किमपि नोक्तवन्त', किंतु स्वाध्याय कुर्वन्त आसन्। पुनस्ते सपरिहासमुक्तम्–हे भगवन्त! दीयतामस्मै दीक्षा,

साधुओं की ग्रहण शिक्षा एव आसेवन शिक्षा में न्यूनातिरिक्त दोषों के देखने से उनके प्रति मेरे चित्त में क्रोध की उत्पत्ति न हो जाय, । अत वे साधुओं से सदा अलहदा ही एकान्त में रहा करते थे। और वहा स्वाध्याय एव ध्यान करते–करते अपना समय व्यतीत करते। एक समय की बात है कि उसी उज्जयिनी नगरी का रहने वाला कोई एक सेठ का पुत्र कि जिसका उसी समय विवाह हुआ था अपनी मित्रमडली सहित सजधज के साधुओंको वन्दना करनेके लिये आया। उसके पैरों का माहुर अभी ढीला भी नहीं पड़ा था और हाथोंकी मेंहदी भी अभी पूरी तरह से सुखी नहीं थी। वह सविधिवन्दना कर एक ओर बैठ गया। इतने में उसके मित्रों ने मुनिराज से उपहास करके कहा कि हे महाराज! आप लोग धर्मका उपदेश दीजिये। साधुओंने उनके हास्य मिश्रित वचन सुनकर उन्हें धर्मका उपदेश नहीं दिया और न कुछ कहा भी किन्तु अपने स्वाध्याय करने में ही तल्लीन रहे। पश्चात् फिर भी

સાધુઓની ગ્રહણ શિક્ષા અને આસેવન શિક્ષામા ન્યૂનાતિરિક્ત દોષોને જોવાથી તેમના પ્રતિ મારા ચિત્તમા ક્રોધની ઉત્પત્તિ ન થઈ જાય, આથી તેઓ સાધુઓથી સદા અલાયદા એકાન્તમા જ રહ્યા કરતા હતા. અને ત્યા સ્વાધ્યાય અને ધ્યાન કરતા કરતા પોતાનો સમય વ્યતિત કરતા. એક સમયની વાત છે કે, એ ઉજ્જયની નગરીમા રહેનાર એક શેઠનો પુત્ર કે જેનો તુરતમાજ વિવાહ થયો હતો તે પોતાના મિત્ર મડળ સાથે બની ઠનીને સાધુઓને વદના કરવા આવ્યો. એના પગનુ માહુર (મહાવર) પગના તળીયાનો લાલ રગ) હજુ ઢીલું થયેલ ન હતુ તેમ હાથમાની મેંદી પણ સુકાઈ ન હતી તે સવિધિ વદના કરી એક બાજુ બેઠો. એ વખતે તેના મિત્રોએ મુનિરાજનો ઉપહાસ કરી કહ્યુ કે મહારાજ! આપ ધર્મનો ઉપદેશ આપો. સાધુઓએ તેમનુ હાસ્ય મિશ્રીત વચન સાભળીને ઉપદેશ ન આપ્યો. અને ન કાંઇ પણ કહ્યું, પોતાનો સ્વાધ્યાય કરવામાજ તલ્લીન રહ્યા. ફરીથી હસતા હસતા

मान्यत्रा उपद्रव करिष्यन्ति । गुरुणोक्तम्–अहो शिष्य ! सम्प्रति रात्रिर्जाता, अह रात्रौ न पश्यामि । ततस्तेन शिष्येण स्वकीयस्कन्धे गुरुरारोपित, मार्गे उच्च–नीचप्रदेशे वहनेन गुरुचेतसि खेद समुत्पन्नः, तेन चण्डरुद्राचार्येण शिष्यशिरसि रजोहरणदण्डप्रहारो दत्त, असौ शिष्यो मनस्येवं विचारयति–अहो! ममाराधनीयो गुरुं मयेदृशीमवस्था मापित. इति । एव सम्यग्भावनया तस्य शिष्यस्य केवल–

बन्धुजन यहा आकर उपद्रव करेंगे। शिष्यकी यह बात सुनकर आचार्य महाराज ने कहा–ठीक है परन्तु इस समय तो अब रात्रि हो चुकी है तथा मुझे रात्रि में दिखता भी नहीं है–अत जाना ठीक नहीं है। आचार्य महाराज की बात सुनकर शिष्य ने कहा कि आप इसकी चिन्ता नहीं करें। मै आप को अपने कधे पर बैठा लूगा। ऐसा कह कर उस शिष्य ने गुरु महाराज को अपने कधे पर बैठा लिये और उस स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुँचने के लिये प्रयाण प्रारम्भ कर दिया। मार्ग सम विषम था। अतः गुरु महाराज को अचानक हिलने डुलने की वजह से कष्ट हुआ और इससे उनके चित्तमें अशाति उत्पन्न हो गई। उन्होंने बैठे–बैठे ही अपना रजोहरण दंड उसके मस्तक पर दे मारा। चोट लगते ही शिष्य ने चित्त में चिन्तवन किया कि हे मन जिनकी मुझे सेवा करनी चाहिये उन गुरु महाराज को इस समय मेरे द्वारा कितना कष्ट पहुँच रहा है। गुरुमहाराज की इस कष्टावस्था का कारण मैं ही बन रहा हू। इस प्रकार की भक्तिरूप हार्दिकभावना के प्रभाव से क्षपक श्रेणी

જન અહિયા આવીને ઉપદ્રવ કરશે. શિષ્યની આ વાત સાભળીને આચાર્ય મહારાજે કહ્યુ, ઠીક છે પરતુ આ સમયે રાત્રીનુ આગમન થઇ ચુકયુ છે તેમ મને રાત્રીમા સુજતુ પણ નથી, આથી જવુ ઠીક નથી આચાર્ય મહારાજની વાત સાભળી શિષ્યે કહ્યુ, આપ એની ચિતા ન કરો હુ આપને મારા ખભા ઉપર બેસાડી લઇશ એવું કહી તે શિષ્યે ગુરુ મહારાજને પોતાના ખભા ઉપર બેસાડી લીધા અને એ સ્થાનથી બીજા સ્થાન તરફ પ્રયાણ કરવાનો પ્રારભ કર્યો. માર્ગ સમ વિષમ હતો આથી ગુરુ મહારાજને અચાનક હલવા ડોલવાને કારણે કષ્ટ થયું અને તેથી એમના ચિત્તમા અશાન્તી ઉત્પન્ન થઈ તેઓએ બેઠા બેઠા જ પોતાનો રજોહરણ દડ એના માથા ઉપર માર્યો, ચોટ લાગતાજ શિષ્યે મનમા વિચાર્યું કે હે મન! જેની મારે સેવા કરવી જોઇએ એ ગુરુ મહારાજને આ સમય મારા તરફથી કેટલું કષ્ટ થઇ રહ્યુ છે ગુરુ મહારાજની કષ્ટ અવસ્થાનુ કારણ હુ જ બની રહેલ છુ આ પ્રકારની ભક્તિરૂપ હાર્દિક ભાવનાના પ્રભાવથી ક્ષપક શ્રેણી પ્રાપ્ત કરી ઘાતક કર્મોનો

ततः स इभ्यपुत्रो भाग्यवशेन लघुकर्मणा च भावश्रमणो जातः, तदानीं तस्येभ्यपुत्रस्य लोचे कृते सति "मम प्रव्रज्यैवास्तु" इति परिणामः सम्पन्नः, ततो रजोहरणसदोरकमुखवस्त्रिकादिभिः साधुवेषं धृत्वा द्रव्यभावतः संयतो जातः। ततोऽसौ गृहीतप्रव्रज्यः शिष्यो गुरुमब्रवीत्–भदन्त ! अन्यत्र व्रजामः, अत्र मम

को हाथ में लेकर जबर्दस्ती उसके केशों का लुंचन कर दिया। मित्रों ने यह देखकर समझा कि कहीं हमारी भी यही हालत न हो जाय–हमें भी जबर्दस्ती से दीक्षित न बना दिया जाय–इस डरसे वे सब के सब वहां से शीघ्र भाग गये।

उस समय वह श्रेष्ठिपुत्र भाग्य के उदय से एवं लघुकर्म के प्रभाव से भावश्रमण बन गया था। क्यों कि जिस समय आचार्य–महाराजने उसके केशोंका लुंचन किया था उस समय उसके चित्त में यही परिणाम हो गया था कि मेरी दीक्षा ही हो जाय तो सर्व सुन्दर है।" इस परिणाम विशिष्ट–भाव श्रमण अवस्था सपन्न–उस इभ्यपुत्र के लिये आचार्य महाराज ने केशलुंचन करने के बाद ही रजोहरण एवं सदोरक मुखवस्त्रिका प्रदान करदी–इससे वह यथार्थ में द्रव्यरूप से भी साधु वेषसे सुशोभित होने लगा। इस प्रकार द्रव्य एवं भाव से संयत अवस्था को धारण किये हुए–उस नवीन शिष्य ने गुरुमहाराज से कहा कि हे भदन्त ! चलो अब यहा से दूसरी जगह चलें। नहीं तो मेरे

લઈ ને જબરજસ્તીથી તેના વાળનો લોચ કર્યો. મિત્રો આ જોઈ ને એવું સમજ્યા કે અમારી પણ આવી હાલત ન થઈ જાય અમને પણ જબરજસ્તીથી દીક્ષીત ન બનાવાય આવા ડરથી તેઓ સઘળા ત્યાંથી તુરતજ ભાગી ગયા.

તે સમય શ્રેષ્ઠી પુત્ર ભાગ્યના ઉદયથી તેમજ લઘુ કર્મના પ્રભાવથી ભાવશ્રમણ બની ગયો હતો કેમકે જે સમય આચાર્ય મહારાજે તેના વાળનો લોચ કર્યો ત્યારે તે સમયે તેના ચિત્તમા એજ પરિણામ થઈ ગયુ હતુ કે મને દીક્ષા અપાય તો તે સર્વ સુન્દર છે આ પરિણામ વિશિષ્ટ–ભાવશ્રમણ અવસ્થા સપન્ન–તે ઇભ્ય પુત્ર માટે આચાર્ય મહારાજે કેશનો લોચ કર્યા પછી રજોહરણ અને દોરા સાથેની મુખવસ્ત્રિકા આપી. આથી યથાર્થમાં દ્રવ્ય રૂપથી પણ સાધુ વેશથી સુશોભિત બની રહ્યો આ પ્રકારે દ્રવ્ય અને ભાવથી સયત અવસ્થાને ધારણ કરીને એ નવીન શિષ્યે ગુરુમહારાજને કહ્યુ કે હે ભદન્ત ! ચાલો હવે અહિંથી બીજા સ્થળે જઈએ. નહીં તો મારા બધુ

वान्नवा उपद्रव करिष्यन्ति । गुरुणोक्तम्–अहो शिष्य ! सम्प्रति रात्रिर्जाता, अह रात्रौ न पश्यामि । ततस्तेन शिष्येण स्वकीयस्कन्धे गुरुरारोपित, मार्गे उच्च-नीचप्रदेशे वहनेन गुरुचेतसि खेद समुत्पन्न, तेन चण्डरुद्राचार्येण शिष्यशिरसि रजोहरणदण्डप्रहारो दत्तः, असौ शिष्यो मनस्येव विचारयति–अहो! ममाराधनीयो गुरुं मैयदृशीमवस्था मापित• इति । एव सम्यग्भावनया तस्य शिष्यस्य केवल-

बन्धुजन यहा आकर उपद्रव करेंगे। शिष्यकी यह बात सुनकर आचार्य महाराज ने कहा–ठीक है परन्तु इस समय तो अब रात्रि हो चुकी है तथा मुझे रात्रि में दिखता भी नहीं है–अत जाना ठीक नहीं है। आचार्य महाराज की बात सुनकर शिष्य ने कहा कि आप इसकी चिन्ता नहीं करें। म आप को अपने कधे पर बैठा लूगा। ऐसा कह कर उस शिष्य ने गुरु महाराज को अपने कधे पर बैठा लिये और उस स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुँचने के लिये प्रयाण प्रारभ कर दिया। मार्ग सम विषम था। अत गुरु महाराज को अचानक हिलने डुलने की वजह से कष्ट हुआ और इससे उनके चित्तमें अशाति उत्पन्न हो गई। उन्होंने बैठे-बैठे ही अपना रजोहरण दंड उसके मस्तक पर दे मारा। चोट लगते ही शिष्य ने चित्त में चिन्तवन किया कि हे मन जिनकी मुझे सेवा करनी चाहिये उन गुरु महाराज को इस समय मेरे द्वारा कितना कष्ट पहुँच रहा है। गुरुमहाराज की इस कष्टावस्था का कारण मैं ही बन रहा हू। इस प्रकार की भक्तिरूप हार्दिकभावना के प्रभाव से क्षपक श्रेणी

જન અહિંયા આવીને ઉપદ્રવ કરશે. શિષ્યની આ વાત સાભળીને આચાર્ય મહારાજે કહ્યુ, ઠીક છે પરતુ આ સમયે રાત્રીનુ આગમન થઇ ચુકયુ છે તેમ મને રાત્રીમા સુજતુ પણ નથી, આથી જવું ઠીક નથી. આચાર્ય મહારાજની વાત સાભળી શિષ્યે કહ્યુ, આપ એની ચિતા ન કરો હું આપને મારા ખભા ઉપર બેસાડી લઈશ એવું કહી તે શિષ્યે ગુરુ મહારાજને પોતાના ખભા ઉપર બેસાડી લીધા અને એ સ્થાનથી બીજા સ્થાન તરફ પ્રયાણ કરવાનો પ્રારભ કર્યો. માર્ગ સમ વિષમ હતો. આથી ગુરુ મહારાજને અચાનક હલવા ડોલવાને કારણે કષ્ટ થયું અને તેથી એમના ચિત્તમા અશાન્તી ઉત્પન્ન થઈ તેઓએ બેઠા બેઠા જ પોતાનો રજોહરણ દડ એના માથા ઉપર માર્યો, ચોટ લાગતાજ શિષ્યે મનમા વિચાર્યું કે હે મન! જેની મારે સેવા કરવી જોઇએ એ ગુરુ મહારાજને આ સમય મારા તરફથી કેટલું કષ્ટ થઇ રહ્યુ છે ગુરુ મહારાજની કષ્ટ અવસ્થાનુ કારણ હું જ બની રહેલ છુ આ પ્રકારની ભક્તિરૂપ હાર્દિક ભાવનાના પ્રભાવથી ક્ષપક શ્રેણી પ્રાપ્ત કરી ઘાતક કર્મોનો

ततः स इभ्यपुत्रो भाग्यवशेन लघुकर्मणा च भावश्रमणो जातः, तदानीं तस्येभ्यपुत्रस्य लोचे कृते सति "मम प्रव्रज्यैवास्तु" इति परिणामः सम्पन्नः, ततो रजोहरणसदोरकमुखवस्त्रिकादिभिः साधुवेषं धृत्वा द्रव्यभावतः संयतो जातः। ततोऽसौ गृहीतप्रव्रज्यः शिष्यो गुरुमब्रवीत्-भदन्त ! अन्यत्र व्रजामः, अत्र मम

को हाथ में लेकर जबर्दस्ती उसके केशों का लुंचन कर दिया। मित्रों ने यह देखकर समझा कि कहीं हमारी भी यही हालत न हो जाय-हमें भी जबर्दस्ती से दीक्षित न बना दिया जाय-इस डरसे वे सब के सब वहां से शीघ्र भाग गये।

उस समय वह श्रेष्ठिपुत्र भाग्य के उदय से एवं लघुकर्म के प्रभाव से भावश्रमण बन गया था। क्यों कि जिस समय आचार्य-महाराजने उसके केशोंका लुंचन किया था उस समय उसके चित्त में यही परिणाम हो गया था कि मेरी दीक्षा ही हो जाय तो सर्व सुन्दर है।" इस परिणाम विशिष्ट-भाव श्रमण अवस्था संपन्न-उस इभ्यपुत्र के लिये आचार्य महाराज ने केशलुंचन करने के बाद ही रजोहरण एवं सदोरक मुखवस्त्रिका प्रदान करदी-इससे वह यथार्थ में द्रव्यरूप से भी साधु वेषसे सुशोभित होने लगा। इस प्रकार द्रव्य एवं भाव से संयत अवस्था को धारण किये हुए-उस नवीन शिष्य ने गुरुमहाराज से कहा कि हे भदन्त ! चलो अब यहां से दूसरी जगह चलें। नहीं तो मेरे

લઈને જબરજસ્તીથી તેના વાળનો લોચ કર્યો. મિત્રો આ જોઈને એવું સમજ્યા કે અમારી પણ આવી હાલત ન થઈ જાય અમને પણ જબરજસ્તીથી દીક્ષીત ન બનાવાય આવા ડરથી તેઓ સઘળા ત્યાંથી તુરતજ ભાગી ગયા.

તે સમય શ્રેષ્ઠી પુત્ર ભાગ્યના ઉદયથી તેમજ લઘુ કર્મના પ્રભાવથી ભાવશ્રમણ બની ગયો હતો કેમકે જે સમય આચાર્ય મહારાજે તેના વાળનો લોચ કર્યો ત્યારે તે સમયે તેના ચિત્તમા એજ પરિણામ થઇ ગયુ હતુ કે મને દીક્ષા અપાય તો તે સર્વ સુન્દર છે આ પરિણામ વિશિષ્ટ-ભાવશ્રમણ અવસ્થા સંપન્ન-તે ઇભ્ય પુત્ર માટે આચાર્ય મહારાજે કેશનો લોચ કર્યા પછી રજોહરણ અને દોરા સાથેની મુખવસ્ત્રિકા આપી. આથી યથાર્થમા દ્રવ્ય રૂપથી પણ સાધુ વેશથી સુશોભિત બની રહ્યો આ પ્રકારે દ્રવ્ય અને ભાવથી સંયત અવસ્થાને ધારણ કરીને એ નવીન શિષ્યે ગુરુમહારાજને કહ્યુ કે હે ભદન્ત ! ચાલો હવે અહિંથી બીજા સ્થળે જઇએ. નહીં તો મારા બધુ

पुनस्तत्क्षामण कुर्वन् सोऽपि केवलज्ञान प्राप्तवान् । एव विनीतशिष्यैर्भवितव्यम् ॥१३॥

कथ गुरुचित्तानुगामी भवेदित्याह—

मूलम्—नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए ।
कोहं असच्चं कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं ॥१४॥

छाया—
नापृष्टो व्याकुर्यात् किंचित्, पृष्टो वा नालीकं वदेत् ।
क्रोधम् असत्यं कुर्यात्, धारयेत् प्रियमप्रियम् ॥ १४ ॥

टीका—'नापुट्ठो' इत्यादि—

अपृष्ट =गुरुणाऽनुक्त किंचित् न व्याकुर्यात्=न वदेत् पृष्टो वा=गुरुणा कस्मिंश्चिद् विषये पृष्ट सन् अलीकम्=अनृत न वदेत्, क्रोधं=केनापि कारणेन समुत्पन्न कोपम् असत्य=निष्फल कुर्यात् ।

कर बार बार अतिशय पश्चात्ताप करने लगे। पश्चात् उनसे अपने दोष खमाने लगे । इस प्रकार पश्चात्ताप करते करते विशुद्ध भावना से गुरु ने भी केवलज्ञान प्राप्त किया । इस दृष्टान्त का सार यही है कि विनीत शिष्य अपनी विशुद्धि के साथ-साथ गुरु महाराज की भी विशुद्धि का कारण बनता है । अत. शिष्य को इसी तरह विनीत होना चाहिये ॥१३॥

गुरु-चित्तानुगामी शिष्य के चिन्हों को इस गाथा द्वारा सूत्रकार बतलाते हैं—' नापुट्ठो ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(अपुट्ठो किंचि न वागरे-अपृष्ट किञ्चित् न व्याकुर्यात्) गुरुमहाराज जब तक कोई बात नहीं पूछें तब तक शिष्य का कर्तव्य है कि वह किसी भी विषय में कुछ न कहे । (पुट्ठो वा

અતિશય પશ્ચાત્તાપ કરવા લાગ્યા પછી તેનાથી પોતાના દોષ ખમાવવા લાગ્યા. આ પ્રકારે પશ્ચાત્તાપ કરતા કરતા વિશુદ્ધ ભાવનાથી ગુરુને પણ કેવલી જ્ઞાન પ્રાપ્ત થયુ

આ દૃષ્ટાતનો સાર એ છે કે વિનિત શિષ્ય પોતાની વિશુદ્ધિની સાથે સાથે ગુરુ મહારાજની પણ વિશુદ્ધિનુ કારણ બને છે એટલે શિષ્યોએ આ રીતે વિનીત થવું જોઇએ. ॥૧૩॥

ગુરુ-ચિત્તનુગામી શિષ્યના ચિન્હોને આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર બતાવે છે नापुट्ठो ઇત્યાદિ,

અન્વયાર્થ—अपुट्ठो किंचि न वागरे-अपृष्ट किञ्चित् न व्याकुर्यात् ગુરુ મહારાજ જ્યા સુધી કોઈ વાત ન પૂછે ત્યા સુધી શિષ્યનુ કર્તવ્ય છે કે તે કોઇ પણ વિષયમા કાઇ ન કહે. पुट्ठो वा नालियं वए-पृष्टोवा अलीकमवदेत्

ज्ञानमुत्पन्नम्, ततः केवलज्ञानप्रभावादसौ समप्रदेश इव वहन् गुरुणा प्रोक्त-मार एव सारः, अधुना कीदृशं समप्रदेशे इव वहसि ? शिष्येणोक्त-युष्मत्प्रसादान्मम वहनं सम भवति । पुनर्गुरुणोक्तम्-किं रे! ज्ञानं समुत्पन्नं तव । शिष्येणोक्तम्-एवम् । पुनर्गुरुणा प्रोक्तम्-प्रतिपाति, अप्रतिपाति वा ज्ञानमुत्पन्नम् ?। तेनोक्तम्-अप्रतिपाति। ततो गुरुः पश्चात्तापं कुर्वन् वदति-हा ! मया केवली आशातितः-इत्युक्त्वा शिष्यशिरसि रजोहरणदण्डप्रहारजनितं रुधिरप्रवाहं पश्यन् पुनः

प्राप्तकर घातक कर्मोंका नाशकर उस शिष्य ने केवलज्ञान को प्राप्त किया। केवल ज्ञान के प्रभाव से यह गुरुको इस प्रकार अब लेजाने लगा कि मानो सम प्रदेशमें ही वह चल रहा हो। गुरुजीने कहा कि मार ही सार है, इतना मार ने पर अब तू सीधा चलने लगा है। शिष्यने कहा महाराज आपके प्रभाव से ही यह सब कुछ हो रहा है-अर्थात् पहिले चलते समय ऊँची नीची जगह में मेरा पैर पड़ता था सो आपको कष्ट होता था। पर अब नहीं पड़ता है अतः सम्भूमि में चलने की तरह मैं चल रहा हू। गुरु महाराज ने कहा तो क्या तुझे ज्ञान उत्पन्न हो गया है ? शिष्यने कहा हां ! पुनः गुरु महाराज ने कहा यह ज्ञान प्रतिपाति उत्पन्न हुआ है या अप्रतिपाति उत्पन्न हुआ है। शिष्यने उत्तर दिया महाराज ! अप्रतिपाति ज्ञान उत्पन्न हुआ है। बाद गुरु ने कहा ! हाय ! मैं ने केवली की इस समय आशातना की है। इस प्रकार कह कर गुरु जी शिष्य के शिर पर रजोहरण के दण्ड के प्रहार से बहते हुए रुधिर को देख-देख

નાશ કરી તે શિષ્યે કેવલ જ્ઞાનને પ્રાપ્ત કર્યું કેવલજ્ઞાનના પ્રભાવથી તે ગુરુને એવા પ્રકારે લઈ જવા લાગ્યો કે જાણે તે સમપ્રદેશમાં ચાલી રહ્યા હોય. ગુરુજીએ કહ્યુ કે "માર જ સાર છે" આટલું મારવાથી હવે તું સીધો ચાલવા લાગ્યો છે, શિષ્યે કહ્યું મહારાજ! આપના પ્રભાવથી જ આ સઘળું બની રહ્યું છે અર્થાત્ પહેલાં ચાલતી વખતે ઉંચી નીચી જગ્યામાં મારા પગ પડતા હતા જેનાથી આપને કષ્ટ થતું હતું પણ હવે પડતા નથી. એટલે સમભૂમિમા ચાલવાની માફક હું ચાલું છુ ગુરુ મહારાજે કહ્યું કે શું તને જ્ઞાન ઉત્પન્ન થઈ ગયું છે? શિષ્યે કહ્યું હા! ફરી ગુરુ મહારાજે કહ્યું, તે જ્ઞાન પ્રતિપાતિ ઉત્પન્ન થયું છે કે અપ્રતિપાતિ શિષ્યે કહ્યું મહારાજ! અપ્રતિપાતિ જ્ઞાન ઉત્પન્ન થયું છે આથી ગુરુએ કહ્યું, અહાહા! મે કેવલીની આ સમયે આસાતના કરી છે આ પ્રકારે કહીને ગુરુજીએ શિષ્યના શીર ઉપર રજોહરણના દંડના પ્રહારથી વહેતા રૂધીરને જોઈ વારવાર

उक्तञ्च—लोभी पश्येद्धनमाप्तिं, कामिनीं कामुकस्तथा।
भ्रान्तं पश्येदथोन्मत्तो न किंचिच्च क्रुधाकुलः ॥१॥
अन्यच्च—अपकारिणि चेत् कोप कोपे कोपः कथं न ते।
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि ॥ २ ॥

क्रोधस्यासत्यकरणे उदाहरणम्। यथा—कस्यचित् कुलपुत्रस्य भ्राता वैरिणा हतः।

"लोभी आत्मा धनकी प्राप्ति की चिन्ता में ही मस्त बना रहता है। कामुक कामिनी में मस्त है। उन्मत्त सर्वत्र भ्रान्ति युक्त बना रहता है। परन्तु क्रोध से आकुल हुआ आत्मा देखता हुआ भी अन्धा बना रहता है ॥१॥"

इस क्रोध को निवारण करना हो तो इस प्रकार की भावना माननी चाहिये जैसे—

"हे आत्मन्! तू अपने अपकार करनेवाले पर जिस प्रकार क्रोध करता है उसी प्रकार इस अपकार करने वाले क्रोध पर क्रोध क्यों नहीं करता। क्यों कि यह तेरा बड़ा भारी अपकारी है। कारण कि इसके सद्भाव में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का सर्वथा विनाश हो जाता है। अतः चतुर्वर्गका विनाश करने वाला होने से यह तेरा सब से अधिक अपकारी है। क्रोध पर क्रोध करना इसका मतलब है कि क्रोध कभी नहीं करना चाहिये ॥ २ ॥"

क्रोध को असत्य करने में दबा देने में—दृष्टान्त इस प्रकार है—

किसी कुलपुत्र के भाई को उसके वैरी ने मार डाला। वह कुल-

લોભી આત્મા ધનની પ્રાપ્તિની ચિંતામાં જ મસ્ત બની રહે છે, કામુક કામિનીમાં મસ્ત છે, ઉન્મત્ત સર્વત્ર ભ્રાંતિયુક્ત બની રહે છે પરંતુ ક્રોધથી વ્યાકુલ બનેલ આત્મા જોવા છતાં પણ આંધળો બની રહે છે ॥૧॥

આ ક્રોધનું નિવારણ કરવું હોય તો આ પ્રકારની ભાવના કરવી જોઈએ કે હે આત્મા! તું તારા ઉપર અપકાર કરવાવાળા ઉપર જે પ્રકારે ક્રોધ કરે છે એ પ્રકારે તે અપકાર કરવાવાળા ક્રોધ ઉપર ક્રોધ કેમ નથી કરતો કેમકે એ તારો ખુબ મોટો અપકારી છે કારણ કે તેના સદ્‌ભાવમાં ધર્મ, અર્થ, કામ અને મોક્ષનો સર્વથા વિનાશ થાય છે એથી ચતુર્વર્ગનો વિનાશ કરવાવાળો હોવાથી એ તારો બધાથી વધુ અપકારી છે ક્રોધ પર ક્રોધ કરવો એનો મતલબ છે કે ક્રોધ કદી ન કરવો જોઈએ.

ક્રોધને દબાવી દેવામાં દૃષ્ટાંત આ પ્રકારે છે—

કોઈ કુળપુત્રના ભાઈને તેના વેરીએ મારી નાખ્યો. તે કુળપુત્ર મરણ

अथ भावः-गुरुणा निर्भर्त्सने कृते सति कदाचित् क्रोधोत्पत्तौ सत्यां तस्य कटुकविपाकमनुचिन्त्य क्षमया त परिहरेत्, क्रोधो हि सर्वानर्थकरः सकलशुभहरः तपः संयमोद्यानदावज्वलनः समभावजलदपटलीविकिरणप्रचण्डपवनः शान्तिसुधाकरतमः[1] सकलसद्गुणसरोजवनहिमः चित्तोद्वेजकः शत्रुतावर्धकः सकलविपदामास्पदं जनपदं विप्लवयति ।

१-तमः=राहुः ।

नालियवए-पृष्टो वा अलीकं न वदेत्) यदि प्रसंग वश किसी विषय में गुरु महाराज पूछें भी तो उस में झूठ नहीं बोलना चाहिये। (कोहं असच्चं कुव्विज्जा-कोपं असत्यं कुर्यात्) किसी निमित्त से उत्पन्न हुए क्रोध को शीघ्र ही दबा देना चाहिये।

भावार्थ—किसी कारण वश यदि कदाचित् गुरु महाराज शिष्य को कठिन वचन से शिक्षा दें तो उस समय क्रोध का कटुआ फल समझकर उत्पन्न हुवे क्रोध को क्षमा से दबा देवे। कारण कि क्रोध समस्त अनर्थों की एक मजबूत जड़ है। सकल कल्याणों का विनाशक है। संयमरूपी उद्यान को भस्म करने के लिये यह दावानल की ज्वाला जैसा भयंकर है। समतारूपी मेघघटाओं को विक्षिप्त करने के लिये यह क्रोध प्रचण्ड पवन के जैसा है। शान्तिरूपी चन्द्रमण्डल के ग्रसने के लिये राहु जैसा, सकल सद्गुणरूपी कमलवन को दग्ध करने के लिये हिमपात जैसा कहा है। क्रोध से चित्त में उद्वेग उत्पन्न होता है और क्रोध से ही शत्रुता की वृद्धि होती है। जिस जनपद (देश) में इस क्रोध का आवास हो जाता है वह सकल विपत्तियों का स्थान बनकर देश आदि को नष्ट कर देता है। कहा भी है—

જો પ્રસંગવશ કોઈ વિષયમાં ગુરુ મહારાજ પૂછે તો પણ એમાં જુઠું નહી બોલવું જોઈએ. कोहं असच्चं कुव्विज्जा-कोपं असत्यं कुर्यात् કોઈ નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થયેલા ક્રોધને જલદીથી દબાવી દેવો જોઈએ

ભાવાર્થ—કોઈ કારણવશ જો કદાચ ગુરુ મહારાજ શિષ્યને કઠીન વચનથી શિક્ષા આપે તો તે સમયે ક્રોધનું કડવું ફળ સમજી ઉત્પન્ન થયેલ ક્રોધને ક્ષમાથી દબાવી દે કારણ કે ક્રોધ સમસ્ત અનર્થોની એક મજબુત જડ છે બધા કલ્યાણોનો વિનાશક છે સંયમરૂપી ઉદ્યાનને ભસ્મ કરવા માટે દાવાનળની જ્વાળા જેવો ભયંકર છે સમતારૂપી મેઘ ઘટાઓને વેરવિખેર કરવા માટે આ ક્રોધ પ્રચંડ પવન જેવો છે શાંતિરૂપી ચંદ્રમંડળને ગ્રસવા માટે રાહુ જેવા સકળ સદ્‌ગુણરૂપી કમળવનને દગ્ધ કરવા માટે હિમપાત જેવો કહેલ છે ક્રોધથી ચિત્તમાં ઉદ્વેગ ઉત્પન્ન થાય છે અને ક્રોધથીજ શત્રુતાની વૃદ્ધિ થાય છે જે જનપદ (દેશમાં) આ ક્રોધનો આવાસ થાય છે તે સકળ વિપત્તિઓનું સ્થાન બની દેશ આદિનો નાશ કરે છે કહ્યું પણ છે—

ततस्तेन कुलपुत्रेण कथितम्–तर्हि कथ स्वरोप सफलीकरोमि ? जनन्या मोक्तम् –वत्स ! सर्वत्र न रोप' सफलीक्रियते । मातृवाक्यात् कुलमित्रेण स वन्धुघातको मुक्तः । ततोऽसौ तयोश्चरणेपु निपत्य स्वापराध क्षामयित्वा गतः । एव कुल-पुत्रवत् क्रोधमसत्य कुर्यात् ।

तथा–अप्रिय=शिक्षार्थं गुरो॰ कटुवचन, प्रिय=प्रियमिव हितमित्यर्थ', धारयेत्=

माता के इस प्रकार वचन सुनकर कुलपुत्र ने कहा–ठीक है यह अवध्य है परन्तु हे जननि ! यह रोप जो मुझे उत्पन्न हुआ है उसे कैसे अब सफल करूँ ? माता बोली प्रिय पुत्र ! उत्पन्न रोप सर्वत्र सफल ही किया जाय ऐसा कोइ नियम नहीं है। माता के इन वचनोंसे सन्तुष्ट होकर कुलपुत्र ने रोप को शात करते हुए उस अपने बन्धु के घात करने वाले वैरी को विना किसी तकलीफ दिये छोड़ दिया। उस वैरी ने भी उन दोनोंके चरणों में गिरकर अपने अपराध की क्षमा मागी और खुश होते हुए अन्त में वह अपने घर चला गया। प्रत्येक मुनि का कर्तव्य है कि वह कुलपुत्र की तरह अपने उत्पन्न हुए क्रोध को विफल बनाने में सचेष्ट रहे।

(अप्पिय पिय धारिज्जा–अप्रिय प्रिय धारयेत्) शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह गुरु महाराज के द्वारा कहे गये अप्रिय वचनों को भी प्रियवचन ही मानकर हृदय में धारण करे। गुरु महाराज के वचन

એમના ઉપર મહાપુરૂષ પ્રહાર કરતા નથી, પરન્તુ તેની રક્ષા કરે છે

માતાના આ પ્રકારના વચન સાભળીને કુળપુત્રે કહ્યું ઠીક છે આ અવધ્ય છે પરન્તુ હે માતા ! આ રોષ જે મારામા ઉત્પન્ન થયો છે તેને હુ કઈ રીતે શાન્ત કરૂ ?

માતાએ કહ્યું પ્રિય પુત્ર ! ઉત્પન્ન થયેલ રોષ બધી રીતે સફળ કરવામા આવે એવો કોઇ નિયમ નથી, માતાના આવા વચનોથી સતુષ્ટ બની કુળપુત્રે રોષને શાન્ત કરીને તેણે પોતાના બધુનો ઘાત કરનાર વૈરીને કોઈ તકલીફ આપ્યા વગર છોડી દીધો. મારનાર વૈરીએ પણ બન્નેના ચરણોમા પડીને પોતાના અપરાધની ક્ષમા માગી અને ખુશ થતો તે પોતાના ઘર તરફ ચાલી ગયો પ્રત્યેક મુનિનુ કર્તવ્ય છે કે કુળપુત્રની માફક પોતાનામા ઉત્પન્ન થયેલ ક્રોધને દબાવવામા સચેષ્ટ રહે.

(અપ્પિય પિયં ધારિજ્જા–અપ્રિય પ્રિય ધારયેત્) શિષ્યનુ કર્તવ્ય છે કે તે ગુરુ મહારાજ દ્વારા કહેવામા આવેલ અપ્રિય વચનોને પણ પ્રિય વચન માની હૃદયમા ધારણ કરે. ગુરુ મહારાજના વચન પરિણામમા સતાપને

पुत्रमरणार्त्तध्यानयुक्ता जननीं विलोक्य स कुलपुत्रस्तं वैरिणं गृहीत्वा मातुः समिपमानीयाब्रवीत्–अरे ! बन्धुघातक ! अनेनासिना त्वा कुत्र हन्याम्, तेनाविभीतेन कथितम् यत्र शरणागता न हन्यन्ते तत्र। एतद्वचन श्रुत्वा कुलपुत्रेण जननीमुख विलोकितम्। जनन्या च मध्यस्थभावमवलम्ब्य सजात–करुणया निगदितम्–हे पुत्र ! शरणागता न हन्यन्ते। यतः—

सरणागया य वीस,–त्था पणया वसणपत्ता य।
रोगी अजगमा य, सप्पुरिसा णेव पहरंति॥

छाया—शरणागताश्च विश्वस्तान् प्रणतान् व्यसनमाप्तांश्च।
रोगिणः अजङ्गमांश्च सत्पुरुषा नैव प्रहरन्ति॥

पुत्र पुत्रमरण जनित दु ख से आर्त्तध्यान करती हुई माता को देखकर शीघ्र ही अपने भाई के उस घातक को पकड़ कर माता के सन्मुख उपस्थित कर कहा अरे बन्धु घातक ! बोल तुझे इस तलवार के द्वारा कहाँ पर मारूँ। उसने डरते हुए कहा–जहा शरण में आये हुए प्राणी नहीं मारे जाते हैं वहीं पर आप मुझे मारें। बन्धु घातक के इस प्रकार वचन सुनकर कुलपुत्र ने माता के मुखकी ओर देखा। माता ने धैर्य धारण कर दयायुक्त होते हुए कहा कि हे बेटा! शरण में आये हुए को वीर पुरुष मारा नहीं करते हैं। क्यों कि इतने प्राणी अवध्य होते हैं—

सरणागया य वीस–त्था पणया वसण पत्ताय॥
रोगी अजंगमा य, सप्पुरिसा णेव पहरंति॥ १॥

गाथार्थ—शरणागत, विश्वासपात्र, कष्ट में पड़ा हुआ, रोगी और अपंग, इनके ऊपर महा पुरुष प्रहार नहीं करते हैं अर्थात् इनकी रक्षा करते हैं॥

જનીત દુ ખથી આર્ત્તધ્યાન કરતી માતાને જોઇ તુરતજ પોતાના ભાઈના એ ઘાતકને પકડીને માતાની સન્મુખ ઉભો રાખી કહ્યુ, અરે બધુ ઘાતક ! બોલ તને આ તરવાર કયે સ્થળે મારૂ તેણે ડરીને કહ્યું–જ્યા શરણમા આવેલા પ્રાણીને મારવામા નથી આવતા એ સ્થળે આપ મને મારો. બધુને મારનારના આ પ્રકારના વચનને સાભળી કુળપુત્રે માતાના મુખની સામે જોયુ માતાએ ધૈર્ય ધારણ કરી દયાયુક્ત બની કહ્યુ કે હે બેટા ! શરણમા આવેલાને વીરપુરૂષો કદી મારતા નથી કેમકે આટલા પ્રાણી અવધ્ય હોય છે

सरणागया य वीस,–त्था पणया वसणपत्ता य।
रोगी अजगमा य, सप्पुरिसा णेव पहरंति॥ १॥

ગાથાર્થ—શરણાગત, વિશ્વાસપાત્ર, કષ્ટમા પડેલા, રોગી અને અપગ,

इदमत्र बोध्यम्—यथा गुरोराज्ञया भिक्षाचर्यां गत शिष्य श्रावकगृहं प्रविष्ट, तत्र भद्रमानसपन्नो धार्मिको धर्मानुगो धर्मसेवी धर्मिष्ठो धर्मख्यातिधर्मानुरागी धर्मप्रलोकी धर्मजीवी धर्मपरञ्जनो धर्मशील श्रावको मुनिं दृष्ट्वा सप्ताष्टपदानि तदभिमुखमागच्छन् हृष्टस्तुष्ट प्रसन्नचित्त प्रीतमना परमसौमनस्ययुक्तो मुनिदर्शन जनितहर्षवशविसर्पमानसस्त वन्दित्वा नमस्कृत्य पुन पुन स्तुवन् वदति—

लाभ में, अलाभ में, सुख में, दु ख में, जीने में मरणे में, मान में, अपमान में तथा निंदा और प्रशसा में एक साधु ही ऐसा है जो समान रहता है। यहा इस प्रकार समझना चाहिये–गुरु की आज्ञा प्राप्त कर ही तो शिष्य भिक्षाचर्या के लिये गृहस्थों के घर जाता है। गृहस्थ भी अपने घर पर पधारे हुए साधु के दर्शन कर अपने आपको बहुत ही पुण्यशाली मानता है। क्यों कि ऐसे गृहस्थजन प्रकृति से भद्रपरिणामी एव धर्मानुग–धर्मका अनुसरण करने वाले होते हैं। धर्म सेवी होते हैं और धर्मिष्ठ होते हैं। धर्मख्याति–धर्मका उपदेश देनेवाले एव धर्मानुरागी–धर्म में अनुराग रखने वाले होते हैं। धर्मप्रलोभी और धर्मजीवी होते हैं। धर्मप्ररञ्जन और धर्मशील होते है। ये मुनि को घर पर आते हुए देखकर सर्व प्रथम उनका विनय करने के निमित्त सात आठ पग उनके समक्ष जाते हैं। हर्ष से सतुष्ट चित्त होकर ऐसे फूल जाते हैं कि मानों कोई अपूर्व निधि का ही इन्हें लाभ हुआ है।

લાભમા, અલાભમા, સુખમા, દુ ખમા, જીવવામા, મરણમા, માનમા, અપમાનમા, તથા નિંદા અને પ્રશ સામા એક સાધુજ એવા છે જે સમાન રહે છે અહિ એ પ્રકારે સમજવુ જોઈએ–ગુરુની આજ્ઞા મેળવીને પછી જ શિષ્ય ભિક્ષાચર્યા માટે ગૃહસ્થોને ઘેર જાય છે ગૃહસ્થ પણ પોતાના ઘેર પધારેલા સાધુના દર્શન કરી પોતાને બહુજ પુણ્યશાળી માને છે કેમકે એવા ગૃહસ્થજન પ્રકૃતિથી ભદ્ર પરિણામી તેમજ ધર્મનુ અનુસરણ કરવાવાળા હોય છે, ધર્મ સેવી હોય છે અને ધર્મીષ્ટ હોય છે ધર્મખ્યાતિ–ધર્મનો ઉપદેશ દેવાવાળા એટલે ધર્માનુરાગી–ધર્મમા અનુરાગ રાખવાવાળા હોય છે ધર્મપ્રલોકી અને ધર્મજીવી હોય છે ધર્મ પરઞ્જન અને ધર્મશીલ હોય છે મુનિને ઘેર આવતા જોઇને સર્વ પ્રથમ તેનો વિનય કરવા નિમિત્ત સાત આઠ પગલા એમની સામે જાય છે હર્ષથી સતુષ્ટ ચિત્ત બનીને એવા ફુલાતા હોય છે કે જાણે કોઇ અપૂર્વ નિધિનો એમને લાભ થયો હોય, ચહેરો પ્રસન્ન થઈ જાય છે, મનમા

मनसा भावयेत्। गुरोर्वचनं हि परिणामे तापोपशमकं रत्नत्रयपरिशोधकं शान्तिसुधासभृतं परमहितम्, आम्रफलमिवादौ कटुकं, मध्येऽम्लरसयुतम्, अन्ते चापूर्वास्वादजनकं भवतीति मत्वा प्रियमेव मन्येतेति भावः।

यद्वा-प्रियं=प्रीतिजनकं स्तुत्यादि, अप्रियम्=अप्रीतिकारकं निन्दादि, धारयेत्=समं जानीयात्। भिक्षाचर्यादौ प्रियमप्रियं वा वचनं श्रुत्वा समभावनया तत् तितिक्षेत, तत्र रागं द्वेषं वा न कुर्यादित्यर्थः। उक्तं च भगवता—

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥ (उत्त०१९अ)

परिणाम में संताप को मिटाने वाले रत्नत्रय को परि शुद्ध करने वाले, शान्तिरूपी अमृत के समुद्र परम हितकारी तथा आम्रफल के समान आदि में कटुक, मध्य में आम्लरसयुक्त एवं अन्त में अपूर्व रस का आस्वाद कराने वाले होते हैं। इसलिये गुरु महाराज के वचन को प्रिय मानकर ही उनका सेवन करते रहना चाहिये यही विनीत शिष्य का कर्तव्य है। अथवा-" धारिज्जा पियमप्पियं " इसका अभिप्राय यह भी है कि साधु जब भिक्षाचर्या आदि के लिये जावे तब उस समय यदि कोई खोटे मीठे वचन भी कहे-निंदा एवं स्तुति भी करे तो भी उसमें इसे पक्षपाती नहीं होना चाहिये-दोनों पर साधु का समान भाव ही होना चाहिये। उस पर राग एवं द्वेष करना साधुका कर्तव्य नहीं है।

लाभालाभे सुहे दुक्खे। जीविए मरणे तहा ॥
समो निंदा पसंसासु। तहा माणा व माणओ ॥ (उ १९अ)

મટાડવાવાળા રત્નત્રયને પરિશુદ્ધ કરવાવાળા શાંતિરૂપી અમૃતના સમુદ્ર પરમ હિતકારી તથા આમ્રફળ જેવા. શરૂઆતમા તુરા, મધ્યમા આમ્લરસ યુક્ત તથા અતમા અપૂર્વ રસનો આસ્વાદ કરવાવાળા હોય છે આ માટે ગુરુ મહારાજના વચનને પ્રિય માનીને તેનુ સેવન કરતા રહેવુ જોઇએ. તે વિનીત શિષ્યનુ કર્તવ્ય છે અથવા-" धारिज्जा पियमप्पियं " આનો અભિપ્રાય એવો પણ છે કે સાધુ જ્યારે ભિક્ષા ચર્યા વગેરે માટે જાય ત્યારે તે સમયે કોઈ કાઈ સારૂ નરસુ વચન કહે-નિંદા અગર સ્તુતિ પણ કરે તો પણ એમા તેમણે પક્ષપાતિ ન બનવુ જોઇએ. બન્ને પર સાધુનો સમાનભાવ હોવો જોઇએ. એના પર રાગ અગર દ્વેશ કરવો એ સાધુનુ કર્તવ્ય નથી.

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥ (उत्त० १९ अ)

तथा—केचिदधार्मिका अनार्या म्लेच्छा अधर्मजीविनोऽधर्मानुरागिणोऽधर्मशीला विवेकविकला साधु दृष्ट्वा निन्दन्ति हीलन्ति खिंसन्ति—'अयं वराको नं सत्त्व० कातरो दाम्भिको भिक्षामात्रोपजीवी कुक्षिम्भरिर्भूमिभारस्वरूपो गृहे गृहे गृहपाल इव भ्रमति' इत्यादि वचन श्रुत्वा मुनि स्वात्मान नापकर्षयेत्।

अत्रोदाहरणम्—कश्चिद् वृद्धो महात्मा भिक्षार्थमेकस्मिन् गृहे गत्वा तद्गृहस्वामिनीं मति किं सचित्तजलादिस्पर्शरहिताऽसि न वेत्याशयेन पृष्टवान्—भगिनि!

तथा कितनेक ऐसे भी अधार्मिक, म्लेच्छ, अनार्यजन हैं कि जिनका जीवन सत्य धर्म की वासना से बिलकुल विहीन बना हुआ है, अधर्म में ही जिन्हें बड़ाभारी अनुराग है, प्रकृति भी जिनकी अधर्मशील हैं, विवेक से जो सर्वथा पराङ्मुख हैं वे साधुजन को देखते ही अपनी नाक भौंहें सिकोड़ने लगते हैं और जो मन में आता है वही बकने लग जाते हैं—निन्दा करते हैं, हीलना करते हैं-खिसाते हैं—कहते हैं कि देखो तो सही यह बिचारा कितना अपने आपको भूलता है तथा कितना कायर बना हुआ फिर रहा है कैसे-कैसे दंभ रच रहा है जो यह यहां से भिक्षा मांगकर अपना निर्वाह करता है। अपना ही पेट भरना इसने सीखा है। ऐसे जनों से संसार की क्या भलाई हो सकती है। ये तो केवल इस पृथिवी के भारभूत हैं जो कुत्तेकी तरह घर घर में प्रतिदिन भ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार के वचन सुनकर साधु को चाहिये कि वह अपनी आत्मा को हल्की न समझे। इसी विषय को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

તથા કેટલાક એવા પણ અધાર્મિક મ્લેચ્છ, અનાર્યજન છે કે જેમનું જીવન સત્ય ધર્મની વાસનાથી બીલકુલ વિહીન બનેલ હોય છે અધર્મમાં જ જેને ભારે અનુરાગ છે, પ્રકૃતિ પણ જેની અધર્મશીલ છે, વિવેકથી જે સર્વથા પરાઙ્મુખ છે તે સાધુજનને જોઈને પોતાનાં નાક તથા મ્હોંને બગાડે છે અને મનમા આવે તેવું બકવા લાગી જાય છે નિંદા કરે છે, હીલના કરે છે—ખિસાય છે, કહે છે કે જુઓ તો ખરા આ બીચારો કેટલો પોતાની જાતને ભુલે છે તથા કેવો કાયર બનીને ફરી રહ્યા છે કેવા કેવા દંભ રચી રહેલ છે, જે અહિં તહિંથી ભિક્ષા માગીને પોતાનો નિર્વાહ કરે છે પોતાનું જ પેટ ભરવાનું એ શીખેલ છે આવા સાધુથી સંસારની શું ભલાઈ થઈ શકવાની છે આ તો કેવળ આ પૃથ્વી ઉપર ભાર જેવા છે જે કુતરાની માફક ઘેર ઘેર હરરોજ ભમતા રહે છે આ પ્રકારનાં વચન સાંભળી સાધુએ પોતાના આત્માને હલકો માનતા ન બનવું જોઈએ આ વિષયને એક ઉદાહરણ દ્વારા સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે—

'धन्योऽस्मि, कृतपुण्योऽस्मि, कृतलक्षणोऽस्मि मवद्दर्शनेन, मवदागमन दरिद्रस्य गृहे स्वर्णवृष्टिरिव कामधेनुरिव मम सर्वसौभाग्यजनकम्" इत्युक्त्वा स्वगृहं सादर मानीय विपुलमशन पान खाद्य स्वाद्य ददाति, दत्त्वा च पुनः पुनः स्तौति, तत्र मुनिः स्वात्मान नोत्कर्षयेत् ।

चेहरा प्रसन्न हो जाता है। मन में एक प्रकार का विलक्षण सतोप आ जाता है, उस समय उसे बड़ा भारी आनन्द आता है। उस आनन्द में तल्लीन होता हुआ वह श्रावक उस समय एक प्रकार से अपने आपको भी भूल सा जाता है और वन्दना एव नमस्कार कर भक्ति के आवेश से स्वय अपने गुरु महाराज की स्तुति करता हुआ कहता है हे नाथ! आज मैं धन्य हुआ हू कृतपुण्य हुआ हू और मेरी यह पर्याय सफल हुई है जो आपके दर्शन पाये। दरिद्र के घर में सुवर्ण की वर्षा के समान एवं कामधेनु के समान आप का मेरे घर पधारना मेरे परम सौभाग्य का उत्पन्न करने वाला एव वृद्धि करनेवाला है। इसलिये पधारिये और घर को पावन कीजिये—इस प्रकार कह कर वह महात्मा को अपने घर लाता है और सादर उन्हें विपुल अशन, पान, खाद्य एव स्वाद्य चार प्रकार का आहार देता है। फिर वारम्बार उनकी स्तुति करता है। ऐसी प्रशंसा सुनकर गृहस्थकी ऐसी विनय भक्ति देखकर साधु को फूल नहीं जाना चाहिये।

એક પ્રકારનો વિલક્ષણ સતોષ આવી જાય છે એ સમયે એને ઘણોજ આનદ થાય છે એ આનદમા તલ્લીન થતાં થતાં તે શ્રાવક એ સમયે એક પ્રકારથી પોતે પોતાને પણ ભુલી જાય છે અને વદના એવ નમસ્કાર કરી ભક્તિના આવેશથી સ્વય પોતાના ગુરુ મહારાજની સ્તુતિ કરતા કહે છે કે હે નાથ! આજ હુ ધન્ય બન્યો છુ, કૃત પુણ્ય બન્યો છુ, અને મારી આ પર્યાય સફળ બની છે જે આપના દર્શન થયાં. દરિદ્રના ઘરમાં સોનાના વરસાદ સમાન તેમ કામ ધેનુ સમાન આપનુ મારે ઘેર પધારવું મારા પરમ સૌભાગ્યને ઉત્પન્ન કરવાવાળુ અને વૃદ્ધિ કરનાર છે આ માટે પધારો અને ઘરને પાવન કરો આ પ્રકારે કહી તે મહાત્માને પોતાને ઘેર લાવે છે અને આદર માનથી તેમને વિપુલ અશન, પાન, ખાદ્ય અને સ્વાદ્ય એમ ચાર પ્રકારનો આહાર આપે છે પછી વારવાર તેની સ્તુતિ કરે છે એવી પ્રશસા સાંભળી, ગૃહસ્થની એવી વિનય ભક્તિ જોઇ, સાધુએ ફુલાઇ જવુ ન જોઇએ

यति–स्थूलस्य हृष्टपुष्टाङ्गस्य तव कथमल्पेनोदर भरिष्यति ? इत्यादि परिभवयचन श्रुत्वाऽपि स महात्मा समभाव समालम्ब्य स्वात्मान हीन न मन्यते स्म, तदा स उचितभिक्षा गृहीत्वा प्रतिनिवृत्त । एव सर्वैर्मुनिभिर्मान्यम् ॥ १४ ॥

आत्मनो दमने सत्यत्र क्रोधवैफल्य कर्तुं शक्यते तस्मात् तदुपदेश तत्फल चाह–

मूलम्–अप्पा चेवं दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ यं ॥१५॥

छाया—आत्मा एव दमितव्य. आत्मा हु खलु दुर्दम ।
आत्मान दाम्यन् सुखी भवति, अस्मिन् लोके परत्र च ॥१५॥

स्वामिनि ने कहा–वाह खूब कहा इतने सडमुसड तो हो रहे हो फिर भी थोडा आहार देने के लिये कह रहे हो थोडे से दिये गये आहार से भला इस हृष्टपुष्ट शरीर की तृप्ति कैसे हो सकेगी। इत्यादि उसके अपमान जनक वचन सुनकर भी वे महात्मा समभावशाली ही बने रहे और उन्होंने उसके वचन से अपने आपको हीन नहीं समझा। वहा से उचित भिक्षा लेकर फिर वे अपने स्थान पर वापिस आगये। इसी प्रकार कहने का मतलब यह है कि समस्त मुनिजनोंको अपने आपको प्रतिकूल सयोग में हीन नहीं मानना चाहिये ॥ १४ ॥

जो आत्मा का दमन करता है वही क्रोध को निष्फलकर सकता है इस लिये सूत्रकार आत्मा–अर्थात्–मन को दमन करने का उपदेश देते हैं एव उसका फल भी कहते हैं—' अप्पाचेव०' इत्यादि ।

વાહ ખૂબ કહ્યું, આટલા અલમસ્ત જેવા તો બની રહેલ છો છતા પણ થોડો આહાર દેવાનુ કહી રહ્યા છે. થોડા આહારથી ભલા આ અલમસ્ત શરીરની તૃપ્તિ કઈ રીતે થઈ શકશે. ઈત્યાદિ એના અપમાન જનક વચન સાભળીને પણ તે મહાત્મા સમભવશાળી જ બની રહ્યા અને તેનાં તેવા વચનોથી પોતાની જાતને હીન નહિ સમજ્યા ત્યાથી ઉચિત ભિક્ષા લઈ ને પછી તે પોતાના સ્થાન ઉપર આવી ગયા. આ પ્રકાર કહેવાનો મતલબ એ છે કે સમસ્ત મુનિ જનોએ પોત પોતાને પ્રતિકુલ સ ંજોગમાં પણ હિન માનવુ ન જોઈ એ ॥૧૪॥

જે આત્માનુ દમન કરે છે તે ક્રોધને નિષ્ફળ કરી શકે છે આ માટે સૂત્રકાર આત્મા–અર્થાત્–મનને દમન કરવાનો ઉપદેશ આપે છે અને તેનુ ફળ પણ કહે છે—અપ્પાચેવ૦ इत्यादि

स्वस्थाऽसि, तया कथितम्-त्वमेवासि रोगी, अहं तु स्वस्थैवास्मि भिक्षादानार्थं महात्मना प्रोक्ता सा गृहस्वामिनी वदति-किमत्र तव पित्रोपार्जनं कृत्वा स्थापितं, तद् ग्रहीतुमत्रागतोऽसि, एतद् वचनं श्रुत्वा स महात्मा परावृत्तः । ततो गृहस्वामिनी वदति-अहो ! भिक्षार्थिनोऽपि तवैतावान् मदः, एहि, एहि, ददामि भिक्षाम्, एवं तयाऽभिहितः सन् स महात्मा पुनस्तद्गृहं भिक्षां ग्रहीतुमागतः । स्थूलाः स्थूलाश्च तस्रो रोटिकास्तया समानीताः, महात्मना प्रोक्तम्-स्तोकं देहि, गृहस्वामिनी कथ

कोई एक वृद्ध महात्मा भिक्षा के लिये किसी एक घर पर पहुँचे। वहाँ जाकर गृहस्वामिनि से "सचित्त जलादिक के स्पर्श से रहित हो कि नहीं" इस अभिप्राय से पूछा कि बहिन ! स्वस्थ तो हो ? महात्मा जी की बात सुनकर गृहस्वामिनी कहने लगी कि मैं तो स्वस्थ ही हूँ-रोगी तो तुम ही हो। महात्माजी ने फिर उससे भिक्षा देने के लिये कहा तो वह बोली कि यहां क्या तुम्हारा बाप कमाकर रख गया है जो लेने के लिये दौडे आये हो ? इन वचनोंको सुनकर महात्माजी वहां से पीछे लौटे। महात्माजी को पीछा लौटा हुआ देखकर गृहस्वामिनि बडबडाती हुई कहने लगी-ओहो ! भिक्षार्थी होकर के भी इतना अभिमान। अच्छा आओ आओ और भिक्षा ले जाओ। मैं भिक्षा देती हूं। इस प्रकार जब उस गृहस्वामिनि ने कहा तो महात्मा उसके घर भिक्षा लेने के लिये पीछे आये। वह जब उन्हें मोटी-मोटी चार रोटी देने लगी तो महात्मा-जीने पुनः कहा बहिन थोडा आहार दो-यह तो अधिक है। तब गृह

કોઈ એક વૃદ્ધ મહાત્મા ભિક્ષા માટે કોઈ એક ઘેર પહોંચ્યા ત્યાં જઈ ગૃહસ્થના સ્ત્રીને "સચિત્ત જળાદિકના સ્પર્શથી રહિત છો કે નહી" આ અભિપ્રાયથી પૂછ્યુ કે, બહેન ! સ્વસ્થ છો ને ? મહાત્માજીની વાત સાભળીને ગૃહસ્થની સ્ત્રી કહેવા લાગી કે હુ તો સ્વસ્થ જ છુ-રોગી તો તમેજ છો મહાત્માજીએ પછી તેને ભિક્ષા આપવા કહ્યુ તો એ બોલી કે, અહીં કયાં તમારો બાપ કમાઇને રાખી ગયેલ છે, જે લેવા માટે દોડી આવ્યા છો ? આ વચનોને સાભળીને મહાત્માજી ત્યાથી પાછા ફર્યા, મહાત્માજીને પાછા ફરેલા જોઈ ગૃહસ્થની સ્ત્રી બડબડાટ કરતાં કહેવા લાગી, ઓહો ! ભિક્ષાર્થી હોવા છતા પણ આટલું અભિમાન ! આવો ભિક્ષા લઈ જાવ હુ ભિક્ષા આપુ છુ આ પ્રકારે એ ગૃહસ્થની સ્ત્રીએ કહ્યુ તો મહાત્મા એને ઘેર ભિક્ષા લેવા પાછા ગયા તે જ્યારે તેને મોટી મોટી ચાર રોટલી દેવા લાગી તો મહાત્માજીએ કહ્યુ બહેન થોડો આહાર આપો-આ તો ઘણુ છે ત્યારે ગૃહસ્થની સ્ત્રીએ -

उक्तंच—जओ जओ सचरइ, मणो चचलमस्थिर ॥
तओ तओ नियमिय, कुज्जा अप्पमि त थिरं ॥१॥
छाया— यतो यतः सचरति मनः चचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्य कुर्यात् आत्मनि तत् स्थिरम् ।

सूर्योदये सति शीतवेदना निवृत्तवन्मनोविजये सति सकलदु'खानामात्यन्तिक निवृत्तिर्भवति। अविजित मनस्तत्त्वज्ञान विनाशयति तपः सयमशिखरादात्मान

जाग्रत हो सकती है। आत्मा शब्द का अर्थ यहाँ पर मन है। क्यों कि इसीका दमन किया जाता है। जीव आत्मा इसका दमन करने वाला है। दमन करने से आत्मा को सब से बड़ा भारी लाभ यह होता है कि जिस प्रकार सूर्यके उदय होने पर शीतवेदना की निवृति हो जाती है उसी प्रकार मनको जीत लेने पर आत्मा से सकल दु खों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इसीलिये शास्त्रकारों का यह उपदेश है कि "जओ जओ सचरइ मणो चचलमत्थिरं। तओ-तओ नियमिय कुज्जा अप्पमि त थिर ॥ यह अस्थिर चचल मन जिन-जिन पदार्थोंकी ओर झुके-उनमें चले-उसे वहा से खेंचकर मोक्षाभिलाषी का कर्तव्य है कि वह उसे अपनी आत्मा में सलग्न करे। जबतक मन स्थिर नहीं होगा उसका निग्रह नहीं होगा-तब तक तत्त्वज्ञान आत्मा में उत्पन्न नहीं हो सकता है। तत्त्वज्ञान की जागृति हुए विना आत्मा को हेय एवं उपादेय पदार्थोंका वास्तविक भान नहीं हो सकता। मनकी ही तो यह चचलता

જ આત્મામા શાંતી જાગી શકે છે આત્મા શબ્દનો અર્થ અહીં મન છે કેમ કે આત્માનુ જ દમન કરવામાં આવે છે જીવ આત્મા એનું દમન કરવાવાળા છે દમન કરવાથી આત્માને મોટામાં મોટો લાભ તો એ થાય છે કે જે પ્રકારે સૂર્યનો ઉદય થવાથી ઠંડીની વેદાનાની નિવૃતિ થાય છે એજ રીતે મનને જીતી લેવાથી આત્માના સકળ દુખોની નિવૃત્તિ થઈ જાય છે આ માટે શાસ્ત્રકારોનો આ ઉપદેશ છે કે—

"जओ जओ सचरई, मणो चंचलमस्थिर।
तओ तओ नियमिय, कुज्जा अप्पमि त थिर॥"

આ અસ્થિર ચચલ મન જે જે પદાર્થોની તરફ ઢળે-એમા ચાલે-એને ત્યાથી ખેચીને મોક્ષાભિલાષીએ પોતાના આત્મામાં સલગ્ન કરી દેવું જોઈએ. જ્યાં સુધી મન સ્થિર નહી હોય-ત્યાં સુધી એનો નિગ્રહ થનાર નથી-ત્યા સુધી તત્વજ્ઞાન આત્મામાં ઉત્પન્ન થઈ શકતુ નથી. તત્વજ્ઞાનની જાગૃતિ થયા વગર આત્માને હેય અને ઉપાદેય પદાર્થોનુ વાસ્તવિક ભાન થઈ શકતુ નથી.

टीका—'अप्पा चेव०' इत्यादि—

आत्मैव=मन एव, दमितव्यः-वशी कर्तव्यो जेतव्य इत्यर्थः, इहात्मशब्देन मनो गृह्यते तस्यैव दमनीयत्वात्। आत्मा तु दमको बोध्यः। शब्दादि विषयेषु प्रवर्तमान मनस्ततः प्रत्याहृत्य स्वात्मनि स्थापनीयमिति भावः।

अन्वयार्थ—(अप्पाचेव दमेयव्वो-आत्मा एव दमितव्य.) मन ही दमन करने योग्य है। (अप्पा हु खलु दुद्दमो-आत्मा हु खलु दुर्दम) क्यों कि मन ही दुर्दम है। (अप्पा दंतो अस्सि लोए परत्थ य सुही होइ-आत्मान दाम्यन् इहलोके परत्र च सुखी भवति) मनको दमन करने वाला जीव नियम से इस लोक में तथा परलोक में सुखी होता है।

भावार्थ—सूत्रकार इस गाथा द्वारा इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तमान मन के निग्रह करनेका उपदेश दे रहे हैं। वे कहते हैं कि इसलोक एव परलोक में यदि सुखी होना चाहते हो-तो मनका निग्रह करो उसे अपने वश में करो। जब तक इसको वश में नहीं किया जायगा तब तक इसका अधीन बना हुआ आत्मा कभी भी किसी भी भव में सुख शाति नहीं पायेगा। आत्मा ही मन का दमन कर सकता है। दमन करनेका मतलब यह है कि जो मन इन्द्रियोंके विषयों में गृद्ध बना हुआ है उसको उनमें गृद्ध नहीं बनने देता। यही मनका दमन करना है। मनको विषयोंसे हटाकर आत्मामें स्थापित करना चाहिये। तभी आत्मा में शाति

अन्वयार्थः—अप्पा चेव दमेयव्वो-आत्मा एव दमितव्यः-,
મનજ દમન કરવા યોગ્ય છે
अप्पा हु खलु दुद्दमो-आत्मा हु खलु दुर्दमः-,
કેમકે મનજ દુર્દમ છે
अप्पा दंतो अस्सि लोए परत्थ य सुही होइ।
आत्मानं दाम्यन् इह लोके परत्र च सुखी भवति।
મનનું દમન કરનાર જીવ આલોક અને પરલોકમાં સુખી થાય છે

ભાવાર્થ—સૂત્રકાર આ ગાથા દ્વારા ઇન્દ્રિયોના વિષયોમાં પ્રવર્તમાન મનનો નિગ્રહ કરવાનો ઉપદેશ આપી રહ્યા છે તેઓ કહે છે કે, આ લોક અને પરલોકમાં જો સુખી થવા ચાહતા હો તો-મનનો નિગ્રહ કરો, એને પોતાના વશમાં રાખો જ્યાં સુધી મનને વશ કરવામાં ન આવે ત્યાં સુધી એના આધીન બનેલો આત્મા ક્યારેય પણ-કોઈ પણ ભવમાં સુખ શાંતિથી રહી શકવાનો નથી. આત્મા જ મનનું દમન કરી શકે છે દમન કરવાનો હેતુ એ છે કે મન ઇન્દ્રિયોના વિષયમાં વ્યાપ્ત બન્યુ છે એને એમાથી દુર કરવુ એજ મનનું દમન કરવું છે મનને વિષયોથી હટાવી આત્મામાં સ્થાપિત કરવુ જોઈએ. ત્યારે

वृक्षतले उपविष्ट आसीत् तदा तेन महात्मना ध्यानावस्थायामेक श्वापदसंकुल व्यालाकुल विशाल महारण्य दृष्टम्। तत्रैको पुरुपस्तेन दृष्ट., स च सहस्रभुजो विस्तृतकाय. सहस्रहस्तधृतै. सहस्रमुशलै स्वदेह ताडयन् भीतभीत इव चीत्कारं कुर्वन्नितस्तत. पलायमान. शतयोजनानि धावमान. श्रमेण शिथिलावयवः परवशः सन् पातालवद्गम्भीरे गाढान्धकारे महान्धकूपे निपतित'। पुनरसौ तस्मादन्धकूपाद् बहिर्निर्गत पूर्ववत् सहस्रमुशलै. स्वदेह ताडयति तदनु महत्यामग्निज्वालायां शलभ इवासौ प्रविष्टः। पुनरसौ ततोऽपि बहिर्नि. सृत्यकण्टकाकीर्णे महारण्ये इतस्ततो धावति, तदनु पुन. स्वदेहोपरि पूर्ववत्सहस्रमुशलप्रहारं कुर्वन् स दृष्ट'।

बैठे हुए थे। मुख पर सदोरक मुखवस्त्रिका बंधी हुई थीं, उन्हें उस ध्यान में एक विशाल जगल दिखलाई पडा। जो श्वापदों हिंसक प्राणीयों से संकीर्ण एव व्याप्त था। उस में उन्होंने एक महाकाय व्यक्ति जिसके हजार हाथ थे देखा। उसके सब ही हाथों में मुसल थे। वह इधर उधर भागता हुआ मुसलको शरीर पर मारता हुआ भयकर चीत्कार शब्द करता था। वह भगता भी इतना अधिक कि सौ योजन तक निकल जाता। जब वह थक जाता और उसका शरीर जब ढीला हो जाता तब वह पाताल के समान गभीर एक महान्धकूप में कि जिसमें गाढ अधकार ही अंधकार था उसमें गिर जाता था। पीछे वहासे निकलना और इसी तरह अपने शरीर को हजारों मुसलोंसे पीटता, बाद में शलभ-(पतग) की तरह एक महती अग्निज्वाला में प्रविष्ट हो जाता। पश्चात् वहा से भी निकल कर वह एक कण्टकाकीर्ण अरण्य में घुस जाता और वहा इधर उधर दौडता हुआ अपने शरीर को सहस्र मुसलों से पूर्वकी तरह

બેઠા હતા. મોઢા ઉપર દોરાસાથે મુખવસ્ત્રિકા બાંધેલ હતી એમને એ ધ્યાનમાં એક વિશાળ જગલ દેખાયુ, જે અનેક પ્રકારના હિંસક પ્રાણીઓથી ભરેલું હતુ, તેમા એમણે એક મહાકાય વ્યક્તિ જેને હજાર હાથ છે તેવી જોઇ, એના બધા હાથોમા મુશળ હતા, તે અહિંથી તહીં દોડતા દોડતા મુસલોને પોતાના શરીર પર મારતો હતો અને ભયકર ચિત્કાર શબ્દ કરતો હતો, એ એટલા જોરથી દોડતો હતો કે સો યોજન સુધી નિકળી જતો થાક લાગતો અને શરીર જ્યારે ઢીલુ થઈ જતુ ત્યારે તે ખુબજ ઉડા અને ગાઢ અધકારથી છવાયેલ કુવામાં કુદી પડતો, પાછો ત્યાંથી નિકળતો અને એજ રીતે હજારો મુસલોથી પોતના શરીરને ટીપતો બાદમાં શલભ (પતગ)ની માફક એક મહતી અગ્નિ જ્વાળામાં પડતો અને ત્યાંથી પણ નીકળીને તે મહાન કાંટાઓવાળા જગલમાં ઘુસી જતો ત્યા પણ આમ તેમ દોડતો અને પહેલાની જેમ પોતાના

पातयति उन्मार्गे प्रापयति चतुर्गतिकसंसारचक्रे भ्रामयति नरकनिगोदाधनन्तदु ख गर्ते निपातयति रत्नत्रय लुण्टयति आत्मगुणान् घातयति ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधं कर्मोपार्जयति। तस्मान्मनो निग्रह कुर्यात्।

अत्रोदाहरणम्—

तथाहि—एको लब्धिसम्पन्नो महात्मा सदसदोरकमुखवस्त्रिक. ध्याननिष्ठः सन्

है जो अच्छे–अच्छे ज्ञानीजन भी सयमरूपी शिखर से इकदम पतित हो जाते हैं और नहीं सेवन करने योग्य मार्ग में भी प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे उनकी चतुर्गतिरूप ससार में परिभ्रमणरूप दुर्दशा ही होती रहती है। नरक एव निगोद के अनत दु खों को वे भोगते हैं। इन समस्त दुःखों से आत्मा का सरक्षण करनेवाला जो रत्नत्रय धर्म है–वह उनका लुटा जाता है। वे बिलकुल निर्धन बन जाते हैं। इन निर्धनता में और भी अनेक जो आत्मा के सद्गुण हैं उनका विकास नहीं होते पाता है इस स्थिति में इस आत्मा की इतनी दयनीय स्थिति हो जाती है, कि ज्ञानावरणादिक अष्ट प्रकार के कर्म इस पर रात दिन अपना प्रहार करते रहते हैं। इसको उस समय बचानेवाला कोई नहीं होता है। इस लिये मोक्षाभिलाषी का कर्तव्य है कि वह मन का निग्रह करे।

इस विषय को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

कोई एक महात्मा जो लब्धिसंपन्न थे, एक वृक्ष के नीचे ध्यानमें

મન એવું ચચળ છે કે ભલભલા જ્ઞાનીજનને પણ સયમરૂપી શિખર ઉપરથી એકદમ નીચે ગબડાવી મુકે છે, અને સેવન ન કરવા યોગ્ય માર્ગમા પ્રવૃત્ત બનાવી દે છે આથી તેમની ચતુર્ગતિરૂપ સસારમાં પરિભ્રમણ રૂપ દુદશા જ થતી રહે છે નરક અને નિગોદના અનત દુખો તે ભોગવે છે આ સમસ્ત દુખોથી આત્માનુ રક્ષણ કરનાર જે રત્નત્રય ધમ છે–તે એની પાસેથી લુટાઈ જાય છે, આથી બિલકુલ નિધન બની જાય છે આ નિર્ધનતામા આત્માના જે બીજા સદ્ગુણ હોય છે એનો પણ વિકાસ થતો નથી. આ પરિસ્થિતિમાં આત્માની એટલી દયામય હાલત થઈ જાય છે, કે જ્ઞાનાવરણાદિક આઠ પ્રકારનાં કર્મ રાત અને દિવસ એના પર પ્રહાર કરતા રહે છે આ સમયે એને આમાથી કોઇ બચાવનાર હોતું નથી આ માટે મોક્ષાભિલાષીનુ કર્તવ્ય છે કે, તે મનનો નિગ્રહ કરે

આ વિષયને એક ઉદાહરણ દ્વારા સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે—

કોઈ એક મહાત્મા જે લબ્ધિસપન્ન હતા, એક વૃક્ષની નીચે ધ્યાનમાં

अहमन्यो नास्मि किं तु मनोनाम्ना प्रसिद्धोऽस्मि इष्टानिष्टशब्दादिविषये प्रवर्तमानोऽहं तृष्णारज्ज्वा प्राणिनं बध्नामि, ततस्तमारम्भपरिग्रहाऽऽसक्तं संसारचक्रे भ्रामयन् कदाचिद्देवजातौ कदाचिन्नरजातौ कदाचित्तिर्यग्जातौ कदाचित् पृथिव्यादिस्थावरयोनिषु द्वीन्द्रियादि-त्रसयोनिषु अनन्तदुःखं प्रापयामि। यदा तु भवादृशेन महात्मना निगृहीतो भवामि तदा रत्नत्रयाराधनं कारयामि, मोक्षमार्गे स्थापयामि, क्षपकश्रेणिमारोहयामि। शनैः शनैर्निग्रहाभ्यासप्रकर्षे सति शास्त्रसदर्शि-

नहीं हूं-मेरा नाम मन हैं। इष्ट अनिष्ट शब्दादिक विषयों में प्रवृत्ति करना और तृष्णारूपी रस्सी से प्राणियों को जकड़ना यही मुझे प्रिय है। मुझे आनंद भी इसी में आता है कि जब प्राणी आरंभ परिग्रह में आसक्त होकर संसार चक्रमें घूमता है। मैं ही तो उनकी इस स्थिति का मूल कारण बनता हूं। कभी मैं जीवों को देवजाति में, कभी मनुष्य योनि में कभी तिर्यञ्चगति में, कभी पृथ्व्यादिक स्थावर योनि में, कभी द्वीन्द्रियादिक त्रस पर्यायों में घुमाता रहता हूं और वहां के अनंत कष्टों का उन्हें पात्र बनाता हुआ बड़ा खुशी होता रहता हूं। आप जैसे महात्माओं पर दुःख है कि मेरा वश नहीं चलता। कारण कि आपके सामर्थ्य के आगे मेरी शक्ति सर्वथा संकुचित हो जाती है। वह इस दिशा में न बह कर दूसरी दिशा तरफ बहने लग जाती है। इसलिये मैं निगृहीत होकर आप जैसों से रत्नत्रय की आराधना करवाता हूं। मुक्ति के मार्ग में लगा देता हूं तथा क्षपकश्रेणि पर भी चढा देता हूं। जब साधुजनों का मुझे निग्रह करने

हुं બીજો કોઈ નથી-મારૂં નામ મન છે ઇષ્ટ અનિષ્ટ શબ્દાદિક વિષયોમાં પ્રવૃત્તિ કરવી અને તૃષ્ણારૂપી રસ્સીથી પ્રાણીઓને બાંધવા એ મને પસંદ છે મને આનંદ પણ એ વાતમાં આવે છે કે જ્યારે પ્રાણી આરંભ પરિગ્રહમાં આશક્ત બની સંસાર ચક્રમાં ઘૂમે છે હું પોતેજ તેની આ સ્થિતિનું મૂળ કારણ બનું છું, કોઈ વખત હું જીવોને દેવ જાતીમાં, ક્યારેક મનુષ્ય યોનીમાં, ક્યારેક તિર્યંચ ગતિમાં, ક્યારેક પૃથ્વી આદિ સ્થાવર યોનીમાં, ક્યારેક બે ઇન્દ્રિયવાળા ત્રસ પર્યાયોમાં ઘૂમતો રહું છું અને ત્યાંના અનેક કષ્ટોનો પાત્ર બનાવી હું ખુશી થતો રહું છું આપ જેવા મહાત્માઓ ઉપર મારો પ્રભાવ પડી શકતો નથી એ વાતનું મને દુઃખ છે કારણ કે આ આપના સામર્થ્ય આગળ મારી શક્તિ સર્વથા સંકુચિત બની જાય છે તે આ દિશામાં ન વહેતાં બીજી દિશા તરફ વહેતી હોય છે આ માટે હું નિગૃહીત બનીને આપ જેવાઓથી રત્નત્રયની આરાધના કરાવું છું મુક્તિના માર્ગમાં લગાડી દઉં છું, અને ક્ષપક

अथासौ दूरं गत्वाऽट्टाहासं कुर्वन् धावमानश्चन्द्रकिरणशीतलं कदलीवनं प्रविष्टः । क्षणादेव ततोऽपि बहिर्निःसृत्य पुनः स्वदेहोपरि सहस्रमुशलैः प्रहारं कुर्वन् धावमान इतस्ततो भ्राम्यति । पुनः श्रमेण शिथिलावयवः सन् महान्धकूपे निपतितः । ततश्चिरेण निःसृत्य पुनः कदलीवनं प्रविष्टः, ततोऽपि निर्गत्य लतावनं गतः, लतावनाद् बहिर्भूत्वाऽन्धकूपे पतितः, तदनु कूपान्निःसृत्य कुसुमवनं गतस्तत्रैवतस्ततो धावमानः स्वदेहोपरि मुशलैः प्रहारं करोति ततोऽपि निःसृत्य फलवनं प्रविष्टः, तत्रापि धावमानः स्वदेहोपरि पूर्ववत् सहस्रमुशलैः प्रहारं करोति । एवंविधं पुरुषं स महात्मा ज्ञानदृष्ट्या विलोक्य स्वलब्धिबलेन तस्य प्रतिरोधं कृत्वा पृष्टवान्-कस्त्वम्? किमर्थमेवं क्रियते? तव किं प्रियमस्ति? एवं पृष्टोऽसौ पुरुषोऽब्रवीत्-

ही प्रहारित करता। फिर दूर जाकर बड़े जोर से हँसता और चन्द्रकिरण के समान शीतल कदलीवन में प्रवेश कर वहां विश्राम करने लगता। क्षण एक विश्रामित होकर वहांसे बाहर आते ही फिर वही अपनी चाल शुरू करता, जब वह इस चाल से थक जाता था तो गाढ़ अंधकार वाले कूएँ में गिर जाता था, वहां से निकल कर फिर कदली वनमें जाता, वहां से बाहर होते ही लतावन में वहा से फिर अंधकूप में वहा से कुसुमित वन में, वहा से फल वाले वन में इस प्रकार भ्रमण करता-करता वह अपने शरीर को मूसलों के प्रहारोंसे कूटता रहता। महात्मा ने जब इस प्रकार की इसकी स्थिति देखी तो उन्हें बड़ा ही अचरज हुआ। उसकी इस स्थिति को उन्होंने अपने लब्धिबल से स्थंभित कर दिया और उससे पूछा-तुँ कौन है और क्यों इस प्रकार की चेष्टाएँ करता है? तुझे क्या प्रिय है? महात्माकी इस बात को सुनकर उसने कहा कि मैं और कोई

શરીર ઉપર મુશળોના ફટકા લગાવતો પછી થોડા આગળ વધી જોર જોરથી હસતો અને ચંદ્રકિરણ સમાન શીતળ કેળોના વનમાં પ્રવેશ કરી ત્યાં આરામ કરવા લાગતો થોડો સમય વિશ્રાંતિ લઈ-શ્રમ રહિત બની ત્યાંથી બહાર નીકળી પૂર્વવત્ દોડા દોડ અને શરીર ઉપર મુશળના પ્રહારની પ્રવૃત્તિ, અંધકારવાળા કુવામાં પડવું, ફરી પાછો કેળોના વનમાં પ્રવેશ, ત્યાંથી લતા વનમાં, ત્યાંથી ફરી કુવામાં, ત્યાંથી નીકળી ફરી કેળોના વનમાં, આ પ્રકારે ભ્રમણ કરતો અને પોતાના શરીરને મુસળોથી મારતો આ સ્થિતિ જ્યારે મહાત્માએ જોઈ ત્યારે તેમને ભારે અચરજ થઈ, એની એ સ્થિતિને પોતાના લબ્ધિબળથી સ્થંભિત બનાવી દઈ મહાત્માએ તેને પૂછ્યું-તું કોણ છો અને આ પ્રકારની ચેષ્ટાઓ શા માટે કરે છે? તને શું પ્રિય છે? મહાત્માની વાત સાંભળી તેણે કે

यद्वा—आत्मा=बाह्येन्द्रिय दमितव्य एव बाह्येन्द्रिय पञ्चविध श्रोत्रचक्षुर्घ्राण रसनस्पर्शनभेदात्। बाह्येन्द्रियाणा दमनाकरणे आत्मनो विनाश. स्यात्। उक्तच—

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने के पहिले उसका आलोक-प्रकाश प्रसृत हो जाता है उसी प्रकार समस्त रूपादिक पदार्थोंको विषय करने वाला यह प्रतिभज्ञान, केवलज्ञानरूप सूर्य के उदित होने के पहिले उसकी प्रभा सरीखा प्रकट हो जाता है। जिससे यह बात निश्चित हो जाती है कि अब इस आत्मा में केवलज्ञान का उदय होनेवाला है। जब मनो-निग्रह का अभ्यास सर्वोत्कृष्ट अवस्था संपन्न हो जाता है तब उस समय आत्मा मे केवलज्ञान की उद्भूति हो जाती है। इसके समस्त पदार्थोंका स्पष्ट प्रतिभास होने लग जाता है। कोई भी रूपी अथवा अरूपी पदार्थ ऐसा नहीं बचता जो केवलज्ञान का विषय नहीं बनता हो। यह ज्ञान अनुपम है-ऐसा कोई और ज्ञान नहीं है-कि जिससे इसे उपमित किया जा सके। इसके द्वारा प्रकाशित पदार्थों में किसी भी प्रकार से बाधा नहीं आती है। इस प्रकार महात्मासे कहकर वह मन नामका पुरुष अन्तर्हित हो गया ॥

आत्मा शब्द का अर्थ बाह्य इन्द्रिया भी है। वे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण के भेद से ५ प्रकार की हैं। मोक्षाभिलाषी आत्मा

જ્ઞાનની અપેક્ષા રહેતી નથી જેમ સૂર્યનો ઉદય થયા પહેલા તેનો આવવાનો પ્રકાશ પ્રસાર પામે છે, ભાસ પ્રસ્તુત બને છે તે પ્રકારે સમસ્ત રૂપાદિક પદાર્થોનો વિષય કરવાવાળા આ પ્રાતિભ જ્ઞાન કેવળ જ્ઞાનરૂપ સૂર્યના ઉદય થતાં પહેલાં તેની પ્રભારૂપે પ્રગટ થાય છે જેથી એ વાત નિશ્ચય બને છે કે હવે આ આત્મામાં કેવલજ્ઞાનનો ઉદય થવાનો છે જ્યારે મનોનિગ્રહનો અભ્યાસ સર્વોત્કૃષ્ટ અવસ્થા સપન્ન બની જાય છે, ત્યારે તે સમય આત્મામાં કેવલજ્ઞાનની ઉદ્‌ભૂતિ થઈ જાય છે આથી સમસ્ત પદાર્થોનો સ્પષ્ટ પ્રતિભાસ થવા લાગી જાય છે કોઈ પણ રૂપી અથવા અરૂપી પદાર્થ એવો નથી બચતો જે કેવલજ્ઞાનનો વિષય ન બનતો હોય, આ જ્ઞાન અનુપમ છે એવુ બીજુ કોઈ જ્ઞાન નથી કે જેનાથી આને ઉપમિત કરી શકે તેના દ્વારા પ્રકાશિત પદાર્થોમાં કોઈ પણ પ્રકારની બાધા આવતી નથી આ પ્રકારે મહાત્માને કહીને તે મન નામનો પુરૂષ અતર્ધાન થઈ ગયો.

આત્મા શબ્દનો અર્થ બાહ્ય ઇન્દ્રિયો પણ છે, જે સ્પર્શન, રસના, ઘ્રાણ, ચક્ષુ, અને કાનના ભેદથી પાચ પ્રકારની છે મોક્ષાભિલાષી આત્મા એનુ દમન

तोपायाः वचनगोचरातीताः, निग्रहाभ्यासप्रकर्षपरिहितप्राणिगणसंवेदनयाऽगम्याः सिद्धिपदसपज्जनकाः सूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थविषया मनाक् समुल्लसत्स्फुटप्रतिभासा ज्ञानविशेषा उत्पद्यन्ते। ततः किंचिदूनात्यन्तप्रकर्ष निरपेक्षमत्यादिज्ञान प्रकर्षपर्यन्तोत्तरकालभाविकेवलज्ञानादधाक्तन सवितुरुदयात् प्राक् तदालोककल्पम् अशेषरूपादिवस्तुविशेष प्रातिभ ज्ञानमुदयते, पश्चात् सर्वोत्कृष्टप्रकर्षे सति सुस्पष्टप्रतिभाससकललोकालोकविषयमनुपममबाध्य केवलज्ञानमुत्पद्यत। एवमुक्त्वाऽसौ तिरोहितो जातः। तस्मादात्मैव दमनीय ।

का अभ्यास धीरे-धीरे प्रकर्ष अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब इस अभ्यास की प्रकर्षता की कृपा से उन्हें ज्ञानविशेषोंको प्राप्ति हो जाती है। इनसे वे शास्त्र प्रतिपादित उपायों का निरीक्षण किया करते हैं। उन ज्ञानविशेषों का कथन ऐसा तो नहीं है जो आपके समक्ष वचनों द्वारा कथित हो सके। यह बात तो वे ही जान सकते हैं जो इस अवस्था पर पहुँच चुके होते हैं। जिनकी आत्मा इस निग्रह के अभ्यास के प्रकर्ष से विहीन हैं भला वे इनके स्वाद को क्या जानें। ये ज्ञान विशेष सिद्धिपदरूपी सपति के जनक होते हैं। सूक्ष्म, सूक्ष्मतर भी पदार्थोंके ये निर्णायक होते हैं। इनसे जीवोंका कुछ-कुछ पदार्थोंका स्पष्ट प्रतिभास होने लग जाता है। जब मनोनिग्रह करनेका अभ्यास किञ्चित् न्यून अत्यत प्रकर्ष अवस्था तक पहुँच जाता है तब उस समय आत्मा में प्रातिभ नामका एक ज्ञानविशेष उत्पन्न होता है। यह ज्ञान केवलज्ञानसे पहिले होता है। इसमें मत्यादिक परोक्ष ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रहती है।

એવી પર પણ ચઢાવી હઉ છુ જ્યારે સાધુજનનો નિગ્રહ કરવાનો મને અભ્યાસ ધિરે ધિરે પ્રકર્ષ અવસ્થા પ્રાપ્ત થાય છે, ત્યારે આ અભ્યાસની પ્રકષતાની કૃપાથી તેને જ્ઞાન વિશેષોની પ્રાપ્તિ થઈ જાય છે, તેનાથી તે શાસ્ત્ર પ્રતિપાદિત ઉપાયોનુ નિરિક્ષણ કર્યા કરે છે એ જ્ઞાન વિશેષોનુ કથન એવુ તો નથી જે આપની સામે વચનથી કહી શકાય, તે વાત તો તેજ જાણી શકે છે જે આ અવસ્થાને પહોચેલ છે જેની આત્મા આ નિગ્રહના અભ્યાસના પ્રકષથી વિહિન છે આવા જીવ એ સ્વાદને ક્યાંથી જાણે. આ જ્ઞાન વિશેષ સિદ્ધિ પદરૂપી સ પત્તિના જનક હોય છે સૂક્ષ્મથી સૂક્ષ્મ પદાર્થોના પણ એ જાણકાર હોય છે એમનાથી જીવોને કોઈ કોઈ પદાથનો સ્પષ્ટ પ્રતિભાસ થવા લાગે છે મનો નિગ્રહ કરવાનો અભ્યાસ જ્યારે થોડા ઓછો અત્યત પ્રકર્ષ અવસ્થા સુધિ પહોચી જાય છે ત્યારે એ સમયે આત્મામાં પ્રાતિભ નામનુ એક જ્ઞાનવિશેષ ઉત્પન્ન થાય છે. આ જ્ઞાન કેવલ જ્ઞાનથી પહેલા થાય છે. તેમાં મત્યાદિ

अथ भावः—मनोनिग्रहेण पञ्चेन्द्रियनिग्रहेण चात्मा उपशमभावे नेतव्य इति भावः।

हु=निश्चयेन, खलु—यतः आत्मा दुर्दमः=दुर्जयः।

अत्रोदाहरणम्—

'अप्पा हु खलु दुद्दमो' इति भगवद्वचनं भद्राचार्यसन्निधौ श्रुत्वाऽऽत्मकल्याणसाधक उग्रवंशोत्पन्न उग्रनामा नृपः प्रव्रज्यां गृहीतवान्। स्वकल्याणार्थे मनो निग्रहीतुं प्रवृत्तः। किन्तु मनः पारदवत् परमचञ्चलम्, तेन तत्स्वायत्तं न जातम्, असौ मुनिव्रतधारी नृपश्चिन्तयति—अहो! एकेनापि कोपकटाक्षमात्रेण सर्वे जना ममाज्ञां शिरसि धृत्वा ममायत्ताः सन्तो मम चरणं शरणीकृत्य तिष्ठन्ति स्म। परन्तु

विषयों की ओर अर्थात् असंयम मार्ग में प्रवृत्ति करते हैं। संयमरूपी लगाम से सयमित करे जिससे उनकी असंयम में प्रवृत्ति रुक जाय। कहने का भाव यही है कि पाच इन्द्रिय एव मन इन छह को निगृहीत करने से आत्मा अपने उपशम भावमें स्थित होता है। अत इनके निग्रह करनेका प्रयत्न प्रत्येक मोक्षाभिलाषी आत्मा को करना चाहिये। "अप्पा हु खलु दुद्दमो" इस प्रभु कथित वचन को भद्राचार्य के पास सुनकर उग्रवंशीय उग्र नामका राजा दीक्षित हुए। उन्होंने हर तरह से अपने मन को निग्रह करने का खूब प्रयत्न किया, परन्तु पारे एव पवन के समान अति चचल होने से उसका वह निग्रह नहीं कर सके। उसी मुनिव्रतधारी राजा ने विचार किया—यह आश्चर्यकी बात है कि एक कोपकुटिल भ्रकुटीमात्र से भी समस्त मेरे प्रजाजन मेरी आज्ञाको शिर पर धारण कर लिया करते थे और चरण की शरण में आ जाते थे—परन्तु—यह

માર્ગમાં પ્રવૃતિ કરે છે એને સયમરૂપી લગામથી સયમિત બનાવે જેનાથી તેની અસયમની પ્રવૃતિ રોકાઈ જાય. મતલબ કહેવાનો એ છે કે, પાંચ ઇન્દ્રિય અને મન, આ છ ને નિગૃહીત કરવાથી આત્મા પોતાના ઉપશમ ભાવમા સ્થિત થાય છે આથી એનો નિગ્રહ કરવાનો પ્રયત્ન દરેક મોક્ષાભિલાષી આત્માએ કરવો જોઈએ "અપ્પાહુ ખલુ દુદ્દમો" આ પ્રભુએ કહેલા વચનને ભદ્રાચાર્યની પાસેથી સાભળીને ઉગ્રવંશીય ઉગ્ર નામના રાજા દીક્ષીત થયા તેઓએ દરેક પ્રકારે પોતાના મનનો નિગ્રહ કરવાનો ખુબ પ્રયત્ન કર્યો, પરન્તુ પવનના સમાન અતિ ચચળ હોવાથી તેનાથી નિગ્રહ કરી શકાયો નહીં એ મુનિવ્રતધારી રાજાએ વિચાર કર્યો—ઘણા આશ્ચર્યની વાત છે કે, એક કોપ કુટિલ ભ્રકુટી માત્રથી મારા સમસ્ત પ્રજાજનો મારી આજ્ઞાને માથા ઉપર ધારણ કરતા હતા અને ચરણના શરણમાં આવી જતા હતા પરન્તુ આ મન કેટલું બળવાળુ છે જે મારા વશમાં

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग,–
मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स न हन्यते किं,
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥ १ ॥

अन्यच्च—इन्द्रियाणां हि चरतां, विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्, विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ १ ॥

अयमर्थः –विद्वान्=तत्त्वज्ञः अपहारिषु=आकर्षकेषु=तत्तदिन्द्रियविषयेषु चरतां=गच्छताम् इन्द्रियाणां संयमे=संयमने यत्नम् आतिष्ठेत्=कुर्यात्, क इव ? इत्याह- वाजिनाम्=अश्वानां यन्तेव=सारथिरिवेति।

यदि इनका दमन नहीं करता है तो वह मुक्तिमार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता है और न साधक ही बन सकता है। इन्द्रियों का यदि दमन न किया जाय तो शास्त्रकारों ने यहा तक कह दिया है कि आत्मा का भी विनाश हो जाता है। कहा भी है–देखो–जब क्रमशः एक एक इन्द्रिय के विषय में लोलुप होने से कुरंग–हिरण, मातग–हस्ती, पतग, भ्रमर एवं मीन–मछली, ये प्राणी अपने प्राणों से रहित होते हैं तब जो मनुष्य पांचों इन्द्रियोंके विषय में लोलुप बनेगा क्या वह विनष्ट नहीं होगा? परंतु अवश्य विनष्ट होगा–दुर्गति को प्राप्त करेगा। अतः जिस प्रकार यन्ता–अश्वरोही–घुड़सवार–इच्छित मार्ग पर चलाने के लिये घोड़े को लगाम द्वारा अपने आधीन बना लेता है उसी प्रकार आत्महितैषी का कर्तव्य है कि वह भी इन इन्द्रियरूपी घोड़ों को कि जो अपने–अपने

ન કરે તો તે મુક્તિ માર્ગમાં પ્રવર્ત બની શકતો નથી. તેમજ સાધક પણ બની શકતો નથી ઇન્દ્રિયોનું જો દમન ન કરવામાં આવે તો શાસ્ત્રકારાએ ત્યાં સુધી કહેલુ છે કે, આત્માનો પણ વિનાશ થઈ જાય કહ્યું પણ છે–જુઓ–જ્યારે ક્રમથી એક એક ઇન્દ્રિયના વિષયમા લોલુપ હોવાથી કુરંગ–હરણુ, માતંગ–હાથી, પતંગ, ભ્રમર, તેમજ માછલી, આ પ્રાણી પોતાના પ્રાણોથી રહિત બને છે તો પછી માણુસ જ્યારે પાંચેય ઇન્દ્રિયોના વિષયમાં લોલુપ બની રહે તો તેનો નાશ ન થાય? ખરેખર નાશ થવાનો–દુર્ગતિને પ્રાપ્ત કરશે એથી જે રીતે ઘોડેસ્વાર ઇચ્છિત માર્ગ ઉપર ચલાવવા માટે ઘોડાને લગામ દ્વારા પોતાના આધિન બનાવી લે છે એજ પ્રકારે આત્મહિતૈષીનું કર્તવ્ય છે કે, તે પણ આ ઇન્દ્રિયરૂપી ઘોડાઓને કે જે પોત પોતાના વિષયોની તરફ અર્થાત અસંયમ

नियमयति, ततोऽपि नि:सृत पुनरुपशमभावे समारोहयति, ततोऽपि नि सृत दृष्ट्वा स चिन्तयति-अहो! मनो हि दुर्दमम् तदपि ज्ञानक्रियाभ्यां वशीकरिष्यामि, इति विचिन्त्य क्षपकश्रेण्यामारुह्य मनो निगृह्य शुक्लध्यानद्वितीयपादं समाप्य केवलज्ञान प्राप्तवान्। आत्मानं दाम्यन् अस्मिन् लोके परत्र च सुखी भवति।

अत्रोदाहरणम्—

एको धर्मघोषनामाऽऽचार्य शिष्यसहितो ग्रामानुग्राम विहरन् विस्मृतमार्गः पञ्चशतचौराधिष्ठितायां चौरपल्ल्यां गत। मार्गविस्मरणादेव चातुर्मास्यकरणार्थं

जब यह वहा भी नहीं ठहरा तो सूत्रार्थचिन्तनरूप ध्यान में लगा दिया। तब यह वहा सूत्रार्थ के चिन्तवन करने में लग गया। परंतु यह बहुत काल तक स्थित नहीं रह सका। तो फिर उसको उपशम भाव में लगाया। जिससे उसको शाति मिले, फिर भी यह स्थिर नहीं रहा और निकला तो मुनि विचारने लगे अहो! मन बड़ा ही दुर्दम है उसको ज्ञान एवं क्रिया में लगा दिया। ज्ञान क्रिया से इसको वश में करूँगा ऐसा निश्चित विचारकर क्षपक श्रेणी का आश्रयण किया, फिर मन स्थिर हो गया, और शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाद के अवलम्बन से केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया और सिद्धिपद पाये, तात्पर्य कहनेका यह है कि आत्मा को दमन करने वाला साधु इस लोक एवं परलोक में सुखी होता है।

धर्मघोष नाम के कोई एक आचार्य थे। वे शिष्यों सहित विहार करते हुए किसी दूसरे ग्राम को पधार रहे थे। चलते-चलते वे मार्ग

वहि જવાનો પ્રયત્ન કર્યો છે, રાજઋષિએ તુરતજ સ્વાધ્યાયમા નિરત કરી દીધુ જ્યારે તે ત્યાં પણ ન ટક્યુ ત્યારે સૂત્રાર્થ ચિંતનરૂપ ધ્યાનમા લગાવી દીધુ અને તે સૂત્રાર્થના ચિંતનમાં ત્યાં લાગી ગયા પરતુ ત્યા પણ તે લાંબો સમય સ્થિર ન રહી શક્યા. આ પછી ઉપશમ ભાવમાં લગાવવામાં આવતા જેમાંથી શાંતિ મળે છતાં પણ એ સ્થિર ન રહ્યુ ત્યારે મુનિ વીચારવા લાગ્યા કે, મન બહુજ ચચળ છે તેને જ્ઞાન વગેરેની ક્રિયામા લગાડવામા આવ્યુ, જ્ઞાનક્રિયાથી તેને વશ કરીશ એવો નિશ્ચિત વિચાર કરી ક્ષપક શ્રેણીનો આશ્રય લીધો, પછી મન સ્થિર થયુ અને શુકલ ધ્યાનના બીજા પદના અવલબનથી કેવલજ્ઞાનને પ્રાપ્ત કર્યું અને સિદ્ધીપદ પામ્યા. તાત્પર્ય કહેવાનુ એ છે કે, આત્માને દમન કરવાવાળા સાધુ આ લોક અને પરલોકમાં સુખી થાય છે આને ઉદાહરણ દ્વારા સમર્થન કરવામા આવે છે—

ધર્મઘોષ નામના કોઈ એક આચાર્ય હતા, તે શિષ્યો સહિત વિહાર કરીને કોઇ ગામે જઈ રહ્યા હતા, ચાલતાં ચાલતાં તે માર્ગ ભુલી ગયા અને

इदमेकमेव मनः शतधा मां नर्तयति, अहं जातिसम्पन्नः कुलसम्पन्न उग्रवंशीयः क्षत्रियोऽस्मि, येन केनापि प्रकारेणातिचञ्चलमिदं मनः स्वायत्तीकरिष्यामि तपसा संयमेन वा स्वाध्यायध्यानादिना वा यथातथा मनः सुस्थिरं करिष्यामि, इति मनसि निश्चित्य समितिषु मनः संयोजयति, ततो निःसरति तदनु गुप्तिषु नियोजयति ततोऽपि निःसृतं स्वाध्याये, ततोऽपि निःसृतं सूत्रार्थचिन्तनलक्षणे ध्याने

मन कितना बलिष्ठ है जो मेरे वशमें नहीं आता है–उल्टा मुझे ही अनेक तरह से नचाता है। मैं जाति संपन्न हूं, कुल संपन्न हूं और उग्रवंशीय क्षत्रिय हूं, अतः मेरा कर्तव्य है कि इसका विजय करने के लिये मैं अपनी शक्ति का परिचय दूं। मैं कोई ऐसा वैसा व्यक्ति तो हूं नहीं जो इसके वश में पड जाउं। अतः जैसे भी हो सकेगा हर एक उपाय से चाहे यह कितना भी चंचल क्यों न हो इसे अपने अधीन बनाकर ही रहूंगा। यदि यह तप से वश में होना चाहेगा–तो तप करूँगा–संयम से वश में होना चाहेगा–तो संयम मार्ग अराधुंगा, यदि स्वाध्याय एवं ध्यान से वश में होना चाहेगा–तो स्वाध्याय, ध्यान करुंगा, परंतु इसे अब छोडूंगा नहीं। इस प्रकार दृढ प्रतिज्ञ होकर सर्वप्रथम उसने पांच समितियों के पालन करने में मनको नियुक्त किया, परन्तु यह तो बड़ा ही चंचल था, इसलिये ज्यों ही वहां से निकला की गुप्तियों में नियुक्त किया, फिर भी यह वहां कुछ ही देर ठहर कर जब इसने इधर उधर जानेका प्रयत्न किया कि राजऋषि ने शीघ्र ही स्वाध्याय में निरत कर दिया।

આવતું નથી ઉલટું મનેજ અનેક રીતે નચાવે છે હું જાતિ સંપન્ન છું, કુળ સંપન્ન છું, અને ઉગ્ર વંશિય ક્ષત્રિય છું આથી મારૂં કર્તવ્ય છે કે, એના ઉપર વિજય કરવા માટે હું મારી શક્તિનો પરિચય કરાવું હું કોઈ એવો નબળા મનનો માણસ નથી કે એના વશમાં પડી જાઉં આથી જેમ બને તેમ દરેક ઉપાયથી ચાહે તે કેટલું પણ ચંચળ કેમ ન હોય તેને મારા આધિન બનાવીને જ જંપીશ. જો તે તપથી વશ બનશે તો હું તપ કરીશ–સંયમથી વશ થશે તો સંયમ માર્ગનું આરાધન કરીશ, જો સ્વાધ્યાય અને ધ્યાનથી વશમાં આવશે તો સ્વાધ્યાય, ધ્યાન કરીશ પરંતુ આને હું છોડનાર નથી આ પ્રકારની દ્રઢ પ્રતિજ્ઞા લઈ સર્વ પ્રથમ તેણે પાંચ સમિતિઓનું પાલન કરવામાં મન પરોવ્યું પરંતુ મન તો ભારે ચંચળ હતું આ કારણે જેમ ત્યાંથી નિકળ્યું કે ગુપ્તિઓમાં નિયુક્ત થયું છતાં પણ તે ત્યાં થોડીવાર રહી જ્યારે તેણે અહિ

मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ॥
कुरुते मक्षिका वान्ति, कुष्ठरोग च कोलिकः ॥ १ ॥
कण्टको दारुखण्ड च, वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्निपतित,–स्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥ २ ॥
विलग्नस्तु गले वाल., स्वरभगाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशिभोजने ॥ ३ ॥
तथैव परलोकेऽपि, दुर्गतिर्जायते ध्रुवम् ।
तस्मात् रात्रौ न भुञ्जीत प्रोक्त भगवता सदा ॥ ४ ॥

लिये उनके पीछे २ गये। वहा आचार्य ने उन्हें रात्रिभोजन न करने का उपदेश दिया। उस समय में उन्हों ने बतलाया कि रात्रिभोजन में अनेक दोष हैं, क्यों कि सूर्यास्त हो जाने से उस समय अनेक सूक्ष्म जीवों का प्रचार और उत्पत्ति होती है तथा यदि भोजन में पिपीलिका–कीड़ी खाने में आ जावे तो खाने वाले की बुद्धि नष्ट हो जाती है। जू यदि भोजनमें खाने में आ जावे तो जलोदर नामका रोग हो जाता है। भोजनमें मक्षिका आ जानेसे वमन होता है, भोजनमें कौलिक करोळिया के खाने से कुष्ठरोग होता है, काटा तथा लकड़ी की फास से गले में घोर दु ख होता है, विछु खाने में आ जाय तो तालु का भेदन होता है, केश–खाने में आ जावे तो स्वर का भग होता है इत्यादि अनेक दोष रात्रिभोजन में है। तथा परलोक में रात्रिभोजन करने वाले को दुर्गति की प्राप्ति होती है। इसलिये किसी को रात्रिभोजन नहीं करना चाहिये।

महाराजने पहोंचाडवा तेमनी पाछळ पाछळ गया त्यां आचार्ये तेमने रात्री भोजन न करवानो उपदेश आप्यो, ते वखते तेमणे जणाव्यु के रात्री भोजनमा अनेक दोष छे केमके, सूर्यास्त थई जवाथी अनेक सूक्ष्म जीवोनो प्रचार अने उत्पत्ति थाय छे अने भोजनमा जो पीपीलीका–कीडी खावामां आवी जाय तो बुद्धिनो नाश थाय छे जु वगेरे जो खावामां आवी जाय तो जळोदर नामनो रोग थाय छे, माखी आवी जवाथी उलटी थाय छे, जो करोळीयो खावामा आवी जाय तो कोढ थाय छे, कांटा तेमज लाकडांनी फांस जेवुं खावामा आवी जाय तो गळामां अटकाई जाय छे अने बहु दुःख थाय छे, विंछी जो खावामा आवी जाय तो ताळवु तोडी नाखे छे, भोवाळो खावामां आवी जाय तो स्वरनो भग थाय छे ईत्यादि अनेक दोष रात्री भोजनमां छे अने रात्री भोजन करनारने दुर्गतिनी प्राप्ति थाय छे आ माटे कोईए रात्री भोजन न करवु.

निश्चितस्थानं गन्तुमक्षमो भूत्वा चौरपल्ल्यामेव चातुर्मास्येऽवस्थातुं चौरपल्लीनायकमुपाश्रयं याचितवान् चौरपल्लीनायकेन प्रोक्तम्-अत्र भवता देशना न कर्तव्या, सर्वे वयं तस्करवृत्तिजीविनः। मुनिना तद्वचनं स्वीकृत्य स्वाध्यायध्यानादिना चातुर्मास्यं यापितम्। चातुर्मास्यावसाने विहारसमये सर्वे तस्कराः किंचिद्दूरं मुनिमनुगताः तदा मुनिना तेभ्यो रात्रिभोजनप्रतिषेधरूपा देशना दत्ता। तथा चोक्तम्-

भूल गये और चोरोंकी पल्ली में जा पहुंचे। यहां ५०० चोर रहते थे, चौमासे का समय बिलकुल नजदीक आ पहुंचा था। इतना समय था नहीं कि किसी और दूसरे स्थान पर वहां से चलकर चौमासे में रहने का निश्चय किया जा सके। अतः आचार्यने वहीं पर चतुर्मास व्यतीत करने के अभिप्राय से चोरों के नायकसे चतुर्मास में ठहरने के लिये उपाश्रयकी याचना की। आचार्यकी बात सुनकर पल्लीपति ने उनसे कहा कि आप यहां ठहरें-हमें इसमें कुछ हरकत नहीं है परंतु आप यहां धार्मिक उपदेश देने का कष्ट न करें। कारण कि हम सब यहां के निवासी चोरी करके अपना निर्वाह करते हैं कहीं ऐसा न हो कि आपकी देशना से हमारा व्यापार बदाबद हो जाय। आचार्य ने उसकी बात मान ली और स्वाध्याय एवं ध्यान से वहीं पर रहते हुए अपना चौमासे का समय व्यतीत किया। जब विहार करने का समय आया तो उस वख्त सब चोर मिलकर आचार्य को पहुंचाने के लिए इकट्ठे हुए और कुछ दूर तक सब के सब आचार्य महाराज को पहुंचाने के

ચોરોના નેસડામાં જઈ પહોંચ્યા ત્યાં ૫૦૦ ચોર રહેતા હતા, ચોમાસાનો સમય નજીક આવી રહ્યો હતો, એટલો સમય ન હતો કે ત્યાંથી બીજા સ્થાને પહોંચીને ત્યાં ચોમાસામાં રહેવાનો નિશ્ચય કરી શકાય. આથી આચાર્યે એ સ્થાન ઉપર ચતુર્માસ વ્યતિત કરવાના અભિપ્રાયથી ચોરોના નાયકથી ચતુર્માસ રોકાવા માટે આશ્રય સ્થાનની યાચના કરી. આચાર્યની વાત સાંભળી ચોરોના નાયકે કહ્યું કે ભલે આપ અહિં રહો અમને એમાં કાંઈ વાંધો નથી પરંતુ આપ અહિં ધાર્મિક ઉપદેશ આપવાનો વિચાર ન રાખશો કારણ કે અમે સઘળા અહિંના નિવાસી ચોરી કરીને પોતાનો નિર્વાહ કરીએ છીએ. કદાચ એવું ન બને કે આપના ઉપદેશથી અમારો ધંધો બંધ થઈ જાય, આચાર્યે તેની વાત માની લીધી અને સ્વાધ્યાય અને ધ્યાનથી ત્યાં રહીને પોતાનો ચોમાસાનો સમય વ્યતિત કર્યો જ્યારે વિહાર કરવાનો સમય આવ્યો ત્યારે બધા ચોરોએ મળી આચાર્યને પહોંચાડવા માટે એકઠા થયા અને થોડે દૂર સુધી આ બધા

निर्विषा। पाकप्रवृत्ता अपि एवमेव विचार्य स्वभोजनार्थमर्धं मांस पृथक् निधाय अर्धं मांस विषमिश्रित कृतवन्त । सर्वे भोजनार्थमुपस्थिता पल्लीनायक भोक्तवन्त"। पल्लीपतिनोक्तम्—इदानीं रात्रि॰ सजाता, मया रात्रिभोजनस्य प्रत्याख्यान कृतम्, सर्वैर्भुज्यताम्, तत॰ पल्लीनायकाज्ञया सर्वे चौरा भोक्तुमुपविष्टा । तत्र सार्धद्वय-सख्यकाश्चोरा सविषमदिरापानेन मृता, अन्ये सार्धद्वयसख्यका सविष मासभक्षणेन मृता । एतत् सर्वं दृष्ट्वा पल्लीनायकेन मनसि चिन्तितम्—

से आधी मदिरा में विष मिला दिया जाय। ऐसा विचार कर उन्होंने आधी मदिरा में विष मिला दिया और आधी मदिरा अपने लिये विना विष की अलग रख ली। उधर जो मास आदि पकाने में लगे हुए थे उन्होंने भी यही विचार किया और जैसा काम इन लोगोंने किया वैसा ही उन्हों ने किया-अर्थात् उन लोगों ने भी आधे भोजन में विष मिला दिया और आधा भोजन अपने लिये विना विष का अलग रख लिया। जब सब भोजन के लिये बैठने लगे तब सब ने पल्लीपति को भोजन करने के लिये बुलाया। परतु पल्लीपति ने उस समय भोजन करने से यह कह कर मना कर दिया कि देखो भाईयों इस समय रात्रि हो चुकी है—मैं ने रात्रिभोजन का त्याग किया है, अतः आप लोग ही इस समय भोजन करें। पल्लीपति की इस प्रकार आज्ञा प्राप्त कर वे सब के सब भोजन करने के लिये बैठ गये। उनमें आधे तो विष मिश्रित मदिरा के पान करने से मर गये और आधे विषमिश्रित मांस के खाने से मर गये। इस प्रकार सर्व विनाश देखकर पल्लीपति ने मन में विचार

આવે એવો વિચાર કરી તેઓએ અરધા દારૂમા વિષ મેળવી દીધુ અને અરધો દારૂ પોતાના માટે અલગ રાખ્યો. અહિં, પણ જે માંસ વગેરે પકાવવામા લાગેલ હતા તેમણે પણ એવો વિચાર કર્યો જેવુ કામ આ લોકોએ કર્યું અર્થાત્ એ લોકોએ પણ અરધા ભોજનમા વિષ મેળવી દીધુ અને અરધુ પોતાના માટે અલગ રાખી લીધુ જ્યારે બધા જમવા માટે બેસવા માંડયા ત્યારે બધાએ તેના આગેવાનને જમવા માટે બોલાવ્યા પરતુ આગેવાને એમ કહી ના કહી કે જુઓ ભાઈ ઓ આ સમયે રાત્રીનો સમય થઈ ચુકયો છે મે રાત્રી ભોજનનો ત્યાગ કરેલ છે આથી આપ લોકોજ જમી લ્યો આગેવાનની આ પ્રકારે આજ્ઞા મળતા તે બધા જમવા માટે બેસી ગયા, અને અરધા તો વિષ મેળવેલ દારૂનુ પાન કરવાથી મરી ગયા અને અરધા વિષ મિશ્રીત માસના ખાવાથી મરી ગયા. આ પ્રકારે સર્વ વિનાશ જોઇને આગેવાને મનમાં વિચાર કર્યો કે

देशनां श्रुत्वा तेषु केवलमेकेन पल्लीपतिना रात्रिभोजनप्रत्याख्यानं कृतम्। एकदा पञ्चशतसंख्यकैश्चौरैः सह पल्लीपतिः स्तेयं कर्तुं गतः। एकस्या नगर्या बहुतरं धनं चौर्येण प्राप्य, तदुपादाय ते सर्वे महारण्ये समागत्य तत्र सर्वे संस्थिताः। तत्र तन्नायकेन कथितम्—अत्र भुज्यतां सर्वैः, तदा सार्धद्वयशतसंख्यकाः पाककरणार्थं प्रवृत्ताः, सार्धद्वयशतसंख्यकाश्च सुरादिकमानेतुं समीपस्थं ग्रामं गताः। मदिरादिकमानेतुं प्रवृत्तैस्तैश्चिन्तितम्—चौर्येणोपार्जितं सर्वं धनमस्माकं भविष्यति, यद्यर्धमदिरा विषमिश्रिता नीयते। एवं विचिन्त्यार्धमदिरा विषमिश्रिता तैरानीता, अर्धा तु स्वार्थं

आचार्य महाराज की इस प्रकार की धर्मदेशना सुनकर उनमें से केवल एक पल्लीपति ने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया। एक समय की बात है कि यह पल्लीपति उन पाचसौ चोरों के साथ चोरी करने के लिये बाहर गया। किसी एक नगर में चोरी करने से उन्हें बहुत सा द्रव्य मिला। उसे लेकर वे सब के सब वहा से चल दिये और किसी एक जगल में आकर ठहर गये। पल्लीपति ने सब से कहा कि अब सब लोग भोजन की तैयारी करो। पल्लीपति के इस आदेश को पाकर उनमें से आधे अर्थात् अढाईसौ चौर तो भोजन करने की तैयारी में लग गये और अढाइसौ चौर सुरा मदिरा आदि को लेने के लिये पास के गावों में गये। मदिरादिक लानेके लिये गये हुए इन व्यक्तियों ने मनमें विचार किया कि चोरी में जितना भी द्रव्य हाथ लगा है वह सब का सब हम सब लोगों को ही मिल जावे तो बहुत ही उत्तम बात है, इसलिये ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जो लोग भोजन बना रहे हैं वे सब के सब मर जायें—अतः उन्हें मारने की तरकीब एक यही है कि इस मदिरा में

આચાર્ય મહારાજની આ પ્રકારની ધર્મ દેશના સાંભળીને તેમાંથી ફક્ત એક ચોરના આગેવાને રાત્રી ભોજનનો ત્યાગ કર્યો. એક વખતે તે ચોરનો આગેવાન એ પાચસો ચોરોની સાથે ચોરી કરવા માટે બહાર ગયો, કોઈ એક નગરમાં ચોરી કરવાથી તેને ઘણું દ્રવ્ય મળ્યું એને લઈ તે બધા ત્યાંથી ચાલતા થયા અને કોઈ એક જગલમાં પહોંચી ત્યા રોકાયા ચોરના આગેવાને બધાને ભોજનની તૈયારી કરવાનુ કહ્યું તેના આદેશને સાંભળી અરધ જેટલા ચોર તો ભોજનની તૈયારીમાં લાગી ગયા અને અરધા દારૂ વિગેરે લેવા માટે પાસેના ગામમા ગયા, દારૂ વિગેરે લેવા ગયેલા એ ચોરોએ મનમાં વિચાર કર્યો કે, ચોરીમા મળેલું સઘળું દ્રવ્ય બધુ અમને મળી જાય તો ઘણું સારૂ થાય આ માટે એવો પ્રયત્ન કરવો જોઈએ કે જે લોકો ભોજન બનાવે છે તે બધા મરી જાય તેમને મારવાની તરકીબ કેવળ એક જ છે કે આ દારૂમાંના અરધા દારૂમાં વિષ

लक्षणेन सप्तदशविधेन, तपसा अनशनादिद्वादशविधेन च दान्तः=वशीकृतः स्यात् तर्हि वर=श्रेय शोभन भवेदित्यर्थः, सयमो हि आस्रवनिरोध जनयति, क्षपकश्रेणि समारोहयति, कर्म निर्जरयति केवलज्ञानमुत्पादयति, शैलेश्यवस्थां प्रापयति सिद्धावस्था प्रकटयति। तपश्च रागद्वेषादिदोपमलिनात्मससंशोधकं, तेजोलेश्यादिविविधलब्धिजनक पूर्वसचितसकलकर्मदाहक नवकर्मानुत्पादकम्। पुनर्मनस्येव चिन्तयेत्—अहं परैः=अन्यैः बन्धनैः शृङ्खलादिभिः, वधैः=लगुडचपेटादिभि, दमितः=निगृहीतः-बद्ध्वा ताडयित्वा च स्वाधीनीकृत इत्यर्थ, मा भवेयम्।

अय भाव —यदाऽन्ये मम बन्धन ताडनैर्दमन करिष्यन्ति तदा मम श्रेयो नास्ति, परवशत्वात्, तथाहि—बधबन्धनैः परवशस्य मम चित्तसमाधि र्न सम्भवति तदभावे कर्मनिर्जराभाव, तदभावे दीर्घाध्वससारपरिभ्रमण भविष्यतीति।

एव मन का दमन करूँ यह सर्वोत्तम है। अगर ऐसा नहीं करूँ तो कदाचित् मुझे (बधणेहिं वहेहिं परेहिं दम्मं तो अह मा वर–बधनैः वधैः परै. दमित' अह मा वर) बधनों–शृंखला आदि के द्वारा बाधना रूप क्रियाओं से तथा वध–चपेटा आदि प्रहारों से जो मैं दूसरों के द्वारा दमित होऊँ। अथवा यदि मैं इन्द्रियो एवं मनका जो तप तथा सयम द्वारा दमन कर लूंगा तो यह इसलिये उत्तम है कि मैं भविष्य में अन्य व्यक्तियों द्वारा बधन एव वध से निगृहीत नहीं हो सकूंगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जब मुझे अन्यजन बधन एव ताडन आदि द्वारा निगृहीत करेंगे तो इसमें मेरी कोई भी भलाई नहीं है कारण कि यह अवस्थाएँ अनिच्छापूर्वक वश होने की वजह से सहन करनी पड़ती हैं। इसमें चित्त की समाधि तो होती नहीं है। चित्त में समता भावरूप

સયમ અને તપ દ્વારા જો હું આત્માનો–ઇન્દ્રિયો અને મનનુ દમન કરૂ એ સર્વોત્તમ છે જો તેમ ન કરૂ તો કદાચિત મને बधणेहिं वहेहिं परेहिं दम्मं तो अह मा वर–बधनैः वधैः परै दमित अह मा वर બધનો શ્રખલા આદિ દ્વારા બાંધવારૂપ ક્રિયાઓથી તથા વધ–ચપેટા આદિ પ્રહારોથી જો હું બીજાઓથી દમિત બનુ અથવા–જો હું ઇન્દ્રિયો અને મનનુ તપ તથા સયમ દ્વારા દમન કરી લઉ તો તે એ માટે ઉત્તમ છે કે હું ભવિષ્યમાં અન્ય વ્યક્તિઓ દ્વારા બધન અને વધથી નિગૃહીત નહી થઈ શકુ કહેવાનો મતલબ એ છે કે જ્યારે મને બીજા માણુસો બધન અથવા તાડન આદિ દ્વારા નિગૃહીત કરે તો આમાં મારી કોઈ પણ ભલાઈ નથી કારણ કે, આ અવસ્થાઓ અનિચ્છાએ પરવશ થવાને કારણે સહન કરવી પડે છે તેમા ચિત્તની સમાધી થતી નથી. ચિત્તમા

रात्रिभोजनप्रत्याख्यानेन रसनेन्द्रियमात्रदमनस्य फलमेतद् यन्मया जीवनं लब्धम्, यदि पुनः सर्वथाऽऽत्मदमनं कुर्यां तर्हि कथं न ध्रुवं नित्यमचलमव्याबाधं शिवसौख्यं लभेयम्। एवं विचिन्त्य चौरपल्लीनायकेन मुनिसमीपं गत्वा प्रव्रज्यां गृहीत्वा स्वात्मकल्याणं साधितम् ॥ १५ ॥

आत्मदमनार्थमेवं चिन्तयेदित्याह—

मूलम्—वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण यं।
मा'ऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि यं ॥ १६ ॥

छाया—वरं मे आत्मा दान्तः संयमेन तपसा च।
माऽहं परैर्दमितः बन्धनैर्वधैश्च ॥ १६ ॥

टीका—'वर मे०' इत्यादि।

मे=मया, आत्मा–मनोरूपः पञ्चेन्द्रियरूपश्च संयमेन=सावद्यानुष्ठानविरति

किया कि रात्रिभोजन त्याग करने का, जिसमें एक मात्र रसनेन्द्रिय का दमन किया जाता है, यह फल है जो मैं अकेला जीवित बच सका हूं। यदि सर्व प्रकार से मैं आत्मा–इन्द्रियों एवं मन का दमन करूँ तो क्यों नहीं ध्रुव, नित्य, अचल और अव्याबाध मुक्ति सुख का अधिकारी बनूं। इस प्रकार विचार कर उस पल्लीपति ने उसी समय मुनिकी पास जा कर दीक्षा धारण कर आत्मकल्याण के मार्ग का साधन करना प्रारंभ कर दिया ॥१५॥

आत्मा को दमन करने के लिये मोक्षाभिलाषी को इस प्रकार विचार करना चाहिये–'वरमे०' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(मे अप्पा संजमेण तवेण य दंतो वरं–संयमेन तपसा मया दान्तः वरं) संयम एवं तप के द्वारा जो मैं आत्मा का–इन्द्रियों

રાત્રી ભોજન ત્યાગ કરવાથી માત્ર એક રસનેન્દ્રિયનુ દમન કરવામાં આવે છે તેનુ આ ફળ છે જે હુ એકલો જીવતો રહી શકયો. જો હુ સર્વ પ્રકારથી આત્મા–ઇન્દ્રિયો અને મનનુ દમન કરૂ તો ધ્રુવ, નિત્ય, અચલ અને અવ્યાબાધ મુક્તિ સુખનો અધિકાર કેમ ન બનું? આ પ્રકારનો વિચાર કરી તે ચોરના આગેવાને એજ વખતે મુનિ પાસે જઇને દીક્ષા ધારણ કરી આત્મ કલ્યાણના માર્ગનુ સાધન કરવાનો પ્રારંભ કરી દીધો ॥ ૧૫ ॥

મોક્ષના અભિલાષીએ આ પ્રકારે આત્માનુ દમન કરવાનો વિચાર કરવો જોઇએ—વરમે૦ ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—મે અપ્પા સંજમેણ તવેણય દંતોવરં–સંયમેન તપસા મયા દાન્તઃ વરં

चिन्तयति, यदा कथमपि मे बालको भविष्यति तदाऽनेन हनिष्यते। ततः सा हस्तिनी यूथादपसरति, क्रमेण प्रहर प्रहरद्वयमन्तरितं कृत्वा यूथमध्ये मिलति, क्रमशः सा द्वितीये दिवसे यूथमध्ये गत्वा मिलति एवं कुर्वत्या तया प्रसवसमये समागते सति तापसाश्रमो दृष्टः, सा तत्राऽऽलीना गुप्तस्थाने प्रसूता, बालकः सजात। स बालकस्तत्र यथा तापसकुमारा घटादिभिरुद्यानगतान् वृक्षान् सिञ्चन्ति, तथा जलाशय गत्वा स्वशुण्डाया जल भृत्वा वृक्षान् सिञ्चति। ततस्तापसैस्तस्य

निवास करता था। वहा जितने भी नवीन बच्चे पैदा होते थे सब को मार डालता था। एक समय की बात है कि एक हस्तिनी गर्भवती हुई। गर्भावस्था में हस्तिनी ने विचार किया कि जब मेरी कुक्षि से बच्चा पैदा होगा तो यह निश्चय है कि यह दुरात्मा गज उसे विना मारे नहीं रहेगा, अत अच्छी अब यही है कि मैं इस यूथ से अलग ही होकर रहूं। ऐसा विचार कर यूथ से अलग रहने लगी–परन्तु यह अलग रहने का भेद प्रकट न हो जाय इस ख्याल से पहिले तो वह यूथ में एक २ दो २ प्रहर के बाद आती जाती रही, फिर १–१–२–२ दिन के बाद मिलती रही। इस प्रकार करते २ जब उसके प्रसव का समय नजदीक आ गया तो वह किसी तापस के आश्रम में जा पहुँची। वहा पर गुप्तस्थान में प्रच्छन्न होकर उसने बच्चे को जन्म दिया। बच्चा क्रमश बढने लगा। वहा पर जिस तरह तापस कुमार घडो में पानी भरकर उद्यान के वृक्षों को सींचा करते थे उसी प्रकार यह हाथी का बच्चा भी जलाशय से अपनी सूड में पानी भर कर उद्यान के वृक्षों

(હાથી) નિવાસ કરતો હતો. ત્યાં જેટલાં નવાં બચ્ચાં જન્મતાં હતાં તે બધાને તે મારી નાખતો. એક સમયની વાત છે એક હાથણી ગર્ભવતી થઈ, ગર્ભાવસ્થામાં હાથણીએ વિચાર કર્યો કે જ્યારે મને બચ્ચુ અવતરશે ત્યારે એ વાત નિશ્ચિત છે કે આ દુરાત્મા હાથી તેને મારી નાખ્યા વગર રહેશે નહી આથી સારૂ તો એ છે કે, આ જુથથી જુદા પડીને રહુ આવો વિચાર કરી તે જુથથી જુદી રહેવા લાગી પરંતુ અલગ રહેવાનો ભેદ પ્રગટ ન થઈ જાય એ માટે તે જુથમાં અવાર નવાર આવતી જતી અને ધીરે ધીરે એકેક દિવસ અને બબ્બે દિવસના અતરે આવતી જતી. આ પ્રકારે કરતાં કરતાં જ્યારે તેનો પ્રસવ સમય નજીક આવ્યો ત્યારે તે કોઈ તપસ્વીના આશ્રમમાં જઈ પહોંચી અને ત્યાં ગુપ્ત સ્થાનમાં પ્રચ્છન્ન-છુપાઈ ને બચ્ચાને જન્મ આપ્યો. બચ્ચુ મોટુ થવા માડયુ ત્યા જે રીતે તાપસ કુમાર ઘડામાં પાણી ભરીને ઉદ્યાનના વૃક્ષોને પાતા હતા તે રીતે આ હાથીનુ બચ્ચુ પણ જળાશયથી પોતાની સુઢમાં પાણી ભરીને

अत्र दृष्टान्तः सेचनकहस्ती यथा—

एकस्यामटव्यां बहुतरहस्तिनीभिः सह महागजो निवसन्नासीत् । स च जातं जातं करिशावकं विनाशयति । एकदा तत्रैका हस्तिनी सगर्भा जाता, सा चैवं

समाधि की प्राप्ति नहीं होगी–यह भी निश्चित है कि कर्म की निर्जरा नहीं होगी । कर्म की निर्जरा के अभाव में इस अनन्तससार का परिभ्रमण भी नहीं रुक सकता है । १७ प्रकार के सयम से एव १२ प्रकार के अनशन आदि तप से जो मै आत्मा का दमन कर लूगा उससे मेरा एकान्त हित होगा । कारण कि सयम से ही आस्रव का निरोध होता है । इसकी सहायता से ही आत्मा क्षपकश्रेणी पर आरूढ होता है । अनन्तगुणी कर्मों की निर्जरा इसके ही सद्भाव से होती है । केवलज्ञान की प्राप्ति जीव को इसी के बल पर होती है । शैलेशी अवस्था का लाभ एवं सिद्धावस्था की प्रकटता इसी तप सयम से मिलती है । रागद्वेष आदि से मलिन आत्मा का शोधन तप से होता है । तेजोलेश्या आदि विविध लब्धियों का जनक तथा पूर्व में सचित समस्त कर्मों का नाशक एवं नवीन कर्मों का आगमन का निरोधक तप होता है । अतः इस अवस्था में एकान्ततः आत्मा का हित भरा हुआ है ।

अब सेचनकहस्ती के दृष्टान्त से इस विषय को स्पष्ट करते हैं—

किसी एक अटवीमें अनेक हस्तिनीके साथ एक मदोन्मत्त महागज

સમતાભાવરૂપ સમાધીની પ્રાપ્તિ થશે નહીં આ પણ નિશ્ચીત છે કે, કર્મની નિર્જરા પણ થશે નહીં કર્મની નિર્જરાના અભાવમાં આ અનત સસારનુ પરિભ્રમણ પણ રોકી શકાવાનુ નથી ૧૭ પ્રકારના સયમથી અને ૧૨ પ્રકારના અનશન આદિ તપથી જો હુ આત્માનું દમન કરી લઉ તો તેનાથી મારૂ એકાન્ત હિત થશે કારણ કે, સયમથી જ આશ્રવનો નિરોધ થાય છે, તેની સહાયતાથી જ આત્મા ક્ષપક શ્રેણીએ પહોચે છે અનતગુણી કર્મોની નિર્જરા એનાજ સદ્ભાવથી થાય છે કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ જીવને એના જ બળથી મળે છે શૈલેશી અવસ્થાનો લાભ તેમજ સિદ્ધઅવસ્થાની પ્રગટતા એજ તપ સયમથી મળે છે રાગદ્વેશ આદિથી મલીન આત્માનું શોધન તપથી થાય છે તેજો લેશ્યા આદિ વિવિધ લબ્ધિઓના જનક તથા પૂર્વના સચિત સમસ્ત કર્મોનો નાશ કરનાર અને નવીન કર્મોને રોકનાર તપ હોય છે આથી આ અવસ્થામા એકાન્તત આત્માનું હિત સમાયેલું છે.

(સેચનક હાથીના દ્રષ્ટાંતથી સૂત્રકાર આ વિષયને સ્પષ્ટ કરે છે)

કોઇ એક વનમાં અનેક હાથણીઓની સાથે એક મદોન્મત્ત

आलानस्तम्भे लोहशृङ्खलाभिः स निबद्ध'। तापसास्तत्रागत्य सेचनकं भर्त्सयन्ति-अरे गजराज! अधुना क्व ते पराक्रम, अविनयस्य फलमिदानीं लब्धम्। एतद्वचन श्रुत्वा सेचनक. क्रुद्धः स्तम्भं भक्त्वा पुनर्वनं प्रविष्टस्तेषामावासभूमौ वृक्षान् विध्वंसितवान्। पुन. श्रेणिक सेचनक गज निगृहीतु तद्वन गत.। अत्रान्तरे पूर्वभव मित्रदेवेन सेचनकसमीपमागत्य प्रोक्तम्-हे वत्स! परेभ्यो दमनात् स्वय दमन वरम्, ततस्तद्वच श्रुत्वाऽसौ स्वयमागत्यालानस्तम्भनिकटे स्थित।

रहा है। हमारे आश्रम का समस्त वन उसने नष्ट भ्रष्ट कर दिया है। तापसों की इस प्रकार बात सुनकर श्रेणिक ने बड़ी सेना के साथ वन में जाकर उस सेचनक हाथी को पकड़ लिया। और उसे लाकर आलानस्तंभ में लोहे की साकलों से बाध दिया। तापस आकर अब उसे भर्त्सित करने लगे। कहने लगे-अरे! सेचनक गजराज! कह अब वह तेरा पराक्रम कहा चला गया, देख तेरी कैसी दुर्दशा हुई है। समझ यह अविनय करने का फल है, जिसे तू भोग रहा है। तापसों के इस प्रकार भर्त्सना भरे वचनों को सुनकर सेचनक को बहुत ही क्रोध आया और उस आवेश में आलानस्तभ को तोड़ मरोड़ कर वह सीधा बन में जा पहुँचा। वहा पहुँचकर उसने पहिले की तरह ही उनकी आवासभूमि के वृक्षों का विध्वस करना प्रारंभ कर दिया। राजा श्रेणिक पुन उसे पकड़ने के लिये वन में आये। इतने में पूर्वभव के मित्र देवने आकर सेचनक से कहा-जो तुम बार २ दूसरों के द्वारा दमित किये जाते हो-उसकी अपेक्षा तो यही अच्छा है कि तुम अपने आपको

આશ્રમનાં સઘળાં વૃક્ષોનો એણે નાશ કરી નાખ્યો છે તાપસોની વાત સાંભળી શ્રેણિક રાજાએ ભારે સેના સાથે વનમાં જઈ એ સેચનક હાથીને પકડી લીધો અને તેને રાજધાનીમા લાવી એક ખૂબ મજબૂત સ્તભ સાથે લોઢાની સાંકળોથી બાંધી દીધો તાપસોએ આ સમયે તેની સામે જઈ તેની મશ્કરી શરૂ કરી અને કહેવા લાગ્યા-અહો! સેચનક ગજરાજ કહો હવે તમારૂ પરાક્રમ ક્યાં ચાલ્યુ ગયુ? ને તારી કેવી દુર્દશા થઈ? અવિનયનુ આ ફળ છે, જે તુ ભોગવી રહેલ છે તાપસોનુ આ કહેવાનુ સાંભળી સેચનકને ખૂબ જ ક્રોધ આવ્યો અને તે જબરજસ્ત એવા સ્તભને તોડી નાખી લોઢાની સાંકળોને ફગાવી દઈ વનમાં જઈ પહોંચ્યો. ત્યા પહોંચીને ચારે બાજુથી વનના વૃક્ષોનો વિચ્છેદ કરવાનુ શરૂ કરી દીધુ રાજા શ્રેણિક ફરી તેને પકડવા માટે વનમા પહોચ્યા આ સમયે સેચનકના પૂર્વભવના મિત્ર દેવે આવી સેચનકને કહ્યુ-તમે બીજા દ્વારા ઘડી ઘડી હેરાન થાવ છો-આથી સારૂ તો એ છે કે તમે તમારી જાતે પોતાનુ દમન કરો.

'सेचनक' इति नाम कृतम्। स सेचनकस्तापसबालकानां वयस्यो जातः। कदाचिद् भ्रमन्तं यूथाधिपतिं दृष्ट्वा सेचनकस्तं मारितवान्। स्वयं यूथाधिपतिर्जातः। स च तापसाश्रमे वृक्षाणां विध्वंसनं कृतवान्, काऽप्यन्या मन्मातेव प्रच्छन्ना मा तिष्ठतु इति विचारितवांश्च। ततस्ते तापसा रुष्टाः पुष्पफलपूर्णहस्ताः श्रेणिकनृपस्य समीपं गत्वा तमब्रुवन्-एकः सेचनकनामाहस्ती वने तिष्ठति, स चास्माकं वासस्थाने वनं विनाशयति। ततः श्रेणिकेन महत्या सेनया सह वनं गत्वा सेचनकं निगृह्य

को सींचने का काम करने लगा। सिंचनरूप कार्य को करने से तापसों ने इसका नाम "सेचनक" रख दिया। तापस बालक इस पर बड़े प्रसन्न रहा करते, अतः उन सबके साथ यह खूब हिलमिल कर रहने लगा, यहां तक कि उनके साथ इसकी पूर्ण मित्रता हो गई। जब यह खूब बलिष्ट हो चुका-तो एक समय की बात है कि उसने अवसर पाकर यूथाधिपति हाथी को घूमते समय जान से मार दिया और स्वयं यूथ का अधिपति हो गया। इसने ऐसा विचार किया कि मेरी माता के समान कोई भी हथिनी छुप कर न बच्चा उत्पन्न करे और न छुप कर ही रहे, इस अभिप्राय से इसने आश्रम के समस्त वृक्ष उखाड़ डाले। इसके इस प्रकार के कार्य से तापस लोग रुष्ट हो गये। वे सब के सब पुष्प फलादिकरूप भेट लेकर राजा श्रेणिक के पास पहुँचे। वहां पहुँचकर उन्हों ने राजा को अपनी सारी कथा सुनाई। कहा महाराज! एक सेचनक नामक हस्ती वनमें रहता है वह बहुत ही उपद्रव कर

ઉદ્યાનના વૃક્ષોને પાણી પાવાનું કામ કરવા લાગ્યુ, તાપસોએ આ પ્રકારનું કામ કરવાથી તે હાથી બાળકનું નામ 'સેચનક' રાખ્યુ તાપસ બાળક તેના પર ખૂબ પ્રસન્ન રહ્યા કરતા, એથી તે એમની સાથે ખૂબ હળી મળીને રહેવા લાગ્યુ, તે ત્યાં સુધી કે એમની સાથે તેની પૂર્ણ મિત્રતા થઈ ગઈ જ્યારે તે હાથી બચ્ચુ ખૂબ બળવાન બન્યું ત્યારે એક સમયે તે સશક્ત અને બળવાન બનેલા હાથી બાળે મહાબળવાન અને ઘાતક એવા હાથી યુથપતિને અવસર મેળવી જીવથી મારી નાખ્યો અને પોતે યુથપતિ બન્યો. તેણે વિચાર કર્યો કે મારી માતાની માફક કોઈ પણ હાથણી છુપાઈને બચ્ચાને જન્મ ન આપે અને ન તો છુપાઈને રહે. આ અભિપ્રાયથી તેણે આશ્રમનાં બધાં વૃક્ષોને જડમુળથી ઉખેડી નાખ્યાં. હાથીના આ પ્રકારના કાર્યથી તપસ્વીઓના દિલમાં ભારે દુ:ખ થયુ અને તેઓ પુષ્પ ફળ વગેરે ભેટ લઈ રાજા શ્રેણિકની પાસે પહોચ્યા અને ત્યા જઈ રાજાને બધી વાત કહી સભળાવી અને કહ્યુ, મહારાજ! સેચનક નામનો એક હાથી વનમાં રહે છે તે ખૂબ ઉપદ્રવ કરે છે, અમારા

समागता' मजा संमिलन्ति। तस्य भाज्यराज्यसुखं, प्रतिदिवसं नवनवमिव यौवनम्, नवनीतमिव शिरीषकुसुममिव सुकुमारं शरीरम्, नयनलोभकरं रूपलावण्यम्, सर्वत्रा व्याहतगतिकं यानम्, दिङ्मण्डलविजयिनी चतुरङ्गिणी सेना, शीतलसुगन्धमन्दमारुतमनोविनोदनं, नन्दनवनमिव सर्वर्तुसुखदं रमणीयमुद्यानम्, चन्द्रमण्डलाद्धीरणगगनस्पर्शिधवलप्रासादाः, सर्वे कामभोगा अनुकूला आसन्। असौ दोगुन्दुकदेव इव सर्वं सुखमनुभवन्नास्ते। तत्रैकदा धर्मचन्द्रनामक आचार्यः शिष्यगणपरि-

राज्य का उसे अधिक से अधिक सुख था। यौवन भी इसका प्रति दिन नवीन नवीन रूप में खिलता रहता था। शरीर इसका नवनीत एवं शिरीष पुष्प से भी अधिक सुकुमार था। रूप लावण्य नयनों को लुभावे ऐसे थे इसे कहीं पर भी चले जाने में कोई रुकावट नहीं होती थी। इसकी चतुरंगिणी सेना दिङ्मडल को विजय करने वाली थी। इसके एक रमणीय उद्यान था जो नन्दनवन के समान समस्त ऋतुओं में सुखदायक था। जिसमें शीतल, मंद एवं सुगंधित पवन बहा करता था उससे मन का अच्छा विनोद होता था। जिस महल में राजा का निवास था वह चंद्रमडल से भी रमणीय था तथा इतना ऊँचा था कि आकाश को जैसे स्पर्श करता हो। समस्त कामभोग इसके अनुकूल थे। दोगुन्दक देव की तरह यह समस्त प्रकार के सुखों को भोगता हुआ अपना समय निश्चितरूप से व्यतीत करते थे। इतने में एक दिन की बात है ग्रामानुग्राम विचरते हुए धर्मचन्द्र नामके आचार्य

દિશાઓમાંથી લોકો દોડીને આવતા હતા રાજ્યનું એમને સારૂ એવું સુખ હતું, યૌવન પણ એમનું પ્રતિદિન અવનવીન રીતે ખીલતું રહેતું હતું, શરીર એમનું નવનીત (માખણ) અને શિરીષ પુષ્પથી પણ અધિક સુકુમાર હતું, રૂપ લાવણ્ય નયનોને લોભાવે તેવું હતું, કોઈ પણ સ્થળે જવામાં એને કોઈ રૂકાવટ ન હતી, એમની ચતુરંગિણી સેના દિગ્મંડળનો વિજય કરનાર હતી, એમનું એક સુંદર એવું ઉદ્યાન હતું જે નન્દનવન સમાન દરેક ઋતુમાં સુખ આપનાર હતું જેમાં શીતળ, મંદ, અને સુગંધિત પવન વહ્યા કરતો હતો, જેથી મનને સારો આનંદ મળતો જે મહેલમાં રાજાનો નિવાસ હતો તે ચંદ્રમંડળથી પણ રમણિય હતો અને તે એટલો ઉંચો હતો કે જે આકાશને અડીને રહેલો હોય એમ લાગતું બધા કામભોગ એને અનુકૂળ હતા. દોગુન્દક દેવની માફક એ સમસ્ત પ્રકારના સુખોને ભોગવતા પોતાનો સમય નિશ્ચીત રીતે વ્યતિત કરતા હતા આમાં એક દિવસની વાત છે કે ગ્રામાનુગ્રામ વિચરતા ધર્મચંદ્ર

स्वयमागत स्तम्भसमीपे त्रिचरणेनावस्थित सेचनक दृष्ट्वा श्रेणिकनृपस्तं मिष्टाहारैः स्वर्णभूषणैः करस्पर्शादिभिश्च नितरां लालयति स्म। एवं सेचनकहस्तिवत् स्वयमात्मनो दमनेन लोके सर्वत्रादरं लभमानः सुखी भवति। तथैव परलोकेऽपि सुखी भवति ' तत्रोदाहरणम्—

अष्टमतीर्थंकरस्य श्रीचन्द्रप्रभस्य शासने चन्द्रपुरीनगर्यां तद्वंशपरंपरायां सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत्। स चैव पूर्वोपार्जितपुण्यराशिरासीत्-येन तस्य दर्शनात् प्रजानामिष्टलाभो भवति, अतस्तद्दर्शनार्थमनुदिवस तत्र चतसृभ्यो दिग्भ्य

दमन करो। देव के इस प्रकार वचन सुनकर सेचनक आलानस्तम्भ के पास स्वयं आ कर खड़ा हो गया। राजा सेचनकको आलानस्तम्भके पास खड़ा देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने मिष्ट आहार से तथा स्वर्ण के आभूषणों से उसका खूब सत्कार किया। बारबार उसके ऊपर हाथ फेरा और पुचकारा। मतलब कहने का यही है कि जो व्यक्ति सेचनक हाथी की तरह अपना स्वयं दमन करता है वह सर्वत्र आदरणीय बन कर इस लोक में खूब सुखी हो जाता है। तथा परलोक में आनंदका भोक्ता बनता है, इस विषय में उदाहरण इस प्रकार है—

अष्टमतीर्थंकर श्री चंद्रप्रभु स्वामी के शासन में चंद्रपुरी नाम की नगरी में सुदर्शन नामका एक राजा थे। यह चंद्रप्रभुस्वामी की वंशपरंपरा में ही उत्पन्न हुए थे। उसकी पूर्वोपार्जितपुण्यराशि इतनी प्रबल थी कि जो कोई प्रजाजन इसका दर्शन करते थे उसे अवश्य ही इष्ट का लाभ होता था। इसी से उसके दर्शन के लिये हरएक दिशा से दौड़ २ आते थे।

દેવના આ પ્રકારનાં વચન સાંભળી સેચનક પોતાની જાતે જ રાજધાનીમાં પહોંચ્યો અને પ્રથમ જે સ્થળે તેને બાંધવામાં આવેલ હતો તે સ્થળે જઈ ઉભો રહી ગયો. સેચનકને આ રીતે પાછો આવેલો જોઈ રાજા શ્રેણિક ખુશી થયા અને તેને સારૂ એવું મીષ્ટ ભોજન આપી સોનાના અલંકારો પહેરાવી તેના શરીર ઉપર પ્રેમથી હાથ ફેરવવા લાગ્યા. કહેવાનો મતલબ એ છે કે જે વ્યક્તિ સેચનક હાથીની માફક સ્વયં પોતાનું દમન કરે છે તે સર્વત્ર આદરને પાત્ર બની આ લોકમાં ખૂબ સુખી થઈ પરલોકમાં પણ આનંદના ભોગવનાર બને છે

આ વિષયમાં ઉદાહરણ આ પ્રકારનું છે—

આઠમા તીર્થંકર શ્રી ચંદ્રપ્રભુસ્વામીના શાસનમાં ચંદ્રપુરી નામના નગરમાં સુદર્શન નામના રાજા હતા. તે ચંદ્રપ્રભુ સ્વામીના વંશના જ હતા. એની પૂર્વોપાર્જીત પુણ્યરાશિ એટલી પ્રબળ હતી કે જે કોઇ પ્રજાજન એમનાં દર્શન કરતો તેને ઇષ્ટનો લાભ અવશ્ય મળી જતો, આથી એમના દર્શન માટે દરેક

अनशनावमौदरिकाभ्यां तपोभ्यां रूपलावण्यसंपन्नं सुकुमारं शरीरं कृशयति, तथाहि—चतुर्भक्तं कृत्वा तत्पारणायामन्तप्रान्तरूक्षं, तदपि साभिग्रहं, तदपि स्वल्पं, तदप्यवमौदरिकानुकूलं गृह्णाति। तदनन्तरं षष्ठभक्तमष्टमभक्तं दशमभक्तं द्वादशभक्तं यावन्मासक्षपणं तपः कृत्वा सर्वपारणासु अवमौदरिकं तपः कुर्वन्नेव शरीरं कृशतरं कृतवान्। एवं तीव्रतरतपश्चरणात् धन्यनामानगारवत् शुष्कमांसशोणितः सन् परिचिन्तयति—आचार्यदेशनानुसारेण मया सर्वथाऽऽत्मा दमितः, धर्मध्यानेनात्मबलं प्राप्य पुष्टोऽस्मि, अतः परं शुक्लध्यानाय सर्वथा यतिष्ये, एवं सोत्साहं विशुद्धभावनया क्षपकश्रेणिं समारुह्यान्तर्मुहूर्तमात्रेण केवलज्ञानं प्राप्तवान्, एवं वर्षैकमात्रेण तीव्रतपसा स्वात्मानं दमयन् सिद्धो जातः। तस्मात् स्वयमेव स्वात्मा दमनीय इति ॥१६॥

होकर दीक्षित हो गये। उन्होंने अपने रूपलावण्ययुक्त सुन्दर सुकुमार शरीर को अनशन एवं अवमौदरिक तप द्वारा कृश करना प्रारंभ कर दिया। कभी वह चतुर्भक्त उपवास करते और पारणा के समय अन्त, प्रान्त एवं रूक्ष आहार लेते, उसमें भी अभिग्रह, अभिग्रह में भी स्वल्प, उसमें भी अवमौदरिकानुकूल लेते। बाद में षष्ठ भक्त, अष्टमभक्त, द्वादशभक्त, से लेकर एक मासक्षपण तक भी तपश्चर्या करते। और इन सब तपस्याओं के पारणा के दिन यह अवमौदरिक तप करते। इससे इनका शरीर अतिशय दुर्बल हो गया। इस प्रकार तीव्र तपश्चर्या के करने से इनका शरीर धन्य नामक अनगार के शरीर की तरह शुष्क मांस शोणित वाला होकर केवल अस्थिपंजर मात्र अवशिष्ट रहा। उस समय उन्होंने विचार किया—कि मैं ने आचार्य महाराज की देशना अनुसार सर्व प्रकार से अपनी आत्मा का दमन किया तथा इस अवस्था

સુકુમાર શરીરને અનશન અને અવમોદરિક તપથી કૃશ કરવાનો પ્રારંભ કરી દીધો. ક્યારેક તેઓ ચતુર્ભક્ત ઉપવાસ કરતા અને પારણાના સમયે અન્ત, પ્રાન્ત અને રુક્ષ આહાર લેતા હતા. એમાં પણ અભિગ્રહ, અભિગ્રહમાં પણ સ્વલ્પ, એમાં પણ ઉનોદરિક તપ કરતા બાદમાં ષષ્ઠભક્ત, અષ્ટમભક્ત, દશમભક્ત, દ્વાદશભક્ત, થી લઈ એક માસક્ષપણ સુધીની પણ તપશ્ચર્યા કરતા અને એ બધી તપશ્ચર્યાના પારણાના દિવસે ઉણોદરિક તપ કરતા આથી એમનું શરીર અતિશય દુર્બળ બની ગયું, આ પ્રકારની તીવ્ર તપશ્ચર્યા કરવાથી તેમનું શરીર ધન્ય નામના અનગારના શરીરની માફક લોહી માંસ વગરનું થઈ ગયું, અને ફક્ત હાડકાંનો માળખો જ બાકી રહ્યો એ સમયે તેમણે વિચાર કર્યો કે—મેં આચાર્ય મહારાજની દેશના અનુસાર સવ પ્રકારથી મારા આત્માનું દમન કર્યું

ततो ग्रामानुग्राम विहरन् चन्द्रपुरीनगर्यां बहिरुद्याने सहस्राऽऽम्रवने समवसृतः। तद्वन्दनार्थं सुदर्शनो नृपः सपरिवार' समायात । आचार्येण सुदर्शननृपस्य नामा नुरूप रूपलावण्यादिक विलोक्य धर्मदशना दत्ता-सुदर्शननृपो निशम्य मुनिदर्शनां मनसि चिन्तयति-अहो! यः स्वात्मान स्वय न दमयति, स परै र्वधबन्धनादिभि र्दमितः सन् स्वात्मनः कर्म निर्जरयितु न प्रभवति अपितु ज्ञानावरणीयाद्यष्टविध कर्मरजोभिः स्वात्मान गुरुतरीकृत्य चतुर्गतिकससारगर्त निपतति जन्मजराम रणाद्यनन्तदु ख प्राप्नोति। इति चिन्तयन् सर्वेभ्य. कामभोगेभ्यो विरज्य प्रव्रजितः।

महाराज अपने शिष्यगण सहित उस चन्द्रपुरी नगरी के बाहिर बगीचे में सहस्राम्रवन में पधारे। उनको वन्दन करने के लिये वे सुदर्शननरेश परिवारसहित वहा गये। आचार्य महाराज ने नाम के अनुरूप उनके रूपलावण्य को देखकर धर्म देशना प्रारभ की। सुनकर नरेश बहुत ही आनदित हुए और विचारने लगे-जो व्यक्ति अपनी आत्मा को स्वय दमन नहीं करता है वह दूसरों द्वारा वध बधनादिक से दमित होकर अपने कर्मों की निर्जरा करने में शक्ति शाली नहीं होता है किन्तु दुर्ध्यान होने से उस समय वह आत्मा चतुर्गतिक ससाररूप गर्त में निपातन हेतु जो ज्ञानावरणीयादिक अष्टविध कर्म का बध है उसे दृढ करता है। उस कर्मरूपी रज से मलिन बना वह आत्मा इतना भारी हो जाता है कि उसका पतन ससाररूपी गर्त में अवश्यंभावी होता है। और वहां पडा हुवा वह जन्ममरण आदिके अनंत दु खों को भोगता रहता है। इस प्रकार विचार कर वह नरेश समस्त कामभोगों से विरक्त

નામના આચાર્ય પોતાના શિષ્યગણુ સહિત એ ચન્દ્રપુરી નગરના બહારના બગીચામાં પધાર્યો રાજા સુદર્શન તેમને વદન કરવા પરિવાર સાથે ત્યાં ગયા આચાર્ય મહારાજે નામના જેવાજ તેના રૂપ લાવણ્યને જોઈ ધર્મ દેશના પ્રારભ કરી. સાંભળી રાજા ખૂબજ ખુશી થયા અને મનમાં વિચારવા લાગ્યા કે જે વ્યક્તિ પોતાના આત્માનું સ્વય દમન નથી કરતો તે બીજા દ્વારા વધ બંધનાદિકથી દમિત થઈ પોતાના કર્મોની નિર્જરા કરવામાં શક્તિશાળી બની શક્તો નથી. પરતુ દુર્ધ્યાન હોવાથી એ સમય તે આત્મા ચતુર્ગતિક સસારરૂપ ખાડામાં અવશ્ય પડે છે અને એમાંજ પડયો રહી તે જન્મ મરણ આદિના અનત દુઃખો ભોગવતો રહે છે આ પ્રકારનો વિચાર કરી રાજા સુદર્શન સમસ્ત કામ ભોગોથી વિરક્ત બની દીક્ષિત થઈ ગયા તેમણે પોતાના રૂપલાવણ્ય યુક્ત સુંદર

कर्मयोग्यानाम् आचार्यादीनामित्यर्थः, पक्षतः=पार्श्वतः, न उपविशेदिति शेषः। पार्श्वभागोपवेशने गुर्वादिपङ्क्तौ समावेशात् तत्साम्यं स्यात्, किंच शिष्यं प्रति वक्रावलोकने गुरोः स्कन्धादिबाधासम्भवः तथा चाविनयः प्रसज्येत, तस्मादाचार्यादिनाकुना सह बाहु कृत्वा शिष्यो नोपविशेदिति भावः। पुरतो न=गुर्वादीनामग्रतोऽपि नोपविशेत्, तत्रोपवेशने वन्दनार्थमागतानां जनानां गुर्वादिमुखावलोकनेऽन्तरायः स्यात्, पृष्ठतोऽपि नैवोपविशेत्, गुरुशिष्ययोरुभयोरपि मुखादर्शने भावनादीनामानन्दो न स्यादिति भावः। ऊरुणा=जङ्घया ऊरु=जङ्घा न युञ्ज्यात्=न सघट्टयेत्, अत्यासन्नोपवेशनादिभिः शिष्यः स्वकीयेनोरुणा गुरोरूरुं न स्पृशेदित्यर्थः। तथाकरणे सति गुर्वादीनामविनयः स्यात्। तथा-शयने=शय्यायां शयित आसीनो वा न प्रतिशृणुयात्। अयं भावः-शय्यागतः शिष्यो यदि गुरुणाऽऽहूतः

आसन विनय को सूत्रकार कहते हैं—'न पक्खओ०' इत्यादि॥

अन्वयार्थ (किचाण पक्खओ-कृत्यानां पक्षतः "न उपविशेत्" कृतिकर्म-अर्थात् वंदनादि के योग्य-आचार्य तथा अपने से बड़ो के पास में संघट्टा करते हुए बराबर नहीं बैठे। (पुरओ न पिट्ठओ न-पुरतः न पृष्ठतः न) गुरु महाराज के आगे नहीं बैठे। पीछे संघट्टा करता हुआ नहीं बैठे। (ऊरुणा ऊरु न जुंजे-ऊरुणा ऊरुं न युञ्ज्यात्) उनके ऊरु-घुटना से घुटना लगाकर नहीं बैठे। (सयणे नो पडिस्सुणे) तथा जिस समय आचार्य आदि किसी काम करने के लिये बुलावें अथवा कहें उस समय अपने आसन पर बैठे ही बैठे उत्तर नहीं दे।

कृतिकर्म का अर्थ वन्दन विशेष है। इसका वर्णन मेरे द्वारा रचित आवश्यक सूत्र की टीका में किया गया है। अतः यह विषय वहां से जान लेना चाहिये। इस कृतिकर्म के योग्य आचार्य आदि होते हैं।

આસન-વિનય વિષે સૂત્રકાર કહે છે—न पक्खओ० ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—किच्चाण पक्खओ-कृत्यानां पक्षतः "न उपविशेत्" કૃતિકર્મ અર્થાત્ વન્દનાદિને યોગ્ય આચાર્ય તથા પોતાનાથી મોટાઓની પાસે તેમની અડોઅડ થઈને બેસવું નહીં, पुरओ न पिट्ठओ न-पुरतः न पृष्ठतः न ગુરુ મહારાજની આગળ બેસવું નહિ, પાછળ અડોઅડ થઈ ન બેસે ऊरुणा ऊरु न जुंजे-ऊरुणा ऊरुं न युञ्ज्यात् તેમના ઘુટણથી ઘુટણ લગાડીને ન બેસે सयणे नो पडिस्सुणे તથા જે સમયે આચાર્ય આદિ કોઈ કામ કરવા માટે બોલાવે અથવા કહે તે સમયે પોતાના આસન ઉપર બેઠાં બેઠાં જવાબ ન આપે

ભાવાર્થ—કૃતિ કર્મનો અર્થ વન્દન વિશેષ છે। જેનું વર્ણન મારાથી રચિત આવશ્યક સૂત્રની ટીકામાં કરવામાં આવેલ છે, આથી આ વિષય ત્યાંથી

आसनविनयमाह—

मूलम्—नं पंक्खओ नं पुंरओ, नेवं किच्चांण पिट्ठओ।
नं जुंजे'' ऊरुंणा ऊरु, सयंणे नो'' पडिस्सुणे॥१८॥

छाया—न पक्षतो न पुरतो, नैव कृत्यानां पृष्ठतः।
न युञ्ज्यात् ऊरुणा ऊरु, शयने नो प्रतिशृणुयात् ॥ १८ ॥

टीका—'न पक्खओ' इत्यादि।

कृत्यानाम्=कृतियोग्याः कृत्याः, अत्र कृतिशब्देन कृतिकर्म गृह्यते, कृतिकर्म-वन्दनविशेषः, तद्वर्णनमावश्यकसूत्रस्य मत्कृतमुनितोषिणीटीकायां द्रष्टव्यम्, कृति-

सुन्दर लता को प्रत्यनीकभाव नष्ट कर देता है। इसलिये मोक्षाभिलाषी विनयवान शिष्य का कर्तव्य है कि वह स्वप्न में भी अपने गुरु महाराज का प्रत्यनीक न बने।

श्लोक में "वाचा कर्मणा" जो पद दिये गये हैं उसका मतलब यह है कि गुरु के प्रति शिष्य ऐसा न कहे कि "आप भी क्या कुछ जानते हैं"। इस प्रकार का व्यवहार वाचनिक प्रतिकूल आचरण में गर्भित होता है। इसी तरह वे जिस संस्तारक पर बैठते हों उसका कभी भी शिष्य को उल्लंघन नहीं करना चाहिये। उससे पैर का संघर्षण या संघट्टन न हो इसकी सदा सावधानी रखनी चाहिये। तथा आचार्य महाराज के समक्ष कभी भी शिष्य को उच्च आसन पर नहीं बैठना चाहिये और उनके आने पर अपने आसन से उठकर गुरु महाराज को वंदन आदि करना उचित है ॥ १७॥

લતાનો પ્રત્યનિકભાવ નાશ કરી નાખે છે આ માટે મોક્ષાભિલાષી વિનયવાન શિષ્યનું કર્તવ્ય છે કે તે સ્વપ્નામાં પણ પોતાના ગુરુ મહારાજનો પ્રત્યનિક ન બને.

શ્લોકમાં (वाचा कर्मणा) જે પદ આપવામાં આવેલ છે તેનો મતલબ એ છે કે ગુરુના પ્રતિ શિષ્ય એવું ન કહે કે "તમે પણ શું કાંઈ જાણો છો" આ પ્રકારનો વહેવાર વાચનિક પ્રતિકૂલ આચરણમાં ગર્ભિત થાય છે આ રીતે તે જે આસન ઉપર બેસતા હોય તેનું શિષ્યે કદિ પણ ઉલ્લંઘન કરવું ન જોઈએ, એ આસનને તેનો પગ ન લાગે તેની તેણે સાવચેતી રાખવી જોઈએ તથા આચાર્ય મહારાજની સામે કદી પણ શિષ્યે ઉંચા આસન પર બેસવું ન જોઈએ અને તેમના આવવાથી પોતાના આસન ઉપરથી ઉભા થઈ ગુરુ મહારાજને વંદન વગેરે કરવું ઉચિત છે ॥ ૧૭ ॥

मूलम्—नेवें पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खंपिंडं चं संजए ।
पाएं पसारिए वावि ने चिट्ठे गुरुणंतिए ॥ १९ ॥

छाया—नैव पर्यस्तिकां कुर्यात्, पक्षपिण्डं च संयत ।
पादौ प्रसार्य वापि, न तिष्ठेद् गुरूणामन्तिके ॥ १९ ॥

टीका—' नेव पल्हत्थिय ' इत्यादि ।

संयतः—मुनि, पर्यस्तिकाम्–द्वे जानुनी उत्थाप्य वस्त्रेण पृष्ठतः समारभ्य पार्श्वद्वयं जानुद्वयं च संवेष्ट्योपवेशनं पर्यस्तिका, यद्वा–जङ्घाद्वयं वस्त्रेण संवेष्ट्यो-

---

उन्हें प्राप्त नहीं हो सकेगा। तथा गुरु महाराज की जघा से जघा अड़ाकर भी शिष्य को इसलिये नहीं बैठना चाहिये कि इस प्रकार की क्रिया से गुरु महाराज का अविनय होता है। गुरु महाराज जब किसी कार्य करने के लिये शिष्य को बुलावें तो उस समय उसका कर्तव्य है कि वह 'तहेति तहेति' कहकर आसनसे उसी वक्त सभ्रान्तचित्त होकर आसन का परित्यागकर देवें और बड़ी भक्तिसे विनयके साथ गुरुके समक्ष जाकर हाथ जोड़ वन्दना करके पूछे कि हे भदत! आज्ञा दीजिये–किस कार्य के लिये आपने मुझे याद किया है। इस प्रकार का व्यवहार भी विनयधर्म में परिगृहीत हुआ है ॥ १८ ॥

'नेव पल्हत्थियं०' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(संजए संयतः) मुनि शिष्य को (गुरुणतिए–गुरुणामन्तिके) अपने गुरुजनों के समक्ष (पल्हत्थियं नेव कुज्जा–पर्यास्तिका नैव कुर्यात्) पैरों पर पैर रखकर–पालथी मारकर–पद्मासन माड़कर–कभी नहीं बैठना चाहिये। इस प्रकार बैठने से आशातना दोष लगता है।

એને પ્રાપ્ત થઈ શકતો નથી તેમ ગુરુ મહારાજના ગોઠણથી ગોઠણ ભીડાવીને શિષ્યે એટલા માટે ન બેસવું જોઈએ, કારણ કે આ પ્રકારની ક્રિયાથી ગુરુ મહારાજનો અવિનય થાય છે, ગુરુ મહારાજ કોઈ કામ માટે શિષ્યને બોલાવે તો તે સમયે એનું કર્તવ્ય છે કે પોતાના આસન ઉપરથી એજ વખતે સ્વસ્થ ચિત્ત બની ગુરુ બોલાવે ત્યારે તહેત કહી આસનનો ત્યાગ કરી ભક્તિપૂર્વક વિનય સાથે ગુરુની સામે જઈ હાથ જોડી વંદના કરી પૂછે કે હે ભદન્ત! આજ્ઞા આપો ક્યા કામ માટે આપે મને યાદ કરેલ છે આ પ્રકારનો વહેવાર પણ વિનય ધર્મમાં ગ્રહણ કરવામાં આવેલ છે ॥ ૧૮ ॥

નેવ પલ્હત્થિય ઇત્યાદિ,

અન્વયાર્થ—સંજએ–સંયત મુનિ શિષ્યે गुरुणतिए–गुरुणामन्तिके પોતાના ગુરુજનોની સામે पल्हत्थियं नेवकुज्जा–पर्यास्तिका नैव कुर्यात् પગ ઉપર પગ રાખી–પલોંઠી લગાવી–પદ્માસન લગાડી, કદિ પણ બેસવું ન જોઈએ આ

किंचित्कार्यकरणाय प्रोक्तो या स्यात्, तदा शिष्येण शय्यायां स्थितेनैव न श्रोतव्यम्, किं तु गुरुवचनश्रवणसमनन्तरमेव सम्भ्रान्तचेताः सविनयः कृताञ्जलिः सन् गुरोः समीपमागत्य चरणारविन्दं वन्दमानः 'अनुगृहीतोऽहम्' इति मनसि मन्यमानो वदेत्–'भदन्त! आज्ञापयतु किं विधेयं मया' इति ॥ १८ ॥

मोक्षाभिलाषी शिष्य का कर्तव्य है कि वह आचार्यादिक को दायें बायें न बैठे। कारण कि इस प्रकार बैठने से गुर्वादिक की पक्ति में उसका समावेश होता है। दर्शनार्थी लोग शिष्य को समझेंगे कि यही गुरु महाराज है। तथा शिष्य के प्रति जब गुरु को देखने की इच्छा होगी तो वे अपनी गर्दन को मोड़कर उसको देखेंगे, इससे उनकी गर्दन में तथा स्कन्ध आदि फिराने में तकलीफ होगी, तथा गुरु महाराज का संघट्टा आदि होने से शिष्य को आशातना आदि दोष लगने का सम्भव है। इसलिये गुरु महाराज की बराबरी में नहीं बैठना चाहिये। गुरु महाराज के आगे भी इसी तरह से नहीं बैठना चाहिये। कारण कि इस प्रकार से बैठने में गुरु महाराज को वन्दना निमित्त आने वालों को उनके दर्शनों में अन्तराय होती है। इसी प्रकार गुरु के पीछे भी शिष्य को नहीं बैठना चाहिये–क्यों कि इस प्रकार से बैठने पर गुरु को शिष्य का मुख नहीं दीख सकेगा और शिष्य को गुरु का मुख नहीं दीख सकेगा, इससे वाचना पृच्छना आदि में अन्तराय होने से उनका आनद

જાવું લેવો જોઈએ, આ કૃતિકર્મના યોગ્ય આચાર્ય આદિ હોય છે મોક્ષાભિલાષી શિષ્યનું કર્તવ્ય છે કે તે આચાર્ય આદિથી ડાબા-જમણા ન બેસે કારણ કે, આ પ્રકારે બેસવાથી ગુરુ આદિની પંક્તિમાં તેનો સમાવેશ થાય છે. દર્શનાર્થી લોક શિષ્યને જ ગુરુ મહારાજ માની લે શિષ્ય તરફ જ્યારે ગુરુ મહારાજને જોવાની ઈચ્છા થાય ત્યારે તે પોતાની ગરદન મરડીને તેના તરફ જોશે આથી એમની ગરદનમાં તથા ખભા વગેરે ફેરવવામાં તકલીફ થશે તથા ગુરુ મહારાજનું સંઘટ્ટ આદિ થવાથી શિષ્યને અશાતના આદિ દોષ લાગવાનો સંભવ છે આ માટે ગુરુ મહારાજની બરોબરીમાં બેસવું ન જોઈએ તેમ ગુરુ મહારાજની આગળ પણ આ રીતે બેસવું ન જોઈએ. કારણ કે આ પ્રકારના બેસવાથી ગુરુ મહારાજની વંદના માટે આવનારને તેમના દર્શનમાં અંતરાય થાય છે આ પ્રકારે ગુરુની પાછળ પણ શિષ્યે બેસવું ન જોઈએ કેમ કે આ રીતે બેસવાથી ગુરુ શિષ્યનું મુખ જોઈ શકતા નથી અને શિષ્ય, ગુરુનું મુખ જોઈ શકતા નથી અને ગુરુ શિષ્યનું મુખ જોઈ શકે નહીં આથી વાચના પૃચ્છના આદિમાં અંતરાય થવાથી એનો ૬

प्रेक्षितु शीलमस्येति तथा, अमी गुरूणां प्रसादः-यदन्येषां शिष्याणां सद्भावेऽपि गुरवो मामाज्ञापयन्तीति विचारशील इत्यर्थः । यद्वा-केन विधिना गुरुः प्रसन्नो भवेदिति भावनाभावितः, गुरुप्रसादलाभार्थी इति यावत् । उक्तञ्च—

जो नत्थि भग्गसाली, नो सो गुरुदेसण इह लभए ।
धारामियस्स निवडइ, अंगेणो पुन्नहीणाण ॥ १ ॥

छाया—यो नास्ति भाग्यशाली, नासौ गुरुदेशनामिहालभते ।
धाराऽमृतस्य निपतति, अङ्गे नो पुण्यहीनानाम् ॥ १ ॥

तथा नियागार्थी=मोक्षार्थी शिष्यः गुरु=धर्माचार्यादिकं, सदा उपतिष्ठेत्= 'मत्थएण वदामि' इत्यादि वदन् सविनयं गुरुसमीपे तिष्ठेदित्यर्थः ॥२०॥

जावे, अथवा किसी कार्य करने के लिये कहा जावे-तब वह (कयाइ विं-कदाचिदपि) कभी भी (तूसणीओ न-तूष्णीकः न भवेत्) उत्तर दिये विना नहीं रहे चाहे बीमार भी होवे तो भी चुपचाप न रहे। (पसाय-पेही-प्रसादप्रेक्षी) यह समझे कि मेरा बड़ा भारी सौभाग्य का उदय है, जो अन्य शिष्यों के होने पर भी गुरु महाराज मुझे ही आज्ञाप्रदान-कर रहे हैं। अथवा-यह विचार करे कि गुरु महाराज जिस उपाय से मेरे पर प्रसन्न हों वही उपाय मुझे करते रहना चाहिये। इस प्रकार की भावना से भावित होकर गुरु के प्रसाद का लाभार्थी बने। क्यों कि कहा भी है-जिस प्रकार हीन पुण्यवालों के शरीर ऊपर अमृत रस की धारा नहीं पड़ती है-उसी प्रकार जो शिष्य भाग्यशाली नहीं होता है वह गुरु की देशना का पात्र नहीं होता है। इसी तरह (नियागट्ठी) मोक्षा-भिलाषी शिष्य का कर्तव्य है कि वह (सया गुरु उवचिट्ठे-सदा गुरु

જ્યારે તેને બોલાવવામાં આવે અથવા કોઈ કામ માટે કહેવામાં આવે ત્યારે कयाइवि कदाचिदपि તે કદિ પણ तूसणीओ न-तूष्णीकः न भवेत् ઉત્તર આપ્યા વગર ન રહે ચાહે તે બીમાર હોય તો પણ ચુપચાપ ન રહે. पसायपेही-प्रसादप्रेक्षी તે એવું સમજે કે, મારા સૌભાગ્યનો મોટો ઉદય છે કે, બીજા શિષ્યો હોવા છતાં પણ ગુરુ મહારાજ મને જ આજ્ઞા આપે છે અથવા એવો વિચાર કરે કે ગુરુ મહારાજ જે ઉપાયથી મારા ઉપર પ્રસન્ન રહે તેવો જ ઉપાય મારે કરતા રહેવું જોઈએ આ પ્રકારની ભાવનાથી ભાવિત બનીને ગુરુના પ્રસાદનો લાભાર્થી બને કેમકે, કહ્યું છે કે—જે પ્રકારે દુર્ભાગીના શરીર ઉપર અમૃતરસની ધાર પડતી નથી, એ પ્રકારથી જે શિષ્ય ભાગ્યશાળી નથી હોતો તે ગુરુની દેશનાને પાત્ર બનતો નથી આ રીતે नियागट्ठी મોક્ષાભિલાષી શિષ્યનું કર્તવ્ય છે કે તે सया गुरु उवचिट्ठे-सदा गुरु उपतिष्ठेत् હંમેશાં

पवेशनं, पर्यस्तिका, ताम्, पक्षपिण्ड—बाहुद्वयेन कायवेष्टन च नैव कुर्यात्। अपि वा=अपि च गुरूणाम् अन्तिके=सनिधौ पादौ=चरणौ प्रसारितौ कृत्वा न तिष्ठेत्। इदमुपलक्षणम्—एकजङ्घोपरि अपरचरण निधायापि न तिष्ठेत्। तथासत्यविनयः स्यादिति भावः ॥ १९ ॥

मूलम्—आयरिएहिं वाहित्तो, तुसिणीओ न कयाई वि।
पसायपेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरु सया ॥२०॥

छाया—आचार्यैर्व्याहृत तूष्णीको, न कदाचिदपि।
प्रसादप्रेक्षी नियागार्थी, उपतिष्ठेत् गुरु सदा ॥ २० ॥

टीका—'आयरिएहिं०' इत्यादि।

आचार्यैः=गुरुभि, व्याहृत —आहूत., यद्वा—उक्त सन् तूणीक =मौनावलम्बी, कदाचिदपि=ग्लानाद्यवस्थायामपि न भवेदिति शेष । किंतु प्रसादप्रेक्षी=प्रसाद

(पक्खपिंड च नेव कुज्जा—पक्षपिण्ड च नैव कुर्यात्) इसी प्रकार दोनों हाथों से घुटने बांधकर तथा पीठ भाग से लेकर दोनों घुटनों को वस्त्र बांधकर भी बैठना गुरु महाराज की आशातना है। (पाए पसारिए वावि न चिट्ठे—पादौ प्रसार्य वापि न तिष्ठेत्) अर्थात् गुरु महाराज के सामने पैरों को पसार कर भी शिष्य को बैठना उचित नहीं है। इसी तरह अर्ध पद्मासन के रूप में भी उनके समक्ष नहीं बैठना चाहिये। ऐसा करने से अविनय दोष लगता है ॥ १९ ॥

'आयरिएहिं०' इत्यादि।

अन्वयार्थ—शिष्य को चाहिये कि वह (आयरिएहिं वाहित्तो—आचार्यै व्याहृत सन्) आचार्य तथा अपने से बड़ों द्वारा जब बुलाया

પ્રકારે બેસવાથી અશાતનાનો દોષ લાગે છે पक्खपिंड च नेव कुज्जा—पक्षपिण्ड च नैव कुर्यात् આ પ્રકારે બન્ને હાથોને ગોઠણ ઉપર લગાવી. તથા વાંસાના ભાગથી લઈ બન્ને ઘુટણને વસ્ત્રથી બાંધી બેસવાથી પણ ગુરુ મહારાજની અશાતના થાય છે पाए पसारिए वावि न चिट्ठे—पादौ प्रसार्य वापि न तिष्ठेत् અર્થાત્ ગુરુ મહારાજની સામે પગ લાંબા કરીને પણ શિષ્યે બેસવું ઉચિત નથી આ રીતે અર્ધ પદ્માસનના રૂપથી પણ એમની સામે બેસવું ન જોઈએ એમ કરવાથી અવિનય દોષ લાગે છે ॥ ૧૯ ॥

'आयरिएहिं०' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—વિવેકી શિષ્ય માટે એ જરૂરી છે કે તે आयरिएहिं वाहित्तो—आचार्यैः व्याहृतः सन् આચાર્ય તથા પોતાનાથી મોટાએ

आसनावस्थितं शिष्य वदति, तदा शिष्यो व्याख्यानादिकालेपि पट्टाद्यासने नोपविष्टः स्याद्, किंतु आसनं त्यक्त्वा धीर'=बुद्धिमान्, शिष्यः यत=यत्नवान् एकाग्रचित्त' सन् यत्=यत् कार्यं, गुरुणोक्त सुकरं दुष्कर वा, तत्तत् प्रतिशृणुयात्, 'अवश्यकरणभावोऽस्ति' इत्युक्त्वा स्वीकुर्यात्। अत्र–धीर इति विशेषण व्याख्यानादिकाले, तथा स्वशरीरादिकार्यवशाद् व्यग्रस्यापि शिष्यस्य गुरुविनयाराधनार्थं क्षमत्व सावधानत्व च सूचयति। 'यत' इति विशेषणेन समितिगुप्तिसमाराधनपूर्वक गुरो सकलकार्यसंपादनाभिरुचि सूचिता। प्रतिशृणुयादिति पदेन गुरुवचनश्रवणसमनन्तरमविलम्बेन तत्कार्यसंपादनार्थं स्वीकृतिवचनमुक्त्वाऽन्यत् सर्वं स्वकीयकार्यं विहाय प्रथम सर्वथा गुरुकार्यसाधने सादरा प्रवृत्ति' सूचिता ॥२१॥

बैठा हो तो भी उस समय शीघ्र उठकर उसे गुरु महाराज की आज्ञा का पालन करना चाहिये। ऐसा नहीं करना चाहिये कि गुरु महाराज की बात सुनकर भी पुन आसन पर बैठ जावें। अर्थात् उस समय व्याख्यान आदि का समय हो तो भी गुरु महाराज की आज्ञा का आराधन करना चाहिये। इसी बात को उत्तरार्ध मे सूत्रकार ने स्पष्ट किया है–(चइऊण आसण धीरो जओ जत्त पडिस्सुणे–त्यक्त्वा आसन धीर यत्तत् प्रतिश्रृणुयात्) चाहे वह कार्य सरल हो चाहे कठिन हो तो भी सर्वप्रकार के सकल्प विकल्प से रहित होकर गुरु महाराज कथित कार्य को "अवश्य करने का भाव है" ऐसा कहकर शिष्य को स्वीकार करना चाहिये। सूत्र में जो धीर विशेषण दिया गया है उससे सूत्रकार का यह अभिप्राय सूचित होता है कि जिस समय गुरु महाराज कार्य करने के लिये शिष्य से कहें उस समय वह शिष्य चाहे व्याख्यान देने

આસન ઉપર બેસેલ હોય તો પણ ત્યાંથી તુરત જ ઉઠીને તેણે ગુરુ મહારાજની આજ્ઞાનુ પાલન કરવું જોઈએ એવું નહીં કરવુ જોઈએ કે, ગુરુ મહારાજની વાત સાંભળીને પણ આસન ઉપર પાછો બેસી જાય અર્થાત્ એ વખતે વ્યાખ્યાન આદિનો સમય હોય તો પણ ગુરુ મહારાજની આજ્ઞાનુ આરાધન કરવુ જોઈએ. આ વાતને ઉત્તરાર્ધથી સૂત્રકારે સ્પષ્ટ કરેલ છે

चइऊण आसण धीरो जओ जत्त पडिस्सुणे–त्यक्त्वा आसनं धीर' यतो यत्तत् प्रतिश्रुणुयात् ચાહે તે કામ સરળ હોય, ચાહે કઠીન હોય તો પણ સર્વ પ્રકારના સકલ્પ વિકલ્પથી રહિત થઈને ગુરુ મહારાજે કહેલા કામને "અવશ્ય કરવુ જોઈએ તેવો ભાવ છે" એવુ કહીને શિષ્યે તેનો સ્વીકાર કરવો જોઈએ. સૂત્રમાં જે ધીર વિશેષણ અપાયેલ છે તેનાથી સૂત્રકારનો એ અભિપ્રાય જણાય છે કે, જે સમયે ગુરુ મહારાજ કામ કરવા માટે શિષ્યને કહે તે સમયે શિષ્ય

आसनस्थितस्य शिष्यस्य विनयमाह—

मूलम्—आलवंते लवंते वा, न निसिज्ज कयाइवि ।
चइऊण आसणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥२१॥

छाया—आलपति लपति वा, न निषीदेत् कदाचिदपि ।
त्यक्त्वा आसनं धीरो, यतो यत्तं प्रतिशृणुयात् ॥ २१ ॥

टीका—'आलवते' इत्यादि ।

गुरौ आलपति=सकृद् वदति सति, कार्यस्य लघुत्वात्सकृत्कथनमिति भावः, यथा–आसनमानीयताम्, पारणं क्रियताम्, इत्यादि, वा=अथवा गुरौ लपति= पुनः पुनः कथयति सति ग्रहणासेवनाशिक्षायां स्वपरवैयावृत्त्यकार्ये च, कार्यस्य बृहत्वादत्यावश्यकत्वाच्च पुनः पुनः कथनमिति भावः, शिष्यः कदाचिदपि न निषीदेत्= आसनाऽऽसीनो न भवेत्। अय भावः—यदि गुरुः किंचित् कार्यं सकृद् वा, पुनः पुनर्वा,

---

उपतिष्ठेत्) "मत्थे णं वंदामि" इस प्रकार विनयद्योतक शब्द का व्यवहार करता हुआ सदा अपने गुरु के समक्ष उपस्थित होवे ।

भावार्थ–गुरुमहाराज जिस तरह अपने ऊपर प्रसन्न हो उत्तम शिष्य का कर्तव्य है कि वह उस प्रकार प्रयत्नशील रहे ॥ २० ॥

'आलवंते०' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(आलवते लवते वा कयाइ वि न निसिज्जा–आलपति लपति वा कदाचिदपि न निषीदेत्) उत्तमशिष्य–विनयशीलशिष्य का कर्तव्य है कि जब गुरु महाराज किसी कार्य को करने के लिये एक ही बार में कहें या बार २ भी कहें तो उस समय उसे कभी उस कार्य को करने के लिये आना कानी नहीं करनी चाहिये । अर्थात्–उस समय वह शिष्य चाहे अपने आसन पर भी

પોતાના ગુરુની સમક્ષ જતી વખતે मत्थे ण वदामि આ પ્રકારનો વિનય દ્યોતક શબ્દનો વહેવાર કરતો રહે

ભાવાર્થ—ગુરુદેવ જે રીતે પોતાના ઉપર પ્રસન્ન થાય એવો પ્રયત્ન કરવાનું ઉત્તમ શિષ્યનું કર્તવ્ય છે, અને એ પ્રકારે તે પ્રયત્નશીલ રહે ॥ ૨૦ ॥

आलवते० ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—आलवते लवते वा कयावि न निसिज्जा–आलपति लपति वा कदाचिदपि न निषीदेत् ઉત્તમ શિષ્ય–વિનયશીલ શિષ્યનું કર્તવ્ય છે કે જ્યારે ગુરુ મહારાજ કોઈ કામ કરવા માટે એક જ વખતે કહી દે અથવા વારવાર કહે તે સમયે તેણે કદિ પણ એ કાર્યને કરવા માટે આનાકાની કરવી ન જોઈએ. અર્થાત્—એ વખતે એ શિષ્ય ભલે પોતાના

कृत्वा स्थितः सन् प्राञ्जलिपुट=कृताञ्जलिः, सूत्रादिकं पृच्छेत्। यद्वा—कदाचिदपि =बहुश्रुतत्वेऽपि आसनगत शय्यागतो वा न पृच्छेत् सूत्रादिकमित्यर्थः।

'आसणगओ' इत्यादि।

अन्वयार्थ—उत्तम शिष्य को चाहिये कि वह (आसणगओ—आसनगत) आसन पर बैठे २ अथवा (सेज्जागओ—शय्यागतः) सस्तारक पर बैठे २ या सोये २ (रोगादिक अवस्था को छोड़कर) (कयाइवि—कदाचिदपि) कभी भी (न पुच्छिज्जा—न पृच्छेत्) गुरु महाराज से सूत्र का अर्थ अथवा उनकी कुशलता न पूछे। किन्तु (आगम्मुक्कुडुओ सतो पजली उडो पुच्छिज्जा—आगम्य उत्कुटुक सन् प्राञ्जलिपुटः पृच्छेत्) उनके समीप आकर और उत्कुटुकासन—उकडु आसनसे बैठकर दोनों हाथजोड़ फिर उनसे सूत्र आदि का अर्थ पूछे। शिष्य कितना ही बहुश्रुती क्यों न हो तो भी अपने गुरु से सूत्रार्थ की प्रच्छना अथवा सुख शाता की पृच्छना आसन पर बैठे २ या विस्तर पर लेटे २ नहीं करनी चाहिये। यद्यपि सूत्रार्थ की पृच्छना सशय होने पर ही की जाती है। बहुश्रुत होने पर भी सशय हो सकता है। अब ऐसी स्थिति में शिष्य का धर्म है कि उस संशय की

आसणगओ ઇत्याहि

અન્વયાર્થ—ઉત્તમ શિષ્યની એ ફરજ છે કે તે आसनगओ—आसनत આસન ઉપર બેઠા બેઠા અથવા सेज्जागओ-शय्यागतः શય્યામા બેઠા બેઠા કે સુતાં સુતા (રોગાદિક અવસ્થાને છોડીને) कयाइवि—कदाचिदपि કદી પણ ગુરુ મહારાજથી સૂત્રનો અર્થ અથવા એમની કુશળતા न पुच्छिज्जा—न पृच्छेत् ન પુછે પરંતુ आगम्मुक्कुडुओ सतो पजलि उडो पुच्छिज्जा—आगम्य उत्कुटुक सन् प्राञ्जलिपुट पृच्छेत् તેમનિ સામે આવી અને ઉત્કુટાસનથી બેસી બન્ને હાથ જોડી ત્યારપછી એમને સૂત્ર આદિના અર્થ પુછે અને સુખ શાતાના સમાચાર પુછે શિષ્ય ગમે તેવો બહુશ્રુત કેમ ન હોય તો પણ પોતાના ગુરુથી સૂત્રાથના અર્થ અથવા સુખશાતાના સમાચાર આસન પર બેઠાં બેઠા અથવા તો પથારી પર સુતા સુતાં ન પુછવા જોઇએ જો કે સૂત્રાર્થ આદિના અર્થ સશય થવાથી જ પુછાય છે બહુશ્રુત હોવા છતાં પણ સશય થાય છે આથી આવી સ્થિતિમા શિષ્યનો ધર્મ છે કે, એ સશયની નિવૃત્તિ માટે તે ગુરુની સમક્ષ જાય અને ખુબ વિનયની સાથે એ સશયની નિવૃત્તિ

मूलम्—आसणगओ न पुच्छिज्जा, नेव सेज्जागओ कयाइ वि।
आगम्मुक्कुडुओ सतो, पुच्छिज्जा पजंलीउडो ॥२२॥

छाया—आसनगतो न पृच्छेत्, नैव शय्यागतः कदाचिदपि।
आगम्योत्कुटुकः सन्, पृच्छेत् प्राञ्जलिपुटः ॥ २२ ॥

टीका—'आसणगओ' इत्यादि। आसनगतः=आसनोपविष्टः सन् न पृच्छेत् सूत्रार्थं कुशलादिकं वा किमपि न पृच्छेदित्यर्थः। तथा-कदाचिदपि कस्मिन्नपि काले शय्यागतः संस्तारकस्थितः नैव पृच्छेत् रोगाद्यवस्थां विना शयानः सन् किमपि नैव पृच्छेदित्यर्थः। किंतु आगम्य=गुरोः समीपे आगत्य, उत्कुटुकः=उत्कुटुकासनं

के लिये भी तैयार रहा हो-वह काल उसके व्याख्यान करने का भी हो अथवा अपने शारीरिक कार्य के वश से वह शिष्य व्यग्रचित्त वाला भी हो तो भी विनय धर्म की आराधना निमित्त उसे गुरु महाराज कथित कार्य करने की क्षमता एव उस कार्य करने में विशेष सावधानी रखनी चाहिये। "जओ-यत" यह पद यह प्रकट करता है कि शिष्य को समिति गुप्ति के आराधनपूर्वक ही गुरु महाराज के समस्त कार्यों के सम्पादन में रुचि शील होना चाहिये। "प्रतिश्रृणुयात्" यह क्रियापद इस विशेषता का सूचक है कि गुरु वचन के श्रवण के अनन्तर ही विना किसी विलंब के उनके कार्य को करने के लिये प्रतिज्ञा वचन कहकर और अपने निज कार्य को भी छोड़कर शिष्य का कर्तव्य है कि वह सब प्रकार से उनके कार्य के साधन करने में सादर प्रवृत्ति करे ॥२१॥

સવે વ્યાખ્યાન આપવા માટેની તૈયારીમાં હોય-તે સમય તેને વ્યાખ્યાન કરવાનો હોય, અથવા પોતાના શારીરિક કાર્યના વશથી તે શિષ્ય વ્યગ્ર ચિત્ત વાળો હોય તો પણ વિનય ધર્મની આરાધના નિમિત્ત તેનામાં ગુરુ મહારાજે કહેલા કામને કરવાની ક્ષમતા અને એ કામ કરાવવામાં વિશેષ સાવધાની રાખવી જોઈએ. जओ-यत એ પદ એવું પ્રગટ કરે છે કે, શિષ્યે સમિતિ ગુપ્તિના આરાધન પૂર્વક જ ગુરુ મહારાજના દરેક કામોનું સંપાદન કરવામાં રુચી કેળવવી જોઈએ. प्रतिश्रृणुयात् એ ક્રિયાપદ એ વિશેષતાનું સૂચક છે કે ગુરુવચનને સાંભળતાં જ કોઈ પ્રકારના વિલંબ વિના એમના કામને કરવા માટે પ્રતિજ્ઞા વચન કહીને અને પોતાનું કામ હોય તેને છોડીને શિષ્યનું કર્તવ્ય છે કે, તે સવ પ્રકારથી ગુરુ મહારાજના કામને પૂરૂં કરવામાં પોતાની સાદર પ્રવૃત્તિ કરે ॥ ૨૧ ॥

कृत्वा स्थितः सन् प्राञ्जलिपुटः=कृताञ्जलिः, सूत्रादिकं पृच्छेत्। यद्वा–कदाचिदपि =बहुश्रुतत्वेऽपि आसनगतः शय्यागतो वा न पृच्छेत् सूत्रादिकमित्यर्थः।

'आसणगओ' इत्यादि।

अन्वयार्थ—उत्तम शिष्य को चाहिये कि वह (आसणगओ–आसनगत) आसन पर बैठे २ अथवा (सेज्जागओ–शय्यागतः) सस्तारक पर बैठे २ या सोये २ (रोगादिक अवस्था को छोड़कर) (कयाइवि–कदाचिदपि) कभी भी (न पुच्छिज्जा–न पृच्छेत्) गुरु महाराज से सूत्र का अर्थ अथवा उनकी कुशलता न पूछे। किन्तु (आगम्मुक्कुडुओ सतो पजली उड्डो पुच्छिज्जा–आगम्य उत्कुटुकः सन् प्राञ्जलिपुटः पृच्छेत्) उनके समीप आकर और उत्कुटुकासन–उकडु आसनसे बैठकर दोनों हाथजोड़ फिर उनसे सूत्र आदि का अर्थ पूछे। शिष्य कितना ही बहुश्रुती क्यों न हो तौ भी अपने गुरु से सूत्रार्थ की प्रच्छना अथवा सुख शाता की पृच्छना आसन पर बैठे २ या विस्तर पर लेटे २ नहीं करनी चाहिये। यद्यपि सूत्रार्थ की पृच्छना सशय होने पर ही की जाती है। बहुश्रुत होने पर भी सशय हो सकता है। अब ऐसी स्थिति में शिष्य का धर्म है कि उस सशय की

આસણગઓ ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—ઉત્તમ શિષ્યની એ ફરજ છે કે તે આસનગઓ–આસનગત આસન ઉપર બેઠાં બેઠાં અથવા સેજ્જાગઓ–શય્યાગતઃ શય્યામાં બેઠાં બેઠાં કે સુતાં સુતાં (રોગાદિક અવસ્થાને છોડીને) કયાઇવિ–કદાચિદપિ કદી પણ ગુરુ મહારાજથી સૂત્રનો અર્થ અથવા એમની કુશળતા ન પુચ્છિજ્જા–ન પૃચ્છેત્ ન પુછે પરંતુ આગમ્મુક્કુડુઓ સતો પજલિ ઉડ્ડો પુચ્છિજ્જા–આગમ્ય ઉત્કુટુક સન્ પ્રાઞ્જલિપુટઃ પૃચ્છેત્ તેમની સામે આવી અને ઉત્કુટાસનથી બેસી બન્ને હાથ જોડી ત્યારપછી એમને સૂત્ર આદિના અર્થ પુછે અને સુખ શાતાના સમાચાર પુછે શિષ્ય ભલે તેવો બહુશ્રુત કેમ ન હોય તો પણ પોતાના ગુરુથી સૂત્રાર્થના અર્થ અથવા સુખશાતાના સમાચાર આસન પર બેઠાં બેઠાં અથવા તો પથારી પર સુતા સુતાં ન પુછવા જોઇએ. જો કે સૂત્રાર્થ આદિના અર્થ સશય થવાથી જ પુછાય છે બહુશ્રુત હોવા છતાં પણ સશય થાય છે આથી આવી સ્થિતિમાં શિષ્યનો ધર્મ છે કે, એ સશયની નિવૃત્તિ માટે તે ગુરુની સમક્ષ જાય અને ખુબ વિનયની સાથે એ સશયની નિવૃત્તિ

अय भावः—बहुश्रुतोऽपि शिष्य संशये सति गुरु पृच्छति सूत्रार्थम्, तत्र विनयपूर्विकैव प्रच्छना करणीया यथा गुरोराशातना न भवेदिति। उत्कुटुक इति विशेषणेन-इन्द्रियदमनशीलत्वं विनीतत्व च सूचितम्, प्राञ्जलिपुट इत्यनेन सर्वविधविनयवत्त्वं जातिकुलसम्पन्नत्व च सूचितम् ॥ २२ ॥

मूलम्—एव विणयजुत्तस्स, सुत्त अत्थं च तदुभय।
पुच्छमाणस्स सीसस्स, वागरिज्ज जहासुय ॥२३॥

छाया—एव विनययुक्तस्य, सूत्रम् अर्थं च तदुभयम्।
पृच्छतः शिष्यस्य, व्याकुर्याद् यथाश्रुतम् ॥ २३ ॥

टीका—'एव विणयजुत्तस' इत्यादि। एव=उक्तप्रकारेण विनययुक्तस्य-विनयवत, सूत्रम्-कालिकोत्कालिकादि, अर्थं-तद्बोध्य, सूत्राभिप्रायमित्यर्थ।

निवृत्तिके लिये गुरुके सन्मुख जावे और बड़े विनयके साथ उस संशय की निवृत्ति करे। गुरु महाराज का विनय भक्ति में यदि जरा सी भी त्रुटि हो जायगी तो शिष्य आशातना दोष का भागी होगा। "उत्कुटुक" इस विशेषण से सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि जो इस आसन से बैठता है वह साधु इन्द्रिय दमन शील तथा विनीत होता है। "प्राञ्जलिपुट" इस विशेषण से शिष्य में सभी प्रकार के विनयगुण तथा जातिसम्पन्नता एवं कुल सम्पन्नता सूचित होती है ॥गा २२॥

'एव' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(एवं-एव) पूर्वोक्त प्रकार से (विणयजुत्तस्स-विनययुक्तस्य) विनयधर्म से युक्त होकर (सुत्त अत्थ च तदुभयं पुच्छमाणस्स-सूत्र अर्थ तदुभयं पृच्छत) सूत्र-अर्थ और सूत्र अर्थ दोनों को पूछने वाले (सीसस्स-शिष्यस्य) शिष्य को (जहासुयं

કરી લ્યે ગુરુ મહારાજની વિનય ભક્તિમાં જરા પણ ભૂલ થાય તો શિષ્ય આસાતના દોષનો ભાગી બને છે "ઉત્કુટુક" આ વિશેષણથી સૂત્રકાર એ એ સુચિત કરે છે કે, જે આ આસનથી બેસે છે તે સાધુ ઇન્દ્રિયનું દમન કરનાર તથા વિનિત હોય છે "પ્રાઞ્જલિપુટ" આ વિશેષણથી શિષ્યમાં સર્વ પ્રકારના વિનયગુણ તથા જાતિસંપન્નતા અને કુળસંપન્નતા દેખાઈ આવે છે ॥૨૨॥

एव ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—एव-एव પૂર્વોક્ત પ્રકારથી विणयजुत्तस्स – विनययुक्तस्य વિનય ધર્મથી યુક્ત બની सुत्त अत्थ च तदुभय पुच्छमाणस्स-सूत्र अर्थं तदुभय पृच्छतः સૂત્ર-અર્થ અને સૂત્ર અર્થ બન્નેને પુછવાવાળા

उक्तञ्च—

जो सुत्ताभिप्पाओ, सो अत्थो अज्जए य जम्हा । (स्था २ ठा १ उ०)

छाया—यः सूत्राभिप्रायः सोऽर्थः, अर्यते च यस्मात् ।

व्याख्या—यः सूत्रस्य अभिप्रायः स एव अर्थः । यस्मात्=यतः कारणादसावर्थः सूत्रात् अर्यते गम्यते । तदुभयं=सूत्रार्थद्वयं च पृच्छतः=पृच्छां कुर्वतः शिष्यस्य गुरुः यथाश्रुतं-गुरुपरंपरातो यथा ज्ञातं तथा सूत्रम्, अर्थं तदुभयं च व्याकुर्यात् =कथयेत्, न तु स्वबुद्धया कल्पितं कृत्वा बोधयेदिति भावः । इह तावत् सूत्रज्ञानाय सूत्रस्य शब्दार्थं तल्लक्षणं तद्भेदं तद्वाचनादिकं च निर्दिशामः, तथाहि—

वागरिज्जा-यथाश्रुत व्याकुर्यात्) गुरु महाराज उन सब का शास्त्रविहित विधि के अनुसार प्रतिपादन करें।

कालिक उत्कालिक आदि सूत्र हैं। सूत्र का जो अभिप्राय है वही अर्थ है। कहा भी है-जो सुत्ताभिप्पाओ सो अत्थो अज्जए य जम्हा-सूत्र के अभिप्राय को अर्थ कहा गया है। क्यों कि यह अर्थ सूत्र से ही निश्चित किया जाता है। इस तरह केवल सूत्र को अथवा उसके अर्थ को एवं इन दोनों को जब शिष्य अपने आचार्य महाराज से पूछे तो आचार्य महाराज को चाहिये कि वे उसको गुरु परंपरा से यथाज्ञात सूत्र-अर्थ एवं दोनों को अच्छी तरह समझावें। ऐसा न करें कि अपनी निजी कल्पना से मिश्रित कर उन्हें समझायें। सूत्रज्ञान के लिये उपयोगी समझकर सूत्र का शब्दार्थ, उसका लक्षण, उसके भेद, एवं उसकी वाचना आदि के विषय में कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है।—

શિષ્યને जहासुयं वागरिज्जा-यथाश्रुतं व्याकुर्यात् ગુરુ મહારાજ એ બધાનો શાસ્ત્ર વિહિત વિધિ અનુસાર પ્રતિપાદન કરે

કાલિક ઉત્કાલિક આદિ સૂત્ર છે, સૂત્રનો જે અભિપ્રાય છે તે જ અર્થ છે કહ્યું પણ છે,-जो सुत्ताभिप्पाओ सो अत्थो अज्जए य जम्हा-સૂત્રના અભિપ્રાયને અર્થ કહેવામાં આવેલ છે કેમ કે, આ અર્થ સૂત્રથી નિશ્ચીત કરવામાં આવે છે આ રીતે કેવળ સૂત્રને અથવા તેના અર્થને અથવા એ બન્નેને જ્યારે શિષ્ય પોતાના આચાર્ય મહારાજને પૂછે તો આચાર્ય મહારાજે તેને ગુરુ પરંપરાથી યથાજ્ઞાત સૂત્ર-અર્થ અને બન્નેને સારી રીતે સમજાવે એવું ન કરે કે પોતાની જ કલ્પનાથી મિશ્રિત કરી તેને સમજાવે. સૂત્ર જ્ઞાનને માટે ઉપયોગી સમજીને સૂત્રનો શબ્દાર્થ, તેનું લક્ષણ, તેનો ભેદ, અને તેની વાચના આદિના વિષયમાં કાંઇક સ્પષ્ટિકરણ કરવામાં આવે છે—सूचयतीति सूत्रम्—

अथ भावः—चक्षुश्रुतोऽपि शिष्य संशये सति गुरु पृच्छति सूत्रार्थम्, तत्र विनयपूर्विकैव प्रच्छना करणीया यथा गुरोराशातना न भवेदिति। उत्कुटुक इति विशेषणेन-इन्द्रियदमनशीलत्वं विनीतत्व च सूचितम्, प्राञ्जलिपुट इत्यनेन सर्वविधविनयवत्त्वं जातिकुलसम्पन्नत्व च सूचितम् ॥ २२ ॥

मूलम्—एव विणयजुत्तस्स, सुत्त अत्थं च तदुभय।
पुच्छमाणस्स सीसस्स, वागरिज्ज जहासुय ॥२३॥

छाया—एव विनययुक्तस्य, सूत्रम् अर्थं च तदुभयम्।
पृच्छतः शिष्यस्य, व्याकुर्याद् यथाश्रुतम् ॥ २३ ॥

टीका—'एव विणयजुत्तस' इत्यादि। एव=उक्तप्रकारेण विनययुक्तस्य-विनयवत', सूत्रम्-कालिकोत्कालिकादि, अर्थं-तद्बोध्य, सूत्राभिप्रायमित्यर्थः।

निवृत्तिके लिये गुरुके सन्मुख जावे और बड़े विनयके साथ उस संशय की निवृत्ति करे। गुरु महाराज का विनय भक्ति में यदि जरा सी भी त्रुटि हो जायगी तो शिष्य आशातना दोष का भागी होगा। "उत्कुटुक" इस विशेषण से सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि जो इस आसन से बैठता है वह साधु इन्द्रिय दमन शील तथा विनीत होता है। "प्राञ्जलिपुट" इस विशेषण से शिष्य में सभी प्रकार के विनयगुण तथा जातिसम्पन्नता एवं कुल सम्पन्नता सूचित होती है ॥गा २२॥

'एवं' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(एवं-एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (विणयजुत्तस्स-विनययुक्तस्य) विनयधर्म से युक्त होकर (सुत्तं अत्थं च तदु-भयं पुच्छमाणस्स-सूत्रं अर्थं तदुभयं पृच्छतः) सूत्र-अर्थ और सूत्र अर्थ दोनों को पूछने वाले (सीसस्स-शिष्यस्य) शिष्य को (जहासुयं

કરી લ્યે ગુરુ મહારાજની વિનય ભક્તિમાં જરા પણ ભૂલ થાય તો શિષ્ય આસાતના દોષનો ભાગી બને છે "ઉત્કુટુક" આ વિશેષણથી સૂત્રકાર એ એ સૂચિત કરે છે કે, જે આ આસનથી બેસે છે તે સાધુ ઇન્દ્રિયનું દમન કરનાર તથા વિનિત હોય છે "प्राञ्जलिपुट" આ વિશેષણથી શિષ્યમાં સર્વ પ્રકારના વિનયગુણ તથા જાતિસંપન્નતા અને કુળસંપન્નતા દેખાઈ આવે છે ।।૨૨।।

एव ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ — एव-एव પૂર્વોક્ત પ્રકારથી विणयजुत्तस्स — विनययुक्तस्य વિનય ધર્મથી યુક્ત બની सुत्त अत्थ च तदुभय पुच्छमाणस्स—सूत्र अर्थ तदुभय पृच्छतः સૂત્ર-અર્થ અને સૂત્ર અર્થ બન્નેને પુછવાવાળા

उक्तञ्च—

जो सुत्ताभिप्पाओ, सो अत्थो अज्जए य जम्हा । (स्था २ ठा १ उ०)

छाया—य सूत्राभिप्राय. सोऽर्थ., अर्यते च यस्मात् ।

व्याख्या—यः सूत्रस्य अभिप्रायः स एव अर्थः । यस्मात्=यत कारणादसावर्थः सूत्रात् अर्यते गम्यते । तदुभय=सूत्रार्थद्वय च पृच्छत'=पृच्छा कुर्वत शिष्यस्य गुरु. यथाश्रुत–गुरुपरपरातो यथा ज्ञात तथा सूत्रम्, अर्थ तदुभय च व्याकुर्यात् =कथयेत्, न तु स्वबुद्धया कल्पित कृत्वा बोधयेदिति भाव' । इह तावत् सूत्रज्ञानाय सूत्रस्य शब्दार्थं तल्लक्षण तद्भेद तद्वाचनादिक च निर्दिशाम', तथाहि—

वागरिज्जा–यथाश्रुत व्याकुर्यात्) गुरु महाराज उन सब का शास्त्रविहित विधि के अनुसार प्रतिपादन करें ।

कालिक उत्कालिक आदि सूत्र हैं । सूत्र का जो अभिप्राय है वही अर्थ है । कहा भी है–जो सुत्ताभिप्पाओ सो अत्थो अज्जए य जम्हा–सूत्र के अभिप्राय को अर्थ कहा गया है । क्यों कि यह अर्थ सूत्र से ही निश्चित किया जाता है । इस तरह केवल सूत्र को अथवा उसके अर्थ को एवं इन दोनों को जब शिष्य अपने आचार्य महाराज से पूछे तो आचार्य महाराज को चाहिये कि वे उसको गुरु परपरा से यथाज्ञात सूत्र–अर्थ एव दोनों को अच्छी तरह समझावें । ऐसा न करें कि अपनी निजी कल्पना से मिश्रित कर उन्हें समझावें । सूत्रज्ञान के लिये उपयोगी समझकर सूत्र का शब्दार्थ, उसका लक्षण, उसके भेद, एव उसकी वाचना आदि के विषय में कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है ।—

શિષ્યને जहासुय वागरिज्जा–यथाश्रुत व्याकुर्यात् ગુરુ મહારાજ એ બધાનો શાસ્ત્ર વિહિત વિધિ અનુસાર પ્રતિપાદન કરે.

કાલિક ઉત્કાલિક આદિ સૂત્ર છે, સૂત્રનો જે અભિપ્રાય છે તે જ અર્થ છે કહ્યું પણ છે,–जो सुत्ताभिप्पाओ सो अत्थो अज्जए य जम्हा–સૂત્રના અભિપ્રાયને અર્થ કહેવામાં આવેલ છે કેમ કે, આ અર્થ સૂત્રથી નિશ્ચીત કરવામા આવે છે આ રીતે કેવળ સૂત્રને અથવા તેના અર્થને અથવા એ બન્નેને જ્યારે શિષ્ય પોતાના આચાર્ય મહારાજને પૂછે તો આચાર્ય મહારાજે તેને ગુરુ પરપરાથી યથાજ્ઞાત સૂત્ર–અર્થ અને બન્નેને સારી રીતે સમજાવે એવું ન કરે કે પોતાની જ કલ્પનાથી મિશ્રિત કરી તેને સમજાવે. સૂત્ર જ્ઞાનને માટે ઉપયોગી સમજીને સૂત્રનો શબ્દાર્થ, તેનું લક્ષણ, તેનો ભેદ, અને તેની વાચના આદિના વિષયમાં કાંઈક સ્પષ્ટિકરણ કરવામાં આવે છે–सूचयतीति सूत्रम्—

अय भावः–बहुश्रुतोऽपि शिष्य संशये सति गुरु पृच्छति सूत्रार्थम्, तत्र विनयपूर्विकैव प्रच्छना करणीया यथा गुरोराशातना न भवेदिति। उत्कुटुक इति विशेषणेन–इन्द्रियदमनशीलत्व विनीतत्वं च सूचितम्, प्राञ्जलिपुट इत्यनेन सर्वविधविनयवत्त्वं जातिकुलसम्पन्नत्व च सूचितम् ॥ २२ ॥

मूलम्—एवं विणयजुत्तस्स, सुत्तं अत्थं चं तदुंभय।
पुच्छमाणस्स सीसस्स, वागरिज्ज जहासुय ॥२३॥

छाया—एव विनययुक्तस्य, सूत्रम् अर्थ च तदुभयम्।
पृच्छतः शिष्यस्य, व्याकुर्याद् यथाश्रुतम् ॥ २३ ॥

टीका—'एव विणयजुत्तस्स' इत्यादि। एव=उक्तप्रकारेण विनययुक्तस्य–विनयवतः, सूत्रम्–कालिकोत्कालिकादि, अर्थ–तद्बोध्य, सूत्राभिप्रायमित्यर्थ।

निवृत्तिके लिये गुरुके सन्मुख जावे और बडे विनयके साथ उस संशय की निवृत्ति करे। गुरु महाराज का विनय भक्ति में यदि जरा सी भी त्रुटि हो जायगी तो शिष्य आशातना दोष का भागी होगा। "उत्कुटुक" इस विशेषण से सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि जो इस आसन से बैठता है वह साधु इन्द्रिय दमन शील तथा विनीत होता है। "प्राञ्जलिपुट" इस विशेषण से शिष्य में सभी प्रकार के विनयगुण तथा जातिसम्पन्नता एवं कुल सम्पन्नता सूचित होती है ॥गा २२॥

'एवं' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(एवं–एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (विणयजुत्तस्स–विनययुक्तस्य) विनयधर्म से युक्त होकर (सुत्तं अत्थं च तदुभयं पुच्छमाणस्स–सूत्र अर्थ तदुभय पृच्छत) सूत्र–अर्थ और सूत्र अर्थ दोनों को पूछने वाले (सीसस्स–शिष्यस्य) शिष्य को (जहासुयं

કરી લ્યે ગુરુ મહારાજની વિનય ભક્તિમાં જરા પણ ભૂલ થાય તો શિષ્ય આસાતના દોષનો ભાગી બને છે "ઉત્કુટુક" આ વિશેષણથી સૂત્રકાર એ એ સૂચિત કરે છે કે, જે આ આસનથી બેસે છે તે સાધુ ઇન્દ્રિયનું દમન કરનાર તથા વિનિત હોય છે "પ્રાઞ્જલિપુટ" આ વિશેષણથી શિષ્યમાં સર્વ પ્રકારના વિનયગુણ તથા જાતિસંપન્નતા અને કુળસંપન્નતા દેખાઈ આવે છે. ॥૨૨॥

एव ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—एव–एव પૂર્વોક્ત પ્રકારથી विणयजुत्तस्स – विनययुक्तस्य વિનય ધર્મથી યુક્ત બની सुत्तं अत्थं च तदुभयं पुच्छमाणस्स–सूत्र अर्थ तदुभय पृच्छत: સૂત્ર–અર્થ અને સૂત્ર અર્થ બન્નેને પુછવાવાળા सीसस्स–

सूत्रपदनिक्षेपनामक द्वितीय द्वारम्—

अथ-सूत्रपदनिक्षेप । द्रव्यसूत्र-कार्पासादिकम् । भावसूत्र तु-अस्मिन् ज्ञानाधिकारे सूचक ज्ञान श्रुतज्ञानम्, तस्यैव स्वपरार्थसूचकत्वात्, श्रूयते यत् तत् श्रुत ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञान, श्रुत च तद् ज्ञान श्रुतज्ञानम् । तच-एकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकानि, दृष्टिवादश्च । तदुक्तम्—

" एक्कारसमगाइ, पइन्नग दिट्ठिवाओ य " इति । (उ २८ अ २३ गा)

॥ इति द्वितीय सूत्रपदनिक्षेपद्वारम् ॥

अथ तृतीय सूत्रलक्षणद्वारम्—

यत् सूत्र सूत्रलक्षणोपेत तदेवोच्चारणीयम्, लक्षणरहित हि सूत्र विवक्षितमर्थं न साधयति, तस्माल्लक्षणयुक्तमेव सूत्रमिष्यते, अत सूत्रलक्षण वाच्यम् । तद् यथा—

अप्पक्खर महत्थ, बत्तीसदोसविरहियं ज च ।
लक्खणजुत्त सुत्त, अट्ठहि य गुणेहि उववेय ॥

जिसके सेवन से-उपासना करने से-उसके द्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करने से-अष्टविध कर्मों का आत्मा से निर्गमन हो जाय उसका नाम सूत्र है । १ ।

सूत्र पद निक्षेप नामक दूसरा द्वार कहते हैं—

सूत्र के दो भेद हैं-१ द्रव्यसूत्र, २ भावसूत्र । कपास आदि से बना हुआ द्रव्यसूत्र है । भावश्रुत का नाम भावसूत्र है । इससे ही स्वरूप और परस्वरूप का सूचन-अर्थात् बोध होता है । जो सुना जाय वह श्रुत एव जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है । श्रुतरूप जो ज्ञान है उस का नाम श्रुतज्ञान है । ११ अग प्रकीर्णक (पइन्ना) एव दृष्टिवाद ये सब श्रुतज्ञान स्वरूप हैं । कहा भी है-"एक्कारसमंगाइ पइन्नगं दिट्ठिवाओय" । २ ।

કરવાથી તેના દ્વારા પ્રતિપાદિત માર્ગનુ અનુસરણ કરવાથી આઠ પ્રકારના કર્મોનુ આત્માથી નિર્ગમન થઈ જાય તેનુ નામ સૂત્ર છે ॥ ૧ ॥

સૂત્રપદ નિક્ષેપ નામનુ બીજુ દ્વાર કહે છે—

સૂત્રના બે ભેદ છે—૧ દ્રવ્યસૂત્ર, ૨ ભાવસૂત્ર કપાસ વગેરેથી બનેલ દ્રવ્યસૂત્ર છે, ભાવશ્રુતનુ નામ ભાવસૂત્ર છે આનાથી જ સ્વ સ્વરૂપ અને પર સ્વરૂપનુ સૂચન-અર્થાત્ બોધ થાય છે જે સાંભળી શકાય તે શ્રુત અને જેનાથી જાણી શકાય તે જ્ઞાન છે શ્રુતરૂપ જે જ્ઞાન છે એનુ નામ શ્રુતજ્ઞાન છે ૧૧ અગ પ્રકિર્ણક (પઈન્ના) અને દષ્ટીવાદ એ બધા શ્રુતજ્ઞાન સ્વરૂપ છે કહ્યુ પણ છે કે-एक्कारसमगाइ पइन्नग दिट्ठिवाओ य

ननु कः सूत्रशब्दार्थः ?–उच्यते–सूचयतीति सूत्रम्, यथा सूची सूत्रेण सूच्यते, सूचीसलग्न यत् सूत्र तदेव सूच्याः सूचकं प्रबोधक भवति, तथाऽर्थसंबद्ध सूत्र, वाच्यवाचकभावसम्बन्धेन यावानर्थः सूत्रे विद्यमानस्तस्य तस्यार्थस्य सूचक सूत्रम्। एवमर्थस्य सूचनात् सूत्रम् ॥ १ ॥ अथवा–सीव्यतीति सूत्रम्। यथा–सूत्र–तन्तुः अङ्गरक्षिकादीनि सीव्यति, एवमर्थं च पद सीव्यति=योजयति–एवं च सीवनात् सूत्रमिति ॥ २ ॥ अथवा–स्रवतीति सूत्रम् यथा–चन्द्रकान्तमणि चन्द्रकिरणसंनिधानाज्जलं स्रवति–प्रादुर्भावयति। एव सूत्रमप्याचार्यसंनिधानादर्थं प्रस्रवति तथा च स्रवणात् सूत्रमिति ॥ ३ ॥ अथवा–सरतीति सूत्रम्, अष्टविध कर्म सरति–निर्गच्छति येन तत् सूत्रम् ॥ ४ ॥

॥ इति प्रथम सूत्रशब्दार्थद्वारम् ॥ १ ॥

सूचयतीति सूत्रम्—

सूत्र शब्द का अर्थ–जिस प्रकार सूई सलग्न सूत्र सूई का प्रबोधक होता है उसी तरह अर्थ सबद्ध सूत्र वाच्य वाचकभाव सबंध से जितना २ अर्थ अपने में विद्यमान होता है उतने २ अर्थ का सूचक होता है, इस तरह "सूचयतीति सूत्रम्" अर्थ का सूचक होने से सूत्र कहा गया है। यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। अथवा–"सीव्यतीति सूत्रम्"–जिस प्रकार डोरा अंगरक्षिका–कुर्ता–आदि वस्त्रों को सीता है परस्पर में जोड़ देता है–उसी तरह सूत्र भी अर्थ को योजित कर देता है। अथवा–"स्रवतीति सूत्रम्"–जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि चंद्र किरणों के संपर्क से द्रवित हो जाता है–पानी छोड़ता है–उसी प्रकार सूत्र भी आचार्य के संनिधान से अर्थ को अपनेमें प्रकट कर देता है। अथवा–"सरतीति सूत्रम्"–

સૂત્ર શબ્દનો અર્થ–જે રીતે સોય સલગ્ન સૂત્ર સોયનો પ્રબોધક બને છે તેવી રીતે અર્થ સંબદ્ધ સૂત્ર વાચ્ય વાચક ભાવ સંબંધથી જેટલા જેટલા અર્થ તેનામાં વિદ્યમાન હોય છે, એટલા એટલા અર્થનો સૂચક હોય છે "सूचयतीति सूत्रम्" અર્થનો સૂચક હોવાથી જ સૂત્ર કહેવામાં આવેલ છે આ વ્યુત્પત્તિલભ્ય અર્થ છે અથવા–सीव्यतीति सूत्रम् જે રીતે દોરો અંગનું રક્ષણ કરનાર કુર્તા આદિ વસ્ત્રોને સીવે છે, પરસ્પરથી જોડી દે છે એવી જ રીતે સૂત્ર પણ અર્થને યોજનાર હોય છે અથવા स्रवतीतिसूत्रम् જે રીતે ચન્દ્રકાન્ત મણી ચન્દ્રકિરણોના સંપર્કથી દ્રવિત બને છે પાણી છોડે છે–તે પ્રકારે સૂત્ર પણ આચાર્યના સંનિધાનથી અર્થને કે જે પોતાનામાં સમાયેલ છે તે પ્રગટ કરી દે છે અથવા सरतीति सूत्रम् જેના સેવનથી–

'महाक्षर महार्थं' यथा–दृष्टिवाद॰ ॥ ४ ॥ यच्च द्वात्रिंशद्दोषविरहित= अलीकादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषैर्वर्जितं तथाऽष्टभिर्गुणैरुपेतं सूत्र तल्लक्षणयुक्त सूत्रं भवति तत् सूत्र पठनीयमित्यर्थ॰ ।

अथ–सूत्रदोषा'—

अथ सूत्राणां द्वात्रिंशद्दोषा उच्यन्ते—

अलियमुवघायजणय, णिरत्थगमवत्थय छल दुहिल ।
निस्सारमहियमूण, पुणरुत्त वाहयमजुत्त ॥ १ ॥
कमभिन्न–वयणभिन्ने, विभत्तिभिन्न च लिंगभिन्न च ।
अणभिहियमपयमेव य, समावहीण ववहिय च ॥ २ ॥
काल–जति–च्छवि–दोसो, समयविरुद्ध च वयणमित्त च ।
अत्थावत्ती दोसो, हवइ य असमासदोसो य ॥ ३ ॥
उवमा रूवगदोसो, निद्देसपयत्थसधिदोसो य ।
एए य सुत्तदोसा, बत्तीस हुति नायव्वा ॥ ४ ॥

छाया—अलीकम् १, उपघातजनक २, निरर्थक ३, अपार्थक ४, छल ५, द्रुहिलम् ६, नि'सारम् ७, अधिकम् ८, ऊनम् ९, पुनरुक्त १०, व्याहत ११, अयुक्तम् १२, ॥ १ ॥

क्रमभिन्न १३, वचनभिन्ने १४, विभक्तिभिन्न च १५, लिङ्गभिन्न च १६, अनभिहित १७, अपदमेव च १८, स्वभावहीन १९, व्यवहितं च २० ॥ २ ॥

तथा बृहत्कल्पादि सूत्र २ । महा अक्षर वाला हो पर अर्थ अल्प हो जैसे–ज्ञाताध्ययन आदि ३ । महाक्षर वाला हो और अर्थ भी जिसका महान् हो जैसे दृष्टिवाद ४ । ३२ बत्तीस दोष सूत्र के ये हैं—

३२ दोष सूत्र के–अलीक १, उपघातजनक २, निरर्थक ३, अपार्थक ४, छल ५, द्रुहिल ६, नि सार ७, अधिक ८, ऊन ९, पुनरुक्त १०, व्याहत ११, अयुक्त १२, क्रमभिन्न १३, वचनभिन्न १४, विभक्तिभिन्न १५, लिङ्गभिन्न १६, अनभिहित १७, अपद १८, स्वभावहीन १९, व्यवहित

લ્પાદિ સૂત્ર ૨ વધુ અક્ષરવાળા હોય પણ અર્થ નાનો હોય જેવા જ્ઞાતાધ્યયન આદિ ૩ વધુ અક્ષરવાળા હોય અને અર્થ પણ જેનો મહાન હોય જેવાં દષ્ટીવાદ ૪ સૂત્રના બત્રીસ દોષ આ છે

અલીક ૧, ઉપઘાતજનક ૨, નિરર્થક ૩, અપાર્થક ૪, છલ ૫, દ્રુહિલ ૬, નિઃસાર ૭, અધિક ૮, ઉન ૯, પુનરુક્ત ૧૦, વ્યાહત ૧૧, અયુક્ત ૧૨, ક્રમભિન્ન ૧૩, વચનભિન્ન ૧૪, વિભક્તિભિન્ન ૧૫, લિગભિન્ન ૧૬, અનભિહિત ૧૭, અપદ ૧૮, સ્વભાવહીન ૧૯, વ્યવહિત ૨૦, કાલદોષ ૨૧, યતિ-

यद् अल्पाक्षरं, तथा-महार्थं च भवति, अत्र "अल्पाक्षरं महार्थम्" इति विशेषणद्वये चत्वारो भङ्गा भवन्ति, यथा—अल्पाक्षरमल्पार्थम्' यथा कार्पासादिकम् ॥ १ ॥ 'अल्पाक्षरं-महार्थम्' यथा-सामायिक बृहत्कल्पादि च ॥ २ ॥ 'महाक्षरमल्पार्थम्"। यथा—ज्ञाताध्ययनानि, अन्यच्च यदस्यां कोटौ व्यवस्थितम्।

अथ सूत्रलक्षण नाम का तीसरा द्वार कहते हैं—जो सूत्र सूत्रलक्षण से युक्त है वही उच्चारण करने के योग्य होता है। और उसीसे अपने वास्तविक अर्थ का बोध होता है। इससे विपरीत सूत्र द्वारा विवक्षित अर्थ की प्रतिपत्ति-ज्ञान नहीं हो सकती है क्यों कि उससे यथार्थ अर्थ का प्रकाशन नहीं होता है। इस लिये "सूत्र का क्या लक्षण है" इस प्रकार के प्रश्न के समाधान निमित्त उसका लक्षण कहा जाता है।

"अप्पक्खर महत्थ, बत्तीसदोस, विरहिय ज च।
लक्खणजुत्त सुत्तं, अट्ठहिय गुणेहि उववेय" ॥ १ ॥

जिसमें अल्प अक्षर होते हैं और महान् जिसका अर्थ होता है एवं बत्तीस दोषों से जो रहित होता है तथा आठगुणों से जो युक्त होता है वह सूत्र है "अल्प अक्षर वाला हो एव अर्थ जिसका महान् हो" इस प्रकार के सूत्र के विशेषण से ये ४ भंग होते हैं-अल्प अक्षर वाला हो एवं अल्प अर्थ वाला हो जैसे कपास आदि का बना हुआ सूत १। अल्प अक्षर वाला हो, पर जिसका महान् अर्थ हो जैसे सामायिक सूत्र,

હવે સૂત્ર લક્ષણ નામનું ત્રીજુ દ્વાર કહે છે—

જે સૂત્ર સૂત્રલક્ષણથી યુક્ત છે તે જ ઉચ્ચારણ કરવા માટે યોગ્ય છે, અને એનાથી પોતાના વાસ્તવિક અર્થનો બોધ થાય છે એનાથી વિપરીત સૂત્રથી વિવક્ષિત અર્થની પ્રતિપત્તિ-જ્ઞાન થઈ શકતું નથી, કારણ કે, એનાથી યથાર્થ અર્થનું પ્રકાશન થતું નથી.

अप्पक्खर महत्थ बत्तीस दोसविरहियं ज च।

लक्खणजुत्त सुत्त अट्ठहियगुणेहि उववेय જેમાં અક્ષર ઓછા હોય છે અને અર્થ મહાન હોય છે જે બત્રીસ દોષોથી રહિત હોય છે તથા આઠ ગુણોથી જે યુક્ત હોય છે તે સૂત્ર છે. "થોડા અક્ષરવાળા હોય અને અર્થ જેનો મહાન હોય"

આ પ્રકારના સૂત્રના વિશેષણથી આ ચાર ભંગ થાય છે થોડા અક્ષર વાળા હોય અથવા અલ્પ અર્થવાળા હોય. જેમ કે કપાસ આદિથી બનેલ સુતર ૧. થોડા અક્ષરવાળા હોય પણ જેનો અર્થ મહાન હોય, જેવાં સામાયિક

यथा- 'अ, आ, इ, ई,' इत्यादि । डित्थादिवद्वा ॥ ३ ॥ अपार्थकम्-असबद्धार्थकम्, यथा-" दश दाडिमानि षडपूपा, सप्त गर्दभपुच्छा., इत्यादि ॥ ४ ॥

छल—यत्रानिष्टस्यार्थान्तरस्य सभवाद् विवक्षितार्थोपघातः कर्तुं शक्यते तच्छलम्, यथा—' नवकम्बलो देवदत्त' ' इत्यादि, अत्र—नूतनकम्बलस्य विवक्षितार्थस्य नवसख्यककम्बलविषयकबोधसभवादुपघात कर्तुं शक्यते ॥ ५ ॥

द्रुहिल—जन्तुनामहितोपदेशकत्वेन पापव्यापारपोषकम्, यथा—

अनुष्टुप्छन्द —एतावानेव लोकोऽय, यावानिन्द्रियगोचर. ।
भद्रे ! वृकपद पश्य, यद् वदन्त्यबहुश्रुता. ॥ १ ॥

वियोगिनी छन्द.—पिव खाद च चारुलोचने, यदतीत वरगात्रि ! तन्न ते ।
नहि भीरु ! गत निवर्तते, समुदयमात्रमिद कलेवरम् ॥ २ ॥

नहीं पड़ता; जैसे—अ आ इ ई इत्यादि ॥ ३ ॥ असबद्ध अर्थ जिस सूत्र द्वारा कहा जाता है वह अपार्थक दोप वाला सूत्र माना जाता है—जैसे दशदाडिम, छह मालपुए, सात गधे की पूछें इत्यादि ॥ ४ ॥ ये सब सूत्र असबद्ध अर्थ के प्रतिपादक हैं । जहा अनिष्ट अर्थान्तर की सभावना से विवक्षित अर्थ का अपलाप किया जा सकता है वह छलदोप है जैसे किसी ने कहा कि " नव कम्बलोऽयं देवदत्त. " देवदत्त नवकम्बल वाला है—यहा नव शब्द का अर्थ नूतन है, और इसी अर्थ में नव शब्द विवक्षित हुआ है, परतु इस अर्थ को उपघात करने वाला यह कह देता है कि ९ सख्या युक्त कम्बल इसके पास कहा है एक ही कम्बल तो है । इस प्रकार के अर्थ की सभावना नव शब्द से हुई है । अत. विवक्षित अर्थ का उपघात जिस शब्द से युक्त सूत्र का होना, उपघात दोपावशिष्ट माना जाता है

જ મળતો નથી, જેમ અ આ ઇ ઈ ઈત્યાદિ (૩) અસબદ્ધ અર્થ જે સૂત્ર દ્વારા કહેવામાં આવે છે તે અપાર્થક દોષવાળા સૂત્ર માનવામાં આવે છે જેમ દસ દાડમ, છ પુઆ, સાત ગધેડાની પૂછ ઈત્યાદિ. (૪) આ બધા સૂત્ર અસબદ્ધ અર્થનાં પ્રતિપાદક છે જ્યાં અનિષ્ટ અર્થાન્તરની સભાવનાથી વિવક્ષિત અર્થનો અપલાપ કરવામાં આવે છે તે છલદોષ છે જેમ કોઈએ કહ્યુ કે, "નવ કમ્બલોઽય દેવદત્ત" આ દેવદત્ત નવ કમ્બલવાળા છે—અહિં નવ શબ્દનો અર્થ નૂતન છે અને આજ અર્થમા નવ શબ્દ વિવક્ષિત થયેલ છે પરતુ આ અર્થને ઉપઘાત કરવાવાળા એવુ કહી દે છે કે, નવ સખ્યા યુક્ત કમ્બલ એમની પાસે ક્યાં છે એક જ કમ્બલ છે આ પ્રકારે અર્થની સભાવના નવ શબ્દથી થઈ છે વિવક્ષિત અર્થનો ઉપઘાત જે સૂત્રમાં થાય છે એ શબ્દથી યુક્ત સૂત્રનુ હોવુ ઉપઘાત દોષાવિશિષ્ટ માનવામા આવે છે (૫)

काल-यति-च्छविदोष. (कालदोषः २१, यतिदोषः २२, छविदोषः २३) समयविरुद्ध च २४, वचनमात्र च २५, । अर्थापत्तिर्दोषो २६, भवति च असमास दोषश्च २७ ॥ ३ ॥

उपमा २८,-रूपकदोषो २९, निर्देश ३०,-पदार्थ ३१,-सधिदोषश्च ३२, एते तु सूत्रदोषा द्वात्रिंशद् भवन्ति ज्ञातव्या. ॥ ४ ॥

व्याख्या—अलीकम्-अनृतम् तच्च द्विधा-अभूतोद्भावन भूतनिह्नवश्च । यथा-' ईश्वरकर्तृकं जगत् ' इत्यादि-अभूतोद्भावनम् । ' नास्ति आत्मा ' इत्यादिकस्तु भूतनिह्नव ॥ १ ॥ उपघात —सत्त्वघातादि , तज्जनक यथा-' वेदविहिता हिंसा धर्माय ' इत्यादि ॥ २ ॥ निरर्थक-यत्र वर्णाना क्रमनिर्देशमात्रमुपलभ्यते न त्वर्थो

२०, कालदोष २१, यतिदोप २२, छविदोप २३, समयविरुद्ध २४, वचनमात्र २५, अर्थापत्ति २६, असमासदोप २७, उपमा २८, रूपक २९, निर्देश ३०, पदार्थ ३१, एव सधिदोप ३२। कहा भी है-

' अलिय मुवघायजणय ' इत्यादि—

इन ३२ दोषों का स्वरूप इस प्रकार है-अलीक नाम असत्य का है यह दो प्रकार का होता है-अभूतोद्भावन १ । भूतनिह्नव है २ । जैसे-" ईश्वर कर्तृक जगत् इत्यादि " जगत् को ईश्वर ने बनाया है-इस प्रकार का प्रतिपादक सूत्र अभूतोद्भावक है नास्ति आत्मा-आत्मा नहीं इस प्रकार जमाली द्वारा कथित सूत्र भूतनिह्नव स्वरूप है ॥१॥ उपघात शब्द का अर्थ है प्राणियों की हिंसा आदिका प्ररूपण करना । इस बात के प्ररूपक सूत्र उपघात दोषवाले माने जाते हैं-जैसे कहना कि वेदविहिता हिंसा धर्माय " वेदविहित हिंसा धर्म के लिये है " ॥ २ ॥ जिसमें सिर्फ वर्णों का क्रम ही निर्दिष्ट हो वह निरर्थक दोष है-इसमें अर्थ का पता

દોષ ૨૨, છવિદોષ ૨૩, સમયવિરુદ્ધ ૨૪, વચનમાત્ર ૨૫, અર્થાપત્તિ ૨૬, અસમાસ દોષ ૨૭, ઉપમા ૨૮, રૂપક ૨૯, નિર્દેશ ૩૦, પદાર્થ ૩૧ અને સંધીદોષ ૩૨, तदुक्त—" अलियमुवघाय जणय० " ઈત્યાદિ ।

આ બત્રીસ દોષોનું સ્વરૂપ આ પ્રકારે છે—અલીક નામ અસત્યનું છે આ બે પ્રકારે છે, ૧ અભૂતોદ્ભાવન, ૨ ભૂતનિહ્નવ, જેમ-' ઈશ્વર કર્તૃક જગત ઈત્યાદિ" જગતને ઈશ્વરે બનાવ્યું છે-આ પ્રકારે પ્રતિપાદિત સૂત્ર અભૂતોદ્ભાવક છે, નાસ્તિ આત્મ-આત્મા નથી, આ પ્રકારના જમાલી દ્વારા કહેવાયેલ સૂત્ર ભૂતનિહ્નવ સ્વરૂપ છે ઉપઘાત શબ્દનો અર્થ છે પ્રાણીઓની હિંસા આદિનું પ્રરૂપણ કરવું, આ વાતને પ્રરૂપક સૂત્ર ઉપઘાત દોષવાળા માનવામાં આવે છે-જેમ કહેવું કે, वेदविहिता हिंसा धर्माय (२)" વેદ વિહિત હિંસા ધર્મના માટે છે" જેમાં ફક્ત વર્ણોના ક્રમનોજ નિર્દેશ હોય તે નિરર્થક દોષ છે,-આમા અર્થ

ऊनम्—अक्षरपदादिभिर्हीनम् । अथवा-हेतुदृष्टान्ताभ्यामेव हीनम् ऊनम् । यथा-अनित्य शब्दो घटवदिति । अत्र हेतुर्नास्ति, यथा वा 'अनित्य. शब्द कृतकत्वाद्' इत्यादि, अत्र-घटादिरूपो दृष्टान्तो नास्ति ॥ ९ ॥

पुनरुक्त त्रिधा-शब्दतोऽर्थतश्च । तथा-अर्थादापन्नस्य पुनर्वचन-पुनरुक्त । तत्र शब्दतः पुनरुक्त यथा-घट', घट , इत्यादि । अर्थत. पुनरुक्त यथा-घटः, कुट', कुम्भ इत्यादि । अर्थादापन्नस्य पुनर्वचन यथा-पीनोऽय देवदत्तो, दिवा न भुङ्क्ते इत्युक्ते अर्थादापन्न-' रात्रौ भुङ्क्ते ' इति, तत्रार्थादापन्नमपि ' रात्रौ भुङ्क्ते ' इति यो ब्रूयात् तस्य पुनरुक्तता ॥ १० ॥

व्याहत--यत्र पूर्वेण पर विहन्यते । यथा—

" कर्म चास्ति फल चास्ति कर्ता न त्वस्ति कर्मणाम् " इत्यादि ।

अक्षर एव पद आदि से हीन होता है वहा ऊन नामक दोप माना जाता है । अथवा हेतु एव दृष्टान्त से जो हीन होता है वहा भी यह दोप माना जाता है। जैसे "अनित्य. शब्द घटवत्" यह वाक्य हेतु से हीन है ॥९॥ पुनरुक्त दोप शब्द, अर्थ एव प्रसगादि से प्राप्त अर्थ के पुनः कथन से होता है । घट घट यहां शब्द की अपेक्षा, घट कुभ कुट यहां अर्थ की अपेक्षा तथा "पीनोऽय देवदत्त. दिवा न भुक्ते" यहा अर्थात् प्रसक्त अर्थ रात्रि में भोजन करना है फिर भी "रात्रौ भुक्ते" रात्रि में खाता है यह कहना पुनरुक्ति दोप से दूपित माना जाता है ॥ १० ॥ पूर्व से पर जहा विरोध होता है, वहा व्याहत दोप माना जाता है—जैसे—किसी ने कहा कि कर्म हैं फल हैं परन्तु कर्मों का कर्त्ता कोई नहीं है। यह वाक्य पूर्वापर में

અને એ દષ્ટાંત નહી (૮) જે અક્ષર અને પદ આદિથી હીન હોય છે ત્યાં ઉન નામનો દોષ માનવામાં આવે છે અથવા હેતુ અને દષ્ટાંતથી જ હીન હોય છે, ત્યા પણ એ દોષ માનવામાં આવે છે જેવી રીતે अनित्य शब्दः घटवत् આ વાક્ય હેતુથી હીન છે अनित्य शब्द कृतकत्वात् અહિં દષ્ટાંતથી વિહિનતા છે (૯) પુનરુક્ત દોષ શબ્દ, અર્થ અને પ્રસગ આદિથી પ્રાપ્ત અર્થના પુન. કથનથી થાય છે ઘટ ઘટ અહિં શબ્દની અપેક્ષા ઘટ કુભ કુટ અહિં અર્થની અપેક્ષા તથા "पीनोऽयं देवदत्त दिवा न भुक्ते" અહિં અર્થાત્ પ્રસક્ત અર્થ રાત્રીમાં ભોજન કરવુ એ છે છતા પણ એ કહેવું છે કે रात्रौ भुक्ते એ રાત્રીમા ખાય છે, આમ કહેવું પુનરુક્તિ દોષથી દુષિત માનવામાં આવે છે (૧૦) પૂર્વથી પરનો જ્યાં વિરોધ છે, ત્યાં વ્યાહત દોષ માનવામાં આવે છે, જેમ કે, કોઈએ કહ્યુ કે, કર્મ છે, ફળ છે, પરતુ કર્મોનો કર્તા કોઈ નથી આ વાક્ય

इत्यादि ॥ ६ ॥

नि सार–यथाविधयुक्तिररित परिफल्गु, यथा–सौगतादिशास्त्रम् ॥ ७ ॥

अधिकम्–अक्षरपदादिभिरतिमात्रम् । अथवा हेतोर्दृष्टान्तस्य वाऽऽधिक्ये सति अधिक, यथा–अनित्यः शब्दः, कृतकत्व प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्यां घटपटवदित्यादि। एकस्मिन् साध्ये एक एव हेतुर्दृष्टान्तश्च वक्तव्य । अत्र च प्रत्येक द्वयाभिधानादाधिक्यमिति भावः ॥ ८ ॥

॥५॥ जन्तुओं को अहित का उपदेशक होने से जो पापव्यापार का पोषक सूत्र होता है वह द्रुहिल दोषवाला सूत्र माना जाता है । जैसे–चार्वाक का यह कहना कि–यह लोक जितना प्रत्यक्ष से दिखता है उतना ही है इससे आगे नहीं । पुण्य पाप एवं स्वर्ग नरक यह भी नहीं है । इस लिये खाओ पीओ मस्त रहो और आनद से अपने समय को निकालो ॥६॥ युक्ति रहित जो सूत्र होता है वह निस्सार दोष वाला माना जाता है, जैसे सौगत आदि का शास्त्र ॥ ७ ॥ जिसमें अक्षर पद आदि आवश्यकता से अधिक होते हैं वह सूत्र अधिक दोष सयुक्त जानना चाहिये, अथवा–जिसमें एक हेतु और दृष्टान्त के अतिरिक्त हेतु और दृष्टान्त हों वह भी अधिक दोषवाला सूत्र मानना चाहिये–जैसे–"अनित्यः शब्दः कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटपटवदिति" शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है एव प्रयत्नपूर्वक होता है जैसे घट और पट ॥ ७ ॥ इस अनुमान में एक हेतु और १ दृष्टान्त अधिक है। एक साध्य में १ ही हेतु और १ ही दृष्टान्त होता है । दो हेतु और दो दृष्टान्त नहीं ॥ ८ ॥ जो

જન્તુઓના અહિતના ઉપદેશક હોવાથી જે પાપ વ્યપારને પોષક સૂત્ર હોય છે, તે દ્રુહિલ દોષવાળા સૂત્ર માનવામાં આવે છે જેમ ચાર્વાક કહે છે કે—આ લોક જે રીતે પ્રત્યક્ષથી દેખાય છે એટલું જ છે એનાથી આગળ નથી, પુણ્ય, પાપ અને સ્વર્ગ નરક એ પણ નથી, આ માટે ખાઓ પીઓ અને મસ્ત રહો તથા આનંદથી સમયને પસાર કરો, (૬) યુક્તિ રહિત જે સૂત્ર હોય છે તે નિસ્સાર દોષવાળા મનાય છે જેમ સૌગત આદિ શાસ્ત્ર, (૭) જેમા અક્ષર પદ આદિ આવશ્યકતાથી અધિક હોય છે તે સૂત્ર અધિક દોષ સયુક્ત જાણવુ જોઈએ. અથવા જેમાં એક હેતુ અને દ્રષ્ટાતના અતિરિક્ત હેતુ અને દ્રષ્ટાંત હોય તેને પણ અધિક દોષવાળા સૂત્ર માનવા જોઈએ જેમ—"અનિત્યઃ શબ્દઃ કૃતકત્વપ્રયત્નાન્તરીયકત્વાત્ ઘટપટવદિતિ" શબ્દ અનિત્ય છે, કેમ કે, તે કૃતક છે અને પ્રયત્નપૂર્વક થાય છે, જેમ ઘટ અને પટ આ અનુમાનમા એક હેતુ અને એક દ્રષ્ટાંત અધિક છે એક સાધ્યમાં એક જ હેતુ અને એક જ દ્રષ્ટાંત હોય છે બે

शब्दरूपगन्धरसस्पर्शा इति वक्तव्ये रूपगन्धशब्दस्पर्शरसा इति ब्रूयाद्' इत्यादि ॥१३॥

वचनभिन्न—यत्र वचनव्यत्ययः, यथा—'वृक्षा ऋतौ पुष्पितः' इत्यादि ॥१४॥

विभक्तिभिन्न—यत्र विभक्तिव्यत्ययः, यथा—'वृक्षं पश्य' इति वक्तव्ये 'वृक्षः पश्य' इति ब्रूयात्' इत्यादि ॥ १५ ॥

लिङ्गभिन्न—यत्र लिङ्गव्यत्ययः, यथा—'इयं स्त्री' इति वक्तव्ये 'अयं स्त्री' इति ब्रूयात्, इत्यादि ॥ १६ ॥

अनभिहित—स्वसिद्धान्तोपदिष्टाधिककथनम्। यथा—राशिद्वयमिति वक्तव्ये राशित्रयकथनम्, इत्यादि ॥ १७ ॥

का दोष आता है। क्यों कि सूत्र में जिस क्रम से इन्द्रियों का वर्णन किया गया है उसी क्रम से उनके विषय का भी वर्णन करना चाहिये ॥ १३ ॥ जहां वचन का व्यत्यय होता है वहां वचनभिन्न नामका दोष होता है जैसे "वृक्षाः ऋतौ पुष्पितः" यहां वचन व्यत्यय है। क्यों कि "पुष्पितः" की जगह "पुष्पिताः" ऐसा बहुवचन होना चाहिये ॥१४॥ जहां विभक्ति का व्यत्यय होता है वहाँ विभक्तिभिन्न दोष माना जाता है जैसे "वृक्षः पश्य" यहां पर विभक्ति भिन्न दोष है यहाँ, 'वृक्षः' की जगह 'वृक्षं' ऐसा होना चाहिये॥ १५॥ जहां स्त्रीलिङ्ग आदि का व्यत्यय होता है वह लिङ्गभिन्न दोष है जैसे; "अयं स्त्री" यहां हुआ है। 'अयं' की जगह 'इयं' होनी चाहिये सो 'इयं' की जगह 'अयं' कर दिया यह लिङ्गव्यत्यय है ॥ १६ ॥ जो बात सिद्धान्त में प्रतिपादित नहीं है उसे भी मानना अर्थात् सिद्धान्तकथित बात से भी

भिन्न नामनो दोष आवे छे केम के, सूत्रमा जे क्रमथी इन्द्रियोनुं वर्णन करवामां आव्युं छे एज क्रमथी एना विषयनुं पण वर्णन करवुं जोईए. (१३) ज्यां वचननो उलट-सुलट व्यत्यय थाय छे त्यां वचनभिन्न नामनो दोष लागे छे जेम वृक्षाः ऋतौ पुष्पितः-अहीं वचनव्यत्यय छे, केमके पुष्पितः नी जग्याए "पुष्पिताः" एम बहुवचन होवुं जोईए (१४) ज्यां विभक्तिनो व्यत्यय होय छे ते विभक्ति भिन्न दोष मानवामां आवे छे जेम "वृक्षः पश्य" अहिं पद छे "वृक्षं पश्य" ए ठीक छे वृक्षं नी जग्याए वृक्षः आ विभक्तिनो व्यत्यय छे (१५) ज्यां स्त्रीलिंग आदिनो व्यत्यय बने छे ते लिंग भिन्न दोष छे, जेम अयं स्त्री अहीं अयं नी जग्याए इयं होवुं जोईए ते इयं नी जग्याए अयं करी दीधुं ए लिंगव्यत्यय छे, (१६) जे वात सिद्धांतमां प्रतिपादित नथी तेने मानवी, अर्थात् सिद्धांत कथित वातथी पण अधिक जे युक्ति

पूर्वे-' कर्म चास्ति ' इत्युक्तम् , तेन-कर्मणां कर्ता नास्तीत्यस्य विघातो भवति। यथा वा—अय बालको वन्ध्यामसूत , इत्यादि ॥ ११ ॥

अयुक्तम्—बुद्धया चिन्त्यमानम्-अनुपपत्तिक्षमम् । यथा—

" तेषां कटतटभ्रष्टै,-र्गजानां मदबिन्दुभि. ।
प्रावर्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥ १ ॥

यथा वा—श्रावकस्य मुनिदर्शनहर्षाश्रुभिरुपाश्रयः संभृत ॥ १२ ॥

क्रमभिन्नं-यत्र क्रमो नाराध्यते। यथा-' श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनानां विषया

विरोधी है कारण कि जब कर्म है तो कोई न कोई इनका कर्त्ता भी है-फिर यह कहना कि इनका कोई कर्त्ता नहीं है यह व्याहत दोष है । इसी तरह " अयबालकोवन्ध्यामसूतः " अर्थात् यह बालक वन्ध्यापुत्र है यह भी समझना चाहिये ॥ ११ ॥ जो युक्ति सह नहीं होता है वहा अयुक्त दोष आता है जैसे-हाथियों का वर्णन करते समय ऐसा कहा जाय कि उनके हाथियो के गण्डस्थल से च्युत मदजल का इतना अधिक प्रवाह बहा कि वहां एक घोर नदी हो गई जिसमें हाथी, अश्व एव रथ सब के सब बह गये । यह बुद्धिकल्पित चीज युक्ति सह नहीं है। इस लिये ये अयुक्त नामका दोष है । इसी तरह यह कथन भी " कि मुनियों के दर्शन से श्रावकों की आखों से इतने आनंदाश्रु निकले कि उपाश्रय भर गया " ॥ १२ ॥ जहा क्रम वर्णन पर ध्यान नहीं रखा जाता है वहां क्रमभिन्न नामका दोष है-जैसे-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनाना विषयाः रूपगंधशब्दस्पर्शरसाः, ऐसा कोई सूत्र बनावें तो उसमें क्रमभिन्न नाम

પૂર્વાપરમાં વિરોધી છે કારણ કે, જ્યારે કર્મ છે તો કોઈને કોઈ તેનો કર્તા પણ હોવો જોઈએ. પછી એ કહેવું કે એનો કોઈ કર્તા નથી એ 'વ્યાહત' દોષ છે આ રીતે " अयं बालको वन्ध्याप्रसूत " અર્થાત્ "આ બાળક વન્ધ્યા પુત્ર છે" એમ કહેવું તે પણ સમજવું જોઈએ. (૧૧) જે યુક્તિ પુર સર નથી ત્યાં અયુક્ત દોષ આવે છે જેમ હાથીઓનું વર્ણન કરતી વખતે એમ કહેવામાં આવે કે તે હાથીઓના ગંડસ્થલથી ચ્યુત મદજળનો એટલો વધુ પ્રવાહ નિકળ્યો કે, ત્યાં એક ઘોર નદી થઈ ગઈ જેમા હાથી, અશ્વ અને રથ આ બધાં તણાઈ ગયાં, આ બુદ્ધિ કલ્પિત ચિજ યુક્તિ સહ નથી. આ માટે અયુક્ત નામનો દોષ છે એવી રીતે " મુનિયોના દર્શનથી શ્રાવકોની આંખોમાંથી એટલાં આસુ વહ્યા કે તેનાથી ઉપાશ્રય ભરાઈ ગયો. આ કથન પણ અયુક્ત દોષવાળુ છે (૧૨) જ્યાં ક્રમવર્ણન ઉપર ધ્યાન નથી રખાતુ ત્યાં ક્રમભિન્ન નામનો દોષ છે-જેમ श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनानां विषया'-रूप-गंध-शब्द-स्पर्श-रसा' એવું કોઈ સૂત્ર બનાવે તો એમાં ક્રમ-

कालदोषो यत्रातीतादिकालव्यत्यय , यथा 'रामो वन मविवेश' इति वक्तव्ये 'रामो वनं मविशति ' इत्यादि ॥ २१ ॥

यतिदोषोऽस्थानविरति', सर्वथाऽविरतिर्वा । यथा—' धम्मो मगलमुक्किट्ठ " इत्यादौ ' धम्मो ' इत्यत्र विराम' । यद्वा—गाथाया अ ते विरामकरणम् ॥ २२ ॥

छविः—अलकार', तेन शून्य छविदोष. । यथा—'वालो धावति' इत्यादि ॥२३॥

समयविरुद्ध—स्वसिद्धान्तविरुद्ध, यथा—स्याद्वादसिद्धान्ते तद्विरुद्धकथनम् ॥२४॥

में सुयन्त तिङन्तात्मक पद का स्वरूप विस्तार से विवेचित करके अथवा अर्थशास्त्र का कथन करके पुन हेतु का कथन करने लग जाना। इसी तरह दया के वर्णन करते समय शील का विस्तृत वर्णन करना और पुन दया का वर्णन करना । इस प्रकार का वर्णन इस दोष वाला जानना चाहिये ॥ २० ॥ जहा अतितादिकाल का व्यत्यय होता है वहा काल-दोष माना जाता है—जैसे—राम वन में प्रविष्ट हुए की जगह ऐसा कहना कि राम वन में प्रवेश करते हैं ॥ २१ ॥ अस्थान में विरति—' अर्थात्—विराम—रुकना ' होना अथवा सर्वथा अविरति—' नही रुकना ' होना उसका नाम यति दोष है । जैसे—धम्मोमंगल मुक्किट्ठं " इत्यादि में धम्मो यहां विराम करना अथवा गाथा का अन्तमें विराम करना ॥ २२ ॥ अलंकार शून्यता में छविदोष होता है—जैसे—" वालो धावति " इत्यादि ॥ २३ ॥ जहा स्वसिद्धान्त से विरुद्ध कहा जाता है वहाँ समय विरुद्ध दोष लगता है—जैसे—स्याद्वादसिद्धान्त में उसके विरुद्ध प्रतिपादन करना

સુબન્ત તિઙન્તાત્મક પદનુ સ્વરૂપ વિસ્તારથી વિવેચિત કરીને અથવા અર્થ શાસ્ત્રનુ કથન કરીને પુન હેતુનું કથન કરવા લાગી જવુ આ રીતે દયાનુ વર્ણન કરતી વખતે શિલનું વિસ્તૃત વર્ણન કરવુ અને ફરીથી દયાનુ વર્ણન કરવુ આ પ્રકારનુ વર્ણન વ્યવહિત દોષવાળુ જાણવુ જોઈએ. (૨૦) જ્યાં અતીતાદિ કાળનો વ્યત્યય થાય છે ત્યાં કાળ દોષ મનાય છે—જેમ રામ વનમાં પ્રવિષ્ટ થયાની જગ્યાએ એવુ કહેવુ કે, રામ વનમાં પ્રવેશ કરે છે (૨૧) અસ્થાનમાં વિરતિ—અર્થાત્—વિરામ—રોકાવું, થવું અથવા સર્વથા અવિરતિ —" ન રોકાવુ " થવુ, તેનુ નામ યતિદોષ છે જેમ—" धम्मो मगलमुक्किट्ठ " ઇત્યાદિમાં ધમ્મો એ જગ્યાએ વિરામ કરવો અથવા ગાથાના અતમાં વિરામ કરવો (૨૨) અલકાર શૂન્યતામાં છવિ દોષ થાય છે જેમ " वालो धावति " છોકરો દોડે છે (૨૩) ઇત્યાદિ જ્યાં સ્વસિદ્ધાંતથી વિરુદ્ધ કહેવામાં આવે છે ત્યાં સમયવિરુદ્ધ દોષ લાગે છે જેમ સ્યાદ્વાદ સિદ્ધાંતમા તેની વિરુદ્ધ પ્રતિપાદન કરવુ (૨૪) યુક્તિશૂન્ય કથન કરવામાં વચન માત્ર નામનુ દૂષણુ આવે છે

अपद—निर्विभक्तिकशब्दोच्चारणरूपम् । यथा–मुनिर्विहरतीति वक्तव्ये मुनि विहरतीति कथनम् ॥ १८ ॥

स्वभावहीनं—यत्र वस्तुस्वभावोऽन्यथा स्थितोऽन्यथाऽभिधीयते तत् । यथा 'शीतो वह्निः' 'रूपवदाकाशम्' इत्यादि ॥ १९ ॥

व्यवहित—यत्र प्रकृतमुक्त्वाऽप्रकृत विस्तरतोऽभिधाय पुनः प्रकृतमुच्यते तद् । यथा–हेतुकथामधिकृत्य सुप्तिङन्तपदलक्षणप्रपञ्चमर्थशास्त्र वा अभिधाय पुनर्हेतुवचनम् । यथा वा–दयां प्रस्तुत्य शीलस्य विस्तरवर्णन विधाय पुनर्दयावर्णनम् ॥२०॥

अधिक जो युक्तियुक्त नहीं है–उस को मानना जैसे–जीवराशि अजीव राशि ये दो ही राशियां हैं । पर ऐसा कहना कि "नो जीव नो अजीव" इस प्रकार तीसरा राशि का वर्णन करना अनभिहित दोष है ॥ १७ ॥ विभक्ति रहित शब्द वाला सूत्र अपद दोष वाला माना जाता है जैसे "मुनिविहरति" यहां हुआ है । क्यों कि सुबन्त एव तिङन्त की पद संज्ञा होती है । निर्विभक्तिक शब्द पद सज्ञक नहीं होता । अतः इस प्रकार का शब्द वाला सूत्र इस दोष से विशिष्ठ माना जाता है । "मुनिर्विहरति" यह शुद्ध है ॥ १८ ॥ जिस सूत्र द्वारा वस्तु का यथावस्ति स्वरूप निरूपित न होकर अन्यथारूप में निरूपित किया जाता है वहां स्वभावहीन दोष होता है । जैसे–अग्नि को शीत एवं आकाश को रूपी कहना ॥ १९ ॥ जहाँ प्रकृत अर्थ को छोड़कर अप्रकृत का विस्तार से वर्णन करके पुनः प्रकृत अर्थ का वर्णन किया जाता है वहां व्यवहित नाम का दोष होता है–जैसे–हेतु के लक्षण के कथन अवसर

યુક્ત નથી તેને માનવી જેમ–જીવરાશી અજીવરાશી એ બે રાશી છે, પણ એમ કહેવું કે નો જીવ–નો અજીવ આ પ્રકારે ત્રીજી રાશીનું વર્ણન કરવું અનભિહિત દોષ છે (૧૭) વિભક્તિરહિત શબ્દવાળા સૂત્ર અપદ દોષવાળા મનાય છે જેમ "મુનિવિહરતિ" અહિં થયેલ છે કેમકે, સુબન્ત અને તિઙન્તની પદ સંજ્ઞા થાય છે નિર્વિભક્તિક શબ્દ પદ સંજ્ઞક થતો નથી એટલે આ પ્રકારના શબ્દવાળા સૂત્ર આ દોષથી વિશિષ્ટ માનવામાં આવે છે 'મુનિર્વિહરતિ" આ શુદ્ધ છે (૧૮) જે સૂત્રથી વસ્તુનું યથાવસ્થિત સ્વરૂપ નિરૂપિત ન થતાં બીજા રૂપમાં નિરૂપિત કરવામા આવે છે ત્યાં સ્વભાવહિન દોષ હોય છે જેમ અગ્નિને શીત અને આકાશને રૂપી કહેવુ (૧૯) જ્યાં પ્રકૃત અર્થને છોડીને અપ્રકૃતનુ વિસ્તારથી વર્ણન કરીને પુન. પ્રકૃત અર્થનું વર્ણન કરવામાં આવે છે ત્યાં વ્યવહિત નામનો દોષ લાગે છે–જેમ હેતુ લક્ષણના કથન

रूपकदोष =अवयविन्यारोपयितव्येऽवयवारोपणम् । यथा–पर्वतादौ रूपयितव्ये शिखरादींस्तदवयवान् रूपयति । गज प्रति उच्चत्वादि धर्मं निरीक्ष्य पर्वताभेदमारोप्य पर्वतोऽयमिति वक्तव्ये शिखरोऽयमिति कथनम् ॥ २९ ॥

निर्देशदोषस्तत्र, यत्र निर्दिष्टपदानामेकवाक्यता न क्रियते, यथा–इह श्रावक उपाश्रये प्रतिक्रामतीत्यभिधातव्ये प्रतिक्रामति शब्द नाभिधत्ते ॥ ३० ॥

पदार्थदोष —यत्र वस्तुनि पर्यायोऽपि सन् पदार्थान्तरत्वेन कल्प्यते, यथा–'सतो भाव सत्ता' इति कृत्वा वस्तुपर्याय एव सत्ता, सा च वैशेषिकै पदसु पदार्थेषु मध्ये पदार्थान्तरत्वेन स्वीकृता, तच्चायुक्तम्–वस्तूनामनन्तपर्यायत्वेन पदार्थानन्त्य–प्रसगादिति ॥ ३१ ॥

उपमा करने में आती है वहा उपमा दोष माना जाता है जैसे कहना कि मेरु सर्षप के समान है अथवा सर्षप मेरुके समान है ॥२८॥ अवयवी का जहा आरोपण करना चाहिये वहा अवयव का आरोपण करना, जैसे–पर्वतके निरूपयितव्य होने पर उस के अवयवभूत शिखरादिकों का निरूपण करना । गज में उच्चत्व आदि धर्म का निरीक्षण कर के उस में पर्वत का रूपक बाधकर फिर ऐसा कहना कि यह शिखर है ॥ २९॥ जहा निर्दिष्ट पदो में एक वाक्यता नहीं की जाती है वहा निर्दिष्ट दोष माना जाता है । जैसे–इस उपाश्रय में श्रावक प्रतिक्रमण करता है ऐसे कहने की जगह सिर्फ इतना ही कहना । '' इह उपाश्रये श्रावकः '' अर्थात् एक वाक्यता प्रदर्शक क्रियापद का प्रयोग नहीं करना ॥ ३० ॥ जिस वस्तुमें पर्याय भी दूसरे पदार्थरूप में कल्पित की जावे वहा पदार्थदोष माना जाता है । जैसे–सत् का भाव ही सत्ता है और यह सत्ता वस्तु की ही

ત્યાં ઉપમાદોષ માનવામા આવે છે જેમ કહેવુ કે, મેરૂ સર્ષવના જેવો છે અથવા સર્ષવ મેરૂના સમાન છે (૨૮) અવયવીનુ જ્યાં આરોપણ કરવુ જોઈએ ત્યા અવયવનુ આરોપણ કરવું, જેમ પર્વતના નિરૂપયિતવ્ય કથન કરવુ જોઈએ ત્યાં એમના શિખરાદિકોનુ નિરૂપણ કરવુ, ગજમા ઉચ્ચત્વ આદિ ધર્મનુ નિરિક્ષણ કરી એમા પવતનુ રૂપક બાધીને પછી એવુ કહેવુ કે એ શિખર છે (૨૯) જ્યા નિર્દિષ્ટ પદોમા એકવાકયતા કરવામા નથી આવતી ત્યા નિર્દિષ્ટ દોષ માનવામાં આવે છે જેમ આ ઉપાશ્રયમા શ્રાવક પ્રતિક્રમણ કરે છે એમ કહેવાને બદલે ફક્ત એટલું જ કહેવુ કે, ' इह उपाश्रये श्रावकः'' અર્થાત્ એક વાકયતા પ્રદર્શક ક્રિયાપદનો પ્રયોગ કરવો નહીં (૩૦) જે વસ્તુમાં પર્યાય પણ બીજા પદાર્થરૂપમા કલ્પિત કરવામાં આવે ત્યાં પદાર્થ દોષ મનાય છે, જેમ સતનો ભાવ જ સત્તા છે અને એ સત્તા વસ્તુની જ એક પર્યાય છે–

वचनमात्र-निर्हेतुक केवलवचनम् , यथा कश्चिद् यथेच्छया कचित् प्रदेशं लोकमध्यतया जनेभ्यः प्ररूपयति ॥ २५ ॥

अर्थापत्तिदोषः—यत्रार्थापत्त्याऽनिष्टमापतति तत्र, यथा-ग्रामकुक्कुटो न हन्तव्यः, इत्युक्तेऽर्थापत्त्या शेषघातोऽदुष्ट इत्यापतति॥ २६ ॥

असमासदोषः—यत्र समासविधिमाप्तौ समास न करोति, व्यत्ययेन वा करोति तत्र । यथा-भगवतो नामनिर्देशे ' महावीरः ' इति वक्तव्ये ' महान् वीरः ' इति कथनम्। यद्वा-समानाधिकरण्येन समासे कर्तव्ये व्यधिकरणेन तत्करणम्। यथा-महतो वीरो महद्वीर इति ॥ २७ ॥

उपमादोषो यत्र हीनोपमा क्रियते । यथा-मेरुः सर्षपोपमः । अधिकोपमा वा क्रियते, यथा-सर्षपो मेरुसन्निभः । अनुपमा वा यथा मेरुः समुद्रोपमः, इत्यादि ॥२८॥

॥ २४ ॥ युक्ति शून्य कथन करने में वचनमात्र नामका दूषण आता है। जैसे-अपनी इच्छा से कल्पना करके कहना कि अमुक प्रदेश लोक के मध्य में है ॥ २५ ॥ जहां पर अर्थापत्ति से अनिष्ट की प्रसक्ति होती, वहां अर्थापत्तिदोष माना जाता है। जैसे-किसी ने कहा कि ग्राम का कुक्कुट (मुर्गा) नहीं मारना चाहिये, तो इससे इस अनिष्ट का आपादन होता है कि शेष जीवों का घात करना दोषावह नहीं है ॥ २६ ॥ जहां समासविधि प्राप्त हो भी तो भी वहां समास नहीं करना, इसमें असमासदोष माना जाता है अथवा व्यत्यय से समास करना इसमें भी समासदोष माना जाता है। जैसे किसी ने पूछा कि अन्तिम तीर्थंकर का नाम क्या है ? वहां महावीर न कह कर महान् वीर ऐसा कह देना। अथवा-समानाधिकरण्य से समास कर्तव्य होने पर व्यधिकरण से समास करना-जैसे-महतो वीरः महद्वीरः ॥२७। जहां हीन उपमा अथवा अधिक

જેમ પોતાની ઇચ્છાથી કલ્પના કરીને કહેવુ કે, અમુક પ્રદેશ લોકના મધ્યમાં છે (૨૫) જ્યાં અર્થાપત્તિથી અનિષ્ટની પ્રસક્તિ થાય છે ત્યાં અર્થાપત્તિ દોષ માનવામાં આવે છે જેમ કોઇએ કહ્યું કે, ગામનો કુકડો મારવો ન જોઈએ, તો આથી એ અનિષ્ટનુ કથન આપાદાન થાય છે કે, શેષ જીવોનો ઘાત કરવો તે દોષાવહ નથી (૨૬) જ્યાં સમાસવિધિ પ્રાપ્ત થાય તો પણ ત્યાં સમાસ ન કરવો એમાં અસમાસ દોષ માનવામા આવે છે, અથવા વ્યત્યયથી સમાસ કરવો એમાં પણ સમાસ દોષ માનવામાં આવે છે, જેમ કોઈએ પૂછ્યુ કે અંતિમ તિર્થંકરનું નામ શું છે ? ત્યાં મહાવીર ન કહેતા મહાન્ વીર એમ કહી દેવુ અથવા સામાનાધિકરણ્યથી સમાસ કર્તવ્ય હોવા છતાં વ્યધિકરણથી સમાસ કરવો, જેમ 'મહતોવીર' મહાવીર ' (૨૭) જ્યાં હિન ઉપમા અથવા અધિક ઉપમા કરવામાં આવે છે

व्याख्या—निर्दोषम्-अलीकादिदोषवर्जितम् ॥ १ ॥ सारवत्-भूमिशब्दवद् बहुपर्यायुक्तम् ॥ २ ॥ हेतुयुक्तं-हेतव -अन्वयव्यतिरेकलक्षणास्तैर्युक्तम् ॥ ३ ॥ अलकृतम्-उपमोत्प्रेक्षाद्यलकारैर्युक्तम् ॥ ४ ॥ उपनीतम्-उपनयोपसहृतम् ॥ ५ ॥ सोपचार-ग्राम्यभणितिरहितम् ॥ ६ ॥ मित-वर्णादिनियतपरिमाणम् ॥ ७ ॥ मधुर-श्रवणमनोहरम् ॥ ८ ॥

अब सूत्रके ८ गुण कौन २ से हैं सो कहते हैं—निर्दोष १, सारवत २, हेतुयुक्त ३, अलकृत ४, उपनीत ५, सोपचार ६, मित ७, एव मधुर ८, कहा भी है—

" निद्दोस सारवत च, हेउजुत्त मलकिय ।
उवणीय सोवायार च, मिय महुरमेव च ॥१॥

जो सूत्र अलीकादि दोषों से वर्जित होता है वहा निर्दोष यह गुण माना जाता है ॥ १ ॥ जिस प्रकार भूमि शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द है, उसी प्रकार अनेक पर्यायों से युक्त जो सूत्र होता है वह "सारवत्" इस गुण से विशिष्ट माना जाता है ॥ २ ॥ अन्वय व्यतिरेक लक्षण हेतु से युक्त हो वह हेतुयुक्त नामक तीसरा गुण है ॥ ३ ॥ उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलकारों से संपन्न सूत्र को अलकृत गुण वाला कहा गया है ॥ ४ ॥ उपनय पूर्वक से उपसहृत-समाप्ति जो सूत्र होता है वह उपवीतगुणवाला कहा गया है ॥ ५ ॥ ग्राम्यभणिति से रहित जो सूत्र होता है अर्थात् जिस सूत्र की भाषा साधारणजनों की भाषा जैसी नहीं होती है वह सूत्र सोपचारगुण से विशिष्ट माना गया है

હવે સૂત્રના આઠ ગુણ કયા કયા છે તે કહે છે-નિર્દોષ, સારવત્, હેતુયુક્ત, અલકૃત, ઉપનીત, સોપચાર, મિત, અને મધુર કહ્યુ પણ છે—

निद्दोसं सारवतं च, हेउजुत्त मलकिय ।
उवणीय सोवयारं च, मिय महुरमेवय ॥ १ ॥

જે સૂત્ર અસત્ય અલીકાદિ દોષોથી વર્જીત હોય છે ત્યાં નિર્દોષ આ ગુણ માનવામાં આવે છે (૧) જે પ્રકારે ભૂમિ શબ્દ જે અનેક પર્યાયવાચી શબ્દ છે એ જ રીતે અનેક પર્યાયોથી યુક્ત જે સૂત્ર હોય છે તે "સારવત્" આ ગુણથી વિશિષ્ટ માનવામાં આવે છે (૨) અન્વય વ્યતિરેક લક્ષણ હેતુથી યુક્ત હોય તે હેતુયુક્ત નામનો ત્રીજો ગુણ છે (૩) ઉપમા ઉત્પ્રેક્ષા આદિ અલ કારોથી સ પન્ન સૂત્રને અલકૃત ગુણવાળા કહેવામાં આવેલ છે (૪) ઉપનય પૂર્વકથી ઉપસહૃત સમાપ્તિ જે સૂત્ર હોય છે તે ઉપવિત ગુણવાળા કહેવાયેલ છે (૫) ગ્રામ્યભણિતિથી રહિત જે સૂત્ર હોય છે અર્થાત્ જે સૂત્રની ભાષા સાધારણ જનોની ભાષા જેવી હોતી નથી તે સૂત્ર સોપચાર ગુણથી વિશિષ્ટ માનવામાં આવેલ છે (૬)

सन्धिदोषः—यत्र सन्धिमाप्तौ त न करोति, दुष्टं वा करोति तत्र, यथा —" संयमाराधनम् " इति वक्तव्ये ' संयम, आराधनम् ' इति कथनम्। यथा वा 'मुनि एतौ' इति वक्तव्ये 'मुन्येतौ' इति कथनम् ॥३२॥ एते द्वात्रिंशत् सूत्रदोषाः।

अथ सूत्रगुणाः—

सूत्राणामष्टौ गुणास्त्वेवम्—

निद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं।
उवणीयं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥ १ ॥

एक पर्याय है-फिर भी वैशेषिक सिद्धान्तकार इसे द्रव्यगुण आदि-पदार्थ से भिन्न पदार्थरूप से स्वीकार करते हैं। अतः उनके सूत्रों में यह दोष आता है। कारण कि इस प्रकार से पर्याय को यदि भिन्न पदार्थ तरीके माना जायगा तो प्रत्येक पदार्थ की अनंत पर्यायें हैं उन सबमें अनंत पदार्थता की प्रसक्ति माननी पड़ेगी, इस प्रकार छह ही भावात्मक पदार्थ है, यह कथनविरुद्ध मानना पड़ेगा ॥३१॥ जहां संधि की प्राप्ति होने पर भी संधि नहीं की जाय वहां सन्धिदोष होता है जैसे—" यह संयम का आराधन करता है " इस स्थानमें संयमाराधन न कह कर " संयम आराधनं " ऐसा कहना। इसी प्रकार " मुनी एतौ " इस जगह " मुन्येतौ " कहना। " मुनी एतौ " यहां व्याकरण सिद्धान्त के अनुसार द्विवचनान्त ईदन्त शब्दकी प्रगृह्य संज्ञा होती है और उससे सन्धिकार्य का अभाव हो जाता है ॥३२॥ इस प्रकार सूत्रके ये बत्तीस (३२) दोष हैं।

वैशेषिक सिद्धांतकार तेने द्रव्यगुण आदि पदार्थथी भिन्न पदार्थ रूपथी स्वीकार करे छे आथी तेमना सूत्रोमां ओ दोष आवे छे कारण के, आ प्रकारथी पर्यायने कदि भिन्न पदार्थ तरीके मानवामां आवे तो प्रत्येक पदार्थनी अनंत पर्यायो छे ओ बधामां अनंत पदार्थतानी प्रसक्ति मानवी जोईशे. आ प्रकारे छ भावात्मक पदार्थ छे, ओ कहेवु विरुद्ध मानवु पडशे. (३१) ज्यां संधिनी प्राप्ति होवा छतां पण संधी न करवामां आवे तो संधी दोष बने छे जेम—" आ संयमनु आराधन करे छे " आ स्थानमां संयमाराधन न कहीने " संयम आराधन " ओम कहेवु आ प्रकारे " मुनि एतौ " आ स्थळे मुन्येतौ कहेवु व्याकरण सिद्धांत अनुसार द्विवचनान्त ईदन्त शब्दनी प्रगृह्य संज्ञा थाय छे अने ओथी संधी कार्यनो अभाव थई जाय छे (३२) आ प्रकारे सूत्रना ३२ दोष छे

चत्वारोऽप्यनुयोगा व्याख्यायन्ते॥४॥'अस्तोभकम्,-स्तोभका'-निरर्थकतया प्रयुक्ता', चकार-वा-शब्दादयो निपाता', वैर्वियुक्तम् ॥५॥ 'अनवद्य'-कामादिपापव्यापाराप्ररूपकम् ॥६॥ एवभूत सूत्र सर्वज्ञभापितम् । इमे पद्द गुणाः पूर्वोक्तेप्वष्टसु गुणेप्वन्तर्भूताः सन्ति, तथाहि-अल्पाक्षरस्य विश्वतोमुखस्य च मिते समावेशः, असन्दिग्धानवद्यास्तोभाना च निर्दोषेऽन्तर्भावः ।

एव सूत्रानुगमे समस्तदोषवर्जिते लक्षणयुक्ते सूत्रे उच्चारिते सति स्वसमयगतजीवाद्यर्थप्रतिपादकस्य स्वसमयपदस्य ज्ञान भवति तथा परसमयगत-प्रकृतीश्वराद्यर्थप्रतिपादकस्य परसमयपदस्य ज्ञान भवति । अनयोरेव मध्ये परसमयपद

जैसे "धम्मोमगलमुक्किट्ठ" यह सूत्र है । इस सूत्र में चारों ही अनुयोग का व्याख्यान है ॥ ४ ॥ जिस सूत्र में चकार, वकार आदि निरर्थक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता है वह सूत्र "अस्तोभ" गुण वाला माना गया है ॥ ५ ॥ जिस सूत्र द्वारा कामादिक व्यापारों की प्ररूपणा नहीं की जाती है वह सूत्र "अनवद्य" गुण सपन्न है ॥६॥ सूत्र इसी प्रकार का होना चाहिये, इससे विपरीत नहीं, ऐसा प्रभु का आदेश है । ये छह गुण पूर्वोक्त अष्टगुणों में अन्तर्भूत समझना चाहिये । अल्पाक्षर एव विश्वतोमुख, इन दो गुणों का अन्तर्भाव "मित" इस गुण में तथा असदिग्ध, अनवद्य एव अस्तोभ इन गुणों का अन्तर्भाव "निर्दोष" इस गुण में हुआ है ।

इस प्रकार समस्तदोषवर्जित, एवं लक्षणयुक्त सूत्र के उच्चारित होने पर जीवादिक अर्थ के प्रतिपादक स्वसमय-पद का ज्ञान तथा परसमयानुसार प्रकृति ईश्वर आदिक अर्थ के प्रतिपादक परसमय-पद का

જેમ-"धम्मो मगलमुक्किट्ठ" આ સૂત્ર છે આમાં ચારે અનુયોગ ને વ્યાખ્યાન છે ચકાર, વકાર આદિ વ્યાખ્યાન છે આદિ નિરર્થક શબ્દનો પ્રયોગ નથી કરવામાં આવ્યો તે સૂત્ર અસ્તોભ ગુણવાળા મનાયેલ છે (૫) જે સૂત્રદ્વારા કામાદિક વ્યાપારોની પ્રરૂપણા કરવામાં નથી આવતી તે સૂત્ર અનવદ્ય ગુણસપન્ન છે (૬) સૂત્ર આવા પ્રકારનુ હોવું જોઈએ એનાથી વિપરીત નહીં એવો પ્રભુનો આદેશ છે આ છ ગુણ પૂર્વોક્ત આઠ ગુણમાં અન્તર્ભૂત સમજવા જોઈએ અલ્પાક્ષર તેમજ વિશ્વતોમુખ આ બે ગુણોનો અન્તર્ભાવ "મિત" આ ગુણમાં તથા અસદિગ્ધ, અનવદ્ય અને અસ્તોભ ગુણોનો અન્તર્ભાવ "નિર્દોષ" આ ગુણમા થયેલ છે

આ પ્રકાર સમસ્ત દોષ વર્જીત, અને લક્ષણયુક્ત સૂત્રના ઉચ્ચારિત હોવાથી જીવાદિક અર્થના પ્રતિપાદક સ્વસમય પદનુ જ્ઞાન તથા પર સમયાનુસાર પ્રકૃતિ, ઈશ્વર આદિક અર્થના પ્રતિપાદક પરસમયપદનુ જ્ઞાન થાય છે

केचित्तु सूत्रस्य षट् गुणान् वदन्ति । तद् यथा—

अप्पक्खरमसंदिद्धं, सारवं विस्सओमुहं ।
अत्थोभमणवज्जं च, सुत्तं सव्वण्णुभासियं ॥ १ ॥

छाया—अल्पाक्षरमसंदिग्धं, सारवद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च, सूत्रं सर्वज्ञभाषितम् ॥ १ ॥

व्याख्या—'अल्पाक्षरम्' मिताक्षरं, यथा सामायिकसूत्रम् ॥ १ ॥ असंदिग्धम्–सैन्धवशब्दवत् यल्लवण–वसन–तुरगाद्यनेकार्थसंशयकारि न भवति, यथा–अहिंसा ॥२॥ सारवत्त्वं च पूर्ववत् ॥३॥ 'विश्वतोमुखं' प्रतिसूत्रं चरणानुयोगाद्यनुयोगचतुष्टयव्याख्याक्षमम्, यथा–'धम्मोमंगल मुक्किट्ठं' इत्यादि श्लोके

॥ ६ ॥ वर्णादिक का जिसमें नियत परिमाण होता है वह मित गुण है ॥ ७ ॥ एवं कर्णमनोहर जो होता है वह मधुर गुण संयुक्त सूत्र माना जाता है ॥ ८ ॥ किन्हीं २ के मतानुसार सूत्र के ६ गुण भी माने गये हैं—वे ये हैं—

अल्पाक्षर १, असंदिग्ध २, सारयुक्त ३, विश्वतोमुख ४, अस्तोभ ५, अनवद्य ६ । इनमें मित अक्षर जिसमें हो वह अल्पाक्षर गुण है, यह "अल्पाक्षर" प्रथम गुण है । जैसे सामायिक सूत्र ॥ १ ॥ सैन्धव शब्द की तरह जो लवण, वसन, तुरग आदि अनेक अर्थों के बोध का संशयजनक नहीं हो वह "असंदिग्ध" गुण है । जैसे अहिंसा शब्द ॥ २ ॥ भूमि शब्द के समान अनेक पर्यायों से युक्त जो सूत्र वह "सारवत्" तीसरा गुण वाला है ॥ ३ ॥ प्रत्येक सूत्र चरणानुयोगादिक अनुयोगचतुष्टय से युक्त है वह "विश्वतोमुख" गुणवाला सूत्र माना जाता है ।

વર્ણાદિકનુ જેમાં નિયત પરિમાણ હોય છે તે મિતગુણ છે (૭) જે કણ મનોહર હોય છે તે મધુરગુણ સંયુક્ત સૂત્ર માનવામાં આવે છે (૮) કોઇ કોઇના મત અનુસાર સૂત્રના ૭ ગુણ પણ માનવામાં આવ્યા છે તે પ્રમાણે છે—

અલ્પાક્ષર ૧ અસંદિગ્ધ ૨ સારયુક્ત ૩
વિશ્વતોમુખ ૪ અસ્તોભ ૫ અનવદ્ય ૬

આમાં મિત અક્ષર જેમાં હોય તે અલ્પાક્ષર ગુણ છે, આ "અલ્પાક્ષર" પ્રથમ ગુણ છે, જેમ સામાયિક સૂત્ર (૧) સૈન્ધવ શબ્દની માફક લવણ, વસન, તુરગ આદિ અનેક અર્થોના બોધ જેમાં સંશયજનક ન હોય તે "અસંદિગ્ધ" ગુણ છે જેમ અહિંસા શબ્દ (૨) ભૂમિ શબ્દની માફક અનેક પર્યાયોથી યુક્ત જે સૂત્ર હોય તે "सारवत्" ત્રીજા ગુણવાળા છે (૩) પ્રત્યેક સૂત્ર ચરણાનુયોગાદિક અનુયોગ ચતુષ્ટયથી યુક્ત છે તે "विश्वतोमुख" ગુણવાળા સૂત્ર માનવામાં છે

"सुयनाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा–अंगपविट्ठे चेव, अगबाहिरे चेव"। स्था० २ ठा० १

अङ्गप्रविष्ट द्वादशभेदम्–आचारादिभेदात्, तत्र दृष्टिवादवर्ज सर्वं कालिकम्, दृष्टिवादसूत्र तूत्कालिकम्। तत्र यत् दिवसस्य प्रथमपश्चिमपौरुषीद्वये रात्रेश्च प्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते, तत् कालिकम्। यत्तु कालवेलावर्ज पठ्यते तदुत्कालिकम्। अङ्गबाह्य द्विविधम्, आवश्यक, तद् व्यतिरिक्त च। तत्रावश्यक मुत्कालिक, तच्च–षड्विधम्–सामायिक १, चतुर्विंशतिस्तव २, वन्दनकं ३, प्रतिक्रमण ४, कायोत्सर्ग ५, प्रत्याख्यान ६ च।

अथ सूत्र भेदनाम के पाचवा द्वार कहते हैं—

यह कहा ही जा चुका है कि सूत्र का दूसरा नाम श्रुतज्ञान भी है, अत. यह मूलभेद की अपेक्षा से दो भेदवाला है–१ अङ्गप्रविष्ट २ अग-बाह्य। कहा भी है–"सुयणाणे दुविहे पण्णत्ते त जहा–अगपविट्ठे चेव अगबाहिरे चेव" इनमें अगप्रविष्ट श्रुतज्ञान के १२ भेद हैं–आचाराग से लेकर दृष्टिवाद तक। उनमें दृष्टिवाद को छोड़कर बाकी सब कालिक हैं। दृष्टिवाद उत्कालिक है। जो सूत्र दिवस के पथम पश्चिम पौरुषीद्वय में तथा रात्रि के प्रथम पश्चिम पौरुषीद्वय में ही पढा जाता है वह सूत्र कालिक जानना चाहिये। जो सूत्र अकाल के समय को छोड़ कर पढ़ा जाता है वह उत्कालिक है। अगबाह्य श्रुतज्ञान भी आवश्यक एव तद्व्य-तिरिक्त के भेद से दो प्रकार का है। इनमें आवश्यक सूत्र उत्कालिक है, और वह ६ प्रकार का है जैसे–सामायिक १, चतुर्विंशतिस्तव २, वन्दनक ३, प्रतिक्रमण ४, कायोत्सर्ग ५, एवं प्रत्याख्यान ६। कालिक, उत्कालिक के भेद

હવે સૂત્રભેદ નામનુ પાચમુ દ્વાર કહે છે —

એ કહેવાઈ ગયુ છે કે, સૂત્રનુ બીજુ નામ શ્રુતજ્ઞાન પણ છે આથી તે મૂળ ભેદની અપેક્ષાએ બે ભેદવાળુ છે અ ગ પ્રવિષ્ટ ને ૧ અ ગબાહ્ય ૨ કહ્યું પણ છે કે સુયણાણે દુવિહે પણ્ણત્તે ત જહા–અગપવિટ્ઠે ચેવ અગબાહિરે ચેવ તેમાં અ ગ પ્રવિષ્ટ શ્રુતજ્ઞાનના ૧૨ ભેદ છે આચારાંગથી લઈને દૃષ્ટીવાદ સુધી એમા દૃષ્ટીવાદને છોડીને બાકી બધા કાલીક છે દૃષ્ટીવાદ ઉત્કાલિક છે, જે સૂત્ર દિવસના પ્રથમ અને પશ્ચિમ બે પૌરૂષીમા તથા રાત્રીના પ્રથમ અને પશ્ચિમ બે પૌરૂષીમાંજ વાચી શકાય છે, તે સૂત્રને કાલીક જાણવાં જોઈએ. જે સૂત્રને અકાલના સમયને છોડી વાંચી શકાય છે તે ઉત્કાલિક છે અ ગબાહ્ય શ્રુતજ્ઞાન પણ આવશ્યક અને તદ્વ્ય તિરિક્તના ભેદથી બે પ્રકારે છે એમાં આવશ્યક સૂત્ર ઉત્કાલિક છે, અને તે છ પ્રકારનુ છે, જેમ સામયિક ૧, ચતુર્વિંશતિસ્તવ ૨, વન્દનક ૩, પ્રતિક્રમણ ૪,

कुवासनाजनकत्वात् बन्धपदम्, स्वसमयपद तु-सद्बोधकारणत्वान्मोक्षपद-मिति बोध्यम् ।

इति तृतीय द्वारम् ।

अथ सूत्रपर्यायनामक चतुर्थ द्वारम्—

सुयसुत्तगथसिद्ध-त, सासणे आण वयण उवएसो ।
पण्णवणा मा गमइय, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥ १ ॥

श्रुतम्, सूत्रम्, ग्रन्थः, सिद्धान्त, शासनम्, आज्ञा, वचनम्, उपदेश, प्रज्ञापना, आगमः, इति दश पर्याया एकार्था ।

॥ इति चतुर्थ द्वारम् ॥

अथ सूत्र भेद नामक पञ्चम द्वारम्—

सूत्र नाम श्रुतज्ञानमित्युक्तम्, तत् खलु मूलभेदापेक्षया द्विभेदम्, अङ्गप्रवि ष्टम्, अङ्गबाह्य च । तथा चोक्तम्—

ज्ञान होता है। कुवासना का जनक होने से परसमयपद बन्धपद है एवं सद्बोध का कारण होने से स्वसमय-पद मोक्षपद है ॥

॥ इस प्रकार तीसरा द्वार सम्पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

अब चौथा द्वार कहते हैं—

श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना आगम, ये सब सूत्र के पर्यायवाची शब्द-नामान्तर हैं—

कहा भी है—"सुयसुत्तगथसिद्धंत सासणे आण वयण उवएसो ।
पण्णवणा-मागम इय, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥ १ ॥

॥ चौथा द्वार सपूर्ण ॥ ४ ॥

કુવાસનાના જનક હોવાથી પરસમયપદ બન્ધ પદ છે અને સદ્બોધના કારણ રૂપ હોવાથી સ્વસમયપદ મોક્ષપદ છે

આ પ્રકારથી ત્રીજુ દ્વાર સપૂર્ણ થયુ

હવે સૂત્રભેદ નામનુ ચોથુ દ્વાર કહે છે —

શ્રુત, સૂત્ર, ગ્રન્થ, સિદ્ધાંત, સાશન, આજ્ઞા, વચન, ઉપદેશ, પ્રજ્ઞાપના, આગમ, આ બધા સૂત્રના પર્યાયવાચી શબ્દ—નામાન્તર છે, કહ્યુ પણ છે—

સુયસુત્તગથસિદ્ધંત સાસણે આણ વયણ ઉવએસો ।
પણ્ણવણા-માગમ ઇય એગટ્ઠા પજ્જવા સુત્તે ॥ ૧ ॥

॥ ચોથુ દ્વાર સપૂર્ણ ॥

किंचिदर्थविशेषं जानाति, यदा तु गुरुणाऽर्थेन सह सूत्रं प्रबोधितं भवति, तदा शिष्यस्तदन्तर्गतानां सर्वेषां भावानां ज्ञाता भवति, यथा स एव कलाऽभिज्ञः पुरुषः प्रबोधितः सन् सर्वासां कलानां ज्ञाता भवति, अतः सूत्रं गुरुसंनिधानं विना प्रसुप्तसमं भवति, तस्मात् सूत्रं गुरुसंनिधौ श्रुत्वा पठनीयम्।

किंच—गुरुसंनिधानाभावे सूत्रोच्चारणं स्खलितादिदोषदुष्टं स्यात्। तथा सति प्रायश्चित्तम्, अज्ञानं, मिथ्यात्वं, आत्मविराधना, संयमविराधनादयो दोषा भवन्ति तस्माद् गुरुसंनिधौ सूत्रमुच्चारणीयम्।

सूत्र का अर्थ यदि ज्ञात न हो तो पढने वाला व्यक्ति उसके महत्त्व को नहीं जान सकता है। जिस समय शिष्य गुरु महाराज के पास अर्थ-सहित सूत्र का अध्ययन करता है, अथवा गुरु महाराज शिष्य को अर्थ-सहित सूत्र पढा देते हैं उस समय शिष्य उसके अन्तर्गत समस्त भावों का ज्ञाता हो जाता है। जिस प्रकार ७२ कला के जानने वाला पुरुष जगने पर समस्त कलाओं का ज्ञाता होता है। इसलिये सूत्र गुरु महाराज के समीप सुनकर ही पढना चाहिये, क्यों कि विना गुरु महाराज के पठित सूत्र कलानिपुण सोया हुआ पुरुष जैसा माना जाता है, पढने वाले को उससे अर्थविशेष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

किञ्च—गुरुमुखसे यदि सूत्र का अध्ययन न किया जाय तो सूत्र के यथावत् उच्चारण करने में स्खलना आदि दोषों का सद्भाव हो सकता है। इससे अध्ययन करने वालों को लाभ के स्थान में प्रायश्चित्त का भागी होना पडता है। अज्ञान, मिथ्यात्व, आत्मविराधना एवं संयम की विराधना आदि दोषों का भाजन भी बनना पडता है। इसलिये गुरु महाराज के

વ્યક્તિ તેના મહત્વને જાણી શકતા નથી જે સમયે શિષ્ય ગુરુમહારાજની પાસે અર્થ સહિત સૂત્રનુ અધ્યયન કરે છે અથવા ગુરુ મહારાજ શિષ્યને અર્થ સહિત સૂત્ર ભણાવી દે છે, તે સમયે શિષ્ય તેના અતર્ગત સમસ્ત ભાવોનો જ્ઞાતા બની જાય છે જે પ્રકારે ૭૨ કળાને જાણવાવાળા પુરુષ જાગવાથી સમસ્ત કળાઓના જ્ઞાતા બને છે આ માટે સૂત્ર ગુરુ મહારાજની સમીપ સાભળીને ભણવું જોઈએ. કેમ કે ગુરુ મહારાજ વગર ભણવામા આવેલ સૂત્ર કળા નિપૂણ સુતેલા પુરૂષ જેવું માનવામાં આવે છે ભણવાવાળાને એનાથી અર્થ વિશેષની પ્રાપ્તિ થતી નથી.

કિંચ ફરી—ગુરુ મુખથી સૂત્રનુ અધ્યયન કદાચ ન કરવામા આવે તો, સૂત્રનુ યથાવત્ ઉચ્ચારણ કરવામાં સ્ખલના આદિ દોષોનો સદ્ભાવ બને છે એથી અધ્યયન કરવાવાળાએ લાભના સ્થાનમાં પ્રાયશ્ચિત્તના ભાગી બનવું પડે છે, અજ્ઞાન, મિથ્યાત્વ, આત્મવિરાધના અને સયમની વિરાધના આદિ દોષોના ભાજન

आवश्यकव्यतिरिक्तं द्विविधम्–कालिकम्, उत्कालिकं च। तत्र–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्तिर्निरयावलिकादीनि च पञ्च सूत्राणीति सप्तोपाङ्गानि, व्यवहारादीनि चत्वारि छेदसूत्राणि, मूलसूत्रेषु–उत्तराध्ययनं, समुत्थानसूत्रं च। एतत् सर्वं कालिकम्। उत्कालिकं तु दशवैकालिकसूत्रं नन्दीसूत्रम्, अनुयोगद्वारसूत्रं च–एतत्त्रयं मूलसूत्रम्, औपपातिकं राजप्रश्नीयं जीवाभिगमः प्रज्ञापना सूर्यप्रज्ञप्तिरिति पञ्चोपाङ्गानि च।

॥ इति पञ्चमद्वारम् ॥

अथ सूत्रोच्चारणविधिनामकं षष्ठं द्वारम्—

सुविनीतेन शिष्येण सूत्रं गुरुसन्निधौ ग्रहीतव्यम्। यथा–द्वासप्ततिकलापण्डितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन् तासां कलानां न किंचित् जानाति, एवमर्थेनावोधिते सूत्रे न

से तद्व्यतिरिक्त दो प्रकार का है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और निरयावलिका आदि पाँच सूत्र–ये सातों उपांग, व्यवहार आदिक चार छेद सूत्र, मूलसूत्रों में उत्तराध्ययन, और समुत्थानसूत्र, ये सब कालिक हैं। दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार ये तीनों मूलसूत्र, तथा–औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना और सूर्यप्रज्ञप्ति ये पाँचों उपांग उत्कालिक हैं।

॥ पाचवा द्वार संपूर्ण ॥

अब छट्ठे द्वार में सूत्र के उच्चारण की विधि कहते हैं—

सुविनीत शिष्य को सूत्र का अध्ययन गुरु महाराज के समीप करना चाहिये। जिस प्रकार ७२ कलाओं का ज्ञाता मनुष्य प्रसुप्त अवस्था में उन कलाओं के अर्थविशेष को नहीं जानता है, उसी प्रकार

કાયોત્સર્ગ ૫, અને પ્રત્યાખ્યાન ૬ કાલિક, ઉત્કાલિકના ભેદથી તદ્વ્યતિરિક્ત બે પ્રકારે છે જમ્બૂદ્વિપપ્રજ્ઞપ્તિ, ચન્દ્રપ્રજ્ઞપ્તિ અને નિરયાવલિકા આદિ પાંચ તથા વ્યવહારઆદિક ચાર સૂત્ર–એ સાતે ઉપાંગ, વ્યવહાર આદિક ચાર છેદ સૂત્ર, મૂળસૂત્રોમા ઉત્તરાધ્યયન અને સમુત્થાન સૂત્ર એ બધાં કાલિક છે દશવૈકાલિક, નંદિસૂત્ર અને અનુયોગદ્વાર આ ત્રણે મૂળસૂત્ર તથા–ઔપપાતિક રાજપ્રશ્નીય, જીવાભિગમ, પ્રજ્ઞાપના અને સૂર્યપ્રજ્ઞપ્તિ આ પાંચે ઉપાંગ ઉત્કાલિક છે

॥ પાંચમુ દ્વાર સંપૂર્ણ ॥

હવે છઠ્ઠા દ્વારમાં સૂત્રના ઉચ્ચારણની વિધિ કહે છે—

સુવિનીત શિષ્યે સૂત્રનુ અધ્યયન ગુરુ મહારાજની સમીપ કરવું જોઈએ, જે પ્રકાર ૭૨ કળાઓનો જ્ઞાતા મનુષ્ય પ્રસુપ્ત અવસ્થામા એ કળાઓના અર્થ વિશેષને નથી જાણતો એ જ રીતે સૂત્રનો અર્થ જો જાણેલ ન હોય તો વાંચનાર

अत्र न ज्ञायते सकलसाधारणश्रोतृभिः, यदिद कालिकमुत्कालिक वा। यथा वा–सामायिकपदे दशवैकालिकोत्तराध्यनप्रभृतीनामनेकानि पदानि मीलयति।

३ व्याविद्धाक्षरम्—व्याविद्धाक्षर, विपर्यस्तरत्नमालागतरत्नानीव विद्धानि विपर्यस्तान्यक्षराणि यत्र तत्। यथा–'धम्मो मगल' इत्यत्र 'लगमम्मोध' इत्युच्चारणम्।

४ हीनाक्षरम्–अक्षरैर्हीनम्। यथा–'नमो अरिहताण' इत्यत्र 'नमो अरिहंता' इत्युच्चारणम्।

५ अधिकाक्षर—स्वबुद्धयाऽधिकाक्षरयोजन यत्र तत्। यथा–'धम्मो मगल मुक्किट्ठ' अत्र–'धम्मो मगलमुक्किट्ठ नरग' इत्युच्चारणम्। हीनाक्षरे अधिकाक्षरे वा

सर्वसाधारण श्रोताजन यह नहीं समझ सकते कि यह कालिक है अथवा उत्कालिक है। अथवा–जो उच्चारण सामायिक पद में दशवैकालिक उत्तराध्ययन आदिके अनेक पदों को मिला देता है वहा पर भी यह दोष होता है ॥ २ ॥ व्याविद्धाक्षरम्–जिस उच्चारण में उलटे उलटे कर अक्षर बोले जावें वहा व्याविद्धाक्षर नामका दोष होता है–जैसे–धम्मो मगलं ऐसा न बोलकर "लगम म्मोध" ऐसा उच्चारण करना ॥३॥ हीनाक्षरम्–जैसा सूत्र हो वैसा उच्चारण न करना–हीनाक्षर दोष है। जैसे–"णमो अरिहताण" की जगह "णमो अरिहता" ऐसा बोलना ॥४॥ अधिकाक्षर–जिस उच्चारण में अधिक अक्षर उच्चरित हों वहां अधिकाक्षर नामका दोष जानना चाहिये, जैसे–धम्मो मगलमुक्किट्ठ" बोलते समय धम्मो मगलमुक्किट्ठं नरग" ऐसा अधिक "नरग" अक्षर का उच्चारण करना। हीनाक्षर एव अधिकाक्षर, ये दोनों दोष उच्चारण के

सर्व साधारण श्रोताजन ओ नथी समजी शकता के, आ कालिक छे के उत्कालीक छे जे उच्चारण सामायिक पदमां दस वैकालिक उत्तराध्ययन आदिना अनेक पदोने मेळवी दे छे त्यां पण आ दोष थाय छे (२)

(२) व्याविद्धाक्षरम्—जे उच्चारणमा उलटावी उलटावीने अक्षर बोलवामां आवे त्यां 'व्याविद्धाक्षर' नामनो दोष बने छे जेम धम्मोम गल अेवु न बोलीने लगमम्मोध अेवु उच्चारण करवु

(३) हीनाक्षरम्—जेवा सूत्र होय ते प्रमाणे उच्चारण न करवु अर्थात् ओछा अक्षरोथी उच्चारण करवु–'हीनाक्षर' दोष छे, जेम–"णमो अरिहताणं" नी जग्याओ "णमो अरिहता" अेवु बोलवु

(४) अधिकाक्षर—जे उच्चारणमां वधु अक्षर उच्चारवामां आवे त्या अधिकाक्षर नामनो दोष जाणवो जोईओ. जेम "धम्मो म गल मुक्किट्ठ" बोलती वखते "धम्मो म गल मुक्किट्ठं नरग" ओम "नरग" आ वधाराना अक्षरनु उच्चारण करवु हीनाक्षर अने अधिकाक्षर आ बन्ने दोष उच्चारणमां

अथोच्चारणदोषाः स्खलितादयो दश प्रोच्यन्ते–स्खलितम् १, मिलितम् २, व्याविद्धाक्षरम् ३, हीनाक्षरम् ४, अधिकाक्षरम् ५, व्यत्याम्रेडितम् ६, अपरिपूर्णम् ७, अपरिपूर्णघोषम् ८, अकण्ठोष्ठविप्रमुक्त ९, अगुरुवाचनोपगतम् १०, इति। तत्र–

१ स्खलितम्–यद् अन्तराऽन्तरा आलापकान् मुञ्चति, यथा–"अहिंसा" "देवा वि त नमंसति"।

२ मिलितम्–यद् अन्यस्यान्यस्योद्देशकस्याध्ययनस्य वा आलापकान् एकत्र मीलयति 'सर्वं जिनवचनम्' इति कृत्वा, यथा–"सव्वे पाणा पियाउया" (सर्वे प्राणा प्रियायुष्काः) (आचा १ श्रु २ अ ३ उ) "सव्वे जीवा वि इच्छति जीविउं न मरिज्जिउं" (सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति जीवितु न मर्तुम्) दश वै ६ अ।

समीप ही सूत्र का अध्ययन या उसका उच्चारण करना सीखना चाहिये। उच्चारण के कितने दोष हैं यह अब प्रकट किया जाता है—स्खलित १, मिलित २, व्याविद्धाक्षर ३, हीनाक्षर ४, अधिकाक्षर ५, व्यत्याम्रेडित ६, अपरिपूर्ण ७, अपरिपूर्णघोष ८, अकण्ठोष्ठविप्रमुक्त ९, एवं अगुरुवाच नोपगत १०, ये १० दोष उच्चारण संबधी हैं। स्खलित–बीच २ में रुक २ कर सूत्र का बोलना यह स्खलित दोष है, जैसे–अ हिं सा, देवा वि त नमं सति इत्यादि ॥१॥ मिलित–जहां अन्य २ उद्देशक अथवा अध्ययन के आलापकों को एकत्र मिला दिया जाता है वहां मिलित दोष होता है, जैसे–"सर्वं जिनवचनं" ऐसा ख्यालकर "सव्वे पाणा पियाउया" "सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं" इन सब को एक साथ ही बोल देना। इन सब के एक साथ बोलने में मिलित दोष इसलिये आता है कि

પણ બનવું પડે છે માટે ગુરુ મહારાજ સમીપજ સૂત્રનું અધ્યયન અગર તેનું ઉચ્ચારણ કરવું—સીખવું જોઇએ ઉચ્ચારના કેટલા દોષ છે તે હવે પ્રગટ કરવામાં આવે છે (૧) સ્ખલિત,(૨) મિલિત, (૩) વ્યાવિદ્ધાક્ષર, (૪)હીનાક્ષર, (૫) અધિકાક્ષર,(૬) વ્યત્યામ્રેડિત,(૭) અપરિપૂર્ણ, (૮)અપરિપૂર્ણઘોષ, (૯) અકંઠોષ્ઠવિપ્રમુક્ત, અને (૧૦) અગુરુવાચનોપગત આ દસ દોષો ઉચ્ચારણ સબંધી છે

સ્ખલિત–વચમાં વચમાં રોકાઇને સૂત્રનું બોલવું તે સ્ખલિત દોષ છે જેમ- अहिंसा देवा वि तं नम संति ઇત્યાદિ। (૧) મિલિત–જ્યાં અન્ય અન્ય ઉદ્દેશક અથવા અધ્યયનના આલાપોને એકત્ર મેળવી અપાય છે ત્યાં મિલિત દોષ થાય છે જેમ "सर्वे जिन वचनं" એવો ખ્યાલ કરી "सव्वे पाणा पिआउगा सव्वे जीवा वि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ આ બધાને એક સાથે જ બોલવું આ બધાને એક સાથે બોલવામાં મિલિત દોષ એ માટે આવે છે કે,

द्रव्यभावतो व्यत्याम्रेडित सूत्रे कुर्वतोऽर्थस्य विसवादः इत्यादि विवक्षा मागिव, यया दीक्षा निरर्थिका ।

७ अपरिपूर्ण–मात्राभिः, पदै श्चरणै बिन्दुभि वर्णैश्च । मात्राभिरपरिपूर्णं ' धम्म मगलमुक्किट्ठ ' । पदैरपरिपूर्ण–यथा–" धम्म उक्किट्ठ "। चरणैरपरिपूर्ण–यथा– ' धम्मो मगलमुक्किट्ठ ' इत्यादि गाथाया क्रमपि चरण परित्यज्य पठनम् । बिन्दुभिरपरिपूर्ण–यथा 'धम्मो मगलमुक्किट्ठ " इति । वर्णैरपरिपूर्ण यथा–'धम्मो ल उक्किट्ठ' इत्यादि । मात्राभि' पदैश्चरणैर्बिन्दुभिर्वर्णैरपरिपूर्णे उच्चारिते तदेव प्रायश्चित्त त एव दोषाश्च भवन्ति ।

में व्यत्याम्रेडित कर देता है तब उसके अर्थ में स्वभावत विसवाद होने लगता है और इससे जो हानि होती है यह अधिकाक्षर तथा हीनाक्षर के दोप के स्वरूपनिरूपण में बता चुके हैं ॥ ६ ॥ अपरिपूर्ण–जहा मात्राओं से, पदों से, चरणों से, बिन्दुओं से, वर्णो से अपरिपूर्णता होती है वहा अपरिपूर्ण दोप माना जाता है, जैसे " धम्मो मगलमुक्किट्ठ " की जगह "धम्ममगलमुक्किट्ठ" इस प्रकार " ओकार " की मात्रा हीन कर पढना । " धम्म उक्किट्ठ " ऐसा मगलपद हीन कर पढना । किसी चरण को–पाद को–हीन कर पढना, किसी बिन्दु को हीन कर पढना, किसी वर्ण को हीन कर पढना सो क्रमश मात्रा आदिकों से अपरिपूर्ण दोप माना गया है । इस प्रकार के उच्चारण करने पर एक तो आगम की आशातना होने से प्रायश्चित का भागी होना पड़ता है दूसरे विसवादादि अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं । इससे जीव को मुक्ति का लाभ नहीं हो सकता है । तथा दीक्षा में निरर्थकता की प्रसक्ति का प्रसग प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

વિસવાદ થવા લાગે છે અને એથી જે હાની થાય છે તે અધિકાક્ષર તથા હિનાક્ષરના દોષના નિરૂપણમા બતાવવામા આવેલ છે

(૬) અપરિપૂર્ણ જ્યાં માત્રાઓથી પદોથી, ચરણોથી, બિન્દુઓથી, વર્ણોથી, અપરિપૂર્ણતા હોય છે ત્યા ' અપરિપૂર્ણ ' દોષ માનવામા આવે છે " धम्मो मंगल मुक्किट्ठ " ની જગ્યાએ धम्ममगलमुक्किट्ठ આ રીતે, ओकार "ની માત્રા હીન કરી વાચવુ, " धम्म उक्किट्ठ "એમ મગલ પદ હીન કરી વાંચવુ, કોઈ વર્ણને હીન કરી વાંચવુ તે ક્રમશ માત્રા આદિથી અપરિપૂર્ણ દોષ માનવામાં આવેલ છે આ પ્રકારનુ ઉચ્ચારણ કરવાથી એક તો આગમની આશાતના થવાથી પ્રાયશ્ચિત્તના ભાગી થવુ પડે છે બીજુ વિસવાદાદિ ઘણા અનર્થ ઉત્પન્ન થાય છે, આથી જીવને મુક્તિનો લાભ મળી શકતો નથી. આથી દીક્ષામા નિરર્થકતાની પ્રસક્તિનો પ્રસગ પ્રાપ્ત થાય છે

उच्चारिते सति-अर्थस्य विसवाद., अर्थस्य विसवाद चरणस्य विसवाद., चरण-विसवादाभ मोक्षः, मोक्षाभावे सर्वा दीक्षा निरर्थिका ।

६ व्यत्याम्रेडितं—नाम अन्यान्यशास्त्रपल्लवमिमिश्रण, यथा-' सव्वभूयप्प भूयस्स सम्म भूयाइ पासओ । पिहियासवस्स दंतस्स, पावकम्म न बधई ॥ " अत्रेदमपि-घटते इति कृत्वा क्षिपति—अन्यशास्त्रवचनम्—

श्रूयता धर्मसर्वस्व, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥

इसलिये माने जाते हैं कि सूत्र में हीनाक्षर अथवा अधिकाक्षर उच्चरित होने पर उसके अर्थ में विसवाद (विपरीतता) होता है। अर्थ में विसवाद जहां हुआ कि चरण-आचार-चारित्र में भी विसवाद होने लगता है। इससे मोक्ष का लाभ नहीं हो सकता। मोक्ष के अभाव में समस्त दीक्षा निरर्थक हो जाती है ॥ ५ ॥ व्यत्याम्रेडित-भिन्न २ शास्त्रों के पल्लव (अश) का जिस उच्चारण में मिश्रण होता है वहा व्यत्याम्रेडित दोष माना जाता है। जैसे-" सव्वभूयप्पभूयस्स सम्म भूयाइ पासओ। पिहियासवस्स दंतस्स पावकम्म न बंधइ "-यहा यह भी घटित होता है ऐसा समझकर अन्य शास्त्र का वचन मिलाना, जैसे-

" श्रूयतां धर्मसर्वस्व, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ॥
आत्मन प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥१॥ "

महाभारत के इस वाक्य को मिश्रित करना। यह व्यत्ययाम्रेडित दोष इस लिये माना गया है कि उच्चारण करने वाला द्रव्य एव भाव से जब सूत्र

એ માટે માનવામા આવેલ છે કે સૂત્રમા હીનાક્ષર અથવા અધિકાક્ષર ઉચ્ચારવાથી એના અર્થમાં વિસવાદ થાય છે વિપરીત અર્થમા વિસવાદ જ્યાં થયો કે, ચરણ-આચાર ચારિત્રમા પણ વિસવાદ થવા લાગે છે એથી મોક્ષનો લાભ થઈ શકતો નથી. મોક્ષના અભાવથી સમસ્ત દીક્ષા નિરર્થક થઈ જાય છે.

(૫) વ્યત્યાગ્રેડિત જુદા જુદા શાસ્ત્રોના પલ્લવનું જે ઉચ્ચારણમા મિશ્રણ થાય છે ત્યાં " વ્યત્યાગ્રેડિત " દોષ માનવામાં આવે છે જેમ सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ " " पिहियासवस्स दंतस्स पावकम्म न बधई " અહિ એ પણ ઘટિત થાય છે એમ સમજી બીજા શાસ્ત્રનું વચન મેળવવું જેમ—

" श्रूयतां धर्मसर्वस्व श्रुत्वा चैवावधार्यतां ॥
आत्मन प्रति कूलानि परेषां न समाचरेत् ॥१॥

મહાભારતના આ વાક્યને મેળવવું, આ " વ્યત્યયાગ્રેડિત " દોષ એ માટે માનવામાં આવેલ છે કે, ઉચ્ચારણ કરવાવાળા દ્રવ્ય અને ભાવથી જ્યારે સૂત્રમાં વ્યત્યાયાગ્રેડિત થવાથી એના અર્થમાં સ્વભાવતઃ

अथ वाचनानामक सप्तम द्वारम्-

अथ वाचनाविधिरुच्यते-तत्रैव वाचनाशब्दार्थः-वाचयतीति वाचना-पाठना, शिष्याय सूत्रादिदान। ननु वाचनायाः किं फलम्? वाचनया जीवो निर्जरा जनयति श्रुतस्य चानाशातनायां प्रवर्तते, तत्र च प्रवर्तमानो जीवः श्रुतप्रदानरूप तीर्थधर्ममवलम्बते, एव तीर्थधर्ममाश्रयन् कृत्स्नकर्मक्षपणेन महानिर्जरावान् भवति। ततो मुक्तिमाप्त्या तस्य सर्वथा भवपर्यवसानं भवति। वाचनादानग्रहणविधिस्त्वेवम्—

उवविसइ उवज्झाओ, सीसा विअरति वदण तस्स।
सो तेसिं सव्वसमय, वायइ सामइयप्पमुहं ॥ १ ॥

वाचना से जो विहीन होता है, अर्थात्-गुरुप्रदत्त वाचना से जो प्राप्त नहीं होता है वह अगुरुवाचनोपगत दोष है ॥ १० ॥

॥ यह छट्ठा द्वार हुआ ॥ ६ ॥

सातवा वाचनाद्वार कहते हैं—

अथ वाचना की विधि बतलाते हैं-शिष्य को सूत्रादिक का देना-पढाना यह वाचना है। सूत्र की वाचना से कर्मो की निर्जरा होती है तथा उसकी अनाशातना में प्रवृत्ति होती है। उस वाचना में लगा हुआ जीव श्रुतप्रदानरूप तीर्थधर्म का आधार होता है। तीर्थधर्म का आधार होने से वह जीव समस्त कर्मो के क्षपण से महानिर्जरावाला होता है। महानिर्जरावाला होने से मुक्ति की प्राप्ति द्वारा उसके सर्वथा भव का क्षय हो जाता है। वाचना के देने की एवं उसके ग्रहण करने की विधि इस प्रकार है-

---

નાથી જે વિહિન હોય છે, અર્થાત્-ગુરૂપ્રદત્ત વાચનાથી જે પ્રાપ્ત થયેલ નથી હોતું તે અગુરૂ વાચનોપગત દોષ છે (૧૦)

આ છટ્ઠું દ્વાર થયું

સાતમુ વાચનાદ્વાર કહેવામાં આવે છે—

હવે વાચનાની વિધિ બતાવવામાં આવે છે-શિષ્યને સૂત્રાદિક ભણાવવા-સમજાવવા એ વાચના છે સૂત્રની વાચનાથી કર્મોની નિર્જરા થાય છે, તથા તેના અનાશાતનાની પ્રવૃત્તિ થાય છે એ વાચનામા લાગેલ જીવ શ્રુતપ્રદાનરૂપ તીર્થ ધર્મના આધાર બને છે, તીર્થ ધર્મના આધાર થવાથી તે જીવ સમસ્ત કર્મોના ક્ષપણથી મહાનિર્જરાવાળા થાય છે મહાનિર્જરાવાળા થવાથી મુક્તિની પ્રાપ્તિ દ્વારા એને જીવન મરણના ફેરાનો ભય મટી જાય છે

८ अपरिपूर्णघोषम्—घोषैरेवापरिपूर्ण नाक्षरादिभिः, घोषा–उदात्तादयः। तत्र–उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः। उच्चैःशब्देन यथा–" उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा, धुवेइ वा " इत्यादि। नीचैःशब्देन यथा–" जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा " इत्यादि। अत्र घोषैरयुक्तमुच्चारणं कुर्वतस्तदेव प्रायश्चित्तं त एव च दोषाः।

९ अकण्ठोष्ठविप्रमुक्तम्—कण्ठोष्ठेन विप्रमुक्तं–व्यक्त–सुस्पष्टं यत्र भवति, बालमूकभाषितवदव्यक्तमित्यर्थः।

१० अगुरुवाचनोपगतम्, गुरुप्रदत्तया वाचनया यन्न प्राप्तं तत् ॥

॥ इति पष्ठद्वारम् ॥

अपरिपूर्णघोष–घोषों से अर्थात्–उदात्तादिक स्वरों से–जो अपरिपूर्ण होता है वहां अपरिपूर्णघोष नाम का दोष आता है। जो ऊँचे स्वर से बोला जाय उसका नाम उदात्त, नीचे स्वर से जो बोला जाय उसका नाम अनुदात्त, तथा जो न अधिक ऊँचे स्वर और न अधिक नीचे स्वर से किन्तु मध्यम स्वर से बोला जाय उसका नाम स्वरित है। जैसे–" उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा, " इत्यादि ऊँचे स्वर से बोले जाते हैं। नीचे स्वर से जैसे–" जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा " इत्यादि सूत्र नीचे स्वर से बोला जाता है। इस को दोष इसलिये माना है कि घोषों से अयुक्त उच्चारण करने वाले को आगम की आशातनाजन्य दोष का भागी होने से प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है ॥ ८ ॥ अकण्ठौष्ठविप्रमुक्त–बालमूकादिक के बोलने की तरह जो उच्चारण व्यक्त–स्पष्ट नहीं होता है वह अकण्ठौष्ठविप्रमुक्त दोष है ॥ ९ ॥ अगुरुवाचनोपगतदोष–गुरुप्रदत्त

(७) અપરપૂર્ણઘોષ—ઘોષોથી–અર્થાત્ ઉદાત્તાદિક સ્વરોથી–જે અપરિપૂર્ણ હોય છે, ત્યાં 'અપરિપૂર્ણઘોષ' નામનો દોષ લાગે છે, જે ઉંચા સ્વરથી બોલાય તેનુ નામ ઉદાત્ત, નીચા સ્વરથી બોલાય એનુ નામ અનુદાત્ત તથા જે ન તો ઘણા ઉંચા સ્વરથી કે ન તો ઘણા નીચા સ્વરથી પરંતુ મધ્યમ સ્વરથી બોલાય એનું નામ સ્વરિત છે જેમ–" उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवइ वा, " ઇત્યાદિ ઉંચા સ્વરથી બોલાય છે નીચા શબ્દથી જેમ–" जेभिक्खू वा भिक्खुणी वा " ઇત્યાદિ સુત્ર નીચા સ્વરથી બોલાય છે આનો દોષ એ માટે માનવામાં આવેલ છે કે, ઘોષોથી અયુક્ત ઉચ્ચારણ કરવાવાળાએ આગમની આશાતના જન્ય દોષના ભાગી બનવાથી પ્રાયશ્ચિતના ભાગી બનવુ પડે છે (૮) અકંઠૌષ્ઠ વિપ્રમુક્ત–બાલ મૂકાદિકના બોલવાની રીતે જે ઉચ્ચારણ સ્પષ્ટ વ્યક્ત થતુ નથી તે અકંઠૌષ્ઠ વિપ્રમુક્ત દોષ છે (૯) અગુરૂ વાચનોપગત દોષ–ગુરૂ વાચ

निद्रारूपे प्रमादे, अप्रतिलेखने दुष्प्रतिलेखनादौ च सकृत् स्खलितस्य स्मारणा कर्तव्या भवति। यथा–" भो आयुष्मन्! प्रमादो वर्जनीय." इति पूर्वमेवास्माभि कथितम्, अत प्रमाद मा कुरु तप.सयम च समाराधय, इत्येषा स्मारणा।

अथ प्रतिस्मारणा—

पुन. पुन सामाचार्यां प्रमाद कुर्वन् शिष्य. पुनर्गुरुणा बोधनीय –"वत्स! मा प्रमाद्यताम्, तप.सयमाराधन क्रियताम्"। इत्येषा प्रतिस्मारणा।

इत्थमुक्तोऽपि यदि प्रमाद्यति, तदा दण्डना–लघुप्रायश्चित्तरूपा कर्तव्या।

प्रतिलेखना नहीं करे अथवा दुष्प्रतिलेखना आदि करता है उस समय उसे स्मारणा वाचना देनी चाहिये, इसमें उसे यह समझाना चाहिये कि हे आयुष्मन्! तुम्हें यह पहिले बतला दिया गया है कि प्रमाद वर्जनीय है। इसलिये इस बात का ख्याल करो, और प्रमाद का आसेवन मत करो तथा तप एव सयम की अच्छी तरह आराधना करो, इसका नाम स्मारणा है। प्रतिस्मरणा वाचना शिष्य को उस समय दी जाती है जब शिष्य अपनी समाचारी में बार २ प्रमाद करता है। उस समय उसे यही समझाया जाता है कि हे वत्स! देखो यह प्रमाद ठीक नहीं है, इससे तप एव सयम की आराधना ठीक २ नहीं होती है। तुम्हें बार बार यह समझा दिया गया है अतः इसका परित्याग कर तप एव सयम की आराधना करो। इसी में आत्मा की भलाई है, इसका नाम प्रतिस्मारणा है। अब दण्डना कहते हैं–इस प्रकार उपदेश, स्मारणा,

---

ઉપદેશ છે નિદ્રારૂપ પ્રમાદમા પડેલ શિષ્ય જો પ્રતિલેખના ન કરે અથવા દુષ્પ્રતિલેખના આદિ કરતો હોય તો એ સમયે એને સ્મારણા વાચના આપવી જોઇએ એમાં એને એ સમજાવવુ જોઇએ કે આયુષ્યમન્! તમને એ પહેલું બતાવવામાં આવેલ છે કે, પ્રમાદ છોડવા યોગ્ય છે, જેથી એ વાતનો ખ્યાલ કરો ને પ્રમાદનો ખ્યાલ ન કરો, તથા તપ અને સયમની સારી રીતે આરાધના કરો. આનુ નામ સ્મારણા છે પ્રતિસ્મારણા વાચના શિષ્યને તે સમયે આપવામાં આવે છે જ્યારે શિષ્ય પોતાની સામાચારીમા વારવાર પ્રમાદ કરે છે તે સમયે તેને એવુ સમજાવાય છે કે હે વત્સ જુઓ આ પ્રમાદ કરવો ઠીક નથી તેનાથી તપ અને સયમની આરાધના સારી રીતે થતી નથી તમને વખતો વખત એ સમજાવવામાં આવેલ છે, માટે તેનો પરિત્યાગ કરી સયમ અને તપની આરાધના કરો. તેમાં આત્માની ભલાઈ છે, તેનુ નામ પ્રતિ સ્મારણા છે હવે દડના કહે છે—આ પ્રકારનો ઉપદેશ સ્મારણા, પ્રતિસ્મારણા રૂપ ત્રણ પ્રકા

छाया—उपविशति उपाध्याय', शिष्या वितरन्ति वन्दन तस्मै ।
स तेभ्यः सर्वसमय, वाचयति सामायिकप्रमुखम् ॥ १ ॥

वाचना–त्रिविधा भवति–उपदेशः, स्मारणा, प्रतिस्मारणा च । ये खलु गृहीत सामाचारीकाः शिष्यास्तेभ्य सूत्रार्थवाचना दातव्या । तेषा सामाचारीकरणे प्रमादं कुर्वतां क्रमेण उपदेशः, स्मारणा, प्रतिस्मारणा च करणीया । तत्र गुरुस्तान् प्रति वदति–" मुनीनामेषा सामाचारी यन्निद्राविकथादयः प्रमादा. परिहर्तव्या. " एष उपदेशः ।

" उवविसइ उवज्झाओ, सीसा वियरति वदण तस्स ।
सो तेसिं सव्वसमय, वायइ सामाइयप्पमुह ॥ वाचना देने वाला उपाध्याय अपने आसन पर विराजमान जब हो जाय तब वाचना लेने वाला शिष्य सर्वप्रथम उन्हें वदना करे । फिर बाद में उनसे सामायिक आदि सर्व सूत्रों की वाचना लेवे । उपदेश १, स्मरणा २ एव प्रति-स्मारणा ३ के भेद से वाचना ३ प्रकार की है । जिन शिष्यों ने सामा चारी को ग्रहण कर लिया है उन शिष्यों को सूत्रार्थ की वाचना देना चाहिये । वे यदि सामाचारी के आचरण करने में प्रमाद करें तो गुरु का कर्तव्य है कि वे उन्हें क्रम से उपदेश, स्मारणा एव प्रतिस्मारणा रूप वाचना दें । उसमें वे उसे यह समझावे कि देखो यही मुनियों की सामाचारी–आचार है कि वे सर्वप्रथम निद्रा विकथा आदि प्रमादों को दूर करें । यह उपदेश हैं । निद्रारूप प्रमाद में पड़ा हुआ शिष्य यदि

વાચના લેવાની અને તેને ગ્રહણ કરવાની વિધિ આ પ્રકારે છે—

उवविसइ उवज्झाओ, सीसा वियरंति वदण तस्स ।
सो तेसिं सव्वसमय वायइ सामाइयप्पमुहं ॥

વાચના આપવાવાળા ઉપાધ્યાય જ્યારે પોતાના આસન ઉપર બિરાજમાન થઈ જાય ત્યારે વાચના લેવાવાળા શિષ્ય સર્વ પ્રથમ એમને વંદના કરે અને પછી તેમની પાસેથી સામાયિક આદિ સર્વ સૂત્રોની વાચના લે ઉપદેશ, સ્મારણા અને પ્રતિ સ્મારણા ના ત્રણે ભેદથી વાચના ત્રણ પ્રકારની છે જે શિષ્યોએ સમાચારીને ગ્રહણ કરી લીધેલ હોય તે શિષ્યોને સૂત્રાર્થની વાચના દેવી જોઈએ. તે કદી સામાચારીનું આચરણ કરવામાં પ્રમાદ કરે તો ગુરુનું કર્તવ્ય છે કે તે એને ક્રમથી ઉપદેશ, સ્મારણા, અને પ્રતિ સ્મારણા રૂપ વાચના આપે. એમાં તેઓ શિષ્યને એ સમજાવે કે, જુઓ આજ મુનિઓની સમા ચારી આચાર છે કે જે સર્વ પ્રથમ નિંદ્રા, વિકથા આદિ પ્રમાદોને દૂર કરે આ

निद्रारूपे प्रमादे, अप्रतिलेखने दुष्प्रतिलेखनादौ च सकृत् स्खलितस्य स्मारणा कर्तव्या भवति। यथा–"भो आयुष्मन्! प्रमादो वर्जनीयः" इति पूर्वमेवा स्माभि कथितम्, अत. प्रमाद मा कुरु तपःसयम च समाराधय, इत्येषा स्मारणा।

अथ प्रतिस्मारणा—

पुन. पुन. सामाचार्या प्रमाद कुर्वन् शिष्यः पुनर्गुरुणा बोधनीय.–"वत्स! मा प्रमाद्यताम्, तप.सयमाराधन क्रियताम्"। इत्येषा प्रतिस्मारणा।

इत्थमुक्तोऽपि यदि प्रमाद्यति, तदा दण्डना–लघुप्रायश्चित्तरूपा कर्तव्या।

प्रतिलेखना नहीं करे अथवा दुष्प्रतिलेखना आदि करता है उस समय उसे स्मारणा वाचना देनी चाहिये, इसमें उसे यह समझाना चाहिये कि हे आयुष्मन्! तुम्हें यह पहिले बतला दिया गया है कि प्रमाद वर्जनीय है। इसलिये इस बात का ख्याल करो, और प्रमाद का आसेवन मत करो तथा तप एव सयम की अच्छी तरह आराधना करो, इसका नाम स्मारणा है। प्रतिस्मरणा वाचना शिष्य को उस समय दी जाती है जब शिष्य अपनी समाचारी में बार २ प्रमाद करता है। उस समय उसे यही समझाया जाता है कि हे वत्स! देखो यह प्रमाद ठीक नहीं है, इससे तप एव सयम की आराधना ठीक २ नहीं होती है। तुम्हें बार बार यह समझा दिया गया है अतः इसका परित्याग कर तप एवं सयम की आराधना करो। इसी में आत्मा की भलाई है, इसका नाम प्रतिस्मारणा है। अब दण्डना कहते है–इस प्रकार उपदेश, स्मारणा,

ઉપદેશ છે નિદ્રારૂપ પ્રમાદમાં પડેલ શિષ્ય જો પ્રતિલેખના ન કરે અથવા દુષ્પ્રતિલેખના આદિ કરતો હોય તો એ સમયે એને સ્મારણા વાચના આપવી જોઇએ એમાં એને એ સમજાવવુ જોઇએ કે આયુષ્મન્! તમને એ પહેલું બતાવવામાં આવેલ છે કે, પ્રમાદ છોડવા યોગ્ય છે, જેથી એ વાતનો ખ્યાલ કરો ને પ્રમાદનો ખ્યાલ ન કરો, તથા તપ અને સયમની સારી રીતે આરાધના કરો. આનુ નામ સ્મારણા છે પ્રતિસ્મારણા વાચના શિષ્યને તે સમયે આપવામાં આવે છે જ્યારે શિષ્ય પોતાની સામાચારીમા વારવાર પ્રમાદ કરે છે તે સમયે તેને એવુ સમજાવાય છે કે હે વત્સ જુઓ આ પ્રમાદ કરવો ઠીક નથી તેનાથી તપ અને સયમની આરાધના સારી રીતે થતી નથી તમને વખતો વખત એ સમજાવવામાં આવેલ છે, માટે તેનો પરિત્યાગ કરી સયમ અને તપની આરાધના કરો. તેમાં આત્માની ભલાઈ છે, તેનુ નામ પ્રતિ સ્મારણા છે હવે દંડના કહે છે—આ પ્રકારનો ઉપદેશ સ્મારણા, પ્રતિસ્મારણા રૂપ ત્રણ પ્રકા

ततोऽपि यदि प्रमाद्यति तर्हि मासलघुप्रायश्चित्तरूपा दण्डना कर्त्तव्या। इत्थं दण्डितोऽपि यदि प्रमादान्न विरमते तदा कुङ्कुमदृष्टान्तो वक्तव्यः। यथा-अतीव पिष्टं कुङ्कुमं 'केसर' इति भाषाप्रसिद्धं पाषाणमिव कठोरं न भवति, भवान् महता प्रयासेन प्रतिनोद्यमानः कथं प्रमत्तः सञ्जातः। अत्र मासलघु दीयते।

वारत्रयादूर्ध्वं यदि प्रमादतो न निवर्तते तदा निष्कासना कर्तव्या। अथासौ स्वयं परेण वा प्रज्ञापितः सन् पुनरागत्य प्रमादात् प्रतिनिवृत्तो वदति-भगवन्! क्षमस्व मदीयमपराधनिकुरम्बम्, न पुनरेवं करिष्यामीति। तदा गुरुरेवं वदेत्-यथा

प्रतिस्मारणारूप तीन प्रकार की वाचना के देने पर भी यदि शिष्य प्रमादपतित होता है, तो उसे एक मास का लघु प्रायश्चित्त देना चाहिये। उस समय उससे यह कहना चाहिये कि देखो केशर जब बार २ रगड़ कर पीसी जाती है तो वह भी पाषाण जैसी कठोर नहीं रहती है किन्तु एकदम नरम पड़ जाती है परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हें बार २ समझाया जाता है फिर भी तुम प्रमाद को नहीं छोड़ते हो। क्या बात है पता नहीं पड़ता कि तुम प्रमादी क्यों बन रहे हो॥

आचार्य तथा अन्य मुनि द्वारा तीन बार समझाने पर भी यदि शिष्य प्रमाद से पीछे नहीं हटता है, उस समय उसे संघ से बाहर करने रूप दण्ड देना चाहिये। उस समय यदि दूसरों के द्वारा समझाये जाने पर अथवा अपनी गल्ती अपने आप स्वीकार करने पर यह ऐसा गुरु महाराज के समक्ष कहे कि हे गुरु महाराज! मेरे अभीतक के समस्त अपराध आप क्षमा करें, अब आगे ऐसा नहीं करने का भाव

रनी वाचना देवा छतां पण जो शिष्य प्रमाद वश बने, तो तेने एक मासनुं लघु प्रायश्चित देवु जोईए. ते समय तेने एवु कहेवु जोईए के, केशर ने वारवार घुटाई घुटाईने पीसवामां आवे छे, तो पण पत्थरनी माफक कठोर नहि बनतां वधु ने वधु नरम बने छे घणाज आश्चर्यनी वात छे के, तमने वारवार समजाववा छता पण तमे प्रमादने छोडता नथी. कयु कारण छे ते समजातु नथी के तमे तमारो प्रमाद छोडता नथी. आचार्य तथा अन्य मुनिद्वारा त्रणवार समजाव्या छतां पण जो शिष्य प्रमादथी पाछो न हटे तो तेने ते समये संघनी बहार करवारूप दंड देवो जोईए. ते समय कदाच बीजाओ द्वारा समजाववाथी अथवा पोतानी भूल पोते ज स्वीकारीने ते गुरु महाराज समक्ष एवु कहे के, हे गुरु महाराज! मारा आज सुधीना बधा अपराध आप माफ करो, हवे आगळ हुं आवु नहि करुं ते समये

ताम्बूलपत्र कुथित न परित्यज्यते चेत्, तर्हि शेषाण्यपि पत्राणि तत् कोथयति।
एव त्वमपि स्वय विनष्टो मम अन्यानपि साधून् विनाशयिष्यसीति कृत्वा
निष्कासितोऽस्मामि०। सम्प्रति पुनरप्रमत्तेन भवितव्यम्, मासगुरु च ते प्रायश्चित्तम्।

अत्र राजदृष्टान्तो वर्णनीय०।

कस्यचिद् राज्ञोऽक्षिरोग सजात०। तत्रत्यवैद्यास्तच्चिकित्सा कर्तुमशक्ता अभूवन्। अन्यश्च कश्चिदागन्तुको वैद्यस्तत्रागत्याह–ममासिगुटिकास्तु अक्षिरोगप्रश-मन्य। ताभिरञ्जितेषु अक्षिषु तीव्रतरा दु.सहा वेदना भवति। सा तु मुहूर्तमात्रम्।

है, उस समय गुरु महाराज उससे ऐसा कहें कि देखो, पान सड़ जाने पर यदि बाहर निकाल कर न फेंक दिया जाय तो वह जैसे अन्य पानों को सड़ा कर बिगाड़ देता है, उसी प्रकार तुम भी स्वय विनष्ट होकर मेरे सघ के अन्य साधुओं को विनष्ट कर दोगे इस ख्याल से हम तुम्हें सघ से बाहर कर रहे हैं। यदि आगे ऐसा नहीं करोगे तो सघ में रख लिये जाते हैं। इसलिये जाओ १ मास का यह तुम्हें गुरु प्रायश्चित्त दिया जाता है। इस विषय में एक राजा का दृष्टान्त इस प्रकार है—

किसी एक राजा को आखों में रोग हो गया। नगर भर में जितने वैद्य थे उन सब ने खूब यत्नपूर्वक इलाज किया, परंतु उनके इलाज से राजा की आखों का रोग शमित नहीं हुआ। एक समय वहां बाहर गाव का एक वैद्य आया। उसने नरेश के पास जाकर कहा कि महाराज! हमारे पास ऐसी गोलियां हैं जो आखों में आजने पर बिलकुल रोग को नष्ट कर देती हैं। परन्तु उनके आजने पर १ मुहूर्त तक बड़ी दुःसह

ગુરુમહારાજ તેને એવુ કહે કે જુઓ પાન સડી જવાથી બહાર કાઢી ફેકી દેવામાં ન આવે તો તે જેમ બીજા પાનને સડાવી બગાડી દે છે તેજ રીતે તમે પણ સ્વય વિનિષ્ટ બની મારા સઘના બીજા સાધુઓને પણ વિનિષ્ટ બનાવી દેશો આ ખ્યાલથી તમને સઘથી બહાર કરવામાં આવે છે કદાચ આગળ એવુ નહી કરો તો સઘમાં રાખવામા આવશે આ માટે તમને એક મહિનાનુ ગુરૂ પ્રાયશ્ચિત્ત આપવામા આવે છે

આ વિષયમાં એક રાજાનો દાખલો આ પ્રકારે છે —

કોઈ એક રાજાની આંખમાં રોગ થયો, શહેરમાં જેટલા વૈદ્ય હતા તે સઘળાથી ખૂબ પ્રયત્ન પુર્વક ઈલાજ કરવામાં આવ્યો પરતુ તેઓના ઈલાજથી રાજાની આંખોનો રોગ મટયો નહી એક સમયે ત્યા બહાર ગામનો એક વૈદ્ય આવ્યો તેણે રાજાની પાસે પહોચી કહ્યુ કે, મહારાજ! મારી પાસે એવી ગોળીઓ છે, જે આંખોમાં આંજવાથી રોગને બીલકુલ મટાડે છે પરતુ તેને આંજવાથી

यदि वेदनायां सत्यां मा प्राणदण्डं कर्तुं कर्मचारिभ्य आज्ञां न ददासि, तर्हि तवाक्षिणी अञ्जयामि। राज्ञा कथितम्—नाहं तव प्राणदण्डं कर्तुमाज्ञापयिष्यामि। तदा राज्ञोऽक्ष्णोरञ्जनं वैद्यः कृतवान्। अञ्जितयोरक्ष्णोस्तीव्रतरा वेदना जाता। तदा राज्ञा निगदितम्—'अनेनाक्षिणी मम पीडिते, अत एनं मारय' इत्याज्ञां स्वकर्मचारिणः प्रति दत्तवान्। तैः कर्मचारिभिस्तस्य राज्ञो हितकरं विज्ञाय वैद्यः प्रच्छन्नः स्थापितः। मुहूर्तान्तरेण राज्ञो वेदना उपशान्ता, अक्षिणी रोगरहिते दिव्ये दिव्यज्योतिष्मती सजाते। तदा राज्ञा वैद्यः स्मृतः। राजकर्मचारिभिरानीय समर्पितो वैद्यः सत्कारितः संमानितश्च। यथा तस्य राज्ञस्तत्कालदुःसहमपि गुटिकाञ्जनं क्रमेण चक्षुषो नैरुज्यकरणात् परिणामसुन्दरं समजनि, एवं भवतामपि स्मारणादिकं खर-

---

पीडा होती है। यदि आप वेदना होने पर अपने कर्मचारियों को मुझे प्राणदण्ड देने की आज्ञा न करे तो मैं आपकी आखों में उन गोलियों को आंज सकता हूं। राजाने वैद्य की बात सुन कर उसे अभय करने का वचन दे दिया। वैद्य ने भी गोलियों को घिस कर राजा की आखों में आंज दिया। आजते ही राजा की आखों में तीव्रतर दुःसह वेदना होने लगी। उस वेदना से पीडित होकर राजा ने उसे मारने की आज्ञा दे दी। कर्मचारियों ने उसे राजा का हितकारी मान कर एक जगह छिपा दिया और मारा नहीं। कुछ समय के बाद वेदना शांत हो गई और आखें रोग रहित हो गई। राजा ने प्रसन्न होकर उस वैद्य को याद किया तब कर्मचारियों ने उस वैद्य को लाकर हाजर किया। राजा ने उसको खूब आदर सत्कार करके विसर्जित किया। मतलब इस दृष्टान्त का यह है कि जिस प्रकार उस राजा के लिये दुःसह भी

એક ઘડી સુધી ઘણી જ અસહ્ય વેદના થાય છે વેદના થવાથી આપ આપના કર્મચારીઓ દ્વારા મને પ્રાણદંડ દેવાની આજ્ઞા ન કરો તો હું આપની આંખોમાં એ ગોળીઓ આંજવા ઇચ્છું છુ. રાજાએ વૈદની વાત સાંભળીને તેને અભય કરવાનું વચન આપ્યું. વૈદે પણ ગોળીઓને ઘસીને રાજાની આંખમાં આંજી દીધી આંજતાં જ રાજાની આંખોમાં તીવ્રતર દુઃસહ વેદના થવા લાગી, આ વેદનાથી વ્યાકુળ બની રાજાએ તેને મારવાની આજ્ઞા આપી. કર્મચારીઓએ તેને રાજાનો હિતકારી માની એક જગ્યાએ છુપાવી દીધો અને માર્યો નહીં. થોડા સમય પછી વેદના શાન્ત થઈ અને આંખો રોગ રહિત બની. રાજાએ પ્રસન્ન થઈને તે વૈદને યાદ કર્યો ત્યારે કર્મચારીઓએ તે વૈદને લાવીને હાજર કર્યો. રાજાએ તેનો ખૂબ આદરસત્કાર કરીને વિદાય આપી. આ દૃષ્ટાંતનો સાર એ છે કે, રાજા માટે દુઃસહ એવી આંખોની પીડાનું ગુટિકાના અંજનથી શમન થયું

परुषत्वात् यद्यप्यापातमात्रदु:खजनकं तथापि परिणामसुन्दरमेव द्रष्टव्यम्, इह परत्र च सकलकल्याणपरंपराकारणत्वादिति।

॥ इति सप्तम वाचनाद्वारम् ॥

सूत्रार्थयो' पौर्वापर्यनिरूपणनामकमष्टमद्वारम्—

अथ पूर्वं सूत्रम् अर्थो वा? इति निरूप्यते—उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणोऽर्थस्तीर्थंकरैः पूर्वमुक्त:, पश्चात् तमेवार्थं हृदये निधाय गणधरा: सूत्र रचयन्ति, तस्मादर्थतः पश्चाद्भावि सूत्रम्, इति सिद्धान्त । अत एव सूत्रम् अणु–लघु भवति, अर्थस्तु महान्,

---

गुटिकाजन आंखो की पीड़ा का शमक हुआ–पीडाजनक होने पर भी परिणाम में हितविधायक हुआ, उसी प्रकार शिष्यों को भी गुरु महाराज द्वारा प्रदत्त स्मारणादिक तीव्र कठोर होने पर भी आयति–(उत्तरकाल) सुख कारक होने से एकान्त हितविधायक ही होते हैं। क्यों कि इनसे इस लोक में तथा परलोक में आत्मा का हित ही होता है अहित नहीं।

॥ सातवाँ द्वार समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अब आठवाँ द्वार कहते हैं—

सूत्र एवं अर्थ के पौर्वापर्य द्वार का निरूपण करते हैं—

अब यहां यह बतलाया जाता है कि पहिले सूत्र होता है कि अर्थ होता है। उत्पाद, व्यय, एव ध्रौव्य इस लक्षण से युक्त अर्थ–पदार्थ होता है। अर्थ का यह लक्षण तीर्थंकर प्रभुने कहा है। इसी अर्थ को हृदय में अवधृत कर गणधर देवों ने सूत्रों की रचना की है। इस-

---

પીડા આપનાર હોવા છતાં પણ પરિણામમાં હિતકારક પરિણામ આવ્યું આ પ્રકાર શિષ્યોએ પણ ગુરુમહારાજ દ્વારા પ્રદત્ત સ્મારણાદિક તીવ્ર–કઠોર હોવા છતાં પણ અંતે ગુણ કરનાર સુખકારક હોવાથી એકાન્ત હિતવિધાયક જ હોય છે કેમકે એનાથી આલોક તથા પરલોકમાં આત્માનું હિત થાય છે, અહિત નહીં

॥ સાતમું દ્વાર સમાપ્ત થયું ॥૭॥

હવે આઠમું દ્વાર કહેવામાં આવે છે—

સૂત્ર તથા અર્થના પૌર્વાપર્યદ્વારનું નિરૂપણ કરવામાં આવે છે—

હવે અહિં એ બતાવવામાં આવે છે કે, પહેલાં સૂત્ર હોય છે કે અર્થ હોય છે ઉત્પાદ,વ્યય, અને ધ્રૌવ્ય આ લક્ષણથી યુક્ત અર્થ પદાર્થ બને છે અર્થનું એ લક્ષણ તીર્થંકર પ્રભુએ કહેલ છે તે અર્થને હૃદયમાં ધારણ કરીને ગણધર દેવોએ સૂત્રની રચના કરી છે માટે અર્થની પાછળ સૂત્ર છે, એ સિદ્ધાંત

यदि वेदनायां सत्यां मां प्राणदण्डं कर्तुं कर्मचारिभ्य आज्ञां न ददासि, तर्हि तवाक्षिणी अञ्जयामि। राज्ञा कथितम्—नाहं तत्र प्राणदण्डं कर्तुमाज्ञापयिष्यामि। तदा राज्ञोऽक्ष्णोरञ्जनं वैद्यः कृतवान्। अञ्जितयोरक्ष्णोस्तीव्रतरा वेदना जाता। तदा राज्ञा निगदितम्—'अनेनाक्षिणी मम पीडिते, अत एनं मारय' इत्याज्ञां स्वकर्मचारिणं प्रति दत्तवान्। तैः कर्मचारिभिस्तस्य राज्ञो हितकरं विज्ञाय वैद्यः प्रच्छन्नं स्थापितः। मुहूर्तान्तरेण राज्ञो वेदना उपशान्ता, अक्षिणी रोगरहिते दिव्ये दिव्यज्योतिष्मती सञ्जाते। तदा राज्ञा वैद्यः स्मृतः। राजकर्मचारिभिरानीय समर्पितो वैद्यः सत्कारितः सम्मानितश्च। यथा तस्य राज्ञस्तत्कालदुःसहमपि गुटिकाञ्जनं क्रमेण चक्षुषो नैरुज्यकरणात् परिणामसुन्दरं समजनि, एवं भवतामपि स्मारणादिकं खर-

पीडा होती है। यदि आप वेदना होने पर अपने कर्मचारियों को मुझे प्राणदण्ड देने की आज्ञा न करे तो मैं आपकी आखों में उन गोलियों को आंज सकता हू। राजाने वैद्य की बात सुन कर उसे अभय करने का वचन दे दिया। वैद्य ने भी गोलियों को घिस कर राजा की आंखों में आंज दिया। आंजते ही राजा की आखों में तीव्रतर दुःसह वेदना होने लगी। उस वेदना से पीडित होकर राजा ने उसे मारने की आज्ञा दे दी। कर्म चारियों ने उसे राजा का हितकारी मान कर एक जगह छिपा दिया और मारा नहीं। कुछ समय के बाद वेदना शांत हो गई और आंखें रोग रहित हो गई। राजा ने प्रसन्न होकर उस वैद्य को याद किया तब कर्मचारियों ने उस वैद्य को लाकर हाजर किया। राजा ने उसको खूब आदर सत्कार करके विसर्जित किया। मतलब इस दृष्टान्त का यह है कि जिस प्रकार उस राजा के लिये दुःसह भी

એક ઘડી સુધી ઘણી જ અસહ્ય વેદના થાય છે વેદના થવાથી આપ આપના કર્મચારીઓ દ્વારા મને પ્રાણદંડ દેવાની આજ્ઞા ન કરો તો હું આપની આંખોમાં એ ગોળીઓ આંજવા ઇચ્છુ છુ રાજાએ વૈદની વાત સાંભળીને તેને અભય કરવાનુ વચન આપ્યુ વૈદે પણ ગોળીઓને ઘસીને રાજાની આંખમા આંજી દીધી આંજતાં જ રાજાની આંખોમાં તીવ્રતર દુઃસહ વેદના થવા લાગી, આ વેદનાથી વ્યાકુળ બની રાજાએ તેને મારવાની આજ્ઞા આપી કર્મચારીઓએ તેને રાજાનો હિતકારી માની એક જગ્યાએ છુપાવી દીધો અને માર્યો નહીં થોડા સમય પછી વેદના શાન્ત થઇ અને આંખો રોગ રહિત બની. રાજાએ પ્રસન્ન થઇને તે વૈદને યાદ કર્યો ત્યારે કર્મચારીઓએ તે વૈદને લાવીને હાજર કર્યો. રાજાએ તેનો ખૂબ આદરસત્કાર કરીને વિદાય આપી. આ દૃષ્ટાંતનો સાર એ છે કે, રાજા માટે દુઃસહ એવી આંખોની પીડાનુ ગુટિકાના અંજનથી શમન થયુ

वत्र मान्ति स्म। एव पेटिकास्थानीये सूत्रे बहून्यर्थपदानि वर्तन्ते, तत्र सूत्रमेव वादर भवितुमर्हति नार्थ इति। किंचार्थस्य महत्त्वमेकान्ततो नास्ति, प्रथमे उत्क्षिप्तज्ञाते हि 'अनुकम्पा कर्तव्या' इत्यर्थो बहुभि सूत्रैर्वर्णित। तथा-अष्टादशे सुसुमादारिकाज्ञाते वर्णरूपबलादिवृद्ध्यर्थं नाहारयितव्यम्, इत्यर्थो बहुभि सूत्रैर्वर्णित', तस्मादर्थो न महान् किन्तु सूत्रमेव महदिति चेत्—?

अत्रोच्यते—पूर्व सूत्र पश्चादर्थः, इति न सम्भवति। अर्थस्य हि सूत्रतः पश्चाद्भावित्व न युज्यते, अर्थं विना सूत्र निथारहित सत् कीदृश स्यात्? असबद्ध

में अनेक वस्त्र रख दिये जाते हैं एतावता पेटी में ही बादरता आती है वस्त्रों में नहीं। क्यों कि उसके आधार से ही बहुत वस्त्र उसमें समा जाते हैं। इसी तरह पेटी के स्थानीय सूत्र में भी बहुत से अर्थपद रहा करते हैं इसलिये सूत्र को ही बादर होने का प्रसग प्राप्त होता है अर्थ को नहीं। तथा-अर्थ में महत्ता भी एकान्त से स्थापित नहीं होती है। "प्रथमे उत्क्षिप्तज्ञाते" ज्ञातासूत्र के प्रथम उत्क्षिप्तज्ञात नामक अध्ययन में भगवान ने फरमाया है कि अनुकपा करनी चाहिये इस प्रकार का अर्थ बहुत सूत्र से वर्णित किया है। तथा "अष्टादशे सुसमादारिकाज्ञाते" अर्थात् इसी ज्ञाता सूत्र के अठारवें सुसुमादारिकानामक अध्ययन में वर्ण, रूप, बल आदि की वृद्धि निमित्त मुनियों को आहार नहीं करना चाहिये यह अर्थ बहुत सूत्रों से वर्णित किया है। इसलिये अर्थ महान् नहीं है किन्तु सूत्र ही महान् है यही बात ज्ञात होती है।

उत्तर-पहिले सूत्र होता है पश्चात् अर्थ यह कथन युक्तियुक्त नहीं है,

આવે છે, વસ્ત્રોમા નહી, કેમ કે પેટીના આધારથી જ ઘણા વસ્ત્રો તેમા સમાઇ શકે, એવી રીતે સ્થાનીય સૂત્રમા પણ ઘણા અર્થ પદ રહ્યા કરે છે માટે જ સૂત્રને બાદર હોવાનો પ્રસગ પ્રાપ્ત થાય છે, અર્થને નહી તેમ અર્થમા મહત્તા પણ એકાન્તથી સ્થાપિત થતી નથી, જ્ઞાતા સૂત્રના પ્રથમ ઉત્ક્ષિપ્તજ્ઞાત નામના અધ્યયનમાં ભગવાને ફરમાવ્યુ છે કે, અનુકમ્પા કરવી જોઈએ આ પ્રકારનો અર્થ ઘણા સૂત્રોથી વર્ણવવામાં આવેલ છે તથા "अष्टादशे सुसमादारिका ज्ञाते" અર્થાત્ આ જ્ઞાતા સૂત્રના અઢારમા "સુસમાદારિકા" નામના અધ્યયનમા વર્ણ, રૂપ, બળ વગેરેની વૃદ્ધિ નિમિત્તે મુનિયોએ આહાર ન કરવો જોઈએ આ અર્થ ઘણા સૂત્રોમા વર્ણવવામા આવેલ છે આ માટે અર્થ મહાન નથી પણ સૂત્ર જ મહાન છે આ વાત જ્ઞાત થાય છે

ઉત્તર-પહેલાં સૂત્ર હોય છે પછી અર્થ આ કહેવું યુક્તિ યુક્ત નથી, કારણ

एकैकस्य सूत्रस्यार्थोऽनन्तः। स्तोकत्वात् पश्चादभिहितत्वाच्च सूत्रम् 'अणु' इत्युच्यते, तेन चाणुना सूत्रेण सहार्थस्य यः सम्बन्धो योगः स चानुयोग इत्युच्यते।

ननु पूर्वमर्थः पश्चात् सूत्रमिति कथनमयुक्तम्, पूर्वं हि सूत्रं पश्चादर्थः, सूत्राभावे तु अर्थः कस्य स्यात्। लौकिका अप्येवमेव वदन्ति–आधारे सत्येवाधेयं तिष्ठतीति।

यच्च सूत्रमणु, अर्थस्तु विस्तृत इति, तदप्ययुक्तम्? एकस्यां हि पेटिकायां बहूनि वस्त्राणि सन्ति, तत्र पेटिकाया एव बादरत्वं युज्यते, तद्वशाद् बहूनि वस्त्राणि

लिये अर्थ के पश्चात् सूत्र है यह सिद्धान्त निर्धारित हो जाता है। सूत्र अणु-लघु होता है। तथा-अर्थ सूत्र की अपेक्षा महान् होता है। एक २ सूत्र के अनंत अर्थ होते हैं। सूत्र को अणु इसी अभिप्राय से कहा गया है कि एक तो वह अर्थ के पश्चाद् भावी है और दूसरे वह स्तोक अर्थात् छोटा होता है। उस अणु सूत्र के साथ अर्थ का जो योग है-संबंध है उसी का नाम अनुयोग है।

प्रश्न–पहिले अर्थ होता है बाद में उसके सूत्र होता है यह कथन अयुक्त है। कारण कि सूत्र के विना अर्थ नहीं हो सकता है। इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि पहिले सूत्र होता है और बाद में अर्थ होता है। लौकिक जन भी यही कहते हुए पाये जाते हैं। सूत्र आधार है और अर्थ आधेय है। सूत्र में अर्थ रहता है अर्थ में सूत्र नहीं। आधार के होने पर ही आधेय रह सकता है अन्यथा नहीं। दूसरे–अर्थ की अपेक्षा जो सूत्र को अणु कहा गया है वह भी ठीक नहीं मालूम पड़ता। कारण कि देखा जाता है कि एक ही सन्दूक

નિર્ધારિત બની જાય છે સૂત્ર અણુ-લઘુ હોય છે તથા અર્થ સૂત્રની અપેક્ષાથી મહાન હોય છે, એક એક સૂત્રના અનંત અર્થ થાય છે સૂત્રને અણુ એ અભિપ્રાયથી કહેવામાં આવેલ છે કે, એક તો તે અર્થના પશ્ચાદ્ભાવિ છે, (પાછળ બનાર) અને બીજું તે લઘુ હોય છે, એ અણુ સૂત્રની સાથે અર્થનો જે યોગ છે—સંબંધ છે તેનું નામ અનુયોગ છે

પ્રશ્ન-પહેલાં અર્થ થાય છે અને એ પછી સૂત્ર થાય છે, તે કહેવું અયુક્ત છે કારણ કે સૂત્ર વગર અર્થ થઈ શકે નહીં આ માટે સમજવું જોઈએ કે પહેલાં સૂત્ર હોય છે અને પછી અર્થ થાય છે સૂત્ર આધાર છે અને અર્થ આધેય છે સૂત્રમાં અર્થ રહે છે અર્થમાં સૂત્ર નહીં આધારના હોવાથી જ આધેય રહી શકે છે તેના વગર નહીં બીજું અર્થની અપેક્ષા જે સૂત્રને અણુ કહેવામાં આવેલ છે તે પણ ઠીક નથી. કારણ કે, જોવામાં આવે છે કે, એક જ પેટીમાં ઘણાં વસ્ત્ર રાખવામાં આવે છે આથી તે પેટીમાં બાદરતા

रच्यन्ते। एव वस्त्रस्थानीयस्यार्थस्य महत्त्वम्, पेटिकास्थानीयस्य तु सूत्रस्याणु
त्वमेव। यदप्युक्तम्-अर्थो महानित्यस्यैकान्तता नास्तीति तदप्यविचारितमाभित
-उत्क्षिप्तज्ञातादिषु सत्त्वानुकम्पादिकोऽर्थस्तत्तदध्ययनमात्रस्य, अशेषस्य तु सूत्रस
तदतिरिक्ता अपि महान्तोऽर्था सन्ति।

॥ इति अष्टम द्वारम् ॥

अर्थ के विना सूत्र निश्चारहित होता हुआ दशदाडिम आदि वाक
की तरह केवल असम्बद्ध और निरर्थक ही माना जाता है।२। जो य
कहा है कि पेटी की तरह सूत्र बादर होता है तथा वस्त्रादिक की तर
अर्थ अणु होता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्यों कि जिस
प्रकार उसी पेटी के किसी एक वस्त्र द्वारा उसी पेटी जैसी अनेक पेटिये
लपेटी जा सकती हैं उसी प्रकार एक अर्थ से अनेक सूत्र रचे जा सकते हैं
इस तरह वस्त्रस्थानीय अर्थ में महत्व आता है और पेटी स्थानी
सूत्र में अणुत्व हो। एकान्तसे अर्थ में महत्त्व नहीं है क्यों कि उत्क्षि
आदि अध्ययनों में जो कहा गया है वह सत्वानुकपादिक रूप अ
उस अध्ययनमात्र का ही है, अर्थात् उनमें अनुकपादि अर्थों की ह
प्रधानता है। और अनुकपादि अर्थों को ही सिद्ध किया है। न वि
अवशिष्ट समस्त सूत्र का। उसके तो उससे अतिरिक्त और भ
अनेक अर्थ हैं।

॥ यह आठवाँ द्वार सपूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

દશદાડીમ આદિ વાકયની માફક કેવળ અસબદ્ધિત અને નિરર્થક જ માનવામાં
આવે છે એમ કહેવામાં આવે કે પેટીની માફક સૂત્ર બાદર હોય છે, તથા
વસ્ત્રાદિકની માફક અર્થ અણુ હોય છે તો તે કહેવુ પણ ઠીક નથી. કેમ કે, એ
પેટીના કોઈ એક વસ્ત્રમાં આવી અનેક પેટીઓ બાધી શકાય છે એજ રીતે
એક અર્થથી અનેક સૂત્ર રચી શકાય છે આ રીતે વસ્ત્રનુ સ્થાનીય અર્થમાં
મહત્વ આવે છે અને પેટી સ્થાનીય સૂત્રમાં અણુત્વ જ એકાન્તથી અર્થમા મહત્વ
નથી એવું જે કહેવામા આવેલ છે તે પણ ઠીક નથી. કેમકે, ઉત્ક્ષિપ્ત વગેરે
અધ્યયનમાં જે કહેવાયેલ છે તે સત્વાનુકપાદિક રૂપ અર્થ તે તે અધ્યયન
માત્રાના જ છે અર્થાત્ તેમા અનુકમ્પાદિ અર્થોની જ પ્રધાનતા છે અને અનુ
કમ્પાદિ અર્થોને જ સિદ્ધ કરેલ છે ન કે અવશિષ્ટ બધા સૂત્રોને. એના તો એનાથી
બીજા ઘણા અર્થો છે

॥ આ આઠમુ દ્વાર સપૂર્ણ થયુ. ॥ ૮ ॥

निरर्थक स्यात्, यथा नव पूपा दशदाडिमानीत्यादिवाक्य सम्बन्धरहित निरर्थकं भवति। अपि च–लौकिका अपि शास्त्रार. प्रथमतोऽर्थं दृष्ट्वा सूत्रं कुर्वन्ति, अर्थमन्तरेण सूत्रस्यानिष्पत्तेः। तथा चोक्तम्––

"अत्थ भासइ अरिहा, तमेव सुत्तीकरेंति गणधारी।
अत्थ विणा च सुत्त, अणिस्सियं केरिस होइ" ॥ १ ॥

छाया––अर्थं भाषतेऽर्हन्, तमेव सूत्रीकुर्वन्ति गणधारिणः।
अर्थं विना च सूत्रम्, अनिश्रित कीदृशं स्यात् ॥ १ ॥

किञ्च––"अत्थ भासइ अरिहा, सुत्त गुंफति गणहरा निउणा।"
अपरञ्च––सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तई ॥

यदप्युक्त––पेटिकावद् बादर सूत्रम्, अर्थस्तु अणुरिति तदप्यसत्, यतस्तस्याः पेटिकाया एकं वस्त्रमादाय तेनानेकाः पेटिका बध्यन्ते, तथैकेनार्थेन बहूनि सूत्राणि

कारण कि अर्थ के विना निश्रारहित सूत्र हो ही नहीं सकता है। यदि वह होता है तो "नवपूपा दशदाडिमा" आदि वाक्य की तरह निरर्थक और असंबद्ध ही होगा। लौकिक शास्त्र के जानने वाले भी तो प्रथम अर्थ को देखकर ही सूत्र की रचना किया करते हैं। क्यों कि अर्थ के विना सूत्र की निष्पत्ति नहीं होती है। कहा भी है––

अत्थ भासइ अरिहा, तमेव सुत्ती करेंति गणधारी।
अत्थं विणा य सुत्त, अणिस्सिय केरिसं होइ ॥ १ ॥
अत्थं भासइ अरिहा, सुत्त गुंफंति गणहरा निउणा।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तई ॥ २ ॥

तीर्थंकर भगवान पहिले अर्थ की प्ररूपणा करते हैं और उसी अर्थ को गणधर भगवान सूत्ररूप में गुंथते हैं। १।

કે અર્થના વિના નિશ્રા રહિત સૂત્ર થઈ જ શકતુ નથી કદાચ તે હોય છે, તો 'નવપૂપા દશદાડિમા" આદિ વાક્યની માફક નિરર્થક અને સબધ વગરનું હોય લૌકિક શાસ્ત્રના જાણવાવાળા પણ પ્રથમ અર્થને જોઈને સૂત્રની રચના કર્યા કરે છે કેમ કે અર્થના વગર સૂત્રની ઉત્પત્તિ થતી નથી કહ્યુ પણ છે કે—

અત્થ ભાસઇ અરિહા, તમેવ સુત્તીકરેંતિ ગણધારી।
અત્થ વિણા ય સુત્તં, અણિસ્સિયં કેરિસ હોઇ ॥ ૧ ॥
અત્થ ભાસઇ અરિહા, સુત્ત ગુંફંતિ ગણહરા નિઉણા।
સમણસ્સ હિયટ્ઠાએ, તઓ સુત્તં પવત્તઈ ॥ ૨ ॥

તીર્થંકર ભગવાન પહેલા અર્થની પ્રરૂપણા કરે છે, અને એજ અર્થને ગણધર ભગવાન સૂત્રના રૂપમાં ગૂથે છે અર્થના વગર સૂત્ર નિશ્રા

रच्यन्ते। एव वस्त्रस्थानीयस्यार्थस्य महत्त्वम्, पेटिकास्थानीयस्य तु सूत्रस्याणुत्वमेव। यदप्युक्तम्—अर्थो महानित्यस्यैकान्तता नास्तीति तदप्यविचारितभाषितम्—उत्क्षिप्तज्ञातादिषु सत्त्वानुकम्पादिकोऽर्थस्तत्तदध्ययनमात्रस्य, अशेषस्य तु सूत्रस्य तदतिरिक्ता अपि बहवोऽर्था सन्ति।

॥ इति अष्टम द्वारम् ॥

अर्थ के विना सूत्र निःसाररहित होता हुआ दशदाडिम आदि वाक्य की तरह केवल असबद्ध और निरर्थक ही माना जाता है। २। जो यह कहा है कि पेटी की तरह सूत्र बादर होता है तथा वस्त्रादिक की तरह अर्थ अणु होता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्यों कि जिस प्रकार उसी पेटी के किसी एक वस्त्र द्वारा उसी पेटी जैसी अनेक पेटियाँ लपेटी जा सकती है उसी प्रकार एक अर्थ से अनेक सूत्र रचे जा सकते हैं। इस तरह वस्त्रस्थानीय अर्थ में महत्त्व आता है और पेटी स्थानीय सूत्र में अणुत्व हो। एकान्तसे अर्थ में महत्त्व नहीं है क्यों कि उत्क्षिप्त आदि अध्ययनों में जो कहा गया है वह सत्वानुकपादिक रूप अर्थ उस अध्ययनमात्र का ही है, अर्थात् उनमें अनुकपादि अर्थो की ही प्रधानता है। और अनुकपादि अर्थो को ही सिद्ध किया है। न कि अवशिष्ट समस्त सूत्र का। उसके तो उससे अतिरिक्त और भी अनेक अर्थ हैं।

॥ यह आठवाँ द्वार संपूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

દશદાડીમ આદિ વાક્યની માફક કેવળ અસબદ્ધિત અને નિરર્થક જ માનવામાં આવે છે એમ કહેવામાં આવે કે પેટીની માફક સૂત્ર બાદર હોય છે, તથા વસ્ત્રાદિકની માફક અર્થ અણું હોય છે તો તે કહેવુ પણ ઠીક નથી. કેમ કે, એ પેટીના કોઈ એક વસ્ત્રમાં આવી અનેક પેટીઓ બાધી શકાય છે એજ રીતે એક અર્થથી અનેક સૂત્ર રચી શકાય છે આ રીતે વસ્ત્રનુ સ્થાનીય અર્થમાં મહત્વ આવે છે અને પેટી સ્થાનીય સૂત્રમાં અણુત્વ જ એકાન્તથી અર્થમા મહત્વ નથી એવું જે કહેવામા આવેલ છે તે પણ ઠીક નથી. કેમકે, ઉત્ક્ષિપ્ત વગેરે અધ્યયનમાં જે કહેવાયેલ છે તે સત્વાનુકપાદિક રૂપ અર્થ તે તે અધ્યયન માત્રાના જ છે અર્થાત્ તેમા અનુકમ્પાદિ અર્થોની જ પ્રધાનતા છે અને અનુકમ્પાદિ અર્થોને જ સિદ્ધ કરેલ છે ન કે અવશિષ્ટ બધા સૂત્રોને. એના તો એનાથી બીજા ઘણા અર્થો છે

॥ આ આઠમુ દ્વાર સપૂર્ણ થયુ. ॥ ૮ ॥

अथ नवम द्वारम्-सूत्रार्थतदुभयषु यथोत्तर प्राबल्यम्—

द्वादशाङ्गमधीयानानां वैयावृत्त्ये क्रियमाणे तेषा वैयावृत्त्यकराणा महती निर्जरा भवति तदावरणीयस्य कर्मण क्षयकरणात्, तेषां महापर्यवसान च भवति-पुनरन्य नवकर्मबन्धाभावात्। ननु कस्य कीदृशी निर्जरा भवति ?

अत्रोच्यते—सूत्रेऽर्थे च यथोत्तर बलवती निर्जरा। आवश्यकादियावच्चतुर्दश पूर्वाणि सूत्र, तद्द्वारा यथोत्तर महती महत्तरा निर्जरा भवति। इयमत्र भावना-एक आवश्यकसूत्रधरस्य वैयावृत्त्य करोति, अपरो दशवैकालिकसूत्रधरस्य वैयावृत्त्यक

सूत्र, अर्थ एव सूत्रार्थ में यथोत्तर प्रबलता का कथन नववें द्वार में करते हैं—

बारहअंग को पढ़ते हैं और वे वैयावृत्त्य करते हैं (अर्थात् आचार्य उपाध्याय की सेवा करते हैं) उनको श्रुतज्ञानावरणीय कर्मों की महा निर्जरा होती है तथा अन्य नवीन कर्म का बन्ध भी नहीं होता है। किसके कैसी निर्जरा होती है ? इस बात को स्पष्ट किया जाता है-सूत्र एव अर्थ को पढ़ने वालों की यथोत्तर महानिर्जरा होती है। आवश्यक सूत्र से लेकर १४ पूर्वतक के आगम सूत्र हैं। इनके द्वारा उत्तरोत्तर महानिर्जरा होती है मो तात्पर्य इसका इस प्रकार है कि कोई मुनि आवश्यक सूत्र को जानने वाले की वैयावृत्ति (सेवा) करता है और कोई दूसरा दशवैकालिक सूत्र को जानने वाले की वैयावृत्ति (सेवा) करता है। तो इनमें आवश्यक सूत्र को जानने वाले की वैयावृत्ति करने वाले की निर्जरा की अपेक्षा जो दशवैकालिक को पढाने वाले की वैया

સૂત્ર, અર્થ એવ સૂત્રાર્થમાં યથોત્તર પ્રબલતાનું કથન નવમા દ્વારમા કરે છે —

દ્વાદશાંગ ભણે છે અને જે વૈયાવૃત્ય કરે છે (આચાર્ય-ઉપાધ્યાયની સેવા કરે છે) એને શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય કર્મોની મહાનિર્જરા થાય છે તથા નવા બીજા કર્મોનો બંધ પણ થતો નથી કોને કેવી નિર્જરા થાય છે ? આ વાતને સ્પષ્ટ કરવામા આવે છે —

સૂત્ર અને અર્થને ભણનારાઓને યથોત્તર મહાનિર્જરા થાય છે આવશ્યક સૂત્રથી લઈ ૧૪ પૂર્વ સુધીના આગમ સૂત્ર છે, એના દ્વારા ઉત્તરોત્તર મહાનિર્જરા થાય છે મતલબ કોઈ મુનિ આવશ્યક સૂત્રને જાણવાવાળાની વૈયાવૃત્તિ (સેવા) કરે છે અને કોઈ બીજા દશવૈકાલિક સૂત્રને જાણવાવાળાની વૈયાવૃત્તિ (સેવા) કરે છે તો એમા આવશ્યકસૂત્રને જાણવાવાળાની વૈયાવૃત્તિ કરવાવાળાની નિર્જરાને બદલે જે દશવૈકાલિકના ભણાવનારની વૈયાવૃત્તિ કરવાવાળા છે,

रस्तस्यावश्यकसूत्रधरवैयावृत्त्यकरापेक्षया महती निर्जरा, आवश्यकसूत्रधरस्यैव दश वैकालिकाध्ययनेऽधिकारात्। एवम् अधस्तनाधस्तनश्रुतधरवैयावृत्यकरापेक्षया उपर्युपरितनश्रुतधरवैयावृत्यकरो यथोत्तर महानिर्जरावान भवति। एव त्रयोदश-पूर्वधरवैयावृत्यकरापेक्षया चतुर्दशपूर्वधरवैयावृत्यकरो महानिर्जराकारी भवति। एवमर्थेऽपि भावनीयम्। आवश्यकार्थधरस्य यो वैयावृत्त्य करोति, तदपेक्षया दश वैकालिकार्थधरस्य यो वैयावृत्यकरस्तस्य महती निर्जरा भवति, एव पूर्ववद्बोध्यम् यथा सूत्रे यथोत्तर वलिष्ठता एवमर्थेऽपि भावनीया। तत्र विशेषस्तु-अर्थधरवैया

वृत्ति करने वाला है उसके महानिर्जरा होती है। क्यों कि आवश्यक सूत्र को पढ चुकने वाले का ही अधिकार दशवैकालिक सूत्र के अध्ययन में होता है। इस प्रकार नीचे २ श्रुत को धारण करने वालों की वैयावृत्ति करने वालों की निर्जरा की अपेक्षा जो ऊपर २ के श्रुत को धारण करने वाले हैं उनकी वैयावृत्ति करने वालों की निर्जरा यथोत्तर अधिक अधिकतर होती है। इसी तरह जो तेरहपूर्व के धारी हैं उनकी जो वैयावृत्त करने वाला है उसके जितनी निर्जरा होगी उसकी अपेक्षा जो १४ पूर्व के पाठियों की वैयावृत्ति करने वाला होगा उसकी महानिर्जरा होगी। इसी तरह इनके अर्थ विषय में भी समझ लेना चाहिये। जैसे-जो आवश्यक सूत्र के अर्थ का पाठी है उसका जो वैयावृत्य करने वाला है उसके जितनी निर्जरा होगी उसकी अपेक्षा जो दशवैकालिक सूत्र के अर्थ का पाठी है उनकी वैयावृत्ति करने वाले की निर्जरा अधिकतर होगी। इस तरह पहिले की तरह अर्थ के विषय में लगा लेना चाहिये। जिस तरह

એને મહાનિર્જરા થાય છે કેમકે, આવશ્યક સૂત્ર પુરી રીતે શીખી લેનારનો જ અધિકાર દશવૈકાલિકસૂત્રના અધ્યયનનો હાય છે આ રીતે નીચે નીચેનાં શ્રુતને ધારણ કરવાવાળાની વૈયાવૃત્તિ કરનારને નિર્જરાની અપેક્ષા જે ઉપર ઉપરના શ્રુતને ધારણ કરવાવાળા છે એની વૈયાવૃતિ કરનારની નિર્જરા યથોત્તર અધિક અધિકતર થાય છે આ રીતે જે તેરપૂર્વના ધારક છે એમની જે વૈયાવૃત્તિ કરે છે, એને જેટલી નિર્જરા થાય એની અપેક્ષા જે ચૌદપૂર્વના ધારક છે એની વૈયાવૃત્તિ કરવાવાળાને મહાનિર્જરા થાય છે આવી જ રીતે અર્થમા પણ સમજવુ જોઈએ જે આવશ્યક સૂત્રના અર્થના પાઠી છે, એનો વૈયાવૃતિ કરનારની જેટલી નિર્જરા થાય એની અપેક્ષા જે દશવૈકાલિક સૂત્રના અર્થના પાઠી છે એમની વૈયાવૃત્તિ કરવાવાળાની નિર્જરા અધિકતર થાય છે એજ રીતે પહેલાની માફક અર્થના વિષયમા સમજી લેવુ જોઈએ. જે રીતે સૂત્રમા ઉત્તરોત્તર મહાનિર્જરા કહી છે એજ

त्त्यकरेषु निशीथ-बृहत्कल्प-व्यवहारार्थधराणां वैयावृत्यकरो महानिर्जरावान् भवति। तथा द्वादशाङ्गीधरस्य वैयावृत्यकरः। शेषार्थेभ्यश्छेद सूत्रार्थस्य बलवत्त्वे किं कारणमिति चेत्-उच्यते-स्खलितचारित्रस्य छेदसूत्रार्थेन शोधिर्भवति, तस्मात् शेषात् सर्वस्मादप्यर्थात् छेदसूत्रार्थो बलवान्।

सूत्रेऽर्थे तथा युगपत् तदुभयस्मिश्चिन्त्यमाने यथोत्तरं निर्जरा बलवती भवति। सूत्रापेक्षयाऽर्थो महर्द्धिकः, अर्थापेक्षया तदुभयो महर्द्धिकः, तत्र किं कारणमिति चेत्? अत्रोच्यते गृहनिष्पत्तौ यत् साधन-काष्ठ पाषाणादि, तत्संग्रहे कृते तस्यैव

सूत्र में उत्तरोत्तर महानिर्जरा कही हैं उसी तरह अर्थ में उत्तरोत्तर महानिर्जरा समझनी चाहिये। अर्थधरों की वैयावृत्ति करने वालों में निशीथ, सूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, एवं व्यवहार सूत्र के अर्थधरों की वैयावृत्ति करने वालों के महानिर्जरा होती है तथा-द्वादशांगी के पाठी की वैयावृत्ति करनेवाला महानिर्जरा करता है। शेष अर्थ की अपेक्षा छेद सूत्रों के अर्थो में अधिकता क्यो कही गई हैं, उसका समाधान इस प्रकार है। यदि कोई साधु अपने गृहीत चारित्र से स्खलित हो जाता है तो उसकी शुद्धि छेदश्रुत के अर्थ से होती है। इसलिये अवशिष्ट-समस्त अर्थो की अपेक्षा छेदश्रुतों का अर्थ अधिक कहा गया है।

सूत्र का, अर्थ का तथा युगपत् सूत्रार्थ का अध्ययन करने पर यथोत्तर अधिक २ निर्जरा होती है। सूत्र की अपेक्षा अर्थ महान् होता है और अर्थ की अपेक्षा तदुभय-सूत्र एवं अर्थ-ये दोनों महान् होते हैं। इसमें कारण यह है कि जिस प्रकार घर बनाने में जो काष्ठपाषाण आदि साधन हैं जब उनका संग्रह हो जाता है तब घर बनता है। उसी

રીતે અર્થમાં ઉત્તરોત્તર મહાનિર્જરા સમજવી જોઈએ અર્થધરોની વૈયાવૃત્તિ કરવાવાળામાં નિશીથસૂત્ર, બૃહત્કલ્પસૂત્ર અને વ્યવહારસૂત્રના અર્થધરોની વૈયાવૃત્તિ કરવાવાળાને મહાનિર્જરા થય છે તથા દ્વાદશાંગીના પાઠીની વૈયાવૃત્તિ કરનાર મહાનિર્જરા કરે છે શેષ અર્થની અપેક્ષા છેદ સૂત્રોના અર્થોમાં અધિકતા કેમ કહેવામાં આવી છે, એનુ સમાધાન આ પ્રકારનું છે—જો કોઈ સાધુ પોતે ગ્રહણ કરેલા ચારિત્રથી સ્ખલિત થઈ જાય છે તો એની શુદ્ધિ છેદશ્રુતના અર્થથી થાય છે આ માટે અવશિષ્ટ—સમસ્ત અર્થોની અપેક્ષા છેદશ્રુતોનો અર્થ અધિક કહેવાયેલ છે

સૂત્રનુ, અર્થનુ તથા યુગપત્ સૂત્રાર્થનું અધ્યયન કરવાથી યથોત્તર અધિક અધિક નિર્જરા થાય છે સૂત્રની અપેક્ષા અર્થ મહાન હોય છે આમાં એ કારણ છે કે, જે રીતે ઘર બનાવવામાં પાણા લાકડાં વગેરે સાધન છે, અને તેનો સંગ્રહ

मृह निष्पद्यते, तथाऽर्थानुसन्धाने मत्येव सूत्र निष्पद्यते, अत. सूत्रापेक्षयाऽर्थस्य प्राधान्यं भवति । किं च-सूत्रगणधर प्रोक्तम्, अर्थस्तु भगवद्बोधितस्तस्मात् सूत्रापेक्षयाऽर्थस्य प्राधान्य भवति । तथाचोक्तम्—

तित्थगरट्ठाणो खलु, अत्थो सुत्त तु गणहरट्ठाणं ।
अत्थेण य वजिज्जइ सुत्त, तम्हा उ सो वलवं ॥ १ ॥

छाया-तीर्थकरस्थान खलु अर्थ., सूत्र तु गणधरस्थानम् ।
अर्थेन च व्यज्यते सूत्र, तस्मात्तु स बलवान् ॥ १ ॥

व्याख्या—अर्थ खलु तीर्थकरस्थान, तस्य तेनाभिहितत्वात् । सूत्र तु गणधरस्थान तस्य तैर्ग्रथितत्वात् । अर्थेन च यस्मात् सूत्र व्यज्यते=प्रकटीक्रियते, तस्मात् सोऽर्थ सूत्राद् बलवान् ॥ १ ॥

सूत्रापेक्षयाऽर्थापेक्षया च सूत्रार्थोभयस्य प्राबल्ये दृष्टान्त . प्रदर्श्यते । यथा जातमात्र दधि मधुर, तदपेक्षया शर्करा मधुरतरा, एकत्र समिलिते दधिशर्कर श्रीख-

तरह अर्थ का अनुसधान जब होता है तभी गणधर भगवान सूत्रों की रचना करते हैं । अत. सूत्र की अपेक्षा अर्थ में प्रधानता आती है । तथा-सूत्र गणधरों ने कहे हैं और अर्थ प्रभु द्वारा प्ररूपित हुआ है इसलिये भी सूत्रकी अपेक्षा अर्थ में प्रधानता आजाती है । कहा भी है-अर्थ तीर्थंकर के स्थानापन्न है क्यों कि तीर्थंकर ही अर्थ की प्ररूपणा करते हैं । सूत्र गणधर के स्थानापन्न है क्यों कि वह उनके द्वारा ग्रथित होता है । अर्थ से ही सूत्र उत्पन्न होता है अत अर्थ ही प्रधान है । सूत्र की अपेक्षा एव अर्थ की अपेक्षा सूत्रार्थ किस प्रकार प्रधान होता है यह बात दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट की जाती है—जैसे—ताजा दही मीठा होता है । दही की अपेक्षा शक्कर मीठी होती है । जब इन दोनों का परस्पर

કરવામાં આવે છે ત્યારે જ ઘર બને છે એ જ રીતે અર્થનુ અનુસધાન થાય છે, ત્યારે ગણુધર ભગવાન સૂત્રોની રચના કરે છે આથી સૂત્રની અપેક્ષાએ અર્થમા પ્રધાનતા આવે છે તથા-સૂત્ર ગણુધરોએ કહેલ છે, અને અર્થ પ્રભુ દ્વારા પ્રરૂપિત થયેલ છે આ કારણે પણ અર્થમા પ્રધાનતા આવે છે કહ્યુ પણ છે-અર્થ તીર્થંકર પ્રભુના સ્થાનાપન્ન છે કેમકે, તીર્થંકર જ અર્થની પ્રરૂપણા કરે છે સૂત્ર ગણુધરના સ્થાનાપન્ન છે કેમકે, તે એમના દ્વારા ગ્રથિત થાય છે અર્થથી જ સૂત્ર ઉત્પન્ન થાય છે આથી અર્થ જ પ્રધાન છે સૂત્રની અપેક્ષા અને અર્થની અપેક્ષા સૂત્રાર્થ કઈ રીતે પ્રધાન હોય છે, તે વાત દ્રષ્ટાંત દ્વારા સ્પષ્ટ કરવામા આવે છે —જેમ-તાજુ દહી મીઠુ હોય છે, અને દહીથી સાકર મીઠી હોય છે, જ્યારે એ બન્નેને એક બીજા સાથે મેળવવામા આવે છે ત્યારે

ण्डनामकं द्रव्यं भवति, तत् खलु उभाभ्यां पृथगवस्थिताभ्यां दधिशर्कराभ्यामधिकं विशिष्टास्वादजनकं यथा भवति, तथा सूत्रार्थोभयस्य सर्वभावाधिगमकारणत्वेन विशिष्टभावशुद्धिजनकत्वात् सर्वत: प्राधान्यम् । अतस्तदुभयधरस्य महती निर्जरा भवति ॥ २३ ॥

॥ इति नवमं द्वारम् ॥

पुनः शिष्यस्य वाग्विनयमाह—

मूलम्—मुसं परिहरे भिक्खू, न यं ओहारणिं वए ।
भासादोसं परिहरे, मायं च वज्जेए सया ॥ २४ ॥

में सम्मिश्रण हो जाता है तो उससे श्रीखण्डनाम का एक अपूर्व मधुर पदार्थ बनता है। उसका स्वाद न दही जैसा होता है और न शक्कर जैसा होता है। किन्तु इन दोनों से विलक्षण स्वाद होता है। इसी तरह सूत्र अर्थ ये दोनों जब सम्मिलित होते हैं तब इनसे समस्त भावों का—पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान होने लगता है जो न केवल सूत्र से साध्य है और न केवल अर्थ से। इससे विशिष्ट भावों की अर्थात्—अध्यवसायों की विशिष्ट शुद्धि होती है। इसलिये सूत्र और अर्थ इन दोनों की अपेक्षा तदुभय प्रधान कहा गया है और इसीलिये केवल सूत्रधारी अथवा केवल अर्थधारी की अपेक्षा तदुभयधारी की सेवा करने वाले के महानिर्जरा होती है। इस तरह तेवीसवीं गाथा का अर्थ संक्षेप से संपूर्ण हुआ विस्तार से अर्थ अन्य शास्त्रों से समझना चाहिये ॥ २३ ॥

नवमा द्वार सम्पूर्ण

એનાથી શ્રીખંડ નામનો એક અપૂર્વ મધુર પદાર્થ બને છે જેનો સ્વાદ ન દહીં જેવો હોય છે અને ન તો સાકર જેવો. પરંતુ આ બન્નેથી જુદી જ જાતનો સ્વાદ હોય છે આવી જ રીતે સૂત્ર અને અર્થ એ બન્ને જ્યારે સમ્મિલિત હોય છે ત્યારે એનાથી સમસ્ત ભાવોનુ—પદાર્થોના સ્વરૂપનું જ્ઞાન થવા લાગે છે જે ન કેવળ સૂત્રથી સાધ્ય છે અને ન કેવળ અર્થથી. એનાથી વિશિષ્ટ ભાવોની અર્થાત્—અધ્યવસાયોની વિશિષ્ટ શુદ્ધિ થાય છે આ માટે સૂત્ર અને અર્થ આ બન્નેની અપેક્ષા તદુભય પ્રધાન કહેવામાં આવેલ છે અને એ જ માટે કેવળ સૂત્ર ધારી અથવા કેવળ અર્થધારીની અપેક્ષા તદુભયધારીની સેવા કરવાવાળાની મહા નિર્જરા થાય છે આ રીતે તેવીસમી ગાથાનો અર્થ સંક્ષેપથી સંપૂર્ણ થયો. વિસ્તારથી અર્થ અન્ય શાસ્ત્રોથી સમજવો જોઈએ. ॥ ૨૩ ॥

નવમું દ્વાર સંપૂર્ણ

छाया—मृषा परिहरेत् भिक्षुः, न चावधारणीं वदेत्।
भाषादोषं परिहरेत्, मायां च वर्जयेत् सदा ॥ २४ ॥

टीका—'मुसं परिहरे' इत्यादि।

भिक्षुः=साधुः, मृषा=मृषावादम्-असत्यवचनं परिहरेत्=वर्जयेत्। मृषावादः संक्षेपेण द्विविधः-लौकिको लोकोत्तरश्च। तत्र प्रत्येकं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भेदाच्चतुर्धा। द्रव्यतो लौकिकमृषावादः-विपरीतद्रव्यकथनम्, यथा-गाम् अश्वं कथयति। क्षेत्रतः-यथा-अन्यदीयक्षेत्रं प्रति मदीयमिदं क्षेत्रम्, इति कथनम्। एवमेव कालेऽपि भूत भविष्यद् वर्तमानविषये विपरीतकथनम्, यथा—पूर्वाह्णं प्रति-मध्याह्नकालोऽयमिति कथनम् इत्यादि।

भावतो लौकिकमृषावादः-क्रोधादिकषायनिमित्तकः, तत्र क्रोधतो यथा-रुष्टः पुत्रो वदति नैष मम पिता, रुष्टः पिता वा वदति-नैष मम पुत्र इति। मानतो

शिष्य के वचनविनय के विषय में सूत्रकार समझाते हुए कहते हैं कि—'मुस०' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(भिक्खु मुसं परिहरे-भिक्षुः मृषा परिहरेत्) भिक्षु-साधु का कर्तव्य है कि वह मृषावाद का परित्याग कर देवे। मृषावाद सक्षेप से दो प्रकार का है-एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर। ये दोनों द्रव्य, क्षेत्र, काल, एव भाव से चार २ प्रकार के हैं। विपरीत द्रव्य का कहना यह द्रव्य से लौकिक मृषावाद है जैसे गाय को घोड़ा कहना ॥ १ ॥ दूसरे के क्षेत्रको अपना क्षेत्र बताना यह क्षेत्र की अपेक्षा मृषावाद है ॥२॥ पूर्वाह्न को मध्याह्नकाल बतलाना यह काल की अपेक्षा मृषावाद है ॥ ३ ॥ जो क्रोधादि कषाय निमित्तक होता है वह भाव की अपेक्षा मृषावाद कहलाता है ४ ॥ वह भी चार प्रकार का है-जैसे क्रोध के आवेश में

શિષ્યના વચનવિનયના વિષયમાં સૂત્રકાર સમજાવતાં કહે છે કે—મુસ૦ ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—ભિક્ખુમુસ પરિહરે-ભિક્ષુ મૃષાપરિહરેત્ ભિક્ષુ-સાધુનું કર્તવ્ય છે કે તે મૃષાવાદને પરિત્યાગ કરી દે મૃષાવાદ સંક્ષેપથી બે પ્રકારે છે એક લૌકિક અને બીજો લોકોત્તર આ બન્ને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવથી ચાર પ્રકારના છે વિપરીત દ્રવ્યનું કહેવું એ દ્રવ્યથી લૌકિક મૃષાવાદ છે, જેમ ગાયને ઘોડો કહેવો, ॥૧॥ બીજાના ક્ષેત્રને પોતાનું ક્ષેત્ર બનાવવુ તે ક્ષેત્રની અપેક્ષા મૃષાવાદ છે ॥૨॥ સવારને મધ્યાન કાળ કહેવો એ કાળની અપેક્ષા મૃષાવાદ છે ॥૩॥ જે ક્રોધાદિક કષાય નિમિત્ત બને છે, તે ભાવની અપેક્ષા મૃષાવાદ કહેવાય છે ॥૪॥ તે પણ ચાર પ્રકારથી છે જેમ ક્રોધનાં આવેશમાં આવીને પુત્ર કહે છે કે આ મારો પિતા નથી અથવા જે સમય

ण्डनामकं द्रव्यं भवति, तत् खलु उभाभ्यां पृथगास्थिताभ्यां दधिशर्कराभ्यामधिकं विशिष्टास्वादजनकं यथा भवति, तथा सूत्रार्थोभयस्य सर्वभावाधिगमकारणत्वेन विशिष्टभावशुद्धिजनकत्वात् सर्वतः प्राधान्यम्। अतस्तदुभयधरस्य महती निर्जरा भवति ॥ २३ ॥

॥ इति नवमं द्वारम् ॥

पुनः शिष्यस्य वाग्विनयमाह—

मूलम्—मुसं परिहरे भिक्खू, न यं ओहारणिं वए।
भासादोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया ॥ २४ ॥

में सम्मिश्रण हो जाता है तो उससे श्रीखण्डनाम का एक अपूर्व मधुर पदार्थ बनता है। उसका स्वाद न दही जैसा होता है और न शक्कर जैसा होता है। किन्तु इन दोनों से विलक्षण स्वाद होता है। इसी तरह सूत्र अर्थ ये दोनों जब सम्मिलित होते हैं तब इनसे समस्त भावों का-पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान होने लगता है जो न केवल सूत्र से साध्य है और न केवल अर्थ से। इससे विशिष्ट भावों की अर्थात्-अध्यवसायों की विशिष्ट शुद्धि होती है। इसलिये सूत्र और अर्थ इन दोनों की अपेक्षा तदुभय प्रधान कहा गया है और इसीलिये केवल सूत्रधारी अथवा केवल अर्थधारी की अपेक्षा तदुभयधारी की सेवा करने वाले के महानिर्जरा होती है। इस तरह तेवीसवीं गाथा का अर्थ संक्षेप से संपूर्ण हुआ विस्तार से अर्थ अन्य शास्त्रों से समझना चाहिये ॥ २३ ॥

नवमा द्वार सम्पूर्ण

એનાથી શ્રીખંડ નામનો એક અપૂર્વ મધુર પદાર્થ બને છે જેનો સ્વાદ ન દહીં જેવો હોય છે અને ન તો સાકર જેવો. પરંતુ આ બન્નેથી જુદી જ જાતનો સ્વાદ હોય છે આવી જ રીતે સૂત્ર અને અર્થ એ બન્ને જ્યારે સમ્મિલિત હોય છે ત્યારે એનાથી સમસ્ત ભાવોનું-પદાર્થોના સ્વરૂપનું જ્ઞાન થવા લાગે છે જે ન કેવળ સૂત્રથી સાધ્ય છે અને ન કેવળ અર્થથી એનાથી વિશિષ્ટ ભાવોની અર્થાત્-અધ્યવસાયોની વિશિષ્ટ શુદ્ધિ થાય છે આ માટે સૂત્ર અને અર્થ આ બન્નેની અપેક્ષા તદુભય પ્રધાન કહેવામાં આવેલ છે અને એજ માટે કેવળ સૂત્રધારી અથવા કેવળ અર્થધારીની અપેક્ષા તદુભયધારીની સેવા કરવાવાળાની મહા નિર્જરા થાય છે આ રીતે તેવીસમી ગાથાનો અર્થ સંક્ષેપથી સંપૂર્ણ થયો. વિસ્તારથી અર્થ અન્ય શાસ્ત્રોથી સમજવો જોઈએ. ॥ ૨૩ ॥

નવમું દ્વાર સંપૂર્ણ

गाथा—मृषा परिहरेद् भिक्षु, न चावधारणीं वदेत्।
भाषादोष परिहरेत्, माया च वर्जयेत् सदा ॥ २४ ॥

टीका—'मुस परिहरे' इत्यादि।

भिक्षु=साधु, मृषा=मृषावादम्-असत्यवचन परिहरेत्=वर्जयेत्। मृषावाद ेपेण द्विविध -लौकिको लोकोत्तरश्च। तत्र प्रत्येक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भेदा-र्धा। द्रव्यतो लौकिकमृषावाद -विपरीतद्रव्यकथनम्, यथा-गाम् अश्व कथयति। त -यथा-अन्यदीयक्षेत्र प्रति मदीयमिद क्षेत्रम्, इति कथनम्। एवमेव कालेऽपि । भविष्यद् वर्तमानविषये विपरीतकथनम्, यथा—पूर्वाह्न प्रति-मध्याह्नकालो-मिति कथनम् इत्यादि।

भावतो लौकिकमृषावाद -क्रोधादिकषायनिमित्तक., तत्र क्रोधतो यथा-ष्ट पुत्रो वदति नैष मम पिता, रुष्ट पिता वा वदति-नैष मम पुत्र इति। मानतो

शिष्य के वचनविनय के विषय में सूत्रकार समझाते हुए कहते कि—'मुस०' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(भिक्खु मुस परिहरे-भिक्षुःमृषा परिहरेत्) भिक्षु-ाधु का कर्तव्य है कि वह मृषावाद का परित्याग कर देवे। मृषावाद क्षेप से दो प्रकार का है-एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर। ये दोनों व्य, क्षेत्र, काल, एव भाव से चार २ प्रकार के हैं। विपरीत द्रव्य का हना यह द्रव्य से लौकिक मृषावाद है जैसे गाय को घोड़ा कहना ॥ १ ॥ सरे के क्षेत्रको अपना क्षेत्र बनाना यह क्षेत्र की अपेक्षा मृषावाद है ॥२॥ र्वाह्न को मध्याह्नकाल बतलाना यह काल की अपेक्षा मृषावाद है ॥ ३ ॥ ो क्रोधादि कषाय निमित्तक होता है वह भाव की अपेक्षा मृषावाद हलाता है ४ ॥ वह भी चार प्रकार का है-जैसे क्रोध के आवेश में

શિષ્યના વચનવિનયના વિષયમાં સૂત્રકાર સમજાવતા કહે છે કે—મુસ૰ ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—ભિક્ખુમુસ પરિહરે-ભિક્ષુ મૃષાપરિહરેત્ ભિક્ષુ-સાધુનું કર્તવ્ય છે કે તે મૃષાવાદનો પરિત્યાગ કરી દે મૃષાવાદ સંક્ષેપથી બે પ્રકારે છે એક લૌકિક અને બીજો લોકોત્તર આ બન્ને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવથી ચાર પ્રકારના છે વિપરીત દ્રવ્યનું કહેવું એ દ્રવ્યથી લૌકિક મૃષાવાદ છે, જેમ ગાયને ઘોડો કહેવો ॥૧॥ બીજાના ક્ષેત્રને પોતાનું ક્ષેત્ર બનાવવુ તે ક્ષેત્રની અપેક્ષા મૃષાવાદ છે ॥૨॥ સવારને મધ્યાન કાળ કહેવો એ કાળની અપેક્ષા મૃષાવાદ છે ॥૩॥ જે ક્રોધાદિક કષાય નિમિત્ત બને છે, તે ભાવની અપેક્ષા મૃષાવાદ કહેવાય છે ॥૪॥ તે પણ ચાર પ્રકારથી છે જેમ ક્રોધના આવેશમાં આવીને પુત્ર કહે છે કે આ મારો પિતા નથી અથવા જે સમય

यथा–अस्य कुटुम्बस्य भरणपोषणादिकार्यं कर्तुं को मां विहाय समर्थः ?। मायातो यथा–राजकरग्राहकः कश्चिद् व्यापारिणं विक्रयवस्तु समादाय स्वस्थानमागतं प्रति पृच्छति–' कस्येदं वस्तुजातम् ' इति, एवं पृष्टोऽसौ व्यापारी मायया कथयति– ' नास्ति ममेदं वस्तुजातम्, अन्यदीयमेतत् सर्वम् ' इति।

लोभतो यथा–व्यापारी लोभवशाद् वदति ग्राहकं प्रति ' यावता मूल्येन मया क्रीतं, तावतैव तव हस्ते विक्रीणामि किंचिदप्यधिकं मूल्यं न गृह्णामी–' ति।

लोकोत्तरमृषावादं प्रदर्श्यते–तत्र द्रव्यतो यथा–जीवम् अजीवं वदति, अजीव

आकर पुत्र कहता कि यह मेरा पिता नहीं है। अथवा जिस समय पिता रुष्ट होता है, उस समय वह कहता है कि यह मेरा पुत्र नहीं है, यह सब कथन क्रोध रूप भाव की अपेक्षा मृषावाद है (१) मन कषाय के वशवर्ती होकर ऐसा कहना कि यदि मैं न होऊँ तो इस कुटुम्ब का भरण पोषण कौन करे (२) माया के वश में होकर जो ऐसा कहता है कि यह वस्तु मेरी नहीं है यह तो दूसरों की है, तात्पर्य इसका यह है जब कोई व्यापारी किसी राजा का कर लेने वाले के पूछने पर कि यह विक्रेय वस्तु किसकी है तब वह माया वश कहता है कि यह तो दूसरो की है मेरी नहीं है (३) लोभ के वश होकर जो झूठ वचन बोला जाता है वह लोभ कषाय की अपेक्षा मृषावाद है–जैसे व्यापारी लोग ग्राहकों को ऐसा कहते हैं कि भाई हमने जितने मूल्य में यह चीज खरीदी है उतने ही मूल्य में हम तुम्हें यह दे रहे हैं। कुछ भी अधिक नहीं ले रहे हैं ॥ ४ ॥ यह सब लौकिक मृषावाद है। चार प्रकार का लोकोत्तर मृषावाद इस प्रकार है–जीव को अजीव कहना, अजीव

પિતા ક્રોધિત બને છે તે વખતે તે કહે છે કે, આ મારો પુત્ર નથી, આ સઘળાં કથન ભાવની અપેક્ષા મૃષાવાદ છે (૧) મન કષાયના વશવર્તિ બનીને એવું કહેવું કે જો હું ન હોઉં તો આ કુટુંબનું ભરણ પોષણ કોણ કરે (૨) માયાના વશમાં આવીને જે એમ કહે છે કે આ વસ્તુ મારી નથી પણ બીજાની છે મતલબ આની એ છે કે, જ્યારે કોઈ રાજાનો કર્મચારી, કર વસુલ માટે આવે અને તેના પુછવાથી કોઈ વેપારી પોતાની વસ્તુ હોવા છતાં માયા વશ બની પોતાની ન હોવાનું કહી બીજાની હોવાનું બતાવે (૩) લોભના વશ બનીને જે જુઠું વચન બોલવામાં આવે છે તે લોભ કષાયની અપેક્ષા મૃષાવાદ છે જેમ–વેપારી લોક ગ્રાહકોને એમ કહે છે કે, ભાઈ જેટલી કિંમતે આ વસ્તુ મારા ઘરમાં પડેલ છે તેજ કિંમતે હું તમોને આપું છું, કાંઈ પણ નફો લેતો નથી (૪) આ બધા લૌકિક મૃષાવાદ છે ચાર પ્રકારના લોકોત્તર મૃષાવાદ આ પ્રકારે છે ...ને

वा जीवम्, इत्यादि। क्षेत्रतो यथा–भरतक्षेत्रम् ऐरवतक्षेत्रम् वदति, ऐरवत
भरतमिति। कालतो यथा—उत्सर्पिणीम् अवसर्पिणीं वदति, तथा–अवसर्पि
उत्सर्पिणीं वदति। भावतो लोकोत्तरमृषावाद क्रोधादिकषायनिव, तत्र क्रो
यथा–सत्यपि गुरुशिष्यसम्बन्धे रुष्टो गुरुर्वदति–न त्वमसि मम शिष्य, क्रोधा
शिष्योऽपि वदति–'नाय मम गुरु' इत्यादि। मानतो यथा–अहमेव गच्छधुर
णे समर्थोऽस्मि, यद्वा–अहमेव साधुनिर्वाहकोऽस्मि। मायातो यथा–कृताति
शिष्य प्रति गुरु पृच्छति–त्वयाऽतिचार कृत किम्? तदा शिष्यो मायया व
न मयातिचार कृत' इत्यादि।

को जीव कहना। यह द्रव्य की अपेक्षा मृषावाद है १। भरतक्षेत्र
ऐरावत क्षेत्र कहना अथवा ऐरावत क्षेत्र को भरत क्षेत्र कहना यह क्षेत्र
अपेक्षा लोकोत्तर मृषावाद है २। उत्सर्पिणी काल को अवसर्पिणी क
कहना अथवा अवसर्पिणी काल को उत्सर्पिणी काल कहना यह क
की अपेक्षा लोकोत्तर मृषावाद है ३। भाव से लोकोत्तर मृषावाद क्रो
दिक कषाय को लेकर चार प्रकार का है। गुरु शिष्य संबंध होने
भी जिस समय गुरु किसी निमित्त को लेकर जब शिष्य के प्रति
हो जाते हैं तब वे कहने लगते हैं कि तुम मेरे शिष्य नहीं हो। शि
भी जब क्रोध के आवेश में आ जाता है तो वह भी इस तरह से
के प्रति कहने लगता है कि आप हमारे गुरु नहीं हैं। यह क्रोध
अपेक्षा लोकोत्तर भाव मृषावाद है (१)। मैं ही गच्छ की धुरा धा
करने में समर्थ हूं अथवा मैं ही साधुओं का निर्वाहक हूं इस प्र
कहना यह मान कषाय की अपेक्षा लोकोत्तर भाव मृषावाद है (२

અજીવ કહેવું, અજીવને જીવ કહેવો, એ દ્રવ્યની અપેક્ષા મૃષાવાદ છે (૧) ભ
ક્ષેત્રને ઐરાવતક્ષેત્ર કહેવું અને ઐરાવત ક્ષેત્રને ભરતક્ષેત્ર કહેવું તે ક્ષેત્રની અપે
લોકોત્તર મૃષાવાદ છે (૨) ઉત્સર્પિણી કાળને અવસર્પિણી કાળ કહેવો અથ
અવસર્પિણી કાળને ઉત્સર્પિણી કાળ કહેવો એ કાળની અપેક્ષા લોકોત્તર મૃ
વાદ છે (૩) ભાવથી લોકોત્તર મૃષાવાદ ક્રોધાદિક કષાયને લઈ ચાર પ્રકાર
છે ગુરુ કોઈ નિમિત્તે જ્યારે શિષ્ય પ્રત્યે ક્રોધિત બને છે ત્યારે
કહેવા લાગે છે કે તું મારો શિષ્ય નથી, શિષ્ય પણ ક્રોધના આવેશમાં આવી
છે, ત્યારે તે પણ પોતાના ગુરુને કહેવા લાગે છે કે આપ મારા ગુરુ નથી
ક્રોધની અપેક્ષા લોકોત્તર ભાવ મૃષાવાદ છે (૧) હું જ ગચ્છની ધુરા ધારણ ક
વામાં સમર્થ છું અથવા હું જ સાધુઓનો નિર્વાહક છું આ પ્રકારે કહેવું
માન કષાયની અપેક્ષા લોકોત્તર ભાવ મૃષાવાદ છે (૨) જે સમય શિષ્ય જ્યા

लोभतो यथा—अकल्प्येऽपि वस्त्रपात्रादौ, 'ममेदं वस्त्रं कल्पते' इत्यादि कथनम्।

यद्वा-मृषावादश्चतुर्विध -सद्भावप्रतिषेध' १, असद्भावोद्भावनम् २, अर्थान्तरम् ३, गर्हा च ४, । तत्र सद्भावप्रतिषेधो यथा—नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापम्, इत्यादि। असद्भावोद्भावनं यथा अस्त्यात्मा सर्वगत , आत्मा श्यामाकतण्डुलमात्र., इत्यादि । अर्थान्तरं यथा-गोविषय-'अश्वोऽयम्' इति । गर्हा तु त्रिधा-एका सावद्यव्यापारप्रवर्तनी, यथा 'क्षेत्रं कृष' इत्यादि । द्वितीया-अप्रिया,

---

जिस समय शिष्य जब कोई अतिचार लगा लेता है तो गुरु महाराज उससे पूछते हैं कि क्या तुमने अतिचार लगाया है तब शिष्य माया कषाय का अवलम्बन कर कहता है कि मैंने कोई अतिचार नहीं लगाया, इस प्रकार शिष्य का यह कथन माया कषाय की अपेक्षा लोकोत्तर भावमृषावाद है (३)। जो वस्त्र पात्रादिक अकल्पनीय हैं उनमें ये मेरे लिये कल्पनीय हैं इस प्रकार कहना यह लोभकषाय की अपेक्षा लोकोत्तर मृषावाद है । अथवा-मृषावाद इन अन्य प्रकारों से भी चार भेद वाला है-१ सद्भाव का प्रतिषेध, २ असद्भाव का उद्भावन, ३ अर्थान्तर, ४ गर्हा। आत्मा नहीं है पुण्य और पाप नहीं हैं इस प्रकार सत् अर्थ का अपलापक वचन सद्भाव प्रतिषेध मृषावाद है १ । आत्मा सर्वव्यापक है अथवा श्यामाक तन्दुल के समान आत्मा है इस प्रकार असत् अर्थ का उद्भावक वचन असद्भाव का उद्भावनरूप द्वितीय मृषावाद है २ । गो के विषय में ऐसा कहना कि यह अश्व है इस प्रकार अर्थान्तर का कथक वचन तृतीय अर्थान्तर नामक मृषावाद है ३ । गर्हा तीन प्रकार की है सावद्य

કોઈ અતિચાર લગાડી લે છે તો ગુરુ મહારાજ એને પૂછે છે કે, શું તને અતિ ચાર લાગેલ છે, ત્યારે શિષ્ય માયા કષાયનું અવલબન કરી કહે છે કે મે કોઈ અતિચાર લગાડેલ નથી. આ પ્રકારનું એ શિષ્યનું કથન માયા કષાયની અપેક્ષા લોકોત્તર ભાવ મૃષાવાદ (૩) જે વસ્ત્ર પાત્રાદિક અકલ્પનીય છે એમા એ મારા માટે કલ્પનીય છે એમ કહેવું તે લોક કષાયની અપેક્ષા લોકોત્તર મૃષાવાદ છે. અથવા-મૃષાવાદ એ અન્ય પ્રકારોથી પણ ચાર ભેદ વાળા છે ૧ સદ્ભાવનો પ્રતિષેધ, ૨ અસદ્ભાવનું ઉદ્ભાવન, ૩ અર્થાન્તર, ૪ ગર્હા આત્મા નથી પુણ્ય અને પાપ નથી, આ પ્રકારનું સાચા અર્થનું અપલાપક વચન સદ્ભાવ પ્રતિષેધ મૃષાવાદ છે ૧ આત્મા સર્વ વ્યાપક છે, અથવા શ્યામાક ચોખાના જેવો આત્મા છે, આ પ્રકારનું અસત્ અર્થનું ઉદ્ભાવક વચન અસદ્ભાવનું ઉદ્ભાવન રૂપ બીજું મૃષાવાદ છે ૨ ગાયના વિષયમા એવું કહેવું કે તે ઘોડો છે આ પ્રકારે અર્થાન્તરનું કથન વચન ત્રીજો અર્થાન્તર નામનો મૃષાવાદ છે ૩ ગર્હા

यथा-काण प्रति 'अय काण' इत्यादि। तृतीया-आक्रोशरूपा यथा-'अरे बान्धकिनेय दासीपुत्र ?' इत्यादि। पुनरय क्रोधादिभावोपलक्षितश्चतुर्विध. । अत्रेद बोध्यम्-मृषावाद क्रोधमानमायालोभहास्यभयव्रीडाक्रीडारत्यरतिदाक्षिण्यमात्सर्यविषादादिभि समवति । पीडाजनक सत्यवादोऽपि मृषावाद इति। मृषाभाषणे दोषा उक्ता —

धर्महानिरविश्वासो, देहार्थव्यसन तथा।
असत्यभाषिणा निन्दा, दुर्गतिश्चोपजायते ॥ १ ॥ इति।

व्यापार प्रवर्तिनी, अप्रिया, और आक्रोशरूपा। क्षेत्र का जोतो इत्यादिक सावद्यव्यापार में प्रवर्तन कराने वाला वचन गर्हा का प्रथम भेद है। काने को काना कहना यह गर्हा का द्वितीय प्रकार है। 'अरे कुल्टा के पुत्र' इत्यादि वचन गर्हा का तृतीय प्रकार है। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, व्रीडा-(लज्जा) क्रीडा, रति, अरति, दाक्षिण्य, मात्सर्य एव विषाद आदि निमित्तो को लेकर मृषावाद में मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है। जिस सत्यवचन से दूसरों की पीडा उपजे ऐसा सत्यवचन भी मृषावाद में अन्तर्हित जानना चाहिये। मृषावाद में अनेक दोष हैं-जैसे कहा है—

"धर्महानिरविश्वासो, देहार्थव्यसन तथा॥
असत्यभाषिणा निन्दा, दुर्गतिश्चोपजायते ॥ १ ॥"

मृषावाद से धर्म की क्षति होती है लोगों में विश्वास उठ जाता है देह और धन का नाश होता है। जो असत्यभाषी होते हैं उनकी अनेक

ત્રણ પ્રકારની છે સાવદ્ય વ્યાપાર પ્રવર્તિની, અપ્રિયા અને આક્રોશ રૂપા ક્ષેત્રને જોઈને ઈત્યાદિક સાવદ્ય વ્યાપારમા પ્રવર્તન કરાવનાર વચન ગર્હાનો પ્રથમ ભેદ છે કાણાને કાણો કહેવો એ ગર્હાનો બીજો પ્રકાર છે 'અરે કુલ્ટાના પુત્ર' ઈત્યાદિ વચન ગર્હાનો ત્રીજો પ્રકાર છે ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, હાસ્ય, ભય, લજ્જા ક્રીડા, રતિ, અરતિ, દાક્ષિણ્ય, માત્સર્ય અને વિષાદ આદિ નિમિત્તોને મૃષાવાદમા મનુષ્યોની પ્રવૃતિ થાય છે જે સત્ય વચનથી બીજાઓને પીડા ઉપજે એવુ સત્ય વચન પણ મૃષાવાદમા અતર્હિત જાણવુ જોઈએ મૃષાવાદમાં અનેક દોષ છે જેવી રીતે કહ્યું છે કે—

"धर्महानिरविश्वासो देहार्थव्यसन तथा।
असत्यभाषिणा निन्दा दुर्गतिश्चोपजायते ॥ १ ॥"

મૃષાવાદથી ધર્મની ક્ષતી થાય છે, લોકોનો વિશ્વાસ ઉઠી જાય છે, દેહ અને ધનનો નાશ થાય છે, જે અસત્ય ભાષી હોય છે તેની અનેક પ્રકારથી

च-पुन, अवधारणीम्-निश्चयात्मिकां भाषा न वदत्-'गमिष्याम्येव' 'करिष्याम्येव' इत्यादिका भाषां न ब्रूयादित्यर्थः। यत —

"अन्नह परिचिंतिज्जइ, कज्ज परिणमइ अन्नहा चेव।
विहिवसयाण जियाण, मुहुत्तमेत्त पि बहुविग्घ ॥ १ ॥

छाया-अन्यथा परिचिन्त्यते, कार्यं परिणमत्यन्यथा चैव।
विधिवशगाना जीवानां मुहूर्तमात्रमपि बहुविघ्नम् ॥ १ ॥

यद्वा—अवधार्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनयेत्यवधारणी अवबोधजनिका भाषा, सा चतुर्विधा-सत्या, मृषा, सत्यामृषा, असत्यामृषा च।

प्रकार से इस लोक में निन्दा होती है और परलोक में उन्हें दुर्गति की प्राप्ति होती है। अवधारणात्मक (निश्चयकारी) भाषा को बोलना यह भी एक असत्य का प्रकार है-जैसे-'जाऊँगा ही,' 'करूँगा ही'। अथवा-'जाऊँगा' 'करूँगा' इस प्रकार की भाषा मृषावाद में इसलिये सम्मिलित हो जाती है कि—

"अन्नह परिचिंतिज्जइ, कज्ज परिणमइ अन्नहा चेव।
विहिवसाण जियाण मुहुत्तमेत्त पि बहुविग्घं" ॥१॥

बोलने वाला विचारता कुछ है और होता कुछ है। मन में अवधारित बात की पूर्ति नहीं होती है। क्यों कि कर्म वशवर्ती जीवों के एक मुहूर्त में भी अनेक विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं। अथवा-"अवधारण" शब्द का अर्थ अवबोध जनक भी है। यह अवबोधजनक भाषा सत्या १, मृषा २, सत्यामृषा ३, एवं असत्यामृषा ४, के भेद से

આ લોકમા નિંદા થાય છે, અને પરલોકમા તેને દુર્ગતિની પ્રાપ્તિ થાય છે અવધારણાત્મક નિશ્ચયકારી ભાષા બોલવી એ પણ એક અસત્યનો પ્રકાર છે જેમ-'જઈશજ, કરીશજ' અથવા-'જઈશ-કરીશ'આ પ્રકારની ભાષા મૃષાવાદમાં એ માટે સમાય જાય છે,—

अन्नह परिचिंतिज्जई कज्ज परिणामइ अन्नहा चेव।
विहिवसयाण जीयाण मुहुत्तमेत्त बहुविग्घ ॥ १ ॥

બોલવાવાળો વિચારે છે કાંઈ અને બને છે કાંઈ, મનમા અવધારીત વાતની પૂર્તિ થતી નથી કેમકે, કર્મવશ વર્તી જીવોને એક ઘડીમા પણ અનેક વિઘ્ન ઉત્પન્ન થાય છે અથવા-"અવધારણ" શબ્દનો અર્થ અવબોધજનક પણ છે અવબોધજનક ભાષા ૧ સત્યા, ૨ મૃષા, ૩ સત્યામૃષા અને ૪ અસત્યામૃષાના ભેદથી ચાર પ્રકારની છે દેશકાલાદિકની અપેક્ષા જેમાં કોઈ પ્રકારનો

तत्राराधनी सत्या। आराध्यते मोक्षमार्गोऽनयेत्याराधनी यथावस्थितवस्त्व-भिधायिनी-या सर्वज्ञमतानुसारेण भाष्यते, यथा-अस्त्यात्मा सदसन्नित्यानि-त्याद्यनेकधर्मयुक्त इत्यादि।

या तु विराधनी विपरीतवस्त्वभिधायिनी सा मृषा। विराध्यते मोक्षमार्गोऽन-येति विराधनी, सर्वज्ञमतप्रातिकूल्येन भाष्यते, यथा-'नास्त्यात्मा' यथा वा-'एकान्तनित्य आत्मा' यथा वा-अचौरे 'अयं चौरः' इत्यादि। तथा-सत्याऽपि परपीडोत्पादिका, सा परपीडाजनकत्वात् मुक्तिविराधनात् वा विराधनी, विराधनी त्वाच्च मृषा। यथा चौरं प्रति-'अयं चौरः' इति।

चार प्रकार की है। देशकालादिक की अपेक्षा जिसमें किसी भी प्रकार का विसंवाद न आसके एवं वस्तुका जो स्वरूप है उसे उसी प्रकार से कहने वाली भाषा सत्य भाषा है। इस भाषा से मोक्षाभिलाषी मोक्षमार्ग की आराधना करते हैं। जैसे-आत्मा है और वह न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है किन्तु कथंचित् नित्या-नित्यात्मक है (१) इस प्रकार अनेक धर्मविशिष्ट वस्तु का कथन करने वाली भाषा इस कोटि में परिगणित होती है १। जो भाषा विराधिनी है-वस्तु के विपरीत स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली है-वह मृषा भाषा है। इसको बोलने वाला प्राणी कभी भी मुक्तिमार्ग का आराधक नहीं हो सकता है। इस प्रकार की भाषा में सदा सर्वज्ञ मत से प्रतिकूलता रहा करती है। जैसे-आत्मा नहीं है। अथवा है भी तो वह सर्वथा नित्य है या सर्वथा अनित्य है। अथवा जो चोर नहीं है उसको 'यह चोर है' ऐसा कहना। जो भाषा सत्य भी हो-परन्तु यदि उससे दूसरों को पीड़ा होती हो तो वह भी इसी मृषावाद में सम्मिलित जाननी चाहिये २।

વિસંવાદ ન આવી શકે અને વસ્તુનું જે સ્વરૂપ છે તેને તેવા પ્રકારથી કહેવા વાળી ભાષા સત્ય ભાષા છે આ ભાષાથી મોક્ષાભિલાષી મોક્ષ માર્ગની આરાધના કરે છે જેમ આત્મા છે અને તે સર્વથા નિત્ય નથી તેમ સર્વથા અનિત્ય પણ નથી પરંતુ કથંચિત નિત્યાનિત્યાત્મક છે આ રીતે અનેક ધર્મ વિશિષ્ટ વસ્તુનું કથન કરવાવાળી ભાષા આ કોટિમાં પરિગણીત થાય છે (૧) જે ભાષા વિરાધિની છે વસ્તુના વિપરીત સ્વરૂપને પ્રતિપાદન કરનાવાળી છે તે મૃષા ભાષા છે એને બોલનાર પ્રાણી કદી પણ મુક્તિ માર્ગનો આરાધક બની શકતો નથી આ પ્રકારની ભાષામાં સદા સર્વજ્ઞ મતથી પ્રતિકૂળતા રહ્યા કરે છે જેમ-આત્મા નથી, અથવા છે તો પણ તે સર્વથા નિત્ય છે યા સર્વથા અનિત્ય છે, અથવા જે ચોર નથી એને 'આ ચોર છે' એમ કહેવું, જો ભાષા સત્ય પણ હોય-પરંતુ જો એનાથી બીજાને પીડા થતી હોય તો તે પણ આ મૃષાવાદમાં સમ્મિલિત

या तु आराधनविराधनी सा सत्यमृषा—आराधनी चासौ विराधनी च आराधनविराधनी, कर्मधारयत्वात् पुंवद्भाव.। यथावस्थितवस्तुतत्त्वाभिधायिनी विपरीतवस्त्वभिधायिनी चेत्युभयस्वभावा सत्यामृषा। यथा—कस्मिंश्चिन्नगरे पञ्चसु दारकेषु जातेषु एवमभिधीयते ' अस्मिन्नगरेऽद्य दश दारका जाता ' इति सा आराधनविराधनी। इय हि पञ्चाना दारकाणा यज्जन्म, तावतांशेन संवादन संभवादाराधनी, दश न पूर्यन्ते इत्येतावतांऽशेन विसंवादसभवाद् विराधनी भवति। यद्वा—श्वस्ते शत दास्यामीत्यभिधाय पञ्चाशत्स्वपि दत्तेषु लोके मृषात्वादर्शनात्, अदत्तेष्वेव च मृषात्वसिद्धे, सर्वथा प्रदानक्रियाऽभावेन सर्वथाऽन्यत्यययात्।

जो भाषा आराधनी भी हो और विराधिनी हो वह सत्यमृषा भाषा है। सत्यभाषा का नाम आराधिनी है और मृषाभाषा का नाम विराधिनी है। इन दोनों स्वरूपवाली जो भाषा है वह सत्यामृषा भाषा है जैसे यह कहना कि आज इस गाव में दश बालक उत्पन्न हुए हैं। उस गांव में पाच ही बालक उत्पन्न हुए थे। तब ऐसा कहना सत्यामृषा स्वरूप इसलिये है, कि दश के कहने में पाच का अन्तर्भाव तो हो ही जाता है अतः इतने अंशकी अपेक्षा यह वचन सत्य है परन्तु दश बालक हुए नहीं हैं इतने अश में वह मृषा है। अथवा ऐसा कहना कि "श्वस्ते शत दास्यामि" मैं कल तुम्हें सो (१००) रुपये दूगा। इसमें सो रुपये न देकर वह यदि पचास रुपये ही दे देता है तो इसप्रकार के व्यवहार को लोक में असत्य में परिगणित नहीं किया जाता है। जितना भाग नहीं दिया गया है उसी में असत्यता आती है। हा यदि वह बिलकुल न देता तो यह भाषा

જાણવી જોઈએ. (૨) જે ભાષા આરાધની પણ હોય અને વિરાધની પણ હોય તે સત્યામૃષા ભાષા છે સત્યભાષાનુ નામ આરાધિની છે અને મૃષા ભાષાનુ નામ વિરાધિની છે આ બન્ને સ્વરૂપવાળી જે ભાષા છે તે સત્યામૃષા ભાષા છે જેમ એવુ કહેવુ કે, આજ આ ગામમાં ૧૦ બાળક જન્મ્યાં છે કોઈ ગામમાં પાંચ જ બાળક જન્મ્યાં હતા. ત્યારે એવુ કહેવુ સત્યામૃષા સ્વરૂપ આ માટે છે કે, દશના કહેવામા પાંચનો અતર્ભાવ તો થઈ જ જાય છે આથી આટલા અશની અપેક્ષા આ વચન સત્ય છે પરતુ દસ બાળક જન્મ્યા નથી એટલા અશે એ મૃષા છે અથવા એમ કહેવુ કે હુ "કાલે તમને સો રૂપીયા આપીશ," આમાં સો ન આપતા જો ૫૦ રૂપીયા પણ આવે તો આ પ્રકારના વ્યવહારમા લોકોમાં અસત્ય બોલનાર તરીકેની ગણના નથી થતી, જેટલો ભાગ આપવામા ન આવ્યો એટલા પુરતી એમા અસત્યતા આવે છે, પણ

या तु नैवाऽसत्या नापि सत्या सा असत्यामृषा नाम चतुर्थीभाषाव्यवहाररूपा। तत्र प्रथमा चतुर्थी च भाषा भाषणीया। चतुर्थी–असत्यामृषा भाषा–आमन्त्रण्यादिभेदयुक्ता। तत्र कोऽसावामन्त्रण्यादिभेद ? उच्यते–अयमर्थो भगवत्यामुक्तः। यथा–"अह भंते! आसइस्सामो सइस्सामो चिट्ठिस्सामो निसीइस्सामो तुयट्टिस्सामो।

आमंतणि आणवणी, जायणि तह पुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा य॥ १॥
अणभिग्गहिया भासा, भासा य अभिग्गहम्मि बोद्धव्वा।
संसयकरणी भासा, वोयडमव्वोयडा चेव॥ २॥
पन्नवणी ण एसा, न एसा भासा मोसा ?।

मृषा में ही अन्तर्भूत हो जाती (३)। जो न सत्य है, और न असत्य है ऐसी भाषा का नाम असत्यामृषा-अर्थात् व्यवहार भाषा है ४। इनमें प्रथम एवं चतुर्थ भाषा बोलने योग्य है।चौथी जो असत्यामृषा भाषा है वह आमन्त्रणी आदि भेदों से अनेक प्रकार की कही गई है। इसी विषय को भगवान ने भगवतीसूत्र में कहा है–

अह भंते! आसइस्सामो सइस्सामो चिट्ठिस्सामो निसीइस्सामो तुयट्टिस्सामो।

आमंतणि आणवणी, जायणि तह पुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा य॥ १॥
अणभिग्गहिया भासा, भासा य अभिग्गहम्मि बोद्धव्वा।
संसयकरणी भासा, वोयडमव्वोयडा चेव॥ २॥
पन्नवणी णं एसा, न एसा भासा मोसा ?।

न હેત તો એ ભાષા મૃષામા જ અંતર્ભૂત બની જાય (૩) જે ન સત્ય છે અને ન અસત્ય છે એવી ભાષાનું નામ અસત્યામૃષા–અર્થાત વ્યવહાર ભાષા છે (૪) આમાં પ્રથમ અને ચોથી ભાષા બોલવા યોગ્ય છે ચોથી જે અસત્યામૃષા ભાષા છે, તેને આમંત્રણી આદિ ભેદોથી અનેક પ્રકારની કહેવામા આવે છે આ વિષયને ભગવાને ભગવતી સૂત્રમા કહેલ છે–

अह भंते आसइस्सामो सइस्सामो चिट्ठिस्सामो निसीइस्सामो तुयट्टिस्सामो।
आमंतणि आणवणी, जायणि तह पुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणु लोमाय॥ १॥
अणभिग्गहिया भासा, भासा य अभिग्गहम्मि बोद्धव्वा।
संसयकरणी भासा, वोयडमव्वोयडा चेव॥ २॥
पन्नवणी णं एसा, न एसा भासा मोसा ?।

हता ! गोयमा ! आसइस्सामो त चेव० जाव न एसा भासा मोसा।
(भ० १० श० ३ उ० ४०३ सू०)

छाया—अथ भदन्त ! आशयिष्यामहे शयिष्यामहे स्थास्यामः निपत्स्यामः त्वग्वर्तयिष्यामः ।

आमन्त्रणी आज्ञापनी याचनी तथा प्रच्छनी च प्रज्ञापनी ।
प्रत्याख्यानी भाषा, भाषा इच्छानुलोमा च ॥ १ ॥
अनभिगृहीता भाषा, भाषा चाभिग्रहे बोद्धव्या ।
संशयकरणी भाषा, व्याकृता अव्याकृता चैव ॥ २ ॥
प्रज्ञापनी खलु एषा, नैषा भाषा मृषा ? ।
हंत ! गौतम ! आशयिष्यामहे तदेव यावत् नैषा भाषा मृषा ।

व्याख्या–'अथ' इति प्रश्नार्थक । भदन्त ! हे भगवन् इत्येवं श्री महावीरं गौतमः पृच्छति–आश्रयिष्यामहे=आश्रयणीयं वस्तु स्वीकरिष्याम , शयिष्यामहे=विशेषतः शयनं करिष्यामहे, स्थास्यामः–ऊर्ध्वस्थानेन स्थास्याम , निपत्स्याम'=उपवेक्ष्याम । त्वक्परिवर्तयिष्याम'–संस्तारके पार्श्वपरिवर्तनं करिष्यामः, यद्वा–आश्रयिष्याम'= आश्रयणीयं स्थानादिकं स्वीकरिष्यामः । इत्यादिका भाषा किं प्रज्ञापनी ? इत्यन्वय इदमुपलक्षणम् । एवजातीया भाषाविशेषा किं प्रज्ञापनीरूपाः ? इति भाव ।

हंता ! गोयमा ! आसइस्सामो त चेव० जाव न एसा भासा मोसा (भ० १० श० ३ उ ४०३ सूत्र)

भगवान महावीर से गौतम पूछते हैं कि–हे भगवन् ! हम आश्रय योग्य वस्तु का आश्रय लेंगे, शयन करेंगे, खड़े रहेंगे, बैठेंगे, करवट बदलेंगे इत्यादिक भाषा, तथा आमंत्रणी आदि भाषा क्या प्रज्ञापनी भाषा है ? यह भाषा मृषा नहीं है ?। आमन्त्रणी आदि भाषाओं के नाम ये हैं–१ आमंत्रणी, २ आज्ञापनी, ३ याचनी, ४ प्रच्छनी, ५ प्रज्ञापनी, ६ प्रत्याख्यानी, ७ इच्छा नुलोमा, ८ अनभिगृहीता, ९ अभिगृहीता, १० संशयकरणी, ११ व्याकृता, १२ अव्याकृता । इस प्रकार गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् उत्तर

हंता गोयमा ! आसइस्सामो तंचेव० जाव न एसा भासा मोसा(भ १० श ३उ ४०३ सूत्र)

ભગવાન મહાવીરને ગૌતમ પૂછે છે કે હે ભગવાન ! અમે સુઇશું, વધુ સુઇશું, ઉભા રહિશું, બેસશું કરવટ બદલશું, ઇત્યાદિક ભાષા તથા આમંત્રણી આદિ ભાષા શું પ્રજ્ઞાપની ભાષા છે ? આ ભાષા મૃષા નથી ?

આમંત્રણી આદિ ભાષાઓના નામ આ છે–૧ આમન્ત્રણી ૨ આજ્ઞાપની ૩ યાચની ૪ પ્રચ્છની ૫ પ્રજ્ઞાપની ૬ પ્રત્યાખ્યાની ૭ ઇચ્છાનુલોમા ૮ અનભિગ્રહીતા ૯ અભિગૃહીતા, ૧૦ સંશયકરણી, ૧૧ વ્યાકૃતા, ૧૨ અવ્યાકૃતા આ ગૌતમ

तत्र-आमन्त्रणी-यथा 'हे साधो' इत्यादि। एषा च किञ्च वस्तुनोऽविधायकत्वादनिषेधकत्वाच्च सत्यादिभाषात्रयलक्षणवियोगतश्चाऽसत्यामृषा व्यवहाररूपा॥१।

आज्ञापनी—कार्ये परस्य प्रवर्तनी यथा "इद कुरु" "इद मा कुरु" इत्यादि। एषा च निर्दिष्टकार्यप्रवर्तकत्वाददुष्टविवक्षासद्भावाच्चाऽसत्यामृषा। एवमन्यत्रापि भावनीयम्॥ २॥

याचनी—अनिर्दिष्टवस्तुविशेषस्य देहीत्येव याचनरूपा। यथा—"भिक्षा देहि"॥ ३॥

प्रच्छनी—अविज्ञातस्य सदिग्धस्य वाऽर्थस्य ज्ञानार्थं प्रच्छनम्। यथा—"कथमेतत्"?॥ ४॥

देते हैं कि हे गौतम! पूर्वोक्त प्रकार को भाषा प्रज्ञापनी भाषा है, किन्तु यह भाषा मृषा नहीं है। आमन्त्रणी आदि भाषाओं का अर्थ कहते हैं-

आमन्त्रणी-'हे साधो!' इत्यादि। यह किसी वस्तु की अविधायक एव अनिषेधक होने से, तथा सत्यादि तीन भाषा के लक्षण से रहित होने से असत्यामृषास्वरूप व्यवहार भाषा है १। आज्ञापनी-दूसरे को कार्य में प्रवृत्त कराने वाली भाषा आज्ञापनी भाषा है। जैसे-'यह करो, यह मत करो' इत्यादि। यह भाषा निर्दिष्टकार्य में प्रवर्त्तक होने से तथा निर्दोष विवक्षा के सद्भाव से असत्यामृषा-स्वरूप है २। याचनी-"भिक्षा दो" इस प्रकार की याचनस्वरूप भाषा याचनी भाषा है ३। प्रच्छनी-अविज्ञात-अर्थात्-विना जाने हुए विषय को, अथवा सदिग्ध अर्थात्-सदेहयुक्त विषय को जानने के लिये जो पूछना वह प्रच्छनी भाषा है ४।

સ્વામીના પુછવાથી ભગવાન ઉત્તર દે છે કે હે ગૌતમ પૂર્વોકત પ્રકારની ભાષા પ્રજ્ઞાપનીભાષા છે પરંતુ આ ભાષા મૃષા નથી. આમંત્રણી વગેરે ભાષાઓના અર્થ કહે છે

અમન્ત્રણી-હે સાધો! ઈત્યાદિ। આ કોઈ વસ્તુની અવિધાયક અને અનિષેધક હોવાથી, તથા સત્યાદિ ભાષાત્રયના લક્ષણથી રહિત હોવાથી અસત્યામૃષા સ્વરૂપ વ્યવહાર ભાષા છે ૧ આજ્ઞાપની-બીજાને કાર્યમાં પ્રવૃત્ત કરાવવાવાળી ભાષા આજ્ઞાપની ભાષા છે જેમ-આ કરો, આ ન કરો, ઈત્યાદિ। આ ભાષા નિર્દિષ્ટકાર્યમાં પ્રવર્તક હોવાથી તથા નિર્દોષ વિવક્ષાના સદ્ભાવથી અસત્યામૃષા સ્વરૂપ છે ૨ યાચની-"ભિક્ષાદો" આ પ્રકારની યાચના સ્વરૂપ ભાષા યાચનીભાષા છે ૩ પ્રચ્છની-અવિજ્ઞાત, અર્થાત્ જાણ્યા વગરના વિષયની અથવા-સંદિગ્ધ અર્થાત્-સંદેહયુકત વિષયને જાણવા માટે જે પૂછવું તે પ્રચ્છનિ ભાષા છે ૪ પ્રજ્ઞાપની-શિષ્યને ઉપ-

प्रज्ञापनी-विनयस्योपदेशदानरूपा, अर्थबोधिका भाषा, यथा-हिंसाप्रवृत्तो ऽनन्तदुःखभागी भवति " इत्यादि । यथा वा-प्राणिवधान्निवृत्ता, प्राणिनो भवे भवे दीर्घायुषो नीरोगाश्च भवन्ति । उक्तञ्च--

पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउ या अरोगा य ।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ १ ॥५॥

छाया-प्राणिवधाद् निवृत्ता, भवन्ति दीर्घायुष अरोगाश्च ।
एषा मति प्रज्ञप्ता, प्रज्ञापनी वीतरागैः ॥ १ ॥

प्रत्याख्यानीभाषा-याचमानस्य प्रतिषेध वचनम् । यथा-मर्यादातिरिक्त वस्त्र पात्रं वा याचमानं शिष्यं प्रति गुरुर्वदति-"अधिकं वस्त्रं पात्रं वा न दीयते" इति ॥६॥

प्रज्ञापनी-शिष्य को उपदेश देने स्वरूप जो भाषा होती है कि जिससे उसे अर्थ का अवबोध होता है उसका नाम प्रज्ञापनी भाषा है। जैसे-" जो हिंसा में प्रवृत्त होता है वह अनंत दुःख का भागी होता है " अथवा जो प्राणिवध से दूर रहते हैं वे भव भव में दीर्घ आयु पाते हैं तथा निरोग शरीर होते हैं ५ । उक्तंच—

" पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउया अरोगा य ।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ "

प्रत्याख्यानी-गुरु महाराज के पास याचना करते हुए शिष्य के लिये जो निषेधात्मक भाषा का प्रयोग होता है वह प्रत्याख्यानी भाषा है, जैसे-मर्यादा से अतिरिक्त वस्त्र एवं पात्र को याचने वाले शिष्य को गुरु महाराज कहते हैं कि-मर्यादा से अधिक वस्त्र व पात्र नहीं दिया जाता है " इत्यादि ६ । इच्छानुलोमा-प्रतिपादन करने वाले की अर्थात्

देश आपवा स्वरूप जे भाषा होय छे ते जेनाथी तेने अर्थनो अवबोध थाय छे एनु नाम प्रज्ञापनीभाषा छे जेम-" जे हिंसामां प्रवृत्त बने छे ते अनंत दुःखनो भागी थाय छे " अथवा जे प्राणी वधथी दूर रहे छे ते भवोभवमा दीर्घायु भोगवे छे तथा शरीरे निरोगी रहे छे ५ कह्यु छे के—

" पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउ या अरोगा य ।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ "

प्रत्याख्यानी-गुरु महाराजनी पासे याचना करनार शिष्यने माटे जे निषेधात्मक भाषानो प्रयोग होय छे ते प्रत्याख्यानी भाषा छे जेम-मर्यादाथी अतिरिक्त वस्त्र अने पात्रनी याचना करनार शिष्यने गुरु महाराज कहे छे के मर्यादाथी वधु वस्त्र अने पात्र देवामा आवतुं नथी. (६) ईत्यादि । ईच्छानुलोमा-

इच्छानुलोमा–प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा–तदनुकूला। यथा शुभकार्ये प्रेरितस्य "एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतत्" एव रूपा, यथा वा कश्चित् किंचित् शुभ कार्यमारभमाण कंचन पृच्छति, स आह–'भवान् करोतु ममाप्येतदभिप्रेतम्' इति। यथा वा केनचित् कश्चिदुक्त –"साधुसकाश गच्छाम" स वदति–एवमस्तु इति॥७॥

अनभिगृहीता—अर्थमनभिगृह्य योच्यते 'डित्थादिवत्'। अथवा–अन भिग्रहो यत्र न प्रतिनियतार्थावधारणम्। यथा–बहुषु कार्येषूपस्थितेषु कश्चित् कंचन पृच्छति–किमिदानीं करोमि?, स आह–'यत् रोचते तत् कुरु' इति ॥ ८॥

अभिगृहीता—अर्थमभिगृह्य योच्यते–इद वस्त्रपात्रादिक धर्मोपकरणम्, अथवा

प्रेरक की इच्छा के अनुकूल जो भाषा बोली जाती है वह 'इच्छानुलोमा' भाषा है–जैसे कोई किसी को किसी शुभ कार्य में प्रेरणा करे तब वह कहे कि 'ठीक है यह मुझे भी अभिलषित है'। अथवा कोई किसी शुभ कार्य का प्रारभ करते हुए किसी को पूछे तो वह कहे कि–करो यह मुझे भी पसद है। अथवा–कोई ऐसा कहे–'मैं साधु के पास जा रहा हूं' तो सुनने वाला कहता है कि अच्छा जाओ ७। अनभिगृहीता–अर्थशून्य–डित्थडवित्थादि शब्दों का बोलना। अथवा जिसमें किसी एक अर्थ का निश्चय न हो जैसे–बहुतसे कार्यों के उपस्थित होने पर कोई किसी से जब यह पूछता है कि–'कहो मैं इस समय कौनसा काम करूँ?' तो वह कहता है कि–जो तुम्हें रुचे सो करो'। इस प्रकार की भाषाका नाम अनभिगृहीता भाषा है ८। अभिगृहीता–अर्थ को लक्ष्य करके जिस भाषाका प्रयोग किया जाता है वह अभिगृहीता भाषा है–जैसे ये वस्त्र पात्रादिक धर्म के उपकरण हैं'। अथवा 'इस

પ્રતિપાદન કરવાવાળાની અર્થાત્-પ્રેરકની ઇચ્છાને અનુકૂળ જે ભાષા બોલાય છે તે 'ઇચ્છાનુલોમા' ભાષા છે જેમ–કોઈ કોઈને કોઈ શુભ કાર્યમા પ્રેરણા કરે ત્યારે કહે કે ઠીક છે એ મારી પણ અભિલાષા છે અથવા–કોઈ શુભ કાર્યનો પ્રારભ કરતા કોઈને પૂછે તો તે કહે કે–કરો એ મને પણ પસદ છે અથવા કોઈ એમ કહે કે હું સાધુની પાસે જઈ રહ્યો છુ તો સાભળનાર કહે કે, સારૂ જાવ. ૭ અનભિગૃહિતા–અર્થશૂન્ય–'ડિત્થ ડવિત્થાદિ" શબ્દ બોલવો અથવા જેમા કોઈ એક અર્થનો નિશ્ચય ન હોય, જેમ–ઘણા કામો ઉપસ્થિત થતા કોઈ બીજાને જ્યારે એ પૂછે છે કે, કહો હુ આ વખતે કયુ કામ કરૂ, તો તે કહે છે કે જે તમને રૂચે તે કરો. આ પ્રકારની ભાષાનુ નામ અનભિગૃહિતા ભાષા છે ૮ અભિગૃહીતા–અર્થનુ લક્ષ કરીને જે ભાષાનો પ્રયોગ કરવામા આવે છે તે 'અભિગૃહિતા' ભાષા છે જેમ–"આ વસ્ત્ર પાત્રાદિક ધર્મના ઉપકરણ છે" અથવા 'આ સમયે

प्रज्ञापनी–विनयस्योपदेशदानरूपा, अर्थबोधिका भाषा, यथा–हिंसाप्रवृत्तो ऽनन्तदुःखभागी भवति " इत्यादि। यथा वा–प्राणिवधाभिवृत्ता: प्राणिनो भवे भवे दीर्घायुषो नीरोगाश्च भवन्ति। उक्तञ्च—

पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउ या अरोगा य।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ १ ॥ ५ ॥

छाया–प्राणिवधात् निवृत्ता, भवन्ति दीर्घायुष अरोगाश्च।
एषा मति प्रज्ञप्ता, प्रज्ञापनी वीतरागैः ॥ १ ॥

प्रत्याख्यानीभाषा–याचमानस्य प्रतिषेध वचनम्। यथा–मर्यादातिरिक्त वस्त्र पात्रं वा याचमान शिष्यं प्रति गुरुर्वदति–"अधिक वस्त्र पात्र वा न दीयते" इति ॥६॥

प्रज्ञापनी–शिष्य को उपदेश देने स्वरूप जो भाषा होती है कि जिससे उसे अर्थ का अवबोध होता है उसका नाम प्रज्ञापनी भाषा है। जैसे–" जो हिंसा में प्रवृत्त होता है वह अनंत दुःख का भागी होता है " अथवा जो प्राणिवध से दूर रहते हैं वे भव भव में दीर्घ आयु पाते हैं तथा निरोग शरीर होते हैं ५। उक्तंच—

" पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउया अरोगा य।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ "

प्रत्याख्यानी–गुरु महाराज के पास याचना करते हुए शिष्य के लिये जो निषेधात्मक भाषा का प्रयोग होता है वह प्रत्याख्यानी भाषा है, जैसे–मर्यादा से अतिरिक्त वस्त्र एव पात्र को याचने वाले शिष्य को गुरु महाराज कहते हैं कि–मर्यादा से अधिक वस्त्र व पात्र नहीं दिया जाता है " इत्यादि ६। इच्छानुलोमा–प्रतिपादन करने वाले की अर्थात्

देश आपवा स्वरूप जे भाषा होय छे ते जेनाथी तेने अर्थनो अवबोध थाय छे एनु नाम प्रज्ञापनीभाषा छे जेम–" जे हिंसामा प्रवृत्त बने छे ते अनंत दुःखनो भागी थाय छे " अथवा जे प्राणी वधथी दूर रहे छे ते भवोभवमां दीर्घायु मेळवे छे तथा शरीरे निरोगी रहे छे ५ कह्यु छे के—

" पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउ या अरोगा य।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ "

प्रत्याख्यानी–गुरु महाराजनी पासे याचना करनार शिष्यने माटे जे निषेधात्मक भाषानो प्रयोग होय छे ते प्रत्याख्यानी भाषा छे जेम–मर्यादाथी अतिरिक्त वस्त्र अने पात्रनी याचना करनार शिष्यने गुरु महाराज कहे छे के मर्यादाथी वधु वस्त्र अने पात्र देवामा आवतुं नथी. (६) ईत्यादि। ईच्छानुलोमा–

इच्छानुलोमा-प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा=तदनुकूला। यथा शुभकार्ये प्रेरितस्य "एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतत्" एव रूपा, यथा वा कश्चित् किंचित् शुभ कार्यमारभमाण कंचन पृच्छति, स प्राह-'भवान् करोतु ममाप्येतदभिप्रेतम्' इति। यथा वा केनचित् कश्चिदुक्त -"साधुसकाशं गच्छाम" स वदति-एवमस्तु इति॥७॥

अनभिगृहीता—अर्थमनभिगृह्य योच्यते 'डित्थादिवत्'। अथवा-अनभिग्रहा यत्र न प्रतिनियतार्थावधारणम्। यथा-बहुष्वर्थेषूपस्थितेषु कश्चित् कंचन पृच्छति-किमिदानीं करोमि?, स माह-'यत् रोचते तत् कुरु' इति ॥८॥

अभिगृहीता—अर्थमभिगृह्य योच्यते-इदं वस्त्रपात्रादिकं धर्मोपकरणम्, अथवा

प्रेरक की इच्छा के अनुकूल जो भाषा बोली जाती है वह 'इच्छानुलोमा' भाषा है-जैसे कोई किसी को किसी शुभ कार्य में प्रेरणा करे तब वह कहे कि 'ठीक है यह मुझे भी अभिलषित है'। अथवा कोई किसी शुभ कार्य का प्रारंभ करते हुए किसी को पूछे तो वह कहे कि-करो यह मुझे भी पसंद है। अथवा-कोई ऐसा कहे-'मैं साधु के पास जा रहा हूं' तो सुनने वाला कहता है कि अच्छा जाओ ७। अनभिगृहीता-अर्थशून्य-डित्थडवित्थादि शब्दों का बोलना। अथवा जिसमें किसी एक अर्थ का निश्चय न हो जैसे-बहुतसे कार्यों के उपस्थित होने पर कोई किसी से जब यह पूछता है कि-'कहो मैं इस समय कौनसा काम करूँ?' तो वह कहता है कि-जो तुम्हें रुचे सो करो'। इस प्रकार की भाषाका नाम अनभिगृहीता भाषा है ८। अभिगृहीता-अर्थ को लक्ष्य करके जिस भाषाका प्रयोग किया जाता है वह अभिगृहीता भाषा है-जैसे ये वस्त्र पात्रादिक धर्म के उपकरण हैं'। अथवा 'इस

પ્રતિપાદન કરવાવાળાની અર્થાત્-પ્રેરકની ઇચ્છાને અનુકૂળ જે ભાષા બોલાય છે તે 'ઇચ્છાનુલોમા' ભાષા છે જેમ-કોઈ કોઈને કોઈ શુભ કાર્યમાં પ્રેરણા કરે ત્યારે કહે કે ઠીક છે એ મારી પણ અભિલાષા છે અથવા-કોઈ શુભ કાર્યનો પ્રારંભ કરતા કોઈને પૂછે તો તે કહે કે-કરો એ મને પણ પસંદ છે અથવા કોઈ એમ કહે કે હું સાધુની પાસે જઈ રહ્યો છું તો સાંભળનાર કહે કે, સારૂં જાવ ૭ અનભિગૃહિતા-અર્થશુન્ય-'ડિત્થ ડવિત્થાદિ" શબ્દ બોલવો અથવા જેમાં કોઈ એક અર્થનો નિશ્ચય ન હોય, જેમ-ઘણાં કામો ઉપસ્થિત થતાં કોઈ બીજાને જ્યારે એ પૂછે છે કે, કહો હું આ વખતે કયું કામ કરૂં, તો તે કહે છે કે જે તમને રૂચે તે કરો આ પ્રકારની ભાષાનું નામ અનભિગૃહિતા ભાષા છે ૮ અભિગૃહીતા-અર્થનું લક્ષ કરીને જે ભાષાનો પ્રયોગ કરવામાં આવે છે તે 'અભિગૃહિતા' ભાષા છે જેમ-" આ વસ્ત્ર પાત્રાદિક ધર્મના ઉપકરણ છે" અથવા 'આ સમયે

प्रज्ञापनी-विनयस्योपदेशदानरूपा, अर्थबोधिका भाषा, यथा-हिंसाप्रवृत्तोऽनन्तदुःखभागी भवति " इत्यादि । यथा वा-प्राणिवधान्निवृत्ता' प्राणिनो भवे भवे दीर्घायुषो नीरोगाश्च भवन्ति । उक्तञ्च--

पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउ या अरोगा य ।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ १ ॥ ५ ॥

छाया-प्राणिवधाद् निवृत्ता, भवन्ति दीर्घायुषः अरोगाश्च ।
एषा मतिः प्रज्ञप्ता, प्रज्ञापनी वीतरागैः ॥ १ ॥

प्रत्याख्यानीभाषा-याचमानस्य प्रतिषेध वचनम् । यथा-मर्यादातिरिक्तं वस्त्र पात्रं वा याचमानं शिष्यं प्रति गुरुर्वदति-"अधिकं वस्त्रं पात्रं वा न दीयते" इति ॥६॥

प्रज्ञापनी-शिष्य को उपदेश देने स्वरूप जो भाषा होती है कि जिससे उसे अर्थ का अवबोध होता है उसका नाम प्रज्ञापनी भाषा है। जैसे-" जो हिंसा में प्रवृत्त होता है वह अनंत दुःख का भागी होता है " अथवा जो प्राणिवध से दूर रहते हैं वे भव भव में दीर्घ आयु पाते हैं तथा निरोग शरीर होते हैं ५ । उक्तंच—

" पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउया अरोगा य ।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ "

प्रत्याख्यानी-गुरु महाराज के पास याचना करते हुए शिष्य के लिये जो निषेधात्मक भाषा का प्रयोग होता है वह प्रत्याख्यानी भाषा है, जैसे-मर्यादा से अतिरिक्त वस्त्र एवं पात्र को याचने वाले शिष्य को गुरु महाराज कहते हैं कि-मर्यादा से अधिक वस्त्र व पात्र नहीं दिया जाता है " इत्यादि ६ । इच्छानुलोमा-प्रतिपादन करने वाले की अर्थात्

દેશ આપવા સ્વરૂપ જે ભાષા હોય છે તે જેનાથી તેને અર્થનો અવબોધ થાય છે એનુ નામ પ્રજ્ઞાપનીભાષા છે જેમ-" જે હિંસામા પ્રવૃત્ત બને છે તે અનંત દુઃખનો ભાગી થાય છે " અથવા જે પ્રાણી વધથી દૂર રહે છે તે ભવોભવમાં દીર્ઘાયુ ભોગવે છે તથા શરીરે નિરોગી રહે છે ૫ કહ્યુ છે કે—

" पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउ या अरोगा य ।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ "

પ્રત્યાખ્યાની-ગુરુ મહારાજની પાસે યાચના કરનાર શિષ્યને માટે જે નિષેધાત્મક ભાષાનો પ્રયોગ હોય છે તે પ્રત્યાખ્યાની ભાષા છે જેમ-મર્યાદાથી અતિરિક્ત વસ્ત્ર અને પાત્રની યાચના કરનાર શિષ્યને ગુરુ મહારાજ કહે છે કે મર્યાદાથી વધુ વસ્ત્ર અને પાત્ર દેવામા આવતું નથી. (૬) ઇત્યાદિ । ઇચ્છાનુલોમા-

इच्छानुलोमा-प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा=तदनुकूला। यथा शुभ
प्रेरितस्य "एवमस्तु ममाप्यमिप्रेतमेतत्" एव रूपा, यथा वा कश्चित् किंचित् शु
कार्यमारभमाण क्वचन पृच्छति, स प्राह-'भवान् करोतु ममाप्येतदभिप्रेतम्' इ
यथा वा केनचित् कश्चिदुक्त -"साधुसकाश गच्छाम" स वदति-एवमस्तु इति॥

अनभिगृहीता—अर्थमनभिगृह्य योच्यते 'डित्यादिवत्'। अथवा-अ
भिग्रहा यत्र न प्रतिनियतार्थावधारणम्। यथा-बहुषु कार्येष्वत्रस्थितेषु कश्चित् क
पृच्छति-किमिदानीं करोमि?, स प्राह-'यत् रोचते तत् कुरु' इति ॥ ८॥

अभिगृहीता—अर्थमभिगृह्य योच्यते-इदं वस्त्रपात्रादिक धर्मोपकरणम्, अ

प्रेरक की इच्छा के अनुकूल जो भाषा बोली जाती है वह 'इच्छानुलोम
भाषा है-जैसे कोई किसी को किसी शुभ कार्य में प्रेरणा करे तब
कहे कि 'ठीक है यह मुझे भी अभिलषित है'। अथवा कोई कि
शुभ कार्य का प्रारभ करते हुए किसी को पूछे तो वह कहे कि-क
यह मुझे भी पसद है। अथवा-कोई ऐसा कहे-'मैं साधु के पास जा र
हू' तो सुनने वाला कहता है कि अच्छा जाओ ७। अनभिगृहीत
अर्थशून्य-डित्थडवित्थादि शब्दो का बोलना। अथवा जिसमें कि
एक अर्थ का निश्चय न हो जैसे-बहुतसे कार्यों के उपस्थित होने प
कोई किसो से जब यह पूछता है कि-'कहो मैं इस समय कौन
काम करूँ?' तो वह कहता है कि-जो तुम्हें रुचे सो करो'। इ
प्रकार की भाषाका नाम अनभिगृहीता भाषा है ८। अभिगृहीता-अ
को लक्ष्य करके जिस भाषाका प्रयोग किया जाता है वह अभिगृही
भाषा है-जैसे ये वस्त्र पात्रादिक धर्म के उपकरण हैं'। अथवा 'इ

પ્રતિપાદન કરવાવાળાની અર્થાત્-પ્રેરકની ઇચ્છાને અનુકૂળ જે ભાષા બોલાય છે
'ઇચ્છાનુલોમા' ભાષા છે જેમ-કોઈ કોઈને કોઈ શુભ કાર્યમાં પ્રેરણા કરે ત્યારે
કહે કે ઠીક છે એ મારી પણ અભિલાષા છે અથવા-કોઈ શુભ કાર્યનો પ્રારભ
કરતા કોઈને પૂછે તો તે કહે કે-કરો એ મને પણ પસદ છે અથવા કોઈ એમ
કહે કે હુ સાધુની પાસે જઈ રહ્યો છું તો સાભળનાર કહે કે, સારૂ જાવ. ૭
અનભિગૃહિતા-અર્થશુન્ય-'ડિત્થ ડવિત્થાદિ" શબ્દ બોલવો અથવા જેમા કોઈ
એક અર્થનો નિશ્ચય ન હોય, જેમ-ઘણા કામો ઉપસ્થિત થતા કોઈ બીજાને જ્યારે
એ પૂછે છે કે, કહો હુ આ વખતે કયુ કામ કરૂ, તો તે કહે છે કે જે તમને
રૂચે તે કરો. આ પ્રકારની ભાષાનુ નામ અનભિગૃહિતા ભાષા છે ૮ અભિગૃહીતા-
અર્થનુ લક્ષ કરીને જે ભાષાનો પ્રયોગ કરવામા આવે છે તે 'અભિગૃહિતા'
ભાષા છે જેમ-"આ વસ્ત્ર પાત્રાદિક ધર્મના ઉપકરણ છે" અથવા 'આ સમયે

प्रज्ञापनी–विनयस्योपदेशदानरूपा, अर्थबोधिका भाषा, यथा–हिंसाप्रवृत्तोऽनन्तदुःखभागी भवति " इत्यादि। यथा वा–प्राणिवधाभिवृत्ता, प्राणिनो भवे भवे दीर्घायुषो नीरोगाश्च भवन्ति। उक्तञ्च–-

पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउ या अरोगा य।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ १ ॥ ५ ॥

छाया–प्राणिवधाद् निवृत्ता, भवन्ति दीर्घायुषः अरोगाश्च।
एषा मतिः प्रज्ञप्ता, प्रज्ञापनी वीतरागैः ॥ १ ॥

प्रत्याख्यानीभाषा–याचमानस्य प्रतिषेधवचनम्। यथा–मर्यादातिरिक्तं वस्त्रं पात्रं वा याचमानं शिष्यं प्रति गुरुर्वदति–"अधिकं वस्त्रं पात्रं वा न दीयते" इति ॥६॥

प्रज्ञापनी–शिष्य को उपदेश देने स्वरूप जो भाषा होती है कि जिससे उसे अर्थ का अवबोध होता है उसका नाम प्रज्ञापनी भाषा है। जैसे–" जो हिंसा में प्रवृत्त होता है वह अनंत दुःख का भागी होता है " अथवा जो प्राणिवध से दूर रहते हैं वे भव भव में दीर्घ आयु पाते हैं तथा निरोग शरीर होते हैं ५। उक्तंच—

" पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउया अरोगा य।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ "

प्रत्याख्यानी–गुरु महाराज के पास याचना करते हुए शिष्य के लिये जो निषेधात्मक भाषा का प्रयोग होता है वह प्रत्याख्यानी भाषा है, जैसे–मर्यादा से अतिरिक्त वस्त्र एवं पात्र को याचने वाले शिष्य को गुरु महाराज कहते हैं कि–मर्यादा से अधिक वस्त्र व पात्र नहीं दिया जाता है " इत्यादि ६। इच्छानुलोमा–प्रतिपादन करने वाले की अर्थात्

દેશ આપવા સ્વરૂપ જે ભાષા હોય છે તે જેનાથી તેને અર્થનો અવબોધ થાય છે એનું નામ પ્રજ્ઞાપનીભાષા છે જેમ–" જે હિંસામાં પ્રવૃત્ત બને છે તે અનંત દુઃખનો ભાગી થાય છે " અથવા જે પ્રાણી વધથી દૂર રહે છે તે ભવોભવમાં દીર્ઘાયુ ભોગવે છે તથા શરીરે નિરોગી રહે છે ૫ કહ્યું છે કે—

" पाणिवहाउ नियत्ता, हवंति दीहाउ या अरोगा य।
एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ "

પ્રત્યાખ્યાની–ગુરુ મહારાજની પાસે યાચના કરનાર શિષ્યને માટે જે નિષેધાત્મક ભાષાનો પ્રયોગ હોય છે તે પ્રત્યાખ્યાની ભાષા છે જેમ–મર્યાદાથી અતિરિક્ત વસ્ત્ર અને પાત્રની યાચના કરનાર શિષ્યને ગુરુ મહારાજ કહે છે કે મર્યાદાથી વધુ વસ્ત્ર અને પાત્ર દેવામાં આવતું નથી. (૬) ઇત્યાદિ। ઇચ્

इच्छानुलोमा–प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा=तदनुकूला। यथा शुभकार्ये प्रेरितस्य "एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतत्" एव रूपा, यथा वा कश्चित् किंचित् शुभ कार्यमारभमाणः कंचन पृच्छति, स प्राह–'भवान् करोतु ममाप्येतदभिप्रेतम्' इति। यथा वा केनचित् कश्चिदुक्त –"साधुसकाशं गच्छाम" स वदति–एवमस्तु इति॥७॥

अनभिगृहीता—अर्थमनभिगृह्य योच्यते 'डित्थादिवत्'। अथवा–अनभिग्रहा यत्र न मतिनियतार्थावधारणम्। यथा–बहुषु कार्येष्ववस्थितेषु कश्चित् कंचन पृच्छति–किमिदानीं करोमि?, स प्राह–'यत् रोचते तत् कुरु' इति ॥८॥

अभिगृहीता—अर्थमभिगृह्य योच्यते–इद वस्त्रपात्रादिकं धर्मोपकरणम्, अथवा

प्रेरक की इच्छा के अनुकूल जो भाषा बोली जाती है वह 'इच्छानुलोमा' भाषा है–जैसे कोई किसी को किसी शुभ कार्य में प्रेरणा करे तब वह कहे कि 'ठीक है यह मुझे भी अभिलषित है'। अथवा कोई किसी शुभ कार्य का प्रारम्भ करते हुए किसी को पूछे तो वह कहे कि–करो यह मुझे भी पसद है। अथवा–कोई ऐसा कहे–'मैं साधु के पास जा रहा हूं' तो सुनने वाला कहता है कि अच्छा जाओ ७। अनभिगृहीता–अर्थशून्य–डित्थडवित्थादि शब्दो का बोलना। अथवा जिसमें किसी एक अर्थ का निश्चय न हो जैसे–बहुतसे कार्यों के उपस्थित होने पर कोई किसी से जब यह पूछता है कि–'कहो मैं इस समय कौनसा काम करूँ?' तो वह कहता है कि–जो तुम्हें रुचे सो करो'। इस प्रकार की भाषाका नाम अनभिगृहीता भाषा है ८। अभिगृहीता–अर्थ को लक्ष्य करके जिस भाषाका प्रयोग किया जाता है वह अभिगृहीता भाषा है–जैसे ये वस्त्र पात्रादिक धर्म के उपकरण हैं'। अथवा 'इस

પ્રતિપાદન કરવાવાળાના અર્થાત્-પ્રેરકની ઇચ્છાને અનુકૂળ જે ભાષા બોલાય છે તે 'ઇચ્છાનુલોમા' ભાષા છે જેમ-કોઈ કોઈને કોઈ શુભ કાર્યમા પ્રેરણા કરે ત્યારે કહે કે ઠીક છે એ મારી પણ અભિલાષા છે અથવા-કોઈ શુભ કાર્યનો પ્રારભ કરતા કોઈને પૂછે તો તે કહે કે-કરો એ મને પણ પસદ છે અથવા કોઈ એમ કહે કે હુ સાધુની પાસે જઇ રહ્યો છુ તો સાભળનાર કહે કે, સારૂ જાવ ૭ અનભિગૃહિતા-અર્થશૂન્ય-'ડિત્થ ડવિત્થાદિ" શબ્દ બોલવો અથવા જેમા કોઈ એક અર્થનો નિશ્ચય ન હોય, જેમ-ઘણા કામો ઉપસ્થિત થતા કોઈ બીજાને જ્યારે એ પૂછે છે કે, કહો હુ આ વખતે કયુ કામ કરૂ, તો તે કહે છે કે જે તમને રૂચે તે કરો. આ પ્રકારની ભાષાનુ નામ અનભિગૃહિતા ભાષા છે ૮ અભિગૃહીતા-અર્થનુ લક્ષ કરીને જે ભાષાનો પ્રયોગ કરવામા આવે છે તે 'અભિગૃહિતા' ભાષા છે જેમ-"આ વસ્ત્ર પાત્રાદિક ધર્મનાં ઉપકરણ છે" અથવા 'આ સમયે

-प्रतिनियतार्थावधारणम् । यथा-इदमिदानीं कर्तव्यम्, इदं न कर्तव्यमिति ॥९॥
संशयकरणी—याऽनेकार्थप्रतिपत्तिकरी सा । या भाषा अनेकार्थाभिधायि तया परस्य संशयमुत्पादयति, यथा - सैन्धवमानयेत्यत्र सैन्धवशब्दो नरलवण वाजिवाचकत्वेन संशयोत्पादक ॥ १० ॥
व्याकृता—या प्रकटार्था । यथा-अहिंसा-सर्वकल्याणकारिणी ॥ ११ ॥
अव्याकृता—अतिगम्भीरशब्दार्था, अव्यक्ताक्षरप्रयुक्ता वा, यथा- "संयत-स्य महत्पाप प्रतिक्रमणकर्मणा"। इत्यादि, यथा वा मम्मणादि बालभाषा ॥ १२ ॥ एषा=आमन्त्रण्यादिका भाषा प्रज्ञापनी खलु-प्रज्ञाप्यते प्रकटी क्रियतेऽर्थोऽनयेति प्रज्ञापनी अर्थकथनी, सा भाषणीया इत्यर्थ । नैषा भाषा मृषा

समय यह करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये ' ९ । संशयकरणी-जिस भाषा से सुनने वालेको अनेक अर्थों की प्रतिपत्ति होने लगे उस भाषा का नाम संशयकरणी भाषा है, जैसे-किसी ने कहा कि-' सैन्धव लाओ ' यह सैन्धव शब्द पुरुष, लवण और घोडे रूप अर्थों का प्रतिपादक है, अतः सुनने वाले को संशय जनक हो जाता है १० । व्याकृता-जिसका अर्थ स्पष्ट होता है वह व्याकृता भाषा है जैसे-" अहिंसा सर्व प्रकार से कल्याण करने वाली है " ११ । अव्याकृता-अतिगंभीर शब्दार्थवाली भाषा अव्याकृता भाषा है । अथवा-जो अव्यक्त अक्षर से युक्त होती है वह भाषा अव्याकृता भाषा है जैसे-"संयत-स्य महत्पाप प्रतिक्रमणकर्मणा" प्रतिक्रमण कर्म से संयत को बडा भारी पाप लगता है। यहां पर जब " स्य " को क्रियापद मान लिया जाता है तब इसका

આ કરવું જોઈએ આ ન કરવું જોઈએ " ૯ સંશયકરણી-જે ભાષાથી સાંભળ નારને અનેક અર્થોનો આભાસ થવા લાગે તે ભાષાનું નામ સંશયકરણી ભાષા છે જેમ કોઈએ કહ્યું કે—" સૈન્ધવ લાવો " આ સૈન્ધવ શબ્દ પુરુષ મીઠું અને ઘોડારૂપ અર્થનો પ્રતિપાદક છે આથી સાંભળવાવાળાને પ્રકરણાદિના અભાવમાં સંશયજનક બને છે એ માટે પ્રકરણ સમજીને આ ભાષા બોલવામાં દોષ નથી કેમકે, તે વ્યવહાર ભાષા છે ૧૦ વ્યાકૃતા-જેનો અર્થ સ્પષ્ટ થાય છે તે વ્યાકૃત ભાષા છે જેમ—" અહિંસા" સર્વ પ્રકારથી કલ્યાણ કરવાવાળી છે " ૧૧ અવ્યાકૃતા અતિ ગંભીર શબ્દાર્થવાળી ભાષા અવ્યાકૃતા ભાષા છે અથવા-જે અવ્યકત અક્ષરથી યુકત હોય છે તે ભાષા અવ્યકૃતા ભાષા છે જેમ—

સંયત-સ્ય મહત્પાપ પ્રતિક્રમણા કર્મણા—

પ્રતિક્રમણ કર્મથી સંયતને મોટું ભારે પાપ લાગે છે, અહિં જ્યારે "સ્ય" ને ક્રિયાપદ માનવામાં આવે ત્યારે એનો અર્થ એવો થાય છે કે, હે

–एषा भाषा मृषा अवक्तव्या नेत्यर्थः। प्रश्नकर्तुरयमभिप्रायः–'आशयिष्यामहे' इत्यादिका भाषा भविष्यत्कालविषया, साचान्तरायसंभवेन कदाचिदर्थाभिधायिनी न स्यात्। तथा एकार्थविषयाऽपि बहुवचनान्ततयाऽभिहिता तस्मादयथार्था। तथा–आमन्त्रणीप्रभृतिका, सत्यभाषावदर्थे नियता नास्ति विधिप्रतिषेधबोधकत्वा भावात्, अतः किमियं वक्तव्या स्यात्, उत न? इति।

अर्थ ऐसा होता है कि हे संयत? प्रतिक्रमण कर्म से तुम अपने पापोंका क्षय करो। यह बोध शीघ्र नहीं हो सकता है, अतः इसे अव्याकृत भाषा कहा है। अथवा–बालककी भाषाको अव्याकृत भाषा कहते हैं १२। ये सब भाषायें प्रज्ञापनी हैं, यह प्रज्ञापनी भाषा मृषास्वरूप नहीं है। प्रश्न करने वालेका कहने का हेतु यह है–जब यह कहा जाता है कि हम 'शयनकरेंगे' इत्यादि, तब यह भाषा भविष्यत् काल को विषय करने वाली होने से अर्थकी पूर्ति में असमर्थ जान पडती है, कारण कि अन्तराय कर्म के उदय की संभावना होने से उस विवक्षित अर्थकी कदाचित् पूर्ति न भी हो सके तो फिर जिस प्रकार मृषाभाषा अर्थको कहनेवाली नहीं मानी जाती है उसी प्रकार यह भाषा भी अनर्थाभिधायिनी मान लेना चाहिये तथा "हम शयनकरेंगे" इस कथनमें "मैं शयनकरूँगा" इस एक वचन के ही प्रयोग में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। जैसे एक को अनेक कहनेवाली भाषा अयथार्थ मानी जाती है। उसी प्रकार यह भी अयथार्थ मानी जानी चाहिये। इसी तरह आमन्त्रणी भाषाएँ भी सत्य भाषाकी तरह अर्थ में नियत नहीं है, क्यों कि इनमें विधि एवं प्रतिषेध की बोधकता का अभाव है, इसलिये यह संदेह होता है कि यह बोलने के योग्य है अथवा नहीं है। इस प्रकारकी आशंका का यह उत्तर है कि

સંયત! પ્રતિક્રમણ કર્મથી તમે તમારા પાપોનો ક્ષય કરો. આ બોધ જલદી થઈ શકતો નથી આથી આને અવ્યાકૃતા ભાષા કહેવામા આવે છે અથવા–બાળકની ભાષાને અવ્યાકૃત ભાષા કહેવામા આવે છે ૧૨ આ બધી ભાષા પ્રજ્ઞાપની છે આ પ્રજ્ઞાપની ભાષા મૃષા સ્વરૂપની નથી. પ્રશ્ન કરનારના કહેવાનો મતલબ એ છે કે, જ્યારે એમ કહેવામાં આવે છે કે, "અમે સુઈએ છીએ" આ કથનમાં "હું સુઉં છું" આ એક વચનના પ્રયોગમાં બહુ વચનનો પ્રયોગ કરવામા આવેલ છે જેમ એકને અનેક કહેવાવાળી ભાષા અયથાર્થ માનવામા આવે છે એ રીતે પણ અયથાર્થ માનવી જોઈએ આ રીતે આમન્ત્રણી ભાષાઓ પણ સત્ય ભાષાની જેમ અર્થમા નિયત નથી કેમકે, એનામાં વિધિ અને પ્રતિષેધની બોધકતાનો અભાવ છે આ માટે એ સંદેહ થાય છે, એ બોલવાને યોગ્ય છે,

अत्रोत्तरमाह—हंता ! इत्यादि । 'हन्त' इति स्वीकारार्थक', अय भावः—'आशयिष्यामहे' 'शयिष्यामहे' इत्यादिका भाषा निश्चयात्मकशब्दप्रयोगा भावान्नास्ति निश्चयात्मिका, या तु–'आशयिष्यामहे एव' 'शयिष्यामहे एव' इत्यादिका निश्चयात्मिका सैवान्तरायसमवाद् भविष्यत्कालविषया भाषा मृषा भवितुमर्हति । 'आशयिष्यामहे' इत्यादौ तु–शयनादिक्रियायां वक्तुरभिप्रायः "शयनादिक्रियाकरणस्य भावो मम वर्तते" इत्यादि रूप सत्य एवास्तीति भवति प्रज्ञापनी । एकार्थविषये बहुवचनाभिधानमपि आत्मनि गुरौ च शास्त्रानुमत, तस्माद् बहुवचनान्ततया प्रयुक्ताऽपि प्रज्ञापन्येव भवति । एवमामन्त्रण्यादिकाऽपि।

'आश्रयिष्यामहे" इत्यादिक भाषाएँ निश्चयात्मक शब्द के प्रयोग के अभाव से निश्चयात्मक नहीं हैं। ये निश्चयात्मक जब ही मानी जाती हैं कि जब इनके साथ निश्चयात्मक शब्दका प्रयोग किया हुआ होता है। जैसे–आश्रयिष्यामहे एव, शयिष्यामहे एव" इस प्रकारकी निश्चयात्मक भाषा में जो कि भविष्यत् कालको विषय करनेवाली हो अन्तराय कर्म के उदय से अपने अर्थकी पूर्ति की निश्चितता संदिग्ध रहती है अत वही भाषा मृषावाद रूप मानी जाती है। "आश्रयिष्यामहे" इत्यादि भाषा में तो शयनरूप क्रिया करने का भाव ही केवल वक्ता का रहा हुआ है अत उस अपेक्षा वह सत्य ही है। इसी अर्थ को मन में रख कर मुनिराज भविष्यत्काल के अर्थ में भाव शब्द का प्रयोग करते हैं, जैसे–'कल स्वाध्याय करने का भाव है' अथवा–'तपस्या करने का भाव है' इत्यादि। एकवचन में भी व्याकरणसिद्धान्त के अनुसार

અથવા નથી એ પ્રકારની આશંકાનો આ ઉત્તર છે કે, "आशयिष्यामहे" ઈત્યાદિક ભાષાઓ નિશ્ચયાત્મક નથી અને નિશ્ચયાત્મક ત્યારે જ માનવામા આવે કે જ્યારે એની સાથે નિશ્ચયાત્મક શબ્દનો પ્રયોગ કરવામાં આવેલ હોય જેમ आशयिष्यामहे एव शयिष्यामहे एव–આ પ્રકારની નિશ્ચયાત્મક ભાષામાં કે જે ભવિષ્યત કાળનો વિષય કરવાવાળી હોય અંતરાય કર્મના ઉદયથી તેના અર્થની પૂર્તિની નિશ્ચિતતા સંદિગ્ધ રહે છે આથી તે ભાષા મૃષા વા રૂપ માનવામા આવે છે "आशयिष्यामहे" ઈત્યાદિ ભાષામાં તો કહેનારનો સુવાની ક્રિયા કરવાનો ભાવ જ ફક્ત રહેલ છે આથી એ અપેક્ષાથી તે સત્ય જ છે આ જ અર્થને મનમા રાખી મુનિરાજ ભવિષ્યકાળના અર્થમાં ભાવ શબ્દનો પ્રયોગ કરે છે જેમ—'કાલે સ્વાધ્યાય કરવાનો ભાવ છે' અથવા "તપસ્યા કરવાનો ભાવ છે' ઈત્યાદિ। એક વચનમાં પણ વ્યાકરણ સિદ્ધાંતની

या निरवद्यपुरुषार्थसाधनी सा प्रज्ञापन्येव । यथा "हे साधो !" "इदं कुरु" "इद मा कुरु" इत्यादिका । सा तु भाषणीयैवेति ।

भाषादोष=सावद्यानुमोदनादिक, मृषा–कर्कशाऽसम्यशब्दोच्चारणादिक च, परिहरेत् । च–पुन., मायां सदा=सर्वकाल परिवर्जयेत् ।

अत्र मायामित्युपलक्षणम् , क्रोधमानलोभाना कषायाणाम् । सर्वान् कषायान् परिवर्जयेदित्यर्थ । कषायाणां मृषाभाषणहेतुत्वात् , कषायवर्जने सति मृषाभाषणपरिहारः सुकरा स्यादिति भाव ॥ २४ ॥

बहुवचन का प्रयोग हो जाता है। यहा कहागया ह कि अपने में एव गुरु में बहुवचन का प्रयोग करना निर्दोष है, इसलिये एक में भी बहु वचनान्तरूप से प्रयुक्त भाषा प्रज्ञापनी ही भाषा है। इसी तरह आमन्त्रणी आदि भाषाएँ भी जो निरवद्य पुरुषार्थ की साधक होती हैं वे प्रज्ञापनी ही हैं। जैसे–"हे साधो।" "यह करो यह मत करो" इत्यादि।

सावद्य कर्म की अनुमोदना आदि करना यह भाषा दोष है। इसी प्रकार कर्कश एव कठोर शब्द का उच्चारण करना आदि भी मृषा भाषा में ही अन्तर्हित है। माया शब्द उपलक्षण है। इसलिये क्रोधादिक कषाय के विषय में भी समझ लेना चाहिये, क्यों कि कषाय के आवेश से ही मृषाभाषण होता है। इनके परिवर्जन से मृषाभाषाका परिवर्जन हो जाता है। अत' भाषादोष एव माया का सदा काल परित्याग कर देना चाहिये ॥ २४ ॥

બહુ વચનનો પ્રયોગ થઈ જાય છે, આથી એ બતાવાયુ છે કે, પોતાનામાં અને ગુરુ મહારાજમાં બહુ વચનનો પ્રયોગ કરવો નિર્દોષ છે આ માટે એકમાં પણ બહુવચનાન્તરૂપથી પ્રયુક્ત ભાષા પ્રજ્ઞાપની ભાષા જ છે આ રીતે આમન્ત્રણી આદિ ભાષાઓ પણ જે નિરવદ્ય પુરૂષાર્થની સાધક હોય છે તે પ્રજ્ઞાપની જ છે જેમ—"હે સાધો !" "આ કરો, આ ન કરો," ઈત્યાદિ।

સાવદ્ય—કર્મની અનુમોદના આદિ કરવી એ ભાષા દોષ છે આ પ્રકારે કર્કશ અને કઠોર શબ્દનુ ઉચ્ચારણ કરવુ આદિ પણ મૃષાભાષામાં જ અન્તહિત છે માયા શબ્દ ઉપલક્ષણ છે આ માટે ક્રોધાદિક કષાયના વિષયમા પણ સમજવુ જોઈએ કેમકે, કષાયના આવેશથી જ મૃષાભાષણ થાય છે તેના ત્યાગથી મૃષા ભાષાનો ત્યાગ થાય છે આથી ભાષાદોષ અને માયાનો સદાકાળ પરિત્યાગ કરી દેવો જોઈએ (૨૪)

मूलम्—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्ज, न निरट्ठ न मम्मय ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सतरेण वा ॥ २५॥

छाया—न लपेत् पृष्ट सावद्य, न निरर्थं न मर्मगम् ।
आत्मार्थं परार्थं वा, उभयस्य अन्तरेण वा ॥ २५ ॥

टीका—'न लवेज्ज' इत्यादि । पृष्टः=केनचित्, सावद्य-अवद्येन-पापेन सह वर्तते इति सावद्य-सदोष वचन न लपेत्=न वदत्, सावद्यवचन हि रागद्वेपादिदुर्गुणनिधान सकलास्रवनिदानम्, आत्मसमाधिनिशुविधुतुदस्वरूप, गुणवृक्षमूलोन्मूलने प्रचण्डझञ्झावातरूप, कषायविषवल्लीवर्धक, षड्जीवनिकायोपमर्दकम् ।

न लवेज्ज इत्यादि—

अन्वयार्थ—(पुट्ठो सावज्ज न लवेज्ज-पृष्टः सावद्य न लपेत्) किसी के द्वारा पूछे जाने पर सावद्य-पापयुक्त वचन नहीं बोलना चाहिये । (न निरट्ठ न मम्मय-न निरर्थक न मर्मग) निरर्थक वचन नहीं बोलना चाहिये । मर्म उद्घाटक वचन नहीं बोलना चाहिये । (अप्पणट्ठा परट्ठा वा उभयस्सतरेण वा सावज्जं न लवेज्ज-आत्मार्थं परार्थं वा उभयस्यान्तरेण वा सावद्य न लपेत्) अपने निमित्त अथवा पर के निमित्त तथा उभय-स्व पर के निमित्त और विना प्रयोजन के (व्यर्थ) भी सावद्य वचन नहीं बोलना चाहिये । क्यों कि-सावद्य वचन राग द्वेप आदि दुर्गुणों का निधान है, समस्त आस्रवों का निदान-कारण है, आत्मसमाधिरूप चन्द्रमा को ग्रसन करने में राहुसमान है, गुणरूप वृक्षों को जड से उखाड ने में प्रचण्ड झझावात समान है, तथा कषाय

न लवेज्ज ઈત્યાદિ—

અન્વયાર્થ—पुट्ठो सावज्ज न लवेज्ज-पृष्ट सावद्य न लपेत्—કોઈના પુછવાથી પાપયુકત સાવદ્ય વચન બોલવું જોઈએ નહીં न निरट्ठ न मम्मय-न निरर्थक नमर्मग નિરર્થક વચન બોલવુ ન જોઈ અને મર્મઉદ્ધારક વચન બોલવુ ન જોઈએ.

अप्पणट्ठा परट्ठावा उभयस्सतरेण वासावज्ज न लवेज्ज—
आत्मार्थ परार्थं वा उभयस्यान्तरेण वा सावद्य न लपेत्—

પોતાના નિમિત્ત અથવા બીજાના નિમિત્ત તથા અરસપરસના નિમિત્ત અને વગર પ્રયોજન (વ્યર્થ) સાવદ્ય વચન ન બોલવા જોઈએ

કેમકે, સાવદ્ય વચન રાગ દ્વેશ આદિ દુર્ગુણોનુ નિધાન છે, સમસ્ત આશ્રવોનુ કારણ છે, આત્મસમાધિરૂપ ચદ્રમાનું ગ્રહણ ગ્રસિત કરવામાં રાહુ સમાન છે, ગુણરૂપ વૃક્ષને જડથી ઉખેડવામા પ્રચડ ઝઝાવાત સમાન છે તથા

सावद्यवचनभाषणदृष्टान्त'—

निरवद्यभाषानभिज्ञ' कश्चिदश्वपतिर्लक्षमूल्यकमश्व विक्रेतु कस्मिंश्चिन्नगर जगाम । तत्राकस्मादश्वपतिहस्तादश्वो निर्मुक्त सन् धावति । धावन्तमश्व परिग्रहीतु तत्पृष्ठतोऽश्वपतिरपि धावति । त परिग्रहीतुमशक्तोऽसौ धावनात् परिश्रान्त कोपावेशेन तदानीं स्वाभिमुखमागच्छन्त कचिद् भाषादोषानभिज्ञ दण्डहस्त पुरुषमब्रवीत्–भो ! अश्वोऽय धावति, एन मारय मारय, एवमुक्तोऽसौ दण्डेन तमश्व मर्मस्थाने ताडितवान । तदाऽसौ दण्डाघातेन मृत । अथाश्वपतिस्त तुरगघातक

रूप विपलताओं को बढाने में मेघसमान है, एव षड्जीवनिकायों का उपमर्दन करने वाला है ।

सावद्य वचन के बोलन में जीव को क्या हानी उठानी पडती है, इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है

एक अश्वपति था जो निरवद्य भाषा बोलने का अनभिज्ञ था । वह एक लाख रुपया की कीमत वाले अपने घोडे को बेचने के लिये किसी नगर में आया । वहा आते ही उसके हाथ से वह घोडा छूटकर भाग निकला । भागते हुए उस घोडे का पीछा करने पर भी वह पकड नहीं सका । जब वह दौडते २ थक गया तो क्रोधके आवेश में आकर इसने एक पुरुष से जो हाथ में दडा लिये हुए इसकी ही ओर आ रहा था । तथा भाषा के दोष से अनभिज्ञ था कहा कि हे भाई देखो यह घोडा जो भाग रहा है इसे मारो मारो । इस प्रकार अश्वपति के कहने पर उस व्यक्ति ने एक दडा ऐसा मारा जो उस घोडे के मर्मस्थान में लगा ।

કષાયરૂપ વિ૰ લતાઓને વધારનાર છે, ષટ્ જીવનીકાયોનું ઉપમર્દન કરનાર છે

સાવદ્ય વચન બોલવાથી શું અનર્થ થાય છે, તે આ દ્રષ્ટાંત દ્વારા સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે—

એક અશ્વપતિ હતો, જે નિરવદ્ય ભાષા બોલવામા અનભિજ્ઞ હતો તે એક લાખ રૂપીયાની કિંમતના પોતાના ઘોડાને વેચવા માટે કોઈ એક નગરમા ગયો ત્યાં પહોંચતા જ તેના હાથમાથી તે ઘોડો છુટીને ભાગી ગયો, ભાગી રહેલા તે ઘોડા પાછળ તેને હાથ કરવા તે ખૂબ દોડયો છતા પકડી શકાયો નહીં જ્યારે તે દોડતા દોડતા થાકી ગયો ત્યારે ક્રોધના આવેશમા આવી એવું એક પુરૂષ, કે જે હાથમા દડો લઈને તેની સામે આવી રહ્યો હતો અને તે ભાષાના દોષથી અજાણ હતો, તેને કહ્યું કે હે ભાઈ ! આ ઘોડો જે ભાગી રહ્યો છે તેને મારો આ પ્રકારે એ અશ્વપતિના કહેવાથી પેલા માણસે એક દડો ઘોડાને એવો માર્યો કે જે મર્મસ્થાનમાં લાગવાથી તેના પ્રહારના કારણે ઘોડો એજ વખતે મરી ગયો.

गृहीत्वा न्यायालयं गतः । तत्र स न्यायाध्यक्षसंनिधौ वदति—अनेन मम लक्षमूल्यकस्तुरगो दण्डाघातेन मारितः। तदा न्यायाध्यक्षेण कथितम्—'कथय कस्ते साक्षी' इति । अश्वपतिर्ब्रूते—अस्यैव पुत्रो मम साक्षी । न्यायाध्यक्षेण पृष्टस्तत्पुत्रोऽवदत्—अनेनाश्वपतिना मम पिता निगदितः—" भो ! तुरगोऽयं धावति, एनं मारय मारय " इति । तदा मम पित्रा दण्डेनास्य तुरगो मारितः । एवं साक्षिभाषणं श्रुत्वा न्यायाधीशो मनसि विचारयति—अहो ! सावद्यभाषादोषानभिज्ञतयाऽनेनाश्वपतिना ' मारय मारय ' इत्युक्तम् दण्डताडनभयं प्रदर्श्य तुरगं निवर्तयेत्याशयेनानेन प्रोक्तमेतत् ।

घोडा दंडा के प्रहार से शीघ्र मर गया। जब अश्वपति ने अपने घोडेको मरा हुआ देखा तो वह उस मारने वाले को पकडकर न्यायालय ले गया। न्यायधीश के समक्ष उसके ऊपर अभियोग (आरोप) लगा ने के अभिप्राय से इसने कहा कि इसने मेरा एक लाख रुपये की कीमत का घोडा दंडे के प्रहार से मार दिया है। यह सुनकर न्यायधीश ने कहा ठीक है। परतु इसका साक्षी कौन है कहो! अश्वपतिने कहा कि साहेब! इसका पुत्र ही मेरे इस विषय में साक्षी है। न्यायधीश ने उसके पुत्र से पूछा—तब पुत्र ने कहा कि स्वयं इस अश्वपति ने ही मेरे पिता से घोडे को मारने के लिये कहा था। अतः मेरे पिता ने दंडे के प्रहार से इस के घोडे को मारा है। इस प्रकार साक्षी के भाषण को सुनकर न्यायधीश ने मन में विचार किया मालूम पडता है कि घोडे का यह स्वामी भाषा दोष से अनभिज्ञ है। इसलिये इसने "मारो मारो" ऐसा कहा है। इसके कहने का अभिप्राय केवल उस समय इतना ही था की यह दण्डे का भय दिखलाकर उस घोडे को लौटा देवे। इस

જ્યારે અશ્વપતિએ પોતાના ઘોડાને મરણ પામેલો જોયો ત્યારે તે માર નારને પકડી ન્યાયાલયમા લઈ ગયો, ન્યાયાધીશની સામે તેના ઉપર આરોપ લગાવવાના ભાવથી તેણે કહ્યું કે, આ માણસે મારા એક લાખ રૂપીયાની કિંમતના ઘોડાને દંડાના પ્રહારથી મારી નાખેલ છે આ સાંભળીને ન્યાયાધીશે કહ્યું ઠીક છે પરંતુ આનો સાક્ષી કોણ છે તે કહો. અશ્વપતિએ કહ્યું કે, સાહેબ! તેનો પુત્ર જ મારા આ વિષયમા સાક્ષી છે ન્યાયાધીશે તેના પુત્રને પૂછ્યું ત્યારે પુત્રે કહ્યું કે, આ અશ્વપતિએ પોતે જ મારા પિતાને ઘોડાને મારવાનું કહ્યું હતું આથી મારા પિતાએ દંડાના પ્રહારથી તેના ઘોડાને મારેલ છે આ પ્રકારે સાક્ષીનું ભાષણ સાંભળી ન્યાયાધીશે મનમા વિચાર કર્યો કે ઘોડાનો આ સ્વામી ભાષા દોષથી અનભિજ્ઞ છે તેવું જણાય છે, આ માટે તેણે મારો, મારો! એમ કહેલ છે આમ કહેવાનો અભિપ્રાય કેવળ તે સમય એટલો જ હતો કે, દંડાનો

इत्थं मनसि विमृश्य न्यायाधीशः सावद्यभाषाभाषिणमश्वपतिं प्राह—त्वया सावद्य-भाषा प्रोक्ता, तत्फलमेतत् प्राप्तम्। पुनरेव कदापि कथमपि सावद्यभाषा न वाच्या ॥ इति। तथा निरर्थम्=अर्थरहितं न लपेत्, यथा—

एष वन्ध्यासुतो याति, खपुष्पकृतशेखरः।
मृगतृष्णाम्भसि स्नातः, शशशृङ्गधनुर्धरः ॥ १ ॥

प्रकार विचार कर सावद्य भाषा भाषी उस अश्वस्वामी से न्यायधीशने कहा कि इसका क्या अपराध है। अपराध तो तेरा ही है। जो तूने मारो २ इस प्रकारकी सावद्य भाषा द्वारा इसे मार ने के लिये उत्साहित किया, उसीका यह फल है। अब आगे इस बात का ध्यान रखो कि इस प्रकारकी सावद्य भाषा न बोली जाय।

इसी प्रकार निरर्थक भाषा भी नहीं बोलनी चाहिये। जिस भाषा का कोई अर्थ नहीं होता तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना भी वर्जित बतलाया गया है—जैसे—

एष वन्ध्या सुतो याति। खपुष्पकृतशेखर।
मृगतृष्णाम्भसि स्नात। शशशृंग धनुर्धर ॥ १ ॥

यह वन्ध्या पुत्र जा रहा है। इस के शिर पर आकाश के पुष्पों की माला है, तथा यह मृग तृष्णा के जल में स्नान किया हुवा है, इस के हाथ में शशले के सींग का धनुष है। इस प्रकार के वचन निरर्थक होते हैं। क्यों कि न तो वध्या का कोइ पुत्र होता है, न आकाश का

અધ દેખાડી તે ઘોડાને પાછો ફેરવી દે આ પ્રકારનો વિચાર કરી સાવદ્ય ભાષ-ભાષી તે અશ્વસ્વામીને ન્યાયાધીશે કહ્યુ આનો શું અપરાધ છે, અપરાધ તો તારોજ છે, જે તે મારો, મારો! આ પ્રકારની સાવદ્ય ભાષા દ્વારા તને મારવા માટે ઉત્સાહિત બનાવ્યો તેનું આ ફળ છે, હવે પછી એ વાત ધ્યાનમા રાખો કે આ પ્રકારની સાવદ્ય ભાષા બોલવામા ન આવે

આજપ્રકારે—નિરર્થક ભાષા પણ ન બોલવી જોઈએ જે ભાષાનો કોઈ અર્થ ન થતો હોય એવી ભાષાનો પ્રયોગ કરવો એ નિરર્થક બતાવવામા આવેલ છે જેમ—

" एष वंध्या सुतो याति ख पुष्प कृत शेखरः।
मृगतृष्णाम्भसि स्नातः शशशृग धनुर्धरः ॥ "

આ વધ્યાપુત્ર જઈ રહ્યો છે, તેના માથા ઉપર આકાશના પુષ્પોની માળા છે, તથા એણે મૃગતૃષ્ણાના જળમા સ્નાન કરેલ છે, એના હાથમા સસલાના શીગનુ ધનુષ્ય છે, આ પ્રકારનાં વચન નિરર્થક હોય છે, કેમકે, ન તો વધ્યા

गृहीत्वा न्यायालयं गतः। तत्र स न्यायाध्यक्षसन्निधौ वदति—अनेन मम लक्षमूल्यकस्तुरगो दण्डाघातेन मारितः। तदा न्यायाध्यक्षेण कथितम्—'कथय कस्ते साक्षी' इति। अश्वपतिर्ब्रूते—अस्यैव पुत्रो मम साक्षी। न्यायाध्यक्षेण पृष्टस्तत्पुत्रोऽवदत्—अनेनाश्वपतिना मम पिता निगदितः—"भो! तुरगोऽयं धावति, एनं मारय मारय" इति। तदा मम पित्रा दण्डेनास्य तुरगो मारितः। एवं साक्षिभाषणं श्रुत्वा न्यायाधीशो मनसि विचारयति—अहो! सावद्यभाषादोषानभिज्ञतयाऽनेनाश्वपतिना 'मारय मारय' इत्युक्तम् दण्डताडनभयं प्रदर्श्य तुरगं निवर्तयेत्याशयेनानेन प्रोक्तमेवत्।

घोड़ा दण्डा के प्रहार से शीघ्र मर गया। जब अश्वपति ने अपने घोड़ेको मरा हुआ देखा तो वह उस मारने वाले को पकड़कर न्यायालय ले गया। न्यायधीश के समक्ष उसके ऊपर अभियोग (आरोप) लगा ने के अभिप्राय से इसने कहा कि इसने मेरा एक लाख रुपये की कीमत का घोड़ा दंडे के प्रहार से मार दिया है। यह सुनकर न्यायधीश ने कहा ठीक है। परन्तु इसका साक्षी कौन है कहो। अश्वपतिने कहा कि साहेब! इसका पुत्र ही मेरे इस विषय में साक्षी है। न्यायधीश ने उसके पुत्र से पूछा—तब पुत्र ने कहा कि स्वयं इस अश्वपति ने ही मेरे पिता से घोड़े को मारने के लिये कहा था। अतः मेरे पिता ने दंडे के प्रहार से इस के घोड़े को मारा है। इस प्रकार साक्षी के भाषण को सुनकर न्यायधीश ने मन में विचार किया मालूम पड़ता है कि घोड़े का यह स्वामी भाषा दोष से अनभिज्ञ है। इसलिये इसने "मारो मारो" ऐसा कहा है। इसके कहने का अभिप्राय केवल उस समय इतना ही था की यह दण्डे का भय दिखलाकर उस घोड़े को लौटा देवे। इस

જ્યારે અશ્વપતિએ પોતાના ઘોડાને મરણ પામેલો જોયો ત્યારે તે મારનારને પકડી ન્યાયાલયમા લઈ ગયો, ન્યાયાધીશની સામે તેના ઉપર આરોપ લગાવવાના ભાવથી તેણે કહ્યુ કે, આ માણસે મારા એક લાખ રૂપીયાની કિંમતના ઘોડાને દંડાના પ્રહારથી મારી નાખેલ છે આ સાભળીને ન્યાયાધીશે કહ્યુ ઠીક છે, પરંતુ આનો સાક્ષી કોણ છે તે કહો અશ્વપતિએ કહ્યુ કે, સાહેબ! તેનો પુત્ર જ મારા આ વિષયમા સાક્ષી છે ન્યાયાધીશે તેના પુત્રને પૂછ્યુ ત્યારે પુત્રે કહ્યુ કે, આ અશ્વપતિએ પોતે જ મારા પિતાને ઘોડાને મારવાનુ કહ્યુ હતુ આથી મારા પિતાએ દંડાના પ્રહારથી તેના ઘોડાને મારેલ છે આ પ્રકારે સાક્ષીનુ ભાષણ સાંભળી ન્યાયાધીશે મનમા વિચાર કર્યો કે ઘોડાનો આ સ્વામી ભાષા દોષથી અનભિજ્ઞ છે તેવુ જણાય છે. આ માટે તેણે મારો, મારો! એમ કહેલ છે. આમ કહેવાનો અભિપ્રાય કેવળ તે સમય એટલો જ હતો કે, દંડાનો

मूर्खौ, एकस्तु भाण्डनिर्माणकलाभिज्ञोऽपि नैव निर्माति । यस्तु नास्ति भाण्डनि माता, तेन त्रीणि भाण्डानि निर्मितानि। तत्र द्वे स्फुटिते, एक न युज्यते । अयो जिते भाण्डे त्रयस्तण्डुला रन्धिता , तत्रोभौ तण्डुलावामरूपौ, एको न सिध्यति। ते त्रयो ब्राह्मणा भोजिता, तत्रोभौ बुभुक्षितौ, एकोन भुङ्क्ते, एवमेक कश्चिदासीत् भूपतिर्यं आसीदासीन्नचासीत् ।

तथा—मर्मगं=मर्मवाचक वचन न लपेत् । रहस्योद्घाटक वचन न ब्रूयादित्यर्थः मर्मग वचन हि हृदये शराघातवेदनामिव वेदनां जनयति, वज्राघात इव मूर्छयति

निवास का ही अभाव था। जो गाव जनों के निवास से विहीन थ उसमें तीन कुंभार थे। इन में दो मूर्ख थे और एक बर्तन बनाने की कला में निपुण था। परन्तु यह बर्तन नहीं बनाता था। जो बर्तन बनाने वाला नहीं था—उसने तीन बर्तन बनाये। दो फूटे और एक ऐसा जो जुडता नहीं था। अर्थात् कपाल माला जिसकी जुदी २ थी। इस में तीन चावल पकाये गये। इन में दो चावल कच्चे रहे और एक चावल सीझा नहीं। उससे तीन ब्राह्मणो को भोजन कराया गया। दो ब्राह्मण तो भूखे रहे और एक ने खाया नहीं। इस प्रकार इस कथा में केवल निरर्थक शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के निरर्थक वचन नहीं बोलना चाहिये।

जिनसे दूसरों के मर्म का उद्घाटन होता तो ऐसे वचन भी नहीं बोलना चाहिये। जो मर्मोद्घाटक वचन होते हैं वे जिस प्रकार बाण हृदय में आघात पहुँचाता हैं, उसी तरह आघात पहुँचाते हैं। वज्र के

વિહીન હતુ તેમા ત્રણ કુભાર રહેતા હતા, જેમાં બે મૂર્ખ હતા અને એક વાસણ બનાવવાની કળામા નિપુણ હતો, પરતુ તે વાસણ બનાવતો ન હતો જે વાસણ બનાવનાર ન હતો, તેણે ત્રણ વાસણ બનાવ્યા બે ફુટેલાં અને એક એવુ કે જે જોડાતુ ન હતુ અર્થાત્ કપાલમાળા જેની જુદી જુદી હતી, એમાં ત્રણ ચોખા પકવવામાં આવ્યા, જેમાં બે ચોખા કાચા રહ્યા અને એક ચોખો ચડયો નહી—એનાથી ત્રણ બ્રાહ્મણોને ભોજન કરાવવામા આવ્યુ બે બ્રાહ્મણ તો ભુખ્યા રહ્યા અને એકે ખાધુ નહી આ રીતે આ કથામાં કેવળ નિરર્થક શબ્દોનો જ પ્રયોગ થયો છે આ પ્રકારનાં નિરર્થક વચન ન બોલવા જોઈએ

જેનાથી બીજાના મમનુ ઉદ્ઘાટન થાય એવા વચન પણ ન બોલવા જોઈએ જે મર્મોદ્ઘાટક વચન હોય છે, તે જેમ બાણ હૃદયમા આઘાત પહોંચાડે છે એજ રીતે આઘાત પહોંચાડે છે વજ્રના આઘાતથી જે રીતે મૂર્છા

निरर्थकं वचनं हि वह्निवत् सकलगुणभस्मकारकं, सद्भूतार्थापलापकं, मिथ्यार्थप्रतिबोधकं, भवाटवीभ्रामकं, विकल्पजालजनकं, वैराग्यलताविनाशकं, विवेकचन्द्रप्रच्छादकम्।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते यथा—

आसीत् कश्चिदेको वसतिनिर्मापको नृपतिः, स आमीदासीन्न चासीत्। असद्भावमाप्तेन तेन भूपतिना त्रयो ग्रामा निर्मापिताः। तत्र वसतिनिवासिनां जनानां निर्वासनाद् द्वौ ग्रामौ निर्वासितौ, एकश्च जननिवासाभावादेव वसतिर्नाभूत्। अथ यत्र जनानां वासो नाभूत् तत्र त्रयः कुम्भकारा आसन्। तेषु द्वौ

कोई पुष्प होता है, न मृगतृष्णा रूप जल कोई भावात्मक पदार्थ है, और न शशशृंग कोई वस्तु है। निरर्थक वचन अग्नि की तरह सकलगुणों को भस्म करने वाले सद्भूत अर्थ के अपलापक एवं मिथ्या अर्थ के प्रतिबोधक होते हैं। इनके प्रयोग से प्रयोक्ता भवाटवी में ही भ्रमण करता रहता है। अनेक प्रकार के विकल्पों का ताता इन निरर्थक वचनों से आत्मा में उद्भुत होता रहता है। वैराग्यरूपी लता के ये विनाशक तथा विवेक रूपी चन्द्रमा के आच्छादक ये माने गये हैं। इस विषय में दृष्टांत इस प्रकार है—

कोई एक राजा था जो वस्ति का निर्माण किया करता था। वह होकर भी नहीं था। उसने अपनी गैर मौजूदगी अवस्था में तीन ग्रामों की रचना की। दो गांवों को उसने वहा के निवासियों को निकाल कर बिलकुल उजड कर दिये। एक इसलिये ऊजड था कि उसमें जनों के

સ્રિને પુત્ર હોય છે, ન આકાશનું કોઈ પુષ્પ હોય છે, મૃગતૃષ્ણારૂપ જળ ન તો કોઈ ભાવાત્મક પદાર્થ છે, અને ન તો સસલાના શિંગ કોઈ વસ્તુ છે નિરર્થક વચન અગ્નિ માફક સઘળા ગુણોને ભસ્મ કરવાવાળા સદ્ભૂત અર્થનો અપલાપક અને મિથ્યા અર્થ કરવાવાળા હોય છે આવા પ્રયોગથી પ્રયોક્તા ભવાટવીમાં જ ભ્રમણ કરતા રહે છે અનેક પ્રકારના વિકલ્પોના તાંતા આવા નિરર્થક વચનોથી આત્મામાં ઉદ્ભવતા રહે છે, વૈરાગ્યરૂપી લતાના એ વિનાશક તથા વિવેકરૂપી ચંદ્રમાનું આચ્છાદન કરનાર માન્યા ગયા છે

આ વિષયમાં આ પ્રકારે દૃષ્ટાંત છે —

કોઈ એક રાજા હતો, જે વસ્તીનું નિર્માણ કર્યા કરતો હતો, તે હોવા છતાં ન હતો, તેણે પોતાની ગેરમોજુદગી અવસ્થામાં ત્રણ ગામોની રચના કરી બે ગામોને ત્યાંના રહેવાસીઓને ત્યાંથી કાઢી મુકી ઉજ્જડ બનાવી દીધાં. એક એ માટે ઉજ્જડ હતું કે ત્યાં કોઈ વસ્તી જ ન હતી જે ગામ લોકોના નિવાસથી

श्वशुरग्रामसमीपस्य कूपस्य तटे विश्रामार्थमुपविष्ट । तत्र तद्भार्यया चिन्तितम्-विदेशे नानाविध कष्ट मया कथ सोढव्यम् ? इति विमृश्य सा पतिमब्रवीत्–प्राणनाथ ! मा पिपासा बाधते। ततोऽसौ श्रेष्ठी भार्यावचन निशम्य तत्र कूपादुदकमुद्धर्तुं कूपाभिमुख शिरोऽवनतीकरोति यावत्, तावदेव भार्यया पृष्ठे हस्ताघातेन कूपे निपातित । तदनन्तर सा पितुर्गेह गत्वा पितरमब्रवीत्–तव जामाता गृहात् क्वचिन्निर्गतस्तस्य नास्ति वार्ता, अतस्तव समीपे समागताऽस्मि ।

उसे अपने श्वशुर का ग्राम मिला। वह वहा गाम के बाहर कुए के पास विश्राम करने के लिये एक तरफ ठहर गया। इतने में उसकी पत्नी ने विचार किया कि–'ये विदेश जा रहे हैं और मैं भी इनके साथ जा रही हू। विदेश में अनेक प्रकार के कष्ट प्राणियों को सहन करने पडते हैं मैं उन कष्टों को कैसे सहन करूँगी' ऐसा विचार कर उसने अपने पति धनगुप्त से कहा कि हे प्राणनाथ! मुझे इस समय बडे जोरकी प्यास लग रही है, पति पानी लेने को ज्यों ही कुए पर पहुँचा और पानी भरने लगा कि इतने में पीछे से उस पत्नी ने आकर उसे धक्का मारकर कुए में पटक दिया। बाद में फिर वह अपने पिता के घर जाकर कहने लगी कि हे पिता! तुम्हारे जमाई न मालूम घर से कहा निकल कर चले गये हैं। मैं ने बहुत तपास कराई परन्तु अभीतक उनकी कोई खबर नहीं मिली है, सो मैं तुम्हारे पास आई हू।

જવા નીકળ્યા ચાલતા ચાલતા માર્ગમા તેના સસરાનુ ગામ આવ્યુ તે ત્યાં ગામ બહાર એક કુવા પાસે આરામ કરવા રોકાયા એ સમયે તેની સ્ત્રીએ વિચાર કર્યો કે, "શેઠ પરદેશ જાય છે અને હુ પણ તેમની સાથે જાઉ છુ પરદેશમા અનેક પ્રકારના દુખો પ્રાણીયોએ સહન કરવા પડે છે, હું એ દુખોને કેમ કરીને સહન કરી શકીશ" એવો વિચાર કરી તેણે પોતાના પતિ ધનગુપ્તને કહ્યું કે, હે પ્રાણનાથ! મને અત્યારે ખૂબ જ તરસ લાગી છે, પતિ પાણી લેવા માટે જ્યાં કુવા પર પહોચ્યા, અને પાણી ભરવા લાગ્યા કે એટલામા તેની સ્ત્રીએ પાછળથી આવીને તેને ધક્કો મારી કુવામા હડસેલી દીધો આ પછી તે પોતાના પિયર પહોચી અને ત્યા જઈ કહેવા લાગી કે, હે પિતા! તમારા જમાઈ કહ્યા વગર કોણ જાણે કેમ ઘેરથી ચાલ્યા ગયા છે, મે ઘણી તપાસ કરાવી છતાં હજુ સુધી તેની કોઇ ભાળ મળી નથી માટે હું તમારી પાસે આવી છું

द्वेषाग्निं प्रज्वलयति, शोकमुत्पादयति, चारित्रं ध्वंसयति, गुणगणं संहारयति, नरकनिगोदादिदुःखगर्ते निपातयति, निशितकृपाणधारावत् मर्माणि कर्तयति।
मर्मगवचनभाषणस्य दृष्टान्तस्त्वेवम्—

आसीद् धनगुप्तनामा कश्चिदेकः श्रेष्ठी। स चैकदा भार्यामब्रवीत्-प्रिये! धनार्जनाय विदेशं व्रजामि। तया प्रोक्तम्-नाथ! भवान् मामपि तत्र नयतु। स श्रेष्ठी सहगमनार्थमनुमतिं पत्न्यै प्रदत्तवान्। ततोऽसौ पत्न्या सह गच्छन् मार्गे

आघात से जिस प्रकार मूर्च्छा आजाती है उसी प्रकार इन वचनों से भी प्राणी मूर्च्छित हो जाता है। ये वचन सदा द्वेष रूपी अग्नि को प्रज्वलित करते रहते हैं और शोक परम्परा के संवर्द्धक होते हैं। इन के सद्भाव में चारित्र का सर्वथा विनाश होता रहता है। गुणगण का संहार करके वे वचन प्राणी को नरक एवं निगोदादिक के दुःख रूपी खड्डे में गिराते हैं। जैसे तीक्ष्ण धार वाली तलवार हर एक वस्तु को छेदनभेदन करती है उसी प्रकार मर्मग वचन भी प्राणी के मर्मस्थानों को छेदनभेदन करते हैं।

इस विषय में दृष्टांत इस प्रकार है—

कोई एक धनगुप्त नाम का सेठ था। उसने एक दिन अपनी पत्नी से कहा कि हे प्रिये! मैं धन कमाने के लिये परदेश जाना चाहता हूं। सुनकर उसने कहा कि हे नाथ! आप मुझे भी साथ ले के चलिये। पत्नी की बात सुनकर धनगुप्त ने उसे अपने साथ चलने की अनुमति दे दी। धनगुप्त पत्नी को साथ लेकर परदेश निकला। चलते२ मार्ग में

આવી જાય છે, એ જ રીતે આવા વચનોથી પણ પ્રાણી મૂર્ચ્છિત થઈ જાય છે આવાં વચનો હમેશાં દ્વેષરૂપી અગ્નિને પ્રજ્વલિત કરતા રહે છે અને શોક પરંપરાને ઉત્તેજન કરનાર નિવડે છે આના સદ્‌ભાવમાં ચારિત્રનો સર્વથા વિનાશ થતો રહે છે ગુણ સમૂહનો સંહાર કરીને એ વચનો પ્રાણીને નરક અને નિગોદાદિ કના દુઃખરૂપી ખાડામાં પાડે છે જેમ તીક્ષ્ણ ધારવાળી તરવાર હરએક વસ્તુનું છેદન ભેદન કરે છે એજ રીતે માર્મિક વચન પણ પ્રાણીના મર્મસ્થાનોનું છેદન ભેદન કરે છે

આ વિષયમાં આ પ્રકારનું દૃષ્ટાંત છે—

કોઈ એક ધનગુપ્ત નામે શેઠ હતા, એણે એક દિવસ પોતાની સ્ત્રીને કહ્યું કે, હે પ્રિયે! હું ધન કમાવા માટે પરદેશ જવા ઈચ્છું છું સાંભળીને તેણે કહ્યું, કે હે નાથ! આપ મને પણ સાથે લેતા જાવ, સ્ત્રીની વાત સાંભળી ધનગુપ્ત શેઠે તેને પોતાની સાથે ચાલવાની અનુમતિ આપી. ધનગુપ્ત સ્ત્રીને સાથે લઈ

व्यजनवीजन कुर्वती पुरोऽवतिष्ठते । अकस्मात् भास्करकिरणास्तद्गवनजालान्व र्गता॰ श्रेष्ठिमुखोपरि निपतन्तस्तया दृष्टा । पत्युर्मुखे भास्कर कर स्पर्शजनितस्तापो मा भूदिति भावनया सा सत्वर निजकरद्वय भास्कर किरणसमुखेकृत्वा श्रेष्ठिमुखो परि सूर्यकिरणान् निवारयति ।

अकस्मात्तदेव पत्नीकृत पूर्ववृत्त श्रेष्ठिना स्मृतम् । श्रेष्ठी मनसि चिन्तयति- " अहो ययाह कूपे निपातित सैवेयमधुना मम सूर्यकरस्पर्शजनित ताप निवारयति" इत्येव विचारयतस्तस्य श्रेष्ठिनो मुखे हास्य समजनि। तदा तत्पुत्रवधूर्हसन्त श्रेष्ठि-नमकस्मादपश्यत् । सा पत्यु समीपमागत्य वदति-नाथ ! भवत पिता श्वश्रूसमक्षं

कि धनगुप्त अपने रगभवन में बैठा हुआ भोजन कर रहा था। और पत्नी उस के ऊपर पखा कर रही थी। धनगुप्त के चहरे पर अकस्मात् सूर्य की किरणें मकान की छत के छिद्रो में से आकर पडने लगी, पत्नी ने ज्यों ही यह देखा कि शीघ्र ही उसने ' पति को ताप न लगे ' इस ख्याल से अपनी दो नों हथेलियों को सूर्य के साम्हने कर दिया। इससे धनगुप्त के मुख पर पडती हुई वे किरणें थम गई-मुख पर हथेलियों की छाया हो गई। पत्नी द्वारा इस प्रकार की गई सेवा का अवलोकन कर धनगुप्त को पहले का वह कुए में डाल ने का वृत्तान्त याद आ गया। धनगुप्त ने विचार किया, देखो-जिसने मुझे पहिले कुए में पटका वही अब मुझे ' सूर्यजनित सताप न हो ' इस ख्याल से उस संताप का निवारण कर रही है। ऐसा ख्याल कर धनगुप्त को कुछ हँसी आगई। धनगुप्त को अकस्मात् हँसता हुआ उस समय उसकी पुत्रवधू ने देख लिया था, इसलिये वह अपने पति के पास आकर कहने लगी कि नाथ,

અને તેની સ્રી પખાથી તેને હવા નાખી રહી હતી એ વખતે ધનગુપ્તના ચહેરા ઉપર મકાનના છતના કાણામાથી સૂર્યના કિરણો અકસ્માત પડવા લાગ્યા તેની સ્રીએ જેવુ આ જોયુ કે તુરત જ એણે " પતિને તાપ ન લાગે " એવા ખ્યાલથી પોતાના બન્ને હાથની હથેળીઓને સૂયના એ કિરણોની આડે ધરી દીધી. આથી ધનગુપ્તના ચહેરા ઉપર પડતો કિરણોનો તાપ અટકી ગયો, મુખ ઉપર હથેળીઓની છાયા થઈ ગઈ, સ્રી તરફથી આ રીતે કરવામા આવેલી સેવા જોઈને ધનગુપ્તને પહેલાનો કુવાવાળો પ્રસગ યાદ આવી ગયો, ધનગુપ્તે વિચાર કર્યો, જુઓ ! જેણે મને પહેલા કુવામા નાખી દીધો હતો તે હવે મને સૂર્યના કિરણોનો તાપ ન લાગે એવા ખ્યાલથી એ સતાપનુ નિવારણ કરી રહી છે આ વિચારથી ધનગુપ્તને જરા હસવુ આવ્યું ધનગુપ્તને અકસ્માત્ હસતા તેની પુત્રવધુએ જોઈ લીધેલ, આથી એ પોતાના પતિ પાસે જઈ કહેવા લાગી કે-

इतश्चासौ श्रेष्ठी कूपे पतन् भाग्यवशात् कूपभित्तिगत पाषाणं प्राप्य तमवलम्ब्य स्थित । तदनु तत्रागतैर्जलार्थिजनैरनुकम्पयाऽसौ कूपान्नि सारितः । ततोऽसौ विदेशं गत्वा पुण्यप्रभावात् प्रचुर धन समुपार्ज्य श्वशुरगृहे समायात । तदा तस्य पत्नी प्रसन्ना जाता, तया सह श्रेष्ठी स्वगृह गतः। अथैकदा श्रेष्ठिन. पुत्रो जातः तस्य यौवने वयसि प्राप्ते श्रेष्ठिना विवाहः कारित. । पुत्रवधूरागता । किंचिद् दिवसेषु व्यतीतेषु सत्सु श्वश्रूवध्वोर्मध्ये कलह प्रवृत्तः । वधूर्नित्य श्वश्रूच्छिद्रान्वेषणपरा जाता। एकदाऽसौ श्रेष्ठी रङ्गभवने भोजन कुर्वन्नासीत्, तत्पत्नी तदानीं बाल-

धनगुप्त ज्यों ही कुए में गिरा कि भाग्यवश से उसे कुए की भित्ति में पास ही एक पत्थर का टुकड़ा लगा हुआ दिखलाई पडा। यह भित्ति से कुछ अधिक बाहर की ओर निकला था। पडते ही धनगुप्त ने उसको पकड लिया। जब पानी भरने वाले वहा पानी भर ने के लिये आये तब उन्होंने धनगुप्त को कुए से बाहर निकाला। स्वस्थ होकर वह बिना कुछ कहे परदेश की ओर चल दिया। वहा पहुँच कर उसने पुण्यकर्म के उदय से खूब धन कमाया। कमाकर वह वहां से अपने घर वापिस हुआ। रस्ते में इस के श्वसुर का गाम आया और वह श्वशुर के घर पहुँचा। पत्नी ने पति को देखकर बहुत आनद मनाया। वहासे अपनी पत्नी को साथ लेकर घर आ गया। कालान्तर में धनगुप्त के एक पुत्र हुआ। समय पर उसका विवाह कर दिया गया, बहु घरमें आई। रहते २ सास और बहु में झगडा होने लगा। बहु ने सास को दबाने के लिये उस के छिद्रों का अन्वेषण करना प्रारंभ कर दिया। एक दिनकी बात है,

ધનગુપ્ત કુવામા પડયો કે ભાગ્યવશ કુવાની ભીતમાં તેની પાસે જ એક પત્થર ચોટાડેલો નજરે પડયો જે ભીતથી થોડા બહાર નિકળેલો હતો. કુવામા પડતાંની સાથે જ ધનગુપ્તે તે પત્થર પકડી લીધો જ્યારે પાણી ભરવાવાળા કુવા ઉપર પાણી ભરવા આવ્યા ત્યારે તેમણે ધનગુપ્તને કુવામાંથી બહાર કાઢયો. સ્વસ્થ બની કાંઈ પણ બોલ્યા સિવાય તે પરદેશ જવા ચાલી નિકળ્યો. ત્યાં પહોચી તે પૂણ્ય કમ ના ઉદયથી ખૂબ ધન કમાયો. ખૂબ ધન કમાઈ તે પોતાને ઘેર આવવા નિકળ્યો, રસ્તામાં સાસરાનું ગામ આવ્યું ત્યારે તે સાસરાને ઘેર પહોચ્યો. પત્નિએ પતિને જોઈ આનદ મનાવ્યો ત્યાંથી એ પોતાની સ્રીને લઇને પોતાને ગામ પોતાને ઘેર પહોચ્યો. સમય જતાં એ ધનગુપ્તને ત્યા એક પુત્ર થયો. સમય ઉપર તેનાં લગ્ન કર્યા, વહુ ઘેર આવી, રહેતા રહેતા સાસુ અને વહુ વચ્ચે વિખવાદ થવા લાગ્યો, વહુએ સાસુને દબાવવા માટે તેનાં ગુપ્ત છિદ્રોનાં અન્વેષણ કરવાનો પ્રારભ કરી દીધો. એક દિવસ ધનગુપ્ત પોતાના રંગભવનમાં બેસી ભોજન કરી રહેલ હતો

पुनरकदा श्रेष्ठिपत्न्या पुत्रवध्वा सह कलहो जात, तस्मिन्नवसरे पुत्रवधूर वदत्-जानामि तव चरित्रम्, पतिं कूपे निपात्य, सम्प्रति पतिव्रता भवितुमुद्यताऽसि। एतन्मार्मिक वचन निशम्य श्वश्रू परमदुःखिता जाता, बहुशो रुरोद, रुदित्वा च मनसि चिन्तयति स्म-अधुना मम जीवन धूलिरिव निरर्थकम् अथ ममय वार्ता लोके प्रसरिष्यति, मा लोक कि वदिष्यति। इत्यत्र विचिन्त्य सा भवनस्य द्वितीय-भूमिकामारुरोह। तत्र गत्वा गले पाश मयोज्य रज्ज्वा लम्बिता प्राणान् परित्यक्तवती।

हँसी का जो कुछ कारण था वह अपने पुत्र को कह दिया। मौका पाकर श्रेष्ठि पुत्र ने भी जो कुछ जैसी बात थी वह अपनी पत्नी से कह दी।

एक समय सास बहू में परस्पर जब कलह हुवा तो पुत्रवधू ने सासु से कहा कि " आप ज्यादा मत बोलो मैं जानती हूं कि आप वही हैं जिन्हों ने अपने पति को कूए मे डाल दिया था, अब पतिव्रता बनती हैं। " इस प्रकार बहू के मार्मिक वचनों को सुनकर सास के हृदय में अपार दुःख हुआ, वह बार बार रोने लगी, विचार किया कि अब मेरा जीना बिलकुल निरर्थक है। बहू ने मेरी सब शान धूलि में मिला दी है। यदि मेरी यह बात लोक में फैल गई तो लोग क्या कहेंगे? इस प्रकार सोचकर वह अपने मकान के दूसरे मजिल पर गई, और वहा उसने गले में फासी डालकर आत्मघात कर लिया।

વાના શેઠે હાસ્તીનુ જે કાઈ કારણ હતુ તે સઘળુ પોતાના પુત્રને કહી દીધુ અવસર મેળવીને શેઠ પુત્રે પણ જે કાઈ વાત હતી તે પોતાની પત્નીને કહી દીધી

સાસુ વહુમા પરસ્પર જ્યારે કકન્ન થયો ત્યારે પુત્રવધુએ સાસુને કહ્યું કે "તમે વધુ ન બોલો, હુ જાણુ છુ કે, તમે એ જ છો કે જેણે પોતાના પતિને કુવામા ધકેલી દીધેલ, હવે પ્રતિવ્રતા બનો છો " આ પ્રકારના વહુના મામિક વચનોને સાંભળી સાસુના હૃદયમા અપાર દુઃખ ઉપજ્યુ અને તે ચોધાર આસુએ રડવા લાગી, તેણે મનમાને મનમા એવો નિશ્ચય કર્યો કે, હવે મારૂ જીવવુ બીલકુલ નીરર્થક છે, વહુએ મારી બધી શાન ધુળમા મેળવી દીધી છે જો મારી આ વાત લોકોમા ફેલાઈ જાય તો લોકો શું કહેશે? આ રીતે વિચાર કરી તે પોતાના મકાનના બીજા માળા ઉપર પહોચી અને ત્યા જઈ ગળામા ફાસો નાખી આત્મઘાત કર્યો

हसन् मया दृष्ट, किं तत्र हासस्य कारणमभूदित्यावद्यताम्। श्रेष्ठिपुत्र' माट-पतिपत्न्योर्वृत्तमवेद्य भवति। पत्नी वदति–भवता यावदवृत्तं न नानेष्यते, न मा वृत्तानयनवचन दास्यते, नावन्मयाऽन्नपान परित्याज्यम्। प्रेमपरवशेन विस्मृतविव केन श्रेष्ठिपुत्रेण 'हास्यकारण कथयिष्यामी' ति वचन प्रदानेन पत्नी परितोषिता।

एकदा श्रेष्ठिपुत्र पितुश्चरणसवाहनं कुर्वन् पृच्छतिस्म आर्य! तस्मिन् दिवसे केनकारणेन भवता हसितम्, इत्येव पृष्टोऽसौ सरलहृदय श्रेष्ठी सर्वं पूर्ववृत्त पुत्राय कथितवान्। श्रेष्ठिपुत्र सर्वं पूर्ववृत्त विज्ञाय पत्न्यै कथयामास।

आज मैं ने आप के पिता को सासुजी के समक्ष हँसते हुए देखा है अत हे नाथ! आप मुझे बतलाइ ये कि इस अकारण हँसी का क्या कारण है। सेठ के पुत्र ने अपनी पत्नी को समझाया कि पति और पत्नी का वृत्त अवेद्य हुआ करता है। अत इस विषय को जानने की चेष्टा करना व्यर्थ है। पत्नी न पति के मुख से यह बात सुनकर कहा हे नाथ! जब तक आप मुझे इसका कारण नहीं बतलावेंगे, तबतक मैं अन्नजल ग्रहण नहीं करूँगी। पत्नी का इस प्रकार वृत्त को जानने का अधिक आग्रह देखकर पति ने उसके प्रेम से पागल जैसे बनकर उसे इस बात का आश्वासन दिया कि वह कुछ समय बाद इसका वास्तविक कारण उसे बतला देगा। इस प्रकार रुष्ट हुई पत्नी सतुष्ट हो गई। एक समय की बात है कि श्रेष्ठि पुत्र ने पिता के चरणों को दाबते हुए उनसे पूछा कि हे तात! आप एक दिन भोजन करते समय किस कारण से हँसे थे? पुत्र की इस बात को सुनकर सरल हृदय वाले सेठ ने समस्त

હે નાથ! આજ મે તમારા પિતાને સાસુજી સામે હસતા જોયા તો આપ એ બતાવો તે તેમના અકારણ હસવાનુ શું કારણ છે? શેઠ પુત્રે પોતાની સ્ત્રીને સમજાવ્યુ કે, પતિ પત્નીનો સબધ અવેદ્ય હોય છે આ વિષયને જાણવાની ચેષ્ટા કરવી વ્યર્થ છે પત્નીએ પતિના મુખથી આવી વાત સાંભળીને કહ્યું કે, હે નાથ! જ્યા સુધી તમે મને તેનું કારણ નહીં બતાવો ત્યા સુધી હુ અન્ન જળ ગ્રહણ કરીશ નહી પત્નીનો આ પ્રકારે વૃત્તાન્ત જાણવાનો અધિક આગ્રહ જાણીને પતિએ તેના પ્રેમમા પાગલ જેમ બનીને તેને આ વાતનુ આશ્વાસન આપ્યું કે, થોડા સમયમા પોતે તેનુ વાસ્તવિક કારણ બતાવશે. આથી રૂષ્ટ બનેલ પત્નીને સતોષ થયો એક સમયની વાત છે કે, શેઠ પુત્રે પોતાના પિતાના પગ દાબતા દાબતાં એમને પૂછ્યુ કે, હે તાત! આપ એક દિવસ ભોજન કરતા કરતા શા માટે હસ્યા હતા? પુત્રની આ વાતને સાભળીને સરળ

तदाऽसौ पुत्रोऽपि मातापित्रोर्वियोगेन शोकार्त सन् भविष्यदनिष्ट चिन्तयन् मृत पितर पाशबन्धनाद् विमुच्य स्वगले त पाशं बद्ध्वा मृत ।

तदनन्तर पुत्रवधू. 'इमे त्रय खलु मिलित्वा ममैव दुर्दशा भावयन्ति' इति विचिन्त्य क्रोधावेशेन धमधमायमाना उपरि गता। तत्र सा पश्यति—श्वश्रूः श्वशुरश्चेमौ मृतौ निपतितौ, पतिरपि गले बद्धपाशो मृत पाशरज्ज्वा लम्बित इति। तदा विनिवृत्तकोपा नितान्तदु खार्ता सा चिन्तयति स्म—अत पर कीदृशी दशा मम भविष्यति, लोका किं वदिष्यन्ति, क स्यान्मम शरणम्, इत्यादि। तदनन्तरमसौ सगर्भा पुत्रवधू पत्युर्गले सलग्न पाशबन्धन विमुच्य स्वगले संयोज्य लम्बिता प्राणान् त्यक्तवती।

गले में फासी लगाकर मरे हुए लटक रहे हैं। इस परिस्थिति से उसे बहुत ही दु ख हुआ। माता पिता के वियोग ने उसे पागल बना दिया, अन्त में उस बिचारे ने भी अपने पिता के गले से फांसी उतार कर अपने गले में लगाली। जब पुत्रवधू ने यह विचारा कि "देखो ये तिनों के तिनों मिलकर मेरी दुर्दशा कर ने की भावना कर रहे हैं। अत ऊपर जाकर देखूं, कि इन सबकी क्या राय हो रही है' इस प्रकार क्रोध के आवेश से धम धम करती हुई वह ऊपर गई। जाते ही उसने देखा कि सास श्वशुर मरे पड़े हुए हैं पति भी गले में फासी लगाकर मरे हुए लटक रहे हं। उस दुर्घटना को देखकर उसके शरीर में सन्नाटा छा गया, कोप जाता रहा। अत्यत शोक से वह विह्वल हो गई। बिचारा कि अब ससार में मेरा कौन है, कि जिस के लिये इन प्राणों की रक्षा करूँ। लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे। इस प्रकार विचार कर वह भी अन्त में

ગળામા ફાસો લગાડી મરેલી હાલતમા લટકી રહ્યા છે આ પરિસ્થિતિ જોઈ તેને ખૂબ દુ ખ થયું, માતા પિતાના વિયોગે તેને પાગલ બનાવી દીધો અંતે એ બિચારાએ પણ પોતાના પિતાના ગળામાથી ફાસો કાઢી પોતાના ગળામાં લગાવી આત્મઘાત કર્યો જ્યારે પુત્રવધુએ એ વિચાર્યું કે, "આ ત્રણે જણા મળી મારી દુર્દશા કરવાની યોજના ઘડી રહ્યા હશે આથી ઉપર જઈ જોઉ તો ખરી કે બધા કેવો વિચાર કરી રહ્યા છે" આ રીતે ક્રોધના આવેશથી ધમ ધમ કરતી વહુ ઉપર પહોચી ને જુએ છે તો સાસુ સસરા મરેલ પડ્યા છે અને પતિ પણ ગળામાં ફાસો લગાવી મરેલ લટકી રહેલ છે આ દુઘટનાને જોઈ એના શરીરમાં કપારી વછુટી, ક્રોધ જતો રહ્યો અને શોકથી વિહ્વળ બની ગઈ વિચાર્યુ કે હવે સસારમા મારુ કોણ છે કે જેના માટે આ પ્રાણની રક્ષા કરૂ લોકો જાણશે તો શું કહેશે ? આ વિચાર કરી તેણે પોતાના

अथ श्रेष्ठी गृहमागत, पत्नीमनवलोक्य पुत्रवधू पृष्टवान्-आयुष्मति! तव श्वश्रू क्वास्ति?, पुत्रवधू करचेष्टयाऽऽवेदयति-भवनोपरिभागे गता इति। श्रेष्ठी गृहोपरिभागभूमिकां गत्वा श्रेष्ठिनीं गळे पाशबद्धां मृतां पश्यति। तदाऽसौ श्रेष्ठी विषादमुपगतः सन् विचिन्तयति-अनया विना मम कीदृशी दशा भविष्यति, इत्यादि। तदनु स श्रेष्ठी पत्नीगलगत पाशं विमुच्य स्वगले संयोज्य प्राणांस्त्यक्तवान्। पुत्रोऽपि गृहमागत, स पितरमदृष्ट्वा पत्नीं पृष्टवान्-'क्वास्ति मम तात'। पत्नी प्राह-उभौ ममानिष्ट कर्तुमुपरि वर्तेते। पुत्र पत्नीवचनमाकर्ण्य तत्र गत्वा पश्यति-माता मृता निपतिताऽस्ति, पिताऽपि पाशबद्धो मृत मलम्बितो वर्तते, इति।

धनगुप्त जब घर आया तो उसने सेठानी को न देखकर बहू से पूछा आयुष्मती! तुम्हारी सास कहां है? उसने हाथ के इशारे से कहा कि वे मकान के दूसरे मजिल पर हैं। धनगुप्त वहां पहुँचा और देखा कि वह गले में फाँसी लगा कर मर गई है। धनगुप्त ने यह दशा देखकर बहुत ही शोच विचार किया और अन्त में यह निर्णय कर कि सेठानी के बिना मेरी क्या दशा होगी, पत्नी को फासी से उतार कर वह स्वयं फासी लटक गया। पुत्र ने पिता को घर पर आकर जब नहीं देखा तो पत्नी से पूछा कि पिताजी कहां पर हैं। उसने बात को बना कर कहा कि माता-पिता दोंनों ही दूसरे मंजिल पर मेरा अनिष्ट करने की विचारणा करने के लिये गये हुए हैं। पत्नी की बात सुनकर वह मकान के ऊपर गया। देखा कि माता मरी पडी है और पिताजी

ધનગુપ્ત જ્યારે ઘેર આવ્યો તો તેણે પોતાની સ્ત્રીને ન જોતા વહુને પૂછયું, આયુષ્મતી! તમારી સાસુ ક્યાં છે? તેણે હાથના ઈશારાથી કહ્યું કે, બીજા માળ ઉપર (મેડી ઉપર) છે ધનગુપ્ત ત્યાં પહોંચ્યો અને જુએ છે તો ગળામાં ફાંસો નાખી તે મરી ગયેલ છે આ રીતે પોતાની પત્નિની દશા જોઈ ધનગુપ્તે ખૂબજ મનોમંથન સાથે વિચાર કર્યો અને અંતે એ નિર્ણય કર્યો કે, પત્નિના જવા પછી હવે મારી શું દશા થશે? ફાંસાથી લટકતી પત્નિને નીચે ઉતારી એ દોરડાનો ફાંસો પોતાના ગળામાં નાખી લઈ પોતે પણ આત્મઘાત કર્યો.

એક તરફ પતિપત્નિ એક જ દોરડાના ફાંસાથી આત્મહત્યા કરી જીવમુક્ત બન્યા એ સમયે પુત્રે ઘેર આવતાં પોતાના પિતાને ન જોવાથી પત્નિને પૂછયું, પિતાજી ક્યાં ગયા? સ્ત્રીએ વાતને બનાવીને કહ્યું કે, માતા-પિતા બન્ને જણા મારૂ અનિષ્ટ કરવાની વિચારણા કરવા મેડી ઉપર ગયેલ છે પત્નિની વાત સાંભળી તે મેડી ઉપર ગયો. જોયું તો મા નીચે મરેલી પડી છે, અને પિતાજી

लक्षणं सर्वेषां स्थानानाम्, कुत्रापि स्त्रिया सहावस्थान समापण च न कुर्यादित्यर्थ
एकग्रहणमप्युपलक्षणम् तेनानेकस्त्रीभिरपि सहावस्थान समापण च वर्जनीयम्,
पुरुष. साक्षी नास्ति तत्र स्त्रिया सहावस्थान समापण च परिहरेदिति सूत्राशय
उक्त च श्रीदशवैकालिक सूत्रे—

जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्च कुललओ भय।
एव खु बभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भय॥ (अ ८ गा ५४)

छाया—यथा कुक्कुटपोतस्य, नित्य कुललाद् भयम्॥
एवमेव ब्रह्मचारिण., स्त्रीविग्रहाद् भयम्॥

स्वगत दोष का निरूपण कर के अब अन्य के ससर्ग से होने वा
दोषोंका वर्णन करते हैं—' समरेसु-इत्यादि

अन्वयार्थ-(समरेसु-समरेषु) लुहारकी शाला में (अगारेसु-अग
रेषु) घरों में, (सधीसु-सन्धिषु) दो घरों के अंतराल में तथा (महापहेसु
महापथेषु), राजमार्ग में (एगित्थिएसद्धिं-एकस्त्रियासार्धं) अकेली
के साथ (नेवचिट्ठे न सलवे-नैवतिष्ठेत् नैव सलपेत्) न खडा हो
और न उससे बातचीत करे।

इस श्लोक में समरादिक चार पद उपलक्षण हैं, इससे समझना
चाहिये कि किसी भी जगह में जब तक पुरुष साक्षीभूत न हो तब त
अकेली स्त्री से अथवा अनेक स्त्रियों से ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि वा
न बोले और न वहां खडा रहे। दशवैकालिक सूत्र में भगवानने कहा

આ પ્રકારે પોતાનામા રહેલ દોષોનુ વર્ણન કરી હવે બીજાના સસર્ગથી
થયેલ દોષોનુ વર્ણન કરે છે समरेसु ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—समरेसु-समरेषु લુહારની કોઢમા, अगारेसु-अगारेषु ઘરોમા,
सधेसु-सधेषु બે ઘરોના અતરાળમા તથા महापहेसु-महापथेषु રાજ માર્ગમા,
एगित्थिए सद्धिं-एकस्त्रिया साध એકલી સ્ત્રીની સાથે, नेव चिट्ठे न सलवे-नैव तिष्ठेत्
नैव सलपेत् ઊભા ન રહેવુ અને એનાથી વાતચીત કરવી નહી

આ શ્લોકમા સમરાદિક ચાર ઉપલક્ષણ છે, એથી એ સમજવું જોઇએ
કે, કોઈ પણ સ્થળે જ્યા સુધી બીજો પુરૂષ સાક્ષીભૂત ન હોય ત્યા એકલી
સ્ત્રીથી અથવા અનેક સ્ત્રીઓ સાથે બ્રહ્મચારીએ બોલવું ન જોઈએ, અને ત્યાં
ઉભવું પણ ન જોઇએ દશવૈકાલિક સૂત્રમાં ભગવાને કહ્યું છે કે, જે રીતે
કુકડાના બચ્ચાને બિલાડીનો ભય રહે છે, એ રીતે સ્ત્રીના શરીરનો બ્રહ્મચારીને
પણ ભય રહ્યા કરે છે

अस्मिन् दृष्टान्ते-सकृदुक्तादपि मर्मवचनात् षण्णां जीवानां प्राणव्यपरोपणं जातम्, यत्र पुनरधूगर्भ द्वयमपस्यमासीत्। तस्मान्मार्मिकं वचनं न भाषणीयम्।

सावद्य-निरर्थक-मर्मग-वचनभाषणस्य सर्वथा प्रतिषेधं बोधयितुमुत्तरार्धमाह-'अप्पणट्ठा' इत्यादि। आत्मार्थं=स्वार्थं, परार्थं वा, तथा उभयस्य आत्मनः परस्य च अर्थे, वा-अथवा, अन्तरेण=अनुभयार्थे स्वपरप्रयोजनाभावेऽपि सावद्य न लपेत्=न निरर्थकं लपेत्, न मर्मगं लपेत्, इति सम्बन्धः ॥ २५ ॥

अथान्यससर्गकृतदोषपरिहारमाह—

मूलम्—समरेसु अगारेसु, संधीसु य महापहे।
एगो एगित्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥२६॥

छाया—समरेषु अगारेषु, सन्धिषु च महापथे।
एकः एकस्त्रिया सार्धं, नैव तिष्ठेत् न सलपेत् ॥२६॥

टीका—'समरेसु' इत्यादि—

समरेषु=लोहकारशालासु तथा-अगारेषु=गृहेषु, तथा सन्धिषु=गृहद्वयान्तरालेषु तथा-महापथे=राजमार्गे, एकः=एकाकी, एकस्त्रिया=एकाकिन्या स्त्रिया, सार्धं=सह, नैव तिष्ठेत्=ऊर्ध्वस्थानावस्थितो नैव भवेत्। न सलपेत्-तया=सह समरादिषु स्थानेषु क्वाऽपि संभाषणं न कुर्यादित्यर्थः। अत्र समरादिचतुष्पस्थानमुप

पति के गले से फांसी निकाल कर अपने गले में फांसी डालकर मर गई वह उस समय गर्भवती थी। उस के गर्भ में दो बालक थे।

इस दृष्टांत से यह बात स्पष्ट होती है कि देखो एक बार भी कहे गये मार्मिक वचन से छह प्राणियों का दारुण आपघात हुआ। इसलिये मार्मिक वचन नहीं कहना चाहिये। अपने अथवा पर के निमित्त तथा दोनों के निमित्त एवं जहां स्व और पर का कुछ भी प्रयोजन न हो वहां पर भी व्यर्थ ही मनुष्य को सावद्य, निरर्थक एवं मर्मग वचन नहीं बोलना चाहिये ॥ २५ ॥

પતિના ગળામાંથી ફાંસો કાઢી પોતાના ગળામાં નાખી મરી ગઈ તે એ સમયે ગર્ભવતી હતી, એના ગર્ભમાં બે બાળક હતાં

આ દૃષ્ટાંતથી એ વાત સ્પષ્ટ થાય છે કે, એક વખત પણ કહેવામાં આવેલા માર્મિક વચનથી છ પ્રાણીઓનો કરૂણ આપઘાત થયો. આ માટે માર્મિક વચન ન બોલવા જોઈએ પોતાના અથવા બીજાના નિમિત્ત તથા બન્નેના નિમિત્ત અને જ્યાં પોતાનું કે બીજાનું કોઈ પણ પ્રયોજન ન હોય ત્યાં પર પણ મનુષ્યને સાવદ્ય, નિરર્થક અને માર્મિક વચન બોલવા ન જોઈએ. (૨૫)

रणम्, लाभ –अप्राप्तस्य सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्रलक्षणरत्नत्रयस
प्राप्तिस्तस्य कारणमस्ति, इतिप्रेक्षया=इतिपर्यालोचनात्मिकया बुद्धया प्रयतः=प्रय
र्पेण यतनावान् सहनशील सन् शिष्य तत्=अनुशासन गुरो शिक्षावचन प्रति
शृणुयात्=कर्तव्यतयाऽङ्गीकुर्यात्।

अथ भाव —

यथा—वर्षाकाले सूर्यकिरणा प्रचण्डतरा भवन्ति, परतु परिणामे द्वित्रदि
साभ्यन्तर एव ते जलदावलीसमागमनशीतलपवनजलधारासपातजनितशीतस्पर्श
सुखमादुर्भावयन्ति। "यथा वा–नालिकेर बहि कर्कश भवति तथापि तदी
शीतलमधुरनीरगर्भितमाभ्यन्तरिकभागमुपलभ्य लोकस्तदास्वादनेन तुष्टिं पु

इससे अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र की सु
प्राप्ति होती है। (त्ति पेहाए–इति प्रेक्ष्य) इस प्रकार पर्यालोचनात्मक बुद्धि
से विचार कर (पयओ त पडिस्सुणे–प्रयत त प्रतिशृणुयात्) सहनशील
बना हुआ शिष्य गुरु के शिक्षात्मक वचनों को कर्तव्य समझक
अगीकार करे।

तात्पर्य–जिस प्रकार वर्षाकाल में सूर्यकी किरणें प्रचण्डतर हो जात
हैं और इस से वे प्राणियों को असहनीय बनती हैं परन्तु परिणाम मे
दो तीन दिन के भीतर ही वे बरसात के समागमन से पवन को शीतल
बना देती हैं उस से जलवृष्टि खूब होकर शीतस्पर्श के सुख का उन्हे
अनुभव कराती हैं। अथवा जैसे–नारियल ऊपर से कठोर होता है
परन्तु उसका भीतर का भाग शीतल, मीठे जलसे भरा रहता है, उसको

બધુ મારે માટે લાભકારક છે કેમ કે, એનાથી અપ્રાપ્ત સમ્યગ્ દર્શન સમ્યગ્જ્ઞાન, અને સમ્યક્ ચારિત્રની મને પ્રાપ્તિ થાય છે त्तिपेहाए–इतिप्रेक्ष આ પ્રકારે પર્યાલોચનાત્મક બુદ્ધિથી વિચાર કરી, पयओ त पडिस्सुणे–प्रयत तत् प्रतिशृणुयात् સહનશીલ બનેલ શિષ્ય ગુરુના શિક્ષાત્મક વચનોને કર્તવ્ય સમજી અંગિકાર કરે.

આનુ તાત્પર્ય એ છે કે, જેવી રીતે વર્ષાકાળમાં સૂર્યનાં કિરણો પ્રચડતર થઈ જાય છે, અને તેથી તે પ્રાણીઓ માટે અસહનીય બની જાય છે પરતુ પરિણામે બે ત્રણ દિવસની અદર તે વરસાદના સમાગમથી પવનને શીતળ બનાવી દે છે, જેથી જળવૃષ્ટિ ખૂબ થાય છે અને ઠડીનો સ્પર્શ સુખનો અનુભવ કરાવે છે અથવા જેમ નાળિયેર ઉપરથી કઠોર હોય છે પરતુ એની અદરનો ભાગ શીતળ મીઠા જળથી ભરેલો હોય છે જેને મેળવી લોકો તુષ્ટિ–સતોષ

उक्तं चान्यत्र-ससा सुया नुसा माया, एयाहिं वि न सलवे ।
एगते नेव चिट्ठेज्जा, अप्पट्ठी संजए सया ॥ १ ॥
छाया—स्वसा सुता स्नुषा माता, एताभिरपि न सलपेत्।
एकान्ते नैव तिष्ठेत्, आत्मार्थी संयत सदा ॥ १ ॥ इति ॥ २६ ॥
अथ विनीतशिष्यकर्तव्यमाह—

मूलम्—जं मे बुद्धाऽणुसासंति, सीएण फरुसेण वा ।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥२७॥

छाया—यन्मां बुद्धा अनुशासति, शीतेन परुषेण वा।
मम लाभ इति प्रेक्षया, प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात्॥ २७ ॥
टीका—'ज मे' इत्यादि।

बुद्धाः=आचार्याः, यन्माम् शीतेन=शीतलवचनेन मृदुवचनेनेत्यर्थः, वा=अथवा परुषेण=कठोरवचनेन अनुशासति शिक्षयन्ति, इदमनुशासनं मम लाभः=लाभका

-कि-जिस प्रकार मुर्गे के बच्चेको कुलल-बिलाडी से भय बना रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी को भी स्त्री के शरीर से सदा भय रहा करता है। इसलिये चाहे अपनी सांसारिक बहिन भी हो, चाहे पुत्री हो, बहू हो, माता भी हो, तो भी एकान्तमें ब्रह्मचारी को इनके साथ उठना बैठना नहीं चाहिये और न बातचीत ही करनी चाहिये ॥ २६ ॥

अब विनीत शिष्य का कर्तव्य कहते हैं—'जमे' इत्यादि।

अन्वयार्थ—विनीत शिष्य को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि (जमे बुद्धा–यन्मां बुद्धाः) जो मुझे आचार्य महाराज (सीएण–शीतेन) मीठे वचनों से, वा अथवा (फरुसेण–परुषेण) कठोर वचनों से (अणुसासंति–अनुशासति) अनुशासित करते हैं अर्थात् शिक्षा देते हैं सो (ममलाभो–मम लाभ) यह मेरे लिये एक बडा भारी लाभ है, क्यों कि

આ માટે ભલે પોતાની સંસારીક બહેન હોય, ચાહે પુત્રી હોય, વહુ હોય, અથવા માતા હોય તો પણ એકાંતમાં એમની સાથે બેસવું ઉઠવું કે વાતચિત પણ બ્રહ્મચારીએ કરવી ન જોઈએ ॥૨૬॥

હવે વિનીત શિષ્યનું કર્તવ્ય કહે છે—जमे ઇત્યાદિ
વિનીત શિષ્યે આ પ્રકારનો વિચાર કરવો જોઈએ કે,

અન્વયાર્થ—जमेबुद्धा–यन्माबुद्धा મને આચાર્ય મહારાજ, सीएण–शीतेन મીઠા વચનોથી, वा અથવા फरुसेण–परुषेण કઠોર વચનોથી, अनुसासंति–अनुशासति અનુશાસિત કરે છે, અર્થાત્ શિક્ષા આપે છે ममलाभो

रणम्, लाभ —अप्राप्तस्य सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रलक्षणरत्नत्रयस्य प्राप्तिस्तस्य कारणमस्ति, इतिप्रेक्षया=इतिपर्यालोचनात्मिकया बुद्ध्या प्रयतः=प्रकर्षेण यतनावान् सहनशील सन् शिष्यः तत्=अनुशासनं गुरोः शिक्षावचनं प्रतिशृणुयात्=कर्तव्यतयाऽङ्गीकुर्यात्।

अय भाव —

यथा—वर्षाकाले सूर्यकिरणा प्रचण्डतरा भवन्ति, परंतु परिणामे द्वित्रदिवसाभ्यन्तर एव ते जलदावलीसमागमनशीतलपवनजलधारासम्पातजनितशीतस्पर्शसुखमादुर्भावयन्ति। "यथा वा—नालिकेरं यदि कर्कशं भवति तथापि तदीयशीतलमधुरनीरगर्भितमाभ्यन्तरिकभागमुपलभ्य लोकस्तदास्वादनेन तुष्टिं पुष्टिं

इससे अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की मुझे प्राप्ति होती है। (त्ति पेहाए-इति प्रेक्ष्य) इस प्रकार पर्यालोचनात्मक बुद्धि से विचार कर (पयओ त पडिस्सुणे-प्रयत त प्रतिशृणुयात्) सहनशील बना हुआ शिष्य गुरु के शिक्षात्मक वचनों को कर्तव्य समझकर अंगीकार करे।

तात्पर्य–जिस प्रकार वर्षाकाल में सूर्य की किरणें प्रचण्डतर हो जाती हैं और इस से वे प्राणियों को असहनीय बनती हैं परन्तु परिणाम में दो तीन दिन के भीतर ही वे बरसात के समागमन से पवन को शीतल बना देती हैं उस से जलवृष्टि खूब होकर शीतस्पर्श के सुख का उन्हें अनुभव कराती हैं। अथवा जैसे–नारियल ऊपर से कठोर होता है परन्तु उसका भीतर का भाग शीतल, मीठे जल से भरा रहता है, उसको

બધુ મારે માટે લાભકારક છે કેમ કે, એનાથી અપ્રાપ્ત સમ્યગ્ દર્શન સમ્યગ્જ્ઞાન, અને સમ્યક્ ચારિત્રની મને પ્રાપ્તિ થાય છે त्तिपेहाए–इतिप्रेक्ष આ પ્રકારે પર્યાલોચનાત્મક બુદ્ધિથી વિચાર કરી, पयओ त पडिस्सुणे–प्रयत सन् प्रतिशृणुयात् સહનશીલ બનેલ શિષ્ય ગુરુના શિક્ષાત્મક વચનોને કર્તવ્ય સમજી અંગિકાર કરે

આનુ તાત્પર્ય એ છે કે, જેવી રીતે વર્ષાકાળમાં સૂર્યનાં કિરણો પ્રચંડતર થઈ જાય છે, અને તેથી તે પ્રાણીઓ માટે અસહનીય બની જાય છે પરંતુ પરિણામે બે ત્રણ દિવસની અંદર તે વરસાદના સમાગમથી પવનને શીતળ બનાવી દે છે, જેથી જળવૃષ્ટિ ખૂબ થાય છે અને ઠંડીનો સ્પર્શ સુખનો અનુભવ કરાવે છે અથવા જેમ નાળિયેર ઉપરથી કઠોર હોય છે પરંતુ એની અંદરનો ભાગ શીતળ મીઠા જળથી ભરેલો હોય છે જેને મેળવી લોકો તુષ્ટિ–સંતોષ

उक्तं चान्यत्र-सत्ता सुया नुसा माया, एयाहिं वि न सलवे ।
एगंते नेव चिट्ठेज्जा, अप्पट्ठी संजए सया ॥ १ ॥
छाया—स्वसा सुता स्नुषा माता, एताभिरपि न संलपेत् ।
एकान्ते नैव तिष्ठेत्, आत्मार्थी संयत सदा ॥ १ ॥ इति ॥ २६ ॥
अथ विनीतशिष्यकर्तव्यमाह—

मूलम्—जं मे बुद्धाऽणुसासंति, सीएण फरुसेण वा ।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥२७॥

छाया—यन्मां बुद्धा अनुशासति, शीतेन परुषेण वा ।
मम लाभ इति प्रेक्षया, प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात् ॥ २७ ॥
टीका—'जं मे' इत्यादि ।

बुद्धाः=आचार्याः, यन्माम् शीतेन=शीतलवचनेन मृदुवचनेनेत्यर्थः, वा=अथवा परुषेण=कठोरवचनेन अनुशासति शिक्षयन्ति, इदमनुशासनं मम लाभः=लाभका-

-कि-जिस प्रकार मुर्गे के बच्चेको कुलल-बिलाडी से भय बना रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी को भी स्त्री के शरीर से सदा भय रहा करता है। इसलिये चाहे अपनी सासारिक बहिन भी हो, चाहे पुत्री हो, बहू हो, माता भी हो, तो भी एकान्तमें ब्रह्मचारी को इनके साथ उठना बैठना नहीं चाहिये और न बातचीत ही करनी चाहिये ॥ २६ ॥

अब विनीत शिष्य का कर्तव्य कहते हैं—'जमे' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—विनीत शिष्य को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि (जंमे बुद्धा-यन्मां बुद्धा) जो मुझे आचार्य महाराज (सीएण-शीतेन) मीठे वचनों से, वा अथवा (फरुसेण-परुषेण) कठोर वचनों से (अणुसासंति-अनुशासति) अनुशासित करते हैं अर्थात् शिक्षा देते हैं सो (मम लाभो-मम लाभः) यह मेरे लिये एक बड़ा भारी लाभ है, क्यों कि

આ માટે ભલે પોતાની સંસારીક બહેન હોય, ચાહે પુત્રી હોય, વહુ હોય, અથવા માતા હોય તો પણ એકાંતમાં એમની સાથે બેસવું ઉઠવું કે વાતચિત પણ બ્રહ્મચારીએ કરવી ન જોઈએ ॥૨૬॥

હવે વિનીત શિષ્યનું કર્તવ્ય કહે છે—જંમે ઇત્યાદિ
વિનીત શિષ્યે આ પ્રકારનો વિચાર કરવો જોઈએ કે,

અન્વયાર્થ—જમેબુદ્ધા-યન્માંબુદ્ધા મને આચાર્ય મહારાજ, સીએણ-શીતેન મીઠા વચનોથી, વા અથવા ફરુસેણ-પરુષેણ કઠોર વચનોથી, અનુસાસંતિ-અનુશાસતિ અનુશાસિત કરે છે. અર્થાત શિક્ષા આપે છે મમલાભો- એ

रणम्, लाभ —अप्राप्तस्य सम्यक्दर्शन—सम्यग्ज्ञान—सम्यक्चारित्रलक्षणरत्नत्रयस्य प्राप्तिस्तस्य कारणमस्ति, इतिप्रेक्षया=इतिपर्यालोचनात्मिकया बुद्ध्या प्रयत.=प्रकर्षेण यतनावान् सहनशील सन् शिष्य तत्=अनुशासन गुरो शिक्षावचन प्रतिशृणुयात्=कर्तव्यतयाऽङ्गीकुर्यात्।

अय भाव.—

यथा—वर्षाकाले सूर्यकिरणा प्रचण्डतरा भवन्ति, परतु परिणामे द्वित्रदिवसाभ्यन्तर एव ते जलधरालोसमागमनशीतलपवनजलधारासपातजनितशीतस्पर्शसुखमादुर्भावयन्ति। "यथा वा—नालिकेर बहि कर्कश भवति तथापि तदीय शीतलमधुरनीरगर्भितमाभ्यन्तरिकभागमुपलभ्य लोकस्तदास्वादनेन तुष्टि पुष्टि

इससे अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र की मुझे प्राप्ति होती है। (त्ति पेहाए—इति प्रेक्ष्य) इस प्रकार पर्यालोचनात्मक बुद्धि से विचार कर (पयओ त पडिस्सुणे—प्रयत त प्रतिशृणुयात्) सहनशील बना हुआ शिष्य गुरु के शिक्षात्मक वचनों को कर्तव्य समझकर अगीकार करे।

तात्पर्य—जिस प्रकार वर्षाकाल में सूर्य की किरणें प्रचण्डतर हो जाती हैं और इस से वे प्राणियों को असहनीय बनती हैं परन्तु परिणाम में दो तीन दिन के भीतर ही वे बरसात के समागमन से पवन को शीतल बना देती हैं उस से जलवृष्टि खूब होकर शीतस्पर्श के सुख का उन्हें अनुभव कराती हैं। अथवा जैसे—नारियल ऊपर से कठोर होता है परन्तु उसका भीतर का भाग शीतल, मीठे जल से भरा रहता है, उसको

બધુ મારે માટે લાભકારક છે કેમ કે, એનાથી અપ્રાપ્ત સમ્યગ્ દર્શન સમ્યગ્જ્ઞાન, અને સામ્યક્ ચારિત્રની મને પ્રાપ્તિ થાય છે त्तिपेहाए—इतिप्रेक्ष આ પ્રકારે પર્યાલોચનાત્મક બુદ્ધિથી વિચાર કરી, पयओ त पडिस्सुणे—प्रयत तत् प्रतिशृणुयात् સહનશીલ બનેલ શિષ્ય ગુરુના શિક્ષાત્મક વચનોને કર્તવ્ય સમજી અગિકાર કરે.

આનુ તાત્પર્ય એ છે કે, જેવી રીતે વર્ષાકાળમાં સૂર્યના કિરણો પ્રચડતર થઈ જાય છે, અને તેથી તે પ્રાણીઓ માટે અસહનીય બની જાય છે પરતુ પરિણામે બે ત્રણ દિવસની અદર તે વરસાદના સમાગમથી પવનને શીતળ બનાવી દે છે, જેથી જળવૃષ્ટિ ખૂબ થાય છે અને ઠડીનો સ્પર્શ સુખનો અનુભવ કરાવે છે અથવા જેમ નાળિયેર ઉપરથી કઠોર હોય છે પરતુ એની અદરનો ભાગ શીતળ મીઠા જળથી ભરેલો હોય છે જેને મેળવી લોકો તુષ્ટિ—સતોષ

उक्त चान्यत्र-ससा सुपा नुसा माया, एयाहिं वि न सलवे।
एगंते नेव चिट्ठेज्जा, अप्पट्ठी सजए सया ॥ १ ॥

छाया—स्वसा सुता स्नुषा माता, एताभिरपि न सलपेत्।
एकान्ते नैव तिष्ठेत्, आत्मार्थी संयत सदा ॥ १ ॥ इति ॥ २६ ॥

अथ विनीतशिष्यकर्तव्यमाह—

मूलम्—जं मे बुद्धाऽणुसासंति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥२७॥

छाया—यन्मां बुद्धा अनुशासति, शीतेन परुषेण वा।
मम लाभ इति प्रेक्षया, प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात् ॥ २७ ॥

टीका—'ज मे' इत्यादि।

बुद्धाः=आचार्याः, यन्माम् शीतेन=शीतलवचनेन मृदुवचनेनेत्यर्थः, वा=अथवा परुषेण=कठोरवचनेन अनुशासति शिक्षयन्ति, इदमनुशासनं मम लाभः=लाभका

-कि-जिस प्रकार मुर्गे के बच्चेको कुलल-बिलाडी से भय बना रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी को भी स्त्री के शरीर से सदा भय रहा करता है। इसलिये चाहे अपनी सांसारिक बहिन भी हो, चाहे पुत्री हो, बहू हो, माता भी हो, तो भी एकान्तमें ब्रह्मचारी को इनके साथ उठना बैठना नहीं चाहिये और न बातचीत ही करनी चाहिये ॥ २६ ॥

अब विनीत शिष्य का कर्तव्य कहते हैं—'जंमे' इत्यादि।

अन्वयार्थ—विनीत शिष्य को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि (जमे बुद्धा—यन्मां बुद्धा) जो मुझे आचार्य महाराज (सीएण—शीतेन) मीठे वचनों से, वा अथवा (फरुसेण—परुषेण) कठोर वचनों से (अणुसासति—अनुशासति) अनुशासित करते हैं अर्थात् शिक्षा देते हैं सो (मम लाभो—मम लाभ) यह मेरे लिये एक बडा भारी लाभ है, क्यों कि

આ માટે ભલે પોતાની સંસારીક બહેન હોય, ચાહે પુત્રી હોય, વહુ હોય, અથવા માતા હોય તો પણ એકાંતમા એમની સાથે બેસવું ઉઠવું કે વાતચિત પણ બ્રહ્મચારીએ કરવી ન જોઈએ ॥૨૬॥

હવે વિનીત શિષ્યનું કર્તવ્ય કહે છે—जंमे ઇત્યાદિ

વિનીત શિષ્યે આ પ્રકારનો વિચાર કરવો જોઈએ કે,

અન્વયાર્થ—जमेबुद्धा-यन्मांबुद्धा મને આચાર્ય મહારાજ, सीएण-शीतेन મીઠા વચનોથી, वा અથવા फरुसेण-परुषेण કઠોર વચનોથી, अनुसासंति-अनुशासति અનુશાસિત કરે છે. અર્થાત શિક્ષા આપે છે તે ममलाभो- એ

रणम्, लाभ:-अप्राप्तस्य सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रलक्षणरत्नत्रयस्य प्राप्तिस्तस्य कारणमस्ति, इतिप्रेक्षया=इतिपर्यालोचनात्मिकया बुद्ध्या प्रयत:=प्रकर्षेण यतनावान् सहनशील सन् शिष्य: तत्=अनुशासन गुरो शिक्षावचन प्रतिशृणुयात्=कर्तव्यतयाऽङ्गीकुर्यात्।

अथ भाव —

यथा—वर्षाकाले सूर्यकिरणा: प्रचण्डतरा भवन्ति, परतु परिणामे द्वित्रदिव साभ्यन्तर एव ते जलदावलीसमागमनशीतलपवनजलधारासपातजनितशीतस्पर्श सुखमादुर्भावयन्ति। "यथा वा—नालिकेर बहि: कर्कशं भवति तथापि तदीय शीतलमधुरनीरगर्भितमाभ्यन्तरिकभागमुपलभ्य लोकस्तदास्वादनेन तुष्टिं पुष्टिं

इससे अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र की मुझे प्राप्ति होती है। (त्ति पेहाए-इति प्रेक्ष्य) इस प्रकार पर्यालोचनात्मक बुद्धि से विचार कर (पयओ त पडिस्सुणे-प्रयत त प्रतिशृणुयात्) सहनशील बना हुआ शिष्य गुरु के शिक्षात्मक वचनों को कर्तव्य समझकर अंगीकार करे।

तात्पर्य-जिस प्रकार वर्षाकाल में सूर्य की किरणें प्रचण्डतर हो जाती हैं और इस से वे प्राणियों को असहनीय बनती हैं परन्तु परिणाम में दो तीन दिन के भीतर ही वे बरसात के समागमन से पवन को शीतल बना देती हैं उस से जलवृष्टि खूब होकर शीतस्पर्श के सुख का उन्हें अनुभव कराती हैं। अथवा जैसे-नारियल ऊपर से कठोर होता है परन्तु उसका भीतर का भाग शीतल, मीठे जल से भरा रहता है, उसको

બધું મારે માટે લાભકારક છે કેમ કે, એનાથી અપ્રાપ્ત સમ્યગ્ દર્શન સમ્યગ્જ્ઞાન, અને સમ્યક્ ચારિત્રની મને પ્રાપ્તિ થાય છે त्तिपेहाए-इतिप्रेक्ष्य આ પ્રકારે પર્યાલોચનાત્મક બુદ્ધિથી વિચાર કરી, पयओ त पडिस्सुणे-प्रयत तत् प्रतिशृणुयात् સહનશીલ બનેલ શિષ્ય ગુરુના શિક્ષાત્મક વચનોને કર્તવ્ય સમજી અંગિકાર કરે

આનું તાત્પર્ય એ છે કે, જેવી રીતે વર્ષાકાળમાં સૂર્યનાં કિરણો પ્રચંડતર થઈ જાય છે, અને તેથી તે પ્રાણીઓ માટે અસહનીય બની જાય છે પરંતુ પરિણામે બે ત્રણ દિવસની અંદર તે વરસાદના સમાગમથી પવનને શીતળ બનાવી દે છે, જેથી જળવૃષ્ટિ ખૂબ થાય છે અને ઠંડીનો સ્પર્શ સુખનો અનુભવ કરાવે છે અથવા જેમ નાળિયેર ઉપરથી કઠોર હોય છે પરંતુ એની અંદરનો ભાગ શીતળ મીઠા જળથી ભરેલો હોય છે જેને મેળવી લોકો તુષ્ટિ-સંતોષ

उक्त चान्यत्र-समा सुया नुसा माया, एयाहिं वि न सलव।
एगते नेव चिट्ठेज्जा, अप्पट्ठी सजए सया ॥ १॥
छाया—स्वसा सुता स्नुषा माता, एताभिरपि न सलपेत्।
एकान्ते नैव तिष्ठेत्, आत्मार्थी सयत सदा॥ १॥ इति॥ २६॥
अथ विनीतशिष्यकर्तव्यमाह—

मूलम्—जं मे बुद्धाऽणुसासंति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥२७॥

छाया—यन्मां बुद्धा अनुशासति, शीतेन परुषेण वा।
मम लाभ इति प्रेक्षया, प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात्॥ २७॥

टीका—'ज मे' इत्यादि।

बुद्धाः=आचार्याः, यन्माम् शीतेन=शीतलवचनेन मृदुवचनेनेत्यर्थः, वा=अथवा परुषेण=कठोरवचनेन अनुशासति शिक्षयन्ति, इदमनुशासनं मम लाभः=लाभका

-कि-जिस प्रकार मुर्गे के बच्चेको कुलल-बिलाडी से भय बना रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी को भी स्त्री के शरीर से सदा भय रहा करता है। इसलिये चाहे अपनी सांसारिक बहिन भी हो, चाहे पुत्री हो, बहू हो, माता भी हो, तो भी एकान्तमें ब्रह्मचारी को इनके साथ उठना बैठना नहीं चाहिये और न बातचीत ही करनी चाहिये ॥ २६ ॥

अब विनीत शिष्य का कर्तव्य कहते हैं—'जंमे' इत्यादि।

अन्वयार्थ—विनीत शिष्य को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि (जंमे बुद्धा-यन्मां बुद्धा) जो मुझे आचार्य महाराज (सीएण-शीतेन) मीठे वचनों से, वा अथवा (फरुसेण-परुषेण) कठोर वचनों से (अणुसासंति-अनुशासति) अनुशासित करते हैं अर्थात् शिक्षा देते हैं सो (मम लाभो-मम लाभ) यह मेरे लिये एक बड़ा भारी लाभ है, क्यों कि

આ માટે ભલે પોતાની સંસારીક બહેન હોય, ચાહે પુત્રી હોય, વહુ હોય, અથવા માતા હોય તો પણ એકાંતમાં એમની સાથે બેસવું ઉઠવું કે વાતચિત પણ બ્રહ્મચારીએ કરવી ન જોઈએ ॥૨૬॥

હવે વિનીત શિષ્યનું કર્તવ્ય કહે છે—जंमे ઇત્યાદિ
વિનીત શિષ્યે આ પ્રકારનો વિચાર કરવો જોઈએ કે,

અન્વયાર્થ—जंमेबुद्धा-यन्मांबुद्धा મને આચાર્ય મહારાજ, सीएण-शीतेन મીઠા વચનોથી, वा અથવા फरुसेण-परुषेण કઠોર વચનોથી, अनुसासंति-अनुशासति અનુશાસિત કરે છે, અર્થાત શિક્ષા આપે છે मममलाभो-ममलाभ એ

ाया—अनुशासनमौपाय, दुष्कृतस्य च नोदनम्।
हित तत् मन्यते प्राज्ञ, द्वेष्य भवति असाधो ॥ २८ ॥

टीका—'अणुसासण' इत्यादि—

प्राज्ञ=प्रज्ञावान् मेधावी शिष्य, औपायम्—उपाय=शीतपरुषभाषणरूपे भवम्, कठोरभाषणसमन्वितम् अनुशासन=गुरो शिक्षावाक्य, च-पुन दुष्कृतस्य=अति स्य निवारणार्थ नोदन=प्रेरण, 'हा किमिदमकर्त्तव्य त्वया कृतम्' इत्यादिरूपम् वचन हित-लोकद्वयकल्याणकारक, मन्यते। असाधो अविनीतशिष्यस्य तदेव न द्वेष्य=द्वेषजनक भवति।

यथा—इक्षुक्षेत्रे दत्त जल मधुररसरूपेण परिणत भवति, निम्बतरुमूले तु तदर

सकल कल्याण करनेवाली भी गुरुशिक्षा किस को किस रूप में रिणत होती है सो कहते है—'अणुसासण'—इत्यादि।

अन्वयार्थ—(पन्नो-प्रज्ञ) बुद्धिमान मेधावी शिष्य (ओवाय-औपाय) दु एव कठोर भाषण से युक्त (अनुसासण-अनुशासन) गुरु के शिक्षा रूप वचनों को कि जो (दुक्कडस्स य चोयण-दुष्कृतस्य च नोदनम्) तिचार के निवारण के लिये प्रयुक्त किये गये हैं—'यह तुमने नहीं रने योग्य काम क्यों कर दिया है' इत्यादिरूप से जो कहे गये है हिय मन्नए-तत् हित मन्यते उसको अपना हितकारक मानता है। असाहुणो-असाधो) परन्तु जो अविनीत शिष्य होता है वह उन्हीं शिक्षावचनों को (वेसहवइ-द्वेष्य भवति) अहितकारी मानता है। मेधावी शिष्य गुरु के मृदुकठोररूप वचनों को अपना हितकारक, एवं असाधु र्थात् अविनीत शिष्य उन्हीं वचनों को दु खदायक मानता है।

સકલ કલ્યાણ કરવાવાળી ગુરુ શિક્ષા કોને કયા રૂપમા પરિણત થાય છે તે કહેવામા આવે છે अणुसासण ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—पन्नो-प्राज्ञ બુદ્ધિમાન મેધાવી શિષ્ય ओवाय-औपाय કોમળ અથવા કઠોર ભાષણથી યુક્ત अणुसासण-अनुशासन ગુરુનાં શિક્ષા સ્વરૂપ વચનોને કે જે दुक्कडस्स य चोयण-दुष्कृतस्य च नोदनम् અતિચારના નિવારણ માટે પ્રયુક્ત કરવામાં આવેલ છે આ ન કરવા યોગ્ય કામ તમે શા માટે કર્યું ?" ઇત્યાદિ રૂપથી જે કહેવાય છે तंहिय मन्नए-तत् हित मन्यते એને પોતનાં હિતકર માને છે असाहुणो-असाधो પરંતુ જે અવિનીત શિષ્ય હોય છે તે એ શિક્ષા વચનોને द्वेष्य भवति અહિતકારી માને છે

च लभते। एवमाचार्याणां शीत परुष चेत्युभयविध शिक्षावचनं परिणामे सुखजनकमेव। आचार्यवचन हि—परिणामतस्तपःसंयमाराधनप्रवर्तकं, मिथ्यात्वादिपञ्चविधास्रवनिवर्तकं, ज्ञानावरणीयादिकर्मरज पटलापसारणपरमसमीपणसमीरणात्मकं, नानाविधलब्धिसाधकं, निखिलभावस्वभावावभासककेवलालोकप्रदर्शकं, शाश्वतिकसुख समर्पक च भवति" इत्येव पर्यालोच्य गुरो शिक्षावचनमङ्गीकुर्यादिति ॥ २७॥

सकलकल्याणकारिण्यपि गुरुशिक्षा कस्मै कीदृशी परिणमतीत्याह—

मूलम्—अणुसासणमोवाय, दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मन्नए पन्नो, वेसं होइ असाहुणो ॥२८॥

प्राप्त कर लोक तुष्टि एव पुष्टि को प्राप्त करते हैं। इसी तरह आचार्य महाराज के कोमल एवं कठोर, दोनों प्रकार के शिक्षाप्रद वचन शिष्य को परिणाम मे सुखजनक होते हैं। शिष्य को आचार्य महाराज के वचन ही अन्त में तप एव सयम की आराधना करने में प्रवृत्त कराने वाले होते हैं। मिथ्यात्वादि पाच प्रकार के आस्रव के वे निरोधक होते हैं। ज्ञानावरणीय आदि कर्मरज के पटल को हटाने में वे प्रचण्ड पवन के वेगतुल्य होते हैं। शिष्यजनोमें अनेक प्रकार की लब्धियों की जागृति कराने वाले होते है। समस्त पदार्थों के स्वभाव का जिस में अवभासन होता है ऐसे केवलज्ञानरूप प्रकाश के प्रदर्शक एवं शाश्वतिक सुख के देनेवाले होते हैं। इस प्रकार गुरु महाराज के शिक्षा वचनों को हितकारक जानकर शिष्यका कर्तव्य है कि वह उन्हें अंगीकार करे ॥२७॥

અને પુષ્ટિ પ્રાપ્ત કરે છે આ રીતે આચાર્ય મહારાજના કોમળ અથવા કઠોર બન્ને પ્રકારના શિક્ષાપ્રદ વચન શિષ્યને પરિણામમા સુખજનક બને છે આચાર્ય મહારાજના વચનજ અતમા શિષ્યને તપ તથા સયમની આરાધના કરવામા પ્રવૃત્ત કરાવનાર હોય છે મિથ્યાત્વાદિ પાચ પ્રકારના આસ્રવના એ નિરાધક હોય છે જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મરજના આવરણને દૂર કરવામા તે પ્રચડ પવનના વેગ જેવાં હોય છે શિષ્યજનોમાં અનેક પ્રકારની લબ્ધિયોની જાગૃતિ કરાવનાર હોય છે, સમસ્ત પદાર્થોના સ્વભાવનું જેનામાં અવભાસન હોય છે એવા કેવળ જ્ઞાન રૂપ પ્રકાશના પ્રદર્શક અને શાશ્વતિક સુખને દેવાવાળા હોય છે આ પ્રકારે ગુરુ મહારાજના શિક્ષા વચનોને હિતકારક જાણીને શિષ્યનું એ કર્તવ્ય છે કે તે એને અંગિકાર કરે ॥ ૨૭॥

टीका—' हियं ' इत्यादि—

विगतभया =भयरहिता', भय सप्तविधम्-इहलोकभयम् १, परलोकभयम् २, आदानभयम् ३, अकस्माद्भयम् ४, आजीविकाभयम् ५, मरणभयम् ६, अश्लोकभय च ७, एतैर्विवर्जिता , बुद्धा =ज्ञाततत्त्वा मेधाविन इत्यर्थः, एवभूता शिष्याः परुषमपि=कठोरमपि, अनुशासनम्=गुरूणा शिक्षावचनम् हित=पथ्य मन्यन्ते इति शेष । किन्तु क्षान्तिशोधिकर-क्षान्ति =क्षमा, शोधि =शुद्धिः आत्मशुद्धि', तयो करम्=उत्पत्तिजनक, यथा-वर्षाऋतुनिमित्त प्राप्य जलधरा गर्जन्ति, वसन्तं प्राप्य वृक्षा नूतनपल्लवकुसुमश्रियोपेता भवन्ति, चन्द्र प्राप्य चन्द्रकान्तमणय प्रस्रवन्ति, सूर्यं प्राप्य कमलानि विकसन्ति, तथा क्षमां प्राप्य निर्लोभतादिगुणा प्रादुर्भवन्ति। शोधि श्च दु खमेघनाशने पवनरूपा, सुखोत्पादने कल्पतरुरूपा भवसिन्धुपारकरणे नौका रूपा, अज्ञानान्धकारनाशने प्रभारूपा। एवभूतयो क्षान्तिशोध्योर्जनकम्, इदमुप लक्षणम् तेन आर्जवादिकरमपि, पद=ज्ञानादि गुणाना स्थानम् । तत्=अनुशासन, मूढानां=कुशिष्याणां द्वेष्य=द्वेषजनक भवति । उक्त च—

पुनरप्याह—' हियं ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(विगयभया-विगतभया) इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्मात्भय, आजीविकाभय, मरणभय, एव अश्लोकभय ये सात भय हैं। इनसे जो रहित हैं तथा (बुद्धा-बुद्धाः) तत्त्वों के जो जानकार हैं-मेधावी हैं वे शिष्य (फरुसंपि-परुषमपि) कठोर भी (अणुसासणं-अनुशासनं) गुरु महाराज के शिक्षात्मक वचनों को (हियं-हित) पथ्य-हितविधायक मानते हैं। किन्तु (खंति सोहिकरं -क्षान्तिशोधिकरं) क्षमा और शुद्धि के विधायक तथा (पयं-पदम्) ज्ञानादिक गुणों के स्थानभूत (तत्) गुरु के ये ही अणुशासनरूप

पुनरप्याह हियं -ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—विगयभया-विगतभया આ લોકનો ભય, પરલોકનો ભય, આદાન ભય, અકસ્માત ભય, આજીવિકા ભય, મરણ ભય અને અશ્લોક ભય આ સાત ભય છે એનાથી જે રહિત છે તથા (बुद्धा-बुद्धा) તત્વોના જે જાણકાર છે, મેધાવી છે, તે શિષ્ય फरुसंपि-परुषमपि કઠોર પણ अणुसासणं-अनुशासन ગુરુ મહારાજના શિક્ષાત્મક વચનોને हियं-हित पथ्य હિત વિધાયક માને છે, खंतिसोहिकर-क्षान्तिशोधिकर ક્ષમા અને શુદ્ધિના વિધાયક, पयं-पदम् જ્ઞાનાદિક

कटुकरसरूपेण, यथा वा सितोपल–' मिसरी ' इति भाषाप्रसिद्धं सर्वेषां मधुरा स्वादजनकं भवति तदेव पित्तदूषितरसनस्य निम्बादिवत् कटुक, गर्दभाणां तु विषमेव भवति, यथा वा शुद्ध घृत सर्वेषां पुष्टिकर भवति, तदेव ज्वराक्रान्तानां जनानां रोगवर्धकम् । एव गुरुवचन सविनयस्य हिताय जायते, विनयरहितस्य शिष्यस्य तु द्वेषाय इति भाव ॥ २८ ॥

उक्तमर्थं विशदयन्नाह—

मूलम्—हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं ।
वेस्सं तं होइ मूढाणं, खंतिसोहिकरं पयं ॥२९॥

छाया—हित विगतभया बुद्धा , परुषमपि अनुशासनम् ।
द्वेष्य तत् भवति मूढानां, क्षान्तिशोधिकर पदम् ॥ २९ ॥

तात्पर्य इसका इस प्रकार का है कि जिस प्रकार इक्षु के खेत में दिया गया पानी मधुर रसरूपसे परिणत होता है और वही पानी जब निम्बवृक्ष के मूलमें दिया जाता है तो कडुवे रूपमें परिणत हो जाता है, अथवा जैसे मिश्री सब के लिये मधुर आस्वाद देती है परन्तु जिस की जीभ पित्त से दूषित हो रही है उसके लिये वह मिश्री कडुवी नीम जैसी मालूम होती है, तथा गधों को तो वह विष जैसी ही मालूम होती है । अथवा जैसे शुद्ध घृत समस्तजनों को पुष्टि करने वाला होता है परन्तु वही घृत ज्वरवाले के लिए रोगवर्द्धक होता है, इसी प्रकार जो विनयी शिष्य हैं उनके लिये गुरु महाराज के वचन हितकारक होते हैं और वे ही वचन अविनीत शिष्य के लिये द्वेषकारक होते है ॥ २८ ॥

તેનું તાત્પર્ય આ પ્રકારનુ છે, કે જે પ્રકારે દ્રાક્ષના ખેતરમા આપવામા આવેલ પાણી મધુરસરૂપમાં પરિણીત બને છે અને તેજ પાણી જ્યારે લિંબડાના વૃક્ષના મૂળમા આપવામાં આવે છે તો કટુરસ રૂપમા પરિણમે છે જેમ-સાકર બધા માટે મધુર આસ્વાદ આપે છે પરતુ જેની જીભ પિત્તથી દુષિત થયેલ હોય છે, તેને માટે સાકર કડવા લિમડા જેવી માલુમ પડે છે અને ગધેડાને તો તે ઝેર જેવી બને છે અથવા જેમ ચોખ્ખુ ઘી સઘળા માટે પુષ્ટી કરવાવાળુ હોય છે પરતુ તે ઘી તાવવાળા માટે રોગને વધારનાર બને છે એ જ રીતે જે વિનયી શિષ્ય છે તેને માટે ગુરુ મહારાજનું વચન હિતકારક હોય છે અને તે જ વચન અવિનીત શિષ્ય માટે દ્વેષકારક હોય છે ॥ ૨૮ ॥

टीका—' हिय ' इत्यादि—

विगतभया =भयरहिता , भय सप्तविधम्–इहलोकभयम् १, परलोकभयम् २ आदानभयम् ३, अकस्माद्भयम् ४, आजीविकाभयम् ५, मरणभयम् ६, अश्लोक भय च ७, एतैर्विवर्जिता , बुद्धा =ज्ञाततत्त्वा मेधाविन इत्यर्थः, एवभूता शिष्या परुषमपि=कठोरमपि, अनुशासनम्=गुरूणा शिक्षावचनम् हित=पथ्य मन्यन्ते इति शेप । किंतु क्षान्तिशोधिकर–क्षान्ति =क्षमा, शोधिः=शुद्धि आत्मशुद्धि , तयो करम्=उत्पत्तिजनक, यथा-वर्षाऋतुनिमित्त प्राप्य जलधरा गर्जन्ति, वसन्त प्राप्य वृक्ष नूतनपल्लवकुसुमश्रियोपेता भवन्ति, चन्द्र प्राप्य चन्द्रकान्तमणय प्रस्रवन्ति, सूर्य प्राप्य कमलानि विकसन्ति, तथा क्षमां प्राप्य निर्लोभतादिगुणाः प्रादुर्भवन्ति। शोधिश्च दु खमेघनाशने पवनरूपा, सुखोत्पादने कल्पतरुरूपा भवसिन्धुपारकरणे नौकारूपा, अज्ञानान्धकारनाशने प्रभारूपा । एवभूतयो क्षान्तिशोध्योर्जनकम्, इदमुप लक्षणम् तेन आजवादिकरमपि, पद=ज्ञानादि गुणानां स्थानम् । तत्=अनुशासन, मूढानां=कुशिष्याणां द्वेष्य=द्वेषजनक भवति । उक्त च—

पुनरप्याह—' हिय ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(विगयभया-विगतभया) इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्मात्भय, आजीविकाभय, मरणभय, एवं अश्लोकभय, ये सात भय हैं। इनसे जो रहित हैं तथा (बुद्धा–बुद्धा) तत्त्वों के जो जानकार हैं–मेधावी हैं वे शिष्य (फरुसंपि–परुषमपि) कठार भी (अणुसासण–अनुशासनं) गुरु महाराज के शिक्षात्मक वचनों को (हियं–हित) पथ्य–हितविधायक मानते हैं। किन्तु (खंति सोहिकर –क्षान्तिशोधिकरं) क्षमा और शुद्धि के विधायक तथा (पयं–पदम्) ज्ञानादिक गुणों के स्थानभूत (तत्) गुरु के वे ही अनुशासनरूप

પુનરપ્યાહ હિય -ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—विगयभया-विगतभया આ લોકને ભય, પરલોકને ભય, આદાન ભય, અકસ્માત ભય, આજીવિકા ભય, મરણ ભય અને અશ્લોક ભય આ સાત ભય છે એનાથી જે રહિત છે તથા (बुद्धा-बुद्धा) તત્વોના જે જાણકાર છે, મેધાવી છે, તે શિષ્ય फरुसंपि-परुषमपि કઠોર પણ अणुसासण –अनुशासन ગુરુ મહારાજના શિક્ષાત્મક વચનોને हियं-हित पथ्य હિત વિધાયક માને છે, खंतिसोहिकर-क्षान्तिशोधिकर ક્ષમા અને શુદ્ધિના વિધાયક, पय-पदम् જ્ઞાનાદિક

कटुकरसरूपेण, यथा वा सितोपल-'मिसरी' इति भाषाप्रसिद्धं सर्वेषां मधुरा स्वादजनकं भवति तदेव पित्तदूषितरसनस्य निम्बादिवत् कटुकं, गर्दभाणां तु विषमेव भवति, यथा वा शुद्धं घृतं सर्वेषां पुष्टिकरं भवति, तदेव ज्वराक्रान्तानां जनानां रोगवर्धकम्। एवं गुरुवचनं सविनयस्य हिताय जायते, विनयरहितस्य शिष्यस्य तु द्वेषाय इति भावः ॥ २८ ॥

उक्तमर्थं विशदयन्नाह—

मूलम्—हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं।
वेस्सं तं होइ मूढाणं, खंतिसोहिकरं पयं ॥२९॥

छाया—हितं विगतभया बुद्धाः, परुषमपि अनुशासनम्।
द्वेष्यं तद् भवति मूढानां, क्षान्तिशोधिकरं पदम् ॥ २९ ॥

तात्पर्य इसका इस प्रकार का है कि जिस प्रकार इक्षु के खेत में दिया गया पानी मधुर रसरूपसे परिणत होता है और वही पानी जब निम्बवृक्ष के मूलमें दिया जाता है तो कडुये रूपमें परिणत हो जाता है, अथवा जैसे मिश्री सब के लिये मधुर आस्वाद देती है परन्तु जिस की जीभ पित्त से दूषित हो रही है उसके लिये वह मिश्री कडुवी नीम जैसी मालूम होती है, तथा गधों को तो वह विष जैसी ही मालूम होती है। अथवा जैसे शुद्ध घृत समस्तजनों को पुष्टि करने वाला होता है परन्तु वही घृत ज्वरवाले के लिए रोगवर्द्धक होता है, इसी प्रकार जो विनयी शिष्य हैं उनके लिये गुरु महाराज के वचन हितकारक होते हैं और वे ही वचन अविनीत शिष्य के लिये द्वेषकारक होते हैं ॥ २८ ॥

તેનું તાત્પર્ય આ પ્રકારનું છે, કે જે પ્રકારે દ્રાક્ષના ખેતરમાં આપવામાં આવેલ પાણી મધુરરસરૂપમાં પરિણીત બને છે અને તેજ પાણી જ્યારે લિંબડાના વૃક્ષના મૂળમાં આપવામાં આવે છે તો કડુરસ રૂપમાં પરિણમે છે જેમ-સાકર બધા માટે મધુર આસ્વાદ આપે છે પરંતુ જેની જીભ પિત્તથી દુષિત થયેલ હોય છે, તેને માટે સાકર કડવા લિમડા જેવી માલુમ પડે છે અને ગધેડાને તો તે ઝેર જેવી બને છે અથવા જેમ ચોખ્ખુ ઘી સઘળા માટે પુષ્ટી કરવાવાળું હોય છે પરંતુ તે ઘી તાવવાળા માટે રોગને વધારનાર બને છે એ જ રીતે જે વિનયી શિષ્ય છે તેને માટે ગુરુ મહારાજનું વચન હિતકારક હોય છે અને તે જ વચન અવિનીત શિષ્ય માટે દ્વેષકારક હોય છે. ॥ ૨૮ ॥

मूलम्—आसणे उवचिट्ठिज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥३०॥

छाया—आसने उपतिष्ठेत्, अनुच्चे अकुचे स्थिरे ।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निषीदेत् अल्पकौकुच्य. ॥ ३० ॥

टीका—'आसणे' इत्यादि—

अनुच्चे—द्रव्यतो गुर्वासनान्नीचे, भावत स्वल्पमूल्यके, अकुचे अकम्पमाने, यद्वा चटत्कारादिशब्दरहिते, स्थिरे=समपादवत्त्वेन निश्चले, आसने उपतिष्ठेत् पीठादौ वर्षासु उपतिष्ठेत्=उपविशेत् । ईदृशेऽप्यासने साधु' किमवस्थः सन्तिष्ठे-दित्याह—'अप्पुट्ठाई' इति अल्पोत्थायी—कार्ये सत्यपि इषदुत्तिष्ठतीत्येवंशील, एककार्येणोत्थित सन् बहुकार्यसंपादक इत्यर्थ । अत-एव-कीदृश सन्नित्याह—

अब शिष्य के लिये आसन की विधि कहते हैं—'आसणे'—इत्यादि।

अन्वयार्थ—शिष्य (अणुच्चे—अनुच्चे) द्रव्यकी अपेक्षा गुरुमहाराज के आसनसे नीचा भावकी अपेक्षा अल्पमूल्यवाला (अकुए—अकुचे) तथा चटचट इत्यादि शब्द से रहित, अथवा हिलनेवाला नहीं ऐसा जो (थिरे—स्थिरे) स्थिर—चारों पाये जिसके समान हों ऐसे (आसणे—आसने) आसन – पीठ फलक पाट पाटले आदि, उन पर वर्षाकाल में (उवचिट्ठिज्जा—उपतिष्ठेत्) बैठे। शिष्य जिस आसन पर बैठे वह गुरु के आसन की अपेक्षा नीचा होना चाहिये। तथा अल्प मूल्यवाला एव हिलने डुलने वाला नहीं होना चाहिये। शिष्य अपने आसन पर जम कर बैठे, कारण बिना न उठे, यही बात (अप्पुट्ठाई—अल्पोत्थायी) इस पद द्वारा प्रदर्शित की गई है। उठने का काम यदि

હવે શિષ્ય માટે આસનની વિધિ કહે છે, आसणे—ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—શિષ્ય अणुच्चे—अनुच्चे દ્રવ્યની અપેક્ષા ગુરુમહારાજના આસનથી નીચા, ભાવની અપેક્ષા અલ્પમુલ્યવાળા, अकुए—अकुचे તથા ચટચટ ઈત્યાદિ શબ્દથી રહિત અથવા હલવાવાળા નહી એવા જે थिरे—स्थिरे સ્થિર—ચારે પાયા જેના એક સરખા હોય તેવા, आसणे—आसने આસન—પીઠ ફલક પાટ પાટલા આદિ એના ઉપર વર્ષાકાળમાં उवचिट्ठिज्जा—उपतिष्ठेत् બેસે શિષ્ય જે આસન ઉપર બેસે તે ગુરુના આસનથી નીચુ હોવું જોઈએ, તથા હલે ચલે નહીં તેવુ હોવું જોઇએ શિષ્ય પોતાના આસન ઉપર સ્થિર થઇને બેસે, કારણ વગર ન ઉઠે, अप्पुट्ठाई—अल्पोत्थाई આ વાત આ પદ દ્વારા પ્રદર્શિત કરવામાં

सद्बोध विदधाति हन्ति कुमतिं मिथ्यादृशं बाधते,
धत्ते धर्ममतिं तनोति परमे संवेगनिर्वेदने।
रागादीन् विनिहन्ति नीतिममलां पुष्णाति हन्त्युत्पथं,
यद्वा किं न करोति सद्गुरुमुखादभ्युद्गता भारती ॥१॥ इति॥ २९॥

वचन (मूढाण वेस्स होइ-मूढाना द्वेष्य भवति) मूर्ख-अविनीत शिष्यों के लिये द्वेषजनक होते हैं। कहा भी है—

"सद्बोध विदधाति हन्ति कुमतिं मिथ्यादृशं बाधते,
धत्ते धर्ममतिं तनोति परमे संवेगनिर्वेदने।
रागादीन् विनिहन्ति नीतिममलां पुष्णाति हन्त्युत्पथं,
यद्वा किं न करोति सद्गुरुमुखादभ्युद्गता भारती" ॥ १ ॥

सद्गुरु के मुखसे निकली हुई वाणी प्रशस्त बोधकी-सम्यग्ज्ञान की जनक होती है, कुमति की विदारक होती है, मिथ्यात्वरूपी दृष्टि की विध्वंसक होती है, धर्म में मति उत्पन्न करने वाली होती है, संवेग, एवं निर्वेद गुण की उत्कर्षक होती है, रागादिकों की विनाशक होती है, निर्मल नीति की पोषक होती है, कुमार्ग की विद्रावक होती है। ऐसे और कौन से सद्गुण बचते हैं जो गुरुदेव की वाणी से जीवों को प्राप्त न होते हों ॥ २९ ॥

गुणोना स्थानभूत, तत् ते गुरु के जेओना अनुशासना रूप वचन मूढाण वेस्स होइ-मूढानां द्वेष्य भवति अविनीत शिष्य माटे द्वेष जनक बने छे कह्यु पण छे के—

सद्बोध विदधाति हन्तिकुमतिं, मिथ्यादृशं बाधते।
धत्ते धर्ममतिं तनोति परमे संवेगनिर्वेदने ॥
रागादिन् विनिहन्ति नीतिममलां पुष्णाति हन्त्युत्पथं।
यद्वा किं न करोति सद्गुरुमुखादभ्युद्गता भारती ॥१॥

सद्गुरुना मुखथी नीकळेली वाणी प्रशस्त बोधनी सम्यग्ज्ञाननी जनक होय छे, कुमतिनी विदारक होय छे, मिथ्यात्वरूपी दृष्टिनी विध्वंसक होय छे, धर्ममा मति उत्पन्न करवावाळी होय छे संवेग अने निर्वेग गुणनो उत्कर्ष करवावाळी होय छे, रागादिकोनो विनाश करनारी होय छे, निर्मळ नितीनी पोषक होय छे कुमार्गनी विद्रावक होय छे एवा अने बीजा कया सद्गुण बाकी रहे छे के जे गुरुदेवनी वाणीथी जीवोने प्राप्त न थता होय.

मूलम्—आसणे उवेचिट्ठिज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥३०॥

छाया—आसने उपतिष्ठेत्, अनुच्चे अकुचे स्थिरे ।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निषीदेत् अल्पकौकुच्यः ॥ ३० ॥

टीका—'आसणे' इत्यादि—

अनुच्चे-द्रव्यतो गुर्वासनान्नीचे, भावत स्वल्पमूल्यके, अकुचे अकम्पमाने, यद्वा चटत्कारादिशब्दरहिते, स्थिरे=समपादत्वेन निश्चले, आसने उपतिष्ठेत् पीठादौ वर्षासु उपतिष्ठेत्=उपविशेत् । ईदृशेऽप्यासने साधु किमवस्थः सन्तिष्ठेदित्याह—'अप्पुट्ठाई' इति अल्पोत्थायी-कार्ये सत्यपि ईषदुत्तिष्ठतीत्येवंशीलः, एककार्येणोत्थित सन् बहुकार्यसंपादक इत्यर्थः । अत-एव-कीदृश सन्नित्याह-

---

अब शिष्य के लिये आसन की विधि कहते हैं-'आसणे'-इत्यादि।

अन्वयार्थ—शिष्य (अणुच्चे-अनुच्चे) द्रव्यकी अपेक्षा गुरुमहाराज के आसनसे नीचा भावकी अपेक्षा अल्पमूल्यवाला (अकुए-अकुचे) तथा चटचट इत्यादि शब्द से रहित, अथवा हिलनेवाला नहीं ऐसा जो (थिरे-स्थिरे) स्थिर-चारों पाये जिसके समान हों ऐसे (आसणे-आसने) आसन - पीठ फलक पाट पाटले आदि, उन पर वर्षाकाल में (उवचिट्ठिज्जा-उपतिष्टेत्) बैठे। शिष्य जिस आसन पर बैठे वह गुरु के आसन की अपेक्षा नीचा होना चाहिये। तथा अल्प मूल्यवाला एव हिलने डुलने वाला नहीं होना चाहिये। शिष्य अपने आसन पर जम कर बैठे, कारण विना न उठे, यही बात (अप्पुट्ठाई-अल्पोत्थायी) इस पद द्वारा प्रदर्शित की गई है। उठने का काम यदि

હવે શિષ્ય માટે આસનની વિધિ કહે છે, आसणे-ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—શિષ્ય अणुच्चे-अनुच्चे દ્રવ્યની અપેક્ષા ગુરુમહારાજના આસનથી નીચા, ભાવની અપેક્ષા અલ્પમુલ્યવાળા, अकुए-अकुचे તથા ચટચટ ઇત્યાદિ શબ્દથી રહિત અથવા હલવાવાળા નહીં એવા જે थिरे-स्थिरे સ્થિર-ચારે પાયા જેના એક સરખા હોય તેવા, आसणे-आसने આસન-પીઠ ફલક પાટ પાટલા આદિ એના ઉપર વર્ષાકાળમાં उवचिट्ठिज्जा-उपतिष्ठेत् બેસે. શિષ્ય જે આસન ઉપર બેસે તે ગુરુના આસનથી નીચુ હોવું જોઈએ, તથા હલે ચલે નહીં તેવું હોવું જોઇએ શિષ્ય પોતાના આસન ઉપર સ્થિર થઇને બેસે, કારણ વગર ન ઉઠે, अप्पुट्ठाई-अल्पोत्थाई આ વાત આ પદ દ્વારા પ્રદર્શિત કરવામાં

सद्बोधं विदधाति हन्ति कुमतिं मिथ्यादृशं बाधते,
धत्ते धर्ममतिं तनोति परमे संवेगनिर्वेदने।
रागादीन् विनिहन्ति नीतिममलां पुष्णाति हन्त्युत्पथं,
यद्वा किं न करोति सद्गुरुमुखादभ्युद्गता भारती ॥१॥ इति॥ २९॥

वचन (मूढाणं वेस्सं होइ-मूढाना द्वेष्यं भवति) मूर्ख-अविनीत शिष्यों के लिये द्वेषजनक होते हैं। कहा भी है—

"सद्बोधं विदधाति हन्ति कुमतिं मिथ्यादृशं बाधते,
धत्ते धर्ममतिं तनोति परमे संवेगनिर्वेदने।
रागादीन् विनिहन्ति नीतिममलां पुष्णाति हन्त्युत्पथं,
यद्वा किं न करोति सद्गुरुमुखादभ्युद्गता भारती" ॥ १॥

सद्गुरु के मुखसे निकली हुई वाणी प्रशस्त बोधकी-सम्यग्ज्ञान की जनक होती है, कुमति की विदारक होती है, मिथ्यात्वरूपी दृष्टि की विध्वंसक होती है, धर्म में मति उत्पन्न करने वाली होती है, संवेग, एवं निर्वेद गुण की उत्कर्षक होती है, रागादिकों की विनाशक होती है, निर्मल नीति की पोषक होती है, कुमार्ग की विद्रावक होती है। ऐसे और कौन से सद्गुण बचते हैं जो गुरुदेव की वाणी से जीवों को प्राप्त न होते हों॥ २९॥

ગુણોના સ્થાનભૂત, તત્ તે ગુરુ કે જેઓના અનુશાસના રૂપ વચન મૂઢાણં વેસ્સં હોઇ-મૂઢાનાં દ્વેષ્યં ભવતિ અવિનીત શિષ્ય માટે દ્વેષ જનક બને છે. કહ્યું પણ છે કે—

सद्बोधं विदधाति हन्तिकुमतिं, मिथ्यादृशं बाधते।
धत्ते धर्ममतिं तनोति परमे संवेगनिर्वेदने ॥
रागादिन् विनिहन्ति नीतिममलां पुष्णाति हन्त्युत्पथं।
यद्वा किं न करोति सद्गुरुमुखादभ्युद्गता भारती ॥१॥

સદ્ગુરુના મુખથી નીકળેલી વાણી પ્રશસ્ત બોધની સમ્યગ્જ્ઞાનની જનક હોય છે, કુમતિની વિદારક હોય છે, મિથ્યાત્વરૂપી દૃષ્ટિની વિધ્વંસક હોય છે, ધર્મમાં મતિ ઉત્પન્ન કરવાવાળી હોય છે સંવેગ અને નિર્વેગ ગુણનો ઉત્કર્ષક કરવાવાળી હોય છે, રાગાદિકનો વિનાશ કરનારી હોય છે નિર્મળ નિતીની પોષક હોય છે. કુમાર્ગની વિદ્રાવક હોય છે, એવા અને બીજા કયા સદ્ગુણ બાકી રહે છે કે જે ગુરુદેવની વાણીથી જીવોને પ્રાપ્ત ન થતા હોય. ૨૯॥

मूलम्—आसणे उवचिट्ठिज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥३०॥

छाया—आसने उपतिष्ठेत्, अनुच्चे अकुचे स्थिरे ।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निषीदेत् अल्पकौकुच्य' ॥ ३० ॥

टीका—'आसणे' इत्यादि—

अनुच्चे—द्रव्यतो गुर्वासनान्नीचे, भावत स्वल्पमूल्यके, अकुचे अकम्पमाने, यद्वा चटत्कारादिशब्दरहिते, स्थिरे=समपादत्वेन निश्चले, आसने उपतिष्ठेत् पीठादौ वर्षासु उपतिष्ठेत्=उपविशेत् । ईदृशेऽप्यासने साधु किमवस्थ. सन्तिष्ठेदित्याह—'अप्पुट्ठाई' इति अल्पोत्थायी—कार्ये सत्यपि ईषदुत्तिष्ठतीत्येवंशील., एककार्येणोत्थित. सन् बहुकार्यसंपादक इत्यर्थ । अत—एव—कीदृश. सन्नित्याह—

अब शिष्य के लिये आसन की विधि कहते हैं–'आसणे'–इत्यादि।

अन्वयार्थ—शिष्य (अणुच्चे–अनुच्चे) द्रव्यकी अपेक्षा गुरुमहाराज के आसनसे नीचा भावकी अपेक्षा अल्पमूल्यवाला (अकुए–अकुचे) तथा चटचट इत्यादि शब्द से रहित, अथवा हिलनेवाला नहीं ऐसा जो (थिरे–स्थिरे) स्थिर–चारों पाये जिसके समान हों ऐसे (आसणे–आसने) आसन – पीठ फलक पाट पाटले आदि, उन पर वर्षाकाल में (उवचिट्ठिज्जा–उपतिष्ठेत्) बैठे। शिष्य जिस आसन पर बैठे वह गुरु के आसन की अपेक्षा नीचा होना चाहिये। तथा अल्प मूल्यवाला एव हिलने जुलने वाला नहीं होना चाहिये। शिष्य अपने आसन पर जम कर बैठे, कारण विना न उठे, यही बात (अप्पुट्ठाई–अल्पोत्थायी) इस पद द्वारा प्रदर्शित की गई है। उठने का काम यदि

હવે શિષ્ય માટે આસનની વિધિ કહે છે, आसणे–ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—શિષ્ય अणुच्चे–अनुच्चे દ્રવ્યની અપેક્ષા ગુરુમહારાજના આસનથી નીચા, ભાવની અપેક્ષા અલ્પમુલ્યવાળા, अकुए–अकुचे તથા ચટચટ ઈત્યાદિ શબ્દથી રહિત અથવા હલવાવાળા નહીં એવા જે थिरे–स्थिरे સ્થિર–ચારે પાયા જેના એક સરખા હોય તેવા, आसणे–आसने આસન–પીઠ ફલક પાટ પાટલા આદિ એના ઉપર વર્ષાકાળમાં उवचिट्ठिज्जा–उपतिष्ठेत् બેસે શિષ્ય જે આસન ઉપર બેસે તે ગુરુના આસનથી નીચુ હોવું જોઈએ, તથા હલે ચલે નહીં તેવું હોવું જોઇએ શિષ્ય પોતાના આસન ઉપર સ્થિર થઇને બેસે, કારણ વગર ન ઉઠે, अप्पुट्ठाई–अल्पोत्थाई આ વાત આ પદ દ્વારા પ્રદર્શિત કરવામાં

'निरुट्ठाई' इति निरुत्थायी-प्रयोजनेऽपि न पुनः पुनरुत्थानशीलः पुनः कीदृशः सन्नित्याह-'अप्पकुक्कुए' इति अल्पकौकुच्यः-अल्प कौकुच्य यस्य स तथा-अत्राल्पशब्दो नञर्थे वर्तते तथाच-करचरणभ्रूभ्रमणाद्यशिष्टचेष्टारहित इत्यर्थः. निषीदेत्=उपविशेत् ।

'अनुच्चे' इति विशेषणेन विनयः प्रदर्शितः ।

'अकुचे' इत्यनेन द्वीन्द्रियादित्रसजीवयतना सूचिता ।

'स्थिरे' इत्यनेन वायुकाययतना सूचिता ।

'अल्पोत्थायी' इत्यनेन निषद्यापरिषहविजय. सूचितः ।

'निरुत्थायी' इत्यनेन आभ्यन्तरिकव्युत्सर्गतपसः समाराधनाऽऽवेदिता ।

पडे भी तो भी जब उठे तब जिस काम के लिये उठा हो उस समय और भी जो काम करना हो वे भी कर लेवे। तथा (अप्पकुक्कुए-अल्पकौकुच्यः) हाथ तथा पैर एवं भ्रू आदि का अशिष्ट सचालन न करे, तात्पर्य यह कि यदि वह पाट आदि आसनपर जमकर बैठे तो भी ऐसी हालत में जिस प्रकार ससारी जन बैठे २ ही हाथ पैर आदि हिलाया डुलाया करते हैं वैसी अशुभ चेष्टाएँ नहीं करनी चाहिये। सूत्रकार ने 'अनुच्चे' इस पद द्वारा विनयगुण प्रदर्शन किया है। 'अकुचे' इस विशेषण द्वारा द्वीन्द्रियादि जीवों की यातना का सूचन किया है। 'स्थिरे' इस शब्द द्वारा वायुकाय की यातना का 'अल्पोत्थायी' इस पद द्वारा निषद्यापरीषह के विजय का 'निरुत्थायी' इस द्वारा आभ्यन्तर

આવેલ છે ઉઠવાનું કામ જો પડે તો પણ જ્યારે ઉઠે ત્યારે જે કામ માટે ઉઠેલ હોય તેની સાથે બીજું પણ જે કામ કરવાનું હોય તે કરી લે. તથા અપ્પકુક્કુए-અલ્પકૌકુચ્યઃ તથા હાથ અને પગ તથા ભ્રૂ વગેરેનું અશિષ્ટ સંચાલન ન કરે. તાત્પર્ય એ છે કે, જો તે પાટ આદિ આસન ઉપર સ્થિર બેસે તો પણ એવી હાલતમાં જે પ્રકારથી સંસારી જન બેઠાં બેઠાં જ હાથ પગ વગેરે હલાવ્યા-ડોલાવ્યા કરે છે તે રીતે અશુભ ચેષ્ટાઓ કરવી ન જોઈએ સૂત્રકારે "अनुच्चे" આ પદ દ્વારા વિનયગુણ પ્રદર્શન કરેલ છે अकुचे આ વિશેષણ દ્વારા દ્વિ ઇન્દ્રિયાદિ જીવોની યતનાનું સૂચન કરેલ છે स्थिरे આ પદ દ્વારા વાયુકાયની યતનાનું સૂચન કરેલ છે. "अल्पोत्थायी" એ પદ દ્વારા નિષદ્યા પરિષહના વિજયનું સૂચન કરેલ છે निरुत्थायी એ પદ દ્વારા આભ્યંતર વ્યુત્સર્ગ ત

'अल्पकौकुच्य.' इति विशेषणेन सयमलज्जा सूचिता ॥ ३० ॥

सम्प्रति एषणासमितिविषय विनयमाह—

मूलम्—कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥३१॥

छाया—कालेन निष्क्रामेत् भिक्षु, कालेन च प्रतिक्रामेत् ।
अकाल च विवर्ज्य, काले काल समाचरेत् ॥ ३१ ॥

टीका—'कालेण' इत्यादि—

कालेन—काले—देशकालानुसारेण भिक्षायोग्यसमये एव भिक्षुः=साधुर्निष्क्रामेत्=भिक्षार्थं निर्गच्छेत्—अकाले भिक्षार्थं निर्गमने सनिवेशनिन्दास्वात्मक्लेशादि दोषसभवात्। च—पुन कालेन=काले उचित समय एव प्रतिक्रामेत्=भिक्षाटनात् प्रतिनिवर्तेत, अल्पलाभे अलाभे वा लाभाशया कालमतिक्रम्य न चिरकालमटेदिति भाव ।

व्युत्सर्ग तपका तथा 'अल्पकौकुच्य' इस पद द्वारा सयम की लज्जा के निर्वाह का सूचन किया है ॥ ३० ॥

अब एषणासमितिविषयक विनयधर्मका सूत्रकार कथन करते हैं—'कालेण' इत्यादि

अन्वयार्थ—(कालेण—कालेन) देश काल के अनुसार भिक्षायोग्य समय में ही (भिक्खू—भिक्षु) साधु को (निक्खमे—निष्क्रामेत्) भिक्षा के लिये अपने स्थान से जाना चाहिये। अकाल में भिक्षा के लिये निकलने में सनिवेश—गाँव की तथा साधु की निन्दा होती है, इस से आत्मा को क्लेशादिक दोषों की संभावना रहती है। तथा (कालेण य पडिक्कमे—कालेन च प्रतिक्रामेत्) उचित समय में ही वह वापिस भिक्षाटन से लौट आवे, ऐसा नहीं करना चाहिये कि भिक्षा का अल्पलाभ हो अथवा

અલ્પકૌકુચ્ય એ પદ દ્વારા સયમની લજ્જાના નિર્વાહનુ સૂચન કરેલ છે ॥૩૦॥

હવે એષણાસમિતિવિષયક વિનયધર્મનું સૂત્રકાર કથન કરે છે કાલેણ૦ ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—कालेण—कालेन દેશકાળ અનુસાર ભિક્ષાના યોગ્ય સમયેજ, भिक्खु—भिक्षु સાધુએ निक्खमे—निष्क्रामेत् ભિક્ષા માટે પોતાના સ્થાનથી જવું જોઈએ અકાળમાં ભિક્ષા માટે નિકળવામાં ગામની તથા સાધુની નિંદા થાય છે એથી આત્માને ક્લેશાદિક દોષોની સભવના રહે છે, તથા कालेण य पडिक्कमे—कालेन च प्रतिक्रामेत् ઉચિત સમયમાં જ તે ભિક્ષાટનથી પાછા ફરે. એવું ન કરવું જોઈએ કે ભિક્ષાનો અલ્પ લાભ હોય અથવા અલાભ હોય તો તે લાભની

उक्तं च—अलाभो त्ति न सोइज्जा, तवोत्ति अहियासए॥
छाया—अलाभ इति न शोचेत्, तप इत्यध्यासीत॥

च–पुनः अकाल–प्रतिक्रमण–प्रतिलेखनाऽऽपृच्छना–स्वाध्याय भिक्षाचरीप्रभृतिकार्याणामयोग्य समय च विवर्ज्य=परित्यज्य, काले–यस्य कार्यस्य य. कालस्तस्मिन्नेव, काल–तत्तत्कालोचित प्रतिक्रमण प्रतिलेखनादिकं कार्यं समाचरेत्=कुर्यात्।
अय भाव.—यो यस्य अङ्गप्रविष्टादे श्रुतस्य काल उक्तस्तस्य श्रुतस्य तस्मिन्नेव काले स्वाध्याय कार्यं, नान्यदा, विघ्नसंभवात्, तीर्थकराज्ञाविरोधाच्च।

अलाभ हो तो वहीं लाभ की आशा से समय को उल्लघन कर बहुत समय तक घूमता ही रहे। भगवान ने कहा भी है—
"अलाभो त्ति न सोइज्जा, तवोत्ति अहिया सए"
साधु को जब अपने समयानुसार भिक्षा का लाभ न हो तो उस समय उसे शोच नहीं करना चाहिये किन्तु ऐसा समझना चाहिये कि यह एक बडे भारी तप का लाभ हुआ है। प्रतिक्रमण, प्रतिलेखना, अपृच्छना, स्वाध्याय तथा भिक्षाचर्या का जो समय नियत है उस समय के अतिरिक्त (अकाल च विवज्जित्ता–अकाल च विवर्ज्य) शेष उनका अकाल का समय है अत उसे छोडकर (कालं) जोर, कार्य जिस२ समय में किये जाने चाहिये उन्हें (काले) उसी समय में (समायरे –समाचरेत्) करे।
भावार्थ—जिस अगप्रविष्ट आचाराग आदि सूत्रों के स्वाध्याय करने का जो समय नियत है उस समय में उसी श्रुत की स्वाध्याय

આશાથી સમયનું ઉલ્લઘન કરીને ઘણા સમય સુધી ફરતા રહે ભગવાને કહ્યુ છે કે અલાભોત્તિ न सोइज्जा तवो त्ति अहियासए સાધુને જ્યારે પોતાના સમય અનુસાર ભિક્ષાનો લાભ ન થાય તો તે સમયે તેણે સોચ ન કરવો જોઈએ પરંતુ એમ સમજવું જોઈએ કે, આ એક ભારે તપનો લાભ મળ્યો, પ્રતિક્રમણ, પ્રતિલેખના આપૃચ્છના સ્વાધ્યાય તથા ભિક્ષાચર્યાનો જે સમય નિયત છે એ સમય સિવાય, અકાલ च विवज्जित्ता–अकाल च विवर्ज्य શેષ તેનો અકાળનો સમય છે, આથી એને છોડી, काल જે જે કાર્ય જે જે સમયમાં કરી લેવાં જોઈએ એને એ જ काले સમયમા समायरे–समाचरेत् કરે.

ભાવાર્થ—અગ પ્રવિષ્ટ આચારાગ આદિ સૂત્રોનો સ્વાધ્યાય કરવાનો જે સમય નિયત છે એ સમયમાં એજ શ્રુતનો સ્વાધ્યાય કરવો જોઈએ. બીજા

दृश्यते च लोकेऽपि काल एव कृष्यादिकरणे धान्यादिनिष्पत्तिरूप फल भवति, विपर्यये तु विपर्यय.। यथा काल एव वनस्पतीनामङ्कुरा प्रादुर्भवन्ति, काल एव वृक्षा' कुसुमिता भवन्ति, फलवन्तश्च, काल एव षड् ऋतव समायान्ति, काल एव तीर्थकराश्चक्रिणो वल्देवा वासुदेवा जायन्ते, काल एव शुक्तिकाया मुक्ता उत्पद्यन्ते, काले आवश्यककारिणस्तीर्थंकरगोत्र कर्मोपार्जयन्ति।

यतः—कालम्मि कीरमाण, किसिकम्म बहुफल जहा होइ।
इय सव्वच्चिय किरिया, निय-निय-कालम्मि विन्नेया ॥ १ ॥

छाया—काले क्रियमाण, कृषिकर्म बहुफलं यथा भवति।
इति सर्वैव क्रिया, निज निज-काले विज्ञेया ॥ १ ॥

करनी चाहिये, भिन्न समय में नहीं, कारण कि अकाल में विघ्नों के आने की सम्भवना रहती है। तथा तीर्थंकर प्रभुकी ऐसी आज्ञा नहीं है, अत उनकी आज्ञा के विरुद्ध प्रवृत्ति करने से स्वच्छदता का दोप लगता है। लोकमें भी यही बात देखी जाती है—खेती आदि करने का जो काल नियत है उसी में उस के करने से धान्यादिक फल की निष्पत्ति होती है, अन्य समय में नहीं। समयानुसार ही वृक्षों में पत्र पुष्प फलादिक आया करते है। तथा वनस्पतियाँ अँकुरों को उत्पन्न करती हैं। अपने अपने समय में छह ऋतुएँ आती हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, ये सब अपने २ समय पर ही होते हैं। सीप में मोती, समयानुसार ही होते हैं। आवश्यक क्रियाओं को करने वाले जीव समय पर ही तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया करते हैं। कहा भी है—

સમયમાં નહી કારણ કે અકાલમા વિઘ્નો આવવાની સભાવના રહે છે તથા તીર્થંકર પ્રભુની એવી આજ્ઞા નથી માટે એમની આજ્ઞાની વિરુદ્ધ પ્રવૃત્તિ કરવાથી સ્વચ્છદતાનો દોષ લાગે છે લોકોમા પણ આવી વાત દેખાય છે—ખેતી વગેરે કરવાનો જે કાળ નિયત છે એ સમયે જ કરવાથી ધાન્યાદિક ફળની ઉત્પત્તિ થાય છે અન્ય સમયમાં નહીં સમયાનુસારજ વૃક્ષોમા પત્ર પુષ્પ ફળાદિક આવ્યા કરે છે તથા વનસ્પતિઓ અકુરોને ઉત્પન્ન કરે છે પોતાના સમયમાં છ ઋતુઓ આવે છે તીર્થંકર, ચક્રવર્તિ, બલદેવ, વાસુદેવ એ બધા પોત પોતાના સમય ઉપર થાય છે સિપમા મોતી સમયાનુસાર જ થાય છે આવશ્યક ક્રિયાઓને કરવાવાળા જીવ સમય પર જ તીર્થંકર પ્રકૃતિનો બધ કર્યા કરે છે કહ્યું પણ છે કે—

तस्मात् साधुभिः कालएव सर्वा प्रतिक्रमणप्रतिलेखनादिक्रिया कर्तव्येति। सूत्रे 'कालेण' इत्यत्र तृतीया सप्तम्यर्थे ॥ ३१ ॥

मूलम्—परिवाडीए नं चिट्ठेज्जा, भिक्खू दत्तेसेण चरे।
पडिरूवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ॥३२॥

छाया—परिपाट्यां न तिष्ठेत्, भिक्षुः दत्तैषणां चरेत्।
प्रतिरूपेण एषित्वा, मितं कालेन भक्षयेत् ॥ ३२ ॥

टीका—' परिवाडीए ' इत्यादि—

भिक्षुः=साधुः, परिपाट्यां–गृहस्थगृहे भुञ्जानानां जनानां पङ्क्तौ न तिष्ठेत्। किं च–दत्तैषणा=दत्त–दानं तस्मिन् गृहस्थेन दीयमाने, एषणा–उद्गतशङ्कित–

"कालम्मि कीरमाणं, किसिकम्मं बहुफलं जहा होइ।
इय सव्वचिय किरिया, निय–निय–कालम्मि विन्नेया ॥ १ ॥
छाया—काले क्रियमाणं, कृषिकर्म बहुफलं यथा भवति।
इति सर्वा चैव क्रिया निज–निज–काले विज्ञेया ॥ १ ॥

इस लिये साधुओं को चाहिये कि वे समस्त अपनी प्रतिक्रमण प्रतिलेखनादिक क्रियाओं को नियत समय पर ही करते रहें ॥ ३१ ॥

'परिवाडीए इत्यादि

अन्वयार्थ—(भिक्खू–भिक्षु) साधु (परिवाडीए न चिट्ठेज्जा–परिपाट्यां न तिष्ठेत्) गृहस्थ के घर में भोजन करती हुई जीमणवार की जनपंक्ति में न खडा रहे। (दत्तेसणं चरे–दत्तैषणां चरेत्)

"कालम्मि कीरमाणं, किसिकम्मं बहुफलं जहा होई।
ईय सव्वच्चिय किरिया, निय–निय–कालम्मि विन्नेया॥ १ ॥

छाया–कालेक्रियमाणं, कृषिकर्म बहुफलं यथा भवति।
इतिसर्वैवक्रिया, निज–निज–काले विज्ञेया ॥१॥

આ માટે સાધુનું કર્તવ્ય છે કે તેઓ પોતાની સમસ્ત ક્રિયાઓ પ્રતિક્રમણ પ્રતિલેખનાદિક નિયત સમય ઉપર કરવી જોઈએ ॥ ૩૧ ॥

परिवाडिए—ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—भिक्खू–भिक्षु સાધુ, परिवाडीए न चिट्ठेज्जा–परिपाट्यां न तिष्ठेत् ગૃહસ્થનાઘરમાં ભોજન કરતી જમણવારની જનપંક્તિમાં ઉભા ન રહે. दत्तेसणंचरे—दत्तैषणां चरेत् ગૃહસ્થ દ્વારા પ્રદત્ત દાનમાં શંકિત, મક્ષિત આદિદોષોની અવેષણા કરે

म्रक्षितादिदोषान्वेषणात्मिका दत्तैषणा ता, चरेत्=आसेवेत। अनेन ग्रहणैषणा सूचिता। किं कृत्वा दत्तैषणां चरेदित्याह–'पडिरूवेण' इत्यादि। प्रतिरूपेण=मुनिवेषेण, बद्धसदोरकमुखवस्त्रिकत्व, रजोहरणपात्रधारकत्व, श्वेतवस्त्रपरिधायकत्वं च मुनिवेषस्तेन, एषित्वा=गवेषयित्वा, अनेन उद्गमोत्पादनाविषया गवेषणैषणा प्रोक्ता। मित=परिमित कालेन–काले–आगमोक्तसमये देशकालानुसारेण भक्षयेत्–भुञ्जीत। अनेनाभ्यवहरणविषया ग्रासैषणाऽऽवेदिता।

अत्र 'परिवाडीए न चिट्ठेज्जा' इत्यनेन अप्रीतिः, रसलोलुपतावर्जनं च सूचितम्। 'दत्तेसण' इत्यनेनादत्तादाननिवृत्तिः सूचिता। 'पडिरूवेण' इत्यनेन निष्कपटता प्रदर्शिता। 'मिय' इत्यनेनाधिकभोजननिवृत्तिरावेदिता॥३२॥

गृहस्थद्वारा प्रदत्त दान में शङ्कित, म्रक्षित आदि दोषों की गवेषणा रूप दत्तैषणा अर्थात् ग्रहणैषणा का ध्यान रखे। (पडिरूवेण–प्रतिरूपेण) प्रतिरूपसे–मुनि के वेष से–मुख पर दोरासहित मुहपत्ति बांधना रजोहरण एवं पात्रों का धारण करना, यह मुनिवेष है इस वेष से (एसित्ता–एषित्वा) गवेषणा कर (कालेण–कालेन) आगमन में कथित समयमें देश काल के अनुसार समय पर मिले हुए अन्न आदिका (मिय–मित) परिमित (भक्खए–भक्षेत्) आहार करे। 'एसित्ता एषित्वा' इस पद से उद्गम, उत्पादन आदि दोषों से वर्जित गवेषणैषणा, तथा 'भुञ्जीत' इस क्रियापद द्वारा ग्रासैषणा प्रकट की गई है। 'परिवाडीए न चिट्ठेज्जा' इस पद द्वारा अप्रीति एव रस में लोलुपताका परिहार सूचित हुआ है। 'दत्तसणं' से अदत्तादान से निवृत्ति, 'पडिरूवेण' से निष्कपटता, 'मिय' इस से अधिक भोजनकी निवृत्ति सूचित की गई है ॥ ३२ ॥

દતૈષણા અર્થાત્ ગ્રહણૈષણાનું ધ્યાન રાખે. पडिरूवेण–प्रतिरूपेण પ્રતિરૂપથી–મુનિના વેશથી મોઢા ઉપર દોરાસહિત મુહપત્તિ બાંધવી, રજોહરણ તથા પાત્રોનું ધારણ કરવુ તથા શુકલ વસ્ત્રોને ધારણ કરવાં એ મુનિવેશ છે આ વેશને, एसित्ता–एषित्वा ધારણ કરી, कालेण–कालेन આગમના કહેલા સમયમાં દેશકાળ સમય અનુસાર સમય ઉપર મળેલા અન્ન આદિનો मिय–मित પરિમિત भक्खए–भक्षयेत् આહાર કરે. एसित्ता–एषित्वा એ પદથી ઉદ્ગમ, ઉત્પાદન આદિ દોષોથી વર્જીત ગવેષણૈષણા તથા "ભુઞ્જીત" આ ક્રિયા પદ દ્વારા ગ્રાસૈષણા પ્રગટ કરવામાં આવેલ છે परिवाडी ए न चिट्ठेज्जा આ પદ દ્વારા અપ્રીતિ એવ રસમા લોલુપતાનો પરિહાર સૂચિત થયેલ છે दत्तेसण આ પદથી અદત્તાદાનની નિવૃત્તિ, સૂચિત કરવામા આવી છે पडिरूवेण આ પદથી નિષ્કપટતા સૂચિત કરે છે मिय એ પદથી અધિક ભોજનની નિવૃત્તિ સુચવવામાં આવેલ છે (૩૨)

भिक्षाचर्यां कुर्वता साधुना गृहस्थगृहे पूर्वसमागतभिक्षुसद्भावे यत् कर्तव्यं तदाह—

मूलम्—नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठ, लंघित्ता तं नइक्कमे ॥३३॥

छाया—नातिदूरे अनासन्ने, नान्येषां चक्षुःस्पर्शतः ।
एकस्तिष्ठेद् भक्तार्थम्, लङ्घयित्वा तं नातिक्रामेत् ॥ ३३ ॥

टीका—'नाइदूर०' इत्यादि—

अतिदूरम्=अतिदूरे न तिष्ठेत्, भिक्षाचर्यां कुर्वन् साधु गृहस्थगृहे पूर्वसमागतं भिक्षुकं दृष्ट्वा ततोऽति दूरे न तिष्ठेत्, अतिदूरावस्थाने भिक्षुनिर्गमनं ज्ञातुमशक्यं स्यात्, एषणा शुद्ध्यसम्भवश्चेति भावः । तथा आसन्ने=अतिनिकटेऽपि न तिष्ठेत्,

जिस समय साधु भिक्षाचर्या कर रहा हो उस समय यदि गृहस्थ के घर में कोई दूसरा भिक्षु भिक्षाचर्या के लिये आया हुआ हो तो साधु का क्या कर्तव्य है? इस विषय को इस गाथाद्वारा स्पष्ट किया जाता है—'नाइदूर०' इत्यादि

अन्वयार्थ—भिक्षा करता हुआ साधु (नाइदूरमणासन्ने-नातिदूरे अनासन्ने) जब यह देखे कि गृहस्थ के घर पर पहिले से कोई दूसरा भिक्षु आदि भिक्षानिमित्त आया हुआ है, या भिक्षा ग्रहण कर रहा है तो वह उस समय बहुत दूर जाकर खडा न होवे और न अति समीप खडा होवे। क्यों कि अतिदूर खडे होने पर भिक्षु का निर्गमन उसे ज्ञात नहीं हो सकता है, तथा अति समीप खडे रहने पर उससे पूर्वगत

જે સમય સાધુ ભિક્ષા ચર્યા કરતા હોય એ સમયે ગૃહસ્થને ઘેર કોઈ બીજા ભિક્ષુ ભિક્ષાચર્યા માટે આવેલ હોય તો સાધુનું શું કર્તવ્ય છે આ વિષયને આ સૂત્રદ્વારા સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે—નાઇદૂર-ઈત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—ભિક્ષા માટે નિકળેલ સાધુ, नाइदूरमणासन्ने—नातिदूर अनासन्ने એ જુએ કે જે ગૃહસ્થને ત્યાં પોતે જઈ રહેલ છે, ત્યા તેની પહેલાં કોઈ બીજા ભિક્ષુ ભિક્ષા નિમિત્ત ગયેલ છે, અથવા ભિક્ષા ગ્રહણ કરી રહેલ છે, તો તે એ સમયે ઘણે આઘે જઈ ઊભા ન રહે તેમ અતિ સમીપમાં પણ ઊભા ન રહે કેમ કે, અતિ દૂર ઊભા રહેવાથી ભિક્ષાર્થે ગયેલા ભિક્ષુનું નિર્ગમન જાણી શકાતું નથી તથા અતિ સમીપ રહેવાથી પહેલાં ભિક્ષા માટે

तत्र स्थिते सति पूर्वागतभिक्षुकस्य द्वेषः स्यादिति भावः। अन्येषां=भिक्षुकापेक्षया=येऽन्ये सन्ति गृहस्थास्तेषां, चक्षुःस्पर्शतः=चक्षुःस्पर्शे दृष्टिगोचरे न तिष्ठेत्, 'अयं भिक्षुः पूर्वागतभिक्षुनिष्क्रमणं प्रतीक्षते' इति यथा गृहस्था न जानन्ति तथा तिष्ठेदिति भावः। एकः=रागद्वेषरहितः सन्, भक्तार्थम्=आहारार्थं तिष्ठेत्। तम्=पूर्वागतभिक्षुकं, लङ्घयित्वा=अनादृत्य, नातिक्रामेत्=न गृहमध्ये गच्छेत्, पूर्वागतभिक्षुकस्य सद्भावे गृहस्थस्यगृहे गमने तदप्रीतिशासनलघुतादिदोषाणां संभव इति भावः ॥ ३३ ॥

सम्प्रति ग्रहणैषणाविधिं सूत्रकारः प्रदर्शयति—

मूलम्—नाइउच्चे न नीए वा, नासण्णे नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिंडं, पडिगाहिज्ज संजए ॥३४॥

छाया—नात्युच्चे न नीचे वा नासन्ने नातिदूरतः।
प्रासुकं परकृतं पिण्डं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥ ३४ ॥

भिक्षु को द्वेष हो सकता है। इसी प्रकार (नन्नेसिं चक्खुफासओ चिट्ठेज्ज-नान्येषां चक्षुःस्पर्शतः तिष्ठेत्) गृहस्थ के नजर में आवे ऐसा भी खडा न होवे (एगो-एकः) एक तथा राग-द्वेष रहित होकर (भत्तट्ठ-भक्तार्थम्) आहार के लिये (चिट्ठेज्ज) खडा रहे और (लंघित्ता तं नाइक्कमे-लङ्घयित्वा तं नातिक्रमेत्) पहले वाला भिक्षु जब तक बाहर न निकले तब तक मुनि को उस गृहस्थ के घर में आहार निमित्त प्रविष्ट नहीं होना चाहिये। पहले आये हुए भिक्षु के सद्भाव में गृहस्थ के घर जाने पर गृहस्थ को उस के प्रति अप्रीति हो सकती है एवं शासन की लघुता आदि दोषों की संभावना हो सकती है ॥ ३३ ॥

ગયેલા ભિક્ષુકના મનમાં દ્વેષ લાગવા જેવું બને છે. તેમ नन्नेसिं चक्खुफासओ चिट्ठेज्ज-नान्येषां चक्षुःस्पर्शतः तिष्ठेत् ગૃહસ્થની દૃષ્ટિ પડે એ રીતે પણ ઊભા ન રહે. एगो-एक એક તથા રાગ દ્વેષ રહિત બનીને भत्तट्ठ-भक्तार्थम् ભિક્ષા માટે चिट्ठेज्ज ઊભા રહે અને लंघित्ता तं नाइक्कमे-लङ्घयित्वा तं नातिक्रमेत् પહેલાં ભિક્ષા માટે ગયેલ ભિક્ષુ જ્યાં સુધી બહાર ન નીકળે ત્યાં સુધી મુનિએ તે ગૃહસ્થના ઘરમાં આહાર નિમિત્ત પ્રવેશ ન કરવો જોઇએ. પહેલાં ગયેલા સાધુના સદ્ભાવમાં ગૃહસ્થને ત્યાં જવાથી ગૃહસ્થને તેના તરફ અપ્રીતિ થાય અને શાસનની લઘુતા આદિ દોષોની સંભાવના થાય છે ॥ ૩૩ ॥

टीका—' नाइउच्चे' इत्यादि—

संयतः=साधुः, प्रासुक=पनकादिजंतुरहित, निर्दोष=नवकोटिविशुद्ध, पर कृत=परेण गृहस्थेन स्वार्थे कृत न तु साध्वर्थम्, पिण्डम्=चतुर्विधमाहारम्, अत्युच्चे गृहोपरिभूमिकादौ वंशकाष्ठनिर्मितचर निश्रेणिकारोहण कृत्वा, न प्रतिगृह्णीयात् प्रतिगृह्णीयादित्यस्य नीचादावपि सम्बन्धः। नीचे=अतिनीचे-भूमिगृहादौ वा न प्रतिगृह्णीयात् तथा-आसन्ने=अत्यासन्ने, अतिसमीपे स्थितः सन् न प्रतिगृह्णीयात्, अतिदूरत -अतिदूरे स्थित सन् न प्रतिगृह्णीयात्।

अत्र-'अत्युच्चे' इति-आरोहणेऽवरोहणे च स्वपरविराधनासंभव सूचयति।

अब ग्रहणैषणा की विधि कहते हैं—'नाइउच्चे' इत्यादि

अन्वयार्थ—(संजए-संयत) साधु (फासुय-प्रासुक) पनक-नीलन-फूलन-आदि जीवों से रहित-निर्दोष-नवकोटि से विशुद्ध तथा (परकड-परकृत) गृहस्थ द्वारा अपने निमित्त बनाये गये-न कि साधु के निमित्त बनाये गये, ऐसे (पिंड-पिण्ड) चतुर्विध आहार को (अइउच्चे न पडिगाहिज्ज-अत्युच्चे न प्रतिगृह्णीयात्) घर के ऊपर की भूमि कादि पर बाँस अथवा काष्ठ की निसरणी से चढकर न लेवे इसी तरह जो आहार (नीए-नीचे) अत्यंत नीचे तलघर आदि में हो उसको (न) नहीं लेवे। तथा (नासण्णे नाइदूरओ-नासन्ने नातिदूरतः) न अति नजदीक से लेवे और न अतिदूर से ही लेवे।

'अत्युच्चे' इस पद द्वारा सूत्रकार यही सूचित करते हैं कि ऊँचे स्थान पर चढने एवं उतर ने में स्व और पर को विराधना होने की

હવે ગ્રહણૈષણાની વિધિ કહેવામાં આવે છે नाइउच्चे-ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—संजए-संयतः સાધુ, फासुय-प्रासुक પનક, નીલન, ફુલન, આદિ જીવોથી રહિત નિર્દોષ-નવ કોટીથી વિશુદ્ધ તથા परकड परकृत ગૃહસ્થને ત્યાં પોતાના નિમિત્ત બનાવવામાં આવેલ ન કે સાધુના નિમિત્ત બનાવેલ એવા पिंड पिण्ड ચતુર્વિધ આહારને अइउच्चे न पडिगाहिज्ज-अत्युच्चे न प्रतिगृह्णीयात् ઘરની ઉપરની ભૂમિ ઉપર વાંસ કે લાકડાની નિસરણી ઉપર ચઢીને ન લે આ રીતે જે આહાર नीए-नीचे અત્યંત નીચે તળઘર આદિમાં હોય તેને પણ ન લે તથા नासण्णे नाइदूरओ—नासन्ने नातिदूरतः અતી નજીકથી ન લે તેમજ અતિ દૂરથી પણ ન લે

अत्युच्चे આ પદ દ્વારા સૂત્રકાર એવું સૂચિત કરે છે કે, ઉંચા સ્થાને ચડવા અગર ઉતરવામાં સ્વ અને પરની વિરાધના થવાની સંભાવના રહે છે

'नीचे' इति तत्रोत्क्षेपनिक्षेपनिरीक्षणासमवः स्वपरविराधनासमवश्चेति द्योतयति।
'आसन्ने' इति पश्चात्कर्मादिसमवं ज्ञापयति।
'अतिदूरे' इति एषणाशुद्धयसमवं वोधयति ॥ ३४ ॥
अथ ग्रासैषणाविधिमाह—

मूलम्—अप्पपाणेऽप्पवीयम्मि, पडिच्छन्नम्मि संवुडे।
समयं संजए भुंजे, जयं अपरिसाडिय ॥३५॥

छाया—अल्पप्राणेऽल्पवीजे, प्रतिच्छन्ने संवृते।
समकं संयतो भुञ्जीत, यतमानोऽपरिशाटितम् ॥ ३५ ॥

टीका—'अप्पपाणे' इत्यादि—

अल्पप्राणे=अवस्थितागन्तुकद्वीन्द्रियादिजीवरहिते, अल्पवीजे=शाल्यादि-बीजरहिते, इदमुपलक्षणम्-पृथ्व्याद्येकेन्द्रियजीवरहिते इत्यर्थः, प्रतिच्छन्ने=संपातिमजीवा यथा न पतन्ति तथोपरिकृतप्रावरणयुक्ते, संवृते=पार्श्वतः कटकुड्या

संभावना रहती है। 'नीचे' इस पद से भी यही बात उनकी लक्षित होती है। 'आसन्ने' पद से पश्चात्कर्मादिक की संभावना रहती है, तथा 'अतिदूरे' पद से एषणाशुद्धि की ठीक तरह पालना नहीं होती है वह बात प्रदर्शित की गई है ॥३४॥

अब ग्रासैषणा की विधि कहते हैं—'अप्पपाण' इत्यादि

अन्वयार्थ—(अप्पपाणे अप्पबीयम्मि पडिच्छन्नम्मि संवुडे—अल्पप्राणे अल्पबीजे प्रतिच्छन्ने संवृते) अवस्थित एवं आगन्तुक द्वीन्द्रियादिक जीवों से रहित तथा शाली आदि बीजों से रहित, इसी तरह पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों से वर्जित और संपातिम जीव न पड सके इस ख्याल से ऊपर से तथा चारों तरफ से छाये हुए ऐसे उपाश्रय

"नीचे" आ पदथी पण ओ ज वात ओने लक्षित छे "आसन्ने" आ पदथी पश्चात्कर्मादिकनी संभावना रहे छे तथा "अतिदूरे" आ पदथी ओषणा शुद्धिनी ठीक ठीक पालना थती नथी ओ वात प्रदर्शित करवामा आवी छे ॥ ३४ ॥

हवे ग्रासैषणानी विधी कहेवामां आवे छे अप्पपाणे०—ईत्यादि.

अन्वयार्थ—अप्पपाणे अप्पबीयम्मि पडिच्छन्नम्मि संवुडे—अल्पप्राणे अल्पबीजे प्रतिच्छन्ने संवृते अवस्थित अने आगंतुक द्वीन्द्रियादिक જીવોથી રહિત તથા શાલી આદિ બીજોથી રહિત, એજ રીતે પૃથ્વી આદિ એકેન્દ્રિય જીવોથી વર્જીત અને સંપાતિમ જીવ ન પડી શકે આ ખ્યાલથી ઉપરથી તથા ચારે બાજુથી

दिना समावृते उपाश्रयादावित्यर्थः, संयतः=साधु, यतमान–चप्पड चप्पडादि शब्दमकुर्वन् सन् अपरिशाटित=परिशाटरहित। सिक्थपातनेन रहित यथा स्यात्, यथा एकोऽप्यन्नकणः करान्मुखतो वाऽधः पतितो न भवेत्तथेत्यर्थः, समकम्–समोगि साधुमिः सह न त्वेकाकयेन आहार भुञ्जीत ॥ ३५ ॥

समति वाग्यतनामाह—

मूलम्—सुकडेत्ति सुपक्केत्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठेत्ति सावज्ज वज्जए मुणी ॥३६॥

छाया—सुकृतमिति सुपक्वमिति, सुच्छिन्नं सुहृत मृतम् ।
सुनिष्ठित सुलष्टमिति, सावद्यं वर्जयेन्मुनि ॥ ३६ ॥

टीका—'सुकडेत्ति' इत्यादि—

मुनि'=साधुः, सावद्य=सपाप वचनं वर्जयेत्=न वदेत्। कीदृशं तत्सावद्यमित्याह

आदि में (सजए–सयत) साधु (जय–यतमान) चप्पड चप्पड आदि शब्द के तथा विना (अपरिसाडिय–अपरिशाटितम्) हाथ से या मुंह से एक भी सीथ–अन्न का कण–नीचे न गीरे, इस रूप से (समय–समक) समोगी साधुओं के साथ (भुजे–भुञ्जीत) आहार करे ।'३५॥

अथ वचन की यातना कहते हैं—'सुकडेत्ति' इत्यादि

अन्वयार्थ—(मुणी सावज्ज वज्जए–मुनिः सावद्य (वचनं) वर्जयेत् मुनि का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के सावद्य–सपाप वचन के बोलने का परित्याग करे। वे वचन ये हैं–(सुकडे त्ति सुपक्के त्ति, सुच्छिन्ने, सुहडे मडे सुनिट्ठिए, सुलट्ठेत्ति,–सुकृतमिति, सुपक्व मिति सुच्छिन्न सुहृत मृतम् (सुमृतम्) सुनिष्ठित सुलष्ठमिति, 'सुकडे'

છવાયેલ એવા ઉપાશ્રય આદિમાં સંજયે–સયતઃ સાધુ જય–યતમાન' ચપ્પડ ચપ્પડ આદિ શબ્દ વગર અપરિસાડિય–અપરિશાટિતમ્ તથા હાથથી તથા મોઢાથી એક પણ સીથ અન્નનો કણ નીચે ન પડે એ રીતે સમય–સમક સંભોગી સાધુઓની સાથે ભુજે–ભુઞ્જીત આહાર કરે. ॥ ૩૫ ॥

હવે વચનની યતના કહેવામાં આવે છે સુકડેત્તિ૦–ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—મુણીસાવજ્જં વજ્જએ–મુનિ સાવદ્ય વચન વર્જયેત્ મુનિનું કર્તવ્ય છે કે તે આ પ્રકારના સાવદ્ય–સપાપ વચનને બોલવાનો પરિત્યાગ કરે તે વચન આ છે સુકડેત્તિ સુપક્કેત્તિ સુચ્છિન્ને સુહડે મડે સુનિટ્ઠિએ સુલટ્ઠેત્તિ–સુકૃતમિતિ, સુપક્વમિતિ, સુચ્છિન્ન સુહૃત મૃતમ્ (સુમૃતમ્) સુનિષ્ઠિતમ્ સુલષ્ઠમિતિ

–' सुकडेत्ति ' इत्यादि । सुकृतमिति–इद सूपमिष्टान्नादिक हिङ्गुजीरकादिव्या घारै· सुष्ठु सस्कृतमिति, तथा–सुपक्वमिति–इद घृतपूरादिक घृतादिना सुपक्व-मस्तीत्यादिक, तथा सुच्छिन्नमिति–इद शाकपत्रादि दात्रासिपुत्रादिशस्त्रै· सुष्ठु छेदित मस्तीत्यादिक, तथा–सुहृत=' कारवेल्लादिशाकस्य कटुकत्व सुष्ठु हृत=निवारित तद्दुत्कालनेन ' इत्यादिकम्, तथा–'मडे' इत्यनेन पूर्वापर–साहचर्यात् ' सुमडे ' इति बोध्यते, मृत=सुमृतम्–पारदादिधातुजातम्, इत्यादिक, तथा–' सुनिट्ठिए ' सुनिष्ठितम्–' इदमन्नादिक सम्यग् निष्ठा रसप्रकर्षात्मिका प्राप्त, सुष्ठु रसवत्कृत-मस्ति ' इत्यादिक, तथा–' सुलट्ठेत्ति ' सुलष्ट–सुष्ठु कमनीयम् ' इदमन्नादिक मनोहरमस्ति' इत्यादिक सावद्य वर्जयेदिति सबन्ध ।

यह दाल वगैरह हींग जीरे आदि के बघार से बहुत अच्छी बनी हुई है, तथा 'सुपक्के' यह कचौरी खाजा मालपुआ घेवर आदि घी में बहुत अच्छी तरह से पकाये गये हैं, तथा–'सुच्छिन्ने' यह शाक आदि चाकू छुरि आदि से बहुत ही उत्तम रीत से काटा गया है, तथा 'सुहडे' यह करेला का शाक देखो तो सही कितना स्वादिष्ट बना है कि इन का कडुआपन सर्वथा हरलिया है अर्थात् इन में जरा भी कडुआपन नहीं रहा है, । तथा–'मडे' यह पारदादिक धातुएँ कितनी अच्छी तरह से मार कर दवा के उपयोग लायक बना दी गई हैं । तथा–'सुनिट्ठिए' यह आहार बहुत ही स्वादिष्ट बनाया गयाहै । 'सुलट्ठे' यह भोजन जब देखने में ही मनोहर लग रहा है तो फिर इस के खाने में कितना आनद आवेगा ? इत्यादि, ये समस्त सावद्य वचन हैं, इस लिये साधु को इस प्रकार के सावद्य वचन नहीं बोलना चाहिये ।

આ દાળ વગેરે હિંગ જીરા વગેરેના વઘારથી ઘણી સારી બની છે, તથા सुपक्के આ કચોરી, ખાજા, માલપુવા, ઘેવર વગેરે ઘીમા ઘણી સારી રીતે પકવવામા આવેલ છે, તથા सुच्छिन्ने આ શાક વગેરે ચાકા છરીથી ઘણી ઉત્તમ રીતે સુધારવામાં આવેલ છે, તથા सुहडे આ કારેલાંનુ શાક જુઓ તો ખરા કેવું સ્વાદિષ્ટ બન્યુ છે કે એનું કડવાપણું પણ દૂર થયેલ છે અર્થાત એમાં જરા પણ કડવાપણું રહેલ નથી मडे આ પારદાદિક ધાતુઓ કેવી સારી રીતે મારીને દવાના ઉપયોગ લાયક બનાવવામાં આવી છે તથા सुनिट्ठिए આ આહાર ઘણો જ સ્વાદિષ્ટ બનાવવામાં આવેલ છે सुलट्ठे આ ભોજન જ્યારે જોવાથી જ મનોહર લાગે છે તો પછી એને ખાવામાં કેટલો આનદ આવશે ? ઇત્યાદિ આ સઘળા સાવદ્ય વચન છે સાધુએ આ પ્રકારનાં વચન ન બોલવા જોઇએ

यद्वा-सुकृत-'सुष्टुकृत यदनेन शत्रु प्रति प्रतिक्रिया कृता' इति, सुपक्वम्, इदमपूपादिक घृताद्यतिशयेन पाचितमिति, सुच्छिन्नोऽय वृक्षो वटपिप्पलादिरिति, सुहृतं-कृपणस्य धन तस्करैरिति, मृत.-सुष्टु मृतोऽय दुष्ट इति। सुनिष्ठित -'सुष्टु नष्टोऽय प्रासाद', कूपो वा' इति, यद्वा-'सुष्टु निर्मितोऽयं प्रासाद., कूपो वा' इति, यद्वा-'सुष्टु नष्टमस्यदुष्टस्य द्रविणादिक' मिति। सुलष्ट'-'सुपुष्टोऽय गजस्तुरङ्गमो वा' इति, यद्वा-'सुलष्टा रुचिरावयवेय राजकन्ये'-ति सावद्य वर्जयेत्।

अथवा-इस प्रकार साधु को कभी नहीं करना चाहिये, कि जो -'सुकडे'-इसने शत्रु को मार भगा दिया है, यह बहुत अच्छा काम किया। 'सुपक्के' ये अपूपादिक अधिक घृत में खूब अच्छे पकाये गये हैं इस लिये सुपक्व हैं खाने में बहुत अच्छे लगते हैं। 'सुच्छिन्ने' इस वृक्ष को आसानी से खूब अच्छा काटा है। 'सुहडे' अच्छा हुआ जो इस कंजूस का द्रव्य चोरों ने चुरा लिया। 'मडे' यह बड़ा दुष्ट था मरा सो अच्छा ही हुवा। 'सुनिट्ठिए' यह मकान अथवा कुआ गिर गया वह अच्छा हुआ, अथवा-यह मकान या कुआ बहुत ही सुन्दर बनाया गया है, या ऐसा कहना कि भला हुवा इस दुष्ट की सपत्ति जो लूट गई। 'सुलट्ठे' यह हाथी अथवा घोडा बहुत अच्छा पुष्ट हुआ है। यह राजकन्या बडी सुन्दर है। ये सब वचन सावद्य हैं, अत साधु के कहने योग्य नहीं हैं।

અથવા—આ પ્રકારના વચનો પણ સાધુએ કદી ઉચ્ચારવાં ન જોઈએ કે જે સુકડે આણે શત્રુને મારી ભગાડી દીધો છે, એ કામ ઘણુ સારૂ કર્યુ સુપક્કે આ મિઠાઈઓ, અપૂપ-માલપુડા વગેરે સારા ઘીમાં ઘણી જ સારીરીતે પકાવવામાં આવેલ છે તેથી એ સુપક્વ છે, ખાવામા બહુ લીજ્જત આપે છે સુચ્છિન્ને આ વૃક્ષને ઓછી મહેનતે સારીરીતે કાપવામાં આવ્યું છે સુહડે સારૂં થયું કે, આ કંજુસનું ધન ચોર ઉપાડી ગયા મડે એ ઘણો દુષ્ટ હતો મર્યો તે સારૂ થયું, સુનિટ્ઠિએ આ મકાન અગર કુવો પાડી અથવા બુરી નાખવામા આવતા સારૂ થયુ અથવા આ મકાન અગર કુવો ખૂબ સુંદર બનાવવામાં આવેલ છે તથા આ દુષ્ટની સપત્તિ લુંટાઈ ગઈ તે સારૂ થયુ સુલટ્ઠે આ હાથી અથવા ઘોડો ખૂબ સારીરીતે પુષ્ટ બનેલ છે, આ રાજકન્યા ખૂબ સુંદર છે, આ બધાં વચનો સાવદ્ય વચન છે આથી તે સાધુએ બોલવા યોગ્ય નથી.

'सुकृतम्' इत्यनेन सूपनिष्ठानादिसपादने लवणलक्षणपृथिवीकायादिजल-तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियादित्रसजीवपर्यन्त हिंसानुमोदन सूचितम्। एव सुप क्वमित्यत्रापि हिंसानुमोदन बोध्यम्।

सुच्छिन्नमित्यनेन-वनस्पतिद्वीन्द्रियादिहिंसानुमोदन सूचितम्। सुहृतमित्य नेन कारवेल्लादिपक्षे वनस्पत्यादिहिंसानुमोदनम्, धनहरणपक्षेऽदत्तादानपरपीडोत्पा-दनाद्यनुमोदन सूचितम्। मृतमित्यनेन पारदादिधातुपक्षे पृथिवीकायादि हिंसानु-

'सुकृतम्' इस पद से सूत्रकार यह प्रकट करते हैं कि जब साधु ऐसा कहता है कि यह दाल आदि बहुत ही अच्छी बनी हैं तब उसे लवणरूप पृथिवीकाय तथा जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पति-काय एव द्विन्द्रियादिक त्रस काय, इन सबकी हिंसा की अनुमोदना करने का दोष लगता है। इसी प्रकार सुपक्व कहने में भी यही दोष लगते हैं।

'सुच्छिन्नम्' इस पद से सूत्रकार यह बात सूचित करते हैं कि यदि मुनि 'ये शाकपत्रादि चाकू आदि से अच्छी तरह काटे गये हैं' ऐसा कहता है तो उसे वनस्पति काय की एव द्वीन्द्रियादिक त्रसकाय की हिंसा की अनुमोदना करने का दोष लगता है। 'सुहृतम्' यदि यही बात धन हरण आदि के पक्ष में जब बोलने में आती है तो उस समय उसे अदत्तादान की अनुमोदना करने का तथा पर को पीड़ा उत्पन्न कर ने आदि की अनुमोदना का दोष लगता है। 'मृतम्' इस

"सुकृतम्" આ પદથી સૂત્રકાર એ પ્રકટ કરે છે કે, સાધુ જ્યારે એમ કહે છે કે, આ દાળ વગેરે ખૂબ સ્વાદિષ્ટ બનેલ છે ત્યારે તેને લવણ રૂપી પૃથવીકાય, જળકાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય અને દ્વિન્દ્રિયાદિક ત્રસકાય આ બધાની હિંસામા અનુમોદના કરવાનો દોષ લાગે છે આ રીતે સુપક્કમ્ કહેવાથી પણ આ દોષ લાગે છે

સુનિચ્છન્નમ્ આ પદથી સૂત્રકાર આ વાત સૂચિત કરે છે કે, મુનિ જો શાક પત્રાદિક ચાકુ વગેરેથી સરસ રીતે કાપવામાં આવેલ છે એવું કહે તો તેને વનસ્પતિ કાય અને દ્વીન્દ્રિયાદિક ત્રસકાયની હિંસા કરવામાં અનુ મોદન કરવાનો દોષ લાગે છે સુહૃતમ્ આવી જ રીતે ધન હરણ વગેરેની બાબતમાં બોલવામાં આવે ત્યારે તેને અદત્તા દાનની અનુમોદન કરવાનો તથા બીજાને પીડા ઉત્પન્ન કરવી વગેરેની અનુમોદનનો દોષ લાગે છે મૃતમ્ એ પદથી

मोदन सूचितम्, दुष्टपक्षे तु प्राणघातानुमोदनं बोध्यम्। सुनिष्ठितमित्यनेन षट्काय हिंसानुमोदनं सूचितम्। सुलष्टमित्यत्रापि तथैव बोध्यम्।

'सावद्यं वर्जयेत्' इत्यनेन उक्तमेव भाषणं निरवद्यं चेत् तत्र न प्रतिषेध इति ध्वन्यते, तथा च पक्षद्वयमनया गाथया गम्यते। तत्र सावद्यपक्षो व्याख्यातः,

पद से सूत्रकार का यह अभिप्राय है कि जब साधु 'सुमृत' इस पद का खुश होकर प्रयोग करता है और वह प्रयोग यदि उसका पारदादिक धातुओं के मारण करने के पक्ष में होता है तो उस समय उसे पृथिवी कायादिक एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करने की अनुमोदना का समर्थक माना जाता है। जब यही प्रयोग साधु की ओर से किसी दुष्ट के पक्ष में किया गया होता है तो वह प्राणघात का अनुमोदक माना जाता है। 'सुनिष्ठितम्' इस पद से सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि जब साधु 'यह अन्नादिक सामग्री सरस तैयार हुई है' इस प्रकार का प्रयोग करता है तो उसे अन्नादिक सामग्री की तैयारी में जो षट्काय के जीवों की विराधना हुई है उसकी अनुमोदना करने का दोष लगता है। इसी तरह 'सुलब्धम्' इस पद के उच्चारण करने में भी इसी दोष का भागी होना पडता है।

'सावद्य वर्जयेत्' इस प्रकार के कथन का यह अभिप्राय है कि यदि यह सुकृत आदि भाषण निरवद्य होता है तो उस समय साधु को

સૂત્રકારનો એ અભિપ્રાય છે કે, જ્યારે સાધુ "સુમૃત" આ પદનો ખુશ થઈ પ્રયોગ કરે છે અને તે પ્રયોગ પારદાદિક ધાતુઓનું મારણ કરવાના પક્ષમાં હોય છે તો એ સમયે એને પૃથવીકાયાદિક એકેન્દ્રિય જીવની હિંસા કરવાની અનુમોદનાનો સમર્થક માનવામાં આવે છે જ્યારે એજ પ્રયોગ સાધુ તરફથી કોઈ દુષ્ટના પક્ષમાં કરવામાં આવ્યો હોય તો તે પ્રાણઘાતનો અનુમોદક માનવામાં આવે છે

સુનિષ્ઠિતમ્ આ પદથી સૂત્રકાર એ સૂચિત કરે છે કે, જ્યારે સાધુ "આ અન્નાદિ સામગ્રી સરસ તૈયાર કરવામાં આવી છે" આ પ્રકારનો પ્રયોગ કરે છે તો તેને અન્નાદિક સામગ્રીની તૈયારીમાં જે ષટ્કાય જીવોની વિરાધના થઈ છે એની અનુમોદના કરવાનો દોષ લાગે છે આ રીતે "સુલબ્ધમ્" એ આ એના પદનું ઉચ્ચારણ કરવામાં પણ એ દોષના ભાગી બનવું પડે છે

"सावद्यं वर्जयेत्" આ પ્રકારના કથન અંગે એ અભિપ્રાય છે કે, જો એ સુકૃત આદિ ભાષણ નિરવદ્ય હોય છે તો એ સમયે સાધુને કોઈ દોષ

निरवद्यपक्षो व्याख्यायते-यथा-'सुकृतमिति' सुष्ठु कृतमनेन वैयावृत्त्यमभयदानं सुपात्रदानादिकं वेति, 'सुपक्वमिति' सुष्ठु पक्वमस्य ब्रह्मचर्यादिकमिति, 'सुच्छिन्न' सुष्ठु छिन्नमनेन स्नेहबन्धनमिति, 'सुहृत' सुष्ठु हृतं=स्वायत्तीकृत ज्ञानादिरत्नत्रयमिति, 'सुनिष्ठितम्' सुष्ठु नष्टमस्याप्रमत्तसाधोः कर्मजालम्, सुमृतः=सुष्ठु मृतोऽयं पण्डितमरणेन इति। सुलष्टा=सुष्ठु मनोज्ञा क्रियाऽस्य साधोः, यद्वा-सुलष्टा=दीक्षायोग्या कन्येति वदत् ॥ ३६ ॥

कोई दोष नहीं लगता, इस प्रकार यह सावद्य पक्ष का वर्णन हुवा है। अब निरवद्य पक्षका अर्थ कहते हैं—निरवद्य पक्ष में जब साधु 'सुकृतं' 'इस ने वैयावृत्य, अभयदान एवं सुपात्र दान आदि सत्कर्म जो किये हैं वे बहुत अच्छे किये हैं' इस प्रकार बोल ने में कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार आगे सब जगह समझलेना चाहिये,-जैसे 'सुष्ठु पक्वमस्य ब्रह्मचर्यादिक' इस के ब्रह्मचर्य आदि सद्गुण अच्छी तरह से परिपक्व हो चुके हैं, इति 'सुष्ठु छिन्नं अनेन स्नेहबन्धनम्' इति, इस ने स्नेह का बधन अच्छी तरह से काट दिया है, 'सुष्ठु हृत स्वायत्तीकृत अनेन ज्ञानादिरत्नत्रय' इति, इस ने ज्ञानादिक रत्नत्रय को अच्छी तरह से स्वाधीन कर लिया है, 'सुष्ठु नष्टमस्याऽप्रमत्तसाधो कर्मजालम्' इति, इस अप्रमत्त साधु का कर्मजाल अच्छी तरह से नष्ट हो चुका है; 'सुष्ठु मृतोऽय पण्डितमरणेन' इति, पंडित मरण से इसकी मृत्यु हुई यह बहुत ही सुंदर बात हुई, 'सुष्ठु मनोज्ञा अस्य साधो क्रिया' इति,

લાગતો નથી આ પ્રકારે આ સાવદ્ય પક્ષનું વર્ણન થયું હવે નિરવદ્ય પક્ષનું વર્ણન કરવામાં આવે છે—

નિરવદ્ય પક્ષમા જ્યારે સાધુ "સુકૃત" આણે વૈયાવૃત્ય, અભયદાન, અને સુપાત્રદાન આદિ જે સત્કર્મ કર્યાં છે તે ઘણા સારા કર્યાં છે" આ પ્રકારે બોલવામાં કોઈ દોષ નથી આ પ્રકારે આગળ દરેક જગ્યાએ સમજી લેવુ જોઈએ જેમ-"सुष्ठु पक्वमस्य ब्रह्मचर्यादिकं" એનો બ્રહ્મચર્ય આદિ સદ્ગુણ સારી રીતે પરિપક્વ થયેલ છે, ઈતિ, "सुष्ठु छिन्नं अनेन स्नेहबन्धनम्" ઈતિ, એણે સ્નેહનુ બધન સારી રીતે કાપી નાખેલ છે "स्वायत्तीकृत अनेन ज्ञानादिरत्नत्रय" ઈતિ, એણે જ્ઞાનાદિક રત્નત્રયને સારી રીતે સ્વાધીન કરી લીધેલ છે 'सुष्ठुनष्टमस्या प्रमत्त साधोः कर्मजालम्" આ અપ્રમત્ત સાધુની કર્મજાળ સારી રીતે નષ્ટ થઈ ચુકેલ છે, "सुष्ठु मृतोऽय पण्डितमरणेन" ઈતિ, પડિત મરણથી એનું મૃત્યુ થયુ એ ઘણુ જ સારૂ થયું, "सुष्ठु मनोज्ञा अस्य साधोः क्रिया" ઈતિ યદ્વા-

विनीताविनीतयोरुपदेशदाने यत् फलं गुरोर्भवति तदाह–

मूलम्—रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए ।

बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ॥३७॥

छाया—रमते पण्डितान् शासन्, हय भद्रमिव वाहकः ।

बालं श्राम्यति शासन्, गलिताश्वमिव वाहकः ॥ ३७ ॥

टीका—' रमए ' इत्यादि—

अत्र गुरुरिति कर्तृपदं प्रकरणवशाद्विज्ञेयम् । पण्डितान्=विनीतशिष्यान्, शासत्=शिक्षयन् गुरुः, रमते=सफलप्रयत्नतया प्रसन्नो भवतीत्यर्थः । क इव ? भद्रं=जात्यं विनीतं, हयम्=अश्वं वाहयन्, वाहकः=अश्ववाह इव, यथा जात्याश्वं वाहयन्नश्ववाह

यद्वा- 'सुलष्टा दीक्षायोग्या कन्येति' इसी साधु की क्रिया मनोज्ञ है अथवा यह कन्या दिक्षा योग्य है।

भावार्थ–सुकृत आदि शब्दों का प्रयोग यदि साधु सांसारिक कार्यों को लक्ष्य में रख कर करता है तो वह दोष का भागी होता है और इन्हीं शब्दों का प्रयोग यदि वह धार्मिक कार्यों को लक्ष्य में रखकर करता है तो उसको कोई दोष नहीं लगता है ॥३६॥

विनीत और अविनीत शिष्य को उपदेश देने में गुरु महाराज को जो फल प्राप्त होता है उसे इस गाथाद्वारा सूत्रकार कहते हैं–'रमए' इत्यादि

अन्वयार्थ–गुरु महाराज (पंडिए–पण्डितान्) विनीत शिष्यों को (सासं–शासत्) शिक्षा देते हुए (रमए–रमते) सफल प्रयत्नवाला होने से प्रसन्न होते हैं। जैसे–(भद्दं हयं व वाहए–भद्रं हयं इव वाहक)

सुलष्ठा दीक्षायोग्या कन्येति" આ સાધુની ક્રિયા મનોજ્ઞ છે અથવા આ કન્યા દિક્ષા યોગ્ય છે

ભાવાર્થ—સુકૃત આદિ શબ્દોનો પ્રયોગ જો સાધુ સંસારીક કાર્યોને લક્ષમાં રાખીને કરે છે તો તે દોષનો ભાગી બને છે અને એ જ શબ્દોનો પ્રયોગ જો તે ધાર્મિક કાર્યોને લક્ષમાં રાખીને કરે છે તો તેને કોઇ દોષ લાગતો નથી. ॥૩૬॥

વિનીત અને અવિનીત શિષ્યને ઉપદેશ દેવામાં ગુરુ મહારાજને જે ફળ પ્રાપ્ત થાય છે એને આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર કહે છે—रमए० ઈત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—ગુરુ મહારાજ पंडिए–पण्डितान् વિનીત શિષ્યોને सासं–शासत् શિક્ષા આપતાં रमए–रमते સફળ પ્રયત્ન વાળા હોવાથી તેના ઉપર પ્રસન્ન

प्रसीदति तद्वदित्यर्थ.। बाल=विनयरहित शिष्य, शासत्=शिक्षयन् गुरु' श्राम्यति= खिद्यते, क इव? गलिताश्व=दुर्विनीतमश्वं मुहुश कशया ताडनेऽपि विपरीतगत्या पश्चाद्भागगमनादिकारिणमश्व वाहयन् वाहक इव। यथा दुर्विनीतमश्व वाहयन् वाहक खलु निष्फलप्रयत्नतया खेद प्राप्नोति तद्वदित्यर्थ ॥ ३७ ॥

विनीत घोडे को इच्छित मार्ग पर चलाने रूप शिक्षा से घुड़सवार प्रसन्न होता है। (बाल–बाल) विनयरहितशिष्यको (सासतो–शासत्) शिक्षा देते हुए गुरु महाराज (सम्मइ–श्राम्यति) खेदखिन्न होते हैं। जैसे–(गलियस्स व वाहए–गलिताश्व इव वाहक) दुर्विनीत अश्वको वार २ कशा से ताडित करने पर सवार दु खित होता है, क्यों कि दुर्विनीत अश्व को ज्यों २ चाबुक लगाते हैं त्यों २ वह पीछे उलटा हटता है। इससे सवार का प्रयत्न निष्फल होता है।

भावार्थ–विनीत शिष्य को दी गई शिक्षा सफलता का साधक होने से गुरु की प्रसन्नता का कारण होती है। अविनीत शिष्य को दी गई वही शिक्षा असफल होती है। अत उस से उल्टा गुरु महाराज को खेदखिन्न ही होना पडता है। जैसे–विनीत अश्व इच्छित मार्ग पर चल कर अपने मालिक को प्रसन्न करता है और अविनीत अश्व कशाद्वारा ताडित होने पर भी विपरीत ही मार्ग पर चलता है, इस से सवार को उल्टा कष्ट उठाना पडता है ॥ ३७ ॥

જેમ મદ્દ હય ववाहए-भद्रहय इव वाहक –વિનીત ઘોડાને ઇચ્છિત માર્ગ ઉપર ચલાવવા રૂપ શિક્ષાથી ઘોડેસ્વાર પ્રસન્ન થાય છે बाल–बाल વિનય રહિત શિષ્યને सासतो–शासत શિક્ષા આપતા ગુરુ મહારાજ सम्मइ–श्राम्यति ખેદ ખિન્ન બને છે, જેમ गलियस्सेव वाहए–गलिताश्व इव वाहक અવિનીત ઘોડાને ઘડી ઘડી ચાબખાથી મારવાની બાબતમા સ્વારનું મન દુ ખીત બને છે કેમ કે અવિનીત ઘોડાને જેમ જેમ ચાબુક મારવામાં આવે છે તેમ તેમ તે પાછો પડે છે આથી સવારનો પ્રયત્ન નિષ્ફળ બને છે

ભાવાર્થ–વિનીત શિષ્ય ને આપવામા આવેલ શિક્ષા સફળતાની સાધક બનવાથી ગુરુ મહારાજની પ્રસન્નતાનુ કારણ બને છે, અવિનીત શિષ્યને આપ વામા આવતી એ જ શિક્ષા અસફળ બને છે, આથી ગુરુ મહારાજે ખેદ ખિન્ન બનવુ પડે છે જેમ–વિનીત ઘોડો ઇચ્છિત માર્ગે ચાલી પોતાના માલીકને પ્રસન્ન કરે છે, અને અવિનીત ઘોડો ચાબુકથી પીટવામાં આવવા છતાં પણ વિપરીત માર્ગ પર જ ચાલે છે જેનાથી સવારને ઉલ્ટાનું કષ્ટ જ ભોગવવુ પડે છે ॥૩૭॥

विनीताविनीतयोरुपदेशदाने यत् फलं गुरोर्भवति तदाह–

मूलम्—रमए पंडिए सांस, हयं भद्दं वं वाहए ।
वालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं वं वाहए ॥३७॥

छाया—रमते पण्डितान् शासन्, हयं भद्रमिव वाहकः ।
वालं श्राम्यति शासन्, गलिताश्वमिव वाहकः ॥ ३७ ॥

टीका—' रमए ' इत्यादि—

अत्र गुरुरिति कर्तृपदं प्रकरणवशाद्विज्ञेयम् । पण्डितान्=विनीतशिष्यान्, शासत्=शिक्षयन् गुरुः, रमते=सफलप्रयत्नतया प्रसन्नो भवतीत्यर्थः । क इव ? भद्र=जात्यं विनीतं, हयम्=अश्वं वाहयन्, वाहक=अश्ववाह इव, यथा जात्याश्वं वाहयन्नश्ववाह

यद्वा- 'सुलष्टा दीक्षायोग्या कन्येति' इसी साधु की क्रिया मनोज्ञ है अथवा यह कन्या दिक्षा योग्य है।

भावार्थ–सुकृत आदि शब्दों का प्रयोग यदि साधु सासारिक कार्यों को लक्ष्य में रख कर करता है तो वह दोष का भागी होता है और इन्हीं शब्दों का प्रयोग यदि वह धार्मिक कार्यो को लक्ष्य में रखकर करता है तो उसको कोई दोष नहीं लगता है ॥३६॥

विनीत और अविनीत शिष्य को उपदेश देने में गुरु महाराज को जो फल प्राप्त होता है उसे इस गाथाद्वारा सूत्रकार कहते हैं–'रमए' इत्यादि

अन्वयार्थ–गुरु महाराज (पंडिए–पण्डितान्) विनीत शिष्यों को (सासं–शासत्) शिक्षा देते हुए (रमए–रमते) सफल प्रयत्नवाला होने से प्रसन्न होते हैं। जैसे–(भद्दं हयं व वाहए–भद्रं हय इव वाहकः)

सुलष्ठा दीक्षायोग्या कन्येति" આ સાધુની ક્રિયા મનોજ્ઞ છે અથવા આ કન્યા દિક્ષા યોગ્ય છે

ભાવાર્થ—સુકૃત આદિ શબ્દોનો પ્રયોગ જો સાધુ સસારીક કાર્યોને લક્ષમાં રાખીને કરે છે તો તે દોષનો ભાગી બને છે અને એ જ શબ્દોનો પ્રયોગ જો તે ધાર્મિક કાર્યોને લક્ષમાં રાખીને કરે છે તો તેને કોઈ દોષ લાગતો નથી.॥૩૬॥

વિનીત અને અવિનીત શિષ્યને ઉપદેશ દેવામાં ગુરુ મહારાજને જે ફળ પ્રાપ્ત થાય છે એને આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર કહે છે–રમए० ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—ગુરુ મહારાજ पंडिए-पण्डितान् વિનીત શિષ્યોને सासं-शासत् શિક્ષા આપતાં रमए-रमते સફળ પ્રયત્ન વાળા હોવાથી તેના ઉપર પ્રસન્ન થ છે,

अयं भाव.-दुर्विनीतशिष्यः खल्वेव चिन्तयति-अय गुरुर्मां केवल खड्डुकादिभि॰ पीडयति न तु किमपि ममहित चिन्तयतीति ॥ ३८ ॥

सविनयशिष्यस्य भावनामाह--

मूलम्—पुत्तो मे' भाय णाइत्ति, साहू कल्लाण मन्नई ।
पावदिट्ठी उ अप्पाण, सास दासेत्ति' मन्नेई ॥३९॥

छाया—पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति, साधु कल्याण मन्यते ।
पापदृष्टिस्तु आत्मान, शास्यमान दास इति मन्यते ॥ ३९ ॥

टीका—' पुत्तो मे ' इत्यादि—

अय शिष्य , मे=मम, पुत्रतुल्य इति, भ्राता=भ्रातृतुल्य इति, ज्ञाति'=ज्ञाति

भावार्थ—उभयलोकसबधी हितकारक उपदेश देने पर भी अविनीत शिष्यकी दृष्टिमें वह गुरु महाराज के शिक्षावचन हितकारक प्रतीत न होकर केवल कष्टप्रद चपेटा आदिरूप ही प्रतीत होते हैं। वह ऐसा मानता है कि ये मुझे इस बहाने केवल पीडित ही करना चाहते हैं। क्यों कि इन्हों ने कभी भी मेरे हित का विचार ही नहीं किया है तो फिर ये मेरे हित की बुद्धि से अच्छी बात कहेंगे भी कैसे ॥ ३८ ॥

विनीत शिष्य की भावना कैसी होती है ! इसको इस गाथाद्वारा सूत्रकार प्रकट करते हैं—' पुत्तो मे ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—जब गुरुमहाराज शिष्यों को शिक्षा देते हैं तब उनमें जो (साहू–साधु) विनीत शिष्य होता है वह इस प्रकार विचार करता

ભાવાર્થ—ઉભયલોક સંબંધી હિતકારક ઉપદેશ દેવા છતાં પણ અવિનીત શિષ્યની દૃષ્ટીમાં ગુરુ મહારાજનું તે શિક્ષા વચન હિતકારક ન ગણતાં કેવળ દુઃખદાયક તેમજ મુંજવનાર આદિરૂપ જ લાગે છે તે એવું માને છે કે, આ બહાના તળે તેઓ કેવળ પિડવાજ માગે છે કેમકે, તેમણે કદી પણ મારા હિતનો વિચાર કર્યો નથી. તો તેઓ મારા હિતની ભાવનાથી સારી વાત કેવી રીતે કહે ॥ ૩૮ ॥

વિનીત શિષ્યની ભાવના કેવી હોય છે-એને આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર પ્રગટ કરે છે પુત્તો મે ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—જ્યારે ગુરુ મહારાજ શિષ્યને શિક્ષા આપે છે, ત્યારે એનામાં જે સાહૂ-સાધુઃ વિનીત શિષ્ય હોય છે તે એ પ્રકારનો વિચાર કરે છે કે, આ ગુરુ

गुरोः शिक्षावचने कुशिष्यस्य दुर्भावनामाह—

मूलम्—खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे ।
कल्लाणमणुसासंतो, पावदिट्ठित्ति मन्नई ॥ ३८ ॥

छाया—खड्डुका मे चपेटा मे, आक्रोशाश्च वधाश्च मे ।
कल्याणमनुशासन्तु(शास्यमान), पापदृष्टिरिति मन्यते ॥ ३८ ॥

टीका—' खड्डुया ' इत्यादि—

कल्याण=लोकद्वयहितम्, अनुशासत् = शिक्षयन् गुरुः कुशिष्येण पापदृष्टिः= पापा=पापमयी दृष्टिर्यस्य स तथा, इति मन्यते–अयं गुरुर्मम हिंसकोऽस्तीति मन्यते। यतोऽनेन–मे=मम, खड्डुका:=टक्करा आघाता दीयन्तेऽनेनेति शेष । तथा मे=मम, चपेटा =करतलाघाता दीयन्ते। च–पुन , आक्रोशा =परुषभाषणानि, च–पुनः, मे=मम, वधा =दण्डादिघाता क्रियन्ते।

जो कुशिष्य होता है उसे जब गुरु महाराज शिक्षा देते हैं तब उसकी क्या भावना होती है यह बात इस गाथा द्वारा प्रकट की जाती है–

' खड्डुया ' इत्यादि

अन्वयार्थ—अविनीत शिष्य (कल्लाणमणुसासतो–कल्याण अनुशासत्) उभयलोकसंबंधी हित शिक्षा देने वाले गुरु महाराज को (पावदिट्ठी–पापदृष्टिः) यह पापदृष्टि वाले मेरे घातक हैं (त्ति-इति) इस प्रकार समझता है । क्यों कि यह गुरु महाराज की शिक्षा सम्बन्धी बातों को इस प्रकार मानता है कि (खड्डुया मे चवेडा मे अक्कोसा य वहा य मे–खड्डुका मे चपेटा मे आक्रोशाश्च वधाश्च मे) ये मेरे लिये आघातस्वरूप हैं थप्पड़स्वरूप हैं, परुषभाषण–गाली–स्वरूप हैं, प्रहारस्वरूप हैं।

જે કુશિષ્ય હોય છે એને ગુરુ મહારાજ શિક્ષા આપે છે, ત્યારે તેની કેવી ભાવના હોય છે તે વાત આ ગાથા દ્વારા પ્રગટ કરવામાં આવે છે खड्डुया०ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—અવિનીત શિષ્ય कल्लाणमणुसासंतो-कल्याण अनुशासत् ઉભય લોક સબંધી હિતશિક્ષા દેવાવાળા ગુરુ મહારાજને पावदिट्ठी–पापदृष्टिः એ પાપ દૃષ્ટીવાળા મારા ઘાતક છે त्ति इति એ પ્રકારના સમજે છે કેમ કે, ગુરુ મહારાજની શિક્ષા સબંધી વાતોને એ પ્રકારે માને છે કે, खड्डुया मे चवेडा मे अक्कोसा य वहा य मे–खड्डुका मे चपेटा मे आक्रोशाश्च वधाश्च मे આ મારા માટે આઘાત સ્વરૂપ છે, થપ્પડ સ્વરૂપ છે, પ્રહાર સ્વરૂપ છે

अथ विनयसर्वस्वमुपदिशति—

मूलम्—न कोवए आयरियं, अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥४०॥

छाया—न कोपयेत् आचार्यम्, आत्मानमपि न कोपयेत्।
बुद्धोपघाती न स्यात्, न स्यात् तोत्रगवेषक ॥ ४० ॥

टीका—'न कोवए' इत्यादि—

आचार्यं न कोपयेत्=क्रोधाविष्ट न कुर्यात्, आचार्यमित्युपलक्षणं तेन विनयार्हमुपाध्यायादिकमपि न कोपयेदित्यर्थ। आत्मानमपि न कोपयेत्-आचार्येण परुषभाषणादिभि शिक्ष्यमाणमात्मानमपि कोपयुक्त न कुर्यात्। अपिनाऽन्यस्यापि सग्रह अन्यं कमपि न कोपयेदित्यर्थ ॥

यत —मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्य,
ध्यानं करोतु विदधातु बहिर्निवासम्।
ब्रह्मव्रत धरतु भैक्षरतोऽस्तु नित्य,
रोप करोति यदि सर्वमनर्थकं तत् ॥ १ ॥

कथचित् कोपावेशेऽपि बुद्धोपघाती न स्यात्—आचार्योपघातको न भवेत्।

अथ विनय का सारांश कहते हैं—'न कोवए' इत्यादि

अन्वयार्थ—(आयरियं न कोवए–आचार्यं न कोपयेत्) विनीत शिष्य का कर्तव्य है कि वह आचार्य को कभी भी कुपित न करे। (अप्पाणं पि न कोवए–आत्मानमपि न कोपयेत्) आचार्य महाराज जब कोई शिक्षा देवें उस समय अपनी आत्मा को भी कुपित न करे। यदि कदाचित कोप का आवेश आ भी जावे तो उस समय (बुद्धोवघाई न सिया–बुद्धोपघाती न स्यात्) अपने आचार्य महाराज का उपघातक नहीं

હવે વિનયનો સારાંશ કહે છે—न कोवए ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—आयरियं न कोवए–आचार्यान् न कोपयेत् વિનીત શિષ્યનું એ કર્તવ્ય છે કે, તે આચાર્યને કદી પણ કોપિત ન કરે. अप्पाणं पि न कोवये–आत्मानमपि न कोपयेत् આચાર્ય મહારાજ જ્યારે કોઇ શિક્ષા આપે ત્યારે પોતાના આત્માને પણ કોપિત ન કરે. કદાચિત જો કોપનો આવેશ આવી પણ જાય તો તે સમયે बुद्धोवघाई न सिया–बुद्धोपघाती न स्यात् પોતાના આચાર્ય મહારાજનું

तुल्य इति गुरुर्जानाति, इत्येव साधु =विनयवान् शिष्य कल्याणं=शुभ मन्यते–'अय गुरु॰ पुत्रादिभावेन मामनुशास्ति' इति शुभभावना करोतीत्यर्थ । कुशिष्य॰ पुनः किं मन्यते ? इत्याह–' पावदिट्ठी उ ' इत्यादि। पापदृष्टि'=विनयरहित शिष्यस्तु शास्यमानम् आत्मान=मां दास इति गुरुर्जानाति, इत्यत्र मन्यते। ' अय गुरुर्नीच-दृष्ट्याऽवमानयन्मां दासमिव तर्जयति ' इत्यशुभभावनां करोतीत्यर्थ ।

अन्ये तु सुब्विभक्तिव्यत्ययात् ' पुत्तो ' इत्यस्य ' पुत्रमिव ' ' भाय ' इत्यस्य–' भ्रातरमिव ' ' णाइ ' इत्यस्य ' ज्ञातिमिव ' इति द्वीतीयान्तार्थं कल्पयन्ति 'मे' इति द्वितीयान्तार्थक च कल्पयन्ति तत्सर्वमनुचितम्–आगमोक्तपाठेऽर्थसगतौ सत्या तद्विपरीतार्थकल्पनाया भगवद्वचनविराधनाऽऽपत्ते॰ ॥ ३९ ॥

है कि ये गुरु महाराज मुझे (पुत्तो मे–पुत्रः मे) यह शिष्य मेरे पुत्रतुल्य है (भाय–भ्राता) भाई के समान है (णाय–ज्ञाति) ज्ञातिजनतुल्य है, ऐसा समझकर शिक्षा देते हैं, (त्ति–इति) इस प्रकार विनीत शिष्य (कल्लाण–कल्याणं) शुभ (मन्नइ–मन्यते) मानता है, अर्थात् विनीत शिष्य गुरु महाराज के प्रति कल्याण भावना करता है। और (पावदिट्ठी य–पापदृष्टिस्तु) जो अविनीत शिष्य होता है वह इस प्रकार विचारता है कि ये गुरुमहाराज (सास अप्पाण–शास्यमानमात्मानम्) शिक्षापाते हुए मुझको (दासे–दासः) यह दास है, इस प्रकार समझकर शिक्षा देते हैं (त्ति–इति) इस प्रकार (मन्नइ–मन्यते) अशुभ मानता है, अर्थात् अविनीत शिष्य गुरु महाराज के प्रति अशुभ भावना करता है। इस गाथा में विनीत और अविनीत शिष्य की भावना प्रदर्शित की है॥३९॥

મહારાજ મને पुत्तो मे–पुत्र मे આ શિષ્ય મારા પુત્ર તુલ્ય છે भाय–भ्राता ભાઈની તુલ્ય છે णाय–ज्ञाति જ્ઞાતિ તુલ્ય છે એવું સમજીને શિક્ષા આપે છે त्ति–इति આ પ્રકારે વિનીત શિષ્ય कल्लाण मन्नइ–कल्याण–मन्यते કલ્યાણકારક અને શુભકારક માને છે અર્થાત્ વિનીત શિષ્ય ગુરુ મહારાજ તરફ ખૂબ ઉચી ભાવના રાખે છે અને पावदिट्ठीय–पापदृष्टिस्तु જે અવિનીત શિષ્ય હોય છે તે એવા પ્રકારનું વિચારે છે કે, ગુરુ મહારાજ सास अप्पाण–शास्यमानमात्मान શિક્ષા આપતી વખતે મને दासे–दास આ દાસ છે, એવી રીતે સમજીને શિક્ષા આપે છે. त्ति इति આ પ્રકારે मन्नइ–मन्यते અશુભ માને છે અર્થાત્ કુશિષ્ય, ગુરુ મહારાજ તરફ અશુભ ભાવના ભાવે છે આ ગાથામાં શિષ્યની વિનીત અને અવિનીત ભાવના પ્રદર્શિત કરેલ છે ॥૩૯॥

वुद्धोपघाती न स्यादिति यदुक्त तत्र दृष्टान्तो वर्ण्यते—

अङ्गदेशे चम्पापुरीनगर्या गणिगुणसमन्वित. प्रक्षीणमायकर्मा क्षीणजङ्घाबल कृतैकशिष्यमतिन्न कश्चिद् वीर्योल्लासनामक आचार्य. क्षुद्रमतिनाम्नैकेनैव शिष्येण

जो विनय के योग्य हैं उन्हें भी कुपित नहीं करना चाहिये, क्यों कि कोप अनेक अनर्थो की जड एव समस्त उत्तम क्रियाओं का विनाशक माना गया है, कहा भी है—

"मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्य,
ध्यान करोतु विदधातु बहिर्निवासम्।
ब्रह्मव्रत धरतु भैक्षरतोऽस्तु नित्य,
रोष करोति यदि सर्वमनर्थक तत्" ॥ १ ॥

कोई भी व्यक्ति यदि मास मास खमण भी पारणा करता हो, सदा सत्य बोलता हो, ध्यान करता हो, वन में भी निवास करता हो, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता हो, भिक्षावृत्ति करता हो परन्तु यदि रोष —कोप करता है तो उसकी ये समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं ॥ १ ॥

'वुद्धोपघाती नहीं होना चाहिये' ऐसा जो कहा है उसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

अगदेश में चपा नामकी नगरी थी। उसमें गणिगुणों से युक्त

કરવા જોઈએ, કેમકે, કોપ અનેક અનર્થોની જડ તેમજ સમસ્ત ઉત્તમ ક્રિયાઓને નાશ કરનાર મનાયેલ છે કહ્યું પણ છે—

मासोपवास निरतोऽस्तु तनोतु सत्य
ध्यानं करोतु विदधातु बहिर्निवासम्।
ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्षरतोऽस्तु नित्य,
रोष करोति यदि सर्वमनर्थक तत् ॥ १ ॥

કોઈ પણ વ્યક્તિ કદાચ તે મહિના મહિનાના ઉપવાસ કરે, સદા સાચુ બોલતો હોય, ધ્યાન કરતો હોય, વનમાં પણ રહેતો હોય, બ્રહ્મચર્યવ્રતનું પાલન કરતો હોય, ભિક્ષાવૃત્તિ કરતો હોય, પરંતુ તે જો ક્રોધ કરતો હોય તો તેની એ સઘળી ક્રિયાઓ વ્યર્થ છે

બુદ્ધોપઘાતિ ન થવુ જોઈએ, એવુ જે કહેવામા આવે છે એને દૃષ્ટાંતથી સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે—

અંગ દેશમાં ચંપાપુરી નામની નગરી હતી, તેમાં ગણીગુણોથી યુક્ત

तथा तोत्रगवेषको न स्यात्-तोत्र=तोदन ततश्चास्य पीडोत्पादकस्य परुषभाषणा ऽऽदेर्गवेषकः=अन्वेषको न भवेदित्यर्थं । अय भाव -यथा-दुष्टस्तुरङ्गमो विपरीत गत्या प्रचलन् तोदनमन्वेषयति तद्वत् शिष्य आचार्यस्य प्रेरणारूपगवचनस्य गवेषको न भवेदिति।

होना चाहिये। तथा-(तोत्तगवेसए न सिया-तोत्रगवेपक न स्यात्) तोत्रगवेपक भी नहीं होना चाहिये-अर्थात् गुरु महाराज को वार २ प्रेरणा करने की आवश्यकता नहीं होने दे। तात्पर्य इसका यह है कि शिष्य को यह चाहिये कि जिस समय आचार्य महाराज अपने लिये परुष भाषण आदि रूप में भी यदि शिक्षात्मक वचन कहें तो उस समय वह उनके प्रति ऐसा व्यवहार न करे कि जिससे वे कुपित हो जावें, तथा स्वय भी अपनी आत्मा को उनके व्यवहार से अप्रसन्न न रखे। तथा ऐसी चेष्टा भी उसको नहीं करना चाहिये कि जिसमें आचार्य महाराज का उपघात हो। जिस प्रकार दुष्ट घोडा विपरीत चाल से चलता हुआ अपने मालिक को पद २ पर दुःखित किया करता है उसी प्रकार उनकी इच्छा के विरुद्ध चलकर शिष्यको उन्हें कभी भी दु खित नहीं करना चाहिये। सूत्र में जो अपि-शब्द आया है वह इस बात का सूचक है कि शिष्य को अपने आचार्य महाराज से अतिरिक्त और भी किसी को व्यथित नहीं करना चाहिये। तथा उपाध्याय आदि

અપમાન કરનાર ન થવો જોઈએ. તથા तोत्तगवेसए न सिया-तोत्रगवेपक न स्यात् તોત્રગવેષક પણ ન બનવું જોઇએ. અથવા-ગુરુ મહારાજે વારવાર પ્રેરણા કરવી પડે તેવુ ન થવા દે જે સમયે આચાર્ય મહારાજ પોતાના માટે પરૂષ ભાષણ આદિ રૂપથી પણ કદાચ શિક્ષાત્મક વચન કહે તો તે વખતે તે તેમના પ્રત્યે એવો વહેવાર ન કરે કે, જેથી ગુરુ મહારાજે ક્રોધિત બનવું પડે તથા તેમના વહેવારથી પોતાની જાતને પણ અપ્રસન્ન ન રાખે તથા એવી ચેષ્ટા પણ તેણે ન કરવી જોઈએ કે જેમાં આચાય મહારાજનું અપમાન હોય, જે પ્રકાર દુષ્ટ ઘોડો વિપરીત ચાલથી ચાલીને પોતાના માલીકને પગલે પગલે દુઃખિત કર્યા કરે છે તેવી રીતે, તેમની ઈચ્છાની વિરૂદ્ધ ચાલીને શિષ્યે તેમને કદી પણ દુઃખી ન કરવા જોઈએ સૂત્રમા જે 'અપિ' શબ્દ આવેલ છે તે આ વાત સૂચન કરે છે કે શિષ્યે પોતાના ગુરુ મહારાજ કે બીજા કોઇને પણ દુઃખ ન પહોંચાડવુ જોઇએ તથા ઉપાધ્યાય આદિ જે વિનયને યોગ્ય છે તેમને પણ પિત ન

पथ्य चतुर्विधमशनादिक श्रावकजनैरुदारभावैरनुदिनं दीयमानमुपादाय तस्मै नार्पयति स्वयमेव तदश्नाति ।

अन्त प्रान्त रूक्ष शुष्क कुपथ्यमशनादिकमानीय गुरवे प्रयच्छति । वदति च–किमिह कुर्मो वयम् । ईदृशीं दशामुपगतानां भवता योग्यमशनादिकं विद्यमानमपि नामी विवेकविकला श्रावका दातुमिच्छन्ति । श्रावकान् कथयति च–ममाचार्या खलु परमनि:स्पृहतया स्वशरीरयात्रामप्यचिन्तयन्त• प्रणीत भक्तपान ग्रहीतु नेच्छन्ति

और दूसरी जगह भी चल फिर सकें। इस प्रकार विचार कर उसने ऐसा काम करना प्रारभ किया कि–श्रावकों से जो आचार्य की अवस्था अनुरूप स्निग्ध, मधुर, मनोज्ञ, सरस चतुर्विध आहार इसे भिक्षा में मिलता वह स्वय खा जाता और गुरु महाराज को अन्तप्रान्त, रूक्ष शुष्क एव कुपथ्यरूप आहार लाकर देता। जब गुरु महाराज पूछते तो कहने लगता कि महाराज हम इस में क्या करें। यहा के श्रावक आपकी ऐसी अवस्था को देखकर असतुष्ट हो गये हैं, इसी लिये वे अपने घर में होते हुए भी योग्य अशनादिक को देना नहीं चाहते। जब श्रावक उससे पूछते तो कहता कि हमारे ये आचार्य महाराज अब बिलकुल शिथिलशरीर हो रहे है इसलिये उन्हें अपने शरीरमें अब कोई ममत्वपरिणति नहीं रही है। उन्हें तो जैसा भी आहार मिलजाता है वे उसे ले लेते हैं। वे नहीं चाहते कि हमारा यह शरीर अब और

રહી નથી કે એક સ્થળ ઉપરથી બીજા સ્થળે જરા પણ હાલી ચાલી શકે આ પ્રકારનો વિચાર કરી તેણે એવા કામનો પ્રારભ કર્યો કે, શ્રાવકોથી આચાર્યની અવસ્થા અનુરૂપ જે સ્નિગ્ધ, મધુર, મનોજ્ઞ, સુરસ ચાર પ્રકારનો આહાર તેને ભિક્ષામા મળતો તે સ્વય ખાઈ જતો અને ગુરુ મહારાજને અન્ત, પ્રાન્ત, રૂક્ષ, શુષ્ક અને કુપથ્યરૂપ આહાર લાવી આપતો ગુરુ મહા રાજના પૂછવાથી તે કહેતો કે, મહારાજ હુ એમા શુ કરૂ અહીના શ્રાવકો આપની આવી અવસ્થા જોઈને અસતુષ્ટ બની ગયા છે આ માટે તેઓ પોતાના ઘરમા હોવા છતાં પણ યોગ્ય આહાર આપવા ઈચ્છતા નથી. જ્યારે શ્રાવક તેને પૂછતા તો કહેતો કે, મારા આચાર્ય મહારાજ હવે બીલકુલ શિથીલ શરીરના બની ગયા છે આ માટે તેમને હવે પોતાના શરીરમા કોઈ મમત્વ પરિણતી રહી નથી તેમને જેવો આહાર મળી જાય છે તેવો તે લે છે તે નથી ચાહતા કે મારૂ આ શરીર હવે વધુ વખત ટકયુ રહે. આ માટે પ્રણીત

सह कृतस्थिरवास आसीत्। तत्रासौ शिष्य प्रतिदिवस ससारसागरोत्तारक जन्ममरणोच्छेदक सकलकर्मविध्वसक तीर्थकरगोत्रोपार्जक गुरुवैयावृत्त्य कुर्वाणो गुरुकर्मत्वाद् दुर्लभबोधित्वाच्चैकदा मनसि चिन्तयति–'प्रक्षीणबल स्थविरोऽयमस्माभिः कियत्कालमनुपालनीय ' इत्येव विमृश्यासौ तद्वयोऽनुरूप स्निग्ध मधुर मनोज्ञ सुरसं

वीर्योल्लास नाम के आचार्य अपने प्रिय क्षुद्रमति नामक शिष्य के साथ स्थिरवास रहते थे। विशेष वृद्ध होने के कारण हलन–चलन आदि क्रियाएँ इनकी क्षीणप्राय हो चुकी थी। जघा बल भी कम हो गया था। "मैं एक ही शिष्य करूँगा" ऐसी उनकी प्रतिज्ञा थी। उस के अनुसार उन्होंने क्षुद्रमति नामक एक ही शिष्य किया था, और उसी के साथ वे वहा रहा करते थे। शिष्य भी अपने गुरु महाराज की ठीक २ रीत से वैयावृत्य किया करता था। वैयावृत्य करना यह एक तप है इसके प्रभाव से प्राणी ससार समुद्र से पार हो जाता है। जन्म, मरण और जरा से विमुक्त हो जाता है। अष्ट कर्मों का विनाश भी इस वैयावृत्य के बल पर प्राणी कर देता है। इससे तीर्थंकरनामगोत्र का उपार्जन भी करता है। शिष्य गुरु कर्मा था। इस लिये वैयावृत्य करने पर भी इसे बोध का लाभ दुर्लभ हो रहा था। एक दिन शिष्य ने विचार किया कि हम इनकी अब कबतक वैयावृत्य करते रहेंगे। यह तो बिलकुल स्थविर हो चुके हैं। इन में तो अब इतनी भी शक्ति नहीं रही है जो ये यहां से

એક વિર્યોલ્લાસ નામના આચાર્ય પોતાના ક્ષુદ્રમતિ નામના શિષ્ય સાથે સ્થિર વાસ રહેતા હતા ખૂબ વૃદ્ધ થઈ જવાના કારણે હલન ચલન આદિ ક્રિયાઓ તેઓ કરી શકતા નહી શરીરનુ તેમજ જાગોનુ બળ પણ ક્ષિણ થઈ ગયુ હતુ "હું એકજ શિષ્ય કરીશ" એવી તેમની પ્રતિજ્ઞા હતી એ અનુસાર તેમણે એક જ શિષ્ય કરેલ હતો. જેનુ નામ ક્ષુદ્રમતિ હતુ તે શિષ્યની સાથે તે ચ પાપુરીમાં રહેતા હતા શિષ્ય પણ પોતાના ગુરુમહારાજની યોગ્ય રીતે ચાકરી બરદાસ કરતો હતો વૈયાવૃત્ય કરવુ એ એક તપ છે તેના પ્રભાવથી પ્રાણી સ સાર સમુદ્રથી પાર થાય છે જન્મ મરણ અને જરાથી વિમુક્ત થઈ જાય છે આઠ કર્મોના વિનાશ પણ આ વૈયાવૃત્યના બળ ઉપર પ્રાણી પુરી દે છે તેનાથી તીર્થંકર નામ ગોત્રનું ઉપાર્જન પણ કરે છે શિષ્ય ગુરુ કર્મી હતો આ માટે વૈયાવૃત્ય કરવા છતાં પણ એને બોધનો લાભ દુર્લભ બનતો હતો એક દિવસ શિષ્યે વિચાર કર્યો કે, હુ કયાં સુધી આમની સેવા ચાકરી કરતો રહીશ આ તો બીલકુલ સ્થવિર બની ગયા છે એમનામા એટલી પણ શક્તિ હવે

रस्माभिर्मरन्त शिष्यश्च पीडनीया ? इति निवेद्य भक्त प्रत्याख्याय स प्राणरहितो जात । एव क्षुद्रमतिशिष्यवत् साधुर्गुरुद्रोपघाती न भवेत् ॥ ४० ॥

आचार्य कुपिते शिष्यकर्तव्यमाह—

मूलम्—आयरिय कुविय नच्चा, पत्तिएण पसायए ।
विज्झविज्ज पजंलीउडो, वएज्ज न पुणुत्ति य ॥४१॥

छाया—आचार्य कुपित ज्ञात्वा, प्रीतिकेन प्रसादयेत ।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुट, वदेत न पुनरिति च ॥ ४१ ॥

टीका—' आयरिय इत्यादि ।

शिष्य केनचित् स्वापराधेन आचार्य कुपितम्=अपरितुष्ट ज्ञात्वा प्रीतिकेन= प्रीतिरेव प्रीतिक तेन–प्रीतिजनकेन विनयभावेन यद्वा–'प्रतीतिकेन' इतिच्छाया, प्रतीतिकेन–विश्वासजनकन वाक्येन त प्रसादयेत्=प्रसन्न कुर्यात्। ' प्रीतिकेन '

कहा तक कष्ट दिया जाय, अत यही सर्वसुदर मार्ग है कि सलेखना धारण करली जाय। ऐसा कह कर उन्होंने भक्तप्रत्याख्यान कर दिया और कुछ समय के बाद वे समाधिमरण को प्राप्त कर अपना कल्याण किया। इस कथा से शिष्य को यह शिक्षा लेनी चाहिये कि क्षुद्रमति शिष्य की तरह वह गुरु महाराज का प्राणप्रहारी न बने ॥४०॥

आचार्य महाराज के कुपित होने पर शिष्य का क्या कर्तव्य है सो कहते हैं–' आयरिय ' इत्यादि

अन्वयार्थ—शिष्य (कुविय आयरिय नच्चा–कुपित आचार्य ज्ञात्वा। जब यह समझे कि आचार्य महाराज कुपित है उस समय वह (पत्तिएण पसायए–प्रीतिकेन प्रसादयेत्) प्रीतिजनक–विनयभाव से अथवा

सर्व सुंदर मार्ग छे के, संलेखना धारण करी लउ एवु कहीने तेओए भक्त प्रत्याख्यान करी लीधु अने थोडा समय बाद समाधी मरणने प्राप्त करी. पोतानुं कल्याण कयु आ कथाथी शिष्ये ए शिक्षा लेवी जोईए के, क्षुद्रमति शिष्यनी माफक ते पोताना गुरु महाराजना प्राण हरनार न बने ॥ ४० ॥

आचार्य महाराजना क्रोधित थवाथी शिष्यनु शुं कर्तव्य छे ते कहेवामा आवे छे —आयरिय-इत्यादि

अन्वयार्थ—शिष्य कुविय आयरिय नच्चा–कुपित आचार्य ज्ञात्वा ज्यारे एवु समजे के आचार्य महाराज कुपित छे ते समय ते पत्तिएण पसायए–प्रीतिकेन प्रसादयेत् प्रितिजनक–विनय भावथी अथवा विश्वास जनक वाक्यथी तेने प्रसन्न

किंतु सलेखनामेव कर्तुं व्यवस्यन्ति। तत शिष्यवचन निशम्य शोकार्वचेतस. श्रावकास्तमुपसृत्य सगद्गद वदन्ति–भगवन्! कथमत्र भवद्भिरकाल एव सलेखना विधिरारब्ध'? न च वय निर्वेदहेतव', इति मन्तव्यम् यत. शिर.स्थिता अपि भवन्तो न भारमस्माक कुर्वन्ति। इत्थ श्रावकाणां वचन श्रुत्वाऽऽचार्येण विचारितम्—सर्वमेतच्छिष्यदुश्चरितम्–अलमस्य शिष्यस्याप्रीतिकरण मम प्राणधारणेन, इति मनसि विचिन्त्य तेन श्रावकाणां शिष्यस्य च पुरस्तादुक्तम्–कियच्चिरमजङ्गमे

अधिक समय तक टिका रहे। इस लिये प्रणीत रस वाले भक्त पान को लेने की वे अब चाहना ही नहीं करते हैं, किन्तु सलेखना धारण करने के लिये उद्यत हो रहे हैं, श्रावक जनों ने जब शिष्य के इन वचनों को सुना तो वे बहुत शोकार्त चित्त हो चिन्तित हुए और गुरु महाराज के समीप पहुँच कर गद्गद वाणी से कहने लगे कि–महाराज! अकाल में आप सलेखना क्यों धारण कर रहे हैं? हम लोग तो आपके लिये निर्वेद के कारण हैं नहीं–हमारे तो आप माथे पर भी बैठें तौ भी आपका हमें कोई भार नहीं लग सकता है। आचार्य ने जब श्रावकों के इन वचनों को सुना तो वे बड़े विचार में पड गये और मन में कहने लगे कि यह सब करतूत हमारे शिष्य की है, मालूम पड़ता है इस को मैं बहुत भारी हो रहा हूं। इस प्रकार सोच समझकर आचार्य ने शिष्य एवं श्रावकों के समक्ष कहा कि महानुभाव! अब हम से चलना फिरना बनता नहीं है, अतः ऐसी स्थिति में आप सब को एव शिष्य को

રસવાળા ભક્ત પાનને લેવાની ચાહના હવે તેઓ કરતા નથી. પરંતુ સંલેખના ધારણ કરવામાં પ્રયત્નશીલ બની રહ્યા છે શિષ્યનું આ કહેવું સાંભળી શ્રાવક જનો ખૂબ શોકાતુર બન્યા અને ગુરુ મહારાજ પાસે જઈને ગદ્ગદ વાણીથી કહેવા લાગ્યા કે, મહારાજ! અકાળમાં આપ સંલેખના કેમ ધારણ કરી રહ્યા છો? અમે લોકો તો આપના માટે નિર્વેદના કોઈ કારણ નથી? આપ અમારા માથા ઉપર બેસો તો પણ અમને આપનો કોઈ ભાર લાગતો નથી. આચાર્યે શ્રાવકોનું જ્યારે આ પ્રકારનું કહેવું સાંભળ્યું તો તે વિચારમાં પડી ગયા અને મનમાં કહેવા લાગ્યા કે, આ બધું કરતૂત મારા શિષ્યનું છે, એને હું ખૂબ ભાર રૂપ બની રહ્યો છું આ પ્રકારનું સમજી વિચારીને આચાર્યે શિષ્ય તેમજ શ્રાવકોની સમક્ષ કહ્યું કે, મારાથી હાલીચાલી શકાતું નથી, આથી આવી સ્થિતીમાં આપ બધાને તથા શિષ્યને ક્યાં સુધી કષ્ટ આપ્યા કરૂં આથી એજ

रस्मामिर्भवन्त शिष्यश्च पीडनीया ? इति निवेद्य भक्त प्रत्याख्याय स प्राणरहितो जात । एव क्षुद्रमतिशिष्यवत् साधुर्गुरुद्रोपघाती न भवेत् ॥ ४० ॥

आचार्य कुपिते शिष्यकर्तव्यमाह—

मूलम्—आयरिय कुविय नच्चा, पत्तिएण पसायए ।
विज्झविज्ज पजंलीउडो, वएज्ज न पुणुत्ति य ॥४१॥

छाया—आचार्य कुपित ज्ञात्वा, प्रीतिकेन प्रसादयेत् ।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुट., वदेत न पुनरिति च ॥ ४१ ॥

टीका—' आयरिय इत्यादि ।

शिष्य केनचित् स्वापराधेन आचार्य कुपितम्=अपरितुष्ट ज्ञात्वा प्रीतिकेन= प्रीतिरेव प्रीतिक तेन-प्रीतिजनकेन विनयभावेन यद्वा-'प्रतीतिकेन' इतिच्छाया, प्रतीतिकेन-विश्वासजनकेन वाक्येन त प्रसादयेत्=प्रसन्न कुर्यात्। ' प्रीतिकेन '

कहा तक कष्ट दिया जाय, अत यही सर्वसुदर मार्ग है कि सलेखना धारण करली जाय। ऐसा कह कर उन्होंने भक्तप्रत्याख्यान कर दिया और कुछ समय के बाद वे समाधिमरण को प्राप्त कर अपना कल्याण किया। इस कथा से शिष्य को यह शिक्षा लेनी चाहिये कि क्षुद्रमति शिष्य की तरह वह गुरु महाराज का प्राणप्रहारी न बने ॥४०॥

आचार्य महाराज के कुपित होने पर शिष्य का क्या कर्तव्य है सो कहते हैं-' आयरिय ' इत्यादि

अन्वयार्थ—शिष्य (कुविय आयरिय नच्चा-कुपित आचार्य ज्ञात्वा। जब यह समझे कि आचार्य महाराज कुपित हैं उस समय वह (पत्ति-एण पसायए-प्रीतिकेन प्रसादयेत्) प्रीतिजनक-विनयभाव से अथवा

सर्व सुंदर मार्ग छे के, संलेखना धारण करी लउं एवुं कहीने तेओए भक्त प्रत्याख्यान करी लीधुं अने थोडा समय बाद समाधी मरणने प्राप्त करी. पोतानुं कल्याण कर्युं आ कथाथी शिष्ये ए शिक्षा लेवी जोईए के, क्षुद्रमति शिष्यनी माफक ते पोताना गुरु महाराजना प्राण हरनार न बने ॥ ४० ॥

आचार्य महाराजना क्रोधित थवाथी शिष्यनुं शुं कर्तव्य छे ते कहेवामां आवे छे —आयरिय-ईत्यादि

अन्वयार्थ—शिष्य कुविय आयरिय नच्चा-कुपित आचार्य ज्ञात्वा ज्यारे एवुं समजे के आचार्य महाराज कुपित छे ते समय ते पत्तिएण पसायए-प्रीतिकेन प्रसादयेत् प्रितिजनक—विनय भावथी अथवा विश्वास जनक वाक्यथी तेने प्रसन्न

इत्यत्र रूढ्या नपुंसकत्वम्। प्राञ्जलिपुटः=कृताञ्जलिः सन् विध्यापयेत्=कथंचिदुत्थित कोपवह्निं प्रशमयेत्। च=पुनः 'न पुनरेवं करिष्यामि' 'क्षन्तव्योऽयमपराधः' इति वदेत्। मानसिक-कायिक वाचिकोपायैः गुरुः प्रसादनीय इति भावः ॥४१॥

अथ येन गुरोः कोप एव नोत्पद्येत तमुपायमाह—

मूलम्—धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छइ ॥४२॥

छाया—धर्मार्जितश्च व्यवहारः बुद्धैः आचरितः सदा।
तमाचरन् व्यवहारं, गर्हां नाभिगच्छति ॥४२॥

टीका—'धम्मज्जियं' इत्यादि—

यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् यः धर्मार्जितः=धर्मेण क्षान्त्यादिना अर्जितः=उपार्जितः, च=पुनः सदा=सर्वकालं बुद्धैः=तत्त्वविद्भिः आचरितः=सेवितः, व्यवहारः=

-विश्वासजनक वाक्य से उन्हें प्रसन्न करे। और (पजलीउडो विज्झविज्ज-प्राञ्जलिपुटः विध्यापयेत्) दोनों हाथ जोड़कर उनकी कथंचित् उत्थित कोपाग्नि को बुझावे। उस समय वह ऐसा (वएज्ज-वदेत्) कहे कि (न पुणुत्ति य-न पुनरिति च) हे गुरु महाराज अब ऐसा व्यवहार नहीं करने का भाव है अतः अब यह मेरा अपराध आप क्षमा करें। मन से वचन से एवं काया से जैसे भी बने उस प्रकार के उपायों से गुरु महाराज को प्रसन्न कर लेना चाहिये ॥ ४१ ॥

अब सूत्रकार 'गुरु महाराज को कोप ही न उत्पन्न हो सके ऐसा उपाय बतलाते हैं—'धम्मज्जियं इत्यादि

अन्वयार्थ—जो (धम्मज्जियं-धर्मार्जितः) उत्तम क्षमा आदि धर्मों

કરે. પજલિઉડો વિજ્ઝ વિજ્જ-પ્રાઞ્જલિપુટઃ વિધ્યાપયેત્ અને બન્ને હાથ જોડીને તેમની કથંચિત્ ઉત્થિત કોપાગ્નિને બુઝાવે. એ સમય તે એવું વએજ્જ-વદેત્ કહે કે, ન પુણુત્તિ ય-ન પુનરિતિ ચ હે ગુરુ મહારાજ હવે હું એવું કદી નહીં કરૂં આથી હવે આપ આ મારો અપરાધ ક્ષમા કરો. મન વચન અને કાયાથી જેવું પણ બને એ પ્રકારના ઉપાયોથી ગુરુ મહારાજને પ્રસન્ન કરી લેવા જોઈએ. ॥ ૪૧ ॥

હવે સૂત્રકાર 'ગુરુ મહારાજને કોપજ ન ઉત્પન્ન થાય' એવો ઉપાય બતાવે છે-ધમ્મજ્જિયં ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—જે ધમ્મજ્જિયં-ધર્માર્જિતમ્ ઉત્તમ ક્ષમા આદિ ધર્મોથી અર્જીત કર-

मोक्षार्थी कर्तव्यः प्रतिलेखनादिरूप , अस्ति, त व्यवहारम्—आचरन् साधुः, गर्हा—निन्दाम्—'अविनीतोऽयम्' इत्यादिरूपा नाभिगच्छति=न प्राप्नोति। एव कृते गुरोः कोपोत्पत्तिर्न भवतीति भाव.।

'धम्मज्जिय' इत्यादौ प्रथमार्थे द्वितीया आर्षत्वात्। 'धम्मज्जिय' इति विशेषणं प्रतिलेखनादिव्यवहारस्य शास्त्रानुकूलतां दम्भसमानाद्यर्थं कृतव्यवहारस्य परिहार्यतां च बोधयति। 'बुद्धेहायरिय' इति विशेषण व्यवहारस्य शासनसम्प्रदायानुगतत्व सूचयति ॥ ४२ ॥

मूलम्—मंणोगय वक्कगय, जाणित्तायरियस्स उ।
त परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥४३॥

के द्वारा अर्जित किया है, तथा (सया-सदा) सर्व काल (बुध्धेहायरियं-बुद्धैः आचरित.) तीर्थंकर गणधारों के द्वारा आचरित-सेवित हुआ है ऐसा यह (ववहार-व्यवहार.) प्रतिलेखनादिरूप कर्तव्य है। (त ववहार आयरतो-त व्यवहारम् आचरन्) उस व्यवहार को अपने आचरण में लाने वाला साधु (गरह-गर्हां) 'यह अविनीत है' इत्यादिरूप निन्दा को (नाभिगच्छइ-नाभिगच्छति) प्राप्त नहीं करता है। "धम्मज्जिय" यह पद यह सूचित करता है कि प्रतिलेखनादिकरूप जो व्यवहार है वह शास्त्रानुकूल है, तथा दम्भ एव सम्मान आदि के निमित्त जो व्यवहार किया जाता है वह परिहार्य है। "बुद्धेहायरिय" यह पद 'यह व्यवहार तीर्थंकर एव गणधरों की परपरा से चला आ रहा है अत प्रामाणिक है' यह सूचित करता है ॥ ४२ ॥

વામા આવેલ છે તથા सया-सदा સર્વ કાળ बुद्धेहायरिय-बुद्धैः आचरित: તીર્થંકર ગણધરોથી સેવીત થયેલ છે એવાં આ ववहार-व्यवहार પ્રતિલેખનાદિરૂપ કર્તવ્ય છે આ વ્યવહારને પોતાના આચરણમાં લાવનાર સાધુ गरह-गर्हां 'આઅવિનીત છે' ઈત્યાદિ રૂપ નિંદાને नाभिगच्छइ-नाभिगच्छति પ્રાપ્ત કરતા નથી धम्मज्जिय આ પદથી એ સૂચિત થાય છે કે પ્રતિલેખનાદિક રૂપ જે વ્યવહાર છે તે શાસ્ત્રાનુકૂળ છે તથા દંભ અને સન્માન આદિ નિમિત્ત જે વ્યવહાર કરવામા આવે છે તે પરિહાર્ય છે "बुद्धेहायरिय" આ પદથી આ વ્યવહાર તીર્થંકર તેમજ ગણધરોની પરપરાથી ચાલ્યો આવે છે આથી તે પ્રમાણીક છે એવુ સૂચિત કરવામાં આવે છે ॥ ૪૨ ॥

छाया—मनोगतं वाक्यगतं, ज्ञात्वा आचार्यस्य तु।
तत् परिगृह्य वाचा, कर्मणा उपपादयेत ॥४३॥

टीका—'मणोगय' इत्यादि—

आचार्यस्य मनोगतं=मनसि वर्तमानं, तथा वाक्यगतं=वचसि स्थितं तु शब्दात् कायगतमपि कार्यं पूर्वं ज्ञात्वा, पश्चात् तत्=कार्यं वाचा परिगृह्य=अङ्गीकृत्य, 'अहं तत् कार्यं करोमि' इत्युक्त्वा शिष्यः कर्मणा=कायिक्या क्रियया, उपपादयेत्= सम्पन्नं कुर्यात्। यत् कार्यं गुरोर्मनसि विद्यमानं, 'कार्यमिदं क्रियताम्' इत्यादिना वचसा वाऽभिहितं, गुरुणा क्रियमाणं वा यत् कार्यं तद् गुरुहस्तादुपादाय त्वरितमेव शिष्येण संपादनीयमिति भावः ॥४३॥

'मणोगय' इत्यादि

अन्वयार्थ—(आयरियस्स मणोगयं वक्कगयं–आचार्यस्य मनोगतं वाक्यगतं) आचार्य महाराज के मनोगत एवं वाक्यगत "तु" शब्द से कायगत कार्य को (जाणित्ता–ज्ञात्वा) पहिले जानकर पश्चात् (तं–तत्) उस कार्य को (वायाए–वाचा) वाणी से (परिगिज्झ–परिगृह्य) अंगीकार कर के शिष्य (कम्मुणा–कर्मणा) कायसंबंधी क्रिया द्वारा (उववायए–उपपादयेत्) उस कार्य को कर देवे। जो कार्य गुरु के मन में स्थित हो–गुरु ने जिस कार्य को करने का विचार किया हो 'इदं कार्यम् क्रियताम्' 'यह काम करो' इस प्रकार जिस कार्य को करने के लिये उन्होंने कहा हो, अथवा गुरु महाराज जिस कार्य को स्वयं अपने हाथ से कर रहे हों तो विनयी शिष्य का कर्तव्य है कि वह उस कार्य को शीघ्र ही स्वयं संपादित करे। और गुरु महाराज करते हों तो उनके हाथ से लेकर स्वयं करने लग जाय ॥ ४३ ॥

मणोगय–ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—आयरियस्स मणोगयं वक्कगयं–आचार्यस्य मनोगतं वाक्यगतं આચાર્ય મહારાજના મનોગત અને વાક્યગત "तु" શબ્દથી કાયગત કાર્યને जाणित्ता–ज्ञात्वा પહેલાં જાણીને પછીથી तं–तत् તે કાર્યને वायाए–वाचा વાણીથી परिगिज्झ–परिगृह्य અંગિકાર કરીને શિષ્ય कम्मुणा–कर्मणा કાય સંબંધી ક્રિયા દ્વારા उववायए–उपपादयेत् એ કાર્ય કરી દે. જે કાર્ય ગુરુના મનમાં સ્થિત હોય, ગુરુએ જે કાર્ય કરવાનો વિચાર કર્યો હોય, "આ કામ કરો" આ પ્રકાર જે કાર્યને કરવા માટે પોતે પોતાના હાથથી કરી રહ્યા હોય તો વિનયી શિષ્યનું કર્તવ્ય છે કે એ તે કાર્યને તુરત જ પોતે ઉપાડી લે અને ગુરુ મહારાજ કરતા હોય તો તેમના હાથમાંથી લઈને પોતે કરવા લાગી જાય ॥ ૪૩ ॥

मूलम्—वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवंइ सुचोईए ।
जहोवइट्ट सुकयं, किच्चाइ कुव्वई सया ॥४४॥

छाया—वित्त. अनोदित. नित्य, क्षिप्र भवति सुनोदित ।
यथोपदिष्ट सुकृत, कृत्यानि करोति सदा ॥ ४४ ॥

टीका—' वित्ते ' इत्यादि—

वित्त.=विनयादिगुणेन प्रसिद्ध. शिष्य., अनोदित'=अप्रेरित एव गुरुकार्येषु नित्य=सर्वदा, प्रवर्तते। कदाचित् स्वयमेव कार्य कुर्वाण सुनोदित =गुरुणा सुष्ठु प्रेरितश्चेत् स विनयवान् शिष्य क्षिप्र=क्षिप्रकृद् शीघ्रमेव—कार्यकारी भवति। अय भाव —कार्य कुर्वन् आचार्यण प्रेरितश्चेद् एव न ब्रूते—' अह तु कार्यकरोम्येव, किं

' वित्ते ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(वित्ते–वित्त) विनय आदि गुणों से प्रसिद्ध शिष्य (अचोइए–अनोदित) विना कहे ही–प्रेरणाकिये विना ही–अपने गुरु महराज के कार्यों में (निच्च–नित्य) सर्वदा प्रवृत्ति शील रहा करता है। (सुचोइए–सुनोदित) गुरु महाराज अपने कार्य को करने की प्रेरणा करे तो विनयवान् शिष्य का कर्तव्य है कि वह (खिप्प हवइ–क्षिप्र भवति) गुरु महाराज का कार्य यतनापूर्वक शीघ्र करे। ऐसा शिष्य गुरु महाराज जब कार्य करने के लिये कहते हैं तब ऐसा नहीं कहता है कि ' मैं तो कार्य कर ही रहा हू आप क्यों कहते हैं '। वह तो (सया–सदा) सर्वदा जो कुछ भी करने को कहा जाता है उसे ही कहने के अनुसार (सुकय–सुकृत) जैसे वह अच्छी रीति से हो सकता है उसी

वित्ते इत्यादि–

અન્વયાર્થ—वित्त–वित्त વિનય આદિ ગુણોથી પ્રસિદ્ધ શિષ્ય अचोइए–अनोदित કહ્યા વગર પ્રેરણા કર્યા વગર–પોતાના ગુરુ મહારાજના કાર્યોમા निच्च–नित्य સદા સર્વદા પ્રવૃતિશીલ રહ્યા કરે છે सुचोइए–सुनोदित ગુરુ મહારાજ પોતાનુ કાર્ય કરવા માટે પ્રેરણા કરે તો વિનયવાન શિષ્યનુ કર્તવ્ય છે કે તે खिप्प हवइ–क्षिप्र भवति ગુરુ મહારાજના તે કાર્યને યત્નાપૂર્વક તુરત જ કરવા માટે વિનયી શિષ્ય ગુરુ મહારાજના તરફથી કામ માટેનુ સૂચન થતાં એવુ કદી પણ કહેતો નથી કે, હુ કામ તો કરી રહ્યો છુ, આપ શા માટે કહો છો તે તો सया–सदा સર્વદા એને જે કાંઈ કહેવામા આવે તે કામ તે કહેવા અનુ સાર सुकय–सुकृत જેમ તે સારી રીતે થઈ શકે એ રીતે किच्चाइ कव्वइ–कृत्यानि

भवद्भिः भलप्यते ?' इति। यथोपदिष्टम्=उपदिष्टमनतिक्रम्य सर्वमुपदिष्ट कार्यं, सुकृतं =सुष्ठु कृत, यथा स्यात्, तथा कार्याणि=सर्वाणि गुरुकार्याणि, सदा=सर्वकाल, करोति=संपादयति। गुरुकार्येष्वालस्य न विधेय प्रसन्नभावेन तदेव कार्यं सतत करणीयमिति भावः॥ ४४॥

अध्ययनार्थमुपसंहरन्नाह—

मूलम्—नच्चा नमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायए।
हवइ किच्चाण सरण, भूयाण जगई जहा ॥४५॥

छाया—ज्ञात्वा नमति मेधावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायते।
भवति कृत्यानां शरणं, भूतानां जगती यथा॥ ४५॥

टीका—'नच्चा' इत्यादि—

मेधावी=मर्यादावर्ती शिष्य, ज्ञात्वा=अनन्तरोक्त सर्वमध्ययनार्थमवगम्य, नमति=नम्रीभवति विनयवान् भवतीत्यर्थः, स्वकर्तव्यकरण प्रति सादरमुद्यतो भवतीति यावत्। विनयस्य फलमाह—'लोए' इत्यादि। लोके तस्य कीर्तिः—

रीति के माफिक (किच्चाइ कुव्वइ—कृत्यानि करोति) उन सब कार्यों को सुसंपादित करता है। गुरु महाराज के कार्यों में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिये प्रस्तुत प्रसन्नचित्त से जो कुछ भी करने को कहा जाय वह शीघ्र ही कर देना चाहिये॥ ४४॥

अब अध्ययन के अर्थ का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं— 'नच्चा' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(मेहावी—मेधावी) मर्यादावर्ती शिष्य (नच्चा—ज्ञात्वा) अनन्तरोक्त इस समस्त अध्ययन के अर्थ को जानकर (नमइ—नमति) अवश्य विनयी होता है। अर्थात् अपने कर्तव्य को निभाने के लिये सादर उद्यत हो जाता है। (से लोए कित्ती जायए—तस्य लोके कीर्ति

करोति ते બધા કામો સારીરીતે કરતો રહે છે ગુરુ મહારાજના કામોમાં કદી પણ આળસ શિષ્યે ન કરવી જોઈએ. જે કાંઈ કરવાનું કહેવામાં આવે તે પ્રસન્ન ચિત્તે શીઘ્ર કરી દેવું જોઈએ ॥ ૪૪ ॥

હવે અધ્યયનના અર્થનો ઉપસંહાર કરતા સૂત્રકાર કહે છે—નચ્ચા ઇત્યાદિ—

અન્વયાર્થ—મેહાવી-મેધાવીમર્યાદાવર્તી શિષ્ય નચ્ચા-જ્ઞાત્વા અનન્તરોક્ત આ સમસ્ત અધ્યયનના અર્થને જાણીને નમઇ-નમતિ અવશ્ય વિનયી બને છે અર્થાત્ પોતાના કર્તવ્યને નિભાવવા માટે સાદર ઉદ્યત રહે છે સે લોએ કિત્તિ

'अनेन सफलीकृत जन्म, छिन्न च दुश्छेद्य कर्मबन्धन निस्तीर्णश्च दुस्तर. ससार-सागर' ' इत्यादिरूपा, जायते=प्रादुर्भवति, अपि च-स कृत्याना=आचार्याणा शरणम्=आश्रयो भवति, यथा जगती=पृथिवी, भूतानां=प्राणिना शरणम्=आधारोऽस्ति तद्वत् ॥ ४५ ॥

मूलम्—पुज्जा जस्स पसीयंति, संबुद्धा पुव्वंसथुया ।
पसन्ना लाभइस्संति, विउलं अट्ठियं सुयं ॥४६॥

छाया—पूज्या यस्य प्रसीदन्ति, संबुद्धा पूर्वसंस्तुता ।
प्रसन्ना लाभयिष्यन्ति, विपुलम् आर्थिकं श्रुतम् ॥ ४६ ॥

टीका—'पुज्जा' इत्यादि—

संबुद्धा =सम्यग्ज्ञानवन्तः, पूर्वसंस्तुता.=पूर्वं सम्यक् प्रकारेण स्तुता, श्रुतदा-

जायते) जो साधु अपने कर्तव्य को निभाता है उसका उसे यह फल मिलता है कि उसकी कीर्ति इस लोक में फैल जाती है। लोग कहने लग जाते हैं कि इसने अपने जन्म को सफल बना लिया है। दुश्छेद्य कर्मबन्धन इसने छेद डाला है। दुस्तर ससार सागर इसने पार कर लिया है। (जहा–यथा) जैसे–(जगई–जगती) पृथिवी (भूयाण सरण हवइ–भूताना शरण भवति) प्राणियों के लिये आधारभूत होती है, इसी तरह वह शिष्य भी (किच्चाण सरण हवइ–कृत्यानां शरण भवति) अपने आचार्य महाराज का आधार बन जाता है ॥ ४५ ॥

'पुज्जा' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(संबुद्धा–सबुद्धा) पहिले–श्रुतदान के पहिले ही विनय-

લોકે કીર્તિ જાયતે જે સાધુ પોતાના કર્તવ્યને નિભાવે છે એને તેનુ એ ફળ મળે છે કે, તેમની કિર્તી આ લોકમાં ફેલાઇ જાય છે, લોકો કહેવા લાગે છે કે, આણે પોતાના જન્મને સફળ બનાવી લીધો છે કર્મના બધનને એણે તોડી નાખ્યા છે, દુસ્તર સસાર સાગર એણે પાર કરી લીધો છે जहा–यथा જેમ–जगई–जगती પૃથ્વી भूयाण सरण हवइ–भूतानां शरण भवति પ્રાણીઓને માટે આધારભૂત હોય છે, એજ રીતે તે શિષ્ય પણ પોતાના આચાર્ય મહારાજનો આશ્રય બની જાય છે ॥ ૪૫ ॥

पुज्जा–इत्यादि—

અન્વયાર્થ—सबुद्धा–सबुद्धा પહેલા શ્રુતદાનના પહેલાં–વિનયગુણથી

भवद्भिः भलप्यते ?' इति। यथोपदिष्टम्=उपदिष्टमनतिक्रम्य सर्वमुपदिष्ट कार्यं, सुकृतं =सुष्ठु कृत, यथा स्यात्, तथा कार्याणि=सत्राणि गुरुकार्याणि, सदा=सर्वकाल, करोति=सपादयति। गुरुकार्येष्वालस्य न विधेय प्रसन्नभावेन तदेव कार्य सत्वरं करणीयमिति भावः॥ ४४॥

अध्ययनार्थमुपसंहरन्नाह—

मूलम्—नच्चा नमंइ मेहावी, लोएं किंत्ती से जायंए।
हवंइ किच्चाण सरण, भूयाण जगंई जहा ॥४५॥

छाया—ज्ञात्वा नमति मेधावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायते।
भवति कृत्यानां शरणं, भूतानां जगती यथा॥ ४५॥

टीका—'नच्चा' इत्यादि—

मेधावी=मर्यादावर्ती शिष्य, ज्ञात्वा=अनन्तरोक्तं सर्वमध्ययनार्थमवगम्य, नमति=नम्रीभवति विनयवान् भवतीत्यर्थः, स्वकर्तव्यकरणे मति सादरमुद्यतो भवतीति यावत्। विनयस्य फलमाह—'लोए' इत्यादि। लोके तस्य कीर्तिः–

रीति के माफिक (किच्चाइ कुव्वइ–कृत्यानि करोति) उन सब कार्यों को सुसंपादित करता है। गुरु महाराज के कार्यों में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिये प्रस्तुत प्रसन्नचित्त से जो कुछ भी करने को कहा जाय वह शीघ्र ही कर देना चाहिये॥ ४४॥

अब अध्ययन के अर्थ का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं–'नच्चा' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(मेहावी–मेधावी) मर्यादावर्ती शिष्य (नच्चा–ज्ञात्वा) अनन्तरोक्त इस समस्त अध्ययन के अर्थ को जानकर (नमइ–नमति) अवश्य विनयी होता है। अर्थात् अपने कर्तव्य को निभाने के लिये सादर उद्यत हो जाता है। (से लोए किती जायए–तस्य लोके कीर्तिः

करोति ते બધાં કામો સારીરીતે કરતો રહે છે ગુરુ મહારાજના કામોમાં કદી પણ આળસ શિષ્યે ન કરવી જોઈએ. જે કાંઈ કરવાનુ કહેવામાં આવે તે પ્રસન્ન ચિત્તે શીઘ્ર કરી દેવું જોઈએ ॥ ૪૪॥

હવે અધ્યયનના અર્થનો ઉપસંહાર કરતા સૂત્રકાર કહે છે—नच्चा इत्यादि–
અન્વયાર્થ—મેહાવી-મેધાવીમર્યાદાવર્તી શિષ્ય नच्चा-ज्ञात्वा અનન્તરોક્ત આ સમસ્ત અધ્યયનના અર્થને જાણીને नमइ-नमति અવશ્ય વિનયી બને છે અર્થાત્ પોતાના કર્તવ્યને નિભાવવા માટે સાદર ઉદ્યત રહે છે से लोए किति जायए-तस्स

'अनेन सफलीकृत जन्म, छिन्न च दुश्छेद्य कर्मबन्धन निस्तीर्णश्च दुस्तर ससार-सागर.' इत्यादिरूपा, जायते=प्रादुर्भवति, अपि च-स कृत्याना=आचार्याणा शरणम्=आश्रयो भवति, यथा जगती=पृथिवी, भूताना=प्राणिना शरणम्=आधारो ऽस्ति तद्वत् ॥ ४५ ॥

मूलम्—पुज्जा जस्स पसीयंति, संबुद्धा पुव्वसंथुया ।
पसन्ना लाभइस्संति, विउलं अट्ठियं सुयं ॥४६॥

छाया—पूज्या यस्य प्रसीदन्ति, सबुद्धा पूर्वसस्तुता. ।
प्रसन्ना लाभयिष्यन्ति, विपुलम् आर्थिकं श्रुतम् ॥ ४६ ॥

टीका—'पुज्जा' इत्यादि—

सबुद्धा =सम्यग्ज्ञानवन्तः, पूर्वसस्तुता.=पूर्वं सम्यक् प्रकारेण स्तुता, श्रुतदा-

जायते) जो साधु अपने कर्तव्य को निभाता है उसका उसे यह फल मिलता है कि उसकी कीर्ति इस लोक में फैल जाती है। लोग कहने लग जाते हैं कि इसने अपने जन्म को सफल बना लिया है। दुश्छेद्य कर्मबन्धन इसने छेद डाला है। दुस्तर ससार सागर इसने पार कर लिया है। (जहा-यथा) जैसे-(जगई-जगती) पृथिवी (भूयाण सरण हवइ-भूताना शरण भवति) प्राणियों के लिये आधारभूत होती है, इसी तरह वह शिष्य भी (किच्चाण सरण हवइ-कृत्याना शरण भवति) अपने आचार्य महाराज का आधार बन जाता है ॥ ४५ ॥

'पुज्जा' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(सबुद्धा-सबुद्धा) पहिले-श्रुतदान के पहिले ही विनय-

लोके कीर्ति जायते જે સાધુ પોતાના કર્તવ્યને નિભાવે છે એને તેનુ એ ફળ મળે છે કે, તેમની કિર્તી આ લોકમા ફેલાઇ જાય છે, લોકો કહેવા લાગે છે કે, આણે પોતાના જન્મને સફળ બનાવી લીધો છે કર્મના બધનને એણે તોડી નાખ્યા છે, દુસ્તર સસાર સાગર એણે પાર કરી લીધો છે जहा-यथा જેમ-जगई-जगती પૃથ્વી भूयाण सरण हवइ-भूतानां शरण भवति પ્રાણીઓને માટે આધારભૂત હોય છે, એજ રીતે તે શિષ્ય પણ પોતાના આચાર્ય મહારાજનો આશ્રય બની જાય છે ॥ ૪૫ ॥

पुज्जा-इत्यादि—

અન્વયાર્થ—सबुद्धा-सबुद्धा પહેલા શ્રુતદાનના પહેલાં-વિનયગુણથી

कार्ये रुचिरिच्छा यस्य स मनोरुचिः-गुरुमनोऽनुवर्ती न तु स्वेच्छाचारी तिष्ठति= आस्ते तथा-तप समाचारीसमाधिसंवृत -तपसोऽनशनादेर्द्वादशविधस्य समाचारी च समाधिश्च तप.समाचारीसमाधी, ताभ्यां संवृतः=निरुद्धास्रवः, पञ्च व्रतानि=प्राणातिपातविरमणादीनि पञ्चमहाव्रतानि पालयित्वा=निरतिचार समाराध्य महाद्युतिः =महती द्युति यस्य स महाद्युतिः=तपस्तेज समन्वित , तेजोलेश्यापुलाकलब्ध्यादि सहितो भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

कार्य को सपादन करने की जिसकी इच्छा बनी रहती है-गुरु महाराज की इच्छानुसार चलने वाला, स्वेच्छाचारी नहीं। एव (तवोसमायारिसमाहिसंवुडे-तपःसमाचारीसमाधिसंवृतः) अनशन आदि बारह प्रकार के तप के अनुष्ठान से, तथा चित्तकी शुद्धिरूप समाधि से जिसने आस्रव के द्वारको निरुद्ध कर दिया है (पंचवयाइं पालिया-पंचव्रतानि पालयित्वा) पांच प्राणातिपातविरमण आदि महाव्रतों का निरतिचार पालन करके (महज्जुई चिट्ठइ-महाद्युति' तिष्ठति) तपस्तेज से समन्वित होता हुआ तेजोलेश्या एवपुलाकलब्धि आदि से सहित होता है।

भावार्थ—गुरु महाराज के प्रसाद से जिसने श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसा शिष्य शास्त्रसमत अर्थ में विगतसंशयहोकर जनता द्वारा प्रसशनीयज्ञानवाला माना जाता है। उसके वचन को जनता निस्संदेह अंगीकार कर लेनेमें निस्संकोचित हो जाती है। उसकी विनयादि

પોતાનો ગુરુ મહારાજના મનોનુકૂળ કાર્ય સંપાદન કરવાની ઈચ્છા જેની બની રહે છે એવા ગુરુ મહારાજની ઈચ્છાનુસાર ચાલવાવાળા સ્વેચ્છાચારી નહિ એવા શિષ્ય કે જેણે तवोसमायारिसमाहिसंवुडे-तप' समाचारीसमाधिसंवृत' અનશન આદિ બાર પ્રકારનાતપના અનુષ્ઠાનથી તથા ચિત્તની શુદ્ધિરૂપ સમાધીથી જેણે આશ્રવના દ્વારને નિરૂદ્ધ કરી દીધાં છે, पंचवयाइं पालिया-पंचव्रतानि पालयित्वा પાંચ પ્રાણાતિપાત વિરમણ આદિ મહાવ્રતોને નિરતિચાર પાલન કરી महज्जुई चिट्ठइ-महाद्युतिः तिष्ठति તપસ્તેજથી સમન્વિત થઈ તેજો લેશ્યા એવ પુલાકલબ્ધિ આદિથી સહિત બને છે

ભાવાર્થ—ગુરુ મહારાજના પ્રસાદથી શ્રુતજ્ઞાન જેણે પ્રાપ્ત કરી લીધુ છે એવા શિષ્ય શાસ્ત્રીય સંમત અર્થમાં વિગતસંશય બનીને જનતા દ્વારા પ્રશસનીય જ્ઞાનવાળા માનવામા આવે છે એવા વચનને જનતા નિઃસંદેહ અંગીકાર કરવામાં સંકોચરહિત બની જાય છે એની ક્રિયા-સંપત્તિથી ગુરુ મહારાજ

मूलम्—से देवगधव्वमणुस्सपूइए, चइत्तु देहं मलपकपूइय।
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महिड्ढिए-त्ति वेमि ॥४८॥
[स सिद्धए वा हवए य सासए, सुरेय वा अप्परए महिड्ढिए—त्तिवेमि]
॥ उत्तरज्झयणस्स पढमज्झयण समत्त ॥

छाया—स देव गन्धर्वमनुष्यपूजित, त्यक्त्वा देह मलपङ्कपूतिकम्।
सिद्धो वा भवति शाश्वत., देवो वा अल्परजा महर्द्धिक इति ब्रवीमि ॥४८॥
[स सिद्धो वा भवति च शाश्वत., सुरश्च वा अल्परजा महर्द्धिक —इति ब्रवीमि]

टीका—'स देवगधव्व०' इत्यादि—

सः=पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टो विनयवान् शिष्य', इह लोके देवगन्धर्वमनुष्यपूजितः=देवै=वैमानिक ज्योतिष्कै, गन्धर्व—गन्धर्वनिकायो—पलक्षितैर्व्यन्तरभवनपतिभि, मनुष्यैः=चक्रवर्त्यादिभि पूजित सम्मानितो भवति। यथा मलपङ्कपूतिक=मल=विण्मूत्रादिक, तदेव पङ्क कर्दमस्तेन पूतिक=दुर्गन्धियुक्तदेहम्=औदारिक

क्रियासपत्ति से गुरु महाराज उस पर सदा प्रसन्न रहा करते हैं। द्वादश प्रकार की तपस्या से वह कर्मों के आस्रव को रोकने वाला हो जाता है। पाच महाव्रतों की आराधना से उसका आत्मिक यल विशिष्ट होकर उसको तपस्तेज की लब्धि से सपन्न यना देता है ॥ ४७ ॥

'सदेव' इत्यादि।

अन्वयार्थ-(स—स) पूर्वोक्त लक्षणों से विशिष्ट विनयशाली शिष्य (देवगंधव्वमणुस्सपूइए—देवगधर्वमनुष्य पूजित) देव वैमानिक ज्योतिष्क देवों से गंधर्व—गधर्वनिकाय से उपलक्षित व्यन्तर देवों से, एव भवनपति देवों से, तथा मनुष्यों—चक्रवर्ती आदि से पूजित होता है। तथा (मलप

એના પર સદા પ્રસન્ન રહ્યા કરે છે બાર પ્રકારની તપસ્યાથી તે કર્મના આશ્રવને રોકનાર બની જાય છે અને પાંચ મહાવ્રતોની આરાધનાથી એનુ આત્મિક બલ વિશિષ્ટ બને છે અને આથી તેને તપસ્તેજની લબ્ધિ સંપન્ન બનાવે છે ॥ ૪૭ ॥

"સ દેવ ઈત્યાદિ—

અન્વયાર્થ—સ-સઃ પૂર્વોક્ત લક્ષણની વિશિષ્ટ વિનયશાળી શિષ્ય દેવ ગધવ્વ મણુસ્સપૂઇએ-દેવ ગધર્વ મનુષ્ય પૂજિત દેવ—વૈમાનિક જ્યોતિષ્ક દેવો, ગંધર્વ—ગંધર્વ નિકાયથી ઉપલક્ષિત વ્યન્તર દેવ અને ભવનપતિ દેવો તથા મનુષ્યો—ચક્રવતી આદિથી પૂજીત બને છે તથા મલપક પૂઇય દેહ ચઇત્તુ—મલપકપૂતિકં દેહં ત્યક્ત્વા

मनुष्यशरीरं, त्यक्त्वा, शाश्वतः=सर्वकालावस्थायी जन्ममरणरहित' सिद्धो भवति। वा=अथवा, सावशेषकर्मा तु अल्परजा =अल्पकर्मा महर्द्धिकः=महती=दिव्या ऋद्धि'= विमानादिसम्पत्, उपलक्षणेन दिव्यानि द्युतियशोवर्णबलवीर्यादीनि च यस्य स महर्द्धिकः, तत्र=द्युतिः-शरीराभरणकान्ति', यशः=कीर्तिः, वर्ण =शुक्लादि', बलं= शारीरिकपराक्रमः, वीर्यम्=आत्मबलम्, आदिपदेन-इतोऽन्यदपि संग्राह्यम्, एभि सपन्न , देवो भवति।

कपूइय देहं चइत्तु-मलपकपूतिक देह त्यक्त्वा) शुक्रशोणित से जन्य इस औदारिक शरीर का परित्याग कर (सासए सिद्धे हवइ-शाश्वत सिद्धो वा भवति) अनत काल तक सदा सिद्धि स्थान में रहने वाला सिद्ध परमात्मा हो जाता है। (वा) अथवा यदि वह सिद्ध नहीं बने तो (अप्परए महिड्ढिए देवे वा हवइ-अल्परजाः महर्द्धिक देवो वा भवति) अल्पकर्मा महर्द्धिक देव हो जाता है।

भावार्थ — पूर्वोक्तलक्षणविशिष्ट विनीत शिष्य देवादिक द्वारा पूज्य होता है, एवं इस अपवित्र औदारिक शरीर का परित्याग कर सिद्ध हो जाता है। यदि कर्म शेष रह जाय तो वह महाऋद्धिशाली देव होता है। यहां ऋद्धिसे द्युति, यश, वर्ण, बल, वीर्य इन सबका ग्रहण हुआ है। विमान आदि सपत्ति का नाम ऋद्धि है। शरीर एवं आभरण की कान्ति का नाम द्युति है। कीर्त्ति का नाम यश है। शरीर का जो शुक्ल आदि वर्ण है - उसका नाम वर्ण है। शारीरिक पराक्रम का नाम बल एव आत्मजन्य शक्ति का नाम वीर्य है।

શુક્ર શોણિત જન્ય આ ઔદારિક શરીરનો પરિત્યાગ કરી सासए सिद्धे हवइ-शाश्वत सिद्धो भवति અનન્તકાળ સુધી સદા સિદ્ધિ સ્થાનમાં રહેવાવાળા સિદ્ધ પરમાત્મા બની જાય છે वा અથવા જો તે સિદ્ધ ન બને તો, અલ્પકર્મા મહર્દ્ધિક દેવ બની જાય છે

ભાવાર્થ—પૂર્વોક્ત લક્ષણવિશિષ્ટ વિનીત શિષ્ય દેવાદિક દ્વારા પૂજ્ય બને છે અને આ અપવિત્ર ઔદારિક શરીરનો પરિત્યાગ કરી કાં તો સિદ્ધ બની જાય છે જો કર્મ શેષ રહી જાય તો તે મહાઋદ્ધિ શાળી દેવ બને છે ઋદ્ધિથી દ્યુતિ, યશ, વર્ણ, બળ, વીર્ય, આ બધાનુ ગાથામાં ગ્રહણ કરેલ છે, વિમાન આદિ સપત્તિનુ નામ ઋદ્ધિ છે શરીર અને આભરણની કાન્તિનુ નામ દ્યુતિ છે, કીર્તિનુ નામ યશ છે શરીરનો જે શુક્લ આદિ વર્ણ છે-દ્રવ્ય લેશ્યા છે-એનુ નામ વર્ણ છે શારીરિક પરાક્રમનુ નામ બળ છે અને

इति शब्द समाप्तिबोधकः, अथवा 'इति' एवम्-अमुना प्रकारेण एतद् विनयश्रुताख्यमध्ययन ब्रवीमि यथा भगवता कथित तथा कथयामि न तु स्वबुद्ध्या परिकल्प्य किंचिद् ब्रवीमीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

इति श्रीविश्वविख्यात-जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-
कलितललितकलापालापक-प्रवि-शुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मा्य-
कवादिमानमर्दक-श्रीशाहूछत्रपति-कोल्हापुरराजप्रदत्त-
"जैनशास्त्राचार्य"-पदभूषित-कोल्हापुर-राजगुरु-
बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्य-
श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रीमदुत्तराध्ययन-
सूत्रस्य प्रियदर्शिन्याख्यायां व्याख्यायां
विनयसमाधिनामकं प्रथममध्ययनं
सम्पूर्णम् ॥ १ ॥



('त्तिबेमि'-इति ब्रवीमि) यह पद अध्ययनकी समाप्ति का सूचक है, इसका यह अर्थ है कि-श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! यह विनयश्रुत नाम का अध्ययन जैसा भगवान से सुना है उसी तरह का मैंने कहा है। इस में अपनी बुद्धि से कल्पित कुछ नहीं कहा गया है ॥ ४८ ॥

विनयश्रुतनामक प्रथम अध्ययन सम्पूर्ण ॥ १ ॥



શક્તિનુ નામ વીર્ય છે "त्तिबेमि" 'इति ब्रवीमि' આ પદ અધ્યયનની સમાપ્તિનુ સૂચક છે તેનો અર્થ આ છે કે-શ્રી સુધર્માસ્વામી જમ્બૂસ્વામીને કહે છે કે હે જમ્બૂ! આ વિનયશ્રુત નામનુ અધ્યયન જેવુ ભગવાનથી સાંભળ્યુ છે તેજ પ્રકારે મે કહ્યુ છે આમાં પોતાની બુદ્ધિથી કલ્પિત કાંઈ નથી કહ્યુ ॥ ૪૮ ॥

॥ આ વિનયશ્રુત નામનુ પ્રથમ અધ્યયન સંપૂર્ણ ॥ ૧ ॥



द्वितीयाध्ययनम् ।

विनयश्रुताख्यं प्रथममध्ययनं वर्णितम्, इदानीं द्वितीयमध्ययनं प्रारभ्यते। अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने विनयः सविस्तरं वर्णितः, स चानुकूलप्रतिकूलपरीषहजयनशीलैरेव कर्तुं शक्यते इति द्वितीयं परीषहाख्यमध्ययनं प्रारभ्यते—

यद्वा—विनयाराधकाः प्रायः परीषहभाजो भवन्त्येवेति द्वितीयं परीषहाख्यमध्ययनं प्रारभ्यते, तस्येदमाद्यं सूत्रम्—

मूलम्—सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥१॥

छाया—श्रुतं मे आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः, यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत ॥१॥

द्वितीय अध्ययन।

विनयश्रुत नाम के प्रथम अध्ययन का वर्णन हुवा, अब सूत्रकार द्वितीय अध्ययन का वर्णन करते हैं। प्रथम अध्ययन के साथ इसका संबंध इस प्रकार है—प्रथम अध्ययन में विस्तारपूर्वक विनयधर्म का वर्णन करने में आया है। उस विनयधर्म की आराधना परीषहों को जीतने वाला ही कर सकता है, और विनयशील को प्रायः परीषह उत्पन्न होते ही हैं इसलिए अब परीषहाध्ययन कहते हैं जिसका यह प्रथमसूत्र है—"सुयंमे" इत्यादि।

બીજુ અધ્યયન

વિનય શ્રુત નામના પ્રથમ અધ્યયનનુ વર્ણન પુરૂ થયુ હવે સૂત્રકાર બીજા અધ્યયનનુ વર્ણન કરે છે પ્રથમ અધ્યયનની સાથે એનો સબધ આ પ્રકારનો છે પ્રથમ અધ્યયનમાં વિસ્તાર પૂર્વક વિનય ધર્મનુ વર્ણન કરવામાં આવેલ છે તે વિનય ધર્મની આરાધના પરિષહને જીતવાવાળા જ કરી શકે છે અને વિનયશીલને પરિષહ ઘણે ભાગે ઉત્પન્ન થાય જ છે, આ માટે હવે "પરિષહાધ્યયન" કહેવામાં આવે છે જેનું આ પ્રથમ સૂત્ર છે સુયમે

टीका—श्रीसुधर्मा स्वामी श्रीजम्बूस्वामिनं प्रति कथयति–'सुयं मे आउसं!' इत्यादि। हे आयुष्मन्! भगवता=ज्ञानादियुक्तेन, तेन=तीर्थंकरेण, एवम्=वक्ष्यमाणप्रकारेण, यत् आख्यातं=सकलजीवभाषापरिणामिन्या भाषया कथितम्, उक्तञ्च–

देवा दैवीं नरा नारीं, शबराश्चापि शाबरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद्गिरम्॥ १॥

तत्, मे=मया, श्रुतम्। भगवत्कथितमेवार्थं तवाग्रे वर्णयामीति भावः। अस्य सविस्तरं व्याख्यानं जिज्ञासुभिराचाराङ्गसूत्रस्य मत्कृताचारचिन्तामणिटीकायां द्रष्टव्यम्। यद्वा–'आउसंतेण' इत्येकं पदं, 'मया' इत्यस्य विशेषणम्।

श्री सुधर्मा स्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं–(आउस–आयुष्मन्) कि हे आयुष्मन्! जम्बू! (तेणं भगवया एवमक्खायं–तेन भगवता एवं आख्यातम्) ज्ञानादि गुणों से युक्त उन तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर स्वामी ने वक्ष्यमाण प्रकार से कहा है यह (मे सुयं–मया श्रुतम्) मैंने सुना है वही मैं कहता हूं। प्रभु की भाषा सर्वभाषामय होती है, कहा भी है–"देवा दैवीं" इत्यादि।

प्रभु की वाणी को देव, मनुष्य, आर्य, अनार्य, तिर्यञ्च, सभी अपनी अपनी भाषा में समझते हैं।

इस सूत्र का विस्तृत विवेचन आचाराग सूत्र की आचारचिन्तामणि टीका में किया गया है, इसलिए जिज्ञासु को वहां से देख लेना चाहिये। "आउसं तेणं" इस पद की संस्कृत छाया "आयुष्मन् तेन" ऐसी न

શ્રી સુધર્માસ્વામી, શ્રી જમ્બૂસ્વામીને કહે છે કે आउस–आयुष्मन्' હે આયુષ્મન્ જમ્બૂ! तेणं भगवया एवमक्खायं–तेन भगवता एवं आख्यातम् જ્ઞાનાદિ ગુણોથી યુક્ત એવા તીર્થંકર ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીએ વક્ષ્યમાણ પ્રકારથી કહ્યું છે मे सुयं–मया श्रुतम्–તે મેં સાંભળ્યું છે એ હું કહું છું પ્રભુની ભાષા સર્વભાષામય હોય છે કહ્યું પણ છે—देवा दैवीं ઈત્યાદિ.

પ્રભુની વાણીને દેવ, મનુષ્ય, આર્ય, અનાર્ય, તિર્યંચ, સઘળા પોત પોતાની ભાષામાં સમજે છે

આ સૂત્રનું વિસ્તૃત વિવેચન આચારાંગસૂત્રની આચારચિંતામણી ટીકામાં કરેલ છે માટે જીજ્ઞાસુએ ત્યાંથી જોઈ લેવું જોઈએ. "आउसं तेणं" એ પદની સંસ્કૃત છાયા "आयुष्मन् तेन" એવી ન થતાં आउसंतेणं" "आवसता"

मनुष्यशरीरं, त्यक्त्वा, शाश्वतः=सर्वकालावस्थायी जन्ममरणरहितः सिद्धो भवति। वा=अथवा, सावशेषकर्मा तु अल्परजाः=अल्पकर्मा महर्द्धिकः=महती=दिव्या ऋद्धि= विमानादिसम्पत्, उपलक्षणेन दिव्यानि द्युतियशोवर्णबलवीर्यादीनि च यस्य स महर्द्धिकः, तत्र=द्युतिः-शरीराभरणकान्तिः, यशः=कीर्तिः, वर्णः=शुक्लादिः, बलं= शारीरिकपराक्रमः, वीर्यम्=आत्मबलम्, आदिपदेन-इतोऽन्यदपि समग्रम्, एभिः सपन्नः, देवो भवति।

कपूइय देहं चइत्तु-मलपकपूतिकं देहं त्यक्त्वा) शुक्रशोणित से जन्य इस औदारिक शरीर का परित्याग कर (सासए सिद्धे हवइ-शाश्वतः सिद्धो वा भवति) अनंत काल तक सदा सिद्धि स्थान में रहने वाला सिद्ध परमात्मा हो जाता है। (वा) अथवा यदि वह सिद्ध नहीं बने तो (अप्परए महिड्ढिए देवे वा हवइ-अल्परजा महर्द्धिक देवो वा भवति) अल्पकर्मा महर्द्धिक देव हो जाता है।

भावार्थ — पूर्वोक्तलक्षणविशिष्ट विनीत शिष्य देवादिक द्वारा पूज्य होता है, एवं इस अपवित्र औदारिक शरीर का परित्याग कर सिद्ध हो जाता है। यदि कर्म शेष रह जाय तो वह महाऋद्धिशाली देव होता है। यहां ऋद्धिसे द्युति, यश, वर्ण, बल, वीर्य इन सबका ग्रहण हुवा है। विमान आदि संपत्ति का नाम ऋद्धि है। शरीर एवं आभरण की कान्ति का नाम द्युति है। कीर्त्ति का नाम यश है। शरीर का जो शुक्ल आदि वर्ण है - उसका नाम वर्ण है। शारीरिक पराक्रम का नाम बल एव आत्मजन्य शक्ति का नाम वीर्य है।

શુક્ર શોણિત જન્ય આ ઔદારિક શરીરનો પરિત્યાગ કરી सासए सिद्धे हवइ-शाश्वत सिद्धो भवति અનન્તકાળ સુધી સદા સિદ્ધિ સ્થાનમાં રહેવાવાળા સિદ્ધ પરમાત્મા બની જાય છે वा અથવા જો તે સિદ્ધ ન બને તો, અલ્પકર્મા મહર્દ્ધિક દેવ બની જાય છે

ભાવાર્થ—પૂર્વોક્ત લક્ષણવિશિષ્ટ વિનીત શિષ્ય દેવાદિક દ્વારા પૂજ્ય બને છે અને આ અપવિત્ર ઔદારિક શરીરનો પરિત્યાગ કરી દે તો સિદ્ધ બની જાય છે જો કર્મ શેષ રહી જાય તો તે મહાઋદ્ધિ શાળી દેવ બને છે ઋદ્ધિથી દ્યુતિ, યશ, વર્ણ, બળ, વીર્ય, આ બધાનુ ગાથામાં ગ્રહણ કરેલ છે, વિમાન આદિ સપત્તિનુ નામ ઋદ્ધિ છે શરીર અને આભરણની કાન્તિનુ નામ દ્યુતિ છે, કીર્તિનુ નામ યશ છે શરીરનો જે શુક્લ આદિ વર્ણ છે-દ્રવ્ય લેશ્યા છે-એનુ નામ વર્ણ છે શારીરિક પરાક્રમનુ નામ બળ છે

टीका—श्रीसुधर्मा स्वामी श्रीजम्बूस्वामिन प्रति कथयति–'सुय मे आउस!' इत्यादि। हे आयुष्मन्! भगवता=ज्ञानादियुक्तेन, तेन=तीर्थंकरेण, एवम्=वक्ष्यमाणप्रकारेण, यत् आख्यात=सकलजीवभाषापरिणामिन्या भाषया कथितम्, उक्तञ्च–

देवा दैवीं नरा नारीं, शवराश्चापि शावरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद्गिरम्॥ १॥

तत्, मे=मया, श्रुतम्। भगवत्कथितमेवार्थं तवाग्रे वर्णयामीति भाव'। अस्य सविस्तर व्याख्यान जिज्ञासुभिराचाराङ्गसूत्रस्य मत्कृताचारचिन्तामणिटीकायां द्रष्टव्यम्। यद्वा–'आउसतेण' इत्येक पद, 'मया' इत्यस्य विशेषणम्।

श्री सुधर्मा स्वामी श्री जवूस्वामी से कहते हैं–(आउस–आयुष्मन्) कि हे आयुष्मन्! जम्बू! (तेण भगवया एवमक्खाय–तेन भगवता एव आख्यातम्) ज्ञानादि गुणों से युक्त उन तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर स्वामी ने वक्ष्यमाण प्रकार से कहा है वह (मे सुय–मया श्रुतम्) मैंने सुना है वही मैं कहता हू। प्रभु की भाषा सर्वभाषामय होती है, कहा भी है–"देवा दैवीं" इत्यादि।

प्रभु की वाणी को देव, मनुष्य, आर्य, अनार्य, तिर्यञ्च, सभी अपनी अपनी भाषा में समझते हैं।

इस सूत्र का विस्तृत विवेचन आचाराग सूत्र की आचारचिन्तामणि टीका में किया गया है, इसलिए जिज्ञासु को वहां से देख लेना चाहिये। "आउस तेण" इस पद की संस्कृत छाया "आयुष्मन् तेन" ऐसी न

શ્રી સુધર્માસ્વામી, શ્રી જમ્બૂસ્વામીને કહે છે કે आउसं–आयुष्मन्' હે આયુષ્મન્ જમ્બૂ! तेण भगवया एवमक्खाय–तेन भगवता एव आख्यातम् જ્ઞાનાદિ ગુણોથી યુક્ત એવા તીર્થંકર ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીએ વક્ષ્યમાણ પ્રકારથી કહ્યું છે મે सुय–मया श्रुतम्–તે મે સાંભળ્યું છે એ હું કહું છું પ્રભુની ભાષા સર્વભાષામય હોય છે કહ્યું પણ છે—देवा दैवीं ઈત્યાદિ.

પ્રભુની વાણીને દેવ, મનુષ્ય, આર્ય, અનાર્ય, તિર્યંચ, સઘળા પોત પોતાની ભાષામાં સમજે છે

આ સૂત્રનું વિસ્તૃત વિવેચન આચારાંગસૂત્રની આચારચિંતામણી ટીકામાં કરેલ છે માટે જીજ્ઞાસુએ ત્યાંથી જોઈ લેવું જોઈએ "आउस तेण" એ પદની સંસ્કૃત છાયા "आयुष्मन् तेन" એવી ન થતાં आउसंतेणं" "आयसता"

द्वितीयाध्ययनम् ।

विनयश्रुताख्यं प्रथममध्ययनं वर्णितम्, इदानीं द्वितीयमध्ययनं प्रारभ्यते । अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने विनयः सविस्तरं वर्णितः, स चानुकूलप्रतिकूलपरीषहजयनशीलैरेव कर्तुं शक्यते इति द्वितीयं परीषहाख्यमध्ययनं प्रारभ्यते—

यद्वा—विनयाराधकाः प्रायः परीषहभाजो भवन्त्येवेति द्वितीयं परीषहाख्यमध्ययनं प्रारभ्यते, तस्येदमाद्यं सूत्रम्—

मूलम्—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥१॥

छाया—श्रुतं मे आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः, यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत ॥१॥

द्वितीय अध्ययन।

विनयश्रुत नाम के प्रथम अध्ययन का वर्णन हुवा, अब सूत्रकार द्वितीय अध्ययन का वर्णन करते हैं। प्रथम अध्ययन के साथ इसका संबंध इस प्रकार है—प्रथम अध्ययन में विस्तारपूर्वक विनयधर्म का वर्णन करने में आया है। उस विनयधर्म की आराधना परीषहों को जीतने वाला ही कर सकता है, और विनयशील को प्रायः परीषह उत्पन्न होते ही हैं इसलिए अब परीषहाध्ययन कहते हैं जिसका यह प्रथमसूत्र है—"सुयंमे" इत्यादि।

બીજું અધ્યયન

વિનય શ્રુત નામના પ્રથમ અધ્યયનનું વર્ણન પુરૂ થયું હવે સૂત્રકાર બીજા અધ્યયનનું વર્ણન કરે છે પ્રથમ અધ્યયનની સાથે એનો સંબંધ આ પ્રકારનો છે પ્રથમ અધ્યયનમાં વિસ્તાર પૂર્વક વિનય ધર્મનું વર્ણન કરવામાં આવેલ છે તે વિનય ધર્મની આરાધના પરિષહને જીતવાવાળા જ કરી શકે છે અને વિનયશીલને પરિષહ ઘણું ભાગે ઉત્પન્ન થાય જ છે, આ માટે હવે "પરિષહાધ્યયન" કહેવામાં આવે છે જેનું આ પ્રથમ સૂત્ર છે સુયંમે "

एव श्रीसुधर्मस्वामिना प्रोक्ते सति श्री जम्बूस्वामी पृच्छति—

मूलम्—कयरे ते खलु बावीस परीसहा समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइया जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा? ॥२॥

छाया—कतरे ते खलु द्वाविंशतिः परीपहा श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः । यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्याया परिव्रजन् स्पृष्टो न विनिहन्येत ? ॥२॥

टीका—'कयरे ते' इत्यादि ।

कतरे=किंनामकास्ते=अनन्तरसूत्रोक्ता खलु द्वाविंशतिः परीपहाः, अत्र खलु शब्दो वाक्यालङ्कारे, शेपपदानां व्याख्या पूर्ववत् ॥

तदा श्रीसुधर्मा स्वामी श्रीजम्बूस्वामिन प्रति प्राह—

मूलम्—इमे ते खलु बावीस परीसहा समणेणं भगवया

इस तरह श्री सुधर्मास्वामि का कहने पर श्री जम्बू स्वामी पूछने लगे–'कयरे' इत्यादि ।

(कासवेणं) काश्यपगोत्री (समणेणं भगवया महावीरेण) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जिन २२ परिषहों का (पवेइया–प्रवेदिता) वर्णन किया है और जिनके सुनने आदि से भिक्षाचर्या में घूमता हुवा मुनि उन परिषहों से स्पृष्ट होने पर भी सयममार्ग से चलित नहीं होता है उन परिषहों के नाम क्या २ हैं ?।

सुधर्मास्वामी जबूस्वामी के २२ परिषहों के नामों को जानने विषयक प्रश्न का उत्तर देने के लिये कह रहे हैं कि हे जंबू! सुनो–

આ પ્રમાણે શ્રી સુધર્માસ્વામીએ કહ્યું ત્યારે જમ્બૂસ્વામી ફરી પૂછવા લાગ્યા કયરે ઈત્યાદિ

कासवेण કાશ્યપગોત્રી "समणेणं भगवया महावीरेणं" શ્રમણ ભગવાન મહાવીર સ્વામીએ જે ૨૨ પરિષહોનુ पवेइया–प्रवेदिता વર્ણન કરેલ છે અને જેના સાંભળવા આદિથી ભિક્ષાચર્યામા ફરી રહેલ મુનિ એ પરિષહોથી સ્પૃષ્ટ થયા પછી પણ સયમ માર્ગથી ચલિત બનતા નથી. એ પરિષહોના નામ કયાં કયા છે?

સુધર્માસ્વામી જમ્બૂસ્વામીને ૨૨ પરિષહોના નામને જાણવા અંગેના પ્રશ્નનો ઉત્તર આપતા કહે છે કે, કે જમ્બૂ! સાંભળો "इमे" ઈત્યાદિ।

कदाचित् स्पृष्ट=परीषहैराक्रान्तः सन्, न विनिहन्येत=मोक्षमार्गात् प्रच्युतो न भवेदित्यर्थः। 'भिक्खायरियाए' इत्यनेन भिक्षाटने प्रायः परीषहाः प्रादुर्भवन्ति, इति सूचितम्॥

नहीं होवे। "भिक्खायरियाए" इससे यह प्रकट होता है कि भिक्षु को भिक्षाटन करते समय प्रायः परीषह उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—इस सूत्र द्वारा सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी को समझाते हुए यह कह रहे है कि हे जम्बू! मैं इस अध्ययय में २२परीपहों के संबंध में जो कुछ भी विवेचन करूँगा वह सब जैसा मैंने प्रभु वर्धमानस्वामी के मुख से सुना है वैसा ही करूँगा। भगवान् ने बाईस परीषह फरमाये है—जो भिक्षु इन परीषहों से स्वयं पराजित न होकर इनको जीतता रहता है वह मोक्षमार्ग से कभी भी विचलित नहीं होता है। भिक्षाचर्या करते समय परीषहों के आने की अर्थात् उत्पन्न होने की प्रायः अधिक संभावना रहती है, अतः साधु को उनसे विचलित नहीं होना चाहिये। परीषह साधु की कसोटी है। इनके द्वारा कसा जाने पर जो साधु मोक्षमार्ग से चलायमान नहीं होता है, एवं वीर्योल्लास प्रकट कर इनका सामना करता है वह कर्मो की निर्जरा करता हुआ अपना कल्याण करता है॥

પદથી પ્રગટ થાય છે કે, ભિક્ષુને ભિક્ષાટન કરતી વખતે પ્રાય પરિષહ ઉત્પન્ન થાય છે

ભાવાર્થ—આ સૂત્ર દ્વારા સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂસ્વામીને એ સમજાવીને કહે છે કે, હે જમ્બૂ! હું આ અધ્યયનમાં ૨૨ પરિષહનાં સંબંધમાં જે કાંઈ પણ વિવેચન કરીશ. તે મે પ્રભુ વર્ધમાનસ્વામીથી જે રીતે સાંભળ્યુ છે તે કરીશ. ભગવાને બાવીસ ૨૨ પરિષહ ફરમાવ્યા છે જે ભિક્ષુ આ પરિષહોથી સ્વયં પરાજીત ન બની તેને જીતે છે તે મોક્ષ માર્ગથી કદી પણ વિચલિત થતો નથી. ભિક્ષાચર્યા કરતી વખતે પરિષહોના આવવાની અર્થાત્ ઉત્પન્ન થવાની પ્રાય અધિક સંભાવના રહે છે આથી સાધુએ તેનાથી વિચલિત ન બનવું જોઈએ. પરિષહ સાધુની કસોટી છે તેના દ્વારા કસાયા પછી સાધુ મોક્ષમાર્ગથી ચલાયમાન નથી થતા તેમજ વિર્યોલ્લાસ પ્રગટ કરી એનો સામનો કરે છે તે કર્મોની નિર્જરા કરીને પોતાનું કલ્યાણ કરે છે.

टीका—तद् यथा-क्षुधापरीषहः दिगिंछाशब्दो दशीय. क्षुधार्थे वर्तते। सैव परीषह' परिषह्यते इति परीषह, ॥ १ ॥ पिपासापरीषह – पिपासा =तृषा, सैव परीषह, एव सर्वत्र परीषहार्थेन समानाधिकरण्य बोध्यम् ॥२॥ शीत परीषहः-शीत=हेमन्तशिशिरयोर्जात शीतस्पर्श, तदेव परीषह शीतपरीषहः ॥३॥ उष्णपरीषह –उष्ण–ग्रीष्मवर्षासु जातस्तापरूप उष्णस्पर्श ,तदेव परीषह'॥४॥ दशमशकपरीषह —दशमशका. प्रसिद्धा, त एव परीषह. दशमशकपरीषह, दशमशका परीषहत्ववन्त इत्यर्थ, तत्र परीषहत्वगतैकत्वविवक्षया परीषह इत्येकवचनम् ॥ ५ ॥ अचेल=चैलाभाव जिनकल्पिकविशेषणाम्। स्थविरकल्पिकानां तु जीर्ण खण्डितमल्पमूल्य प्रमाणोपेत च चैल सदप्यचेलमेव। तदेव

"इमे"—इत्यादि। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जिन २२ परीषहों को सहन करने के लिए भिक्षुको आदेश दिया है वे २२ परीषह ये हैं—

दिगिंछाशब्द देशीय शब्द है, इसका अर्थ क्षुधा है। दिगिंछारूप परीषह का नाम दिगिच्छापरीषह है ।१। पिपासा–शब्द का अर्थ तृषा है। इसरूप जो परीषह है वह पिपासापरीषह है ।२। हेमन्त एव शिशिर ऋतु मे उत्पन्न शीतस्पर्श का नाम शीत है। इसरूप जो परीषह है उसका नाम शीतपरीषह है ।३। ग्रीष्म ऋतु एव वर्षा ऋतु में उत्पन्न हुए ताप का नाम उष्णस्पर्श है। इसरूप परीषह का नाम उष्णपरीषह है ।४। डास, मच्छर, बिच्छु, चिउटी आदि का नाम दशमशक है। इनके काटने की वेदनारूप जो परीषह है वह दशमशक परीषह है ।५। वस्त्रका सर्वथा अभाव अचेल है, यह जिनकल्पियों को होता है। स्थविरकल्पियों के जीर्ण, खण्डित, अल्पमूल्यवाले एवं प्रमाणोपेत वस्त्र होते हैं तो भी उनको

શ્રમણ ભગવાન મહાવીર સ્વામીએ જે ૨૨ પરીષહોને સહન કરવાનો ભિક્ષુને આદેશ આપેલ છે તે ૨૨ પરિષહ આ છે

દિગિંચ્છારૂપ પરિષહનું નામ દિગિંચ્છાપરીષહ છે (૧) "દિગિચ્છા" એટલે ભૂખ પિપાસા શબ્દનો અર્થ તૃષા છે, આ રૂપ જે પરીષહ છે તે પિપાસા-પરીષહ છે (૨) હેમ ત અને શિશિર ઋતુમાં ઉત્પન્ન થતાં ઠંડા સ્પર્શનું નામ શીત પરીષહ છે (૩) ગ્રીષ્મ તથા વર્ષા ઋતુમા ઉત્પન્ન થતા તાપ રૂપ ઉષ્ણ સ્પર્શનુ નામ ઉષ્ણપરીષહ છે (૪) ડાંસ, મચ્છર, વીંછી, માકડ, આદિનુ નામ દશમશક છે તેના કરડવાની વેદના રૂપ પરીષહ તે દશમશકપરીષહ છે (૫) વસ્ત્રનો સદા અભાવ તેઅચેલ છે એ જીનકલ્પિઓને થાય છે સ્થવિરકલ્પિઓના જીર્ણ, ખડિત અલ્પ મૂલ્યવાળા એવાં પ્રમાણોપેત વસ્ત્ર હોય છે તો પણ તેને અચેલજ માનવા જોઈએ. એવો

महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥३॥

छाया—इमे ते खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता, यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत ॥३॥

'इमे ते' इत्यादि ।

ये द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितास्ते खलु इमे=अग्रे वक्ष्यमाणाः सन्ति, अनन्तरमेव वक्ष्यमाणत्वात् हृदि वर्तमानाः परीषहाः 'इदं' शब्देन निर्दिष्टाः। यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वेत्यादि पदानां व्याख्या पूर्ववत्॥

अथ तानेव नामनिर्देशपूर्वकं दर्शयति—

मूलम्—तं जहा—दिगिंछापरीसहे १, पिवासापरिसहे २, सीयपरीसहे ३, उसिणपरीसहे ४, दंसमसयपरीसहे ५, अचेलपरीसहे ६, अरइपरीसहे ७, इत्थीपरीसहे ८, चरियापरीसहे ९, निसीहियापरीसहे १०, सेज्जापरीसहे ११, अक्कोसपरीसहे १२, वहपरीसहे १३, जायणापरीसहे १४, अलाभपरीसहे १५, रोगपरीसहे १६, तणफासपरीसहे १७, जल्लपरीसहे १८, सक्कारपुरक्कारपरीसहे १९, पन्नापरीसहे २०, अन्नाणपरीसहे २१, दंसणपरीसहे २२ ॥४॥

छाया—तद् यथा—क्षुधापरीषहः १, पिपासापरीषहः २, शीतपरीषहः ३, उष्णपरीषहः ४, दंशमशकपरीषहः ५, अचेलपरीषहः ६, अरतिपरीषहः ७, स्त्रीपरीषहः ८, चर्यापरीषहः ९, नैषेधिकीपरीषहः १०, शय्यापरीषहः ११, आक्रोशपरीषहः १२, वधपरीषहः १३, याचनापरीषहः १४, अलाभपरीषहः १५, रोगपरीषहः १६, तृणस्पर्शपरीषहः १७, जल्लपरीषहः १८, सत्कारपुरस्कारपरीषहः १९, प्रज्ञापरीषहः २०, अज्ञानपरीषहः २१, दर्शनपरीषहः २२ ॥ ४ ॥

॥ १५ ॥ रोग=वातपित्तश्लेष्मणा वैषम्येण समुत्पन्नः कुष्ठादिः, स एव परीषहो रोगपरीषहः ॥ १६ ॥ तृणस्पर्शः-दर्भादिस्पर्शः, स एव परीषहः तृणस्पर्शपरीषहः ॥ १७ ॥ जल्ल=मल, स एव परीषहः जल्लपरीषहः ॥ १८ ॥ सत्कारो वस्त्रपात्रादिदानेन समाननम्, पुरस्कारोऽभ्युत्थानासनप्रदानवन्दनादिसंपादनम्, तावेव परीषहः सत्कारपुरस्कारपरीषहः ॥ १९ ॥ प्रज्ञा=स्वयंविमर्शपूर्वको वस्तुपरिच्छेदः, सैव परीषहः प्रज्ञापरीषहः॥२०॥ अज्ञानपरीषहः—ज्ञान=मत्यादि, तदभावस्तु अज्ञानम् तदेव परीषहः ॥ २१ ॥ दर्शनपरीषहः—दर्शन=सम्यग्दर्शन, तदेव क्रियादिवादिना नानाविधमतश्रवणेऽपि निश्चलतया ध्रियमाणत्वात् सम्यक् परिषह्यमाण सत् परिषहो भवति ॥ २२ ॥ ४ ॥

एवं श्रीसुधर्मा स्वामी परीषहाणां नामान्यभिधाय तेषां स्वरूपं वक्तुकामः प्राह—

मूलम्—परीसहाण पविभत्ती, कासवेण पवेइया ।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

कफ की विषमता से समुत्पन्न कुष्ठादिरूप परीषह रोगपरीषह है।१६। दर्भ आदि का स्पर्शरूप परीषह तृणस्पर्शपरीषह है।१७। मेल आदिरूप परीषह जल्लपरीषह है।१८। अन्यद्वारा वस्त्र, पात्र आदि के देने रूप सत्कार, एवं अभ्युत्थान, आसनप्रदान तथा वंदना आदि करने रूप पुरस्कार, इन दोनोंरूप परीषह सत्कारपुरस्कार परीषह है।१९। स्वयं विमर्शपूर्वक वस्तु के परिच्छेद करनेरूप परीषह प्रज्ञापरीषह है।२०। मत्यादिज्ञान के अभावरूप अज्ञानपरीषह है।२१। क्रियावादी आदि के अनेकविध सिद्धान्तों के श्रवण करने पर भी सम्यग्दर्शन को निश्चल रूप से धार रखने के परिषह का नाम दर्शनपरीषह है॥२२॥

ઉત્પન્ન થયેલ કુષ્ઠાદિરૂપ પરીષહ રોગપરીષહ છે (૧૬) દર્ભ આદિના સ્પર્શરૂપ પરીષહ તૃણસ્પર્શપરીષહ છે (૧૭) મેલ આદિરૂપ પરીષહ જલ્લપરીષહ છે (૧૮) અન્યદ્વારા વસ્ત્ર, પાત્ર આદિના દેવારૂપ સત્કાર, અને અભ્યુત્થાન, આસનપ્રદાન તથા વંદના આદિ કરવારૂપ પુરસ્કાર આ બન્ને રૂપ પરીષહ સત્કાર-પુરસ્કારપરીષહ છે (૧૯) સ્વયં વિમર્શપૂર્વક વસ્તુનો નિર્ણય-પરિચ્છેદ કરવારૂપ પરીષહ પ્રજ્ઞાપરીષહ છે (૨૦) મત્યાદિ જ્ઞાનના અભાવરૂપ પરીષહ અજ્ઞાનપરીષહ છે (૨૧) ક્રિયાવાદી આદિના અનેકવિધ સિદ્ધાંતોને શ્રવણ કરવાથી પણ સમ્યગ્ દર્શનને નિશ્ચય રૂપથી ધારી રાખવાના પરીષહનું નામ દર્શનપરીષહ છે ॥૨૨॥

परीषहः अचेलपरीषहः ॥ ६ ॥ अरतिपरीषहः-रतिः=संयमविषयिका प्रीतिः। तद्विपरीता त्वरतिः, सैव परीषहः, अरतिपरीषहः ॥७॥ स्त्री=नारी सैव कथंचिद् दृष्टा सती तद्गतरागपूर्वकगतिविलासहासचेष्टाचक्षुर्विकाराद्यवलोकनेऽपि तदभिलाषनिवर्तनेन परिषह्यमाणत्वात् परीषहः स्त्रीपरीषहः ॥ ८ ॥ चर्या-ग्रामानुग्राम विहाररूपा, सैव परीषहः चर्यापरीषहः ॥ ९ ॥ नैषेधिकी-स्वाध्यायभूमिः, सैव परीषहः-नैषेधिकीपरीषहः ॥ १० ॥ शय्या=वसतिः, सैव परीषहः शय्यापरीषहः ॥११॥ आक्रोशः=असभ्यभाषणरूपः, स एव परीषहः आक्रोशपरीषहः ॥१२॥ वधः-ताडनं, स एव परीषहः वधपरीषहः ॥१३॥ याचनैव परीषहः याचनापरीषहः ॥१४॥ अलाभ -अभिलषितवस्तुनोऽप्राप्तिः, स एव परीषहः, अलाभपरीषहः

अचेल ही जानना चाहिये। इस रूप परीषह ही अचेल परीषह है।६। संयमविषयक अप्रीति का नाम अरति है इस अप्रीतिरूप ही अरति परीषह है।७। स्त्री के रागपूर्वक गमन, विलास, हास्य, चेष्टा, तथा चक्षु के विकार कटाक्ष-आदि के अवलोकित होने पर भी उस विषय की कोई भी अभिलाषा नहीं करना-यह स्त्री परीषह है।८। एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करना इसका नाम चर्या है इसरूप परीषह चर्यापरीषह है।९। स्वाध्याय करने के स्थान का नाम नैषेधिकी है। इसरूप जो परीषह है वह नैषेधिकी परीषह है।१०। वसति रूप परीषह शय्यापरीषह है।११। असभ्यभाषणरूप परीषह आक्रोशपरीषह है।१२। ताडनरूप परीषह वधपरीषह है।१३। याचनारूप परीषह याचनापरीषह है।१४। अभिलषित वस्तु की अप्राप्तिरूप परीषह अलाभपरीषह है।१५। वात पित्त

પરીષહ અચેલપરીષહ છે (૬) સંયમવિષયક અપ્રીતિનું નામ અરતિ છે, એ અપ્રીતિરૂપ પરીષહ અરતિપરીષહ છે (૭) સ્ત્રી તરફના રાગપૂર્વક ગમન, વિલાસ, હાસ્ય, ચેષ્ટા તથા ચક્ષુનો વિકાર-કટાક્ષ આદિના અવલોકન જોઈને પણ એ વિષયની કોઈ અભિલાષા ન કરવી તેવો પરીષહ તે સ્ત્રીપરીષહ છે (૮) એક ગામથી બીજા ગામે વિહાર કરવો એનું નામ ચર્યા છે, આ રૂપ જે પરીષહ તે ચર્યાપરીષહ છે (૯) સ્વાધ્યાય કરવાના સ્થાનનું નામ નૈષેધિકી છે તેવા રૂપનો જે પરીષહ તે નૈષેધિકીપરીષહ છે (૧૦) વસતીરૂપ પરીષહ શય્યાપરીષહ છે (૧૧) અસભ્યભાષણ સહન કરવું તે આક્રોશપરીષહ છે (૧૨) તાડનરૂપ પરીષહ વધપરીષહ છે. (૧૩) યાચનારૂપ પરીષહ તે યાચનાપરીષહ છે (૧૪) અભિલષિત વસ્તુની અપ્રાપ્તિરૂપ પરીષહ તે અલાભપરીષહ છે.(૧૫) વાત, પિત્ત, કફની વિષમતાથી

तस्मादादौ द्वाभ्यां गाथाभ्यां क्षुधापरीषहजय प्राह—

मूलम्—दिगिंछापरिगए देहे, तवस्सी भिक्खू थामव ।
न छिंदे न छिंदावए, न पंए न पयावए ॥ २॥

छाया—क्षुधापरिगते देहे, तपस्वी भिक्षु स्थामवान् ।
न छिन्द्यात् न छेदयेत्, न पचेत् न पाचयेत् ॥ २ ॥

टीका—'दिगिंछापरिगए०' इत्यादि ।

तपस्वी=षष्ठाष्टमभक्तादितपोऽनुष्ठानवान् स्थामवान्=मनोबलसमन्वित, भिक्षु=साधु, देहे=शरीरे, क्षुधापरिगते=बुभुक्षया व्याप्ते सति, न छिन्द्यात्=फलादिकं स्वयं न त्रोटयेत्, न छेदयेत्=नाप्यन्यैः फलादीनां छेदनं कारयेदित्यर्थः, न पचेत्=स्वयं पाकं न कुर्यात्, न च पाचयेत्=अन्यैः पाकं न कारयेत्। इदमुपलक्षणम्—

पथसमा नत्थि जरा, दारिद्द समो य परिभवो नत्थि ।
मरणसम नत्थि भय, खुहासमा वेयणा नत्थि ॥ १ ॥

मार्ग के समान जरा कोई नहीं है अर्थात्-निरन्तर चलनेवाला मार्गगामी जराजनित दुःखों का अनुभव करता है। तथा दारिद्र्य के समान अन्य कोई भी परिभव-अर्थात् अनादर नहीं है, तात्पर्य यह है-अन्य गुण के रहने पर भी दारिद्र्य के अस्तित्व में मनुष्य अनादर पाता है। तथा-मरण के समान भय नहीं है और न क्षुधा से बढकर कोई वेदना है, अर्थात मनुष्य मरण के भयसे जितना डरता है उतना अन्य से नहीं। तथा-क्षुधाजनित वेदना जितनी दुःखदायी होती है उतनी अन्य वेदना नहीं ॥ १ ॥

पथसमा नत्थि जरा, दारिद्र्यसमो य परिभवो नत्थि ।
मरणसम नत्थि भय, खुहासमा वेयणा नत्थि ॥ १ ॥

માર્ગના સમાન જરા કોઈ નથી, અર્થાત્ નિરંતર ચાલવાવાળા માર્ગગામી જરાજનિત દુઃખોનો અનુભવ કરે છે તથા દારિદ્રયના જેવું અન્ય કોઈ પણ પરિભવ-અર્થાત્ અનાદર નથી. તાત્પર્ય એ છે કે, અન્ય ગુણના હોવા છતાં દારિદ્રયના અસ્તિત્વમાં માણસ અનાદર પામે છે તથા મરણના સમાન ભય નથી અને ક્ષુધાથી વધુ કોઈ વેદના નથી અર્થાત્ મનુષ્ય મરણના ભયથી જેટલો ડરે છે, એટલો બીજાથી નથી ડરતો, તથા-ક્ષુધાજનક વેદના જેટલી અસહ્ય હોય છે, તેવી બીજી કોઈ વેદના નથી. ॥૧॥

छाया—परीषहाणा प्रविभक्ति , काश्यपेन प्रवेदिता ।
ता युष्माकम् उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥ १ ॥

टीका—' परीसहाण ' इत्यादि ।

हे शिष्या ! परीषहाणां प्रविभक्ति'=पृथक् पृथक् विभाग , काश्यपेन=कश्य= गोत्रोत्पन्नेन, श्रीमहावीरवर्धमानस्वामिना प्रवेदिता, प्रकर्षेण बोधिता द्वादशप रिपदि, तां=परीषहाणां प्रविभक्तिम् , आनुपूर्व्या=अनुक्रमेण, यथानिर्दिष्टक्रमेण युष्माकम् उदाहरिष्यामि=कथयिष्यामि, मे=मत् , मम सकाशात् , शृणुत=साव धानतया श्रवणगोचरी कुरुत । ' सुणेह '—अत्र बहुवचनमादरार्थम् ॥ गा. १ ॥

इह सर्वेषु परीषहेषु क्षुधापरीषह एव दुस्सह । उक्तञ्च—

पथसमा नत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि ।
मरणसम नत्थि भयं, खुहासमा वेयणा नत्थि ॥ १ ॥

छाया—पथिसमा नास्ति जरा, दारिद्र्यसमश्च परिभवो नास्ति ।
मरणसम नास्ति भयं, क्षुधासमा वेदना नास्ति ॥ १ ॥ इति

इस प्रकार सुधर्मा स्वामी परीषहों के नामोंका कथन करके अब उनका प्रत्येक का स्वरूप प्रकट करते हैं—परीसहाण-इत्यादि

हे शिष्य ! (परीसहाण पविभत्ती–परीषहाणा प्रविभक्ति) परीषहों का यह पृथक् २ विभाग (कासवेण–काश्यपेन) काश्यगोत्रोत्पन्न श्री वर्धमान स्वामीने (पवेइया–प्रवेदिता) समवसरण में प्रकट किया है। मैं (तं मे उदाहरिस्सामि–तां युष्माकं उदाहरिष्यामि) उस परीषहों के पृथक् २ विभाग को तुम को कहूगा (मे आणुपुव्वि सुणेह–मे आनुपूर्व्या शृणुत) अतः मेरे से उस को यथा क्रम तुम सुनो। इन समस्त परीषहो में क्षुधापरीषह ही दुस्सह है। कहा भी है—

આ પ્રકારે સુધર્મા સ્વામી પરીષહોના નામોનુ કથન કરીને હવે તે દરેકનુ સ્વરૂપ પ્રગટ કરે છે—परीसहाण ઇત્યાદિ

હે શિષ્ય ! 'परिसहाण पविभत्ती'–परीषहाणा प्रविभक्ति પરિષહોનો પ્રથક્ પ્રથક્ વિભાગ कासवेण पवेइया–काश्यपेन प्रवेदिता કાશ્યપગોત્રોત્પન્ન શ્રી મહાવીર વર્ધમાન સ્વામીએ સમવસરણમાં પ્રગટ કરેલ છે त मे उदाहरिस्सामि–तां युष्माकं उदाहरिष्यामि હું એ પરીષહોના પ્રથક્ પ્રથક્ વિભાગ તમોને કહીશ. मे आणुपुव्वि सुणेह– मे आनुपूर्व्या शृणुत આથી યથાક્રમ તેને સાંભળો. આથી આ સમસ્ત પરિષહોમા ક્ષુધા પરિષહ દુષ્કર છે કહ્યું છે કે—

किञ्च —

मूलम्—कालीपव्वगसंकासे, किसे धमणिसंतए ।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥३॥

छाया—कालीपर्वसंकाशाङ्गः, कृशः धमनिसंततः ।
मात्रज्ञः अशनपानस्य, अदीनमनाश्चरेत् ॥ ३ ॥

टीका—'कालीपव्वग०' इत्यादि ।

कालीपर्वसंकाशाङ्गः—काली=काकजङ्घा वनस्पतिः, तस्याः पर्वाणि मध्ये तनूनि, अन्त्ये स्थूलानि भवन्ति तत्संकाशानि=तत्सदृशानि बाहुजङ्घादीन्यङ्गानि यस्य स तथा, यस्य साधोस्तपश्चर्यया जानुकूर्परादयोऽवयवाः काकजङ्घावत् भवन्ति सन्ति स इत्यर्थः। अत एव कृशः=कृशशरीरः, धमनिसंततः=धमनिभिः नाडीभिः संततः= व्याप्तः शोणितमांसादीनां शुष्कतया दृश्यमाननाडीयुक्त इत्यर्थः। तथा—अशनपानस्य= अशनम्=ओदनरोटिकादि, पानं=दुग्धादि, तयोः समाहारः अशनपानं, तस्य, मात्रज्ञः=परिमाणज्ञानसम्पन्नः । यावताऽऽहारेण स्वकीयोदरपूरणं भवेत् तावत्प्रमाणमेवाहारं गृह्णाति, न तु रसास्वादाविक्षोभादधिकं गृह्णातीति भावः। तथा—अदीनमनाः

तात्पर्य यह है कि साधु को भूखसे पीडित होने पर भी नवकोटि से विशुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये ॥ २ ॥

फिर भी—'कालीपव्वग०'—इत्यादि ।

(कालीपव्वगसंकासे—कालीपर्वाङ्गसंकाशः) काली—काकजंघा (वनस्पति विशेष)के पर्व जैसे अंगवाला अत एव (किसे—कृशः) कृशशरीरयुक्त, (धमणिसंतए—धमनिसन्ततः) नसाजाल से व्याप्त, एवं (असणपाणस्स मायन्ने—अशनपानस्य मात्रज्ञः) अशन पान की मात्रा का ज्ञाता साधु

તાત્પર્ય આ છે કે, સાધુએ ભૂખથી પિડિત હોવા છતાં પણ નવપ્રકારના વિશુદ્ધ આહારને જ ગ્રહણ કરવો જોઈએ ॥ ગા ૨ ॥

ફરી પણ કહે છે कालिपव्वग० ઇત્યાદિ

कालिपव्वगसंकासे—कालीपर्वाङ्ग संकाश કાલી—કાકજંઘાના પર્વ જેવા અંગવાળા અતએવ किसे—कृश કૃશ શરીરયુક્ત, धमणिसंतए—धमनिसंततः નશાજાળથી વ્યાપ્ત અને असणपाणस्स मायन्ने—अशनपानस्य मात्रज्ञ અશન પાનની માત્રાના જ્ઞાતા સાધુ अदीणमणसो—अदीनमना અદીન મન બની સંયમના માર્ગમાં

अन्यं छिन्दन्त पचन्त वा नानुमोदयेत् । उपलक्षणत्वादव–न स्वय क्रीणीयात्, नाप्यन्यैः क्रापयेत्, न चान्य क्रीण तमनुमोदयेत् । न स्वय हन्यात्, न चान्यै र्घातयेत्, न चान्य घ्नन्तमनुमोदयेत् । बुभुक्षया पीडितोऽपि नवकोटिशुद्धमेवाहारं गृह्णीयादिति भावः ॥ गा २ ॥

क्षुधा से अधिक कोई वेदना नहीं है इस लिये सब से पहिले सूत्रकार प्रथम क्षुधापरिषह का जय कहते हैं—' दिगिंछापरिगए '–इत्यादि.

(तवस्सी–तपस्वी) षष्ठाष्टमभक्तादि तपोंका अनुष्ठान करने वाला एव (थामव–स्थामवान्) मनोबल से समन्वित (भिक्खू–भिक्षु) –साधु (देहे) शरीर (दिगिंछापरिगए–क्षुधापरिगते) क्षुधा से व्याप्त होने पर भी (न छिंदे–न छिन्द्यात्) फलादिक को स्वय छेदे नहीं–तोडे नहीं (न छिंदावए–न छेदयेत्) न दूसरों से तुडवावे (न पए न पयावए–नपचेत् न पाचयेत्) न स्वय पकावे और न दूसरों से पकवावे । उपलक्षण से (अन्य छिन्दन्त पचन्त वा नानुमोदयेत्, न स्वय क्रीणीयात् नाप्यन्यै क्रापयेत् न चान्य क्रीणन्तमनुमोदयेत्, न स्वय हन्यात् न चान्यैर्घातयेत् न चान्य घ्नन्तं अनुमोदयेत्) इन पदों का भी यहां सग्रह करलेना चाहिये, अर्थात् छेदन करने वाले तथा पकाने वाले व्यक्ति की अनुमोदना न करे, न स्वयं खरीदे न दूसरों से खरीदवावे और न खरीदने वाले की अनुमोदना करे, न स्वयं हणे न दूसरों से हणावे और न हणते हुए की अनुमोदना करे।

ક્ષુધાથી અધિક કોઈ વેદના નથી, એટલા માટે સૂત્રકાર સૌથી પહેલાં ક્ષુધા પરીષહનો જય કરવા કહે છે दिगिछापरिगए–इत्यादि

तवस्सी–तपस्वी છટ્ઠ અઠ્ઠમ ભક્તાદિ તપોનું અનુષ્ઠાન કરવાવાળા તથા थामव–स्थामवान् અને મનોબળથી સમન્વીત भिक्खु–भिक्षु ભિક્ષુ–સાધુ दिगिछापरिगए–क्षुधापरिगते શરીરે ભૂખથી વ્યાકુળ હોવા છતાં પણ न छिंदे–न छिन्द्यात् ફૂળ ફળાદિકને સ્વય છેદવું નહિ, તોડવું નહિ, न छिंदावए–न छेदयेत બીજાથી તોડાવવું નહિ नपए न पयावए–नपचेत् न पाचयेत् ન સ્વય પકાવે, અને ન બીજાથી પકાવે. ઉપલક્ષણથી अन्यं छिन्दन्त पचन्त वा नानुमोदयेत् છેદન કરવાવાળી તથા પકવવાવાળી વ્યક્તિની અનુમોદના ન કરે न स्वय क्रीणीयात् नान्यैः क्रापयेत् न चान्य क्रीणन्तमनुमोदयेत् ન સ્વય ખરીદે ન બીજાથી ખરીદાવે કે ન તેની અનુમોદના કરે. न स्वय हन्यात् न चान्यैर्घातयेत् न चान्यघ्नन्तमनुमोदयेत् ન સ્વય હણે, ન કોઈથી હણાવે કે ન તેની અનુમોદના કરે.

अथ क्षुधापरीषहविजये दृष्टान्त प्रदर्श्यते—

आसीदुज्जयिन्या गजमित्रनामा श्रेष्ठी । तस्य दृढवीर्यनामक. पुत्रोऽभवत् । एकदा गजमित्रश्रेष्ठिनो भार्या मृता । तत ससारासारतां विज्ञाय सजातवैराग्यो ऽसौ दृढवीर्यपुत्रेण सह प्रव्रजित । स च गजमित्रमुनि स्व शिष्येण दृढवीर्येण सह ग्रामानुग्राम विचरस्तत्र तत्र धर्मदेशनां कुर्वन् सयमेन तपसाऽऽत्मान भावयन् विहरति । स चैकदा विहार कुर्वन् विस्मृतमार्ग' सन् महारण्य प्रविष्ट. ।

तत्र क्वचिन्मृगाणां यूथा इतस्ततो धावन्ति । क्वचिज्जम्बूका. स्वपरिवारै सह श्रब्दायन्ते । क्वचिद् व्याघ्रा उत्प्लवन्ति । क्वचित् सिंहा गर्जन्ति, येषां नादानुपश्रुत्य

क्षुधापरीषह के विजय करने में दृष्टांत इस प्रकार है—उज्जैनी नगरी में गजमित्र नामका एक सेठ रहता था। उसका एक पुत्र था जिसका नाम दृढवीर्य था। एक समय की बात है कि सेठ की पत्नी का देहान्त हो गया। इससे सेठ को ससार, शरीर एवं भोगों से विरक्ति आगई और अपने पुत्र के साथ उन्होंने दीक्षा धारण करली। साधुचर्या की विधि के अनुसार सशिष्य वे विहार करने लगे। वे जनता को धर्म के उपदेश से वासित करते और संयम एव तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते थे। एक समय की बात है कि ये विहार में मार्ग भूल गये और भयंकर किसी अटवी में जा पहुँचे। वहां पहुँच कर ये देखते क्या हैं कि कहीं पर इधर उधर मृगों का झुण्ड दौड रहा है, कहीं पर शृगाल फित्कार कर रहे हैं

ક્ષુધા પરિષહને જીતવાની ઉપર દૃષ્ટાંત આ પ્રકારે છે—

ઉજ્જૈની નગરીમાં ગજમિત્ર નામનો એક શેઠ રહેતો હતો તેને એક પુત્ર હતો તેનુ નામ દઢવીર્ય હતુ એક સમયની વાત છે કે, શેઠની પત્નીનો દેહાંત થઈ ગયો તેથી શેઠને સ સાર શરીર અને ભોગોથી વિરક્તિ આવી ગઈ અને પોતાના પુત્રની સાથે તેમણે દીક્ષા ગ્રહણ કરી લીધી. સાધુ ચર્યાની વિધી અનુસાર સશિષ્ય તેઓ વિહાર કરવા લાગ્યા તેઓ જનતાને ધર્મનો ઉપદેશ આપતાં આપતા સ યમ અને તપથી પોતાના આત્માને ભાવિત કરતા ગ્રામનુ ગ્રામ વિચરવા લાગ્યા એક સમયની વાત છે કે વિહારમા એ મુનિરાજ માર્ગ ભૂલી ગયા અને ભયકર જ ગલમા જઈ પહોચ્યા ત્યાં પહોચતાં તેમણે એવું જોયુ કે, ક્યાં ત્યા મૃગોના ટોળા દોડી રહ્યા છે, ક્યાંક શિયાળયાં લાળી કરી રહ્યાં છે, વાઘ કુદી રહ્યા છે, સિંહ ગર્જી રહ્યા છે, ક્યાંક સિ હગર્જનના ભયથી

=अव्याकुलचित्तः, अशनादेरप्राप्तौ दैन्य विषाद च न कुर्वन्नित्यर्थः, चरेत्=सयममार्गे विचरेत् । प्राकृतत्वात्-' सकास ' इति विशेषणस्य परनिपात ।

(अदीणमणसो-अदीनमनाः) आदीनमन होकर सयम के मार्ग में (चरे-चरेत्) विचरण करे।

भावार्थ-विशिष्ट तपस्याओं के अनुष्ठान करते २ जिसके शारीरिक अवयव काक की जघा के पर्व समान वीच में पतले तथा अन्त में स्थूल हो गये हैं, और इससे जिसका शरीर अत्यत कृश हो गया है, तथा शरीर में कृशता होने की वजह से ही जिसके शरीर के नसाजाल स्पष्ट दिखलाई दे रहा है ऐसा साधु इतना ही आहार ग्रहण करे की जिन से सयमयात्राका निर्वाह हो सके। रसास्वाद के लोभ से अधिक आहार न लेवे। तथा जिस समय तपस्या का पारणा करने का अवसर आवे उस समय यदि आहार प्राप्त न हो तो भी चित्त में किसी भी प्रकार का विषाद न करे और सयममार्ग में सदा सावधान बने रहने की चेष्टा करता रहे। काक की जघा के पर्व वीच में पतले एव अन्त में स्थूल होते हैं, तपस्या करते २ साधु के भी जंघा आदि अग इसी तरह हो जाते हैं।

चरे-चरेत् વિચરણ કરે

ભાવાર્થ—વિશિષ્ટ તપસ્યાઓનુ અનુષ્ઠાન કરતાં કરતાં જેનાં શારીરિક અવયવ કાકની જઘાના પર્વ સમાન વચમાં પાતળા તથા અતમા સ્થૂળ થઈ ગયેલ હોય અને તેનાથી જેનુ શરીર અત્યત કૃશ થઇ ગયેલ હોય તથા શરીરમાં કૃષતા આવી જવાના કારણે જેના શરીરની નાડીઓ સ્પષ્ટ દેખાઇ આવે છે, એવા સાધુ એટલો જ આહાર ગ્રહણ કરે કે, જેનાથી સયમ માર્ગનો નિર્વાહ થઈ શકે રસ સ્વાદના લોભથી અધિક આહાર ન લે તથા જે સમય તપસ્યાનુ પારણુ કરવાનો સમય આવે તે વખતે કદાચ આહાર ન મળી શકે તો પણ ચિત્તમાં કોઈ પણ પ્રકારનો વિષાદ ન કરે અને સયમ માર્ગમાં સદા સાવધાન બની રહેવાની ચેષ્ટા કરતા રહે કાકની જઘાનુ પવ વચમાં પાતળુ અને છેડે સ્થૂળ હોય છે, તપસ્યા કરતા કરતાં સાધુની જઘા આદિ અગ આ પ્રકારના થઈ જાય છે

तत्र वने गच्छतस्तस्य गजमित्रमुनेश्चरणतल विषमविषभरेण कण्टकाग्रेण विद्धमभवत्। ततो गन्तुमसमर्थोऽसौ निजायुरल्पमवगम्य चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यानं कर्तुमुद्यत सन् शिष्यमवदत्-इतोऽन्यत्र गम्यताम्, अत्र दुःसह खलु क्षुधापरीषहस्तव सोढव्य स्यात्। शिष्योऽवदत्-भदन्त! यथा छाया शरीर विहाय नापसरति, तथाऽहमपि भवदीयचरणयुगल परित्यज्य नैव गमिष्यामि। इत्युक्त्वाऽसौ

इधर फैले हुए है, लताप्रतानों द्वारा ग्रथित होकर एक जैसे बन गये हैं। इस प्रकार यह अटवी अनेक हिंसक जीवों से परिपूर्ण होती हुई जनों के लिये सर्वथा दुर्गम थी। कुश काश आदि घास से भरे हुए रहने के कारण यहां के मार्ग बडे ही विकट बने हुए थे। यहां की भूमि ऊंची नीची और कांटों से व्याप्त थी।

इस अटवीमें चलते हुए गजमित्र मुनिराज के पैरों में विषम वेदना कारक विषैले कांटे चुभने लगे तथा उनके पैरों के तलिये कांटों से विंध गये, इससे वे आगे विहार नहीं कर सके। इन्होंने उस समय अपनी अवशिष्ट आयु बहुत अल्प जानकर चतुर्विध आहार के परित्याग करने के अभिप्राय से अपने शिष्य से कहा—तुम यहां से किसी दूसरी जगह चलेजाओ नहीं तो यहां पर मेरे साथ रहने से तीव्र क्षुधापरीषह तुम्हें सहन करना पडेगा। गुरु की इस बात को सुनकर शिष्य ने कहा, भदन्त! जिस प्रकार छाया वृक्ष को नहीं छोड़ती है उसी तरह मैं भी आप के चरणकमलों को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकता।

ઓથી આ બધાં વૃક્ષો એકરૂપ બની ગયા દેખાય છે, આ પ્રકારે તે જંગલ અનેક હિંસક જીવોથી પરિપૂર્ણ હતુ, માણુસો માટે દરેક રીતે ભયકારક હતું, જમીન ઉપર ઉગેલાં ઘાસ વગેરેને કારણે કોઈ સરળ માર્ગ દેખાતો નથી, ભૂમિ ઉંચીનીચી અને કાંટાથી ભરેલી હતી

આ જંગલમાં ચાલતા ચાલતા ગજમિત્ર મુનિરાજના પગોમાં ઘણી વેદના ઉપજાવે તેવા કાંટા લાગવા લાગ્યા આથી તેના પગોના તળીયાં કાંટાથી વિંધાઈ ગયાં જેથી તે આગળ વિહાર કરી શકયા નહીં તેમણે તે સમય પોતાની બાકી રહેલ આયુ ઘણી ટુંકી જાણીને ચાર પ્રકારના આહારનો ત્યાગ કરવાના ભાવથી પોતાના શિષ્યને કહ્યું, તમે અહિંથી કોઈ અન્ય સ્થળે વિહાર કરો, આ સ્થળે મારી સાથે રહેવાથી તમારે ભૂખનો તીવ્ર પરિષહ સહન કરવો પડશે, ગુરુની આ વાતને સાંભળીને શિષ્યે કહ્યું—ભદન્ત! જે પ્રકારે છાયા વૃક્ષને છોડતી નથી તેવી રીતે હું પણ આપના ચરણ કમળને છોડીને અન્યત્ર જઈ શકતો નથી

क्वचिद्भयभीताश्चकिता हस्तिनः पलायन्ते । क्वचिच्च विषमविषधरा भयङ्कराः फणिनः स्वकीयविस्तृतफणाटोपमुत्थाप्य समुत्तिष्ठन्ति । तथा बृहद्विषाणधारिणः स्थूलकायाः श्यामवर्णा महिषा क्वचित् सजलपङ्किले गर्ते शरीरपरिवर्तनेन पङ्कलिप्तदेहाः सन्ति । क्वचित् तथैव शूकराणां यूथाः परिभ्रमन्ति । क्वचिद्वानरा क्वचिद् ऋक्षा अत्युत्प्लवन्ति । लतावल्लीसमावृता निबिडच्छाया विटपिनः परितः समुल्लसन्ति । क्वचिन्नानाविधानि निकुञ्जानि भवनानीव विलसन्ति । क्वचित् कण्टकिनो वृक्षाः परितः परस्परं लतावितानैरुद्ग्रथिता सन्ति, येषां कण्टका इतस्ततो विकीर्णाः सन्ति । एवं बहुहिंस्रसङ्कुला कुशकाशादितृणपरिपूर्णा निम्नोन्नता कण्टकिता जनानां दुर्गमा वनस्थली वर्तते ।

कहीं पर व्याघ्र घूम रहे हैं, कहीं पर सिंह गर्ज रहे हैं, कहीं पर सिंह की गर्जना को सुनकर भय से त्रस्त गजराज चिंघार करते हुए इधर उधर भागे फिर रहे हैं, कहीं पर विषम विषधर सर्प अपने फणों को ऊपर उठाकर बैठे हुए हैं, कहीं पर जंगली भैंसे कि जिनका शरीर बिलकुल काला है, तथा सींग भी जिनके बडे २ हैं और जो शरीर में विशेष स्थूल हैं, सजलगर्त में कि जिसमें कादव हो रहा है अपने शरीर को इधर से उधर करते हुए कीचड से लिप्त बने हुए हैं। इसी तरह कहीं २ शूकरों का यूथ भी इधर उधर भाग रहा है। कहीं २ पर वानर और कहीं पर ऋक्ष–रींछ–उछलकूद कर रहे हैं। इस वन में चारों ओर लताओं से वेष्टित बहुत गहरी छाया वाले वृक्षों के झुंड हैं। कहीं २ पर वृक्षों का झुंड ऐसे मालूम पडते हैं जैसे मानो मकान ही खडे हुए हैं। कहीं २ पर कांटेदार वृक्ष कि जिनके कांटे इधर

ત્રાસીને હાથી ચિત્કાર કરતાં અહિં તહિં નાસભાગ કરી રહ્યા છે, ક્યાંક વિષમ વિષધરો પોતાની ફેણોને ઉંચી કરીને બેઠા છે, ક્યાંક જંગલી ભેંસો કે જેનાં શરીર એકદમ કાળાં છે અને જેનાં શીંગ લાંબા છે અને શરીર જેના મહામસ્ત છે તે જળથી ભરેલા ખાડાઓમાં જેમાં કાદવ ભરેલ છે તેમાં આળોટી પોતાના શરીરને કીચડથી ખરડાવી રહેલ છે, આવી રીતે ડુકરોનાં જુથો પણ અહિં તહિં ભાગતાં નજરે પડે છે, ક્યાંક ક્યાંક વાનર અને રીછ કુદાકુદ કરતાં દેખાય છે એ જંગલ ચારે તરફથી મોટાં વૃક્ષો અને તેની ડાળીઓ તથા અન્ય વેલા પાનથી છવાઈ રહેલ છે, કોઈ વૃક્ષના ઝુંડ એવાં અરસપરસ મળી ગયાં દેખાય છે કે જાણે તેની નીચે મકાન જેવું બની ગયેલ છે, કોઈ સ્થળે કાંટાવાળા વૃક્ષોથી તેના કાંટા જમીન ઉપર જ્યાં ત્યાં પડયા વેલા

या सा रूपविनाशिनी स्मृतिहरी पञ्चेन्द्रियाकर्षिणी,
चक्षु श्रोत्रललाटदीनकरणी सक्लेशसपादिनी ।
बन्धूना त्यजनी विदेशगमनी धैर्यस्य विध्वसिनी,
सेय तिष्ठति सर्वभूतदमनी प्राणापहारिक्षुधा ॥ १ ॥

अपर च—

विवेको ह्रीर्दया धर्मो, विद्या स्नेहश्च सौम्यता ।
सत्त्व च जायते नैव, क्षुधार्तस्य शरीरिणः ॥ २ ॥ इति ॥

तथापि स दृढवीर्यशिष्य' कस्मिन्नपि निजात्मप्रदेशे कातरता नाश्रयति किं

जो आत्माके प्रतिप्रदेशमें व्याप्त होकर अपना प्रबल प्रताप दिखलाती है, जैसे कहा भी है—

यह क्षुधा रूप को विनष्ट कर देती है, स्मृति को ध्वस्त कर देती है, पाचों इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास कर देती है, चक्षु में श्रोत्र में एव ललाट में दिनता के निशानेंबना देती हैं सक्लेश परिणामों को जागृत करती रहती है, बन्धुओं का वियोग करा देती है, विदेश में वास करा देती है, धैर्य को जडमूल से उखाड देती है, अधिक क्या कहा जाय यह क्षुधा प्राणियों के प्राण का भी हरण करने वाली है ॥ १ ॥

और भी कहा है–क्षुधार्त्त प्राणी के विवेक, लज्जा, दया, धर्म, विद्या स्नेह, सौम्यता, बल आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

मुनि दृढवीर्य शिष्य की आत्मा के प्रतिप्रदेश में यद्यपि क्षुधा की तीव्र वेदना जागृत हो रही थी तो भी वह कभी भी कायर नहीं बना ।

અ દરના ભાગમાં પ્રવેશ કરીને પોતાનો પ્રબળ પ્રભાવ બતાવે છે કહ્યુ પણ છે—

આ ભૂખ રૂપનો નાશ કરે છે, સ્મૃતિનો ધ્વસ કરે છે, પાચ ઇન્દ્રિયની શક્તિઓને ક્ષિણ બનાવી દે છે, આંખ, કાન અને કપાળમા દિનતાની નિશાની જગાડે છે કલેશના પરિણામોને જાગ્રત કરે છે, બ ધુઓનો વિયોગ કરાવે છે, વિદેશમાં વાસ કરાવે છે, ધૈર્યને જડમુળથી ઉખેડી નાખે છે, છેલ્લે છેલ્લે આ ભૂખ પ્રાણીઓના પ્રાણોનુ પણ હરણ કરે છે ॥ ૧ ॥

ફરી પણ કહ્યુ છે ભૂખથી પીડાતા પ્રાણીમાં વિવેક, લજ્જા, દયા, ધર્મ વિદ્યા, સ્નેહ, સૌમ્યતા, બળ, આદિ સઘળા સદ્ગુણો નાશ પામે છે ॥ ૨ ॥

મુનિ દૃઢવીર્ય શિષ્યના આત્માના ઉંડાણમાં જો કે, ભૂખની તીવ્ર વેદના થઈ હતી તો પણ કોઈ વખત કાયર ન બન્યો પોતાના

तत्रैव निवसति स्म। गुरुश्च चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यानं कृतवान्। स च शिष्यः स्वगुरु परितस्तदङ्गरक्षणार्थं परिभ्रमंस्तिष्ठति, तत्र विविधेषु मनोज्ञेषु रुचिरेषु फलेषु सत्स्वपि न तानि त्रोटयितुमिच्छति, वृक्षाधस्तले पतितान्यपि फलानि सचित्ततया केनाप्यदत्ततया च नैव गृह्णाति। आहारार्थं किंचिद्दूरं गत्वा गत्वा प्रतिनिवर्तते। वसतेरभावात् क्वचिदाहारो न लभ्यते। मार्गस्य दुर्गमतया कश्चित् पथिकोऽपि नायाति, यस्मादशनं गृह्णीयात्। पुनरुज्ज्वलभावेन गुरोर्वैयावृत्त्यं करोति। यद्यपि तदा क्षुधाया बलं वर्धमानमात्मनः प्रतिप्रदेशं व्याप्तुं प्रवर्तते। यतः—

शिष्य की इस प्रकार बात को सुनकर गुरु महराज ने चारों प्रकार के आहार का परित्याग कर दिया। शिष्य ने इस परिस्थिति में अपने गुरु महाराज की सेवा करना प्रारंभ कर दिया। उस अटवी में यद्यपि अनेक प्रकार के मनोज्ञ सरस फल थे तो भी उन्हें तोड़ने का शिष्यने स्वप्न में भी विचार नहीं किया। वृक्षों के नीचे टूटे हुए फल पडे रहते थे उनको भी सचित्त होने की वजह से ग्रहण नहीं किया। तथा किसी २ फल के अचित्त होने पर भी दाता के अभाव से वे अदत्त होने से नहीं लिये। शिष्य आहार के लिये जाता है और कुछ दूर जा जाकर पीछे वापिस लौट आता है, क्यों कि एक तो वहां वसति नहीं थी, इस लिये वहां आहार का कोई जोग नहीं मिलता था। दूसरे–मार्ग अत्यंत दुर्गम होने से उस रास्ते कोई भी पथिक प्रायः नहीं आता जाता था। परन्तु शिष्य अनन्य भाव से गुरु की सेवा करता था। क्षुधा एक ऐसी वस्तु है कि

શિષ્યની આ પ્રકારની વાત સાંભળીને ગુરુ મહારાજે ચાર પ્રકારના આહારનો ત્યાગ કરી દીધો. શિષ્યે આ પરિસ્થિતિમાં પોતાના ગુરુ મહારાજની સેવા કરવાનો પ્રારંભ કર્યો તે જંગલમાં જો કે, અનેક પ્રકારના સુંદર અને સ્વાદિષ્ટ એવાં ફળો હતાં તો પણ તેને તોડવાનો શિષ્યે સ્વપ્નામાં પણ વિચાર ન કર્યો વૃક્ષોની નીચે તૂટીને પડેલાં જે ફળ દેખાતાં તેને પણ સચિત્ત માનીને ગ્રહણ કર્યા નહીં તથા કોઈ કોઈ ફળ અચિત્ત હોવા છતાં આપનારના અભાવથી તે અદત્ત હોવાથી લીધા નહીં શિષ્ય આહાર માટે જતો અને થોડે દૂર જઈ ત્યાંથી પાછો ફરી આવતો કેમકે, એક તો ત્યાં વસ્તી હતી નહીં માટે ત્યાં આહારનો કોઈ જોગ મળતો ન હતો, બીજું માર્ગ અત્યંત દુર્ગમ હોવાથી તે રસ્તે કોઈ પણ વટેમાર્ગુ આવતો જતો ન હતો. પરંતુ શિષ્ય અનન્ય ભાવથી ગુરુની સેવા કરતો હતો. ભૂખ એક એવી વસ્તુ છે કે જે આત્માની

या सा रूपविनाशिनी स्मृतिहरी पञ्चेन्द्रियाकर्षिणी,
चक्षु श्रोत्रललाटदीनकरणी सक्लेशसपादिनी ।
बन्धूना त्यजनी विदेशगमनी धैर्यस्य विध्वंसिनी,
सेय तिष्ठति सर्वभूतदमनी प्राणापहारिक्षुधा ॥ १ ॥

अपर च—

विवेको ह्रीर्दया धर्मो, विद्या स्नेहश्च सौम्यता ।
सत्त्व च जायते नैव, क्षुधार्तस्य शरीरिण. ॥ २ ॥ इति ॥

तथापि स दृढवीर्यशिष्य कस्मिन्नपि निजात्मप्रदेशे कातरता नाश्रयति किं

जो आत्माके प्रतिप्रदेशमें व्याप्त होकर अपना प्रबल प्रताप दिखलाती है, जैसे कहा भी है—

यह क्षुधा रूप को विनष्ट कर देती है, स्मृति को ध्वस्त कर देती है, पाचों इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास कर देती है, चक्षु में श्रोत्र में एव ललाट में दिनता के निशानेंबना देती हैं सक्लेश परिणामों को जागृत करती रहती है, बन्धुओं का वियोग करा देती है, विदेश में वास करा देती है, धैर्य को जडमूल से उखाड देती है, अधिक क्या कहा जाय यह क्षुधा प्राणियों के प्राण का भी हरण करने वाली है ॥ १ ॥

और भी कहा है–क्षुधार्त्त प्राणी के विवेक, लज्जा, दया, धर्म, विद्या स्नेह, सौम्यता, बल आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

मुनि दृढवीर्य शिष्य की आत्मा के प्रतिप्रदेश में यद्यपि क्षुधा की तीव्र वेदना जागृत हो रही थी तो भी वह कभी भी कायर नहीं बना ।

આ દરના ભાગમા પ્રવેશ કરીને પોતાનો પ્રબળ પ્રભાવ બતાવે છે કહ્યું પણ છે—

આ ભૂખ રૂપનો નાશ કરે છે, સ્મૃતિનો ધ્વસ કરે છે, પાચ ઇન્દ્રિયની શક્તિઓને ક્ષિણ બનાવી દે છે, આખ, કાન અને કપાળમાં દિનતાની નિશાની જગાડે છે કલેશના પરિણામોને જાગ્રત કરે છે, બ ધુઓનો વિયોગ કરાવે છે, વિદેશમા વાસ કરાવે છે, ધૈર્યને જડમુળથી ઉખેડી નાખે છે, છેલ્લે છેલ્લે આ ભૂખ પ્રાણીઓના પ્રાણોનુ પણ હરણ કરે છે ॥ ૧ ॥

ફરી પણ કહ્યું છે ભૂખથી પીડાતા પ્રાણીમા વિવેક, લજ્જા, દયા, ધર્મ વિદ્યા, સ્નેહ, સૌમ્યતા, બળ, આદિ સઘળા સદ્‌ગુણો નાશ પામે છે ॥ ૨ ॥

મુનિ દૃઢવીર્ય શિષ્યના આત્માના ઉંડાણમાં જો કે, ભૂખની તીવ્ર વેદના થઈ હતી તો પણ કોઈ વખત કાયર ન બન્યો પોતાના

तु कर्मनिर्जरार्थं क्षुधापरीषहं विजित्य गुरुसेवापरायणः एवासीत्। ततो गजमित्र-मुनिः कण्टकजनितामसह्यवेदनां सहमानः समाधिभावेन निजायुः समाप्य प्रथम कल्पे वैमानिकदेवत्वं प्राप्तः। अथासौ देवः स्वकीयपूर्वभवमवधिना विज्ञाय, स्वदिव्यशक्त्या शिष्यरक्षार्थं तत्समीपप्रदेशे वसतिं निर्माय स्वयं मनुष्यरूपः सन् दृढवीर्यशिष्यं प्राह—मुने! इतः समीपे वसतिर्दृश्यते, अशनपानमानीयताम्। शिष्यो वदति-अयमस्ति कश्चिद्देवमपञ्चः, इह हि नासीत् पुरा कापि वसतिः, भूमि

अपने वीर्योल्लास से उसने इस परीषह को खूब सहन किया। और गुरु महाराज की सेवा भक्ति की, क्यों कि शिष्य को यह पूर्ण-श्रद्धा थी कि कर्मनिर्जरा के लिये क्षुधापरीषह को सहन करना ही चाहिये। पैर में लगे हुए कांटे की असह्य वेदना प्रतिक्षण बढने लगी, अपनी आयु के अन्त समय में समाधिभाव से कालधर्म को प्राप्त होकर प्रथमकल्प में वैमानिक देव हुए। इन्हों ने देव की पर्याय में अपने पूर्वभव को अवधिज्ञान से जानकर अपने शिष्य की प्राणरक्षा निमित्त दिव्यशक्ति से उसके समीप प्रदेश में एक वसति का निर्माण किया और स्वयं मनुष्य के रूप में प्रकट होकर शिष्य से कहने लगे कि यहा से नजदीक ही एक वसति दिखाइ देती है अतः वहा से आप आहार पानी ले आइये। देव की इस प्रकार बात को सुनकर शिष्य ने चित्त में विचार किया-यह कोई देव छलना करता है। मैं पहिले यहा कई बार आया हू परन्तु मुझे तो कोई वसति नजर नहीं आई, इसलिये यहां से आहार पानी

વિર્યોલ્લાસથી તેણે આ પરીષહને ખુબ સહન કર્યો અને ગુરુ મહારાજની સેવા ભક્તિ કરી. કેમકે, શિષ્યને એ પૂર્ણ શ્રદ્ધા હતી કે, કર્મનિર્જરા માટે ક્ષુધા પરિષહ સહન કરવો જોઈએ પગમાં લાગેલા કાંટાઓની વેદના રોજ બરોજ વધવા લાગી, પોતાના આયુના અંતસમયમાં સમાધીભાવથી ગુરુજી કાળ ધર્મને પામી પ્રથમ કલ્પમા વૈમાનિક દેવ બન્યા. તેઓએ દેવની પર્યાયમાં પોતાના પુર્વભવને અવધિજ્ઞાનથી જાણીને પોતાના શિષ્યની પ્રાણરક્ષા નિમિત્ત દિવ્ય શક્તિથી તેના સમીપપ્રદેશમા એક વસ્તિનુ નિર્માણ કર્યું અને પોતે મનુષ્યના રૂપમા પ્રગટ બનીને શિષ્યને કહેવા લાગ્યા કે, અહિં થી નજીક જ એક વસ્તિ દેખાય છે માટે ત્યાથી તમે આહાર પાણી લઈ આવો, દેવની આ પ્રકારની વાતને સાંભળીને શિષ્યે ચિત્તમા વિચાર કર્યો કે, આ કોઈ દેવ મારી છલના કરે છે હું પહેલાં કેટલીએ વખત ગયો છુ પરંતુ મને કોઈ વસ્તી દેખાઈ નથી, માટે ત્યાથી આહાર પાણી લાવવો ઉચિત નથી. શિષ્યની આ

रमत्या प्रागेव दृष्टाऽस्माभि , अतोऽशनपान न ग्रहीष्यामि। ततोऽसौ प्रसन्नमनसा साक्षाद्देवरूप धृत्वा दृढवीर्यमुनिं प्रशसति–धन्योऽसि दृढव्रतोऽसि ' इत्यादि। पुनरसौ दृढवीर्यमुनिर्दु सह क्षुधापरीषह सहमान' क्षपकश्रेणीमारुह्य प्रशस्तध्यानेन शुभाध्यवसायेन केवलज्ञान प्राप्य मोक्षं प्राप्तवान्। स च देवस्तस्य केवलोत्सव निर्वाणोत्सव च कृत्वा स्वस्थान गत. । एव सर्वमुनिभिरपि दृढवीर्यमुनिवत् क्षुधापरीषह' सोढव्य ॥ ३ ॥

क्षुधां सहमानस्यैपणीयाहारार्थं भिक्षाचर्यां पर्यटतो मुनेर्यदि श्रमादिजनिता पिपासा स्यात्तर्हि साऽपि सोढव्येत्याशयेन पिपासापरीषहजय प्राह—

मूलम्—तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुच्छी लज्जसजए ।
सीओदग न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे ॥ ४ ॥

ग्रहण करना उचित नहीं है। शिष्य की इस प्रकार दृढ विचारधारा को देखकर वह देव बहुत ही प्रसन्न हुआ और साक्षात् रूप में प्रकट होकर शिष्य की बहुत प्रशसा करने लगा, बोला–आप धन्य हैं व्रत के पालन करने में अतीव दृढप्रतिज्ञ हैं। शिष्य ने दुःसह क्षुधा परीषह को सहन करने से क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर प्रशस्त–ध्यान एव शुभाध्यवसाय के बल पर केवलज्ञान का लाभ कर मोक्ष को प्राप्त किया। इनके गुरु महाराज का जीव जो देव था उसने अपने पूर्वपर्याय के शिष्य को प्राप्त हुए केवलज्ञान के एवं निर्वाण के उत्सव को मनाकर अपने स्थान गया। इसी तरह प्रत्येक मुनिका कर्तव्य है कि वह दृढवीर्यमुनि की तरह क्षुधापरीषह को सहन करे॥ ३ ॥

પ્રકારની દૃઢ ધારણા જોઇને તે દેવનો જીવ ખૂબજ પ્રસન્ન થયો. અને પ્રગટ થઇને શિષ્યની ખૂબ પ્રસંશા કરવા લાગ્યા. તેમણે કહ્યું–આપને ધન્યવાદ છે, વ્રતનુ પાલન કરવામાં દૃઢ પ્રતિજ્ઞ છે શિષ્યે દુ સહ ભૂખનો પરિષહ સહન કરવાથી ક્ષપકશ્રેણી ઉપર આરૂઢ બની પ્રશસ્ત ધ્યાન અને શુભ અધ્યવસાયના બળ ઉપર કેવળજ્ઞાનનો લાભ કરી મોક્ષને પ્રાપ્ત કર્યો દેવ કે જે તેના ગુરુ મહારાજનો જીવ હતો તેણે પોતાના પૂર્વ પર્યાયના શિષ્યને પ્રાપ્ત થયેલ કેવળજ્ઞાનના અને નિર્વાણના ઉત્સવને મનાવીને પોતાને સ્થાને ગયા. આવી રીતે પ્રત્યેક મુનિનુ કર્તવ્ય છે કે, તે દૃઢવીર્ય મુનિની માફક ક્ષુધા પરિષહને સહન કરે. ॥ ૩ ॥

छाया—ततः स्पृष्टः पिपासया, जुगुप्सी लज्जासंयतः ।
शीतोदकं न सेवेत विकृतस्य एषणां चरेत् ॥ ४ ॥

टीका—'तओ पुट्ठो' इत्यादि ।

ततः=क्षुधापरीषहानन्तरं, पिपासया=तृषया, स्पृष्टः=व्याप्तः सन्, जुगुप्सी=जुगुप्सकः अनाचारविरत इत्यर्थः तथा—लज्जासंयतः—लज्जायां=संयमे सम्यग् यत्नवानित्यर्थः । साधुः शीतोदकं=सचित्तं जलं 'न सेवेत' न व्यापृणुयात् किं तु विकृतस्य=यवतण्डुलद्राक्षादिधावनोत्कालनादिना वर्णगन्धरसस्पर्शैरन्यथाभावं प्राप्तस्य प्रासुकस्य जलस्य, प्रासुकजलं त्वेकविंशतिविधं भवतीत्याचाराङ्गसूत्रे द्वितीयश्रुतस्कन्धे नवमाध्ययने निगदितम्—

क्षुधापरीषह को सहन करने वाला मुनि को आहार की गवेषणा करते हुए पिपासा लगे, तथा आहार करने के बाद पिपासा लगे तो उसको सहन करना चाहिये, इस आशय से अब सूत्रकार पिपासापरीषह को कहते हैं—" तओ पुट्ठो " इत्यादि ।

(तओ—ततः) क्षुधापरीषह के अनन्तर (पिवासाए पुट्ठो—पिपासया-स्पृष्टः) पिपासा से व्याप्त होने पर भी (दोगुच्छी—जुगुप्सी) अनाचार विरत तथा (लज्जसंजए—लज्जासंयत) संयम की रक्षा करने में प्रयत्नशील साधु (सीओदगं न सेविज्जा—शीतोदकं न सेवेत) सचित्त जल का सेवन नहीं करे। किन्तु (वियडस्सेसणं चरे—विकृतस्य एषणां चरेत्) विकृत—यव, तण्डुल, एवं द्राक्षा आदि के धोने से अथवा उनके उकालने से जिनके वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श का परिवर्तन हो चुका है ऐसे प्रासुक जल की गवेषणा करे। तात्पर्य यह है कि पिपासा से पीडित होने

ક્ષુધા પરિષહ સહન કરનાર મુનિને આહાર કર્યા પછી તરસ લાગે તેને સહન કરવી જોઈએ આ આશયથી સૂત્રકાર પિપાસા પરિષહ કહે છે तओ पुट्ठो—ઇત્યાદિ.

तओ—ततः ક્ષુધા પરિષહના અનન્તર पिवासाए पुट्ठो—पिपासयास्पृष्टः તરસથી વ્યાપૃત હોવા છતાં અનાચાર વિરત તથા दोगुच्छि—जुगुप्सी અનાચાર વિરત તથા लज्जासंजए—लज्जासंयत સંયમની રક્ષા કરવામાં પ્રયત્નશીલ સાધુ सीओदगं न सेविज्जा—शीतोदकं न सेवेत સચિત્ત જળનું સેવન ન કરે. કિંતુ वियडस्सेसणं चरे—विकृतस्य एषणां चरेत् વિકૃત (અચિત્ત)—જવ, ચોખા, દ્રાક્ષ વગેરેના ધોવાથી અથવા એને ઉકાળવાથી તેના વર્ણ, ગંધ, રસ તથા સ્પર્શનું પરિવર્તન થઈ ચુકયુ છે એવા પ્રાસુક જળની ગવેષણા કરે. તાત્પર્ય એ છે કે, તરસથી પીડાતા હોવા છતાં પણ સાધુએ અચિત્ત

(१) उस्सेइम–उत्स्वेदिम–पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदकम्। रोटिकाया कृतायां येनोदकेन पिष्टस्थाल्यादिधावनं क्रियते तदित्यर्थः।
(२) ससेइम–ससेक्मि–उत्कालितानां पत्रशाकादीनामनपगततिक्तादिरसापसारणार्थं शैत्यार्थं वा येनोदकेन धावनं क्रियते, तदित्यर्थः।
(३) चाउलोदग–तण्डुलोदक–तण्डुलधावनोदकम्।
(४) तिलोदग–तिलोदक–तिलधावनोदकम्।
(५) तुसोदग–तुषोदक–तुषधावनोदकम्।
(६) जवोदग–यवोदक–यवधावनोदकम्, अत्र 'यव' इत्युपलक्षणं तेन व्रीह्यादिधावनोदकस्यापि ग्रहणम्।

पर भी साधु को चाहिये कि वह कभी भी सचित्त अनेषणीय जल का उपयोग न करे। प्रासुक जल इक्कीस २१ प्रकार का होता है यह बात आचारांगसूत्र में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के नवम अध्ययन में कही गई है–

१ उस्सेइमं–भोजन बन चुकने के बाद आटे की थाली आदि का धोवन।
२ ससेइम–शाकपत्रादिकों के उबालने पर उनका कडुआपन आदि निकालने के लिये अथवा उन्हें ठंडे करने के लिये जो जल ऊपर से डाला जाता है वह।
३ चाउलोदकं–चावलों का धोवन।
४ तिलोदग–तिलों का धोवन।
५ तुसोदग–तुषों को धोने से निकला हुआ जल।
६ जवोदगं–जो आदि का धोया हुआ जल।

જાનો ઉપયોગ કદી પણ ન કરવો જોઈએ પ્રાસુક જળ એકવીસ પ્રકારનું હોય છે આ વાત આચારાંગસૂત્રમાં બીજા શ્રુતસ્કંધના નવમા અધ્યયનમાં કહેવામાં આવેલ છે

उस्सेइम– १ ભોજન બની ચુકયા પછી આટાની થાળી વિગેરેનું ધોવણ
संसेइम– २ શાક પત્રાદિકને ઉકાળવાથી તેના કડવા પણા વગેરેને કાઢવા માટે અથવા તેને ઠંડા કરાવવા માટે જે પાણી ઉપરથી નાખવામાં આવે છે તે
चाउलोदग– ૩ ચોખાનું ધોવણ
तिलोदग– ૪ તલનું ધોવણ
तुसोदग– ૫ તુષોને ધોવાથી નિકળેલ પાણી
जवोदग– ૬ જવ આદિને ધોતા નિકળેલ પાણી.

छाया—ततः स्पृष्टः पिपासया, जुगुप्सी लज्जासंयतः ।
शीतोदकं न सेवेत विकृतस्य एषणां चरेत् ॥ ४ ॥

टीका—'तओ पुट्ठो' इत्यादि ।

ततः=क्षुधापरीषहानन्तरं, पिपासया=तृषया, स्पृष्टः=व्याप्तः सन्, जुगुप्सी=जुगुप्सक अनाचारविरत इत्यर्थः तथा-लज्जासंयतः-लज्जायां=संयमे सम्यग् यत्नवानित्यर्थः । साधुः शीतोदकं=सचित्तं जलं 'न सेवेत' न व्यापृणुयात् किं तु विकृतस्य=यवतण्डुलद्राक्षादिधावनोत्कालनादिना वर्णगन्धरसस्पर्शैरन्यथाभावं प्राप्तस्य प्रासुकस्य जलस्य, प्रासुकजलं त्वेकविंशतिविधं भवतीत्याचाराङ्गसूत्रे द्वितीयश्रुतस्कन्धे नवमाध्ययने निगदितम्—

क्षुधापरीषह को सहन करने वाला मुनि को आहार की गवेषणा करते हुए पिपासा लगे, तथा अहार करने के बाद पिपासा लगे तो उसको सहन करना चाहिये, इस आशय से अब सूत्रकार पिपासापरीषह को कहते हैं—" तओ पुट्ठो " इत्यादि ।

(तओ-ततः) क्षुधापरीषह के अनन्तर (पिवासाए पुट्ठो-पिपासया-स्पृष्टः) पिपासा से व्याप्त होने पर भी (दोगुंच्छी-जुगुप्सी) अनाचार-विरत तथा (लज्जसंजए-लज्जासंयत) संयम की रक्षा करने में प्रयत्न शील साधु (सीओदग न सेविज्जा-शीतोदक न सेवेत) सचित्त जल का सेवन नहीं करे । किन्तु (वियडस्सेसणं चरे-विकृतस्य एषणां चरेत्) विकृत-यव, तण्डुल, एवं द्राक्षा आदि के धोने से अथवा उनके उकालने से जिनके वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श का परिवर्तन हो चुका है ऐसे प्रासुक जल की गवेषणा करे। तात्पर्य यह है कि पिपासा से पीडित होने

ક્ષુધા પરિષહ સહન કરનાર મુનિને આહાર કર્યા પછી તરસ લાગે તેને સહન કરવી જોઈએ આ આશયથી સૂત્રકાર પિપાસા પરિષહ કહે છે तओ पुट्ठो-ઈત્યાદિ.

तओ-ततः ક્ષુધા પરિષહના અનન્તર पिवासाए पुट्ठो-पिपासयास्पृष्टः તરસથી વ્યાપૃત હોવા છતા અનાચાર વિરત તથા दोगुंछि-जुगुप्सी અનાચાર વિરત તથા लज्जासंजए-लज्जासंयत સંયમની રક્ષા કરવામાં પ્રયત્નશીલ સાધુ सीओदग न सेविज्ज-शीतोदक न सेवेत સચિત્ત જળનુ સેવન ન કરે. કિંતુ वियडस्सेसण चरे-विकृतस्य एषणा चरेत् વિકૃત (અચિત્ત)-જવ, ચોખા, દ્રાક્ષ વગેરેના ધોવાથી અથવા એને ઉકાળવાથી તેના વર્ણ, ગંધ, રસ તથા સ્પર્શનુ પરિવર્તન થઈ ચુકયુ છે એવા પ્રાસુક જળની ગવેષણા કરે તાત્પર્ય એ છે કે,તરસથી પીડાતા હોવા છતા પણ સાધુએ સચિત્ત

(१) उस्सेइम–उत्स्वेदिम–पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदकम्। रोटिकायां कृतायां येनोदकेन पिष्टस्थाल्यादिधावनं क्रियते तदित्यर्थः।
(२) ससेइम–ससेकिम–उत्कालितानां पत्रशाकादीनामनपगतविक्तादिरसापसारणार्थं शैत्यार्थं वा येनोदकेन धावनं क्रियते, तदित्यर्थः।
(३) चाउलोदग–तण्डुलोदक–तण्डुलधावनोदकम्।
(४) तिलोदग–तिलोदक–तिलधावनोदकम्।
(५) तुसोदग–तुषोदक–तुषधावनोदकम्।
(६) जवोदग–यवोदक–यवधावनोदकम्, अत्र 'यव' इत्युपलक्षणं तेन व्रीह्यादिधावनोदकस्यापि ग्रहणम्।

पर भी साधु को चाहिये कि वह कभी भी सचित्त अनेषणीय जल का उपयोग न करे। प्रासुक जल इक्कीस २१ प्रकार का होता है यह बात आचारागसूत्र में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के नवम अध्ययन में कही गई है–

१ उस्सेइम–भोजन बन चुकने के बाद आटे की थाली आदि का धोवन।
२ ससेइम–शाकपत्रादिकों के उबालने पर उनका कडुआपन आदि निकालने के लिये अथवा उन्हें ठंडे करने के लिये जो जल ऊपर से डाला जाता है वह।
३ चाउलोदक–चावलों का धोवन।
४ तिलोदग–तिलों का धोवन।
५ तुसोदग–तुषों को धोने से निकला हुआ जल।
६ जवोदग–जौ आदि का धोया हुआ जल।

જળનો ઉપયોગ કદી પણ ન કરવો જોઈએ પ્રાસુક જળ એકવીસ પ્રકારનુ હોય છે આ વાત આચારાંગસૂત્રમાં બીજા શ્રુતસ્કંધના નવમાં અધ્યયનમાં કહેવામાં આવેલ છે

उस्सेइम– १ ભોજન બની ચુકયા પછી આટાની થાળી વિગેરેનુ ધોવણ
संसेइम– २ શાક પત્રાદિકને ઉકાળવાથી તેના કડવા પણા વગેરેને કાઢવા માટે અથવા તેને ઠંડા કરાવવા માટે જે પાણી ઉપરથી નાખવામાં આવે છે તે
चाउलोदग– ३ ચોખાનુ ધોવણ
तिलोदग– ४ તલનુ ધોવણ
तुसोदग– ૫ તુષોને ધોવાથી નિકળેલ પાણી
जवोदग– ૬ જવ આદિને ધોતા નિકળેલ પાણી.

अथ ग्रामनगरादिभ्यो बहि क्वचिदटव्यादिमार्गे विहरन् मुनिर्यदि पिपासया पीडितः स्यात् तदाऽपि तत्परीषह. सोढव्य इत्याह—

मूलम्—छिन्नावाएसु पथेसु, आउरे सुपिवासिए ।
परिसुक्कमुहादीणे, तं तितिक्खे परीसहं ॥५॥

छाया—छिन्नापातेषु पथिषु आतुर. सुपिपासित ।
परिशुष्कमुखादीन त तितिक्षेत परीषहम् ॥ ५ ॥

टीका—'छिन्नावाएसु' इत्यादि ।

छिन्नापातेषु=छिन्नः=अपगतः, आपातः—जनाना गमनागमनरूपः संचारो यत्र तेषु, पथिषु=मार्गेषु गच्छन्निति शेष., आतुर. तृषया व्याप्तकाय, अत एव सुपिपासितः=अतिशयेन तृषितः, अत एव परिशुष्कमुखादीन =परीशुष्कमुखः गत निष्ठीवनतया शुष्कतालुरसनोष्ठः, स चासावदीनश्च परिशुष्कमुखादीन, परिशुष्क

ग्राम नगर आदि से बाहर किसी अटवी आदि के मार्ग में विचरते हुए साधु को यदि पिपासा से आकुलता उत्पन्न हो जावे तो भी उसे उस द्वितीय क्षुधापरीषह को सहन करना चाहिये यह बात इस नीचे की गाथा द्वारा सूत्रकार प्रकट करते हैं—'छिन्नावाएसु' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(छिन्नावाएसु—छिन्नापातेषु) जिन मार्गों में जनों का आवागमनरूप संचार छिन्न हो गया है अर्थात्—नहीं होता है ऐसे (पंथेसु—पथिषु) मार्गों में संचरण अर्थात्—विचरण करता हुआ साधु (सुपिवासिए आउरे—सुपिपासितः आतुरः) यदि पिपासा से व्यास होकर आतुर—अत्यंत पीडित हो जाता है और इसीसे (परिसुक्कमुहादीणे—परिशुष्कमुखादीन') जिसके मुख का थूक तक भी सूख चुका है और ऐसी

ગ્રામ, નગર વગેરેથી બહારના રસ્તા ઉપર વિચરતા સાધુને માર્ગમાં તરસની આકુળતા ઉત્પન્ન થાય તો પણ તેણે એ બીજા ક્ષુધાપરીષહને સહન કરવો જોઈએ આ વાત નીચેની ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર પ્રકટ કરે છે छिन्नावाएसु–ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—छिन्नावाएसु–छिन्नापातेषु જે માર્ગમાં માણસોનો અવાગમનરૂપ સચાર બધ થઈ ગયો હોય અર્થાત્ નથી થતો એવા पथेसु–पथिषु માર્ગોમાં સચારણ અર્થાત્ વિચારણ કરનાર સાધુ सुपिवासिए आउरे–सुपिपासित आतुरः પાણીની તરસથી વ્યાકુળ બની અત્યત પીડિત થઈ જાય છે અને એથી परिसुक्कमुहादीणे –परिशुष्कमुखादीनः જેના મોઢામાંનુ થુક પણ સુકાઈ જાય છે એવી

मुखोऽपि सन्नदीन इत्यर्थः । त=तृषापरीषह, तितिक्षेत=सहेत। अयं भावः–निर्जनस्थानस्थितोऽपि तृषाव्याकुलितोऽपि सन् सचित्तमनेषणीय जल न पिबेदिति ।

'छिन्नावाएसु पथेसु' इत्यनेन मुनीना चरणविहार सूचित ।

'आउरे' इत्यनेन–परीषहावस्थायामपि समाधिभावेन वर्तितव्यमिति बोधितम्।

'सुपिवासिए' इत्यनेन पिपासाधिक्येऽपि सचित्तमनेषणीयमुदक न ग्रहीतव्यमिति सूचितम् ।

'परिसुक्कमुहादीणे' इत्यनेन कष्टावस्थायामपि परीषहो जेतव्य एवेति–सूचितम्।

'तितिक्खे' इत्यनेन परीषहोपस्थितौ सहिष्णुता समाश्रयणीया, इति बोधितम्।

हालत में तालु, रसना एव ओष्ठ भी बिलकुल शुष्क हो चुका है फिर भी अदीन बना हुवा मुनि (त परीसह तितिक्खे–त्त परीषह तितिक्षेत) इस तृषापरीषह को जीते। तात्पर्य इसका यह है कि निर्जनस्थान में रहने पर भी यदि साधु तृषा से पीडित होता है तो भी उसे सचित्त अनेषणीय जल का पान नहीं करना चाहिये।

गाथा में रहे हुए "छिन्नावाएसु पथेसु" इस विशेषणगर्भित पद द्वारा मुनियों का चरण विहार सूचित किया है। "आउरे" इस पद द्वारा परीषह अवस्था में मुनियों को समाधिभावपूर्वक रहना बतलाया गया है। "सुपिवासिए" पद द्वारा पिपासा की तीव्र अवस्था में भी सचित्त अनेषणीय उदक नहीं लेना चाहिये, यह प्रकट

તાલુ રસના અને હોઠ પણ તદ્દન સુકા બની જાય છે, એવી પરિસ્થિતિમાં મુકાવા છતા પણ અદીન બનેલ મુનિ त परिसह तितिक्खे–त परिषह तितिक्षेत એ તૃષા પરીષહને જીતે એનુ તાત્પર્ય એ છે કે, નિર્જન સ્થાનમાં રહેવા છતા પણ સાધુ તરસથી પીડિત હોય તો તેણે સચિત્ત અનેષણીય જળનું પાન ન કરવું જોઈએ

ગાથામા રહેલા "छिन्नावाएसु पथेसु" વિશેષણ ગર્ભિત પદ દ્વારા મુનિઓનો ચરણ વિહાર સુચવવામાં આવેલ છે आउरे–આપદથી પરીષહ અવસ્થામાં મુનિયોએ સમાધિ ભાવ પૂર્વક રહેવાનું બતાવેલ છે सुपिवासिए આ પદથી તરસની તીવ્ર અવસ્થામા પણ સચિત્ત અનેષણીય પાણી ન લેવું જોઈએ,

अत्र दृष्टान्त.—

आसीदुज्जयिन्या धनमित्रनामकः श्रेष्ठी, स धनमियनाम्नाऽष्टवर्षपरस्केन स्वपुत्रेण सह मित्रगुप्ताचार्यसमीपे प्रव्रजितः। स धनमियशिष्यः सपरिवारेणाचार्येण सह कदाचिन्मार्गे विहरन् पिपासार्तोऽभवत्। अन्यैः साधुभिः सहाचार्यमग्रे गतं दृष्ट्वा धनमित्रमुनिना नदीमालोक्य पुत्रानुरागेण कथितम्, वत्स! जलं पिब, पश्चादालोचनया शुद्धिर्भविष्यति। इत्युक्तोऽपि शिष्यो जलपानं कर्तुं न वाञ्छति। ततो

किया गया है। "परिसुक्कमुहादीणे" इस पद से सूत्रकार यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि कष्ट की अवस्था में भी परीषहों को जीतना ही चाहिये। "तितिक्खे" पद से यह ज्ञात होता है कि परीषह की उपस्थिति में घबड़ाना नहीं चाहिये किन्तु सहिष्णुता धारण करनी चाहिये।

इस विषय को अब दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट किया जाता है—

उज्जैनी नगरी में धनमित्र नाम का एक सेठ रहता था। वैराग्य पाकर उसने अपने आठवर्ष के धनमिय नामक पुत्र के साथ मित्रगुप्तआचार्य के पास मुनिदीक्षा धारण करली। एक समयकी बात है कि वे धनप्रिय मुनि सपरिवार आचार्य के साथ जब विहार कर रहे थे तब मार्ग में उन को प्यास की वेदना जागृत हुई। अन्य साधुओं के साथ आचार्य को आगे गये हुए जान कर धनमित्र मुनि ने नदी को देखते ही पुत्रानुराग के वशवर्ती बन धनप्रिय से कहा कि वत्स! जल पीलो, पीछे आलोचना से इसकी शुद्धि कर लेना। इस प्रकार धनमित्र मुनि के वचन

એવું પ્રગટ કરેલ છે परिसुक्कमुहादीणे આપદથી કષ્ટની અવસ્થામાં પણ પરિષહોને જીતવા જોઈએ. એવું સૂત્રકાર પ્રદર્શિત કરે છે "तितिक्खे" આપદથી પરિષહનાં આવવાથી ગભરાવું ન જોઈએ પરંતુ સહિષ્ણુતા ધારણ કરવી જોઈએ

આ વિષય ઉપર એક દૃષ્ટાંત કહેવામાં આવે છે—

ઉજ્જૈની નગરીમાં ધનમિત્ર નામે એક શેઠ રહેતો હતો વૈરાગ્ય પામીને તેણે પોતાના આઠ વર્ષના ધનપ્રિય નામના પુત્ર સાથે મિત્રગુપ્ત નામના આચાર્ય પાસે મુનિ દીક્ષા ધારણ કરી. એક સમયની વાત છે કે, ધનપ્રિય મુનિ સપરિવાર આચાર્યની સાથે જ્યારે વિહાર કરી રહેલ હતો, ત્યારે માર્ગમાં તેને તરસ લાગી. બીજા સાધુઓ સાથે આચાર્યને આગળ ગયેલા જાણીને ધનમિત્ર મુનિએ નદીને જોઈને પુત્રપ્રેમને વશ બની ધનપ્રિયને કહ્યું, વત્સ પાણી પીઈ લે પછી આલોચનાથી એની શુદ્ધિ કરી લેજો. આ પ્રકારનાં ધનમિત્ર

धनमित्रमुनिश्चिन्तयति—मम समक्षे नाय जल पिवतीति, एव विचिन्त्य शुष्कमार्गेण सत्वर नदीमुत्तीर्याग्रे गत., तदनन्तर धनप्रियमुनिर्जलपानार्थं नद्या प्रविश्याञ्जली जल भृत्वा सद्य सजातकारुण्यश्चिन्तयति—कथमह जल पिवामि। यतः—

एगमि उदगविंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहि पन्नत्ता।
ते सरिसवपरिमित्ता, जम्बुद्दीवे न मायति ॥ १ ॥

छाया—एकस्मिन्नुदकविन्दौ, ये जीवा जिनवरैः प्रज्ञप्ताः।
ते सर्पपपरिमात्राः जम्बूद्वीपे न मायेयुः ॥ १ ॥

व्याख्या—एकस्मिन् जलविन्दौ ये जीवा सन्ति, ते यदि सर्पपप्रमाण शरीर धृत्वा वर्तेयुस्तर्हि जम्बूद्वीपे न मायेयुरित्यर्थ. ॥ १ ॥

सुनकर धनप्रिय ने पानी पीने की जरा भी इच्छा नहीं की। इस परिस्थिति को देखकर धनमित्र मुनि ने विचार किया कि यह मेरे साम्हने जल नहीं पीवेगा अत यहां से चल देना चाहिये, सो वे शुष्कमार्ग से नदी को पार कर आगे चले गये। इसके बाद धनप्रियमुनि जलपान करने के लिये नदी में प्रविष्ट हुए और अजलि में पानी भर कर दया भाव से विचारने लगे कि इस अकल्पनीय सचित्त जल को मैं कैसे पीऊँ? क्यों कि—

" एगंमि उदगविंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिं पन्नत्ता।
ते सरिसवपरिमित्ता, जंबुद्दीवे न मायंति ॥ १ ॥"

एक जल के बिन्दु में जितने जीव जिनेन्द्र भगवान ने वतलाये हैं वे यदि सरसों के आकार को धारण करलें तो इस जंबूद्वीप में नहीं समा सकते हैं ॥१॥

મુનિનાં વચન સાંભળીને ધનપ્રિયમુનિએ પાણી પીવાની જરા પણ ઇચ્છા ન કરી આ પરિસ્થિતિને જોઈ ધનમિત્રમુનિએ વિચાર કર્યો કે, આ મારી સામે પાણી પીશે નહી માટે અહીંથી ચાલવુ જોઈ એ જેથી તેઓ સુકા માર્ગેથી નદીને પાર કરીને આગળ ચાલ્યા. આ પછી ધનપ્રિયમુનિએ જળપાન કરવા માટે નદીમાં પ્રવેશ કર્યો અને હાથમા પાણી લઈ દયા ભાવથી વિચારવા લાગ્યા કે, આ અકલ્પનીય સચિત્ત પાણી હું કેવી રીતે પીઉ કેમકે કહ્યું છે કે—

एगमि उदगविंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहि पन्नत्ता।
ते सरिसव परिमित्ता, जम्बुद्दिवे न मायन्ति ॥ १ ॥

જળના એક ટીપામાં જેટલા જીવ જીનેન્દ્ર ભગવાને બતાવ્યા છે તે કદાચ સરસવના આકારને ધારણ કરીલ્યે તો આ જમ્બુદ્વિપમાં સમાઇ ન શકે ॥૧॥

जत्थ जलं तत्थ वणं, जत्थ वणं तत्थ णिच्छिओ तेऊ।
तेऊ वाउसहगओ, तसा य पच्चक्खया चेव ॥ २ ॥

छाया—यत्र जलं तत्र वनं, यत्र वनं तत्र निश्चितं तेजः।
तेजो वायुसहगतं त्रसाश्च प्रत्यक्षका एव ॥ २ ॥

व्याख्या—यत्र जलं तत्र वनं=वनस्पतिः, यत्र वनस्पतिस्तत्र निश्चयेन तेजो=वह्निः, यत्र तेजस्तत्र वायुः सहयोगित्वात्, त्रसास्तु प्रत्यक्षा एव सन्ति ॥२॥

हंतूण परप्पाणे, अप्पाणं जो करेइ सप्पाणं।
अप्पाणं दिवसाणं, कए य नासेइ सप्पाणं ॥ ३ ॥

छाया—हत्वा परप्राणान्, आत्मानं यः करोति सप्राणम्।
अल्पानां दिवसानां, कृते नाशयति स्वात्मानम् ॥ ३ ॥

व्याख्या—तस्मात् परप्राणान् हत्वा यः आत्मानं सप्राणं=सबलं करोति, स अल्पानां दिवसानां कृते स्वात्मानं नाशयति ॥३॥

"जत्थ जलं तत्थ वणं, जत्थ वणं तत्थ णिच्छिओ तेऊ।
तेऊवाउ सहगओ, तसा य पच्चक्खया चेव ॥ २ ॥"

जहां जल है वहां निश्चित वनस्पति है। जहां वनस्पति है वहां निश्चित तेज–अग्नि है। जहां तेज है वहां निश्चित वायु है। त्रसकाय तो प्रत्यक्ष ही है ॥२॥

"हंतूण परप्पाणे, अप्पाणं जो करेइ सप्पाणं।
अप्पाणं दिवसाणं, कए य नासेइ सप्पाणं ॥ ३ ॥"

जो दूसरे जीवों के प्राणों का हनन कर कुछ ही दिनों के लिये अपने आपको सबल बनाने की चेष्टा करता है वह अपने आपका विनाश करता है ॥३॥

जत्थजलं तत्थ वणं, जत्थ वणं तत्थ णिच्छिओ तेउ।
तेउ वाउसहगओ, तसाय पच्चक्खया चेव ॥ २ ॥

જ્યાં જળ છે ત્યાં વનસ્પતિનું હોવું નિશ્ચિત છે, જ્યાં વનસ્પતિ છે ત્યાં તેજ અગ્નિ નિશ્ચિત છે જ્યાં તેજ છે ત્યાં વાયુ નિશ્ચિત છે ત્રસકાય તો પ્રત્યક્ષ છે જ ॥૨॥

हंतूण परप्पाणे, अप्पाणं जो करेइ सप्पाणं।
अप्पाणं दिवसाणं, कए य नासेइ सप्पाणं ॥ ३ ॥

જે બીજા જીવોના પ્રાણોની વિરાધના કરીને થોડા દિવસો માટે પોતે પોતાની જાતને સબળ બનાવવાની ચેષ્ટા કરે છે તે પોતે પોતાની જાતનો વિનાશ કરે છે ॥૩॥

अहो! दुर्लभा सयमप्राप्ति , ततोऽपि सयमरक्षण दुर्लभतर, तथाप्काय‌विराधनया षट्कायविराधनाया सत्या न भवितु शक्यते, सयमरक्षणाभावे सर्वेषा महाव्रतानां भङ्गः स्यात्, ततश्च चतुर्गतिकससारपरिभ्रमण भविष्यति। यस्मान्नेद जल पास्यामीति निश्चित्यासौ मुनि रञ्जलितो जल नद्यामेव यतनया मुमोच। स लघुवयस्कोऽपि मह नीयधैर्य शुष्कमार्गेण तां नदीमुत्तीर्य तत्तीर एव पिपासया गन्तुमक्षम सन् भूमौ निपतित'।

इस प्रकार विचार कर धनप्रियनामक लघुमुनिने यह भी विचार किया कि इस ससार में जीवों को एक तो संयम की प्राप्ति होना दुर्लभ है, और उसकी अपेक्षा सयम की रक्षा महान् दुर्लभ है। मैं कच्चा पानी पीऊँ तो अप्काय की विराधना होती है अप्काय की विराधना में षट्काय की विराधना अवश्य होती है, षट्काय की विराधना से सयम की रक्षा नहीं हो सकती। जहा सयम की रक्षा नहीं है वहा समस्त महाव्रतों का भग है। इनके भग से ससारपरिभ्रमण अवश्य होता है, अत मै तो इस जलको नहीं पीऊँगा। इस प्रकार निश्चय कर लघुमुनि ने बड़ी ही यतना से अजलि में लिये हुए जल को उसी नदी में छोड़ दिया। उस समय उनकी आयु कोई अधिक नहीं थी परतु धैर्य की मात्रा हृदय में बढी हुई थी इस लिये यथा कथचित् वे शुष्क-मार्ग से होकर नदी को पार करके दूसरे तीर पर आगये। परन्तु प्यास ने इतनी प्रबलता धारण की कि वे आगे मार्ग पर नहीं चलसके और

આ પ્રકારનો વિચાર કરી ધનપ્રિય નામના નાના મુનિયે એવો વિચાર કર્યો કે, આ સસારમા જીવોને એક તો સયમની પ્રાપ્તિ થવી દુર્લભ છે અને તેની અપેક્ષા સયમની રક્ષા મહાન દુર્લભ છે હુ કાચુ પાણી પીઉ તો અપ્કાયની વિરાધના થાય છે, અપ્કાયની વિરાધનામા ષટ્કાયની વિરાધના અવશ્ય બને છે ષટ્કાયની વિરાધનાથી સયમની રક્ષા થતી નથી જ્યા સયમની રક્ષા નથી ત્યાં સમસ્ત મહાવ્રતોનો ભગ છે તેના ભગથી સસાર પરિભ્રમણ અવશ્ય થાય છે માટે હુ તો આ જળને પીઈશ નહી આ પ્રકારનો નિશ્ચય કરી લઘુ મુનિયે ખૂબજ યતનાથી ખોબામાં લીધેલ પાણીને તે નદીમાં છોડી દીધુ આ સમયે તેની ઉમર કાંઈ મોટી ન હતી પરતુ ધૈર્યની માત્રા હૃદયમાં વધેલી હતી. આ કારણે આગળ કહેવામાં આવ્યા પ્રમાણે સુકા માર્ગથી નદીને પાર કરી સામા કાંઠે પહોચી ગયા પરતુ તરસ એટલા જોરથી લાગી હતી કે આને

अथ पिपासाविवशोऽपि धर्मे निश्चलमतिरसौ पञ्चनमस्कारस्मरणपूर्वकं समाधिभावेन देहं विहाय प्रथमकल्पे वैमानिकदेवत्वेन समुत्पन्नः । ततोऽवधिज्ञानेन स्वपूर्वभवं विज्ञाय तेन धनप्रियेण देवेन सर्वेषां मुनीनामनुग्रहार्थं वैक्रियशक्त्या पथि गोकुलं निर्मितम् । अथ सपरिवारो मित्रगुप्ताचार्यः पुरतो गोकुलं दृष्ट्वा तत्र शुद्धं तक्रादि गृहीत्वा पिपासां निवार्य चलितः । अथ तेन देवेन स्वपरिचयार्थमेकस्य साधोरासनं विस्मारितम् । येन मुनिनाऽऽसनं विस्मृतम् , स च स्वासनान्वेषणार्थं पुनर्गोकुलस्थानमागत्य गोकुलमपश्यन् प्रत्यावृत्त सर्वान् मुनीनब्रवीत्-नास्ति तत्र

वहीं पर गिर पडे । पिपासा से विवश होने पर भी इनकी मति धर्म में निश्चल बनी रही, पचनमस्कार मंत्र का स्मरण करते हुए इन्होंने समाधिभाव से काल को प्राप्त किया। पिपासापरीषह को सहन करने के प्रभाव से ये प्रथमकल्प में वैमानिक देव हुए। अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव को जानकर उस लघुमुनि के जीव देव ने समस्त मुनियों की रक्षा के लिये अपनी वैक्रियिक शक्ति से मार्ग में गोकुल की रचना कर दी। सपरिवार मित्रगुप्ताचार्य ने आगे गोकुल देखा।

वहा से शुद्ध तक्र आदि को लेकर अपनी पिपासा को शांत किया, एवं आगे विहार करना प्रारम्भ कर दिया। किसी ने भी यह नहीं जाना कि यह सब देवकृत माया है, अत देव ने अपने परिचय के निमित्त एक साधु को अपना आसन विस्मृति करा दिया। जो मुनि वहां पर आसन भूल गया था वह उस आसन को लेने के लिये पीछे उस स्थान पर आया तो क्या देखता है कि यहां पर तो कोई

લઈ તે આગળ માર્ગે ચાલી શક્યા નહીં અને ત્યાં જ પડી ગયા. તરસથી વિવશ બનવા છતાં પણ તેની મતિ ધર્મમાં નિશ્ચલ બની રહી. પચનમસ્કાર મંત્રનું સ્મરણ કરીને તેમણે સમાધી ભાવથી કાળધર્મ પ્રાપ્ત કર્યો તરસના પરીષહને સહન કરવાના પ્રભાવથી તે પ્રથમ કલ્પમાં વૈમાનિક દેવ થયા. અવધિજ્ઞાનથી પોતાના પૂર્વભવને જાણીને તે લઘુમુનિના જીવ દેવે સમસ્ત મુનિઓના અનુગ્રહ માટે પોતાની વૈક્રિયિક શક્તિથી માર્ગમાં ગોકુળની રચના કરી. સપરિવાર મિત્રગુપ્તાચાર્યે આગળ ગોકુળ જોયું અને ત્યાંથી શુદ્ધ છાશ આદિ લઈને પોતાની તરસને છિપાવી અને આગળ વિહાર કરવા લાગ્યા. કોઈએ એ ન જાણ્યું કે આ બધી દેવકૃત માયા હતી. આથી દેવે પોતાના પરિચય નિમિત્ત એક સાધુને તેનું આસન ભુલાવી દીધું જે મુનિ આસન ભુલી ગયા હતા તે મુનિ ત્યાં આસન લેવા માટે પાછા આવ્યા તો શું દેખે છે કે ત્યાં કોઈ ગોકુળ

पूर्वदृष्ट गोकुलम् । तदा तद्वचनेन सर्वैरपि साधुभिर्ज्ञातगोकुलाभावैस्तत्र काचिदेव शक्तिर्विदिता । सर्वैस्तत्पिण्डभोजनस्य प्रायश्चित्त कृतम् । ततस्तत्रागत्य तेन देवेन ससारावस्थायां तात स्वगुरु मुक्त्वा सर्वे साधवो वन्दिता.। किं कारण त्वया नाय वन्दित. ? एवमाचार्येण पृष्टोऽसौ सर्वं स्ववृत्तान्तं सचित्तजलपानार्थं पितुः प्रेरण च सर्वेषां साधूनां पुरस्ताद् कथयित्वा देवलोक गत.। एवमन्यैरपि मुनिभिस्तृषापरीषहः सोढव्य. ॥ ५ ॥

क्षुधापिपासापरीषहसहनेन कृशशरीरस्य साधो. शीतकाले शीतमपि बहु बाधते, इति शीतपरीषहजयं माह—

गोकुल नहीं है । वह शीघ्र ही पीछे वहा से वापिस लौटा और अपने आचार्य के पास आकर इस बात को कहा कि अब तो वहा पर कोई गोकुल नहीं है । साधुओं ने जब यह बात सुनी तो उन्हों ने यह निश्चित किया कि अवश्य इस में कोई देव की माया थी। सब ने मिलकर इसका प्रायश्चित्त लिया, क्यों, कि इन सब ने वहा से पहिले तक्रादि को ग्रहण किया था। बाद में देव ने आकर अपने ससार अवस्था के पिता–धनमित्र मुनि को छोड़कर बाकी के समस्त साधुओं को वदना की। आचार्य ने पूछा धनमित्र मुनि को वदन क्यों नहीं किया? तब उस देव ने समस्त पहिले का वृत्तान्त जो धनमित्र मुनि ने सचित्त जल को पीने के लिये अपने शिष्य धनमित्र को मुनि की अवस्था में कहा था आचार्य के समक्ष कह दिया। कह कर फिर वह स्वर्ग को वापिस चला गया। इसी प्रकार अन्य मुनियों को भी तृषापरीषह का विजय करना चाहिये ॥ ५ ॥

નથી તે એજ વખતે પાછા ફર્યો અને પોતાના આચાર્યની પાસે આવીને કહ્યુ કે, ત્યાં તો કોઈ ગોકુળ નથી સાધુઓએ જ્યારે આ વાત સાંભળી તો તેઓએ એવુ નક્કી કર્યું કે, અવશ્ય આમા કોઇ દેવની માયા હતી, સહુએ મળીને તેનુ પ્રાયશ્ચિત્ત લીધુ કારણ કે, તે સહુએ ત્યાથી છાસ આદિ વસ્તુ ગ્રહણ કરેલ હતી. બાદમાં દેવે આવીને પોતાના સસાર અવસ્થાના પિતા ધનમિત્ર મુનીને છોડીને બાકીના સમસ્ત સાધુઓને વદના કરી, આચાર્યે પૂછ્યુ કે, ધનમિત્ર મુનિને વદના કેમ ન કરી ? ત્યારે તે દેવે પહેલાનો સમસ્ત વૃત્તાંત જે ધનમિત્ર મુનિયે સચિત્ત પાણી પીવા માટે પોતાના શિષ્યને મુનિ અવસ્થામા કહ્યુ હતુ તે આચાર્ય સમક્ષ કહી દીધુ આ કહીને તે પોતાના મુળધામ સ્વર્ગમાં ચાલ્યા ગયા. આ પ્રકારે અ ચમુનિયોએ પણ તૃષાપરીષહનો વિજય કરવો જોઈએ. ॥૫॥

मूलम्—चरंत विरंय लूहं, सीयं फुसइ एगया ।
नाइ वेलं मुणी गच्छे, सोच्चा णं जिणसासणं ॥६॥

छाया—चरन्तं विरतं रूक्षं, शीतं स्पृशति एकदा ।
नातिवेलं मुनिर्गच्छेत् श्रुत्वा खलु जिनशासनम् ॥ ६ ॥

टीका—'चरंत' इत्यादि ।

चरन्तं=मोक्षमार्गे, ग्रामानुग्रामं वा विहरन्तं, विरतं=सावद्ययोगतो निवृत्तम्-अग्निमज्वालनादिभ्यो निवृत्तमित्यर्थः, रूक्षं=स्निग्धाहारतैलाभ्यङ्गपरिहारेण धूसराङ्गं मुनिम्, एकदा=शीतकाले, शीतं स्पृशति=पीडयति ।

शीतकाले हि वनस्पतयो हिमनिपातेन परितः परिशुष्का भवन्ति, पथिकाः सकोचितपाणयः पदैकमपि गन्तुमसमर्थाः पङ्गुवत् तत्र तत्रैव तिष्ठन्ति, केचित् क्वणद्दन्तवीणिकाः कम्पमानगात्राः कृशानुसेवनाय तदभिमुखं शलभा इवापतन्ति ।

क्षुधा एवं पिपासा परीषह के सहन करने से मुनि का शरीर कृश हो जाता है इससे शीतकाल में शीत की पीडा बहुत होती है इसलिये तीसरे शीतपरीषह को जीतना चाहिये; यही बात इस नीचे की गाथा से सूत्रकार प्रकट करते हैं—

'चरंतं विरयं' इत्यादि

अन्वयार्थ-(चरंतं विरयं—चरन्तं विरतं) मोक्ष मार्ग में अथवा एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करने वाले तथा सावद्ययोग से विरक्त एवं (लूहं—रूक्षम्) स्निग्धाहार तैलमर्दन आदि के त्याग से धूसर शरीर वाले ऐसे मुनि को (एगया—एकदा) शीतकाल में (सीयं फुसइ—शीतं स्पृशति) शीत पीडित करता है। उस समय वह मुनि (णं—खलु) निश्च

ભૂખ અને તરસ સહન કરનારા મુનિનું શરીર દુર્બળ બની જાય છે, અને દુર્બળ શરીરવાળાને ઠંડિથી બહુ પીડા થાય છે આથી ત્રીજો ઠંડિના પરિષહને મુનિએ જીતવો જોઈએ એવી વાત સૂત્રકાર નીચેની ગાથાથી પ્રગટ કરે છે

ચરંત વિરય ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—ચરંત વિરય—ચરન્ત વિરત મોક્ષમાં અથવા એક ગામથી બીજા ગામે વિહાર કરવાવાળા તથા સાવદ્ય યોગથી વિરક્ત અને લૂહ—રૂક્ષમ્ સ્નિગ્ધાહાર તેલમર્દન આદિના ત્યાગથી ધૂસર શરીરવાળા એવા મુનિને એગયા—એકદા શીતકાળમાં સીયં ફુસઇ—શીતં સ્પૃશતિ શીતકાળ પીડિત કરે છે તે સમયે તે મુનિ ण—खलु

मायवश्च तुषारासारसगाढविशय शिशिराः प्राणिना शरीराणि परित सातिशय पीडयन्ति । अनवरतशीतपातजनितव्यथावारणाय बालका॰ काष्ठखण्डादीनि समाहृत्यैकत्र वह्नि मज्वाल्य प्रसारितपाणयस्तापमासेवन्ते। यत्र प्रतिक्षण प्राणिना प्राणा॰ मखर शीतवेदनाभिरुद्विग्ना भवन्ति ।

तदा स मुनि॰ खलु=निश्चयेन, जिनशासनं जिनवचनरहस्य श्रुत्वा 'अनेन ममात्मना नरकनिगोदादौ तीव्रतरा अनन्तवेदना अनन्तवारमनुभूता' इति विभाव्य, अतिवेल=वेलाऽतिक्रमण न गच्छेत्=न प्राप्नुयात्-प्रतिलेखनादे यं कालस्त शीतभयादुल्लङ्घ्याऽन्यस्मिन् काले प्रतिलेखनादिक न कुर्यादित्यर्थः । यद्वा-शीतभयात् पूर्वोपविष्टस्थान विहाय स्थानान्तरं न व्रजेदिति ।

'चरत' इत्यनेन कारण विना एकत्रावस्थान न करणीयमिति सूचितम् ।

'विरय' इत्यनेन यतनावत्त्व सूचितम् ।

यसे (जिणसासण सोच्चा-जिनशासन श्रुत्वा) जिन शासन को-' इस मेरी आत्मा ने नरक निगोद आदि स्थानों में तीव्रतर अनत वेदनाएँ अनन्तवार भोगी हैं उस वेदना के सामने यह शीतवेदना क्या अधिक है ?' इस बात को सुनकर-समझकर (अइवेल-अतिवेलम्) समय को उल्लघन करके-प्रतिलेखना आदि के समय को टालन करके (न गच्छे-न गच्छेत्) प्रतिलेखना आदि का जो समय है उसके सिवाय अन्य समय में प्रतिलेखनादिक क्रियाओं को न करे। तथा शीत के भय से पूर्वाधिष्ठित स्थान का परित्याग कर दूसरे स्थान में भी न जावे ।

गाथा में रहे हुए "चरत" इस पदद्वारा सूत्रकार यह प्रदर्शित करते हैं कि मुनि को कारणविशेष विना एक जगह स्थिररूप से नहीं

નિશ્ચયથી જિણસાસણ સોચ્ચા-જિનશાસન શ્રુત્વા જીન શાસનને આ મારા આત્માએ નરક નિગોદ આદિ સ્થાનોમા તીવ્રતાવાળી અનત વેદનાઓ ઘણી વખત ભોગવી છે તે વેદનાઓ સામે આ શીત વેદના કયા હિસાબમાં છે ?' આ વાતને સાભળી સમજી અઇવેલ-અતિવેલ સમયનું ઉલ્લઘન કરી પ્રતિલેખના આદિના સમયને ટાળીને ન ગચ્છે-ન ગચ્છેત્ પ્રતિલેખના આદિનો જે સમય છે તેના સીવાય બીજા સમયમા પ્રતિલેખનાદિક ક્રિયાઓને ન કરે તથા ઠંડીના ભયથી પૂર્વાધિષ્ઠિત સ્થાનનો ત્યાગ કરીને બીજા સ્થાનમા ન જાય

ગાથામાં રહેલા "ચરત" એ પદદ્વારા સૂત્રકાર એ પ્રદર્શિત કરેછે કે, મુનિયે કારણ વિશેષ વીના એક જગ્યાએ સ્થિર રૂપથી રોકાવુ ન જોઈએ.

'लूह' इत्यनेन तपश्चरणशीलस्व प्रवेदितम् ॥ ६ ॥
'मुणी' इत्यनेन सावद्यकार्ये मौनत्वमिति घोषितम् ।

मूलम्--नं मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जए ।
अह तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥७॥

छाया—न मे निवारणम् अस्ति, छवित्राण न विद्यते ।
अहं तु अग्निं सेवे, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥ ७ ॥

टीका—'न मे' इत्यादि ।

मे=मम, निवारण=शीतनिवारक स्थान नास्ति, तथा—छवित्राण=शरीराच्छादनक वस्त्रकम्बलादिक न विद्यते। तु=पुन, अग्निं सेवे=अग्निं प्रज्वाल्य तत्तापमाश्रयेय, इति=एवं, भिक्षुर्न चिन्तयेत्=मनसापि न प्रार्थयेत्। चिन्तामतिषेधेन तत्सेवन तु दूरत एव निराकृतम् ।

ठहरना चाहिये। "विरय" इससे मुनिको यतनावान् होना चाहिये यह सूचित किया गया है। "लूह" पद से तपश्चरण शीलता एव "मुणी" इस पद से सावद्यकार्य में मौन रखना यह सूचित किया गया है ॥६॥

'न मे निवारण' इत्यादि

अन्वयार्थ–(मे-मम) मेरे पास (निवारण निवारणम्) शीत को दूर करने वाला स्थान (न अत्थि–नास्ति) नहीं है (छवित्ताणं न विज्जए–छवित्राणं न विद्यते) शरीर को आच्छादान करने वाला वस्त्र एवं कम्बल आदि भी नहीं है अत (अह तु अग्गिं सेवामि–अहंतु अग्निं सेवे) मैं अग्नि का सेवन करूँ (इइ–इति) इस प्रकार (भिक्खू–भिक्षु) साधु (न चिंतए–न चिन्तयेत्) मन से भी विचार न करे, उसके सेवन की बात तो दूर रही।

"विरय" એનાથી મુનિયે યત્નાવાન બનવુ જોઈએ એવુ સૂચિત કરવામાં આવ્યું છે "लूह" પદથી તપશ્ચરણ શીલતા અને "मुणी" આ પદથી સાવદ્ય કાર્યમાં મૌન રાખવુ એ સૂચિત કરવામા આવેલ છે

नमे निवारण ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—मे-मम મારી પાસે निवारण –निवारणम् ઠંડીથી બચાવી શકે તેવું સ્થાન न अत्थि–नास्ति નથી, छवित्ताणं नविज्जए-छवित्राणं न विद्यते શરીર ઉપર ઓઢવા માટે વસ્ત્ર તથા કમ્બલ વગેરે પણ નથી. આથી अहतु अग्गिं सेवामि–अग्निं सेवे અગ્નિનુ સેવન કરૂ इइ–इति આ પ્રકારનો મનથી પણ भिक्खू–भिक्षु મુનિ न चिंतए–न चिन्तयेत् વિચાર ન કરે તેના સેવનની વાત તો દૂર રહી.

अथ भाव —शीते महत्यपि पतति सति जीर्णवसन परित्राणवर्जितो नाकल्प्यानि वसनानि गृह्णीयात् शीतत्राणाय। आगमविहितेन विधिना एषणीयमेव यथाकल्प गवेषयेत् परिभुञ्जीत वा। नापि शीतार्तोऽग्निं ज्वालयेत्, अन्यज्वालितं वा नासेवेत। एवमनुतिष्ठता शीतपरीषहजय. कृतो भवतीति।

अत्र 'भिक्खू' इत्यनेन निरवद्यभिक्षाग्रहणशीलत्व सूचितम्।

अत्र दृष्टान्त.—

चतुर्थारके-राजगृहे नगरे चत्वार. कुवेरदत्तश्रेष्ठिपुत्रा' कुवेरसेन-कुवेरमित्र-कुवेरवल्लभ-कुवेरप्रियनामानो भद्रगुप्ताचार्यसमीपे जिनोक्त धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजिताः।

इस का भाव यह है कि जब शीतकाल में शीत पड़ता है उस समय जीर्णवस्त्र वाला एवशीत की रक्षा के साधनों से रहित साधु अकल्पनीय वस्त्रों को शीत की रक्षा निमित्त ग्रहण नहीं करे। आगम में विहित विधिके अनुसार जो एषणीय हों तथा साधु के लिये कल्पनीय हों उन्हें ही ग्रहण करें। ठड से पीडित होने पर भी अग्नि को न जलावे तथा दूसरों द्वारा जलाई गई अग्नि का भी सेवन नहीं करें। ऐसा करने से ही साधु शीतपरिषहविजयी माना जाता है। गाथा में रहे हुए-भिक्खूपद से सूत्रकार 'भिक्षु को निरवद्य भिक्षा ही ग्रहण करना चाहिये' यह सूचित करते हैं।

इस विषय पर यहां दृष्टान्त दिया जाता है—राजगृह नगरमें कुवेरदत्त नामक एक सेठके कुवेरसेन, कुवेरमित्र, कुवेरवल्लभ, कुवेरप्रिय

આનો ભાવ એ છે કે, જ્યારે શીતકાળમાં ઠંડી પડે છે એ સમયે જીર્ણ વસ્ત્ર વાળા અને ઠંડીની રક્ષાના સાધનોથી રહિત સાધુ અકલ્પનીય વસ્ત્રોને ઠંડીની રક્ષા નિમિત્તે ગ્રહણ ન કરે. આગમમાં કહેવાયેલ વિધિ અનુસાર જે એષણીય હોય તથા સાધુ માટે કલ્પનિય હોય તેને જ ગ્રહણ કરે ઠંડીથી પિડીત હોવા છતાં પણ અગ્નિને પ્રગટાવે નહીં તથા બીજાઓ દ્વારા પ્રગટાવવામાં આવેલ અગ્નિનું પણ સેવન ન કરે આ રીતનું વર્તન રાખનાર સાધુ શીતપરીષહવિજયી માનવામા આવે છે ગાથામા રહેલા "भिक्खू" પદથી સૂત્રકાર એમ સૂચિત કરે છે કે, 'ભિક્ષુએ નિરવદ્ય ભિક્ષા જ ગ્રહણ કરવી જોઇએ'

આ વિષય ઉપર અહીં દૃષ્ટાંત કહેવામાં આવે છે

ચોથા આરામાં-રાજગૃહ નગરમા કુબેરદત્ત નામનો એક શેઠ હતો. જેને કુબેરસેન, કુબેરમિત્ર, કુબેરવલ્લભ અને કુબેરપ્રિય નામે ચાર પુત્ર હતા આ

ते श्रुतमधीत्यान्यदा कदाचिदेकाकित्वविहाराख्यप्रतिमां स्वीकृतवन्तः। तदनन्तरमेकाकित्वप्रतिमया विहरन्तस्ते पुनरपि राजगृहनगरसमीपवर्तिनि वैभारगिरिप्रदेशे वसतेर्यथाकल्पमवग्रहमवगृह्य संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन्तो विहरन्ति स्म। तदा हेमन्तर्तुस्तुषारासारैर्जनान् पीडयन्, वनस्पतीन् परिम्लानयन्, पशुपक्ष्यादीन् काष्ठवज्जडतां मापयन्, सर्वप्राणिप्राणानुद्वेजयन्नासीत्। तस्मिन् समये ते चत्वारो मुनयस्तृतीययामे भिक्षाचर्यार्थं राजगृहनगरं प्रविष्टाः, तत्र भिक्षां गृहीत्वा क्रमा-

नामके चार पुत्र थे। उन चारों पुत्रों ने भद्रगुप्त आचार्य के समीप धर्म का श्रवण कर मुनिदीक्षा धारण की। शास्त्रों का अच्छी तरह से अध्ययन किया।

एक समय की बात है उन्हों ने एकाकित्वविहार नाम की भिक्षुप्रतिमा स्वीकार की इससे वे एकाकी होकर विहार करने लगे। विहार करते२ वे किसी समय पुनः राजगृह नगर के समीपवर्ती वैभारगिरि की तलहटी में बसी हुई एक बस्ती में आये और वहां यथाकल्प अवग्रह–आज्ञा लेकर उतरे और संयम एवं तप से आत्मा को भाते हुए विचरने लगे। यह समय हेमन्तऋतु का था। तुषार–हिम के छोटे २ कणों से इस समय मनुष्यों को अधिक कष्ट होता है। वनस्पतियाँ हिम कणों के निपात से दग्ध हो जाती हैं। पशु पक्षी काष्ठ जैसे जड हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि इस ऋतु में ठंड की अधिकता से हरएक प्राणी को अधिक कष्ट का अनुभव होता है। ऐसे समय में ये चारों ही

ચારે પુત્રોએ ભદ્રગુપ્ત આચાર્ય પાસેથી ધર્મનું શ્રવણ કરી મુનિદીક્ષા ધારણ કરી શાસ્ત્રોનું સારી રીતે અધ્યયન કર્યું એક સમયની વાત છે, તેઓએ એકાકિત્વ વિહાર નામની ભિક્ષુ પ્રતિમા સ્વીકારી આથી તેઓ ચારે એકાકી બનીને વિહાર કરવા લાગ્યા વિહાર કરતાં કરતાં કોઈ સમયે રાજગૃહ નગર સમીપ રહેલી વૈભારગિરીની તળેટીમા વસેલી એક વસ્તીમાં આવ્યા અને ત્યાં યથાકલ્પ અવગ્રહ આજ્ઞા લઈને ઉતર્યા સંયમ અને તપથી આત્માને ભાવતા વિચરવા લાગ્યા આ સમયે હેમન્ત ઋતુ હતી. તુષાર હિમનાં નાનાં નાનાં કણોથી આ સમયે મનુષ્યો અધિક કષ્ટ પામે છે વનસ્પતિઓ હિમ કણોના પડવાથી બળી જાય છે, પશુ પક્ષીઓ લાકડાં જેવા જડ થઈ જાય છે મતલબ એ કે, આ ઋતુમાં ઠંડીની અધિકતાથી દરેક પ્રાણીને વધુ કષ્ટનો અનુભવ થાય છે એવા સમયમાં એ ચારેય મુનિ દિવસના ત્રીજા ભાગમાં ભિક્ષાચર્યા

द्वारास्ते सर्वे स्ववसतिं गन्तु पृथक् पृथगेव प्रतिनिवृत्ता तेषामेकस्य कुबेरसेनमुने वैभारगिरिकन्दरान्तिकमुपगतस्य रात्रिः समाता, अतस्तत्रैव सोऽतिष्ठत् । द्वितीयस्य कुबेरमित्रमुनेरुद्याने रात्रिः समजनि, अतस्तत्रैव सोऽतिष्ठत् । तृतीयस्य कुबेरवल्लभमुनेरुद्यानसमीपे, चतुर्थस्य कुबेरप्रियमुनेस्तु नगरसमीपे । तत्र वैभारगिरिकन्दराद्वारसमीपावस्थितस्य मुनेर्निपततुषारसंपर्कशीतले शैलमारुते प्रकम्पितशरीरस्यापि मनो मेरुरिवनिष्प्रकम्प मासीत् । यथा यथा शीत प्रवर्धते, तथा तथा ऽऽत्मिकबलं प्रकाशयन् मन सुस्थिरं कुर्वन् रणे वीर इव शत्रु शीत विजेतुं प्रोत्साहसंपन्नः सुधीरः शीतवेदना सहमानोऽसौ मुनिः समाधिभावेन रात्रे प्रथमयाम एव काल गतः ।

मुनि दिवस के तृतीय प्रहर में भिक्षाचर्या के लिये राजगृहनगर में आये। वहा पर मिले हुए एषणीय आहार करके वे सब फिर वहां से एक पीछे एक वैभारगिरि के समीप जहा उतरे हुए थे वहां पहुँचने के लिए चले। इनमें कुबेरसेन मुनि को मार्ग में ही जब वे वैभारगिरि का कन्दरा के पास पहुँचे तो रात्रि हो गई, इसलिये वह वहीं पर ठहर गये। दूसरे कुबेरमित्रमुनि रात्रि हो जाने से बगीचे में ठहरे। वैसे ही तीसरे कुबेरवल्लभमुनि बगीचे के पास ठहरे। चौथे कुबेरप्रियमुनि रात्रि होने से राजगृह नगर के पास ही ठहर गये। वैभारगिरि की कन्दरा-गुफा के द्वार पर ठहरे हुए मुनिराज ने पड़ते हुए शीत के संपर्क से अत्यंत शीतल पर्वतीय वायु के वेग से कम्पितशरीर होने पर भी अपने मनको मेरु के समान निष्कंप बनाते हुए उस शीत को प्रबलता का सामना किया। जैसे २ शीतकी अधिकता होती जाती थी, उस उस रूप से

માટે રાજગૃહ નગરમા આવ્યા. ત્યાંથી મળેલ એષણીય આહાર કરીને તે સઘળા ફરી પાછા એક પછી એક વૈભારગિરીની સમીપ જ્યાં તેઓ ઉતર્યા હતા ત્યાં પહોંચવા માટે ચાલી નીકળ્યા તેમાંથી કુબેરસેન મુનિને માર્ગમાંજ રાત્રિ પડી જવાથી વૈભારગિરીની કંદરાની પાસે રોકાઈ ગયા બીજા કુબેરમિત્ર મુનિ રાત્રિ થવાથી બગીચામા રોકાઈ ગયા, એવી જ રીતે ત્રીજા કુબેરવલ્લભ મુનિ બગીચાની પાસે રોકાઈ ગયા, ચોથા કુબેરપ્રિયમુનિ રાત્રિ થઈ જવાથી રાજગૃહ નગરની પાસે જ રોકાઈ ગયા વૈભારગિરિ કંદરાના મુખ દ્વાર પાસે રોકાઈ ગયેલા, મુનિરાજે ઠંડીના સંપર્કથી અત્યંત શીતળ પર્વતીય વાયુના વેગથી કંપીત શરીર હોવા છતા પણ પોતાના મનને મેરૂ સમાન અડગ રાખી ઠંડીની પ્રબળતાનો સામનો કર્યો જેમ જેમ ઠંડીની અધિકતા વધતી ગઈ તે તે રૂપથી તેમનુ આત્મ

उद्यानस्थ तु नीचप्रदेशवर्तित्वात् द्वितीययामे प्रबलतर शीत बाधते स्म, तदा सोऽपि पूर्वोक्तमुनिवन्निश्चलेन मनसा शीतवेदनां सहमानः समाधिभावेन द्वितीय यामे कालगतोऽभवत्। एवमुद्यानसमीपस्थितस्तु तृतीययामे, एव नगरासन्नस्तु-

उनका आत्मिकबल भी अधिकर विकसित होता जाता था। जिस प्रकार कोई उत्तम वीर रणाङ्गण में वैरी का सामना करता है, उसी प्रकार ये भी उस शीत का डटकर सामना कर रहे थे। सद्भावना में जरा सी भी शिथिलता इन्हों ने नहीं आने दी। साम्हना करते २ ही वे मुनि समाधिभाव से कालधर्म को पाये १।

जो मुनिराज उद्यान में ठहरे हुए थे उन्हे शीत की वेदना ने द्विती यप्रहर में सताया। जिस प्रकार प्रथम मुनिराज ने शीत की वेदना सहन करने में निश्चलता धारण की, उसी प्रकार इन्हों ने भी उसके सहन करने में निश्चलता धारण की। अन्त में समाधिभाव से ये भी कालधर्म पा गये २।

जो मुनिराज उद्यान के समीप ठहरे हुए थे, उन्हें शीत की वेदना रात्रि के तृतीय प्रहर में सताने लगी, और नगर के पास ठहरे हुए मुनिराज को शीत वेदना ने रात्रि के चतुर्थ प्रहर में सताना शुरू किया। इस प्रकार ये दोनों मुनिराज भी शीतपरीषह को जीतते २ ही समाधि भाव से अन्त में कालधर्म को प्राप्त हुए ४। ये चारों के चारों ही अनुत्तर

બળ પણ અધિક રૂપથી વિકસતું જતું હતું જે રીતે કોઈ ઉત્તમ વીર રણાંગણમાં વૈરીનો સામનો કરે છે તેવા પ્રકારે મુનિ પણ ઠંડીનો એવી જ રીતે સામનો કરી રહ્યા હતા સદ્‌ભાવનામાં જરા પણ શિથીલતા તેમણે આવવા ન દીધી. સામનો કરતાં કરતાં તે મુનિ સમાધિ ભાવથી કાળ ધર્મ પામ્યા

જે મુનિ બગીચામાં રહ્યા હતા. તેમને ઠંડીની વેદના બીજા પ્રહરમાં થઈ. જે પ્રકારે પ્રથમ મુનિરાજે ઠંડીની વેદના સહન કરવામાં અડગતા ધારણ કરી તેવી જ રીતે આમણે પણ અડગતા દાખવી અને છેવટે સમાધીભાવથી કાળધર્મ પામ્યા

જે મુનિરાજ બગીચાની બહાર રોકાયા હતા તેમને ઠંડીની વેદના રાત્રીના ત્રીજા પહોરમાં થવા લાગી અને નગરની પાસે રોકાયેલા મુનિરાજને ઠંડીની વેદના ચોથા પહોરે સતાવવા લાગી. આ પ્રકારે આ બન્ને મુનિરાજ પણ ઠંડીના પરીષહને જીતતા જીતતાં સમાધી ભાવથી અંતે કાળધર્મને પામ્યા. આ રીતે

चतुर्थयामे । सर्वेऽप्येते विजितशीतपरीषहा. काल कृत्वाऽनुत्तरविमानेपु एकभवावतारित्वेन समुत्पन्ना । एवमन्यैरपि मुनिभिः शीतपरीषह' सोढव्यः ॥ ७ ॥

शीतकालानन्तर ग्रीष्मागमो भवतीत्यतः शीतपरीपहानन्तरमुष्णपरीषह जय प्राह—

मूलम्—उँसिणपरियावेण, पंरिदाहेण तंज्जिए ।
घिंसु वां परियावेण, सांय नो पंरिदेवए ॥ ८ ॥

छाया—उष्णपरितापेन, परिदाहेन तर्जितः ।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सात नो परिदेवयेत् ॥ ८ ॥

टीका—' उसिण० ' इत्यादि ।

ग्रीष्मे=उष्णकाले, यत्र हि—भास्कर किरणनिकरैर्दहन किरन्निव धरातलेऽङ्गारमकरमास्तृणन्निव जीवजात परितापयति, तरुगण परिशोपयति, शुष्कयति च ।

विमानों में एकभवावतारी रूप से उत्पन्न हुए । इसी प्रकार अन्य मुनियो को भी शीतवेदना के सहन करने में अपना पराक्रम फोडना चाहिये ॥७॥

शीतकाल के याद ही ग्रीष्मऋतु का आगमन होता है अत शीत परीषह को सहन करने के याद चौथा उष्णपरीषह भी मुनिराज को सहन करना चाहिये, यह यात इस नीचे की गाथा द्वारा सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—'उसिण०' इत्यादि ।

अन्वयार्थ-(घिंसु ग्रीष्मे) ग्रीष्मकाल में कि जिसमें सूर्य अपनी प्रखर किरणों के निकर से इस समस्त भूमण्डल पर प्रबल ताप की वर्षा किया करता है, समस्त जीव जिसमें मानों अग्नि तापसे जलते हों, वृक्षसमूह जिस में शुष्क जैसा हो जाता है। यिचारे प्यासे भोले मृगों के झुण्ड के

એ ચારે મુનિરાજ અનુત્તર વિમાનમા એકભવ અવતારી રૂપથી ઉત્પન્ન થયા આ પ્રકારે અન્ય મુનિયોએ પણ શીતવેદના સહન કરવામા પોતાનુ પરાક્રમ બતાવવું જોઈએ ॥૭॥

ઠંડીના વખત પછી ઉનાળાનો વખત આવે છે અહીં શીતપરીષહને સહન કર્યા પછી ચોથો ગરમીના પરીષહને પણ મુનિરાજે સહન કરવો જોઈએ એ વાત નીચેની ગાથાથી સૂત્રકાર પ્રગટ કરે છે.—"उसिण० ' ઈત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—घिंसु-ग्रीष्मे ગ્રીષ્મ કાળમા કે જ્યારે સૂર્ય પોતાનાં પ્રખર કિરણોથી સમસ્ત ભૂમંડળ ઉપર પ્રબળ તાપની વર્ષા વરસાવે છે સમસ્ત જીવ જેમાં અગ્નિના તાપની માફક બળતા હોય છે, વૃક્ષ સમૂહ શુષ્ક બની જાય છે

मृगतृष्णाभिरारचितजलतरङ्गमालाभिरिव प्रचलज्जलधारा विभ्रममुपगता मुग्धमृग यूथा पिपासया परितः प्रधावन्ति। मनुष्या खलु प्रायश्च प्रचण्डमार्तण्डकरनिकररसपर्कप्रखररजःकणोपेतवात्यापरिघट्टिताः प्रतप्तभूतलनिपतिताः पिपासयाऽऽसन्नमृत्यव इव भवन्ति। यत्र खलु वनस्थली पिपासानष्टविभ्रमद्भिर्विविधपशुपक्ष्यादिभिः परिशुष्कताल्वोष्ठरसनकण्ठैः समाकुला, नभस्तलं च नानाविध पत्रकाष्ठतृणकचवरोद्धूलनकरप्रतिकूलमारुतध्वनिसमाकुलं भवति। तस्मिन्नुष्णकाले, वा ग्रन्दन- शरदि वर्षासु वा, उष्णपरितापेन=उष्णम्-सूर्यकिरणसंयोगाचप्त-भूमिधूलिपाषाणा

झुण्ड जिसमें "यह जलधारा बह रही है" इस प्रकार भ्रमोत्पादक मृगतृष्णा से पागल जैसे बने हुए इधर उधर दौडने लगते हैं। जिस ऋतु में सूर्य की प्रचण्ड किरणों से धूप खूब पडती है जिससे रेती तप जाती है और लू चलने लगती है। सतप्त रजकण से मिश्रित उस लूके वेग से व्याकुल होकर मनुष्य भी उस तपी हुई भूमि पर गिर गिर कर प्यास के मारे मूर्छित हो आसन्नमृत्यु जैसे दिखाई देने लगते हैं। जिस ग्रीष्म काल में पिपासा के वश जिनके तालू ओष्ठ एव कंठ सूख रहे हैं गर्मी के मारे मुंह जिन के फटे हुए हैं और जीभ लटक रही है ऐसे पशु पक्षियों से अटवी व्याप्त हो जाती है। तथा जिसमें आकाश नानाविधपत्र, काष्ठ, तृण, कूडा-कचरा आदि को उडाने वाली प्रतिकूल वायु की सनसनाहट ध्वनि से व्याप्त हो जाता है ऐसे उष्णकाल में। (उसिणपरियावेणं-उष्णपरितापेन) उष्णपरिताप से-सूर्य किरणों के

તરસથી બીચારા ભોળાં હરણુનાં ટોળા 'આ જળધાર વહી રહી છે" આ પ્રકારના ભ્રમથી પાગલની માફક મૃગજળ રૂપી જળના આભાસ તરફ દોડતાં રહે છે જે ઋતુમાં સૂર્યના પ્રચડ કિરણોથી ખૂબ તાપ પડે છે જેનાથી રેતી તપે છે, અને લૂ ચાલવા લાગે છે, સતપ્ત રજકણથી મિશ્રીત તે લૂના વેગથી વ્યાકુળ બની મનુષ્ય પણ તે તપેલી ભૂમી ઉપર તરસના માર્યો પડી જઈ મૂર્છિત થઈ આસન્ન મૃત્યુ જેવા દેખાય છે જે ગ્રીષ્મકાળમા અટવીમાં પીપાસાને વશ જેનું તાળવું, હોઠ અને કઠ સુકાઈ જાય છે, ગરમીના માર્યો મોઢુ જેનું ફાટી રહે છે અને જીભ લટકી જાય છે એવા પશુ પક્ષિઓથી વ્યાપ્ત થઈ જાય છે તથા જેમા આકાશ જુદી જુદી જાતના પાંદડા, લાકડુ, ઘાસ, કચરા, પુંજા વગેરેને ઉડાવવાવાળા પ્રતિકૂળ વાયુના સુસવાટા કરતા ધ્વનિથી વ્યાપ્ત થઈ જાય છે એવા ઉષ્ણકાળમા "उसिण परियावेण-उष्णपरितापेन" ઉષ્ણ પરિતાપથી

दिक, तेन परिताप.–उष्णपरितापस्तेन तर्जित, अत्यत पीडित.सन्, तथा–परिदाहेन=सूर्यकिरणसतप्तवायुना 'लू' इति भाषाप्रसिद्धेन, दाहज्वरादिकृता न्तरिकतापेन वा, तर्जित, तथा परितापेन=सूर्यकिरणादिजनिततापेन-तर्जित, सात=सुख प्रति न परिदेवयेत्–हा! कदा मम चन्द्रचन्दनशीतलानिलादिभि सह सयोगो भविष्यति येन मम शान्ति स्यादिति ॥ ८॥

उपदेशान्तरमाह—

मूलम्–उण्हाहितत्तो मेहावी, सिणाण नो वि पत्थए ।
गाय नो परिसिंचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पय ॥९॥

छाया—उष्णाभितप्तः मेधावी, स्नान नो अपि प्रार्थयेत् ।
गात्र नो परिपिञ्चेत्, न वीजयेच्च आत्मानम् ॥९॥

सयोग से तप्त ऐसे जो भूमि, धूलि, एव पाषाण आदि हैं उनके द्वारा जो परिताप–कष्ट होता है उससे, तथा (परिदाहेण) सूर्य की किरणों द्वारा गर्म हुई वायु से–लूसे, अथवा दाहज्वर आदि से होने वाले आन्तरिक ताप से (परियावेण-परितापेन) एव सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुई अत्यत गर्मी से (तज्जिए-तर्जित) अतिशय पीडित साधु (साय नो परिदेवए–शात नो परिदेवयेत्) सुख की वाञ्छा न करे–हा! किस समय मुझे चन्द्र अथवा चंदन के समान शीतल पवनादि का सयोग मिलेगा कि जिस से मुझे शाति मिले। अर्थात्–साधु का कर्तव्य है कि वह हरएक अवस्था में उष्णपरीषह को जीते किन्तु इस से घबरावे नहीं ॥ ८॥

સંયોગથી તપેલ એવી જે ભૂમિ ધૂળ અને પાષાણવાળી છે તેના દ્વારા જે કષ્ટ થાય છે, એનાથી તથા "परिदाहेण" સૂર્યના કિરણો દ્વારા ગરમ થયેલા વાયુથી લૂથી, અથવા દાહજ્વર આદિથી થનાર આંતરિક તાપથી परियावेण-परितापेन અને સૂર્યના કિરણોથી ઉદ્‌ભવેલ અત્યંત ગરમીથી तज्जिए-तर्जित અતિશય પીડિત સાધુ "साय नो परिदेवए-शात नो परिदेवयेत् સુખની વાન્છના ન કરે–અને કયા સમયે ચંદ્ર અથવા ચંદનની જેવી શીતળ પવન આદિનો સંયોગ મળે કે જેથી મને શાન્તી થાય. અર્થાત્–સાધુનું કર્તવ્ય છે કે તે દરેક અવસ્થામાં ઉષ્ણ પરીષહને જીતે, પરંતુ તેનાથી ગભરાય નહી (૮)

टीका—' उण्हाहितत्तो ' इत्यादि ।

मेधावी=आगमोक्तमर्यादानुवर्ती मुनि , उष्णाभितप्तः=उष्णेन—उष्णस्पर्शेन, अभितप्तः—तापाकुल सन् स्नान नो प्रार्थयेत्=नैवाभिलषत् । अपि च गात्र—शरीर, नो परिषिञ्चेत्—न जलैरार्द्रीकुर्यात् । पन्पुनः आत्मान—स्वदेह न वीजयेत्= व्यजनादिना शरीरे वायु नोदीरयेत् ।

अय भावः—उष्णतप्तोऽपि मुनिर्जलावगाहनस्नानव्यजनवातादि वर्जयेत् , न च जलैर्गात्र सिञ्चेत् । आतपवारणाय स्वदेहोपरि रजोहरणादिना छायां न कुर्यात् । न चापि छत्रादिक धारयेत् । मनसाऽपि न प्रार्थयेत् किं तु उष्णपरीषहं सम्यक् सहेतेति ।

' उण्हाहि० ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(मेहावी—मेधावी) आगमोक्त मर्यादा का अनुसरण करने वाला मुनि (उण्हाहितत्तो—उष्णाभितप्तः) उष्णस्पर्श से सतप्त होता हुआ भी (सिणाण नो विपत्थए—स्नान नोऽपि प्रार्थयेत्) स्नान की अभिलाषा न करे । तथा (गाय नो परिसिंचेज्जा—गात्र नो परिषिंचेत्) अपने शरीर ऊपर पानी न छींटे तथा उसको गीला भी न करे और न गीले कपडे से ही पोंछे। तथा (अप्पयं न वीएज्जा—आत्मान न वीजयेत्) शरीर पर वीजना आदि से हवा भी न करे ।

इसका भाव यह है—उष्ण से संतप्त भी मुनि अचित्त जल का भी अवगाहन करना—उससे स्नान करना, वीजनादि से—पखा आदि से हवा करना इन समस्त शीतलोपचारकारक क्रियाओं का परित्याग कर देवे। अपने शरीर पर गर्मी की वेदना को शमन करने के लिए शीतल जल के

"उण्हाहि" ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—મેહાવી—મેધાવી આગમમાં કહેલ મર્યાદાનું અનુસરણ કરવાવાળા મુનિ उण्हाहितत्तो—उष्णाभितप्त ઉષ્ણ સ્પર્શથી સતપ્ત થવા છતાં પણ सिणाण नो विपत्थए—स्नाननोऽपि प्रार्थयेत् સ્નાનની અભિલાષા ન કરે गायं नो परिसिंचेज्जा—गात्रं नो परिषिंचेत् પોતાના શરીર ઉપર પાણી ન છાંટે તેમ એને ભીનું પણ ન કરે કે ન તો ભીના કપડાથી લુછે, તથા " अप्पयं न वीएज्जा "—आत्मान न वीजयेत् શરીર ઉપર વીંજણા વગેરેથી હવા પણ ન નાખે

આનો ભાવ એ છે—ઉષ્ણતાથી સતપ્ત બનેલ મુનિએ પાણીનો આશરો લેવો, એનાથી સ્નાન કરવું, પંખા આદિથી હવા ખાવી આ સમસ્ત શીતળ ઉપચાર કારક ક્રિયાઓનો પરિત્યાગ કરવો પોતાના શરીર ઉપર ગરમીની વેદનાનું શમન કરવા માટે શીતળ જળનો છાંટો પણ ન લેવો, આતપ વારણ

अत्र दृष्टान्तः—

आसीत् तगरानगर्या दत्तनामकः श्रेष्ठी । तस्य भद्राभार्यायामरहन्नक नामक पुत्रो जातः । एकदाऽसौ दत्तश्रेष्ठी भार्यापुत्राभ्यां सहार्हन्मित्राचार्यसंनिधौ धर्मदेशना निशम्य विरक्तः सन् प्रव्रज्यां गृहीतवान् । स दत्तमुनि स्नेहवशादरहन्नकं कदाचिदपि भिक्षार्थं न प्रेषयति, स्वयमेव भिक्षामानीय तं पोषयति, न च ते किमपि कार्यं कारयति, अतोऽसौ सुकुमारो जातः । अन्यदा कदाचित् तस्य पित

छींटे भी न दे, तथा आतप को वारण करने के लिये रजोहरणादिक से शरीर पर छाया भी न करे। छत्र-छाता-आदि को भी धारण न करे और न इस प्रकार की क्रियाओं को करने की भावना ही रखे। जैसे भी बने उष्णपरीषह को सहन करे।

दृष्टान्त—तगरा नाम की नगरी में दत्त नाम का एक सेठ रहता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम भद्रा था। भद्रा से एक पुत्र हुआ, जिसका नाम अरहन्नक था। एक समय सेठ ने अपने स्त्री पुत्र के साथ जाकर अर्हन्मित्र नामके किसी आचार्य के पास धर्म का उपदेश सुना। सुनकर वे संसार से विरक्त हो गये और स्त्रीपुत्रसहित उसने दीक्षा अंगीकार करली, पुत्र से प्रेम होने के कारण वे कभी भी अपने पुत्र को भिक्षा लाने के लिये नहीं भेजते थे, किन्तु स्वयं जाकर भिक्षा लाते और पुत्र को भी आहार कराते। पुत्र से कुछ भी कार्य नहीं कराते। इस तरह दत्तमुनि का वह पुत्ररूप शिष्य बहुत ही सुकुमार प्रकृति के

કરવા માટે રજોહરણાદિકથી શરીર ઉપર છાયા પણ ન કરવી, છત્ર-છત્રી વગેરે પણ ધારણ ન કરવાં અને આ પ્રકારની ક્રિયાઓ કરવાની ભાવના પણ ન રાખવી. જેમ બને તેમ ઉષ્ણપરીષહને સહન કરવા

દૃષ્ટાંત—તગરા નામની નગરીમાં દત્ત નામના એક શેઠ રહેતા હતા, તેની ધર્મપત્નિનું નામ ભદ્રા હતું ભદ્રાથી એક પુત્ર થયો જેનું નામ અરહન્નક હતું એક સમય શેઠે પોતાના સ્ત્રી પુત્રની સાથે અર્હન્મિત્ર નામના એક આચાર્ય પાસે ધર્મનો ઉપદેશ સાંભળ્યો એ ઉપદેશથી સંસારથી વિરક્તભાવ જાગ્યો અને સ્ત્રી પુત્ર સાથે તેણે દીક્ષા અંગિકાર કરી લીધી પુત્રથી પ્રેમ હોવાને કારણે કદી પણ પોતાના પુત્રને ભિક્ષા લાવવા માટે મોકલતા ન હતા પરંતુ પોતે જ જઈને ભિક્ષા લાવતા અને પુત્રને પણ આહાર કરાવતા. પુત્રથી કાંઈ પણ કાર્ય કરાવતા નહીં આ રીતે દત્ત મુનિના એ પુત્રરૂપ શિષ્ય ઘણી જ સુકુમાર પ્રકૃતિવાળા

दत्तमुनिर्मृत. तदनन्तरं साधुभिः प्रेरित सन्नरहन्नको ग्रीष्मकाले भिक्षार्थं गतः। स पूर्वमकृतश्रमोऽतीवसुकुमाराङ्ग सूर्यकिरणोत्तप्तरेणुनिकरण चरणतले, तपनांशुभिर्मस्तके च तापाभिभूतस्तृषाशुष्कण्ठोऽरहन्नक कस्यचित् श्रेष्ठिन. मोत्तुङ्गभवनस्य च्छायामाश्रित्य तिष्ठति ।

तदा त सुकुमार रूपसौन्दर्यं लावण्यगुणैर्मन्मथावतारं मुनिमरहन्नककुमार दृष्ट्वा काचित् प्रोषितभर्तृका वणिग्भार्या दास्या त समाहूय गृहमानयति । ततः सा तं पृच्छति–भवान् किं याचसे ? अरहन्नकः प्राह–भिक्षां याचे । तत' सा कामवशगता

धन गये । कालान्तर में दत्तमुनि का स्वर्गवास हो गया । अब क्या था–साधुओं से प्रेरित होकर वह एक समय भिक्षा लाने के लिये ग्रीष्म काल में गये । सुकुमार प्रकृति के तो थे ही, पिता के समय पहिले इन्हों ने कुछ परिश्रम भी नहीं किया था, अत उस ग्रीष्मकाल में सूर्य की प्रचण्ड किरणों से संतप्त भूमि पर चलने से उनके पैरों में छाले पड़ गये। माथा गरम हो गया । कंठ गर्मी के मारे सूख गया गर्मी की इनको अधिक वेदना हुई। पास में किसी एक सेठकी बहुत ऊँची हवेली थी सो वे गर्मी के मारे उसकी छाया में आकर ठहर गये। ठहरे हुए इन मुनि को एक प्रोपित भर्तृका–विरहिणी–स्त्री ने देखा। यह शारीरिक रूप, लावण्य एव सौन्दर्य से ऐसे मालूम पड़ते थे कि जैसे मानो साक्षात् देव ही हो। देखते ही सुकुमार इस अरहन्नक मुनि को उस विरहिणी वणिग्भार्या ने अपनी दासी द्वारा मकान ऊपर बुलवाया। मकान ऊपर पहुँचते

બની ગયા. કાલાન્તરે દત્તમુનિનો સ્વર્ગવાસ થયો આ પછી સાધુઓની પ્રેરણાથી પ્રેરિત બની તે સુકુમારમુનિ ગ્રીષ્મકાળમા ભિક્ષા લેવા માટે ગયા સુકુમાર પ્રકૃતિ તો હતી જ, પિતાની હાજરીમા તેણે જરા જેટલો પણ પરિશ્રમ કરેલ ન હતો આથી ગ્રીષ્મકાળમા સૂર્યના પ્રચંડ કિરણોથી સતપ્ત બનેલ ભૂમિ ઉપર ચાલવાથી એના પગમાં છાલા પડી ગયાં, માથુ ગરમ થઈ ગયુ, ગળુ ગરમીના કારણે સુકાઈ ગયુ, ગરમીની એને અધિક વેદના થઈ, પાસે જ કોઈ એક શેઠની ઘણી જ ઉચી હવેલી હતી–આથી તે એ હવેલીની છાયામાં જઈને ઉભા રહ્યા ઉભેલા મુનિને જોઈ એક વિરહણી સ્રીનુ એ તરફ લક્ષ ખેચાયુ એ શારીરિક રૂપ, લાવણ્ય અને સૌદર્યથી તેની દ્રષ્ટિએ દેવ તુલ્ય દેખાયા આ અરહન્નક સુકુમાર મુનિને જોઈ ને તે વિરહિણી વણિક સ્રીએ પોતાની દાસી મારફત મકાન ઉપર બોલાવ્યા મકાન ઉપર પહોંચતાં જ મુનિ અરહન્નકને તેણે

त मलोभ्य स्वभवने स्थापितवती। अथ तन्माता भद्रासाध्वी मुनीनां निवासस्थाने वन्दनार्थमागता। सा तत्र तमपश्यन्ती अर्हन्मित्राचार्यमपृच्छत्-भदन्त! अरहन्नकमुनि' क्व वर्तते? अर्हन्मित्राचार्य. माह-अरहन्नको भिक्षार्थं गत, किं तु न पुनः परावृत्त., अतस्तमन्वेषयन्ति मुनय, इति तदनुपलब्धिवचनं वज्राघातमिवकठोर श्रुत्वा व्याकुला सती भद्रा साध्वी पुत्रमोहेन अरे अरहन्नक! अरे अरहन्नक! इत्युच्चैर्विलपन्ती नयननि'स्रवदश्रुधारा पातयन्ती मोहेन पदे पदे प्रस्खलन्ती प्रति-

ही मुनि अरहन्नक से उसने पूछा आप क्या चाहते हैं? अरहन्नक ने कहा भिक्षा चाहता हूं। काम के वशगत हुई उस स्त्री ने भिक्षा का लोभ देकर अरहन्नक मुनि को अपने घर पर ठहरा लिया। उधर अरहन्नक मुनि की माता भद्रा साध्वी मुनियों को वन्दना करने के लिये आई। अरहन्नक मुनि को ज्यों ही वहा साध्वी ने नहीं देखा त्यों ही वह अर्हन्मित्रा चार्य को पूछने लगी कि भदन्त! अरहन्नक मुनि कहा हैं। आचार्य महाराज ने कहा कि वे भिक्षा लेने के लिये बाहर गये थे, परन्तु अभी-तक वापिस नहीं आये हैं अत अन्यमुनिजन उनकी तलाश कर रहे हैं। माता भद्रा साध्वी ने ज्यों ही यह बात सुनी त्यों ही उसके हृदय में वज्र के आघात जैसा एक कठोर आघात हुआ और उसी समय उस का चित्त विक्षिप्त-हो गया। वह पुत्र के मोह से बहुत ही आकुल-व्याकुल होने लगी, और अपने आप बड़-बड़ाने लगी-अरे अरहन्नक! तू इस समय कहा है, कह तो सही। इस प्रकार ऊँचे स्वर से विलाप करती और आखों से आंसुओं की धारा बहाती हुई वह स्थान स्थान पर

પૂછ્યુ આપ શું ઇચ્છો છો? અરહન્નકે કહ્યુ કે, હું ભિક્ષા ચાહુ છુ કામને વશ બનેલ તે સ્ત્રીએ ભિક્ષાનો લોભ આપીને અરહન્નક મુનિને પોતાને ઘેર રોકી લીધા અહિ અર્હન્નક મુનિની માતા ભદ્રા સાધ્વી મુનિઓને વંદણા કરવા આવી. અરહન્નક મુનિને જ્યારે તે સાધ્વીએ ત્યા ન જોયા ત્યારે આચાર્યને પૂછ્યુ કે, ' હે ભદંત! અરહન્નક મુનિ કયાં છે? આચાર્ય મહારાજે કહ્યુ કે, ભિક્ષા લેવા માટે તેઓ બહાર ગયા છે, પરંતુ હજુ સુધી પાછા ફરેલ નથી. જેથી અન્ય મુનિજન તેની તપાસ કરી રહેલ છે માતા ભદ્રા સાધ્વીએ જ્યારે આ વાત સાભળી ત્યારે તેના હૃદયમા વજ્રના ઘા જેવો એક આઘાત થયો અને એ વખતે એનુ ચિત્ત વ્યાકુળ બની ગયુ તે પુત્રના મોહથી ઘણા આકુળ વ્યાકુળ થવા લાગ્યાં, અને પોતાના મનમાંજ બડબડવા લાગ્યા કે, અરે અરહન્નક! તુ આ સમયે કયા છો, કહે તો ખરા આ પ્રકારે ઉચા સ્વરથી વિલાપ કરતા અને આખોથી અશ્રુધારા વહાવતાં, તે

स्थल भ्राम्यति, सा यत्र यत्र गच्छति तत्र तत्र पुन' पुनर्लोकान् पृच्छति–मम माणवल्लभः पुत्रोऽरहन्नक' क्वापि दृष्टो भवद्भि'? । इत्येव पृच्छन्ती रुदती यं कमपि दृष्टवती, त प्रति–अयमरहन्नक इति मत्वा हर्षमुद्वहन्ती, पुनस्तमनालोक्य रुदती विलपन्ती एकदा यत्रारहन्नक आसीत् तद्भवनसमीप समागता । तदा गवाक्षवर्तिनाऽरहन्नकेन तादृशावस्थापन्ना माता दृष्टा, सजातात्यन्तसवेग' स गवाक्षादुत्तीर्य चरणयोः पतित्वा मातरमेवमाह–हे मात ! सोऽहमरहन्नकः । इति तद्वचनं श्रुत्वा माता स्वस्थमानसा जाता, तदनु सा पुत्र माह–वत्स ! भव्यकुलोत्पन्नस्य तव कथमीदृशी

गिरती पडती इधर उधर घूमने लगी । जहा जहा वह जाती वहां २ पूछती कि हे महानुभावो ! कहो तो सही तुम लोगों ने मेरे पुत्र अरहन्नक को कहीं देखा भी है? । इस प्रकार पूछती, विलाप करती, रोती हुई वह भद्रा साध्वी जिस किसी को भी देखती हर्ष के भावावेश में आकर कहने लगती 'यह रहा मेरा अरहन्नक'। परन्तु जब उसमें उसे अरहन्नक दिखाई नहीं पडता तो पुनः रोने लगती । इस प्रकार अत्यत विह्वल बनी हुई एक दिन वह वहां पहुंची जिस मकान में स्वय अरहन्नक थे। जब वह वहां पहुंची थी उस समय अरहन्नक उस मकान की खीडकी में बैठे हुए थे। उसने रोती हुई अपनी माता को ज्यों ही देखा त्यों ही उसे संवेग के भाव अतिशय रीति से जागृत हो उठे। वह इकदम झरोखे से नीचे उतर कर माता के दोनों चरणों में पड़ गये और बोला कि हे मात मैं अरहन्नक हू । इस प्रकार उनके वचन को सुनकर माता का चित्त शान्त हो गया और बोली–वत्स ! तुम तो कुलवान् हो जातिमान हो फिर तुम्हारी

સ્થળે સ્થળે અથડાતાં અહિં તહિં ફરવા લાગ્યાં. જે તે સ્થળે તે જઈ પૂછતાં કે હે મહાનુભાવો ! કહો તો ખરા તમોએ મારા પુત્ર અરહન્નકને કયાંઈ દેખ્યો છે? આ પ્રકારે પૂછતાં અને વિલાપ કરતાં અને રોતાં તે ભદ્રા સાધ્વી જ્યારે કોઈ ને જુએ તો હર્ષના ભાવાવેષમાં આવીને કહેવા લાગતા કે આ રહ્યો મારો અરહન્નક ! પરંતુ જ્યારે તેને અરહન્નક ન દેખાતો ત્યારે તે ફરીથી રોવા લાગતાં આ પ્રકારે અત્યત વિહ્વળ બની એક દિવસે તે એ મકાન ઉપર પહોંચ્યાં કે જ્યાં અરહન્નક હતો. જ્યારે તે ત્યા પહોંચ્યાં તે વખતે અરહન્નક તે મકાનની એક બારીમાં બેઠેલ હતો. તેણે પોતાની માતાને રોતી જોઈ ત્યારે તેનામાં સવેગનો ભાવ અતિશય જાગૃત થયો. તે એકદમ ઝરૂખેથી નીચે ઉતરીને માતાના ચરણોમાં પડી ગયો અને બોલ્યો કે હે માતા ! હું અરહન્નક છું આ પ્રકારનાં તેનાં વચન સાંભળીને માતાનું ચિત્ત શાન્ત બની ગયું અને બોલી, વત્સ !

दशा ? सोऽवदत्—हे मातश्चारित्रं पालयितुमसमर्थोऽस्मि । सा प्राह—तर्हि अनशनं कुरु । यतः—

वरं पवेसो जलिए हुयासणे,
न यावि भग्गं चिरसचिय वयं ।
वरं हि मच्चू सुविसुद्धकम्मओ,
न यावि सीलक्खलियस्स जीवणं ॥ १ ॥

छाया—वरं प्रवेशो ज्वलिते हुताशने,
न चापि भग्नं चिरसंचितं व्रतम् ।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धकर्मतो,
न चापि शीलस्खलितस्य जीवनम् ॥ १ ॥

सुविशुद्धकर्मतः—निरवद्यक्रियाऽऽचरणतः, मृत्युः=मरणं, वरं=श्रेयः, न तु शीलस्खलितस्य=चरित्रपतितस्य जीवनम् । अन्यत् सुगमम् ।

ऐसी दशा क्यों हुई ?। अरहन्नक बोले—मात ! इस दशा के होने का कारण चारित्र को पालन करने की असमर्थता है। माता बोली—यदि तुम चरित्र पार करने के लिये असमर्थ हो तो अनशन करो। जैसे कहा है—

"वरं पवेसो जलिए हुयासणे,
न यावि भग्गं चिरसचियं वयं ।
वरं हि मच्चू सुविसुद्धकम्मओ,
न यावि सीलक्खलियस्स जीवणं ॥ १ ॥"

धधकती हुई अग्नि में प्रवेश करना तो ठीक है परन्तु चिरसंचित व्रत का भग करना ठीक नहीं है। सुविशुद्ध कर्म—शील आराधन करते

તમે તો કુળવાન છો, જાતિવાન છો, છતાં તમારી આવી દશા કેમ થઈ? અરહન્નકે કહ્યું, માતા ! આ દશા થવાનું કારણ ચારિત્ર પાલન કરવાની અસમર્થતા છે માતાએ કહ્યું, જો તમે ચારિત્ર પાલન કરવા માટે અસમર્થ છો તો અનશન કરો જેમ કહ્યું છે—

"वरं पवेसो जलिए हुयासणे,
न यावि भग्गं चिरसंचियं वयं ।
वरं हि मच्चू सुविसुद्धकम्मओ,
नयावि सीलक्खलियस्स जीवणं ॥ १ ॥"

ભભકતી એવી અગ્નિમાં પ્રવેશ કરવો ઠીક છે, પરંતુ ચિરસંચિત વ્રતનો ભંગ કરવો ઠીક નથી. સુવિશુદ્ધ કર્મશીલ આરાધના કરતા કરતાં મૃત્યુ થવું ઠીક છે,

एत्र मातृवचः श्रुत्वा स सजातवैराग्य. सर्वसावद्ययोग प्रत्याख्याय पुनः संयमं गृहीतवान्। तत उत्कृष्टाचारेण ग्रामानुग्रामं विहरन् उष्णपरीपहं सहमानः क्वचित् पाषाणमयमदेश प्राप्य चिन्तयति–'प्रदेशोऽयं प्रचण्डमार्तण्डकिरणसयोगाद् बहि ग्रतप्त, उष्णतरश्च वायु प्रवहति, अत्र पदमपि गन्तुमसमर्थोऽस्मि,' एव विचिन्त्य परित प्रतप्तभूमीतल विलोक्य परीपहोऽय मया सोढव्य इत्यवधार्य तप्तशिलोपरि

करते मृत्यु होना ठीक है, परन्तु शील से स्खलित व्यक्ति का जीवन ठीक नहीं है। निरवद्य क्रिया का नाम सुविशुद्धकर्म एव चारित्र से पतित होने का नाम शील से स्खलित होना है।

इस प्रकार जननी के वचन सुनकर उसका सुप्त वैराग्य जग उठा, पश्चात् उसने सर्वसावद्य योग का प्रत्याख्यान कर पुनः सयम लिया। माता के वचन से उद्बोधित होकर उसने फिर उत्कृष्ट चारित्र का आराधन किया और चारित्र की आराधनापूर्वक ही ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उष्णपरीपह को सहन किया। एक समय की बात है कि ये विहार करते २ ऐसे प्रदेश में पहुँचे कि जहाँ पत्थरों की बहुलता थी। वहा पहुँच कर उन्होंने विचार किया कि यह प्रदेश सूर्य की किरणों से अधिक संतप्त बना हुआ है। यह तो ऐसा तप रहा है कि जैसे मानों अग्नि ही जल रही हो। वायु भी इतनी गर्म चल रही है कि जिससे एक पैर भी सुखपूर्वक चला नहीं जा सकता है। इस प्रकार विचार करते हुए अरहन्नक मुनि ने अपने आसपास की समस्त भूमि को

પરતુ શીલથી સ્ખલિત થયેલ વ્યક્તિનુ જીવન ઠીક નથી નિરવદ્ય ક્રિયાનુ નામ સુવિશુદ્ધ કર્મ, ચારિત્રથી પતિત થવાનુ નામ શીલથી સ્ખલિત બનવું તે

આ પ્રકારના માતાનાં વચન સાંભળીને તેનો સુતેલો વૈરાગ્ય જાગી ઉઠયો અને તેણે સર્વ સાવદ્ય યોગનુ પ્રત્યાખ્યાન કરી પુન સયમને ધારણ કર્યો. માતાના વચનથી ઉદ્બોધિત બની તેણે પછી ઉત્કૃષ્ટ ચારિત્રનુ આરાધન કર્યું અને ચારિત્રની આરાધના પૂર્વક જ ગ્રામાનુગ્રામ વિહાર કરીને ઉષ્ણ પરીષહને સહન કર્યો એક સમયે એ વિહાર કરતા કરતા એવા પ્રદેશમા પહોંચી ગયા કે, જ્યાં પત્થરાઓ મોટા પ્રમાણમાં હતા ત્યાં પહોચીને તેઓએ વિચાર કર્યો કે, આ પ્રદેશ સૂર્યના કિરણોથી અધિક સતપ્ત બનેલો છે આ તો એવા તપી રહ્યા છે કે જાણે અગ્નિ જ સળગી રહી છે વાયુ પણ એટલી જ રીતે ગરમ ફુકાઈ રહેલ છે આથી એક ડગલું પણ સુખપૂર્વક ચાલી શકાઈ નથી. આ પ્રકારનો વિચાર કરતા કરતાં અરહન્નક મુનિએ પોતાની આસપાસની

समुपविशति । तत्र-प्रत्याख्याताष्टादशपाप कृतदुष्कृतगर्ह क्षामितसकलसत्त्व. स्वीकृतचतुर्विधशरण , परित्यक्तसर्वसग' पुन पुन. कृतपचनमस्कारोऽनशन कृत्वा समाधिभावसम्पन्न पादपोपगमनेन मुहूर्तमात्रेण सुकुमारशरीरो नवनीतपिण्डइवोष्णेन विलीन सौधर्म सुरलोक गत , एव मुनिभिरुष्णपरीपह सोढव्य ॥९॥

ग्रीष्मकालान्तर वर्षाकाले दशमशकादिकृतपीडा प्राप्तेन साधुना तत्परीषहः सोढव्य इत्याह—

मूलम्—पुंट्ठो ये दंसमसएंहिं, संम रेत्रें महांमुणी ।
नांगो संगांमसीसे वां, सूरो अभिहंणे पर ॥१०॥

छाया—स्पृष्टश्च दशमशकै. सम एव महामुनि. ।
नाग सग्रामशीर्षे वा, शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥ १० ॥

अत्यत उष्ण देखा और पुन. विचार करने लगे कि यह उष्णपरीपह मुझे साधु के नाते अवश्य सहन करना चाहिये, ऐसा निश्चित कर वह एक तप्त शिला के ऊपर बैठ गये। वहा उन्होंने १८ पापस्थानों का प्रत्याख्यान किया, अपने दुष्कृतों की गर्हा की, समस्त जीवों से खमत खामणा किया। चार प्रकार के शरणों को स्वीकार किया, समस्त ममता का त्याग किया, एव पचपरमेष्ठी को वार वार नमस्कार किया। पश्चात् अनशन धारण कर समाधिभाव से युक्त अरहन्नक मुनि ने पादपोपगमन संथारा किया। एक मुहूर्तमात्र में ही उनका सुकुमार शरीर मक्खन के पिंड की तरह गर्मी से विलीन हो गया और वे मर कर सुधर्मदेवलोक में देव हुए। इसी तरह अन्य मुनि जनों को भी उष्णपरीषह सहन करना चाहिये ॥ ९ ॥

સમસ્ત ભૂમીને અત્યત ઉષ્ણ જોઈ અને પાછા વિચાર કરવા લાગ્યા કે ઉષ્ણ પરીષહ મારે સાધુના ધર્મથી અવશ્ય સહન કરવો જોઈએ એવો નિશ્ચય કરી એક તપેલી શીલા ઉપર બેસી ગયા જ્યા તેઓએ ૧૮ પાપસ્થાનોનુ પ્રત્યાખ્યાન કર્યું, પોતાના દુષ્કૃત્યોની માફી માગી, સમસ્ત જીવોથી ખમત ખામણા લીધાં, ચાર પ્રકારના શરણનો સ્વીકાર કર્યો અને સમસ્ત મમતાનો ત્યાગ કર્યો તેમજ પચપરમેષ્ટીને વાર વાર નમસ્કાર કરવા લાગ્યા પછી અનશન ધારણ કરી સમાધિ ભાવથી યુક્ત અરહન્નક મુનિએ પાદપોપગમન સથારો કર્યો. એક મુહૂર્ત માત્રમા જ તેમનું સુકુમાર શરીર માખણના પીંડની માફક ગરમીથી ઓગળી ગયુ અને તે મરીને સુધર્મ દેવલોકમાં દેવ થયા આ રીતે અન્ય મુનિજનોએ પણ ઉષ્ણપરીષહ સહન કરવો જોઈએ. ॥ ૯ ॥

एव मातृवचः श्रुत्वा स सजातवैराग्य' सर्वसावद्ययोग प्रत्याख्याय पुनः संयमं गृहीतवान्। तत उत्कृष्टाचारण ग्रामानुग्राम विहरन् उष्णपरीषह सहमान. क्वचित् पाषाणमयप्रदेशं प्राप्य चिन्तयति–' प्रदेशोऽय प्रचण्डमार्चण्डकिरणसयोगाद् वह्नि-वत्सतप्त, उष्णतरश्च वायु प्रवहति, अत्र पदमपि गन्तुमसमर्थोऽस्मि,' एव विचिन्त्य परित प्रतप्तभूमीतल विलोक्य परीषहोऽय मया सोढव्य इत्यरथार्य तप्तशिलोपरि

करते मृत्यु होना ठीक है, परन्तु शील से स्खलित व्यक्ति का जीवन ठीक नहीं है। निरवद्य क्रिया का नाम सुविशुद्धकर्म एव चारित्र से पतित होने का नाम शील से स्खलित होना है।

इस प्रकार जननी के वचन सुनकर उसका सुप्त वैराग्य जग उठा, पश्चात् उसने सर्वसावद्य योग का प्रत्याख्यान कर पुन सयम लिया। माता के वचन से उद्बोधित होकर उसने फिर उत्कृष्ट चारित्र का आराधन किया और चारित्र की आराधनापूर्वक ही ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उष्णपरीषह को सहन किया। एक समय की बात है कि ये विहार करते २ ऐसे प्रदेश में पहुँचे कि जहाँ पत्थरों की बहुलता थी। वहां पहुँच कर उन्होंने विचार किया कि यह प्रदेश सूर्य की किरणों से अधिक संतप्त बना हुआ है। यह तो ऐसा तप रहा है कि जैसे मानों अग्नि ही जल रही हो। वायु भी इतनी गर्म चल रही है कि जिससे एक पैर भी सुखपूर्वक चला नहीं जा सकता है। इस प्रकार विचार करते हुए अरहन्नक मुनि ने अपने आसपास की समस्त भूमि को

પરંતુ શીલથી સ્ખલિત થયેલ વ્યક્તિનું જીવન ઠીક નથી નિરવદ્ય ક્રિયાનું નામ સુવિશુદ્ધ કર્મ, ચારિત્રથી પતિત થવાનું નામ શીલથી સ્ખલિત બનવું તે

આ પ્રકારનાં માતાના વચન સાંભળીને તેનો સુતેલો વૈરાગ્ય જાગી ઉઠયો અને તેણે સર્વ સાવદ્ય યોગનું પ્રત્યાખ્યાન કરી પુન સંયમને ધારણ કર્યો. માતાના વચનથી ઉદ્બોધિત બની તેણે પછી ઉત્કૃષ્ટ ચારિત્રનું આરાધન કર્યું અને ચારિત્રની આરાધના પૂર્વક જ ગ્રામાનુગ્રામ વિહાર કરીને ઉષ્ણ પરીષહને સહન કર્યો એક સમયે એ વિહાર કરતાં કરતાં એવા પ્રદેશમાં પહોંચી ગયા કે, જ્યાં પત્થરાઓ મોટા પ્રમાણમાં હતા ત્યાં પહોંચીને તેઓએ વિચાર કર્યો કે, આ પ્રદેશ સૂર્યના કિરણોથી અધિક સંતપ્ત બનેલો છે આ તો એવા તપી રહ્યા છે કે જાણે અગ્નિ જ સળગી રહી છે વાયુ પણ એટલી જ રીતે ગરમ ફુંકાઈ રહેલ છે આથી એક ડગલું પણ સુખપૂર્વક ચાલી શકાતું નથી. આ પ્રકારનો વિચાર કરતાં કરતા અરહન્નક મુનિએ પોતાની આસપાસની

समुपविशति । तत्र-प्रत्याख्याताष्टादशपाप कृतदुष्कृतगर्ह' क्षामितसकलसत्त्वः स्वीकृतचतुर्विधशरण , परित्यक्तसर्वसग, पुन पुन कृतपचनमस्कारोऽनशन कृत्वा समाधिभावसम्पन्न पादपोपगमनेन मुहूर्तमात्रेण सुकुमारशरीरो नवनीतपिण्डइवोष्णेन विलीन सौधर्मं सुरलोक गत , एव मुनिभिरुष्णपरीषह सोढव्य' ॥९॥

ग्रीष्मकालान्तर वर्षाकाले दशमशकादिकृतपीडा प्राप्तेन साधुना तत्परीषहः सोढव्यः इत्याह—

मूलम्—पुंट्ठो यं दसंमसएहिं, संम रेवं महामुणी ।
नागो संगामसीसे वां, सूरो अभिहंणे 'पंर ॥१०॥

छाया—स्पृष्टश्च दशमशकैः सम एव महामुनि' ।
नाग, समामशीर्षे वा, शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥ १० ॥

अत्यत उष्ण देखा और पुन विचार करने लगे कि यह उष्णपरीषह मुझे साधु के नाते अवश्य सहन करना चाहिये, ऐसा निश्चित कर वह एक तप्त शिला के ऊपर बैठ गये। वहा उन्होंने १८ पापस्थानों का प्रत्याख्यान किया, अपने दुष्कृतों की गर्हा की, समस्त जीवों से खमत खामणा किया। चार प्रकार के शरणों को स्वीकार किया, समस्त ममता का त्याग किया, एव पचपरमेष्ठी को बार बार नमस्कार किया। पश्चात् अनशन धारण कर समाधिभाव से युक्त अरहन्नक मुनि ने पादपोपगमन सथारा किया। एक मुहूर्तमात्र में ही उनका सुकुमार शरीर मक्खन के पिंड की तरह गर्मी से विलीन हो गया और वे मर कर सुधर्मदेवलोक में देव हुए। इसी तरह अन्य मुनि जनों को भी उष्णपरीषह सहन करना चाहिये ॥ ९ ॥

સમસ્ત ભૂમીને અત્યત ઉષ્ણ જોઈ અને પાછા વિચાર કરવા લાગ્યા કે ઉષ્ણ પરીષહ મારે સાધુના ધર્મથી અવશ્ય સહન કરવો જોઈએ. એવો નિશ્ચય કરી એક તપેલી શીલા ઉપર બેસી ગયા જ્યા તેઓએ ૧૮ પાપસ્થાનોનુ પ્રત્યાખ્યાન કર્યું, પોતાના દુષ્કૃત્યોની માફી માગી, સમસ્ત જીવોથી ખમત ખામણા લીધા, ચાર પ્રકારના શરણુને સ્વીકાર કર્યો અને સમસ્ત મમતાનો ત્યાગ કર્યો તેમજ પ ચપરમેષ્ટીને વાર વાર નમસ્કાર કરવા લાગ્યા પછી અનશન ધારણ કરી સમાધિ ભાવથી યુક્ત અરહન્નક મુનિએ પાદપોપગમન સ થારો કર્યો એક મુહૂર્ત માત્રમા જ તેમનુ સુકુમાર શરીર માખણના પીંડની માફક ગરમીથી ઓગળી ગયુ અને તે મરીને સુધર્મ દેવલોકમાં દેવ થયા આ રીતે અન્ય મુનિજનોએ પણ ઉષ્ણપરીષહ સહન કરવો જોઈ એ. ॥ ૯ ॥

एवं मातृवचः श्रुत्वा स सजातवैराग्य. सर्वसावद्ययोग प्रत्याख्याय पुनः संयमं गृहीतवान्। तत उत्कृष्टाचारेण ग्रामानुग्रामं विहरन् उष्णपरीषह सहमान. क्वचित् पाषाणमयप्रदेशं प्राप्य चिन्तयति–' प्रदेशोऽयं प्रचण्डमार्त्तण्डकिरणसयोगाद् वह्नि वत्सतप्त, उष्णतरश्च वायु प्रवहति, अत्र पदमपि गन्तुमसमर्थोऽस्मि,' एव विचिन्त्य परित प्रतप्तभूमीतल विलोक्य परीषहोऽय मया सोढव्य इत्यवधार्य वस्त्रशिलोपरि

करते मृत्यु होना ठीक है, परन्तु शील से स्खलित व्यक्ति का जीवन ठीक नहीं है। निरवद्य क्रिया का नाम सुविशुद्धकर्म एव चारित्र से पतित होने का नाम शील से स्खलित होना है।

इस प्रकार जननी के वचन सुनकर उसका सुप्त वैराग्य जग उठा, पश्चात् उसने सर्वसावद्य योग का प्रत्याख्यान कर पुन सयम लिया। माता के वचन से उद्बोधित होकर उसने फिर उत्कृष्ट चरित्र का आराधन किया और चारित्र की आराधनापूर्वक ही ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उष्णपरीषह को सहन किया। एक समय की बात है कि वे विहार करते २ ऐसे प्रदेश में पहुँचे कि जहाँ पत्थरों की बहुलता थी। वहां पहुँच कर उन्होंने विचार किया कि यह प्रदेश सूर्य की किरणों से अधिक संतप्त बना हुआ है। यह तो ऐसा तप रहा है कि जैसे मानों अग्नि ही जल रही हो। वायु भी इतनी गर्म चल रही है कि जिससे एक पैर भी सुखपूर्वक चला नहीं जा सकता है। इस प्रकार विचार करते हुए अरहन्नक मुनि ने अपने आसपास की समस्त भूमि को

परंतु शीलथी स्खलित थयेल व्यक्तिनु जीवन ठीक नथी निरवद्य क्रियानु नाम सुविशुद्ध कर्म, चारित्रथी पतित थवानु नाम शीलथी स्खलित बनवु ते

आ प्रकारना मातानां वचन सांभळीने तेनो सुतेलो वैराग्य जागी उठ्यो. अने तेणे सर्व सावद्य योगनु प्रत्याख्यान करी पुन सयमने धारण कर्यो मातानां वचनथी उद्बोधित बनी तेणे पछी उत्कृष्ट चारित्रनु आराधन कर्यु अने चारित्रनी आराधना पूर्वक ज ग्रामनुग्राम विहार करीने उष्ण परीषहने सहन कर्यो. एक समये ते विहार करतां करता एवा प्रदेशमा पहोंची गया के, ज्यां पत्थराओ मोटा प्रमाणमां हता त्यां पहोंचीने तेओए विचार कर्यो के, आ प्रदेश सूयना किरणोथी अधिक सतप्त बनेलो छे आ तो एवा तपी रह्या छे के जाणे अग्नि ज सळगी रही छे वायु पण एटली ज रीते गरम फुंकाई रहेल छे आथी एक डगलु पण सुखपूर्वक चाली शकातु नथी. आ प्रकारनो विचार करतां करतां अरहन्नक मुनिये पोतानी आसपासनी

समुपविशति। तत्र-प्रत्याख्याताष्टादशपाप कृतदुष्कृतगर्हं क्षामितसकलसत्त्व, स्वीकृतचतुर्विधशरण', परित्यक्तसर्वसग पुन पुन कृतपचनमस्कारोऽनशन कृत्वा समाधिभावसम्पन्न पादपोपगमनेन मुहूर्तमात्रेण सुकुमारशरीरो नवनीतपिण्डइवोष्णेन विलीन सौधर्म सुरलोक गत, एव मुनिभिरुष्णपरीषह सोढव्य ॥९॥

ग्रीष्मकालान्तर वर्षाकाले दंशमशकादिकृतपीडा प्राप्तेन साधुना तत्परीषह' सोढव्य, इत्याह—

मूलम्—पुट्ठो य दंसमसएहिं, सम रेवं महामुणी ।
नागो सगांमसीसे वा, सूरो अभिहंणे 'पर ॥१०॥

छाया—स्पृष्टश्च दशमशकै' सम एव महामुनिः ।
नाग, समामशीर्षे वा, शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥ १० ॥

अत्यत उष्ण देखा और पुन विचार करने लगे कि यह उष्णपरीषह मुझे साधु के नाते अवश्य सहन करना चाहिये, ऐसा निश्चित कर वह एक तप्त शिला के ऊपर बैठ गये। वहा उन्होंने १८ पापस्थानों का प्रत्याख्यान किया, अपने दुष्कृतों की गर्हा की, समस्त जीवों से खमत खामणा किया। चार प्रकार के शरणों को स्वीकार किया, समस्त ममता का त्याग किया, एव पचपरमेष्ठी को बार बार नमस्कार किया। पश्चात् अनशन धारण कर समाधिभाव से युक्त अरहन्नक मुनि ने पादपोपगमन सथारा किया। एक मुहूर्तमात्र में ही उनका सुकुमार शरीर मक्खन के पिंड की तरह गर्मी से विलीन हो गया और वे मर कर सुधर्मदेवलोक में देव हुए। इसी तरह अन्य मुनि जनों को भी उष्णपरीषह सहन करना चाहिये ॥ ९ ॥

સમસ્ત ભૂમીને અત્યત ઉષ્ણ જોઈ અને પાછા વિચાર કરવા લાગ્યા કે ઉષ્ણ પરીષહ મારે સાધુના ધર્મથી અવશ્ય સહન કરવો જોઈએ. એવો નિશ્ચય કરી એક તપેલી શીલા ઉપર બેસી ગયા ત્યા તેઓએ ૧૮ પાપસ્થાનોનુ પ્રત્યાખ્યાન કર્યુ, પોતાના દુષ્કૃત્યોની માફી માગી, સમસ્ત જીવોથી ખમત ખામણા લીધાં, ચાર પ્રકારના શરણનો સ્વીકાર કર્યો અને સમસ્ત મમતાનો ત્યાગ કર્યો તેમજ પચપરમેષ્ટીને વાર વાર નમસ્કાર કરવા લાગ્યા પછી અનશન ધારણ કરી સમાધિ ભાવથી યુક્ત અરહન્નક મુનિએ પાદપોપગમન સથારો કર્યો. એક મુહૂર્ત માત્રમા જ તેમનુ સુકુમાર શરીર માખણના પીંડની માફક ગરમીથી ઓગળી ગયુ અને તે મરીને સુધર્મ દેવલોકમા દેવ થયા આ રીતે અન્ય મુનિજનોએ પણ ઉષ્ણપરીષહ સહન કરવો જોઈએ ॥ ૯ ॥

टीका—' पुट्ठो य ' इत्यादि ।

च=अपर च सम एव=उपकार्यपकारिषु तुल्यभावधारकः, महामुनिः=उग्रतपश्चरणशीलः दंशमशकैः, इदमुपलक्षणम्, तेन मत्कुणयूकादिभिरपि स्पृष्टः—पीडितः सन्, सग्रामशिरसि=रणमस्तके, शूरः=पराक्रमी, नागो वा=हस्तीव परं=शत्रुं—रागद्वेषलक्षण भावशत्रुम्, अभिहन्यात्=पराजयेत् । ' समरेव ' इत्यत्रार्षत्वाद्रेफः ।

अय भावः—यथा—शूरः=करी शराघातैर्व्यथितोऽपि रणे शत्रु जयति, तद्वत् साधुरपि दंशमशकादिभिः पीड्यमानोऽपि कषाय शत्रु जयेदिति ॥ १० ॥

ग्रीष्म काल के याद वर्षा काल आता है, उसमें दंशमशक आदि का परीषह उत्पन्न होता है। साधु का कर्तव्य है कि वह इस दंशमशकरूप पाचवे परीषह को सहन करे, इस यात को सूत्रकार आगे की गाथा द्वारा यतलाते हैं—' पुट्ठो य ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(समरे व—समएव) उपकारी और अपकारी में तुल्य भाव धारण करने वाला (महामुणी—महामुनि) उग्रतपश्चरणशील महामुनि (दसमसएहिं—दंशमशकैः) दंशमशकों के द्वारा, उपलक्षण से मत्कुण—खटमल, यूका—जू आदि द्वारा भी (पुट्ठो—स्पृष्टः) पीडित होने पर (सगामसीसे—संग्राम शीर्षे) युद्ध के यीच में (सूरो—शूर) पराक्रमी (नागो वा=नाग इव) हस्ती की तरह (पर अभिहणे—परं अभिहन्यात्) शत्रु को—रागद्वेषरूप भावशत्रु को परास्त करे ।

ग्रीष्मऋतु पछी चोमासानो समय आवे छे आमां दंशमशक वगेरे परीषहनी उत्पत्ति थाय छे, साधुनु ओ कर्तव्य छे के दंशमशकरूपी पाचमो परीषह सहन करे आ वातने सूत्रकार आगळनी गाथाथी बतावे छे

" पुट्ठो य " इत्यादि

अन्वयार्थ—(समरेव—समएव) उपकारी अने अपकारीमां समभाव धारण करवावाळा महामुणी—महामुनि उग्र तपस्या करनार शीलवान महामुनि दसमसएहिं—दंशमशकैः डांस, मच्छर द्वारा उपलक्षणथी माकड, जू, आदि द्वारा पण पुट्ठो—स्पृष्टः पिडीत होवा छतां " सगामसीसे—संग्रामशीर्षे " युद्धनी वच्चमा (सूरो—शूर) पराक्रमी (नागो वा—नागइव) हाथीनी माफक (परं अभिहणे—परं अभिहन्यात्) शत्रुने—राग द्वेष रूप भावशत्रुने परास्त करे. एनो भाव आ छे जेम पराक्रमी हाथी बाणोना आघातथी व्यथित होवा छतां पण रणमां शत्रुओने हरावे छे तेवी रीते साधु पण डांस, मच्छर आदि द्वारा पीडित होवा छता पण कषायरूपी शत्रुने परास्त करे

केन प्रकारेण भावशत्रु जयेदित्याह—

मूलम्—न संतसे न वारेज्जा मणंपि न पंओसए।
उवेहे न हंणे पाणे, भुजंन्ते मससोणियं ॥ ११ ॥

छाया—न सत्रसेत् न वारयेत्, मनोऽपि न प्रदूषयेत्।
उपेक्षेत न हन्यात् प्राणान, भुञ्जानान् मांस शोणितम् ॥ ११ ॥

टीका—'न सतसे' इत्यादि।

महामुनिर्दंशमशकैरुपद्रुत सन् न सत्रसेत्=नोद्विजेत्-दशमशकादिभिर्दश्यमानोऽपि न तत: स्थानादपगच्छेदित्यर्थ। न वारयेत्, हस्तवस्त्रादिना नापसारयेत्-मनोऽपि न प्रदूषयेत्=न कलुषित कुर्यात् अपि-शब्दाद्वचनादिकमपि न प्रदुष्टं

इसका भाव यह है—जैसे पराक्रमी हस्ती बाणों के आघात से व्यथित होने पर भी रण में शत्रु को परास्त कर देता है, उसी तरह साधु भी दंशमशक आदि द्वारा पीडित होने पर भी कषायरूपी शत्रु को परास्त करे ॥ १० ॥

भावशत्रु को किस तरह परास्त करना चाहिये इसको इस गाथा द्वारा स्पष्ट किया जाता है—न सतसे इत्यादि

अन्वयार्थ—महामुनि दंशमशक आदि से पीडित होने पर भी (न संतसे-न सत्रसेत्) कभी भी चित्त में उद्विग्न न होवे-दंशमशक आदि से पीडित होने पर भी मुनि एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जावे (न वारेज्जा-न वारयेत्) दंसमशक को अपने शरीर पर बैठ जाने पर हस्तअथवा वस्त्र आदि से नहीं हटावे। (मणं पि न पओसए-

આનો ભાવ એ છે કે-જેમ પરાક્રમી હાથી બાણોના આઘાતથી પીડિત હોવા છતાં પણ રણમાં શત્રુને પરાજીત કરે છે, તેવી જ રીતે સાધુ પણ દંશમશક આદિ દ્વારા પીડિત હોવા છતાં પણ કષાયરૂપી શત્રુનો પરાજય કરે ॥૧૦॥

ભાવશત્રુને કેવી રીતે જીતવા જોઈએ, એ હકીકત આ ગાથા દ્વારા પ્રગટ કરવામાં આવે છે નસતસે-ઈત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—ડાંસ અને મચ્છરથી પીડિત બનવા છતા પણ ન સતસે-ન સંત્રસેત્ મહામુનિ ચિત્તમાં ઉદ્વેગ ન લાવે,-ડાંસ મચ્છરના કરડવાથી મુનિએ એક સ્થાનથી બીજા સ્થાને ન જવુ, ન વારેજ્જા-ન વારયેત્ ડાંસ મચ્છરને પોતાના શરીર પર બેઠેલ જોઈને હાથ અને વસ્ત્ર આદિથી તેને હટાવે નહી, મણંપિ ન પઓસએ-

टीका—' पुट्ठो य ' इत्यादि ।

च=अपरं च सम एव=उपकार्यपकारिषु तुल्यभावधारकः, महामुनिः=उग्रतपश्चरणशीलः दंशमशकैः, इदमुपलक्षणम्, तेन मत्कुणयूकादिभिरपि स्पृष्टः—पीडितः सन्, संग्रामशिरसि=रणमस्तके, शूरः=पराक्रमी, नागो वा=हस्तीव परं=शत्रु-रागद्वेपलक्षणं भावशत्रुम्, अभिहन्यात्=पराजयेत् । 'समरेव' इत्यत्रार्षत्वाद्रेफः ।

अय भावः—यथा—शूरः=करी शरायातैर्व्यथितोऽपि रणे शत्रु जयति, तद्वत् साधुरपि दंशमशकादिभिः पीड्यमानोऽपि कषाय शत्रु जयेदिति ॥ १० ॥

ग्रीष्म काल के बाद वर्षा काल आता है, उसमें दंशमशक आदि का परीषह उत्पन्न होता है। साधु का कर्तव्य है कि वह इस दंशमशकरूप पांचवे परीषह को सहन करे, इस बात को सूत्रकार आगे की गाथा द्वारा बतलाते हैं—' पुट्ठो य ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ-(समरे व-समएव) उपकारी और अपकारी में तुल्य भाव धारण करने वाला (महामुणी-महामुनिः) उग्रतपश्चरणशील महामुनि (दंसमसएहिं-दंशमशकैः) दंशमशकों के द्वारा, उपलक्षण से मत्कुण-खटमल, यूका-जूं आदि द्वारा भी (पुट्ठो-स्पृष्टः) पीडित होने पर (संगाम सीसे-संग्राम शीर्षे) युद्ध के बीच में (सूरो-शूर) पराक्रमी (नागो वा-नाग इव) हस्ती की तरह (परं अभिहणे-परं अभिहन्यात्) शत्रु को-रागद्वेषरूप भावशत्रु को परास्त करे ।

ગ્રીષ્મઋતુ પછી ચોમાસાનો સમય આવે છે આમાં દંશમશક વગેરે પરીષહની ઉત્પત્તિ થાય છે, સાધુનું એ કર્તવ્ય છે કે દંશમશકરૂપી પાંચમો પરીષહ સહન કરે. આ વાતને સૂત્રકાર આગળની ગાથાથી બતાવે છે

"पुट्ठो य" ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—(समरेव-समएव) ઉપકારી અને અપકારીમાં સમભાવ ધારણ કરવાવાળા महामुणी-महामुनिः ઉગ્ર તપસ્યા કરનાર શીલવાન મહામુનિ दसमसएहिं-दंशमशकैः ડાંસ, મચ્છર દ્વારા ઉપલક્ષણથી માકડ, જૂ, આદિ દ્વારા પણ पुट्ठो-स्पृष्टः પિડીત હોવા છતાં "संगामसीसे-संग्रामशीर्षे" યુદ્ધની વચમાં (सूरो-शूर) પરાક્રમી (नागो वा-नागइव) હાથીની માફક (परं अभिहणे-परं अभिहन्यात्) શત્રુને-રાગ દ્વેષ રૂપ ભાવશત્રુને પરાસ્ત કરે એનો ભાવ આ છે જેમ પરાક્રમી હાથી બાણોના આઘાતથી વ્યથિત હોવા છતાં પણ રણમાં શત્રુઓને હરાવે છે તેવી રીતે સાધુ પણ ડાંસ, મચ્છર આદિ દ્વારા પીડિત હોવા છતાં પણ કષાયરૂપી શત્રુને પરાસ્ત કરે

कृत्वा समुत्तस्थौ। तत्र प्रथमयामे लघुकाया सूच्यग्रतीक्ष्णमुखा' दशमशका' सहस्रश॰ परित समागत्य मुने' शरीर दशन्ति। तदनु-द्वितीययामे तदपेक्षया स्थूलाकारा दशमशका घनघनध्वनिं कुर्वन्त परितस्तद्वपुस्तीक्ष्णतर दशन्ति, तदनु तृतीयचतुर्थयामयोस्तदपेक्षयापि स्थूलतरा॰ स्थूलतीक्ष्णमुखा विविधजातीया दशमशकास्त सातिशय दशन्ति। तत सूर्योदये सति पञ्चमप्रहरे अकस्मात् तत्रैवोड्डीयमाना मधुमक्षिका सहस्रशस्तद्वपु सलग्नास्त मुनिं दशन्ति। मधुमक्षिकाभिराच्छादित सकल तद्वपु श्यामवर्णं सजातम्। तस्य मुखोपरि सदोरकमुखवस्त्रिकाऽपि

एक समय की बात है कि इन्हों ने एक अटवी में रात्रि के समय पांच प्रहरका कायोत्सर्ग धारण किया। उस अटवी में कायोत्सर्ग में रहे हुए इन सुदर्शन मुनि के शरीर को प्रथम प्रहर में लघुकायवाले हजारों दंशमशकों ने सूची के अग्रभाग के समान अपने २ तीक्ष्ण मुखों से चारों ओर से आ आकर खूब डसा। फिर द्वितीय प्रहर में इन की अपेक्षा स्थूलाकार वाले दशमशकों ने घन घन शब्द करते हुए सब तरफ से आकर बहुत बुरी तरह उनके शरीर को डसना प्रारभ किया। बाद में तृतीय चतुर्थ प्रहर में द्वितीय याम में आये हुए दशमशकों की अपेक्षा बलिष्ट एव स्थूलतर विविध जाति के दशमशकों ने काटना शरू किया। इस प्रकार जब रात्रि के चार प्रहर समाप्त हो चुके और सूर्योदय हुआ तब पचमप्रहर में-अर्थात् दिवस के प्रथमप्रहर में-अकस्मात् उड़ी हुई हजारों मधुमक्षिकाओं ने उन मुनि के शरीर में चिपट कर उन्हें काटना प्रारभ

તેઓએ એક જગલમાં રાત્રિના સમયે પાચ પ્રહરનો કાયોત્સર્ગ કર્યો તે જગલમાં કાયોત્સર્ગમા રહેલા આ સુદર્શન મુનિના શરીરને પ્રથમ પ્રહરમા નાના શરીરવાળા હજારો ડાસ, મચ્છરોએ સોયની અણી જેવા પોત પોતાના તીક્ષ્ણ મુખોથી ચારે બાજુથી આવીને ખૂબ ડખ માર્યા પાછા બીજા પ્રહરમાં તેની અપેક્ષા સ્થૂલ આકારવાળા ડાંસ, મચ્છરોએ ગણુ ગણુ શબ્દ કરીને ચારે તરફથી આવીને ઘણી ખરાબ રીતે તેમના શરીરને ડખ મારવા લાગ્યા ત્યાર પછી ત્રીજા અને ચોથા પ્રહરમા આવેલા ડાંસ મચ્છરોની અપેક્ષા નાના મોટા વિવિધ જાતના ડાંસ મચ્છરોએ ડખ મારવા શરૂ કર્યો. આ પ્રકારે જ્યારે રાત્રીના ચાર પ્રહર પુરા થયા અને સૂર્યોદય થયો ત્યારે પાંચમા પ્રહરમાં અર્થાત્ દિવસના પ્રથમ પ્રહરમાં અકસ્માત ઉડેલી હજારો મધમાખીઓએ તે મુનિના શરીર ઉપર ચોંટી પડીને કરડવુ શરૂ કર્યું મધમાખીઓથી આચ્છા

कुर्यादित्यर्थः । किं तु उपेक्षेत-मध्यस्थभावमाश्रयेत् । अत एव-मांसशोणितं भुञ्जानान् प्राणान्=प्राणिनः, न हन्यात्=न मारयेत् ।

अत्र सुदर्शनमुनेर्दृष्टान्तः—

चम्पानगर्यां रिपुमर्दननामको भूपतिरासीत् । तस्य पुत्रः सुदर्शननामकः संजातः । स धर्मघोषाचार्यसमीपे धर्मदेशनां निशम्य कामभोगेभ्यो विरक्तः प्रव्रजितः । स सुदर्शनो मुनिर्गुरुप्रसादात् श्रुतज्ञानसम्पन्नो दृढसत्त्वतया एकाकित्व विहाराख्यप्रतिमया विहरन् कदाचित् महाटव्यां निशि पञ्चप्रहरात्मकं कायोत्सर्गं

मनोऽपि न प्रदूषयेत् । अपने मन में उनके काटने परअपने मन में कलुषित विचार नहीं करे। अथवा उनके काटने पर मन को कलुषित नहीं करना चाहिये। अपि शब्द से वचन आदिक को भी प्रदुष्ट नहीं करे। किन्तु उस समय(उवेहे-उपेक्षेत) मध्यस्थभाव का ही आश्रय करे। अतः साधु का कर्तव्य है कि वह (मंस सोणियं भुजंते पाणे न हणे-मांस शोणितं भुजानान् प्राणिनः न हन्यात्) मांस खाते एव शोणित को पीते हुए प्राणियों को कभी भी न मारे।

दृष्टांत—चंपानगरी में रिपुमर्दन नामक एक राजा था। उसका एक पुत्र था, जिसका नाम सुदर्शन था। उसने धर्मघोष आचार्य के पास धर्मदेशना सुनकर काम भोगों से विरक्त बन मुनिदीक्षा धारण की। इन सुदर्शन मुनि ने अपने गुरु महाराज के प्रसाद से श्रुतज्ञान की प्राप्ति कर दृढ प्राक्रमशाली होने की वजह से एकाकी विहार करने रूप प्रतिमा को धारण किया। अब ये उस प्रतिमा से विचरने लगे।

मनोऽपि न प्रदूषयेत् તેના કરડવાથી પોતાના મનમાં કલુષિત વિચાર પણ ન કરે, અથવા તેના કરડવાથી મનને કલુષિત ન કરે અને શબ્દથી વચનાદિકને પણ પ્રદુષ્ટ ન કરે, પરંતુ તે સમયે उवेहे-उपेक्षेत મધ્યસ્થ ભાવનો આશ્રય કરે આથી સાધુનું કર્તવ્ય છે કે તે मंससोणियं भुजंतेपाणे न हणे-मांसशोणितं भुजानान् प्राणिनः न हन्यात् માંસ ખાતા અને લોહી પીતા પ્રાણીઓને કદી પણ ન મારે

દૃષ્ટાન્ત.—ચંપા નગરીમાં રિપુમર્દન નામના એક રાજા હતા. તેમને એક પુત્ર હતો, જેનું નામ સુદર્શન હતું તેણે ધર્મઘોષ આચાર્યની પાસે ધર્મદેશના સાંભળી કામભોગથી વિરક્ત બની મુનિદીક્ષા ધારણ કરી આ સુદર્શન મુનિએ પોતાના ગુરુમહારાજના પ્રસાદથી શ્રુતજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ કરી, દૃઢ પરાક્રમ શાળી થવાના કારણથી એકાકી વિહાર કરવા રૂપ પ્રતિમાને ધારણ કરી. અને તેઓ એ પ્રતિમાથી વિચરવા લાગ્યા એક સમયની વાત છે,

वेदना जायते ततोऽप्यनन्तगुणा वेदना नरकेऽनन्तवार मया सोढा, एव निगोदेऽपि, यत्र सूच्यग्रपरिमितकन्दादौ असख्याता श्रेणय. सन्ति, एकैकश्रेण्या मसंख्यातानि प्रतराणि, एकैकप्रतरे असख्याता गोला, एकैकगोले असख्यातानि निगोदशरीराणि, एकैकशरीरे अनन्ता जीवा., एकैकनिगोदजीवः प्रत्येकश्वासोच्छ्वासे सार्धसप्तदश जन्ममरणानि करोति, एवविधनिगोदेऽपि अनन्तजन्ममरणाना दारुणदु खानि अनन्तवार परवशेन मया सोढानि। किं पुनरेतत्, यतस्तद्दुःखसागरैकविन्दुमात्रमपि नैतत्, एव दशमशकपरीषह मकृष्टपरिणामेन सहमानः

इससे भी अनतगुणी वेदना नरक में अनतवार तूने भोगी है। इसी तरह निगोद में भी सही हैं। सूची-सुई-के अग्रभाग प्रमाण कन्द आदि में असख्यात श्रेणियां होती हैं एक एक श्रेणी में असख्यात प्रतर होते हैं। एक एक प्रतर में असख्यात गोले होते हैं। एक एक गोले में असख्यात निगोद शरीर हुआ करते हैं। एक एक निगोद शरीर में अनन्त जीव रहा करते हैं। एक एक निगोदराशि का जीव एक २ श्वासोच्छ्वास में १७॥ साढासत्रह वार जन्मता है और १७॥ साढा सत्रह वार ही मरता है। इस प्रकार के स्वरूप वाले निगोद में भी हे आत्मन्! तूने अनन्तवार अनत जन्म और मरण के दुःखों को परवश होकर सहन किया है। उन दुःखों के सामने यह दशमशक आदि से होने वाला दुःख कितना सा है। उन दुखों के सामने तो यह एक लेश मात्र भी नहीं है। इस प्रकार दशमशक परीषह को प्रकृष्ट शुभाध्यवसाय से सहन करते हुए सुदर्शन मुनिराज

અગ્નિથી બાળવાથી જેવી વેદના જીવોને થાય છે, તેથી અન તગણી વેદના નરકમા અન તવાર તે ભોગવી છે આ રીતે નિગોદમા પણ સહન કરેલ છે સોયના અગ્રભાગ પ્રમાણનાં કન્દ આદિમાં અસ ખ્યાત શ્રેણિયો હોય છે એકેક શ્રેણીમાં અસ ખ્ય પ્રતર હોય છે અને એકેક પ્રતરમા અસ ખ્ય ગોળા હોય છે અને એકેક ગોળામા અસ ખ્યાત નિગોદ શરીર હોય છે એકેક નિગોદ શરીરમાં અન ત જીવ રહ્યા કરે છે એકેક નિગોદ રાશીનો જીવ એક શ્વાસોચ્છવાસમા સાડાસત્તરવાર જન્મે છે અને સાડાસત્તરવાર મરે છે આ પ્રકારના સ્વરૂપવાળા નિગોદમા પણ હે આત્મન્! તે અન તવાર અન ત જન્મ અને મરણના દુ ખોને પરવશ બની સહન કર્યા છે એ દુઃખોની સામે આ ડાસ મચ્છરોથી થતુ દુ ખ કેવડુ છે? તે દુ ખોની સામે તો આ દુ ખ લેશ માત્ર પણ નથી આ પ્રકારે ડાંસ મચ્છરોના પરીષહને પ્રકૃષ્ટ શુભાધ્યવસાયથી સહન કરતાં સુદર્શન મુનિરાજે પ્રશસ્ત

मक्षिकाभिराच्छादितत्वान्नलक्ष्यते। एवं दंशमशकमक्षिकाकृतवेदनां प्राप्यापि स सुदर्शनमुनिर्दंशादीन् न निवारयति चिन्तयति च-दु खमेतत् कियत्, इतोऽनन्तगुण- वेदनाऽनन्तवारं नरकेषु मया प्राप्ता, असिपत्रेण क्षुरपत्रेण कदम्बचीरिकापत्रेण छिद्य माने शक्त्यग्रेण कुन्ताग्रेण शराग्रेण शूलाग्रेण छुरिकाग्रेण, सूचीकलापाग्रेण, कपिक च्छुना, वृश्चिककण्टकेन भिद्यमाने, अङ्गारेण, मउगलज्ज्वालया दह्यमाने च यादृशी

कर दिया। मधुमक्षिकाओं से आच्छादित सुदर्शन मुनि का गौर शरीर उस समय श्यामवर्णवाला मालूम देने लगा। उनके मुख के ऊपर डोरे से जो मुखवस्त्रिका बंधी हुई थी वह भी मक्षिकाओं से आच्छादित होने की वजह से दिखलाई नहीं पड़ती थी। इस प्रकार दंशमशकों द्वारा तीव्र वेदना को पाकर भी सुदर्शन मुनि ने उन दंशमशकों का अपने हाथ आदि से निवारण नहीं किया। प्रत्युत उस समय यही विचार किया कि हे आत्मन्! यह जो वर्तमान में दु ख मिल रहा है वह तेरे द्वारा पहिले भोगे हुए नरक एवं निगोद के दु खों के समक्ष कितना सा है। अरे! तूने पहिले भवों में इस वेदना से भी अनन्तगुणी वेदनाएँ अनं तवार नरक में भोगी हैं। असिपत्र, क्षुरपत्र एवं कदम्बचीरिका पत्र से छेदे जाने पर, शक्ति के अग्रभाग से कुन्त-भाला के अग्रभाग से, बाणके अग्रभाग से, छुरिका के अग्रभाग से, सूचिकलाप के अग्रभाग से, कपिकच्छु कौंचकीफली से और विच्छु के डंक से भेदे जाने पर, तथा जलती हुई अग्नि से जलाये जाने पर जैसी वेदना जीवों को होती है

छित બનેલ સુદર્શન મુનિનું ગૌર શરીર તે સમયે શ્યામ વર્ણ વાળું દેખાવા લાગ્યું, તેમના મુખ ઉપર દોરાથી જે મુખપત્તિ બધાયેલ હતી તે પણ માખીઓથી આચ્છાદિત હોવાના કારણે જોવામા આવતી ન હતી. આ પ્રકારે ડાંસ, મચ્છરોથી તીવ્ર વેદના પામીને પણ સુદર્શન મુનિએ એ ડાંસ, મચ્છર, વગરેને પોતાના હાથ આદિથી દૂર ન કર્યા પરંતુ એ વખતે એવોજ વિચાર કર્યો કે હે આત્મન્! વર્તમાનમાં જે પ્રકારનુ આ દુ ખ મળી રહ્યું છે તે તારાથી પહેલાં ભોગવવામાં આવેલ નરક અને નિગોદના દુ ખો પાસે શું હિસાબમાં છે, અરે! તે પહેલાના ભવોમાં આ વેદનાથી પણ અનંતગણી વેદનાઓ અનંતવાર નરકમાં ભોગવી છે અસિપત્ર, ક્ષુરપત્ર, અને કદમ્બચીરિના પત્રથી છેદાઈ જવાથી, શક્તિના અગ્રભાગથી કુંત ભાલાના અગ્રભાગથી, બાણના અગ્રભાગથી, છુરીના અગ્રભાગથી, સુચિ કલાપના અગ્રભાગથી, કપિ કચ્છુ-કૌંચની ફળીથી, અને વીંછીના ડંખથી, ભેદાઈ જવાથી તથા બળતી

रुक'=नूतनवस्त्रवान् भविष्यामि, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्, अय भाव'—जीर्णवस्त्र-साधुवस्त्राभावसभावनया स्वात्मनि विपाद न कुर्यात्, नापि च नूतनवस्त्र-समावनया हर्षं कुर्यादिति ॥१२॥

उक्तार्थमेव दृढीकर्तुमाह—

सूत्रम्—एगया अचेलए होई, सचेले यावि एगया।
पयं धम्माहियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥१३॥

छाया—एकदा अचेलको भवति, सचेलश्चापि एकदा।
एतद् धर्महितं ज्ञात्वा, ज्ञानी नो परिदेवयेत् ॥१३॥

टीका—'एगया' इत्यादि।

एकदा=कदाचित्, कल्पनीयजीर्णखण्डितमलिनाल्पवस्त्रस्य सद्भावे मुनिः,

भाव न करे। (अदुवा-अथवा) अथवा (सचेलए होक्खं-सचेलको भविष्यामि) नवीन वस्त्रों से "उनकी अधिक स्थिति होने से" सचेलक-वस्त्र सहित हो जाऊँगा (इति) इस प्रकार (भिक्खू) साधु (न चिंतए -न चिन्तयेत्) विचार न करे।

इस का भाव केवल यही है कि साधु जिस समय जीर्ण वस्त्रों का परिधान करे उस समय मुनि "ये फटे पुराने वस्त्र कितने दिन तक चलेंगे इनके फट जाने पर मैं निर्वस्त्र हो जाऊँगा" इस प्रकार कभी भी अपनी आत्मा में विषाद न करे। "ये नवीन वस्त्र हैं अधिक दिन तक चलते रहेंगे अतः मैं सवस्त्र ही रहूँगा" इस प्रकार कभी हर्ष भाव को प्राप्त न हो। अथवा 'अब नूतन वस्त्रों की मुझे प्राप्ति होगी, इस बात की सभावना से भी साधु कभी भी हर्षित न होवे ॥ १२ ॥

सचेलए होक्खं-सचेलको भविष्यामि नवीन वस्त्रोथी "ते वधु प्रमाणमा होवाथी" सचेलक वस्त्र सहित थई जईश आ प्रकारनो पण "भिक्खू" साधु नचिंतए-न चिंतयेत् विचार न करे.

आनो भाव केवळ ए ज छे के, साधु जे समये जीर्ण वस्त्रो परिधान करे ए समये आ फाटयां तूटया वस्त्रो केटला दिवस चालशे, आना फाटी जवा पछी हु वस्त्र वगरनो बनी जईश. आ प्रकारनो विषाद कदी पण पोताना आत्मामा न करे आ नवा वस्त्र छे, घणा समय सुधी चालतां रहेशे, अने आथी हु सवस्त्र ज रहीश. आ प्रकारनो हर्षभाव पण कदी न लावे. अथवा हवे मने नवां वस्त्रनी प्राप्ति थशे आ वातनी सभावनाथी पण साधु कदी हर्षित न थाय (१२)

प्रशस्तध्यानेन शुभाध्यवसायेन प्राप्तकेवलज्ञान-केवलदर्शनः सुदर्शन सायनन्तम व्याबाधं शाश्वत शिवपद लब्धवान् । एवमन्यैरपि मुनिभिर्मध्यस्थभावेन दंशमशकपरीषहः सोढव्य ॥ ११ ॥

अथाचेलपरीषहजय माह—

मूलम्—परिजुन्नेहिं वत्थेहिं, होक्खामि त्ति अचेलए ।
अदुवा सचेलए, होक्ख, इति भिक्खू न चिंतए ॥१२॥

छाया—परिजीर्णवस्त्रैः,-भविष्यामि इति अचेलकः ।
अथवा सचेलको भविष्यामि, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥१२॥

टीका—' परिजुन्नेहिं ' इत्यादि ।

परिजीर्णैः=पुरातनैः, वस्त्रैः, अचेलकः=वस्त्ररहित, भविष्यामि, तेषा स्वल्पकालस्थायित्वात्, इति=एतद्रूप दैन्य, भिक्षुर्न चिन्तयेत्= न कुर्यात् । अथवा

ने प्रशस्तध्यान से और शुभ परिणामों को धारा से केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। पश्चात् आयु के अंत में सादि अनत, अव्याबाध एव शाश्वत पद जो मुक्तिपद है उस को प्राप्त कर लिया। सुदर्शन मुनि की तरह अन्यमुनिजनों को भी मध्यस्थभाव से दंशमशक परीषह सहन करना चाहिये ॥ ११ ॥

अब सूत्रकार छठे अचेल परीषह को जीतने का उपदेश करते हैं—
परिजुन्नेहिं-इत्यादि

अन्वयार्थ—(परिजुन्नेही -परिजीर्णैः) पुराने (वत्थेहिं-वस्त्रैः) वस्त्रोंसे (अचेलए होक्खामि-अचेलकः भविष्यामि) मैं उनकी अल्पकाल स्थिति होने से अचेल वस्त्र रहित हो जाऊँगा । (त्ति-इति) इस प्रकार का

ध्यानथी अने शुभ परिणामोनी धाराथी केवळज्ञान अने केवळदर्शन प्राप्त कर्युं पछी आयुना अंतमां आदि अनंत, अव्याबाध अने शाश्वत पद जे मुक्तिपद छे तेने प्राप्त कर्युं सुदर्शन मुनिनी माफक अन्य मुनिजनोओ पण मध्यस्थ भावथी डांस अने मच्छरोना परीषहने सहन करवो जोइओ ॥११॥

हवे सूत्रकार छठा अचेल परीषहने जीतवानो उपदेश करे छे परिजुन्नेहिं ईत्यादि.

अन्वयार्थ—परिजुन्नेहिं-परिजीर्णै जूनां " वत्थेहिं-वस्त्रैः " वस्त्रोथी अचेलए होक्खामि-अचेलकः भविष्यामि हुं तेनी अल्पकाळ स्थिति होवाथी अचेल वस्त्र रहितपणुं जइश त्ति-इति आ प्रकारनो दैन्यभाव न करे अदुवा-अथवा अथवा

नवीनवस्त्रसद्भावे तन्निमित्तक हर्षं न कुर्यात्, तथा एषणीयप्रमाणोपेतवस्त्राणाममहामूल्यत्वात्दल्पत्वात्दशोभनत्वाच्च विषाद न कुर्यात् शीतस्पर्शादिना बाधितोऽपि प्रमाणाधिकवस्त्राकाङ्क्षा च न कुर्यादित्यर्थः। तथाचोक्तमाचाराङ्गसूत्रे—

"जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं, तस्स ण णो एव भवइ, चउत्थ वत्थ जाइस्सामि।" (आचा. १ श्रु ८ अ ४ उ)

छाया—यो भिक्षुस्त्रिभिर्वस्त्रैः पर्युषित पात्रचतुर्थै, तस्य खलु नो एव भवति चतुर्थं वस्त्र याचिष्ये। पर्युषित.=व्यवस्थित। अनेन स्थविरकल्पिकस्य चतुर्थवस्त्र प्रतिषेधोऽवगम्यते। अपर च–तत्रैवोक्तम्—

"जस्स ण भिक्खुस्स एवं भवइ–पुट्ठो खलु अहमसि नालमहमसि सीयफास

भाव नहीं करना चाहिये–और ये नवीन वस्त्र हैं इनसे शीत आदिक की रक्षा बहुत अच्छी तरह हो जायगी" इस प्रकार कभी हर्षित भी नहीं होना चाहिये। शीतस्पर्शादिक से पीडित होने पर प्रमाण से अधिक वस्त्रों की आकाक्षा करना साधुमार्ग में निषिद्ध है। आचारांग सूत्र (१ श्रु ८ अ ४ उ) में यही बात बतलाई गइ है "जे भिक्खू तिहिंवत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं तस्स ण णो एव भवइ चउत्थ वत्थ जाइस्सामि" जो भिक्षु तीन वस्त्रों से एव चौथे पात्र से व्यवस्थित रहता है उसे चतुर्थ वस्त्र के याचन की आवश्यकता नहीं होती है उस के चित्त में यह बात नही आती है कि मै चतुर्थ वस्त्र की याचना करूँ। इस कथन से स्थविरकल्पी साधु को चतुर्थवस्त्र का प्रतिषेध सिद्ध होता है। और भी आचाराग सूत्र (१ श्रु ८ अ ४ उ) में कहा है "जस्स ण भिक्खुस्स एव भवइ–पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमसि सीयफासं

નવીન વસ્ત્ર છે, તેનાથી ઠંડી વગેરેની રક્ષા સારી રીતે થશે, આ પ્રકારે કદી હર્ષિત પણ ન થવુ જોઈએ ઠંડીના સ્પર્શથી પીડિત થવાથી અધિક વસ્ત્રોની આકાંક્ષા કરવી તે સાધુ માર્ગમા નિષેધ છે આચારાગસૂત્ર (૧ શ્રુ. ૮ અ. ૪ ઉ) માં એવી વાત બતાવવામા આવેલ છે કે, जे भिक्खू तिहि वत्थेहि परिवुसिए पाय चउत्थेहि तस्स ण णो एव भवइ चउत्थ वत्थं जाइस्सामि જે ભિક્ષુ ત્રણ વસ્ત્ર અને ચોથા પાત્રથી વ્યવસ્થિત રહે છે તેને ચોથા વસ્ત્રની યાચના કરવાની આવશ્યકતા થતી નથી એના ચિત્તમા એ વાત આવતી નથી કે હુ ચોથા વસ્ત્રની યાચના કરૂ આ કથનથી સ્થવિરકલ્પી સાધુને ચોથા વસ્ત્રનો પ્રતિષેધ સિદ્ધ થાય છે

બીજુ પણ આચરાગ સૂત્ર (૧ શ્રુ ૮ અ. ૪ ઉ) મા કહ્યુ છે—

जस्स णं भिक्खुस्स एव भवइ–पुट्ठो खलु अहमसि नालमहमंसि सीयफास

अचेलकः=वस्त्ररहित इव, भवति-तथाविधवस्त्रस्य तनुत्रायकत्वाभावात् । एकदा= कदाचित्-नूतनवस्त्रसद्भावे, सचेलकोऽपि=नवीनवस्त्रवानपि भवति । एतत्=अचेलकत्व सचेलकत्व चेति द्वय, धर्महित=धर्माय हित-श्रुतचारित्रधर्मोपकारक, ज्ञात्वा ज्ञानी=मेधावी, नो परिदेवयेत्=जीर्णवस्त्रसद्भावे विषाद न कुर्यात्,

'एगया अचेलए' इत्यादि.

अन्वयार्थ—(एगया-एकदा) कभी किसी समय कल्पनीय जीर्ण खडित मलिन एव अल्प वस्त्रों के सद्भाव में मुनि (अचेलए होई-अचेलको भवति) वस्त्र रहित जैसा ही होता है। क्यों कि जो जीर्णादिवस्त्र उसके होते हैं उनसे यथावत् शरीर की रक्षा नहीं होती है। (एगया) कभी किसी समय-नूतन वस्त्रों के सद्भाव में (सचेले यावि होइ-सचेलकोऽपि भवति) सचेल भी-नवीन वस्त्र वाला भी होता है। (एव-एतत्) ये दोनों ही अवस्थाएँ साधु की उसके (धम्महियं-धर्महितम्) श्रुतचारित्र रूप धर्म की उपकारक हैं। ऐसा (नच्चा-ज्ञात्वा) जानकर (नाणी नो परिदेवए-ज्ञानी नो परि देवयेत्) ज्ञानी मुनि किसी भी अपनी अवस्था में चाहे वस्त्र सहित अवस्था हो चाहे वस्त्र रहित अवस्था हो उसमें हर्षविषाद न करे।

भावार्थ—साधु को "ये वस्त्र जो मेरे पास हैं वे बहुत ही जीर्ण शीर्ण हैं, तथा हलके पोतके हैं, ये बहुत थोडे हैं, सुन्दर भी नहीं हैं इनसे शीत आदिक की रक्षा कैसे होगी" इस प्रकार कभी विषाद

'एगया अचेलए' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—एगया-एकदा કોઈ વખત કલ્પનીય જીર્ણ ખડિત મલિન અને અલ્પવસ્ત્રોના સદ્ભાવમાં મુનિ अचेलए होइ-अचेलको भवति વસ્ત્ર રહિત જેવા જ હોય છે, કેમ કે, જે જીર્ણ એવા વસ્ત્ર તેની પાસે હોય છે તેનાથી યથાવત્ શરીરની રક્ષા થતી નથી एगया કોઈ વખત નવા વસ્ત્રોના સદ્ભાવમાં सचेले यावि होइ-सचेलकोऽपि भवति સચેલ પણ-નવીન વસ્ત્રવાળા પણ હોય છે एव-एतत् આવી બન્ને અવસ્થાઓ સાધુની धम्महियं-धर्महित શ્રુતચારિત્ર રૂપ ધર્મમાં ઉપકારક છે એવુ नच्चा-ज्ञात्वा જાણીને नाणी नो परिदेवए-ज्ञानि नो परिदेवयेत् જ્ઞાની કોઈ પણ અવસ્થામાં ચાહે વસ્ત્રસહિત અવસ્થા હોય, ચાહે વસ્ત્રરહિત અવસ્થા હોય તેમાં હર્ષ-વિષાદ ન કરે

ભાવાર્થ—સાધુએ " આ વસ્ત્ર જે મારી પાસે છે તે ઘણાં જીર્ણ શીર્ણ છે, તથા હલકા પોતનાં છે અને ખૂબ થોડાં છે, સુંદર પણ નથી, એનાથી ઠંડી વગેરેથી રક્ષા કેમ થશે " આ પ્રકારનો વિષાદભાવ કદી ન કરવો જોઈએ. આ

नवीनवस्त्रसद्भावे तन्निमित्तक हर्षं न कुर्यात्, तथा एषणीयप्रमाणोपेतवस्त्राणाममहामूल्यकत्वादल्पत्वादशोभनत्वाच्च विषाद न कुर्यात् शीतस्पर्शादिना बाधितोऽपि प्रमाणाधिकवस्त्राकाङ्क्षा च न कुर्यादित्यर्थ । तथाचोक्तमाचाराङ्गसूत्रे—

"जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं, तस्स ण णो एव भवइ, चउत्थ वत्थ जाइस्सामि।" (आचा १ श्रु ८ अ ४ उ.)

छाया—यो भिक्षुस्त्रिभिर्वस्त्रै पर्युषित पात्रचतुर्थे., तस्य खलु नो एव भवति चतुर्थं वस्त्र याचिष्ये । पर्युषित =व्यवस्थितः । अनेन स्थविरकल्पिकस्य चतुर्थवस्त्र प्रतिषेधोऽवगम्यते । अपर च–तत्रैवोक्तम्—

"जस्स ण भिक्खुस्स एवं भवइ–पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमसि सीयफास

भाव नहीं करना चाहिये–और ये नवीन वस्त्र हैं इनसे शीत आदिक की रक्षा बहुत अच्छी तरह हो जायगी" इस प्रकार कभी हर्षित भी नहीं होना चाहिये। शीतस्पर्शादिक से पीडित होने पर प्रमाण से अधिक वस्त्रों की आकाक्षा करना साधुमार्ग में निषिद्ध है। आचारांग सूत्र (१ श्रु ८ अ ४ उ) में यही बात बतलाई गइ है "जे भिक्खू तिहिंवत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं तस्स ण णो एव भवइ चउत्थं वत्थ जाइस्सामि" जो भिक्षु तीन वस्त्रों से एव चौथे पात्र से व्यवस्थित रहता है उसे चतुर्थ वस्त्र के याचन की आवश्यकता नहीं होती है उस के चित्त में यह बात नही आती है कि मै चतुर्थ वस्त्र की याचना करूँ। इस कथन से स्थविरकल्पी साधु को चतुर्थवस्त्र का प्रतिषेध सिद्ध होता है। और भी आचाराग सूत्र (१ श्रु ८ अ ४ उ) में कहा है "जस्स ण भिक्खुस्स एव भवइ–पुट्ठो खलु अहमसि नालमहमंसि सीयफासं

નવીન વસ્ત્ર છે, તેનાથી ઠંડી વગેરેની રક્ષા સારી રીતે થશે, આ પ્રકારે કદી હર્ષિત પણ ન થવુ જોઈએ ઠંડીના સ્પર્શથી પીડિત થવાથી અધિક વસ્ત્રોની આકાંક્ષા કરવી તે સાધુ માર્ગમા નિષેધ છે આચારાગસૂત્ર (૧ શ્રુ. ૮ અ ૪ ઉ) માં એવી વાત બતાવવામાં આવેલ છે કે, जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पाय चउत्थेहिं तस्स ण णो एव भवइ चउत्थ वत्थ जाइस्सामि જે ભિક્ષુ ત્રણ વસ્ત્ર અને ચોથા પાત્રથી વ્યવસ્થિત રહે છે તેને ચોથા વસ્ત્રની યાચના કરવાની આવશ્યકતા થતી નથી એના ચિત્તમા એ વાત આવતી નથી કે હુ ચોથા વસ્ત્રની યાચના કરૂ આ કથનથી સ્થવિરકલ્પી સાધુને ચોથા વસ્ત્રનો પ્રતિષેધ સિદ્ધ થાય છે

બીજુ પણ આચારાંગ સૂત્ર (૧ શ્રુ. ૮ અ. ૪ ઉ) માં કહ્યુ છે—

जस्स ण भिक्खुस्स एव भवइ–पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफास

अहियासित्तए, से वसुम सव्वसमन्नागयपन्नाणेण अप्पाणेण केइ अकरणयाए आ उट्टे, तवस्सिणो हु त सेय ज एगे विहमाइए। तत्थवि तस्स कालपरियाए। से वि तत्थ विअतिकारए। इच्चेय विमोक्षायतण हिय सुह खम णिस्सेयस आणुगामिय। (आचा. १ श्रु ८ अ ४ उ.)

छाया—यस्य खलु भिक्षोः एवं भवति–स्पृष्टः खलु अहमस्मि, नालमहमस्मि शीतस्पर्शम् अध्यासितुम्, स वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना कोऽपि अकरणतया आवृत्त तपस्विन. खलु तच्छ्रेय यदेकं वैहायसादिकम्। तत्रापि तस्य कालपर्यायः। सोऽपि तत्र व्यन्तकारक । इत्येतत् विमोक्षायतन हित सुख क्षम नि.श्रेयसम् आनुगामिकम्।

व्याख्या—यस्य भिक्षो' खलु एवम्=ईदृशी विचारणा भवति–अह खलु परीषहै स्पृष्टः=बाधितोऽस्मि, अह शीतस्पर्शम् अध्यासितु=सोढुम्, अल=पर्याप्त', नास्मि। स –ईदृशभावनाभावितः, कोऽपि वसुमान्=सयमी, सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन=पूर्णोपयोगयुक्तेन, आत्मना=अन्त करणेन अकरणतया=उपसर्गप्रतीकारस्या

अहियासित्तए, से वसुम सव्वसमन्नागयपन्नाणेण अप्पाणेण केइ अकरणयाए आउट्टे, तवस्सिणो हु ते सेय ज एगे विहमाइ ए। तत्थ वि तस्स कालपरियाए। से वि तत्थ वियंतिकारए। इच्चेत विमोहायतणं हिय सुह खम णिस्सेयसं अणुगामिय॥"

जिस भिक्षु के हृदय में ऐसी विचारणा होती है कि मैं परीषहों से पीडित हु अत शीतपरीषह को सहन करने के लिये समर्थ नहीं हु"। इस प्रकार के विचार से युक्त होकर वह सयमी मुनि प्रमाणाधिक वस्त्रों को ग्रहण करने रूप, तथा अग्नि को जलाने रूप सावद्य व्यापारों को कभी भी न करे। किन्तु वैहायस (फांसी)

अहियासित्तए से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु ते सेयं जं एगे विहमाइए। तत्थ वि तस्स कालपरियाए। से वि तत्थ विअंतिकारए। इच्चेतं विमोहायतण हियं सुहं खम णिस्सेयस अणुगामिय॥

જે ભિક્ષુના હૃદયમાં એવી વિચારણા થાય છે કે, "હું પરીષહોથી પીડિત છુ આથી ઠંડીના દુઃખોને સહન કરવામાં સમર્થ નથી" આ પ્રકારના વિચારથી યુક્ત બની તે સયમી મુનિ પ્રમાણાધિક વસ્ત્રોને ગ્રહણ કરવા રૂપ, તથા અગ્નિને જલાવવા રૂપ સાવદ્યવ્યાપારોને કદી પણ ન કરે પણ તે વૈહાયસ

करणभावनया आवृत =व्यवस्थितस्तिष्ठेत् । तपस्विन. खलु तच्छ्रेयः=तदेव श्रेयस्कर भवति, यत्-एक वैहायसादिक-वैहायसविषभक्षणझपापातादिमरणेपु किमप्येक मरणम्। तत्रापि=वैहायसादिपु तस्य कालपर्याय'=भक्तपरिज्ञादिवत् कालमृत्युरेव नत्व-कालमृत्यु , अत एव सोऽपि तत्र=चतुर्थवस्त्राकाङ्क्षाविषये, व्यन्तकारक =पर्यवसान मृत्युकारक , ससारान्तकारक इत्यर्थ । इत्येतत्-इति=अत -अस्मात् कारणात् , एतन्मरण विमोहायतनम्-विमोहानां=परीपहसहिष्णूनाम् , आयतन=स्थान-मोक्षपददायकमितिभाव , हितम्=उपकारकम् , सुख=सुखकर, क्षम=योग्य, निःश्रेयस=निश्चित-निश्चल, श्रेय -शुभम् , आनुगामिकम्=गच्छन्त पुरुषम् आ=समन्तात् , अनुगच्छतीत्येव शील आनुगामि, तदेव-आनुगामिकम् , मोक्षपदपर्यन्तानुगमन-शीलमित्यर्थ' ।

अय भाव -एषणीयवस्त्रत्रयधारणे शीतस्पर्शवेदनामसहिष्णुश्चतुर्थवस्त्राकाङ्क्षाया अकरणेन त्रिवस्त्रस्वरूपमचेल परीषह सहमानो मुनिर्वैहायसादिष्वेक किमपि मरणमुपगतश्चेत्तर्हि तादृशमरणजन्य. प्रकृष्टधर्मस्तस्य मुनेस्तस्मिन्नेव भवे ससारान्त करोति, मोक्षपद च प्रापयति ।

इहाचेलकत्वं प्रवचनोक्तरीत्या ग्राह्यम् । तीर्थंकरोपदिष्टाचारसेविनो मुनयः प्रवचनानुसारेण कल्पनीयाल्पजीर्णखण्डितमलिनवस्त्रपरिधाना प्रमाणोपेतवस्त्रधारिणश्चाप्यचेलका एव । यथा-परिहितकौपीना अपि तापसा लोके नग्ना उच्यन्ते,

आदि मरणों में से किसी एक मरण को धारण कर अपने प्राणों का व्युत्सर्ग कर देवे । इस प्रकार के मरण से होने वाला जो प्रकृष्ट धर्म है वह उस मुनि को उसी भव में ससार का अन्त करता हुआ मोक्ष का प्रदायक होता है ।

प्रवचन में कथित रीति के अनुसार यहा अचेलकता का ग्रहण किया गया है । तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आचार का सेवन करने वाले मुनि प्रवचन के अनुसार कल्पनीय, अल्प, जीर्ण, एवं

ફાંસી વગેરે મરણોમાથી કોઇ એક મરણને ધારણ કરી પોતાના પ્રાણનો ત્યાગ કરી દે આ પ્રકારના મરણથી થનાર જે પ્રકૃષ્ટ ધર્મ છે તે એ મુનિને એ ભવમાં સસારનો અત કરાવનાર મોક્ષદાયી બને છે

પ્રવચનમા કહેલ રીત અનુસાર અહિ અચેલકતાનું ગ્રહણ કરવામા આવેલ છે તીર્થંકરો દ્વારા ઉપદિષ્ટ આચારનું સેવન કરવાવાળા મુનિ પ્રવચન અનુસાર કલ્પનીય, અલ્પ, જીર્ણ અને ખ ડિત મલિન વસ્ત્રને, પ્રમાણોપેત વસ્ત્રોને, ધારણ કરેલ હોવા છતા

यथा वा यस्याङ्गरक्षिका जीर्णा सजाता, स परिगृताङ्गरक्षिकोऽपि सौचिकान्तिकं गत्वा वदति–अनावृतोऽस्मि, अङ्गरक्षिका दहीति, यथा वा काचिन्नारी परिहित-परिजीर्णशाटिकाऽपि वस्त्रकार तन्तुवायवदति–'नग्ना' हमस्मि, देहि मे शाटिकाम्' इत्यादि, एव साधवोऽप्यमहाल्पमूल्यानि खण्डितानि जीर्णानि प्रमाणोपेतानि प्रमाणतो न्यूनानि वा वस्त्राणि श्रुतोपदेशाद् धर्मबुद्ध्या धारयन्तोऽचेलका एव। अचेलकसदृशा अप्यचेलका उच्यन्ते।

खंडित मलिन वस्त्र को प्रमाणोपेत वस्त्रों को धारण करते हुए भी अचेलक ही माने जाते हैं। जिस प्रकार लोक में लगोटीमात्र को धारण करने पर भी तापस लोग "ये नग्न हैं" इस प्रकार कहे जाते हैं। अथवा जैसे किसी पुरुष का अगरखा जीर्ण हो जाय और वह उसे पहिर कर भी जब दर्जी के पास दूसरे अंगरखे को सिलाने के लिये जाता है तो कहता है कि भाई देखो जल्दी इसे सीकर दे देना मै उघाडा फिरता हू, मेरे पहिरने को अगरखा नहीं है। अथवा–जैसे कोई स्त्री कि जिसकी शाटिका–साडी परिजीर्ण हो चुकी है जब तन्तु वाय–कपडे बुननेवाले के पास जाती हैं तो कहती हैं कि मुझे साडी दे मैं विना साडी फिर रही हूं। इसी तरह साधु भी प्रमाणोपेत खंडित जीर्ण एव अत्यंत अल्पमूल्यवाले वस्त्रों को श्रुतोपदेश के अनुसार धर्म बुद्धि से धारण करते हुए भी अचेलक ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। जो अचेलक के तुल्य होते हैं वे भी अचेलक ही माने जाते हैं।

પણ અચેલક જ માનવામાં આવે છે જે પ્રકારે લોકમાં તાપસ લોકો લગોટી ધારણ કરે છે પણ "આ નગ્ન છે" આ પ્રકારથી કહેવામાં આવે છે અથવા જેમ-કોઈ પુરૂષનુ અગરખુ જીર્ણ થઈ જાય અને તે તેને પહેરીને પણ જ્યારે દરજીની પાસે બીજુ અગરખુ શીવડાવવા માટે જાય છે તો કહે છે ભાઈ જુઓ આને જલ્દીથી શીવી આપજો હુ ઉઘાડો ફરૂ છુ મારે પહેરવાને અગરખુ નથી અથવા જેમ-કોઈ સ્ત્રી કે જેની સાડી પરિજીર્ણ થતાં તે કપડાં બનાવનાર પાસે જાય છે અને કહે છે કે મને સાડી આપ હુ સાડી વગરની ફરી રહી છુ આ રીતે સાધુ પણ પ્રમાણોપેત ખડિત જીર્ણ અને અત્યત અલ્પમુલ્યવાળા વસ્ત્રોને શ્રુત ઉપદેશ અનુસાર ધમ બુદ્ધિથી ધારણ કરતા હોવા છતાં અચેલક જ છે એવુ સમજવુ જોઈએ. જે અચેલક તુલ્ય હોય છે તે પણ અચેલક જ માન્યા જાય છે

आगमे हि द्विविध कल्प –स्थविरकल्प, जिनकल्पश्च । तत्र गच्छप्रतिबद्धाना मुनीनामाचार स्थविरकल्प. ।

ननु कस्तावत् स्थविरकल्पक्रम' ? उच्यते–प्रथम श्रुतचारित्रलक्षणधर्मश्रवणम्, तत सम्यक्त्वलाभ, तदनु आलोचनापूर्विका प्रव्रज्याप्रतिपत्ति, तत शिक्षाधिकारो भवति शिक्षा च द्विविधा–ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च । तत्र ग्रहणशिक्षा –सूत्राध्ययनरूपा, आसेवनाशिक्षा–प्रतिलेखनादिरूपा । तत सूत्राणामर्थग्रहणम् । तत्पश्चादनियतवास । स च तादृशयोग्यतासंपन्नस्य मुने' साधुसहायस्य ग्रामनगरसंनिवेशादिषु देशान्तरे वा गुरोराज्ञया पर्यटनम् ।

आगम मे स्थविरकल्प और जिनकल्प के भेद से दो कल्प भगवान ने कहे हैं । उनमें गच्छप्रतिबद्ध मुनियों का जो आचार है वह स्थविरकल्प है । स्थविरकल्प का क्रम इस प्रकार है–प्रथम श्रुतचारित्ररूप धर्म का श्रवण, उससे सम्यक्त्व का लाभ, बाद में आलोचनापूर्वक प्रव्रज्या की प्रतिपत्ति, उससे ग्रहणशिक्षा एव आसेवनशिक्षा के अधिकार का लाभ । सूत्र के अध्ययन करने रूप ग्रहणशिक्षा एव प्रतिलेखनादिकरूप आसेवनशिक्षा हैं । इसके बाद सूत्रों का अर्थ ग्रहण करना, पश्चात् अनियत वास । अनियतवास का तात्पर्य है गुरु की आज्ञा से ग्राम, नगर एव सन्निवेश आदिकों में अथवा देशान्तर में विचरण करना । यह विचरण, विचरण करने की योग्यता सपन्न जो साधु होता है उसी का होता है । फिर भी यह एकाकी विहार नहीं कर सकता किन्तु अन्य साधुओं के साथ ही विहार करता है ।

આગમમાં સ્થવિરકલ્પ અને જીનકલ્પના ભેદોથી બે કલ્પ ભગવાને કહ્યા છે એમાં ગચ્છપ્રતિબદ્ધ મુનિયોનો આચાર છે, તે સ્થવિરકલ્પ છે સ્થવિર કલ્પનો ક્રમ આ પ્રકારનો છે–પ્રથમ શ્રુતચરિત્રરૂપ ધર્મનું શ્રવણ, એનાથી સમ્યક્ત્વનો લાભ, પછી આલોચના પૂર્વક પ્રવ્રજ્યાની પ્રાપ્તિ એથી ગ્રહણ શિક્ષા અથવા આસેવનશિક્ષાનો લાભ, સૂત્રનું અધ્યયન કરવા રૂપ ગ્રહણ શિક્ષા અને પ્રતિલેખનાદિક રૂપ આસેવનશિક્ષા છે એ પછી સૂત્રોના અર્થ સમજ્યા પછી અનિયતવાસ, અનિયતવાસનું તાત્પર્ય એ છે કે, ગુરુની આજ્ઞાથી ગ્રામ–નગર અને સન્નિવેશ વગેરેમાં અથવા દેશાન્તરમા વિચરણ કરવું આ વિચરણ કરવાની યોગ્યતા સપન્ન જે સાધુ હોય છે, તેને જ ગુરુ મહારાજ એવી આજ્ઞા આપે છે આમાં તે એકાકી વિહાર કરી શકતા નથી પરંતુ અન્ય સાધુઓની સાથે જ વિહાર કરે છે

ननु किं प्रयोजनं देशान्तरपर्यटनस्य ? उच्यते—नानास्थानेषु बहुश्रुतानाचार्यादीन् पश्यतस्तस्य सूत्रार्थेषु समाचार्यां च विशेषप्रतिपत्तिर्भवति, नानादेशभाषाज्ञानं च। तेनासौ तत्तद्देशीयभाषया तत्र तत्र धर्मदेशनां ददाति प्रव्रज्यां ग्राहयति च। गच्छान्तरीया अन्यदेशीयाः साधवः 'अयमस्मद्भाषाभाषाज्ञानवान्' इति मत्वा तदन्तिकमागत्य शास्त्राभ्यसनरूपां तदुपसंपदं प्रतिपद्यन्ते, तेषां प्रीतिश्च तदुपरि जायते। एवमनियतवासेन पर्यटतस्तस्य निष्पत्तिर्भवति। निष्पत्तिर्नाम सद्गुणवत्त्वेन प्रभूतशिष्याणां तदन्तिके संसिद्धिः।

देशान्तर में भ्रमण करने का प्रयोजन यह है कि जब साधु देशान्तर में भ्रमण करते हैं, तब उनका अन्यदेश के अनेक बहुश्रुत आचार्य आदिकों के साथ संपर्क बढता है। उससे उनको सूत्रमें अर्थ में एवं साधु समाचारी में विशेष प्रतिपत्ति–जानकारी होती है। तथा नाना देशकी भाषाओं का ज्ञान भी हो जाता है। इससे साधु को धर्मप्रचार करने में बड़ी भारी सहायता मिलती है। क्यों कि वह उस २ देशमें उस २ देश की भाषा से उपदेश देकर वहां की जनता को धार्मिक वासना से वासित करते हैं। एवं लोगों को दीक्षा ग्रहण करने की भावना जागृत करते हैं। लोग उनसे प्रतिबोध पाकर दीक्षा धारण करते हैं। दूसरे गच्छ के अथवा अन्य देश के साधु "ये हमारी भाषा भाषी हैं" यह समझकर उनके पास आते जाते हैं और उनसे शास्त्रों का अभ्यास करते हैं। इससे दूसरे गच्छ के मुनिराजों की उन पर अधिक प्रीति भी हो जाती है। शिष्यपरंपरा की भी वृद्धि होती है। क्यों कि लोग जब

દેશાન્તરમાં ભ્રમણ કરવાનું પ્રયોજન એ છે કે, જ્યારે સાધુ દેશાન્તરમાં ભ્રમણ કરે છે ત્યારે તેને બીજા દેશોના બહુશ્રુત આચાર્ય વગેરે સાથે સંપર્ક થાય છે આથી તેને સૂત્રમાં અર્થમાં અને સાધુ સમાચારીમાં વધુ જાણવાનું મળે છે અને જુદા જુદા દેશની ભાષાઓનું પણ જ્ઞાન થાય છે આથી સાધુને ધર્મ પ્રચાર કરવામાં સારી એવી સહાયતા મળી રહે છે કેમ કે, તે જે તે દેશમાં જે તે દેશની ભાષાથી ત્યાંની જનતાને ધાર્મિક ભાવનાથી ભાવનાયુક્ત બનાવી શકે છે, અને લોકોમાં દીક્ષા ગ્રહણ કરવાની ભાવના જાગૃત કરે છે બીજા ગચ્છના અથવા બીજા દેશના સાધુ "આ અમારા ભાષાભાષી છે." એમ સમજી એની પાસે આવે છે સંપર્ક વધારે છે અને એની પાસેથી શાસ્ત્રોનો અભ્યાસ કરે છે આથી બીજા ગચ્છના મુનિરાજોની પણ તેના પર પ્રીતિ થવા લાગે છે આથી શિષ્ય પરંપરાની વૃદ્ધિ થાય છે, કેમ કે

एव शिष्यप्राप्त्यनन्तर स्व परोपकारकरणेन गच्छकार्ये सपादिते दीर्घे पर्याये च प्रतिपालिते सति अभ्युद्यतमरण स्वीकरणीयम्। अभ्युद्यतमरण त्रिविधम्- पादपोपगमन, इङ्गितम् , भक्तप्रत्याख्यान च।

अभ्युद्यतमरणे सल्लेखनादिरूपा समाचारी प्रदर्श्यते-सलेखना आगमोक्तेन विधिना शरीरादे कृशीकरणम् , सा त्रिविधा-उत्कृष्टा, मध्यमा, जघन्या च। तत्रो-

---

उनको गुणगणशाली समझने लगते हैं तो उनके अधिक परिचय में आने से लोगों पर उनके ज्ञानादिक गुणों का प्रभाव पडता है। इससे प्रभावित होकर वे उनको अपना हितकारक जान उनके समीप दीक्षित भी हो जाते हैं। इससे शिष्यपरपरा बढती है। इस प्रकार अनियत वास से पर्यटन करने वाले साधु को ये अनेक लाभ होते हैं।

शिष्यप्राप्ति के अनतर स्व एव पर का उपकार करने से गच्छ का कार्य सम्पादित होने पर तथा साधु अवस्था की पयाय दीर्घकालतक पालीजाने पर उन साधुओंको अभ्युद्यतमरण स्वीकार करना चाहिये। यह अभ्युद्यतमरण ३ तीन प्रकार का है १ पादपोपगमन, २ इङ्गित, ३ भक्तप्रत्याख्यान।

इस अभ्युद्यतमरण में अब सलेखनादि रूप समाचारी दिखलाई जाती है - आगमोक्तविधि के अनुसार शरीर आदि का कृश करना इस का नाम संलेखना है। यह उत्कृष्ट, मध्यम एव जघन्य के

લોકો જ્યારે તેને ગુણશાળી સમજતા થાય છે ત્યારે તેના અધિક પરિચયમા આવે છે આથી લોકો ઉપર એના જ્ઞાનાદિક ગુણોને પ્રભાવ પડે છે એથી પ્રભાવિત થઈ તેને પોતાના હિતકારી જાણી તેની સમીપ દીક્ષિત પણ થઈ જાય છે આથી શિષ્યપરપરા વધે છે આથી આ પ્રકારને અનિયતવાસ અને પર્યટન કરવાવાળા સાધુને અનેક લાભ થાય છે

શિષ્ય પ્રાપ્તિ ઉપરાંત સ્વ અને પરના ઉપકારક બનવાથી ગચ્છનુ કાર્ય સપાદિત થવાથી તથા સાધુ અવસ્થાની પર્યાય લાબા સમય સુધી પાળવામા આવવાથી એ સાધુઓએ અભ્યુદ્યતમરણ સ્વીકારવું જોઈએ આ અભ્યુદ્યતમરણ ત્રણ પ્રકારના છે (૧) પાદપોપગમન (૨) ઇંગિત (૩) ભક્તપ્રત્યાખ્યાન

આ અભ્યુદ્યતમરણમા હવે સલેખનાદિ રૂપ સમાચારી બતાવવામાં આવે છે આગમમાં બતાવેલ વિધિ અનુસાર શરીર વગેરેને કૃશ કરવું, એનુ નામ સલેખના છે એ ઉત્કૃષ્ટ, મધ્યમ અને જઘન્યના ભેદથી ત્રણ પ્રકારની

त्कृष्टा द्वादशवर्षप्रमाणा, मध्यमा-संवत्सरप्रमाणा, जघन्या-पाण्मासिकी। तत्रो
त्कृष्टा तावदेवम्-प्रथम चत्वारि वर्षाणि विचित्रं तपः कृत्वा पारणके विकृतिपरि
त्याग करोति। ततः परं चत्वारि वर्षाणि विचित्रतपांसि करोति। ननु किं नाम
विचित्रं तप ? उच्यते-कदाचिच्चतुर्थम् कदाचित् षष्ठम्, कदाचिदष्टमम्, एवं दशम
द्वादशादीन्यपि करोति, पारणं च सर्वकामगुणितेन उद्गमादि शुद्धेनाहारेण विधत्ते।
ततः परं द्वे च वर्षे एकान्तरितमाचाम्लं करोति। एकान्तरं चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन
पारणं करोतीत्यर्थः। एवं दशवर्षाणि व्यतीत्यैकादशेवर्षे आद्यान् षण्मासान् चतुर्थ

भेद से तीन प्रकार की होती है। उत्कृष्टसलेखना बारह १२ वर्ष की,
मध्यम सलेखना एक १ वर्ष की एवं जघन्य सलेखना छह ६ मास की
होती है। उत्कृष्टसलेखना की विधि इस प्रकार है-सब से पहिले जो
उत्कृष्टसंलेखना धारण करता है वह प्रथम के चार वर्ष लगातार
विचित्र तप करके पारणा में विकृति-विगय का त्याग करे। दूसरे चार
वर्षों में विचित्र तप अर्थात् कभी वह चतुर्थ करता है कभी छट्ठ करता
है कभी अट्ठम करता है कभी दशम करता है और कभी द्वादश आदि
करता है। पारणा सर्वकामगुणित सब इन्द्रियों के अनुकूल तथा उद्गम
आदि दोषों से विशुद्ध ऐसे आहार से करता है। इसके बाद फिर वह
दो वर्षों में अर्थात् नवमें दशमें वर्ष में एकान्तरित आचाम्ल (आयबिल)
व्रत की आराधना करता है। यह आराधना उसकी दो २ वर्षों तक
चलती रहती है। अर्थात्-दो वर्ष एकान्तर चतुर्थ करके आचाम्ल
(आयबिल) से पारणा करता है। इस प्रकार करते २ उसके दस १०

હોય છે ઉત્કૃષ્ટસંલેખના બારવર્ષની, મધ્યમ સંલેખના એકવર્ષની, અને
જઘન્યસંલેખના છ મહિનાની હોય છે ઉત્કૃષ્ટ સંલેખનાની વિધિ આ પ્રકારની
છે, સહુથી પહેલાં જે ઉત્કૃષ્ટ સંલેખના ધારણ કરે છે, તેણે પ્રથમના ચાર
વર્ષ સુધી વિચિત્ર તપ કરી પારણામાં વિકૃતિ વિગયનો ત્યાગ કરે, બીજા
ચાર વર્ષોમાં તે વિચિત્ર તપ અર્થાત્ કદી ચોથ કરે છે કદીક છઠ્ઠ
કરે છે કદીક અઠ્ઠમ કરે છે અને ક્યારેક દ્વાદશ વગેરે કરે છે પારણું સર્વ
કામ ગુણીત બધી ઇન્દ્રિયોને અનુકૂળ તથા ઉદ્ગમ આદિ દોષોથી રહિત
આહારથી કરે છે આ પછી તે બે વર્ષમાં અર્થાત્ નવમા દશમા વર્ષમાં
એકાન્તરિત આયબીલ વ્રતની આરાધના કરે છે આ આરાધના બે વર્ષ સુધી ચાલે
છે અર્થાત્ બે વર્ષ એકાન્તર ચોથ કરી આયબીલથી પારણું કરે છે, આ રીતે
કરતાં કરતાં એના દશ વર્ષ વ્યતિત થઈ જાય છે જ્યારે અગીયારમાં વર્ષની

षष्ठं वा तप' करणीय नाष्टमादिकम् । तत' परमन्यान् षण्मासान् अष्टमदशम-द्वादशादिरूमुत्कृष्ट तप. करोति । अस्मिन्नेकादशेवर्षे पारणके तु परिमित-स्वल्प-सख्यकमाचाम्ल करोति । कदाचित् करोति कदाचिन्नकरोतीति भाव' । द्वादशे तु वर्षे कोटिसहित निरन्तरमाचाम्ल करोति । अत्र कोटिसहितमित्यस्यायमर्थः-कोटिभ्या सहितम्-विवक्षितदिने आचाम्ल कृत्वा पुनर्द्वितीयेऽह्नि आचाम्लमेव प्रत्याख्याति, तत प्रथमस्य पर्यन्तकोटिः, द्वितीयस्य प्रारम्भकोटिः, इमे द्वे मिलिते भवतस्तत्कोटिसहित भवति, इदमाचाम्ल निरन्तर भवतीत्यर्थ. । तत्रापि मासार्द्धेन मासिकेन वाऽऽहारत्यागेन तपश्चरणीयम् । अनशन करणीयमित्यर्थः । अनेन क्रमेण द्वादशवार्षिकीमुत्कृष्टा सलेखनां कृत्वा गिरिगह्वरं वा षट्कायोपमर्दरहित निर्जन

वर्ष व्यतीत हो जाते हैं और जब ग्यारह ११वा वर्ष प्रारम्भ होता है तो उसमें आदि के छह ६ मास तक वह चतुर्थ, षष्ठ, तपस्या की आराधना करता है, अष्टम आदि की नहीं । बाकी ऊपर के छह ६ महिनों में अष्टम, दशम एव द्वादश आदि उत्कृष्ट तप करता है । इस वर्ष में पारणा के दिन परिमित आयबिल करता है । अर्थात् कभी आयबिल करता है कभी नहीं करता । बारह १२वे वर्ष में कोटिसहित-निरन्तर आयबिल करता है । जहा पहिले आयबिल का अन्त हो और दूसरे आयबिल का प्रारम्भ, इसका नाम कोटि है । इन दोनों कोटियों से सहित जो आयबिल होता है उसका नाम कोटिसहित आयंबिल है । ये आयबिल निरन्तर होता हैं, अन्त में मासार्ध-एक पक्ष और मासिक-एक मास का अनशन करता है । इस क्रम से बारह १२ द्वादश वर्ष की उत्कृष्ट सलेखना होती है । इस उत्कृष्ट सलेखना को

શરૂઆત હોય છે ૭ માસ સુધી તે ચોથ, છઠ્ઠ તપસ્યાની આરાધના કરે છે. અષ્ઠમ વગેરેની નહી એ પછીના ૭ મહિનામા અષ્ટમ, દશમ, અને દ્વાદશ આદિ ઉત્કૃષ્ટ તપ કરે છે આ વર્ષમાં પારણાના દિવસે પરિમિત આયબિલ કરે છે અર્થાત્ કોઈ વખત આયબિલ કરે છે કોઈ વખત કરતા નથી. બારમા વર્ષમા કોટિ સહિત નિરતર આયબિલ કરે છે જ્યા પહેલાં આયબિલનો અત આવે અને બીજા આયબીલનો પ્રારભ થાય એનુ નામ કોટિ છે આ બંને કોટિઓ સહિત જે આયબિલ હોય છે એનુ નામ કોટિ સહિત આયબિલ છે આ આયબિલ રોજ થાય છે અતમા માસાર્દ્ધ-એક પક્ષ અને માસિક-એક માસનું અનશન કરે છે આ ક્રમથી બાર (દ્વાદશ) વર્ષની ઉત્કૃષ્ટ સંલેખના થાય છે આ ઉત્કૃષ્ટ સલેખના કરીને સાધુ ક તો

स्थान वा गत्वा पादपोपगमनम् , इङ्गित भक्तप्रत्याख्यानं वा मरण यथाशक्ति मपद्यते ।

मध्यमा तु सळेखना पूर्वोक्तप्रकारेण द्वादशभिर्मासैर्भवति । तत्र वर्षस्थाने मासा स्थापनीया॰ ।

जघन्या तु द्वादशभि॰ पक्षै' पूर्वोक्तप्रकारेण भवति । पक्षानेव वर्षस्थानीयान् कृत्वा तपश्चरण कर्तव्य भवति । गिरिकन्दरादिगमन मध्यमजघन्ययोरपि ।

करके साधु या तो किसी पर्वत की गुफा में चला जाता है, या षट्काय के उपमर्दन से रहित निर्जीव किसी निर्जनस्थान में चला जाता है। वहां पहुँच कर पादपोपगमन, इंगित, भक्तप्रत्याख्यान इन तीनों में से किसी एक को जैसी शक्ति होती है उसके अनुसार स्वीकार कर लेता है।

मध्यमा सलेखना एक १ वर्ष की होती है। जो विधि बारह १२ वर्ष की सलेखना में प्रदर्शित करने में आई है वह विधि इसकी भी है वहां जहां वर्ष का प्रमाण ग्रहण किया गया है इसमें उस जगह मास रूप प्रमाण समझाना चाहिये। जैसे वहा ४ वर्ष आदि कहा है इसमें ४ मास समझना चाहिये।

जघन्य सलेखना १२ पक्षों–६ मास–के प्रमाण वाली होती है। इसकी भी विधि वही है जो उत्कृष्ट सलेखना की है। वर्ष के स्थान में यहां पक्षों को ग्रहण किया जाता है। मध्यम सलेखना एवं जघन्य संलेखना इन दोनों में भी गिरिकन्दरा आदि में जाना आवश्यकीय है।

કોઈ પર્વતની ગુફામાં ચાલ્યા જાય છે અથવા ષટ્કાયના, ઉપમર્દનથી રહિત નિર્જીવ એવા નિર્જન સ્થાનમા ચાલ્યા જાય છે ત્યા પહોંચી પાદપોપગમન ઈગિત, ભક્તપ્રત્યાખ્યાન આ ત્રણમાંથી પોતાની શક્તિ પ્રમાણે કોઈ એક મરણનો સ્વીકાર કરી લે છે,

મધ્યમા સંલેખના એક ૧ વર્ષની હોય છે જે વિધિ બાર ૧૨ વર્ષની સંલેખનામા પ્રદર્શિત કરવામાં આવી છે તે વિધિ આની પણ છે જ્યાવર્ષનું પ્રમાણ ગ્રહણ કરવામાં આવ્યું છે ત્યાં મહિનાનુ પ્રમાણ મધ્યમા સંલેખના માટે સમજવું જોઈએ જેમ ત્યાં ચાર વર્ષ આદિ કહેલ છે ત્યા આમાં ચાર મહિના સમજવા જોઈએ

જઘન્ય સંલેખના ૧૨ પક્ષ–છ માસ ના પ્રમાણવાળી હોય છે આની વિધિ પણ એ જ છે જે ઉત્કૃષ્ટ સંલેખનાની છે મધ્યમ સંલેખના અને જઘન્ય સંલેખના આ બન્નેમાં પણ ગિરિકન્દરા આદિમાં જવું આ

सल्लेखनायामसमर्थेन मुनिना संलेखनां विनाऽपि यथाशक्ति संस्तारकं कृत्वाऽभ्युद्यतमरणं स्वीकरणीयम्।

अभ्युद्यतमरणाङ्गीकरणात् प्रागिदं चिन्तनीयम्-मया विशुद्धचारित्रानुष्ठानेन स्वपरहितं संपादितम्, शिष्याद्युपकारतः परहितं च, निष्पन्नाश्च सम्प्रति मम गच्छपरिपालनक्षमाः शिष्याः, अथ विशेषेण ममात्महितमनुष्ठेयमिति विचिन्त्य स्वपरिज्ञाने सति स्वकीयमायुः शेषं स्वयमेव पर्यालोचयति, तदभावेऽन्यं विशिष्टमाचार्यादिकं पृच्छति। स्वायुषिस्तोकतया ज्ञाते भक्तप्रत्याख्यानादि मरणं यथाशक्ति प्रतिपद्यते। यदि स्वायुर्दीर्घतया ज्ञातं जङ्घाबलमाश्च परिक्षीणं तदा स्थिरवासं

जो साधु संलेखना करने में असमर्थ है उसे संलेखना के विना भी यथाशक्ति संथाराकर अभ्युद्यतमरण स्वीकार करना चाहिये। इस अभ्युद्यतमरण को अंगीकार करने के पहिले साधु को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि मैंने विशुद्ध चारित्र के अनुष्ठान से स्व हित संपादित कर लिया है। शिष्यादिकों के उपकार से पर का उपकार भी कर दिया है। इस समय गच्छ का परिपालन करने में समर्थ मेरी शिष्यादि संपत्ति भी सर्व प्रकार से शक्तिशाली हो चुकी है। अब मुझे निश्चिन्त होकर विशेष रीति से अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिये "मेरी अवशिष्ट आयु कितनी है" इस प्रकार स्वयं जान कर अथवा यदि स्वयं नहीं जान सके तो अन्य विशिष्ट आचार्य आदि से पूछकर निश्चित करले। यदि आयु अल्प ज्ञात होवे तो यथाशक्ति उसे भक्तप्रत्याख्यानादि मरण स्वीकार कर लेना चाहिये। यदि आयु दीर्घ ज्ञात होवे और

જે સાધુ સંલેખના કરવામાં અસમર્થ છે, એણે સંલેખના વગર પણ યથાશક્તિ સંથારો કરી અભ્યુદ્યત મરણનો સ્વીકાર કરવો જોઈએ આ અભ્યુદ્યત મરણનો અંગિકાર કરતા પહેલાં સાધુએ એ પ્રકારનો વિચાર કરવો જોઇએ કે, મે વિશુદ્ધ ચારિત્રના અનુષ્ઠાનથી સ્વહિત સંપાદિત કરી લીધુ છે, શિષ્યાદિકોના ઉપકારની સાથોસાથ બીજા ઉપર પણ ઉપકાર કર્યો છે આ સમય ગચ્છનું પરિપાલન કરવામાં સમર્થ એવી મારી શિષ્યાદિસંપત્તિ પણ સર્વ પ્રકારથી શક્તિશાળી બની ચુકી છે હવે મારે નિશ્ચિંત બનીને વિશેષ રીતથી મારા આત્માનું કલ્યાણ કરવું જોઇએ. "મારી અવશિષ્ટ આયુ કેટલી છે" આ વાત પોતે જાણીને અથવા જો પોતે ન જાણી શકે તો બીજા ગુણસંપન્ન આચાર્ય આદિથી પૂછીને નક્કી કરી લે જો આયુષ્ય અલ્પ હોય તો; યથાશક્તિ તેણે ભક્તપ્રત્યાખ્યાન આદિ મરણનો સ્વીકાર કરવો જોઈએ જો આયુ લાંબી

स्वीकरोति तत्रैव क्षेत्रे वसन्नपि वसतिदोषैरुपधिदोषैश्च रहितो भवति। शक्तौ पुष्टायां तु अस्मिन् पञ्चमारके जिनकल्पप्रतिपत्तिविधानाभावात् स्थविरकल्पेनैव स्वपरोपकारकरणेन दीर्घपर्याय प्रतिपालनीयः।

॥ इति स्थविरकल्पिकसामाचारी ॥

चतुर्थारकापेक्षया जिनकल्पादिप्रतिपत्तिरूपे अभ्युद्यतविहारे मर्यादा प्रदर्श्यते –तत्र जिनकल्पादि प्रतिपित्सुना प्रथममेव 'मया विशुद्धचारित्रानुष्ठानेन स्वपरहितं' इत्यादि विचिन्त्य, तपः सत्वादि भावनाभिरात्मा भावनीय।

साथ में जघाबल क्षीण हुआ मालूम पडे तो उसे स्थिरवास अंगीकार करलेना चाहिये। और इसी स्थिरवास से उसी क्षेत्र में रहते हुए भी वह वसति के दोषों से एवं उपाधि के दोषों से रहित हो जाता है। यदि शक्ति पुष्ट होवे तो भी इस पञ्चम आरे में जिनकल्प की प्रतिपत्ति के विधान का अभाव होने से स्थविरकल्प की हालत में ही रहते हुए स्व पर का उपकार करते २ दीर्घपर्याय को पालते रहना चाहिये।

॥ यह स्थविर कल्प की समाचारी है ॥

अथ–चौथे आरे की अपेक्षा से जिनकल्प आदि की प्रतिपत्ति स्वीकृति रूप अभ्युद्यत विहार में कैसी क्या मर्यादा होती है यह बात प्रकट की जाती है–जो साधु जिनकल्प आदि को प्राप्त करने का अभिलाषी है उसे चाहिये की वह सर्व प्रथम ऐसा विचार करे कि मैंने विशुद्ध चारित्र के अनुष्ठान से अपना और पर का हित तो साधित किया। अब हम को तप एवं सत्वादि पांच भावनाओं से आत्मा को भावित करना चाहिये।

હોય અને સાથે જ ઘાબળ ક્ષીણ જણાય તો તેણે સ્થિરવાસ અંગિકાર કરી લેવો જોઈએ આ સ્થિરવાસથી તે ક્ષેત્રમાં રહેવા છતાં તે વસ્તીના દોષોથી અને ઉપાધીના દોષોથી રહિત બને છે કદાચ શક્તિ સારી હોય તો પણ આ પાંચમા આરામાં જીનકલ્પની પ્રતિપત્તિના વિધાનનો અભાવ હોવાથી સ્થવિર કલ્પની હાલતમાં રહીને સ્વ અને પરનો ઉપકાર કરતા કરતાં દીર્ઘ પર્યાયનુ પાલન કરતા રહેવું જોઈએ.

॥ આ સ્થવિરકલ્પની સમાચારી છે ॥

હવે ચોથા આરાની અપેક્ષાથી જીનકલ્પ આદિની પ્રતિપત્તિ સ્વીકૃતિરૂપ અભ્યુદ્યત વિહારમાં કેવી અને કેટલી મર્યાદા હોય છે આ વાત પ્રગટ કરવામાં આવે છે–જે સાધુ જીનકલ્પ આદિને પ્રાપ્ત કરવાનો અભિલાષી છે તેણે અવશ્ય જોઈએ કે, મેં વિશુદ્ધ ચારિત્રના અનુષ્ઠાનથી પોતાનું અને પરનું હિતતો સાધ્યું. હવે મારે તપ અને સત્વાદિપાંચ ભાવનાઓથી આત્માને ભાવિત કરવા જોઈએ

तथाचोक्तम्—

तवो सत्त च सुत्त च, एगत्त बलमप्पणो ।
पढम पच भावित्ता, जिणकप्प पवज्जइ ॥ १ ॥

छाया—तप सत्त्व च सूत्र च, एकत्व बलमात्मन. ।
प्रथम पञ्च भावयित्वा, जिनकल्प प्रपद्यते ॥ १ ॥

अय भाव –जिनकल्पप्रतिपित्सुस्तपोभावनयात्मान भावयन् देवादिकृतोपसर्गादिनाऽनेपणादिकारणतो वा यदि पण्मासपर्यन्तमाहार न लभते तथापि न वाध्यते ॥ १ ॥ सत्त्वभावनया भय पराजयते ॥ २ ॥ सूत्रभावनया सूत्र स्वनामवत् परिचित करोति ॥ ३ ॥ एकत्व भावनया चात्मान भावयन् साधर्मिक साध्वादिना सह मिथ कथादिव्यतिकरान् सर्वानपि परिवर्जयति । ततो वाह्य

कहा भी है ।

तवो सत्त च सुत्त च, एगत्त बलमप्पणो ।
पढम पच भावित्ता, जिणकप्प पवज्जइ ॥ १ ॥

इसका भाव यह है कि–जिनकल्प को धारण करने का इच्छुक साधु तप भावना से आत्मा को भावित करता हुआ यदि देव मनुष्य आदि द्वारा होने वाले उपसर्ग से अथवा अनेपणादि रूप कारण से छह मास तक आहार प्राप्त न कर सके तो भी बाधित नहीं होता है । सत्त्व भावना से वह भय पर विजय प्राप्त करता है । एकत्व भावना से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ साधर्मिक साधु आदिकों के साथ परस्पर में कथा वार्ता आदि समस्त वातों का परित्याग कर देता है । जब

કહ્યું પણ છે—

તવો સત્તં ચ સુત્તં ચ, એગત્તં બલમપ્પણો ।
પઢમ પચ ભાવિત્તા, જિણકપ્પ પવજ્જઇ ॥ ૧ ॥

આનો ભાવ એ છે કે—જીનકલ્પને ધારણ કરવાની ઈચ્છાવાળા સાધુ તપ ભાવનાથી આત્માને ભાવિત કરીને દેવ મનુષ્ય આદિ દ્વારા થનાર ઉપસર્ગથી અથવા અનેષણાદિરૂપ કારણથી છ મહિના સુધી આહાર મેળવી ન શકે તો પણ પીડા પામતો નથી. સત્વભાવનાથી તે ભય ઉપર વિજય પ્રાપ્ત કરે છે સૂત્ર ભાવનાથી પોતાના નામની માફક સૂત્રનો પરિચય પ્રાપ્ત કરે છે, એકત્વ ભાવ નાથી પોતાના આત્માને ભાવિત કરીને સાધર્મિક સાધુ આદિની સાથે પરસ્પરમા કથાવાર્તા આદિ સમસ્ત વાતોનો પરિત્યાગ કરી દે છે જ્યારે બાહ્યમાં તેનું મમત્વ

ममत्वे मूलत एवोच्छेदिते पश्चाद् देहादिभ्योऽपि भिन्नमात्मानं पश्यन् सर्वथा तेषु नासक्तो भवति ॥ ४ ॥ बलभावनाया बलं द्विविधं-शरीरं, मानसं च । तत्र शारीरमपि बलं जिनकल्पप्रतिपत्तियोग्यस्य शेषजनातिशायिकं स्यात्, तपः प्रभृतिभिः शुष्यमाणस्य यद्यपि शारीरं बलं तादृशं न भवति तथापि स्वात्मा धृतिबलेन तथा भावयितव्यो यथा महद्भिरपि परीषहोपसर्गैर्नेबाध्यते ।

आभिः पञ्चभिर्भावनाभिर्भावितात्मा जिनकल्पादि प्रतिपित्सुर्गच्छे भवि यसन्नाहारादिपरिकर्म प्रथममेव करोति । आहारादावन्यसाध्वपेक्षयाऽन्तप्रान्तादि

बाह्य में ममत्व मूलतः उसका उच्छेदित हो जाता है तब अन्य देहादि पदार्थो से भिन्न स्व आत्मा को जानता हुआ वह उन में सर्वथा अनासक्त ही रहता है। उनमें आसक्त नहीं होता। बलभावना में बल दो प्रकार है एक शरीर संबंधी और दूसरा मनसंबंधी। जो साधु जिन कल्प की प्रतिपत्ति के योग्य होता है उसका शारीरिक बल भी यद्यपि साधारणजन की अपेक्षा अतिशय विशिष्ट होता है परन्तु तपश्चर्या आदि के कारण उनका शरीर जब कृश हो जाता है तब वह वैसा नहीं रहता है तो भी उनकी आत्मा धृतिबल द्वारा इतनी अधिक भावित रहती है कि जिसकी वजह से वे अधिक से अधिक परीषह और उप सर्गो से आक्रान्त होने पर भी अपने कर्तव्यमार्ग से जरा भी विचलित नहीं होते।

इन पांच भावनाओं से भावितात्मा जिनकल्पादिक को ग्रहण करने की इच्छा से गच्छ में रहता हुआ आहारादि परिकर्म को सब

મૂલતઃ નાશ પામે છે ત્યારે બીજા દેહાદિ પદાર્થોથી ભિન્ન પોતાના આત્માને જાણીને તેમાં સર્વથા અનાસક્ત જ રહે છે એમાં આસક્ત બનતા નથી બળભાવનામાં બળ બે પ્રકારના છે એક શરીર સંબંધી અને બીજું મન સંબંધી જે સાધુ જીનકલ્પની પ્રતિપત્તિને યોગ્ય હોય છે તેનું શારીરિક બળ પણ જો કે, સાધારણ જનની અપેક્ષા અતિશય બળવાન હોય છે પરંતુ તપ શ્ચર્યા આદિના કારણથી તેનું શરીર જ્યારે કૃષ બને છે ત્યારે તે તેવા રહેતા નથી તો પણ તેની આત્મા ધૃતિબળ દ્વારા એટલી અધિક ભાવિત રહે છે કે, જેનાથી તે અધિકથી અધિક પરીષહ અને ઉપસર્ગોથી આક્રાંત થતા હોવા છતાં પણ પોતાના કર્તવ્યમાર્ગથી જરા પણ ચલિત થતા નથી

આ પાંચ ભાવનાઓથી ભાવિતાત્મા જીનકલ્પાદિકને ગ્રહણ કરવાની ઈચ્છાથી ગચ્છમાં રહીને આહારાદિ પરિકર્મને બધાથી પહેલાં કરી લે છે, આહારાદિમાં

ग्रहणादुत्कृष्टतासम्पादनम्-परिकर्म । यथा-तृतीयपौरुष्यामवगाढायां वल्ल-चणकादिकमन्त प्रान्त रूक्ष च गृह्णाति ।

" ससट्ठमससट्ठा, उद्धड तह होइ अप्पलेवा य ।
उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया॥ १ ॥ "

आसां सप्तविधानां पिण्डैषणानां मध्ये आद्यद्वय विहाय पञ्चाना मध्यादन्यतरैषणाद्वयाभिग्रहणाऽऽहार गृह्णाति एकयैषणया भक्त, द्वितीयया तु पानकम् । एवमागमोक्तविधिनाऽऽत्मान भावयित्वा गच्छप्रतिबद्ध एव जिनकल्प प्रतिपित्सुश्चतुर्विधसघ समेलयति, तदभावे स्वगण ततस्तीर्थंकरस्य समीपे, तदभावे गण

से पहिले ही कर लेता है आहार आदि में अन्य साधु की अपेक्षा अतप्रात आदि ग्रहण से उत्कृष्टता का सपादन करना परिकर्म है। जैसे तृतीय पौरुषी में वल्ल, चना आदि का आहार करना एवं अन्तप्रान्त रूक्ष आहार करना ।

ससट्ठमससट्ठा, उद्धड तह होइ अप्पलेवा य ।
उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥१॥

इन सात प्रकार की पिण्डैषणाओं के मध्य में आदि की दो एषणाओं को छोड़कर बाकी बची पाच एषणाओं में से अन्यतर एषणा दो के अभिग्रह से वह आहार को ग्रहण करता है। एक एषणा से भक्त को और द्वितीय एषणा से पान को। इस प्रकार आगमोक्त विधि के अनुसार आत्मा को भावित करके गच्छ में रहता हुआ ही जिनकल्प को अगीकार करने का अभिलाषी साधु चतुर्विध सघ को एकत्रित

અન્ય સાધુની અપેક્ષા અતપ્રાન્ત આદિ ગ્રહણથી ઉત્કૃષ્ટતાનુ સપાદન કરવું પરિકર્મ છે જેમ-ત્રીજા પૌરૂષીમા વાલ, ચણા આદિનો આહાર કરવો અને અન્તપ્રાન્ત રૂક્ષ આહાર કરવો

ससट्ठमससट्ठा, उद्धड तह होइ अप्पलेवा य ।
उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥ १ ॥

એ સાત પ્રકારની પિન્ડૈષણાઓના મધ્યમા પહેલાની બે એષણાઓને છોડીને બાકી બચેલ પાચ એષણાઓમાથી અન્યતર એષણા બેના અભિગ્રહથી તે આહાર ગ્રહણ કરે છે, એક એષણાથી ભક્તને અને બીજી એષણાથી પાનને આ પ્રકારે આગમમાં કહેલ વિધિ અનુસાર આત્માને ભાવિત કરીને ગચ્છમા રહીને જ જીનકલ્પને અંગિકાર કરવાના અભિલાષી સાધુ ચતુર્વિધ સઘને એક-

धरस्य, तदभावे चतुर्दशपूर्वधरस्य, तदभावे दशपूर्वधरस्य, तदभावे वटाश्वत्थाशोकवृक्षाणां सनिधौ सिद्धसाक्षिक जिनकल्प स्वीकरोति। तदा सबालवृद्ध गच्छं क्षामयति। ततो नि शल्यो निष्कषायोऽसौ स्वगणसाध्वादीननुशास्ति। एवमेव युष्माभिरप्याचरणीयम् नात्र प्रमादः कार्य.। गणमर्यादा नोल्लङ्घनीया। इत्यादि शिक्षा दत्वा गच्छाद् विनिर्गतो भवति। तस्मिन् चक्षुर्विषयातिक्रान्ते सति साधव प्रतिनिवर्तन्ते।

करता है। इसके अभाव में अपने गण को, एकत्रित करता है बाद में तीर्थंकर के समीप में, इनके अभाव में गणधर के समीप में, इनके अभाव में चौदहपूर्वधारी के समीप में, इनके अभाव में दशपूर्वधारी के समीप में, इनके भी अभाव में वटवृक्ष, अश्वत्थ–पीपल वृक्ष, अथवा अशोक वृक्ष के समीप सिद्ध परमात्मा को साक्षी करके जिनकल्प को स्वीकार करता है। उस समय वह अपने गच्छ में रहने वाले बालवृद्ध साधुओं से खमत खामणा करते हैं। पश्चात् निःशल्य एव निष्कषाय होकर अपने गच्छ के साधु आदिकों को यह शिक्षा देता है कि आप लोग भी इसी तरह से करे इसमें प्रमाद करना ठीक नहीं है। गण की जो मर्यादा है उसका उल्लघन नहीं करना। इत्यादि शिक्षा देकर फिर वह गच्छ निर्गत हो जाता है। साधु वर्ग जब तक वह दिखता रहता है तबतक उसके पीछे २ चलता रहता है और जब वह दिखलाई नहीं पड़ता तब सब पीछे वापिस लौट आते हैं।

ત્રીત કરે છે એના અભાવમા પોતાના ગણને એકત્રીત કરે છે બાદમાં તીર્થંકરની સમીપમાં, એના અભાવમા ગણધરની સમીપમા, તેના અભાવમાં ચૌદ પૂર્વધારીની સમીપમા, તેના અભાવમાં દશપૂર્વધારીની સમીપમા, તેના પણ અભાવમાં વડવૃક્ષ, આસોપાલવ, પીપળો અથવા અશોકવૃક્ષના સમીપ સિદ્ધ પરમાત્માને સાક્ષી રાખીને જીનકલ્પનો સ્વીકાર કરે છે આ સમયે તે પોતાના ગચ્છમાં રહેલા બાળ–વૃદ્ધ સાધુઓથી ખમત ખામણા કરે છે પછી નિ.શલ્ય અને નિષ્કષાય થઈને પોતાના ગચ્છના સાધુ આદિને એવી શિખામણ આપે છે કે, આપ લોકોએ પણ આજ રીતે કરવુ તેમાં પ્રમાદ કરવો ઠીક નથી ગણની જે મર્યાદા છે તેનુ ઉલ્લઘન કરવુ નહી ઈત્યાદિ શિખામણ આપીને પછી તે ગચ્છ નિર્ગત થઈ જાય છે. જ્યા સુધી તે દેખાય છે ત્યાં સાધુવર્ગ તેની પાછળ પાછળ ચાલતા રહે છે અને જ્યારે તે દેખાતા બંધ થાય છે ત્યારે સઘળા પાછા ફરે છે

अथ जिनकल्पिकमर्यादा—

अनया मर्यादया जिनकल्प स्वीकृत्यासौ यत्र ग्रामे मासकल्प. करिष्यमाणस्तत्र षड् भागान् कल्पयति, ततश्च यस्मिन् भागे एकस्मिन् दिने भिक्षाचर्याकृता, तत्र पुनरपि सप्तम एव दिने पर्यटति। भिक्षाचर्या ग्रामान्तरगमन च तृतीयपौरुष्यामेव करोति। यत्र चतुर्थपौरुषी प्राप्ता भवेत्, तत्रैवावतिष्ठते, नान्यत्र गच्छति। भक्त पानक च पूर्वोक्तैषणाद्वयाभिग्रहेणालेपकृदेव गृह्णाति। एषणादिविषयमन्तरेण न केनापि सार्धं भाषते। एकस्यां च वसतौ यद्यपि उत्कृष्टत सप्त जिनकल्पिका' प्रतिवसन्ति तथापि ते परस्पर संभाषण न कुर्वन्ति। समापन्नान् उपसर्गपरीषहान् सर्वान् सहत एव। रोगेषु चिकित्सा न कारयत्येव तद्वेदना तु

अब जिनकल्पी की मर्यादा कहते हैं—

इस मर्यादा से जिनकल्प को स्वीकार कर यह जिस ग्राम में मासकल्प करता है वहा छह भागों की कल्पना करता है। जिस भाग में एक दिन में भिक्षाचर्या करली गई हो वहा फिर यह सातवे दिन ही भिक्षाचर्या करता है। भिक्षाचर्या करना अथवा एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाना यह तृतीय पौरुषी में ही करता है। जहा चतुर्थ पौरुषी आ जाती है वह वहीं पर ठहर जाता है। अन्यत्र नहीं जाता है। पूर्वोक्त दो एषणाओं के अभिग्रह से अलेपकृत–लेपरहित जिसका लेप न लगे ऐसे भक्त पान को ग्रहण करता है। एषणादि विषय–के विना किसी के भी साथ बातचीत नहीं करता है। एक वस्ती में यद्यपि अधिक से अधिक सात जिनकल्पी साधु रह सकते हैं तो भी वे परस्पर संभाषण नहीं करते हैं। जो भी उपसर्ग या परीषह आपडे तो उसे सहते ही हैं। रोग

હવે જીનકલ્પીની મર્યાદા કહેવામાં આવે છે—

આ મર્યાદાથી જીનકલ્પનો સ્વીકાર કરી તે સાધુ જે ગામમા માસ કલ્પ કરે છે ત્યા છ ભાગોની કલ્પના કરે છે જે ભાગમા એક દિવસમા ભિક્ષાચર્યા કરી લેવામા આવી હોય ત્યા તે ફરી સાતમા દિવસે જ ભિક્ષાચર્યા કરે છે ભિક્ષાચર્યા કરવી અથવા એક ગામથી બીજા ગામે જવું એ ત્રીજા પૌરૂષીમાં જ કરે છે જ્યાં ચોથી પૌરૂષી આવે ત્યા તે રોકાઈ જાય છે આગળ વધતા નથી પૂર્વોક્ત બે એષણાના અભિગ્રહથી (અલેપકૃત) જેનો લેપ ન લાગે એવા ભક્ત પાનને ગ્રહણ કરે છે એષણાદિ વિષય વગર કોઈની સાથે વાતચિત કરતા નથી, એક વસ્તીમા જો કે, વધુમાં વધુ સાત જીનકલ્પી સાધુ રહી શકે છે તો પણ તેઓ પરસ્પર સંભાષણ કરતા નથી. જે પણ ઉપસર્ગ અને પરીષહ આવી પડે

सम्यगेव सहते। आपातसंलोकादिदोषरहिते स्थण्डिले उच्चारादीन् करोति, नत्वस्थण्डिले। परिकर्मरहितायां वसतौ तिष्ठति। यद्युपविशति तदा नियमादुत्कुटुक एव, न तु निषद्यायाम्, औपग्राहिकोपकरणस्यैवाभावात्। मत्तमातङ्गसिंहव्याघ्रादिके सम्मुखे समापतति सति उन्मार्गगमनादिना ईर्यासमितिं न भिनत्ति।

जिनकल्पिकोऽपवादं नासेवते, जङ्घाबलपरिक्षीणस्तु अविहरमाणोऽप्याराधकः लोचं च करोत्येव, दशविधसामाचार्यां पञ्च समाचार्यो जिनकल्पिकानां, आवश्यकी,

में ये किसी भी प्रकार चिकित्सा नहीं कराते हैं किन्तु जैसे भी बनता है उस रोग को सहन ही करते हैं। जहां मनुष्यों का आवागमन नहीं होता है ऐसे स्थण्डिल में ही ये उच्चार आदि के लिये जाते हैं। अस्थण्डिल में नहीं। परिकर्म रहित-घठारी मठारी विना की वस्ती में ये रहते हैं जब बैठते हैं तो नियम से उत्कुटुक आसन से ही बैठते हैं। निषद्या से नहीं क्यों कि औपग्रहिक उपकरण आसन आदि का ही इनके पास अभाव है। मत्तमातंग, सिंह, एवं व्याघ्र आदि इन्हें मार्ग में चलते हुए साम्हने मिल जाय तो भी ये उसीमार्ग से चलकर अपनी ईर्या समिति को खंडित नहीं करते हैं।

ये जिनकल्पी साधु अपवाद मार्ग का सेवन नहीं करते हैं। इनका जंघाबल यदि परिक्षीण भी हो जावे और उसकी वजह से ये विहार न भी करे तो भी आराधक ही माने गये हैं। ये केशों का लोंच करते हैं। दश प्रकार की समाचारी में से पांच प्रकार की समाचारी इन जिनकल्पियों

તેને તેઓ સહન કરે છે રોગમાં કોઈ પણ પ્રકારની ચિકિત્સા તેઓ કરાવતા નથી પણ જેમ બને તેમ તે રોગને સહન કરે છે જ્યાં મનુષ્યોનું આવાગમન હોતુ નથી એવા ઉજ્જડ સ્થાનોમાં જ તેઓ શૌચાદિક કર્મ માટે જાય છે. અવરજવરના સ્થાને નહીં પરિકર્મ રહિત-ઘઠારી મઠારી વગરની-વસ્તીમા રહે છે જ્યારે બેસે છે તો નિયમથી ઉત્કુટુક (ઉભડક પગે બેસવુ) આસનથી બેસે છે, નિષદ્યાથી નહીં કેમકે, ઔપગ્રહિક ઉપકરણ આસન આદિનો તેની પાસે અભાવ છે મત્ત માતંગ, સિંહ, અને વાઘ આદિ તેને માર્ગમાં ચાલતાં સામા મળે તો પણ તે તે માર્ગથી ચલીને પોતાની ઈર્યાસમિતિને ખંડિત કરતા નથી.

એ જીનકલ્પી સાધુ અપવાદ માર્ગે જતા નથી, તેમનું જંઘાબળ ક્ષીણ પણ થઈ જાય અને એ કારણે તે પોતાની જગ્યાએથી વિહાર ન પણ કરે તો પણ આરાધક જ માનવામાં આવે છે તે કેશોનો લોંચ કરે છે દશ પ્રકારની સમાચારીમાંથી પાંચ પ્રકારની સમાચારી જીનકલ્પીઓની છે તે આ પ્રકારે છે ૧ આવ

मिथ्याकार , आवश्यकी, नैषेधिकी, गृहस्थोपसपद् , इति। आवश्यकीप्रभृतयस्तिस्रो वा सामाचार्यस्तेषाम्। तेषा श्रुतज्ञान जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु, उत्कर्षतस्तु दशपूर्वाणि भिन्नानि, न तु सम्पूर्णानि । सहनन च शारीर–वज्रर्षभनाराचाख्य, मानस वज्रकुड्यसमाना धृतिः च ।

स्थितिरपि तेषा क्षेत्रादिका अनेकविधा । क्षेत्रतस्तावज्जन्मना सद्भावेन च पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु, सहरणत कदाचित् कर्मभूमौ, अकर्मभूमौ वा सद्भावापे

की है। वह इस प्रकार है–१ आप्रच्छना, २ मिथ्याकार, ३ आवश्यकी, ४ नैषेधिकी, ५ गृहस्थोपसपदा गृहस्थ की आज्ञा लेकर उतरना, बैठना। अथवा आवश्यकी, नैषेधिकी, गृहस्थोपसपत्, यह तीन प्रकार की सामाचारी इन जिनकल्पियों के होती है। इनका श्रुतज्ञान जघन्य की अपेक्षा नवमपूर्व की तृतीय आचार वस्तुतक, उत्कृष्ट की अपेक्षा भिन्न दशपूर्वतक ही सीमित रहा करता है सपूर्ण नहीं। इनका शारीरिक सहनन वज्र ऋषभ नाराच नामक है और मानसिक सहनन वज्रकुड्य–वज्रकी भीत के तुल्य धैर्य है अर्थात् इनका धैर्य वज्रभित्ति के समान अभेद्य होता है और वही इनका मानसिक बल है।

क्षेत्र आदि की अपेक्षा इनकी स्थिति अनेक प्रकार की है। इनका १५ कर्मभूमियों में ही जन्म होता है इस अपेक्षा १५ कर्मभूमियों में इनकी स्थिति जन्म और सद्‌भाव की अपेक्षा मानी जाती है। सहरण की अपेक्षा कदाचित् कर्मभूमिमें कदाचित् अकर्मभूमिमें भी इनकी स्थिति हो सकती है।

ચ્છના, ૨ મિથ્યાકાર, ૩ આવશ્યકી, ૪ નૈષેધિકી ૫ ગૃહસ્થોપસપદ ગૃહસ્થની આજ્ઞા લઈને ઉતરવુ, બેસવુ અથવા આવશ્યકી, નૈષેધિકી, ગૃહસ્થોપસપત, આ ત્રણ પ્રકારની સમાચારી તે જીનકલ્પીઓને હોય છે તેમનુ શ્રુતજ્ઞાન જઘન્યની અપેક્ષા નવમા પૂર્વના ત્રીજા આચાર વસ્તુતક, ઉત્કૃષ્ટની અપેક્ષા ભિન્ન દશપૂર્વ સુધી જ સીમિત રહ્યા કરે છે, સપૂર્ણ નહી તેનુ શારીરિક સહનન વજ્ર વૃષભ નારાચ નામનુ છે અને માનસિક સહનન વજ્ર કુમ્ભ–વજ્રની ભીત જેવુ ધૈર્ય છે અર્થાત્ તેનુ ધૈર્ય વજ્રભીત સમાન અભેદ્ય હોય છે તે તેનુ માનસિક બળ છે

ક્ષેત્ર આદિની અપેક્ષા એમની સ્થિતિ અનેક પ્રકારની છે, એમનો ૧૫ કર્મભૂમીયોમાજ જન્મ થાય છે આ અપેક્ષા ૧૫ કર્મભૂમીયોમાં તેની સ્થિતિ જન્મ અને સદ્‌ભાવની અપેક્ષા માનવામાં આવે છે સહરણની અપેક્ષા કદાચિત કર્મ ભૂમિમાં, કદાચિત્ અકર્મભૂમિમાં પણ એની સ્થિતિ હોઈ શકે છે આ

क्षया स्थिति । कालत. उत्सर्पिण्यां, व्रतापेक्षया तृतीयचतुर्थारकयोरेव, जन्ममात्रेण तु द्वितीयारकेऽपि । अवसर्पिण्यां तु जन्मना तृतीयचतुर्थारकयोरेव । पूर्वप्रतिपन्नव्रतापेक्षया तु पञ्चमारकेऽपि । संहरणतस्तु महाविदेहक्षेत्रापेक्षया सर्वस्मिन्नपि काले प्राप्यते। चारित्रत –प्रतिपद्यमानानां सामायिके, छेदोपस्थापनीये च चारित्रे स्थिति. । मध्यमतीर्थकर–विदेहतीर्थकरतीर्थवर्त्यपेक्षयाऽत्र सामायिक, प्रथमचरम-तीर्थकरतीर्थवर्त्यपेक्षया तु छेदोपस्थापनीयचारित्रम् । प्रतिपन्नानां तु सूक्ष्मसंपराये,

यह सद्भाव की अपेक्षा कथन है । काल की अपेक्षा–उत्सर्पिणी काल के तृतीय और चतुर्थ आरे में उनकी स्थिति मानी गई है । सो यह व्रत की अपेक्षा जानना चाहिये । वैसे तो जन्ममात्र की अपेक्षा से द्वितीय आरे में भी इनकी स्थिति हैं । अवसर्पिणीकाल में जन्म की अपेक्षा तृतीय और चौथे आरे में ही, तथा पूर्वप्रतिपन्न व्रत की अपेक्षा अर्थात् –चौथे आरे के व्रत को लेकर पचम आरे में भी इनकी स्थिति जानना चाहिये । यदि कोई देव इन्हें हरण कर महाविदेह क्षेत्र से अन्यत्र पहुँचा देवे तो उस अपेक्षा इनकी स्थिति सब काल जाननी चाहिये । चारित्र की अपेक्षा जो प्रतिपद्यमानचारित्री हैं उनको सामायिक एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थित मानना चाहिये, क्यों कि जो मध्यमतीर्थंकर एवं विदेह क्षेत्र में रहे हुए तीर्थंकर के तीर्थ में रहने वाले हैं वे सामायिकचारित्र में, एव जो प्रथम एव चरमतीर्थंकर के तीर्थवर्ती हैं वे छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थित रहते हैं । जो

સદ્ભાવથી અપેક્ષનુ કથન છે કાળની અપેક્ષા–ઉત્સર્પિણી કાળના ત્રીજા ચોથા આરામા સ્થિતિ માનવામાં આવેલ છે આને વ્રતની અપેક્ષાથી જાણવું જોઈએ. એમ તો જન્મ માત્રની અપેક્ષાથી બીજા આરામા પણ તેની સ્થિતિ છે અવ સર્પિણી કાળમાં જન્મની અપેક્ષા ત્રીજા અને ચોથા આરામાં, તથા પૂર્વપ્રતિપન્ન વ્રતની અપેક્ષા અર્થાત્ ચોથા આરાના વ્રતને લઈ પાંચમા આરામાં પણ એની સ્થિતિ જાણવી જોઈએ. કદાચ કોઈ દેવ આદિ એનુ હરણ કરી મહાવિદેહ ક્ષેત્રથી બીજે પહોંચાડી દે તો એ અપેક્ષા એની સ્થિતિ બધા કાળમા જાણવી જોઈએ. ચારિત્રની અપેક્ષા જે પ્રતિપદ્યમાન ચારિત્રી છે તે સામાયિક અને છેદો પસ્થાપનીય ચારિત્રમાં સ્થિત માનવા જોઈએ કેમકે, જે મધ્યમ તીર્થંકર અને વિદેહ ક્ષેત્રમાં રહેતા તીર્થંકરના તીર્થમાં રહેવાવાળા છે તે સામાયિક ચારિત્રમાં, અને જે પ્રથમ એવ ચરમતીર્થંકરના તીર્થવર્તી છે તે છેદોપસ્થાપનીય ચારિત્રમા સ્થિત રહે છે જે પ્રતિપન્ન ચારિત્રી છે તેની

यथाख्याते च चारित्रे उपशमश्रेण्याम्। तीर्थतस्तु जिनकल्पिकाना स्थितिर्नियमत-स्तीर्थ एव भवति न तु तीर्थे व्यवच्छिन्ने। पर्यायागमवेदाख्या. स्थितिभेदा अप्यवगन्तव्या।

स्थविरकल्पिकाना जिनकल्पिकाना च कल्पो दशविध.—आचेलक्यम् १, औद्देशिक २, शय्यातरपिण्डत्याग. ३, राजपिण्डत्याग ४, कृतिकर्म ५, महाव्रतम् ६, पुरुषज्येष्ठत्वम् ७, प्रतिक्रमणम् ८, मासकल्प ९, पर्युषणकल्प १० (वर्षाकल्प) श्चेति। तेषु मध्यमतीर्थंकरतीर्थवर्तिना साधूनां चत्वार कल्पाः अवस्थिता नियमेन पालनीया —शय्यातरपिण्डत्याग १, कृतिकर्म २, महाव्रतम् ३, पुरुषज्येष्ठत्व ४ चेति। इतरे षट् कल्पास्तु तेषामनवस्थिताः।

प्रतिपन्नचारित्री हैं उनकी स्थिति उपशमश्रेणी में सूक्ष्मसांपराय, एव यथाख्यातचारित्र में होती है। तीर्थ की अपेक्षा जिनकल्पियों की स्थिति नियम से तीर्थ में ही होती है, तीर्थ के व्यवच्छिन्न होने पर नहीं। पर्याय आगम एवं वेद, ये भी स्थिति के भेद हैं।

स्थविरकल्पियों का एव जिन कल्पियों का कल्प दश प्रकार का है—

१ आचेलक्य, २ औद्देशिक, ३ शय्यातरपिण्डत्याग ४ राजपिंडत्याग, ५ कृतिकर्म, ६ महाव्रत, ७ पुरुषज्येष्ठता ८ प्रतिक्रमण ९ मास कल्प १० पर्युषणकल्प (वर्षाकल्प) इन कल्पो में मध्यमतीर्थंकर के तीर्थवर्ती साधुओ के चार कल्प अवस्थित होते हैं—नियम से पालनीय होते हैं। वे चार ये हैं —शय्यातरपिंडत्याग, कृतिकर्म, महाव्रत, पुरुषज्येष्ठता। बाकी के ६ कल्प उनके लिये अनवस्थित हैं।

स्थिति ઉપશમ શ્રેણીમાં સૂક્ષ્મસાંપરાય, એવા યથાખ્યાત ચારિત્રમાં થાય છે તીર્થની અપેક્ષા જીનકલ્પિયોની સ્થિતિ નિયમથી તીર્થમાં જ થાય છે, તીર્થના વ્યવચ્છિન્ન થવાથી નહીં પર્યાય, આગમ અને વેદ આ પણ સ્થિતિના ભેદ છે

સ્થવિરકલ્પિઓના અને જીનકલ્પિયોના કલ્પ દશ પ્રકારના છે—

૧ આચેલક્ય, ૨ ઔદ્દેશિક, ૩ શય્યાતરપિન્ડત્યાગ, ૪ રાજપિન્ડત્યાગ, ૫ કૃતિકર્મ, ૬ મહાવ્રત, ૭ પુરૂષજ્યેષ્ઠતા, ૮ પ્રતિક્રમણ ૯ માસકલ્પ, ૧૦ પર્યુષણકલ્પ (વર્ષાકલ્પ) આ કલ્પોમાં મધ્યમતીર્થંકરના તીર્થવર્તી સાધુઓના ચાર કલ્પ અવસ્થિત હોય છે—નિયમથી પાળવાના હોય છે તે ચાર આ છે—શય્યાતરપિન્ડત્યાગ, કૃતિકર્મ, મહાવ્રત, પુરૂષ જ્યેષ્ઠતા. બાકીના ૬ કલ્પ એમને માટે અનવસ્થિત છે

आद्यचरमतीर्थंकरतीर्थवर्तिनां साधूनामेष दशविध कल्पोऽत्रस्थित एव। तत्रा-चेलक्य द्विविधम्-मुख्यम्, औपचारिक च। अविद्यमानचेलकत्वरूप मुख्यमाचे-लक्य प्रायशो जिनकल्पिकविशेषाणाम्। औपचारिकमाचेलक्यं स्थविरकल्पिका-नाम्, स्थविरकल्पिका हि-कल्पनीयमेषणीय जीर्णं खण्डित मलिन तथैव नूतन-मपि स्वल्पमूल्यक वस्त्र गृह्णन्ति, लोकस्यप्रकारादन्यप्रकारेण च तदासेवन्ते। अतस्ते चेलसद्भावेऽप्युपचारतोऽचेलका व्यपदिश्यन्ते।

प्रथमतीर्थंकर एव अन्तिमतीर्थंकर के तीर्थ में रहनेवाले जो साधु हैं उनके लिये तो यह १० प्रकार का कल्प अवस्थित ही हैं-अवश्य पालने योग्य ही है। आचेलक्य जो प्रथम कल्प है वह दो प्रकार का है।

१ मुख्य २ औपचारिक, कटियन्धन-रजोहरण-और सदोरकमुखव-स्त्रिका के सिवाय अन्य वस्त्र का परित्याग करना यह मुख्य आचेलक्य है। यह जिनकल्पिक विशेषों के होता है। औपचारिक जो आचेलक्य है वह स्थविरकल्पिकों के होता है। क्यों कि जो स्थविरकल्पी साधु होते हैं वे कल्पनोय, एपणीय, जीर्ण खंडित एव मलिन वस्त्र रखते हैं। जो नवीन वस्त्र भी ले तो वह भी अल्पमूल्य वाला ही लेते हैं। लौकिकजन जिस पद्धति से वस्त्रों का परिधान करते हैं वे उस पद्धति से वस्त्रों का परिधान नहीं करते हैं, किन्तु अन्य प्रकार से ही उन्हें पहिनते हैं। इस लिये चेल के सद्भाव में भी वे अचेलक ही कहे जाते हैं।

પ્રથમ તિર્થંકર અને અંતિમ તીર્થંકરના તીર્થમાં રહેવાવાળા જે સાધુ છે, તેમને માટે તો આ દશ પ્રકારના કલ્પ અવસ્થિત જ છે—અવશ્ય પાળવા યોગ્ય જ છે આચેલક્ય જે પ્રથમ કલ્પ છે તે બે પ્રકારના છે

૧ મુખ્ય, ૨ ઔપચારિક, કટીબંધન રજોહરણ અને સદોરકમુખવસ્ત્રિકાના સિવાય અન્ય વસ્ત્રનો પરિત્યાગ કરવો આ મુખ્ય આચેલક્ય છે, આ જિનકલ્પિક વિશેષોમાં હોય છે ઔપચારિક જે આચેલક્ય છે તે સ્થવિરકલ્પિઓને હોય છે કેમકે, સ્થવિરકલ્પી સાધુ હોય છે તે કલ્પનીય, એષણીય, જીર્ણ, ખંડિત અને મલીન, વસ્ત્ર રાખે છે જે નવીન વસ્ત્ર મળે તે પણ ઓછા મૂલ્યનું હોય તે જ લે છે લૌકિકજન જે પદ્ધતિથી વસ્ત્રોનુ પરિધાન કરે છે એ પદ્ધતિથી તેઓ વસ્ત્ર પરિધાન કરતા નથી પરંતુ અન્ય પ્રકારથી જ એને પહેરે છે આ માટે ચેલના સદ્ભાવમા પણ તે અચેલક જ કહેવાય છે

ननु—जीर्णखण्डितादिवस्त्रसद्भावे मुनीनामचेलकत्वे दरिद्रा अपि—अचेलका' कथ न कथ्यन्ते ? उच्यते—नवव्यूतसदशकमहामूल्यकादीनां वस्त्राणामलाभे दरिद्रा' परिजीर्णादीनि वासासि धारयन्ति न तु धर्मबुद्ध्या । अतो भावतस्तद्विषयकमूर्छा-परिणामस्यानिवृत्तत्वात् परिजीर्णवस्त्रसद्भावे दरिद्राणामचेलकत्वव्यपदेशो न भवति । मुनयस्तु—केनचिद्दीयमानान्यपिमहामूल्यकानि प्रमाणबहिर्भूतानि वस्त्राणि

शंका—जीर्ण, खण्डित आदि वस्त्रों के सद्भाव में यदि मुनियोंको अचेलक माना जाय तो जो दरिद्री जन हैं, जिनके पास जीर्ण खण्डित आदि वस्त्र हैं वे भी अचेलक कहे जाने चाहिए ? परन्तु वे तो अचेलक नहीं कहे जाते हैं ?

उत्तर—दरिद्री जो जीर्ण शीर्ण आदि वस्त्र धारण करते हैं वे धर्म-बुद्धि से नहीं करते हैं किन्तु उन्हें नवीन महामूल्यवाले वस्त्र मिलते नहीं हैं–उनका उनके पास अभाव है–अत उनके अभाव में उन्हें वे पहिनने पडते हैं परन्तु पहिनना नहीं चाहते, इसलिये वे अचेलक नहीं कहे जाते हैं। क्यों कि उनके भाव से तद्विषयक मूर्च्छापरिणाम की अनि-वृत्ति है, इसलिये परिजीर्ण वस्त्र के सद्भाव में दरिद्रियों में अचेलकत्व का व्यवहार नहीं होता है। मुनियो को तद्विषयक मूर्च्छा नहीं है, क्यों कि यदि कोई दाता उन्हें बहुमूल्यवस्त्र प्रदान करता है और वस्त्र यदि प्रमाणोपेत नहीं है–प्रमाण से बहिर्भूत है तो वे उस को ग्रहण नहीं करते हैं, किन्तु जीर्ण खंडित ही वस्त्र ग्रहण करते हैं। यदि कोई नवीन

શંકા જીર્ણ ખંડિત, આદિ વસ્ત્રોના સદ્ભાવમાં જો મુનિયોને અચેલક માનવામા આવે તો જે દરિદ્રી જન છે, જેની પાસે જીર્ણ ખંડિત આદિ વસ્ત્ર છે તેને પણ અચેલક કહેવા જોઈએ ? પરંતુ તેને તો અચેલક નથી કહેવામાં આવતા ?

ઉત્તર—દરિદ્રી જે જીર્ણ શીર્ણ વસ્ત્ર ધારણ કરે છે, તે ધર્મ બુદ્ધિથી નહી, પરંતુ તેને નવીન સારા મૂલ્યવાળા વસ્ત્રો મળતાં નથી,–એનો એની પાસે અભાવ છે તેથી એના અભાવમા તેણે તે પહેરવાં પડે છે, પરંતુ પહેરવાં ચાહતા નથી. આ માટે તે અચેલક કહેવાતા નથી કેમ કે તેને ભાવથી તદ્વિષયક મૂર્છા પરિણામની અનિવૃત્તિ છે માટે પરિજીર્ણ વસ્ત્રોના સદ્ભાવથી દરિદ્રીયોમાં અચેલકત્વનો વ્યવહાર થતો નથી. મુનિયોને તદ્વિષયક મમતા-મૂર્છા નથી કેમ કે, કોઈ દાતા તેમને બહુમૂલ્ય વસ્ત્રપ્રદાન કરે છે અને તે વસ્ત્ર જો પ્રમાણોપેત નથી હોતુ–પ્રમાણથી બહિર્ભૂત હોય છે તો તે તેને ગ્રહણ કરતા નથી પરંતુ જીર્ણ ખંડિત વસ્ત્ર જ ગ્રહણ કરે છે જો કોઈ

परिवर्जयन्ति, जीर्णखण्डितानि नूतनान्यप्यमहामूल्यकानि वसनानि प्रमाणोपेतान्येव धारयन्ति। तान्यपि श्रुतचारित्रधर्मोपकरणबुद्ध्या, न तु तत्र मुनीनां मूर्छापरिणामो भवति। अतस्तेषामचेलकत्वेन व्यपदेश. सम्यगेव।

मध्यमतीर्थकरतीर्थवर्तिना मुनीनामाचेलक्यमनवस्थितम् अतस्तेषां रक्तपीतादि रागरञ्जितमहामूल्यकादिवस्त्रवर्जननियमो नास्ति, ममत्वरहितत्वात् तेषाम्। प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थवर्तिनां मुनीनां तु धर्मबुद्ध्या स्वल्पमूल्यकप्रमाणोपेतश्वेतवस्त्राणामेव धारकत्वादाचेलक्य भवति।

वस्त्र देता भी हो तो वह यदि अल्पमूल्य वाला एव प्रमाणोपेत है तो ही लेते हैं। उसका लेना भी वे इसीलिये आवश्यक समझते हैं कि वह उनके श्रुतचारित्ररूप धर्म का उपकरण है। मूर्च्छापरिणाम से उसका वे ग्रहण नहीं करते हैं, क्यों कि उनके तद्विपयक मूर्च्छा का अभाव है। इसलिये मुनियो में अचेलकत्व का व्यवहार वास्तविक ही है।

जो मध्यम तीर्थंकरों के तीर्थवर्ती साधु हैं उनमें अचेलकत्व अनवस्थित है। इसलिये उन्हें लालपीले आदि रग से रगे हुए, तथा महामूल्यवाले वस्त्रों के परिवर्जन का कोई नियम नहीं है, क्यों कि ये ममता से रहित होते हैं। प्रथम चरम तीर्थंकर के तीर्थवर्ती मुनियों के तो प्रमाणोपेत तथा स्वल्पमूल्यवाले श्वेतवस्त्रों के परिधान करने का ही नियम है, सो भी उन का ग्रहण केवल धर्मबुद्धि से ही है। मूर्च्छापरिणाम से नहीं, अतः वस्त्रों के सद्भाव में भी इनमें अचेलकता ही है।

નવીન વસ્ત્ર આપે છે તો તે અલ્પમૂલ્યવાળુ અને પ્રમાણોપેત હોય તો જ લે છે એ લેવાનુ પણ તેઓ એ ખાતર આવશ્યક માને છે કે, એના શ્રુત ચરિત્ર રૂપ ધર્મનું ઉપકરણ છે મૂર્ચ્છા પરિણામથી તેને એ ગ્રહણ કરતા નથી કેમ કે એનામાં એના માટેની ભાવનાનો અભાવ છે આ માટે મુનિયોમાં અચેલકત્વનો વ્યવહાર વાસ્તવિક જ છે

જે મધ્યમ તીર્થંકરોના તીર્થવર્તી સાધુ છે એમનામાં અચેલકત્વ અનવસ્થિત છે આ માટે તેને લાલ, પીળા આદિ રગથી રગેલા તથા બહુમૂલ્ય વસ્ત્રોના પરિવર્જનનો કોઈ નિયમ નથી. કેમ કે એ મમતાથી રહિત હોય છે પ્રથમ ચરમ તીર્થંકરના તીર્થવર્તી મુનિ છે એને તો પ્રમાણોપેત તથા સ્વલ્પ મૂલ્યવાળાં શ્વેત વસ્ત્રો પરિધાન કરવાનો જ નિયમ છે અને તે ગ્રહણ કરવાનો નિયમ કેવળ ધર્મ બુદ્ધિથી જ છે મૂર્છા પરિણામથી નહી આથી વસ્ત્રોના સદ્‌ભાવમા પણ એમનામાં અચેલકતા છે જ

स्थविरकल्पिकाना वस्त्रधारणमाचाराङ्गबृहत्कल्पाद्यागमेषु व्यवस्थितम् (आचाराङ्गसूत्रे द्वितीयश्रुतस्कन्धे चतुर्दशाध्ययने) (बृहत्कल्पसूत्रे तृतीयोद्देशके)।

स्थानाङ्गसूत्रे भगवताऽचेलकस्य पञ्चभि' स्थाने प्रशस्तत्व प्रतिबोधितम्, तथाहि—

पचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवइ। त जहा–"अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुण्णाए, विउले इंदियनिग्गहे।"

पञ्चभि स्थानै=कारणै', अचेलक प्रशस्त –तीर्थंकरादिभि• प्रशसित इत्यर्थ'। स च जिनकल्पिकविशेष, स्थविरकल्पिकश्च। तत्र वस्त्राभावादेव जिनकल्पिकवि-

---

स्थविरकल्पियों के लिये वस्त्रों को धारण करने की व्यवस्था का उल्लेख आचारागसूत्र एव बृहत्कल्पसूत्र आदि आगमों मे पाया जाता है। इसके लिये आचारागसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध का १४ वां अध्ययन देखना चाहिये। तथा बृहत्कल्पसूत्र का तृतीय उद्देश देखना चाहिये।

स्थानाङ्गसूत्रमें भगवान् ने पांच कारणों को लेकर अचेलकता को प्रशस्त प्रतियोधित की है, जैसे—

"पचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवइ। त जहा–अप्पा पडिलेहा १, लाघविए पसत्थे २, रूवे वेसासिए ३, तवे अणुण्णाए ४, विउले इंदियनिग्गहे ५॥"

पांच कारणों से भगवान् ने अचेलकता की प्रशंसा की है। जिनकल्पिविशेषों में जो अचेलकता कही गई है वह वस्त्र के अभाव से

સ્થવિરકલ્પીઓને માટે વસ્ત્રોને ધારણ કરવાની વ્યવસ્થાનો ઉલ્લેખ આચારાંગસૂત્ર એને બૃહત્કલ્પસૂત્ર આદિ આગમોમા જાણી શકાય છે આને માટે આચારાંગસૂત્ર બીજા શ્રુતસ્કધના ૧૪ મા અધ્યયનને જોઈ લેવુ જોઈએ તથા બૃહત્કલ્પસૂત્રના ત્રીજા ઉદ્દેશને જોઈ લેવો જોઈએ

સ્થાનાગસૂત્રમાં ભગવાને પાચ કારણોને લઈ અચેલકતાને પ્રશસ્ત પ્રતિબોધિત કરેલ છે

पचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवइ। तं जहा अप्पा पडिलेहा, १ लाघविए पसत्थे २ रूवे वेसासिए ३ तवे अणुण्णाए ४ विउले इंदियनिग्गहे ५॥

પાંચ કારણોથી ભગવાને અચેલકતાની પ્રશસા કરેલ છે જીનકલ્પી વિશેષોમાં જે અચેલકતા કહેવામાં આવી છે તે વસ્ત્રના અભાવથી જ

शेषोऽचेलकः, स्थविरकल्पिकस्तु अल्पमूल्यसप्रमाणजीर्णमलिनवसनत्वादिति विशेषम् तानि स्थानानि प्रदर्शयति—

'त जहा' इत्यादि। 'अप्पा पडिलेहा' अल्पा प्रत्युपेक्षा प्रतिलेखनीयवस्त्रस्याल्पत्वात्, अल्पप्रतिलेखनया स्वाध्यायादेरन्तरायो न भवतीति भावः। तथा 'लाघविए पसत्थे' लाघविक प्रशस्तम्–लघोर्भावो लाघव तदेव लाघविकम्, यद् वस्त्रस्य परिमाणतो मूल्यत सख्यया चाल्पतरत्वाल्लघुत्व, तदव द्रव्यतो लाघवम्, भवतोऽपि तत्र रागाद्यभावादित्यचेलकस्य लाघविक प्रशस्तम्–अन-घम्। 'रूवे वेसासिए' रूप वैश्वासिकम्–तत्र रूप–वेषः, तच्च साधूना मुखवस्त्रिकेत

ही कही गई है। तथा स्थविरकल्पियों में जो अचेलकता कही गई है वह केवल अल्पमूल्यवाले प्रमाणोपेत जीर्ण, मलिन वस्त्रों के ग्रहण करने की अपेक्षा से कही गई है। यह बात तीर्थंकरों की परम्परा से प्रशासित होती हुई चली आ रही है। कल्पित नहीं है। वे पांच स्थान–कारण ये हैं–अल्पप्रतिलेखना–प्रतिलेखनीय वस्त्रों की अल्पता से प्रतिलेखना भी अल्प ही होगी–अल्पसमयसाध्य होगी, इस से स्वाध्याय आदि में अन्तराय नहीं आ सकती है। इस अपेक्षा अचेलकता प्रशस्त कही गई है। १। इसी तरह लाघव की अपेक्षा भी अचेलकता प्रशस्त कही गई है, क्यों कि वस्त्रों में जो लघुता है वह परिमाण, मूल्य एवं संख्या की अपेक्षा से है। यह द्रव्य की अपेक्षा लघुता है। भाव की अपेक्षा लघुता उनमें साधु के रागादिक का अभाव है।२। वैश्वासिक रूपकी अपेक्षा अचेलकता इसलिये प्रशासित हुई है कि जब कोई ऐसा

કહેવમાં આવી છે તથા સ્થવિરકલ્પિયેમાં જે અચેલકતા કહેવામાં આવી છે તે કેવળ અલ્પમુલ્યવાળા પ્રમાણોપેત જીર્ણ, મલીન વસ્ત્રોને ગ્રહણ કરવાની અપેક્ષાથી કહેવામા આવેલ છે આ વાત તીર્થંકરોની પરપરાથી પ્રશસિત થતી ચાલી આવેલ છે કલ્પિત નથી. આ પાંચ સ્થાન–કારણ આ છે અલ્પપ્રતિલેખના પ્રતિલેખનીય વસ્ત્રોની અલ્પતાથી પ્રતિલેખના પણ અલ્પ જ થશે અલ્પ સમય સાધ્ય થશે આથી સ્વાધ્યાય આદિમા અતરાય આવી શકતો નથી. આ અપેક્ષાથી અચેલકતા પ્રશસ્ત કહેવામાં આવેલ છે (૧) આ રીતે લાઘવની અપેક્ષા પણ અચેલકતા પ્રશસ્ત રહી છે કેમ કે, વસ્ત્રોમાં જે લઘુતા છે તે પરિણામ મૂલ્ય અને સખ્યાની અપેક્ષાથી છે આ દ્રવ્યની અપેક્ષા લઘુતા છે ભાવની અપેક્ષા આ લઘુતામાં સાધુના રાગાદિકનો અભાવ છે (૨) વૈશ્વાસિક રૂપની અપેક્ષા આ અચેલકતા એ માટે પ્રશસનીય થઈ

सदोरकमुखवस्त्रिकं परिहितश्वेतचोलपट्टकं परिधृतश्वेतवस्त्रप्रावरणं परिगृहीतप्रमार्जिकारजोहरणं, भिक्षाधानीसमावृतपात्रहस्तम्, अनावृतमस्तकम्, पादत्राण-रहितचरणम्, ईर्यादिपञ्चसमितिसमितं गुप्तित्रयगुप्तम्, जिनकल्पिकानां तु-मुख-बद्धश्वेतसदोरकमुखवस्त्रिकं परिगृहीतरजोहरणं, बद्धकटिबन्धनवस्त्रं च। एतादृशं साधूनां रूपं वैश्वासिकं=जनानां विश्वासजनकं भवति निःस्पृहतासूचकत्वात्। तथा 'तवे अणुण्णाए' तपः अनुज्ञातं=तपः सकलेन्द्रियसंगोपनरूपम् अनुज्ञातं=जिना-

वेष देखता है कि "मुख पर सफेददोरासहित मुखवस्त्रिका बंधी हुई है, सफेद चोलपट्टा पहिरा हुआ है, सफेद चादर ओढी हुई है, रजोहरण धारण किया हुआ है, भिक्षाधानी–झोली–से ढके हुए पात्र हाथ में हैं, मस्तक खुला हुआ है, पैरों में पगरखी मोजा आदि नहीं है, ईर्या-समिति आदि पांच समितियों से युक्त हैं, तीन गुप्तियों से गुप्त हैं" यही साधु का वेष है और इस वेष वाला "यह साधु है" ऐसा शीघ्र ही समझाजाता है, तथा जिनकल्पियों का यह वेष है कि वे अपने मुख पर दोरे से सफेद मुखवस्त्रिका बांधे रहते हैं, रजोहरण लिये रहते हैं और कटिबन्धन वस्त्र रखते हैं। जब कोई इस वेषको देखता है देख-कर वह यह समझ जाता है कि यह जिनकल्पि साधु है। इस प्रकार का यह साधु का वेष लोगों में विश्वासजनक होता है और वह इसलिये होता है कि यह वेष निःस्पृहता का सूचक होता है।३। तप की अपेक्षा यह अचेलकता इसलिये प्रशंसित हुई है कि इसमें सकल इन्द्रियों का

છે કે, જ્યારે કોઈ એવો વેશ જુએ છે "મુખ ઉપર દોરા સાથેની મુખ વસ્ત્રિકા બાંધેલ છે સફેદ ચોલપટ્ટો પહેરેલ છે. સફેદ ચાદર ઓઢેલ છે, રજોહરણ ધારણ કરેલ છે ભિક્ષા માટેના પાત્ર ઝોળીમાં ઢંકાયેલ હાથમાં છે મસ્તક ખુલ્લું છે પગમાં પગરખાં, મોજા આદિ નથી, ઈર્યા સમિતિ આદિ પાંચ સમિતિઓથી યુક્ત છે ત્રણ ગુપ્તિઓથી ગુપ્ત છે" સાધુનો આજ વેશ છે અને આવા વેશવાળા આ સાધુ છે, એવું તુરત જ સમજાઈ જાય છે તથા જીનકલ્પિઓનો એ વેષ છે કે તે પોતાના મોઢા ઉપર દોરાથી સફેદ મુખવસ્ત્રિકા બાંધે છે રજોહરણ રાખે છે, અને કટિબંધન વસ્ત્ર રાખે છે એને જોતાની સાથે જ જોનાર સમજી જાય છે કે એ જીનકલ્પિ સાધુ છે, આ પ્રકારનો સાધુનો વેષ લોકોમાં વિશ્વાસ જનક હોય છે અને તે એ માટે કે, આ વેષ નિસ્પૃહતાનો સૂચક હોય છે (૩) તપની અપેક્ષા આ આચેલકતા એ માટે પ્રશંસનીય બની છે કે જેમાં સકલ ઇંદ્રિયોના સંગોપન

नुमतं भवति। तथा-'विउले इंदियनिग्गहे' विपुलः=महान्, इन्द्रियनिग्रहो भवति, उपकरणं विना स्पर्शनप्रतिकूलशीतवातातपादिसहनात्।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

आसीद्दशपुरनाम्नि नगरे सोमदत्तनामा ब्राह्मणः। तस्य जिनाज्ञाराधिका रुद्रसोमानाम्नी भार्याऽभवत्। तस्यां भार्यायां सोमदत्तस्य द्वौ पुत्रौ जातौ। तत्र ज्येष्ठ आर्यरक्षितनामकः, द्वितीयः फल्गुरक्षितनामकः। आर्यरक्षितः पितुः सविधे शास्त्रमधीत्याधिकविद्यालाभार्थं पाटलिपुत्रनगरं गतः। तत्र तेन साङ्गोपाङ्गाश्चत्वारो वेदा अधीताः, चतुर्दशविद्यास्थानानि गृहीतानि। ततोऽसौ दशपुरं नगरं समायातः।

सगोपनरूप तप जिनेन्द्र भगवान् का अनुज्ञात है।४। तथा इसमें महान् इन्द्रिय निग्रह होता है, क्यों कि उपकरण के विना स्पर्शन इन्द्रिय के प्रतिकूल शीत वात आतप आदि का सहन होता है। इससे इन्द्रियां काबू में रहती हैं।

दृष्टान्त—दशपुर नामके नगर में एक सोमदेव नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम रुद्रसोमा था। यह जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा की आराधिका थी। सोमदेव के दो पुत्र थे। जेठे पुत्र का नाम आर्यरक्षित था और छोटे पुत्र का नाम फल्गुरक्षित। आर्यरक्षित पिता के पास शास्त्रों का अध्ययन करके अधिक विद्या की प्राप्ति की अभिलाषा से दशपुर से पाटलिपुत्र नगर को रवाना हुआ। वहां पहुंचकर इस ने सांगोपांग चारों वेदों का एवं १४ चौदह विद्याओं का खूब अध्ययन किया। जब यह पढ़ चुका तब वहां से वापिस दशपुर नगर की

રૂપ તપ જીનેન્દ્ર ભગવાનથી અનુજ્ઞાત છે (૪) તથા તેમાં મહાન ઇંદ્રિય નિગ્રહ થાય છે કેમ કે ઉપકરણ વગર સ્પર્શન ઇંદ્રિયને પ્રતિકૂલ શીતવાત, આતપ, આદિ સહેવાં પડે છે, આનાથી ઇંદ્રિયો કાબુમાં રહે છે

દૃષ્ટાંત—દશપુર નામના નગરમાં એક સોમદેવ નામનો બ્રાહ્મણ હતો, તેની સ્ત્રીનુ નામ રૂદ્રસોમા હતુ તે જીનેન્દ્ર ભગવાનની આજ્ઞાની આરાધિકા હતી. સોમદેવને બે પુત્રો હતા. મોટા પુત્રનુ નામ આર્યરક્ષિત અને નાના પુત્રનુ નામ ફલ્ગુરક્ષિત હતું આર્યરક્ષિત પિતાની પાસે શાસ્ત્રોનુ અધ્યયન કરીને અધિક વિદ્યાપ્રાપ્તિની અભિલાષાથી દશપુરથી પાટલીપુત્ર રવાના થયો, ત્યાં પહોંચીને તેણે સાંગોપાંગ ચારે વેદોનુ અને ચૌદ વિદ્યાનું પૂર્ણ અધ્યયન કર્યું જ્યારે તે પારંગત બની ચૂક્યો ત્યારે તે પાટલીપુત્રથી પોતાને

तन्नगरनरेशस्त नगरसमीपे समागत विज्ञाय तदभिमुख गत्वा गजोपरि तमुपवेश्य बहुसमानपुरस्सरं नगरे प्रावेश्य तस्य रूप्यस्वर्णमणि प्रभृतिभि• प्राभृतै• समान कृतवान्। एव तन्नगरनिवासिभि प्रवेशोत्सव कृत्वा समानित स्वगृहमा गत• पितरौ प्रणतवान्। मातृविध लोकसमानितमार्यरक्षित विलोक्य पिताऽतीव हृष्टो जात', किंतु माता हर्ष न दर्शितवती। आर्यरक्षितस्तदा मातरमजातहर्षा दृष्ट्वा प्राह—हे मात ! किमिदानीं मदवलोकनेन हृष्टा न भवसि ? सा प्राह–किमनेन

ओर प्रस्थान किया। दशपुर के राजा को जब इसके आने का समाचार मिला तो उसने इसके स्वागत की खूब तैयारी की। जब आर्यरक्षित आते २ नगर के समीप पहुँचा तो राजा इन्हें नगर में प्रवेश कराने के लिये इसके सम्मुख गया। हाथी पर बैठा कर बहुत सन्मानपूर्वक राजा ने इसको नगर में प्रवेश कराया। रूप्य, सुवर्ण और मणि आदि के नजराने से राजा ने इसका खूब सत्कार किया। इसी तरह नगरनिवासियों ने भी राजा का साथ दिया। सब से अच्छी तरह संमानित होकर आर्यरक्षित अपने घर पर आया। मातापिता को नमस्कार किया। विद्या की प्राप्ति से राजा तथा अन्य नगर निवासियों द्वारा समानित अपने पुत्र को देखकर पिता तो चित्त में बहुत ही हर्षित हुआ, परन्तु माता ने इस विषय में अपना हर्ष नहीं प्रकट किया। जब आर्यरक्षितने अपनी माता की इस प्रकार परिस्थिति देखी तो वह बोला हे माता ! क्या बात है तुम्हें क्यों नहीं इस समय मेरी इस परिस्थिति के अवलोकन से हर्ष

ગામ પાછો આવ્યો. દશપુરના રાજાને જ્યારે તેના આવવાના સમાચાર મળ્યા એટલે તેણે તેના સ્વાગતની ખૂબ તૈયારી કરી. આર્યરક્ષિત જ્યારે નગરની સમીપ પહોંચ્યો, તે સમયે રાજા તેને નગરમાં પ્રવેશ કરાવવા તેની સામે ગયા. હાથી ઉપર બેસાડીને ઘણાજ સન્માન પૂર્વક રાજાએ તેનો નગરમાં પ્રવેશ કરાવ્યો રૂપુ, સોનુ વિગેરેના નજરાણુથી રાજાએ તેનો ખૂબ સત્કાર કર્યો. આ રીતે નગર નિવાસીઓએ પણ રાજાને સાથ આપ્યો સારી રીતે આદર સત્કાર મેળવીને આર્યરક્ષિત પોતાને ઘેર પહોંચ્યો માતા પિતાને નમસ્કાર કર્યો વિદ્યાની પ્રાપ્તિથી રાજા તથા અન્ય નગરવાસીઓથી સન્માનિત પોતાના પુત્રને જોઈ પિતા તેના દિલમાં ખૂબ જ હર્ષિત બન્યા, માતાએ આ વિષયમા પોતાનો હર્ષ પ્રગટ કર્યો નહી જ્યારે આર્યરક્ષિતે માતાની આ પ્રકારની સ્થિતિ જોઈ તો તે બોલ્યો કે, હે માતા ! શું કારણ છે કે તમે આ

जीवघातादिहेतुकेन बहुशास्त्राध्ययनेन ? किं त्वया दृष्टिवाद' पठितः ? तेन मम हर्षः स्यात्। मातुरेतद् वचन श्रुत्वाऽऽर्यरक्षित' पृच्छति–क्वास्ति दृष्टिवाद.? जनन्या निगदितम्–इक्षुवाटकनामके ग्रामे विद्यमानस्य तोसलिपुत्राचार्यस्य समीपेऽस्ति, तदासेवनया तदाज्ञापरिपालनया तत्सन्निधौ दृष्टिवादोऽभ्यसनीय.। आर्यरक्षितेनोक्तम्—हे मातः ! श्वस्तत्राहं गमिष्यामि दृष्टिवादपठनार्थम्। रात्रौ सुखो-

हो रहा है। पुत्र के वचन सुनकर माताने कहा कि बेटा ! मुझे जो हर्ष नहीं उमड़ रहा है उसका कारण यह है कि तुम्हें जीवघात की हेतुभूत अनेक वेदादि शास्त्रों की इस पढ़ाई से क्या लाभ ? बेटा ! तुम हमें यह बतलाओ कि क्या तुमने दृष्टिवाद का भी अध्ययन किया है ? मुझे तो तभी हर्ष हो सकता है कि जब तुम दृष्टिवाद का ज्ञाता हो जाओ। जननी के इस प्रकार के वचन सुनकर आर्यरक्षित ने माता से पूछा मातः ! जिसके लिये तुम मुझे पढने के लिये कह रही हो वह दृष्टिवाद शास्त्र कहा है। माता ने कहा–सुनो ! इक्षुवाटक नाम का एक ग्राम है। उस में तोसलिपुत्र नामके एक आचार्य ठहरे हुए हैं, उनके पास यह शास्त्र है सो तुम वहा जाओ और उनकी खूब सेवा करो तथा उनकी आज्ञानुसार रहो तो वे तुम्हें इस शास्त्र का अध्ययन करा देंगे। आर्यरक्षित ने माता के ये सीखभरे वचन सुनकर कहा–मातः ! मैं कल उनके समीप इस शास्त्र का अध्ययन करने के लिये जाऊँगा। रात्रि में

સમયે મારી આ પ્રકારની સ્થિતિથી હર્ષિત થતા નથી ? પુત્રનું વચન સાંભળીને માતાએ કહ્યું, કે હે પુત્ર ! મને હર્ષ થતો નથી તેનું કારણ એ છે કે, જીવનઘાતના હેતુભૂત અનેક વેદાદિ શાસ્ત્રો ભણવાથી તને શું લાભ થશે ? બેટા ! તું મને એ તો બતાવ કે તે દૃષ્ટિવાદનું પણ અધ્યયન કર્યું છે ? મને ત્યારે જ હર્ષ થાય કે જ્યારે તું દૃષ્ટિવાદનો જ્ઞાતા બને માતાનું આ પ્રમાણેનું વચન સાંભળીને આર્યરક્ષિતે માતાને પૂછ્યું, માતા ! તું મને જે ભણવાનું કહે છે તે દૃષ્ટિવાદ શાસ્ત્ર કયાં છે ? માતાએ કહ્યું, સાંભળ ! એક ઈક્ષુવાટક નામનું ગામ છે, તેમાં તોસલી પુત્ર નામના એક આચાર્ય વિચરે છે તેમની પાસે આ શાસ્ત્ર છે, જેથી તું ત્યાં જા અને તેની ખૂબ સેવા કર તથા એની આજ્ઞાનુસાર રહે તો તેઓ તને આ શાસ્ત્રનું અધ્યયન કરાવી દેશે. આર્યરક્ષિતે માતાનું આવું હિતવાળું વચન સાંભળીને કહ્યું, મા ! હું આવતી કાલે આ શાસ્ત્રનું અધ્યયન કરવા માટે તેમની પાસે જઈશ, રાત્રે જ્યારે આર્યરક્ષિત સુવા

स्थितेन तेन मनस्येव चिन्तितम्-दृष्टिवादनाम्नैव तस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञानबोधकत्व ज्ञायते। ततोऽसौ प्रभाते प्रस्थित। मार्गे दशपुरनगरनिकटवर्तिग्रामनिवासी पितृसुहृद् ब्राह्मण. सार्धनवेक्षुदण्डान् गृहीत्वा समागच्छन् मिलित। स आर्यरक्षित दृष्ट्वा परस्पर कुशलप्रश्न कृत्वाऽवदत्-एते मया सार्धनवसख्यका इक्षवो भवदर्थमानीता, गृह्णातु भवान्। आर्यरक्षितो वदति-इदमिक्षुरूप प्राभृत मम मातुर्हस्ते भवताऽर्पयित्वा कथनीयम्-एते इक्षवो मयाऽऽर्यरक्षिताय समानीता, तेन तुभ्य प्रेषिता, इति। कथित च-अहमेव मार्गे प्रथम मिलित, इत्यपि तदग्रे कथनीय-

आर्यरक्षित सोने के लिये अपने स्थान पर गया और शांति से सो गया। जब वह उठा तो उसने विचार किया-माता ने जो कुछ कहा है वह बिलकुल ठीक है, कारण कि वह शास्त्र तत्त्वज्ञान का बोधक है यह बात तो उसके नाम से ही ज्ञात होती है। प्रातःकाल होते ही वह घर से इक्षुवाटक ग्रामकी ओर चल दिया। मार्ग में इस को दशपुर नगर के पास के ग्राम में रहने वाला एक ब्राह्मण जो इनके पिता का मित्र था मिला। वह ९॥ साढे नौ इक्षु दण्डों को लेकर आ रहा था। कुशल प्रश्न के बाद उसने आर्यरक्षित से कहा कि भाई! ये ९॥ साढे नौ इक्षुदण्ड मैं आप के लिये ही लाया हू-अतः आप इन्हें लीजिये। आर्यरक्षित ने कहा ठीक है आप इस भेंट को मेरी माता के हाथ में देकर कहना कि ये ९॥ साढे नौ इक्षुदण्ड मैं आर्यरक्षित के लिये लाया था। वे मुझे मार्ग में मिल गये हैं। उन्हों ने ही ये तुम्हारे पास भेजे हैं। और

માટે પોતાના સ્થાન ઉપર ગયો અને શાંતિથી સુઈ ગયો જ્યારે તે ઉઠયો ત્યારે તેણે વિચાર કર્યો કે, માતાએ જે કાંઇ કહ્યુ છે તે અક્ષરશઃ સત્ય છે કારણ કે તે શાસ્ત્ર તત્વજ્ઞાનનો બોધ આપનાર છે, એ હકિકત તેના નામ ઉપરથી જ જણાઈ આવે છે સવાર થતાં તે ઘરથી બહાર નીકળી ઈક્ષુવાટક ગામની તરફ ચાલતો થયો માર્ગમાં તેને દશપુરનગરની પાસેના ગામમાં રહેવા વાળો અને પોતાના પિતાનો મિત્ર એક બ્રાહ્મણ મળી ગયો તે બ્રાહ્મણ હાથમાં ૯॥ ઈક્ષુદંડ લઈને આવતો હતો કુશળ સમાચાર પૂછ્યા બાદ તેણે આર્યરક્ષિતને કહ્યુ કે, ભાઈ! આ ૯॥ ઈક્ષુદંડ તારા માટે જ લાવ્યો છું માટે તુ તેનો સ્વીકાર કર. આર્યરક્ષિતે કહ્યું, ઠીક છે આપ આ દંડ મારી માતાના હાથમા આપીને કહેજો કે, હું આ ૯॥ ઈક્ષુદંડ આર્યરક્ષિત માટે લાવ્યો હતો, તે મને માગમા મળ્યો હતો અને તેણે આ દંડ તમને આપ

मिति। अथासौ तद्वचनात्तथैव कृतवान्। ततो माताऽतीव हृष्टा तुष्टा संजाता, चिन्तयति च। मार्गे सार्धनवसङ्ख्यका इक्षवो मिलिता अतोऽसौ सार्धनवपूर्वाणि अध्येष्यते। आर्यरक्षितोऽपि शुभं शकुनं मत्वेक्षुवाटकं गतः। उपाश्रये प्रविश्य तोसलिपुत्राचार्यस्य वन्दनं कृत्वा तत्रोपविष्टः। तोसलिपुत्राचार्येण पृष्टम्—तव किं नाम?, किं च प्रयोजनम्?। आर्यरक्षितेन स्वनाम कथयित्वा प्रयोजनं कथितम्—दृष्टिवादमध्येतुमहमत्रागतोऽस्मि, मामध्यापयन्तु दृष्टिवादं भवन्तः। आचार्य-

यह भी कहना कि मार्ग में उनको पहले पहल मैं ही मिला था। आर्यरक्षित के वचनानुसार उस ब्राह्मण ने वैसा ही किया। माता ने ९॥ साढे नौ इक्षुदंड प्राप्तकर इस शकुनसे ऐसा अनुमान लगाया कि इसे जो ये ९॥ साढे नौ इक्षुदण्ड मार्ग में चलते समय मिले हैं उससे ऐसा ही ज्ञात होता है कि यह ९॥ साढे नौ पूर्वो का अध्ययन कर सकेगा। आर्यरक्षित ने भी "इनकी प्राप्ति शुभ शकुन स्वरूप है" ऐसा जानकर बडे आनंद के साथ इक्षुवाटक की ओर अधिक तेजी से चलने लगा। वहां पहुँचते ही वह उपाश्रय में गया। तोसलिपुत्र आचार्य को वदन कर फिर वहीं बैठ गया। आचार्यश्री ने पूछा तुम्हारा क्या नाम है? यहा किस प्रयोजन से आये हो।? आर्यरक्षित ने अपना नाम कह कर प्रयोजन भी स्पष्ट कर दिया। आचार्यश्री ने जब यह जाना कि "यह दृष्टिवाद के अध्ययन के लिये यहा आया है" तब आचार्यश्री ने उससे कहा कि

વાનું કહ્યુ છે અને એ પણ કહેજો કે માર્ગમાં એને પહેલવહેલો હું જ મળ્યો હતો. આર્યરક્ષિતના વચનાનુસાર તે બ્રાહ્મણે તેવુ જ કર્યુ. માતાએ ૯॥ ઈક્ષુદંડ પ્રાપ્ત કરી એ શુકનથી એવું અનુમાન લગાવ્યું કે, તેને જે આ ૯॥ ઈક્ષુદંડ રસ્તામાં આવવા સમયે મળેલ છે એથી એવુ જ્ઞાત થાય છે કે, સાડાનવ પૂર્વનું અધ્યયન કરી શકશે. આર્યરક્ષિતે પણ આની પ્રાપ્તિ શુભ શુકન સ્વરૂપ છે તેવું જાણીને ઘણા આનંદની સાથે ઈક્ષુવાટકની તરફ ઝડપથી ચાલવા માંડયુ ત્યા પહોંચતાં જ તે ઉપાશ્રયમાં ગયા. તોસલીપુત્ર આચાર્યને વંદન કરી ત્યાં બેસી ગયા. આચાર્યશ્રીએ તેને પૂછયુ, તમારૂ નામ શું છે? શું કારણથી અહિં આવ્યા છો? આર્યરક્ષિતે પોતાનુ નામ આપીને આવવાનું પ્રયોજન જણાવી દીધુ. આચાર્યશ્રીએ જ્યારે એવું જાણ્યુ કે, "આ દષ્ટીવાદના અધ્યયન માટે અહિં આવેલ છે ત્યારે આચાર્યશ્રીએ તેને કહ્યુ કે, દષ્ટિવાદનું અધ્યયન જ્યારે

प्राह–यदि ममान्तिके प्रव्रज्यां गृह्णासि, तर्हि त्वां दृष्टिवादमध्यापयामि। आर्यर-
क्षितेन प्रव्रज्याग्रहणं स्वीकृतम्, तदनन्तरमसौ श्रावकेण दत्तं साधुवेषयोग्यं सदो-
रकमुखवस्त्रिका–रजोहरणवस्त्रपात्रादिकं लब्ध्वा साधुवेषेण मातुरनुमत्या स प्रव्रजितः।
स आचार्यस्य समीपे एकादशाङ्गानि सोपाङ्गानि पठित्वा दृष्टिवादस्य प्रथमं परिक-
र्माख्य द्वितीयं सूत्राख्यमध्ययनमधीतवान्। अथातः परं दृष्टिवादं पठितुं तोसलि-
पुत्राचार्याज्ञया स वज्रस्वामिसमीपं गन्तुकामः पथि गच्छन्नवन्त्यां भद्रगुप्ताचार्य-
स्यान्त्यक्रियारूपां निर्यापनां कृतवान्। तेन चान्त्यसमये प्रोक्तम्–त्वया रात्रौ

दृष्टिवाद का अध्ययन हम तुम को तब ही करायेंगे कि जब तुम मेरे पास
दीक्षा धारण करोगे। आर्यरक्षित ने दीक्षाग्रहण करना मंजूर कर लिया।
माताने उन्हें दीक्षा लेने की अनुमति पहले दे दी थी। आर्यरक्षितने मुनिदीक्षा
धारण कर ली। श्रावकों ने मिलकर उनके लिये मुनिवेष के योग्य सदो-
रक मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण तथा वस्त्रपात्रादिक प्रदान किये। आचार्य
के पास रह कर आर्यरक्षित ने उपाङ्गसहित ग्यारह अंगों का अध्ययन
कर दृष्टिवाद का प्रथम परिकर्म नाम का अध्ययन तथा द्वितीय सूत्र
नाम का अध्ययन पढ़ लिया। अवशिष्ट दृष्टिवाद को पढ़ने के लिये
फिर वे वहां से तोसलिपुत्राचार्य की अनुमति से वज्रस्वामी के समीप
जाने को इच्छुक हुए। जब ये उनके पास जा रहे थे तो मार्ग में इन्हें
उज्जैनी नगरी आई। वहां उस समय भद्रगुप्ताचार्य की उन्होंने अन्त्य-
क्रिया रूप निर्यापना की। आचार्यने अंत समय में इनसे यह कहा कि

તમે મારી પાસે દીક્ષા ધારણ કરશો ત્યારે જ કરાવવામાં આવશે. આર્યરક્ષિતે દીક્ષા
ગ્રહણ કરવાનું સ્વીકાર્યું, માતાએ પણ તેને દીક્ષા લેવાની અનુમતિ પહેલાથી આપી,
હતી. આર્યરક્ષિતે મુનિદીક્ષા ધારણ કરી શ્રાવકોએ મળીને તેને માટે મુનિવેષને યોગ્ય
સદોરકમુખવસ્ત્રિકા, રજોહરણ તથા વસ્ત્રપાત્રાદિક પ્રદાન કર્યા આચાર્યની પાસે રહીને
આર્યરક્ષિતે ઉપાંગ સહિત અગ્યાર અંગોનું અધ્યયન કરી દૃષ્ટિવાદનું પ્રથમ પરિકર્મ
નામનું અધ્યયન તથા દ્વિતીય સૂત્ર નામનું અધ્યયન શીખી લીધું બાકીના દૃષ્ટિવા-
દને શીખવા માટે પછી તે ત્યાંથી તોસલીપુત્રાચાર્યની અનુમતિથી વજ્રસ્વામી સમીપ
જવા માટે ઇચ્છા કરી. જ્યારે તે તેની પાસે જઈ રહ્યો હતો ત્યારે વચમાં
માર્ગમાં ઉજ્જૈનિ નગરી આવી. ત્યાં એ સમયે ભદ્રગુપ્તાચાર્યની અંત્યક્રિયા
રૂપ નિર્યાપના કરી આચાર્યે અંત સમયે તેને એ કહ્યું કે, તમે રાત્રીમાં વજ્ર

वज्रस्वामिना सह न स्थातव्यम् यतस्तेन सह रात्रौ सवसन् म्रियते। एतद्वचन हृदि निधाय स ततो निर्गत्यावन्तीनगर्या अदूर एव ग्रामाद् बहिरुद्याने रात्रौ स्थित'। वज्रस्वामिना रात्रिशेषे स्वप्नो-दृष्ट केनचिदागन्तुकेन शिष्येण मत्पात्रस्थ साव शेष पय' पीतमिति। अथार्यरक्षित प्रभाते क्वचिदन्यस्मिन्नुपाश्रये वसतिं कृत्वा वन्दनार्थं वज्रस्वामिनोऽन्तिक गत। तदानीं स वज्रस्वामी रात्रिशेषदृष्ट स्वप्नं चिन्तयन्नासीत्। वज्रस्वामिना कुशलप्रश्नानन्तर रात्रावन्यत्रावस्थानस्य कारण पृष्टम् आर्यरक्षित' आह—भद्रगुप्ताचार्यस्यानुशासनादहमन्यस्मिन्नुपाश्रये निवसामि, वज्रस्वामी तु तदा पूर्वे निजोपयोग दत्त्वा आर्यरक्षितकृतस्य रजन्यामन्यत्रोपाश्रयऽ

तुम रात्रि में वज्रस्वामी के साथ नहीं रहना, क्यों कि रात्रि में उनके साथ रहने वाले की मृत्यु हो जाती है। आचार्य के इन वचनों को हृदय में रखकर ये वहां से निकले और जाकर पास के किसी ग्राम के बाहिर उद्यान में रात्रि में ठहर गये। उधर वज्रस्वामीने रात्रिके शेषभाग में एक ऐसा स्वप्न देखा, कि किसी आनेवाले शिष्य ने मेरे पात्र का सावशिष्ट (कुछ बाकी रखकर) क्षीरको पी लिया है। इधर आर्यरक्षित प्रभात काल में किसी अन्य उपाश्रयमें अपने उपकरण रखकर एवं स्थान निश्चित कर वंदना निमित्त वज्रस्वामी के पास पहुँचे। उस समय वज्रस्वामी रात्रि के शेष-भाग में दृष्ट स्वप्न का विचार करने में मग्न हो रहे थे। वज्रस्वामी ने कुशलप्रश्न के बाद रात्रि में अन्यत्र ठहरने का कारण आर्यरक्षित से पूछा, आर्यरक्षित ने कहा कि मैं भद्रगुप्ताचार्य के अनुशासन से अन्य उपाश्रय में ठहर गया हूं। उस समय वज्रस्वामी ने अपने उपयोग के बलसे

स्वामीनी साथे रहेशो नहीं कारण के, रात्रे तेनी साथे रहेवावाळानु मृत्यु थाय छे आचार्यना आ वचनने हृदयमा राखीने त्यांथी नीकळी पासेना कोई गामे बहार बगीचामां रात्री रोकाया. आ तरफ वज्रस्वामीए रात्रीना छेल्ला प्रहरे एक एवु स्वप्न देख्युं के, कोई आवी रहेला शिष्ये मारा पात्रमाथी सावशिष्ट(कईक बाकी राखीने) खीर पीई लीधेल छे आ तरफ आर्यरक्षित प्रभातका ळमां कोई बीजा उपाश्रयमां पोतानु उपकरण राखीने अने स्थान निश्चित करीने वंदना.निमित्त वज्रस्वामी पासे पहोच्या. ए समये वज्रस्वामी रात्रीना छेल्ला प्रहरे जोयेला स्वप्ननो विचार करवामां मग्न हता वज्रस्वामीए कुशळ प्रश्न बाद रात्रीमां बीजा स्थळे रोकावानु कारण आर्यरक्षितने पूछ्यु आर्यरक्षिते कह्यु के हु भद्रगुप्ताचार्यना अनुशासनथी बीजा उपाश्रयमां रोकायो छु ते समये वज्र स्वामीए पोताना उपयोगना बळथी "आर्यरक्षितनु बीजा उपाश्रयमा

वस्थानस्य कारण ज्ञात्वाऽब्रवीत्-युक्तमेतदुक्त भद्रगुप्ताचार्येणेति । अथार्यरक्षितेन वज्रस्वामिसन्निधौ नव पूर्वाणि पठितानि, दशमपूर्वस्य कतिचिदधिकारास्तेन यावत् पठितास्तावद् दशपुरात् फल्गुरक्षितो भ्राता चिरविरहार्तमात्रादिभिः प्रेरितस्तस्या कारणाय तत्रागत । आर्यरक्षितस्त प्रतिबोध्य तत्रैव प्रव्रज्या ग्राहयति स्म ।

एकदाऽऽर्यरक्षितो वज्रस्वामिन पृच्छति-भगवन्! मम पठनार्थं दृष्टिवादे दशमं पूर्वं कियदवशिष्टमस्ति? वज्रस्वामी प्राह-वत्स! त्वया दशमपूर्वस्य बिन्दुमात्र पठितं समुद्रोपम दशम पूर्वमस्ति । ततोऽसौ श्रान्तमना प्राह-नाहमत' पर पूर्वपाठ कर्तुं

'आर्यरक्षित का अन्य उपाश्रय में रात्रि में ठहरने का क्या कारण है' यह बात अच्छी तरह जानकर आर्यरक्षित से कहा भद्रगुप्ताचार्य ने जो कहा वह युक्त ही कहा है। बाद में आर्यरक्षित ने वज्रस्वामी से नव पूर्व का अध्ययन आनन्द से कर लिया। परन्तु दशम पूर्व के कितनेक अधिकार जब ये पढ़ रहे थे कि इतने में इनका छोटा भाई फल्गुरक्षित दशपुर से चिरविरहार्त माता आदि द्वारा प्रेरित होकर इन्हें बुलाने के लिये वहां आपहुँचा। आर्यरक्षित ने उसे समझाकर-प्रतिबोधितकर-वहीं दीक्षा दिलवा दी। एक दिन की बात है कि आर्यरक्षित ने वज्र स्वामी से पूछा कि भगवन्! दृष्टिवाद में दशमपूर्व, पढ़ने के लिये अब मेरा कितना बाकी रहा है। यह सुनकर वज्रस्वामी ने कहा कि वत्स! दशम पूर्व तो समुद्र के समान है तुमने तो अभीतक उसको बिन्दुमात्र ही पढ़ा है। वज्रस्वामी की यह बात सुनकर इनका मन कुछ श्रान्त सा

રોકવાનું શું કારણ છે" આ વાત સારી રીતે જાણીને આર્યરક્ષિતને કહ્યું ભદ્રગુપ્તાચાર્યે જે કહ્યું છે, તે યુક્ત જ કહ્યું છે બાદમા આર્યરક્ષિતે વજ્રસ્વામીથી નવ પૂર્વનું અધ્યયન આનંદથી શીખી લીધુ પરતુ દશમા પૂર્વના કેટલાક અધિકાર જ્યારે તે શીખી રહ્યો હતો ત્યારે તે અરસામાં તેનો નાનોભાઈ ફલ્ગુરક્ષિત દશપુરથી પુત્રનો વિરહ અનુભવતી માતા દ્વારા પ્રેરિત બની તેને બોલાવવા માટે ત્યા આવી પહોંચ્યો આર્યરક્ષિતે તેને સમજાવીને પ્રતિબોધિત કરી ત્યાંજ દીક્ષિત બનાવ્યો એક દિવસની વાત છે કે, આયરક્ષિતે વજ્રસ્વામીને પૂછ્યુ કે ભદત દૃષ્ટીવાદમા દસમુ પૂર્વ પુરૂ થવા માટે હવે કેટલો સમય બાકી છે? આ સાભળીને વજ્રસ્વામીએ કહ્યું કે, વત્સ! દશમુ પૂર્વ તો સમુદ્ર સમાન છે, આમાથી તે તો માત્ર હજુ બીંદુ જેટલુ જ શીખેલ છે વજ્રસ્વામીની આ વાત સાભળીને તેનુ મન કાઈક ખિન્ન થઈ ગયુ અને કહેવા

शक्नोमि। वज्रस्वामी तु दशमपूर्वस्य स्वस्मिन्नेवावस्थान ज्ञात्वा मौनमवलम्ब्य स्थित'। आर्यरक्षितो वज्रस्वामिगुरोरनुज्ञया फल्गुरक्षितेन सह दशपुरनगर समागतः। वज्रस्वामिना स्वायुरल्प ज्ञात्वा तस्मै सुशिष्यायार्यरक्षिताय विहारसमये आचार्य पदं प्रदत्तम्। अथार्यरक्षिताचार्य॰ स्वमातृभगिनीप्रमुखसांसारिकवर्गं प्रतिबोध्य प्रवज्यां ग्राहयामास। सोमदेवस्तु प्रतिबोधितोऽपि साधुवेष नैव गृह्णाति, आर्यरक्षिताचार्यस्तु दीक्षाग्रहणार्थं बहुश कथयति। ततस्तस्य पिता सोमदेव॰ शाट-वस्त्रयुगं, यज्ञोपवीत, कमण्डलु, छत्र, पादुका चापरित्यज्यैव मया दीक्षा ग्राह्या।

हो गया और कहने लगे–भदन्त! अब मैं इससे आगे पढ़ने के लिये समर्थ नहीं हूं। वज्रस्वामी दशमपूर्व "मेरे हृदय में ही अवस्थित रहेगा" ऐसा जानकर पश्चात् चुप हो गये। आर्यरक्षित वज्रस्वामी गुरु की आज्ञा से फल्गुरक्षित के साथ विहार करके दशपुर नगर को आये। वज्रस्वामी ने अपनी आयु अल्प जानकर उन सुशिष्य आर्यरक्षित के लिये विहार के समय में आचार्य पद दे दिया था। आचार्य आर्यरक्षित ने अपनी माता बहिन आदि सासारिक जनों को प्रतिबोधित कर उन्हें दीक्षा से दीक्षित कर दिये। अपने ससारी पिता सोमदेव को भी समझाया पर उन्हों ने प्रतिबोधित होने पर भी दीक्षा धारण नहीं की। आचार्य आर्यरक्षित ने उनको अनेक बार बहुत २ भी कहा कि 'आप दीक्षा स्वीकार करलो' परन्तु उन्हों ने साधुवेष अंगीकार नहीं किया। कहने लगे कि वस्त्रयुग्म, यज्ञोपवीत, कमण्डलु, छत्र एवं पादुका नहीं छोड़कर ही मैं दीक्षा ग्रहण

લાગ્યા, ભદન્ત! હવે હું આનાથી આગળ શીખી શકું તેમ નથી વજ્રસ્વામી દશમું પૂર્વ પોતાના હૃદયમાં જ અવસ્થિત રહેશે તેવું જાણીને ચુપ રહ્યા. આર્ય રક્ષિત વજ્રસ્વામી ગુરુની આજ્ઞાથી ફલ્ગુરક્ષિતની સાથે વિહાર કરી દશપુર નગરમાં આવ્યા વજ્રસ્વામીએ પોતાની આયુ અલ્પ જાણીને વિહાર કરવાના સમયે સુશિષ્ય આર્યરક્ષિતને આચાર્ય પદ આપી દીધુ આચાર્ય આર્યરક્ષિતે પોતાની માતા, બહેન, વગેરે સ સારી સ બધીઓને પ્રતિબોધિત કરીને તેઓને દીક્ષા આપી દીક્ષિત કર્યા. પોતાના સ સારિક પિતા સોમદેવને પણ સમજાવ્યા પણ તેઓને પ્રતિબોધ કરવા છતાં પણ તેમણે દીક્ષા ગ્રહણ ન કરી આચાર્ય આર્યરક્ષિતે તેમને અનેકવાર ઘણું ઘણું કહ્યું કે, તમે દીક્ષા લઈ લો. પર તુ તેઓએ સાધુવેશ અ ગિકાર જ ન કર્યો કહેવા લાગ્યા કે, વસ્ત્રની જોડી, યજ્ઞોપવિત, - છત્ર,

आर्यरक्षिताचार्येण स्वपितुर्वृद्धावस्थायां तारणबुद्धया पूर्वज्ञाने उपयोग दत्त्वा तथैवासौ प्रव्राजित ।

अन्यदा कदाचिद् गृहस्थबालका साधूनां वन्दनार्थं तत्र मडल्यां समागता', आचार्य• क्वचिदन्यत्र तदानीं गतश्चासीत्, तत्र साधुभिरिङ्गितेन प्रतिबोधितास्ते बालका वदन्ति—इम छत्रधर मुक्त्वाऽन्यान् सर्वान् साधून् वन्दामहे। इत्युक्त्वा ते बालका एक छत्रधर त विहाय सर्वान् साधून् वन्दन्ते। तत्त सोमदेवमुनि प्राह—एते मम पुत्रनप्त्रादय' सर्वे युष्माभिर्वन्दिता., अह कस्मान्न वन्दित ? किं मया दीक्षा न

करूँगा। अपने पिता सोमदेव की यह बात सुनकर आर्यरक्षित आचार्य ने उन्हें वृद्धावस्था में तारण की भावना से पूर्वज्ञान में उपयोग देकर अपने आगमविहारी होनेसे उसीरूप से दीक्षित कर लिया।

किसी एक समय की बात है कि गृहस्थों के बालक साधुओं को वंदना निमित्त वहा मडली में आये। आचार्य आर्यरक्षित कहीं दूसरी जगह उस समय गये हुए थे। साधुओंके इशारे से प्रतिबोधित किये गये वे सब बालक कहने लगे कि—हम लोग इस छत्रधारी साधुको छोड़कर बाकी समस्त साधुओं को वदना करते हैं। इस प्रकार कह कर वे सबके सब एक छत्रधारी मुनिको छोड़कर सबको वंदना करनेलगे। सोमदेव मुनिने जब यह बालकों का व्यवहार देखा तो बोले—क्यों बालको!—तुमने हमारे इन पुत्रों एव नातियों को तो वदना की पर मुझे वदना क्यों नहीं की ? क्या मैंने

છત્ર, અને પાદુકા છોડ્યા શિવાયજ હુ દીક્ષા ગ્રહણ કરીશ પોતાના પિતા સોમદેવની આ વાત સાભળીને આર્યરક્ષિત આચાર્યે તેમની વૃદ્ધાવસ્થામા તારવાની ભાવનાથી પૂર્વજ્ઞાનનો ઉપયોગ આપી પોતાના આગમ વિહારી હોવાથી તેવા રૂપથી દીક્ષિત બનાવ્યા.

કોઈ એક સમયની વાત છે કે ગૃહસ્થોનાં બાળકો સાધુઓની વદના નિમિત્તે સાથે મળીને આવ્યા આચાર્ય એ સમયે કોઈ બીજી જગ્યાએ ગયા હતા સાધુઓએ ઈશારાથી દરેકને વદના કરવા માટે તે બાળકોને કહ્યુ તો તે સઘળા બાળકો કહેવા લાગ્યા કે, અમે બધા આ છત્રધારી મુનિને છોડીને બાકી સમસ્ત સાધુઓને વદના કરીએ છીયે એમ કહીને તે સઘળા બાળકો છત્રધારી મહારાજને છોડીને બીજા બધાને વદના કરવા લાગ્યા સોમદેવ મુનિએ બાળકોનો જ્યારે આ પ્રકારનો વહેવાર જોયો તો બોલ્યા કે હે બાળકો ! તમે મારા આ પુત્રો તેમજ સબધીઓને વદના કરી તો મને કેમ વદના કરી

गृहीता ?, बालका ऊचुः-किं दीक्षिताश्छत्रधारिणः स्युः। एवमुक्त्वा गतेषु बालकेषु आर्यरक्षिताचार्यस्तत्र समायातः। तदाऽसौ सोमदेवमुनिस्तत्समीपमागत्य वदति-पुत्र ! बालका अपि मां हसन्ति, अलमनेन छत्रेण, इत्युक्त्वा तेन छत्रं परित्यक्तम्। एवमेकैकं क्रमेण परित्यजता तेन धौतिकमन्तरेण सर्वं यज्ञोपवीतादिकं परित्यक्तम्, बहुशस्तथा चन्दनाकरणैरुपहासादि प्रयोगैश्चापि स धौतिकं न मुञ्चति।

मुनिदीक्षा धारण नहीं की है?। बालकों ने उनकी इस बात को सुनकर शीघ्र ही निस्संकोच से उत्तर दिया कि जो मुनिदीक्षा से दीक्षित हुआ करते हैं क्या वे छत्रधारी होते हैं?। बालक ऐसा कह कर चले गये इतने में ही वहां बाहर से आर्यरक्षित आचार्य आ पहुँचे। आचार्य को आये देखकर सोमदेव मुनि ने उनके पास जाकर कहा पुत्र! देखो तो सही-बालक भी मेरी हँसी मजाक करते हैं-कहते हैं कि मुनि कहीं छत्रधारी भी होते हैं। अतः इस छत्र की मुझे अब जरूरत नहीं है। ऐसा कहकर सोमदेव ने छत्रका परित्याग कर दिया। इसी तरह क्रमशः और भी गृहीत वस्तुओंसे अपनी मुनि अवस्था में हँसी होती हुई जानकर उन्होंने धोतीजोडे के सिवाय अन्य समस्त जनेऊ आदि वस्तुओं का परित्याग कर दिया। यद्यपि धोती के रखने से लोग उनका उपहास भी करते थे तो भी वे उसे नहीं छोड़ सके।

નહી ? શું મે મુનિદીક્ષા ધારણ નથી કરી ? બાળકોએ તેની આ વાત સાંભળીને તરત જ નિઃસંકોચથી જવાબ દીધો કે, જે મુનિદીક્ષા લે છે તેઓ છત્રધારી હોય છે ખરા ? બાળકો આ પ્રમાણે કહીને ચાલ્યાં ગયાં એવા સમયે બહાર ગયેલા આર્યરક્ષિત આચાર્ય આવી પહોંચ્યા આચાર્યને આવેલા જોઈને સોમદેવ મુનિએ તેમની પાસે જઈને કહ્યું પુત્ર જુઓ તો ખરા ! બાળકો પણ મારી હાંસી મજાક કરે છે કહે છે કે, મુનિ ક્યાંય છત્રધારી હોય છે ખરા ! આથી આ છત્રની હવે મને જરૂરત નથી એમ કહીને સોમદેવે તે છત્રનો પરિત્યાગ કરી દીધો આ પ્રમાણે ક્રમે ક્રમે તેમણે ગ્રહણ કરેલી વસ્તુઓથી પોતાની મુનિ અવસ્થામાં હાસી થતી જાણીને તેમણે ધોતીજોટા સિવાય બીજી સમસ્ત જનોઈ આદિ વસ્તુઓનો પરિત્યાગ કરી દીધો એમ છતાં પણ ધોતીના રાખવાથી લોકો તેમનો ઉપહાસ કરતા હતા છતા પણ તેઓ તેને છોડી શક્યા નહી

अन्यदा कदाचिदेकः साधुरनशनतपश्चरणेन स्वर्गं गतः । तत आर्यरक्षिताचार्येण तस्य सोमदेवमुनेर्धौतिकपरित्याजनार्थं साधवोऽभिहिताः-य एनं साधुमृतक स्कन्धेन वहति तस्य महती निर्जरा भवति । तदनन्तर स सोमदेवमुनिर्वदति-पुत्र ! अत्र निर्जरा भवति किम् । आर्यरक्षिताचार्य आह-सत्यम्, ततः स वदति-अह वहामि । आचार्यः प्राह-अत्रोपसर्गा बहवो जायन्ते, कतिचिद् बालकास्तस्य सलग्ना भवन्ति, तत्र तूष्णीभाव आश्रयणीयः, कोपो न करणीयः, स्वीकृतकार्यं सर्वथा स-पादनीयम्, यदि सकला उपसर्गा शक्यन्ते सोढुम्, तदा श्रेय, अन्यथाऽस्माकम-

कोई एक दिन की बात है कि एक साधु अनशन से कालधर्म पाये। आर्यरक्षित आचार्य ने सोमदेव मुनि की धोती छुडाने के अभिप्राय से साधुओं से कहा कि जो इस मृतक साधु को अपने कधे पर आरोपित कर ले जायगा उसके लिये महान् निर्जरा होगी। यह बात सुनकर सोमदेव मुनिने कहा कि पुत्र! क्या इस कार्य के करने में निर्जरा होती है ?। आचार्य ने कहा-हा होती है। सोमदेव ने कहा तो इसे कधे पर रखकर मैं ले जाऊँगा। आचार्य ने कहा कि देखो-ऐसा करने में बहुत विघ्न आते हैं-कितनेक बालक देखते ही उसके पीछे लग जाते हैं, हँसी उडाते हैं सो उसमें शांतिभाव रखना पडता है। क्रोध नहीं करना पड़ता है। तथा जिस कार्य को करने का आरम्भ किया जाता है उसे अन्ततक निभाना पड़ता है। यदि इन सब विघ्नों को सहन करने के लिये अपने को शक्तिशाली समझते हो तो ही इसमें श्रेय है अन्यथा हमसब लोगों का

એક વખતે એક સાધુ અનશનથી કાળધર્મ પામ્યા, આર્યરક્ષિત આચાર્યે સોમદેવ મુનિને ધોતી છોડાવવાના ભાવથી સાધુઓને કહ્યુ કે, જે કોઈ આ મૃત્યુ પામેલા સાધુને પોતાની કાંધ ઉપર લઈને જશે તેમના માટે મહાન નિર્જરા થશે. આ વાત સાંભળીને સોમદેવ મુનિએ કહ્યુ કે કે પુત્ર! શું આ કાર્ય કરવામાં નિર્જરા થાય છે? આચાર્યે કહ્યુ કે, હા। થાય છે સોમદેવે કહ્યુ કે, તો હુ એને કાંધ ઉપર ઉપાડીને લઈ જઈશ આચાર્યે કહ્યુ કે, જુઓ! આમ કરવામા બહુ વિઘ્ન આવે છે કેટલાક બાળકો દેખતાં જ તેમની પાછળ પડે છે, હસી ઉડાવે છે, તો આમાં શાન્તી ભાવ રાખવો પડે છે ક્રોધ આવવો ન જોઈએ તથા જે કાર્ય કરવાનો આરંભ કર્યો છે તેને અન્ત સુધી નભાવવુ પડે છે જો આ બધા વિઘ્નોને સહન કરવા માટે આપ આપને શક્તિશાળી માનતા હો તો જ તેમાં શ્રેય છે નહિંતર અમારા સઘળા લોકોનુ તેમાં અનિષ્ઠ

शुभं भविष्यति। एवं प्रवर्तितोऽसौ मृतकं साधु स्कन्धे समारोप्य साधुभिः सह वहति। मार्गे मृतकं वहतस्तस्य धौतिकं बालकैराचार्यसंकेतेनाकर्षितम्। स लज्जावशाच्च मृतकं स्कन्धादवतारयति तावदन्यैः साधुभिरुक्तम्-मा मुञ्च, मा मुञ्च, तदा तस्य कट्यां केनचित्साधुना स्वसार्धमानीतचोलपट्टको बद्ध, स तु लज्जया तं शवं वहन् निर्जने वने प्रासुकस्थण्डिले तं व्युत्सृज्याचार्यसमीपमागतो ब्रूते-हे

इसमें अनिष्ट हो जायगा। इस प्रकार समझाने पर जब सोमदेव सम्भल गये तो उन्हों ने उस शव को उठाकर अपने कंधे पर रख लिया और साधुओं के साथ चले। मार्ग में मृतकसाधु को वहन किये हुए सोमदेव को देखकर बालकों ने उनकी आचार्यआर्यरक्षित के संकेत करने पर धोती खींच ली। अपनी धोती उतारी हुई देखकर उन्हें नग्न होने की वजह से बडी लज्जा का अनुभव होने लगा। उन्हों ने चाहा कि इस मृतकसाधु के शव को कंधे से नीचे उतार कर बालकों से अपनी धोती छुडा ली जाय। ज्यों ही वे ऐसा करने को उद्यत हुए कि इतने में ही ,साधुओं ने कहना प्रारम्भ कर दिया कि इसे नीचे मत उतारो मत उतारो। और इसी के भीतर ही किसी साधु ने जो चोलपट्टा उनके पहिराने के लिये पहिले से साथ ले आया था उन्हें पहिरा दिया। लज्जा से उस साधु के शव को वहन करते हुए सोमदेव ने निर्जन वन में उस शव को प्रासुक भूमि पर उतार दिया, और आचार्य महाराज के

થઈ જશે. આ પ્રમાણે સમજાવવાથી જ્યારે સોમદેવ સમજી ગયા ત્યારે તેમણે તે શબને ઉઠાવી પોતાની કાંધ ઉપર રાખી લીધું અને સાધુઓની સાથે ચાલ્યા. માર્ગમાં મરેલા સાધુને ઉપાડી જતા સોમદેવને જોઈને બાળકોએ આચાર્ય આર્યરક્ષિતના ઈસારાથી તેમની ધોતી ખેંચી લીધી પોતાની ધોતી નીકળી ગયેલી જાણીને તેમને નગ્ન થવાના કારણે ઘણી લજ્જાનો અનુભવ થવા લાગ્યો તેઓએ ઈચ્છયું કે, આ મરેલા સાધુના શબને કાંધથી નીચે ઉતારી બાળકો પાસેથી મારી ધોતી છોડાવી લઉં જ્યાં તેઓ એવું કરવાને ઉદ્યત બન્યા એટલામાં જ સાધુઓએ કહેવાનો પ્રારંભ કર્યો કે, તેને નીચે ન ઉતારો એક તરફથી આમ કહેવાયું એજ વખતે એ સાધુઓમાંથી એક સાધુએ ચોલપટ્ટો તેને પહેરાવવા માટે અગાઉથી જ સાથે રાખેલ તે પહેરાવી દીધો. લજ્જાથી એ સાધુના શબને વહન કરતાં સોમદેવે નિર્જન વનમાં એ શબને પ્રાસુક ભૂમિ ઉપર ઉતારી દીધું અને આચાર્ય મહારાજની સમીપ આવીને

पुत्र ! अद्य महानुपसर्गो जात , तथापि सर्वं कार्यं भवत्कथनानुसारेण मया सम्पादितम् । आचार्योऽन्य मुनि प्रति प्राह–धौतिकमानीयास्मै दीयताम् तदा स वृद्धोऽवदत्–इदानीमल धौतिकवस्त्रेण, यत् द्रष्टव्य तत् दृष्टमेव, अत परमय चोलपट्टक एव मम देहे तिष्ठतु । अद्यप्रभृति नवीनवसन नैव परिधास्यामि, अन्यसाधुव्यापृतमेव वस्त्र ग्रहीष्यामि, एकेनैव प्रावरणेन, एके नैव चोलपट्टकेन सयमयात्रा निर्वाह करिष्यामि। एवमेवासौ विहरन्नवीनवस्त्रानाकाङ्क्षया द्वितीयप्रावरणचोलपट्टानाकाङ्क्षया च जीर्णशीर्णवस्त्रहेतुकदैन्याद्यकरणेन चाचेलपरीषह सहते स्म । एकदा

समीप आकर कहने लगे–हे पुत्र ! आज बड़ा भारी उपसर्ग उपस्थित तो हुआ था, परन्तु आपके कथनानुसार मैंने सब कार्य यथावस्थित सपादित कर दिया है । आचार्य ने उसी समय एक मुनि से कहा कि–धोती लाकर इन्हें दे दो । आचार्य महाराज की बात सुनकर सोमदेव ने कहा कि अब धोती से बस करो । इसकी अब आवश्यकता नहीं रही है । जो कुछ देखना था वह देख लिया है, इस लिये यह चोलपट्टा ही अब मेरे शरीर पर रहे यही भावना है, तथा मैं आज से नवीन वस्त्र नहीं पहिरूँगा, तथा अन्य साधुओं द्वारा उपयुक्त वस्त्र ही ग्रहण करूँगा, एक ही प्रावरण से एक ही चोलपट्टक से सयम यात्रा का निर्वाह करूँगा। । इस प्रकार सोमदेव मुनि विहार करते हुए नवीन वस्त्र की अनाकाक्षा से तथा द्वितीय प्रावरण (चादर) एव द्वितीय चोलपट्टक की अनिच्छा से जीर्णशीर्णवस्त्र हेतुक दीनता के नहीं करने से अचेलपरीषह को सहते

કહેવા લાગ્યા હે પુત્ર ! આજ ઘણો ભારે ઉપસર્ગ ઉપસ્થિત થયો હતો, પરતુ તમારા કથન અનુસાર મે સઘળુ કાર્ય યથાવસ્થિત સપૂર્ણ કરેલ છે આચાર્યે એજ વખતે એક મુનિને કહ્યુ કે, ધોતી લાવીને આમને આપી દો. આચાર્ય મહારાજની વાત સાંભળીને સોમદેવે કહ્યુ કે, હવે ધોતીથી બસ કરો. મારે હવે તેની આવશ્યકતા નથી. જે કાંઈ જોવુ હતું તે જોઈ લીધુ છે જેથી આ ચોલપટ્ટોજ મારા શરીર ઉપર રહે એજ ભાવના છે તથા હું આજથી નવીન વસ્ત્ર પહેરવાનો નથી. અને બીજા સાધુઓ દ્વારા વપરાયેલા વસ્ત્રોનો હુ અંગિકાર કરીશ. એક જ પ્રાવરણથી, એક જ ચોલપટ્ટાથી સયમ યાત્રાનો નિર્વાહ કરીશ આ પ્રકારે સોમદેવ મુનિ વિહાર કરતા કરતા નવા વસ્ત્રોની આકાંક્ષા વગર તથા બીજા પ્રાવરણ ચાદર અને બીજા ચોલપટ્ટાની અનિચ્છાથી જીર્ણ શાર્ણ વસ્ત્રથી દિનતા ન બતાવતા અચેલપરીષહ સહન કરતા રહ્યા એક

ऽतिशयित हिम समापतितम् तथाप्येकमात्र प्रावरणमसौ दधाति न तु द्वितीयं गृह्णाति, तस्मिन्नेव जीर्णशीर्णे प्रावरणे प्रोत्साहसम्पन्नेन मनसाऽचेलपरीषहं सहमान' समाधिभावेन कालधर्मं प्राप्य देवलोकं गत'। एवं तेन यथा—अचेलपरीषहः सोढस्तथैवान्यैरपि साधुभि सर्वदाऽचेलपरीषह सोढव्य एव ॥१३॥

अचेलकस्य शीतादिभिः स्पृष्टस्यारति स्यात्, अतस्तत्परीषहजय माह—

मूलम्—गामाणुगाम रीयंत, अणगार अकिंचण ।
अरई अणुप्पवेसेज्जा, त तितिक्खे परीसह ॥१४॥

छाया—ग्रामानुग्राम रीयमाणम्, अनगारम् अकिञ्चनम् ।
अरति अनुप्रविशेत्, त तितिक्षेत परीषहम् ॥ १४ ॥

टीका—' गामाणुगाम ' इत्यादि ।

ग्रामानुग्रामम्–ग्रामम् अनु, ग्रामात् पश्चात्, ग्रामानन्तरवर्ती यो ग्राम' स

रहे। एक दिन की बात है कि शीतकाल में अत्यन्त हिम गिरा तो भी इन्हों ने द्वितीय प्रावरण धारण करने की स्वप्न में भी इच्छा नहीं की किन्तु एक ही प्रावरण से उस हिम का सामना किया। जीर्ण शीर्ण उस प्रावरण में ही प्रोत्साहसंपन्न चित्त से अचेलपरीषह को सहन करते हुए उन सोमदेव महात्माने समाधिभाव से कालधर्म पाकर देव लोक को प्राप्त किया।

इस कथा के कहने का केवल एक यही प्रयोजन है कि देखो सोमदेव मुनिराज ने पहिले अचेलपरीषह नहीं सहा, पश्चात् प्रतिबोधित होने पर उस परीषहको अधिक प्रोत्साह के साथ सहन किया। इस तरह अन्य साधुओं को भी अचेलपरीषह सहन करना चाहिये॥ १३ ॥

દિવસની વાત છે કે, ઠંડીના સમયે અત્યંત હિમ પડયું તો પણ તેઓએ બીજુ પ્રાવરણ કરવાની સ્વપ્નમાં પણ ઇચ્છા ન કરી. પરંતુ એક જ પ્રાવરણમાંજ ઉત્સાહ સંપન્ન ચિત્તથી અચેલ પરીષહને સહન કરીને તે સોમદેવ મહાત્માએ સમાધી ભાવથી કાળધર્મ પામી દેવલોક ને પ્રાપ્ત કર્યો.

આ કથા કહેવાનું કેવળ એક જ પ્રયોજન છે કે, જુઓ, સોમદેવ મુનિએ પહેલાં અચેલપરીષહ ન સહ્યો પાછળથી પ્રતિબોધ પામતાં તેમણે એ પરીષહને અધિક ઉત્સાહથી સહન કર્યો અન્ય સાધુઓએ પણ એમની માફક અચેલપરીષહ સહન કરવો જોઈએ (૧૩)

ग्रामानुग्रामस्तम्। नगराद्युपलक्षणमेतत्, नगरादिक चेत्यर्थः। रीयमाणं=विहरमाणम्, अकिञ्चनं=निष्परिग्रहम्, अनगारं=मुनिम् अरतिः=सयमविषयिकाऽधृतिः मोहनीयकर्मोदयजनिता सयमारुचिरूपाऽऽत्मपरिणतिः अनुप्रविशेत्=प्रविष्टा भवेत्-मुनेर्मनसि प्राप्ता भवेत्, तम्=अरतिरूप परीषह तितिक्षेत=अरतिरूपस्य मनः परिणामस्य कटुकफल चिक्कणकर्मबन्धन चतुर्गतिकससारपरिभ्रमण च विज्ञाय मनसस्तन्निराकरणेन सहेत ॥

अचेलक के शीत आदि द्वारा सताये जाने पर अरति भी हो सकती है इसलिये सातवें अरतिपरीषह को सहने के लिये सूत्रकार कहते हैं।

'गामाणुगाम' इत्यादि

अन्वयार्थ-(गामाणुगाम रीयत-ग्रामानुग्राम रीयमाणम्) एक गाँव से दूसरे गाँव तथा उपलक्षण से एक नगर से दूसरे नगर विहार करते हुए तथा (अकिंचण-अकिञ्चनम्) अकिञ्चन-परिग्रहरहित ऐसे (अणगार-अनगारम्) मुनि को (अरई अणुप्पवेसेज्जा-अरति अनुप्रविशेत्) यदि अरति-सयम में अरुचि अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाली जो संयमअरुचिरूप आत्मपरिणति, तथा सयम में अधृति जाग्रत हो जावे तो मुनि का कर्तव्य है कि वह (तं परीषह तितिक्खे-त परीषहं तितिक्षेत) उस परीषह को शांति के साथ सहन करे। "अरतिरूप इस मानसिक परिणति का फल चिक्कणकर्मबन्धरूप है और उससे जीव का

અચેલકમુનીને શીતઆદિ સતાવે ત્યારે અરતિ પણ થવાનો સ ભવ છે તેથી ઉમા અરતિપરીષહને સહન કરવા માટે સૂત્રકાર કહે છે

'गामाणुगाम' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ-गामाणुगाम रीयत-ग्रामानुग्राम रीयमाणम् એક ગામથી બીજા ગામ તથા ઉપલક્ષણથી એક નગરથી બીજાનગર વિહાર કરતા अकिंचण-अकिञ्चनम् તથા અકિંચન-પરિગ્રહ રહિત એવા अणगार-अनगारम् મુનિને કદાચ अरई अणुप्पवेसेज्जा-अरति अनुप्रविशेत् અરતિ-સ યમમા અરૂચિ અર્થાત્ મોહનીય કર્મના ઉદયથી થનારી જે સ યમ અરૂચિ રૂપ આત્મપરિણતિ-તથા સ યમમાં અધૃતિ, જાગૃતિ થઈ જાય તો મુનિનુ કર્તવ્ય છે કે, તે મુની तं परिसह तितिक्खे-त परीषह तितिक्षेत એ પરિષહને શાન્તીની સાથે સહન કરે" અરતિ રૂપ આ માનસિક પરિણતિનુ ફળ ચિકણા કર્મબ ધ રૂપ છે અને તેનાથી જીવનુ ચતુર્ગતિરૂપે સ સારમાં

'गामानुगाम रीयत' इत्यनेन रागादिनिवृत्तिः सूचिता।
'अकिंचण' इत्यनेन ममत्वरहितत्वं प्रवेदितम्।
'अरईअणुप्पवेसेज्जा' इत्यनेन शब्दादिविषयाणां प्रबलता प्रदर्शिता।
'तितिक्खे' इत्यनेनानगारस्य परीषहसहिष्णुता सूचिता॥ १४॥

उक्तमर्थं द्रढयन्नाह—

मूलम्—अरइं पिट्ठओ किंचा, विरओ आयरक्खिए।
धम्मारामे निरारंभे, उवसंते, मुणी चरे॥ १५॥

छाया—अरतिं पृष्ठतः कृत्वा, विरतः आत्मरक्षितः।
धर्मारामे निरारम्भः, उपशान्तः मुनिश्चरेत्॥ १५॥

टीका—'अरइं' इत्यादि।

विरतः=हिंसादिभ्यो निवृत्तः, आत्मरक्षितः—आत्मा रक्षितः नरकनिगोदादि

चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण होता है" यह समझकर इस संयम विषयक अरति को साधु मनसे भी हटाते रहे।

सूत्रकार ने "ग्रामानुग्रामं" इस पद से रागादिक की निवृत्ति सूचित की है। "अकिंचण" इस पद से मुनि को ममत्वरहित प्रदर्शित किया है॥ "अरई अणुप्पवेसेज्जा" इस पद से शब्दादिक विषयों की प्रबलता प्रकट की है। "तितिक्खे" इससे 'अणगार को परीषह सहिष्णु होना चाहिये' यह कहा है॥ १४॥

इसी अर्थ को दृढ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—'अरइं पिट्ठओ' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(विरओ विरतः) हिंसादिक पापोंसे विरक्त तथा (आयरक्खिए—आत्मरक्षितः) नरकनिगोदादिकके दुःखोंके जनक अशुभ ध्यानसे

પરિભ્રમણ થાય છે એવું સમજીને આ સંયમ વિષયક અરતિને સાધુએ મનથી પણ હટાવવી જોઈએ

સૂત્રકારે ગ્રામાનુગ્રામ આ પદથી રાગાદિકની નિવૃત્તિ સૂચિત કરેલ છે અકિંચણ—આ પદથી મુનિને મમત્વ રહિત પ્રદર્શિત કરેલ છે અરઈઅણુપ્પવેસેજ્જા આ પદથી શબ્દાદિક વિષયોની પ્રબળતા પ્રગટ કરેલ છે "તિતિક્ખે" આથી અણગારે પરીષહ સહિષ્ણુ બનવું જોઈએ તેમ કહ્યું છે ॥૧૪॥

આ અર્થને દૃઢ કરતા સૂત્રકાર કહે છે અરઇ પિટ્ઠઓ ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—વિરઓ—વિરત હિંસાદિક પાપોથી વિરક્ત તથા આયરક્ખિએ—આત્મરક્ષિત નરક નિગોદાદિકના દુઃખના જનક એવા અશુભ ધ્યાનથી પોતાના આત્માની રક્ષા

दुःखजनकादशुभध्यानात् येन स तथा, यद्वा-आयरक्षित इतिच्छाया, आय - रत्नत्रयस्य लाभः, रक्षितो येन स तथेत्यर्थः । निरारम्भः=सावद्यक्रियावर्जितः, तथा उपशान्तः=क्रोधादिकषायोपशमात् मनोवाक्कायविकारवर्जितः मुनिः, अरतिं पृष्ठतः कृत्वा=इयं धर्मविराधिकेति मत्वा परित्यज्य धर्मारामे चरेत्, इत्यग्रेण सम्बन्धः।

अरतिर्हि धूलिरिवात्मानं मलिनयति, जलदपटलावलीसकुला गाढतिमिरपरिव्याप्ता रजनीव विवेकं संहरति, अविवेकं वर्धयति, वज्रमिव ज्ञानादिगुणान्नुपघातयति, अविवेकिजनमनःकानननिवासिनी कृष्णसर्पिणीव छिद्रान्वेषणपरा मुनीनां

अपनी आत्मा की रक्षा करने वाला अथवा "आयरक्षित" रत्नत्रय लाभरूप आय-आवक की रक्षा करने वाला-संभाल रखनेवाला, तथा (निरारंभे-निरारम्भ) सावद्य क्रिया के सेवन से वर्जित, तथा (उवसंते -उपशांत) क्रोधादिक कषाय के उपशम से मन वचन एवं काय संबंधी विकारों से रहित (मुणी-मुनिः) साधु (अरइ पिट्ठओ किच्चा-अरतिं पृष्ठतः कृत्वा) अरति का परित्याग कर (धम्मारामे-धर्मारामे) धर्मरूपी उद्यान में (चरे-चरेत्) सदा लवलीन रहे-उस में सर्वदा विचरता रहे।

यह अरतिभाव धूली की तरह आत्मा को मलिन करता है। बादलों के समूह से संकुल एवं गाढ अन्धकार से व्याप्त रात्री के समान यह विवेकरूपी सूर्य को आच्छादित करदेता है, एवं अविवेकरूपी अन्धकार की वृद्धि करता है। वज्र की तरह ज्ञानादिक गुणरूप पर्वत का भेदन करता है। यह अरतिभाव अविवेकी जन के मनरूप

કરવાવાળા અથવા "आयरक्षित" રત્નત્રય લાભરૂપ આય-આવકની રક્ષા કરવાવાળા-સંભાળ રાખવાવાળા निरारंभे-निरारम्भ તથા સાવદ્ય ક્રિયાના સેવનથી વર્જીત उवसंते-उपशांत ક્રોધાદિક કષાયના ઉપશમથી મન વચન અને કાય સંબંધી વિકારોથી રહિત मुणी-मुनि સાધુ अरइ पिट्ठओ किच्चा-अरतिं पृष्ठतः कृत्वा અરતિનો ત્યાગ કરી धम्मारामे-धर्मारामे ધર્મરૂપી ઉદ્યાનમાં चरे-चरेत् એમાં સદા વિચરતા રહે.

આ અરતિભાવ ધુળની માફક આત્માને મલીન કરે છે વાદળોના સમૂહથી છવાયેલ અને ગાઢ અંધકારથી વ્યાપ્ત રાત્રિના સમાન એ વિવેકરૂપી સૂર્યને આચ્છાદિત કરે છે, અને અવિવેકરૂપી અંધકારની વૃદ્ધિ કરે છે વજ્રની માફક જ્ઞાનાદિક ગુણરૂપ પર્વતનું ભેદન કરે છે આ અરતિભાવ અવિવેકી માણસના

संयमप्राणानपहरति, कुठार इव श्रुतचारित्रधर्मतरून् समुच्छेदयति, कुपथ्याहार इव कर्मव्याधिं वर्धयति। एवं विचिन्त्य धर्मारामः=धर्म एव निरन्तरानन्दहेतुतया प्रतिपाल्यतया चारामः धर्मारामः, यद्वा-धर्म आराम इव कर्मसंतापोपतप्तानां जन्तूनां निर्वृतिहेतुतया स्वाभिलषितफलप्रदानतयेति धर्मारामः, यत्र सम्यक्त्व भूमिः,

वन में विहार करने वाला है, कृष्णसर्प की तरह छिद्रान्वेषण में तत्पर रहता है, एवं मुनियों के संयमरूपी प्राणों का हरण करने वाला है। कुठार की तरह श्रुतचारित्ररूपी वृक्ष को यह मूलसे उच्छेदन करता है। कुपथ्य आहार की तरह कर्मबन्धरूपी व्याधिको बढाने वाला है। इस प्रकार विचार करके साधु को इस धर्मरूपी उद्यान में विचरण करते रहना चाहिये। उद्यान जिस प्रकार अपने में विचरण करने वालों को आनंद का हेतु होता है, उसी प्रकार यह धर्म भी अपने आराधकों को आनन्द का कारण होता है, तथा उद्यान जिस प्रकार प्रतिपाल्य-रक्षण करने के योग्य होता है उसी प्रकार जीवन को सुन्दर बनाने वाला होने से धर्म भी प्रतिपाल्य-करने योग्य होता है। अथवा धूप से संतप्त प्राणियों के लिये उद्यान जिस प्रकार शीतलता प्रदान करता है उसी प्रकार कर्मरूपी आताप के संताप से संतप्त प्राणियों को शांति का हेतु होने से एवं अभिलषित फल का देनेवाला होने से धर्म भी एक उत्तम उद्यान के समान यहां प्रकट किया गया है। इस उद्यान

મનરૂપી વનમાં વિહાર કરનાર છે. કાળા સાપની માફક છિદ્ર દેવામાં તત્પર રહે છે, અને મુનિયોના સંયમરૂપી પ્રાણોનું હરણ કરનાર છે. કુહાડારૂપે શ્રુત ચારિત્રરૂપી વૃક્ષનું એ મૂળસાથે ઉચ્છેદન કરે છે, કુપથ્ય આહારની માફક કર્મ બંધરૂપી વ્યાધિને વધારનાર છે. આ પ્રમાણે વિચાર કરીને સાધુએ ધર્મરૂપી ઉદ્યાનમાં વિચરણ કરતા રહેવું જોઈએ.

ઉદ્યાન જેમ તેની અંદર ફરનારાઓને આનંદ આપવાવાળું છે તેજ પ્રમાણે ધર્મ પણ પોતાના આધારરૂપ સાધુ માટે આનંદનું કારણ હોય છે. તથા ઉદ્યાન જેમ પ્રતિપાલ્ય-રક્ષણ કરવાને યોગ્ય છે તેજ પ્રમાણે જીવનને સુંદર બનાવવાવાળા ધર્મને પણ પ્રતિપાલ્ય-પાલન કરવાને યોગ્ય છે. અથવા ધૂપથી સંતપ્ત બનેલા પ્રાણીયોને ઉદ્યાન જેમ શીતળતા આપે છે તેજ પ્રમાણે કર્મરૂપી આ તાપથી સંતપ્ત થયેલા પ્રાણીઓને માટે શાંતિનો હેતુ હોવાથી અભિલષિત ફળને દેનાર ધર્મને એક ઉદ્યાન રૂપથી અહિં બતાવવામાં આવેલ છે. આ ઉદ્યાનમાં સમ્યક્ત્વ

गुप्तिरालवालः, समितिः पाली, क्षान्त्यादयो धर्मा एव वृक्षाः, विनयस्तेषा मूलम्, भावना सलिलम्, श्रुतमेव स्कन्ध धर्मशुक्लध्यानरूपाः शाखा., ध्यान भेदा. प्रशाखा., योगसग्रहा. पत्राणि, ज्ञानादिगुणा पुष्पाणि, स्वर्गापवर्गप्राप्तिः फलम्, तद्गतं सुख रसः, तस्मिन् धर्मारामे चरेत्=विचरेत्, अरतिं निराकृत्य स्वाध्यायध्यानेषु परायणो भवेदित्यर्थः ॥

'अरइ पिट्ठओ किच्चा' इत्यनेन मुनेरात्मबलसपन्नत्वं सूचितम्।

'विरए' इत्यनेन मुनेर्वैराग्यदशा प्रदर्शिता।

में सम्यक्त्व तो भूमि है, गुप्तिया क्यारिया हैं, समितिया ही पालिया हैं, क्षान्त्यादिक धर्म वृक्ष हैं, एव उन वृक्षों का मूल विनय है। भावना रूपी जल से ये सदा हरे-भरे रहते हैं। श्रुतज्ञान उनका विस्तृत स्कध है। धर्मध्यान एव शुक्लध्यान उनकी शाखाएँ हैं, ध्यान के भेद उनकी प्रशाखाएँ हैं। बत्तीस योगसग्रह उनके पत्र, ज्ञानादिकगुण उनके पुष्प, स्वर्ग एव मोक्ष की प्राप्ति उनके फल, स्वर्गमोक्षसबंधी सुख ही उनका रस है। इतने मनोहर इस धर्मरूपी उद्यान में साधु का कर्तव्य है कि वह अरति को दूर कर विचरण करता रहे। स्वाध्याय एवं शुभध्यान में सदा आत्मपरिणति को लगाता रहे।

'अरइ पिट्ठओ किचा' इस पद से यह सूचित किया गया है कि मुनि को आत्मबल से युक्त होना चाहिये। "विरए" इस पद से यह ज्ञात होता है, कि मुनि में इस प्रकार के बल की जागृति विना वैराग्य दशा के नहीं हो सकती है, अत वैराग्यदशा दृढ बनानी चाहिये।

તો ભૂમિ છે ગુપ્તિયો ક્યારા છે, સમિતિયો પાળા છે, ક્ષાન્ત્યાદિક ધર્મવૃક્ષ છે, અને એ વૃક્ષોનું મૂળ વિનય છે, ભાવનારૂપ જળથી તે સદાય હર્યાભર્યા રહે છે શ્રુતજ્ઞાન એનો વિશાળ સ્કધ છે, ધર્મધ્યાન તેમજ શુક્લધ્યાન એની શાખાઓ છે, ધ્યાનનો ભેદ એની પ્રશાખાઓ છે, ૩૨ યોગ સગ્રહ તેના પાન, જ્ઞાનાદિક ગુણ તેનાં પુષ્પ, સ્વર્ગ અને મોક્ષની પ્રાપ્તિ એનાં ફળ સ્વર્ગ મોક્ષ સબધિ સુખ તે એનો રસ છે, આવા મનોહર ધર્મરૂપી બાગમાં સાધુનું એ કર્તવ્ય છે કે તેઓ અરતિને દૂર કરી વિચરણ કરતા રહે. સ્વાધ્યાય અને શુભ ધ્યાનમા પોતાના આત્માપરિણતી ને લગાવતા રહે

अरइ पिट्ठओ किच्चा—આ પદથી એ સૂચિત કરવામા આવે છે કે, મુનિયે આત્મબળથી યુક્ત રહેવું જોઇએ "विरए" આ પદથી મુનિમાં બળની જાગૃતી વિના વૈરાગ્યદશા આવી શકતી નથી. આથી વૈરાગ્યદશા દૃઢ બનાવવી જોઈએ.

'आयरक्खिए' इत्यनेन मुनेराम्रवनिरोधः प्रदर्शितः ।
'निरारम्भे' इत्यनेन मुनेररतिपरीषहविजययोग्यता सूचिता ।
'उवसते' इत्यनेन कषायनिग्रहित्वं सूचितम् ।
'मुणी' इत्यनेन प्रवचनरहस्यमननशीलत्वं प्रतिबोधितम् ।
'धम्मारामे' इत्यनेन संयमस्य रमणस्थानत्वं सूचितम् ।
'चरे' इत्यनेन मुनेः संयमविषये प्रमादवर्जितत्वं प्रवेदितम् ।

"आयरक्खिए" इससे यह सूचित किया है कि मुनि को आस्रव का निरोध करते रहना चाहिये। "निरारम्भे" पद से यह ज्ञात होता है कि अरतिपरीषह को जीतने की योग्यता विना मुनिअवस्था आती नहीं है, क्यों कि उसी अवस्था में निरारम्भता रहती है। "उवसते" पद से यह सूचित होता है कि विना कषाय के निग्रह हुए आत्मा में मुनिव्रत पालने की योग्यता नहीं आती है, अतः कषाय का निग्रह अवश्य करना चाहिये। 'मुणी' पद से कषाय का निग्रह करने वाला तभी हो सकता है कि जब वह प्रवचन के रहस्य का मनन करने वाला होता है। विना ऐसा किये आत्मा कषायों का निग्रह नहीं कर सकता है। "धम्मारामे" इससे यह सूचित किया गया है कि कषायों का निग्रह करने का वही आत्मा परिणामशाली होगा–जो संयम में रमण करने की भावना रखता होगा, इसके विना नहीं। इसी लिये संयम को रमण का स्थान बतलाया गया है। "चरे" इस क्रियापद से मुनि को संयम के विषय में प्रमादरहित होना चाहिये यह बतलाया गया है।

आयरक्खिए આ પદથી એમ સૂચિત કરવામાં આવ્યું છે કે, આસ્રવનો નિરોધ કરીને રહેવું જોઈએ निरारंभे આ પદથી અરતિ પરીષહને જીતવાની યોગ્યતા પ્રાપ્ત કર્યા સિવાય મુનિઅવસ્થા આવતી નથી કારણ કે, આ અવસ્થામાં નિરારંભતા રહે છે उवसंते આ પદથી સૂચિત થાય છે કે, કષાયનો નિગ્રહ કર્યા સિવાય આત્મામાં મુનિવ્રત પાળવાની યોગ્યતા આવતી નથી જેથી કષાયનો નિગ્રહ અવશ્ય કરવો જોઈએ. "मुणी" પદથી કષાયનો નિગ્રહ કરવાવાળા ત્યારે જ બની શકે છે કે, જ્યારે પ્રવચનનું રહસ્ય મનન કરનાર બની શકે એમ કર્યા સીવાય આત્મા કષાયોનો નિગ્રહ કરી શકતો નથી. धम्मारामे આ પદથી સૂચિત કરવામાં આવેલ છે કે–કષાયોનો નિગ્રહ તેજ આત્મા કરવાને પરિણામ શાળી બને છે જે સંયમમાં રમણ કરવાની ભાવના રાખતા હોય, તેના વગર નહીં આથી સંયમને રમણનું સ્થાન બતાવેલ છે चरे આ પદથી મુનિએ સંયમના વિષયમાં પ્રમાદ રહિત બનવું જોઈએ એમ બતાવેલ છે

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

अचलपुरे जितशत्रुनाम्नो राज्ञः पुत्रोऽपराजितनामा रोहाचार्यस्य समीपे दीक्षितोऽभवत्। एकदा रोहाचार्यः स्वशिष्यपरिवारैः सह ग्रामानुग्रामं विहरन् तगरानगरीं समवसृत। तदानीं रोहाचार्यस्य स्वाध्यायशिष्य आर्यरोहनामाऽऽचार्यः उज्जयिन्यामासीत्, तस्य ज्येष्ठः शिष्यः श्रुतकीर्तिनामको मुनिः शिष्यपरिवारैः सह ग्रामानुग्रामं विहरमाणस्तगरानगर्यां समागतः। रोहाचार्यः शिष्टाचारानन्तरं श्रुतकीर्तिमुनिं पृच्छति—उज्जयिन्यां साधवो निरुपसर्गं तिष्ठन्ति किम्, ? श्रुतकीर्तिमुनिः प्राह—भदन्त! सर्वं तत्र कुशलम्, किन्तु राजपुत्रः पुरोहितपुत्रश्च

दृष्टान्त—अचलपुर में जितशत्रु राजा का अपराजित नामका पुत्र था। वह धर्मश्रवण कर रोहाचार्य के समीप दीक्षित हो गया। एक समय की बात है कि रोहाचार्य अपनी शिष्यमंडली सहित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए तगरानगरी पधारे। उस समय इन रोहाचार्य के स्वाध्याय शिष्य आर्यरोह नामके आचार्य उज्जयिनी नगरी में विराजमान थे। उन आर्यरोह आचार्य के मुख्य शिष्य श्रुतकीर्ति भी अपने शिष्यपरिवार के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए इसी तगरा नगरी में रोहाचार्य के पास पधारे। रोहाचार्य ने शिष्टाचार के अनन्तर श्रुतकीर्ति मुनि से पूछा—कहो उज्जयिनी नगरी में साधु मंडल तो सुखशाता में विराजमान है न? सुनकर श्रुतकीर्ति मुनि ने उत्तर में कहा—भदन्त! सब सुखशाता में विराजमान तो हैं, परन्तु वहां के राजा का एवं पुरोहित का पुत्र

દૃષ્ટાંત—અચળપુરમાં જીતશત્રુ રાજાને અપરાજીત નામનો પુત્ર હતો. તેણે ધર્મનું શ્રવણ કરીને રોહાચાર્ય પાસે દીક્ષા લીધી. એક સમયની વાત છે, કે રોહાચાર્ય પોતાની શિષ્ય મંડળી સાથે વિહાર કરતા કરતા તગરાનગરીમાં પધાર્યા આ સમયે રોહાચાર્યના સ્વાધ્યાય શિષ્ય આર્યરોહ નામના આચાર્ય ઉજ્જયિની નગરીમાં બિરાજમાન હતા. આ આર્યરોહ આચાર્યના મુખ્ય શિષ્ય શ્રુતકીર્તિ પણ પોતાના શિષ્ય પરિવાર સહિત એક ગામથી બીજે ગામ વિચરતા આ તગરા નગરીમાં રોહાચાર્યની પાસે પધાર્યા. રોહાચાર્યે શિષ્ટાચાર પછી શ્રુતકીર્તિ મુનિને પૂછ્યું, કહો! ઉજ્જૈની નગરીમાં સાધુ મંડળ તો સુખ શાતામાં બીરાજમાન છે ને? આ સાંભળી શ્રુતકિર્તી મુનિએ જવાબમાં કહ્યું, ભદન્ત! દરેક સુખ શાતામાં બિરાજમાનતો છે, પરંતુ ત્યાંના રાજાનો અને પુરોહિતનો પુત્ર

मुनीनुद्वेजयतः । श्रुतकीर्तेरेतद्वचनं श्रुत्वा रोहाचार्योऽपराजितमुनिं कथयति-तव सासारिकभातृपुत्रोऽसौ राजकुमारः साधुजनमुद्वेजयति, त प्रतिबोधयितुमुज्जयिन्यां त्वया गन्तव्यम् । आचार्यनिर्देशेन शिष्यपरिवारेण सहापराजितमुनिरुज्जयिन्यां गतः । तत्रार्यरोहाचार्यं प्रणम्यापराजितमुनिर्भिक्षावेलायां राजकुलं प्रविष्टः । तत्रापराजितमुनिं राजपुत्र-पुरोहितपुत्रौ सोपहासं वन्दनं कुरुतः । मुनिवरे गते सति तस्मिन्नेव समये मुनेरुपहासाज्जठरे वेदना समुत्पन्ना, उच्चैः स्वरेण तौ रोदनं

मुनियों को दुःखित किया करते हैं । श्रुतीकर्ति के वचनों को सुनकर रोहाचार्य ने अपने शिष्य अपराजित मुनि से कहा कि उज्जयिनी नगरी का जो कुमार है वह तुम्हारे सासारिक भाई का पुत्र है । इस समय वह साधुओं को उज्जयिनीनगरी में कष्ट पहुँचा रहा है अतः तुम उसको समझाने के लिये वहाँ जाओ । आचार्य के आदेश से अपराजित मुनि तगरानगरी से शिष्यमंडली सहित विहार कर उज्जयिनी नगरी में आर्यरोह आचार्य के पास पहुँचे, और उनको वंदन नमस्कार किये । बाद भिक्षा के समय आचार्य के निर्देश से वे अपराजित मुनि राजमहल में प्रविष्ट हुए । वहा उन अपराजित मुनि के सासारिक भाई का पुत्र राजकुमार एवं पुरोहित पुत्र ने उन मुनि को उपहासपूर्वक वदना कि । अपराजित मुनि के वहां से चले जाने पर मुनि के उपहास से उन दोनों के पेट में बडे जोर से पीड़ा होने लगी ।

મુનિયોને દુ ખિત કર્યા કરે છે શ્રુતકીર્તિનું વચન સાંભળીને રોહાચાર્યે પોતાના શિષ્ય અપરાજીત મુનિને કહ્યુ કે, ઉજ્જૈની નગરીના જે રાજકુમાર છે તે તમારા સસારીક ભાઈના પુત્ર છે આ સમયે તેઓ ઉજ્જૈની નગરીમા સાધુઓને કષ્ટ પહોંચાડી રહ્યા છે જેથી તમે તેને સમજાવવા માટે ત્યાં જાવ. આચાર્યના આદેશથી અપરાજીત મુનિ તગરાનગરીમાંથી શિષ્ય મ ડળી સાથે વિહાર કરી ઉજ્જૈની નગરીમાં આર્યરોહાચાર્યની પાસે આવી પહોચ્યા અને તેમને વ દન નમસ્કાર કર્યા બાદ ભિક્ષાના સમયે આચાર્યના આદેશથી અપરાજિત મુનિએ રાજમહેલમાં પ્રવેશ કર્યો ત્યાં તે અપરાજીત મુનિના સ સારીક ભાઈના પુત્ર રાજકુમાર તેમજ પુરોહિતપુત્રે તે મુનિને ઉપહાસપૂર્વક વ દના કરી અપરાજીત મુનિના ત્યાંથી જવા બાદ મુનિનો ઉપહાસ કરવાથી આ બન્નેના પેટમા એકદમ પીડા ઉત્પન્ન થઈ બન્ને જણા ખૂબ જોર જોરથી રાડો પાડવા

कृतवन्तौ। राजा पुरोहितश्च पुत्रयोर्दुरवस्था परिवारवचनाद् विज्ञाय आर्यरोहाचार्यस्य समीप गतवन्तौ। तत्रार्यरोहाचार्यं प्रणम्य तौ सरोदन प्रार्थितवन्तौ, भदन्त! प्रसीदतु भवान्, अस्मद्बालकौ रक्षणीयौ, इत्यादि। आर्यरोहाचार्य आह-राजन्! अस्मिन् विषये न किंचिज्जानामि, इम प्राघुणकं महामुनिं प्रसादय। ततस्तद्वचनाद्राजा पुरोहितेन सहापराजितमुने पार्श्वं गत्वा त प्रणम्य ब्रवीति-हे भदन्त! स्वभ्रातुष्पुत्र जीवित कुरु, मुनि प्राह—साधुपीडकस्य पुत्रस्यापि शिक्षा दातु न शक्नोषि?, नीतिमार्गानुसारिणा राज्ञाऽन्यस्यापि कस्यचिदपराधे कृते तु पुत्रो निग्रहणीय किं पुनरयं साधुबाधक ? नृपेणोक्तम्-भदन्त! ममापराध-

---

दोनों जने खुब जोर २ से चिल्लाने लगे। राजा एव पुरोहित दोनों ही परिवार जनों के कहने से अपने २ पुत्रों की दुरवस्था जानकर साथ २ आर्यरोहाचार्य के पास आये। आचार्य महाराज को वदन कर वे दोनों के दोनों उनके समक्ष रोते २ प्रार्थना करने लगे, कि भदन्त! आप हमारे ऊपर प्रसन्न होइये-कृपा कीजिये-हमारे बालकों की रक्षा कीजिये इत्यादि। आर्यरोहाचार्य ने कहा कि राजन्! मैं इस विषय में कुछ नहीं जानता हूं। यह जो महेमानरूप में महामुनि आये हुए हैं उनके पास जाओ और उनसे कहो। राजा आर्यरोह के वचन से पुरोहित को साथ लेकर अपराजित मुनि के पास गया और उनको वदन कर कहने लगा कि-हे भदन्त! अपने भाई के पुत्र को जीवित करो। मुनि ने कहा कि-हे राजन् राजनीति इस प्रकार की है कि जब अपना पुत्र साधारण जनता का भी अपराध करे तो उसके लिये शिक्षा है तो फिर जो मुनिजनों को पीड़ा पहुंचावे

રાજા અને પુરોહિત બન્ને પોતાના પરિવાર જનોના કહેવાથી પોતાના પુત્રોની દુઃખદ અવસ્થા જાણીને આર્યરોહાચાર્યની પાસે આવ્યા. આચાર્ય મહારાજને વંદના કરીને બન્ને તેમની સમક્ષ રોતાં રોતા પ્રાર્થના કરવા લાગ્યા કે, હે ભદન્ત! અમારા ઉપર પ્રસન્ન થાઓ, કૃપા કરો, અમારાં બાળકોની રક્ષા કરો, વિગેરે આર્યરોહાચાર્યે કહ્યું, હે રાજન! આ વિષયમા હું કાંઈ જાણતો નથી. મહેમાનરૂપમા મહામુનિ પધાર્યા છે તેમની પાસે જાઓ અને તેમને કહો આર્યરોહના વચન સાંભળી રાજા પુરોહિતને સાથે લઈને અપરાજીત મુનિની પાસે ગયા. અને તેમને વંદના કરીને કહેવા લાગ્યા કે, હે ભદન્ત! તમારા ભાઈના પુત્રને જીવતદાન આપો. મુનિએ કહ્યું કે, હે રાજન! રાજનીતિ એવા પ્રકારની છે કે, જ્યારે આપનો પુત્ર સાધારણ જનતાનો પણ અપરાધ કરે તો તેને માટે શિક્ષા છે તો મુનિરાજને

समस्त, यालको महाकष्ट प्राप्तौ, अनुकम्पस्व भगवन्। स्वस्थावस्थासम्पन्नौ तौ मुनिदेशनया प्रव्रज्यां स्वीकृतवन्तौ। तत्र राजपुत्रः शुद्धभावेन चारित्रपालनं कृतवान्, पुरोहितपुत्रस्तु जातिमदं कृत्वा पूर्वपीडास्मरणेन गुरु प्रति सामर्षो जातः। द्वावपि चारित्रं पालयन्तौ मृत्वाऽन्ते देवलोकं गतौ।

इतश्च कौशाम्बीनगर्यां तापसनामकः कोऽपि धनिक आसीत्। स स्वगृहे मृत्वा लोभावेशेन सूकरो जातः, स स्वभवनादिकं दृष्ट्वा जातिस्मरणं प्राप्तवान्।

उसके लिए राजा को चाहिये कि जरूर ध्यान रखे। अपराजित मुनि की बात सुनकर राजाने समझकर कहा कि महाराज! आजपीछे ऐसा नहीं होगा, आप मेरे इस अपराध को क्षमा करें। तथा राजकुमार और पुरोहित पुत्र ने भी अपराजित मुनि से क्षमा मागी। फिर उपदेश सुनकर वे दोनों प्रव्रजित हो गये। प्रव्रज्या लेने पर राजपुत्र ने तो शुद्ध भाव से चारित्र का पालन किया परन्तु जो पुरोहित का पुत्र था, वह जाति मद से सयम का आराधन पूरा नहीं करता था और अपने पेट की पीड़ा को याद करता हुवा अपने गुरु अपराजित मुनि पर रुष्ट भाव रखता था। अन्त में ये दोनों ही चारित्र की पालना करते हुए काल धर्म को पाकर देव लोक में देव हुए।

इधर—कौशाम्बी नामकी एक नगरी थी। उसमें तापस नामका एक हिंसक वनिक व्यक्ति रहता था। वह लोभ के वश होकर मरा तो अपने ही घर पर सूअर की योनि में उत्पन्न हुआ। अपने पूर्व के भवना-

પિડા પહોંચાડનારાઓ માટે રાજાએ જરૂર ધ્યાન રાખવુ જોઈએ. અપરાજીત મુનિની વાત સાંભળીને રાજાએ સમજી જઈને કહ્યું કે, મહારાજ! હવેથી એવુ નહીં બને. આપ મારા આ અપરાધને ક્ષમા કરો. રાજકુમાર અને પુરોહિતના પુત્રે પણ અપરાજીત મુનિની ક્ષમા માગી. ત્યાર બાદ ઉપદેશ સાંભળીને તે બન્ને પ્રવ્રજીત બન્યા. પ્રવ્રજ્યા લીધા પછી રાજપુત્રે શુદ્ધ ભાવથી ચારિત્રનું પાલન કર્યું પરંતુ જે પુરોહિતનો પુત્ર હતો તે જાતીના મદના કારણે સયમનું આરાધન પૂર્ણ રીતે કરતો ન હતો અને પોતાના પેટની પીડાને યાદ કરતા કરતાં અપરાજીત મુનિ ઉપર ક્રોધભાવ રાખતો હતો. અંતમાં એ બન્ને ચારિત્રનું પાલન કરતાં કરતાં કાળધર્મને પામીને દેવલોકમાં દેવ થયા

આ તરફ કૌશાંબી નામની એક નગરી હતી. એમાં તાપસ નામનો એક હિંસક ધનવાન માણસ રહેતો હતો તે લોભવશી (કરીને પોતાના જ ઘરમાં સુવર (ભૂંડ)) રૂપે જન્મ્યો. પોતાના પૂર્વના મકાન આદિ જોઈને

एकदा तत्पूर्वभवपुत्रास्त तस्यैव श्राद्धदिने हतवन्तः, ततः स्वगृह एवासौ सर्पो जातः, तस्मिन्नपि भवे तस्य जातिस्मरण सजातम्। पुनस्त एव पूर्वभवपुत्रास्त सर्पं गृहान्तर्भ्रमन्त दृष्ट्वा जघ्नुः। तदनन्तरमसौ स्वपुत्रस्य पुत्रोऽभवत्, पित्रा तस्य 'अशोकदत्त' इति नाम कृतम्। स तत्रापि जन्मनि जातिस्मरण माप्य मूकत्वमङ्गीचकार। पूर्वभवीया पुत्रवधूरिदानीं माता जाता, कथमेना मातेति ब्रवीमि। पुत्रोऽपि पिताभवत् कथमेनं 'तातः' इति संबोधयामि, इत्येव मनसि विचार्य स मूकोऽभवत्। मातापितृभ्या तन्मूकत्वापनयनार्थं बहवः प्रयत्नाः कृतास्तथापि तस्य मूकत्वं नापगतम्, अतो लोकास्त मूकनाम्नाऽऽह्वयन्ति।

दिकको देखकर उस सूअर के बच्चे को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। एक दिन की बात है कि पुत्रोने अपने बाप के श्राद्ध के निमित्त उस सूअर को मार डाला। यह मर कर अपने ही घर में सर्प हुआ। इस भव में भी इसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पुत्रों ने अपने घर में इधर उधर घूमते हुए सर्प को जब देखा तो उसको मार डाला। मर कर यह तृतीय भव में अपने पुत्र का पुत्र हुआ। पिताने इसका नाम अशोकदत्त रक्खा। इस अवस्था में भी इसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, अत इसने मूकपना अगीकार कर लिया। जो पूर्वभव में मेरी पुत्रवधू थी वह इस भव में माता हो गई है अतः कैसे तो इसे माता कह कर पुकारूँ तथा जो पुत्र था वह भी अब मेरा बाप बन गया है इसलिये अब इसे पिता कैसे कहूँ, ऐसा मन में विचार कर उसने अपना

આ સુવરના બચ્ચાઆમાં જાતિ સ્મરણ જ્ઞાન થયું એક દિવસની વાત છે પુત્રોએ પોતાના બાપના શ્રાદ્ધ નિમિત્તે આ સુવરને મારી નાખ્યું ત્યાંથી મરીને ફરીથી પોતાના એજ ઘરમા સર્પ થયો. આ ભવમાં પણ તેને જાતિ સ્મરણ જ્ઞાન થયુ પુત્રોએ પોતાના ઘરમા આમ તેમ ઘુમતા સર્પને જ્યારે જોયો ત્યારે તેને મારી નાખ્યો. મરીને ત્રીજાભવમા પોતાના પુત્રના પુત્ર (પૌત્ર) તરીકે જન્મ્યો પિતાએ તેનુ નામ અશોકદત્ત રાખ્યુ આ અવસ્થામાં પણ તેને જાતિસ્મરણ જ્ઞાન થયું આથી તેણે મૌનવ્રત ધારણ કરી લીધુ પહેલા ભવમાં જે મારી પુત્રવધૂ હતી તે આ ભવમાં મારી માતા થઈ છે તો કેવી રીતે હુ માતા કહીને બોલાવું જે મારો પુત્ર હતો તે અત્યારે મારો બાપ થઈ ગયેલ છે તેથી હવે તેને પિતા તરીકે કેમ સંબોધન કરૂ ? એમ મનમાં વિચાર

एकदा चतुर्ज्ञानधराः स्थविरा स्वज्ञानोपयोगेन मूकं विज्ञाय तं प्रति-बोधयितुं तत्र शिष्यपरिवारैः सह समवसृता, तैश्च मूकगृहे द्वौ श्रमणौ प्रेषितौ तत्रैकेन मूकस्य पुरतः स्थविरशिक्षिता गाथा पठिता।

" तावस ! किमिणा ? मूअव्वयेण पडिवज्ज जाणिउ धम्म।
मरिऊण सूअरोरग, जाओ पुत्तस्स पुत्तोत्ति ॥ १ ॥ "

मूकभाव (गुंगापन) रखना ही अच्छा समझा। माता पिता ने अपने बच्चे की जब ऐसी स्थिति देखी तो उसकी मूकता दूर करने के लिये उन्होंने अनेक प्रयत्न किये, परन्तु उसकी मूकता दूर नहीं हुई, इसलिये लोगों ने उसका नाम " मूक " रख दिया, और इसी नाम से उसे बुलाने लगे।

एक समय कि बात है कि चार ज्ञान के धारी स्थविर मुनि अपने ज्ञानोपयोगसे उस मूक की परिस्थितिको जानकर उसे प्रतिबोधित करनेके लिये वहा शिष्यमंडलीसहित आये। उन्होंने उस मूकके घर पर दो मुनियों को भेजा। उनमेंसे एक मुनिने उस मूक के आगे स्थविरशिक्षा से युक्त एक गाथा पढ़ी। वह गाथा इस प्रकार है—

तावस ! किमिणा ? मूअव्वयेण पडिवज्ज जाणिउं धम्मं।
मरिऊण सूअरोरग, जाओ पुत्तस्स पुत्तो त्ति ॥ १ ॥

કરીને તે બાળકે મૂગાપણું રાખવાનુ યોગ્ય માન્યુ માતા પિતાએ જ્યારે બાળકની આ સ્થિતિ જોઈ ત્યારે તેનુ મૂગાપણુ દૂર કરવા માટે અનેક પ્રયત્નો કર્યા પરંતુ તેનુ મૂગાપણુ દૂર ન થયુ આથી લોકોએ તેનું નામ "મૂગો" રાખ્યું અને એજ નામથી તેને બોલાવવા લાગ્યા

એક વખત ચાર જ્ઞાનના ધારી સ્થવિરે પોતાના જ્ઞાનના ઉપયોગથી આ મૂગાની પરિસ્થિતિ જાણીને તેને પ્રતિબોધિત કરવા માટે શિષ્ય મંડળી સાથે ત્યાં પધાર્યા તેઓએ આ મૂગાના ઘેર બે મુનિઓને મોકલ્યા આમાંથી એક મુનિએ આ મૂગાની આગળ સ્થવિરની શીખવેલી એક ગાથા ગાઈ તે ગાથા આ પ્રકારની છે

तावस ? किमिणा ? मूअवयेण, पडिवज्ज जाणिउं धम्म।
मरिऊण सूअरोरग, जाओ पुत्तस्स पुत्तोत्ति ॥ १ ॥

छाया—तापस ! किमनेन मूकव्रतेन प्रतिपद्यस्व ज्ञात्वा धर्मम् ।
मृत्वा सूकर उरगो जात पुत्रस्य पुत्र इति ॥ १ ॥"

मूकस्ता गाथा श्रुत्वाऽऽश्चर्यं गतस्तौ प्रणम्य पृच्छति – भवद्भिरेतत् कथ ज्ञातम् ? तौ ब्रूत,–इहोद्यानेऽस्मद्गुरव समवसृतास्ते खलु जानन्ति । ततोऽसौ मूकस्ताभ्यां श्रमणाभ्या सह गत्वा नगरोद्याने स्थविराणा वन्दनं कृत्वा तद्देशनां श्रुत्वा श्रावको भूत्वा मूकत्व परित्यक्तवान् ।

इतश्च कृतजातिमद॰ पुरोहितपुत्रजीवदेव' कृताञ्जलि' सन् महाविदेहे तीर्थकर-समीपे पृच्छति–भगवन् ! किमह सुलभबोधिस्त्वदितरो वा ? भगवता प्रोक्तम्–त्व दुर्लभबोधिकोऽसि । देव' पुनरपृच्छत्–इतश्च्युत' सन् कुत्राहमुत्पन्नो भविष्यामि ?

इस गाथा को सुनकर मूक को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। उसने उन दोनों को नमस्कार कर पूछा–आपने हमारी सूअर की पर्याय से लेकर यहा तक की समस्त परिस्थिति कैसे जानली ? उन्होंने कहा–कि इस नगर के उद्यान में हमारे गुरु महाराज पधारे हुए हैं वे तुम्हारी इस समस्त स्थितिको जानते हैं। मूकने जब यह सुना तो वह उन दोनों मुनियों के साथ उद्यान में आया। उसने सब मुनियों को नमस्कार एव वदन किया। पश्चात् उनसे धर्मका उपदेश सुनकर श्रावक हो गया और मूकता का परित्याग कर दिया।

जातिमद करने वाला जो पुरोहितपुत्र का जीव था कि जो मरकर देव की पर्याय से उत्पन्न हुआ था उसने हाथ जोड़ कर महा विदेह क्षेत्र में तीर्थंकर श्री सीमधर स्वामी के पास ऐसा प्रश्न किया

આ ગાથા સાંભળીને તે મૂગાને ભારે આશ્ચર્ય થયુ તેણે આ બન્ને સ્થવિરોને નમસ્કાર કરીને પૂછ્યુ, "તમોએ મારી સૂવરની સ્થિતિથી માંડીને આજ સુધીની સમસ્ત પરિસ્થિતિ કેમ જાણી ?" તેઓએ કહ્યું કે, "આ નગરના બગીચામાં અમારા ગુરુ મહારાજ પધાર્યા છે અને તેઓ તમારી સઘળી બીના જાણે છે" મૂગાએ જ્યારે આ જાણ્યુ ત્યારે તે બન્ને મુનિઓની સાથે બગીચામા આવ્યો, અને તેણે બધા મુનિઓને નમસ્કાર અને વદના કરી ત્યાર પછી તેમની પાસેથી ધર્મનો ઉપદેશ સાભળીને તે શ્રાવક બની ગયો અને મૂગાપણાને છોડી દીધુ

જાતિમદ કરવાવાળા પુરોહિત પુત્રનો જીવ જે મરીને દેવની પર્યાયમા ઉત્પન્ન થયો હતો તેણે હાથ જોડીને મહાવિદેહ ક્ષેત્રમાં તીર્થંકર શ્રીમધર સ્વામી ની સમક્ષ એવો પ્રશ્ન કર્યો કે, "હે ભગવત ! હુ સુલભબોધી છુ કે દુર્લભ બોધી છુ ?" ભગવાને જવાબમાં કહ્યું કે, તમે દુર્લભબોધી છો હવે ફરી પ્રશ્ન

भगवता कथितम्–कौशाम्बीनगर्यां मूकभ्राता भविष्यसि। धर्मप्राप्तिश्च मूकादेव तव भविष्यति। इत्येवं भगवद्वचनं श्रुत्वाऽसौ देवस्तं प्रणम्य कौशाम्बीनगर्यां मूकोपान्तिकमागत्य तस्मै बहुद्रव्यं दत्त्वा प्रोक्तवान्–स्वर्गात् प्रच्युतस्य मम जन्म त्वन्मातुर्गर्भे भविष्यति, तदा तस्या अकालेऽप्याम्रदोहदो भविष्यति। तदर्थं सर्वर्तुफलवानाम्रवृक्षः कौशाम्ब्याः समीप एव पर्वतस्य निर्जनप्रदेशे मया रोपितः। यदा सा तद्दोहदाकुलाऽऽम्रं याचते तदा तस्याः पुरस्त्वया वाच्यम्। यदि जनिष्यमाणं बालकं मह्यं ददासि, तदाऽऽम्रफलमानीय तुभ्यं ददामि।

कि हे भगवान्! मैं सुलभबोधि हूं कि दुर्लभबोधि हूं? भगवान ने इसके उत्तर में कहा कि तुम दुर्लभबोधि हो। देव ने पुनः प्रश्न किया कि मैं यहां से च्यवकर कहां उत्पन्न होऊँगा? भगवान ने कहा कि कौशाम्बी नगर में मूक के भाई होगे। वहां तुम्हें धर्म की प्राप्ति मूक से ही होगी। इस प्रकार भगवान् की वाणी सुनकर वह देव उन्हें नमन कर के कौशाम्बी नगरी में मूक के पास आया और उसे बहुत सा द्रव्य देकर कहने लगा कि मैं स्वर्ग से च्यवकर तुम्हारी माता की कुक्षि में जन्म धारण करूंगा। उस समय उसे अकाल में आम खाने का दोहला उत्पन्न होगा। उस दोहले की पूर्ति के लिये सर्वऋतुओं में फल देनेवाला आम का वृक्ष मैंने पहिले से ही कौशाम्बी नगरी के समीप के पर्वत के निर्जन प्रदेश में आरोपित कर दिया है। जिस समय वह दोहद से आकुलित होकर आम की याचना करे तो तुम उससे ऐसा कहना कि जो बालक उत्पन्न होगा उसे यदि तुम मुझे देना अंगीकार करो तो मैं तुम्हें लाकर आम देता हूं।

કર્યો, હું અહિંથી ચ્યવીને ક્યાં ઉત્પન્ન થઈશ? ભગવાને કહ્યું કે, કૌશાંબી નગરીમાં મૂગાનો ભાઈ થઈશ. ત્યાં તમને ધર્મની પ્રાપ્તિ મૂગાથી થશે. આ પ્રકારની ભગવાનની વાણી સાંભળીને તે દેવ નમસ્કાર કરીને કૌશાંબી નગરીમા તે મૂગાની પાસે આવ્યા અને તેને ખૂબ દ્રવ્ય દઈને કહેવા લાગ્યા કે હું સ્વર્ગથી ચ્યવીને તમારી માતાની કુખે જન્મ ધારણ કરીશ એ વખતે તેને અકાળે કેરી ખાવાનો ભાવ (દોહદ) ઉત્પન્ન થશે. આ દોહદની સફળતા માટે સર્વ ઋતુઓમાં ફળ દેનાર આંબાના વૃક્ષને પહેલેથી જ કૌશાંબી નગરીની પાસે આવેલા પર્વતના નિર્જન પ્રદેશમાં મે વાવી દીધેલ છે જ્યારે તે દોહદથી વ્યાકુળ થઈને કેરીની માગણી કરે ત્યારે તારે તેને, એ પ્રમાણે કહેવું કે, જે બાળક જન્મે તેને, મને સોંપવાનું સ્વીકારો તો, હું તમને કેરી લાવી આપું.

एवमुक्ता तत्र माता यदि गर्भस्थपुत्रदान स्वीकुर्यात् तर्हि तस्यै त्वया मदङ्कितार्ऽऽम्रफल दातव्यम् । जातस्य मम यथा जैनधर्मप्राप्तिर्भवेत् तथा प्रयत्नस्त्वया कर्तव्य । एवमुक्त्वा स पुरोहितपुत्रजीवदेवो गत ।

अन्यदा कदाचिदसौ देवो देवलोकाच्च्युतस्तस्या गर्भे समुत्पन्न, तदा तस्या आम्रदोहद समुत्पन्न । मूकेन पूर्वोक्तव्यवस्थां कारयित्वाऽऽम्रदोहदः पूरित । पुत्रो जात । तस्यार्हद्दत्त इति नाम मातापितृभ्यां कृतम् । तदनन्तरमसौ मूकस्तं बालसोदर लालयन् साधूना समीप तद्वन्दनार्थं नयति, परन्त्वसौ दुर्लभबोधि-

तुम्हारी माता जब तुम्हारे इस कथन को मजूर कर ले अर्थात्—गर्भस्थ पुत्र का तुम्हे देना स्वीकार कर ले—तो तुम उसके लिये मेरे द्वारा बताये हुए आम के वृक्ष से आम लाकर दे देना । तथा तुम इस प्रकार का प्रयत्न भी करते रहना कि जिस से मुझे जैनधर्म की प्राप्ति हो। इस प्रकार कह कर वह पुरोहित के पुत्र का जीव देव तिरोहित हो गया ।

किसी समय अपनी आयु के समाप्त होने पर यह स्वर्गलोक से च्यवकर मूक की माता के गर्भ में अवतरित हो गया । उस की माता को आम खाने का दोहला उत्पन्न हुआ । मूक ने पूर्वोक्त व्यवस्था करवा कर उस के आम के दोहले की पूर्ति की । पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम अर्हद्दत्त रक्खा गया । अर्हद्दत्त को जो कि अपना बालसोदर था मूक ने बडे चाव से लाड प्यार से रखा । कभी २ यह उसे साधुओं के समीप भी वदना कराने के लिये ले जाता था, परन्तु यह तो दुर्लभ-

તમારી માતા જ્યારે તમારી આ માગણીને મજુર કરે અર્થાત ગર્ભમાં રહેલા પુત્રને તમને સોંપી દેવાનો સ્વીકાર કરે ત્યારે તમારે મે તમને બતાવેલા આંબાના વૃક્ષ ઉપરથી કેરી લાવીને તેને આપવી તથા તમારે એવા પ્રકારના પ્રયત્ન કરતા રહેવુ કે જેનાથી મને જૈનધર્મની પ્રાપ્તિ થાય. આ પ્રમાણે કહીને તે પુરોહિત પુત્રનો જીવ-દેવ અલોપ થઈ ગયો. કેટલાક સમય બાદ પોતાના આયુષ્યની સમાપ્તિ થવાથી તે દેવ સ્વર્ગલોકથી ચ્યવીને મૂગાની માતાના ગર્ભમાં ઉત્પન્ન થયા તેની માતાને કેરી ખાવાનુ મન થયુ મૂગાએ પહેલેથી જ વ્યવસ્થા કરીને તેની કેરી ખાવાની ઈચ્છાને પૂર્ણ કરી. સમય જતાં પુત્રનો જન્મ થયો તેનુ અર્હદ્દત્ત નામ રાખવામા આવ્યુ અર્હદ્દત્ત કે જે પોતાનો નાનો ભાઈ થતો હતો તેને મૂગાએ ખૂબ લાડ પ્યારથી રાખ્યો. કોઈ કોઈ વાર તે તેને સાધુઓની પાસે વદના કરવા માટે લઈ જતો હતો પરતુ આ તો

त्वेन साधून् दृष्ट्वा रोदिति। एवमाबाल प्रतिबोधितोऽप्यसौ न बोधिं लभते। ततस्तज्ज्ञात्वा मूकः प्रव्रजितो भूत्वा संयमं परिपाल्य देवलोकं गतः।

अथ तेन मूकजीवदेवेनासौ दुर्लभबोधिर्बालकः प्रतिबोधार्थं जलोदरव्याधियुक्तः कृतः, स्वयं च वैद्यरूपं कृत्वा तत्समीपमागत्याह-अहं सर्वरोगोपशमनं करोमि। जलोदरी वदति-मम जलोदरव्याधिं प्रशमय। वैद्येनोक्तम्-असाध्योऽयं तव रोगः, तथापि तत्प्रतीकारं करोमि, यदि ममौषधकोत्थलकं स्कन्धे समारोप्य मामनुगच्छसि। जलोदरिणोक्तम्-एवमस्तु। ततो वैद्येन स जलोदरी निर्व्याधिः कृतः।

बोधि था, इसलिये साधुओं को देखते ही रोने लग जाता। इस प्रकार बाल्य अवस्था से प्रतिबोधित करने पर भी वह बोधि को प्राप्त नहीं कर सका। इस के बाद उसके बडे भाई मूकने दीक्षा धारण कर ली और संयम का पालन कर अन्तमें वह देवलोक में जा कर उत्पन्न हो गया।

अपने सहोदर को प्रतिबोधित करने के लिये मूक के जीव देव ने उसके शरीर में जलोदर की व्याधि उत्पन्न कर दी। यह उसने इस लिये की कि देखे यह दुर्लभबोधि कैसे है। तथा स्वयं वैद्य का रूप ले कर उसके पास आ कर कहने लगा कि मैं समस्त रोगों को दूर करने का इलाज करता हूं। उस जलोदरी बालक ने कहा कि ठीक है आप मेरे इस रोग का इलाज करें। वैद्य ने प्रत्युत्तर में कहा कि यद्यपि तुम्हारा यह रोग असाध्य है तो भी इस शर्त पर प्रयत्न करता हूं कि यदि तुम मेरे इस कोथले को कि जिस में औषधियां भरी हैं अपने कंधे पर

દુર્લભ બોધી હતો એટલે સાધુઓને જોઈને રોવા લાગી જતો આ પ્રમાણે બાલ્યાવસ્થાથી જ તેને પ્રતિબોધિત કરવા છતાં પણ તે બોધને પ્રાપ્ત કરી શક્યા નહીં આ બાદ તેના મોટાભાઈ મૂગાએ દીક્ષા ધારણ કરીને, સંયમનું પાલન કરીને, અંતમાં દેવલોકમાં ઉત્પન્ન થયો. પોતાના સહોદરને પ્રતિબોધિત કરવા માટે મૂગાના જીવ દેવે તેના શરીરમાં જળોદરની વ્યાધિ ઉત્પન્ન કરી તે વ્યાધિ એટલા માટે ઉત્પન્ન કરી કે, જોઉં તો ખરો કે તે દુર્લભ બોધી કેવો છે? પછી પોતે વૈદ્યનું રૂપ લઈને તેની પાસે આવીને કહેવા લાગ્યા કે, સમસ્ત રોગોને નિવારવાનો ઈલાજ મારી પાસે છે તે જળોદરવાળા બાળકે કહ્યું કે, આપ મારા આ રોગનો ઈલાજ કરો. વૈદે પ્રત્યુત્તરમાં કહ્યું કે જો કે તમારો આ રોગ અસાધ્ય છે તો પણ એવી શરત ઉપર પ્રયત્ન કરૂં કે, તમે મારા આ કોથળાને જેમાં ઓષધીઓ ભરી છે તેને તમારા કાંધ ઉપર રાખીને મારી પાછળ

अथ तेन वैद्येनौषधकोत्थलकस्तस्मै वाहनार्थं समर्पितः। स चार्हद्दत्तः कोत्थलकमुत्थाप्य स्कन्धोपरि वहन् वैद्यपृष्ठतश्चलति। तथा स कोत्थलको देवमाययाऽतीवभारकारकः संजातः, तेनातिभारेण स श्रान्तोऽपि तमुत्सृज्य गन्तुं न शक्नोति, चिन्तयति च-अहं वचनबद्धोऽस्मि, कथमिमं भारं परित्यजामि, कोत्थलकं वहतो ममैतत्पृष्ठतो गमनेन पुनर्जलोदरव्याधिर्न स्यादतो वज्रसारतुल्यमिव भारं वहन् यदहं खञ्जो भवामि तन्मे योग्यं भवतीत्येव विचिन्त्य स कोत्थलकं वहन् वैद्यमनुगच्छति।

रख कर मेरे पीछे२ चलो तो। जलोदरी ने कहा इस में कौन सी बड़ी बात है। 'यह मेरा कोथला उठायेगा' ऐसा जानकर वैद्य ने इलाज के द्वारा उसको व्याधिमुक्त कर दिया। वैद्यने अपना औषधि का कोथल उठा कर चलने के लिये दे दिया। अर्हद्दत्त उस कोथले को कन्धे पर रख कर वैद्य के पीछे२ चलने लगा। कोथला देव की माया से ले जाते ले जाते मार्ग में बहुत वजनदार बन गया। उससे वह बहुत थक गया। परन्तु फिर भी उसकी हिम्मत उसे छोड़कर आगे जाने की नहीं हुई। विचारने लगा कि मैं वचन बद्ध हो चुका हूं अतः अब इस भार को कैसे छोड़सकता हूं। तथा यदि कोथले को लाद कर इस वैद्य के पीछे२ जो न चलूं तो फिर जलोदर हो जानेकी आशंका है, अतः जैसे भी बनें वज्र-समान भारी इस कोथले को लेकर ही चलने में श्रेय है, चाहे मेरे शिर के बाल भी क्यों न घिस जायें। इस प्रकार विचार कर वह कोथले को सिर पर लिए हुए वैद्य के पीछे २ चलता रहा।

પાછળ ચાલે. જળોદર વાળાએ કહ્યું કે, તેમાં કઈ મોટી વાત છે 'આ મારો કોથળો ઉઠાવશે' એવું જાણી ને વૈદે ઈલાજ દ્વારા તેને વ્યાધિમુક્ત કરી દીધો વૈદે પોતાની ઔષધીનો કોથળો ઉઠાવીને ચાલવા માટે તેને આપ્યો. અર્હદત્ત તે કોથળાને કાંધ ઉપર રાખીને વૈદની પાછળ પાછળ ચાલવા લાગ્યો. કોથળો દેવની માયાથી ચાલતાં ચાલતાં માર્ગમાં ઘણો વજનદાર બની ગયો, આથી તે ઘણો જ થાકી ગયો અને આગળ ચાલવાની તેનામાં હિંમત ન રહી છતાં પણ તે વિચારવા લાગ્યો કે હું વચનથી બંધાયેલ છું માટે હવે આ ભારને હું કેવી રીતે છોડી શકું? અને જો કોથળાને ઉપાડીને હું આ વૈદની પાછળ પાછળ ન ચાલું તો ફરી પાછો જળોદરનો ઉપદ્રવ થઈ જવા સંભવ છે જેમ બને તેમ વજ્ર સમાન ભારે આ કોથળાને ઉપાડીને ચાલવામાં જ શ્રેય છે મારા માથાના વાળ ઘસાઈ જાય તો પણ મારે કોથળાને ઉપાડીને ચાલવુ જોઈએ. આ પ્રકારનો વિચાર કરી માથા ઉપર કોથળો લઈ તે વૈદની પાછળ પાછળ ચાલતો રહ્યો.

एकदा स मायिको वैद्यस्तं मुनिसन्निधौ नीत्वा वदति यदि त्वं दीक्षां ग्रहीष्यसि, तर्हि त्वां मुञ्चामि। स भाराक्रान्तो वदति ग्रहीष्याम्येव दीक्षाम्। ततोऽसौ मायिवैद्यस्तस्मै दीक्षां प्रदाप्य स्वयं देवलोकं गतः। देवे स्वस्थानं गते स दुर्लभबोधित्वादरतिपरीषहेणाभिभूतः सन् संयमं त्यक्तुं समुद्यतः। ततो देवेनावधिना ज्ञात्वा पुनरपि तथैव जलोदरं कृत्वा वैद्यरूपेणागत्य पुनरसौ प्रतिबोधितः। पुनर्गते च देवे परीषहाभिभूतेन तेन दीक्षात्यागो मनसि कृतः। तदाऽसौ वैद्यरूपो देवस्तृतीयवारं प्रतिबोध्य व्रते स्थिरीकरणार्थमहर्दत्तसमीप एव तिष्ठति।

अथ वह मायिक वैद्य उस जलोदरी को मुनि के पास ले गया और कहने लगा कि यदि तुम दीक्षा धारण करलो तो मैं तुम्हें छोड़ दूं। भार से हेरान होकर उसने विचार किया कि–'अच्छा है दीक्षा लेने से इस वजन को उठाने के दुःख से तो बच जाऊंगा', और बोला दीक्षा ही ले लूंगा। वैद्य उसको संयम दिला कर अपने स्थान देवलोक को चला गया। देव को अपने स्थान पर गया हुआ जानकर, वह दीक्षा का परित्याग करने को उद्यत हुवा। देवने पुनः उसे जलोदर रोग से पीडित किया और वैद्य के रूप से आकर प्रतिबोधित किया। फीर भी वह अरतिपरीषह से उद्विग्न होकर संयम छोड़ने की इच्छा करने लगा। फिर भी देव आकर उसको प्रतिबोधित किया, और "यह संयम में स्थिर बना रहे" इस ख्याल से वह देव स्वयं इसके पास रहने लगा।

એ માયાધારી વૈદ્ય એ જળોદરવાળાને મુનિની પાસે લઈ ગયા અને કહેવા લાગ્યા કે જો તમે દીક્ષા ધારણ કરી લ્યો તો હું તમને છોડી દઉં. ભારથી હેરાન બનેલા તેણે વિચાર કર્યો કે,–'ઠીક છે દીક્ષા લેવાથી આ વજનને ઉઠાવવાના દુ:ખથી તો બચી જઈશ' આમ વિચારી તેણે કહ્યું કે ભલે! હું દીક્ષા લઈશ. તે પછી તેને દીક્ષા અપાવી વૈદ્ય પોતાના સ્થાને દેવલોકમાં ચાલ્યા ગયા. દેવને પોતાના સ્થાન ઉપર ગયેલા જાણીને તે દીક્ષાનો પરિત્યાગ કરવા તૈયાર થયો. દેવે ફરીથી તેને જળોદરના રોગથી પીડિત બનાવ્યો અને વૈદ્યના સ્વરૂપથી આવીને પ્રતિબોધિત કર્યો. ફરીથી તે અરતિપરીષહથી ઉદ્વેગ પામીને સંયમ છોડવાની ઈચ્છા કરવા લાગ્યો. ફરી પાછા દેવે આવીને તેને પ્રતિબોધીત કર્યો અને "આ સંયમમાં સ્થિર બની રહે" એવા ખ્યાલથી તે દેવ પોતે તેની પાસે રહેવા લાગ્યા.

एकदा स देवो मनुष्यवेषेण तृणभारं गृहीत्वा कस्मिंश्चित् प्रज्वलति ग्रामे प्रविशति, तदा संयमारतिं कुर्वन्नर्हद्दत्तमुनिः, प्राह–ज्वलति ग्रामे तृणभारं नयन्, कथं प्रविशसि ? किं मूढोऽसि ? देवेनोक्तम्–त्वं तु महामूढोऽसि, यतः सकलकल्याणकारणं संयमं विहाय क्रोधमानमायालोभवह्निप्रज्वलिते सकलानर्थकरे गृहवासे पुनः पुनर्वार्यमाणोऽपि प्रवेष्टुमिच्छसि ?। स एतद्वचनं श्रुत्वाऽप्यरतिं सर्वथा न मुञ्चति।

एक दिन की बात है कि वह देव मनुष्य का वेष धारण कर घास का गट्ठा लेकर एक गाव में कि जिसमें आग लगी हुई थी जाने लगा। उस समय अरतिभाव को धारण करने वाले उस अर्हद्दत्त मुनि ने उस से कहा कि तुम कितने मूर्ख हो जो आग से जल रहे इस ग्राम में घास का भारा लेकर जा रहे हो। इस स्थिति में तो कोई मूर्ख भी इस गाँव में घास का भारा लेकर जाने को तैयार नहीं हो सकता है, अत तुम्हारे जैसे समझदार व्यक्ति को ऐसा काम करना इस समय सर्वथा अनुचित है। अर्हद्दत्त मुनि की इस बात को सुनकर देव ने कहा कि –परोपदेश में पाण्डित्य प्रदर्शन करने वाले दुनिया में अनेक मनुष्य हैं तुम भी उन्हीं में से एक हो। मैं तो समझता हूं कि मेरी अपेक्षा अधिक मूर्ख तुम हो जो कल्याण के कारणभूत इस ग्रहण किये हुए संयम में अरतिभाव धारण करते हुए क्रोध, मान, माया एवं लोभ–रूपी अग्नि से प्रज्वलित एवं सकल अनर्थों के उत्पादक ऐसे गृहस्थाश्रम में जाने के लिये बार२ मना करने पर भी संयम छोड़ने की इच्छा करते हो।

એક સમય તે દેવે મનુષ્યનો વેશ ધારણ કરીને ઘાસની ગાંસડી લઈ એક ગામમા કે જ્યાં આગ લાગી હતી ત્યાં જવા લાગ્યા તે સમયે અરતી ભાવના ધારણ કરવાવાળા તે અર્હદત્ત મુનિએ તેમને કહ્યું, કે, તમે કેવા મૂખ છો કે, આગથી બળી રહેલા ગામમાં ઘાસનો ભારો લઈને જાવ છો ? આ સ્થિતિમા તો કોઈ મૂર્ખ પણ તે ગામમાં ઘાસનો ભારો લઈને જવાની તૈયારી ન કરે. માટે તમારા જેવી સમજદાર વ્યક્તિએ એવું કામ કરવું આ સમયે સર્વથા અનુચિત છે અર્હદત્ત મુનિની આ વાતને સાંભળીને દેવે કહ્યું કે, પારકાને ઉપદેશ આપવામા પંડિતાઈનુ પ્રદર્શન કરવાવાળા દુનિયામાં અનેક મનુષ્યો છે તેમાના તમે એક છો હું તો સમજુ છુ કે મારી અપેક્ષાએ તમે અધિક મૂખ છો જે કલ્યાણના કારણભૂત એવા લીધેલા સયમમાં અરતી ભાવ ધારણ કરીને, ક્રોધ, માન, માયા, લોભ રૂપી અગ્નિથી પ્રજ્વલિત એવા સકળ અનર્થોના ઉત્પાદક એવા ગૃહસ્થાશ્રમમાં જવા માટે વારવાર મના કરવા છતાં પણ સયમ છોડવાની ઈચ્છા કરો છો આ પ્રમાણે તે દેવના

अन्यदा कदाचित् तेन सह पुरः पुरश्चलन्नसौ देवः पन्थानं विहाय कण्टकाकीर्णेनोत्पथेनाटवीं गच्छति । ततोऽसौ दुर्लभबोधिरर्हद्दत्तः साग्रहं वदति पन्थानं हित्वा कथमुत्पथेन गच्छसि ?। देवेनोक्तम्—त्वमपि विशुद्ध मोक्षमार्गं परित्यज्याऽऽधिव्याधिरूपे कण्टकाकीर्णे संसारमार्गे कस्मात् व्रजसि ? एवमुक्तोऽप्यर्हद्दत्तो बोधिमलब्ध्वा वदति—कस्त्वम् । ततो देवः स्वपूर्वभवसम्बन्धिनं मूकरूपं दर्शयित्वा प्राह—हे भ्रातः! शृणु, भवता पूर्वजन्मनि देवभवं प्राप्य मम निगदितम्—यदा त्वमा-

इस प्रकार उस देव के वचन सुनकर अर्हद्दत्त मुनि अरतिपरीषह को सर्वथा नहीं त्याग सका। देवने और भी उपाय उसे समझाने के लिये किये जैसे—कोई एक दिन जब अर्हद्दत्त बाहर जा रहे थे तब देव भी इनके आगे २ चलने लगा और रास्ता छोड़कर कुरास्ते जाने लगा। वह मार्ग कण्टकाकीर्ण था एवं अटवी की ओर जानेवाला था। उसकी इस प्रकार चाल देखकर अर्हद्दत्त मुनि ने कहा कि—तुम कैसे आदमी हो जो मार्ग का परित्याग कर कुमार्ग से जा रहे हो। तब देव ने भी अर्हद्दत्त से कहा कि तुम भी कैसे आदमी हो जो विशुद्ध मोक्षमार्ग का परित्याग कर आधिव्याधिरूप कंटकों से आकीर्ण संसारमार्ग में जाने को तैयार हो रहे हो। इस प्रकार जब देव ने कहा तो वह अर्हद्दत्त कहने लगा कि—सच तो कहो तुम कौन हो। देवने अर्हद्दत्त की इस प्रकार बात सुनकर अपना पूर्वभवसंबंधी मूक रूप दिखा कर कहा—हे मित्र! सुनो आपने पूर्वभव में देवभव प्राप्त कर मुझ से कहा था कि यदि मैं

વચન સાંભળીને પણ અર્હદત્ત મુનિએ અરતિપરીષહનો ત્યાગ સર્વથા ન કર્યો. દેવે બીજા પણ ઉપાય તેને સમજાવવા માટે કર્યા. જેમ કોઈ એક દિવસ અર્હદત્ત બહાર જઈ રહ્યા હતા ત્યારે દેવ પણ તેની આગળ આગળ ચાલવા લાગ્યા અને રસ્તો છોડીને કુરસ્તે જવા લાગ્યા તે માર્ગ કાંટાથી ભરેલ હતો. અને ઘોર જંગલ તરફ જતો હતો તેની આ પ્રકારની ચાલ જોઈને અર્હદત્ત મુનિએ કહ્યું તમે કેવા માણસ છો કે માર્ગનો ત્યાગ કરી કુમાર્ગે જઈ રહ્યા છો. ત્યારે દેવે પણ અર્હદત્તને કહ્યું કે, તમે પણ કેવા આદમી છો કે, વિશુદ્ધ મોક્ષ માર્ગનો પરિત્યાગ કરી આધિ વ્યાધિ રૂપ કાંટાઓથી ભરેલા સંસારમાર્ગમાં જવાને તૈયાર થઈ રહ્યા છો. આ પ્રકારે દેવે કહ્યું એટલે અર્હદત્ત કહેવા લાગ્યા કે, સાચું કહો તમે કોણ છો? દેવે અર્હદત્તની આ વાત સાંભળીને પોતાના પૂર્વભવ સંબંધી મૂગાનું સ્વરૂપ દેખાડીને કહ્યું કે, હે મિત્ર! સાંભળો આપે પૂર્વભવમાં દેવ ભવ પ્રાપ્ત કરી મને - કહ્યું કે,

त्च्युत स्याम् , तदा तव सहोदरभ्राता भविष्यामि, ततस्त्वया सुरालयगतेनाऽप्यहं जैनधर्मं प्रतिबोधनीय , इति त्वद्वचन मया स्वीकृतम् , अतस्त्वां प्रतिबोधयितुमहमत्रागतोऽस्मि, तस्माद् धर्मं स्वीकृत्य मुहुर्मुहुररतिं मा सेवस्व, इत्येवं मूकदेववचन निशम्याऽर्हद्दत्तोऽब्रवीत्-पूर्वभवेऽहं देव आसमित्यत्र किं प्रमाणम् ? ततो मूकदेवस्तद्विश्वासार्थं देवभवे तेन रोपितमाम्रवृक्षं प्रदर्श्य सर्वं पूर्ववृत्तमवदत् । ततस्तस्य जातिस्मरणमभूत् । तेनाऽस्य चारित्रदृढता जाता । अस्य पूर्वमरतिः, पश्चात्संयमे रतिः समुत्पन्ना । एवमन्यैरपि मुनिभिररतिपरीषहस्तन्निराकरणेन सोढव्यः॥१५॥

देवभव से च्युत हुआ तो तुम्हारा सहोदर होऊंगा, इसलिये तुम देवलोक में देव होते हुए भी मुझे जैनधर्म का प्रतिबोध देना। तुम्हारे इस कथन को उस समय मैंने स्वीकार कर लिया था। इसलिये मेरी प्रतिज्ञा के अनुसार मैं तुम्हें प्रतिबोधित करने के लिये यहां आया हुआ हूं; अतः संयमको अंगीकार कर फिर उस में बार बार अरति का सेवन नहीं करना चाहिये। इस प्रकार मूक देव के वचन सुनकर अर्हद्दत्त ने कहा कि इस में क्या प्रमाण है कि मैं पूर्वभव में देव था। मूकदेव ने अर्हद्दत्तकी बात सुनकर उसके विश्वास के लिये देवभव में आरोपित आम्रवृक्ष को दिखलाकर समस्त पूर्व का वृत्तान्त कह दिया। इस सब को सुनकर उसे जातिस्मरण हो गया। इससे इसके चारित्र में दृढता आगई। इस का सारांश यही है कि देखो अर्हद्दत्त को पहिले चारित्र में अरति थी पश्चात् प्रतिबोधित होने पर उसे चारित्र में रति आ गई इस बात को

જો હું દેવ ભવથી ચ્યુત થઈશ તો તમારો સહોદર બનીશ આ માટે દેવ લોકમાં રહેતા છતાં પણ તમે મને જૈનધર્મનો પ્રતિબોધ આપતા તમારા એ કથનનો મેં એ સમયે સ્વીકાર કરી લીધો હતો જેથી મારી પ્રતિજ્ઞા અનુસાર હું તમોને પ્રતિબોધિત કરવા માટે અહિં આવ્યો છું આથી સંયમનો અંગિકાર કરી તેમા વારવાર અરતિનું સેવન ન કરવું જોઈએ. આ પ્રકારે તે મૂગા દેવનાં વચન સાંભળીને અર્હદત્તે કહ્યું કે, આમાં કયું પ્રમાણ છે કે, હું પૂર્વભવમાં દેવ હતો. મૂગા દેવે અર્હદત્તની વાત સાંભળીને તેના વિશ્વાસ માટે દેવ ભવમા ઉગાડેલ આમ્રવૃક્ષ દેખાડીને અગાઉનું સઘળું વૃત્તાંત કહી સંભળાવ્યું આ બધું જોઈ જાણીને તેને જાતિ સ્મરણ થયું આનો સારાંશ એ છે કે, અર્હદત્તને પહેલાં ચરિત્રમાં અરતિ હતી પછી પ્રતિબોધિત થવાથી તેના ચરિત્રમાં રતિ આવી. આ વાતને જાણીને

अरतिसद्भावे स्त्रीप्रमिलापः स्यादत. स्त्रीपरीषहजय प्राह—

मूलम्—संगो एस मणुस्साण, जाओ लोगमि इत्थिओ ।,
जस्स एया परिण्णाया, सुकडं तस्स सामण्णं ॥१६॥

छाया—संग एप मनुष्याणां, याः लोके स्त्रियः ।
यस्य एता. परिज्ञाताः, सुकृत तस्य श्रामण्यम् ॥ १६ ॥

टीका—' सगो ' इत्यादि ।

लोके=अस्मिन् ससारे याः स्त्रिय. सन्ति, एप मनुष्याणा—पुरुषाणां सगः= सगच्छते=वशीभवति जीवो यस्मात् स सगो=बन्धनम्–यथा मृगाणा बन्धनं वागु रादि, यथा वा मक्षिकाणां श्लेष्मसगो बन्धनं तथा पुरुषाणा स्त्रियो बन्धनमित्यर्थः। स्त्रियो हि हावभावादिभि. पुरुषाणा विषयासक्तिलक्षणं रागमुत्पादयन्ति, रागो-

जानकर, सब मुनियों को चाहिये कि वे आते हुए अरतिपरीषह को निवारण कर सयम में रति रखे ॥ १५ ॥

अरति के सद्भाव में मुनि को स्त्रीपरीषह उत्पन्न होने का सभव है, इस लिये अब सूत्रकार आठवें स्त्रीपरीषहजय को कहते हैं—

' सगो एस '—इत्यादि

अन्वयार्थ—(लोगमि–लोके) इस ससार में (जाओ इत्थिओ–याः स्त्रियः) जो स्त्रियां हैं (एस मणुस्साण सगो–एष. मनुष्याणा संगः) यह मनुष्यों का बन्धन है। जिस प्रकार मृगों का बधन वागुरा–जाल–आदि, मक्षिका का बंधन श्लेष्म आदि हैं उसी प्रकार स्त्रिया भी पुरुषों का बंधनरूप हैं, क्यों कि ये स्त्रिया हाव, भाव, आदि से, पुरुषों में विषयासक्तिरूप राग उत्पन्न करती हैं। तद्विषयक राग की उत्पत्ति होने पर

સઘળા મુનિઓએ જાણવું જોઈએ કે, આવેલ અરતિપરીષહને નિવારી સયમમાં રતિ રાખે. ॥ ૧૫ ॥

અરતિના સદ્ભાવમા મુનિને સ્ત્રી પરીષહ ઉત્પન્ન થવાનો સભવ છે તેથી સૂત્રકાર આઠમો સ્ત્રી પરીષહ જીતવાનું કહે છે સગોએસ—ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—लोगमि–लोके આ સસારમાં जाओ–इत्थिओ–या स्त्रियाः જે સ્ત્રિઓ છે, एस मणुस्साण सगो–एषः मनुष्याणा सग તે મનુષ્યોનું બધન છે જેમ મૃગોનું બધન જાળ આદિ માખીઓનું બધન ગળફા આદિ છે, તે પ્રકાર સ્ત્રિઓ પણ પુરુષોને બધનરૂપ છે કેમ કે, સ્ત્રિઓ હાવભાવ આદિથી પુરુષોમા વિષયાસક્તિ રૂપ રાગ ઉત્પન્ન કરે છે, તે વિષયરાગ ઉત્પત્તિ થવાથી પુરુષ તેને વશીભૂત બની જાય છે

स्पर्शो च तद्वशीभूताना पुरुषाणा नरकनिगोदादिदुर्गतिकससारपात, तस्मात् स्त्रिय पुरुषाणां बन्धनमिति व्यपदेशः ।

अतः किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह–' जस्स ' इत्यादि ।

यस्य–अत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, येन मुनिनेत्यर्थ , एता॰ स्त्रिय॰ परिज्ञाता॰ परि=सर्वथा ज्ञाता ज्ञ–परिज्ञयाऽस्मिन् भवे परभवे चानन्तदु खकारणतया विज्ञाताः प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिवर्जिता , तस्य मुने॰ श्रामण्य=चारित्रम् , अत्र श्रामण्येन सह परिपाल्यपरिपालकभावसम्बन्धे षष्ठी। सुकृतं=सुष्ठु आचरित भवति, सफलं भवतीत्यर्थ ॥ १६ ॥

पुरुष उनके वशीभूत हो जाता है । उनके वश में हो जाने से उसका नरक निगोद आदि दुर्गतिरूप ससार में पतन अवश्यभावी है । इस लिये ये स्त्रिया पुरुषों का बधन है । इसलिये (जस्स–यस्य) जिस मुनि द्वारा (एया परिण्णाया–एता परिज्ञाताः) ये सर्वथा ज्ञ–परिज्ञा से इस भव में तथा परभव में अनंत दु खों के कारणरूप जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से परिवर्जित कर दी जाती हैं (तस्स सामण्ण सुकडं–तस्य श्रामण्य सुकृतम्) उस मुनि का साधुपना सफल है ।

भावार्थ—जिस प्रकार मृगादि पशुओं को पकड़ कर रखने के लिये वागुरा (जाल) आदि बन्धन प्रसिद्ध हैं क्यों कि इन द्वारा परतन्त्र किये ये स्वतन्त्र विहार से रहित हो जाते हैं, और अनेक प्रकार की यातनाएँ सहन करते हैं इसी प्रकार पुरुषों का बंधन ये स्त्रियां हैं। इनके वश में पड़ा हुआ प्राणी परतन्त्र होकर अपनी स्वतन्त्रता–चारित्र

તેના વશ થવાથી તેનુ નરક નિગોદ આદિ દુર્ગતિ રૂપ સસારમા પતન અવશ્યભાવિ છે માટે સ્ત્રિઓ પુરૂષોનુ બધન છે, આ માટે जस्स–यस्य જે મુનિદ્વારા एयापरिण्णाया–एता परिज्ञाता એ સર્વથા જ્ઞ–પરિજ્ઞાથી આ ભવ તથા પરભવમાં અનત દુઃખોના કારણ રૂપ જાણીને પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞાથી પરિવર્જીત કરી દેવામા આવે છે तस्स सामण्ण सुकड–तस्य श्रामण्यं सुकृतम् એવા મુનિનુ સાધુ પણુ સફળ છે

ભાવાર્થ—જે પ્રકાર મૃગ આદિ પશુઓને પકડી રાખવા માટે જાળ આદિ બધન પ્રસિદ્ધ છે કેમ કે, તેના દ્વારા પરતત્ર કર્યાથી તે સ્વતત્ર વિહારથી રહિત બની જાય છે અને અનેક પ્રકારની યાતનાઓ સહન કરે છે આ રીતે પુરૂષોનુ બધન સ્ત્રીઓ છે તેના વશમાં પડેલો પ્રાણી પરતત્ર બનીને

अथ भाव –धर्ममर्यादानुवर्ती मुनिः–स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गसस्थानहसितविभ्रमाद्याश्चित्तविक्षेपकारिणीश्चेष्टा कदाचिदपि न चिन्तयेत्, नापि कामबुद्धया मोक्षमार्गकर्दमकल्पासु तासु चक्षुरपि निक्षिपेत् किंत्वात्मानमेव पर्यालोचयेत्। एवं स्त्रीपरीषहजयः स्यादिति ।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

द्वादशतीर्थंकरवासुपूज्यशासने चम्पानगर्यां तद्वंशीयो रूपलावण्यसम्पन्नः, सुजातसर्वाङ्गसुन्दर, शशिसौम्याकार, इष्ट, इष्टरूपः, कान्त, कान्तरूपः, प्रिय',

इस का भाव यह है–धर्म मर्यादा अनुवर्तन करने वाला मुनि चित्त को विक्षिप्त करने वाली स्त्रियों के अंग, प्रत्यंग की आकृति का, तथा उनकी हासी आदि क्रियाओं का एवं हाव विभाव आदि विलासों का कभी भी विचार तक न करे, और न मोक्षमार्ग में कर्दमस्वरूप इनको विकारदृष्टि से देखे। जहां तक हो मुनिका यही कर्तव्य है कि वह अपनी आत्मा का जिस तरह से कल्याण होता रहे, तथा जिन विचारधाराओं से वह अहर्निश अपने गृहीत पथ पर अग्रगामी बना रहे, इस प्रकार का ही प्रयत्न साधु को करते रहना चाहिये। यही अपनी पर्यालोचना है ॥

दृष्टान्त—बारह वें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य स्वामी के शासन काल में चम्पानगरी में इन्हीं का वंशज लावण्यपूर नामका एक राजा रहता था। वह सुजातसर्वाङ्गसुन्दर–अर्थात् आकार से सर्वाङ्ग सुन्दर था,

આનો ભાવાર્થ એ છે કે–ધર્મ મર્યાદાનું અનુવર્તન કરવાવાળા મુનિ ચિત્તને વિક્ષિપ્ત કરવાવાળી સ્ત્રિઓના અંગ પ્રત્યંગની આકૃતિનું તથા તેની હાસી આદિ ક્રિયાઓનું, અને હાવભાવ આદિ વિલાસોનો કદી વિચાર સુદ્ધાં પણ ન કરે મોક્ષમાર્ગમાં કર્દમસ્વરૂપ એવી આ ભાવનાને વિકાર દૃષ્ટિથી ન જુએ, એનું કર્તવ્ય છે કે, જ્યાં સુધી બની શકે ત્યાં સુધી પોતાના આત્માનું કલ્યાણ થતું રહે અને જે વિચારધારાઓથી તે હરહંમેશ પોતે ગ્રહણ કરેલ માર્ગ ઉપર અગ્રગામી બની રહે. આ પ્રકારનો જ વિચાર પ્રયત્ન સાધુએ કરવો જોઈએ એ જ તેમની પર્યાલોચના છે

દૃષ્ટાંત—બારમા તીર્થંકર શ્રી વાસુપૂજ્ય સ્વામીના શાસનકાળમાં ચંપા નગરીમાં તેમના જ વંશના લાવણ્યપૂર નામના એક રાજા રાજ્ય કરતા હતા. તે સુજાતસર્વાઙ્ગસુંદર અર્થાત્ આકારથી સર્વાંગ સુંદર હતા, તે સકલસમાજના મનોરથ પૂર્ણ કરવાવાળા હોવાથી બધાને ઇષ્ટ હતા, તેમની આકૃતિ મનોહર

प्रियरूप., मनोज्ञ., मनोज्ञरूप , सौम्य., सुभग., प्रियदर्शन , सुरूपो. लावण्य
नामको नृप आसीत् । असौ नृप. सुभूमनामकस्य वासुपूज्यतीर्थकृत्प्रथमगणध
समीपे धर्मदेशनां श्रुत्वा दीक्षितो जात. ।

स चैकदा भिक्षाचर्यां पर्यटन् श्रावकगृहं मत्वा वेश्यागृहं प्रविष्टः, तत्र सा क

वह सकल समाज का मनोरथ पूर्ण करनेवाला होने से सब को इष्ट
इसकी आकृति मनोहर होने से इष्टरूप था, तथा वह सबका सहा
होने से कान्त अभिलषणीय था। वह कान्तरूप रूप से भी कान्त व
कमनीय था। वह सब जनों के उपकार करने में परायण होने से स
लिये प्रिय था। वह रूप से भी प्रिय होने से प्रियरूप था। सब के हि
कारी होने से वह मनोज्ञ था। इसके देखने वाले के लिये वह चित्त
कर्षक होने से मनोज्ञ रूप था। दु खियों का दु ख दूर करने वाला हं
से मनोऽम सबके मन में बसने वाला था। सकल जनमन के अनुकू
आकृति वाला होने से मनोऽमरूप था, इसलिये वह सौम्य-
स्वभाव होने से समस्त जन का आह्लादक था। तथा कल्य
मार्ग पर चलने वाला होने से सुभग था। वह प्रियदर्शन था अर्थ
जो व्यक्ति इसे एकबार भी देख लेता तो पुनः उसे देखनेकी लाल
उस के बनी रहती थी। वह सुरूप-लावण्य की राशि से भरपूर थ
राजा ने सुभूम नाम के गणधर के पास जो वासुपूज्यतीर्थकर के प्रथ
गणधर थे धर्मदेशना सुनकर दीक्षा धारण करली।

હોવાથી ઇષ્ટરૂપ હતા. તથા તેઓ બધાને સહાયકરવાવાળા હોવાથી કાન્ત અભિ
લષણીય હતા તે કાન્તરૂપ રૂપથી પણ કાંત-કમનીય હતા તેઓ દરેક મનુષ્ય
પર ઉપકાર કરવામા પરાયણ હોવાથી દરેકને પ્રિય હતા. તે રૂપથી પણ પ્રિ
હોવાથી પ્રિયરૂપ હતા. દરેકના હિતચિંતક હોવાથી તે મનોજ્ઞ હતા તેમને
જોનારને તેઓ ચિત્તાકર્ષક હોવાથી મનોજ્ઞરૂપ હતા, દુખીઓના દુખ દૂ
કરવાવાળા હોવાથી મનોઽમ અર્થાત્ દરેકના મનમાં વાસ કરવાવાળા હતા સકલ
જનમનની અનુકૂળ આકૃતિવાળા હોવાથી મનોઽમરૂપ હતા, એ માટે તેઓ
સૌમ્ય ભદ્રસ્વભાવ હોવાથી સમસ્તજનના આહ્લાદક હતા. તથા કલ્યાણ માર્ગ
પર ચાલવાવાળા હોવાથી સુભગ હતા તેઓ પ્રિયદર્શનીય હતા, અર્થાત્ જે કોઇ
તેને એકવાર જુએ તો ફરીથી તેને જોવાની લાલસા ઉત્પન્ન થયા કરતી તે સુરૂપ-
રૂપલાવણ્યથી ભરપૂર હતા રાજાએ સુભૂમ નામના ગણધરની પાસે કે જે વાસુપૂજ્ય
તીર્થંકરના પ્રથમ ગણધર હતા તેમની ધર્મદેશના સાંભળીને દીક્ષા ધારણ કરી લીધી.

मञ्जरीनाम्नी वेश्या लावण्यपूरमुनेर्मनोहर वयोरूपलावण्यसंस्थानादिकं विलोक्य मोहिता जाता। अथ सा लावण्यपूरमुनिं प्रणम्य झटिति द्वारदेशमागत्य सर्वाणि निर्गमद्वाराणि पिधाय पुनस्तस्य समीपमागत्य सानुरागं पश्यन्ती सस्मितं वदति-महात्मन्! स्वल्पमेव कालं भवानत्र तिष्ठतु, यावद्भिक्षामानयामि। तद्विनयवचनं निशम्य लावण्यपूरमुनिस्तत्रैवतिष्ठति। सा च गृहाभ्यन्तरगता मुनिसंगमाभिलाषिणी भिक्षोपयोगिवस्तुग्रहणव्याजेन नृत्यन्तीव भवने चलन्ती, बाहुविक्षे-

एक समय की बात है कि जब ये भिक्षाचरी के लिये निकले तो वे श्रावक का घर जानकर वेश्या के घर में आहार पानी के लिये पहुंच गये। वहां वेश्या ने जब इन्हें आया हुआ देखा तो वह इन पर इनके सुन्दरातिसुन्दररूप को देखकर मोहित हो गई। वेश्या का नाम काममंजरी था। अब क्या था रूप का निधान जब घर के भीतर स्वयं आ गया है तो उसने विचार किया कि यह वापिस न हो जाय इस ख्याल से उठ कर उसने शीघ्र ही बाहिर निकल ने के जितने भी द्वार थे वे सब द्वार बंद कर दिये। पश्चात् वह उन मुनिराज के पास आई और सानुराग उनकी ओर निहार कर मुस्कराती मुस्कराती कहने लगी कि-हे महात्मन्! आप कुछ देर तक यहां ठहरिये-जब तक मैं भिक्षा लेकर आती हूं। मुनिराज उसके विनीत वचन सुनकर वे वहीं पर ठहरे रहे और वह मुनि के साथ संगम की अभिलाषा से घर के भीतर रही हुई आहार पानी लाने के बहाने से मकान में ऐसी चलने लगी कि जैसे मानो नाचती हो। कामराग के प्रकट

એક સમયની વાત છે કે, જ્યારે તે ભિક્ષાચર્યા માટે બહાર નીકળ્યા ત્યારે શ્રાવકનું ઘર જાણીને એક વેશ્યાના ઘરમાં આહાર પાણી માટે જઈ ચડયા. જ્યારે વેશ્યાએ મુનિને આવેલા જોયા ત્યારે તે તેના રૂપલાવણ્યને જોઈ તેના ઉપર મોહિત બની ગઈ વેશ્યાનું નામ કામમંજરી હતું રૂપનું નિધાન જ્યારે ઘરની અંદર આવેલ હતુ પછી બાકી રહે શું? એણે વિચાર કર્યો કે, મુનિ પાછા ન ફરી જાય એ વાતના ખ્યાલથી ઉઠીને તેણે તરત જ બહાર નીકળવાના જેટલા રસ્તા હતા તે બધા બંધ કરી દીધા પછી તે મુનિરાજની પાસે આવી અને વિવેકપૂર્વક હસતી હસતી સામે આવી અને મુનિરાજની સામે જોઈ કહેવા લાગી કે, હે મહાત્મન્! આપ થોડીવાર રોકાઈ જાવ ત્યાં હું ભિક્ષા લઈને આવું છું મુનીરાજ તેના વિનીત વચન સાંભળીને દરવાજા પાસે ઉભા રહ્યા અને તે વેશ્યા મુનિરાજની સાથે સંગમની અભિલાષાથી ઘરની અંદર ચાલી ગઈ આહારપાણી લાવવાના બહાને તે મકાનમાં એ રીતે ચાલવા

प्रावरणवसनापगमव्यक्तीकृताङ्गप्रत्यङ्गाच्छादनपरा कामराग प्रदर्शयति । भोगाभिलापप्रकाशक मदनधनु कल्पभ्रुकुटिविलाससहकृतशिथिलारुणनयननिपातैर्लावण्यपूरमुनेर्मनो हरन्तीव, रूपयौवनसौन्दर्यसम्पन्नसुकुमाराङ्गलीलाप्रदर्शनपरा कोकिलारावमधुरस्वरेण गायति । तदनु तनुनूतनविविधवर्णचित्रितरुचिरवसनाञ्चलस्फालन प्रकुर्वती भूषणध्वनिमनोहरैश्चरणप्रचारणैर्मुने समीपमागत्य सा भृङ्गावलिसमाश्लिष्टकमलायमानलावण्यभरविद्योतितसुपुष्टरागोपगतकपोलपाली समालम्बितालकावलिविभूषितसमुज्जृम्भमाणवदना भुजादिनिजगात्राणि मोटयन्ती स्मरमदोन्मादेनापहृतकृत्याकृत्यविवेकविज्ञाना गद्गदस्वरेण मुनिमभ्यर्थयति काम

करने के अभिप्राय से अपने अग एव प्रत्यङ्ग को साडी के गिर जाने के छल से प्रकट कर फिर उन्हें बार२ ढकने लगी । मानों मुनि के मन को हरती हो इस प्रकार वह उनके ऊपर, भोगाभिलाप सूचक एवं काम के धनुप जैसी भ्रकुटी के विलास के साथ२ कुछ२ झुके हुए अरुण नयनों के विक्षेपों से प्रहार करने लगी । रूप, यौवन, एव सौन्दर्य से सपन्न अपने सुकुमार अगोंकी लीला के प्रदर्शन में तत्पर बनी हुई उसने फिर कोकिल के शब्दसमान मीठे स्वर से गाना गाना भी प्रारंभ कर दिया । पश्चात् शरीर पर पहिरे हुए नवीन बहुमूल्य रग विरंगे वस्त्र के अञ्चल को हिलाती एव भूपणों की ध्वनि से मनोहर पैरों को ठुमक ठुमक कर रखती हुई वह मुनि के समीप आकर गद्गद स्वर से कहने लगी । कहते हुए उसे जरा भी संकोच जो नहीं हुआ उसका कारण इसके ऊपर चढा हुआ काम का उन्माद था, इससे कृत्य और अकृत्य का विवेक विलुप्त हो चुका था । भौंरों से युक्त कमल जिस

લાગી કે, જાણે તે નાચતી હોય કામરાગ પ્રગટ કરવાની ઈચ્છાથી પોતાના દરેક અ ગ પ્રત્ય ગને સાડીના પડી જવાના બહાનાથી પ્રગટ કરી ફરીથી તે શરીરને વાર વાર ઢાંકવા લાગી જાણે મુનિના મનને હરતી હોય ! આ પ્રકારે તે મુનિ ઉપર, ભોગવિલાસના સૂચક એવાં કામના ધનુષ જેવી ભ્રકુટિના વિલાસની સાથે સાથે નયનોના બાણ ફેકવા લાગી. રૂપ, યૌવન અને સૌંદર્યથી સ પન્ન પોતાના સુકુમાર અ ગોની લીલાના પ્રદર્શનમા તત્પર બનેલી તે વેશ્યાએ કોકિલકંઠ જેવા મીઠા સ્વરથી ગાયન ગાવાની શરૂઆત કરી. પછી શરીર ઉપર પહેરેલા નવીન ર ગબેર ગી વસ્ત્રોના છેડાને હલાવતી તેમજ ઘરેણાઓની ધ્વનીથી મનોહર પગોથી ઠુમક ઠુમક નાચતી તે મુનિની સામે આવીને તે ગદ્ગદ સ્વરે કહેવા લાગી, કહેતી વખતે તેને જરા પણ સ કોચ ન થયો તેનુ કારણ તેના ઉપર કામના ઉન્માદની છાયા ફેલાઈ ગઈ હતી આથી કૃતાકૃત્યના ભાનનો વિવેક તે ચુકી

भोगाय–" महात्मन् ! कामज्वरभरेण संतप्तमिदं मदङ्गमधुना, दयस्व मम तत्र शान्त्यै " इत्यादिविविधप्रार्थनावचनैर्विविधकामचेष्टाभिश्च सा मुनिं चारित्राच्चालयितुं प्रवृत्ता । तदा मुनिश्चिन्तयति—

गणिकास्त्रियो हि खलु नाम्नाऽबला १, कार्येण सबला २, प्रकृतिविषमा ३, कपटप्रेमगिरिनद्यः ४, अपराधसहस्रगृहा. ५, प्रभव (उत्पत्तिस्थान) शोकस्य ६,

प्रकार सुन्दर मालूम पड़ता है उसका मुखकमल भी केशपक्ति से विराजित होने से ठीक ऐसा ही सुन्दर मालूम पड़ता था। मुख की कपोलपाली लावण्य के प्रकर्ष से चमक रही थी। ललाई को लिये हुए थी। काम के आवेश से यह क्षण२ में जभाई लेती और क्षण२ में आलस्य मोड़ती हुई बोली-महात्मन्! मेरा यह शरीर इस समय कामज्वर से सतप्त हो रहा है। अत दया करो और इस कमज्वर को शान्त करो। इत्यादि विविध प्रार्थना के वचनों एव अनेकविध काम की चेष्टाओं से उसने मुनि को उनके पवित्र चारित्र से चलायमान करने के लिये कोशिश की, परन्तु मुनिराज ने उस समय भी यही विचार किया कि—

ये वेश्या स्त्रिया केवल नाम से ही अबला हैं कार्यसे नहीं१। कार्य में तो ये बड़ी भारी सबल हैं२। प्रकृति से ये विषम होती हैं३। कपट प्रेम की ये पहाड़ी नदिया है जो शीघ्र ही शुष्क हो जाती हैं ४। हजारों अपराधों की ये स्थान हैं ५। शोक की उत्पत्ति का ये स्थानभूत हैं ६।

અઈ હતી ભમરાથી ગુંજતુ કમળ જે રીતે સુંદર દેખાય છે તેવી રીતે એનુ મુખ કમળ પણ કેશ પંક્તિથી વિરાજીત હોવાથી એવું જ સુંદર દેખાતુ હતુ તેના ગાલ ઉપરની લાલીમા લાવણ્યથી ચમકી રહેલ હતી. કામના આવેશથી એ ક્ષણ ક્ષણમાં અટકતી અને આળસ મરડતી બોલી મહાત્મન્! હુ આ સમયે કામજ્વરથી પીડાઈ રહી છુ આથી દયા કરી આ કામજ્વરને શાંત કરો. ઇત્યાદિ વિવિધ પ્રાર્થના વચનોથી તેમજ અનેકવિધ કામચેષ્ટાથી તેણે મુનિને તેના પવિત્ર ચારિત્રથી ચલાયમાન કરવાની કોશિષ કરી. આ સમયે મુનિરાજે એ વિચાર કર્યો કે,—

આ વેશ્યા સ્ત્રીઓ કેવળ નામથી જ અબળા છે, કાર્યથી નહીં ૧ કાર્યમાં તો એ ઘણી ભારે સબળ છે ૨. પ્રકૃતિથી એ વિષમ હોય છે ૩ કપટ પ્રેમની એ પહાડની નદીઓ જેવી છે, જે વહેલી સુકાઈ જાય છે ૪ હજારો અપરાધોનુ એ સ્થાન છે ૫. શોકની ઉત્પત્તિને જગાવનાર છે ૬ બળનો વિનાશ કરનાર

विनाशो बलस्य, (बलहारकत्वात्) ७, सूना (वधस्थान) पुरुषाणाम् ८, नाशो लज्जाया –(लज्जारहितत्वात्, अस्याः सगे पुरुषस्य लज्जानाशाच्च) ९, मूलम-विनयस्य १०, गृह मायानाम् ११, खनिर्वैरस्य १२, भेदो मर्यादानाम्, (सयमम र्यादाया विनाशहेतुत्वात्) १३, आश्रयो रागस्य, (आश्रय स्थानं) १४, गृह दुश्चरित्राणाम् १५, स्खलना ज्ञानस्य १६, विध्वसन ब्रह्मचर्यस्य १७, विघ्नो-धर्मस्य १८, अरि साधूनाम् (मोक्षमार्गसाधकाना चारित्रप्राणविनाशकत्वात्)१९ दूषण ब्रह्मचारिणाम् २०, कारण कर्मरजस २१, अर्गला मोक्षमार्गस्य २२, भवन दुर्गुणस्य २३, मत्तगजवन्मदनपरवशाः २४, व्याघ्रीवद् दुष्टहृदया २५ तृणच्छन्न-कूपवद् अप्रकाशान्त करणा २६, कारीषाग्निवदन्तर्दहनशीला २७, अन्तर्दुष्ट्व-

---

बल को विनाश करने वाली हैं ७। पुरुषों के मन की हत्या करने के लिये ये वधस्थान हैं ८। लज्जा की विनाशक है ९। अविनय की ये मूल कारण है १०। माया का तो यहा खजाना ही भरा रहता है ११। वैर विरोध आदि जितने भी अनर्थ दुनिया में होते है उन सब में ये प्रधान रहा करती हैं अत ये उनकी खान है १२। सयममर्यादा का भग करने वाली है १३। राग का ये स्थान है १४। दुश्चरित्रों की तो ये पेटी हैं १५। ज्ञान की स्खलना करनेवाली हैं १६। ब्रह्मचर्य की आंखे कैसे फोडी जाती है इस बात में ये बडी होशियार होती है १७। धर्म की विघ्नभूत है १८। साधुओं के लिये शत्रुसमान हैं १९। ब्रह्मचारियों के लिये दूषणरूप है २०। कर्मरज की कारण २१, एव मुक्तिमार्ग की ये आर्गला हैं २२। ये दुर्गुणों के भवन हैं २३। मत्तगजराज के समान हैं २४। व्याघ्री के समान दुर्हृदयवाली हैं २५। तृण से ढके हुए कूप के समान हैं २६। करीषाग्नि के समान अन्तर्दहन

છે ૭ પુરૂષોના મનની હત્યા કરનાર એ વધસ્થાન છે ૮ લજ્જાનો નાશ કરનાર છે ૯, અવિનયનું એ મૂળ છે ૧૦ માયાનો તો એ ખજાનો છે ૧૧ વૈર વિરોધ આદિ જેટલા અનથ દુનિયામાં છે તે સઘળા અનર્થોનું ઉદ્ગમ સ્થાન છે ૧૨ આથી તે એ અનર્થોની ખાણ છે, સયમમર્યાદાનો ભગ કરનાર છે ૧૩ રાગનું એ સ્થાન છે ૧૪ દુશ્ચરિત્રોની તો એ પેટી છે ૧૫ જ્ઞાનનો નાશ કરનાર છે ૧૬ બ્રહ્મચર્યની આંખ ફોડનારી છે ૧૭ એ મહા ચપળ હોય છે, ધર્મમાં વિઘ્ન કરાવનારી છે ૧૮ સાધુઓ માટે શત્રુ સમાન છે ૧૯ બ્રહ્મચારિઓ માટે કલક છે ૨૦ કર્મરજનું કારણ છે ૨૧ મુક્તિ માર્ગમાં અર્ગલા છે ૨૨ દુર્ગુણોની ખાણ છે ૨૩ મત્ત ગજરાજ સમાન છે ૨૪ વાઘણ જેવી દયા વગરની છે ૨૫ ઘાસથી ઢંકાયેલા કુવા જેવી છે ૨૬ છુપા

भोगाय-" महात्मन्! कामज्वरभरेण संतप्तमिदं मदङ्गमधुना, दयस्व मम तत् शान्त्यै " इत्यादिविविधप्रार्थनावचनैर्विविधकामचेष्टाभिश्च सा मुनिं चारित्राच्चालयितुं प्रवृत्ता। तदा मुनिश्चिन्तयति—

गणिकास्त्रियो हि खलु नाम्नाऽबला १, कार्येण सबलाः२, प्रकृतिविषमाः ३, कपटप्रेमगिरिनद्यः ४, अपराधसहस्रगृहाः ५, प्रभवः (उत्पत्तिस्थान) शोकस्य ६,

प्रकार सुन्दर मालूम पड़ता है उसका मुखकमल भी केशपंक्ति से विराजित होने से ठीक ऐसा ही सुन्दर मालूम पड़ता था। मुख की कपोलपाली लावण्य के प्रकर्ष से चमक रही थी। ललाई को लिये हुए थी। काम के आवेश से वह क्षण२ में जभाई लेती और क्षण२ में आलस्य मोड़ती हुई बोली-महात्मन्! मेरा यह शरीर इस समय कामज्वर से सतप्त हो रहा है। अत दया करो और इस कमज्वर को शान्त करो। इत्यादि विविध प्रार्थना के वचनों एव अनेकविध काम की चेष्टाओं से उसने मुनि को उनके पवित्र चारित्र से चलायमान करने के लिये कोशिश की, परन्तु मुनिराज ने उस समय भी यही विचार किया कि—

ये वेश्या स्त्रिया केवल नाम से ही अबला हैं कार्यसे नहीं१। कार्य में तो ये बड़ी भारी सबल हैं२। प्रकृति से ये विषम होती हैं३। कपट प्रेम की ये पहाड़ी नदियां हैं जो शीघ्र ही शुष्क हो जाती हैं ४। हजारों अपराधों की ये स्थान हैं ५। शोक की उत्पत्ति का ये स्थानभूत हैं ६।

अई હતી ભમરાથી શુ જતુ કમળ જે રીતે સુદર દેખાય છે તેવી રીતે એનુ મુખ કમળ પણ કેશ પ કિતથી વિશાળીત હોવાથી એવુ જ સુદર દેખાતુ હતુ તેના મોઢા ઉપરની લાલીમા લાવણ્યથી ચમકી રહેલ હતી. કામના આવેશથી એ ક્ષણ ક્ષણમા અટકતી અને આળસ મરડતી બોલી મહાત્મન્! હુ આ સમયે કામજ્વરથી પીડાઈ રહી છુ આથી દયા કરી આ કામજ્વરને શાંત કરો. ઇત્યાદિ વિવિધ પ્રાર્થના વચનોથી તેમજ અનેકવિધ કામચેષ્ટાથી તેણે મુનિને તેના પવિત્ર ચારિત્રથી ચલાયમાન કરવાની કોશિષ કરી. આ સમયે મુનિરાજે એ વિચાર કર્યો કે,—

આ વેશ્યા સ્ત્રીઓ કેવળ નામથી જ અબળા છે, કાર્યથી નહી ૧ કાર્યમાં તો એ ઘણી ભારે સબળ છે ૨ પ્રકૃતિથી એ વિષમ હોય છે ૩ કપટ પ્રેમની એ પહાડની નદીઓ જેવી છે, જે વહેલી સુકાઈ જાય છે ૪ હજારો અપરાધોનુ એ સ્થાન છે ૫. શોકની ઉત્પત્તિને જગાવનાર છે ૬ બળનો વિનાશ કરનાર

४७, परदोषप्रकाशिका: ४८, अरज्जुका. पाशाः (रज्जुक विना बन्धनरूपाः) ४९, कृतपापपश्चात्तापवर्जिता ५०, अकार्यप्रवृत्तिशीला. ५१, अनामका व्याधयः ५२, अरूपा उपसर्गा (अनुकूलोपसर्गभूताः) ५३, चित्तविक्षेपकारिका ५४, अनभ्रका विद्युत. ५५, समुद्रवेगा., (केनापि निरोद्धुमशक्यत्वात् ५६। उक्तञ्च—

न तथाऽस्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गत'।
योषित्सगाद् यथा पुसो यथा स्त्रीसगिसगत ॥ १ ॥
पदाऽपि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसगत. ॥ २ ॥

के दोषों को प्रकाशित करने वाली है ४८। ये विना दोरी के पाशतुल्य है ४९। किये हुए पापों के पश्चात्ताप से वर्जित ५०, एव अकार्य में प्रवृत्ति करने वाली होती है ५१। विना नाम की ये व्याधिया है ५२। विना आकृति के उपसर्ग समान है ५३। चित्तको विक्षेप करने वाली है ५४। विना बादलों की ये विद्युत् है ५५। किसी से भी इनका वेग रोका नहीं जा सकता, इसलिये ये समुद्र के वेग जैसी हैं ५६। कहा भी है—

न तथाऽस्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसंगतः।
योषित्सगाद् तथा पुसो, यथा स्त्रीसगिसगत ॥ १ ॥
पदाऽपि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत, करिण्या अगसगतः ॥ २ ॥

अर्थात्–पुरुष को स्त्री के संग से तथा विषयविलासी के संग से जिस प्रकार का मोह और बन्ध होता है उस प्रकार का मोह और

સ્વજનમાં તેમજ મિત્રોમાં છેદ ભેદ કરાવનારી છે ૪૭, બીજાના દોષોને પ્રકાશીત કરવાવાળી છે ૪૮, દોરી વગરના ફાંસલા જેવી છે ૪૯, કરેલા પાપોના પશ્ચાત્તાપથી દૂર રહેનારી છે ૫૦, અકાર્યમાં પ્રવૃત્તિ કરનાર હોય છે ૫૧, નામ વગરનો એ રોગ છે ૫૨, આકૃતિ વગરનો ઉપસર્ગ છે ૫૩, ચિત્તને વ્યગ્ર બનાવનાર છે ૫૪, વાદળ વગરની વિજળી જેવી છે, કોઈથી તેનો વેગ રોકી શકાતો નથી આ કારણે તે સમુદ્રના વેગ જેવી છે કહ્યું છે કે—

न तथाऽस्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्य प्रसगत।
योषित्सगाद् तथा पुसो, यथा स्त्री संगिसगत ॥ १ ॥
पदाऽपि युवतिं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवी मपि।
स्पृशन् करीव बध्येत, करिण्या अग सगतः ॥ २ ॥

પુરુષને સ્ત્રીના સંગથી તેમજ વિષય વિલાસીના સંગથી જે પ્રકારનો મોહ અને બંધ થાય છે, તે પ્રકારનો મોહ અને બંધ બીજાથી થતો નથી આ

णवत्कुथितहृदया २८, सन्ध्याभ्ररागवन्मुहूर्तरागा २९, समुद्रवीचिवच्चलस्वभावाः ३०, कृष्णसर्पवन्निरनुकम्पा ३१, सलिलवन्निम्नगामिन्य ३२, कृपणवदुत्तानहस्ता ३३, नरकवत् त्रासोत्पादिका ३४, दुष्टाश्ववद् दुर्दमा ३५, बालवत् क्षणरुष्टतुष्टाः ३६, अन्धकारवद् दुष्प्रवेशा ३७, विषवल्लीवद् अनाश्रयणीयाः ३८, किंपाकफलतुल्यमुखमधुरा ३९, राक्षसीवद् अकालचारिण्य ४०, दुरुपचाराः ४१, अगम्भीरा ४२, अविश्वसनीया ४३, अरतिकरा ४४, रूपसौभाग्यमदमत्ता-(रूप-सुन्दराकृति, सौभाग्य-स्वकीर्तिश्रवणादिरूप, मदो-मन्मथजगर्वः, तैर्मत्ता) ४५, भुजगगतिवत् कुटिलहृदयाः ४६, कुलस्वजनमित्रभेदनकारिका

शील है २७। भीतर के घाव की तरह कुथित हृदयवाली है २८। सन्ध्याराग समान है २९। समुद्र की तरङ्ग के समान चपल स्वभाव वाली है ३०। कृष्णसर्प के समान भयकर हैं ३१। जल के समान नीचे की ओर जाने वाली हैं ३२। कृपण की तरह उत्तान हाथोंवाली अर्थात् हर समय 'लाव-लाव' करने वाली है ३३। नरक के तुल्य कष्ट देनेवाली है ३४। दुष्ट घोडे की तरह दुर्दम हैं ३५। बालक के समान क्षण२ में रुष्ट एव तुष्ट होनेवाली है ३६। अन्धकार की तरह दुष्प्रवेश्य है ३७। विषवल्ली की तरह आश्रय लेने योग्य नहीं है ३८। किंपाक फल की तरह आदि में मधुर है ३९। राक्षसी की तरह अकाल में चलने वाली हैं ४०। दुरुपचार ४१, अगम्भीर ४२, अविश्वसनीय ४३, और अरतिकर हैं ४४। रूप, सौभाग्य तथा मद से सदा उन्मत्त हैं ४५। सर्प की गति के समान कुटिल मनवाली है ४६। कुल में, स्वजन में, एव मित्रों में छेद-भेद करने वाली है ४७। दूसरों

येवा छाणना अग्नि माफक बाळवावाळी छे २७ अंदरना घाना जेवी दुर्गंधीमां कुथित जेवा हृदयवाळी छे २८ संध्याना रंग जेवी छे २९ समुद्रना तरंगोनी माफक चचल स्वभाववाळी छे ३० काळा सर्प जेवी भयंकर छे ३१ जळनी माफक नीचे जनारी छे ३२. कृपणनी माफक उत्तान हाथवाळी अर्थात् हर समय लाव लाव करवावाळी छे ३३ नरकना जेवां दुःखो देनारी छे ३४ दुष्ट घोडाना जेवी दुर्दम छे ३५ बाळकनी माफक घडीमां रीसानार अने घडीमां हसनार छे ३६ अंधकारना जेवी बीहामणी छे ३७ विषवेलना जेवी आश्रय लेवाय तेवी नथी ३८ किंपाक फळनी माफक शरूमां मधुर छे ३९ राक्षसीनी माफक अकाळमां चालवावाळी छे ४० दुरुपचार छे ४१, अगंभीर छे ४२, अविश्वसनीय छे ४३, अरतिकर छे ४४, रूप, सौभाग्य तथा मदथी सदा उन्मत्त छे ४५, सर्पनी गती समान कुटिल मनवाळी छे ४६

भगिनि ! इदमब्रह्मचर्यं महापुरुषैरनाचरितं, जन्मजरामरणदायकं कातरपुरुषसेवितं प्रमादबहुलं तपःसंयमविघ्नभूतमधर्मद्वारम्, पङ्कपनकपाशजालतुल्यम्। अस्य खलु अब्रह्मचर्यस्य फलविपाकोनरकनिगोदाद्यनन्तदुःखरूपो महादारुणः, पल्योपमसागरोपमकालेनाप्यमुच्यमानाऽशातवेदनारूपः, तस्माद् विरम्यतामस्मात्पापाचरणात्,

फिर अपनी अमृततुल्य वाणी से समझाना प्रारंभ किया। कहा–हे देवानुप्रिये! तुम क्या करने के लिये उद्यत हो रही हो। तुम्हें क्या मालूम नहीं है कि कुशीलसेवन का मार्ग महापुरुषों से अनाचरित है। इस में ऐसा कोई भी लाभ नहीं है जो आत्मा को हितकारक हो। इस से जन्म जरा एवं मरण व कष्टों को भोगने के सिवाय कुछ नहीं मिलता है। ब्रह्मचर्य में जो कायर हैं वे ही इसमें आनंद मानते हैं। ये विषयभोग प्रमादबहुल एवं तप तथा संयम के पालन में प्रबल अन्तरायस्वरूप हैं। अधर्म के प्रधान मार्ग हैं। यह कुशीलसेवन पंक – कीचड, पनक–काई तथा जाल के समान है। अर्थात् इसमें मनुष्य गड़ जाता है, फिसल जाता है, और बंध जाता है। इस अब्रह्मचर्य सेवन का फल जीवों को नरक निगोद के अनंत दारुण दुःखों के भोगने के रूप में प्राप्त होता है।

इसके सेवन के फलस्वरूप अशातवेदनाएँ पल्योपम सागरोपम तक भोगनी पडती हैं, इस लिये इस पापाचरण से विरक्त होने में ही

આરંભ કર્યો, અને કહ્યું! હે દેવાનુપ્રિયે! તું શું કરવા માટે પ્રવૃત્ત બની છે? તને શું ખબર નથી કે, કુશીલ સેવનનો માર્ગ મહાપુરૂષે આચરવા યોગ્ય નથી. તેમાં કોઈ એવો લાભ નથી જે આત્માને હિતકારક હોય, એનાથી જન્મ, જરા અને મરણનાં દુઃખો ભોગવવા સીવાય બીજું કાંઈ મળતું નથી બ્રહ્મચર્યમાં જે કાયર હોય છે તેજ આમાં આનંદ માને છે આ વિષયભોગ પ્રમાદ તપ તથા સંયમના પાલનમાં પ્રબળ અંતરાય સ્વરૂપ છે અધર્મનો પ્રધાન માર્ગ છે, આ કુશીલ સેવન કિચડ, ખાઈ, તથા જાળ સમાન છે અર્થાત્– મનુષ્ય તેમાં ગબડી જાય છે, ફસાઈ જાય છે, બંધાઈ જાય છે આ અબ્રહ્મચર્ય સેવનનું ફળ જીવોને નરક નિગોદના અનંત દારૂણ દુઃખોને ભોગવવાના રૂપમાં પ્રાપ્ત થાય છે આના સેવનના ફળ સ્વરૂપ અશાતવેદનાઓ પલ્યોપમ સાગરોપમ સુધી ભોગવવી પડે છે માટે આ પાપાચરણથી વિરક્ત થવામાં જ

तथैव पुरुषसङ्गः साध्वीनामपि । उक्तञ्च—

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।
तस्माद् घृतं च वह्निं च, नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥ १ ॥

इत्येवं विचिन्त्यासौ सुधाधारासारया प्रवचनसारया गिरा तां प्रतिबोधयति

बन्ध दूसरे से नहीं होता है ॥ १ ॥ इसलिये मुनि को चाहिये की काष्ट की पुतली को भी पैर से भी स्पर्श न करे, अगर स्पर्श करे तो जिस प्रकार हथनी के अंगस्पर्श से हाथी बन्ध जाता है उसी प्रकार मुनि भी कामराग में बंध जाता है ॥ २ ॥

इसी प्रकार साध्वियों के लिये भी पुरुषों का संग वर्जनीय है क्यों कि–पुरुष का संग साध्वी के ब्रह्मचर्य के नाश में असाधारण हेतु है। कहा भी है—

" घृतकुम्भसमा नारी, तप्ताङ्गारसमः पुमान् ॥
तस्माद् घृतं च वह्निं च, नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥ १ ॥

अर्थात्—स्त्री घी के भरे हुए घडे के समान है और पुरुष प्रज्वलित अङ्गार के समान है। इसलिये विद्वान् को चाहिये कि घृत और अग्नि को एक जगह नहीं रक्खे।

इस प्रकार उन लावण्यपूर मुनिराज ने विचार किया। विचार करने के पश्चात् काम से अति विह्वल बनी हुई उस वेश्या को उन्हों

માટે મુનિઓએ લાકડાની પુતળીનો પગથી પણ સ્પર્શ ન કરવો જોઈએ. કારણ કે, સ્પર્શ કરવાથી જેમ હાથી હાથણીના અંગસ્પર્શથી બંધાઈ જાય છે, તેમ રીતે મુનિ પણ કામ રાગમાં બંધાઈ જાય છે

કહ્યું છે કે—આ પ્રકારે સાધ્વિઓને માટે પણ પુરૂષોનો સંગ તજવા યોગ્ય છે, કારણ કે પુરૂષનોસંગ સાધ્વિને બ્રહ્મચર્યના નાશમાં અસાધારણ હેતુ છે કહ્યું પણ છે—

घृतकुम्भसमा नारी, तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।
तस्माद् घृतंच वह्निंच नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥ १ ॥

સ્ત્રિ ઘીના ભરેલા ઘડા સમાન છે અને પુરૂષ પ્રજ્વલિત અગ્નિ સમાન છે, માટે વિદ્વાને જાણવું જોઈએ કે ઘી અને અગ્નિને એક સ્થળે ન રાખે

આ પ્રકારે તે લાવણ્યપૂર મુનિરાજે વિચાર કર્યો વિચાર કરીને પછીથી કામવિહ્વળ બનેલી તે વેશ્યાને પોતાની અમૃતતુલ્ય વાણીથી સમજાવવાને

टीका—' एग ' इत्यादि ।

लाढः=अयं देशीय शब्दः, लाढ=प्रासुकैषणीयाहारेणात्मनिर्वाहको मुनिः परीषहान्=क्षुत्पिपासादीन् अभिभूय=विजित्य, ग्रामे=अल्पजननिवासस्थाने, वा=अथवा नगरे=प्राकारवेष्टितेऽपि, वा=अथवा निगमे=वणिग्जनस्थाने, वा=अथवा राजधान्याम्=राजस्थाने, उपलक्षणमेतत् तेन मडम्बादिषु वा, एषु ग्रामादिषु यत्र कुत्रापि स्थाने, एकः=रागद्वेषरहित, यद्वा–योग्यसहायस्यालाभे एकः=एकाकी, चरेदेव=अप्रतिबद्धविहारेण चर्यां कुर्यादेव ।

मुनि का एक जगह रहतेर अरति आदि प्रसग प्राप्त हो सकता है इसलिये उसे ग्रामानुग्रामविहाररूप चर्या करनी चाहिये। इस प्रकार चर्याके करने से ही नौवें चर्यापरीषह पर विजय पाई जाती है, इसी बात को इस गाथा द्वारा सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं–' एग एव चरे'–इत्यादि।

अन्वयार्थ–(लाढे–लाढ) 'लाढ' यह देशीय शब्द है। 'प्रासुक एषणीय आहार से अपना निर्वाह करने वाला मुनि ' ऐसा इसका अर्थ है, अत. ऐसा मुनि (परीसहे–परीषहान्) क्षुत्पिपासा आदि परीषहों को (अभिभूय–अभिभूय) जीतकर (गामे वा नगरे वावि निगमे वा रायहाणिए–ग्रामे वा नगरे वाऽपि निगमे वा राजधान्याम्) थोडे जनों का जिसमें निवास है ऐसे ग्राम में, अथवा प्राकार से जो वेष्टित है ऐसे नगर में, अथवा व्यापारी जनोंके स्थानभूत ऐसे निगम में, अथवा राजा का जहा रहना हो रहा है ऐसी राजधानी में, उपलक्षण से मडप आदि

મુનિને એક જગ્યાએ રહેવાથી અરતિ વગેરેના પ્રસગ પ્રાપ્ત થઈ શકે છે તેથી તેણે એક ગામથી બીજા ગામ વિહાર રૂપી ચર્યા કરવી જોઈએ આ પ્રકારની ચર્યાને કરવાથી જ નવમા ચર્યાપરીષહ ઉપર વિજય પ્રાપ્ત થાય છે આ વાતને સૂત્રકાર આ ગાથા દ્વારા પ્રદર્શિત કરે છે–एग एव चरे–ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ–लाढे–लाढ "લાઢ" એ દેશીય શબ્દ છે 'પ્રાસુક એષણીય આહારથી પોતાનો નિર્વાહ કરવાવાળા મુનિ' એવો આનો અર્થ છે, એટલે આવા મુનિ परीसहे–परीषहान् ક્ષુત્પિપાસા આદિ પરીષહોને अभिभूय–अभिभूय જીતીને गामे वा नगरे वावि निगमेवा रायहाणिए–ग्रामे वा नगरे वाऽपि निगमे वा राजधान्याम् થોડા માણસો જેમાં રહેતા હોય તેવા ગામમાં, અથવા કોટથી ઘેરાયેલ હોય તેવા નગરમા, અથવા વેપારી જનોનો જેમા વાસ હોય તેવા નિગમમા, અથવા રાજા જ્યા રહેતો હોય તેવી રાજધાનીમા, ઉપલક્ષણથી મઠબ આદિ સ્થાનોમાં આવા

एव मुनिवचन श्रुत्वा सा वेश्या हतमनोरथा जाता, तदनन्तरमसौ कोपावेशेन यष्टिमुष्टयादिभिर्मर्मणि गाढमहारं कृतवती। तदाऽसौ मुनिर्निर्गमनोपायमनवलोक्य ब्रह्मचर्यं परिरक्षयन् तामुज्ज्वलवेदनां शुभाध्यवसायेन सहमान. क्षपकश्रेणिमारूढोऽन्तर्मुहूर्तेनैव प्राप्तकेवलज्ञान' काल कृत्वा मोक्ष प्राप्तवान्। एवमन्यैरपि मुनिभिः स्त्रीपरीषह. सोढव्य ॥ १७॥

एकत्र स्थितस्य मुनेररत्यादिप्रसङ्ग. स्यात्, अतो ग्रामानुग्रामविहाररूपा चर्या कार्येति चर्याकरणेनैव चर्यापरीषह सोढव्य इत्याह—

मूलम्—एंग एंव चेरे लाढे, अभिभूय परीसंहे।
गांमे वा नंगरे वावि, निंगमे वा रायहाणिए ॥१८॥

छाया—एक एव चरेत् लाढ', अभिभूय परीषहान्।
ग्रामे वा नगरे वाऽपि, निगमे वा राजधान्याम् ॥ १८ ॥

तेरा कल्याण है। इस प्रकार मुनि के वचनों को सुनकर वेश्या बडी लज्जित हुई। कोप के आवेश में आकर वह मुनिराज पर घोर उपसर्ग करने लगी। उन मुनि को यष्टि एव मुष्टि आदि के प्रहारों से मर्म स्थलों में आघात पहुँचाया। मुनि महाराज ने वहा से निकलना चाहा परन्तु निकलने के जितने भी दरवाजे थे वे सब पहिले से ही बंद किये जा चुके थे, अत वहां से निकलने का जब उन्हें कोई उपाय नहीं सूझा तो अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा में शुभाध्यवसाय से जीवन को समर्पित करते हुए उन्हों ने क्षपकश्रेणिपर आरोहण किया और अन्तर्मुहूर्त में केवल ज्ञान की प्राप्ति कर मुक्ति का लाभ कर लिया। इसी प्रकार अन्यमुनिजनों को भी इस स्त्रीपरीषह को जीतना चाहिये ॥ १७॥

તારૂ કલ્યાણ છે આ પ્રકારનાં મુનિના વચનોને સાંભળી વેશ્યા ખૂબ લજવાઈ ગઈ અને કોપના આવેશમાં આવીને તે મુનિરાજને ઘોર ઉપસર્ગ આપવા લાગી. મુનિના મર્મસ્થાનોમાં મુઠીઓથી અને પગની લાતોથી આઘાત પહોચાડયો. મુનિરાજે ત્યાંથી નીકળવા ચાહ્યું પરંતુ નીકળવાના જેટલા રસ્તા હતા તે પહેલેથી જ બંધ કરી દેવામાં આવ્યા હતા આથી એ સ્થળેથી નીકળવાનો કોઈ પણ માર્ગ ન સુઝ્યો ત્યારે પોતાના બ્રહ્મચર્યની રક્ષા માટે તેમણે શુભ અધ્ય વસાયથી જીવનનું સમર્પણ કરીને ક્ષપકશ્રેણી પર આરોહણ કર્યું અને અંત ર્મુહૂર્તમાં કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ કરી મુક્તિનો લાભ લીધો. આ રીતે અન્ય મુનિજનોએ પણ સ્ત્રી પરીષહને જીતવો જોઈએ ॥ ૧૭ ॥

टीका—' एग ' इत्यादि ।

लाढः=अय देशीय शब्द, लाढ =प्रासुकैषणीयाहारेणात्मनिर्वाहको मुनि परीषहान्=क्षुत्पिपासादीन् अभिभूय=विजित्य, ग्रामे=अल्पजननिवासस्थाने, वा= अथवा नगरे=प्राकारवेष्टितेऽपि, वा=अथवा निगमे=वणिग्जनस्थाने, वा=अथवा राजधान्याम्=राजस्थाने, उपलक्षणमेतत् तेन मडम्बादिषु वा, एषु ग्रामादिषु यत्र कुत्रापि स्थाने, एक =रागद्वेषरहित , यद्वा—योग्यसहायस्यालाभे एकः=एकाकी, चरेदेव=अप्रतिबद्धविहारेण चर्या कुर्यादेव ।

मुनि का एक जगह रहतेर अरति आदि प्रसंग प्राप्त हो सकता है इसलिये उसे ग्रामानुग्रामविहाररूप चर्या करनी चाहिये । इस प्रकार चर्याके करने से ही नौवें चर्यापरीषह पर विजय पाई जाती है, इसी बात को इस गाथा द्वारा सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—' एग एव चरे'—इत्यादि ।

अन्वयार्थ–(लाढे–लाढ) 'लाढ' यह देशीय शब्द है । 'प्रासुक एषणीय आहार से अपना निर्वाह करने वाला मुनि ' ऐसा इसका अर्थ है, अत ऐसा मुनि (परीसहे–परीषहान्) क्षुत्पिपासा आदि परीषहों को (अभिभूय–अभिभूय) जीतकर (गामे वा नगरे वावि निगमे वा राय हाणिए–ग्रामे वा नगरे वाऽपि निगमे वा राजधान्याम्) थोडे जनों का जिसमें निवास है ऐसे ग्राम में, अथवा प्राकार से जो वेष्टित है ऐसे नगर में, अथवा व्यापारी जनोंके स्थानभूत ऐसे निगम में, अथवा राजा का जहा रहना हो रहा है ऐसी राजधानी में, उपलक्षण से मडंब आदि

મુનિને એક જગ્યાએ રહેવાથી અરતિ વગેરેના પ્રસગ પ્રાપ્ત થઈ શકે છે તેથી તેણે એક ગામથી બીજા ગામ વિહાર રૂપી ચર્યા કરવી જોઈએ આ પ્રકારની ચર્યાને કરવાથી જ નવમા ચર્યાપરીષહ ઉપર વિજય પ્રાપ્ત થાય છે આ વાતને સૂત્રકાર આ ગાથા દ્વારા પ્રદર્શિત કરે છે—एग एव चरे–ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ–लाढे–लाढ " લાઢ " એ દેશીય શબ્દ છે 'પ્રાસુક એષણીય આહારથી પોતાનો નિર્વાહ કરવાવાળા મુનિ' એવો આનો અર્થ છે, એટલે આવા મુનિ परीसहे–परीषहान् ક્ષુત્પિપાસા આદિ પરીષહોને अभिभूय–अभिभूय જીતીને गामे वा नगरे वावि निगमेवा रायहाणिए–ग्रामे वा नगरे वाऽपि निगमे वा राजधान्याम् થોડા માણસો જેમાં રહેતા હોય તેવા ગામમાં, અથવા કોટથી ઘેરાયેલ હોય તેવા નગરમા, અથવા વેપારી જનોનો જેમા વાસ હોય તેવા નિગમમા, અથવા રાજા જ્યાં રહેતો હોય તેવી રાજધાનીમાં, ઉપલક્ષણથી મડબ આદિ સ્થાનોમાં આવા

तथा चाग्रे वक्ष्यति—

न वा लभिज्जा निउण सहाय, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एको वि पावाई विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १ ॥
(उत्त ३२ अ. ५ गा)

छाया—न वा लभेत् निपुणं सहायं, गुणाधिकं वा गुणतः समं वा ।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्, विहरेत् कामेषु असजन् ॥

उक्तमन्यत्रापि—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जितः ।
चर्यामेकोऽपि कुर्वीत, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ १ ॥ इति ।

स्थानों में जहां कहा भी वह (एग एव चरे—एकाकी एव चरेत्) राग द्वेष से रहित होकर समुदाय के साथ अथवा योग्य सहाय के अभाव में अप्रतिबंध विहार से अकेला ही विचरे । कहा भी है—

न वा लभिज्जा निउणं सहाय, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एगो वि पावाइँ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥
(उत्त० ३२ अ ५ गा)

तात्पर्य इसका यह है कि साधु को जब योग्य सहायक (शिष्य आदि) की प्राप्ति न हो तो वह निष्पाप होकर, तथा इच्छाओं को जीतता हुवा अकेला भी विहार करे । अन्यत्र भी यही बात कही है—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जितः ।
चर्यामेकोऽपि कुर्वीत, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ १ ॥

કોઈ પણ સ્થળે તે एग एव चरे—एकाकी एव चरेत् રાગ દ્વેષથી રહિત બની સમુદાયની સાથે અથવા યોગ્ય સહાયના અભાવમાં અપ્રતિબંધ વિહારથી એકલા જ વિચરે કહ્યું છે—

न वा लभिज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एगो वि पावाईं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ उ ३२ अ ५

આનું તાત્પર્ય એ છે કે, સાધુને જ્યારે યોગ્ય સહાયક શિષ્ય આદિની પ્રાપ્તિ ન હોય તો તે નિષ્પાપ બનીને ઇચ્છાઓને જીતીને એકલા પણ વિહાર કરે અન્યત્ર પણ આજ વાત કહેલ છે—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जितः ।
चर्यामेकोऽपि कुर्वीत, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ ॥

अयं भावः—यथाकल्पं ग्रामनगरादावनियतवासं कुर्वता मुनिनाऽऽलस्यपरिवर्जनेन तत्र तत्रानासक्त्या च ग्रामानुग्रामविहरणात्मकचर्याकरणादेव चर्यापरीषहः सोढो भवति। यस्तु परिक्षीणजङ्घाबलस्तेन स्थिरवासे कृते भिक्षाचर्यायां कथंचित् स्वयं प्रवृत्त्याऽपि स परीषहः सोढो भवतीति।

ननु—चर्यापरीषहो न भवत्यागन्तुकः, कथं तर्हि स्वयमुदीरितायाश्चर्यायाः परीषहत्वमिति चेत्, उच्यते—स्वपरस्यापि कस्यचित् कष्टकारित्वेन सह्यमानत्वात्

यथाकल्प ग्राम नगर आदि में अनियतवास करने वाला अप्रतिबन्ध विहारी मुनि नाना प्रकार के अभिग्रहों से युक्त होकर अकेला अर्थात्–सम्प्रदाय में रहते हुए भी रागद्वेष रहित विचरे ॥१॥

प्रमाद का परिहार करते हुए ग्रामनगरादि में आसक्ति रहित होकर ग्रामानुग्राम विचरणरूप चर्या के करने से ही यह चर्यापरीषह जीता जाता है। जिसका जंघाबल क्षीण हो चुका है उस साधु को भी स्थिरवास करने पर भिक्षाचर्या में कथंचित स्वयं प्रवृत्ति से यह परीषह सहन किया जाता है। आये हुए कष्ट का नाम परीषह है। चर्या तो आनेवाली नहीं है यह तो स्वयं उदीरित की जाती है अतः चर्या को परीषहरूप कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान इस प्रकार है–यद्यपि चर्या साधु का कल्प है तो भी किसी२ कल्प को कष्टकारी होने से वह सहन करना ही पड़ता है। चर्या भी इसी प्रकार है। अतः भगवानने इसको परीषहरूप फरमाया है। अपने कल्प का प्रमाद से

યથાકલ્પ ગ્રામ નગર આદિમાં અનિયતવાસ કરવાવાળા અપ્રતિબંધ-વિહારી મુનિ વિવિધ પ્રકારના અભિગ્રહોથી યુક્ત બની એકલા, અર્થાત્–સંપ્રદાયમાં રહેવા છતાં પણ રાગદ્વેષ રહિત વિચરે પ્રમાદનો ત્યાગ કરીને ગ્રામ નગર આદિમાં આસક્તિ રહિત બનીને ગ્રામાનુગ્રામ વિચરવારૂપ ચર્યા કરવાથી જ આ ચર્યા પરીષહ જીતાય છે જેનું જંઘાબળ ક્ષીણ બની ગયેલ છે એવા સાધુએ પણ સ્થિરવાસ કરવાથી ભિક્ષાચર્યામાં કહેવામાં આવેલ સ્વયં પ્રવૃત્તિથી આ પરીષહ સહન કરવામા આવે છે આવેલા દુઃખોને સહન કરવાં તેનું નામ પરીષહ છે. ચર્યા આવતી નથી પરંતુ સ્વયં ઉભી કરવામાં આવે છે આથી ચર્યાને પરીષહરૂપ કેમ માનવામાં આવે છે? તેનું સમાધાન આ પ્રકારથી છે–કદાચ ચર્યા સાધુનો કલ્પ છે તો પણ કોઈ કોઈ કલ્પ કષ્ટકારી હોવાથી તે સહન કરવાજ પડે છે ચર્યાનો પણ આજ પ્રકાર છે માટે ભગવાને તેને પરીષહરૂપ ફરમાવેલ છે પોતાના કલ્પનું પ્રમાદથી આચરણ ન કરવું તે પરીષહ

तथा चाग्रे वक्ष्यति—

न वा लभिज्जा निउण सहाय, गुणाहिय वा गुणओ सम वा ।
एको वि पावाई विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १ ॥
(उत्त ३२ अ. ५ गा)

छाया—न वा लभेत् निपुण सहाय, गुणाधिक वा गुणतः सम वा ।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्, विहरेत् कामेषु असजन् ॥

उक्तमन्यत्रापि—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जित ।
चर्यामेकोऽपि कुर्वीत, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ १ ॥ इति ।

स्थानों में जहा कहा भी वह (एग एव चरे–एकाकी एव चरेत्) राग
द्वेष से रहित होकर समुदाय के साथ अथवा योग्य सहाय के अभाव
में अप्रतिबध विहार से अकेला ही विचरे । कहा भी है—

न वा लभिज्जा निउण सहाय, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एगो वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥
(उत्त० ३२ अ ५ गा)

तात्पर्य इसका यह है कि साधु को जब योग्य सहायक (शिष्य
आदि) की प्राप्ति न हो तो वह निष्पाप होकर, तथा इच्छाओं को
जीतता हुवा अकेला भी विहार करे । अन्यत्र भी यही बात कही है—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जितः ।
चर्यामेकोऽपि कुर्वीत, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ १ ॥

કોઈ પણ સ્થળે તે एग एव चरे–एकाकी एव चरेत् રાગ દ્વેષથી રહિત બની સમુદાયની સાથે અથવા યોગ્ય સહાયના અભાવમા અપ્રતિબધ વિહારથી એકલા જ વિચરે કહ્યું છે—

न वा लभिज्जा निउण सहायं, गुणाहियं वा गुणओ सम वा ।
एगो वि पावाई विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ उ ३२. अ ५

આનુ તાત્પર્ય એ છે કે, સાધુને જ્યારે યોગ્ય સહાયક શિષ્ય આદિની પ્રાપ્તિ ન હોય તો તે નિષ્પાપ બનીને ઇચ્છાઓને જીતીને એકલા પણ વિહાર કરે અન્યત્ર પણ આજ વાત કહેલ છે—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जितः ।
चर्यामेकोऽपि कुर्वीत, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ ॥

छाया—असमानश्चरेद् भिक्षुः, नैव कुर्यात् परिग्रहम्।
असंसक्तो गृहस्थैः, अनिकेतः परिव्रजेत् ॥ १९ ॥

टीका—'असमाणो' इत्यादि।

भिक्षुः=मुनिः, असमानः=गृहस्थैरन्यतीर्थिकैश्चासदृशः, तत्राश्रयमूर्छारहितत्वेन गृहस्थैरसदृशः, अनियतविहारादिनाऽन्यतीर्थिकैरसदृश इति भावः। यद्वा-मानसहितः समानः, न तथेत्यसमानः, अभिमानवर्जित इत्यर्थः, यद्वा-'असमाणे' इत्यस्य 'असन्निति' छाया, असन्निव-असन्, यत्र विद्यते तत्राप्यविद्यमान इव, अल्पतरकालस्थायित्वेन तत्र तत्र तत्सत्ताया अनियतत्वात्, तत्र तत्र विद्यमानत्वेऽपि तत्तद्ग्रामोपाश्रयादिषु ममत्वाभिमानाभावाच्च। इममेवार्थं प्रकटयन्नाह-'नेव कुज्जा' इत्यादि। परिग्रहम्=तत्तद्ग्रामोपाश्रयादिषु स्थानेषु द्रव्यभावपरिग्रहं नैव कुर्यात्=न धारयेत्। उक्तञ्च—

"गामे कुले वा नयरे य देसे, ममत्ति भावं न कहिंचि कुज्जा" ॥ इति ॥

'असमाणे'–इत्यादि।

अन्वयार्थ–(असमाणे–असमान) गृहस्थरूप आधार की मूर्च्छा से रहित होने के कारण गृहस्थों के समान नहीं, तथा अनियत विहार आदि द्वारा अन्यतीर्थिकों के समान नहीं, अथवा–असमान–मान से वर्जित, या "असमाणे–असन्"–अल्पतर काल तक ग्राम नगरादिमें रहने वाला होने की वजह से वहां नहीं जैसा ऐसा (भिक्खू–भिक्षुः) मुनि (परिग्गहं–नेव कुज्जा–परिग्रहं नैव कुर्यात्) उन२ ग्राम एवं उपाश्रयादिकों में द्रव्य एवं भावरूप परिग्रह से नहीं बंधे–उनमें ममत्व भाव न करे। कहा भी है—

"गामे कुले वा नयरे य देसे, ममत्तिभावं न कहिंचि कुज्जा ॥"

असमाणे ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ–असमाणे–असमानः ગૃહસ્થરૂપ આધારની મુર્ચ્છાથી રહિત હોવાને કારણે ગૃહસ્થોના સમાન નહીં, તથા અનિયતવિહાર આદિ દ્વારા અન્ય તીર્થીઓના સમાન નહીં, અથવા–અસમાન–માનથી વર્જીત, યા असमाणे–असन् અલ્પતર કાળ સુધી ગ્રામ નગર આદિમાં રહેવાવાળા હોવાના કારણે ત્યાં નહીં જેવા એવા भिक्खू–भिक्षुः મુનિ परिग्गहं नेवकुज्जा–परिग्रहं नैव कुर्यात् જે જે ગામ અને ઉપાશ્રય આદિમાં દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ પરિગ્રહથી ન બંધાય–તેમાં મમત્વભાવ ન રાખે કહ્યું છે કે—

"गामे कुले वा नयरे य देसे, ममंति भाव न कहिंचि कुज्जा ॥"

परीपहरूपत्वं भवति, तत्र प्रमादेन स्वकल्पानाचरणमेव परीपहकृतं पराजयः, तस्मात् प्रमादवर्जितेन यथाकल्पचर्याराधनेनैव चर्यापरीषहः सोढो भवतीति ॥१८॥

उक्तमर्थं दृढीकुर्वन्नाह—

मूलम्—असमाणे चरे भिक्खू, नेवे कुज्जा परिग्गह ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥ १९ ॥

आचरण नहीं करना ही परीषहजनित पराजय है। इसलिये प्रमाद वर्जित होकर यथाकल्प चर्या के आराधन से ही चर्यापरीषह सहन किया जाता है। तभी चर्यापरीषहजयी साधु कहलाता है।

भावार्थ—चतुर्मास कल्प को छोडकर मुनि के लिये एकत्र स्थिर रहना जैनशासन की आज्ञा से बाहिर है। कोई खास कारण हो तो मुनि एकत्र वास कर सकता है, अन्यथा नहीं। अतः आत्मकल्याण की भावना से अथवा 'जनता में धर्म का प्रचार होता रहे' इस शुभ अध्यवसाय से मुनि को नगर ग्राम आदि स्थानों में विचरते रहना चाहिये। एक स्थान पर रहने वाले साधु को स्थानजन्य मोह सता देता है, अतः वह चाहे एकाकी रूप में विहार करे चाहे योग्य सहायकों के साथ विहार करे, परन्तु विहार अवश्य करे। विहार में सदा अपने संयम की पूरी दृढता रक्खे। क्षुत्पिपासा आदि परीषह सतावें तो भी उनकी परवाह न करे। इसका नाम चर्यापरीषहजय है ॥ १८ ॥

જનિત પરાજય છે માટે પ્રમાદથી દૂર રહીને યથાકલ્પ ચર્યાના આરાધનાથી જ ચર્યાપરીષહ સહન કરી શકાય છે એજ ચર્યાપરીષહ જીતેલ સાધુ કહેવાય છે

ભાવાર્થ:—ચતુર્માસ કલ્પને છોડીને મુનિ માટે એક સ્થળે સ્થિર રહેવું જૈનશાસનની આજ્ઞાથી બહાર છે કોઈ ખાસ કારણ હોય તો મુનિ એક સ્થળે વાસ કરી શકે છે, તે સીવાય નહીં આથી આત્મકલ્યાણની ભાવનાથી અથવા 'જનતામાં ધર્મનો પ્રચાર થતો રહે એવા શુભ આશયથી મુનિએ નગર ગ્રામ આદિ સ્થાનોમાં વિચરતા રહેવુ જોઈએ. એક સ્થાન ઉપર રહેવાવાળા સાધુને સ્થાનજન્ય મોહ સતાવે છે આથી ભલે તે એકાકી રૂપમાં વિહાર કરે અગર યોગ્ય સહાયકોની સાથે વિહાર કરે, પરતુ વિહાર અવશ્ય કરે. વિહારમાં પોતાના સંયમની સદા પૂરી દ્રઢતા રાખે, ક્ષુત્પિપાસા આદિ પરીષહ સતાવે તો પણ તેની પરવા ન કરે. આનુ નામ ચર્યાપરીષહનો વિજય છે ॥

छाया—असमानश्चरेद् भिक्षु, नैव कुर्यात् परिग्रहम्।
असंसक्तो गृहस्थैः, अनिकेतः परिव्रजेत् ॥ १९ ॥

टीका—'असमाणो' इत्यादि।

भिक्षुः=मुनिः, असमानः=गृहस्थैरन्यतीर्थिकैश्चासदृशः, तत्राश्रयमूर्छारहितत्वेन गृहस्थैरसदृशः, अनियतविहारादिनाऽन्यतीर्थिकैरसदृश इति भावः। यद्वा-मानसहितः समानः, न तथेत्यसमानः, अभिमानवर्जित इत्यर्थः, यद्वा-'असमाणे' इत्यस्य 'असन्निति' छाया, असन्निव-असन्, यत्र विद्यते तत्राप्यविद्यमान इव, अल्पतरकालस्थायित्वेन तत्र तत्र तत्सत्ताया अनियतत्वात्, तत्र तत्र विद्यमानत्वेऽपि तत्तद्ग्रामोपाश्रयादिषु ममत्वाभिमानाभावाच्च। इममेवार्थं प्रकटयन्नाह-'नेव कुज्जा' इत्यादि। परिग्रहम्=तत्तद्ग्रामोपाश्रयादिषु स्थानेषु द्रव्यभावपरिग्रहं नैव कुर्यात्= न धारयेत्। उक्तञ्च—

"गामे कुले वा नयरे य देसे, ममत्ति भावं न कहिंचि कुज्जा" ॥ इति ॥

'असमाणे'-इत्यादि।

अन्वयार्थ-(असमाणे-असमानः) गृहस्थरूप आधार की मूर्च्छा से रहित होने के कारण गृहस्थों के समान नहीं, तथा अनियत विहार आदि द्वारा अन्यतीर्थिकों के समान नहीं, अथवा-असमान-मान से वर्जित, या "असमाणे-असन्"-अल्पतर काल तक ग्राम नगरादिमें रहने वाला होने की वजह से वहां नहीं जैसा ऐसा (भिक्खू-भिक्षुः) मुनि (परिग्गह-नेव कुज्जा-परिग्रह नैव कुर्यात्) उन२ ग्राम एवं उपाश्रयादिकों में द्रव्य एवं भावरूप परिग्रह से नहीं बंधे-उनमें ममत्व भाव न करे। कहा भी है—

"गामे कुले वा नयरे य देसे, ममतिभाव न कहिंचि कुज्जा ॥"

અસમાણે ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ-અસમાણે-અસમાનઃ ગૃહસ્થરૂપ આધારની મુર્ચ્છાથી રહિત હોવાને કારણે ગૃહસ્થોના સમાન નહીં, તથા અનિયતવિહાર આદિ દ્વારા અન્ય તીર્થીઓના સમાન નહીં, અથવા-અસમાન-માનથી વર્જીત, યા અસમાણે-અસન્ અલ્પતર કાળ સુધી ગ્રામ નગર આદિમાં રહેવાવાળા હોવાના કારણે ત્યાં નહીં જેવા એવા ભિક્ખૂ-ભિક્ષુઃ મુનિ પરિગ્ગહ નેવકુજ્જા-પરિગ્રહ નૈવ કુર્યાત્ જે જે ગામ અને ઉપાશ્રય આદિમાં દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ પરિગ્રહથી ન બંધાય-તેમા મમત્વભાવ ન રાખે. કહ્યું છે કે—

"गामे कुले वा नयरे य देसे, ममंति भाव न कहिंचि कुज्जा ॥"

ममत्वाभावः कथं स्यादित्याह-गृहस्थैः=श्रावकैः, असंसक्तः=रागसंसर्गवर्जित इत्यर्थः, अनिकेतः=गृहवर्जितः नैकत्र प्रतिबद्धस्थितिक इत्यर्थः, परिव्रजेत्=सर्वतो विहरेत् न तु नियतदेशादावेव। अयं भावः-गृहस्थैः सह रागसंसर्गकरणे, एकत्र प्रतिबद्धास्पदत्वे, नियतदेशग्रामनगरादिविहारितायां वा ममत्वबुद्धिः स्यात्। तस्मादालस्यं निरस्य ग्रामनगरकुलादिष्वनियतवसतिर्निर्ममत्वः सन् यथाकल्पमासक्तिरहितश्चर्यामाचरेदिति।

अर्थात्-ग्रामादि में कहीं भी ममत्व नहीं करे। तथा (गिहत्थेहिं असंसत्तो-गृहस्थैः असंसक्तः) गृहस्थों के साथ राग के संसर्ग से वर्जित उनमें मोहरूप परिणाम से रहित होकर वह (अणिएओ-अनिकेतः) स्थानादि की ममतारहित होता हुआ (परिव्वए-परिव्रजेत्) ग्राम नगरादि में विहार करता रहे। इसका भाव यह है कि गृहस्थों से रागात्मक परिणति करने पर साधु को एक ही जगह प्रतिबद्ध होकर रहने का प्रसंग प्राप्त हो सकता है, इस परिस्थिति में नियत देश, ग्राम आदि में ही उसका विहार होगा, अतः उसमें ममत्वबुद्धि का सद्भाव हो जायगा। इसलिये प्रमाद का परित्याग कर ग्राम नगर आदि में अनियतरूप से विचरने वाले मुनि में निर्ममत्वभाव रहता है। इसलिये साधु को चाहिये की वह गृहस्थों से असंसक्त होकर यथाकल्प अनियतविहाररूप चर्या करता रहे।

भावार्थ—इस गाथा द्वारा सूत्रकार १८वीं गाथा में कहे हुए ही

અર્થાત્—ગ્રામાદિમાં ક્યાંય પણ મમત્વ ન કરે તથા गिहत्थेहिं असंसत्तो-गृहस्थैः-असंसक्तः ગૃહસ્થની સાથે રાગના સંસર્ગથી રહિત-તેમાં મોહરૂપ પરિણામથી રહિત બનીને તે अणिएओ-अनिकेतः સ્થાનાદિકની મમતા રહિત થઈને, परिव्वए-परिव्रजेत् ગ્રામ નગર આદિમાં વિહાર કરતા રહે. તેનો ભાવાર્થ એ છે કે, ગૃહસ્થો સાથે રાગાત્મક પરિણતી કરવાથી સાધુને માટે એક જગ્યાએ પ્રતિબદ્ધ થઈને રહેવાનો પ્રસંગ પ્રાપ્ત થાય છે આ પરિસ્થિતિમાં નિયત ગ્રામનગર આદિમાજ તે વિચરશે, આથી એનામાં મમત્વની ભાવના ઉત્પન્ન થશે. માટે પ્રમાદનો પરિત્યાગ કરી ગ્રામનગર આદિમાં અનિયત રૂપથી વિચરનાર મુનિમાં નિર્મમત્વભાવ રહે છે આટલા માટે જ સાધુ માટે તે ગૃહસ્થોથી અસંસક્ત બની યથાકલ્પ અનિયત વિહારસ્વરૂપી ચર્યા કરતા રહે તે જરૂરી છે

ભાવાર્થ—આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર ૧૮ મી ગાથામાં કહેલ

अत्र दृष्टान्तः—

कोल्लाकसन्निवेशे बहुश्रुतः शान्तो दान्तः परीषहोपसर्गसहने सुधीरः क्षमादिगुणगम्भीरः कर्मधूलिनिवारणे समीरः, श्रुतचारित्रधर्माराधनपरः क्षीणजङ्घाबलो निःसङ्गनामक आचार्य आसीत्। एकदा तत्र दुर्भिक्षे जातेऽसौ स्वशिष्य

अर्थ की पुष्टि कर रहे हैं। जब गृहस्थ जनों का सामान्य भी परिचय मनुष्य को उनमें ममत्वबुद्धि से जकड़ देता है तो फिर साधु की आत्मा को वह भाव वहां जकड़ न देगा यह कैसे हो सकता है। इसीलिये साधु को अनियत विहार कहा गया है। इसमें गृहस्थों के संसर्ग से साधु बचा रहता है। संसक्तिभाव उसका उनमें नहीं हो पाता है। सामान्य परिचय में संसक्ति नहीं आती है। अधिक परिचय से यह दोष पैदा होता है। मूर्च्छापरिणति का नाम ही परिग्रह है। यह परिग्रह द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार का होता है। साधु इन दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित होता है। रागादिकभाव भावपरिग्रह, एवं क्षेत्र वस्तु आदि द्रव्य-परिग्रह है। अनियत विहार करने वाले साधुमें यह दोष नहीं हो सकता है। इसीलिये उसको सदा यथाकल्प अनियत विहार करना भगवान ने कहा है।

दृष्टान्त—कोल्लाक नाम के सन्निवेश में बहुश्रुत, शांत, दान्त परीषह एवं उपसर्ग के सहन करने में धीर वीर क्षमादि गुणों से गंभीर, कर्म धूलि के निवारण करने में पवनतुल्य निःसंग नाम के एक आचार्य थे।

કરે છે જ્યારે ગૃહસ્થ જનો સાથે સામાન્ય પરિચય પણ મનુષ્યને તેની સાથે મમત્વ બુદ્ધિથી જકડી દે છે તો પછી સાધુના આત્માને તે ભાવ ત્યાં ન જકડે તે કેમ બની શકે આટલા માટેજ સાધુને અનિયત વિહાર સુચવાયેલ છે આમાં ગૃહસ્થના વધુ પડતા સંસર્ગથી સાધુ બચી જાય છે, સંસક્તિભાવ તેનો તેમાં આવતો નથી, સામાન્ય પરિચયથી સંસક્તિભાવ ઉત્પન્ન થતા નથી અધિક પરિચયથી આ દોષો પેદા થાય છે મૂર્ચ્છાપરિણતીનું નામ જ પરિગ્રહ છે આ પરિગ્રહના દ્રવ્ય અને ભાવ એમ બે પ્રકારના ભેદ છે સાધુ આ બન્ને પ્રકારના પરિગ્રહોથી પર હોય છે રાગાદિકભાવ ભાવપરિગ્રહ અને ક્ષેત્ર વસ્તુ આદિ દ્રવ્ય પરિગ્રહ છે અનિયત વિહાર કરનાર સાધુમાં આ દોષ આવતો નથી આટલા માટે સાધુને સદાય યથાકલ્પ અનિયત વિહાર કરવાનું ભગવાને કહ્યુ છે

દૃષ્ટાંત—કોલ્લાક નામના સન્નિવેશમાં બહુશ્રુત, શાન્ત, દાન્ત, પરીષહ અને ઉપસર્ગ સહન કરવામાં ધીરવીર, ક્ષમાદિ ગુણોથી ગંભીર, કર્મરજનુ

विक्रमाचार्यं गच्छसहितं दूरदेशे प्रेषितवान्। स्वयं तु एकेन शिष्येण सह वसन् तत्रैव नगरे नव भागान् कल्पयित्वा यथाकल्पमज्ञातकुले रूक्षशुष्कमन्तप्रान्तमशनादिकं गृहीत्वा विहरति स्म। जराक्रान्तोऽपि चर्यापरीषहं सोढुकामः कृताभिग्रहत्वात् स्वयंभिक्षार्थमटति स्म। एवं चर्यापरीषहं सहमानस्तमभिग्रहं यावज्जीवं निर्वाह्यालोचितप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा स्वकल्याणं साधितवान्।

श्रुतचारित्ररूप धर्म की आराधना करने में ही इनका जीवन का अधिक से अधिक समय निकलता था। अवस्थाप्राप्त होने से इनका जंघाबल क्षीण हो गया था। एक समय की बात है कि वहां पर भयंकर दुर्भिक्ष पड़ गया। आचार्य ने परिस्थिति का अवलोकन कर अपने विक्रमाचार्य शिष्य को गच्छसहित दूर देश में विहार करा दिया और स्वयं एक शिष्य के साथ उसी नगरी में रहे। यहा नौ भागों की कल्पना कर वे यथाकल्प अज्ञातकुल में रूक्ष, शुष्क, अन्त प्रान्त आहारादिक ग्रहण कर वहां विचरण करते रहे। यद्यपि इनकी वृद्धावस्था थी चलने में पूरी शक्ति नहीं थी तो भी चर्यापरीषह को सहन करने की अभिलाषा से वे विविध अभिग्रह ग्रहण करते और स्वयं भिक्षा के लिये जाते। इस प्रकार चर्यापरीषह को सहन करते२ उन्हों ने अपने अभिग्रहों का अच्छी तरह से निर्वाह किया। अन्त में अपने कर्तव्यों की आलोचना कर उनके प्रति निवृत्त होकर आत्मकल्याण कर लिया।

નિવારણ કરવામાં પવનતુલ્ય એવા, એક નિ સ ગ નામના આચાર્ય હતા શ્રુતચારિત્ર રૂપ ધર્મની આરાધના કરવામાં જ તેમના જીવનનો મોટો ભાગ તેઓ ગાળતા હતા અવસ્થા થવાથી તેમનુ જ ઘાબળ ક્ષીણ બની ગયું હતુ એક સમયની વાત છે કે, ત્યાં ભયકર એવો દુકાળ પડયો, આચાર્યે પરિસ્થિતિનું અવલોકન કરી પોતાના વિક્રમાચાર્ય નામના શિષ્યને ગચ્છ સાથે દૂર દેશમાં વિહાર કરાવરાવ્યો અને પોતે એક શિષ્યની સાથે તે નગરમા રહ્યા. ત્યાં નવ ભાગોની કલ્પના કરી તેઓ યથાકલ્પ અજ્ઞાત કુળમાંથી રૂક્ષ, શુષ્ક અન્તપ્રાન્ત આહાર આદિ ગ્રહણ કરી ત્યાં વિચરતા રહ્યા જો કે તેમની વૃદ્ધાવસ્થાને કારણે તેમનામાંચાલવાની પૂરી શક્તિ ન હતી તો પણ ચર્યાપરીષહને સહન કરવાની અભિલાષાથી તેઓ વિવિધ અભિગ્રહ કરતા અને સ્વય ભિક્ષા માટે જતા આ પ્રકારે ચર્યાપરીષહને સહન કરતાં કરતાં પોતાના અભિગ્રહોનો સારી રીતે નિર્વાહ કર્યો અત સમય ઉપર પોતાનાં કર્તવ્યોની આલોચના કરી તેનાથી નિવૃત્ત થઈ આત્મકલ્યાણ પ્રાપ્ત કર્યું

अत्रान्योऽपि दृष्टान्तः—

उज्जयिन्यां वैश्रवणनामक आचार्य समवसृत । स स्वशिष्यपरिवारैः सह चर्यापरीषह सहमानो ग्रामानुग्राम विहरन् कदाचिदटव्यां प्रविष्ट । आचार्य इव शिष्या अपि चर्यापरीषहसहिष्णव आसन्। तत्र सर्वे मुनिभिरकस्माद् मार्गो विस्मृत'। तत्रैव शर्कराप्रभपृथिवीवद् विकीर्णतीक्ष्णकण्टकिते निम्नोन्नतशिलाखण्डदुर्गमे भयङ्करे विपिने गच्छता तेन दिवसो यापित , रात्रौ च वृक्षाधस्तस्थे निवास कृत , एव शिष्यपरिवारै. सहासौ भ्रमन्नटव्या अन्त न प्राप,नापि कश्चिद् ग्रामो दृष्टि-

द्वितीय दृष्टान्त—

उज्जैनी नगरी में वैश्रवण नाम के आचार्य पधारे। वे अपने शिष्यपरिवार के साथ चर्यापरीषह को सहन करते हुए ग्रामानुग्राम विहार करते२ कदाचित् मार्ग भूल जाने से एक अटवी में जा पहुँचे। इनके समान ही चर्यापरीषह सहन करने में समर्थ इनके शिष्य भी थे। अकस्मात् वे सब के सब ही मार्ग भूल गये। समस्त दिवस वन सबका शर्करा पृथ्वी के समान, इधर उधर फैले हुए तीक्ष्ण कांटों वाले तथा नीचे ऊँचे शिलाखण्डों से दुर्गम उस भयकर अटवी में ही समाप्त हो गया। रात्रि का समय आ गया। दूसरा कोई उपाय नहीं होने से सभी ने वहीं एक वृक्ष के नीचे ठहर कर रात्रि व्यतीत की। प्रात काल हुआ। सूर्य की किरणे निकली। मार्ग की तलाश करने लगे परन्तु मार्ग का पता नहीं चला। अटवी कितनी बड़ी थी इसका कुछ अन्त ही नहीं ज्ञात हो सका, और न "यहां से ग्राम कितनी दूर है"

દૃષ્ટાંત બીજુ—ઉજ્જૈની નગરીમા વૈશ્રવણુ નામના આચાર્ય પધાર્યા. તેઓ પોતાના શિષ્ય પરિવારની સાથે ચર્યાપરીષહ સહન કરતા કરતા ગ્રામાનુગ્રામ વિહાર કરતા કરતા માર્ગ ભૂલવાથી અચાનક એક જ ગલમા જઈ ચડયા. ચર્યાપરીષહ સહન કરવામાં તેમના સમાન જ સમર્થ તેમના શિષ્યો પણ હતા જોગાનુજોગ તેઓ બધા માર્ગ ભૂલી ગયા શર્કરાપ્રભ પૃથ્વીની સમાન, આડી તાંડી ચોમેર તીક્ષ્ણ કાંટાઓથી પથરાએલી તથા ઉંચી નીચી શિલાઓથી દુર્ગમ એવી ભયાનક અટવી—જ ગલમા આખો દિવસ વીતી ગયો રાત્રીનો સમય આવી પહોંચતાં બીજો કોઈ પણ ઉપાય ન હોવાથી સઘળાએ એક ઝાડ નીચે રહીને રાત વિતાવી સવાર પડયું, સૂર્યના કિરણો દેખાયા, માર્ગની તપાસ કરી પરંતુ બહાર નીકળવાનો માર્ગ ન જડયો જ ગલ મોટુ હતુ તેના અતની પણ ખબર પડતી ન હતી અને ગામ આ સ્થળેથી કેટલુ દૂર છે તે પણ જાણી શકાતું ન

पथे समायातः। स च तस्मिन्नेव विषमकण्टकितपर्वतीयमार्गे चलन्नपि चर्यापरीषहैः पराजितो नाभूत्। आचार्यो वदति–अस्मिन् वने चलतामस्माकं त्रयो दिवसा अतीताः, क्वचिदाहारो न लब्धो नापि पानीयम्।

एतदभ्यन्तरे केनचिद्देवेन वैक्रियशक्त्या तत्र शोभनो राजमार्गो निर्मितः। तत्र कस्यचिन्नृपस्य चतुरङ्गिणी सेना गच्छति, बहुच शिबिका नरैर्वाह्यमाना

इस बात का पता ही चल सका। आचार्य महाराज शिष्यमडली सहित उसी जंगल में घूमते रहे। कभी २ चलते २ विषम एवं कटकित पर्वत के मार्ग पर पहुँच जाते तो भी इनके चित्त में खेदखिन्नता नहीं आती। 'चर्यापरीषह सहन करना यह साधु की कर्तव्य कोटि में है' इस ख्याल से ये उसको शांति के साथ सहन करते रहे। चलते २ जब ठीक तीन दिन व्यतीत हो चुके तब आचार्य महाराज ने शिष्यों से कहा कि देखो–इस वन में लगातार अपने लोग तीन दिन से चल रहे हैं फिर भी मार्ग नहीं मिल रहा है। आहार पानी का भी ठिकाना नहीं पड़ा, अतः समस्या विकट बन रही है।

आचार्य महाराज जब इस प्रकार अपने शिष्यों से कह रहे थे कि इतने में ही किसी देवने अपनी वैक्रियिक शक्ति के द्वारा उस अटवी में एक सुन्दर राजमार्ग बना दिया, और इस प्रकार का दृश्य दिखलाया कि उस पर होकर किसी राजा की चतुरंगिणी सेना जा रही है।

હતુ આચાર્ય મહારાજ શિષ્ય મંડળી સાથે એ જંગલમાં ખૂબ ભટક્યા. ચાલતા ચાલતાં કોઈ વેળા સ્થળે વિષમ એવા કાંટાળા ટેકરાવાળા રસ્તે ચઢી જતા તો પણ તેમના ચિત્તમા ખેદ-ખિન્નતા આવતી નહીં "ચર્યાપરીષહ સહન કરવો એ સાધુની કર્તવ્ય કોટીમા છે આ ખ્યાલથી તેઓ આવતા પરીષહોને શાન્તી સાથે સહન કરતા રહ્યા ચાલતાં ચાલતાં જ્યારે ત્રણ ત્રણ દિવસો વીતી ગયા ત્યારે આચાર્યમહારાજે શિષ્યોને કહ્યુ કે, જુઓ આ વનમાં આપણે ત્રણ ત્રણ દિવસોથી ભટકીએ છીએ છતાં પણ બહાર નીકળવાનો કોઈ માર્ગ દેખાતો નથી. આહાર પાણીનું પણ ઠેકાણું પડતુ નથી એટલે આપણી સમક્ષ વિકટ સમસ્યા ઉભી થઈ છે

આચાર્યમહારાજ આવું જ્યારે પોતાના શિષ્યોને કહી રહ્યા હતા એ વખતે કોઈ દેવે પોતાની વૈક્રિયીક શક્તિ દ્વારા તે જંગલમાં એક સુંદર રાજ માર્ગ બનાવી દીધો અને એ પ્રકારનું દૃશ્ય ઉભુ કરી દીધુ કે તે માર્ગ ઉપરથી જાણે કોઈ રાજાની ચતુરંગિણી સેના જઈ રહી છે તેમાં અનેક પ... ર

आसन्। तत्र सेनापतिः कानने भ्राम्यमाणमाचार्यं ब्रवीति–भगवन्! सन्त्यत्र बहूनि शिबिकादीनि यानानि, यदत्र रोचते भवद्भयस्तत्रारुह्य गम्यताम्। आचार्येणोक्तम्–यानेन गमनं नास्माकं कल्पते, इत्युक्त्वा तेन 'सर्वोऽयं देवप्रपञ्चः' इति विज्ञातम्। राजसैनिके गते सति स आचार्यः शिष्यान् पृच्छति–किमिदानीं कर्तव्यम्। शिष्या आहुः–आर्येण यदनुष्ठेयं, तदेवास्माभिरपि कर्तव्यम्, आचार्यः पादपोपगमनार्थं प्रतिज्ञातवान्, तदनु तदीयशिष्या अपि पादपोपगमनार्थं संस्तारकं कृतवन्तः। सर्वैः समाधिभावेन कालं कृत्वाऽऽत्मनः कल्याणं साधितम्। एवमन्यैरपि मुनिभिश्चर्यापरीषहः सोढव्यः ॥ १९ ॥

उस में अनेक पालकिया को वहन करते हुए मनुष्य चले जा रहे हैं। यह सब दृश्य आचार्य महाराज के देखने में आ रहा था। इसी समय एक सेनापति ने अटवी में भ्रमण करते हुए आचार्य महाराज से कहा हे भदन्त! यहा बहुत से पालकिया आदि वाहन हैं आप जिन्हें पसंद करें उनपर चढकर चलें। आचार्यश्रीने सेनापति की बात सुनकर कहा कि–यान पर चढकर चलना यह हमारे कल्प से बाहर है। तथा साथ २ में आचार्यमहाराज ने यह भी जान लिया कि यह सब देवी माया है। सेनापति के चले जाने पर फिर आचार्य महाराज ने शिष्यों से पूछा कि कहो इस समय क्या करना चाहिये। शिष्यों ने कहा जो आपको करना रुचे वही हमें मंजूर है। शिष्यों की बात सुनकर आचार्य महाराजने पादपोपगमन धारण करने की विचारणा करली। शिष्यों ने भी ऐसा ही किया। सबने वहां समाधिभाव से संपन्न होकर पण्डितमरण किया,

ઉપાડીને મનુષ્યો ચાલી રહ્યા છે આ સઘળુ દ્રશ્ય આચાર્ય મહારાજના જોવામાં આવી રહ્યુ હતુ એવામા એક સેનાપતિએ જંગલમા વિચરી રહેલા આચાર્ય મહારાજને કહ્યુ, ભદંત! અહિ ઘણી પાલખીઓ વિગેરે વાહન છે, આપ જેને પસંદ કરો તેમા બેસીને ચાલો. આચાર્યે સેનાપતિની વાત સાંભળીને કહ્યુ કે, પાલખીમાં બેસીને વિચરવુ તે અમારા કલ્પની બહાર છે સાથો સાથ આચાર્ય મહારાજે એ પણ જાણી લીધુ કે આ સઘળી દૈવી માયા છે સેનાપતિના ચાલી ગયા પછી આચાર્ય મહારાજે શિષ્યોને પૂછ્યુ કે, કહો! આવે વખતે હવે શું કરવું જોઇએ? શિષ્યોએ કહ્યુ કે, આપને જે કરવું રુચે તે અમને મંજુર છે શિષ્યોની વાત સાંભળીને આચાર્ય મહારાજે પાદપોપગમન કરવાની પ્રતિજ્ઞા ધારણ કરી લીધી. શિષ્યોએ પણ એમજ કર્યુ પરિણામે સઘળા ત્યાં સમાધી ભાવથી સંપન્ન બની પંડિત મરણ પામ્યા અને

अथ नैषेधिकीपरीषहजय माह—

मूलम्—सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥ २०॥

छाया—श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले वा एकक ।
अकौकुच्य निषीदेत् न च वित्रासयेत् परम् ॥ २० ॥

टीका—' सुसाणे ' इत्यादि ।

श्मशाने-शवस्थाने, वा=अथवा, शून्यागारे=निर्जनगृहे, वा=अथवा, वृक्ष मूले=वृक्षाधस्तले, मुनि एककः=द्रव्यत एकाकी प्रतिमाऽपेक्षया, भावतो-मुनि गणस्थितोऽपि रागद्वेषरहित , अकौकुच्यः=अशिष्टचेष्टारहित -विषयचेष्टावर्जितः सन्नित्यर्थ , निषीदेत्=भयरहित यतनापूर्वकमुपविशेदित्यर्थं । च-पुनः मुनिस्तत्रोपविष्ट सन् , परम्-अन्य जीव द्वीन्द्रियादिक, न वित्रासयेत्=तत्रस्थ जीव स्थानभ्रष्टादिकं

और आत्मकल्याण की सिद्धि की । इसी तरह समस्त साधुओं को चर्यापरीषह पर विजय पाने में प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥१९॥

अब दसवें नैषेधिकीपरीषह को जीतने के लिये सूत्रकार कहते हैं—' सुसाणे '-इत्यादि ।

अन्वयार्थ-मुनि को (सुसाणे-श्मशाने) श्मशानमें (वा) अथवा (सुन्नगारे-शून्यागारे) शून्य घर में (वा) या (रुक्खमूले-वृक्षमूले) वृक्ष के नीचे (एगओ-एककः) एकाकी द्रव्य-से प्रतिमा की अपेक्षा अकेले ,तथा भाव की अपेक्षा मुनि समुदाय में रहते हुए भी रागद्वेषरहित एवं (अकुक्कुओ-अकौकुच्य) अशिष्ट चेष्टा से रहित होते हुए (निसीएज्जा-निषीदेत्) भयशून्य होकर यतनापूर्वक रहे । (य-च) तथा वहां पर

આત્મકલ્યાણની સિદ્ધિ મેળવી. આ પ્રમાણે સર્વ સાધુઓએ ચર્યાપરીષહ ઉપર વિજય મેળવવા પ્રયત્નશીલ રહેવુ જોઈએ. ॥૧૯॥

હવે સૂત્રકાર દશમા નૈષેધિકીપરીષહને જીતવા માટે કહે છે-'सुसाणे' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ-મુનિએ सुसाणे-श्मशाने સ્મશાનમાં "वा" અથવા सुन्नगारे-शून्यागारे સૂના એવા ઘરમાં " वा " અથવા रुक्खमूले-वृक्षमूले વૃક્ષની નીચે एगओ-एकक: એકાકી દ્રવ્યથી પ્રતિમાની અપેક્ષાએ એકલા તથા ભાવની અપેક્ષાએ મુનિ સમુદાયમાં રહેતાં છતાં પણ રાગદ્વેષ રહિત અને अकुक्कुओ-अकौकुच्य અશિષ્ટ ચેષ્ટાથી રહિત બનીને निसिएज्जा-निषीदेत् ભય રહિત થઈ યતનાપૂર્વક य-च

न कुर्यादित्यर्थः । इदमत्र-बोध्यम्-आदावस्मिन्नध्ययने 'निसीहियापरीसहे' इति यदुक्तं तस्य च्छाया 'नैषेधिकीपरीषह' ' इति । निषेधः=प्राणातिपातादि निवृत्तिः, स प्रयोजनमस्या इति नैषेधिकी । यद्वा निषेधः=पापकर्मणां गमनादिक्रियायाश्च निवृत्तिः, स प्रयोजनमस्या इति नैषेधिकी, निषद्या=उपवेशनस्थानम् कायोत्सर्गभूमिः । स्वाध्यायभूमिश्चेत्यर्थः । सैव च परिषहो नैषेधिकीपरीषहः उपवेशनस्थान परीषहः, तत्र श्मशानादिषु स्थानेषु स्थितेन मुनिना भयकरोपसर्गसमापतने सति न भेतव्यम्, नापि स्वरविकारादिभिरन्येषां भयमुत्पादनीयमिति ॥ २० ॥

रहे हुए उस मुनि को चाहिये की वह (पर न वित्तासए-पर न वित्रासयेत्) वहा पर पहिले से रहने वाले द्वीन्द्रियादीक जीवों को स्थानभ्रष्ट न करे, यहा यह समझना चाहिये कि पहिले इस अध्ययन में "निसीहिया परीसहे" ऐसा कहा गया है उसकी सस्कृत छाया नैषेधिकीपरीषह " ऐसी की गई है। उसका अर्थ इस प्रकार है— " प्राणातिपातादिक क्रियाओं से निवृत्ति करने का जिसका प्रयोजन हो वह नैषेधिकी है, अथवा पापकर्मो की एवं गमनादिक्रिया की निवृत्तिरूप निषेध जिसका प्रयोजन हो वह नैषेधिकी है, अथवा निषद्या उपवेशन स्थान का नाम है, वह या तो कायोत्सर्ग की भूमिस्वरूप होगा या स्वाध्याय की भूमिस्वरूप। उस निषद्यारूप जो परीषह उसका नाम नैषेधिकीपरीषह है। इसका फलितार्थ उपवेशनस्थान सम्बन्धी परीषह नैषेधिकीपरीषह है। श्मशान आदिक स्थानों में रहे हुए मुनि को भयंकर उपसर्ग के

तथा त्यां रहेता એ મુનિનું કર્તવ્ય છે કે ते पर न वित्तासए-परं न वित्रासयेत् त्या पहेलाथी रहेवावाणा द्वीन्द्रियाहिक જીવોને સ્થાનભ્રષ્ટ ન કરે, અહી એ સમજવું જોઈએ કે, પહેલાં આ અધ્યયનમાં निसीहिया परीसहे એવું કહેવાયુ છે કે જેની સસ્કૃત છાયા " नैषेधिकी परीषह " એમ કરવામાં આવેલ છે એનો અર્થ આ પ્રકારનો છે— " પ્રાણાતિપાતાદિક ક્રિયાઓથી નિવૃત્તિ કરાવવાનુ જેનું પ્રયોજન હોય તે નૈષેધિકી છે, અથવા પાપકર્મોની અને ગમનાદિ ક્રિયાઓની નિવૃત્તિરૂપ નિષેધ જેનું પ્રયોજન હોય તે નૈષેધિકી છે, અથવા નિષદ્યા ઉપવેશન સ્થાનનુ નામ છે તે યાતો કાયોત્સર્ગની ભૂમિ સ્વરૂપ હોય યા સ્વાધ્યાયની ભૂમિસ્વરૂપ એ નિષદ્યારૂપ જે પરીષહ તેનું નામ નૈષેધિકીપરીષહ આનો તો ફલીતાર્થ ઉપવેશન સ્થાન સબધી પરીષહ નૈષેધિકીપરીષહ છે, સ્મશાન આદિ સ્થાનોમા રહેનાર મુનિએ ભયકર ઉપસર્ગોના આવવા છતા પણ ભયભીત ન બનવુ જોઈએ

उक्तमर्थं विशदीकुर्वन्नाह—

मूलम्—तत्थं सें चिट्ठमाणस्स, उवसंग्गा भिधांरए।
सकांभीओ नं गच्छेज्जां, उट्ठित्तां अन्नमासणं ॥ २१ ॥

छाया—तत्र तस्य तिष्ठतः, उपसर्गा अभिधारयेत्।
शङ्काभीतः न गच्छेत्, उत्थायान्यदासनम् ॥ २१ ॥

टीका—'तत्थ' इत्यादि।

तत्र=श्मशानादौ, तिष्ठतः=उपविष्टस्य तस्य मुनेः उपसर्गाः—देवमनुष्यतिर्यक्कृता उपद्रवाः, यदि भवेयुस्तर्हि स मुनिस्तानुपसर्गान् अभिधारयेत्—'ममाचलचेतसः किमेते करिष्यन्तीति चिन्तयन् सहेत। परन्तु शङ्काभीतः=उपसर्गकृतोपद्रवसंशयादुद्वेगवान् सन्, उत्थाय-ततः स्थानादपसृत्य, अन्यत्=परम्, आसनम्=आस्यते-उपविश्यतेऽस्मिन्नित्यासनं=स्थानम्, न गच्छेत्।

आने पर भी भयभीत नहीं होना चाहिये और न अपने अंगों को विकृत करके दूसरों को भयभीत करना चाहिये ॥ २० ॥

इसी अर्थ को विशद करते हुए सूत्रकार समझाते हैं—
'तत्थ से'—इत्यादि।

अन्वयार्थ—(तत्थ—तत्र) श्मशान आदि स्थान में (चिट्ठमाणस्स से—तिष्ठतस्तस्य) स्थित उस साधुके ऊपर (उवसग्गा-उपसर्गाः) देव, मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग यदि आवे तो उस मुनि का कर्तव्य है कि वह उन उपसर्गों को (अभिधारए—अभिधारयेत्) "ये उपसर्ग मेरा क्या कर सकते हैं" निश्चलचित्त से ऐसा विचार कर सहन करे। परन्तु (शंकाभीओ—शंकाभीत) उपसर्गकृत उपद्रव के सन्देह से उद्वेगवान्

અથવા તો પોતાના અંગોને વિકૃત બનાવી બીજાને ભયભીત કરવા ન જોઈએ.॥२०॥

આજ અર્થવિશે સૂત્રકાર વિશદરૂપથી સમજાવે છે 'तत्थ से' ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—(तत्थ—तत्र) સ્મશાન આદિ સ્થાનમાં चिट्ठमाणस्स से—तिष्ठतः तस्य રહેલા એ સાધુની ઉપર उवसग्गा—उपसर्गाः દેવ, મનુષ્ય તિર્યંચ સંબંધી ઉપસર્ગ આવે ત્યારે એ મુનિનું કર્તવ્ય છે કે તે એ ઉપસર્ગોને अभिधारए—अभिधारयेत् આ ઉપસર્ગ મારૂં શું કરી શકવાના છે "નિશ્ચલ" ચિત્તે એવો વિચાર કરી સહન કરે પરંતુ शंकाभीओ—शंकाभीत ઉપસર્ગકૃત ઉપદ્રવના સંદેહથી ઉ... ...

स्वाध्यायकरणार्थं कायोत्सर्गकरणार्थं वा स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिते स्थाने निषण्णेन मुनिना अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसंपातेऽनुद्वेगकरणेन निषद्याऽपरनामको नैषेधिकीपरीषहः सोढव्य इति भावः।

अत्र दृष्टान्त प्रदर्श्यते—

हस्तिनापुरे कुरुदत्तनामा श्रेष्ठिपुत्र' प्रव्रजितो भूत्वैकाकिविहारप्रतिमया ग्रामानुग्राम विहरन्नयोध्यानगर्या ईषद्दूरप्रदेशे कायोत्सर्गम् कृत्वा स्थित। तत्र

होकर (उट्ठित्ता–उत्थाय) उठकर (अन्नमासण–अन्यद् आसन) दूसरे किसी स्थान पर (न गच्छेज्जा–न गच्छेत्) नहीं जावे।

तात्पर्य इसका यह है कि स्वाध्याय करने के लिये अथवा कायोत्सर्ग करने के लिये स्त्री पशु पडक से वर्जित स्थान में बैठे हुए मुनि को चाहिये कि वह अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग के आने पर अनुद्विग्न चित्त होकर निषद्यापरीषह कि जिसका दूसरा नाम नैषेधिकीपरीषह है उसको सहन करे। अर्थात्–श्मशान आदि स्थान में बैठने पर उपसर्ग आदि का आना स्वाभाविक है। अत. ऐसी स्थिति में मुनि का कर्तव्य है कि वह तिर्यञ्चादिकृत उन उपसर्गों को अविचलितचित्त होकर सहन करे। भयभीत न होवे, और न एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपनी रक्षा के अभिप्राय से जावे।

दृष्टान्त–हस्तिनापुर में कुरुदत्त नामका एक सेठ का पुत्र रहता था। उसने धर्म का उपदेश सुनकर दीक्षा धारण करली। जब वे श्रुतचा-

उट्ठित्ता–उत्थाय त्याथी ઉઠીને अन्नमासण–अन्यत् आसन બીજા કોઇ સ્થાન ઉપર न गच्छेज्जा–न गच्छेत् ન જાય

આનો ભાવ એ છે કે, સ્વાધ્યાય કરવા માટે અથવા તો કાયોત્સર્ગ કરવા માટે સ્ત્રી, પશુ, પડકથી વર્જીત એવા સ્થાનમા બેઠેલા મુનિએ ગમે તેવા અનુકૂળ પ્રતિકૂળ ઉપસર્ગ આવવાથી ઉદ્વિગ્ન ચિત્ત ન બનતાં વિષદ્યાપરીષહ કે જેનુ બીજુ નામ નૈષેધિકીપરીષહ છે એને સહન કરે અર્થાત્–સ્મશાન આદિ સ્થાનમા બેસવાથી ઉપસર્ગ વગેરેનું આવવુ સ્વાભાવિક છે આથી એવી સ્થિતિમાં મુનિનું કર્તવ્ય છે કે, તિર્યંચ્ચ આદિ દ્વારા થતા એ ઉપસર્ગોને અવિચલીત ચિત્ત બની સહન કરે અને ભયભીત ન થાય. પોતાના રક્ષણના અભિપ્રાયથી એક સ્થાનથી બીજા સ્થાન ઉપર ન જાય

દૃષ્ટાંત—હસ્તિનાપુરમા કુરૂદત્ત નામે એક શેઠનો પુત્ર રહેતો હતો એણે ધર્મનો ઉપદેશ સાંભળી દીક્ષા ધારણ કરી લીધી. જ્યારે તે શ્રુતચારિત્ર રૂપ

रात्रेश्चतुर्थपौरुष्यां कुतश्चिद् ग्रामाद् गोधनापहारं कृत्वा चौराः कुरुदत्तमुनेः पार्श्वस्थेन मार्गेण सवेगं गताः। पश्चाद् गोस्वामिनस्तदन्वेषकास्तत्रायाताः, द्वौ मार्गौ तत्र दृष्ट्वा ते कुरुदत्तमुनिं पृच्छति-भदन्त! ब्रूहि चौराः केन पथा गताः। तद्वचनं श्रुत्वाऽपि स मुनिर्न किंचिदुक्तवान् ततस्ते गोस्वामिनः कोपावेशेन मुनेः शिरसि आर्द्रमृत्तिकालेपेन पालीं कृत्वाऽङ्गारा क्षिप्ताः, मुनिस्तु तदुपसर्गकृतवेदनां सहमानो

रित्ररूप धर्म के पालन करने में पूर्ण निष्णात हो गये तो उन्हों ने एकाकीविहारप्रतिमा लेकर ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे विहार करते २ वे अयोध्यानगरी के समीप कुछ दूर प्रदेश में कायोत्सर्ग धारण कर रहे। रात्रि के चतुर्थ प्रहर में किसी ग्राम से गायों को चुरा कर चौर कुरुदत्त मुनि के पास के मार्ग से जल्दी २ बड़े वेग के साथ निकले। इनके निकल जाने के बाद ही गायों के स्वामी उनकी तपास करते हुए वहीं पर आ पहुँचे। वहा से दो रास्ते जाते थे। उन्हें देख-कर उन लोगों ने कुरुदत्त मुनि से पूछा कि भदन्त! यहां से चौर किस रास्ते होकर गये हैं। मुनि ने उनकी बात सुनकर कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे सबके सब मुनि के ऊपर रुष्ट हुए। क्रोध के आवेशमें आकर उन लोगों ने मुनिराज के माथे ऊपर मिट्टी की क्यारी बनाकर उसमें जलते हुए अंगार रख दिये। मुनि ने उनके द्वारा किये गये इस

धर्मनुं पालन करवामां पूर्ण पणे निष्णात बनी गया त्यारे एमणे एकाकी विहार प्रतिमा लई ग्रामानुग्राम विचरण करवा मांड्युं विहार करतां करतां ते अयोध्या नगरीनी पासे थोडा दूरना प्रदेशमां कायोत्सर्ग धारण करी रह्या. रात्रीना चोथा प्रहरना समये कोई गामथी गायो चोरीने चोर कुरुदत्त मुनिनी पासेना मार्ग उपरथी उतावळथी निकळी गया. गायो चोरीने आवेला ए चोरनी पाछळ एना नीकळी जवा पछी थोडीवारे गायो जेनी चोरायेली ते एनी तपासमां नीकळ्या अने कुरुदत्त मुनि जे स्थाने बेठेल हता त्यां पहोंच्या. आ स्थानेथी जुदी जुदी बाजु जता बे रस्ता फुटता होवाथी गायोना मालीकोए मुनिने बेठेला जोई तेनी पासे आवी पूछ्युं के, भदंत! अहिंथी चोरो कई बाजुए गया? मुनिए आनो कोई प्रत्युत्तर न आपतां ते लोको मुनि उपर खीजाया अने क्रोधना आवेशमां आवी जई ते लोकोए मुनिराजना माथा उपर माटीनी क्यारी बनावी तेमां बळ बळता अंगारा मूकी दीधा. ए लोको द्वारा करायेला उपसर्गथी मुनिने खूब वेदना थई परंतु तेने खूबज शांत चित्ते

निरुद्वेगः सन् तत्र स्थित एव समाधिभावेन कालं कृत्वा सिद्धिं प्राप्तवान्। एवमन्यैरपि मुनिभिर्नैषेधिकीपरीषहः सोढव्यः॥ २१॥

अथ शय्यापरीषहजयं माह—

मूलम्—उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहन्नेज्जा, पावदिट्ठी विहन्नई॥ २२॥

छाया—उच्चावचाभिः शय्याभिः, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान्।
नातिवेलं विहन्यात्, पापदृष्टिर्विहन्यते॥ २२॥

टीका—'उच्चावयाहिं' इत्यादि।

स्थामवान्=स्थाम=बलं तद्वान्, शीतोष्णादिसहनशक्तिमानित्यर्थः, तपस्वी=अनशनादिविविधतपश्चरणशीलः, भिक्षुः=मुनिः, उच्चावचाभिः=उत्कृष्टापकृष्टाभिः

उपसर्ग की वेदना को बड़े ही शान्त परिणामों से सहन किया। चित्त में जरा भी उद्वेग नहीं आने दिया। ध्यान में ही वे समाधिभाव से स्थिर रहे। अन्त में कालधर्म को प्राप्तकर कुरुदत्तमुनिने सिद्धि प्राप्त की। इसी प्रकार अन्य मुनियों को भी इस कथासे यही शिक्षा लेनी चाहिये कि निषद्यापरीषह में यदि इस प्रकार के विघ्न आवे तो उन्हें सहन करना चाहिये॥ २१॥

अब ग्यारहवें शय्यापरीषहजय के विषय में सूत्रकार कहते हैं—'उच्चावयाहिं' इत्यादि।

अन्वयार्थ-(थामव-स्थामवान्) शीत उष्ण आदि परीषहों को सहन करनेकी शक्तिवाला, तथा (तवस्सी-तपस्वी) अनशन आदि विविध तपों का अनुष्ठान करने वाला (भिक्खू-भिक्षु) साधु (उच्चावयाहिं सेज्जाहिं-उच्चावचाभि शय्याभि) अनुकूल जैसे हेमन्त शिशिर

સહન કરી. ચિત્તમાં જરા પણ ઉદ્વેગ આવવા ન દીધો અને ધ્યાનમા જ સમાધી ભાવમાં સ્થિર રહ્યા. અન્તે કાળ ધર્મને પામી એમણે સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરી. આ પ્રકારે અન્ય મુનિયોએ પણ આ કથાથી એવી શિક્ષા લેવી જોઈએ કે, નિષદ્યા પરીષહમાં કદાચ આ પ્રકારનાં વિઘ્ન આવે તો એને સહન કરવાં જોઈએ ॥૨૧॥

હવે સૂત્રકાર શય્યાપરીષહ જીતવાને કહે છે 'उच्चावयाहिं' ઈત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—थामव—स्थामवान् ઠંડીના અને ગરમીના પરીષહોને સહન કરવાની શક્તિવાળા તથા तवस्सी—तपस्वी અનશન આદિ વિવિધ તપોનું અનુષ્ઠાન કરવાવાળા भिक्खू—भिक्षु સાધુ उच्चावयाहिं सेज्जाहिं—उच्चावचाभि शय्याभिः અનુકૂળ—જેવી કે,

उच्चा'=उत्कृष्टा., अनुकूला —हेमन्तशिशिरयो. शैत्यरहिताः उष्णस्पर्शवत्यो वा, ग्रीष्मवर्षासु उष्णस्पर्शवर्जिता , शीतस्पर्शवत्यो वा, द्रव्यत उच्चप्रदेशस्थिता वा उच्चाः, सुधाभि'—'चूना, सिमेन्ट' इत्यादिभाषाप्रसिद्धाभि., उपलिप्ततलादीना मुपलक्षण चैतत् । अवचाः=अपकृष्टाः प्रतिकूला —हेमन्तशिशिरयो. शीतस्पर्शयुक्ता., ग्रीष्मवर्षासु उष्णस्पर्शवत्य , द्रव्यत. अधोभागस्थिता वा अवचाः, उच्चाश्च अव चावेति, उच्चावचास्ताभि., शय्याभि' शेरते यासु साधवस्ता शय्याः=वसतय उपाश्रया , पट्टकादिरूपा सस्तारकाश्च उच्यन्ते, ताभिर्हेतुभि , अतिवेलम्—वेला मतिक्रम्य, स्वाध्यायादिक न विहन्यात्=न परित्यजेत् । यद्वा—अतिवेलाम्—रवि छाया । वेलाशब्दो मर्यादावाचक , अतिशयिता वेला अतिवेला, अन्यमर्यादाऽपे क्षयाऽतिशायिनीं मर्यादां समतारूपां न विहन्यात्=रागद्वेषजनिताभ्या हर्षविषादाभ्यां

ऋतु में शैत्यरहित, अथवा—उष्णस्पर्शसहित, ग्रीष्म वर्षाऋतु में उष्ण स्पर्शरहित, अथवा शीतस्पर्शसहित, अथवा द्रव्य की अपेक्षा उच्च प्रदेश में स्थित, उपलक्षण से चूना सिमेंट आदि की बनाई गई ऐसी उच्चशय्या—उपाश्रय अथवा पाटला सस्तारकको लेकर, अथवा अवच उच्च से प्रतिकूल—हेमन्त शिशिर में शीतस्पर्शयुक्त, ग्रीष्मवर्षा में उष्णस्पर्शयुक्त तथा द्रव्य की अपेक्षा अधोभाग में स्थित ऐसी शय्या को—उपाश्रय, पाटला, सस्तारक को—लेकर (अइवेल न विहन्ने ज्जा—अतिवेलं न विहन्यात्) वेला का उल्लंघन करके स्वाध्याय आदि को न छोड़े, अर्थात् कालोकाल प्रतिलेखनादि करे । अथवा रागद्वेष-जनित हर्षविषादरूप परिणामों के द्वारा अन्यमर्यादा की अपेक्षा अति शयविशिष्ट समतारूप मर्यादा का उल्लंघन न करे । उच्चशय्या—

હેમન્ત શિશિર ૠતુમા શૈત્ય રહિત, અથવા ઉષ્ણસ્પર્શ વાળી ગ્રીષ્મ, વર્ષા ઋતુમાં ઉષ્ણસ્પર્શ રહિત અથવા શીતસ્પર્શ સહિત અથવા દ્રવ્યની અપેક્ષાથી ઉચ્ચ પ્રદેશમા રહેલ. ઉપલક્ષણથી ચુના, સીમેન્ટ આદિથી બનાવવામાં આવેલ ઉચ્ચ શૈયા, ઉપાશ્રય, અથવા પાટલા સસ્તારકને લઇ અથવા અવચ ઉચ્ચથી પ્રતિકૂળ હેમન્ત શિશિરમાં ઠંડીવાળી, ગ્રીષ્મ વર્ષામાં ઉષ્ણ સ્પર્શવાળી તથા દ્રવ્યની અપેક્ષા અધોભાગમા સ્થિત એવી અવચશય્યાને—ઉપાશ્રય, પાટલા, સસ્તારકને લઈ અઇવેલ ન વિનિહન્નેજ્જા—અતિવેલ ન વિહન્યાત્ વેલાનુ ઉલઘન કરી સ્વાધ્યાય આદિને ન છોડે, અર્થાત્ કાળોકાળ પ્રતિલેખનાદિ કરે અથવા—રાગદ્વેષ જનિત હર્ષ વિષાદ રૂપ પરિણામો દ્વારા અન્ય મર્યાદાની અપેક્ષા અતિશય વિશિષ્ટ સમતારૂપ મર્યાદાનું ઉલઘન ન કરે ઉચ્ચ શય્યા—અનુકૂળ વસ્તિનો લાભ મળતાં એવો વિચાર

न लङ्घयेत्। उच्चशय्या प्राप्य 'अहो! भाग्यवानऽहं यन्मम सर्वकालसुखदा वसतिर्मिलिते'ति हर्षं, अवचशय्या प्राप्य तु 'अहो! कीदृशी मम मन्दभाग्यता, यत् शय्याऽपि शीतादिनिवारिका न लभ्यते' इति विषादं। एवंभूताभ्यां हर्षविषादाभ्यां मध्यस्थभावरूपा मर्यादां नोल्लङ्घनीयेत्यर्थः। यस्तु मुनिः पापदृष्टिः=पूर्वोक्तमर्यादोल्लङ्घकः स विनिहन्यते, परीषहैः पराजितोऽस्त एव साधुमर्यादास्खलितो मुनिः संयमात्पतितो भवतीत्यर्थः। तस्मादुपाश्रयादौ रागद्वेषपरिवर्जनेन शय्यापरीषहः सोढव्य इति भावः॥ २२॥

अनुकूल वस्ति को पाकर ऐसा विचार न करे कि "अहो! मैं बड़ा ही भाग्यशाली हूं जो मुझे सर्वकाल में सुख देनेवाली वसति मिली है" तथा अवचशय्या प्रतिकूल वस्ति को पाकर ऐसा विचार न करे कि-अहो! मैं कैसा मन्दभागी हूं जो मुझे शीतादि निवारण करने वाली वस्ति भी नहीं मिली। इस प्रकार अनुकूल प्रतिकूल वसति की प्राप्ति को लेकर मुनि को हर्षविषादात्मक परिणामों द्वारा मध्यस्थभावरूप मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। जो मुनि (पावदिट्ठी विहन्नई-पापदृष्टिः विहन्यते) अनुकूल प्रतिकूल वसति में रागद्वेष करता है वह पापदृष्टि मुनि इस समताभावरूप मर्यादा का नाश करता हुआ संयम से पतित हो जाता है। इसलिये मुनिका कर्तव्य है कि वह उपाश्रय आदि में रागद्वेष के परिवर्जन से शय्यापरीषह सहन करे॥ २२॥

न કરે કે, " અહો! હું ખૂબ જ ભાગ્યશાળી છું કે મને સર્વકાળ સુખ દેવાવાળી વસ્તિ મળી છે " તથા "અવચ" શય્યા પ્રતિકૂળ વસ્તિથી એવો વિચાર ન કરે કે, હું કેવો મંદભાગી છું જે મને ઠંડી આદિનું નિવારણ કરવાવાળી વસ્તિ ન મળી, આ પ્રકારે અનુકૂળ પ્રતિકૂળ વસ્તિની પ્રાપ્તિને લઈ મુનિએ હર્ષ વિષાદાત્મક પરિણામો દ્વારા મધ્યસ્થ ભાવરૂપ મર્યાદાનું ઉલ્લંઘન કરવું ન જોઈએ. જે મુનિ पावदिट्ठी विहन्नई-पापदृष्टिः विहन्यते અનુકૂળ પ્રતિકૂળ વસ્તિમાં રાગદ્વેષ કરે છે તે પાપદષ્ટિ મુનિ આ સમતા ભાવ રૂપ મર્યાદાનો નાશ કરી સંયમથી પતિત થઈ જાય છે આ માટે મુનિનું કર્તવ્ય છે કે તે, ઉપાશ્રય આદિમાં રાગદ્વેષના પરિવર્જનથી શય્યા પરીષહ સહન કરે ॥ ૨૨ ॥

शय्यापरीषहः कया रीत्या सोढव्यः ? इति प्रदर्शयति—

मूलम्—पइरिक्कमुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणं अदुव पावगं ।
किमेगराय करिस्सइ, एवं तत्थऽहियासए ॥ २३ ॥

छाया—प्रतिरिक्तमुपाश्रयं लब्ध्वा, कल्याणम् अथवा पापकम् ।
किमेकरात्रं करिष्यति एवं तत्राध्यासीत ॥ २३ ॥

'पइरिक्क' इत्यादि ।

साधुः, कल्याणम्=शातरूपं सुखदायकम्, अथवा पापकं-पापरूपं दुःखजनकम्, प्रतिरिक्तं=स्त्रीपशुपण्डकादिवर्जितम् – उपाश्रयं=वसतिं, लब्ध्वा=प्राप्य, एकरात्रम्-एकस्यां रात्रौ अयमुपाश्रयः किं सुखं दुःखं वा करिष्यति न किञ्चित् करिष्यति' एवम्=ईदृशेन विचारेण तत्र=उपाश्रये अध्यासीत=अधिवसेत्-रागं द्वेषं वा न कुर्यादित्यर्थः । अयं भावः–क्वचित्–समभूमिकं सुशोभनं सर्वर्तुसुखदं,

---

शय्यापरीषह किस तरह सहना चाहिये। इस बातको सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—'पइरिक्क०'–इत्यादि

अन्वयार्थ–साधु (कल्लाण–कल्याणम्) शातरूप–सुखदायक (अदुव–अथवा) या (पावगं–पापकम्) अशातरूप–दुःखजनक ऐसे (उवस्सयं उपाश्रयं) उपाश्रय–वसति को जो (पइरिक्क–प्रतिरिक्तम्) स्त्री पशु एवं पण्डक आदि से रहित है (लद्धुं–लब्ध्वा) प्राप्त कर ऐसा विचार करे कि (एगरायं–एकरात्रं) यह उपाश्रय एकरातभर ठहरने वाले मेरे लिये क्या तो सुख दे सकता है और क्या दुःख दे सकता है (एवं तत्थऽहियासए–एवं तत्राध्यासीत) इस प्रकार विचार कर के वहां रहे – उपाश्रय के विषय में वह रागद्वेष न करे। तात्पर्य यह कि साधु के लिये कहीं पर सममूमि

શય્યાપરીષહ કઈ રીતથી સહન કરવો ? આ વાતને સૂત્રકાર પ્રદર્શિત કરે છે 'पइरिक्क' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ–સાધુ कल्लाण–कल्याणम् શાતરૂપ–સુખદાયક अदुव–अथवा या पावगं–पापकम् અશાતરૂપ–દુઃખજનક એવા उवस्सय–उपाश्रय ઉપાશ્રય–વસ્તિ કે જે पइरिक्क–प्रतिरिक्तम् સ્ત્રી પશુ અને પંડક આદિથી રહિત છે, એવી વસ્તિ लद्धुं–लब्ध्वा પ્રાપ્ત કરી વિચાર કરે કે, एगराय–एकरात्र આ ઉપાશ્રય એક રાત રોકાવાવાળા મારા માટે શું સુખ આપનાર છે કે શું દુઃખ આપનાર છે. एवं तत्थऽहियासए–एवंतत्राध्यासीत આ પ્રકારનો વિચાર કરી ત્યાં રહે ઉપાશ્રયના વિષયમાં તે રાગદ્વેષ ન કરે તાત્પર્ય એ છે કે, સાધુને માટે કોઈ સ્થળે સમભૂમિવ ।

क्वचिद्विषमभूमिकं पांसुप्रचुरं शर्कराशकलसकुलं शीतकालेऽतिशीतं ग्रीष्मे बहुधर्मकं दुःखदं सुखदं वा स्त्र्यादिरहितमुपाश्रयं, मृदुकठिनादिभेदेनोच्चावचं पट्टकादिरूपं संस्तारकं च प्राप्य, तत्र तत्र रागद्वेषाकरणेनानुद्विग्नो भवेत्। एवं शय्यापरीषहः साधुना विजितो भवतीति।

वाला उपाश्रय मिले या विषम भूमिवाला, चाहे तो वह ऋतु के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल हो, चाहे वह कंकर पत्थर से युक्त भूमिवाला हो चाहे सिमेंट आदि से बनी हुई भूमिवाला हो-कैसा भी क्यों न हो परन्तु स्त्री पशु आदि से यदि वह रहित है तो साधु को उस में किसी भी प्रकार का हर्षविषाद नहीं करना चाहिये। इसी तरह संस्तारक भी चाहे मृदुगुणयुक्त हो चाहे कठिन हो कैसा भी हो उसको प्राप्तकर साधु को उस विषय में भी रागद्वेषपरिणति नहीं करनी चाहिये। इस तरह करने से साधु के द्वारा शय्यापरीषह जीता जाता है।

भावार्थ—शय्यापरीषह पर यदि साधु को विजय पाना है तो उसकी विचारधारा ऐसी कभी नहीं होनी चाहिये कि यह शय्या, उपाश्रय अथवा पाट पाटला आदि सुन्दर हैं या असुन्दर है? ऋतु के अनुकूल हैं या प्रतिकूल हैं। साधु के लिये क्या तो अनुकूल और क्या प्रतिकूल? सबके ऊपर उसकी समान दृष्टि होनी चाहिये। यह तो दृष्टि की विषमता है जो साधुके लिये उसकी समाचारी से उचित नहीं मानी जाती है। संयम का निर्विघ्नरूप से निर्वाह जैसे भी हो सके उस रूप से

મળે અથવા વિષમભૂમિવાળો, તે ઋતુને અનુકૂળ હોય અથવા પ્રતિકૂળ હોય, ચાહે તે કાંકરા પત્થરની ભૂમિવાળો હોય કે, ચાહે સીમેન્ટ આદિનીભૂમિવાળો અગે તેવો હોય. પરંતુ સ્ત્રી પશુ આદિથી જો તે રહિત હોય તો સાધુએ તેમાં કોઈ પ્રકારનો હર્ષ વિષાદ નહીં કરવો જોઈએ એ જ રીતે સંસ્તારક પણ ચાહે તેવું સુવાળું હોય અથવા તો કઠણ હોય ગમે તેવું હોય તેને પ્રાપ્ત કરી સાધુએ તે વિષયમાં પણ રાગદ્વેષ પરિણતિ રાખવી ન જોઈએ આવી રીતે કરવાથી સાધુ શય્યાપરીષહ જીતી જાય છે

ભાવાર્થ—શય્યાપરીષહને કદાચ સાધુએ જીતવો હોય તો તેની વિચાર ધારા એવી કદી ન હોય કે, આ શય્યા ઉપાશ્રય-પાટલા આદિ સુંદર છે કે અસુંદર, ઋતુને અનુકૂળ છે કે પ્રતિકૂલ સાધુ માટે કયું અનુકૂળ અને કયું પ્રતિકૂળ બધા ઉપર તેની સમાન દૃષ્ટિ હોવી જોઈએ. એ તો દૃષ્ટિની વિષમતા છે જે સાધુ માટે તેની સમાચારીથીઉચિત માનવામાં આવતી નથી સંયમનો નિર્વિઘ્ન

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

एकदा भावितात्मा शुभचन्द्रनामाचार्यः सुविनीतशिष्यपरिवारैः सह ग्रामानु ग्रामं विहरन् श्रावस्तीनगर्या बहिरशोकनामके नन्दनवनतुल्ये उद्याने समवसृतः। तस्य बहुमध्यदेशभागे केलिप्रियभूपस्य प्रासाद आसीत्। स च प्रासादः प्रासादीयः सुदर्शनीयोऽभिरूपः प्रतिरूपो मणिकुट्टिमतलः समरमणीयभूमिभाग आदर्शतलोपमः कोमलस्पर्शः सर्वर्तुसुखद' सर्वथाऽनुकूलो रुचिरपीठफलकसंस्तारकयुक्त आसीत्। तत्रासौ तपःसंयमाराधको मुनिर्निवसन् विशुद्धभावेन तमनुकूलशय्यापरीषहं मध्यस्थभावेन सहमानश्चिन्तयति—अत्रैकरात्रमात्रं ममावस्थानं, किमनेन शय्यासुखेन।

करते रहना चाहिये इसी में साधु की शोभा है।

दृष्टान्त–एक समय की बात है–शुभचन्द्र नाम के आचार्य सुविनीत अपने शिष्यपरिवार के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी के बाहिर रहे हुए नंदनवनतुल्य अशोकनामक उद्यान में पधारे। उस उद्यान के ठीक मध्यभाग में केलिप्रियभूप का प्रासाद था। यह प्रासाद बहुत ही सुन्दर था। इसका कुट्टिमतल मणिमय था। इसका भूमिभाग सम एवं रमणीय था। वह ऐसा चलकता था कि मानों दर्पण का तल हो। स्पर्श उसका सुकुमाल था। यह महल सब ऋतुओं के अनुकूल था। रुचिर पीठ फलक संस्तारकों से युक्त था। तथा प्रासादिय दर्शनीय अभिरूप और प्रतिरूप था। तप और संयम के आराधक ये आचार्य महाराज उस प्रासाद में एक तरफ ठहर गये। उस में इन्हें सब बात की सुविधा थी। परन्तु फिर भी आचार्य ने उस विषय में अनुकूलता के विचार से हर्षभाव धारण नहीं किया।

રૂપથી નિર્વાહ જેમ થઈ શકે તેવા રૂપે કરતુ રહેવું જોઈએ તેમાં સાધુની શોભા છે

દૃષ્ટાંત—એક સમયે શુભચંદ્ર નામના આચાર્ય સુવિનીત પોતાના શિષ્ય પરિવાર સાથે ગ્રામાનુગ્રામ વિહાર કરતા કરતા શ્રાવસ્તી નગરીની બહાર રહેલા નંદનવન તુલ્ય અશોક નામના ઉદ્યાનમાં પધાર્યા. તે ઉદ્યાનના મધ્ય ભાગમાં કેલિપ્રિય રાજાનું નિવાસ સ્થાન હતુ, તે મહાલય ખૂબ જ સુંદર હતો, એનું આંગણું મણિજડિત હતુ ભૂમિભાગ સમ અને રમણીય હતો તે એવો ચળકાટ મારતો હતો કે જાણે અરિસો હોય! એનો સ્પર્શ ખૂબ સુંવાળો લાગતો. આ મહેલ સઘળી ઋતુઓમાં અનુકૂલ હતો. રૂચી ઉપજાવે તેવા પીઠ, ફલક, શય્યા, સંસ્તારક આદિ યુક્ત હતો તપ અને સંયમના આરાધક શુભચંદ્ર આચાર્ય તે મહેલની એક બાજુ ઉતર્યા એમાં તેમને દરેક પ્રકારની સગવડતા હતી છતાં પણ આચાર્યે તે અનુકૂલતાના વિચારથી હર્ષભાવ ધા ન કર્યો.

ईदृशसुखावहशय्यानुरागः किमात्मकल्याणाय मम भविष्यति ?, कदापि नैव। एवं विचिन्त्य शुभपरिणामेन प्रशस्ताध्यवसायेन शिष्यसहितः शुभचन्द्राचार्यस्तदाऽवधिज्ञानं प्राप्तवान्। स च द्वितीयदिवसे शिष्यपरिवारैः सह विहारं कृत्वा क्वचिद् लघुग्रामे वसतौ निवसति स्म।

सा च वसतिरुन्दरुकृतानेकबिलयुक्तभित्तिका, भूतभुजगमादिभयोत्पादिका प्रचुरपांसुशर्करासङ्कुला विषमभूमिका जीर्णशीर्णा पीठफलकादिरहिता चासीत्। तत्र प्रमार्जनं कृत्वा संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन्नसौ विहरति स्म। तत्र रात्रौ

किन्तु विशुद्ध भाव से युक्त होकर उस अनुकूल शय्यापरीषह को मध्यस्थ भाव से सहन किया। विचार किया कि–यहां एक रात्रि भर के लिये तो मेरी स्थिरता है। इस शय्या के सुख से मुझे क्या लाभ। इस शय्या का सुख मेरे आत्मकल्याण का कोई साधक नहीं है कि जिससे इस में मेरी उपादेय बुद्धि हो। पर द्रव्य के शुभाशुभ परिणमन से मैं अपने में शुभाशुभरूप परिणमन क्यों होने दूं। इसका परिणमन इसके साथ है और मेरा परिणमन मेरे साथ। इस प्रकार विचार कर शुभ परिणाम एवं प्रशस्त अध्यवसाय के प्रभाव से शिष्य सहित उनको अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन उन्हों ने वहां से विहार कर दिया। विहार कर वे एक छोटे से ग्राम में आये। जहां ये ठहरे वहां का स्थान बड़ा ही भयानक था। उस में अनेक चूहों के बिल थे। भूत, भुजंगम आदि का वहां उपद्रव भी था। धूलि एवं कंकर से वहां की भूमि सम विषम थी।

પણ વિશુદ્ધ ભાવથી યુક્ત બની તેમણે અનુકૂલ શય્યાપરીષહને સહન કર્યો વિચાર્યું કે અહિં એક રાત્રિ માટે મારી સ્થિરતા છે આ શય્યાના સુખથી મને શો લાભ ? શય્યાનું આ સુખ મારા આત્મકલ્યાણનું કોઈ સાધક નથી કે જેનાથી તેમાં મારી ઉપાદેય બુદ્ધિ થાય પરદ્રવ્યના શુભાશુભ પરિણમનથી હું પોતાનામાં શુભાશુભ રૂપ પરિણમન શા માટે થવા દઉં તેનું પરિણમન તેની સાથે અને મારૂં પરિણમન મારી સાથે આ પ્રકારનો વિચાર કરી શુભ પરિણામ અને પ્રશસ્ત અધ્યવસાયના પ્રભાવથી શિષ્ય સહિત તેમને અવધિજ્ઞાન ઉત્પન્ન થયું

બીજે દિવસે તેઓએ ત્યાંથી વિહાર કર્યો. વિહાર કરીને તેઓ એક નાના ગામડામાં આવ્યા જ્યાં તેઓ રોકાયા હતા તે સ્થાન ઘણું જ ભયાનક હતું તેમાં અનેક ઉંદરનાં બોણ હતાં, ભૂત, ભુજગમ વગેરેનો ઉપદ્રવ ત્યાં હતો. ધૂળ અને કાંકરાથી ત્યાંની ભૂમિ ઉંચી નિચી હતી, છાપરું ચૌકું

स्वाध्याय ध्यानं च कृत्वा शुभचन्द्राचार्यस्तदाज्ञया सर्वे मुनयश्च स्वस्वसंस्तारकोपरि शयनार्थमुद्यताः। तदा तत्रैको भुजङ्गमः स्वाहारमन्वेषयन् समागतः। तमवलोक्य सर्वे मुनयोऽनुद्विग्ना एव तस्थुः। स च भुजङ्गमः कश्चिन्मूषकमनुधावमानस्तस्मिन् दृष्टिपथातिक्रान्ते मुनीन् पश्यति। तस्य दृष्टौ विषमासीत् अतस्तेन दृष्टमात्रा एव सन्तस्ते मुनयो विषाक्रान्ता जाता। अथ शुभचन्द्राचार्यस्तदीयशिष्याश्च सर्वे मुनयः समाधिभावमवलम्ब्य क्षपकश्रेणिं समारुह्य शुक्लध्यानानलेन सकलकर्म भस्मसात् कृत्वा केवली भूत्वाऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण शिवपद मासन्नन्तः। एवं सर्वमुनिभिः शय्यापरीषहः सोढव्यः॥ २३॥

जीर्ण शीर्ण संस्तारक तक भी इसमें कोई नहीं था। उस भूमि का प्रमार्जन कर आचार्य महाराज ने वहां पर अपनी साधुमंडलीसहित निवास किया। तप एवं संयम से आत्मा को भावित करते हुए उन आचार्य महाराज ने रात्रि में स्वाध्याय और ध्यान करने के पश्चात् समस्त अपने शिष्यों को अपने२ संस्तारकों पर शयन करने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही सब के सब अपने२ संस्तारक पर सोने लगे। इतने में वहां एक सर्प अपने आहार की खोज में आया। देखकर समस्त मुनिमंडली अनुद्विग्न ही रही। वह सर्प एक चूहे के पीछे पड़ा हुआ था। जब वह चूहा उसे दिखा नहीं तो उसने मुनिमंडली की तर्फ अपनी दृष्टि लगाई। उसकी दृष्टि में ही विष था, इसलिये उसके द्वारा देखे गये वे आचार्यसहित मुनिराज विष से आक्रान्त हो गये। सब ने मिलकर समाधिभाव का आलम्बन किया, और उसके प्रभाव से वे सब के सब क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर शुक्लध्यान की प्राप्ति से सम-

સંસ્તારક પણ ન હતુ આ ભૂમિને સાફ કરીને આચાર્ય મહારાજે તે સ્થળે, પોતાના શિષ્યો સાથે નિવાસ કર્યો તપ અને સંયમથી આત્માને ભાવિત કરીને તે આચાર્ય મહારાજે રાત્રિમાં સ્વાધ્યાય અને ધ્યાન કર્યા પછી પોતાના બધા શિષ્યોને પોતપોતાના સંસ્તારક ઉપર શયન કરવાની આજ્ઞા આપી આજ્ઞા મળતાં જ સઘળા પોતપોતાના સંસ્તારક ઉપર સુવા લાગ્યા. એટલામાં એક સર્પ પોતાના આહારની શોધમાં નીકળ્યો, એને જોઈ સમસ્ત સાધુ ગણ અનુદ્વિગ્નજ રહ્યું તે સર્પ એક ઉંદરની પાછળ પડેલ હતો. જ્યારે તે ઉંદર તેના જોવામાં ન આવ્યો તો તેણે આ મુનિ ગણ તરફ એની દૃષ્ટિ ફેરવી. એની દૃષ્ટિમાં જ ઝેર હતુ, એટલે એની દૃષ્ટિએ પડેલા આચાર્ય સહિત મુનિરાજે વિષથી આકુળવ્યાકુળ બની ગયા. સઘળાએ મળીને સમાધિ ભાવનું આલંબન કર્યું અને તેના પ્રભાવથી તેઓ સઘળા ક્ષપકશ્રેણી પર આરૂઢ

अथाऽऽक्रोशपरीषहजय माह—

मूलम्—अँक्कोसिज्ज पेरो भिक्खु, नें तंसि पेडिसजले।
सरिसो होइं वालाण, तम्हा भिक्खू नें संजेले ॥२४॥

छाया—आक्रोशेत् परो भिक्षु, न तस्मिन् प्रतिसञ्ज्वलेत्।
सदृशो भवति बालानां, तस्माद् भिक्षुर्न सञ्ज्वलेत् ॥ २४ ॥

टीका—'अक्कोसिज्ज' इत्यादि।

परः=अन्य', यदि भिक्षु=मुनिम् आक्रोशेत्=दुर्वचनेन तर्जयेत्, तर्हि मुनिस्तस्मिन् न प्रतिसञ्ज्वलेत्=न प्रतिकुप्येत्। अवाच्यभाषयाऽऽक्रुष्टः सन् कोपावे

स्त कर्मों को नाशकर केवली हो गये, तथा अन्तर्मुहूर्त में शिवपद को प्राप्तकर सिद्ध हो गये। इस कथा से यही शिक्षा मिलती है कि शय्यापरीषह पर विजय पानेवाला मुनि आत्मकल्याण कर मुक्त हो जाता है, अतः शय्यापरीषह पर विजय प्राप्त करना चाहिये ॥ २३ ॥

अब सूत्रकार बारहवें आक्रोशपरीषह का जय कहते हैं—

'अक्कोसिज्ज'–इत्यादि

अन्वयार्थ–यदि (परो–परः) कोइ अज्ञानी मनुष्य (भिक्खु–भिक्षुम्) साधुको (अक्कोसिज्ज–आक्रोशेत्) दुर्वचन से तर्जित करे तब वह साधु (तंसि–तस्मिन्) उसके उपर (न पडिसजले–न प्रतिसञ्ज्वलेत्) क्रोधित न हो–अर्थात् जब कोई अशिष्ट भाषा से साधु के साथ असभ्य व्यवहार करे–गाली आदि दुर्वचन कहे तो साधु को उसके प्रत्युत्तररूप में क्रोध के आवेश से उसके प्रति गाली वगैरह अशिष्ट

બની શુક્લધ્યાનની પ્રાપ્તિથી સમસ્ત કર્મમળનો નાશ કરી કેવળીપદને પ્રાપ્ત કર્યું તથા અંતર મુહૂર્તમાં શિવપદને પ્રાપ્ત કરી સિદ્ધ બની ગયા. આ કથાથી એ શિક્ષા પ્રાપ્ત થાય છે કે, શય્યાપરીષહ પર વિજય મેળવનાર મુનિ આત્મકલ્યાણ કરી મુક્તિને પામે છે, માટે શય્યાપરીષહનો વિજય પ્રાપ્ત કરવો જોઇએ ॥ ૨૩ ॥

હવે સૂત્રકાર બારમા આક્રોશ પરીષહના જય ને કહે છે 'અક્કોસિજ્જ'–ઇત્યાદિ,

અન્વયાર્થ–યદિ પરો–પરઃ જો કોઈ અજ્ઞાની મનુષ્ય ભિક્ખુ–ભિક્ષુ સાધુને અક્કોસિજ્જ–આક્રોશેત્ ખરાબ વચનથી અપમાનીત કરે તો પણ તે સાધુ તંસિ–તસ્મિન્ તેના ઉપર ન પડિસજલે–ન પ્રતિસઞ્જ્વલેત્ ક્રોધિત ન થાય અર્થાત્ જો કોઇ અશિષ્ટ ભાષાથી સાધુની સામે અસભ્ય વહેવાર કરે, ગાળ આદિ દુર્વચન કહે તો સાધુએ તેના પ્રત્યુત્તર રૂપે ક્રોધ આવેશથી તેના પ્રતિ ગાળ વિગેરે અશિષ્ટ ભાષાનો પ્રયોગ

शेन मत्याक्रोशस्य गालीदुर्वचनादिक न वदेदित्यर्थः। ननु प्रतिसञ्ज्वलने का हानिरित्याशङ्कयाह—' सरिसो होइ बालाण ' इति। प्रतिसंज्वलन् बालानाम्-अज्ञानिनां सदृशो भवति, तस्माद् भिक्षुः=मुनिः न सञ्ज्वलेत्=आक्रुष्टोऽपि क्रोधं न कुर्यादित्यर्थः।

इदमत्र बोध्यम्—मिथ्यादर्शनोद्भ्रमुखनिर्गतानि कोपानलोद्दीपनानि दुर्वचनानि श्रुत्वा तत्मतीकार कर्तुं समर्थोऽपि मुनिः—"दुरन्तः क्रोधकषायोदयनिमित्तपापकर्मविपाकः" इति चिन्तयन् स्वहृदये क्रोधायानवकाशदानेनाक्रोशपरीषहं सहेत। उक्तञ्च—

भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्यों कि गाली देने वाले को गाली देनेवाला साधु–जैसे के साथ वैसा बनने वाला मुनि–(बालाण सरिसो होइ–बालानां सदृशो भवति) अज्ञानियों के सदृश ही माना जाता है। (तम्हा–तस्मात्) इसलिये (भिक्खू न संजले–भिक्षुः न सज्वलेत्) भिक्षु क्रोध न करे।

तात्पर्य इसका यह है कि–अज्ञान से मन्दोन्मत्त हुए व्यक्तियों के मुख से निकले हुए दुर्वचनों को जो कि कोपरूप अग्नि के उद्दीपक होते हैं, सुनकर उनके प्रतिकार करने में समर्थ भी मुनि "क्रोध कषाय के उदय के निमित्त से पापकर्म का विपाक दुरन्त होता है" ऐसा विचार कर अपने हृदय में क्रोध को स्थान न दे। इससे मुनि आक्रोशपरीषह पर विजय पाता है। कहा भी है—

न કરવો જોઈએ. કેમ કે, ગાળો દેનારને સામી ગાળ દેનાર સાધુ—જેવાની સાથે તેવા બનનાર—મુનિ बालाण सरिसो होइ–बालानां सदृशो भवति અજ્ઞાની ઓની માફક જ માનવામાં આવે છે तम्हा–तस्मात् આ માટે भिक्खू न संजले–भिक्षुः न सज्वलेत् ભિક્ષુ ક્રોધ ન કરે.

તાત્પર્ય આનુ એ છે કે, અજ્ઞાનથી મદોન્મત્ત બનેલ વ્યક્તિઓના મોઢામાંથી નિકળેલા દુર્વચનો કે જે ક્રોધ રૂપી અગ્નિ ઉત્પન્ન કરનાર હોય છે, તે સાંભળી તેનો પ્રતિકાર કરવામાં સમર્થ હોય પણ મુનિ "ક્રોધ કષાયના ઉદય નિમિત્તથી પાપકર્મનો વિપાક દુરન્ત હોય છે" એવો વિચાર કરી પોતાના હૃદયમાં ક્રોધને સ્થાન ન આપે આથી તેવા મુનિ આક્રોશ પરીષહ પર વિજય પ્રાપ્ત કરે છે કહ્યું પણ છે—

नाक्रुष्टो मुनिराक्रोशेत्, सम्यग्ज्ञानाद्यवर्जकः ।
अपेक्षेतोपकारित्वं, न तु द्वेषं कदाचन ॥ १ ॥

अन्वय—

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः,
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा ।
इत्यस्वल्पविकल्पजालमुखरैः संभाष्यमाणो जनै–
र्नो रुष्टो नहि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ॥ २ ॥

इति विचार्य समत्वेन तिष्ठेत् ॥ २४ ॥

नाक्रुष्टो मुनिराक्रोशेत्, सम्यग्ज्ञानाद्यवर्जकः ।
अपेक्षेतोपकारित्वं, न तु द्वेषं कदाचन ॥ १ ॥

सम्यग्ज्ञानादिक का परिहार नहीं करनेवाला, अर्थात् सम्यग्ज्ञानादिक गुणों के उपार्जन करने में कुशलमति भिक्षु अपमानित होने पर भी कभी भी अपमान करने वाले के प्रति अशिष्ट भाषा का प्रयोग न करे। प्रत्युत अपने प्रति इस प्रकार का व्यवहार करने वाले व्यक्ति को अपना उपकारी ही माने, किन्तु इसके प्रति द्वेषभाव कभी न रक्खे। और भी—

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः,
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा ।
इत्यस्वल्पविकल्पजालमुखरैः संभाष्यमाणो जनै,
र्नो रुष्टो नहि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ॥ २ ॥

नाक्रुष्टो मुनिराक्रोशेत्, सम्यग्ज्ञानाद्यवर्जकः ।
अपेक्षेतोपकारित्वं, न तु द्वेषं कदाचन ॥ १ ॥

સમ્યગ્જ્ઞાનાદિકનો પરિહાર ન કરવાવાળા—અર્થાત્ સમ્યગ્જ્ઞાનાદિક ગુણોનું ઉપાર્જન કરવામાં કુશળમતિ ભિક્ષુ અપમાનિત થવા છતાં પણ કદી પણ અપમાન કરવાવાળા તરફ અશિષ્ટ ભાષાનો પ્રયોગ ન કરે. પોતાના તરફ આ પ્રકારનો વહેવાર કરવાવાળી વ્યક્તિને પોતાનો ઉપકારી જ માને. તેમ તેના તરફ દ્વેશ ભાવ કદી પણ ન રાખે. બીજુ પણ—

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः,
किंवा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा ।
इत्यस्वल्प विकल्पजालमुखरैः संभाष्यमाणो जनै,
र्नो रुष्टो नहि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ॥ २ ॥

मुनिको देख कर कोई उनको चाण्डाल कहे, कोई ब्राह्मण कहे, कोई शूद्र कहे, कोई तपस्वी कहे, कोई विशिष्ट ज्ञानी तो कोई योगीश्वर कहे, इस प्रकार कहने वाले व्यक्तियों के मुख से निकलते हुए लघुता व श्रेष्ठतासूचक वचनों को सुनकर मुनि न तो रुष्ट होता है न तुष्ट होता है किन्तु समभाव से चला जाता है।

भावार्थ—अशिष्ट भाषा का प्रयोग साधु जैसे सन्त पुरुषों के प्रति वे ही व्यक्ति करते हैं जो मिथ्यात्व के कीचड़ से लिप्त होते हैं। अतः उनके द्वारा अपमानित होने पर भी साधु को उनके प्रति रुष्ट न होकर प्रत्युत दयावान् ही होते रहना चाहिये। यह उस समय विचार करना चाहिये कि देखो ये कितने अज्ञानी हैं जो खोटी खरी वस्तु के यथार्थ बोध से विकल हो रहे हैं। ये जो कुछ कहते हैं उनमें इनका अपराध नहीं है, यह तो मिथ्यादर्शन का ही प्रभाव है, अतः इनकी आत्मा सम्यग्ज्ञान से वासित बनें और ये उत्तम मार्ग पर आरूढ हो जायें, ऐसी भावना साधुको रखनी चाहिये। तथा इस समय यदि मैं इनके साथ असभ्य व्यवहार इन्हीं जैसा करने लगूँ तो इनमें और मुझ में क्या अन्तर हो सकता है। ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा में आसमान पाताल जैसा अन्तर जो बतलाया गया है वह यहां लुप्त हो

મુનિને જોઈ કોઈ એને ચંડાલ કહે, કોઈ બ્રાહ્મણ કહે, કોઈ શૂદ્ર કહે, કોઈ તપસ્વી કહે, કોઈ વિશિષ્ટ જ્ઞાની તો કોઈ યોગીશ્વર કહે, આ રીતે કહેવાવાળી વ્યક્તિઓના મુખથી નિકળતા લઘુતા અને શ્રેષ્ટતા સૂચક વચનોને સાંભળી મુનિ ન તો ક્રોધિત બને છે કે ન તો તુષ્ટમાન થાય છે પરંતુ સમભાવથી વિચરે છે

ભાવાર્થ—અશિષ્ટ ભાષાનો પ્રયોગ સાધુ જેવા સંત પુરૂષ તરફ એજ વ્યક્તિ કરે છે કે જે મિથ્યાત્વના કિચડમાં લપટાયેલા હોય છે, આથી એમના દ્વારા અપમાનીત થવા છતાં પણ સાધુએ તેના તરફ ન રૂઠતાં પ્રત્યુતરમાં દયાવાન જ રહેવું જોઈએ એ સમયે એવો વિચાર કરવો જોઈએ કે, જુઓ! આ કેટલા અજ્ઞાની છે જે ખોટી ખરી વસ્તુના યથાર્થ બોધથી વિકળ બની રહેલ છે એ જે કાંઈ કહે છે એમાં એનો અપરાધ નથી, મિથ્યાદર્શનનો જ આ પ્રભાવ છે આથી એનો આત્મા સમ્યગ્જ્ઞાનથી વાસિત બની ઉત્તમ માર્ગ ઉપર આરૂઢ થઈ જાય એવી ભાવના સાધુએ રાખવી જોઈએ. આ સમયે જે હું એના જેવોજ અસભ્ય વ્યવહાર કરવા લાગુ તો એનામાં અને મારામાં શું અંતર રહ્યું? જ્ઞાની અને અજ્ઞાનીની ચેષ્ટામાં આકાશ પાતાળ જેટલું અંતર બતાવવામાં આવ્યું છે તે આથી લુપ્ત થઈ જાય છે આના આ

મારે

उक्तार्थमेव विशदीकुर्वन् प्राह—

मूलम्—सोच्चाण फरुसा भासा, दारुणा गामकंटगा ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसी करे ॥२५॥

छाया—श्रुत्वा खलु परुषा भाषाः, दारुणा ग्रामकण्टकाः ।
तूष्णीकः उपेक्षेत, न ता मनसि कुर्यात् ॥ २५ ॥

टीका—'सोच्चाण' इत्यादि ।

दारुणाः—दारयन्ति=विदारयन्ति संयमधैर्यमिति दारुणाः=दुःसहाः, मनसि वज्राघातकारिका इत्यर्थः, ग्रामकण्टकाः=ग्रामः=इन्द्रियाणां समूहस्तस्य कण्टका इव कण्टकाः=दुःखोत्पादकत्वेन प्रतिकूलाः परुषाः=रूक्षाः कठोराः, भाषाः=वचनानि, श्रुत्वा खलु तूष्णीकः=मौनावलम्बी सन्, उपेक्षेत=ता भाषा अवधीरयेत्—नाद्रियेत। 'उवेहिज्जा'

आता है। इनके इस व्यवहार को मुझे समताभाव से सहन करना चाहिये, क्यों कि इससे मेरे अधिक कर्मों की निर्जरा होगी, इस निर्जरा में यह मेरा उपकारी है। अतः इस उपकारी के प्रति मैं द्वेष करूँगा यह मेरी कितनी अज्ञानता होगी। ऐसा विचार कर साधु आक्रोश-परीषह पर विजय प्राप्त करे ॥ २४ ॥

उपरोक्त अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'सोच्चाण'—इत्यादि

अन्वयार्थ—(दारुणा—दारुणाः) संयमरूपी धैर्यको विदारणकरने वाली मन में वज्र के तुल्य दुस्सह आघात पहुँचाने वाली तथा (गामकंटगा—ग्रामकटकाः) इन्द्रियों को कटकतुल्य दुःख की उत्पादक होने से प्रतिकूल (फरुसा—परुषाः) रूक्ष—कठोर ऐसी (भासा—भाषाः) लोगों की—असभ्य व्यक्तियोंकी भाषाओं—वचनों को (सोच्चा णं—श्रुत्वा खलु) सुनकर मुनि (तुसिणीओ उवेहेज्जा—तूष्णीकः उपेक्षेत) चुपचाप रहा हुआ—मौन धारण

સમતાભાવથી સહન કરવો જોઈએ કેમકે એથી મને અધિક કર્મોની નિર્જરા થશે. એવો વિચાર કરી સાધુ આક્રોશ પરીષહ ઉપર વિજય પ્રાપ્ત કરે. ॥૨૪॥

ઉપરોક્તઅર્થને સ્પષ્ટ કરતાં કહે છે—' सोच्चा ण ' ઈત્યાદિ,

અન્વયાર્થ—दारुणा—दारुणा સંયમરૂપી ધૈર્યને વિદારણ કરવાવાળી દુઃસહ—મનમાં વજ્ર તુલ્ય આઘાત પહોંચાડવાવાળી गामकंटगा—ग्रामकण्टकाः તથા ઈન્દ્રિયોને કંટક સમાન દુઃખને ઉત્પાદન કરનાર હોવાથી પ્રતિકૂળ फरुसा,—परुषाः રૂક્ષ કઠોર એવી भासा—भाषा અસભ્ય લોકોના વચનોને सोच्चाण—श्रुत्वा खलु સાંભળીને મુનિ तुसिणीओ उवेहेज्जा—तूष्णीकः उपेक्षेत ચુપચાપ રહી, મૌન ધારણ કરી તે

इत्यस्यैवार्थं विशदीकुर्वन् प्राह—'न ताओ मणसी करे' इति। ताः भाषा मनसि न कुर्यात्—न स्थापयेत्। 'अज्ञानवशादनेन संयमधैर्यापहारिण्यो भाषा उक्ता अत्र नास्त्यस्य दोषः किं तु ममैव पूर्वार्जितकर्मणः फलमेतत्' इति विचार्य पारुषभाषाया अनादरणेन तद्भाषिणि द्वेषं न कुर्यादिति भावः।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

एकदा क्षमाधरनामकः कश्चिद्दुश्चरतपश्चर्यापरायणो मुनिरासीत्। तद्गुणानुरागेण कश्चिद्देवः प्रीत्या तमभिवन्द्याब्रवीत्—मम योग्यं कार्यमावेदनीयं भवद्भिः।

अन्यदा कदाचिन्मार्गे गच्छन् मुनिः स्वाभिमुखागतेन केनचिच्चाण्डालेन सोपहासमुक्तः—अहो! अकर्मण्य! भिक्षुक! क्व गच्छसि?। एतद् दुर्वचनं निशम्य

करता हुआ—उस तरफ उपेक्षाभाव धारण करे, किन्तु (ताओ मणसी न करे—ताः मनसि न कुर्यात्) उन वचनों को अपने मन में स्थान न देवे। "अज्ञानवशसे ही इसने संयम धैर्य को अपहरण करने वाली भाषा का प्रयोग किया है सो इस में इसका दोष नहीं है किन्तु मेरे ही पूर्वोपार्जित पापकर्मों का यह फल है"। यह समझकर उस परुष भाषा बोलने वाले पर द्वेषबुद्धि न करे।

दृष्टान्त—दुश्चरतपश्चर्या करने में लीन क्षमाधर नामक एक मुनि थे। उनके गुणों में अनुरागी होने से कोई एक देव वंदनाकर उनसे बोला कि यदि मेरे योग्य कोई कार्य हो तो आप मुझ से अवश्य कहें, यह मैं आप से हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूं।

एक समय की बात है कि वे मुनि कहीं जा रहे थे। रास्ते में सन्मुख आता हुआ उन्हें एक चाण्डाल मिला। उसने मुनिराज को

તરફ ઉપેક્ષાભાવ ધારણ કરે પરંતુ તાઓ મણસી ન કરે—તાઃ મનસિ ન કુર્યાત્ તેના વચનોને પોતાના મનમાં સ્થાન ન આપે. અજ્ઞાનવશતાથી તેણે સંયમ ધૈર્યનું અપમાન કરનાર ભાષાનો ઉપયોગ કર્યો છે તો તેમાં એનો દોષ નથી પરંતુ મારા પૂર્વોપાર્જીત પાપ કર્મોનું જ એ ફળ છે. આવું સમજીને એ અસભ્ય ભાષા બોલવાવાળા ઉપર દ્વેષબુદ્ધિ ન કરે

દૃષ્ટાંત—ક્ષમાધર નામના દુષ્કર તપશ્ચર્યા કરવામાં લીન એવા એક મુનિ હતા. તેમના ગુણોના અનુરાગી એવા કોઈ એક દેવે વંદના કરીને એમને કહ્યું કે, મારા યોગ્ય કોઈ કાર્ય હોય તો આપ મને અવશ્ય કહો એમ હું આપને હાથ જોડી પ્રાર્થના કરી કહું છું એક વખત તે મુનિ ક્યાંક જઈ રહ્યા હતા. રસ્તામાં સામેથી આવતો એક ચંડાલ મળ્યો. તેણે મુનિરાજને

जातकोपः सन् मुनिरब्रवीत्—उन्मत्तस्त्वमसि किम् ?। ततस्तेन प्रचण्डकोपावेशे चाण्डालेन कथितम्—अरे भिक्षुक ! किं प्रलपसि ? कोऽन्यस्त्वत्समो मलिनदेहः क्षु-पिपासादिवेदनाग्रस्तो लुञ्चितशिरा गृहे गृहे गृहपाल इवाहारमन्वेषयन् भ्रमसि अरे ! अकर्मण्य ! पूर्वकृतकर्मणो विपाकमनुभवन्नपि न लज्जसे। कृषिवाणिज्यादिकर्म कर्तुमसमर्था एव मुखोपरिबद्धमुखवस्त्रिका पात्रहस्ताः बहवो भिक्षुकास्त्वादृशा उदरपूरणकामा ग्रामानुग्राम पर्यटन्ति। अरे दुर्भग ! पुत्रदारादिमि

देखते ही हँसी करते हुए कहा कि—हे अकर्मण्य भिक्षुक ! तू कहा जा रहा है। मुनि ने ज्यों ही इस प्रकार के उसके दुर्वचन सुने तो मुनि को क्रोध आ गया, और कहने लगा—क्या तू इस समय उन्मत्त हो रहा है। मुनि के वचन सुनकर चाडाल के भी कोप का ठिकाना न रहा। उसने चिड़कर मुनिको कहा—"अरे भिक्षुक ! क्या बकता है ! तेरे जैसा मलिन देह वाला और कौन होगा ? खाते कमाते नहीं बना सो मूड़ मुडाकर मुनि बन गया और घर घर में कुत्ते की तरह भीख मागने के लिये फिरने लगा है। शरम नहीं आती, करते धरते कुछ नहीं बनता सो निकल गये साधु बनने को। पूर्व में दान नहीं दिया सो तो उसका यह फल भोगना पड़ रहा है कि दर दर के भिखारी बन रहा है, फिर भी अकड़ से ऐंठता है ? जरा शर्म कर, तुम्हारे जैसे बहुत से कार्य करने में असमर्थ होकर मुंह बाघ कर पेट भरने के लिये गांव गांव भटकते हैं। ऐसा कह कर जब वह चला गया तो कोप

જોઇને હાસી કરતા કહ્યું કે, હે અકર્મણ્ય ભિક્ષુક ! તું ક્યાં જાઇ રહ્યો છે મુનિએ જ્યારે તેના આવા દુર્વચન સાંભળ્યા ત્યારે તેને ક્રોધ આવી ગયો અને કહેવા લાગ્યા કે, શું તું આ સમયે ઉન્મત્ત બની રહ્યો છે ? મુનિનું વચન સાંભળીને ચાડાલના ક્રોધનુ ઠેકાણુ ન રહ્યું અને તેણે ચિડાઇને મુનિને કહ્યું અરે ભિક્ષુક ! તું શું બકે છે ? તારા જેવો મલીન દેહવાળો બીજો કોણ છે ? ખાતા કમાતાં ન આવડયું એટલે મુંડો મુંડાવીને મુનિ બની ગયા, અને ઘર ઘરમાં કુતરાની માફક ભીખ માગવા લાગ્યો છે, શરમ નથી આવતી ? કાંઈ કામ કરતાં આવડતું નથી એટલે સાધુ બનવા નિકળી પડયો. પૂર્વભવમા દાન નહીં દીધુ હોય એટલે તો એનુ આ ફળ ભોગવવુ પડે છે અને ઘરઘરનો ભિખારી બની રહ્યો છે છતા પણ અક્કડ થઇને ફરે છે જરા લાજ ! તારા જેવા અનેક કાર્ય કરવામાં અસમર્થ હોઇને મોં બાંધીને પેટ ભરવા માટે ગામ ગામ ભટકે છે. આમ કહી જ્યારે તે ચાલ્યો ગયો ત્યારે ક્રોધના

परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामभ्युपगताः। इत्युक्त्वा तस्मिन् गतवति सति कोपावेशादन्तर्दह्यमान इव मुनि॰ स्वस्थान गत॰। क्रमेण कोपप्रशमे सति मुनिना पश्चात्तापः कृतः।

तदनन्तरमसौ देवस्तस्य मुनेः समीपे समागत्य तमभिवन्द्य तत्पुरोऽवस्थितो वदति—भवत संयमयात्रा सुखेन निर्वहति किम्?। शान्तात्मना मुनिना सस्मितं प्रोक्तम्—यदा संयमयात्रा चाण्डालेन बाधिता, तदा क्व गतस्त्वमासीः? देवेन कथितम्—यदा युवयोः कलहो जातस्तदाऽहमलक्षित कौतुकं द्रष्टुकामस्तत्रैवासम्। किं तु तदा मया विशेषः कोऽपि नोपलब्ध', यथाऽसौ चाण्डालस्तथैव भवान्।

के आवेश से वे मुनि भी भीतर ही भीतर जलते हुए अपने स्थान पर आ गये। जब कोप शात हुआ तो उनको इस विषय का बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ।

इस के बाद वह देव मुनि के पास आकर नमस्कार करके बैठ गया और बोला—आपकी संयमयात्रा तो सुखपूर्वक है? शान्तात्मा मुनिने मुस्कराते हुए प्रत्युत्तर में कहा कि जिस समय इस संयमयात्रा में चाण्डाल ने विघ्न डाला था उस समय तुम कहा गये थे। देवने जवाब दिया-जब आप दोनोंका कलह हो रहा था उस समय मैं अदृश्य होकर वहीं पर था। मुनिने कहा फिर आपने उस परिस्थिति में मेरी सहायता क्यों नहीं का? इस प्रकार मुनि के कहने पर प्रत्युत्तरमें देवने कहा कि-मुझे उस समय सहायता करने लायक कोई विशेषता आप में लक्षित नहीं हुई। उस समय जैसा वह चाण्डाल मुझे प्रतीत हुआ वैसे ही आप भी हमें प्रतीत हो रहे थे फिर सहायता किसकी करना। देव के इस उत्तर से

આવેશથી તે મુનિ અંદરને અંદર બળતા બળતા પોતાના સ્થાન ઉપર ગયા જ્યારે તેમનો ક્રોધ શાંત થયો ત્યારે તેમને આ વિષયમાં ભારે પશ્ચાત્તાપ થયો.

આ પછી પેલા દેવ મુનિની પાસે આવીને નમસ્કાર કરીને બેઠા અને કહ્યું, આપની સંયમયાત્રા તો સુખપુર્વક છે ને? શાંત આત્મા મુનિએ અંદરથી હસતાં હસતાં પ્રત્યુત્તરમાં કહ્યુ કે, જે સમયે આ સંયમયાત્રામાં ચંડાલે વિઘ્ન નાખ્યું તે સમયે તમે ક્યાં ગયા હતા? દેવે જવાબ આપ્યો જ્યારે આપ બંનેનો કેલહ ચાલી રહ્યો હતો ત્યારે હું અદશ્ય રૂપે ત્યાં જ હતો તો પછી એ પરિસ્થિતિમાં તમે મારી સહાયતા કેમ ન કરી? આ પ્રકારે મુનિના કહેવાથી પ્રત્યુત્તરમાં દેવે કહ્યું, મને તે સમયે સહાયતા કરવા લાયક કોઈ વિશેષતા આપનામાં ન દેખાઈ એ વખતે જેવો તે ચાંડાલ મને દેખાયો. તેવા જ આપ મારી દૃષ્ટિમાં દેખાતા હતા પછી સહાયતા કોની કરવી? દેવના

मुनिनोक्तम्—तेन मम तुल्यता कथं ज्ञाता ?। देवेनोक्तम्—एकेन कोपेनैव, अतस्तस्य शिक्षा न कृता, इदानीमाज्ञापयतु कीदृशी शिक्षा तस्मै कर्तव्या। मुनि० प्राह—नासौ दण्डनीय०, किंतु—सर्वथोपेक्षणीय, यतः साधूनामय धर्मः—आक्रोशपरीपह० सोढव्य इति। एवमुक्तोऽसौ देवस्तस्य मुनेः सेवाया सानुरागं तस्थौ। एवमन्यैरपि मुनिभिराक्रोशपरीपह० सोढव्य०॥ २५॥

मुनि को बड़ा ही विस्मय हुआ और कहने लगे कि मुझ में और चांडालमें समानता का अनुभव कैसे किया ?। देव ने कहा—एक क्रोध से आपके अन्दर उस समय क्रोधरूप चांडाल प्रविष्ट होया हुआ था, और वह तो चांडाल था ही, अतः सहायता करने जैसी बात उस समय मुझे उचित प्रतीत नहीं हुई इसलिये सहायता नहीं की, और न उसे भी कुछ दण्डादिरूप शिक्षा ही दी, हां! अब कहिये उसे कैसी शिक्षा दी जाय। मुनिराज ने कहा कि अब क्या आवश्यकता है जो अज्ञानी होते हैं वे उपेक्षा के ही पात्र हैं इसलिये उसको दण्डादिरूप शिक्षा प्रदान करने की कोई जरूरत नहीं है। मुनियों का तो यह आचार ही है कि वे आक्रोशपरीपह को सहन करे। मुनि की इस बात को सुनकर देव बड़ा ही अनुरागी होकर उनकी सेवा में रहने लगा। इस कथा से मुनियों को यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि आक्रोशपरीपह सहन करना यह मुनिराजों का कर्तव्य है॥ २५॥

મુનિને ઘણુ આશ્ચર્ય થયુ અને કહેવા લાગ્યા મારામાં અને ચંડાલમાં સમાનતાનો અનુભવ તમોને કેવી રીતે થયો ? દેવે કહ્યુ એક ક્રોધથી—આપની અંદર તે સમયે ક્રોધ રૂપી ચંડાલ પ્રવિષ્ટ થયો હતો અને તે તો ચંડાલ હતો જ આથી સહાયતા કરવા જેવી વાત મને તે સમયે ઉચિત ન લાગી એ માટે સહાયતા ન કરી અને તેને પણ દંડ આદિ રૂપ કોઈ શિક્ષા નકરી. હા! કહો એને કઈ રીતે શિક્ષા કરવામાં આવે। મુનિ મહારાજે કહ્યુ કે, હવે શું આવશ્યક્તા છે જે અજ્ઞાની હોય છે તે ઉપેક્ષાને પાત્ર જ છે આ માટે તેને દંડાદિકરૂપ શિક્ષા આપવાની કોઈ જરૂરત નથી મુનિઓનો તે આચારજ છે કે, તેઓ આક્રોશપરીષહને સહન કરે. મુનિની આ વાત સાંભળીને દેવ ઘણુ અનુરાગી બની તેની સેવામાં રહેવા લાગ્યા આ કથાથી મુનિઓએ એ જ શિક્ષા ગ્રહણ કરવી જોઈએ કે, આક્રોશપરીષહ સહન કરવો તે મુનિરાજોનુ કર્તવ્ય છે ॥ ૨૫ ॥

कश्चिदाक्रोशमात्रेणाऽतुष्टो दुष्ट संयतस्य वधमपि कुर्यादतो वधपरीषहमाह-

मूलम्—हंओ नं संजले भिक्खू, मणपि न पओसएं ।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खुधम्मं विचिंतएं ॥२६॥

छाया—हतो न सञ्ज्वलेद् भिक्षुः मनोऽपि न प्रद्वेषयेत् ।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वा, भिक्षुधर्मं विचिन्तयेत् ॥ २६ ॥

टीका—'हओ' इत्यादि ।

भिक्षुः=मुनिः, हतः=केनापि दुष्टेन मुष्टियष्ट्यादिना ताडितः सन्, न सञ्ज्वलेत्=न क्रुध्येत्, तथा मनोऽपि न प्रद्वेषयेत्=द्वेषयुक्तं न कुर्यात्, तितिक्षां=क्षान्तिं,

---

कोई दुष्ट पुरुष आक्रोशमात्र से संतुष्ट नहीं होकर मुनि का वध भी करने लगता है इसलिये अब तेरहवें वधपरीषह को कहते हैं—'हओ न संजले'-इत्यादि

अन्वयार्थ-(भिक्खू-भिक्षुः) मुनि (हओ-हत) किसी भी दुष्ट के द्वारा यष्टि मुष्टि आदि से ताडित हो जाय तो भी (न संजले-न संज्वलेत्) क्रोध से तपायमान नहीं होवे । तथा (मणंपि न पओसए-मनोऽपि न प्रद्वेषयेत्) मन को भी दूषित नहीं करे, किन्तु (तितिक्खं-तितिक्षाम्) उत्तम क्षमा को (परमं-परमाम्) दशविध धर्मों में सर्वोत्कृष्ट (नच्चा-ज्ञात्वा) जानकर (भिक्खू-भिक्षुः) वह साधु (धम्मं विचिंतए-धर्मं विचिन्तयेत्) उत्तम क्षमादिरूप साधु के कर्तव्य का, अथवा अपने आत्मस्वरूप का विचार करे कि-क्षमामूलक ही धर्म है । यह जो मुझे निमित्त बना कर के कर्मों का उपचय कर रहा है उस में मेरा ही

કોઈ દુષ્ટ માણસ આક્રોશ માત્રથી સંતોષ ન પામવાથી મુનિનો વધ પણ કરવા લાગે છે એ માટે હવે તેરમા વધપરીષહને કહે છે 'हओ न संजले'-ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ-भिक्खू-भिक्षुः મુનિ हओ-हत કોઈ પણ દુષ્ટ દ્વારા લાકડી ગડદાપાટુથી તાડિત થઈ જાય તો પણ न संजले-न संज्वलेत् ક્રોધથી તપી ન જાય मणपि न पओसए-मनोऽपि न प्रद्वेषयेत् મનને પણ દૂષિત ન કરે પણ तितिक्खं-तितिक्षां ઉત્તમ ક્ષમાને परमं-परमां દશવિધ ધર્મોમાં સર્વોત્કૃષ્ટ नच्चा-ज्ञात्वा જાણીને भिक्खू-भिक्षुः તે સાધુ धम्मं विचिंतए-धर्मं विचिन्तयेत् ઉત્તમ ક્ષમાદિરૂપ સાધુના કર્તવ્યનો તથા પોતાના આત્મસ્વરૂપનો વિચાર કરે કે, ક્ષમા એ જ ધર્મ છે આ જે મને નિમિત બનાવીને કર્મોનો ઉપચય કરી

परमा=दशविधेषु धर्मेषु प्राधान्यात् प्रकृष्टां, ज्ञात्वा मुनि, भिक्षुधर्मं=क्षान्त्यादिकं स्वात्मस्वरूप वा विचिन्तयेत्, यथा-क्षमामूल एव धर्मं, यच्च मां निमित्तीकृत्याय कर्मोपचिनोति, तत्र ममैव पूर्वकर्म कारणमिति ममैव दोषः, तस्मादेन प्रति कोपो नोचित इति ॥ २६ ॥

पूर्वोपार्जित कर्म कारण है अत. इसमें मेरा ही दोप है इसलिये इसके प्रति कोप करना मुझे उचित नहीं है ।

भावार्थ—मुनि जनों की यह विचारधारा कितनी सुन्दर है। वज्रहृदय वाला शत्रु भी इस विचार के सामने नतमस्तक होकर अपनी क्रूरता का परित्याग कर देता है। एक तरफ ताडना मारणा आदि क्रियाएँ हो रही हैं तो दूसरी ओर उस पर प्रतीकार न करते हुए अपने पूर्वोपार्जित कर्म को ही बलवान माना जा रहा है कि-पूर्वोपार्जित कर्मों का यह फल मुझे मिल रहा है, इस बेचारे का क्या दोप है। अफसोस केवल उस मुनि आत्मा में इसी बातका हो रहा है कि जो यह प्राणी मेरा निमित्त लेकर नवीन कर्मों का बधक बन रहा है। इस प्रकार मन तक में भी जहां प्रतिकार करने की भावना का उदय निषिद्ध बतलाया गया है वहां और अन्य प्रतिकारों के करने की तो बात ही क्या हो सकती है। महात्मा का यहां कितना अच्छा उपदेश है कि वह ताडित होने पर भी अपनी उत्तम क्षमाको न छोडे। कुल्हाडा

રહેલ છે તેમાં મારા જ પૂર્વોપાર્જીત કર્મ કારણરૂપ છે આથી તેમાં મારોજ દોષ છે માટે તેના પ્રતિ ક્રોધ કરવો મને ઉચિત નથી,

ભાવાર્થ—મુનિઓની આ વિચારધારા કેટલી સુન્દર છે વજ હૃદયવાળો શત્રુ પણ આ વિચાર સામે નતમસ્તક બની પોતાની ક્રુરતાને ત્યાગી દે છે એક તરફ ધાકધમકી અને માર મારવાની હદ સુધીની ક્રિયાઓ થાય છે, ત્યારે બીજી તરફ આનો પ્રતિકાર ન કરતાં પોતાના પૂર્વોપાર્જીત કર્મોને જ બળવાન માનવામાં આવે છે "પૂર્વોપાર્જીત કર્મોનું ફળ મને મળી રહ્યું છે એ બિચારાનો કોઈજ દોષ નથી" મુનિના આત્મામાં અફસોસ ફક્ત એ વાતનો થાય છે કે, આ પ્રાણી મને નિમિત્ત બનાવીને નવા કર્મોનો બંધ બાંધી રહેલ છે આ પ્રમાણે મનમાં પણ પ્રતિકાર કરવાની ભાવનાના ઉદયનો નિષેધ બતાવવામાં આવેલ છે, ત્યા અન્ય પ્રતિકાર કરવાની તો વાત જ' ક્યાં રહી? મહાત્માનો આ કેવો સુન્દર ઉપદેશ છે કે તેને ધાકધમકી કોઈના તરફથી અપાય અથવા માર મારવામાં આવે તો પણ પોતાની ઉત્તમ ક્ષમાને ન

उक्तमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह—

मूलम्—समेण संजय दंतं, हणेज्जा कोई कत्थइ।
नेत्थि जीवस्स नासोत्ति'', एवं पेहेज्ज संजए ॥२७॥

छाया—श्रमणं संयतं दान्तं, हन्यात् कोऽपि कुत्रापि।
नास्ति जीवस्य नाश इति, एवं प्रेक्षेत संयतः ॥ २७ ॥

टीका—'समण' इत्यादि

कोऽपि=कश्चिन्मनुष्यः, कुत्रापि-ग्रामादौ, संयतं=षट्काययतनावन्तं, दान्तम्

चंदन वृक्ष को काट भी डाले पर चंदनवृक्ष का जो उसके मुख को भी सुवासित करने का काम है वह उसे नहीं छोड़ता। नहीं तो वह चंदन ही नहीं। महात्मा भी अपने शत्रु के प्रति इसी कर्तव्य का निर्वाह करते हैं नहीं तो वे महात्मा ही नहीं हैं। धन्य है महात्मा! तेरे इस शुभाध्यवसाय को। न्योछावर है त्रैलोक्य का राज्य इस पवित्र भावना पर। क्या ही सुन्दर विचार धारा है। इसी विचारधारा के बल पर महावीर प्रभु के शासन में सर्वोत्कृष्टता रही हुई है। प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को यह अभिनंदनीय वंदनीय विचारधारा अपनाने योग्य है ॥२६॥

वधपरीषहको किस भावना से सहन करे सो कहते हैं-'समणं'-इत्यादि

अन्वयार्थ-(कोई-कोऽपि) कोई अज्ञानी (कत्थइ-कुत्रापि) कहीं पर भी (संजयं-संयतम्) षट्काय के जीवों की जतना करनेवाले (दंतं-दान्तम्)

છોડે કુહાડો ચંદન વૃક્ષને કાપી નાખે છતાં ચન્દન વૃક્ષમાં જે સુવાસિતતાનો ઉત્તમ ગુણ છે તે પોતાને કાપનાર કુહાડાને પણ આપે છે જો એમ ન કરે તો તે ચંદન શેનું? મહાત્મા પણ પોતાના શત્રુ તરફ આવું જ વર્તન રાખે છે નહી તો એ મહાત્મા શાના? ધન્ય છે મહાત્મા! તમારા આ શુભ વ્યવસાયને! આ પવિત્ર ભાવના પર ત્રણ લોકનું રાજ્ય પણ ન્યોછાવર છે, કેવી સુન્દર વિચારધારા છે! આ વિચાર ધારાના બળ ઉપર થી મહાવીર પ્રભુના શાસનમાં સર્વોત્કૃષ્ટતા રહેલ છે પ્રત્યેક મોક્ષાભિલાષીએ આ અભિનંદનીય વંદનીય વિચારધારાને અપનાવવી જોઈએ ॥ ૨૬ ॥

કેવા ભાવથી વધપરીષહને સહન કરવાને કહે છે—समणं ઈત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—कोइ—कोऽपि કોઈ અજ્ઞાની कत्थइ—कुत्रापि કોઈ જગ્યાએ પણ संजयं—संयतम् ષટકાય જીવોનું જતન કરનારા दंतं—दान्तम् પાંચ ઇન્દ્રિય

=इन्द्रियनोइन्द्रिय दमनशीलम्, श्रमण=तपस्विन मुनिं हन्यात्=मुष्टियष्ट्यादिना ताडयेत्, तदा सयत'=मुनि, जीवस्य=आत्मनज्ञानरूपस्य नाश नास्ति=न भवति शरीरस्यैव नाशात्, इत्येव प्रेक्षेत=चिन्तयेत् ॥

पाच इन्द्रिय एव मन को निग्रह करने वाले (समण–श्रमणम्) श्रमण–तपस्वी मुनि को (हणेज्जा–हन्यात्) यष्टि मुष्टि आदि द्वारा मारे। उस समय (सजए–सयत) वह मुनि (जीवस्स नासो नत्थि–जीवस्य नाश नास्ति) "ज्ञानस्वरूप आत्मा का नाश नहीं होता है किन्तु उसका पर्यायान्तर होता है अत शरीरका ही नाश होता है" (एव पेहेज्ज— एव प्रेक्षेत)ऐसा विचार करे।

भावार्थ—आत्मा को क्रोधी तब होना चाहिये कि जब उसकी निज वस्तु का विनाश हो। जैसे ससारी लोग अपनी वस्तु के विनाश होने पर क्रोधी या दुःखी हुआ करते हैं, दूसरों की वस्तुओं के विनाश में नहीं। इसी प्रकार महात्मा को भी किसीके द्वारा ताडित होने पर या मारे जाने पर यह विचार करना चाहिये कि यह शरीर पुद्गल का है अत यह मेरी निजवस्तु नहीं है परवस्तु है। इसके विनष्ट होनेपर मैं क्यों क्रोधी या दु खी बनू? मेरी निज की वस्तु जो ज्ञानादिक गुण हैं वे तो इस के आघात से नष्ट नहीं होते हैं, वे तो सदा अक्षय ही रहते हैं इस लिये क्रोधी या दु खी होने की मुझे किञ्चित् मात्र भी आवश्यकता नहीं है।

કરનારા સમણ–શ્રમણમ્ શ્રમણ તપસ્વી મુનિને હણેજ્જા–હન્યાત્ ઠોસા પાટુ વગેરેથી મારે એ સમયે સજ્જએ–સંયત તે મુનિ જીવસ્સ નાસો નત્થિ–જીવસ્ય નાશ નાસ્તિ જ્ઞાન સ્વરૂપ આત્માનો નાશ થતો નથી પરંતુ એ પર્યાયાન્તરિત હોય છે, આથી શરીરનો જ નાશ થાય છે एव पहेज्ज–एव प्रेक्षेत એવો વિચાર કરે,

ભાવાર્થ—આત્માએ ક્રોધિત તો ત્યારે થવું જોઈએ કે, જ્યારે તેની પોતાની વસ્તુનો વિનાશ થતો હોય જેમ સંસારી લોકો પોતાની વસ્તુઓનો વિનાશ થતાં ક્રોધિત અને દુ ખી થયા કરે છે, બીજાની વસ્તુઓના વિનાશમાં નહીં આ પ્રકારે મહાત્માને પણ કોઈ તરફથી માર મારવામાં આવે કે ધાક ધમકી આપવામા આવે ત્યારે તેણે વિચાર કરવો જોઈએ કે, આ શરીર પુદ્ગલનું છે, આ કારણે તે મારી પોતાની વસ્તુ નથી, પારકી વસ્તુ છે એનો વિનાશ થવાથી હું શા માટે ક્રોધી અથવા દુ ખી બનું ? મારી પોતાની જે વસ્તુ જ્ઞાનાદિક ગુણ છે તે એના આઘાતથી નાશ પામતી નથી એ તો સદાય અક્ષય જ રહે છે આથી ક્રોધી અથવા દુઃખી થવાની મારે લેશ માત્ર પણ આવશ્યકતા નથી

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

श्रावस्तीनगर्यां रिपुमर्दननाम्नो राज्ञः पुत्रो धारिणीदेव्या अङ्गजातः स्कन्दक-नामकः कुमार आसीत्। अस्य भगिनी पुरन्दरयशा नाम्नी। सा कुम्भकारकटक नामके पुरे दण्डकिनाम्ने नृपतये पित्रा प्रदत्ता। तस्य दण्डकिभूपस्य पुरोहितः पालकनामा ब्राह्मणो मिथ्यादृष्टिरासीत्।

एकदा मुनिसुव्रतस्वामी विंशतितमस्तीर्थंकरः श्रावस्तीनगर्यां समवसृतः, तस्य देशनां श्रुत्वा स्कन्दककुमारः श्रावको जातः। एकदा कदाचिदसौ पालकपुरोहितः श्रावस्तीनगर्यामागतः। स राजसभायामार्हतसिद्धान्तं खण्डयितुं प्रवृत्तः तदा

दृष्टान्त—श्रावस्ती नगरी में रिपुमर्दन नाम का एक राजा राज्य करता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम धारिणी था। धारिणीदेवी से राजा के एक कुमार का जन्म हुवा, जिसका नाम स्कन्दक था। स्कन्दक के एक बहिन भी थी। उसका नाम पुरन्दरयशा था। कुम्भकारकटक नाम के पुर में दण्डकी नामक राजा के साथ उसका विवाह हुवा था। दण्डकी राजा का एक ब्राह्मण पुरोहित था। इसका नाम पालक था। यह मिथ्यादृष्टि था।

एक समय की बात है कि वे बीसवें तीर्थङ्कर श्री मुनिसुव्रतस्वामी श्रावस्ती नगरी में पधारे। उनकी देशना को सुनकर स्कन्दककुमार ने श्रावकधर्म अंगीकार किया। किसी समय पालक पुरोहित श्रावस्ती नगरी में आया। राजसभा में बैठकर उसने जैनसिद्धान्त को खण्डन करने वाली बात प्रारंभ की। जब वह बोल चुका तब उसकी बात को

દૃષ્ટાંત—શ્રાવસ્તી નગરીમાં રીપુમર્દન નામનો એક રાજા રાજ્ય કરતો હતો તેને ધારિણી નામની એક રાણી હતી ધારિણીદેવીથી રાજાને એક કુમારનો જન્મ થયો, જેનું નામ સ્કંદક હતું, સ્કંદકને એક બહેન પણ હતી. તેનું નામ પુરંદરયશા હતું કુંભકારકટક નામના નગરના દંડકી નામના રાજાની સાથે તેનો વિવાહ કરવામાં આવેલ હતો દંડકી રાજાને એક બ્રાહ્મણ પુરોહિત હતો તેનું નામ પાલક હતું તે મિથ્યાદૃષ્ટી હતો.

આ એક સમયની વાત છે કે જ્યારે વીસમા તીર્થંકર શ્રી મુનિસુવ્રત સ્વામી શ્રાવસ્તી નગરીમાં પધાર્યા તેમની દેશના સાંભળીને સ્કંદકકુમારે શ્રાવકધર્મ અંગિકાર કર્યો કેટલેક વખતે પાલકપુરોહિત શ્રાવસ્તી નગરીમાં આવ્યા રાજસભામાં બેસીને જૈન સિદ્ધાંતનું ખંડન કરવાવાળી વાતની શરૂઆત કરી. જ્યારે તેણે વાત પુરી કરી ત્યારે તે વાત સાંભળીને ત્યાં બેઠેલા

श्रावकव्रतधारी स्कन्दककुमार आर्हतसिद्धान्त समर्थयन् त निरुत्तर कृतवान्। तेन कारणेन पालकपुरोहितस्य स्कन्दककुमार प्रति महान् विद्वेषो जात ।

एकदाऽसौ स्कन्दककुमार पञ्चभि शतै कुमारै सह भगवतो मुनिसुव्रतस्वामिन समीपे देशना श्रुत्वा दीक्षा गृहीतवान्। भगवता ते पञ्चशतकुमारकास्तस्य शिष्यत्वेन निश्रिता कृता । ततोऽसौ स्कन्दकाचार्योऽन्यदा भगवन्त पृच्छति-भगवन्! कुम्भकारकटकपुराभिमुखं विहर्तुमिच्छामि, भगवानाह—वर तत्र गम्यताम्, किंतु तत्रोपसर्गो मारणान्तिक । पुनस्तेनोक्तम्-भगवन्! वयमाराधका, किं वा विराधका ?। भगवता कथितम्-एक त्वा विना सर्व आराधकाः सन्ति।

सुनकर वहां पर बैठे हुए श्रावकव्रतधारी स्कन्दककुमार ने जैन सिद्धान्त का समर्थन करते हुए उसको निरुत्तर कर दिया, इससे पालक स्कन्दककुमार का महान् विद्वेषी बन गया।

कुछ काल के बाद स्कन्दककुमार ने पाचसौ कुमारों के साथ भगवान मुनि सुव्रतस्वामी के समीप धार्मिकदेशना सुनकर दीक्षा ली। उन पाचसौ कुमारोंको भगवानने उनकी नेश्राय(अधीनता) में कर दिया। अब वे स्कन्दक मुनि स्कन्दकाचार्य हो गये। स्कन्दकाचार्य ने एक दिन भगवान से पूछा कि भगवन्! मैं यहा से कुम्भकारकटक पुर की तरफ विहार करना चाहता हू यदि आपकी आज्ञा हो तो। भगवान ने कहा जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो परन्तु तुम को वहा मरणान्तिक उपसर्ग का सामना करना पडेगा। फिर इस बात को सुनकर स्कन्दक ने प्रभु से पूछा कि प्रभो! हम सब आराधक हैं या विराधक? भगवान ने कहा तुम्हारे सिवाय सब ही आराधक हैं। भगवान के मुख से इस

શ્રાવકવ્રતધારી સ્કંદકકુમારે જૈનસિદ્ધાંતને સમર્થન કરતાં તેને નિરૂત્તર બનાવી દીધો આથી પાલક સ્કંદકકુમારનો મહાન વિરોધી બની ગયો.

કેટલાક સમય પછી સ્કંદકકુમારે પાંચસો કુમારોની સાથે ભગવાન મુનિસુવ્રતસ્વામી પાસેથી ધાર્મિક દેશના સાંભળીને દીક્ષા અંગીકાર કરી, એ પાંચસો કુમારોને ભગવાને સ્કંદકકુમારની દેખરેખ નીચે રાખ્યા, આથી તે સ્કંદકમુનિ સ્કંદકાચાર્ય બની ગયા, સ્કંદકાચાર્યે એક દિવસ ભગવાનને પૂછ્યું કે, હે ભગવંત! હું અહિંથી આપની આજ્ઞા હોય તો કુંભકારકટકપુર તરફ વિહાર કરવાની ઈચ્છા રાખુ છું ભગવાને કહ્યું, જે રીતે તમને સુખ થાય એ રીતે કરો. પરંતુ તમારે ત્યાં મરણાંતિક ઉપસર્ગનો સામનો કરવો પડશે. તે વાત સાંભળીને સ્કંદકે પ્રભુને પૂછ્યું, કે હે પ્રભો! અમે બધા આરાધક છીએ કે વિરાધક? ભગવાને કહ્યું, કે તમારા શીવાય બધા આરાધક છે ભગવાનના

एवं भगवता कथितोऽपि स्कन्दकाचार्यो भाविवशात् पञ्चशतशिष्यपरिवारसहितः कुम्भकारकटकपुरं प्रति विहारं कृतवान्। पालकब्राह्मणेन तद् विहारवार्ता श्रुता-"अत्रागच्छेति स्कन्दकाचार्यं" इति। ततोऽसौ पूर्ववैरमनुस्मृत्य तन्निर्यातनार्थं यत्रोद्याने स्कन्दकाचार्य आगन्तुकस्तत्परितो विविधशस्त्रास्त्राणि प्रच्छन्नरीत्या भूमौ निखन्य राज्ञः समीपमागत्य ब्रूते--स्वामिन्! स्कन्दकाचार्यः पञ्चशतशिष्यपरिवारैः सह साधुवेषेण इह समायाति, स भवदीयराज्यं हर्तुमिच्छति, यतोऽसौ भवदीयोद्यानस्य चतुर्दिक्षु रात्रौ प्रच्छन्नो भूत्वाऽस्त्रशस्त्राणि भूम्यन्तर्निहितानि, तद्दृष्टं कथंचिन्मया ज्ञातम्, तत्र गत्वा पश्यन्तु भवन्तः। पुरोहितवचनं श्रुत्वा राज्ञा तत्र गत्वा

भविष्यत् को सुनकर भी स्कन्दकाचार्य ने भाविवशात् पांचसौ शिष्यों के साथ कुम्भकारकटकपुर की ओर विहार कर दिया। पालक पुरोहितने उनके विहार की वार्ता सुनी तो उसको ज्ञात हो गया कि स्कन्दकाचार्य विहार कर यहां आरहे हैं। उसने उनके साथ अपना पूर्व वैर याद कर "बदला लेने का अवसर आगया है" इस अभिप्राय से उसने जिस उद्यान में स्कन्दकाचार्य आकर उतरे थे उस में जमीन खुदवाकर नीचे विविध शस्त्र एवं अस्त्र गुप्तरीति से गड़वा दिये। पश्चात् राजा के पास आकर फिर वह कहने लगा कि हे स्वामिन्! यहां पांच सौ शिष्यों के परिवार से स्कन्दकाचार्य साधु के वेश में आये हुए हैं। वे आप के राज्य को हरण करना चाहते हैं। इस लिये उन्होंने गुप्त रीति से उद्यान में चारों ओर अस्त्र शस्त्र भूमि में गड़वा दिये हैं। यह बात रात्रि में मैंने छुपकर देखी है। आप को जो विश्वास न हो तो

ભાવીથી આ ભવિષ્યવાણી સાંભળીને પણ સ્કંદકાચાર્યે ભાવિવશાત્ ૫૦૦ શિષ્યોની સાથે કુંભકારકટકપુરની તરફ વિહાર કરી દીધો. પાલકપુરોહિતે તેમના વિહારની વાત સાંભળીને જાણ્યું સ્કંદકાચાર્ય વિહાર કરતા કરતા આ તરફ આવી રહ્યા છે તેણે પોતાનું અગાઉનું તેમની સાથેનું વેર યાદ કરીને "બદલો લેવાનો અવસર આવી ચૂક્યો છે" આવા અભિપ્રાયથી જે બગીચામાં સ્કંદકાચાર્ય આવીને ઉતર્યા હતા તેની અંદરની જમીન ખોદાવીને તેની નીચે જુદી જુદી જાતનાં શસ્ત્ર અસ્ત્ર દાટી દીધાં પછી રાજાની પાસે આવીને તે કહેવા લાગ્યો કે, પાંચસો શિષ્યોના પરિવાર સાથે સ્કંદકાચાર્ય સાધુના વેશમાં અહિં આવ્યા છે તે આપનું રાજ્ય લઈ લેવા ઈચ્છે છે કેમકે, તેમણે ગુપ્ત રીતે બગીચામાં ચારે બાજુ શસ્ત્ર અસ્ત્ર દટાવી રાખ્યાં છે આ વાત મેં રાત્રિના વખતે છુપી રીતે જોઈ લીધી છે. આપને જો વિશ્વાસ ન હોય તો આપ ખુદ

भूम्यन्तर्गतानि तानि शस्त्रास्त्राणि विलोकितानि। ततोऽसौ नृप कोपावेशेन पुरोहितमब्रवीत्—हे पालक! सर्वानेतान् साधूनह तवाधीनान करोमि, यथेच्छसि तथा कुरु। एवमुक्तोऽसौ दुष्टभावसमन्वित. पुरोहित. सर्वान् मुनीन् परित समाक्रम्य एकैक मुनि तिलादिपीडनयन्त्रे संस्थाप्य पीडयितु प्रवृत्त.। ते स्वात्मकल्याणार्थिनो मुनयस्त वधपरीषह सम्यक् परिषह्यान्तसमय केवलज्ञान प्राप्य मोक्ष गता। तत्र ४९८ चतु शताष्टनवतिसंख्यका मुनय पीडनयन्त्रे पीडितास्तथापि स्कन्दकाचार्येण समभावं समालम्ब्य तत्र स्थितम्। तदा स्वस्मादन्य एक एव मुनिरवशिष्ट, तमपि पीडनयन्त्रे स्थापयितुमुद्यतस्तदा स्कन्दकाचार्येणोक्तम्—

स्वयं चलकर देख सकते हैं। पुरोहित की बात सुनकर राजा उद्यान में आया और वहां उसने भूमि के भीतर गड़े हुए अनेक अस्त्र शस्त्र देखे। इस स्थिति से राजा को बड़ा ही कोप बढ़ा और उसने कोप के ही आवेश में तन्मय होकर पुरोहित से कहा, पालक! इन सब साधुओं को मैं तुम्हारे आधीन करता हूं। तुम जैसा भी समझो इनके साथ वैसा करो। राजा ने जब ऐसा कहा तब पुरोहित के आनंद का पार न रहा। उसने शीघ्र ही चारों ओर से सब मुनियों को घिरवा दिया और एक एक मुनि को कोल्हू (घाणी) में पीलने लगा। चारसोअठानवे(४९८) मुनियोंने समभाव से वधपरीषहको सहन करके अंत समयमें केवलज्ञान प्राप्तकर मुक्ति को प्राप्त किया। स्कन्दकाचार्य और एक बालमुनि पीलनेके लिये अवशिष्ट रहे। जब पालक ने उस मुनि को पीलने के लिये कोल्हू में रखने को उद्यत हुवा तो इतने में स्कन्दकाचार्य ने उससे कहा कि

જઈને જોઈ શકો છો. પુરોહિતની વાત સાંભળીને રાજા બગીચામાં ગયા અને ત્યાં જમીનની અંદર દાટેલા અનેક શસ્ત્ર અસ્ત્ર જોયા. આથી રાજાને ખૂબ ક્રોધ ચડયો અને ક્રોધના આવેશમાં આવીને તેણે પુરોહિતને કહ્યું, પાલક! આ બધા સાધુઓને હું તમારે હવાલે કરૂં છું તમોને ઠીક લાગે તેમ તેનો ફેંસલો તમે કરો. રાજાએ જ્યારે આ પ્રમાણે કહ્યું ત્યારે પુરોહિતના આનંદનો પાર ન રહ્યો. તેણે તરત જ ચારે તરફથી તે મુનિઓને ઘેરી લઈ પકડીને એક પછી એક મુનિને ઘાણીમાં પીલવાનું શરૂ કર્યું ૪૯૮ મુનિઓએ સમભાવથી વધપરીષહને સહન કરીને અંત સમયે કેવળજ્ઞાનને પ્રાપ્ત કરીને મુક્તિને પામ્યા સ્કંદકાચાર્ય અને એક મુનિ પીલવા માટે બાકી રહ્યા. જ્યારે પાલકે તે મુનિને પીલવા માટે ઘાણીમાં નાખવા પ્રવૃત્ત થયા ત્યારે સ્કંદકાચાર્યે તેને કહ્યું કે, આ તો કોમળ

अयमस्ति कोमलकायो बालकः, तस्मादयं त्वया न हन्तव्यः मम समक्षं पीडनय न्त्रेऽस्य स्थापने पीडा मम जायते, मुञ्चैनम्। स्कन्दकाचार्यवचनं श्रुत्वाऽसौ राम पुरोहितः पालकब्राह्मणो वदति-राजसभायां त्वया पराजितोऽहम्, अतो यावदपि कादप्यधिकं दुःखं तव स्यात् तदेव कार्यं मम कर्तव्यम्। इत्युक्त्वाऽसौ तं बालमनगारं स्कन्दकाचार्यस्य समक्षमेव पीडनयन्त्रे संस्थाप्य तत्पीडनं कृतवान्। स बालोऽप्य नगारस्तत्र वधपरीषहं सम्यक् परिषह्य केवलज्ञानं प्राप्य मोक्षं गतः।

तदा स्कन्दकाचार्यो रोषावेशेन निदानं कृतवान्-"यदि मम तपःसंयमस्य फलं भवेत्, तदा एतेषां सर्वेषां दुःखदायको भवेयम्" इति। अथाऽसौ स्कन्दका

यह इस समय कोमलकाय बालक है अतः तुम इसे छोड़ दो। इसे कोल्हू में रखते हुए देखकर मुझे पीड़ा होती है, अतः यह मारने योग्य नहीं है। स्कन्दकाचार्य के इस प्रकार वचन सुनकर पालक उनसे कहने लगा-सुनो-तुमने मुझे पहिले राजसभा में परास्त किया था, अतः उसके उपलक्ष में अधिक से अधिक जो कष्ट हो सकता है वह मैं तुमको दूं ऐसा ही मेरा निर्णय है। इस में जरा भी इधर उधर नहीं करना चाहता हूं। इस प्रकार कह कर उसने उस बालक मुनि को भी स्कन्दकाचार्य के सामने ही कोल्हू में रखकर पील दिया। उस बालक अनगार ने भी खुशी खुशी से वधपरीषह सहन करके अंत में केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त कर लिया। उस समय स्कन्दकाचार्य ने रोश के आवेश में आकर यह निदान किया कि "यदि मेरे तप एवं संयम का फल होता हो तो मैं इन सब को दुःख देने वाला होऊं।"

કાય બાળક છે, માટે એને છોડી દો એને ઘાણીમાં રાખેલ જોઈને મને પીડા થાય છે માટે તે મારવાને યોગ્ય નથી સ્કંદકાચાર્યનું આ પ્રમાણેનું વચન સાંભળીને પાલક પુરોહિત કહેવા લાગ્યો કે, સાંભળો! તમે મને અગાઉ રાજ સભામાં પરાજીત કરેલ હતો એથી તેના ઉપલક્ષમાં હું અધિકમાં અધિક કષ્ટ જે હોય તે હું તમને આપીશ એવો મારો નિર્ણય છે તેમાં જરા પણ હું ફેરફાર કરવા ઈચ્છતો નથી. આ પ્રમાણે કહીને તેણે તે બાળક મુનિને સ્કંદકા ચાર્યની સામે જ ઘાણીમાં નાખીને પીલી નાખ્યો. આ બાળ અનગાર પણ ખુશીથી વધપરીષહ સહન કરીને અંતમાં કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરીને મુક્તિ પામ્યા આ સમયે સ્કંદકાચાર્યે રોષના આવેશમાં આવીને આ પ્રમાણે નિદાન કર્યું કે, જો મારા તપ અને સંયમનું ફળ થતું હોય તો હું આ બધાને દુઃખ દેવાવાળો બનું પાલકે છેવટે સ્કંદકાચાર્યને પણ પીલીને

चार्य तत्र यन्त्रे निपीड्य हतवान्। स स्कन्दकाचार्यो मृत्वाऽग्निकुमारदेवत्वेन-समुत्पन्नो भूत्वाऽवधिज्ञानेन स्वपूर्वभववृत्तं ज्ञात्वा कोपावेशेन नृपपुरोहितामात्यादि सहितं कुम्भकारकटकपुरं सदेशं भस्मसात् कृतवान्। दण्डकिभूपस्य स देशो दण्डकारण्यनाम्ना पश्चात् प्रसिद्धो जातः। एवमन्यैरपि मुनिभिर्वधपरीषहः सोढव्य एव, न तु स्कन्दकाचार्यवत् कोपाविष्टैर्भवितव्यम् ॥ २७ ॥

अथ याचनापरीषहजयं प्राह—

मूलम्—दुक्करं खलु भो ! निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वं से जाइयं होई, नत्थि किंचि अजाइयं ॥२८॥

छाया—दुष्करं खलु भो ! नित्यम्, अनगारस्य भिक्षोः ।
सर्वं तस्य याचितं भवति, नास्ति किंचिद् अयाचितम् ॥ २८ ॥

टीका—'दुक्कर' इत्यादि ।

खलु=निश्चयेन भो! इति सम्बोधनम्, हे जम्बू ! अनगारस्य=गृहरहितस्य

पालक ने अन्त में स्कन्दकाचार्य को भी कोल्हू में पील कर नष्ट कर दिया। स्कन्दकाचार्य मर कर निदान के प्रभाव से अग्निकुमार जाति के देव हुए। देवपर्याय में अवधिज्ञान द्वारा अपने पूर्वभव का वृत्तान्त जानकर उस देवने क्रोध के आवेश में आकरके नृप पुरोहित एवं अमात्य आदि सहित समस्त कुम्भकारकटकपुर को भस्मसात् कर दिया। दण्डकीभूप का वह देश दण्डकारण्य नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कथा से मुनियों को यही शिक्षा लेना चाहिये कि वे वधपरीषह को समभाव से सहन करे। जिस प्रकार उनमुनियों ने वधपरीषहको सहा उसी प्रकार अन्य मुनियोंको भी वधपरीषह सहन करना चाहिये। स्कन्दकाचार्य की तरह कोपाविष्ट नहीं होना चाहिये ॥ २७॥

तेनो नाश कर्यो स्कंदकाचार्य मरीने निदानना प्रभावथी अग्निकुमार देव बनीमां उत्पन्न थया देवपर्यायमां पोताना अवधीज्ञानथी पोताना पूर्वभवनुं वृत्तांत जाणीने ते देव क्रोधना आवेशमा आवीने राजा पुरोहित अने आमात्य सहित समस्त कुंभकारकटकपुरने भस्मीभूत बनावी दीधुं दंडकी राजानो ते देश पछीथी दंडकारण्य तरीके प्रसिद्ध थयो. आ कथाथी मुनिओओ शिक्षा ग्रहण करवी जोईओ के, वधपरीषहने समभावथी सहन करे. जे प्रकारे मुनिओओ वधपरीषहने सहन कर्यो ओ प्रकारे सहन करे स्कंदकाचार्यनी माफक कोपायमान थवुं न जोईओ ॥२७॥

भिक्षो=मुने, नित्य=सर्वदा-यावज्जीवमित्यर्थ, दुष्करं=दुःखेन क्रियमाणं कठिनं भवति। किं दुष्करं भवति ? इत्याह—'सव्वं' इत्यादि, तत् सर्वम्=आहारोपकरणादिकं वस्तु तस्य याचितं=याचितमेव भवति, किंचिदपि दन्तशोधनादिकमपि अयाचितं नास्ति-न गृह्यते तस्मात् कष्टं मुनिजीवनमिति ॥ २८ ॥

उक्तार्थमेव सविशदं वर्णयति—

मूलम्—गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए ।
सेओ अगारवासोत्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥२९॥

छाया—गोचराग्रप्रविष्टस्य, पाणिः नो सुप्रसार्यः ।
श्रेयान् अगारवासः इति, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥ २९ ॥

टीका—'गोयरग्ग०' इत्यादि ।

गोचराग्रप्रविष्टस्य=गोचर, गोरिव चरणं गोचरः भिक्षाचर्या, यथा=ज्ञाताज्ञातविशेषमपहायैव गौः प्रवर्तते, तथा साधुरपि ज्ञाताज्ञातकुलेषु भिक्षार्थम्। तस्याग्रं=प्रधानं, यतोऽसौ एषणायुक्तो गृह्णाति, न तु गौरिव यथा कथंचित्, तस्मिन् गोचराग्रे प्रविष्टस्य, मुनेः पाणिः=हस्तः नो सुप्रसार्यः=नैव सुखेन प्रसारयितुं

अब सूत्रकार चौदह वें याचनापरीषह को सहन करने का उपदेश करते हैं—'दुक्करं खलु'-इत्यादि।

अन्वयार्थ-(खलु) निश्चय से (भो-भोः) हे जंबू! (अणगारस्स भिक्खुणो-अनगारस्य भिक्षोः) गृहरहित भिक्षुको (सव्वं जाइयं होइ-सर्वं याचितं भवति) समस्त वस्तुएँ याचित ही होती हैं। (किंचि अजाइयं नत्थि-किंचित् अयाचितं नास्ति) कोई भी वस्तु अयाचित नहीं होती है। इसलिये मुनिजीवन (दुक्कर-दुष्करम्) बड़ा ही दुष्कर है। बिना दिये तो वह दन्तशोधनादिक भी तृण तक भी नहीं ले सकते हैं ॥ २८ ॥

હવે ચૌદમો યાચનાપરીષહ સહન કરવાનો ઉપદેશ સૂત્રકાર કહે છે—
'दुक्कर खलु' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—खलु નિશ્ચયથી भो-भोः હે જમ્બૂ! अणगारस्स भिक्खुणो-अनगारस्य भिक्षोः ગૃહ રહિત ભિક્ષુની सव्वं जाइयं होइ-सर्वं याचितं भवति સમસ્ત વસ્તુઓ યાચિત જ હોય છે किंचि अजाइयं नत्थि-किंचित् अयाचितं नास्ति કોઈ પણ વસ્તુ અયાચિત નથી, માટે મુનિજીવન दुक्कर-दुष्करम् ઘણું જ દુષ્કર છે કોઈના આપ્યા વગર તે દાંતને સાફ કરવા માટે તણખલું પણ લઈ શકતા નથી.

श्रयः, नहि मुनि कस्यापि गृहस्थस्य सम्बन्धीति भाव.। इति=अतो हेतोः, अगारवासः=गार्हस्थ्यम्, श्रेयान्=श्रेष्ठ., इति=एतद्, भिक्षु =मुनिर्न चिन्तयेत्, किन्तु गृहवासो हि बहुसावद्ययुक्तस्तथा ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धस्य कारणम्, स कथमपि श्रेयस्करो न भवतीति विचारयेत्।

फिर सूत्रकार पूर्वोक्त अर्थको ही विशद करते हैं–'गोयरग्ग०'–इत्यादि।

अन्वयार्थ–(गोयरग्गपविट्ठस्स–गोचराग्रप्रविष्टस्य) ज्ञात अज्ञातकुलों में गोचरी के लिये प्रविष्ट हुए साधु का (पाणी–पाणि) हाथ (नो सुप्पसारए–नो सुप्रसार्यं) सुप्रसार्य नहीं है, क्यों कि मुनि किसी गृहस्थ का सबधी नहीं है, इसलिये (अगारवासो सेओ–अगारवास श्रेयान्) इसकी अपेक्षा गृहस्थ जीवन श्रेष्ठ है, ऐसा (भिक्खू न चिंतए–भिक्षु न चिन्तयेत्) भिक्षुको नहीं विचारना चाहिये, क्यों कि गृहवास बहुसावद्ययुक्त तथा ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मो के बध का कारण है अत वह किसी प्रकार श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता है।

भावार्थ—गोचरी के लिये ज्ञात अज्ञात कुलों में गये हुए साधु को ऐसा नहीं विचार करना चाहिये कि यहा मैं किसके सामने हाथ फैलाऊँ–कोई मेरा सबधी तो है नहीं। सबधी से मागने में कोई शर्म की बात नहीं है। इससे तो अच्छा गृहवास ही है कि जिसमें हर एक से हर एक चीज मागने में कोई सकोच नहीं होता है। साधु का ऐसा

સૂત્રકાર પૂર્વોકત અર્થને જ ફરી સમજાવે છે—'गोयरग्ग' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ–गोयरग्गपविट्ठस्स–गोचराग्रप्रविष्टस्य જાણેલા અગર અજાણ્યા કુળોમાં ગોચરી માટે જનારા સાધુનો पाणी–पाणिः હાથ नो सुप्पसारए–नो सुप्रसार्यं સુપ્રસાર્ય નથી કેમકે, મુનિ કોઈ ગૃહસ્થના સબધી નથી તેથી अगारवासो सेओ–अगारवासः श्रेयान् તે અપેક્ષાએ ગૃહસ્થ જીવન શ્રેષ્ઠ છે એવો ભાવ भिक्खू न चिंतए–भिक्षु न चिन्तयेत् ભિક્ષુએ લાવવો ન જોઈએ. કેમકે, ગૃહવાસ બહુ સાવદ્ય યુક્ત તથા જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મોના બધનુ કારણ છે આથી તે કોઈ પ્રકારે શ્રેયસ્કર માનવામા આવેલ નથી.

ભાવાર્થ—ગોચરી માટે જાણીતા કે અજાણ્યા કુળમાં જતા સાધુએ એવો વિચાર ન કરવો જોઈએ કે, હું ત્યા કોની સામે હાથ લાબો કરૂ ? કોઈ મારો સબધી તો નથી સબધી પાસે માગવામા કોઈ શરમની વાત નથી. આથી તો ગૃહસ્થાશ્રમ સારો કે જેમાં એક બીજાથી ચીજ માગવામાં સંકોચ થતો નથી

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

दशमतीर्थंकरश्रीशीतलनाथस्वामिशासने तद्वंशीयो वज्रप्रियनामा भूपतिर्बभूव। स दीक्षां गृहीत्वा मासमासक्षपणस्य पारणं करोति स्म। स प्रथममासक्षपणपारणे भिक्षाचर्यायां प्रविष्टश्चिन्तयति—कथमद्य याचयामि, वज्रप्रियनामधारकोऽहमिक्ष्वाकुवंशोद्भवेष्वपि अग्रसरस्तथा जातिकुलसंपन्नोऽस्मि, पुनरुच्चनीचमध्यमकुलेषु हस्तप्रसारणं ममासिधारावत् कठिनम्। यस्य चरणे राज्ञां मुकुटकोटयः परिलसन्ति स्म, यस्याज्ञां मन्दारकुसुममालामिव जना सादरं धारयन्ति स्म,

विचार इसलिये प्रशस्य नहीं है कि गृहस्थाश्रम बहुसावद्य कर्मों से युक्त होता है तथा उससे ज्ञानावरणीयादिक अष्टविध कर्मों का बंध होता है।

दृष्टान्त—दशवें तीर्थंकर श्रीशीतलनाथस्वामी के शासनकाल में इनका ही वंशज एक वज्रप्रिय नामका राजा था। उसने धार्मिक उपदेश श्रवणकर दीक्षा धारण कर ली थी। मुनि बनकर उन्होंने खूब तपश्चर्या की। मास२ खमण की तपस्या करने लगे। एक समय की बात है कि जब उनके प्रथम मासक्षपण का पारणा था तो स्वयं भिक्षाचर्या के लिये गये। उस समय उन्होंने विचार किया कि मैं आज कैसे याचना करूँगा? मेरा वंश तो ऐसा नहीं है कि जिसमें किसीने याचना की हो। मैं तो इक्ष्वाकुवंशजों में अग्रेसर हूं। मैं जातिकुलसंपन्न हूं। उच्च नीच एवं मध्यम कुलों में हाथ फैलाना मेरे लिये तो असिधारा के समान कठिन प्रतीत होता है। जिन मेरे चरणों में राजाओं के मुकुट नमते रहे थे,

સાધુનો આવો વિચાર એટલા માટે ઠીક નથી કે, ગૃહસ્થાશ્રમ બહુ સાવદ્ય કર્મોથી ભરેલ છે તથા એનાથી જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મોનો બંધ થાય છે.

દૃષ્ટાંત—દસમા તીર્થંકર શ્રી શીતળનાથ સ્વામીના શાસન કાળમાં તેમના જ વંશનો એક વજ્રપ્રિય નામનો રાજા હતો તેણે ધાર્મિક ઉપદેશ સાંભળીને દીક્ષા ગ્રહણ કરી મુનિ બનીને તેણે ખૂબ તપશ્ચર્યા કરી માસ માસ ખમણની તપશ્ચર્યા કરવા લાગ્યા એક સમયની વાત છે, જ્યારે તેમનું પહેલા માસ ખમણનું પારણું હતું એટલે તે અંગે પોતે ભિક્ષાચર્યા માટે ગયા તે સમયે તેમણે વિચાર કર્યો કે, હું આજ કોની પાસે યાચના કરીશ? મારો વંશ તો એવો નથી કે જે યાચના કરે હું તો ઇક્ષ્વાકુવંશનો અગ્રેસર છું જાતિકુળ સંપન્ન છું ઉચ્ચ નીચ મધ્યમ કુળોમાં હાથ ફેલાવવો એ મારા માટે તરવારની ધાર માફક કઠીન છે મારા ચરણોમાં જે રાજાઓના મુગટ નમતા હતા એની

यस्य दर्शनेन च स्वजन्म सफल मन्यन्ते स्म, येन मया राज्ञां पुरतः कदापि हस्तो न प्रसारितः, सोऽहमिदानीं तेषां कुले तथा हीनदीनकुलेषु च कथं करं प्रसारयामि। यदि गृहवासमङ्गीकरोमि, तदा तु खलु मम वीरप्रतिज्ञैव नष्टा भवति। ज्ञानदर्शनचारित्रेभ्यश्च पतितो भवामि, ततश्चानन्तससारवृद्धि स्यात्, तत्रापि नरकनिगोदप्रनन्तदु खभोगानन्तरमपि रत्नत्रय दुर्लभ स्यात्। तत्र रत्नत्रये-दर्शनेन विना ज्ञान नास्ति, ज्ञानेन विना चारित्र न भवति, चारित्रेण विना मोक्षो न लभ्य, तस्माद् याचनापरीषह सर्वथा मया सोढव्य, इति विचिन्त्य प्रासुकैषणीयभिक्षा

जिसकी आज्ञा कल्पवृक्ष के फूलोंकी माला के समान मनुष्य सादर मस्तक पर धारण किया करते थे, जिसके देखने से लोग अपने को सफल जन्मवाला मानते थे-आज वही मैं उन लोगों के घरों में जाकर कैसे मांगने के लिये हाथ फैलाऊँगा। मैंने आजतक तो किसी राजा के भी सामने हाथ नहीं फैलाया। फिर सयमके विषय में विचारने लगे कि-यदि इस सकोच से मैं गृहवास को स्वीकार कर लेता हू तो मेरी सावद्यत्यागरूप वीरप्रतिज्ञा नष्ट होती है। ज्ञान दर्शन एवं चारित्र से भी पतित हो जाता हू। इसका फल यह होगा कि मेरा अनन्त ससार बढेगा। अनन्तससारी होने पर नरक निगोद के अनंतदु खों को भोगने के बाद भी ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रय की प्राप्ति मुझे दुर्लभ ही रहेगा, क्यों कि दर्शन के विना ज्ञान नहीं और ज्ञान के विना चारित्र नहीं, तथा चारित्र के अभाव में मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये याचनापरीषह मुझे सर्वथा सहन करना ही चाहिये। इस प्रकार विचार

આજ્ઞા કલ્પવૃક્ષોના ફુલોની માળા સમાન મનુષ્યો આદર સાથે માથા ઉપર ધારણ કરતા હતા, જેને જોઈને લોકો પોતાને સફળ જન્મવાળા માનતા હતા આજ તેજ હું એ લોકોના ઘરોમા જઈ ભીક્ષા માગવા માટે કેવી રીતે હાથ લાંબો કરૂ ? મે આજ સુધી કોઈ રાજા સામે પણ હાથ લાંબો કર્યો નથી. પછી સયમના વિષયમાં વિચાર કરવા લાગ્યા કે-જો આ સ કોચથી હું ગૃહવાસને સ્વીકારી લઉ તો મારી સાવદ્ય ત્યાગરૂપ વીરપ્રતિજ્ઞા નાશ પામે છે તેનુ ફળ એ આવશે કે, મારો અનત સસાર વધશે. અનત સસારી બનાવથી નરક નિગોદનાં અનત દુ ખોને ભોગવ્યા પછી પણ જ્ઞાન,દર્શન ચારિત્રરૂપ રત્ન ત્રયની પ્રાપ્તિ મને દુર્લભજ રહેશે. કેમકે, દર્શન વીના જ્ઞાન નહીં, અને જ્ઞાન વગર ચારિત્ર નહીં, અને ચારિત્રના અભાવમાં મુક્તિની પ્રાપ્તિ નહીં માટે યાચનાપરીષહ મારે સર્વથા સહન કરવો જ જોઈએ આ પ્રકારનો વિચાર

मुपादाय सयमयात्रां निर्वहन् कालमासे काल कृत्वा स्वस्त्ययाण साधितवान्। एवमन्यैरपि मुनिभिर्याचनापरीषह सोढव्य ॥ २९ ॥

याचनायां प्रवृत्तस्य मुने कदाचिल्लाभान्तरायोदयात् भिक्षाया अलाभः स्यात्, इत्यलाभपरीषहजय माह—

मूलम्—परेसुं घासमेसेज्जा, भोयणे परिनिट्ठिए ।
लद्धे पिंडे अलद्धे वा, नाणुतप्पेज्जं पंडिए ॥३०॥

छाया—परेषु ग्रासम् एपयेत्, भोजने परिनिष्ठिते।
लब्धे पिण्डे अलब्धे वा, नानुतप्येत पण्डित ॥ ३० ॥

टीका—'परेसु' इत्यादि ।

पण्डित'=भिक्षुधर्ममर्मज्ञ सयत, भोजने=ओदनादौ, परिनिष्ठिते=निष्पन्ने सत्येव परेषु=गृहस्थेषु ग्रास=पिण्डम् एपयेत्=गवेपयेत्। ततश्च पिण्डे=आहारे

कर उसने प्रासुक एपणीय आहार की याचना की। याचना में प्राप्त आहार को लेकर अपनी सयमयात्राका निर्विघ्न रीतिसे निर्वाह करतेर अन्तमें वे आयुके समाप्त होनेपर कालधर्मको प्राप्तकर आत्माका कल्याण किया॥२९॥

याचना में प्रवृत्त मुनि को कदाचित् लाभान्तराय के उदय से भिक्षा का लाभ न हो सके तो उसे पन्द्रहवें अलाभपरीषह को जीतना चाहिये अब यह बात सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—'परेसु' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(पंडिए–पण्डित) भिक्षुधर्म के मर्म का ज्ञाता सयमी साधु (भोयणे–भोजने) ओदनादिक भोजन (परिनिट्ठिए–परिनिष्ठिते) निष्पन्न होने पर ही (परेसु–परेषु) गृहस्थों के घर थिपे (घासं–ग्रासम्) पिण्डकी (एसेज्जा–एषयेत्) गवेषणा करे (पिंडे लद्धे अलद्धे वा–

કરીને તેમણે પ્રાસુક એષણીય આહારની યાચના કરી. અને યાચનાથી પ્રાપ્ત થયેલા આહારને લઈને પોતાની સયમયાત્રાનુ નિર્વિઘ્ને નિર્વાહ કરતા કરતાં અ તમા તેઓએ આયુની સમાપ્તિ થતાં, કાળધર્મ પામી આત્માનુ કલ્યાણ કર્યું ॥૨૯॥

યાચનામાં પ્રવૃત્ત મુનિને કદાચીત લાભાન્તરના ઉદયથી ભિક્ષાનો લાભ મળી શકતો ન હોય તો તેથી હવે પદરમા અલાભપરીષહને જીતવો જોઈએ એ વાત હવે સૂત્રકાર પ્રદર્શિત કરે છે—'परेसु' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—पंडिए–पण्डित ભિક્ષુધર્મના મર્મના જ્ઞાતા સયમી સાધુ भोयणे–भोजने ઓદનાદિક ભોજન परिनिट्ठिए–परिनिष्ठिते નિષ્પન્ન હોવાથી જ परेसु–परेषु ગૃહસ્થોના ઘેર જઈ घासं–ग्रास પિન્ડની एसेज्जा–एषयेत् ગવેષણા કરે पिण्डे लद्धे

पिण्डे स्वल्पे वा लब्धे सति, अलब्धे वा नानुतप्येत='भाग्यहीनोऽस्मि, भिक्षाऽपि न लभ्यते' इत्यादिरूपं संतापं न कुर्यादित्यर्थः। 'परिनिट्ठिए' इति विशेषणेन भोजनकाल एव गच्छेदिति सूचितम्। 'घास' इत्यनेन भ्रमरवृत्त्या ग्रासमिति बोधितम्॥ ३०॥

तर्हि किं कुर्यादित्याह—

मूलम्—अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए॥३१॥

छाया—अद्यैवाहं न लभे, अपि लाभः श्वः स्यात्।
य एवं प्रतिसमीक्षते, अलाभस्तं न तर्जयेत्॥ ३१॥

पिण्डे लब्धे अलब्धे वा) उस समय यदि थोड़ा आहार मिले अथवा बिलकुल भी न मिले तो भी वह (नाणुतप्पेज्ज-नानुतप्येत) "मैं भाग्यहीन हूं मुझे भिक्षा भी नहीं मिली" इत्यादिरूप संताप न करे। "परिनिट्ठिए" इस विशेषणद्वारा सूत्रकार की साधु के लिये यह सूचना है कि वे गोचरी के लिये भोजनकाल में ही निकले। "घास" इस पद से गृहस्थों के यहां से जो भी आहार ग्रहण किया जाय वह भ्रमरवृत्ति से किया जाय, यह सूचित किया है।

भावार्थ—साधु को गोचरी के लिये भोजनकाल में ही निकलना चाहिये, उस समय यदि भोजन अल्प मिले या बिलकुल भी न मिले तो इस विषय में किसी भी प्रकार का उसे मन में संताप नहीं करना चाहिये॥ ३०॥

अलब्धे वा-पिण्डे लब्धे अलब्धे वा એ સમયે તેને થોડું ભોજન મળે અથવા બીલકુલ ન મળે પણ તે नाणुतप्पेज्ज-नानुतप्येत હું ભાગ્યહીન છું મને ભિક્ષા ન મળી" એવી રીતે સંતાપ ન કરે परिनिट्ठिए એ વિશેષણદ્વારા સૂત્રકાર સાધુ માટે એવું સૂચન કરે છે કે, તે ગોચરી માટે ભોજન સમયે જ નિકળે घास આ પદથી ગૃહસ્થોને ત્યાંથી જે કંઈ આહાર ગ્રહણ કરવામાં આવે તે ભ્રમરવૃત્તિથી સ્વીકાર કરવો જોઈએ આ સૂચના આપવામાં આવે છે

ભાવાર્થ-સાધુએ ગોચરી માટે ભોજનકાળમાં જ નિકળવું જોઈએ તે સમયે જો થોડું મળે અગર ન મળે તો પણ આ વિષયમાં તેના મનમાં કોઈ પ્રકારનો સંતાપ થવો ન જોઈએ ॥ ૩૦ ॥

टीका—'अज्जेवाहं' इत्यादि।

अहम्, अद्यैव=अस्मिन्नेव दिने न लभे=न प्राप्नोमि अपि=सम्भावयामि श्वः=आगामिदिने, इदमुपलक्षणम् तेन अन्यस्मिन् कस्मिंश्चिदागामिनि दिने इत्यर्थः, लाभ स्यात्=आहारादिप्राप्तिर्भविष्यति, एवम्=अनेनोक्तप्रकारेण, यः साधु प्रतिसमीक्षते=चिन्तयति—अलाभे सत्यनुद्विग्न सन् संयमयात्रा निर्वर्तयतीत्यर्थ । तं मुनिम्—अलाभ =अलाभपरीषहः, न तर्जयेत्=कथमपि पराजय कर्तुं न शक्नुया-

'अज्जेवाहं'—इत्यादि।

अन्वयार्थ—(अहं—अहम्) मुझे (अज्जेव न लब्भामि—अद्यैव न लभे) आज यदि आहार का लाभ नहीं हुआ है (अवि—अपि) तो (सुए—श्वः) आगामी दिन में उपलक्षण से और भी किसी अन्य दिवस में (लाभो सिया—लाभ स्यात्) उसका लाभ हो जायगा। (एव—एवम्) इस प्रकारसे (जो—य) साधु (पडिसचिक्खे प्रतिसमीक्षते) विचार लेता है, (तं—तम्) उसके लिये (अलाभो – अलाभ) अलाभपरीषह (न तज्जए—न तर्जयेत्) कभी भी संतापित नहीं कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है—याचना करने पर भी यदि गृहस्थ—दाता की इच्छा होगी तो ही देगा, नहीं होगी तो नहीं देगा। यदि वह नहीं देता है तो इसमें साधु के लिये अपरितुष्ट होने की बात ही कौन सी है। जो साधु इस प्रकार की विचारधारा से युक्त होता है वह भिक्षा का लाभ न होने पर भी समचित्त बना रहता है, उसके मन में विकृति नहीं आती है। इसी से वह अलाभपरीषह का विजेता बन जाता है।

'अज्जेवाहं' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—अहं—अहम् અને अज्जेव न लब्भामि—अद्यैव न लभे આજ જો ભોજનનો લાભ થયો નથી अवि—अपि તો सुए—श्वः આગામી દિવસમાં ઉપલક્ષથી બીજા પણ કોઈ દિવસે लाभो सिया—लाभः स्यात् એનો લાભ મળશે. एव—एवम् આ પ્રકારે जो—य સાધુ पडिसचिक्खे—प्रतिसमीक्षते વિચારી લે છે त—तम् તેને માટે अलाभो—अलाभ અલાભપરીષહ કદી પણ સંતાપ આપનાર બનતો નથી. આનુ તાત્પર્ય એ છે કે, યાચના કરવા છતાં પણ જો ગૃહસ્થ દાતાની ઈચ્છા હશે તો આપશે નહીં હોય તો નહીં આપે. જો તે આપે નહિ તો સાધુ માટે તેમા અસંતોષ લાવવાની વાત જ કયા છે, જે સાધુ આ પ્રકારની વિચારધારાથી યુક્ત છે તે ભિક્ષાનો લાભ ન થવાથી પણ સમચિત્ત બની રહે છે તેના મનમાં વિકૃતી આવતી નથી. તેનાથી તે અલાભપરીષહનો વિજેતા બની રહે છે

विस्पर्धे । अय भाव —याचिते सति गृहस्थ स्वेच्छया दद्यात् न वा दद्यात्, तत्र कोऽस्त्यसंतोषो न यच्छति सति । एव भावनया लाभाभावेऽपि मुनिना सम-चेतसैव अनिष्ठवस्यान्ते नैव भवितव्यमित्यलाभपरीषहो विजितो भवतीति ।

भावार्थ—अलाभपरीषह पर विजय पाने के लिये साधु की विचारधारा कैसी होनी चाहिये यह बात इस गाथा द्वारा सूत्रकार ने प्रदर्शित की है । वे कहरहे हैं कि साधु जब गोचरी के लिय किसी सद्गृहस्थ के यहा जाता है और आहारादिककी याचना करता है तो उसको इच्छा की पूर्ति होना न होना यह साधु के हाथ की बात नहीं है । गृहस्थ की भावना होगी तो वह देगा—नहीं होगी तो नहीं देगा । साधु की कोई इस में जबर्दस्ती तो है नहीं, अत. ऐसी परिस्थिति में जब कि साधु को आहार का लाभ न हो तो उसका कर्तव्य है कि वह अपनी आत्मा को व्यर्थ में क्लेशित न करे, और न उस पर रुष्ट परिणति ही धारण करे। विचार यह करे कि—आज नहीं मिला तो कल मिल जायगा, कल भी न मिला तो परसों मिल जायगा, इसमें सोच फिकर करने की बात ही कौन सी है । दाता का भाव होगा तो देगा, नहीं होगा तो नहीं देगा । इस तरह जो साधु वर्तता रहता है वह धीर मुनि अलाभ परीषह को अवश्य जीत लेता है ।

ભાવાર્થ—અલાભપરીષહ ઉપર વિજય મેળવવા માટે સાધુની વિચારધારા કેવી હોવી જોઈએ એ વાત આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકારે પ્રદર્શિત કરેલ છે તેઓ કહે છે કે, સાધુ જ્યારે ગોચરી માટે કોઈ ગૃહસ્થને ઘેર જાય અને આહા રાદિકની યાચના કરે તો તેની ઇચ્છાની પૂર્તી થવી કે ન થવી તે સાધુના હાથની વાત નથી ગૃહસ્થની ભાવના હોય તો આપે, નહીં હોય તો આપ વાના નથી સાધુની કોઈ જબરજસ્તી હોઈ શકે નહિ આથી આવી પરિસ્થિતિમાં કોઈ સાધુને આહારનો લાભ ન થાય તો તેનું કર્તવ્ય છે કે તે પોતાના આત્માને નકામો કલુષિત ન કરે. અને ન તો તેના ઉપર ગુસ્સો કરે વિચાર એ કરે કે, આજ ન મળ્યુ તો કાલે મળશે કાલે નહી મળે તો પરમ દિવસ મળશે. આમા ફિકર ચિંતા કરવાની હોય જ નહિ દાતાનો ભાવ હશે તો આપશે, નહી હોય તો નહી આપે આ પ્રકારે જે સાધુ વર્તતા રહે છે તે વીર મુનિ અલાભપરીષહને અવશ્ય જીતી લે છે

अत्र दृष्टान्त' प्रदर्श्यते—

विन्ध्याचलप्रदेशे कुण्डनामके ग्रामे निर्धन कृशशरीरः कुटुम्बबहुल सौवीर नामा कृषीवल आसीत्। तत्र विन्ध्याचलवर्तिना गिरिसेननृपतिना पञ्चाशत्सख्यकानि हलानि वाहयितु वारकेण पञ्चाशत्सख्यका हलवाहका नियोजिता॰। तत्रैकदा सौवीरकृषीवलस्य वारक' समायात'। तस्मिन् दिने क्षेत्रे वृषभानानीत्वा हलेषु योजयित्वा क्षत्र कर्षितवान। वृषभाः श्रान्ता अतिस्थग्ना क्षुत्पिपासाव्याकुला ग्रीष्मातपसतप्ता हलमुक्तावस्थां प्रतीक्षमाणा स्वाहारमभिलपन्ति, पश्यन्ति च पुन'

दृष्टान्त—विन्ध्याचल प्रदेश में एक कुण्ड नाम का ग्राम था। उस में एक निर्धन सौवीर नाम का किसान रहता था। कुटुम्ब बहुत होने की वजह से उसे सदा इसके लालन पालन की चिंता घेरे रहती थी इसलिये चिन्ता के मारे इसका शरीर कृश हो गया था। विन्ध्याचलवर्ती गिरिसेन राजाने वारी२ से पाचसौ हलों को जोतने के लिये पांचसौ हलवाहक-हाली-नियुक्त कर रखे थे। सौवीर कृषीवल (किसान) की भी एक दिन वारी आई। उस दिन उसने खेत में बैल ले जाकर और उन्हें हल में नियुक्त कर उस खेत को जोतना प्रारभ कर दिया। खेत जोतते२ बैल थक गये थे बीचर में खडे भी होने लगे। ग्रीष्मकाल के ताप से अतिशय सतप्त होकर वे क्षुत्पिपासा से अत्यत व्याकुल हो गए और इस बात की प्रतीक्षा करने लगे कि कब हम हल से मुक्तहोवें और कब घास आदि खाकर अपनी क्षुधा को शांत करें। इसी अभिप्राय से वे बेचारे बार बार अपने हाली सौवीर के मुखकी ओर भी

દૃષ્ટાંત—વિધ્યાચળ પ્રદેશમાં એક કુંડ નામનું ગામ હતું તેમા એક નિર્ધન સૌવીર નામનો ખેડુત રહેતો હતો. કુટુંબ મોટું હોવાના કારણે તેને સદા તેના પાલન પોષણની ચિંતા રહ્યા કરતી હતી. આ ચિંતાના બોજાના કારણે તેનુ શરીર ક્ષસાઈ ગયુ હતુ વિંધ્યાચળ પ્રદેશના ગિરિસેન રાજાએ વારા પાડીને પાચસો હળો જોડવા માટે પાંચસો ખેડુતોને નિયુક્ત કરી રાખ્યા હતા સૌવીર ખેડુતનો પણ એક વખત વારો આવ્યો. એ દિવસે તેણે ખેતરમાં બળદ લઈ જઈને હળ તૈયાર કરી ખેડવાનુ શરૂ કર્યુ ખેતર ખેડતાં ખેડતાં બળદ થાકી ગયા અને વચમાં વચમાં ઉભા રહેવા લાગ્યા. ઉનાળાના સખ્ત તાપથી અતિશય સતપ્ત થઈને ભૂખ તરસથી તે ઘણા વ્યાકુળ બની ગયા. અને એ વાતની પ્રતીક્ષા કરવા લાગ્યા કે, ક્યારે અમને હળથી મુક્ત કરવામાં આવે અને ક્યારે ઘાસ વગેરે ખાઈ ભૂખને શાંત કરીએ, આવા ભાવથી તે બીચારા વારવાર પોતાના માલીક સૌવીરના મોઢા તરફ જોતા હતા. આ

पुनः सौवीरमुखम् । परन्तु सौवीरस्तान् न मुञ्चति । तेन भक्तपानवेलायामेकश्वासोऽधिकः कर्षितस्तेन तृष्यमाणा भक्तपानान्तरायो जात, ततश्चान्तरायकर्म सौवीरेण बद्धम् । अथाऽसौ मृत्वा बहुकाल ससारे परिभ्रम्य, कदाचिद् गोपालदारक भवे वने गाश्चारयन् कस्मिंश्चित्तरुतले बद्धसदोरकमुखवस्त्रिक षट्कायपालक मुनि दृष्टवान् । तत्र तद्देशना निशम्य स सौवीरस्तस्मिन् गोपालदारकभवे प्रव्रजितः । तदनन्तर कालमासे काल कृत्वा सौधर्मकल्पे देवत्वेन समुत्पन्न । ततश्च्युतोऽसौ द्वार-

देखने लगते थे, परन्तु सौवीर ने उनकी इस परिस्थिति पर जरा भी ध्यान नहीं दिया और न उन्हें छोड़ा ही । प्रत्युत उनके खाने पीने के समय में उसने एक चास (हलरेखा) और अधिक जोता । इससे सौवीर को प्रबल अतराय कर्म का बध हुआ । कुछ काल के बाद मर कर उस पयाय से पर्यायान्तरित हुआ । बहुत काल तक इसने ससार परिभ्रमण किया । ससारपरिभ्रमण करते२ किसी समय यह गवाल के घर में जन्मा । बडा होने पर गायों को चराता था । एक दिन जगल में इसकी दृष्टि वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक मुनिराज पर जो षट्काय के जीवोंकी यतना करने में तत्पर थे, तथा मुख पर जिनके दोरासहित मुखवस्त्रिका बधी हुई थी उन पर पड़ी । उनके पास पहुँचकर इसने उनसे धर्मदेशना सुनी । उसका प्रभाव इसकी आत्मा पर इतना पडा कि यह उसी समय दीक्षित हो गया । साधुचर्या का ठीकर तरह निर्वाह करते हुए वह मृत्यु के अवसर में कालधर्म पाकर सौधर्म देव-

પરિસ્થિતિ ઉપર સૌવીરે નતો જરા પણ ધ્યાન આપ્યું કે નતો તેમને છુટકારાથી છોડયા. વધારામાં તેમનો ખાવા પીવાના સમયને વખતે એક ચાસ વધારે ખેડાવ્યો. આથી સૌવીરને પ્રબળ અ તરાયકર્મનો બ ધ થયો. થોડા સમય પછી સૌવીર ખેડૂત મરીને પર્યાયથી પર્યાયાન્તરિત થયો ઘણા કાળ સુધી તેણે સ સારમા પરિભ્રમણ કર્યું સ સારપરિભ્રમણ કરતાં કરતા કાળાતરે તે એક ગોવાળને ત્યા જનમ્યો. મોટો થતાં તે ગાયોને ચરાવતો હતો એક દિવસ જ ગલમાં તેની દષ્ટી ઝાડની નીચે બેઠેલા એક મુનિરાજ ઉપર પડી, જે ષટકાયના જીવોની રક્ષા કરવામાં તત્પર હતા તેમના મોઢા ઉપર દોરા સાથે એક મુખવસ્ત્રિકા બાંધેલી હતી. તેની પાસે પહોચીને તેમની પાસેથી ધર્મદેશના સાભળી એનો પ્રભાવ તેના આત્મા પર એવો પડયો કે તે એજ સમયે દીક્ષિત બની ગયો સાધુચર્યાનો ઠીક ઠીક નિર્વાહ કરતાં કરતાં તે મૃત્યુના અવસરે કાળધર્મ પામ્યો અને તે સૌધર્મ દેવ

कायां श्रीकृष्णवासुदेवगृहे पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । स च ढढणनाम्ना प्रसिद्धो जातः ।
अथैकदा स ढढणकुमारः श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरस्य समीप प्रव्रजित. । भिक्षाचर्यायां प्रवृत्तोऽसौ श्रीकृष्णस्य पुत्रोऽपि त्रिजगद्गुरोस्तीर्थंकरस्य शिष्योऽपि स्वर्गलक्ष्मीजित्वरसपत्नसमन्वितायां विशालायां द्वारकाया नगर्यां महेभ्यानां भवनेष्वपि पर्यटन् लाभान्तरायवशात् किंचिदपि प्रासुकैषणीय न लभते । ततोऽसौ क्षुधापिपासया शुष्कशरीरः श्रीनेमिनाथस्वामिन तदलाभकारण पृष्टवान् श्रीनेमिनाथ स्वामिना कथितम्—वत्स ! अस्मात् पूर्वे नवनवतिलक्ष-नवनवतिसहस्र-नवशत-नवनवति ९९,९९,९९९ तमे भवे त्व विन्ध्याचलप्रदेशे कुण्डकग्रामे सौवीरनामा कृषीवल

लोक में देवपने से उत्पन्न हुवा। वहा की स्थिति समाप्त होने पर यह वहा से च्यवकर द्वारिकानगरी में श्रीकृष्ण वासुदेव के घर पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ और यहा इसका नाम ढढणकुमार रक्खा गया।

इस ढढणकुमार ने श्रीनेमिनाथतीर्थंकर के समीप धर्मदेशना सुन कर दीक्षा अगीकार की। भिक्षाचर्या करने को वे स्वयं जाते थे। श्रीकृष्ण के पुत्र एव त्रिजगद्गुरु तीर्थंकर नेमिनाथ प्रभु के शिष्य होने पर भी उस विशाल द्वारिका नगरी में इनको बडे२ सेठ साहूकारोंके घरों में जाने पर भी लाभान्तराय कर्म के उदय से थोडे से भी प्रासुक एषणीय आहार का लाभ नहीं होता, अत ये दिन प्रतिदिन शुष्क शरीर होने लगे। भगवान् नेमिनाथ के पास जाकर एकदिन इन्होंने आहार के अलाभ का कारण पूछा तो भगवान् ने कहा कि वत्स ! तू इस भव से पहिले निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौ सो निन्यानवे ९९,९९,९९९ भव में विंध्याचल प्रदेश में कुण्डक ग्राम में सौवीर नाम

લોકમાં દેવપણે ઉત્પન્ન થયો. ત્યાંની સ્થિતિ સમાપ્ત થતાં તે ત્યાંથી ચવીને દ્વારિકા નગરીમા શ્રી કૃષ્ણ વાસુદેવને ઘેર પુત્ર રૂપે ઉત્પન્ન થયો અને ત્યાં તેમનુ નામ ઢઢણ રાખવામાં આવ્યુ

આ ઢઢણકુમારે શ્રીનેમીનાથ તીર્થંકર પાસે ધર્મદેશના સાભળી દીક્ષા ગ્રહણ કરી ભિક્ષાચર્યા કરવા માટે તે સ્વય જતા હતા શ્રીકૃષ્ણના પુત્ર તેમજ ત્રીજગદ્ગુરુ તીર્થંકર નેમીનાથ પ્રભુના શિષ્ય હોવા છતા પણ તે વિશાળ દ્વારિકા નગરીમાં તેને મોટા મોટા શેઠ શાહુકારોના ઘરોમા જવા છતાં પણ લાભાંતરાય કર્મના ઉદયથી થોડા પણ પ્રાસુક આહારનો લાભ મળતો ન હતો આથી એ દિનપ્રતિદિન શુષ્ક શરીરવાળા બનવા લાગ્યા ભગવાન નેમીનાથ પાસે જઈને એક દિવસ તેમણે આહારના અલાભનુ કારણ પૂછ્યુ, ભગવાને કહ્યુ કે, હે વત્સ ! તુ આ ભવથી પહેલાં નવાણુ લાખ નવાણુ હજાર નવસો નવાણુના ૯૯,૯૯,૯૯૯ ભવમાં િવ મહે

आसीः। तत्र भवे हलयोजितवृषभाणा भोजनपानान्तरायस्त्वया कृतः। तदन्तरायकर्मा-ऽस्मिन् भवे इदानीमुदितम्, अतोऽयमलाभपरीषहस्त्वया सोढव्य । तदनु ढढणकुमारेण स्वपूर्वभववृत्तान्त श्रुत्वा तदन्तरायकर्म क्षपयितु गाढसवेगेन सोत्साहमभिग्रहो गृहीतः-अद्यप्रभृति मया परलाभो न ग्राह्य इति । तदनन्तरमभिग्रहमुपादाय स प्रतिदिन भिक्षार्थमटति, परतु-लाभान्तरायोदयान्न किंचित् प्राप्नोति, तथापि नो द्विग्नो भवति, नापि चान्य निन्दति किन्तु, नित्यमदीनमानस सन् स्व कर्मैवाचिन्तयत्।

के एक किसान की पर्याय में था। उस समय तू ने हल में जुते हुए बैलों के भोजन पान में अन्तराय डाला था। वह अतराय कर्म इस भव में तुम्हारे इस समय में उदय में आया है इसलिये इस अलाभ परीपह को तुझे सहन करना चाहिये। भगवान् द्वारा इस प्रकार कहे गये अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को सुनकर ढढणकुमार मुनिने उस बद्ध अन्तराय को नष्ट करने के निमित्त बडे ही उत्साह के साथ गाढ वैराग्य से युक्त अन्त करण होकर ऐसा अभिग्रह ग्रहण किया कि "आज से लेकर मैं परलाभ को ग्रहण नहीं करूँगा" अर्थात् दूसरे के निमित्त से मिला हुवा आहार पानी नहीं ग्रहण करूँगा। इस प्रकार अभिग्रह ग्रहण कर वे प्रतिदिन भिक्षाचर्या को जाते परन्तु लाभान्तराय कर्म के उदय से उनको किञ्चित् भी आहार का लाभ नहीं होता, परन्तु फिर भी इस परिस्थिति में भी उनके चेहरे पर उद्विग्नता के चिह्न जरा भी दिखलाई नहीं पड़ते-वे उद्विग्नचित्त नहीं होते और न

ભવમાં હુંડક ગામમાં સોવીર નામથી એક ખેડુતના પર્યાયમા હતો તે સમયે તે હળમાં જોડેલા બળદને ભોજન પાનમાં અતરાય નાખ્યો હતો. તે અતરાય કર્મ આ ભવમા તમારા માટે આ સમયે ઉદયમાં આવેલ છે માટે આ અલાભ પરીષહને તમારે સહન કરવો જોઈએ, ભગવાન તરફથી કહેવામા આવેલ આ પ્રકારના પોતાના પૂર્વભવના વૃત્તાંતને જાણી ઢઢણકુમાર મુનિએ આ અસ બદ્ધ અતરાયનો નાશ કરવા માટે ખૂબ જ ઉત્સાહથી ગાઢ વૈરાગ્યયુકત અત. કરણવાળા બની એવો અભિગ્રહ ધારણ કર્યો કે, "આજથી હુ પરલાભને ગ્રહણ નહી કરૂ " અર્થાત્ બીજાના નિમિત્તથી મળેલ આહાર પાણી ગ્રહણ નહી કરૂ આ પ્રકારનો અભિગ્રહ ગ્રહણ કરી તે પ્રતિદિન ભિક્ષાચર્યા માટે જતા પરતુ લાભાન્તરાય કર્મના ઉદયથી તેમને થોડો પણ આહારનો લાભ મળતો નહી

अथान्यदा श्रीकृष्णवासुदेवः श्रीनेमिनाथस्वामिनं पृष्टवान्–भगवन्! अष्टादशसहस्रेषु श्रमणेषु कोऽस्ति दुष्करकारक ?, श्रीनेमिनाथस्वामिना प्रोक्तम्–सर्वे श्रमणदुष्करकारका , ढंढणमुनिस्तु अतिदुष्करकारकः। श्रीकृष्णेनोक्तम्—कथम्?, श्रीनेमिनाथस्वामी प्राह—अलाभपरीषहस्य सम्यक् सहनेन । ततो भक्तिभरेण संजातरोमाञ्च श्रीकृष्णोऽवदत्—प्रभो ! महात्मा ढंढणमुनिः क्व विद्यते ?। श्री भगवानाह—भिक्षार्थं द्वारकापुरीं गतः, नगर्यां प्रविशन्नेव त द्रक्ष्यसि। तद्वचनं श्रुत्वा श्रीकृष्ण श्रीनेमिजिनं प्रणम्य चलितः। ततः पुरद्वारे प्रविशन् श्रीकृष्णः

किसी दूसरे की निन्दा ही करते। निन्दा करते भी तो अदीनमन होकर अपने अशुभ कर्म की।

एक दिन की बात है कि श्रीकृष्ण वासुदेव ने श्रीनेमिनाथप्रभु से पूछा कि भगवन्! इन अठारह हजार मुनियों में इस समय दुष्कर कारक कौन है। प्रभु ने कहा सब ही श्रमण दुष्करकारक हैं परन्तु ढंढणमुनि विशेष रीति से दुष्करकारक है। वासुदेव ने कहा यह क्यों? प्रभुने कहा अलाभपरीषह के सम्यक् सहन करने से। यह सुनते ही श्रीकृष्ण का समस्त शरीर भक्ति के आवेश से रोमाञ्चित हो गया। श्रीकृष्ण ने कहा–प्रभो! महात्मा ढंढणमुनि इस समय कहां विराजमान हैं?। प्रभु ने उत्तर में कहा कि वे इस समय भिक्षा के लिये द्वारिका में गये हैं। तुम्हें वहां जाते ही वे मिल जावेंगे। भगवान् की बात सुनकर वासुदेव श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान् को वंदना करके वहांसे चलेगये।

આ પરિસ્થિતિમાં પણ તેમના ચહેરા ઉપર ઉદ્વીગ્નતાનું ચિહ્ન દેખાતું નહીં એ ઉદ્વીગ્નચિત્ત ન બનતા અને બીજા કોઈની નિંદા પણ કરતા નહીં નિંદા કરતા તો તે ફક્ત પોતાના અશુભ કર્મની

એક દિવસની વાત છે કે, શ્રી કૃષ્ણ વાસુદેવે શ્રી નેમીનાથ પ્રભુને પૂછ્યું કે, ભગવન્! આ અઢારહજાર મુનિઓમા આ સમયે દુષ્કર સ્થિતિ કોણ ભોગવે છે? પ્રભુએ કહ્યું કે, બધા શ્રમણ દુષ્કર કષ્ટ ભોગવે છે છતાં ઢંઢણ મુનિ આ બધાથી વધુ દુષ્કર સ્થિતિમા છે વાસુદેવે કહ્યું એમ કેમ? પ્રભુએ કહ્યું કે, અલાભપરીષહને સમ્યક્ સહન કરવાથી આ સાભળતા જ શ્રી કૃષ્ણનું શરીર ભક્તિના આવેશથી રોમાંચિત બની ગયું અને કહ્યું, પ્રભુ! મહાત્મા ઢંઢણ મુનિ આ સમયે ક્યા બિરાજે છે? પ્રભુએ ઉત્તરમાં કહ્યું કે તે આ સમયે દ્વારિકામાં ભિક્ષા માટે ગયા છે, તમને ત્યા જતાં જ ભેટો થઈ જશે ભગવાનની આ વાત સાંભળી વાસુદેવ શ્રીકૃષ્ણ નેમીનાથ ભગવાનને વંદના કરી ત્યાંથી ચાલી નીકળ્યા.

कृशशरीर शान्तचेतस ढंढणमुनिं दृष्टवान्। ततस्तद्गुणाकृष्टोऽतिमुदित• श्रीकृष्णो हस्तिस्कन्धादवतीर्य महीतलमिलन्मौलिस्त वन्द। तदा तेन वन्द्यमानोऽसौ ढंढणमुनि' केनचिदिभ्येन दृष्ट । तदा तेनेभ्येन चिन्तितम्-अहो ! एष महात्मा श्रीकृष्णेन वन्द्यते। एव चिन्तयत एव तस्येभ्यस्य गृहे ढंढणमुनि• प्रविष्ट । तेनोत्कृष्टभावेन मोदकै प्रतिलम्भित ।

ततोऽसौ ढंढणमुनिः श्रीनेमिनाथस्वामिनः समीप गत्वा भिक्षां प्रदर्श्य पृच्छति-भगवन्! मम लाभान्तराय क्षीणः किम्?, श्रीनेमिनाथस्वामिना प्रोक्तम्-न तव

उस समय उन्हों ने कृशशरीर एव शान्तचित्त ढंढणमुनि को पुरद्वार में प्रवेश करते हुए देखा। देखते ही वे अपने गजराज से नीचे उतरे और झुककर उनको वदना करने लगे। कृष्णवासुदेव को वदना करते हुए उस समय किसी सेठ ने देख लिया। देखते ही उसने विचार किया कि जिस महात्मा को वदना ये वासुदेव कर रहे हैं वह कोई साधारण साधु नहीं हैं, ऐसा विचार कर ही रहा था कि ढंढणमुनि इतने में उसी सेठ के घर में प्रविष्ट हुए। उसने बडे ही उत्कृष्ट भावों से सम्पन्न होकर ढंढणमुनि को मोदकों की भिक्षा दी। भिक्षा लेकर वे वापिस अपने स्थान पर आ गये और जो कुछ भिक्षा में उनको मिला था वह उन्हों ने श्रीनेमिनाथ भगवान् को दिखलाया। दिखलाकर फिर भगवान् से उन्हों ने पूछा कि हे भगवान्! मेरा लाभान्तराय कर्म क्षीण हो चुका है क्या?। भगवान् ने कहा अभी नहीं, भिक्षा में जो ये

એ સમયે તેમણે કૃશશરીરવાળા અને શાંતચિત્ત ઢંઢણ મુનિને દ્વારિકાપુરીના દ્વારમા પ્રવેશ કરતી વખતે જોયા. જોતા જ પોતાના હાથી ઉપરથી નીચે ઉતરી ઢંઢણમુનિ પાસે જઈ પહોચ્યા અને નીચા નમી વદના કરી કૃષ્ણ વાસુદેવને વદના કરતા કોઇ શેઠ જોઈ ગયા અને મનમાં વિચાર કર્યો કે, જે મહાત્માને વાસુદેવ વદના કરી રહ્યા છે તે કોઇ સાધારણ સાધુ ન હોવા જોઇએ ત્યાં શેઠ એવો વિચાર કરી રહ્યા હતા ત્યાં ઢંઢણમુનિ એજ શેઠને ઘેર ભિક્ષા માટે જઈ પહોચ્યા. એણે ખૂબ જ આદર ભાવથી ઢંઢણમુનિને લાડુની ભિક્ષા આપી ભિક્ષા લઈ તે પોતાના સ્થાન ઉપર પહોચ્યા અને પોતાને જે કાંઈ ભિક્ષામા મળ્યુ હતુ તે તેમણે ભગવાન શ્રી નેમીનાથને બતાવ્યુ ભગવાનને બતાવીને પછી તેમણે પૂછ્યું કે, ભગવન્! મારૂં લાભાન્તરાય કર્મ ક્ષીણ થઈ ગયુ કે કેમ? ભગવાને કહ્યું,

अथान्यदा श्रीकृष्णवासुदेवः श्रीनेमिनाथस्वामिनं पृष्टवान्-भगवन्! अष्टादशसहस्रेषु श्रमणेषु कोऽस्ति दुष्करकारक ?, श्रीनेमिनाथस्वामिना प्रोक्तम्-सर्वे श्रमणदुष्करकारका, ढंढणमुनिस्तु अतिदुष्करकारक । श्रीकृष्णेनोक्तम्—कथम्?, श्रीनेमिनाथस्वामी प्राह—अलाभपरीषहस्य सम्यक् सहनेन । ततो भक्तिभरेण सजातरोमाञ्च श्रीकृष्णोऽवदत्—प्रभो ! महात्मा ढंढणमुनि॰ क्व विद्यते ? । श्री भगवानाह—भिक्षार्थं द्वारकापुरीं गत, नगर्यां प्रविशन्नेव त द्रक्ष्यसि। तद्वचनं श्रुत्वा श्रीकृष्णः श्रीनेमिजिनं प्रणम्य चलित । तत पुरद्वारे प्रविशन् श्रीकृष्णः

किसी दूसरे की निन्दा ही करते। निन्दा करते भी तो अदीनमन होकर अपने अशुभ कर्म की।

एक दिन की बात है कि श्रीकृष्ण वासुदेव ने श्रीनेमिनाथप्रभु से पूछा कि भगवन्! इन अठाहर हजार मुनियों में इस समय दुष्कर कारक कौन है। प्रभु ने कहा सब ही श्रमण दुष्करकारक हैं परन्तु ढढणमुनि विशेष रीति से दुष्करकारक हैं। वासुदेव ने कहा यह क्यों? प्रभुने कहा अलाभपरीषह के सम्यक् सहन करने से। यह सुनते ही श्रीकृष्ण का समस्त शरीर भक्ति के आवेश से रोमाचित हो गया। श्रीकृष्ण ने कहा-प्रभो! महात्मा ढढणमुनि इस समय कहा विराजमान हैं?। प्रभु ने उत्तर में कहा कि वे इस समय भिक्षा के लिये द्वारिका में गये हैं। तुम्हें वहा जाते ही वे मिल जावेंगे। भगवान् की बात सुनकर वासुदेव श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान् को वंदना करके वहासे चलेगये।

આ પરિસ્થિતિમાં પણ તેમના ચહેરા ઉપર ઉદીનતાનુ ચિહ્ન દેખાતુ નહી એ ઉદીનચિત્ત ન બનતા. અને બીજા કોઈની નિંદા પણ કરતા નહી નિંદા કરતા તો તે ફક્ત પોતાના અશુભ કર્મની

એક દિવસની વાત છે કે, શ્રી કૃષ્ણ વાસુદેવે શ્રી નેમીનાથ પ્રભુને પૂછ્યુ કે, ભગવન્! આ અઢારહજાર મુનિઓમા આ સમયે દુષ્કર સ્થિતિ કોણ ભોગવે છે? પ્રભુએ કહ્યુ કે, બધા શ્રમણ દુષ્કર કષ્ટ ભોગવે છે છતાં ઢંઢણ મુનિ આ બધાથી વધુ દુષ્કર સ્થિતિમા છે વાસુદેવે કહ્યું એમ કેમ? પ્રભુએ કહ્યું કે, અલાભપરીષહને સમ્યક્ સહન કરવાથી આ સાભળતા જ શ્રી કૃષ્ણનુ શરીર ભક્તિના આવેશથી રોમાંચિત બની ગયુ અને કહ્યુ, પ્રભુ! મહાત્મા ઢંઢણ મુનિ આ સમયે ક્યા બિરાજે છે? પ્રભુએ ઉત્તરમા કહ્યું કે તે આ સમયે દ્વારિકામાં ભિક્ષા માટે ગયા છે, તમને ત્યા જતાં જ ભેટો થઈ જશે ભગવાનની આ વાત સાંભળી વાસુદેવ શ્રીકૃષ્ણ નેમીનાથ ભગવાનને વદના કરી ત્યાંથી ચાલી નીકળ્યા.

छाया—ज्ञात्वा उत्पतित दुःख, वेदनया दुःखार्दित.।
अदीन स्थापयेत् प्रज्ञा, स्पृष्टस्तत्र अधिसहेत ॥ ३२ ॥

टीका—" नच्चा " इत्यादि ।

वेदनया=वेदनीयकर्मणा दुःख=श्वासकासादिषोडशविधरोगसम्बन्धिक कष्टम् उत्पतितम्=उत्पन्न भवतीति ज्ञात्वा दुःखार्दित = भाविदुःखशङ्कयाऽऽर्तभाव गत. अदीन' = दैन्यमात्ररहित सन् प्रज्ञा=बुद्धि स्थापयेत्=भाविदुःखशङ्कया चलन्तीं बुद्धि स्थिरीकुर्यात् । तथा यदि साधु स्पृष्ट'=[1]श्वास-[2]कास-[3]ज्वर-[4]दाह-[5]कुक्षिशूल-[6]भगन्दरा-[7]र्शो-[8]ऽजीर्ण-[9]दृष्टिरोग-[10]मूर्धशूला-[11]रुच्य-[12]क्षिशूल-[13]कर्णशूल-[14]कण्डू-

आहार के अलाभ से अथवा अन्तप्रान्त आहार के लाभ से शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है इसलिये सोलहवां रोगपरीषह साधु को जीतना चाहिये, यह बात सूत्रकार कहते हैं–'नच्चा' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(वेयणाए-वेदनया) वेदनीय कर्म के उदय से (दुक्ख-दुःख) श्वास कास आदि सोलह प्रकार के रोग संबधी दुःख (उप्पइय-उत्पतितम्) उत्पन्न होता है ऐसा (नच्चा-ज्ञात्वा) जानकर (दुहट्टिए-दुःखार्तितः) भावी दुःख की आशङ्का से आर्त भाव को प्राप्त हुआ मुनि (अदीणो-अदीन') दैन्यभाव से रहित होकर (पन्न ठावए-प्रज्ञां स्थापयेत्) भावी दुःख की आशङ्का से चलित होती हुई अपनी बुद्धि को स्थिर करे। यदि साधु (पुट्ठो-स्पृष्टः) [1]श्वास, [2]कास, [3]ज्वर, [4]दाह, [5]कुक्षिशूल, [6]भगन्दर, [7]अर्श, [8]अजीर्ण, [9]दृष्टिरोग [10]मूर्धशूल, [11]अरुचि, [12]नेत्रशूल

આહારના અલાભથી અથવા અહિતકર્તા (અપથ્ય) આહારથી શરીરમાં રોગ થવા સંભવ છે તેથી સોળમો રોગપરીષહ સાધુએ જીતવો જોઈએ એ વાત સૂત્રકાર કહે છે—' નચ્ચા ' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—વેયણાએ-વેદનયા વેદનીય કર્મના ઉદયથી દુક્ખ-દુઃખમ્ શ્વાસ કાસ આદિ સોળ પ્રકારના રોગ સંબંધી દુઃખ ઉપ્પઈયં-ઉત્પતિતમ્ ઉત્પન્ન થાય છે એવું નચ્ચા-જ્ઞાત્વા જાણીને દુહટ્ટિએ-દુઃખાર્તિતઃ ભાવી દુઃખની આશંકાથી આર્તભાવને પ્રાપ્ત કરનાર મુનિ અદીણો-અદીન દૈન્ય ભાવથી રહિત બની પન્ન ઠાવએ-પ્રજ્ઞા સ્થાપયેત્ ભાવી દુઃખની આશંકાથી ચલીત થતી પોતાની બુદ્ધિને સ્થિર કરે. અગર જો સાધુ પુટ્ઠો-સ્પૃષ્ટ ૧ શ્વાસ, ૨ કાસ, ૩ જ્વર, ૪ દાહ, ૫ બદગાંઠ, ૬ ભગન્દર, ૭ હરસ, ૮ અજીર્ણ, ૯ દષ્ટિરોગ, ૧૦ મુર્ધશૂળ, ૧૧ અરૂચિ,

कर्म क्षीणम्, अय तु वासुदेवस्य लाभः, यत श्रीकृष्णस्त्वां वन्दितवान्, अतस्ते मोदकान् श्रेष्ठी दत्तवान्। तद्वचनं श्रुत्वा ढढणमुनि 'परलाभो न कल्पते' इत्युक्त्वा रागद्वेषवर्जितो मूर्छारहितः सन् नगराद् वहिर्गत्वा प्रासुकस्थण्डिले मोदकान् यतनया परिष्ठाप्य, तापदैन्याद्यकरणेन लाभान्तरायकर्म क्षपयन् क्षपकश्रेणिमारुह्य केवली जात। एवमन्यैरपि मुनिभिरलाभपरीषहः सोढव्य। ॥ ३१ ॥

अलाभादन्तमान्ताद्याहारलाभाद् वा शरीरे रोगा उत्पद्यन्ते, अत पोडशं रोगपरीषहजय माह—

मूलम्—नच्चा उप्पइय दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो ठावए पन्नं, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ ३२ ॥

मोदकों का लाभ तुम्हें हुआ है वह लाभ तुम्हारा नहीं है किन्तु यह लाभ वासुदेव का है, कारण कि तुम को कृष्ण ने वंदना की इसलिये सेठ ने तुमको ये मोदक वहराये, अत तुम्हारे इस लाभ में निमित्त कृष्ण हैं। ढढणमुनि ने भगवान् के इन वचनों को सुनकर "परलाभ मुझे कल्पता नहीं है" ऐसा कहकर रागद्वेष से एव मूर्च्छा से वर्जित होते हुए नगर के बाहर जाकर किसी प्रासुक भूमि में उन मोदकों को यतनापूर्वक परिठवदिया। ताप एव दीनता के नहीं करने से लाभान्तरायकर्म को नष्ट करते हुए उन ढढणमुनिने क्षपकश्रेणी पर आरोहण कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। इसी तरह अन्यमुनियों को भी अलाभ परिषह को सहन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

હણુ સમય બાકી છે ભિક્ષામાં લાડવાનો લાભ તમને થયો છે તે લાભ તમારો નથી પરંતુ એ લાભ વાસુદેવનો છે કારણ કે કૃષ્ણે તમારી વંદના કરી આ જોઈને શેઠે તમને લાડવા વહોરાવ્યા છે આથી તમારા આ લાભમાં નિમિત્ત કૃષ્ણ બન્યા છે ઢઢણમુનિએ ભગવાનનાં આ વચન સાંભળી "બીજાનો લાભ મને કલ્પતો નથી" એમ કહી રાગદ્વેષ અને મૂર્છાથી વર્જીત રહી નગરની બહાર જઈ કોઈ પ્રાસુક ભૂમિમાં એ લાડવાને યતનાપૂર્વક છોડી દીધા તપ અને ભિક્ષામાં દીનતા ન કરવાથી લાભાન્તરાય કર્મને નષ્ટ કરતાં એ ઢઢણમુનિએ ક્ષપકશ્રેણી પર આરોહણ કરી કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યું આ રીતે અન્ય મુનિઓએ પણ અલાભ પરીષહને સહન કરતા રહેવું જોઈએ ॥ ૩૧ ॥

छाया—ज्ञात्वा उत्पतितं दुःखं, वेदनया दुःखार्दितः ।
अदीनः स्थापयेत् प्रज्ञां, स्पृष्टस्तत्र अधिसहेत ॥ ३२ ॥

टीका—"नच्चा" इत्यादि ।

वेदनया=वेदनीयकर्मणा दुःखं=श्वासकासादिषोडशविधरोगसम्बन्धिकं कष्टम् उत्पतितम्=उत्पन्नं भवतीति ज्ञात्वा दुःखार्दितः = भाविदुःखशङ्कयाऽऽर्तभावं गतः अदीनः = दैन्यभावरहितः सन् प्रज्ञां=बुद्धिं स्थापयेत्=भाविदुःखशङ्कया चलन्तीं बुद्धिं स्थिरीकुर्यात् । तथा यदि साधुः स्पृष्टः =श्वास-कास-ज्वर-दाह-कुक्षिशूल-भगन्दरा-र्शोऽजीर्ण-दृष्टिरोग-मूर्धशूला-रुच्य-क्षिशूल-कर्णशूल-कण्डू-

आहार के अलाभ से अथवा अन्तप्रान्त आहार के लाभ से शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है इसलिये सोलहवा रोगपरीषह साधु को जीतना चाहिये, यह बात सूत्रकार कहते हैं-'नच्चा' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(वेयणाए-वेदनया) वेदनीय कर्म के उदय से (दुक्खं-दुःखं) श्वास कास आदि सोलह प्रकार के रोग सबंधी दुःख (उप्पइय-उत्पतितम्) उत्पन्न होता है ऐसा (नच्चा-ज्ञात्वा) जानकर (दुहट्टिए-दुःखार्दितः) भावी दुःख की आशङ्का से आर्त भाव को प्राप्त हुआ मुनि (अदीणो-अदीनः) दैन्यभाव से रहित होकर (पन्न ठावए-प्रज्ञा स्थापयेत्) भावी दुःख की आशङ्का से चलित होती हुई अपनी बुद्धि को स्थिर करे। यदि साधु (पुट्ठो-स्पृष्ट) श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, अर्श, अजीर्ण, दृष्टिरोग मूर्धशूल, अरुचि, नेत्रशूल

આહારના અલાભથી અથવા અહિતકર્તા (અપથ્ય) આહારથી શરીરમાં રોગ થવા સંભવ છે તેથી સોળમો રોગપરીષહ સાધુએ જીતવો જોઈએ એ વાત સૂત્રકાર કહે છે—'नच्चा' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—वेयणाए-वेदनया વેદનીય કર્મના ઉદયથી दुक्खं-दुःखम् શ્વાસ કાસ આદિ સોળ પ્રકારના રોગ સંબંધી દુઃખ उप्पइय-उत्पतितम् ઉત્પન્ન થાય છે એવું नच्चा-ज्ञात्वा જાણીને दुहट्टिए-दुःखार्दितः ભાવી દુઃખની આશંકાથી આર્તભાવને પ્રાપ્ત કરનાર મુનિ अदीणो-अदीनः દૈન્ય ભાવથી રહિત બની पन्न ठावए-प्रज्ञां स्थापयेत् ભાવી દુઃખની આશંકાથી ચલીત થતી પોતાની બુદ્ધિને સ્થિર કરે. અગર જો સાધુ पुट्ठो-स्पृष्टः ૧ શ્વાસ, ૨ કાસ, ૩ જ્વર, ૪ દાહ, ૫ પેટગાંઠ, ૬ ભગન્દર, ૭ હરસ, ૮ અજીર્ણ, ૯ દષ્ટિરોગ, ૧૦ મુર્ધશૂળ, ૧૧ અરૂચિ,

र्म क्षीणम्, अप तु वासुदेवस्य लाभः, यत श्रीकृष्णस्त्वां वन्दितवान्, अतस्ते मोदकान् श्रेष्ठी दत्तवान्। तद्वचनं श्रुत्वा ढंढणमुनि 'परलाभो न कल्पते' इत्युक्त्वा रागद्वेषवर्जितो मूर्छारहितः सन् नगराद् वहिर्गत्वा प्रासुकस्थण्डिले मोदकान् यतनया परिष्ठाप्य, तापदैन्याद्यकरणेन लाभान्तरायकर्म क्षपयन् क्षपकश्रेणिमारुह्य केवली जात। एवमन्यैरपि मुनिभिरलाभपरीषहः सोढव्य. ॥ ३१ ॥

अलाभावन्तप्रान्ताद्याहारलाभाद् वा शरीरे रोगा उत्पद्यन्ते, अतः षोडश रोगपरीषहजय माह—

मूलम्—नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो ठावए पन्नं, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥३२॥

मोदकों का लाभ तुम्हें हुआ है वह लाभ तुम्हारा नहीं है किन्तु यह लाभ वासुदेव का है, कारण कि तुम को कृष्ण ने वदना की इसलिये सेठ ने तुमको ये मोदक वहराये, अतः तुम्हारे इस लाभ में निमित्त कृष्ण हैं। ढढणमुनि ने भगवान् के इन वचनों को सुनकर "परलाभ मुझे कल्पता नहीं है" ऐसा कहकर रागद्वेष से एव मूर्च्छा से वर्जित होते हुए नगर के बाहर जाकर किसी प्रासुक भूमि में उन मोदकों को यतनापूर्वक परिठवदिया। ताप एवं दीनता के नहीं करने से लाभान्तरायकर्म को नष्ट करते हुए उन ढंढणमुनिने क्षपकश्रेणी पर आरोहण कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। इसी तरह अन्यमुनियों को भी अलाभपरिषह को सहन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

કર્મ સમય બાકી છે ભિક્ષામાં લાડવાનો લાભ તમને થયો છે તે લાભ તમારો નથી પરંતુ એ લાભ વાસુદેવનો છે કારણ કે કૃષ્ણે તમારી વંદના કરી આ જોઈને શેઠે તમને લાડવા વહોરાવ્યા છે આથી તમારા આ લાભમાં નિમિત્ત કૃષ્ણ બન્યા છે. ઢંઢણમુનિએ ભગવાનનાં આ વચન સાંભળી "બીજાનો લાભ મને કલ્પતો નથી" એમ કહી રાગદ્વેષ અને મૂર્છાથી વર્જીત રહી નગરની બહાર જઈ કોઈ પ્રાસુક ભૂમિમાં એ લાડવાને યતનાપૂર્વક છોડી દીધા. તપ અને ભિક્ષામાં હીનતા ન કરવાથી લાભાન્તરાય કર્મને નષ્ટ કરતાં એ ઢંઢણમુનિએ ક્ષપકશ્રેણી પર આરોહણ કરી કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યું આ રીતે અન્ય મુનિઓએ પણ અલાભ પરીષહને સહન કરતા રહેવું જોઈએ. ॥ ૩૧ ॥

छाया—ज्ञात्वा उत्पतितं दुःखं, वेदनया दुःखार्तितः ।
अदीनः स्थापयेत् प्रज्ञां, स्पृष्टस्तत्र अधिसहेत ॥ ३२ ॥

टीका—" नच्चा " इत्यादि ।

वेदनया=वेदनीयकर्मणा दुःखं=श्वासकासादिषोडशविधरोगसम्बन्धिकं कष्टम् उत्पतितम्=उत्पन्नं भवतीति ज्ञात्वा दुःखार्तितः = भाविदुःखशङ्कयाऽऽर्तभावगतः अदीनः = दैन्यभावरहितः सन् प्रज्ञां=बुद्धिं स्थापयेत्=भाविदुःखशङ्कया चलन्तीं बुद्धिं स्थिरीकुर्यात् । तथा यदि साधुः स्पृष्टः=श्वास-कास-ज्वर-दाह-कुक्षिशूल-भगन्दरा-र्शोऽजीर्ण-दृष्टिरोग-मूर्धशूला-रुच्य-क्षिशूल-कर्णशूल-कण्डू-

आहार के अलाभ से अथवा अन्तप्रान्त आहार के लाभ से शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है इसलिये सोलहवा रोगपरीषह साधु को जीतना चाहिये, यह बात सूत्रकार कहते हैं–'नच्चा' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(वेयणाए–वेदनया) वेदनीय कर्म के उदय से (दुक्ख–दुःख) श्वास कास आदि सोलह प्रकार के रोग सबधी दुःख (उप्पइय–उत्पतितम्) उत्पन्न होता है ऐसा (नच्चा–ज्ञात्वा) जानकर (दुहट्टिए–दुःखार्तितः) भावी दुःख की आशङ्का से आर्त भाव को प्राप्त हुआ मुनि (अदीणो–अदीन) दैन्यभाव से रहित होकर (पन्न ठावए–प्रज्ञा स्थापयेत्) भावी दुःख की आशङ्का से चलित होती हुई अपनी बुद्धि को स्थिर करे। यदि साधु (पुट्ठो–स्पृष्ट) श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, अर्श, अजीर्ण, दृष्टिरोग मूर्धशूल, अरुचि, नेत्रशूल

આહારના અલાભથી અથવા અહિતકર્તા (અપથ્ય) આહારથી શરીરમા રોગ થવા સભવ છે તેથી સોળમો રોગપરીષહ સાધુએ જીતવો જોઈએ એ વાત સૂત્રકાર કહે છે—'नच्चा' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—वेयणाए-वेदनया વેદનીય કર્મના ઉદયથી दुक्ख-दुःखम् શ્વાસ કાસ આદિ સોળ પ્રકારના રોગ સબધી દુખ उप्पइय-उत्पतितम् ઉત્પન્ન થાય છે એવુ नच्चा-ज्ञात्वा જાણીને दुहट्टिए-दुःखार्तित ભાવી દુખની આશકાથી આર્તભાવને પ્રાપ્ત કરનાર મુનિ अदीणो-अदीन દૈન્ય ભાવથી રહિત બની पन्न ठावए-प्रज्ञां स्थापयेत् ભાવી દુખની આશકાથી ચલીત થતી પોતાની બુદ્ધિને સ્થિર કરે. અગર જો સાધુ पुट्ठो-स्पृष्ट १ શ્વાસ, २ કાસ, ३ જ્વર, ४ દાહ, ५ પેટશૂળ, ६ ભગન્દર, ७ હરસ, ८ અજીર્ણ, ९ દૃષ્ટિરોગ, १० મુર્ધશૂળ, ११ અરૂચિ,

कर्म क्षीणम्, अपि तु वासुदेवस्य लाभः, यत श्रीकृष्णस्त्वां वन्दितवान्, अतस्ते मोदकान् श्रेष्ठी दत्तवान्। तद्वचनं श्रुत्वा ढंढणमुनि 'परलाभो न कल्पते' इत्युक्त्वा रागद्वेषवर्जितो मूर्छारहित. सन् नगराद् वहिर्गत्वा प्रासुकस्थण्डिले मोदकान् यतनया परिष्ठाप्य, तापदैन्याद्यकरणेन लाभान्तरायकर्म क्षपयन् क्षपकश्रेणिमारुह्य केवली जात। एवमन्यैरपि मुनिभिरलाभपरीषहः सोढव्य ॥ ३१ ॥

अलाभादन्तप्रान्ताद्याहारलाभाद् वा शरीरे रोगा उत्पद्यन्ते, अत षोडश रोगपरीषहजय माह—

मूलम्—नच्चा उप्पइय दुक्ख, वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो ठावए पंन्न, पुट्ठो तत्थऽहियासेए ॥ ३२ ॥

मोदकों का लाभ तुम्हें हुआ है वह लाभ तुम्हारा नहीं है किन्तु यह लाभ वासुदेव का है, कारण कि तुम को कृष्ण ने वदना की इसलिये सेठ ने तुमको ये मोदक वहराये, अत तुम्हारे इस लाभ में निमित्त कृष्ण हैं। ढंढणमुनि ने भगवान् के इन वचनों को सुनकर "परलाभ मुझे कल्पता नहीं है" ऐसा कहकर रागद्वेष से एव मूर्च्छा से वर्जित होते हुए नगर के बाहर जाकर किसी प्रासुक भूमि में उन मोदकों को यतनापूर्वक परिठवदिया। ताप एव दीनता के नहीं करने से लाभान्तरायकर्म को नष्ट करते हुए उन ढंढणमुनिने क्षपकश्रेणी पर आरोहण कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। इसी तरह अन्यमुनियों को भी अलाभ परिषह को सहन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

હજુ સમય બાકી છે ભિક્ષામાં લાડવાનો લાભ તમને થયો છે તે લાભ તમારો નથી પરતુ એ લાભ વાસુદેવનો છે કારણ કે કૃષ્ણે તમારી વદના કરી આ જોઈને શેઠે તમને લાડવા વહોરાવ્યા છે આથી તમારા આ લાભમાં નિમિત્ત કૃષ્ણ બન્યા છે ઢઢણમુનિએ ભગવાનનાં આ વચન સાંભળી "બીજાનો લાભ મને કલ્પતો નથી" એમ કહી રાગદ્વેષ અને મૂર્છાથી વર્જીત રહી નગરની બહાર જઈ કોઈ પ્રાસુક ભૂમિમાં એ લાડવાને યતનાપૂર્વક છોડી દીધા તપ અને ભિક્ષામાં હીનતા ન કરવાથી લાભાન્તરાય કર્મને નષ્ટ કરતાં એ ઢઢણમુનિએ ક્ષપકશ્રેણી પર આરોહણ કરી કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યું આ રીતે અન્ય મુનિઓએ પણ અલાભ પરીષહને સહન કરતા રહેવુ જોઈએ ॥ ૩૧ ॥

रोगाक्रान्तस्य मुने' कर्तव्यमाह—

मूलम्—तेगिंच्छ नाभिनंदिज्जा, सचिक्खत्तगवेसए ।

एयं खु तस्स सामन्नं, जं न कुज्जा न कारए ॥३३॥

छाया—चिकित्सा नाभिनन्देत्, सतिष्ठेत आत्मगवेषक ।

एतत् 'खु' तस्य श्रामण्य, यन्न कुर्यात् न कारयेत् ॥३३॥

टीका—'तेगिच्छ' इत्यादि ।

मुनि, चिकित्सां=रोगप्रतीकारं, नाभिनन्देत्=नानुमोदेत । अनुमतिनिषेधाच्चिकित्साया' करण कारण तु दूरत एव प्रतिषिद्धम् । किं तु आत्मगवेषक =आत्मानम्-आत्मकल्याण गवेषयति-सयमरक्षणेनेति आत्मगवेषकः स्वात्मकल्याणार्थं चारित्रपालक' सन् सतिष्ठेत्=समाधिना तिष्ठेत् । 'खु'=यस्मात्, एतत् तस्य=श्रम-

कुछ मुझे रोगादिक हो रहे हैं वे सब मेरे ही अशुभ कर्मोंके फल हैं"॥३२॥

रोगाक्रान्त मुनि के कर्तव्य को सूत्रकार इस गाथाद्वारा कहते हैं—'तेगिच्छ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—मुनि (तेगिच्छ—चिकित्साम्) रोग के प्रतीकार की (नाभिनदिज्जा—न अभिनदेत्) अनुमोदना नहीं करे। मुनि जब चिकित्सा तक की अनुमोदना नहीं करता है तो उसकी चिकित्सा करना और कराना तो बहुत दूरकी बात है। किन्तु (अत्तगवेसए—आत्मगवेषक) जो सयम की रक्षा से आत्मकल्याण का गवेषक है उसका कर्तव्य है कि वह (सचिक्खे—सतिष्ठेत्) रोगादिक अवस्था में भी समाधि भाव से रहे। (खु—यस्मात्) क्यों कि (तस्स—तस्य) उस मुनि का (एय—एतत्) यही

"આ જે કોઈ મને રોગ આદિ થયેલ છે તે બધાં મારાં અશુભ કર્મોનું ફળ છે" ॥ ૩૨ ॥

રોગાક્રાંત મુનિનું કર્તવ્ય શું છે તે સૂત્રકાર આ ગાથા દ્વારા કહે છે 'तेगिच्छ' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—મુનિ तेगिच्छं—चिकित्साम् રોગના પ્રતિકારની नाभिनंदिज्जा—न अभिनन्देत् અનુમોદના ન કરે મુનિ જ્યારે ચિકિત્સા સુધીની અનુમોદના નથી કરતા ત્યારે તેની ચિકિત્સા કરવી અથવા કરાવવી ઘણી દુરની વાત છે अत्तगवेसए—आत्मगवेषक જે સયમની રક્ષાદ્વારા આત્મકલ્યાણના ગવેષક હોય છે તેનું કર્તવ્ય છે કે, सचिक्खे—सतिष्ठेत् રોગાદિક અવસ્થામાં સમાધીભાવથી રહે खु—यस्मात् કેમ કે, तस्स—तस्य એ મુનિનું एय—एतत् એજ सामण्ण—श्रामण्यम् શ્રમણપણું છે

दररोग–कुष्ठे–ति षोडशविधरोगातङ्कैराक्रान्तो भवेत्, तर्हि तत्र=तस्मिन् समये स साधुः तान् रोगातङ्कान् अधिसहेत–"यदधुनाऽहं व्याधिना बाध्यमानोऽस्मि तदेतन्मम स्वस्यैव पूर्वकृतकर्मण फलम्" इति समभावमवलम्ब्य रोगपरीषह सहन कुर्यादित्यर्थः ॥ ३२ ॥

कर्णशूल, कण्डू–खजुहद, उदररोग, और कुष्ठ, इन सोलह प्रकार के रोगों से आक्रान्त हो, तो (तत्थ-तत्र) उस समय वह साधु (अहियासए–अधिसहेत) उन रोगों को शान्तिपूर्वक सहन करे अर्थात्—'मैं जो इस समय व्याधि से आक्रान्त हूं यह मेरे पूर्वभव में किये हुए कर्मों का फल है' ऐसा विचार कर मुनि रोगपरीषहको समभाव से सहन करे ॥ ३२ ॥

भावार्थ—इस गाथा के द्वारा सूत्रकार साधु को रोगपरीषह सहन करने का उपदेश दे रहे हैं। वे कहते हैं कि–ससारी एव मुनियों में रोगों को सहन करने की विचारधारा में बड़ा अन्तर रहता है। ससारी तो प्रायः रोगों के उत्पन्न होते ही अधीर हो जाते हैं तब सयमी जन उनका सामना बड़े ही धैर्य से करते हैं। रोगों से पीड़ित होने पर भी साधु को अपनी बुद्धि अस्थिर बनानी नहीं चाहिये–प्रत्युत अस्थिर होने पर उसे मानसिक बल द्वारा स्थिर कर धर्मध्यान में लीन बनाये रखना चाहिये। तथा विचार भी ऐसा करना चाहिये–"ये जो

૧૨ નેત્રશૂળ, ૧૩ કર્ણશૂળ, ૧૪ ખસ ખુજલી, ૧૫ ઉદરરોગ, અને ૧૬ કોઢ. આ સોળ પ્રકારના રોગથી વ્યાકુળતા થાય તો तत्थ-तत्र એ સમયે તે સાધુ अहियासए–अधिसहेत એ રોગને શાંતિપૂર્વક સહન કરે. અર્થાત્–'હું આ સમય જે વ્યાધિથી પીડિત થઈ રહ્યો છુ એ મારા પૂર્વભવનાં કરેલાં કર્મનો બદલો છે" એવો વિચાર કરી મુનિ રોગને સમભાવથી સહન કરે ॥ ૩૨ ॥

ભાવાર્થ—આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર સાધુને રોગપરીષહ સહન કરવાનો ઉપદેશ આપે છે, તેઓ કહે છે કે,–સસારીઓ અને મુનિઓને રોગોમાં તેને સહન કરવાની વિચારધારામાં ભારે અતર હોય છે સસારી તો રોગોને ઉત્પન્ન થતાં જ અધિરા થઈ જાય છે ત્યારે સયમી જન તેનો અત્યત ધૈર્યથી સામનો કરે છે રોગથી પિડીત હોવા છતાં પણ સાધુએ પોતાની બુદ્ધિને અસ્થિર નહીં થવા દેવી જોઈએ પરતુ અસ્થિર થાય ત્યારે તેને માનસિક બળદ્વારા સ્થિર કરીને લીન બનાવી રાખવી જોઈએ. અને વિચાર પણ એવો જોઈએ

कृतम् । तस्य कालवैशिकस्य ज्येष्ठा भगिनी जितशत्रुभूपतिना मुद्गशैलनामकनगराधिपाय हतशत्रुनाम्ने नृपाय प्रदत्ता ।

अन्यदा कदाचित् स कालवैशिककुमारो निशि शृगालशब्दं श्रुत्वा स्वसेवकान् पृच्छति-कस्यायं शब्दः श्रूयते ?, सेवका अब्रुवन्-शृगालस्य, तत कुमारो ब्रूते तं बद्ध्वा मत्समीपे समानयत, तैः शृगाल आनीतः । क्रीडनप्रियोऽसौ कुमारस्तं यष्ट्या पुनः पुनस्ताडयति । कालवैशिककुमारेण ताड्यमानोऽसौ शृगालः 'खि-खी' शब्दं कुर्वन्नुच्चैराक्रन्दति । तं शब्दं श्रुत्वाऽसौ सहर्षं हसति । एवं ताडितः शृगालः कालं कृत्वा अकामनिर्जरया व्यन्तरदेवो जातः ।

जाय कालवैशिक की एक बड़ी बहिन थी जिसका ब्याह राजा ने मुद्गशैल नामक नगर के अधिपति हतशत्रु के साथ किया था ।

एक दिन की बात है कि कालवैशिककुमार ने रात्रि में शृगाल का शब्द सुनकर अपने सेवकों से पूछा कि यह शब्द किसका सुनाई दे रहा है ? नौकरों ने कहा कि यह शब्द शृगाल का सुनाई पड़ रहा है। कुमार ने कहा उसको बांधकर मेरे पास ले आओ। तब वे शृगाल को बांधकर ले आये और कालवैशिककुमार को सौंप दिया । कुमार खेलने का शौकिन था इसलिये वह शृगाल को बार२ लकड़ी का घोदा मारता था । जैसे२ कुमार उसको लकड़ी का घोदा मारता था तैसे२ वह दुःखित होकर "खी खी" शब्द करता हुआ जोर से चिल्लाता था। उसके शब्द को सुनकर कुमार बड़ा हर्षित होता था और वह खूब हँसता था । इस प्रकार कुमारसे ताडित वह शृगाल मर कर अकाम निर्जरा से व्यन्तरदेव हो गया ।

એની હોકોને જાણ થાય. કાલવૈશિકને એક મોટી બહેન હતી જેનો વિવાહ રાજાએ મુદ્ગશૈલ નગરના અધિપતિ હતશત્રુ રાજા જોડે કર્યો હતો.

એક સમયની વાત છે કે કાલવૈશિક કુમારે રાત્રિના વખતે શીયાળનો શબ્દ સાંભળી પોતાના સેવકોને પૂછ્યું કે, આ શબ્દ શેનો સંભળાઈ રહ્યો છે ? સેવકોએ કહ્યું કે, આ શબ્દ શીયાળનો સંભળાય છે કુમારે કહ્યું કે તેને બાંધીને મારી પાસે લઈ આવો સેવકો તેને બાંધીને કુમાર પાસે લઈ આવ્યા અને કાલવૈશિકને સોંપી દીધું કુમાર ખેલવાનો ભારે શોખીન હતો એટલે તે શીયાળને વારવાર લાકડીના ગોદા મારવા લાગ્યો. જેમ જેમ કુમાર તેને લાકડીના ગોદા મારવા લાગ્યો તેમ તેમ તે દુઃખી થઈને ખી ખી શબ્દ કરીને જોરથી ચીડાવા લાગ્યું તેના શબ્દો સાંભળીને કુમાર ઘણો ખુશી થતો હતો અને જોરથી હસતો હતો. આ પ્રમાણે કુમારથી મારવામાં આવેલ તે શૃગાલ મરીને અકામ નિર્જરાથી વ્યંતરદેવ થઈ ગયું

णस्य, श्रामण्य=श्रमणधर्मं, यत्-चिकित्सां स्वयं न कुर्यात्, अन्येन वा न कारयेत्, उपलक्षणत्वात् कुर्वन्तमन्यं नानुमोदेत, इत्यपि बोध्यम्। इदं जिनकल्पिकापेक्षयाऽभिहितम्। स्थविरकल्पापेक्षया तु सावद्यचिकित्सा वर्जिता, निरवद्यचिकित्साया अपि ऐच्छिकं वर्जनम्।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

मथुरानगर्यां शत्रुविश्रासी जितशत्रुनामा भूपतिरासीत्। तेन सर्वाङ्गसुन्दरी कालानाम्नी वेश्या स्वान्तःपुरे स्थापिता। तस्यां राज्ञः पुत्रो जातः। तेन जितशत्रु भूपतिना कालवेश्याया अङ्गजातोऽयमिति हेतोस्तस्य "कालवैशिक" इति नाम

तो (सामण्ण-श्रामण्यम्) श्रमणपना है (ज न कुज्जा न कारए-यत् न कुर्यात् न कारयेत्) जो वह स्वयं भी चिकित्सा न करे और न दूसरों से करावे। तथा उपलक्षण से करने वाले दूसरे की अनुमोदना न करे। यह जो इस प्रकार कहा गया है वह जिनकल्पी साधुओं की अपेक्षासे कहा गया है। स्थविरकल्पियों की अपेक्षा तो सावद्य चिकित्सा ही वर्जित है। निरवद्यचिकित्सा चाहे तो वे करावे न चाहें नहीं करावे यह उनकी इच्छा पर निर्भर है।

दृष्टान्त—मथुरा नगरी में शत्रु को त्रास पहुँचाने वाला जितशत्रु नाम का एक राजा था। उसने काल नाम की एक सर्वाङ्ग सुन्दरी वेश्या को अपने अन्तःपुर में रखी थी। उस वेश्या के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजाने इस पुत्र का नाम इस ख्याल से कालवैशिक रखा कि लोगों में इसकी प्रसिद्धि "यह कालवेश्या से पैदा हुआ है" इस रूप से हो

જે તે જ નકુજ્જા ન કારએ-યત્ ન કુર્યાત્ ન કારયેત્ સ્વયં ચિકિત્સા ન કરે અગર બીજાઓ પાસે ન કરાવે, તથા ઉપલક્ષણથી બીજા કરવાવાળાઓની અનુમોદના ન કરે એજ પ્રમાણે કહેવામાં આવેલ છે તે જીનકલ્પી સાધુઓની અપેક્ષાથી કહેવામાં આવેલ છે સ્થવિરકલ્પિઓની અપેક્ષાએ તો સાવદ્ય ચિકિત્સા જ વર્જીત છે નિરવદ્ય ચિકિત્સા ચાહે તો તે કરાવે અને ન ચાહે તો ન કરાવે. તે તેની ઇચ્છા પર નિર્ભર છે

દૃષ્ટાંત—મથુરા નગરીમાં શત્રુઓને ત્રાસ પહોંચાડવાવાળા જીતશત્રુ નામના એક રાજા હતા તેણે કાલ નામની એક સર્વાંગ સુંદર વેશ્યાને પોતાના અંતઃપુરમાં રાખેલ હતી. તે વેશ્યાથી તેને એક પુત્ર ઉત્પન્ન થયો. રાજાએ એ પુત્રનું નામ એ ખ્યાલથી કાલવૈશિક રાખ્યું કે એ કાલ વેશ્યાથી પેદા થયેલછે'

भिक्षार्थं पर्यटन् हस्तिशत्रुनृपस्य भवनं प्रविष्टः। तत्र तस्य कालवैशिकमुनेः संसारपक्षे भगिनी ज्ञात्वाऽर्शोरोगं औषधमिश्रितां भिक्षां ददौ। तेन चाजानता सा भिक्षा गृहीता। आहारसमये तदाहारस्य तेन तत्स्वरूपं ज्ञातम्। ज्ञात्वा चिन्तितम् 'अहो! अजानता मयाऽनुचितमेतत्कृतम् यच्चिकित्साभावरहितेनापि सावद्यौषधमिश्रिता भिक्षा गृहीता भुक्ता च। ईदृशाहारादिना हि मुनीनां चाभिग्रहस्य भङ्गो भवति तस्मादद्यप्रभृति आहारमेव परित्यजामि" इति विचिन्त्य मुद्गशैलनगरतो निर्गत्य गिरिमारुह्यात्मबलसम्पन्नो मुनिः पादपोपगमनं कर्तुं व्यवसित।

बात है कि जब वे भिक्षा के लिये पर्यटन करतेर हस्तिशत्रु राजा के महल में जा पहुँचे तो उनकी ससारी बहिन ने उनके बवासीर रोग उत्पन्न हुआ जानकर औषधमिश्रित उनको भिक्षा दी कि जिससे बवासीर का रोग मिट जाय। अनजानपनमें इन्होंने यह भिक्षा लेली। आहार करते समय इनको मालूम हुआ कि यह आहार औषधमिश्रित है। मुनि को इस बात का बड़ा पश्चात्ताप हुआ। विचार करने लगे कि यह काम अच्छा नहीं हुआ, जो मैंने चिकित्सा न कराने की भावना से रहित होकर भी औषधमिश्रित आहार लिया और खा भी लिया। इस प्रकार के आहार से मुनियोंके अभिग्रह का भंग अवश्य होता है, अतः आज से मैं अब आहार ही नहीं लूंगा। इस प्रकार विचार कर वे मुनिराज मुद्गशैल नगरसे निकल कर किसी पर्वत पर चले गये और वहां आत्मबलसंपन्न होकर पादपोपगमन संथारा करने की तैयारी करने लगे।

એક દિવસની વાત છે કે, જ્યારે ભિક્ષાને માટે પર્યટન કરતાં કરતાં હસ્તિશત્રુ રાજાના મહેલમાં જઈ પહોંચ્યા ત્યાં તેની સંસારી બહેને તેને હરસની બીમારી વગેરે છે એમ જાણીને ઓષધથી મિશ્રીત એવી ભિક્ષા આપી કે જેથી તેનો હરસનો રોગ મટી જાય. અજાણ પણે તેમણે એ ભિક્ષા લઈ લીધી આહાર કરતાં વખતે તેમને ખબર પડી કે, આ આહાર તો ઓષધી મિશ્રીત છે મુનિને આ બાબતનો ઘણો પશ્ચાત્તાપ થયો. વિચાર કરવા લાગ્યા આ કામ ઠીક નથી થયું જે હું ચિકિત્સા કરાવવાની ભાવનાથી રહિત હોવા છતાં ઓષધમિશ્રીત આહાર મેં લીધો અને ખાઈ પણ લીધો. આ પ્રકારના આહારથી મુનિઓના અભિગ્રહનો અવશ્ય ભંગ થાય છે આથી હું આજથી આહાર જ નહીં લઉં, આ પ્રમાણે વિચાર કરીને તે મુનિરાજ મુદ્ગશૈલ નગરથી નીકળી કોઈ પહાડપર ગયા અને ત્યાં આત્મબળથી સંપન્ન થઈને પાદપોપગમન સંથારો કરવાની તૈયારી કરવા લાગ્યા

क्रमेण यौवने वयसि प्राप्ते स कालवैशिककुमार कदाचित् प्रभासनामकाचार्यस्य समीपे धर्मं श्रुत्वा जातवैराग्य. प्रव्रज्यां गृहीतवान् । स चैकदा एकाकिविहारप्रतिमा प्रतिपन्नो ग्रामानुग्राम विहरन् मुद्गशैलाख्य नगरं गत' । तदा तस्य महामुनेरर्शोरोग समुत्पन्न । स तेन व्याधिना पीड्यमानोऽपि धीरमानसो मनसाऽपि चिकित्सां नेच्छति । चिकित्साया करण कारण तु तेन दूरत एव निराकृतम् । 'व्याधि' कदा निवर्तिष्यते ' इत्यपि न चिन्तितम् , किंतु ' स्वकृत कर्मण फलमेव'दिति भावयन्नसौ रोगजनितवेदना सहते स्म । एकस्मिन् दिने

जब कुमार यौवन अवस्था में आया तो उसने प्रभास नामक आचार्य के पास धार्मिक उपदेश सुनकर विषयों से विरक्त हो दीक्षा धारण करली । श्रुतज्ञानका खूब अभ्यास किया। जब वे मुनि आगमिक ज्ञान से विशिष्ट ज्ञानी बन चुके तो उन्हों ने एकाकिविहार की प्रतिमा को अंगीकार कर ग्रामानुग्राम विहार करना प्रारंभ किया। विहार करते२ वे एक दिन मुद्गशैल नामक नगरी में आये । वहां इन्हें बवासीर की बीमारी उत्पन्न हो गई इससे इन्हें अधिकाधिक कष्ट हुआ तो भी उस व्याधि की चिकित्सा के लिये इनका मन भी नहीं हुआ। 'इस व्याधि की निवृत्ति कब होगी' इतना तक भी संकल्प उनके दिल में नहीं उठा, पर यह विचार अवश्य हुआ कि यह स्वकृत–अपने किये हुवे कर्म का फल है । इस प्रकार के दृढ अध्यवसाय से उन्हों ने रोगजनित वेदना को बडी ही शूरवीरता से सहन किया । एक दिन की

કુમાર જ્યારે યૌવન અવસ્થામા આવ્યો ત્યારે પ્રભાસ નામના આચાર્યની પાસેથી ધાર્મિક ઉપદેશ સાંભળીને વિષયોથી વિરક્ત થઈ ને દીક્ષા ધારણ કરી શ્રુતજ્ઞાનનો ખૂબ અભ્યાસ કર્યો જ્યારે તે મુનિ આગમિકજ્ઞાનથી વિશિષ્ટ જ્ઞાની બની ચુક્યા ત્યારે તેમણે એકાકી વિહારની પ્રતિમાને અંગીકાર કરી એક ગામથી બીજે ગામ વિહાર કરવાનો આરંભ કર્યો વિહાર કરતાં કરતાં એક દિવસ મુદ્દગશૈલનગરમા આવ્યા ત્યાં તેમને હરસની બીમારી ઉત્પન્ન થઈ તેનાથી તેમને અત્યંત કષ્ટ થયું પરંતુ આ વ્યાધિની ચિકિત્સા કરાવવાની ઈચ્છા પણ તેમને થઈ નહીં આ વ્યાધિ ક્યારે મટશે, એવો સંકલ્પ પણ તેના દિલમાં ઉઠયો નહીં પરંતુ એ વિચાર તેમના મનમાં અવશ્ય થયો કે, પોતાના કરેલા કર્મનું આ ફળ છે આ પ્રમાણે દૃઢ અધ્યવસાયથી તેઓ રોગથી ઉત્પન્ન થયેલી વેદનાને ખૂબ શૂરવીરતાથી સહન કરતા હતા.

मुनेर्घोरमुपसर्गं कर्तुं कर्णकठोर नीरस शब्दमहर्निशं निरन्तर करोति । स च व्यन्त देवस्त मुनिं शृगालवधरूप पाप स्मारयति । तदा स ता शृगालीकृतां तथाऽर्शोरोग कृतां च घोरा दुःसहामुज्ज्वलां वेदना धैर्येण समभावेन च सहमान आसीत् एव पञ्चदश दिनानि घोरपरीपहोपसर्गे परिषह्य स कालवैशिकमुनि शुक्लध्याने केवली भूत्वा कर्मक्षय कृत्वा मोक्षपद प्राप । एवमन्यैरपि मुनिभिः समभावेन रोग परीपह सहनीय. ॥ ३३ ॥

अथ सप्तदश तृणस्पर्शपरीपहजय प्राह—

मूलम्—अचेलगस्स लूहस्स, सजयस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स, होज्जा गायविराहणा ॥३४॥

छाया—अचेलकस्य रूक्षस्य, सयतस्य तपस्विन ।
तृणेपु शयानस्य, भवति गात्रविराधना ॥ ३४ ॥

तीक्ष्ण दांतों द्वारा काटने लगी, तथा काट खाने के बाद फिर वा उनके चारों ओर घूम२ कर कर्णकटुक विरस शब्द करने लगी। इस प्रकार वह तब तक करती रही कि जब तक उनका मृत्यु न हुआ। उस व्यन्तरदेव ने भी मुनि के लिये शृगाल को वध करने रूप पाप क स्मरण करा कर दुःखित करने की भी खूब२ चेष्टा की। इस प्रकार उन मुनिराज ने उस शृगाली की की हुई, व्यन्तरदेव को की हुई, तथा बवासीर की घोर दुःसह वेदना को धैर्यपूर्वक समभाव से सहते हुए पन्द्रह दिन व्यतीत कर दिये। पश्चात् शुक्लध्यान के प्रभाव से केवली हो कर सर्व कर्मक्षय कर के मुक्ति को प्राप्त किया। इसी तरह अन्य मुनिजनों को भी समभाव से रोगपरीपह को सहन करना चाहिये ॥ ३३ ॥

तेनी चारे બાજુએ ઘુમીને કાનને અપ્રિય એવા કઠોર શબ્દો બોલવા લાગ્યું આ પ્રકારે તે ત્યાં સુધી કરતુ રહ્યુ કે, જ્યા સુધી તેનું મૃત્યુ ન થયુ, એ વ્યતર-દેવે પણ મુનિ માટે શૃગાલના વધ કરવારૂપ પાપનુ સ્મરણ કરી, કરાવીને દુઃખીત કરવાની ખૂબ ચેષ્ટા કરી, આ પ્રકારે તે મુનિરાજે શૃગાલીની મારફત થયેલી અને વ્યતરદેવે કરેલી અને હરસની ઘોર દુઃસહ વેદનાને ધૈર્યપૂર્વક સમભાવથી સહેતા ૧૫ દિવસ વ્યતિત કર્યા પછી શુકલધ્યાનના પ્રભાવથી કેવળી બની સર્વ કર્મ ક્ષય કરી મુકિત પામ્યા આવી રીતે અન્ય મુનિજનોએ સમભાવથી રોગપરીષહ સહન કરવો જોઇએ. ॥ ૩૩ ॥

अथ यः शृगालजीवो कालवैशिकेन सकुमारावस्थायां हत , तस्य व्यन्तरदेवभवं प्राप्तस्य तदानीं विमाने गच्छतस्तत्र पादपोपगमनाय संस्थितस्य मुनेरुपरि गगने विमानगतिः प्रतिरुद्धा, तदा स व्यन्तरदेवोऽवधिना पूर्वभववृत्तं ज्ञात्वा वैरनिर्यातने-च्छया तत्र कालवैशिकमुने समीपे विकुर्वणशक्त्या स शिशुका शृगाली विकुर्विता। सा शृगाली 'खि-खि' इति शब्दं कुर्वती तस्य महामुनेर्गात्रं दन्तैर्दशति। तस्य

इतने में एकव्यन्तरदेव – जो पूर्वभवमें शृगाल था, जिसका इन मुनि ने अपनी कुमारावस्था में ताड़न तर्जन आदि किया था, और जो इनके ताड़न तर्जन आदि के कारण अकामनिर्जरा से मर कर व्यन्तर हो गया था, वह व्यन्तरदेव–विमानमें बैठ कर कहीं दूसरी जगह जा रहा था उसका विमान यहा आ पहुँचा, जहा ये मुनिराज पादपोप-गमन संथारा धारण किये हुए थे। उनके ऊपर से होकर जाने में उस विमान की गति रुक गई। विमान को जाते२ रुका हुआ देखकर व्यन्तरदेव को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अवधिज्ञान से विमान की गति के रुकने में कारण मुनिराज का वह समस्त पूर्व भव का वृत्तान्त जान लिया। उससे मुनि के ऊपर बहुत क्रोध उसका बढने लगा। अपने पूर्वभव में मृत्यु के कारण मुनि को जानकर उस व्यन्तरदेव ने बदला लेने के अभिप्राय से उन मुनिराज के समीप अपनी वैक्रिय शक्तिके द्वारा एक बच्चे सहित शृगाली बनाकर खड़ी कर दी। उस शृगा लीने 'खी-खी' शब्द करते हुए उन मुनिराज के समस्त शरीरको अपने

એટલામાં વ્યંતરદેવ કે જે પૂર્વભવમાં શૃગાલ હતો, જેનું આ મુનિરાજે પોતાની કુમાર અવસ્થામાં તાડન તર્જન કરેલ અને એ તાડન તર્જનના પરિ-ણામે અકામનિર્જરાથી મરીને વ્યંતર થયેલ તે વિમાનમાં બેસીને કોઈ બીજે સ્થળે જઈ રહેલ હતા એનુ વિમાન ત્યાં આવી પહોચ્યું કે જ્યાં મુનિરાજે પાદપોપગમન સંથારો ધારણ કરેલ હતો. ત્યાંથી પસાર થતાં તે વિમાનની ગતી અટકી ગઈ વિમાનને એકદમ અટકેલું જોઈને વ્યંતરદેવને ખૂબ આશ્ચર્ય થયું તેણે અવધીજ્ઞાનથી વિમાનની ગતી રોકાવાના કારણરૂપ મુનિરાજનો પૂર્વભવનો સમસ્ત વૃત્તાંત જાણ્યો. એનાથી મુનિ ઉપર તેનો ક્રોધ એકદમ વધવા લાગ્યો. પોતાના પૂર્વભવના મૃત્યુના કારણરૂપ મુનિરાજ જ છે તેમ જાણીને તે વ્યંતરદેવે બદલો લેવાની ઇચ્છાથી તે મુનિરાજની પાસે પોતાની વૈક્રિયશક્તિ દ્વારા એક બચ્ચાવાળી પ્રબળ શિયાળને ઉત્પન્ન કર્યું એ શિયાળ "ખી ખી" શબ્દ કરીને પોતાના તીક્ષ્ણ દાંતોથી મુનિરાજના શરીરને કાપવા લાગ્યું કરડવા પછી ફરીથી

तृणस्पर्शपीडायां मुनिना यत् कर्तव्यं तद् बोधयितुमाह—

मूलम्—आयवस्स निवाएण, अउला हवइ वेयणा ।
एवं नच्चा न सेवंति", तंतुजं तणतज्जिया ॥३५॥

छाया—आतपस्य निपातेन, अतुला भवति वेदना ।
एवं ज्ञात्वा न सेवन्ते, तन्तुजं तृणतर्जिताः ॥ ३५ ॥

टीका—' आयवस्स ' इत्यादि ।

भावार्थ—अचेलक पद से यहां स्थविरकल्पिक को भी जो अचेलक कहा है वह इसी अभिप्राय से कि वे शास्त्रमर्यादा के अनुसार ही वस्त्र रखते हैं, उससे अधिक नहीं आगम में स्थविरकल्पिक के लिये अल्पमूल्य वाले प्रमाणोपेत वस्त्रों का रखना मर्यादित है उनको ही ये धारण करते हैं। अत इस अवस्था में भी ये अचेलक ही माने जाते हैं, इस विषय का विशेषरूप से खुलासा छठे अचेलक परीषह के प्रकरण में किया जा चुका है। मुनि को तैलादिक की मालिश करना वर्जित है। तथा ये तपश्चर्या करते रहते हैं, इसलिये इनका शरीर रूक्ष हो जाता है। रूक्ष शरीर में खून अल्प होने से तृणस्पर्श आदि की वेदना अधिक होती है, अतः ऐसी अवस्था में साधु का कर्तव्य है कि वह उस वेदना को समभाव से सहन करे ॥ ३४ ॥

जब तृणस्पर्श से पीडा हो तब मुनि को क्या करना चाहिये सो कहते हैं—' आयवस्स ' इत्यादि ।

ભાવાર્થ—અચેલક પદથી અહિં સ્થવિરકલ્પિકને જે અચેલક કહ્યા છે તે એવા અભિપ્રાયથી કે તે, શાસ્ત્ર મર્યાદાની અનુસારજ વસ્ત્ર રાખે છે તેનાથી અધિક નહી આગમમાં સ્થવિરકલ્પિક માટે અલ્પમુલ્યવાળા પ્રમાણોપેત વસ્ત્રોને રાખવા મર્યાદિત છે, એને જ તેઓ ધારણ કરે છે આથી આ અવસ્થામાં પણ તે અચેલક જ માનવામા આવે છે આ વિષયનો વિશેષરૂપથી ખુલાસો પહેલાં છઠ્ઠા અચેલકપરીષહના પ્રકરણમાં આપવામાં આવી ગયેલ છે મુનિએ તેલ આદિનુ માલીસ કરવું વર્જીત છે તથા તપસ્યા કરતા રહે છે આથી તેમનુ શરીર રૂક્ષ થઈ જાય છે રૂક્ષ શરીરમાં લોહી ખૂબ ઓછુ હોવાથી તૃણસ્પર્શની વેદના અધિક થાય છે આથી એવી અવસ્થામા સાધુનુ કર્તવ્ય છે કે, તે વેદનાને સમભાવથી સહન કરે ॥ ૩૪ ॥

જ્યારે તૃણસ્પર્શથી પીડા થાય ત્યારે મુનિએ શું કરવું જોઈએ તે સૂત્રકાર કહે છે—' આયવસ્સ '–ઈત્યાદિ

टीका—' अचेलगस्स '-इत्यादि।

अचेलकस्य=सर्वथा वस्त्ररहितस्य जिनकल्पिकस्य, तथा शास्त्रमर्यादातिरिक्तवस्त्ररहितस्य स्थविरकल्पिकस्य चेत्यर्थः। आगमे हि अल्पमूल्यकाल्पवस्त्रस्य मर्यादितस्यैव धारणात् स्थविरकल्पिकोऽप्यचेलक एवास्तीति प्रागचेलकपरीषहप्रकरणे निर्णीतम्। तथा उभयविधस्य मुनेस्तृणस्पर्शपरीषहेऽन्यान्यपि कारणानि सन्तीति प्रदर्शयितुमाह—' लूहस्स '–इत्यादि। रूक्षस्य=तैलाभ्यङ्गादिवर्जनाद् अस्निग्धशरीरस्येत्यर्थः, संयतस्य=निरतिचारसंयमाऽऽराधनतत्परस्य, तपस्विनः=तपश्चरणशीलस्य, अनशनादितपःसमाचरणात् कृशशरीरस्येत्यर्थं मुनेः, तृणेषु–दर्भादिषु तदुपरिशयानस्य उपलक्षणत्वादासीनस्य चेत्यर्थः. गात्रविराधना=शरीरे तृणस्पर्शजन्या पीडा भवति ॥ ३४ ॥

अब सूत्रकार सतरहवा तृणस्पर्शपरीषहजय का विवेचन करते हैं–' अचेलगस्स ' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(अचेलगस्स–अचेलकस्य) सर्वथा वस्त्ररहित जिनकल्पिक, तथा शास्त्र की मर्यादा के अतिरिक्त वस्त्र नहीं रखने वाले स्थविरकल्पिक मुनि के (लूहस्स–रूक्षस्य) कि जिन का तेल आदि की मालिश करना वर्जित होने से शरीर बिलकुल रूक्ष हो रहा है, एवं (संजयस्स–संयतस्य) जो निरतिचार संयमकी आराधना करने में तत्पर रहते हैं, तथा (तवस्सिणो–तपस्विनः) अनशन आदि तपों के करनेवाले होने से कृश शरीर वाले हैं, और जो (तणेसु सयमाणस्स–तृणेषु शयानस्य) दर्भादिक तृणों के ऊपर सोते हैं उपलक्षण से उपर बैठते हैं उनके (गायविराहणा–गात्रविराधना) शरीर में तृणस्पर्शजन्य पीडा होती है।

હવે સૂત્રકાર સત્તરમાં તૃણસ્પર્શપરીષહ જીતવાનુ વર્ણન કરે છે 'अचेलगस्स'–ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—अचेलगस्स–अचेलकस्य સર્વથા વસ્ત્ર રહિત જીનકલ્પિક, તથા શાસ્ત્રની મર્યાદાથી અતિરિક્ત વસ્ત્ર ન રાખવાવાળા સ્થવિરકલ્પિ મુનિ लूहस्स–रूक्षस्य જેને તેલ આદિની માલીશ કરવાનુ વર્જીત હોવાથી શરીર બીલકુલ રૂક્ષ બની ગયેલ છે संजयस्स–संयतस्य અને જે નિરતિચાર સંયમની આરાધના કરવામાં તત્પર રહે છે तवस्सिणो–तपस्विनः તથા અનશન આદિ તપ કરનાર હોવાથી કૃશ શરીરવાળા છે અને જે तणेसु सयमाणस्स–तृणेषु शयानस्य દર્ભાદિક તૃણોની ઉપર સુવે છે, ઉપલક્ષણથી ઉપર બેસે છે, તેમના गायविराहणा–गात्र विराधना શરીરમાં તૃણસ્પર્શજન્ય પીડા થાય છે

तृणस्पर्शपीडायां मुनिना यत् कर्तव्यं तद् बोधयितुमाह—

मूलम्—आयवस्स निवाएण, अउला हवइ वेयणा ।
एवं नच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया ॥३५॥

छाया—आतपस्य निपातेन, अतुला भवति वेदना ।
एवं ज्ञात्वा न सेवन्ते, तन्तुजं तृणतर्जिताः ॥ ३५ ॥

टीका—' आयवस्स ' इत्यादि ।

भावार्थ—अचेलक पद से यहां स्थविरकल्पिक को भी जो अचेलक कहा है वह इसी अभिप्राय से कि वे शास्त्रमर्यादा के अनुसार ही वस्त्र रखते हैं, उससे अधिक नहीं आगम में स्थविरकल्पिक के लिये अल्पमूल्य वाले प्रमाणोपेत वस्त्रों का रखना मर्यादित है उनको ही ये धारण करते हैं। अत इस अवस्था में भी ये अचेलक ही माने जाते हैं, इस विषय का विशेषरूप से खुलासा छठे अचेलक परीषह के प्रकरण में किया जा चुका है। मुनि को तैलादिक की मालिश करना वर्जित है। तथा ये तपश्चर्या करते रहते हैं, इसलिये इनका शरीर रूक्ष हो जाता है। रूक्ष शरीर में खून अल्प होने से तृणस्पर्श आदि की वेदना अधिक होती है, अतः ऐसी अवस्था में साधु का कर्तव्य है कि वह उस वेदना को समभाव से सहन करे ॥ ३४ ॥

जब तृणस्पर्श से पीडा हो तब मुनि को क्या करना चाहिये सो कहते हैं—' आयवस्स ' इत्यादि ।

ભાવાર્થ—અચેલક પદથી અહિં સ્થવિરકલ્પિકને જે અચેલક કહ્યા છે તે એવા અભિપ્રાયથી કે તે, શાસ્ત્ર મર્યાદાની અનુસારજ વસ્ત્ર રાખે છે તેનાથી અધિક નહી આગમમાં સ્થવિરકલ્પિક માટે અલ્પમુલ્યવાળાં પ્રમાણોપેત વસ્ત્રોને રાખવા મર્યાદિત છે, એને જ તેઓ ધારણ કરે છે આથી આ અવસ્થામાં પણ તે અચેલક જ માનવામાં આવે છે આ વિષયનો વિશેષરૂપથી ખુલાસો પહેલાં છઠ્ઠા અચેલકપરીષહના પ્રકરણમાં આપવામાં આવી ગયેલ છે મુનિએ તેલ આદિનું માલીસ કરવું વર્જીત છે તથા તપસ્યા કરતા રહે છે આથી તેમનુ શરીર રૂક્ષ થઈ જાય છે રૂક્ષ શરીરમાં લોહી ખૂબ ઓછુ હોવાથી તૃણસ્પર્શની વેદના અધિક થાય છે આથી એવી અવસ્થામાં સાધુનુ કર્તવ્ય છે કે, તે વેદનાને સમભાવથી સહન કરે ॥ ૩૪ ॥

જ્યારે તૃણસ્પર્શથી પીડા થાય ત્યારે મુનિએ શું કરવું જોઈએ તે સૂત્રકાર કહે છે—' આયવસ્સ '–ઈત્યાદિ



टीका—' अचेलगस्स '-इत्यादि।

अचेलकस्य=सर्वथा वस्त्ररहितस्य जिनकल्पिकस्य, तथा शास्त्रमर्यादातिरिक्तवस्त्ररहितस्य स्थविरकल्पिकस्य चेत्यर्थः। आगमे हि अल्पमूल्यकाल्पवस्त्रस्य मर्यादितस्यैव धारणात् स्थविरकल्पिकोऽप्यचैलक एवास्तीति प्रागचैलकपरीषहप्रकरणे निर्णीतम्। तथा उभयविधस्य मुनेस्तृणस्पर्शपरीषहेऽन्यान्यपि कारणानि सन्तीति प्रदर्शयितुमाह—' लूहस्स '-इत्यादि। रूक्षस्य=तैलाभ्यङ्गादिवर्जनाद् अस्निग्धशरीरस्येत्यर्थः, संयतस्य=निरतिचारसंयमाऽऽराधनतत्परस्य, तपस्विनः=तपश्चरणशीलस्य, अनशनादितपःसमाचरणात् कृशशरीरस्येत्यर्थं मुनेः, तृणेषु—दर्भादिषु तदुपरिशयानस्य उपलक्षणत्वादासीनस्य चेत्यर्थः। गात्रविराधना=शरीरे तृणस्पर्शजन्या पीडा भवति ॥ ३४ ॥

अथ सूत्रकार सतरहवां तृणस्पर्शपरीषहजय का विवेचन करते हैं-' अचेलगस्स ' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(अचेलगस्स-अचेलकस्य) सर्वथा वस्त्ररहित जिनकल्पिक, तथा शास्त्र की मर्यादा के अतिरिक्त वस्त्र नहीं रखने वाले स्थविरकल्पिक मुनि के (लूहस्स-रूक्षस्य) कि जिन का तेल आदि की मालिश करना वर्जित होने से शरीर बिलकुल रूक्ष हो रहा है, एवं (संजयस्स-संयतस्य) जो निरतिचार संयमकी आराधना करने में तत्पर रहते हैं, तथा (तवस्सिणो-तपस्विन) अनशन आदि तपों के करनेवाले होने से कृश शरीर वाले हैं, और जो (तणेसु सयमाणस्स-तृणेषु शयानस्य) दर्भादिक तृणों के ऊपर सोते हैं उपलक्षण से उपर बैठते हैं उनके (गायविराहणा-गात्रविराधना) शरीर में तृणस्पर्शजन्य पीड़ा होती है।

હવે સૂત્રકાર સત્તરમાં તૃણસ્પર્શપરીષહ જીતવાનું વર્ણન કરે છે 'अचेलगस्स'-ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—अचेलगस्स-अचेलकस्य સર્વથા વસ્ત્ર રહિત જીનકલ્પિક, તથા શાસ્ત્રની મર્યાદાથી અતિરિક્ત વસ્ત્ર ન રાખવાવાળા સ્થવિરકલ્પિ મુનિ लूहस्स-रूक्षस्य જેને તેલ આદિની માલીશ કરવાનું વર્જીત હોવાથી શરીર બીલકુલ રૂક્ષ બની ગયેલ છે संजयस्स-संयतस्य અને જે નિરતિચાર સંયમની આરાધના કરવામાં તત્પર રહે છે तवस्सिणो-तपस्विन તથા અનશન આદિ તપ કરનાર હોવાથી કૃશ શરીરવાળા છે અને જે तणेसु सयमाणस्स-तृणेषु शयानस्य દર્ભાદિક તૃણોની ઉપર સુવે છે, ઉપલક્ષણથી ઉપર બેસે છે, તેમના गायविराहणा-गात्रविराधना શરીરમાં તૃણસ્પર્શજન્ય પીડા થાય છે

क्रिया सर्वदा सोपयोगाऽल्पा च भवतीत्यागन्तुकद्वीन्द्रियादिजीवानां विराधना न सम्भवत्यतस्ते वस्त्रं न सेवन्ते। स्थविरकल्पिकास्तु सापेक्षसंयमिनो भवन्त्यतस्ते तानि दर्भादीनि तृणानि भूमावास्तीर्य तत्रागन्तुककुन्थुपिपीलिकादिजन्तुविराधना निवारणाय प्रान्तभागेषु वेष्टनं यथा स्यात्तथा तदुपरि संस्तारकं निधाय शेरते, आसते च। एवं यः कठोरकुशदर्भादितृणसंस्पर्शं सम्यक् सहते तेन मुनिना तृणस्पर्शपरीषहो विजितो भवति।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

श्रावस्तीनगर्यां जितशत्रुनृपस्य भद्रनामकः पुत्र आसीत्। स चैकदा पद्मनामकाचार्यस्य समीपे धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजितः। क्रमाद् बहुश्रुतो भूत्वाऽन्यदा कदाचि-

उनके शरीर की हलनचलन आदि क्रिया उपयोगपूर्वक तथा अल्प होती है इससे उनके आगन्तुक द्वीन्द्रियादिक जीवों की विराधना का प्राय सम्भव नहीं है इसलिये वे वस्त्र का सेवन नहीं करते हैं। स्थविर-कल्पिकमुनि प्राय ऐसे न होने से दर्भादिक तृणों को भूमि पर बिछा कर उसमें आगन्तुक कुन्थु पिपीलिका आदि जन्तुओं की विराधना निवारण करने के लिये प्रान्त भागों में वेष्टन जिस प्रकार हो जाय इस रूप से उस के ऊपर संस्तारक बिछाकर सोते हैं और बैठते हैं। इस प्रकार जो कठोर कुशदर्भादिक तृणस्पर्श को अच्छी तरह सहन करता है वह मुनि तृणस्पर्शपरीषह का विजेता कहलाता है।

दृष्टान्त—श्रावस्ती नगरी में जितशत्रु नाम के राजा का भद्र नाम का एक पुत्र था। पद्मनामक आचार्य के पास उसने एक समय धर्म का उपदेश सुनकर दीक्षा धारण करली। क्रम से आगमों का

ચલન આદિ ક્રિયા ઉપયોગ પુરતી અને અલ્પ હોય છે તેનાથી આવનાર દ્વિઇન્દ્રિયાદિક જીવોની વિરાધના થવાનો સંભવ નથી આ માટે તે વસ્ત્રનુ સેવન કરતા નથી. સ્થવિરકલ્પિક મુનિ એવા ન હોવાથી દર્ભાદિક તૃણોને ભૂમિ ઉપર બીછાવી તેમાં આવવાવાળા કથવા, પીપીલીકા, આદિ જતુઓની વિરાધનાનુ નિવારણ કરવા માટે પ્રાન્ત ભાગોમાં કાપા ન પડે તે માટે તેના ઉપર વસ્ત્ર બિછાવીને સુવે છે અને બેસે છે આ પ્રકારે જે કઠોર કુશ-દર્ભાદિક તૃણસ્પર્શને સારી રીતે સહન કરે છે તે મુનિ તૃણસ્પર્શપરીષહના વિજેતા કહેવાય છે

દૃષ્ટાંત—શ્રાવસ્તી નગરીમાં જીતશત્રુ નામના રાજાને ભદ્ર નામનો પુત્ર હતો. પદ્મ નામના આચાર્યની પાસે તેણે એક સમય ધર્મનો ઉપદેશ સાંભળી દીક્ષા ધારણ કરી લીધી ક્રમથી આગમોનો અભ્યાસ કરી જ્યારે તે બહુશ્રુત

आतपस्य=घर्मस्य निपातेन=सपातेन, अतुला=महती दुःसहा वेदना भवति, आतपोत्पन्नस्वेदक्लेदवशात् तृणक्षते क्षारसेचनेन समुत्पन्ना वेदनेव वेदना भवतीति भावः।। एवम्=अनेन प्रकारेण ज्ञात्वाऽपि तृणतर्जिता =दर्भादितृणक्षता मुनयः तन्तुज–सूत्रनिर्मित कार्पासिकम्, उर्णातन्तुनिर्मित कम्बलादिक वा वस्त्रम्=आच्छादनवस्त्र न सेवन्ते।

अथ भावः–शयने आसने च शुषिरवर्जिततृणस्य दर्भादेः परिभोगोऽनुज्ञातो जिनकल्पिकाना स्थविरकल्पिकानां च। तत्र जिनकल्पिकानां मुनीना दृढसहनन–पूर्वगतज्ञान – तीक्ष्णोपयोगनिद्राल्पत्वाद्यनेकप्रवरगुणसम्पन्नत्वेन स्पन्दनचलनादि

अन्वयार्थ—(आयवस्स – आतपस्य) घाम–धूप के (निवाएण–निपातेन) पड़ने से जो शरीर में पसीना आता है, वह पसीना तृण क्षत अर्थात् शरीर में तृण के चुभने से उत्पन्न हुए घाव में लगता है, तब (अउला वेयणा हवइ–अतुला वेदना भवति) महावेदना होती है। (एव नच्चा–एव ज्ञात्वा) ऐसी वेदना का अनुभव करके भी (तणतज्जिया–तृणतर्जिता) दर्भादिजन्य घाव वाले मुनि (ततुज–तन्तुजम्) ऊर्णादिक तन्तुओं से निर्मित कम्बलादिक तथा कपास से निर्मित वस्त्रादिकरूप आच्छादन वस्त्र का सेवन नहीं करते है।

इसका भाव यह है—शयन और आसन में निश्छिद्र दर्भादिक तृणों का परिभोग जिनकल्पिक तथा स्थविरकल्पिक दोनों के लिये अनुज्ञात है। जिस में जिनकल्पी मुनि दृढसहनन, पूर्वो का ज्ञान, तीक्ष्ण उपयोग तथा अल्पनिद्रा आदि अनेक प्रवर गुणवाले होने से

અન્વયાર્થ—आयवस्स–आतपस्य ધામ તડકાના निवाएण–निपातेन પડવાથી શરીરમાં જે પરસેવો આવે છે તે પરસેવો તૃણક્ષત અર્થાત્ શરીરમાં તૃણના સ્પર્શથી ઉત્પન્ન થયેલા ઘાવમાં લાગે છે ત્યારે अउला वेयणा हवइ–अतुला वेदना भवति ભારે વેદના થાય છે एव नच्चा–एव ज्ञात्वा એવી વેદનાનો અનુભવ કરીને પણ तणतज्जिया–तृण तर्जिता દર્ભાદિજન્ય ઘાવ વાળા મુનિએ ततुज–तन्तुजम् ઉનના તાંતણાઓથી બનાવેલ કમ્બલ આદિ તથા કપાસથી બનાવેલ વસ્ત્રાદિકનું આચ્છાદન ન કરવું જોઈએ.

એનો ભાવ આ પ્રમાણે છે, શયન અને આસનમાં છિદ્રો વગરના દર્ભ આદિ ખડનો પરિભોગ જીનકલ્પિક તથા સ્થવિરકલ્પિક બન્નેને માટે અનુજ્ઞાત છે, એમાં જીનકલ્પિ મુનિ તેને દૃઢતાથી સહન કરીને, પૂર્વનું જ્ઞાન, તીક્ષ્ણ ઉપયોગ, તથા અલ્પનિદ્રા આદિ પ્રખર ગુણવાળા હોવાથી તેના શરીરનું હલન

शरीरे प्रत्येकावयवस्य मांसे विदीर्यमाणेऽपि क्षोभवर्जितः शान्तरसनिमग्नो महामुनिः क्षमानिधिः कलुषध्यानमकुर्वाणः समाधिभावेन प्रबलामुज्ज्वलां दुःसहां घोरातिघोरवेदनां सहते स्म। इत्थं तृणस्पर्शपरीषहं विजित्य क्षपकश्रेणिमारुह्य केवली भूत्वा शिवपदं प्राप। एवमन्यैरपि मुनिभिस्तृणस्पर्शपरीषहः सोढव्यः ॥ ३५ ॥

अथाष्टादशं जल्लपरीषहजयमाह—

मूलम्—किलिंण्णगाए मेहावी, पंकेण वे रएण वा ।
घिंसु वा परितावेणं, सायं नो परिदेवेए ॥३६॥

छाया—क्लिन्नगात्रः मेधावी, पङ्केन वा रजसा वा ।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सातं नो परिदेवयेत् ॥ ३६ ॥

टीका—'किलिण्णगाए' इत्यादि।

मेधावी=स्नानपरित्यागमर्यादावर्ती मुनिः, ग्रीष्मे, वा शब्दात्-शरदि,

---

मांस क्षारजल से विदीर्ण होने पर भी क्षोभ से वर्जित एवं शांत रस में निमग्न, ऐसे उन क्षमा के निधि मुनिराज ने कलुषध्यान नहीं करते हुए समाधिभाव से उस घोरातिघोर प्रबल दुःसह वेदना को सहन किया। इस प्रकार उन्हों ने तृणस्पर्शपरीषह को जीतकर अन्त में क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके केवलज्ञान की प्राप्ति से शिवपद प्राप्त कर लिया। इसी तरह अन्य मुनियों को भी तृणस्पर्शपरीषह सहन करना चाहिये ॥ ३५ ॥

अब अठारवें जल्लपरीषह को जीतने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

'किलिण्णगाए' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(मेहावी – मेधावी) स्नानपरित्यागरूप मर्यादा में रहने वाला मुनि (घिंसु–ग्रीष्मे) ग्रीष्मकाल में (वा–वा) तथा शरत्काल

ખારા પાણીથી વિદીર્ણ થવાથી, ક્ષોભથી વર્જીત અને શાંત રસમાં નિમગ્ન એવા તે ક્ષમાનિધિ મુનિરાજે કલુષભાવ ન રાખતાં સમાધીભાવથી એ ઘોર અતિ ઘોર દુઃસહ વેદનાને સહન કરી આ પ્રકારે તેઓએ તૃણસ્પર્શપરીષહને જીતીને અંતમાં ક્ષપકશ્રેણી પર ચડીને કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિથી શિવપદ પ્રાપ્ત કરી લીધું આ રીતે અન્ય મુનિરાજોએ તૃણસ્પર્શપરીષહ સહન કરવો જોઈએ ॥૩૫॥

હવે અઢારમો જલ્લમલ્લપરીષહ જીતવા માટે સૂત્રકાર કહે છે—

'किलिण्णगाए' ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—मेहावी-मेधावी સ્નાન પરિત્યાગરૂપ મર્યાદામાં રહેવાવાળા મુનિ घिंसु-

देकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपन्नः सन्नप्रतिबद्धविहारं विहरति स्म । स चैकदा विहरन् क्वापि राज्यान्तरे गतः । राजपुरुषाः "हेरिकोऽय"-मिति ज्ञात्वा तं गृहीत्वा पप्रच्छुः-ब्रूहि कस्त्वं ? केन गुप्तचारत्वाय प्रहितोऽसि ? । स भद्रमुनिः प्रतिमाधारित्वात् किमपि नोत्तरं ददौ । ततस्ते कुपितास्तं भद्रमुनिं क्षुरेण तक्षयित्वा असिधारातुल्यैः क्षुरधारातुल्यैः कुन्ताग्रतुल्यैस्तीक्ष्णधारैर्दर्भैर्गाढमावेष्टय क्षारसिक्तं कृत्वा, गर्ते निपात्य स्वस्थानं गतवन्तः । अतितीक्ष्णाग्रैः कुशैर्विध्यमाने क्षारजलेन

अभ्यास कर जब वह बहुश्रुत हो गया तब उसने एकाकिविहार प्रतिमा अंगीकार कर अप्रतिबद्ध विहार करना प्रारंभ कर दिया। एक दिन की बात है कि ये मुनिराज विहार करतेर दूसरे किसी राज्य में जा पहुँचे। राजपुरुषों ने उन्हें "यह कहीं का गुप्तचर है" ऐसा समझ कर पकड़ लिया, और पूछने लगे-कहो कौन हो? किसने तुम्हें खुफिया पुलिस के बतौर यहां भेजा है। राजपुरुषों की यह बात सुनकर प्रतिमा धारी होने से मुनिराज ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। मुनिराज की इस मौन परिस्थितिका अवलोकन कर वे सब के सब उन पर बहुत अधिक कुपित हुए। उन्हों ने प्रकृतिभद्र उन मुनिराज को प्रथम क्षुरा से घायल कर पश्चात् तलवार की धार के समान, क्षुरा की धार के समान, एवं भाले की नोंक के समान तीक्ष्ण अनीवाले दर्भों से गाढ वेष्टित करके और ऊपर से नमक मिला हुआ जल छिड़ककरके एक खड्डे में उनको डाल दिया, और वे सब के सब अपनेर स्थान पर चले गये। अति तीक्ष्ण अनीवाले कुशों से बींधे गये शरीर का प्रत्येक अवयवगत

બની ગયા ત્યારે તેમણે એકાકી વિહાર પ્રતિમા અંગિકાર કરી, અપ્રતિબદ્ધ વિહાર કરવાનો પ્રારંભ કર્યો એક દિવસની વાત છે કે, આ મુનિરાજ વિહાર કરતા કરતા બીજા કોઈ રાજ્યમાં જઈ પહોંચ્યા રાજપુરૂષોએ તેને "આ કોઈ રાજ્યનો ગુપ્તચર છે" એમ સમજીને પકડી લીધા અને એને પુછવા લાગ્યા કહો તમે કોણ છો? કોણે તમને ગુપ્ત બાતમીદાર તરીકે અહિં મોકલેલ છે? રાજ પુરૂષોની એ વાત સાંભળી પ્રતિમા ધારી હોવાથી મુનિરાજે કાંઈ પણ ઉત્તર ન આપ્યો મુનિરાજની આ મૌન પરિસ્થીતિ જોઈ સઘળા તેના ઉપર ખૂબ જ ક્રોધિત બન્યા તેઓએ પ્રકૃતિભદ્ર તે મુનિરાજને પ્રથમ છરાથી ઘાયલ કરી પછી તરવારની ધાર જેવા, છરાની ધાર જેવા, અને ભાલાની અણી જેવા તીક્ષ્ણ અણીવાળા દર્ભોથી ગાઢ વ્યથિત કરીને ઉપરથી મીઠાનું પાણી છાંટી એક ખાડામાં નાખી દીધા અને બધા રાજપુરૂષો પોત પોતાને સ્થાને ચાલ્યા ગયા અતિ તીક્ષ્ણ અણીવાળા દર્ભના પાનથી વીંધાએલા શરીરના પ્રત્યેક અવયવમાંથી માંસ,

मूलम्—वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्मं णुत्तरं ।
जाव सरीरभेओत्ति, जल्लं काएण धारए ॥३७॥

छाया—वेदयेत् निर्जरापेक्षी, आर्यं धर्मम् अनुत्तरम् ।
यावत् शरीरभेद, इति जल्लं कायेन धारयेत् ।

टीका—'वेएज्ज' इत्यादि ।

निर्जरापेक्षी=आत्यन्तिककर्मक्षयाभिलाषी मुनिः, आर्य=हेयोपादेयस्वरूपनिरूपकम्, अनुत्तर=न विद्यते उत्तरम्–उत्कृष्टं यस्मात् सोऽनुत्तरस्त सर्वोत्तममित्यर्थः। =श्रुतचारित्ररूप प्राप्त इति शेष । वेदयेत्–मक्रमात् जल्लजनित दु ख सहेत । मर्थ विशदीकुर्वन् प्राह—'जाव सरीरभेओ' इत्यादि । इति=अतो हेतो'–वत्–यावताकालेन शरीरभेदः=देहपात स्यात्, तावत्कालपर्यन्त, जल्ल=मलं, येन=शरीरेण धारयेत् ।

रे कि–" हा ! इस मेल के निवारण से मुझे साता अर्थात् सुख का नुभव कब और कैसे होगा ?" इस प्रकार विलाप न करे ॥ ३६ ॥

'वेएज्ज' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(निज्जरापेही–निर्जरापेक्षी) आत्यन्तिक रूप से कर्मों क्षयका अभिलाषी मुनि (आरियं–आर्यम्) हेय एवं उपादेय के रूप का निरूपक (अणुत्तर–अनुत्तरम्) सर्वोत्कृष्ट–जिससे श्रेष्ठ और कोई दूसरा नहीं है–सर्वोत्तम ऐसे (धम्म–धर्मम्) श्रुतचरित्ररूप धर्म को प्त कर (वेएज्ज–वेदयेत्) मेल के दुःख को सहन करे। उसका र्तव्य है कि (जाव शरीरभेओत्ति–यावत् शरीरभेद इति) जब क शरीर का भेद नहीं होता है–मृत्यु द्वारा शरीर का वियोग नहीं

परीषहजय છે સાધુ સ્વપ્નામાં પણ સુખનો અનુભવ ક્યારે અને કેમ થશે. આ પ્રકારનો વિલાપ ન કરે ॥ ૩૬ ॥

'वेएज्ज '–ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—निज्जरापेही–निर्जरापेक्षी આત્યંતિક રૂપથી કર્મોનો ક્ષય કરવાના અભિલાષી મુનિ आरियं–आर्यम् હેય અને ઉપાદેયના સ્વરૂપના નિરૂપક अणुत्तर–अनुत्तरम् સર્વોત્કૃષ્ટ જેનાથી શ્રેષ્ટ બીજો કોઈ નથી સર્વોત્તમ એવા धम्म-धर्मं શ્રુતચારિત્રરૂપ ધર્મને પ્રાપ્ત કરી वेएज्ज–वेदयेत् મેલના દુઃખને સહન કરે તેનું, કર્તવ્ય છે કે जाव शरीरभेओत्ति–यावत् शरीरभेदः इति જ્યાં સુધી શરીરનો ભેદ નથી થતો–મૃત્યુ દ્વારા શરીરનો વિયોગ થતો નથી ત્યાં સુધી

वर्षासु वा, परितापेन=उष्णस्पर्शेन, हेत्वर्थे तृतीया । पङ्केन वा=प्रस्वेदादार्द्रीभूतेन मलेन वा, रजसा वा=परिशुष्य काठिन्य प्राप्तेन मलेन वा, यद्वा-रजसा=धूल्या, क्लिन्नगात्रः=व्याप्तदेहः, सन् सातं=सुखं समाश्रित्य न परिदेवयेत्-" हा ! मम- मलापगमः कथं कदा वा भविष्यती " - ति कृत्वा न विलपेत्, विलापं न कुर्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

में और वर्षाकाल में (परितावेण-परितापेन) उष्णस्पर्श द्वारा आये हुए (पंकेण व-पङ्केन वा) प्रस्वेद द्वारा गीले हुए मैल से (रएण वा- रजसा वा) या पसीने में संसक्त धूलि से (किलिण्णगाए-क्लिन्नगात्र) व्याप्त शरीर होने पर भी (साय नो परिदेवए-सात नो परिदेवयेत्) " हा मेरे इस मैल का निवारण कैसे और कब होगा " ऐसा विचार कर विलाप नहीं करे । किन्तु उस हालत में उस परीषह को अच्छी तरह सहन करे, इसका नाम जल्लपरीषह जय है ।

भावार्थ—ग्रीष्मकाल में या वर्षाकाल में अधिक गर्मी पड़ने से शरीर में अधिक पसीना आया करता है । उससे शारीरिक मैल ढीला पड़ जाता है । रगड़ने से वह चिपका हुआ मैल शरीर से अलग हो जाता है । पुनः उसी स्थान पर उड़ी हुई रज आकर लग जाती है । उससे शरीर में आकुलता होती रहती है । इस आकुलता से न घबरा कर जो मुनि उस मैल से संसक्त होने का परीषह सहन करते हैं उसीका नाम जल्लपरीषहजय है । साधु स्वप्न में भी यह विचार न

ग्रीष्मे ઉનાળાની ઋતુમાં તથા वा-वा વરસકાળ અને વર્ષાકાળમાં परितावेण-परितापेन ઉષ્ણસ્પર્શ દ્વારા આવેલા पंकेण व-पङ्केन वा પરસેવા દ્વારા પલળેલા મેલથી रएण वा-रजसा वा અગર પરસેવામાં ભળેલ ધૂળથી किलिण्णगाए-क्लिन्नगात्रः વ્યાપ્ત શરીર બનવા છતાં પણ साय नो परिदेवए-सातं नो परिदेवयेत् મારા આ મેલનું નિવારણ કેમ અને ક્યારે થશે " એવો વિચાર કરી વિલાપ ન કરે. પરંતુ તેવી હાલતમાં તે પરીષહને સારી રીતે સહન કરે તેનું નામ જલ્લમલ્લ પરિષહ જય છે

ભાવાર્થ —ગ્રીષ્મકાળમાં યા વર્ષાકાળમાં અધિક ગરમી પડવાથી શરીરમાં અધિક પરસેવો વળે છે તેનાથી શરીર ઉપરનો મેલ ઢીલો પડે છે ચોળવાથી તે ચોંટેલ મેલ શરીરથી છુટો પડે છે ફરી એજ સ્થળે ઉડતી રજ આવીને ચોંટે છે તેનાથી શરીરમાં આકુળતા થતી રહે છે આથી એ આકુળતાથી ન ગભરાતાં જે મુનિ તે મેલનો સંસક્તપરીષહ સહન કરે છે એનું નામ જલ્લમલ્લ

अन्यच—अत्यन्तमलिनो देहो, देही चात्यन्तनिर्मलः।
उभयोरन्तर ज्ञात्वा, कस्य शौचं विधीयते ॥ २ ॥ इति।

अत्यन्तमलिनो देहो, देही चात्यन्तनिर्मल'।
उभयोरन्तर ज्ञात्वा, कस्य शौच विधीयते ॥ २ ॥

क्यों कि मातापिता के रजवीर्य से यह शरीर अपवित्र ही स्वभावत उत्पन्न हुआ है। जब कारण स्वय अशुचिस्वरूप है तो उसका कार्यरूप यह शरीर शुचि कैसे हो सकता है। प्याज को या लहसुन को क्षीरसमुद्र के जल से प्रक्षालित करने पर भी जैसे उसमें निर्गन्धता नहीं आ सकती है उसी प्रकार हजारों बार स्नान करने पर भी इस अपवित्र शरीर में भी निर्मलता–शुचिता नहीं आ सकती है, क्यों कि यह निरन्तर नौ द्वारों से मल को बहाता ही रहता है। देह का जब स्वभाव ऐसा है तो फिर इसकी शुचिविधायक साधन ही यहा कौन से एकत्रित किये जा सकते हैं। जो मैं हू वह तो पवित्र हूं अत्यत निर्मल हू। जिस प्रकार वस्तुस्थिति से विचार करने पर शौचालय में रहा हुआ आकाश अपवित्र न हो सकता है उसी प्रकार इस अपवित्र देह में निवास करने वाला यह आत्मा भी अपवित्र नहीं होता है, वह तो सदा अत्यत निर्मल है। इस प्रकार शरीर और आत्मामें अन्तर जानकर ज्ञानी सदा ऐसा विचार करता रहे की मैं अब

अत्यतमलिनो देहो, देही चात्यन्तनिर्मल.।
उभयोरन्तर ज्ञात्वा, कस्य शौच विधीयते ॥ २ ॥

કેમકે, માતા પિતાના રજવિર્યથી આ શરીર અપવિત્ર જ સ્વભાવતઃ ઉત્પન્ન થયેલ છે જ્યારે કારણ સ્વય અશુચિ સ્વરૂપ છે તો તેના કાર્ય રૂપ આ શરીર શુચિરૂપ કઈ રીતે મનાય, ડુંગળીને અથવા લસણુને સમુદ્રના પાણીથી ધોવાથી પણ તેમાં નિર્ગંધતા આવી શકતી નથી તેવી રીતે હજારો વાર સ્નાન કરવા છતાં પણ આ અપવિત્ર શરીરમાં નિર્મળતા–શુચિતા આવતી નથી કેમકે, આ શરીર નિરતર નવ દ્વારોથી મળને બહાર કાઢ્યા જ કરે છે દેહનો જ્યારે સ્વભાવ એવો છે તો પછી એના શુચિ વિધાયક સાધન જ ક્યાંથી મેળવી શકાય. જે હુ છુ તે તો સદા પવિત્ર જ છું, અત્યત નિર્મળ છુ, જે પ્રકારથી વસ્તુ સ્થિતિનો વિચાર કરવા છતાં, શૌચાલયમાં રહેલુ આકાશ અપવિત્ર બની શકતુ નથી તેવીજ રીતે દેહમા નિવાસ કરવાવાળો આ આત્મા પણ અપવિત્ર હો તો નથી. તે તો સદા નિર્મળ જ છે આ પ્રકારે શરીર અને આત્મામા અ તર જાણી જ્ઞાની એવો સદા

दृश्यन्ते हि केचिद् दावानलदग्धस्थाणुवत् कालवर्णाः शीतवातादिभिक्लिष्टा धूलिव्याप्ता मलिनदेहा मनुष्याः। तेषामकामनिर्जरया नास्ति कश्चिद् गुणः, मम तु मलधारणेन महान् गुणः, इति मत्वा मलापनयनाय स्नानाद्यभिलाषमपि न कदाचित् कुर्यादित्यर्थः। उक्तञ्च—

न शक्यं निर्मलीकर्तुं गात्रं स्नानशतैरपि।
अश्रान्तमिव स्रोतोभि,–र्नवभिर्मलमुद्गिरत् ॥ १ ॥

होता है तब तक वह (काएण–कायेन, शरीर से (जल्ल धारए–जल्लं धारयेत्) मेल को धारे। उसे यह विचार करते रहना चाहिये कि इस संसार में ऐसे अनेक प्राणी–मनुष्य देखे जाते हैं। जो दावानल से दग्ध स्थाणु की तरह बिलकुल कृष्णवर्ण होते हैं। उनका शरीर शीतवात आदि से सदा पीडित होता रहता है। धूलि से व्याप्त होने के कारण अत्यन्त मलिन होता है। परन्तु फिर भी इनको इसकी चिन्ता नहीं होती है। अकाम निर्जरा से इनको इतना सब कुछ सहन करने पर भी कोई लाभ नहीं। मेरे लिये तो इस मेल धारण करने से महान् लाभ है, अतः इसके दूर करने के लिये मुझे स्नान आदि सावद्यक्रियाओं की अभिलाषा स्वप्न तक में भी नहीं करनी चाहिये। कहा भी है—

न शक्यं निर्मलीकर्तुं, गात्रं स्नानशतैरपि।
अश्रान्तमिव स्रोतोभि,–र्नवभिर्मलमुद्गिरत् ॥ १ ॥

काएण–कायेन ते शरीरथी जल्ल धारए–जल्लं धारयेत् मेलने राखे तेणे ओ विचार करता रहेवुं जोईओ के,आ संसारमां ओवा अनेक प्राणी, मनुष्य देखवामां आवे छे के दावानळथी दग्ध थाणुनी जेवा तद्दन काळा स्वरूपना ज होय छे तेनुं शरीर शीत, वात आदिथी सदा पीडित रहे छे धूळथी भरेलुं होवाने कारणे अत्यंत मलीन होय छे, छतां पण ओमने ओनी चिंता होती नथी. अकामनिर्जराथी ओमने ओटलुं बधुं सहन करवा छतां पण कोई लाभ नथी. मारा माटे तो आ मेलनो परीषह सहन करवाथी महान लाभ छे, आथी तेने दूर करवा माटे मारे स्नान आदि सावद्यक्रियाओनी अभिलाषा स्वप्ने पण न करवी जोईओ. कह्युं पण छे—

न शक्यं निर्मलीकर्तुं, गात्रं स्नानशतैरपि।
अश्रान्तमिव स्रोतोभि,–र्नवभिर्मलमुद्गिरत् ॥ १ ॥

मुनिनिन्दया दुष्कर्म बद्धवान्। कालमासे काल कृत्वा श्रावकत्वात् सौधर्मे कल्पे देवत्व प्राप्तवान्। ततश्च्युतश्चासौ कौशाम्बीनगरे इभ्यस्य वसुचन्द्रश्रेष्ठिनः पुत्रोऽभवत्। स श्रेष्ठिपुत्रो विशुद्धमतिनाम्ना प्रसिद्धो जात ।

स चैकदा विशाखाचार्यसमीपे धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजित.। अन्यदा कदाचित् तस्य विशुद्धमतिमुने. पूर्वभवकृतमलिनमुनिनिन्दोपार्जितकर्मोदयात् देहेऽतिदुर्गन्धः समुत्पन्न । शटितसर्पादिमृतकगन्धादप्यधिक विशुद्धमतिमुनिदेहभव दुर्गन्धं कोऽपि सोढु नाशकत्। सर्वो लोकस्तद्वपुःस्पृष्टवायुनाऽपि व्याकुलीकृत. सन्नितस्तत पलायते।

कारण मैल से भरा रहता है। फिर भी ये लोग अपने को बहुत ऊँचा समझते रहते हैं और इधर से उधर भटकते रहते हैं। इस प्रकार मुनि की निंदा से उसने गाढ दुष्कर्म का बध कर लिया, और श्रावक होने की वजह से वह मर कर सौधर्म देवलोक में देवपर्याय से उत्पन्न हुवा। वहा से च्यवकर यह कौशाम्बी नगरी में वसुचन्द्र नामक इभ्य-शेठ का पुत्र हुआ। उसका नाम विशुद्धमति रक्खा गया।

एक दिनकी बात है कि विशुद्धमति ने विशाखाचार्य के पास धर्म श्रवणकर दीक्षा ले ली। कालान्तरमें विशुद्धमति मुनिके शरीरमें सुनद वणिक्के भवमें की गई मुनिनिन्दासे उपार्जित पापकर्म के उदय से अति दुर्गन्ध आने लगी। सडे हुए सांप आदिकी जैसी दुर्गन्ध होती है उससे भी अधिक दुर्गन्ध इनके शरीर की थी, अत उस दुर्गन्ध को सहन करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं हुआ। उसके शरीर को स्पर्शकर जो वायु आता था लोग उस वायु से भी घबरा जाते थे।

પણ આ લોકો પોતાને ખૂબજ ઉચ્ચા સમજે છે અને અહી તહી ભટકતા રહે છે આ પ્રકારની મુનિની નિંદાથી તેણે ગાઢ દુષ્કર્મનો બધ કરી લીધો અને શ્રાવક હોવાના કારણે તે મરીને સૌધર્મ દેવલોકમાં દેવ પર્યાયથી ઉત્પન્ન થયો. ત્યાંથી ચવીને તે કોશામ્બી નગરીના વસુચદ્ર નામના ઇભ્ય-શેઠનો પુત્ર થયો તેનુ નામ વિશુદ્ધમતિ રાખવામાં આવ્યું

એક દિવસની વાત છે કે, વિશુદ્ધમતિએ વિશાખાચાર્યની પાસે ધર્મ શ્રવણ કરી દીક્ષા લઈ લીધી કાળાન્તરમાં વિશુદ્ધમતિ મુનિના શરીરમા સુનદ વણીકના ભવમાં કરાયેલ મુનિ નિંદાથી ઉપાર્જન કરેલ પાપકર્મના ઉદયથી અતિ દુર્ગંધ આવવા લાગી. સડેલા સર્પ વગેરેની જે દુર્ગંધ આવે છે તેનાથી પણ અધિક દુર્ગંધ તેના શરીરની હતી. આથી એ દુર્ગંધને સહન કરવા કોઈ સમર્થ ન બન્યુ, તેના શરીરને સ્પર્શ કરીને જે પવન આવતો તે પવનથી પણ લોકો

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

चम्पानगर्यां सुनन्दनामा धनाढ्यो वणिक् श्रावक आसीत्। स बहुविधपण्यै-र्व्यवहारकरणेन जाताभिमानो विवेकरहितः कदाचिदेकदा साधु दृष्ट्वा निन्दति स्म–अहो! शरीरसंस्कारवर्जिताः अभद्रवेषा धूलिधूसरा घर्मादिसमुत्पन्नमला नपनयनेन मलिनशरीराः पुनरपि स्ववेषं भव्यमेव मन्यमाना विहरन्ति। स चैवं

स्नानादिक से किसकी शुचि करूं ? जिस शरीरकी शुचि इन स्नानादि क्रियाओं से करना चाहता हूं वह तो स्वभाव से ही अपवित्र है, तथा आत्मा पवित्र होने से उसकी शुचि करने का प्रयास व्यर्थ है। ऐसा समझकर साधु जल्लपरीषह को सहन करे।

दृष्टान्त—चंपानगरी में सुनंद नामका एक धनाढ्य वैश्य श्रावक रहता था। इसका व्यापार खूब चलता था। अनेक चीजों का रोजगार यह किया करता था। इससे दुकानदारी में इसको अधिक लाभ होता था, इसलिये इसे अपनी दुकानदारी का बहुत कुछ अभिमान था। विवेक से रहित होने के कारण एक दिन की बात है कि इसने किसी एक साधु को देखकर उसकी भारी निंदा की। कहने लगा–देखो तो सही ये शरीर के संस्कार से बिलकुल वर्जित रहते हैं, इनका वेष भी भद्रपुरुषों जैसा नहीं होता है, शरीर पर तो इनके धूल चढी रहती है। ये नहाते धोते नहीं हैं। रात दिन पसीना आते रहनेसे कपडे भी इनके बुरी तरह से दुर्गन्ध देने लगते हैं। शरीर भी पसीने से तर हो जाने के

વિચાર કરતો રહે કે, હું હવે સ્નાન આદિથી કેની શુદ્ધિ કરૂં ? જેની શુદ્ધિ આવી સ્નાનાદિક ક્રિયાઓથી કરવા ચાહું છું તે તો સ્વભાવથી જ અપવિત્ર છે તથા આત્મા પવિત્ર હોવાથી એની શુચિ કરવાનો પ્રયાસ વ્યર્થ છે એવું સમજીને સાધુ જળપરીષહને સહન કરે

દૃષ્ટાંત—ચંપાનગરીમાં સુનંદ નામનો એક ધનાઢય વૈશ્ય–શ્રાવક રહેતો હતો તેનો વેપાર ખૂબ ચાલતો હતો અનેક ચીજોનો રોજગાર તે કરતો હતો. તેનાથી દુકાનદારીમાં તેને અધિક લાભ થતો હતો તેને પોતાની દુકાનદારીનું ઘણું અભિમાન હતું વિવેકથી રહિત હોવાના કારણે એક દિવસની વાત છે કે, તેણે કોઈ એક સાધુને જોઈને તેની ખૂબ નિંદા કરી, કહેવા લાગ્યો કે, જુઓ તો ખરા! આ શરીરના સંસ્કારથી તદ્દન વર્જીત રહે છે તેનો વેષ પણ ભદ્ર પુરૂષો જેવો નથી. શરીર ઉપર તો ધૂળ ચોંટેલી રહે છે, એ નાતા ધોતા નથી, રાત દિવસ પરસેવો આવતો હોવાથી તેમનાં કપડાં પણ દુર્ગંધ મારતાં હોય છે અને શરીર પણ પરસેવાથી તર હોવાને કારણે મેલથી ભરેલુ રહે છે તો

अथैकोनविंशतितम सत्कारपुरस्कारपरीषहजय माह—

मूलम्—अभिवायमब्भुट्ठाण, सामी कुज्जा निमंतण ।
जे ताइ पडिसेवंति, न तेसिं पीहेए मुणी ॥३८॥

छाया—अभिवादम् अभ्युत्थान, स्वामी कुर्यात् निमन्त्रणम् ।
ये तानि प्रतिसेवन्ते, न तेभ्य. स्पृहयेत् मुनि' ॥ ३८ ॥

टीका—' अभिवाय० ' इत्यादि ।

स्वामी=राजादिक , अभिवादम्–अभिवादनम्–'शिरोनमनचरणस्पर्शनादिपूर्व-कमभिवादये प्रणमामी'त्यादिवचनरूप पुरस्कार, तथा–अभ्युत्थानम्=अभिमुखमु-त्थानम्–ससभ्रममासन परित्यज्योत्थानरूप पुरस्कार च, तथा–निमन्त्रणम्–आहारादिग्रहणाय प्रार्थनम् , ' अद्य मद्गृहे भिक्षा ग्रहीतव्या ' इत्यादिवचनरूप

जन्ममरण से सदा के लिये विमुक्त हो गये। इसी तरह अन्य मुनियों को भी जल्लपरीषह सहन करना चाहिये ॥ ३७ ॥

अब उन्नीसवा सत्कारपुरस्कारपरीषहजय को सूत्रकार कहते हैं–'अभिवाय'–इत्यादि ।

अन्वयार्थ—यदि (सामी–स्वामी) राजा आदि (अभिवाय अब्भुट्ठाण निमतण–अभिवादन अभ्युत्थानम् निमत्रण) अभिवादन–अपने मस्तक को झुकाकर चरणस्पर्श करते हुए नमस्कार करें, तथा अभ्युत्थान–मुनि को आते देखकर बडे आदरभाव से अपने आसन का परित्याग कर वे उठ खडे हों और मुनि के सन्मुख जावें, तथा–निमत्रण–आहार आदि के ग्रहण करने के लिये प्रार्थना करें कि महाराज! आज आप मेरे घर पर भिक्षा लें, इस प्रकार अभिवादन, अभ्युत्थान

કલ્યાણ સાધીને જન્મમરણથી સદાને માટે વિમુક્ત બની ગયા. આ રીતે અન્ય મુનિઓએ પણ જળપરીષહને સહન કરવો જોઈએ. ॥ ૩૭ ॥

હવે ઓગણીસમો સત્કારપુરસ્કારપરીષહ જીતવાને સૂત્રકાર કહે છે 'अभिवाय ' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—યદિ सामी–स्वामी રાજા વગેરે अभिवाय अब्भुट्ठाण निमतण–अभिवादन अभ्युत्थानम् निमत्रणम् પોતાના મસ્તકને ઝુકાવી ચર્ણસ્પર્શ કરી નમસ્કાર કરે, તથા અભ્યુત્થાન–મુનિને આવતા જોઈને ઘણા આદરભાવથી પોતાના આસનનો પરિત્યાગ કરી તે ઉઠીને ઉભા રહે અને મુનિની સામે જાય, તથા નિમંત્રણ–આહાર આદિ ગ્રહણ કરવા માટે પ્રાર્થના કરે કે, મહારાજ! આજ આપ મારા ઘરે ભિક્ષા લ્યો. આ પ્રકારે અભિવાદન, અભ્યુત્થાન તથા નિમંત્રણ कुज्जा–कुर्यात्

यत्र यत्रासौ भिक्षार्थं याति तत्र तत्र लोकस्तद्गन्धेन विमना भवति। मुनिश्च तिरस्कारं प्राप्नोति तथाप्यसौ जल्लपरीषहं सहते।

तदनन्तरं विशाखाचार्यस्तमब्रवीत्-वत्स! त्वदेहदौर्गन्ध्यात् भृशमुद्वेगो जनानां जायते, तस्मादुपाश्रय एव त्वया स्थातव्यं, न तु बहिर्गृहस्थसन्निधौ गन्तव्यम्। इत्थं तद्वचनं निशम्य विशुद्धमतिमुनिस्तस्मिन्नेवोपाश्रये स्थितः। अन्तप्रान्ताहारेण दुर्बलशरीरोऽसौ विशुद्धमतिमुनिः स्वगुरुं प्रार्थ्य तदाज्ञामादाय पादपोपगमनं कृत्वा स्वकल्याणं साधयामास। एवमन्यैर्मुनिभिर्जल्लपरीषहः सोढव्यः ॥ ३७ ॥

जहां जहां ये भिक्षा के लिये जाते वहां२ लोग उनके शरीर की दुर्गन्ध से व्याकुल हो उठते। इस दुर्गन्ध के कारण मुनिराज का भी तिरस्कार होने लगा। फिर भी उन्हों ने इस तर्फ ध्यान नहीं दिया और जल्ल-परीषह को जीतने में ही वे अपनी सारी शक्ति लगाते रहे।

विशाखाचार्य ने एक दिन इनसे कहा वत्स! तुम्हारे शरीर की दुर्गन्ध से लोगों में बड़ा असन्तोष फैल रहा है वे बडे उद्विग्न होते हैं, इसलिये तुम अब कहीं न जाकर सिर्फ उपाश्रय में ही रहा करो। इस प्रकार गुरु महाराज के वचन सुनकर विशुद्धमति मुनिराज अब उपाश्रय में ही रहने लगे-बाहर गृहस्थों के यहां आना जाना बंद कर दिया। अन्त प्रान्त आहार से इनका शरीर भी दुर्बल हो गया था, अतः अपने गुरु महाराज से प्रार्थना कर इन्हों ने उनकी आज्ञानुसार पादपोपगमन संथारा धारण कर लिया और अपना कल्याण साध कर

અસરાઈ જતા હતા જ્યાં જ્યાં એ ભિક્ષા લેવા જતા ત્યાં ત્યાં લોકો એના શરીરની દુર્ગંધથી વ્યાકુળ બની જતા. અને આ દુર્ગંધના કારણે જ્યાં ત્યાં મુનિરાજનો પણ તિરસ્કાર થવા લાગ્યો. તો પણ તેમણે એ તરફ ધ્યાન ન આપ્યું અને જળપરીષહ જીતવામાં જ પોતાની બધી શક્તિ લગાડી રહ્યા

વિશાખાચાર્યે તેને એક દિવસ કહ્યું, કે વત્સ! તમારા શરીરની દુર્ગંધથી લોકોમાં ઘણો અસંતોષ ફેલાઈ રહ્યો છે આથી ઘણા ઉદ્વિગ્ન બને છે, માટે તમે હવે ક્યાંય ન જતાં ફક્ત ઉપાશ્રયમાં જ રહ્યા કરો આ પ્રકારનું ગુરુમહારાજનું વચન સાંભળીને વિશુદ્ધમતિ મુનિરાજ હવે ઉપાશ્રયમાં જ રહેવા લાગ્યા બહાર ગૃહસ્થોને ત્યાં જવા આવવાનું બંધ કરી દીધું અન્ત પ્રાન્ત આહારથી તેમનું શરીર પણ દુબળ થઈ ગયું, અંતે પોતાના ગુરુમહારાજને પ્રાર્થના કરી તેમની આજ્ઞા અનુસાર પાદપોપગમન સંથારો ધારણ કર્યો

छाया—अनुत्कशायी अल्पेच्छः, अज्ञातैषी अलोलुपः ।
रसेषु नानुगृध्येत्, नानुतप्येत प्रज्ञावान् ॥ ३९ ॥

टीका—'अणुक्कसाई' इत्यादि ।

अनुत्कशायी=अनुत्कः-अनुत्कण्ठितः शेते, धातूनामनेकार्थत्वाद् वर्तते इत्येवं शीलः सत्कारादिवाञ्छारहित इत्यर्थः, यद्वा-प्राकृतत्वाद्-'अणुकषायी' इतिच्छाया। अल्पकषायी-कषायरहित इत्यर्थः-वन्दनादिकमकुर्वते न क्रुध्यति, वन्दनादौ कृते वा न मानं कुरुते न वा तदर्थं शीतोष्णाऽऽतापनादिभिर्मायां करोति, न चापि तत्र लोभं करोतीति भावः । अत एव-'अल्पेच्छः'=धर्मोपकरणमात्राभिलाषी, न तु सत्कारपुरस्काराभिलाषीत्यर्थः। अत एव-अज्ञातैषी-अज्ञातः=जातिश्रुतादिभिरपरिचितो भूत्वा एषयति-गवेषयति पिण्डादिकं, यः स तथा, यद्वा-अज्ञाते=अज्ञातकुले एषयति=गवेषयति पिण्डादिकं यः स तथा, तत्र हेतुं प्रदर्शयति

अब सूत्रकार इसी अर्थ को विशद करते हैं-'अणुक्कसाई' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(अणुक्कसाई-अनुत्कशायी) सत्कार आदि की अभिलाषा रहित अथवा अल्पकषाय वाला-सत्कारादि विषयक कषायभाव रहित, अर्थात्-वंदना आदि नहीं करने वाले के प्रति क्रोध नहीं करने वाला, तथा वन्दनादि करने पर अभिमान नहीं करने वाला, तथा मान सन्मान आदि के निमित्त शीत, उष्ण, आतापना आदि द्वारा मायाचार नहीं करने वाला तथा उस विषय में लोभ-कषाय भी नहीं करने वाला, (अप्पिच्छे-अल्पेच्छः) तथा अल्पइच्छावाला धर्मोपकरणमात्र की अभिलाषा वाला सत्कारपुरस्कार आदि की अभिलाषा वाला नहीं, तथा (अन्नाएसी-अज्ञातैषी) जाति एवं श्रुत आदि से अपरिचित होकर शुद्ध पिंडादिक की गवेषणा करने वाला, अथवा-अज्ञातकुल में

હવે સૂત્રકાર આ અર્થને સ્પષ્ટ કરે છે—'अणुक्कसाई' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—अणुक्कसाई-अनुत्कशायी સત્કાર આદિની અભિલાષાથી રહિત અથવા અલ્પ કષાયવાળા-સત્કારાદિ વિષયક કષાયભાવ રહિત, અર્થાત્ વંદના આદિ ન કરનાર તરફ ક્રોધ નહીં કરવાવાળા તથા વંદનાદિ કરવાથી અભિમાન નહીં કરવાવાળા તથા માન સન્માન આદિ નિમિત્ત શીત, ઉષ્ણ, આતાપના આદિ દ્વારા માયાચાર નહીં કરવાવાળા તથા એ વિષયમાં લોભ કષાય પણ નહીં કરવાવાળા अप्पिच्छे-अल्पेच्छः તથા-અલ્પ ઈચ્છાવાળા-ધર્મોપકરણ માત્રની અભિલાષાવાળા-સત્કાર પુરસ્કાર આદિની અભિલાષાવાળા નહીં તથા अन्नाएसी-अज्ञातैषी જાતિ અગર શ્રુત આદિથી અપરિચિત બનીને શુદ્ધ પિંડાદિકની ગવેષણા

सत्कार कुर्यात्, तानि=अभिवादादीनि ये स्वयूथवर्तिनः अवसन्नपार्श्वस्थादय, परतीर्थिका दण्डिशाक्यादयो वा द्रव्यलिङ्गिनः प्रतिसेवन्ते=आगमनिषिद्धान्यपि स्वीकुर्वन्ति, तेभ्यः=ऋद्धिरससातगृद्धियुक्तेभ्यः, मुनिः=अनगारः न स्पृहयेत्, राजादिकृतसत्कारपुरस्कारौ प्रतिसेवमानान् द्रव्यलिङ्गिनः साधून् विलोक्य–"अहो! पुण्यशालिनोऽमी पार्श्वस्थादय शाक्यादयश्च यदेतादृशं वन्दनाभ्युत्थानादिसत्कारं प्राप्नुवन्ति, अतोऽहमप्येतादृशो भवामी"-ति मुनिस्तत्साम्यं न वाञ्छेदित्यर्थः।।३८।

अमुमेवार्थं विशदयति—

मूलम्-अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झिज्जा, नाणुतप्पिज्ज पण्णवं ॥३९॥

तथा निमन्त्रण (कुज्जा–कुर्यात्) करे और (ताइ–तानि) उनको (जे–ये) जो स्वयूथवर्ती अवसन्न पासत्थ आदि, अथवा परतीर्थिक दण्डिशाक्यादिक द्रव्यलिङ्गी साधु (पडिसेवति–प्रतिसेवन्ते) सेवन करते हैं उनको स्वीकार करते हैं तो (मुणी तेसिं न पीहए–मुनिः तेभ्यः न स्पृहयेत्) मुनि उन ऋद्धिरससातगृद्धियुक्तों की स्पृहा न करे राजा आदि द्वारा किये गये सत्कार पुरस्कार को प्रतिसेवन करने वाले अवसन्नपार्श्वस्थादि द्रव्यलिङ्गी साधुओं को देखकर "अहो! ये अवसन्न पार्श्वस्थादिक तथा शाक्यादिक बडे ही पुण्यशाली हैं जिससे ये इस प्रकार के वन्दन अभ्युत्थान आदि सत्कार को पाते हैं अतः मैं भी इनके जैसा होऊ तो अच्छा हो" इस प्रकार अणगार–मुनि उनकी समानता की अर्थात् उनके जैसा होने की वाञ्छा नहीं करे ॥ ३८ ॥

કરે અને તાइ–तानि એમને જે–ये જે સ્વયૂથવર્તી અવસન્ન પાસત્થ આદિ અથવા પરતિર્થી ક દંડી, શાક્યાદિક દ્રવ્યલિંગી સાધુ पडिसेवति–प्रतिसेवन्ते સેવન કરે છે–એનો સ્વીકાર કરે છે मुणी तेसिं न पीहए–मुनिः तेभ्यः न स्पृहयेत् તો મુનિ એ ઋદ્ધિરસ સાત ગૃદ્ધિયુક્તોની સ્પૃહા ન કરે રાજા આદિ દ્વારા કરાયેલા સત્કાર પુરસ્કારનું પ્રતિસેવન કરવાવાળા અવસન્ન પાર્શ્વસ્થાદિ દ્રવ્યલિંગી સાધુઓને જોઈને "અહો" એ અવસન્ન પાર્શ્વસ્થાદિક તથા શાક્યાદિક ઘણા જ પુન્યશાળી છે, જેથી તે આ પ્રકારનાં વંદન અભ્યુત્થાન આદિ સત્કાર પામે છે એથી હું પણ એમના જેવો થાઉં તો સારૂ થાય. આ પ્રકારે અણગાર મુનિ તેમની સમાનતાની અર્થાત્ તેમના જેવા થવાની વાંચ્છના ન કરે. ॥ ૩૮ ॥

छाया—अनुत्कशायी अल्पेच्छ, अज्ञातैषी अलोलुप।
रसेषु नानुगृध्येत्, नानुतप्येत प्रज्ञावान्॥ ३९॥

टीका—'अणुक्कसाई' इत्यादि।

अनुत्कशायी=अनुत्क'–अनुत्कण्ठितः शेते, धातूनामनेकार्थत्वाद् वर्तते इत्येव शीलः सत्कारादिवाञ्छारहित इत्यर्थ', यद्वा–प्राकृतत्वाद्–'अणुकपायी' इतिच्छाया। अल्पकषायी–कषायरहित इत्यर्थ.–वन्दनादिकमकुर्वते न क्रुध्यति, वन्दनादौ कृते वा न मान कुरुते न वा तदर्थं शीतोष्णाऽऽतापनादिभिर्मायां करोति, न चापि तत्र लोभ करोतीति भाव। अत एव–'अल्पेच्छः'=धर्मोपकरणमात्राभिलाषी, न तु सत्कारपुरस्काराभिलाषीत्यर्थ। अत एव–अज्ञातैषी–अज्ञात.=जातिश्रुतादिभिरपरिचितो भूत्वा एषयति–गवेषयति पिण्डादिक, य स तथा, यद्वा–अज्ञाते=अज्ञातकुले एषयति=गवेषयति पिण्डादिक य स तथा, तत्र हेतु प्रदर्शयति

अब सूत्रकार इसी अर्थ को विशद करते हैं–'अणुक्कसाई' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(अणुक्कसाई–अनुत्कशायी) सत्कार आदि की अभिलाषा रहित अथवा अल्पकषाय वाला–सत्कारादि विषयक कषायभाव रहित, अर्थात्–वदना आदि नहीं करने वाले के प्रति क्रोध नहीं करने वाला, तथा वन्दनादि करने पर अभिमान नहीं करने वाला, तथा मान सन्मान आदि के निमित्त शीत, उष्ण, आतापना आदि द्वारा मायाचार नहीं करने वाला तथा उस विषय में लोभ–कषाय भी नहीं करने वाला, (अप्पिच्छे–अल्पेच्छ) तथा अल्पइच्छावाला धर्मोपकरणमात्र की अभिलाषा वाला सत्कारपुरस्कार आदि की अभिलाषा वाला नहीं, तथा (अन्नाएसी–अज्ञातैषी) जाति एव श्रुत आदि से अपरिचित होकर शुद्ध पिंडादिक की गवेषणा करने वाला, अथवा–अज्ञातकुल में

હવે સૂત્રકાર આ અર્થને સ્પષ્ટ કરે છે—'अणुक्कसाई' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—अणुक्कसाई–अनुत्कशायी સત્કાર આદિની અભિલાષાથી રહિત અથવા અલ્પ કષાયવાળા–સત્કારાદિ વિષયક કષાયભાવ રહિત, અર્થાત્ વદના આદિ ન કરનાર તરફ ક્રોધ નહીં કરવાવાળા તથા વદનાદિ કરવાથી અભિમાન નહીં કરવાવાળા તથા માન સન્માન આદિ નિમિત્ત શીત, ઉષ્ણ, આતાપના આદિ દ્વારા માયાચાર નહીં કરવાવાળા તથા એ વિષયમાં લોભ કષાય પણ નહીં કરવાવાળા अप्पिच्छे–अल्पेच्छ- તથા–અલ્પ ઈચ્છાવાળા–ધર્મોપકરણ માત્રની અભિલાષાવાળા–સત્કાર પુરસ્કાર આદિની અભિલાષાવાળા નહીં તથા अन्नाएसी–अज्ञातैषी જાતિ અગર શ્રુત આદિથી અપરિચિત બનીને શુદ્ધ પિંડાદિકની ગવેષણા

–'अलोलुए' इति। अलोलुपः=सरसाहारादिषु रसनेन्द्रियादिलोलुपतावर्जितः, तथा–प्रज्ञावान्=हेयोपादेयविवेचननिपुणबुद्धिमान्, रसेषु=रसादिषु, नानुगृध्येत्=मनोज्ञरसादिभिः सत्कारे पुरस्कारे च कृते तत्र मूर्छां न कुर्यात्। नानुतप्येत्=सत्कारपुरस्कारयोरभावे विषाद न कुर्यात्।

अत्र भावः–भक्तपानवस्त्रपात्रादीनां लाभः सत्कारः, गुणोत्कीर्तनं वन्दनाभ्युत्थानासनप्रदानादिव्यवहारश्च पुरस्कारः। तत्र–सत्कारपुरस्कारप्राप्तौ सत्यां वृद्धिं न कुर्यात्, तयोरभावे द्वेषं न कुर्यात्, नापि च मनस्तापेनात्मानं दूषयेत्, किन्तु दैन्यवर्जनेन तदनाकाङ्क्षया च सत्कारपुरस्कारपरीषहः सोढव्यः, इत्येवं सद्भावासद्भावभेदेन द्विविधोऽयं परीषहः सोढव्य इति। उक्तञ्च

गवेषणा करने वाला, तथा (अलोलुए–अलोलुपः) सरस आहारादिक में रसना–इन्द्रिय की लोलुपता से रहित ऐसा (पण्णव–प्रज्ञावान्) हेय और उपादेय के विवेचन करने में निपुण बुद्धिवाला मुनि (रसेसु नाणुगिज्झिज्जा–रसेषु नानुगृध्येत्) मनोज्ञ रसादि के द्वारा सत्कारपुरस्कार होने पर रसादि में मूर्च्छा–गृद्धि भाव नहीं करे, तथा मनोज्ञ रसादि के नहीं मिलने पर विषाद नहीं करे।

भावार्थ—इसका सारांश यह है कि–भक्त, पान, वस्त्र एवं पात्रादिकका लाभ सत्कार है, तथा गुणों का कथनरूप तथा वन्दना अभ्युत्थान एवं आसनप्रदानरूप जो व्यवहार है वह पुरस्कार है। साधु को सत्कारपुरस्कार की प्राप्ति होने पर गृद्धि और इनके अभाव में द्वेष नहीं करना चाहिये, और न मनके संताप से अपने आपको दूषित ही

કરવાવાળા અથવા અજ્ઞાત કુળમાં આહારની ગવેષણા કરવાવાળા તથા અલોલુए–અલોલુપ: સરસ આહારાદિકમાં રસનાઇન્દ્રિયની લોલુપતાથી રહિત એવી पण्णव–प्रज्ञावान् હેય અને ઉપાદેયનું વિવેચન કરવામાં નિપુણ બુદ્ધિવાળા મુનિ, रसेसु नाणुगिज्झिज्जा–रसेषु नानुगृध्येत् મનોજ્ઞ રસાદિ દ્વારા સત્કારપુરસ્કાર હોવા છતાં રસાદિમાં મૂર્ચ્છા–ગૃદ્ધિભાવ ન કરે. તથા મનોજ્ઞ રસાદિ નહીં મળ વાથી વિષાદ ન કરે.

આનો સારાંશ એ છે કે–ભક્ત, પાન, વસ્ત્ર, અને પાત્રાદિકનો લાભ સત્કાર છે, તથા ગુણોના કથનરૂપ, તથા વંદના અભ્યુત્થાન અને આસનપ્રદાન રૂપ જે વહેવાર છે, તે પુરસ્કાર છે સાધુને સત્કારપુરસ્કારની પ્રાપ્તિ હોવાથી ગૃદ્ધિ અને તેના અભાવમાં દ્વેષ ન કરવો જોઈએ. તેમ મનના સંતા[illegible] પોતે

उत्थाने वन्दने दाने, न भवेदभिलाषुकः।
असत्कारे न दीनः स्यात्, सत्कारे स्यान्न हर्षवान् ॥ १ ॥ इति।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

अरुणाचार्यः शिष्यपरिवारेण सह मथुरानगर्यां समवसृतः। तत्रारिमर्दनो नाम भूपतिरासीत्, इन्द्रदत्तनामकस्तस्य पुरोहितस्तत्र निवसति। स जिनशासनविरो-

करना चाहिये, किन्तु दीनता के परिहार से एवं सत्कारपुरस्कार की अनाकांक्षा से सत्कारपुरस्कार इन दोनों को सहन करते रहना चाहिये। इस प्रकार सद्भाव और असद्भाव के भेद से दो प्रकारका यह परीषह साधु को सहन करने योग्य बतलाया गया है। कहा भी है—

उत्थाने वन्दने दाने, न भवेदभिलाषुक।
असत्कारे न दीन स्यात्, सत्कारे स्यान्न हर्षवान् ॥ १ ॥

भावार्थ—वस्त्र पात्रादिक का लाभ हो चाहे न हो, कोई वंदनादिक करे या न करे, इस तर्फ लक्ष्य न देना और न इस विषयक हर्ष विषाद करना। चाहे कोई सत्कार करे चाहे न करे सब में समभाव रहना सो सत्कारपुरस्कारपरीषहजय है।

दृष्टान्त—एक समय अरुणाचार्य अपने शिष्यपरिवार के साथ मथुरा नगरी में आये हुए थे। उस समय वहां अरिमर्दन राजा का राज्य था। राजा के पुरोहित का नाम इन्द्रदत्त था। यह उसी नगरी

પોતાને દૂષિત ન કરે, પરંતુ દીનતાના પરિહારથી અને સત્કારપુરસ્કારની અનાકાંક્ષાથી સત્કારપુરસ્કાર આ બન્ને ને સહન કરતા રહેવું જોઈએ આ પ્રકારે સદ્ભાવ અને અસદ્ભાવના ભેદથી બે પ્રકારનો આ પરીષહ સાધુએ સહન કરવા યોગ્ય બતાવેલ છે કહ્યું છે કે—

उत्थाने वदने दाने, न भवेदभिलाषुकः।
असत्कारे न दीनः स्यात्, सत्कारे स्यान्न हर्षवान् ॥ १ ॥

ભાવાર્થ—વસ્ત્ર પાત્રાદિકનો લાભ હોય અગર ન હોય, કોઈ વંદના આદિ કરે કે ન કરે, એ તરફ લક્ષ ન આપવું અથવા ન આ વિષયમાં હર્ષ વિષાદ કરવો ચાહે કોઈ સત્કાર કરે, ચાહે ન કરે સઘળામાં સમભાવ રહેવો તે સત્કારપુરસ્કાર પરીષહ જય છે

દૃષ્ટાંત—એક સમયે અરૂણાચાર્ય પોતાના શિષ્ય પરિવાર સાથે મથુરા નગરીમાં વિચરતા હતા એ વખતે ત્યાં અરિમર્દન રાજાનું રાજ્ય હતું રાજાના પુરોહિતનું નામ ઇન્દ્રદત્ત હતું તે એજ નગરીમાં રહેતા હતા. જીનશાસન પ્રત્યે

धित्वात् स्वगवाक्षस्थः सन्अधो व्रजन्तमरुणाचार्यस्य शिष्य सुधर्मशीलनामकं मुनिं दृष्ट्वा धर्मद्वेषादचिन्तयत्–' अस्य मुनेः शिरसि पादं निक्षिपामि ' इति एवं विचिन्त्य, स तन्मस्तकोपरि स्वपादमवलम्बितं कृतवान् ।

यदा यदा भिक्षार्थं स्थण्डिलभूमौ वा मुनिस्तद्भवनाऽऽसन्नमार्गेण गच्छति, तदा तदाऽसौ पुरोहितः स्वगवाक्षे उपविश्य मुनिमस्तकोपरि पादधारणबुद्ध्या स्वपादौ तत्रावलम्बितौ कृत्वा हृष्टो भवति। एवं निरन्तरं कुर्वाणं दृष्ट्वाऽपि क्षान्त्यसमुद्रोऽसौ मुनिर्मनसाऽपि नाकुप्यत् । एकदा मुनिमस्तकोपरि पादं निक्षिपन् स

में रहता था । जिन शासन के प्रति इसका विरोध सदा से चला आता था। एक दिन की बात है कि जब यह अपने मकान के झरोखे में बैठा हुआ था उसी समय इसने अरुणाचार्य के एक शिष्य को कि जिनका नाम सुधर्मशील मुनि था दृष्टि को झुकाकर जाते हुए देखा। देखकर धर्म के प्रति द्वेष होने की वजह से इसने उसी वख्त विचार किया कि आज मैं इस मुनि के मस्तक पर पैर रखु । ऐसा विचार कर झरोखे के पास से निकलते हुए मुनि के सिर के ऊपर अपने पैर लटका दिये।

एक दिन उस नगर के सेठ ने कि जिसका नाम सुभद्र था इस पुरोहित को मुनि के मस्तक के ऊपर पैर रखते हुए देख लिया। मुनि के मस्तक ऊपर पुरोहित पैर इस तरह रखता था कि मुनि जबर भिक्षा के लिये या शौच के लिये उसके मकान की खिड़की के पास के मार्गसे हो कर निकलते तबर यह पुरोहित अपने मकानकी उस खिड़की में बैठ जाता और चलते हुए मुनि के मस्तक ऊपर अपने दोनों पैर

તેનો વિરોધ સદા ચાલ્યો આવતો હતો એક દિવસની વાત છે કે, જ્યારે તે પોતાના મકાનના ઝરૂખામાં બેઠેલ હતો તે સમયે તેણે અરૂણાચાર્યના એક શિષ્યને કે જેનું નામ સુધર્મશીલ મુનિ હતું તેને નીચે આંખ રાખી જતા તેણે જોયા. જોઈને ધર્મના તરફ દ્વેષ હોવાના કારણે તેણે તે વખતે વિચાર કર્યો કે, આજ હું આ મુનિના મસ્તક ઉપર પગ રાખું એવો વિચાર કરી ઝરૂખાની પાસેથી નિકળતા મુનિના માથા ઉપર પોતાના પગ લટકાવ્યા.

એક દિવસ એ નગરના જ સુભદ્ર નામના શેઠે આ પુરોહિતને મુનિના માથા ઉપર પગ રાખતા જોઈ લીધા મુનિના માથા ઉપર પુરોહિત પગ એવી રીતે રાખતા કે, મુનિ જ્યારે જ્યારે ભિક્ષા માટે અગર શૌચ માટે તેના મકાનની બારીની પાસેના માર્ગેથી નીકળે ત્યારે ત્યારે તે પુરોહિત પોતાના મકાનની બારીમાં બેસી રહેતો, અને ચાલતા મુનિના માથા ઉપર પોતાના પગ રાખતો.

पुरोहितस्तन्नगरश्रेष्ठिना सुभद्रनामकेन श्रावकेण दृष्टः। स सुभद्रश्रावको गुरोरपमानम् असहमानोऽरुणाचार्यसमीपं गत्वा वदति-भदन्त! पुरोहितकृतो भवदपमानो मया न सह्यते, यतो भवदीयशिष्यस्य मस्तकोपरि इन्द्रदत्तपुरोहितेन पादौ निक्षिप्तौ तस्मादस्य यथोचितशासनं कर्तुमिच्छामि। आचार्येणोक्तम्-देवानुप्रिय! यथा नृपादिकृते सत्कारे पुरस्कारे च न प्रमोदः क्रियतेऽस्माभिः, तथा तदभावे द्वेष दैन्यादिकमपि न क्रियते, जैनधर्मद्वेषादसौ तथा करोति। अस्माभिस्त्वेष परीषहः सोढव्य एव।

रखने की इच्छा से पसार देता इससे वे मुनि के माथे ऊपर हो जाते थे। इस कार्य से पुरोहित को बड़ा मजा आता। पुरोहित की इस प्रवृत्ति को देखकर भी मुनिके चित्त में जरा भी विकृति नहीं आती, क्यों कि वे शान्तरस के समुद्र थे। किन्तु सुभद्र श्रावक को पुरोहित की यह बात सहन नहीं हुई। गुरु का अपमान देखकर उसका मन तिलमिला उठा। वह शीघ्र ही अरुणाचार्य के पास पहुँचकर कहने लगा-भदन्त! पुरोहित द्वारा होता हुआ आपका अपमान मुझसे सहन नहीं किया जाता है, क्यों कि वह आप के शिष्य के मस्तक पर कई दिन से पैर जो रख रहा है, इसलिये मैं उसे इसका उचित उत्तर देना चाहता हूँ। सुभद्र सेठ की बात सुनकर आचार्यमहाराज ने कहा कि देवानुप्रिय! हम लोग जिस प्रकार नृपादिकद्वारा क्रियमाण सत्कारपुरस्कार में प्रसन्न नहीं होते हैं उसी प्रकार उसके अभाव में द्वेष एवं दैन्यादिक भी

આ ક્રિયા એવી રીતે કરતો કે, પગ લાંબા કરી પસારતો કે જેથી તે મુનિના માથા ઉપર આવે આ કાર્યમાં પુરોહિતને ખૂબ મજા આવતી. પુરોહિતની આ પ્રકારની પ્રવૃત્તિને જોઈ ને મુનિના મનમા જરા પણ વિકૃતિ આવતી ન હતી કારણ કે, તેઓ શાંતરસના સમુદ્ર હતા પરંતુ સુભદ્રશ્રાવકથી પુરોહિતનું આ વર્તન સહન ન થયું ગુરુનું અપમાન જોઈને એનું મન ખૂબ વ્યગ્ર થઈ ગયું તે તરત જ અરૂણાચાર્યની પાસે પહોંચીને કહેવા લાગ્યા, હે ભદન્ત! પુરોહિતથી થતું આપનું અપમાન મારાથી સહન થતું નથી કેમકે, તે આપના શિષ્યના મસ્તક પર કેટલાક દિવસથી પગ રાખી અસાતના કરે છે હું તેને આનો ઉચિત ઉત્તર આપવા ચાહું છુ સુભદ્રશેઠની વાત સાંભળીને આચાર્ય મહારાજે કહ્યું કે, દેવાનુપ્રિય! અમે લોકો જે પ્રકારે નૃપાદિક દ્વારા કરાયેલા સત્કારપુરસ્કારમાં પ્રસન્ન નથી થતા, તેવી રીતે તેના અભાવમાં દ્વેષ અને દૈન્ય આદિક પણ

एकदा गुरोः समीपमागत्य सुभद्रश्रावको वदति–भदन्त ! पुरोहितेन नूतनं भवनं निर्मापितं, तत्राऽसौ राजानं भोजयितुं निमन्त्रयति। तदा स आचार्यः पूर्वे उपयोगं दत्त्वा कथयति–देवानुप्रिय! यदा राजा भवने प्रवेशं करिष्यति तदैव त्वया करं धृत्वा राजा भवनाद् बहिर्निःसारणीयः, तद्भवनं कुमुहूर्ते निर्मापितं, येन राज्ञः प्रवेशसमये निश्चयेन तत् पतिष्यति। एतच्छ्रुत्वा सुभद्रश्रावकस्तस्मिन् भवने

नहीं करते हैं। यह पुरोहित जो कुछ करता है वह जैनधर्म के प्रति अपने द्वेष से करता है। हमारा तो यही आचार है कि हमें यह परीषह सहन करना ही चाहिये। आचार्य महाराज की बात सुनकर सेठ अपने घर चला गया। पुनः एक समय आकर सुभद्र श्रावक ने आचार्य महाराज को यह खबर सुनाई कि पुरोहित ने एक नूतन भवन बनवाया है सो आज उसके प्रवेश के उत्सव में उस ने राजा को भोजन के लिये आमन्त्रित किया है। मैं चाहता हूं कि पुरोहित का यह व्यवहार जो उसने मुनिराज के साथ किया है वहां जाकर चुपके २ राजा को सुनाया जाय। आचार्य महाराज ने सेठ की इस बात पर ध्यान न देकर उसे इस बात से सचेत किया कि–देखो जब राजा पुरोहित के नूतन भवन में प्रवेश करने लगे तो तुम उसी समय उनका हाथ पकड़ कर मकान से बाहर निकाल लेना, क्यों कि वह भवन कुमुहूर्त में बना है, और ज्यों ही राजा उसमें प्रविष्ट होगा त्यों ही वह उस समय गिर पड़ेगा। मरते को बचाना अपना काम है, आचार्य महाराज की बात

કરતા નથી. આ પુરોહિત જે કાંઈ કરે છે તે જૈનધર્મ તરફના તેના દ્વેષને લઈને કરે છે અમારો તો એ આચાર છે જ કે, અમારે આ પરીષહ સહન કરવો જ જોઈએ. આચાર્ય મહારાજની વાત સાંભળીને શેઠ પોતાને ઘેર ચાલ્યા ગયા ફરીથી એક વખતે આવીને સુભદ્રશ્રાવકે આચાર્ય મહારાજને એવી ખબર આપી કે, પુરોહિતે એક નવું મકાન બનાવ્યું છે અને આજ તેના વાસ્તુ મુહૂર્તમાં તેણે રાજાને ભોજન માટે આમંત્રણ આપેલ છે હું ચાહું છું કે, પુરોહિતનો આ વહેવાર જે, તેણે મુનિરાજની સાથે કર્યો છે, તે ત્યાં જઈને રાજાને ચુપકીદીથી કહેવામાં આવે. આ પ્રકારની શેઠની વાત ઉપર ધ્યાન ન આપતાં આચાર્યમહારાજે જોઈને કહ્યું કે એ મકાન એવા કુમુહૂર્તમાં તૈયાર કરવામાં આવ્યું છે કે તે મુહૂર્તને દિવસે જ પડી જવાનું છે માટે રાજા જે સમયે એમાં દાખલ થવા જાય તે સમયે તમે તેમનો હાથ પકડીને બહાર ખેંચી લેજો મરતાને બચાવવા તે આપણો ધર્મ છે આચાર્ય મહારાજની આ વાત સાંભળી શ્રાવક સુભદ્ર શેઠ ત્યાંથી નિકળી પુરોહિતના નવા

राज्ञः प्रवेशसमये तद्रक्षार्थं गत.। तत्र भवने राजा यदैव प्रविशति, तदैव स कर धृत्वा वेगेन राजानमाकृष्य भवनाद्बहिर्नि.सारयति, नृपे नि'सारिते सत्येव तद्भवन समूल निपतितम्। नृपेणोक्तम्–कथमेतद्भवता विदितम्। श्रावक माह–मम गुरुदेवेन केनचित् कथाप्रसङ्गेन बोधितम्–कुमुहूर्तनिर्मापित भवन नृपस्य प्रवेशकाले पतित भविष्यतीति। इत्युक्त्वा श्रावको नृपतिं निवेदयति–राजन्! अय पुरोहितः

सुनकर श्रावक सुभद्र सेठ प्रवेश होने के समय राजा की रक्षा करने के अभिप्राय से उस मकान पर गया। ज्यों ही राजा ने आकर उस भवन के भीतर प्रवेश करना चाहा कि सुभद्र सेठ ने उनका हाथ पकड़ वहां से शीघ्र ही राजा को बाहिर की ओर खेंच लिया। राजा के बाहर होते ही वह मकान पूरा का पूरा गिरपड़ा। राजा ने जब परिस्थिति देखी तो उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। राजा ने हाथ पकड़ कर बाहिर निकालने का कारण पूछा तो सुभद्रसेठ ने सब बात उन्हें स्पष्ट कह सुनाई। राजाने प्रसन्न होकर सुभद्र सेठ से पूछा सुभद्र! तुम्हें इस बात का पता कैसे पड़ा? सुभद्र सेठ ने कहा महाराज! किसी प्रसङ्ग पर आज मेरे गुरु महाराज ने मुझ से यह बात कही कि कुमुहूर्त में निर्मापित यह भवन नृप के प्रवेश करते समय गिर जायगा। राजा को इस पर बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने आचार्य महाराज के अतिशय ज्ञान की बहुत प्रशासा की और वहीं से उन्हें परोक्ष वंदन किया। इतने में ही सुअवसर देख

મકાને પહોંચ્યા અને રાજાના આવવાની પ્રતિક્ષા કરવા લાગ્યા રાજાએ આવી એ મકાનમાં પ્રવેશ કરવો શરૂ કર્યો એટલે રાજાને બચાવીલેવાના અભિપ્રાયથી તેની પ્રતિક્ષા કરી રહેલ સુભદ્ર શેઠે રાજાનો હાથ પકડી આગળ વધતા અટકાવી દીધા અને થોડા પાછા ખેંચી લીધા રાજાના બહાર ખેંચાઈ જવાની સાથોસાથ જ એ આખુએ મકાન કડડભુસ કરતુ જમીનદોસ્ત બન્યુ રાજાને આ પરિસ્થિતિ જોઈ ખૂબજ આશ્ચર્ય થયુ તેણે સુભદ્રશેઠને તેનું કારણ પૂછ્યુ ત્યારે તેણે સઘળી વાત રાજાને કહી સ ભળાવી. રાજાએ પ્રસન્ન થતા કહ્યું કે, આ વાતની જાણ કઇ રીતે થઈ? સુભદ્રશેઠે જણાવ્યુ કે, આજ મારા ગુરુદેવ સાથે વાતચિતમા આ પ્રસ ગની વાત ઉપસ્થિત થતાં તેઓશ્રીએ કહ્યું કે, પુરોહિતના એ મકાનનો પાયો એવા મુહૂર્તમાં નાખવામાં આવ્યો છે કે રાજાનો પ્રવેશ થતાંજ એ આખુ એ મકાન જમીનદોસ્ત થવાનુ રાજાને આ વાતથી ઘણોજ સ તોષ થયો એણે આચાર્યમહારાજના અગાધ એવા જ્ઞાનની ખૂબજ પ્રસ શા કરી અને ત્યાંથી જ એમને પરોક્ષ વ દન કર્યું આ વખતે સુઅવસર જોઈ સુભદ્ર શેઠે

कुमुहूर्ते भवन निर्माप्य भोजनार्थं भवन्तमामन्त्रितवान्, मम गुरुश्च मार्गेण यदा गच्छन्तं दृष्ट्वा गवाक्षदेशावस्थितोऽय मत्यहं तन्मस्तकोपरि धर्मद्वेषात् पादं निक्षिपति । एतद्वचनं श्रुत्वा नृपस्तस्य दुष्टमानसपन्नस्य पुरोहितस्य पादच्छेदरूप दण्डं कर्तुं स्वभृत्यानाज्ञापयत् । इय राजाज्ञानगरे तत्कालमेव प्रसृता, अरुणाचार्येणापि श्रुता । तत करुणार्द्रचित्तः स मुनिः स्वशिष्येण नृपतिं प्रबोध्य त पुरोहितमरक्षयत् । एवमन्यैरपि मुनिभि' सुधर्मशीलमुनिवत् सत्कारपुरस्कारपरीषहः सोढव्य इति ॥३९॥

कर सुभद्र सेठ ने राजा को मुनि के प्रति हुए पुरोहित का व्यवहार भी आद्योपान्त सब स्पष्ट कर के सुना दिया, कहा कि–हे राजन्! आपके इन पुरोहित ने इस भवन का निर्माण कुमुहूर्त में कराया है और उसमें प्रवेश के उत्सव पर आपको भोजन के लिये आमन्त्रित किया है। मेरे गुरु महाराज इस भवन की झरोखे के पास से जब २ होकर निकलते हैं तब २ यह धर्म के द्वेष से झरोखे में बैठ कर "मुनिके माथे ऊपर दोनों पैर, मेरे रहे" इस भावना से पैर पसार दिया करता है। सुभद्र श्रावक की इस बात को सुनकर राजा ने "यह पुरोहित दुष्टभाव संपन्न है" यह जान लिया और अपने नौकरों को यह आदेश दिया कि इसके दोनों पैर काट डालो। यह राजाज्ञा नगर में वायुवेग से फैल गयी। अरुणाचार्य को भी यह बात मालुम हुई तो उन्हों ने अपने शिष्य द्वारा राजा को समझा बुझा कर पुरोहित को बचा लिया। इस कथा से यही शिक्षा

પુરોહિતદ્વારા મુનિપ્રત્યે કરાતા અપમાનીત વ્યવહારની વાત વિગતથી રાજા સમક્ષ રજુ કરી અને કહ્યુ કે, હે રાજન્! આપના આ પુરોહિતે આ મકાનનુ નિર્માણ કુમુહૂર્તમા કર્યું અને તેમાં પ્રવેશના ઉત્સવ ઉપર આપને ભોજન માટે આમંત્રણ આપેલ છે મારા ગુરુમહારાજ આ મકાનના ઝરૂખાપાસેથી જ્યારે જ્યારે નિકળે છે ત્યારે ત્યારે પુરોહિત ધર્મના દ્વેષથી ઝરૂખામા બેસી એમના માથા ઉપર "મારા બન્ને પગ રહે" આ ભાવનાથી પગ લાંબા કરી દે છે સુભદ્ર શેઠની વાત સાભળી રાજાએ "આ પુરોહિત દુષ્ટ ભાવનાથી ભરેલ છે" આ વાત જાણી લીધી, અને પોતાના નોકરોને હુકમ કર્યો કે, પુરોહિતના બન્ને પગ કાપી નાખો આ પ્રમાણેની રાજાની આજ્ઞા વાયુવેગથી નગરમાં ફેલાઈ ગઈ અને તે અરૂણાચાર્ય મુનિના જાણવામાં આવતા તેઓએ પોતાના શિષ્ય મારફત રાજાને સમજાવી પુરોહિતને બચાવી લીધો. આ કથાથી એ જાણી

अथ विंशतितम प्रज्ञापरीषहमाह—

मूलम्—से य नूंण मए पुव्वं, कम्माऽणाणफला कडा ।
जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुइ ॥ ४० ॥
अह पच्छा उइज्जति, कम्माऽणाणफला कडा ।
एवमासासि अप्पाणं, नच्चा कम्मविवागयं ॥ ४१ ॥

छाया—अथ नून मया पूर्वं, कर्माणि अज्ञानफलानि कृतानि ।
येनाहं नाभिजानामि, पृष्टः केनचित् कस्मिंश्चित् ॥ ४० ॥
अथ पश्चाद् उदीयन्ते, कर्माणि अज्ञानफलानि कृतानि ।
एवम् आश्वासय आत्मानं, ज्ञात्वा कर्मविपाककम् ॥ ४१ ॥

टीका—'से य नूण' इत्यादि, 'अहपच्छा' इत्यादि ।

अथ च नून=निश्चयेन, मया पूर्वं=पूर्वकाले-पूर्वभवे इत्यर्थः, अज्ञानफलानि=अज्ञानोत्पादकानि, कर्माणि=ज्ञानावरणीयकर्माणि, कृतानि=धर्माचार्यगुरुश्रुतज्ञान-निन्दाध्ययनबाधादिभिरुपार्जितानि । उक्तञ्च—

मिलती है कि सुधर्मशील मुनि की तरह प्रत्येक मुनि को सत्कारपुरस्कार परीषह सहन करते रहना चाहिये ॥ ३९ ॥

अब बीसवाँ प्रज्ञापरीषहको सूत्रकार बतलाते हैं—

'से य नूण' इत्यादि । 'अह पच्छा' इत्यादि ।

अन्वयार्थ–प्रज्ञापरीषहको जीतनेके लिये साधु विचार करे कि (नूण–नूनम्) निश्चयसे (मए–मया) मैंने (पुव्व–पूर्वम्) पूर्वभवमें (अण्णाणफला कम्मा कडा–अज्ञानफलानि कर्माणि कृतानि) धर्माचार्य गुरु महाराज और श्रुतज्ञान की निंदा करने से तथा किसी के ध्यान अध्ययन में विघ्न डालनेसे अज्ञानोत्पादक ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का उपार्जन किया है ।

શકાય છે કે, સુધર્મશીલ મુનિની જેમ પ્રત્યેક મુનિએ સત્કારપુરસ્કારપરીષહ સહન કરતા રહેવું જોઈએ. ॥ ૩૯ ॥

હવે વીસમા પ્રજ્ઞાપરીષહને સૂત્રકાર બતાવે છે—

'से य नूण' ઈત્યાદિ 'अह पच्छा' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—પ્રજ્ઞાપરીષહને જીતવા માટે સાધુ વિચાર કરે કે, नूण–नून નિશ્ચયથી मए–मया મેં पुव्व–पूर्वं પૂર્વભવમાં अण्णाणफला कम्मा कडा–अज्ञानफलानि–कर्माणि कृतानि ધર્માચાર્ય ગુરુમહારાજ અને શ્રુતજ્ઞાનની નિંદા કરવામાં તથા કોઈના ધ્યાન અધ્યયનમાં વિઘ્ન નાખવાનું, અજ્ઞાનોત્પાદક જ્ઞાનાવરણીય

नाणस्स नाणिणं चिय, निंदा पओसमच्छरेहिं य।
उवघायणविग्घेहिं, नाणग्घं बज्झए कम्मं ॥ १ ॥"

छाया—ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दाप्रद्वेषमत्सरैश्च।
उपघातनविघ्नैः, ज्ञानघ्नं बध्यते कर्म ॥ १ ॥

येन=यस्मात् कारणात्, केनचित्=जिज्ञासुना, कस्मिंश्चित्=जीवादितत्त्वविषये, पृष्टोऽहं नाभिजानामि=अज्ञानवशात् प्रश्नस्योत्तरं कर्तुं न शक्नोमीत्यर्थः। पूर्वोपार्जित-ज्ञानावरणीय-कर्मोदयात् मया ज्ञानं न लभ्यते, अत प्रश्नोत्तरं कर्तुमसमर्थो भवामीति भावः। उक्तञ्च—

(जेण-येन) जिसके कारण से (केणइ-केनचित्) किसी जिज्ञासु के द्वारा (कण्हुइ-कस्मिंश्चित्) किसी भी जीवादिक तत्त्व के विषय में (पुट्ठो-पृष्टः) पूछे जाने पर (अहं) मैं (नाभिजाणामि-नाभिजानामि) कुछ भी नहीं जान सकता हूं, अर्थात् अज्ञानवश उसके प्रश्न का कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता हूं। कहा भी है—

"नाणस्स नाणिणं चिय, निंदा पओसमच्छरेहिं य।
उवघायण विग्घेहिं, नाणग्घं बज्झए कम्मं ॥ १ ॥"

ज्ञान एवं ज्ञानियों की निंदा करने से, उनमें द्वेषबुद्धि रखने से, उनके साथ मत्सरभाव रखने से, उनका उपघात करने से अथवा ज्ञान के साधनों में अथवा ज्ञानियों के ज्ञानोपार्जन में विघ्न करने से जीव ज्ञाननाशक कर्म का बंध करता है।

આદિ કર્મોનું ઉપાર્જન કરેલ છે જેણ-યેન એના કારણથી केणइ केनचित् કોઈ જીજ્ઞાસુ દ્વારા कण्हुइ-कस्मिंश्चित् કોઈ પણ જીવાદિક તત્વના વિષયમાં पुट्ठो-पृष्टः પુછવામાં આવવાથી अहं હું नाभिजाणामि-नाभिजानामि કાંઈ પણ જાણતો નથી અર્થાત્ અજ્ઞાનવશ એમના પ્રશ્નનો કાંઈ પણ ઉત્તર આપી શકતો નથી કહ્યું પણ છે કે—

"नाणस्स नाणिण चिय, निंदा पओसमच्छरेहिं य।
उवघायण विग्घेहिं, नाणग्घं बज्झए कम्मं ॥"

જ્ઞાન અને જ્ઞાનીયોની નિંદા કરવાથી, એમનામાં દ્વેષબુદ્ધિ રાખવાથી, એની સાથે મત્સરભાવ રાખવાથી, એનો ઉપઘાત કરવાથી અથવા જ્ઞાનના સાધનોમાં અથવા જ્ઞાનીયોના જ્ઞાનોપાર્જનમાં વિઘ્ન કરવાથી જીવ જ્ઞાનનાશક કર્મનો બંધ કરે છે

"सुहासुहाणि कम्माणि, सय कुव्वति देहिणो ।
सयमेवोवभुजति, दुहाणि य सुहाणि य ॥ १ ॥"

छाया—शुभाशुभानि कर्माणि, स्वय कुर्वन्ति देहिन ।
स्वयमेवोपभुञ्जते, दुःखानि च सुखानि च ॥ १ ॥ ४० ॥

भावार्थ—साधु के ऊपर सब ही का विश्वास होता है। प्रत्येक व्यक्ति उनसे अपनी२ जिज्ञासाका समाधान जानने का अभिलाषी तथा उत्सुक रहता है, इस परिस्थिति में यदि कोई जिज्ञासु पुरुष मुनि के पास आकर जीवादितत्त्वविषयक अपनी शका की निवृत्ति करना चाहे और वह साधु से इस विषय में प्रश्न करे, और मुनि उसका उत्तर नहीं दे सके तो उस मुनि को चाहिये कि अपनी आत्मा में सक्लिष्ट परिणाम न करे, किन्तु समभाव से इस प्रकार सोचे कि मेरे ज्ञानावरणीयादिक कर्मों का कितना तीव्र उदय है जो ज्ञान के साधन होने पर भी मुझे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है। बुद्धि में इस प्रकार की मदता का कारण मेरे-पूर्व में गुर्वादिक की निंदा आदि से उपार्जित ज्ञानावरणीयादिक कर्म ही हैं। इस में किसी का दोष नहीं है। जैसे कहा भी है—

"सुहासुहाणि कम्माणि, सय कुव्वति देहिणो ॥
सयमेवोवभुजति, दुहाणि य सुहाणि य ॥ १ ॥"

देही-आत्मा-शुभ और अशुभ कर्मों को स्वयं उपार्जित करता है और उनके फल सुख दु खादिक को स्वय ही भोगता है ॥ ४० ॥

ભાવાર્થ—સાધુના ઉપર દરેકને વિશ્વાસ હોય છે, પ્રત્યેક વ્યક્તિ પોતપોતાની જીજ્ઞાસાનુ સમાધાન એમની પાસેથી મેળવવાના અભિલાષી તથા ઉત્સુક રહે છે આ પરિસ્થિતિમા જો કોઈ જીજ્ઞાસુ પુરૂષ મુનિની પાસે આવી જીવાદિતત્વ વિષયક પોતાની શકાનુ નિવારણ કરવા ઇચ્છે અને તે સાધુને આ વિષયમાં પ્રશ્ન કરે અને મુનિ એનો ઉત્તર ન આપી શકે તો એ મુનિ પોતાના આત્મામાં શકાશિલ વૃત્તિ ન જાગવા દે પરતુ સમભાવથી એવુ વિચારે કે, મારા જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મોનો કેટલો તીવ્ર ઉદય છે કે જે જ્ઞાનના સાધન હોવા છતાં પણ મને જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ થઈ શકી નથી. બુદ્ધિમાં આ પ્રકારની મદતાનુ કારણ મે-પૂર્વભવમાં ગુરુ આદિની નિંદા વગેરેથી ઉપાર્જીત કરેલ જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મ જ છે એમાં કોઈનો દોષ નથી જેમ કહ્યુ પણ છે—

"सुहासुहाणि कम्माणि, सय कुव्वति देहिणो ।
सयमेवोवभुजति, दुहाणि य सुहाणि य ॥ १ ॥"

આત્મા શુભ અને અશુભ કર્મોને સ્વય ઉપાર્જીત કરે છે, અને એનાં સ્વરૂપ સુખ દુઃખાદિકને સ્વય ભોગવે છે ॥ ૪૦ ॥

'अह पच्छा' इति ।

अथ अज्ञानफलानि=अज्ञानोत्पादकानि कर्माणि कृतानि तानि पश्चात्-अबाधोचरकालम्, 'उदीयन्ते'=अज्ञानरूपेण अलर्क-मूषिकविषविकारवत् उदितानि भवन्ति, एवम्=अमुना प्रकारेण कर्मविपाककं=कर्मणः फलं, ज्ञात्वा हे शिष्य ! आत्मानम् आश्वासय=स्वस्थीकुरु, 'स्वय कृतानामेव ज्ञानावरणीयकर्मणां कृतिसंफलमेतत्, यदहं न जानामि-प्रश्नोत्तरमिति विज्ञाय स्वस्थो भव, न तु तन्निमित्तकं विषाद कुरु इत्यर्थः । 'कम्मा' इति बहुवचन कर्मबन्धहेतुना बहुत्वात् ।

अन्वयार्थ-(कडाऽनाणफला कम्मा-कृतानि अज्ञानफलानि कर्माणि) गुर्वादिकोंकी निंदा आदिसे पूर्वभवमें उपार्जित तथा ज्ञानमें अंतराय डालने वाले-ज्ञान के निरोधक-ऐसे ज्ञानावरणीयादिक कर्म अपने अबाधाकाल के बाद (उइज्जति-उदीयन्ते) पागल कुत्ते अथवा पागल चूहेके विष के विकार की तरह अज्ञानरूप से उदय में आते हैं। (एव कम्मविवागयं-एव कर्मविपाककम्) इस प्रकार कर्म के फल को (नच्चा-ज्ञात्वा) जानकर हे शिष्य ! (अप्पाण आसासि-आत्मानं आश्वासय) तुम अपनी आत्मा को कुछ नहीं आने पर-दूसरों के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकने पर धैर्य बधाओ-इस निमित्त को लेकर विषाद मत करो।

भावार्थ-प्रज्ञापरीषह को जीतने के लिये सूत्रकार साधुओं के लिये शिक्षा देते हैं कि जो जैसा करता है उसे फल भी वैसा ही मिलता है। बबूल का झाड बोने पर कोई उससे आम्रफल प्राप्ति की आशा करे तो व्यर्थ है। इसी प्रकार पूर्वभव में जिस जीव ने जिन २

અન્વયાર્થ—कडाऽनाणफला कम्मा-कृतानि अज्ञानफलानि कर्माणि પૂર્વભવમાં ગુરુઆદિની નિંદાથી ઉપાર્જીત તથા જ્ઞાનમાં અંતરાય નાખવારૂપ-જ્ઞાનના નિરોધક-એવા જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મ પોતાના વિતેલા કાળ પછી उइज्जति-उदीयन्ते હડકાયા કુતરાના અથવા વકરેલા ઉંદરના વિષના વિકારની માફક અજ્ઞાન રૂપથી ઉદયમાં આવે છે एव कम्मविवागयं-एव कर्मविपाककम् આ પ્રકારે કર્મના ફળને नच्चा-ज्ञात्वा જાણી હે શિષ્ય ! अप्पाण आसासि-आत्मान आश्वासय તમે પોતાના આત્મામાં કાંઈ ન આવવાથી બીજાના પ્રશ્નોનો ઉત્તર આપી શકતા નથી એ જાણીને આ બધાના નિમિત્તને લઈ વિષાદ ન કરો

ભાવાર્થ—પ્રજ્ઞાપરીષહને જીતવા માટે સૂત્રકાર સાધુઓ માટે શિક્ષા રૂપથી કહે છે કે જે જેવું કરે છે, તેને તેવું ફળ મળે છે કોઈ બાવળનું ઝાડ વાવીને તેમાંથી આંબાના ફળની આશા રાખે તો તે વ્યર્થ છે

इद गाथायुग्म प्रज्ञाया अपकर्षमाश्रित्य व्याख्यातम् । इदमुपलक्षण – यदि ज्ञानावरणीयकर्मणा क्षयोपशमात् प्रज्ञाया उत्कर्ष स्यात् तदा तन्निमित्तक मदं न कुर्यादित्यपि बोध्यमिति । उक्त हि ।

कारणों द्वारा जिन २ कर्मों का बन्ध किया है वे वे कर्म अबाधाकाल के बाद उस जीव के उदय आते रहते हैं । जब हे आत्मन् ! गुर्वादिक की निंदा करने से, शास्त्रों का अवर्णवाद बोलने से, उपघात से अर्थात् ज्ञानादिक के साधनों का नाश करने से, ज्ञान की अन्तराय देने से तूने तीव्र ज्ञानावरणीयादिक कर्मों का बध किया है, तो उनका फल भी तुझे वैसा ही भोगना पडेगा । इसमें कोई के हाथ की बात नहीं है । जिन ज्ञानावरणीयादिक कर्मों का तूने बध किया है वे उन उन रूप में ही उदय आवेंगे । अत यदि तेरे से कोई जीवादिक तत्त्वों के विषय में कुछ पूछता है और तुझे उस विषय का कोई उत्तर ज्ञान में नहीं झलकता है इससे तू आत्मा में हीनता की भावना मत कर, और न खेद ही कर, किन्तु अपने आत्मा को धैर्य बधा और इस प्रकार समझा कि यह तेरे ही किये हुए कर्म हैं अत तुझे ही भोगना पडेगा । फिर इसमें हर्षविषाद करने की जरूरत क्या है ? । इस प्रकार इस परिणति से आत्मा प्रज्ञापरीषह को बहुत अच्छी तरह सहन कर सकता है ।

આ પ્રકારે પૂર્વભવમાં જે જીવે જે જે કારણો દ્વારા જે જે કર્મોને બધ કર્યો હોય તે તે કર્મ અબાધાકાળની બાદ તે તે જીવને ઉદયમાં આવે છે આથી હે આત્મન્ ! ગુરુ આદિની નિંદા કરવાથી, શાસ્ત્રોના અવર્ણવાદ બોલવાથી, ઉપઘાતથી અર્થાત્ જ્ઞાનાદિકનાં સાધનોનો નાશ કરવાથી જ્ઞાનમાં અતરાય નાખવાથી, તે તીવ્ર જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મનો બધ કર્યો છે તો તેનુ ફળ પણ તારે તેવુંજ ભોગવવું પડશે. તેમાં કોઇના હાથની વાત નથી જે જ્ઞાનાવરણીય કર્મોનો તે બંધ કર્યો છે, તે તેવા તેવા રૂપમાંજ ઉદયમાં આવશે. આથી જો તને કોઈ જીવાદિક તત્ત્વોના વિષયમાં કાંઈ પુછે છે તો તને એ વિષયનો કોઈ જ્ઞાનભર્યો ઉત્તર જડતો નથી તો તેનાથી તુ પોતાના આત્મામા હિનતાની ભાવના અને ખેદ કરીશ નહી પરતુ પોતાના આત્મામાં ધૈર્ય રાખ અને એ પ્રકારે સમજાવ કે, આ તારાંજ કરેલાં કર્મ છે એથી એ તારે જ ભોગવવાં પડશે પછી આમાં હર્ષ વિષાદ કરવાની જરૂર જ શું છે ? આ પ્રકારે આ પરિણતીથી આત્મા પ્રજ્ઞા પરીષહને ખૂબજ સારી રીતે સહન કરી શકે છે ગાથામાં "कम्मा" એ બહુ-

पूर्वपुरुषसिंहानां, विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।
श्रुत्वा सांप्रतपुरुषाः, कथं स्वबुद्धया मदं यान्ति ॥ १ ॥

यद्वा–इह तन्त्रेणार्थद्वयसमत्र अनेकार्थबोधनेच्छात, सकृदुच्चारणं तन्त्रम् । अथ च–तन्त्रन्यायेनार्थद्वयस्य युगपत्सम्भवः–तन्त्रं च दैर्घ्यप्रसारितास्तन्तवः, ततो यथा–दैर्घ्यप्रसारितमेकं सूत्रमनेकस्य तिरश्चीनस्य तन्तोः–सग्राहि, तथा–यदेकमा

गाथा में " कम्मा " यह जो बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग किया गया है वह कर्मों के बंध के हेतु अनेक हैं, इस आशय को प्रगट करने के लिये किया है । चालीस और इकतालीसवी गाथा का जो इस प्रकार विवेचन किया गया है वह बुद्धि की मन्दता को लक्ष्य में लेकर किया है । यदि ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से प्रज्ञा का उत्कर्ष आत्मा में हो तो उस समय साधु को इस प्रज्ञानिमित्तक मद–अहंकार नहीं करना चाहिये । यह बात भी उपलक्षण से समझ लेनी चाहिये । कहा भी है–

पूर्वपुरुषसिंहाना, विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।
श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषा , कथ स्वबुद्धया मद यान्ति ॥ १ ॥

पहिले के श्रेष्ठ पुरुषों के असाधारण विज्ञान की बातों को सुनकर ऐसा कौन पुरुष होगा जो अपने ज्ञान का मद–अहंकार करेगा । इस लिये बुद्धि की प्रकर्षता का भी मद नहीं करना चाहिये । तन्त्र न्याय से प्रज्ञा के उत्कर्ष अपकर्षरूप दोनों अर्थ भी युगपत् विवक्षित हो सकते हैं । जैसे एक लंबा फैला हुआ डोरा तिरछे फैले हुए अनेक

વચનાત્મક શબ્દનો પ્રયોગ કરેલ છે તે કર્મના બંધના હેતુ અનેક છે તેવો આશય બતાવવા માટે જ કરેલ છે ચાળીસ અને એકતાળીસમી ગાથામાં જે આ પ્રકારે વિવેચન કરેલ છે તે બુદ્ધિની મંદતાને લક્ષમાં લઈને કરેલ છે જો કદી જ્ઞાનાવરણીય કર્મોના ક્ષયોપશમથી પ્રજ્ઞાનો ઉત્કર્ષ આત્મામાં હોય તો તે સમયે સાધુએ આ પ્રજ્ઞા નિમિત્તક મદ અહંકાર ન કરવો જોઈએ. આ વાત પણ ઉપલક્ષણથી સમજી લેવી જોઈએ. કહ્યું પણ છે—

पूर्वपुरुषसिंहानां, विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।
श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः, कथं स्वबुद्धया मद यान्ति ॥१॥

પહેલાં શ્રેષ્ઠ પુરુષોની અસાધારણ વિજ્ઞાનની વાતો સાંભળીને એવો કયો પુરૂષ હશે કે જે પોતાના જ્ઞાનનો મદ અહંકાર કરશે ? આથી બુદ્ધિની પ્રકર્ષતાનો પણ મદ ન કરવો જોઈએ.

તંત્ર ન્યાયથી પ્રજ્ઞાનો ઉત્કર્ષ અપકર્ષરૂપ બન્ને અર્થ પણ યુગપત્ વિવક્ષિત બની શકે છે જેમ એક લાંબો ફેલાયેલો દોરો આડા અવળા

गाथया अनेकार्थस्याभिधान स तन्त्रन्याय., तद्विवक्षया प्रज्ञाया उत्कर्षमाश्रित्यापि भगवता गाथाद्वयं कथितम्। उपलक्षणत्वे तु तात्पर्यग्राहकतया प्रमाणान्तरं श्रुतमपेक्षणीय स्यात् , अतस्तन्त्राश्रयणादिह व्याख्याद्वय क्रियते। तत्र प्रज्ञाया उत्कर्षपक्षे एवं गाथाद्वय व्याख्यायते—

प्रज्ञोत्कर्षवता एव चिन्तनीयम्–अथ नूनं मया पूर्वं कर्माणि=ज्ञानप्रशंसा-ज्ञानिवैयावृत्यादिरूपाण्यनुष्ठानानि, ज्ञानफलानि = ज्ञानमिह विमर्शपूर्वको बोधस्तत्फलकानि, कृतानि, येन हेतुना–केनापि=अविवक्षितविशेषेण सर्वणापीत्यर्थः, कस्मिंश्चित्=यत्र कुत्रापि वस्तुनि विषये पृष्ट. अह, ना=मनुष्य , विशिष्टमनुष्यत्वमनुभवन् अभिजानामि।

तन्तुओं का वस्त्रादिक में समावक होता है उसी प्रकार एक गाथा द्वारा युगपत् अनेक अर्थों का भी सग्रह होता है, यही तन्त्र न्याय है। इस विवक्षा से इन दोनों गाथाओं द्वारा प्रज्ञा का उत्कर्ष लेकर भी प्रज्ञापरीपह का कथन हो सकता है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने ये दोनों गाथाएँ कही हैं। बुद्धि की प्रकर्षता को लेकर व्याख्यानइस प्रकार है—

मैंने पूर्वभव में ज्ञानप्रशसा, ज्ञानियों की वैयावृत्त्य आदिरूप शुभ कर्म किये हैं इसलिये इनका फल मुझे विमर्शपूर्वक बोधरूप में मिला है। इसलिये इस के प्रभाव से मैं जब कोई मुझ से किसी भी विषय की अपनी जिज्ञासा समाधान करने के रूप में उपस्थित करता है उसकी उस जिज्ञासा का यथोचित समाधान कर देता हू, इससे उस पूछने वाले को सन्तोष हो जाता है। इसलिये सूत्रकार इकतालीसवीं गाथा द्वारा ऐसे श्रुतशाली–साधु को यह समझाते हैं कि हे साधो!

અનેક તાણાવાણાને વસ્ત્રરૂપમાં ફેરવનાર બને છે, તે પ્રકારે એક ગાથા દ્વારા યુગપત્ અનેક અર્થોનો પણ સંગ્રહ થાય છે આ તંત્ર ન્યાય છે આ વિવક્ષાથી આ બન્ને ગાથાઓ દ્વારા પ્રજ્ઞાનો ઉત્કર્ષ લઈને પણ પ્રજ્ઞાપરીષહનુ કથન બની શકે છે, આ અભિપ્રાયથી ભગવાન સૂત્રકારે આ બન્ને ગાથાઓ કહી છે બુદ્ધિની પ્રકર્ષતા બતાવનાર વ્યાખ્યાન આ પ્રકારનુ છે

મે પૂર્વભવમાં જ્ઞાન પ્રશસા, જ્ઞાનિઓની વૈયાવૃત્તિ આદિ રૂપ શુભ કર્મ કરેલ છે એનુ ફળ મને વિમર્શપૂર્વક બોધરૂપમાં મળેલ છે આ કારણે એના પ્રભાવથી જ્યારે કોઈ મારી પાસે કોઈ પણ વિષયની પોતાની જીજ્ઞાસા સમાધાન કરવાના રૂપમાં ઉપસ્થિત કરે છે ત્યારે હું એ જીજ્ઞાસાનુ યથોચિત,સમાધાન કરી દઉ છુ આથી એ પૂછવાવાળાને સતોષ થાય છે, આ માટે સૂત્રકાર એકતાળીસમી ગાથાદ્વારા એવા શ્રુતશાળી–સાધુને એમ સમજાવે છે કે, હે સાધો!

तत्र-श्रुतमदो न कर्तव्य इति बोधयितुमाह-' अह पच्छा ' इत्यादि । अथ= उत्कर्षभावनानन्तरम्, एव विभावनीयम्-मया पूर्वभवे कृतानि ज्ञानफलानि कर्माणि पश्चात्=अबाधोत्तरकालम् , इदानीम्, उदीयन्ते-उदितानि भवन्ति, एवं कर्मविपाकक ज्ञात्वाऽऽत्मानम् आश्वासय-आत्मनि शान्तिं स्थापय, न तु तन्निमित्तकं मदं कुरु। अय भाव.-श्रुतमदो हि ज्ञानावरणीयकर्मण• कारणम् , तच्चावश्यवेद्यम्, तदुदये च कुतो ज्ञानम् , तस्माच्छ्रुतमदो न कर्तव्यः ।

यतः—" नाण मयदप्पहरं, मज्जइ जो तेण तस्स को वेज्जो ।
अमियं जस्स विसायइ, तस्स तिगिच्छा कह किज्जइ " ॥ १ ॥

छाया—ज्ञानं मदवर्पहर, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः ।
अमृतं यस्य विषायते, तस्य चिकित्सा कथ क्रियते ॥ १ ॥

इत्येव चिन्तनेन शान्तिं प्राप्नुहोति ।

वस्तुतस्तु-गाथाद्वयमिद युग्मकम् । ' से ' अथ नून=निश्चयेन मया पूर्वे=पूर्वभवे-अज्ञानफलानि कर्माणि कृतानि येन कारणेनाह केनापि जिज्ञासुना कस्मिंश्चित् जीवाजीवादिस्वरूपविषये पृष्ट• सन् नाभिजानामि=मन्दबुद्धित्वाज्जी-

तुमने यदि पूर्वभव में ज्ञान के साधनों का अनुष्ठान करके यदि इस भव में दूसरों की अपेक्षा कुछ विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तो तुम इस ज्ञानरूप श्रुत का मद मत करो, किन्तु अपनी आत्मा में शांति भाव से रहो-आत्मा को समझाते रहो कि कहीं ऐसा न हो जाय कि मद करने से आत्मा ज्ञानावरणीय आदि कर्म का बन्ध करले। इस कर्म के बंध में जब इसका उदय अपनी अबाधाकाल के बाद में आता है तो जीव यथार्थ ज्ञान से रहित हो जाता है, इसलिये हे शिष्य तू श्रुत का मद मतकर। तात्पर्य इन दोनों गाथाओं का यह है कि जिस समय आत्मा में प्रज्ञा की हीनता हो तो मुनि को ऐसा

તમે કદાચ પૂર્વભવમાં જ્ઞાનના સાધનોનું અનુષ્ઠાન કરી લે આ ભાવમાં બીજાની અપેક્ષાએ કાંઈ વિશિષ્ટ જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરેલ છે તો તમે એ જ્ઞાનરૂપ શ્રુતનો મદ ન કરો પણ તમારા આત્મામાં શાંતિભાવથી રહો આત્માને સમજાવતા રહો કે કદાચ એવું ન બની જાય કે, મદ કરવાથી આત્મા જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોનું બંધન કરી લે એ કર્મના બંધમાં જ્યારે એનો ઉદય પોતાની અબાધાકાળની પછી આવે છે ત્યારે જીવ યથાર્થ જ્ઞાનથી રહિત થઈ જાય છે આ માટે હે શિષ્ય ! તું શ્રુતનો મદ ન કર. આ બન્ને ગાથાનું તાત્પર્ય એ છે કે, જે સમયે આત્મામાં પ્રજ્ઞાની હિનતા હોય ત્યારે મુનિએ એવો વિચાર ન કરે કોઈએ

वादिस्वरूप निरूपयितु न समर्थोऽस्मि। एवम्=अमुना प्रकारेण कर्मविपाक-पूर्वोपार्जित-ज्ञानावरणीयकर्मफल ज्ञात्वा आत्मानम् आश्वासयेत्युत्तरगाथया सम्बन्ध' अयमर्थ -हे शिष्य! बुद्धिमान्द्यविषये विषादमकृत्वा, तप. सयमाराधने मद्युचो मव। तप सयमाराधनेन हि केवलज्ञानप्राप्तिरपि भवितुमर्हतीति सोत्साह तत्समाराधने तत्परो भवेति भावः।

अथ-प्रज्ञामप्कर्षे पश्चात्-कदाचित्तथाविधज्ञानावरणीयक्षयोपशमानन्तर 'कम्माणाणफला' इत्यस्य कर्माणि ज्ञानफलानि इति च्छाया तत्र - ज्ञानफलानि-जीवाजीवादिस्वरूपनिर्णयजनकानि कर्माणि कृतानि=पूर्वभवोपार्जितानि उदीयन्ते तदा एवम्=अमुना प्रकारेण कर्मविपाक ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजन्य प्रज्ञामकर्परूप कर्मफल ज्ञात्वा हे शिष्य! आत्मानम् आश्वासय=ज्ञानमद परित्यज्य स्वस्थीकुरु। पूर्वकृतशुभकर्मणा मम ज्ञानावरणीयकर्मण क्षयोपशमो जातस्तेन सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतममपि जीवादिस्वरूप सम्यग् जानामि, तथा केनापि पृष्ट सन् तस्मै सम्यगवबोधयितु समर्थोऽस्मीति विचारणया प्रज्ञामद परिहरेत्यर्थ'।

विचार नहीं करना चाहिये कि मैं कुछ नहीं जानता हू-मूर्ख हू जहां तहां मेरा पराभव होता है। इस विचार से आत्मा में परिताप होता है, इस प्रकार विचार नही करना यह प्रज्ञापरीपह है। अथवा श्रुतज्ञान की विशिष्टता आत्मा में होने पर उस समय उस मुनि को उसका मद नहीं करना चाहिये कि-मैं विशिष्टज्ञानसपन्न हू, प्रत्येक व्यक्ति मेरे पास अपनी २ जिज्ञासा का समाधान करने के लिये आते हैं। प्रत्येक आत्मा को मुझ से कितना लाभ होता रहता है। इस प्रकार का मद नहीं करना चाहिये। प्रज्ञा का मद करना इस लिये निषिद्ध है कि यह जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुआ है। इसका मैं क्यों मद करूँ। इस प्रकार

કે, હુ કાઈ જાણુતો નથી, મૂર્ખ છુ, જ્યાં ત્યાં મારો પરાભવ થાય છે આ વિચારથી આત્મામાં પરિતાપ થાય છે માટે આ પ્રકારનો વિચાર ન કરવો તે પ્રજ્ઞાપરીષહ છે અથવા શ્રુતજ્ઞાનની વિશિષ્ટતા આત્મામાં થવાથી તે સમયે તે મુનિએ તેનો મદ ન કરવો જોઇએ કે હુ, વિશિષ્ટ જ્ઞાન સપન્ન છુ પ્રત્યેક વ્યક્તિ મારી પાસે પોતપોતાની જીજ્ઞાસાનુ સમાધાન કરવા આવે છે પ્રત્યેક આત્માને મારાથી કેટલો લાભ થાય છે? આ પ્રકારનો મદ ન કરવો જોઈએ. પ્રજ્ઞાનો મદ કરવાનો આ માટે નિષેધ છે કે, જે જ્ઞાન પ્રાપ્ત થયુ છે તે જ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયોપશમથી પ્રાપ્ત થયેલ છે આનો હુ કઈ રીતે મદ કરી

अस्य गाथाद्वयस्याय निष्कर्षः—प्रज्ञाया अपकर्षे 'नाहं किंचिज्जानामि, मूर्खोऽस्मि, यत्र तत्र पराजितो भवामि' इत्येवं परितापो न कर्तव्यः उत्कर्षे गुणमदो न कर्तव्यः। किन्तु कर्मविपाकोऽयमिति ज्ञात्वाऽऽत्मनः स्थिरीकरणेन द्विविधोऽपि प्रज्ञापरीषहः सोढव्यः।

अत्र प्रज्ञापकर्षे दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

पुष्पदन्ताचार्यः शिष्यपरिवारेण सह चम्पानगर्यां समवसृत। तेषु शिष्येषु भद्रमतिनामकः शिष्योऽतीवमन्दमतिरासीत्। स आवश्यकसमाप्त्यनन्तरं दशवैकालिकसूत्राभ्यासार्थं प्रवृत्तः, परन्तु तदा तस्य प्रबलज्ञानावरणीयान्तरायकर्मोदयो जातस्तेनैकमप्यक्षरं न स्मरति, ततोऽसौ चिन्तयति—अहमस्मि पूर्वधराचार्यस्य शिष्यः, आचार्यो वात्सल्येन मामध्यापयति, अन्ये मुनयश्चापि प्रेम्णा मामक्षरं

आत्मा को अपने स्वभाव में स्थिर करते हुए प्रज्ञा के प्रकर्ष को सहन करना यह भी प्रज्ञापरीषह है। इस तरह प्रज्ञा के उत्कर्ष और अपकर्ष के भेद से यह परीषह दो प्रकार का हो जाता है। यह दोनों प्रकार का परीषह सहन करना मुनि के लिये आवश्यक है।

प्रज्ञा के अपकर्ष में दृष्टान्त—किसी समय पुष्पदन्ताचार्य शिष्यपरिवार के साथ चंपानगरी में आये। इनकी इस शिष्यमंडली में भद्रमति नाम का एक शिष्य अतीव मंदमति था। एक दिन की बात है कि उसने आवश्यक की समाप्ति के बाद दशवैकालिकसूत्र का अभ्यास करना प्रारंभ किया। परन्तु उस समय उसके प्रबल ज्ञानावरणीयकर्म का उदय होने से एक भी अक्षर उसको याद नहीं होता। इसने विचार किया कि पूर्वधर आचार्य का मैं शिष्य हूँ वात्सल्यभाव

શકું ? આ પ્રકારે આત્માને પોતાના સ્વભાવમાં સ્થિર કરીને પ્રજ્ઞાનો પ્રકર્ષ સહન કરવો તે પણ પ્રજ્ઞાપરીષહ છે, આવી રીતે પ્રજ્ઞાનો ઉત્કર્ષ અને અપકર્ષના ભેદથી આ પરીષહ બે પ્રકારનો બને છે આ બન્ને પ્રકારના પરીષહ સહન કરવા મુનિને માટે આવશ્યક છે પ્રજ્ઞાના અપકર્ષનું દૃષ્ટાંત—

કોઈ એક સમયે પુષ્પદન્તાચાર્ય શિષ્યપરીવાર સાથે ચંપાનગરીમાં આવ્યા. આ શિષ્ય મંડળીમાં ભદ્રમતિ નામનો એક શિષ્ય ઘણો મંદમતી હતો. એક દિવસની વાત છે કે, તેણે આવશ્યકની સમાપ્તિ બાદ દશવૈકાલિક સૂત્રનો અભ્યાસ કરવો શરૂ કર્યો પરંતુ તે સમયે તેને પ્રબળ જ્ઞાનાવરણીય કર્મનો ઉદય થવાથી એક પણ અક્ષર યાદ રહેતો નહીં તેણે વિચાર કર્યો કે, હું પૂર્વધર આચાર્યનો શિષ્ય છું, વાત્સલ્યભાવથી તેઓ મને શાસ્ત્રાધ્યયન કરાવે છે. એક

बोधयति, तथापि मम तत् स्मृतिपथं नायाति, अत्र कश्चित् मुनिः सकृदेव श्रुत्वा धारयति, कश्चिद् द्विवारं, कश्चित् त्रिवारम्।

केनचित्-शतं शतं गाथा मत्यहमभ्यस्ताः, केनचित् द्वे द्वे शते। कश्चिदेक-पूर्वधरः, कश्चिद् द्विपूर्वधरो यावच्चतुर्दशपूर्वधरः संजातः, परन्तु महानिष्ठुरोऽत्रीव निर्बुद्धिरहमस्मि, शतशोऽभ्यासे कृतेऽपि धारणा न भवति। मम पूर्वजन्मोपार्जितं ज्ञानावरणीयं कर्म, तथा ज्ञानान्तरायरूपं कर्म तीव्रतया समत्युदयावस्थां प्राप्तम्,

से वे मुझे पढाते हैं, अन्य मुनि भी मुझ पर विशेष अनुग्रह रखते हैं, वे भी समय २ पर मुझे पचवाते हैं-तो भी मुझ को याद नहीं होता। हमारे में कोई तो मुनिराज ऐसे हैं जो एक बार भी सुनकर याद कर लेते हैं, कोई २ ऐसे हैं जिन्हें दो बार कहने से याद हो जाता है। कोई २ ऐसे हैं जो तीन बार सुनकर विषय को अच्छी तरह याद कर-लेते हैं। कितने ऐसे हैं जो एक ही दिन में सौ-सौ १००-१०० गाथाएँ याद कर लेते हैं। कोई २ ऐसे हैं जो दो सौ २००-दो सौ २०० गाथाएँ तक कंठस्थ कर लेते हैं। कोई एक पूर्वधर हैं। कोई दो पूर्वधर है। कोई तीन, कोई चार, कोई पांच, कोई छह, कोई सात और कोई आठ आदि से लेकर चौदह पूर्वतक के पाठी हैं, किन्तु इन सब में एक मैं ही ऐसा मन्दबुद्धि हु जिसको कुछ नहीं आता है। बुद्धिहीन बना हुआ हूँ। सौ बार याद करने पर भी धारणा होती ही नहीं है। क्या करूँ पूर्वोपार्जित ज्ञानावरणीयकर्म का ही इस समय तीव्र उदय

પણ મારા ઉપર વિશેષ ભાવ રાખે છે અને સમય સમય ઉપર તેઓ મને બતાવે છે, તો પણ મને યાદ રહેતું નથી. અમારામાં કેટલાક મુનિરાજ એવા છે કે, તેઓ એકવાર સાંભળીને તેને કંઠસ્થ કરી લે છે, કોઈ કોઈ એવા છે કે, તેમને બે વખત કહેવાથી યાદ થઈ જાય છે, કોઈ કોઈ ત્રણ વાર સાંભ ળ્યાથી વિષયને સારી રીતે યાદ કરી લે છે કેટલાક એવા પણ છે કે જે એક જ દિવસમાં ૧૦૦-૧૦૦ (સો-સો) ગાથાઓ યાદ કરી લે છે કોઈ કોઈ ૨૦૦-૨૦૦ (બસો-બસો) ગાથાઓ કંઠસ્થ કરી લે છે કોઈ કોઈ પૂર્વધર છે, કોઈ બે પૂર્વધર છે, કોઈ ત્રણ, કોઈ ચાર, કોઈ પાંચ, કોઈ છ, કોઈ સાત, કોઈ આઠ આદિથી લઈને ચૌદ પૂર્વ સુધીના પાઠી છે આ બધા વચ્ચે હું એકજ એવો મંદબુદ્ધિનો છું કે મને કાંઈ પણ આવડતું નથી. હું બુદ્ધિહિન બનેલો છું સો વખત યાદ કરવા છતાંયે ગ્રહણ કરી શકતો નથી શું કરૂં ? પૂર્વોપાર્જીત જ્ઞાના વરણીય કર્મ જ આ સમયે તીવ્ર ઉદયમાં આવેલ છે એનો જ આ પ્રતાપ છે

अस्य गाथाद्वयस्यार्थ निष्कर्ष.—प्रज्ञाया अपकर्षे 'नाहं किञ्चिज्जानामि, मूर्खोऽस्मि, यत्र तत्र पराजितो भवामि' इत्येव परितापो न कर्तव्य' उत्कर्षे श्रुतमदो न कर्तव्यः। किन्तु कर्मविपाकोऽयमिति ज्ञात्वाऽऽत्मनः स्थिरीकरणेन द्विविधोऽपि प्रज्ञापरीषह सोढव्य.।

अत्र प्रज्ञापकर्षे दृष्टान्तः प्रदर्श्यंते—

पुष्पदन्ताचार्यः शिष्यपरिवारेण सह चम्पानगर्यां समवसृतः। तेषु शिष्येषु भद्रमतिनामकः शिष्योऽतीवमन्दमतिरासीत्। स आवश्यकसमाप्त्यनन्तरं दशवैकालिकसूत्राभ्यासार्थं प्रवृत्त, परन्तु तदा तस्य प्रबलज्ञानावरणीयान्तरायकर्मोदयो जातस्ते नैकमप्यक्षर न स्मरति, ततोऽसौ चिन्तयति—अहमस्मि पूर्वधराचार्यस्य शिष्यः, आचार्यो वात्सल्येन मामध्यापयति, अन्ये मुनयश्चापि प्रेम्णा मामध्यापयति

आत्मा को अपने स्वभाव में स्थिर करते हुए प्रज्ञा के प्रकर्ष को सहन करना यह भी प्रज्ञापरीषह है। इस तरह प्रज्ञा के उत्कर्ष और अपकर्ष के भेद से यह परीषह दो प्रकार का हो जाता है। यह दोनों प्रकार का परीषह सहन करना मुनि के लिये आवश्यक है।

प्रज्ञा के अपकर्ष में दृष्टान्त—किसी समय पुष्पदन्ताचार्य शिष्यपरिवार के साथ चंपानगरी में आये। इनकी इस शिष्यमंडली में भद्रमति नाम का एक शिष्य अतीव मंदमति था। एक दिन की बात है कि उसने आवश्यक की समाप्ति के बाद दशवैकालिकसूत्र का अभ्यास करना प्रारंभ किया। परन्तु उस समय उसके प्रबल ज्ञानावरणीयकर्म का उदय होने से एक भी अक्षर उसको याद नहीं होता। इसने विचार किया कि पूर्वधर आचार्य का मैं शिष्य हूँ वात्सल्यभाव

थाय? આ પ્રકારે આત્માને પોતાના સ્વભાવમાં સ્થિર કરીને પ્રજ્ઞાનો પ્રકર્ષ સહન કરવો તે પણ પ્રજ્ઞાપરીષહ છે, આવી રીતે પ્રજ્ઞાનો ઉત્કર્ષ અને અપકર્ષના ભેદથી આ પરીષહ બે પ્રકારનો બને છે આ બન્ને પ્રકારના પરીષહ સહન કરવા મુનિને માટે આવશ્યક છે પ્રજ્ઞાના અપકર્ષનું દૃષ્ટાંત—

કોઈ એક સમયે પુષ્પદન્તાચાર્ય શિષ્યપરીવાર સાથે ચંપાનગરીમાં આવ્યા. આ શિષ્ય મંડળીમાં ભદ્રમતિ નામનો એક શિષ્ય ઘણો મંદમતી હતો. એક દિવસની વાત છે કે, તેણે આવશ્યકની સમાપ્તિ બાદ દશવૈકાલિક સૂત્રનો અભ્યાસ કરવો શરૂ કર્યો પરંતુ તે સમયે તેને પ્રબળ જ્ઞાનાવરણીય કર્મનો ઉદય થવાથી એક પણ અક્ષર યાદ રહેતો નહીં તેણે વિચાર કર્યો કે, હું પૂર્વધર આચાર્યનો શિષ્ય છું, વાત્સલ્યભાવથી તેઓ મને શાસ્ત્રાધ્યયન કરાવે છે. બીજા મુનિઓ

प्रज्ञाप्रकर्षे दृष्टान्त. प्रदर्श्यते—

एकदा-कालकाचार्यं प्रमादवत. स्वशिष्यानुज्जयिन्यां विहाय धारावासनग स्वशिष्यस्य सागरचन्द्रमुने समीपे समागत । सागरचन्द्रस्त सामान्यसाधुबुद्ध जानाति कालकाचार्योऽपि न किंचित् परिचय ददाति ।

अथाऽन्यदा सागरचन्द्रमुनिनाऽऽगमनिर्णीततत्त्वस्वरूपव्याख्याने कृते सा लोकास्त प्रशंसन्ति, तदा सागरचन्द्रमुनि. कालकाचार्यंप्रति प्राह—मद्व्याख्या

सकेगा, इस गाथा को तो याद करके ही छोड़ने का भाव है । इ प्रकार निश्चय करके प्रज्ञापकर्षरूप परीषह को सहन करते हुए उ भद्रमुनि ने शुभाध्यवसायजन्य प्रशस्त ध्यान से क्षपकश्रेणी को आरो हण कर केवलज्ञान को प्राप्त किया ।

प्रज्ञा के प्रकर्ष में दृष्टान्त इस प्रकार है—एक समय कालकाचा प्रमादशील अपने शिष्योंको उज्जयिनी नगरीमें छोड़कर धारावासनग में स्वशिष्य सागरचंद्रमुनि के पास आ गये । सागरचन्द्रशिष्यने उनके साथ सामान्य साधुके जैसा ही व्यवहार किया, गुरु जैसा नहीं । कालका चार्यने भी इस घात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और अपना परिचय भी नहीं दिया । एक दिन की घात है कि जय सागरचन्द्रमुनि ने आगम निर्णीत तत्त्वों के स्वरूप को समझाते हुए व्याख्यान दिया तो सुनकर लोगों को अपार आनद आया,-सबने प्रवचन की मुक्तकंठ से प्रशस की । सागरचन्द्रमुनि ने अपरिचित गुरु के समीप आकर कहा—आपने

યાદ કર્યે જ છુટકો, તેવો મનોભાવ છે આ પ્રકારનો નિશ્ચય કરીને પ્રજ્ઞાપ્ર પકર્ષપરીષહને સહન કરતાં કરતાં તે ભદ્રમુનિએ શુભ અધ્યવસાય જન્ય પ્રશસ્ત ધ્યાનથી ક્ષપકશ્રેણી ઉપર ચડી કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યું

પ્રજ્ઞાના પ્રકર્ષમાં દૃષ્ટાંત આ પ્રકારનુ છે—

એક સમય કાલકાચાર્ય પ્રમાદશિલ પોતાના શિષ્યોને ઉજ્જૈનિ નગરીમાં મૂકીને ધારાવાસ નગરમા સ્વશિષ્ય સાગરચદ્ર મુનિની પાસે આવ્યા સાગરચદ્ર શિષ્યે તેમની સાથે સામાન્ય સાધુ જેવો વહેવાર કર્યો, ગુરુ શિષ્ય જેવો નહીં કાલકાચાર્યે આ વાત ઉપર કાંઇ ધ્યાન ન આપ્યુ, અને પોતાનો પરિચય પણ ન આપ્યો. એક દિવસની વાત છે કે, જ્યારે સાગરચદ્ર મુનિએ આગમ નિર્ણીત તત્વોના સ્વરૂપને સમજાવવાનુ વ્યાખ્યાન આપ્યુ તે સાભળીને લોકોને અપાર આનદ થયો સઘળાએ પ્રવચનની મુક્તકંઠે પ્રશસા કરી. સાગરચદ્ર મુનિએ અપરિચિત ગુરુની સમીપ આવીને કહ્યુ આપે આજ મારૂં તાત્વિક પ્રવચન

तस्मान्मया प्रज्ञाया असद्भावरूपोऽयं परीपहः सोढव्यः, न तु कस्मिंश्चित् ईर्ष्या द्वेषो वा करणीयः, एवं विचिन्त्य सत्यष्ट पठति, पुनः पुनरभ्यस्यति च, परं तु धारणा न भवति, 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठ' इति गाथा द्वादशवर्षाणि अभ्यस्ता, परं तु तस्या एकस्या अपि गाथायाः स्मृतिस्तस्य नाभूत्, अभ्यासकाले धारितेव सा तस्य भवति, परं स्वल्पकाल एव पुनस्तां विस्मरति। तदाऽसौ पुनरध्यवस्यति-पुनरपि द्वादशवर्षाणि कालमभ्यासार्थं यापयिष्यामि, येन केनापि प्रकारेण गाथामेतां कण्ठस्थीकरिष्याम्येव। इत्येवं निश्चित्य प्रज्ञाऽपकर्षपरीषहं सहमानः शुभाध्यवसायेन प्रशस्तध्यानेन क्षपकश्रेणिमारुह्य स भद्रमुनिः केवलज्ञानं प्राप्तवान्।

हो रहा है, उन्हीं का यह काम है, अतः प्रज्ञा का असद्‌भावरूप यह परीषह मुझे शांति के साथ सहन करना चाहिये, इसी में मेरा कल्याण है, किसी के साथ इर्षा या द्वेष करने से कोई लाभ नहीं। इस प्रकार भद्रमति मुनि बार २ विचार करता और अपने पूर्वोपार्जितकर्मों की निन्दा करता था, परन्तु उसने अपना पढना और याद करना बंद नहीं किया। अकेले "धम्मो मंगलमुक्किट्ठ" इस गाथा को ही उसने लगातार बारह वर्षतक याद किया-रटा, पर तौ भी उस को यह गाथा याद नहीं हुई। जिस समय यह याद करने बैठता उस समय तो यह याद हो जाती पर ज्यों ही यह याद करना बंद कर देता अथवा क्रिया करने में उपयोग लगाता तो शीघ्र ही उस गाथा को भूल जाता था। यह फिर भी उसको याद करना और पढना नहीं छोडता और विचार करता कि यदि यह गाथा इन बारह १२ वर्षों में कठस्थ नहीं हुई तो अब आगे के १२ वर्षों में कंठस्थ हो जायेगी, क्या चिंता जैसे भी हो

આથી પ્રજ્ઞાનો આ અસદ્‌ભાવરૂપ પરીષહ મારે શાંતિથી સહન કરવો જોઈએ. તેમાં જ મારૂં કલ્યાણ છે કોઈની સામે ઇર્ષા અથવા દ્વેષ કરવાથી કોઈ લાભ નથી આ પ્રકારે ભદ્રમતિ મુનિ વારવાર વિચાર કરતા અને પોતાના પૂર્વોપાર્જીત કર્મોની નિંદા કરતા પણ પોતાના પઠન-પાઠન આદિને તેણે બંધ ન કર્યો. "ધમ્મો મંગલમુક્કિટ્ઠ" એ એક ગાથાને એકલાં તેણે બાર વર્ષ સુધી યાદ કરી ગોખ્યું છતાં પણ તેને એ ગાથા યાદ ન થઈ જે સમય તે યાદ કરવા બેસતા તો તે વખતે યાદ રહી જતી પણ એ પછી યાદ કરવાનું બંધ કરી ક્રિયામાં ગુંથાતાં તે ગાથા ભૂલાઈ જતી. છતાં પણ તે એને યાદ કરવાનું છોડતા નહીં અને વિચાર કરતા કે, આ બારવર્ષમાં યાદ ન થઈ તો આવતા બારવર્ષમાં જરૂર યાદ થઈ જશે. ચિંતા શા માટે કરવી જોઈએ. જે રીતે બનશે તે રીતે પ ગાથાને

सहितः कालकाचार्य आगच्छति इति श्रुत्वा सागरचन्द्रमुनिस्तत्रागच्छतां कालकाचार्यशिष्याणा सम्मुखे समागतः। स तत्र परितो विलोक्याचार्यमदृष्ट्वा, तान् समागतान् मुनीन् पृच्छति-भो मुनयः! क्व वर्तन्ते पूज्यचरणा., सागरचन्द्रमुनेरेतद्वचन निशम्य हताशाः सर्वे मुनय. साश्रुनेत्रा. सगद्गद प्रोक्तवन्त.-हतभाग्यानस्मान् परित्यज्य गुरुचरणाः क्व गता इति वय न विद्मः, भवता ज्ञायते किम्?। सागरचन्द्रमुनिनोक्तम्-त न विद्मो वयम्, किं तु एक. कोऽपि वृद्ध. समति वर्तते उपाश्रये। ततः सर्वे गुरुभक्त्युद्रेकात् तद्विरहखिन्ना उपाश्रये आगताः। सागरमुनिनाऽङ्गुल्या निर्देशेन मदर्थ्यं कथितम्-अयमागन्तुको महानुभावः। शिष्यास्तदैव

चल दिये। सागरचन्द्रमुनि को जब पता चला कि सशिष्य गुरु महाराज कालकाचार्य विहार करते हुए यहा आरहे हैं तो वे उनका स्वागत करने के लिये सामने गये। वहां उन मुनियों में गुरु महाराज को नहीं देखा तब उसने उन अपने गुरुभाईओं से पूछा कि-पूज्य गुरु महाराज तो दिखते नहीं हैं कहो वे इस समय कहा हैं। तब मुनियों ने सागरचन्द्रमुनि के वचन सुनकर हताश एव आंसू डालते हुए गद्गद कठ से बोले हतभाग्य हमलोगों को छोड़कर गुरु महाराज कहा चले गये हैं यह हम नहीं जानते हैं। कहो आप को मालूम है क्या? सागरचन्द्रमुनि ने कहा उन्हें तो हम जानते नहीं हैं किन्तु एक कोई वृद्ध महात्मा इस समय उपाश्रय में अवश्य ठहरे हुए हैं। सागरचन्द्रमुनि की इस बात को सुनकर समस्त शिष्य जो गुरु महाराज के विरह से खेदखिन्न बने हुए थे गुरुभक्ति के उद्रेक से प्रेरित होकर उपाश्रय में पहुँचे। सागरचन्द्रमुनि ने अगुली के इशारे से

કરવા લાગ્યા સાગરચન્દ્ર મુનિને એ ખબર મળ્યા કે, ગુરુમહારાજ કાલકાચાર્ય શિષ્યો સાથે વિહાર કરતા કરતા અહીં પધારે છે ત્યારે તે તેમનુ સ્વાગત કરવા સામે ગયા. ત્યાં એ મુનિઓમા ગુરુમહારાજને ન જોયા ત્યારે તેણે પોતાના એ ગુરુભાઈઓને પૂછ્યું કે પૂજ્ય ગુરુમહારાજ તો દેખાતા નથી કહો, તે આ સમયે ક્યાં છે? સાગરચન્દ્ર મુનિનાં આ વચન સાંભળતાં તે શિષ્યો હતાશ બની ગયા અને આંસુભરી આંખે ગદ્ગદ્ કંઠથી બોલ્યા, હતભાગી એવા અમોને છોડીને ગુરુમહારાજ ક્યાં ચાલ્યા ગયા છે એ અમે જાણતા નથી કહો કહો આપને ખબર છે? સાગરચન્દ્ર મુનિએ કહ્યું, એમને હું ઓળખતો નથી પરન્તુ એક વૃદ્ધ મહાત્મા આ વખતે ઉપાશ્રયમા રોકાયેલા છે સાગરચન્દ્રની આ વાત સાંભળી સઘળા શિષ્યો જે ગુરુમહારાજના વિરહથી ખેદખિન્ન બનેલ હતા, તે સઘળા ગુરુભક્તિના ભાવથી પ્રેરિત બની ઉપાશ્રયમા પહોંચ્યા સાગર

श्रुत भवद्भिः, कीदृश वद् , ? तेनोक्तम्—शोभनम् , कालकाचार्येण सह तस्य तर्कमाश्रित्य वाद प्रवृत्तः । सागरचन्द्रमुनिस्तस्य तुल्यतया प्रत्युत्तर कर्तुमसमर्थो जात स्ततोऽतीव चमत्कार स प्राप्तवान् ।

इतश्च कालकाचार्यस्य शिष्याः स्वगुरुपरित्यक्ताश्चतुर्विधसघैस्तिरस्कारं प्राप्य, लज्जिताः सन्त स्वगुरु गवेषयन्ति । ते ग्रामानुग्राम विहरन्तः कालकाचार्यवार्ता प्रतिग्राम प्रतिनगर प्रतिस्थल पृच्छन्तः क्रमेण धारावासनगरं समागताः । किन्

आज मेरा तात्त्विक प्रवचन तो सुना है ? वह कैसा हुवा। कालकाचार्य ने कहा अच्छा हुवा, बातचीत के सिलसिले में ही गुरु शिष्य का तर्कशास्त्र पर परस्पर में वादविवाद छिड़ गया। सागरचंद्रमुनि को यह पता नहीं था कि ये मेरे गुरु महाराज कालकाचार्य हैं। सागरचंद्र मुनि कालकाचार्य की तर्कणाओं का प्रत्युत्तर नहीं दे सका अतः वह कालकाचार्य के अगाध ज्ञान से विशेष प्रभावित हुआ।

उधर से जब अपने शिष्यों को उज्जयिनी में छोड़कर कालकाचार्य आगये तो उन शिष्यों का वहां के चतुर्विधसघने बड़ा ही तिरस्कार किया। वे सबके सब लज्जित होने लगे। सबने विचार किया कि गुरु महाराज का पता लगाना चाहिये कि वे कहां पधारे हैं। विचार निश्चित कर सबने वहां से गुरु महाराज की गवेषणा करने के लिये विहार कर दिया। ग्रामानुग्राम विचरते हुए उन्हों ने प्रत्येक जगह में, प्रत्येक ग्राम में, प्रत्येक शहर में कालकाचार्य का पता लगाया तथा उनकी खबर भी पूछी। पूछतेर ये सब के सब धारावास नगर की ओर

સાંભળ્યું ? તે કેમ હતું ? કાલકાચાર્યે કહ્યું, સારૂં હતું વાતચીતની સાથોસાથ ગુરૂ શિષ્યને તર્કશાસ્ત્ર ઉપર પરસ્પરમાં વાદવિવાદ થયો. સાગરચંદ્ર મુનિને એ ખ્યાલ ન હતો કે આ મારા ગુરુમહારાજ કાલકાચાર્ય છે સાગરચંદ્ર મુનિ કાલકાચાર્યની તર્ક ધારાઓનો પ્રત્યુત્તર આપી શક્યા નહીં આથી તે કાલકાચાર્યના અગાધ જ્ઞાનથી ખૂબ પ્રભાવિત બની ગયા

આ તરફ ઉજ્જૈનીમાં રહેલા તે શિષ્યોનો ત્યાંના ચતુર્વિધ સંઘે ખૂબ તિરસ્કાર કર્યો. તે સઘળા આથી ખૂબજ શરમાયા. અને બધાએ મળી એ વિચાર કર્યો કે, ગુરુમહારાજનો પત્તો મેળવવો જોઈએ કે તેઓ ક્યાં વિચરે છે વિચાર નક્કી કરી એ શિષ્યોએ ગુરુમહારાજની તપાસ માટે વિહાર કર્યો. ગ્રામાનુગ્રામ વિચરણ કરતા તેમણે પ્રત્યેક જગ્યાએ, પ્રત્યેક ગામમાં, પ્રત્યેક શહેરમાં, કાલકાચાર્ય મહારાજની પૃચ્છા કરી. અને તેમની ખબર પૂછી. પૂછતાં પૂછતાં ખબર મળી જતાં તે સઘળા ધારાવાસ નગર વિહાર

'निरट्ठग' इत्यादि।

निरर्थकम्=व्यर्थम् मि=अह मैथुनात्=कामसुखाद् विरत:=निवृत्त:। प्राणातिपातादिविरमण विहाय यन्मैथुनमात्रोपादान तत्तस्य दुस्त्यजत्वबोधनार्थम्। दुस्त्यजमैथुनात् प्रतिनिवर्तनेनाह दुष्कर कार्यं व्यर्थमेव कृतवानिति भावः। तथा-निरर्थकं सुसंवृत: = इन्द्रियनोइन्द्रियव्यापारनिरोधेन सुष्ठुसवरयुक्त:। योऽह कल्याण= शुभ, पापकम्=अशुभ, धर्म=वस्तुस्वभाव साक्षात्=परिस्फुटं यथा स्यात् तथा, नाभिजानामि=अवध्यादिज्ञानाभावेन प्रत्यक्षतया सर्वथा न जानामीत्यर्थ:। इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्। 'इइ भिक्खू न चिंतए' इत्युत्तरगाथा(४४)स्थेन सह सम्बन्धः।

मतिश्रुतरूप परोक्षज्ञान को आश्रित कर प्रज्ञापरीषह का सूत्रकारने यह वर्णन किया है। अब अवधि आदि रूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान हैं उनके अभावरूप इक्कीसवा अज्ञानपरीषह का वर्णन किया जाता है—

'निरट्ठगम्मि' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(निरट्ठगम्मि मेहुणाओ विरओ- निरर्थकमह मैथुनात् विरत) व्यर्थ ही मैं कामसुख से विरक्त हुआ हू। (सुसवुडो-सुसंवृतः) व्यर्थ ही मैंने इन्द्रियों एव मन को अपने अभिलषित विषयों से हटाकर सुसवृत किया है।(जो-यः) जो मैं अभीतक भी (कल्लाण पावग धम्मं सक्खं नाभिजाणामि-कल्याण पापकं धर्म्मं साक्षात् नाभिजानामि) शुभ तथा अशुभ वस्तुस्वभावरूप धर्म को अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञानों के अभाव में साक्षात्-स्पष्टरूप से नहीं जानता हू। इस प्रकार भिक्षु विचार न करे। "इइ भिक्खू न चिंतए" यह आगे गाथा चौवालीस ४४वीं में कहा गया वाक्य यहां योजित कर लेना चाहिये।

મતિશ્રુત રૂપ પરોક્ષજ્ઞાનને આશ્રિત કરી પ્રજ્ઞાપરીષહનુ સૂત્રકારે આ વર્ણન કરેલ છે હવે અવધિ આદિરૂપ જે પ્રત્યક્ષજ્ઞાન છે તેના અભાવરૂપ એકવીસમા અજ્ઞાનપરીષહનુ વર્ણન કરવામાં આવે છે—'निरट्ठगम्मि' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ–निरट्ठगम्मि मेहुणाओ विरओ–निरर्थकमह मैथुनात् विरत કામસુખને છોડીને હું નકામો વિરક્ત બન્યો છુ सुसवुडो–सुसंवृत ઈન્દ્રિયો અને મનને તેના અભિલષિત વિષયોથી હટાવીને મે વ્યર્થ સુસવૃત કરેલ છે, જો આજ સુધી પણ હું कल्लाण पावग धम्मं सक्खं नाभिजाणामि–कल्याण पापकं धर्म्मं साक्षात् नाभिजानामि શુભ તથા અશુભ વસ્તુ સ્વભાવરૂપ ધર્મને અવધિ આદિ પ્રત્યક્ષ જ્ઞાનના અભાવથી સાક્ષાત્–સ્પષ્ટરૂપથી જાણતો નથી. આ પ્રકારનો વિચાર ભિક્ષુ ન કરે इइ भिक्खू न चिंतए આ આગળ બતાવવામાં આવેલ ૪૪ મી ગાથાનુ

हृष्टतुष्टाः ससम्भ्रमं हर्षवशविसर्पद्धृदयाः, 'इमे एव मम गुरवः' इति वन्दितवन्तः। सागरचन्द्रमुनिस्तदा कालकाचार्ये परिचिते पश्चात्तापं कुर्वन् वदति-भगवन्! मया श्रुतनिधीनां तत्रभवतां भवतामाशातना कृता, क्षमस्व।

कालकाचार्येणोक्तम्—हे वत्स! श्रुतमदो न कर्तव्यः। एवमन्यैरपि कालकाचार्यवत् प्रज्ञाप्रकर्षे मदाकरणेन प्रज्ञापरीषहः सोढव्यः ॥४१॥

मतिश्रुतरूपपरोक्षज्ञानमाश्रित्य प्रज्ञापरीषहो वर्णितः। अथेदानीमवध्यादिकं प्रत्यक्षज्ञानमाश्रित्य तदभावरूप एकविंशतितमोऽज्ञानपरीषहः प्रोच्यते—

मूलम्—निरट्ठगं मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाणं पावगं ॥४२॥

छाया—निरर्थकम् अहं विरतः, मैथुनात् सुसंवृतः।
यः साक्षात् नाभिजानामि, धर्मं कल्याणं पापकम् ॥ ४२ ॥

बतलाकर कहा कि देखो ये हैं वे आगन्तुक महानुभाव। वे शिष्य सब के सब उसी समय अपार हर्ष से उत्फुल्लहृदय होकर हृष्ट तुष्ट होते हुए बडे ही आदर से "यही है हमारे गुरु महाराज" कह कर उनके चरणों में गिर कर वंदना करने लगे। सागरचंद्रमुनि उस समय कालकाचार्य के परिचित होने पर पश्चात्ताप करता हुआ उनसे बोला भगवन्! श्रुतनिधि पूज्य आपकी मेरे द्वारा आशातना हुई है, अतः मैं उसकी क्षमा चाहता हूं, आप क्षमा करें। कालकाचार्य ने कहा वत्स! श्रुतज्ञान का मद नहीं करना चाहिये। इस कथा से यही शिक्षा मिलती है कि कालकाचार्य की तरह प्रज्ञा के प्रकर्ष में मद नहीं करने से प्रज्ञापरीषह का जय होता है ॥ ४१ ॥

ચંદ્ર મુનિએ આંગળીના ઈશારાથી બતાવીને કહ્યું કે, જુઓ આ છે તે આવેલા મહાનુભાવ! આથી તે સઘળા શિષ્યો તે સમયે અપાર હર્ષથી પ્રફુલ્લિત બની ખુશી થતાં થતા ખૂબજ આદરથી "આ જ છે અમારા ગુરુમહારાજ" કહીને તેમના ચરણમાં પડીને વંદન કરવા લાગ્યા. સાગરચંદ્રમુનિએ સમયે કાલકાચાર્યના પરિચયથી પશ્ચાત્તાપ કરતાં કરતાં તેમને કહેવા લાગ્યા, ભગવંત! શ્રુતનિધિ પૂજ્ય મારાથી આપની અશાતના થઈ છે આથી હું તેની ક્ષમા ચાહું છું. આપ મને ક્ષમા કરો. કાલકાચાર્યે કહ્યું, વત્સ! શ્રુતજ્ઞાનનો મદ ન કરવો જોઈએ. આ કથાથી એ જાણવાનું મળે છે કે, કાલકાચાર્યની માફક પ્રજ્ઞાના પ્રકર્ષમાં મદ નહીં કરવાથી પ્રજ્ઞાપરીષહનો જય થાય ॥૪૧॥

टीका—'तवोवहाणमादाय' इत्यादि ।

तपः=यवमध्यचन्द्रप्रतिमा-वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमादिकम् , उपधान=साभिग्रह तपः आदाय=स्वीकृत्य चरित्वेत्यर्थः, अभिग्रहविशेषरूपां मासिक्यादिकां, प्रतिपद्यमानस्य=प्रतिपन्नस्य अङ्गीकृतवतः, एवमपि=विशिष्टचर्ययाऽपि, विहरतः=निष्प्रतिबन्धं विचरतः, मे=मम, छद्म=छादयतीति छद्म-ज्ञानावरणीयादिक कर्म, न निवर्तते =नापगच्छति, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् , इत्युत्तरगाथास्थेन सह सम्बन्धः ।

अय भावः—अहं यवमध्यचन्द्रप्रतिमादिक तप' करामि, तथा साभिग्रहं तप

किंच-'तवोवहाणमादाय' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(तवोवहाणमादाय-तपउपधाम् आदाय) यवमध्य चन्द्रप्रतिमा, वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा आदिक तप को तथा साभिग्रह तप रूप उपधान को स्वीकार कर के, तथा उनका आचरण करके (पडिमपडिवज्जओ-प्रतिमा प्रतिपद्यमानस्य) अभिग्रहविशेषरूप मासिक्या दिक प्रतिमा को अगीकार करने वाले (मे-मम) मेरा जो कि (एवं पि विहरओ-एवमपि विहरतः) इस प्रकार की विशिष्टचर्या से मुक्ति के मार्ग में विचरण कर रहा हू (छउम-छद्म) ज्ञानावरणीयादिक कर्मों का आवरण तो भी (न नियट्टइ-न निवर्तते) निवर्तित नहीं होता है। इस प्रकार भिक्षु विचार नहीं करे।

ये दो ४२-४३ गाथाएँ अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति के विषय में कही गई हैं।

तात्पर्य यह है कि मैं यवमध्यचन्द्रप्रतिमा आदिक तप करता हूँ

કિંચ—'तवोवहाणमादाय' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—'तवोवहाणमादाय'—तपउपधान आदाय યવમધ્યચંદ્રપ્રતિમા—વજ્રમધ્યચન્દ્ર પ્રતિમા આદિક તપને તથા સાભિગ્રહ તપરૂપ ઉપધાનને સ્વીકાર કરી તથા તેનું આચરણ કરી पडिम पडिवज्जओ—प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य અભિગ્રહ વિશેષરૂપ માસિકયાદિ પ્રતિમાને અંગીકાર કરવાવાળા मे—मम હું કે જે—एव पि विहरओ—एवमपि विहरतः આ પ્રકારની વિશિષ્ટ ચર્યાથી મુક્તિના માર્ગમાં વિચરણ કરી રહ્યો છુ छउमं—छद्म છતાં જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મોનું આવરણ न नियट्टइ—न निवर्तते દૂર થતું નથી. આ પ્રકારનો વિચાર ભિક્ષુ ન કરે

બેતાલીસ અને તેતાલીસ આ બે ગાથાઓ અવધિ આદિ પ્રત્યક્ષ જ્ઞાનની અપ્રાપ્તિના વિષયમાં કહેવામાં આવેલ છે

તાત્પર્ય આ છે કે,— હું યવમધ્ય ચંદ્રપ્રતિમા આદિક તપ કરૂં છું તથા

अय भावः — मया वृथा मैथुनविरमणं कृतम्, वृथैव चेन्द्रियाणि विनिवर्तितानि यदहं शुभमशुभं वा वस्तुस्वभावं प्रत्यक्षरूपेण नाभिजानामीत्येवं चिन्तनेन मुनिर्विषादं न कुर्यात्। 'मि' इत्यार्षत्वात् प्रथमार्थे द्वितीया ॥ ४२ ॥

किञ्च—

मूलम्—तवोवहाणमादाय, पडिमं पडिवज्जओ।
एवं पि विहरओ मे, छउमं न नियट्टइ ॥ ४३ ॥

छाया—तपउपधानमादाय, प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य।
एवमपि विहरतो मे, छद्म न निवर्तते ॥ ४३ ॥

इस गाथा में एक मैथुन मात्र का ही ग्रहण इसलिये किया है कि अहिंसा आदि सब की अपेक्षा यह दुस्त्यज होता है इसलिये मुनि विचारता है कि ऐसे दुष्कर त्याग करने पर भी मुझे कुछ लाभ नहीं हुआ।

भावार्थ—इसका भाव यह है कि अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञानों की प्राप्ति के अभाव में भिक्षु को अपनी आत्मा के लिये इस प्रकार के विचार से विषादित नहीं करना चाहिये कि—मुझे ब्रह्मचर्य का पालन तथा तपश्चर्या करते २ बहुत काल हो चुका है अभी तक भी वस्तु का वास्तविक शुभाशुभ स्वभाव स्पष्ट रीति से समझाने वाले प्रत्यक्ष ज्ञानों में से एक भी किसी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है। यह दीक्षा ब्रह्मचर्यव्रत और तपश्चर्या आदि मैंने व्यर्थ धारण किये। इसकी अपेक्षा तो संसारदशा में ही आनन्द था ॥ ४२ ॥

વાક્ય આદિ ગોઠવણ કરી લેવું જોઈએ. આ ગાથામાં એક મૈથુન માત્રનું એટલા માટે ગ્રહણ કરવામાં આવેલ છે કે, અહિંસા આદિ સઘળાની અપેક્ષા એ દુસ્ત્યજ હોય છે આ માટે મુનિ વિચારતા હોય છે કે, આવો દુષ્કર ત્યાગ કરતાં છતાં પણ મને કાંઈ લાભ થયો નહીં

ભાવાર્થ—આનો ભાવ એ છે કે, અવધિ આદિ પ્રત્યક્ષ જ્ઞાનોની પ્રાપ્તિના અભાવમાં ભિક્ષુએ પોતાના આત્મા માટે આ પ્રકારનો વિચાર કરી કદી વિષાદિત બનવું ન જોઈએ—કે, મને બ્રહ્મચર્યનું પાલન અને તપશ્ચર્યા કરતાં કરતાં ઘણો સમય ગયો તેમ છતાં પણ વસ્તુનો વાસ્તવિક શુભાશુભ સ્વભાવ સ્પષ્ટ રીતે બતાવનાર પ્રત્યક્ષ જ્ઞાનોમાંથી કોઈ એક પણ જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ થવા પામી નથી. આ દીક્ષા, બ્રહ્મચર્યવ્રત અને તપશ્ચર્યા વગેરે મેં નકામાં ધારણ કર્યાં છે આની અપેક્ષા તો સંસાર દશામાં જ આનંદ હતો ॥ ૪૨ ॥

मया नोपलब्धम्। तदनुपलब्धौ च दुस्त्यजमैथुनात् प्रतिनिवर्तनं मम व्यर्थम् तथा निरर्थकं सुसंवृतः = इन्द्रियनोइन्द्रियव्यापारनिरोधेन सुष्ठुसंवरयुक्तोऽभवम् योऽहं कल्याणं पापकं वा धर्मं=वस्तुस्वभावं, साक्षात्=परिस्फुटं, नाभिजानामि=अभि-सर्वथा निरवशेषविशेषपूर्वकं न जानामि। अयं भावः—" जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ " इत्यागमवचनाच्छद्मस्थोऽहं किमप्येकमपि वस्तुस्वरूपं न तत्त्वतो जानामि, यदि साक्षात् समस्तभावस्वभावावभासकं केवलालोकं न लब्धवान्, तर्हि किमनेनाल्पेन मुकुलितवस्तुस्वरूपज्ञानेन, इत्येवं विषादं न कुर्यादिति।

तथा-तपउपधानादिभिर्निर्जराहेतुभिरपि छद्मस्थावस्था न निवर्तते=निरवशेषं न क्षीयते, किं तर्हि ममानेन क्रियाकलापेन? इति विचिन्त्य मुनिर्विषादं न कुर्यात्।

तथा इन्द्रिय नोइन्द्रिय का निग्रह भी किया है वे सब निरर्थक हैं। क्यों कि अभीतक मुझे शुभाशुभ वस्तु का संपूर्णरूप से ज्ञान कराने वाला केवलज्ञान तो प्राप्त हुवा ही नहीं है। उसके न होने पर इस द्रव्य क्षेत्र काल एवं भाव की मर्यादा को लेकर वस्तु के स्वरूप को प्रकट कराने वाले इन अवधिमनःपर्ययज्ञान से क्या लाभ है। इस प्रकार विचार कर साधु अपनी आत्मा को दुःखित नहीं करे।

तथा-निर्जरा के कारण इन तप एवं उपधान आदि के आचरण करने से मुझे लाभ ही क्या हुआ, क्यों कि अभीतक मेरी छद्मस्थावस्था तो दूर नहीं हुई है। समस्त ज्ञानावरणीयकर्म नष्ट होकर जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता तबतक छद्मस्थावस्था रहती है। अतः केवलज्ञान की प्राप्ति का अभावस्वरूप अज्ञानपरीषह साधु को जीतना चाहिये। तथा तप एवं उपधान आदि जो निर्जरा के हेतु हैं उनसे मेरे

નિગ્રહ પણ કર્યો છે તે બધુ નિરર્થક છે કેમકે, હજી સુધી મને શુભાશુભ વસ્તુનું સંપૂર્ણરૂપથી જ્ઞાન કરાવનાર કેવળજ્ઞાન તો પ્રાપ્ત થયુ નથી તેના ન હોવાથી આ દ્રવ્ય ક્ષેત્ર કાળ અને ભાવની મર્યાદાને લઈને વસ્તુના સ્વરૂપને પ્રગટ કરાવનાર આ અવધિમન પર્યયજ્ઞાનથી શું લાભ છે? આ પ્રકારનો વિચાર કરી સાધુ પોતાના આત્માને દુખી ન કરે

તથા-નિર્જરાનુ કારણ આ તપ અને ઉપધાન આદિનું આચરણ કરવાથી મને લાભ શુ થયો? કેમકે, હજી સુધી મારી છદ્મ અવસ્થા દૂર થઈ નથી જ્યાં સુધી જ્ઞાનાવરણીય કર્મનો નાશ થઈ કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત ન થાય ત્યાં સુધી છદ્મસ્થ અવસ્થા રહે છે આથી કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિના અભાવ સ્વરૂપ અજ્ઞાનપરીષહ સાધુએ જીતવો જોઈએ. તથા તપ અને ઉપધાન આદિ જે નિર્જરાના હેતુ છે

करोमि, प्रतिमां समाचरामि, एवं मोक्षमार्गे विचरामि, तथापि-अवधि-मनः पर्ययरूप-प्रत्यक्षज्ञानवान् न भवामि' इति न चिन्तयेत्। इत्येवमज्ञानस्य सद्भावे विषादाकरणेनाज्ञानपरीषहः सोढव्य इति।

यद्वा-इहापि तन्त्रन्यायेन गाथायुग्मस्यार्थद्वयं बोध्यम्। तत्र-अज्ञानसद्भावपक्षमाश्रित्य व्याख्याऽभिहिता। अथ ज्ञानसद्भावपक्षमाश्रित्य व्याख्या प्रदर्श्यते-

ज्ञानसद्भावे—अवधिमनःपर्ययज्ञानसद्भावेऽपि केवलज्ञानाप्राप्तौ भिक्षुरेवं न चिन्तयेत्-यदहं व्यर्थमेव मैथुनाद् विरतः=निवृत्त। परमलक्ष्यकेवलज्ञानमप्राप्य

तथा अभिग्रह भी करता हूँ एवं भिक्षुप्रतिमा का पालन भी करता हूं इस प्रकार मैं मोक्षमार्ग में ही विचरण कर रहा हूँ तो भी मुझे अभीतक अवधिमनःपर्ययरूप प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई है इस प्रकारसे साधुको विचार नहीं करना चाहिये। इस तरह अवधिमनःपर्ययरूप ज्ञानकी प्राप्ति के अभाव में विषाद नहीं करना इसी का नाम अज्ञानपरीषहका जीतना है।

अथवा तन्त्रन्याय से भी इन दोनों गाथाओं का अर्थ जानना चाहिये। उस में अज्ञान के सद्भाव पक्ष को लेकर पहले व्याख्या की गई है अब ज्ञान के सद्भाव पक्ष को लेकर व्याख्या की जाती है, वह इस प्रकार है—

अवधिमनःपर्ययज्ञान के सद्भाव में केवलज्ञान की प्राप्ति न होने पर साधु इस प्रकार विचार नहीं करे कि-मैंने जो मैथुन जैसे दुष्कर कार्यों का परित्याग किया है प्राणातिपातादिक का विरमण किया है

અભિગ્રહ પણ કરૂં છુ આ પ્રકારથી હુ મોક્ષમાર્ગમાં જ વિચરણ કરી રહ્યો છુ તો પણ મને હજી સુધી અવધિમનઃપર્યયરૂપ જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ થઈ નથી. આ પ્રકારનો સાધુએ વિચાર ન કરવો જોઈએ. આ રીતે અવધિમનઃપર્યયરૂપ જ્ઞાનની પ્રાપ્તિના અભાવમાં વિષાદ ન કરવો જોઈએ. આનું જ નામ અજ્ઞાન પરીષહને જીતવો એ છે

અથવા-તંત્ર ન્યાયથી પણ આ બન્ને ગાથાઓના અર્થ જાણવા જોઈએ. એમાં અજ્ઞાનના સદ્ભાવપક્ષને લઈ પહેલાં વ્યાખ્યા કરવામાં આવી છે હવે જ્ઞાનના સદ્ભાવ પક્ષને લઈ વ્યાખ્યા કરવામા આવે છે, તે આ પ્રકારે છે

અવધિમનઃપર્યયજ્ઞાનના સદ્ભાવમા કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ ન થવાથી સાધુ આ પ્રકારનો વિચાર ન કરે કે-મે મૈથુન જેવા દુષ્કર કાર્યોનો પરિત્યાગ કર્યો છે, પ્રાણાતિપાતાદિકનું વિરમણ કર્યું છે, તથા ઇન્દ્રિય નો (મન) ઇન્દ્રિયનો

मया नोपलब्धम्। तदनुपलब्धौ च दुस्त्यजमैथुनात् प्रतिनिवर्तनं मम व्यर्थम्। तथा निरर्थकः सुसंवृत्तः = इन्द्रियनोइन्द्रियव्यापारनिरोधेन सुष्टुसंवरयुक्तोऽभवम्, सोऽहं कल्याणं पापकं वा धर्मं=वस्तुस्वभावं, साक्षात्=परिस्फुटं, नाभिजानामि=अभि सर्वथा निरवशेषविशेषपूर्वकं न जानामि। अयं भावः —"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ" इत्यागमवचनाच्छद्मस्थोऽहं किमप्येकमपि वस्तुस्वरूपं न तत्त्वतो जानामि, यदि साक्षात् समस्तभावस्वभावावभासकं केवलालोकं न लब्धवान्, तर्हि किमनेनाल्पेन मुकुलितवस्तुस्वरूपप्रज्ञानेन, इत्येवं विषादं न कुर्यादिति।

तथा–तपउपधानादिभिर्निर्जराहेतुभिरपि छद्मस्थावस्था न निवर्तते=निरवशेषं क्षीयते, किं तर्हि ममानेन क्रियाकलापेन? इति विचिन्त्य मुनिर्विषादं न कुर्यात्।

तथा इन्द्रिय नोइन्द्रिय का निग्रह भी किया है ये सब निरर्थक हैं। क्यों कि अभीतक मुझे शुभाशुभ वस्तु का संपूर्णरूप से ज्ञान कराने वाला केवलज्ञान तो प्राप्त हुवा ही नहीं है। उसके न होने पर इस द्रव्य क्षेत्र काल एवं भाव की मर्यादा को लेकर वस्तु के स्वरूप को प्रकट कराने वाले इन अवधिमनःपर्ययज्ञान से क्या लाभ है। इस प्रकार विचार कर साधु अपनी आत्मा को दुःखित नहीं करे।

तथा–निर्जरा के कारण इन तप एवं उपधान आदि के आचरण करने से मुझे लाभ ही क्या हुआ, क्यों कि अभीतक मेरी छद्मस्थावस्था तो दूर नहीं हुई है। समस्त ज्ञानावरणीयकर्म नष्ट होकर जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता तबतक छद्मस्थावस्था रहती है। अतः केवलज्ञान की प्राप्ति का अभावस्वरूप अज्ञानपरीषह साधु को जीतना चाहिये। तथा तप एवं उपधान आदि जो निर्जरा के हेतु हैं उनसे मेरे

निग्रह पण कर्यो छे ते बधु निरर्थक छे केमके, हजी सुधी मने शुभाशुभ वस्तुनुं संपूर्णरूपथी ज्ञान करावनार केवळज्ञान तो प्राप्त थयु नथी तेना न होवाथी आ द्रव्य क्षेत्र काळ अने भावनी मर्यादाने लईने वस्तुना स्वरूपने प्रगट करावनार आ अवधिमनःपर्ययज्ञानथी शुं लाभ छे? आ प्रकारनो विचार करी साधु पोताना आत्माने दुःखी न करे

तथा–निर्जरानु कारण आ तप अने उपधान आदिनुं आचरण करवाथी मने लाभ शु थयो? केमके, हजी सुधी मारी छद्म अवस्था दूर थई नथी ज्यां सुधी ज्ञानावरणीय कर्मनो नाश थई केवळज्ञान प्राप्त न थाय त्यां सुधी छद्मस्थ अवस्था रहे छे आथी केवळज्ञाननी प्राप्तिना अभाव स्वरूप अज्ञानपरीषह साधुए जीतवो जोईए. तथा तप अने उपधान आदि जे निर्जराना हेतु छे

अत्राऽज्ञानसद्भावपक्षे दृष्टान्त प्रदर्श्यते—

एकदा चतुर्ज्ञानसम्पन्नो भद्रगुप्ताचार्यः शिष्यपरिवारेण सह ग्रामानुग्राम विहरन् श्रावस्तीनगर्यां तिन्दुकोद्याने समवसृतः। तत्र वसुमित्रनामकः श्रेष्ठी तस्य समीपे धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजितः। ततः स एकादशाङ्गान्यधीतवान्। स नानिधं तपश्चरति, उग्र विहारं करोति, उत्कृष्टाचार पालयति, यतनया चरति, यतनया तिष्ठति, यतनया उपविशति यतनया शेते, यतनया भुङ्क्ते, यतनया भाषते।

तत्र सुवीरनामको नृपतिर्भद्रगुप्ताचार्यस्य सनिधावागत्य त वन्दित्वा पर्युपास्ते।

ज्ञानावरणीयादिक कर्म सर्वथा नष्ट नहीं हुवे हैं तो इस क्रियाकलाप से मुझे क्या लाभ हुवा ? ऐसा विचार कर साधु विषाद नहीं करे।

अज्ञान के सद्भाव पक्ष में दृष्टान्त—एक समय चतुर्ज्ञानसंपन्न भद्रगुप्त आचार्य शिष्यपरीवार के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए श्रावस्ती नगरी में तिन्दुक उद्यान में आये। वहां वसुमित्र नाम के एक सेठ ने उनसे धर्मकथा सुनकर दीक्षा धारण की। ग्यारह अंगों को पढ़कर उन्हों ने अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त किया। सदा उग्र तपस्या करना, उग्र विहार करना, उत्कृष्ट आचार का पालन करना, यतना से उठना, यतनासे बैठना, यतनासे सोना, यतना से आहार करना और यतना से बोलना, चलना, इस तरह प्रत्येक क्रिया, इनकी यतना से होने लगी।

श्रावस्ती नगरी का राजा कि जिनका नाम सुवीर था प्रतिदिन भद्रगुप्त आचार्य के पास वंदना एव पर्युपासना करने के लिये आते थे।

તેનાથી મારાં જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મ સર્વથા નાશ પામેલ નથી. તો આ ક્રિયા કરવાથી મને શું લાભ થયો ? એવો વિચાર કરી સાધુ વિષાદ ન કરે.

અજ્ઞાનના સદ્ભાવ પક્ષમાં દૃષ્ટાંત—

એક સમય ચતુર્જ્ઞાનસંપન્ન ભદ્રગુપ્ત આચાર્ય શિષ્ય પરિવારની સાથે ગ્રામાનુગ્રામ વિચરતા શ્રાવસ્તી નગરીનાં તિન્દુક ઉદ્યાનમાં આવ્યા ત્યાં વસુમિત્ર નામના એક શેઠે તેમનો ધર્મ ઉપદેશ સાંભળી દીક્ષા ધારણ કરી અગીઆર અંગોને ભણીને તેમણે સારી રીતે જ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યું સદા ઉગ્ર તપસ્યા કરવી, ઉગ્રવિહાર કરવો, ઉત્કૃષ્ટ આચારનું પાલન કરવું, યતનાથી ઉઠવુ, યતનાથી બેસવુ, યતનાથી આહાર કરવો, યતનાથી બોલવુ, યતનાથી ચાલવું, આ રીતે તેમની પ્રત્યેક ક્રિયાઓ યતનાપૂર્વક થવા લાગી

શ્રાવસ્તી નગરીનો રાજા કે જેનું નામ સુવીર હતુ તે દરરોજ ભદ્રગુપ્ત આચાર્યની પાસે વંદના અને પર્યુપાસના કરવા માટે આવતા હતા આચાર્ય

तदा भद्रगुप्ताचार्यस्तमब्रवीत्–राजन् ! बन्धमोक्षस्वरूप प्रष्टु समागतोऽसि किम् ?। राज्ञा प्रोक्तम्–भदन्त ! सत्य भवदीयवचनम् । ततोऽसौ भद्रगुप्ताचार्यश्चतुर्भिर्ज्ञानैस्त बन्धमोक्षस्वरूपोपदर्शेन परितोषयति स्म । तदा सुवीरनृपतिर्जातवैराग्यः सन् प्रव्रज्यां गृहीतवान् ।

तदा वसुमित्रमुनिर्भद्रगुप्ताचार्यस्याद्भुत चतुर्ज्ञानप्रभावमवलोक्य मनसि चिन्तयति–अहो ! आत्मनो वीर्यं महदद्भुतम्–यदन्तर्मुहूर्तमात्रेणैव ज्ञानावरणीया-

---

आचार्य महाराज भी उन को धर्मदेशना देते थे । राजा के हृदय में एक दिन बध और मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानने की जिज्ञासा हुई, वे शीघ्र ही आचार्य महाराज के पास आये और वदना एव पर्युपासना कर समीप बैठे । आचार्य महाराज ने उनसे कहा–कहो हे राजन् ! आज बध और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप पूछने को आये हो क्या ? राजाने बड़े विनय के साथ दोनों हाथ जोड़कर कहा–हाँ भदन्त !। चार ज्ञान के धारी आचार्य महाराज ने राजा को बध और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप अच्छी तरह समझाया । उपदेशमें स्पष्ट किये गये बंध और मोक्ष के स्वरूपको सुनकर राजा को बड़ा ही आनद आया। राजा अपनी वैराग्य भावना से आचार्य महाराज के पास दीक्षा धारण करली ।

वसुमित्र मुनि जिनका नाम ससारी अवस्था में वसुमित्र सेठ था, उन्हों ने भद्रगुप्त आचार्य के चार ज्ञानों का प्रभाव देखकर मन में विचार किया–अहो ! आत्मा की शक्ति अचिन्त्य है, इसके बल से

મહારાજ પણ તેમને ધર્મદેશના આપતા હતા રાજાના હૃદયમાં એક દિવસ બધ અને મોક્ષના યથાર્થ સ્વરૂપને જાણવાની જીજ્ઞાસા થઈ તે તુરત જ આચાર્યની પાસે આવ્યા અને વદના કરી સામે બેઠા આચાર્ય મહારાજે તેમને કહ્યુ, કહો રાજન્ ! આજ બધ અને મોક્ષનુ યથાર્થ સ્વરૂપ પુછવાને આવ્યા છો ને ? રાજાએ વિનય સાથે બન્ને હાથ જોડીને કહ્યુ, હા ! ચાર જ્ઞાનના ધારક આચાર્ય મહારાજે રાજાને જ્ઞાન અને બધનુ યથાર્થ સ્વરૂપ સારી રીતે સમજાવ્યુ ઉપદેશમા કહેવામા આવેલ બધ અને મોક્ષના સ્વરૂપ ને સાંભળીને રાજાને ઘણો આનદ થયો અને વૈરાગ્ય ભાવના જાગૃત થતાં રાજાએ આચાર્ય મહા રાજ પાસે દીક્ષા અગીકાર કરી

વસુમિત્રમુનિ કે જેમનુ સંસારી અવસ્થામાં નામ વસુમિત્ર શેઠ હતુ તેમણે ભદ્રગુપ્ત આચાર્યનો ચાર જ્ઞાનનો પ્રભાવ જોઈને મનમાં વિચાર કર્યો, અહો ! આત્માની શક્તિ અચિંત્ય છે તેના બળથી આત્મા એક અતર્મુહૂર્તમા જ જ્ઞાના



घष्टविधकर्मरजोऽपनीय, अयमात्मा सर्वज्ञ० सर्वदर्शी भवति । मया तु एकादशाङ्गा न्यधीतानि, एष निरतिचार श्रुतज्ञानमाराधितम् । निःशङ्कित-निष्काङ्क्षितादि भेदै दर्शनाचारोऽप्याराधित०, समितिगुप्तिभिः प्रशस्तयोगयुक्तो भूत्वा चारित्राचार समाराधितः, अग्लानतया द्वादशविधैरनशनादितपोभिस्तपआचार० समाराधितः। एषु ज्ञानाचारादिषु चतुर्षु ज्ञानाचारः कालविनयादिभेदैरष्टविध , दर्शनाचारः स्त्र निःशङ्कित-निष्काङ्क्षितादि भेदैरष्टविध , चारित्राचार० समिति-गुप्तिपालनात्मकोऽष्टविधः, तथाऽनशनादिद्वादशविधस्तपआचारस्तेषु सर्वेषु षट्त्रिंशद्विधेष्वाचारेषु

आत्मा एक अन्तर्मुहूर्त में ही ज्ञानावरणीयादिक आठ प्रकार की कर्म रज को नष्ट कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता हैं। मैंने ग्यारह अग पढे हैं उनका खूब मनन किया है इस प्रकार निरतिचार श्रुतज्ञान की आराधना की है । नि शकित एव नि काक्षित आदि भेदों से युक्त दर्शनाचार का यथावत पालन किया है । समिति गुप्तियों द्वारा प्रशस्त उपयोग युक्त होकर चारित्राचार का भी अच्छी तरह आराधन किया है। अग्लानभाव से अनशन आदि बारह प्रकार के तपों का अनुष्ठान करने से तप आचार को भी अच्छी तरह पाला है । इसी तरह काल विनयादिक के भेद से आठ प्रकार के ज्ञानाचार, निःशकित, नि'कांक्षित आदि भेद से आठ प्रकार के दर्शनाचार, समिति गुप्ति आदि के पालनस्वरूप आठ प्रकार के चारित्राचार, एवं चोवीस तथा अनशनादि बारह प्रकार का तप, इस प्रकार छत्तीस ३६ भेदवाले इस

વરણીયાદિક આઠ પ્રકારની કર્મરજને નાશ કરી સર્વજ્ઞ સર્વદર્શિ બની જાય છે મે અગીયાર અંગેનો અભ્યાસ કર્યો છે તેનું ખૂબ મનન કર્યું છે એ પ્રકારે નિરતિચાર શ્રુતજ્ઞાનની આરાધના કરેલ છે નિ શકિત અને નિઃકાંક્ષિત આદિ ભેદોથી યુક્ત દર્શનાચારનું યથાવત્ પાલન કર્યું છે સમિતિ ગુપ્તિઓ દ્વારા પ્રશસ્ત ઉપયોગયુક્ત બનીને ચારીત્રાચારનું પણ સારી રીતે આરાધન કર્યું છે. અગ્લાનભાવથી અનશન આદી ૧૨ પ્રકારના તપોનું અનુષ્ઠાન કરવાથી તપ આચારને પણ સારી રીતે પાળેલ છે એવી રીતે કાલ વિનયાદિકના ભેદથી આઠ પ્રકારના જ્ઞાનાચાર, નિઃશકિત, નિઃકાંક્ષિત, આદિ ભેદથી આઠ પ્રકારનો દર્શનાચાર, સમિતિગુપ્તિ આદિના પાલન સ્વરૂપ આઠ પ્રકારનો ચારિત્ર આચાર અને ચોવીસ તથા અનશન આદિ બાર પ્રકારનું તપ આ પ્રકારે છત્રીસ ભેદવાળા આ આચારને

अगोपितबलवीर्येण, अर्थात्-परिपूर्णस्वशक्तिप्रयोगेण सोपयोग पराक्रमणेन वीर्याचारोऽपि समाराधित । एतानि षट्त्रिंशदाचाररूपोद्यानानि वीर्याचारवारिणा निरन्तरपरिसेचनेन हरितीकृतानि शुभभावनानिरीक्षणे शोभया भरितीकृतानि तथाप्यद्यावधि मम ज्ञानावरणीय-कर्मणां क्षयाभावादवध्यादिरूप प्रत्यक्षज्ञान न जातम् , अतोऽहमपि पुनस्तथा यतिष्ये, यथा तन्ममावश्य भविष्यत्येव । तस्मादधुना विषादाकरणेनाज्ञानपरीषह सहमानः पुनरपि वीर्याचार निरतिचार निरतिशय

आचार को परिपूर्ण अपनी शक्ति के प्रयोग से उपयोगपूर्वक तल्लीन होकर पालन किया है। इसीका नाम वीयाचार है। मैंने इन पाचों आचारों का सम्यक् रीति से पालन किया है। छत्तीसभेदविशिष्ट इस आचाररूप उद्यान को वीचाररूप निर्मल जल से मैंने निरन्तर सिंचित कर हरा-भरा रखा है। शुभ भावनाओं से इसे शोभित किया है। तो भी अभीतक ज्ञानावरणीयकर्मों के क्षय नहीं होने से मुझे अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है, इसलिये मैं फिर इस प्रकार का यत्न करूँ कि जिससे मुझे इस प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति अवश्य हो जाय। इस प्रकार सोचकर वसुमित्र मुनि ने पुनः यह विचार किया कि प्रत्यक्षज्ञान की प्राप्ति नहीं होने का मुझे इस समय कुछ भी विषाद नहीं करना चाहिये, क्यों कि विषाद करने से अज्ञान परीषह विजित नहीं होता है, अतः विषाद को नहीं लाकर अज्ञान परीषह सहन करना यह साधुमार्ग है, इसलिये वीर्याचार की

પરિપૂર્ણ પોતાની શક્તિના પ્રયોગથી ઉપયોગપૂર્વક તલ્લીન બની પાલન કર્યું છે, તેનું નામ વીર્યાચાર છે મે આ પાચે આચારનું સમ્યક્ રીતિથી પાલન કર્યું છે છત્રીસ ભેદ વિશિષ્ટ આ આચારરૂપ ઉદ્યાનને વીર્યાચાર રૂપ નિર્મળ જળથી મે નિરંતર સિંચિત કરી હર્યું ભર્યું રાખ્યું છે શુભ ભાવનાઓથી તેને શોભિત કર્યું છે તો પણ હજી સુધી જ્ઞાનાવરણીયકર્મોનો ક્ષય ન થવાથી મને અવધિ આદિ પ્રત્યક્ષજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ થયેલ નથી આ માટે હું ફરી એ પ્રકારનો યત્ન કરૂં કે, જેનાથી મને આ પ્રત્યક્ષ જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ અવશ્ય થઈ જાય. આ પ્રકારથી વિચારીને વસુમિત્ર મુનિએ ફરીથી એ વિચાર કર્યો કે પ્રત્યક્ષજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ ન થવાનો મારે આ સમયે કાંઈ પણ વિષાદ ન કરવો જોઈએ કેમકે, વિષાદ કરવાથી અજ્ઞાનપરીષહને જીતાતો નથી આથી વિષાદ ન લાવતાં અજ્ઞાન પરીષહ સહન કરવો એ સાધુમાર્ગ છે આ માટે વીર્યાચારની નિરતિચાર

सम्यगाराधयामि इत्येव विचिन्त्य प्रशस्तध्यानेन शुभाध्यवसायेन अवधिं मनःपर्यवं समाप्य क्षपकश्रेणिमारुह्य केवली जात.। एवमन्यैरपि मुनिभिरज्ञानपरीषहः सोढव्यः

अथाऽज्ञानाऽसद्भाव(ज्ञानसद्भाव)पक्षे दृष्टान्त· प्रदर्श्यते—

उग्रविहारी चतुर्ज्ञानचतुर्दशपूर्वधारी जिनवचनानुगामी गौतमस्वामी शिष्य-परिवारेण सह ग्रामानुग्राम विहरन् भास्करवदज्ञानान्धकार विध्वंसयन् स्याद्वाद-सिद्धान्त स्थापयन् क्षान्त्यादिधर्म प्रद्योतयन् चार्वाकादिपाखण्डमत खण्डयन् विचरति स्म। एव विहरन् गौतमस्वामी चम्पानगर्यां पूर्णभद्रोद्याने समवसृतः।

निरतिचार सम्यक् आराधना करते २ प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति मुझे हो जायगी। इस प्रकार विचार करके उसने प्रशस्तध्यान के हेतुभूत शुभ अध्यवसाय से अवधि एव मन पर्यय ज्ञान को प्राप्त कर लिया, तथा क्षपकश्रेणी पर अरोहण कर केवलिपद को भी प्राप्त कर लिया। इसी तरह अन्यमुनियों को भी अज्ञानपरीषह सहन करना चाहिये।

अज्ञान के असद्भाव (ज्ञान के सद्भाव) पक्षमें दृष्टान्त इस प्रकार है—

उग्र विहार करने वाले, मति, श्रुत, अवधि एव मन पर्ययज्ञान के धारी, चौदह पूर्व के पाठी, एव जिनवचन के अनुसार चलने वाले गौतमस्वामी शिष्यपरिवार के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए, सूर्य के समान भव्यों के अज्ञानरूप अन्धकार को ध्वस्त करते हुए, स्याद्वादसिद्धान्त की विजयपताका फरकाते हुए, क्षान्ति आदि धर्मका उद्योत करते हुए एव भौतिकवादी चार्वाक आदि मत का निराकरण करते हुए विहार करते २ चंपानगरी के पूर्णभद्र उद्यान में पधारे।

સમ્યક્ આરાધના કરતા કરતાં પ્રત્યક્ષ જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ મને થઈ જશે આ પ્રકારનો વિચાર કરી તેણે પ્રશસ્ત ધ્યાનના હેતુભૂત શુભ અધ્યવસાયથી અવધિ અને મનઃપર્યયજ્ઞાનને પ્રાપ્ત કર્યું, તથા ક્ષપકશ્રેણી ઉપર આરૂઢ થઈ કેવળ પદને પણ પ્રાપ્ત કરી લીધુ આ પ્રકારે અન્ય મુનિઓએ પણ અજ્ઞાનપરીષહ જીતવો જોઈએ—

જ્ઞાનના સદ્ભાવ પક્ષમાં દૃષ્ટાંત આ પ્રકારનુ છે—

ઉગ્ર વિહાર કરવાવાળા, મતિ, શ્રુત, અવધિ અને મનઃપર્યયજ્ઞાનના ધારી, ચૌદ પૂર્વના પાઠી, અને જીનવચન અનુસાર ચાલવાવાળા ગૌતમસ્વામી શિષ્ય પરિવારની સાથે ગ્રામાનુગ્રામ વિહાર કરતા, સૂર્યની માફક ભવ્યોના અજ્ઞાનરૂપ અધકારને દૂર કરતા સ્યાદ્વાદસિદ્ધાંતની વિજયપતાકા ફરકાવતા, ક્ષાંતિ આદિ ધર્મનો ઉદ્યોત કરતા કરતા અને ભૌતિકવાદિ ચાર્વાક આદિ મતનુ નિરાકરણ કરતા કરતા, વિચરણ કરતા કરતા, ચ પાનગરીના પૂર્ણભદ્ર ' પધાર્યા

एकदा सोमभद्रनामा कश्चिदधर्मानुयायी, अधर्मसेवी, अधर्मिष्ठः, अधर्मख्यातिरधर्मानुरागी, अधर्मप्रलोकी, अधर्मजीवी, अधर्मप्रजनकः, अधर्मप्रचारकः, सकल शास्त्रदर्शी तत्त्वाविमर्शी प्रकाण्डकुतर्ककेसरी शास्त्रार्थं कर्तुं तत्र गौतमस्वामिसंनिधौ समागतः। तयोः शास्त्रार्थविषये विवादः प्रवृत्तः, परस्पर खण्डनमण्डनकरणे प्रवृत्तयोस्तयोरेकस्य कस्यापि जयः पराजयो वा नाभूत्। गौतमस्वामी शास्त्रार्थविषये स्वबुद्धिप्रतिभाबलेन नास्तिकमतं निराकर्तुमुद्यतः, सोऽपि नास्तिक स्वबुद्धिकौशलेन गौतमस्वामिनः स्पर्धया वाग्जालं वितन्वन् परिषदि तत्प्रदर्शितयुक्ति-

एक दिन की बात है कि सोमभद्र नामका कोई एक विशिष्ट विद्वान् शास्त्रार्थ करने के लिये उनके पास आया। यह जैनधर्म से अतिरिक्त धर्म का अनुयायी था, अधर्मसेवी था, अधर्मिष्ठ था, अधर्माख्यायी था, अधर्मानुरागी था, अधर्मप्रलोकी था, अधर्मजीवी था, अधर्मप्ररजक था, अधर्मप्रचारक था, सकलशास्त्रदर्शी होने पर भी तत्त्व-अविमर्शी था, इसलिये प्रकाण्डकुतर्ककेसरी था। गौतमस्वामी एवं सोमभद्र का परस्पर शास्त्रार्थ के विषय में विवाद प्रारम्भ हुवा। एक दूसरे के खंडन मंडन करने में प्रवृत्त हुए। इन दोनों में जब किसी का भी जय और पराजय नहीं हुआ तब गौतमस्वामी ने शास्त्रार्थ के विषय में अपनी प्रतिभा के बल पर नास्तिकमत का निराकरण करना प्रारंभ कर दिया। सोमभद्र ने भी जो नास्तिकमत का पक्षपाती था जब अपने मत का खंडन होते देखा तो उसने सिर्फ अपनी बुद्धि की ही कुशलता से गौतमस्वामी की युक्तियों का स्पर्धा के वश सभा के

એક દિવસની વાત છે કે સોમભદ્ર નામનો કોઈ એક વિશિષ્ટ વિદ્વાન શાસ્ત્રાર્થ કરવા માટે તેમની પાસે આવ્યો તે જૈનધર્મથી અતિરિક્ત ધર્મનો અનુયાયી હતો અધર્મસેવી હતો, અધર્મિષ્ટ હતો, અધર્માખ્યાયી હતો, અધર્માનુરાગી હતો, અધર્મપ્રલોકી હતો, અધર્મજીવી હતો, અધર્મ પ્રરજક હતો, અધર્મ પ્રચારક હતો, સકળ શાસ્ત્ર દર્શી હોવા છતા પણ તત્વ-અવિમર્શી હતો આ માટે પ્રકાંડકુતર્કકેસરી હતો ગૌતમસ્વામી અને સોમભદ્રનો પરસ્પર શાસ્ત્રાર્થના વિષયમાં વિવાદ શરૂ થયો એક બીજાનુ ખંડન મંડન કરવામાં પ્રવર્ત બન્યા આ બન્નેમાંથી જ્યારે કોઈનો પણ જય અને પરાજય ન થયો ત્યારે ગૌતમસ્વામીએ શાસ્ત્રાર્થના વિષયમાં પોતાની પ્રતિભાના બળ ઉપર નાસ્તિકમતનું નિરાકરણ કરવાનું શરૂ કરી દીધુ સોમભદ્ર કે જે નાસ્તિક મતનો પક્ષપાતી હતો તેણે જ્યારે પોતાના મતનુ ખંડન થતુ જોયુ તો તેણે ફક્ત પોતાની બુદ્ધિની કુશળતાથી સ્પર્ધાને વશ થઈ ગૌતમસ્વામીની યુક્તિઓને

उ० ६६

सम्यगाराधयामि इत्येव विचिन्त्य प्रशस्तध्यानेन शुभाध्यवसायेन अवधिं मनःपर्ययं च समाप्य क्षपकश्रेणिमारुह्य केवली जातः। एवमन्यैरपि मुनिभिरज्ञानपरीषहः सोढव्यः।

अथाऽज्ञानाऽसद्भाव(ज्ञानसद्भाव)पक्षे दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

उग्रविहारी चतुर्ज्ञानचतुर्दशपूर्वधारी जिनवचनानुगामी गौतमस्वामी शिष्यपरिवारेण सह ग्रामानुग्रामं विहरन् भास्करवदज्ञानान्धकारं विध्वंसयन् स्याद्वादसिद्धान्तं स्थापयन् क्षान्त्यादिधर्मं प्रद्योतयन् चार्वाकादिपाखण्डमतं खण्डयन् विचरति स्म। एवं विहरन् गौतमस्वामी चम्पानगर्यां पूर्णभद्रोद्याने समवसृतः।

निरतिचार सम्यक् आराधना करते २ प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति मुझे हो जायगी। इस प्रकार विचार करके उसने प्रशस्तध्यान के हेतुभूत शुभ अध्यवसाय से अवधि एवं मन पर्यय ज्ञान को प्राप्त कर लिया, तथा क्षपकश्रेणी पर अरोहण कर केवलिपद को भी प्राप्त कर लिया। इसी तरह अन्यमुनियों को भी अज्ञानपरीषह सहन करना चाहिये।

अज्ञान के असद्भाव (ज्ञान के सद्भाव) पक्षमें दृष्टान्त इस प्रकार है—

उग्र विहार करने वाले, मति, श्रुत, अवधि एवं मन पर्ययज्ञान के धारी, चौदह पूर्व के पाठी, एवं जिनवचन के अनुसार चलने वाले गौतमस्वामी शिष्यपरिवार के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए, सूर्य के समान भव्यों के अज्ञानरूप अन्धकार को ध्वस्त करते हुए, स्याद्वादसिद्धान्त की विजयपताका फरकाते हुए, क्षान्ति आदि धर्मका उद्योत करते हुए एवं भौतिकवादी चार्वाक आदि मत का निराकरण करते हुए विहार करते २ चंपानगरी के पूर्णभद्र उद्यान में पधारे।

સમ્યક્ આરાધના કરતા કરતાં પ્રત્યક્ષ જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ મને થઈ જશે આ પ્રકારનો વિચાર કરી તેણે પ્રશસ્ત ધ્યાનના હેતુભૂત શુભ અધ્યવસાયથી અવધિ અને મનઃપર્યયજ્ઞાનને પ્રાપ્ત કર્યું, તથા ક્ષપકશ્રેણી ઉપર આરૂઢ થઈ કેવળ પદને પણ પ્રાપ્ત કરી લીધુ આ પ્રકારે અન્ય મુનિઓએ પણ અજ્ઞાનપરીષહ જીતવો જોઈએ—

જ્ઞાનના સદ્ભાવ પક્ષમાં દૃષ્ટાંત આ પ્રકારનું છે—

ઉગ્ર વિહાર કરવાવાળા, મતિ, શ્રુત, અવધિ અને મનઃપર્યયજ્ઞાનના ધારી, ચૌદ પૂર્વના પાઠી, અને જીનવચન અનુસાર ચાલવાવાળા ગૌતમસ્વામી શિષ્ય પરિવારની સાથે ગ્રામાનુગ્રામ વિહાર કરતા, સૂર્યની માફક ભવ્યોના અજ્ઞાનરૂપ અંધકારને દૂર કરતા સ્યાદ્વાદસિદ્ધાંતની વિજયપતાકા ફરકાવતા, ક્ષાંતિ આદિ ધર્મનો ઉદ્યોત કરતા કરતા અને ભૌતિકવાદિ ચાર્વાક આદિ મતનુ નિરાકરણ કરતા કરતા, વિચરણ કરતા કરતા, ચંપાનગરીના પૂર્ણભદ્ર ઉદ્યાનમાં પધાર્યા

स्तव हृदये जातो न वा ?। तदाऽसौ नास्तिकस्तद्वचन स्वीकुर्वन् वदति–भदन्त भवान् सत्य वदति मम मनस्ययमेव विचार प्रादुरासीत्। इत्युक्त्वाऽसौ गौतमस्वामिनः शिष्यो भूत्वा दीक्षितो जात । तेन शिष्येणान्यैश्च शिष्यपरिवारै सह ग्रामानुग्राम विहरन् गौतमस्वामी राजगृहनगरे गुणशिले चैत्ये भगवत श्रीवर्धमानस्वामिनः सन्निधौ समागत । भगवन्त वन्दित्वा नमस्कृत्य गौतमस्वामी चतुर्ज्ञानगर्व्वमकुर्वन् सविनय ब्रवीति–हे भगवन् ! अय भगवत्प्रभावादेव सन्मार्गे समायातः। ततो भगवता श्रीवर्धमानस्वामिना श्रमणनिर्ग्रन्थानाहूय कथितम्–भो ! मुनयः ! गौतम-

भद्र से पूछा कि–कहो महानुभाव ! तुम्हारे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ या नहीं ?। तब सोमभद्र ने गौतमस्वामी के इस कथन को स्वीकार करते हुए कहा–भदन्त ! आपने बिलकुल ही यथार्थ कहा है, मेरे मन में ऐसा ही विचार उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार अपने हृदयंगम अभिप्राय को प्रगट करते हुए उसने गौतमस्वामी के पास दीक्षा धारण करली और उनका शिष्य हो गया। मुनि सोमभद्र एव अन्य शिष्यों के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए गौतमस्वामी राजगृह नगर के गुणशिलचैत्य में भगवान् वर्धमान स्वामी के पास आये। वदना एवं नमस्कार कर के गौतमस्वामी ने अपने में रहे हुए चतुर्ज्ञान की विशिष्टता का गर्व न करके प्रभु से बड़े विनय के साथ कहा भगवन् ! यह सोमभद्र मुनि आपके ही प्रभाव से सन्मार्ग में आया है। भगवान श्रीवर्धमान-स्वामी ने श्रमणनिर्ग्रन्थों को बुलाकर कहा कि हे मुनियों ! देखो चार

ઉત્પન્ન થયેલ કે નહી ? ત્યારે સોમભદ્રે ગૌતમસ્વામીના આ કથનનો સ્વીકાર કરીને કહ્યુ, ભદન્ત ! આપે બીલકુલ યથાર્થ કહ્યુ છે મારા મનમા આવો જ વિચાર ઉત્પન્ન થયો હતો આ પ્રકારે પોતાના હૃદયમાના અભિપ્રાયને પ્રગટ કરીને તેણે ગૌતમસ્વામીની પાસે દીક્ષા ગ્રહણ કરી લીધી અને તેમના શિષ્ય બની ગયા. મુનિ સોમભદ્ર અને બીજા શિષ્યો સાથે ગ્રામાનુગ્રામ વિહાર કરતા કરતા ગૌતમસ્વામી રાજગૃહ નગરના ગુણશિલચૈત્યમા ભગવાન વર્ધમાન સ્વામીની પાસે આવ્યા વદના અને નમસ્કાર કરી ગૌતમસ્વામીએ પોતાનામાં ચારજ્ઞાન વિશિષ્ટતાનો ગર્વ ન કરતાં પ્રભુને ઘણા વિનય સાથે કહ્યુ, ભગવન્ ! આ સોમભદ્રમુનિ આપના જ પ્રભાવથી સન્માર્ગમાં આવ્યા છે ભગવાનશ્રી વર્ધમાન સ્વામીએ શ્રમણનિર્ગ્રન્થોને બોલાવીને કહ્યુ કે, હે મુનિઓ ! જુઓ

खण्डनात् मतिनिवृत्तो नाभूत् , परंतु अन्ततस्तदुक्तयुक्तिप्रतियुक्तिस्वरूप खण्डयितुम-समर्थः सन् मनसि विचारयति-" सत्यम् अयमस्ति गौतमस्वामी महान् विद्या निधिः, यदीदृश मम मनोगत भाव गौतमस्वामी कथयिष्यति तदाऽहमस्य शिष्यो भविष्यामि " इति ।

गौतमस्वामी मन पर्ययज्ञानधारकतया तदानीमेव परिपदि वदति—" अस्य तर्ककेसरिणो मनसि सप्रति अय विचार समायात'-"सत्यमय गौतमस्वामी महान् विद्यानिधि. परत्वेव मम मनोगत विचार गौतमस्वामी यदि कथयेत् तर्हि अस्य शिष्यो भविष्यामी"ति। इत्युक्त्वा पुनस्त नास्तिक पृच्छति–कथय किमय विचार

बीच खडन करना प्रारभ कर दिया, परन्तु गौतमस्वामी ने जब उसकी युक्तियों का पूरे तोर से खडन किया तो वह उसको संभालने में समर्थ नहीं हो सका । गौतमस्वामी के अगाध ज्ञान को देखकर उस समय उसके मन में यही विचार आया कि वास्तव में ये गौतमस्वामी विशिष्ट विद्यानिधान हैं, परन्तु यदि ये मेरे इस मनोगत भाव को बतला देवें तो मैं इनका शिष्य हो जाऊँगा ?

गौतमस्वामी मनःपर्ययज्ञान के धारी थे, अतः उसी समय वे इसके मानसिक विचार को स्पष्टरूप से जान गये । उन्हों ने उसी समय सभा के बीच में कहा कि इस तर्ककेसरी सोमभद्र के मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ है कि "ये गौतमस्वामी महान् विद्या के निधान हैं यदि ये मेरे इस अभिप्राय को बतला दे तो मैं इनका शिष्य हो जाऊँगा" । गौतमस्वामी ने ऐसा कह कर उस सोम

સભાની વચમાં ખડન કરવાનો પ્રારભ કરી દીધો. પરતુ ગૌતમસ્વામીએ જ્યારે તેની યુક્તિઓનુ પુરી રીતે ખડન કર્યું ત્યારે તે પોતાની જાતને સભાળવામાં સમર્થ ન બન્યો. ગૌતમસ્વામીના અગાધ જ્ઞાનને જોઈ એ સમય એના મનમા એ વિચાર આવ્યો કે, વાસ્તવમાં આ ગૌતમસ્વામી વિશિષ્ટવિદ્યાનિધાન છે પરતુ જો તેઓ મારા આ મનોભાવને બતાવી આપે તો હુ એમનો શિષ્ય બની જાઉં

ગૌતમસ્વામી મનઃપર્યયજ્ઞાનના ધારી હતા. આથી એજ વખતે તેમણે એના માનસિક વિચારને સ્પષ્ટ રૂપથી જાણી લીધા અને એજ વખતે સભાની વચમાં કહ્યુ કે, આ તર્કકેસરી સોમભદ્રના મનમા એ પ્રકારનો વિચાર ઉત્પન્ન થયો છે કે, " આ ગૌતમસ્વામી મહાન વિદ્યાનિધાન છે તેઓ જો મારા આ અભિપ્રાયને બતાવી આપે તો હુ તેમનો શિષ્ય બની જાઉ " ગૌતમસ્વામીએ એવુ કહીને સોમભદ્રને કહ્યુ કે, કહો મહાનુભાવ ! તમારા મનમાં આ વિચાર

टीका—'नत्थि नूण' इत्यादि ।

परो लोकः=परभवः—जन्मान्तरम्, नून=निश्चयेन नास्ति=न भवति । अयं भावः—शरीरं हि भूतात्मकं, तदिहैव नश्यति, शरीरे वर्तमानस्य चैतन्यस्यापि भूतधर्मत्वादेव शरीरेण सह नाशसम्भवात् । शरीरव्यतिरेकेण आत्मनः प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानत्वाच्च जन्मान्तरं न भवतीति निश्चेतव्यमिति । यद्वा—नूनमिति सम्भावनायाम् परलोकः स्वर्गादिर्नास्तीति सम्भावयामि, यतः परलोके गतः कोऽपि नात्रागत्य वदति, तस्मात् प्रत्यक्षाभावान्नास्ति परलोक इति । वा=अथवा, अपि=इहापि-

अब सूत्रकार बाईसवां दर्शनपरीषहजय को बतलाते हैं—

'नत्थि नूण'—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(परे लोए नूण नत्थि—पर लोक नून नास्ति) निश्चय से जन्मान्तर नहीं है—यह शरीर भूतात्मक है, इसलिये यह तो यहां ही विनिष्ट हो जाता है । इस शरीर में जो चैतन्य वर्तमान है वह भी भूतों का धर्म होने से शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है । दूसरे—शरीर से भिन्न आत्मा—नामक कोई पदार्थ है, यह किसी भी प्रत्यक्ष प्रमाण से साबित नहीं होता है अतः परलोकी (परलोक जाने वाला आत्मा) का अभाव होने से परलोक का अभाव स्वतः सिद्ध है, अर्थात् जन्मान्तर नहीं है । अथवा "नूनं" यह पद संभावना में भी प्रयुक्त किया जाता है इस अपेक्षा परलोक-स्वर्गादिक जो माने जाते हैं सो वे भी नहीं हैं, ऐसी सम्भावना होती है, क्यों कि कोई ऐसा तो है नहीं जो परलोक में जाकर पश्चात् यहां आकर यह कहे कि मैं अमुक

હવે સૂત્રકાર બાવીસમા દર્શનપરીષહને જીતવાનું બતાવે છે—

'नत्थि नूण' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—परे लोए नूण नत्थि—परलोक नून नास्ति નિશ્ચયથી જન્માન્તર નથી આ શરીર ભૂતાત્મક છે, આ માટે તે તો અહિં જ વિનષ્ટ થઈ જાય છે આ શરીરમાં જે ચૈતન્ય વર્તમાન છે તે પણ ભૂતોનો ધર્મ હોવાથી શરીરની સાથોસાથ નાશ પામે છે, બીજુ શરીરથી ભિન્ન આત્મા નામનો કોઈ પદાર્થ છે, એ કોઈ પણ પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી ઓળખી શકાતો નથી આથી પરલોકીનો (પરલોક જવાવાળો આત્મા) અભાવ હોવાથી પરલોકનો અભાવ સ્વતઃ સિદ્ધ છે અર્થાત્ જન્માન્તર નથી અથવા 'नून' આ પદ સંભાવનામાં પણ પ્રયુક્ત કરાય છે આ અપેક્ષા પરલોક, સ્વર્ગાદિક જે માનવામાં આવે છે તે પણ નથી એવી સંભાવના થાય છે કેમકે, કોઈ એવો તો છે જ નહીં જે પરલોકમાં

श्रुतज्ञानचतुर्दशपूर्वधारकः स्वज्ञानप्रभावादनेकयुक्तिप्रयुक्तीः प्रदर्श्य, मत्तगजेन्द्रमिव सोमभद्रं वशीकृत्य दीक्षितं कृत्वाऽऽनीतवान्। अथ गौतमस्य प्रयत्नेनैव मोक्षमार्गमाश्रितः, तथापि गौतमो विनयातिशयं कुर्वन् ज्ञानगर्वं न वहति, न च केवलज्ञानाप्राप्तौ विषादं करोति। यथा गौतमेनाऽवधिमनःपर्ययज्ञानपरीषहं तन्मदाकरणेन केवलज्ञानाप्राप्तिविषयकविषादाकरणेन च परिषह्य तदुपरि विजयः प्राप्तस्तथाऽन्यैरपि मुनिभिरज्ञानाभावपरीषहः सोढव्यः ॥ ४३ ॥

अथ द्वाविंशतितमं दर्शनपरीषहजयं प्राह—

मूलम्—नैत्थि नूणं पॅरे लोएँ इड्ढी वा वि तवस्सिंणो।
अदुवा 'वचिंओ मि–त्ति', ईइ भिक्खू नें चिंतएं ॥४४॥

छाया—नास्ति नूनं परो लोकः ऋद्धिर्वाऽपि तपस्विनः।
अथवा वञ्चितोऽस्मीति इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥ ४४ ॥

ज्ञान के धारी एवं चतुर्दशपूर्व के पाठी गौतम ने अपने प्रभाव से ही मत्तगजराज की तरह इस सोमभद्र को अनेक युक्ति प्रयुक्तियों द्वारा वश में कर के दीक्षित किया है, और यहां ये इस को ले आये हैं, गौतम का ही यह प्रयत्न है जो यह मोक्षमार्ग में आ गया है, फिर भी गौतम को अपने विनयातिशय से इस बात का जरा भी गर्व नहीं है। तथा केवलज्ञान की अप्राप्ति के विषय में विषाद भी नहीं है। जिस तरह गौतम ने अवधिमनःपर्ययज्ञान के परीषह को उनका मद नहीं करने से तथा केवलज्ञान की अप्राप्ति में विषाद नहीं करने से जीता है उसी तरह तुम सब मुनियों को भी अज्ञानाभाव अर्थात् ज्ञान का सद्भाव परीषह जीतना चाहिये ॥ ४३ ॥

ચાર જ્ઞાનના ધારી અને ચૌદપૂર્વના પાઠી ગૌતમે મત્ત ગજરાજની માફક સ્વૈરવિહારી અને યુક્તિ પ્રયુક્તિઓના સ્વામી એવા આમને પોતાના જ્ઞાનવડે વશ કરીને દીક્ષિત કરેલ છે અને તેને અહીં લઈ આવેલ છે ગૌતમનો જ આ પ્રયત્ન છે કે જે આ મોક્ષમાર્ગમાં આવેલ છે છતાં પણ ગૌતમને પોતાના વિનય અતિશયથી આ વાતનો જરા પણ ગર્વ નથી તથા કેવળજ્ઞાનની અપ્રાપ્તિના વિષયમાં વિષાદ પણ નથી જેવી રીતે ગૌતમે અવધિમનઃપર્યયજ્ઞાનના પરીષહનો મદ નહીં કરવાથી તથા કેવળજ્ઞાનની અપ્રાપ્તિમાં વિષાદ નહીં કરવાથી જીતેલ છે. આ રીતે તમે સઘળા મુનિઓએ પણ અજ્ઞાન અભાવ અર્થાત જ્ઞાનનો સદ્ભાવ જીતવો જોઈએ. ॥ ૪૩ ॥

टीका—' नत्थि नूण ' इत्यादि ।

परो लोक.=परभव.-जन्मान्तरम्, नून=निश्चयेन नास्ति=न भवति । अय भाव -शरीर हि भूतात्मक, तदिहैव नश्यति, शरीरे वर्तमानस्य चैतन्यस्यापि भूत धर्मत्वादेव शरीरेण सह नाशसभवात् । शरीरव्यतिरेकेण आत्मन प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानत्वाच्च जन्मान्तर न भवतीति निश्चेतव्यमिति । यद्वा-नूनमिति सभावनायाम् परलोक. स्वर्गादिर्नास्तीति सभावयामि, यत. परलोके गत. कोऽपि नात्रागत्य वदति, तस्मात् प्रत्यक्षाभावान्नास्ति परलोक इति । वा=अथवा, अपि=इहापि-

अब सूत्रकार बाईसवा दर्शनपरीपहजय को बतलाते हैं—

'नत्थि नूण'—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(परे लोए नूण नत्थि—परः लोक नून नास्ति) निश्चय से जन्मान्तर नहीं है—यह शरीर भूतात्मक है, इसलिये यह तो यहां ही विनिष्ट हो जाता है । इस शरीर में जो चैतन्य वर्तमान है वह भी भूतों का धर्म होने से शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है । दूसरे—शरीर से भिन्न आत्मा—नामक कोई पदार्थ है, यह किसी भी प्रत्यक्ष प्रमाण से मापित नहीं होता है अत परलोकी (परलोक जाने वाला आत्मा) का अभाव होने से परलोक का अभाव स्वतः सिद्ध है, अर्थात् जन्मान्तर नहीं है । अथवा "नून" यह पद सभावना में भी प्रयुक्त किया जाता है इस अपेक्षा परलोक-स्वर्गादिक जो माने जाते हैं सो वे भी नहीं हैं, ऐसी सभावना होती है, क्यों कि कोई ऐसा तो है नहीं जो परलोक में जाकर पश्चात् यहां आकर यह कहे कि मैं अमुक

હવે સૂત્રકાર બાવીસમા દર્શનપરીષહને જીતવાનું બતાવે છે—

' नत्थि नूण ' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—परे लोए नूण नत्थि—परलोक नून नास्ति નિશ્ચયથી જન્માન્તર નથી આ શરીર ભૂતાત્મક છે, આ માટે તે તો અહિં જ વિનષ્ટ થઈ જાય છે આ શરીરમાં જે ચૈતન્ય વર્તમાન છે તે પણ ભૂતોનો ધર્મ હોવાથી શરીરની સાથોસાથ નાશ પામે છે, બીજું શરીરથી ભિન્ન આત્મા નામનો કોઈ પદાર્થ છે, એ કોઈ પણ પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી ઓળખી શકાતો નથી આથી પરલોકીનો (પરલોક જવાવાળો આત્મા) અભાવ હોવાથી પરલોકનો અભાવ સ્વત. સિદ્ધ છે અર્થાત્ જન્માન્તર નથી અથવા ' नून ' આ પદ સભાવનામાં પણ પ્રયુક્ત કરાય છે આ અપેક્ષા પરલોક, સ્વર્ગાદિક જે માનવામાં આવે છે તે પણ નથી એવી સભાવના થાય છે કેમકે, કોઇ એવો તો છે જ નહી જે પરલોકમાં

शब्दो भिन्नक्रमः अतोऽयमर्थः—तपस्विनोऽपि मम ऋद्धिः=आमर्शौषध्यादिलब्धिरूपा नास्ति=न विद्यते, तस्या अप्यनुपलभ्यमानत्वात् ।

प्रसङ्गादिह लब्धिभेदा उच्यन्ते—

१ आमर्शौषधिः, २ विप्रुडौषधिः, ३ खेलौषधिः, ४ जल्लौषधिः, ५ सर्वौषधिः, ६ संभिन्नश्रोतोलब्धिः, ७ अवधिलब्धिः, ८ ऋजुमतिलब्धिः, ९ विपुलमतिलब्धिः, १० चारणलब्धिः, ११ आशीर्विषलब्धिः, १२ केवलिलब्धिः, १३ गणधरलब्धिः, १४ पूर्वधरलब्धिः, १५ अर्हल्लब्धिः, १६ चक्रवर्तिलब्धिः, १७ बलदेवलब्धिः, १८ वासुदेवलब्धिः, १९/१ क्षीरास्रवलब्धिः, १९/२ मध्वास्रवलब्धिः, १९/३ सर्पिरास्रवलब्धिः, २० कोष्ठबुद्धिलब्धिः, २१ पदानुसारिलब्धिः, २२

स्वर्ग से आया हूं, इसलिये प्रत्यक्ष से उनकी उपलब्धि का अभाव होने से परलोक नही है। (वा) अथवा (तवस्सिणो इड्ढी अवि–तपस्विन ऋद्धिः अपि) तपस्वी जन को ऋद्धिकी प्राप्ति हो जाती है यह भी बात ठीक नही है, क्यों कि ऋद्धियों अर्थात् लब्धियों की सिद्धि भी प्रत्यक्षप्रमाण से होती नही है। लब्धिया २८ प्रकार की हैं वे ये हैं—

आमर्शौषधि १, विप्रुडौषधि २, खेलौषधि ३, जल्लौषधि ४, सर्वौषधि ५, संभिन्नश्रोतोलब्धि ६, अवधिलब्धि ७, ऋजुमतिलब्धि ८, विपुलमतिलब्धि ९, चारणलब्धि १०, आशीर्विषलब्धि ११, केवलिलब्धि १२, गणधरलब्धि १३, पूर्वधरलब्धि १४, अर्हल्लब्धि १५, चक्रवर्तिलब्धि १६, बलदेवलब्धि १८, क्षीरास्रवलब्धि १९।१, मध्वास्रवलब्धि १९।२, सर्पिरास्रवलब्धि १९।३, कोष्ठबुद्धिलब्धि २०, पदानुसारिलब्धि २१, बीजबु

જઈ પાછો આવી તે એમ કહે કે હું અમુક સ્વર્ગમાં જઈને આવ્યો છું આ માટે પ્રત્યક્ષથી તેની ઉપલબ્ધીનો અભાવ હોવાથી પરલોક નથી. અથવા **તવસ્સિણો ઇડ્ઢી અવિ** તપસ્વીઓને ઋદ્ધિયોની પ્રાપ્તિ થઈ જાય છે એ વાત પણ ઠીક નથી. કેમકે, ઋદ્ધિયોની સિદ્ધિ પણ પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી થતી નથી. ઋદ્ધિયો ૨૮ પ્રકારની છે તે આ પ્રમાણે છે

(૧) આમર્શૌષધિ, (૨) વિપ્રુડૌષધિ, (૩) ખેલૌષધિ, (૪) જલ્લૌષધિ, (૫) સર્વૌષધિ, (૬) સંભિન્નશ્રોતોલબ્ધિ, (૭) અવધિલબ્ધિ, (૮) ઋજુમતિ લબ્ધિ, (૯) વિપુલમતિલબ્ધિ, (૧૦) ચારણલબ્ધિ, (૧૧) આશીર્વિષલબ્ધિ, (૧૨) કેવલીલબ્ધિ, (૧૩) ગણધરલબ્ધિ, (૧૪) પૂર્વધરલબ્ધિ, (૧૫) અર્હલ્લબ્ધિ, (૧૬) ચક્રવર્તિલબ્ધિ, (૧૭) બલદેવલબ્ધિ, (૧૮) વાસુદેવલબ્ધિ, (૧૯) ક્ષીરાસ્રવલબ્ધિ, મધ્વાસ્રવલબ્ધિ, સર્પિરાસ્રવલબ્ધિ, (૨૦) કોષ્ઠબુદ્ધિલબ્ધિ [illegible]) પદાનુ

बीजबुद्धिलब्धि , २३ तेजोलेश्यालब्धि , २४ आहारकलब्धि , २५ शीतलेश्यालब्धि , २६ वैक्रियलब्धि , २७ अक्षीणमहानसिकलब्धि , २८ पुलाकलब्धि ।

भव्यत्वाभव्यत्वविशिष्टानां पुरुषाणा च यावत्यो लब्धयो भवन्ति, ता एवम्—भव्यपुरुषाणामेता पूर्वोक्ता सर्वा अपि लब्धयो भवन्ति। अर्हच्चक्रवर्तिवासुदेवबलदेवसभिन्नश्रोतश्चारणपूर्वधरगणधरपुलाकाऽऽहारकलब्धिलक्षणा एतादश लब्धयो भव्यस्त्रीणां नैव भवन्ति। शेषास्त्वष्टादशलब्धयो भव्यस्त्रीणां भवन्ति। यच्च मल्लिस्वामिन स्त्रीत्वेऽपि तीर्थकरत्वमभूत् तदाश्चर्यभूतत्वान्न गण्यते । तथा —अनन्तरोक्ताअर्हदाद्या आहारकपर्यन्ता दश लब्धयः, केवलि—ऋजुमति—विपुलमति

द्धिलब्धि २२, तेजोलेश्यालब्धि २३, आहारकलब्धि २४, शीतलेश्यालब्धि २५, वैक्रियलब्धि २६, अक्षीणमहानसीकलब्धि २७, पुलाकलब्धि २८।

अब भव्यत्वभावविशिष्ट एव अभव्यत्वभावविशिष्ट पुरुष को जितनी जितनी लब्धिया होती हैं वे कहते हैं—

भव्यत्वभावविशिष्ट पुरुषों के ये सभी लब्धिया होती हैं। भव्य स्त्रियों के अर्हल्लब्धि १, चक्रवर्तिलब्धि २, वासुदेवलब्धि ३, बलदेवलब्धि ४, संभिन्नश्रोतोलब्धि ५, चारणलब्धि ६, पूर्वधरलब्धि ७, गणधरलब्धि ८, पुलाकलब्धि ९, एवं आहारकलब्धि १०, ये दस लब्धिया नहीं होती हैं। बाकी अवशिष्ट अठारह लब्धिया भव्य स्त्रियों के भी होती हैं। जो मल्लिस्वामी के स्त्रीपना होने पर भी तीर्थकरत्व वहां हुआ वह अच्छेरा—आश्चर्य होने की वजह से गिना नही जाता है। ये १३ तेरह लब्धिया अभव्यपुरुषों के नही होती हैं—केवलिलब्धि, ऋजु

ચારિલબ્ધિ, (૨૨) બીજબુદ્ધિલબ્ધિ, (૨૩) તેજોલેશ્યાલબ્ધિ, (૨૪) આહારકલબ્ધિ, (૨૫) શીતલેશ્યાલબ્ધિ, (૨૬) વૈક્રિયલબ્ધિ, (૨૭) અક્ષીણમહાનસિકલબ્ધિ, (૨૮) પુલાકલબ્ધિ

હવે ભવ્યત્વભાવવિશિષ્ટ અને અભવ્યત્વભાવ વિશિષ્ટ પુરૂષોને જેટલી જેટલી લબ્ધિઓ થાય છે તે બતાવે છે

ભવ્યત્વભાવ વિશિષ્ટ પુરૂષોને આ બધી લબ્ધિઓ થાય છે ભવ્ય સ્ત્રિઓને ૧ અર્હલ્લબ્ધિ, ૨ ચક્રવર્તિલબ્ધિ, ૩ વાસુદેવલબ્ધિ, ૪ બલદેવલબ્ધિ, ૫ સંભિન્નશ્રોતોલબ્ધિ, ૬ ચારણલબ્ધિ. ૭ પૂર્વધરલબ્ધિ, ૮ ગણધરલબ્ધિ ૯ પુલાકલબ્ધિ, અને ૧૦ આહારકલબ્ધિ આ દશ લબ્ધિયો થતી નથી. બાકીની અઢાર લબ્ધિયો ભવ્ય સ્ત્રીઓને પણ થાય છે જેમ મલ્લિ સ્વામીને સ્ત્રીપણુ હોવા છતાં પણ તીર્થંકરત્વ તેમને થયુ તે અચ્છેરા—આશ્ચર્ય થવાની ગણત્રીમા ગણવામા આવતુ નથી આ તેર લબ્ધિઓ અભવ્ય પુરૂષોને થતી નથી

–लब्धयश्चैतास्त्रयोदश लब्धय पुरुषाणामप्यभव्याना नैव भवन्ति, शेषाः पञ्चदश लब्धयस्तु भवन्ति। अभव्यस्त्रीणामप्येतास्त्रयोदश लब्धयो न भवन्ति, मधुक्षीरास्रव-विरपिचतुर्दशी तासां नैव भवति। शेषाश्चतुर्दशलब्धयस्तु तासामपि भवन्ति।

अथासा व्याख्या प्रदर्श्यते–आमर्शौषधिः–आमर्शो हि हस्तादिना स्पर्शः, स एव ओषधिः, करादिसंस्पर्शमात्रादेव व्याध्यपनयनसामर्थ्यम् ॥ १ ॥

विप्रुडोषधिः—यन्माहात्म्यान्मूत्रपुरीषावयवमात्रमपि रोगराशिप्रणाशाय संपद्यते सुरभि च सा ॥ २ ॥

मतिलब्धि, विपुलमतिलब्धि तीन ये तथा भव्य स्त्रियों के जिन दश १० ऋद्धियों का अभाव बतलाया गया है वे। इस प्रकार १३ तेरह लब्धियों का अभव्यपुरुषों के अभाव रहता है। बाकी १५ लब्धिया होती हैं। इसी तरह अभव्यस्त्रियों के भी ये ही १३ तेरह लब्धिया नही होती हैं। तथा क्षीरा-स्रव एव मध्वास्रव नामकी भी लब्धि उनके नही होती है। इस प्रकार तेरह १३ पूर्वोक्त और १४ चौदहवी क्षीरास्रव, मध्वास्रव सर्पिरास्रवरूप का उनकेअभाव जानना चाहिये। बाकी १४ चौदह लब्धियां अभव्य स्त्रियों के होती हैं।

इन लब्धियों की व्याख्या की जाती है–हस्त आदि द्वारा स्पर्श होने का नाम आमर्श है। यह स्पर्श ही जिनका औषधि का काम करता है वह आमर्शौषधि है। इस लब्धि के धारी को जो रोगी अपने हस्तादिक से छू लेता है उसका वह रोग छूते ही नष्ट हो जाता है १, जिस के प्रभाव से मूत्र, पुरीष, आदि भी रोगराशिके विनाश करने में औष

કેવલીલબ્ધિ, ઋજુમતિલબ્ધિ, વિપુલમતિલબ્ધિ, ત્રણ આ તથા ભવ્ય સ્ત્રીઓને જે દશઋદ્ધિઓનો અભાવ બતાવેલ છે તે આ પ્રકારની તેર લબ્ધિઓનો અભવ્ય પુરૂષોને અભાવ રહે છે બાકી પંદર લબ્ધિઓ થાય છે આ રીતે અભવ્ય સ્ત્રીઓને પણ આ તેર લબ્ધિઓ થતી નથી તથા ક્ષીરાસ્રવ અને મધ્વાસ્રવ સર્પિરાસ્રવ નામની પણ તેને થતી નથી આ રીતે તેર પૂર્વોક્ત અને ચૌદમી ક્ષીરા સ્રવ મધ્વાસ્રવ લબ્ધિનો તેને અભાવ જાણવો જોઇએ. બાકી ચૌદ લબ્ધિઓ અભવ્ય સ્ત્રીઓને થાય છે

આ લબ્ધિઓની વ્યાખ્યા કહેવામાં આવે છે,–હાથ આદિ દ્વારા સ્પર્શનું નામ આમર્શ છે આ સ્પર્શ જ જેને ઔષધિનું કામ કરે છે તે આમર્શ ઔષધિ છે આ લબ્ધિના ધારીને જે રોગી પોતાના હાથથી અડે છે એનો એ રોગ અડતાં જ નાશ પામે છે (૧) જેના પ્રભાવથી મૂત્ર, પુરીષ, આદિ રોગ વિનાશ કરવામાં ઔષધિનું કામ કરવા લાગે છે તથા તેમાં આવવા

खेलौषधि –यत् प्रभावात् श्लेष्मा सर्वरोगापहारक सुरभिश्च भवति सा ॥३॥

जल्लौषधि.– जल्लो=मल' कर्णवदननासिकानयनजिह्वासमुद्भवः शरीरसमुद्भवश्च, स एव ओषधिर्भवति यत्प्रभावात् सा ॥ ४ ॥

सर्वौषधि –यत्प्रभावात् सर्वे विण्मूत्रकेशनखादय ओषधयो भवन्ति सा ॥५॥

संभिन्नश्रोतोलब्धि'—यत्प्रभावात् सर्वैरपि शरीरावयवै सुस्पष्ट शृणोति सा। यद्वा–' संभिन्नस्रोतस् ' इतिच्छाया। अत्र स्रोतसु शब्द इन्द्रियवाचक, तेन यत्प्रभावात्–एकैकमिन्द्रिय सर्वेषामिन्द्रियाणां कार्यं संपादयति सा। यथा–कर्णेनैव श्रवणदर्शनघ्राणरसनस्पर्शनकार्याणि लब्धिप्रभावात् सम्पादयति ॥ ६ ॥

अवधिलब्धि.—अवधिज्ञानमेव लब्धि –अवधिलब्धि.। अरूपिद्रव्यं विहाय

धिका काम करने लग जाते हैं, तथा उनमें सुगध आने लगती है, इस का नाम विप्रुडोपधि है २। जिसके प्रभाव से श्लेष्मा सर्वरोग का अपहारक हो जाता है उस का नाम खेलौषधि है। इसके प्रभाव से श्लेष्म भी सुगधवाला हो जाता है ३। जिसके प्रभावसे कान, मुख, नासिका, नयन, एव जिह्वा का मैल, तथा शरीरका मैल औषधि जैसा परिणमित होता है उसका नाम जल्लौषधि है ४। जिसके प्रभावसे विष्टा, मूत्र, केश, तथा नख आदिक औषधि जैसे हो जाते हैं उसका नाम सर्वौषधि है ५। जिसके प्रभावसे समस्त शारीरिक अवयवों द्वारा सुना जाय, अथवा एक ही इन्द्रिय जिसके प्रभाव से अन्य इन्द्रियों का काम करने लग जाय उस का नाम संभिन्नश्रोतोलब्धि है। जिसके यह लब्धि होती है वह एक कर्ण इन्द्रिय से ही अवशिष्ट इन्द्रियों के काम–दर्शनादिक करने की शक्तिवाला हो जाता है ६। जिसके प्रभाव से अमूर्तिक द्रव्य को छोड़ कर मूर्तिक द्रव्यको जानने की सामर्थ्य आत्मामें प्रकट हो जाती है उसका नाम

લાગે છે તેનુ નામ વિપ્રુડ ઓષધિ છે (૨) જેના પ્રભાવથી શ્લેષ્મા સર્વ રોગોનો નાશ કરનાર છે તેનું નામ ખેલૌષધિ છે, તેના પ્રભાવથી શ્લેષ્મ પણ સુગધવાળા થઈ જાય છે (૩) જેના પ્રભાવથી કાન, મોઢુ, નાક, નેણુ અને જીભનો મેલ તથા શરીરનો મેલ, ઔષધિની જેમ પરિણમિત બને છે તેનુ નામ જલ ઓષધિ છે (૪) જેના પ્રભાવથી વિષ્ટા, મૂત્ર, વાળ, નખ, આદિ ઓષધિ જેવા થઈ જાય છે તેનુ નામ સર્વૌષધિ છે (૫) જેના પ્રભાવથી શરીરનાં તમામ અવયવો દ્વારા સભળાય અથવા એક જ ઇન્દ્રિય જેના પ્રભાવથી બીજી ઇન્દ્રિયોનુ કામ કરવા લાગી જાય તેનું નામ સંભિન્નશ્રોતોલબ્ધિ છે જેને આ લબ્ધિ હોય છે તે એક કર્ણ ઇન્દ્રિયથી જ અવશિષ્ટ ઇન્દ્રિયોના

रूपिद्रव्यविषयकमिन्द्रियनिरपेक्ष मनःप्रणिधानवीर्यक प्रतिविशिष्टक्षयोपशमनिमित्तकं देवमनुष्यतिर्यङ्नारकस्वामिक ज्ञान भवति यत्प्रभावात् सा ॥ ७ ॥

ऋजुमतिलब्धिः—ऋजुः=सामान्य–विशेषरहित, देशकालाद्यनेकपर्यायवर्जित, सज्ञिना चिन्तित, तद्ग्राहिणी मतिः—ऋजुमति, सैव लब्धिः। सा च—'घटोऽनेन चिन्तित', इत्येवं सज्ञिमनोद्रव्यपरिच्छेदः ॥८॥

विपुलमतिलब्धिः—विशुद्धतर॰ सपूर्णमनुष्यक्षेत्रवर्तिसज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोद्रव्यप्रत्यक्षीकरणहेतुर्मनःपर्ययज्ञानविशेषः। यथा—परेण चिन्तित घट प्रसगतो बहुभिः

अवधिलब्धि है, यह अवधि, इन्द्रिय और मनकी सहायता से उत्पन्न नहीं होता है। अवधिज्ञानावरणीय कर्मके प्रतिविशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। देव, मनुष्य, नरक एव तीर्यञ्च, इस प्रकार चारों गतियों के जीव इस के स्वामी हो सकते हैं ७। जिस के प्रभाव से–देश, काल आदि अनेक पर्यायों से वर्जित पदार्थ का सामान्य ज्ञान होता है, और जो सज्ञी जीव के द्वारा चिन्तित पदार्थ को ग्रहण करता है उसका नाम ऋजुमतिलब्धि है। जैसे जिसने अपने मन के द्वारा घट का विचार किया तो ऋजुमतिलब्धि वाला उसे शीघ्र बतला देगा कि इसने घट का विचार किया है ८। जिसके प्रभाव से मनुष्यक्षेत्रवर्ती समस्त संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के मनोद्रव्य को साक्षात् करनेवाला जो विशुद्धतर ज्ञान होता है उसका नाम विपुलमतिलब्धि है। यह मनःपर्यय ज्ञान का एक भेद है। जैसे किसी ने घट का विचार किया

કામ દર્શનાદિક કરવાની શક્તિવાળા બની જાય છે (૬) જેના પ્રભાવથી અમુર્તિક દ્રવ્યને છોડીને મુર્તિક દ્રવ્યને જાણવાનું સમર્થ આત્મામાં પ્રગટ થાય છે તેનું નામ અવધિલબ્ધિ છે આ અવધિ ઈન્દ્રિય અને મનની સહાયતાથી ઉત્પન્ન થતા નથી અવધિ જ્ઞાનાવરણીય કર્મના પ્રતિવિશિષ્ટ ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે, દેવ, મનુષ્ય, નરક અને તિર્યંચ આ ચાર ગતીના જીવો તેના સ્વામી બની શકે છે (૭) જેનો પ્રભાવ દેશ, કાળ આદિ અનેક પર્યાયોથી વર્જીત સામાન્ય જ્ઞાન થાય છે અને જે સજ્ઞી જીવ દ્વારા ચિંતિત પદાર્થને ગ્રહણ કરે છે. અને તેનું નામ ઋજુમતિલબ્ધિ છે જેવો જેણે પોતાના મનની સાથે વિચાર કર્યો તો તે ઋજુમતિ લબ્ધિવાળા તેને તુરત બતાવી શકે છે કે આણે મનમાં આ વિચાર કર્યો છે.(૮) જેના પ્રભાવથી મનુષ્ય ક્ષેત્રવર્તી સમસ્તસજ્ઞી પંચેન્દ્રિય જીવોના મનોદ્રવ્યોને સાક્ષાત કરવાવાળુ જે વિશુદ્ધતરજ્ઞાન હોય છે તેનું નામ વિપુલમતિલબ્ધિ છે આ મનઃપર્યયજ્ઞાનનો એક ભેદ છે જેમ કોઈએ મનમાં વિચાર કર્યો હોય તો આ લબ્ધિવાળા તેને પ્રસગવશ એવા

पर्यायैरुपेत जानाति, तत्र घटोऽय द्रव्यतः सौवर्ण, क्षेत्रतो मरुदेशीयस्तथा गृहाभ्यन्तरस्थ, कालतस्त्रैमासिक, भावतः–सुसस्थानचाकचिक्यादियुक्त, आकारेण महान्, इत्यादि प्रचुरविशेषणविशिष्ट जानाति ॥ ९ ॥ चारणलब्धि.–आकाशगमनशक्तिः ॥ १० ॥ आशीर्विषलब्धिः–आशी –अनुग्रह, विष–निग्रहः, तद्रूपा लब्धिः, निग्रहानुग्रहसामर्थ्यमित्यर्थ ॥ ११ ॥ केवलिलब्धिः–केवलिन. केवलज्ञानसिद्धिः ॥ १२ ॥ गणधरलब्धि.–गणधरत्वप्राप्ति ॥ १३ ॥ पूर्वधरलब्धि –पूर्वधरत्वप्राप्ति ॥ १४ ॥ अर्हल्लब्धि.–अर्हत्त्वप्राप्ति ॥ १५ ॥ चक्रवर्तिलब्धिः–

है तो इस लब्धिवाला उसे प्रसगवश इस रूप से स्पष्ट जान लेता है कि इसने द्रव्य की अपेक्षा सुवर्ण का, क्षेत्र की अपेक्षा मरुदेश का अथवा घर के भीतर का, काल की अपेक्षा तीन मास का, एव भाव की अपेक्षा अच्छे आकार का, अथवा चाकचिक्यादि रूप से युक्त घट का चिन्तन किया है। इस प्रकार विपुलमतिलब्धि वाला घटको अनेक विशेषणों से विशिष्ट जान सकता है तब कि ऋजुमतिलब्धि वाला इस प्रकार से घट को नहीं जान सकता है वह तो उसे सामान्यरूप से ही जानता है ९। आकाश में गमन करने की शक्ति जिस लब्धि द्वारा उत्पन्न हो जाती है वह चारणलब्धि है १०। जिसके प्रभाव से अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति प्रगट हो जावे वह आशीर्विषलब्धि है ११। केवलियों के जो केवलज्ञान की सिद्धि होती है उसका नाम केवलिलब्धि है १२। गणधरपद की प्राप्ति होने में जो कारण होती है वह गणधरलब्धि है १३। पूर्वधरत्व की प्राप्ति पूर्वधरलब्धि। १४, अर्हत्पद की प्राप्ति अर्हल्लब्धि १५, चक्रधरत्व की प्राप्ति चक्रवर्ति-

તેવા રૂપથી સ્પષ્ટ જાણી લે છે કે, તેણે દ્રવ્યની અપેક્ષા, સુવર્ણના ક્ષેત્રની અપેક્ષા, મરૂદેશના અથવા ઘરની અંદરના કાળની અપેક્ષા ત્રણ માસનું અને ભાવની અપેક્ષા સારા આકારનું અથવા ચળકાટ ચકચકાટાદિ રૂપથી યુક્ત ઘટ જાણે છે આ પ્રકારે વિપુલમતિ લબ્ધિવાળા ઘટને અનેક વિશેષણોથી વિશિષ્ટ જાણી શકે છે ત્યારે ઋજુમતિ લબ્ધિવાળા આ રીતે ઘટને જાણી શકતા નથી. તે તો એને સામાન્યરૂપથી જ જાણે છે (૯) આકાશમાં ઉડવાની શકિત જે લબ્ધિ દ્વારા ઉત્પન્ન થાય છે તે ચારણલબ્ધિ છે (૧૦) જેના પ્રભાવથી અનુગ્રહ અને નિગ્રહ કરવાની શકિત પ્રગટ થાય છે તે આશીવીષલબ્ધિ છે (૧૧) કેવલીઓને કેવળજ્ઞાની લબ્ધિ થાય છે તેનું નામ કેવળલબ્ધિ છે (૧૨) ગણધર પદની પ્રાપ્તિ થવામાં જે કારણ હોય છે તે ગણધરલબ્ધિ છે (૧૩) પૂર્વધરત્વની પ્રાપ્તિ પૂર્વધરલબ્ધિ. (૧૪) અહંત્પદની પ્રાપ્તિ અહંતલબ્ધિ. (૧૫)

चक्रधरत्वप्राप्तिः ॥१६॥ बलदेवलब्धि.—बलदेवत्वप्राप्ति ॥१७॥ वासुदेवलब्धिः —वासुदेवत्वप्राप्तिः ॥१८॥ क्षीरास्रवलब्धि.—यत्प्रभावाद्वचनं क्षीरवन्मधुरं भवति ॥ १९।१ ॥ मध्वास्रवलब्धि.—यत्प्रभावाद्वचन मधुतुल्य भवति ॥ १९।२ ॥ सर्पिरास्रवलब्धिः—यत्प्रभावादूवचनं घृतवत् स्निग्धमरूक्ष भवति ॥१९।३॥

कोष्ठबुद्धिलब्धिः—यथा कोष्ठके धान्य प्रक्षिप्तं तदवस्थमेव चिरमप्यवतिष्ठते, न किमपि कालान्तरेऽपि गलति, एवं यस्मिन् पुरुषे श्रुतज्ञान निक्षिप्तं तदवस्थमेव चिरकाल तिष्ठति न कदापि विस्मरति यत्प्रभावात् सा ॥२०॥ पदानुसारिणी लब्धि.—यत्प्रभावात् पुनरेकमपि श्रुतपदमवधार्य शेषमश्रुतमपितदवस्थमेव श्रुतमवगाहते सा ॥ २१ ॥ बीजबुद्धिलब्धिः—यथा—एकस्मात् बीजान्महातरुरुत्पद्यते,

लब्धि १६, बलदेव पद की प्राप्ति बलदेवलब्धि १७, वासुदेव पद की प्राप्ति वासुदेवलब्धि १८, क्षीर जैसे मीठे वचनों की प्राप्ति जिसके प्रभाव से हो वह क्षीरास्रवलब्धि, मधुतुल्य मधुर वचनों का होना वह मध्वास्रवलब्धि, स्निग्ध एव अरूक्ष वचन जिसके प्रभाव से हो वह सर्पिरास्रव लब्धि है १९। जिस प्रकार कोठे में रक्खा हुवा धान्य ज्यों का त्यों बहुत काल तक रहता है—बिगडता नहीं है, उसी प्रकार जिसके प्रभाव से प्राप्त श्रुत भी ज्यों का त्यों स्थिर रहे विस्मृत न हो उसका नाम कोष्ठबुद्धिलब्धि है २० जिसके प्रभाव से श्रुत का एक पद भी अवधारित होने पर शेष नहीं सुना हुवा भी श्रुत अवधारित हो जाय इस का नाम पदानुसारिणीलब्धि है २१। जिस प्रकार एक छोटे से भी बीज से विशाल काय वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार उत्पाद, व्यय,

ચક્રધરત્વની પ્રાપ્તિ ચક્રવર્તિલબ્ધિ. (૧૬) બલદેવપદની પ્રાપ્તિ બળદેવલબ્ધિ. (૧૭) વાસુદેવ પદની પ્રાપ્તિ વાસુદેવલબ્ધિ (૧૮) ક્ષીર જેવાં મીઠા વચનોની જેના પ્રભાવથી થાય તે ક્ષીરાસવલબ્ધિ. મધુતુલ્ય મધુર વચનોનું બનવું તે મધ્વાસ્રવલબ્ધિ સ્નિગ્ધ અને અરુક્ષવચન જેના પ્રભાવથી થાય તે સર્પિરા સ્રવલબ્ધિ છે (૧૯) જે રીતે કોઠીમાં રાખેલું અનાજ જેમનું તેમ ઘણા સમય સુધી રહે છે છતા બગડતું નથી. તે પ્રકારે જેના પ્રભાવથી પ્રાપ્ત શ્રુત પણ જ્યાંનુ ત્યાં સ્થિર રહે, વિસ્મૃત ન બને, તેનુ નામ કોષ્ટબુદ્ધિલબ્ધિ છે (૨૦) જેના પ્રભાવથી શ્રુતનું એક પદ પણ અવધારીત થવાથી આગળ ન સાંભળેલ પણ શ્રુત અવધારીત થઈ જાય તેનું નામ પદાનુસારીણીલબ્ધિ છે (૨૧) જે રીતે એક નાના બીજથી વિશાળકાય વૃક્ષ ઉત્પન્ન થાય છે. તે પ્રકારે ઉત્પાદ,

तथा–उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सदित्यादिरूपमर्थप्रधान पदमर्थपद, तदेकं बीजभूत मर्थपदमनुसृत्य शेषमपि तथैव प्रभूततरमर्थपद जानाति यत्प्रभावात् सा ॥ २२ ॥

तेजोलेश्यालब्धिः – यत्प्रभावादनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनदक्षतीव्रतेजोनिसर्जनशक्तिरुत्पद्यते सा । इह य खलु शमी–क्षमाशीलो मुनिर्निरन्तरम पानकं षष्ठतप. करोति, पारणकदिने च सनखकुल्माषमुष्टया जलचुलुकेनैकेन आत्मानं यापयति, पुनरातापना करोति तस्य षण्मासान्ते तेजोलेश्यालब्धिरुत्पद्यते ॥२३॥ आहारकलब्धि.–आहारकशरीरकरणशक्तिः । आहारकशरीर च-स्फटिकवदुज्ज्वल हस्तप्रमाणमेकस्मिन् भवे द्वि., ससारे चतुर्वार कृत्वा मोक्षमवश्य

एव ध्रौव्य युक्त सत् है, इत्यादिरूप एक भी अर्थ प्रधानपद के अनुसरण से शेष प्रभूततर अर्थपद भी इसी तरह ज्ञात हो जावें वह बीजबुद्धिलब्धि है। २२ जिसके प्रभाव से अनेकयोजनप्रमाण क्षेत्र में रही हुई वस्तु को जलाने वाले तेज को निकाल ने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है इसका नाम तेजोलेश्यालब्धि है, जो शमी–क्षमाशीलमुनि निरन्तर चौविहार षष्ठ तप करता है, और पारणा के दिन सनख कल्माषमुष्टि अर्थात्–सीझे हुए एक मुट्ठी भर उडद खाकर उसी समय एक चुल्लू भर पानी पीता है, और आतापना लेता है, इस प्रकार छह महिने तक लगातार करता रहता है तो उसके तेजोलेश्यालब्धि उत्पन्न हो जाती है। २३ आहारक–शरीर के उत्पन्न होने की लब्धि का नाम आहारकलब्धि है। आहारक शरीर स्फटिकमणि के जैसा उज्ज्वल तथा एक हाथ का होता है। एक भव में इसकी प्राप्ति जीव को दो बार, तथा ससार अवस्था में चार बार तक होती है, पश्चात् वह जीव मुक्ति

વ્યય, અને ધ્રૌવ્ય યુક્ત સત્ છે રૂપ એક પણ અર્થ પ્રધાનપદના અનુસરણથી શેષ પ્રભુતતરઅર્થ પદ પણ તેવી રીતે જ્ઞાત થઈ જાય તે બીજબુદ્ધિ લબ્ધિ છે (૨૨) જેના પ્રભાવથી અનેક યોજન પ્રમાણક્ષેત્રમાં રહેલી વસ્તુઓને બાળનાર તેજને કાઢવાની શકિત ઉત્પન્ન થાય છે તેનુ નામ તેજોલેશ્યાલબ્ધિ છે જે શમી–ક્ષમાશીલ મુનિ નિરંતર ચોવિહાર છઠ્ઠ તપ કરે છે અને પારણાના દિવસે બાફેલા એક મુઠીભર અડદ ખાઈ ને એજ વખતે એક ચાંગળુ પાણી પીયે છે અને આતાપના લે છે આ પ્રકાર લગાતાર છ મહિના સુધી કરતા રહે છે તો તેને તેજોલેશ્યાલબ્ધિ ઉત્પન્ન થાય છે (૨૩) આહારક શરીરના ઉત્પન્ન થવાની લબ્ધિનુ નામ આહારકલબ્ધિ છે, આહારક શરીર સ્ફટિકમણીના જેવુ ઉજ્વળ અને એક હાથનુ હોય છે એક ભવમા તેની પ્રાપ્તિ જીવને બે વાર તથા સંસાર અવસ્થામાં ચાર વાર થાય છે પછીથી એ

मयाति। कश्चिच्चतुर्दशपूर्वधारी ऋद्धिं प्राप्य, तीर्थंकरसमीपे प्रपणार्थमाहारकशरीरं करोति। तत्र प्रेषणं निगोदादिसंशयविच्छेदनार्थं, सूक्ष्मार्थनिर्णयार्थम् ऋद्धिदर्शनार्थं, प्राणिरक्षणार्थं, छद्मस्थोपग्रहार्थं च भवति। उक्तञ्च—

पाणिदय-रिद्धिदरिसण, छउमत्थोवग्गहणहेउ वा।
सुहुमत्थ संसयच्छे,-यत्थ गमण जिणस्सते ॥ १ ॥

इदमत्र बोध्यम्—आहारकशरीरं यत्र स्थाने लब्धिधारी मुनिः प्रेषयति, तत्र भगवतोऽनुपस्थितौ तस्मादाहारकशरीरादूनहस्तं शरीरं निःसरति, तदेव भगवत्

को अवश्य प्राप्त कर लेता है। चतुर्दश पूर्व का पाठी कोई मुनि आहारक लब्धि को प्राप्तकर तीर्थंकर के समीप में भेजने के लिये आहारक शरीर की रचना करता है। निगोदादिसंबंधी संशय को दूर करने रूप सूक्ष्म अर्थ का निर्णय करने के लिये १ ऋद्धि के दर्शन करने के लिये २ प्राणियों की रक्षा करने के लिये ३ और छद्मस्थों का उपकार करने के लिये ४ इस शरीर का तीर्थंकर के पादमूल में गमन होता है। कहा भी है—

"पाणिदय-रिद्धिदसण,—छउमत्थोवग्गहणहेउ वा।
सुहुमत्थसंसयच्छेयत्थ गमणं जिणस्सते ॥ १ ॥"

छाया—प्राणिदया-ऋद्धिदर्शन-छद्मस्थोपग्रहणहेतु वा।
सूक्ष्मार्थसंशयच्छेदार्थं गमनं जिनस्यान्ते ॥"

आहारक शरीर को जिस स्थान में लब्धिधारी मुनि भेजता है वहां यदि भगवान् न हों तो उस आहारक शरीर से एक हाथ से कुछ

જીવ અવશ્ય મુક્તિ પ્રાપ્ત કરી લ્યે છે ચૌદપૂર્વના પાઠી કોઈ મુનિ આહારક લબ્ધિને પ્રાપ્ત કરી તીર્થંકરના સમીપમા મોકલવા માટે આહારક શરીરની રચના કરે છે નિગોદાદિ સંબંધિ સંશયને દૂર દૂર કરવા માટે, સૂક્ષ્મ અર્થનો નિર્ણય કરવા માટે, ઋદ્ધિનાં દર્શન કરવા માટે, પ્રાણીઓની રક્ષા કરવા માટે, અને છદ્મસ્થોના ઉપકાર કરવા માટે આ શરીરનું તીર્થંકરના પાદમૂલમાં ગમન થાય છે કહ્યું પણ છે—

"पाणीदय-ऋद्धिदरिसण, छउमत्थोवग्गहणहेउं वा।
सुहुमत्थ-संसयच्छेयत्थ, गमण जिणस्सते ॥"

छाया—प्राणीदया ऋद्धिदर्शन,—छद्मस्थोपग्रहणहेतु वा।
सूक्ष्मार्थसंशयच्छेदार्थं, गमन जिनस्यान्ते ॥

આહારક શરીરને જે સ્થાનમાં લબ્ધિધારી મુનિ મોકલે છે ત્યાં જો ભગવાન ન હોય તો તે આહારક શરીરથી એક હાથ ઓછુ (મુંઢહાથ) શરીર બહાર

सनिधौं गत्वा स्वकार्यं सपाद्य हस्तप्रमाणशरीरे प्रविशति। तच्चाहारकशरीरं स्वमूलभूते शरीरे पुनर्लीन भवति ॥२४॥ शीतलेश्यालब्धि.—परमकारुण्यवशादनुग्राह्य प्रति तेजोलेश्याप्रशमनहेतुशीतलतेजोविशेषविमोचनसामर्थ्यम् ॥ २५ ॥ वैक्रियलब्धि — वैक्रियशरीरकरणशक्ति । सा चानेकविधा–अणुत्व–महत्त्व–लघुत्व–गुरुत्व–प्राप्ति–प्राकाम्ये–शित्व–वशित्वा–ऽप्रतिघातित्वाऽन्तर्धान–कामरूपित्वादिभेदात् ॥२६॥ अक्षीणमहानसीलब्धि.—महानसम्–अन्नपाकस्थानं, तदाश्रितत्वादन्नमपि महानसमुच्यते, तच्च यत्प्रभावात् अक्षीण=स्वल्पमप्यन्न पात्रे पतितं पुरुषशतसहस्रैरपि तृप्त्या भुक्त न क्षीयते, यावत् स्वेन तदन्न न भुज्यते सा ॥२७॥

कम शरीर और निकलता है, वही भगवान के पास जाकर अपने कार्य को संपादित कर पूर्व के हस्तप्रमाण शरीर में समा जाता है, और वह पूर्वहस्त प्रमाण शरीर भी फिर वहा से लौट कर अपने मूल शरीर में समा जाता है २४। परम करुणा के वश से दया करने योग्य प्राणी के प्रति तेजो लेश्या के प्रशमन का हेतु जो शीततेजविशेष को निकालने की शक्ति है उसका नाम शीतलेश्यालब्धि है २५। वैक्रियशरीर को करने की शक्ति का नाम वैक्रियलब्धि है। यह लब्धि अणुत्व, महत्त्व, लघुत्व, गुरुत्व, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघातित्व, अन्तर्धान, कामरूपित्व आदि के भेद से अनेक प्रकार की है २६। महानस–शब्द का अर्थ यद्यपि रसोईघर है तो भी तदाश्रित होने से अन्न को भी महानस कह दिया गया है इसलिये महानस शब्द से अन्न समझना

नीકળે છે તે ભગવાનની પાસે જઈને પોતાના કાર્યને સંપાદિત કરી પૂર્વના હસ્ત પ્રમાણ શરીરમાં સમાઈ જાય છે અને તે પૂર્વહસ્ત પ્રમાણ શરીર પણ ત્યાંથી પાછું ફરી પોતાના મૂળ શરીરમાં સમાઈ જાય છે (૨૪) પરમ કરૂણાના વશથી દયા કરીને યોગ્ય પ્રાણી તરફ તેજોલેશ્યાના પ્રશમનનો હેતુ, જે શીત તેજ વિશેષને કાઢવાની શક્તિ છે તેનું નામ શીતલેશ્યાલબ્ધિ છે (૨૫) વૈક્રિયશરીરને બનાવવાની શક્તિનું નામ વૈક્રિયલબ્ધિ છે આ લબ્ધિ અણુત્વ, મહત્વ, લઘુત્વ, ગુરૂત્વ, પ્રાપ્તિ, પ્રાકામ્ય, ઈશિત્વ, વશિત્વ, અપ્રતિઘાતિત્વ, અન્તર્ધાન, કામરૂપિત્વ આદિના ભેદથી અનેક પ્રકારની છે (૨૬) મહાનસ શબ્દનો અર્થ એ કે રસોઈ ઘર છે તો પણ તદાશ્રીત હોવાથી અન્નને પણ મહાનસ કહેવાયેલ છે માટે મહાનસ શબ્દથી અન્ન સમજવું જોઈએ. આથી આ અન્ન ભોજન સામગ્રી જેના પ્રભાવથી અક્ષીણ–સ્વલ્પ

पुलाकलब्धिः—तपःश्रुतहेतुका प्रवचनलाघवादिप्रयोजने जिनशासनविरोधिनः सबलवाहनस्य चक्रवर्त्यादेरपि पुलाकवन्नि सारकरणे समर्था या शक्तिः सा ॥२८॥

अथवा—इति=अनेन-केशलुञ्चनेन पञ्चमहाव्रतानुपालनेनाऽनशनादिना तपसा, पृथिवीकायादिसप्तदशविधसंयमेन महाकष्टप्रददीक्षाग्रहणेन चेत्यर्थः, वञ्चितोऽस्मि=कामसुखादपवर्जितोऽस्मीत्यर्थः। उक्तं च—

चाहिये अतः यह अन्न-भोजनसामग्री जिसके प्रभाव से अक्षीण-स्वल्प भी अन्न पात्र में पडे तो भी उससे हजारों मनुष्य भरपेट आहार करले फीर भी खूटे नहीं, जब तक कि वह स्वयं आहार न करले, ऐसी शक्ति का नाम अक्षीणमहानस लब्धि है २७। प्रवचन की लघुता के समय जिनशासन का विरोधी सेना और वाहनसहित चक्रवर्ती भी होवे तो वह भी जिसके प्रभाव से पुलाक (दानारहित घास का पुला) की तरह नि सार कर दिया जाता है ऐसी शक्ति का नाम पुलाकलब्धि है, यह लब्धि तप एव श्रुत हेतुक होती है २८।

इस प्रकार ये अठाईस लब्धियां जो बतलाई गई हैं वे, अथवा इनमें से कोई एक लब्धि भी मुझे प्राप्त नहीं हुई है। इसी प्रकार केश लुंचन करना पंचमहाव्रतों का पालन करना, यतनात्मक अनशनादिक तपों का तपना, पृथिवीकायादिकों की रक्षा करने रूप सत्तरह १७ प्रकार के संयम का पालना, महाकष्टप्रद दीक्षा का ग्रहण करना, इन सब बातों से मैं ठगा गया हू-अर्थात् सासारिक विलासता से मुक्त

પણ અન્ન પાત્રમા પડે તો પણ તેનાથી હજારો મનુષ્ય પેટભરીને આહાર કરી લે છતાં પણ ખૂટે નહી જ્યાં સુધી તે પોતે આહાર ન કરી લે આવી શક્તિનું નામ અક્ષીણમહાનસલબ્ધિ છે (૨૭) પ્રવચનની લઘુતાના સમયે જીન શાસનના વિરોધી સેના અને વાહન સહિત કોઈ ચક્રવર્તિ હોય તો તે પણ જેના પ્રભાવથી પુલાકની માફક નિસ્સાર કરી દેવામાં આવે છે એવી શક્તિનુ નામ પુલાકલબ્ધિ છે આ લબ્ધિ તપ અને શ્રુત હેતુક હોય છે (૨૮)

આ પ્રકારે એ અઠ્યાવીસ લબ્ધિઓ જે બતાવવામાં આવી છે તે અથવા આમાંથી એક લબ્ધિ પણ મને પ્રાપ્ત થયેલ નથી. આ રીતે કેશનો લોચ કરવો પાંચ મહાવ્રતોનુ પાલન કરવુ, યતનાત્મક અનશનાદિક તપોને તપવા, પૃથ્વી કાયાદિકોની રક્ષા કરવારૂપ સત્તર પ્રકારના સંયમનુ પાલન, મહાકષ્ટપ્રદ દીક્ષાને ગ્રહણ કરવી, આ સઘળી વાતોથી હુ ઠગાયો છુ અર્થાત્ સંસારી

"तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चना" इत्यादि। इति=एतद्, भिक्षुः, न चिन्तयेत्=न विचारयेत्। अस्य चिन्तनस्य संयमघातकत्वेन तुच्छत्वात्।

तथाहि-यदुच्यते-जन्मान्तरं नास्ति, शरीरस्य भूतसमुदायात्मकत्वात् भूतधर्मत्वाच्चैतन्यरूपस्यात्मनः शरीरेण सहैव नाशात्, इति, तदसत्-न वय शरीरस्य जन्मान्तराऽनुगामित्वमङ्गीकुर्मः, किंत्वात्मन एव, स चात्मा नास्ति भूतधर्मः, तथाहि-

मोड़ कर जो मैं इन कष्टप्रद निःसार कार्यों की आराधना में लग गया हूं वह सब व्यर्थ है। कहा भी है-

तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवञ्चना" इत्यादि।

अर्थात्-तप एक विचित्र प्रकार का कष्ट है, संयम जो है वह भोगों से ठगाना है।

भूतवादी बनकर भिक्षु को इस प्रकार का विचार नहीं करना चाहिये। क्यों कि इस प्रकार की विचारधारा सर्वथा तुच्छ बतलाई गई है। इसीका विचार अब यहां से किया जाता है।

जो भूतवादी यह कहता है कि "जन्मान्तर नहीं है क्यों कि यह शरीर भूतों का समुदायस्वरूप है और चैतन्यरूप आत्मा भी भूत का धर्म है। उसका विनाश भी शरीर के विनाश के साथ ही हो जाता है।" सो इसका इस प्रकार का कहना ठीक नहीं है। क्यों कि हम लोग अर्थात् जैन-शरीर को परलोक में जानेवाला नहीं मानते हैं, हम तो परलोक में जानेवाली एक आत्मा को ही मानते हैं। वह आत्मा भूतों का धर्म नहीं है। जब भिन्न २ अवस्था में भूतों से

મોડું કરીને હું આ કષ્ટપ્રદ નિસાર કાર્યોની આરાધનામાં લાગી ગયો છું તે સઘળું વ્યર્થ છે કહ્યું છે—

"तपांसि यातनाश्चित्रा संयमो भोगवञ्चना" ઈત્યાદિ.

અર્થાત્ તપ એક વિશિષ્ટ પ્રકારનું કષ્ટ છે સંયમ જે છે તે ભોગોને ઠગનાર છે ભૌતિકવાદી બની ભિક્ષુએ આ પ્રકારનો વિચાર નહીં કરવો જોઈએ. કેમકે, આ પ્રકારની વિચારધારા સર્વથા તુચ્છ બતાવવામાં આવી છે તેનો વિચાર હવે અહીં કહેવામાં આવે છે

પહેલાં જે ભૌતિકવાદીએ એવું કહ્યું છે કે, "જન્માતર નથી કેમકે આ શરીર ભૂતોના સમુદાય સ્વરૂપ છે અને ચૈતન્યરૂપ આત્મા પણ ભૂતોનો ધર્મ છે તેનો વિનાશ પણ શરીરના વિનાશની સાથે થાય છે" તેનું તેવા પ્રકારનું કહેવું ઠીક નથી કેમકે, અમે લોક અર્થાત જૈનશરીરને પરલોકમા જવા વાળુ માનતા નથી અમે તો એક આત્મા ભૂતોનો ધમ નથી. જ્યારે જુદી જુદી

पुलाकलब्धिः—तपःश्रुतहेतुका प्रवचनलाघवादिप्रयोजने जिनशासनविरोधिनः सबलवाहनस्य चक्रवर्त्यादेरपि पुलाकवन्निःसारकरणे समर्था या शक्तिः सा ॥२८॥

अथवा—इति=अनेन–केशलुञ्चनेन पञ्चमहाव्रताङ्गीकारेण, यातनात्मकेनानशनादिना तपसा, पृथिवीकायादिसप्तदशविधसंयमेन महाकष्टप्रददीक्षाग्रहणेन चेत्यर्थः, वञ्चितोऽस्मि=कामसुखादपवर्जितोऽस्मीत्यर्थः। उक्तं च—

चाहिये अतः यह अन्न–भोजनसामग्री जिसके प्रभाव से अक्षीण–स्वल्प भी अन्न पात्र में पडे तो भी उससे हजारों मनुष्य भरपेट आहार करले फीर भी खूटे नहीं, जब तक कि वह स्वयं आहार न करले, ऐसी शक्ति का नाम अक्षीणमहानस लब्धि है २७। प्रवचन की लघुता के समय जिनशासन का विरोधी सेना और वाहनसहित चक्रवर्ती भी होवे तो वह भी जिसके प्रभाव से पुलाक (दानारहित घास का पुला) की तरह निःसार कर दिया जाता है ऐसी शक्ति का नाम पुलाकलब्धि है, यह लब्धि तप एवं श्रुत हेतुक होती है २८।

इस प्रकार ये अठाईस लब्धियां जो बतलाई गई हैं वे, अथवा इनमें से कोई एक लब्धि भी मुझे प्राप्त नहीं हुई है। इसी प्रकार केश लुंचन करना पंचमहाव्रतों का पालन करना, यतनात्मक अनशनादिक तपों का तपना, पृथिवीकायादिकों की रक्षा करने रूप सत्तरह १७ प्रकार के संयम का पालना, महाकष्टप्रद दीक्षा का ग्रहण करना, इन सब बातों से मैं ठगा गया हूं–अर्थात् सांसारिक विलासता से मुक्त

પણ અન્ન પાત્રમાં પડે તો પણ તેનાથી હજારો મનુષ્ય પેટભરીને આહાર કરી લે છતાં પણ ખૂટે નહીં જ્યાં સુધી તે પોતે આહાર ન કરી લે આવી શક્તિનું નામ અક્ષીણમહાનસલબ્ધિ છે (૨૭) પ્રવચનની લઘુતાના સમયે જીન શાસનના વિરોધી સેના અને વાહન સહિત કોઈ ચક્રવર્તિ હોય તો તે પણ જેના પ્રભાવથી પુલાકની માફક નિઃસાર કરી દેવામાં આવે છે એવી શક્તિનું નામ પુલાકશક્તિ છે. આ લબ્ધિ તપ અને શ્રુત હેતુક હોય છે (૨૮)

આ પ્રકારે એ અઠ્યાવીસ લબ્ધિઓ જે બતાવવામાં આવી છે તે અથવા આમાંથી એક લબ્ધિ પણ મને પ્રાપ્ત થયેલ નથી. આ રીતે કેશનો લોચ કરવો પાંચ મહાવ્રતોનું પાલન કરવું, યતનાત્મક અનશનાદિક તપોને તપવા, પૃથ્વી કાયાદિકોની રક્ષા કરવારૂપ સત્તર પ્રકારના સંયમનું પાલન, મહાકષ્ટપ્રદ દીક્ષાને ગ્રહણ કરવી, આ સઘળી વાતોથી હું ઠગાયો છું અર્થાત્ સંસારી

वायुविशेषोऽग्निर्वा ततोऽपगत इति मन्यते, तर्हि जीव एव नामान्तरेण स्वीकृतो भवति, अस्तु यत् किंचिदेतत्, कथमपि भूतसमुदायमात्रेण न चैतन्याविर्भाव इति सिद्धम्, पृथिव्यादिषु एकत्र व्यवस्थापितेष्वपि चैतन्यानुपलब्धेः। अथ कायाकारपरिणतौ सत्यां तदभिव्यक्तिरिष्यते, तदपि न, यतो लेप्यमयपुत्तलिकाया समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोपलभ्यते, तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोच्यमानो

उसका सड़ना हो नहीं सकता हैं। यदि इस पर यों कहा जाय कि "सूक्ष्म वायु तथा अग्नि वहा से अपगत हो चुकी है अतः शरीर में मरण का व्यवहार हो जायगा" सो ऐसा कहना आत्मा के ही सद्भाव का व्यापक माना जाता है। तुम जिसे सूक्ष्म वायु या अग्नि कहते हो हम उसे आत्मा कहते हैं। भूतसमुदाय से चैतन्य का आविर्भाव इसलिये भी सिद्ध नहीं होता है कि एक ही जगह इन चारों को स्थापित करने पर भी उनसे चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती है। यदि भूतवादी इस पर यों कहे कि "जब ये भूत कायाकार परिणत होते हैं तब ही जाकर इन से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है" सो ऐसा कहना भी इस लिये उचित नहीं है कि लेप्यमयपुत्तलिका में समस्तभूतों का सद्भाव होने पर भी वहां चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती है, किन्तु जड़ता ही उपलब्ध होती है। कार्यकारणभाव अन्वयव्यतिरेक के सद्भाव में ही बनता है। इस प्रकार यहां भूत और चैतन्य का अन्वयव्यतिरेक घटित नहीं होता है,-अतः भूतों का कार्य

त्यांथी अपगत थई गयेल छे, आथी शरीरमां मरणनो वहेवार थवानो छे" तो एवुं कहेवुं ते आत्माना सद्भावनो व्यापक मनाय छे तमे सूक्ष्म वायु अगरतो अग्नि कहो छो अमे तेने आत्मा कहीये छीए भूत समुदायथी चैतन्यनो आविर्भाव ए माटे पण सिद्ध नथी थतो के, एकज जग्याए ते चारेने भेळा करवा छतां पण तेमा चैतन्यनी उपलब्धि थती नथी. जो कदाच भूतवादी आ उपर एवुं कहे के, "ज्यारे ए भूतकायआकार परिणत होय छे त्यारे ज जईने तेनाथी चैतन्यनी अभिव्यक्ति थाय छे" तो एवुं कहेवुं पण ए माटे ठीक नथी के, लेप्यमय पुतळीकामां समस्त भूतोनो सद्भाव होवा छता पण त्या चैतन्यनी उपलब्धि थती नथी परंतु जडताज उपलब्ध थाय छे कार्यकारण भाव अन्वय व्यतिरेकना सद्भावमां ज बने छे आ प्रकार अहि भूत अने चैतन्यनो अन्वय व्यतिरेक घटीत थतो नथी माटे भूतोनुं कार्य चैतन्य छे ते कोई प्रकारे सिद्ध थतु नथी आ माटे आ चैतन्य गुण

एकैकस्य पृथिव्यादेः पृथक्त्वे चैतन्योत्पत्तिर्न भवति चेत् तर्हि पृथिव्यादिसमुदायादपि चैतन्य न भवितुमर्हति। यथैकस्मात् सिकताकणात् तैल नोत्पद्यते, तेन सिकतासमुदायादपि न भवति तैलोत्पत्तिः किंच—चैतन्यस्य भूतधर्मत्वस्वीकारे मरणाभावः स्यात्, मृतकायेऽपि पृथिव्यादिभूतानां सद्भावात्, न च मृतकाये वायोस्तेजसो वा अभावान्मरणसद्भावः इति वाच्यम्, यत मृतकाये शोफोपलब्धेर्न वायोरभावः। पक्तिस्वभावस्य च कोथस्य (शटनस्य) दर्शनाच्चाग्नेरभाव इति। अथ सूक्ष्मः कश्चिद्

चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती है तो उनके समुदाय में चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, जैसे एक सिकता (रेती) के कण से जब तैल नहीं निकलता है तो समुदाय से तैल निकल सकेगा यह बात कौन बुद्धिमान मान्य कर सकता है। दूसरी बात यह भी है कि जब चैतन्य को भूतों का धर्म माना जायगा तो मरण का अभाव प्रसक्त होता है, क्यों कि मृतकाय में भी पृथिवी आदि भूतों का सद्भाव तो रहता ही है। यदि मृत शरीर में मरणसद्भाव ख्यापित करने के लिये यह कहा जाय कि "वहां पर वायु एवं तेज का अभाव है इसलिये इन दो तत्त्वों का अभाव होने से वहां भी मरण का सद्भाव अंगीकार किया जाता है" सो ऐसा कहना इसलिये उचित नहीं है कि मृतकाय में भी शोफ (सूजन) की उपलब्धि होने से वायु का वहां असद्भाव नहीं माना जा सकता है। अग्नितत्त्व का भी वहां इसी तरह अभाव नहीं माना जा सकता है, क्यों कि इसके अभाव में

અવસ્થામાં ભૂતોથી ચૈતન્યની ઉત્પત્તિ નથી થતી તો તેના સમુદાયમાં ચૈતન્યની ઉત્પત્તિ કેવી રીતે થઈ શકે? જેમ રેતીના એક કણમાંથી તેલ નીકળી શકતું નથી તો રેતીના ઢગલામાંથી તેલ નીકળી શકે તેવું કોણ કહી શકે? બીજી વાત એ પણ છે કે, જો ચૈતન્યને ભૂતોનો ધર્મ માનવામાં આવે તો મરણનો અભાવ પ્રસક્ત થાય છે કેમકે, મૃતકાયમાં પણ પૃથ્વી આદિ ભૂતોનો સદ્ભાવ તો રહેલો જ છે જો મરણ શરીરમાં મરણ સદ્ભાવ ખ્યાપિત કરવા માટે એમ કહેવામાં આવે કે, "ત્યાં વાયુ અને તેજનો અભાવ છે માટે આ બન્ને તત્વોનો અભાવ હોવાથી ત્યાં પણ મરણનો સદ્ભાવ અંગિકાર કરવામાં આવે છે" તો એમ કહેવું એ માટે ઉચિત નથી કે, મૃતકાયમાં પણ સુજનની ઉપલબ્ધિ હોવાથી વાયુનો ત્યાં અસદ્ભાવ માની શકાતો નથી. અગ્નિતત્વનો પણ ત્યાં તેવી રીતે અભાવ નથી માનવામાં આવતો કેમકે તેના અભાવમાં એનું સડવું બનતું નથી, જો કદાચ એ ઉપર એમ કહેવામાં આવે કે, "સૂક્ષ્મ વાયુ તથા અગ્નિ

वायुविशेषोऽग्निर्वा ततोऽपगत इति मन्यते, तर्हि जीव एव नामान्तरेण स्वीकृतो भवति, अस्तु यत् किंचिदेतत्, कथमपि भूतसमुदायमात्रेण न चैतन्याविर्भाव इति सिद्धम्, पृथिव्यादिषु एकत्र व्यवस्थापितेष्वपि चैतन्यानुपलब्धेः। अथ कायाकारपरिणतौ सत्यां तदभिव्यक्तिरिष्यते, तदपि न, यतो लेप्यमयपुत्तलिकाया समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोपलभ्यते, तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोच्यमानो

उसका सड़ना हो नहीं सकता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि "सूक्ष्म वायु तथा अग्नि वहां से अपगत हो चुकी है अतः शरीर में मरण का व्यवहार हो जायगा" सो ऐसा कहना आत्मा के ही सद्भाव का व्यापक माना जाता है। तुम जिसे सूक्ष्म वायु या अग्नि कहते हो हम उसे आत्मा कहते हैं। भूतसमुदाय से चैतन्य का आविर्भाव इसलिये भी सिद्ध नहीं होता है कि एक ही जगह इन चारों को स्थापित करने पर भी उनसे चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती है। यदि भूतवादी इस पर यों कहे कि "जब ये भूत कायाकार परिणत होते हैं तब ही जाकर इन से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है" सो ऐसा कहना भी इस लिये उचित नहीं है कि लेप्यमयपुत्तलिका में समस्तभूतों का सद्भाव होने पर भी वहां चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती है, किन्तु जड़ता ही उपलब्ध होती है। कार्यकारणभाव अन्वयव्यतिरेक के सद्भाव में ही बनता है। इस प्रकार यहां भूत और चैतन्य का अन्वयव्यतिरेक घटित नहीं होता है,-अतः भूतों का कार्य

ત્યાંથી અપગત થઈ ગયેલ છે, આથી શરીરમાં મરણનો વહેવાર થવાનો છે" તો એવું કહેવું તે આત્માના સદ્ભાવનો વ્યાપક મનાય છે તમે સૂક્ષ્મ વાયુ અગરતો અગ્નિ કહો છો અમે તેને આત્મા કહીયે છીએ ભૂત સમુદાયથી ચૈતન્યનો આવિર્ભાવ એ માટે પણ સિદ્ધ નથી થતો કે, એકજ જગ્યાએ તે ચારેને ભેળા કરવા છતાં પણ તેમાં ચૈતન્યની ઉપલબ્ધિ થતી નથી. જો કદાચ ભૂતવાદી આ ઉપર એવું કહે કે, "જ્યારે એ ભૂતકાયઆકાર પરિણત હોય છે ત્યારે જ જઈને તેનાથી ચૈતન્યની અભિવ્યક્તિ થાય છે" તો એવું કહેવું પણ એ માટે ઠીક નથી કે, લેપ્યમય પુતલીકામાં સમસ્ત ભૂતોનો સદ્ભાવ હોવા છતાં પણ ત્યાં ચૈતન્યની ઉપલબ્ધિ થતી નથી પરંતુ જડતાજ ઉપલબ્ધ થાય છે કાર્યકારણ ભાવ અન્વય વ્યતિરેકના સદ્ભાવમાં જ બને છે આ પ્રકાર અહિં ભૂત અને ચૈતન્યનો અન્વય વ્યતિરેક ઘટીત થતો નથી માટે ભૂતોનું કાર્ય ચૈતન્ય છે તે કોઈ પ્રકારે સિદ્ધ થતું નથી. આ માટે આ ચૈતન્ય ગુણ

नाय चैतन्याख्यो गुणो भूतानां भवितुमर्हति। तस्मात् पारिशेष्याच्चैतन्यमात्मनो धर्म इति सिद्धान्तोऽनुसरणीय.।

यदप्युक्तम्–आत्मनः प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानत्वादिति तदप्यसद्व, सर्वेषां स्वात्मा स्वप्रत्यक्ष एव, ज्ञानादीनामात्मगुणानां प्रत्यक्षानुभवात् घटमहं जानामीत्या द्यनुभवस्य सर्वसिद्धत्वात्। यथा घटादीनां रूपादयः प्रत्यक्षतयोपलभ्यन्ते, तथाऽऽत्मनोऽपि ज्ञानसुखादयो गुणा कस्य न सन्ति प्रत्यक्षानुभवगोचरा, किंतु सर्वेषामाबालवृद्धाना प्रत्यक्षानुभवगोचरा. सन्त्येव। उक्तंच–'आत्मप्रत्यक्ष आत्माऽयम्'इत्यादि।

चैतन्य है यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता है इसलिये यह चैतन्यगुण पारिशेष्यात् (अनुमानविशेष से) आत्मा का ही एक धर्म है, इसी से आत्माका सद्‌भाव ख्यापित होता है यह सिद्धान्त अनुसणीय है।

तथा और भी जो ऐसा कहा है कि " आत्मा की प्रत्यक्ष से अनुपलब्धि होने की वजह से सत्ता ज्ञात नहीं होती है " सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्यों कि प्रत्येक ससारी जीवों को अपनी २ आत्मा का स्वानुभव से प्रत्यक्ष होता है, कारण कि उसके ज्ञानादिक गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता है। " मैं घट को जानता हूं " यह अनुभव तो सब को ही होता है। जिस प्रकार घटादिकों के रूपादिक गुण प्रत्यक्ष से उपलब्ध हैं उसी प्रकार आत्मा के भी ज्ञानादिक गुण समस्त जीवों को प्रत्यक्ष से अनुभवित हो रहे हैं। ऐसा कोई भी जीव नहीं है चाहे वह बालक हो चाहे वृद्ध कि जिसे इन का प्रत्यक्ष से अनुभव न होता हो। कहा भी है—" आत्मप्रत्यक्ष आत्माऽयम् " इत्यादि।

અનુમાન વિશેષથી આત્માનો જ એક ધર્મ છે આથી જ આત્માનો સદ્ભાવ સ્થાપિત થાય છે આ સિદ્ધાંત અનુસરણીય છે

તેમ વધુમાં એમ પણ કહ્યું છે કે, "આત્માની પ્રત્યક્ષથી અનુપલબ્ધિ હોવાના કારણે સત્તા જ્ઞાત થતી નથી " તેવું કહેવું પણ ઠીક નથી કેમકે, પ્રત્યેક સસારી જીવોને પોત પોતાના આત્માના સ્વાનુભવથી પ્રત્યક્ષ થાય છે. કારણ કે, તેને જ્ઞાનાદિક ગુણોનો પ્રત્યક્ષ અનુભવ થતો રહે છે " હું ઘટને જાણુ છુ " આ અનુભવ તો દરેકને થાય છે જેવી રીતે ઘટાદિકના તથા રૂપાદિકના ગુણ પ્રત્યક્ષથી ઉપલબ્ધ છે એવી રીતે આત્માને પણ જ્ઞાનાદિક ગુણ સમસ્ત જીવોને પ્રત્યક્ષથી અનુભવિત થઈ રહે છે એવો કોઈ પણ જીવ નથી, ચાહે તે બાળક અથવા વૃદ્ધ હોય કે જેને તેનો પ્રત્યક્ષથી અનુભવ ન થતો હોય. કહ્યું છે કે—"આત્મ પ્રત્યક્ષ આત્માડયમ્ " ઈત્યાદિ। આની ઉપર એમ કહેવામાં આવે છે,

ननु नायं दृष्टिगोचरो भवतीत्यतो नास्तीत्युच्यते ? नायमप्येकान्तः, उक्त हि-
"न च नास्तीह तत् सर्वं, चक्षुषा यन्न गृह्यते।" अन्यथा चैतन्यमपि न दृष्टि-
गोचरीभवतीति भूतधर्मत्वेन, तदप्यसत् स्यात्। अथ यदि तत् स्वसंविदितम्, अत
सदित्युच्यते, तर्हि अयमात्माऽपि स्वसंविदित एव भवतीति विद्यमानो भवतु। यतः—

अस्त्येव चात्मा प्रत्यक्षो, जीवो ह्यात्मानमात्मना।
अहमस्मीति संवेत्ति, रूपादीनि यथेन्द्रियैः ॥ १ ॥ इति ॥

यदि इस पर यों कहा जाय कि–"यह आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता है इस लिये यह नही है" सो यह कथन एकान्तत सत्य नही माना जा सकता। "न च नास्तीह तत्सर्वं, चक्षुषा यन्न गृह्यते" जो चक्षु से गृहीत नही होता है वह नही है, ऐसा मत कहो, अर्थात् जो वस्तु चक्षु से नही दिखाई दे वह भी है ऐसा कहो। नही तो तुम्हारे मतसे चैतन्य भी दृष्टिगोचर नही होता है अत वह भूत का धर्म है यह बात असत् माननी पडेगी। इस पर यदि यह कहा जाय कि "वह तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय है अत उसे सत् मान लिया जावेगा" तो आत्मा भी स्वसंवेदित है इस लिये इसे भी सत् मानना चाहिये।
यतः—"अस्त्येव चात्मा प्रत्यक्षो, जीवो ह्यात्मानमात्मना।
अहमस्मीति संवेत्ति, रूपादीनि यथेन्द्रियैः"॥ १ ॥
अर्थात् आत्मा प्रत्यक्ष से है क्यों कि जीव ही आत्मा से आत्मा को "मैं हूँ" इस प्रकार संवेदन (अनुभव) करता है, जैसे इन्द्रियों से रूपादिकका

"આત્મા દ્દષ્ટીગોચર થતો નથી માટે આ નથી" તો આ કહેવું એકાન્તતઃ સત્ય માનવામાં આવતું નથી "न च नास्तीह तत्सर्वं चक्षुषा यन्न गृह्यते" જે ચક્ષુથી ગૃહિત થતુ નથી, તે નથી એવું ન કહો અર્થાત્ જે વસ્તુ ચક્ષુથી ન દેખાય તે પણ છે એમ કહો નહી તો તમારા મતથી ચૈતન્ય પણ દ્દષ્ટીગોચર થતુ નથી. માટે તે ભૂતનો ધર્મ છે એ વાત અસત્ય માનવી પડશે આ ઉપર જો કદાચ એમ કહેવામા આવે કે, "તે તો સ્વસંવેદન પ્રત્યક્ષનો વિષય છે આથી એને સાચુ માની લેવામા આવે" તો આત્મા પણ સ્વસંવેદિત છે આ માટે તેને પણ સત્ માનવો જોઈએ કહ્યુ પણ છે—

"अस्त्येव चात्मा प्रत्यक्षो, जीवो ह्यात्मानमात्मना।
अहमस्मीति संवेत्ति, रूपादीनि यथेन्द्रियैः ॥ १ ॥"

અર્થાત્—આત્મા પ્રત્યક્ષથી છે કેમકે, જીવજ આત્માથી આત્માને "હું છુ" આ પ્રકારનો સંવેદન (અનુભવ) કરે છે જેમ ઇન્દ્રિઓથી રૂપ આદિનું સંવેદન થાય છે

अलमधिकेन, यथा चैतन्यमस्तीति मन्यते, तथा ऽऽत्माऽस्तीत्यपि मन्तव्यः। तथा चोक्तम्—

ज्ञान स्वस्थ परस्थ वा यथा ज्ञानेन गृह्यते ।
ज्ञाता स्वस्थः परस्थो वा, तथा ज्ञानेन गृह्यताम् ॥ १ ॥

अथाऽऽत्मसत्त्वे तदभावे सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भमस्य हेतुत्व न सम्भवतीत्युच्यते, यतोऽयमप्यसिद्धो हेतुः, अहमस्मीत्यनुमनस्य सद्भावात् , सर्वेषा प्राणिनां हि स्वस्य स्वस्यात्मन उपलम्भः प्रतिपेद्धुमशक्य , केवलिना च सर्वात्मनामुपलम्भ प्रतिपेद्धुमशक्यः।

संवेदन होता है। जिस प्रकार उक्त कथन से चैतन्य का सद्भाव माना जाता है उसी प्रकार आत्माका भी सद्भाव मानना चाहिये। कहा भी है—

" ज्ञान स्वस्थं परस्थं वा, यथा ज्ञानेन गृह्यते ।
ज्ञाता स्वस्थो परस्थो वा, तथा ज्ञानेन गृह्यताम् " ॥ १ ॥

जिस प्रकार अपने में रहा हुआ ज्ञान, तथा दूसरे में रहा हुआ ज्ञान, ज्ञान से जाना जाता है उसी प्रकार अपने और दूसरे में रहे हुए ज्ञाता (आत्मा) को भी ज्ञान से ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ १ ॥

आत्मा के अभाव में जो अनुपलम्भरूप हेतु दिया गया है। सो आत्मा का अनुपलभ सब को होता है, यदि ऐसा कहा जाय तो यह हेतु असिद्ध हो जाता है, क्यों कि सब को आत्मा का अनुपलम्भ है एक तो यह बात इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से जान नहीं सकते दूसरे प्रत्येक प्राणी को " अहमस्मि " इत्याकारक स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष से उस की उपलब्धि

જે રીતે આ કથનથી ચૈતન્યનો સદ્ભાવ માની લેવામાં આવે એજ રીતે આત્માનો પણ સદ્ભાવ માનવો જોઈએ. કહ્યું પણ છે—

" ज्ञानं स्वस्थं परस्थ वा, यथाज्ञानेन गृह्यते।
ज्ञाता स्वस्थो परस्थो वा, तथा ज्ञानेन गृह्यताम् ॥ १ ॥ "

જે રીતે પોતાનામાં રહેલું જ્ઞાન તથા બીજામાં રહેલું જ્ઞાન જ્ઞાનથી જાણી શકાય છે એવી રીતે પોતામાં અને બીજામાં રહેલા આત્માને પણ જ્ઞાનથી સમજી લેવો જોઈએ.

આત્માના અભાવમાં જે અનુપલમ્ભરૂપ હેતુ આપેલ છે તે આત્માનો અનુપલભ દરેકને થાય છે તેવું જે કહેવામાં આવે તો આ હેતુ અસિદ્ધ બની જાય છે કેમકે, સઘળાને આત્માનું અનુપલભ છે એક તો આ વાત ઈન્દ્રિય જન્ય પ્રત્યક્ષથી જાણી નથી શકાતાં બીજા પ્રત્યેક પ્રાણીને " અહમસ્મિ " ઈત્યાદિ

यदपि-ऋद्धिर्वा तपस्विनो नास्तीत्युक्त, तदपि निष्प्रमाणकम् । ऋद्धेरभावेऽनुपलम्भो हेतुरुक्त सोऽपि स्वसम्बन्धी, सर्वसम्बन्धी वा ? तत्र स्वसम्बन्धी नियतदेशकालापेक्षयाऽन्यथा वाऽनुपलम्भः स्यात्, तत्र प्रथमपक्षे क्वचित् कदाचित् पञ्चमारकापेक्षया भरतक्षेत्रापेक्षया ऋद्धेरनुपलम्भस्योपलम्भस्य चास्माकमपि सम्मतत्वात् । द्वितीयपक्षे तु हेतोरनैकान्तिकता, यथा देशविप्रकृष्टाना मेरुप्रभृतीनां कालविप्रकृष्टाना पितामहादीनामनुपलम्भेऽपि सत्त्वात् । दृश्यते च क्वचित् कदाचिल्लब्धिप्रभावाच्चरणधूलिस्पर्शादि मात्रेण व्याधि प्रशमनादि० । ततश्चेहाऽपि भरतादौ

होती है । केवलियों को तो सब आत्मा का उपलम्भ होता है, यह तो निषेध नहीं किया जा सकता ।

तथा लब्धियों की असत्ता प्रकट करने के लिये भी आपने जो अनुपलभरूप हेतु कहा है सो वह भी ठीक नहीं है । यहा पर अनुपलंभ स्वसबंधी ग्रहण किया है या सर्वसबंधी । स्वसबंधी अनुपलंभ भी कैसा ? नियतदेशकालापेक्ष, अथवा अनियतदेशकालापेक्ष ? प्रथमपक्ष में सिद्धसाधनता है । अर्थात् यह बात तो हम भी मानते हैं कि इस पंचमकाल के अदर भरतक्षेत्र में लब्धियों का अनुपलम्भ है । द्वितीयपक्ष में हेतु अनैकान्तिक है । देशविप्रकृष्ट मेर्वादिकों का, कालविप्रकृष्ट पितामह आदिकों का अनुपलम्भ होने पर भी उनका सद्भाव माना जाता है । कही २ कभी २ लब्धि के प्रभाव से चरणधूलि के स्पर्श आदि करने मात्र से व्याधि की शाति होती हुई देखी जाती है । इसी तरह यहां भरत आदि क्षेत्रों में भी पहिले समय में लब्धियों का सद्भाव

કારણે સ્વ સ વેદન રૂપ પ્રત્યક્ષથી તેની ઉપલબ્ધિ થાય છે કેવલીઓને તો બધા આત્માનો ઉપલભ થાય છે આનો તો નિષેધ થઈ શકે તેમ નથી

અર્થાત્—ઋદ્ધિઓની અસતા પ્રગટ કરવા માટે પણ આપે જે અનુપલભ રૂપ હેતુ કહેલ છે તે પણ ઠીક નથી. આ સ્થળે અનુપલભ સ્વ સબધી ગ્રહણ કરેલ છે, કે સર્વ સબધી? સ્વ સબધિ અનુપલભ પણ કેવો ? નિયત દેશકાળ અપેક્ષ કે અનિયત દેશકાળ અપેક્ષ પ્રથમ પક્ષમા સિદ્ધ સાધનતા છે અર્થાત્ એ વાત અમે પણ માનીએ છીયે કે, આ પચમકાળની અદર ભરતક્ષેત્રમાં ઋદ્ધિઓના અનુપલભ છે બીજા પક્ષમાં હેતુ અનૈકાન્તિક છે દેશવિપ્રકૃષ્ટ મેર્વાદિ કોનું કાલવિપ્રકૃષ્ટ પિતામહ આદિકોનું અનુપલભ હોવા છતાં પણ તેનો સદ્ભાવ માનવામાં આવે છે કોઈ કોઈ સ્થળે કદી કદી લબ્ધિના પ્રભાવથી ચરણરજનો સ્પર્શ આદિ કરવા માત્રથી વ્યાધિની શાંતિ થતી જોવામાં આવે છે એજ રીતે અહિં ભરત આદિ ક્ષેત્રોમાં પણ પહેલા સમયમાં લબ્ધિ-

कालान्तरेऽवीते काले, महाविदेहेषु च सर्वकालमृद्धीनामपि सद्भावात्। सर्वसम्बन्धी अनुपलम्भस्तु असिद्ध एव।

यदपि "कामसुखाद् वञ्चितोऽस्मी"-त्युक्त तदप्यसमीक्षितम्, विषयसुखं हि रागद्वेषमोहजननद्वारेण अतृप्तिकाङ्क्षाशोकविषादादिभिर्विविधकर्मबन्धहेतुत्वेन च चतुर्गतिविभ्रमणकारकत्वेन बहुदुःखजनकत्वात् प्रेक्षावतां तत्त्ववेदिनामनुपादेयम्। विषसपृक्ताऽन्नसदृशं कामसुखं कस्य विवेकिनो मनो रमयेत्, न कस्यापि।

यदपि-तपसो यातनात्मकत्वमुक्तं, तदप्यसत्-सकलदुःखमूलकर्मक्षयहेतुत्वात्, मनइन्द्रिययोगानामहानिकारकत्वेन तपसो यथाशक्ति विधानात्। उक्त हि-

था तथा विदेहक्षेत्र में सर्वदा लब्धियों का सद्भाव रहता है। सर्वसंबंधी अनुपलम्भ तो असिद्ध ही है अर्थात् सर्वसम्बन्धी अनुपलम्भ लब्धियों की अभावात्मकता प्रकट करने में असमर्थ है।

"मैं कामसुख से वंचित हो गया हूं" जो यह बात कही है वह भी ठीक नहीं है क्यों कि विषयसुख रागद्वेष मोह की उत्पत्ति का कारण होने से, अतृप्ति, काङ्क्षा, शोक एवं विषाद आदि को उत्पन्न करते रहते हैं, इनसे विविध कर्मों का बंध होता रहता है, उस के उदय से जीव चारों गतियों में भ्रमण करता २ अनेक दुःखपरम्परा को वहां भोगता रहता है, अतः काम को सुख मानना यह भ्रम है। इसी लिये तत्त्वज्ञानियों के लिये ये उपादेय नहीं हैं। विचार किया जाय तो विषमिश्रित अन्न की तरह ये कामसुख किस विवेकी के मन को आनंद पहुँचा सकते हैं, अर्थात् किसी को भी नहीं। तप को यातनात्मक कहना इसलिये अनु

ओनो सद्भाव रहे छे सर्वसंबंधि अनुपलंभ तो असिद्ध ज छे अर्थात सर्वसंबंधि अनुपलंभ ऋद्धिओनी अभावात्मकता प्रगट करवामां असमर्थ छे

"हुं कामसुखथी वंचित बनी गयो छुं" आ वात कही छे ते पण ठीक नथी. केमके, विषयसुख रागद्वेष मोहनी उत्पत्तिनुं कारण होवाथी अतृप्तिकांक्षा सुख शोक अने विषाद आदिने उत्पन्न करतां रहे छे, तेनाथी विविध कर्मोनो बंध थतो रहे छे तेना उदयथी जीव चारे गतीओमां भ्रमण करतां करतां अनेक दुःख परंपराने त्यां भोगवतो रहे छे माटे कामने सुख मानवुं ओ भ्रम छे आथी तत्वज्ञानीओ माटे ओ उपादेय नथी. विचारवामां आवे तो विषमिश्रीत अन्ननी माफक ओ काम सुख क्या विवेकीना मनने आनंद पहोंचाडी शके छे? अर्थात कोईने पण नहीं तपने यातनात्मक कहेवुं ओ माटे अनुचित छे के, ओनाथी कोईने पण कष्ट पहोंचतुं नथी. कारण के

मनइन्द्रिययोगाना,-महानिः कथिता जिनैः ।
यतोऽत्र तत्कथ तस्य, युक्ता स्याद् दु खरूपता ? ॥ १ ॥

केशलुञ्चनादीनामपि किंचित् पीडाजनकत्वेऽपि समीहितार्थमापकत्वेन दु.ख दायकत्व नास्ति । तदुक्तम्—

"दृष्टा चेष्टाऽर्थससिद्धौ, कायपीडाऽप्यदु.खदा ।
रत्नादिवणिगादीनां, तद्वदत्रापि भाव्यताम्" ॥ १ ॥

षित है कि उस से किसी को भी कष्ट नहीं पहुचता है प्रत्युत यह सकल दु खों के मूल कारण कर्मों का क्षय करनेवाला है। मन, इन्द्रिय तथा, योग इन को हानि न पहुचने पावे इस रूप से यथाशक्ति तपस्या करने का विधान है। कहा भी है—

मनइन्द्रिययोगाना,—महानिः कथिता जिनैः ।
यतोऽत्र तत्कथ तस्य, युक्ता स्यात् दु खरूपता ॥ १ ॥

तपमें मन और इन्द्रियों के योगों की हानि नहीं होती है, ऐसा भगवानने फरमाया है तो फिर तपमें दुःखरूपता कैसे मानी जाय, अर्थात् तप दु'खरूप नहीं है किन्तु सुखरूप है ॥ १ ॥

यद्यपि केशलुंचन आदि क्रियाएँ किंचित् पीडाजनक हैं तो भी समीहित अर्थ की सिद्धिके कारण होने से उनमें सर्वथा दु'खदायकता नहीं है। कहा भी है—

दृष्टा चेष्टार्थससिद्धौ, कायपीडाप्यदुःखदा ।
रत्नादिषणिगादीना, तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥ १ ॥

સકળ દુઃખોનું મૂળ કારણ અને કર્મોનો ક્ષય કરનાર છે મન ઇન્દ્રિય તથા યોગ એને હાની ન પહોંચે તેવા રૂપથી યથાશક્તિ તપસ્યા કરવાનું વિધાન છે કહ્યું પણ છે—

मनइन्द्रिययोगाना,—महानिः, कथिता जीनैः।
यऽतोत्र तत्कथ तस्य, युक्ता स्यात् दु खरूपता ॥ १ ॥

તપમાં મન અને ઇન્દ્રિયોના યોગોની હાની થતી નથી એવું ભગવાને ફરમાવ્યું છે તો પછી તપમા દુ ખરૂપતા કેમ માનવામાં આવે ? અર્થાત્ તપ દુઃખ રૂપ નથી પરંતુ સુખરૂપ છે

કેશ લોચન આદિ ક્રિયાઓ જો કે પિડાજનક કહેવાય છે તો પણ સમીહિત સિદ્ધિનું કારણ હોવાથી તેનામાં સર્વથા દુઃખદાયકતા નથી કહ્યું પણ છે—

दृष्टा चेष्टार्थ ससिद्धौ, कायपीडाप्यदु खदा ।
रत्नाविषणिगादीनां, तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥ १ ॥

इत्थमत्रानुमानप्रयोगः—यत् इष्टार्थप्रसाधकं, न तत् कायपीडाकरत्वेऽपि दुःखदायकं, यथा रत्नवणिजामध्वश्रमादि। इष्टार्थप्रसाधकं च तपः। न चाऽस्याप्यसिद्धता, प्रशम हेतुत्वेन तपसस्तत्परिपक्तितारतम्यात् परमानन्दतारतम्यस्यानुभूयमानत्वेन तत्प्रकर्षे तस्यापि प्रकर्षाऽनुमानात्। प्रयोगश्च—यत्तारतम्येन यस्य तारतम्य तस्य प्रकर्षे तत्प्रकर्ष', यथाऽग्नितापप्रकर्षे काञ्चनविशुद्धिप्रकर्षः, अनुभूयते च प्रशमतारतम्येन परमानन्दतारतम्यम्, लोकप्रतीतत्वाच ॥ ४४ ॥

इसलिये ऐसा अनुमान बनाना चाहिये कि जो इष्ट अर्थ का प्रसाधक होता है वह काय का पीड़ा कारक होने पर भी दुःखदायक नहीं होता है, जैसे रत्नव्यापारियों का मार्गश्रम देशाटन का परिश्रम, इसलिये तप भी इष्ट अर्थ का प्रसाधक है अतः यह भी दुःखदायक नहीं है। तप में इष्टार्थप्रसाधकता असिद्धि नहीं है, क्यों कि तप प्रशम का हेतु है। तप द्वारा प्रशमभाव की जैसी २ तरतमता आत्मा में होगी वैसी२ परमानंद की तरतमता भी आत्मा में अनुभवित होगी इसलिये प्रशम के प्रकर्ष में परमानद का भी प्रकर्ष अनुमित होता है। जैसे अग्नि के ताप के प्रकर्ष में काञ्चन की विशुद्धि का प्रकर्ष, प्रयोग से देखा जाता है। अतः परम्परा रूप से तप इष्ट अर्थ का प्रसाधक सिद्ध होता है, क्यों कि तप प्रशम का कारण, प्रशम परमानंद का कारण इस प्रकार बनता है ॥ ४४ ॥

આ માટે એવું અનુમાન બનાવવું જોઈએ કે, જે ઈષ્ટ, અર્થના પ્રસાધક હોય છે—તે કાયાને પીડા કારક હોવા છતાં પણ દુઃખ દાયક થતા નથી. જેમકે રત્નવ્યાપારીઓનો માર્ગશ્રમ દેશાટનનો પરિશ્રમ—આ માટે તપ પણ ઈષ્ટ અર્થનો પ્રસાધક છે માટે એ પણ દુઃખદાયક નથી. તપમાં ઈષ્ટાર્થ પ્રસાધકતા અસિદ્ધ નથી, કેમકે, તપ પ્રશમનો હેતુ છે તપ દ્વારા પ્રશમભાવની જેવી જેવી તારતમ્યતા આત્મામાં હશે તેવી તેવી પરમાનંદની તરતમતા પણ આત્મામાં અનુભવિત થશે. આ માટે પ્રશમના પ્રકર્ષમાં પરમાનંદનો પણ પ્રકર્ષ અનુમિત થાય છે જેમ અગ્નિના તાપના પ્રકર્ષમાં કાંચનની શુદ્ધિનો પ્રકર્ષ પ્રયોગથી દેખાય છે આથી પરંપરા રૂપથી તપ પ્રશમનું કારણ, પ્રશમ પરમાનંદનું કારણ આ પ્રકારથી બને છે ॥ ૪૪ ॥

तथा—

मूलम्—अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवा वि भविस्सइ ।
मुसं ते एवं माहसु, इइ भिक्खू न चिंतए ॥ ४५ ॥

छाया—अभूवन् जिना सन्ति जिनाः, अथवाऽपि भविष्यन्ति ।
मृषा ते एवमाहुः, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥ ४५ ॥

टीका—'अभू जिणा' इत्यादि ।

जिनाः-रागादिजयिनः-केवलिनः, अभूवन् अतीतकाले, 'जिनाः सन्ति'= वर्तमानकाले जिना विद्यन्ते विदेहेषु इत्यर्थः। अथवा-जिना भविष्यन्ति, भरतादिषु इत्यपि। अपि शब्दो भिन्नक्रमः, ते=जिनास्तित्ववादिनः, एवम्=उक्तरीत्या मृषा= मिथ्या-अलीकम्, असत्यमर्थम्, आहुः=वदन्ति, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्, अनुमानादि प्रमाणैर्जिनानां कालत्रयवर्तित्वसिद्धेः ।

अयं भावः-मिथ्यात्वमोहनीयोदयप्रभावात् कथंचिदसम्यक्त्वे समुत्पन्ने प्रत्यक्षा-

---

तथा-'अभू जिणा' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(जिणा-जिना) रागादिक के जीतने वाले केवली भगवान् (अभू-अभूवन्) अतीतकाल में हुये हैं (जिणा अत्थि-जिनाः सन्ति) वर्तमानकाल में जिन हैं (अदुवा वि भविस्सइ-अथवाऽपि भविष्यति) अथवा भविष्यत्काल में होंगे। (एव-एवम्) इस प्रकार जो कहते हैं (ते मुस आहंसु-ते मृषा आहुः) वे मिथ्या कहते हैं, (इइ भिक्खू न चिंतए-इति भिक्षु न चिन्तयेत्) इस प्रकार भिक्षु विचार नहीं करे, कारण कि अनुमानादिक प्रमाणों से जिनका त्रिकाल में अस्तित्व सिद्ध होता है ।

भावार्थ—आत्मामें जब मिथ्यात्वमोहनीयका उदय रहता है तब उसके

તથા-'अभू जिणा' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—जिणा-जिना રાગાદિકને જીતનાર કેવલી ભગવાન अभू-अभूवन् અતીતકાળમાં થયા છે जिणा अत्थि-जिनाः सन्ति વર્તમાનકાળમા જીન છે अदुवा वि भविस्सई-अथवाऽपि भविष्यति અથવા ભવિષ્યત્ કાળમાં થશે एव-एवम् આ પ્રકારનુ જે કહેવામા આવે છે તે मुस आहंसु-ते मृषा आहु તે મિથ્યા કરે છે इइ भिक्खु न चिंतए-इति भिक्षु न चिंतयेत् આ પ્રકારનો વિચાર ભિક્ષુ ન કરે. કારણ કે, અનુમાનાદિક પ્રમાણોથી જેનુ ત્રિકાળમા અસ્તિત્વ સિદ્ધ થયુ છે

ભાવાર્થ—આત્મામાં જ્યારે મિથ્યાત્વ મોહનિયનો ઉદય હોય છે ત્યારે તેના

विममाणेः सद्भावनया तन्निराकृत्य सम्यक्त्वरक्षणेनैव दर्शनपरीषहः सोढव्य इति।
अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

अवन्तीनगर्यां वैश्रवणाचार्यः शिष्यपरिवारेण सह समवसृतः। तस्य दृढमति नामकः शिष्य आसीत्, स उग्रतपस्वी उग्रविहारी उत्कृष्टक्रियापालकश्चासीत्, अन्तप्रान्ताहारेणावमोदरिकादि तपः करोति, वीरासनादिकं करोति, ग्रीष्मकाले प्रचण्डसूर्यातापनां सेवते। शीतकाले शीतस्पर्शं सहते स्म, केवलं चोलपट्टकं, मुखो-

प्रभाव से सम्यक्त्व की प्राप्ति का अभाव होने पर जीव ऐसा मानता है कि जिन आदि परोक्षपदार्थ नहीं हैं। अत उनका प्रत्यक्ष न होने पर भी अन्य अनुमानादिक प्रमाणों द्वारा उनकी सत्ता सिद्ध होती है, इसलिये उनकी सद्भावना से उनकी असभावतारूप मिथ्यात्व परिणति का परिहार करते हुए साधु को अपने सम्यक्त्व का रक्षण करते रहना चाहिये। इसी का नाम दर्शनपरीषह जय है।

दृष्टान्त—वैश्रवणाचार्य अपने शिष्य परिवार के साथ विहार करते हुए किसी समय अवन्ती नगरी में पधारे। उन शिष्यों में दृढमति नाम का एक शिष्य था जो उग्रतपस्वी, उग्रविहारी एवं उत्कृष्ट-रूप से प्रत्येक क्रिया का पालन करता था। अन्त प्रान्त आहार से यह अवमोदरिका आदि तपों को तपता था। वीरासन आदि आसनों को करता था। ग्रीष्मकाल में प्रचण्ड सूर्य की अतापना लेता था। शीतकाल में शीतस्पर्श को सहता था। केवल चोलपट्टक तथा मुख पर

પ્રભાવથી સમ્યકત્વની પ્રાપ્તિનો અભાવ હોવાના કારણે જીવ એવું માને છે કે, જીન આદિ પરોક્ષપદાર્થ નથી. આથી તે પ્રત્યક્ષ ન હોવાથી અન્ય અનુમાનાદિક પ્રમાણો દ્વારા તેની સત્તા સિદ્ધ હોય છે આ માટે તેની સદ્ભાવનાથી તેની અસભવતારૂપ મિથ્યાત્વ પરિણતીનો પરિહાર કરીને સાધુએ પોતાના સમ્યકત્વનું રક્ષણ કરતા રહેવું જોઈએ તેનું નામ દર્શનપરીષહ જય છે

દૃષ્ટાંત—વૈશ્રવણાચાર્ય પોતાના શિષ્ય પરિવાર સાથે વિહાર કરતાં કરતાં એક સમય અવન્તી નગરીમાં પધાર્યા તેમના શિષ્યોમાં દૃઢમતિ નામે એક શિષ્ય હતો જે ઉગ્રતપસ્વિ, ઉગ્રવિહારી અને ઉત્કૃષ્ટ રૂપથી પ્રત્યેક ક્રિયાઓનું પાલન કરતો હતો. અન્તપ્રાન્ત આહારથી તે અવમોદરિકા આદિ તપ તપતો હતા વીરાસન આદિ આસનો કરતો હતો, ગ્રીષ્મકાળમાં પ્રચંડ સૂર્યની આતાપના લેતો હતો, શીતકાળમાં ઠંડીના સ્પર્શને સહન કરતો, કેવળ ચોલપટ્ટો અને

परि सदोरकमुखवस्त्रिका च निधाय, सम्पूर्णशरीरमनावृत कृत्वा हेमन्ते रात्रौ उत्थितो एव तिष्ठति, जिनवचने सम्यक् श्रद्धावानासीत्।

एकदा कश्चिन्मिथ्यात्वी देवस्तत्रागत्य वैक्रयिक नन्दनवनमिवोद्यान प्रदर्श्य, दृढमतिमुनिमब्रवीत् – हे मुने! अस्यामातापनायां को लाभ:, किं निरर्थकमेतत् कष्ट सहसि, नास्ति परलोक., आगम्यताम्, मया सहाऽस्य नन्दनवनसमानोद्यानस्य सुखमनुभूयताम्। यदाऽसौ दृढमतिमुनिर्वीरासनमध्यास्ते, तदा वैक्रियपुष्पशय्य-मदर्श्य स देवो वदति–अत्रास्यताम्, किमर्थं कष्टमात्रहसि, नास्ति परलोकः। यदा-ऽसौ तपस्यति, तदा स देवः स्ववैक्रियशक्त्या विविध मिष्टान्न निर्माय तस्य क्षुत्क्षाम-

सदोरकमुखवस्त्रिका को धारण कर एव समस्त शरीर को अनावृत रख-कर हेमन्त ऋतु में रात्रि के समय को खडे २ व्यतीत करता था। जिनवचन में इसे अप्रतिम श्रद्धा थी।

एक समय की बात है कि कोई मिथ्यात्वी देव वहा आया और उसने अपनी वैक्रियशक्ति से नदनवनके समान एक उद्यान की रचना कर दृढमति मुनि से कहा हे मुने! इस आतापना से क्या लाभ है। निरर्थक आप इस कष्ट को सहन करते हो। परलोक आदि कुछ भी नहीं है, अतः आओ और मेरे साथ इस नदनवन के समान उद्यान के सुख का यथेच्छ अनुभव करो। जिस समय दृढमति मुनि वीरासन से विराजते तो वह देव वैक्रियपुष्पशय्या की रचना कर उनसे कहता कि इस आसन में बैठने में क्या लाभ है इस पुष्प की शय्या पर आप विराजो। जिस को लक्षित कर यह आप कर रहे हो, हे मुनि वह कुछ भी नहीं है। इसी तरह जब यह तप तपते तो वह अपनी

સદોરકમુખવસ્ત્રિકાને ધારણ કરી સારાએ શરીરને ખુલ્લું રાખી હેમન્ત ઋતુમાં રાત ભર ઉભે પગે રહેતો હતો, જીન વચનમા એને અપ્રતિમ શ્રદ્ધા હતી.

એક સમયની વાત છે કે, કોઈ મિથ્યાત્વી દેવ ત્યા આવ્યો અને તેણે પોતાની વૈક્રિયશક્તિથી નદનવન જેવું સુદર ઉદ્યાન બનાવી દીધુ અને દૃઢમતિ મુનિને કહ્યુ કે, હે મુનિ! આ આતાપનાથી શું લાભ છે? નિરર્થક આપ આ કષ્ટને સહન કરો છો! પરલોક વગેરે કાંઇ પણ નથી આથી મારી સાથે આવો અને આ નદનવન સમાન ઉદ્યાનના સુખનો યથેચ્છ અનુભવ કરો જે સમયે દૃઢમતિ મુનિ વીરાસનમાં વિરાજીત થતા ત્યારે તે દેવ વૈક્રિય પુષ્પશય્યાની રચના કરી એનાથી કહેતો કે, આ આસનથી બેસવામા કયો લાભ? આ પુષ્પની શૈયા ઉપર આપ બીરાજો જેનું લક્ષ કરીને આપ આ બધુ કરી રહ્યા છો તેવું કે મુનિ કાંઈ છે જ નહી આ રીતે તપ તપતા ત્યારે પણ તે દેવ પોતાની

दिममाणे, सद्भावनया तन्निराकृत्य सम्यक्त्वरक्षणेनैव दर्शनपरीषहः सोढव्य इति। अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

अवन्तीनगर्यां वैश्रवणाचार्यः शिष्यपरिवारेण सह समवसृतः। तस्य दृढमति नामकः शिष्य आसीत्, स उग्रतपस्वी उग्रविहारी उत्कृष्टक्रियापालकश्चासीत्, अन्तप्रान्ताद्याहारेणावमोदरिकादि तप. करोति, वीरासनादिकं करोति, ग्रीष्मकाले प्रचण्डसूर्यातापनां सेवते। शीतकाले शीतस्पर्शं सहते स्म, केवलं चोलपट्टकं, मुखो

प्रभाव से सम्यक्त्व की प्राप्ति का अभाव होने पर जीव ऐसा मानता है कि जिन आदि परोक्षपदार्थ नहीं हैं। अत उनका प्रत्यक्ष न होने पर भी अन्य अनुमानादिक प्रमाणों द्वारा उनकी सत्ता सिद्ध होती है, इसलिये उनकी सद्भावना से उनकी असंभावतारूप मिथ्यात्व परिणति का परिहार करते हुए साधु को अपने सम्यक्त्व का रक्षण करते रहना चाहिये। इसी का नाम दर्शनपरीषह जय है।

दृष्टान्त—वैश्रवणाचार्य अपने शिष्य परिवार के साथ विहार करते हुए किसी समय अवन्ती नगरी में पधारे। उन शिष्यों में दृढमति नाम का एक शिष्य था जो उग्रतपस्वी, उग्रविहारी एवं उत्कृष्ट-रूप से प्रत्येक क्रिया का पालन करता था। अन्त प्रान्त आहार से वह अवमोदरिका आदि तपों को तपता था। वीरासन आदि आसनों को करता था। ग्रीष्मकाल में प्रचण्ड सूर्य की अतापना लेता था। शीत काल में शीतस्पर्श को सहता था। केवल चोलपट्टक तथा मुख पर

પ્રભાવથી સમ્યકત્વની પ્રાપ્તિનો અભાવ હોવાના કારણે જીવ એવું માને છે કે, જીન આદિ પરોક્ષપદાર્થ નથી. આથી તે પ્રત્યક્ષ ન હોવાથી અન્ય અનુમાનાદિક પ્રમાણો દ્વારા તેની સત્તા સિદ્ધ હોય છે આ માટે તેની સદ્ભાવનાથી તેની અસંભવતારૂપ મિથ્યાત્વ પરિણતીનો પરિહાર કરીને સાધુએ પોતાના સમ્યકત્વનું રક્ષણ કરતા રહેવું જોઈએ તેનું નામ દર્શનપરીષહ જય છે

દૃષ્ટાંત—વૈશ્રવણાચાર્ય પોતાના શિષ્ય પરિવાર સાથે વિહાર કરતાં કરતાં એક સમય અવન્તી નગરીમાં પધાર્યા તેમના શિષ્યોમાં દૃઢમતિ નામે એક શિષ્ય હતો જે ઉગ્રતપસ્વિ, ઉગ્રવિહારી અને ઉત્કૃષ્ટ રૂપથી પ્રત્યેક ક્રિયાઓનું પાલન કરતો હતો. અન્તપ્રાન્ત આહારથી તે અવમોદરિકા આદિ તપ તપતો હતો વીરાસન આદિ આસનો કરતો હતો, ગ્રીષ્મકાળમાં પ્રચંડ સૂર્યની આતાપના લેતો હતો, શીતકાળમાં ઠંડીના સ્પર્શને સહન કરતો, ફક્ત ચોલપટ્ટો અને

मधुर वारि, स्मिात्मनः पिपासाऽऽकुलीकरणेन, नास्ति परलोकः। इत्येवं विविध-परीषहानुत्पाद्य स देवस्तस्य मुने. सम्यक्त्वमपनेतु मयुत्त., तथापि स दृढमति-मुनिस्तप सयमाराधनाद् लेशतोऽपि विचलितो नाभूत्। तदाऽसौ मेरुरिवाप्रकम्प' सागर इव गम्भीर. सन् विचारयति–भगवत सर्वज्ञतया तद्वचन सत्य सदेहरहित ध्रुव नित्य परमकल्याणसाधक श्रद्धेयमेवास्ति। एभ्य. पौद्गलिकसुखेभ्य किमपि

कि हे मुनि! देखो यह कितना सुन्दर तालाव भरा हुआ है। आपको इस समय घोर पिपासा की वेदना हो रही है अत आप शीतल मधुर जल का पान कर पिपासा को शान्त करो। व्यर्थ में पिपासा से आत्मा को आकुलित करने से क्या लाभ है? परलोक नहीं है। इस प्रकार इस देव ने मुनिराज के लिये अनेक परीषहों को उत्पन्न कर उनको सम्यक्त्व से पतित करने के निमित्त अनेक प्रयत्न किये तो भी वे मुनिराज सम्यक्त्व से रचमात्र भी चलायमान नहीं हुए। प्रत्युत सयम एव तप की आराधना करने में मेरु के समान अप्रकप होकर एवं सागर के समान गभीर बनकर अधिक से अधिक दृढ बनते रहे। साथ में यह भी इन्होंने विचार करने में कसर नहीं रखी कि भगवान् वीतराग होने से, तथा सर्वज्ञ होने से कभी भी असत्य वचन वाले नहीं हो सकते हैं, इनका प्रत्येक वचन सदेहरहित ध्रुव सत्य है। जिन वचनों की आराधना से ही जीवों को निःश्रेयस मार्ग की प्राप्ति होती है, अत यही एकान्ततः परमकल्याणसाधक है, और इसी

આ સમય ખૂબ જ તરસ લાગી રહી છે, આથી આ શિતળ મધુર જળનુ પાન કરીને તમારી તરસને છીપાવો તરસથી આત્માને નકામો પીડીત કરવાથી શુ લાભ? પરલોક છે જ નહી આ પ્રકારે તે દેવે મુનિરાજ માટે અનેક પરીષહો ઉત્પન્ન કર્યા અને તેમને સમ્યકત્વથી પતિત બનાવવા ખૂબ પ્રયત્નો કર્યા તો પણ એ મુનિરાજ લેશ માત્ર પણ ચલાયમાન થયા નહી અને પોતાના સયમ અને તપની આરાધનામાં મેરૂની માફક અડગ રીતે ઉભા રહ્યા અને સાગરની માફક ધીર ગભિર બની અધિક દઢ બનતા ગયા સાથે સાથે તેમણે એ પણ વિચાર કરવામાં કસર ન રાખી કે ભગવાન વીતરાગી સર્વજ્ઞ હોવાને કારણે કદી પણ અસત્ય વચનવાળા હોઈ શકતા નથી. એમનુ પ્રત્યેક વચન સંદેહ રહીત ધ્રુવ–સત્ય છે જીનવચનોની આરાધનાથી જ જીવોને નિશ્રેયસ (મોક્ષ) માર્ગની પ્રાપ્તિ થાય છે જેથી તેનો વિશ્વાસ કરવો યોગ્ય છે. આથી આજ એક માત્ર પરમ કલ્યાણનુ સાધન છે આ પોદ્ગલિક સુખોથી જીવોનુ

त्वाथ वदति–मुने! किं बुभुक्षया प्राणान् गमयसि! भुङ्क्ष्व विविधानि मिष्टान्नानि, यदर्थमेतत् कष्टमङ्गीकरोषि स नास्ति परलोकः। यदाऽसौ मुनिरुग्रविहारं करोति, तेन च श्रान्तो भवति, तदा स देवः स्ववैक्रियशक्त्या शिबिकां वाह्कैर्नीयमानां प्रदर्श्य वदति–मुने! यानमारुह्यताम्, अलमनेन कष्टकरेण पादचारेण, नास्ति परलोकः। उष्णकाले स्वशक्त्या घोरपिपासामुत्पाद्य शीतलसुगन्धिनिर्मलजलपूर्ण-जलाशयं तदीयदृष्टिगोचरीकुर्वन् स देवस्तं मुनीमब्रवीत्–मुने! पिब शीतलमिदं

वैक्रियशक्ति के प्रभाव से विविध मिष्टान्नों को तयार कर और उन्हें बुभुक्षित बनाकर कहने लगता हे मुने! क्यों भूख से व्यर्थ में इन प्यारे प्राणों को नष्ट करना चाहते हो। जिसके निमित्त तुम यह कष्ट परंपरा सह रहे हो वह तो कुछ है ही नहीं, अतः विविध इन मिष्टान्नों को भोगो। जब मुनिराज उग्रविहारी होते और श्रान्त हो जाते तो यह देव उस समय शिबिका की रचना कर उन्हें इस प्रकार दिखाता कि यह शिबिका अनेक पुरुषों द्वारा अपने कंधों पर उठाई जा रही है, और फिर कहने लगता कि महाराज आप थक चुके हैं अतः इस शिबिका पर चढ़कर विहार करिये। कष्टप्रद इस पैदल चलने से क्या लाभ? इसे छोड़िये। उष्णकाल में अपनी शक्ति के प्रभाव से मुनि को घोर पिपासा उत्पन्न कर और शीतल सुरभि निर्मल जल से परिपूर्ण जलाशय की रचना करके मुनि को दिखाता हुआ कहने लगता

વૈક્રિયશક્તિના પ્રભાવથી વિવિધ મિષ્ટાન્ન તૈયાર કરી તેને વિભૂષિત બનાવી કહેવા લાગતો કે મુનિ! શા માટે વ્યર્થમાં ભૂખ અને તરસથી આ પ્યારા પ્રાણોને નષ્ટ કરી રહ્યા છો? જે નિમિત્તથી તમે આ બધા કષ્ટો સહન કરો છો એવું કાંઈ પણ નથી. આથી આ વિવિધ મીષ્ટાન્નોને આરોગો. જ્યારે મુનિ રાજ ઉગ્ર વિહારી બનતા અને શ્રાન્ત બની જતા તો તે દેવ એ સમયે શિબિકા (પાલખી)ની રચના કરી એને બતાવતો અને કહેતો આ શિબિકા અનેક પુરૂષોદ્વારા પોતાના ખભે ઉઠાવવામાં આવી રહી છે મહારાજ આપ થાકી ગયા છો જેથી આ શિબિકામાં બેસી જાઓ અને વિહાર કરો. કષ્ટપ્રદ એવા પગપાળા ચાલવાથી શું લાભ મળવાનો છે? એને છોડી દો ઉષ્ણકાળમાં પોતાની શક્તિના પ્રભાવથી મુનિરાજ ને પાણીની ખૂબ તરસ ઉત્પન્ન કરાવી, શિતળ સુરભી નિર્મળ જળથી પરિપૂર્ણ જળાશયની રચના કરી મુનિને દેખાડીને કહેતો કે, હે મુનિ! જુઓ આ કેવું સુંદર તળાવ ભર્યું છે. આપને

अथ परीषहावतरणमाह—

एते धर्मस्यान्तरायकारणभूताः द्वाविंशतिपरीषहा सोढव्या इत्युक्तम्। तत्र–ज्ञानावरणीय–वेदनीय–दर्शनमोहनीय–चारित्रमोहनीया ऽन्तरायाणां कर्मणामुदयादेते सर्वे परीषहा: प्रादुर्भवन्ति। चतसृषु कर्मप्रकृतिषु=ज्ञानावरणीय–वेदनीय–मोहनीया–न्तरायेषु द्वाविंशतिः परीषहाः समवतरन्ति, इतरासु चतसृषु–दर्शनावरणीयाऽऽयुष्क–नाम–गोत्रेषु परीषहा नोत्पद्यन्ते। (भग० ८। ८)

यः सूक्ष्म संपराय सूक्ष्मलोभपरमाणुसद्भावात् न वीतरागत्व प्राप्तः स दशमगुण स्थानवर्ती उपशमश्रेणिसंपन्नो वा क्षपकश्रेणिसंपन्नो वा तस्य संयतस्य, तथा छद्मस्थवीतरागयोर्गुणस्थानभेदेन द्विविधयोरेकादशद्वादशगुणस्थानवर्तिनोश्च संयतयोश्चतुर्दश

अब परीषहों का अवतरण कहते हैं—

यद्यपि धर्मके सेवन करने में ये बाईस परीषह अन्तरायरूप हैं साधु को इन को सहन करते रहना चाहिये, यह बात बतलाई जा चुकी है। अब कौन २ से परीषह किस २ कर्म के उदय से होते हैं यह बतलाया जाता है–ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय (दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय) एवं अन्तराय, इन चार कर्मों के उदय से ये २२ बाईस परीषह उत्पन्न होते हैं। दर्शनावरणीय आयु नाम एवं गोत्र, इन चार कर्मों के उदय में परीषह उत्पन्न नहीं होते हैं। (भग० श ८ उ० ८)

सूक्ष्मलोभ परमाणु के सद्भाव से जो वीतरागता को प्राप्त नहीं हुआ है ऐसा दशमगुणस्थानवर्ती जीव चाहे वह उपशमश्रेणी में स्थित हो चाहे क्षपकश्रेणी में उसके तथा छद्मस्थ वीतराग के ११ ग्यारहवें एवं

હવે પરીષહોનું અવતરણ કહેવામાં આવે છે—

ધર્મનું સેવન કરવામાં કદાચ આ બાવીસ પરીષહ અંતરાયરૂપ થાય છતાં સાધુએ એને સહન કરતા રહેવું જોઈએ. આ વાત સમજાવવામાં આવી. હવે કયા કયા પરીષહ કયા કયા કર્મના ઉદયથી થાય છે એ બતાવવામાં આવે છે–જ્ઞાનાવરણીય, વેદનીય, મોહનીય, (દર્શન મોહનીય ચારિત્ર મોહનીય) અને અંતરાય આ ચાર કર્મોના ઉદયથી આ બાવીસ પરીષહ ઉત્પન્ન થાય છે દર્શનાવરણીય, આયુ, નામ, અને ગોત્ર આ ચાર કર્મોના ઉદયથી પરીષહ ઉત્પન્ન થતા નથી. ભગ શ ૮, ઉ ૮

સૂક્ષ્મલોભ પરમાણુના સદ્ભાવથી જે વીતરાગતાને પ્રાપ્ત નથી થયા એવા દશગુણ સ્થાનવર્તી જીવ ચાહે તે ઉપશમ શ્રેણીમાં સ્થિત હોય, ચાહે ક્ષપક શ્રેણીમાં તથા છદ્મસ્થ વીતરાગના અગીયાર અને બારમા ગુણસ્થાનવર્તી જીવોને

कल्याणं नास्ति । मयाऽनादिभवसमागत मिथ्यात्वमपनीय सम्यक्त्वं लब्धम् । तदेव पुनः पुनरात्मनि दृढीकृत्य ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मरजः समुत्सारणेन केवलित्वप्राप्तिपूर्वकं मोक्षपद मम लब्धव्यमस्ति । अलमनेन तुच्छेन विषयसुखेन । इति विमृश्य तप सयमसमाराधनपूर्वकनिरतिचारसम्यक्त्वरक्षणेन दृढमति मुनिर्दर्शनपरीषह परिषह्य, क्षपकश्रेणिमारुह्य, केवलित्व लब्ध्वा स्वात्मकल्याणं साधितवान् । एवमन्यैरपि मुनिभिर्दर्शनपरीषह सोढव्य ।

का विश्वास करना योग्य है । इन पौद्गलिक सुखों से जीवों का कुछ भी आत्महित नहीं हो सकता है । मैंने बड़ी कठिनता से अनादि भवों से ससक्त मिथ्यात्व का अपनयन कर सम्यक्त्व का लाभ किया है । इसलिये यह दुर्लभता से प्राप्त होने वाली वस्तु (सम्यक्त्व) का नाश न होने पावे, इस प्रकार सचेष्ट होकर मुझे बार २ इस को निज आत्मा में दृढ करते रहना चाहिये, और ज्ञानावरणीय आदि अष्ट प्रकार कर्मरजके निवारण से केवलित्वकी प्राप्तिपूर्वक मुक्ति पदका लाभ करना चाहिये इसी में मेरा कल्याण है। इन तुच्छ वैषयिक सुखों के सेवन से कौनसा निज का लाभ हो सकता है। इस प्रकार विचार कर तप एव सयम की आराधना करते हुए दृढ मति मुनिराज ने निरतिचार सम्यक्त्व की रक्षा से दर्शनपरीषह को सहन किया और क्षपकश्रेणी पर आरूढ हो कर केवलिपदका लाभ कर अपना आत्मकल्याण कर लिया । इसी प्रकार अन्य मुनिजनों को भी दर्शनपरिषहजयी बनना चाहिये ।

કોઈ પણ આત્મહિત થઈ શકવાનું નથી મેં ભારે કઠીનતાથી અનાદિ ભવોથી સસક્ત મિથ્યાત્વનું અપનયન કરી સમ્યકત્વનો લાભ કર્યો છે આ માટે આ દુર્લભતાથી પ્રાપ્ત થયેલ વસ્તુ સમ્યકત્વનો નાશ ન થાય એ રીતે સચેત બનીને મારે વારવાર એને મારા પોતાના આત્મામાં દૃઢ કરતા રહેવું જોઈએ. અને જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ પ્રકારની કર્મરજના નિવારણથી કેવલિત્વની પ્રાપ્તિ પૂર્વક મુક્તિ પદનો લાભ મેળવવો જોઈએ. આ કરવામાં જ મારૂ કલ્યાણ છે. તુચ્છ એવાં વૈષયિક સુખોના સેવનથી મને કયો લાભ થવાનો છે? આ પ્રકારનો દૃઢ વિચાર કરી તપ અને સયમની આરાધના કરતા દૃઢમતિ મુનિરાજે નિરતિચાર સમ્યકત્વની રક્ષાથી દર્શનપરીષહ સહન કરી ક્ષપકશ્રેણી ઉપર આરૂઢ બની કેવલીપદનો લાભ કરી પોતાના આત્માનું કલ્યાણ કર્યું આ રીતે અન્ય મુનિજનોએ પણ દર્શનપરીષહ જયી બનવું જોઈએ.

ननु आत्यन्तिकशीतस्पर्शे सति वह्निसान्निध्ये, तथा-शरीरस्यैकस्मिन् भागे छायाश्रितेऽपरस्मिन् भागे सूर्यकिरणप्रतप्ते सति एकस्य पुरुषस्य एकस्यां दिशि शीतम्, अन्यस्यां चोष्णमित्येव द्वयोरपि शीतोष्णपरीषहयोर्युगपत् समवोऽस्तीति चेत्, उच्यते-अत्र परीषहे कालकृतशीतोष्णयोर्ग्रहणम्, अतो नास्त्येतत्प्रश्नावकाश इति।

शंका—शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श का जो आपने परस्पर विरोध बतलाया है वह जचता नहीं है, क्यों कि आत्यंतिक शीतस्पर्श होने पर भी अग्नि के समीप में, तथा शरीर का एक भाग छायाश्रित होने पर, दूसरा भाग सूर्य की किरणों से तप्त होने पर एक ही पुरुष को एक दिशा में शीत का, अन्य दिशा में उष्ण का अनुभव युगपत् होता है, इस प्रकार शीत और उष्णस्पर्श का एक ही पुरुष में देशादिक की अपेक्षा एक साथ सद्भाव पाये जानेसे इनमें आप विरोध कैसे कहते हैं।

उत्तर—इस प्रकार की आशंका यहां नहीं करना चाहिये। क्यों कि यहा जो शीत उष्ण परीषह का युगपत् विरोध बतलाया गया है वह काल की अपेक्षा से बतलाया गया है। शीतकाल में शीतपरीषह का उष्णकाल में उष्णपरीषह का सद्भाव रहता है। शीतकाल में उष्णकाल नहीं होता और उष्णकाल में शीतकाल नहीं होता, अतः इस अपेक्षा से यहा इस प्रश्न के होने का अवकाश ही नहीं है।

શંકા—શીતસ્પર્શ અને ઉષ્ણસ્પર્શનો જે આપે પરસ્પર વિરોધ બતાવેલો છે તે બરોબર નથી કેમકે, અત્યંતિક ઠંડીનો સ્પર્શ હોવાથી પણ અગ્નિના સાંનિધ્યમાં તથા શરીરનો એક ભાગ છાયાશ્રિત હોવાથી, બીજો ભાગ સૂર્યનાં કિરણોથી તપ્ત હોવાથી, એકજ માણસને એક દિશામાં ઠંડીનો અને બીજી દિશામાં ઉષ્ણનો અનુભવ યુગપત્ થાય છે આ રીતે ઠંડી અને ઉષ્ણસ્પર્શનો એક જ માણસમાં દેશાદિકની અપેક્ષા એક સાથ સદ્ભાવ દેખાતા આમાં આપ વિરોધ કેવી રીતે કહો છો?

ઉત્તર—આ પ્રકારની આશંકા અહિં ન કરવી જોઈએ કેમકે, અહિં જે ઠંડી અને ઉષ્ણ પરીષહનો યુગપત્ વિરોધ બતાવવામાં આવેલ છે તે કાળની અપેક્ષાથી બતાવવામા આવેલ છે શીતકાળમાં ઠંડીનો પરીષહ અને ઉષ્ણકાળમાં ઉષ્ણપરીષહનો સદ્ભાવ રહે છે શીતકાળમાં ઉષ્ણકાળ હોતો નથી અને ઉષ્ણ કાળમાં શીતકાળ હોતો નથી. આથી આ અપેક્ષાએ અહિંયા આ પ્રશ્ન થવાનો અવકાશ જ નથી

अचेला–रति–स्त्री–निषद्या–ऽऽक्रोश–याचना–सत्कारपुरस्कारपरीषहाः भवन्ति। दर्शनमोहनीयोदये–एकः दर्शनपरीषहः–वेदनीयोदये–एकादश क्षु–त्पिपासा–शीतो-ष्ण दंशमशक–चर्या–शय्या–वध–रोग–तृणस्पर्श–मलाख्याः परीषहाः उत्पद्यन्ते। लाभान्तरायोदये–एकः अलाभपरीषहः। अष्टविधकर्मबन्धकस्य, तथाऽऽयुर्वर्जित-सप्तविधकर्मबन्धकस्य च संयतस्य द्वाविंशतिः परीषहाः संभवन्ति, तत्र स उत्कर्षतो युगपद् विंशतिपरीषहान् वेदयति। यत्र समये शीतपरीषहं वेदयति न तदोष्ण-परीषहम्, यदा चोष्णपरीषहं वेदयति, न तदा शीतपरीषहं, तयोः परस्परमत्य-न्तविरोधेन एकदा एकत्रासम्भवात्। तथा यस्मिन् समये चर्यापरीषहम् वेदयति न तदा निषद्यापरीषहम्, यदा निषद्या परीषहं वेदयति न तदा चर्यापरीषहं, चर्यानिषद्यापरीषहयोरपि परस्परमत्यन्तविरोधेन एकदा एकत्रासम्भवात्।

ये दो परीषह होते हैं। चारित्रमोहनीय के उदय में अचेल १, अरति २, स्त्री ३, निषद्या ४, आक्रोश ५, याचना ६, सत्कारपुरस्कार ७, ये ७ सात परीषह होते हैं। दर्शनमोहनीय के उदय में एक दर्शनपरी षह, वेदनीय के उदय में ११ ग्यारह परीषह–क्षुधा १, तृषा २, शीत ३, उष्ण ४, दंशमशक ५, चर्या ६, शय्या ७, वध ८, रोग ९, तृणस्पर्श १०, और मेल ११ होते हैं। लाभान्तराय के उदय में एक अलाभ परीषह उत्पन्न होता है। आठों प्रकार के कर्म का बन्धक तथा आयु सिवाय सात कर्मों का बन्धक जो संयत है उसके २२ बाईस परीषह होते हैं। एक काल में जीव अधिक से अधिक २० बीस परीषहों का वेदन कर सकता है, क्यों कि चर्या और निषद्या में से किसी एक का, शीत एवं उष्ण में से किसी एक एक का ही वेदन होगा, दोनों का युगपत् नहीं, कारण कि इनका परस्पर एक साथ रहने में विरोध है।

પરીષહ છે ચારિત્ર મોહનીયના ઉદયમાં અચેલ, ૧ અરતિ, ૨ સ્ત્રિ, ૩ નિષધા,૪ આક્રોશ ૫ યાચના, ૬ સત્કારપુરસ્કાર, ૭ આ સાત પરીષહ હોય છે દર્શનમોહ નીયના ઉદયમાં એક દર્શનપરીષહ, વેદનીયના ઉદયમા ૧૧ અગીયાર પરીષહ, ભૂખ, ૧ તરસ, ૨ ઠંડી, ૩ ઉષ્ણ, ૪ દશમશક, ૫ ચર્યા, ૬ શૈયા, ૭ વધ, ૮ રોગ, ૯ તૃણસ્પર્શ ૧૦ અને મેલ ૧૧ હોય છે લાભાંતરાયના ઉદયમાં એક અલાભ પરીષહ ઉત્પન્ન થાય છે આઠ પ્રકારના કર્મના બંધક તથા આયુ શિવાય સાત કર્મોના બંધક જે સંયત છે તેને ૨૨ બાવીસ પરીષહ હોય છે. એક કાળમાં એક જીવ અધિકમાં અધિક ૨૦ વીસ પરીષહનું વેદન કરી શકે છે કેમકે, ચર્યા અને નિષધામાંથી કોઈ એકનું ઠંડી અને ઉષ્ણમાંથી કોઈ એકનુ જ વેદન થતુ હોય છે બન્નેનુ યુગપત્ નહી કારણ કે, તેનો પરસ્પર એક સાથે રહેવામાં વિરોધ છે

चेदुच्यते — सूक्ष्मसंपरायस्य चारित्रमोहनीयं दर्शनमोहनीयं सत्तामात्रं वर्तते, न तु परीषहहेतुभूतः सूक्ष्मोऽपि मोहनीयोदयोऽस्तीति न मोहनीयजन्यपरीषहो भवति, ततश्च षड्विधबन्धकस्य मोहनीयोदयाभावेन सर्वत्रौत्सुक्यनिवृत्तिर्भवति, औत्सुक्यनिवृत्त्या च विहारपरिणामाभाव, तेन शय्यापरीषहवेदनसमये चर्याया अभावः। अत्र तु-मोहनीयोदयात् बादररागवत्त्वेन औत्सुक्यं विहारपरिणामरूपं संभवति, तदा शय्यापरीषहवेदनसमये चर्यापरीषहं परिणामरूपेण वेदयति, अतो विंशतिपरीषहान् वेदयतीति कथनं सम्यगेव।

कि शय्या और निषद्या में से एक फिर घट जाने से वीस की जगह १९ उन्नीस परीषहों के वेदना का ही सद्भाव कहना चाहिये?

उत्तर—सूक्ष्मसंपराय संयत के चारित्रमोहनीय एवं दर्शनमोहनीय केवल सत्तामात्र है, परीषह का हेतुभूत थोड़ा सा भी मोहनीय का उदय वहां नहीं है कि जिससे वहां मोहनीय के उदय से होने वाला परीषह हो सके, अतः छह कर्मों का बंधक जो संयत है उसके मोहनीय कर्म के उदय के अभाव से सर्वत्र औत्सुक्य की निवृत्ति हो जाती है। औत्सुक्य की निवृत्ति से विहार करने के परिणाम की भी निवृत्ति हो जाती है, इससे शय्यापरीषह के वेदन के समय में वहां चर्या का अभाव है परन्तु जो सप्तविध कर्म का अथवा अष्टविध कर्म का बंधक है उसके मोहनीय का उदय है इससे बादर रागवाला होने से उसके विहारपरिणामरूप औत्सुक्यभाव संभवित होता है। उस समय वह शय्यापरीषह के वेदन के समय में चर्यापरीषह को परिणाम-

---

કારણ કે શય્યા અને નિષદ્યામાંથી એક ઘટિ જવાથી વીસને બદલે ઓગણીસ પરીષહોના વેદનનો જ સદ્ભાવ કહેવો જોઈએ.

ઉત્તર—સૂક્ષ્મ સાંપરાય સંયતના ચારિત્ર મોહનીય અને દર્શનમોહની યની કેવળ સત્તા માત્ર છે પરીષહના હેતુભૂત થોડો પણ મોહનીયનો ઉદય ત્યાં નથી કે જેનાથી ત્યાં મોહનીયના ઉદયથી આવનાર પરીષહ થઈ શકે આથી છ કર્મોના બંધક જે સંયત છે તેના મોહનીય કર્મના ઉદયના અભાવથી સર્વત્ર ઔત્સુક્યની નિવૃત્તિ થઈ જાય છે ઔત્સુક્યની નિવૃત્તિથી વિહાર કરવાના પરિણામની પણ નિવૃત્તિ થઈ જાય છે આથી શય્યાપરીષહના વેદનના સમયે ત્યાં ચર્યાનો અભાવ છે પરંતુ જે સાત પ્રકારના કર્મોનો અથવા આઠ પ્રકારના કર્મોનો બંધક છે તેને મોહનીયનો ઉદય છે આ કારણે બાદર રાગ વાળા હોવાથી એના વિહાર પરિણામ રૂપ ઔત્સુક્યભાવ સંભવીત બને છે એ સમયે તે શય્યાપરીષહના વેદન સમયમાં ચર્યાપરીષહને પરિણામરૂપથી વેદિત

नन्तु भगवता 'आयुर्मोहनीयवर्जितषड्विधकर्मबन्धक सूक्ष्मसंपरायसंयत उत्कर्षतो युगपद् द्वादश परीषहान् वेदयति' इत्युक्तम्, तत्र यदा शय्यापरीषहं वेदयति, न तदा चर्यापरीषहम्, यदा चर्यापरीषहं वेदयति, न तदा शय्यापरीषहम्, इति कथितम्, कथं तर्हि-सप्तविधकर्मबन्धकोऽष्टविधकर्मबन्धकश्च संयतो युगपद् विंशतिपरीषहान् वेदयेत्। यतश्चर्यया सह शय्यानिषद्ययोर्विरोधेन चर्यासद्भावे शय्यानिषद्ययोरसम्भवात्, एकोनविंशतेरेव परीषहाणां वेदनसंभव इति

शंका—भगवान् ने "आयु एवं मोहनीय वर्जित छह कर्मों का बंध करनेवाला सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवाला संयत उत्कर्ष की अपेक्षा युगपत् १२ बारह परीषहोंका वेदन करता है" ऐसा कहा है सो उसमें जिस समय वह शय्यापरीषहका वेदन करता है उस समय वह चर्यापरीषहका वेदन नहीं करता है, और जिस समय चर्यापरीषह का वेदन करता है उस समय शय्यापरीषह का वेदन नहीं करता सो इस प्रकार की विवक्षा से वहां चौदह परीषहों के सामान्य कथन में उत्कर्षक की अपेक्षा बारह परीषह का वेदन करना ठीक बैठ जाता है, परन्तु जो आयुवर्जित सात प्रकार के अथवा आठ प्रकार के कर्मों का बंधक संयत है उसके चर्या के साथ शय्या और निषद्या का विरोध होने से चर्या के सद्भाव में शय्या और निषद्या का संभव हो नहीं सकता है ऐसी परिस्थिति में इस संयत के जो उत्कर्षक की अपेक्षा २० बीस परीषहों का सद्भाव बतलाया है वह कैसे संगत हो सकता है, क्यों

શંકા—ભગવાને "આયુ અને મોહનીય વર્જીત છ કર્મોના બંધ કરવાવાળા સૂક્ષ્મ સંપરાય સંયત ઉત્કર્ષની અપેક્ષા યુગપત્ બાર પરીષહનું વેદન કરે છે" એવું કહ્યું છે તો તેમાં જે સમય તે શય્યાપરીષહનું વેદન કરે છે. તે સમય તે ચર્યાપરીષહનું વેદન કરતા નથી અને જે સમય ચર્યાપરીષહનું વેદન કરે છે તે સમય શય્યાપરીષહનું વેદન નથી કરતા. આ પ્રકારની વિવિક્ષાથી ચૌદ પ્રકારના પરીષહોના સામાન્ય કથનમાં ઉત્કર્ષની અપેક્ષા બાર પરીષહનું વેદન કરવું બરાબર બંધ બેસતું છે પરંતુ આયુવર્જીત જે સાત પ્રકારના અથવા આઠ પ્રકારના કર્મોના બંધક સંયત છે—એની ચર્યા સાથે શય્યા અને નિષદ્યાનો વિરોધ હોવાથી ચર્યાના સદ્ભાવમાં શય્યા અને નિષદ્યાનો સંભવ થઈ શકતો નથી. એવી પરિસ્થિતિમાં આ સંયત કે જે ઉત્કર્ષની અપેક્ષાએ વીસ પરીષહનો સદ્ભાવ બતાવેલ છે. તે કઈ રીતે સંગત થઈ શકે?

सम्यक्त्व-मोहनीयरूपस्य बृहति भागे उपशान्ते, शेषे चानुपशान्ते एव स्यात्। नपुंसकवेदं चासौ दर्शनत्रयस्य शेषांशेन सहोपशमयितुं प्रवर्तते, ततश्च नपुंसकवेदोपशमावसरे अनिवृत्तिबादरसंपरायस्य सतो दर्शनमोहनीयस्य प्रदेशत उदयोऽस्ति, न तु दर्शनमोहनीयस्य सत्तामात्रम्, ततस्तन्निमित्तको दर्शनपरीषहस्तस्यास्ति, ततश्चाष्टावपि परीषहान् वेदयति।

उत्तर—यह अनिवृत्तिबादरसंपराय वाला संयम दर्शनसप्तक के उपशम होने के ऊपर ही नपुंसकवेदादिक के उपशमकाल में होता है। इसके दर्शनमोहनीय का उदय प्रदेश की अपेक्षा से माना गया है। वह इस प्रकार – दर्शनसप्तक के अन्तर्गत जो मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्वमोहनीय, ये तीन दर्शन हैं, इनका अधिक से अधिक जब उपशमन हो जाता है तथा कुछ भाग अनुपशान्त रहता है तब नपुंसकवेद को यह इसी अनुपशान्त दर्शनत्रय के भाग के साथ २ उपशान्त करने के लिये प्रवृत्त होता है, इसलिये नपुंसकवेद के उपशमन के काल में इस अनिवृत्तिबादरसंपराय वाले संयत के दर्शनमोहनीय का प्रदेश की अपेक्षा से उदय माना गया है, अतः दर्शनमोहनीय का इसके केवल सत्तामात्र ही नहीं है, प्रदेशोदय भी है। इससे उसके दर्शनमोहनीय उदय जन्य परीषह है ऐसा मानना चाहिये इससे वहां यह आठ परीषहों का वेदन करता है।

ઉત્તર—આ અનિવૃત્તિ બાદર સંપરાયવાળા સંયમદર્શનસપ્તકનો ઉપશમ થવાના ઉપર જ નપુંસકવેદાદિકના ઉપશમ કાળમાં થાય છે એના દર્શન મોહનીયનો ઉદય પ્રદેશની અપેક્ષાથી માનવામાં આવેલ છે તે આ પ્રકારે– દર્શન સપ્તકના અંતર્ગત જે મિથ્યાત્વ, મિશ્ર, સમ્યક્ત્વ મોહનીય આ દર્શનત્રય છે એમનો અધિકથી અધિક ભાગ જ્યારે ઉપશાંત થઈ જાય છે તથા થોડા ભાગ અનુપશાંત રહે છે ત્યારે નપુંસકવેદને આ એજ અનુપશાન્ત દર્શનત્રયના ભાગની સાથે સાથ ઉપશાંત કરવા માટે પ્રવૃત્ત થાય છે આ માટે નપુંસક વેદના ઉપશમના કાળમાં આ અનિવૃત્તિ બાદર સંપરાયવાળા સંયતના દર્શન મોહનીયના પ્રદેશની અપેક્ષાથી ઉદય માનવામાં આવેલ છે આથી દર્શન મોહનીયને એમાં કેવળ સત્તા માત્ર નથી, પ્રદેશોદય પણ છે આથી એના દર્શન મોહનીય ઉદયજન્ય દર્શનપરીષહ છે એમ માનવું જોઈએ. આથી ત્યાં તે આઠ પરિષહોનું વેદન કરે છે

ननु अनिवृत्तिबादरसंपरायस्य मोहनीयसंभवानामष्टानामपि परीषहाणां कथं संभवः ? यतो दर्शनसप्तकोपशमे बादरकषायस्य दर्शनमोहनीयोदयाभावेन दर्शनपरीषहाभावात् सप्तानामेव संभवो नाष्टानाम्, अथ दर्शनमोहनीयोदयाभावेऽपि दर्शनमोहनीयसत्ताऽपेक्षया दर्शनपरीषहोऽपि स्यादित्युच्यते, तर्हि उपशमकस्य सूक्ष्मसंपरायस्यापि मोहनीयसत्तासद्भावात् कथं तज्जनिता सर्वेऽपि परीषहा न भवन्तीति न्यायस्य समानत्वात्? ।

अत्रोच्यते—दर्शनसप्तकोपशमस्योपर्येव नपुंसकवेदाद्युपशमकाले अनिवृत्ति बादरसंपरायो भवति, स च दर्शनसप्तकान्तर्गतस्य दर्शनत्रयस्य मिथ्यात्व-मिश्र-

रूप से वेदित करता है। इस कारण वह २० वीस परीषहों का वेदन करता है, यह कथन समीचीन ही है।

शंका—जो संयत अनिवृत्ति बादर संपराय वाला है उसके मोहनीय से संभवित आठ परीषहों की संभावना कैसे हो सकती है? क्यों कि दर्शनसप्तक के उपशम होने पर उस बादर कषाय वाले संयत के दर्शनमोहनीय के उदय के अभाव से दर्शनपरीषह तो होगा नहीं, इसलिये वहां आठ की जगह ७ सात परीषह ही संभवित होते हैं, फिर आठ की संभावना कैसे कही गई है? यदि दर्शनमोहनीय के उदय के अभाव में भी दर्शनमोहनीय की सत्ता की अपेक्षा से दर्शन परीषह भी है ऐसा कहा जाय तो उपशमक होने पर सूक्ष्मसंपराय वाले के भी मोहनीय की सत्ता के सद्भाव से उसके उदय से होनेवाले सर्व परीषह नहीं मानना चाहिये क्यों कि न्याय सर्वत्र समान होता है।

કરે છે આ કારણે તે વીસ પરીષહોનું વેદન કરે છે આ કથન સમીચીન જ છે.

શંકા—જે સંયત અનિવૃત્તિ બાદર સંપરાયવાળા છે તેના મોહનીયથી સંભવિત આઠ પરીષહોની સંભાવના કેવી રીતે બની શકે? કેમકે દર્શનસપ્તકનું ઉપશમ થવાથી એ બાદર કષાયવાળા સંયતના દર્શન મોહનીયના ઉદયના અભાવથી દર્શનપરીષહ તો થશે નહીં આ માટે ત્યાં આઠની જગ્યાએ સાત પરીષહ જ સંભવીત દેખાય છે. છતાં આઠની સંભાવના કેમ કહેવાઈ છે? જ્યારે દર્શન મોહનીયના ઉદયના અભાવમાં પણ દર્શન મોહનીયની સત્તાની અપેક્ષા દર્શનપરીષહ પણ છે એવું કહેવામાં આવે તો ઉપશમક હોવા છતાં સૂક્ષ્મ સંપરાયવાળાને પણ મોહનીયની સત્તાના સદ્ભાવથી તેના ઉદયથી બનાર સર્વ પરીષહ ન માનવા જોઈએ કારણ કે, ન્યાય સર્વત્ર સમાન હોય છે

तत्र प्रथम स्थानम्–उदितकर्मा । उदित प्रबल वा कर्म=मिथ्यात्वमोहनीयादि यस्य स तथा, खलु अय पुरुष उन्मत्तकभूतो मदिरादिना विप्लुतचित्त इवास्ति, तेन कारणेन ' मामयमाक्रोशति वा, अपहसति वा, निच्छोटयति=हस्तादौ गृहीत्वा बलात् क्षिपति वा, दुर्वचनैर्निर्भर्त्सयति वा, रज्ज्वादिना बध्नाति वा, कारागार-प्रवेशनादिना रुणद्धि वा, छविच्छेद–छवे' शरीरावयवस्य हस्तादेश्छेद करोति वा, मारणस्थान नयति वा, मारयति वा, अपद्रावयति वा, उपद्रव करोति वा, वस्त्रं,

अधिक से अधिक समय तक रखना चाहिये ताकि उनके सहन करने की क्षमता आत्मा में आती रहे। पाच स्थानों में सर्वप्रथम स्थान उदितकर्मा है–मिथ्यात्व मोहनीय आदि कर्म जिसका प्रबलरूप से उदय में आरहा है ऐसा जीव उदितकर्मा है। इस प्रथमस्थान को लेकर जब परीषह एव उपसर्गों का निपात सयत के ऊपर हो तब उसे यह विचार करना चाहिये कि यह पुरुष उदितकर्मा है–इसका मिथ्यात्वमोहनीयादिक कर्म प्रबलरूप से उदय में आरहा है, इसलिये यह उन्मत्त जैसा हो रहा है–मदिरा के पान से जिस प्रकार मनुष्य होश हवाश खो बैठता है उसी तरह का यह बना हुआ है, इसी कारण यह मेरे प्रति रुष्ट हो रहा है, मेरी हँसी मजाक करता है, हाथ पकड़ कर मुझे खेंचता है, दुर्वचनों से मेरा तिरस्कार करता है, रस्सी आदि से मुझे बाधता है, कारागार में मुझे बध करता है, मेरे शरीर के अवयव को छेदता है, वधस्थान पर मुझे ले जाता है, मारता है, मुझे यहाँ

અધિક સમય સુધી રહેવુ જોઇએ. જેથી તેને સહન કરવાની સમતા આત્મામા આવતી રહે. પાંચ સ્થાનોમા સર્વપ્રથમ સ્થાન ઉદિત કર્મા છે મિથ્યાત્વ મોહનીય આદિ કર્મ જેનુ પ્રબળ રૂપથી ઉદયમાં આવી રહેલ છે એવો જીવ ઉદિત કર્મા છે આ પ્રથમ સ્થાનને લઈને જ્યારે પરીષહ અને ઉપસર્ગોના નિપાત સાધુ સ યતની ઉપર હોય ત્યારે તેણે એ વિચાર કરવો જોઈ એ કે આ પુરૂષ ઉદિત કર્મા છે તેનુ મિથ્યાત્વ મોહનીયાદિક કર્મ પ્રબળ રૂપથી ઉદયમાં આવી રહેલ છે આથી જ તે ઉન્મત્ત જેવો બની રહેલ છે મદિરાના પાનથી જેવી રીતે મનુષ્ય શુદ્ધિ બુદ્ધિ ખોઈ બેસે છે એવી રીતનુ આ બનેલ છે આ કારણથી તે મારા તરફ રૂષ્ટ બની રહેલ છે, મારી હાંસી મજાક કરે છે, હાથ પકડીને મને ખેંચે છે દુર્વચનોથી મારો તિરસ્કાર કરે છે, દોરડા આદિથી મને બાંધે છે, કારાગારમાં મને બધ કરે છે, મારા શરીરના અવયવોને છેદે છે, વધસ્થાન ઉપર મને લઈ જાય છે, મારે છે, મને ત્યાંથી ભગાડે છે, મારા ઉપર ઉપદ્રવ

एते च परीषहा द्विविधाः-द्रव्यपरीषहा भावपरीषहाश्च। तत्र द्रव्यपरीषहा नाम ये इहलोक निमित्तका वधबन्धनादयः परवशादभिसह्यन्ते ते। भावपरीषहा ये संसारोच्छेदनार्थमनाकुलेन मनसाऽधिसह्यन्ते। अत्र शास्त्रे भावपरीषहाणामेवाधिकारः।

अथ छद्मस्थपरीषहाणां भेदाः—

ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मचतुष्टयं छद्म, तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थः=कषायसहितः, स पञ्चभिः परीषहादिसहनालम्बनरूपैः स्थानैरुदितान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् तत्कषायोदयनिरोधाऽऽदिना सहेत=निश्चलितो न भवेत्, क्षान्त्या क्षमेत, अदीनः तथा तितिक्षेत, अध्यासीत=परीषहादावेव आधिक्येनासीत, न चलेत्।

ये परीषह दो प्रकार के हैं-एक द्रव्यपरीषह दूसरा भावपरीषह। इस लोकसंबंधी जो वध बंधन आदिक परवशता से सहन किये जाते हैं वे द्रव्यपरीषह हैं। संसार बंधन को नष्ट करने के लिये भव्य संयमीजनों द्वारा जो बिना किसी आकुलता के सहन किये जाते हैं वे भावपरीषह हैं। इस शास्त्र में इन्हीं भावपरीषहों को सहन करने का उपदेश है, और उसी निमित्त यह अधिकार है।

छद्मस्थपरीषहों के भेद—ज्ञानावरणीय आदि चार घातियाकर्म का नाम छद्म है। इस छद्म में जो रहता है उसका नाम छद्मस्थ है। ऐसा संयमी जीव कषायसहित होता है। उसे पांच स्थानों से उदित परीषहों एवं उपसर्गों को कषाय के उदय का निरोध आदि करते हुए सहन करना चाहिये। शान्तिभाव से अविचलित होकर उसे उस समय घबराना नहीं चाहिये। परीषह आदि के स्थान में ही अपने आपको

આ પરીષહ બે પ્રકારના છે-એક દ્રવ્યપરીષહ બીજો ભાવપરીષહ આ લોક સંબંધી જે વધ બંધન આદિક પરવશતાથી સહન કરવામાં આવે છે તે દ્રવ્યપરીષહ છે. સંસાર બંધનને નષ્ટ કરવા માટે ભવ્ય સંયમી જનો દ્વારા જે કોઈ પ્રકારની વ્યાકુળતા વગર સહન કરવામાં આવે છે તે ભાવપરીષહ છે આ શાસ્ત્રમાં તે ભાવપરીષહોને સહન કરવાનો ઉપદેશ છે અને એ નિમિત્તે આ અધિકાર છે.

છદ્મસ્થપરીષહોના ભેદ—

જ્ઞાનાવરણીય આદિ ચાર ઘાતીયા કર્મનું નામ છદ્મ છે આ છદ્મમાં જે રહે છે તેનું નામ છદ્મસ્થ છે એવા સંયમીજીવ કષાય સહીત છે એને પાંચ સ્થાનોથી ઉદિત પરીષહો અને ઉપસર્ગોને કષાયના ઉદયનો નિરોધ આદિ સમજીને સહન કરવા જોઈએ શાંતિભાવથી અવિચલીત બનીને તેણે એ સમયે તેનાથી ગભરાવું ન જોઈએ પરીષહ આદિના સ્થાનમાં જ પોતે પોતાને અધિકી

तथा–एष बालः पापभयरहितत्वात् करोतु नाम आक्रोशनादि, मम पुनर सह्मानस्य=अक्षममाणस्य अतितिक्षमाणस्य=अनध्यासमानस्य, सर्वथा असातादि पापकर्म सपद्यते । इति चतुर्थं स्थानम् ।

तथा–एष बाल• पापभयरहितत्वात् करोतु नाम आक्रोशनादिक, मम पुन खलु सम्यक् सह्मानस्य यावत् अध्यासमानस्य किं सपद्यते, अय तावत् पाप बध्नाति मया च एकान्तेन निर्जरा क्रियते । इति पञ्चमं स्थानम् ।

तृतिय स्थान में ऐसा विचार करें कि यह तो बाल है, पाप के भय से रहित होने के कारण भले ही यह आक्रोश आदि करता रहे, परन्तु मेरा कर्तव्य तो इनको सहन करने का ही है । यदि मैं इनको सहन नहीं करता हु–सहन में साहस को छोड़ देता हु, इनसे यदि घबरा जाता हू तो मुझे असाता आदि पापकर्म का नियमत बध होगा। इस प्रकार यह चतुर्थ स्थान है ।

पचमस्थान में सयमी को ऐसा विचार करना चाहिये, कि यह परीषह एव उपसर्गकारी व्यक्ति पाप के भय से रहित होने के कारण बाल है, इसकी इच्छा है यह आक्रोशादिक करे । इससे मेरा बिगड़ता क्या है ? मुझे तो उल्टा फायदा ही है, क्यों कि उपसर्ग और परीषह को समतापूर्वक सहन करनेवाले के एकान्तत कर्मों की निर्जरा होती है, परन्तु यह उपसर्ग परीषहकारी पुरुष पाप का बध करता है । यह पञ्चम स्थान है ।

त्रीन्न स्थानमां–એવો વિચાર કરે કે, આ તો બાળ છે, પાપના ભયથી રહિત થવાના કારણે ભલે એ આક્રોશ આદિ કરતો રહે પરંતુ મારૂ કર્તવ્ય તો એને સહન કરવાનુ જ છે એ હુ તેને સહન કરતો નથી. તો સહિષ્ણુતામાં ગુણથી વિમુખ થાઉ છુ એ તેનાથી હુ ગભરાઈ જાઉછુ, તો મને અસાતા આદિ પાપ કર્મનો નિયમત બંધ થશે આ પ્રકારે આ ચોથુ સ્થાન પણ છે ।

પાંચમ સ્થાનમાં–સયમીએ એવો વિચાર કરવો જોઇએ કે, આ પરીષહ અને ઉપસર્ગ કરનાર વ્યક્તિ પાપના ભયથી રહિત હોવાના કારણે બાળ છે તેની ઇચ્છા છે કે, આ આક્રોશ આદિ કરે પણ તેથી મારૂ બગડે છે શુ ? મને તો એથી ઉલટો ફાયદોજ છે કારણકે ઉપસર્ગ અને પરીષહને સમતા પૂર્વક સહન કરનારને એકાન્તત કર્મોની નિર્જરા થાય છે પરંતુ દયાની વાત એ છે કે ઉપસર્ગ પરીષહકારી પુરૂષ તો કેવળ પાપનોજ બધ કરે છે આ પાંચમુ સ્થાન છે

पात्र, कम्बलं, पादप्रोञ्छनं, सदोरकमुखवस्त्रिकां रजोहरणं वा आच्छिनत्ति= बलादुद्दालयति वा, विच्छिनत्ति=विच्छिन्नं करोति दूरे व्यवस्थापयति वा, अथवा यत्समीपच्छिनत्ति—आच्छिनत्ति, विशेषेण छिनत्ति—विच्छिनत्ति । भिनत्ति=वार्त स्फोटयति वा, अपहरति=चोरयति वा। इद चाक्रोशादिकमत्र आक्रोशवधाभिधान-परीषहद्वयरूपं मन्तव्यम्। उपसर्गविवक्षाया तु मानुष्यकमाद्येऽपिकाद्युपसर्गरूपमिति प्रथम स्थानम् ।

तथा—अय परीषहोपसर्गकारी, मिथ्यात्वादिकर्मवशवर्ती पुरुषो यक्षाऽऽविष्टः =देवाधिष्ठितः, तेन कारणेन मामाक्रोशतीत्यादि । इति द्वितीयं स्थानम् ।

तथा-मम तद्भववेदनीयं कर्म उदितमस्ति, तेनैष मामाक्रोशतीत्यादि । तेनैव मानुष्यकेण भवेन वेद्यते=अनुभूयते यत्तत्, तद्भववेदनीयम्। इति तृतीय स्थानम् ।

से भगाता है, मेरे ऊपर उपद्रव करता है, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद प्रोञ्छन, दोरासहित मुखवस्त्रिका रजोहरण आदि मेरे छुड़ाता है, और छुड़ाकर उन्हें दूर फेंक देता है, अथवा उन्हें झटकता है उन्हें फोड़ता है, चुराता है । ये आक्रोश आदि यहां पर आक्रोश एवं वधपरीषहरूप मानना चाहिये । जिस समय उपसर्ग की विवक्षा में ये आक्रोशादिक हों उस समय इनको मनुष्यकृत अथवा किसी देवीकृत उपसर्ग में परिगणित करना चाहिये । इस प्रकार यह प्रथमस्थान है ।

द्वितीय स्थान में यह विचार करना चाहिये कि मिथ्यात्वादिकर्म वशवर्ती यह परीषह एवं उपसर्गकारी पुरुष किसी देव से अधिष्ठित हो रहा है । इसी कारण यह मुझे आक्रोश आदि से पीड़ित कर रहा है। यह द्वितीय स्थान है ।

કરે છે, વસ્ત્ર, પાત્ર, કમ્બલ, પાદપ્રોચ્છન, દોરા સહિત મુખવસ્ત્રિકા, રજોહરણ આદિ મારી પાસેથી ખસેડે છે, ખસેડીને તેને દૂર ફેંકી દે છે, અથવા તેને ઝાટકે છે, તેને ફોડે છે, ચોરાવે છે, એ આક્રોશ આદિ સર્વને આ સ્થળે આક્રોશ અને વધ પરીષહરૂપ માનવા જોઈએ. જે સમયે ઉપસર્ગની વિવક્ષામાં એ આક્રોશ આદિક થાય તે સમયે એને મનુષ્યકૃત અથવા કોઈ દેવીકૃત ઉપસર્ગમાં પરિગણીત કરવુ જોઈએ. એ પ્રકારે આ પ્રથમ સ્થાન છે.

બીજા સ્થાનમાં—એ વિચાર કરવો જોઈએ કે, મિથ્યાત્વ આદિ કર્મના વશવર્તી આ પરીષહ અને ઉપસર્ગકારી પુરૂષ કોઈ દેવથી અધિષ્ઠિત થઈ રહેલ છે આ કારણથી મને આક્રોશ વગેરેથી પીડા આપી રહેલ છે આ બીજું સ્થાન છે.

तथा-एष बालः पापभयरहितत्वात् करोतु नाम आक्रोशनादि, मम पुन सहमानस्य=अक्षममाणस्य अतितिक्षमाणस्य=अनध्यासमानस्य, सर्वथा असातावि पापकर्म सपद्यते। इति चतुर्थं स्थानम्।

तथा-एष बाल पापभयरहितत्वात् करोतु नाम आक्रोशनादिक, मम पुन खलु सम्यक् सहमानस्य यावत् अध्यासमानस्य किं सपद्यते, अयं तावत् पाप बध्नाति मया च एकान्तेन निर्जरा क्रियते। इति पञ्चम स्थानम्।

तृतिय स्थान में ऐसा विचार करें कि यह तो बाल है, पाप के भय से रहित होने के कारण भले ही यह आक्रोश आदि करता रहे, परन्तु मेरा कर्तव्य तो इनको सहन करने का ही है। यदि मैं इनको सहन नहीं करता हू-सहन में साहस को छोड़ देता हू, इनसे यदि घबरा जाता हू तो मुझे असाता आदि पापकर्म का नियमत बध होगा। इस प्रकार यह चतुर्थ स्थान है।

पचमस्थान में सयमी को ऐसा विचार करना चाहिये, कि यह परीषह एव उपसर्गकारी व्यक्ति पाप के भय से रहित होने के कारण बाल है, इसकी इच्छा है यह आक्रोशादिक करे। इससे मेरा बिगडता क्या है? मुझे तो उल्टा फायदा ही है, क्यों कि उपसर्ग और परीषह को समतापूर्वक सहन करनेवाले के एकान्तत कर्मों की निर्जरा होती है, परन्तु यह उपसर्ग परीषहकारी पुरुष पाप का बध करता है। यह पञ्चम स्थान है।

त्रीजा स्थानमां-એવો વિચાર કરે કે, આ તો બાળ છે, પાપના ભયથી રહિત થવાના કારણે ભલે એ આક્રોશ આદિ કરતો રહે પરંતુ મારૂં કર્તવ્ય તો એને સહન કરવાનુ જ છે જો હું તેને સહન કરતો નથી. તો સહિષ્ણુતાના ગુણથી વિમુખ થાઉં છું જો તેનાથી હું ગભરાઈ જાઉં છું, તો મને અસાતા આદિ પાપ કર્મનો નિયમત બધ થશે. આ પ્રકારે આ ચોથુ સ્થાન પણ છે

પાંચમ સ્થાનમાં-સયમીએ એવો વિચાર કરવો જોઈએ કે, આ પરીષહ અને ઉપસર્ગ કરનાર વ્યક્તિ પાપના ભયથી રહિત હોવાના કારણે બાળ છે તેની ઈચ્છા છે કે, આ આક્રોશ આદિ કરે પણ તેથી મારૂ બગડે છે શુ? મને તો એથી ઉલટો ફાયદોજ છે કારણકે ઉપસર્ગ અને પરીષહને સમતા પૂર્વક સહન કરનારને એકાન્તતઃ કર્મોની નિર્જરા થાય છે પરંતુ દયાની વાત એ છે કે ઉપસર્ગ પરીષહકારી પુરૂષ તો કેવળ પાપનોજ બધ કરે છે આ પાંચમુ સ્થાન છે

इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैश्छद्मस्थसयतः उदितान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहेत, क्षमेत, तितिक्षेत, अध्यासीत।

अथ केवलिपरीषहाणां भेदाः—

पञ्चभिः स्थानैः केवली उदितान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहेत यावत्-अध्यासीत। तद् यथा-क्षिप्तचित्त=पुत्रशोकादिना नष्टचित्तः खलु अयं पुरुषः, तेन कारणेन-एष पुरुषो मामाक्रोशति वा तथैव यावत् अपहरति वा। इति प्रथम स्थानम्।

तथा—अयं पुरुषो हर्षातिरेक्याद् दृप्तचित्तोऽस्ति, पुत्रजन्मादि जनितहर्षेण गर्वितोऽस्ति, तेन कारणेन एष पुरुषो मामाक्रोशति यावत् अपहरति वा। इति द्वितीय स्थानम्।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त पाच स्थानों से उदित परीषह एवं उपसर्गों को सम परिणाम से युक्त हो कर साधु को सहन करना चाहिये। उन से घबराना नहीं चाहिये।

केवलीपरीषहों के भेद—

केवली पांच स्थानों से उदित परिषहों को सहन करते हैं, यावत् अध्यासित करते हैं – अर्थात् सम्यक्रूपसे सहन करते हैं। प्रथम स्थानमें वे यह विचार करते हैं कि—यह पुरुष पुत्रशोक आदि से विक्षिप्तचित्त है-इसका चित्त ठिकाने पर नहीं है इस कारण यह मेरे प्रति आक्रोश आदि कर रहा है।

द्वितीयस्थानमें वे, यह विचार करते हैं कि यह पुरुष हर्षातिरेकसे दृप्तचित्त है-पुत्रोत्पत्ति आदि जनित हर्ष से गर्वित हो रहा है इस कारण यह मेरे प्रति आक्रोश आदि चेष्टाएँ कर रहा है।

આ પ્રકારનાં એ પૂર્વોક્ત પાંચ સ્થાનોથી ઉદિત પરીષહ અને ઉપસર્ગોને સમપરિણામથી યુક્ત બનીને સાધુએ સહન કરવાં જોઈએ. એનાથી ગભરાવું ન જોઈએ.

કેવલીપરીષહોના ભેદ—

કેવલી પાંચ સ્થાનોથી ઉદિત પરીષહોને સહન કરે યાવત્ અધ્યાસિત કરે પ્રથમ સ્થાનમાં તે વિચાર કરે કે આ પુરુષ પુત્રશોક આદિથી ચિત્તભ્રમ સ્થિતમાં છે જેનું ચિત્ત ઠેકાણે નથી તે કારણે તે મારા ઉપર આક્રોશ આદિ કરી રહેલ છે

બીજા સ્થાનમાં તે એવો વિચાર કરે કે, આ પુરુષ હર્ષના આવેશમાં ડુબાઈ ગયેલ છે, પુત્રોત્પત્તિ વગેરેના કારણથી તે હર્ષથી છકી ગયેલ છે આ કારણે એ મારા તરફ આક્રોશ વગેરે ચેષ્ટાઓ કરે છે

तथा—यक्षाविष्ट. खलु अय पुरुषः, तेन कारणेन एप पुरुषो मामाक्रोशति यावत्-अपहरति वा । इति तृतीय स्थानम् ।

तथा—मम पुन. खलु तद्भववेदनीयं कर्म उदितम् । तेन कारणेन एप पुरुषो मामाक्रोशति यावत्-अपहरति वा । इति चतुर्थं स्थानम् ।

तथा—मां पुनः खलु सम्यक् सहमानं क्षममाण तितिक्षमाणम् अध्यासमानं दृष्ट्वा बहवोऽन्ये छद्मस्थाः श्रमणा निर्ग्रंथा उदितान् परीषहोपसर्गान् एवं सम्यक् सहिष्यन्ते यावत् अध्यासिष्यन्ते । इति पञ्चम स्थानम् ॥

इत्येतैः पञ्चमि. स्थानैः केवली उदितान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहेत यावत् अध्यासीत । एतत् स्थानाङ्गसूत्रे स्पष्टम् । (स्था ५ ठा. १ उ०) ॥ ४५ ॥

तृतीयस्थान में वे यह विचार करते हैं कि यह परीषह एव उपसर्गकारी व्यक्ति यक्षाविष्ट हो रहा है इस कारण मेरे प्रति आक्रोश आदि कर रहा है।

चतुर्थस्थान में वे ऐसा विचार करते हैं कि—मेरे इसी भव का वेदनीय कर्म उदित हो रहा है इस कारण यह पुरुप मेरे प्रति आक्रोशादिक कर रहा है ।

पचमस्थान में ऐसा विचार करते हैं—मुझे इन परीपह एवं उपसर्गों को अच्छी तरह सहन करते हुए देखकर अन्य अनेक छद्मस्थ श्रमण निर्ग्रन्थ उदितपरीपहों एव उपसर्गोंको सहन करेंगे, उनके सहन करने में चलायमान नहीं होवेंगे—सहन करते समय धैर्य धारण करेंगे ।

इस प्रकार इन पाच स्थानों से परीपहों एव उपसर्गों को सहन आदि करते हैं । यह स्थानाङ्गसूत्रमें स्पष्ट लिखा हुआ है । (स्था ५ उ १)॥४५॥

ત્રીજા સ્થાનમાં એવો વિચાર કરે કે, આ પરીષહ અને ઉપસર્ગ કરનાર વ્યક્તિ યક્ષાવિષ્ટ થઈ રહેલ છે આ કારણે તે મારા તરફ આક્રોશ વગેરે કરી રહેલ છે

ચોથા સ્થાનમાં એવો વિચાર કરે છે કે, મારાં આ ભવનાં વેદનીય કર્મ ઉદયમાં આવેલ છે, અને તે કારણને લઈ આ પુરૂષ મારા તરફ આક્રોશ કરી રહેલ છે

પાંચમા સ્થાનમાં એવો વિચાર કરે છે કે, મને આવા પરીષહ અને ઉપસર્ગોને સારી રીતે સહન કરતાં જોઈને અન્ય અનેક છદ્મસ્થ નિગ્રન્થ શ્રમણ ઉદિત પરીષહો અને ઉપસર્ગોને સહન કરશે તેના સહન કરવામાં ચલાયમાન નહીં થાય અને સહન કરતી વખતે ધૈય ધારણ કરતા રહેશે.

આ પ્રકારે એ પાંચે સ્થાનોથી પરીષહો અને ઉપસર્ગોને સહન કરે. આ સ્થાનાઙ્ગસૂત્રમાં સ્પષ્ટ લખેલ છે (સ્થા ૫ ઉ૦૧) ॥૪૫॥

अध्ययनार्थमुपसंहरन्नाह—

मूलम्—एए परीसहा सव्वे, कासवेण पवेइया ।
जे भिक्खू णं विहम्मेज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुइ ॥४६॥ त्तिबेमि

॥ बीयं परिसहज्झयणं समत्तं ॥

छाया—एते परीषहाः सर्वे, काश्यपेन प्रवेदिताः ।
यान् भिक्षुर्न विहन्येत, स्पृष्टः केनापि कस्मिंश्चित् ॥४६॥ इति ब्रवीमि ॥

टीका—'एए' इत्यादि ।

एते सर्वे परीषहाः काश्यपेन=काश्यपगोत्रोत्पन्नेन भगवता श्रीवर्धमानस्वामिना तीर्थकरेण प्रवेदिताः—प्रतिबोधिताः । यान्=परीषहान् ज्ञात्वा भिक्षुः केनापि परीषहेण कस्मिंश्चित् स्थाने स्पृष्टः सन् 'न विहन्येत=न पराजितो भवेत्, संयमात्

अब अध्ययन के अर्थ का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—
'एए' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(एए परीसहा—एते परीषहाः) ये २२ बाईस परीषह (कासवेण—काश्यपेन) काश्यपगोत्रोत्पन्न तीर्थंकर भगवान् श्रीमहावीर स्वामीने (पवेइया—प्रवेदिता) कहे हैं। (जे—यत) जिनको जानकर (भिक्खू—भिक्षुः) भिक्षु (केणइ—केनापि) किसी भी परीषह से (कण्हुइ—कुत्रचित) किसी स्थान में आक्रान्त होने पर (ण विहम्मेज्जा—न विहन्येत) पराजित नहीं

હવે અધ્યયનના અર્થનો ઉપસંહાર કરતાં સૂત્રકાર કહે છે —
'एए' ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—एए परीसहा—एते परीषहाः આ બાવીસ પરીષહ कासवेण—काश्यपेन કાશ્યપગોત્રોત્પન્ન તીર્થંકર ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીએ पवेइया—प्रवेदिता કહેલ છે जे—यत् જેને જાણીને भिक्खू—भिक्षुः કોઈ પણ ભિક્ષુ केणइ—केनापि પરીષહથી कण्हुइ—कुत्रचित् કોઈ સ્થાનમાં આક્રાંત થવાથી ण विहम्मेज्जा—न विहन्येत સંયમથી ભિક્ષુ પતિત ન થાય. "इति ब्रवीमि" આ પ્રકારે હે જમ્બૂ ! ભગવાને જેવું કહ્યું છે તેવું જ મેં કહ્યું છે મારી પોતાની બુદ્ધિની કલ્પનાથી કાંઈ નથી.

पतितो न भवेदित्यर्थः। इति ब्रवीमि=भगवता यथा प्रतिबोधित, तथा कथयामि न तु स्वबुद्धया प्रकल्प्येति भावः ॥ ४६ ॥

इति श्रीविश्वविख्यात-जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-
कलितललितकलापालापक-प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मायक-
वादिमानमर्दक-श्रीशाहूछत्रपति-कोल्हापुरराजप्रदत्त-
"जैनशास्त्राचार्य"-पदभूषित-कोल्हापुरराजगुरु-
बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्य-
श्रीघासीलालव्रतिविरचितायां श्रीमदुत्तराध्ययन-
सूत्रस्य प्रियदर्शिन्याख्यायां व्याख्यायां
परीषहनामकं द्वितीयमध्ययनं
सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

—(०)—

होवे-सयम से पतित्त नहीं होवे। "इति ब्रवीमि" इस प्रकार हे जम्बू! भगवान् ने जैसा कहा है मैंने वैसा ही कहा है। अपनी बुद्धि से कल्पित कर कुछ नहीं कहा है।

भावार्थ—अध्ययन की समाप्ति करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जो साधु इन परीषहों से पराजित नहीं होता है वह सयम की ठीक २ आराधना करता है। ये बाईस परीषह मैंने नहीं कहे हैं, भगवान् महावीरने कहे हैं। अतः इनका स्वरूप जानकर इनके सहन करने में प्रत्येक संयत को सावधान रहना चाहिये॥

॥ यह द्वितीय परीषहअध्ययन समाप्त हुआ ॥२॥

ભાવાર્થ—અધ્યયનની સમાપ્તિ કરતાં સૂત્રકાર કહે છે કે, જે સાધુ આ પરીષહોથી પરાજીત નથી થતા, તે સયમની ઠીક ઠીક આરાધના કરે છે આ બાવીસ પરીષહ મે કહ્યા નથી ભગવાન મહાવીરે કહ્યા છે આથી એનુ સ્વરૂપ જાણીને તેને સહન કરવામાં પ્રત્યેક સયતે સાવધાન રહેવુ જોઈએ.

॥ આ બીજુ પરીષહ નામનુ અધ્યયન સમાપ્ત થયુ ॥૨॥

अध्ययनार्थमुपसंहरन्नाह—

मूलम्—एए परीसहा सव्वे, कासवेण पवेइया ।
जे भिक्खू ण विहम्मेज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुइ ॥४६॥त्तिबेमि॥

॥ बीयं परिसहज्झयणं समत्तं ॥

छाया—एते परीषहाः सर्वे, काश्यपेन प्रवेदिताः ।
यान् भिक्षुर्न विहन्येत, स्पृष्टः केनापि कस्मिंश्चित् ॥४६॥ इति ब्रवीमि ॥

टीका—'एए' इत्यादि ।

एते सर्वे परीषहा काश्यपेन=काश्यपगोत्रोत्पन्नेन भगवता श्रीवर्धमानस्वामिना तीर्थंकरेण प्रवेदिता'-प्रतिबोधिता । यान्=परीषहान् ज्ञात्वा भिक्षुः केनापि परीषहेण कस्मिंश्चित् स्थाने स्पृष्टः सन् ' न विहन्येत=न पराजितो भवेत्, संयमात्

अब अध्ययन के अर्थ का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं-
'एए' इत्यादि ।

अन्वयार्थ-(एए परीसहा-एते परीषहाः) ये २२ बाईस परीषह (कासवेण-काश्यपेन) काश्यपगोत्रोत्पन्न तीर्थंकर भगवान् श्रीमहावीर स्वामीने (पवेइया-प्रवेदिता ' कहे हैं। (जे-यत) जिनको जानकर (भिक्खू-भिक्षुः) भिक्षु (केणइ-केनापि) किसी भी परीषह से (कण्हुइ-कुत्रचित) किसी स्थान में आक्रान्त होने पर (ण विहम्मेज्जा-न विहन्येत) पराजित नहीं

હવે અધ્યયનના અર્થનો ઉપસંહાર કરતાં સૂત્રકાર કહે છે—
'एए' ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—एए परीसहा-एते परीषहाः આ બાવીસ પરીષહ कासवेण-काश्यपेन કાશ્યપગોત્રોત્પન્ન તીર્થંકર ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીએ पवेइया-प्रवेदिताः કહેલ છે जे-यत् જેને જાણીને भिक्खू-भिक्षु કોઈ પણ ભિક્ષુ केणइ-केनापि પરીષહથી कण्हुइ-कुत्रचित् કોઇ સ્થાનમાં આક્રાંત થવાથી ण विहम्मेज्जा-न विहन्येत સંયમથી ભિક્ષુ પતિત ન થાય. "इति ब्रवीमि" આ પ્રકારે હે જમ્બુ ! ભગવાને જેવું કહ્યું છે તેવું જ મેં કહ્યું છે મારી પોતાની બુદ્ધિની કલ્પનાથી કાંઇ પણ કહેલ નથી.

मूलम्—चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं" ॥१॥

छाया—चत्वारि परमाङ्गानि, दुर्लभानि इह जन्तोः ।
मानुषत्वं श्रुतिः श्रद्धा, संयमे च वीर्यम् ॥ १ ॥

टीका—'चत्तारि' इत्यादि ।

इह=संसारे चत्वारि परमाङ्गानि-परमाणि=उत्कृष्टानि, अङ्गानि=साधनानि-मुक्तिप्राप्तिकारणानि, जन्तोः=प्राणिनः, दुर्लभानि=दुःखेन लभ्यानि, नरकनिगोदाद्यनन्तजन्ममरणानन्तरप्राप्यत्वात् । तानि धर्मप्राप्तेः प्रधानकारणानि चत्वारि । कानि ? इत्यत आह-'माणुसत्तं' इत्यादि । मानुषत्वं=मनुष्यजन्म, श्रुतिः=धर्मस्य श्रवणम्, श्रद्धा=धर्मे रुचिः, च=पुनः संयमे आस्रवविरमणरूपे विरतिलक्षणे सप्तदशविधे वीर्यं विशेषेण ईरयति प्रवर्तयति आत्मानं तासु तासु क्रियासु इति वीर्यं=सामर्थ्यम् । एतानि चत्वारि जीवस्य दुर्लभानि सन्तीति ।

अन्वयार्थ—(इह) इस संसार में (चत्तारि परमंगाणि-चत्वारि परमाङ्गानि) मुक्तिप्रापक ये चार अंग (जंतुणो-जन्तोः) प्राणि को (दुल्लहाणि-दुर्लभानि) महादुर्लभ हैं-नरक निगोदादिक में अनन्त जन्म कर लेने के बाद जीवों को प्राप्त होते हैं । धर्मप्राप्ति के प्रधान कारण चार अंग ये हैं (माणुसत्तं-मानुषत्वम्)१ मनुष्यजन्म, (सुई-श्रुतिः)२ धर्म का श्रवण, (सद्धा-श्रद्धा)३ धर्म में श्रद्धा रुचि (य-च) और (संजमम्मि य वीरियं-संयमे वीर्यम्)४ आस्रव का विरमणरूप जो १७ सत्रह प्रकार का संयम है उसमें विशेषरूप से शक्ति के अनुरूप प्रवृत्ति । ये चार बातें जीवके लिये प्राप्त होना महादुर्लभ हैं ।

અન્વયાર્થ—इह આ સંસારમાં चत्तारि परमंगाणि-चत्वारि परमाङ्गानि મુક્તિ આપનાર એ ચાર અંગ जंतुणो-जन्तो પ્રાણીને दुल्लहाणि-दुर्लभानि મહા દુર્લભ છે નરક નિગોદાદિકમાં અનંત જન્મ કરી લીધા પછી જીવોને પ્રાપ્ત થાય છે ધર્મ પ્રાપ્તિનું પ્રધાન કારણ આ ચાર અંગ છે माणुसत्तं-मानुषत्वम् ૧ મનુષ્ય જન્મ, सुई-श्रुति ૨ ધર્મનું શ્રવણ सद्धा-श्रद्धा ૩ ધર્મમાં શ્રદ્ધા-રૂચી य-च અને संजमम्मि वीरियं-संयमे वीर्यम् ૪ આસ્રવના વિરમણરૂપ જે સત્તર પ્રકારનો સંયમ છે તેમાં વિશેષરૂપથી શક્તિની અનુરૂપ પ્રવૃત્તિ આ ચારે વાતો જીવ માટે પ્રાપ્ત થવી મહા દુર્લભ છે

॥ अथ तृतीयमध्ययनम् ॥

परीषहनामक द्वितीयमध्ययनमुक्तम् । अथ तृतीयं चतुरङ्गीयमध्ययनं प्रारभ्यते। अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने परीषहाः सोढव्या इत्युक्तम्, तत्र 'किमालम्बनं कृत्वा ते सोढव्याः ?' इत्याकाङ्क्षायां चतुर्णामङ्गानां दुर्लभत्वमेव तदालम्बनमिति बोधयितु चतुरङ्गीयनामकमिदं तृतीयमध्ययनमुच्यते, तत्रादौ तेषां नामानि निर्दिशन्नाह—

तृतीय अध्ययन—

परीषहनामक द्वितीय अध्ययन कहा जा चुका है। अब चतुरंगीयनामक तृतीय अध्ययन प्रारम्भ होता है। द्वितीय अध्ययन के बाद इस अध्ययन को प्रारम करने का सूत्रकार का यह उद्देश्य है कि जो द्वितीय अध्ययन में "परीषह सहन करना चाहिये" ऐसा कहा है सो वहां पर ऐसा प्रश्न होता है कि "इन परीषहों को किसका अवलम्बन लेकर सहन करना चाहिये"। इसके समाधान निमित्त ही इस तृतीय अध्ययन का प्रारम है। इसमें यह बतलाया जायगा कि चार परम-उत्कृष्ट अंगों की प्राप्ति महादुर्लभ है। ये चार अंग बडे पुण्य से मिले हैं, ऐसा समझकर मुनि परीषहों को सहन करते हैं, वे ही चार अंग यहां अवलम्बन-आधार-रूप है अतः उन चार अंगोंको यहां बतलाते हैं—

'चत्तारि'—इत्यादि।

અધ્યયન ત્રીજુ

પરીષહ નામનુ બીજુ અધ્યયન કહેવાઈ ગયુ હવે ચતુરંગિય નામનુ ત્રીજુ અધ્યયન શરૂ થાય છે બીજા અધ્યયન પછી આ ત્રીજા અધ્યયનનો પ્રારભ કરવાનો સૂત્રકારનો એ ઉદ્દેશ છે કે, બીજા અધ્યયનમાં "પરીષહ સહન કરવો જોઈએ" એવુ કહેલ છે તેમાં એવો પ્રશ્ન ઉત્પન્ન થાય છે કે, આ પરીષહોને કોનુ અવલબન લઈને સહન કરવા જોઈએ. એના સમાધાન નિમિત્તે જ આ ત્રીજા અધ્યયનનો પ્રારભ છે આમાં એ વાત બતાવવામાં આવે છે કે, ચાર પરમ-ઉત્કૃષ્ટ અગોની પ્રાપ્તિ મહા દુર્લભ છે. એ ચાર અગ ઘણા પુન્યથી મળે છે. એવુ સમજીને મુનિ પરીષહોને સહન કરે. એ ચારે અગ અહી અવલબન આધાર રૂપ છે આથી એ ચાર અગોને અહી બતાવવામાં આવેલ છે.

'चत्तारि' ઇત્યાદિ.

मानुषत्वादिषु चतुर्षु कस्याप्येकस्याभावे मोक्षो न सम्भवतीत्यतउक्त 'चत्तारि ' इति। धर्मश्रवण विनाऽपि यस्य श्रद्धा दृश्यते सा जन्मान्तरीयश्रवणजन्यैवेति नास्ति शङ्कावसर'। मृद विना घट इव, तन्तून् विना पट इव, काष्ठ विना शकटमिव मानुषत्वादिचतुष्टय विना मोक्षो न भवति।

निर्जरा की अपेक्षा ये चार अग सर्वप्रथम उपादेय होने के कारण मुख्य हैं। इसलिये उनमें ही उत्कृष्टता आती है। इन चारों में से यदि एक भी अग का अभाव रहता है तो मुक्ति का लाभ जीव को नहीं हो सकता है। यही बात "चत्तारि" इस विशेषण से पुष्ट की गई है।

प्रश्न—धर्म के श्रवण से ही जीव को धर्म में श्रद्धा हाती है ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है, क्यों कि प्राय ऐसे भी जीव देखे जाते हैं कि जो धर्म का श्रवण तो नहीं करते हैं फिर भी उनकी धर्म में अटूट श्रद्धा रहती है।

उत्तर—प्रश्न ठीक है। परन्तु उसका उत्तर यह है कि–जो जीव ऐसे है कि धर्म श्रवण किये विना भी धर्म में श्रद्धाशाली होतेहैं उन्हों ने पहिले भव में धर्मश्रवण किया है, उसीका प्रताप है। मिट्टी के विना जैसे घट उत्पन्न नहीं हो सकता है, तन्तुओं के विना जैसे वस्त्र नहीं बन सकता है, काष्ठ के विना जैसे शकट का निर्माण

ચાર અગ સર્વ પ્રથમ ઉપાદેય થવાના કારણે મુખ્ય છે આ કારણે તેનામાં ઉત્કૃષ્ટતા આવે છે આ ચારમાંથી જો એક પણ અગનો અભાવ રહે તો મુક્તિનો લાભ જીવને થઈ શકતો નથી. આ વાત "चत्तारि" એ વિશેષણથી નક્કી કરવામા આવેલ છે

પ્રશ્ન—ધર્મના શ્રવણથી જ જીવને ધર્મમાં શ્રદ્ધા થાય છે એવો એકાન્તિક નિયમ નથી. કેમકે, ઘણા એવા જીવ જોવામાં આવે છે કે, જે ધર્મનું શ્રવણ કરતા નથી છતા પણ એની ધર્મમા અતૂટ શ્રદ્ધા રહે છે

ઉત્તર—પ્રશ્ન ઠીક છે પરતુ એનો ઉત્તર એ છે કે,–જે જીવ એવા છે કે જે ધર્મનું શ્રવણ કર્યા વગર પણ ધર્મમાં શ્રદ્ધાવાળા છે, એમણે આગલા ભવમા ધર્મ શ્રવણ કરેલ હોય છે આથી જ આ ભવમાં ધર્મમાં જે શ્રદ્ધા છે તે પરભવને વીશે સાંભળેલા ધર્મ શ્રવણનો પ્રતાપ છે માટી વગર જેમ ઘડો બની શકતો નથી, તતુઓ વગર જેમ વસ્ત્ર બની શકતું નથી, લાકડા વગર જેમ શકટનું નિર્માણ

एतदङ्गचतुष्टय हि गिरिषु मेरुरिव, तरुषु कल्पतरुरिव, धातुषु सुवर्णमिव, पानेषु पीयूषमिव, मणिषु चिन्तामणिरिव, प्रामाणिकपुरुषषु तीर्थंकर इव, धेनुषु कामधेनुरिव, मनुष्येषु चक्रवर्तीव, देवेषु शक्र इव प्रधानमस्तीति सूचनार्थं 'परमङ्गाणि' इत्यत्र परमेति विशेषणम्।

ननु मानुषत्वादीनां कथं परमाङ्गत्वम् निर्जराया एव मुक्तिप्राप्तौ साक्षात् कारणत्वेन प्राधान्यादिति चेत्? उच्यते-मानुषत्वादिचतुष्टय विना निर्जराया अनुत्पत्त्या तदपेक्षया मानुषत्वादिचतुष्टयस्य प्रथमोपादेयतया मुख्यत्वादुत्कृष्टत्वमस्ति।

ये चार अंग, पर्वतों में जैसे मेरु प्रधान है, वृक्षों में जैसे कल्पवृक्ष प्रधान है, धातुओं में जैसे सुवर्ण प्रधान है, पेय पदार्थों में जैसे अमृत प्रधान है, मणियों में जैसे चिन्तामणि प्रधान है, प्रामाणिक पुरुषों में जैसे तिर्थंकर प्रधान है, गायों में जैसे कामधेनु प्रधान है, मनुष्यों में जैसे चक्रवर्ती प्रधान है और देवों में जैसे इन्द्र प्रधान है उसी प्रकार ये चार अंग प्रधान हैं। इसी बात को द्योतन करने के लिये सूत्रकारने "परम" यह विशेषण दिया है।

प्रश्न—मानुषत्व आदि में परमाङ्गता-प्रधानता कैसे हो सकती है। क्यों कि मुक्ति की प्राप्ति में निर्जरा ही साक्षात्कारण होती है अतः निर्जरा की प्रधानता है।

उत्तर—यद्यपि मुक्ति की प्राप्ति में साक्षात्कारण निर्जरा है परन्तु निर्जरा निराश्रय तो होगी नहीं, अतः मानुषत्वादि चार के बिना जब निर्जरा नहीं बन सकती है तो यह बात स्वतः सिद्ध होती है कि

જેવી રીતે પર્વતોમાં મેરુ પ્રધાન છે, વૃક્ષોમાં જેમ કલ્પવૃક્ષ પ્રધાન છે, ધાતુમાં જેમ સુવર્ણ પ્રધાન છે, પીવાના પદાર્થોમાં જેમ અમૃત પ્રધાન છે, મણીઓમાં જેમ ચિંતામણી પ્રધાન છે, પ્રામાણિક પુરુષોમાં જેમ તીર્થંકર પ્રધાન છે, ગાયોમાં જેમ કામધેનુ પ્રધાન છે, મનુષ્યોમાં જેમ ચક્રવર્તી પ્રધાન છે, અને દેવોમાં જેમ ઇંદ્ર પ્રધાન છે, આવી રીતે આ ચાર અંગ પ્રધાન છે આ વાતને સમજાવવા માટે સૂત્રકારે "પરમ" એવું વિશેષણ આપેલ છે

પ્રશ્ન—મનુષ્યત્વ આદિમાં પરમાંગતા-પ્રધાનતા કઈ રીતે હોઈ શકે કેમકે, મુક્તિની પ્રાપ્તિમાં નિર્જરા જ સાક્ષાત્ કારણ હોય છે આથી નિર્જરાની પ્રધાનતા છે

ઉત્તર—કદાચ મુક્તિની પ્રાપ્તિમાં સાક્ષાત્કારણ નિર્જરા છે પરંતુ નિર્જરા નિરાશ્રય તો રહે નહીં આથી માનુષત્વાદિ ચાર અંગ વગર નિર્જરા બની શકતી નથી. આથી આ વાત સ્વતઃ સિદ્ધ થાય છે કે, નિર્જરાની અ

चुलन्यामासक्तो जातः। तयोर्दुश्चरितं ब्रह्मदत्तेन विदितम्। ब्रह्मदत्तेन काकहंसी युगलं पिष्टमयं मैथुनपरायणं निर्माय शूलमोतं कृत्वा ताभ्यां प्रदर्शितम्। तथा-गोनस-पद्मनागिनीयुगलं पिष्ठमयं कृत्वा वाचा तर्जयति-रे दुष्ट! दुराचारिन्! गोनस! किं पद्मनागिन्या सह रमसे? तत्फलं भुङ्क्ष्व, इत्युक्त्वा तदुभयं प्रज्वलज्ज्वलने प्रक्षिपति। एवं दुष्कर्मनिवृत्त्यर्थं ब्रह्मदत्तप्रदर्शितं दण्डं विलोक्यापि तौ दुष्कर्मकरणान्न निवृत्तौ। ततश्चुलन्या दीर्घपृष्ठनृपेण च परस्परं विचार्य ब्रह्मदत्तस्य विवाहः

तो वह दीर्घपृष्ठ चुलनी के मोह में फँस गया। चुलनी और दीर्घपृष्ठ के दुश्चरित की बात ब्रह्मदत्त के कान तक भी पहुँच गई। ब्रह्मदत्त ने उन दोनों को शिक्षा देने के अभिप्राय से आटे का एक, मैथुन में परायण काक और हँसी का जोडा निर्मापित कर और उसे शूल में पिरोकर उन दोनों को दिखलाया। तथा गोनस (फणरहित सर्प) और पद्मनागिनी का भी एक जोडा आटे से उसने तयार किया, और उन्हीं के समक्ष कहने लगा रे-दुष्ट! दुराचारी गोनस! तुझे लज्जा नहीं आती जो तू पद्मनागिनी के साथ रमता है? अरे अधम! तू अब अपने किये हुए कर्म का फल भोग। इस प्रकार वाणी से तर्जित कर उसने उन दोनों को जलती हुई अग्नि में डाल दिया। इस प्रकार दुष्कर्म की निवृत्ति के लिये ब्रह्मदत्त के द्वारा प्रदर्शित दण्ड को देखकर भी रानी और दीर्घपृष्ठ अपने अनर्थविधायक दुष्कर्म से पीछे नहीं हटा।

સમય વિતી ગયા બાદ તે દિર્ઘપૃષ્ટ ચુલનીના મોહમાં ફસાઈ ગયો. ચુલની અને દિર્ઘપૃષ્ટની આ દુશ્ચરિત્રની વાત બ્રહ્મદત્તના કાન સુધી પહોંચી ગઈ, બ્રહ્મદત્તે એ બન્નેને શિક્ષા દેવાના અભિપ્રાયથી આટામાથી (લોટમાંથી) એક મૈથુનમાં પરાયણ કાક અને હંસલીનુ જોડુ નિર્માણ કરી તેને શુલ્યમાં પરોવીને તે બન્નેને બતાવ્યુ તથા ફેણ વગરનો સાપ અને પદ્મનાગણનુ પણ એક જોડુ આટામાથી (લોટમાથી) બનાવી તૈયાર કર્યું અને તેની સામે કહેવા લાગ્યો, રે દુષ્ટ! દુરાચારિ ગોનસ (ફેણ રહિત સર્પ)! તને લાજ નથી આવતી કે તું, પદ્મનાગણની સાથે રમી રહ્યો છે અરે અધમ! તું હવે પોતાના કરેલા કર્મનુ ફળ ભોગવ. આ પ્રકારે કહીને એ બન્નેને તેણે ભડભડતી અગ્નિમાં નાખી દીધા આ પ્રકારે દુષ્કર્મની નિવૃત્તિ માટે બ્રહ્મદત્તદ્વારા પ્રદર્શિત દંડને જોઈને રાણી અને દિર્ઘપૃષ્ટ પોતાના અનર્થ વિધાયક દુષ્કર્મથી પાછા ન ફર્યા એક દિવસની વાત છે કે, આ બન્નેએ એકાંતમાં

मानुषत्वं दुर्लभमित्यत्र दश दृष्टान्ताः प्रदर्श्यन्ते, तद् यथा–चोल्लकः १, पाशकः २, धान्य ३, द्यूत ४, रत्न ५, स्वप्नः ६, चक्र ७, कूर्मः ८, युग ९, परमाणुः १०।

अथ प्रथमश्चोल्लकदृष्टान्तः–चोल्लको=भोजन तदुपलक्षितो दृष्टान्तः प्रोच्यते–

काम्पिल्यनगरे ब्रह्मनामको नृपतिरासीत्, तस्य भार्या चुलनीनाम्नी, पुत्रो ब्रह्मदत्तनामकः। तस्मिन् ब्रह्मनृपतौ मृते सति तत्पुत्रस्य ब्रह्मदत्तस्य बाल्यावस्था विलोक्य ब्रह्मनृपसुहृद् दीर्घपृष्ठनामको नृपस्तद्राज्यं रक्षति। तदनन्तरं स

नहीं हो सकता है उसी तरह इन मानुषत्व आदि चार अंगों की प्राप्ति हुए विना मुक्ति की प्राप्ति जीव को नहीं हो सकती है।

" मानुषत्वं दुर्लभ " मनुष्यपन की प्राप्ति महादुर्लभ है, इस विषय में दश दृष्टान्त कहे जाते हैं, जैसे–चोल्लक १, पाशक २, धान्य ३, द्यूत ४, रत्न ५, स्वप्न ६, चक्र ७, कूर्म ८, युग ९ परमाणु १०।

चोल्लक नाम भोजनका है। इससे उपलक्षित होनेसे चोल्लकको भी दृष्टान्त कह दिया गया है। यह प्रथम चोल्लकदृष्टान्त इस प्रकार है–

कांपिल्य नगर में ब्रह्म नाम का राजा था। इसकी स्त्री का नाम चुलनी और पुत्र का नाम ब्रह्मदत्त था। राजा ब्रह्म के काल प्राप्त हो जाने के बाद ब्रह्मदत्त की बाल अवस्था देखकर "राज्य में अव्यवस्था न फैल जाय" इस दृष्टि से राजा ब्रह्म के मित्र दीर्घपृष्ठ नाम के राजा ने उसके राज्य को सभाल लिया। जब कुछ समय व्यतीत हो गया

थई शकतुं नथी, एज रीते आ मानुषत्व आदि चार अंगोनी प्राप्ति थया विना मुक्तिनी प्राप्ति जीवने थई शकती नथी.

मानुषत्व दुर्लभ मनुष्यपणानी प्राप्ति महादुर्लभ छे, आ विषयमां दश दृष्टांत कहेवामां आवे छे जेम–चोल्लक १, पाशक २, धान्य ३, द्युत ४, रत्न ५, स्वप्न ६, चक्र ७, कूर्म ८, युग ९, परमाणु १०

चोल्लक नाम भोजननु छे एथी उपलक्षित थवाथी चोल्लकनुं पण दृष्टांत कहेवामां आवेल छे आ प्रथम चोल्लकदृष्टांत आ प्रकारनु छे—

कांपिल्य नगरमां ब्रह्मनामनो राजा हतो तेनी स्त्रीनुं नाम चुलनी अने पुत्रनुं नाम ब्रह्मदत्त हतु राजा ब्रह्मनी काळप्राप्ति पछी, ब्रह्मदत्तनी बाळ अवस्था जोईने "राज्यमा अव्यवस्था न फेलाई जाय" आ दृष्टीथी राजा ब्रह्मना मित्र दिर्घपृष्ट नामना राजाए तेना राज्यने संभाळी लीधे

तत्समीपे प्रकोष्ठकान्तरे शयनार्थं गत.। तदाऽर्धरात्रे जनन्याऽग्निसयोजनात् तज्जतुगृह प्रदीपितम्। ब्रह्मदत्त उत्थित'। तदा वरधनुर्ब्रह्मदत्त वदति–नाथ! प्रासादः प्रज्वलति, भवान् नि'सरतु। इति तद्वचन श्रुत्वा ब्रह्मदत्तो ब्रवीति–प्रदर्शय मार्गम्, तदा वरधनुर्वदति नाथ! अयमस्ति सुरङ्गामार्ग., पादाघातेन सुरङ्गाद्वारवर्तिशिलापट्टक चूरय, ब्रह्मदत्तेन तथा कृते सति उभौ तेनैव सुरङ्गापथेन नि'सृत्य बहिर्द्वारावस्थिततुरङ्गमौ समारुह्य देशान्तर गतौ।

द्वारा प्रेरित होने पर ब्रह्मदत्त उस लाक्षागृह में जाकर सो गया। वरधनु भी उसी के समीप एक प्रकोष्ठक में सो गया। जब आधी रात होने का समय आया तो चुलनी माता ने उस लाक्षागृह में आग लगा दी मकान जलने लगा। ब्रह्मदत्त एकदम उठा। वरधनु ने शीघ्र पास आकर ब्रह्मदत्त से कहा–नाथ! महल जल रहा है, अपन यहा से शीघ्र चले जावें। वरधनु के वचन सुनकर ब्रह्मदत्तने कहा–बताओ मार्ग कहा है? ब्रह्मदत्त के वचन सुनकर वरधनु ने कहा–नाथ! यह रहा सुरंग का मार्ग। इसके द्वार पर जो यह पत्थर की शिला का ढक्कन लगा हुआ है इसे आप पैरों से हटा दीजिये और बाहर निकल जाईये। ब्रह्मदत्त ने ऐसा ही किया। सुरग के द्वार पर लगे हुए पत्थर को पैर से हटाकर वे और वरधनु दोनों सुरंगमार्गसे बाहर निकल आये और बाहर के द्वारपर खडे हुए दोनों घोडोंपर चढकर वहासे दूसरे देशको चले गये।

મહેલમાં સુવા માટે ગયો મ ત્રીનો પુત્ર વરધનુ પણ તેની સાથે તે મહેલમાં ગયો અને તેની સાથે એ મહેલમાં તે પણ એક આસન ઉપર સુતો જ્યારે અરધી રાતનો પ્રારભ થઇ ચુકયો ત્યારે દુષ્ટભિંણી એવી કુમારની માતા ચુલનીએ તે લાખાગૃહમાં આગ લગાડી મહેલ સળગવા લાગ્યો, બ્રહ્મદત્ત એકદમ ઉઠયો. વરધનુએ એ વખતે તેની પાસે આવીને કહ્યુ, નાથ! મહેલ સળગી રહ્યો છે આપણે અહીથી તુરત જ નીકળી જવુ જોઇએ. વરધનુના વચન સાંભળીને બ્રહ્મદત્તે કહ્યું કે માર્ગ ક્યાં છે? બતાવો બ્રહ્મદત્તનું વચન સાંભળીને વરધનુએ કહ્યું, નાથ! આ રહ્યો બહાર નીકળવાનો રસ્તો. અહીં જે પત્થરનુ ઢાંકણુ લગાડેલુ છે તેને આપ પગથી દૂર કરો અને પછી ભોંયરામાં ઉતરી બહાર નીકળી જાઓ. બ્રહ્મદત્તે એ પ્રમાણે કર્યું ભોંયરાના મુખદ્વારના પત્થરને દૂર કરી કુમાર બ્રહ્મદત્ત અને વરધનુ બન્ને ભોંયરાના રસ્તે બહાર નીકળી ગયા અને બહારના દ્વાર પાસે તૈયાર રાખવામાં આવેલા ઘોડા ઉપર બેસી બન્ને જણા દૂર દેશમાં ચાલ્યા ગયા

कारितः । ततः कपटप्रबन्धेन ब्रह्मदत्तमारणार्थं जतुगृहं कारितम् । तदा धनुनामका ब्रह्मनृपतेर्मन्त्री तत् कपटं ज्ञातवान्। स च नदीतीरात् तद्गृहाभ्यन्तरेऽधः पृथिव्यां सुरङ्गां निर्माय नदीतटे सुरङ्गाद्वारे तुरगद्वयं स्थापयित्वा स्वपुत्रं वरधनुनामकं जतुगृहनिर्माणकारणं ज्ञापयति । ततो निःसरणार्थं निर्मापितां सुरङ्गां च दर्शयति। स वरधनुः स्वपित्राज्ञया ब्रह्मदत्तानुचरोऽभवत् ।

अन्यदा कदाचित् जनन्या प्रेरितो ब्रह्मदत्तस्तस्मिन् जतुगृहे सुप्तः, वरधनुः

एक दिन की बात है कि इन दोनोंने एकान्त में इस प्रकार की गुप्तमंत्रणा की कि ब्रह्मदत्त का विवाह कर देना चाहिये । ऐसा ही हुआ ब्रह्मदत्त का विवाह कर दिया गया । तथा ब्रह्मदत्त को मारने के लिये कपट से एक लाक्षागृह–लाख का महल भी बनवा कर तयार कराया गया । राजा ब्रह्म के मंत्री को उनकी यह कपट रचना ज्ञात हो गई। मंत्री का नाम धनु था । उसने नदी के तीर से लेकर उस लाक्षागृह के भीतर तक पृथिवी के नीचे एक सुरग बनवाई । जब सुरंग बनकर तयार हो चुकी तो नदी के तट पर कि जहां सुरग से बाहर निकलने का द्वार था दो घोडे खडे करवा दिये और अपने पुत्र से कि जिसका नाम वरधनु था लाक्षागृह के निर्माण का कारण प्रकट कर दिया । तथा यहा से निकलने के लिये जो सुरग बनाई गई थी उसका भी भीतरी दरवाजा उसे दिखला दिया । वरधनु अपने पिता की आज्ञा से ब्रह्मदत्त का अनुचर बन गया । एक दिन की बात है कि अपनी माता

એવા પ્રકારની ગુપ્ત મંત્રણા કરી કે, બ્રહ્મદત્તનો વિવાહ કરી દેવો. અને એ પ્રમાણે બ્રહ્મદત્તનો વિવાહ કરી દેવામાં આવ્યો. આ પછી બ્રહ્મદત્તને કપટથી મારવા માટે એક લાખાગૃહ (જોગણીનો મહેલ) બનાવી તૈયાર કર્યો રાજા બ્રહ્મના મંત્રીને તેમની આ કપટ રચના જાણવામાં આવી ગઈ મંત્રીનું નામ ધનુ હતુ તેણે નદીના કાંઠાથી લઈ ને એ લાખાગૃહની અંદર સુધીનું એક ભોંયરૂ તૈયાર કરાવ્યુ જ્યારે ભોંયરૂ તૈયાર થઈ ગયુ ત્યારે નદીના કાંઠા ઉપર કે જ્યાં ભોંયારમાથી બહાર નીકળવાનો રસ્તો રાખ્યો હતો તે સ્થળે બે ઘોડા તૈયાર રખાવ્યા અને પોતાના પુત્ર કે જેનું નામ વરધનુ હતુ તેને લાખાગૃહની સમસ્ત વાતથી જાણકાર કરી તેમાંથી નિકળવા માટે જે ભોંયરૂ બનાવવામાં આવેલ હતુ તેની સઘળી માહિતી આપી નીકળવા માટેનો દરવાજો તેને બતાવી દીધો. એક દિવસની વાત છે કે, કુમાર બ્રહ્મદત્ત તેની માતાના કહેવાથી, લાગૃહ

तत्समीपे प्रकोष्ठकान्तरे शयनार्थं गतः । तदाऽर्धरात्रे जनन्याऽग्निसंयोजनात्
तज्जतुगृहं प्रदीपितम्। ब्रह्मदत्त उत्थितः। तदा वरधनुर्ब्रह्मदत्तं वदति-नाथ !
प्रासादः प्रज्वलति, भवान् निःसरतु। इति तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मदत्तो ब्रवीति-प्रदर्शय
मार्गम्, तदा वरधनुर्वदति नाथ ! अयमस्ति सुरङ्गामार्गः, पादाघातेन सुरङ्गाद्वारवर्ति
शिलापट्टकं चूरय, ब्रह्मदत्तेन तथा कृते सति उभौ तेनैव सुरङ्गापथेन निःसृत्य बहि
र्द्वारावस्थिततुरङ्गमौ समारुह्य देशान्तरं गतौ ।

द्वारा प्रेरित होने पर ब्रह्मदत्त उस लाक्षागृह में जाकर सो गया। वर
धनु भी उसी के समीप एक प्रकोष्ठक में सो गया। जब आधी रात
होने का समय आया तो चुलनी माता ने उस लाक्षागृह में आग
लगा दी मकान जलने लगा। ब्रह्मदत्त एकदम उठा। वरधनु ने शीघ्र
पास आकर ब्रह्मदत्त से कहा-नाथ! महल जल रहा है, अपन यहां से
शीघ्र चले जावें। वरधनु के वचन सुनकर ब्रह्मदत्तने कहा-बताओ मार्ग
कहां है ? ब्रह्मदत्त के वचन सुनकर वरधनु ने कहा-नाथ! यह रहा
सुरग का मार्ग। इसके द्वार पर जो यह पत्थर की शिला का ढक्कन
लगा हुआ है इसे आप पैरों से हटा दीजिये और बाहर निकल जाईये।
ब्रह्मदत्त ने ऐसा ही किया। सुरग के द्वार पर लगे हुए पत्थर को पैर से
हटाकर वे और वरधनु दोनों सुरगमार्गसे बाहर निकल आये और बाहर
के द्वारपर खडे हुए दोनों घोडोंपर चढकर वहांसे दूसरे देशको चले गये।

મહેલમાં સુવા માટે ગયો. મંત્રીનો પુત્ર વરધનુ પણ તેની સાથે તે મહેલમાં
ગયો અને તેની સાથે એ મહેલમાં તે પણ એક આસન ઉપર સુતો જ્યારે
અરધી રાતનો પ્રારંભ થઈ ચુકયો ત્યારે દુષ્કભિવ્રી એવી કુમારની માતા
ચુલનીએ તે લાખાગૃહમાં આગ લગાડી મહેલ સળગવા લાગ્યો, બ્રહ્મદત્ત
એકદમ ઉઠયો. વરધનુએ એ વખતે તેની પાસે આવીને કહ્યુ, નાથ! મહેલ
સળગી રહ્યો છે આપણે અહીંથી તુરત જ નીકળી જવુ જોઈએ. વરધનુનાં
વચન સાંભળીને બ્રહ્મદત્તે કહ્યું કે માર્ગ ક્યાં છે? બતાવો બ્રહ્મદત્તનું વચન
સાંભળીને વરધનુએ કહ્યુ, નાથ! આ રહ્યો બહાર નીકળવાનો રસ્તો. અહીં જે
પત્થરનુ ઢાંકણુ લગાડેલુ છે તેને આપ પગથી દૂર કરો અને પછી ભોંયરામાં
ઉતરી બહાર નીકળી જાઓ. બ્રહ્મદત્તે એ પ્રમાણે કર્યું ભોંયરાના મુખદ્વારના
પત્થરને દૂર કરી કુમાર બ્રહ્મદત્ત અને વરધનુ બન્ને ભોંયરાના રસ્તે બહાર
નીકળી ગયા અને બહારના દ્વાર પાસે તૈયાર રાખવામાં આવેલા ઘોડા ઉપર
બેસી બન્ને જણા દૂર દેશમાં ચાલ્યા ગયા

अत्यन्तदूरपथभ्रमणजनितश्रमादश्वौ मृतौ। पादचारेण ब्रह्मदत्तो वरधेनुना सह पृथिव्यामटति। ततो दीर्घपृष्ठनृपस्य भयात् पृथक् पृथक् भूत्वा तौ पर्यटतः। अथ ब्रह्मदत्तः पर्यटन् निर्धनवेषेण क्वचित् वृक्षतले उपविष्टः। तदा केनचित् सामुद्रिकविद्यावता विप्रेण मार्गे ब्रह्मदत्तचरणन्यासं दृष्ट्वा मुदितचित्तं शीघ्रगत्या तत्र वृक्षतले समायातः। तत्र निर्धनवेषेण वर्तमानं ब्रह्मदत्तमवलोक्य स विप्रो रोदिति। तं ब्रह्मदत्तः पृच्छति–हे विप्र! कथं रोदिषि?, सामुद्रिकशास्त्रज्ञोऽसौ विप्र आह–अद्य मम विद्या असदर्थबोधिका जाता, मद्धरणलक्षणं भवतश्चक्रवर्तित्वमावे

अत्यन्त दूर तक अधिक वेग से चलने के कारण उनके घोड़े बहुत थक गये थे इसलिये उनका पेट फूल गया और दोनों घोड़े मर गये। ब्रह्मदत्त और वरधनु दोनों ही पैदल जंगलमें घूमने लगे, पर दीर्घपृष्ठ राजा का भय हृदय में घना हुआ था। इसलिये उन्हों ने अब अलग २ होकर चलना ही अच्छा समझा। ब्रह्मदत्त चलते २ एक किसी वृक्ष के नीचे आकर ठहर गया। इतने में वहां एक सामुद्रिक शास्त्र का वेत्ता ब्राह्मण जो उसी रस्तेसे होकर कहीं जा रहा था मार्गमें ब्रह्मदत्त के चरणचिह्नों को देखकर बड़ा ही प्रसन्न हुआ, और चरणचिह्नों को लक्षित कर वह उस स्थान पर आपहुंचा जहां ब्रह्मदत्त वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। ब्रह्मदत्त की निर्धन अवस्था देखकर ब्राह्मण को रोना आगया। ब्राह्मण को रोते देखकर ब्रह्मदत्त ने पूछा हे ब्राह्मण! क्यों रो रहे हो? सामुद्रिक शास्त्रज्ञ उस ब्राह्मण ने कहा कि मैंने जो सामुद्रिक

ઘણા વેગથી લાંબી મજલ કાપવાથી તેમના ઘોડા થાકી ગયા અને એથી બે ઘોડાઓનું પેટ ફુલી જતાં બન્ને ઘોડા મરી ગયા. વરધનુ અને બ્રહ્મદત્ત બન્ને પગપાળા જંગલમાં ફરવા લાગ્યા આ રીતે ફરવાથી દીર્ઘપૃષ્ટ રાજા તરફથી ભય આવી પડશે તેવી દહેશતથી બન્ને જણાએ જુદા જુદા ચાલવાનું રાખ્યું બ્રહ્મદત્ત ચાલતાં ચાલતાં કોઈ એક વૃક્ષની નીચે જઈ પહોંચ્યો અને ત્યાં રોકાઈ ગયો. આ સમયે સામુદ્રિકશાસ્ત્રજ્ઞાનનો જાણકાર એક બ્રાહ્મણ કે જે એ રસ્તેથી જઈ રહ્યો હતો તેણે માર્ગમાં બ્રહ્મદત્તનાં ચરણના મૂળમાં પડેલાં પગલાનાં ચિન્હોને જોઇને ખૂબ પ્રસન્નતા અનુભવી અને ચરણ ચિન્હોને લક્ષમાં રાખતો રાખતો તે જે સ્થળે કુમાર બ્રહ્મદત્ત હતો ત્યાં આવી પહોંચ્યો બ્રહ્મદત્તની નિર્ધન અવસ્થા જોઇને બ્રાહ્મણની આંખમાં આંસુ આવી ગયાં. બ્રાહ્મણને રોતાં જોઈ બ્રહ્મદત્તે કહ્યું, કે બ્રાહ્મણ શા માટે રડો છો? સામુદ્રિક શાસ્ત્રના જાણકાર તે બ્રાહ્મણે કહ્યું કે, મેં આજ સુધી

दयति किंतु भवान् निर्धनावतारो मिलित'। ब्रह्मदत्तो वदति–अहमस्मि चक्रवर्ती, यदा मम राज्यप्राप्तिः स्यात्तदा भवता ममान्तिकमागन्तव्यम्।

कालान्तरे ब्रह्मदत्तेन चक्रवर्तिराज्य प्राप्तम्, द्वादश वर्षाणि राज्याभिषेको-त्सवः प्रारब्धः। सामुद्रिकशास्त्रज्ञोऽसौ विप्रस्तदुत्सवसमाचार प्राप्य तत्रागतः।

शास्त्र का अभीतक अध्ययन किया है वह आज बिलकुल गलत साबित हो रहा है इसलिये मैं रो रहा हूं। आपके चरणों में जो चिह्न बने हुए हैं उनसे यह बात ज्ञात होती है कि आपको चक्रवर्ती होना चाहिये पर आपकी तो यह दशा है कि इस समय आपके पास खाने तक को अन्न भी नहीं है। आपका यह वेष दरिद्रियों जैसा है। अव-स्था आपकी निर्धन है। ऐसे मालूम पड़ता है कि मानों आप में निर्धनताने ही अवतार लिया है। ब्राह्मण की बात सुनकर ब्रह्मदत्त ने कहा–तुम्हारा सामुद्रिक शास्त्र मिथ्या नहीं है दुःखी मत होओ, मैं वास्तव में चक्रवर्ती ही हूं। जब मुझे राज्य की प्राप्ति हो तो उस समय तुम मेरे पास आना।

कालान्तर में ब्रह्मदत्त को चक्रवर्तिपद की प्राप्ति हुई। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बन गये। बारह वर्ष का राज्याभिषेक बड़ा ही ठाट बाट से मनाया जाने लगा। इसी अवसर में उस ब्राह्मण ने जब यह समाचार सुना तो वह भी वहां पर आगया पर वह ब्रह्मदत्तसे मिल नहीं सका।

સામુદ્રિક શાસ્ત્રનુ જે અધ્યયન કર્યું છે તે આજે બીલકુલ નકામુ માલુમ પડવુ છે આ માટે હુ રોઇ રહ્યો છુ આપના ચરણોમાં જે ચિન્હ જોવામાં આવે છે તેનાથી એવી વાત સિદ્ધ થાય છે કે, આપ ચક્રવર્તી બનવા જોઈએ પરંતુ આપની તો એ દશા છે કે, આ સમયે આપની પાસે ખાવાને અન્ન પણ નથી. આપનો આ વેશ દ્રરિદ્રીઓના જેવો છે આપની અવસ્થા નિર્ધન છે એવુ માલુમ પડે છે કે, આપનામાં નિર્ધનતાએ અવતાર લીધો છે, બ્રાહ્મણની વાત સાંભળી બ્રહ્મદત્તે કહ્યુ આ તમારૂ સામુદ્રિક શાસ્ત્ર મિથ્યા નથી, દુ ખી ન બનો હુ વાસ્તવમાં ચક્રવર્તી જ છુ જ્યારે મને રાજ્યની પ્રાપ્તિ થાય એ સમયે તમે મારી પાસે આવજો.

સમયના વહેવા સાથે બ્રહ્મદત્તને ચક્રવર્તિ પદ પ્રાપ્ત થયુ રાજ્યમાં ૧૨ વર્ષ સુધી તેના રાજ્યાભિષેકનો ઉત્સવ ઠામઠામ મનાવા લાગ્યો એ બ્રાહ્મણે જ્યારે આ પ્રસંગના શુભ સમાચાર જાણ્યા તો તે પણ ત્યાં આવી પહોંચ્યો, પણ તે બ્રહ્મદત્તને મળી શક્યો નહી બ્રહ્મદત્ત ચક્રવર્તી સાથે તેનો મેળાપ

ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिनो दर्शनं मम कथं स्यादिति पृष्टः कश्चित् श्रेष्ठी त विप्रं मार्गं दर्शयति। अथोत्सवसमये चक्रवर्ती गजमारुह्य बहिर्निःसरति। स विप्रस्तदा जनसमूहमध्ये वंशाग्रे पादत्राणमालां संयोज्य तं वंशमुत्थाप्य स्थितवान्। चक्रवर्ती स्वराज्यैश्वर्यशोभां समन्तात् विलोकयन् वंशाग्रसलग्नामुपानद्मालामपश्यत्। ततः कोपारुणनेत्रश्चक्रवर्ती भृत्यैस्तमाहूय पृच्छति–किमेतत् त्वया मर्तुमाचरितम्? विप्रः प्राह–नहि मर्तुं, किंतु जीवितुम्। चक्रवर्ती वंशोत्थापनकारणं विज्ञाय

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से अब मेरा मिलाप कैसे हो? इस बात को उसने किसी वहाँ के सेठ से पूछा तो उसने उसे मिलाप का रस्ता भी बतला दिया। उत्सव के समय चक्रवर्ती हाथी पर चढ़कर आ रहे थे, भीड़ काफी थी। ब्राह्मण ने मिलाप का मार्ग सोचा, उसके अनुसार एक बांस पर जूतों की माला लटका कर और उस बांस को भीड़ के बीच में ऊपर उठा कर वह खड़ा हो गया। चक्रवर्ती अपने राज्य के ऐश्वर्य की शोभा का चारों ओर से निरीक्षण करते हुए चल रहे थे। उन्हों ने इस दृश्य को ज्यों ही देखा इकदम देखते ही आखों में क्रोध की लाली उतर आई, नौकरों के जरिये उस ब्राह्मण को बुलवाकर पूछा, अरे! इस सुन्दर अवसर पर यह तूने क्या काम किया है? मालूम पड़ता है तेरी मौत आगई है। ब्राह्मण ने चक्रवर्ती की बात सुनकर कहा यह काम मैंने अपनी मौत को बुलाने के लिये नहीं किया है, किन्तु जीने के लिये किया है। जब चक्रवर्ती वंशोत्थापन के कारण से

કઈ રીતે થાય આ વાત તેણે ત્યાંના કોઈ શેઠને પૂછી તો તેણે મેળાપ માટેનો રસ્તો બતાવ્યો. ઉત્સવના સમયે ચક્રવતી હાથી ઉપર બેસી આવી રહ્યા હતા. ભીડ ખૂબ હતી, બ્રાહ્મણે મેળાપનો માર્ગ વિચાર્યો. આ અનુસાર તે એક વાંસ ઉપર લટકાવેલ જોડાની માળા સાથે તે લોકોની ભીડમાં હાથમાં વાંસડો ઉંચો રાખીને ઉભો રહ્યો ચક્રવર્તી પોતાના રાજ્યની ઐશ્વર્યની શોભાને ચારે તરફ દષ્ટી ફેરવી જોઈ રહેલ હતા, તેમણે આ દશ્ય જોયું અને જોતાં જ એક દમ આંખોમા ક્રોધની લાલીમા છવાઈ ગઈ નોકરો દ્વારા એ બ્રાહ્મણને બોલાવી પૂછ્યું અરે! આ સુંદર અવસર ઉપર તું આવું કામ કેમ કરી રહ્યો છે? માલુમ પડે છે કે તારૂં મોત આવ્યું છે ચક્રવર્તીની વાત સાંભળી બ્રાહ્મણે કહ્યું, આ કામ મે મારા મોતના બોલાવવાથી નથી કર્યું, પરંતુ જીવવા માટે કરેલ છે આ પછી ચક્રવતી વંશોત્થાપનના કારણથી યથાર્થ રૂપથી

तुष्टो भूत्वा गजोपरि स्वपार्श्वे तमुपवेश्य ब्रवीति-हे विप्र! स्वाभीष्टं ब्रूहि, ऽवदत् भार्यां पृष्ट्वा कथयामि। ततस्तेन स्वगृहमागत्य भार्या पृष्टा। भार्या सि चिन्तयति-धनागमे त्रीणि नश्यन्ति जीर्णं गृहं, जीर्णा भार्या, जिर्णं मित्रम्। वे विचार्य सा माह – एकैकस्मिन् दिने एकैकगृहे पायसभोजनं भवतु, इत्येव र्थनीयम्। ततोऽसौ विप्रश्चक्रवर्तिसन्निधौ समागत्य तदेव प्रार्थितवान्। चक्रवर्ती

धार्थरूप में परिचित हो चुके, तब वे बडे प्रसन्न हुए। उन्हों ने उस ाह्मण को शीघ्र ही हाथी पर अपने पास बैठा कर कहा कि कहो प्रदेव! तुम क्या चाहते हो? उसने कहा महाराज! मैं क्या चाहता यह बात तो अपनी भार्या से पूछकर आपसे कहूंगा। चक्रवर्ती से ह घर जाने की आज्ञा लेकर घर आगया। घर पर आकर उसने पनी पत्नी से समस्त वृत्तान्त कह दिया। पत्नी ने सुनकर विचार कया कि यदि यह धनवान् बन जायगा तो मुझे अवश्य छोड़ देगा, यों कि धन के आने पर तीन चीजें छोड़ दी जाती हैं—१जूना घर, जूनी भार्या और ३ जूना मित्र। इसलिये इससे कह दिया जाय कि में तो प्रतिदिन एक२ घर पर खीर का भोजन मिलता रहे, ऐसी व्य- स्था हो जानी चाहिये। बस इस प्रकार विचार कर ब्राह्मणी ने अपने ति से यही बात कही और कहा कि जाकर तुम राजा से यही मांगो पने लिये और वस्तु को क्या करना है। ब्राह्मण ने अपनी पत्नी की लाह मान कर चक्रवर्ती से यही मागा। चक्रवर्ती ने ब्राह्मण से कहा

પરિચિત બનતા ખૂબજ પ્રસન્ન થયા અને તેમણે બ્રાહ્મણને એજ વખતે પોતાના હાથી ઉપર બેસાડી લઈને પૂછયુ, કહો વિપ્રદેવ તમે શુ ચાહો છો? જવા બમાં તે બ્રાહ્મણે કહ્યુ, મહારાજ! હુ શુ ચાહુ છુ તે વાત મારી સ્રીને પૂછયા પછી આપને કહીશ. ચક્રવર્તીની આજ્ઞા લઇ તે પોતાને ઘેર ગયો. ઘેર પહોચી તેણે પોતાની સ્રીને સઘળો વૃત્તાંત કહી સંભળાવ્યો. સ્રીએ સઘળી બીના સાભળીને વિચાર કર્યો કે, મારો પતિ ધનવાન બની જશે તો એ મને અવશ્ય છોડી દેશે કેમકે, ધનના આવવાથી ત્રણ ચીજો ભુલાઈ જાય છે એક તો જુનાં ઘર, બીજુ સ્રી, ત્રીજુ જુનામિત્ર આ માટે એને એમ માગવાનુ કહેવામાં આવે કે, અમને પ્રતિદિન એક એક ઘેરથી ખીરનુ ભોજન મળતુ રહે એવી વ્યવસ્થા કરવામાં આવે આ પ્રકારનો વિચાર કરી બ્રાહ્મણીએ પોતાના પતિને એ વાત કહી અને કહ્યુ કે, તમે રાજા પાસે જઇને એ પ્રમાણે માગો આપણે બીજી વસ્તુની શુ જરૂર છે? બ્રાહ્મણે સ્રીની સલાહ માનીને રાજા પાસે જઇ તેની સ્રીના કીધા પ્રમાણે જ માગ્યું

प्राह—किमिदं प्रार्थयसि? ग्रामो, नगरं, वा कोशो वा याच्यताम्। स विप्रोऽवदत्—इदमेव ममेप्सितम्, ततश्चक्रवर्तिना तत्स्वीकृतम्। प्रथमदिने चक्रवर्तिनो भवने परम-सुस्वादु पायसं लब्धम्। तत्र काम्पिल्यनगरे चक्रवर्त्याज्ञयाऽसौ विप्रः प्रत्येकगृहे भोजनं क्रमेण प्रतिदिनं लभते, तथाप्यसौ गृहाणामन्तं न प्राप, कथं तर्हि तस्य समस्त भरतक्षेत्रवर्तिषु गृहेषु एकैकगृहे क्रमेण प्रतिदिनं भोजनप्राप्त्यनन्तरं पुनश्चक्रवर्तिभवने

यह तुमने क्या चीज मागी है, गाव मागो नगर मागो या कोश-खजाना मागो। सुनकर ब्राह्मण ने कहा हमें इन चीजों की आवश्यकता नहीं है। हमारी इच्छा तो जो है वह आप से निवेदित कर दी है। चक्रवर्ती ने ब्राह्मणकी बात स्वीकार करली। चक्रवर्तीने स्वयं सबसे पहिले दिवस इसके लिये परम स्वादिष्ट बढ़िया खीर अपने महलमें तैयार करवाई। ब्राह्मण ने बडे आनद के साथ खाई। क्रम२ से अब यह उस कांपिल्य नगर में सब के घर एकर दिन खीर के भोजन के लिये जाने लगा, परन्तु वहा इतने अधिक घर थे कि इसके जीवनभर तक भी जीमते२ घरों के बारे नहीं समाप्त हो सकते थे। तथा छह खंड की पृथिवी का अधिपति चक्रवर्ती होता है इसलिये यद्यपि उसके जीमने का नंबर छह खंडोंमें नियत कर दिया गया था, पर जब कांपिल्य नगर के घरों की ही समाप्ति नहीं हो सकी तो भरतक्षेत्र भर के घरों का बारा उसके कैसे प्राप्त हो सकता था? अतः वह बड़ा ही चिन्तित रहने लगा। वह विचारता रहता कि कब समस्त घरों का बारा मेरा समाप्त

ચક્રવર્તીએ બ્રાહ્મણને કહ્યું કે તમે આ શું માગ્યુ? ગામ, નગર અથવા તો ધન દોલત જે જોઈએ તે માગીલ્યો. બ્રાહ્મણે કહ્યું કે, મહારાજ! મને એવી કોઈ ચીજની જરૂરીઆત નથી અમારી જે ઇચ્છા છે તે આપની સમક્ષ રજુ કરી છે ચક્રવર્તીએ બ્રાહ્મણની વાતનો સ્વીકાર કરી અને પોતાનાજ મહેલમાં તેને માટે સ્વાદિષ્ટ એવી ખીર તૈયાર કરાવી બ્રાહ્મણે ખૂબ જ આનંદથી તે ખાધી ક્રમે ક્રમે તે કાંપિલ્ય નગરમાં બધાને ત્યાં એક એક દિવસ ખીરના ભોજન માટે જવા લાગ્યો. પરંતુ ત્યાં એટલાં બધાં ઘરો હતા કે એના જીવન સુધી જમતાં જમતાં ઘરનો વારો સમાપ્ત થઈ શકે તેમ ન હતું તેમાંવળી ચક્રવર્તી તો છ ખંડ ધરતીનો અધિપતી હોય છે આથી તેના જમવાનો નંબર છ ખંડોમાં નક્કી કરી આપેલ હતો પણ જ્યારે એકલા કાંપિલ્ય નગરનાં જ ઘરો તે પુરાં કરી શકે તેમ ન હતું ત્યાં ભરતક્ષેત્રના વિસ્તારનાં ઘરોનો વારો તો ક્યાંથી જ આવે? આથી તે ખૂબ જ ચિંતા કરવા લાગ્યો. તે વિચારવા લાગ્યો કે, ક્યારે સમસ્ત

भोजन लब्धव्यम्, समस्तभरतक्षेत्रान्तर्गतगृहाणां बाहुल्यात्। एवं यथा चक्रवर्तिनो भवनेऽनुपमं पायसं प्राप्तुमिच्छतस्तस्य विप्रस्य तद् दुर्लभं तथा मनुष्यजन्म दुर्लभम्।

अत्र संग्रहश्लोक —(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

भुक्तं स्वादुरसं द्विजेन भवने श्रीब्रह्मदत्तस्य यत्,
क्षेत्रेऽस्मिन् भरतेऽखिले प्रतिगृहे भुक्त्वा पुनस्तद्गृहे।
जातं तस्य यथा मनोऽभिलषितं तद् भोजनं दुर्लभं,
संसारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १॥

॥ इति प्रथमश्चोल्लकदृष्टान्त ॥ १॥

हो, और कब मुझे पुन चक्रवर्ती के घर पर बढिया खीर खानेको मिले, परन्तु न समस्त छह खण्ड के घरों का वारा उसका समाप्त हो और न पुन चक्रवर्ती के घर की खीर उसको मीले। जैसे इस ब्राह्मण को पुन वह खीर भोजन दुर्लभ हो गया उसी प्रकार यह मनुष्यजन्म भी बड़ा दुर्लभ है। यह प्रथम दृष्टान्त है। इस पर यह संग्रह श्लोक है—

भुक्तं स्वादुरसं द्विजेन भवने श्रीब्रह्मदत्तस्य यत्,
क्षेत्रेऽस्मिन् भरतेऽखिले प्रतिगृहे भुक्त्वा पुनस्तद्गृहे।
जातं तस्य यथा मनोऽभिलषितं तद्भोजनं दुर्लभं।
संसारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

इस श्लोक में इस कथा का सार बतलाया गया है। अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती के घर पर एक बार बढिया खीर का भोजन

ઘરોનો વારો પુરો થાય અને ક્યારે મને ચક્રવર્તીના મહાલયમા ફરીથી ઉત્તમ એવી ખીર ખાવાનો પ્રસગ મળે? આ રીતે ન તો સમસ્ત છ ખડના ઘરોનો તેનો વારો પુરો થાય અને ન ચક્રવર્તીને ત્યાં ફરીથી ખીર ખાવા જવાનો પ્રસગ મળે. આ રીતે તે બ્રાહ્મણને ફરીથી ચક્રવર્તીને ત્યાં ખીર ખાવાનો પ્રસગ પ્રાપ્ત ન થયો. તેવી જ રીતે આ મનુષ્ય જન્મ પણ ઘણો દુર્લભ છે આ પ્રથમ દૃષ્ટાંત છે એના ઉપર આ સગ્રહ શ્લોક છે

भुक्तं स्वादुरसं द्विजेन भवने श्रीब्रह्मदत्तस्य यत्।
क्षेत्रेऽस्मिन् भरतेऽखिले प्रतिगृहे भुक्त्वा पुनस्तद्गृहे॥
जातं तस्य यथा मनोऽभिलषितं तद्भोजनं दुर्लभं।
संसारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

આ શ્લોકમાં આ કથાનો સાર બતાવવામાં આવેલ છે અર્થાત્ જે રીતે બ્રહ્મદત્તચક્રવર્તીના ઘરે એકવાર ઉત્તમ ખીરનુ ભોજન કરીને તે બ્રાહ્મણને

अथ द्वितीय. पाशकदृष्टान्तः प्रोच्यते—

पाशको द्यूतोपकरणविशेषः, स एव दृष्टान्त.-पाशकदृष्टान्तः, स चैवम्—

गोल्लदेशे चणकनामके ग्रामे बहु शीलव्रतगुणव्रतविरमणप्रत्याख्यानपौषधोपवासादि श्रावकधर्मं पालयन् चणकनामको ब्राह्मण आसीत्। स सदसदोरकमुखवस्त्रिकः सन्नुभयकाले सामायिकप्रतिक्रमण कुर्वन्नासीत्। अन्यदा कदाचित् तस्य गृहे सुव्रत

कर उस ब्राह्मण को उसी घरपर पुन. भोजन करने की अभिलाषा हुई परन्तु उसकी पूर्ति होनी बड़ी ही मुश्किल थी क्यों कि जब तक उनके साम्राज्यभर के घरों का बारा वह समाप्त नहीं कर लेता तब तक उसको पुनः चक्रवर्ती के घर का नंबर प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस ससार में भ्रमण करने वाले इस जीव को पुन नरभव मिलना बड़ा दुर्लभ है। यह प्रथम चोल्लकदृष्टान्त हुआ ॥ १ ॥

अब दूसरा पाशकदृष्टान्त कहते हैं—

जुआ खेलने का जो उपकरण विशेष होता है जिसको हिन्दी में पासा कहते हैं उसका नाम पाशक है। उसका दृष्टान्त इस प्रकार है-

गोल्लदेशस्थ चणक नाम के ग्राम में बहु शील व्रत गुण अर्थात् व्रत प्राणातिपातादिविरमण, प्रत्याख्यान-पौषधोपवास आदि श्रावकधर्म को पालन करने वाला चणक नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह दोनों काल मुख पर डोरे से मुखपत्ति बांधकर सामायिक एवं प्रतिक्रमण किया करता था। एक दिन की बात है कि उसके घर पर एक

ચક્રવર્તિને ત્યાં ખીરનુ ભોજન ફરીથી કરવાની ઇચ્છા લાગી પરતુ તેની એ ઇચ્છા પૂર્ણ થઈ શકી નહી કેમકે, એના સામ્રાજ્યભરના ઘરોનો વારો તે પૂર્ણ ન કરી લે ત્યાં સુધી તેને ફરી ચક્રવર્તીને ત્યાં ખીર ખાવા માટે જવાનો વારો પ્રાપ્ત થતો ન હતો. એ પ્રકારે આ સ સારમાં ભ્રમણ કરવાવાળા આ જીવને પુન મનુષ્ય અવતાર મળવો મહા દુર્લભ છે આ પ્રથમ ચોલ્લક દૃષ્ટાંત બતાવેલ છે

હવે બીજુ પાશકદૃષ્ટાંત કહેવામા આવે છે—

જુગાર ખેલવામાં જેનો ઉપયોગ કરવામાં આવે છે તેને પાસા કહે છે તેનું નામ પાશક છે તેનુ દૃષ્ટાંત આ પ્રકારનું છે—

ગોલ્લ દેશમાં ચણક નામના ગામમા ઘણા જ શીલ વ્રત ગુણ સ પન્ન અને વ્રત પ્રાણાતિપાતાદિ વિરમણ પ્રત્યાખ્યાન પૌષધ ઉપવાસ વગેરેથી શ્રાવક ધર્મનુ પાલન કરવાવાળો ચણક નામનો એક બ્રાહ્મણ રહેતો હતો એ બન્ને વખત મોઢા ઉપર દોરા સાથેની મુખવસ્ત્રિકા રાખીને સામાયિક અને પ્રતિક્રમણ કરતો હતો. એક દિવસની વાત છે કે, તેને ઘેર સુવ્રત નામના એક

नामा मुनिर्भिक्षार्थं समागतः। तदा चणकब्राह्मणस्य दन्तसहितः पुत्रो जातः। बालकं मुने समीपमानीयाऽब्रवीत्-'भदन्त! अयं दन्तसहितो जातः, किमस्य फलं भविष्यति'। मुनि प्राह-अयं दन्तसहित समुत्पन्नस्तस्मादयं राजा भविष्यति। चणको मुनेर्वचनं निशम्य चिन्तयति-अयं राजा भूत्वा नरकं यास्यति। इत्येवं विचिन्त्य बालकस्य दन्तान् घृष्टवान्।

पुनरेकदा कालान्तरे सुव्रतमुनिश्चणकस्य गृहे समागतः, ततश्चणकब्राह्मणो मुनिं प्राह—भदन्त! अस्य बालकस्य दन्ता घृष्टाः। मुनिर्वदति-दन्तेषु घृष्टेषु बालकोऽयं राजा न स्यात्, किं तु सर्वाधिकारसंपन्नः सचिवो भविष्यति। चणकेन

सुव्रत नाम के मुनिराज भिक्षा के लिये आये। उस समय उस ब्राह्मण के यहां दांत सहित एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। चणक ने उस बालक को मुनि के समीप लाकर कहा-भदन्त! यह बालक दांतसहित उत्पन्न हुआ है इसका क्या फल होना चाहिये सो कृपा कर कहिये। सुनकर मुनिराज ने कहा-यह जो दांतोंसहित उत्पन्न हुआ है उसका यह फल है कि यह राजा होगा। चणक ने मुनि के वचन सुनकर विचार किया कि यदि यह राजा होगा तो दुर्गति का भागी हो जायगा इसलिये उसने उसके दांतों को घिस दिया।

कालान्तर में वे ही सुव्रतमुनि एक दिन चणक के घर पर पुनः पधारे। मुनिराज को आये देखकर चणक ने उनसे कहा-भदन्त! इस बालक के दांतों को मैंने घिस दिया है। चणक की बात सुनकर मुनिराज ने कहा-दांतों को घिसे जाने से यद्यपि यह बालक राजा नहीं हो सकेगा तो भी राजा जैसा होगा, अर्थात् राजा का सर्वाधिकार

માટે આવ્યા. તે વખતે એ બ્રાહ્મણને ઘેર જન્મ વખતે દાંત સહિત એક પુત્ર જન્મ્યો હતો, ચણક એ બાળકને મુનિ પાસે લઈ આવ્યો અને કહ્યું, ભદન્ત! આ બાળક દાંત સાથે ઉત્પન્ન થયો છે એનું શું ફળ હોવું જોઈએ? સાંભળી મુનિરાજે કહ્યું કે, દાંત સહીત ઉત્પન્ન થયેલ આ બાળકનું ફળ એ છે કે, તે રાજા થશે. ચણકે મુનિનું વચન સાંભળીને મનમાં વિચાર કર્યો કે, જો આ બાળક રાજા થશે તો દુર્ગતિ ભોગવનાર બનશે આથી તેણે તે બાળકના દાંત ઘસી નાખ્યા.

વખત જતા તે સુવ્રત મુનિ એક દિવસ ચણકને ત્યાં ફરીથી પધાર્યા. મુનિરાજને આવેલા જોઈને ચણકે તેમને કહ્યું કે ભદત! મે આ બાળકના દાંતોને ઘસી નાખ્યા છે ચણકની વાત સાંભળીને મુનિરાજે કહ્યું,-દાંતોના ઘસી નાખવાથી જો કે તે રાજા ભલે ન બની શકે તો પણ તે રાજા જેવો થશે. અર્થાત

तस्य वालकस्य 'चाणक्य' इति नाम कृतम् । स चतुर्दश विद्या अधीतवान् । तस्य यौवने वयसि विवाहः कारितः ।

चाणक्यस्य श्वशुरो धनाढ्य आसीत् । कदाचित् तस्य गृहे पुत्रस्य परिणयोत्सव समजात । तद् वृत्त विदित्वा चाणक्यस्य भार्या पितुर्भवनं गता । सा गच्छन्ती पतिमवोचत्–भवताऽपि तत्रागन्तव्यम् । चाणक्यो वदति–अहं निर्धनोऽस्मि, स धनाढ्योऽस्ति, स ममादर न करिष्यति, मा निर्धनं मत्वा तेन नाहं निमन्त्रितः,

सपन्न प्रधान बनेगा । चणक ने उस बालक का नाम चाणक्य रखा । चाणक्य ने १४ चौदह विद्याएँ पढी । पढकर जब चाणक्य योग्यता सपन्न हो गया तब युवा होने पर पिताने इसका विवाह कर दिया।

चाणक्य का श्वशुरपक्ष धनसपन्न था । किसी एक समय चाणक्य के ससुराल में विवाह होनेवाला था । चाणक्य की भार्या को जब यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो वह विवाह में समिलित होने के लिये पतिगृह से अपने पिता के घर आई । जिस समय यह पतिगृह से पितृगृह आई थी तब इसने अपने पति चाणक्य से चलते २ यह कहा था कि आप भी समिलित होने के लिये वहाँ आवें । चाणक्य ने उसके प्रत्युत्तर में उससे कहा कि मैं निर्धन हू–वे धनिक हैं वहां विना बुलाये आने पर मेरा कोई आदर नहीं होगा । यही कारण है कि ससुरने मुझे विवाहका आमंत्रण तक भी नहीं भेजा है । चाणक्य की यह

રાજાનો સર્વ અધિકાર સપન્ન એવો સર્વાધિકારી પ્રધાન બનશે. ચણકે એ બાળકનું નામ ચાણક્ય રાખ્યુ ચાણક્યે ચૌદ વિદ્યાનો અભ્યાસ કર્યો. આ પછી તે વિદ્યાથી સપન્ન બની ગયો અને યોગ્ય વયે પહોંચ્યો ત્યારે તેના પિતાએ તેનો વિવાહ કરી દીધો

ચાણક્યનો શ્વસુરપક્ષ ધન સપન્ન હતો કોઈ એક સમય ચાણક્યના શ્વસુરપક્ષમાં લગ્ન પ્રસગ હતો. ચાણક્યની પત્નિએ જ્યારે આ હકીકત જાણી ત્યારે તે લગ્ન પ્રસગમાં સામેલ થવા માટે પતિને ત્યાંથી નીકળી પોતાના પિતાના ઘેર આવી. જે સમય તે પોતાના પતિને ત્યાંથી નીકળેલી ત્યારે તેણે પોતાના પતિ ચાણક્યને પણ લગ્ન પ્રસગમાં આવવાનુ કહેલુ જેના પ્રત્યુત્તરમાં ચાણક્યે જણાવેલું કે, હું નિર્ધન છુ એ ધનવાન છે ત્યાં બોલાવ્યા વગર જવાથી મારો યોગ્ય આદર ન પણ થાય અને મારી નિર્ધન અવસ્થા એ પણ એક કારણ છે કે જેને લઈને લગ્નનું આમત્રણ પણ આપવામાં આવેલ નથી.

चाणक्ये नैवमुक्ता भार्या पुनस्तत्राऽऽगन्तु पतिं प्रार्थितवती । तत. स्वभार्यानुरोधेन चाणक्योऽपि पश्चात् तत्र गत । ग्रामाद् बहि. क्वचिद् वृक्षतळे चाणक्य. स्थित्वा श्वशुर प्रति सदेशं प्रेषयति । श्वश्रू. श्वशुरश्च चाणक्य प्रति तदुत्तर दत्तवन्तौ त्वया दिवसेऽत्र नागन्तव्यम्, रात्रौ भवनस्य पश्चाद्भागवर्तिना मार्गेणागन्तव्यम् । चाणक्यस्त छुत्वा तथैव रात्रौ गत । श्वश्रू. श्वशुरश्च भवनस्याधस्तनभूमिकाया चाणक्य भोजयत. । अन्यान् सम्बन्धिनस्तु भवनोपरितनभूमिकायाम् । श्वश्रूश्चाणक्याय शुष्क रूक्ष भोजनीय परिवेषयति, अन्येभ्यस्तु विविधानि मिष्टान्नानि ।

बात सुनकर उसकी भार्या ने पुन उनसे यही प्रार्थना की कि आप इस बात का विचार न कर वहा अवश्य आवें । भार्या के इस प्रकार के अनुरोध करने पर चाणक्य भी पीछे से वहा गया । उसने श्वशुर गृह में पहुँच ने के पहिले बाहिर ही किसी वृक्ष के नीचे ठहर कर श्वशुर के पास अपने आनेका समाचार भेजा । सास ससुर ने चाणक्य के प्रति उत्तररूप सदेश भेजा कि आप आये बहुत अच्छा किया परन्तु आप यहा दिनमें नआवे, रात्रिमें आवे, सो भी मकान के पीछे के मार्ग से आवें –साम्हनेके मार्ग से नहीं। चाणक्यने ऐसा ही किया । वे रात्रिमें श्वशुरगृह पर पहुंचे। सास और श्वशुर न चाणक्य को भोंयरेमें बैठाकर भोजन कराया। बाकीजो और संबधीजन थे उन सबको मकान की छतपर बैठाकर भोजन कराया । चाणक्य के लिये सासुजी ने जो भोजन परोसा था वह इकदम बिल्कुल शुष्क एव रूक्ष था । दूसरे महेमानों के लिये जो भोजन परोसा गया था वह विविध प्रकार के मिष्टान्नों से युक्त था । चाणक्य

ચાણક્યનુ આ વચન સાંભળી તેની પત્નિએ એવી પ્રાર્થના કરી કે, તમે આવી વાતનો વિચાર ન કરતાં લગ્નમા જરૂરથી આવો. પત્નિના આવા આગ્રહને વશ બની પાછળથી ચાણક્ય લગ્ન પ્રસ ગમા સામેલ થવા ત્યાં ગયા એણે સાસરાને ત્યા પહોંચતાં પહેલાં ગામની ભાગોળે કોઇ એક વૃક્ષ નીચે રોકાઇને સાસરાને પોતાના આવવાના ખબર મોકલ્યા. સાસુ સસરાએ તેના આવવાના સમાચાર જાણી તેને કહેવરાવ્યુ કે, તમે આવ્યા તે ઠીક કર્યુ પર તુ તમે દિવસના ભાગમા અહિં આવશો નહીં રાતના વખતે અને તે પણ મકાનના પાછલા ભાગમાં થઈને આવજો. ચાણક્યે એમ જ કર્યું તે રાતના વખતે સાસરાને ઘેર પહોંચ્યા. સાસુ સસરાએ તેને મકાનના ભોંયતળીયે બેસાડીને ભોજન કરાવ્યુ જ્યારે બાકીના મહેમાનોને એક સાથે સમા રોહમાં ઉપરના માળે ભોજન કરાવ્યુ ચાણક્યને આપવામા આવેલ ભોજન પણ સાવ નિરસ અને શુષ્ક હતુ જ્યારે બીજા મહેમાનોને સ્વાદિષ્ટ મિષ્ટ

एवमपमानितो भूत्वा समार्यश्चाणक्यः स्वगृहं समागतः। तदा चाणक्येन चिन्तितम्—श्वशुरेण मम निर्धनत्वादपमानः कृतः। इति विचिन्त्य धनमर्जयितुं चाणक्यः पाटलिपुत्रनगरे नन्दनाम्नो नृपस्य समीपे योगिवेषेण गतः। पूर्वाह्णे राज्यकार्यालये प्रविष्टः, तदा तस्य दासी कार्यालयं समार्जयन्ती पश्यति—चाणक्यः सिंहासने तुम्बीपात्रं स्वासनं च स्थापयति। नन्दनृपस्य भृत्याश्चाणक्यं तिरस्कृत्य बहिर्निःसारयन्ति। तदा चाणक्येन प्रतिज्ञा कृता—नन्दनृपस्य राज्यं समूलं नाशयिष्यामि।

अपना इस प्रकार का बड़ा निरादर देख कर भार्या को साथ में लेकर अपने घर पर वापिस आ गया। आकर उसने विचार किया कि श्वशुर ने जो मेरा निरादर किया है उसका कारण मेरी यह निर्धनता है, अतः धन कमाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार विचार करने के बाद यह धन कमाने के लिये पाटलीपुत्र नगर में नन्द नाम के राजा के पास योगी का वेष धारण कर पहुँचा। पूर्वाह्न अर्थात् दिन के पूर्व भाग में चाणक्य ने कचहरी में प्रवेश किया, एक उस कचहरी की दासी ने जो उस समय उस कचहरी को झाड़ रही थी चाणक्य को देखा, चाणक्य ने वहां एक ओर सिंहासन के ऊपर अपना तुम्बीपात्र और आसन रख दिया। नन्द राजा के नौकरों ने यह देखकर चाणक्य को धक्का देकर एवं तिरस्कार कर के वहां से बाहिर निकाल दिया। चाणक्य ने इस अपमान से क्रुद्ध होकर वहीं पर यह प्रतिज्ञा की, कि मैं इस नन्दनृप के राज्य का समूल विनाश कर दूंगा। इस प्रकार कह

જોઈને જમાઈનું ચાણક્ય આ પ્રકારની પોતાના પ્રત્યેની વર્તણુક જોઈને પોતાની પત્નિને લઈ ને પોતાને ઘેર પાછા ફર્યા ઘેર આવીને તેણે મનમાં એવો વિચાર કર્યો કે, સાસુસસરાએ મારૂં જે અપમાન કર્યું તેનું કારણ મારી નિર્ધનતા જ છે આથી ધન કમાવવાનો મારે પ્રયત્ન કરવો જોઈએ આ પ્રમાણે વિચાર કર્યા પછી તે ધન કમાવા માટે પાટલીપુત્ર નગરમાં નંદ રાજાની પાસે યોગીનો વેશ ધારણ કરી પહોંચી ગયા. દિવસના પહેલા પ્રહરમાં ચાણક્યે રાજકચેરીમાં પ્રવેશ કર્યો. એ વખતે રાજકચેરીની દાસી કચેરીને સાફસુફ કરી રહી હતી તેણે ચાણક્યને જોયા ચાણક્યે ત્યાં એક સિંહાસન ઉપર પોતાનું તુંબીપાત્ર અને આસન રાખી દીધું નંદરાજાના નોકરોએ આ જોઈને ચાણક્યને ધક્કા મારીને તથા તેનો તિરસ્કાર કરીને બહાર કાઢી મુક્યા ચાણક્યે આ અપમાનથી ક્રોધિત થઈને ત્યાંજ પ્રતિજ્ઞા કરી કે, હવે હું આ નંદરાજાના રાજ્યનો સમૂળગોજ વિનાશ કરી નાખીશ. આ પ્રમાણે નિર્ણય કરીને તે

ततश्चाणक्यस्तस्य नन्दनृपस्य राज्ये भ्रमन् मयूरनामकं लघुग्रामे समागतः, तत्र मयूरपालको निवसति। तत्र मयूरपालकस्य सगर्भायां भार्यायाश्चन्द्रपानदोहदो जातः। सा दोहदालाभेन कृशशरीरा खिन्ना सञ्जाता। सन्यासिवेषेण चाणक्यस्तत्र भ्रमन् मयूरपालकस्य गृहे समायातः। दोहदालाभेन मयूरपालकस्य भार्यां कृशां दीनां विलोक्य चाणक्यो ब्रूते—भो! मयूरपालक! अहमस्या दोहदं पूरयिष्यामि, यदाऽस्याः पुत्रोऽष्टवर्षवयस्कः स्यात् तदा मम शिष्यत्वेन भवता समर्पणीयः। मयूरपालकेन तद् वचनं स्वीकृतम्। ततश्चाणक्यः सच्छिद्रं मण्डपं कारयित्वा तस्यो-

---

कर वह चाणक्य वहां से चलकर नंद राजा के राज्य के ही अन्तर्गत मयूर नाम के किसी एक छोटे से गाव में चला गया। वहां एक मयूरों को पालने वाला मयूरपालक नामक पुरुष रहता था। उसकी भार्या गर्भवती थी। उसे चन्द्र को पीने का दोहला उत्पन्न हुआ था। दोहले की पूर्ति न हो सकने के कारण शरीर से वह विशेष कृश हो गई थी। तथा चिन्तित भी रहती थी। चाणक्य भी इधर उधर घूमता घामता मयूरपालक के घर आया। मयूरपालक की पत्नी को ज्यों ही उसने दोहद की पूर्ति न हो सकने के कारण कृशशरीर एवं खेदखिन्न जाना तो कहने लगा हे मयूरपालक! तुम्हारी धर्मपत्नी के चन्द्र पीने के दोहद की पूर्ति मैं कर सकता हूं यदि तुम हमारी इस शर्त को कबूल कर सको तो, शर्त यह है कि जब इसका बालक आठ वर्ष का हो जाय तो तुम उसे मुझे दे देना, मैं उसे अपना शिष्य बना लूंगा। मयूरपालक ने चाणक्य की शर्त स्वीकार करली।

ચાણક્ય નંદરાજાના રાજ્યની અંદર આવેલા મયૂર નામના એક નાનકડા ગામમાં ચાલ્યા ગયા ત્યાં મોરને પાળવાવાળો મયૂરપાલક નામનો એક પુરૂષ રહેતો હતો તેની સ્રી ગર્ભવતી હતી તેને ચંદ્ર પિવાની ઈચ્છા ઉત્પન્ન થઈ હતી તે ઈચ્છા પરિપૂર્ણ ન થઈ શકવાના કારણે તે શરીરે અત્યંત દુબળી થઈ ગઈ તથા ચિંતાતુર રહેતી હતી ચાણક્ય પણ આમ તેમ ફરતા ફરતા મયૂરપાલકને ઘેર આવી પહોંચ્યા મયૂરપાલકની સ્રીને તેની ઈચ્છા પરિપૂર્ણ ન થઈ શકવાના કારણે શરીરે દુબળી તેમજ ચિંતાતુર દેખીને તે કહેવા લાગ્યા, મયૂરપાલક તારી પત્નિને ચંદ્ર પીવાની જે ઈચ્છા થઈ છે તે હું પરિપૂર્ણ કરી શકું તેમ છું પણ તું મારી એક શરતને કબુલ કરે તો જ શરત એ છે કે, જ્યારે તારી પત્નિને અવતરનાર બાળક આઠ વર્ષનો થાય ત્યારે તે બાળક મને સોંપી દેવો પડશે. હું તેને મારો શિષ્ય બનાવીશ. મયૂરપાલકે ચાણક્યની શર્તનો સ્વીકાર કર્યો ચાણક્યે

र्ध्वभागे तच्छिद्राच्छादनार्थं कंचिदेकं पुरुषं गुप्तरीत्या नियोज्य छिद्रस्याधस्तात् सितामिश्रपयःपूर्णं स्थालं स्थापितवान्। अथ मध्यरात्रे तच्छिद्रद्वारेण तत्र स्थाले चन्द्रप्रतिविम्बसंपाते सति मयूरपालभार्यां तत्र नीत्वा चाणक्यः स्थालगतं चन्द्र प्रतिविम्बं प्रदर्शयन् प्राह—अयं चन्द्रः पीयताम्। ततः सा चन्द्रप्रतिविम्बसहितं स्थालमुत्थाप्य दुग्धं पिबति, तस्मिन्नेव समये छिद्रसमीपस्थः पुरुषः शनैः शनै-श्छिद्रमाच्छादयति।

चाणक्य ने अब उसके चन्द्र पीने के दोहले की पूर्ति करने का प्रयत्न प्रारंभ कर दिया। इसमें उसने एक सछिद्र मंडप तयार करवाया। उसके उर्ध्व भाग में गुप्तरीति से एक पुरुष की उसने नियुक्ति की, जो उस छिद्र के पास जाकर बैठ गया। जहां छिद्र था ठीक उसी के नीचे उसने मिश्री से मिश्रित कर एक दूध का भरा हुआ थाल रख दिया। मध्यरात्रि में उस छिद्र के द्वारा उस थाल में चन्द्र का प्रतिबिंब ज्यों ही पड़ा कि चाणक्य ने मयूरपालक की भार्या को वहां बुलवा लिया। उसके आनेपर चाणक्य ने उसको उस थाल में रहे हुए प्रति-बिम्ब को दिखलाया और कहने लगा देखो यह रहा चन्द्र, पी जाओ। उस ने उसी समय चन्द्रप्रतिबिम्बसहित थाल को उठा कर उसमें का दूध पीना प्रारंभ कर दिया। ज्यों २ यह दूध पीती जाती थी त्यों २ छिद्र के पास बैठा हुआ वह मंडप के ऊपर रहा व्यक्ति उस छिद्र को धीरे २ बन्द करता जाता था। जब वह पूरा दूध पी चुकी तो उसने भी उस छिद्र को पूरा बन्द कर दिया। इस प्रकार चाणक्य ने उसके चन्द्र

હવે ચંદ્ર પીવાની મયૂરપાલકની પત્નિની ઇચ્છાને પરિપૂર્ણ કરવાના પ્રયત્નની શરૂઆત કરી દીધી આમાં તેણે એક છિદ્રવાળો મંડપ તૈયાર કરાવ્યો. તેના ઉર્ધ્વ ભાગમાં ગુપ્ત રીતે એક પુરૂષને તે છિદ્ર પાસે બેસાડયો. જ્યાં છિદ્ર હતું ત્યાં બરાબર તેની નીચે સાકરથી મિશ્રીત કરેલ દૂધથી ભરેલો એક થાળ રાખ્યો મધ્યરાત્રીએ આ છિદ્ર દ્વારા તે થાળમાં ચંદ્રનું જ્યારે પ્રતિબિંબ પડયું ત્યારે ચાણકયે મયૂરપાલકની સ્ત્રીને ત્યાં બોલાવી અને થાળીમાં દેખાતા ચંદ્રને બતાવી કહ્યું કે, લ્યો આ રહ્યો ચંદ્ર! પી જાઓ. તેણીએ તે વખતે ચંદ્રના પ્રતિબિંબવાળા થાળને ઉઠાવીને તેમાનું દૂધ પીવાની શરૂઆત કરી જેમ જેમ તે દૂધ પીતી ગઇ તેમ તેમ તે છિદ્રની પાસે બેઠેલો તેમજ તે મંડપની ઉપર છુપાઇ રહેલ તે વ્યક્તિએ તે છિદ્રને ધીરે ધીરે બંધ કરવા માંડયું જ્યારે તેણીએ બધું દૂધ પી લીધું ત્યારે તેણે પણ છિદ્રને પુરેપુરૂં બંધ કરી દીધું

एव चाणक्येन तस्याश्चन्द्रपानदोहदः सफलीकृत'। तदनु चाणक्यो रसायनादिभिर्धनार्जनं कर्तुं प्रवृत्त.। इतश्च समये प्राप्ते सति सपूर्णदोहदायास्तस्या पुत्रो जात.। जनन्या दोहदपूर्तिसमये चन्द्रस्य गोपनात् पित्रा तस्य वालकस्य 'चन्द्रगुप्त' इति नाम कृतम्। चन्द्रगुप्त क्रीडनकाले वालकै. सह राजनीतिं प्रदर्शयन् क्रीडति। यदा चन्द्रगुप्तोऽष्टवर्षवयस्को जात', तदा पुनश्चाणक्यस्तत्रागत'। ततो विदितस्वजन्मवृत्तान्तोऽसौ चन्द्रगुप्तश्चाणक्य प्राह-भो मुनीन्द्र! भवान् स्वेन सह मां नयतु। चाणक्यो वदति-त्वत्पिता त्वा प्रतिपेत्स्यति। चन्द्रगुप्तो वदति-मम पिता

पीने के दोहले की पूर्ति करने में सफलता प्राप्त करली। वह भी अपने दोहले की पूर्ति से विशेप प्रसन्न हुई। इसके वाद चाणक्य ने रासायनिक क्रिया द्वारा धन का उपार्जन करना प्रारंभ कर दिया। इस तरफ जब पूरे नौ मास व्यतीत हो चुके तब दोहले की पूर्ति से प्रसन्न हुई उस मयूरपालक की पत्नी के पुत्र उत्पन्न हुआ। माता की गर्भावस्था में चंद्र को गोपन करने से पिताने उसका नाम चन्द्रगुप्त रखा। धीरे २ जब चन्द्रगुप्त वालकों के साथ क्रीडा करने के लायक हो गया तब वह उनके साथ खेलते समय राजनीति का प्रदर्शन करने लगा। जिस समय चन्द्रगुप्त की अवस्था आठ वर्ष की हो गई उस समय चाणक्य मयूरपालक के घर पर आया चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को उसकी उत्पत्ति के वृत्तान्त से विदित कर दिया। चन्द्रगुप्त को जब अपनी उत्पत्ति का वृत्तान्त विदित हो चुका तो उसने चाणक्य से कहा हे महात्मा! आप मुझे अपने ही साथ ले चलिये। चाणक्य ने कहा तुम्हारा पिता

આ પ્રમાણે ચાણક્યે તેણીની ચંદ્ર પીવાની ઈચ્છાને પરિપૂર્ણ કરવામાં સફળતા મેળવી પોતાની ઈચ્છાની પરિપૂર્ણતાથી મયૂરપાલકની પત્નિ ખૂબ પ્રસન્નતામાં રહેવા લાગી. આ પછી ચાણક્યે રસાયણીક ક્રિયાઓ દ્વારા ધન મેળવવાની શરૂઆત કરી દીધી આ તરફ જ્યારે પુરા નવ મહિના વીતી ગયા ત્યારે પોતાની ઈચ્છાની પૂર્તિથી પ્રસન્ન થયેલી તે મયૂરપાલકની પત્નિએ પુત્રનો જન્મ આપ્યો પિતાએ તેનું નામ ચંદ્રગુપ્ત રાખ્યું સમય જતાં જ્યારે ચંદ્રગુપ્ત બાળકોની સાથે રમવાને લાયક થયો ત્યારે તેણે બાળકોની સાથે ખેલતી વખતે રાજનીતિનું શિક્ષણ આપવા માંડ્યું યથા સમયે જ્યારે ચંદ્રગુપ્ત આઠ વર્ષનો થયો ત્યારે ચાણક્ય મયૂરપાલકને ઘેર આવી પહોંચ્યા ચાણક્યે ચંદ્રગુપ્તને તેના જન્મ કાળનું વૃત્તાંત કહ્યું ચંદ્રગુપ્તે પોતાના જન્મકાળનું વૃત્તાંત જાણ્યું ત્યારે તેણે ચાણક્યને કહ્યું, હે મહાત્મા! આપ મને આપની સાથે લઈ જાઓ, ચાણક્યે

पूर्वमेव मां दत्तवान्। ततश्चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं सह नीत्वा प्राह-त्वं राज्यलाभं कारिष्यामि। ततश्चाणक्यो वनं गत्वा रसायनेन द्रव्यं निर्माय तत्प्रभावात् सेनां सगृहीतवान्। सैनिकैः सह स पाटलिपुत्रनगरे नन्दनृपतिमाक्रमते स्म। नन्दनृपतिश्चाणक्यस्य पराजयं कृतवान्। चन्द्रगुप्तेन सह चाणक्यस्ततोऽपसृत्य क्वचित् प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। नन्दनृपतेः कश्चित् सैनिकोऽश्वमारुह्य चाणक्यं ग्रहीतुमागतः। चाणक्यस्तं विलोक्य चिन्तयति-अयं तु मां ग्रहीतुं प्रत्यासन्नो भवति, बालकोऽयं चन्द्र

मेरे साथ चलने में तुम्हें निषेध करेगा। चन्द्रगुप्त ने कहा-निषेध क्यों करेगा? पिता ने तो मुझे आपको पहिले से ही दे दिया है। चन्द्रगुप्त की बात सुनकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले लिया। कहा-चलो मै तुम्हें राज्य की प्राप्ति कराऊँगा। चन्द्रगुप्त को साथ लेकर चाणक्य वन में पहुँचा। रसायन से उसने वहां द्रव्य को खूब इकट्ठा किया और उसके प्रभाव से उसने वहीं पर सेना का संग्रह करना भी प्रारंभ कर दिया। जब सेना अच्छी तरह संगृहीत हो चुकी तो चाणक्य ने सेना को लेकर पाटलिपुत्र में जाकर राजा नन्द के ऊपर आक्रमण कर दिया। राजा नन्द ने चाणक्य को पराजित कर वहां से निकाल दिया। चाणक्य भी परास्त होकर चन्द्रगुप्त को साथ लेकर वहां से चला गया और किसी जगह गुप्तरूप से जाकर छिप गया। राजा नन्द ने चाणक्य को पकड़ने के लिये उसके पीछे एक अपना घुड़सवार भेजा। घुड़सवार को अपना पीछा करते हुए देखकर चाणक्य ने विचार किया

કહ્યું કે તારા પિતા તને મારી સાથે મોકલવામાં અડચણ ઉભી કરશે ચંદ્રગુપ્તે કહ્યું અડચણ શા માટે કરશે? પિતાએ તો પહેલેથી જ મને આપને સુપ્રત કરેલ છે ચંદ્રગુપ્તની વાત સાંભળીને ચાણક્યે ચંદ્રગુપ્તને પોતાની સાથે લઈ લીધો અને કહ્યું, ચાલો! હું તમને રાજ્યની પ્રાપ્તિ કરાવીશ. ચંદ્રગુપ્તને લઈ ચાણક્ય વનમાં ગયા રસાયણ પ્રયોગથી ત્યાં તેણે ખૂબ દ્રવ્ય એકઠું કર્યું અને એની સહાયથી સેના એકઠી કરવાનો આરંભ કરી દીધો સેનાને લઈને પાટલીપુત્ર પહોંચી નંદરાજા ઉપર આક્રમણ કર્યું યુદ્ધમાં રાજા નંદે ચાણક્યનો પરાજ્ય કરીને ભગાડી મૂક્યા ચાણક્ય હારી જવાથી ચંદ્રગુપ્તને સાથે લઈ ત્યાંથી ચાલી નીકળ્યા અને કોઈ છુપા સ્થળે જઈ રહેવા લાગ્યા રાજા નંદે ચાણક્યને પકડવા માટે તેની પાછળ એક ઘોડેસ્વારને મોકલ્યો ઘોડેસ્વાર પોતાનો પીછો પકડી રહ્યો છે. જાણીને ચાણક્ય વિચાર કરવા લાગ્યા કે તે ... પકડવા

गुप्तः कथं मया सह गन्तुं प्रभवति। इत्येवं विचार्य स तत्र सरस्तटे वस्त्रं धावमानस्य रजकस्यान्तिके गत्वा वदति—अरे रजक! नन्दनृपतेः सैनिकास्त्वां हन्तुमागच्छन्ति। रजकस्तद्वचनं श्रुत्वा तद्भयात् ततः पलायितः। चाणक्यस्तानि वस्त्राणि धावमानस्तत्र सस्थितः, चन्द्रगुप्तोऽपि तत्रैवान्यभागे जले प्रविश्य प्रच्छन्नोऽभवत्। अश्वारूढोऽसौ नन्दराजपुरुषस्तत्रागत्य पृच्छति—अरे रजक! चाणक्यः क्व गतः? रजकवेषधारी चाणक्यः प्राह—जले प्रविष्टः ततोऽसौ नन्दराजपुरुषस्तस्य कृतरज-

कि यह तो मुझे पकड़ने के लिये बिलकुल ही पास आ चुका है, यह चन्द्रगुप्त बालक है मेरे साथ दौड़ सकता नहीं है अतः एक उपाय करना चाहिये कि जो साम्हने के तालाब पर धोबी कपड़े धो रहा है उसको किसी बहाने से वहां से भगा देना चाहिये और स्वयं को उसका काम करने लग जाना चाहिये तभी रक्षा हो सकती है। ऐसा विचार कर चाणक्य उस धोबी के पास आकर कहने लगा कि अरे धोबी! तू देखता नहीं है राजा के सैनिक तुझे मारने के लिये आ रहे हैं। धोबी ने ज्यों ही चाणक्य की इस बात को सुना कि वह वहां से एकदम भग गया। चाणक्य ने अपनी नीति में सफलता प्राप्त की और उस धोबी के जो कपड़े वहां धोने के लिए पड़े हुए थे उन्हें धोना प्रारम्भ कर दिया। चन्द्रगुप्त भी वहीं पर एक किनारे पानी में जाकर छुप गया। वह अश्वारूढ राजपुरुष जो इनके पीछे पड़ा हुआ था वहां पर आ पहुँचा। उसने आते ही उससे पूछा कि अरे धोबी! चाणक्य कहां गया है। रजकवेषधारी चाणक्य ने कहा कि वह अभी जल में घुस

માટે તદ્દન નજીક આવી ગયેલ છે આ બાળક ચન્દ્રગુપ્ત મારી સાથે દોડી શકશે નહીં માટે એનો કાંઈક ઉપાય કરવો જોઈએ સામા તળાવ ઉપર ધોબી કપડાં ધોઈ રહ્યો છે, તેમને કોઈ પણ બહાને ત્યાંથી ભગાડી દે અને પોતે તે કામ કરવા લાગી જાય કે જેથી રક્ષા થાય આવો વિચાર કરીને ચાણક્ય તે ધોબીની પાસે જઈને કહેવા લાગ્યા, કે હે ધોબી! તુ જોતો નથી કે રાજાનો સૈનિક તને મારવા માટે આવી રહ્યો છે! ધોબી ચાણક્યની આ વાત સાંભળીને ત્યાંથી એકદમ ભાગવા લાગ્યો. ચાણક્યે પોતાની નીતિને મળેલી સફળતા જોઈને તે ધોબીના જે કપડાં ત્યાં ધોવા માટે પડયા હતાં તેને ધોવા લાગ્યો. ચન્દ્રગુપ્ત પણ કિનારા ઉપર પાણીમાં જઈને છુપાઈ ગયો. એટલામાં પેલો ઘોડેસ્વાર રાજપુરૂષ જે તેમની પાછળ પડયો હતો તે ત્યાં આવી પહોચ્યો. તેણે આવીને પૂછ્યુ, અરે ધોબી! ચાણક્ય કઈ બાજુએ ગયો? ધોબી વેશધારી ચાણક્યે કહ્યું કે, તે હમણા જ પાણીમા ઉતરી ગયો છે તેની

पूर्वमेव मां दत्तवान्। ततश्चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं सह नीत्वा प्राह-तव राज्यलाभं करिष्यामि। ततश्चाणक्यो वनं गत्वा रसायनेन द्रव्यं निर्माय तत्प्रभावात् सेनां संगृहीतवान्। सैनिकैः सह स पाटलिपुत्रनगरे नन्दनृपतिमाक्रमते स्म। नन्दनृपतिश्चाणक्यस्य पराजयं कृतवान्। चन्द्रगुप्तेन सह चाणक्यस्ततोऽपसृत्य क्वचित् प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। नन्दनृपतेः कश्चित् सैनिकोऽश्वमारूढ़ चाणक्यं ग्रहीतुमागतः। चाणक्यस्तं विलोक्य चिन्तयति-अयं तु मां ग्रहीतुं प्रत्यासन्नो भवति, बालकोऽयं चन्द्र-

मेरे साथ चलने में तुम्हें निषेध करेगा। चन्द्रगुप्त ने कहा-निषेध क्यों करेगा? पिता ने तो मुझे आपको पहिले से ही दे दिया है। चंद्रगुप्त की बात सुनकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले लिया। कहा-चलो मै तुम्हें राज्य की प्राप्ति कराऊँगा। चन्द्रगुप्त को साथ लेकर चाणक्य वन में पहुँचा। रसायन से उसने वहां द्रव्य को खूब इकट्ठा किया और उसके प्रभाव से उसने वहीं पर सेना का संग्रह करना भी प्रारंभ कर दिया। जब सेना अच्छी तरह संगृहीत हो चुकी तो चाणक्य ने सेना को लेकर पाटलिपुत्र में जाकर राजा नन्द के ऊपर आक्रमण कर दिया। राजा नन्द ने चाणक्य को पराजित कर वहां से निकाल दिया। चाणक्य भी परास्त होकर चन्द्रगुप्त को साथ लेकर वहां से चला गया और किसी जगह गुप्तरूप से जाकर छिप गया। राजा नन्द ने चाणक्य को पकड़ने के लिये उसके पीछे एक अपना घुड़सवार भेजा। घुड़सवार को अपना पीछा करते हुए देखकर चाणक्य ने विचार किया

કહ્યું કે તારા પિતા તને મારી સાથે મોકલવામાં અડચણ ઉભી કરશે ચન્દ્રગુપ્તે કહ્યું અડચણ શા માટે કરશે? પિતાએ તો પહેલેથી જ મને આપને સુપ્રત કરેલ છે ચન્દ્રગુપ્તની વાત સાંભળીને ચાણક્યે ચન્દ્રગુપ્તને પોતાની સાથે લઈ લીધો અને કહ્યું, ચાલો! હું તમને રાજ્યની પ્રાપ્તિ કરાવીશ. ચન્દ્રગુપ્તને લઈ ચાણક્ય વનમાં ગયા રસાયણ પ્રયોગથી ત્યાં તેણે ખૂબ દ્રવ્ય એકઠું કર્યું અને એની સહાયથી સેના એકઠી કરવાનો આરંભ કરી દીધો સેનાને લઈને પાટલીપુત્ર પહોંચી નંદરાજા ઉપર આક્રમણ કર્યું યુદ્ધમાં રાજા નંદે ચાણક્યનો પરાજય કરીને ભગાડી મૂક્યા ચાણક્ય હારી જવાથી ચન્દ્રગુપ્તને સાથે લઈ ત્યાંથી ચાલી નીકળ્યા અને કોઈ છુપા સ્થળે જઈ રહેવા લાગ્યા રાજા નંદે ચાણક્યને પકડવા માટે તેની પાછળ એક ઘોડેસ્વારને મોકલ્યો ઘોડેસ્વાર પોતાનો પીછો પકડી રહ્યો છે. જાણીને ચાણક્ય વિચાર કરવા લાગ્યા કે તે મને પકડવા

वृद्धा प्राह–भोजने राज्यग्रहणे च प्रथमं प्रान्तभागे हस्तो निक्षेपणीयः। एतद्वचनं श्रुत्वा चाणक्यो हिमगिरिं गतवान्। तत्र पर्वतनामको नृपतिरासीत्। तस्य समीपं गत्वा चाणक्योऽवदत्–पाटलिपुत्रनगरे नन्दनृपतिना सह युद्धे भवान् सहयोगं दद्यात् तर्हि तदर्धं राज्यं भवते दास्यामि। तदा पर्वतेन तस्य वचनं स्वीकृतम्।

ततश्चाणक्यः पर्वतश्च चन्द्रगुप्तेन सह पाटलिपुत्रनगरमागत्य नन्दं विजित्य राज्यं गृहीतवन्तौ। तदा नन्दनृपतिर्धर्मद्वारेण निःसर्तुं प्रार्थयति, चन्द्रगुप्तेन तत्प्रार्थनं स्वीकृत्य कथितम्–एकस्मिन् रथे यावद् द्रव्यं समाविशति, तावद् द्रव्यमुपादाय

ने क्या अनुचित किया है ?। वृद्धा ने कहा भोजन एवं राज्यग्रहण में प्रथम प्रान्तभाग में हाथ डालना चाहिये। वृद्धा के वचन सुनकर चाणक्य हिमगिरि जाकर वहा के राजा पर्वत से मिला। उससे चाणक्य ने कहा पाटलिपुत्र नगर में नन्दनृपति के साथ यदि युद्ध में आप हमें सहयोग प्रदान करें तो वहा का आधा राज्य हम आपको देंगे। चाणक्य की बात सुनकर पर्वत ने युद्ध में सहायता देना कबूल कर लिया।

चन्द्रगुप्त को लेकर चाणक्य और पर्वत दोनों मिल कर पाटलिपुत्र आये। वहां नन्द राजा के ऊपर इन्हों ने धावा बोल दिया। नन्द को परास्त कर उसका राज्य ले लिया। उस समय नन्द ने धर्मद्वार से निकल ने के लिये प्रार्थना की। चन्द्रगुप्त ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए कहा–एक रथ में जितना द्रव्य हो सकता हो उतने द्रव्य को

અનુચિત કામ કર્યુ છે? વૃદ્ધાએ કહ્યુ કે, ભોજન અને રાજ્ય ગ્રહણમા પ્રથમ એક છેડેથી હાથ નાખવો જોઇએ. વૃદ્ધાનુ આ વચન સાંભળી તેને નમન કરીને ચાણુક્ય ત્યાથી ચાલતા થયા આ પછી ચાણુક્યે હિમગિરિ જઇ ત્યાના રાજા પર્વતની મુલાકાત લીધી અને તેને કહ્યુ કે, પાટલીપુત્રના રાજા નંદની સામે અમે યુદ્ધ કરવા ઇચ્છીયે છીએ એ યુદ્ધમાં તમે જો અમને સાથ આપશો તો તે જીતેલા રાજ્યનો અરધો ભાગ તમને આપવામાં આવશે. ચાણુક્યની આ વાત સાંભળી પર્વત રાજાએ યુદ્ધમાં સહાયતા દેવાનુ કબુલ કર્યુ

ચંદ્રગુપ્તને લઈને ચાણુક્ય અને પર્વત બન્નેએ પાટલીપુત્ર ઉપર આક્રમણ કર્યું સામસામી લડાઈ થઈ જેમાં રાજા નંદ હારી ગયા, તેના રાજ્યનો કબજો ચંદ્રગુપ્તે સંભાળી લીધો આ સમયે નંદે ધર્મદ્વારથી નિકળવા માટે પ્રાર્થના કરી ચંદ્રગુપ્તે તેની પ્રાર્થનાનો સ્વીકાર કરીને કહ્યુ કે, એક રથમાં જેટલું દ્રવ્ય સમાઇ

कर्षपस्य चाणक्यस्य हस्ते स्व खड्गं हयं च दत्त्वा जले प्रविशति। तस्मिन्नेव समये रजकरूपश्चाणक्यस्तेन खड्गेन तस्य नन्दराजपुरुषस्य शिरश्छिन्छेद।

ततश्चाणक्यश्चन्द्रगुप्तेन सह स्थानान्तरं गतः। कस्मिंश्चिद् ग्रामे भिक्षार्थं गृहस्थगृहे गत्वा पश्यति-एका वृद्धा स्थालके पायसं परिक्षिप्य बालकाय भोक्तुं ददाति। तेन बालकेन स्थालकस्य मध्यभागे हस्तो निक्षिप्तः। प्रतप्तपायसस्पर्शेन तस्य हस्तो दग्धः, तेनासौ क्रन्दति। वृद्धा वदति-रे मूढ! त्वं चाणक्य इव किमाचरसि। एतद् वचनं श्रुत्वा वृद्धां चाणक्यः प्राह—मातः! किमनुचितं चाणक्येन कृतम्,

गया है। सवार ने ज्यों ही यह बात सुनी तो वह अपने घोड़े से नीचे उतर पड़ा और कहने लगा कि तुम मेरे इस घोड़े को और तलवार को पकड़े रहो, जबतक मैं जलमें घुस कर उसे पकड़ लाता हूं। इतने में ही चाणक्य ने उसकी ही तलवार से उसको मार दिया।

चाणक्य वहां से चन्द्रगुप्त को साथ लेकर किसी दूसरे स्थान पर चला गया। एक समय की बात है कि चाणक्य जब भिक्षा लेने के लिये किसी दूसरे गांव में एक गृहस्थ के घर पर गया हुआ था तब उसने वहां देखा कि एक वृद्धा ने थाली में गर्म खीर परोस कर खाने के लिये किसी बालक को दी और उस बालक ने उस गर्म खीर से युक्त थाली के बीचोबीच हाथ डाल दिया सो गर्म खीर के उष्णस्पर्श से उस बालक का हाथ जल गया इससे वह रोने लगा। उसको रोता देखकर वृद्धा ने कहा कि रे मूढ! तू चाणक्य की तरह क्यों होता जा रहा है। वृद्धा के ये वचन सुनकर चाणक्य ने उससे कहा हे माता! चाणक्य

આ વાત સાંભળીને તે પોતાના ઘોડા ઉપરથી નીચે ઉતર્યો અને કહેવા લાગ્યો, મારા આ ઘોડાને અને તરવારને તમે સાચવો. ત્યાંસુધીમાં હું હમણાં જ તેને પાણી માંથી પકડી લાવું છું ઘોડો અને તરવાર હાથ કરીને ચાણક્યે તરવારથી પેલા સ્વારને મારી નાખ્યો. એને મારીને ચાણક્ય ચન્દ્રગુપ્તને સાથે લઈ કોઈ બીજા સ્થળે ચાલ્યા ગયા. એક સમયની વાત છે કે જ્યારે ચાણક્ય ત્યાં સ્થિર થઈ ભિક્ષા લેવા માટે કોઈ બીજા ગામે એક ગૃહસ્થને ત્યાં ગયા ત્યાં તે ભિક્ષા માટે પહોંચ્યા એજ વખતે એક વૃદ્ધા થાળીમાં ગરમા ગરમ ખીર પીરસી બાળકને ખવરાવવાની તૈયારી કરી રહેલ હતી. બાળકે ખીર ખાવાની ઉતાવળમાં તે ગરમ ખીરથી ભરેલી થાળીની વચ્ચો વચ્ચ હાથ નાખ્યો. ગરમ ખીરના સ્પર્શથી બાળકનો હાથ દાઝ્યો અને રોવા લાગ્યો. આ જોઈ વૃદ્ધાએ તે બાળકને કહ્યું, કે અરે મૂઢ! ચાણક્યના જેવો તું કેમ થતો જાય છે? વૃદ્ધાનાં આ વચન સાંભળી ચાણક્યે તે વૃદ્ધાને પૂછ્યું કે હે માતા! ” કહ્યું

चाणक्यस्तदा नन्दराज्यस्य द्वौ भागौ कृत्वा पर्वताय चन्द्रगुप्ताय चैकैक भाग मदत्तवान्। नन्देन स्वभवने विषकन्या स्थापिता। तत्र पर्वतनृपस्तां विलोक्य मोहितो जात, तस्या स्पर्शमात्रेण पर्वतनृपो विषाक्रान्त• सजात'। तद्विषापहारार्थं चन्द्रगुप्त प्रवृत्त, स चाणक्येन प्रतिषेधित, तदनन्तर पर्वतनृपो मृत। तदा चन्द्रगुप्तस्य राज्यमखण्ड सजातम्।

अथ नन्दराज्यान्तर्गता• शत्रुलोकाश्चौर्यादिभिरुपद्रव कुर्वन्ति। चाणक्यश्चौराणा

मगल है। चक्र के जो नव आरे टूट गये हैं उससे यह सूचित होता है कि नौ पीढी पर्यन्त यह राज्य स्थिर रहेगा। इसके बाद चाणक्य, पर्वत और चन्द्रगुप्त राज्यभवन में प्रविष्ट हो गये।

चाणक्य ने उस मिले हुए नन्दराज्य के दो भाग किये। एक भाग पर्वत के लिये और दूसरा भाग चन्द्रगुप्त के लिये दिया। नद के भवन में एक विषकन्या पाली हुई थी। पर्वत इस कन्या को देखकर उस पर मोहित हो गया। ज्यों ही उसने उसका स्पर्श किया कि उसका समस्त शरीर विष से व्याप्त हो गया। पर्वत के समस्त शरीर में व्याप्त विष को दूर करने के लिये चन्द्रगुप्त ने प्रयत्न करना चाहा, परन्तु चाणक्य ने उसे इसके लिये मना कर दिया अत वह उससे दूर रहने लगा। बाद में पर्वत मर गया। पर्वत के मरते ही चन्द्रगुप्त का एकछत्र राज्य हो गया।

राज्य परिवर्तित होने से अब नंदराज्यान्तर्गत लोकों ने चोरी आदि उपद्रव करना प्रारम कर दिया। चाणक्य ने चोरों को दमन

ગળરૂપ નથી પરંતુ ભારે મગળરૂપ છે ચક્રના જે નવ આરા તૂટી ગયા છે એનાથી એ સૂચિત થાય છે કે, તમારી નવ પેઢી સુધી આ રાજ્ય અચલ અને સ્થિર રહેશે. પછી ચાણક્ય, રાજા પર્વત અને ચદ્રગુપ્ત બધા રાજભવનમાં ગયા

નદરાજાના એ રાજ્યના ચાણક્યે બે ભાગલા પાડયા એક ભાગ રાજા પર્વતને અને એક ચદ્રગુપ્તને સુપ્રત કરવામા આવ્યો. નદના રજભવનમા એક વિષકન્યા ઉછેરવામાં આવી હતી પર્વત એને જોઈ એના ઉપર મોહીત બની ગયો. તેણે એ કન્યાના શરીરને સ્પર્શ કર્યો કે તુરત જ તેના સમસ્ત શરીરમા વિષ પ્રસરી ગયુ પર્વતના શરીરમાં પ્રસરી ગયેલા વિષને દૂર કરવા ચદ્રગુપ્ત તત્પર બન્યો એજ વખતે ચાણક્યે તેને તેમ કરતાં અટકાવ્યો આથી તેણે તેમ કરવુ માંડી વાળ્યુ વિષના ભારે પ્રકોપથી પર્વતનુ મૃત્યુ થયુ પર્વતના મૃત્યુને કારણે રાજા નદનું સમગ્ર રાજ્ય ચદ્રગુપ્તના એક છત્ર નીચે આવી ગયુ

રાજ્યનુ પરિવર્તન થવાથી રાજ્યનુ શાસન બદલાતા કેટલાક લોકોએ ચોરી આદિ ઉપદ્રવનો પ્રારભ કરી દીધો ચાણક્યે ચોરી આદિ ઉપદ્રવ કરનારાઓ સામે

भार्यापुत्रादिभिः सह भवान्निःसरतु । नन्देन तथैव कृतम्। तदा रथस्थिता नन्दस्य पुत्री निर्गच्छन्ती चन्द्रगुप्तं सानुरागं पश्यति, तदा नन्दः स्वपुत्रीं प्राह-पुत्रि ! अभीष्टं चेच्चन्द्रगुप्तं वरय। ततोऽसौ नन्दपुत्री चन्द्रगुप्तस्य रथे समारोहति, तदा नव सङ्ख्यका रथचक्रस्य अरा भग्नाः । चन्द्रगुप्तस्तद्भग्नममङ्गलं विज्ञाय नन्दपुत्रीं प्रतिषेधयति । चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं वदति-इदं महन्मङ्गलम्, नवसङ्ख्यका अरा भग्ना इति नवपुरुषपर्यन्तं राज्यं स्थास्यति । ततश्चन्द्रगुप्तः पर्वतश्चाणक्यश्च सर्वे राजभवनं प्रविष्टाः ।

लेकर आप अपने स्त्रीपुत्रादिकसहित यहा से चले जाये । चन्द्रगुप्त की आज्ञानुसार नन्द ने वैसा ही किया । जिस समय नन्द राज्य से बाहर होकर बालबच्चेसहित चलने लगा उस समय रथ में बैठी हुई नन्द की पुत्री सुचन्द्रा ने बडे ही अनुराग से चन्द्रगुप्त की ओर देखा। चन्द्रगुप्त की ओर अनुराग से देखनेवाली अपनी पुत्री को देखकर नन्द ने कहा कि हे पुत्री ! यदि तेरी इच्छा हो तो तू इस चंद्रगुप्त को वरले। पिता की बात सुनकर पुत्री चन्द्रगुप्त के रथ पर जाकर बैठ गई । जिस समय वह उसके रथ पर बैठी उसी समय चन्द्रगुप्त के रथ के पहिये के नौ आरे टूट गये । चंद्रगुप्त ने ज्यों ही अपने रथ के पहिये की यह हालत देखी तो उसने इसमें अमंगल माना और नन्द की पुत्री को उस में बैठने से निषेध कर दिया। चाणक्य ने इस बात को देखकर चंद्रगुप्त से कहा कि तुम जिसे अमगल समझ रहे हो वह बडा भारी

શકે તેટલુ લઈ આપ આપના સ્ત્રી પુત્રાદિકને લઇ અહીંથી ચાલ્યા જાવ નંદે ચન્દ્રગુપ્તની આજ્ઞાનુસાર કર્યું જે સમયે રાજા નંદ પોતાના પરિવાર સહિત રાજ્ય છોડીને જવા લાગ્યા તે સમયે રથમા બેઠેલ નંદની પુત્રી સુચન્દ્રાએ ચન્દ્રગુપ્તની સામે ભારે અનુરાગથી દ્રષ્ટિ ફેંકી. ચન્દ્રગુપ્ત તરફ અનુરાગથી જોઈ રહેલ પોતાની પુત્રીને ઉદ્દેશીને નંદે કહ્યુ કે, હે પુત્રિ ! જો તારી ઇચ્છા હોય તો તુ ખુશીથી ચન્દ્રગુપ્તને વરી લે પિતાની આ વાત સાંભળી સુચન્દ્રા તે રથમાંથી ઉતરી ચન્દ્રગુપ્તના રથ ઉપર ચઢી ગઈ જેવી તે ચન્દ્રગુપ્તના રથ ઉપર જઈને બેઠી તેવાજ ચન્દ્રગુપ્તના રથના પઈડાંના નવ આરા તૂટી ગયા ચન્દ્રગુપ્તે પોતાના રથનાં પૈડાંનો આ બનાવ જોતા તેના મનમાં અમંગળની શંકા જાગી અને એથી નંદની પુત્રીને રથ ઉપર ચઢવાની ના પાડી. ચાણક્યે આ જોઈ ચન્દ્રગુપ્તને સમજાવ્યો કે, તમે જેને અમંગળ માનો એ તે અમ

चाणक्यस्तदा नन्दराज्यस्य द्वौ भागौ कृत्वा पर्वताय चन्द्रगुप्ताय चैकैक
मदत्तवान्। नन्देन स्वभवने विषकन्या स्थापिता। तत्र पर्वतनृपस्ता वि
मोहितो जातः, तस्याः स्पर्शमात्रेण पर्वतनृपो विषाक्रान्तः सजात। तद्विषाप
चन्द्रगुप्तः प्रवृत्त, स चाणक्येन प्रतिषेधितः, तदनन्तरं पर्वतनृपो मृतः।
चन्द्रगुप्तस्य राज्यमखण्ड सजातम्।

अथ नन्दराज्यान्तर्गताः शत्रुलोकाश्चौर्यादिभिरुपद्रव कुर्वन्ति। चाणक्यश्च

मंगल है। चक्र के जो नव आरे टूट गये हैं उससे यह सूचित होता
नौ पीढी पर्यन्त यह राज्य स्थिर रहेगा। इसके बाद चाणक्य,
और चंद्रगुप्त राज्यभवन में प्रविष्ट हो गये।

चाणक्य ने उस मिले हुए नन्दराज्य के दो भाग किये। एक
पर्वत के लिये और दूसरा भाग चन्द्रगुप्त के लिये दिया। नद के
में एक विषकन्या पाली हुई थी। पर्वत इस कन्या को देखकर उस
मोहित हो गया। ज्यों ही उसने उसका स्पर्श किया कि उसका समस्त श
विष से व्याप्त हो गया। पर्वत के समस्त शरीर में व्याप्त विष को
करने के लिये चद्रगुप्त ने प्रयत्न करना चाहा, परन्तु चाणक्य ने
इसके लिये मना कर दिया अतः वह उससे दूर रहने लगा। धा
पर्वत मर गया। पर्वत के मरते ही चद्रगुप्त का एकछत्र राज्य हो ग

राज्य परिवर्तित होने से अब नंदराज्यान्तर्गत लोकों ने च
आदि उपद्रव करना प्रारंभ कर दिया। चाणक्य ने चोरों को क

ગળરૂપ નથી પરતુ ભારે મગળરૂપ છે ચક્રના જે નવ આરા તૂટી ગયા
એનાથી એ સૂચિત થાય છે કે, તમારી નવ પેઢી સુધી આ રાજ્ય અચલ અને સ્થિ
રહેશે. પછી ચાણક્ય, રાજા પર્વત અને ચદ્રગુપ્ત બધા રાજભવનમા ગય

નદ રાજાના એ રાજ્યના ચાણક્યે બે ભાગલા પાડ્યા એક ભાગ રાજા પર્વ
અને એક ચદ્રગુપ્તને સુપ્રત કરવામાં આવ્યો નદના રજભવનમા એક વિષક
ઉછેરવામા આવી હતી પર્વત એને જોઈ એના ઉપર મોહીત બની ગયો. ત
એ કન્યાના શરીરને સ્પર્શ કર્યો કે તુરત જ તેના સમસ્ત શરીરમા વિષ પ્રસ
ગયુ પર્વતના શરીરમાં પ્રસરી ગયેલા વિષને દૂર કરવા ચદ્રગુપ્ત તત્પર બ
એજ વખતે ચાણક્યે તેને તેમ કરતાં અટકાવ્યો. આથી તેણે તેમ કરવુ મ
પાડ્યુ વિષના ભારે પ્રકોપથી પર્વતનુ મૃત્યુ થયુ પર્વતના મૃત્યુને કાર
રાજા નદનું સમગ્ર રાજ્ય ચદ્રગુપ્તના એક છત્ર નીચે આવી ગયુ

રાજ્યનુ પરિવર્તન થવાથી રાજ્યનુ શાસન બદલાતા કેટલાક લોકોએ ચ
આદિ ઉપદ્રવનો પ્રારભ કરી દીધો ચાણક્યે ચોરી આદિ ઉપદ્રવ કરનારાઓ સ

दमनार्थं विचिन्तयन् कदाचिद् नगरतो बहिर्निःसृतः सन् पश्यति-नलदामनामा कुविन्दः पुत्र मत्कोटकैर्दष्टं दृष्ट्वा कोपाविष्टो भूत्वा तेषां बिलमन्वेषयति। चाणक्यस्तथाकुर्वन्तं कुविन्दं दृष्ट्वा पृच्छति-कुविन्द! किमन्वेषयसि ? कुविन्द आह-मत्पुत्रदंशदायिनां मत्कोटकानां गृहम्, एवं तद्वृत्तं विदित्वा चाणक्यो मनसि विचारयति- योग्योऽयं कुविन्दो वैरनिर्यातनस्य। इति मनसि विचार्य तमेव नगराध्यक्षं कृतवान्।

एकदा कोशपूरणार्थं चाणक्यः सुवर्णप्राप्तिकामो देवाराधनं कृतवान्। देवः

करने का बहुत कुछ विचार किया पर समझ में नहीं बैठा। एक दिन इसी विषय का विचार करते २ चाणक्य नगर से बाहर जा पहुँचे। पहुँचते ही वहां एक नलदाम नामक कुविन्द (जुलाहे) को देखा जो अपने पुत्र को काटने वाले मकोडों के बिल की तलास करने में बड़े क्रोध से अभिभूत होकर इधर उधर फिर रहा था। चाणक्य ने इस प्रकार से तलाशी करने में प्रयत्न करते हुए देखकर कुविन्द से पूछा कि हे कुविन्द! कहो क्या ढूंढ रहे हो ? कुविन्द ने कहा मेरे पुत्र को एक मकोडे ने काट लिया है सो मैं उसके घर को देख रहा हूं। इस प्रकार कुविन्द की बात सुनकर चाणक्य ने मन में विचार किया कि यह कुविन्द वैर का बदला लेने में योग्य है। इस प्रकार विचार कर चाणक्य ने उसे नगर का कोतवाल बना दिया।

एक समय की बात है कि खजाने की पूर्ति करने के निमित्त चाणक्य ने किसी देव की आराधना की। चाणक्य की आराधना से

સખ્ત હાથે કામ લેવાનો તેમજ દમનનો કોરડો વીંઝવાનો વિચાર કર્યો. પરંતુ તેમ કરવું અત્યારના સંજોગોમાં તેને ઉચિત ન લાગ્યું એક દિવસ આજ બાબતનો વિચાર કરતાં કરતાં ચાણકય નગરની બહાર જતા હતા, ત્યાં રસ્તામાં એક સ્થળે એક નલદામ નામના કુવિન્દ (વણકર)ને જોયો. જે પોતાના પુત્રને કરડનારા મકોડાનું દર શોધી રહ્યો હતો તેને ચાણકયે પૂછ્યું, કુવિન્દ શું શોધી રહ્યો છે ? ઘણા જ ક્રોધના આવેશથી અહીં તહીં ફરી રહેલા કુવિન્દે કહ્યું, મારા પુત્રને એક મંકોડાએ કરડી ખાધેલ છે, હું તેના ઘરને જોતી રહ્યો છું આ પ્રકારની કુવિન્દની વાત સાંભળી ચાણકયે વિચાર્યું કે, આ માણસ બદલો લેવામાં યોગ્ય છે આમ વિચારી તેને સમજાવી પછીથી ચાણકયે તેને નગરના કોટવાળાની જગ્યાએ નીમ્યો.

એક સમયની વાત છે-રાજ્યના ખજાનાને ભરપુર બનાવવા ચાણકયે

प्रसन्नो भूत्वा चाणक्याय जयप्रदान् पाशकान् ददौ । तदनन्तरं चाणक्येन दीनारपूर्णस्थालेन सह पाशकान् दत्त्वा कश्चिद् द्यूतपटु पुरुषो द्यूतार्थं नगरे प्रेषित.। दीनारपूर्णं स्थालं पाशकानपि गृहीत्वाऽसौ पुरुषः पुराभ्यन्तरे भ्रमन् वदति—यद्यहं जयामि, तर्हि दीनारमेकं गृह्णामि। यदि मामन्यो जयति, तदा दीनारपूर्णमिदं स्थालं ददामि-इति । ततो बहवो जना द्यूतक्रीडार्थं समागता । सर्वे तेन पुरुषेण पराजिता, तं पाशकहस्तं पुरुषं विजेतुमसमर्था जाता । यथा तस्य पाशकहस्तपुरुषस्य पराजयो दुर्लभस्तथा संसारे खलु मनुष्यजन्म दुर्लभम् ।

देव प्रसन्न भी हो गया। प्रसन्न होकर देव ने चाणक्य के लिये जय कराने वाले चार पासे वरदानरूप में दिये। इसके बाद चाणक्य ने स्वर्णमुद्रा-सोनामुहर से परिपूर्ण एक थाली को उन पासों के साथ२ किसी द्यूतक्रीडा में निपुण पुरुष को देकर उसको नगर में जुआ खेलने के लिये भेजा। सोनामुहरों से पूर्ण थाल को तथा पासों को लेकर वह पुरुष नगर में यह अवाज देते हुए फिरने लगा कि यदि मैं जीत जाता हूं तो पराजित हुए व्यक्ति से सिर्फ एक ही सोनामुहर लेता हूं, और यदि हार जाता हूं तो जीतने वाले को सोनामुहरों से पूर्ण यह थाल का थाल दे देता हूं। उसकी इस घोषणा को सुनकर अनेक जन द्यूतक्रीडा के लिये आने लगे। जुआ खेलना प्रारंभ हो गया। उस पुरुष ने सब को जीत लिया, इस को कोई भी पराजित न कर सका। सारांश-जिस प्रकार इस देवप्रदत्त पासों के प्रभाव से उस पुरुष का पराजित होना

કોઈ દેવની આરાધના કરી. ચાણક્યની આરાધનાથી પ્રસન્ન થઈ દેવે ચાણક્યને વિજય અપાવનાર એવા ચાર પાસા તેને આપ્યા આ પછી ચાણક્યે વરદાનના રૂપમાં મળેલા એ પાસાનો પ્રયોગ કરવાનુ વિચારી એક થાળમા સુવર્ણ મુદ્રાઓ ભરી દ્યૂતક્રિડામા નિપુણ એવા એક પુરૂષને પાસા સાથે તે થાળ આપી નગરીમાં જુગાર રમવા મોકલ્યો. સોનામહોરથી ભરેલ થાળ તથા પાસા લઈ તે પુરૂષ નગરમા ઘોષણા કરતો ફરવા લાગ્યો કે જો કોઈ મને દાવમાં હરાવે તો સોનામહોરથી ભરેલ આ થાળ આપી દઉં અને સામો માણસ હારે તો તેણે મને ફક્ત એક જ સોનામહોર આપવી. એની આવી ઘોષણા સાંભળીને અનેક માણસો જુગાર રમવા આવવા લાગ્યા જુગાર રમવાનો પ્રારભ થઈ ચુક્યો તેણે રમવા આવનાર દરેકને જીતી લીધા પણ તેને કોઈ પરાજીત કરી શક્યુ નહી સારાંશ-દેવના આપેલા પ્રસાદરૂપ પાસાના પ્રભાવથી જેવી રીતે એ

दमनार्थं विचिन्तयन् कदाचिद् नगरतो बहिर्निःसृतः सन् पश्यति–नलदामनामा कुविन्दः पुत्र मत्कोटकैर्दष्ट दृष्ट्वा कोपाविष्टो भूत्वा तेषां बिलमन्वेषयति। चाणक्यस्तथाकुर्वन्त कुविन्द दृष्ट्वा पृच्छति–कुविन्द! किमन्वेषयसि ? कुविन्दः प्राह–मत्पुत्रदंशदायिनां मत्कोटकानां गृहम्, एव तद्वृत्त विदित्वा चाणक्यो मनसि विचारयति– योग्योऽय कुविन्दो वैरनिर्यातनस्य। इति मनसि विचार्य तमेव नगराध्यक्षं कृतवान्।

एकदा कोशपूरणार्थं चाणक्यः सुवर्णप्राप्तिकामो देवाराधन कृतवान्। देवः

करने का बहुत कुछ विचार किया पर समझ में नहीं बैठा। एक दिन इसी विषय का विचार करते २ चाणक्य नगर से बाहर जा पहुँचे। पहुँचते ही वहा एक नलदाम नामक कुविन्द (जुलाहे) को देखा जो अपने पुत्र को काटने वाले मकोडों के बिल की तलास करने में बडे क्रोध से अभिभूत होकर इधर उधर फिर रहा था। चाणक्य ने इस प्रकार से तलाशी करने में प्रयत्न करते हुए देखकर कुविन्द से पूछा कि हे कुविन्द! कहो क्या ढूढ रहे हो? कुविन्द ने कहा मेरे पुत्र को एक मकोडे ने काट लिया है सो मैं उसके घर को देख रहा हू। इस प्रकार कुविन्द की बात सुनकर चाणक्य ने मन में विचार किया कि यह कुविन्द वैर का बदला लेने में योग्य है। इस प्रकार विचार कर चाणक्य ने उसे नगर का कोतवाल बना दिया।

एक समय की बात है कि खजाने की पूर्ति करने के निमित्त चाणक्य ने किसी देव की आराधना की। चाणक्य की आराधना से

સજ્જ હાથે કામ લેવાનો તેમજ દમનનો કોરડો વીંઝવાનો વિચાર કર્યો. પરંતુ તેમ કરવું અત્યારના સંજોગોમાં તેને ઉચિત ન લાગ્યું એક દિવસ આજ બાબતનો વિચાર કરતાં કરતાં ચાણક્ય નગરની બહાર જતા હતા, ત્યાં રસ્તામાં એક સ્થળે એક નલદામ નામના કુવિન્દ (વણકર)ને જોયો. જે પોતાના પુત્રને કરડનારા મકોડાનું દર શોધી રહ્યો હતો. તેને ચાણક્યે પૂછ્યું, કુવિન્દ શું શોધી રહ્યો છે? ઘણા જ ક્રોધના આવેશથી અહીં તહીં ફરી રહેલા કુવિન્દે કહ્યું, મારા પુત્રને એક મકોડાએ કરડી ખાધેલ છે, હું તેના ઘરને ગોતી રહ્યો છું આ પ્રકારની કુવિન્દની વાત સાંભળી ચાણક્યે વિચાર્યું કે, આ માણસ બદલો લેવામાં યોગ્ય છે આમ વિચારી તેને સમજાવી પછીથી ચાણક્યે તેને નગરના કોટવાળની જગ્યાએ નીમ્યો.

એક સમયની વાત છે–રાજ્યના ખજાનાને ભરપુર બનાવવા ચાણક્યે

व्रीहि–कङ्गु–कोद्रव–मकुष्ठका–ढकी–वल्ल–कुलत्थ–शण–चीनक–मसूरा–तसी–कलम्बषष्टिका–मक्का–चर्जरीत्यादिनहुभेदभिन्नान् सपूर्णभरतक्षेत्रमध्यगान् धान्यराशीन् कोऽपि देवः स्वशक्त्या समील्याभ्रंलिह तत्पुञ्जं कुर्यात् तत्र मस्थैकपरिमितसर्षप निक्षिप्य सर्वं धान्य संमिश्रयेत्, तदनन्तर जराजर्जरां विगलन्नेत्रां कम्पमानगात्रामेकां वृद्धां तान् सर्षपान् धान्यराशिभ्य कणशः पृथक् कृत्य मस्य पूरयितुं समादिशेत् तदा तस्यास्तत्पृथक्करण यथा दुष्कर भवेत् तथा मनुष्यभवात् मच्युतस्य प्रमादिन पुनर्मनुष्यजन्म दुर्लभमिति ॥

उड़द, तिल, राजमाष (चौला), मटर, मोंठ, बाजरा आदि समस्त धान्यों को बो देवें और वे जब अपने समय पर निरूपद्रवरुप से पककर तैयार हो जावें तब कोई देव इस समस्त धान्यराशि की उड़ावनी अर्थात्–तुष साफ–करके एक बहुत अधिक ऊँची जो मानो आकाश को भी स्पर्श करती हो ऐसी ढेरी लगा दे। फिर उसमें एक प्रस्थप्रमाण सर्षप मिलाकर किसी वृद्धा को कि जिसे कम दीखता हो तथा शरीर भी जिसका कंपित हो रहा हो यह आदेश दे कि तू इस ढेरी में उस प्रस्थप्रमाण सर्षप को अलग २ छांट दे। तो जैसे ढेरी में उस प्रस्थप्रमाण सर्षप का एक २ कण करके छांटना बड़ा मुश्किल है, इसी प्रकार मनुष्य भव के छूट जाने पर पुनः उसका मिलना जीव को बड़ा दुर्लभ है।

ચોખા, ઘઉં, ચણા, મગ, અડદ, તલ, ચોળા, મઠ, કળથી, બાજરી, જુવાર વગેરે સમસ્ત ધાન્યોના વાવેતર કરવાના કામમાં લાગી જાય છે વવાયેલ તે સમગ્ર ધાન્ય તેના યોગ્ય સમયે ઉપદ્રવરહિત પાકીને તૈયાર થઈ જાય ત્યારે કોઈ દેવ એ સમસ્ત ધાન્યરાશીની ઉડાવણી અર્થાત્ તુલ સાફ કરીને એક ખૂબ અધિક ઉંચો માનો કે આકાશને પણ સ્પર્શ કરી જાય એવડો મોટો એક ઢગલો કરી દે, પછી તેમા એક પ્રસ્થપ્રમાણ સરસવ મેળવીને કોઈ વૃદ્ધા કે જેને ઓછું દેખાતું હોય તથા શરીર પણ જેનુ કંપતુ હોય તેને કહે કે, આ ઢગલા માંથી એ પ્રમાણપ્રસ્થ સરસવને ખોળી ખોળી ને અલગ પાડી આપતો જેમ એ ઢગલામાથી એ પ્રસ્થપ્રમાણ સરસવનો એકેક કણ કરીને જુદા પાડવા ઘણુ મુશ્કેલ છે છતાં પણ તે શક્ય બને તો પણ મનુષ્યભવ પુરો થતાં ફરીથી મનુષ્ય ભવ પામવો આત્માને ઘણો જ દુર્લભ છે

अत्र संग्रह' श्लोकः—(शार्दूल विक्रीडितवृत्तम्)

देवाराधनलब्धपाशकवरान् स्थालं च रत्नैर्भृत,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुष स्वीये पुरे प्रेषित.।
सर्वेषां स च तत्पुराधिवसतां जातो यथा दुर्जय,
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ. ॥

इति द्वितीय' पाशकदृष्टान्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयो धान्यदृष्टान्तः प्रोच्यते—

भरतक्षेत्रे द्वात्रिंशत्सहस्रदेशसमन्वितेऽनेकग्रामनगरपत्तनादिसहिते प्रशस्त वृष्टौ सत्यां कृषिकर्मदक्षैः कृषीवलैः सर्वधान्यबीजेषूप्तेषु समुत्पन्नान् निष्पन्नान् शालि–गोधूम–चणक–मुद्ग–माप–तिलाणुक–राजमाप–कलाय–यव–

दुर्लभ बना उसी प्रकार इस ससार में यह मनुष्यजन्म बड़ा दुर्लभ है।

सग्रह श्लोक—

देवाराधनलब्धपाशकवरान् स्थालं च रत्नैर्भृतम्,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुषः स्वीये पुरे प्रेषितः ।
सर्वेषा स च तत्पुराधिवसता जातो यथा दुर्जयः,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥२॥

यह दूसरा पाशकदृष्टान्त हुआ ॥ २ ॥

तृतीय धान्यदृष्टान्त इस प्रकार है—अनेक ग्राम, नगर, पत्तन आदि से सहित इस ३२ बतीस हजार देशवाले भरतक्षेत्र में वृष्टि के होने पर कृषि कर्म में दक्ष किसान लोग शालि, गोधूम, चणक, मुद्ग,

પુરૂષને પરાજીત બનાવવો મહાદુર્લભ હતું એવીજ રીતે આ સસારમાં આ મનુષ્ય જન્મ મહાદુર્લભ છે સગ્રહ શ્લોક—

देवाराधनलब्धपाशकवरान्, स्थालं च रत्नैर्भृतम्,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुष' स्वीये पुरे प्रेषित ।
सर्वेषां स च तत्पुराधिवसतां जातो यथा दुर्जय,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ २ ॥

આ બીજુ પાશકદૃષ્ટાંત થયુ ॥ ૨ ॥

ત્રીજુ ધાન્યદૃષ્ટાંત આ પ્રકારનુ છે

અનેક ગ્રામ, નગર, જગલ વગેરે દરેક સ્થળે ૩૨ હજાર દેશવાળા આ ભરતક્ષેત્રમાં વરસાદ વરસતાં ખેતીના કામમાં રચ્યા પચ્યા ખેડુતો

व्रीहि–कद्रव–कोद्रव–मकुष्ठक–ढकी–वल्ल–कुलत्थ–शण–चीनक–मसूरा–तसी–कलम्बपष्ठिका–मक्षा–चर्जरीत्यादिबहुभेदभिन्नान् सम्पूर्णभरतक्षेत्रमध्यगान् धान्यराशीन् कोऽपि देवः स्वशक्त्या समील्याभ्रंलिहं तत्पुञ्जं कुर्यात् तत्र प्रस्थैकपरिमितसर्षपं निक्षिप्य सर्वं धान्यं संमिश्रयेत्, तदनन्तरं जराजर्जरां विगलन्नेत्रां कम्पमानगात्रामेकां वृद्धां तान् सर्षपान् धान्यराशिभ्यः कणशः पृथक् कृत्य प्रस्थं पूरयितुं समादिशेत्, तदा तस्यास्तत्पृथक्करणं यथा दुष्करं भवेत् तथा मनुष्यभवात् भ्रष्टस्य प्रमादिनः पुनर्मनुष्यजन्म दुर्लभमिति ॥

उडद, तिल, राजमाष (चौला), मटर, मोंठ, बाजरा आदि समस्त धान्यों को बो देवें और वे जब अपने समय पर निरूपद्रवरूप से पककर तैयार हो जावें तब कोई देव इन समस्त धान्यराशि की उड़ावनी अर्थात्–तुष साफ–करके एक बहुत अधिक ऊँची जो मानो आकाश को भी स्पर्श करती हो ऐसी ढेरी लगा दे। फिर उसमें एक प्रस्थप्रमाण सर्षप मिलाकर किसी वृद्धा को कि जिसे कम दीखता हो तथा शरीर भी जिसका कंपित हो रहा हो यह आदेश दे कि तू इस ढेरी में उस प्रस्थप्रमाण सर्षप को अलग २ छांट दे। तो जैसे ढेरी में उस प्रस्थप्रमाण सर्षप का एक २ कण करके छांटना बड़ा मुश्किल है, उसी प्रकार मनुष्य भव के छूट जाने पर पुनः उसका मिलना जीव को बड़ा दुर्लभ है।

ચોખા, ઘઉ, ચણા, મગ, અડદ, તલ, ચોળા, મઠ, કળથી, બાજરો, જુવાર વગેરે સમસ્ત ધાન્યોનાં વાવેતર કરવાના કામમાં લાગી જાય છે વવાયેલ તે સમગ્ર ધાન્ય તેના યોગ્ય સમયે ઉપદ્રવરહીત પાકીને તૈયાર થઈ જાય ત્યારે કોઈ દેવ એ સમસ્ત ધાન્યરાશીની ઉડાવણી અર્થાત્ તુષ સાફ કરીને એક ખૂબ અધિક ઉંચો માનો કે આકાશને પણ સ્પર્શ કરી જાય એવડો મોટો એક ઢગલો કરી દે, પછી તેમા એક પ્રસ્થપ્રમાણ સરસવ મેળવીને કોઈ વૃદ્ધા કે જેને ઓછું દેખાતું હોય તથા શરીર પણ જેનું કંપતુ હોય તેને કહે કે, તુ આ ઢગલા માંથી એ પ્રમાણપ્રસ્થ સરસવને ખોળી ખોળીને અલગ પાડી આપ તો જેમ એ ઢગલામાથી એ પ્રસ્થપ્રમાણ સરસવનો એકેક કણ કરીને જુદા પાડવા ઘણુ મુશ્કેલ છે છતાં પણ તે શકય બને તો પણ મનુષ્યભવ પુરો થતાં ફરીથી મનુષ્ય ભવ પામવો આત્માને ઘણો જ દુર્લભ છે

अत्र संग्रहः श्लोकः—(शार्दूल विक्रीडितवृत्तम्)

देवाराधनलब्धपाशकवरान् स्थालं च रत्नैर्भृत,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुष स्वीये पुरे प्रेषित ।
सर्वेषा स च तत्पुराधिपसतां जातो यथा दुर्जयः,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥

इति द्वितीय पाशकदृष्टान्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयो धान्यदृष्टान्तः प्रोच्यते—

भरतक्षेत्रे द्वात्रिंशत्सहस्रदेशसमन्विते ऽनेकग्रामनगरपत्तनादिसहिते प्रशस्त वृष्टौ सत्यां कृषिकर्मदक्षे कृषीवलै सर्वधान्यबीजेषूप्तेषु समुत्पन्नान् निष्पन्नं निष्पन्नान् शालि-गोधूम-चणक-मुद्ग-माष-तिलाणुक-राजमाष-कलाय-यव-

---

दुर्लभ बना उसी प्रकार इस ससार में यह मनुष्यजन्म बड़ा दुर्लभ है।

संग्रह श्लोक—

देवाराधनलब्धपाशकवरान् स्थाल च रत्नैर्भृतम्,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुषः स्वीये पुरे प्रेषितः ।
सर्वेषा स च तत्पुराधिपसतां जातो यथा दुर्जयः,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ २ ॥

यह दूसरा पाशकदृष्टान्त हुआ ॥ २ ॥

तृतीय धान्यदृष्टान्त इस प्रकार है—अनेक ग्राम, नगर, पत्तन आदि से सहित इस ३२ बतीस हजार देशवाले भरतक्षेत्र में वृष्टि के होने पर कृषि कर्म में दक्ष किसान लोग शालि, गोधूम, चणक, मुद्ग,

---

પુરૂષને પરાજીત બનાવવો મહાદુર્લભ હતું એવીજ રીતે આ સંસારમાં આ મનુષ્ય જન્મ મહાદુર્લભ છે સંગ્રહ શ્લોક—

देवाराधनलब्धपाशकवरान्, स्थाल च रत्नैर्भृतम्,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुष स्वीये पुरे प्रेषित ।
सर्वेषा स च तत्पुराधिपसतां जातो यथा दुर्जय,
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ २ ॥

આ બીજુ પાશકદૃષ્ટાંત થયુ ॥ ૨ ॥

ત્રીજુ ધાન્યદૃષ્ટાંત આ પ્રકારનુ છે

અનેક ગ્રામ, નગર, જંગલ વગેરે દરેક સ્થળે ૩૨ હજાર દેશવાળા આ ભરતક્ષેત્રમાં વરસાદ વરસતા ખેતીના કામમાં રમ્યા ખેડુતો

अत्र संग्रहः-(शार्दूल विक्रीडितवृत्तम्)
स्तम्भानां हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर ।
कोणानां च सहस्रमेषु जयति द्यूते पितु र्यः सुतः ।
साम्राज्य लभते स, तस्य विजयो द्यूते यथा दुर्लभः ।
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तो स्तथा दुर्लभः ॥ २ ॥
इति चतुर्थो द्यूतदृष्टान्तः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमो रत्नदृष्टान्त —

धनसमृद्धे पुरे रत्नकोटिप्रभुर्धनदनामा वणिक् प्रतिवसति स भूमौ रत्नानि निखन्य तदुपरि पर्यङ्क निधाय शयन करोति । स विश्वासाभावेन पुत्रानपि तानि न प्रदर्शयति। स्वधनानुरूप वेप भवनादिकं च न करोति, व्यापारकरणे धनानि हस्तादपगतानि भविष्यन्तीति बुद्धया व्यापारमपि न करोति ।

संग्रह श्लोक—

स्तम्भाना हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर,
कोणाना च सहस्रमेषु जयति द्यूते पितु र्यं सुतः ।
साम्राज्य लभते स तस्य विजयो द्यूते यथा दुर्लभ
संसारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ ४ ॥
यह चौथा द्यूतदृष्टान्त है ॥ ४ ॥

पाचवा रत्न दृष्टान्त इस प्रकार है—धनसमृद्ध नामका एक नगर था । उसमें एक करोड रत्नों का मालिक धनद नामका वणिक् रहता था । वह जमीन में गडे हुए रत्नों के ऊपर पलग बिछाकर सोया करता था । उसको अपने पुत्रों तक का भी विश्वास नहीं था

સ ગ્રહ શ્લોક—स्तम्भाना हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर,
कोणाना च सहस्रमेषु जयति द्यूते पितु र्यः सुतः ॥
साम्राज्य लभते स तस्य विजयो ते यथा दुर्लभ
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ ४ ॥
આ ચોથુ દ્યૂતદષ્ટાંત છે ॥ ૪ ॥

પાંચમુ રત્નદષ્ટાંત આ પ્રકારનુ છે—

ધનસમૃદ્ધ નામનુ એક નગર હતુ. તેમાં એક કરોડ રત્નોનો માલિક એવો ધનદ નામનો વણિક રહેતો હતો. તે જમીનમાં દાટી રાખેલા રત્નો ઉપર પલગ પાથરીને સુઈ રહેતો હતો. તેને પોતાના પુત્રોનો પણ વિશ્વાસ ન હતો, તેથી

चरसहस्रवार विजिते सति तनैव क्रमेण सर्वे स्तम्भा जिजिता भवेयुः, तत्राप्यष्टोत्तरसहस्रवारविजयकरणे दैवात् तन्मध्ये पराजयः स्यात् तदा सर्वे विजिताः कोणा अविजिताः भवन्ति, सकृदपि ब्रह्मचर्यभङ्गे सर्वे महाव्रतमिव, अतः पुनरादित एव सर्वे कोणा विजेतव्या, एवं त्वमपि कुरु। इति पितृवचनं श्रुत्वा वसुमित्रश्चिन्तयति–द्यूतादेव राज्यं लभ्य पुनः किमर्थं पितरं हन्मि, इति विचार्य राज्ञा सह द्यूतक्रीडायां प्रवृत्तः, तथापि जयो दुर्लभो जातः तस्य वसुमित्रस्यैतत् कार्यं यथा दुष्कर, तथा मनुष्यत्वमपि दुर्लभम्।

इनके जो प्रत्येक के एक हजार आठ १००८ कोने हैं उन कोनों में से एक २ कोने को एक हजार आठ १००८ वार जीत जाता है। इसी क्रम से ये समस्त खमे जब जीत लिये जाते हैं तब जाकर वह विजयी कहलाता है। यदि सब कोने जीत भी लिये जायें और एक भी कोना यदि जीता न जा सके तो जीते हुए भी सब कोने नहीं जीते समझे जा सकते हैं, और उन सब को पुनः जीतने के लिये द्यूत का आरंभ करना पड़ता है। जैसे एक बार भी यदि गृहीत ब्रह्मचर्य खंडित हो जाता है तो समस्त महाव्रत खण्डित माना जाता है। इस प्रकार पिता के वचन को सुनकर वसुमित्र ने विचार किया कि जब द्यूत क्रीडा में जीत होने से राज्य मिलता है तो फिर पिता के मार ने से क्या लाभ। इस प्रकार विचार कर पिता के साथ जुआ खेलने में प्रवृत्त हो गया। परन्तु उसे विजय पूर्वोक्त प्रकार से जैसे दुष्कर बनी उसी प्रकार यह मनुष्यभव भी पुन प्राप्त होना प्राणी के लिये दुर्लभ जानना चाहिये।

છે અને એ પ્રત્યેકને એકહજારઆઠ૧૦૦૮ ખુણા છે એ ખુણામાંથી એક એક ખુણાને એકહજારઆઠ ૧૦૦૮વાર જીતવામા આવે છે આ ક્રમથી તે સઘળા થાભલા જ્યારે જીતવામાં આવે ત્યારે તે વિજયી કહેવાય છે કદાચ બધા ખુણા જીતી લેવામાં આવે અને એકાદ ખૂણો જીતવામાં બાકી રહે તો બધા ખુણા ન જીતાયેલા જ મનાય છે અને એ બધાને જીતવા માટે ફરીથી જુગાર રમવો પડે છે જેમ એક વાર પણ ગ્રહણ કરેલ બ્રહ્મચર્ય ખડિત થઇ જાય તો સમસ્ત મહાવ્રત ખંડિત માનવામાં આવે છે આ પ્રકારનાં પિતાના વચન સાભળીને વસુમિત્રે વિચાર કર્યો કે, જ્યારે જુગાર રમવામા જીત થવાથીજ જો રાજ મળતું હોય તો પિતાને મારવાથી લાભ શુ થવાનો ? આ પ્રકારનો વિચાર કરી વસુમિત્ર પિતાની સાથે જુગાર ખેલવામાં પ્રવૃત્ત બન્યો. પરતુ તેને ઉપરોક્ત પ્રકારથી વિજય મેળવવો દુષ્કર બન્યો તેવીજ રીતે આ મનુષ્યભવ પુનઃ પ્રાપ્ત થવો પ્રાણી માટે દુર્લભ જાણવો જોઇએ

अत्र संग्रहः–(शार्दूल विक्रीडितवृत्तम्)

स्तम्भानां हि सहस्रमष्टसहितं प्रत्येकमष्टोत्तरं ।
कोणानां च सहस्रमेषु जयति द्यूते पितुः यः सुतः ।
साम्राज्यं लभते स, तस्य विजयो द्यूते यथा दुर्लभः ।
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ २ ॥

इति चतुर्थो द्यूतदृष्टान्तः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमो रत्नदृष्टान्तः —

धनसमृद्धे पुरे रत्नकोटिप्रभुर्धनदनामा वणिक् प्रतिवसति स भूमौ रत्नानि निखन्य तदुपरि पर्यङ्कं निधाय शयनं करोति । स विश्वासाभावेन पुत्रानपि तानि न प्रदर्शयति । स्वधनानुरूपं वेषभवनादिकं च न करोति, व्यापारकरणे धनानि हस्तादपगतानि भविष्यन्तीति बुद्धया व्यापारमपि न करोति ।

संग्रह श्लोक—

स्तम्भाना हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर,
कोणानां च सहस्रमेषु जयति द्यूते पितु यः सुतः ।
साम्राज्य लभते स तस्य विजयो द्यूते यथा दुर्लभ
संसारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ ४ ॥

यह चौथा द्यूतदृष्टान्त है ॥ ४ ॥

पांचवा रत्न दृष्टान्त इस प्रकार है—धनसमृद्ध नामका एक नगर था । उसमें एक करोड रत्नों का मालिक धनद नामका वणिक् रहता था । वह जमीन में गडे हुए रत्नों के ऊपर पलग बिछाकर सोया करता था । उसको अपने पुत्रों तक का भी विश्वास नहीं था

સંગ્રહ શ્લોક—स्तम्भाना हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर,
कोणानां च सहस्रमेषु जयति द्यूते पितु यः सुतः ॥
साम्राज्य लभते स तस्य विजयो ते यथा दुर्लभ
संसारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ ४ ॥

આ ચોથુ દ્યૂતદૃષ્ટાંત છે ॥ ૪ ॥

પાંચમુ રત્નદૃષ્ટાંત આ પ્રકારનુ છે—

ધનસમૃદ્ધ નામનુ એક નગર હતુ, તેમાં એક કરોડ રત્નોનો માલિક એવો ધનદ નામનો વણિક રહેતો હતો. તે જમીનમા દાટી રાખેલા રત્નો ઉપર પલંગ પાથરીને સુઈ રહેતો હતો તેને પોતાના પુત્રોનો પણ વિશ્વાસ ન હતો, તેથી

चरसहस्रवारं विजिते सति तनैव क्रमेण सर्वे स्तम्भा विजिता भवेयुः, तत्राप्यष्टो-त्तरसहस्रवारविजयकरणे दैवात् तन्मध्ये पराजयः स्यात् तदा सर्वे विजिताः कोणा अविजिताः भवन्ति, सकृदपि ब्रह्मचर्यभङ्गे सर्वं महाव्रतमिव, अतः पुनरादित एव सर्वे कोणा विजेतव्या, एवं त्वमपि कुरु। इति पितुर्वचनं श्रुत्वा वसुमित्रश्चिन्तयति–द्यूतादेव राज्यं लभ्यं पुनः किमर्थं पितरं हन्मि, इति विचार्य राज्ञा सह द्यूतक्रीडायां प्रवृत्तः, तथापि जयो दुर्लभो जातः तस्य वसुमित्रस्यैतत् कार्यं यथा दुष्करं, तथा मनुष्यत्वमपि दुर्लभम्।

इनके जो प्रत्येक के एक हजार आठ १००८ कोने हैं उन कोनों में से एक २ कोने को एक हजार आठ १००८ वार जीत जाता है। इसी क्रम से ये समस्त खमे जब जीत लिये जाते हैं तब जाकर वह विजयी कहलाता है। यदि सब कोने जीत भी लिये जायें और एक भी कोना यदि जीता न जा सके तो जीते हुए भी सब कोने नहीं जीते समझे जा सकते हैं, और उन सब को पुनः जीतने के लिये द्यूत का आरंभ करना पड़ता है। जैसे एक वार भी यदि गृहीत ब्रह्मचर्य खंडित हो जाता है तो समस्त महाव्रत खंडित माना जाता है। इस प्रकार पिता के वचन को सुनकर वसुमित्र ने विचार किया कि जब द्यूत क्रीडा में जीत होने से राज्य मिलता है तो फिर पिता के मारने से क्या लाभ। इस प्रकार विचार कर पिता के साथ जुआ खेलने में प्रवृत्त हो गया। परन्तु उसे विजय पूर्वोक्त प्रकार से जैसे दुष्कर बनी उसी प्रकार यह मनुष्यभव भी पुनः प्राप्त होना प्राणी के लिये दुर्लभ जानना चाहिये।

છે અને એ પ્રત્યેકને એકહજારઆઠ૧૦૦૮ ખુણા છે એ ખુણામાંથી એક એક ખુણાને એકહજારઆઠ ૧૦૦૮વાર જીતવામાં આવે છે આ ક્રમથી તે સઘળા થાંભલા જ્યારે જીતવામાં આવે ત્યારે તે વિજયી કહેવાય છે કદાચ બધા ખુણા જીતી લેવામાં આવે અને એકાદ ખૂણો જીતવામાં બાકી રહે તો બધા ખુણા ન જીતાયેલા જ મનાય છે અને એ બધાને જીતવા માટે ફરીથી જુગાર રમવો પડે છે જેમ એક વાર પણ ગ્રહણ કરેલ બ્રહ્મચર્ય ખંડિત થઈ જાય તો સમસ્ત મહાવ્રત ખંડિત માનવામાં આવે છે આ પ્રકારનાં પિતાના વચન સાંભળીને વસુમિત્રે વિચાર કર્યો કે, જ્યારે જુગાર રમવામાં જીત થવાથીજ જો રાજ મળતું હોય તો પિતાને મારવાથી લાભ શું થવાનો? આ પ્રકારનો વિચાર કરી વસુમિત્ર પિતાની સાથે જુગાર ખેલવામાં પ્રવૃત્ત બન્યો પરંતુ તેને ઉપરોક્ત પ્રકારથી વિજય મેળવવો દુષ્કર બન્યો તેવીજ રીતે આ મનુષ્યભવ પુનઃ પ્રાપ્ત થવો પ્રાણી માટે દુર્લભ જાણવો જોઈએ

सन्तस्तन्नगरागतानामन्यान्यदेशवासिनां श्रेष्ठिना हस्ते रत्नानि विक्रीय वाणिज्यार्थं पण्यवस्तूनि क्रीतवन्त., तैर्वाणिज्यकार्यं प्रसारयन्ति स्म। ततस्तत्पुत्रा. कोटिध्वजा जाता.। चिरेण तेषां पिता गृहमागत.। स स्वस्थापितानि रत्नान्यदृष्ट्वा वसुप्रियं पुत्रं पृच्छति–अरे! केन मम रत्नानि गृहीतानि?। वसुप्रिय आह–सर्वैर्भ्रातृभिरपहृतानि। ततः पुत्रवाक्यं श्रुत्वा धनदः कोपाविष्टः सन्नब्रवीत्–रे लक्ष्मीकन्दकुद्दालकाः! यूयं मद्गृहान्निर्गच्छत, तानि विक्रीतरत्नानि समानीय मद्गृहे स्थापयन्तु, अन्यथा गृहे नागन्तव्यम्। यथा तेषां रत्नानां पुनरानयनं धनदपुत्राणां दुष्करं, तथा मनुष्यत्वमपि दुर्लभम्॥

रत्नों को निकाल लिया। सबों को रत्न की प्राप्ति से अपार हर्ष हुआ। जो दूसरे देश के वणिग्जन व्यापार के लिये नगर में आये हुए थे उनके लिये वे सब रत्न उन लोगों ने बेच दिये और अपनी पुंजी बनाकर फिर वे सब के सब व्यापार करने में लग गये। इनका व्यापार कार्य खूब चला। सब के सब कोटिध्वज हो गये। कालान्तर में धनद घर पर वापिस आया। उसने अपने रखे हुए रत्नों की ज्यों ही संभाल की वे उसको नहीं मिले–तब उसने वसुप्रिय पुत्र से पूछा। किसने मेरे रत्नों को लिया है। वसुप्रिय ने कहा–सब भाईओं ने। वसुप्रिय की बात सुनकर धनद को बहुत ही अधिक क्रोध आ गया। गुस्से में आकर उसने कहा–तुम सब के सब लक्ष्मीरूपी कन्द को उखाड़ने के लिये कुद्दाली के समान हो अतः तुम्हारी अब भलाई इसी में है कि तुम सब मेरे घर से निकल जाओ। नहीं तो बेचे हुए रत्नों को वापिस लाओ। जब तक रत्न नहीं आवे तब तक याद

હર્ષ થયો. બીજા દેશના વણિકજનો વેપાર માટે નગરમાં આવ્યા હતા તેમને આ લોકોએ બધા રત્નો વેચી દીધા અને પોતપોતાની પુંજી બનાવી લઈને દરેક જણ વેપાર કરવા લાગ્યા તેમનો વેપાર ખૂબ ચાલ્યો. બધા કરોડપતી બની ગયા કાળાન્તરે ધનદ પાછો ઘેર આવ્યા, ત્યારે તેણે પોતે રાખેલા રત્નોની જે તે સ્થળે તપાસ કરી તો તે તેને મળ્યાં નહીં ત્યારે તેણે વસુપ્રિયને પૂછ્યું, કોણે મારા રત્નોને લીધાં છે ? વસુપ્રિયે કહ્યું, બધા ભાઈ ઓએ રત્નો વહેંચી લીધાં છે વસુપ્રિયની વાત સાંભળીને ધનદને એકદમ ક્રોધ ચડયો અને ગુસ્સામાં આવીને તેણે કહ્યું, તમે બધા લક્ષ્મીરૂપી કંદને ઉખાડનારા કોદાળી જેવા છો. આથી તમો બધા મારા ઘરમાંથી ચાલ્યા જાવ એમાંજ તમો સહુની ભલાઈ છે નહિતર વેચેલાં રત્નોને પાછાં લાવો. જ્યાં સુધી રત્નો પાછા નહીં આવે ત્યાં

कदाचित् सम्बन्धिन कार्यवशादामन्त्रणपत्र समागतम्। तत्र गन्तुं मस्थितो धनदस्तद्रत्नरक्षणाय वसुप्रिय स्वकनिष्ठपुत्र सूचयति। तदनन्तर धनदे गृहान्निसृते सति वसुप्रियस्य भ्रातरः सर्वे गृहे समागता.। वसुप्रियः पितृसूचित रत्न स्थान भ्रातॄन् कथयति। तैर्भूमिं खनित्वा रत्नान्युद्धृतानि। सर्वे हृष्टचित्ताः

इसलिये वह रत्नों को वे कहां २ रखे हुए हैं पुत्रों को नहीं बतलाया था। जैसा यह धनपति था उसके अनुरूप न इसका मकान था और न रहन सहन भी। व्यापार भी यह इसलिये नहीं करता था, यह मानता था कि व्यापार करने में जो धन लगाया जाता है वह हाथ से चला जाता है। उसकी पुन. प्राप्ति कोई निश्चित नहीं होती है।

एक समय की बात है कि किसी सबंधी का इसके पास बुलाने के लिये आमत्रण पत्र आया। जब यह वहां जाने को तयार हुआ तब रत्नों की रक्षा करने के लिये इसने सब से छोटे पुत्र को कि जिसका नाम वसुप्रिय था, नियुक्त कर दिया। तब कहां कितने २ रत्न रखे हुए हैं यह बात भी उसको बतला दी। धनद जब चला गया और वसुप्रिय रत्नादिक की रक्षा करने लगा तब सब भाई मिलकर वसुप्रिय के पास आये और बातों बातों में उसने उन अपने भाईओं को रत्न रखने के समस्त स्थानों को बतला दिया। उन्हों ने जमीन खोद कर

रत्नोने तेणे क्यां क्यां राख्यां छे ते पोताना पुत्रोने पण बतावतो न हतो. जेवो ते धनपती हतो तेने अनुरूप तेने रहेवानु मकान न हतु तेम तेनी रहेणी-करणी पण तेने अनुरूप न हती. ते वेपार पण करतो नही कारण के तेनी मान्यता-एवी हती के, वेपारमां जे धन रोकवामां आवे ते हाथथी चाल्युं जाय छे अने गयेलुं धन फरीथी मळवानु निश्चित होतु नथी.

एक समयनी वात छे के, ज्यारे तेने बोलाववा माटे तेना कोई संबधीनु आमत्रण आव्युं ज्यारे ते त्यां जवा माटे तैयार थयो त्यारे तेणे रत्नोनी रक्षा माटे पोतानो सौथी नानो पुत्र के जेनु नाम वसुप्रिय हतु तेने नियुक्त कर्यो अने कई कई जग्याओ केटलां रत्नो राख्यां छे, ए वात पण तेने बतावी दीधी ते धनद ज्यारे बहारगाम गयो त्यारे वसुप्रिय रत्नादिकनी रक्षा करवा लाग्यो. बधा भाईओ एकठा मळीने वसुप्रियनी पासे आव्या अने वात वातमा वसुप्रिये पोताना भाईओने रत्नना बधां ठेकाणां बतावी दीधां तेमणे जमीन खोदी रत्नो काढी लीधां. दरेकने रत्नोनी प्राप्ति थवाथी अपार

जिनवचनानुरागी धर्मे दृढमतिरासीत्। मूलदेवः कार्पटिकश्चोभौ काञ्चनपुरनगराद्बहि सरसस्तटे रात्रौ स्थितौ। तत्र सुप्तेन मूलदेवेन रात्रिशेषे स्वप्नो दृष्टः—मुखे चन्द्रः प्रविष्ट इति। तदानीमेव तत्र सुप्तेन कार्पटिकेनापि तादृश एव स्वप्नो दृष्टः। स्वप्नदर्शनानन्तरं तौ विनिद्रौ जातौ। कार्पटिको वदति—स्वप्नावस्थायां मम मुखे चन्द्रः प्रविष्ट इति मया दृष्टः। मूलदेवः प्राह—अयं स्वप्नो रक्षणीयः, साधारणजनानामग्रे नायं प्रकाशनीयः। स्वप्नोत्थितयोस्तयोर्मनः प्रसन्नमभवत्। सूर्योदयानन्तरमेव तौ काञ्चनपुरनगरे प्रविष्टौ।

वृद्धि के लिये दूसरे देश को घर से चला। मार्ग में जाते २ एक कार्पटिक ने इसका साथ कर लिया। मूलदेव जिन वचन में श्रद्धालु था। चलते २ ये दोनों कांचनपुर नगर के बहार रहे हुए किसी एक तालाब के तीर पर रात्रि को ठहर गये। मूलदेव को रात्रि के शेषभाग में एक स्वप्न दिखाई दिया। जिसमें उसने देखा कि मेरे मुख में चन्द्रमा प्रविष्ट हो गया है। उसी समय कार्पटिक ने भी इसी तरह का स्वप्न देखा। स्वप्न देखने के बाद दोनों जग गये। आपस में बातचीत होने लगी कार्पटिक ने कहा आज मैंने स्वप्न में चन्द्रमा को अपने मुख में प्रवेश करता हुआ देखा है। मूलदेव ने उसका स्वप्न सुनकर उससे कहा यह स्वप्न गोपनीय है, हर एक आदमी के सामने इसको प्रकाशित नहीं करना। जब प्रातःकाल हो चुका तब ये दोनों उठे, उस समय वे बड़े ही प्रसन्न मालूम देते थे, क्यों कि इनका मन बड़ा प्रसन्न था। सूर्योदय के अनन्तर फिर इन दोनों ने कांचनपुर नगरमें प्रवेश किया।

માર્ગમાં ચાલતાં ચાલતાં તેને એક ભુવાનો સાથ થઈ ગયો. મૂળદેવ જીન વચનમાં ખૂબ શ્રદ્ધાળુ હતો. ચાલતાં ચાલતા બન્ને કાંચનપુર નગરની બહારના એક તળાવના કાંઠા ઉપર રાતના રોકાઈ ગયા. મૂળદેવને રાત્રીના પાછલા ભાગમાં એક સ્વપ્ન દેખાયું. જેમાં તેણે જોયું કે, જાણે તેના મોઢામાં ચંદ્રમાએ આવીને પ્રવેશ કર્યો છે. આજ સમયે તેની બાજુમાં સુતેલા ભુવાએ પણ તેવું જ સ્વપ્ન જોયું. સ્વપ્ન જોયા પછી બન્ને જાગી ગયા. આપસમાં વાતચીત કરવા લાગ્યા ભુવાએ કહ્યું, આજે મે સ્વપ્નમાં ચંદ્રમાને મારા મોઢામાં પ્રવેશ કરતા જોયો. મૂળદેવે તેના સ્વપ્નાનું કથન સાભળીને કહ્યુ કે, આ સ્વપ્ન ખાનગી રાખવા જેવું છે. દરેક આદમીની સામે આને પ્રકાશિત ન કરવું જોઈએ. જ્યારે સવાર થયું ત્યારે બન્ને ઉઠ્યા તે સમયે તેઓ ઘણા પ્રસન્ન માલુમ પડતા હતા કેમકે, તેમના મન ઘણાં પ્રસન્ન હતાં. સૂર્યોદય પછી બન્ને જણાએ કાંચનપુર નગરમાં પ્રવેશ કર્યો.

अत्र संग्रह–(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

तातेऽन्यत्र गते धरान्तरगतान्यादाय रत्नानि यत्,
विक्रीतानि सुतैर्विदेशिवणिजां हस्तेषु पश्चात् ततः।
रत्नान्यानयतेति तातकथने, तत्प्रापणं दुष्करं,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः॥ ५॥

इति पञ्चमो रत्नदृष्टान्तः॥५॥

अथ षष्ठः स्वप्नदृष्टान्तः—

आसीत् पाटलिपुत्रनगरे मूलदेवनामकः क्षत्रियः। स स्वाभ्युदयार्थं देशान्तरं गन्तुं प्रस्थितः। मार्गे गच्छतस्तस्य कश्चित् कार्पटिकः सहचरोऽभवत्। मूलदेव सह

रखना घर में तुम्हारे लिये स्थान नहीं है। इस दृष्टान्त से यह समझना चाहिये कि जैसे उन विक्रीत रत्नों की प्राप्ति उन पुत्रों के लिये दुष्कर हुई उसी तरह से हाथ से निकला हुआ मनुष्य जन्म भी महा दुर्लभ है।

इस दृष्टान्त का सार प्रदर्शक श्लोक इस प्रकार है—

तातेऽन्यत्रगते धरान्तरगतान्यादाय रत्नानि यत्,
विक्रीतानि सुतैर्विदेशिवणिजा हस्तेषु पश्चात्ततः।
रत्नान्यानयतेति तातकथने तत्प्रापणं दुष्करम्,
संसारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः॥

यह पांचवां रत्नदृष्टान्त है॥ ५॥

छठा स्वप्नदृष्टान्त इस प्रकार है—पाटलिपुत्र नगर में मूलदेव नाम का एक क्षत्रिय रहता था। वह किसी समय अपने भाग्य की

મુખી યાદ રાખો કે, તમારા માટે ઘરમાં કોઈ સ્થાન નથી એટલા માટે આ દૃષ્ટાંતથી એમ સમજવું જોઈએ કે, વેચેલા રત્નોની પ્રાપ્તિ તે પુત્રોને માટે જેમ દુષ્કર થઈ તેમ હાથમાંથી નિકળી ગયેલ મનુષ્યજન્મ પણ ફરી પ્રાપ્ત થવો મહાદુર્લભ છે.

સંગ્રહ શ્લોક—तातेऽन्यत्रगते धरान्तरगतान्यादाय रत्नानि यत्,
विक्रीतानि सुतैर्विदेशिवणीजां हस्तेषु पश्चात्ततः।
रत्नान्यानयतेति तातकथने तत्प्रापणं दुष्करम्,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः॥

આ પાંચમું રત્નદૃષ્ટાંત છે॥ ૫॥

છઠ્ઠું સ્વપ્નદૃષ્ટાંત આ પ્રકારથી છે—

પાટલીપુત્ર નગરમાં મૂલદેવ નામનો એક ક્ષત્રિય રહેતો હતો તે એક સમય પોતાના ભાગ્યની વૃદ્ધિ માટે ઘેરથી બીજા દેશમાં નીકળ્યો.

लोके कथितम्-शुक्रस्य रात्रौ स्वप्नो दृष्टः, अद्य शनिवासरः, तेन कारणेन घृतगुडस हित रोटकं तैलं च मिलिष्यति। यत्र यत्र गृहस्थगृहे कार्पटिको भिक्षार्थं गच्छति तत्र तत्र शनिदिवसे प्रचुरं तादृशं रोटकं तैलं च तेन लब्धम्।

अथ पुत्ररहितस्तन्नगरनृपः स्वायुषः क्षयेण मृतः। तस्मिन् मृते सति मन्त्रि प्रभृतयस्तदा व्यवस्था कृतवन्तः-इयं राजहस्तिनी यस्य गले पुष्पमालां दद्यात् स एव राजा भविष्यति। इत्येवं निश्चिते सति हस्तिनी स्वशुण्डया पुष्पमालां नीत्वा मनुष्यपरिवारैः सह नगरे प्रतिमार्गं भ्रमन्ती वनं गता। सा तत्र वृक्षच्छायायाम् उपविष्टस्य मूलदेवस्य गले पुष्पमालां ददौ। ततो मनुष्यवृन्दैः सह राजमन्त्रिणो मूलदे

तुमने शुक्र की रात्रि में यह स्वप्न देखा है, आज शनिवार है, इस कारण तुमको घृत गुड सहित रोट एव तेल मिलेगा। अब जिस२ घरमें वह कार्पटिक भिक्षा के लिये गया वहा २ उसको वही चीज खूब मिली

जब छह दिन पूरे हुए उसी रात में उस नगर का राजा मर गया राजा के कोई पुत्र नहीं था इसलिये जब वह मरा तब मन्त्रियों ने राज्य की व्यवस्था के लिये ऐसा विचार किया कि यह राजा की हथिनी जिसके गले में पुष्पमाला डाले वही राजा समझा जाय। इस प्रकार का विचार जब पूर्णरूप से निश्चित हो चुका तब हथिनी को अपनी सूड में पुष्पमाला देकर छोड़ा। नगर के प्रत्येक मार्ग में वह घूमती रही। उसके साथ मनुष्यों का समुदाय भी बहुत था। घूमते २ वह जगल में पहुँची। मूलदेव उस समय एक वृक्ष के नीचे छाया में बैठा हुआ था। हथिनी ने पहुँचते ही मूलदेव के गले में वह पुष्पमाला डाल दी

કહ્યું કે, શુક્રની રાત્રીમા આ સ્વપ્ન દેખાયું છે આજે શનીવાર છે એ કારણે તમને ઘી ગોળ સાથે રોટલો અને તેલ મળશે. હવે જ્યા જ્યાં એ ભિક્ષા માટે ગયો ત્યાં ત્યા તેને એ ચીજો ખૂબ પ્રમાણમા મળી

જ્યારે છ દિવસ પુરા થયે એક રાત્રિએ તે નગરનો રાજા મરી ગયો. રાજાને કોઈ પુત્ર ન હતો. મંત્રીઓએ રાજ્યની વ્યવસ્થા માટે એવી મસલત કરી કે રાજાની હાથણી જેના ગળામા પુષ્પમાળા પહેરાવે તેને રાજગાદી સુપ્રદ કરવી. આ પ્રકારનો જ્યારે પૂર્ણરૂપથી નિશ્ચય લેવાયો ત્યારે હાથણીની સુંઢમાં પુષ્પમાળા આપીને તેને છુટી મુકી નગરના દરેક માર્ગ ઉપર તે ફરતી હતી, તેની પાછળ માણસોનો સમૂહ પણ ચાલ્યો આવતો હતો. ઘૂમતા ઘૂમતો તે જગલ તરફ વળી. મૂળદેવ આ વખતે ત્યાં એક વૃક્ષની છાયામાં બેઠા હતો હાથણીએ ત્યા પહોંચીને મૂળદેવના

तत्र मूलदेवः स्वप्नपाठकस्य गृहे गत्वा विनयेन स्वप्नपाठकं पृच्छति-मुखे चन्द्र प्रविष्ट इति स्वप्नो मया दृष्ट किमस्य फलं भविष्यति ? । तेनोक्तम्-प्रथम मम कन्यकया सह विवाहमङ्गीकरोपि चेत्तदाऽस्य स्वप्नस्य फलं वक्ष्यामि। मूलदेवेन तदङ्गीकृतम्, स स्वप्नपाठकः स्वपुत्रीं प्रदाय जामातृसम्बन्धं विधाय भोजनं कारयित्वा मूलदेव वदति-इत. सप्तमे दिवसे भवानस्य नगरस्य राजा भविष्यति।

कार्पटिकस्तु स्वकीयस्वप्नवृत्तं तत्र नगरे साधारणलोकानां पुरः प्रकाशितवान्,

मूलदेव ने वहां स्वप्न के फल को कहने वाले विद्वान के घर की तलाश की। जब उसको इसका पता लग गया तो वह बडे ही विनय के साथ स्वप्नपाठक के घर गया-और वहां विनीतभाव से उसने स्वप्नपाठक से पूछा-महानुभाव! आज मैंने रात्रि के पिछले पहर में चन्द्रमा को मुख में प्रवेश करते हुवे देखा है इसका फल क्या होगा, कृपाकर कहिये। मूलदेव की बात सुनकर स्वप्नपाठक ने कहा कि-यदि तुम पहिले मेरी कन्या के साथ अपना विवाह करना मंजूर करो तो मैं इसका फल तुम्हें बतला सकता हूं। मूलदेव ने स्वप्नपाठक की बात अंगीकार करली। स्वप्नपाठक ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया। मूलदेव अब स्वप्नपाठक का जमाई बन गया। स्वप्न-पाठक ने जमाई का आदरसत्कार किया और भोजन करा कर कहा आज से सातवें दिन आप इस नगर के राजा हो जायेगे।

इधर कार्पटिक ने अपना स्वप्न नगर के साधारण से भी साधारण व्यक्ति को सुनाना शुरू कर दिया। लोकों ने भी उससे यही कहा कि

મૂલદેવે ત્યાં સ્વપ્ન ફળના કહેવાવાળા વિદ્વાનના ઘરની તપાસ કરી, તેના પત્તો મેળવી સ્વપ્નપાઠકને ઘેર ગયો અને ત્યાં વિનીત ભાવથી તેણે સ્વપ્ન પાઠકને પૂછ્યું, મહાનુભાવ! આજ મે રાત્રિના પાછલા પહોરમાં ચન્દ્રમાને મુખમાં પ્રવેશ કરતો જોયો છે તેનું ફળ શું હશે ? તે કૃપાકરીને કહો મૂળદેવની વાત સાંભળીને સ્વપ્નપાઠકે કહ્યું કે, જો તમે પહેલાં મારી કન્યાની સાથે તમારા વિવાહ કરવાનું મંજુર કરો તોજ હું તમને તેનું ફળ બતાવું મૂળદેવે સ્વપ્નપાઠકની વાત સ્વીકારી લીધી. સ્વપ્નપાઠકે પોતાની પુત્રીનો વિવાહ તેની સાથે કરી દીધો મૂળદેવ હવે સ્વપ્નપાઠકનો જમાઇ બની ગયો સ્વપ્નપાઠકે જમાઈનો આદરસત્કાર કર્યો અને ભોજન જમાડીને કહ્યું કે આજથી સાતમે દિવસે તમે આ નગરના રાજા થશો બીજી બાજુ ભુવાએ પોતાનું સ્વપ્ન નગરના સાધારણથી સાધારણ માણસને પણ સંભળાવવું શરૂ કરી દીધું લોકોએ તેને એમ

अत्र सग्रहश्लोकः—(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्र मुखान्तर्गत,
दृष्ट्वा सर्वजनाग्रतो निगदित लब्ध न राज्य फलम्।
स्वप्नस्तस्य पुन स तत्र शयितस्यासीद् यथा दुर्लभः,
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

॥ इति षष्ठ स्वप्नदृष्टान्त ॥ ६ ॥

अथ सप्तमश्चक्रदृष्टान्त —चक्रोपलक्षितो दृष्टान्त, राधावेधदृष्टान्त इत्यर्थ । स चैवम्—

मथुरानगर्या जितशत्रुनामको भूपतिरासीत्। इन्दिरानाम्नी तस्य पुत्री- चतु -

उस स्वप्न की प्राप्ति पुन दुर्लभ हुई उसी प्रकार इस मनुष्यजन्म से प्रच्युत प्रमादी जीव को पुन मनुष्यभव की प्राप्ति दुर्लभ है।

इस कथा का भावदर्शक श्लोक इस प्रकार है—

स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्रं मुखान्तर्गत,
दृष्ट्वा सर्वजनाग्रतो निगदित लब्ध न राज्य फलम्।
स्वप्नस्तस्य पुन स तत्र शयितस्यासीद्यथा दुर्लभ,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

यह छट्ठा स्वप्नदृष्टान्त है ॥ ६ ॥

सातवा चक्र दृष्टान्त इस प्रकार है—इसका दूसरा नाम राधावेध दृष्टान्त भी है—मथुरा नगरी में जितशत्रु नाम का राजा रहता था। इसकी एक कन्या थी, जिसका नाम इन्दिरा था। यह चौंसठ कलाओं

प्राप्ति दुर्लभ बनी ते रीते आ मनुष्यजन्मथी अच्युत प्रमादीजीवने फरी मनुष्यभवनी प्राप्ति दुर्लभ छे

आ कथानो भावदर्शक श्लोक आ प्रकारनो छे

स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्र मुखान्तर्गतं,
दृष्ट्वा सर्वजनाग्रतो निगदित लब्धं न राज्य फलम्।
स्वप्नस्तस्य पुन स तत्र शयितस्यासीद्यथा दुर्लभः,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

छठु स्वप्नदृष्टांत छे

सातमु चक्रदृष्टांत आ प्रकारनु छे आनु बीजु नाम राधावेध दृष्टांत पण छे. मथुरा नगरीमा जितशत्रु नामनो एक राजा राज्य करतो हतो तेने एक कन्या हती जेनु नाम इन्दिरा हतु ते चोसठ कळाओमा कुशळ हती एक

तामेव हस्तिनीं सादरं समारोह्य नगरं प्रवेशयन्ति।

कार्पटिकस्तु–मनुष्यवृन्दैः सह हस्तिनीसमारूढं प्राप्तराज्यं मूलदेवं विलोक्य 'चन्द्रपानस्वप्नाराधनेन मूलदेवस्य राज्यलाभो जातः', इति बुद्धया स्वात्मानं निन्दयन् पश्चात्तापं करोति–धिग्माम्, मन्दलोकानां पुरस्तात् स्वप्नप्रकाशनेन मया स्वप्नो निष्फलीकृतः, तस्मात् पुनरह तत्रैव सरस्तीरे शयिष्ये, तदा राज्यप्राप्तिकरं स्वप्नं पुनः पश्यामीति विचिन्त्य राज्यलक्ष्मीं काङ्क्षमाणः पुनः पुनस्तत्र स्वपिति।

यथा कार्पटिकस्य तत्स्वप्नदर्शनं दुर्लभं, तथा मनुष्यदेहात् प्रच्युतस्य प्रमादिनः पुनर्मनुष्यत्वं दुर्लभम्।

हथिनी ने पुष्पमाला मूलदेव के गले में डाली देखकर मन्त्रियों ने मूलदेव को उसी समय उस हथिनी पर बैठा कर बड़े आदर के साथ उनका नगर में प्रवेश कराया।

कार्पटिक ने मनुष्यवृन्दों के साथ मूलदेव को हस्तिनी पर बैठा एवं वहां का राजा बना हुआ देखकर "चन्द्रमापानरूप स्वप्न के आराधन के प्रभाव से मूलदेव को राज्य का लाभ हुआ है" इस विचार से अधिक से अधिक पश्चात्ताप किया–मुझ अभागे को धिक्कार है जो मैंने सब लोकों के सामने अपने स्वप्न को प्रकाशित कर निष्फल बनाया। अब वह पुनः इस विचार से राजलक्ष्मी की प्राप्ति की आशा से उस स्थान पर बार २ सोने लगा कि कब वह चन्द्रस्वप्न मुझे दिखलाई दे और कब मुझे राज्य की प्राप्ति हो।

इस दृष्टान्त से यही समझना चाहिये कि जिस प्रकार कार्पटिक का

ગળામાં પુષ્પમાળા પહેરાવી દીધી. હાથણીએ મૂળદેવને પુષ્પમાળા પહેરાવેલી જોઈને મંત્રીઓએ મૂળદેવને તે સમયે તે હાથણી ઉપર બેસાડીને ઘણા આદર સત્કારની સાથે તેનો નગરપ્રવેશ કરાવ્યો.

બુવાએ મનુષ્યના ટોળાની વચ્ચે મૂળદેવને હાથણીપર બેઠેલો તેમજ ત્યાંનો રાજા બનેલો જોઈને તેને લાગ્યું કે સ્વપ્નના આરાધનના પ્રભાવથી મૂળદેવને રાજ્યનો લાભ થયો છે આ વિચારથી તેને ઘણો જ પશ્ચાત્તાપ થયો અને મનમાંને મનમાં બડબડ્યો કે, મને અભાગીને ધીક્કાર છે કે, જે સઘળા લોકોની સામે મારા સ્વપ્નને પ્રકાશીત કરી નિષ્ફળ બનાવ્યું આ પછી જ્યાં તેને સ્વપ્ન આવ્યું હતું ત્યાં રાજલક્ષ્મીની આશાથી રોજ રાત્રીના સુઈ જવા લાગ્યો ક્યારે સ્વપ્નમાં મને ચંદ્ર દેખાય અને ક્યારે મને રાજ્યની પ્રાપ્તી થાય

આ દૃષ્ટાંતથી એ સમજવું જોઈએ કે, જે પ્રકારે બુવાને તે સ્વપ્નની

अत्र सङ्ग्रहश्लोक —(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्र मुखान्तर्गत,
दृष्ट्वा सर्वजनाग्रतो निगदित लब्ध न राज्य फलम् ।
स्वप्नस्तस्य पुन स तत्र शयितस्यासीद् यथा दुर्लभ',
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ. ॥ १ ॥

॥ इति षष्ठ स्वप्नदृष्टान्त ॥ ६ ॥

अथ सप्तमश्चक्रदृष्टान्त —चक्रोपलक्षितो दृष्टान्त', राधावेधदृष्टान्त इत्यर्थ' । स चैवम्—

मथुरानगर्या जितशत्रुनामको भूपतिरासीत् । इन्दिरानाम्नी तस्य पुत्री- चतु -

---

उस स्वप्न की प्राप्ति पुन दुर्लभ हुई उसी प्रकार इस मनुष्यजन्म से प्रच्युत प्रमादी जीव को पुन मनुष्यभव की प्राप्ति दुर्लभ है।

इस कथा का भावदर्शक श्लोक इस प्रकार है—

स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्र मुखान्तर्गत,
दृष्ट्वा सर्वजनाग्रतो निगदित लब्ध न राज्य फलम् ।
स्वप्नस्तस्य पुन' स तत्र शयितस्यासीद्यथा दुर्लभ',
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

यह छट्ठा स्वप्नदृष्टान्त है ॥ ६ ॥

सातवां चक्र दृष्टान्त इस प्रकार है—इसका दूसरा नाम राधावेध दृष्टान्त भी है—मथुरा नगरी में जितशत्रु नाम का राजा रहता था। इसकी एक कन्या थी, जिसका नाम इन्दिरा था। यह चौंसठ कलाओं

પ્રાપ્તિ દુર્લભ બની તે રીતે આ મનુષ્યજન્મથી અચ્યુત પ્રમાદીજીવને ફરી મનુષ્યભવની પ્રાપ્તિ દુર્લભ છે

આ કથાનો ભાવદર્શક શ્લોક આ પ્રકારનો છે

स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्र मुखान्तर्गत ,
दृष्ट्वा सर्व जनाग्रतो निगदित लब्ध न राज्य फलम् ।
स्वप्नस्तस्य पुन स तत्र शयितस्यासीद्यथा दुर्लभः,
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

છઠું સ્વપ્નદૃષ્ટાંત છે

સાતમું ચક્રદૃષ્ટાંત આ પ્રકારનું છે આનું બીજું નામ રાધાવેધ દૃષ્ટાંત પણ છે. મથુરા નગરીમાં જીતશત્રુ નામનો એક રાજા રાજ્ય કરતો હતો તેને એક કન્યા હતી જેનું નામ ઇન્દિરા હતું તે ચોસઠ કળાઓમાં કુશળ હતી એક

पष्टिकलाभिज्ञा जाता । जितशत्रुनृपस्तस्या विवाहयोग्यं वयो विलोक्य चिन्तयति —यः खलु राजकुमारो धार्मिकः कलाकुशलः सकलनीतिशास्त्रनिपुणो राधावेधसाधनसमर्थः स्यात् स एव योग्यो वरः स्यादस्या इति विचिन्त्य, तेन राज्ञा स्वयंवरमण्डपः कारितः । तत्सनिधौ चैकमुच्चतरः स्तम्भः स्थापितः । तस्य स्तम्भस्योर्ध्वभागेऽनुलोमेन चत्वारि, विलोमेन च चत्वारि लोहचक्राणि निवेशितानि । तेषां चक्राणामुपरि राधानाम्ना प्रसिद्धा काष्ठमयी भ्रमन्ती पुत्तलिका स्थापिता । तदधस्तात् तैलपूर्णकटाहश्च स्थापितः । य खलु राधाया वामनयनं शरेण विध्येत् स एव मत्कन्यकाया इन्दिराया वरः स्यादिति जितशत्रुणा घोषणारूपेण प्रतिज्ञातम् ।

की ज्ञाता थी । जिस समय जितशत्रु ने विवाहयोग्य इसकी अवस्था देखी तो विचार किया कि—जो राजकुमार धार्मिक, कलाकुशल, सकलनीति शास्त्र में निष्णात एवं साथ में राधावेधसाधन में भी समर्थ हो वही इस कन्या का पति होने योग्य है । इस प्रकार विचार कर राजा ने स्वयंवरमंडप रचाया और उसके पास ही एक ओर एक बड़ा ऊँचा खंभा भी खड़ा करवाया । पश्चात् उसने उस खंभे के उर्ध्व भाग में लोहे के चार चक्र अनुलोम—सुलटे फिरने वाले और चार चक्र विलोम—उलटे फिरनेवाले लगवा दिये । फिर उन चक्रों के भी ऊपर राधा नाम की एक काष्ठमयी घूमती हुई पुतली रखवा दी । खंभे के ठीक नीचे के भाग में तेल से भरा हुआ एक कड़ाह भी रखवा दिया। जब इस प्रकार से स्वयंवरमंडप की पूर्ण तयारी हो चुकी तब उसने यह घोषणारूप में अपनी प्रतिज्ञा प्रकट करवाई कि जो व्यक्ति राधा के वामनयन को बाण से वेध देगा वही मेरी कन्या इन्दिरा का पति

સમયે જીતશત્રુએ તેની વિવાહયોગ્ય વય જોઈને વિચાર કર્યો કે, જે રાજકુમાર ધાર્મિક, કળાકુશળ, સકળ નીતિશાસ્ત્રમાં નિષ્ણાત અને સાથે સાથ રાધાવેધ સાધવામાં પણ સમર્થ હોય તેજ આ કન્યાનો પતિ થવા યોગ્ય છે આ પ્રકારનો વિચાર કરી રાજાએ સ્વયંવરમંડપ રચ્યો અને તેની પાસે જ એક ખૂબ જાડો ઉંચો સ્તંભ પણ ઉભો કરાવ્યો એ પછી તેણે તે સ્તંભના ઉર્ધ્વ ભાગમાં લોઢાના ચાર ચક્ર સીધાં ફરવાવાળાં અને ચાર ચક્ર અવળાં ફરવાવાળાં ગોઠવાવ્યાં પછી તે ચક્રોની ઉપર પણ રાધા નામની ફરતી લાકડાની પુતળી મોઠવાવી સ્તંભના ઠેક નીચા ભાગમાં તેલથી ભરેલી એક કડાઈ રખાવી. જ્યારે આ પ્રકારે સ્વયંવરની સંપૂર્ણ તૈયારી થઈ ચુકી ત્યારે એક ઢંઢેરો

ततस्तेन नृपतिना निमन्त्रिता बहवो राजानो राजकुमाराश्च देशाद् देशान्तरादपि तत्र सोत्साहं समागताः। सर्वेषु राजसु राजकुमारेषु च मण्डपे समुपविष्टेषु जित शत्रुनृपस्तत्रागत्य वदति–यो राधापुत्तलिकाया वामनेत्र शरेण विध्येत् तस्मै मया कन्यका दातव्येति। राज्ञो वचः श्रुत्वा एकैकमुत्थितो नृपादिस्तत्र राधावेधनाय शरं धनुषि संयोज्य प्राक्षिपत्। स च शरः कस्यचिदेकेन चक्रेणास्फाल्य भग्नः सन् भूमौ निपतितः, कस्यचिदेकं चक्रमतिक्रान्तः, कस्यचिद् द्वे, कस्यचिद् त्रीणि, अन्येषां तु लक्ष्यादन्यत्रैव निर्गतः, कोऽपि राधावेधं साधयितुं नाशकत्।

होगा। राजा ने इस प्रकार अपना भाव प्रकट कर सब राजाओं एवं राजपुत्रों के लिये स्वयंवरमंडप में आनेका आमंत्रण भेज दिया। राजा से आमंत्रित हो बडे उत्साह से अनेक राजा और राजकुमार देश देशान्तर से उत्साहपूर्वक आये और स्वयंवरमंडप में बैठ गये। जब समस्त राजा और राजपुत्र अच्छी तरह अपने २ स्थानों पर बैठ गये तब राजा जितशत्रु वहां आये और कहने लगे कि जो इस भ्रमण करती हुई राधा पुत्तलिका के वामनेत्र को बाण से वेधित करेगा वही मेरी पुत्री का पति होगा–अपनी पुत्री मैं उसे ही परणाऊँगा। राजा के इस प्रकार वचन सुनकर वे राजा तथा राजकुमार आदि राधावेध साधने के लिये उठे और अपने २ धनुष पर बाण रख कर राधावेध साधने के अभिप्राय से बाण को छोडने लगे। इनमें से किसी का बाण एक चक्र से टकरा कर, किसी का दूसरे चक्र से टकरा कर और

બહાર પાડી પોતાની મહેચ્છા પ્રગટ કરી કે જે વ્યક્તિ રાધાના ડાબા નેત્રને બાણથી વીંધશે તે મારી રાજકન્યા ઇન્દિરાનો પતિ બનશે. રાજાએ આ પ્રકારે ઢંઢેરો પીટાવીને સઘળા રાજાઓ અને રાજપુત્રોને સ્વયંવર મંડપમાં આવવાનું આમંત્રણ મોકલાવ્યું રાજાનું આમંત્રણ મળતાં ઘણા ઉત્સાહથી અનેક રાજા અને રાજકુમારો દેશ દેશાંતરથી ઉત્સાહપૂર્વક આવ્યા અને સ્વયંવર મંડપમાં બિરાજ્યા જ્યારે સર્વ રાજાઓ અને રાજપુત્રો સારી રીતે પોતે પોતાના સ્થાન ઉપર બેસી ગયા ત્યારે રાજા જીતશત્રુ ત્યાં આવ્યા અને કહેવા લાગ્યા કે, જે કોઇ વ્યક્તિ આ ફરતી રાધા પુતળીના ડાબા નેત્રને બાણથી વિંધશે તેને મારી પુત્રી વરમાળા પહેરાવશે અને તેનેજ હું મારી પુત્રી પરણાવીશ રાજાનું આ પ્રકારનું વચન સાંભળીને મંડપમાં બિરાજીત થએલા રાજા તથા રાજકુમાર વગેરે રાધાવેધ સાધવા માટે ઉઠ્યા અને પોતપોતાના ધનુષ્ય ઉપર બાણ ચઢાવીને રાધાવેધ સાધવાના લક્ષ્યથી બાણને છોડવા લાગ્યા. તેઓમાંથી કોઈનું

अथेन्द्रपुराधीशस्येन्द्रदत्तनाम्नो नृपस्य पुत्रो जयन्तकुमारः सोत्साहमुत्तिष्ठति, लोकाः करतालीप्रदानपूर्वकमुपहसन्तो वदन्ति—अहो !! इमे वीरा धनुर्धरा यत्र न क्षमास्तत्रास्य कुमारस्य कीदृशं साहसम्? किमनेन कर्तुं शक्यते?, एवं वदत्सु सकल-यास्तव्येषु मनोज्ञरूपलावण्यसपन्नो जयन्तकुमारः स्तम्भस्य संनिधौ गत्वा धनुषि शरं सयोज्य, तैलपूर्णकटाहसङ्क्रान्तचक्रप्रतिबिम्बान्तरालमार्गेण राधावामनेत्रविवि-

किसीका तीसरे चक्र से टकरा कर टूट कर नीचे गिर पड़ा। लक्ष्यस्थान तक किसी का भी बाण नहीं पहुँच सका। किसी २ का बाण तो लक्ष्य से भी उचटकर आगे निकल गया। इस प्रकार राधावेध किसी के भी द्वारा साध्य नहीं हो सका। इतने में इन्द्रपुर का राजा इन्द्रदत्त का पुत्र जयन्तकुमार बड़े उत्साह से अपने स्थान से उठा। उसके उठते ही लोगों ने करतलध्वनि से पहिले तो उसकी हँसी करने लगे, फिर कहने लगे-देखो ये एक नवीन वीरपुरुष आये हैं, जहां ऐसे २ इन वीर धनुर्धारियों की भी नहीं चली वहां बिचारे इस कुमार की क्या चलेगी जो यह साहस दिखलाने को खड़ा हुआ है। लोग जब इस तरह से जयन्तकुमार की हँसी करने में तत्पर हो रहे थे कि कुमार सब के देखते २ ही उस स्तम्भ के पास पहुँच गया। पहुँचते ही उसने पहिले अपने धनुष पर बाण चढाया। चढाकर फिर वह तैलपूर्ण कड़ाह में पड़े हुए चक्र के प्रतिबिम्ब को देखने लगा। देखते २ चक्रके

બાણ પહેલા ચક્ર સાથે અથડાઈને તો કોઈનું બીજા ચક્ર સાથે અથડાઈને કોઈનું ત્રીજા ચક્ર સાથે અથડાઈને તુટીને નીચે પડી જતાં પણ લક્ષ્ય સ્થાન સુધી કોઈનું પણ બાણ જઈ શક્યું નહીં. કોઈ કોઈનાં બાણ તો લક્ષ્યથી પણ ઉપર થઈ ને આગળ નિકળી ગયાં આ પ્રકારે રાધાવેધ કોઈનાથી પણ સાધ્ય ન થઈ શક્યો. એટલામાં ઇંદ્રપુર નગરના રાજા ઇન્દ્રદત્તનો પુત્ર જયંતકુમાર ઘણા ઉત્સાહથી પોતાના સ્થાનેથી ઉઠયો તેના ઉઠતાંજ લોકોએ તેની હાંસી ઉડાવવા માંડી અને પછી કહેવા લાગ્યા-જુઓ આ એક નવીન વીરપુરુષ આવેલ છે જ્યાં મોટા મોટા વીર ધનુર્ધારીઓનું પણ ન ચાલ્યું ત્યાં આ બિચારા કુમારનું શું ચાલવાનું છે જે આ સાહસ બતાવવા ઉઠયો છે લોકો જ્યારે આવી રીતે જયંત કુમારની હાંસી ઉડાવવામાં તત્પર બની રહ્યા હતા ત્યારે કુમાર બધાના જોતજોતામાં તે સ્તંભની પાસે પહોચી ગયા અને પહોંચતાં જ તેણે પહેલા પોતાના ધનુષ્ય ઉપર બાણ ચઢાવ્યું અને પછી તેલથી ભરેલ કઢાઈમાં પડતા ચક્રના પ્રતિબિંબને જોવા લાગ્યો જોતાં જોતાં ચક્રના અંતરાલમાર્ગથી પછી તેણે રાધા[illegible]

न्यनिवेशितदृष्टिरूर्ध्वमुष्टिर्भवति, तदा जयन्तकुमारस्य कलाचार्यस्त पृच्छति-पश्यसि, किं दृष्टिगत भवति? जयन्तकुमार आह-केवल पुत्तलिकाया वामनेत्रम्, न तु किंचिदन्यत्। तद्वचन श्रुत्वा गुरु परितुष्टो जात। ततोऽसौ जयन्तकुमार-स्तैलपूर्णकटाहगत प्रतिबिम्बित वामनेत्र पश्यन् निश्चलेन मनसा कर स्थिरीकृत्य हस्तलाघव दर्शयन् सद्य शर व्यमुचत्। स शरश्चक्रान्तरालेन सवेग निर्गच्छन् पुत्तलिकाया वामनेत्रकनीनिकामविध्यत्। ततस्तस्य करस्थैर्यलघुहस्तत्वादिक वर्ण-यन्तो लोका प्रमुदिता जयजयध्वनिं प्रकुर्वन्ति। तदा जितशत्रुपुत्री इन्दिरा

अन्तराल मार्ग से फिर उसने राधा पुत्तली के वामनेत्र का प्रतिबिम्ब देखा। देखकर उसने फिर धनुष को चढाने के लिये हाथ की मुट्ठी ऊँची की। इतने में उसके कालाचार्य बीच ही में उससे पूछा जयन्त! तुम्हें इस समय क्या दिख रहा है?। जयन्त ने कहा-गुरुमहाराज! मुझे इस समय पुत्तली के वामनेत्र सिवाय और कुछ नहीं दिख रहा है। जयन्तकुमार के वचन सुनकर कलाचार्य के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। जयन्त ने तैलपूर्ण कडाह में पडे हुए पुत्तली के वामनेत्र के प्रतिबिम्ब को लक्ष्यकर शीघ्र ही निश्चल मन से हाथ को सभालते हुए उस ओर धनुष से बाण छोड दिया। छूटते ही बाण ने चक्र के अन्तराल से निकलते हुए उस पुत्तली के वामनेत्र की कनीनिका को वेध दिया। उपस्थित जनताने जयन्तके लक्ष्यवेधकी निपुणता की एव हस्तलाघव की बहुत अधिक प्रशसा की। सब के सब बडे ही प्रसन्न हुए। जयन्त की चारो ओर से जयध्वनिपूर्वक बधाई होने लगी।

આખનુ પ્રતિબિબ જોયુ જોઈને તેણે ધનુષ્યને ચડાવવા માટે હાથની મુઠી ઉચી કરી એ વખતે તેના કળાચાર્યે વચમા જ તેને પૂછ્યુ જયત તમને આ સમયે શુ દેખાય છે? જયતે કહ્યુ ગુરુમહારાજ મને આ સમયે પુતળીની ડાબી આખ સિવાય બીજુ કઇ દેખાતુ નથી જયતકુમારનાં વચન સાંભળીને કલાચાર્ય હર્ષિત બન્યા જયતે તેલ ભરેલ કડાઈમાં પડતા પુતળીના ડાબા નેત્રના પ્રતિબિબને લક્ષ્ય કરી તરત જ નિશ્ચલ મનથી હાથને સભાળીને તે તરફ બાણ છોડયુ બાણ છુટતાં જ ચક્રના અતરાલથી નીકળીને પુતળીની ડાબી આખની કીકીનુ વેધન કર્યું ભેળી થયેલી જનતાએ જયત કુમારના લક્ષ્યવેધની પ્રશસા કરી અને હાથકુશળતાની ઘણીજ પ્રશસા કરી સઘળા ખૂબજ પ્રસન્ન થયા જયતની ચારે બાજુથી જયધ્વની પૂર્વક વધાઈ થવા લાગી ઇન્દિરા પણ પોતાના ભાગ્યને વખાણતી જયતના ગળામાં વરમાળા

जयन्तकुमारस्य कण्ठे पुष्पमालां ददौ। यथा राधावेधो दुष्करस्तथा मनुष्यदेहाच्च्युतस्य प्रमादिनः पुनर्मनुष्यत्वं दुर्लभमिति।

अत्र संग्रहश्लोकः—(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

राधायावदनादधः क्रमवशाच्चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद्वामाक्षिवेधो यथा।
प्राप्तो दुष्करतां नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाङ्क्षिणा,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

इति सप्तमश्चक्रदृष्टान्तः ॥ ७ ॥

अथाष्टमः कूर्मदृष्टान्तः—

अगाधजलपरिपूर्णः सहस्रयोजनविस्तीर्णः सलिलजन्तुसंभृतः सुशोभित

इन्दिरा भी अपने भाग्य की सराहना करती हुई जयन्त के गले में वरमाला डालकर अपने आपको धन्य मानने लगी। इस दृष्टान्त का भाव केवल इतना ही है कि जिस प्रकार राधावेध साधना दुष्कर कार्य है उसी प्रकार मनुष्य जन्मको हारा हुआ प्रमादी प्राणी को पुनः मनुष्य जन्मकी प्राप्ति दुर्लभ है। इस दृष्टान्तका भावप्रदर्शकश्लोक इस प्रकार है—

राधाया वदनादधः क्रमवशात् चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद्वामाक्षिभेदो यथा।
जातो दुष्करता नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाङ्क्षिणाम्;
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

यह सातवां चक्रदृष्टान्त है ॥ ७ ॥

आठवाँ कूर्म (कच्छप) का दृष्टान्त इस प्रकार है—अगाधजल से

પહેરાવીને પોતે પોતાને ધન્ય માનવા લાગી. આ દૃષ્ટાંતનો ભાવ એટલો છે કે, જે રીતે રાધાવેધ સાધના અત્યંત કઠીન અને દુષ્કર છે એજ રીતે મનુષ્ય જન્મને હારી ગયેલ પ્રમાદી પ્રાણીને પુનઃ મનુષ્યજન્મની પ્રાપ્તિ દુર્લભ છે

આ દૃષ્ટાંતનો ભાવપ્રદર્શક શ્લોક આ પ્રકારનો છે

राधाया वदनादधः क्रमवशात् चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद् वामाक्षि भेदो यथा।
जातो दुष्करतां नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाङ्क्षिणाम्,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

આ સાતમું ચક્રદૃષ્ટાંત છે. ॥ ૭ ॥

આઠમું કુર્મ કાચબા (કચ્છપ) નું દૃષ્ટાંત આ પ્રકારનું છે—

...જળથી પરિપૂર્ણ એવો એક (ધરો) હોજ હતો, ... એક

एको ह्रद आसीत्। तदुदक च परस्परसम्बद्धशैवालजालैश्छादितमभवत्। तत्र सापत्यसततिसमन्वित. कच्छपः प्रतिवसति। अन्यदा कदाचित् तत्र सान्द्र शैवालमध्ये ह्रदोपान्तस्थितजम्बूविटपिन. सुपक्वफलसपातेन शैवालतन्तु-विच्छेदाच्छिद्रमभवत्, तस्मिन्नेव समये तत्रस्थितोऽसौ कूर्मस्तत्कालजातच्छिद्रमाश्रित्य ग्रीवां बहिष्करोति। तदनु खल्वसौ निर्मलगगनमण्डलमण्डनायमान तारागणसमन्वितसुपमासरूपन्नशारदपूर्णशशाङ्कबिम्बमवलोक्य साश्चर्यं मनसि चिन्तयति -अहो! किमिद विलोक्यते। कीदृशमिदमदृष्टपूर्वं नयनानन्दजनकम्?। इत्येव

परिपूर्ण एक द्रह था। जिसका विस्तार एक हजार योजन का था। इसमें अनेक जलचर जीव रहते थे। यह बड़ा सुन्दर था। इसका जल परस्पर सबद्ध शैवालसमूह से आच्छादित था। इसमें एक कच्छुआ अपने बच्चों के साथ रहता था। एक समय की बात है कि उस द्रह के किनारे पर जो जामुन के वृक्ष खडे हुए थे उनके कुछ जम्बूफल उस शैवालजाल के ऊपर गिरे। उनके गिरने से उस शैवालजाल के बीच में शैवाल के तन्तुओं के टूट जाने से छिद्र हो गया। उसी समय कछुए ने जो उस शैवालजाल के नीचे रहता था उस छिद्र से अपनी गर्दन को बाहर निकाला। बाहर निकालते ही उसने स्वच्छ आकाश में आकाश का मण्डनस्वरूप एव तारागणों से सुशोभित परमशोभासपन्न ऐसे शारदकालीन पूर्णचन्द्रमा के बिम्ब को देखा। देखते ही उसे बडा भारी आश्चर्य हुआ। विचार ने लगा-अहो! यह क्या दिखाई देता है? मैंने तो आज तक ऐसा नेत्रों को अपूर्व आनन्द देने वाला

હજાર યોજન જેટલો હતો. તેમાં અનેક પ્રકારના જળચર જીવ રહેતા હતા. તે ધરો ખૂબજ સુદર હતો તેનું જળ શેવાળ સમૂહથી આચ્છાદિત હતુ એમા એક કાચબો પોતાનાં બચ્ચાંઓ સાથે રહેતો હતો એક સમયની વાત છે કે, તે ધરાના કાંઠે જાબુડાના વૃક્ષો હારબંધ ઉગ્યાં હતાં તે પૈકીના એક વૃક્ષ ઉપરથી થોડા જામ્બુફળ શેવાળ ઉપર પડયાં આ રીતે જાબુડાના પડવાથી જળ ઉપર આચ્છાદિત થયેલી શેવાળમાં છિદ્ર પડી ગયાં આ વખતે એ શેવાળની નીચે રહેતા કાચબાએ જાણુને લઈને શેવાળમાં પડેલા છિદ્રમાથી પોતાની ડોક બહાર કાઢી. પોતાની ડોકને શેવાળમાંથી બહાર કાઢતા જ કાચબાએ સ્વચ્છ આકાશમા તારાગણોથી સુશોભિત પરમ શોભાસપન્ન એવા શરદકાળના પૂર્ણ ચદ્રમાના પ્રકાશને જોયો. જોતાં જ તેને ઘણુ જ આશ્ચર્ય થયું અને તે મનોમન વિચારવા લાગ્યો કે, આ શું દેખાઈ રહ્યું છે? મે આજ સુધી નેત્રોને આનદ દેવાવાળો આવો

जयन्तकुमारस्य कण्ठे पुष्पमालां ददौ। यथा राधावेधो दुष्करस्तथा मनुष्यदेशाच्च्युतस्य प्रमादिनः पुनर्मनुष्यत्वं दुर्लभमिति।

अत्र सङ्ग्रहश्लोकः—(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

राधायावदनादध' क्रमवशाच्चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद्वामाक्षिवेधो यथा।
प्राप्तो दुष्करतां नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाङ्क्षिणां,
संसारे भ्रमत. पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

इति सप्तमश्चक्रदृष्टान्त. ॥ ७ ॥

अथाष्टम कूर्मदृष्टान्त —

अगाधजलपरिपूर्णः सहस्रयोजनविस्तीर्णः सलिलजन्तुसम्भृतः सुशोभितः

इन्दिरा भी अपने भाग्य की सराहना करती हुई जयन्त के गले में वरमाला डालकर अपने आपको धन्य मानने लगी। इस दृष्टान्त का भाव केवल इतना ही है कि जिस प्रकार राधावेध साधना दुष्कर कार्य है उसी प्रकार मनुष्य जन्मको हारा हुआ प्रमादी प्राणी को पुनः मनुष्य-जन्मकी प्राप्ति दुर्लभ है। इस दृष्टान्तका भावप्रदर्शकश्लोक इस प्रकार है—

राधाया वदनादध क्रमवशात् चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद्वामाक्षिभेदो यथा।
जातो दुष्करता नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाङ्क्षिणाम् ;
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

यह सातवा चक्रदृष्टान्त है ॥ ७ ॥

आठवाँ कूर्म (कच्छप) का दृष्टान्त इस प्रकार है—अगाधजल से

પહેરાવીને પોતે પોતાને ધન્ય માનવા લાગી. આ દર્ષ્ટાંતનો ભાવ એટલો છે કે, જે રીતે રાધાવેધ સાધના અત્યંત કઠીન અને દુષ્કર છે એજ રીતે મનુષ્ય જન્મને હારી ગયેલ પ્રમાદી પ્રાણીને પુનઃ મનુષ્યજન્મની પ્રાપ્તિ દુર્લભ છે આ દર્ષ્ટાંતનો ભાવપ્રદર્શક શ્લોક આ પ્રકારનો છે

राधाया वदनादधः क्रमवशात् चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद् वामाक्षि भेदो यथा।
जातो दुष्करतां नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकांक्षिणाम्,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

આ સાતમું ચક્રદર્ષ્ટાંત છે. ॥ ૭ ॥

આઠમું કુર્મ કાચબા (કચ્છપ) નું દષ્ટાંત આ પ્રકારનું છે—

અગાધ જળથી પરિપૂર્ણ એવો એક (મોટો) હોજ હતો,

शैवाले मिलिते यथैव शशिन सदर्शन दुर्लभ,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ' ॥ १ ॥

इत्यष्टम' कूर्मदृष्टान्तः ॥ ८ ॥

अथ नवमो युगदृष्टान्त प्रोच्यते—

असख्ययोजनविस्तीर्णो वलयाकार, सहस्रयोजनगम्भीरः स्वयभूरमण समुद्रोऽस्ति। तस्य प्राच्या दिशि कोऽपि देवो युग प्राक्षिपत् तस्य युगस्य कीलिका पश्चिमायां दिशि। यथा तस्मिन् समुद्रे भ्राम्यन्त्यास्तस्या कीलिकायास्तेन युगेन

शैवाले मिलिते यथैव शशिन, सदर्शन दुर्लभम्,
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥
यह आठवा कूर्मदृष्टान्त हुआ ॥ ८ ॥

नौवा युगदृष्टान्त इस प्रकार है—यह दृष्टान्त कल्पना से सबध रखता है। असख्यात द्वीप और समुद्रों के बाद एक अन्तिम द्वीप और समुद्र है। अन्तिम समुद्र का असख्यात योजन का विस्तार है। गहराई भी इसकी एक हजार योजन की है। इसमें कल्पना करो कि कोई एक देव पूर्व दिशा की ओर एक जुआ—गाडी का अवयवविशेष जो बैलों के कन्धों पर रखा जाता है—डाल दे, और पश्चिम दिशा की ओर उसकी कीलिका—सेल—डाल दे। अब यह कीलिका उस समुद्र में उस दिशा से बहती हुई चली आवे और बहते हुए जुआ के साथ

શૈવાલે મિલિતે યથૈવ શશિન સદર્શનં દુર્લભમ્,
સસારે ભ્રમત પુનર્નરભવો જન્તોસ્તથા દુર્લભઃ ॥ ૧ ॥
આ આઠમુ કૂર્મદૃષ્ટાંત છે ॥ ૮ ॥

નવમુ યુગદૃષ્ટાત આ પ્રકારનુ છે—

આ દૃષ્ટાત કલ્પનાથી સબધ રાખે છે અસખ્યાત દ્વીપ અને સમુદ્રો પછી એક છેલ્લો દ્વીપ અને સમુદ્ર છે એ છેલ્લા સમુદ્રનો વિસ્તાર અસખ્ય યોજનનો છે ઉડાઈ પણ તેની એક હજાર યોજનની છે આમા કલ્પના કરો કે, કોઈ એક દેવ પૂર્વદિશા તરફ એક ધોસરૂ કે જે ગાડીમા બળદના કાંધ ઉપર રાખવામા આવે છે તે નાખી દે અને પશ્ચિમ દિશા તરફથી એ ધોંસરાની લાકડીઓ નાખી દે પશ્ચિમ દિશાએ નાખેલી ધોસરાની એ સાબેલ વહેતાં વહેતાં ચાલી આવે અને તે ધોંસરી સાથે મળી જાય જે રીતે આ વાત

विचिन्त्य स कूर्मः स्वबन्धूनपि तद् दर्शयितु जले निमज्य यावता कालेन तैः सह पुनरायाति, तावत् पुनः समीरसयोजितशैवालैस्तच्छिद्रमाच्छादितम्। यथा तच्चन्द्रमण्डलदर्शनं पुनस्तस्य कूर्मस्य दुर्लभं तथा मनुष्यदेहाच्च्युतस्य प्रमादिनः पुनर्मनुष्यत्व दुर्लभमिति।

अत्र सग्रहश्लोक —(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

दृष्ट्वा कोऽपि हि कच्छपो ह्रदमुखे शैवालबन्धच्युते,
पूर्णेन्दु मुदित कुटुम्बमिह त द्रष्टु समानीतवान्।

पदार्थ नहीं देखा है, यह कितना सुन्दर है। इस प्रकार विचार कर उसने इस अपूर्व वस्तु को अपने परिवार को भी दिखाने का विचार किया, अत वह पानी में डुबकी लगाकर अपने परिवार के पास पहुँचा और उनको साथ में लेकर ज्यों ही यह वहां आया कि वह शैवालजाल हवा के लगने से फिर से ज्यों का त्यों परस्पर में मिल गया। इस दृष्टान्त से हम को यह शिक्षा मिलती है कि जिस प्रकार हवा के झोकों के लगने से शैवाल के तन्तु आपस में मिल गये और छिद्र का अभाव हो गया, अतः उस अभागे कछुए को पुनः चन्द्रदर्शन होना दुर्लभ हुआ, उसी प्रकार मनुष्यजन्म को हारे हुए प्रमादी प्राणी को पुन मनुष्यजन्म मिलना महा दुर्लभ है। इस दृष्टान्त का भावसंग्रह श्लोक इस प्रकार है—

दृष्ट्वा कोऽपि हि कच्छपो ह्रदमुखे शैवालबन्धच्युते,
पूर्णेन्दु मुदित कुटुम्बमिह तं द्रष्टु समानीतवान्।

અપૂર્વ પદાર્થ કદી પણ જોયો નથી આ કેવો સુંદર છે ? આ પ્રકારનો વિચાર કરી, એ અપૂર્વ વસ્તુ પોતાના પરિવારને પણ બતાવવાનો વિચાર કર્યો અને પાણીમા ડુબકી મારી તે પોતાના પરિવારની પાસે પહોંચ્યો અને તેને સાથે લઈ તે ઉપરોક્ત સ્થળે પહોચ્યો ત્યારે તે શેવાળ કે જેમાં જાળુને લઈ છિદ્ર પડયુ હતું તે પવનને કારણે પુરાઈ જતાં શેવાળની સપાટી ફરીથી સધાઇ ગઇ તેથી કાચબા અને તેના પરિવારને ફરીથી ચન્દ્રનાં દર્શન ન થયાં એ પ્રકારે મનુષ્ય જન્મને હારી ગયેલ પ્રમાદી પ્રાણીને મનુષ્ય જન્મ મળવો મહા દુર્લભ છે

આ દૃષ્ટાંતનો ભાવસંગ્રહક શ્લોક આ પ્રમાણે છે—

दृष्ट्वा कोऽपि हि कच्छपो ह्रदमुखे शैवालबन्धच्युते,
पूर्णेन्दु मुदितः कुटुम्बमिह त द्रष्टु समानीतवान्।

तुल्य तच्चूर्णं नलिकान्तर्निधाय मेरुशिखर समारुह्य फूत्कृतसमीरणैस्तच्चूर्ण सकलं सर्वत. समुड्डायितम्।

अथ तेन देवेन विक्षिप्तास्ते परमाणवः प्रचण्डपवनोद्धूता' सर्वासु दिक्षु दूर गता एकैकशो विभिन्ना पतिता.।

यथा तान् परमाणून् सर्वत सचित्य तैः पुन' स्तम्भनिष्पादन लोकस्य दुष्कर, तथा मनुष्यभवात् प्रच्युतस्य प्रमादिन. प्राणिनो मनुष्यजन्म दुर्लभमिति॥

दसवा परमाणु दृष्टान्त इस प्रकार है—यह दृष्टान्त भी कल्पना से सबध रखने वाला है–जैसे क्रीडावश किसी देव ने माणिक्यनिर्मित एक स्तम्भ को वज्र के प्रहार से तोडा। पश्चात् उसे इतना पीसा कि उसका चूरा चूरा हो गया। चूर्ण जैसा जब वह बन चुका तब उस चूर्ण को उसने एक नलिका में भरा और सुमेरु पर्वत के शिखर पर खडे होकर उसको सब तरफ फूक से उड़ा दिया। वे सब के सब उस स्तम्भके परमाणु जो उस देव ने अपनी फूक से इधर उधर उड़ा दिये हैं और वायुके प्रबल झोंको ने उनकोप्रत्येक दिशा में ले जाकर और भी दूर फेंक दिये। उन सब के सब परमाणुओं को एकत्रित कर के फिर से जैसे उस स्तम्भ का उसी रूप से निर्माण करना दुष्कर है–उसी तरह मनुष्यभव से प्रच्युत जीव को मनुष्यभवकी पुनः प्राप्ति होना दुर्लभ है।

દસમુ પરમાણુદૃષ્ટાત આ પ્રકારનું છે

આ દૃષ્ટાત પણ કલ્પનાથી સબધ રાખવાવાળુ છે જેમ રમતના તોરથી કોઈ દેવે માણિકયથી બનેલા એવા એક સ્તભને વજ્રના પ્રહારથી તોડી નાખ્યો. પછી તેને એટલો પિસ્યો કે, તેના ચૂરેચૂરા થઈ ગયા. ચૂર્ણ જેવો જ્યારે તે થઈ ગયો ત્યારે તે ભુકાને તેણે એક નળીમા ભર્યો અને સુમેરૂપર્વતના શિખર ઉપર ઉભા રહીને ચારે બાજુ તે ભુકાને ફુકથી ઉડાડી દીધો એ સ્તભના ભુકા રૂપે બનેલા સઘળા પરમાણુઓને તે દેવે પોતાની ફુકથી ચારે કોર ઉડાવી દીધા અને વાયુએ પ્રબળ વેગથી દરેક દિશામાં લઈ જઈને દુર ફેકી દીધા. દુર દુર જ્યાં ત્યાં ફેકાઈ ગયેલા એ સઘળા પરમાણુઓને એકત્રિત કરી ફરીથી સ્તભનુ નિર્માણ કરવુ દુષ્કર છે તેવીજ રીતે આ મનુષ્યભવને હારી બેઠેલો જીવ ફરી મનુષ્ય જન્મની પ્રાપ્તિ કરી શકતો નથી

सह सघट्टनमेव दुर्लभ, तस्य युगस्य छिद्रे पुनः प्रवेशस्तु तत्रापि दुर्लभस्तथा मनुष्यभवात्प्रच्युतस्य प्रमादिनः पुनर्मनुष्यजन्म दुर्लभमिति।

अत्र सग्रह'— (शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

प्राच्यब्धौ युग-कीलिका विनिहिता क्षिप्त युग पश्चिमे,
यद्वद् दुर्लभमेव तत्र वहतोः समीलन तद्वयोः।
शम्यायास्तु पुनर्युगस्य विवरे तस्याः प्रवेशो यथा,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः॥ १॥

इति नवमो युगदृष्टान्तः ॥९॥

अथ दशमः परमाणुदृष्टान्तः—

केनाऽपि क्रीडापरेण देवेन मणिक्यमय स्तम्भं वज्रेण चूर्णीकृत्य परमाणु

मिल जावे तो जिस प्रकार यह बात बहुत दुर्लभ है और इससे भी अधिक दुर्लभ यह है कि वह कीलिका बहते २ उस जुए के छेद में प्रविष्ट हो जावे यह बात दुर्लभ है। इसी तरह मनुष्य भव से प्रच्युत प्रमादी जीव को पुनः मनुष्यभव की प्राप्ति होना दुर्लभ है। इसका भावप्रदर्शकश्लोक इस प्रकार है—

प्राच्यब्धौ युगकीलिका विनिहिता क्षिप्त युगं पश्चिमे,
यद्वद्दुर्लभमेव तत्र वहतोः समीलनं तद्वयोः।
शम्यायास्तु पुनर्युगस्य विवरे तस्याः प्रवेशो यथा,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः॥ १॥

यह नौवां युगदृष्टान्त है ॥९॥

મળી જ દુર્લભ છે અને તેનાથી પણ અધિક દુર્લભ તો એ છે કે, ધોંસરાની તે સમિલો વહેતાં વહેતાં તે ધોંસરાના વીધમાં જોડાઈ જાય એ વાત દુર્લભ છે આ રીતે મનુષ્યભવથી પ્રચ્યુત પ્રમાદી જીવને ફરીથી મનુષ્યભવની પ્રાપ્તિ થવી દુર્લભ છે

તેના ભાવને દર્શાવતો શ્લોક આ પ્રકારને છે—

प्राच्यब्धौ युगकीलिका विनिहिता क्षिप्त युग पश्चिमे,
यद्वद्दुर्लभमेव तत्र वहतोः संमीलनं तद्वयोः।
सम्यायास्तु पुनर्युगस्य विवरे तस्याः प्रवेशो यथा,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः॥ १॥

આ નવમુ યુગદૃષ્ટાંત છે ॥૯॥

छाया—एकदा देवलोकेषु, नरकेष्वपि एकदा।
एकदा आसुर काय, यथा कर्मभिः गच्छति ॥ ३ ॥

टीका—'एगया' इत्यादि।

जीव., एकदा=एकस्मिन् काले शुभकर्मानुभवकाले देवलोकेषु=सौधर्मादिषु यथाकर्मभिः=तद्गत्यनुरूपैश्चेष्टितै सरागसयमदेशविरत्यकामनिर्जरावालतपःकर्मभि गच्छति। एकदा=अशुभकर्मोदयकाले, नरकेषु=रत्नप्रभादिषु यथाकर्मभिः=महारम्भमहापरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधकुणपाहारैर्गच्छति। एकदा आसुरम्—असुरसम्बन्धिनं, काय=निकायम् असुरकुमारभावमित्यर्थः, यथा कर्मभिः=सरागसयमादिभिः, गच्छति=प्राप्नोति। उपलक्षणत्वाज्ज्योतिर्व्यन्तरयोरपि गच्छतीति बोध्यम् ॥ ३ ॥

उपरोक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–'एगया'–इत्यादि।

अन्वयार्थ—यह जीव (एगया-एकदा) कभी तो शुभ कर्म के अनुभवन काल में (देवलोएसु-देवलोकेषु) सौधर्म आदि देव लोक में (अहाकम्मेहिं – यथाकर्मभिः) (१)सरागसयम, देशविरति, अकामनिर्जरा एवं बालतप आदिरूप उस गति के कर्म के कारणों से (गच्छइ-गच्छति) जन्म लेता है। (एगया-एकदा) कभी अशुभकर्म के अनुभवनकाल में (नरएसु-नरकेषु) रत्नप्रभा आदिक नरकों में (अहाकम्मेहिं-यथाकर्मभि) महा (२)आरंभ, महापरिग्रह, पचेन्द्रियवध कुणप (मास) आहार आदि करने से (गच्छइ-गच्छति) जाता है। (एगया-एकदा)

ઉપરોક્ત કથનને વધારે સ્પષ્ટ કરતાં કહે છે—
"एगया" ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—આ જીવ एगया-एकदा ક્યારેક તો શુભકર્મના અનુભવ કાળમા देवलोएसु-देवलोकेषु સૌધર્મ આદિ દેવલોકમાં अहाकम्मेहिं-यथाकर्मभि સરાગ સયમ, દેશવિરતિ, અકામ નિર્જરા, અને બાલતપ આદિરૂપ એ ગતીના કર્મોનાં કારણોથી गच्छइ-गच्छति જન્મ લે છે एगया-एकदा ક્યારેક અશુભ કર્મના ઉદયમાં नरएसु-नरकेषु રત્નપ્રભા આદિક નર્કોમાં अहाकम्मेहिं-यथाकर्मभिः આરંભ, મહાઆરંભ, મહાપરિગ્રહ, પચેન્દ્રિયવધ કુણપ (માંસ) આહાર આદિ કરવાથી

---

(१) "चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, त जहा–सरागसंयमेण, सजमासजमेण, बालतवोकम्मेण, अकामणिज्जराए"। (स्था स्था ४ उ ४ एवं औपपातिक सूत्रेऽपि)

(२) "चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मपकरेंति, त जहा–महारभाए महापरिग्गहाए, पचिदियवहेण, कुणिमाहारेण (स्था० स्था० ४ उ ४ एवम् औपपातिकसूत्रेऽपि)

अथ भावः—मानुषं जन्म लब्ध्वाऽपि प्रमादकृतदुष्कर्मप्रभावादेकेन्द्रियादिजातिप्राप्त्या चक्रवर्तिपायसादिवत् पुनर्मानुषत्वं दुर्लभमिति ॥ २ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मूलम्—एगया देवलोएसु, नरएसुवि एगया।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥३॥

ने अपने जन्म मरण से न भर दिया हो। जीव ने सूक्ष्मपृथिवी कायादि स्थावर काय में उत्पन्न होकर लोकाकाश का प्रत्येक प्रदेश को तेल से तिल की तरह भर दिया है। इसलिये मनुष्यजन्म पाकर भी जो प्रमादी होकर दुष्कर्मों का उपार्जन करते हैं वे उनके प्रभाव से एकेन्द्रियादिक जाति की प्राप्ति से चक्रवर्ती के पायस आदि की तरह मनुष्यभव की प्राप्ति को दुर्लभ बनालेते हैं—

भावार्थ—मनुष्यभव पाकर भी प्राणी का कर्तव्य है कि वह प्रमादी नहीं बने। प्रमाद के कारण ज्ञानावरणीयादिक कर्मों का बंध होने से इस जीव का एकेन्द्रियादिक योनियों में जन्म होता है। इसमें इसका अनन्तकाल निकल जाता है। अतः पुनः मनुष्यभव की प्राप्ति दुर्लभ बन जाती है। तात्पर्य कहने का यह है कि मनुष्यभव सार्थक करने का यही उपाय है कि प्रमादी न बना जाय ॥ २ ॥

જન્મમરણથી ન ભરી દીધો હોય. જીવે સૂક્ષ્મ પૃથ્વી કાયાદિ સ્થાવર કાયમાં ઉત્પન્ન થઈ થઈને લોકાકાશના પ્રત્યેક પ્રદેશને તલના તેલની માફક ભરી દીધેલ છે આ માટે મનુષ્યજન્મ મળવા છતાં પણ જે પ્રમાદી બની દુષ્કર્મોનું ઉપાર્જન કરે છે, તે એના પ્રભાવથી એકેન્દ્રિયાદિક જાતીની પ્રાપ્તિથી ચક્રવર્તીના દુધપાક વગેરેની માફક ફરી મનુષ્યભવની પ્રાપ્તિને દુર્લભ બનાવે છે

ભાવાર્થ—મનુષ્યભવ મેળવીને પણ પ્રાણીનું કર્તવ્ય છે કે, તે પ્રમાદી ન બને પ્રમાદના કારણે જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મોનો બંધ થવાથી આ જીવનો એકેન્દ્રિયાદિક જેવી યોનીઓમાં જન્મ થાય છે તેમાં તેનો અનંત કાળ નીકળી જાય છે આથી મનુષ્યભવની પ્રાપ્તિ દુર્લભ બની જાય છે તાત્પર્ય કહેવાનું એ છે કે, મનુષ્યભવ સાર્થક કરવાનો એક માત્ર ઉપાય એ છે કે, આપણે પ્રમાદી ન બની અને જ્યાં સુધી મુક્તિની પ્રાપ્તિ ન થાય ત્યાં સુધી મનુષ્યભવની જ ફરી ફરી પ્રાપ્તિ થતી રહે એવો પ્રયત્ન તો કરવો જોઈએ. ॥ २ ॥

एवं चतुरशीतिलक्षसंख्यका योनयस्तासु, इत्यर्थः । न निर्विद्यन्ते=अस्मात् पर्यटनात् कदा मोक्षो भविष्यतीति नोद्विजन्ते=उद्वेगं न प्राप्नुवन्ति। केषु क इव ? सर्वार्थेषु= सर्वे च ते अर्थाः, सर्वार्थास्तेषु हिरण्य–सुवर्ण–मणि–मुक्ताफल–वज्र वैडूर्य–ग्राम–नगर–कोश–कोष्ठागार–भूमि–गजाश्वादिषु सर्वविभवेषु प्राप्तेष्वपि, क्षत्रियाः= राजान इव । अयं भावः —यथा सर्वेषु विषयेषु प्राप्तेष्वपि राजानः संतोषं नाप्नुवन्ति, किंतु तत्प्राप्त्यर्थमेव पुनः पुनः प्रवर्तन्ते । एवं तासु तासु योनिषु पुनः पुनरुत्पत्तिमनुभवन्तोऽपि जीवाः पुनः पुनः ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्म कुर्वन्तस्तत्तद् योनिप्राप्त्यर्थमेव प्रवर्तन्ते, तस्मान्मनुष्यजन्म दुर्लभम् इति ।

लाख, तथा मनुष्य की चौदह लाख, इस प्रकार इन चौरासी लाख योनियों–उत्पत्ति स्थानों में) (न निविज्जंति–न निर्विद्यन्ते) 'इस संसार -परिभ्रमणसे मेरा कब मोक्ष होगा' इस प्रकार कभी भी निर्वेद–उद्वेग को प्राप्त नहीं होते हैं। (व इव) जैसे(सव्वट्ठेसु खत्तिया–सर्वार्थेषु क्षत्रियाः)हिरण्य सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वज्र वैडूर्य, ग्राम, नगर, कोश एवं कोष्ठागार, भूमि, गज अश्व आदि प्राप्त विभवोंमें क्षत्रिय लोग उद्वेग (उदासीनता) को प्राप्त नहीं होते हैं । तात्पर्य इसका यह है कि जैसे युद्ध कर २ के समस्त देशों का राज्य प्राप्त होने पर भी क्षत्रिय लोग उद्वेग (उदासीनता) को प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु उनकी प्राप्ति के लिये ही वे बार २ चेष्टा किये करते हैं उसी प्रकार उन उन योनियों में बार २ जन्म मरण के दुःखों का अनुभव करते हुए भी ये जीव पुनः पुनः ज्ञानावरणीयादिक अष्टविध कर्मों का बन्ध करते हुए उन २ योनियों की प्राप्ति करने के लिये

તથા મનુષ્યોની ચૌદ લાખ, આ પ્રકારે એ ચોરાસી લાખ યોનીઓમાં 'न निविज्जंति –न निर्विद्यन्ते આ સંસાર પરિભ્રમણથી મારો ક્યારે મોક્ષ થશે?' એ પ્રકારે તેને કોઈ જાતની ચિંતા થતી નથી व–इव જેમ सव्वट्ठेसु खत्तिया–सर्वार्थेषु क्षत्रियाः હીરા માણેક, સુવર્ણ, મણી, મુક્તાફળ, વજ્ર, વૈડૂર્ય, ગ્રામ, નગર, કોશ અને કુષ્ટાગાર, ભૂમિ, ગજ, અશ્વ, આદિ પ્રાપ્ત વૈભવોમાં રચ્યાપચ્યા રહેતા ક્ષત્રિયોને કોઈ ઉદ્વેગ થતો નથી. તાત્પર્ય એનું એ છે કે, જેમ યુદ્ધ કરી કરીને સમસ્ત દેશનું રાજ્ય પ્રાપ્ત થવા છતાં પણ ક્ષત્રિયોને કોઈ ઉદ્વેગ થતો નથી પરંતુ તેની પ્રાપ્તિને માટે જ એ વાર વાર પ્રયત્ન કરતા રહે છે એવી રીતે યોનીઓમાં વાર વાર જન્મ મરણનો અનુભવ કરવા છતાં પણ એ જીવ ફરી ફરી જ્ઞાનાવરણીયાદિ આઠ પ્રકારના કર્મોનો બંધ કરીને તે તે યોનીઓની પ્રાપ્તિ કરવામાં જ ક્રિયાશીલ રહે છે

मूलम्—एवमावट्टजोणिसु, पाणिणो कम्मकिब्बिसा ।
न निविज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥५॥

छाया—एवम् आवर्तयोनिषु, प्राणिनः कर्मकिल्बिषाः ।
न निर्विद्यन्ते संसारे, सर्वार्थेषु इव क्षत्रियाः ॥ ५ ॥

टीका—'एवम्' इत्यादि ।

कर्मकिल्बिषाः=कर्मभिर्मलिनाः प्राणिनः संसारे=भवे एवम्=अमुना प्रकारेण, आवर्तयोनिषु=आवर्तेन—पुनःपुनःपरिभ्रमणेन स्पृष्टा योनयः आवर्तयोनयस्तासु चतुरशीतिलक्षप्रकारासु, तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुकायेषु प्रत्येकं सप्त सप्त लक्षाः, दश लक्षाः प्रत्येकवनस्पतिषु, निगोदजीवेषु च चतुर्दश लक्षाः, द्वि—त्रि—चतुरिन्द्रियेषु प्रत्येकं द्वे द्वे लक्षे, तिर्यङ्नारकदेवेषु प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रो लक्षाः मनुजेषु चतुर्दश लक्षाः,

---

कभी तेन्द्रिय जीवों में और कभी चतुरिन्द्रिय जीवों में जन्म लेता है। इस प्रकार इस संसार में प्रमादी जीव भ्रमण करता ही रहता है। इस कीटादिक शब्द के उपलक्षणसे समस्त तीर्यञ्चजाति के भेदोपभेदों का ग्रहण जानना चाहिये ॥ ४ ॥

'एवम्०'—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(कम्मकिब्बिसा—कर्मकिल्बिषा) कर्मों से मलिन (पाणिणो—प्राणिनः) प्राणी (संसारे—संसारे) संसार में (एवं—एवम्) उक्त प्रकार से भ्रमण करते हुए (आवट्टजोणीसु—आवर्तयोनिषु) इन चौरासी लाख योनियों में (पृथिवीकाय की सातलाख, अपकाय की सात लाख, तेजस्काय की सात लाख, वायुकाय की सात लाख, प्रत्येक वनस्पति की दश लाख, निगोदजीवों की चौदह लाख, द्विन्द्रिय, तेन्द्रिय चतुरिन्द्रिय की दो दो लाख, तिर्यञ्च, देव एवं नारकी की चार चार

એ પ્રકારે આ સંસારમાં પ્રમાદી જીવ ભ્રમણ કરતો જ રહે છે આ કીટાદિક શબ્દના ઉપલક્ષણથી સમસ્ત તિર્યંચ જાતીના ભેદોપભેદનું ગ્રહણ જાણવું જોઈએ. ॥ ૪ ॥

"एवम्०"—ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—कम्मकिब्बिसा—कर्मकिल्बिषाः કર્મોથી મલીન पाणिणो—प्राणिनः પ્રાણી संसारे—संसारे સંસારમાં एवं—एवम् ઉક્ત પ્રકારથી ભ્રમણ કરતાં કરતાં आवट्टजोणीसु—आवर्तयोनिषु આ ચોરાસી લાખ યોનીઓમાં (પૃથ્વીકાયની સાત લાખ, અપકાયની સાત લાખ, તેજસ્કાયની સાત લાખ, વાયુકાયની સાત લાખ, પ્રત્યેક વનસ્પતિની દસ લાખ, નિગોદ જીવોની ચૌદ લાખ, બે ઇન્દ્રિય, ત્રણ ઇન્દ્રિય, ચાર ઇન્દ્રિય,ની બબ્બે લાખ અને તિર્યંચ, દેવ અને નારકીની ચાર ચાર લાખ,

एव चतुरशीतिलक्षसख्यका योनयस्तासु, इत्यर्थः । न निर्विद्यन्ते=अस्माद् पर्यटनात् कदा मोक्षो भविष्यतीति नोद्विजन्ते=उद्वेग न प्राप्नुवन्ति। केषु क इव ? सर्वार्थेषु= सर्वे च ते अर्थाः, सर्वार्थास्तेषु हिरण्य–सुवर्ण–मणि–मुक्ताफल–वज्र वैडूर्य–ग्राम–नगर–कोश–कोष्ठागार–भूमि–गजाश्वादिषु सर्वविभवेषु प्राप्तेष्वपि, क्षत्रियाः= राजान इव । अय भाव'—यथा सर्वेषु विषयेषु प्राप्तेष्वपि राजान सतोष नाप्नुवन्ति, किंतु तत्प्राप्त्यर्थमेव पुन. पुनः प्रवर्तन्ते । एव तासु तासु योनिषु पुनः पुनरुत्पत्तिमनुभवन्तोऽपि जीवाः पुनः पुन ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्म कुर्वन्तस्तत्तद् योनिप्राप्त्यर्थमेव प्रवर्तन्ते, तस्मान्मनुष्यजन्म दुर्लभम् इति ।

लाख, तथा मनुष्य की चौदह लाख, इस प्रकार इन चौरासी लाख योनियों–उत्पत्ति स्थानो में) (न निविज्जति–न निर्विद्यन्ते) ' इस ससार परिभ्रमणसे मेरा कब मोक्ष होगा' इस प्रकार कभी भी निर्वेद–उद्वेग को प्राप्त नहीं होते हैं। (त इव) जैसे(सव्वट्ठेसु खत्तिया-सर्वार्थेषु क्षत्रिया)हिरण्य सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वज्र वैडूर्य, ग्राम, नगर, कोश एव कोष्ठागार, भूमि, गज अश्व आदि प्राप्त विभवोमें क्षत्रिय लोग उद्वेग (उदासीनता) को प्राप्त नहीं होते हैं । तात्पर्य इसका यह है कि जैसे युद्ध कर २ के समस्त देशों का राज्य प्राप्त होने पर भी क्षत्रिय लोग उद्वेग (उदासीनता) को प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु उनकी प्राप्ति के लिये ही वे बार २ चेष्टा किये करते हैं उसी प्रकार उन उन योनियों में बार २ जन्म मरण के दुःखों का अनुभव करते हुए भी ये जीव पुन पुनः ज्ञानावरणीयादिक अष्टविध कर्मों का बन्ध करते हुए उन २ योनियों की प्राप्ति करने के लिये

તથા મનુષ્યોની ચૌદ લાખ, આ પ્રકારે એ ચોરાસી લાખ યોનીઓમાં 'न निविज्जति –न निर्विद्यन्ते આ સંસાર પરિભ્રમણથી મારો ક્યારે મોક્ષ થશે?' એ પ્રકારે તેને કોઈ જાતની ચિંતા થતી નથી व–इव જેમ सव्वट्ठेसु खत्तिया–सर्वार्थेषु क्षत्रिया' હીરા માણેક, સુવર્ણ, મણી, મુક્તાફળ, વજ્ર, વૈડૂર્ય, ગ્રામ, નગર, કોશ અને કુષ્ટાગાર, ભૂમિ, ગજ, અશ્વ, આદિ પ્રાપ્ત વૈભવોમાં સ્ચ્યાપચ્યા રહેતા ક્ષત્રિયોને કોઈ ઉદ્વેગ થતો નથી. તાત્પર્ય એનું એ છે કે, જેમ યુદ્ધ કરી કરીને સમસ્ત દેશનું રાજ્ય પ્રાપ્ત થવા છતાં પણ ક્ષત્રિયોને કોઈ ઉદ્વેગ થતો નથી પરંતુ તેની પ્રાપ્તિને માટે જ એ વાર વાર પ્રયત્ન કરતા રહે છે એવી રીતે યોનીઓમાં વારવાર જન્મ મરણનો અનુભવ કરવા છતાં પણ એ જીવ ફરી ફરી જ્ઞાનાવરણીયાદિ આઠ પ્રકારના કર્મોનો બંધ કરીને તે તે યોનીઓની પ્રાપ્તિ કરવામાં જ ક્રીયાશીલ રહે છે

मनुष्याणाम्, तथा विषया अप्यनुकूलतया मनो हरन्ति सर्वेषाम्। वर्षाकाले जलबुद्बुदा इव, कराञ्जलिगता आप इव सम्पदः क्षणनश्वराः सन्ति। यथा–स्वच्छजलपरिपूर्णगम्भीरगर्ते प्रतिबिम्बभावापन्न तत्तटवर्तिवृक्ष–च्छाया लता पत्र-पुष्पादिकं किमपि कार्यं साधयितु न शक्नोति, तथा संसारान्तर्गत वस्तुजातम् किमपि स्वात्मकल्याणाय न भवति। एवमनन्तदुःखसमृते संसारेऽनन्तानन्तदुःखमनुभवन्तोऽपि नोद्विजन्ते सर्वार्थेषु लब्धेष्वपि राजान इव प्राणिनः। अतो मनुष्यजन्मदुर्लभम्।

विषयसुख भी अनुकूल होने से सब को सुहावने लगते हैं, सब के चित्त लुभाते रहते हैं। वर्षाकाल में जैसे जल का बुद्बुदा देखते २ नष्ट हो जाता है, और अंजलि का जल जैसे क्षणभर में झर जाता है उसी प्रकार से यह वैभव भी क्षणविनश्वर जानना चाहिये। जैसे स्वच्छ जल से परिपूर्ण गंभीर गड्ढे में प्रतिबिम्बरूप से पतित उसके तटवर्ती वृक्ष की छाया लता पत्र पुष्पादिक कुछ भी कार्य साधक नहीं हो सकते हैं, उसी तरह संसार के अन्तर्गत वस्तुओं का समूह भी आत्मकल्याण का कुछ भी साधक नहीं होता है। इस प्रकार अनंत दुःखों से भरे हुए इस संसार में अनन्त दुखों का अनुभव करते हुए भी संसारी जीव प्राप्त अर्थ में अधिकतर लुभाने वाले राजा की तरह प्रतिदिन उन्हीं संसारवर्धक वैषयिक सुखों में लुभाते रहते हैं। आत्मकल्याण कैसे होगा इसकी थोड़ी सी भी चिन्ता नहीं करते हैं। इसलिये यदि मनुष्यजन्म पाया है तो कुछ कर लेना चाहिये, नहीं तो इस मनुष्य

પ્રકારથી આ વિષયસુખ પણ અનુકૂળ હોતાં સઘળાને સુખરૂપ લાગે છે બધાના ચિત્તને લોભાવે છે, વર્ષાકાળમાં પાણીના પરપોટાની જેમ જોત જોતામાં નાશ પામે છે અને હાથમાં લીધેલ પાણી જેમ ક્ષણભરમાં ચાલ્યુ જાય છે એજ પ્રકારથી આ વૈભવ પણ ક્ષણભરમાં નાશ પામનાર સમજવો જોઈએ જેમ સ્વચ્છ જળથી ભરેલા ઉંડા ખાડામાં પ્રતિબિંબ રૂપથી પતિત તેની પાસેના વૃક્ષની છાયા, લતા, પાંદડાં, પુષ્પ વગેરે, કાંઈ પણ કાર્યસાધક બનતાં નથી. એવી રીતે સંસારનો અંતર્ગત વસ્તુઓનો સમૂહ પણ આત્મકલ્યાણમાં કાંઈપણ સાધક બનતો નથી. આ પ્રકારનાં અનંત દુઃખોથી ભરેલા આ સંસારમાં અનંત દુઃખોનો અનુભવ કરવા છતાં પણ સંસારી જીવ પ્રાપ્ત અર્થમાં અધિકતર લોભાવનારા રાજાની માફક દરરોજ તેની સંસારવર્ધક વિષયી સુખોમાં લોભાતો રહે છે આત્માનું કલ્યાણ કઈ રીતે થશે તેની થોડી પણ ચિંતા કરતો નથી. આટલા માટેજ મનુષ્યજન્મ મળેલ છે તો તેનું કાંઈક સાધક કરી લેવું જોઈએ.

तस्मान्मनुष्यजन्म लब्ध्वा ससारस्वरूप भावयेत्—अहो ! ईदृशं दुःखस्थानमन्यत् किमपि नास्ति यादृश ससारः ॥ ५॥

जन्म छुट जाने के बाद इसकी पुन प्राप्ति दुर्लभ है, अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मनुष्यजन्म प्राप्त कर ससार के स्वरूप का अवश्यर विचार करता रहे, उसको सोचना चाहिये कि ऐसा दु.ख का स्थान और कोई दूसरा नहीं है जैसा की यह ससार है।

भावार्थ—कर्म से कदर्थित ये ससारी जीव चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करते हुए भी पुन उसी चक्कर में फँसने के अभिलाषी होते रहते हैं। यह चक्कर कैसे बंद होगा इसकी चिन्ता ही नहीं करते हैं। जैसे कोई क्षत्रिय बार बार युद्ध करने पर भी युद्ध से अरुचि नहीं लाता है। उसी प्रकार ये ससारी जीव भी सांसारिक अनंत दु खों से अरुचि न लाकर ज्ञानावरणीय कर्मों को पुन. पुनः बढाने की ओर ही अग्रेसर बने रहते हैं। इन को इस बात का पता नहीं कि इस मनुष्यभव से ही इन अनंत दु खों का अत होता है, अत इस भवसे यदि ये दु ख नहीं नष्ट किये गये तो फिर दूसरा कौन ऐसा भव है जो इन दु खों का अन्त करनेवाला हो सकेगा, अत मिले हुए मनुष्य भव

નહી તો આ મનુષ્યજન્મ પુરો થતા તેની પ્રાપ્તિ ફરી થવી દુર્લભ છે આથી મનુષ્યનું કર્તવ્ય છે કે, જ્યારે મહાદુર્લભ એવો મનુષ્યજન્મ તેને પ્રાપ્ત થયો છે તો સસારના સાચા સ્વરૂપનો અવશ્ય અવશ્ય વિચાર કરતો રહે તેણે વિચારવું જોઈએ કે, જેવો આ સસાર છે તેના જેવુ દુખનુ સ્થાન બીજુ કોઈ નથી

ભાવાર્થ—કર્મથી કદાચ સસારી જીવ ચોરાસી લાખ યોનીઓમાં ભ્રમણ કરવા છતાં પણ ફરી એજ ચક્કરમા ફસાય-ખૂચી જાય તેવાં કાર્યોમાં તે રત રહે છે પણ એ ચક્કર કઈ રીતે બધ થાય તેની ચિંતા કરતો નથી જેમ કોઈ ક્ષત્રિય વારવાર યુદ્ધ કરવા છતા તેના દિલમા યુદ્ધની અરૂચી જાગતી નથી. તેવી રીતે સસારી જીવ પણ સસારના અનત દુખોને જાણવા છતાં તેના પ્રત્યે અરૂચી ન લાવતાં જ્ઞાનાવરણીય કર્મોને ફરી ફરી વધારવાની તરફ જ તેની મુખ્ય પ્રવૃત્તિ બની રહે છે તેને એ વાતનો ખ્યાલ પણ નથી આવતો કે, આ મનુષ્યભવદ્વારા જ તે અનત દુખોનો અત લાવી શકાય છે એ કારણે આ ભવદ્વારા જ જો તે દુખ નષ્ટ કરવામાં નહી આવે તો ફરી એવો કયો ભવ છે કે, આ દુખોનો અત લાવવામાં ઉપયોગી થાય? આથી મહાપુણ્યના ઉદયથી અપ્રાપ્ય એવા મળેલા મનુષ્યભવને સફળ બનાવવા તરફ લક્ષ દેવુ

मूलम्—कम्मसगेहिं संमूढा, दुःक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मति पाणिणो ॥ ६ ॥

छाया—कर्मसगै समूढा., दुःखिता बहुवेदना. ।
अमानुपीपु योनिषु, विनिहन्यन्ते प्राणिनः ॥ ६ ॥

टीका—' कम्मसंगेहिं ' इत्यादि ।

कर्मसगैः=ज्ञानावरणीयादि कर्मसयोगैः, समूढा —तत्त्वातत्त्वविवेकरहिता, दुःखिता =विविधदुःखजालजनकरोगशोकादिसमाक्रान्ता , बहुवेदना'=मन्द तीव्र तीव्रतर–पीडायुक्ताः प्राणिन , अमानुपीपु=एकेन्द्रिय–द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रियमनुष्यभिन्नपञ्चेन्द्रियरूपासु च, योनिपु कर्मभिः विनिहन्यन्ते=पुनः पुनस्त्पद्यन्ते । अतो मानुषत्व दुर्लभमिति भावः ॥ ६ ॥

को सफल बनाने की ओर लक्ष्य देना यही सब से प्रथम कर्त्तव्य है ॥ ५ ॥

" कम्मसंगेहिं " इत्यादि

अन्वयार्थ–(कम्मसगेहिं–कर्मसगैः) ज्ञानावरणीयादिक कर्मों के सयोग से (संमूढा–समूढा) तत्त्वातत्त्व के विवेक से विकल बने हुए अतएव (दुक्खिया–दुःखिता) विविधदुःखजनक ऐसे रोग, शोक आदि से समाक्रान्त एव (बहु वेयणा–बहु वेदना') मन्द, तीव्र, तीव्रतर पीडाओं से युक्त ये (पाणिणो–प्राणिनः) ससारी प्राणी (अमाणुसासु जोणीसु–अमानुषीषु योनिषु) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं मनुष्य भिन्न पञ्चेन्द्रिय इन योनियों में (विणिहम्मति–विनिहन्यन्ते) पुनः पुनः जन्ममरणजनित दुःख पाते हैं । इसलिये मनुष्यभव दुर्लभ है ।

લોઇએ અને તે પ્રાણીમાત્રનું એક માત્ર સૌ પ્રથમ કર્તવ્ય છે ॥ ૫ ॥

" कम्मसगेहिं "–ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—कम्मसगेहिं–कर्मसगैः જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોના સંયોગથી समूढा–समूढा તત્વાતત્વના વિવેકથી, વિકળ બનેલા તેમજ दुक्खिया–दुखिता વિવિધ દુખજનક એવા રોગ, શોક આદિથી સમાક્રાંત અને बहु वेयणा–बहु वेदना મંદ, તીવ્ર, તીવ્રતર, પીડાઓથી યુક્ત આ पाणिणो–प्राणिन સંસારી પ્રાણી अमाणुसासु जोणीसु–अमानुषीषु योनिषु એકેન્દ્રિય, બેઇન્દ્રિય, ત્રીઇન્દ્રિય, ચાર ઇન્દ્રિય, અને મનુષ્ય ભિન્ન પાંચ ઇન્દ્રિય આ યોનીઓમાં विणिहम्मति–विनिहन्यन्ते ફરી ફરી જન્મ મરણ જનીત દુઃખ પામે છે એટલા માટે મનુષ્યભવ દુર્લભ કહ્યો છે

कथं तर्हि मानुषत्वं माप्नोतीत्याह—

मूलम्—कम्माण तु पहाणाए, आणुपुव्वि कयाइ वि ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययति मणुस्सय ॥ ७ ॥

छाया—कर्मणा तु प्रहाण्या, आनुपूर्व्या कदाचिदपि ।
जीवा शोधिमनुप्राप्ता, आददते मनुष्यताम् ॥ ७ ॥

टीका—' कम्माण ' इत्यादि ।

तु=पुन. आनुपूर्व्या=अनुक्रमेण, कर्मणां=मनुष्यगतिविघातकानामनन्तानुबन्धिक्रोधादिरूपाणाम्, प्रहाण्या=क्षयेण-अपगमेन, जीवा=प्राणिन', आनुपूर्व्या =अनुक्रमेण पृथिवीकायादिक्रमेणेत्यर्थः, शोधिम्=अशुभकर्मापगमरूपां शुद्धिम्,

भावार्थ—प्राप्त मनुष्यभव यदि प्रमादी होकर यों ही गुमा दिया जाता है तो फिर इस जीव को कर्मों के प्रभाव से तत्त्वातत्त्वविवेक रहित बनकर अनेक अमानुषीय योनियों में अनेक प्रकार के कष्टों का साम्हना करते हुए उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिये मिले हुए इस मनुष्यभव को व्यर्थ मत जाने दो, नहीं तो पुन इसका मिलना दुर्लभ है ॥ ६ ॥

मनुष्यभव प्राप्त कैसे होता है यह बात सूत्रकार बतलाते हैं—

"कम्माण" इत्यादि

अन्वयार्थ—(आणुपुव्वी आनुपूर्व्या) अनुक्रम से (कम्माणं-कर्मणाम्) मनुष्यगतिविघातक अनतानुबंधी क्रोधादि कर्मों की पहाणाए-प्रहाण्या प्रहाणि-क्षयसे (जीवा जीवा) जीव (आणुपुव्वी-आनुपूर्व्या) पृथिवी-

ભાવાર્થ-પ્રાપ્ત મનુષ્યભવ જો પ્રમાદી બની એમને એમજ ગુમાવી દેવાય તો પછી આ જીવને કર્મોના પ્રભાવથી તત્વાતત્વવિવેકરહીત બની અનેક અમાનુષિય યોનીઓમા અનેક પ્રકારનાં કષ્ટોનો સામનો કરતાં કરતાં ઉત્પન્ન થતા રહે છે પણ મનુષ્યભવ પામવો દુર્લભ રહે છે માટે મળેલા આ મનુષ્યભવને વ્યર્થ જવા ન દેવો. જોઈએ જીવને ફરી ફરી મનુષ્યભવ મળવો દુર્લભ છે ॥૬॥

મનુષ્યભવ કેવી રીતે પ્રાપ્ત થાય છે તે સૂત્રકાર બતાવે છે—

'कम्माण' ઈત્યાદિ

અન્વયાર્થ—आणुपुव्वी-आनुपूर्व्या અનુક્રમથી कम्माण-कर्मणाम् મનુષ્યગતી વિઘાતક અનતાનુબધી ક્રોધાદિ કર્મોના पहाणाए-प्रहाण्याक्षयथी जीवा-जीवा જીવ आणुपुव्वी-आनुपूर्व्यापृथ्वीકાયાદિકના ક્રમથી सोहिं-शोधिम् અશુભ કર્મોના અપગ

मूलम्—कम्मसगेहिं संमूढा, दुःक्खिया वहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मति पाणिणो ॥६॥

छाया—कर्मसगै समूढा, दुःखिता वहुवेदना।
अमानुपीपु योनिपु, विनिहन्यन्ते प्राणिनः ॥ ६ ॥

टीका—'कम्मसगेहिं' इत्यादि।

कर्मसगैः=ज्ञानावरणीयादि कर्मसयोगैः, समूढा—तत्त्वातत्त्वविवेकरहिता, दुःखिता =विविधदुःखजालजनकरोगशोकादिसमाक्रान्ता, वहुवेदना=मन्द तीव्र-तीव्रतर-पीडायुक्ताः प्राणिन, अमानुपीपु=एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियमनुष्यभिन्नपञ्चेन्द्रियरूपासु च, योनिपु कर्मभिः विनिहन्यन्ते=पुनः पुनरुत्पद्यन्ते। अतो मानुपत्व दुर्लभमिति भाव. ॥ ६ ॥

को सफल वनाने की ओर लक्ष्य देना यही सब से प्रथम कर्तव्य है ॥५॥

"कम्मसंगेहिं" इत्यादि

अन्वयार्थ-(कम्मसगेहिं-कर्मसगैः) ज्ञानावरणीयादिक कर्मों के संयोग से (संमूढा-समूढा) तत्त्वातत्त्व के विवेक से विकल बने हुए अतएव (दुक्खिया-दुःखिताः) विविधदुःखजनक ऐसे रोग, शोक आदि से समाक्रान्त एव (वहु वेयणा-वहु वेदनाः) मन्द, तीव्र, तीव्रतर पीडाओं से युक्त ये (पाणिणो-प्राणिनः) ससारी प्राणी (अमाणुसासु जोणीसु-अमानुषीषु योनिषु) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं मनुष्य भिन्न पञ्चेन्द्रिय इन योनियों में (विणिहम्मति-विनिहन्यन्ते) पुनः पुन जन्ममरणजनित दुःख पाते हैं। इसलिये मनुष्यभव दुर्लभ है।

એઇએ અને તે પ્રાણીમાત્રનુ એક માત્ર સૌ પ્રથમ કર્તવ્ય છે ॥ ૫ ॥

"कम्मसंगेहिं"-ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—कम्मसगेहिं-कर्मसगैः જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોના સયોગથી समूढा-समूढा તત્વાતત્વના વિવેકથી, વિકળ બનેલા તેમજ दुक्खिया-दुखिता વિવિધ દુ ખજનક એવા રોગ, શોક આદિથી સમાક્રાંત અને बहु वेयणा-बहु वेदना મદ, તીવ્ર, તીવ્રતર, પીડાઓથી યુક્ત આ पाणिणो-प्राणिन સસારી પ્રાણી अमाणुसासु जोणीसु-अमानुषीषु योनिषु એકેન્દ્રિય, બેઇન્દ્રિય, ત્રીઇન્દ્રિય, ચાર ઇન્દ્રિય, અને મનુષ્ય ભિન્ન પાંચ ઇન્દ્રિય આ યોનીઓમાં विणिहम्मति-विनिहन्यन्ते ફરી ફરી જન્મ મરણ જનીત દુઃખ પામે છે એટલા માટે મનુષ્યભવ દુર્લભ કહ્યો છે

कस्यचिद् विशिष्टपुण्यस्योदयेन मानुषत्वलाभेऽपि श्रुतिर्दुर्लभेत्याह—

मूलम्—माणुस्स विग्गहं लद्धु, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥८॥

छाया—मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा ।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिम् अहिंस्रताम् ॥ ८ ॥

टीका—' माणुस्स ' इत्यादि ।

मानुष्यं=मनुष्यभवसम्बन्धिनं, विग्रहं=शरीरं, लब्ध्वा=प्राप्य, धर्मस्य=श्रुतचारित्रलक्षणस्य, श्रुतिः=श्रवणं, दुर्लभा, यं धर्मं श्रुत्वा, तपः=अनशनादि द्वादशविधम्, इन्द्रियजयं वा, क्षान्तिं=क्रोधजयरूपां, उपलक्षणमेतन्मानादिजयस्यापि, अहिंस्रताम्=अहिंसकत्वम्, अनेन प्रथमव्रतमुक्तम्, इदमप्युपलक्षणम्—मृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहविरमणस्य, प्रतिपद्यन्ते=प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । धर्मस्य श्रवणं हि मिथ्यात्वतिमिरप्रणाशकं, श्रद्धाज्योतिःप्रकाशकं, तत्त्वातत्त्वविवेचकं, पीयूषपानमिव

कहते हैं—" माणुस्स " इत्यादि ।

अन्वयार्थ-(माणुस्स विग्गहं लद्धु मानुष्यकं विग्रहं लब्ध्वा) मनुष्यभव संबंधी शरीर को पाकर भी (धम्मस्स सुई दुल्लहा—धर्मस्य श्रुतिः दुर्लभा) श्रुतचारित्ररूप धर्म का श्रवण दुर्लभ है । (जं सोच्चा—यं श्रुत्वा) जिस धर्म को सुनकर प्राणी (तवं खंतिमहिंसयं—तपः क्षान्तिम् अहिंस्रताम्) अनशन आदि बारह १२ प्रकार के तप को, अथवा इन्द्रियनिग्रह को, क्रोध जयरूप क्षांति को, उपलक्षण से मान आदि कषाय के विजय को, तथा अहिंसक भाव को, उपलक्षण से मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन एवं परिग्रह से विरमणरूप व्रत को (पडिवज्जंति—प्रतिपद्यन्ते) प्राप्त करते हैं । धर्म का श्रवण जीव के मिथ्यात्वरूप तिमिर का विनाशक, श्रद्धारूप ज्योति का प्रकाशक, तत्त्व अतत्त्व का विवेचक, अमृतपान के समान

' माणुस्स ' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—माणुस्स विग्गहं लद्धु—मानुष्यकं विग्रहं लब्ध्वा મનુષ્યભવ સંબંધી શરીરને મેળવીને પણ धम्मस्स सुई दुल्लहा—धर्मस्य श्रुतिः दुर्लभा શ્રુત ચારિત્રરૂપ ધર્મનું શ્રવણ દુર્લભ છે जं सोच्चा—यं श्रुत्वा જે ધર્મને સાંભળીને પ્રાણી तवं खंतिमहिंसयं—तपः क्षान्तिम् अहिंस्रताम् અનશનાદિ બાર ૧૨ પ્રકારના તપને અથવા ઇન્દ્રિયનિગ્રહને, ક્રોધજયરૂપ, ક્ષાંતિને ઉપલક્ષણથી માન આદિ કષાયના વિજયને તથા અહિંસક ભાવને ઉપલક્ષણથી મૃષાવાદ, અદત્તાદાન, મૈથુન અને પરિગ્રહથી વીરમણ રૂપ વ્રતને पडिवज्जंति—प्रतिपद्यन्ते પ્રાપ્ત કરે છે ધર્મનું શ્રવણ જીવને મિથ્યાત્વરૂપી અંધકારનો નાશ કરનાર, શ્રદ્ધારૂપ જ્યોતિનો પ્રકા

अनुमाप्ता' सन्त , कदाचिदेव, न तु सर्वदा, अत्र तु-शब्द एवार्थकः । मनुष्यताम् आददते-गृह्णन्ति-प्राप्नुवन्तीत्यर्थ । अय भावः-प्रकृतिभद्रतया, प्रकृतिविनीततया, सानुक्रोशतया (सदयतया) अमत्सरितया मनुष्येषु प्राणिन उत्पद्यन्ते । अपि च-विशिष्टशुद्धिहेतुभिस्तनुकषायत्वादिभिर्मनुष्यायुर्बन्धो भवति । उक्तञ्च—

पयईए तणुकसाओ, दाणरओ सीलसजमविहूणो ।
मज्झमगुणेहिं जुत्तो मणुयाउ बंधए जीवो ॥ २ ॥

छाया-प्रकृत्या तनुकषायो, दानरतः शीलसयमविहीनः ।
मध्यमगुणैर्युक्तो मनुजायुर्बध्नाति जीव. ॥ १ ॥ इति ॥ ७ ॥

कायादिक के क्रमसे (सोहिं-शोधिम्) अशुभ कर्मों के अपगमरूप शुद्धि को प्राप्त होते हुए (कयाइ वि-कदाचिदपि) कभी कभी ही-सर्वदा नहीं, (मणुस्सय आययति-मनुष्यता आददते) मनुष्यभव को प्राप्त करते हैं। प्राणी स्वाभाविक भद्रपरिणामी हो, स्वाभाविक विनीत हो, दयालु हो, मत्सरभाव से रहित हो तो वह मरकर मनुष्यपर्याय को प्राप्त करता है। विशिष्ट शुद्धि का कारण जो कषायों की मंदता है उससे भी मनुष्यायुका बंध प्राणी को होता है। उक्तंच—

पयईए तणुकसाओ दाणरओ सीलसंजमविहूणो ।
मज्झमगुणेहिं जुत्तो मणुयाउं बंधए जीवो ॥ १ ॥

छाया-प्रकृत्या तनुकषायो दानरतः शीलसयमविहीन ।
मध्यमगुणैर्युक्तो मनुजायुर्बध्नाति जीवः ॥ १ ॥ ७ ॥

विशिष्ट पुण्य के उदय से किसी जीव को मनुष्यभव की प्राप्ति हो भी जाय तो भी धर्म का सुनना दुर्लभ है इस बात को सूत्रकार

મરૂપ શુદ્ધિને પ્રાપ્ત કરીને कयाइ वि-कदाचिदपि કોઈ કોઈ વખત मणुस्सय-मनुष्यतां-મનુષ્યભવને आययंति-आददते પ્રાપ્ત કરે છે પ્રાણી સ્વાભાવિક ભદ્ર પરિણામી હોય, સ્વાભાવિક વિનીત હોય, દયાળુ હોય, મત્સરભાવથી રહિત હોય તો તે મરીને મનુષ્યપર્યાયને પ્રાપ્ત કરે છે વિશિષ્ટ શુદ્ધિનું કારણ જે કષાયોની મંદતા છે તેનાથી પણ મનુષ્ય આયુનો બંધ પ્રાણીનો થાય છે કહ્યું પણ છે—

पयइए तणुकसाओ दाणरओ सीलसंजमविहूणो।
मज्झम गुणेहिं जुत्तो मणुयाउं बंधए जीवो ॥ १ ॥

छाया—प्रकृत्या तनुकषायो दानरतः शीलसंयमविहीनः।
मध्यमगुणैर्युक्तो मनुजायुर्बध्नाति जीवः ॥ १ ॥७ ॥

વિશિષ્ટ કર્મના ઉદયથી કોઈ જીવને મનુષ્યભવની પ્રાપ્તિ થઈ પણ જાય તો પણ ધર્મને સાંભળવો દુર્લભ છે આ વાતને સૂત્રકાર

टीका—' आहच्च ' इत्यादि ।

कदाचित् श्रवण=धर्मश्रवण लब्ध्वाऽपि श्रद्धा=धर्मविषयिका रुचिः, परमदुर्लभाऽस्ति । श्रद्धा हि संसारसागरतरणतरणिः, मिथ्यात्वतिमिरहरणद्युमणिः, स्वर्गापवर्गसुखचिन्तामणि, क्षपकश्रेणिसरणि, कर्मरिपुदमनी, केवलज्ञानकेवलदर्शनजननी । श्रद्धाया परमदुर्लभत्वे हेतुमाह–' बहवे ' इत्यादि ।

बहवो मनुष्या नैयायिक–न्याये पञ्चसमवायकारणे भवं नैयायिकं पञ्चसम-

---

धर्मश्रवण की प्राप्ति के बाद सूत्रकार अब श्रद्धा की दुर्लभता दिखलाते हैं—' आहच्च '–इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(आहच्च–आहत्य) कदाचित (सवण लद्धु–श्रवण लब्ध्वा) धर्मका श्रवण भी प्राप्त हो जाय तो भी (सद्धा परमदुल्लहा –श्रद्धा परमदुर्लभा) धर्म में श्रद्धा–रुचि–होना परम दुर्लभ है। यह श्रद्धा संसाररूपी सागर से पार कराने के लिये नौका जैसी है, मिथ्यात्वरूपी तिमिर को दूर करने के लिये द्युमणि–सूर्य जैसी है। स्वर्ग एवं मोक्ष के सुखों को देने के लिये चिन्तामणिरत्न जैसी है। क्षपक श्रेणी पर आरूढ होने के लिये निसरणी जैसी है। कर्मरूपी शत्रु को परास्त करने वाली है, एव केवल ज्ञान केवल दर्शन को उत्पन्न करने के लिये जननी जैसी है। यह श्रद्धा परम दुर्लभ क्यों है? यह बात स्वय सूत्रकार कहते हैं (बहवे–बहवः) संसारमें ऐसे भी कितनेक मनुष्य हैं जो

ધર્મ શ્રવણની પ્રાપ્તિ બાદ સૂત્રકાર હવે શ્રદ્ધાની દુર્લભતા સમજાવે છે– ' આહચ્ચ ' ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—આહચ્ચ–આહત્ય કદાચિત સવણ લદ્ધુ–શ્રવણ લબ્ધ્વા ધર્મનુ શ્રવણ પ્રાપ્ત થઈ જાય તો પણ સદ્ધા પરમદુલ્લહા–શ્રદ્ધા પરમદુર્લભા ધર્મમા શ્રદ્ધા રૂચી થવી એ પરમ દુર્લભ વાત છે આ શ્રદ્ધા સંસારરૂપી સાગરથી પાર ઉતારનાર નૌકાનું કામ કરે છે મિથ્યાત્વ રૂપી ઘોર અંધકારને દૂર કરી માણસના હૃદયમા સૂર્ય તેજનાં કિરણો જેવો પ્રકાશ પહોંચાડે છે સ્વર્ગ અને મોક્ષના સુખોને આપવા માટે ચિંતામણીરત્ન જેવી છે ક્ષપકશ્રેણી ઉપર આરૂઢ થવા માટે એ નીસરણી જેવી છે કર્મરૂપી શત્રુનો નાશ કરવા માટે એ અતુલ બળવાળી છે અને કેવળજ્ઞાનદર્શનને ઉત્પન્ન કરવા માટે એ જનની જેવી છે આ શ્રદ્ધા પરમ દુર્લભ કેમ છે? આ વાત સ્વયં સૂત્રકાર બતાવે છે તેઓ કહે છે કે, બહવે–બહવ સંસારમાં એવા પણ કેટલાક મનુષ્યો છે જે નેયાઉયં

हितावह, पञ्चचन्द्रचन्द्रिकेव हृदयाह्लादक, स्वप्नदृष्टवस्तुनः पुनर्जाग्रदवस्थायां लब्धा भवत् प्रमोदजनकं, भूमिगतनिधानप्राप्तिरिव सुखजनक, सकलसंतापहारकम्। तस्माद् धर्म श्रोतव्य इति भाव ॥ ८ ॥

श्रुतिलाभेऽपि श्रद्धा दुर्लभेत्याह—

मूलम्—आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेयाउय मग्गं, बहवे परिभस्सइ ॥ ९ ॥

छाया—कदाचित् श्रवण लब्ध्वा, श्रद्धा परमदुर्लभा।
श्रुत्वा नैयायिक मार्गं, बहव. परिभ्रश्यन्ति ॥ ९ ॥

एकान्तत हितविधायक, निर्मल चाँदनी के समान हृदय को आनंद उत्पन्न करने वाला, स्वप्न में दृष्ट पदार्थ की जागृत अवस्था में प्राप्ति होने की तरह प्रमोदजनक, भूमि में गडे हुए निधान की प्राप्ति के समान सुखजनक एव समस्त सताप का अपहारक होता है, इसलिये धर्म अवश्य श्रवण करने योग्य है।

भावार्थ—मनुष्यभव पाकर भी जीव को श्रुतचारित्ररूप धर्म का श्रवण बडे भाग्य से मिलता है। धन्य वे पुरुष है जो इस प्रकार से अपने जीवन को सफल करते हैं, क्यों कि धर्म के श्रवण से ही यह जीव को मालूम होता है कि हमारा क्या कर्तव्य है क्या अकर्तव्य है! हिंसादिक पाप अकर्तव्य हैं, तथा प्रणातिपातादि विरमणारूपकर्तव्य हैं। तप पालने योग्य हैं एव कषायादिक परित्याग करने योग्य हैं ॥ ८ ॥

શક, તત્વ અતત્વનો વિવેચક અમૃત પાન સમાન, એકાન્તતઃ હિત વિધાયક, નિર્મળ ચાંદની સમાન હૃદયને ઉત્પન્ન કરવાવાળા, સ્વપ્નમાં દૃષ્ટ પદાર્થની જાગ્રત અવસ્થામાં પ્રાપ્તિ થવાની માફક, પ્રમોદ જનક ભૂમિમાં દટાયેલા ધનની પ્રાપ્તિ સમાન, સુખ જનક અને સમસ્ત સંતાપનો અપહારક બને છે માટે ધર્મ અવશ્ય શ્રવણ કરવા યોગ્ય છે

ભાવાર્થ—મનુષ્યભવ મેળવીને પણ જીવને શ્રુતચારિત્રરૂપ ધર્મનું શ્રવણ ભાગ્યના ઉદયથી જ મળે છે એ પુરૂષને ધન્ય છે કે જે આ પ્રકારથી પોતાના જીવનને સફળ બનાવે છે કેમકે ધર્મનું શ્રવણ કરવાથી જ આ જીવને ખબર પડે છે કે મારૂં કર્તવ્ય શું છે અને અકર્તવ્ય શું? કે હિંસાદિક પાપ એ અકર્તવ્ય છે, અને એનાથી પ્રાણાતિપાતાદિ વિરમણરૂપ કર્તવ્ય છે તપ પાળવા યોગ્ય છે, અને કષાયાદિક પરિત્યાગ કરવા યોગ્ય છે ॥૮॥

यस्य स, संयतादिज्ञाने संदिग्धबुद्धि । ३ । अश्वमित्रश्चतुर्थः सामुच्छेदिकः, स उत्पादानन्तरमेव वस्तुनः समुच्छेद –विनाशो भवतीति प्ररूपयति । ४ । गङ्गाचार्यः पञ्चमो द्वैक्रियः –स एकस्मिन् समये क्रियाद्वयानुभवो भवतीति प्ररूपयति । ५ । षडुलूकः षष्ठस्त्रैराशिकः, स जीवा-जीव-नोजीव-भेदात् त्रयो राशयः सन्तीति प्ररूपयति । ६ । गोष्ठ माहिल स्थविरः सप्तमोऽबद्धिकः स च जीवेन स्पृष्टं कर्म अबद्धं प्ररूपयति । ७ ।

तत्र जमालेर्वृत्तान्तः प्रोच्यते—

क्षत्रियकुण्डपुरे भगवतः श्रीवीरवर्धमानस्वामिनो भगिन्याः सुदर्शनायाः पुत्रः क्षत्रियः

ऐसी मान्यता है कि संयत आदि का ज्ञान सदा संदिग्ध रहता है, कौन संयत है कौन नहीं इसका यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है, इस प्रकार ये अव्यक्तवादी हैं ३। चतुर्थ निह्नव–अश्वमित्र हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि उत्पाद के अनन्तर ही वस्तु विनष्ट हो जाती है ४। पञ्चम निह्नव गंगाचार्य हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव होता है ५। छठवा निह्नव षडुलूक हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि जीव अजीव एवं नोजीव, इस प्रकार तीन राशि हैं ६। गोष्ठ माहिल स्थविर सातवा निह्नव हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि जीव के स्पृष्ट कर्म सदा उससे अबद्ध रहता है ७।

जमालि का वृत्तान्त इस प्रकार है—जमालि भगवान् वर्धमान स्वामी की बहिन सुदर्शना के पुत्र थे। ये क्षत्रियकुण्डपुर का निवासी क्षत्रिय थे। भगवान् वीर प्रभु की पुत्री जो प्रियदर्शना थी उसका

સ્વરૂપ છે (૨) તૃતીય નિહ્નવ આષાઢ હતા એમની એવી માન્યતા હતી કે, સંયત આદિનું જ્ઞાન સદા સંદિગ્ધ રહે છે કોણ સંયત છે? કોણ સંયત નથી? એનો યથાર્થ નિશ્ચય થઈ શકતો નથી. આ પ્રકારથી તેઓ અવ્યક્તવાદી હતા. (૩) ચતુર્થ નિહ્નવ અશ્વમિત્ર હતા એમની એવી માન્યતા હતી કે, ઉત્પાદના અનંતરજ વસ્તુનો નાશ થઈ જાય છે (૪) પંચમ નિહ્નવ ગંગાચાર્ય હતા, એમની એવી માન્યતા હતી કે, એક સમયમાં બે ક્રિયાઓનો અનુભવ થાય છે (૫) છઠા નિહ્નવ ષડુલૂક હતા એમની એવી પણ માન્યતા હતી કે, જીવ, અજીવ અને નો જીવ આ રીતે ત્રણ પ્રકારની રાશી છે (૬) સાતમા નિહ્નવ ગોષ્ઠમાહિલસ્થવિર હતા એમની એવી પણ માન્યતા હતી કે, સ્પૃષ્ટ કર્મ હંમેશાં તેનાથી અબદ્ધ રહે છે

જમાલિનું વૃત્તાંત આ પ્રકારે છે—જમાલિ ભગવાન વર્ધમાન સ્વામીની બહેન સુદર્શનાના પુત્ર હતા તેઓ ક્ષત્રિય હતા અને ક્ષત્રિયકુન્ડપુરના નિવાસી હતા ભગવાન વીરપ્રભુની પુત્રી જે પ્રિયદર્શના હતી, તેના તેઓ

वायकारणवादरूप जैनदर्शनं, यद्वा-न्याययुक्तं मार्गं सम्यग्दर्शनादिरूपं मार्गं= मोक्षमार्गं श्रुत्वा परिभ्रश्यन्ति=मोक्षमार्गात् प्रच्युता भवन्ति।

अत्र दृष्टान्ताः—जमालिप्रभृतयो निह्नवाः।

अथ के ते जमालिप्रभृतयः? इत्युच्यते-जमालिप्रभृतय सप्त प्रवचननिह्नवाः-मिथ्यात्वाभिनिवेशाज्जिनोक्ततत्त्वापलापकास्त्यक्तसम्यग्दर्शना अभूवन्। तत्र जमालिः प्रथमः, स बहुरत -बहुषु समयेषु रतः=सक्तः, प्रभूतसमये, कार्योत्पत्तिर्भवति, नत्वेकेन समयेनेति प्ररूपयति॥ १ ॥ तिष्यगुप्तो द्वितीय --स जीवप्रदेशिकः -जीवः प्रदेश एव यस्य स जीवप्रदेशः, स एव जीवप्रदेशिकः, चरमप्रदेश एव जीव इति प्ररूपयति ॥२॥ तृतीय आषाढः-स तु अव्यक्तिकः, अव्यक्तम्-अस्फुट वस्तु

(नेयाउय मग्गं-नैयायिक मार्गं) पचसमवायकारणवादरूप जैनदर्शन को, अथवा सम्यग्दर्शनादिरूप न्याययुक्त मार्ग-मोक्षमार्ग को (सोच्चा-श्रुत्वा) सुनकर भी उसमें श्रद्धा नहीं होने से (परिभस्सइ-परिभ्रश्यन्ति) उस मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं इसलिये श्रद्धा को दुर्लभ बतलाई है।

इस विषय में दृष्टान्तस्वरूप जमालि निह्नव आदि समझना चाहिये। जमालि आदि कौन हैं? इस विषय को यहां प्रदर्शित किया जाता है। ये जमालि आदि सात व्यक्ति निह्नव-प्रवचन को छिपाने वाले हुए हैं-मिथ्यात्व के अभिनिवेश से जिनोक्त तत्त्व के अपलापक-सम्यग्दर्शन से रहित हुए हैं। इनमें सर्वप्रथम जमालि हुए हैं, इनकी मान्यता यह है कि अनेकसमयों से द्रव्य की उत्पत्ति होती है, एक समय से नहीं १ द्वितीय निह्नव तिष्यगुप्त हुए हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि जीवका एक अन्तिम प्रदेश ही जीवस्वरूप है २। तृतीय निह्नव आषाढ हुए हैं, इनकी

मग्गं-नैयायिक मार्ग पांच समवायकारणवादरूप જૈનદર્શનને અથવા સમ્યગ્ દર્શનાદિરૂપ ન્યાયયુક્ત માર્ગ-મોક્ષ માર્ગને સોચ્ચા સોચ્ચા-શ્રુત્વા સાંભળીને પણ એનામાં શ્રદ્ધા ન હોવાથી परिभस्सइ-परिभ्रश्यन्ति એ મોક્ષમાર્ગથી ભ્રષ્ટ થઈ જાય છે આ માટે શ્રદ્ધાને દુર્લભ બતાવેલ છે

આ વિષયમાં દૃષ્ટાંતસ્વરૂપ જમાલિ નિહ્નવ આદિ સમજવા જોઈએ. જમાલિ આદિ કોણ હતા એ વિષયને અહિં પ્રદર્શિત કરવામાં આવે છે એ જમાલિ આદિ સાત વ્યક્તિ પ્રવચનનિહ્નવ છુપાવવાવાળા હતા મિથ્યાત્વના અભિનિવેશથી જીનોક્ત તત્વના અપલાપક - સમ્યગ્દર્શનથી રહિત હતા. એમાં સર્વ પ્રથમ જમાલિ હતા એમની માન્યતા એ હતી કે અનેક સમયોથી દ્રવ્યની ઉત્પત્તિ થાય છે એક સમયથી નહીં. (૧) દ્વિતીય નિહ્નવ તિષ્યગુપ્ત હતા, એમની એવી માન્યતા હતી કે, જીવનો એક અંતિમ પ્રદેશ જ જીવ

स्य सः, संयतादिज्ञाने संदिग्धबुद्धिः । ३ । अश्वमित्रश्चतुर्थः सामुच्छेदिकः, स उत्पादानन्तरमेव वस्तुनः समुच्छेद –विनाशो भवतीति प्ररूपयति । ४ । गङ्गाचार्यः पञ्चमो द्वैक्रिय –स एकस्मिन् समये क्रियाद्वयानुभवो भवतीति प्ररूपयति । ५ । षडुलूकः षष्ठस्त्रैराशिकः, स जीवा-जीव-नोजीव-भेदात् त्रयो राशयः सन्तीति प्ररूपयति । ६ । गोष्ठामाहिलः स्थविरः सप्तमोऽबद्धिकः स च जीवेन स्पृष्टं कर्म अबद्धं प्ररूपयति ।७ ।

तत्र जमालेर्वृत्तान्तः प्रोच्यते—

क्षत्रियकुण्डपुरे भगवतः श्रीवीरवर्धमानस्वामिनो भगिन्याः सुदर्शनायाः पुत्रः क्षत्रिया

ऐसी मान्यता है कि संयत आदि का ज्ञान सदा संदिग्ध रहता है, कौन संयत है कौन नहीं इसका यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है, इस प्रकार ये अव्यक्तवादी हैं ३। चतुर्थ निह्नव–अश्वमित्र हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि उत्पाद के अनन्तर ही वस्तु विनष्ट हो जाती है ४ । पंचम निह्नव गंगाचार्य हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव होता है ५। छठवा निह्नव षडुलूक हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि जीव अजीव एवं नोजीव, इस प्रकार तीन राशि हैं ६। गोष्ठ माहिल स्थविर सातवां निह्नव हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि जीव के स्पृष्ट कर्म सदा उससे अबद्ध रहता है ७।

जमालि का वृत्तान्त इस प्रकार है—जमालि भगवान् वर्धमान स्वामी की बहिन सुदर्शना के पुत्र थे। ये क्षत्रियकुण्डपुर का निवासी क्षत्रिय थे। भगवान् वीर प्रभु की पुत्री जो प्रियदर्शना थी उसका

स्वरूप छे (२) तृतीय निह्नव आषाढ हता એમની એવી માન્યતા હતી કે, સંયત આદિનું જ્ઞાન સદા સંદિગ્ધ રહે છે કોણ સંયત છે ? કોણ સંયત નથી ? એનો યથાર્થ નિશ્ચય થઈ શકતો નથી. આ પ્રકારથી તેઓ અવ્યક્તવાદી હતા. (૩) ચતુર્થ નિહ્નવ અશ્વમિત્ર હતા એમની એવી માન્યતા હતી કે, ઉત્પાદના અનંતરજ વસ્તુનો નાશ થઈ જાય છે (૪) પંચમ નિહ્નવ ગંગાચાર્ય હતા, એમની એવી માન્યતા હતી કે, એક સમયમાં બે ક્રિયાઓનો અનુભવ થાય છે (૫) છઠ્ઠા નિહ્નવ ષડુલૂક હતા એમની એવી પણ માન્યતા હતી કે, જીવ, અજીવ અને નો જીવ આ રીતે ત્રણ પ્રકારની રાશી છે (૬) સાતમા નિહ્નવ ગોષ્ઠમાહિલસ્થવિર હતા એમની એવી પણ માન્યતા હતી કે, સ્પૃષ્ટ કર્મ હમેશાં તેનાથી અબદ્ધ રહે છે

જમાલિનું વૃતાંત આ પ્રકારે છે—જમાલિ ભગવાન વર્ધમાન સ્વામીની બહેન સુદર્શનાના પુત્ર હતા તેઓ ક્ષત્રિય હતા અને ક્ષત્રિયકુન્ડપુરના નિવાસી હતા ભગવાન વીરપ્રભુની પુત્રી જે પ્રિયદર્શના હતી, તેના તેઓ

जमालिरासीत् । श्रीवीरवर्धमानस्वामिनः पुत्री प्रियदर्शना जमालेः भार्याऽभवत् । एकदा कदाचित् भगवान् श्रीवीरवर्धमानस्वामी तत्र क्षत्रियकुण्डपुरे समवसृतः। जमालिर्भार्यया सह तं वन्दितुं समागतः। भगवद्देशनया जातवैराग्योऽसौ जमालिर्गृहमागत्य पित्रोरनुज्ञां गृहीत्वा पञ्चशतक्षत्रियकुमारैः सह प्रव्रज्यां गृहीतवान् । अथ भगवतः श्रीमहावीरस्य केवलज्ञानप्राप्त्यनन्तरं चतुर्दशे वर्षे प्रव्रजितः । तदा तस्य भार्या प्रियदर्शनाऽपि भगवतः श्रीवीरवर्धमानस्वामिनः समीपे स्त्रीसहस्रेण सह प्रव्रजिता। ततः पञ्चशतसंख्यकान् साधून् जमालिमुनये, तस्यै प्रियदर्शनासाध्व्यै च साध्वीसहस्रं शिष्यतया भगवान् प्रददौ । अथ जमालिमुनिः श्रीवर्धमानस्वामिना सह विहरन् दुश्चरं तपस्तेपे, एकादशाङ्गानि चाधीतवान् ।

थे पति थे। एक दिन की बात है कि वीर श्रीवर्धमान स्वामी क्षत्रियकुण्डपुर में पधारे । जमालि अपनी पत्नी प्रियदर्शना के साथ उनको वंदना करने के लिये आये । भगवान् ने इनको धर्मदेशना दी। दिव्य धर्मदेशना का पान कर जमालि को वैराग्य जागृत हो गया । घर पर आकर इन्हों ने अपने माता पिता से आज्ञा लेकर पांचसौ क्षत्रियकुमारों के साथ दीक्षा अंगीकार करली । उस समय भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुए को चौदह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। पति को दीक्षित देखकर प्रियदर्शना ने भी एक हजार स्त्रियों के साथ दीक्षा अंगीकार करली । प्रभु ने पांचसो मुनियों को जमालिमुनि की नेसराय में करदिये, एवं एक हजार साध्वियों को प्रियदर्शना साध्वी की नेसराय में कर दी । पांचसो जमालि के शिष्य और एक हजार साध्वियां प्रियदर्शना की शिष्याएँ हुई । जमालिमुनि ने श्री वर्धमान

પતિ હતા. એક સમયની વાત છે કે, શ્રી વીર વર્ધમાનસ્વામી દીક્ષા લીધા પછી ક્ષત્રિયકુન્ડપુરમાં પધાર્યા. જમાલિ પોતાની પત્ની પ્રિયદર્શનાની સાથે તેમને વંદના કરવા માટે આવ્યા ભગવાને તેમને ધર્મદેશના આપી. દિવ્ય ધર્મદેશનાનું પાન કરતાં જમાલિને વૈરાગ્ય જાગૃત થયો. ઘેર આવી પોતાનાં માતાપિતાની આજ્ઞા લઈ તેમણે પાંચસો ક્ષત્રિય કુમારો સહિત દીક્ષા અંગિકાર કરી. આ સમયે ભગવાનને કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત થયા ને ચૌદ વર્ષ વિતી ગયાં હતાં. પતિને દીક્ષિત થયેલા જોઈ પ્રિયદર્શનાએ પણ એક હજાર સ્ત્રીઓ સહિત દીક્ષા અંગીકાર કરી. પ્રભુએ પાંચસો મુનિઓને જમાલિ મુનિની નેસરાયમાં કરી દીધા અને એક હજાર સાધ્વીઓને પ્રિયદર્શના સાધ્વીની નેસરાયમાં કરી દીધી. જમાલિના પાંચસો શિષ્ય થયા અને એક હજાર સાધ્વીઓ પ્રિયદર્શનાની શિષ્યા થઈ જમાલિ મુનિએ શ્રી વર્ધમાન સ્વામીની

अथान्यदा जमालिमुनिर्भगवत श्रीवीरवर्धमानस्वामिन वन्दित्वा नमस्कृत्य कृताञ्जलि॰ सन् पप्रच्छ—भगवन्! भवदाज्ञयाऽन्यत्र विहर्तुमिच्छामि? तदा भगवता पृथग्विहारे जमालेर्लाभादर्शनात् मौनमवलम्बितम्। जमालिस्तु अप्रतिषिद्धमनुमत भवतीति मत्वा भगवन्त वन्दित्वा नमस्कृत्य पञ्चशतशिष्यै॰ सह तदन्तिकात् प्रतिनिष्क्रामति।

अथाऽसौ पञ्चशतैरनगारै॰ सह ग्रामानुग्राम विहरन् श्रावस्तीनगर्यां कोष्ठकनामक उद्याने समागत॰। तत्र यथाप्रतिरूपमवग्रह गृहीत्वा सयमेन तपसाऽऽत्मान भावयन् विहरति।

स्वामी के साथ विहार करते २ खूब तो तपश्चर्या की और ग्यारह अगों का अध्ययन भी कर लिया।

किसी समय जमालि मुनि ने भगवान श्री वर्धमानस्वामी को दोनों हाथ जोड़कर वन्दना एव नमस्कार कर के पूछा कि हे भगवान्! आपकी आज्ञा से मैं दूसरी जगह विहार करना चाहता हूं। जमालि की बात सुनकर भगवान् ने इस अभिप्राय से कि इनका पृथग् विहार लाभकारी नहीं है, उनको कुछ भी उत्तर नहीं दिया किन्तु मौन रहे। भगवान् ने जब जमालि से कुछ भी नहीं कहा तो उन्हों ने यह समझकर कि "अप्रतिपिद्ध अनुमतम्" अप्रतिपिद्ध अनुमत होता है, वहां से प्रभु को वन्दना नमस्कार करके अपने पाचसौ शिष्यों को साथ लेकर विहार कर दिया।

पांचसो शिष्यो के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे श्रावस्ती

સાથે વિહાર કરતાં કરતાં ખૂબ તપશ્ચર્યા કરી અને અગ્યાર અંગોનો અભ્યાસ પણ કરી લીધો

કોઈ એક સમયે જમાલિમુનિએ ભગવાન શ્રી વર્ધમાન સ્વામીને બે હાથ જોડીને વંદના નમસ્કાર કરીને પૂછ્યું કે, હે ભગવંત! આપની આજ્ઞાથી હું બીજી જગ્યાએ વિહાર કરવા ઇચ્છું છું જમાલિની આ વાત સાંભળીને ભગવાન એમનો જુદો વિહાર લાભકારી નથી એવા અભિપ્રાયથી મૌન રહ્યા અને ઉત્તર ન આપ્યો. ભગવાને જ્યારે જમાલિને કાંઈ કહ્યું નહીં ત્યારે તેમણે એમ સમજી લીધું કે, "अप्रतिषिद्ध अनुमत भवति" મૌન એ અનુમતી છે, એમ સમજીને ત્યાંથી પ્રભુને વંદના નમસ્કાર કરીને પોતાના પાંચસો શિષ્યો સાથે પ્રભુથી અલગ વિહાર કરી દીધો

પાંચસો શિષ્યોની સાથે ગ્રામાનુગ્રામ વિહાર કરતા કરતા તેઓ શ્રાવસ્તી

तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचित् पूर्वानुपूर्व्याचरन् यावत् सुखसुखेन विहरन् यत्रैव चम्पानगरी यत्रैव पूर्णभद्रनामकमुद्यान तत्रैवाग गतः, उपागत्य यथाप्रतिरूपमवग्रहं गृहीत्वा सयमेन तपसाऽऽत्मान भावयन् विहरति।

तत खलु तस्य जमालेरनगारस्य शरीरेऽन्तप्रान्तरूक्षतुच्छाहारैरन्यदा कदाचित् विपुलरोगातङ्कः प्रादुर्भूतः। तदा स उपवेष्टुमशक्तःसन्ननगारान् आह-मम सस्तारक शीघ्र क्रियताम्। ते मुनय सस्तारक कर्तुं प्रवृत्ताः। जमालिस्तान् पुनः पुनः पृच्छति-सस्तारक कृतो नो वा भवद्भि ? त ऊचु —सस्तारक कृतो

नगरी के कोष्ठक नामक उद्यान में आये। वहां वनपाल से वसति की आज्ञा ग्रहण कर सयम एव तप से अपनी आत्मा को भवित करते हुए विचरने लगे।

श्रमण भगवान् महावीर ने भी कोई समय पूर्वानुपूर्वी से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे चंपानगरी के पूर्णभद्रनामक उद्यान में पधारे और यथाप्रतिरूप अवग्रह (वसति की आज्ञा) ग्रहण कर सयम एवं तप से आत्मा को भवित करते हुए विचरने लगे।

इधर जमालि के शरीर में अन्त प्रान्त रूक्ष एव तुच्छ आहार के लेने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये। इससे वे बैठने में भी अशक्त बन गये। इस स्थिति में इन्होंने अपने शिष्यों से कहा-मेरे लिए संस्तारक शीघ्र कर दो। मुनियों ने सस्तारक करना प्रारंभ कर दिया।

નગરીના કોષ્ઠક નામના બાગમાં આવી પહોંચ્યા. ત્યાં વનપાલ પાસેથી આજ્ઞા લઈને ઉતર્યા. અને તે સ્થળે સયમ અને તપથી પોતાની આત્માને ભાવિત કરતા કરતાં વિચરવા લાગ્યા

શ્રમણ ભગવાન મહાવીર પણ કોઈ સમય પૂર્વાનુપૂર્વીથી ગ્રામાનુગ્રામ વિહાર કરતા કરતા ચંપાનગરીના પૂર્ણભદ્ર નામના બાગમા પધાર્યા અને યથાપ્રતિરૂપ અવગ્રહ (વસતીની આજ્ઞા) લઈને સયમ અને તપથી આત્માને ભાવિત કરતાં કરતાં વિચરવા લાગ્યા.

આ તરફ જમાલિના શરીરમા અન્ત, પ્રાન્ત, રૂક્ષ તેમજ તુચ્છ આહાર લેવાથી અનેક પ્રકારના રોગો ઉત્પન્ન થયા, આ રોગોના કારણે તેઓ બેસવામાં પણ અશક્ત બની ગયા. આ સ્થિતિમા તેમણે પોતાના શિષ્યોને કહ્યું કે, મારે માટે જલ્દી સસ્તારક (પથારી) કરી દો. મુનિઓ સસ્તારકની તૈયારી કરવા લાગ્યા જમાલિએ તેમને વારવાર પૂછવા માંડ્યું કે, સસ્તારક નહીં ?

नास्ति, किं तु क्रियते, एवमुक्ते सति स जमालिर्मिथ्यात्वमोहनीयोदयात् सम्यक्त्वपरिभ्रष्टः सन् व्यचिन्तयत्–क्रियमाणं कृतमिति जिनोक्तं सत्यं न भवितुमर्हति, यतोऽयं संस्तारकः क्रियमाणो न कृतः संस्तीर्यमाणोऽपि न संस्तृत इत्युच्यते। इति मनसि विचिन्त्य तत्र सर्वान् मुनीनाहूय जमालिः प्राह—यत् क्रियमाणं तत् कृतम्, यच्चलत् तच्चलितम्, यदुदीर्यमाणं तदुदीरितम्, इत्यादि श्रीमहावीरस्वामिना यद् भाषितं तत् खलु मिथ्या, क्रियमाणे संस्तारके शयनरूपार्थसाधकत्वाभावेन कृतत्वाभावात्।

जमालि ने उनसे बार २ पूछना शुरु किया कि संस्तारक किया या नहीं? उन्हों ने कहा संस्तारक अभी नहीं किया है कर रहे हैं। इस प्रकार जब उन्हों ने कहा तब मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से सम्यक्त्व से पतित होकर जमालि ने विचार किया कि "क्रियमाणं कृतम्" जो किया जा रहा है वह "किया गया" ऐसा जो जिन भगवान ने कहा है वह सत्य नहीं हो सकता है, क्यों कि संस्तारक क्रियमाण है वह "कृतः" किया गया ऐसा नहीं कहा जा सकता है। उसी तरह यह तो अभी "संस्तीर्यमाण" है बिछाया जा रहा है, इसे "संस्तृत" बिछ गया है, ऐसे कैसे कह सकते हैं। इस प्रकार विचार कर उन्हों ने अपने समस्त शिष्यों को बुलाकर कहा कि देखो भगवान् वीर प्रभु जो ऐसा कहते हैं कि "क्रियमाणं कृतम्" "यच्चलत् तत् चलितम्" "यदुदीर्यमाणं तदुदीरितम्" जो क्रियमाण है वह किया गया है, जो चल रहा है वह चल चुका है, जो उदय में आ

શિષ્યોએ કહ્યું કે, સંસ્તારક હજુ કરેલ નથી પરંતુ કરીએ છીએ આ પ્રકારે જ્યારે શિષ્યોએ કહ્યું, ત્યારે મિથ્યાત્વ મોહનીયના ઉદયથી સમ્યક્ત્વથી પતિત થઈને જમાલિએ વિચાર કર્યો કે, "क्रियमाण कृत" જે કરવામાં આવે છે તે "થઈ ચૂક્યું" એવું જે જીન ભગવાને કહ્યું છે તે સત્ય ઠરતું નથી કેમ કે સંસ્તારક ક્રિયમાણ છે તે "कृत" થઈ ચૂક્યું છે એમ કહી શકાય નહિ આ પ્રમાણે આ જે હમણાં "संस्तीयमाण" છે–બીછાવવામાં આવે છે એને બીછાવી દીધલ છે એમ કેમ કહી શકાય? આ પ્રમાણે વિચાર કરીને તેમણે પોતાના સમસ્ત શિષ્યોને બોલાવીને કહ્યું કે, જુઓ ભગવાન વીર પ્રભુ જે એમ કહે છે કે, "क्रियमाण कृतम्" "यच्चलत् तत् चलितम्" "यदुदीयमाण तदुदीरितम्" જે ક્રિયમાણ છે તે થઈ ચૂક્યું છે, જે ચાલી રહ્યું છે, તે ચાલી

तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचित् पूर्वानुपूर्व्याचरन् यावत् सुखसुखेन विहरन् यत्रैव चम्पानगरी यत्रैव पूर्णभद्रनामकमुद्यान तत्रैवाषागतः, उपागत्य यथाप्रतिरूपमवग्रह गृहीत्वा सयमेन तपसाऽऽत्मान भावयन् विहरति।

तत खलु तस्य जमालेरनगारस्य शरीरेऽन्तप्रान्तरूक्षतुच्छाहारैरन्यदा कदाचित् विपुलरोगातङ्क प्रादुर्भूत । तदा स उपवेष्टुमशक्त सन्ननगारान् प्राह-मम सस्तारक शीघ्र क्रियताम् । ते मुनय सस्तारक कर्तु प्रवृत्ताः । जमालिस्तान् पुनः पुनः पृच्छति-सस्तारकः कृतो नो वा भवद्भि ? त ऊचु —सस्तारक कृतो

नगरी के कोष्ठक नामक उद्यान में आये। वहां वनपाल से वसति की आज्ञा ग्रहण कर सयम एव तप से अपनी आत्मा को भवित करते हुए विचरने लगे।

श्रमण भगवान् महावीर ने भी कोई समय पूर्वानुपूर्वी से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे चपानगरी के पूर्णभद्रनामक उद्यान में पधारे और यथाप्रतिरूप अवग्रह (वसति की आज्ञा) ग्रहण कर सयम एवं तप से आत्मा को भवित करते हुए विचरने लगे।

इधर जमालि के शरीर में अन्त प्रान्त रूक्ष एव तुच्छ आहार के लेने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये। इससे ये बैठने में भी अशक्त बन गये। इस स्थिति में इन्होंने अपने शिष्यों से कहा-मेरे लिए संस्तारक शीघ्र कर दो। मुनियों ने सस्तारक करना प्रारंभ कर दिया।

નગરીના કોષ્ઠક નામના બાગમાં આવી પહોંચ્યા. ત્યા વનપાલ પાસેથી આજ્ઞા લઈને ઉતર્યા. અને તે સ્થળે સયમ અને તપથી પોતાની આત્માને ભાવિત કરતા કરતાં વિચરવા લાગ્યા

શ્રમણ ભગવાન મહાવીર પણ કોઈ સમય પૂર્વાનુપૂર્વીથી ગ્રામાનુગ્રામ વિહાર કરતા કરતા ચપાનગરીના પૂર્ણભદ્ર નામના બાગમા પધાર્યા અને યથાપ્રતિરૂપ અવગ્રહ (વસતીની આજ્ઞા) લઈને સયમ અને તપથી આત્માને ભવિત કરતાં કરતાં વિચરવા લાગ્યા.

આ તરફ જમાલિના શરીરમા અન્ત, પ્રાન્ત, રૂક્ષ તેમજ તુચ્છ આહાર લેવાથી અનેક પ્રકારના રોગો ઉત્પન્ન થયા, આ રોગોના કારણે તેઓ બેસવામાં પણ અશક્ત બની ગયા। આ સ્થિતિમા તેમણે પોતાના શિષ્યોને કહ્યું કે, મારે માટે જલ્દી સસ્તારક (પથારી) કરી દો. મુનિઓ સસ્તારકની તૈયારી કરવા લાગ્યા જમાલિએ તેમને વારવાર પૂછવા માડયુ કે, સસ્તારક કર્યો કે નહીં?

इत्यादि, तत्सर्वमसत्यमेवेति। एवं मिथ्यात्वमोहनीयोदयात् जमालिमुन्मार्गगतं ज्ञात्वा स्थविरा अवदन्–जमाले! भगवत आशयं न जानासि, भगवान् आप्तः, विगतदोषसत्यवक्ता, तन्मतमनेकान्तवादात्मकम्, एकोपि पदार्थः अपेक्षाभेदेन अनेकरूपो भवति, यथा एक एव पुरुषः अपेक्षाभेदेन जामाता श्यालकः पुत्रः पिता च। तथैव प्रकृतेऽपि क्रियमाणत्वेपि सस्तारके कृतत्वं संभवति। पटस्य क्रियमाणतायां 'कृतः पटः' इत्यादिवत्। ननु कथं क्रियमाणं पटादिकं कृतं स्यादिति चेत्तत्रोच्यते–पटस्योत्पद्यमानताकाले प्रथमतन्तुप्रवेशे उत्पद्यमान एव पट उत्पन्नो

–'इत्यादि' सो यह श्रद्धेय नहीं है। इस प्रकार भाग्यदोष से जमालि को विपरीत मार्ग में जाते हुए देखकर स्थविरों ने कहा–हे जमालि! आप भगवान के आशय को नहीं जानते हो। भगवान सर्व दोष–रहित यथार्थवक्ता हैं। भगवान का मत अनेकान्तरूप है। एक ही पदार्थ अपेक्षा–भेद से अनेकरूप होता है। जैसे एक ही पुरुष श्वशुर की अपेक्षा से जामाता कहलाता है, बहनोई की अपेक्षा साला कहलाता है पिता की अपेक्षा से पुत्र कहलाता है, पुत्र की अपेक्षा से पिता कहलाता है। उसी प्रकार प्रकृत में आपका विस्तर हो भी रहा है, हो भी गया है, ऐसा कह सकते हैं। जैसे कि पट की क्रियमाणता में भी कृतत्व का व्यवहार होता है उसी तरह। पुनः प्रश्न करता है कि जो क्रियमाण है वह कृत कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं–पट के उत्पत्तिकाल में प्रथम ततु के प्रवेश समय में भी वह उत्पन्न होता ही है

–તે શ્રદ્ધા કરવા યોગ્ય નથી. આ પ્રમાણે ભાગ્યદોષથી વિપરીત માર્ગે જતા જમાલીને જોઈ તે સ્થવિરોએ તેઓને કહ્યું કે–હે જમાલિ! તમે ભગવાનના આશયને જાણતા નથી ભગવાન સર્વદોષ રહિત સાચું બોલવાવાળા છે ભગવાનનો મત અનેકાન્ત રૂપ છે એક જ પદાર્થ અપેક્ષા ભેદથી અનેકરૂપ થાય છે જેમ એક જ પુરુષ સસરાની આગળ જમાઈ કહેવાય છે બનેવીની આગળ સાળો કહેવાય છે અને પિતા આગળ પુત્ર કહેવાય છે અને તેજ પુરુષ પુત્ર આગળ પિતા કહેવાય છે એવી જ રીતે પ્રસ્તુતમાં આપની પથારી થઈ રહી છે થઈ પણ ગઈ છે એવું કહેવામાં આવે છે એવી રીતે પટની, ક્રિયમાણતામાં કૃતત્વનો વ્યવહાર થાય છે તેવી જ રીતે.

ફરીથી પ્રશ્ન કરે છે કે–જે ક્રિયમાણ છે તે કૃત કેવી રીતે થઈ શકે? એનો ઉત્તર આપતાં કહે છે કે–પટના ઉત્પત્તિકાળમાં પ્રથમ તન્તુના પ્રવેશ સમયે પણ તે ઉત્પન્ન થાય જ છે, કેમકે પ્રથમતન્તુપ્રવેશ કાળથી જ "પટ

कृते सस्तारके शयनाद्यर्थक्रियाकारित्वं विद्यते, करणसमये तु नास्ति ताद्शी अर्थक्रिया, अतः क्रियमाणं कृतमिति व्यपदेशः कथं स्यात् ?। किञ्च-क्रियमाणमिति वर्तमानव्यपदेशः, कृतमिति च भूतव्यपदेशः, वर्तमानत्वं भूतत्वं च परस्परविरुद्धमिति परस्परविरुद्धयोस्तयोरेकता न स्यात्, वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्वस्य भूतत्वादिति महावीरस्वामिना यत् प्रतिपादितम्-' करेमाणे कडे चलमाणे चलिए '

रहा है वह उदय में आचुका है " सो यह सब मिथ्या है, कारण कि क्रियमाण सस्तारक में शयनरूप अर्थक्रिया के प्रति साधकत्व का अभाव होने से वहां कृतत्व नहीं आ सकता है।

सस्तारक (बिस्तर) करने के बाद ही उसमें शयनादिरूप अर्थ क्रियाकारिता आती है, परन्तु सस्तारक करने के समय में उसमें उस प्रकार की अर्थक्रियाकारिता नहीं है, फिर " क्रियमाणं कृतम् "-क्रियमाण कृत होता है-यह व्यपदेश कैसे हो सकता है ?।

और भी-" क्रियमाणम् " यह वर्तमान काल का कथन है और " कृतम् " यह भूतव्यपदेश है। भूत और वर्तमान परस्पर विरुद्ध है, और परस्पर विरुद्ध दो पदार्थों की एकता नहीं हो सकती है, क्यों कि वर्त काल में विद्यमान जो ध्वंस उसके विरोधी का नाम है भूत, एतादृश भूत और वर्तमान ये दोनों एक अधिकरण में नहीं रह सकते हैं। फिर जो महावीर स्वामी ने कहा है कि क्रियमाण कृतम् चलत् चलितम्

ચુકયુ છે, જે ઉદયમાં આવી રહેલ છે તે ઉદયમાં આવી ચુકેલ છે, એ બધુ સઘળુ મિથ્યા છે કારણ કે, ક્રિયમાણ સસ્તારકમાં શયનરૂપ અર્થ ક્રિયામાં સાધકત્વના અભાવથી ત્યાં કરેલ છે એમ આવી શકતું નથી.

સસ્તારક (પથારી) કર્યા પછી જ તેમાં શયનાદિરૂપ " ક્રિયાકારિતા " આવે છે પરન્તુ સસ્તારક કરતી વખતે તો તેમાં તેવા પ્રકારની ' અર્થક્રિયા કારિતા ' આવતી નથી તો પછી ક્રિયમાણ કૃતમ્-ક્રિયમાણ કૃત થાય છે, એવો વ્યવહાર કેવી રીતે થઈ શકે ?

વળી " ક્રિયમાણમ્ " એ વર્તમાનકાળનું કથન છે અને " કૃતમ્ " એ ભૂતકાળનો વ્યવહાર છે ભૂત (કાળ) અને વર્તમાન એ બન્ને પરસ્પર વિરૂદ્ધ અર્થવાળાં છે એટલે પરસ્પર વિરૂદ્ધ એવા બે પદાર્થોની એકતા થઈ શકતી નથી કેમકે વર્તમાનકાળથી વિરૂદ્ધ ભૂત (કાળ) છે, એવા પ્રકારનો ભૂત અને વર્તમાન એ બન્ને એક અધિકરણમાં રહી શકતા નથી તો પછી મહાવીર સ્વામીએ જે કહ્યું છે કે, " ક્રિયમાણ કૃતમ્ " " ચલત્ " -વિગેરે

प्रवेशे पटस्योत्पत्तिरिति प्रथमसमयादारभ्य किञ्चित् कार्यं सर्वैरपि क्षणैः कृतमिति मन्तव्यम् । यदि प्रथमक्रियया नोत्पन्नः पटस्तदा उत्तरक्रिययापि नोत्पन्न' स्यादिति सर्वदेव पटानुत्पत्तिप्रसंग , स च न कस्यापि इष्टः, अतः प्रथमतन्तुप्रवेशकाले एव किंचिदुत्पन्नपटस्य यावान् अंशो नोत्पन्नः स पर्वांश. उत्तरक्रियया उत्पाद्यते यदि पुनरुत्पद्येत तदा एकदेशेनैव उत्पादनं क्रियाया इति स्वीकर्तव्यम् । यदि प्रथमा शोत्पादननिरपेक्षा द्वितीयादिक्रिया तदेव द्वितीया फलवती स्यात् , नान्यथा, ततश्च यथा उत्पद्यमान एव पट उत्पन्नः, तथा क्रियमाणमेव सस्तारक कृतमिति-

अन्तिम तन्तु के प्रवेश होने पर पट की उत्पत्ति होती है इसलिये 'पट उत्पन्न '-ऐसा व्यवहार होता है, अतः ऐसा मानो कि प्रथम समय से लेकर कुछ२ कार्य सभी क्षणों में होता है। यदि कदाचित् प्रथम क्रिया से पट उत्पन्न नहीं हुआ तो द्वितीय से भी उत्पन्न नहीं होगा, तृतीय से भी नहीं होगा, इस प्रकार अन्तिम क्रिया से भी नहीं होगा तो पट की कभी भी उत्पत्ति नहीं होगी। परन्तु यह किसी को भी इष्ट नहीं है। अत. प्रथमतंतुप्रवेशकाल में भी थोड़ा पट उत्पन्न हुआ, और जो अंश अनुत्पन्न है वह द्वितीयादि क्षणों में होता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त होता है कि क्रिया को एक देश से ही उत्पादकत्व है, और यह आपको भी मानना पड़ेगा। यदि प्रथम अंश के उत्पादन से निरपेक्ष द्वितीय क्रिया को मानोगे तभी द्वितीयादि क्रियायें सार्थक होंगी, अन्यथा नहीं। तब जैसे प्रथम क्रिया से उत्पन्न होते हुए पट की उत्पत्ति द्वितीयादि क्रिया से होती है उसी प्रकार

तन्तुना प्रवेश थतानी साथे ज पटनी उत्पत्ति थाय छे एटला माटे "पटः स्त्पन्न" एवो व्यवहार थाय छे एटले एवु मानवु जोइए के प्रथम समयथी लइने दरेक क्षणे कईक कईक कार्य थाय छे ज जो कदाच प्रथम क्रियाथी पट उत्पन्न न थयु तो बीजीथी पण उत्पन्न थशे. नही अने त्रीजीथी पण उत्पन्न थशे नहि तेवी ज रीते अन्तिम क्रियाथी पण थशे नही, अने आ रीते तो पटनी कोई रीते उत्पत्ति थशे ज नही परन्तु ए वात कोइ मानी शके तेम नथी. एटले प्रथमतन्तुप्रवेशकाळमा पण पटनो थोडो भाग उत्पन्न थयो, अने जे अंश उत्पन्न नथी थयो, ते बीजी त्रीजी विगेरे क्षणोमां थाय छे आ रीते ए वात सिद्ध थाय छे के क्रियाना एक देशथी ज उत्पादकत्व छे अने ए वात तमारे पण मानवी पडशे जो प्रथम अंशना उत्पादनथी निरपेक्ष द्वितीय क्रियाने मानशो त्यारे ज द्वितीयादिक्रियाओ सार्थक थशे. अन्य रीते नही तो जेवी रीते प्रथम क्रियाथी उत्पन्न थता पटनी उत्पत्ति द्वितीयादि

भवति, उत्पद्यमानता च पटस्य प्रथमतन्तुप्रवेशप्रागादारभ्यैव भवति तदैव 'पट उत्पद्यते इति व्यवहारदर्शनात्। उत्पन्नत्वमपि तस्य पटस्य तत्काले एव, तथाहि-उत्पत्ति क्रियाकाले-प्रथमतन्तुप्रवेशे एवासौ उत्पन्नोऽभूत्, अन्यथा उत्पत्तिक्रियाकाले यदि तस्य पटस्योत्पत्तिर्न स्वीक्रियेत तदा प्रथमक्रिया निरर्थिका स्यात्, कार्यकरणमेव धर्मः क्रियायाः। यदि प्रथमक्रिया उत्पत्तिरूप कार्यं न कुर्यात् तदा सा निरर्थिकैव स्यात्, उत्पाद्योत्पादनमेव क्रियाया धर्मः। एवं यथा प्रथमक्षणे पटो नोत्पन्नस्तथा द्वितीयक्षणेऽपि नोत्पन्न एव, तृतीयादावपि क्षणे नोत्पन्न इति अंतिमक्रिययापि अनुत्पन्न एव स्यात्, युक्तेः सर्वत्र समानत्वात्। यदा तु प्रथमादिक्रियया न किमपि फलमुत्पादितं तदा अन्त्यया फलं स्यादिति मत्याशामात्रमेव, दृश्यते चान्त्यतन्तु'

क्यों कि प्रथमतनुप्रवेश-काल से ही 'पट उत्पन्न होता है' ऐसा व्यवहार देखने में आता है। तथा उत्पन्नत्व भी उस पट में उस काल से ही है, क्यों कि उत्पत्तिक्रियाकाल में प्रथम तन्तु के प्रवेश होने पर ही पट उत्पन्न हो गया, यदि उस पट की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करें तो वह प्रथम क्रिया निरर्थक हो जायगी, कारण कि कार्योत्पाद ही क्रिया का धर्म है। यदि ऐसा मानें कि प्रथम क्षण में पट उत्पन्न नहीं हुआ तो इसी तरह द्वितीय क्षण में भी उत्पन्न नहीं होगा, तृतीय क्षण में भी उत्पन्न नहीं होगा, इस तरह से अंतिम क्रिया तक पट की उत्पत्ति नहीं होगी, क्यों कि युक्ति सर्वत्र समान है।

यदि प्रथम क्रिया से कुछ भी फल नहीं हुआ तो अन्तिम क्रियासे भी उत्पादरूप फल का होना असंभव ही है, परन्तु देखने में आता है कि

ઉત્પન્ન થાય છે" એવો વ્યવહાર જોવામાં આવે છે તથા 'ઉત્પન્ન થવાપણું પણ તે પટમાં તે કાળથી જ છે, કેમકે ઉત્પત્તિક્રિયાકાળમાં પ્રથમતન્તુના પ્રવેશ થતાની સાથે જ પટ ઉત્પન્ન થઈ ગયુ, જો તે પટની ઉત્પત્તિનો સ્વીકાર ન કરીએ તો તે પ્રથમક્રિયા નિરર્થક થઈ જશે. કારણ કે કાર્યની ઉત્પત્તિ જ ક્રિયાનો ધર્મ છે. કદાચ જો એમ માનીએ કે પ્રથમ ક્ષણમાં પટ ઉત્પન્ન થયુ નથી તો એવી જ રીતે બીજી ક્ષણમાં પણ ઉત્પન્ન નહિ થાય, તેમ જ ત્રીજી ક્ષણમાં પણ ઉત્પન્ન થશે નહી એવી જ રીતે અંતિમક્રિયા સુધી પટની ઉત્પત્તિ થશે નહી, કેમકે ક્રિયા સર્વત્ર એકસરખી હોય છે.

જો પ્રથમ ક્રિયાથી કંઈ પણ ફળ ન થયુ તો અન્તિમ ક્રિયાથી પણ ઉત્પાદરૂપ ફળનુ થવુ અસંભવ જ છે. પરતુ જોવામાં આવે છે કે અન્તિમ

अथ यस्मिन्नेव समये घटादिकार्यं प्रारभ्यते, तस्मिन्नेव समये निष्पद्यते, अतो निष्पन्नमेव तत् क्रियते-इति चेन्नैवम्, यस्मात् घटादिकार्याणामुत्पद्यमाना नामसङ्ख्येयसमयरूपो दीर्घ एव निर्वर्तनक्रियाकालो दृश्यते, अतो न यस्मिन्नेव

-अवस्था में अविद्यमान रहता है, कुम्भकारादिक के व्यापार के बाद ही वह उत्पन्न हुआ माना जाता है। इसलिये जो अकृत होता है वही किया जाता है कृत नहीं किया जाता, ऐसा मानना चाहिये। यह तीसरा पक्ष है।

यदि कोई "कृत क्रियते" इस व्यवहार को सत्य सावित करने के लिये ऐसा कहे कि-जिस समय में घटादिक कार्य बनना प्रारंभ होता है वह उसी समय में निष्पन्न हो जाता है इसलिये जब निष्पन्न ही घट किया जाता है तब "कृतमेव क्रियते" इस प्रकार के व्यवहार में कौनसी बाधा आती है? सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्यों कि उत्पद्यमान घटादिक कार्यों की उत्पत्तिरूप क्रिया का यह समय असख्यातसमयरूप बहुत भारी काल है। ऐसा नहीं है कि जिस समय घट बनना प्रारंभ होता है वह उसी समय निष्पन्न हो जाता है। इसके बनने में तो बहुत समय लगता है। मिट्टी का लाना, उसका पिंड बनाना, उसे चक्र पर रखना शिवक आदि पर्याय में उसे परिणमित करना, इस प्रकार घट की उत्पत्ति होने में बहुत अधिक समय लग जाता है,

અવસ્થામા ઘટ તરીકે તો અવિદ્યમાન રહે છે કુમ્ભકારાદિકના વ્યાપાર બાદ જ તે ઉત્પન્ન થયેલ માનવામાં આવે છે આ માટે જે અકૃત હોય છે તેજ કરવામા આવે છે કૃત નથી કરાતું એવું માનવું જોઇએ આ ત્રીજો મુદ્દો છે ॥ ૩ ॥

જો કોઈ "કૃત ક્રિયતે" આ વ્યવહારને સાચો સાબીત કરવા માટે એવું કહે કે જે સમયમાં ઘટાદિ બનાવવાના કાર્યનો પ્રારંભ થાય છે તે એ સમયમાં પુરૂ થાય છે માટે જ્યારે નિષ્પન્ન જ ઘટ કરવામાં આવે છે ત્યારે "ક્રિયતે" આ પ્રકારના વ્યવહારમાં કઈ બાધા આવે છે? તેથી એમ કહેવું એ પણ ઠીક નથી. કેમકે, ઉત્પદ્યમાન ઘટાદિક કાર્યોની ઉત્પત્તિરૂપ ક્રિયાનો તે સમય અસખ્યાત સમયરૂપ ઘણો ભારે કાળ છે એવું નથી કે, જે સમયે ઘટ બનવાનો પ્રારંભ થાય છે તે તેજ સમયે નિષ્પન્ન થઈ જાય છે તેના બનવામાં તો ઘણો સમય લાગે છે માટીને લાવવી, તેને કચરીને તેનો પિંડ બનાવવો, તે પછી તેને ચાકડા ઉપર ચઢાવવો, તેને આકાર આપવો, આ રીતે ઘટની ઉત્પત્તિ થવામાં ઘણો જ લાંબો સમય લાગે છે આથી જે સમયે ઘટને બનાવવાનો

यदि कृतमपि क्रियते, तदाऽन्येऽपि दोषा. सन्ति, तथाहि-यदि कृतमपि क्रियते, अथात्-क्रियमाणं कृतं मन्यते तदा घटादिकार्योत्पादनार्थं मृन्मर्दनचक्र भ्रमणादिकाया क्रियाया वैफल्य स्यात्, तस्मिन् काले कार्यस्य घटस्य कृतत्वाभ्युपगमात्, तस्य प्रागेव सत्त्वात् ॥ २ ॥

किञ्च—कृतं क्रियते इति यन्मन्यते तत्र प्रत्यक्षविरोध, यस्मादुत्पत्तेः पूर्वं मृत्पिण्डावस्थायामविद्यमान, पश्चात् कुम्भकारादिव्यापारे घटादिकार्यंजायमानं दृश्यते उत्पत्तिकाले, तस्मादकृतमेव क्रियमाण भवति ॥ ३ ॥

सद्भाव से कभी भी वहां भवन-होने-रूप क्रिया की परिसमाप्ति नहीं हो सकने के कारण किसी भी कार्य की पूर्णरूप से निष्पत्ति नहीं हो सकेगी। यह कार्यअनिष्पत्तिरूप प्रथम दोष है ॥ १ ॥

यदि कृत भी "क्रियते" ऐसा माना जाय अर्थात् जो हो चुका है वह भी किया जाता है ऐसा ही पक्ष स्वीकार किया जाय तो इसका यह भी तात्पर्य होता है कि जो क्रियमाण है—हो रहा है—वह हो चुका ऐसा कहा जाता है तो इस पक्ष में यह सब से प्रबल दोष उपस्थित होता है कि घटादि कार्य की उत्पत्ति के लिये जो मिट्टी का मर्दन चाक का भ्रमण आदि क्रियाएँ की जा रही हैं वे सब निष्फल हो जाती हैं, क्यों कि क्रियमाण अवस्था में भी घट कृत तो हो चुका तब उसके वर्तमान होनेसे निष्पन्न करने की क्या आवश्यकता रही? यह दूसरा पक्ष है ॥२॥

और भी—"कृतं क्रियते" यह व्यवहार इसलिये भी दूषित साबित होता है कि जबतक घट उत्पन्न नहीं हो जाता है तब तक वह मृत्पिंड

तर घटोत्पत्तिरूप क्रियाना सद्भावथी कदी पण त्यां भवन-थवारूप क्रियानी परिसमाप्ति न थई शकवाना कारणे कोई पण कार्यनी पूर्णरूपथी निष्पत्ति थई शकशे नही आ कार्य अनिष्पत्तिरूप प्रथम दोष छे ॥ १ ॥

जो कृत पण "क्रियते" एम मानवामां आवे अर्थात जे बनी गयेल छे ते पण करवामां आवी रह्युं छे तेवो स्वीकार करवामा आवे तो तेनुं ए तात्पर्य थाय छे के, जे क्रियमाण छे बनी रह्युं छे ते बनी चुक्युं एम कहेवामां आवे छे तो आ पक्षमां ए बधाथी मोटो दोष उपस्थित थाय छे घटादिकार्यनी उत्पत्ति माटे जे माटीनुं मर्दन अने चाकनुं भ्रमण आदि क्रियाओ करवामां आवे छे ते बधी निष्फळ बनी जाय छे केमके, क्रियमाण अवस्थामां पण घट कृत तो थई गयो तो एनुं वर्तमान थवाथी निष्पन्न करवानी कई आवश्यकता रही ? आ बीजो मुद्दो ॥ २ ॥

वळी-"कृत क्रियते" आ व्यवहार एटला माटे पण दूषित साबीत थाय छे के, ज्यां सुधी घट उत्पन्न नथी थतो त्यां सुधी ते माटीना पिंडनी

तदानीमदर्शनात् । दीर्घक्रियाकालस्यान्ते तु कार्यं भवितुमर्हति, तदानीमेव तस्य दर्शनात् । यदेव न निर्वर्तनक्रियाकाले कार्यमस्ति, अनुपलभ्यमानत्वात्, किन्तु तन्निष्ठाकाल एव तदस्ति, तत्रैवोपलभ्यमानत्वात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्चात्यन्तभेदात्, अत क्रियमाण कृत न भवति । सर्वलोकप्रत्यक्षानुभवसिद्धमेवैतत् ॥५॥ इति जमाले पूर्वपक्ष ।

एव मार्गविच्युत जमालिं प्रति स्थविरा प्रोचु —आर्य ! किं विरुद्धवचनं वदसि ?, रागद्वेषरहितानां सर्वज्ञानां जिनानां वचने दोषलेशोऽपि नास्ति, नहि ते मृपा भापन्ते । आर्य ! "कृत न क्रियते, कृतत्वात्, कृतघटवत्" इति कुतर्कमा-

---

नहीं हो सकता है, अत "अनुपलभ्यमानत्वात् निर्वर्तनक्रियाकाले विवक्षितघटरूप कार्यं नास्ति इति मन्तव्यम्" जब यह बात निश्चित हो जाती है तो यह बात भी स्वत मान लेनी पड़ती है कि कार्य अपने निष्ठाकाल में ही बनकर तयार होता है, क्यों कि वहीं पर उसकी उपलब्धि होती है । क्रियाकाल एव निष्ठाकाल इन दोनों में अत्यन्त भेद है इसलिये क्रियमाण कृत नहीं कहा जा सकता । यह बात सर्वजन साक्षिक भी है । यह पांचवा पक्ष है, यह हुवा जमालि का पूर्व पक्ष॥५॥

इस प्रकार जमालि द्वारा स्थापित इस पूर्वपक्ष को सुनकर स्थविरों ने उनको मार्ग से च्युत जाना और इसलिये वे उनसे कहने लगे कि–हे आर्य ! विरुद्ध वचन आप क्यों कहते हैं ? रागद्वेपरहित सर्वज्ञ जिन भगवान के वचन अन्यथा नहीं होते हैं उनमें दोप का अश भी समवित नहीं हो सकता है । साधारण पुरुषों की तरह वे मिथ्याभाषी

"अनुपलभ्यमानत्वात् निर्वर्तनक्रियाकाले विवक्षितघटरूपकार्यं नास्ति इति मन्तव्यम्" જ્યારે આ નિશ્ચિત બની જાય છે તો એ વાત પણ આપ મેળે માની લેવી પડે છે કે, કાર્ય પોતાના યોગ્ય વખતે જ બનીને તૈયાર થાય છે કેમકે, તે સ્થળે તેની ઉપલબ્ધિ થાય છે ક્રિયાકાળ અને નિષ્ઠાકાળ આ બન્નેમાં અત્યત ભેદ છે આ માટે क्रियमाण कृत કહી શકાય નહી આ વાત સર્વજનથી સાક્ષીભૂત છે આ પાચમો મુદ્દો આ થયો જમાલિનો પૂર્વપક્ષ ॥ ૫ ॥

આ પ્રકારે જમાલિ દ્વારા સ્થાપિત એ પૂર્વપક્ષને સાંભળીને સ્થવિરોએ જાણ્યું કે જમાલીમુનિ ભગવાનના માર્ગથી ચલિત થયા છે અને તે માટે તેઓ તેમને કહેવા લાગ્યા કે, હે આર્ય ! વિરોધ વચન આપ કેમ કહો છો ? રાગદ્વેષરહિત સર્વજ્ઞ જીન ભગવાનનું વચન અન્યથા થતુ નથી તેમાં દોષનો અશ પણ સભવિત થતો નથી સાધારણ પુરૂષોની માફક તે મિથ્યાભાષી પણ નથી. આપે જે અસત્કાર્યવાદને

समये घटादि मारभ्यते, तस्मिन्नेव समये निष्पद्यते, मृदानयनतत्पिण्डविधान चक्रारोपणशिवकादिविधानादिभिश्चिरकालेनैव तदुत्पत्तिर्भवति ॥ ४ ॥

अस्तु दीर्घः कार्यनिर्वर्तनक्रियाकालः, क्रियाया प्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्यते, इति चेन्न, यदि क्रियाया प्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्येत, तर्हि तत् तत्रैवोपलभ्येत, न चारम्भसमय एव घटादिरूप कार्यं दृश्यते, नापि शिवक-स्थास-कोश-कुशूलादिसमये दृश्यते। किंतु दीर्घक्रियाकालस्यान्ते घटादिरूप कार्यं दृश्यते, तस्मात् क्रियाया आरम्भकाले कार्यं निष्पद्यते, इति कथन न युक्तम् , तस्य

अतः " जिस समय में घट का बनना प्रारम्भ होता है वह उसी समय में बन जाता है " यह कहना अनुचित है। यह चौथा पक्ष है ॥४॥

यदि कोई फिर भी ऐसा कहे कि कर्म को निर्वर्तन करने वाली क्रिया का काल भले ही अधिक हो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु क्रिया से जो कार्य निष्पन्न होना होता है वह उस क्रिया के प्रथम समय में ही निष्पन्न हो जाता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि यदि क्रिया के प्रथम समय में ही कार्य निष्पन्न हो जाता है तो वह उस समय ही दिखना चाहिये-परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, और न विवक्षित कार्य कोश कुशूल शिवक स्थासक आदि समयों में प्रतीत होता है, किन्तु दीर्घक्रियाकाल के अन्त में ही निष्पन्न हुआ दिखलाई देता है। इसलिये ऐसा मानना कि क्रियाके आरम्भकाल में ही घट बनकर तयार हो जाता है, यह-कथमपि-किसी तरह भी युक्तियुक्त

પ્રારંભ થાય છે' એજ સમયે તે બની જાય છે એમ કહેવું અનુચિત છે આ ચોથો મુદ્દો છે ॥ ૪ ॥

જો કોઈ ફરી પણ એમ કહે કે, કર્મને નિવર્તન કરવાવાળી ક્રિયાનો કાળ ભલે અધિક હોય એમાં અમને કોઈ વાંધો નથી. પરંતુ ક્રિયાથી જે કાર્ય નિષ્પન્ન થવું જોઈએ તે એ ક્રિયાના પ્રથમ સમયમાં જ નિષ્પન્ન બની જાય છે. તેમ કહેવું પણ ઠીક નથી કારણ કે, જો ક્રિયાના પ્રથમ સમયમાં જ કાર્ય નિષ્પન્ન થઈ જાય છે, તો તે તે સમયે જ દેખાવું જોઈએ પરંતુ એવું તો બનતું નથી. અને વિવક્ષિત કાર્ય, કોશ, કોઠાળી, આકાર, સ્થાસક આદિ સમયોમાં પ્રતીત થતો નથી. પરંતુ દીર્ઘ ક્રિયાકાળના અંતમાં જ નિષ્પન્ન થયેલ દેખાય છે' આ માટે એવું માનીએ કે ક્રિયાના આરંભ કાળમાં જ ઘટ બનીને તૈયાર થઈ જાય છે તો આ કોઈ પણ રીતે માની શકાય તેવું નથી. આથી

तदानीमदर्शनात् । दीर्घक्रियाकालस्यान्ते तु कार्यं भवितुमर्हति, तदानीमेव तस्य दर्शनात् । तदेव न निर्वर्तनक्रियाकाले कार्यमस्ति, अनुपलभ्यमानत्वात्, किंतु तन्निष्ठाकाल एव तदस्ति, तत्रैवोपलभ्यमानत्वात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्चात्यन्तभेदात्, अत क्रियमाण कृत न भवति । सर्वलोकप्रत्यक्षानुभवसिद्धमेवैतत् ॥५॥ इति जमाले' पूर्वपक्ष' ।

एव मार्गविच्युत जमालिं मति स्थविरा' प्रोचु.—आर्य ! किं विरुद्धवचनं वदसि ?, रागद्वेषरहिताना सर्वज्ञानां जिनानां वचने दोपलेशोऽपि नास्ति, नहि ते मृपा भापन्ते । आर्य ! "कृत न क्रियते, कृतत्वात्, कृतघटवत्" इति कुतर्कमा-

नहीं हो सकता है, अत "अनुपलभ्यमानत्वात् निर्वर्तनक्रियाकाले विवक्षितघटरूप कार्यं नास्ति इति मन्तव्यम्" जब यह बात निश्चित हो जाती है तो यह बात भी स्वत. मान लेनी पड़ती है कि कार्य अपने निष्ठाकाल में ही बनकर तयार होता है, क्यों कि वहीं पर उसकी उपलब्धि होती है । क्रियाकाल एव निष्ठाकाल इन दोनों में अत्यन्त भेद है इसलिये क्रियमाण कृत नहीं कहा जा सकता । यह बात सर्वजन साक्षिक भी है । यह पाचवा पक्ष है, यह हुवा जमालि का पूर्व पक्ष॥५॥

इस प्रकार जमालि द्वारा स्थापित इस पूर्वपक्ष को सुनकर स्थविरों ने उनको मार्ग से च्युत जाना और इसलिये वे उनसे कहने लगे कि–हे आर्य ! विरुद्ध वचन आप क्यों कहते हैं ? रागद्वेपरहित सर्वज्ञ जिन भगवान के वचन अन्यथा नहीं होते हैं उनमें दोप का अश भी संभवित नहीं हो सकता है । साधारण पुरुषों की तरह वे मिथ्याभाषी

"અનુપલભ્યમાનત્વાત નિર્વર્તનક્રિયાકાલે વિવક્ષિતઘટરૂપ કાર્યં નાસ્તિ ઇતિ મન્તવ્યમ્" જ્યારે આ નિશ્ચિત બની જાય છે તો એ વાત પણ આપ મેળે માની લેવી પડે છે કે, કાર્ય પોતાના યોગ્ય વખતે જ બનીને તૈયાર થાય છે કેમકે, તે સ્થળે તેની ઉપલબ્ધિ થાય છે ક્રિયાકાળ અને નિષ્ઠાકાળ આ બન્નેમાં અત્યત ભેદ છે આ માટે ક્રિયમાણ કૃત કહી શકાય નહી આ વાત સર્વજનથી સાક્ષીભૂત છે આ પાંચમો મુદ્દો. આ થયો જમાલિનો પૂર્વપક્ષ ॥૫॥

આ પ્રકારે જમાલિ દ્વારા સ્થાપિત એ પૂર્વપક્ષને સાંભળીને સ્થવિરોએ જાણ્યું કે જમાલીમુનિ ભગવાનના માર્ગથી ચલિત થયા છે અને તે માટે તેઓ તેમને કહેવા લાગ્યા કે, હે આર્ય ! વિરોધ વચન આપ કેમ કહો છો ? રાગદ્વેષરહિત સર્વજ્ઞ જીન ભગવાનનું વચન અન્યથા થતુ નથી તેમાં દોષનો અશ પણ સભવિત થતો નથી. સાધારણ પુરૂષોની માફક તે મિથ્યાભાષી પણ નથી. આપે જે અસત્કાર્યવાદને

समये घटादि मारभ्यते, तस्मिन्नेव समये निष्पद्यते, मृदानयनतस्पिण्डविधान चक्रारोपणशिवकादिविधानादिभिश्चिरकालेनैव तदुत्पत्तिर्भवति ॥ ४ ॥

अस्तु दीर्घ कार्यनिर्वर्तनक्रियाकालः क्रियायाः प्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्यते, इति चेन्न, यदि क्रियाया प्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्येत, तर्हि तत् तत्रैवोपलभ्येत, न चारम्भसमय एव घटादिरूप कार्यं दृश्यते, नापि शिवक-स्थास-कोश-कुशूलादिसमये दृश्यते। किंतु दीर्घक्रियाकालस्यान्ते घटादिरूप कार्यं दृश्यते, तस्मात् क्रियाया आरम्भकाले कार्यं निष्पद्यते, इति कथन न युक्तम् , तस्य

अतः " जिस समय में घट का बनना प्रारंभ होता है वह उसी समय में बन जाता है " यह कहना अनुचित है। यह चौथा पक्ष है ॥४॥

यदि कोई फिर भी ऐसा कहे, कि कर्म को निर्वर्तन करने वाली क्रिया का काल भले ही अधिक हो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु क्रिया से जो कार्य निष्पन्न होना होता है वह उस क्रिया के प्रथम समय में ही निष्पन्न हो जाता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि यदि क्रिया के प्रथम समय में ही कार्य निष्पन्न हो जाता है तो वह उस समय ही दिखना चाहिये-परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, और न विवक्षित कार्य कोश कुशूल शिवक स्थासक आदि समयों में प्रतीत होता है, किन्तु दीर्घक्रियाकाल के अन्त में ही निष्पन्न हुआ दिखलाई देता है। इसलिये ऐसा मानना कि क्रियाके आरंभकाल में ही घट बनकर तयार हो जाता है, यह कथमपि-किसी तरह भी युक्तियुक्त

પ્રારંભ થાય છે એજ સમયે તે બની જાય છે એમ કહેવું અનુચિત છે આ ચોથો મુદ્દો છે ॥ ૪ ॥

જો કોઈ ફરી પણ એમ કહે કે, કર્મને નિવર્તન કરવાવાળી ક્રિયાનો કાળ ભલે અધિક હોય એમાં અમને કોઈ વાંધો નથી. પરંતુ ક્રિયાથી જે કાર્ય નિષ્પન્ન થવું જોઈએ તે એ ક્રિયાના પ્રથમ સમયમાં જ નિષ્પન્ન બની જાય છે. તેમ કહેવું પણ ઠીક નથી કારણ કે, જો ક્રિયાના પ્રથમ સમયમાં જ કાર્ય નિષ્પન્ન થઈ જાય છે, તો તે તે સમયે જ દેખાવું જોઈએ પરંતુ એવું તો બનતું નથી. અને વિવક્ષિત કાર્ય, કોશ, કોઠાળી, આકાર, સ્થાસક આદિ સમયોમાં પ્રતીત થતો નથી. પરંતુ દીર્ઘ ક્રિયાકાળના અંતમાં જ નિષ્પન્ન થયેલ દેખાય છે. આ માટે એવું માનીએ કે ક્રિયાના આરંભ કાળમાં જ ઘટ બનીને તૈયાર થઈ જાય છે તો આ કોઈ પણ રીતે માની શકાય તેવું નથી

चेति दोषद्वय यदुक्त, तद् भवन्मतेऽपि शक्यते वक्तुम्, यथाऽस्मत्स्वीकृते कृत-पक्षे दोषा भवता प्रदीयन्ते, तथा भवदङ्गीकृते अप्यकृतपक्षेऽपि एते दोषा. आप-तन्ति। तथाहि–यद्यकृतम्–(अविद्यमान) क्रियते, तर्हि नित्यमेव क्रियताम्, शश विषाणकल्पस्यासत करण कथमुपरमेत। तादृशे कार्ये समुत्पाद्ये क्रियाया वैफल्य-मपि तव दुर्वारम्, असत. कदाप्युत्पत्त्यभावात्।

इससे प्रथम तो करण–क्रिया की वहां कभी भी समाप्ति नहीं हो सकती है १, दूसरा वहा करणक्रिया की विफलता भी आती है २। जब पदार्थ स्वय मौजूद है तो वहा करनेरूप क्रिया सफलित कैसे हो सकती है? इस प्रकार कृत करण मानने पर आपने ये जो क्रिया की असमाप्ति १ और क्रिया की विफलता २ ये दो दोष दिये हैं सो ये दोनों दोष आपके मन्तव्य में भी आते हैं, और वे इस प्रकार से–यदि "अविद्यमान ही किया जाता है" यह बात ही एकान्तत स्वीकार की जाय तो उसको भी नित्य ही होते रहना चाहिये, क्यों कि जो शश विषाण की तरह सर्वथा असत् है उसकी करनेरूप क्रिया का विराम कैसे हो सकता है। दूसरे असत् की जब उत्पत्ति ही नहीं होती है तो असत्कार्य की उत्पत्ति में क्रिया की सफलता भी कैसे हो सकती है?। वह तो वहा बिलकुल निष्फल ही होगी, क्यों कि उसकी उससे उत्पत्ति तो हो नहीं सकती है, कारण वह असत् है इसलिये।

અતિ પ્રસ ગ પ્રાપ્ત થાય છે તેનાથી પ્રથમ તો કરણ ક્રિયાની ત્યા કદી પણ સમાપ્તિ થતી નથી બીજુ ત્યાં કરણ ક્રિયાની વિફળતા પણ આવે છે? જ્યારે પદાર્થ સ્વય મોજુદ છે તો ત્યાં કરવારૂપ ક્રિયા ફળીભૂત કેમ થઈ શકે? આ પ્રકારથી કૃતને કરણ માનવાથી આપે જે ક્રિયાની અસમાપ્તિ અને ક્રિયાની વિફળતારૂપ બે દોષ આપેલ છે તો આ બન્ને દોષ આપના મ તવ્યમાં પણ આવે છે અને તે આ પ્રકારથી–જો "અવિદ્યમાન જ કરવામાં આવે છે" આ વાત જ એકાન્તત સ્વીકાર કરવામા આવે તો તેને પણ નિત્ય જ બની રહેવુ જોઈએ. કેમકે, જે શશવિષાણની (સસલાના શીગ) માફક સર્વથા અસત્ છે તેના કરવારૂપ કરવાનો વિરામ કઈ રીતે હોઈ શકે? બીજા અસતની જ્યારે ઉત્પત્તિ થતી નથી તો અસત કાર્યની ઉત્પત્તિમાં ક્રિયાની સફળતા પણ કેવી રીતે હોઈ શકે? એ તો તદ્દન નિષ્ફળ જ થવાની કેમકે, તેનાથી ઉત્પત્તિ તો બની શકતી નથી. કારણ તે અસત છે માટે

धित्याऽसत्कार्यवादिना भवताऽभिधीयते, अकृतं खलु क्रियमाणं भवतीति, तत्र वय सत्कार्यवादिनो ब्रूमः–निष्प्रमाणमेतद्भवदीयवचनम्। अकृतम् (अविद्यमानं) घटादिकार्यं न क्रियते, असत्त्वात्, आकाशकुसुमवत्। यदि अकृतम् (अविद्यमानम्) अपि क्रियते, तर्हि शशविषाणमपि क्रियताम्, अकृतत्वाविशेषात् (अविद्यमानत्वाविशेषात्)। अपि च–ये नित्यकरणादयो दोषा सत्कार्यवादे भवतास्ते खल्वसत्कार्यवादेऽपि तव सन्ति। विद्यमाने वस्तुनि करणक्रियाया अङ्गीकारे पुनः पुनरनवरत करणक्रियाया अतिप्रसङ्गात्, क्रियाया अपरिसमाप्तिः क्रियाया वैफल्यं

नहीं है। आपने जो असत्कार्यवाद को लेकर कुतर्क का आश्रय करते हुए ऐसा कहा है कि–'कृत न क्रियते कृतत्वात्, कृतघटवत्' अर्थात्–कृत होनेसे कृत किया नहीं जाता है जैसे कृत घट, अकृत खलु क्रियमाणं भवति' अर्थात्अकृत ही क्रियमाण होता है सो आपका यह कथन कथंचित् सत्कार्यवादी हमलोगों के चित्त में उतरता नहीं है भला आप को यह विचारना चाहिये जो सर्वथा असत् होता है–द्रव्य दृष्टि से भी जिसकी सत्ता कायम नहीं है ऐसा असत् पदार्थ कभी भी निष्पन्न नहीं हो सकता है। यदि इस प्रकार का भी पदार्थ निष्पन्न होने लगे तो शश विषाण को भी उत्पन्न होना चाहिये। दूसरे द्रव्य की अपेक्षा सत् को कार्य मानने पर जो आपने नित्यकरण होने की प्रसक्तिरूप दोष दिये हैं सो ये सभी दोष आपके असत्कार्यवाद में भी आते हैं, आपने जो यह कहा है कि विद्यमान वस्तु में करनेरूप क्रिया को अंगीकार करने पर पुन पुनः अनवरत उस करनेरूप क्रिया का अतिप्रसग प्राप्त होता है

સ્વીકારી કુતર્કનો આશ્રય લઈને એવું કહ્યું છે કે, कृत न क्रियते कृतत्वात् कृत घटवत् અર્થાત્ કૃત થવાથી કૃત કરેલ મનાતું નથી જેવી રીતે કૃત ઘટ अकृत खलु क्रियमाण भवति અર્થાત્ જ્યારે અકૃત જ ક્રિયમાણ હોય છે. એથી આપનું આ કથન કથંચિત્ સત્કાર્યવાદી અમારા લોકોના દિલમાં ઉતરતું નથી આપે એ વિચારવું જોઈએ કે, જે સર્વથા અસત્ હોય છે દ્રવ્યદૃષ્ટિથી પણ જેની સત્તા કાયમ નથી એવા અસત્ પદાર્થ કદી તૈયાર થઈ શકતા નથી. જો કદી આ પ્રકારના પણ પદાર્થ પુરા થયેલા માનવામાં આવે તો ખરવિષાણ (સસલાને શીંગડાં) પણ ઉત્પન્ન થવાં જોઈએ. દ્રવ્યની અપેક્ષા સતને કાર્ય માનવાથી જે આપે નિત્યકરણ હોવાનો પ્રશસ્તીરૂપ દોષ આપ્યો છે, તે સઘળા દોષ આપના અસતકાર્યવાદમાં પણ આવે છે આપે જે એમ કહ્યું છે, વિદ્યમાન વસ્તુમાં કરવારૂપ ક્રિયાને અંગિકાર કરવાથી ફરી ફરી અનવરત એ ક ... નો

दुर्वारः, तथाहि—यदि पूर्वम् (कारणावस्थायाम्) असत् (अविद्यमान) कार्यं जायते, तर्हि मृत्पिण्डाद् कुम्भवत्, शशशृङ्गमपि जायमान किं न दृश्यते, असत्त्वाविशेषात्? । अथ शशशृङ्गमुत्पद्यमानमपि न दृश्यते, तर्हि घटोऽपि तथैवास्तु, उत्पद्यमानत्वाविशेषात् । अथवा—मृत्पिण्डात् पटोऽपि उत्पद्यताम्, असत्त्वाविशेषात्॥३॥

अपेक्षा भी कार्य असत् है, और वह उससे उत्पन्न होता है तो जिस प्रकार मृतपिंड से घट उत्पन्न होता है उसी तरह शशशृग भी उससे उत्पन्न होते दिखना चाहिये, क्यों कि जिस प्रकार मृत्पिंड में घट विद्यमान नहीं है उसी प्रकार शशविषाण भी वहा विद्यमान नहीं है फिर अविद्यमान की अविशेषता होने पर भी मृत्पिंड से घट ही क्यों उत्पन्न होता है शशशृग क्यों नहीं ? । यदि इसके ऊपर ऐसा कहा जाय कि शशशृग भी मृत्पिंडसे उत्पन्न होता है परन्तु वह दिखता नहीं है तो हम भी यह कह सकते हैं कि इसी तरह उससे जायमान घट भी नहीं दिखना चाहिये, अत यह मानना ही चाहिये कि अपने कारण में किसी अपेक्षा कार्य रहा हुआ है तभी जाकर वह उससे ही उत्पन्न होता है अन्य से नहीं । नहीं तो फिर क्या है चाहे जिससे चाहे जैसा पदार्थ उत्पन्न होने लगेगा । ऐसी स्थिति में मृत्तिका से पट की भी उत्पत्ति माननी पडेगी ॥ ३ ॥

અપેક્ષાથી કાર્ય અસત છે અને તે એનાથી ઉત્પન્ન થાય છે તે જે રીતે માટીના પિંડથી ઘટ ઉત્પન્ન થાય છે એજ રીતે સસલાને શીગડાં પણ થતાં દેખાવાં જોઈએ કેમકે જે રીતે માટીના પિંડમાં ઘટ વિદ્યમાન નથી એજ રીતે સસલાને પણ શીગડા વિદ્યમાન નથી પછી અવિદ્યમાનની અવિશેષતા હોવાથી પણ મૃત પિંડથી ઘટ જ કેમ ઉત્પન્ન થાય છે? સસલાનાં શીગ કેમ નહી? જો આ અગે એમ કહેવામાં આવે કે, સસલાના શિગ પણ માટીના પિંડથી ઉત્પન્ન થાય છે પરતુ તે દેખતા નથી તે અમે પણ એમ કહી શકીએ કે, એ રીતે એનાથી તૈયાર થનાર ઘટ પણ ન દેખાવો જોઇએ. આથી એ માનવું જોઈએ કે, પોતાના કારણમાં કોઈ અપેક્ષા કાય રહેલ છે ત્યારે જ તે તેમાથી ઉત્પન્ન થાય છે બીજાથી નહી એમ ન હોય તે પછી ગમે તે ચીજથી ગમે તે પદાર્થ ઉત્પન્ન થવા લાગશે. આવી સ્થિતિમાં માટીથી પટની પણ ઉત્પત્તિ માનવી પડશે ॥૩॥

आयुष्कमपुद्गलानिर्जरणेन, 'भवक्खएण' भवक्षयेण=देवभवसम्बन्धिकर्मणां गत्यादीनां निर्जरणेन ठिइक्खएण' स्थितिक्षयेण=देवभवसम्बन्धि शरीरावस्थान क्षयेण, अनन्तरं चयं=देवभवसम्बन्धिशरीरं त्यक्त्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोत्पत्स्यते ? हे गौतम ! महाविदेहे वर्षे=महाविदेहक्षेत्रे सिज्झिहिइ' सेत्स्यति सकलकार्यकारितया सिद्धो भविष्यति, बुज्झिहिइ' भोत्स्यते=विमलकेवला लोकेन सकललोकालोकं ज्ञास्यति, 'मुच्चिहिइ' मोक्ष्यति=सर्वकर्मभ्यो मुक्तो भविष्यति, 'परिनिव्वाहिइ' परिनिर्वास्यति=समस्तकर्मकृतविकाररहितत्वेन स्वस्थो भविष्यति, 'सव्वदुक्खाणमंतं करेहिइ' सर्वदुःखानामन्तं करिष्यति= समस्तक्लेशानां नाशं विधास्यति, अव्याबाधसुखभोगी भविष्यतीत्यर्थः। अन्य

देवे ताओ देवलोयाओ आउक्खएण भवक्खएण ठिईक्खएण अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिइ कहिं उववज्जिहिइ ?) इस प्रकार प्रभु के मुखारविन्द से मेघकुमार की उत्पत्ति का स्थान सुन कर गौतमने पुनः उनसे यह पूछा कि हे भदन्त ! अब ये मेघकुमार देव उस देवलोकसे आयु के क्षय से, भव के क्षय से, स्थिति के क्षय से देवभव संबन्धी शरीर का त्याग कर कहां जावेंगे। कहां उत्पन्न होंगे ! (गोयमा ! महा विदेहे वासे सिज्झिहिइ, बुज्झिहिइ, मुच्चिहिइ, परिनिव्वाहिइ सव्वदुक्खाण मंतं करेहिइ) इस प्रकार गौतम द्वारा पुनः पूछने पर प्रभुने उनसे कहा- गौतम ये मेघकुमार देव महाविदेह में उत्पन्न हो कर वहीं से सिद्ध होंगे विमल केवल ज्ञानरूप आलोक से समस्तलोक और आलोक का ज्ञाता होंगे। समस्त ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों से रहित होंगे, कर्मकृत समस्त विकारों से

સાગર જેટલી સ્થિતિ કહેવામાં આવી છે (एसणं भंते मेहे देवे ताओ देवलोयाओ आउक्खएण भवक्खएण ठिइक्खएण अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिइ कहिं उववज्जिहिइ) ?) આ પ્રમાણે મેઘકુમારની ઉત્પત્તિ વિષેના સ્થાનની વાત સાંભળીને ગૌતમે ફરી પ્રશ્ન કર્યો-કે હે-ભદંત ! મેઘકુમાર દેવ તે દેવલોકથી આયુષ્ય ક્ષયથી, ભવક્ષયથી, સ્થિતિક્ષયથી દેવભવના શરીરનો ત્યાગ કરીને ક્યાં જશે ? ક્યાં ઉત્પન્ન થશે ? (गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ बुज्झिहिइ, मुच्चिहिइ परिनिव्वाहिइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेहिइ) આ પ્રમાણે ગૌતમના પ્રશ્નને સાંભળીને પ્રભુએ તેમને કહ્યું કે-હે ગૌતમ ! આ મેઘકુમાર દેવ મહાવિદેહમાં ઉત્પન્ન થઈને ત્યાંથી સિદ્ધ થશે. વિમળ અને કેવળજ્ઞાનરૂપ આલોકથી સમસ્તલોક અને આ લોકના જાણનારા થશે. તેઓ સમસ્ત જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ કર્મો રહિત થશે અને વિકારો રહિત થઈને સ્વસ્થતા પામશે. તેઓ બધાં દુઃખોનો નાશ કરશે

यनार्थमुपसंहरन् आ.सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनमाह-एवं खलु हे जम्बू! श्रमणेन भगवता महावीरेण आदिकरेण तीर्थंकरेण यावत्संप्राप्तेन आप्तोपालम्भनिमित्त-आप्तेन हितेन गुरुणेत्यर्थः, विनेयस्याविहितविधायिनः उपालम्भः-आत्मोपालम्भः तन्निमित्तं=तदर्थः प्रथमस्य ज्ञाताध्ययनस्य अर्थः=पूर्वोक्तः= मेघकुमारचरितरूपोऽर्थः प्रज्ञप्तः=कथितः। अविधिप्रवृत्तस्य शिष्यस्य गुरुणा मोक्षमार्गे स्थापनाय हितसारगर्भितवचनेन प्रतिबोधनम् उपालम्भः स दातव्यः, यथा भगवता दत्तो मेघकुमाराय, इत्येवमर्थं प्रथममध्ययनमिति भावः॥

रहित होकर स्वस्थ होंगे, समस्त दुःखों का नाश करेंगे अव्याबाध सुख के भोक्ताबनेंगे अब सूत्रकार श्री सुधर्मास्वामी इस अध्ययन के अर्थ का उपसंहार करते हुए श्री जंबूस्वामी से कहते हैं।(एवखलु जंबू। समणे ण भगवया महावीरेण आइगरेण तित्थगरे ण जाव सपत्तेण अप्पोपालभनिमित्त पढमस्स नायज्झणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्तिबेमि) कि हे जंबू। आदिकर तीर्थंकर श्री श्रमण भगवान् महावीरने कि जो सिद्धिस्थान को प्राप्त हो चुके हैं अविहित विधायी शिष्य को आप्तोपालभनिमित्त यह मेघकुमार के चरित्ररूप प्रथम ज्ञाताध्ययन का अर्थ प्रज्ञप्त (प्ररूपित) किया है। अविधि में प्रवृत्त हुए शिष्य को गुरु देव मोक्षमार्ग में स्थापन करने के लिये जो हित सारगर्भित वचनों द्वारा समझाया है। इसी का नाम आप्तोपालभ है। आप्तजन के द्वारा दिया गया उपालभ यही आप्तोपालभ का अर्थ है। मेघकुमार के साथ यही कार्य प्रभुने किया है। यही विषय इस अध्ययन द्वारा समझाया गया है। अत इस अध्ययन का नाम भी आप्तदत्त परोपलंभ है। स्वोपालभ परोपालंभ

અને અવ્યાબાધ સુખને ભોગવનારા થશે. અહીં હવે સૂત્રકાર શ્રી સુધર્મા સ્વામી આ અધ્યયનના અર્થનો ઉપસંહાર કરતા જંબૂસ્વામીને કહે છે (एव खलु जंबू ! समणेण भगवया महावीरेण आइगरेण तित्थगरेण जाव सपत्तेण अप्पोपालम निमित्तं पढमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्तिबेमि) હે જંબૂ આદિકર તીર્થંકર શ્રી શ્રમણ ભગવાન મહાવીરે જેમણે સિદ્ધિસ્થાનને મેળવ્યું છે—એવા તેમણે અવિહિત વિધાયી શિષ્યને આપ્તોપાલભના માટે આ મેઘકુમારના ચારિત્રરૂપ પ્રથમ જ્ઞાતાધ્યયનનો અર્થ પ્રરૂપિત કર્યો છે અવિધિમાં પ્રવૃત્ત થયેલ શિષ્યને ગુરુદેવ મોક્ષમાર્ગમાં વાળવા માટે જે હિતસાર યુક્ત વચનો દ્વારા સમજાવે છે તે આપ્તોપાલભ કહેવાય છે આપ્તજન વડે આપવામાં આવેલો ઉપાલભ એ જ આપ્તોપાલભનો અર્થ છે મેઘકુમારની સાથે પણ ભગવાને આ પ્રમાણે જ વ્યવહાર કર્યો છે આ અધ્યયન દ્વારા એ જ વિષય સમજાવવામાં આવ્યો છે એથી આ અધ્યયનનું નામ 'આપ્તદત્ત પરોપાલભ'

आयुष्कर्मपुद्गलानिर्जरणेन, 'भवक्खएण' भवक्षयेण=देवभवसम्बन्धिकर्मणां गत्यादीनां निर्जरणेन ठिइक्खएण' स्थितिक्षयेण=देवभवसम्बन्धि शरीरावस्थान क्षयेण, अनन्तरं चयं=देवभवसम्बन्धिशरीरं त्यक्त्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोत्पत्स्यते ? हे गौतम ! महाविदेहे वर्षे=महाविदेहक्षेत्रे सिज्झिहिइ' सेत्स्यति सकलकार्यकारितया सिद्धो भविष्यति, बुज्झिहिइ' भोत्स्यते=विमलकेवलालोकेन सकललोकालोकं ज्ञास्यति, 'मुच्चिहिइ' मोक्ष्यति=सर्वकर्मभ्यो मुक्तो भविष्यति, 'परिनिव्वाहिइ' परिनिर्वास्यति=समस्तकर्मकृतविकाररहितत्वेन स्वस्थो भविष्यति, 'सव्वदुक्खाणमंतं करेहिइ' सर्वदुःखानामन्तं करिष्यति= समस्तक्लेशानां नाशं विधास्यति, अव्याबाधसुखभोगी भविष्यतीत्यर्थः। अन्य

देवे ताओ देवलोयाओ आउक्खएण भवक्खएण ठिईक्खएण अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिइ कहिं उववज्जिहिइ ?) इस प्रकार प्रभु के मुखारविन्द से मेघकुमार की उत्पत्ति का स्थान सुन कर गौतमने पुनः उनसे यह पूछा कि हे भदंत ! अब ये मेघकुमार देव उस देवलोकसे आयु के क्षय से, भव के क्षय से, स्थिति के क्षय से देवभव सबन्धी शरीर का त्याग कर कहां जावेंगे । कहां उत्पन्न होंगे ! (गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, बुज्झिहिइ, मुच्चिहिइ, परिनिव्वाहिइ सव्वदुक्खाणमंतं करेहिइ) इस प्रकार गौतम द्वारा पुनः पूछने पर प्रभुने उनसे कहा— गौतम ये मेघकुमार देव महाविदेह में उत्पन्न हो कर वहीं से सिद्ध होंगे विमल केवल ज्ञानरूप आलोक से समस्तलोक और आलोक का ज्ञाता होंगे। समस्त ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों से रहित होंगे, कर्मकृत समस्त विकारों से

સાગર જેટલી સ્થિતિ કહેવામાં આવી છે (एसणं भंते मेहे देवे ताओ देवलोयाओ आउक्खएण भवक्खएण ठिइक्खएण अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिइ कहिं उववज्जिहिइ) ?) આ પ્રમાણે મેઘકુમારની ઉત્પત્તિ વિષેના સ્થાનની વાત સાંભળીને ગૌતમે ફરી પ્રશ્ન કર્યો—કે હે—ભદંત ! મેઘકુમારદેવ તે દેવલોકથી આયુષ્ય ક્ષયથી, ભવક્ષયથી, સ્થિતિક્ષયથી દેવભવના શરીરનો ત્યાગ કરીને ક્યાં જશે ? ક્યાં ઉત્પન્ન થશે ? (गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ बुज्झिहिइ, मुच्चिहिइ परिनिव्वाहिइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेहिइ) આ પ્રમાણે ગૌતમના પ્રશ્નને સાંભળીને પ્રભુએ તેમને કહ્યું કે—હે ગૌતમ ! આ મેઘકુમાર દેવ મહાવિદેહમાં ઉત્પન્ન થઈને ત્યાંથી સિદ્ધ થશે. વિમળ અને કેવળજ્ઞાનરૂપ આલોકથી સમસ્તલોક અને આ લોકના જાણનારા થશે. તેઓ સમસ્ત જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ કર્મો રહિત થશે અને વિકારો રહિત થઈને સ્વસ્થતા પામશે. તેઓ બધા દુઃખોનો નાશ કરશે

तदुभयोपालम्भो यथा—

अज्ञानिनोऽमी निजजीवितस्य,
हेतो किमर्थं बहु जीव कोटीः।
संस्थापयन्तीह च दुःखगर्तो
किं जीवनं शाश्वतमस्ति तेषाम्? ॥ ३ ॥

अत्र आप्तदत्तपरोपालम्भाधिकार.—

अयमत्राभिप्राय.—प्राप्तरत्नत्रयक्षणस्य विचक्षणस्यापि विनेयस्य प्रमाद वशतस्खलनाया सत्या त सन्मार्गे स्थापनाय भगवता मेघमुनेरिव गुरुणो पालम्भो देय इति।

परोपालम्भ में अविधि में प्रवृत्त हुए जीव को गुर्वादि आप्त जन समझाते हैं—जैसे हे वत्स। तुम्हारा जन्म विशुद्ध वश में हुआ है, और तुम जिनेन्द्र प्रभु के धर्म में दीक्षितहुए हो। सदा तुम उत्तम ज्ञानादि गुणों से युक्त हो रहे हो—तो फिर ऐसी क्या बात है जो तुम सहसा इस प्रकार के अविहित कार्य में प्रवृति करने की ओर झुक रहे हो। यह कार्य तुम्हें शोभा नहीं देता है। अतः इससे विरक्त होकर विहित कर्तव्य की ओर ही प्रवृत्ति करो॥२॥

तदुभयोपालम्भमें इस प्रकार बोध दिया जाता है—ये अज्ञानी जीव अपने स्वय के जीवन के लिये अनेक जीवों की कोटियों को दुःखरूपी खड्डे मे न मालूम क्यों पटकते रहेते हैं। तो क्या वे अपने जीवन को शाश्वत मान रहे है ॥ ३ ॥

मेघकुमार को महावीर प्रभुने जो यह उपालंभ दिया है—यह परोपालम्भ रूप है। जिस अपने शिष्यने रत्नत्रयरूप मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर

પરોપાલભ અવિધિમા પ્રવૃત્ત થતા જીવને ગુરુ વગેરે આપ્તજનો સમજાવે છે—જેમકે હે બેટા! તમારો જન્મ વિશુદ્ધ વશમા થયો છે અને તમે જિનેન્દ્ર પ્રભુની દીક્ષા પામ્યા છો હમેશા તમે શ્રેષ્ઠજ્ઞાન વગેરે ગુણોથી યુક્ત થઇ રહ્યા છો, તો પછી એવુ શુ થઈ ગયુ છે એકદમ તમે આ જાતના ન કરવા યોગ્ય (અવિહિત) કાર્યમા પ્રવૃત્તિ કરવા તૈયાર થયા છો. આ કામ તમને શોભતુ નથી. એટલે એનાથી વિરક્ત થઇને વિહિત (ઉચિત) કર્તવ્યમા પ્રવૃત્ત થાઓ. ॥૨॥

તદુભયોપાલભમાં આ પ્રમાણે બોધ અપાય છે—કે આ અજ્ઞાની જીવો પોતાના જીવન માટે ઘણા જીવોને દુખરૂપી ખાડામાં કેમ નાખતા રહે છે? શુ એવા માણસો પોતાના જીવનને શાશ્વત માનીને બેઠા છે ॥૩॥

મેઘકુમારને મહાવીર પ્રભુએ જે ઉપાલભ આપ્યો છે તે પરોપાલભ છે જે શિષ્યે રત્નત્રય રૂપ મુક્તિમાર્ગ મેળવ્યો છે, અને હવે પ્રમાદવશ થતા તે મુક્તિમાર્ગથી ભ્રષ્ટ

स्वोपालम्भो यथा–

लब्ध्वा जनुर्मानुषमत्र दुर्लभं,
रे जीव ! कल्पद्रुमवत्प्रमोदम् ।
जैनेन्द्रधर्मं न करोषि सादरं,
त्वस्यात्मनः शत्रुः रहो ! परोऽस्तिकः ? ॥ १ ॥

परोपालम्भो यथा––

विशुद्धवंशे च तवास्ति जन्म,
जिनेन्द्रधर्मे खलु दीक्षितोऽसि ।
सदोत्तमज्ञानगुणाढ्य ! वत्स !
कथं त्वमेवं सहसा प्रदूष्यः ? ॥ २ ॥

तथा तदुभयोपालंभ के भेद से उपालंभ३ प्रकार का कहा गयाहै–स्वोपालम्भ में जीव अपने आपको उपालम्भ देता है–जैसे–जब किसी अविहित कार्य में प्रवृत्ति करता हुआ जिनेन्द्र धर्म में प्रवृत्ति नहीं करता है–तब अपने आप अन्तरात्मा से जो ऐसी आवाज आती है कि हे जीव इस परिभ्रमण रूप संसार में किसी बड़े भारी पुण्य के उदय से तुझे यह मनुष्य भव प्राप्त हुआ है–सो इसमें यदि कोई प्रमोददायक वस्तु तुझे मिली है तो वह एक जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित धर्म ही है। तू जिस तरह अन्य संसारिक कार्यों को बड़े आदर के साथ करता है उसी तरह इसे क्यों नहीं करता। याद रख यदि इसके करने से तू वंचित हो रहा है तो तू स्वयं निज का शत्रु है दूसरा नहीं है। ॥१॥

છે–સ્વોપાલભ, પરોપાલભ તેમજ તદુભયોપાલભના ભેદથી ઉપાલભના ત્રણ પ્રકાર કહેવામા આવ્યા છે. સ્વોપાલભમા માણસ પોતાની જાતને ઉપાલભ આપે છે જેમકે જીવ જ્યારે કોઇ અવિહિત (ન કરવા યોગ્ય) કાર્યમા પ્રવૃત્તિ કરતા જૈનેન્દ્ર ધર્મમા પ્રવૃત્ત થતો નથી ત્યારે પોતાની મેળેજ અન્તરથી જે અવાજ ઉઠે છે કે હે જીવ! આ પરિભ્રમણરૂપ સસારમા કોઇ મહા પુણ્યના ઉદયથી તને મનુષ્યભવ મળ્યો છે. આ ભવ જે કંઈ લોક પ્રમોદ આપનારી વસ્તુ તને મળી છે તે ફક્ત જિનેન્દ્ર દેવ વડે પ્રતિપાદિત ધર્મ જ છે તુ જેમ બીજા સસારિક કામો બહુજ ખુશીથી કરે છે તેમ તુ આ ધર્મમાં પ્રવૃત્ત કેમ થતો નથી? બરોબર યાદ રાખજે કે આ ધર્મમાં તુ પ્રવૃત્તિ કરીશ નહિ, તો તુ પોતે પોતાની જાતનો શત્રુ બની ગયો છે તારો બીજો કોઈ શત્રુ નથી. ॥૧॥

जो यह संग्रह गाथा उद्धृत की गई है—उसका अभिप्राय यह है—जो मुक्तके अभिलाषी हैं उनका यह प्रधान कर्तव्य है कि वे श्रुतज्ञान का अविनय न हो ऐसा सदा ध्यानमें रखें। अपने मनसे कल्पित कर आगम की कोई बात न कहें क्यों कि छद्मस्थावस्थामें दृष्टि अपूर्ण रहती है यही विषय (त्तिबेमी) इन पदों से सूचित किया गया है।

जैनाचार्य जैन धर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलालजी महाराज कृत ज्ञाताधर्मकथांगसूत्रकी अनगारधर्मामृतवर्षिणीटीका के उत्क्षिप्त नामक प्रथम अध्ययन संपूर्ण ॥ १ ॥

મે તમને કહ્યો છે આ અર્થ વિષે જે આ સંગ્રહગાથા ટાંકવામાં આવી છે તેનો અભિપ્રાય આ પ્રમાણે છે કે—જે મુક્તિની ઇચ્છા ધરાવે છે તેમની આ મુખ્ય રૂપે ફરજ હોય છે કે તેઓથી શ્રુતજ્ઞાનનો અવિનય થાય નહિ આ વિષયમાં હંમેશાં સાવચેત રહે. પોતાના મનથી કલ્પીને આગમની કોઇ વાત કહે નહિ. કેમકે છદ્મસ્થાવસ્થામાં દૃષ્ટિ અપૂર્ણ રહે છે, એજ વિષય (તિબેમિ) પદોથી સૂચવવામાં આવ્યો છે.

જૈનાચાર્ય જૈનધર્મ દિવાકર પૂજ્ય શ્રી ઘાસીલાલ મહારાજ કૃત જ્ઞાતા ધર્મકથાંગસૂત્રની અનગારધર્મામૃતવર્ષિણી ટીકાનું ઉત્ક્ષિપ્ત નામક પહેલું અધ્યયન સમાપ્ત. ॥૧॥



त्ति बेमि' इति=उक्तरूप तत्त्व यथा तीर्थंकरस्य भगवतो महावीरस्य सकाशान्मया श्रुत न तु स्वबुद्ध्या कल्पित, यतः स्वबुद्ध्या कथने श्रुत ज्ञानस्य विनयो भवति, किं च छद्मस्थानां दृष्टयोऽप्यपूर्णा भवन्ति, तस्माद् यथा भगवत्प्रतिपादितमेव त्वा ब्रवीमि=उपदिशामीत्यर्थे इहार्थे चैप सम्प्रगाथा—

सुभणाणस्स अमिणओ परिहरणिज्जो परिहरणिज्जो सुआहिलामीर्हि ।
छउमत्थाण दिट्ठी, पुण्णा णत्थित्ति सुइय इहणा ॥ इति ॥सूत्र ५०॥

॥ इति श्री विश्वविख्यात जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषाकलितललित कलापालापक-प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक श्री शाहू छत्रपति कोल्हापुरराजप्रदत्त- जैनशास्त्राचार्य'-पद भूषित-कोल्हापुरराजगुरु बालब्रह्मचारि जैनाचार्य- जैनधर्मदिवाकर=पूज्यश्री घासीलालव्रति-विर चितायां श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्रस्याऽनगार धर्मामृतवर्षिणी टीकायाम् उत्क्षि सनामक प्रथममध्ययन समाप्तम् ॥१॥

लिया है, और वह अब प्रमादवशवर्ती होकर उससे स्खलित हो रहा है- या हो चुका है- तो उसे पुन' सन्मार्ग में स्थापित करने के लिये गुरु महाराज का कर्तव्य है कि वे उसे उपालम्भ दवें । जिस प्रकार महावीर प्रभुने मेघकुमार मुनिराज को दिया है (त्तिबेमि) इस प्रकार यह उक्त रूप तत्त्व जिस तरह तीर्थंकर भगवान महावीर प्रभुके पाससे मैने सुना है, उसी तरह यह तुमसे कहा है । अपनी बुद्धिसे कल्पित कर यह नहीं कहा है । क्यों कि बुद्धिसे कल्पित कर कहनेमें श्रुत ज्ञान की आशा तना होती है दूसरी बात यह भी है कि छद्मस्थजीवों की दृष्टियां अपूर्ण होती है । अत वे वस्तु का पूर्णरूप प्रतिपादित नहीं कर सकती हैं । इस लिये प्रभु प्रतिपादित अर्थ ही यह तुम से कहा है । इस अर्थमें

થઈ રહ્યો છે, અથવા તો તે મુક્તિમાર્ગથી ભ્રષ્ટ થઇ ચૂક્યો છે એવી વ્યક્તિને ફરી સન્માર્ગમા વાળવા માટે ગુરુમહારાજની ફરજ છે કે તેને ઉપાલંભ આપે. જે પ્રમાણે પ્રભુએ મુનિ રાજ મેઘકુમારને ઉપાલંભ આપ્યો છે. (त्तिबेमि) આ રીતે ઉક્ત રૂપ તત્ત્વ મે જેવી રીતે તીર્થંકર ભગવાન મહાવીરની પાસેથી સાંભળ્યું છે તેવી જ રીતે મે તમને કહ્યું છે મે પોતાની બુદ્ધિથી કલ્પના કરીને કહ્યું નથી. કેમકે બુદ્ધિથી કલ્પિતકરીને કહેવાથી શ્રુતજ્ઞાનની આશાતના હોય છે બીજી વાત એ છે કે છદ્મસ્થ જીવોની દૃષ્ટિઓ અપૂર્ણ હોય છે એટલા માટે પ્રભુ પ્રતિપાદિત અર્થ જ

ज्ञाताध्ययनस्य कोऽर्थं प्रज्ञप्त ? । श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनमाह
'एव खलु जम्बू' त्ति-एव खलु जम्बू ! तस्मिन् काले त
समये राजगृ नाम नगरमासीत् वर्णक, तस्य खलु राजगृहस्य न
बहिरुत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे गुणशिलक नाम चैत्यमासीत् वर्णक, तस्य

इस अध्ययन का पहिले अध्ययन के साथ इस प्रकार सबन्ध रहा
है-कि पहिले अध्ययन में यह विषय समझाया गया है कि अनुचित
म प्रवृत्त हुए शिष्य को गुरु का कर्तव्य है कि वह उसे उपालभ
इस अध्ययन में यह समझाया जावेगा कि मे तथा अनुचित मार्ग में
होते हैं उन्हें अपने अपने कृत कर्मानुसार अर्थ तथा अनर्थ की प्राप्ति पर
भोगनी पडती है। इसी निमित्त से यह अध्ययन पहिले के बाद प्र
किया गया है इस अध्ययन का यह प्रथम सूत्र है 'जइण भंते ! इत्यादि
टीका—जबू स्वामी सुधर्मा स्वामी से पूछते हैं-(जइ) यदि (ण) नि
से (भंते) हे भदन्त ! (समणेग भगवया महावीरेण पढमस्स नायज्झयण
अयमट्ठे पण्णत्ते) श्रमण भगवान् महावीरने प्रथम ज्ञाताध्ययन का यह पू
अर्थ प्रतिपादित किया है तो (बीयस्सण भंते ! नायज्झयणस्स के अट्ठे पण्ण
द्वितीय ज्ञाताध्ययन का उन्होंने क्या भाव अर्थ कहा है ? इस प्रकार
स्वामी के पूछने पर श्री सुधर्मा स्वामीने उनसे कहा-(एव खलु ज
हे जंबू मुनो-इस प्रकार है-(तेण कालेण तेण समएण रायगिहे नाम न
होत्था) उस काल उस समय में राजगृह नामका नगर था (वन्नओ) इस

અધ્યયનનો પહેલા અધ્યયનની સાથે સબંધ આ રીતે છે-કે પહેલા અધ્યયનમા
વિષયનુ સ્પષ્ટીકરણ કરવામા આવ્યુ છે કે અનુચિત માર્ગમા પ્રવૃત્ત શિષ્યને
ગુરુની ફરજ છે કે તે તેમને ઉપાલભ આપે. આ અધ્યયન વડે સમજાવવામા આ
કે જે અનુચિત અથવા તો ઉચિત માર્ગમાં પ્રવૃત્ત થાય છે, તેમને પોતાના ક
કર્મો અનુસાર અર્થ તેમજ અનર્થની પ્રાપ્તિ પરપ। ભોગવવી પડે છે આ કારણ
જ આ અધ્યયન પહેલા અધ્યયન પછી આરભવામા આવ્યુ છે આ બીજા અધ્યય
પહેલુ સૂત્ર આ છે—'जइण भंते' ! इत्यादि !
ટીકાર્થ—જબૂસ્વામી સુધર્માસ્વામીને પૂછે છે-(जइ) જો (ण) નિશ્ચિત રૂપે (भंते
હે ભદન્ત ! (समणेण भगवया महावीरेणं पढमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्ण
શ્રમણ ભગવાન મહાવીર પહેલા 'જ્ઞાતાધ્યયન' નો અર્થ ઉપર કહ્યા મુજબ સ
કર્યો છે, તો (बीयस्सण भंते ! नायज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते) બીજા જ્ઞાતાધ્યય
તેમણે કઈ રીતે ભાવાર્થ સમજાવ્યો છે ? જબૂસ્વામીનો આ પ્રકારનો પ્રશ્ન સાભળ
શ્રી સુધર્માસ્વામીએ તેમને કહ્યું કે (एव खलु जंबू) હે જબૂ તમારા પ્રશ્નનો જવ

अथ द्वितीयमध्ययन प्रारभ्यते

व्याख्यात प्रथमाध्ययन, साम्प्रत द्वितीयमारभ्यते, अस्य पूर्वेण सहाऽयमभिसम्बन्ध —पूर्वस्मिन्नध्ययने भगवताऽनुचितमार्गप्रवृत्तस्य शिष्यस्योपालम्भः प्रोक्तः, अत्र तु अनुचितोचितमार्गप्रवृत्तानामनर्थार्थप्राप्तिपरम्परा प्रोच्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्येदमादिमसूत्रम् ।

मूलम्—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं पढमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते बीयस्स णं भंते ! नायज्झयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते ? एवं खलु ! जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं नयरे होत्था वन्नओ तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए नामं चेइए होत्था वन्नओ, तस्सणं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदुरसामंते एत्थणं महं एगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था, विणट्ठदेवउले परिसडियतोरणघरे नाणाविहगुच्छगुल्मलयावल्लिवच्छच्छाइए अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था। तस्सणं जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं महं एगे भग्गकूवए यावि होत्था, तस्सणं भग्गकूवस्स अदूरसामंते एत्थणं महं एगे मालुयाकच्छए यावि होत्था, किण्हे किण्होभासे जाव रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहुहिं रुक्खेहि य गुच्छेहिं य गुम्मेहि य लयाहि य वल्लीहि य कुसेहि य खाणुएहि य सच्छन्ने पलिच्छन्ने अंतो झुसिरे बहि गंभीरे अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था ॥सू०१॥

टीका—'जइ णं भंते !' इत्यादि—यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण प्रथमस्य ज्ञाताध्ययनस्य, अयमर्थः प्रज्ञप्तः द्वितीयस्य खलु भदन्त !

दूसरा अध्ययन प्रारम्भ

प्रथम अध्ययन संपूर्ण हो चुका है। अब द्वितीय अध्ययन प्रारंभ

બીજું અધ્યયન પ્રારંભ

પહેલું અધ્યયન પુરૂં થઈ ગયું છે હવે બીજું અધ્યયન શરૂ થયા છે આ

ज्ञाताध्ययनस्य कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ? । श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनमाह-

'एवं खलु जम्बू' त्ति-एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगरमासीत् वर्णकः, तस्य खलु राजगृहस्य नगरस्य बहिरुत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे गुणशिलकं नाम चैत्यमासीत् वर्णकः, तस्य खलु

इस अध्ययन का पहिले अध्ययन के साथ इस प्रकार संबन्ध रहा हुआ है-कि पहिले अध्ययन में यह विषय समझाया गया है कि अनुचित मार्ग में प्रवृत्त हुए शिष्य को गुरु का कर्तव्य है कि वह उसे उपालंभ देवे। इस अध्ययन में यह समझाया जावेगा कि जो तथा अनुचित मार्ग में प्रवृत्त होते हैं उन्हें अपने अपने कृत कर्मानुसार अर्थ तथा अनर्थ की प्राप्ति परंपरा भोगनी पडती है। इसी निमित्त से यह अध्ययन पहिले के बाद प्रारंभ किया गया है इस अध्ययन का यह प्रथम सूत्र है'जइणं भंते ! इत्यादि ।

टीका—जंबू स्वामी सुधर्मा स्वामी से पूछते हैं-(जइ) यदि (णं) निश्चय से (भंते) हे भदंत ! (समणेणं भगवया महावीरेणं पढमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते) श्रमण भगवान् महावीरने प्रथम ज्ञाताध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ प्रतिपादित किया है तो (बीयस्स णं भंते ! नायज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते) द्वितीय ज्ञाताध्ययन का उन्होंने क्या भाव अर्थ कहा है ? इस प्रकार जंबू स्वामी के पूछने पर श्री सुधर्मा स्वामीने उनसे कहा-(एवं खलु जंबू) हे जंबू सुनो-इस प्रकार है-(तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था) उस काल उस समय में राजगृह नामका नगर था (वन्नओ) इसका

અધ્યયનનો પહેલા અધ્યયનની સાથે સંબંધ આ રીતે છે-કે પહેલા અધ્યયનમાં આ વિષયનું સ્પષ્ટીકરણ કરવામાં આવ્યું છે કે અનુચિત માર્ગમાં પ્રવૃત્ત શિષ્યને માટે ગુરુની ફરજ છે કે તે તેમને ઉપાલંભ આપે. આ અધ્યયન વડે સમજાવવામાં આવશે કે જે અનુચિત અથવા તો ઉચિત માર્ગમાં પ્રવૃત્ત થાય છે, તેમને પોતાના કરેલાં કર્મો અનુસાર અર્થ તેમજ અનર્થની પ્રાપ્તિ પરંપરા ભોગવવી પડે છે આ કારણથી જ આ અધ્યયન પહેલા અધ્યયન પછી આરંભવામાં આવ્યું છે આ બીજા અધ્યયનનો પહેલું સૂત્ર આ છે—'जइणं भंते' ! इत्यादि !

ટીકાર્થ—જંબૂસ્વામી સુધર્માસ્વામીને પૂછે છે-(जइ) જો (णं) નિશ્ચિત રૂપે (भंते) હે ભદંત ! (समणेण भगवया महावीरेणं पढमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते) શ્રમણ ભગવાન મહાવીર પહેલા 'જ્ઞાતાધ્યયન' નો અર્થ ઉપર કહ્યા મુજબ સ્પષ્ટ કર્યો છે, તો (बीयस्सणं भंते ! नायज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते) બીજા જ્ઞાતાધ્યયનનો તેમણે કઈ રીતે ભાવાર્થ સમજાવ્યો છે ? જંબૂસ્વામીનો આ પ્રકારનો પ્રશ્ન સાંભળીને શ્રી સુધર્માસ્વામીએ તેમને કહ્યું કે (एवं खलु जंबू) હે જંબૂ તમારા પ્રશ્નનો જવાબ

गुणशिलकस्य चैत्यस्य 'अदूरसामंते' नातिदूरे नात्यासन्ने, अत्र खलु महदेकं जीर्णोद्यानं चाप्यासीत्, तत्कीदृशमित्याह–'विणट्ठदेवउले' विनष्ट देवकुल–विनष्टव्यन्तरायतनं, 'पडिसडियतोरणघरे' परिशटिततोरण गृह–परिशटिता नि नष्टप्रायाणि तोरणानि यस्मिन्तानि गृहाणि, प्राकार द्वारव्यन्तरायतनसम्बन्धीनि गृहाणि यत्र तत्तथा। 'नाणाविहगुच्छगुम्मलया वल्लिवच्छच्छाइए' नानाविधगुच्छगुल्मलतावल्लीवृक्षच्छादित–नानाविधा ये गुच्छा=कार्पासी जपाकुसुमप्रभृतयः, गुल्मा=वंशजाली प्रभृतयः, लताः अशोकलतादयः, वल्ल्य=त्रपुषीप्रभृतय वृक्षा =आम्रादय तैश्छादित तत्तथा। 'अणेगवालसयसंकणिज्जं' अनेकव्यालशतशङ्कनीयम्, अनेकै=नानाविधै व्याल शतै=सर्पादि श्वापदशतैं शङ्कनीयं=भयावह चाप्यासीत्।

वर्णन पहिले किया गया है। (तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए नामं चेइए होत्था) उस राजगृह नगर के बाहर की ओर उत्तर पूर्व के दिग्विभाग में अर्थात् ईशानकोणमें गुणशिलक नामका उद्यान था। (वन्नओ) इसका वर्णन पहिले किया गया है। (तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थणं महं एगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था) उस गुणशीलक उद्यान के न अति समीप और न अति दूर एक और भी बडा भारी जीर्ण उद्यान था। (विणट्ठदेवउछे परिसडियतोरणघरे नाणाविहगुच्छगुम्मलयावल्लीवच्छच्छाइए अणेगवालसयसंकणिज्जे या वि होत्था) इसमें जो देवकुल था वह कभी का नष्ट हो चुका था।

ટીકાર્થ–(तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था) તે કાળે અને તે સમયે રાજગૃહ નામે એક નગર હતું (वन्नओ) તે નગરનું વર્ણન પહેલાં કરવામાં આવ્યું છે (तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए नामं चेइए होत्था) રાજગૃહ નગરની બહાર ઉત્તર પૂર્વ દિશામાં એટલે ઇશાનકોણમાં ગુણશીલક નામે ઉદ્યાન હતો. (वन्नओ) આ ઉદ્યાનનું વર્ણન પહેલાં કરવામાં આવ્યું છે (तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थणं महं एगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था) ગુણશીલક ઉદ્યાનની વધારે પાસે પણ નહિ અને વધારે દૂર પણ નહિ એવું એક બીજું બહુ ઉદ્યાન હતું (विणट्ठदेवउछे परिसडियतोरणघरे नाणाविहगुच्छ गुम्मलयावल्लिवच्छच्छाइए अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था) આમાંનું દેવકુળ વ્યંતરાયતન ક્યારનુંએ નાશ પામ્યું હતું દેવકુળનો અર્થ અહીં વ્યન્તરનું આયતન

तस्य खलु जीर्णोद्यानस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र खलु महानेको भग्नकूप आसीत् तस्य खलु भग्नकूपस्य अदूरसामन्ते अत्र खलु महानेको 'मालुया कच्छए' मालुका कक्षक मालुका एकास्थिफल वृक्षविशेषास्तेषां कक्षः=गहनं वनम् चाप्यासीत् । मकीदृश ? इत्याह–'किण्हे किण्होभासे' कृष्ण कृष्णावभास, तत्र–कृष्ण =कृष्णवर्ण-

देवकुल का अथ यहां व्यंतर का आयतन है। इस व्यन्तरायतन संबन्धी जितने घर थे उन सबके भी यहां परिद्वार नष्टप्राय हो चुके थे। यह जीर्ण उद्यान अनेक प्रकार के गुच्छों से कपास के जपा पुष्पों आदि के गुच्छों से—वंशजाली आदि गुल्मों से अशोकलता आदि लताओं से त्रपुषी (ककड़ी) आदि वेलों से, आम्र आदि वृक्षों से, आच्छादित हो रहा था। इसमें अनेक प्रकार के सैकडों सर्प इधर से ऊधर फिरते रहते थे अतः उनके द्वारा यह विशेष भयंकर बना हुआ था। (तस्स णं जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे भग्गकूवए यावि होत्था) इस जीर्ण उद्यान के ठीक मध्य भाग में एक बडा भारी भग्न जीर्ण हुआ कुआ भी था (तस्स णं भग्गकूवस्स अदूरसामंते एत्थ णं महएगे मालुया कच्छए यावि होत्था) उस भग्न कुएँ के न अति समीप और न अति दूर—पास में मालुका वृक्षों का बहुत बडा गहन वन था। एकास्थिफल वाले वृक्ष विशेषों का नाम मालुका है (किण्हे किण्होभासे जाव रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहूहिं रुक्खे हि य गुच्छे हि य गुम्मे

છે આ વ્યન્તરાયતનના જેટલા ઘર હતાં, તે બધાના બહારના દરવાજા નષ્ટપ્રાય થઈ ગયા હતા જૂનું ઉદ્યાન ઘણી જાતના ગુચ્છો—એટલે કે વણુ અને જપાપુષ્પ વગેરેના ગુચ્છો—વંશજાલી વગેરે ગુલ્મો અશોકલતા વગેરે લતાઓ, ત્રપુષી (કાકડી) વગેરેની વેલો, આમ્ર વગેરે વૃક્ષોથી ઢંકાએલો હતો. ઘણી જાતના સેંકડો સાપ આ ઉદ્યાનમાં આમથી તેમ વિચરતા રહેતા હતા એથી આ ઉદ્યાન સવિશેષ ભયંકર લાગતું હતું (तस्सणं जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं एगे भग्गकूवए यावि होत्था) આ જૂના ઉદ્યાનની ઠીક વચ્ચોવચ્ચ એક મોટો ભગ્નકૂપ નામે એક જીર્ણ થયેલો કૂવો હતો (तस्सणं भग्गकूवस्स अदूरसामंते एत्थणं महं एगे मालुया कच्छए याविहोत्था) તે ભગ્ન કૂવાની વધારે દૂર પણ નહિ અને વધારે નજીક પણ નહિ ઠેકેવાય એવું પાસે માલુકા વૃક્ષોનું મોટું સઘન વન હતું એકાસ્થિફળ વૃક્ષ વિશેષનું નામ માલુકા છે (किण्हे किण्होभासे जाव रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहूहिं रुक्खे हि य गुच्छे हि य

गुणशिलकस्य चैत्यस्य 'अदूरसामन्ते' नातिदूरे नात्यासन्ने, अत्र खलु महदेकं जीर्णोद्यानं चाप्यासीत्, तच्चीदृशमित्याह–'विणट्ठदेवउले' विनष्ट देवकुलं–विनष्टव्यन्तरायतनं, 'परिसडियतोरणघरे' परिशटिततोरण गृह–परिशटितानि नष्टप्रायाणि तोरणानि बहिर्द्वाराणि गृहाणि, प्राकार द्वारव्यन्तरायतनसम्बन्धीनि गृहाणि यत्र तत्तथा । 'नाणाविहगुच्छगुम्मलया वल्लिवच्छच्छाइए' नानाविधगुच्छगुल्मलतावल्लीवृक्षच्छादितं–नानाविधा ये गुच्छा =कार्पासी जपाकुसुमप्रभृतयः, गुल्माः=वंशजाली प्रभृतयः, लता अशोकलतादयः, वल्ल्य =त्रपुषीप्रभृतयः वृक्षाः =आम्रादयः तैश्छादितं यत्तत्तथा। 'अणेगवालसयसंकणिज्जे' अनेकव्यालशतशङ्कनीयम्, अनेकैः =नानाविधै र्व्याल शतैः =सर्पादि श्वापदशतैः शङ्कनीयं=भयावहं चाप्यासीत् ।

वर्णन पहिले किया गया है। (तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए नामं चेइए होत्था) उस राजगृह नगर के बाहर की ओर उत्तर पूर्व के दिग्विभाग में अर्थात् ईशानकोणमें गुणशिलक नामका उद्यान था। (वन्नओ) इसका वर्णन पहिले किया गया है। (तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थणं महं एगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था) उस गुणशीलक उद्यान के न अति समीप और न अति दूर एक और भी बड़ा भारी जीर्ण उद्यान था। (विणट्ठदेवउले परिसडियतोरणघरे नाणाविहगुच्छगुम्मलयावल्लीवच्छच्छाइए अणेगवालसयसंकणिज्जे या वि होत्था) इसमें जो देवकुल था वह कभी का नष्ट हो चुका था।

સામણો-(तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था) તે કાળે અને તે સમયે રાજગૃહ નામે એક નગર હતું (वन्नओ) તે નગરનું વર્ણન પહેલાં કરવામાં આવ્યું છે (तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए नामं चेइए होत्था) રાજગૃહ નગરની બહાર ઉત્તર પૂર્વ દિશામાં એટલે ઇશાનકોણમાં ગુણશીલક નામે ઉદ્યાન હતો. (वन्नओ) આ ઉદ્યાનનું વર્ણન પહેલાં કરવામાં આવ્યું છે (तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थणं महं एगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था) ગુણશીલક ઉદ્યાનની વધારે પાસે પણ નહિ અને વધારે દૂર પણ નહિ એવું એક બીજું બહુ ઉદ્યાન હતું (विणट्ठदेवउले परिसडियतोरणघरे नाणाविहगुच्छ गुम्मलयावल्लिवच्छछाइए अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था) આમાનું દેવકુળ વ્યંતરાયતન ક્યારનુંએ નાશ પામ્યું હતું દેવકુળનો અર્થ અહીં વ્યન્તરનું આયતન

तस्य खलु जीर्णोद्यानस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र खलु महानेको भग्नकूपश्चासीत् तस्य खलु भग्नकूपस्य अदूरसामन्ते अत्र खलु महानेकं 'मालुया कच्छए' मालुका कक्षकः मालुका एकास्थिफल वृक्षविशेषास्तेषां कक्षकः=गहनं वनम् चाप्यासीत्। मकोदृश? इत्याह-'किण्हे किण्हो भासे' कृष्णः कृष्णावभासः, तत्र-कृष्णः =कृष्णवर्ण-

देवकुल का अर्थ यहां व्यंतर का आयतन है। इस व्यन्तरायतन संबन्धी जितने घर थे उन सबके भी यहां बहिद्वार नष्टप्राय हो चुके थे। यह जीर्ण उद्यान अनेक प्रकार के गुच्छों से कपास के जपा पुष्पों आदि के गुच्छों से—वंशजाली आदि गुल्मों से अशोकलता आदि लताओं से त्रपुषी (ककड़ी) आदि बेलोंसे, आम्र आदि वृक्षों से, आच्छादित हो रहा था। इसम अनेक प्रकार के सैंकडों सर्प इधर स ऊधर फिरते रहते थे अत उनके द्वारा यह विशेष भयकर बना हुआ था। (तस्स ण जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ ण महं एगे भग्गकूवए यावि होत्था) इस जीर्ण उद्यान के ठीक मध्य भाग में एक बडा भारी भग्न जीर्ण हुआ कुआ भी था (तस्स ण भग्गकूवस्स अदूरसामंते एत्थ ण महएगे मालुया कच्छए यावि होत्था) उस भग्न कुएँ के न अति समीप और न अति दूर—पास में मालुका वृक्षों का बहुत बडा गहन वन था। एकास्थिफल वाले वृक्ष विशेषों का नाम मालुका है (किण्हे किण्हो भासे जाव रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहूहिं रुक्खे हि य गुच्छे हि य गुम्मे

છે આ વ્યન્તરાયતનના જેટલા ઘર હતાં, તે બધાના બહારના દરવાજા નષ્ટપ્રાય થઇ ગયા હતા. જૂનું ઉદ્યાન ઘણી જાતના ગુચ્છો—એટલે કે વણ અને જપાપુષ્પ વગેરેના ગુચ્છો—વંશજાલી વગેરે ગુલ્મો અશોકલતા વગેરે લતાઓ, ત્રપુષી (કાકડી) વગેરેની વેલો, આમ્ર વગેરે વૃક્ષોથી ઢંકાએલો હતો. ઘણી જાતના સેંકડો સાપ આ ઉદ્યાનમા આમથી તેમ વિચરતા રહેતા હતા. એથી આ ઉદ્યાન સવિશેષ ભયંકર લાગતું હતું (तस्सण जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थण एगे भग्गकूवए यावि होत्था) આ જૂના ઉદ્યાનની ઠીક વચ્ચોવચ્ચ એક મોટો ભગ્નકૂપ નામે એક જીર્ણ થયેલો કૂવો હતો. (तस्सण भग्गकूवस्स अदूरसामंते एत्थण महं एगे मालुया कच्छए याविहोत्था) તે ભગ્ન કૂવાની વધારે દૂર પણ નહિ અને વધારે નજીક પણ નહિ કહેવાય એવું પાસે માલુકા વૃક્ષોનું મોટું સઘન વન હતું એકાસ્થિફળ વૃક્ષ વિશેષનું નામ માલુકા છે (किण्हे किण्हो भासे जाव रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहूहिं रुक्खे हि य गुच्छे हि य

गुणशिलकस्य चैत्यस्य 'अदूरसामन्ते' नातिदूरे नात्यासन्न, अत्र खलु महदेकं जीर्णोद्यानं चाप्यासीत्, तत्कीदृशमित्याह-'विणट्ठदेवउले' विनष्ट देवकुल-विनष्टव्यन्तरायतन, 'परिसडियतोरणघरे' परिशटिततोरण गृह-परिशटिता नि नष्टप्राया ण तोरणानि यस्मिन्नेवंविधानि गृहाणि, प्राकार द्वारव्यन्तरायतनसमाधीनि गृहाणि यत्र तत्तथा । 'नाणाविहगुच्छगुम्मलया वल्लिवच्छच्छाइए' नानाविधगुच्छगुल्मलतावल्लीवृक्षच्छादितं-नानाविधा ये गुच्छा =कार्पासी जपाकुसुमप्रभृतय , गुल्मा =वंशजाली प्रभृतय , लता अशोकलतादय , वल्य =त्रपुषीप्रभृतय वृक्षा =आम्रादय तैश्छादित यत्तत्तथा । 'अणेगवालसयसंकणिज्जे' अनेकव्यालशतशङ्कनीयम्, अनेकै =नानाविधै व्याल शतै =सर्पादि श्वापदशतै शङ्कनीय=भयावह चाप्यासीत् ।

वर्णन पहिले किया गया है। (तस्स ण रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए नाम चेइए होत्था) उस राजगृह नगर के बाहर की ओर उत्तर पूर्व के दिग्विभाग में अर्थात् ईशानकोणमें गुणशिलक नामका उद्यान था। (वन्नओ) इसका वर्णन पहिले किया गया है। (तस्स ण गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थण महं एगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था) उस गुणशीलक उद्यान के न अति समीप और न अति दूर एक और भी बड़ा भारी जीर्ण उद्यान था। (विणट्ठदेवउले परिसडियतोरणघरे नाणाविहगुच्छगुम्मलयावल्लीवच्छच्छाइए अणेगवालसयसंकणिज्जे या वि होत्था) इसमें जो देवकुल था वह कभी का नष्ट हो चुका था।

ટીકાર્થ-(तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था) તે કાળે અને તે સમયે રાજગૃહ નામે એક નગર હતું (वन्नओ) તે નગરનું વર્ણન પહેલાં કરવામાં આવ્યું છે (तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए नाम चेइए होत्था) રાજગૃહ નગરની બહાર ઉત્તર પૂર્વ દિશામાં એટલે ઇશાનકોણમાં ગુણશીલક નામે ઉદ્યાન હતો. (वन्नओ) આ ઉદ્યાનનું વર્ણન પહેલાં કરવામાં આવ્યું છે. (तस्सणं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थणमहं एगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था) ગુણશીલક ઉદ્યાનની વધારે પાસે પણ નહિ અને વધારે દૂર પણ નહિ એવું એક બીજું જૂનું ઉદ્યાન હતું (विणट्ठदेवउले परिसडियतोरणघरे नाणाविहगुच्छ गुम्मलयावल्लिवच्छाइए अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था) આમાંનું દેવકુળ વ્યંતરાયતન ક્યારનું એ નાશ પામ્યું હતું દેવકુળનો અર્થ અહીં વ્યન્તરનું આયતન

तस्य खलु जीर्णोद्यानस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र खलु महानेको भग्नकूप आसीत् तस्य खलु भग्नकूपस्य अदूरसामन्ते अत्र खलु महानेकः 'मालुया कच्छए' मालुका कक्षक मालुका एकास्थिफल वृक्षविशेषास्तेषां कच्छ =गहन वनम् चाप्यासीत् । स कीदृश ? इत्याह–'किण्हे किण्हो भासे' कृष्ण कृष्णावभास, तत्र–कृष्ण =कृष्णवर्ण-

देवकुल था अथवा व्यन्तर का आयतन है। इस व्यन्तरायतन संबन्धी जितने घर थे उन सबके भी यहां बहिर्द्वार नष्टप्राय हो चुके थे। यह जीर्ण उद्यान अनेक प्रकार के गुच्छों से कपास के जपा पुष्पों आदि के गुच्छों स—वशनाली आदि गुल्मों से अशोकलता आदि लताओं से त्रपुषी (ककड़ी) आदि वेलों से, आम्र आदि वृक्षों से, आच्छादित हो रहा था। इसमें अनेक प्रकार के सैकड़ों सर्प इधर से ऊधर फिरते रहते थे अत उनके द्वारा यह विशेष भयकर बना हुआ था। (तस्स ण जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ ण महं एगे भग्गकूवए यावि होत्था) इस जीर्ण उद्यान के ठीक मध्य भाग में एक बड़ा भारी भग्न जीर्ण हुआ कुआ भी था (तस्स ण भग्गकूवस्स अदूरसामते एत्थ ण महएगे मालुया कच्छए यावि होत्था) उस भग्न कुएं के न अति समीप और न अति दूर—पास में मालुका वृक्षों का बहुत बड़ा गहन वन था। एकास्थिफल वाले वृक्ष विशेषों का नाम मालुका है (किण्हे किण्हो भासे जाव रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहूहिं रुक्खे हि य गुच्छे हि य गुम्मे

છે આ વ્યન્તરાયતનના જેટલા ઘર હતાં, તે બધાના બહારના દરવાજા નષ્ટપ્રાય થઈ ગયા હતા જૂનું ઉદ્યાન ઘણી જાતના ગુચ્છો—એટલે કે વણ અને જપાપુષ્પ વગેરેના ગુચ્છો–વશજાલી વગેરે ગુલ્મો અશોકલતા વગેરે લતાઓ, ત્રપુષી (કાકડી) વગેરેની વેલો, આમ્ર વગેરે વૃક્ષોથી ઢંકાએલો હતો. ઘણી જાતના સેંકડો સાપ આ ઉદ્યાનમાં આમથી તેમ વિચરતા રહેતા હતા. એથી આ ઉદ્યાન સવિશેષ ભયકર લાગતું હતું (तस्सण जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थण एगे भग्गकूवए यावि होत्था) આ જૂના ઉદ્યાનની ઠીક વચ્ચોવચ્ચ એક મોટો ભગ્નકૂપ નામે એક જીર્ણ થયેલો કૂવો હતો. (तस्सण भग्गकूवस्स अदूरसामते एत्थण महं एगे मालुया कच्छए याविहोत्था) તે ભગ્ન કૂવાની વધારે દૂર પણ નહિ અને વધારે નજીક પણ નહિ કહેવાય એવું પાસે માલુકા વૃક્ષોનું મોટું સઘન વન હતું એકાસ્થિફળ વૃક્ષ વિશેષનું નામ માલુકા છે (किण्हे किण्हो भासे जाव रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहूहिं रुक्खेहि य गुच्छे हि य

भञ्जनवत्, कृष्णावभास =कृष्णप्रभः स्वरूपेण कृष्णवर्णप्रयावभासते, यावद् रम्य.=सुन्दरः 'महामेहनिउरंबभूए' महामेघनिकुरम्बभूतः, महामेघ.=वर्षाकाल भावि मेघस्तस्य निकुरम्बः=समूह तथाभूत -घनीभूत नूतनघनोपम इत्यर्थं नीलधर्मसाम्यात् । बहुभिर्वृक्षैश्च, गुच्छैश्च, गुल्मैश्च, लताभिश्च, वल्लीभिश्च, कुशैश्च=दर्भैश्च, स्थाणुकैश्च=ऊर्ध्वकीलकैश्च 'ठुठा इति भाषायाम्' सछन्न = व्याप्त , परिच्छन्न =विशेषेण समाच्छादितः 'अंतो झुसिरे' अन्तः=मध्ये शुषिर सावकाशत्वात् 'बहिं गंभीरे' बहिः गम्भीर , अतिगहनत्वेन दृष्टेरप्रसृत त्वात्, अनेक व्यालशतशङ्कनीय -अनेक शतसर्पादिभि शङ्कनीय -भयजनकश्चा प्यासीत् ॥सू १॥

मूलम्—तत्थ णं रायगिहे नयरे धण्णे नामं सत्थवाहे अड्ढे दित्ते जाव विच्छड्डियविउलभत्तपाणे, तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स भद्दा नामं भारिया होत्था, सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्णपंचि

हि य लया हि य वल्लि हि य कुए हि य खाणुएहि य सच्छन्ने पलिच्छन्ने अंतो झुसिरे बाहिं गंभीरे अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था) यह मदन वन कज्जल की तरह कृष्ण वर्णवाला था स्वरूप से ही इसकी प्रभा कृष्ण थी। यावत् यह सुन्दर था। वर्षाकाल भावी मेघ के समूह जैसा यह नीला था। अनेक प्रकार के वृक्षों से, अनेक प्रकार के गुल्मों से, अनेक प्रकार की लताओं से, अनेक प्रकार की वल्लियों से, अनेक प्रकार के कुशों से, अनेक विध स्थाणुओं से यह बहुत अधिक रूप में आच्छादित हो रहा था। बीच में यह सावकाश होने से पोला था। बाहिर गहन होनेकी वजह से गभीर था। अनेक प्रकार के सैकडों सर्पों से यह भी महान भयानक था। सूत्र " १ "

गुम्मे हि य लया हि य वल्ली हि य खाणुएहि य सच्छन्ने पलिच्छन्ने अंतो झुसिरे बाहिं गंभीरे अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था) આ સઘનવન મેશની જેમ કાળા રંગનું હતું આની પ્રભા સ્વરૂપથી જ કાળી હતી. વર્ષાકાળના મેઘ જેવા તે નીલા રંગનું હતું ઘણી જાતનાં વૃક્ષો, ઘણી જાતના ગુલ્મો, ઘણી જાતની લતાઓ ઘણી જાતની વલ્લીઓ, ઘણી જાતના દર્ભો ઘણી જાતના સ્થાણુઓથી આ ઉદ્યાન સઘન રૂપે ઢંકાયેલું હતો. વચ્ચે ખાલી જગ્યા હતી પણ આજૂબાજૂ ચોમેર વૃક્ષાવલી ને લીધે તે સઘન હતું ઘણી જાતના સેંકડો સાપોથી આ ખૂબ જ ભયકારી લાગતું હતું સૂત્ર ॥ ૧ ॥

दियसरीरा लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्न-सुजायसव्वंगसुंदरगा ससिसोमागारा कंता पियदंसणा सुरूवा करयल-परिमियतिवलियमज्झा कुंडलुल्लिहियगंडलेहा कोमुइ-रय-णियर-पडिपुण्णसोमवयणा सिंगारागारचारुवेसा जाव पडिरूवा वंझा अवियाउरी जाणुकोप्परमाया यावि होत्था ॥सू० २॥

टीका-'तएणं रायगिहे' त्ति-तत्र खलु राजगृहे नगरे धन्यनामा सार्थवाहः=जनसमूहनायकः गरिम-धरिम-मेय, परिच्छेद्यरूपं क्रयाणकद्रव्यजातं गृहीत्वा लाभार्थमन्यदेशं व्रजन् सहागतवणिग्जनस्य योगक्षेमचिन्तया परिपालक इति भावः अड्ढे 'आढ्य'-ऋद्धयादिपूर्णः 'दित्ते' दीप्त-सच्चरित्रेण उज्ज्वलः यावद् विच्छर्दितविपुलभक्तपानः। यावच्छब्देनायमर्थो ग्रहीतव्यः-विस्तीर्णविपुलभवनशयनासनयानवाहनाकीर्णः, बहुधनबहुजातरूपरजतः, आयो

तत्थ णं रायगिहे नयरे इत्यादि

टीकार्थ- (तत्थ णं रायगिहे नयरे) उस राजगृह नगरमें (धन्नेनाम सत्थवाहे) धन्य नाम के सार्थवाह थे। जब ये गरिम धरिम मेय एवं परिच्छेद्य रूप क्रयाणक द्रव्य समूह लेकर लाभप्राप्ति की इच्छा से परदेश जाते थे तो इनके साथ जो और भी वणिकजन होते उनके ये योगक्षेमकारक होते थे। उनकी हरएक प्रकार की चिन्ता रखते थे। ये (अड्ढे) ऋद्धयादि से परिपूर्ण थे। (दित्ते) सच्चरित्र से उज्ज्वल थे। (जाव विच्छड्डियविउलभत्तपाणे) यावत् विच्छर्दित विपुलभक्तपानवाले थे-यहां यावत् शब्द से इनके विषय में इतना और समझ लेना चाहिये कि इनके भवन बहुत विस्तीर्ण थे, शयन, आसन, यान, वाहन, भी इनके

'तत्थणं रायगिहे नयरे' इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तत्थणं रायगिहे नयरे) तेराज गृह नगरमां (धन्ने नाम सत्थवाहे) धन्य नामे सार्थवाह हता. ज्यारे तेओ गरिम, धरिम मेय अने परिच्छेद्य रूप क्रयाणक द्रव्य लईने लाभनी इच्छाथी विदेश जता हता त्यारे एमनी साथे जे बीजा वणिकजन रहेता तेमना माटे तेधन्य सार्थवाह बधी रीते कुशळ करनार हता. तेमनी दरेक बाबतनी संभाळ राखता हता हता. ए (अड्ढे) ऋद्धि वगेरेथी संपूर्ण पणे पूर्ण हता. (दित्ते) सच्चारित्र्यथी उज्ज्वळ हता, (जाव विच्छड्डियविउलभत्तपाणे) यावत विछर्दित विपुल भक्त पान वा। हता. अहीं जे यावत् शब्द आव्यो छे तेनो अर्थ आ प्रमाणे छे के एमना भवन बहुज विशाळ हता शयन, आसन, यान,

अञ्जनवत्, कृष्णावभास=कृष्णप्रभ स्वरूपेण कृष्णवर्णएवावभासते, यावद् रम्य'=सुन्दरः 'महामेहनिउरंबभूए' महामेघनिकुरम्बभूतः, महामेघ=वर्षाकाल भावि मेघस्तस्य निकुरम्बः=समूहः तथाभूत -घनीभूत. नूतनघनोपम इत्यर्थः नीलधर्मसाम्यात् । बहुभिर्वृक्षैश्च, गुच्छैश्च, गुल्मैश्च, लताभिश्च, वल्लीभिश्च, कुशैश्च=दर्भैश्च, स्थाणुकैश्च=ऊर्ध्वकीलकैश्च 'ठुठा इति भाषायाम्' सछन्न = व्याप्त, परिच्छन्न=विशेषेण समाच्छादितः 'अतो झुसिरे' अन्तः=मध्ये शुषिर सावकाशत्वात् 'बहिं गंभीरे' बहिर्गम्भीर, अतिगहनत्वेन दृष्टेरप्रसृत त्वात्, अनेक व्यालशतशङ्कनीय -अनेकशतसर्पादिभि शङ्कनीय -भयजनकमा प्यासीत् ॥सू १॥

मूलम्—तत्थ णं रायगिहे नयरे धण्णे नामं सत्थवाहे अड्ढे दित्ते जाव विच्छड्डियविउलभत्तपाणे, तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स भद्दा नाम भारिया होत्था, सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्णपंचि

हि य लया हि य वल्लि हि य कुए हि य खाणुएहि य सच्छन्ने पलिच्छन्ने अतो झुसिरे बाहिं गंभीरे अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था) यह गहन वन कज्जल की तरह कृष्ण वर्णवाला था स्वरूप से ही इसकी प्रभा कृष्ण थी। यावत् यह सुन्दर था। वर्षाकाल भावी मेघ के समूह जैसा यह नीला था। अनेक प्रकार के वृक्षों से, अनेक प्रकार के गुल्मों से, अनेक प्रकार की लताओं से, अनेक प्रकार की वल्लियों से, अनेक प्रकार के कुशों से, अनेक विध स्थाणुओं से यह बहुत अधिक रूप में आच्छादित हो रहा था।
बीच में यह सावकाश होने से पोला था। बाहिर गहन होनेकी वजह से गंभीर था। अनेक प्रकार के सैंकडों सर्पों से यह भी महान भयानक था। सूत्र "१"

गुम्मे हि य लया हि य वल्ली हि य खाणुएहि य सच्छन्ने पलिच्छन्ने अतो झुसिरे बाहिं गंभीरे अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था) આ સઘનવન મેશની જેમ કાળા રંગનું હતું આની પ્રભા સ્વરૂપથી જ કાળી હતી. વર્ષાકાળના મેઘ જેવા તે નીલા રંગનું હતું ઘણી જાતનાં વૃક્ષો, ઘણી જાતના ગુલ્મો, ઘણી જાતની લતાઓ ઘણી જાતની વલ્લીઓ, ઘણી જાતના દર્ભો ઘણી જાતના સ્થાણુઓથી આ ઉદ્યાન સઘન રૂપે ઢંકાયેલું હતો. વચ્ચે ખાલી જગ્યા હતી પણ આજૂબાજૂ ચોમેર વૃક્ષાવલી ને લીધે તે સઘન હતું ઘણી જાતના સેંકડો સાપોથી આ ખૂબ જ ભયકારી લાગતું હતું સૂત્ર ॥ ૧ ॥

करेखारूपाणि, 'वंजण' व्यञ्जनानि, व्यज्यन्ते-सूच्यन्ते भाग्यादयो यैस्तानि तिलमषादीनि 'गुण' गुणाः सौशील्यपातिव्रत्यादयस्तै 'उववेया' उपपेता-समन्विता, तत्र उप अपइत्युपसर्गयो 'अप' इत्यत्राधड कारस्य पृषोदरादि त्वाल्लोप। 'माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगा' मानोन्मान प्रमाणप्रतिपूर्णसुजातसर्वाङ्गसुन्दराङ्गी तत्र 'माण' मान=जलद्रोणप्रमाणता, तथाहि-परिपूर्णजलकुण्डे यस्य पुरुषस्य यस्या स्त्रियो वा प्रवेशे सति यदि द्रोणपरिमित जल बहिर्निस्सरति तदा स पुरुष सा स्त्री वा मानप्राप्ता स्यते, मानप्राप्ताया शरीरावगाहनाविशेषो मानमित्युच्यते। 'उम्माण' उन्मानम्, अर्धभारप्रमाणता सा चेत्थम्-तुलायामारोपितो नरो नारी वा यद्य र्धभारप्रमाणा भवति तदा स पुरुष सा स्त्री वा उन्मानप्राप्ता निगद्यते 'पमाण' प्रमाण स्वाङ्गुलेनाष्टोत्तरशतोच्छ्राय, इत्थं च-मानं चोन्मानं च प्रमाण

युक्त था। (लक्खण) से विद्या, धन आदि की सूचक करस्थ शुभ रेखा रूप चिह्नों से, तथा भाग्योदय सूचक तिलमसा आदि रूप व्यंजनों से यह समन्वित थी। सुशीलता तथा पातिव्रत आदि गुणों का यह घर थी। (माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगा) मान, उन्मान और प्रमाण इन के अनुसार इसके समस्त अंग पूर्ण थे। परिपूर्ण जल कुण्ड में प्रवेश करने पर द्रोण परिमित जल यदि उस कुंड से बाहर निकल आवे तो वह पुरुष अथवा स्त्री मान वाली कही जाती है। अर्थात् इसके शरीर की अवगाहना इतने मान प्रमाण थी। तुला पर आरोपित होने पर जिस स्त्री अथवा पुरुष का वजन अर्धभार प्रमाण निकलता है। तो वह उन्मान प्राप्त कहलाता है। अपने अंगुलों से १०८ अंगुल वाली घने हुए ऊँचाई

धन वगेरेने सूचवनारी हाथनी शुभरेखाओथी तेमज भाग्योदयना सूचक तलमषा वगेरे रूप व्यंजनोथी ते संपन्न हती. शालीनता तेमज पातिव्रत्य वगेरे गुणोनु ते घर हती (माणुम्माणप्पमाणपरिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगा) मान, उन्मान अने प्रमाणु सहित तेना बधा अंगो पूर्ण हता. संपूर्ण रूपथी भरेला पाणीना कुंडमा प्रवेश्या बाद जो द्रोणु परिमाणु जेटलु पाणी ते कुंडमाथी बहार नीकळे तो ते पुरुष अथवा स्त्री 'मान' वाळी कहेवामा आवे छे एटले के तेमना शरीरनी अवगाहना अमुक जेटला मान प्रमाणुवाळी हती. त्राजवा उपर चढीने जे स्त्री अथवा पुरुष पोतानु वजन करावता तेमनु वजन अर्धभार प्रमाणु जेटलु थाय तो ते उन्मान प्राप्त कहेवाय छे पोताना आंगळथी ज माप करवामा आवे अने ते पुरुष के स्त्री एकसो आठ जेटला आंगळना माप जेटली थाय तो ते प्रमाणु प्राप्त कहेवाय छे एवी रीते मान, उन्मान अने प्रमाणु युक्त तेमना दरेके

गमयोगसंप्रयुक्त, आयोगेन द्विगुणादिलिप्सया प्रयोग अधमर्णानां सविधे द्रव्यस्य वितरण, तेन युक्त। विच्छर्दितविपुलभक्तपान =यस्य गृहे भोजना वशिष्टैर्बहुभिरन्नपानैः क्षुधार्तानामनेकहीनदीनानां परिपोषणमभूदित्यर्थः।

तस्य खलु धन्यस्य सार्थवाहस्य भद्रा नामभार्याऽभवत् सा कीदृशीत्याह–'सुकुमालपाणिपाया' सुकुमारपाणिपादा, तत्र सुकुमारौ कोमलौ पाणी च पादौ यस्याः सा अतिकोमलकरचरणवतीत्यर्थः। 'अहीणपडिपुण्ण पंचिंदियसरीरा' अहीन प्रतिपूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरा, तत्र–'अहीण' अहीनानि लक्षणस्वरूपाभ्याम् 'पडिपुण्ण' प्रतिपूर्णानि, 'पंचिंदिय' पञ्चेन्द्रियाणि यस्मिन् तादृशं शरीरं यस्याः सा तथा'लक्खणवंजणगुणोववेया' लक्षणव्यञ्जनगुणोपपेता, तत्र–'लक्खण' लक्षणानि लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते ज्ञायन्ते यैस्तानि शुभचिह्नानि–करस्थविद्याधनादि सूच

पास नाना प्रकार के बहुत अधिक थे। गाय भैंस आदि धन तथा चांदी सोना भी इनके पास बहुत अधिक मात्रामें था। आयोग प्रयोग से ये युक्त थे–अर्थात् कर्जदारों के लिये ये द्विगुणित लेने की अभिलाषा से कर्ज दिया करते थे। भोजन के बाद जो विविध प्रकार की भोजन सामग्री बचती थी उसे ये बुभुक्षित, भूखे अनेक हीन प्राणियों में वितरित करवा दिया करते थे। अथवा भोजन करते समय इनके यहां इतना अधिक खाना उच्छिष्ट रूप में बचता था कि जिससे अनेक दीन हीनबुभुक्षित प्राणियों का पालन पोषण हो जाता था (तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स भद्दानामं भारिया होत्था) इन धन्य सार्थवाह की भद्रा नाम की धर्मपत्नी थी। (सुकुमाल पाणिपाया अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा लक्खणवंजणगुणोववेया) इनका शरीर सुकुमार हाथ चरण वाला था लक्षण एवं स्वरूप इन दोनों से इनका शरीर

वाहन पण એમની પાસે ઘણી જાતના અને પુષ્કળ પ્રમાણમાં હતાં. ગાય ભેંસ વગેરે, પશુ ધન તેમજ ચાંદી સોનું પણ તેમની પાસે પુષ્કળ પ્રમાણમાં હતું આયોગ પ્રયોગથી તેઓ યુક્ત હતા એટલે કે ઋણ આપતા હતા જમ્યા પછી જે ઘણી જાતની ભોજનની સામગ્રીઓ વધતી તે સામગ્રીને તેઓ ભૂખ્યા ઘણા હીન, દીન, પ્રાણીઓમાં વહેંચાવી દેતા હતા. અથવા તો એમને ત્યાં એટલું બધું ખાધા પછી એંઠું વધતું કે જેથી ઘણા ગરીબ દીન, ભૂખ્યા પ્રાણીઓનું ભરણ પોષણ થઈ જતું હતું (तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स भद्दा नाम भारिया होत्था) તે ધન્ય સાર્થવાહની ભદ્રા નામે ધર્મપત્ની હતી (सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्ण पंचिंदियसरीरा लक्खणवंजणगुणोववेया) તે સુકોમળ હાથપગ વાળી હતી તેમજ લક્ષણ અને સ્વરૂપ આ બન્નેથી તેમનું શરીર યુક્ત હતું (... વિદ્યા,

करेखारूपाणि, 'वंजण' व्यञ्जनानि, व्यज्यन्ते-सूच्यन्ते भाग्योदया यैस्तानि तिलमषादीनि 'गुण' गुणाः सौशील्यपातिव्रत्यादयस्तै 'उववेया' उपपेता- समन्विता, तत्र उप अपइत्युपसर्गयोः 'अप' इत्यत्राद्यकारस्य पृषोदरादित्वाल्लोपः। 'माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगा' मानोन्मानप्रमाणप्रतिपूर्णसुजातसर्वाङ्गसुन्दराङ्गी तत्र 'माण' मान=जलद्रोणप्रमाणता, तथाहि-परिपूर्णजलकुण्डे यस्य पुरुषस्य यस्याः स्त्रियो वा प्रवेशे सति यदि द्रोणपरिमितं जलं बहिर्निस्सरति तदा स पुरुषः सा स्त्री वा मानप्राप्तो च्यते, मानप्राप्तया शरीरावगाहनाविशेषो मानमित्युच्यते। 'उम्माण' उन्मानम्, अर्धभारप्रमाणता सा चेत्थम्-तुलायामारोपितो नरो नारी वा यद्यर्धभारप्रमाणो भवति तदा स पुरुषः सा स्त्री वा उन्मानप्राप्ता निगद्यते 'पमाण' प्रमाणं स्वाङ्गुलेनाष्टोत्तरशतोच्छ्रायः, इत्थं च-मानं चोन्मानं च प्रमाण

युक्त थी। (लक्खण) से विद्या, धन आदि की सूचक कर रेखा शुभ रेखा रूप चिह्नों से, तथा भाग्योदय सूचक तिलमसा आदि रूप व्यंजनों से यह समन्वित थी। सुशीलता तथा पातिव्रत आदि गुणों का यह घर थी। (माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगा) मान, उन्मान और प्रमाण इन के अनुसार इसके समस्त अगपूर्ण थे। परिपूर्ण जल कुण्ड में प्रवेश करने पर द्रोण परिमित जल यदि उस कुंड से बाहर निकल आवे तो वह पुरुष अथवा स्त्री मान वाली कही जाती है। अर्थात् इसके शरीर की अवगाहना इतने मान प्रमाण थी। तुला पर आरोपित होने पर जिस स्त्री अथवा पुरुष का वजन अर्धभार प्रमाण निकलता है। तो वह उन्मान प्राप्त कहलाता है। अपने अंगुलों से १०८ अंगुल वाली बने हुए ऊंचाई

ધન વગેરેને સૂચવનારી હાથની શુભરેખાઓથી તેમજ ભાગ્યોદયના સૂચક તલમષા વગેરે રૂપ વ્યંજનોથી તે સંપન્ન હતી. શાલીનતા તેમજ પાતિવ્રત્ય વગેરે ગુણોનું તે ઘર હતી. (माणुम्माणप्पमाणपरिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगा) માન, ઉન્માન અને પ્રમાણ સહિત તેનાં બધાં અંગો પૂર્ણ હતાં સંપૂર્ણ રૂપથી ભરેલા પાણીના કુંડમાં પ્રવેશ્યા બાદ જો દ્રોણ પરિમાણ જેટલું પાણી તે કુંડમાંથી બહાર નીકળે તો તે પુરુષ અથવા સ્ત્રી 'માન' વાળી કહેવામાં આવે છે એટલે કે તેમના શરીરની અવગાહના અમુક જેટલા માન પ્રમાણવાળી હતી. ત્રાજવા ઉપર ચઢીને જે સ્ત્રી અથવા પુરુષ પોતાનું વજન કરાવતાં તેમનું વજન અર્ધભાર પ્રમાણ જેટલું થાય તો તે ઉન્માન પ્રાપ્ત કહેવાય છે પોતાના આંગળથી જ માપ કરવામાં આવે અને તે પુરુષ કે સ્ત્રી એકસો આઠ જેટલા આંગળના માપ જેટલી થાય તો તે પ્રમાણ પ્રાપ્ત કહેવાય છે એવી રીતે માન, ઉન્માન અને પ્રમાણ યુક્ત તેમના દરેકે

गमयोगसंप्रयुक्त , आयोगेन द्विगुणादिलिप्सया प्रयोग अधमर्णानां सविधे द्रव्यस्य वितरण, तेन युक्त । 'विच्छर्दितविपुलभक्तपान =यस्य गृहे भोजना वशिष्टैर्बहुभिरन्नपानैः क्षुधार्तानामनेकहीनदीनानां परिपोषणमभूदित्यर्थ ।

तस्य खलु धन्यस्य सार्थवाहस्य भद्रा नामभार्याऽभवत् सा कीदृशीत्याह-'सुकुमालपाणिपाया' सुकुमारपाणिपादा, तत्र सुकुमारौ कोमलौ पाणी च पादौ यस्या सा अतिकोमलकरचरणवतीत्यर्थः । 'अहीणपडिपुण्ण पंचिंदियसरीरा' अहीन प्रतिपूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरा, तत्र-'अहीण' अहीनानि लक्षणस्वरूपाभ्याम् 'पडिपुण्ण' प्रतिपूर्णानि, 'पंचिंदिय' पञ्चेन्द्रियाणि यस्मिन् तादृशं शरीरं यस्या सा तथा'लक्खणवंजणगुणोववेया' लक्षणव्यञ्जनगुणोपपेता, तत्र-'लक्खण' लक्षणानि लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते ज्ञायन्ते यैस्तानि शुभचिह्नानि-करस्थविद्याधनादि सूच

पास नाना प्रकार के बहुत अधिक थे। गाय भैंस आदि धन तथा चाँदी सोना भी इनके पास बहुत अधिक मात्रामें था। आयोग प्रयोग से ये युक्त थे-अर्थात् कर्जदारों के लिये ये द्विगुणित लेने की अभिलाषा से कर्ज दिया करते थे। भोजन के बाद जो विविध प्रकार की भोजन सामग्री बचती थी उसे ये बुभुक्षित, भूखे अनेक हीन प्राणियों में वितरित करवा दिया करते थे। अथवा भोजन करते समय इनके यहां इतना अधिक खाना उच्छिष्ट रूप में बचता था कि जिससे अनेक दीन हीनबुभुक्षित प्राणियों का पालन पोषण हो जाता था (तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स भद्दानामं भारिया होत्था) इन धन्य सार्थवाह की भद्रा नाम की धर्मपत्नी थी। (सुकुमाल पाणिपाया अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा लक्खणवंजणगुणोववेया) इनका शरीर सुकुमार हाथ चरण वाला था लक्षण एवं स्वरूप इन दोनों से इनका शरीर

વાહન પશુ એમની પાસે ઘણી જાતના અને પુષ્કળ પ્રમાણમાં હતાં ગાય ભેંસ વગેરે, પશુ ધન તેમજ ચાંદી સોનું પણ તેમની પાસે પુષ્કળ પ્રમાણમાં હતું આયોગ પ્રયોગથી તેઓ યુક્ત હતા એટલે કે વ્યાજુ આપતા હતા. જમ્યા પછી જે ઘણી જાતની ભોજનની સામગ્રીઓ વધતી તે સામગ્રીને તેઓ ભૂખ્યા ઘણા હીન, દીન, પ્રાણીઓમાં વહેંચાવી દેતા હતા. અથવા તો એમને ત્યાં એટલું બધું ખાધા પછી એઠું વધતું કે જેથી ઘણા ગરીબ દીન, ભૂખ્યા પ્રાણીઓનું ભરણ પોષણ થઈ જતું હતું (तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स भद्दा नामं भारिया होत्था) તે ધન્ય સાર્થવાહની ભદ્રા નામે ધર્મપત્ની હતી '(सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्ण पंचिंदियसरीरा लक्खणवंजणगुणोववेया) તે સુકોમળ હાથપગ વાળી હતી તેમજ લક્ષણ અને સ્વરૂપ આ બંનેથી તેમનું શરીર યુક્ત હતું (। વિદ્યા,

करेखारूपाणि, 'वंजण' व्यञ्जनानि, व्यज्यन्ते-सूच्यन्ते भाग्योदया यैस्तानि तिलमषादीनि 'गुण' गुणाः सौशील्यपातिव्रत्यादयस्तै 'उववेया' उपपेता-समन्विता, तत्र उप अप इत्युपसर्गयोः 'अप' इत्यत्राकारस्य पृषोदरादित्वाल्लोप। 'माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वगसुंदरगा' मानोन्मानप्रमाणपरिपूर्णसुजातसर्वाङ्गसुन्दराङ्गी तत्र= 'माण' मान=जलद्रोणप्रमाणता, तथाहि-परिपूर्णजलकुण्डे यस्य पुरुषस्य यस्या स्त्रियो वा प्रवेशे सति यदि द्रोणपरिमितं जलं बहिर्निस्सरति तदा स पुरुषः सा स्त्री वा मानप्राप्ता उच्यते, मानप्राप्ताया शरीरावगाहनाविशेषो मानमित्युच्यते। 'उम्माण' उन्मानम्, अर्धभारप्रमाणता साचेत्थम्-तुलायामारोपितो नरो नारी वा यद्यर्धभारप्रमाणा भवति तदा स पुरुषः सा स्त्री वा उन्मानप्राप्ता निगद्यते 'पमाण' प्रमाणं स्वाङ्गुलेनाष्टोत्तरशतोच्छ्राय, इत्थं च-मानं चोन्मानं च प्रमाण

युक्त था। (लक्खण) से विद्या, धन आदि की सूचक कर रथ शुभ रेखा रूप चिह्नों से, तथा भाग्योदय सूचक तिलमसा आदि रूप व्यजनों से यह समन्वित थी। सुशीलता तथा पातिव्रत आदि गुणों का यह घर थी। (माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वगसुंदरगा) मान, उन्मान और प्रमाण इन के अनुसार इसके समस्त अंग पूर्ण थे। परिपूर्ण जल कुण्ड में प्रवेश करने पर द्रोण परिमित जल यदि उस कुण्ड से बाहर निकल आवे तो वह पुरुष अथवा स्त्री मान वाली कही जाती है। अर्थात् इसके शरीर की अवगाहना इतने मान प्रमाण थी। तुला पर आरोपित होने पर जिस स्त्री अथवा पुरुष का वजन अर्धभार प्रमाण निकलता है। तो वह उन्मान प्राप्त कहलाता है। अपने अंगुल से १०८ अंगुल वाली यह हुई ऊँचाई

धन वगेरेने सूचवनारी हाथनी शुभरेखाओथी तेमज भाग्योदयना सूचक तलमषा वगेरे रूप व्यजनोथी ते संपन्न हती. शालीनता तेमज पातिव्रत्य वगेरे गुणोनु ते घर हती. (माणुम्माणप्पमाणपरिपुन्नसुजायसव्वगसुंदरगा) मान, उन्मान अने प्रमाण सहित तेना बधा अंगो पूर्ण हता संपूर्ण रूपथी भरेला पाणीना कुंडमा प्रवेश्या बाद जो द्रोण परिमाण जेटलु पाणी ते कुंडमाथी बहार नीकळे तो ते पुरुष अथवा स्त्री 'मान' वाळी कहेवामा आवे छे एटले के तेमना शरीरनी अवगाहना अमुक जेटला मान प्रमाणवाळी हती. त्राजवा उपर चढीने जे स्त्री अथवा पुरुष पोतानु वजन करावता तेमनु वजन अर्धभार प्रमाण जेटलु थाय तो ते उन्मान प्राप्त कहेवाय छे पोताना आगळथी ज माप करवामा आवे अने ते पुरुष के स्त्री एकसो आठ जेटला आगळना माप जेटली थाय तो ते प्रमाण प्राप्त कहेवाय छे एवी रीते मान, उन्मान अने प्रमाण युक्त तेमना हरेके

येत्यथा इह मानान्मानप्रमाणानि तैः प्रतिपूर्णानि-सम्पन्नानि, अतएव सुजातानि सुजातानि यथोचितावयवसन्निवेशवन्ति 'सव्व' सर्वाणि सकलानि, 'अंग' अङ्गानि-अवयवा अवयवते भागो येष्वानि मस्त कादारभ्य चरणान्तानि यस्मिंस्तत् अतएव 'सुंदरंगा' सुन्दराङ्गी-सुंदरमङ्ग वपुर्यस्याः सा तथा, 'ससिसोमागारा' शशिसौम्याकारा-शशी=चन्द्रस्तद्वत् सौम्यो-रमणीय आकार -स्वरूप यस्या सा 'कंता' कान्ता कमनीया। 'पिय दंसणा' प्रियदर्शना प्रिय दर्शकजनमनोह्लादक दर्शनमवलोकनं यस्या सा, अत एव 'सुरूवा' सुरूपा सर्वातिशायिरूपलावण्यवतीत्यर्थः 'करयलपरिमिय-तिवलीय मज्झा' करतलपरिमितत्रिवलिकमध्या करतलपरिमित =मुष्टिग्राह्यः, त्रिवलिकत्रि-वलिकत्रयोपेत रेखात्रयवान् 'मज्झा' मध्यभागो यस्या सा कृशोदरी तनु कटिश्चेत्यर्थ 'कुण्डलुल्लिहियगंडलेहा' कुण्डलोल्लिखितगण्डलेखा कुण्डलाभ्या-मुल्लिखिता उद्घृष्टा गण्डलेखा-कपोलावस्थितचन्दनादि रेखा यस्याः सा, कुण्डल शोभासम्पन्नेत्यर्थ। 'कोमुइ-रयणियरपडि पुण्णसोम्मवयणा' कौमुदी=कार्तिकी

वाला जिस पुरुष अथवा स्त्री का शरीर होता है वह प्रमाण प्राप्त कहलाता है। इस तरह मान उन्मान एव प्रमाण के अनुसार इसके समस्त शारीरिक अवयव थे अतएव वे यथोचित सन्निवेश विशिष्ट थे। मस्तक से लेकर चरण पर्यन्त उपांग अवयव कहलाते हैं। इसी कारण इनका शरीर बहुत अधिक सुन्दर था। (ससिसोमागारा कंता पियदंसणा सुरूवा करयलपरिमिय तिवलिय-मज्झा) चन्द्रमा के समान इसका आकार सौम्य था। अतः बहुत ही कमनीय थी। दर्शक जनों के मन को इनका अवलोकन आह्लादकारक था। यह सर्वातिशायी रूप लावण्य से युक्त थी इनका त्रिवली युक्त मध्य भाग इतना अधिक पतला था कि मुष्टि ग्राह्य हो जाता था। (कुंडलुल्लिहिय गंडलेहा कोमुइरयणियर-पडिपुण्णसोम्मवयणा सिंगारागारचारुवेसा जाव पडिरूवा बत्ता अविया उरी

દરેક અવયવો સપ્રમાણ અને યોગ્ય હતા. મસ્તકથી માંડીને પગ સુધી ઉપાંગ અવયવ કહેવાય છે એટલા માટે જ એમનું શરીર ખૂબજ સુંદર હતું (ससिसोमगारा कंता पियदंसणा सुरूवा करयलपरिमियतिवलियमज्झा) તેમની આકૃતિ ચન્દ્ર જેવી સૌમ્ય હતી. એથી તે ખૂબ જ કમનીય હતી. જોનારાઓ માટે તેમનું દર્શન આહ્લાદક હતું તે અતિશય રૂપ અને લાવણ્ય સંપન્ન હતી. તેમની ત્રિવલી યુક્ત કમર (મધ્ય ભાગ) એટલી બધી પાતળી હતી કે તેનો સમાવેશ મુઠ્ઠીમાં પણ થઈ શકતો હતો. (कुंडलुल्लिहियगंडलेहा कोमुइ-रयणियरपडिपुण्णसोम्मवयणा सिंगारागारचारुवेसा जाव पडिरूवा वंसा

पौर्णमासो तस्या रजनीकरश्चन्द्रस्तद्वत् प्रतिपूर्ण-सौम्य=आह्लादजनकं वदन-मुखं यस्याः सा तथा 'सिंगारागारचारुवेसा,' शृङ्गारागारचारुवेषा, शृङ्गारस्य प्रथमरसस्य अगारमिव-गृहमिव चारुवेषो यस्याः सा, यद्वा शृङ्गारो भूषणाटोपस्तत्प्रधान आकारो यस्याः सा तथा मनोहरनेपथ्या, अत्र पद द्वयस्य कर्मधारयः । 'जाव' यावत् 'पडिरूवा' प्रतिरूपा 'वंझा' वन्ध्या-अपत्यफलापेक्षया निष्फला, एकवार सन्तानमजाता जन्मपर्यन्तमपत्येनापि फलतो वन्ध्या भवति, अतएव 'अवियाउरी' देशी शब्दः, अविजनयित्री सर्वथा सन्तानाऽजननशीला सन्तानजननशक्तिरहिता, इत्यर्थः 'जाणु-कोप्परमाया' जानु कूर्परमाता, 'जाणु' जानुनी चरणयोर्मध्यभागौ 'कोप्पर' कूर्परौ करयोर्मध्यभागौ तेषामेव 'माया' माता-जननी चाप्यासीत् ॥सू. २॥

मूलम्—तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स पंथए नामं दासचेडे होत्था, सव्वंगसुंदरंगे मंसोवचिए बालकीलावणकुसले यावि होत्था, तए णं से धण्णे सत्थवाहे रायगिहे नयरे बहूणं नयरनियगसेट्ठि सत्थवाहाणं अट्ठारसण्ह य सेणिप्पसेणीणं बहुसु कज्जेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य जाव चक्खुभूए यावि होत्था, नियगस्स वि य णं कुडुंबस्स बहुसु य कज्जेसु जाव चक्खुभूए यावि होत्था ॥सू. ३॥

जाणुकोप्परमाया यावि होत्था) उसके कपोल मंडल पर जो चन्दनादिक की रेखा लगी रहती थी वह दोनों कानों के कुंडलों से घर्षित होती रहती थी। कार्तिकी पूर्णमासी के पूर्ण चंद्र मंडल के समान इनका सौम्य-आह्लाद जनक-मुख था। इसका सुन्दर वेष शृंगाररस के घर जैसा था। फिर भी यह इतनी त्रिभुवन सुन्दरी होने पर भी वंध्या थी। ऐसी वन्ध्या थी-कि इसके प्रारंभ से ही संतान नहीं हुई थी-संतान जननशक्ति से यह बिलकुल रहित थी। यह तो केवल जानु और कूर्पर-करके मध्यभाग टेहनी की माता थी। ॥सूत्र २॥

અવિયાઉરી જાણુકોપ્પરમાયા યાવિ હોત્થા) તેમના કપોલ ઉપર બનાવવામાં આવેલી ચન્દન રેખાએ, બંને કાનોમાં પહેરેલા કુંડળોથી ઘસાતી હતી. કાર્તિક પૂનમના ચન્દ્રમંડળની જેમ તેમનું મોં સૌમ્ય અને આહ્લાદજનક હતું. ત્રિભુવન સુંદરી હોવા છતાં તે વંધ્યા હતી. શરૂઆતથી જ તેને એકે સંતાન થયું ન હતું સંતાન જનન શક્તિ તેમનામાં સદંતર સમૂળ રૂપે હતી નહિ. એને તો સંતાન રૂપે ફક્ત ઢીંચણ અને કોણી જ હતા. ॥ સૂત્ર ૨ ॥

चेत्यपा इदं मानोन्मानप्रमाणानि तैः प्रतिपूर्णानि-सम्पूर्णानि, अतएव सुजाता सुजातानि यथोचिताचयवसन्निवेशवन्ति 'सव्व' सर्वाणि सकलानि, 'अंग' अङ्गानि-अज्यते व्यज्यते भागो यैस्तानि मस्त कादारभ्य चरणान्तानि यस्मिंस्तत्, अतएव 'सुंदरंगा' सुन्दराङ्गी-सुंदरमङ्ग वपुर्यस्या सा तथा, 'ससिसोमागारा' शशिसौम्याकारा-शशी=चन्द्रस्तद्वत् सौम्यो-रमणीय आकार -स्वरूपं यस्या सा 'कंता' कान्ता कमनीया। 'पिय दसणा' प्रियदर्शना प्रिय दर्शकजनमनोह्लादकं दर्शनमवलोकनं यस्या सा, अत एव 'सुरूवा' सुरूपा सर्वातिशायिरूपलावण्यवतीत्यर्थः 'करयलपरिमिय-ति वलीय मज्झा' करतल परिमितत्रिवलिकमध्या करतलपरिमित =मुष्टिग्राह्य , त्रिवलिकम्-वलित्रयोपेत रेखात्रयवान् 'मज्झा' मध्यभागो यस्या सा कृशोदरी वा कटिश्चेत्यर्थः 'कुंडलुल्लिहियगंडलेहा' कुण्डलोल्लिखितगण्डलेखा कुण्डलाभ्या मुल्लिखिता उद्घृष्टा गण्डलेखा-कपोलावस्थितचन्दनादि रेखा यस्याः सा, कुण्डल शोभासम्पन्नेत्यर्थः। 'कोमुइ-रयणियरपडि पुण्णसोम्मवयणा' कौमुदी=कार्तिकी

वाला जिस पुरुष अथवा स्त्री का शरीर होता है वह प्रमाण प्राप्त कहलाता है। इस तरह मान उन्मान एवं प्रमाण के अनुसार इसके समस्त शारीरिक अवयव थे अतएव वे यथोचित सन्निवेश विशिष्ट थे। मस्तक से लेकर चरण पर्यंत उपांग अवयव कहलाते हैं। इसी कारण इनका शरीर बहुत अधिक सुन्दर था। (ससिसोमागारा कंता पियदंसणा सुरूवा करयलपरिमिय तिवलिय मज्झा) चन्द्रमा के समान इसका आकार सौम्य था। अत बहुत ही कमनीय थी। दर्शक जनों के मन को इनका अवलोकन आह्लादकारक था। यह सर्वातिशायी रूप लावण्य से युक्त थी इनका त्रिवली युक्त मध्य भाग इतना अधिक पतला था कि मुष्टि ग्राह्य हो जाता था। (कुंडलुल्लिहिय गंडलेहा कोमुइरयणियर-पडिपुण्णसोम्मवयणा सिंगारागारचारुवेसा जाव पडिरूवा वंझा अवियाउरी

દરેક અવયવો સપ્રમાણ અને યોગ્ય હતા. મસ્તકથી માંડીને પગ સુધી ઉપાંગ અવયવ કહેવાય છે એટલા માટે જ એમનું શરીર ખૂબજ સુંદર હતું (ससि सोमगारा कंता पियदसणा सुरूवा करयलपरिमियतिवलियमज्झा) તેમની આકૃતિ ચન્દ્ર જેવી સૌમ્ય હતી. એથી તે ખૂબ જ કમનીય હતી. જોનારા ઓ માટે તેમનું દર્શન આહ્લાદ જનક હતું તે અતિશય રૂપ અને લાવણ્ય સંપન્ન હતી. તેમની ત્રિવલી યુક્ત કમર (મધ્ય ભાગ) એટલી બધી પાતળી હતી કે તેનો સમાવેશ મુઠ્ઠીમાં પણ થઈ શકતો હતો. (कुंडलुल्लिहियगंडलेहा कोमुइ-रयणियरपडिपुण्णसोम्मवयणा सिंगारागारचारुवेसा जाव पडिरूवा वंझा

भायतनेषु च कुटुम्बेषु च परिवारेषु च 'मन्त्रेषु' मन्त्रेषु-कर्तव्यनिश्चयार्थं गुप्तविचारेषु यावत् पु... मार्गदर्शकश्चासीत् 'नियगस्स वि' निजकस्यापि-स्वकीयस्यापि च खलु कुटुम्बस्य बहुषु च कार्येषु यावच्चक्षुर्भूतश्चासीत् ॥सू० ३॥

मूलम्—तत्थ णं रायगिहे नयरे विजए नामं तक्करे होत्था, पावे चंडालरूवे भीमतररुद्दकम्मे आरुसियदित्तरत्तनयणे खरफरुसमहल्लविगयबीभत्थदाढिए असंपुडियउट्ठे उद्धूयपइन्नलंबंतमुद्धए भमरराहुवन्ने निरणुक्कोसे निरणुतावे दारुणे पइभए निसंसइए निरणुकंपे अहिव्व एगंतदिट्ठिए खुरेव एगंतधाराए गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे अग्गिमिव सव्वभक्खी जलमिव सव्वगाही उक्कंचण-वंचणमाया-नियडि-कूड-कवड-साइ-संपओग-बहुले, चिरनगर विणट्ठदुट्ठसीलायारचरित्ते जूयपसंगी मज्जपसंगी, भोज्जपसंगी मंसपसंगी दारुणे हिययदारए साहसिए संधिच्छेयए उवहिए विस्संभघाई आलीयगतित्थभेयलहुहत्थसंपउत्ते परस्स दव्वहरणम्मि निच्चं अणुबद्धे तिव्ववेरे, रायगिहस्स नयरस्स बहूणि अइगमणाणि य निग्गमणाणि य दाराणि य अवदाराणि य छिंडीओ य खंडीओ य नगरनिद्धमणाणि य संवट्टणाणि य निवट्टणाणि य जूयखलयाणि य पाणागाराणि वेसागाराणि य तद्दारट्ठाणाणि य तक्करट्ठाणाणि य तक्करघराणि य सिंगाडगाणि य तियाणि य चउक्काणि य चच्चराणि य नागघराणि य भूयघराणि य जक्खदेउलाणि य सभाणि य पवाणि य पणियसालाणि य सुन्न

भयोगी शब्द से यहाँ लो गई है। (नियगस्स वि य णं कुडुंबस्स बहुसु य कज्जेसु जाव चक्खुभूए यावि होत्था) तथा अपने निज कुटुम्ब के भी अनेक कार्यआदि में चक्षुभूत थे मार्गदर्शक थे। ॥सूत्र ३॥

नियग कुडुंबस्स बहुसु य कज्जेसु जाव चक्खुभूए यावि होत्था) तेमज पोताना कुटुंबना घणा कामोमां तेओ मार्गदर्शन तरीके हता. ॥ सूत्र ३ ॥

टीका— तस्स णं इत्यादि—तस्य खलु धन्यस्य सार्थवाहस्य पन्थकनामा दासचेटक—दासपुत्र आसीत् सर्वाङ्गसुन्दराङ्ग, मांसोपचित—पुष्टशरीर, बालक्रीडनकुशल—बालान् क्रीडयितु दक्षश्चाप्यभवत्। तदनु खलु स धन्यः सार्थवाहस्तस्मिन् राजगृहे नगरे बहूनां 'नयरनिगमसेट्ठिसत्थवाहाणं' नगर निगमश्रेष्ठिसार्थवाहानाम्, तत्र 'नयर' नगरस्य=राजगृहस्य, 'निगम' निगमस्य=वणिग्ग्रामस्य 'सेट्ठि' श्रेष्ठिन —सार्थवाहाश्च, एतेषां च पुन 'अट्ठारसण्ह य' अष्टादशानाम् 'सेणिप्पसेणीण' श्रेणिप्रश्रेणीनाम्, तत्र सेणि' श्रेणय कुम्भकारादिजातयः 'पसेणी' प्रश्रेणय —अवान्तरजातिरूपास्तासां बहुषु कार्येषु—

'तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स' इत्यादि।

टीकार्थ—(तस्स णं धण्णस्स) उस धन्य सार्थवाह के यहां (पथए णाम दासचेडे होत्था) पथक नामका एक दास पुत्र था (सव्वंगसुंदरंगे) यह सर्वांग सुंदर था। (मंसोवचिए) पुष्टशरीर वाला था। (बालकीलावणकुसले यावि होत्था) बालकों के खिलाने में बड़ा चतुर था। (तएणं से धण्णे सत्थवाहे रायगिहे नयरे बहूणं नयरनियगसेट्ठिसत्थवाहाणं अट्ठारसण्ह य सेणिप्पसेणीण बहुसु कज्जेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य जाव चक्खुभूए यावि होत्था) वह धन्य सार्थवाह राजगृह नगर में अनेक नगर निवासी वणिक्जनों को—श्रेष्ठिजनों को सार्थवाहों को तथा अठारह श्रेणी प्रश्रेणियों को बहुत से कार्यों में अनेक परिवारों में अनेक मंत्रणाओं में—गुप्त विचारों में यावत् चक्षुभूत थे मार्ग दर्शक थे। कुंभकार आदि जातियां श्रेणी शब्द से और अवान्तरजातियां

तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तस्स णं धण्णस्स) ते धन्य सार्थवाहने त्यां (पथए णाम दास चेडे होत्था) पथक नामे એક દાસ પુત્ર હતો. (सव्वंगसुंदरंगे) ते सर्वांग सुंदर હતો. (मंसोवचिए) સુડોળ શરીર વાળો હતો (बालकीलावणकुसले यावि होत्था) બાળકોને રમાડવામાં તેઓ જ કુશળ હતો. (तएणं से धण्णे सत्थवाहे रायगिहे नयरे बहूणं नयरनियगसेट्ठिसत्थवाहाणं अट्ठारसण्ह य सेणिप्पसेणीण बहुसु कज्जेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य जाव चक्खुभूए यावि होत्था) ते धन्य सार्थवाह राजगृह નગરમાં ઘણા નગરના વણિકો, શ્રેષ્ઠિજનો, સાર્થવાહો તેમજ અઢાર શ્રેણી પ્રશ્રેણીઓને ઘણા કામોમાં ઘણા કુટુંબોમાં, અનેક જાતની મંત્રણાઓમાં, ગુપ્ત વિચારોમાં યાવત ચક્ષુભૂત હતા એટલે કે માર્ગદર્શક હતા. કુંભાર વગેરેની જાતને અહીં શ્રેણી શબ્દથી અને પેટા જાતને પ્રશ્રેણી શબ્દ દ્વારા બતાવવામાં આવી છે (नियगस्स

फणचवउवलियगवीभच्छदाढिए' स्फटकजनकाष्ठिकावीभत्सदंष्ट्रिक', तत्र-'खपुरुषे=अतिकर्कशे 'महल्ल' महत्यौ=अतिविशाले 'विगय' विकृते=शोभा वर्जिते 'वीभत्थ' वीभत्से=जुगुप्साजनके 'दाढि' दंष्ट्रिके=दाढिके कूर्चादिवकेशगुच्छरूपे वा यस्य स –कर्कशविकटजुगुप्सितदाढिकायुक्तः, खपरुषमहाविकटवीभत्स दन्तो वा। 'असपुडियउट्ठे' असंपुटितौष्ठ, असंपुटितौ, असंवृतौ वा परस्परासंमिलितौ स्फाटितौ ओष्ठावधु वाग्वनदीर्घत्वावोष्ठौ यस्य स स्फाटित मुख इत्यर्थः। 'उद्धयपइन्नलवतमुद्धए' उद्धत प्रकीर्णलम्बमानमूर्धज, तत्र-उद्धूय उद्धूता =वायुप्रकारस्मचलिता अत एव-'पइन्न' प्रकीर्णा =इतस्ततो विक्षिप्ता' लंबत' लम्बमाना:=भर प्रसर्पतः 'मुद्धए' मूर्धजा'=केशा यस्य स तथा। 'भमरराहुवन्ने' भ्रमरराहुवर्ण –भ्रमरराहुर्वेग इव वर्णो यस्य स –अत्यन्तकृष्णवर्ण इत्यर्थ। 'निरणुक्कोसे' निरनुक्रोश =निर्दय, निरणुतावे' निरनुताप = पाप कृत्वा पश्चात्तापरहित अनएव 'दारुणे' दारुण =क्रूर। 'पइ-

भी अतिशय कठोर थीं, बहुत विशाल थीं, शोभा रहित थी, तथा जुगुप्साजनक थी–अथवा इस की दाढी के बाल कठोर थे, बहुत घने थे, शोभासे रहित थे और घृणा उत्पादक थे। (असपुडिय उट्ठे उद्धय, पइन्नलंबतमुद्धए, भमरराहुवन्ने, निरणुक्कोसे, निरणुतावे दारुणे पइभए) दांतों को दीर्घ होने के कारण इसके ओष्ठ परस्पर में मिले हुए नहीं थे–किन्तु खुले हुए थे। इसके मस्तक पर जो केश थे–वे पवन में इधर उधर उडते, इसलिये फैले हुए थे बधे हुए नहीं थे। तथा बहुत बढे हुए थे। इसका शारीरिक वर्ण राहु तथा भ्रमर जैसा अत्यन्त काला था। दया से यह सर्वथा रहित था। पाप करके भी इसके हृदय में पश्चात्ताप का भाव उत्पन्न नहीं होता था। इसलिये क्रूर प्रकृति का था।

भयंकर હતી. તેની દાઢી ખૂબજ કઠોર હતી, વધુ મોટી હતી, શોભા વગરની હતી. તેમજ ઘૃણાજનક હતી, અથવા તો તેની દાઢીના વાળ કઠોર હતા, સઘન હતા, શોભા વગરના હતા અને ઘૃણાજનક હતા (असंपुडियउट्ठे उद्धूयपइन्नलंबंत मुद्धए, भमरराहुवन्ने निरणुक्कोसे, निरणुतावे दारुणे पइभए) તેના દાંત લાંબા હતા તેથી બંને હોઠ એક બીજાના સ્પર્શ વગર દૂર જ રહેતા હતા. તે હમેશાં ખુલ્લા જ રહેતા હતા. તેના માથાના વાળ પવનને લીધે અસ્તવ્યસ્ત થઈને ઉડતા હતા, એથી તેઓ ફેલાઈ જતા હતા. તેના વાળ બાંધેલા રહેતા જ ન હતા અને તે બહુ જ વધેલા હતા, તેના શરીરનો રંગ રાહુ અને ભ્રમર જેવો કાળો મેશ જેવો હતો. તે તદ્દન નિર્દય હતો. પાપ કરવા છતાં તેના મનમાં પસ્તાવો થતો ન હતો. એટલા માટે તે ક્રૂર પ્રકૃતિનો હતો તેને જોવાની સાથે જ પ્રાણીઓના

घराणि य आभोएमाणीए मग्गमाणे गवेसमाणे बहुजणस्स छिद्देसु य विसमेसु य विहुरेसु य वसणेसु य अब्भुदएसु य उस्सवेसु य पसवेसु य तिहीसु य छणेसु य जन्नेसु य पव्वणीसु य मत्त--पमत्तस्स य विक्खि त्तस्स य वाउलस्स य र हियस्स य दुक्खियस्स विदेसत्थस्स य विप्प वसियस्स य मग्गं च छिद्द च विरह च अतर च मग्गमाणे गवेस- माणे एव च ण विहरइ, बहि ा वि य ण रायगिहस्स नगरस्स आरा मेसु य उज्जाणेसु य वावि पोक्खरिणी--दीहियागुंजालिया सरेसु य सरपंतियासु य सरसरपंतियासु य जिण्णुज्जाणेसु य भग्गकूवएसु य मालुयाकच्छएसु य सुसाणएसु य गिरिकंदरलेणउवट्ठाणेसु य बहुजणस्स छिद्देसु य जाव एव च णं विहरइ ॥सू ४॥

टीका--'तत्थ ण' इत्यादि। तत्र खलु राजगृहे नगरे विजयनामा तस्कर =चौर होत्था=आसीत्। स कीदृश ? इत्याह--'पावे' इति, पाप= पापकर्मा चाण्डालरूप =चाण्डालसदृशः, भीमतररुद्दकम्मे' भीमतररुद्रकर्मा-चाण्डालकर्मापेक्षयाऽपि भीमतराणि=भयङ्कराणि रौद्रकर्माणि हिंसादिक्रूरकर्माणि यस्य स तथा, 'आरुसियदित्तरत्तनयणे' आरुषितदीप्तरक्तनयन , तत्र--'आरुसिय' आरुषितम्येव 'दित्त' दीप्ते=विकराले 'रत्त' रक्त नयने यस्य स तथा, 'खर

'तत्थ ण रायगिहे नयरे विजए नाम तक्करे होत्था' इत्यादि।

टीका--(तत्थ णं रायगिहे नयरे) उसी राजगृह नगर में विजय नामका चौर था (पावे चंडालरूवे भीमतररुद्दकम्मे आरुसियदित्तरत्तनयणे, खरफरुस महल्लविगयबीभत्थदाढिए) यह पापी था। चांडाल जैसा था। इसके हिंसा दिक क्रूर काम चांडाल के कार्य की अपेक्षा भी बहुत भयकर थे। इसके नेत्र क्रोधी पुरुष के नेत्र जैसे लाल थे, और महा विकराल थे दाढे इस

टीकार्थ--(तत्थणं रायगिहे नयरे) ते राजगृहनगरमां (विजएनाम तक्करे होत्था) विजय नामे चोर रहेतो हतो. (पावे चंडालरूवे भीमतर रुद्दकम्मे आरुसियदित्तरत्तनयणे, खरफरुस-महल्ल-विगय-बीभत्थ दाढिए) ते पापी हतो. चंडाळ जेवो हतो. हिंसा वगेरे तेनां क्रूर कर्मो चंडाळ करता पण भयंकर हता. तेनी आंखो क्रोधी माणसना जेवी लाल हती अने ते

फरुसरोमविगयबीभच्छदाढिए' खरपरुषमहाविकृतबीभत्सदंष्ट्रिक', तत्र-'खरपुरुषे=अतिकर्कशे 'महल्ल' महत्यौ=अतिविशाले 'विगय' विकृते=शोभा वर्जिते 'बीभत्थ' बीभत्से=घृणाजनके 'दाढि' दंष्ट्रिके=दाढिके श्मश्रुर्वद्धितकेशगु च्छरूपे वा यस्य स -कर्कशविकृतघृणितदाढिकायुक्त, खरपरुषमहाविकृतबीभत्स दन्तो वा। 'असपुडियउट्ठे' असंपुटितौष्ठ, असंपुटितौ, असंगतौ वा यस्य रासमिलितौ स्फाटितौ ओष्ठावुभु वाऽदन्तदीर्घत्वाचौष्ठौ यस्य सः स्फाटित मुख इत्यर्थ । 'उद्धुयपइन्नलंबतमुद्धए' उद्धृत प्रकीर्णलम्बमानमूर्धज, तत्र-उद्धुय उद्धूता =वायुभरस्वात्प्रचलिता अत एव-'पइन्न' प्रकीर्णा =इतस्ततो विक्षिप्ता 'लंबत' लम्बमाना =अध प्रसर्पन्त 'मुद्धय' मूर्धजा=केशा यस्य स तथा। 'भमरराहुवन्ने' भ्रमरराहुवर्ण -भ्रमरराहुभ्यामिव वर्णो यस्य स -अत्यन्तकृष्णवर्ण इत्यर्थ । 'निरणुक्कोसे' निरनुक्रोश =निर्दय, निरणुतावे' निरनुताप = पाप कृत्वा पश्चात्तापरहित अतएव 'दारुणे' दारुण =क्रूर । "पइ-

थी अतिशय कठोर थीं, बहुत विशाल थी,शोभा रहित थी, तथा घृणा-जनक थी-अथवा इस की दाढी के बाल कठोर थे, बहुत घने थे, शोभासे रहित थे और घृणा उत्पादक थे। (असंपुडिय उट्ठे उद्धुय, पइन्नलंबतमुद्धए,भमरराहुवन्ने, निरणुक्कोस, निरणुतावे दारुणे पइभए) दांतों को दीर्घ होने के कारण इसके ओष्ठ परस्पर में मिले हुए नहीं थे-किन्तु खुले हुए थे। इसके मस्तक पर जो केश थे-वे पवन में इधर उधर उडते, इसलिये फैले हुए थे बधे हुए नहीं थे। तथा बहुत बढे हुए थे। इसका शारीरिक वर्ण राहु तथा भ्रमर जैसा अत्यन्त काला था। दया से यह सर्वथा रहित था। पाप करके भी इसके हृदय में पश्चात्ताप का भाव उत्पन्न नहीं होता था। इसलिये क्रूर प्रकृति का था।

મહાભયંકર હતી. તેની દાઢી ખૂબજ કઠોર હતી, ઘણી મોટી હતી, શોભા વગરની હતી,તેમજ ઘૃણાજનક હતી, અથવા તો તેની દાઢીના વાળ કઠોર હતા, સઘન હતા, શોભા વગરના હતા અને ઘૃણાજનક હતા (असंपुडियउट्ठे उद्धुयपइन्नलंबत मुद्धए, भमरराहुवन्ने निरणुक्कोसे, निरणुतावे दारुणे पइभए) તેના દાંત લાંબા હતા તેથી બંને હોઠ એક બીજાના સ્પર્શ વગર દૂર જ રહેતા હતા. તે હમેશાં ખુલ્લા જ રહેતા હતા. તેના માથાના વાળ પવનને લીધે અસ્તવ્યસ્ત થઈને ઉડતા હતા, એથી તેઓ ફેલાઈ જતા હતા. તેના વાળ બાંધેલા રહેતા જ ન હતા અને તે બહુ જ વધેલા હતા, તેના શરીરનો રંગ રાહુ અને ભમરા જેવો અથવા મેશ જેવો હતો. તે તદ્દન નિર્દય હતો. પાપ કરવા છતાં તેના મનમાં પસ્તાવો થતો ન હતો. એટલા માટે તે ક્રૂર પ્રકૃતિનો હતો તેને જોતાની સાથે જ પ્રાણીઓના

भए' भतिभय =भयोत्पादकः। निसंसिए' नृशंसक । 'निरणुकंपे' निरनुकम्पः=दयागुणवर्जित । 'अहिव्वएगंतदिट्ठिए' अहिरिवैकान्तदृष्टिकः, भुजग इव क्रूरकर्मकरणे एकाग्रत्वलक्षण एकान्ता=एक निश्चया दृष्टिः=विचारसरणि र्यस्य स तथा। खुरेव एगंतधारए'क्षुर इव एकान्तधारक, क्षुरो=नापितशस्त्रविशेष 'उस्तरा' इति भाषायाम्, तद्वत् 'एगंत' एकान्तेन=तीव्रत्वात्सर्वप्रकारेण परस्वापहरणे 'धारा' धारा=परोपतापनरूपा परिणामधारा यस्य स, सर्वस्वापहारीत्यर्थः 'गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे' गृद्ध इव-आमिष तल्लिप्स गृद्ध इव-गृध्रपक्षिवत् आमिस, आमिष=शब्दादिविषये 'तल्लिच्छे' तल्लिच्छ = तत्पर 'तल्लिच्छे' इति तत्परार्थो देशी शब्द । अथवा आमिषे=विषयभोगादिके सा=अत्युत्कटा लिप्सा यस्य स –कामभोगे तीव्राभिलाषोत्यर्थः । 'अग्गिमिव सव्वभक्खी' अग्निरि व सर्वभक्षी=भक्ष्याभक्ष्यसर्वभोजी सर्वजनलुण्टको

इसे देखते ही जीवों के हृदयमें भय का संचार हो जाता था। (निसंसइए निरनुकंपे अहिव्वएगंतदिट्ठीए, खुरेव एगंतधारए, गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे) यह स्वभावत नृशंसक (घातक) था निरनुकंपे–दयागुण वर्जित था। सर्प की तरह क्रूर कर्म करने में इस की विचारसरणि एक निश्चय वाली होती थी, क्षुरा–उस्तरा के समान यह सर्व प्रकार से परकीय वस्तुओं के हरण करने में परोपतापनरूप परिणाम धारावाला था। गिद्धपक्षी की तरह यह शब्दादि विषयरूप आमिष में अथवा कामवासना में तत्पर रहा करता था। (अग्गिमिव सव्वभक्खी जलमिवसव्वगाही उक्कचण, वंचण, माया नियडि, कूड, कवड, साइ, संपओग, बहुले चिरणगरविणट्ठदुट्ठ सीलायारचरित्ते, जूयपसंगी, मज्जपसंगी भोज्ज, पसंगी, मंसपसंगी दारुणे हिययदारए) अग्नि के समान यह सर्व भक्षी था, अथवा लक्षणों से सर्व जीवों को

भन भयभीत थई जता हता. (निसंसइए निरनुकंपे अहिव्व एगंतदिट्ठिए खुरेव एगंतधारए, गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे) स्वभावथी ज ते नृशंस अने घातक हतो. (निरनुकंपे) निर्दय हतो सापनी जेम क्रूर कर्मोमां प्रवृत्त थनारा तेना विचारो दृढ निश्चयवाळा हता अस्तरानी जेम ते बधी रीते बीजाओनी वस्तुओने हरी लेवामां परोपतापन रूप परिणाम वाळो हतो. गीधनी जेम शब्द वगेरे विषय रूप आमिषमा अथवा कामवासना जेवी बाबतमां ते हमेशां तैयार रहेतो हतो. (अग्गिमिव सव्वभक्खी जलमिव सव्वगाही उक्कचण, वंचण, माया नियडि, कूड, कवड, साइसपओग, बहुले, चिरणगरविणट्ठदुट्ठ सीलायारचरित्ते, जूयपसंगी, मज्जपसंगी भोज्जपसंगी मंसपसंगी दारुणे हियय दारए) अग्निना जेवो ते सर्वभक्षी हतो अथवा ते बधा प्राणीओने लूटनार

था। 'जलमिव सव्वग्गाही' जलमिव सर्वग्राही-यथा जल स्वविषयमात्र सर्वं स्वान्तर्गतं करोति तथैवासौ सर्वं सर्वस्मादपहरति। 'उक्कंचण वंचणमायानियडिकूडकवडसाइसंपओगबहुले' उत्कञ्चनवञ्चनमाया-निकृति कूटकपटसातिसंप्रयोगबहुल, तत्र-'उक्कंचण' उत्कञ्चन=स्वपरगुणाभावेऽपि गुणोत्कीर्तनम्, 'वंचण' वञ्चन-छलकरण, माया=परवञ्चनम्, 'नियडि' निकृति=मायाऽऽच्छादनार्थं पुनर्मायाकरण-परघृत्या गर्तकरणनिवारणम्, 'कूड' कूटं परवञ्चनार्थं तुलादेर्न्यूनाधिककरणम् 'कवड' कपटम्=वेषभाषाविपर्ययकरणम्, एभिरुत्कञ्चनादिभि सह 'साइसंपओग' सातिसंप्रयोग -अतिशयेन योगस्तेन यो बहुल=व्याप्त सकलकूटकपटादि भाण्डागार इत्यर्थ। 'चिरनगरविणट्ठदुट्ठसीलायारचरित्ते' चिरनगरविनष्टदुष्टशीलाचार-

---

लूटने वाला था। जल की तरह सर्वग्राही था अर्थात् जल जिस प्रकार अपने म पडे हुए पदार्थ को अपने भीतर ले जाता है-उसी प्रकार यह भी दूसरों के पास से समस्त चीजों का अपहरण कर अपने पास रख लेता था। अपने भीतर जो गुण नहीं थे उनकी भी यह अपने मं हैं इस तरह की प्रशसा किया करता था। वचना-छल करने में यह विशेषपटु-चतुर था, माया परवचन में बहुत होशियार था-निकृति अपने मायाचारीको दबाने में दुबारा माया करने में बडा ही सिद्धहस्त था। तुला आदि का न्यूनाधिक करना इसका नाम कूट है, वेष आदि को बदलना इसका नाम कपट है इन सबके करने में यह प्रख्यात था। अर्थात् इन उत्कचन माया, निकृति कूट, कपट का यह भण्डार था। चिरकाल से यह नगर से बाहर रहता था। इसलिये इसका स्वभाव दुष्ट हो गया था। आचार-कुल मर्यादारूप

હતો પાણીની જેમ તે સર્વગ્રાહી હતો— એટલે કે પાણી જેમ તેમા પડી ગયેલા બધા પદાર્થો તે પોતાની અદર લઈ જાય છે, તે પ્રમાણે જ તે ચોર પણ બીજાઓની પાસેથી બધી વસ્તુઓ ચોરીને તેની પાસે સગ્રહી રાખતો હતો. જે ગુણો તેમા હતા તેમની પણ બીજાઓની સામે પ્રશસા કરતો રહેતો હતો. બીજાને છેતરવામાં તે પાવધો હતો. માયા—એટલે કે બીજાને ઠગવામા તે ખૂબ જ કુશળ હતો. નિકૃતિ—એટલે કે માયા ચોરાને પરાજિત કરવામા તે બીજી વખત માયા (પર વચન) કરવામા બહુ જ ચતુર હતો. ત્રાજવા વગેરેને આસાનીથી ન્યૂનાધિક કરવુ તેનુ નામ કૂટ છે વેષભૂષા વગેરે બદલવી તે કપટ કહેવાય છે આ માટે તે પ્રખ્યાત હતો. એટલે કે ઉત્કચન, વચન, માયા, નિકૃતિ, કૂટ, કપટનો તે ખજાનો હતો. લાબા વખતથી તે નગરની બહાર જ રહ્યા કરતો હતો. એટલા માટે સ્વભાવે

भए' प्रतिभय =भयोत्पादकः। निसंसिए' नृशंसकः। 'निरणुकंपे' निरनुकम्पः=दयागुणवर्जित । 'अहिव्वएगन्तदिट्ठिए' अहिरिवैकान्तदृष्टिकः, भुजङ्ग इव क्रूरकर्मकरणे एकाग्रतालक्षण एकान्ता=एक निश्चया दृष्टि'=विचारसरणि र्यस्य स तथा। खुरेव एगतधारए'क्षुर इव एकान्तधारकः, क्षुरो=नापितशस्त्रविशेष 'उस्तरा' इति भाषायाम्, तद्वत् 'एगत' एकान्तेन=तीव्रत्वात्सर्वप्रकारेण परस्वापहरणे 'धारा' धारा=परोपतापनरूपा परिणामधारा यस्य स, सर्वस्वापहारीत्यर्थं 'गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे' गृद्ध इव-आमिष तल्लिप्स गृद्ध इव-गृद्धपक्षिवत् आमिष, आमिषे=शब्दादिविषये 'तल्लिच्छे' तल्लिप्स = तत्पर 'तल्लिच्छे इति तत्परार्थो देशी शब्द । अथवा आमिषे=विषयभोगादिके सा=अत्युत्कटा लिप्सा यस्य स -कामभोगे तीव्राभिलाषोत्यर्थं । 'अग्गिमिव सव्वभक्खी' अग्निरिव सर्वभक्षी=भक्ष्याभक्ष्यसर्वभोजी सर्वजनलुण्टको

इसे देखते ही जीवों के हृदयमें भय का संचार हो जाता था। (निसंसए निरनुकंपे अहिव्वएगतदिट्ठीए, खुरेव एगतधारए, गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे) यह स्वभावतः नृशंसक (घातक) था निरनुकंपे-दयागुण वर्जित था। सर्प की तरह क्रूर कर्म करने में इस की विचारसरणि एक निश्चय वाली होती थी, क्षुरा-उस्तरा के समान यह सर्व प्रकार से परकीय वस्तुओं के हरण करने में परोपतापनरूप परिणाम धारावाला था। गिद्धपक्षी की तरह यह शब्दादि विषयरूप आमिष में अथवा कामवासना में तत्पर रहा करता था। (अग्गिमिव सव्वभक्खी जलमिवसव्वग्गाही उक्कचण, वचण, माया नियडि, कूड, कवड, साइ, संपओग, बहुले, चिरणगरविणटुदुट्ठ सीलायारचरित्ते, जूयपसंगी, मज्जपसंगी भोज्ज, पसंगी, मंसपसंगी दारुणे हिययदारए) अग्नि के समान यह सर्व भक्षी था, अथवा लक्षणे से सर्व जीवों को

મન ભયભીત થઈ જતા હતા. (નિસંસए निरनुकंपे अहिव्व एगंतदिट्ठिए खुरेव एगंतधारए, गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे) સ્વભાવથી જ તે નૃશંસ અને ઘાતક હતો. (निरनुकंपे) નિર્દય હતો સાપની જેમ ક્રૂર કર્મમાં પ્રવૃત્ત થનાર તેના વિચારો દૃઢ નિશ્ચયવાળા હતા. અસ્તરાની જેમ તે બધી રીતે બીજાઓની વસ્તુઓને હરી લેવામાં પરોપતાપન રૂપ પરિણામ વાળો હતો. ગીધની જેમ શબ્દ વગેરે વિષય રૂપ આમિષમાં અથવા કામવાસના જેવી બાબતમાં તે હમેશા તૈયાર રહેતો હતો. (अग्गिमिव सव्वभक्खी जलमिव सव्वग्गाही उक्कचण, वंचण, माया नियडि, कूड, कवड, साइसंपओग, बहुले, चिरणगरविणट्ठदुट्ठ सीलायारचरित्ते, जूयपसंगी, मज्जपसंगी भोज्जपसंगी मंसपसंगी दारुणे हियय दारए) અગ્નિના જેવો તે સર્વભક્ષી હતો અથવા તે બધા પ્રાણીઓને લૂંટનાર

मान्तक पद प्राकृतत्वात्' 'तित्थभयलहुहत्थसपउत्त' तीर्थभेदलघुहस्तसंप्रयुक्तः, 'तित्थभय' तीर्थभेदे=धर्मध्वंसने धर्मस्थानध्वंसने वा लघुहस्तसंप्रयुक्त = हस्तलाघवयुक्त अतिकुशल इत्यर्थः । 'परस्स दव्वहरणम्मि निच्च अणुबद्धे' परस्य द्रव्यहरणे नित्यमनुबद्ध =आसक्त । 'तिव्ववेर' तीव्रवैर.= उत्कट विरोधवान् स राजगृहस्य नगरस्य बहूनि 'अइगमणाणिय' अतिगमनानि= प्रवेशमार्गा 'निग्गमणाणि' निर्गमनानि=निस्सरणमार्गा , 'दाराणि' द्वाराणि= नगरद्वाराणि, 'अवदाराणि' अपद्वाराणि—लघुद्वाराणि गुप्तद्वाराणि वा , 'छिंडीओ' छिण्डी =वृतिछिद्रारूपा कण्टक प्राकारछिद्राणीत्यर्थः, 'खडीओ' खण्डी = दुर्गछिद्राणि, 'नगरनिद्धमणाणि' नगरनिर्द्धमनानि=नगरजलनिर्गमनद्वाराणि, 'संवट्टगाणि' संवर्तनानि=अनेकमार्गसङ्गमस्थानानि 'निव्वट्टणाणि' निर्वर्तनानि= नूतननिर्मितमार्गरूपाणि, 'जूयखलयाणि' द्यूतखलकानि=द्युतक्रीडास्थानानि, 'पाणाणि' पानागाराणि' मदिरास्थानानि, 'वेस्सागाराणि' वेश्यागाराणि=

तीर्थ भेद लघु हस्त सम्प्रयुक्त था—अर्थात् धर्मस्थान का नष्ट करने में यह अति कुशल था। (परस्स दव्वहरणम्मि निच्च अणुबद्धे) दूसरों के द्रव्य हरण में यह आसक्त रहता था। (तिव्ववेरे) तीव्र वैर वाला था। (रायगिहस्स नयरस्स बहूणि अइगमणाणि य निग्गमणाणि य दाराणि य अव दाराणि य छिंडीओ य खंडीओ य नगरनिद्धमणाणि य) यह राजगृहनगरके अनेक प्रवेशमार्गों को जाने के मार्गों को वहां के अनेक द्वारों को छोटेर द्वारों को—अथवा गुप्त द्वारों को कांटों की लगी हुई वाडके छिद्रों को जल के निकलने की नालियों को (संवट्टणाणि) अनेक मार्गों के संगमस्थानों को (निव्वट्टणाणि) नूतननिर्मित मार्गों को (जूयखलयाणि जुवा के खेलने के स्थानों को (पाणागाराणि) मदिरा पीने के स्थानों को (वेस्सागाराणि)

વિચાર પણ ઉત્પન્ન થતા હતા કે આ હું કેવું કૃત્ય કરી રહ્યો છું તે ' તીર્થભેદ લઘુહસ્ત સંપ્રયુક્ત ' હતો—એટલે કે ધર્મસ્થાનને નષ્ટ કરવામાં તે અતિકુશળ હતો. (परस्सदव्व हरणम्मि निच्च अणुबद्धे) પારકાના દ્રવ્યને હરવામાં જ તે આસક્ત રહ્યા કરતો હતો. (तिव्ववेरे) તે ભયંકર રીતે વેર (દુશ્મનાવટ) રાખનાર હતો. (रायगिहस्स नयरस्स बहूणि अइगमणाणि निग्गमणाणि य दाराणिय अव दाराणि य छिंडीओ य खंडीओ य नगरनिद्धमणाणि य) રાજગૃહ નગરના ઘણા પ્રવેશ માર્ગોને અવર જવરના રસ્તાઓને, ત્યાં ના ઘણા દરવાજાઓને, નાના દરવાજાઓને અથવા તો ગુપ્ત દરવાજાઓને, છીંડાને, વાડના છિદ્રોને, કિલ્લાના છિદ્રોને પાણીની નળીઓને. (संवट्टणाणि) ઘણા રસ્તાઓ ભેગા થતા હોય તેવા સ્થાનોને (निवट्टणाणि) નવા બનાવવામાં આવેલા રસ્તાઓને (जूय खलयाणि) જુગારના અડ્ડાઓને, (पाणागाराणि) દારૂ પીવાના સ્થાનોને, (वेस्सागाराणि)

चारित्रः, तत्र- चिर' चिर=बहुकाल यावत् 'नगर' नगरात् 'विणट्ठ' विनष्ट = प्लावित, अत एव 'दुट्ठ' दुष्टं शील=स्वभाव, आचार कुलमर्यादालक्षण, चरित्र=जीवनव्यवहाररूप यस्य स तथा। 'जूयपसंगी' द्यूतप्रसङ्गी=द्यूतक्रीडासक्त 'मज्जप्पसंगी' मद्यप्रसङ्गी=मद्यपायी, 'भोज्जप्पसंगी' भोज्यप्रसङ्गी=खण्ड खाद्यादिरसलोलुप। 'भोगप्रसङ्गी' इति पाठ गणिकापरायण इति। 'मंसप्पसंगी' मांसप्रसङ्गी=मांसाहारी, उपलक्षणात् सप्तव्यसनसेवी। 'दारुणे' दारुण =कठोर हृदय। 'हिययदारए' हृदयदारक –अन्येषां हृदयविदारक। साहसिए' साहसिक =अविचारकारी। सधिच्छेयए' सन्धिच्छेदक.–क्षत्रखानक =गृहादिभित्ति भेदक 'उवहिए' औपधिक'समायित्वेन प्रच्छन्नचारी। 'विस्संभघाई' विस्रम्भघाती=विश्वासघातकः। 'आलीवग' आदीपक=ग्रामादिप्रज्वालकः लुम्पग

व्यवहार इसका बिलकुल नष्ट भ्रष्ट हो गया था, और चरित्र इसका बिलकुल पतित बन गया था। यह द्यूत संगी–जुआ खेलने में आसक्त मद्य पाने में प्रसक्त भोज्य प्रसंगी–मिष्टान्न आदिरस का लोलुपी, और गणिकाओं के सेवन करने में सदा तल्लीन रहता था। यह मांसाहारी था–उपलक्षण से सातों ही व्यसनों का सेवन करने वाला था। कठोर हृदय था–अन्य प्राणियों के हृदय विदारक था (साहसिए) बड़ा साहसिक था बिना विचारे हर एक काम कर डालता था। (सधिच्छेयए, उवहिए, विसंभघाई, आलीयगतित्थभेयलद्धहत्थसंपउए) मकानों में सेंध (खात) लगाने में उनकी भित्तिफोडने में–यह प्रख्यात था, औपधिक था–मायाचारी होने के कारण यह अपना वेष परिवर्तित कर इधर उधर फिरा करता था। विश्वासघातक था। आदीपक–ग्राम आदि के जलानेमें उसे कोई विचार नहीं होता था।

તે દુષ્ટ થઈ ગયો હતો. આચાર–એટલે કે કુળની મર્યાદા રૂપ તેનો વ્યવહાર સદંતર નાશ પામ્યો હતો અને તેનું ચારિત્ર્ય સાવ ભ્રષ્ટ થઈ ગયું હતું તે દ્યુત પ્રસંગી જુગારમાં આસક્ત, મદ્યપી–દારૂ પીવામાં પ્રસક્ત, ભોજ્ય પ્રસંગી–મિષ્ટાન્ન વગેરે ગળ્યું ખાવામાં લોલુપ અને ગણિકાઓ વગેરેના સેવનમાં તે હંમેશા તલ્લીન રહ્યા કરતો હતો તે માંસ ભક્ષક હતો. ઉપલક્ષણથી તે સાતે સાત વ્યસનોને આચરનાર હતો. કઠોર હૃદય વાળો હતો. બીજા માણસોના હૃદયને દુઃખી બનાવનાર હતો (साहसिए) તે ખૂબ જ સાહસિક હતો. વિવેક વગરનો થઈને તે ગમે તે કામ કરતો હતો. (सधिच्छेयए उवहिए विसंभघाई आलीयगतित्थभेयलद्धहत्थसंपउए) ઘરમાં ખાતર પાડવામાં તે પ્રખ્યાત હતો. તે ઔપધિક હતો–એટલે કે માયા ચોરી હોવા બદલ તે પોતાનો વેષ બદલીને આમ તેમ ફર્યા કરતો હતો. તે વિશ્વાસ ઘાત કરનાર હતો. આદીપક–એટલે કે ગામ ને સળગાવતાં તેને

रूपेषु 'विहुरेसु' विधुरेषु व्याकुलावस्थारूपेषु 'वसणेसु' व्यसनेषु-विपत्सु 'अब्भुदएसु' अभ्युदयेषु राज्यलक्ष्म्यादिप्राप्तिरूपेषु 'उस्सवेसु' उत्सवेषु विवाहादिप्रसङ्गरूपेषु 'पसवेसु' प्रसवेषु-पुत्रादिजन्मोत्सवेषु तिहिसु' 'तिथिषु-सांवत्सरिकादिरूपासु 'छणेसु' क्षणेषु आनन्दजनकव्यापाररूपेषु 'जन्नेसु' यज्ञेषु नागाद्युत्सवेषु 'पव्वणीसु' पर्वणीषु-कार्तिकपूर्णिमादिपर्वतिथिषु 'मत्त पमत्तस्स' मत्तप्रमत्तस्य तत्र 'मत्त' उन्मत्त 'पमत्त' प्रमत्त -प्रमादवान् य म तस्य 'विक्खित्तस्स' विक्षिप्तस्य प्रयोगविशेषेण भ्रान्तचित्तस्य 'वाउलस्स' वातुलस्य वातरोगयुक्तस्य अन्यमनस्कस्य वा 'सुहियस्स' सुखितस्य' सकलेन्द्रियानुकूलविषयप्राप्तत्वात्सुखमग्नस्य 'दुक्खियस्स' दुःखितस्य इष्ट वियोगानिष्टसंयोगादिना दुःखनिमग्नस्य 'विदेसत्थस्स' विदेशस्थस्य परदेश स्थितस्य 'विप्पवसियस्स' विप्रोषितस्य-इष्टजनवियोगिन इत्यादि बहुज

विहुरेसु) व्याकुल अवस्था में होता था (वसणेसु) किसी और विपत्ति से ग्रस्त होता था उस समय में तथा (अब्भुदएसु) राज्यलक्ष्मी आदि की प्राप्तिरूप उत्सवों में (उस्सवेसु य पसवेसु य तिहीसु य छणेसु य जन्नेसु य पव्वणीसु य) विवाह आदि प्रसंगो में पुत्रादि जन्मोत्सवों में सांवत्सरिक तिथियों में, आनंद जनक व्यापाररूप क्षणों में नागादि उत्सवरूप यज्ञों म कार्तिक पूर्णिमा आदिरूप पर्वतिथियों में (मत्त-पमत्तस्स विक्खित्तस्स वाउलस्स य सुहियस्स य दुक्खियस्स य विदेसत्थस्स य विप्पवसियस्स य) जब कोई जन मत्त हो जाता था प्रमादवशंगत हो जाता था, प्रयोग विशेष से भ्रान्त चित्त बन जाता था, वातव्याधि से युक्त हो जाता था। या अन्यमनस्क हो जाता था सकल इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की प्राप्ति से आनन्द युक्त बन जाता था इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि से दुःख

(वसणेसु) બીજી કોઇ આફતમાં ફસાયેલો રહેતો, તે સમયે તેમજ (अब्भुदएसु) રાજ્ય લક્ષ્મી વગેરેની પ્રાપ્તિરૂપ ઉત્સવોમાં (उस्सवेसु य पसवेसु य तिहीसु य छणेसु य जन्नेसु य पव्वणीसु य) લગ્ન વગેરેની પ્રસંગોમાં, પુત્ર વગેરેના જન્મો ત્સવોમાં, સાંવત્સરિક તિથિઓમાં આનંદની ક્ષણોમાં, નાગ વગેરેના ઉત્સવ રૂપ યજ્ઞોમાં કાર્તિક પૂનમ વગેરે રૂપ પર્વ તિથિઓમાં (मत्तपमत्तस्स विक्खियस्सवाउलस्स य सुहियस्स, य दुक्खियस्स य विदेसत्थस्स य पयपस्स विलयस्सविप्पवसियस्स य) જ્યારે કોઇ માણસ ગાંડો થઈ જતો, પ્રમાદી થઈ જતો, (તંત્ર મંત્રના) પ્રયોગ વિશેષથી ભ્રાંતચિત્ત થઇ જતો, વાતના રોગથી પીડિત થઈ જતો, શૂન્ય મનસ્ક થઈ જતો, બધી ઇન્દ્રિયોને સુખ પ્રાપ્તિ થાય એવો સંયોગ થતાં જ્યારે કોઇ આનંદ મગ્ન થઇ જતો, ઇષ્ટ વિયોગ તથા અનિષ્ટ સંયોગ વગેરેથી દુઃખી થઈ જતો, પરદેશમાં

गणिकागृहाणि 'तद्दारट्ठाणाणि' तद्द्वारस्थानानि=गणिकागृहद्वाराणीत्यर्थः, 'तक्करट्ठाणाणि य' तस्करस्थानानि च=चोरनिवासस्थानानि, 'सिंघाडगाणि' शृङ्गाटकानि=शृङ्गाटकाकृतित्रिकोणस्थानानि, 'तियाणि' त्रिकाणि मार्गत्रयसमीलनस्थानानि, 'चउक्काणि' चतुष्काणि=चतुष्कोणस्थानानि, चच्चराणि च चत्वराणि=चतुष्पथरूपाणि 'नागघराणि' नागगृहाणि 'भूयघराणि' भूतगृहाणि 'जक्खदेउलानि' यक्षदेवकुलानि= यक्षायतनानि 'सभाणि' सभा 'पवाणि' प्रपा – पानीयशाला 'पणियसालानि' पणितशालानि–क्रयविक्रयस्थानानि 'सुन्नघराणि' शून्यगृहाणि 'आभोएमाणे२' आभोगयन्२–सोपयोगमीक्षमाण 'मग्गमाण' मार्गयमाण –अन्विष्यन्। 'गवेसमाणे' गवेषमाण, सूक्ष्मरीत्या विलोकमान –बहुजनस्य 'छिद्दसु' छिद्रेषु स्खलनारूपेषु 'विसमेसु' विषमेषु–रोगाद्यवस्था

वेश्याओं के गृहों को (तद्दारदाराणि) उनके दरवाजों को (तक्करट्ठाणाणि) चोरों के निवासस्थानों को (सिंघाडगाणि) शृंगाटक जैसे त्रिकोण वाले स्थानों को (तियाणि) तीन मार्ग जहां मिले हों ऐसे स्थानों को (चउक्काणि) चतुष्कोण वाले स्थानों को (चच्चराणि) चतुष्पथ रूप स्थानों को (नागघराणि) नागगृहों को, (भूयघराणि) भूतगृहों को, (जक्खदेउलानि) यक्ष के देवलों को (सभाणि) सभाओं को (पवाणि) प्याऊओं को, (पणियसालाणि) क्रयविक्रय के स्थानों को (सुन्नघराणि) शून्य घरों को (आभोएमाणे२) उपयोग देकर बारबार देखता था। (मग्गमाणे) उन्हें बार२ तलाशता। (गवेसमाणे) सूक्ष्मदृष्टि से उन की गवेषणा करता था (बहुजणस्स छिद्देसु य) जब कोई किसी प्रकार के कष्ट में होता था (विसमेसु) रोगादि अवस्था संपन्न

વેશ્યાઓના ઘરોને, (તદ્દારદ્દારાણિ) તે વેશ્યાઓના દરવાજાઓને, (તક્કરટ્ઠાણાણિ) ચોરોના અડ્ડાઓને (સિંગાડગાણિ) શ્રૃંગાટક—એટલે કે ત્રણ રસ્તા ભેગા થતા હોય તેવા સ્થાનોને, (ચઉક્કાણિ) ચતુષ્કોણવાળા સ્થાનોને (ચચ્ચરાણિ) ચાર રસ્તાએ ભેગા થતા હોય તેવા સ્થાનોને, (નાગઘરાણિ) નાગનાં ગૃહોને, (ભૂયઘરાણિ) ભૂતિયાં ઘરોને, (જક્ખ દેઉલાનિ) યક્ષોના દેવાલયોને (સભાણિ) સભાઓને (પવાણિ) પરબોને, (પણિય સાલાણિ-ક્રય વિક્રયના સ્થાનોને, (સુન્નઘરાણિ) ખાલી પડી રહેલા ઘરોને, (આભોએમાણે) અહર્નિશ આપીને વારે ઘડીએ જોતો હતો (મગ્ગમાણે) તે સ્થાનોને વારંવાર તપાસતો રહેતો હતો. (ગવેસમાણે) સૂક્ષ્મ દૃષ્ટિથી તેમને જોતો રહેતો હતો. (બહુજણસ્સ છિદ્દેસુ ય) જ્યારે કોઈ માણસ કોઈ પણ જાતના કષ્ટમાં પીડાતો રહે છે (વિસમેસુ) રોગ વગેરેથી દુઃખ રહેતો,

रूपेषु 'विहुरेसु' विधुरेषु व्याकुलावस्थारूपेषु 'वसणेसु' व्यसनेषु–विपत्सु 'अब्भुदएसु' अभ्युदयेषु राज्यलक्ष्म्यादिप्राप्तिरूपेषु 'उस्सवेसु' उत्सवेषु विवाहादिप्रसङ्गरूपेषु 'पसवेसु' प्रसवेषु–पुत्रादिजन्मोत्सवेषु 'तिहिसु' तिथिषु–सांवत्सरिकादिरूपासु 'छणेसु' क्षणेषु आनन्दजनकव्यापाररूपेषु 'जन्नेसु' यज्ञेषु नागाद्युत्सवेषु 'पव्वणीसु' पर्वणीषु–कार्तिकपूर्णिमादिपर्वतिथिषु 'मत्त पमत्तस्स' मत्तप्रमत्तस्य तत्र 'मत्त' उन्मत्त· 'पमत्त' प्रमत्त –प्रमादवान् य स तस्य 'विक्खित्तस्स' विक्षिप्तस्य प्रयोगविशेषेण भ्रान्तचित्तस्य 'वाउलस्स' वातुलस्य वातरोगयुक्तस्य अन्यमनस्कस्य वा 'सुहियस्स' सुखितस्य' सकलेन्द्रियानुकूलविषयप्राप्तत्वात्सुखमग्नस्य 'दुक्खियस्स' दु खितस्य इष्ट वियोगानिष्टसंयोगादिना दुःखनिमग्नस्य 'विदेसत्थस्स' विदेशस्थस्य परदेश स्थितस्य 'विप्पवसियस्स' विप्रोषितस्य–इष्टजनवियोगिन इत्यादि पद्युज

विहुरेसु) व्याकुल अवस्था म होता था (व सणेसु) किसी और विपत्ति से ग्रस्त होता था उस समय में तथा (अब्भुदएसु) राज्यलक्ष्मी आदि की प्राप्तिरूप उत्सवों में (उस्सवेसु य पसव सुय तिहीसु य छणेसुय जन्नेसु य पव्वणीसु य) विवाह आदि प्रसगो में पुत्रादि जन्मोत्सवों म सांवत्सरिक तिथियों म, आन द जनक व्यापाररूप क्षणों में नागादि उत्सवरूप यज्ञों म कार्तिक पूर्णिमा आदिरूप पर्वतिथियों में (मत्त–पमत्तस्स विक्खित्तस्स वाउ लस्स य सुहियस्स य दुक्खियस्स य विदेसत्थस्स य विप्पवसियस्स य) जब कोई जन मत्त हो जाता था प्रमादवशंगत हो जाता था, प्रयोग विशेष से भ्रान्त चित्त बन जाता था, वातव्याधि से युक्त हो जाता था। या अन्यमनस्क हो जाता था सकल इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की प्राप्ति से आनन्द युक्त बन जाता था इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि से दु ख

(वसणेसु) બીજી કોઈ આફતમા ફસાયેલો રહેતો, તે સમયે તેમજ (अब्भुदएसु) રાજ્ય લક્ષ્મી વગેરેની પ્રાપ્તિરૂપ ઉત્સવોમા (उस्सवेसु य पसवेसु य तिहीसु य छणेसु य जन्नेसु य पव्वणीसु य) લગ્ન વગેરેની પ્રસગોમા, પુત્ર વગેરેના જન્મો ત્સવોમા, સાવત્સરિક તિથિઓમા આનદની ક્ષણોમા, નાગ વગેરેના ઉત્સવ રૂપ યજ્ઞોમા કાર્તિક પૂનમ વગેરે રૂપ પર્વ તિથિઓમા (मत्त पमत्तस्स विक्खित्तस्स वाउलस्स य सुहियस्स य दुक्खियस्स य विदेसत्थस्स य पवसस्स विलयस्स विप्पवसियस्स य) જ્યારે કોઈ માણસ ગાંડો થઈ જતો, પ્રમાદી થઈ જતો, (तत्र मन्त्रना) પ્રયોગ વિશેષથી ભ્રાંતચિત્ત થઈ જતો, વાતના રોગથી પીડિત થઈ જતો, શૂન્ય મનસ્ક થઈ જતો, બધી ઇન્દ્રિયોને સુખ પ્રાપ્તિ થાય એવો સયોગ થતા જ્યારે કોઈ આનદ મગ્ન થઈ જતો, ઇષ્ટ વિયોગ તથા અનિષ્ટ સયોગ વગેરેથી દુ ખી થઈ જતો, પરદેશમા

नस्य 'मग्ग' मार्गम् अवसरम् 'छिद्द' छिद्रम्-स्खलनारूपम् 'विरह' वियोगम् 'अतर' स्थानान्तरगमनरूप सायकालादिरूपं वा 'मग्गमाणे' मार्गयमाण विलोकमान 'गवेसमाणे' अन्विष्यन 'एव च ण' उक्तरीत्या 'विहरइ' विहरति विजयतस्करोऽवतिष्ठते इत्यर्थं, चकारः समुच्चयार्थ, ण वाक्यालङ्कारे। 'बहिया वि य ण' बहिरपि च खलु राजगृहनगरस्य 'आरामेसु' आरामेषु-पुष्पफलादि समृद्धवृक्षलतासकुलक्रीडास्थानेषु 'उज्जाणेसु' उद्यानेषु=पत्रपुष्पफलच्छायोपशोभितनगरासन्नवर्तिक्रीडास्थानेषु 'वावीपोक्खरणी-दीहियागुंजालियासरेसु' वापीपुष्करिणीदीर्घिकागुञ्जालिकासरस्सु, तत्र 'वावी' वापी चतुष्कोणयुक्ता 'पोक्खरिणी' पुष्करिणी-कमलयुक्तगोलाकारा 'दीहिया' दीर्घिका=दीर्घाकार वापी 'गुंजालिया' गुञ्जालिका=वक्राकारवापी 'सर'ः=तडागः, 'सरपतियासु' सरःपङ्क्तिकासु=सरोवरश्रेणिषु

मग्न हो जाता था, परदेश में गये हुए जनों का, इष्ट जनों से वियुक्त होना था-तब यह उनके (मग्ग च छिद्द च विरह च अतर च मग्गमाणे, गवेसमाणे एव च ण विहरइ) अवसर को, स्खलनारूप छिद्र को, वियोग को स्थानान्तर गमनरूप अथवा सायकाल आदिरूप अतर को ताकता रहता था-उनकी खोज में रहता था इस प्रकार से यह जब नगर में रहता था तब अपना समय व्यतीत करता था। तथा (बहियावि य ण रायगिहस्स नयरस्स आरामेसु य उज्जाणेसु य वाविपोक्खरिणी-दीहिया गुजालिया-सरेसु य सरपतियासु य सरसरपतियासु य जिण्णुज्जाणेसु य भग्गकूवेसु य मालुया कच्छएसु य सुसाणएसु य गिरिकंदरलेणउवट्ठाणेसु य बहुजणस्स छिद्देसु य जाव एवच ण विहरइ) राजगृह नगरके बाहर वहां के आरामों में पुष्पफल

અથવા ભાવુકોને તેમના ઇષ્ટજનોથી વિયોગ થઈ જતો ત્યારે તે (એ) તેમના (मग्गं च छिद्दं च विरह च अतर च मग्गमाणे, गवेसमाणे एवं च ण विहरइ) ઉપર ચાંપતી નજર રાખતો. વિયોગ, સ્થાનાન્તર ગમન, સાયકાળ વગેરેના અવસરની તેમની અસાવધાનીની બરાબર તકનો લાભ લેવા તૈયાર રહેતો. આવા અવસરોની તે તપાસમા રહેતો. આ રીતે નગરમાં રહીને, તે પોતાનો વખત પસાર કરતો. હતો તેમજ (बहिया वि य ण रायगिहस्स नयरस्स आरामेसु य उज्जाणेसु य वाविपोक्खरिणीदीहिया गुंजालिया,सरेसु य सरपतियासु य सरसर-पंतियासु य जिण्णुज्जाणेसु य भग्गकूवेसु य मालुया कच्छएसु य सुसाण-एसु य गिरिकदरलेणउवट्ठाणेसु य बहुजणस्स छिद्देसु य जाव एवं च णं विहरइ) રાજનગરની બહાર ત્યાંના આરામોમા, પુષ્પફળથી સમૃદ્ધિ યુક્ત તથા

सरसरपंतियासु' सरःसर पङ्क्तिकासु=परस्पर सलग्नेषु बहुषु तडागेषु येषु सरःसु पङ्क्तया व्यवस्थितेषु एकस्मात्सरसोऽन्यस्मिन् सरसि ततोऽन्यत्र, एव जलसंचारकपाटकेन जलं संचरति। अथवा ऊर्ध्वाध क्रमेण पङ्क्तिरूपेण व्यवस्थितेषु सरस्सु स्वत एव सुतरा जलं संचरति, तत्रेत्यर्थः। 'जिण्णुज्जाणेसु' जीर्णोद्यानेषु=शुष्कप्रायतरुलतादियुक्तवनखण्डेषु 'भग्गकूवएसु' भग्न कूपकेषु=खण्डितकूपकेषु 'मालुयाकच्छएसु' मालुकाकक्षकेषु सुसाणएसु' श्मशानकेषु गिरिकंदरलेणोवट्ठाणेसु' गिरिकन्दरलयनोपस्थानेषु=तत्र-गिरि कन्दरेषु=पर्वतरन्ध्रेषु 'लेण' लयनेषु=गिरिस्थितपाषाणगृहेषु 'उवट्ठाणेसु' उपस्थानेषु=लतादिमण्डपेषु बहुजनस्य=जनसमुदायस्य छिद्रेषु अत आरभ्य यावत्-अन्तरं गवेषयमाणोऽसौ तस्कर एव प्रकारेण विचरति ॥ सू० ४ ॥

मूलम्—तएणं तीसे भद्दाए भारियाए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणीए अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—अहं धण्णेणं सत्थवाहेणं सद्धिं बहूणि वासाणि सद्दफरिसरसगंधरूवाणि माणुस्सगाइं काम-

आदि से समृद्ध वृक्षों वाले तथा लता से युक्त ऐसे क्रीडास्थानों में—उद्यानों में नगरासन्नवर्ती ऐसे क्रीडा के स्थलो में जो पत्र पुष्प फल एव छाया वाले वृक्षों से शोभित होते हैं, बावडियों में, पुष्करणियों में दीर्घिकाओं में गुंजालिकाओं में तालाब में सरोवरश्रेणियों मे परस्पर सलग्न अनेक तालावों में जीर्ण उद्यानों में, भग्नकूपों में, मालुकाकच्छों में श्मशानों मे पर्वत की गुफाओं मे पर्वत ऊपर रहे हुए पाषाणगृहों में और लतादि मंडपों मे छुपकर यह जन समुदाय के छिद्रों की विरह की अन्तर आदि की ताक में रहा करता था उन की गवेषणामे लगा रहता था। सू० ४।

લતા વિતાનોથી ઢંકાએલા ક્રીડા સ્થાળોમા ઉદ્યાનોમા—નગરની પાસેના પત્ર, પુષ્પ ફળ અને છાયડાવાળા વૃક્ષોથી શોભિત ક્રીડા સ્થળોમા, વાવોમા પુષ્કરણીઓમા, દીર્ઘિકાઓમા 'ગુંજાલિકાઓમાં, તળાવોમાં સરોવરોની શ્રેણીઓમા જેમના પાણી એક થઈ રહ્યાં છે એવા ઘણા તળાવોમા જૂના બગીચાઓમા, જૂના ભગ્ન કૂવાઓમાં, માલુકા કચ્છોમા, સ્મશાનોમા, પર્વતની ગુફાઓમા, પર્વત ઉપરના શિલા ખડોની વચ્ચેના પાષાણ ગૃહોમા અને લતા મંડપોમા છુપાઈને તે (ચોર) જન સમુદાયની અસાવધાનતા તેમ જ તેઓ ક્યારે પોતાના ઘરથી વિખૂટા થાય છે તેની શોધમા રહેતો હતો, તેની બરોબર તપાસ રાખતો હતો ॥ સૂત્ર ૪ ॥

नस्य 'मग्ग' मार्गम् अवसरम् 'छिद्द' छिद्रम्-स्खलनारूपम् 'विरह' वियोगम् 'अंतर' स्थानान्तरगमनरूपं सायंकालादिरूपं वा 'मग्गमाणे' मार्गयमाण विलोकमानः 'गवेसमाणे' अन्विष्यन 'एवं च णं' उक्तरीत्या 'विहरइ' विहरति विजयतस्करोऽवतिष्ठते इत्यर्थ, चकारः समुच्चयार्थ, णं वाक्यालङ्कारे। 'बहिया वि य णं' बहिरपि च खलु राजगृहनगरस्य 'आरामेसु' आरामेषु-पुष्पफलादि समृद्धवृक्षलतासकुलक्रीडास्थानेषु 'उज्जाणेसु' उद्यानेषु= पत्रपुष्पफलच्छायोपशोभितनगरासन्नवर्तिक्रीडास्थानेषु 'वावीपोक्खरणी-दीहियागुंजालियासरेसु' वापीपुष्करिणीदीर्घिकागुञ्जालिकासरस्सु, तत्र 'वावी' वापी चतुष्कोणयुक्ता 'पोक्खरिणी' पुष्करिणी-कमलयुक्तगोलाकारा 'दीहिया' दीर्घिका=दीर्घाकार वापी, गुंजालिया' गुञ्जालिका=वक्राकारवापी 'सर'ः=तडाग, 'सरपंतियासु' सरःपङ्क्तिकासु=सरोवरश्रेणिषु

मग्न हो जाता था, परदेश में गये हुए जनों का, इष्ट जनों से वियुक्त होना था-तब यह उनके (मग्गं च छिद्दं च विरहं च अंतरं च मग्गमाणे, गवेसमाणे एवं च णं विहरइ) अवसर को, स्खलनारूप छिद्रको, वियोग को स्थानान्तर गमनरूप अथवा सायंकाल आदिरूप अंतर को ताकता रहता था-उनकी खोज में रहता था इस प्रकार से यह जब नगर में रहता था तब अपना समय व्यतीत करता था। तथा (बहियावि य णं रायगिहस्स नयरस्स आरामेसु य उज्जाणेसु य वाविपोक्खरिणी-दीहिया गुंजालिया-सरेसु य सरपंतियासु य सरसरपंतियासु य जिण्णुज्जाणेसु य भग्गकूवेसु य मालुयाकच्छएसु य सुसाणएसु य गिरिकंदरलेणउवट्ठाणेसु य बहुजणस्स छिद्देसु य जाव एवं च णं विहरइ) राजगृह नगरके बाहर वहां के आरामों में पुष्पफल

અથવા માણસોને તેમના ઇષ્ટજનોથી વિયોગ થઈ જતો ત્યારે તે (ચોર) તેમના (मग्गं च छिद्दं च विरहं च अंतरं च मग्गमाणे, गवेसमाणे एवं च णं विहरइ) ઉપર ચાંપતી નજર રાખતો. વિયોગ, સ્થાનાન્તર ગમન, સાયંકાળ વગેરેના અવસરની તેમની અસાવધાનીની અજાણ તકનો લાભ લેવા તૈયાર રહેતો. આવા અવસરોની તે તપાસમાં રહે તો આ રીતે નગરમાં રહીને, તે પોતાનો વખત પસાર કરતો હતો. તેમજ (बहिया वि य णं रायगिहस्स नयरस्स आरामेसु य उज्जाणेसु य वाविपोक्खरिणीदीहिया गुंजालिया,सरेसु य सरपंतियासु य सरसरपंतियासु य जिण्णुज्जाणेसु य भग्गकूवेसु य मालुयाकच्छएसु य सुसाणएसु य गिरिकंदरलेणउवट्ठाणेसु य बहुजणस्स छिद्देसु य जाव एवं च णं विहरइ) રાજગૃહનગરની બહાર ત્યાંના આરામોમાં, પુષ્પફળથી સમૃદ્ધિ યુક્ત તથા

अह देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं सद्धि बहुइ वासाइ जाव देति समुल्ला वए सुमहुरे पुणो मजुलप्पभणिए तण्णं अह अहन्ना अपुन्ना अलक्खणा एत्तो एगमवि न पत्ता, त इच्छामि ण देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी विपुल असण ४ जाव अणुवड्ढेमि (त्तिकट्टु) उवाइय करेत्तए। तएण धण्णे सत्थवाहे भद्द भारिय एव वयासी—ममपि य ण खलु देवाणुप्पिया ! एस चेव मणोरहे —कह ण तुम दारग दारिग वा पयाएज्जसि ? भद्दाए सत्थवाहीए एयमट्ठमणुजाणइ । तएण सा भद्दा सत्थवाही धण्णेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठतुट्ठ जाव हियया विपुल असणपाण खाइमसाइम उवक्खडावेइ उवक्खडावित्ता सुबहु पुप्फगधवत्थमल्लालकार गेण्हइ गेण्हित्ता सयाओ गिहाओ निग्गच्छइ, निगच्छित्ता रायगिह नयर मज्झ मज्झेण निग्गच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहु पुप्फजाव मल्लालकार ठवेइ, ठवित्ता पुक्खरिणिं ओगाहइ, ओगाहित्ता जलमज्जण करेइ जलकीड करेइ, करित्ता ण्हाया कयबलिकम्मा उल्लपडसाडिगा जाइ तत्थ उप्पलाइ जाव सहस्सपत्ताइ ताइ गिण्हइ गिण्हित्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता जेणमेव नागघरए य जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तत्थ ण नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य आलोए पणामकरेइ करित्ता ईसिं पच्चुन्नमइ पच्चुन्नमित्ता लोमहत्थग परामुसइ परामुसित्ता नागपडिमाओ य जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थ

भोगाइ पच्चणुभवमाणी विहरामि, नो चेव ण अह दारग वा दारिग पयायामि, त धन्नाओ ण ताओ अम्मयाओ जाव सुलद्धेण माणुस्सए जम्मजीवियफले तासि अम्मयाण जासि मन्ने णियगकुच्छिसभूयाइ थणदुद्धलुद्धयाइ महुरसमुल्लावगाइ मम्मणपयपियाइ थणमूलकक्खदेसभाग अभिसरमाणाइ मुद्धयाइ थणय पियति, तओ य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊण उच्छगे निवेसियाइ देति समुल्लावए पिए सुमहुरे पुणो२ मजुलप्पभणिए, त अहन्न अधन्ना अपुन्ना अलक्खणा अकयपुन्ना एत्तो एगमवि न पत्ता, त सेय मम कल्ल पाउप्पभायाए रयणीए जाव जलते धण्ण सत्थवाह आपुच्छित्ता धण्णेण सत्थवाहेणं अब्भणुन्नाया समाणी सुबहु विपुल असण पाणखाइमसाइम उवक्खडावेत्ता सुबहु पुप्फवत्थगधमल्लालकार गहाय बहूहिं मित्तनाइनियगसयण सबधिपरिजणमहिलाहिं सद्धिं सप रिवुडा जाइ इमाइ रायगिहस्स नयरस्स बहिया णागाणि य भूयाणि य जक्खाणि य इदाणि य खदाणि य रुद्दाणि य सिवाणि य वेसमणाणि य तत्थ णं य बहूणं नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य मह रिह पुप्फच्चणिय करेत्ता जाणुपायवडियाए एव वइत्तए–जइ णं अह देवाणुप्पिया ! दारग वा दारिग वा पयायामि तो ण अह तुब्भ जायं च दाय च माय च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु उव-याइय उवयाइत्तए, एव सपेहित्ता कल्ल जाव जलते जेणामेव धण्णे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एव वयासी–एव खलु

अद्ध देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं सद्धिं बहुइ वासाइ जाव देति समुल्ला वए सुमहुरे पुणो मजुलप्पभणिए तएणं अह अहन्ना अपुन्ना अलक्खणा एत्तो एगमवि न पत्ता, त इच्छामि ण देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी विपुल असण ४ जाव अणुवड्ढेमि (त्तिकट्टु) उवाइय करेत्तए। तएण धण्णे सत्थवाहे भद्द भारय एव वयासी—ममपि य ण खलु देवाणुप्पिया ! एस चेव मणोरहे –कह ण तुम दारग दारिग वा पयाएज्जसि ? भद्दाए सत्थवाहीए एयमट्ठमणुजाणइ । तए ण सा भद्दा सत्थवाही धण्णेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठतुट्ठ जाव हियया विपुल असणपाण खाइमसाइम उवक्खडावेइ उवक्खडावित्ता सुबहु पुप्फगधवत्थमल्लालकार गेण्हइ गेण्हित्ता सयाओ गिहाओ निग्गच्छइ, निगच्छित्ता रायगिह नयर मज्झ मज्झेण निग्गच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहु पुप्फजाव मल्लालकार ठवेइ, ठवित्ता पुक्खरिर्णि ओगाहइ, ओगाहित्ता जलमज्जण करेइ जलकीड करेइ, करित्ता ण्हाया कयवलिकम्मा उल्लपडसाडिगा जाइ तत्थ उप्पलाइ जाव सहस्सपत्ताइ ताइ गिण्हइ गिण्हित्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता जेणमेव नागघरए य जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तत्थ ण नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य आलोए पणामकरेइ करित्ता ईसिं पच्चुन्नमइ पच्चुन्नमित्ता लोमहत्थग परामुसइ परामुसित्ता नागपडिमाओ य जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थ

भोगाइ पच्चणुभवमाणी विहरामि, नो चेव ण अह दारग वा दारिग पयायामि, त धन्नाओ ण ताओ अम्मयाओ जाव सुलद्धेण माणुस्सए जम्मजीवियफले तासि अम्मयाण जासि मन्ने णियगकुच्छिसभूयाइ थणदुद्धलुद्धयाइ महुरसमुल्लावगाइ मम्मणपयपियाइ थणमूलकक्खदेसभाग अभिसरमाणाइ मुद्धयाइ थणय पिवति, तओ य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊण उच्छगे निवेसियाइ देति समुल्लावए पिए सुमहुरे पुणो२ मजुलप्पभणिए, त अहन्न अधन्ना अपुन्ना अलक्खणा अकयपुन्ना एत्तो एगमवि न पत्ता, त सेय मम कल्ल पाउप्पभायाए रयणीए जाव जलते धण्ण सत्थवाह आपुच्छित्ता धण्णेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया समाणी सुबहु विपुल असण पाणखाइमसाइम उवक्खडावेत्ता सुबहु पुप्फवत्थगधमल्लालकार गहाय बहूहिं मित्तनाइनियगसयण सबधिपरिजणमहिलाहिं सद्धिं सपरिवुडा जाइ इमाइ रायगिहस्स नयरस्स बहिया णागाणि य भूयाणि य जक्खाणि य इदाणि य खदाणि य रुद्दाणि य सिवाणि य वेसमणाणि य तत्थ णं य बहूणं नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य महरिह पुप्फच्चणिय करेत्ता जाणुपायवडियाए एव वइत्तए—जइ णं अह देवाणुप्पिया ! दारग वा दारिग वा पयोयामि तो ण अह तुब्भ जाय च दाय च माय च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु उवयाइय उवयाइत्तए, एव सपेहित्ता कल्ल जाव जलते जेणामेव धण्णे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एव वयासी—एव खलु

आध्यात्मिक =आत्मनि विचार• यावत् समुदपद्यत—अहं खलु धन्येन सार्थं वाहेन सार्द्धं बहूनि वर्षाणि यावत्-बहुवर्षपर्यन्तं शब्दस्पर्शरसरूपगन्धकान् मानुष्यकान् कामभोगान् 'पच्चणुब्भवमाणी' प्रत्यनुभवन्ती=परिभुञ्जाना विहरामि=तिष्ठामि किन्तु नोचैव खलु अहं दारकं वा दारिका वा प्रजन यामि, तत्-धन्या.खलु ता अम्बा यावत् सुलब्ध खलु मानुष्यकं जन्म-जीवितफलं तासामम्बाना यासा मन्ये निजककुक्षिसम्भूता स्तनदुग्धलुब्धा मधुरसमुल्लापका 'मम्मणपजंपियाइ' मम्मणप्रजल्पिताः— 'मम्मण' इति स्खलत् प्रजल्पित येषा ते 'तथा थणमूलकक्खदेसभाग अभिसरमाणाइ' स्तनमूलकक्षदेशभागमभिसरन्त•— स्तनमूलात्=स्तनमूलभागात् कक्षदेश

रूवे अज्झत्थिए जाव समुपज्जित्था) इस प्रकार यह आध्यात्मिक यावत् मनोगत सकल्प उत्पन्न हुआ कि (अहं) मैं (धन्नेण सत्थवाहेण सद्धिं) धन्य सार्थवाह के साथ (बहूणि) बहुत वर्षों से (सद्दफरिसरसगंधरूवाणि माणुस्स गाइ कामभोगाइ पच्चणुभवमाणी विहरामि) शब्द, स्पर्श, रस, गंध, और रूप स्वरूप मनुष्यभव सबन्धी काम भोगों को भोग रही हुई हु। (नो चेव ण अहं दारग वा दारिगं वा पयायामि) परन्तु अभी तक मेरे न लडका ही हुआ है और न लडकी ही (त धन्नाओ ण ताओ अम्म याओ जाव सुलद्धेण माणुस्सए मण्णे जम्मजी वियफलेत्तासिं अम्मयाओ) अत मैं उन माताओं को धन्य मानती हुं, उन्हीं का जीवन सफल समजती हु, और यह मानती हु कि उन्होंने अपने मनुष्य भव सम्बन्धी जन्म का और जीवन का फल पाया है। (जासिं णियगकुच्छिसंभूयाइं-थणदुद्धलुद्धयाइ महुरसमुल्लावगाइ मम्मणय पियाइ थणमूलकक्खदेसभाग

धन्य सार्थवाहनी साथे (बहूणि वासाणि) बहु वर्षोथी (सद्दफरिसरसगंध रूवाणि माणुस्सगाइ कामभोगाइ, पच्चणुभवमाणी विहरामि) शब्द, स्पर्श, रस, गंध अने रूपना मनुष्यभवना कामभोगो भोगवी रही छु (नो चेव ण अहं दारग वा दारिगं वा पयायामि) पण अत्यार सुधी मारे पुत्र के, पुत्रीके उत्पन्न थयु नथी (त धन्नाओ ण ताओ अम्मयाओ जाव सुलद्धेण माणुस्सए मण्णे जम्मजीवियफले तासिं अम्मयाओ) हु ते माताओने धन्य समजु छु, तेमना जीवनने ज सफळ मानु छु, के जेमने मनुष्यभवना जन्म अने जीवनना सफळ फळ मळ्या छे (जासिं णियगकुच्छिसंभूयाइ थण दुद्धलुद्धयाइ महुरसमुल्लावगाइं मम्मणपय पियाइ थणमूल-कक्खदेसभाग अभिसरमाणाइ

एण पमज्जइ पमज्जित्ता उदगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खित्ता पम्हलसुकुमालाए गंधकासाइयाए गायाइं लूहेइ, लूहित्ता महरिह वत्थारुहणं च मल्लारुहणं च गंधारुहणं च चुन्नारुहणं च करेइ, करित्ता जाव धूवं डहइ, डहित्ता जाणुपायवडिया पंजलिउडा एवं वयासी जइणं अहं दारगं वा दारिगं वा पयायामि तो णं अहं आयं च जाव अणुवड्ढेमि त्तिकट्टु उवाइयं करेइ, करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता विउलं असणं४ आसाएमाणी जाव विहरइ, जिमिया जाव सुईभूया जेणेव सए गिहे तेणेव उवागया, अदुत्तरं च णं भद्दा सत्थवाही चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुन्नमासिणीसु विउलं असणं४ उवक्खडेइ, उवक्खडित्ता बहवे नागा य जाव वेसमणा य उवायमाणी जाव एवं च णं विहरइ ॥सू० ५॥

टीका-'तएणं तीसे' इत्यादि । ततःखलु तस्याः भद्राया भार्याया अन्यदा कदाचित् 'पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि' पूर्वरात्रापररात्रकालसमये=रात्रेः पश्चिमे भागे 'कुडुंबजागरियं' कुटुम्बजागरिकां=कुटुम्बसम्बन्धिचिन्तया निद्राभयरूपां जागरणम् 'जागरमाणीए' जाग्रत्याः=कुर्वत्याः अयमेतद्रूप 'अज्झत्थिए'

'तएणं तीसे भद्दाए भारियाए' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएणं) इसके बाद (तीसे भद्दाए भारियाए) उस भद्रा भार्या को (अन्नया कयाइ) किसी एक समय (पुव्वरत्तावरत्तकाल समयंसि) रात्रि के पूर्वभाग के बाद पश्चाद्भाग में (कुडुंबजागरियं जागरमाणीए) कुटुम्ब की चिन्ता से निद्रा नहीं आने के कारण जगती हुई स्थिति में (अयमेया

'तएणं तीसे भद्दाए भारियाए इत्यादि ॥

टीकार्थ-(तएणं) त्यार बाद (तीसे भद्दाए भारियाए) भद्रा भार्याने (अन्नया कयाइ) कोई वखते (पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि रात्रिना पूर्व भागनी पछी पश्चाद्भागमां (कुडुंबजागरियं जागरमाणीए) कुटुंबनी चिंताने लीधे ऊंघ न आवता जाग्रतावस्थामां (अय मेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पजित्था) आ जातनो आध्यात्मिक यावत् मनोगत संकल्प उद्भव्यो के (अहं) हुं (धन्नेण सत्थवाहेण सद्धिं)

सञ्चितपुण्याऽस्मि 'एत्तो' इत.एतेभ्यःअथ=एषा म याद् एकमपि शिशु चेष्टनकलापादेकमपि चेष्टनमेकमपि शिशु वा न प्राप्ता 'त तत्=तस्मात्का रणात् 'सेय' श्रेय =श्रेयस्कर शोभन मम कल्ये प्रादुष्प्रभाताया रजन्या यावत् 'जलंति' ज्वलते'=सूर्योदये सति धन्य सार्थवाहमापृच्छ्य धन्येन सार्थवाहेन 'अब्भणुन्नाया' अभ्यनुज्ञाता=प्राप्तनिदेशा सती 'सुबहु'=प्रकारबहुल 'विउल' विपुल=प्रचुरम् अशनपानखाद्यस्वाद्यम् 'उवक्खडावेत्ता=उपस्कार्य चतुर्विध माहार निष्पाद्य 'सुबहु' सुबहुम्=बहुप्रकारक पुष्पवस्त्रगन्धमाल्यालङ्कार गृहीत्वा बहुभिर्मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनमहिलाभि सार्द्ध सपरिवृता

है ऐसी हूं जो मैं भी तक इस प्रकार की चेष्टा सपन्न बालको में से एक भी चेष्टा विशिष्ट औरमीठी तोतली वाणी बोलने वाले शिशु को नहीं पा सकी हु। (त सेय मम कल्ल पाउप्पभायाए रयणीए जाव जलते धण्ण सत्थवाह आपुच्छित्ता धण्णेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया समाणी सुबहु विपुल असणपाण-खाइमसाइम उवक्खडावेत्ता) तो अबमुझे यही श्रेयस्कर है कि मै कल प्रभात होते ही— सूर्यके उदित होने पर धन्यसार्थवाह से पूछकर और उनकी आज्ञा प्राप्त कर अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इस तरह चार प्रकार का आहार निष्पन्न करा कर (सुबहुं पुप्फवत्थगधमल्लालकार गहाय बहूहिं मित्त नाइ-नियग-सयण-सबधि-परिजणमहिलाहिं सद्धिं सपरिवुडा जाइ इमाइ रायगिहस्स नयरस्स बहिया णागाणि य भूयाणि य जक्खाणि य इंदाणि य खदाणि य रुद्दाणि य) और पुष्प, वस्त्र, गंध, माला, एव अलकार को लेकर अपने अनेक मित्र, ज्ञाति निजक, स्वजन सबन्धी

છું છુ, કેમકે હજી એવી બાળ ચેષ્ટાઓ કરનાર બાળકોમાંથી મે એક પણ બાળક મેળવુ નથી (त सेय मम कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव जलते धण्ण सत्थवाई आपुच्छित्ता धण्णेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया समाणी सुबहु विपुले असणपाणखाइमसाइम उवक्खडावेत्ता) એવી સ્થિતિમા મને એ જ ઉચિત લાગે છે કે આવતી કાલે સવારે સૂરજ ઉદય પામતા ધન્ય સાર્થવાહને પૂછીને તેમની આજ્ઞા મેળવીને અશન, પાન ખાદ્ય અને સ્વાદ્ય આ રીતે ચાર જાતનો આહાર તૈયારકરાવડાવીને (सुबहु पुप्फवत्थगधमल्लालकार गहाय बहूहिं मित्तनाइनियगसयणसबधिपरिजणमहिलाहिं सद्धि सपरिवुडा जाइ इमाइ रायगिहस्स नयरस्स बहिया णागाणिय भूयाणि य जक्खाणि य दाणि य खदाणि य रुद्दाणि य वेसमणाणि य) અને પુષ્પ વસ્ત્ર ગંધ માળા અને ઘરેણાંઓ સાથે લઈને અનેક મિત્ર, જ્ઞાતિ, નિજક સ્વજન સબંધી

भागम् अभिसरन्तः=सम्मुखं सञ्चरन्तः सन्तः 'मुद्दयाइं' मुग्धाः=मनोहराः शिशव 'थणय' पिबति, स्तनजं=दुग्धं पिबन्ति स्तन्यपानं कुर्वन्तीत्यर्थः । ततश्च ते 'कोमलकमलोवमेहिं' कोमलकमलोपमाभ्यां=सुकुमालकमलसदृशाभ्यां हस्ताभ्यां गृहीत्वा 'उच्छंगनिवेसियाइं' उत्सङ्गनिवेशिताः=अङ्के स्थापिता सन्त स्तनन्धया मातृभ्यः 'देंति' ददति, किमित्याह— 'समुल्लावे' समुल्लापकान्, सजल्पान् कीदृशान् ? इत्याह—'पिए' प्रियान् प्रीतिजनकान 'सुमहुरे' सुमधुरान=कर्णसुखजनकान 'पुणो पुणो मञ्जुलप्पभणिए' पुन पुनर्मञ्जुलप्रभणितान्=वारंवार कोमलाक्षरयुक्तजल्पितान् ददति प्रियमञ्जुलभाषया भाषन्ते धन्या इत्यर्थः । 'त' तत्-किन्तु अहं खलु 'अधन्ना' अधन्या=अकृतार्था 'अपुण्णा' अपुण्या=पुण्यहीना, 'अलक्खणा'='अलक्षणा =कुलक्षणा 'अकयपुण्णा' अकृतपुण्या=न कृतं पूर्वभवे पुण्यं यया सा पूर्वभवाऽ

अभिसरमाणाइं मुद्दया थणय पिबन्ति) कि जिनकी कुक्षिसे उत्पन्न स्तन के दूध में लुब्ध मीठी २ तोतली बोलते हुए बालक शिशु स्तन के मूल भाग से कक्ष देश पर्यन्त सरक कर दूध पीते हैं । (तओ य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊण उच्छंगे निवेसियाइं) और माता उन्हें अपने सुकुमार तथा कमल जैसा दोनों हाथों से पकड कर उत्संग में बैठाती है । और वे स्तनन्धय-बालक (समुल्लावए देंति) उन अपनी माताओं को इस प्रकार के आलापों को देते हैं (पिए सुमहुरे पुणो२ मञ्जुलप्पभणिए) जो प्रीति जनक होते हैं, कर्ण सुखजनक होते हैं और जिनमें बार२ कोमल अक्षरवाली वाणी होती है । (तं अहन्नं अधन्ना अपुन्ना अलक्खणा अकयपुन्ना एत्तोएगमवि न पत्ता) किन्तु मैं तो अधन्य हूं, पुण्यहीन हूं कुलक्षणा हूं अकृत पुण्या हूं पूर्वभव में पुण्यजिसने नहीं किया

मुद्दयाइं थणय पिबन्ति) એવું માનું છે કે જેમના ઉદરે જન્મેલું, સ્તન પાન માટે ઉત્કંઠિત, મીઠું મીઠું અને તોતડું બોલતું બાળક સ્તનો સુધી—પડખા સુધી ખસી આવીને દૂધ પીવે છે. (तओ य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊ उच्छंगे निवेसियाइं) અને માતા તેને કમળ જેવા બંને હાથોમા ઉચકીને ખોળામા બેસાડે છે તે બાળકો પણ (समुल्लावए देंति) માતાઓની સામે એવી રીતે કાલુ કાલુ બોલે છે કે (पिए सुमहुरे पुणो २ मंजुलप्पभणिए) જે અત્યન્ત પ્રેમ જનક હોય છે, કાનોને સુખકર હોય છે તેની વાણી કોમળ અક્ષરોથી યુક્ત હોય છે (तं अहन्नं अधन्ना अपुन्ना अलक्खणा अकयपुन्ना एत्तो एगमवि न पत्ता) પણ હું તો અભાગી છું, પુણ્ય હીન છું કુલક્ષણ છું, અકૃત પુણ્ય છું, જેણે પૂર્વભવ જન્મમા પુણ્યો કર્યો જ નથી એવી

दायच' दाय-दानम् अभयदानादि, पर्वदिवसादिदाय वा, भायच' भागं वर्द्धयामि-प्रभूतद्रव्यमर्पयिष्यामीत्यर्थ, तिकट्टु' इति कृत्वा=इत्युक्त्वा 'उवाइय' उपयाचितम्=अपत्यप्राप्तिप्रार्थनारूपा मान्यतां 'मनौती' इति प्रसिद्धाम् 'उवाइणित्तए' उपयाचितुं=कर्तुं श्रेय ' इति पूर्वेण सम्बन्ध । एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य कल्ये यावज्ज्वलति यत्रैव धन्य सार्थवाहस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य एवमवादीत्--एव खलु अहं देवानुप्रिया ! युष्माभि

अणुवड्ढेमि) यदि मै हे देवानुप्रियों ! अपनी कुक्षिसे पुत्र या पुत्री का जन्म दूगी तो मै आपकी सेवा करूगी—आपके निमित्त अभय-दानादिकका वितरण करूगी, अथवा पर्व दिनों म दान आदि बाटने की व्यवस्था करदूगी। अपने हिस्सेमें आपके लिये विभाग अलग तथा आपके अक्षय कोष की वृद्धि करवादूगी-तात्पर्य इसका यह है कि मेरी मनो कामना पूर्णहोने पर मै प्रभूत द्रव्य आप सबके लिये अर्पित करूगी। (त्ति कट्टु उवयाइय उवयाइत्तए) इस तरह की मुझे उनके पास मनौती-मानता-मनाने म मेरी भलाई है। (एवं संपेहेइ) इस प्रकार का उसने विचार किया। (संपेहित्ता) और विचार कर (कल्लं जावजलते जेणामेव धण्णे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ) वह दूसरे दिन (उसी दिन) प्रात काल होते ही सूर्य के प्रकाशित होने पर जहा अपने पति धन्य सार्थवाह थ वहां गई। (उवागच्छित्ता एवं वयासी) वहा जाकर उसने उनसे ऐसा कहा—(एवं खलु अहं देवाणुप्पिया !

याणिहिं च अणुवड्ढेमि) हे देवानुप्रियो ! જો મારા ઉદરથી પુત્ર કે પુત્રી જન્મશે તો હુ આપની પૂજા કરીશ. આપના નિમિત્તે અભયદાન વગેરે કરીશ, અથવા તો પહેલાના દિવસોમા દાન વગેરે વહેચવાની વ્યવસ્થા કરીશ મારા હિસ્સામા જે કઈ આવશે તેમાથી તમારો ભાગ જુદો મૂકાવડાવીશ. તેમજ તમારા અક્ષય નિધિની પણ હુ વૃદ્ધિ કરીશ. મતલબ એ છે કે જો મારી મનોકામના પૂરી થશે તો હુ પ્રભૂત દ્રવ્ય તમારા ચરણોમા ભેટ રૂપે અર્પણ કરીશ. (त्तिकट्टु उवयाइयं उवयाइत्तए) આ બાતની માન્યતામાં જ મને હવે મારુ શ્રેય જણાય છે (एवं संपेहेइ) આ પ્રમાણે તેણે વિચાર કર્યો (संपेहित्ता) અને વિચાર કરીને (कल्लं जाव जलते जेणामेव धण्णे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ) બીજે દિવસે સવારે સૂર્યોદય થતા જ જ્યા પોતાના પતિ ધન્ય સાર્થવાહ હતા ત્યા ગઈ (उवागच्छित्ता एवं वयासी) ત્યા જઈને તેને આમ કહ્યું— (एवं खलु अहं देवाणुप्पिया '

यानीमानि राजगृहस्य नगरस्य बहिः 'णागाणि य' नागानिच-नागगृहाणा त्यर्थे, एवं सर्वत्र विज्ञेयम् भूतानि च-भूतगृहाणि, यक्षाणि च यक्षगृहाणि, इन्द्राणि च-इन्द्रगृहाणि, स्कन्दानि च--स्कन्दगृहाणि, रुद्राणि च-रुद्रगृहाणि शिवानि च-शिवगृहाणि, वैश्रमणानि च-वैश्रवणगृहाणि भवति, तत्र खलु बहूना नागप्रतिमानांच यावत् वैश्रवणप्रतिमाना च 'महरिह' महार्हा बहुमूल्या 'पुप्फच्चणिय' पुष्पार्चनिकां=कुसुमसेवां कृत्वा ,जाणुपायवडियाए' जानुपादपतिताया --पादयोः पतिता-पादपतिता जानुभ्यां पादपतिता जानु पादपतिता=जानुनी भूमौ विन्यस्य प्रणतेत्यर्थ तस्या मम एवं वक्ष्यमाण प्रकारेण वक्तु=प्रार्थयितु श्रेय 'श्रेय' इति पूर्वेण सम्बन्ध । तदेव दर्श यति--'जइ णं अह' इत्यादिना,-यदि खलु अहं देवानुप्रिया ! 'दारग दारकं=निजकुक्षिसजात पुत्र दारिकां वा=पुत्रीं वा ,पयायामि प्रजनयामि प्रजनयिष्यामीत्यर्थः 'तो ण' तर्हि खलु अह युष्मभ्य 'जाय याग=सेवां

परिजनों की महिलाओं के साथ मिलकर राजगृहनगर के बाहर जितने भी नागघर हैं, जितने भी भूत घर हैं, जितने भी यक्ष घर हैं, जितने भी इन्द्र घर हैं, जितने भी स्कन्द घर हैं, जितने भी रुद्रघर हैं, जितने भी शिवघर हैं, जितने भी वैश्रमणघर है— और (तत्थण बहूण नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य) उनमें जितनी नाग देव की प्रतिमाएँ हैं यावत् वैश्रवण देव प्रतिमाएँ हैं उन सबको (महरिह पुप्फच्चणिय करित्ता) बहुमूल्य पुष्पों से अर्चा करके (जाणुपाय-वडियाए एवं वइत्तए) उनके पैरों में दोनों घुटने झुकाकार पड जाउँ और उनसे ऐसी प्रार्थना करू (जइण अह देवाणुप्पिया ! दारग वा दारिगवा पयायामि तो ण अहं तुम्भ जाग च दाय च भाय च अक्खयणिहिं च

પરિજનોની મહિલાઓની સાથે રાજગૃહ નગરની બહાર જેટલા નાગ ઘરો છે, જેટલા ભૂતઘરો છે, જેટલા યક્ષ ઘરો છે જેટલા સ્કંદ ઘરો છે, જેટલા ઇન્દ્ર ઘરો છે જેટલા યક્ષ ઘરો છે, જેટલા રુદ્ર ઘરો છે, જેટલા શિવઘરો છે, અને જેટલા વૈશ્રમણ ઘરો છે તેમજ (तत्थण बहूण नागपडिमाण य जाव वेसमण पडिमाण य) તેઓમાં જેટલા નાગ દેવથી માંડીને વૈશ્રમણ દેવ સુધીની પ્રતિમાઓ છે, તે બધી પ્રતિમાઓની (महरिह पुप्फच्चणिय करित्ता) બહુમૂલ્ય પુષ્પોથી પૂજા કરીને (जाणुपायवडियाए एवं वइत्तए) તેમના ચરણોમાં બંને ઘૂંટણ ટેકીને પડી જાઉં અને તેમને વિનંતી કરું કે (जइण अहं देवाणुप्पिया ! दारगं वा दारिगं वा पयायामि तो ण अहं तुम्भ जाय च दायच मायच अक्खय

दायच' दाय-दानम् अभयदानादि, पश्चाद्वसादिदान वा, भायच' भाग वर्द्धयामि-प्रभूतद्रव्यमर्पयिष्यामीत्यर्थ, तिकट्टु' इति कृत्वा=इत्युक्त्वा 'उवाइय' उपयाचितम्=अपत्यप्राप्तिप्रार्थनारूपा मान्यता 'मनौती" इति प्रसिद्धाम् 'उवायइत्तए' उपयाचितु=कर्तुं 'एय' इति पूर्वेण सम्बन्ध । एव सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य श्वो यावज्ज्वलति यत्रैव धन्य सार्थवाहस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य एवमवादीत्--एव खलु अह देवानुप्रिया ! युष्माभि

अणुवड्ढेमि) यदि मै हे देवानुप्रियों ! अपनी कुक्षिसे पुत्र या पुत्री का जन्म दूगी तो मै आपकी सेवा करूगी—आपके निमित्त अभय दानादिकका वितरण करूगी, अथवा पूर्व दिनों म दान आदि बाटने की व्यवस्था करदूगी। अपने हिस्सेमें आपके लिये विभाग अलग तथा आपके अक्षय कोष की वृद्धि करवादूगी—तात्पर्य इसका यह है कि मेरी मनो कामना पूर्णहोने पर मै प्रभूत द्रव्य आप सबके लिये अर्पित करूगी। (त्ति क‌ु उवयाइय उवयाइत्तए) इस तरह की मुझे उनके पास मनौती-मानता-मनाने म मेरी भलाई है। (एव सपेहेइ) इस प्रकार का उसने विचार किया। (सपेहित्ता) और विचार कर (कल्ल जावजलते जेणामेव धण्णे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ) वह दूसरे दिन (उसी दिन) प्रात काल होते ही सूर्य के प्रकाशित होने पर जहां अपने पति धन्य सार्थवाह थ वहां गई। (उवागच्छित्ता एव वयासी) वहा जाकर उसने उनसे ऐसा कहा—(एव खलु अह देवाणुप्पिया !

याणिहिं च अणुवड्ढेमि) હે દેવાનુપ્રિયો ! જો મારા ઉદરથી પુત્ર કે પુત્રી જન્મશે તો હુ આપની પૂજા કરીશ આપના નિમિત્તે અભયદાન વગેરે કરીશ, અથવા તો પહેલાના દિવસોમા દાન વગેરે વહેચવાની વ્યવસ્થા કરીશ. મારા હિસ્સામા જે કઇ આવશે તેમાથી તમારો ભાગ જુદો મૂકાવડાવીશ. તેમજ તમારા અક્ષય નિધિની પણ હુ વૃદ્ધિ કરીશ. મતલબ એ છે કે જો મારી મનોકામના પૂરી થશે તો હુ પ્રભૂત દ્રવ્ય તમારા ચરણોમા ભેટ રૂપે અર્પણ કરીશ. (त्तिकट्टु उवयाइयं उवयाइत्तए) આ જાતની માન્યતામા જ મને હવે મારુ શ્રેય જણાય છે (एव सपेहेइ) આ પ્રમાણે તેણે વિચાર કર્યો (संपेहित्ता) અને વિચાર કરીને (कल्ल जाव जलते जेणामेव धण्णे सत्यवाहे तेणामेव उवागच्छइ) બીજે દિવસે સવારે સૂર્યોદય થતા જ ત્યા પોતાના પતિ ધન્ય સાર્થવાહ હતા ત્યા ગઇ (उवागच्छित्ता एव वयासी) ત્યા જઈને તેણે આમ કહ્યું— (एवं खलु अह देवाणुप्पिया !

सार्द्ध बहूनि वर्षाणि यावद् ददति समुल्लापकान् सुमधुरान् पुन पुनर्मञ्जुल प्रमणितान् तत् खलु अहमधन्या, अपुण्या, अकृतलक्षणा, इत एकमपि न प्राप्ता, तद् इच्छामि खलु देवानुप्रिय ! युष्माभिरभ्यनुज्ञाता सती विपुलम शन ४ यावद् अनुवर्द्धयामि, (त्तिकट्टु) इतिकृत्वा=इत्युक्त्वा उपयाचित

तुब्भेहिं सद्धि बहूहिं वासा जाव देंति समुल्लावए सुमहुरे) हे देवानुप्रिय ! आपके साथ बहुत वर्षों से मैं मनुष्य भवसबन्धी काम भोग भोग रही हू परन्तु अभी तक मेरे यहा न कोई लडका हुआ है और न कोई लडकी वे माताएँ धन्य हैं जो सतान से युक्त हैं एव उनकी तोतली मधुर बोली से जो अपने को प्रसन्न रखती हैं—इत्यादि कह कर फिर उसने कहा (अहं अहन्नाअपुण्णा अलक्खणा एत्तो एगमवि न पत्ता) मै अधन्या हू अपुण्या हू पूर्व म मैने कोई भी ऐसा पुण्य नहीं किया है, जिससे मेरे यहा तो लडका लडकी मैसे कोईभी नही है-- (तं इच्छामि ण देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाय समाणा विपुलं असण ४ जाव अणुवड्ढेमि त्तिकट्टु उवयाइय करेत्तए) इसलिए हे देवानुप्रिय ! मै आपसे आज्ञापित होकर यह चाहती हूं। की चारों प्रकार का आहार विपुल मात्रा में तैयार कराकर तथा गंध पुष्पादिलेकर अनेक मात्रादिक महिलाओं के साथ यहां के जितने भी इन्द्रादिकों के घर हैं उन सब की पुष्पार्चाकर उन के चरणों में पडकर सतान होने की मनौती (मानता) मनाऊँ—। इस इच्छा के पूर्ण होने पर फिर मै

तुब्भेहिं सद्धिं बहूइ वासाइ जाव देंति समुल्लावए सुमहुरे) हे देवानुप्रिय ! तमारी साथे बहु लांबा वखतथी हु मनुष्यभवना कामभोगो भोगवी रही छु पण हजी मारे पुत्र के पुत्री आथी कंई थयु नथी. आ ससारमा सतानवाळी माताओ ज भाग्यशाळी गणाय छे के जेमना नाना नाना बाळको तोतडी मधुर वाणी द्वारा तेमने खुश राखे छे (अह अहन्ना अपुण्णा अलक्खणा एत्तो एगमवि न पत्ता) हु तो अभागी छु, पापिणी छु, पूर्वभवमा मे सतान थाय आवु कंई पुण्यकार्य कर्यु नथी. (तं इच्छामि ण देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणा विपुलं असणं जाव अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु उवयाइय करेत्तए) हु तमारी आज्ञाथी पुष्कळ प्रमाणमा चारे जातना आहार बनावडावीने तेमज गंध पुष्प वगेरे लईने अनेक महिलाओनी साथे अहिंया जेटला इन्द्र वगेरे देवोना घरो छे ते बधानी पुष्प वगेरेथी पूजा करी तेमना चरणोमा पडीने सतानवती थवानी मानता राखु ज्यारे मारी आ मनोकामना

र्तुं श्रेय । ततः खलु धन्य सार्थवाहो भद्रा भार्यामेवमवादीत् ममापि च खलु हे देवानुप्रिय! एष एव मनोरथ ' यथा–'कह णं' कथं खलु केनोपायेन त्वं दारकं वा दारिका च प्रजनयिष्यसि ? इति कथयित्वा सार्थवाहः 'एय' एतम्=मनोरथरूपम् अर्थम् 'अणुजाणइ' अनुजानाति=अनुमोदयति। ततः खलु सा भद्रा सार्थवाही धन्येन सार्थवाहेन अभ्यनुज्ञाता सती 'हट्ठतुट्ठा जाव हियया' हृष्ट तुष्ट यावत्–हृष्टतुष्ट चित्तानन्दिता हर्षवशविसर्प हृदया विपुलमशनपानखाद्यस्वाद्यमुपस्कारयति, उपस्कार्य सुबहु

अभयदानादिक का वितरण करू इत्यादि। इस तरह उपयुक्त सब अपनी भावना उस भद्रा भार्याने धन्य सार्थवाह से निवेदित की। (तए णं धन्ने सत्थवाहे भद्दं भारियं एवं वयासी) इस प्रकार धन्य सार्थवाह ने अपनी भद्राभार्या की भावना सुनकर उससे ऐसा कहा–(ममपि णं खलु देवाणुप्पिया ' एस चेव मणोरहे) हे देवानुप्रिये मेरा भी यही मनोरथ है कि (कह णं तुम दारगं दारियं वा पयाएज्जसि) तुम किस उपाय से दारक या दारिका को जन्म दोगी! इस प्रकारकहकर (भद्दाए सत्थवाहीए एयमट्ठमणुजाणइ) धन्य सार्थवाहने उस भद्रा सार्थवाही के इस मनोरथरूप अर्थ को स्वीकार कर लिया उसकी अनुमोदना की। (तए णं सा भद्दा सत्थवाही धन्नेणं सत्थवाहेणं अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठतुट्ठ जाव) इसके बाद भद्रा सार्थवाहीने अपने पति धन्य सार्थवाह से आज्ञा प्राप्त कर बहुत अधिक हर्षित एवं सन्तुष्ट चित्त होते हुए (विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ) विपुलमात्रा में अशन पान खादिम और

સફળ થઈ જાય ત્યારે હું અભયદાન વગેરે વહેંચું આ પ્રમાણે ભદ્રા ભાર્યાએ તેના પતિ ધન્યસાર્થવાહને વિનતી કરી. (तए णं धन्ने सत्थवाहे भद्दं भारियं एवं वयासी) આ પ્રમાણે ધન્ય સાર્થવાહે તેમની ભદ્રા ભાર્યાની વાત સાંભળીને તેને આ પ્રમાણે કહ્યું — ममपि खलु देवाणुप्पिया! एसचेव मणोरहे)હે દેવાનુપ્રિયે! મારી પણ ઇચ્છા એવી જ છે(कह णं तुम दारगं दारिगं वा पयाएज्जसि) કેવી રીતે તમે પુત્ર કે પુત્રીને જન્મ આપી શકો? આ રીતે કહીને (भद्दाए सत्थवाहीए एयमट्ठमणुजाणइ) ધન્યસાર્થવાહે તેમની ભદ્રા ભાર્યાની વાત સ્વીકારી અને તેને અનુમતિ આપી. (तएणं सा भद्दा सत्थवाही धन्नेणं सत्थवाहेणं अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठ तुट्ठ जाव) ત્યારબાદ ભદ્રાસાર્થવાહીએ તેમના પતિ સાર્થવાહની આજ્ઞા મેળવીને અત્યંત પ્રસન્નતા અનુભવીને અને સંતુષ્ટ થઈને તેણે (विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ) પુષ્કળ પ્રમાણમાં અશન, પાન, ખાદિમ સ્વાદિમ આહાર તૈયાર કરાવડાવ્યો.

पुष्पगन्धवस्त्रमाल्यालङ्कारं गृह्णाति, गृहीत्वा स्वकाद् गृहाद्विनिर्गच्छति निर्गत्य राजगृहं नगरं मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य यत्रैव पुष्करिणी तत्रैवोपागच्छति, उपगत्य पुष्करिण्यास्तीरे सुबहु पुष्पगन्धवस्त्रमाल्यालङ्कारं स्थापयति, स्थापयित्वा पुष्करिणीमवगाहते, अवगाह्य जलमज्जनं करोति, कृत्वा जलक्रीडां करोति, कृत्वा स्नाता कृतबलिकर्मा 'उल्लपडसाडिगा' आर्द्रपटशाटिका=जलावगाहनेन आर्द्रे पटशाटके=उत्तरीयपरिधानवस्त्रे यस्याः सा तथा, तादृशी सा यानि तत्र 'उप्पलाइं' उत्पलानि=कमलानि 'जाव स-हस्सपत्ताइं' यावत् सहस्रपत्राणि=सहस्रदलकलितानि महापद्मानि सन्ति तानि

स्वादिम आहार तैयार कराया-(उवक्खडावित्ता सुबहुं पुप्फगंधवत्थमल्ला-लंकारं गेण्हइ) बाद में पुष्प गंध वस्त्र माला अलंकार को लिया और (गेण्हित्ता) लेकर (सयाओ गिहाओ) अपने घर से (निगच्छइ) वह (निकली निग्ग-च्छित्ता रायगिहं नयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ) निकल कर राजगृह नगर के ठीक बीचोबीच मार्ग से हो कर वह चली (निग्गच्छित्ता जेणेव पोक्खरणी तेणेव-उवागच्छइ) चलतेर वह वहां पहुँची जहा पुष्करिणी थी। (उवागच्छित्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहु पुप्फजावमल्लालंकारं ठवेइ) पहुँचते ही उसने उस पुष्करिणी के तीर पर वह चारों प्रकार के आहार की सामग्री तथा पुष्प आदि सब वस्तुएँ रख दी (ठवित्ता पुक्खरिणिं आगाहइ) रख कर फिर उसने उस में अवगाहन किया (ओगाहित्ता जलमज्जणं करेइ) अवगाहन कर स्नान किया (जलकीडं करेइ) जल क्रीडा की (करित्ता ण्हाया कयबलिकम्मा उल्लपडसाडिगा जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव सहस्सपत्ताइं ताइं

(उवक्खडावित्ता सुबहुं पुप्फगंधवत्थमल्लालंकारं गेण्हइ) त्यारपछी पुष्प, वस्त्र, माळा अने अलंकारोने लीधा अने (गेण्हित्ता) लईने (सयाओ गिहाओ) पोताना घेरथी (निगच्छइ) ते बहार नीकळी (निगच्छित्ता रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं णिगच्छइ) नीकळीने राजगृह नगरनी ठीक वच्चो वच्च रस्तेथी ते चाली (निग्गच्छित्ता जेणेव पोक्खरणी तेणेव उवागच्छइ) चालता चालता ज्यां पुष्क-रिणी हती त्यां पहोंची (उवागच्छित्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहुं पुप्फ जाव मल्लालंकारं ठवेइ) त्यां पहोंचीने तेणे पुष्करिणीना कांठे चारे जातना आहारनी सामग्री वगेरे बधी वस्तुओ मूकी दीधी. (ठवित्ता पुक्खरिणिं ओगाहइ) मूकीने ते पुष्करिणीमां उतरी (ओगाहित्ता जलमज्जणं करेइ) त्यां उतरीने तेणे स्नान कर्युं (जलकीडं करेइ) जळक्रीडा करी (करित्ता ण्हाया कयबलिकम्मा उल्लपडसाडिगा जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव सहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हइ) त्यार पछी ज्यारे तेणे

गृह्णन्ति, गृहीत्वा पुष्करिण्याः प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुह्य तं सुबहु पुष्पगन्धवस्त्रमाल्यालङ्कारं गृह्णन्ति, गृहीत्वा यत्रैव नागगृहं च यावद् वैश्रमणगृहं च तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य तत्र खलु नागप्रतिमानां च यावद् वैश्रमणप्रतिमानां च 'आलोए' आलोके=दृष्टिपथमागते सति प्रणामं करोति, कृत्वा 'ईसिं पच्चुण्णमइ' ईषत्प्रत्युन्नमति=स्तोकं प्रणमति, प्रत्युन्नम्य 'लोमहत्थगं' लोमहस्तकं=मयूरपिच्छप्रमार्जनकं परामुसइ' परामृशति=गृह्णाति

गिण्हइ) बाद में जब वह अच्छी तरह स्नान कर चुकी और काकादि पक्षी को अन्नादि को दिया तब गीली पटशाटिका पहिने हुए ही उसने वहां जितने कमल थे यावत् सहस्रपत्र युक्त महाकमल थे उन सबको उस पुष्करिणी से लिया और (गिण्हित्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता तं सुबहुं पुप्फ गंधवत्थमल्लालंकारं गेण्हइ, गिण्हि त्ता जेणामेव नागघरए य जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ) लेकर वह उस पुष्करिणी से बाहर निकली-निकल कर उसने समस्त उन पुष्प, गंध वस्त्र, माला, अलंकार आदि को लिया-और लेकर जहां नागघर यावत् वैश्रमण का घर था वहां गई (उवागच्छित्ता तत्थ णं नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य आलोए पणामं करेइ वहां पहुँच कर उसने वहां नाग प्रतिमाओं को यावत् वैश्रमण प्रतिमाओं को दृष्टिपथ होते ही प्रणाम किया। (करित्ता ईसिं पच्चुन्नमइ) प्रणाम कर फिर वह कुछ झुकी-(पच्चुन्नमित्ता लोमहत्थगं परामुसइ-परामुसित्ता णागपडिमाओ य जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थएण पम

सारी रीते स्नान करी लीधु अने कागडा वगेरे पक्षीओने अन्न वगेरेनो भाग आप्यो त्यारबाद भीनी साडी पहेरीने ज तेणे त्यां जेटला कमळो, सहस्र पत्रवाळा महा कमळो हता ते बधाने पुष्करिणीमांथी लई लीधा अने (गिण्हित्ता पुक्खरिणीओ पच्चारुहइ, पच्चोरुहित्ता तं सुबहु पुप्फगंधवत्थमल्लालंकारं गेण्हइ गिण्हित्ता जेणामेव नागघरए य जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ) लईने ते पुष्करिणीनी बहार नीकळी-नीकळीने तेणे बधा पुष्प वस्त्र, गंध, माळा अलंकार वगेरे लीधां अने लईने ज्यां नागघर वैश्रमण घर वगेरे हतां त्यां गई-(उवागच्छित्ता तत्थ णं नागपडिमाण य जाववेसमणपडिमाण य आलोए पणामं करेइ) त्यां पहोंचीने तेणे नाग अने वैश्रमण वगेरेनी प्रतिमाओने जोतां ज प्रणाम कर्या (करित्ता ईसिं पच्चुन्नमइ) प्रणाम करीने ते नीची नमी (पच्चुन्नमित्ता लोमहत्थगं परामुसइ परामुसित्ता नागपडिमाओ य जाव वेसमणपडिमाओ य

पूर्वक पारम्परीण अपनी समझ (बुद्धि) अपना मन अपनी इन्द्रियाँ, अपना शरीर, इन सब प्राकृत विवर्तों का, एवं अन्ततोगत्वा अपने आत्मा भी उस वसत्यनिष्ठा में ही केवल कालस्वबुद्धि से ही समर्पित कर दी जाना है। वस स्वधर्मानुष्ठान ही हमारी 'समझ' की इयत्ता है। यदि भगवदनुग्रह से यह कालस्वबुद्धि भी हमारी प्रज्ञा में अभिव्यक्त हो गई तो हम समझ लेंगे, हमने यथार्थ समझ लिया, जान लिया पहिचान लिया एवं प्राप्त कर लिया।

४२३–स्वधर्मानुष्ठानात्मक आचारधर्म से असंस्पृष्ट समझदार दार्शनिकों, तथा सन्तवादों के आचारनिष्ठाशून्य महतो महीयान् उद्गार—

यदि कालस्वबुद्धि की समझ नहीं आइ हमें तो फिर कैसी 'समझ' हमारा क्या उद्धार कर सकी ?, इस प्रश्न का ठीक ठीक समाधान तो ये दार्शनिक ही कर सकेंगे जो समझने के लिए आतुर बनते हुए लौकिक (आधिभौतिक) पारलौकिक (आधिदैविक) समस्त वस्तु व्यवस्थाओं को बलात्कारेण समर्पित कर अन्य-अन्य-विवर्तों से स्वयं भी उत्पीड़ित होते रहते हैं एवं स्वाभाविक धर्मनिष्ठों को भी उद्विग्न बनाते रहते हैं। अथवा तो फिर वे सन्तसम्प्रदायवादी ही तथाकथित प्रश्न का समाधान करसकेंगे जो अपनी समझ (बुद्धि) से अपने गुरु की समझ (कृपा) से यथार्थ समझते हुए अपने नारों को अपनी समझ–(अनुभूति) का ही व्याख्यान देते हुए यही उद्घोषण रहते हैं कि–'असारोऽयंसंसारः (बच्चा! सावधान! संसार असार है)। 'जीवनमिदं क्षणभङ्गुरम्' (जीवन दो दिन का भी नहीं, अपितु क्षणमात्र का है)। 'सुखदुःखे आगमापायिनी' (सांसारिक सुख-दुःख विनश्वर हैं, यों ही बदलते रहते हैं)। 'अतएव सर्वसम्बन्धत्यागः' सब से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए, और एकमात्र ऐसे महान् ज्ञानदाता गुरुभगवान् की शरण में ही आजाना चाहिए। तभी तुम्हें परमपद मिलेगा)।

४२४–स्वानुगता समझ के सम्बन्ध में किञ्चिदिव दिग्दर्शन—

यही बस हमारी तो इस सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि उस 'समझ' के (विश्वात्मा के) एकमात्रात्मक प्रतीक के अनन्तमहिमात्मक महान् अश्वत्थ के भी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष–सम–चान्द्र–सम्वत्सरात्मक के निःसीम अनुग्रह से समन्वित अपने जन्मदाता सगुण–प्रत्यक्षमूर्त्ति माता पिता के चरणों का श्रद्धापूर्वक, किंवा युगधर्मानुसार यथाशक्ति-पूर्वक संस्मरण करते हुए उन्हीं प्रातःस्मरणीय धर्मनिष्ठों का स्मरणमात्र करते हुए भी यदि हम अपना यह प्राकृत जीवन व्यतीत कर सकें भगवदनुग्रह से तो यही हमारे लिए पर्य्याप्त होगा। दूसरे शब्दों में–ऋषिप्रज्ञा पर हमारी श्रद्धा–स्वाभाविकी श्रद्धा–सुरक्षित रहे, प्राकृत–बुद्धिमान् मानवों की कृपा से समुत्पन्न युगधर्मानुगता–विषमा समस्याओं के इस भयावह दावानल में हम यथाकथञ्चित् ऋषिप्रज्ञा के दर्शन–स्पर्श–ज्ञान का सद्भाग्य प्राप्त करते रहें और यों अन्यथा–धर्म–बहिष्कृतरूपेणापि शास्त्रसंस्मरणपूर्वक भी अपना प्राकृत जीवन व्यतीत करलें, तो हमारी समझ से तो हमारे लिए यही पर्य्याप्त होगा—

> यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य–न वेद सः।
> अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्॥
>
> —केनोपनिषत्

धूप दहति, दग्ध्वा जानुपादपतिता 'पंजलिउडा' प्राञ्जलिपुटा=सयाजित कृदया एवमवादीत्— यदि खलु अहं दारकं वा दारिकां वा 'पयायामि= प्रजनयामि=प्रजनयिष्यामि तदा खलु अहं याग च यावत् अनुवर्द्धयामि =प्रवर्द्धयिष्यामि। 'त्तिकट्टु' इति कृत्वा=इत्युक्त्वा उपयाचितं करोति कृ वा यत्रैव पुष्करिणी तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य विपुलमशन पानं खाद्य स्वाद्यमास्वादयन्ती यावत् विहरति। तदनन्तर सा 'जिमिया' जिमिता= भुक्ता यावद् 'सुईभूया' शुचीभूता=प्रक्षालितहस्तमुखा सती यत्रैव स्वक

चंदनादि गंध द्रव्यों को रखा अथवा उनके ऊपर चन्दनादि तेल को छिड़का अगरतगर आदि सुगंधिद्रव्यों का उन्हें समर्पण किया विलेपनद्रव्य उन पर लगाया। (करित्ता जाव धूव डहइ डहित्ता जाणुपायपडिया पंजलिउडा एवं वयासी) इन सब वस्तुओं का समर्पण करने के बाद फिर उसने वहां धूप को जला कर फिर वह उनके समक्ष दोनों घुटने टेक कर नीचे जमीन पर झुक गई और दोनों हाथ जोड कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगी (जइणं अहं दारगं वा दारिगं वा पायायामि तो णं अहं जायं च जाव अणुवड्ढेमि त्तिकट्टु उवाइयं करेइ) यदि मैं पुत्र अथवा पुत्री को जन्म दूंगी तो आपकी सेवा पूजा करूंगी यावत् आपके कोष की वृद्धि करूंगी—इस प्रकार उसने प्रार्थना रूपमें मनौती मानता मनाई (करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता विउलं असणं४ आसाएमाणी जाव विहरइ) मनौती मना कर फिर वह उस पुष्करिणी पर आई आकर वहां उसने उस विपुल खाने पीने की सामग्री का आहार किया (जिमिया जाव सुई-भूया जेणेव सए गिहे तेणेव उवागया) आहार कर के फिर उसने हाथ

કર્યું અગરતગર વગેરે સુગંધિત દ્રવ્યો અર્પણ કર્યાં અને સુગંધિત લેપોનો લેપ કર્યો. (करित्ता जाव धूवंडहइ डहित्ता जाणुपायपडिया पंजलिउडा एवं वयासी) આ બધી વસ્તુઓનું સમર્પણ કરીને તેણે ધૂપસળી સળગાવી અને સળગાવીને તે તેમની સામે બંને ઘૂટણો ટેકીને નીચે પૃથ્વી ઉપર નમી અને બંને હાથ જોડીને આ પ્રમાણે પ્રાર્થના કરવા લાગી (जइणं अहं दारगं वा दारिगं वा पायायामि तोणं अहं जायं च जाव अणुवड्ढेमि त्तिकट्टु उवाइयं करेइ) જો હું પુત્ર કે પુત્રીને જન્મ આપીશ તો આપની સેવા-પૂજા કરીશ અને આપના નિધિની અભિવૃદ્ધિ કરીશ આ રીતે તેણે પ્રાર્થના કરતા માનતા રાખી. करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता विउलं असणं ४ आसाएमाणी जाव विहरइ) માનતા માનીનીને તે પુષ્કરિણીના કાંઠે આવી અને ત્યાં તેણે ખૂબ જ સારી પેઠે ભોજન કર્યું (जिमिया जाव सुईभूया जेणेव सए गिहे तेणेव उवागया) આહાર વગેરે કરીને તેણે હાથ

ये उदाहरण हमारे सामने रखते भी हैं जैसाकि-इन्द्र-विरोचनाख्यान में विस्तार से प्रतिपादित है। दर्पण में प्रतिबिम्बित पुरुष, जल में प्रतिबिम्बित पुरुष, चक्षुःपटल में प्रतिबिम्बित पुरुष, प्रज्ञानपटल में प्रतिबिम्बित पुरुष, आदि आदि सभी उदाहरण उस आख्यान की मातृभ्यासंरक्षणपद्धति-तथापा दार्शनिक-पद्धति के ही सूचक बन रहे हैं। सभी दृष्टान्त भौतिक हैं, जबकि सृष्टिविज्ञान के अनुसार इन सभी औपनिषद दृष्टान्तों का प्रतीक से सम्बन्ध न होकर तत्तत् प्रतिरूपता' से ही सम्बन्ध है, जैसाकि अनुपद में ही निदर्शन किया जाने वाला है। और प्रतिरूपविधि से उपनिषत् के ये सभी दृष्टान्त 'मानवस्वरूप' के अन्तर्गत आते हुए सर्वथा सिद्धान्त ही बने हुए हैं जिस इस आधिदैविकवर्ग का समन्वय करने में असमर्थ दार्शनिक-प्रज्ञाने सम्भवतः इन औपनिषद प्रतिरूप दृष्टान्तों के आधार पर प्रतीकात्मक-स्थाणुपुरुष-मृगमरीचिका-शशशृङ्ग-वन्ध्यापुत्र-आदि आदि-जैसे भौतिक दृष्टान्त ही मध्यस्थ बना लिए हैं अध्यासवाद के व्यामोहन से जो कदापि उस अमूर्त अनन्त के न तो प्रतिरूप ही हैं न प्रतीक ही। दार्शनिकों का महान् व्यामोहन यही था कि, व इन भौतिक दृष्टान्तों के माध्यम से स्वयं भी उस अनन्त को बुद्धिगम्य बनाने के लिए आतुर हो पड़े थे एवं दूसरों को भी 'पर मातानुगत-'दार्शनिकता के व्यामोहन से बचाने के लिए आतुर बन गए थे। अतएव 'दर्शन' रूपा परानुगता इसी भावुकताने इसी बुद्धिवादात्मक व्यामोहनने दार्शनिक के मस्तिष्क में भौतिक-दृष्टान्तरूप व्यामोहन उत्पन्न कर ही तो दिया।

४२८—कालात्मक प्रतीक-दृष्टान्तों के अष्टविध (८) विवर्तों का नामसंस्मरण, एवं परम-कालात्मक अनन्तकाल की अन्तिम प्रतीकता का समन्वय—

दार्शनिक मस्तिष्क से उद्भूत दिग्देशकालात्मक-भौतिक-प्रतीकवाद की पर्यवसानभूमि था वह चान्द्रसम्वत्सरकाल जो अपनी 'वर्ष' मर्यादा से गणनकालात्मक बनता हुआ अन्यथा मानविच्छिन्नकाल ही प्रमाणित है। अतएव तत्त्वतः अपने इस केवल मानिककाल से भी न इस काल का ही कोई अस्तित्व, न दिक् का ही एवं न देशप्रदेश का ही। यही मानव की बुद्धिगम्या व्याख्या की वह भीत्तात्मकी है जिस पर दार्शनिक, तथा तदाधारेणैव आधिभूत-भूतवैज्ञानिक के सम्पूर्ण कालिक-दैशिक आडम्बर नर्तन कर रहे हैं। इसी व्यामोहन की उपशान्ति के लिए इसी चान्द्रसाम्वत्सरिक-वर्षमर्यादात्मक-भूतकाल की प्रतीकता के माध्यम से शास्त्र ने इस की अपेक्षया महतोमहीयान् पार्थिव सम्वत्सरकाल का तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् सौरसम्वत्सरकाल[१] का तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान्-महत्तरतम पारमेष्ठ्यकाल का तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् पुरुडीरस्वयम्भूकाल[१] का तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् अव्यक्त परोरजामूर्त्ति परमात्मकाल[१] का एवं तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् अनन्त-अमृतत्वकाल[१] का दिग्दर्शन कराते हुए इस प्रतीकता का पर्यवसान किया तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया अनन्तानन्त प्रमाणित उस महाकालरूप कालातीतात्मक अनन्तकाल पर, जहाँ पहुँचते पहुँचते तो मानव की कालिक-दैशिक बुद्धि का व्यामोहन सर्वथा ही धूलिधूसरित होजाता है। और यहाँ आकर शास्त्रने 'काल' स ईयते परमो नु देवः रूप से एकबार पुनः कालोपलाभन-माध्यम से मानव की भावुक-बुद्धि के निरोधभूत दम्भ को सर्वथा ही अभिभूत कर दिया इस अनन्तकाल जैसे अनन्तानन्तविवर्त को भी उस कालातीत परम अनन्त का एकांशमात्र-प्रतिबिम्बदर्शमात्र ही बतलाते हुए। यों यह अन्तिम कालरूप परमकाल एकमात्र बुद्धिव्यामोहन को निर्मोह बनाने के लिए ही भूमिका में उस

गच्छित्ता पोक्खरिणीं ओगाहति, ओगाहित्ता ण्हायाओ कयबलिक-म्माओ सव्वालकारविभूसियाओ विपुल असण ४ आसाएमाणीओ जाव परिभुजेमणीओ दोहल विणेइ। एव सपेहेइ सपहित्ता कल्ल जाव जलते जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता धण्ण सत्थवाह एव वयासी–एव खलु देवाणुप्पिया! मम तस्स गब्भस्स जाव विणेइ त इच्छामि ण देवाणुप्पिया! तुब्भेहिं अब्भ णुन्नायासमाणी जाव विहरित्तए, अहा सुह देवाणुप्पिया! मा पडिबध करेह, तएण सा भद्दा सत्थवाही धण्णेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठतुट्ठा जाव विपुल असण ४ जाव ण्हाया जाव उल्लपड साडिया जेणेव नागघरए जाव धूव डहइ, डहित्ता पणाम करेइ पणाम करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ। तएण ताओ मित्तनाइ जाव नगरमहिलाओ भद्द सत्थवाहिं सव्वालकारविभूसिय करेति, तएण सा भद्दा सत्थवाही ताहिं मित्तनाइ नियगसयणस बधिपरिजणणगरमहिलाहिं सद्धि त विपुल असण ४ जाव परिभुज-माणी य दोहल विणेइ विणेइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। तएण सा भद्दा सत्थवाही सपुन्नडोहला जाव त गब्भ सुह सुहेण परिवहइ, तएण सा भद्दा सत्थवाही णवण्ह मासाण बहुपडिपुन्नाण अद्धट्ठमाण राइदियाण सुकुमालपाणिपाय जाव दारग पयाया, तएण तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जाय कम्म करेति करित्ता तहेव जाव विपुल असण ४ उवक्खडावेंति उवक्खडावित्ता तहेव मित्तनाइनिजकसयणसबधिपरिजणे भोयावेइ

जन्मान्तरीय पुण्य से, सर्वोपरि इष्टदेवानुग्रह से यदि स्थिर होजाता है एकबार भी तो अवश्य ही इस की तथाकथित बुद्धिव्यामोहानुबन्धिनी प्रश्नोत्तरशैली एवं समझने–समझाने की आतुरता सर्वथा ही उपशान्त हो होजाती है सदा सदा के लिए। एवं यहीं आकर यह सहज मानव केवल 'मानव' रूप से ही अभिव्यक्त हो पड़ता है और प्रश्नोत्तरविभ्रमों के वाग्जाल से विमुक्त ऐसे मानव में ही 'शुद्धबुद्धि' का उदय होता है। यही शुद्धबुद्धि अर्जुनवत् अपने सम्पूर्ण बौद्धिक–व्यामोहनों से उपरत होती हुई प्रश्न प्रश्न न कर प्रश्नतमान से यही कह कर ऋषिनिष्ठा के प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण ही तो कर देती है कि—

> कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म्मसम्मूढचेताः ।
> यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि–मां, त्वां प्रपन्नम् ॥
>
> —गीता

४३२–दार्शनिक–भाषाप्रधान उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र, एवं सहजभाषा–प्रधान मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र, और तद्द्वारा ही उपनिषत् गीता आदि का सम्मानित– नैष्ठिक–समन्वय—

स्मरण रहे, उपनिषत् तथा गीता दोनों की भाषा दार्शनिक है। मन्त्रब्राह्मणात्मिका (ज्ञानविज्ञानात्मिका) सहजभाषा को आधार बनाए बिना उपनिषत्, तथा गीता का सहज समन्वय अन्य प्रकार–सहस्रों से भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए–उसी 'प्रतीक' भाव को लक्ष्य बनाइए केवल उक्त गीताभाष्य की दृष्टि से। गीता इतिहास की भाषा है जिस में 'भावुकता' का पदे पदे संरक्षण हुआ है लोकव्यापक भगवान् के द्वारा जबकि ऋषिभाषा (वेदभाषा) में 'भावुकता' का संस्मरण भी निषिद्ध माना गया है। समझनेवाला पात्र है गीता में भावुक, क्षत्रियकुमार अर्जुन। अतएव क्षत्रियोचित दर्प सङ्कुल विगलित हो जाने पर भी निर्दोष नहीं हुआ अर्जुन का। तभी तो गीतोपदेश के श्रवणानन्तर भी आगे चल कर कर्त्तव्यपथ–कर्त्तव्यादि प्रश्नों में अनेक बार इस भावुकने धर्म्मव्यतिक्रम कर डाला था एवं पुनः पुनः भगवान् को ही इस नितान्त भावुक अर्जुन का संरक्षण करते रहना पड़ता था।

४३३–आचारधर्म्मनिष्ठाविरोधिनी सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना हिन्दूमानव की भावुकता—

इसीलिए तो लोकसूत्र है कि–'बुद्धिव्यामुग्ध–व्यक्तित्वविमूढ–भावुक मानव पहिले तो कुछ सुनना–समझना–जानना ही नहीं चाहता। यदि समझ लेता है, जान लेता है, तो उसे कर्म्मरूप में परिणत करना नहीं चाहता अपने इसी व्यक्तित्वविमोहनात्मक दम्भ से किंवा इस भय से कि यदि मैं करने लग पड़ा, तो संसार के सामने मैं छोटा होजाऊँगा। यदि किसी बलवती प्रेरणा से करने लग भी पड़ा, तो यह कर्त्तव्य चिरस्थायी नहीं बनने पाता।" ऐसी है सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना अतएव दिङ्विमूढा–देशविमूढा–कालविमूढा यह भावुकता जिस ने भारतीय सहज भी आस्तिक हिन्दूमानव को विगत तीन सहस्राब्दों से तो आत्यन्तिकरूपेणैव पराङ्मुख ही प्रमाणित कर रक्खा है।

गच्छित्ता पोक्खरिणीं ओगाहति, ओगाहित्ता ण्हायाओ कयबलिक-म्माओ सव्वालंकारविभूसियाओ विपुलं असणं ४ आसाएमाणीओ जाव परिभुंजेमाणीओ दोहलं विणेइ। एवं संपेहेइ संपहित्ता कल्लं जाव जलंते जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! मम तस्स गब्भस्स जाव विणेइ तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! तुब्भेहिं अब्भणुन्नायासमाणी जाव विहरित्तए, अहा सुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह, तएणं सा भद्दा सत्थवाही धण्णेणं सत्थवाहेणं अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठतुट्ठा जाव विपुलं असणं ४ जाव ण्हाया जाव उल्लपड साडिया जेणेव नागघरए जाव धूवं डहइ, डहित्ता पणामं करेइ पणामं करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ। तएणं ताओ मित्तनाइ जाव नगरमहिलाओ भद्दं सत्थवाहिं सव्वालंकारविभूसियं करेंति, तएणं सा भद्दा सत्थवाही ताहिं मित्तनाइ नियगसयणसं बंधिपरिजणणगरमहिलाहिं सद्धिं तं विपुलं असणं ४ जाव परिभुंज माणी य दोहलं विणेइ विणेइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। तएणं सा भद्दा सत्थवाही संपुन्नडोहला जाव तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवहइ, तएणं सा भद्दा सत्थवाही णवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं सुकुमालपाणिपायं जाव दारगं पयाया, तएणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जाय कम्मं करेंति करित्ता तहेव जाव विपुलं असणं ४ उवक्खडावेंति उवक्खडावित्ता तहेव मित्तनाइनिजकसयणसंबंधिपरिजणे भोयावेइ

है। मानवबुद्धि जब ब्रह्म के सम्बन्ध में आचरण की धारणा, एवं धर्म्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा की पोषक बनने लग पड़ती है, तो दोनों ही पराङ्मुख बन जाते हैं मानव से। ब्रह्म कभी आचार में नहीं आता, तो धर्म्म कभी प्रचार में नहीं आता। ब्रह्म अनुशीलनात्मिका जिज्ञासा से ही अनुप्राणित है तो धर्म्म आचरणात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से ही अनुप्राणित है। जिज्ञासात्मक प्रश्न का ब्रह्म से ही सम्बन्ध है, एवं आचारात्मक प्रश्न का धर्म्म से ही सम्बन्ध है। ब्रह्माचारव्यामोहनानुगत धर्म्मप्रचार-व्यामोहन ने ही एक ओर जहाँ धर्म्म के आचारपक्ष को शिथिल कर दिया है, तो वहाँ दूसरी ओर इसी से ब्रह्मविचारपक्ष शिथिल होगया है। ब्रह्मविचारसारपरमा भगवती धारणा की उपासना से पराङ्मुखा मानव की प्राकृतबुद्धि आज धर्म्म पर तो 'विचार' का प्रयोग करने लग पड़ी है, एवं ब्रह्म पर आचारात्मक 'साक्षात्कार' का प्रयोग करने लग पड़ी है। क्योंकि दर्शनव्यामोहनात्मक कल्पित आचार ही आज के ब्रह्मवादियों का ब्रह्माचाररूप ब्रह्मदर्शन (ईश्वरदर्शन) बन रहा है। ऐसे ब्रह्मसाक्षात्कार-परायण प्राकृत मानव ही धर्म्मप्रचारमात्र के लिए आतुर बने रहते हैं। धर्म्मप्रचार के 'व्याज' ('छल') से ये अपनी अनुभूतियाँ अपने ब्रह्मसाक्षात्कारों से ही भावुक जनता को उन्मुग्ध बनाते रहते हैं, जबकि धर्म्मप्रचार की एकमात्र आधारभूमि मानी गई है—'धर्म्माचरण' 'कर्त्तव्याचरण'।

४३७–अभिनिवेशनिवारक धर्म्माचरण, तत एव ब्रह्मजिज्ञासा का उदय, एवं सत्यकाम की धर्म्माचरणमूला ब्रह्मजिज्ञासा, और तच्छान्ति—

धर्म्माचरण ही वह महान् माध्यम है जिसके द्वारा मानवबुद्धि का व्यक्तित्वविमोहनात्मक अभिनिवेश (दुराग्रह–हठधर्म्मी) दूर हुआ करता है। इस अभिनिवेश के हटने से ही मानव में ब्रह्मजिज्ञासा का उदय होता है जिस जिज्ञासा के उत्तर में इसे उत्तरोत्तर आचारनिष्ठा में ही प्रवृत्त करते हैं ऋषिमानव। जिज्ञासा का स्वतन्त्ररूप से कोई समाधान नहीं होता। सत्यकाम जाते हैं ब्रह्मजिज्ञासा लेकर महर्षि गौतम के समीप। उत्तर मिलता है गोसेवारूप माध्यमिक उस धर्म्माचरण के रूप में जो गोपशु और वेदतत्त्वात्मक गोतत्त्व का प्रतिरूप बनता हुआ मानव के प्राकृत दोषों अभिनिवेशों का परिमार्जक माना गया है। इसी से तो सत्यकाम को कालान्तर में वह शुद्धबुद्धि प्राप्त होजाती है जिससे स्वतः ही सत्यकाम की ब्रह्मजिज्ञासा उपशान्त हो जाती है एवं पुनरावर्त्तन पर ऋषि को कहना पड़ता है कि—'ब्रह्मविद इव सोम्य! ते मुखं भाति' (छा० उप० ४।१४।२) स्पष्टतमरूपेण आचार की सीमा में ही ब्रह्मजिज्ञासा का सफल समाधान सुरक्षित है।

४३८–ब्रह्मजिज्ञासात्मक प्रश्नों से असस्पृष्ट अवतारपुरुषों का धर्म्मात्मक-कर्त्तव्याचार संस्थापन के लिए ही युग युग में आविर्भाव—

अतएव भारतराष्ट्र के ब्रह्मरूप अवतारपुरुषों तक ने यावज्जीवन धार्मिक–कर्त्तव्याचारों का ही स्वयं भी अनुगमन किया है एवं अपने उपदेशोंसे तत्कालीन समाज का भी उद्बोधन कराया है। ब्रह्मजिज्ञासा के उपशम के लिए भगवान् कभी कृपा करके अवतार नहीं लिया करते। प्रसिद्ध भगवान् के अवतार का

म्लु विपुलमशन पान खाद्य स्वाद्य, सुबहुक पुष्पवस्त्रगन्धमाल्यालङ्कार गृहीत्वा मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनमहिलाभिश्च सार्द्धं सपरिवृता राजगृहस्य नगरस्य मध्यमध्येन निर्गच्छन्ति, निर्गत्य यत्र पुष्करिणी तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य पुष्करिणीमवगाहन्त, अवगाह्य स्नाता कृतबलिकर्माण सर्वालंकारविभूषिता तद् विपुलमशनपानखाद्यस्वाद्यमास्वादयन्त्य यावत् परिभुञ्जाना दोहदं व्यप

(जाओ ण विउल असण ४ सुबहुय-पुप्फ-वत्थ-गध-मल्लालकार गहाय मित्त नाइ-नियग-सयण-सबंधिपरियणमहिलाहि य सद्धिं सपरिवुडाओ रायगिहस्स नयरस्स मज्झ मज्झेण निग्गच्छंति) जो माताए विपुल अशन पानादि ४ प्रकार के आहार को और बहुत अधिक पुष्प वस्त्र गंध, माला अलकार को लेकर मित्रज्ञाति, निजक, स्वजन, सबन्धी-परिजन की महिलाओं के साथ घिरी हुइ होकर राजगृह नगर के ठीक बीचो बीच के मार्ग से निकलती हैं। (निग्गच्छित्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता पुक्खरिणी ओगाहंति ओगाहित्ता ण्हायाओ कयबलिकम्माओ सव्वालकारविभूसियाओ विउल असण आसाएमाणीओ जाव परिभुजेमाणीओ दोहल विणेइ) और निकल कर जहा पुष्करिणी है वहां जाती हैं जा कर उसमे अवगाहन करती हैं, अवगाहन कर स्नान करती हैं-स्नान होकर बलिकर्म वायसादि को अन्नादि का भाग देकर समस्त अलकारों से शरीर को विभूषित करती हैं और फिर उस विपुल मात्रा में निष्पन्न

ते माताओना ज सामुद्रिक शास्त्र प्रमाणेना शारीरिक लक्षणो सफळ थया छे, (जाओ ण विउल असण ४ सुबहुय पुप्फवत्थगधमल्लालंकार गहाय मित्तनाइ-नियग-सयण-सबंधिपरियणमहिलाहि य सद्धिं सपरिवुडाओ रायगिहस्स नयरस्स मज्झ मज्झेण निग्गच्छंति) जे माताओ पुष्कळ प्रमाणमा अशन पान वगेरे चार जातनो आहार अने खूब ज पुष्प, वस्त्र गंध, माळा अने अलकारोने लईने मित्र ज्ञाति, निजक स्वजन सबंधी परिजननी महिलाओनी साथे राजगृह नगरना वच्चो वच्च मार्गमा थईने पसार थाय छे (निग्गच्छित्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता, पुक्खरिणी ओगाहंति, ओगाहित्ता ण्हायाओ कयबलिकम्माओ सव्वालंकारविभूसियाओ विउल असणं आसाएमाणीओ जाव परिभुजेमाणीओ दोहलं विणेइ) अने पसार थईने ज्यां पुष्करिणी छे त्या जाय छे त्या जईने तेमा उतरे छे, उतरीने नहाय छे नहाईने कागडा वगेरे पक्षीओने अन्ननो भाग आपीने बलिकर्म करे छे, अने शरीरना बधा अगोने घरेणाओथी अलकृत करे छे अने फरी ते पुष्कळ प्रमाणमा तैयार करवामा आवेला अशन

४४१–स्वस्वरूपबोध की इयत्ता से ही स्वस्वरूपबोध का अनुग्रह, एवं तदवच्छिन्न प्राकृत मानव की प्रकृति–पुरुष–स्वरूप–विमूढता—

'स्वस्वरूप का बोध ही इसे उस स्वरूप का बाध करा देता है, जोकि यही स्वरूप इसका वास्तविक स्वरूप है' इस सूत्र का भी यही अर्थ है जो पूर्व सूत्र का है। मानव का बुद्धिगम्य स्वरूप ही प्रकृति-दृष्ट्या 'स्वस्वरूप' है, और उसी का नाम है 'प्राकृतस्वरूप'। दुर्भाग्य तो इस बुद्धिमान् प्राकृत मानव का यह है कि यह अपने बुद्धिगम्य इस प्राकृत-स्वरूप को भी तो नहीं जान रहा। प्रकृति से पर अवस्थित अप्राकृत स्वरूप की बात अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए हम छोड़ देते हैं। केवल बुद्धिगम्य प्राकृत-स्वरूप की ही बात करते हैं। सचमुच महतोमहीयान् भी इस प्राकृत मानवने अपने इस महतोमहीयान् उस प्राकृत-स्वरूप का भी तो चिन्तन नहीं किया है, जिसका चिन्तन, और समन्वय इसकी प्राकृत-बुद्धि से ही सम्भव माना है शास्त्र ने।

४४२–प्रकृति की ६ ठी वैकारिक परम्परम्परा से अनुप्राणित जड़भूतों के प्रति प्रकृतिजन्य व्यामोहन, एवं तद्व्यामोहन में ही इसकी भूतबुद्धि की परिसमाप्ति, और उसका भीषण परिणाम—

इसने तो अपने आपको इस सीमापर्य्यन्त सीमित कर लिया है जिसके सम्बन्ध में कोई भी वक्तव्य शेष नहीं रह जाता। प्रकृति के विकारभूत प्रकृतिविकृतिभाव, तद्विकारभूत वैकारिकभाव, तत्पञ्चीकरणात्मक स्थूलमहाभूतभाव, एवं तत्पञ्चीकरणात्मक प्रत्यक्षदृष्ट भूत-भौतिक पदार्थ, इस सम्पूर्ण प्राकृत परम्परा में से मानव की बुद्धि ने आज पर्य्यन्त के सर्वथा वैकारिक-प्रत्यक्षदृष्ट-भूत-भौतिक-पदार्थों को ही दुर्भाग्यवश 'प्रकृति' मान लिया है, एवं इसकी व्याख्या में ही अपनी बुद्धि परिसमाप्त कर दी है। और उस सीमापर्य्यन्त समाप्त कर दी है, जिस सीमा से तो कुछ इधर ही पशुओं की भी बुद्धि कुछ अधिक जान लेती है, जानकर इन बुद्धिगम्य-भावों से यथाशक्य अपना परित्राण कर लेती है, जबकि मानव अपने पशुसमतुलित इन बुद्धिगम्यभावों से उत्पन्न भयों से भी अपना त्राण नहीं कर पाता। इससे अधिक मानव का, इसकी बुद्धि का, सर्वोपरि इसकी बुद्धिगम्या व्याख्या का, एवं तदनुप्राणित वर्त्तमान व्यक्तित्व-विमोहन का दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास और क्या होगा ?। इसीलिए हमने कहा है कि, यदि यह अपना प्राकृत स्वरूप भी जान लेता तो कदाचित् भी इसे अपने प्रकृत्यतीत अप्राकृत स्वरूप का तो बोध हो ही सकता था।

४४३–स्व प्राकृत, और पौरुष–स्वरूप से सर्वथा पराङ्मुख प्राकृत मानव के लिए अधिष्ठाता सौर हिरण्यगर्भमूला 'बुद्धि', एवं तत्फलतः स्थूलभूतों के भी प्राकृत स्वरूप से पराङ्मुख मानव की सर्वविस्मृति—

किन्तु !। इस किन्तु, परन्तु, तथा, पुनः में ही यह अपनी बुद्धि को आलोडित–विलोडित करता रहा। भौतिक रूपों की व्याख्या–समन्वयों में तो यह अहोरात्र मानवता से जुटा रहा। किन्तु स्वयं 'यह' क्या है ? इस अपने प्राकृत स्वरूप के सम्बन्ध में इसने अपनी बुद्धि से क्षणमात्र भी कभी विचार भी नहीं किया *।

---

* न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। (ऋक्सं० १। १६४ ३७)।

भद्रा सार्थवाही धन्येन सार्थवाहेनाऽभ्यनुज्ञाता सती हृष्टतुष्टा यावद् विपुलम् अशन पान खाद्य स्वाद्य यावत् स्नाता यावत् आर्द्रपटशाटिका यत्रैव नागगृह यावत् धूपं दहति, दग्ध्वा प्रणाम करोति, प्रणाम कृत्वा यत्रैव पुष्करिणी तत्रैवोपागच्छति। तत खलु ता मित्रज्ञाति यावत् नगरमहिला भद्रा सार्थवाहीं सर्वालङ्कारविभूषिता कुर्वन्ति। तत खलु सा भद्रा सार्थवाही ताभिर्मित्रज्ञाति निजकस्वजनसम्बन्धिपरिजननगरमहिलाभि सार्धं तद् विपुलमशन पान खाद्य स्वाद्य यावत् परिभुञ्जाना च दोहद व्यपनयति, व्यपनीय यस्या दिश प्रादु

(अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंध करेह) हे देवानुप्रिये! तुम्हें जैसे सुख हो वैसा करो इसम देरी मत करो (तएण सा भद्दा सत्थवाही धन्नेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठ तुट्ठा) उसके बाद उस भद्रा सार्थवाहीने धन्य सेठ से अनुमति प्राप्त कर बहुत ही अधिक हर्षित और सन्तुष्ट चित्त हो (जाव) यावत् (विपुल असण ४ जाव ण्हाया) विपुलमात्रा में चारों प्रकार का आहार तैयार किया-यावत् उसने पुष्करिणी म स्नान किया (जाव उल्लपडसाडिया जेणेव नागघरए जाव धूव डहइ) यावत् गीली साडी पहिने हुए ही फिर उसने उस पुष्करिणी स कमलों को लिया और जहा नागघर आदि थे वहा गई-बहुमूल्य पुष्पार्चा कर उनके समक्ष धू। दिखाई। इस प्रकार यहां पाचवें सूत्र में जो वर्णन ह वह समझ लेना। (उहित्ता पणाम करेइ-पणाम करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ) धूप दिया चुकने पर उसने उन्हें प्रणाम किया प्रणाम कर फिर वह पुष्करिणी पर वापिस आ गई (तएण ताओ मित्तनाइ नियगसयणसबंधिपरियणणगरमहिलाओ

वध करेह) હે દેવાનુ પ્રિયે! તમને જેમ સુખ થાય તેમ કરો, મોડુ કરો નહિ. (तए णं सा भद्दा सत्थवाही धन्नेणं सत्थवाहेणं अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठ तुट्ठा) ત્યાર બાદ તે ભદ્રા સાર્થવાહી ધન્ય સાર્થવાહની પાસેથી આજ્ઞા મેળવીને ખૂબ જ પ્રસન્ન અને સતુષ્ટ થઇ (जाव) યાવત્ (विपुल असण ४ जाव ण्हाया) પુષ્કળ પ્રમાણમા ચારે પ્રકારનો આહાર બનાવરાવ્યો અને ત્યાર પછી તેણે પુષ્કરિણીમા સ્નાન કર્યું (जाव उल्लपडसाडिया जेणेव नागघरए जाव धूव डहइ) ભીના લુગડે જ તેણે પુષ્કરિણીમાથી કમળો લીધા અને નાગઘર વગેરેના દેવસ્થાનમા ગઈ ખૂબ જ કિંમતિ પુષ્પો વગેરેથી તે બધા દેવોની પૂજા કરી તેમની સામે ધૂપસળી સળગાવી. આગળનુ વર્ણન પાઠકોએ પાચમા સૂત્ર પ્રમાણે જ જાણવુ જોઇએ. (उहित्ता पणाम करेइ पणाम करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ) ધૂપ કર્યો બાદ તેણે તેમને પ્રણામ કર્યા. પ્રણામ કર્યા બાદ ફરીને પુષ્કરિણીના કિનારે આવી ગઈ (तए ण ताओ मित्तनाइनियगसयण

४४६-सेर का सवासेर से, बताशे का पन्सेरी से परिमाण-समतुलन, एवं तत्समद्भूत उत्तर से ही बुद्धिमान् के बुद्धिदम्भ की उपशान्ति—

सहज-भाषा में यों कह लीजिए कि, वणिक्तन्त्र में सेर को जब सवासेर से तोल दिया जाता है तो तुलवाने वाले की 'सेर' की निष्ठा उन्मूल बन जाती है। उदाहरण तो यहाँतक मिलता है लोक में कि-बताशे को चतुर वणिक् पन्सेरी से तोलकर दिखला देता है। और फिर भी तुलवाने वाले महान् बुद्धिमान् की दृष्टि में बताशा पन्सेरी से भी अधिक भारी ही प्रमाणित हो जाता है। सचमुच इस उपाय के अतिरिक्त प्रश्नकर्त्ता बुद्धिमान् के प्रश्न का और कोई भी तो उत्तर नहीं हो सकता जो उत्तर एक महान् प्रश्न के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखता।

४४७-असमाधेय प्रश्नात्मक 'सम्प्रश्न' के द्वारा ही मानव का सम्भावित अनुरञ्जन, एवं सम्प्रश्नशैली का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्योंकि उस बुद्धिमान् की बुद्धि को यह कैसे समझाया जाय कि, श्रीमन्! यह तत्त्व कार्य्यकारणातीत बनता हुआ आपकी, और हमारी, दोनों की ही समझ से बहिर्भूत है। उसके सम्बन्ध में न कार्य्यकारणात्मक प्रश्न ही खड़े होसकते न कार्य्यकारणात्मक उत्तर ही होसकते। किन्तु प्रश्नकर्त्ता प्राकृत-बुद्धिमान् मानव उत्तर के बिना क्योंकि सन्तुष्ट ही नहीं होता। अतएव उस के सम्मुख विवश बनकर तटस्थ मानव को एक और बड़ा प्रश्न ही खड़ा कर देना पड़ता है बुद्धिविगम्य महान् प्रश्नात्मक जो उत्तर ही वैदिक-परिभाषा में 'सम्प्रश्न' नाम से प्रसिद्ध हुआ है जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बन रहा है-'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग ! वेद यदि वा न वेद' (अरे! तुम हम से सृष्टि के कार्य्यकारण-सम्बन्ध में पूँछ रहे हो। भला हम क्या समाधान कर सकते हैं इन प्रश्नों का। हम ही नहीं इस सम्पूर्ण विश्व का जो परमाकाशात्मक कोई अध्यक्ष (अव्यक्तप्रकृतिरूप स्वयम्भू) है, हम तो कहेंगे-वह भी तुम्हारे इस प्रश्न का समाधान करसकता है, अथवा नहीं अत्रापि सन्देह । प्रतारणापूर्वक उद्बोधन की ऐसी विशिष्ट शैली हम समझते हैं विश्व के और किसी प्राकृत साहित्य में उपलब्ध नहीं होसकती। अब यह प्रश्नकर्त्ता का अपना विवेक है कि, वह इस सम्प्रश्नात्मक महान् प्रश्न से अधिक बुद्धिव्यामोहन में इसलिए आजाय कि-'देखा कैसा प्रश्न किया है। मान गए न अब तो उत्तरदाता भी हमारा.....

इत्यादि'। और या अपने इस अधिक-व्यामोहन में ही प्रश्नकर्त्ता बुद्धिमान समाप्त हो जाता है। यदि सम्प्रश्न के द्वारा गुरुकृपानुग्रह से विवेक जागरूक हो पड़ता है तो इसी सम्प्रश्न के द्वारा प्रश्नकर्त्ता का सम्पूर्ण बुद्धिव्यामोहन उसी क्षण उपशान्त हो जाता है एवं यही सम्प्रश्न इसे महान् उद्बोधन प्रदान कर देता है। 'किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्' 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'-'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस०' इत्यादि श्रुतियाँ इस * सम्प्रश्नशैली के माध्यम से

---

* यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं 'सम्प्रश्नं' भुवना यन्त्यन्या ॥
—ऋक्सं० १०।८२।३।

तैरेव मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनान् भोजयित्वा इममेतद्रूप 'गौण' गौण=गुणनिर्वृत्त गौण=यथार्थ, गुणनिष्फन्न' गुणनिष्पन्न=गुणसञ्जात नाम धेय कुरुत –यस्मात् खलु आवयोरय दारको बहूना नागप्रतिमाना च यावत् वैश्रवणप्रतिमाना च 'उवाइयलद्धे–य' उपयाचितलब्ध=प्रार्थनया प्राप्त तद् भवतु खलु आवयोरय दारक 'देवदिन्ने नामेण' देवदत्तो नाम्ना। तत खलु तस्य दारकस्याम्बापितरौ नामधेय कुरुत 'देवदत्त' इति। तत खलु तस्य दारकस्याम्बापितरौ याग च दाय च भाग च अक्षयनिधि चानु–वर्द्धयत ॥सूत्र ६॥

बालक के माता पिताने प्रथम दिन बालक का जात कर्म किया करके उसी तरह यावत् विपुल मात्रा में अशन आदि चारों प्रकार का आहार तैयार किया (उवक्खडावित्ता तहेव मित्तनाइनियगसयणसबंधिपरिजणे भोयावेत्ता अयमेयारूव गोण गुणनिप्फन्न नामधेज्ज करेंते) आहार तयार करके फिर उन्होंने उस मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन सबधिजन और परिजनों को खिलाया–खिलाकर उन्होंने बच्चे का नाम यथार्थरूप में गुणों से निष्पन्न होने के कारण इस तरह वक्ष्यमाणरूप से रक्खा! (जम्हाण अम्ह इमे दारए बहूण नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य उवाइयलद्धे त होउण अम्ह इमे दारए देवदिन्ने नामेण) यह हमारा पुत्र नाग प्रतिमा यावत् वैश्रवण प्रतिमाओं की मनौती से उत्पन्न हुआ है इसलिये इसका नाम देवदत्त हो। (तएण तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्ज करेंति) इस प्रकार कहकर उस दारक के माता पिताने उसका नाम देव दत्त रख दिया। (तएण तस्स दारगस्स अम्मापियरो जाय च भाय च

બાળકના માતાપિતાએ જન્મના પહેલા દિવસે પુષ્કળ પ્રમાણમા અશન વગેરે ચારે ચાર પ્રકારનો આહાર તૈયાર કરાવ્યો (उवक्खडावित्ता तहेव मित्तनाइ–नियगसयणसबधिपरिजणे भोयावेत्ता अयमेयारूव गोण गुण निप्फन्न नामधेज्ज करेंति) આહાર તૈયાર કરાવીને તેમને મિત્ર, જ્ઞાતિ, નિજક, સ્વજન સબધિજન અને પરિજનોને જમાડયા જમાડીને તેમણે બાળકનુ નામ તેના ગુણો પ્રમાણે રાખ્યુ (जम्हाणं अम्ह इमे दारए बहूणं नागपडिमाणय जाव वेसमणपडिमाणय उवाइयालद्धे त होउणं अम्हं इमे दारए देवदिन्ने नामेण) લોકોની સામે બાળકના માતાપિતાએ કહ્યુ કે આ અમારો પુત્ર નાગ વૈશ્રમણ વગેરે દેવ પ્રતિમાઓની માનતા રાખવાથી થયો છે, એથી આનુ નામ દેવદત્ત રાખવામા આવ્યુ છે (तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्जं करेंति) આ પ્રમાણે બાળકના માતાપિતાએ મળીને બાળકનુ નામ દેવદત્ત પાડયુ (तए ण तस्स दारगस्स अम्मापियरो जाय च

बनता रहेगा (धाता यथापूर्वमकल्पयत्), इसप्रकार की व्यक्ता वाणी से बस्पन * करते हुए, किंवा बार बार अपने अर्म्यर्थप्रत्यात्मक सम्मिश्रितानों का मतानरूप अस्पन करते हुए + ऐसे उक्थशास बिखर रहे हैं। मूलकारण का ही नाम 'उक्थ' है जिसके आधार पर ही सप्तदाभिका उक्थविद्याएँ, एवं इन सम्पूर्ण विद्याओं की मूलभूता महदुक्थविद्या' प्रतिष्ठित है वेदशास्त्र में। ऐसी विद्याओं की विस्तार से व्याख्या करने वाले ही 'उक्थशास' (कार्य्यकारणविश्लेषकाः)। कहलाए हैं। और हाँ कैसे हैं ये व्याख्या उक्थशास ? 'असुतृप' । अपनी इन व्याख्याओं से ये स्वयं अपने आपको अपने प्राणों को सर्वात्मना तृप्त मान लेते हैं। सन्तुष्ट हो जाते हैं अपनी इन व्याख्याओं से एवं दूसरों को भी सन्तुष्ट मान लेने की भ्रान्ति करते रहते हैं-'नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति'। हम समझते हैं—प्राकृत-व्याख्यात्मक बुद्धिव्यामोहन का स्वयं अपने ही मुख से इसप्रकार निराकरण कर देना अपनी उक्थविद्या के सम्पूर्ण प्राकृत विवर्तों को यों ऋजुभाषा से उस अनन्त में समर्पित कर देना प्राकृत मानव का तो काम नहीं हो सकता। जो ऐसा कर सकता है सचमुच वही 'अप्राकृत ऋषिमानव' है। और अवश्य ही ऐसा ऋषिमानव ही उस अनन्त से अभिन्न बनता हुआ उसका 'पुत्र' माना जा सकता है। इसी तथ्य को उपनिषत्तन अपनी दार्शनिकी व्याख्यापूर्णा व्यक्ता भाषा में यों अभिव्यक्त किया है कि—

> अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
> दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
>
> —कठोपनिषत्

४५०–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मक महान् सम्प्रश्न के द्वारा स्वविमोहनोपशान्ति का प्रयास, परिणामतः अधिक व्यामोहन का आविर्भाव, एवं तदनुगत निःसीम व्यामोहन-भार से ही सम्भाविता विमोहन-निवृत्ति—

दिग्देशकालमीमांसात्मक प्रस्तुत विस्तृत सन्दर्भ से हमने स्वयं अपने प्राकृत-विमोहन की उपशान्ति का ही प्रयासमात्र किया है। इस महान् सम्प्रश्न से हमने अपने प्राकृत-बुद्धिव्यामोहन को और अधिक व्यामोहन से ही समन्वित किया है। क्योंकि अपने प्राकृत भार की अपेक्षा इस महाभार से दबे रहना ही हमारे उद्बोधन का किसी न किसी जन्म में तो कारण बन ही जाएगा निश्चयेन बन ही जाएगा सम्प्रश्नात्मक अनन्तकालात्मक महाकाल की × माता महाकाली के सहज अनुग्रह से। अभीप्सित नहीं है हमें कालातीत

---

* जल्प-जल्प-व्यक्तायां वाचि ।

+ 'वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'। (न्यायसूत्र १।१)

×–त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
महत्तत्त्वादि-भूतान्तं त्वया सृष्टमिदं जगत् ॥१॥

तथैव मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनान् भोजयित्वा इममेतद्रूप 'गौण' गौणं=गुणैर्निवृत्तं गौण =यथार्थं, 'गुणनिप्फन्न' गुणनिष्पन्न=गुणसञ्जात नामधेय कुरुत –यस्मात् खलु आवयोरय दारको बहूना नागप्रतिमाना च यावत् वैश्रवणप्रतिमाना च 'उवाइयलद्धे–ण' उपयाचितलब्ध =प्रार्थनया प्राप्त तद् भवतु खलु आवयोरय दारक 'देवदिन्ने नामेण' देवदत्तो नाम्ना। तत खलु तस्य दारकस्याम्बापितरौ नामधेय कुरुत 'देवदत्त' इति। तत खलु तस्य दारकस्याम्बापितरौ याग च दाय च भाग च अक्षयनिधि चानुवर्द्धयत ॥सूत्र ६॥

बालक के माता पिताने प्रथम दिन बालक का जात कर्म किया करके उसी तरह यावत् विपुल मात्रा मे अशन आदि चारों प्रकार का आहार तैयार किया (उवक्खडावित्ता तहेव मित्तनाइनियगसयणसबंधिपरिजणे भोयावेत्ता अयमेयारूव गोण गुणनिप्फन्न नामधेज्ज करेंति) आहार तैयार करके फिर उन्होंने उस मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन सबंधिजन और परिजनों को खिलाया–खिलाकर उन्होंने बच्चे का नाम यथार्थरूप म गुणों से निष्पन्न होने के कारण इस तरह वक्ष्यमाणरूप से रक्खा। (जम्हाण अम्ह इमे दारए बहूण नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य उवाइयलद्धे त होउण अम्ह इमे दारए देवदिन्ने नामेण) यह हमारा पुत्र नाग प्रतिमा यावत् वैश्रवण प्रतिमाओं की मनौती से उत्पन्न हुआ है इसलिये इसका नाम देवदत्त हो। (तएण तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्ज करेंति) इस प्रकार कहकर उस दारक के माता पिताने उसका नाम देव दत्त रख दिया। (तएणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो जाय च भाय च

બાળકના માતાપિતાએ જન્મના પહેલા દિવસે પુષ્કળ પ્રમાણમા અશન વગેરે ચારે ચાર પ્રકારનો આહાર તૈયાર કરાવ્યો (उवक्खडावित्ता तहेव मित्तनाइ–नियगसयणसबंधिपरिजणे भोयावेत्ता अयमेयारूव गोण गुणनिप्फन्न नामधेज्जं करेंति) આહાર તૈયાર કરાવીને તેમને મિત્ર, જ્ઞાતિ, નિજક, સ્વજન સબંધિજન અને પરિજનોને જમાડયા જમાડીને તેમણે બાળકનુ નામ તેના ગુણો પ્રમાણે રાખ્યુ (जम्हाणं अम्ह इमे दारए बहूणं नागपडिमाणय जाव वेसमणपडिमाणय उवाइयलद्धे त होउणं अम्ह इमे दारए देवदिन्ने नामेण) લોકોની સામે બાળકના માતાપિતાએ કહ્યુ કે આ અમારો પુત્ર નાગ વૈશ્રમણ વગેરે દેવ પ્રતિમાઓની માનતા રાખવાથી થયો છે, એથી આનુ નામ દેવદત્ત રાખવામા આવ્યુ છે (तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्जा करेंति) આ પ્રમાણે બાળકના માતાપિતાએ મળીને બાળકનુ નામ દેવદત્ત પાડ્યુ (तए ण तस्स दारगस्स अम्मापियरो जाय च

४५२–बुद्धि के द्वारा अग्राह्या, किन्तु बुद्धिगम्या अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के सम्बन्ध में बौद्धिक प्रयोगों की आत्यन्तिक असमर्थता, एवं प्राकृत दिग्देशकालत्रयी के माध्यम से अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के साथ बुद्धि की अभिन्नता—

बुद्धि तत्स्वरूप से समक्ष होती है उस अनन्तकाल की। किन्तु जिसप्रकार बुद्धि अपने समक्ष हुए सान्तसीमित दिग्–देश–काल का ग्रहण कर इस पर अपने आधारात्मक प्रयोग कर डालती है वैसे समक्ष हुए भी उस अनन्तकाल–दिग्–देश–पर बुद्धि अपना आधारात्मक प्रयोग नहीं करसकती। साथ ही बुद्धि यह भी स्वीकार कर लेती है कि, जिन सीमित दिग्–देश–कालों के माध्यम से इस के मौलिक–व्यक्त–भूत–प्रयोगात्मक आधार क्रमव्यवस्थापूर्वक व्यवस्थित हैं क्रमव्यवस्थात्मक, प्रयोगाधारात्मक यह दिग्देशकाल वस्तुतः उस अनन्तकाल–दिग्देश के सम्बन्धन में सर्वथा ही अप्रतिष्ठित ही है एवं वही इस का आधार है जिस वही अपने प्रतिष्ठितरूप से यह बन रहा है। और बतलीसम वही काल इस का सर्वस्व स्वरूप है। अतएव यह काल और वह काल अभिन्न है। यही काल वह काल है किंवा यही काल वह काल है। किंवा 'यही' और 'वही' में कोई भी अन्तर नहीं है। अर्थात् बुद्धिगम्य बुद्धिव्याख्या–सापेक्ष बौद्धिक आधार–प्रयोगात्मक इस सादिसान्त दिग्देशकाल में तथा बुद्धिगम्य बुद्धिव्याख्या–सापेक्ष किन्तु बौद्धिक प्रयोगाधारों से एकान्त असंस्पृष्ट उस अनाद्यनन्त कालदिग्देश में अन्ततोगत्वा कोई भी मौलिक भेद नहीं है। और तब बुद्धि भी अपने इस बौद्धिक–बुद्धिगम्य–प्राकृत–आधारात्मक–स्वरूप से ही सादिसान्त कालात्मक भी प्राकृत मानव इस धरातल से अन्तर से सामान्य से विशेष से ही कैसा अनन्त बन जाता है कैसा महिमामय बन जाता है यह जान–कर इस की सादिसान्तता भी बुद्धि क्या इस अपने ही आनन्त्य से प्रभावित नहीं हो जाती ! । हम समझते हैं–हो जाती है और अवश्य ही हो जाती है। एवं अवश्य ही इस की यह बुद्धि अपने इस प्राकृत कालानन्त्य के स्मरणमात्र से अपना सम्पूर्ण बौद्धिक व्यामोहन छोड़ कर अपने ही उस महिमामय प्राकृत कालानन्त्य के लिए–'कालाय तस्मै नमः' इस प्रणतभाव का समर्पण कर देती है।

४५३–कालानुभावापन्न समर्पण का मूलबीज, तदभिन्न स्वस्वरूपदर्शन, तद्द्वारा कालानन्त्य की अनुग्रहप्राप्ति, एवं कालानन्त्य से समन्विता भूतप्रपञ्चाधारभूता अनन्ता बुद्धि—

कैसे अभिव्यक्त हुआ–मानव में यह कालानुभावापन्न समर्पण ?। उत्तर है एकमात्र–'स्वस्वरूपदर्शन'। मानव की बुद्धि जबतक 'पर' दर्शन को ही अपना लक्ष्य बनाए रहती है तबतक इसे स्वयं अपने कालानन्त्यात्मक प्राकृतानन्त्य का भी बोध नहीं होपाता। और इस परदर्शन में मानवबुद्धि स्थावर विषयों की अपेक्षा अपने आपको बहुत छोटा समझने लग पड़ती है, जबकि वस्तुस्थिति ठीक इस से विपरीत है। प्राकृत–अचेतन–जड़–पदार्थ मानव की प्राकृत–चेतन–बुद्धि की अपेक्षा बड़े नहीं होते हैं। मानव की बुद्धि में भूत प्रतिष्ठित हैं। क्यापि भूतों में मानव की बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव भौतिक भूत (बुद्धि की सीमा में प्रविष्ट भूत) ही मानव बुद्धि की तृप्ति के कारण बनते हैं।

दासचेडे पमत्तं पासइ, पासित्ता दिसालोयं करेइ करेत्ता देवदिन्नं दारगं गेण्हइ, गेण्हित्ता कक्खंसि अल्लियावेइ अल्लियावित्ता उत्तरिज्जेणं पिहेइ, पिहित्ता सिग्घं तुरियं चवलं वेइयं रायगिहस्स नगरस्स अत्र दारेणं निग्गच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता देवदिन्नं दारयं जीवियाओ ववरोवेइ, ववरोवित्ता आभरणालंकारे गिण्हइ गिण्हित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरगं निप्पाणं निच्चेट्ठं जीवियविप्पजढं भग्गकूवए पक्खिवइ, पक्खिवित्ता जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता मालुयाकच्छयं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता निच्चले निप्फंदे तुसिणीए दिवसं खवेमाणे चिट्ठइ ॥सू ७॥

टीका—'तएणं से पंथए' इत्यादि–'तएणं' ततः खलु=तदनन्तरं 'से' असौ पान्थकनामा 'दासचेडए' दासचेटकः= दासपुत्रो यो धन्यसार्थवाहस्य गृहे कर्मकरत्वेन स्थित आसीत्–स देवदत्तस्य दारकस्य 'बालग्गाही' बालग्राही बालं ग्रहीतुं शीलमस्यास्तीति बालग्राही=शिशुसंरक्षको जातः । असौ देवदत्तं दारकं कटया गृह्णाति, गृहीत्वा बहुभिः 'डिंभएहि य' डिम्भकैश्च,

'तएणं से पंथए दासचेडए' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएणं) इसके बाद (से पंथए दासचेडए) वह पांथकनाम का दास पुत्र जो धन्य सार्थवाह के घर पर–नौकर–था (देवदिन्नस्स दारगस्स बालग्गाही जाए) वह देवदत्त का बालग्राही—शिशु अवस्था का संरक्षक–हुआ। (देवदिन्नं दारयं कडीए गेण्हइ) वह देवदत्त को अपनी कमर=गोद में लिये रहता था। (गेण्हित्ता) वह उसे अपनी गोद में लेकर (बहूहिं

तए णं से पंथए दासचेडए इत्यादि ॥

टीकार्थ (तए णं) त्यार पछी (से पंथए दासचेडए) पाथग नामे दास पुत्र–के धन्यसार्थवाहना घेर नोकर हतो— (देवदिन्नस्स दारगस्स बालग्गाही जाए) बाळक देवदत्तना संरक्षण माटे नियुक्त करवामां आव्यो (देवदिन्नं दारगं कडीए गेण्हइ) ते देवदत्तने केड=खोळामां बेसाडीने राखतो हतो. (गेण्हित्ता) अने

सम्पूर्ण रस इन्द्रियों की प्रातिस्विक सम्पत्ति है। जिस इन्द्रिय में जो रसमात्रा जिस तारतम्यानुपात से रहती है, उसी अनुपात से विषयों को ये रसमात्राएँ ऋणरूप से मिलती हैं। विषय ऋणी हैं इन्द्रियों के। किन्तु आश्चर्य है कि स्पर्शानमूला भावुकता से इन्द्रियोंने विषयों का ऋणी मान लिया है। भावुकता के आवेश से भावि एक उदारव्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति ऋण में प्रदान कर देता है। इस ऋणदान से वह अन्त में स्वयं दरिद्री बन जाता है। और आवश्यकता पड़ने पर वह उसी ऋणग्रहीता के समीप जाता है। एवं वहाँसे जो कुछ इसे मिल जाता है उसी से यह सन्तुष्टि का अनुभव करता है एवं इस अपने ही ऋण के प्रत्यर्पण से यह अपने आप को इस भ्रान्ति का अनुगामी मान बैठता है कि, मानो इसे यह अधमर्ण (कर्जदार) सुख पहुँचा रहा है लाभ पहुँचा रहा है। वैषयिक सत्ता की भी ठीक यही अवस्था है। इन्द्रियसुख का ऋण लेकर ही विषय सम्पन्न बने हैं। और इनसे पुनरावर्त्तन कर यह इन्द्रियवर्ग ऐसा मान बैठता है कि, इन विषयों से ही मुझे सुख मिल रहा है। एक व्यक्ति के मुखमें नींबू के नामस्मरण से भी पानी आजाता है तो दूसरा वही सफलता से इस का निगरण तक कर जाता है। विषय अपने स्वरूप से समान किन्तु ऐन्द्रियक अनुभूतियाँ प्रत्येक की पृथक् पृथक्। ऐसा क्यों ? । इसलिए कि इन्द्रियानुभूतियाँ स्वयं इन्द्रियों की अपनी सम्पत्ति है। इन का जैसा स्वरूप होता है, तदनुपात से ही विषयों पर इन्द्रियों का अनुग्रह होता है। और यों सर्वात्मना बुद्धिगम्या दृष्टि से ही प्रमाणित है कि इन्द्रियसुख ही विषयसुख का कारण है कदापि विषय इन्द्रियसुख का कारण नहीं है।

४५७—सन्तानधाराक्रमसिद्धा सुखमात्राएँ, एवं अन्तोपक्रम से अनन्तान्वेषण के लिए समातुर दार्शनिक का महान् बौद्धिक-व्यामोहन—

अर्थात् इन्द्रियाध्यक्ष मन का सुख ही इन्द्रियसुख का कारण है कदापि इन्द्रियाँ मानसिक सुख का कारण नहीं हैं। मानसिक सुखमात्रा का ऋण लेकर ही इन्द्रियाँ सुखात्मिका बन रही हैं। मन कदापि इन्द्रियों में नहीं है अपितु सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मनोगर्भ में समाविष्ट हैं। अर्थात्-मनकी अध्यक्षभूता बुद्धि का सुख ही मानसिक सुखका कारण है। कदापि मानसिक सुख बौद्धिक सुखका कारण नहीं है। बौद्धिक-सुखमात्रा का ऋण लेकर ही मन सुखात्मक बन रहा है। बुद्धि कदापि मन में नहीं है। अपितु मन ही सर्वात्मना बुद्धि के गर्भ में समाविष्ट है। और ऐसी महिमाशालिनी बुद्धिको तृप्त करने के लिए भ्रान्त मानव न केवल मानसिक सुख को ही नापि केवल इन्द्रियसुख को ही अपितु भूतों के प्रति अनुधावन करता रहता है जो इसकी महिमा के समतुलन में अपना कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहे। और उन भूतों की व्याख्या को ही यह कहने लग पड़ता है बुद्धिगम्या—व्याख्या। एवं सर्वोपरि इन भूतव्याख्याओंसे ही इसे यह भ्रान्ति भी हो पड़ती है कि, "मैं अब अवश्य बुद्धिमान् हूँ" अर्थात् 'बुद्धि' नामक कोई तत्त्व अवश्य मुझ में है। मानो इन भूतोंने ही बुद्धिका अस्तित्व स्थापित किया हो। अन्त से अनन्त को ढूँढने के ऐसे ही तो दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं दार्शनिक—बुद्धि को।

४५८—यथयाथवत् प्राकृत—क्षयात्मविवर्तों के समतुलन में अनन्त—भावापन्न महान् मानव—

'अर्थात्' की सीमा अभी समाप्त नहीं हुई है। बुद्धि का अध्यक्ष है महान्। यह पारमेष्ठ्य महान् ही बौद्धिक सुख का कारण है। कदापि बुद्धि महत्सुख का कारण नहीं है। महत्तत्व की सुखमात्रा का ऋण

दासचेडे पमत्तं पासइ, पासित्ता दिसालोयं करेइ करेत्ता देवदिन्नं दारगं गेण्हइ, गेण्हित्ता कक्खंसि अल्लियावेइ अल्लियावित्ता उत्तरिज्जेणं पिहेइ, पिहित्ता सिग्धं तुरियं चवलं वेइयं रायगिहस्स नगरस्स अवदारेणं निग्गच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता देवदिन्नं दारयं जीवियाओ ववरोवेइ, ववरोवित्ता आभरणालंकारं गिण्हइ गिण्हित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरगं निप्पाणं निच्चेट्ठं जीवियविप्पजढं भग्गकूवए पक्खिवइ, पक्खिवित्ता जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता मालुयाकच्छयं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता निच्चले निप्फंदे तुसिणीए दिवसं खवेमाणे चिट्ठइ ॥सू. ७॥

टीका—'तएणं से पथए' इत्यादि–'तएणं' ततः खलु=तदनन्तरं 'से' असौ पान्थकनामा 'दासचेडए' दासचेटकः = दासपुत्रो यो धन्यसार्थवाहस्य गृहे कर्मकरत्वेन स्थित आसीत्–स देवदत्तस्य दारकस्य 'बालग्गाही' बालग्राही बालं ग्रहीतुं शीलमस्यास्तीति बालग्राही=शिशुसंरक्षको जातः । असौ देवदत्तं दारकं कट्यां गृह्णाति, गृहीत्वा बहुभिः 'डिंभएहि य' डिम्भकैश्च,

'तएणं से पथए दासचेडए' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएणं) इसके बाद (से पथए दासचेडए) यह पांथकनाम का दास पुत्र जो धन्य सार्थवाह के घर पर–नौकर–था (देवदिन्नस्स दारगस्स बालग्गाही जाए) वह देवदत्त का बालग्राही—शिशु अवस्था का संरक्षक–हुआ । (देवदिन्नं दारयं कडीए गेण्हइ) वह देवदत्त को अपनी कमर=गोद में लिये रहता था । (गेण्हित्ता) वह उसे अपनी गोद में लेकर (बहूहिं

तए णं से पंथए दासचेडए इत्यादि ॥

टीकार्थ (तए णं) त्यार पछी (से पथए दासचेडए) पांथक नामे दास पुत्र–के धन्यसार्थवाहना घेर नोकर हतो— (देवदिन्नस्स दारगस्स बालग्गाही जाए) बाळक देवदत्तना संरक्षण माटे नियुक्त करवामां आव्यो (देवदिन्नं दारगं कडीए गेण्हइ) ते देवदत्तने केड=खोळामां बेसाडीने राखतो हतो. (गेण्हित्ता) अने

का अवसान मान रक्खा है तो फिर हमें कुछ भी कहना सुनना नहीं है ऐसे तात्कालिक–प्रत्यक्षवादी–भूत–मात्रवादी बुद्धिमान् ' मानव के सम्बन्ध में कुछ भी । एवं शाश्वत कुछ भी नहीं कहा है ऐसे मानव के लिए । शास्त्र बना ही नहीं है ऐसे यथाजात मानवों के लिए, जो अपने प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक जगत् में ही सर्वात्मना अपने भौतिक स्वरूप का व्यक्त करते रहते हैं सर्वतन्त्र–स्वतन्त्रता–पूर्वक, जैसे कि अन्य वासियों के प्राणियों के लिए कोई भी नैतिक मापदण्ड आवश्यक बना ही नहीं है, जो अन्य प्राणी स्वयं अपनी ही प्राकृत बुद्धि से केवल प्राकृत–दिग्देशकालानुबन्धी प्रत्यक्षदृष्ट–भूत–उपवर्णित–मूर्तो की उपासना करते हुए ही स्वच्छन्दरूप से आहारविहारपरायण बनते हुए सुखपूर्वक ! जीवन व्यतीत करते रहते हैं– सवज्ञान विमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः । अज्ञानं तस्य शरणम् । ऐसे ही यथाजात मानवों का पारिभाषिक नाम है–'किंपुरुषमानव' जिन का सम्पूर्णप्रयास अपने आभ्यन्तरिक बसनयज्ञ की तृप्तिपूर्ति के लिए ही उपयोग करते रहते हैं । प्रजापति के विशस्त–यत–भूत भाग की पूर्ति ही इन यथाजात 'भूतमानवों' (बध्यमानवों) का एकमात्र महान् उपयोग माना है भारतीय 'यज्ञशास्त्र' ने इत्यास्तामप्रासङ्गिकमेव ।

४६१–प्रकृतिसिद्ध–कर्त्तव्यात्मक–धर्माचरण के महान् उदर्क का संस्मरण, एवं तद्–द्वारा मानव के अभिनिवेश की उपशान्ति—

किन्तु जिस की दृष्टि में 'प्रत्यक्षभूत' ही भूत की परिसमाप्ति नहीं है इस से भी आगे कुछ और है, एवं यह 'और' ही जिस की बुद्धि का ध्येय बना रहता है उस प्रकृतिपरीक्षक परीक्षणिकर्त्ता उस बुद्धिमान् के लिए तो पूर्वोक्त प्राकृत–अनन्त स्वरूप अवश्यमेव शास्त्रस्वाध्यायनिष्ठा के माध्यम से अवश्यमेव विकास बन जाता है । और जब प्रत्यक्षविमोहनात्मक भौतिक व्यामोहन से थोड़ा ऊपर उठ कर मानव की प्रकृति के रहस्यविश्लेषण में प्रवृत्त होता है, तो स्वयं इस की यह अनुभूति ही इस के अनन्तमहिमाशाली प्राकृत अनन्त स्वरूप को अव्यक्तभावस्वरूप को इस के लिए अभिव्यक्त कर देती है * । "तत्स्वयं योगसंसिद्ध कालेन–अव्यक्तभावमाध्यमेन–आत्मनि–प्राकृतस्वरूपे–विन्दति' (गीता) । बुद्धियोगसंसिद्ध–बुद्धि यावत् । प्रकृतिसिद्ध–कर्त्तव्यात्मक धर्माचरण का यही तो वह महान् उदर्क है, जिस धर्माचरण से ही मानव की बुद्धि का अभिनिवेशात्मक प्राकृत व्यामोहन उपशान्त हुआ करता है ।

४६२–अनन्तब्रह्म, एवं अनन्त प्राकृत–विश्व के उभयात्मक आनन्त्य से समन्वित मानव का महान् पुरुषार्थ, तत्समन्वयपूर्ति-जिज्ञासा, तथा तत्समाधानानुगता दिग्-देशकालस्वरूपमीमांसा—

उक्त सम्पूर्ण स्थिति से अब हमें बुद्धिपूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, मानव के सम्मुख अनन्तब्रह्म अनन्तप्राकृतविश्व ये दो विवर्त समुपस्थित हैं जिन इन दोनों को इसे साध्य बना लेना है और यही मानव का सम्पूर्ण पुरुषार्थ माना गया है । कैसे ये दोनों साध्य बनें ?, इस महान् प्रश्न के समाधान

---

*–उषो स्वसमै तन्वं विसृज्य आयेव पत्ये उषती सुवासाः ।
—ऋक्सं० १०।७१।४।

कृत्वा पान्थकस्य दासचेटकस्य हस्ते ददाति। ततः खलु स पान्थको दासचेटको भद्रायाः सार्थवाह्या हस्ताद् देवदत्तं दारकं कट्या गृह्णाति, गृहीत्वा स्वकाद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहुभिः डिम्भकैश्च डिम्भिकाभिश्च दारकैश्च दारिकाभिश्च, कुमारकैश्च कुमारिकाभिश्च सार्द्धं सपरिवृतो यत्रैव राजमार्गस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य देवदत्तदारकमेकान्ते 'ठवेइ' स्थापयति=उपवेशयति उपवेश्य बहुभिः डिम्भकैश्च यावत्कुमारिकाभिश्च सार्द्धं सपरिवृत 'पमत्ते' प्रमत्त=तद्रक्षणे प्रमादवान् चापि 'विहरइ' विहरति=बालकबालिकादिभिः सहान्यत्र रमते।

चरित कर समस्त अलकारों से विभूषित किया (करित्ता पंथयस्स दासचेटयस्स हत्थयंसि दलयइ) विभूषित करके बाद म उसने उसे पांथक दास चेटक के हाथमें दे दिया। (तएणं से पंथए दासचेडए भद्दाए सत्थवाहीए हत्थाओ देवदिन्नं दारयं कडिए गिण्हइ) उस पांथकदासचेटकने भद्रा सार्थवाहीके हाथ से लेकर देवदत्त को अपनी कटी=गोद में ले लिया। (गिण्हित्ता सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ) और लेकर वह अपने घर से बाहर निकला। (पडिनिक्खमित्ता बहूहिं डिम्भिएहिं डिम्भयाहिय कुमारएहि य कुमारियाहि य सद्धिं सपरिवुडे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ) निकल कर वह अनेक डिम्भकों से अनेक डिम्भिकाओं से कुमार और कुमारिकाओं से घिरा हुआ होकर जहां राजमार्ग था वहा पर गया। (उवागच्छित्ता देवदिन्नं दारयं एगंते ठावेइ, ठावित्ता बहूहिं डिंभएहिं जाव कुमारियाहि य सद्धिं संपरिवुडे पमत्ते यावि विहरइ) जाकर उसने

અલંકૃત કર્યો (करित्ता पंथयस्स दासचेटयस्स हत्थयंसि दलयइ) બાળકને ઘરેણાંઓથી અલંકૃત કર્યો. બાદ માતાએ તેને પાંથક દાસ ચેટકને સોંપી દીધો (तए णं से पंथए दासचेडए भद्दाए सत्थवाहीए हत्थाओ देवदिन्नं दारयं कडिए गिण्हइ) પાંથક દાસચેટકે ભદ્રા સાર્થવાહીના હાથમાંથી બાળકને લઈને પોતાના ખોળામાં લઈ લીધો. (गिण्हित्ता सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ) અને લઈને તે ઘેરથી બહાર નિકળ્યો. (पडिनिक्खमित्ता बहूहिं डिम्भएहिं डिम्भियाहि य कुमारयाहि य कुमारियहि य सद्धिं सपरिवुडे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ) નીકળીને તે ઘણા ડિંભિકો—બાળકો—ડિંભિકાઓ—બાળાઓ, તેમજ કુમાર અને કુમારીઓની સાથે જ્યાં રાજમાર્ગ હતો ત્યાં ગયો (उवागच्छित्ता देवदिन्नं दारयं एगंते ठवे ठावित्ता बहूहिं डिंभएहिं जाव कुमारियाहि य सद्धिं सपरिवुडे पमत्ते यावि

ही दिया है एवं न कुछ करने ही दिया है। अपितु एकमात्र–'हम तो समझलेंगे, तब मानेंगे तभी करेंगे' इसी अभिनिवेश का समर्थन कर मानवबुद्धि समझ, और काम, दोनों से तटस्थ बन गई है। इसप्रकार के तर्क उपस्थित कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान बैठने वाले बुद्धिव्यामुग्ध महानुभाव अन्ततोगत्वा ऐसे अभ्यस्त होजाते हैं अपने इस दम्भ में कि फिर न तो समझ से ही इनका कोई सम्बन्ध रहता न कर्त्तव्य से ही।

४६५–कर्म्मेतिकर्त्तव्यतात्मक शास्त्रबोध, एवं तदभिन्न 'संवित्' से मानव की स्वकर्म्म प्रवृत्ति का समन्वय—

अतएव इस कर्त्तव्यानुगत शास्त्रज्ञान की सीमा केवल 'शब्दज्ञान' पर्य्यन्त ही व्यवस्थित हुई है आचार पद्धति में। शब्द के अक्षरार्थज्ञानमात्र से सम्बन्ध रखने वाली समझ ही पर्य्याप्त है कर्त्तव्यक्षेत्र में, किंवा शास्त्रबोध में क्यों ? कैसे ?, न च–नुच आदि तर्क कुतर्क सर्वथा ही असंस्पृष्ट माने हैं स्वयं शास्त्रने ही। आचारकर्त्तव्य की पद्धति का इतिकर्त्तव्यता का बोध ही शब्दबोध की सीमा है एवं यही कर्त्तव्यानुगता 'समझ' की सीमा है जिसमें सीमित रह कर ही मानव कर्त्तव्यनिष्ठ बन सकता है। यदि कर्त्तव्यारम्भ से पूर्व ही मानव अपने बुद्धिव्यामोहन में आकर शब्दबोध की इच्छा व्यक्त कर बैठता है तो शब्दशास्त्र तत्काल उसका निष्कासन ही कर देता है–'स साधुभिर्बहिष्कार्य्यो'–नास्तिको वेदनिन्दकः।

४६६–आदेशानुगता कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुगति से ही मानव के प्राकृत कर्त्तव्य का संरक्षण, एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय आदेशों का संस्मरण—

कुछ देखिए। यदि एक बालबुद्धि अक्षरारम्भ से पूर्व ही- 'इसे क्कार ही क्यों कहा जाता है ?, मैं लिखूँ ही क्यों ? क्यों अक्षराभ्यास करूँ ?। मुझे तो इस क्यों का रहस्य समझा दिया जायगा तभी लिखूँगा बाँचूँगा पढ़ूँगा करूँगा' –इसप्रकार के कुतर्क करने लग पड़ेगा तो न तो इसे उत्तर ही मिल सकेगा न वह कुछ कर ही सकेगा। इस आरम्भ-दशा में तो सर्वत्र सभी लोकक्षेत्रों में भी साधारण शब्द–बोधात्मक–आदेशजनित ज्ञान ही कर्त्तव्य की आधारभूमि बना करता है। और यही–'समझ कर करने लगपड़ना' का अर्थ है। इस कर्त्तव्य में स्वयं में ही ऐसा बल है जो स्वस्वरूपाभिव्यक्ति के साथ साथ तदनुरूपता से ही शनैः शनैः कर्त्तव्य-रहस्य का बोध भी कर्त्तव्यनिष्ठ मानव को कराता जाता है। निम्न लिखित वचन इसी तथ्य का विस्पष्ट शब्दों में विश्लेषण कर रहे हैं जिसे आधार बनाए बिना मानव कदापि कर्त्तव्यनिष्ठ बन ही नहीं सकता—

> ब्रह्मचारी, गृहस्थश्च, वानप्रस्थो, यतिस्तथा ॥
> एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥१॥
>
> सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते 'यथाशास्त्रं' निषेविताः ॥
> 'यथोक्तकारिणं' विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥२॥
>
> —मनुः ६।८७-८८।

कृत्वा पान्थकस्य दासचेटकस्य हस्ते ददाति। ततः खलु स पान्थको दासचेटको भद्रायाः सार्थवाह्या हस्ताद् देवदत्तं दारकं कटया गृह्णाति, गृहीत्वा स्वकाद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहुभि डिम्भकैश्च डिम्भिकाभिश्च दारकैश्च दारिकाभिश्च, कुमारकैश्च कुमारिकाभिश्च सार्द्धं सपरिवृतो यत्रैव राजमार्गस्तत्रैवागच्छति, उपागत्य देवदत्तदारकमेकान्ते 'ठवेइ' स्थापयति=उपवेशयति उपवेश्य बहुभिः डिम्भकैश्च यावत्कुमारिकाभिश्च सार्द्धं सपरिवृत 'पमत्ते' प्रमत=तत्क्षणे प्रमादवान् चापि 'विहरइ' विहरति=गाउकचालिकादिभिः सहान्यत्र रमते।

चरित कर समस्त अलकारों से विभूषित किया (करित्ता पंथयस्स दासचेडयस्स हत्थयसि दलयइ) विभूषित करके बाद में उसने उसे पाथक दास चेटय के हाथमें दे दिया। (तएण से पथए दासचेडए भद्दाए सत्थवाहीए हत्थाओ देवदिन्न दारय कडिए गिण्हइ) उस पाथकदासचेटकने भद्रा सार्थवाहीके हाथ से लेकर देवदत्त को अपनी कटी=गोद में ले लिया। (गिण्हित्ता सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ) और लेकर वह अपने घर से बाहर निकला। (पडिनिक्खमित्ता वहूहिं डिम्भिएहिं डिम्भयाहिय कुमारएहि य कुमारियाहि य सद्धिं सपरिवुडे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ) निकल कर वह अनेक डिम्भिकों से अनेक डिम्भिकाओं से कुमार और कुमारिकाओं से घिरा हुआ होकर जहां राजमार्ग था वहा पर गया। (उवागच्छित्ता देवदिन्न दारयं एगते ठावेइ, ठावित्ता बहूहिं डिंभएहिं जाव कुमारियाहि य सद्धिं सपरिवुडे पमत्ते यावि विहरइ। जाकर उसने

અલકૃત કર્યો. (करित्ता पंथयस्स दासचेटयस्स हत्थयसि दलयइ) બાળકને ઘરેણાંઓથી અલકૃત કર્યો. બાદ માતાએ તેને પાથક દાસ ચેટકને સોપી દીધો. (तए ण से पथए दासचेडए भद्दाए सत्थवाहीए हत्थाओ देवदिन्न दारय कडिए गिण्हइ) પાથક દાસચેટકે ભદ્રા સાર્થવાહીના હાથમાથી બાળકને લઈને પોતાના ખોળામા લઈ લીધો. (गिण्हित्ता सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ) અને લઈને તે ઘેરથી બહાર નિકળ્યો (पडिनिक्खमित्ता वहूहिं डिम्भएहिं डिम्भियाहि य कुमारयाहि य कुमारियहि य सद्धिं सपरिवुडे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ) નીકળીને તે ઘણા ડિંભિકો-બાળકો-ડિંભિકાઓ-બાળાઓ, તેમજ કુમાર અને કુમારીઓની સાથે જ્યા રાજ માર્ગ હતો ત્યા ગયો (उवागच्छित्ता देवदिन्न दारय एगते ठवे, ठावित्ता यहूहिं डिंभएहिं जाव कुमारियाहि य सद्धिं सपरिवुडे पमत्ते यावि

४६९–प्राकृत–व्यामोहनासक्त–प्रत्यक्षवादी मानव की नग्नता, एवं तदनुबन्धेन परोक्षभावापन्न भी 'किञ्चित्' (कुछ) भाव की नग्नता का उपक्रम—

कालवात्स्य के माध्यम से 'कुछ' का अर्थ आरम्भ में हमने 'प्रतीक' ही समझा था। किन्तु काल के समझने ही अन्ततोगत्वा हमारा यह प्रतीकव्यामोहन समाप्त कर दिया। एवं तभी से 'प्रतीक' के स्थान में हमने 'कुछ'–'कुछ' कह देना आरम्भ कर दिया था कि अभीतक परोक्ष ही बन रहा है। इच्छा तो यही थी कि इस 'कुछ' की मीमांसा को तो परोक्ष ही बना रहने दिया जाता। तभी इस का अर्थ कुछकुछ समझ में आ भी सकता था। किन्तु वर्तमानयुग जैसा आपद्धर्म्मात्मक युग है जिस में परोक्षता कदापि क्षम्य नहीं है, आज के बुद्धिमान् की सभ्यता नग्नता की कृपा से। आज का मानव सबकुछ नग्नप्रदर्शन ही अभीप्सित मानता है जब कि भारतीय धर्म्मपद्धति में सबकुछ परोक्षपद्धति के आधार पर ही व्यवस्थित हुआ है– 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः'। तो लीजिए! युगधर्म्मात्मक आपद्धर्म्मरूप कालधर्म्म के सम्मुख धर्म्मपद्धति को परोक्ष बनाते हुए अन्त में उस 'कुछ' का भी नग्नप्रदर्शन कर लेने की धृष्टता करली जाती है परोक्षप्रिय देवताओं से क्षमा याचना करते हुए ही।

४७०–कुछ के महतोमहीयान् स्वरूप की अभिव्यक्तिमूला महती धृष्टता—

यह 'कुछ' बात है उस मानव की, जिसे मानवशरीर से ही आज हमें निवेदन करना पड़ रहा है। अपनी बात अपने मुख से कभी अच्छी नहीं लगा करती। अतएव हम अपने आपको तो पर लेते हैं सर्वथा परोक्ष। एवं हम से अतिरिक्त परमेष्ठ्येव भूतभृतिरूप विश्व के अन्तर्यामात् पठित–अपठित सभी मानवश्रेष्ठों को समष्टि तथा व्यष्टिरूप से बना लेते हैं दृष्टान्तात्मक उदाहरण। एवं उन मधुरूप मानवों की उदाहरणविधि से ही उन्हीं के सम्मुख–'त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये' न्याय से उन्हीं के 'कुछ' रूप का 'नग्न' किन्तु महतोमहीयान् स्वरूप बता देने की धृष्टता करली जाती है अनन्ता दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा के माध्यम से ही।

४७१–अभिव्यक्तित्व के मूलाधारभूत 'प्राजापत्यशिल्प' का संस्मरण—

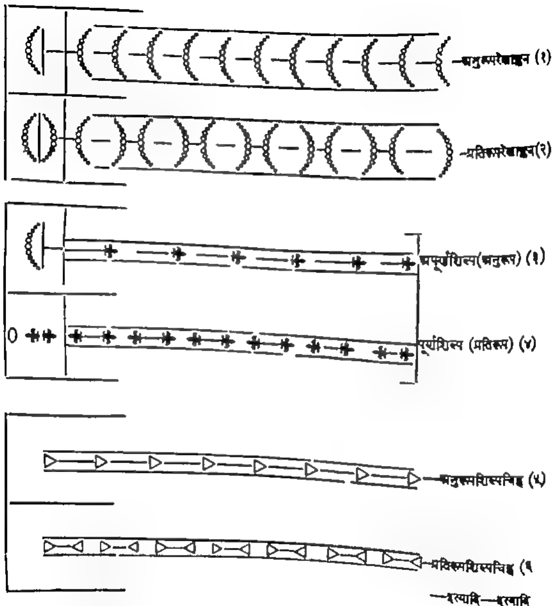
सर्वप्रथम आप के प्राकृत स्वरूप के माध्यम से ही 'कुछ' का महत्वपूर्ण इतिवृत्त आपके सम्मुख रक्खा जारहा है। अनाद्यनन्त ● कलिलरूप महाकाशात्मक महाविश्व एक ओर है एवं आप का प्राकृत स्वरूप एक ओर है। इन दोनों महान् स्वरूपों में कैसी और क्या समता है ?, क्या साम्य है ?, यही आपको स्वयं अपने प्राकृत–स्वरूप से जान लेना है। क्या आप उस अनाद्यनन्त–प्राकृत–महाकाश के 'प्रतीक' हैं ?। नहीं। क्योंकि 'प्रतीक' का अर्थ तो अवयव–अङ्ग–भाग–अंश–पर्व–प्रकाश–होता है। क्या आप उस के अङ्ग हैं ?, नहीं। तो फिर आप उस के 'प्रतीक' तो नहीं होसकते। हैं अवश्य ही कुछ न कुछ आप उसके। तो अब आपका ध्यान 'प्राजापत्यशिल्प' (प्रजापति की कारीगरी) की ओर ही आकर्षित किया जारहा है इस 'कुछ' के समन्वय के लिए।

● सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये (श्वेता० उप० ४।१४)।
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये (श्वेता० उप० ५।१३)।

चेटं पमत्तं' प्रमत्तम् अन्यत्र संलग्नचित्तं पश्यति, दृष्ट्वा दिसालोयं' दिशावलोकम्- 'अस्मिन्नवसरे कस्यापि गमनागमनमस्ति न वा" इति सकलदिशानिरीक्षणं करोति, कृत्वा देवदत्तं दारकं गृह्णाति, गृहीत्वा 'कक्खंसि' कक्षे= बाहुमूले 'अल्लियावेइ' आलीनयति=अन्तर्धानं करोति आलीनयित्वा 'उत्तरिज्जेणं' उत्तरीयेण=उपरिवस्त्रेण 'दुपट्टा' इति भाषया, तेन पिहेइ पिदधाति,=प्रच्छादयति,प्रच्छाद्य शीघ्रं त्वरितं चपलं वेगितं=शीघ्रातिशीघ्रमित्यर्थं राजगृहस्य नगरस्यापद्वारेण निर्गच्छति, निर्गत्य यत्रैव जीर्णोद्यानं यत्रैव भग्नकूपस्तत्रैवोपागच्छति उपागत्य देवदत्तं दारकं 'जीवियाओ' जीवितात्

च्छित हो गया--ग्रथित हो गया--उनमें एकाग्र बन गया, अथवा गृद्ध--लुब्ध हो गया--इन्हें मैं छलूं इस स्थिति से युक्त हुए उसने साथ में पांथक दास चेटक को भी अन्यत्र संलग्न चित्तवाला देखा (पासित्ता दिसालोयं करेइ करित्ता देवदिन्नं दारयं गेण्हइ) देखकर फिर उसने दिशावलोकन किया–आजू बाजू की ओर इधर उधर देखा की कहीं से कोई आता जाता तो नहीं है, जब कोई कहीं नहीं दिखाईपडा तो उसने उसी समय उस दवदत्त दारक को उठा लिया। (गेण्हित्ता कक्खंसि अल्लियावइ, अल्लियावित्ता उत्तरिज्जेण पिहेइ) उठाकर फिर उसने उस अपनी कांख में छुपा लिया। छुपाकर बाद में उस दुपट्ट से ढक लिया (पिहित्ता सिग्घं, तुरियं चवलं चेइयं रायगिहस्स नयरस्स अवद्दारेणं निग्गच्छइ) ढक कर वह फिर वहा से शीघ्र, त्वरित, जल्दी जल्दी राजगृह नगर के अपद्वार पिछले द्वार २ से बाहर निकला (निग्गच्छित्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव

पासइ) દેવદત્તને બહુ મૂલ્ય ઘરેણાંઓથી અલંકૃત જોઇને તે મોહવશ થઇ ગયો. તેનું ચિત્ત ઘરેણાંઓમાં જ ચોંટી ગયું અથવા તો તે લોભાઇ ગયો. આ ઘરેણાંઓને હું હરી લઉં આ બાબતનો વિચાર તેના મનમાં સ્ફુર્યો. ચોરે દાસ ચેટક પંથકને પણ ત્યાં થોડે દૂર રમતમાં તલ્લીન જોયો (पासित्ता दिसालोयं करेइ करित्ता देवदिन्नं दारयं गेण्हइ) પંથકને જોયો પછી તેણે ચોમેર જોયું કે કોઇ આવતું તો નથી ? જ્યારે તેને કોઈ દેખાયું નહિ ત્યારે તેણે તરત બાળક દેવદત્તને ઉપાડી લીધો. (गेण्हित्ता कक्खंसि अल्लियावेइ अल्लियावित्ता उत्तरिज्जेणं पिहेइ) ઉપાડીને તેણે બાળકને પડખામાં છુપાવીને તેને દુપટ્ટાથી ઢાંકી દીધો. (पिहित्ता सिग्घं तुरियं चवलं वेइयं रायगिहस्स नयरस्स अवद्दारेणं निग्गच्छइ) ઢાંકીને તે સત્વરે ત્વરિત ગતિથી રાજગૃહ નગરના અપદ્વારથી બહાર નીકળી ગયો. (निग्गच्छित्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ) નીકળીને તે તે જ્યાં જૂનું ઉદ્યાન અને ભગ્ન કૂવો હતો ત્યાં પહોંચ્યો (उवागच्छित्ता



४७४–मानव की प्राजापत्या शिल्पता, एवं तत्सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न—

आप की भी अभिव्यक्ति उसी अनन्तकालपुरुष से हुई है एवं आपसे अतिरिक्त अनन्तकाल से आरम्भ कर इसके अवसानपर्य्यन्त (यदि आप इसका कोई अवसान मान बैठते हैं अपनी कल्पना में तो) जितनें भी चर-अचर पदार्थ हैं, उन सबकी अभिव्यक्ति भी उसी अनन्तकाल से हुई है। यों दोनों ही उसी

मूलम्--तएणं से पथए दासचेडे तओ मुहुत्तंतरस्स जेणेव देवदिन्ने दारए ठविए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता देवदिन्नं दारगं तंसि ठाणंसि अपासमाणे रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ करित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी--एवं खलु सामी ! भद्दा सत्थवाही देवदिन्नं दारयं ण्हायं जाव मम हत्थंसि दलयइ, तएणं अहं देवदिन्नं दारयं कडीए गिण्हामि गिण्हित्ता जाव,मग्गणगवेसणं करेमि तं न णज्जइ णं सामि !देवदिन्ने दारए केणइ हये वा अवहिए वा अवखित्ते वा पायवडिए धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं निवेदेइ, तए णं से धण्णे सत्थवाहे पथयदासचेडयस्स एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म तेणय महया पुत्तसोएणाभिभूये समाणे परसुणियत्तेव चंपगपायवे धसत्ति धरणीतलंसि सव्वंगेहिं सन्निवइए, तएणं से धण्णे सत्थवाहे तओ मुहुत्तंतरस्स आसत्थे पच्छागयपाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता महत्थं पाहुडं गेण्हइ, गेण्हित्ता जेणेव नगरगुत्तिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं महत्थं पाहुडं उवणेइ, उवणित्ता एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए देवदिन्ने नाम दारए इट्ठे जाव उंबरपुप्फंपिव दुल्लहे सवणयाए किमंग

४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

स्वयम्भुव मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक विश्व में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठाभिन्न बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है यह 'मनु' तत्त्व जो शाश्वतब्रह्ममूर्ति 'रुक्मभीयम्–अप्ययमना रूप' स्वयत्व से अभिन्न है। यह केन्द्ररूप–शाश्वतस्वरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति, तथा तद् भव, तद्रूप प्रमुख प्राज्ञ प्राणी इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इस मनु का यही रूप 'अहं' कहलाता है एवं उसी इस 'मनु' का प्रमुख–प्राणी–रूप 'अहं' कहलाया है जोकि 'अहं अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह 'मनु' है, उसका कालिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका कालिकरूप अनन्तकालात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एवं इस अवधावत् प्रतीकात्मक–मनुरूपप्रतिरूपात्मक प्राज्ञ तथा प्राणी बुद्धिगम्य व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'प्रतिरूप' हैं तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्य कालिक व्याख्या से कालद्वापा भी प्रतिरूप, तो कालातीत रूपेण भी प्रतिरूप। अर्थात् 'मानव' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

> रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिरूपं प्रतिचक्षणाय।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८)

४७८–प्रतिरूपशिल्पात्मक—मनु–इन्द्राभिन्न—मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिस्वरूप परिपूर्णता—

जितने मानव उतने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप अपना उस अनन्तकाल का सर्वात्मक प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, अब बुद्धिगम्य सहज–व्याख्या के द्वारा इस प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है वहीं केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसा कि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९–इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ–मायापत्र मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महत्साम्य से जो विश्व का मनुरूप कालात्मक (अक्षरप्रकृतिरूप–अणोरणीयान्) केन्द्र वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरमण्डल को अनन्त–मनु–कालात्मक–मन्वन्तरकाल का प्रतीक माना है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र ने)। और हिरण्यतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ' कहलाया

---

* प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥
—मनु॰ १२।१२२

मूलम्--तएण से पथए दासचेडे तओ मुहुत्ततरस्स जेणेव देवदिन्ने दारए ठविए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता देवदिन्न दारग तसि ठाणसि अपासमाणे रोयमाणे कदमाणे विलवमाणे देव दिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समता मग्गणगवेसण करेइ करित्ता देव दिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइ वा खुइ वा पउत्ति वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवाग च्छित्ता धण्ण सत्थवाह एव वयासी--एव खलु सामी ! भद्दा सत्थ वाही देवदिन्न दारय ण्हाय जाव मम हत्थसि दलयइ, तएण अह देवदिन्न दारय कडीए गिण्हामि गिण्हित्ता जाव, मग्गणगवेसण करेमि त न णज्जइ ण सामि ! देवदिन्ने दारए केणइ हये वा अवहिए वा अवखित्ते वा पायवडिए धण्णस सत्थवाहस्स एयमट्ठ निवेदेइ, त ण से धण्णे सत्थवाहे पथयदासचेडयस्स एयमट्ठ सोच्चा णिसम्म तेण य महया पुत्तसोएणाभिभूये समाणे परसुणियत्तव चपगपायवे धसत्ति धरणीतलसि सव्वगेहिं सन्निवइए, तएण से धण्णे सत्थवाहे तओ मुहुत्ततरस्स आसत्थे पच्छागयपाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समता मग्गणगवेसण करेइ देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइ वा खुइ वा पउत्ति वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता महत्थ पाहुड गेण्हइ, गेण्हित्ता जेणेव नगरगुत्तिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता त महत्थ पाहुड उवणेइ, उवणित्ता एव वयासी एव खलु देवाणुप्पिया ! मम पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए देवदिन्ने नाम दारए इट्ठे जाव उवरपुप्फपिव दुल्लहे सवणयाए किमग

४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सम्मुख मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक क्षणिक विश्व में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठाभिन्न बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है वह 'मनु' तत्त्व जो शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति 'रणीयसीयम्–मध्यममना रूप हृदयतत्त्व से अभिन्न है। वह केन्द्ररूप–शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति तथा तत् मध, तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इस मनु का यही रूप 'यह' कहलाया है एवं उसी इस 'मनु' का अमुक–प्राणी–रूप 'यह' कहलाया है, क्योंकि 'यह अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उसका क्षणिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका क्षणिकरूप अनन्तकालात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एवं इस स्वभावत् प्रतीकात्मक–मनुरूपप्रतिरूपात्मक भाव तथा भावी बुद्धिगम्या व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अंश' हैं तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या क्षणिक व्याख्या से कालतत्त्वा भी प्रतिरूप, तो कालातीत रूप भी प्रतिरूप। अर्थात् 'अंशी' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिरूपं प्रतिचक्षणाय।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८)

४७८–प्रतिरूपप्रतिरूपात्मक—मनु–इन्द्राभिन्न—मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिलक्षणा परिपूर्णता—

जितने मानव, उतने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप अन्ततः उस अनन्तरूप का क्रमिक प्रतिरूपप्रतिरूप बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है अतएव 'प्रतिरूप' है। कैसे इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, मन्त्र बुद्धिगम्या सहज–व्याख्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है वहीं केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९–इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ–मायापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महद्भाग्य से जो विश्व का मनुरूप कालात्मक (अणुरूपप्रकृतिरूप–अणोरणीयान्) केन्द्र है, वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त–मनु–कालात्मक–मन्वन्तररूप का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र ने)। और हिरण्मतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ' कहलाया

---

* प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम्॥
—मनु० १२।१२२।

'रोयमाणे' रुदन्=साश्रुपातमार्त्तनादं कुर्वन्, 'कंदमाणे' क्रन्दन्=उच्चैः स्वरेण रुदन् 'विलवमाणे' विलपन्='क्वगतो दारक ? तमन्तरेण कीदृशोऽनर्थो भविष्यति किं करोमि ? क्व गच्छामि ?' इति जल्पन् देवदत्तस्य दारकस्य सर्वत्र समन्तात् मार्गणगवेषणा करोति कृत्वा देवदत्तस्य दारकस्य कुत्रापि 'सुइ वा' श्रुतिं वा=दारकशब्दान्त 'खुइं वा' क्षुतिं वा छिक्काद्यव्यक्त तच्चिह्नम्, 'पउत्तिं वा' प्रवृत्तिं वा=प्रकटतरवार्त्ताम् 'अलभमाणे' अलभमानः=अप्राप्नुवन् यत्रैव स्वकं गृहं यत्रैव धन्य सार्थवाहस्तत्रैवोपागच्छति

माणे विलवमाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ) जाकर उसने उस स्थानपर देवदत्त दारक को नहीं देखा—तो रो पड़ा अश्रु पात करता हुआ आर्तनाद करने लग गया जोर २ से चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा, विलाप करने लगा— देवदत्त दारक कहां गया—अब—उसके बिना कैसा अनर्थ होगा, क्या करू—कहां—जाऊँ—इस प्रकार बड़बड़ाने लगा—बाद में उसने उस देवदत्त की वहां सब तरफ चारों ओर मार्गणा की गवेषणा की। (करित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धन्ने सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ) करके जब उसे उस देवदत्त दारक की कोई श्रुति नहीं सुनाई दी, छिक्कादि अव्यक्त चिन्ह भी नहीं ज्ञात हो सका तथा स्पष्ट उसकी किसी बात का पता नहीं पड़ा तो वह जहां अपना घर था— और जहां धन्य सार्थवाह थे— वहां आया (उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी) आकर धन्य सार्थ

देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ) त्यां જઈને તે બાળક દેવદત્તને નહિ જોતાં રડવા માંડ્યો. વિલાપ કરવા લાગ્યો "બાળક દેવદત્ત ક્યાં જતો રહ્યો ? તે વગર હવે શું થશે ? શું કરું ? હવે ક્યાં જાઉં ? ' આ પ્રમાણે તે દુઃખી થઈને વિચાર કરવા લાગ્યો. ત્યાર પછી તેણે ચોમેર બાળક દેવદત્તની તપાસ કરી અને શોધ કરી. (करित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धन्ने सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ) શોધ કરવામાં જ્યારે તેને દેવદત્તનો રડવા વગેરેનો અવાજ તેમજ છીંક વગેરેની અવ્યક્ત ધ્વની સંભળાઈ નહિ અને બાળકનો કોઈ પણ રીતે પત્તો મેળવી શક્યો નહિ ત્યારે તે જ્યાં તેનું ઘર હતું અને ધન્ય સાર્થવાહ હતા ત્યાં આવ્યો (उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी)

४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सचमुच मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तब्रह्मात्मक आश्चिक विश्व में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना देना तो केन्द्रनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है यह 'मनु' तत्त्व जो शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति 'इमोऽणीयम्–अव्ययमना रूप हृदयतत्त्व से अभिन्न है। यह केन्द्ररूप–शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति, तथा उस भव तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो रूपों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इस मनु का यही रूप 'अहं' कहलाता है एवं उसी इस 'मनु' का अमुक–प्राणी–रूप 'अहं' कहलाया है, जोकि 'अहं अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह 'मनु' है उसका आश्चिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका आश्चिकरूप अनन्तब्रह्मात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एवं इस यथाशक्त् प्रतीकात्मक–मनुरूपशिल्पात्मक मानव, तथा प्राणी बुद्धिगम्य व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अहं' है तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या आश्चिक व्याख्या से आकाशवत् भी प्रतिरूप की कालातीत रूपता में प्रतिरूप। अर्थात् 'अहं' ही समाहित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर ऋषि ने कहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८)

४७८–प्रतिरूपशिल्पात्मक–मनु–इन्द्राभिन्न–मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिस्वरूपा परिपूर्णता—

जितने मानव उतने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप सर्वात्मना उस अनन्तब्रह्म का सर्वांशिक प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ स्व स्व स्वस्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिच्छिन्न हो रहा है ?, मन्त्र बुद्धिगम्या तत्त्व–व्याख्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है वहीं केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९–इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ–भासापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महत्भाव्य से जो विश्व का मनुरूप ब्रह्मात्मक (अक्षरप्रकृतिरूप–अणोरणीयान्) केन्द्र है, वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त–मनु–ब्रह्मात्मक–मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र ने)। और हिरण्मतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ' कहलाया*

---

* प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम्॥
—मनुः १२।१२२

'रोयमाणे' रुदन्=साश्रुपातमार्त्तनाद कुर्वन्, 'कंदमाणे' क्रन्दन्=उच्चैः स्वरेण रुदन 'विलवमाणे' विलपन्='क्वगतो दारकः ? तमन्तरेण कीदृशोऽनर्थो भविष्यति किं करोमि ? क्व गच्छामि ?' इति जल्पन् देवदत्तस्य दारकस्य सर्वत समन्तात् मार्गणगवेषणा करोति कृत्वा देवदत्तस्य दारकस्य कुत्रापि 'सुइं वा' श्रुतिं वा=दारकवृत्तान्त 'खुइं वा' क्षुतिं वा छिक्काद्यव्यक्त तच्चिह्नम्, 'पउत्तिंवा' प्रवृत्तिं वा=प्रकटतरवार्ताम् 'अलभमाणे' अल भमानः=अप्राप्नुवन् यत्रैव स्वकं गृहं यत्रैव धन्य सार्थवाहस्तत्रैवोपागच्छति

माणे विलवमाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वाओ समता मग्गणगवेसण करेइ) जाकर उसने उस स्थानपर देवदत्त दारक को नहीं देखा—तो रो पडा अश्रु पात करता हुआ आर्तनाद करने लग गया जोर २ से चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा, विलाप करने लगा— देवदत्त दारक कहा गया—अब–उसके विना कैसा अनर्थ होगा, क्या करूं—कहां—जाऊँ—इस प्रकार बडबडाने लगा—बाद में उसने उस देवदत्त की वहां सब तरफ चारों ओर मार्गणा की गवेषणा की। (करित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइंवा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धन्ने सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ) करके जब उसे उस देवदत्त दारक की कोई श्रुति नहीं सुनाई दी, छिक्कादि अव्यक्त चिन्ह भी नहीं ज्ञात हो सका तथा स्पष्ट उसकी किसी बात का पता नहीं पडा तो वह जहां अपना घर था— और जहां धन्य सार्थवाह थे— वहां आया (उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी) आकर धन्य सार्थ

देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समता मग्गणगवेसणं करेइ) त्यां जईने ते बाळक देवदत्तने नहि जोता रडवा माडयो विलाप करवा लाग्यो "बाळक देवदत्त क्यां जतो रह्यो ? ते वगर हवे शुं थशे ? शुं करुं ? हवे क्यां जाउं ? ' आ प्रमाणे ते दुःखी थईने विचार करवा लाग्यो. त्यार पछी तेणे चोमेर बाळक देवदत्तनी तपास करी अने शोध करी. (करित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिंवा अलभमाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धन्ने सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ) शोध करवामां ज्यारे तेने देवदत्तनो रडवा वगेरेनो अवाज तेमज छींक वगेरेनी अव्यक्त ध्वनी संभळाई नहि अने बाळकनो कोई पण रीते पत्तो मेळवी शक्यो नहि त्यारे ते ज्यां तेनुं घर हतुं अने धन्य सार्थवाह हता त्यां आव्यो (उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी)

४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सचमुच मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक आक्षिक विश्व में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठाभिन्न बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है यह 'मनु' तत्त्व, जो शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति 'ज्योवसीयम्–अव्ययमनी रूप हृदयतत्त्व से अभिन्न है। वह केन्द्ररूप–शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति तथा तद् अंश, तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो स्थलों में ही पूर्वरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इस मनु का वही रूप 'अहं' प्रधान है एवं उसी इस 'मनु' का अमुक–प्राणी–रूप 'अहं' कहलाया है, क्योंकि 'अहं अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उसका आक्षिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका आक्षिकरूप अनन्तकालात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एवं इस यथायावत् प्रतीकात्मक–मनुरूपशिल्पात्मक प्राण तथा प्राणी बुद्धिगम्या व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अहं' हैं जो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या आक्षिक व्याख्या से अक्षरशः भी प्रतिरूप तो कालातीत इसका भी प्रतिरूप। अर्थात् 'अहं' ही समाहित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
> इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८)

४७८–प्रतिरूपशिल्पात्मक–मनु–इन्द्राभिन्न–मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिलक्षणा परिपूर्णता—

जितने मानव उतने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप अपना उस अनन्तकाल का सर्वात्मक प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है, अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, मन्त्र बुद्धिगम्या सहज–व्याख्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसा कि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९–इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ–भास्वर मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महत्‌माण्ड से जो विश्व का मनुरूप कालात्मक (अणोरणीयान्–अणोरणीयान्) केन्द्र है, वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त–मनु–कालात्मक–मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र ने)। और हिरण्मतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ' कहलाया

> ✿ प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
> रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥
> —मनुः १२।१२२

पान्थकदासचेटकस्य गतमर्थ श्रुत्वा निशम्य तेन च महता पुत्रशोकेन 'अभिभूए' अभिभूत=आक्रान्त सन 'परसुणियत्तेव' परशुनिकृत्त इव परशुना=कुठारेण निकृत =छिन्न चपगपायवेव चम्पकपादप इव= चम्पक वृक्ष इव धसत्ति धरणीयलंमि' 'धस' इति शब्देन भूमितले सव्वगेहिं' सर्वाङ्गैः सन्निवइए' सन्निपतित । तत खलु स धन्य सार्थवाह 'ततो मुहुत्तंतरस्स' ततो मुहूर्तान्तरस्य=मुहूर्तस्य पश्चात् मुहूर्तानन्तरमित्यर्थ 'आसत्थे' आश्वस्थ आश्वस्तो वा=प्राप्तचेष्ट 'पच्छागयपाणे' पश्चादाग तप्राण =पूर्व मृतप्राण इव भूत्वा पुनर्जागरितप्राण सन् देवदत्तस्य दारकस्य 'सव्वओ समता' सर्वत समन्तात्=सर्वासु दिशासु मार्गणगवेषण करोति,

---

आदि में डाल दिया है। इस प्रकार कह कर वह धन्य सार्थवाह के पैरोंपर गिर पड़ा। (तएण से धन्ने सत्थवाह पथयदासचेडयस्स एयमट्ठ सोच्चा णिसम्म तेणय महया पुत्तसोएण्णा भिभूए समाणे परसुणियत्ते चपगपायवे धसत्ति धरणीतलंमि सव्वगेहिं सन्निवइए) इस प्रकार वह धन्य सार्थवाह पाथक दासचेटक से इस अर्थ-समाचार-को सुनकर और उसे हृदय में अव धृतकर उस महान् पुत्र शोक से युक्त होता हुआ परशु कुठार से काटे गये चपक वृक्षके समान समस्त अगों से एकदम जमीन पर गिर पड़ा। (तएण से धन्ने सत्थवाहे तओ मुहुत्तंतरस्स आसत्थे पच्छागयपाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समता मग्गणगवेसण करेइ) बाद में वह धन्य सार्थवाह १ मुहूर्त के बाद आश्वस्त हुआ ऐसा उस समय मालुम हुआ कि मानों इसमें प्राण लौटकर पुन आ गये है— अपने पुत्र देवदत्त की सब तरफ चारों दिशाओं में मार्गणा गवेपणा

તેનું અપહરણ કર્યું છે અથવા બાળકને કોઇ દુષ્ટે ખાડા વગેરેમા ફેકી દીધો છે આ રીતે કહેતા તે ધન્યસાર્થવાહના પગે પડયો (तए ण से धण्णे सत्थवाहे पथयदासचेडयस्स एयमट्ठ सोच्चा णिसम्म तेणय महया पुत्तसोयेणाभि भूये समाणे परसुणियत्तेव चपगपायवे धसत्ति धरणीतलंसि सव्वगेहिं सन्निवइए) આ પ્રમાણે ધન્ય સાર્થવાહે પાથકદાસ ચેટકના મોઢેથી બધી વિગત સાભળીને તેને બરાબર હૃદયમા ધારણકરીને મહાન પુત્રશોકથી પીડાતો કુહા-ડીથી કાપેલા ચપાના વૃક્ષની જેમ તે પૃથ્વી ઉપર પડી ગયો, (त एणं से धण्णे सत्थवाहे तओ मुहुत्तंतरस्स आसत्थे पच्छागयपाणे देवदिन्नस्स दार गस्स सव्वओ समता मग्गणगवेसण करेइ) ત્યાર બાદ એક મુહૂર્ત પછી ધન્ય સાર્થવાહ ભાનમા આવ્યો. તે વખતે જાણે ફરી તેઓમા પ્રાણનુ સચ ...યુ હોય તેમ લાગ્યુ ઊભો થઈને તે પોતાના પુત્ર દેવદત્તની ચોમેર તપાસ

४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सम्मुख मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक विश्व में महान् है, जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है वह 'मनु' तत्त्व जो शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति 'श्वोवसीयस्–अव्ययमना रूप हृदयतत्त्व से अभिन्न है। यह केन्द्रस्थ–शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति, तथा तद् मत्र तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी इन दो स्थलों में पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इस मनु का यही रूप 'अहं' कहलाया है एवं उसी इस 'मनु' का अमुक–प्राणी–रूप 'अहं' कहलाया है, क्योंकि 'अहं अमुकः' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह 'मनु' है, उसका कालिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है एवं उसका कालिकरूप अनन्तकालात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एवं इतर यथायथ प्रतीकात्मक–अनुरूपप्रतिरूपात्मक भाव तथा भाषी बुद्धिगम्या व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अङ्ग' हैं तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या कालिक व्याख्या से कालातया भी प्रतिरूप, तो कालातीत रूपेण भी प्रतिरूप। अर्थात् 'अङ्गी' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिरूपं प्रतिचक्षणाय।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८)

४७८–प्रतिरूपप्रतिरूपात्मक–मनु–इन्द्राभिन्न–मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिलक्षणा परिपूर्णता—

जितने मानव उतने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप सर्वात्मना उस अनन्तकाल का सर्वात्मक प्रतिरूपप्रतिरूप बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, मन्त्र बुद्धिगम्या सरल–व्याख्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९–इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ–भाषापथ मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महद्भाग्य से जो विश्व का मनुरूप कालात्मक (अणुरूपमहद्विश्व–अणोरणीयान्) केन्द्र है वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त–मनु–कालात्मक–मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र ने)। सौर हिरण्मयतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ' कहलाए

---

* प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
  रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥
  —मनु० १२।१२२

णतया किमङ्ग पुनर्दर्शनतया=अयमुदुम्बरपुष्पवत् श्रवणगोचरतया दुर्लभ किं पुनदर्शनेन तस्य नाम श्रवणमपि दुर्लभं वर्तते दर्शनस्य का कथेति भाव । तत खलु=एकदा सा भद्रा भार्या देवदत्त दारक स्नातं सर्वालङ्कारविभूषित पान्थकस्य हस्ते ददाति यावत् पादपतितस्तन्मम निवेदयति तत्=तस्मात् कारणात् इच्छामि खलु हे देवानुप्रिया देवदत्तस्य दारकस्य सर्वत समन्तान्मार्गणगवेषणं कर्तुम् । तत खलु ते नगर

पासणयाए) हे देवानुप्रियों ! सुनो ! भद्रा भार्या की कुक्षि से उत्पन्न हुआ देवदत्त नामक मेरा एक पुत्र है जो विशेष इष्ट यावत उदुबर पुष्प के समान सुनने के लिये भी मुझे दुर्लभ था। उसके देखने को तो बात ही क्या है (तएण सा भद्दा देवदिन्नं दारयं ण्हाय सव्वालंकारविभूसिय पथगस्स हत्थे दलाइ) उस देवदत्त दारक को भद्रा भार्याने स्नान करा कर और समस्त अलंकारों से विभूषित कर पांथक के हाथमें दिया। (जाव पायपडिए त मम निवेदेइ) वह उसे गोद में लेकर क्रीडा के लिये राजमार्ग ले गया साथ में और भी कई बालक बालिकाये थीं--उसने वहां जाकर उसे एक तरफ एकान्त स्थान में रख दिया और स्वय उन बालक बालिकाओं के साथ खेलने लग गया। थोडा समय बाद जब वह वहां आया तो क्या देखता है कि वहां देवदत्त नहीं है आकर उसने मेरे पैरों में पडकर मुझसे यह समाचार निवेदित किया है। अत (इच्छामि ण देवाणुप्पिया ! देवदिन्नदारगस्स सव्वओ समता मग्गणगवेसण काउ) अतः मै चाहता हूँ कि हे देवा

મારી પત્ની ભદ્રાના ઉદરથી જન્મેલો દેવદત્ત નામે મારો પુત્ર હતો. જે મને બહુ જ ઇષ્ટ હતો. તેને જોવાની વાત તો દૂર રહી પણ ઉદુબરના પુષ્પની જેમ તેનું નામ શ્રવણ પણ અસભવ હતું (तएण सा भद्दा देवदिन्न दारय ण्हाय सव्वालंकार-विभूसिय पथगस्स हत्थे दलाइ) દેવદત્તને ભદ્રાભાર્યાએ નવડાવીને બધા ઘરેણા ઓથી સુસજ્જ કર્યો અને પાથકને સોંપ્યો. (जाव पायपडिए, त मम निवेदेइ) બાળકને તે કેડમાં લઈને રાજમાર્ગ ઉપર રમાડવા લઈ ગયો તેની સાથે ઘણા બાળકો અને બાળાઓ હતી ત્યાં જઈને તેણે બાળક દેવદત્તને એક તરફ બેસાડી દીધો અને જાતે તે બીજા બાળકોની સાથે રમતમા પડી ગયો. થોડા વખત પછી જ્યારે તે ત્યા આવ્યો ત્યારે બાળક દેવદત્ત તેને જડયો નહિ. મારી પાસે આવીને તેણે આ બધી વાત કરી છે (इच्छामि ण देवाणुप्पिया ! देवदिन्न दारगस्स सव्वओ समता मग्गणगवेसण काउ) હું ચાહુ છુ કે બાળક દેવ

रेखाङ्कनों पर अवधानपूर्वक लक्ष्य दीजिए, जिन में (|) इस रूप से प्रतिरूपता का समन्वय हुआ है। प्रतिरूपपरिस्थात्मक द्वितीय रेखाङ्कनों में पूर्व के (इस अर्द्धवृत्त का तो क्या अर्थ है ?, उत्तर के) इस अर्द्धवृत्त का क्या अर्थ है ? एवं क्या अर्थ है पूर्व-उत्तर-भागात्मिका (|) इस समष्टि का ?। समन्वय कीजिए। अपनी दाम्पत्यप्रज्ञा से ही इस प्रश्नावली का। पूर्वभागात्मक (इस अर्द्धवृत्त का अर्थ है 'मानव' उत्तरभागात्मक 'पूर्व-अर्द्ध' के पूरक) इस अर्द्धवृत्त का अर्थ है 'मानवी' एवं (१।२) इन दोनों

पूर्वोत्तरार्द्धों की समन्वितावस्थारूप पूर्णवृत्त का अर्थ है मानव-मानवी-का 'दाम्पत्य'। सम्पत्सरकालानुबन्ध से पूर्णाभिधात्मक-पूर्णप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव व्यक्ति-सम्वत्सरकालानुबन्ध से अर्द्धाभिधात्मक बनता हुआ 'अर्द्धवृगल' है प्रतिरूपाद है प्रतिरूप की पूर्णावस्था है आधाररूप प्रतिरूप है। इसके शेष अर्द्धयुगलात्मक-अर्द्धांश की पूर्ति अर्द्धयुगलात्मिका मानवी से ही हुई है जो कि मानव का प्रतिरूपाद है, इसकी उत्तरावस्था है आधेयरूप प्रतिरूप है।

४८३-सौर-चान्द्र-सम्वत्सरयुगलत्रयी से सम्पन्ना छन्दरूपा मानव-मानवी की दाम्पत्य रूपा प्रतिरूपता, एवं तदनुगता वंशानुगतिलक्षणा रूप-कर्म-भावात्मिका महिमान्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों युगलों, दोनों अवस्थाओं के समन्वय से ही मानव की प्रतिरूपता पूर्णसम्वत्सरात्मिका पूर्णसम्पत्सरात्मिका बनती है, और यह साम्वत्सरिकी-पूर्णा-प्रतिरूपता (मानव, और मानवी का दाम्पत्यरूप गृहस्थाश्रम) ही अनन्तसम्वत्सरानुगता पूर्णा-प्रतिरूपता की अभिव्यञ्जिका बनती है। और धार्मिक-परिणामानुगता सत्यमूला दाम्पत्यपरिपूर्णता (जो कि सत्यपुरुषानुगता सपिण्डता की प्रवर्त्तिका बनती हुई वंशानुगतिक्रम से प्रतिरूपता को कुलविशेषेण धारावाहिकरूप से अविच्छिन्न बनाती हुई-'रूपं-रूपं-प्रतिरूपो बभूव' का अक्षरशः चरितार्थ करती रहती है) मानवेतर किसी भी सर्ग में नहीं है।

४८४-मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अण्डजवत्सरूपा प्रतीकता, एवं प्रतिरूपभावात्मिका, गृहस्थधर्म्मनिबन्धना मानवीय-दाम्पत्य की कालातीता अनन्तपूर्णता-लक्षणा-प्रतिरूपता का समन्वय—

यहाँ की अनुरूपपरिस्थात्मिका प्रतीकता 'शरीरेण शरीरोत्पत्तिः'-'आत्मा-आत्मनोऽपक'-'अङ्गाद् अङ्गात् सम्भवसि' इत्येव तत्रैव परिसमाप्त है। यद्यपि मानवेतर उक्त भावरूप, यथा पशुपक्षियों में सपिण्डता का

यत्रैव भग्नकूपस्तत्रोपागच्छन्ति, उपागत्य देवदत्तस्य दारकस्य शरीरकं निष्प्राणं निश्चेष्टं जीवविप्रत्यक्तं पश्यति दृष्ट्वा 'हा ! हा ! अहो ! अकार्य' हा ! हा ! अहो अकार्यम्=अनिष्टं सञ्जातम् ? इतिकृत्वा=इति प्रोच्य देवदत्त दारकं भग्नकूपात् उत्तारेंति' उत्तारयन्ति=बहिर्निष्काशयन्ति उत्तार्य धन्यस्य सार्थवाहस्य हस्ते ददति ॥सू. ८ ॥

मूलम्—तए णं ते नगरगुत्तिया विजयस्स तक्करस्स पयमग्गमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता मालुयाकच्छयं अणुपविसंति अणुपविसित्ता विजयं तक्करं ससक्खं सहोढं सगेवेज्जं जीवग्गाहं गिण्हंति गिण्हित्ता अट्ठि-मुट्ठिजाणुकोप्परपहारसंभग्गमहियगत्तं करेंति, करित्ता अवउडग बंधणं करेंति करित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स आभरणं गेण्हंति गेण्हि

(पडिनिक्खमित्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ) निकल कर वे फिर वहां आये जहां वह जीर्ण उद्यान और वह भग्नकूप था। उवागच्छित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरगं निप्पाणं निच्चेट्ठं जीव विप्पजढं पासंति पासित्ता हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु देवदिन्नं दारगं भग्गकूवाओ उत्तारेंति उत्तारित्ता धण्णस्स सत्थवाहस्स हत्थे दलयंति) आकर के उन लोगोंने देवदत्त दारक के शरीरको निष्प्राण निश्चेष्ट और जीव से विमुक्त देखा देखकर "हाय हाय यह महान् अनर्थ हुआ" इस प्रकार कहकर देवदत्त दारक को उस भग्नकूप से बाहर निकाला। बाहर निकाल कर फिर उसे धन्य सार्थवाह के हाथ में सौंप दिया। सूत्र ॥ ८ ॥

શોધ કરતા રાજગૃહ નગરની બહાર નીકળ્યા (पडिनिक्खमित्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ) બહાર નીકળીને તેઓ ફરતા ફરતા જીર્ણ ઉદ્યાન તેમજ ભગ્ન કૂવાની પાસે આવ્યા. (उवागच्छित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरगं निप्पाणं निच्चेट्ठं जीवविप्पजढं पासंति पासित्ता हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु देवदिन्नं दारगं भग्गकूवाओ उत्तारेंति उत्तारित्ता धण्णस्स सत्थवाहस्स हत्थे दलयंति) ત્યાં તેઓએ બાળક દેવદત્તના શરીરને નિષ્પ્રાણ, નિર્જીવ અને નિશ્ચેષ્ટ જોયું અને જોઈને "અરે ! અરે !! બહુ ખોટું થયું" આ પ્રમાણે કહીને તેઓએ બાળક દેવદત્તના શરીરને ભગ્ન કૂવામાંથી બહાર કાઢયું બહાર કાઢીને ધન્ય સાર્થવાહને તે શરીર સોંપી દીધું ॥ સૂત્ર ॥ ૮ ॥

रेखाङ्कनों पर प्रयत्नपूर्वक लक्ष्य दीजिए, जिन में (|) इस रूप से प्रतिरूपता का समन्वय हुआ है।

प्रतिरूपशिल्पात्मक द्वितीय रेखाङ्कनों में पूर्व के (इस अर्द्ध वृत्त का तो क्या अर्थ है ?, उत्तर के) इस अर्द्ध वृत्त का क्या अर्थ है ?, एवं क्या अर्थ है पूर्व–उत्तर–भावाभिन्न (|) इस समष्टि का ?। समन्वय कीजिए। अपनी दाम्पत्यप्रज्ञा से ही इस प्रश्नावली का। पूर्वभावात्मक (इस अर्द्ध वृत्त का अर्थ है 'मानव' उत्तरभावात्मक पूर्व–अर्द्ध के पूरक) इस अर्द्ध वृत्त का अर्थ है 'मानवी'

पूर्वोत्तरवृत्तों की समन्वितावस्थात्मक पूर्णवृत्त का अर्थ है मानव–मानवी–का से पूर्णाभावात्मक–पूर्णप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव हुआ 'अर्द्धवृगल' है प्रतिरूपाद्ध" है प्रतिरूप की पूर्वावस्था है अर्द्धयुगलात्मक–अर्द्धावस्था की पूर्ति अर्द्धयुगलात्मिका मानवी से ही है, इसकी उत्तरावस्था है आधेयरूप प्रतिरूप है।

४८३–सौर–चान्द्र–सम्वत्सरयुगलद्वयी से सम्पन्ना रूपा प्रतिरूपता, एवं तत्तनुगता न्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों युगलों दोनों सम्वत्सरों के समन्वय से ही पूर्णसम्वत्सरात्मिका बनती है और यह साम्वत्सरिकी–पूर्णा–गृहस्थाश्रम) ही अनन्तसम्वत्सरानुगता पूर्णा–प्रतिरूपता की हृदयभूता दाम्पत्यपरिपूर्णता (जो कि सन्तपुत्रानुगता सर्व प्रतिरूपता को सन्ततिरूपेण धारावाहिकरूप से अविच्छिन्न अजस्रशः चरितार्थ करती रहती है) मानवेतर किसी भी सर्ग में

४८४–मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अङ्गादङ्गानुरूपा गृहस्थधर्म्मनिबन्धना मानवीय–दाम्पत्य प्रतिरूपता का समन्वय—

यहीं वो अनुरूपशिल्पात्मिका प्रतीकता 'शारीरेण ...ात् सम्भवसि' इत्येव रूपेण परिव्याप्त है। यद्यपि मानवेतर उन

चरणचिह्नं 'अणुगच्छमाणा' अनुगच्छन्तो यत्रैव मालुकाकक्षकस्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य मालुकाकक्षकमनुप्रविशन्ति, अनुप्रविश्य विजय तस्कर 'ससक्ख' ससाक्ष्य समाक्षिकमित्यर्थ 'सहोढ सहोढ=समीप चौर्यापहृतवस्तुसहित देवदत्तदार शृङ्कलायुक्तमित्यर्थ , 'सगेवेज्ज' सग्रैवेयक=ग्रीवाबन्धनसहित गलबन्धन बद्ध गले रज्जु बद्ध्वेत्यर्थ , त 'जीवग्गाह' जीवग्राहं=जीवन्त 'गिण्हति' गृह्णन्ति' गृहीत्वा 'अट्ठिमुट्ठिजाणुकोप्परपहार सभग्गमहियगत्त' अस्थिमुष्टिजानुकूर्परप्रहार सभग्न मथितगात्रम् अस्थि च मुष्टिश्च जानुनी च कूर्परौ च–अस्थिमुष्टिजानुकूर्परा , तेषु तैर्वा ये प्रहारास्तै 'सभग्ग' सम्भग्न=चूर्णित 'महिय' मथित=जर्जरितम् 'गत्त' गात्र=शरीर यस्य स त=भग्नसकलशरीरसन्धिस्थान कुर्वन्ति कृत्वा 'अवउडगबधण' अवकोटकबन्धनम्–अवकोटकेन बाहो शिरसश्च पश्चाद्भागा

तक्करस्स पयमग्गमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छति) विजयतस्कर के पाद चिह्नों का अनुसरण करते हुए वहां पहुंचे जहां वह (मालुका कच्छथा उवागच्छित्ता मालुयाकच्छय अणुपविसति) पहुंचकर वे उसमें घुसे (अणुपविसित्ता विजय तक्कर ससक्ख सहोढ सगेवेज्ज जीवग्गाह गिण्हति) घुसकर उन्होंने उसके गलेमें रस्सी बांधकर जीता ही ससाक्ष्य देवदत्त दारक के अलकार रूप साक्ष्य सहित पकड लिया। गिण्हित्ता अट्ठिमुट्ठ जाणुकोप्परपहारसभग्गमहियगत्त करेंति)पकडकर उन्होंने उसकी हड्डियों में मुठियों में घुटनों में,कुहनियो मे खूब प्रहार किय--इससे उसका शरीर का चूर २ हो गया—जर्जरित हो गया। तात्पर्य यह कि उसे इतनी बुरी तरह उन लोगोंने पीटा कि जिससे उसके शरीर की समस्त सधियां भग्न हो गई। (करित्ता अवउडगबधण, करेंति

तक्करस्स पयमग्गमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छ ति) विजय नामना चोरना पगना चिह्नोने अनुसरता मालुका कक्षमां पहोंच्या (उवागच्छित्ता मालुयाकच्छय अणुपविस ति अने मालुका कक्षमां पेठा. अणुपविसित्ता विजयं तक्कर ससक्ख सहोढ सगेवेज्ज जीवग्गाह गिण्ह ति) पेसीने तेओए विजय नामना चोरने ससाक्ष्य एटले बाळक देवदत्तना घरेणाओनी साथे ज गळामां दोरी बांधीने जीवतो ज पकडी लीधो. (गिण्हित्ता अट्ठिमुट्ठिजाणुकोप्परपहार सभग्गमहियगत्तं करे ति) पकडीने तेओए चोरना हाडका मूठीओ, ढीचणो अने कोणीओ उपर खूब प्रहारो कर्या एथी तेनु शरीर शिथिल अने भूका जेवु थई गयु मतलब ए छे तेने एवो सखत मार पडयो के जेथी तेना शरीरना बधा सांधाओ तूटी गया.

रेखाङ्कनों पर अवधानपूर्वक लक्ष्य दीजिए, जिन में (|) इस रूप से प्रतिरूपता का समन्वय हुआ है। प्रतिरूपप्रतिरूपात्मक द्वितीय रेखाङ्कनों में पूर्व के (इस अर्द्ध वृत्त का तो क्या अर्थ है ?, उत्तर के) इस अर्द्ध वृत्त का क्या अर्थ है ? एवं क्या अर्थ है पूर्व–उत्तर–भावात्मिका (|) इस समष्टि का ?। समन्वय कीजिए । अपनी दाम्पत्यभावना से ही इस अरनावली का । पूर्वभावात्मक (इस अर्द्ध वृत्त का अर्थ है 'मानव' उत्तरभावात्मक पूर्व–अर्द्ध के पूरक) इस अर्द्धवृत्त का अर्थ है 'मानवी' एवं (१।२) इन दोनों पूर्वोत्तरवृत्तों की समन्वितावस्थात्मक पूर्णवृत्त का अर्थ है मानव–मानवी–का 'दाम्पत्य'। अव्यक्तभावानुबन्ध से पूर्णाक्षरात्मक–पूर्णप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव व्यक्त–सम्वत्सरभावानुबन्ध से अर्द्धाक्षरात्मक बनता हुआ 'अर्द्धवृगल' है प्रतिरूपाद्ध है प्रतिरूप की पूर्वावस्था है आधाररूप प्रतिरूप है। इसके शेष अर्द्धवृगलात्मक–अर्द्धांशत्व की पूर्ति अर्द्धवृगलात्मिका मानवी से ही हुई है जो कि मानव का प्रतिरूपाद्ध है, इसकी उत्तरावस्था है आधेयरूप प्रतिरूप है।

४८३–सौर–चान्द्र–सम्वत्सरयुगलत्रयी से सम्पन्ना कृतरूपा मानव–मानवी की दाम्पत्य रूपा प्रतिरूपता, एवं तदनुगता यथानुगतिलक्षणा रूपं–रूपं–भावात्मिका महिमान्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों युगलों, दोनों सम्वत्सरात्मों के समन्वय से ही मानव की प्रतिरूपता पूर्णसम्वत्सरात्मिका पूर्णव्यक्तभावात्मिका बनती है और वह सम्वत्सरिकी–पूर्णा–प्रतिरूपता (मानव, और मानवी का दाम्पत्यरूप गृहस्थाश्रम) ही अनन्तभावानुगता पूर्णा–प्रतिरूपता की अभिव्यञ्जिका बनती है। और धार्मिक–परिणामानुगता हृदयभूता दाम्पत्यपरिपूर्णता (जो कि सन्तपुरुषानुगता अभियक्तता की प्रवर्त्तिका बनती हुई यथानुगतिक्रम से प्रतिरूपता को सन्ततिरूपेण धाराप्रवाहिकक्रम से अविच्छिन्न बनाती हुई–'रूपं–रूपं–प्रतिरूपो बभूव' को अक्षरशः चरितार्थ करती रहती है) मानवेतर किसी भी सर्ग में नहीं है।

४८४–मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अङ्गादङ्गानुरूपा प्रतीकता, एवं प्रतिरूपभावात्मिका, गृहस्थधर्म्मनिबन्धना मानवीय–दाम्पत्य की कालातीता अनन्तपूर्णता-लक्षणा-प्रतिरूपता का समन्वय—

यहाँ भी अनुरूपप्रतिरूपात्मिका प्रतीकता शरीरेण शरीरोत्पत्ति –'प्राणात्–प्राणोदय –'अङ्गाद् अङ्गात् सम्भवति' रूपेण तत्रैव परिव्याप्त है। तथापि मानवेतर उस प्राणरूप तथा प्राणीवर्ग में अभिरक्षता का

चरणचिह्न 'अणुगच्छमाणा' अनुगच्छन्तो यत्रैव मालुकाकक्षस्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य मालुकाकक्षमनुप्रविशन्ति, अनुप्रविश्य विजय तस्कर 'ससक्ख' ससाक्ष्य समाक्षिकमित्यर्थ 'सहोढ' सहोढ=समाप चौर्यापहृतवस्तुसहित देवदत्तदार कालङ्कारयुक्तमित्यर्थ, 'सगेवज्जं' सग्रैवेयक=ग्रीवाबन्धनसहित गलबन्धन बद्ध गले रज्जु बद्ध्वेत्यर्थ, त 'जीवग्गाह' जीवग्राह=जीवन्त 'गिण्हति' गृह्णन्ति' गृहीत्वा 'अट्ठिमुट्ठिजाणुकोप्परपहारसभग्गमहियगत्त' अस्थिमुष्टिजानुकूर्परप्रहार सभग्न मथितगात्रम् अस्थि च मुष्टिश्च जानुनी च कूर्परौ च–अस्थिमुष्टिजानुकूर्परा, तेषु तैर्वा ये प्रहारास्तै 'सभग्ग' सम्भग्न=चूर्णित 'महिय' मथित=जर्जरितम् 'गत्त' गात्र=शरीर यस्य स त=भग्नसकलशरीरसन्धिस्थान कुर्वन्ति कृत्वा अवउडगबधण' अवकोटकबन्धनम्–अवकोटकेन बाह्वो शिरसश्च पश्चाद्भागा

तक्करस्स पयमग्गमणुगच्छमणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छति) विजयतस्कर के पाद चिह्नों का अनुसरण करते हुए वहा पहुचे जहा वह (मालुका कच्छथा उवागच्छित्ता मालुयाकच्छय अणुपविसति) पहुचकर वे उसम घुसे (अणुपविसित्ता विजय तक्कर ससक्ख सहोढ सगेवज्ज जीवग्गाह गिण्हति) घुसकर उन्होंने उसके गलेमें रस्सी बाधकर जीता ही ससाक्ष्य देवदत्त दारक के अलंकार रूप साक्ष्य सहित पकड लिया। गिण्हित्ता अट्ठिमु ट्ठ जाणुकोप्परपहारसभग्गमहियगत्त करें ति)पकडकर उन्होंने उस की हड्डियों म मुठियों में घुटनों में,कुहनियो म खूब प्रहार किये--इससे उसका शरीर का चूर २ हो गया—जर्जरित हो गया। तात्पर्य यह कि उसे इतनी बुरी तरह उन लोगोंने पीटा कि जिससे उसके शरीर की समस्त सधियां भग्न हो गई। (करित्ता अवउडगबधण, करेंति

तक्करस्स पयमग्गमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छति) વિજય નામના ચોરના પગના ચિહ્નોને અનુસરતા માલુકા કક્ષમા પહોચ્યા. (उवागच्छिता मालुयाकच्छय अणुपविसति અને માલુકા કક્ષમા પેઠા. अणुपविसित्ता विजयं तक्कर ससक्खं सहोढ सगेवेज्ज जीवग्गाह गिण्हति) પેસીને તેઓએ વિજય નામના ચોરને સસાક્ષ્ય એટલે બાળક દેવ દત્તના ઘરેણાઓની સાથે જ ગળામા દોરી બાધીને જીવતો જ પકડી લીધો. (गिण्हिता अट्ठिमुट्ठिजाणुकोप्परपहार सभग्गमहियगत्त करेंति) પકડીને તેઓએ ચોરના હાડકા મૂઠીઓ, ઢીચણો અને કોણીઓ ઉપર ખૂબ પ્રહારો કર્યા એથી તેનુ શરીર શિથિલ અને ભૂકા જેવુ થઈ ગયુ મતલબ એ છે તેને એવો સખત માર પડયો કે જેથી તેના શરીરના બધા સાધાઓ તૂટી ગયા

इन सब ब्रह्मविभर्तों तथा भ्रान्त–विवर्तों का मूलाधारभूत हुआ मनुतत्त्व, सम्पूर्ण मानव के 'अहं' रूप अप्राकृत–भूतातीत–स्वरूप की सीमा में ही अन्तर्भुक्त है। और ऐसे अहं का प्रतिरूप किंवा 'अहं' रूप मानव ही विश्वम्भर के विश्व में ऐसी महती विभूति है जिसके संस्मरणमात्र से मादृश विकृत–मानव का क्या हो जाता है ?, यह भी तो यह विकृत मानव नहीं जान रहा। कहाँ मानव का महतोमहीयान् विभूतिमय अनन्त स्वरूप और कहाँ उसी विभूतिशाली मानव का यह बुद्धिव्यामोहन जिससे आपादमस्तक व्यामुग्ध बनता हुआ ही यह विकृत मानव आज मानव जैसी अनन्तविभूति के उद्बोधन को न केवल भुला ही रहा है अपितु 'दिगुदेशकालस्वरूपमीमांसा' नामक महान् ग्रन्थ का आश्रय लेता हुआ स्वयं अपने विकृत–स्वरूप की ओर भी अधिक विकृत ही प्रमाणित कर रहा है।

४८७–वाग्विजृम्भणविस्मृतिपूर्वक–'अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः' मूलक उद्बोधनसूत्र के प्रति आत्मसमर्पण, एवं अनेक मूलमन्त्रों का संस्मरण—

अतएव अन्ततोगत्वा अपने इस समस्त वाग्विजृम्भण को सर्वात्मना विस्मृत करते हुए, प्रतिरूपात्मक अप्राकृत–भूमिमानव के निम्नलिखित उद्बोधनसूत्रों का मानसिक संस्मरण करते हुए–'अभयं वै ब्रह्म। मा भैषीः'। योऽस्मानद्वेष्टि यं वयं द्विष्मः तं जम्भे दध्मः। इस वरदा–अभया–वाणी के समन्वय दिग्दर्शन के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही नानारूपों में प्रस्तुत दिग्देशकालमीमांसा उपरत हो रही है।

मूलमन्त्राणि

> १–अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ।
> अहं सूर्य इवाजनि। (ऋक् सं० ८।६।१०)॥
> २–अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
> अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्॥
> —ऋक् सं १ ।१८३।३।
> ३–अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्र।
> अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥
> —ऋक् सं ४।२६।१।

अनन्तब्रह्म

> ४–स एवाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः। स एवेदं सर्वम्।

अप्राकृतमानवः (ब्रह्मणः प्रतिरूपः)

> ५–अहमेवाधस्तात्, अहमुपरिष्टात्, अहं पश्चात्, अहं पुरस्तात्, अहं दक्षिणतः अहमुत्तरतः। अहमेवेदं सर्वम्।

'विजयो नाम तस्कर यावद् गृध्र इवामिषभक्षी बालघातको बालमारकोऽस्ति तत्=तस्मात्कारणात् नो खलु देवानुप्रिया ! एतस्य कोऽपि राजा वा राजपुत्रो वा राजामात्यो वा अवरज्झइ' अपराध्यति=न कोऽप्यस्य एव पीडनेऽस्ति किन्तु एत्थट्ठे अत्रार्थे=एतद्विषये 'अप्पणा' आत्मना= निजस्य सयाइ कम्माइ' स्वकानि कर्माणि=स्वकृतान्येव कर्माणि अवरज्झति' अपराध्यन्ति=एव पीडयन्ति उक्कट्टु' इति प्रोच्य येनैव चारगसाला

एव वयंति) राजगृह नगर मे आकरके वहा के शृगाटक, त्रिक चतुष्क चत्वर और महापथ इन सब मार्गों म उन्होंने उस विजय चार को कोडों से वतों से चिकने किये हुए कोडों—से मार मार और भी बुरी तरह पीटते हुए उसके ऊपर भस्म धूली और तृण आदि का कूडा करकट बार बार डालते हुए फिर इस प्रकार जोर जोर से घोषणा की—(एएण देवाणुप्पिया विजए नाम तक्करे जाव गिद्धे विव आमिस-भक्खी बालघायए बालमारए) हे देवानुप्रियों ! यह विजय नामका चोर है। यह गृद्ध पक्षी की तरह आमिष (मांस) का भक्षी है बाल घातक है और बाल मारक है। (त नो खलु देवाणुप्पिया ! एयस्स केइ राया वा रायपुरिसे वा रायमच्चे वा अवरज्झइ) नो हे देवानुप्रियों ! इस विषय म इनका न कोई राजा अपराधी है न राजपुत्र अपराधी है न राजा का प्रधान अपराधी है। (एयमट्ठे अप्पणो सयाइ कम्माइ ... के निज कृत कर्म ही अपराधी बने हुए हैं। ... जेणामेव चारगसाला तेणामेव उवागच्छति) वे

... अने महापथ आ बधा मार्गो उपर कोरडा, वेतो ... सखत रीते विजयचोरने मारता अने वारवार ... वगेरे नाखता रक्षकोए मोटेथी घोषणा (ढंढेरा) ... नाम तक्करे जाव गिद्धे विव आमिस ... देवानुप्रियो ! आ विजय नामे चोर छे ... घाती छे अने बाळ हत्यारो छे ... केइ राया वा रायपुत्ते वा रायमच्चे ... आ विषे कोईपण रीते राजा अपराधी ... राजाना प्रधान पण अपराधी नथी. ... ति) पण खरी रीते एना पोताना ... त्तिकट्टु) आम कहीने (जेणामेव

४८९–स्वानुगत–कारणातीत–अनन्तभाव से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्–अप्राकृत–अनन्त–स्वरूप, एवं मानव की गुप्ततमा सर्वज्येष्ठता–श्रेष्ठता—

अपने प्राकृत स्वरूप से यही महान् प्राकृत मानव जहाँ प्रकृत्या ही स्वस्वरूप से ही ऋद्धि, सुख, तुष्टि समृद्धि, भूमा, आदि आदि अभ्युदयभावों से नित्य समन्वित है स्वस्वरूपेणैव, वहाँ यही मानव अपने अप्राकृत महतोमहीयान् (–महान् प्राकृत स्वरूप से ही भी कहीं महीयान्) स्वस्वरूप से तुष्टि शान्ति तृप्ति आनन्द अभय आदि आदि निःश्रेयस् भावों से नित्य समन्वित है स्वस्वरूप से ही। अपनी इस उभयभावान्विता स्वस्वरूपता से ही मानव महान् है प्रकृत्या (महद्रूपप्रकृत्या) एवं महतोमहीयान् है प्रकृति से समन्वित, किन्तु प्रकृति से अतीत पुरुषेण (अव्ययपुरुषेण)। अव्ययपुरुषात्मक अभय–भाव ही महतोमहीयान् अप्राकृत मानव की 'स्वरूपप्रतिष्ठा' हो महदक्षर–रूपात्मक प्रकृति–भाव ही महान् प्राकृत मानव का स्वरूप हो। दूसरे शब्दों में–अनन्त महदक्षरप्रकृति ही का 'अनन्त–प्राकृत–स्वरूप' हो अनन्त महतोमहीयान् पुरुष ही का 'अनन्त–पौरुष–स्वरूप' हो, ऐसे प्रकृत्यैव महान्, पुरुषेणैव च महतोमहीयान् मानव से अतिरिक्त सचमुच ही तो सम्पूर्ण विश्व में और कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।

४९०–इतर प्राकृत-परिणामात्मक-क्षणिक सर्गों के समतुलन में अप्राकृत-कालातीत प्रमाणित महिमात्मक-मानव-सर्ग की 'महत्ता' के कतिपय प्राकृत निदर्शन—

महत्ता का इस से अधिक और क्या प्रमाण होगा कि, जहाँ मानवेतर सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं नष्ट होने के लिए ही वहाँ मानव अपने महान् प्राकृत स्वरूप से अभिव्यक्त होता है अपने अविनाशी अजर अमर स्वरूप को अक्षरशः चरितार्थ करने के लिए ही। मानवेतर प्राणियों का जन्म होता ही है प्रकृति के महद्भयात्मक महान् दण्ड का अनुपालन करने के लिए, जब कि मानव का स्वस्वरूप से आविर्भाव होता ही है इसी प्राकृत स्वरूप के माध्यम से प्रकृति की भयदा भयभया कम्पक्षमता से सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता-पूर्वक निर्भयस्थेन अभयभाव को अन्वर्थ बनाने के लिए। मानवेतर प्राकृत (वैकारिक) प्राणी उत्पन्न होते ही हैं जहाँ प्रकृति के लीलाविलासात्मक अनुपालन के लिए, जबकि मानव आविर्भूत होता ही है प्रकृति के लीलाविलासों से अपने प्राकृतभाव का अनुपालन करने के लिए। मानवेतर प्राणी जबकि महद्भय की भयविधा भयप्रकृति से प्राकृत भयदण्ड से जहाँ सदा भयत्रस्त बने रहते हैं, वहाँ महान् मानव, महतोमहीयान् मानव इस प्राकृत भयदण्डभय को अपने महान् भावात्मक प्राकृत स्वरूप से अभिभव प्रमाणित करता हुआ अतएव च इस दण्डभय से अपने स्वरूप का सर्वथा ही भयातीत प्रमाणित करता हुआ 'अभयं–वै ब्रह्म' का ही प्रतिरूप बनता हुआ समस्त प्राणियों का 'मा भैषीः'–'मा–कश्चित्–दुःखभाग्भवेत्'–'सर्वे भवन्तु सुखिनः'–'सर्वे सन्तु निरामयाः' यह आश्वासन ही प्रदान करता रहता है अभयभावात्मक।

४९१–मानवस्वरूप को संत्रस्त करने वाले आततायी–वर्ग के प्रति ऋषिमानव का प्रचण्ड उद्घोष, एवं तच्छ्रवणमात्र से आततायीवर्ग का दर्पविध्वंसन—

और साथ ही जो दुष्टबुद्धि हिंसक पशुभाव एवं असुर राक्षस–पिशाच–पशु–भूतादि भाव मानव के इस अभयात्मक स्वरूप पर, मानव के द्वारा प्राप्त वर से अभयदानानुगत निर्भय प्राकृत प्राणियों के निर्भय-

'रजया नाम तस्कर यावद् गृध्र इवामिषभक्षी बालघातको बालमारकोऽस्ति तत्=तस्मात्कारणात् नो खलु देवानुप्रिया ! एतस्य कोऽपि राजा वा राजपुत्रो वा राजामात्यो वा अवरज्झइ' अपराध्यति=न कोऽप्येनं पीडयतीत्यर्थः किन्तु एतदर्थे अत्रार्थे=एतद्विषये 'अप्पणा' आत्मन = निजस्य सयाइ कम्माइ' स्वकानि कर्माणि=स्वकृतान्येव कर्माणि अवरज्झंति' अपराध्यन्ति=एनं पीडयन्ति, 'उम्हु' इति प्रोच्य यत्रैव चारकशाला

एव वयति) राजगृह नगर मे आकरके वहां के शृंगाटक, त्रिक चतुष्क चत्वर और महापथ इन सब मार्गों में उन्होंने उस विजय चोर को कोड़ों से वहां से चिकने किये हुए कोड़ों—से बार बार और भी बुरी तरह पीटते हुए उसके ऊपर भस्म धूली और तृण आदि का कूडा करकट बार २ डालते हुए फिर इस प्रकार जोर जोर से घोषणा की—(एएण देवाणुप्पिया विजए नाम तक्करे जाव गिद्धे विव आमिस-भक्खी बालघायए बालमारए) हे देवानुप्रियों ! यह विजय नाम का चोर है। यह गृद्ध पक्षी की तरह आमिष (मांस) का भक्षी है बाल घातक है और बाल मारक है। (त नो खलु देवाणुप्पिया ! एयस्स केइ राया वा रायपुरिसे वा रायमच्चे वा अवरज्झइ) नो हे देवानुप्रियों ! इस विषय में इनका न कोई राजा अपराधी है न राजपुत्र अपराधी है और न राजा का प्रधान अपराधी है। (एयमट्ठे अप्पणो सयाइ कम्माइ अवरज्झंति) किन्तु इसके निज कृत कर्म ही अपराधी बने हुए हैं। (तिकट्टु) ऐसा कहकर (जेणामेव चारगसाला तेणामेव उवागच्छति) वे

શ્રૃંગાટક, ત્રિક, ચતુષ્ક ચત્વર અને મહાપથ આ બધા માર્ગો ઉપર કોરડા, વેતો અને ચીકણા કરાએલા કોરડાઓથી સખત રીતે વિજયચોરને મારતા અને વારંવાર તેના ઉપર રાખ, માટી અને કચરો વગેરે નાખતા રક્ષકોએ મોટેથી ઘોષણા (ઢંઢેરો) કરી (एसणु देवाणुप्पिया विजए नाम तक्करे जाव गिद्ध विव आमिस भक्खी बालघायए बालमारए) હે દેવાનુપ્રિયો ! આ વિજય નામે ચોર છે ગીધની જેમ આ માંસ ખાનારો છે, બાળ ઘાતી છે અને બાળ હત્યારો છે (त नो खलु देवाणुप्पिया ! एयस्स केइ राया वा रायपुत्ते वा रायमच्चे वा अवरज्झइ) એટલે કે દેવાનુપ્રિયો ! આ વિષે કોઈપણ રીતે રાજા અપરાધી નથી, રાજપુત્ર અપરાધી નથી, તેમજ રાજાના પ્રધાન પણ અપરાધી નથી (एयमट्ठे अप्पणा सयाइ कम्माइ अवरज्झति) પણ ખરી રીતે એના પોતાના કર્મો જ એને અપરાધી સાબિત કરે છે (त्तिकट्टु) આમ કહીને (जेणामेव

४८९–स्वानुगत–कारणातीत–अनन्तमय से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्
अप्राकृत–अनन्त–स्वरूप, एवं मानव की गुप्ततमा सर्वज्येष्ठता–श्रेष्ठता—

अपने प्राकृत स्वरूप से यही महान् प्राकृत मानव जहाँ प्रकृत्या ही स्वस्वरूप से ही ऋद्धि सु
पुष्टि समृद्धि, भूमा आदि आदि अभ्युदयभावों से नित्य समन्वित है स्वस्वरूपेणैव वहाँ यही मा
अपने अप्राकृत महतोमहीयान् (–महान् प्राकृत स्वरूप से ही भी कहीं महीयान्) स्वस्वरूप से शु
शान्ति तृप्ति आनन्द अभय आदि आदि निःश्रेयस् भावों से नित्य समन्वित है स्वस्वरूप
ही। अपनी इस उभयभावान्विता स्वस्वरूपता से ही मानव महान् है प्रकृत्या (महद्‌क्षरप्रकृत्या) प
महतोमहीयान् है प्रकृति से समन्वित, किन्तु प्रकृति से अतीत पुरुषेण (अव्ययपुरुषेण)। अव्ययपुरुषा
अनन्य–भाव जिस महतोमहीयान् अप्राकृत मानव की 'स्वरूपप्रतिष्ठा' हो महदक्षर–रूपात्मक प्रकृ
भाव जिस महान् प्राकृत मानव का स्वरूप हो। दूसरे शब्दों में–अनन्त महदक्षरप्रकृति जिस का 'म
न्त–प्राकृत–स्वरूप' हो अनन्त महतोमहीयान् पुरुष जिस का 'अनन्त–पौरुष–स्वरूप' हो, ऐसे महत्
महान्, पुरुषेणैव च महतोमहीयान् मानव से अतिरिक्त सचमुच ही तो सम्पूर्ण विश्व में और कोई भी श्रे
नहीं है।

४९०–इतर प्राकृत-परिणामात्मक-कालिक सर्गों के समतुलन में अप्राकृत-कालातीत
प्रमाणित महिमात्मक-मानव-सर्ग की 'महत्ता' के कतिपय प्राकृत-निदर्शन—

महत्ता का इस से अधिक और क्या प्रमाण होगा कि, जहाँ मानवेतर सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते
नष्ट होने के लिए ही वहाँ मानव अपने महान् प्राकृत स्वरूप से अभिव्यक्त होता है अपने अविनाशी अ
अमर स्वरूप को 'अमृतता' चरितार्थ करने के लिए ही। मानवेतर प्राणियों का जन्म होता ही है प्रकृति के मह
भयात्मक महान् दुःख का अनुभव न करने के लिए, जब कि मानव का स्वस्वरूप से आविर्भाव होता ही
इसी प्राकृत स्वरूप के माध्यम से प्रकृति की परवश अवस्था अनुकम्पा से सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता पूर्वक निर्भयस्मो
अभयस्थान को अन्वर्थ बनाने के लिए। मानवेतर प्राकृत (वैकारिक) प्राणी उत्पन्न होते ही हैं जहाँ प्रकृति
लीलाविलासात्मक अनुरञ्जन के लिए, जबकि मानव आविर्भूत होता ही है प्रकृति के लीलाविलासों
अपने प्राकृतभाव का अनुरञ्जन करने के लिए। मानवेतर प्राणी जहाँ महद्‌भय की प्रवर्तिका कालप्रकृ
से प्राकृत कालदण्ड से जहाँ सदा भयत्रस्त बने रहते हैं वहाँ महान् मानव महतोमहीयान् मानव इस
प्राकृत कालदण्डभय को अपने महान् कालिक प्राकृत स्वरूप से अभिभूत प्रमाणित करता हुआ अतएव च
दण्डभय से अपने स्वरूप को सर्वथा ही भयातीत प्रमाणित करता हुआ 'अभयं–वै ब्रह्म' का ही प्रतिरू
बनता हुआ समस्त प्राणियों को 'मा भैषीः'–'मा–कश्चित्–दुःखभाग्भवेत्'–'सर्वे भवन्तु सुखिनः'–
'सर्वे सन्तु निरामयाः' यह आश्वासन ही प्रदान करता रहता है अभयप्रदानेन।

४९१–मानवस्वरूप को सन्त्रस्त करने वाले आततायी–वर्ग के प्रति ऋषिमानव का
प्रचण्ड उद्‌घोष, एवं तच्छ्रवणमात्र से आततायीवर्ग का हृत्प्रकम्पन—

और आज ही जो दुष्टबुद्धि हिंसक पशुभाव एवं असुर राक्षस–पिशाच–यक्ष–भूतादि भाव मानव के
इस अभयात्मक स्वरूप पर, मानव के द्वारा प्राप्त वर से अभयपथानुगत निर्भय प्राकृत प्राणियों के निर्भय-

'विजया नाम तस्कर यावद् गृध्र इवामिषभक्षी बालघातको बालमारकोऽस्ति तत्=तस्मात्कारणात् नो खलु देवानुप्रिया ! एतस्य कश्चित् राजा वा राजपुत्रो वा राजामात्यो वा अवरज्झइ' अपराध्यति=न कोऽप्यस्य एवं पीडयतीत्यर्थः किन्तु एतदर्थे अत्रार्थे=एतद्विषये 'अप्पणो' आत्मनः= निजस्य सयाइ कम्माइ' स्वकानि कर्माणि=स्वकृतान्येव कर्माणि अवरज्झंति' अपराध्यन्ति=एवं पीडयन्ति, 'उक्ट्टु' इति प्राच्य येनैव चारगसाला

एव वदति) राजगृह नगर में आकरके वहां के शृंगाटक, त्रिक चतुष्क चत्वर और महापथ इन सब मार्गों में उन्होंने उस विजय चोर को कोडों से यता से चिकने किये हुए कोडों—से बार बार और भी बुरी तरह पीटते हुए उसके ऊपर भस्म धूली और तृण आदि कूड़ा करकट बार २ डालते हुए फिर इस प्रकार जोर जोर से घोषणा की—(एएण देवाणुप्पिया विजए नाम तक्करे जाव गिद्धे विव आमिस-भक्खी बालघायए बालमारए) हे देवानुप्रियों ! यह विजय नामका चोर है। यह गृद्ध पक्षी की तरह आमिष (मांस) का भक्षी है बाल घातक है और बाल मारक है। (त नो खलु देवाणुप्पिया ! एयस्स केइ राया वा रायपुरिसे वा रायमच्चे वा अवरज्झइ) सो हे देवानुप्रियों ! इस विषय में इनका न कोई राजा अपराधी है न राजपुत्र अपराधी है और न राजा का प्रधान अपराधी है। (एयमट्ठे अप्पणो सयाइं कम्माइं अवरज्झंति) किन्तु इसके निज कृत कर्म ही अपराधी बने हुए हैं। (तिकट्टु) ऐसा कहकर (जेणामेव चारगसाला तेणामेव उवागच्छंति) वे

શ્રૃંગાટક, ત્રિક, ચતુષ્ક ચત્વર અને મહાપથ આ બધા માર્ગો ઉપર કોરડા, વેતો અને ચીકણા કરાએલા કોરડાઓથી સખત રીતે વિજયચોરને મારતા અને વારંવાર તેના ઉપર રાખ, માટી અને કચરો વગેરે નાખતા રક્ષકોએ મોટેથી ઘોષણા (ઢંઢેરો) કરી (एएण देवाणुप्पिया विजए नाम तक्करे जाव गिद्धे विव आमिस भक्खी बालघायए बालमारए) હે દેવાનુપ્રિયો ! આ વિજય નામે ચોર છે ગીધની જેમ આ માંસ ખાનારો છે, બાળ ઘાતી છે અને બાળ હત્યારો છે (त नो खलु देवाणुप्पिया ! एयस्स केइ राया वा रायपुत्ते वा रायमच्चे वा अवरज्झइ) એટલે કે દેવાનુપ્રિયો ! આ વિષે કોઈપણ રીતે રાજા અપરાધી નથી, રાજપુત્ર અપરાધી નથી, તેમજ રાજાના પ્રધાન પણ અપરાધી નથી. (एयमट्ठे अप्पणो सयाइं कम्माइं अवरज्झंति) પણ ખરી રીતે એના પોતાના કર્મો જ એને અપરાધી સાબિત કરે છે (तिकट्टु) આમ કહીને (जेणामेव

को, भयार्णव को उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित करता आ रहा है और यों भय से इति पर्य्यन्त स्वयं यही हाँ एकमात्र मानव ही, महान् मानव ही बुद्धिमान् मानव ही अपने आपको सम्पूर्ण प्राणियों के सम्प्रधान में श्रेष्ठ मानने वाला मानव ही तो आज भय के विविध आकर्षण उत्पन्न करता आरहा है और यही अपने समानधर्म्मा ही भयार्णव के जनक-प्रवर्त्तक से यह प्रश्न भी करता आरहा है कि,-'मानव आज इसप्रकार भयत्रस्त क्यों बनता जा रहा है ?, एवं अपने साथ सम्पूर्ण विश्व को भी भयत्रस्त क्यों करता जा रहा है' ?।

४६४-स्वोत्पन्न भयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानवों के द्वारा अनुदिन भयसम्पर्कभावों का सर्जन-अनुगमन, एवं तत्सहैव भयनिवृत्त्यर्थ प्रश्नों का पारस्परिक आदान प्रदान, और मानवप्रज्ञा का विडम्बनापूर्ण-महान् विमोहन—

जिसप्रकार एक क्रूरकर्म्मा-हिंसाविपरायणा-प्रचण्ड-आततायी-दस्युराज स्वयं विविध भय परम्पराओं का सर्जन करता हुआ एक दूसरे दस्युराज को उद्बोधन प्रदान करता रहता है ठीक यही दशा आज मानवने अपनी करली है। भय से सभी सन्त्रस्त किन्तु काम सभी वैसे ही करते जा रहे हैं जिनका अथ से इति पर्य्यन्त परिणाम केवल 'भय' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। इच्छा अवश्य भय से परित्राण की है। किन्तु इच्छा तो उस साधारण प्राणी की भी ऐसी ही है जो भय से त्राण प्राप्त करने के लिए उपाय ढूँढा करता है। और कभी कभी ऐसा उपाय ढूँढ निकाल लेता है वह प्राणी जिस उपाय से उसका सभी कुछ समाप्त हो जाता है। अतएव मान लेना पड़ेगा कि, 'इच्छा' करना ही कोई पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि इच्छा के अनुरूप प्रयास किए बिना तो इच्छाएँ सफल नहीं होजाया करतीं। और आज तो मानव मानो मानव से मूकभाषा में यही प्रश्न कर रहा है कि 'मित्र ! क्या सचमुच तुम विश्व में शान्ति के इच्छुक हो ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि, इस शान्ति-मैत्री-सहास्तित्त्व- के मूल में तुम किसी अधिक भय की ही योजना का निर्म्माण करते जारहे हो' ?।

४६५-तथाविध विमोहन के सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एवं महान् मानव के प्रति तत्सम्बन्ध में प्रणतभाव से किञ्चिदिव आवेदन--

ऐसा सबकुछ क्यों हो रहा है ?। सर्वश्रेष्ठ भी, महान् भी मानव आज क्यों यों मानवस्वरूप के सम्बन्ध में मानव के उदात्त चरित्र के सम्बन्ध में इसकी सर्वश्रेष्ठता मानवता के सम्बन्ध में शङ्काशील बनता जारहा है ?। क्या आपके लोकचतुर मानवने अथवा तो राजनीतिनिपुण मानवने अथवा तो विज्ञानधुरीण वैज्ञानिक मानवने इन प्रश्नों के वास्तविक-तथ्यों की मीमांसा का प्रयास किया है ?। किया है करता जा रहा है करता ही रहेगा। क्योंकि मानव अन्ततोगत्वा मानव है महान् है श्रेष्ठतम है। अतएव क्यापि हमें तो किसी भी मानवश्रेष्ठ के प्रयास पर कोई भी शङ्का नहीं है। अवश्य ही मानव अपनी इस सदिच्छा में सत्प्रयास में एक दिन सफल भी होगा ही। और अवश्य ही यह स्वयं ही 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' का पुनरुद्घोषण करेगा ही। अपेक्षित है आपके प्रयासों में 'यत्किञ्चित्' सद्बोधन। और अत्यन्त प्रणतभाव से 'हिन्दूधर्म्मसमीमांसा' रूपेण यही सद्बोधन विश्वमानव के प्रति समर्पित है-उसकी महत्ता का अन्तःकरण से अभिनन्दन करते हुए ही।

लौकिकानि=लोकप्रसिद्धानि 'मयगकिच्चाइ' मृतकृत्यानि=मृतशिशुसम्बन्धिकार्याणि करोति, कृत्वा 'केणइ कालन्तरेण' केनचित्कालान्तरेण=कतिपयकालानन्तरम् 'अवगयसोए' अपगतशोकः=शोकरहितो जातश्चाप्यासीत् ॥सू

मूलम्— तएणं धण्णे सत्थवाहे अन्नया कयाइ लहुसयंसि रायावराहंसि संपलत्ते जाए यावि होत्था, तएणं ते नगरगुत्तिया धण्णं सत्थवाहं गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव चारगे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता चारगं अणुपविसंति, अणुपविसित्ता विजएणं तक्करेणं सद्धिं एगयओ हडिबंधणं करेंति । तएणं सा भद्दा भारिया कल्लं जाव जलंते विउलं असणं ४ उवक्खडेइ, उवक्खडित्ता भोयणपिडयं करेइ, करित्ता भोयणाइं पक्खिवइ लंछियमुद्दियं करेइ, करित्ता एगं च सुरभिवरवारिपडिपुन्नं दगवारयं करेइ, करित्ता पंथयं दासचेडं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिया ! इमं विउलं असणं ४ गहाय चारगसालाए धण्णस्स सत्थवाहस्स उवणेहि, तएणं से पंथए दासचेडए भद्दाए सत्थवाहीए एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे तं भोयणपिडयं तं च सुरभिवरवारिपडिपुन्नं दगवारयं गेण्हइ, गेण्हित्ता सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता रायगिहे नगरे मज्झं मज्झेणं जेणेव चारगसाला

इसमें बहुत अधिक जन समूह सम्मिलित हुआ था। (करित्ता बहूइं लोइयाइं मयगकिच्चाइं करेइ, करित्ता कालन्तरेण अवगयसोए जाए यावि होत्था) बाद में उसने अनेक और भी लौकिक कृत्य किये। कर के, फिर धीरे २ वह अपने पुत्र के शोक से भी रहित हो गया। सूत्र ॥ ९ ॥

નયાત્રામાં ઘણા માણસો એકઠા થયા હતા (करित्ता बहूइं लोइयाइं मयगकिच्चाइं करेइ करित्ता कालन्तरेण अवगयसोए जाए यावि होत्था) ત્યારપછી ધન્ય સાર્થવાહે પુત્રની અન્ત્યેષ્ટી મરણ પછીની ઉત્તર ક્રિયા સંબંધી ઘણા લૌકિક કર્મો કર્યાં અને આમ તે વખત પસાર થતા ધીમે ધીમે પુત્ર શોકને પણ ભૂલી ગયો ॥ સૂ. ૯॥

को भयाकर्षण को उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित करता चा रहा है और यों अथ से इति पर्य्यन्त स्वयं यही हाँ एकमात्र मानव ही, महान् मानव ही, बुद्धिमान् मानव ही अपने आपको सम्पूर्ण प्राणियों के समतुलन में श्रेष्ठ मानने वाला मानव ही तो आज भय के विविध आकर्षण उत्पन्न करता जारहा है और यही अपने समानधर्म्मा ही भयाकर्षण के जनक-प्रवर्त्तकों से यह प्रश्न भी करता जारहा है कि 'मानव आज इसप्रकार भयत्रस्त क्यों बनता जा रहा है ?, एवं अपने साथ सम्पूर्ण विश्व को भी भयत्रस्त क्यों करता जा रहा है' ?।

४६४-स्वोत्पन्न भयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानवों के द्वारा अनुदिन भयसम्पर्कभावों का सर्जन-अनुगमन, एवं तत्सहैव भयनिवृत्त्यर्थ प्रश्नों का पारस्परिक आदान प्रदान, और मानवमेधा का विडम्बनापूर्ण-महान् विमोहन—

जिसप्रकार एक क्रूरकर्म्मा-हिंसाविपरायण-भयस्त-आततायी-दस्युराज स्वयं विविध भय परम्पराओं का सर्जन करता हुआ एक दूसरे दस्युराज को उद्बोधन प्रदान करता रहता है ठीक वही दशा आज मानवने अपनी करली है। भय से सभी सन्त्रस्त किन्तु काम सभी वैसे ही करते जा रहे हैं जिनका अथ से इति पर्य्यन्त परिणाम केवल 'भय' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। इच्छा अवश्य भय से परित्राण की है। किन्तु इच्छा तो उस साधारण प्राणी की भी ऐसी ही है जो भय से त्राण प्राप्त करने के लिए उपाय ढूँढा करता है। और कभी कभी ऐसा उपाय ढूँढ निकाल लेता है वह प्राणी जिस उपाय से उसका सभी कुछ समाप्त हो जाता है। अतएव मान लेना पड़ेगा कि, 'इच्छा' करना ही कोई पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि इच्छा के अनुरूप प्रयास किए बिना तो इच्छाएँ सफल नहीं होजाया करतीं। और आज तो मानव मानो मानव से मूकभाषा में यही प्रश्न कर रहा है कि 'मित्र ! क्या सचमुच तुम विश्व में शान्ति के इच्छुक हो ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि, इस शान्ति-मैत्री-सहास्तित्व- के मूल में तुम किसी अधिक भय की ही योजना का निर्म्माण करते आरहे हो' ?।

४६५-तथाविध विमोहन के सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एवं महान् मानव के प्रति तत्सम्बन्ध में प्रणतभाव से किञ्चिदिव आवेदन--

ऐसा अकस्मात् क्यों हो रहा है ?। सर्वश्रेष्ठ भी महान् भी मानव आज क्यों भी मानवस्वरूप के सम्बन्ध में मानव के उदात्त चरित्र के सम्बन्ध में इसकी सर्वश्रेष्ठा मानवता के सम्बन्ध में शङ्काशील बनता जारहा है ?। क्या आपके लोकचतुर मानवने अथवा तो राजनीतिनिपुण मानवने अथवा तो विज्ञानधुरीण वैज्ञानिक मानवने इन प्रश्नों के वास्तविक-तथ्यों की मीमांसा का प्रयास किया है ?। किया है करता जा रहा है करता ही रहेगा। क्योंकि मानव अन्ततोगत्वा मानव है महान् है श्रेष्ठतम है। अतएव कदापि हमें तो किसी भी मानवश्रेष्ठ के प्रयास पर कोई भी शङ्का नहीं है। अवश्य ही मानव अपनी इस सदिच्छा में सत्प्रयास में एक दिन सफल भी होगा ही। और अवश्य ही यह स्वयं ही 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' का पुनरावचन करेगा ही। अपेक्षित है आपके प्रयासों में 'सत्यनिष्ठा' उद्बोधन। और अत्यन्त प्रणतभाव से 'हिन्दूधर्माचारमीमांसा' ग्रन्थ यही उद्बोधन विश्वमानव के प्रति समर्पित है—उसकी महत्ता का अन्तःकरण से अभिनन्दन करते हुए ही।

अवक्कमित्ता उच्चारपासवण परिट्ठवेइ, तएण से धण्णे सत्थवाहे विजयएणं तक्करेण एव वुत्ते समाणे तुसिणीए सचिट्ठइ, तएण से धण्णे सत्थवाहे मुहुत्ततरस्स वलियतराग उच्चारपासवणेण उव्वाहिज्ज माणे विजय तक्कर एव वयासी–एहि ताव विजया! जाव अव क्कमामो, तएण से विजए धण्ण सत्थवाह एव वयासी—जइण तुम देवाणुप्पिया! तओ विउलाओ असण० ४ सविभाग करेहि तओह तुब्भेहिं सद्धि एगत अवक्कमामि, तएण से धण्णे सत्थवाहे विजय एव वयासी—अहण्ण तुब्भ तओ विउलाओ असण० ४ सविभाग करिस्सामि, तएण से विजए धण्णस्स सत्थवाहस्स एय मट्ठ पडिसुणेइ, तएण से विजए धण्णेण सद्धि एगते अवक्कमेइ उच्चारपासवण परिट्ठवेइ, परिट्ठवित्ता आयते चोक्खे परमसुईभूए तमेव ठाण उवसकमित्ता विहरइ, तएण सा भ । कल्ल जाव जलते विउल असण० ४ जाव परिवेसेइ, तएण से धण्णे सत्थ वाहे विजयस्स तक्करस्स तओ विउलाओ असण० ४ सविभाग करेइ, तएण से पथए भोयणपिडय गहाय चारगाओ पडिनिक्ख मइ, पडिनिक्खिमित्ता रायगिह नगर मज्झ मज्झेण जेणेव सए गिहे जेणेव भद्दा भारिया सत्थवाही तेणेव उवागच्छइ, उवा गच्छित्ता भद्द सत्थवाहिणि एव वयासी—एव खलु देवाणुप्पिए! धण्णे सत्थवाहे तव पुत्तघायगस्स जाव पच्चामित्तस्स ताओ विउलाओ असण० ४ सविभाग करेइ। तएण सा भद्दा सत्थ वाही पथयस्स दासचेडयस्स अतिएएयमट्ठ सोच्चा आसुरुत्ता रुट्ठा जाव मिसिमिसेमाणा धण्णस्स सत्थवाहस्स पओसमावज्जइ ॥सू १०॥

अमुक भूखण्ड का नाम ही क्या–'राजते' लक्षण 'राष्ट्र' है ?। सर्वथा जड़ सर्वथा निष्प्राण मृत्पिण्डात्मक भूपिण्ड के एक प्रत्यक्ष भाग का नाम ही क्या 'राष्ट्र' है ?, जिसके रक्षण के लिए स्वधर्महीन मानव आज अन्य मानवों के मानवों का रक्तपात कर देने का नाम ही–'राष्ट्र के लिए बलिदान' मान रहे हैं एवं इसी को 'राष्ट्रसेवा'–'देशसेवा'–'देशहित' आदि अभिधाओं से समन्वित करते आये हैं। क्यों मानव में ऐसा व्यामोहन हुआ ?, उत्तर वही 'दिग्देशकालमीमांसा'।

४९९–मानवाविर्भाव से पूर्व का विश्व, और 'राष्ट्र' शब्द के वाच्यार्थ का अन्वेषण, एवं 'मानवस्वरूप की अभिव्यक्ति से समन्वित 'राष्ट्र' शब्द के 'राष्ट्रत्व' की अन्वर्थता—

सृष्टिनिर्माणानुबन्धिनी उस पुरातना–अतिपुरातना–स्थिति की ओर अपना ध्यान आकर्षित कीजिए, जबकि भूभाग पर मानव' नाम की सर्वश्रेष्ठा विभूति स्वस्वरूप से अभिव्यक्त नहीं हुई थी। क्या उस आरम्भिक दशा में वह भूपिण्ड 'राष्ट्र' उपाधि से समलङ्कृत था ?। अथवा जाने दीजिए उस उदाहरण को। क्योंकि वह उदाहरण आपके प्रत्यक्षदृष्ट वर्त्तमान दिग्देशकाल की सीमा से अतिक्रान्त बन जाने के कारण सम्भव है आपके लिए प्रामाणिक न हो। यही तो मानव का वह महान् व्यामोहन है जिस 'वर्त्तमान' लक्षण व्यामोहन के कारण ही मानव अपने त्रैकालिक महान् स्वरूप को विस्मृत कर बैठा है। हाँ तो आप आज के उस वर्त्तमान भूखण्डदेश को लक्ष्योदाहरण बना लीजिए, जिसे आपने अपने जीवन में यदि देख नहीं लिया तो भी ऐसे इतिहासों के तथा समानधर्म्मियों के अनुग्रह से सुन कर भी विश्वास तो कर ही लिया होगा कि घटना किंवा घोरघोरतमा दुर्घटना सर्वथा तथ्यपूर्ण ही थी। दिग्देशकालक्रम से भी किसी वैज्ञानिक मानव की विलक्षण बुद्धि से आविष्कृत अमुक विष्ट वायुयान ('अमराशुर' नहीं अपितु 'भस्मासुर यम') के निःसीम अनुग्रह से महाद्वीप का वह सुसम्पन्न सम्भाग सदा सदा के लिए 'निःशेष विलीन' का ही ज्वलितांगारात्मक बन गया। अब आज भी देखिए उस प्रान्तविशेष को दिक्–कालानुगत उसी देशविशेष को जाकर। क्या अब भी आप मृत्पिण्डात्मक भूखण्ड को ही 'राष्ट्र' कहेंगे ?। क्या मानव की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भी 'राष्ट्र' की कोई स्वरूप-व्याख्या है ?। दीप्त्यर्थक 'राज्' धातु से निष्पन्न 'राष्ट्र' के दीप्तिभाव प्रकाशभाव आलोकभाव के अनुबन्ध से एकमात्र 'मानव' को (ऐसे मानव को, जो स्वस्वरूप से स्वमानवोचित विभूतियों से प्रदीप्त है प्रकाशित है) ही 'राष्ट्र' कहा गया है। जिस भूखण्ड में ऐसा 'राष्ट्र' रूप (आलोकरूप) मानवश्रेष्ठ–'राजते' अर्थात् विद्यमान है उस भूखण्ड को ही 'मानवरूप राष्ट्र' की उपाधि का सम्मान प्राप्त हुआ करता है।

५००–'राष्ट्र'-रूप मानव के सम्बन्ध से ही भूखण्ड–विशेषों की राष्ट्रीयता 'राष्ट्र' स्वरूपव्याख्यात्मक मानव, एवं तद्व्यापकता का समन्वय—

'राष्ट्रमानव से ही भूखण्ड 'राष्ट्र' कहलाया है न कि भूखण्ड से मानव को 'राष्ट्र' उपाधि मिली है। निष्कर्षतः मानव स्वयं ही 'राष्ट्र' की स्वरूप–व्याख्या है जिसे कदापि किसी भूखण्ड–भूप्रान्त–देश–विशेषरूप मृत्पिण्ड की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। जिस जिस भूखण्ड में राष्ट्ररूप मानव प्रतीष्ठित है वहाँ वहाँ राष्ट्रमानव अपनी 'राजते' रूपा प्रदीप्ति को करताञ्जलि समर्पित कर मानवों के लिए उपयोगी बन गया है

ग्गादिना सत्कारपूर्वकं पचति, उपस्कृत्य 'भोयणपिडय' भोजनपिटकं=भोजन भरणाय पिटकं=सम्पुटकम्=' पिटारा' 'कटोरदान' 'डब्बा' इति सम्प्रति काले 'टीफनबोक्स' इति च प्रसिद्धं 'करेइ' करोति=सज्जयति, कृत्वा= सज्जयित्वा तस्मिन् 'भोयणाइं भोजनानि=खाद्यपदार्थानि 'पक्खिवइ' प्रक्षि पति=स्थापयति, प्रक्षिप्य 'लंछियमुद्दिय' लाञ्छितमुद्रितं लाञ्छितं=रेखादिचिह्न युक्तं, मुद्रितं=लाक्षादिमुद्रासहितं 'करेइ' करोति=सज्जयति, कृत्वा एकत्र 'सुरभिवरवारिपडिपुन्न' सुरभिवरवारिप्रतिपूर्ण=सुरभि=केतकीपाटलादि सुगन्धवासितं वरं श्रेष्ठं स्वच्छं वारि=जलं, तेन प्रतिपूर्णं=भृतं दगवारयं' दकवारकं=जलपात्रविशेषं 'झारी' इति भाषा प्रसिद्धं जलपात्रं करेइ' करोति=सज्जयति, कृत्वा पान्थकं दासचेटकं शब्दयति शब्दयित्वा एवमवादीत्-गच्छ

जाव जलते विउलं असणं ४ उवक्खडेइ) इसके बाद उस भद्रा सार्थ वाहीने दूसरे दिन प्रात काल जब सूर्य प्रकाशित हो चुका तब ४ प्रकारका आहार तैयार किया—(उवक्खडित्ता भोयणपिडयं करेई— करित्ता भोयणाइं पक्खिवइ, लंछियमुद्दियं करेइ,—करित्ता एगच सुरभि वरवारिपडिपुन्नदगवारयं करेइ) जब आहार निष्पन्न हो चुका तब उसने उसके रखने के लिये एक कटोरदान तैयार किया। जब कटोरदान साफ सुथरे रूप से तैयार हो चुका तब उसमें उसने आहार को रख दिया—आहार रखकर फिर उसे लाख की मुद्रा से मुद्रित कर दिया। कटोरदान को मुद्रित करने के बाद फिर उसने एक सुगंधित उत्तम जल से प्रतिपूर्ण झारी को तैयार किया। (करित्ता पंथयं दास चेडं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी) झारी तैयार कर उसने फिर पांथक दास चेटक को बुलाया—और बुलाकर उसने इस प्रकार कहा—

भरिया कल्लं जाव जलते विउलं असणं ४ उवक्खडेइ) त्यार બાદ ભદ્રાસાર્થ સાર્થવાહીએ બીજા દિવસે સવારે સૂરજ ઉદય પામતા ચાર જાતનો આહાર તૈયાર કરાવડાવ્યો. (उवक्खडित्ता भोयणपिडयं करेई करित्ता भोयणाइं पक्खिवइ, लंछियमुद्दिय करेइ, करित्ता एगं च सुरभिवरवारिपडिपुन्नदगवारयं करेइ) આહાર જ્યારે તૈયાર થઈ ગયો ત્યારે તેણે આહારને મૂકવા માટે ડબો તૈયાર કર્યો જ્યારે સાફ પાણીથી ડબો ધોવાઈને સાફ થઈ ગયો ત્યારે તેમાં આહાર મૂકી દીધો. આહાર મૂકીને લાખ વગેરે લગાવીને તેને બરાબર બંધ કરી દીધો. બાદ "સીલ" કરીને તેણે એક સુવાસ યુક્ત જળથી પૂર્ણ ભરેલી ઝારી તૈયાર કરી.(करित्ता पंथयं दासचेडं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी) ઝારી તૈયાર કરીને તેણે પાંથકદાસ ચેટકને બોલાવ્યો. અને

कालात्मक सादिसम्बन्ध विशेष ही इस मैत्री का किंवा बन्धुत्व का आधारस्तम्भ बन रहा है किंवा बलपूर्वक बनाया जारहा है। इस दिग्देशकालानुबन्धताने ही तो आज मानव से 'मानव' को परोक्ष कर दिया है।

५०३-अन्तराष्ट्रीयस्थ्याविविमोहनमूला आज की मैत्री, तदनुप्राणित सहास्तित्वादि भावों का आटोपपूर्ण स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी दिग्देशकालात्मक वैय्यक्तिक स्वार्थ—

अतएव आज रूस अमेरिका से मित्रता चाहता है तो भारत रूस की मित्रता के लिए आतुर होता जारहा है तो मुस्लिमस्तान (पाकिस्तान) अमेरिका का आश्रय पाये हुए है। मानव मानव की मित्रता आज सर्वथा अनपेक्षित है। मैत्री अपेक्षित है—देश—की देश के साथ किंवा दिक् की दिक् के साथ अथवा तो काल की काल के साथ। प्रत्येक देश अर्थात् प्रत्येक दिग्देशकाल अन्य सभी दिग्देशकालों से लाभ उठाने के लिए मित्रता की उद्घोषपरम्पराओं के माध्यम से नवीन नवीन दैशिक-कालिक-अनुष्ठानों (आज की भाषा में-सांस्कृतिक—आयोजनों) के आकर्षणों में तल्लीन बनता जारहा है जैसेकि एक वाराङ्गना अपने द्रव्यभूत आयोजनों से परसम्पत्ति के प्रति निरन्तर-निक्षेप किए रहती है। कहीं भी तो न उपक्रम में ही तथाकथित मैत्री में बन्धुत्व में 'मानव' का स्मरण न उपसंहार में ही मानव का समावेश। एक देश दूसरे देश से मिला करता है—दैशिक-कालिक—भूतभौतिक पदार्थों के पारस्परिक आदान प्रदान का क्रय-विक्रय का समझौता। यदि इस समझौते में सौदा नहीं पटता तो फिर उन-उन परिग्रह के अभाव में तद्देश के मानव भले ही शरीर ही विसर्जित क्यों न करदें कदापि बिना समझौते अर्थात् दिग्देशकालात्मक लाभ की तात्कालिक अथवा तो भावी-आशा के समझौते कार्य्यक्रम में परिणत नहीं होते। ऐसी विवशता क्यों? । उत्तर वही दिग्देशकाल का व्यामोहन। इस व्यामोहन की विभक्तता में तो वैय्यक्तिक स्वार्थ-पारिवारिक स्वार्थ-सामाजिक स्वार्थ-राष्ट्रीयस्वार्थ-एवं सर्वान्त का विश्वस्वार्थ अर्थात् वैय्यक्तिकादि विश्वान्ता मैत्री इन सब का एक ही अर्थ है। और उसी अर्थ का नाम है—'दिग्देशकालस्वार्थ' अर्थात् मानवस्वरूप के उत्खनन में चरमसीमा का घोरघोरतम 'अनर्थ'।

५०४-तथाविध अनर्थात्मक स्वार्थ के पोषक व्यामोहनमूलात्मक आज के मानवता-अहिंसा-सत्य-दया-करुणा-नैतिकता आदि आदि शब्दविजृम्भण, एवं तदनुगता विलक्षणा भावभङ्गिमा—

इसी 'अनर्थ' की सीमा में आज की वे 'मानवता-दया-करुणा-अहिंसा-मैत्री-सहास्तित्व-पञ्चशील-सत्यभाषण-परोपकार-त्याग-तपस्या-बलिदान-संयम-नैतिकता-राष्ट्रसेवा-ग्रामसेवा-रचनात्मक कार्य-विकासयोजनाएँ- आदि आदि समस्त उदात्त शब्दघोषणाएँ मात्र अन्तर्भावित हैं जिन में सर्वत्र 'मानव' उपस्थित है, एवं दिग्देशकाल ही प्रमुख है। दिग्देशकालानुबन्धी स्वार्थ की यत्किञ्चित् भी हानि की सम्भावना-मात्र से भी वे सभी शब्द क्रमशः- दानवता-क्रूरता-घृणा हिंसा-शत्रुता-सहविरोध पञ्चन्द्रियलोलुपता-मिथ्याभाषण-स्वस्वार्थ-संग्रह-विश्राम-संरक्षण-स्खलन-भौतिकता-राष्ट्रद्रोह-ग्रामद्रोह-रचनाविध्वंस-संकोच योजनाएँ- आदि आदि विपर्ययभावों में परिणत हो जाते हैं। पूर्व-

भोजनपिटकं स्थापयति, स्थापयित्वा 'उल्लछेइ' उल्लाञ्छयति= निर्लाञ्छितं करोति=उद्घाटयतीत्यर्थः, उल्लाञ्छ्य 'भायणाणि' भाजनानि= स्थाली कटोरकादीनि गृह्णाति, गृहीत्वा भाजनानि 'धावेइ' धावति=प्रक्षालयति, धावयित्वा=पात्रप्रक्षालनानन्तरं हत्थसोयं दलयइ हस्तशौचं ददाति, श्रेष्ठिनो हस्तौ धावयति, हस्तशौचानन्तरं धन्यसार्थवाह तेन विपुलेन— अशन-पान खाद्यस्वाद्येन 'परिवेसइ' परिवेषयति=श्रेष्ठिनो भाजनपात्रेऽशनादीनि निदधातीत्यर्थः 'तएणं' ततःखलु=श्रेष्ठिभोजनसमये स विजयस्तस्करो धन्यं सार्थवाहमेवमवादीत्-त्वं खलु देवानुप्रिय! मम एतस्माद् विपुलाद् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यात् संविभागं कुरु। ततः खलु स धन्य सार्थवाहस्तस्य वाक्यं श्रुत्वा विजयं तस्करमेवमवादीत्अपि 'आइ' यावत्।

पिडग ठवेइ) जाकर उसने उस भोजन के डिब्बेको वहा रख दिया। (ठविता उल्लछेइ) रखकर फिर उसने उस डिब्बेको खोला (उल्लछित्ता भायणाइ गेण्हइ गेण्हित्ता भायणाई धावेइ धोवित्ता हत्थसोयं दलयइ) खोलकर उसने थाली-कटोरी आदि को उठाया-उठा कर उन्हें धोया, (दलयित्ता धण्णं सत्थवाहं तेणं असणं ४ परिवेसइ) धुलाकर उस सेठ धन्य सार्थवाह के लिये वह विविध आहार परोसा (तएणं से विजए तक्करे धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी) इसी बीच में उस विजय चोरने धन्य सार्थवाह से इस प्रकार कहा— (तुमण्णं देवाणुप्पिया मम एयाओ विउलाओ असणं ४ संविभागं करेहि) हे देवानुप्रिय! तुम इस अशन, पान खाद्य, एवं स्वाद्यरूप चार प्रकार के आहार में से विभाग करो (तएणं से धन्ने सत्थवाहे विजय तक्करं एवं वयासी) विजय चोर की इस प्रकार बात सुनकर धन्य सार्थवाहने उस विजय चोर

पिडग ठवेइ) અને ત્યાં પહોચીને ભોજનના ડબ્બાને તેણે ત્યાં મૂકી દીધો (ठवित्ता उल्लछेइ) ત્યાં મૂકીને તેણે ડબ્બો ઉઘાડયો (उल्लछित्ता भायणाइ गेण्हइ गेण्हित्ता भायणाइ धोवेइ धोवित्ता हत्थसोयं दलयइ) ઉઘાડીને તેણે થાળી અને વાડકીને લીધી અને લઇને પાણીથી ધોઇ ત્યાર બાદ તેણે શેઠના બંને હાથ ધોવડાવ્યા (दलयित्ता धण्णं सत्थवाहं तेणं विउलेणं असणं ४ परिवेसइ) ધોવડાવીને તેણે ધન્યસાર્થવાહને માટે વિવિધ જાતના આહારો પીરસ્યા (तएणं से विजयतक्करे धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी) એ જ વખતે તે વિજય ચોરે ધન્યસાર્થવાહને આ પ્રમાણે કહ્યું—(तुमण्णं देवाणुप्पिया मम एयाओ विउलाओ असणं ४ संविभागं करेहि) હે દેવાનુપ્રિય! તમે આ અશન, પાન ખાદ્ય અને સ્વાદ્ય આહારમાંથી મારો પણ હિસ્સો કરો (तएणं से धन्ने सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं वयासी) વિજય ચોરની આ જાતની વાત સાંભળીને

विस्तार से पूर्ण–अनुष्ठान विहित है जो कि प्राची–प्रतीची–उदीची–आदि दिग्देवता दयावन्य विराट् प्रजापति, अनन्त प्रजापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपवर्णित है ●।

५०७–काल, तथा दिक् से अनुप्राणित देशभाव की स्वरूप–परिभाषा, एवं 'भारतदेश' क 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का सर्वथा मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की सादि–सान्तताने ही मानव को कालविमूढ–दिग्विमूढ बनाते हुए आज देशविमूढ बना रक्खा है एवं इस देशविमुग्धता के माध्यम से ही जिसने राष्ट्रप्रेम विश्वबन्धुत्व आदि देशानुबन्धी–भूखण्डानुबन्धी नितान्त–कल्पित–व्यामोहनों का समर्थन कर डाला है। भारतीय परिभाषा में देशवाचक नाम (देशों के नाम) भी कदापि व्यक्त–मूर्त्त–भूत–भावों को प्रधानता नहीं देते। अपितु सम्पूर्ण देशनाम अनन्त–अमूर्त्त–प्राण–भावों के माध्यम से ही समन्वित हैं, जिन देशनामों की अनन्तता का तत्त्वविश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है। केवल एक समष्ट्यात्मक नाम की अनन्तता–अमूर्त्तता की ओर ही सङ्केतमात्र कर दिया है, जिस के माध्यम से स्थालीपुलाकन्यायेन सभी नामों की अनन्तता का समन्वय गतार्थ बन जाता है। और वह पवित्रतम नाम है–'भारत' जिस 'भारतदेश' का कदापि भूखण्डात्मक सादि–सान्त–मर्त्य–'देश' भाव से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। यही वह रहस्यपूर्ण किन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य दृष्टिकोण है, जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से भी कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का तो दिग्देशकाल–विमोहन सर्वात्मना उपशान्त हो ही जाना चाहिए। जिस भूखण्डपर भारतीय मानव आवास–निवास करते हैं क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है? क्या इसी राष्ट्रियता का यशोगान हुआ है भारतीयों के साहित्य–साहित्य–श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रों में ?। कदापि नहीं। न तो इस भूखण्डविशेष का नाम भारतदेश ही है न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है न यहाँ के अनन्तभावानुगत अनन्तशास्त्र में इस राष्ट्रियता का यशोगान ही हुआ है।

५०८–'भारत' रूप दिव्य–हव्यवाट्–सम्वत्सराग्नि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक–माध्यम से एतद्देश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपितु 'भारतदेश' नाम है उस प्राणाग्नि–अमृताग्नि–देवाग्नि–अनन्ताग्नि का जो प्राणाग्निदेव 'भारत' नाम से प्रसिद्ध हैं। परिच्छिन्न–भौतिक–देश का नाम कदापि भारत नहीं है। अपितु भारत नाम तो उस प्राणाग्नि का है जो 'महतोमहीयान्' है। ऐसा महतोमहीयान् है जिसके गर्भ में न केवल यह भूखण्ड विशेष ही अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड भी एक बुद्बुद् जितना ही स्वरूप रख रहा है। यह वह 'भारत–अग्नि' है जो ब्रह्मवीर्यात्मक बनता हुआ भारतदेवतानुगत प्रकृतिसिद्ध नित्य भारतवर्ष में 'ब्रह्मरावर्त्त' माने गए हैं। यह वह 'ब्रह्मप्राणाग्नि' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूपिण्ड के भूतों का भी सीमित–प्रदेश–देशों का भी भरण–पोषण हो रहा है, एवं इसी के ऊर्ध्वसिद्ध प्राणात्मक विधान से पार्थिव त्रैलोक्य के द्युलोकीय

● तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीची। तेभ्यो नमो अस्तु (यजुः सं० १६।६४) । प्राची एव भर्गः (गो० पू० ५।१५) । प्रतीची–एव मह (गो० पू० ५।१५) । उदीची–एव यशः (गो० पू० ५।१५) । दक्षिणैव सर्वम् (गो० पू० ५।१५) इत्यादि ।

प्रेषयति। ततः खलु स पान्थको दासचेटकस्तं भोजनपिटकं गृह्णाति, गृहीत्वा यस्या दिशः प्रादुर्भूतस्तस्यामेव दिशि प्रतिगतः, येन मार्गेणागतस्तेनैव मार्गेण गतवानित्यर्थः। ततः खलु=तदनु तस्य धन्यस्य सार्थवाहस्य तद् विपुलमशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम् 'आहारियस्स' आहारितस्य=भुक्तस्य सतः 'उच्चारपासवणेणं' उच्चारप्रस्रवणं खलु=उच्चारं=विष्ठाप्रस्रवणञ्च=मूत्रमित्युच्चार-प्रस्रवणे, ते उत्पाहित्था' उदबाधयतां पीडयतः स्मेत्यर्थः। 'तएणं' ततः खलु =तदनु स धन्यः सार्थवाहो विजयं तस्करमेवमवादीत्-एहि=आगच्छ तावत्-प्रथमं हे विजय! आवाम् 'एगतमवक्कमामो' एकान्तमपक्रामावः=उच्चार-प्रस्रवणनिवृत्त्यर्थं निर्जने स्थाने गच्छावः, येनाहमुच्चारप्रस्रवणे 'परिट्ठवेमि' परिष्ठापयामि=उच्चारप्रस्रवणोत्सर्गं करोमि। ततः खलु स विजयस्तस्करो धन्य

आहार कीया-आहार कर बादमें उस पांथक को वहां से रवाना कर दिया। (तएणं से पथए दासचेडे तं भोयणपिडगं गिण्हइ गिण्हित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दीसिं पडिगए) खाना खाते समय उस पांथकदास चेटकने उस भोजन के डिब्बे को ले लिया और लेकर जहां से आया था वहीं पर चला गया (तएणं तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स तं विउलं असणं ४ आहा रियस्स समाणस्स उच्चारपासवणे णं उव्वाहित्था। इसके बाद धन्यसार्थवाह का उस ४ प्रकार के अशन आदि खाने से बडी नीत और लघुनीत की बाधा उपस्थित हुई (तएणं से धन्ने सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं वयासी) सो उस धन्यसार्थवाहने विजय चोर से इस प्रकार कहा-(एहि ताव विजया! एगंतं अवक्कमामो जेण अहं उच्चारपासवणं परिट्ठवेमि) आओ-विजए चोर तुम और हम दोनों निर्जन एकान्त-स्थान में चलें। मुझे उच्चारप्रस्रवण की बाधा हो रही है सो मैं वहां उच्चार प्रस्रवण से निवृत्त होऊंगा।

ચાર જાતના આહારને જમ્યા જમ્યા પછી તેણે પાંથકને ત્યાંથી જવાની આજ્ઞા આપી. (तएणं से पथए दासचेडे तं भोयणपिडगं गिण्हइ गिण्हित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए) જમ્યા પછી પાંથકદાસ ચેટકે તે ભાણાને લીધું અને લઈને જ્યાંથી આવ્યો હતો ત્યાં જતો રહ્યો. (तएणं तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स तं विउलं असणं ४ आहारियस्स समाणस्स उच्चारपासवणे णं उव्वाहित्था) ત્યાર બાદ ધન્યસાર્થવાહને ચાર જાતના આહારો જમ્યા પછી દીર્ઘ શંકા તેમજ લઘુ શંકાની ગુરુકેલી ઊભી થઈ (तएणं से धन्ने सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं वयासी) ત્યારે ધન્ય સાર્થવાહે વિજય ચોરને કહ્યું—(एहि ताव विजया! एगंतं अवक्कमामो जेण अहं उच्चारपासवणं परिट्ठवेमि) વિજય ચોર ચાલો આપણે બંને નિર્જન એકાન્ત સ્થાનમાં જઈએ. મને ઉચ્ચાર પ્રસવણની મુશ્કેલી ઊભી

विस्तार से पूजन–अनुष्ठान विहित है जो कि प्राची–प्रतीची–उदीची–आदि दिग्देवता दयाक्रम विराट्–प्रजापति, अनन्त प्रजापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपवर्णित हैं • ।

५०७–काल, तथा दिक् से अनुप्राणित देशभाव की स्वरूप–परिभाषा, एवं 'भारतवर्ष' के 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का सर्वात्मना मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की भ्रान्ति–भ्रान्त्याने ही मानव को कालविमूढ–दिग्विमूढ बनाते हुए आज देशविमूढ बना रक्खा है एवं इस देशविमूढता के माध्यम ने ही जिसने राष्ट्रप्रेम विश्वबन्धुत्व आदि देशानुबन्धी–भूखण्डानुबन्धी नितान्त–कल्पित–व्यामोहनों का सर्जन कर डाला है। भारतीय परिभाषामें देशवाचक नाम (देशों के नाम) भी कदापि व्यक्त–मूर्त–भूत–भावों को प्रधानता नहीं देते। अपितु सम्पूर्ण देशनाम अनन्त–अमूर्त–प्राण–भावों के माध्यम से ही समन्वित हैं, जिन देशनामों की अनन्तता का तत्त्वविश्लेषण यहां सम्भव नहीं है। केवल एक समष्ट्यात्मक नाम की अनन्तता–अमूर्तता की ओर ही सङ्केतमात्र कर देना है जिस के माध्यम से स्थालीपुलाकन्यायेन सभी नामों की अनन्तता का समन्वय गतार्थ बन जाता है। और वह पवित्रतम नाम है–'भारत', जिस 'भारतदेश' का कदापि भूखण्डात्मक परि–छिन्न–मर्त्य–'देश' भाव से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। यही वह रहस्यपूर्ण किन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य दृष्टिकोण है जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से भी कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का तो दिग्देशकाल–विमोहन सर्वात्मना उपशान्त हो ही जाना चाहिए। जिस भूखण्डपर भारतीय मानव आवास–निवास करते हैं क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है ?, क्या इसी राष्ट्रीयता का यशोगान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय–साहित्य–श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रों में ?। कदापि नहीं। न तो इस भूखण्डविशेष का नाम भारतदेश ही है न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है न यहां के अनन्तभावानुगत अनन्तशास्त्र में इस राष्ट्रीयता का यशोगान ही हुआ है।

५०८–'भारत' रूप दिव्य–हव्यवाट्–सम्वत्सराग्नि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक–माध्यम से एतद्देश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपितु 'भारतदेश' नाम है उस प्राणाग्नि–अमूर्ताग्नि–देवाग्नि–अनन्ताग्नि का जो प्राणाग्निदेव 'भरत' नाम से प्रसिद्ध हैं। परिच्छिन्न–सीमित–देश का नाम कदापि भारत नहीं है। अपितु 'भारत' नाम तो उस प्राणाग्नि का है जो 'महतोमहीयान्' है। ऐसा महतोमहीयान् है जिसके गर्भ में न केवल यह भूखण्डविशेष ही अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड भी एक बुद्बुद् जितना ही स्वरूप रख रहा है। यह वह 'भारत–अग्नि' है जो महदुक्थ्यात्मक बनता हुआ प्राणदेवतानुगत प्रकृतिसिद्ध नित्य चातुर्वर्ण्य में 'ब्राह्मणवर्ण' माने गए हैं। यह वह 'ब्राह्मणाग्नि' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूपिण्ड के भूतों का भी सीमित–प्रदेश–देशों का भी भरण–पोषण हो रहा है एवं इसी के ऊर्ध्ववितत प्राणात्मक वितान से पार्थिव त्रैलोक्य के पुरुषोत्तम

• तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु (यजुः सं० १६।६४)। प्राची एव भर्गः (गो० पू० ५।१५)। प्रतीची–एव महः (गो० पू० ५।४५)। उदीची–एव यशः (गो० पू० ५।१५)। दक्षिणैव सर्वम् (गो० पू० ५।१५।) इत्यादि।

प्ठापयत । तत खलु स धन्य सार्थवाहो विजयेन तस्करेणैवमुक्त सन् 'तुसिणीए' तूष्णीक = उदासीनतया वाग्व्यापाररहित सन सतिष्ठति । तत खलु=तत्पश्चात् स धन्य सार्थवाह 'मुहुत्ततरस्स' मुहूर्त्तान्तरेण पुन 'उच्चारपासवणेण' उच्चारप्रस्रवणाभ्या 'बलियतराग' बलिततरम्=अतिप्रबलम् 'उन्वाहिज्जमाणे' उद्बाध्यमान = अतिशयेन पीडयमानो विजय तस्करमेव-मवादीत्—एहि तावत् हे विजय ! यावद् अपक्रामाव । तत खलु स विजयो धन्य सार्थवाहमेवमवादीत्-यदि खलु यूय देवानुप्रिया ! तस्माद्

प्रस्रवण की बाधा से निवृत्त होइये। (तएण से धण्णे सत्थवाहे विजएण तक्करेण एवबुत्ते समाणे तुसिणीए सचिट्ठइ तएण से धण्णे सत्थवाहे मुहुत्त तरस्स बलियतराग उच्चारपासवेण उन्वाहिज्जमाणे विजय तक्करं एव वयासी) विजय चोरने जब धन्यसार्थवाह से इस प्रकार (उलाहने के रूप में) कहा तो वह चुप हो गया। इसके बाद पुनः थोडी देर में धन्यसार्थवाह को उच्चार और प्रस्रवण की बाधा पहिले की अपेक्षा और अधिक रूपमें हुई तब उसने विजय चौर से इस प्रकार कहा-(एहि ताव विजया ! जाव अवक्क-मामो, तएण से धण्ण सत्थवाहं एव वयासी-जइण तुम देवाणुप्पिया ! तओ विउलाओ असण ४ सविभाग करेहि तओ ह तुम्मेहिं सद्धिं अवक्कमामि) आओ विजय-हम तुम दोनों एकात-निर्जन-स्थान में चले । मुझे उच्चार और प्रस्रवण की बहुत जोर से बाधा हो रही है। इस तरह धन्य सार्थवाह की बात सुनकर विजयने उससे कहा-यदि तुम हे देवानुप्रिय ! उस विपुल

મુજબ એકાન્તમા જઈને ઉચ્ચારપ્રસ્રવણની મુશ્કેલીથી નિવૃત્તિ મેળવો (तएण से धण्णे सत्थवाहे विजएण तक्करेण एवबुत्ते समाणे तुसिणीए सचिट्ठइ तएण से धण्णे सत्थवाहे मुहुत्ततरस्स बलियतराग उच्चारपासवेण उन्वाहिज्जमाणे विजय तक्कर एव वयासी) વિજય ચોરે એક રીતે ઉપાલભ (ઠપકો) ના રૂપમા ધન્યસાર્થવાહને આ પ્રમાણે કહ્યું—ત્યારે તે ચૂપ થઈ ગયો ત્યાર પછી થોડા વખતે ધન્યસાર્થવાહને પહેલા કરતા વધારે સખત રીતે ઉચ્ચાર પ્રસ્રવણની મુશ્કેલી ઊભી થઈ ત્યારે ફરી તેણે વિજય ચોરને કહ્યુ (एहि ताव विजया ! जाव अवक्कमामो तएण से धण्ण सत्थवाह एव वयासी जइण तुम देवाणुप्पिया ! तओ विउलाओ असण ४ स विभाग करेहि तओह तुम्मेहिं सद्धिं एगत अवक्कमामि) વિજય ચાલો આપણે બન્ને એકાત નિર્જન સ્થાનમા જઈએ. ઉચ્ચાર પ્રસ્રવણની સખત મુશ્કેલી મને થવા માડી છે આ રીતે ધન્ય સાર્થવાહની વાત સાભળીને વિજયે તેને કહ્યુ હે દેવાનુપ્રિય !

विस्तार से पूजन–अनुष्ठान विहित है, जो कि प्राची–प्रतीची–उदीची–आदि दिग्देवता यथाक्रम विराट् प्रजापति, अनन्त प्रजापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपवर्णित हैं • ।

५०७–काल, तथा दिक् से अनुप्राणित देशभाव की स्वरूप–परिभाषा, एवं 'भारतवर्ष' एवं 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का तथ्यदृष्ट्या मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की भ्रान्ति–आन्त्याने ही मानव को कालविमूढ–दिग्विमूढ बनाते हुए आज देशविमूढ बना रक्खा है एवं इस देशविमूढता के माध्यम से ही जिसने राष्ट्रप्रेम विश्वबन्धुत्व आदि देशानुबन्धी–भूखण्डानुबन्धी नितान्त–अपरिपक्व–व्यामोहनों का उपार्जन कर डाला है। भारतीय परिभाषा में देशवाचक नाम (देशों के नाम) भी कदापि व्यक्त–मूर्त–भूत–भावों का प्रधानतया नहीं देखे। अपितु सम्पूर्ण देशनाम अनन्त–अमूर्त–प्राण–भावों के माध्यम से ही समन्वित हैं जिन देशनामों की अनन्तता का तत्त्वविश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है। केवल एक समष्ट्यात्मक नाम की अनन्तता–अमूर्तता की ओर ही सङ्केतमात्र कर देना है जिस के माध्यम से स्थालीपुलाकन्यायेन सभी नामों की अनन्तता का समन्वय गतार्थ बन जाता है। और वह पवित्रतम नाम है–'भारत' जिस 'भारतवर्ष' का कदापि भूखण्डात्मक धरि–सान्त–मर्त्य–'वर्ष' भाव से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। यही वह रहस्यपूर्ण किन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य दृष्टिकोण है जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से भी कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का तो दिग्देशकाल–विमोहन सर्वात्मना उपशान्त हो ही जाना चाहिए। जिस भूखण्डपर भारतीय मानव आवास–निवास रखते हैं, क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है ? क्या इसी राष्ट्रीयता का यशोगान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय–साहित्य–श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रों में ?। कदापि नहीं। न तो [illegible] भूखण्डविशेष का नाम 'भारतदेश' ही है न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है न यहाँ के अनन्तभावानुगत अनन्तशास्त्र में इस राष्ट्रीयता का यशोगान ही हुआ है।

५०८–'भारत' रूप विश्व–हव्यवाट्–सम्वत्सराग्नि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक–माध्यम से एकदेश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपितु 'भारतदेश' नाम है उस प्राणाग्नि–अमृताग्नि–देवाग्नि–अनन्ताग्नि का जो प्राणाग्निदेव 'भारत' नाम से प्रसिद्ध है। परिच्छिन्न–सीमित–देश का नाम कदापि भारत नहीं है। अपितु 'भारत' नाम तो उस प्राणाग्नि का है जो 'महतोमहीयान्' है। ऐसा महतोमहीयान् है जिस के गर्भ में न केवल यह भूखण्ड विशेष ही अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड भी एक बुद्बुद् जितना [illegible] स्वरूप रख रहा है। यह वह 'भरत–अग्नि' है जो प्रजापतिसम्वत्सरात्मक बनता हुआ भारतदेशानुगत प्रकृतिसिद्ध निम्न भारतवर्ष में 'ब्राह्मणवर्ष' माने गए हैं। यह वह 'ब्राह्मणाग्नि' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूपिण्ड के भूतों का भी, सीमित–प्रदेश–देशों का भी भरण–पोषण हो रहा है एवं इसी के ऊर्ध्वस्थित भाण्डात्मक वितान से पार्थिव त्रैलोक्य के पृथ्वीलोक

• तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु (यजुः सं० १६।६४)। प्राची एव भर्गः (गो० पू० ५।१५)। प्रतीची–एव महः (गो० पू० ५।१५)। उदीची–एव यशः (गो० पू० ५।१५)। दक्षिणैव सर्वम् (गो० पू० ५।१५) इत्यादि।

जाव जलते'=यावज्ज्वलति=यावत्–प्रादुष्प्रभातायां रजन्यां=प्रभातसमये दिनकरेज्वलति सूर्योदये सति पुनर्विपुलमशन ४ यावत्– उपस्कृत्य पान्थकाय दासचेटाय भोजनपिटकं ददाति, स चारकशालायां गत्वा धन्यस्य सार्थवाहस्य भोजनपात्रे परिवेसेइ' परिवेषयति=निदधाति। तत खलु स धन्य सार्थवाहो विजयस्य तस्करस्य तस्माद् विपुलाद अशनपानखाद्यस्वाद्यात संविभाग करोति, स्वयं च भुङ्क्ते। तत खलु स धन्य सार्थवाह पान्थकं दासचेट विसज्जेइ' विसर्जयति=गृहगमनायाऽऽज्ञापयति। तत खलु स पान्थको भोजनपिटकं गृहीत्वा चारगाओ चारकात्=कारागारात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य राजगृहं नगर मध्यमध्येन यत्रैव स्वकं गृहं यत्रैव भद्रा

चोखे हुए और परमशुचीभूत हो कर उसी अपने स्थान पर आ गये। (तएण सा भद्दा कल्लं जाव जलते विउल असण ४ जाव परिवेसइ) दूसरे दिन जब प्रात काल हुआ और सूर्य प्रकाशित हो चुका तब उस भद्राने अशनादि रूप चतुर्विध आहार को विपुलमात्रा में बनाकर उसे भोजन के डिब्बे में रख पाथकदास चेटक के हाथ धन्यसार्थवाह के पास कारागार में भेजा– पाथक दासचेटकने पहिलेकी ही तरह लेकर उसे थालीमें भोजन के लिये परोसा–परोस कर उसने सेठ के दोनों हाथों को धुलाया–(तएण स धण्णे सत्थवाहे विजयस्स तक्करस्स तओ विउलाओ असण४संविभाग करेइ) बाद में उस धन्यसार्थवाहने विजय चोर के लिये उस अपने चार प्रकार के आहार में से विभाग कर दिया (तएण स धण्णे सत्थवाहे पथग दास चेडयं विसज्जेइ) धन्य सार्थवाहने बाद में उस पाथक दास चेटक को वहां से वापिस कर दिया। (तएण से पथए भोयणपिडग गहाय चारगाओ

४ जाव परिवेसेइ) બીજા દિવસે સવાર થયું અને સૂર્ય ઉદય પામ્યો ત્યારે ભદ્રા ભાર્યાએ પુષ્કળ પ્રમાણમાં અશન વગેરે ચાર જાતના આહાર બનાવી તે એક સ્વચ્છ ડબામાં મૂકીને પાથકદાસ ચેટકને જેલમાં ધન્ય સાર્થવાહની પાસે પહોંચાડવા આજ્ઞા કરી પહેલાની જેમ જ પાથક દાસ ચેટકે ત્યાં જઈને થાળીમાં જમવાનું પીરસ્યું પીરસીને તેણે શેઠના બંને હાથ ધોવડાવ્યા (तएण से धण्णे सत्थवाहे विजयस्स तक्करस्स तओ विउलाओ असण ४ संविभाग करेइ) ત્યાર પછી ધન્ય સાર્થવાહે વિજય ચોરને માટે ચાર જાતના આહારમાંથી ભાગ કરી આપ્યો (तएण से धण्णे सत्थवाहे पथग दासचेडग विसज्जेइ) ત્યાર પછી ધન્ય સાર્થવાહે પાથક દાસ ચેટકને ઘેર પાછો વળ્યો (तएण से पथए भोयण-पिडग गहाय चारगाओ पडिनिक्खमइ) પાથક દાસ ચેટક ભોજનના ડબાને

सदा से ही मिलती रही है, जिसकी दृष्टि में 'भारत' अनन्त है मात्मप्रतीक है, केवल भूखण्डविशेष ही नहीं *। जिस इस प्रतीकभूत भारतखण्ड किंवा भारतखण्ड (सम्पूर्ण भूमण्डलरूप अनन्त भारतदेश का एक प्रतीक मात्र सुप्रसिद्ध 'भारतवर्ष' नामक देश) में अभिव्यक्त होने वाले अनन्तभारतरूप के द्वारा भारतीय मानवने अपने अनन्त 'भारताग्निशास्त्र' अपौरुषेय ब्रह्माग्निमूलक वेदशास्त्र के आधार पर सदा इतर भूखण्डों के मानवों की उन उन के चरित्रों-कर्त्तव्यों का सुव्यवस्थित बनाते हुए ही उनके लिए 'आर्य्यत्व' की मङ्गलकामना की है। क्योंकि इसने अपने भारतखण्ड के विशेष चरित्रलक्षण उस वर्णाश्रमधर्म्मरूप 'स्वधर्म्म' के प्रति दूसरे भूखण्डों के विभिन्नप्रकृतिक-मानवों के लिए आग्रह-दुराग्रह व्यक्त किया ही नहीं जैसे कि अनन्तता के इस व्यापक तथ्य से अपने आप को पृथक् रखने वाले अन्य भूखण्डों के प्राकृत मानव अपने अपने विशेष कर्त्तव्यों को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करते हुए उन्हीं का सर्वत्र-प्रचार-करने का प्रयास करते रहते हैं। और निश्चयेन इसी असम्भव-'विशेषप्रकृति' विरुद्ध-प्रयासने मानव को उस संघर्ष पर ला खड़ा किया है जिससे अनन्तपुरुषमूला (अव्ययब्रह्ममूला) 'मानवता' तथा अनन्तप्रकृतिसिद्धा 'आर्य्यता' आज सर्वथा ही अन्त मुख बनती जारही है।

५११-स्वधर्म्मात्मक श्रौतस्मार्त्त-विशेषधर्म्म का भावुकतापूर्ण विश्वप्रचार-व्यामोहन, तद्व्यामोहन से भारतीय आर्षधर्म्म की अन्तर्म्मुखता, एवं विशेषधर्म्म तथा आर्य्यत्व के पार्थक्य का तात्त्विक-समन्वय—

तदयमाधानुसार-कभी इस भारतदेश ने प्रकृतिसिद्ध स्वधर्म्मात्मक अपने वर्णाश्रमधर्म्म के 'विश्वप्रचार' का व्यामोहन किया ही नहीं, जैसाकि आज भ्रान्तिवश सोचा जाने लगा है परानुकरण के माध्यम से। "वेदधर्म्म का हम सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करेंगे वेदधर्म्म से ही सम्पूर्ण विश्व सुखी-शान्त हो सकेगा" इत्यादिरूपेण गतानुगतिक-अन्धानुकरण के अनुग्रह से इसप्रकार धर्म्मात्मक-स्वस्व प्राकृतिक-कर्त्तव्य के प्रचार प्रसार के लिए आतुर भारतीय आज के अभिनव वेदव्याख्याता यह विस्मृत कर देते हैं कि, क्योंकि यह भारतीय दृष्टिकोण नहीं है। क्योंकि यहाँ 'धर्म्म' प्रचार की वस्तु रहा ही नहीं। और क्योंकि इस का प्रकृतिनिबन्धन स्वधर्म्मात्मक यह 'वर्णाश्रमधर्म्म' (वर्णानुगत कर्त्तव्यकर्म्म) भारतातिरिक्त भूखण्डों के प्रति आकर्षित हुआ ही नहीं। यही नहीं, स्वयं यहाँ भी परस्पर व्यतिक्रम सहन नहीं किया इस वर्णधर्म्म का भारतीय मानवोंने केवल अवतारपुरुषों के अतिरिक्त ×। हाँ उस 'आर्य्यत्व' की मङ्गलकामना

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
—मनुः

×-धर्म्मव्यतिक्रमो दृष्टः, ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥
—श्रीमद्भागवत

जाव जलते'=यावज्ज्वलति=यावत्-प्रादुष्प्रभातायां रजन्यां=प्रभातसमये दिनकरे ज्वलति सूर्योदये सति पुनर्विपुलमशन ४ यावत्- उपस्कृत्य पान्थकाय दासचेटाय भोजनपिटकं ददाति, स चारकशालायां गत्वा धन्यस्य सार्थवाहस्य भोजनपात्रे परिवेसेइ' परिवेषयति=निदधाति। ततः खलु स धन्य सार्थवाहो विजयस्य तस्करस्य तस्माद् विपुलात् अशनपानखाद्यस्वाद्यात् संविभाग करोति, स्वयं च भुङ्क्ते। ततः खलु स धन्यः सार्थवाहः पान्थकं दासचेटं 'विसज्जेइ' विसर्जयति=गृहगमनायाऽऽदिशति। ततः खलु स पान्थको भोजनपिटकं गृहीत्वा चारगाओ चारकात्=कारागारात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य राजगृहं नगरं मध्यमध्येन यत्रैव स्वकं गृहं यत्रैव भद्रा

चोखे हुए और परमशुचीभूत हो कर उसी अपने स्थान पर आ गये। (तएणं सा भद्दा कल्लं जाव जलते विउलं असणं ४ जाव परिवेसेइ) दूसरे दिन जब प्रात काल हुआ और सूर्य प्रकाशित हो चुका तब उस भद्राने अशनादि रूप चतुर्विध आहार को विपुलमात्रा में बनाकर उसे भोजन के डिब्बे में रख पांथकदास चेटक के हाथ धन्यसार्थवाह के पास कारागार में भेजा- पांथक दासचेटकने पहिलेकी ही तरह होकर उस थालीमें भोजन के लिये परोसा-परोस कर उसने सेठ के दोनों हाथों को धुलाया-(तएणं से धण्णे सत्थवाहे विजयस्स तक्करस्स तओ विउलाओ असणाउसंविभागं करेइ) बाद में उस धन्यसार्थवाहने विजय चोर के लिये उस अपने चार प्रकार के आहार में से विभाग कर दिया (तएणं से धण्णे सत्थवाहे पंथगं दासचेडयं विसज्जेइ) धन्य सार्थवाहने बाद में उस पांथक दास चेटक को वहां से वापिस कर दिया। (तएणं से पंथए भोयणपिडगं गहाय चारगाओ

४ जाव परिवसइ) બીજા દિવસે સવાર થયું અને સૂર્ય ઉદય પામ્યો ત્યારે ભદ્રા સાર્થવાહીએ પુષ્કળ પ્રમાણમાં અશન વગેરે ચાર જાતના આહાર બનાવી તે એક સ્વચ્છ ડબામાં મૂકીને પાંથકદાસ ચેટકને જેલમાં ધન્ય સાર્થવાહની પાસે પહોંચાડવા આજ્ઞા કરી પહેલાંની જેમ જ પાંથક દાસ ચેટકે ત્યાં જઈને થાળીમાં જમવાનું પીરસ્યું પીરસીને તેણે શેઠના બંને હાથ ધોવડાવ્યા. (तएणं से धण्णे सत्थवाहे विजयस्स तक्करस्स तओ विउलाओ असण ४ संविभागं करेइ) ત્યાર પછી ધન્ય સાર્થવાહે વિજય ચોરને માટે ચાર જાતના આહારમાંથી ભાગ કરી આપ્યો (तएणं से धण्णे सत्थवाहे पंथगं दासचेडगं विसज्जेइ) ત્યાર પછી ધન્ય સાર્થવાહે પાંથક દાસ ચેટકને ઘેર પાછો વળ્યો (तएणं से पंथए भोयण-पिडगं गहाय चारगाओ पडिनिक्खमइ) પાંથક દાસ ચેટક ભોજનના ડબ્બાને

हुआ है। नामधारणा अवश्य है राष्ट्रप्रेम की। किन्तु मानवतानुबन्ध से राष्ट्र के प्रति अणुमात्र भी निष्ठा नहीं है आज भारतीय 'व्यक्तिमानव' की। राष्ट्र-समाज-आदि शब्द आज केवल यहाँ दम्भपूर्ण ही प्रमाणित हो रहे हैं। आज ही नहीं, आज से तीन सहस्र वर्ष पूर्व से अद्यावधि-पर्य्यन्त।

५१४-वर्णाश्रमव्यवस्थाओं, आर्य्य-अनार्य्य भावों के व्यतिक्रम के तात्त्विक कारण का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ऐसा क्यों? उत्तर यही दिग्देशकाल का विमोहन। अपने अपने देश प्रदेश-घर-परिवार-की सीमाओं में अपना अपना लाभ उठाने के महान् व्यामोहनने ही आज उस भारतीय मानव को 'राष्ट्रीयता' से पराङ्मुख ही कर दिया है जिस की राष्ट्रीयता तीन सहस्रवर्ष पूर्व के नैष्ठिक युगों में विश्वानुगता ही बनी हुई थी। प्रकृत में इस आर्य्यता-अनार्य्यता के प्रसङ्ग से यही निवेदन कर देना था कि, आर्य्यत्व व्यापकधर्म है ब्राह्मणत्वादि व्याप्यधर्म है। ब्राह्मण 'अनार्य्य' कहला सकता है, जबकि इतर देशीय मानव भी 'आर्य्य' कहला सकता है। कहला रहा है आज के अनार्य्य-ब्राह्मण' के सम्बन्ध में। किन्तु इतर-देशीय 'आर्य्य' कदापि 'ब्राह्मण' नहीं कहला सकता। क्योंकि ब्राह्मण शब्द वर्णाश्रमानुगत विशेषधर्म का ही संग्राहक है जिसका एतद्देशीय विशेषधर्मों के साथ ही समन्वय हुआ है जिस इस दुरधिगम्या प्रकृतिमूला' ('तत्वाकृतिमूला') वर्ण विशेषता का समन्वय मानव तभी कर सकेगा जबकि वह अपने दिग्देशकाल से थोड़ा ऊपर उठ जायगा। तभी वह यह समझ सकेगा कि एक भारतीय ब्राह्मण 'आर्य्य' तो हो सकता है, किन्तु इतर देशीय आर्य्य भी मानव कदापि ब्राह्मण नहीं बन सकता। एवमेव क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-अवरवर्णादि सभी विभाग इसी व्याप्य-व्यापक भावानुबन्ध से सुव्यवस्थित बने हुए हैं प्राकृतिक प्राणजगत्-भावीजगत्-एवं भूतजगत् में। केवल मानवने ही इन प्रकृतिमूला वर्णाश्रमव्यवस्थाओं का व्यतिक्रम कर लिया है दिग्देशकालव्यामोहनों से।

५१५-भारतदेश के मूल प्रतिष्ठाता (अधिष्ठाता) त्रैलोक्य-व्यापक दिव्य 'भारत' नामक अग्निदेव का संस्मरण—

हाँ तो इस देश मात्र के इस 'भारत' नाम की आधारभूमि स्वयं यह सीमित देशविशेष कदापि नहीं है। अपितु अनन्तप्राणमूर्त्ति-अमूर्त 'भारत-अग्नि' ही इस देश की 'भारत' अभिधा का एकमात्र कारण है। दौष्यन्ति भरत की ही भाँति और और भी अनेक शासकों को भरतसत्तम! भरतर्षभ! भारत! आदि आदि रूपेण 'भारत' अभिधा के कारण माना जा सकता है। किन्तु यह मान्यता केवल यथोऽनुबन्धिनी ही मानी जायगी, जबकि आस्था का सम्बन्ध तो 'भारतअग्नि' के से ही माना जायगा। और यही इस देश के नामकरण का चिरन्तन इतिहास माना जायगा जो कि निम्नलिखित मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों से सर्वात्मना अभिव्यक्त हुआ है—

'अग्ने! महाँ २॥ ऽ असि ब्राह्मण भारत' इति। (निगदमन्त्रः)। (अथ मन्त्रव्याख्या) ब्रह्म ह्यग्निः, तस्मादाह-'ब्राह्मण' इति। स हि देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्मात्-'भरतो' 'ऽग्नि' रित्याहुः। एष उ वा ऽ इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति, तस्मादेवाह-'भारते' ति। (शत० ब्रा० १।४।२।२)।—कौ० ब्रा० ३।२ (तै० ब्रा० ३।५।३।१)।

रक्ता=कोपावेशाद् रक्तमुखनेत्रा 'रुट्ठा' रुष्टा=रोषयुक्ता यावत् 'मिसिमिसेमाणा' मिसमिसन्ती=क्रोधज्वालयाऽन्तर्दाहमन्विता सती धन्यस्य सार्थवाहस्योपरि 'पओसं' प्रद्वेष=प्रकृष्टद्वेषम् 'आवज्जइ' आपद्यते=प्राप्नोति॥ सू० १०॥

मूलम्—से धण्णे सत्थवाहे अन्नया कयाइ मित्तनाइ नियगसयणसंबंधिपरियणेणं सएण य अत्थसारेणं रायकज्जाओ अप्पाणं मोयावेइ, मोयावित्ता चारगसालाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अलंकारियकम्मं कारवेइ, कारवित्ता जेणेव पुक्करिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अह धोयमट्टीयं गेण्हइ, गिण्हित्ता पोक्खरिणीं ओगाहइ, ओगाहित्ता जलमज्जणं करेइ करित्ता ण्हाए कयबलिकम्मे जाव रायगिहं नगरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता रायगिहनगरस्स मज्झमज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तएणं तं धण्णं सत्थवाहं एज्जमाणं पासित्ता रायगिहे नगरे बहवे नियगसेट्ठिसत्थवाहपभियओ आढंति परिजाणंति सक्कारेंति सम्माणेंति अब्भुट्ठेंति सरीरकुसलं पुच्छंति। तएणं से धण्णे सत्थवाहे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जा वि य से तत्थ बाहिरिया परिसा भवइ, तंजहा—दासाइ वा पेस्साइ वा भियगाइ

दासचेटक के मुख से इस समाचार को सुनकर वह भद्रा सार्थवाही एकदम क्रोध से लाल सुर्ख नेत्रवाली बन गई, और रोष से युक्त होती हुई क्रोध की तीव्र ज्वाला से भीतर ही भीतर जलने लगी। इस तरह उसने धन्यसार्थवाह के ऊपर प्रकृष्ट द्वेष भाव को धारण कर लिया। सूत्र १०।

આ રીતે પાથક દાસચેટકના મોંથી સમાચાર સાંભળીને ભદ્રા ભાર્યા એકદમ ક્રોધથી લાલ ચોળ થઈ ગઈ, અને તે ક્રોધની જ્વાળાઓથી સળગવા લાગી. આ પ્રમાણે તેના મનમાં ધન્ય સાર્થવાહ ઉપર સખત રોષ ભાવ જાગ્યો ॥ સૂત્ર ૧૦ ॥

इसलिए असम्भव मनय आरहा है कि, जिस मूलसंस्कृतिनिष्ठा से प्रायश्चित्त सम्भव बना करते हैं दर्भाग्यवश आज भारतीय शासनतन्त्र के द्वारा ही उसी दिग्देशकालव्यामोहन से सर्वात्मना निरपेक्षता ही व्यक्त हो रही है भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के प्रति इति नु मद्दर्भाग्यम्–भारताग्निप्रतीकभूतस्य–भूखण्डस्यास्य स्वयं स्वयाग्रमकस्य–भारतस्यापि भाग्यमयमेव।

५१८–भारत की अखण्डता के मूलाधारभूत सांस्कृतिक- जागरण के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधान में प्रतीक, और प्रतिरूप–शब्दों का संस्मरण, एवं प्रतीक-भावानुबन्धी जड़ की मध्यस्थता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

तब किस उपाय से भारतीय मानव की यथाविधा सांस्कृतिक–जागरूकता सम्भव बनेगी? बन सकेगी ?, एकमात्र इस प्रश्न के समाधानान्वेषण के लिए ही तो 'दिग्देशकालमीमांसा' प्रवृत्त हुई है जिसके मूलाधार दो शब्द बने हुए हैं–एक तो 'प्रतीक' और दूसरा 'प्रतिरूप'। जिस दिन भी भारतीय मानव इन दोनों शब्दों के विरत्ननैसर्गिक का सर्वात्मना समन्वय कर लेगा उसी दिन और उसी क्षण इसकी प्रसुप्ता भी सांस्कृतिक–निष्ठा जागरूक होसकेगी। सांस्कृतिक–भारताग्नि की प्रतीकतानें ही इसे संस्कृतिनिष्ठा से पराङ्मुख बना दिया है। अवश्य ही यह भूखण्ड –यह भारतभूमि उस भारताग्नि की प्रतीकभूता है। तभी तो इसका–'भारत' नामकरण हुआ है। किन्तु 'प्रतीक' सदा ही 'जड़' 'अचेतन' हुआ करते हैं। प्रतीकों का उपयोग एकमात्र यही है कि तद्द्वारा लक्ष्य की ओर निष्ठा जागृत हो जाय। किन्तु जब प्रतीकात्मक दृष्टान्त ही सिद्धान्त बन जाते हैं तो लक्ष्य विलीन होजाया है एवं तत्स्थान अचेतन–जड़–भौतिक–प्रतीकों से सम्बन्ध रखने वाले सादि–सान्त–मूर्त–व्यक्त–दिग्देशकालव्यामोहन जागरूक होसकते हैं। एवं प्रतीक-माध्यमेन लक्ष्य की उपासना करने वाले चेतनपुरुष (मानव) का सर्वस्व लक्ष्य प्रतीकात्मक दिग्देशकालानुबन्ध ही बन जाता है। उस समय चेतन विस्मृत हो जाता है अपने ही चैतन्य से यह स्वयं भी सर्वथा जड़भाव में ही परिणत होजाता है एवं इसके सम्पूर्ण लक्ष्य भी जड़ात्मक प्रतीक ही बन जाते हैं। इसी प्रतीकभक्ति ने आज मर्त्य–मानव को 'भारतराष्ट्र' मान लिया है जबकि यह तो केवल 'भारतराष्ट्र' का जड़–माध्यम–प्रतीक–मात्र ही है।

५१९–जड़माध्यमों के विशेषज्ञ पुरातत्त्वविदों के द्वारा ध्वंसावशेषों का अन्वेषण, तदनुप्राणित 'पुरातत्त्वानुसंधान', एवं तद्द्वारा ही भारत के अतीत गौरव का संरक्षण-प्रयास—

बात थोड़ी समझने जैसी है। भारतीय इतिहास के, तथा पुरातत्त्वों के विशेषज्ञ–संशोधक संस्कृतिनिष्ठ ! विद्वान् आज आतुर हो रहे हैं भूगर्भस्थ तथा भूपृष्ठस्थ ध्वंसावशेषों–अस्थिपञ्जरावशेषों–मृण्मय–उपलमयादि–खण्डविशेषों (ठीकरों)–सुवर्ण–रजत–ताम्र–आदि की मुद्राविशेषों के अन्वेषण–प्रयास के लिए। क्यों कि इसी अन्वेषण के आधार पर ये भारतीय संस्कृति का मूल–युग–क्रम व्यवस्थित कर देने के सुख स्वप्न देख रहे हैं। कहीं भी, जब भी जो भी कुछ टूटा–फूटा–सड़ा–गला–जीर्ण–शीर्ण–मृत–भौतिक पदार्थ इन्हें उपलब्ध हो जाता है दौड़ पड़ते हैं ये उसकी ओर, एवं अपने परिकल्पित मापदण्डों के अनुपात से इन

एव वुत्त। समाणी हट्ठ जाव आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता कठाकठि अवयासइ खेमकुसल पुच्छइ पुच्छित्ता ण्हाया जाव पायच्छित्ता विउलाइ भोगभोगाइ भुजमाणी विहरइ ॥ सू ११ ॥

टीका—'तएण स धण्णे' इत्यादि–तत स्वलु स धन्य सार्थवाह अन्यदा कदाचित् मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनेन=मित्रज्ञातिप्रभृति द्वारा स्वकेन च 'अत्थसारेण' अर्थसारेण=बहुमूल्यरत्नादिना बहुमूल्यरत्नादि समर्पणेनेत्यर्थ 'रायकज्जाओ' राजकार्यात्=राजसङ्कटात् आत्मान=स्वयं 'मोयावेइ' मोचयति, मोचयित्वा=मुक्तो भूत्वा चारकशालाया प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य यत्रैव 'अलंकारियसभा' अलङ्कारिकसभा=नापितशाला–क्षौरकर्मादिशरीरसंस्कारस्थानमित्यर्थ, तत्रैवागच्छति उपागत्य 'अलकारियकम्म' अलङ्कारिककर्म=नखकेशमण्डनादिकर्म 'कारवेइ' कारयति, कारयित्वा यत्रैव 'पुक्खरिणी' पुष्करिणी=वर्तुलवापी तत्रैवोपागच्छति उपागत्य–अथ

'तए ण से धण्णे सत्थवाहे अन्नया कयाइ' इत्यादि ॥

टीकार्थ–(तएण) इसके बाद (से धण्णे सत्थवाहे) उस धन्यसार्थवाहने (अन्नया कयाइ) किसी एक समय (मित्तनाइनियगसयणसबधिपरियणेण) मित्र ज्ञाति, निजक स्वजन सबधी परिजनों द्वारा (सएण अत्थसारेण) अपने बहु मूल्य रत्नादि भेट राजा को समर्पण करवा कर (रायकज्जाओ अप्पाण मोयावेइ) राज्य सकट से अपने आपको मुक्त करवा लिया। (मोयावित्ता चारगसालाओ पडिणिक्खमइ) जब वह मुक्त होचुका हो चुका—तब कारागार से बाहर निकला (पडिनिक्खमित्ता जेणेव अलकारियसभा तणेव उवागच्छइ) बाहर निकल कर वह जहा नाई की दुकान थी—वहा गया—(उवागच्छित्ता अलकारियकम्म कारवेइ)

तएण से धण्णे सत्थवाहे अन्नया कयाइ' इत्यादि ॥

टीकार्थ–(तएण) त्यार पछी (से धण्णे सत्थवाहे) धन्य सार्थवाहे (अन्नया कयाइ) कोई एक वखते (मित्तनाइनियगसयणसंबधिपरियणेण) पोताना मित्र ज्ञाति स्वजन, सबधी अने परिजनो द्वारा (सएण अत्थसारेण) बहु किंमती रत्नो वगेरे समर्पण करावीने (रायकज्जाओ अप्पाण मोयावेइ) राज्य सकटमाथी पोतानी जातने छोडावी (मोयावित्ता चारगसालाओ पडिणिक्खमइ) ज्यारे ते मुक्त थयेलो बहार करवामा आव्यो, त्यारे ते जेलमाथी बहार निकळ्यो (पडिनिक्खमित्ता जेणेव अलकारियसभा तेणेव उवागच्छइ) बहार नीकळीने ते हजामनी दुकान उपर गयो. (उवागच्छित्ता अलकारियकम्म

देशकालसम्मोहन, सर्वोपरि वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा । कहां से, कैसे यह एषणा, ये-पुरातत्त्वविभ्रमपद इस भारतराष्ट्र की स्वस्था-प्रकृतिस्था भी प्रज्ञा में सहसा प्रविष्ट हो पड़े ?, प्रश्न का एकमात्र प्रधान उत्तर तो है- 'संस्कृति-साहित्य की सत्तासापेक्षता', और दूसरा कारण है 'प्रतीच्या भूतदृष्टि का अन्धानुकरण' । प्रतीच्य-दृष्टि के सम्पूर्ण क्रियाकलाप भूत से ही उपक्रान्त होते हैं । सर्वव्यापक-अनन्तब्रह्म, तदनुप्राणित अनन्तकाल अनन्ताविक-अनन्त-देश-नामक कोई तत्त्व यहाँ आजतक स्पष्ट ही नहीं होसका है । अपितु उनके सम्पूर्ण-पर्यवसान भूत से ही उपक्रान्त हैं एवं भूतपर ही परिसमाप्त है । अवश्य ही यावत्कालनिबन्धना 'सभ्यता' के परिचयात्मक इतिहासों का मापदण्ड वे ध्वंसावशेष ही बनते आए हैं । किन्तु 'संस्कृति' का कदापि इन भौतिक प्रतीकों से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है । वहाँ सभ्यता ही संस्कृति है, जबकि यहाँ-संस्कृति के एकांश में ही सम्पूर्ण सभ्यता समाविष्ट है ।

५२२-भारत, तथा भारतेतरदेशों के संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के समन्वय में महान् अन्तर एवं तदनुपातेनैव भारतीय संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के चिरन्तन इतिहास का समन्वय-प्रयास—

उन की संस्कृति का आधार सभ्यता है एवं सभ्यता का आधार दिग्देशकाल है जब कि भारतीय सभ्यता का आधार संस्कृति है तथा संस्कृति का आधार दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म है । उन की सभ्यता-संस्कृति 'काल के गर्भ' है, एवं यहां का काल 'संस्कृति-सभ्यता' के गर्भ में है । उन को काल लिए चलता है एवं यहां की ऋषिप्रज्ञा काल पर आरूढ है । उनकी आधारभूमि-'कालो अश्वो वहति' है तो इन की आधारभूमि 'तमाराध्नुवन्ति कवयो विपश्चितः' है । उनका उद्देश्य दिग्देशकाल तथा तदनुबन्धी भूत हैं तो इनका उद्देश्य दिग्देशकालातीत अनन्त ब्रह्म है । अतएव उनके लिए ध्वंसावशेष ही तत्त्व प्राक्तत्त्व-पुरातनतत्त्व-पुरातत्त्व है तो हमारे लिए संस्कृति का सर्वदेशव्यापक दिग्देशकालातीत अतएव सर्वकालिक ऋषिप्राणतत्त्व ही 'तत्त्व' है, यही पुरातनतत्त्व है, यही प्राचीनतत्त्व है । उन की दृष्टि में ऋषिप्राणतत्त्व काल्पनिक है क्या गया है अतएव निस्तत्त्व है तो यहां की दृष्टि में उनमुख में 'ध्वंसावशेष' नाम से ही उद्घोषित अतएव मानव के प्राकृतिक-भौतिक-व्यवस्थित-जीवन के लिए भी-उनकी दृष्टि में भी अनुपयुक्त-वे सब भूत-भौतिक शेषपरिग्रह निस्तत्त्व ही हैं मरे-खपे ही हैं । और आज दुर्भाग्यवश ऋषिदृष्टि के स्वरूप को विस्मृत कर देनेवाले साथ ही प्रतीच्या दिग्देशकालानुबन्धिनी भूतदृष्टि को ही अपना सर्वाराध्य मान बैठने वाले हम भारतीयोंने भी उन्हीं की मान्यताओं को उन्हीं की भाषा में इन ध्वंसावशेष-प्रदर्शन एवं निगमन-धर्मात्मक चौराहों को ही 'पुरातत्त्व' कहना कहलवाना आरम्भ कर दिया है । जिस दार्शनिकने ऐसा भौतिक-प्रतीच्यसम्मोहन पुरायुगों में उत्पन्न कर डाला था उसी को आज के इस प्रतीच्ययुग के भौतिक विज्ञानवादने सर्वात्मना पुष्पित-पल्लवित ही कर दिया है । अतएव आज 'तत्त्व' नाम से 'दार्शनिकतत्त्व' तथा 'पुरातत्त्व' ये दो ही तत्त्व भारतीय-प्रज्ञा में प्रधान बने हुए हैं, जबकि दोनों का ही भारतीय-आचारानुबन्धी सांस्कृतिक तत्त्व से तो सम्बन्ध भी नहीं है ।

एव वुत्त। समाणी हट्ठ जाव आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्टित्ता कठाकठि अवयासेइ खेमकुसल पुच्छइ पुच्छित्ता ण्हाया जाव पायच्छित्ता विउलाइ भोगभोगाइ भुजमाणी विहरइ ॥ सू ११ ॥

टीका—'तएण स धण्णे' इत्यादि—तत खलु स धन्य सार्थवाह अन्यदा कदाचित् मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनेन=मित्रज्ञातिप्रभृति द्वारा स्वकेन च 'अत्थसारेण' अर्थसारेण=बहुमूल्यरत्नादिना बहुमूल्यरत्नादि समर्पणेनेत्यर्थ 'रायकज्जाओ' राजकार्यात्=राजसङ्कटात् आत्मान=स्वम् 'मोयावेइ' मोचयति, मोचयित्वा=मुक्तो भूत्वा चारकशालाया प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य यत्रैव 'अलंकारियसभा' अलङ्कारिकसभा=नापितशाला—क्षौरकर्माशिरोरक्षस्थानमित्यर्थ, तत्रैवोपागच्छति उपागत्य 'अलकारियकम्म' अलङ्कारिककर्म=नखकेशमण्डनादिकर्म 'कारवेइ' कारयति, कारयित्वा यत्रैव 'पुक्खरिणी' पुष्करिणी=वर्त्तुलवापी तत्रैवोपागच्छति उपागम्य—अथ

'तए ण से धण्णे सत्थवाहे अन्नया कयाइ' इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तएण) इसके बाद (से धण्णे सात्थवाहे) उस धन्यसार्थवाहने (अन्नया कयाइ) किसी एक समय (मित्तना नियगसयणसबधिपरियणेण) मित्र ज्ञाति, निजक स्वजन सबधी परिजनों द्वारा (सएण अत्थसारेण) अपने बहु मूल्य रत्नादि भेट राजा को समर्पण करवा कर (रायकज्जाओ अप्पाण मोयावेइ) राज्य सकट से अपने आपको मुक्त करवा लिया। (मोयावित्ता चारगसालाओ पडिणिक्खमइ) जब वह मुक्त घोषित हो चुका—तब कारागार से बाहर निकला (पडिनिक्खमित्ता जेणेव अलकारियसभा तेणेव उवागच्छइ) बाहर निकल कर वह जहा नापित की दुकान थी—वहा गया—(उवागच्छित्ता अलकारियकम्मं कारवेइ)

तएण से धण्णे सत्थवाहे अन्नया कयाइ' इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तएण) त्यार पछी (से धण्णे सत्थवाहे) धन्य सार्थवाहे (अन्नया कयाइ) कोई ओक वखते (मित्तनाइनियगसयणसबधिपरियणेण) पोताना मित्र ज्ञाति स्वजन, सबधी अने परिजनो द्वारा (सएण अत्थसारेण) बहु किमती रत्नो वगेरे समर्पण करावीने (रायकज्जाओ अप्पाण मोयावेइ) राज्य सकटमाथी पोतानी जातने छोडावी (मोयावित्ता चारगसालाओ पडिणिक्खमइ) ज्यारे ते मुक्त थयेलो जाहेर करवामा आव्यो, त्यारे ते जेलमाथी बहार निकळ्यो (पडिनिक्खमित्ता जेणेव अलकारियसभा तेणेव उवागच्छइ) बहार नीकळीने ते हजामनी दुकान उपर गयो. (उवागच्छित्ता अलकारियकम्म

इस में 'अनन्यता' अभिव्यक्त हुई है। आचार का अणोरणीयान् भाव ही इस मानव के महतोमही-यान्-भाव का एकमात्र महान् बीज (महद्‌भावरूप बीज) है ।

५२५-भूताविष्ठाता वैश्वानराग्नि की सांस्कृतिकता, और हमारी गृहस्थाचारपद्धति—

आप प्राणाग्नि की बात करते हैं। भारतीय मानव तो अन्नादि-परिपाककर्त्ता प्रसिद्ध भूताग्नि (चूल्हे के अग्नि) को भी 'वैश्वानर' का प्रतीक मान कर उसे सत्कृत करना (वैश्वानरतर्पण-बैसन्दर जिमाने को +)

+ स्तोमत्रिलोकी के पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नामक त्रिवृत् (९)-पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१) स्तोमात्मक इन तीन पार्थिव त्रिलोकी के क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-नामक तीन 'नर' (नायक-अधि-ष्ठाता देवता) माने गए हैं। इन तीनों नरों के 'तानूनप्त्र' लक्षण अन्तर्याम सम्बन्ध से उत्पन्न त्रापधर्मा त्रैलोक्यव्यापक त्रिमूर्ति अग्नि का ही नाम-'विश्वेभ्यः-पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेभ्यः-नरेभ्यः-अग्नि-वाय्वादित्येभ्यः-उत्पन्नः-अग्निरेव-वैश्वानरः'-इत्यादि निर्वचन के अनुसार वैश्वानर है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"स वा स वैश्वानरः-इमे स लोकाः । इयमेव पृथिवी विश्वम्, अग्निर्नरः । अन्तरिक्षमेव विश्वम्, वायुर्नरः । द्यौरेव विश्वम् आदित्यो नरः (शतपथब्रा० ९।३।१।३।) ।

'आ यो द्यां भात्यापृथिवीं वैश्वानरो वसते सूर्य्येण' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार भूलोक से सूर्य्यलोक पर्य्यन्त व्याप्त त्रैलोक्यव्यापमूर्त्ति यही वैश्वानराग्नि 'आधिदैविक-वैश्वानर' है जिससे ही प्राणियों के उस 'आध्यात्मिक-वैश्वानर' की अभिव्यक्ति हुई है जो 'जाठराग्नि' रूप से चतुर्विध भुक्त अन्न का परिपाक करता रहता है एवं जिस इस आध्यात्मिक वैश्वानराग्नि का ही भगवान् ने निम्नलिखितरूप से स्मरण किया है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
—गीता १५।१४।

आधिदैविक-आध्यात्मिक-वैश्वानरप्राणाग्नि का ही मूर्त-भूतव भौतिक-तेजोरश्मियुक्त वह तीसरा 'आधिभौतिक-वैश्वानर' है जिसे लोकसामान्य में 'अग्नि' कहा गया है जिससे कि सूर्य्यास्त पर ज्योति-र्मयी रश्मियाँ प्रत्यक्षरूप से अभिव्यक्त होती रहती हैं। भूताग्निलक्षण इसी आधिभौतिक वैश्वानर अग्नि का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए श्रुति ने कहा है—

अग्निं' तं मन्ये यो 'वसु' रस्तं यं यन्ति धेनवः (रश्मयः) ।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर ॥
—ऋक्सं० ५।६।१।

आद्रंति' आद्रियन्ते हृदयेन 'परिजाणंति' परिजानन्ति=सुस्वागत श्रेष्ठिन ' इति तस्यागमनमनुमोदयन्ति 'सक्कारेंति' सत्कारयन्ति मधुरवचनै, सम्माणेंति' सम्मानयन्ति विविधवस्तुसमर्पणेन, 'अब्भुट्ठेंति' अभ्युत्तिष्ठन्ति विनयार्थमभिमुखमुत्तिष्ठन्ति शरीरकुशलं च पृच्छन्ति। ततः खलु=तद-नन्तरं स धन्यः सार्थवाहो यत्रैव स्वकं गृहं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य यापि च तस्य तत्र बाह्या परिषद्=गृहबहिर्निजजनसमुदाय, 'तजहा' तद्यथा- स यथा 'दासाइवा' दासा इति वा दासा=गृहदासी पुत्रा 'पेस्साइ वा'

स्था- (तएणं तं धण्णं सत्थवाहं एज्जमाणं पासित्ता रायगिहे नयरे बहवे नियगसेट्ठिसत्थवाहपभिअओ आढंति परिजाणंति सक्कारेंति सम्माणेंति अब्भुट्ठेंति सरीरकुसलं पुच्छंति) घर को आते हुए उस धन्य सार्थवाह को जब राजगृह नगर में निज श्रेष्ठी सार्थवाह आदि लोगोंने देखा तो उन लोगों ने उसका हृदयसे खूब आदर किया- आपका स्वागत हो" इस प्रकार कहकर उसके आगमन की खूब अनुमोदनाकी मधुर वचनों द्वारा उसका खूब सत्कार किया। अनेक वस्तुओंको भेंट में देकर खूब सन्मान किया। अपनी विनय प्रकट करने के लिये उसके सन्मुख आने पर उठ बैठे शरीर में कुशल समाचार पूछे। (तएणं से धण्णे सत्थवाहे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ) इसके बाद धन्य सार्थवाह जहां अपना घर था गया (उवागच्छित्ता) जावि य से तत्थ बाहिरिया परिसा भवइ) वहां जाकर उसका जो घरके बाहर के लोगों का समुदाय था—(तं जहा) जैसा-(दासाइ वा पेस्साइ

एज्जमाणं पासित्ता रायगिहे नयरे बहवे नियगसेट्ठि सत्थवाहपभियओ आढंति परिजाणंति सक्कारेंति सम्माणेंति अब्भुट्ठेंति सरीरकुसलं पुच्छंति) રાજગૃહ નગરના નિજક શ્રેષ્ઠીઓ, સાર્થવાહો વગેરેએ જ્યારે ધન્ય સાર્થવાહને ઘર તરફ જતા જોયા ત્યારે તેઓ બધાએ મળીને તેમનું હૃદય પૂર્વક ખૂબ જ સરસ રીતે સન્માન કર્યું " તમારૂં સ્વગત છે " આ રીતે તેના આગમનને અનુમોદન આપ્યું મધુર વચનોથી લોકોએ ધન્ય સાર્થવાહનો સત્કાર કર્યો તેને લોકોએ અનેક વસ્તુઓ ભેટમાં આપી. વિનય બતાવવા માટે જ્યારે ધન્ય સાર્થવાહ લોકોની સામે પહોંચ્યા ત્યારે તેઓ ઊભા થઇ ગયા અને તેમણે શરીરની કુશળતા પૂછી (तएणं से धण्णे सत्थवाहे जेणेव सए गेहे तेणेव उवागच्छइ) ત્યાર બાદ જ્યાં તેનું ઘર હતું ત્યાં ગયો (उवागच्छित्ता जावि य से तत्थ बाहिरिया परिसा भवइ) ત્યાં ઘરની બહાર તેનો ઘરના માણસોનો સમુદાય એકઠો થયો હતો (तं जहा)

प्रतिरूप हैं अनन्त के ही महामहिमामय विवर्त हैं, अतएव नमस्य हैं प्रणम्य हैं, सत्य–शिव–सुन्दरम् हैं। अनन्ता मर्यादानुगति ही इस अनन्तमहिमानुगति की एकमात्र आधारभूमि है जिस का अनात्मवादी केवल-भूतवादी अतएव शून्यवादी के साथ तो मनाक्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है। भले ही ऐसा शून्यवादी परवञ्चकता-मात्र के लिए मानवता-मानवधर्म-विश्वहित-अहिंसा-सत्य-करुणा-दया-तितिक्षा-वीतरागता–आदि के मौखिक शाब्दिक प्रदर्शन-नरधा करता रहे, तथापि उसे वर्णाश्रमाचारसिद्ध अनन्तात्मानुगत महिमात्मक सत्यं-शिवं-सुन्दरम्–के तो स्मरण का भी अधिकार नहीं मिलसकता जब कि हम तो ऐसे शून्यवादी मानवश्रेष्ठों को भी एकमात्र अपनी आस्था-श्रद्धा-के संरक्षण के लिए अपनी ओर से उन्हें भी अनन्त ब्रह्म के ही महिमामय 'अव तर' मान लेते हैं। मान लिया है हमारे पूर्वपुरुषोंनें जिस इस हमारी श्रद्धामूला अवतारमान्यता को देख सुन कर भी तो अभिनिविष्ट महानुभाव भारतीय ऋषिसंस्कृति के संस्मरण की कल्पना से अपने आप को विमुख ही बनाते रहते हैं जिन ऐसों को भी हम तो मुहुर्मुहु अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ ही समर्पित करते रहेंगे एवं उन के लिए भी-'मा कश्चिद्–दु:खभाग् भवेत्' जैसी मङ्गलकामना ही व्यक्त करते रहेंगे।

५२७–प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव से अभिव्यक्त बौद्धिक शब्दात्मक प्रतीक, तथा मौतिक-अर्थात्मक प्रतीक—

मस्तुरित्थ्या-प्राकृत मानव अनन्तप्रकृति का प्रतीक नहीं, अपितु 'प्रतिरूप' है। ऐसे प्रतिरूप अनन्त-मानव का प्रतीक है प्राणाग्निरूप भारताग्नि एवं प्राणाग्निप्रतीक से समन्वित अनन्त प्राकृतिक मानव की दिग्देशकालातीता अनन्ता सद्बुद्धि से स्वरूपेणैव विनिर्गता प्रतीकात्मिका शब्दराशि का नाम है–'शब्द शास्त्र' एवं इसी अनन्तमानवाग्नि के अवयवरूप–उच्छिष्टरूप–भूतमात्रा–भाग का नाम है प्रतीकरूप–भूतरूप भूतस्वरूप एवं तद्वत्स्वरूप भारतवेद। यों अनन्ता प्रकृति के प्रतिरूपात्मक अनन्तमानव से बौद्धिक प्रतीक, तथा भौतिक प्रतीक भेद से दो प्रतीकभाव अभिव्यक्त हो रहे हैं। प्राणाग्निप्रधान–बौद्धिक प्रतीक का नाम है–'शब्दप्रतीक' एवं भूताग्निप्रधान भौतिक प्रतीक का नाम है–'अर्थप्रतीक'। इत्थं अनन्तमानवरूप प्राकृतभाव के शब्द अर्थ–रूप से दो प्रतीक निष्पन्न हो जाते हैं।

५२८–प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव, तथा प्रतीकात्मक सादिसान्त मानव के स्वरूपभेद का दिग्दर्शन, एवं तदनुगत उभयात्मक प्रतीकभावों का पार्थक्य, और व्यष्टि मानव-लोकमानव के विभिन्न-स्वरूप—

अनन्तप्रकृति के अनन्तप्रतिरूप मानवमें तथा सादिसान्त प्रतीकमानवमें धरोतम का अन्तर है। दोनो ही मानव 'प्राकृत' हैं दोनों ही शब्दप्रतीक, तथा अर्थप्रतीक के अभिव्यञ्जक, किंवा स्रष्टा हैं, इस में तो कोई सन्देह नहीं। अन्तर दोनों में है केवल अनन्तता एवं सान्तता का। अनन्ता प्रकृतिरूप अनन्त 'प्रति-रूपमानव' (आत्म-बुद्धि-मन–शरीरात्मक मानव) अनन्त कालदिग्देश के माध्यम से अनन्त शब्दों का तथा अनन्त भावात्मक अर्थों का अभिव्यञ्जक बनता है। एवं अनन्तप्रकृति का सादिसान्तरूप प्रतीकमानव (मनःशरीर मात्र मानव) सादिसान्त-दिग्देशकाल के माध्यम से सादिसान्त शब्दप्रतीकों का तथा तथाविध ही अर्थप्रतीकों

दिरूपाऽऽभ्यन्तरपरिषद् धन्य सार्थवाहमेजमान पश्यति, दृष्ट्वा 'आसणाओ' 'अब्भुट्ठेइ' अभ्युत्तिष्ठति=समुत्तिष्ठति आसनात्=स्वस्वोपवेशनस्थानात् 'कंठाकंठिय' कण्ठाकण्ठिक=कण्ठे च कण्ठे च भवति, अभ्युत्थाय 'कंठाकंठिय' कण्ठाकण्ठिक=कण्ठे च कण्ठे च गृहीत्वा यत्प्रवर्तन तत् कण्ठद्वयसमिलनपूर्वकम् 'अवयासिय' आश्लिष्य=समालिङ्ग्य 'बाहप्पमोक्खणं' बाष्पप्रमोक्षण=चिरवियुक्तप्रियसमागमजन्य हर्षाश्रुमोचन करोति। तत खलु=नन्नु स धन्य सार्थवाहो यत्रैव भद्रा भार्या तत्रैवोपागच्छति। तत खलु सा भद्रा धन्य सार्थवाहम् 'एजमाण' एजमान=स्वसमीपे समागत पश्यति दृष्ट्वा नो आद्रियते, नो परिजानाति

(पासित्ता) उसे देखकर (आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता कंठाकंठिय अवयासिय बाहप्पमोक्खण करेति) वे अपने २ अधिष्ठित स्थान से उठ बैठे और उठकर परस्पर मे गले से गला लगाकर मिले। सबने उससे भेंट की। आलिङ्गन किया। तथा बहुत दिनों के बाद मिलने से उन लोगों ने आनंद जन्य हर्षाश्रुओं का मोचन भी किया अर्थात् हर्षाश्रु बरसाये (तएण से धण्णे सत्थवाहे जेणेव भद्दा भारिया, तेणेव उवागच्छइ) इसके बाद वह धन्य सार्थवाह जहां भद्रा सार्थवाही थी वहां गया (तएण सा भद्दा धण्ण सत्थवाह एज्जमाण पासइ, पासित्ता णो आढाइ नो परियाणाइ, नो सक्कारेइ, नो सम्माणेइ, णो अब्भुट्ठेइ नो सरीरकुसल पुच्छइ) भद्रा सार्थवाहीने आते हुए धन्य सार्थवाह को देखा भी परंतु उसने उस का आदर नहीं किया उसका स्वागत नहीं किया मधुर वचनों से उसका सत्कार नहीं किया विविध वस्तुओंके समर्पण से उसने उसका सन्मान नहीं किया। वह उसके

સાર્થવાહને ઘર તરફ આવતો જોયો. (पासित्ता) જોઈને (आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता कंठा कंठिय अवयासिय बाहप्पमोक्खण करेति) તેઓ બધા પોતપોતાની જગ્યાઓથી ઊભા થયા અને ઊભા થઈને એક બીજાના ગળાથી પ્રેમ પૂર્વક ભેટ્યા. ધન્ય સાર્થવાહને બધા માણસો મળ્યા અને તેઉ આલિંગન કર્યું ઘણા દિવસો પછી ધન્ય સાર્થવાહને જોયો અને મિલન થયુ એટલે બધાની આંખોમા હર્ષનાં આસુઓ વરસવા લાગ્યા (तएण से धण्णे सत्थवाहे जेणेव भद्दा भारिया, तेणेव उवागच्छइ) ત્યાર પછી ધન્ય સાર્થવાહ જ્યા ભદ્રા ભાર્યા હતી ત્યા ગયો (तएण सा भद्दा धण्ण सत्थवाह एज्जमाण पासइ, पासित्ता णो आढाइ, नोसम्माणेइ, णो अब्भुट्ठेइ, नो सरीरकुसल पुच्छइ) ભદ્રા સાર્થવાહી એ ધન્ય સાર્થવાહને આવતા જોયા પણ તેણે તેમનો આદર કર્યો નહિ, તેમનુ સ્વાગત કર્યું નહિ, મધુર વાણી વડે તેમને સત્કાર્યો નહિ,

५३०—चिरपुरातन प्रतीकात्मक शास्त्र की चिरनूतनता, एवं इस की शाश्वत- उपयोगिता—

इसी समन्वय के माध्यम से अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, अनन्त मानव के माध्यम से विनि-सृत शब्द-नित्यशब्द का नाम ही 'अनन्त शब्दराशि' है, इसी का नाम है 'अनन्त वेदशास्त्र' (अनन्ता वै वेदाः—ऐ. ब्रा.)। प्रतिरूपात्मक मानव का प्रथम—आधार वेदशास्त्र ही 'संस्कृति' नामक विषय है, यही भारतीय परिभाषा में प्राच्यतत्त्व—पुरातनतत्त्व किंवा पुरातत्त्व है, जिस के माध्यम से ही भारतीय सांस्कृतिक-आचार, सांस्कृतिक-आयोजन सांस्कृतिक-सभ्यता आदि आदि यथायथ् विवर्तों की व्यवस्था हुआ करती है। क्योंकि ऐसा-शब्दशास्त्र तदनुगत आचारात्मक कर्म क्य गला सका—नहीं करता। चिरपुरातन भी यह समन्वयात्मक प्रतीक (शब्दार्थप्रतीक, तत्त्व और आचार) चिरनूतन ही प्रमाणित होता रहता है प्रकृति के सूर्य—चन्द्र—पृथिव्यादि प्राकृत प्रतीकों की भाँति। यत-वत्सरादि भी दिग्देशकालातिक्रमण इस चिरपुरातन-चिरनूतन 'तत्त्व' को नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकते। सनातनी है प्रकृति सनातन हैं उस के नियम सनातन है-तन्नियमव्यवस्थापक शास्त्र एवं सनातन है तदनुप्राणित आचारात्मक धर्म।

५३१—भौतिक-ध्वंसावशेषों की सांस्कृतिक ! प्रतीकता, एवं पुरातत्त्वात्मकता ! का महान् व्यामोहन—

सड़ते गलते-बदलते-नष्ट-होते रहते हैं वे प्रतीकद्रव्य, जो दिग्देशकाल की सीमा में 'अयम् स्व 'स्वार्थ-वैयक्तिक-स्वार्थ' को आधार बनाकर ही बोले और बुलवाए जाते हैं। व्यक्त होता है उन कार्यों-व्यवस्था श्रौ-नियमों का जो तात्कालिक स्वार्थ के लिए ही तदीभूत बना करते हैं। ऐसे ध्वंसावशेषों को वे ही प्राचीन तत्त्व किंवा पुरातत्त्व कहा-सुना करते हैं जो चेतनमानव की अपेक्षा-जड़भूतों को ही संस्कृति के प्रतीक मानते रहते हैं। जिन की दृष्टि में मानव का कोई मूल्य नहीं है मानव की × वैदिक रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं है। अपितु जिन इन पुरातत्त्ववादियों की दृष्टि में महत्त्व है उन—जीर्ण शीर्ण-भग्नावशेषों का जिन का आचारशास्त्र की दृष्टि से कुछ भी तो उपयोग नहीं है प्रदर्शन-उत्पादन मात्र-व्यामोहनों के अतिरिक्त।

५३२—मानवीया सनातन-संस्कृतिका 'प्रतिरूप' मानव, एवं तत्- 'प्रतीक' सनातनशास्त्र, तथा मानव के द्वारा स्वप्रतिरूपता की अभिव्यक्ति—

'सत्किञ्चित्-संशोधन' से सम्बन्ध रखने वाले 'धर्म' के समन्वय—सम्बन्ध में ही प्रतीक तथा 'प्रतिरूप' भेद से प्रासङ्गिक दृष्टिसूत्र उपन्यस्त हो पड़ा, जिस अर्थपूर्णा तदीभूता सत्किञ्चित् की ओर पुनः पाठकों

×—बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (वैशेषिकसूत्र)

द्विरूपाऽऽभ्यन्तरपरिषद् धन्य सार्थवाहमेजमान पश्यति, दृष्ट्वा 'आसणाओ' आसनात्=स्वस्वोपवेशनस्थानात् 'अब्भुट्ठेइ' अभ्युत्तिष्ठति=समुत्थिता भवति, अभ्युत्थाय 'कण्ठाकण्ठिय' कण्ठाकण्ठिक=कण्ठे च कण्ठे च कण्ठद्वयसमिलनपूर्वकम् 'अवयासिय' आश्लिष्य=गृहीत्वा यत्परस्तन तत् समालिङ्ग्य 'बाहप्पमोक्खण' बाष्पप्रमोक्षण=चिरवियुक्तप्रियसमागमजन्य हर्षाश्रुमोचन करोति। तत खलु=तन्नु स धन्य सार्थवाहो यत्रैव भद्रा भार्या तत्रैवोपागच्छति। तत खलु सा भद्रा धन्य सार्थवाहम् 'एजमाण' एजमान=स्वसमीपे समायात पश्यति दृष्ट्वा नो आद्रियते, नो परिजानाति

(पासित्ता) उसे देखकर (आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता कण्ठाकण्ठिय अवया सिय बाहप्पमोक्खण करेंति) वे अपने २ अधिष्ठित स्थान से उठ बैठे और उठकर परस्पर में गळे स गळा लगाकर मिले। सबने उसस भेंट की। आलिङ्गन किया। तथा बहुत दिनों के बाद मिलने से उन लोगों ने आनद जन्य हर्षाश्रुओं का मोचन भी किया अर्थात् हर्षाश्रु बरसाये (तएण से धण्णे सत्यवाहे जेणेव भद्दा भारिया, तेणेव उवा गच्छइ) इसके बाद वह धन्य सार्थवाह जहा भद्रा सार्थवाही थी वहा गया (तएण सा भद्दा धण्ण सत्यवाह एज्जमाण पासइ पासित्ता णो आढाइ नो परियाणाइ, नो सक्कारेइ, नो सम्माणेइ णो अब्भुट्ठेइ नो सरीरकुसल पुच्छइ) भद्रा सार्थवाहीने आते हुए धन्य सार्थवाह को देखा भी परन्तु उसने उस का आदर नहीं किया उसका स्वागत नहीं किया मधुर वचनों से उसका सत्कार नहीं किया विविध वस्तुओंके समर्पण से उसने उसका सन्मान नहीं किया। वह उसके

સાર્થવાહને ઘર તરફ આવતો જોયો. (पासित्ता) જોઈને (आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता कंठा कंठिय अवयासिय बाहप्पमोक्खण करेंति) તેઓ બધા પોતપોતાની જગ્યાઓથી ઊભા થયા અને ઊભા થઈને એક બીજાના ગળાથી પ્રેમ પૂર્વક ભેટ્યા. ધન્ય સાર્થવાહને બધા માણસો મળ્યા અને તેનું આલિંગન કર્યું ઘણા દિવસો પછી ધન્ય સાર્થવાહને જોયો અને મિલન થયું એટલે બધાની આંખોમાં હર્ષના આંસુઓ વરસવા લાગ્યા. (तएण स धण्णे सत्यवाहे जेणेव भद्दा भारिया, तेणेव उवागच्छइ) ત્યાર પછી ધન્ય સાર્થવાહ જ્યાં ભદ્રા ભાર્યા હતી ત્યાં ગયો (तएण सा भद्दा धण्ण सत्थवाह एज्जमाण पासइ, पासित्ता णो आढाइ, नोसम्माणेइ, णो अब्भुट्ठेइ, नो सरीरकुसल पुच्छइ) ભદ્રા સાર્થવાહી એ ધન્ય સાર્થવાહને આવતા જોયા પણ તેણે તેમનો આદર કર્યો નહિ. તેમનું સ્વાગત કર્યું નહિ, મધુર વાણી વડે તેમને સત્કાર્યો નહિ,

५३५–भयानुगत मृत्युभाव, तन्मूला विषमता, तदनुगता अराष्ट्रीयता, एवं समदर्शन मूलक महिमाभाव के प्रति मानव को उद्बोधन–प्रदान—

इस भय की उग्रावस्था का नाम ही है दुःख, दुःख की उग्रावस्था का नाम ही है शोक, एवं शोक की चरमावस्था का नाम ही है हृद्गति–का अवरोध अर्थात् 'मृत्यु'। यों प्रारम्भिक भय ही इस अन्तिम मृत्युपथ का प्रवर्त्तक बन जाया करता है। प्रारम्भिक भय का एकमात्र अर्थ है–हृदयसाम्य का अभाव, इस साम्याभाव का नाम है विषमता एवं विषमता का ही नाम है दिग्देशकालव्यामोहन। निश्चयेन अनन्तब्रह्म की अनन्त-प्रकृतिलक्षणा अनन्तकालदिग्देशात्मिका अनन्ता महिमा में इस अखण्ड–अपारपारीण–पटल में उस अभय भाव–समता ही आविर्भूत हो जाती है जबकि अल्पप्रसिद्ध मानव खण्ड–खण्डात्मक दिग्देशकालभावों का प्रतीक बनता हुआ उस में व्यवधान उत्पन्न कर देता है। यही द्वन्द्वात्मक विषमभाव है यही द्वन्द्वता 'द्वितीयत्व' है और–'द्वितीयाद्वै भयं भवति। उदरमन्तरं कुरुते अथ भयं भवति' का यही समन्वयार्थ है। 'अपना और पराया' यह द्वैतभाव दिग्देशकालनिबन्धन ही माना गया है। यह मेरा और यह तेरा यह मेरा राष्ट्र, मेरा देश मेरा समय एवं यह उस का राष्ट्र, उस का देश उस का समय यह 'मेरा–तेरा' ही 'मेरे–तेरे' लक्षण भयात्मक स्वार्थों की मूलभित्ति बनता है। 'सभी मेरा है, सभी उस का है मैं भी वही हूँ, वह भी वही है। सब उसी एक के महिमामय अनन्त विवर्त हैं। सभी अनन्त हैं स्व–स्वरूपेण। कहीं किसी के लिए किसी का अभाव नहीं है। सब परस्पर अपने अपने महिमाभावों के पूरक हैं'।

५३६–परिणामवादात्मक सर्वविनाशक कार्य्यकारणभाव तन्मूलक बुद्धिवाद, एवं तद्द्वारा महिमाभाव की अन्तर्मुखता—

परिणामवादने सर्वविनाशक कार्य्यकारणवादने तदाधारभूत दिग्देशकालानुबन्धी बुद्धिवादने ही मानव के अनन्तमहिमाभाव में उद्रात्मक व्यवधान उत्पन्न किए हैं। और यह बुद्धिवाद ही स्वस्वरूप से मानव को महिमानन्त्य का स्वरूप समझने ही नहीं देता। जब भी यह क्षणमात्र के लिए अपने महिमात्मक साम्य-केन्द्र पर आता है तदुत्तरक्षण में ही इस की तार्किकबुद्धि पुनः कार्य्यकारण के अन्वेषण में प्रवृत्त हो-जाती है। एवं सहैव महिमासाम्य अन्तर्मुख बन जाता है। क्यों? । इसलिए कि इस की बुद्धि आचारनिष्ठा से पराङ्मुख बन गई है। आचार में ही ऐसा बल है जो इस की बुद्धि को विचलित नहीं होने देता। आचारहीन की बुद्धि में तो वेद भी शुचिता उत्पन्न नहीं करसकते–'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'। अवश्य ही सभी आचार भी दिग्देशकालानुबन्धी ही हैं। किन्तु ये आनुबन्ध उस अनन्तब्रह्म से ही नियन्त्रित हैं। अतएव रहते हुए भी ये आचारानुबन्धी दिग्देशकाल मानवबुद्धि को व्यामोहन से समन्वित नहीं होने देते। यही शास्त्रीय आचार, तथा लोककल्पित आचारमार्गों में वह महान् अन्तर है जिस अन्तर को सूक्ष्मबुद्धि से भारतीय ऋषिमानवने समझा तदनुपात से ही उसने अनन्तब्रह्म का साक्षात्कार किया एवं तदाधारेणैव आत्मसाम्य मूलक प्राकृतिक कर्त्तव्य व्यवस्थित किए, और यही ऋषिमानव की दिग्देशकालमीमांसा का चरम उत्कर्ष बना, जिसके आधार पर ही इस मानवश्रेष्ठ के मुख से सहजरूप से ही–'अभयं वै ब्रह्म। मा भैषीः' जैसा उदात्त–उद्घोष विनिःसृत हुआ जिस का समन्वय तो उस तथाकथित 'महाभिजात' संबोधन पर ही अवलम्बित है

ततः खलु सा भद्रा धन्यं सार्थवाहमवमवादीत्—कथं खलु मा देवानुप्रिय! मम तुष्टिर्वा यावदानन्दो वा भविष्यति येन त्वं खलु त्वं मम पुत्रघातकाय यावत्प्रत्यमित्राय तस्माद् विपुलाद् अशनपानखाद्यस्वाद्यात् संविभागं करोषि?। ततः खलु=तदनु तच्छ्रुत्वा स धन्यो भद्रामेवमवादीत्—हे देवानुप्रिये! नो खलु=नैव धम्मोत्ति वा' धर्म इति ॥५॥

(तएणं सा भद्दा सत्थवाहं एवं वयासी) इस प्रकार सुनकर भद्रा सार्थवाहीने धन्य सार्थवाह से ऐसा कहा— (कहण्णं देवाणुप्पिया! मम तुट्ठी वा जाव आणंदे वा भविस्सइ जेण तुमं मम पुत्तघायगस्स जाव पच्चामित्तस्स तओ विउलाओ असण ४संविभागं करेसि) हे देवाणुप्रिय! मुझे तुष्टि यावत् आनंद कैसे होगा जो तुमने (कारावास में) मेरे पुत्रघातक यावत् हार्दिक शत्रु उस विजय के लिये विपुल मात्रा वाले उस चतुर्विध आहार को विभक्त कर दिया है। (तएणं से धण्णे भद्दं एवं वयासी) ऐसा सुनकर धन्यसार्थवाहने भद्रा सार्थवाही से ऐसा कहा-(नो खलु देवाणुप्पियाए! धम्मोत्ति वा तवोत्ति वा कयपडिकयाइ वा लोगजत्ताइ वा नायएत्ति वा घाडिए वा सहाएइ वा सुहिइ वा तओ विपुलाओ असण ४ संविभागे कए नन्नत्थ सरीरचिंताए) हे देवानुप्रिये! मैंने जो उस चतुर्विध अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार में से विभाग कर जो विजय चौर को हिस्सा (कारावासमें) दिया है वह संविभागकरण

આ બધુ ગમ્યુ નથી? (तएणं सा भद्दा सत्थवाहं एवं वयासी) આ રીતે ધન્ય સાર્થવાહની વાત સાંભળીને ભદ્રા સાર્થવાહીએ તેમને કહ્યું—(कहन्नं देवाणुप्पिया! मम तुट्ठी वा जाव आणंदे वा भविस्सइ जेण तुमं मम पुत्तघायगस्स जाव पच्चामित्तस्स तओ विउलाओ असणं ४ संविभागं करेसि) હે દેવાનુપ્રિય! મને આનંદ થાય જ કેમ? કારણ કે જ્યારે તમે જેલમાં મારા પુત્રના હત્યારાને તે પુષ્કળ પ્રમાણમાં બનાવવામાં આવેલા આહારમાંથી ભાગ આપતા હતા. (तएणं से धण्णे भद्दं एवं वयासी) ત્યારે ધન્ય સાર્થવાહે ભદ્રા ભાર્યાને કહ્યું—(नो खलु देवाणुप्पिए! धम्मोत्ति वा तवोत्तिवा कयपडिकइयाइवा लोगजत्ताइ वा नायएत्ति वा घाडिए वा सहाएइ वा सुहिइ वा तओ विउलाओ असणं ४ संविभागे कए नन्नत्थ सरीरचिंताए) હે દેવાનુપ્રિયે! મેં જે વિજય ચોરને પુષ્કળ પ્રમાણમાં બનાવવા આવેલા ચાર જાતના અશન, પાન, ખાદ્ય અને સ્વાદ્ય રૂપ આહારમાંથી જે કંઈ પણ ભાગ આપ્યો છે તે તેને ભાગ આપવો જોઈએ આ જાતના સંવિભાગકરણ રૂપ ધર્મથી

शान्ति समृद्धि-तुष्टि-पुष्टि सुस्वप्नरूप में परिणत हो जाती है, एवं अमुक व्यक्तिविशेष की भूल से ही सर्वसम्पन्न-सुसमृद्ध भी परिवारों को धूलधूसरित होता देखा गया, और सुना गया है। ठीक यही स्थिति 'समाज' की है, तो यही स्थिति सम्पूर्ण 'राष्ट्र' की है जिस स्थिति का पर्य्यवसान अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व पर ही होता है। श्रुतिप्रज्ञा तो इस वैय्यक्तिक-विकम्पन को व्यक्ति की भूल को आगे चल कर 'त्रैलोक्य' विकम्पन का भी कारण मान लेती है। वृत्रासुर-तारकासुर-विद्युन्माली-शालकटङ्कट-रावण शम्भासुर-कंस-आदि आदि एक एक ही व्यक्ति थे जिन की महत्ता से त्रैलोक्य विकम्पित हो पड़ा था। अतएव व्यक्ति जहाँ अपनी इस अपरिमिता शक्ति से 'महान्' है वहाँ इस शक्ति की उपयोगिता में भ्रान्त करता हुआ यही महान् व्यक्ति संसार में क्षोभ उत्पन्न करता हुआ 'अधम' उपाधि से भी समन्वित हो जाता है। अश्वारूढ़-गजारूढ़-रथारूढ़-प्रचण्डा-विजयवाहिनी सेना का प्रत्येक सैनिक महान् है। इन सब महानों की महत्ता के सुपरिणाम-स्वरूप ही प्रतिद्वन्द्वी आततायी पराभूत होते हैं एवं सम्पूर्ण सुख-शान्ति का अनुगामी बन जाता है। किन्तु यह सर्वात्मना विश्वसनीय है कि, इन सहस्रों महान् सैनिकों में से किसी भी एक भी सैनिक की महत्त्वपूर्ण एक ही भूल से विजयोन्मुख भी सैन्यबल पराजित हो जाता है। और यों केवल एक व्यक्ति की अधमता से सम्पूर्ण राष्ट्र को अधमावस्था में आजाना पड़ता है।

५४०—एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से विकम्पन-शान्ति, समृद्धि, वैभवोदय, एवं मानव व्यक्ति के महान्, तथा अधम-विवर्त—

उदाहरण के लिए्यों भी मानव के सम्मुख उपस्थित होते रहे हैं और हो रहे हैं। एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से निकृष्ट परिवार भी उत्कृष्ट बन जाया करते हैं एक व्यक्ति की योग्यता से समाज का भी अभ्युदय सम्भव बन जाता है तो एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का कायाकल्प कर देता है सम्पूर्ण विश्व की शान्ति का कारण बन जाता है जैसे कि सेना के एक सैनिक की तात्कालिक समरू भूल से पराजय विजयश्री में परिणत हो जाती है। ऐसा है यह व्यक्ति का व्यक्तित्व और ऐसी है इस की महत्ता एवं अधमता। क्या रहस्य है इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी धर्म्मों का? यही व्यक्तिमानव महान् और अधम-इन दोनों विरुद्ध भावों का अनुगामी कैसे बन जाता है?। 'विगदशासलत्रयमीमांसा' केवल इस समस्या के चिन्तनमात्र के लिए ही तो प्रवृत्त हुई है जिसके माध्यम से स्वयं मानव को ही इन प्रश्नों का अमरणात्मक समाधान प्राप्त कर लेना है अपने अन्तर्जगत् में ही।

५४१—संवित्-मूला 'महत्ता' एवं अनुभूतिमूला 'अधमता', तथा सुप-बुध, समझ-ज्ञान, बोध-बुद्धि, इत्यादि द्वन्द्वों का समन्वय—

इन दोनों विरुद्ध-भावों के समन्वय के लिए ही 'संवित्, और अनुभूति' ये दो शब्द अवतीर्ण हुए हैं शब्दशास्त्र के अनन्तमहिमामय प्राङ्गण में लोकभाषा में जिनके लिए ''सुप-'बुध' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जोकि- 'समझ- ज्ञान'- बोध-'बुद्धि' इत्यादि अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं, एवं जिन इन दोनों भावों के लिए ही पर्व में-'समझ बिना सुप आपकी- इस लोकसूक्ति के समन्वय की चेष्टा हुई है।

कृत, शरीरचिन्ताथमेव तस्म सविभागः कृत इति भाव । ततःखलु सा भद्रा धन्येन सार्थवाहेन एवमुक्ता सती 'हट्ठ जाव' हृष्टयावत्=हृष्टतुष्टचित्तानन्दिता हर्षवशविसर्पहृदया आसनात् अभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्था। कठाकंठे' कण्ठा कण्ठि=कण्ठेन कण्ठ समेत्येत्यर्थ 'अवयासेइ' आश्लिष्यति=आलिङ्गति, आदर नमस्कारादिक करोति क्षेमकुशल=कुशलवार्ता पृच्छति च । कुशलप्रश्नमापृच्छय 'ण्हाया' स्नाता=कृतस्नाना 'जाव' यावत् 'कयबलिकम्मा कृतबलिकर्मा=कृत= सम्पादित बलिकर्म=प्रियागमननिमित्त पशुपक्ष्यादिप्राणिभ्योऽन्नादिदानरूप यया सा तथा, 'कयकोउयमगलपायच्छित्ता' कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्ता कृत कौतुकं=दृष्टिदोषादिनिवारणार्थं मषीपुण्ड्रादिकं, मङ्गल= दुःस्वप्नादिफलत्याग

निवृत्ति के मात्र से उसे हमने उस चतुर्विध आहार म से विभक्त कर उसे हिस्सा दिया है (तएण सा भद्दा धण्णेण सत्थवाहेण एव वुत्ता समाणी, हट्ठजाव आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता कठाकठि अवयासइ, खेमकुसल पुच्छइ) इसके बाद धन्य सार्थवाह के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर हर्षित और सतुष्ट हृदय होती हुई वह भद्रा सार्थवाही आसन से उठ कर बैठी, उठकर उसका उसने कठस आलिङ्गन किया और दु ख मादिक क्षेमकुशलकी बात पूछी। (पुच्छित्ता ण्हाया जाव पायच्छित्ता विउलाइ भोगाभोगाइ भुजमाणी विहरइ) पूछकर फिर उसने स्नान किया याव(प्रयश्चित किया। और विपुल भोगोंको भोगते हुए वह अपना समय आनन्द से व्यतीत करने लगी। यहा "जाव" पद से (कयबलिकम्मा कयकोउयमगलपायच्छित्ता) "इन पदों का सूचन किया गया है। इनका भाव यह है कि—प्रिय आगमन के निमित्त को लेकर उसने पशु पक्षी

નિવૃત્ત થવા માટે તેને હુ પોતાના ચાર જાતના આહારમાંથી આહાર આપતો હતો (तएण सा भद्दा धण्णेण सत्थवाहेण एव वुत्ता समाणी हट्ठजाव आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता कठाकंठि अवयासेइ, खेमकुसल पुच्छइ) ત્યાર બાદ ભદ્રા સાર્થવાહી એ ધન્ય સાર્થવાહની આ વાત સાંભળીને હર્ષિત અને સતુષ્ટ હૃદયા થઈને તેણે ધન્ય સાર્થવાહનુ આલિંગન કર્યું અને તેની ક્ષેમ કુશળની વાત પૂછી (पुच्छित्ता ण्हाया जाव पायच्छित्ता विउलाइ भोगाभोगाइ भुंजमाणी विहरइ)પૂછીને તેણે સ્નાન અને પ્રાયશ્ચિત્ત કર્યું તેમજ ધન્ય સાર્થવાહની સાથે વિપુલ ભોગ ભોગવતા તેણે પોતાનો વખત સુખેથી પસાર કરવા માંડ્યો. અહીં 'जाव' પદથી ('कयबलिकम्मा कयकोउयमगलपायच्छित्ता') આ પદોનુ સૂચન કરવામા આવ્યુ છે એનો અર્થ આ પ્રમાણે છે કે તેણે પ્રિય આગમનત

अनुभूति-ज्ञान-बुद्धि-भावुकता-रूप प्रकृतिभावों से यही मानव 'भावुक' है और दोनों ही मानवस्वरूप विश्वेश्वर से समन्वित विश्व की महती विभूतियाँ हैं स्व-स्व-स्थान-क्षेत्रों में व्यवस्थित-प्रतिष्ठित रहती हुईं। पुरुषानुगता निष्ठा दिग्देशकालातीता है तो प्रकृत्यनुगता भावुकता दिग्देशकालनिबन्धना है। तात्पर्य्य-निष्ठा का क्षेत्र दिग्देशकालातीत 'पुरुष' है एवं भावुकता का क्षेत्र दिग्देशकालात्मिका 'प्रकृति' है। क्या तात्पर्य्य निकला इस 'तात्पर्य्य' शब्द का? स्वयं अपनी 'संवित्' से ही समन्वय कर लीजिए। क्योंकि तात्पर्य्य के तात्पर्य्य का कोई भी तात्पर्य्य कदापि वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है, तो वह प्राकृत भावुकता-मात्र है।

५४६–प्रकृत्यनुगता भावुकता, तथा पुरुषानुगता निष्ठा के संरक्षणक्षेत्र, एवं विभिन्न क्षेत्रों में दोनों की समादरणीयता का समन्वय—

इस भावुकता की दृष्टि से ही तात्पर्य्य शब्द का यही 'तात्पर्य्य' मान लिया जा सकता है भावुकतासंरक्षणमात्र के लिए कि-भावुकता के क्षेत्र में भावुकता को स्वतन्त्र न बनने देना ही प्राकृत-भावुकता का क्षेत्र संरक्षण है। एवमेव निष्ठा के क्षेत्र में निष्ठा को स्वतन्त्र न बनने देना ही पौरुष-निष्ठा का क्षेत्र संरक्षण है। क्या तात्पर्य्य के पुत्ररूप इस दूसरे तात्पर्य्य के भी पुत्र का अर्थात् पौत्र का भी अन्वेषण करना पड़ेगा? । कर लीजिए। क्योंकि यही तो भावुकता की स्वरूप–महिमा है जो आरम्भ करना तो जानती है किन्तु समाप्त करना नहीं जानती। हाँ तो समन्वय कीजिए 'तात्पर्य्य' के पौत्र का। दिग्देशकालात्मिका प्रकृति के क्षेत्र में साम्राज्य तो भावुकता का अर्थात् बुद्धि का अर्थात् ज्ञान का अर्थात् अनुभूति का ही है।

५४७–संविन्मूला अनुभूति का, तद्रूपा निष्ठासमन्विता भावुकता का प्राकृत–क्षेत्र में महान् विजय, एवं प्रकृतिमूला भावुकता के प्रति ही श्रेयोऽर्पण—

अनुभवाहित-संस्कारलक्षण ज्ञान एवं तद्रूपा बुद्धि ही प्राकृत विश्व के सम्पूर्ण प्राकृतिक कर्म-कर्मों की प्रवर्त्तिका अनेगी बनती ही है। अतएव प्रकृति के दिग्देशकालानुबन्धी सभी कर्म्म हैं तो भावुकतामूलक ही। किन्तु इनकी यह पूर्णता सम्भव तभी बना करती है जबकि इनके मूल में आचारलक्षण से पुरुषमूला निष्ठा को, अर्थात् बोध को अर्थात् समभाव को, अर्थात् संवित् को अधिष्ठित-प्रतिष्ठित-कर लिया जाता है तो। शक्तिमान् के नियन्त्रण से पृथक् हो जाने वाली शक्ति सर्वप्रथम शक्तिमान् का ही संहार कर डालती है, तदनन्तर वही अनियन्त्रिता स्वतन्त्रशक्ति सम्पूर्ण शक्तिमानों का संहार कर दिया करती है। अतएव भावात्मिका प्राकृतभावुकता शक्तिमान् पुरुष की निष्ठा से किंवा निष्ठालक्षण से नियन्त्रित होकर ही आरब्ध कर्म्म को साङ्गोपाङ्गरूपेण पूर्ण-सम्पन्न करने में समर्थ बना करती है। श्रेय सचमुच भावुकता को ही है भावुकता का ही है, दिग्देशकाल का ही है बुद्धि का ही है ज्ञान का ही है, अर्थात् प्रकृति का ही है। किन्तु ? । इस किन्तु का उत्तर स्पष्ट है।

६४८–दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में संविन्मूला निष्ठा का साम्राज्य, किन्तु सदाचार से अनुप्राणिता भावुकता का ही आचारपक्ष में प्राधान्य, तथा तद्द्वारा ही नैष्ठिक–पुरुष में प्रभुता का आविर्भाव—

दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में साम्राज्य तो 'निष्ठा' का ही है अर्थात् 'बोध' का ही है अर्थात् समभाव' का ही है अर्थात् संवित् का ही है। दिग्देशकालातीता प्रभुता ही अकर्म्मात्मक स्थाणुपुरुष की

वधै=यष्ट्यादिना ताडनरूपै 'कसप्पहारेहिय' कशाप्रहारैश्च दिवसेऽनेकवार कशाघातरूपैः 'जाव' यावत् एव लत्तादिपरिघातकरूपैश्च प्रहारैः, तृष्णया च क्षुधया च परब्भवमाणे' पराभवन्=परिपीड्यमानो जर्जरितशरीर सन् कालमासे= मृत्युसमये काल कृत्वा नरएसु' नरके पापकर्मिणा यातनास्थाने 'सूत्रे प्राकृतत्वाद् बहुवचनम्' नेरइयत्ताए' नैरयिकतया नारकत्वेन 'उववन्ने' उपपन्नः=उत्पन्न । स खलु तत्र=नरके नैरयिको जात, कीदृश ? इत्याह— 'काले इत्यादि, 'काले' काल=कृष्णवर्णः 'कालोभासे' कालावभास=कृष्णा काल इव=मृत्युरिव अवभासते, यद्वा काल=श्याम अवभास= दीप्तिर्यस्य स तथा 'जाव' यावत् यावच्छब्देन—'गभीर लोमहरिसे भीमे उत्तासणए परमकण्हे वण्णेणं' से णं तत्थ निच्चं भीए,

य परब्भवमाणे कालमासे कालं किच्चा नरएसु नेरइयत्ताए उववन्ने) उन पूर्व प्रदर्शित रज्जवादि द्वारा दृढनियन्त्रणरूप वधों से यष्ट्यादि द्वारा ताडन रूप वधों से, दिवस में अनेक वार कृत कशाघातरूप प्रहारों से— लत्तादि परिघात रूप प्रहारों से भूख और पिपासा से परिपीडित होता हुआ—जर्जरित-शरीर होता हुआ काल अवसर काल कर के और पाप कर्मों के यातना स्थानरूप नरक में नारकी की पर्याय से उत्पन्न हुआ। (से णं तत्थ नेरइए जाए) वह वहां ऐसा नैरयिक हुआ कि जो (काले कालोभासे जाव वेयणं पच्चणुभवमाणे विहरइ) शरीर में कृष्ण वर्ण वाला देखने वालों को मृत्यु जैसा प्रतीत होता था—अथवा काली दीप्तिवाला। या यावत् शब्द से इस पाठ का यहां और संग्रह किया गया है। (गभीरलोमहरिसे, भीमे, उत्तासणए परमकण्हे वण्णेणं से तत्थ निच्चं भीए, निच्चं तत्थे, निच्चं तसिए,

परब्भवमाणे कालमासे कालं किच्चा नरएसु नेरइयत्ताए उववन्ने) પહેલા વર્ણન કરવામાં આવ્યા મુજબ દોરીઓના સખત બંધનો લાકડીઓ વગેરેના માર અને દિવસમાં ઘણીવાર કરવામાં આવેલા કોરડાઓના પ્રહારો, લત્તા વગેરેના પ્રહારો ભૂખ અને તરસથી દુઃખી થતો શિથિલ શરીરવાળો થઈને આખરે મૃત્યુ પામ્યો અને પાપકર્મોના યાતના સ્થાનરૂપ નરકમાં નારકીની પર્યાયમાં જન્મ્યો (से णं तत्थ नेरइए जाए) નૈરયિકની પય ~ (काले कालोभासे जाव वेयणं पच्चणुभवमाणे विहरइ) શરીરે એ ભેશ જેવો અને જોનારાઓ તે મૃત્યુ જેવો પ્રચંડ લાગતો હતો અહીં (यावत्) શબ્દથી આ પાઠનો સંગ્રહ થયો છે— (गभीरलोमहरिसे भीमे उत्तासणए परमकण्हे वण्णेणं स

५५१–पुरुषतत्त्व–'स्व' तन्त्र' में समर्पिता प्रकृति की 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता' का तात्त्विक दिग्दर्शन—

प्रतिफलस्वरूप से होता यही है कि, प्रकृति की त्रिगदेशकालाभिमत भावुकता भी सुरक्षित रह जाती है एवं अनुत्तम पुरुष की निष्ठा से इसकी यह भावुकता कर्त्तव्यनिष्ठा से भी नियन्त्रित बनी रहती है। एवं यही 'पर तन्त्रानुगता (अव्ययपुरुषतन्त्रानुगता) यह 'परतन्त्रता' है जिससे प्रकृति 'स्व–(अव्ययपुरुष के) तन्त्र' में निष्ठापूर्वक प्रतिष्ठित रहती हुई सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा' बनी रहती है। यही प्राकृत मानव की सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता का चिरन्तनेतिवृत्त है। उसका आश्रय लेने से मानवप्रकृति की भावुकता में ऋजुता तो अवश्य आजाती है। और इस ऋजुता से आश्रित मानव महान् भी अवश्य ही बन जाता है।

५५२–पुरुषानुशीलनात्मक समर्पण, अनुभूत्यात्मक संस्मरण, एवं दोनों के तारतम्य से अनुप्राणित वास्तविक–वस्तुस्थिति का स्वरूप–समन्वय—

किन्तु बिना इस आश्रयता के समर्पण के इसकी इस ऋजुभावुकता में निष्ठा का उदय नहीं हो पाता। फलतः ऐसा केवल महान् भावुक अन्ततोगत्वा अनुभूतिपरायण ही बना रह जाता है। इसका संस्मरण दूसरा पक्ष है, किन्तु उसका अनुशीलन अन्य पक्ष है। संस्मरणात्मक समर्पण में निष्ठा का उदय सम्भव ही नहीं है। क्योंकि इसमें समर्पक भक्त की अनुभूति, किंवा भावुकता ही प्रधान बनी रहती है। और यहां भक्त [illegible] भगवान से बड़ा मानता रहता है अपने आपको भगवान् का गुणानुवाद करता हुआ भी। इसी भावना–भावुकता से सम्पूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठा सर्वथा ही अभिभूत होजाती है ऐसे भावुक भक्तराज की जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भावुक अर्जुन से बढ़ा दूसरा और कौन होगा ?। ठीक इसके विपरीत अनुशीलनात्मक समर्पण में तत्काल ही निष्ठा का उदय होजाता है। क्योंकि अनुशीलन में अनुशीलनकर्त्ता कर्त्तव्यनिष्ठ मानव का 'कर्त्तव्य' ही प्रधान बना रहता है। यहां अनुशीलनात्मक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य का ही समर्पण होता है जिसमें अनुशीलन कर्त्ता की भावना–भावुकता कल्पना–का स्पर्श भी नहीं है। कर्त्तव्य का निर्धारण यह स्वयं अपनी अनुभूति से नहीं करता। अपितु शास्त्र के द्वारा स्वकालिक निर्धारित कर्त्तव्यकर्म के माध्यम से ही अनुशीलन–परायण बना रहने वाला यह कर्त्तव्यनिष्ठ मानव अपनी भावना–अनुभूति–जैसी कोई भी कल्पित वस्तु अपने कोश में नहीं रखता।

५५३–भगवान् के भावुक भक्तों, और नैष्ठिक–भक्तों का संस्मरण, तथा–सहज भावुक अर्जुन की भावुकता का स्वरूप–दिग्दर्शन और भगवान् के द्वारा अभियन्त्रण—

"भगवान–भक्त–और भावुकता एवं "भगवान्–भक्त–और निष्ठा' दोनों में जो अन्तर है वही भावुकभक्त में एवं नैष्ठिकभक्त में अन्तर है। अर्जुन निःसन्देह भावुक भक्त था अतएव महान् था। किन्तु इस महत्ता से ही तो मानवता अभिव्यक्त नहीं होजाती। भावावेश में आकर अश्रुपात करने से नाच–गान–पठन से ही तो कर्त्तव्यनिष्ठा का उदय नहीं हो जाता। अतएव क्या हुआ अर्जुन के लिए भगवान् का आदेश ?, कैसी भक्ति का वरदान मिला अर्जुन को ?, गीताभक्तों से प्रश्नों के समाधान अपेक्षित नहीं हैं।

रूप संसार एव कान्तार=महारण्य, तत्=भवाटवीमित्यर्थः, 'अणुपरियट्टिस्सइ' अनुपर्यटिष्यति=निरन्तर परिभ्रमिष्यति। 'एवामेव' एवमेव=अनेनैव प्रकारेण हे जम्बू ! यः खलु अस्माकं निर्ग्रन्थो वा निर्ग्रन्थी वा आचार्योपाध्यायानामन्तिके 'मुंडो' मुण्डः, द्रव्यतो भावतश्च मुण्डितो भूत्वा अगारात्=अनगारितां प्रव्रजितः=प्राप्तः सन् विपुलमणिमौक्तिकधनकनकरत्नसारेण 'लुब्भइ' लुभ्यति=मणिमौक्तिकधनादि लुब्धो भवति से वि य' सोऽपि च साधुर्वा साध्वी वा 'एवचेव' एवमेव=विजयनामकतस्करवदेव चातुरन्तसंसारकान्तारे भ्रमिष्यतीति भावः ॥सू० १२॥

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा थेरा भगवंतो जाइसंपन्ना जाव पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं दूइज्जमाणा जेणेव रायगिहे नगरे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अ-

मार्ग बहुत लंबा चौड़ा है अथवा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप काल जिसका बहुत दीर्घ है—परिभ्रमण करेगा। (एवामेव जंबू! जे णं अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरियउवज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे विपुलमणिमुत्तधणकणगरयणसारेणं लुब्भइ से वि य एवं चेव) इसी प्रकार से हे जंबू! जो हमारे निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी साधु साध्वी जन आचार्य, उपाध्याय के पास द्रव्य भाव रूप से मुंडित होकर आगार से अनगारी अवस्था को प्राप्त करते हुए विपुल मणिमौक्तिक, धन, कनक, रत्न आदि में लुभा जाते हैं वे भी इसी तरह चतुर्गतिरूप इस संसार अटवी में भ्रमण करते रहेंगे। ॥सू० १२॥

બહુ જ લાંબો અને વિસ્તાર પામેલો છે અથવા ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણી રૂપ કાળ જેમનો બહુ દીર્ઘ છે—પરિભ્રમણ કરશે. (एवामेव जंबू ! जे णं अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरियउवज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे विपुलमणिमुत्तधणकणगरयणसारेणं लुब्भइ से वि य एवं चेव) આ રીતે જ જંબૂ ! જે અમારા નિર્ગ્રંથ કે નિર્ગ્રંથી સાધુ સાધ્વીજન આચાર્ય અને ઉપાધ્યાયની પાસે દ્રવ્ય ભાવ રૂપથી મુંડિત થઈને અગારથી અવસ્થાને મેળવતા ખૂબ જ મણિ મૌક્તિક, ધન કનક રત્ન વગેરેમાં લોલુપ થઈ જાય છે તેઓ પણ આ વિજય તસ્કર જેવા જ છે અને તેઓ પણ આ પ્રમાણે જ ચતુર્ગતિરૂપ આ સંસાર રૂપી અટવીમાં પરિભ્રમણ કરતા રહેશે. સૂ. ૧૨.

'अहं (जीव') का कर्त्तव्य मान बैठने की महाभयानक भूल कर बैठता है, तो इस अहं रूप चैतन्य में प्रकृति की 'जड़ता' का समावेश होजाता है । और ऐसा मानव इस अवस्था में आकर केवल जड़प्रकृति ही प्रकृति बना रहजाता है । स्वयं प्रकृतिका अनन्तप्रश्नात्मक विस्तार भी इस की अहङ्कारविमूढ़ा विकृतिलक्षणा प्रकृति से परोक्ष ही बन जाता है* ।

५५६–अहन्तामूढ़ा–प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका भूतस्वरूपता के द्वारा कर्त्तव्यासक्त कुनैष्ठिक की 'विमूढ़ता', एवं कर्त्तव्यच्युत की–'मूढ़ता'—

स्थूलदृष्टि–भावस्तुगत प्रत्यक्ष का भूत–भौतिक पदार्थों का 'स्वार्थ' ही इसकी इस 'जड़ता' का आधार-स्तम्भ बन जाता है । यह अपने सामने की भूतवस्तु को छोड़ कर कल–परसों का भी विचार करने में असमर्थ बन जाता है । इसी को 'सम्मूढ़' कहा गया है 'विमूढ़' कहा गया है जब कि केवल भावुक 'मूढ़' नाम से ही व्यवहृत होने योग्य है (नैष्ठिक की अपेक्षा विमूढ़ बनता हुआ भी) । 'अहङ्कारविमूढात्मा' (गीता ३।२७।)–'प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः' (गीता ३।२९।)–'सर्वज्ञानविमूढांस्तान्०' (गीता ३।३२।)–'इन्द्रियार्थविमूढस्य' (मैत्र्युपनिषत् ६।३४।)–'एतैर्विमोहयत्येषः' (गीता ३।४० ।)–'इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा' (गीता ३।६।) 'विमूढा नानुपश्यन्ति' (गीता १५।१० ।)–इत्यादि श्रौत–स्मार्त वचन तात्कालिक स्वार्थपरायण–इन्द्रियलोलुप–सर्वज्ञानविमूढ–सम्मूढ–जड़मानवों के इस स्वरूप का ही यथोचित वर्णन ! कर रहे हैं जिन्हें हम अपनी व्यवहारभाषा में 'कुनैष्ठिक'–'दुष्ट'–'क्रूर'–'आततायी'–'असुर'–'राक्षस' 'नराधम' 'पिशाच'–आदि आदि सम्मानित ! उपाधियाँ प्रदान करते रहना अपना मानवोचित कर्त्तव्य ही मानते आरहे हैं ।

५५७–परदुःखकातर, अतएव विगुणेशकालविमूढ़ अर्जुन-समतुलित कर्त्तव्यच्युत भावुक मानवों का प्रशंसात्मक, किन्तु दयनीय स्वरूप—

अर्जुन–सदृश कर्त्तव्यविमुख भावुक मानवश्रेष्ठ तो केवल भावुक हैं निरपराध–सौम्य जैसे मानव हैं, जो सब दुःख स्वयं सहने के लिए अहोरात्र सन्नद्ध ही बने रहते हैं । परदुःख से कातर बन रहने वाले परोपकार की भावनामात्र से समन्वित ऐसे धर्मभीरु भावुक मानव ही अपनी भावुकतापूर्ण अनुभूतियों उद्‌गारों से गद्‌गद करते रहते हैं स्वसमानधर्म्मा भावुक प्राणियों को । कदापि ऐसे मानवश्रेष्ठ भावुक महामानवों से जगत् के अनिष्ट की कल्पना भी सम्भव नहीं है । अपितु ये तो सदा जगत् के 'कल्याण' की ही कामना किया करते हैं–विविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिलक्षण पुरुषार्थ का सतत उद्‌घोष करते रहने वाले वीतराग सन्यासियों की भांति किंवा दार्शनिकों की भांति । मानवकुसुम इन का सौजन्य, इन की गरिमामहिमामयी वाणी परदुःखश्रवणमात्र से जब पूर्णाश्रुलोचन बन जाने वाली इन की भावुक–भावात्मक–आकृति एवं परदुःख–निवारण–कामना से ही अपने आप को, परिवार को, समाज को एवं सर्वान्त में राष्ट्र को ही बलिवेदि पर हँसते हँसते चढ़ा देने वाले ऐसे परोपकारी सत्य–करुणा–दया–अहिंसा–के पुजारी मानवश्रेष्ठ अर्जुन की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है । किन्तु ! ।

---

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥
—गीता ३।२७

मर्यादया विचरन्त 'गामाणुगाम' ग्रामानुग्रामम्=एक ग्रामादन्यपथानेनान्य-ग्राम 'दूइज्जमाणा' द्रवन्त=गच्छन्त यत्रैव राजगृह नगर यत्रैव गुणशिलक 'चेइए' चैत्यम्=उद्यान तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य 'अहापडिरूव' यथाप्रति-रूप=यथायोग्य=साधुमर्यादार्हम् उग्गह' अवग्रह=वसतेराज्ञाम् उगिण्हित्ता' अवगृह्य=वनपालसकाशान्मार्गयित्वा सयमेन तपसाऽऽत्मान 'भावेमाणा' भावयन्त =वासयन्तो विहरन्ति=तिष्ठन्ति। परिषन्निर्गता। धर्मे कथित। ततः खलु तस्य धन्यस्य सार्थवाहस्य बहुजनस्यान्तिके एतमर्थ श्रुत्वा निशम्य अयमेतद्रूप आध्यात्मिको यावत् समुदपद्यत यत्र खलु स्थविरा भगवन्तो

पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगाम दूइज्जमाणा जेणेव रायगिहे नयरे गुणसिलए चेइए तेणेव उवागच्छति) जो कि विशुद्ध मातृवशवाले थे यावत् तीर्थंकरों की परम्परा के अनुसार विहार करते थे। वे एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करते हुए जहा राजगृह नगर और गुणशिलक चैत्य था वहां आये (उवागच्छित्ता अहापडिरूव उग्गह उग्गिण्हित्ता सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणा विहरति) वहा आकर वे साधुजन की मर्यादा के अनुसार वसति की आज्ञा वहा के वनपालक से माग कर सयम और तपसे अपनी आत्मा को भावित करते हुए ठहर गये। (परिसा निग्गया, धम्मो कहिओ तएणं तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स बहुजणस्स अतिए एयमट्ठ सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुपज्जित्था) राजगृह नगर से परिषद् यहा आई-भगवान् ने उसे धर्म की देशना दी। इसके बाद उस धन्य सार्थवाह ने अनेक जनों के मुख से इस अर्थ-भगवदागमन रूप समाचार-को सुनकर-उसे हृदय में अवधारित

पुव्विं चरमाणा गामाणुगाम दूइज्जमाणा जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव उवागच्छति) के જેઓ વિશુદ્ધ માતૃવશના હતા, અને તીર્થંકરોની પરપરાગત પ્રથા મુજબ વિહાર કરતા હતા તેઓ એક ગામથી બીજે ગામ વિહાર કરતા જ્યા રાજગૃહ નગર અને ગુણ શિલક ચૈત્ય હતુ ત્યા આવ્યા (उवागच्छित्ता अहा पडिरूवं उग्गह उग्गिण्हित्ता सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणा विहरंति) ત્યા આવીને તેઓ સાધુજનોચિત મર્યાદાને અનુસરતા ત્યાના વન પાલકની પાસેથી વાસ કરવાની આજ્ઞા મેળવીને તપ અને સયમથી પોતાના આત્માને ભાવિત કરતા ત્યા રોકાયા. (परिसा निग्गया धम्मो कहिओ तएण तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स बहुजणस्स अतिए एयमट्ठ सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुपज्जित्था) રાજગૃહ નગરથી ત્યા પરિષદ્ એકઠી થઇ ભગવાને પરિષદ્ને સબોધી એટલે કે ધર્મ દેશના આપી. ત્યાર પછી ધન્ય સાર્થવાહે ઘણા માણસોના મોઢેથી ભગવાનને પધારવાના સમાચાર સાભળીને, તેને હૃદયમા અવધારિત કરતા તેના

'अहं' (जीव') का कर्तृत्व मान बैठने की महाभयानक भूल कर बैठता है तो इस 'अहं रूप' चैतन्य में प्रकृति की 'जड़ता' का समावेश होजाता है। और ऐसा मानव इस अवस्था में आकर केवल जड़प्रकृति ही प्रकृति बना रहजाता है। स्वयं प्रकृतिका अनन्तकालिक विस्तार भी इस की अहंकारविमूढ़ा विकृतिलक्षणा प्रकृति से परोक्ष ही बन जाता है*।

५५६–अहन्तामूला–प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका भूतजड़ता के द्वारा कर्मव्यासक्त दुर्नैष्ठिक की 'विमूढ़ता', एवं कर्त्तव्यच्युत की–'मूढ़ता'—

स्थूलदृष्टि–भावानुगत प्रत्यक्ष दृष्ट भूत–भौतिक पदार्थों का 'स्वार्थ' ही इसकी इस 'जड़ता' का आधार–स्तम्भ बन जाता है। यह अपने सामने की भूतवस्तु को छोड़ कर कल–परसों का भी विचार करने में असमर्थ बन जाता है। इसी को 'सम्मूढ़' कहा गया है विमूढ़' कहा गया है जब कि केवल भावुक 'मूढ़' नाम से ही व्यवहृत होने योग्य है (नैष्ठिक की अपेक्षा विमूढ़ बनता हुआ भी)। 'अहङ्कारविमूढ़ात्मा' (गीता ३।२७।)–'प्रकृतेर्गुणसम्मूढ़ाः (गीता ३।२९।)–'सर्वज्ञानविमूढ़ांस्तान्० (गीता ३।३२।)–'इन्द्रियार्थविमूढ़स्य' (मैत्र्युपनिषत् ६।१४।)–'एतैर्विमोहयत्येषः (गीता ३।४० ।)–'इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा' (गीता ३।६।) 'विमूढ़ा नानुपश्यन्ति' (गीता १५।१० ।)–इत्यादि श्रौत–स्मार्त वचन तात्कालिक स्वार्थपरायण इन्द्रियलोलुप–स्खलनविमूढ़–सम्मूढ़–जड़मानवों के इस स्वरूप का ही यथावर्णन ! कर रहे हैं जिन्हें हम अपनी व्यवहारभाषा में 'दुर्नैष्ठिक'–'दुष्ट'–'क्रूर'–'आततायी'–'असुर'–'राक्षस' 'नराधम' पिशाच –आदि आदि सम्मानित ! उपाधियाँ प्रदान करते रहना अपना मानवोचित कर्त्तव्य ही मानते आरहे हैं।

५५७–परदुःखकातर, अतएव दिग्देशकालविमूढ़ अर्जुन-समतुलित कर्त्तव्यच्युत भावुक मानवों का प्रशंसात्मक, किन्तु दयनीय स्वरूप—

अर्जुन–जैसा कर्त्तव्यविमुख भावुक मानवश्रेष्ठ तो केवल भावुक है निरपराध–सौम्य ऐसे मानव हैं, जो सब दुःख स्वयं सहने के लिए अहोरात्र आतुर ही बने रहते हैं। परदुःख से कातर बने रहने वाले परोपकार की भावनामात्र से समन्वित ऐसे धर्मभीरु भावुक मानव ही अपनी भावुकतापूर्ण अनुभूतियों उद्गारों से गद्गद् करते रहते हैं स्वसमानधर्म्मा भावुक प्राणियों को। तथापि ऐसे मानवश्रेष्ठ भावुक महामानवों से जगत् के अनिष्ट की कल्पना भी सम्भव नहीं है। अपितु ये तो सदा जगत् के 'कल्याण' की ही कामना किया करते हैं–विविध दुःखा-स्वतनिवारणलक्षण पुरुषार्थ का सतत अनुपालन करते रहने वाले वीतराग सन्यासियों की भाँति किंवा दार्शनिकों की भाँति। मानवसुलभ इन का सौजन्य, इन की गरिमामहिमामयी वाणी परदुःखश्रवणमात्र से अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बन जाने वाली इन की भावुक–आकर्षक–आकृति एवं परदुःख–निवारण–कामना से ही अपने आप की, परिवार को, समाज को एवं अन्ततः में राष्ट्र को ही बलिवेदि पर हँसते हँसते चढ़ा देने वाले ऐसे परोपकारी सत्य–करुणा–दया–अहिंसा–के पुजारी मानवश्रेष्ठ अर्जुन की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। किन्तु ! !

---

* प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥
—गीता ३।२७

मर्यादया विचरन्त' 'गामाणुगाम' ग्रामानुग्रामम्=एक ग्रामादन्यवधानेनान्य-ग्राम 'दूइज्जमाणा' द्रवन्त =गच्छन्त यत्रैव राजगृह नगर यत्रैव गुणशिलक 'चेइए' चैत्यम्=उद्यान तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य 'अहापडिरूव' यथाप्रति-रूप=यथायोग्य=साधुमर्यादार्हम् उग्गह' अवग्रह=वसतेराज्ञाम् उग्गिहित्ता' अवगृह्य=वनपालसकाशान्मार्गयित्वा सयमेन तपसाऽऽत्मान 'भावेमाणा' भावयन्त =वासयन्तो विहरन्ति=तिष्ठन्ति। परिषन्निर्गता। धर्मे कथित। तत खलु तस्य धन्यस्य सार्थवाहस्य बहुजनस्यान्तिके एतमर्थ श्रुत्वा निशम्य अयमेतद्रूप आध्यात्मिको यावत समुदपद्यत एव खलु स्थविरा भगवन्तो

पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगाम दूइज्जमाणा जेणेव रायगिहे नयरे गुणसिलए चेइए तेणेव उवागच्छति) जो कि विशुद्ध मातृवश वाले थे यावत् तीर्थंकरों की परम्परा के अनुसार विहार करते थे। वे एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करते हुए जहां राजगृह नगर और गुणशिलक चैत्य था वहा आये (उवागच्छित्ता अहापडिरूव उग्गह उग्गिहित्ता सजमेण तवमा अप्पाण भावेमाणा विहरति) वहा आकर वे साधुजन की मर्यादा के अनुसार वसति की आज्ञा वहा के वनपालक से माग कर सयम और तपसे अपनी आत्मा को भावित करते हुए ठहर गये। (परिसा निग्गया, धम्मो कहिओ तएण तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स बहुजणस्स अतिए एयमट्ठ सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुपज्जित्था) राजगृह नगर मे परिषद् वहां आई-भगवान् ने उसे धर्मकी देशना दी। इसके बाद उस धन्य सार्थवाह ने अनेक जनों के मुख से इस अर्थ-भगवदागमन रूप समाचार-को सुनकर-उसे हृदय में अवधारित

पुव्विं चरमाणा गामाणुगाम दूइज्जमाणा जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव उवागच्छति) के જેઓ વિશુદ્ધ માતૃવશના હતા, અને તીર્થંકરોની પરપરાગત પ્રથા મુજબ વિહાર કરતા હતા તેઓ એક ગામથી બીજે ગામ વિહાર કરતા જ્યા રાજગૃહ નગર અને ગુણ શિલક ચૈત્ય હતુ ત્યા આવ્યા (उवागच्छित्ता अहा पडिरूवं उग्गह उग्गिण्हित्ता सजमेणं तवसा अप्पाण भावेमाणा विहरन्ति) ત્યા આવીને તેઓ સાધુજનોચિત મર્યાદાને અનુસરતા ત્યાના વન પાલકની પાસેથી વાસ કરવાની આજ્ઞા મેળવીને તપ અને સયમથી પોતાના આત્માને ભાવિક કરતા ત્યા રોકાયા (परिसा निग्गया धम्मो कहिओ तएण तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स बहुजणस्स अतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुपज्जित्था) રાજગૃહ નગરથી ત્યા પરિષદ્ એકઠી થઈ ભગવાને પરિષદ્‌ને સબોધી એટલે કે ધર્મ દેશના આપી ત્યાર પછી ધન્ય સાર્થવાહે ઘણા માણસોના મોઢેથી ભગવાનને પધારવાના સમાચાર સાભળીને, તેને હૃદયમા અવધારિત કરતા તેના

के स्थान में धर्म्मभीरु–शास्त्रभीरु–कर्त्तव्यभीरु–बन जानेवाला परमुखापेक्षी मानवश्रेष्ठ ही 'भावुक' कहलाया है, जो परमुखों की चर्व्वणा में ही आद्यन्त का दुःखी बनता हुआ एक दिन इन दुःखों में ही समाप्त हो जाता है एवं तदनन्तर उसके भक्त–अनुयायी उसके भावुकतापूर्ण इन त्याग–तपस्या–विजृम्भणों के यशोगानमात्र से अपने आपको भी उसी भावुकतापूर्ण पथ के पथिक बनाए रहते हैं।

५६१–ईश्वर–धर्म्म-शास्त्र-भीरु, मान्यताभावों में नितान्तभीरु भावुक-मानवों की परम्परा से ही अनेक शताब्दियों से उत्पीड़ित भारतराष्ट्र—

सचमुच धर्म्मभीरु–शास्त्रभीरु–ईश्वरभीरु–सर्वोपरि सत्य, अहिंसा, दया, करुणा–मानवता–आदि में नितान्त भीरु ऐसे भावुक मानवों की पारम्परिक–शाखि–परम्पराने ही तीन सहस्र वर्षों से भारत की धर्म्म–शास्त्र कर्त्तव्य-ईश्वर आदि विमल-निष्ठाओं को विस्मृति के गर्भ में ही विलीन बनाए रक्खा है। इन की इस भावुकता के ही अनुग्रह से निश्चयेन एकमात्र *अनुभूतिमूला इस विशुद्धा भावुकता से ही उन विमूढ़ दुष्प्रवृत्ति–अस*–स्थायी–कुनैष्ठिकों को ही उत्तरोत्तर इस राष्ट्र में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से बद्धमूल बनाया है जिनके कारण ही सबकुछ *विद्यमान रहते भी भारतराष्ट्र श्री–समृद्धि–विद्या–शौर्य्य–यशो-विहीन ही बनता आरहा है* विगत तीन सहस्र वर्षों से।

५६२–कर्त्तव्यनिष्ठासक्तिमूलक व्यामोहन से व्यामुग्ध मानव की तमोगुणान्विता जड़ता, एवं तद्द्वारा भीषण–अकाण्ड–ताण्डव—

निवेदन किया गया है कि 'कर्त्तव्यनिष्ठा' शब्द के 'कर्त्तव्य' पर्व का प्रकृति से तथा 'निष्ठा' पर्व का 'पुरुष से सम्बन्ध है। जब कर्त्तव्यात्मक प्रकृतिभाव निष्ठात्मक पुरुष के क्षेत्र में आता हुआ पुरुष की सम्पत्ति बन जाता है तो प्राकृत मानव का चैतन्यपुरुषभाव (जीवभावापन्न–अहम्भाव) 'अहं करोमि' (मैं करता हूँ) इस मिथ्यादम्भ में आकर कालान्तर में निश्चित कर्त्तव्य से पराङ्मुख ही होजाता है। यही अकर्म्मण्यता कालान्तर में इसे तमोगुणप्रधान वैसे कुकर्म्मों की ओर ही प्रवृत्त कर देती है जिनका एकमात्र उद्देश्य बना रहता है हिंसक सिंह–व्याघ्रादि प्राकृत जीवों के तुल्य कर्म्मपरायण किसी भी उपाय से–छल-बल-कपट-हिंसा-स्तेय-दस्युवृत्ति आदि से स्वार्थपोषण करते रहना। यों आरम्भ की 'भावुकता' ही कालान्तर में 'अधमता' की जननी बन जाती है। भावुकता ही यों परम्परया अपने वर्ग में से ही मानवाधम उत्पन्न कर देती है। वैसे तो मानवता के क्षेत्र में मूलतः सभी मानव ही हैं। किन्तु इन मानवों की प्रारम्भिक भावुकताने ही सभी राष्ट्रों में अपनी मानवता के गर्भ से ही दानव–दस्युओं को उत्पन्न कर डाला है जो दानव-दस्यु अपनी जननी मानवता को खा–खा कर ही अपनी अभिवृद्धि करते रहते हैं। क्योंकि–'जो जिस से उत्पन्न होता है वह उसी को खाकर जीवित रहा करता है' इस प्राकृतिक–नियम का अतिक्रमण कदापि सम्भव नहीं है–निष्ठा के अतिरिक्त।

५६३–धर्म्मभीरु भावुक अर्जुन, तथा कर्म्मभीरु कुनैष्ठिक दुर्य्योधन, एवं इन का धर्म्मनिष्ठा–कर्त्तव्यनिष्ठा–रूपा महती भ्रान्ति—

समझने मात्र के लिए भावुक की पूर्वावस्था को जहां हम 'भावुक' कह सकते हैं वहां इसी की अन्तिम-कष्टावस्थारूपा विमूढ़ावस्था (उत्तरावस्था) को 'कुनैष्ठिक' कह सकते हैं, इस भाव से पाँच सहस्र वर्ष के

बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं पालयित्वा भक्तं प्रत्याख्याति, प्रत्याख्याय मासिक्या संलेखनया षष्टिं भक्तानि अनशनेन छिनत्ति, छित्त्वा कालमासे कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पे देवत्वेन उपपन्नः। तत्र खलु अस्त्येककानां देवानां चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, तत्र खलु धन्यस्य देवस्य चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता। स खलु धन्यो देवस्तस्माद्देवलोकात् आयु

धम्मं सोच्चा एवं वयासी) इसके बाद उस धन्यसार्थवाहने धर्म सुनकर इस प्रकार कहा-(सद्दहामि णं भंते निग्गंथे पावयणे जाव पव्वइए जाव बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता भत्तं पच्चक्खाइ) हे भदंत! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन की श्रद्धा करता हूँ। यावत् वह प्रव्रजित हो गया। बहुत वर्षों तक उसने श्रामण्य पर्याय का पालन किया-बाद में उसने चतुर्विध भक्त को प्रत्याख्यान कर दिया।-(पच्चक्खित्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेइ) प्रत्याख्यान करके १ एक मास की संलेखना से उसने ६० भक्तों को अनशन द्वारा छेद दिया-(छेदित्ता कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने) छेदकर फिर वह मृत्यु के अवसर आने पर मरा-और मर कर सौधर्म कल्प में देव की पर्याय से उत्पन्न हो गया। (तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारिपलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता) वहां कितनेक देवों की चार पल्योपमप्रमाणस्थिति कही गई है सो (तत्थ णं धण्णस्स देवस्स चत्तारिपलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता) इसमें धन्यकुमार देवकी वहां चार

एवं वयासी त्यार पछी धर्म-देशनानुं श्रवण करीने धन्य सार्थवाहे कह्युं-सद्दहामि णं भंते निग्गंथे पावयणे जाव पव्वइए जाव बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता भत्तं पच्चक्खाइ) हे भदंत! निर्ग्रंथ प्रवचनमां हुं सारी पेठे श्रद्धा धरावुं छुं आ रीते धन्य सार्थवाह प्रव्रजित थई गया घणां वर्षो सुधी तेओए श्रामण्य पर्यायनुं पालन कर्युं त्यार बाद तेमणे चतुर्विध भक्तनुं प्रत्याख्यान कर्युं (पच्चक्खित्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेइ) प्रत्याख्यान करीने एक महिनानी संलेखना वडे तेमणे साईठ भक्तोनुं अनशन वडे छेदन कर्युं (छेदित्ता कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने) छेदन कर्यो बाद मृत्युनो वखत ज्यारे आव्यो त्यारे तेओ मरण पाम्या अने मरण पामीने सौधर्म कल्पमां देवनी पर्यायथी तेओ उत्पन्न थया. (तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता) त्यां केटलाक देवोनी स्थिति चारपल्योपम प्रमाण जेटली छे (तत्थ णं धण्णस्स देवस्स चत्तारिपलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता) आ रीते धन्यकुमार देवनी स्थिति त्यां चार

प्रमाणित कर रही है कि, अनन्तमय की अनन्तकालविभूति के महिमाख्य दिग्देशकालनिबन्ध भी तस्मात् अनन्त ही हैं। सर्वोपरि अपेक्षित है सचमुच में यत्किञ्चित् —सा ही, जिसे सक्रिय बना लेने में महान् मानव-श्रेष्ठ को कदापि आपत्ति नहीं होगी, ऐसी हमारी मान्यता ही नहीं, अपितु पूर्ण आस्था है।

५६७—दिग्देशकालनिबन्धना तात्कालिकता से आविर्भूत व्यामोहन, एवं तद्द्वारा अनर्थपरम्पराओं की अभिव्यक्ति—

दिग्देशकाल के व्यामोहनने ही मानव की महत्ता में तथाकथिता अनर्थपरम्पराओं का समर्थन किया है। दिग्देशकालनिबन्धना वह व्यक्तिनिष्ठा अन्य पक्ष है, जो दिग्देशकालनिबन्धना स्वार्थनिष्ठा (कुनिष्ठा) विभिन्न पक्ष है। सम्मुख उपस्थित भौतिक लाभ को इस वर्तमान दिग्देशकाल—निबन्धन तात्कालिक स्वार्थ को देखकर हमारी तात्कालिक बुद्धि अतीत और भविष्यत् को विस्मृत कर बैठती है। और ऐसा कुछ मान बैठती है इस परदर्शनमूला—विमोहनात्मिका भावुकता के आवेश में कि, यदि अभी इसी क्षण किसी भी उपाय से छलसे—बल से हमने इसे अपने अपने अधिकार में नहीं कर लिया, तो आगामी कल में हमें दुःखी ही होजाना पड़ेगा। यही तात्कालिकी दिग्देशकालता हमें ऐसे अनन्य संग्रह में प्रवृत्त कर देती है जो संग्रह अपने सहज आवश्यकधर्म्म से संग्रहपरम्परा को जन्म देता हुआ इस संग्रह में ही इसे तल्लीन कर देता है। और यही तल्लीनता इसे आत्ममूलक उपदर्शन एवं तदनुगता महती महानता से पराङ्मुख करती हुई महतोमहीयान् भी इसके 'मानवस्वरूप' को ऐसा क्षोद्य बना डालती है, जिस क्षोदर्श में आकर यह अपने सम्मुख विद्यमान भौतिक अर्थों के साथ हिंसक सिंह-व्याघ्रादि की भाँति ही नहीं, अपितु शृगालवत् ही चिपट जाता है। और दुर्भाग्यवश शवशरीरात्मक अल्पात्ममाओंसे समाश्रित इन निष्प्राण अर्थों की लिप्सा में ही यह अपनी बुद्धिमत्ता समाप्त कर देता है।

५६८—दिग्देशकालानपेक्षतापूर्वक ही मानव का तद्व्यामोहन से सम्भावित आत्मत्राण—

कौन मना करता है इसे दिग्देशकाल से लाभ उठाने के लिए, जबकि दिग्देशकाल की सीमा से बाहिर लाभ उठाने जैसा कुछ भी तो नहीं है। जबतक मानव शरीरी है फिर भले ही वह ऋषि हो, देवता हो, परिव्राजक हो, भिक्षु तपस्वी वीतराग सन्यासी हो अवश्य ही सभी को दिग्देशकालात्मिका शरीरयात्रा के निर्वाह के लिए दिग्देशकालात्मक वर्त्तमान का ही आश्रय लेना पड़ेगा *। जो समय से लाभ उठाता है, वही बुद्धिमान् है वही विद्वान् है। कदापि इस प्रकृतिसिद्ध शाश्वत सनातन नियम का अतिक्रमण सम्भव ही नहीं है। जो इस नियम का अतिक्रमण कर जाता है कल्पित अनभिव्यक्तवाद के व्यामोहन में अपनी दार्शनिकता में अपनी विद्वत्ता में अभिनिविष्ट होकर, उसे 'शून्यम्' शून्यम्' के अतिरिक्त और क्या मिलता है?। दिग्देशकाल—निबन्धना बुद्धिमानी की भावावेश में उपेक्षा करके ही तो अर्जुन यथाधिकारसिद्ध राज्यवैभव से वञ्चित कर बैठा था अपने आपको।

---

* नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः॥
—गीता ३।८

एवं हियय उप्पाडणाणि य, वसणुप्पाडणाणि य, उल्लंबणाणि य पाविहिइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतससारकतारं वीइवइस्सइ जहा व से धण्णे सत्थवाहे। एवं खलु जंबू! समणेण जाव संपत्तेणं दोच्चस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते-त्तिबेमि। सू. १४।

॥ बिइयं णायज्झयणं समत्तं ॥ २ ॥

टीका—'जहाणं जंबू' इत्यादि। 'जहाणं' यथा खलु=येन प्रकारेण हे जम्बू! धन्येन सार्थवाहेन 'नो' न 'धम्मोत्ति वा' धर्मइति वा मत्वा यावत् 'सुहृद्' इति वा मत्वा विजयाय तस्कराय तस्माद् विपुलाद् अशनपानखाद्यस्वाद्यात् संविभागः कृत, नान्यत्र शरीरसंरक्षणार्थाय-शरीरसंरक्षणं विहाय अशनादि संविभागो न कृत इत्यर्थं एवमेव हे जम्बू! यः खलु अस्माकं निर्ग्रन्थो वा निर्ग्रन्थी वा 'जाव' यावत्-आचार्योपाध्यायानामन्तिके मुण्डो भूत्वा अगाराद् अणगारितां प्रव्रजितः सन् 'ववगयण्हाणुम्मद्दणपुप्फगंधम

'जहा णं जंबू!' इत्यादि।

टीकार्थ—(जहा णं जंबू!) हे जंबू जिस प्रकार (धण्णेणं सत्थवाहेणं) धन्य सार्थवाहने (नो धम्मोत्ति वा जाव विजयस्स तक्करस्स तओ विउलाओ असणपाणखाइमसाइमाओ संविभागे कए) धर्म नहीं मानकर यावत् मित्र नहीं मानकर विजय तस्कर के लिये उस विपुल अशन, पान, खाद्य स्वाद्य रूप आहार में से विभाग किया (नन्नत्थ सरीरसारक्खणट्ठाए) केवल अपने शरीर की रक्षा के निमित्त। (एवामेव जंबू! जेणं अम्हं निग्गंथे वा निग्गंथी वा जाव पव्वइए समाणे ववगयण्हाणुम्मद्दणपुप्फगंधमल्लालंकार विभूसे) इसी तरह हे जंबू! जो हमारे निर्ग्रन्थ साधु वा निर्ग्रन्थी साध्वियां

'जहा णं जंबू!' इत्यादि।

टीकार्थ—(जहा णं जंबू!) हे જંબૂ! જેવી રીતે (धण्णेणं सत्थवाहेणं) धन्यसार्थवाहे (नो धम्मोत्ति वा जाव विजयस्स तक्करस्स तओ विउलाओ असणपाणखाइमसाइमाओ संविभागे कए) પોતાની ફરજ કે પોતાનો મિત્ર એવું કંઈ ન જાણતા વિજય તસ્કરને માટે વિપુલ અશન પાન, ખાદ્ય અને સ્વાદ્યરૂપ અહારમાંથી ભાગ કરી આપ્યો (नन्नत्थ सरीरसारक्खणट्ठाए) તે ફક્ત પોતાના શરીરની રક્ષા માટે જ (एवामेव जंबू! जेणं अम्हं निग्गंथे वा निग्गंथी वा जाव पव्वइए समाणे ववगयण्हाणुम्मद्दणपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसे) આ પ્રમાણે જ જંબૂ હે! જેઓ અમારા નિર્ગ્રંથ સાધુ કે નિર્ગ્રંથ સાધ્વીઓ આચાર્ય કે ઉપાધ્યાયની

५७१–ईश्वर के द्वारा प्राप्त बल से सर्वप्रथम ईश्वरसत्ता पर ही प्रहार के ऐतिह्य निदर्शन, एवं अनीश्वरवादियों के संहारकर्म्म—

सहसा हम चिन्तन करने लग पड़ते हैं कि, सृष्टि के आरम्भ से आजतक इस धराधाम पर जितने भी असुर–राक्षस–दस्यु–आदि क्रूर दुष्ट मानव उत्पन्न हुए, उनने इस विश्व की शक्तियों से ही तो विश्व को विकम्पित किया है। भगवान् के साम्राज्य से ही तो इन सब को सबकुछ मिला है। उसी के बल से तो इन्होंनें उस पर प्रहार करने में भी कोई न्यूनता नहीं की है। यही नहीं, अपितु सर्वप्रथम तो इन के प्रहार का लक्ष्य भगवान् ही बने हैं। ईश्वरसत्ता के विरोध से ही तो इन के प्रचण्ड दुष्कर्म्म उपक्रान्त बनते हैं। उसे न मान कर ही तो ये स्वयं को ब्रह्मा मान बैठते हैं अपने प्राकृत स्वरूप से। और यह अनीश्वरता ही तो इन्हें संहारकर्म्मों की ओर प्रवृत्त करती है। उस अनन्तता से अपरिचित रह जाने के कारण ही तो ये साद्यन्त दिग्देशकालों से तात्कालिक लाभ उठा लेना ही अपना परमपुरुषार्थ मान बैठते हैं।

५७२–'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' का संस्मरण, प्रकृतिपरिपाकानुगत भौतिक-दण्ड, एवं तत्सम्बन्ध में कुनैष्ठिकों की भ्रान्ति—

और अब हम ऐसा भी अनुभव कर रहे हैं अपने मानस में ही कि, यदि भगवान् दुर्य्योधन को भूतपरिग्रह की सहायता नहीं देते तो सम्भवतः सत्य इतिहास के भव्य–श्रव्य पुराणपुरुष भगवान् व्यास के मुखपङ्कज से कदापि श्रद्धापूर्वक उन्मुक्तरूप से–'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' जैसी नैष्ठिकी आर्षवाणी विनिर्गत ही न होती। भगवान् कदापि अपनी भूतप्रजा को भौतिक दण्ड तत्काल ही नहीं दे दिया करते। अपितु भौतिक दण्ड तो उन की ओर से प्रकृतिपरिपाक के उत्तरदायित्व पर ही छोड़ दिया गया है। तभी तो भूतासक्त यह मानव यह भ्रान्ति कर बैठता है कि–'मेरे ऐसे षड्यन्त्रों से भी जब कि मुझे भूतसमृद्धि अनायासेनैव उपलब्ध हो रही है, तो व्यर्थ है धर्म्म का भय और निरर्थक है ईश्वरसत्ता का व्यामोहन'।

५७३–धर्म्माचार्य्यों के द्वारा कुनैष्ठिकों की भ्रान्ति परम्पराओं का स्वरूप विश्लेषण—

यह क्यों ऐसी भ्रान्ति कर बैठता है? स्वयं धर्म्माचार्य्योंनें इसी तथ्य का और भी अधिक उदात्तता से समाधान किया कि–"जो प्राकृत–बद्ध मानव दिग्देशकालनिबन्धन स्वार्थ में अन्ध बन कर धर्म्मपथ का परित्याग करता हुआ सर्वनियन्ता ईश्वर की उपेक्षा करता हुआ अधर्म्मपथ का अनुगामी बन जाता है तत्काल वह मानो बढ़ने ही लगता है (आज की भाषा में 'तरक्की' ही करने लग पड़ता है)। अपने इस 'बढ़ाव' से (पदप्रतिष्ठा–अर्थसंग्रहादि से) यह भूतव्यामूढ़ (उन्मत्त) मानव नित नूतन मद अनुष्ठान (उत्सवायोजन) मनाने लगता है। अपने इन लोकायोजनों के बल पर, तथा समृद्ध अर्थबल पर ही यह नराधम अपने प्रतिद्वन्द्वियों को लोकसंघर्ष में पराजित भी करता रहता है। किन्तु अन्ततः में? । सो न कहना ही अच्छा है *।

---

*–अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति॥
—मनुः ४।१७४।

णिज्जे' अर्चनीय =माननीयोऽभ्युत्थनादिना, वंदणिज्जे' वन्दनीय स्तुतियोग्यो गुणो कीर्तनादिना, 'पूयणिज्जे' पूजनीयः=आदरणीयश्चरणस्पर्शादिना, 'पज्जुवासणिज्जे' पर्युपासनीय =सेवनीय आहार वस्त्रपात्रादिभिर्भवति। परलोकेऽपि च खलु=भवान्तरेऽपि बहूणि' बहूनि=बहुविधानि 'हत्थच्छेयणाणि य' हस्तच्छेदनानि=करकृन्तनानि, कण्णच्छेयणाणि य' कर्णच्छेदनानि च 'नासाछेयणाणि य' नासाछेदणाणि च, एव 'हिययउप्पाडणाणि य' हृदयोत्पाटनानि च=हृदयविदारणानि 'वसणुप्पाडणाणि य' वृषणोत्पाटनानिच=अण्डकोषविदारणानि 'उल्लंबणाणि य' उल्लम्बनानि च उत्=ऊर्ध्वप्रदेशे वृक्षशाखादौ लम्बनानि=बन्धनानि उद्बन्धनानीत्यर्थ 'नो' न 'पाविहिइ' प्राप्स्यति पूर्वोक्त दु खानि न लप्स्यतइ ति भाव। 'अणाइय' अनादिकम्=आदिरहित च खलु 'अणवदग्ग' अनवदग्रम्=अनन्तम्, दीहमद्ध' दीर्घाध्वानं=चतुर्गतिलक्षण दीर्घमार्गम्,

---

गाण य साविगाण य अच्चणिज्जे वंदणिज्जे, पूयणिज्जे, पज्जुवासणिज्जे भवइ, परलोए वि य ण नो बहूणि हत्थच्छेयणाणि य कण्णच्छेयणाणि य नासाच्छेयणाणि य एव हिययउप्पाडणाणिय वसण्णुप्पाडणाणि य उल्लंबणाणि य पाविहिइ) वे निर्ग्रन्थ साधु और निर्ग्रन्थ साध्वि या महाराज इस लोकमे अनेक श्रमण और श्रमणीयों के श्रावक और श्राविकाओं के माननीय होते हैं, वदनीय होते हैं, पूजनीय होते हैं पर्युपासनीय होते हैं तथा परलोकमे वे हस्तच्छेदसे कर्णच्छेदसे, नासिकाच्छेदसे बचते हैं। उनके हृदय नहीं विदारें जाते हैं, अडकोष उनके नहीं विदारे जाते हैं न वे उर्ध्व प्रदेशरूप वृक्षादिकों की शाखा पर ही लटकाये जाते हैं। इस पूर्वोक्त समस्त दु खोंसे वे परे रहते हैं। (अणाइय च ण अणवदग्ग दी

वदणिज्जे, पूयणिज्जे, पज्जुवासणिज्जे भवइ, परलोए वि य ण नो बहूणि हत्थच्छेयणाणि य कण्णच्छेयणाणि य नासच्छेयणाणि य एव हिययउप्पाडणाणिय वसणुप्पाडणाणि य उल्लंबणाणि य पाविहिइ) ते निर्ग्रंथ साधु अने निर्ग्रंथ साध्वीओ (महाराज) आ जगतमा श्रमण अने श्रमणीओना तेमज श्रावक अने श्राविकाओनी वच्चे सन्मान युक्त पद मेळवे छे अने तेओ वंदनीय, पूजनीय अने पर्युपासनीय होय छे तथा परलोकमा तेवा साधु-साध्वीओ हस्तच्छेदथी बची जाय छे तेमना हृदय अने अंडकोषो विदीर्ण करवामा आवता नथी अने तेमने ऊंचा वृक्षोनी शाखाओ उपर पण लटकाववामा आवता नथी. उपर कहेवामा आवेला बधा दुःखोथी तेओ मुक्त रहे छे (अणाइयं च ण अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरतससारकतार

भगवान् वासुदेव से सहायता याचना कर बैठने का ?, कैसे इस से ऐसी असम्भव घृष्टता हो पड़ी ?, इत्यादि प्रश्न यथार्थ हैं उक्त स्पष्टीकरण के माध्यम से ही। किन्तु जैसा कि हमने निवेदन किया है तत्कालीन भगवच्चरितों के सम्बन्ध में हमारी प्रज्ञा सर्वथा भावुक ही है। अतएव अन्ततोगत्वा पुनः यह भावुकता और आगरूक हो ही तो पड़ती है इसी ऐतिह्य-घटना के सम्बन्ध में कि,—भगवान् ने अपनी पूर्णावतार-निबन्धना भगवत्ता के कारण दुर्य्योधन को मौलिक—सहायता दे दी, यहांतक तो अमुक दृष्टि से बात समझ में आई। किन्तु उसी अवसर पर सहायता की कामना अभिव्यक्त करने भगवान् के अत्यन्त प्रियसखा अर्जुन भी आए हुए थे। दिग्देशकाल के महान् पण्डित तात्कालिक साम उठान में अत्यन्त कुशल नैष्ठिक (कुनैष्ठिक) राजा दुर्य्योधन के गुप्तचर पाण्डवों के गुप्त से गुप्त भी प्रतिक्षण के समाचार दुर्य्योधन को पहुँचा रहे थे। अपनी इसी सावधानी से प्रतिक्षण सावधान बने रहने वाले दुर्य्योधन ने अन्यथान्यथा वहां दूत भेजे + वहां द्वारिका में स्वयं पहुँचे। उधर जब पाण्डवों ने यह सुना कि, दुर्य्योधन भगवान् से सहायता लेने द्वारिका जा रहे हैं तो दिग्देशकालविमूढ पाण्डवों को तब कहीं स्वयं भी वहां पहुँचने की सूझी। फलतः अर्जुन ने भी अनुधावन किया दुर्य्योधन का वह गमन सुन कर। सौभाग्य से दोनों के प्रवेश में अन्तर थोड़ा ही रहा। पूर्णक्षण में दुर्य्योधन भगवान् के शयनकक्ष में पहुँचे तो तदुत्तर क्षण में ही अर्जुन पहुँच गए *। दुर्य्योधन अपनी वैय्यक्तिक प्रतिष्ठा के अनुरूप भगवान् के मस्तक की ओर रक्खे हुए बहुमूल्य सिंहासन पर यथोचित सम्मान से सभ्य बन कर बैठ गए जबकि अर्जुन भगवान् के चरणों के समीप प्रणतभाव से सम्बद्धविनम्रभाव से ही खड़े हो गए —। कुशल—क्षेमानन्तर बोले सर्वप्रथम दुर्य्योधन ही इस धर्म्मबुद्धि ! के साथ मन्दहास्यपूर्वक ही कि,—'इस युद्ध में आप को हमें सहायता देनी चाहिए (१)। क्योंकि आप के लिए हम और अर्जुन दोनों समानरूप से मित्र हैं। और फिर (मित्रता न भी मानी जाय तो भी) हम दोनों आप के समान-सम्बन्धी तो हैं ही। (और हाँ, यह स्मरण रखिए कि) हम अर्जुन से पहिले आए हैं आप के सन्निकट। सत्पुरुषों का यह नियम है कि, पहिले आने वाले की बात पर वे पहिले ध्यान देते हैं (२)। और आप वर्त्तमान समाज में एक श्रेष्ठतम सन्त व्यक्ति हैं। अतएव आप को सन्तानुगत सदाचार का पालन करना ही चाहिए। (अमब्रण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !) ।(दुष्टबुद्धि को जब किसी

—धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः।

*—ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनाः।

—उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने (दुर्य्योधन)।
पश्चार्थे च स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत्कृताञ्जलिः (अर्जुन) ॥

(१)-विग्रहेऽस्मिन् भवान् ! साह्यं मम दातुमिहार्हसि।
—अत्यन्त धृष्टतापूर्ण वाक्य

(२)-अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन ! ।
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्वसारिणः ।
—कैसी धर्म्मभावना है ?

णिज्जे' अर्चनीय =माननीयोऽभ्युत्थनादिना, वंदणिज्जे' वन्दनीय स्तुतियोग्यो गुणोत्कीर्तनादिना, 'पूयणिज्जे' पूजनीयः=आदरणीयश्चरणस्पर्शादिना, 'पज्जुवासणिज्जे' पर्युपासनीय =सेवनीय आहार वस्त्रपात्रादिभिर्भवति। परलोकेऽपि च खलु=भवान्तरेऽपि बहूणि' बहूनि=बहुविधानि 'हत्थच्छेयणाणि य' हस्तच्छेदनानि=करकृन्तनानि, कण्णच्छेयणाणि य' कर्णच्छेदनानि च नासाछेयणाणि य' नासाछेदणाणि च, एव 'हिययउप्पाडणाणि य' हृदयोत्पाटनानि च=हृदयविदारणानि 'वसणुप्पाडणाणि य' वृषणोत्पाटनानिच=अण्डकोषविदारणानि 'उल्लंबणाणि य' उल्लम्बनानि च उत्=ऊर्ध्वप्रदेशे वृक्षशाखादौ लम्बनानि=बन्धनानि उद्बन्धनानीत्यर्थ 'नो' न 'पाविहिइ' प्राप्स्यति पूर्वोक्त दु खानि न लप्स्यतइति भाव। 'अणाइय' अनादिकम्=आदिरहित च खलु 'अणवदग्ग' अनवदग्रम्=अनन्तम्, दीहमद्ध' दीर्घाध्वानं=चतुर्गतिलक्षण दीर्घमार्गम्,

---

गाण य साविगाण य अच्चणिज्जे वंदणिज्जे, पूयणिज्जे, पज्जुवासणिज्जे भवइ, परलोए वि य ण नो बहूणि हत्थच्छेयणाणि य कण्णच्छेयणाणि य नासाच्छेयणाणि य एव हिययउप्पाडणाणिय वसणुप्पाडणाणि य उल्लंबणाणि य पाविहिइ) वे निर्ग्रन्थ साधु और निर्ग्रन्थ साध्वि या महाराज इस लोकमे अनेक श्रमण और श्रमणीयो के श्रावक और श्राविकाओं के माननीय होते है, वदनीय होते हैं, पूजनीय होते हैं पर्युपासनीय होते है तथा परलोकमे वे हस्तच्छेदसे कर्णच्छेदसे, नासिकाच्छेदसे बचते हैं। उनके हृदय नहीं विदारें जाते हैं, अडकोप उनके नहीं विदारे जाते हैं न वे उर्ध्व प्रदेशरूप वृक्षादिकों की शाखा पर ही लटकाये जाते हैं। इस पूर्वोक्त समस्त दु खोंसे वे परे रहते हैं। (अणाइय च ण अणवदग्ग दी

वदणिज्जे, पूयणिज्जे, पज्जुवासणिज्जे भवइ, परलोए वि य ण नो बहूणि हत्थच्छेयणाणि य कण्णच्छेयणाणि य नासच्छेयणाणि य एव हिययउप्पाडणाणिय वसणुप्पाडणाणि य उल्लंबणाणि य पाविहिइ) ते निर्ग्रंथ साधु अने निर्ग्रंथ साध्वीओ (महाराज) आ जगतमा श्रमणु अने श्रमणीओना तेमज श्रावक अने श्राविकाओनी वच्चे सन्मान युक्त पद मेळवे छे अने तेओ वंदनीय, पूजनीय अने पर्युपासनीय होय छे तथा परलोकमा तेवा साधु-साध्वीओ हस्तच्छेदथी बची जाय छे तेमना हृदय अने अडकोपो विदीर्ण करवामा आवता नथी अने तेमने ऊंचा वृक्षोनी शाखाओ उपर पणु लटकाववामा आवता नथी. उपर कहेवामा आवेला बधा दु खोथी तेओ मुक्त रहे छे (अणाइयं च ण अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरंतससारकंतार

५७६-कुनैष्ठिक दुष्टबुद्धि मानवों के लोकचातुर्य्य से ही अन्ततोगत्वा इन का समूल विनाश—

इसलिए का केवल एक यही मीमांस्य प्रतीत हो रहा है हमें अपनी भावुकता के दोष से नहीं कि, जब भगवान् की भगवत्ता का यह निर्णयात्मक स्वरूप है कि- 'कुनैष्ठिक दुष्टबुद्धियों को भूल से भी क्षमित नहीं करता

में प्रवृत्त नहीं करते। सम्पूर्ण हुआ भगवत्प्रदत्ता निष्ठा से ही, अतएव सब कुछ किया भगवान्ने ही, सभी कुछ भगवत्सत्ता से ही तो हो रहा है। इस तथ्य को कर्तव्यनिष्ठा के उत्तरदायित्व से पृथक् मान बैठना क्वापि भगवत्सम्मत तो नहीं ही है। नैष्ठिकी सद्बुद्धि भगवान का ही स्वरूप है जो कर्तव्यनिष्ठा की ही अधिष्ठात्री मानी गई है। इस सत्य-धर्म-ह्री आर्जव-रूपा सत्वनिष्ठा के माध्यम से ही भगवदनुग्रह प्राप्त हुआ करता है। अर्जुन में लोकदृष्ट्या सभी भावुकताएँ ही भावुकताएँ थीं। किन्तु भगवान् के प्रति इसकी अनन्यनिष्ठा थी। समझे, बिना समझे भी-'करिष्ये वचनं तव' जैसी समर्पणमूला निष्ठा थी, जिस आदेशमूला निष्ठा का नाम ही 'शास्त्र' माना गया है। जब धृतराष्ट्र बार बार पाण्डवों की सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में सञ्जय से प्रश्न करने लग पड़े थे तो सञ्जयने अन्ततोगत्वा यही कहा था कि—राजन् पाण्डवों के सम्पूर्ण सैन्यबल का एकमात्र रहस्य यही है कि, वे सत्य—धर्म—ह्री—आर्जवादि भगवद्विभूतियों से ही समन्वित हैं। अतएव स्वयं भगवान् उनकी रक्षा कर रहे हैं। अत्यन्त ही प्रिय है यहाँ का प्रसङ्ग जिसे निम्नलिखित रूपेण स्मरण कर हम भी अपनी भावुकता उपशान्त कर लेते हैं—

सञ्जय उवाच-भूयो भूयो हि यदुराजन्! पृच्छसे पाण्डवान् प्रति ॥
सारासारबलं ज्ञातुं तत्समासेन मे शृणु ॥१॥
एकतो वा जगत्कृत्स्नं, एकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥२॥
भस्मकुर्य्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः ॥
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ॥३॥
यतः सत्यं, यतो धर्म्मः, यतो ह्रीः, आर्जवं यतः ॥
ततो भवति गोविन्दः, यतः कृष्णस्ततो जयः ॥४॥
अधर्म्मनिरतान्-मूढान्दग्धुमिच्छति ते सुतान्।
कालचक्रं —जगच्चक्रं —युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिशम् ॥

—महाभारत—उद्योगपर्व ६८ अध्याय

आस्था—श्रद्धा—शीला पाठकों से हम आग्रह करेंगे कि यहाँ का सम्पूर्ण प्रकरण एकबार वे अवश्य ही देख लेने का कष्ट करें, जिसमें सञ्जय के मुख से पुराणपुरुष ने भगवत्सत्ता के सम्बन्ध में महान् उद्बोधन प्रदान किया है भावुक मानव—श्रद्धा—शीलों के लिए।

नावस्थान हडिबन्धनम्, कर्मपरिणामो भूप कर्मप्रकृतयो राजपुरुषा:, मनुष्यायुष्कबन्धहेतव स्वल्पापराधा, प्रतिलेखनादि क्रिया मलमूत्रपरित्यागरूपा, प्रतिलेखनादि क्रियार्थ हि शरीर प्रवर्तते, तचाऽऽहारादिदान विना प्रवर्तितु न प्रभवति, अतो विजयचोरस्थानीयस्य शरीरस्याऽऽहारादिदान प्रतिलेखनादि क्रियार्थमेवेति। पन्थकदासचेटकस्थानीय -प्रकृतिभद्रक साधु। यतः-स भक्तादिकमानीय ददाति। भद्रासार्थवाहीरूपा आचार्या। ते हि आहारादिभि शरीरपोषणपर साधुमुपालम्भयन्ति, तदा साधुर्भोजनकारण क्षुधावे

रूप से जो अवस्थान है वही हडिबंधन है। कर्मपरिणाम राजा और कर्म की प्रकृतिया राजपुरुष है। स्वल्प अपराध मनुष्यायु क बध के हेतु है मलमूत्र परित्यागरूप प्रति लेखनादि क्रियाएँ है। प्रतिलेखनादि क्रिया करनेके लिये शरीर का प्रवर्तित होता है। परन्तु जबतक इसे आहारादि न दिया जाय तबतक इसकी प्रवृत्ति उनके करने के लिये नहीं हो सकती है। इस लिये विजयचोर के स्थानापन्न इस शरीर को जो आहारादि का देना होता है वह उससे प्रतिलेखनादि क्रिया कराने के लिये ही होता है। पन्थदासचेटक के जैसा प्रकृति से भद्र परिणाम वाला साधुजन है। क्यों कि वह भक्तादि लाकर देता है। भद्रा सार्थवाही की तरह आचार्य महाराज है। क्योंकि वे आहारादिद्वारा शरीर के पोषणमें तत्पर हुए साधुओंको उपालंभ-उलहना देते हैं। उस समय साधुजन इसका कारण

बेज 'હડિબંધન' છે અહીં કર્મનું પરિણામ રાજા અને કર્મની પ્રકૃતિઓ રાજપુરુષ છે સ્વલ્પ અપરાધ મનુષ્યના આયુષ્યના બધનો હેતુ છે મળમૂત્ર પરિત્યાગરૂપ પ્રતિલેખના વગેરે ક્રિયાઓ છે શરીર જ પ્રતિલેખના વગેરે ક્રિયાઓ કરવા માટે પ્રવૃત્ત થાય છે પણ જ્યા સુધી આ શરીરને આહાર વગેરે અપાતો નથી ત્યા સુધી આ શરીર મળમૂત્રના ત્યાગ માટે પ્રવૃત્ત થતુ નથી. વિજયચોરના સ્થાને મૂકાએલા આ શરીરને જે આહાર વગેરે આપવામા આવે છે, તે પ્રતિલેખના વગેરે ક્રિયાઓ કરાવવા માટે જ આપવામા આવે છે પાથકદાસ ચૈટક જેવો ઉત્તમ સ્વભાવવાળો માણસ સાધુજ જનના સ્થાને મૂકી શકાય. કેમકે તે ભોજન વગેરે લાવીને આપે છે ભદ્રા સાર્થવાહીની જેમ આચાર્ય મહારાજ છે કેમકે તેઓ આહાર વગેરેથી પોતાના શરીરને પુષ્ટ બનાવનારા સાધુઓને ઉપાલભ (ઠપકો) આપે છે તે વખતે સાધુઓ આહારનુ કારણક્ષુધા (ભૂખ) વેદનાથી નિવૃત્તિ બતાવે છે ત્યારે તેઓ (આચાર્ય) સતુષ્ટ થઈ જાય છે સયમ યાત્રાના નિર્વાહ માટે એટલે કે સયમથી જીવન પસાર કરવા માટે જ સાધુઓ આહાર કરે છે આ પ્રમાણે સપૂર્ણ બીજા અધ્યયનનો આ નિષ્કર્ષ રૂપે અર્થ સ્પષ્ટ

है । अतएव यद्यपि भगवद्भावों में भावुकतापूर्णा किसी भी आशङ्का–कुशङ्का का कोई भी अवसर नहीं है । भगवान् के साम्राज्य में सुबुद्धि, दुर्बुद्धि, दोनों ही जीवित रहते हैं । दोनों को ही भगवान् का अपरिमित सहयोग मिलता रहता है । देवता, और असुर, दोनों ही प्रजापति की सन्तान हैं । प्रजापति की भूतसम्पत्ति के दोनों ही समानरूप से दायादभोक्ता हैं । अन्तर केवल 'दृष्टि' का है । दुष्ट–असुरबुद्धि–सन्तान केवल 'भौतिक दायाद' की ही अधिकारिणी बनती है जबकि प्रजापति पिता की सहिमर्यादा का धर्मपूर्वक निर्वाह करने वाली सत्त्वबुद्धियुक्ता-सुसन्तति को भूतदायाद के साथ साथ पिताप्रजापति की 'अनुग्रहदृष्टि' भी यथा विधरूपेणैव प्राप्त हो जाती है । और ऐसा ही सर्वात्मना ऐसा ही हुआ है विश्वम्भर–विश्वप्रजापति भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के प्राङ्गण में इन की इन दोनों सन्ततियों के लिए । एक (दुर्योधन) को केवल 'भूत' मिला तो दूसरे को दृष्टि–अनुग्रह–माध्यम से स्वयं 'भूतपति' प्राप्त हो गए । दृष्टि का अनुग्रह वात्सल्यपूर्ण अनुग्रह तो परमभागधेय भाग्यशाली उस भावुक अर्जुन को ही प्राप्त हुआ जिसने नम्रभाव से भक्तिपुरस्सर भगवान् के चरणकमल में सर्वात्मना समर्पित ही कर दिया था अपने आप को जिस इस तथ्य का पुरुषपुरुष की– '*दृष्टस्तु प्रथमं राजन् ! यथा पार्थो धनञ्जयः*' इस दिव्य वाणी के 'दृष्टः (दृष्टि' अनुग्रहदृष्टियुक्त) इस शब्द से सर्वात्मना समन्वय होजाता है ।

५८१–संवित्–मूला निष्ठा, एवं अनुभूतिमूला भावुकता से समन्वित महान् मानव के प्रकृति–पुरुष–निबन्धन स्वरूपों का समन्वय—

बात चल रही है उस 'पराङ्मुखित् संबोधन की' जो 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' से वाञ्छित है । इसी पराङ्मुखित् संबोधन के प्रसङ्ग की अपेक्षा से पुरुषभाव से अनुप्राणिता संवित्–मूला निष्ठा तथा प्रकृतिभाव से अनुप्राणिता अनुभूतिमूला भावुकता इन दोनों उन महान् तत्त्वों का पराङ्मुखित् समन्वय उपक्रान्त हो पड़ा जो सप्तचतुष्ट्यात्मक प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य लक्ष्य है । दिग्देशकालातीता पुरुषानुप्राणिता 'निष्ठा' भी मानव का ही स्वरूप (स्वस्वरूप) है एवं दिग्देशकालात्मिका प्रकृत्यनुप्राणिता 'भावुकता' भी मानव का ही स्वरूप है । क्योंकि प्रकृति–पुरुष के समन्वितरूप का ही नाम महान् मानव है । मानव का निष्ठारूप पुरुषभाव इसी का लोकातीतभाव है तदनुबन्धेनैव मानव अप्राकृत–अलौकिक–मानव है एवं यह 'महतोमहीयान्' (प्रकृतिरूप महान् किंवा महदक्षररूपा प्रकृति से भी महान्) है । तथा मानव का भावुकतारूप प्रकृतिभाव इसी का लोकात्मकभाव है तदनुबन्धेनैव मानव प्राकृत लौकिक मानव है एवं यह 'महान्' है । पुरुषरूप लोकातीत क्षेत्र में मानव दिग्देशकालातीत ही बना रहता है एवं प्रकृतिरूप लोकात्मक क्षेत्र में मानव दिग्देशकालात्मक ही बना रहता है । यों मानव के दोनों स्वरूपों के दोनों क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं । और यहीं मानव उस पराङ्मुखित् से संबोधन की उपेक्षा कर अपनी सहज मानवता किंवा महत्ता से पराङ्मुख बन जाता है । अतएव यही यह पराङ्मुखित् संबोधन वाञ्छित बन गया है ।

५८२–प्रकृतिभावनिबन्धना मानव की विषमा समस्या—

दिग्देशकालात्मक प्राकृत क्षेत्र भावुकतापूर्ण है, इस में तो कोई सन्देह नहीं । अतएव इस में मानव का मूढ, किंवा विमूढ बन जाना भी असम्भावित नहीं कहा जासकता । न तो प्राकृत–भावुकता के क्षेत्र के बिना

तृतीयाध्ययनमारभ्यते

द्वितीयाध्ययने विषयकषायादावासक्तस्य दोषा, अनासक्तस्य गुणा उपदिष्टास्तेन चारित्रशुद्धि कर्तव्येति प्रतिबोधयितुम्, अथास्मिन्नध्ययने सशङ्कनि शङ्कयोर्दोषगुणा उपदिश्यन्ते, तेन संयमशुद्धिकारणीभूत—सम्यक्त्वशुद्धिं कर्तव्यतया प्रतिबोधयति, तत्रेद मुपक्षेपसूत्रमाह—

मूलम्—जइ ण भंते ! समणे ण भगवया महावीरेण विइय अज्झयणस्स णायाधम्मकहाण अयमट्ठे पन्नत्ते, तइअस्स ण भंते णायज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? ॥सू १ ॥

टीका—'जइण भन्ते !' इत्यादि

यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण द्वितीयस्याध्ययनस्य ज्ञाताधर्मकथानामयमर्थ प्रज्ञप्त, तृतीयस्य खलु भदन्त ! ज्ञाताध्ययनस्य कोऽर्थ प्रज्ञप्त ?। सर्व सुगमम् ॥सूत्र १ ॥

तीसरा अध्ययन प्रारभ

द्वितीय अध्ययनमें, विषय कषाय आदि में आसक्त हुए व्यक्ति के दोष तथा उनमें आसक्त हुए व्यक्ति के गुण उपदिष्ट हुए हैं। इससे यहां यही समझाया है कि चारित्र की शुद्धि अवश्य ही करनी चाहिये अब इस तृतीय अध्ययनमें जो शका सहित है और जो शका रहित है उन दोनों के दोष और गुण कहते हैं। इससे संयम की शुद्धिमें कारणी-भूत जो सम्यक्त्व की शुद्धि है वह कर्तव्य है यह बात प्रतिबोधित होती है। यह बात यहां सूत्रकार समझाते हैं—इसके लिये वे इस आरभ बोधक सूत्र को कहते हैं—जइण भंते ! इत्यादि

તૃતીય અધ્યયન પ્રારભ

બીજા અધ્યયનમા વિષયકષાય વગેરેમા આસક્ત થયેલા માણુસના દોષો તેમજ અસક્ત થયેલા માણુસના ગુણો બતાવવામા આવ્યા છે આ રીતે બીજા અધ્યયનમા મુખ્યરૂપે એજ વાત સમજાવવામા આવી છે કે ચારિત્રની શુદ્ધિ ચોક્કસ કરવી જોઇએ. આ ત્રીજા અધ્યયનમાં જે માણુસો શકાશીલ અથવા શકા રહિત છે, તે બંનેના ગુણો કહેવામા આવ્યા છે એથી સયમની શુદ્ધિ માટે કારણરૂપ જે સમ્યકૃત્વની શુદ્ધિ છે તે જ કર્તવ્ય છે, આ વાત સમજાય છે સૂત્રકાર અહીં એજ વાત સમજાવે છે તેઓ સમજાવતા આરભ બોધક પહેલુ સૂત્ર કહે છે—जइणं भंते ! इत्यादि ।

परयारूपा विमूढता–लक्षणा जड़तामिभिता प्रतिक्रियात्मिका इस उत्तरावस्था का नाम ही रख दिया जाता है–'कुनिष्ठा' जो प्रचण्ड साहस से ही सम्बन्ध रखती है। अपने आरम्भ के जीवन में (अनुचित सिसृक्षा के कारण) बार बार रूठ पड़ने वाला मचलने वाला मुँह बिगाड़ लेने वाला, इतस्ततः पलायित होते रहने वाला नितान्त भावुक वही मूढ़ दुर्य्योधन कालान्तर में शकुनि–जैसे कुनैष्ठिकों के सम्पर्क में आकर अन्ततोगत्वा वैसा 'विमूढ़मानव' ही बन गया था, जिस की इस आत्यन्तिक जड़ताने ही इसे उस युग का सर्वमूर्द्धन्य कुनैष्ठिक ही तो प्रमाणित कर दिया था।

५८६–आरम्मूढ भावुक अर्जुन का भगवान् के द्वारा परित्राण, तत एव अर्जुन का विमूढता से संरक्षण—

जब कि भावुक अतएव मूढ़–अपरिपक्व अर्जुन को महद्भाग्य से भगवान् कृष्ण जैसे नैष्ठिक महापुरुष का अनुग्रह प्राप्त हो गया था। अतएव अर्जुन की भावुकता कालान्तर में सन्निष्ठा की ही अनुगामिनी बन गई थी। यह सच मान लीजिए कि, यदि अर्जुन की भावुकता को भगवान् की निष्ठा का प्रश्रय न मिलता तो यह प्रथम तो स्वयं अपनी भावुकता से अपना स्वरूप ही खोबैठता। यदि दुर्भाग्यवश इसे शकुनि जैसा कोई कुनैष्ठिक परामर्शदाता मिल जाता, तो यह दुर्य्योधन से भी कहीं अधिक ही कुनैष्ठिक प्रमाणित होजाता। क्योंकि अर्जुन प्रारम्भ के भावुक दुर्य्योधन की अपेक्षा भी कहीं अधिक भावुक थे।

५८७–भावुकता, तथा निष्ठा के प्रतिरूपात्मक महान् उदाहरण—

जो जितना ही अधिक भावुक होता है अधिक अनुभूतिपरायण होता है केवल काल्पनिक विचारों में ही डूबा रहता है वह अवसर मिलने पर उतना ही अधिक कुनैष्ठिक बन जाता है–यदि भावुकता के आवेश में वह मर खप नहीं जाता तो। आरम्भ का भावुक जिस आवेश से परोपकार की परदुःखहरण की जितनी अधिक घोषणा करता है उत्तर का वही कुनैष्ठिक उसी उच्च घोषणा के अनुपात से उतना ही अधिक वैयक्तिक–अनन्य स्वार्थलिप्सु बन जाता है। और यों निश्चित रूप से अपथ की विच्युति से आविर्भूत हो पड़ने वाली मूढ़तामूला भावुकता की कृपा से ही इस प्राकृत विश्व में कुछ व्यक्तिभावाविष्ट–स्वानुभूतिपरायण–प्राकृत भावुक–मानवों के ही भावुकमानव कुनैष्ठिकमानव ये दो वर्ग बन जाते हैं जिन में प्रथमवर्ग अधिक संख्याओं से अनुप्राणित है जबकि दूसरे वर्ग में संख्या सीमित ही रहा करती है। एवं इन दोनों के ही प्रतिरूपात्मक उदाहरण क्रमशः अर्जुन और दुर्य्योधन बने हुए हैं।

५८८–अध्ययात्मनिष्ठ बन अस्तित्व के स्वरूप से अपरिचित महान् अर्जुन, एवं अध्यात्मस्तित्व के प्रति आकृष्ट महान् दुर्य्योधन, और दोनों पात्रों के माध्यम से चिकित्स्य–अचिकित्स्य–भावों का दिग्दर्शन—

यदि अर्जुन अपनी भावुकता में महान् था तो दुर्य्योधन अपनी कुनिष्ठा में महान् था। दोनों ही लोकोत्तर थे अपने अपने अनुभूति–क्षेत्रों में। दोनों ही प्रकृतिनिबन्धन–'निषेध' के परमाचार्य्य बने हुए थे

नगर्या परिरुत्तरपौरस्त्य दिग्भागे सुभूमिभाग नामोद्यानमासीत् तत् कीदृशमित्याह—'सव्वोउयपुप्फफलसमिद्धे' सर्वर्तुकपुष्पफलसमृद्धम्—वसन्तादिषड्ऋतुजनितपुष्पफलादिसम्पन्नम्, सुरम्यम्—अतिशयरमणीय, नन्दनवनवत् 'सुहसुरभिसीयलच्छायाए' शुभसुरभि–शीतलच्छायया–तत्र 'सुह' शुभा–शोभना 'सुरभि' सुगन्धि 'सीयल' शीतला च या छाया तया 'समणुबद्धे' समनुबद्धम्–युक्तम्, तस्य खलु सुभूमिभागस्योद्यानस्य 'उत्तरओ' उत्तरत–उत्तरदिशायामित्यर्थ 'एग देसंमि, एकदेशे–एकस्मिन्

'एव खलु जबू ! तेणं कालेण इत्यादि ।

टीकार्थ—(जबू ! एव खलु) हे जबू ! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है–(तेणं कालेण तेण समएण चपा नाम नयरी होत्था)उस कालमें उस समयमें चपा नामकी नगरी थी (वन्नओ) इसका वर्णन पहिले किया जा चुका है। (तीसेण चपाए नयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए सुभूमिभाए नामं उज्जाणे होत्था) उस चपा नगरी के बाहर ईशान कोणमे सुभूमिभाग नामका उद्यान था। (सव्वोउय पुप्फफ लसमिद्धे सुरम्मे नदणवणे इव) यह समस्त ऋतुओं की शोभा से समृद्ध था–अर्थात् समस्त ऋतु सबन्धी फलपुष्पादिकों से यह सम्पन्न था अतिशय रमणीय था। नंदन वन के समान यह (सुहसुरभि सीयलच्छायाए समणुबद्धे) शुभ, सुरभि और शीतल छायासे युक्त था। (तस्स ण सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरओ एगदेसमि मालुयाकच्छए वन्नओ) उस सुभूमिभाग उद्यान की

'एव खलु जबू ! तेण कालेण' इत्यादि ॥

टीकार्थ—(जबू ! एव खलु) જબૂ ! તમારા પ્રશ્નનો જવાબ આ પ્રમાણે છે–(तेण कालेण तेण समएण चपा नाम नयरी होत्था) તે કાળે અને તે સમયે ચપા નામે નગરી હતી. (वन्नओ) તે નગરીનુ વર્ણન પહેલા કરવામા આવ્યુ છે (तीसेण चपाए नयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए सुभूमिभाए नाम उज्जाणे होत्था) તે ચપાનગરીની બહાર ઈશાન કોણમા સુભૂમિભાગ નામે ઉદ્યાન હતો (सव्वोउयपुप्फफलसमिद्धे सुरम्मे नंदणवणे इव) તે ઉદ્યાન સમસ્ત ઋતુઓની શોભાથી યુક્ત હતુ એટલે કે બધી ઋતુઓના ફળો અને પુષ્પોથી તે સપન્ન હતુ અને તે બહુ જ રમણીય હતુ નદન વનની જેમ તે (सुहसुरभिसीयलच्छायाए समणुबद्धे) શુભ સુરભિ અને શીતળ છાયાવાળુ હતુ (तस्सण सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरओ एगदेस मि मालुयाकच्छए वन्नओ) તે સુભૂમિ ભાગ ઉદ્યાનની ઉત્તર દિશાએ એક તરફ માલુકા કચ્છનામે વન હતુ તે માલુકા કચ્છનુ વર્ણન

स्पारूपा विमूढता–सघना जड़तामिभिता प्रतिक्रियात्मिका इस उपरतावस्था का नाम ही रख लिया जाता है–कुनिष्ठा जो प्रचण्ड साहस से ही सम्बन्ध रखती है। अपने आरम्भ के जीवन में (अनुचित पितृवात्सल्य के कारण) बार बार रूठ पड़ने वाला, मचलने वाला, मुँह बिगाड़ लेने वाला, इतस्तत: पराजित होते रहने वाला नितान्त भावुक नहीं मूढ़ दुर्योधन कालान्तर में शकुनि–जैसे कुनैष्ठिकों के सहवास में आकर अन्ततोगत्वा वैसा 'क्षिप्तमूढमानव' ही बन गया था जिस की इस आत्यन्तिक जड़ता ने ही इसे उस युग का सम्पूर्ण कुनैष्ठिक ही तो प्रमाणित कर दिया था।

४८६–आत्ममूढ भावुक अर्जुन का भगवान् के द्वारा परित्राण, तत एव अर्जुन का विमूढता से संरक्षण—

जब कि भावुक, अतएव मूढ–अपरिपक्व अर्जुन को महद्‌भाग्य से भगवान् कृष्ण जैसे नैष्ठिक महापुरुष का अनुग्रह प्राप्त हो गया था। अतएव अर्जुन की भावुकता कालान्तर में सन्निष्ठा की ही अनुगामिनी बन गई थी। यह सच मान लीजिए कि यदि अर्जुन की भावुकता को भगवान् की निष्ठा का प्रश्रय न मिलता तो वह प्रथम तो स्वयं अपनी भावुकता से अपना स्वरूप ही खो बैठता। यदि दुर्भाग्यवश इसे शकुनि जैसा कोई कुनैष्ठिक परामर्शदाता मिल जाता, तो यह दुर्योधन से भी कहीं अधिक ही कुनैष्ठिक प्रमाणित होजाता। क्योंकि अर्जुन आरम्भ के भावुक दुर्योधन की अपेक्षा भी कहीं अधिक भावुक था।

४८७–भावुकता, तथा निष्ठा के प्रतिरूपात्मक महान् उदाहरण—

जो जितना ही अधिक भावुक होता है अधिक अनुभूतिपरायण होता है केवल काल्पनिक विचारों में ही डूबा रहता है वह अवसर मिलने पर उतना ही अधिक कुनैष्ठिक बन जाता है–यदि भावुकता के आवेश में वह मर नहीं जाता तो। आरम्भ का भावुक जिस आवेश से परोपकार की परदुःखहरण की जितनी अधिक घोषणा करता है उत्तर का वही कुनैष्ठिक उसी उच्च घोषणा के अनुपात से उतना ही अधिक वैयक्तिक–जघन्य स्वार्थलिप्सु बन जाता है। और यों निश्चित कर्त्तव्यपथ की विच्युति से आविर्भूत हो पड़ने वाली मूढतामूला भावुकता की कृपा से ही इस प्राकृत विश्व में कर्त्तव्यनिष्ठावञ्चित–स्वानुभूतिपरायण–प्राकृत भावुक–मानवों के ही भावुकमानव कुनैष्ठिकमानव ये दो वर्ग बन जाते हैं जिन में प्रथमवर्ग अधिक संख्याओं से अनुप्राणित है जबकि दूसरे वर्ग में संख्या सीमित ही रहा करती है। एवं इन दोनों के ही प्रतिरूपात्मक उदाहरण क्रमशः अर्जुन और दुर्योधन बने हुए हैं।

४८८–अध्यात्मनिष्ठ घन आस्तित्व के स्वरूप से अपरिचित महान् अर्जुन, एवं अध्यात्मास्तित्व के प्रति आकृष्ट महान् दुर्योधन, और दोनों पात्रों के माध्यम से चिकित्स्य–असाध्यचिकित्स्य–भावों का दिग्दर्शन—

यदि अर्जुन अपनी भावुकता में महान् था तो दुर्योधन अपनी कुनिष्ठा में महान् था। दोनों ही लोकोत्तर थे अपने अपने अनुभूति–क्षेत्रों में। दोनों ही प्रकृतिनिष्पन्न–'नियेध' के पथाचार्य बने हुए थे

नगर्या बहिरुत्तरपौरस्त्य दिग्भागे सुभूमिभाग नामोद्यानमासीत् तत् कीदृशमित्याह—'सव्वोउयपुप्फफलसमिद्धे' सर्वर्तुकपुष्पफलसमृद्धम्—वसन्तादि षड्ऋतुजनितपुष्पफलादिसम्भृतम्, सुरम्यम्—अतिशयरमणीय, नन्दनवनवत् 'सुहसुरभिसीयलच्छायाए' शुभसुरभि-शीतच्छायया—तत्र 'सुह' शुभा-शोभना 'सुरभि' सुगन्धि 'सीयल' शीतला च या छाया तया 'समणुबद्धे' समनुबद्धम्-युक्तम्, तस्य खलु सुभूमिभागस्योद्यानस्य 'उत्तरओ' उत्तरत -उत्तरदिशायामित्यर्थ 'एग देसमि, एकदेशे-एकस्मिन्

'एव खलु जबू ! तेण कालेण इत्यादि ।

टीकार्थ—(जबू ! एव खलु) हे जबू ! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है-(तेणं कालेण तेण समएण चपा नाम नयरी होत्था)उस कालमें उस समयमें चपा नामकी नगरी थी (वन्नओ) इसका वर्णन पहिले किया जा चुका है। (तीसेण चपाए नयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए सु भूमिभाए नाम उज्जाणे होत्था) उस चपा नगरी के बाहर ईशान कोणम सुभूमिभाग नामका उद्यान था। (सव्वोउय पुप्फफ समिद्धे सुरम्मे नदणवणे इव) यह समस्त ऋतुओं की शोभा से समृद्ध था-आर्थात् समस्त ऋतु सबन्धी फलपुष्पादिकों से यह सम्पन्न था अतिशय रमणीय था। नंदन वन के समान यह (सुहसुरभि सीयलच्छायाए समणुबद्धे) शुभ, सुरभि और शीतल छायासे युक्त था। (तस्स ण सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरओ एगदेसंमि मालुयाकच्छए वन्नओ) उस सुभूमिभाग उद्यान की

'एवं खलु जबू ! तेण कालेण' इत्यादि ॥

टीकार्थ—(जबू ! एव खलु) જબૂ ! તમારા પ્રશ્નનો જવાબ આ પ્રમાણે છે-(तेण कालेण तेण समएण चपा नाम नयरी होत्था) તે કાળે અને તે સમયે ચપા નામે નગરી હતી. (वन्नओ) તે નગરીનુ વર્ણન પહેલા કરવામા આવ્યુ છે (तीसेण चपाए नयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए सुभूमिभाए नाम उज्जाणे होत्था) તે ચપાનગરીની બહાર ઈશાન કોણમા સુભૂમિભાગ નામે ઉદ્યાન હતો (सव्वोउयपुप्फफलसमिद्धे सुरम्मे नंदणवणे इव) તે ઉદ્યાન સમસ્ત ઋતુઓની શોભાથી યુક્ત હતુ એટલે કે બધી ઋતુઓના ફળો અને પુષ્પોથી તે સપન્ન હતુ અને તે બહુ જ રમણીય હતુ નદન વનની જેમ તે (सुहसुरभिसीयलच्छायाए समणुबद्धे) શુભ સુરભિ અને શીતળ છાયાવાળુ હતુ (तस्सण सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरओ एगदेसमि मालुयाकच्छए वन्नओ) તે સુભૂમિ ભાગ ઉદ્યાનની ઉત્તર દિશાએ એક તરફ માલુકા કચ્છનામે વન હતુ તે માલુકા કચ્છનુ વર્ણન

५८९-कालातीत के द्वारा काल का नियन्त्रण, एवं तदनुग्रहेणैव भावुक की सन्निष्ठाप्राप्ति

क्या था वह यत्किञ्चित् सा संशोधन ? । अर्जुन की भावुकता-दिग्देशकालानुबन्धिनी तत्कालिकी अनुभूति-बुद्धिमानी का उत्तरदायित्व अर्जुन की प्रकृति से हटा कर भगवान् ने इसके पुरुषभाव पर ही इस के उत्तरदायित्व का समर्पण कर दिया । अर्थात् प्राकृत-भावुकता का आधार पौरुष-निष्ठाबल बना दिया गया । अर्थात्-पुरुष से प्रकृति को नियन्त्रित कर दिया गया । अर्थात् कालातीत से काल को मर्यादित कर दिया गया । अर्थात् अनुभूति को संवित् के आश्रय में, ज्ञान को समझ के आश्रय में, बुद्धि को बोध के आश्रय में ला खड़ा किया । गीता के शब्दों में-प्राकृत-भावुक-बुद्धि को प्रकृत्यतीत नैष्ठिक अव्ययपुरुष से युक्त कर दिया, जबकि इसकी यह बुद्धि प्राकृत-दिग्देशकालभावों से युक्त होरही थी इससे पूर्व ।

५९०-नियन्त्रणात्मक संशोधन से समन्वित लोकोत्तर-'बुद्धियोग'—

यही संशोधन अव्यय-पुरुषानुगतिरूप से 'बुद्धियोग' (बुद्धि का अव्ययपुरुष से योग) कहलाया इसी बुद्धियोगाभिन्न अव्ययनिष्ठा से अर्जुन के दिग्देशकालनिबन्धन-प्राकृत-भावुकत्व में 'निष्ठाबल' (निश्चयात्मिका बुद्धि) अभिव्यक्त होगया । इसी अव्ययपुरुषनिष्ठा के अनुग्रह से इसी बुद्धियोगनिष्ठा के नियन्त्रण से नियन्त्रिता इसकी दिग्देशकालानुबन्धिनी प्राकृतबुद्धि ने निश्चयबल का वरण कर लिया अपने आपको दिग्देशकालनिबन्धना-भावुकता के व्यामोहनों से बचाते हुए ।

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम् ॥
व्यालाधिपं च यतते परिरब्धुमद्धा यो दुर्जनं वशयितुं तनुते मनीषाम् ॥३॥
—भामिनीविलासे

मरुस्थलरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम् ॥
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतः कृतोऽन्धमुखदर्पणो यदबुधो जनः सेवितः ॥४॥

ज्ञानी समुझत सहज में पर जिन नर अभिमान ॥
मन रञ्जन तिन का कभी सम्भव नाहिं सुजान ॥५॥

इत्थं चैतत् । मानव प्रयास करने पर बालू मिट्टी से तैल निकाल सकता है मृगतृष्णाजल से पिपासु (प्यासा) अपनी प्यास बुझा सकता है घूमते फिरते शशशृङ्ग (खरगोश का सींग) भी मिल सकता है, भयानक मकर (मगर) की करालदाढ़ा से मणि भी निकाली जासकती है प्रचण्ड तरङ्गायित समुद्र को भी तैर कर पार किया जासकता है विषधर प्रचण्ड सर्प को भी पुष्पवत् शिरोभूषण बनाया जासकता है और भी इन सभी असम्भव भी ऐसों को तो सम्भव बनाया जासकता है किन्तु अभिनिविष्ट-विमूढ-कुचेष्टक-आवेशाविष्ट-अभिमानी-अहम्मन्य-दुर्बुद्धि को कदापि प्रसन्न नहीं किया जासकता जैसाकि तथाविध दुर्योधन किसी भी उपाय से प्रसन्न न होता हुआ 'समूल-विनाश' का ही निमित्त बन गया था इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

संरक्षन्ती रक्षां कुर्वन्ती, 'संगोवेमाणी' संगोपायन्ती-उपद्रवत परिरक्षन्ती 'संवेढेमाणी' सम्वेष्टयन्ती पोषयन्ती समन्तात् पक्षैरावृत्य वर्धयन्ती विहरति । सू २ ।

मूलम्—तत्थ णं चंपाए नयरीए दुवे सत्थवाहदारगा परिवसंति तं जहा—जिणदत्तपुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य सह जायया सहवड्ढियया सहपंसुकीलियया सहदारदरिसी अन्नमन्नमणुरत्तया अन्नमन्नमणुव्वयया अन्नमन्नच्छंदाणुवत्तया अन्नमन्नहियइच्छियकारया अन्नमन्नेसु गिहेसु किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥ सू ३॥

'तत्थणं' इत्यादि,

टीका—तत्र खलु चम्पाया नगर्यां द्वौ सार्थवाहदारकौ परिवसत तद्यथा -जिनदत्तपुत्रश्च सागरदत्तपुत्रश्च, तौ विशेषयति 'सहजायया' सहजातकौ -समानजन्मकालत्वात् 'सह वड्ढियया सहवर्द्धितकौ—सार्धमेव वृद्धिमुपगतत्वात् 'सहपंसुकीलियया' सह पांशुक्रीडितकौ समानकाले धूली क्रीडाकरत्वात् 'सहदाररिसी' सहद्वारदर्शिनौ सह द्वारदर्शिनौ सह सार्धमेव परस्परं गृहयोर्द्वारे द्रष्टुं शीलं ययो तौ तथा—सहदारदर्शिनौ—इति छाया पक्षे समानकालकृतविवाहौ 'अन्नमन्नमणुरयया' अन्योऽन्यमनुरक्तकौ—पर-

कर रक्षा की—उपद्रवों से उन्हे बचाया चारों तरफ से उन्हे पंखों से आवृत कर उनका पोषण किया ॥ सू २ ॥

टीकार्थ-(तत्थ णं चंपाए नयरीए) उस चंपा नामकी नगरीमें (दुवे सत्थवाहदारगा परिवसंति) दो सार्थवाह दारक रहते थे। (तंजहा) वे ये है-(जिणदत्तपुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य) एक जिनदत्त का पुत्र दूसरा सागरदत्त का पुत्र (सहजायया सहवड्ढियया सहपुंसकीलियया सहदार दरिसी अन्नमन्नमणुरत्तया अण्णमन्नमणुव्वयया अण्णमन्नच्छंदाणुवत्तया

ઢાંકીને તેમની રક્ષા કરી. ઉપદ્રવોથી ઈંડાંને બચાવ્યાં, ચોમેર ઈંડાંને પાંખોથી ઢાંકીને-આવૃત્ત કરીને-તેઓનું પોષણ કર્યું ॥સૂત્ર ૨॥

'तत्थणं चंपाए नयरीए' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तत्थणं चंपाए नयरीए) તે ચંપા નામે નગરીમાં (दुवे सत्थवाहदारगा परिवसंति) બે સાર્થવાહ દારકો (પુત્રો) રહેતા હતા. (तं जहा) તેઓ આ પ્રમાણે છે-(जिणदत्तपुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य) એક જિનદત્તનો પુત્ર અને બીજો સાગરદત્તનો પુત્ર (सह जायया सह वड्ढियया सह पुंसकीलियया सहदारदरिसी अन्नमन्नमणुरत्तया अण्णमन्नमणुव्वयया अण्णमन्नच्छंदाणुव

अमृत गति से मूर्त्तभूत ही अभिव्यक्त होते हैं। कर्त्तव्यरूप अनन्तकाला प्रकृति' है, कर्त्तव्यफलरूप सादिसान्त
'विकृति' है। अनन्ता है प्रकृति, सादि-सान्ता है विकृति। सादिसान्ता विकृति का आधार है अन
प्रकृति। एवं इस अनन्ता प्रकृति का आलम्बन है अनन्ताव्ययपुरुष। यह अनन्तपुरुष भी स्थितिरूप है
अनन्ता विकृति भी स्थिति रूपा है। दोनों के मध्यम में अनन्ता प्रकृतिरूपा गति प्रतिष्ठित है। इन दोनों स्थिति
समन्वित किए बिना 'यत्किञ्चित्' संशोधन को यत्किञ्चिद्रूप से भी समन्वित नहीं किया जासकता। अव
पुरुषरूपा स्थिति चिद्घना है, अनन्तप्रकृतिरूपा मध्यस्था गति 'चेतना' है एवं सादिसान्तविकृतिरूपा अन्त
स्थिति 'अचेतना' है। इन तीनों का नाम रहा होते हैं क्रमशः—कालातीतास्थिति, अनन्तकाला
सान्तकालस्थिति ये। तत्त्वभाषा में ये ही तीनों हैं क्रमशः—अव्ययपुरुष अक्षरपराप्रकृति क्षरअपर
प्रकृति। व्यवहारभाषा में ये ही तीनों हैं—'कर्त्तव्यसाक्षी, कर्त्तव्य कर्त्तव्यफल'। कर्त्तव्यकर्म
कर्त्तव्यफलरूप इन दोनों के माध्यम से ही मानव के भाग्य का (प्राकृत जीवन का) भाग्य-
निर्णय हुआ करता है। कर्त्तव्य यदि फल का दास बन जाता है तो कर्त्तव्य का बल शिथिल हो जाता
फल की प्रधानता हो जाती है। फलतः फल की सम्भावना निष्फल प्रमाणित होजाती है फलरूपा आस
बढ़ता और उत्पन्न कर देती है। ठीक इसके विपरीत—यदि फल कर्त्तव्य का दास बन जाता है, तो फल
आसक्तिभाव शिथिल हो जाता है कर्त्तव्य प्रधान बन जाता है। फलतः कर्त्तव्य की फलानुगति भी निश्चि
बन जाती है एवं फल अपनी जड़ता से कर्त्तव्य को प्रभावित भी नहीं कर पाता। और यही यत्किञ्चित् व्या
की स्वरूपगाथा का उपसंहारनिष्कर्ष है जिसका निम्नलिखित शब्दों में उद्घोष हुआ है—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गीता)।

५६३—आत्मानुगता स्थिति, तथा कालात्मिका गति का स्वरूप-समतुलन—

एक 'स्थिति' के साथ कर्त्तव्य का सम्बन्ध ही इसे दूसरी स्थिति' से असङ्ग बनाए रहता है
पुरुषाव्यय भी स्थितिरूप है जिसे हमने चिद्घन कर्त्तव्यसाक्षी कहा है। परमूल-विरत भी स्थितिरूप
जिसे हमने अचेतन कर्त्तव्यफल कहा है। कर्त्तव्यफल भी 'स्थिति' रूप 'अकर्मभाव' है तो कर्त्तव्यसा
भी स्थितिरूप 'अकर्मभाव' है। यदि मानव (अर्थात् प्राकृत जीव) अपने कर्त्तव्य को अकर्मरूपा—कर्त्तव्य
फलात्मिका स्थिति से समन्वित कर लेता है, तो फलाभिव्याप्त यह मानव जड़भाव में आता हुआ कुनैष्ठि
बन जान जाता है दुर्योधनवत्। वही यदि अपने कर्त्तव्य को अकर्मरूपा—कर्त्तव्यसाक्षिरूपा स्थिति
समन्वित कर लेता है तो साक्षीस्थित्यनुगत यह मानव चिद्घनभाव से समन्वित होता हुआ सुनैष्ठिक बन जा
है स्थितप्रज्ञ अर्जुनवत्।

५६४—सुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, एवं—'कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' के 'अकर्मणि' का अर्थ है 'फले ते सङ्गो मास्तु'। कर्म का फल 'अक
र्म' ही तो होगा। अतएव कर्मफल भी यहां स्पष्ट 'अकर्म' बन गई है। उधर कर्मसाक्षी अव्ययपुरुष भी अपने

तन्न अम्हेहिं एगयओ समेच्चा णित्थरियव्व त्तिकट्टु अन्नमन्न मेयारूव सगार पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता सकम्मसपउत्ता जाया यावि होत्था ॥ सू ४ ॥

टीका—'तत्थ ण इत्यादि–तत्र खलु तयो सार्थवाहदारकयोरन्यदा कदाचित् 'एगयओ' एकत्र, कस्मिश्चित् एकस्मिन्स्थाने 'सहियाण सहितयो –मिलितयो 'समुवागयाण' समुपागतयो एकतरस्य गृहे प्राप्तयो 'सन्निस न्नाण' सन्निषण्णयो' उपविष्टयो 'सन्निविट्ठाण' सन्निविष्टयो एकस्मिन् स्थले समिलिततया स्थिरसुखासनतयाच स्थितयो इमेयारूवे' अयमे त.द वक्ष्यमाणस्वरूप 'मिहो कहासमुल्लावे' मिथ कथासमुल्लाप, तत्र मिहो कहा' मिथ कथा–परस्परकथा तस्या समुल्लाव' समुल्लाप जल्पो यस्य स तथा समुप्पज्जित्था' समुत्पद्यत अभवत् 'ज ण' यत् खलु देवानुप्रिय 'अम्ह' आवयो सुख वा दु ख वा पव्वज्जा' प्रव्रज्या वा पर्यटन–रासेग

'तएण तसि सत्थवाहदारगाण' इत्यादि ॥

टीकार्थ–(तएण) इसके बाद (अन्नया कयाइ) किसी समयमें (एगयओ सहिया ण) किसी एक स्थलमें मिले हुए (समुवागयाण) एक दूसरे के घरमें प्राप्त हुए (सन्निसन्नाण, सन्नि विट्ठाण इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लाव समुप्पज्जित्था) अच्छी तरह बैठे हुए, अच्छी तरह एक स्थल पर मिलकर सुखरूप से स्थित हुए । (तसि सत्थवाहदारगाण) उन सार्थवाह पुत्रों को (इमेयारूवे मिहोकहासमुल्लावे समुपज्जित्था) इस तरह यह वक्ष्यमाण मिथो कथा समुल्लाप उत्पन्न हुआ । परस्पर की गई बातचीत उन लोगोंने इस प्रकार विचार किया (अम्ह सुह वा दुक्खं वा पव्वज्जा वा विदेसगमण वा समुप्पज्जइ) अपन दोनों चाहे सुखमें रहे या दुखमें

तएण तसि सत्थवाहदारगाण' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) त्यार बाद (अन्नया कयाइ) કોઈક વખતે (एगयओ सहियाण) કોઈ એક સ્થાને સંયુક્ત થયેલા (समुवागयाण) એક બીજાના ઘરમાં એકઠા થયા. (सन्निसन्नाण सन्निविट्ठाण इमेयारूवेमिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था) તેઓ બંને ત્યાં સારી રીતે બેઠા અને એકજ સ્થાને એક બીજાથી મળીને પ્રસન્નતા અનુભવી (तसि सत्थवाहदारगाण) તે સાર્થવાહ પુત્રોને (इमेयारूवे मिहोकहा-समुल्लावे समुप्पज्जित्था) આ પ્રમાણે એક બીજાની સાથે પ્રેમપૂર્વક વાર્તાલાપ કરતા વિચાર ઉદ્ભવ્યો–એટલે કે તેઓ બંનેએ આ પ્રમાણે વિચાર કર્યો કે–(अम्ह सुहं वा दुक्खं वा पव्वज्जा वा विदेसगमण वा समुप्पज्जइ) અમે બંને ભલે સુખમાં કીંવા

अमृत गति से मूर्तिभूत ही अभिव्यक्त होते हैं। कर्त्तव्यकर्म अनन्तबल 'प्रकृति' है, कर्त्तव्यफलरूप सादिसान्तकाल 'विकृति' है। अनन्ता है प्रकृति, सादि-सान्त है विकृति। सादिसान्त विकृति का आधार है अनन्ता प्रकृति। एवं इस अनन्ता प्रकृति का आलम्बन है अनन्ताव्ययपुरुष। यह अनन्तपुरुष भी स्थितिरूप है एवं अनन्ता विकृति भी स्थिति रूपा है। दोनों के मध्यम में अनन्ता प्रकृतिरूपा गति प्रतिष्ठित है। इस उभय स्थिति को समन्वित किए बिना 'यत्किञ्चित्' संशोधन को यत्किञ्चिद्रूप से भी समन्वित नहीं किया जासकता। अव्यय पुरुषरूपा स्थिति चिद्घना है, अनन्ताप्रकृतिरूपा मध्यस्था गति 'चेतना' है एवं आदिअन्तविकृतिरूपा अन्तस्था स्थिति 'अचेतना' है। इन तीनों का नाम रख लेते हैं क्रमशः—कालातीतास्थिति अनन्तकालगति-सान्तकालस्थिति ये। तत्त्वभाषा में ये ही तीनों हैं क्रमशः—अव्ययपुरुष अक्षरपराप्रकृति क्षरअपरा-प्रकृति। व्यवहारभाषा में ये ही तीनों हैं—'कर्त्तव्यसाक्षी कर्त्तव्य कर्त्तव्यफल'। कर्त्तव्यकर्म एवं कर्त्तव्यफलकाम इन दोनों के माध्यम से ही मानव के भाग्य का (प्राकृत जीवन का) अभ्युदय-रूप निर्णय हुआ करता है। कर्त्तव्य यदि फल का दास बन जाता है तो कर्त्तव्य का बल शिथिल हो जाता है फल की प्रधानता हो जाती है। फलतः फल की सम्भावना निष्फल प्रमाणित होजाती है फलरूपा आसक्ति जड़ता और उत्पन्न कर देती है। ठीक इसके विपरीत—यदि फल कर्त्तव्य का दास बन जाता है तो फल का आसक्तिबल शिथिल हो जाता है कर्त्तव्य प्रधान बन जाता है। फलतः कर्त्तव्य की फलानुगति भी निश्चित बन जाती है एवं फल अपनी जड़ता से कर्त्तव्य को प्रभावित भी नहीं कर पाता। और यही यत्किञ्चित् संशोधन की स्वरूपगाथा का उपसंहारनिष्कर्ष है जिसका निम्नलिखित शब्दों में उद्घोष हुआ है—

> कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ (गीता)।

५६३—आत्मानुगता स्थिति, तथा कालात्मिका गति का स्वरूप-समतुलन—

एक 'स्थिति' के साथ कर्त्तव्य का सम्बन्ध ही इसे दूसरी 'स्थिति' से असङ्ग बनाए रहता है। पुरुषाव्यय भी स्थितिरूप है जिसे हमने चिद्घन कर्त्तव्यसाक्षी कहा है। परमूल-विश्व भी स्थितिरूप है जिसे हमने अचेतन कर्त्तव्यफल कहा है। कर्त्तव्यफल भी स्थिति रूप 'अकर्म्मभाव' है तो कर्त्तव्यसाक्षी भी स्थितिरूप 'अकर्म्मभाव' है। यदि मानव (अर्थात् प्राकृत जीव) अपने कर्त्तव्य को अकर्म्मरूपा—कर्त्तव्य-फलात्मिका स्थिति से समन्वित कर लेता है तो फलासिक्त्यात्मक यह मानव जड़भाव में आता हुआ कुनैष्ठिक बन चला जाता है दुर्योधनवत्। वही यदि अपने कर्त्तव्य को अकर्म्मरूपा—कर्त्तव्यसाक्षिरूपा स्थिति से समन्वित कर लेता है तो साक्षीस्थित्यनुगत यह मानव चिद्घनभाव से समन्वित होता हुआ सुनैष्ठिक बन जाता है उदारमना अर्जुनवत्।

५६४—सुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, एवं—'कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' के 'अकर्म्मणि' का अर्थ है 'फले ते सङ्गो मास्तु'। कर्म्म का फल 'अक-र्म्म' ही तो होगा। अतएव कर्म्मफल की यहां संज्ञा 'अकर्म्म' बन गई है। उधर कर्म्मसाक्षी अव्ययपुरुष भी अपने

टीका—'तत्थण' इत्यादि तत्र खलु चम्पाया नगर्यां देवदत्ता नाम गणिका परिवसति, सा च आढ्या यावद् अपरिभूता 'चउसट्ठिकलापंडिया' चतुष्षष्टि कला पण्डिता—चतुष्षष्टिसंख्यका कला नृत्यादि फलवृष्टि पर्यन्ता तत्र पण्डिता—निपुणा 'चउसट्ठिगणियागुणोववेया' चतुष्षष्टि—गणिकागुणोपपन्ना चतुष्षष्टिसंख्यका गणिकागुणा शृङ्गारचेष्टारूपा तैरुपपेता—युक्ता 'अउणतीसं विसेसे रममाणी' एकोनत्रिंशद् विशेषान् रममाणा—एकोनत्रिंशद्विशेषान् कामशास्त्रप्रसिद्धान् अधिकृत्य रममाणा—विलासं कुर्वाणा 'एक्कवीसरइगुणप्पहाणा' एकविंशति रतिगुणप्रधाना एकविंशति संख्यका रतिगुणा तैः प्रधाना 'बत्तीसपुरिसोवयारकुसला' द्वात्रिंशद् पुरुषोपचारकुशला द्वात्रिंशद् संख्यका पुरुषोपचारा कामशास्त्रप्रसिद्धास्तेषु कुशला—दक्षा 'णवंगसुत्तपडिबोहिया' नवाङ्गसुप्त प्रतिबोधितानि—

'तत्थ णं चंपाए नयरीए' इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तत्थणं चंपाए नयरीए) उसी चंपा नगरीमें (देवदत्ता नाम गणिया परिवसइ) देवदत्ता नाम की एक गणिका रहती थी। (अड्ढा जाव अपरिभूया चउसट्ठिकलापंडिया, चउसट्ठिगणियागुणोववेया अउणतीस विसेसे रममाणी) यह धन संपन्न थी। यावत् अपरिभूत थी—कोई इसका तिरस्कार नहीं कर सकता था। नृत्यादि से लेकर फलवृष्टि पर्यंत की ६४ कलाओं में यह निपुण थी। शृंगार चेष्टारूप जो ६४ गणिकागुण होते है उनसे यह भरपूर थी। कामशास्त्र प्रसिद्ध २९ विशेषों को लक्ष्य में रख कर यह विलास करती थी। (एक्कवीसरइगुणप्पहाणा) २१ प्रकार के रति गुणों से यह समन्वित थी। (बत्तीसपुरिसोवयारकुसला) ३२ प्रकारके कामशास्त्र प्रसिद्ध पुरुषोपचारों मे यह कुशल थी। (णवंगसुत्तपडिबोहिया)

'तत्थणं चंपाए नयरीए' इत्यादि।

टीकार्थ—(तत्थणं चंपाए नयरीए) ते चंपा नगरीमां देवदत्ता नाम गणिया परिवसइ) देवदत्ता नामे गणिका रहेती हती. (अड्ढा जाव अपरिभूया चउसट्ठिकलापंडिया, चउसट्ठिगणियागुणोववेया अउणतीस विसेसे रममाणी) ते धन संपन्न हती अपरिभूत हती—એટલે કે કોઈપણ વ્યક્તિની એવી તાકાત ન હતી કે તેનો તિરસ્કાર કરીશકે નૃત્ય વગેરેથી માંડીને ફળવૃષ્ટિ સુધીની ચોસઠ કળાઓમાં તે કુશળ હતી શૃંગારની ચેષ્ટારૂપે જે ચોસઠ ગણિકા ગુણો હોય છે તેઓ બધા ગુણો તેમાં વિદ્યમાન હતા. કામશાસ્ત્રમાં પ્રસિદ્ધ ઓગણત્રીસ (૨૯) વિશેષોને લક્ષ્યમાં રાખીને તે વિલાસ કરતી હતી. (एक्कवीसरइगुणप्पहाणा) એકવીસ જાતના રતિગુણોથી તે યુક્ત હતી. (बत्तीस पुरिसोवयारकुसला) બત્રીસ (૩૨) જાતના કામશાસ્ત્રમાં પ્રસિદ્ધ પુરુષો પચારોમાં

आप दूसरों को उत्पीड़ित करने लग पड़ते हैं। वस्तुतः आप न तो उत्पीड़क ही हैं, न उत्पीड़ित ही। उत्पीड़ित हैं दिग्देशकालात्मक ये भूत-भूतभौतिक जड़पदार्थ, एवं जड़ताप्रधान ये पशु-पक्षी-आदि भौतिक प्राणी जो उत्पीड़नरूप इन भूतभावों से पहिले तो स्वयं उत्पीड़ित बनते हैं। तदनन्तर प्रतिक्रियारूप से अपने समानधर्म्मा प्राकृत प्राणियों को उत्पीड़ित करते रहते हैं। और यों सम्पूर्ण भूतभौतिक पश्वादि प्राणी अपनी सीमित दिग्देशकालता से, इस उत्पीड़नधर्म्म से इसी की अहोरात्र उपासना करते हुए परस्पर उत्पीड़ित-उत्पीड़क ही बने रहते हैं।

५६७—अमूर्त्तकाल के द्वारा उत्पीड़ित मूर्त्तकाल—

क्या ये पश्वादि प्राणी उत्पीड़ित, तथा उत्पीड़क बने रहते हैं ?, इस प्रश्न पर क्या कभी आपने विचार विमर्श किया है ?। नहीं तो अब कर लीजिए। इस पशुसर्ग के लिए वर्त्तमानकाल के अतिरिक्त न तो कोई भूतकाल है न भविष्यत्काल जिस भूतभविष्यत्काल को अव्यक्त-महदक्षररूप 'अनन्तकाल' कहा जाता है। उस अनन्तकाल से सदा ही उत्पीड़ित यह सादिसान्त सम्वत्सर-मूर्त्त-व्यक्त-वर्त्तमानकाल ही पशुसर्ग का सर्वस्व बना रहता है। उत्पीड़न ही इसका प्रभवस्थान है उत्पीड़करूप उस अनन्त-भूत-भविष्यत्-अक्षरकाल से सतत उत्पीड़ित यह पीड़ितकाल ही तो इस पशुसर्ग का प्रभव है यही प्रतिष्ठा है यही परायण है। व्यवधानात्मक भय ही इस उत्पीड़ित काल का स्वरूप है।

५६८—मूर्त्तकाल से निरन्तर उत्पीड़ित-भयत्रस्त-शङ्कातङ्कितमानस-मूर्त्त-भौतिक-क्षणिक-पशुसर्ग—

अतएव महद्भयरूप इस पीड़ितकाल से उत्पन्न अतएव प्रतिष्ठित एवं अतएव लीन होजाने वाले पशुसर्ग को उत्पत्तिक्षण से आरम्भ कर विनाशनक्षण पर्य्यन्त सदा सब ओर से शङ्कातङ्कितमानस बन कर ही सदा भयभावों से त्रस्त-विकम्पित रहते हुए ही जीवनयापन करते रहना पड़ता है। शान्ति-निर्भयता-प्रसन्न-स्थिरता-जैसा कोई भी शाश्वत स्थिरधर्म्म आप इनमें उपलब्ध नहीं कर सकते। इनका गमन-शयन-अशन-पान-आदि आदि सम्पूर्ण भौतिक कर्म्मकलाप सदा शङ्का-भय-आतुरता-विकम्पन-आदि मर्त्यभावों से ही आक्रान्त रहता है, जिसे आज के पशुविज्ञानवेत्ता प्राणीशास्त्रविद् तो भलीभांति जान ही रहे होंगे, जिस इस सहज भय सहज उत्पीड़न को ही सम्भवतः वे-'आत्मरक्षा की सहज स्फूर्ति' नाम से व्यवहृत कर रहे होंगे जबकि तत्वतः न इस पशुसर्ग में भारतीय-पशुविज्ञान की दृष्टि से आत्मस्वरूप ही अभिव्यक्त है, न तद्रक्षा जैसी विकासानुबन्धिनी जागरूकता का ही इनके साथ कोई सम्बन्ध है।

५६९—आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिरूप से असंस्पृष्ट, अतएव आत्मरक्षाधर्म्म से पराङ्मुख पशुसर्ग की दिग्देशकाल-निबन्धना भयातुरता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अपितु आद्यन्तरूप से सर्वात्मना वर्त्तमानदिग्देशकालनिबन्धन सहज उत्पीड़न-सहज भय ही इनका सम्पूर्ण इतिवृत्त है जिस इस भय के विविध परिवर्त्तनों के ही आज के भूतविज्ञानप्रधान प्राणिशास्त्र ने चैतन्य-आत्मा-आत्मभाव-रक्षा की स्फूर्ति-आदि आदि विविध कल्पित नाम रख लिए गए हैं। इस कल्पना का

स्या, सा तथा चाप्यभवत् गणिकासहस्त्रस्याधिपत्य कुर्वती यावद्विहरति ॥ सू ५ ॥

मूलम्--तएणं तेसिं सत्थवाहदारगाणं अन्नया कयाइ पुव्वा- वरण्हकालसमयंसि जिमियभुत्तुत्तरागयाणं समाणाणं आयन्ताणं चोक्खाणं परमसुइभूयाणं सुहासणवरगयाणं इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया! कल्लं जाव जलंते विउलं असणं ४ उवक्खडावेत्ता तं विउलं असणं ४ धूव पुप्फगंधवत्थं गहाय देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभा- गस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुभवमाणाणं विहरित्तए तिकट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति पडिसुणित्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए कोडुंबिय पुरिसे सद्दावेंति सद्दावित्ता एवं वयासी--गच्छह णं देवाणुप्पिया! विउलं असणं ४ उवक्खडेह तं विउलं असणं ४ धूवपुप्फवत्थं गहाय जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे जेणेव णंदा- पुक्खरिणी तेणामेव उवागच्छह, णंदा पुक्खरिणीतो अदूरसामंते थूणा मंडवं आहणह । आसित्त सम्मज्जियोवलित्त सुगंध जाव कलियं करेह, अम्हे पडिवालेमाणा २ चिट्ठह जाव चिट्ठंति ॥सू ६ ॥

पालकी-तामजाम-पर बैठ कर वह चलती थी। (नरवाहयान विशेष का नाम कर्णीरथ है) ऐसी वह गणिका (बहूणं गणियासहस्साणं आहेवच्चं जाव विहरइ) और हजार गणिका जनों का आधिपत्य करती हुई अपने समय को आनन्द के साथ व्यतीत करती थी। । सूत्र ५॥

'तएणं तेसिं सत्थवाहदारगाणं' इत्यादि ।

તામજામ-ઉપર સવાર થઈને તે અવરજવર કરતી, નરવાહયાન વિશેષનું નામ કર્ણીરથ છે એવી તે ગણિકા (बहूणं गणियासहस्साणं आहेवच्चं जाव विहरइ) હજાર ગણિકાઓનું આધિપત્ય કરતી પોતાના વખતને તે સુખેથી પસાર કરતી હતી. ॥સૂત્ર ૫॥

जिसका पशुसर्ग तो यत्किञ्चित् प्रतीकमात्र ही बना हुआ है। भय ही से भय उत्पीड़ित हुआ करते हैं। स्वयं भय ही क्यापि भय ही से उत्पीड़ित नहीं होता। प्रतीकात्मक, अतएव भयरूप पशुसर्ग उस भय ही से अवश्य ही उत्पीड़ित, भयग्रस्त है। किन्तु आप तो उसके भय किंवा प्रतीक नहीं हैं, जो उस भय ही अनन्तकाल से पशुसर्गवत् आप उत्पीड़ित होते रहें ?। आप तो उसके प्रतिरूप हैं, स्वयं भय ही हैं। अतएव भय ही हैं। आप से आपकी नियति से, दण्डभय से तो सम्पूर्ण विश्व भयपूर्वक सञ्चालित है *। आप स्वयं महाकालरूप हैं, शिवस्वरूप हैं। आप सब को अभयपद देने वाले हैं अपने इस अनन्तकालस्वरूप से। फिर आपको भय कैसा ?। अभय ही आपका मौलिक स्वरूप है अनन्त प्रकृति की दृष्टि से भी एवं अनन्तपुरुष की दृष्टि से भी।

६०२–प्राकृत–विश्व से अनुप्राणिता–भावुकतापूर्णा–भूल के विविध-शाखा-प्रशाखा-विवर्तों का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं 'यत्किञ्चित्' संशोधन के द्वारा तन्निवृत्त्युपाय-प्रदर्शन—

भूल कहाँ हो पड़ी आप से ?। बस इतना सा यत्किञ्चित् सा ही समझ लेना है आपको बुद्धि से नहीं, अपितु समझ से जिस 'समझ' का गुणानुवाद पूर्व में किया जा चुका है। जातिसिद्धा विकृति को अपनी प्रकृति मान बैठना पहिली भूल इस भयरूपा विकृतिरूपा दिग्देशकालाभिन्न मूर्त्ता भूतप्रकृति के विकृतितम–वैकारिक–पशुसर्ग के, विकारव्यात्मक भयसर्ग के माध्यम से अपनी भूतप्रकृति के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त हो जाना दूसरी भूल इन दो भूलों से प्रकृतिविमूढ (विकृतिविमूढ) बनते हुए अपनी इस भ्रान्त मान्यता में ही अभिनिविष्ट हो जाना तीसरी भूल, अभिनिवेश के निवारक धर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाना चौथी भूल धर्म्मनिरपेक्षतामूलक काल्पनिक अनुभवों के बलपूर्वक (अध्यक्षमाध्यम से) प्रचार–प्रसार करने के लिए आतुर हो पड़ना पाँचवी भूल इस आतुरता से मानव के मौलिक अनन्त–स्वरूप के प्रति विद्रोही बनते हुए, प्रतिक्रियावादी बनते हुए अपने आपको ही सर्वज्ञ मान बैठना छठी भूल इस काल्पनिक सर्वज्ञता के व्यामोहन से एकान्ततः व्यक्तित्वाभिमोहन का अनुगामी बन जाना सातवीं भूल मानवसुलभ उद्बोधन का अपने अन्तर्जगत् में अनुगमन करते हुए भी अपने व्यक्तित्वविमोहनरूप इदंभूत काल्पनिक 'व्यक्तित्व' के पतनभय से जानते हुए भी नहीं जानना मानते हुए भी नहीं मानना यही आठवीं महाभूल और और भी हाव–भाव परस्परा छोटी बड़ी भूलपरम्पराओंसे आपादमस्तक ओतप्रोत मानव ने इस यत्किञ्चित् सी भूल से अपने महान् प्राकृतस्वरूप को कैसा खोय कर लिया है ?, कितना खोय क्या लिया है ?, इस कल्पना–मात्र से भी मानव की मानवता आज विकम्पित हो पड़ी है। 'यत्किञ्चित् सी भूल' इसलिए कि, यत्किञ्चित् ही तो लगता है अपने इस कल्पित व्यक्तित्वाभिमोहन का चोला उतार फैंकने में। यत्किञ्चित् सी ही तो ऋजुता–सरलता–भावुकता अपेक्षित है अपने आपकी इस कल्पित व्यथा के यत्किञ्चित् से स्वरूप से उद्बोधन प्राप्त करने के लिए।

---

* भीषास्माद्वातोदेति, भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषाद्ग्निश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
उपनिषत्

स्याः सा तथा चाप्पभवत् गणिकासहस्रस्याधिपत्यं कुर्वन्तो यावद्विहरति ॥ सू ५ ॥

मूलम्—तएण तेसिं सत्थवाहदारगाण अन्नया कयाइ पुव्वावरण्हकालसमयसि जिमियभुत्तुत्तरागयाण समाणाण आयन्ताण चोक्खाण परमसुइभूयाण सुहासणवरगयाण इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था, त सेय खलु अम्ह देवाणुप्पिया! कल्ल जाव जलते विउल असण ४ उवक्खडावेत्ता त विउल असणं ४ धूव पुप्फगधवत्थ गहाय देवदत्ताए गणियाए सद्धि सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुभवमाणाण विहरित्तए तिकट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठ पडिसुणेंति पडिसुणित्ता कल्ल पाउप्पभायाए रयणीए कोडुंबिय पुरिसे सद्दावेति सद्दावित्ता एव वयासी—गच्छह ण देवाणुप्पिया! विउल असण ४ उवक्खडेह त विउल असण ४ धूवपुप्फवत्थ गहाय जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे जेणेव णदा-पुक्खरिणी तेणामेव उवागच्छह, णदा पुक्खरिणीतो अदूरसामते थूणा मडव आहणह। आसित्त सम्मज्जियोवलित्त सुगध जाव कलिय करेह, अम्हे पडिवालेमाणा २ चिट्ठह जाव चिट्ठति ॥सू ६॥

पालकी–तामजाम–पर बैठ कर यह चलती थी। (नरवाहयान विशेष का नाम कर्णीरथ है) ऐसी यह गणिका (बहूण गणियासहस्साण आहेवच्च जाव विहरइ) और हजार गणिका जनों का आधिपत्य करती हुई अपने समय को आनन्दके साथ व्यतीत करती थी। ।सूत्र ४॥

'तएण तेसिं सत्थवाहदारगाण' इत्यादि ।

તામજામ–ઉપર સવાર થઈને તે અવરજવર કરતી, નરવાહયાન વિશેષનું નામ કર્ણીરથ છે એવી તે ગણિકા (बहूण गणियासहस्साण आहेवच्च जाव विहरइ) હજાર ગણિકાઓનું આધિપત્ય કરતી પોતાના વખતને તે સુખેથી પસાર કરતી હતી. ॥સૂત્ર ૫॥

मन्वन्तरकाल का चरम उत्कर्ष है एवं यही है दिग्देशकालमीमांसात्मक कालविजृम्भण का एकमात्र यह लक्ष्य, जिस वाक्य की मूलप्रतिष्ठा है–'अभयं वै ब्रह्म', मा भैषीः, योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्म–स्तं जम्भे दध्मः।

६०४–दिग्देशकालात्मक भयों से असंस्पृष्ट अभयमूर्त्ति महान् मानव, एवं महान् मानव की दिग्देशकालातीता अनन्तता का माङ्गलिक-संस्मरण—

ब्रह्म अभय है। अतएव मानव को कदापि कभी भी, कहीं भी किसी से भी कुछ भी भय नहीं करना चाहिए। कदापि किसी भी दिग्देशकाल के प्रभाव में नहीं आना चाहिए। कदापि किसी भी युगधर्म्मानुगता जगद्धर्म्मानुगता, एवं कालधर्म्मानुगता * प्रत्यक्षभयावहमूला तात्कालिकी भावुकताओं, प्रलोभनों आयोजना योजनाओं आदि से प्रभावित होकर अपना सनातन ब्रह्मनिष्ठात्मक लक्ष्य विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। दिग्देशकालनिबन्धन सर्वविनाशक भूत-भौतिक संघातों से कदापि मानव को विकम्पित नहीं होजाना चाहिए। दिग्देशकालनिबन्धन, गन्धर्वनगरोपाख्यानुप्राणित तात्कालिक चमत्कारपूर्ण तात्कालिक-अनुकूलता-सुख-सुविधा-जनक, किन्तु परिणामतः मानवीय जीवनरस के सर्वविनाशक भौतिक आविष्कारों से कदापि मानव को प्रभावित नहीं होना चाहिए। क्योंकि मानवता अजर है अमर है शाश्वत है, सनातन है ध्रुव है कालातीत है। अतएव किसी भी प्रकार का दिग्देशकाल-विजृम्भण उसे विकम्पित नहीं कर सकता नहीं कर सका आजतक नहीं कर सकेगा कभी भी। उस अनाद्यनन्ता दिग्देशकालातीता 'मानवता' का ही हम पुनः पुनः माङ्गलिक संस्मरण कर रहे हैं।

६०५–सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त विरोधी तत्त्वों को निष्फल प्रमाणित करते रहने वाले महान् मानव की महती निष्ठा का ऐतिहासिक-संस्मरण—

दिग्देशकालानुबन्धी अतएव मनःशरीरप्रधान 'मानवेतिहास' ही इस दिशा में ज्वलन्त प्रमाण है कि, सृष्टि के आरम्भ से अद्य यावत् पर्य्यन्त तत्तद् विभिन्न शताब्दियों सहस्राब्दों सभ्यता-संस्कृति-युगों में मानव की मानवता के अन्यतम शत्रु भिन्न भिन्न भी आततायी-बर्बर-दस्युओं ने जैसे जैसे भी प्रचण्ड-ध्वंस-आक्रमण किए इस मानवता पर, उन सब घोरघोरतम घातक आक्रमणों से केवल अपने बाह्य-दिग्देशकालानुबन्धी मनःशरीरभावों को ही सहर्ष समर्पित करते हुए 'मानवता' ने अपने ब्रह्म मधुरिम-निबन्धन मौलिक-'मानवता' पर्व को तो असंस्पृष्ट ही बनाए रक्खा। और वे आततायिक भी तत्त्वतः आत्मधन मानव की आत्मबुद्धिनिबन्धना 'मानवता' का संस्पर्श भी नहीं कर सके आजतक। अवश्य ही तत्तद्युगों में तत्तद्युगों के कालिक प्रभावों, अनुबन्धों से मानव की मनःशरीरनिबन्धना भावुकता यथायुगानुभाव से प्रभावित भी होती रही। किन्तु कदापि किसी भी युग में आत्मबुद्धिनिबन्धना निष्ठा लक्षणा 'मानवता' यत्किञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं हो सकी किसी भी तात्कालिक युगधर्म्म से।

---

*–कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिशम्॥
—महाभारत उद्यो० ६८ अ०।

पुष्पगन्ध वस्त्र गृहीत्वा देवदत्तया गणिकया सार्द्धं सुभूमिभागस्योद्यानस्य उद्यानश्रियम्—उद्यानशोभाम् प्रत्यनुभवन्तौ -उपवनशोभादर्शनादिना प्रमोदयतो विहर्तुं=विलासितुम् इति कृत्वा अन्योऽन्ययोरतमर्थं प्रतिशृणुतः प्रतिश्रुत्य निश्चित्येत्यर्थः 'कल्ले' कल्ये 'पाउप्पभाया रयणीए' प्रादुष्प्रभातायां रजन्यां रात्र्यन्ते प्राच्यां दिशि प्रकाशोदये कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयत शब्दयित्वा एवमवादिष्टाम् गच्छत खलु यूय देवानुप्रिया ! विपुलमशन

(तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया) हे देवानुप्रिय! हम दोनोंका अब यह अच्छा है कि (कल्लं जाव जलंते विउलं असणं उवक्खडाविता तं विउलं असणं ४ धूवपुप्फगंधवत्थं गहाय देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुभवमाणाणं विहरित्तए) हम दोनों कल जब कि प्रभात हो जाय और सूर्य प्रकाश हो जाय तब विपुलमात्रामें अशन पान, खाद्य, और स्वाद्य चारों प्रकार का आहार निष्पन्न करा कर उस निष्पन्न हुए अशन आदि ४ चारों प्रकार के आहारको तथा धूप, पुष्प, गंध, और वस्त्र को लेकर देवदत्त गणिका के साथ सुभूमिभाग उद्यान की उद्यान श्री का अनुभव करते हुए विचरण करें। (त्तिकट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति) ऐसा विचार उन दोनोंने किया परस्पर के इस विचारको स्वीकार कर लिया (पडिसुणित्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेंति) विचार स्वीकृत हो चुकने के बाद कल जब रात्रि प्रभात प्राय हो चुकी और सूर्य प्रकाशित हो चुका तब उन दोनोंने अपने २ कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया (सद्दावित्ता एवं

(तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया) હે દેવાનુપ્રિયે! આપણે બન્ને માટે એ વાત સુખરૂપ થશે કે (कल्लं जावजलंते विउलं असणं ४ उवक्खडावेत्ता तं विउलं असणं ४ धूव,पुप्फ गंधवत्थं गहाय देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुभवमाणाणं विहरित्तए) આવતી કાલે જ્યારે સવાર થાય અને સૂર્ય પ્રકાશતો થાય ત્યારે પુષ્કળ પ્રમાણમાં અશન, પાન, ખાદ્ય, અને સ્વાદ્ય ચારે પ્રકારનો આહાર બનાવડાવીને તે ચારે જાતના આહારને તેમજ ધૂપ પુષ્પ, ગંધ અને વસ્ત્રને લઈને દેવદત્તા ગણિકાની સાથે સુભૂમિ ભાગ ઉદ્યાનની ઉદ્યાનશ્રીને અનુભવતા વિહાર કરીએ. (त्तिकट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति) આ વિચારને બન્નેએ સ્વીકારી લીધો. (पडिसुणित्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए कोडुंबिय पुरिसे सद्दावेंति) વિચારની સ્વીકૃતિ બાદ જ્યારે રાત્રિ પસાર થઈ પ્રભાત થયું અને સૂરજનો પ્રકાશ ચોમેર પ્રસર્યો ત્યારે બન્નેએ પોતપોતાના કૌટુંબિક પુરુષોને બોલાવ્યા. (सद्दावित्ता एवं वयासी) બોલાવીને કહ્યું—(गच्छह णं देवा

कौशल से मृदुतापूर्वक समतुलन बनाए रक्खा उन सब महर्षाओं के, तथाविध समन्वयात्मक कौशलों के समतुलन में जो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आज की स्वस्वतमा नगण्या इन भौतिक-विभीषिकाओं का।

६०९—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीडक मूर्त काल, एवं नियन्त्रित-मूर्त कालानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर जहाँ—'कालं कालेन पीडयन्' के माध्यम से भौतिक विभ्रमणों को नियन्त्रित-सीमित रक्खा तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अलङ्करणरूप उन आत्मसंरक्षक-प्रकृति प्राणोंमय, तदनुबन्धी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का सर्वजनिकरूप से विस्तार भी किया, जिस यज्ञविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान के बलपर ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्थतापूर्वक प्रशान्त रहीं। अतएव सरक्षक जो यज्ञविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा *। विध्वंसक सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही निरुपाय रहे, तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ सदा समादरणीय रहे, क्योंकि प्रभावित यह कभी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित भूतविज्ञानों, तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रहीं—क्योंकि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी भौतिक-प्राणात्मक-अनुबन्ध से प्रभावित नहीं हुई। फलस्वरूप कदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न कर सके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। कदापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्म्मों के गर्भ में समाविष्ट न होसकी। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इसने कभी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०—कालातीत अनन्तभाव के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्नियन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुबन्ध से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रभवा के प्रतिरूपात्मक श्रुति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, तत्सम्बद्ध सदाचार के प्रति तदनुप्राणिता आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा सुरक्षित रखने वाला शाश्वत—सनातन—धर्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव आर्य्याम्नायीय मानवधर्मों के द्वारा सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत यह भारतीय हिन्दू-मानव दिव्यप्राणाग्निरूप भारत अग्नि के प्रतिरूपात्मक परम धन्य पावन भारतराष्ट्र का यह आर्य सनातन मानव सृष्ट्यारम्भ से अद्यप्रभृति 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इसी सनातन—मानवता का सम्पूर्ण विश्व

---

* सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता

— प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (कठोपनिषत्)

२ पुन पुन प्रतीक्षमाणा इत्यर्थ 'चिट्ठइ' तिष्ठत यावत्तो कौटुम्बिक-पुरुषा॰ तदाज्ञानुसारेण कार्य सम्पाद्य तिष्ठन्त ॥ सू ६ ॥

मूलम्--तए ण ते सत्थवाहदारगा दोच्चपि कोडुंबिय-पुरिसे सद्दावेंति सद्दावित्ता एव वयासी-खिप्पामेव लहुकरण जुत्त जोयं समखुरवालिहाणसमलिहियतिक्खग्गसिंगएहिं रययमय-घटसुत्तरज्जुपवरकचणखचियणत्थपग्गहोवग्गहिएहिं नीलुप्पलकया-मेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं नाणामणिरयणकंचणघटिया जाल-परिक्खित्त पवरलक्खणोववेय जुत्तमेव पवहण उवणेह तेऽवि तहेव उवणेंति ॥ सू ७ ॥

टीका--'तएण ते सत्थवाहदारगा दोच पि' इत्यादि-तत खलु तौ सार्थवाहदारकौ द्वितीयवारमपि कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयत शब्दयित्वा एव

वहा का सब अच्छी तरह साफ करो। उसे अच्छे रूपमे गोमय आदि से लीपो। अगरबत्ती, काला गुरु आदि सुगधित द्रव्यों से उसे वासित करो। पश्चात् हमारी वहा प्रतीक्षा करो। इस प्रकार उन सार्थवाह पुत्रों की वात सुनकर उन कौटुम्बिक पुरुषोंने जैसा उन्होंने कहाथा वैसा ही सब कार्य सपादित कर दिया और उनकी प्रतीक्षा करते हुए वहा बैठ रहे। ॥सूत्र ६॥

'तएणं ते सत्थवाहदारगा' इत्यादि।

टीकार्थ--(तएणं) इसके बाद (ते सत्थवाहदारगा) उन दोनों सार्थवाह पुत्रोंने (दोच्चंपि) दुबारा भी कोडुंबियपुरिसे) कौटुम्बिकपुरुषों को (सद्दावे ति) बुलाया (सद्दाविचा) बुलाकर उनसे (एव वयासी) इस प्रकार कहा-

---

વગેરે ત્યાથી સાફ કરી નાખો. તે સ્થાનને છાણુ માટી વગેરેથી સરસ રીતે લીપો ધૂપ સળી, કાલાગુરુ વગેરે સુવાસિત દ્રવ્યોથી તે સ્થાનને સુગધિત બનાવો ત્યાર બાદ તમે અમારી ત્યા જ રહીને પ્રતીક્ષા કરો આ રીતે તે સાર્થવાહ પુત્રોની વાત સાભળીને તે કૌટુંબિક પુરુષોએ તેમણે જેમ આજ્ઞા આપી હતી તેમણે કામ પુરુ કરી દીધુ અને તેમની પ્રતીક્ષા કરતા ત્યા જ બેસી રહ્યા. ॥ સૂત્ર ૬ ॥

'तए णं ते सत्थवाहदारगा' इत्यादि।

ટીકાર્થ—(तएणं) ત્યાર બાદ (ते सत्थवाहदारगा) તે બંને સાર્થવાહ પુત્રોએ (दोच्चंपि) બીજી વાર (कोडुंबियपुरिसे) કૌટુંબિક પુરુષોને (सद्दावेंति) બોલાવ્યા

कौशल से प्रभुतापूर्वक अक्षुण्ण बनाए रक्खा, उन सब महत्वाओं के तथाविध समन्वयात्मक कौशलों के समतुलन में तो मनाक्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आज की स्वल्पक्षमा नगण्या इन भौतिक-विभीषिकाओं का।

६०९–मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीड़क भूतकाल, एवं नियन्त्रित-भूत कालानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर जहाँ–'फाल्ट कलेन पीबयन्' के माध्यम से भौतिक विभूत्यों को नियन्त्रित–सीमित रक्खा तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अलङ्करणरूप उन आत्मसंरक्षक-प्रकृति-प्राणात्म तदनुबन्धी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का सार्वजनिकरूप से विस्तार भी किया जिस प्राणविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान के आधार पर ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्वस्थतापूर्वक प्रशान्त रहीं। अतएव इसका वो यज्ञविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा ✱। विध्वंसक सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही नियन्त्रित रहे, तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ सदा समादरणीय रहे जबकि प्रभावित यह कभी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित भूतविज्ञानों तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रही। कदापि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी भौतिक–प्राणात्मक–अनुबन्ध से प्रभावित नहीं हुई। फलस्वरूप कदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न कर सके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। कदापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्मों के गर्भ में समाविष्ट न होसकी। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इसने कभी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०–कालातीत अनन्तभाव के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्मयन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुबन्ध से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रज्ञा के प्रतिरूपात्मक श्रुति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति तात्त्विक सत्यात्मा के प्रति तदनुप्राणिता आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा सुरक्षित रखने वाला शाश्वत–सनातन–ब्रह्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव आर्ष्यमर्यादीय मानवधर्मों के साथ सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत यह भारतीय हिन्दू-मानव दिव्यप्राणाग्निरूप भारत अग्नि के प्रतिरूपात्मक परम सभ्य पावन भारतराष्ट्र का यह आर्य सनातन मानव सृष्ट्यारम्भ से यथाप्रमति 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इसी सनातन–मानवता का सम्पूर्ण विश्व

✱ सह यज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता

— प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (कठोपनिषत्)

२ पुन पुन प्रतीक्षमाणा इत्यर्थ 'चिट्ठइ' तिष्ठत यावत्ते कौटुम्बिक-पुरुषा० तदाज्ञानुसारेण कार्य सम्पाद्य तिष्ठन्त. ॥ सू ६ ॥

मूलम्—तए ण ते सत्थवाहदारगा दोच्चपि कोडुंबिय-पुरिसे सद्दावेंति सद्दावित्ता एव वयासी—खिप्पामेव लहुकरण जुत्त जोय समखुरवालिहाणसमलिहियतिक्खग्गसिंगएहिं रययमय-घंटसुत्तरज्जुपवरकंचणखचियणत्थपग्गहोवग्गहिएहिं नीलुप्पलकया-मेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं नाणामणिरयणकंचणघंटिया जाल-परिक्खित्त पवरलक्खणोववेय जुत्तमेव पवहण उवणेह तेऽवि तहेव उवणेंति ॥ सू ७ ॥

टीका—'तएण ते सत्थवाहदारगा दोच पि' इत्यादि—तत खलु तौ सार्थवाहदारकौ द्वितीयवारमपि कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयत शब्दयित्वा एव

वहाँ का सब अच्छी तरह साफ करो। उसे अच्छे रूपमें गोमय आदि से लीपो। अगरवत्ती, काला गुरु आदि सुगंधित द्रव्यों से उसे वासित करो। पश्चात् हमारी वहां प्रतीक्षा करो। इस प्रकार उन सार्थवाह पुत्रों की बात सुनकर उन कौटुम्बिक पुरुषोंने जैसा उन्होंने कहाथा वैसा ही सब कार्य सपादित कर दिया और उनकी प्रतीक्षा करते हुए वहा बैठ रहे। ॥सूत्र ६॥

तएणं ते सत्थवाहदारगा' इत्यादि।

टीकार्थ—(तएण) इसके बाद (ते सत्थवाहदारगा) उन दोनों सार्थवाह पुत्रोंने (दोच्चंपि) दुवारा भी कौडुंबियपुरिसे) कौटुम्बिकपुरुषों को (सद्दावेंति) बुलाया (सद्दावित्ता) बुलाकर उनसे (एव वयासी) इस प्रकार कहा—

વગેરે ત્યાથી સાફ કરી નાખો તે સ્થાનને છાણ માટી વગેરેથી સરસ રીતે લીપો ધૂપ સળી, કાલાગુરુ વગેરે સુવાસિત દ્રવ્યોથી તે સ્થાનને સુગંધિત બનાવો ત્યાર બાદ તમે અમારી ત્યા જ રહીને પ્રતીક્ષા કરો આ રીતે તે સાર્થવાહ પુત્રોની વાત સાભળીને તે કૌટુંબિક પુરુષોએ તેમણે જેમ આજ્ઞા આપી હતી તેમણે કામ પુરુ કરી દીધુ અને તેમની પ્રતીક્ષા કરતા ત્યા જ બેસી રહ્યા. ॥ સૂત્ર ૬ ॥

'तए णं ते सत्थवाहदारगा' इत्यादि।

ટીકાર્થ—(त एण) ત્યાર બાદ (ते सत्थवाहदारगा) તે બન્ને સાર્થવાહ પુત્રોએ (दोच्चंपि) બીજી વાર (कोडुंबियपुरिसे) કૌટુંબિક પુરુષોને (सद्दावेंति) બોલાવ્યા

कौशल से सुगुप्तापूर्वक अक्षुण्ण बनाए रक्खा, उन सब महत्त्वों के यथाविध समन्वयात्मक कौशलों के समतुलन में जो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आज की स्वच्छन्दा नगण्या इन भौतिक-विभीषिकाओं का।

६०९—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीडक भूतकाल, एवं नियन्त्रित-भूत कालानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर जहाँ—'कालं कालेन पीडयन्' के माध्यम से भौतिक विजृम्भणों को नियन्त्रित–सीमित रक्खा, तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अनुकरणरूप उन आत्मसंरक्षक-प्राकृतिक ज्ञानों का, तदनुबन्धी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का सार्वजनिकरूप से विस्तार भी किया, जिस यज्ञविज्ञाना त्मक यज्ञविज्ञान के आधार पर ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्थतापूर्वक प्रशान्त रहीं। अतएव सत्य का यज्ञविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा *। विध्वंसक सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही नियन्त्रित रहे तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ सदा समादरणीय रहे, जबकि प्रभावित यह कभी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित भूतविज्ञानों, तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रहीं। क्यापि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी भौतिक–मात्रात्मक–अनुबन्ध से प्रभावित नहीं हुई। फलस्वरूप क्यापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न कर सके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। कदापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्म्मों के गर्भ में समाविष्ट न होसकी। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इसने कभी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०—कालातीत अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्नियन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुबन्ध से ही यह भारतीय मानव ऋषिप्रज्ञा के प्रतिरूपात्मक श्रुति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, लोकनिष्ठ सदाचार के प्रति तदनुप्राणिता आचारपरम्परा कर्त्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा सुरक्षित रखने वाला शाश्वत–सनातन–धर्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव आर्य्याभिजनीय मानवश्रेष्ठों के द्वारा सम्मान में मान्य 'हिन्दू' उपाधि से समलंकृत था यह भारतीय हिन्दू–मानव दिव्यप्राणाग्निरूप भारत भूमि के प्रतिरूपात्मक परम पावन पावन भारतराष्ट्र का यह आर्ष सनातन मानव सृष्ट्यारम्भ से अद्यप्रभृति 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इसी सनातन–मानवता का सम्पूर्ण विश्व

---

* सह यज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता

— प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (कठोपनिषत्)

सत्क-वृषभाकर्षकरज्जुद्वयमित्यर्थः ताभ्याम् उपगृहीतौ शकटवाहकपुरुषेण स्ववशीकृतौ, रजतमयघण्टौ च तौ सूत्ररज्जुप्रवरकाञ्चनखचितनस्त प्रग्रहावगृहीतौ इति कर्मधारयः ताभ्याम् 'नीलुप्पलकयामेलएहिं' नीलोत्पल-कृतापीडाभ्याम् तत्र-नीलोत्पलैः=नीलकमलैः, कृत आपीड=शिरोभूषण ययो स्तौ ताभ्याम् 'पवरगोणजुवाणएहिं' प्रवरगोयुवभ्याम्-तरुणोत्तम-बलीवर्दाभ्यादम् 'जुत्तमेव' युक्त-सर्वथा सयुक्तमेव नानामणिरयणकंचण घंटियाजालपरिक्खित्त' नानामणिरत्नकाञ्चनघण्टिकाजालपरि क्षिप्त-अनेकमणिरत्नखचितसुवर्णमयघण्टिकासमूहेन युक्तम् 'पवरलक्ख-णोववेय' प्रवरलक्षणोपपेत-शुभलक्षणयुक्त 'पवहण' प्रवहण'—शकटम् सेजगाडीति भाषायाम् 'उवणेह' उपनयत-समानयत । ते कौटुम्बिकपुरुषा अपि तथैवोपनयन्ति ॥ सू ७॥

हो। कपास के तन्तुओं से निर्मित रस्सी कि जो प्रवर कांचन से खचित हो जिनके दोनों नयनों में पड़ी हुई हो और इसी के बल पर जो शकट वाहक पुरुषों द्वारा वशीभूत किये गये हों (निलोप्पलकयामेलएहिं) तथा नीलकमलों का बना हुआ शिरोभूषण जिनके मस्तक पर लगा हो (नाणाम णिरयणकंचणघंटिया जालपरिक्खित्त) जो पत्र नानामणियों से तथा रत्नों से खचित ऐसे सुवर्णमय घंटिका समूह से युक्त हों तथा जो (पवरलक्ख णोववेय) शुभलक्षणों से सपन्न हों (ते वि तहेव उवणे ति) इस प्रकार उन दोनों सार्थवाह पुत्रों का आदेश सुनकर उन कौटुम्बिक पुरुषोंने जैसा उन्होंने प्रवहण लाने को कहा था-वैसा ही लाकर उपस्थित कर दिया। और उनकी ॥सूत्र ७॥

ઘટડીઓ જેમના ગળામાં બાંધવામાં આવી છે એવા, તેમજ સૂતરની પ્રવર કાંચનથી પરિવેષ્ટિત દોરીની નાથ જેમના બંને નાકના છિદ્રોમાં નાથેલી હોય અને એવી નાથોને લીધે જ તે બળદો ગાડીને હાંકનારાઓ વડે વશમાં રખાતા હોય. (नीलोप्पलकयामेलएहिं) તેમજ નીલકમળોવાળું શિરોભૂષણ જેમના મસ્તકે શોભતું હોય (नाणामणिरयणकंचणघंटियाजालपरिक्खित्त) જેમણે અનેક મણિ અને રત્નો જડેલી સોનાની ઘુઘરીઓ પહેરેલી હોય તેમજ જે (पवरलक्ख णोववेय) શુભ લક્ષણોવાળા હોવા જોઈએ (ते वि तहेव उवणे ति) આ રીતે બંને સાર્થવાહ-પુત્રોની આજ્ઞા સાંભળીને કૌટુંબિક પુરુષો આજ્ઞા પ્રમાણે જ યોગ્ય પ્રવહણ લઈ આવ્યા. ॥ સૂત્ર ૭ ॥

बौयस से मृदुतापूर्वक अनुकूल बनाए रक्खा उन सब महद्भावों के, तथाविध समन्वयात्मक कौशलों के समतुलन में तो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आज की स्वस्थतमा नगण्या इन भौतिक-विभीषिकाओं का।

६०९—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीडक मृत्युकाल, एवं नियन्त्रित-मृत्युकालानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर जहाँ—'कालो कालेन पीड्यन्' के माध्यम से भौतिक विजृम्भणों को नियन्त्रित—सीमित रक्खा, तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अनुग्रहस्वरूप उन आत्मसंरक्षक-प्रकृतिज्ञानोंक तदनुबन्धी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का सार्वजनिकरूप से विस्तार भी किया जिस यज्ञविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान के आधार पर ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्वस्थतापूर्वक प्रकान्त रहीं। अतएव संरक्षक तो यज्ञविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा *। विध्वंसक सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही नियन्त्रित रहे, तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ सदा समादरणीय रहे जबकि प्रभावित यह कभी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित भूतविज्ञानों तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रही। न कदापि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी भौतिक—प्राणात्मक—अनुबन्ध से प्रभावित नहीं हुई। फलस्वरूप कदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न करसके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। कदापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्म्मों के गर्भ में समाविष्ट न होसकी। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इसने कभी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०—कालातीत अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्नियन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुबन्ध से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रज्ञा के प्रतिरूपात्मक श्रुति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, तदुपसिद्ध सदाचार के प्रति तदनुप्राणिता आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा सुरक्षित रखने वाला शाश्वत—सनातन—धर्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव आर्य्यास्यादि मानवश्रेष्ठों के द्वारा सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत यह भारतीय हिन्दू-मानव विश्वप्राणाग्निरूप भारत अग्नि के प्रतिरूपात्मक परम धन्य पावन भारतराष्ट्र का यह आर्य सनातन मानव सृष्ट्यारम्भ से अद्यप्रभृति 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इसी सनातन—मानवता का सम्पूर्ण विश्व

---

* सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

— प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (कठोपनिषत्)

देवदत्तायाः गणिकाया गृहं वर्तते तत्रैवोपागच्छतः, उपागत्य प्रवहणात् प्रत्यव रोहतः प्रत्यवरुह्य देवदत्ताया गणिकाया गृहमनुप्रविशतः ततस्तदनन्तरं खलु सा देवदत्ता गणिका तौ सार्थवाहदारकौ एजमानौ-आगच्छन्तौ पश्यति, दृष्ट्वा हृष्टतुष्टा=अतिशयेन प्रमुदिता, अद्य मम भाग्योदयो जातो यत् एताविभ्य पुत्रौ मम गृहे आगताविति विचार्य स्वासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय सप्ता ऽष्टपदान्यनुगच्छति=अभिगच्छति अनुगम्य, तयोः संमुखं गत्वा तौ सार्थवाह-दारकौ प्रत्येवं वक्ष्यमाणप्रकारेणावादीत् 'संदिसतु णं' सन्दिशन्तु आदेशं

है (पवहण दुरूहति) उस प्रवहण पर सवार हुए। (दुरूहित्ता जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहं तेणेव उवागच्छति) सवार होकर जहां देवदत्ताका घर था वहां पहुँचे। (उवागच्छित्ता पवहणाओ पच्चोरुहति) पहुँच कर वे उसे प्रवहण से नीचे उतरे। (पच्चोरुहित्ता देवदत्ताए गणियाए गिहं अणुपविसति) नीचे उतरकर देवदत्ता गणिका के घरमें प्रवेश किया (तएणं सा देवदत्ता गणिया सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासइ) देवदत्ता गणिकाने उन दोनों सार्थवाह पुत्रोंको आते हुए देखा (पासित्ता हट्ठतुट्ठ आसणाओ अब्भुट्ठेइ) देखकर बडी अधिक प्रसन्न हुई उसने विचारा आज मेरे भाग्य का उदय हुआ है, जो ये दोनों इभ्यपुत्र मेरे घर पर आये हैं इस प्रकार विचार कर वह अपने आसन से उठी-(अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ) उठ कर वह सात आठ पैर और सामने गई (अणुगच्छित्ता ते सत्थवाहदारए एवं वयासी) जाकर उसने उन सार्थवाह दारकों से इस प्रकार कहा (संदिसतु णं देवाणु-

વસ્ત્રો ધારણ કર્યા (पवहणं दुरूहति) અને પ્રવહણ (સિજ્ગાડી) મા બેઠા (दुरूहित्ता जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहं तेणेव उवागच्छति) બેસીને તેઓ દેવદત્તાને ઘેર પહોચ્યા (उवागच्छित्ता पवहणाओ पच्चोरुहति) ત્યા પહોચીને તેઓ પ્રવહણ માથી નીચે ઉતર્યા (पच्चोरुहित्ता देवदत्ताए गणियाए गिहं अणुपविसति) નીચે ઉતરીને ગણિકા દેવદત્તાના ઘરમા પ્રવિષ્ટ થયા. (तए णं सा देवदत्ता गणिया सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासइ) ગણિકા દેવદત્તાએ બ ને સાર્થવાહ પુત્રોને આવતા જોયા (पासित्ता हट्ठ तुट्ठ आसणाओ अब्भुट्ठेइ) જોઈને તે ખૂબ જ પ્રસન્ન થઈ અને તેને થયુ કે આજે મારો ભાગ્યોદય થયો છે કેમકે આ બ ને ઇભ્યપુત્રો (શેઠિયાના પુત્રો) મારે ઘેર આવ્યા છે આ રીતે વિચાર કરીને તે પોતાના આસન પરથી ઊભી થઇ (अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठपयाइं) ઊભી થઈને તે સાત-આઠ પગલા સામે ગઇ अणुगच्छित्ता ते सत्थवाहदारए एवं वयासी) સામે જઈને તેણે સાર્થવાહ પુત્રોને કહ્યું-- (संदिसतु णं देवाणुप्पिया! किमिहागमणप्पओयणं)

विकम्पन से विकम्पित न होने देगा, जिस मानवताने ही इसे 'अमृतपुत्र' की उपाधि से आवश्यक समन्वित रक्खा है। कदापि इसे तात्कालिक उन प्रतिक्रियाभावों का संस्मरण भी नहीं ही करना होगा, जो उत्तेजनापूर्णा प्रतिक्रिया 'मानवता' के लिए अभिशाप ही मानी गई है। अपितु अपने इस मानसिक–शारीरिक उत्पीड़न को भगवान् का वरदान ही मानते हुए अपनी उस भावुकता का परित्याग ही कर देना चाहिए इसे जिस भावुकताने ही इसे विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्पीड़ित कर रक्खा है। तदर्थ इसे अपने उद्बोधन को अपने निष्ठालक्ष्य के आगरण में ही समर्पित कर देना है एवं तदर्थ दिग्देशकालानुबन्धी का संरक्षण करते हुए दिग्देशकालशालीता उस 'मूलसंस्कृति' के ही अनुशीलन में इसे अविलम्ब ही प्रवृत्त हो ही जाना है जिसके स्वरूपबोधाभाव से ही यह आज इतर जातियों की भांति सर्वात्मना नहीं तो अंशतः तो तात्कालिक युग–प्रभावों से अभिभूत हो ही पड़ा है। यही अभिभूति इसे आज उत्पीड़ित किए हुए है। अपने इस उत्पीड़न को उत्पीड़ित वर्त्तमान काल के प्रति ही अवन्यथाव् समर्पित करते हुए इसे उस अनन्तकाल अनन्त दिक् अनन्त देशरूप महाकाल को ही अपना लक्ष्य बना लेना है जिसके नियन्त्रण से नियन्त्रित कालिक उत्पीड़न कदापि नैष्ठिक मानव को उत्पीड़ित नहीं करसकता। दिग्देशकालमीमांसा' के माध्यम से–'भारतीय हिन्दूमानव और उसकी भावुकता' नामक उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध के प्रस्तुत चतुर्थखण्ड के द्वारा भावुक आस्तिक सनातन हिन्दूमानव की महती मानवता का ध्यान हम अत्यन्त प्रणतभाव से इसी तथाकथित 'यत्किञ्चित्–संशोधन' की ओर आकर्षित करना चाहते हैं जिस उद्बोधनका रहस्य मक समन्वय मानवतानुबन्धी महान् मानवधर्म्म के सर्वश्रेष्ठ विधाता भगवान् मनु के– 'कालं कालेन पीडयन्' इस महान् उद्बोधनसूत्र के गर्भ में ही निहित–सुरक्षित है। इस सूत्र के समन्वय की भावुकतापूर्णा चेष्टा करने के लिए ही हमें 'दिग्देशकालशरस्वरूपमीमांसा जैसे गहन–गम्भीर तात्त्विक विषय में प्रवृत्त होना पड़ा है उसी महान् काल की प्रेरणा से।

६१३–'आत्मन्यन्तर्दधे भूय कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'कालं कालेन पीडयन्' यह यत्किञ्चित्–उद्बोधन अपेक्ष बन रहा है। 'काल से काल को पीड़ित करता हुआ' वाक्य अपनी अपेक्षा से 'कौन पीड़ित कर रहा है काल से काल को?' इस प्रश्न का ही प्रेरक बन रहा है जिस इस सम्प्रश्नात्मक अपेक्षाभाव के समन्वय के लिए हमें एकवार पुनः राजर्षि मनु की उस सूक्ति का सर्वात्मना संस्मरण कर लेना चाहिए निम्न लिखितरूप से जिससे स्वतः ही वाक्य की सापेक्षता उपशान्त हो जाती है—

> एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ॥
> आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥
>
> —मनु १।५१।

६१४–'आत्मन्यन्तर्दधे' वाक्य का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

श्लोक का अक्षरार्थ यही है कि– अचिन्त्य पराक्रमशाली यह प्रजापति इस सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न कर तथा मुझे (मनु को) उत्पन्न कर काल से काल को पीड़ित करता हुआ स्वयं अपने आप

देवदत्तायाः गणिकाया गृह तत्रैवोपागच्छत , उपागत्य प्रवहणात् प्रत्यव रोहत प्रत्यवरुह्य देवदत्ताया गणिकाया गृहमनुप्रविशत ततस्तदनन्तरं खलु सा देवदत्ता गणिका तौ सार्थवाहदारकौ एजमानौ-आगच्छन्तौ पश्यति, दृष्ट्वा हृष्टतुष्टा=अतिशयेन प्रमुदिता, अद्य मम भाग्योदयो जातो यत एताविभ्य पुत्रौ मम गृहे आगताविति विचार्य स्वासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय सप्ता ऽष्टपदान्यनुगच्छति=अभिगच्छति अनुगम्य, तयो समुख गत्वा तौ सार्थवाह-दारकौ प्रत्येव वक्ष्यमाणप्रकारेणावादीत् 'सदिसतु ण' सन्दिशन्तु आदेश

है (पवहण दुरूहति) उस प्रवहण पर सवार हुए। (दुरूहित्ता जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिह तेणेव उवागच्छति) सवार होकर जहां देवदत्ताका घर था वहां पहुँचे। (उवागच्छित्ता पवहणाओ पच्चोरुहति) पहुँच कर वे उसे प्रवहण से नीचे उतरे। (पच्चोरुहित्ता देवदत्ताए गणियाए गिह अणुपविसति) नीचे उतरकर देवदत्ता गणिका के घरमें प्रवेश किया (तएण सा देवदत्ता गणिया सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासइ) देवदत्ता गणिकाने उन दोनों सार्थवाह पुत्रोंको आते हुए देखा (पासित्ता हट्ठतुट्ठ आसणाओ अब्भुट्ठेइ) देखकर बडी अधिक प्रसन्न हुई उसने विचारा आज मेरे भाग्य का उदय हुआ है, जो ये दोनों इभ्यपुत्र मेरे घर पर आये हैं इस प्रकार विचार कर वह अपने आसन से उठी-(अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठपयाइ अणुगच्छइ) उठ कर वह सात आठ पैर और सामने गई (अणुगच्छित्ता ते सत्थवाहदारए एव वयासी) जाकर उसने उन सार्थवाह दारकों से इस प्रकार कहा (सदिसतु ण देवाणु-

વઓ ધારણ કર્યા (पवहण दुरूहति) અને પ્રવહણ (સિગ્ગાડી) મા બેઠા (दुरूहित्ता जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिह तेणेव उवागच्छति) બેસીને તેઓ દેવદત્તાને ઘેર પહોચ્યા (उवागच्छित्ता पवहणाओ पच्चोरुहति) ત્યા પહોચીને તેઓ પ્રવહણ માથી નીચે ઉતર્યા (पच्चोरुहित्ता देवदत्ताए गणियाए गिह अणुपविसति) નીચે ઉતરીને ગણિકા દેવદત્તાના ઘરમા પ્રવિષ્ટ થયા. (तए ण सा देवदत्ता गणिया सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासइ) ગણિકા દેવદત્તાએ બને સાર્થવાહ પુત્રોને આવતા જોયા (पासित्ता हट्ठ तुट्ठ आसणाओ अब्भुट्ठेइ) જોઈને તે ખૂબ જ પ્રસન્ન થઇ અને તેને થયુ કે આજે મારો ભાગ્યોદય થયો છે કેમકે આ બને ઇભ્યપુત્રો (શેઠિયાના પુત્રો) મારે ઘેર આવ્યા છે આ રીતે વિચાર કરીને તે પોતાના આસન પરથી ઊભી થઇ (अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठपयाइ) ઊભી થઇને તે સાત-આઠ પગલા સામે ગઇ (अणुगच्छित्ता ते सत्थवाहदारए एव वयासी) સામે જઇને તેણે સાર્થવાહ પુત્રોને કહ્યું-- (सदिसतु ण देवाणुप्पिया ! किमिहागमणप्पओयण)

कालातीत सनातनतत्त्व है। और यों मनुसूक्ति के इन तीनों शब्दों से क्रमशः अव्ययपुरुष, तत्परात्प्रकृति-रूप अक्षरकाल (मनु) तदपरात्मप्रकृतिरूप क्षरकाल (मन्वन्तररूप विश्व) ये तीन निष्कर्ष निकल आते हैं। कालातीत[1] अव्यक्तकाल[2] व्यक्तकाल[3] किंवा अव्यय[1], अक्षर[2], क्षर[3], किंवा स्वोवसीयस्मन[1] मनु[2], मन्वन्तर[3] किंवा * पुरुष[1]-प्रकृति[2] विकृति[3], किंवा अनन्त[1] अव्यक्त[2], व्यक्त[3], किंवा सा[1]-मा[2]-इ[3] सप्त किंवा—अचिन्त्य[1]—कालेन[2]—कालम्[3] इन सब त्रित्वों का एक ही अर्थ है।

६१६–'काल कालेन पीडयन्' का रहस्यात्मक समन्वय—

अब प्रश्न शेष रह जाता है–'पीडयन' का। उस अचिन्त्यने मनुर्लक्षण 'कालेन' रूप काल के लिए तथा मन्वन्तरलक्षण 'कालं' रूप काल के लिए यह व्यवस्था की कि 'काल काल को पीडित करता रहे'। इस पीडन का क्या अर्थ ?। इसी 'अर्थ' का नाम है वह 'यत्किञ्चित्-संशोधन' जिसका पूर्व में अनेक प्रकार से यशोगान किया जाचुका है। पीडन का एक ही अर्थ है–'अन्योन्यमयी मर्य्यादा'। 'महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित अल्प' अपने आपको 'महान्' के गर्भ में ही अनुभूत करता हुआ सर्वात्मना अपने आपको महान् में ही समर्पित रक्खे' यही पीडन का अर्थ है। इस से होता क्या है ?। होता यही है कि इस मर्य्यादात्मक समर्पण से अल्प का स्वरूप भी सुरक्षित रह जाता है अल्पताप्रयुक्त अल्प लक्ष्य भी सम्पन्न हो जाते हैं एवं अल्पताप्रयुक्त सीमात्मक–बन्धनात्मक–मर्त्यभाव भी इस अल्पता में नहीं रहने पाते–महान् के प्रति समर्पण से। यों दिग्देशकालात्मक अल्पभाव उस अनन्त–कालमहिमा से सीमाबद्ध रहते हुए, उसकी अनन्तमहिमा को साक्षी बनाते हुए स्वानुगत तात्कालिक उद्देश्य भी पूरे कर लेते हैं एवं तत्साक्षी के अनुबन्ध से इनकी अल्पता से भी ये अल्पभावमुक्त बन जाते हैं। और ऐसा ही कुछ कालपर्वात्मक सम्पूर्ण सृष्टिभावों का सहज क्रम है जिस क्रम का ही नाम है–'महिमाविवर्त'। कालसाक्षी कालातीत अनन्तात्मब्रह्म काल-साक्षी (विश्वसाक्षी) अव्यक्ताक्षररूप अनन्तकाल इन दोनों साक्षियों के साक्षित्व में सीमारूपेण–मर्य्यादा-रूपेण–व्यवस्थित स्व-स्व-व्यक्तकालभावों में मर्य्यादित बने रहने वाले भूत कालभाव व्यक्तकालभाव स्व-स्व-भूत व्यक्त–दिग्देशकालानुबन्धी–नाक्षिक–दैशिक–स्वरूपों को भी व्यवस्थित बनाए रखने में समर्थ होजाते हैं, एवं उस अनन्तकालमहिमा तथा अनन्तानन्ता ब्रह्ममहिमा के महिमात्मक अनुग्रह से इनका तदनु-बन्धी अनन्तमहिमाभाव भी सुरक्षित बना रह जाता है एवं यही 'उत्पीडन' का एकमात्र अर्थ है।

६१७–कालपुरुष के प्रकृति-निबन्धन विविध महिमा-विवर्तों का तात्त्विक–संस्मरण—

कालातीत अनन्तब्रह्म की साक्षी के अनुग्रह से अनन्तमहिमारूप में परिणत रहने वाले अनन्त–अव्यक्त–अक्षरकाल से (परमाक्षरात्मक स्वयम्भूकाल से) परमेष्ठीकाल पीडित है। स्वयम्भूकाल की अनन्तमहिमा से अनन्त बने रहने वाले, अतएव 'महदक्षरकाल' नाम से प्रसिद्ध हो जाने वाले परमेष्ठीकाल

---

*–यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥
मनु १।११।

मूलम्—तएण ते सत्थवाहदारगा देवदत्ताए गणियाए सद्धिं जाण दुरूहति दुरूहित्ता चपाए नयरीए मज्झ मज्झेण जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे जेणेव नदा पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता पवहणातो पच्चोरुहति पच्चोरुहित्ता नदा पोक्खरिणी ओगाहिंति ओगाहित्ता जलमज्जण करेंति, करित्ता जलकीड करेंति, करित्ता ण्हाया देवदत्ताए सद्धिं पच्चुत्तरति पच्चुत्तरित्ता जेणेव थूणामडवे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता थूणामडवं अणुपविसति अणुपविसित्ता सव्वालकारविभूसिया आसत्था विसत्था सुहासणवरगया देवदत्ताए सद्धिं त विउल असण ४ धूवपुप्फगधवत्थ आसाएमाणा वीसाएमाणा परिभुजेमाणा एव च ण विहरति जिमिय भुत्तुत्तरागया वि य ण समाणा देवदत्ताए सद्धिं विपुलाइ माणुस्सगाइ कामभोगइ भुजमाणा विहरति ।सू ९।

टीका—'तएण ते' इत्यादि—ततस्तदनन्तर खलु तौ सार्थवाहदारकौ देवदत्तया गणिकया सार्द्धं यान—रथ दूरोहत, आरोहतः, दूरुह्य=आरुह्य चम्पा

अधिकवर्णन क्या करे—उसने अच्छी तरह वस्त्र पहिरे यावत् अपना वेषभी केजैसा बनाया-और जहा वे दोनों सार्थवाह पुत्र थे, वही आनद के साथ गई। ॥सूत्र ८॥

'तएण ते सत्थवाहदारगा' इत्यादि।

टीकार्थ—(तएण) इसके बाद (ते सत्थवाहदारगा) वे दोनों सार्थवाह पुत्र (देवदत्ताए गणियाए सद्धिं) देवदत्ता गणिका के साथ (जाण दुरूहति)

वधारे शु कहीअे तेणे सुदर वस्त्रो पहेर्या अने तेणे पोताना देह लक्ष्मी जेवो सुदर बनावीने ते ज्या बने सार्थवाह पुत्रो हता त्याआनद अनुभवती पहोची । सून ८ ।

'तए ण ते सत्थवाहदारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) त्यार पछी (ते सत्थवाहदारगा) बने सार्थवाह पुत्रो (देवदत्ताए गणियाए सद्धिं) गणिका देवदत्तानी साथे (जाणं दुरूहंति) ते रथमा

आरम्भ से अबतक के दिग्देशकाल-स्वरूप मीमांसात्मक व्यामोहनों से एकान्ततः असंपृक्त बने रहते हुए स्व स्व-प्रकृतिसिद्ध-शास्त्रसिद्ध-कर्त्तव्यकर्म्मों में जागरूकता-पूर्वक यावज्जीवन प्रवृत्त रहना।

६१९-प्रकृतिसिद्ध-उत्तरदायित्वपूर्ण-स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म के द्वारा सतत कालो-त्पीडन से ही उत्पीड़क काल की पीड़ाप्रवृत्ति का उपशम—

अर्थात् कभी एक क्षण के लिए भी इस वर्त्तमान-भौतिक काल को विश्राम नहीं लेने देना। अपितु सदा ही काल को कर्त्तव्य से पीड़ित ही करते रहना। यह सुनिश्चित है कि, ईश्वरार्पणात्मकबुद्धया अपने भौतिक जीवनात्मक व्यवहार को कर्त्तव्यरूप अनन्यभाव से जो मानव सतत पीड़ित करता रहता है उसका कभी अन्त नहीं होता। वह मानव अपने कालातीत स्वरूप से अजर-अमर है-सनातन है -यहां भी और वहां भी जिस इस लोकातीत तथ्य का 'लोकबुद्धि' से कदापि समन्वय नहीं किया जासकता। बौद्धिक तर्क, विचार-मीमांसा शास्त्रार्थ विचारपरामर्श प्रश्नोत्तरविमर्श कार्य्यकारणविमर्श आदि आदि किसी भी बौद्धिक विजृम्भण से यह तथ्य समन्वित नहीं होसकता। इस तथ्य के समन्वय का तो एकमात्र राजमार्ग है-'कालं कालेन पीड़यन्'। अर्थात्-ईश्वरसाक्षी में-अनन्यकर्त्तव्य से सातिसात्त्व भौतिक जीवन को सतत-उत्पीड़ित करते रहना। अकर्म्मण्यता ही वैदिक-दार्शनिक-विचारों की उद्गमभूमि बन जाया करती है जिस दार्शनिकता में कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका आचारनिष्ठा का स्पर्श भी नहीं है। तत्त्वमीमांसा के पारदर्शी उस महान् दार्शनिक की अपेक्षा तो उस सद्गृहस्थ को ही 'महान्' माना जायगा जो उत्तरदायित्व-पूर्ण सहज कर्त्तव्यनिष्ठा से सर्वेश्वरस्मरणपूर्वक अपने लोकजीवन का निर्वाह करता हुआ दार्शनिक की भांति समाज के लिए आर्थिक-उत्पीड़न का कारण तो नहीं बनता।

६२०-कर्त्तव्य-कर्म्म की स्वरूपपरिभाषा—

आचारात्मक कर्त्तव्य का नाम ही धर्म्म है जो उस सनातन-शाश्वतकाल का प्रतिबिम्ब बनता हुआ 'शाश्वतधर्म्म' बन रहा है अतएव जो-'सनातनधर्म्म'-'आर्षधर्म्म' आदि नामों से प्रसिद्ध है। धर्म्मात्मक कर्त्तव्य ही महाकाल है। इस काल से जो अपने भौतिक काल को उत्पीड़ित करने के कौशल से परिचित हो जाता है, निश्चयेन धर्म्म उसका रक्षक बन जाता है-यतोधर्म्मस्ततो जयः। हम अनुमान करते हैं कि-'कालं कालेन पीड़यन्' से अनुप्राणित 'यत्किञ्चित्-संशोधन' का पर्य्याप्त स्पष्टीकरण होगया। यदि अब भी सन्तोष न हुआ हो तो हमें कुछ एक वैसे सत्रों का निरन्तर अनुष्ठान करते रहना चाहिए, जिनके माध्यम से अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के अनुग्रह से अवश्य ही दिग्देशकालानुबन्धी उस 'यत्किञ्चित्-संशोधन' से हमारी लोकबुद्धि भी सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही समन्वित हो जायगी।

भरणशोभितौ, 'आसत्था' आस्वस्थौ परिश्रमापनयनेन स्वस्थीभूतौ, प्रसन्नचित्तौ इत्यर्थः 'वीसत्था' विस्वस्थौ विशेषेण स्वस्थीभूतौ सर्वथाऽपगतश्रमौ, सुखासनवरगतौ सुखप्रदपर्यङ्काद्यासनोपविष्टौ, देवदत्तया सार्द्धं त विपुलं विस्तीर्णम् अशन पान खाद्य स्वाद्य धूप पुष्पं गन्ध वस्त्र च, 'आसाएमाणा' आस्वादयन्तौ-ईषत्स्वादयन्तौ 'विसाएमाणा' विस्वादयन्तौ-विशेषेण वार वारमास्वादयन्तौ, 'परिभुंजेमाणा' परिभुञ्जानौ-परिभोग कुर्वाणौ एव च अनेन प्रकारेण खलु विहरन्त आसाते। अपि च खलु 'जिमिय भुत्तुत्तरागया' जिमित भुक्तोत्तरागतौ जिमित=खादित, भुक्तम्=आस्वादित ताभ्यामुत्तर=अनन्तरम् आगतौ सुखासनं पर्यङ्कादिकं प्राप्तौ, जिमितभुक्तानन्तरम्-आचान्तौ शुद्धोदकेन कृताचमनौ, लेपाद्यपनयनेन चोक्षौ

आकर वे उसमे प्रविष्ट हुए (अणुपविसित्ता सव्वालंकारविभूसिया आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया देवदत्ताए सद्धिं) प्रविष्ट होकर सर्व अलकारो से विभूषित बने हुए वे आश्वस्त-परिश्रम के अपनयन से स्वस्थचित्त हुए विश्वस्त हुए-सर्वथा परिश्रम से रहित हुए और सुखप्रदपर्यङ्क (पलग) आदि आसन पर जाकर बैठ गये। बाद में उन्होंने उस देवदत्ता के साथ (त विउलं असणं ४ धूवपुप्फगंधवत्थं आसाएमाणा, वीसाएमाणा परिभुंजेमाणा एवं च णं विहरंति) उस विपुलमात्रामें निष्पन्न हुए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य,रूप चारों प्रकार के आहार को किया रुचि कर उसका स्वाद लिया-धूप, पुष्प, गध, वस्त्र का वितरण किया-(जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा देवदत्ताए सद्धिं विउलाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणा विहरंति) जब वे अच्छी तरह खा पी चुके-तब देवदत्ता के साथ वे पर्यंङ्क आदि आसन पर आकर बैठ गये यहां इतना संबन्ध और इस प्रकार जोड़ लेना चाहिये-

(अणुपविसित्ता सव्वालंकारविभूसिया आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया देवदत्ताए सद्धिं) प्रवेशीने सर्व अलंकारोथी विभूषित थयेला तेओ आश्वस्त-थाक वगर स्वस्थचित्त बन्या विश्वस्त थया-सर्वथा श्रम रहित थया, अने सुखेथी बेसाय तेवा पलंग (पर्यंक) वगेरे आसनो पर बेसी गया. त्यारबाद तेमणे देवदत्ता गुणिकानी साथे (तं विउलं असणं धूवपुप्फगंधवत्थं आसाएमाणा, वीसाएमाणा परिभुंजेमाणा एवं च णं विहरंति) पुष्कळ प्रमाणमां तैयार करावीने त्यां पहोंचा डवामां आवेला अशन पान, खाद्य अने स्वाद्य रूप चार जातना आहारने यथारुचि जम्या तेमज धूप-पुष्प गंध अने वस्त्रोनुं वितरणकर्यु (जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा देवदत्ताए सद्धिं विउलाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणा विहरंति) जम्या पछी तेओ पलंग वगेरे सरस आसनो पर आवीने देवदत्ता गणिकानी साथे बेसी गया अहीं आटली विगत वधारानी जाणी लेवी जोइए छे-

४–समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति' ॥
—ऋक्संहिता १०।१९१ अन्तिमसूक्त ।

उक्त मन्त्र-चतुष्टयी के–'संसमिद्युवसे' इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा ऋषि ने उन माङ्गलिक अग्निदेव' का ही स्मरण किया है जिन के स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौर देवाग्नि पार्थिव-भूताग्नि, इन तीन महिमामय विवर्तों से ही स्वयम्भ्वात्मक-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विश्व का विराट् स्वरूप व्यवस्थित है एवं जो कि अग्निदेव अपने ज्योतिरूप सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक यज्ञ के प्रवर्तक बनते हुए इसी यज्ञ के द्वारा यच्चयावत् इष्ट कामनाओं के पूरक बने हैं। इसी कामवर्षण के कारण जो अग्निदेव 'वृषन्' (कामवर्षक, इष्टकामधुक्) अभिधा से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण लोकों के अधिपति होने से ही जो अग्निदेव 'अर्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'इळा' नाम से प्रसिद्ध महिमापृथिवीरूपा उत्तरवेदि में आन्तरिक्ष्य सोम की आहुति से प्रचण्डरूप से प्रज्वलित होने वाले इन्हीं अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक भूत अपनी स्वाहितलक्षणा स्विष्टकृल्लक्षणा 'यामाग्निका' सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण भौतिक जगत् 'अग्नीषोमात्मक' ही कहलाता है जैसा कि–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि बृहज्जाबालश्रुति से प्रमाणित है। ये ही अग्नि अधिष्ठातृभूत हमारे इस पावन भारतराष्ट्र के भाग्यविधाता हैं। 'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति' इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकविधाता ये ही 'भारत अग्नि' हमारे इस 'आर्य्यावर्त्त' नामक पवित्रतम-धन्यतम-मान्यतम-'भारतवर्ष' की 'भारत' अभिधा के स्वाधार प्रमाणित हो रहे हैं। ऋग्वेद के द्रष्टा महर्षियोंने–'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि उपक्रमात्मक मन्त्र (१ मण्डल १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि उपसंहारात्मक मन्त्र (१ मण्डल १९ सूक्त १ मन्त्र) पर्य्यन्त सम्पूर्ण ऋग्वेद में महामहिमशाली सोमगर्भित स्वमूर्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिका महिमा का यशोगान किया है। इत्थंभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधारस्थ उसी अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने 'संसमिद्युवसे' इत्यादि मन्त्र से महान् माङ्गलिक संस्मरण करते हुए तत्-पश्चात् में इसी भारताग्नि के प्रतीकभूत भारतराष्ट्र के आर्य्य मानवश्रेष्ठ के लिए आचारात्मक जो माङ्गलिक उद्बोधन प्रदान किया है तत्त्व के–'सङ्गच्छध्वम्०' इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उसी 'राष्ट्रीय आचार' का माङ्गलिक उद्बोध हुआ है जिस का राष्ट्रभाषा में वर्तमान राष्ट्रमानव के लिए इत्थंरूपेण समन्वय समीचीन होगा कि—

---

*–अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
—ऋक्सं० ५।४४।१५।

+–सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

रणशोभितौ, 'आसत्था' आश्वस्थौ परिश्रमापनयनेन स्वस्थीभूतौ, प्रसन्नचित्तौ इत्यर्थ 'वीसत्था' विस्वस्थौ विशेषेण स्वस्थीभूतौ सर्वथाऽपगतश्रमौ, सुखासनवरगतौ सुखप्रदपर्यङ्काद्यासनोपविष्टौ, देवदत्तया सार्द्धं त विपुल विस्तीर्णम् अशन पान खाद्य स्वाद्य धूप पुष्प गन्ध वस्त्र च, 'आसाएमाणा' आस्वादयन्तौ-ईषत्स्वादयन्तौ 'विसाएमाणा' विस्वादयन्तौ-विशेषेण वार वारमास्वादयन्तौ, 'परिभुजेमाणा' परिभुञ्जानौ-परिभोग कुर्वाणौ एव च अनेन प्रकारेण खलु विहरत आसाते। अपि च खलु 'जिमिय भुत्तुत्तरागया' जिमित भुक्तोत्तरागतौ जिमित=खादित, भुक्तम्=आस्वादित ताभ्यामुत्तर=अनन्तरम् आगतौ सुखासन पर्यङ्कादिक मासौ, जिमितभुक्तानन्तरम्-आचान्तौ शुद्धोदकेन कृताचमनौ, लेपाद्यपनयनेन चोक्षौ

आकर वे उसम प्रविष्ट हुए (अणुपविसित्ता सव्वालकारविभूसिया आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया देवदत्ताए सद्धिं) प्रविष्ट होकर सर्व अलकारो से विभूपित बने हुए वे आश्वस्त-परिश्रम के अपनयन से स्वस्थचित्त हुए विश्वस्त हुए-सर्वथा परिश्रम से रहित हुए और सुखप्रदपर्यङ्क (पलग) आदि आसन पर जाकर बैठ गये। बाद में उन्होंने उस देवदत्ता के साथ (त विउल असण ४ धूवपुप्फगधवत्थ आसाएमाणा, वीसाएमाणा परिभुजेमाणा एव च ण विहरति) उस विपुलमात्राम निष्पन्न हुए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य,रूप चारों प्रकार के आहार को किया रुचर कर उसका स्वाद लिया-धूप, पुष्प, गन्ध, वस्त्र का वितरण किया-(जिमियभुत्तुत्तरागया वि य ण समाणा देवदत्ताए सद्धिं विउलाइ माणुस्सगाइ कामभोगाइ भुजमाणा विहरति) जब वे अच्छी तरह खा पी चुके-तब देवदत्ता के साथ वे पर्यङ्क आदि आसन पर आकर बैठ गये वहां इतना सबन्ध और इस प्रकार जोड लेना चाहिये-

(अणुपविसित्ता सव्वालकारविभूसिया आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया देवदत्ताए सद्धिं) પ્રવેશીને સર્વ અલકારોથી વિભૂષિત થયેલા તેઓ આશ્વસ્ત-થાક વગર સ્વસ્થચિત્ત બન્યા. વિશ્વસ્ત થયા-સર્વથા શ્રમ રહિત થયા, અને સુખેથી બેસાય તેવા પલગ (પર્યંક) વગેરે આસનો પર બેસી ગયા ત્યારબાદ તેમણે દેવદત્તા ગુણિકાની સાથે (त विउल असण धूवपुप्फगधवत्थ आसाएमाणा, वीसाएमाणा परिभुजेमाणा एव च णं विहरति) પુષ્કળ પ્રમાણમા તૈયાર કરાવીને ત્યા પહોચાડવામા આવેલા અશન પાન, ખાદ્ય અને સ્વાદ્ય રૂપ ચાર જાતના આહારને યથારુચિ જમ્યા તેમજ ધૂપ-પુષ્પ, ગધ અને વસ્ત્રોનુ વિતરણકર્યું (जिमिय भुत्तुत्तरागया वि य ण समाणा देवदत्ताए सद्धिं विउलाइ माणुस्सगाइ कामभोगाइ भुजमाणा विहरति) જમ્યા પછી તેઓ પલગ વગેરે સરસ આસનો પર આવીને દેવદત્તા ગણિકાની સાથે બેસી ગયા અહીં આટલી વિગત વધારાની જાણી લેવી જોઈએ કે-

४–समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः–'सुसहासति' ॥
—ऋक्संहिता १०।१९१ अन्तिमसूक्त ।

उक्त मन्त्र–चतुष्टयी के–'संसमिद्युवसे' इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा ऋषि ने उन माङ्गलिक 'अग्निदेव' का ही संस्मरण किया है जिन के स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि सौर देवाग्नि, पार्थिव-भूताग्नि इन तीन महिमामय विवर्तों से ही उपक्रोशात्मक-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विश्व का विराट् स्वरूप व्यवस्थित है एवं जो कि अग्निदेव अपने ज्योत्स्नला * सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक यज्ञ के प्रवर्त्तक बनते हुए इसी यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण यावत् इष्टों, कामनाओं के पूरक + हैं। इसी कामवर्षण के कारण जो अग्निदेव 'वृषन्' (कामवर्षक, इष्टकामधुक्) अभिधा से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण लोकों के अधिपति होने से ही जो अग्निदेव 'अर्य्य नाम से प्रसिद्ध हैं। 'इडा' नाम से प्रसिद्धा महिमापृथिवीरूपा उत्तरवेदि में आन्तरिक्ष्य दाम सोम की आहुति से प्रचण्डरूप से प्रज्वलित होते रहने वाले इन्हीं अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक भूत अपनी स्वाभाविकता सम्मिश्रणलक्षणा 'यागात्मिका' सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण भौतिक जगत् 'अग्नीषोमात्मक' ही कहलाया है जैसा कि–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि महत्वाख्यस्मृति से प्रमाणित है। ये ही अग्नि तत्प्रतीकभूत हमारे इस पावन भारतराष्ट्र के मानवपिता हैं। 'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति' इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकाधिष्ठाता ये ही 'भारत अग्नि' हमारे इस 'आर्य्यावर्त्त' नामक पवित्रतम-धन्यतम-यशस्यतम-'भारतवर्ष' की 'भारत' अभिधा के मूलाधार प्रमाणित हो रहे हैं। ऋग्वेद के द्रष्टा महर्षियोंने–'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि उपक्रमात्मक मन्त्र (१ मण्डल १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि उपसंहारात्मक मन्त्र (१० मण्डल १९० सूक्त, ३ मन्त्र) पर्य्यन्त सम्पूर्ण ऋग्वेद में महामहिमशाली सोमगर्भित अग्निमूर्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिका महिमा का यशोगान किया है। इत्यभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधारस्वरूप उसी अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने 'संसमिद्युवसे' इत्यादि मन्त्र से महान् माङ्गलिक संस्मरण करते हुए तत्–अग्नी में इसी भारताग्नि के प्रतीकभूत भारतराष्ट्र के आर्य्य मानवसमाज के लिए 'आचारात्मक' जो माङ्गलिक उद्बोधन प्रदान किया है उसके–'सङ्गच्छध्वम्०' इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उसी 'राष्ट्रीय आचार' का माङ्गलिक उद्घोष हुआ है जिस का राष्ट्रभाषा में वर्तमान राष्ट्रमानव के लिए इत्यंरूपेण समन्वय समीचीन होगा कि—

---

*–अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
—ऋक्सं० ५।४४।१५।

+–सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

निस्सरत प्रतिनिष्क्रम्य 'हत्थसंगेल्लिना–अन्योन्य हस्तालम्बनेन सुभूमिभागे उद्याने बहुषु 'आलिघरएसु' आलिगृहकेषु श्रेणिबद्धगृहाकारपरिणतवनस्पतिविशेष-निकुञ्जेषु च–पुन 'कयलीघरेसु' कदलीगृहकेषु–कदली निकुञ्जेषु च लया-घरएसु' लतागृहकेषु–चम्पकाशोकादिलतागृहेषु च 'अच्छणघरएसु' आसनगृहकेषु आसन–उपवेशनम् तेषा गृहेषु यदा तदा जना आगत्य सुखा-सिकयोपविशन्ति यत्र तत्र च 'पेच्छणघरएसु' प्रेक्षणगृहकेषु–प्रेक्षण–प्रेक्षणक तस्यगृहेषु–यत्रागत्य जना नाटकादिक कुर्वन्ति प्रेक्षन्ते च तेषु 'पसाहणघर एसु य' प्रसाधनगृहकेषु प्रसाधन मण्डन यत्रागत्य जना स्व पर च मण्डयन्ति तेषां गृहेषु 'मोहणघरएसु' मोहनगृहकेषु–विलासगृहेषु 'सालघरएसु' शाला गृहकेषु शाला शाखा तासा गृहेषु वृक्षगृहेषु वा' जालघरएसु' जालगृहकेषु— जालिकान्वितगृहेषु यत्राभ्यन्तरस्थिता बहिः स्थिते न दृश्यन्ते किन्तु अन्त

गणिका के साथ (थूणामंडवाओ पडिनिक्खमति) उस स्थूणामंडप से बाहर निकले (पडिनिक्खमित्ता) बाहर निकल कर (हत्थसंगेल्लीए) हाथ में हाथ मिलाए हुए वे (सुभूमिभागे उज्जाणे बहुसु आलिघरएसुय) उस सुभूमिभाग उद्यान में अनेक श्रेणिबद्ध गृहाकार परिणत हुए वनस्पति विशेषों के निकुंजों में (कयलीघरएसु य लयाघरएसुय) कदलीगृहोंमें और लतागृहोंमें (अच्छण घरएसु य) यदा कदा आई हुई जनता को बैठने के लिये बनाये हुए आसन गृहों में (पेच्छणघरएसुय) जहां पर आकर के जन नाटक आदि करते हैं और देखते हैं उन प्रेक्षण घरों में (पसाहणघरएसु य) प्रसाधन गृहों में–जहां आकर के मनुष्य अपने को और दूसरो को अलंकारो से विभूषित करते हैं ऐसे घरोंमें (मोहणघरएसुय) विलास गृहो में (सालघरएसु य शाला घरों में (जालघरएसु य) जालिकान्वित घरों में—जिनके भीतर रहे हुए

(पडिनिक्खमित्ता) બહાર નીકળીને (हत्थसंगेल्लीए) હાથમાં હાથ નાખીને તેઓ (सुभूमीभागे उज्जाणे बहुसु आलिघरएसु य) સુભૂમિભાગ ઉદ્યાનમાં આવેલા ઘણા શ્રેણિબદ્ધ ઘરના આકાર જેવા વનસ્પતિ વિશેષોથી બનાવવામાં આવેલા નિકુંજોમાં (कयलीघरएसु य लयाघरएसु य) કદલી ગૃહોમાં, લતાગૃહોમાં, (अच्छणघर एसु य) અવારનવાર આવતા સામાજિકોને બેસવા માટે બનાવવામાં આવેલા આસનગૃહોમાં (पेच्छणघरएसु य) માણસો જ્યાં આવીને નાટક વગેરે કરે છે અને જુએ છે તેવા પ્રેક્ષાગૃહોમાં (पसाहणघरएसु य) પ્રસાધન ગૃહોમાં એટલે કે જ્યાં માણસો પોતાની જાતને અને બીજાઓને શણગારે છે, તેવા ઘરોમાં, [मोहणघरएसु य] વિલાસગૃહોમાં (सालघरएसु य) શાળાગૃહોમાં (जालघरएसु य) જાળીઓવાળા ઘરોમાં એટલે કે

४-समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः- सुसहासति ॥
—ऋक्संहिता १०।१९१ अन्तिमसूक्त ।

उक्त मन्त्र-चतुष्टयी के-'संसमिद्युवसे' इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा ऋषि ने उन माङ्गलिक 'अग्निदेव' का ही स्मरण किया है जिन के स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौर वैश्वानर, पार्थिव-भूताग्नि इन तीन महिमामय विवर्तों से ही रसलोकात्मक-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विश्व का विराट् स्वरूप व्यवस्थित है एवं जो कि अग्निदेव अपने न्योकस्वरूप * सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक यज्ञ के प्रवर्त्तक बनते हुए इसी यज्ञ के द्वारा मन्त्ववाक्य इष्ट कामनाओं के पूरक + हैं। इसी कामकर्षण के कारण जो अग्निदेव 'वृषन्' (कामवर्षक, इष्टकामधुक्) अभिधा से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण लोकों के अधिपति होने से ही जो अग्निदेव 'अर्य्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'इडा' नाम से प्रसिद्धा महिमापृथिवीरूपा उत्तरवेदि में अान्तरिक्ष्य सोम की आहुति से प्रत्यक्षरूप से प्रज्वलित हो पड़ने वाले इन्हीं अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक भूत अपनी सवासिताया समिद्धभावलक्षणा 'यागात्मिका' सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण भौतिक जगत् 'अग्नीषोमात्मक' ही कहलाया है जैसा कि-'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि यज्ञस्मातश्रुति से प्रमाणित है। ये ही अग्नि तत्प्रतीकभूत हमारे इस पावन भारतराष्ट्र के माम्मिवाच्य हैं। 'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति' इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकाभिज्ञाता ये ही 'भारत अग्नि' हमारे इस 'आर्य्यावर्त्त' नामक पवित्रतम-धन्यतम-यशस्वतम-'भारतवर्ष' की 'भारत' अभिधा के सर्वाधार प्रमाणित हो रहे हैं। ऋग्वेद के द्रष्टा महर्षियों ने-'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि उपक्रमात्मक मन्त्र (१ मण्डल १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि उपसंहारात्मक मन्त्र (१ मण्डल १९ सूक्त ३ मन्त्र) पर्यन्त सम्पूर्ण ऋग्वेद में महामहिमशाली सोमगर्भित सर्वमूर्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिका महिमा का यशोगान किया है। इत्थंभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधाररूप उसी अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने 'संसमिद्युवसे' इत्यादि मन्त्र से महान् माङ्गलिक संस्मरण करते हुए उत्-अन्ती में इसी भारताग्नि के प्रतीकभूत भारतराष्ट्र के आर्य्य मानवश्रेष्ठ के लिए 'आचारात्मक' जो माङ्गलिक उद्बोधन प्रदान किया है तत्त्व के-'सङ्गच्छध्वम्०' इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उसी 'राष्ट्रीय आचार' का माङ्गलिक उद्घोष हुआ है जिस का राष्ट्रभाषा में वर्त्तमान राष्ट्रमानव के लिए इत्थंरूपेणैव समन्वय समीचीन होगा कि—

---

*-अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
—ऋक्सं० ५।४४।१५।

+—सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

गमनाय=तत्र गन्तुमुत्कण्ठितौ गतौ च, ततस्तदनन्तरं खलु सा वनमयूरी तौ सार्थवाहदारकौ एजमाण' एजमानौ प्रत्यागच्छन्तौ पश्यति दृष्ट्वा च' 'भीया' भीता अकस्माद् भयजनकवस्तुदर्शनेन भय प्राप्ता 'तत्था' त्रस्ता-भयजनितदुःख प्राप्ता स्तब्धा वा क्षणमात्र भयेन निश्चला जाता 'तसिया' अन्तर्भीतिनिष्पथं, त्रासिता आत्मनः प्रतिप्रदेश भयेन सक्रान्ता जाता 'उव्विग्गा' उद्विग्ना-त्राणशरणरहितत्वेनोद्वेग प्राप्ता 'पलाया' पलायिता-उड्डयनोद्युक्ता 'महया २ सद्देण' महता २ शब्देन उच्चस्वरेण 'केकारव' मयूरशब्दं 'विणिम्मुयमाणो २' विनिर्मुञ्चन्ती=पुन पुनः कुर्वती मालुकाकक्षात् पडिनिक्खमइ' प्रतिनिष्क्रामति निस्सरति 'पडिनिक्खमित्ता' प्रतिनिष्क्रम्य निस्सृत्य स्वस्थानादुड्डीय 'एगसि' एकस्या वृक्षशाखाया 'ठिच्चा' स्थित्वा तौ सार्थवाहदारकौ त

सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासइ) उस वनमयूरीने उन दोनो सार्थवाह दारकों को ज्यों ही आते हुए देखा-तो (पासित्ता) देखकर (भीया तत्था तसिया उव्विग्गा पलाया) भयभीत हो गई त्रस्त हो गई--अकस्मात् भयजनक वस्तु को देखने से भय जनित दु खको प्राप्त हुई-अथवा क्षण मात्र के लिये भयसे निश्चल हो गई-आत्मा के प्रतिप्रदेश में भय से युक्त हो गई, उद्वेग को प्राप्त हो गई और उस स्थान से उडी (महया२ सद्देण केकारव विणिम्मुयमाणी२ मालुयाकच्छाओ पडिनिक्खमइ) उडती२ बडे जोर २ से केकारव (शब्द) बारबार करती करती वह उस मालुका कच्छक से बाहर हो गई (पडिनिक्खमित्ता एगसि रुक्खडालयसि ठिच्चा ते सत्थवाहदारए मालुया कच्छय च अणिमिसाए दिट्ठिए पेहमाणी २ चिट्ठइ) बाहर होकर एक

તે ભાલુ જ્યા આગળ વધ્યા (तएण सा वणमऊरी ते सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासइ) તે ઢેલે બને સાર્થવાહોને જોયા અને (पासित्ता) જોઈને (भीया तत्था तसिया उव्विग्गा पलाया) ડરી ગઈ, સ ત્રસ્ત થઈ ગઈ ઓચિતા ભય પમાડનારી વસ્તુને જોઈને તે દુ ખ પામી, અથવા તો તે ભયભીત થઈને થોડા વખત માટે સ્તબ્ધ થઈ ગઈ, તેના આત્મપ્રદેશોમા ભય પ્રસરી ગયો તે ઉદ્વિગ્ન થઈ ગઈ તેની સામે રક્ષાનો કોઈ પણ જાતનો ઉપાય હતો નહિ તેથી તે વ્યાકુળ બની ગઈ અને તે સ્થાનેથી ઉડી (महया २ सद्देण केकारव विणिम्मुयमाणी २ मालुया कच्छाओ पडिनिक्खमइ) અને મોટા સ્વરેથી ટહુકતી ૨ ઉડતી તે માલુકા કચ્છથી બહાર નીકળી ગઈ (पडिनिक्खमित्ता एगसि रुक्खडालयसि ठिच्चा ते सत्थवाहदारए मालुया कच्छय च अणिमिसाए दिट्ठिए पेहमाणी२ चिट्ठइ) માલુકા કચ્છની બહાર નીકળીને તે

अर्थात्–हमारे राष्ट्र में 'दाता' मानवों की अभिवृद्धि हो !

हमारे राष्ट्र में 'वेदतत्त्व', एवं तदनुगता 'सुसन्तति' अभिव्यक्त हो !

हमारे राष्ट्रीय-जनमानस से 'श्रद्धा' कभी पलायित न हो !

हमारे राष्ट्रीय कोश में दान के लिए 'प्रभूतसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !

हमारे राष्ट्र में प्रचुरमात्रा में 'अन्नसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !

हमारा राष्ट्र सदा सम्मानित 'अतिथि' प्राप्त करता रहे !

हमारे राष्ट्र से सभी इतर राष्ट्र सदा 'मांगते' ही रहें !

किन्तु

हमारा भारतराष्ट्र कदापि किसी से भी कुछ भी याच्ञा-अभिलाषा न करे !

आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् !
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरंधिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः !
सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम् !
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु !
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् !
योगक्षेमो नः कल्पताम् !

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते
अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ॥
अग्निर्जागार तमयं सोम आह—
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां 'सर्वमानवाः' ॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः ! सर्वे सन्तु निरामयाः !
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ! मा कश्चिद् दुःखमाग्भवेत् !
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

टीका—'तएण त' ततस्तदनन्तर-मयूर्या उड्डयनान्तर ता सार्थवाह दारकौ अन्योऽन्य=परस्पर शब्दयत=आमन्त्रयत=सम्मुखौ कुरुत 'सद्दावित्ता' शब्दयित्वा=अन्योन्यमाहूय वक्ष्यमाणप्रकारेणावादिष्टाम् 'जहाण' यथा खलु देवानुप्रिय ! एषा वनमयूरी आवामेजमानौ आगच्छन्तौ दृष्ट्वा च भीता, त्रस्ता, त्रसिता, उद्विग्ना पलायिता-स्वस्थान त्यक्त्वाऽन्यत्स्थान गता महता शब्देन केकारव मुञ्चन्ती सती यावदावां मालुकाकक्षक च पुन पुन प्रेक्षमाणी तिष्ठति 'त' तत्-तस्मात् 'भवियव्व' भवितव्यम् 'एत्थ' अत्र केनापि कार

'तएण ते सत्थवाहदारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) इसके बाद (ते सत्थवाहदारगा) उन दोनों सार्थवाह दारकोंने (अन्नमण्ण सद्दावेति) परस्पर में विचार किया बातचीत की (सद्दावित्ता) बातचीत कर के (एव वयासी) फिर वे इस प्रकार कहने लगे—(जहाण देवाणुप्पिया ! एसा वणमऊरी अम्हे एज्जमाणा पासित्ता भीया तत्था तसिया उव्विग्गा पलाया महया २ सद्देण जाव अम्हे मालुयाकच्छय च पेच्छमाणी २ चिट्ठइ) जिस कारण हे देवानुप्रिय ! यह वनमयूरी हम लोगों को आता हुआ-देखकर भयभीत, त्रस्त और त्रासित होकर उद्विग्न बनी और यहां से उड गई—उडती २ उसने बडे जोर २ से केकारव किया—और इस मालुकाकच्छक से बाहर होकर एक वृक्ष की डाल पर बैठी २ यह हम लोगों की ओर और मालुकाकच्छक की ओर बार २ देख रही है (त भवियव्व एत्थ कारणेणं त्तिकट्टु मालुयाकच्छय अतो अणुपविसति) तो इसमें कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये-ऐसा

'तएणं ते सत्थवाह दारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) त्यारबाद (ते सत्थवाह दारगा) बन्ने सार्थवाह पुत्रोए (अन्नमण्ण सद्दावेति) એકબીજા સાથે વાતો કરી (सद्दावित्ता) વાતચીત કરીને (एव वयासी) તેઓ કહેવા લાગ્યા (जहाण देवाणुप्पिया ! एसा वणमऊरी अम्हे एज्जमाणा पासित्ता भीया तत्था तसिया उव्विग्गा पलाया महया २ सद्देण जाव अम्हे मालुयाकच्छय च पेच्छमाणी२ चिट्ठइ) હે દેવાનુપ્રિય ! આ ઢેલ આપણને આવતા જોઇને ભયભીત ત્રસ્ત, ત્રાસિત, અને વ્યાકુળ થઇને અહીંથી ઉડી, અને જ્યારે તે ઉડી ત્યારે તેણે મોટા અવાજે કેકારવ કર્યો અને તે માલુકાકચ્છની બહાર નીકળીને એક ઝાડની શાખા ઉપર બેસી ગઇ છે અને ત્યાંથી પણ તે આપણને અને માલુકાકચ્છને વારવાર જોઇ રહી છે (त भवियव्व एत्थ कारणेण त्तिकट्टु मालुयाकच्छय अतो अणुपविसति) તો એની પાછળ કંઇને કંઇ રહસ્ય ચોક્કસ હોવુ

श्रीः

खण्डचतुष्टयात्मक

'भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता'

नामक

उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धान्तर्गत

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मक'

'क' उपविभागात्मक-११ स्तम्भात्मक

चतुर्थखण्ड

उपरत

टीका— 'तएण ते' ततस्तदनन्तर-मयूर्या उड्डयनान्तर तौ सार्थवाह दारकौ अन्योऽन्य=परस्पर शब्दयत =आगयत =समुखौ कुरुत 'सद्दावित्ता' शब्दयित्वा=अन्योन्यमाहूय वक्ष्यमाणप्रकारेणावादिष्टाम् 'जहाण' यथा खलु देवानुप्रिय ! एषा वनमयूरी आवामेजमानौ आगच्छन्तौ दृष्ट्वा च भीता, त्रस्ता, त्रसिता, उद्विग्ना पलायिता-स्वस्थान त्यक्त्वाऽन्यस्स्थान गता महता शब्देन केकारव मुञ्चन्ती सती यावदावा मालुकाकक्षक च पुन पुन प्रेक्षमाणी तिष्ठति 'त' तत्-तस्मात् 'भवियव्व' भवितव्यम् 'एत्थ' अत्र केनापि कार

'तएण ते सत्थवाहदारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) इसके बाद (ते सत्थवाहदारगा) उन दोनो सार्थवाह दारकोंने (अन्नमण्ण सद्दावेति) परस्पर में विचार किया बातचीत की (सद्दा वित्ता) बातचीत कर के (एव वयासी) फिर वे इस प्रकार कहने लगे— (जहाण देवाणुप्पिया ! एसा वणमऊरी अम्हे एज्जमाणा पासित्ता भीया तत्था तसिया उव्विग्गा पलाया महया २ सद्देण जाव अम्हे मालुयाक च्छय च पेच्छमाणी २ चिट्ठइ) जिस कारण हे देवानुप्रिय ! यह वनमयूरी हम लोगों को आता हुआ-देखकर भयभीत, त्रस्त और त्रासित होकर उद्विग्न बनी और यहां से उड गई—उडती २ उसने बडे जोर २ से के- कारव किया—और इस मालुकाकच्छक से बाहर होकर एक वृक्ष की डाल पर बैठी २ यह हम लोगों की ओर और मालुकाकच्छक को बार बार २ देख रही है (त भवियव्व एत्थ कारणेण त्तिकट्टु मालुयाकच्छय अतो अणुपविसति) तो इसमें कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये-ऐसा

'तएणं ते सत्थवाह दारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) त्यारબાદ (ते सत्थवाह दारगा) બન્ને સાર્થવાહ પુત્રોએ (अन्नमण्ण सद्दावेति) એકબીજા સાથે વાતો કરી (सद्दावित्ता) વાતચીત કરીને (एव वयासी) તેઓ કહેવા લાગ્યા (जहाण देवाणुप्पिया ! एसा वणमऊरी अम्हे एज्जमाणा पासित्ता भीया तत्था तसिया उव्विग्गा पलाया महया २ सद्देण जाव अम्हे मालुयाकच्छय च पेच्छमाणी२ चिट्ठइ) હે દેવાનુપ્રિય ! આ ઢેલ આપણને આવતા જોઇને ભયભીત ત્રસ્ત, ત્રાસિત, અને વ્યાકુળ થઇને અહીં થી ઉડી, અને જ્યારે તે ઉડી ત્યારે તેણે મોટા અવાજે કેકારવ કર્યો અને તે માલુકાકચ્છની બહાર નીકળીને એક ઝાડની શાખા ઉપર બેસી ગઇ છે અને ત્યાંથી પણ તે આપણને અને માલુકાકચ્છને વારવાર જોઇ રહી છે (त भवियव्व एत्थ कारणेण त्तिकट्टु मालुयाकच्छय अतो अणुपविसति) તો એની પાછળ કંઇને કંઇ રહસ્ય ચોક્કસ હોવુ

श्रीः

खण्डचतुष्टयात्मक

'भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता'

नामक

उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धान्तर्गत

'दिग्देशकालस्वरूपमीमासात्मक'

'क' कारविभागात्मक-११ स्तम्भात्मक

चतुर्थखण्ड

उपरत

स्थाने स्वगृहे एव अ(नेन प्रकारेण) 'दो कीलावणगा द्वौ क्रीडनकौ-क्रीडा कारकौ द्वौ मयूरपोतकौ मयूरीशावकौ भविष्यत इति कृत्वा-इति विचार्य, अन्योऽन्यस्यैतमर्थं प्रतिशृणुत मनसि धारयत, प्रतिश्रुत्य 'सए सए' स्वकान् स्वकान्-दासचेटकान् शब्दयत शब्दयित्वा चैव वक्ष्यमाणप्रकारेणावादिष्टाम् हे देवानुप्रिया गच्छत खलु यूय इमे—एते अण्डके मयूर्या अण्डके गृहीत्वा स्वकाना जातिमतीना कुक्कुटीनामण्डकेषु प्रक्षिपत, इति वचन श्रुत्वा यावत्ते दासा अपि तथैवाण्डके प्रक्षिपन्ति ॥ सू १२ ॥

वाली हम दोनों की कुक्कुटिकाए उन हम लोगों के द्वारा लाये हुए मयूरी के अडों की अपने २ अडा की रक्षा तथा उनकी परकृत उपद्रवों से प्रतिपालना करती हुई रक्षा और प्रतिपालना करलेगी। (तएणं अम्ह एत्थ दो कीलामणगा मऊरपोयगा भविस्सति तिकट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठ पडिसुणेति) इस प्रकार हम लोगों के अपने २ घर पर दो क्रीडा कारक मयूरी पोत (बच्चे) हो जावेगे ऐसा विचार कर उन दोनोंने आपसमे एक दूसरे का विचार स्वीकार कर लिया (पडिसुणित्ता सए सए दासचेडए सद्दावेति) स्वीकार कर फिर उन्होंने अपने २ नौकरों को बुलाया (सद्दा वित्ता एव वयासी) बुलाकर ऐसा कहा—(गच्छह ण तुब्भे देवाणुप्पिया !) हे देवानुप्रियो ! तुम लोग जाओ और (इमे अडए गहाय सयाण जाइमताण कुक्कुडीण अडएसु पक्खिवह जाव ते वि पक्खिवति) इन मयूरी के दोनों अडोको ले जाकर अपनी २ जातीवाली कुक्कुटिकाओं के अडों में रख दो। इस प्रकार के उनके कथन को सुनकर "यावत् उन दासोंने भी उस तरह उन दोनों अडो को ले जाकर उन कुक्कुटिकाओं के अडों में रख दिया॥ सू १२॥

બહારના ઉપદ્રવોથી રક્ષણ કરતી ઢેલના ઈંડાનુ પણ રક્ષણ કરશે અને પાલન પોષણ કરશે (तएण अम्हं एत्थ दो कीलामणगा मउरपोयगा भविस्सति तिकट्टु अन्नम न्नस्स एयमट्ठ पडिसुणे ति)આ રીતે આપણા બંનેના ઘરોમા ક્રીડામયૂરના બચ્ચાઓ થઈ જશે. આમ તેઓ બંને એક બીજાના વિચારોથી સહમત થયા (पडिसुणित्ता सए सए दासचेडए सद्दावेति) સહમત થઈને તેઓએ પોતપોતાના નોકરોને બોલાવ્યા (सद्दावित्ता एव वयासी) બોલાવીને આ પ્રમાણે કહ્યુ (गच्छहण तुब्भे देवाणु प्पिया !) હે દેવાનુપ્રિયો ! તમે જાઓ અને (इमे अडए गहाय सयाण जाइमंताण कुक्कुडीण अडएसु पक्खिवह जाव ते वि पक्खिवेति) આ ઢેલના બંને ઈંડાને અમારી મરઘીઓના ઇંડાઓની વચ્ચે મૂકી દો આ રીતે તેમની વાત સાંભળીને નોકરોએ બંને ઈંડાને લઈને સાર્થવાહ પુત્રોની મરઘીઓના ઇંડાઓની વચ્ચે મૂકી દીધા સૂ.૧ ૧૨॥